सुश्रुत संहिता

हिन्दी अनुवाद सहित

श्री अत्रिदेव

DR. MANMOHAN JOTISHI
G.A.M.S
FINAL YEAR STUDENT
D.A.V. MEDICAL COLLEGE
JULLUNDUR CITY

प्रभो! विपत्तियों से रक्षा करो – यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नहीं आया, विपत्तियों से भयभीत न होऊं – यही वरदान दे! अपने दुःख से व्यथित चित्त को सान्त्वना देने की भिक्षा – नहीं मांगता दुःखों पर विजय पाऊं यही आशीर्वाद दे – यही मेरे अन्तरात्मा की प्रार्थना है।

मनमोहन ज्योतिषी
१२.१०.६८.

ॐ

सुश्रुतसंहिता

अनुवादक

अत्रिदेव

भूमिका लेखक

डाक्टर श्रीभास्कर गोविन्दजी घाणेकर

बी. एस. सी., एम. बी. बी. एस., आयुर्वेदाचार्य

विशेष मन्तव्य

पं० श्री लालचन्द्र जी वैद्य

भूतपूर्व प्रधानाचार्य—अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, काशी

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

वाराणसी दिल्ली पटना

तृतीय संस्करण] सन् १९६० [मूल्य १५)

प्रकाशक :

सुन्दरलाल जैन

मैनेजिंग प्रोप्राइटर,

मोतीलाल बनारसीदास,

पो० बॉ० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी।

मुद्रक :

मन्नीलाल

रस्तोगी प्रेस,

मध्यमेश्वर, वाराणसी।

चिकित्सा शास्त्र अगाध है

"नास्ति आयुर्वेदस्य पारम्"

समुद्र इव गम्भीरं
नैव शक्यं चिकित्सितम् ।
वक्तुं निरवशेषेण
श्लोकानामयुतैरपि ॥

चिकित्सा शास्त्र समुद्र की तरह अगाध है। लाखों श्लोकों से भी उसको कहा नहीं जा सकता।

स्मृति में

माननीय श्रीयादवजी विक्रमजी आचार्यजी की

आयुर्वेद के विषय में आप से बराबर प्रेरणायें मिलीं, आपके ही अनुग्रह का यह फल है कि अनुवाद का कार्य कर सका, आपकी कृपा दृष्टि आगे भी इसी प्रकार बनी रहे—यही भगवान् से प्रार्थना है।

अत्रिदेव

भूमिका

प्राचीन काल में आयुर्वेद बहुत ही उन्नत और विस्तारशील था। उस समय उसके कायचिकित्सादि अष्टांग स्वतन्त्र हो चुके थे, प्रत्येक अंग पर स्वतन्त्र संहिताएँ रची गयी थीं, प्रत्येक अंग की स्वतन्त्र परम्परा स्थापित हो चुकी थी और उसके विशेषज्ञ प्रतिष्ठा के साथ अपना स्वतन्त्र व्यवसाय किया करते थे। आगे चलकर कालचक्र में ये सब परम्पराएँ बहुत कुछ खण्डित या लुप्त हो गयी थीं। शताब्दियों के पश्चात् ऋषितुल्य कुछ धुरंधर विद्वानों ने अविश्रान्त परिश्रम, तत्त्वान्वेषण और परम्पराप्राप्त ज्ञान के आधार पर आयुर्वेद की मुख्य २ शाखाओं की संहिताओं का प्रतिसंस्करण करके वैद्यों के उपयोग के लिए उनको प्रचलित किया। आज हमारे सामने आयुर्वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं उनमें कुछ प्रतिसंस्कृत हैं, कुछ खण्डित हैं और कुछ संगृहीत हैं। प्रतिसंस्कृत संहिताओं में चरक संहिता और सुश्रुत संहिता, खण्डित संहिताओं में भेड संहिता और काश्यप संहिता तथा संगृहीत संहिताओं में अष्टांग हृदय और अष्टांग संग्रह प्रसिद्ध हैं।

उत्तर काल में उपलब्ध होनेवाली सब संहिताओं में चरक और सुश्रुत की संहिताएँ प्राचीन काल से वैद्यकीय दृष्टया सर्वश्रेष्ठ मानी गयी हैं और वैद्यों का वैद्यत्व इतर संहिताओं की अपेक्षा इन संहिताओं के अनुसार पठन-पाठन-कर्माभ्यास करने के ऊपर अधिष्ठित रहा है। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित वाग्भट्ट और हर्ष के वचनों से हो जाती है—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥ अष्टांगहृदय॥
कन्यान्तः पुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाकर्ण्य सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्यानलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः॥ नषधचरित।

चरक की मूल संहिता अग्निवेश प्रणीत कायचिकित्सा की, और सुश्रुत की मूल संहिता भगवान् धन्वन्तरि प्रणीत शल्यतन्त्र की थी। परन्तु शताब्दियों से उपलब्ध इन प्रतिसंस्कृत संहिताओं में आयुर्वेद के आठों अंगों का न्यूनाधिक अंश में समावेश किया हुआ दिखाई देता है। फिर भी सूक्ष्म अभ्यास करने पर इन संहिताओं के मूल संहिताकारों के 'बुद्धेर्विशेषः' का तथा मूल संहिताओं के 'विषय विशेष' का अच्छा परिचय मिल जाता है।

यद्यपि ये दोनों संहिताएँ आयुर्वेद का अभ्यास करने की दृष्टि से शताब्दियों से अधिमान्य हो चुकी हैं तथापि दोनों का तुलनात्मक परिशीलन करने पर मेरा यह मत हो गया है कि चिकित्सा के सिद्धान्तों की दृष्टि से चरक और 'प्रक्रिया' अर्थात् व्यवहार की दृष्टि से सुश्रुत श्रेष्ठ है। चरक में स्वास्थ्यरक्षा, व्याधिपरिमोक्ष, वैद्यकीय सद्वृत्त इनका प्रतिपादन बहुत ही युक्तियुक्त, रोचक और विशद पद्धति से किया गया है और उसमें उन विषयों के सम्बन्ध में ऐसे दिक्कालाबाधित सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं कि जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य कालीन संसार की सब चिकित्सा पद्धतियों (व्याधियों) के लिये सदैव मार्ग दर्शन कर सकते हैं। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' यह दृढबल का चरक सम्बन्धी वचन अन्य बातों के लिए भले ही सही न हो, परन्तु चिकित्सा सिद्धान्तों की दृष्टि से सोलहों आने सत्य है ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास हो गया है। सुश्रुत में सैद्धान्तिक विषयों के अतिरिक्त आयुर्वेद के आठों अंगों का विवरण शल्य कर्म को प्राधान्य देकर नातिसंक्षेप-विस्तार से सरल भाषा से व्यावहारिक बातों पर ध्यान देकर बहुत ही अच्छी तरह किया गया है। मेरे इस मत की कुछ झलक वाग्भट के निम्न वचन में मिल जाती है—

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरमविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥ अष्टांगहृदय॥

इसलिए मैं यह उचित समझता हूँ कि इन दोनों संहिताओं का विशेष करके उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उपयुक्त अंशों का अध्ययन केवल आयुर्वेद के विद्यालयों तक ही सीमित न रख करके इतर चिकित्सा पद्धतियों के विद्यालयों में भी जारी करना चाहिये। इससे वहाँ के विद्यार्थियों और डाक्टरों को अपना शास्त्र पढ़ने और पढ़ाने में अधिक सहायता मिलेगी तथा केवल अपना ही शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने के कारण जो अवैज्ञानिक, अनुदार तथा अव्यापक दृष्टि उत्पन्न होती है वह दूर होकर वे जनता के सच्चे सेवक बनेंगे।

आयुर्वेद की ये संहिताएँ तथा उनकी टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान इनके अध्ययनार्थ आवश्यक होता है। परन्तु आजकल आयुर्वेद महाविद्यालयों में भी जहाँ पर प्रवेश के लिए संस्कृत-प्रावीण्य की अत्यन्त आवश्यकता होती है, संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अच्छे संस्कृतज्ञ विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी। इतर वैद्यक महाविद्यालयों में भरती के लिये संस्कृत की आवश्यकता ही न होने के कारण वहाँ पर संस्कृतज्ञ विद्यार्थी नगण्य होते हैं। ऐसी अवस्था में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढ़ाने की दृष्टि से तथा उसके दिक्कालाबाधित सुन्दर सिद्धान्तों के द्वारा सब पद्धतियों के चिकित्सकों को चारित्र्य और शील की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से इन संहिताओं के प्रचलित भाषाओं में अच्छे अच्छे अनुवाद करके प्रकाशित करना प्रत्येक आयुर्वेद प्रेमी का एक परम कर्तव्य हो जाता है।

प्राचीन संहिताओं के अनुवाद अनेक पद्धतियों से किये जाते हैं। प्रथम पद्धति में मूल-संहिता न देकर केवल उसका अनुवाद सरल भाषा में दिया जाता है। इस पद्धति के अनुवाद शास्त्राध्ययन करनेवालों की दृष्टि से अच्छे नहीं हो सकते हैं, परन्तु संहिताओं का भावार्थ मालूम करने की दृष्टि से पर्याप्त होने के कारण सामान्य जनता को शास्त्र का परिचय कराने के लिए उपयोगी होते हैं। दूसरी पद्धति में ऊपर मूलसंहिता देकर उसके नीचे उसका सरल भाषानुवाद दिया जाता है। इस पद्धति के अनुवाद सामान्य जनता के लिए जितने उपयोगी होते हैं उतने ही शास्त्रजिज्ञासु के लिए भी उपकारक होते हैं, क्योंकि इसमें पाठक के सामने मूलसंहिता भी रहती है और वह अनुवाद के अर्थ की यथार्थता स्वयं देख सकता है। तीसरी पद्धति में मूल और उसके अनुवाद के अतिरिक्त मूल की टीकोपटीकाएँ तथा उनके भी सरल अनुवाद दिये हुए रहते हैं। सामान्य जनता के लिए ये अनुवाद विशेष उपयोगी नहीं होते, परन्तु शास्त्राध्ययन की दृष्टि से दूसरी पद्धति के अनुवादों की अपेक्षा अधिक उपयोगी होते हैं। इसका कारण यह है कि टीकोपटीकाओं में मूल के अतिरिक्त शास्त्र की काफी चर्चा रहती है, जिससे शास्त्र का आकलन होने में सहायता होती है। चतुर्थ पद्धति में मूल संहिता और उसके सरल अनुवाद के पश्चात् अनुवादक स्वयं अपना वक्तव्य प्रकट करता है। इसमें कठिन तथा गूढ़ शब्दों और भावों पर उचित प्रकाश डाला जाता है, मतमतान्तरों का उल्लेख किया जाता है, जहाँ दोनों का समन्वय हो सकता है वहाँ समन्वय करने की चेष्टा की जाती है, जहाँ पर वास्तविक विरोध होता है वहाँ पर पक्षपातविरहित होकर विरोध प्रदर्शित किया जाता है, प्राचीन त्रुटियों की पूर्ति आधुनिक ज्ञान विज्ञान से की जाती है और इसके लिए श्रुति-स्मृति-पुराण उपनिषद्-इतिहास इत्यादि प्राचीन शास्त्र उनकी टीकाएँ, आधुनिक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों के लेख, ग्रन्थ, संशोधनात्मक टिप्पणी इत्यादि का उचित परामर्श लिया जाता है। संक्षेप में मूल का उचित अर्थ करने के लिए प्राचीन तथा अर्वाचीन सब साधन सामग्री रखकर दोनों का सुन्दर सम्मेलन करने का प्रयत्न किया जाता है। अनुवाद की यह पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इससे मूल का आकलन इतर पद्धतियों की अपेक्षा आसानी से होता है और इसके अतिरिक्त जहाँ मतभेद का अवसर होता है वहाँ पर सामने रक्खी हुई सब साधन सामग्री के आधार पर पाठक स्वयं अपना मत बना सकता है।

सुश्रुतसंहिता के आजतक अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें निर्देश करने योग्य प्रथम पद्धति का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में है। दूसरी पद्धति के अनेक अनुवाद हिन्दी तथा इतर सब भारतीय भाषाओं में हुए हैं। तीसरी पद्धति का एक भी अनुवाद नहीं हुआ है। इस प्रकार का सुश्रुत का एकाध अनुवाद होना जरूरी है। चौथी पद्धति के अनुवाद अधिक उपयोगी होने के कारण उस प्रकार के जितने भी अनुवाद प्रकाशित हो सकते हैं उतने होने चाहिए। मैंने इस पद्धति का 'आयुर्वेदरहस्यदीपिका' नामक सुश्रुत का अनुवाद करने का बृहत्प्रयास किया था और उसके परिणाम स्वरूप सूत्र-निदान-शारीर के दो विभाग प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु अभाग्यवश मैं उसको पूरा न कर सका और मेरा वह प्रयास अपूर्ण ही रह गया।

अत्रिदेवजी आयुर्वेद संहिता के प्रसिद्ध अनुवादक हैं। आपने आयुर्वेद की सब संहिताओं का हिन्दी में अनुवाद किया है। सुश्रुत का यह अनुवाद दूसरी पद्धति का है। इसमें प्रथम ऊपर मूल देकर उसके बाद उसका सरल भाषा में अनुवाद दिया है। कहीं कहीं उसका विस्तार भी किया है। इसके अतिरिक्त पादटिप्पणी में मूल-संहिता के अनेक कठिन शब्दों और कल्पनाओं का विवरण इतर संहिता ग्रन्थों के उद्धरणों से किया गया है। इससे ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। इस समय सम्पूर्ण सुश्रुत का एक भी अच्छा अनुवाद उपलब्ध नहीं था, जिससे विद्यार्थियों को सुश्रुत के अध्ययन में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस अनुवाद से विद्यार्थियों का बहुत उपकार हो गया है। आशा है कि आयुर्वेद के छात्र तथा आयुर्वेदानुरागी इतर चिकित्सा पद्धतियों के छात्र तथा चिकित्सक अत्रिदेवजी के इस परिश्रम का हृदय से स्वागत करेंगे।

महाशिवरात्रि
संवत् २००६
काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

भास्कर गोविन्द घाणेकर

अनुवाद के विषय में

"भिषग् बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत।
विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके॥" चरक

सबसे प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे, वैद्यों के बहुत से शास्त्र लोक में प्रचलित हैं। सुश्रुत के भी बहुत से अनुवाद बाजार में प्रचलित हैं। इनमें कुछ पूर्ण हैं, और कुछ अपूर्ण हैं। कोई अनुवाद इतने अधिक विस्तृत हैं कि साधारण बुद्धि का मनुष्य उनको पढ़ भी नहीं सकता, (इसी से चरक में कहा—त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्)। विद्यार्थी जीवन में कुछ तो बालपन तथा कुछ दूसरे विषयों के बोझ से कुछ थोड़े से विद्यार्थी ही इन विस्तृत व्याख्याओं का उपयोग करते हैं। इन व्याख्याओं का मुख्य आधार पाश्चात्यज्ञान रहता है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिये इनका सहारा प्रायः लिया जाता है, जो कि इनको बहुत विस्तृत कर देता है। यही विस्तार साधारण विद्यार्थी जीवन में रुचिकर नहीं होता। इसलिये इस अनुवाद में मैंने इन दोनों बातों से यथासम्भव बचने का प्रयत्न किया है। मैंने अनुवाद को विद्यार्थी की दृष्टि से न तो विस्तृत और न संक्षिप्त किया है। विषय को स्पष्ट करने या पुष्ट करने के लिये आयुर्वेद के ही उद्धरण लिये हैं। जिस देश में आप हैं, उस देश के ज्ञान को उसी देश की आंखों से देखने से सत्य ज्ञान मिलता है। भारत का रसोई घर, उसके साधन इस देश की दृष्टि से विचारने होंगे। रसोई घर में टेबल-कुर्सी न देखकर उसे हीन कल्पना करना सत्यता नहीं होगी। बस, इसी दृष्टि से मैंने इस अनुवाद को लिखने का यत्न किया।

इस अनुवाद का एक खासा इतिहास भी है—जो कि प्लासी के युद्ध के इतिहास की तरह रुचिकर तथा हल्दी घाटी के युद्ध की तरह महत्त्वपूर्ण है। चरक संहिता का अनुवाद समाप्त करके सन् ३६ से सुश्रुत का अनुवाद शुरू किया था। उस समय यह शारीरस्थान तक ही लिखा था। बस, यह यहीं पड़ा रहा। फिर सन् ४७ में श्री सुन्दरलालजी, अध्यक्ष-मोतीलाल बनारसी दास-फर्म लाहौर वालों ने इसका प्रकाशन आरम्भ किया था। उसके लिये इसे फिर देखा और शेष अनुवाद पूरा किया। उन्होंने छापना भी शुरू किया। चिकित्सास्थान से आगे तक छप गया था। भारत का विभाजन हुआ। लाहौर पाकिस्तान में गया। सब वहाँ नष्ट हो गया। केवल निदान तक के प्रूफ मेरे पास आये थे, वह बचे, बस, उसके आगे सारा लिखना था।

यह लिखना पहाड़ या महाभारत था—दिल टूट गया था-प्रकाशक आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की मदद देने में लज्जा अनुभव करते थे-उनकी भी कमर टूट गई थी। इस समय जीवन की साथिन शान्ति ने ढाढस दिया, उसी की यह प्रोत्साहना थी कि इसको समाप्त कर सका। उसका यह बार-बार कहना कि लोग कहेंगे कि तुमने सुश्रुत नहीं लिखा, एक धब्बा रहेगा, जब चरक संहिता लिखी, अष्टांग संग्रह लिखा, अष्टांग हृदय लिखा, इसे भी पूरा कर दो। माननीय डाक्टर बालकृष्ण पाठक एम० बी० बी० एस० प्रिन्सिपल आयुर्वैदिक कालेज, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी और आदरणीय डाक्टर प्राणजीवन मेहता एम० डी० एम० एस० की कही एवं लिखी बात पूरी कर दी-कि अत्रिदेव ने वृद्धत्रयी का अनुवाद किया।

इस अनुवाद में तथा दूसरे अनुवादों में मुख्य प्रेरणा-बड़ा हाथ श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज बम्बई का है। उनका यह कहना कि "लिखो, अपनी तरफ से शुद्ध लिखने का यत्न करो, परन्तु अशुद्धि के डर से न लिखना, यह ठीक नहीं। तुम सर्वज्ञ नहीं। गल्ती दूसरे सुधार लेंगे-ऐसे भी आदमी हैं, जो सुधार ही सकते हैं, लिख नहीं सकते। आज की 'ग्रेएनौटमी' आज से तीस साल पहली ग्रे की एनौटमी से बहुत बड़ी है, उसमें संशोधनों से बढ़ती होती रही। इसी प्रकार तुम्हारे अनुवाद में भी शोधन हो जायेगा। लिखो, मेहनत करो।" ये वाक्य थे, ये शब्द थे, जो सदा जामनगर के गैस्ट हाऊस में रात दिन कानों में पड़ते रहते थे-बस, इन शब्दों से बाहर में मिली प्रेरणा, घर में शान्ति का आग्रह, इन दो पाटों के बीच में पड़ने पर मुझसे यह कार्य हो गया है। कैसे हुआ यह मुझे स्वयं भी पता नहीं। सुश्रुत जैसी बड़ी पुस्तक का अनुवाद दो-तीन बार करना पड़े इसमें अरुचि, अनिच्छा, विमनस्कता अवश्य आ जायेगी। विशेषकर मुझ जैसे को जिसने एकबार प्रश्न पत्रों

का उत्तर लिखकर कभी भी दुबारा देखने का साहस नहीं किया। अस्तु, भगवान् की इच्छा गुरुजनों का आशीर्वाद, शान्ति का स्नेह भरा आग्रह, इन सबोंसे यह इच्छा भी पूर्ण हो गई, कि मुझे आयुर्वेद की वृद्धत्रयी का अनुवाद पूरा करना है।

अशुद्धि या शुद्धि के लिये मुझे कोई चिन्ता नहीं, अशुद्धियाँ तो होनी ही चाहिये, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ। भूल होना ही मनुष्य की पहचान है। रामजी ने हिरण्य के मृग में भूल की, इसीसे हम लोग उनको मनुष्य मानते हैं। इसलिये अशुद्धियों को मनुष्य ही शुद्ध भी कर लेंगे। सोना तो अग्नि में ही शुद्ध होता है। यह अनुवाद भी विद्वानों की ज्ञानाग्नि में तपकर कुछ समय पीछे अवश्य कुन्दन बन जायेगा, इसका मुझे विश्वास है[1]।

अन्त में इसके प्रकाशक श्रीसुन्दरलालजी को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने फिर उसी उत्साह से इसका प्रकाशन इस संकटमय जीवन में शुरू किया है। और इसको पुनः नये सिरे से छापकर जनता के सामने उपस्थित किया।

इसके सिवाय इसके भूमिका लेखक डाक्टर श्री भास्कर गोविन्द जी घाणेकर का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कर मुझे कृतार्थ किया। श्री घाणेकर जी सुश्रुत के अच्छे परखनेवाले हैं। उन्होंने स्वयं सुश्रुत की टीका हिन्दी में लिखी है, उसका सबसे अधिक प्रचार हुआ, विद्यार्थियों तथा वैद्य समाज में बहुत सम्मान उसने पाया है। वे भूमिका लिखें—यह वास्तव में अनुवादक और प्रकाशक दोनों के लिये गौरव की बात है, साथ ही भूमिका लेखन कार्य सबसे प्रथम इसी अनुवाद को उनकी लेखनी से प्राप्त हुआ है, यह तो वास्तव में सौभाग्य की बात है। हृदय से उनका धन्यवाद करके विदा लेता हूँ।

अत्रिदेव

---

१ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥भगवद्गीता।

सुश्रुतसंहिता के विषय में

वर्तमान समय में जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध है, उस पर केवल श्रीडल्हणाचार्य की टीका मिलती है। उस टीका में उन्होंने अपना सब परिचय दिया है। उसी में उन्होंने जेज्जट, गयदास, भास्कर आदि विद्वानों की टीका पंजिका का नाम कीर्तन किया है, स्थान-स्थान पर दूसरे आचार्यों के पाठ भी दिये हैं।

इसी प्रसंग में उन्होंने प्रतिसंस्कर्ता रूप में नागार्जुन का नाम भी दिया है; यथाः—"यत्र तत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव।"

बस, इस एक स्थान के सिवाय और प्रमाण नागार्जुन के प्रतिसंकर्त्ता होने का नहीं मिलता। साथ ही नागार्जुन बौद्ध था। सब इतिहासकार इस बात को बिना विरोध के मानते हैं। इसके विपरीत सुश्रुत में स्थान स्थान पर ब्राह्मणों के लिये विशेष उपचार, ब्रह्मभोज आदि का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मभोज की प्रथा आज भी इस देश में है, किसी भी पवित्र कार्य में वास्तु संस्कार या कोई मांगलिक कार्य होने पर ब्राह्मणों को भोज दिया जाता है, इसी प्रकार सुश्रुत में भी वर्णित है।

"छत्रं धारयेद् बालव्यजनैश्च वीजयेत्, ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्॥" चि० अ० ४।२६

चरक में भी छत्र धारण, पंखा करना, उत्तम बस्तियों के सिद्ध करने में है, परन्तु वहाँ ब्रह्मभोज नहीं है। इसके सिवाय सुश्रुत में ब्राह्मण के लिये दूसरे वर्णों से चिकित्सा में तथा दूसरे कार्यों में भेद बताया है। यथा—

(१) ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः, खनेद्वा कूपम्॥

(२) 'तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितसर्वागारं यथासंख्यं तन्मयपर्यङ्कम्॥" शा० अ० १०।

चरक में इस प्रकार का भेद चिकित्सा में नहीं है। वहाँ पर जातिसूत्रीय विधि में आसन का भेद वर्ण के अनुसार अवश्य है, यह प्रथा स्मृति काल से चालू है, परन्तु वर्णभेद से भूमिभेद नहीं है, अपि तु इसके विपरीत चरक में—

> विद्यासमाप्तौ भिषजस्तृतीया[1] जातिरुच्यते।
> अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना।
> विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा,
> ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद् वैद्यस्त्रिजः स्मृतः॥

('त्रिजः के स्थान पर द्विजः भी पाठ है)। चरक चि० अ० १।४।५२-५३

इससे स्पष्ट है कि चरक के पीछे सुश्रुत बना है, और सुश्रुत आज कल के रीतिरिवाजों से अधिक परिचित था।

सुश्रुत में बौद्ध समय के शब्दों का भी उल्लेख है, यथा—

विशिखा—"अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।" विशिखा का अर्थ कर्म मार्ग या रथ्या दिया है। परन्तु जैन ग्रन्थों में (उत्तराध्ययनसूत्र में चूर्णिटीका) विशिखा शब्द मल्ल लोगों को आराम करने के स्थान के लिये आया है। कुश्ती करते-करते जब मल्ल थक जाता है, तब वह आराम लेने के लिये जिस स्थान पर जाता है, उस स्थान को विशिखा कहते हैं। आजकल भी बौक्सिं में ऐसा स्थान निश्चित होता है। वहाँ पर खड़े हुये व्यक्ति पर चोट नहीं की जा सकती। उत्तराध्ययन सूत्र में यह विशिखा शब्द दो मल्लों की कुश्ती के प्रसंग में ही आया है।[2]

---

१ तृतीया के स्थान पर द्वितीया भी पाठ है।

२ चरक में भी विशिखा शब्द है—वहाँ पर रथ्या अर्थ ठीक है, परन्तु सुश्रुत में कर्म मार्ग या घर अर्थ ठीक है।

भिक्षुसंघाटी[1]—यह दूसरा शब्द है। यथा—"जीर्णां च भिक्षुसंघाटीं धूपनायोपकल्पयेत् ।।" पुरानी भिक्षु-संघाटी (कन्था गुदड़िया) का धुवाँ दे। जिन वस्तुओं के साथ इसको पढ़ा है उनको देख लीजिये, यथा—

"पुरीषं कौक्कुटं केशाश्चर्मसर्पत्वचं तथा" मुर्गे की बीठ, बाल, खाल, साँप की केंचुली इनके साथ जीर्ण वस्त्र का धुवाँ देना कहा है। ये सब चीजें घृणित–निन्दित हैं। इन निन्दित वस्तुओं के साथ भिक्षुसंघाटी को भी गिना है, इससे स्पष्ट है कि यह कोई पवित्र वस्तु नहीं, अपितु घृणित वस्तु है। जब कि प्रव्राजित साधु सबसे बड़े—मान्य-पूज्य माने हैं। इसलिये टीकाकारों ने भिक्षुसंघाटी से शाक्यभिक्षु बौद्ध का ग्रहण किया है (यथा–भिक्षुरत्र शाक्यभिक्षुः बौद्धाख्यः–डल्हण)। नहीं तो अपने पूज्य आचार्य की प्रत्येक वस्तु को शिष्य महत्त्व की मानते हैं, जैसे लोग गांधी जी के चप्पल, फाउन्टेनपेन, उनके वस्त्र पूज्य समझते हैं। परन्तु सुश्रुत के समय बौद्धभिक्षु घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, इसी से उनका जीर्ण वस्त्र घृणित मानकर घृणित वस्तुओं के साथ धूप कार्य में लिया गया है। ब्राह्मणों का और बौद्धों का परस्पर विरोध रहा, इसका साक्षी इतिहास आज भी है।

इसलिये वर्तमान सुश्रुत बौद्धकाल के उदय काल के पीछे जब पुनः पुष्यमित्र ने ब्राह्मणों का राज्य स्थापित किया, तब का बना होना चाहिये। चूंकि इसमें ब्राह्मणों की प्रधानता है।

इसके सिवाय ज्वर की चिकित्सा में रोगी को सम्पूर्ण विश्राम देने का इस सुश्रुत में विशेष विधान है। टाई फाईड् रोगी को बिल्कुल हिलने-जुलने से मना करते हैं, सुश्रुत भी ऐसा ही बताते हैं, यथा—"ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितैः। निषण्णं भोजयेत्तस्मात् मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ।। निषण्णम्—शय्यायामेव आसीनमुपविष्टम् ।।"

चरक में इस प्रकार का स्पष्ट वचन रोगी के लिये नहीं मिलता। बौद्धकाल में आयुर्वेद की उन्नति विशेष रूप में हुई। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेद के लिये प्रसिद्ध था। जीवक ने यहीं शिक्षा ली। जीवक—बौद्धग्रन्थों में प्रसिद्ध चिकित्सक रहा[2]। इसलिये सुश्रुत में ज्वर के इस मुख्य अङ्ग को स्पष्ट किया है। ज्वर में—विश्राम मुख्य वस्तु है।

इन सबके सिवाय उत्तरकुरु शब्द का सुश्रुत में आना है। यह उत्तरकुरु शब्द सुश्रुत के सिवाय और किसी आयुर्वेद-ग्रन्थ में नहीं है।

"वाह्लीकाः शाद्वलाश्चीनाः मूलीका यवनाः शकाः। मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ।।
मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः। अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ।।
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्। सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ।।
मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः ।।" चरक चि० अ० ३०-३१६-३१९ ।।

ये देश भारत के हैं, या उसके पास हैं। इनमें उत्तरकुरु का वर्णन नहीं है। सुश्रुत में उत्तरकुरु का वर्णन ऐसे स्थान पर है, जहाँ पर कि जाना सुगम नहीं, वहाँ पर रसायनसेवी ही जा सकता है, यथा—

"क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि। यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ।।" सु० चि० अ० २९-१७

उत्तरकुरु शब्द महाभारत में भी नहीं आया, परन्तु किरातार्जुनीय में अर्जुन की विजय वर्णन में आया है, यथा—

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
सवल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ।।भारवि

अर्जुन ने उत्तरकुरुओं को जीतकर बहुत सा सोना युधिष्ठिर को लाकर दिया था।

यह उत्तरकुरु–शक्रसदन–स्वर्ग के बराबर का स्थान है। प्राचीनकाल में जब-जब भी रावण या किसी राजा को (रघु आदि को) धन की जरूरत हुई, उन्होंने स्वर्गपर चढ़ाई की—ऐसी कथायें इस भारत देश में बहुत सी हैं। कुछ भी हो उत्तरकुरु स्थान-स्वर्ग के समान साधारण मनुष्यों से अगम्य था। उत्तरकुरु को वर्तमान ऐतिहासिक "थ्यन शान"—कहते हैं। यह चीनी शब्द है, जिसका अर्थ देवताओं का पहाड़ है। जो ठीक भी

१ संघाटी—बौद्ध साधुओं का कटि से ऊपर का उत्तरीय वस्त्र है।
२ मेरा शल्यतंत्र इस विषय में सहायक होगा।

लगता है, इसका स्थान मध्य एशिया में मानते हैं। जब कि हम लोग स्वर्ग-त्रिविष्टप को वर्तमान तिब्बत कहते हैं। इसलिये उत्तरकुरु–वर्तमान तिब्बत के पास का स्थान शान पर्वत ही हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं।

इन सब से अधिक वर्तमान सुश्रुत में राम-कृष्ण का नाम भी आता है। राम और कृष्ण इस देशवासियों के पूज्य हैं। उनका सुश्रुत में नाम कथन होना–इसको ब्राह्मण काल का सिद्ध करने में प्रबल युक्ति है। यथा—

"महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि। तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥ सु०चि०अ० ३०।२७

राम, कृष्ण का नाम होना, उत्तरकुरु कथन, विशिखा, भिक्षुसंघाटी शब्दों का आना, ब्रह्मभोज आदि बातों का वर्णन–सुश्रुत संहिता को ब्राह्मण काल का सिद्ध करने में पर्याप्त है। साथ ही इसका संस्कर्त्ता नागार्जुन–बौद्ध हो, इसमें सन्देह उत्पन्न करता है। बौद्ध संस्कर्त्ता-बौद्धों के लिये एक भी प्रतिपादक पंक्ति या उसकी झलक किसी रूप में न देवे, यह मुश्किल है, खासकर जब हम देखते हैं, कि अहिंसा के कारण हमारा शल्यशास्त्र (सर्जरी) पर्याप्त अधोगति में उतरा है, उसमें शल्यशास्त्र के इस प्रधान ग्रंथ का संस्कर्त्ता बौद्ध हो, इसके मानने में सन्देह रहता है। यदि संस्कर्त्ता नागार्जुन है तो वह बौद्ध नहीं था, और यदि बौद्ध नागार्जुन के सिवाय दूसरा कोई नागार्जुन नहीं मिलता तो इस सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन नहीं है, कोई दूसरा होगा।

इसलिये डल्हण के वचन पर आँखें बन्द करके बैठने में सन्देह रहता है।

वर्तमान सुश्रुत में चरक संहिता के वाक्य बहुत से एक जैसे ही आते हैं। यथा—

सुश्रुत में	चरक में
(१) मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् सु० चि० अ० ३९।१५०	(१) मुदगान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्। चरक० चि० अ० ३।१९
(२) गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते॥	(२) अन्यनेयौ हि संमग्नावूरुपादौ च मन्यते॥
(३) गोधूमवेणुयवानुपयुञ्जीत।	(३) देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः॥
(४) मधु मधुरसामलकरसेन हरिद्रायुतं,	(४) क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद् रसेनामलकीफलानाम्।
(५) स्थितं दशाहत्रयमेतदञ्जनम् कृष्णोरगास्ये कुशसंप्रवेष्टिते। तन्मालतीकोरकसैन्धवायुतं सदाऽञ्जनं स्यात् तिमिरेऽथ रागिणे॥	(५) वदने कृष्णसर्पस्य निहितं भासमञ्जनम्। ततस्तस्मात्समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः॥ सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च। एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्॥
(६) अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालावनुवर्त्तते। अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्त्तते॥	(६) अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालावनुवर्त्तते॥ चि०अ० ३।६३
(७) मिथ्याचारेण यः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च। जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणुताः पृथक्॥ उ० अ० ३८।५	(७) मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च। जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥ चि० अ० ।३०
(८) वातिकं बस्तिमिश्चापि पैत्तिकं तु विरेचनैः। कफजं वमनैर्धीमानपस्मारमुपाचरेत्॥	(८) वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः। श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्॥
(९) आनह्यते यस्य विधूप्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा। न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥ सु० अ० २२।६	(९) आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा। न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥ चरक चि० अ० २६।११४

अत्रिदेव

१ 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' पाणिनि के इस सूत्र की व्याख्या में 'उत्तराः कुरवः' यह उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व उत्तरकुरु शब्द प्रसिद्ध था।

❀ सुश्रुतविषयानुक्रमणिका ❀

निदानस्थान

प्रथमोऽध्यायः

चिकित्सास्थान

प्रथमोऽध्यायः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सुश्रुतसंहिता

सूत्रस्थानम्[1]

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'वेदोत्पत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १ ॥

वक्तव्य—वेदोत्पत्ति से अभिप्राय आयुर्वेदोत्पत्ति का है। यथा—"तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः—" चरक में आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है, कि—

"न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्राववोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके ॥"
च० सू० अ० ३० ॥ २७ ॥

भगवान् शब्द का अभिप्राय--अतिशय ज्ञानवान् पुरुष से है, जैसा कि भगवान् का लक्षण किया है—

उत्पत्तिकारणं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स ज्ञेयो भगवानिति ॥

अथवा इसका दूसरा अर्थ—समस्त ऐश्वर्य, यश, श्री आदि से युक्त को भगवान् कहा है। क्योंकि योगिपुरुषों का यही ऐश्वर्य है—जैसा कि चरक में कहा है—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ॥
चरक शा० अ० १।१४०,१४१।

ऐश्वर्यस्य समस्तस्य माहात्म्य-यशसोः श्रियः।
कामस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥
भानुमती।

धन्वन्तरिः—धनुः शल्यं, तस्यान्तमियर्त्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः—शल्य शास्त्र के पारंगत होने से धन्वन्तरि[1]।

विशेष मन्तव्य—यह सुश्रुत संहिता श्री नागार्जुन (प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव०ड०टी०) द्वारा प्रतिसंस्कृत (सम्पादित) है और प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ में ४ प्रकार के सूत्र या वाक्य रहते हैं अथवा यों कहिये कि प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ ४ प्रकार के वाक्यों से सम्पादित होता है, यथा—१—गुरुसूत्र = आचार्य का वाक्य, २—शिष्यसूत्र या श्रोता का वाक्य (प्रश्न), ३—प्रतिसंस्कर्त्ता का सूत्र जैसे यहाँ तथा जहाँ तहाँ "यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः" आदि २ और ४—एकीय सूत्र अर्थात् किसी एक ऋषि (आचार्य) का मत, जिसको सब न मानते हों परन्तु कुछ अवश्य मानते हों या उसमें उपपत्ति हो, या सत्यांश हो, यथा—शा० स्थान० अ० ३ में गर्भसम्भव में ऋषियों के अनेक मतों का वर्णन तथा शा० अ० ६ में "तत्र केचिद् आहुः" और यत्र तत्र "यद् आहुः एके" "इति केचित्" आदि वाक्य। इस प्रकार उक्त चार प्रकार के वाक्यों से सम्पादित ग्रन्थ सुगम, सरल एवं संग्राह्य होता है ॥ २ ॥

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्य (र) गोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः ॥३॥

देवताओं में श्रेष्ठ, ऋषियों के समूह से घिरे, वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए—काशिराज, भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि को

---

१ सूत्रस्थान का लक्षण—

सूत्रणात्, सूचनाच्चैव धारणादर्थसन्ततेः।
सूत्रस्थानं समुद्दिष्टम्— ॥ सु० सू० अ० ३ ॥
अथवा—यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते।
संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रहः कृतः ॥ ५ ॥
चरक सू० अ० ३० । ८९ ॥

यह समझना चाहिये—फूलों को गूँथने के लिये-सूत्र की जरूरत होती है, यहाँ पर अर्थों को पिरोने के लिये सूत्र चाहिये।

१ जगदर्थसाधनाद् धनुर्धर्मः-तस्यान्तो व्याधिः, अकालमृत्युसम्पादकोऽधर्मः, तस्यारिः व्याध्यकालमृत्युनिवर्त्तनद्वारा ॥
भानुमती।

औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित और सुश्रुत आदि (कलायान, गार्ग्य आदि) ऋषियों ने पूछा।

(यद्यपि सुश्रुत प्रधान था, उसका नाम प्रारम्भ में न देकर औपधेनव आदि का जो नाम दिया है, वह देवर्षि होने से है, अथवा प्रिय का नाम आदि या अन्त में दिया जाता है, चूँकि आदि अथवा अन्त में ध्यान जाता है) ॥ ३ ॥

भगवन्! शारीरमानसागन्तुभिर्व्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्च मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति, तेषां सुखैषिणां रोगोपशमनार्थमात्मनश्च प्राणयात्रार्थं प्रजाहितहेतोरायुर्वेदं श्रोतुमिच्छाम इहोपदिश्यमानम्, अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः तद्भगवन्तमुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति ॥ ४ ॥

हे भगवन्! शारीर, मानस तथा आगन्तुज रोगों से एवं अनेक प्रकार की वेदनाओं की पीड़ा से कष्ट भोगते हुए मित्र-स्वामी-नौकर आदि से सनाथ होने पर भी अनाथों की भाँति चेष्टा करते हुए और चिल्लाते हुए मनुष्यों को देखकर हमारे मन में दुःख होता है। सुख की इच्छावाले[1] इन पुरुषों के रोग की शान्ति के लिये तथा हमारी अपनी जीविका के लिये एवं जनकल्याण के लिये आप द्वारा उपदेश किये हुए आयुर्वेद को सुनना चाहते हैं। इस आयुर्वेद में ही ऐहलौकिक कल्याण और पारलौकिक श्रेय है, इसलिये हे भगवन्! हम आपके पास शिष्य रूप से आये हैं।

वक्तव्य—संसार में भले ही, पैसा, मकान, नौकर आदि सुख कहा जाये, एवं दरिद्रता, शोक, चिन्ता को दुःख कहें, परन्तु आयुर्वेद में तो आरोग्य—को ही सुख और रोग को ही दुःख कहा है। यथा—

'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥' च० सू०

(२) जनकल्याण के लिये ही आयुर्वेद बना है—जैसा चरक में कहा है—

'आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थम् आयुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छताम्............शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हतायोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति' ॥ चरक चि० अ० १।४।४॥

(३) धर्म, अर्थ और काम—इन पुरुषार्थों से ऐहलौकिक या पारलौकिक-एक सुख मिलता है। दोनों स्थानों का सुख देनेवाला एक यही आयुर्वेद है, इसी से चरक में कहा है—

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥
च० सू० अ० १ ॥ ४ ॥

तानुवाच भगवान्—स्वागतं वः, सर्वे एवामीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः ॥ ५ ॥

उनको भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—हे पुत्रो! तुम सबका आना अच्छा है, तुम सब के विषय में कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं, तुम सब पढ़ाने योग्य हो।

वक्तव्य—शिष्य को आचार्य की सेवा पुत्रवत् करनी चाहिये, इसी से चरक में कहा है—

'पुत्रवत्-दासवत्-अर्थिवच्चोपचरता
ऽनुवस्तव्योऽहम्'। च० वि० ॥

(२) अध्यापन करने से पूर्व आचार्य के लिये शिष्य की और शिष्य के लिये आचार्य की परीक्षा आवश्यक है। यथा—

(१) अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत्।
(२) ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत्।
चरक वि० अ० १ ॥ ५ ॥

इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः, ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् ॥ ६ ॥

यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है, जिस आयुर्वेद को प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों में और एक हजार अध्यायों में कहा था। फिर मनुष्यों को अल्प आयुवाले एवं अल्पबुद्धिवाले देखकर इस आयुर्वेद को आठ अङ्गों में बनाया।

वक्तव्य—आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपांग चरक में कहा है।[1] केवल 'चरणव्यूह' में ऋग्वेद का उपांग इसे कहा है—

इस विस्तृत शास्त्र को संक्षेप में कहने की चर्चा चरक में भी की गई है। यथा—

तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः।
पदैरल्पैः मतिं बुद्ध्वा-विपुलां परमर्षये ॥[2]
च० सू० अ० १ । २३ ।

१ प्रोवाच विनयाद्धीमान् ऋषीणां वाक्यमुत्तमम्।
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयंकराः।
तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो ॥
च० सू० अ० १।

१ तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्-साम-यजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।

२ कामशास्त्र में भी, इसी प्रकार से कामशास्त्र की उत्पत्ति बताई है—उसके भी आठ अङ्ग हैं।

वि० मन्तव्य—'इह खलु' का तात्पर्य-इस ग्रन्थ में या इस अध्याय में या हमारे विचार में यह माना जाता है, निश्चय किया गया है या कहा जाता है भले ही अन्य ग्रन्थों में प्रकरणों में अध्यायों में अथवा अन्य आचार्यों के विचार मत में कुछ भी माना जाता हो निश्चय किया गया हो या कहा जाता हो। इस प्रकार विरोध तथा विरोधाभास का निराकरण हो जाता है जो भिन्न २ प्रकारों, दृष्टिकोणों या विधिभेदों के अनुसार कहे गये विषय विरुद्ध (परस्पर या पूर्वापर विरोधी) प्रतीत होते हैं॥

तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति ॥ ७ ॥

यथा—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण तन्त्र ॥ ७ ॥

अथास्य प्रत्यङ्गलक्षणसमासः—

तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च (॥१॥)

शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम् (॥२॥)

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् (॥३॥)

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् (॥४॥)

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥

अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च (॥६॥)

रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च (॥७॥)

वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च (८) ॥८॥

अब इन आठ अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग का लक्षण संक्षेप में कहते हैं। इनमें—

शल्य से अभिप्राय—नाना प्रकार के तिनके, काष्ठ, पत्थर धूलि, लोहा, धातु, ढेला, अस्थि, बाल, नख, पूय, स्राव, दूषित व्रण, अन्तः शल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिये और यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोग के लिये एवं व्रण के निश्चय के लिये, शल्य शास्त्र है। [1]

जत्रु (ग्रीवामूल अथवा अंस सन्धि) से ऊपर के रोग अर्थात्, कान, आँख, मुख और नासिका आदि में होनेवाले रोगों की शान्ति के लिये शालाक्य शास्त्र है।

वक्तव्य—जत्रु—शब्द से मिलता हुआ शब्द 'जात' या 'जोता' है। बैलों को गाड़ी में जोतते समय उनके गले के नीचे जो पट्टी या रस्सी जूले में बाँधी जाती है, उसे जोत कहते हैं। यह पट्टी जहाँ गले में बाँधती है, उस भाग का नाम जत्रु है।

(२) शलाका—पटलवेधनी—यह अर्थ है। लिंग नाश की चिकित्सा में शलाका का उपयोग सुश्रुत में बताया गया है। यथा—

नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्रया॥
मध्यप्रदेशिन्यंगुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया।
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत्॥

सु० उ० अ० १७ ॥५६,६०॥

और चूँकि जत्रु से ऊपर के मुख, नाक, शिर, कान के रोगों में आँख के रोग ही अधिक हैं और इनमें आँख ही प्रधान है, इसलिये इस अङ्ग का नाम शालाक्य रक्खा गया है [1]।

(३) काय चिकित्सा—सारे अङ्गों में होने (प्रभाव डालने)-वाले रोगों की अर्थात्, ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि रोगों की शान्ति के लिये कायचिकित्सा है।

वक्तव्य—'काय' का अथ सम्पूर्ण शरीर है, इसकी चिकित्सा कायचिकित्सा। अथवा 'कायति शब्दं करोति—इति कायो जाठराग्निः, अंगुलिपिहिते कर्णयुगले धुकू इति शब्दश्रवणात् तात्स्थ्याद् वा कायशब्देन अग्निरुच्यते। उक्तं च भोजेन—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥'

क्योंकि ज्वर, अतिसार आदि रोग अग्नि के दोष से ही होते हैं। इसी से कहा है—

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद् विकृते मूलं, अग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥

चरक चि० अ० १५।

(४) भूतविद्या—देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मनवालों की

---

१ शल्यम्—शल्-हिंसायाम्-अथवा, शलः-शलनम्—हिंसा इत्यर्थः—इसी से कहा है—

अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजंगमानाम्।
यत् किंचिदाबाधकरं शरीरे तत् सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥

१ जत्रु से ऊपर के रोगों में प्रायः शलाका से काम किया जाता है इससे शालाक्य नाम है।

शान्ति कर्म, बलिदान आदि के द्वारा ग्रह की शान्ति के लिये भूतविद्या है।

(५) कौमारभृत्य—बालकों के भरणपोषण, धात्री के दूध के दोषों के संशोधन के लिये, दूषित स्तन्य के कारण (शारीरिक) एवं दुष्टग्रह के कारण (आगन्तुज) रोगों की शान्ति के लिये कौमारभृत्य है।

(६) अगदतन्त्र—साँप, कीड़ा, मकड़ी, चूहे आदि के दंश से उत्पन्न विषरोग की परीक्षा के लिये तथा नाना प्रकार के विषों के संयोग से उत्पन्न हुए विकारों की शान्ति के लिये अगदतन्त्र है।

(७) रसायनतन्त्र—अवस्था को बनाये रखने के लिये, आयु, मेधा और बल को बढ़ाने के लिये, तथा रोगों को दूर करने की शक्ति के लिये, [१]रसायनतन्त्र है।

(८) वाजीकरण तन्त्र—स्वभाव से ही अल्पवीर्यवाले पुरुषों में वीर्य को बढ़ाने के लिये, वात आदि में दूषित शुक्रवालों में शुक्र के शोधन के लिये, किन्हीं कारणों से स्वाभाविक परिमाण में क्षीणशुक्रवालों में शुक्र की वृद्धि के लिये, वृद्धावस्था के कारण शुष्कवीर्यवालों में शुक्र पैदा करने के लिये तथा स्त्रीप्रसङ्ग में प्रहर्ष उत्पन्न करने के लिये वाजीकरण है[२] ॥

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते; अत्र कस्मै किमुच्यतामिति ॥९॥

इस प्रकार से यह आयुर्वेद आठ अङ्गोंवाला कहा जाता है। इन आठ अङ्गों में से किस अङ्ग का तुम्हारे में से किसके लिये, उपदेश करूँ, वह कहो ॥९॥

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति ॥१०॥

उन शिष्यों ने कहा—हे भगवन्! आप शल्य ज्ञानको मुख्य रखकर हम सब को आयुर्वेद का उपदेश दें ॥१०॥

स उवाचैवमस्त्विति ॥११॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही सही ॥११॥

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम्—अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति; अस्मै चोपदिश्यमानं वयमप्युपधारयिष्यामः ॥१२॥

उन शिष्यों ने फिर भी भगवान् धन्वन्तरि को कहा—कि एक विचारवाले हम सबों के अभिप्राय को ध्यान में रखकर सुश्रुत आपसे पूछेगा और इस सुश्रुत को सम्बोधन करके कहे उपदेश को हम सब धारण करेंगे ॥१२॥

स होवाचैवमस्त्विति ॥१३॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही सही ॥१३॥

वत्स सुश्रुत! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ॥१४॥

हे वत्स सुश्रुत! आयुर्वेदोत्पत्ति के विषय में—आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन—रोगों से आक्रान्त प्राणियों को रोगों से मुक्त करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना है[१]।

'आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति' इत्यायुर्वेदः ॥१५॥

आयुर्वेद की निरुक्ति—शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा इनके संयोग का नाम आयु है, यह इस आयुर्वेद में है, अथवा इस शास्त्र के द्वारा आयु प्राप्त होती है, इसलिये यह आयुर्वेद है[२] ॥१५॥

---

१ रसायन—'रसशब्देन रसकार्यत्वात् सर्वेषामेव धातूनां ग्रहणम्। तेन रसादीनां शुक्रान्तानां, किं वा रसवीर्यविपाकानामयनं लाभोपायः रसायनम्।' जैसा कि चरक में कहा है—

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

२ जिस प्रकार आजकल शक्ति के माप की इकाई घोड़ा माना गया है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में घोड़े की ही शक्ति से तुलना की जाती थी। इसी से कहा है—

"अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन-इति वाजीकरणम्। येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम्।" जैसा कि चरक में कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
व्रजते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥

अथवा—वाजो वेगः—प्रस्तावाच्छुक्रस्य. स विद्यते येषां ते वाजिनः, ते क्रियन्तेऽनेन इति वाजीकरणम्। अथवा वाजः, शुक्रं सोऽस्यास्ति-इति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरकरणम्। किं वा, वाजो मैथुनम्-उक्तं हि हारीते—

वाजो नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसंज्ञितम्।
वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ॥

शिवदास सेन, यह वाजीकरण तीन प्रकार कहा है। यथा—

शुक्रस्रुतिकरं किंचित्, किंचित् शुक्रविवर्धनम्।
स्रुतिवृद्धिकरं किंचित्, त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥

तत्र स्रुतिकरं-स्त्रीस्पर्शादि, वृद्धिकरं क्षीरादि, स्रुतिवृद्धिकरं माषादि।

१ प्रयोजनं चास्य—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ॥ चरक सूत्र अ० ३०।

२ (१) हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यच्चोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

(२) हिताहितत:, सुखासुखतः प्रमाणाप्रमाणतश्च तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। यतश्चायुष्याणि, अनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयति ततोऽप्ययमायुर्वेदः ॥ च० सू० अ० ३०।

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्ध-मुच्यमानमुपधारय ॥१६॥

इस आयुर्वेद के श्रेष्ठ एवं आदिम अङ्ग को—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम इन चार प्रमाणों से अविरोध रूप में कहता हूँ, सुनो[1] ॥१६॥

एतद्ध्यङ्गं प्रथमं, प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञशिरः-सन्धानाच्च । श्रूयते हि यथा—"रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्न-मिति, ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—भगवन्तौ ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः, भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धा-तव्यमिति । तावूचतुरेवमस्त्विति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन् । ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्" इति ॥१७॥

इन आठों अङ्गों में—यह शल्य अङ्ग ही प्रधान है। क्योंकि—प्रथम देवासुर संग्राम में व्रणोत्पत्ति के रोहण होने से और यज्ञ का सिर जोड़ने के कारण—यह शल्यतन्त्र प्रधान है। ऐसा परम्परा से सुना जाता है कि—'रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था, तब देवताओं ने अश्विनी कुमारों के पास जाकर कहा कि 'आप दोनों यज्ञ का सिर जोड़ दें'। इस प्रकार करने से आप हम में अतिश्रेष्ठ होंगे। अश्विनों ने कहा कि—अच्छा, ऐसा ही हो। तब देवताओं ने इन अश्विनी-कुमारों के यज्ञ भाग के लिये इन्द्र को प्रसन्न किया। अश्विनी कुमारों ने यज्ञ का सिर जोड़ दिया" ॥१७॥

अष्टास्वपि नायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्, आशुक्रियाकरणाद्यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात् सर्वतन्त्र-सामान्याच्च ॥१८॥

आयुर्वेद के आठों तन्त्रों में यह शल्यतन्त्र ही सब से अधिक मान्य है। क्योंकि—यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि प्रयोग में शीघ्र क्रिया करने के कारण तथा शालाक्य आदि सब तन्त्रों में सामान्य होने के कारण।

वक्तव्य—शल्य तन्त्र, में—यन्त्र, शस्त्र, क्षार आदि का प्रयोग शीघ्र होने से रोग की निवृत्ति भी शीघ्र ही होती है। औषध-चिकित्सा में जितना समय लगता है, शस्त्र-चिकित्सा में कम लगता है। दूसरी बात—आयुर्वेद के शेष सब अङ्गों को किसी न किसी रूप में शल्य तन्त्र की अपेक्षा रहती है। इसी से चरक में अर्शरोग में, गुल्म में, उदररोग में 'शल्यचिकित्सक' की सहायता लेने के लिये कहा है[1] ॥१८॥

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति ॥१९॥

वह यह शाल्यशास्त्र शश्वत (अविनाशि), पुण्य का निमित्त, स्वर्ग के लिये मंगल का-यश का साधन, आयु के लिये हित-कारी और दूसरी जीविका का साधन है ॥१९॥

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥२०॥

इस आयुर्वेद का ब्रह्मा ने उपदेश किया, ब्रह्मा से प्रजा-पति दक्ष ने पढ़ा, दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने सीखा, अश्विनों से इन्द्र ने और इन्द्र से मैंने (धन्वतरि ने) पढ़ा। मुझे तो इस मर्त्य लोक में—प्रजा के कल्याण के लिये, अर्थि रूप में शिष्य रूप से आये हुए तुमको देना है[2] ॥२०॥

भवति चात्र—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम् ।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ।२१।

इस विषय में कहा भी है—

देवताओं की वृद्धावस्था, रोग[3] तथा मृत्यु दूर करनेवाला

---

१ चरक में तीन ही प्रमाण माने हैं, यथ—त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ॥ चरक वि० अ० ४॥

२ अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।
यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥

१ अर्शरोग में—तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम् ।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना ॥
गुल्मरोग में—
तत्र धान्वतरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥
उदररोग में—इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम् ॥
चरक चि० अ० १३ ।

२ कहा है—सम्यग् गुरुमुखादधीत्य यो न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः स खलु ऋणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति ॥

(१) अश्विनौ—शब्द आजकल के M. B. B. S. या M. D. M. S. का प्रतिनिधि है। वैदिक देवताओं में ये ही युगल हैं, और इनके दोनों प्रकार के सर्जिकल और मैडिकल कार्य मिलते हैं। यथा-सर्जिकल-यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ।
मैडिकल-भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥

३ देवताओं को भी रोग होते हैं, यथा—
खालित्यं गरुडध्वजस्य शिरसि, स्नाविव्रणो ब्रह्मणो ।
घोरं चापि जलोदरं च वरुणस्येन्दोस्तथैव क्षयः ।
पूष्णो दन्तगता रुजः सुरपतेर्नेत्रामया दारुणाः ।
लिंगार्त्तिर्भुवनेश्वरस्य, धनदस्याभूच्च पानात्ययः ॥

आदि देव धन्वन्तरि मैं हूँ। आयुर्वेद के अन्य अङ्गों सहित शल्य तन्त्र का उपदेश करने के लिये फिर से इस पृथ्वी पर आया हूँ ॥२१॥

अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, तस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः—स्थावरो, जङ्गमश्च; द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्। पञ्चात्मको वा; तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञः; तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्; तस्मात् 'पुरुषोऽधिष्ठानम्' ॥२२॥

इस आयुर्वेद शास्त्र में--पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों के और आत्मा के संयोग का नाम पुरुष है, (मोक्ष शास्त्र में पच्चीस तत्त्वों के संयोग को पुरुष कहते हैं)। इसी पुरुष में भेषज, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म तथा स्वास्थ्यकारक कर्म अभिप्रेत हैं। क्योंकि यही पुरुष स्वास्थ्य और रोग का अधिष्ठान है। यह नर जातीय पुरुष ही इसका अधिष्ठान इस लिये है—क्योंकि लोक दो प्रकार का है, एक स्थावर और दूसरा जङ्गम। ये दोनों प्रकार के लोक पंच महाभूतों से बने होने पर भी, दो प्रकार के गुण की अधिकता के कारण आग्नेय और सौम्य कहे जाते हैं।[1] अथवा पाँच भूतोंवाला होने से, पाँच स्वभाववाले, ये दोनों प्रकार के लोक हैं। इनमें—सम्पूर्ण प्राणिसमूह, स्वेदज, जरायुज, अण्डज, और उद्भिज—इन चार संज्ञाओंवाला है। इन सब में पुरुष ही प्रधान[2] है। अन्य सब लोक इस पुरुष के साधनरूप हैं। इसीलिए इस शास्त्र का पुरुष ही अधिष्ठान है, (हाथी, वृक्ष आदि नहीं हैं[3])।

विशेष मन्तव्य—यहाँ "पुरुष" प्राणिमात्र का नाम है, आयुर्वेद स्थावर=वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा औषधि की चिकित्सा का तथा हाथी घोड़ा, गौ, भैंस आदि पशु एवं पक्षी आदि की चिकित्सा का भी उपदेश करता है और उत्तरदायी है, परन्तु उन सब में पुरुष (मानव) प्रधान है, अतः इस शास्त्र (सुश्रुत संहिता) में प्रधान माना गया है और इसी को ध्यान में रखकर अङ्ग प्रत्यङ्ग आदि का वर्णन किया गया है ॥२२॥

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥२३॥

इस पुरुष को जिनके संयोग से दुःख होता है, उनको व्याधियाँ (विविधं दुःखमादधतीति व्याधयः) कहते हैं ॥२३॥

ते चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति ॥२४॥

ये व्याधियाँ चार प्रकार की हैं—आगन्तुक, शारीरिक, और स्वाभाविक[2] ॥२४॥

तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः (॥१॥)

शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता (॥२॥)

मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति (॥३॥)

स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृ (भृ)-तयः (॥४॥) ॥२५॥

इनमें आगन्तुक रोग—शस्त्र आदि के अभिघातरूप कारणों से उत्पन्न होते हैं। शारीरिक रोग—अन्नपान के कारण, एवं वात, पित्त, कफ और रक्त इनसे एवं इनके सन्निपात रूप में विषमता से उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग--क्रोध, शोक, भय, हर्ष, दुःख, ईर्ष्या, असूया, दीनता, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के भेदों से उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रोग—भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि हैं।

वि० मन्तव्य—शल्य एवं शालाक्य तन्त्रों में वातपित्तकफ के साथ रक्त को भी गिना जाता है और यूनानी चिकित्सा में रक्त (खून) को खिल्त (दोष) भी माना जाता है ॥२५॥

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः ॥२६॥

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर को आश्रय करके होते हैं।

इसी से चरक में कहा है—

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥
च० सू० अ० १ ॥

वि० मन्तव्य—उक्त चारों प्रकार की व्याधियों का अधिष्ठान—आश्रय या स्थान मन एवं शरीर हैं, अतः इन दोनों पर ही उनका प्रभाव भी पड़ता है ॥२६॥

---

१ (१) खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः ॥चरक॥

(२) सौम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयम्। चरक० शा० १ अ० ३।

२ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठाः....॥ मनु०। ३ इसके लिये विस्तृत विवेचन-भानुमती टीका में दिया गया है, वहाँ देखा जा सकता है।

१ चरक में रोग तीन प्रकार के माने हैं। यथा—त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसमुत्थः; मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ चरक सूत्र अ० ११।

तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः ॥ २७ ॥

सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किये गये संशमन, आहार और विहार, इन रोगों का निग्रह करते हैं। संशोधन—बाह्य संशोधन और अन्तः संशोधन। बाह्य संशोधन—शस्त्र, क्षार, अग्नि प्रलेप आदि से होता है, और आभ्यन्तर संशोधन—वमन, विरेचन, आस्थापन और रक्तमोक्षण—इन चार प्रकार से होता है। (कोई रक्तमोक्षण के स्थान पर शिरोविरेचन मानते हैं)।

संशमन—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति क्रुद्धांश्च तत् संशमनमुच्यते।

यह संशमन भी दो प्रकार का है-बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संशमन-आलेप, परिषेक, अभ्यंग, कवल, गण्डूष आदि आदि रूपमें है। आभ्यन्तर संशमन-पाचन, लेखन, बृंहण, विष प्रशमन आदि रूप में हैं।

आहार चार प्रकार का है-पेय, भक्ष्य, लेह्य और चूष्य। यह चार प्रकार का आहार-दोष प्रशमन, व्याधि प्रशमन और स्वास्थ्यकर भेद से तीन प्रकार का है।

आचार—शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म है। इसमें उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि शारीरिक कर्म स्वाध्याय आदि वाचिक, संकल्प चिन्तन आदि मानसिक कर्म हैं ॥ २७ ॥

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः-स्थावरा जङ्गमाश्च ॥ २८ ॥

आहार प्राणियों का तथा इनके बल, वर्ण और ओज का मूल है। यह [1]आहार छ रसों के अधीन है। रस द्रव्य के आधीन है, और औषधियाँ ही द्रव्य हैं। औषधियाँ दो प्रकार की हैं, यथा—स्थावर और जंगम[2] ॥ २८ ॥

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः-वनस्पतयो, वृक्षाः, वीरुधः, औषधय इति। तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥ २९ ॥

इनमें स्थावर ओषधियाँ चार प्रकार की हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि। इनमें से जिनमें पुष्प आये विना फल आता है, वे वनस्पति कहाती हैं[1]। जिनमें पुष्प और फल दोनों होते हैं, उनको वृक्ष कहते हैं। जो फैलनेवाली एवं गुल्म रूप (थम्बला रूप) होती हैं, वे वीरुध (बेल) कहाती हैं। जो फल के पकने तक ही अस्तित्व रखती हैं वे ओषधि हैं।

वि० मन्तव्य—'अपुष्पा' शब्द का अर्थ—'अविद्यमान-पुष्पाः' (डल्लन), 'येषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म' (हाराणचन्द्र) तथा 'फलैः वनस्पतिः' (चरक) 'विना पुष्पैः फलैर्युक्ता वटोदुम्बरादयः' चक्रपाणिः, तथा—'तेषां अपुष्पा फलिनो वनस्पतय इति स्मृताः' हारीत, 'तैरपुष्पाद् वनस्पतिः' अमरकोश-आदि वनस्पति शास्त्र के अनुसार पुष्प का न होना ही सिद्ध है-सत्य है सही है, परन्तु आधुनिक वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन करनेवाले 'अदृश्यपुष्पाः' अर्थ करते हैं, अर्थ ही नहीं करते प्राचीनों को बुरा-भला भी कह डालते हैं, यद्यपि वे स्वयं गतानुगतिक हैं, फलतः उनकी कल्पना भी निराधार है, कारण सुनिये—पुष्प-विकसने धातु से 'पुष्प' शब्द निष्पन्न होता है। पुष्प वह है जो विकसित होता है—खिलता है—फूलता है और वट उदुम्बर आदि पर इस प्रकार के फूल आते भी नहीं हैं और भगवान् चरक ने इन्द्रियस्थान अ० २ में लिखा है कि—फलं चापि भवेत् किञ्चित् पुष्पं यस्य न विद्यते—अर्थात् ऐसे फल भी होते हैं जिनका पूर्वज पुष्प नहीं होता ॥ २९ ॥

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ॥ ३० ॥

जंगम औषधि भी चार प्रकार की हैं। यथा—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और, उद्भिज। इन चारों में—पशु, मनुष्य, व्याल (हिंसक पशु) आदि जरायुज हैं। पक्षि, सर्प, अजगर आदि अण्डज हैं। कृमि, कीड़ा चिऊँटी आदि स्वेदज हैं। वीरबहूटी, मेंढक आदि उद्भिज्ज हैं[2] ॥ ३० ॥

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः ॥ ३१ ॥

चरक में कहा है—
(१) एकरसाहारः कर्शनीयानाम्—
सर्वरसाभ्यवहारी बलकराणाम् ॥
(२) वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्।
तुष्टिः पुष्टिः बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥
चरक सु० अ० २७। ३४९।

२ औषधि शब्द से—स्थावर और जङ्गम में पार्थिव द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि चरक में कहा है—
पुनस्तत् त्रिविधम्-जंगमौद्भिदपार्थिवम्। च. सू. अ. १।

---

१ "अपुष्पा इति-पुष्पाणामतिसूक्ष्मतया पुष्पाधारकर्णिकया (Receptacles) आच्छादितत्वाच्च अदृश्यपुष्पा इत्यर्थः ॥ सुश्रुत निर्णय० मू०।

२ मेंढक और वीरबहूटी-उद्भिज हैं-यह विचारणीय है? आजकल का विज्ञान इनको ऐसा नहीं मानता।

इनमें स्थावर ओषधियों से—छाल, पत्ता, फूल, फल, मूल, कन्द, गोंद और स्वरस आदि (तैल, क्षार, कांटे आदि) अङ्ग बरते जाते हैं। जङ्गम औषधियों से—चमड़ा, नख, बाल, रक्त आदि का उपयोग होता है ॥ ३१ ॥

पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः ॥ ३२ ॥

पार्थिव ओषधियाँ—स्वर्ण, रजत, (चाँदी), मणि, मुक्ता, मैनसिल, मिट्टी का ठिकरा आदि हैं[१] ॥ ३२ ॥

कालकृतास्तु प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्स्नातमः शीतोष्णवर्षाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनादयः संवत्सरविशेषाः ॥

कालकृत औषध—अतिवायुवाला, वायुरहित स्थान, धूप, छाया, ज्योत्स्ना (चाँदनी), अन्धकार, शीत, उष्ण, वर्षा, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, आदि (निमेष, काष्ठ, ओला आदि) संवत्सर के विभाग को कालकृत कहते हैं।

चिकित्सा में इनका उपयोग होता है। यथा-प्रवातं वर्जयेत्, निवातागारमाश्रयेत्, इत्यादि—

इसी प्रकार प्रवालपिष्टी बनाने में प्रवाल को चाँदनी में रखते हैं। इसी तरह भिन्न भिन्न कुछ योगों को भिन्न भिन्न समय तक भूमि या धान्य राशि में रखने का विधान है। यथा—

लाजोत्पलोशीरकचन्दनानि दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेच्च।
उत्तर अ० ४८।

(२) "निवाते देशे निचितं कृत्वा"। सु० सू० ११।

(३) 'मदनफलानामातपपरिशुष्काणाम्'। सु० अ० ४३॥

त एते स्वभावत एव दोषाणां संचयप्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥ ३४ ॥

ये सब स्वभाव से ही दोषों के संचय, प्रकोप प्रशमन और प्रतिकार में कारण हैं, और चिकित्सा में उपयोगी हैं ॥ ३४ ॥

भवन्ति चात्र श्लोका—

शरीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः।
प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः ॥ ३५ ॥

इस विषय में श्लोक है—[१]

चिकित्सकों ने इस चार प्रकार के वर्ग को शारीरिक रोगों के प्रकोप में तथा रोगों की शान्ति में कारण कहा है। (चार प्रकार का वर्ग—स्थावर, जङ्गम, पार्थिव और कालकृत है)॥

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया ॥३६॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः ॥ ३७ ॥

आगन्तुज रोग दो प्रकार से होते हैं। एक—मन में और दूसरे शरीर में होते हैं। इन दोनों की चिकित्सा दो प्रकार की है। शरीर में होनेवाले रोगों की—शारीरिक रोगों की भाँति चिकित्सा है, और मनमें होनेवाले रोगों की शब्द-स्पर्श-रूप रस और गन्ध इनका सुखकारी उपयोग करना चिकित्सा है ॥ ३६,३७ ॥

एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम्। तत्र पुरुषग्रहणात् तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तस्तदङ्गप्रत्यङ्गविकल्पाश्च त्वङ्मांसास्थिसिरास्नायुप्रभृतयः, व्याधिग्रहणाद् वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता सर्व एव व्याधयो व्याख्याताः, औषधग्रहणाद् द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकानामादेशः, क्रियाग्रहणात् स्नेहादीनि च्छेद्यादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि, कालग्रहणात् सर्वक्रियाकालानामादेशः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार से पुरुष, व्याधि, औषध और क्रियाकाल इन चारों की संक्षेप में व्याख्या कर दी है। इनमें पुरुष शब्द से इस पुरुष को उत्पन्न करनेवाले पंचमहाभूत द्रव्यसमूह, एवं इस पुरुष के अङ्ग प्रत्यङ्ग के भेद, त्वचा, मांस, अस्थि, सिरा स्नायु, आदि भी कह दिये हैं। व्याधि शब्द से-वात, पित्त, कफ, रक्त एवं इनके सन्निपात तथा विषमता से होनेवाले सब रोगों की व्याख्या कर दी है। औषध शब्द से—द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक का ग्रहण कर लिया है। क्रिया शब्द से स्नेह आदि एवं छेद्य आदि कर्मों की व्याख्या कर दी है। काल शब्द से—सम्पूर्ण क्रियाओं के काल का कथन किया है[२] ।३८।

१ अत्र पार्थिवेषु मुक्तायाः पाठोऽनार्षः प्रतिभाति। मुक्तायाः शुक्लाख्यजलचरप्राणिजन्यत्वात् (सु० नि० मूल०)।

यह नोट श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज ने सुश्रुत संहिता (मूल) निर्णयसागर में दिया है। परन्तु पीछे उन्होंने ही बताया कि यह पाठ ठीक है। क्योंकि मुक्ता में स्वर आदि पार्थिव गुण देखकर इसको पार्थिव कहा है न कि उत्पत्ति की दृष्टि से। इस लिये यह प्रमाद का पाठ नहीं है।

१ चरक में कहा है—

गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद् व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते ॥
च० नि० अ० १ ॥

२ पहले जो 'कालकृत'—शब्द आया है, वहाँ पर कोई, 'क्रियाकाल' ऐसा कहते हैं। जैसा भानुमती में कहा है कि—"क्रियाणां स्नेहवमनादिनां तथा छेद्यादीनां च प्रवृत्ति-निवृत्त्य-उप

भवति चात्र—

बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥३९॥

इस विषय में श्लोक है—

चिकित्सा शास्त्र का यह बीज संक्षेप में कहा है। इस संक्षेप में कहे हुए विषय की व्याख्या एक सौ बीस अध्याय में की जायगी ॥३९॥

तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु। तत्र सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्वर्थवशात् संविभज्योत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् वक्ष्यामः ॥४०॥

ये एक सौ बीस अध्याय पाँच स्थानों में विभक्त हैं। यथा-सूत्रस्थान, निदानस्थान, शारीरस्थान, चिकित्सास्थान और कल्पस्थान। प्रयोजन वश इन एक सौ बीस अध्यायों को पाँच स्थानों में विभक्त करके, शेष विषय की उत्तरतन्त्र में व्याख्या करेंगे[1]।

भवति चात्र—

स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनं
पठेद्धि यः काशिपतिप्रकाशितम्।
स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपै
रसुक्षये शक्रसलोकतां व्रजेत् ॥४१॥

कहा भी है—इस विषय में श्लोक है—

ब्रह्मा से कहे हुए और काशिपति से प्रकाशित किये इस सनातन शास्त्र का पृथ्वी पर जो पुरुष अभ्यास करता है, वह पुण्यकर्मशाली पुरुष पृथ्वी पर तो राजाओं से सम्मानित होता है, और मरने पर इन्द्र के समान लोक को अर्थात् स्वर्ग को पाता है। (इस शास्त्र से ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार का सुख मिलता है) ॥४१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वेदोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पिछले अध्याय में इस शास्त्र के अध्ययन के ऐहिक तथा पारलौकिक फल को बताकर अब अध्ययन विधि को बताने के लिए 'शिष्योपनयनीय' नामक अध्याय का अवतरण करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥१-२॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥३॥

जिस प्रकार के शिष्य का उपनयन करना चाहिये वह कहते हैं—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक जाति के, शुद्ध वंश में अथवा आयुर्वेद पढ़नेवाले कुल में उत्पन्न बालक या तरुण अवस्थावाले, शील-शूरता पवित्रता कुल तथा, देश के व्यवहार को जाननेवाले, नम्रता, उत्साह-शक्ति, बल, मेधा, स्मृति (स्मरण), मति, प्रतिपत्ति (उत्तमसूझ युक्त), पतली जिह्वा, पतले ओठ, पतले दाँतों के अग्रभागवाले, सरल मुख-नासिका-आँखोंवाले, प्रसन्नचित्त, मधुरवाणी, सुन्दर चेष्टा-वाले और कष्ट को सहन करनेवाले शिष्य का वैद्य उपनयन करे। इन उपरोक्त गुणों से विपरीत गुणवाले शिष्य का उपनयन नहीं करना चाहिये। (अकुलीन को पढ़ाने का निषेध है। यथा--अकुलीनं त्यजेत् शिष्यम्। वियोनिं म्लेच्छजातिं च)

उपनयनीयं तु ब्राह्मणं प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्रं स्थण्डिलमुपलिप्य गोमयेन, दर्भैः संस्तीर्य, रत्नपुष्पलाजभक्तैर्देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च, तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरिवृक्षाणां (न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुघृताक्ताभिर्दार्वीहौमिकेन विधिना सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः स्रुवेणाऽऽहुतीर्जुहुयात्, ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥४॥

उपनयन विधि—

उपनयन के योग्य ब्राह्मण शिष्य को उपनयन देने के लिये वैद्यप्रशस्त तिथि, प्रशस्त करण, प्रशस्त मुहूर्त्त, प्रशस्त नक्षत्र में, प्रशस्त दिशा में (प्राची या उत्तर दिशा), पवित्र, समान स्थान में चार हाथ बराबर, लम्बा-चौड़ा, चारकोणवाले स्थान

दर्शन-कालः क्रियाकालः।"
इसी प्रकार—

(२) नान्यः कालः क्रियातोऽस्ति, क्रिया नान्याऽथवौषधात्। प्राधान्यात् पुरुषस्यात्र ततो व्याधिचतुष्टयम् ॥ क्रियाविशिष्टः कालो वा, कालो वा तच्चतुष्टयम् ॥ इसलिये ये चार ही हैं, पाँच नहीं।

१ जैसा कि कहा है—"अधिकृत्य कृतं यस्मात् तन्त्रमेतदुपद्रवान्"—अर्थात् शल्य शास्त्र के व्रण आदि में होनेवाले उपद्रवों के लिये इस उत्तरतन्त्र को कहा है।

१ उपनयन हो चुकने पर भी आयुर्वेद शास्त्र को पढ़ने के लिये फिर उपनयन दिया जाता है। क्योंकि उपनयन का अर्थ—शिष्य का गुरु के समीप आना है। इस विधि से शिष्य गुरु के नजदीक आता है। इसी कारण से गुरु-शिष्य मिलकर परस्पर प्रतिज्ञायें करते हैं।

को गोबर से लेपकर इस पर कुशा बिछा दे। फिर रत्न, फूल, लाजा, (चावल आदि) अन्न से देवताओं का, ब्राह्मणों का, वैद्यों का पूजन करे। फिर, इस स्थान पर ऊर्ध्वमुखी रेखाकरके इसे जल से प्रोक्षण करके, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में बैठाकर अग्नि प्रज्वलित करे। खैर, ढाक, देवदार, बिल्व इनकी समिधाओं से, अथवा, बड़, गूलर, पीपल, महुवा इन चार क्षीरी वृक्षों की समिधा से, दही, शहद, घी इनके साथ दार्वी होम विधि[1] से, ओं भूः स्वाहा, ओं भुवः स्वाहा, ओं स्वः स्वाहा—इस ओंकार विधि पूर्वक स्रुवे से घृत की आहुति देते हुए, तथा प्रत्येक के लिये (ब्रह्मणे स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा), प्रत्येक ऋषि के लिये (धन्वन्तरये स्वाहा, भारद्वाजाय स्वाहा, आत्रेयाय स्वाहा) 'स्वाहा' इस शब्द के साथ घी की आहुति देवे। शिष्य भी इसी प्रकार से करे।

वि०मन्तव्य—ज्योतिःशास्त्रानुसार—उपनयन के लिये—प्रशस्त तिथि—द्वितीया, तृतीया, प्रतिपदा, एकादशी, द्वादशी तथा दशमी। भद्रा से अतिरिक्त करण, नक्षत्र—हस्त, अश्विनी पुष्य, तीनों उत्तरा, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, मूल, मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, तीनों पूर्वा, आर्द्रा। वार—रविवार, बुध, गुरु, शुक्र। उक्त तिथियाँ शुक्लपक्ष की हों और कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से पञ्चमी पर्यन्त। समय—मध्याह्न से पूर्व। मास—ब्राह्मण के लिये वसन्त=चैत्र एवं वैशाख, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म=ज्येष्ठ एवं आषाढ़, वैश्य के लिये शरद्=आश्विन एवं कार्तिक। मुहूर्त—दैवज्ञ से पूछिये॥ ४॥

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति। (शूद्रमपि कुलगुणसंपन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके)॥५॥

ब्राह्मण तीनों वर्णों का उपनयन कर सकता है, क्षत्रिय दो वर्णों का (अपना और वैश्य का), वैश्य—वैश्य का ही उपनयन कर सकता है। कई आचार्यों का मत है कि यदि शूद्र आयुर्वेद पाठि कुल में उत्पन्न हो, तथा-शौच शील आदि गुणों से युक्त हो तो, मन्त्र (ओं भूः स्वाहा) को छोड़कर इसको उपनयन देकर आयुर्वेद पढ़ाना चाहिये। (चरक) में ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य के लिये आयुर्वेद पढ़ने का विधान करके—फिर 'सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः'—यह कह दिया है॥ ५॥

ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादनतत्परेणावश्यं भवितव्यं, मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्; अतोऽन्यथा ते वर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति॥६॥ अहं वा त्वयि सम्यग्वर्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च॥७॥

स्वाहाकार के पीछे अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा कराके शिष्य को—अग्नि की साक्षि रखकर आचार्य उपदेश दे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहंकार, ईर्ष्या, कठोरवाणी, खलता, झूठ, आलस्य एवं निन्दित कर्मों को छोड़कर, नख और सिर के बाल कटाकर, पवित्रता के साथ, कषाय वस्त्र पहिनकर, सत्य, शास्त्रोक्त नियम, ब्रह्मचर्य, नामोच्चारण पूर्वक अभिवादन करते हुए, सदा बरतना चाहिए। मेरी आज्ञा से उठना, बैठना, जाना, सोना, खाना, पढ़ना चाहिये। मेरे प्रिय एवं हितकारी कार्यों में तुमको बरतना चाहिए। यदि इससे विपरीत करोगे तो तुमको अधर्म होगा, विद्या भी निष्फल जायेगी, विद्या कभी प्रकाशित नहीं होगी। और यदि तुम्हारे ठीक प्रकार से व्यवहार करने पर भी मैं इसमें विपरीत मिथ्याचरण करूँ तो मैं पाप का भागी बनूँ और मेरी विद्या व्यर्थ हो। (चरक में—"त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहरेत्"—यह पाठ है—परन्तु शल्यशास्त्र होने से इसमें इस नियम का अपवाद रखकर-'सदा नीचनखरोम्णा'—इसका पालन करना चाहिये)॥ ६-७॥

द्विजगुरुदरिद्रमित्रप्रव्रजितोपनतसाध्वनाथाभ्युपगतानां चात्मबान्धवानामिव स्वभेषजैः प्रतिकर्तव्यम्, एवं साधु भवति; व्याधशाकुनिकपतितपापकारिणां च न प्रतिकर्तव्यम्; एवं विद्या प्रकाशते, मित्रयशोधर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति॥८॥

रोगी परिचर्या के लिये उपदेश—

ब्राह्मण, गुरु, दरिद्र, मित्र, संन्यासी, पास में नम्रतापूर्वक आये, सत्पुरुष, अनाथ, दूर से आये सज्जनों को चिकित्सा स्वजनों की भाँति अपनी औषधियों से करनी चाहिये। इस प्रकार करने से मंगल होता है। व्याध, चिड़िमार, नीच, पाप कर्म करनेवालों की चिकित्सा में अर्थ लाभ की इच्छा से भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इस प्रकार करने से विद्या प्रकाशित होती है, तथा मित्र, यश, धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति होती है[1]॥ ८॥

---

१ दार्वी होमविधि—मीमांसादर्शन के आठवें अध्याय के चौथे पाद में देखिये। अथवा सामान्य होम की विधि से यज्ञ करना चाहिये।

१ चरक विमान—अध्याय में इसको सुन्दर रूप से लिखा है, यथा—त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यम्। सर्वात्मना चातुराणामारोग्याय प्रयतितव्यम्। जीवित-

भवतश्चात्र—

कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे शुक्ले तथाऽप्येवमहर्द्विसन्ध्यम्
अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु ॥९॥
श्मशानयानायतनाहवेषु महोत्सवौत्पातिकदर्शनेषु।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥१०॥

अनध्याय काल—

कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पञ्चदशी (अमावस) शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पञ्चदशी (पूर्णिमा) ये तीनों तिथियाँ, दोनों संध्याकाल-प्रातःसायम्, विना समय के (हेमन्त—शिशिर काल में) विद्युत्, या बिजली की कड़क अथवा वृष्टि के होने पर (अथवा मल मास में) अपनी सम्बन्धियों की राष्ट्र की, और राजा की पीड़ा में, श्मशान में, सवारी में, मार्ग में, वन में, संग्राम में, महोत्सव (कौमुदी महोत्सवादि) में, अनिष्ट सूचक उत्पातों के दर्शन में, तथा ब्राह्मण जिन समयों में अध्ययन नहीं करते उन समयों में, (वीणा आदि के बजने के समय) अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु--अर्थात्—स्वाधीन राज्य के सम्राट् की व्यथा (रुग्णावस्था) में, अद्यतनाऽऽहवेषु-अर्थात् आज भर के युद्धकाल में अनध्याय होना चाहिये, साधारण सामन्तों की रुग्णावस्था में और लम्बे युद्धकाल में नहीं। येषु विप्रा नाधीयते—अर्थात् प्रतिपदा तिथि ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शिष्योपनयनीयो नाम
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातोऽध्ययनसंप्रदानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शिष्य के उपनयन के अनंतर शास्त्र के सम्यक् प्रकार से दान करने के लिये 'अध्ययन सम्प्रदानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

हेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम्।

अन्यद् वा--भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवं विधस्य कुर्यात्। तद्यथा--अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनः चण्डासूयकस्य तीव्राधर्मरुचेरतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिंगान्वितस्य चेति। एवविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छति ॥ चरक वि० अ० ३ ॥ और-चरक सिद्धि अ० २ में चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च- इत्यादि देखिये।

प्रागभिहितं 'सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु' (सू. अ. १) तत्र सूत्रस्थानमध्यायाः षट्चत्वारिंशत्, षोडश निदानानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि, अष्टौ कल्पाः, तदुत्तरं षट्षष्टिः ॥ ३ ॥

प्रथम जो कहा है कि एक सौ बीस अध्याय पांच स्थानों में विभक्त हैं। यथा—सूत्रस्थान में ४६ अध्याय, निदानस्थान में १६, शारीरस्थान में १०, चिकित्सास्थान में ४०, कल्प में ८, उत्तर स्थान में ६६ अध्याय हैं। (एक सौ बीस अध्यायों में उत्तर स्थान के अध्यायों की गिनती नहीं है।) ॥ ३ ॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यनयस्तथाऽध्ययनदानिकः।
प्रभाषणाग्रहरणावृतुचर्याऽथ यान्त्रिकः ॥ ४ ॥
शस्त्रावचारणं योग्या विशिखा क्षारकल्पनम्।
अग्निकर्म जलौकाख्या ह्यध्याया रक्तवर्णनम् ॥ ५ ॥
दोषधातुमलाद्यानां विज्ञानाध्याय एव च।
कर्णव्यधामपक्वैषावालेपो व्रण्युपासनम् ॥ ६ ॥
हिताहितो व्रणप्रश्नो व्रणास्रावश्च यः पृथक्।
कृत्याकृत्यविधिर्व्याधिसमुद्देशीय एव च ॥ ७ ॥
विनिश्चयः शस्त्रविधौ प्रनष्टज्ञानिकस्तथा।
शल्योद्धृतिव्रणज्ञानं दूतस्वप्ननिदर्शनम् ॥ ८ ॥
पञ्चेन्द्रिय तथा छाया स्वभावाद्वैकृतं तथा।
अवारणो युक्तसेनीय आतुरक्रमभूमिकौ ॥ ९ ॥
मिश्रकाख्यो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः।
द्रव्यादीनां च विज्ञानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥ १० ॥
रसज्ञानं वमनार्थमध्यायो रेचनाय च।
द्रवद्रव्यविधिस्तद्वदन्नपानविधिस्तथा ॥ ११ ॥
सूचनात् सूत्रणाच्चैव सवनाच्चार्थसन्ततेः।
षट् चत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥ १२ ॥

प्रत्येक स्थान के अध्यायों का नाम कहते हैं—

वेदोत्पत्ति, शिष्योपनयनीय, अध्ययनसंप्रदायनीय प्रभाषणीय, अग्रोपहरणीय, ऋतुचर्य्या, यन्त्रविधि, शस्त्रावचरणीय, योग्यासूत्रीय, विशिखानुप्रवेशनीय, क्षारपाकविधि, अग्निकर्मविधि, जलौकावचरणीय, शोणितवर्णनीय, दोषधातुमलक्षयवृद्धि विज्ञानीय, कर्णव्यधबन्धनविधि, आमपक्वैषणीय, व्रणालेपनविधि, व्रणितोपासनीय, हिताहितीयाध्याय, व्रणप्रश्न, व्रणस्राव विज्ञानीय, कृत्याकृत्यविधि, व्याधिसमुद्देशीय, अष्टविधशस्त्रकर्माध्याय, प्रनष्टशल्यविज्ञानीय, शल्यापनयनीय, विपरीताविपरीतव्रण विज्ञानीय, विपरीताविपरीत दूत स्वप्न विज्ञानीय, पंचेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति, छायाविप्रतिपत्ति, स्वभावविप्रतिपत्ति, अवारणीय, युक्तसेनीय, आतुरोपक्रमणीय, भूमिप्रविभागीय, मिश्रक, द्रव्यसंशोधन संशमनीय, द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीय, द्रव्यविशेष विज्ञानीय, वमन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय, विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय, द्रवद्रव्यविधि, अन्नपान

विधि ये छियालीस अध्याय हैं। अर्थों को सूचित करने से (एक देश के कहने से अनुक्त अर्थ को ग्रहण करने से) अर्थों को यथास्थान रखने से, अर्थों के जानने से (अनुसन्धान से) इन छियालिस अध्यायों को सूत्रस्थान कहते हैं ॥ ४--१२ ॥

वातव्याधिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः।
कुष्ठमेहोदरं मूढो विद्रधिः परिसर्पणम् ॥ १३ ॥
ग्रन्थिवृद्धिक्षुद्रशूकभग्नाश्च मुखरोगिकम्।
हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति षोडश ॥ १४ ॥

निदानस्थान के अध्याय—

वातव्याधि, अर्श, अश्मरि, भगन्दर, कुष्ठ, प्रमेह, मूढगर्भ, विद्रधि, उदर, परिसर्प (विसर्प), ग्रन्थि (ग्रन्थि, अपची, अर्बुद. गलगण्ड), वृद्धि (उपदंश, वृद्धि, श्लीपद), क्षुद्ररोग, शूकरोग, भग्नरोग और मुखरोग ये सोलह निदानस्थान में अध्याय हैं। रोगोत्पत्ति का कारण (हेतु) और लक्षण (रोग को बतानेवाले चिह्न) का निर्देश करने से इसको निदानस्थान कहते हैं ॥

भूतचिन्ता रजःशुद्धिगर्भावक्रान्तिरेव च।
व्याकरणं च गर्भस्य शरीरस्य च यत् स्मृतम् ॥१५॥
प्रत्येकं मर्मनिर्देशः शिरावर्णनमेव च।
सिराव्यधो धमनीनां गर्भिण्या व्याकृतिस्तथा ॥१६॥
निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा।
विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥ १७ ॥

शारीरस्थान के अध्याय—

भूतचिन्ता (पञ्चभूत सम्बन्धी), रजःशुद्धि (शुक्रशोणित की शुद्धि), गर्भावक्रान्ति, गर्भव्याकरण शारीर, शरीरव्याकरण (शरीर का विवरण), प्रत्येक मर्म निर्देश, शिरावर्णनशारीर, सिराव्यध विधि, धमनी व्याकृति, गर्भिणी व्याकृति—ये दश अध्याय पूज्य धन्वन्तरि ने वैद्यों तथा रोगियों के लिये शरीर का विशेष रूप में ज्ञान कराने के लिये कहे हैं। (चरक में भी मुमुक्षु के लिये निर्देश शारीर ज्ञान से सत्या बुद्धि उत्पन्न होकर मोक्ष में प्रवृत्त कराती है)[1] ॥ १५-१७ ॥

द्विव्रणीयो व्रणः सद्यो भग्नानां वातरोगिकम्।
महावातिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः ॥ १८ ॥
कुष्ठानां महतां चापि मैहिकं पैडिकं तथा।
मधुमेहचिकित्सा च तथा चोदरिणामपि ॥ १९ ॥
मूढगर्भचिकित्सा च विद्रधीनां विसर्पिणाम्।
ग्रन्थिवृद्ध्युपदंशानां तथा च क्षुद्ररोगिणाम् ॥२०॥
शुक्रदोषचिकित्सा च तथा च मुखरोगिणाम्।
शोफस्यानागतानां च निषेधो मिश्रकं तथा ॥ २१ ॥
वाजीकरं च यत् क्षीणे सर्वाबाधशमोऽपि च।
मेधायुष्करणं चापि स्वभावव्याधिवारणम् ॥ २२ ॥
निवृत्तसंतापकरं कीर्तितं च रसायनम्।
स्नेहोपयौगिकः स्वेदो वमने सविरेचने ॥ २३ ॥
तयोर्व्यापच्चिकित्सा च नेत्रवस्तिविभागिकः।
नेत्रबस्तिविपत्सिद्धिस्तथा चोत्तरबस्तिकः ॥ २४ ॥
निरूहक्रमसंज्ञश्च तथैवातुरसंज्ञकः।
धमनस्य विधिश्चान्त्यश्चत्वारिंशदिति स्मृताः ।२५।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं चिकित्सा शान्तिकर्म च।
पर्यायास्तस्य निर्देशाच्चिकित्सास्थानमुच्यते ॥२६॥

चिकित्सास्थान के अध्याय—

द्विव्रणीय, सद्योव्रण, भग्नरोग, वातव्याधि, महावातव्याधि, अर्शचिकित्सा, अश्मरि, भगन्दर रोग, कुष्ठ, महाकुष्ठरोग, प्रमेह, प्रमेह पिड़िका, मधुमेह, उदररोग, मूढ़गर्भ, विद्रधि, विसर्प (नाड़ीस्तन रोग), ग्रन्थि (ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड), वृद्धि (वृद्धि, उपदंश, श्लीपद), क्षुद्ररोग, शूकरोग, मुखरोग, शोफ-रोग, अनागत बाध प्रतिषेध (चिकित्सा,) मिश्रक, क्षीणबलीय वाजीकरण चिकित्सा, सर्वाबाधशम (रसायनसर्वाबाधशमनीय), मेधायुष्कामीय रसायन, स्वभाव व्याधि प्रतिषेधीय रसायन, निवृत्त संतापीय, स्नेहोपयोगीय, स्वेदावचरणीय, वमन विरेचन साध्योपद्रव, वमन विरेचन व्यापच्चिकित्सा, नेत्र बस्ति प्रमाण प्रविभाग, नेत्र बस्ति व्यापत्, उत्तर बस्ति, निरुहोपक्रम चिकित्सा, आतुरोपद्रव, धूमनस्यविधि (धूम, नस्य, कवल ग्रह) यह अन्तिम अध्याय है--इस प्रकार से ४० अध्याय इस स्थान में हैं। चिकित्सा के पर्याय—प्रायश्चित्त, प्रशमन, चिकित्सा शान्तिकर्म, ये चिकित्सा के पर्याय हैं। चिकित्सा का विवरण होने से इसे चिकित्सास्थान कहते हैं। चरक में—व्याधिहर पथ्य, साधन, प्रकृतिस्थापन और औषध ये अन्य भी पर्य्याय हैं

वि० मन्तव्य—प्रायश्चित्त = रोगनिवृत्ति के लिए अनेक विध व्रत उपवास आदि कर्म, प्रशमन—शारीरिक एवं मानसिक दोषों की शान्ति के उपाय, चिकित्सारोगप्रतिकार, शान्तिकर्म—रोगजनक सूर्यादि ग्रहों तथा देवादि एवं बालग्रहों की शान्ति के कर्म, व्याधिहर—रोग नाशन के उपाय, पथ्य यं जीवनयात्रा के लिये उपयोगी आचार (आहार-विहार), साधन सिद्धि—सफलता के उपाय=जरा आलस्य आदि के नाशक उपाय, औषध=आ=समस्त शरीर में ओष=उचित ताप या दीप्ति का आधान करने-रखने का उपाय, प्रकृतिस्थापन-प्रकृति=स्वास्थ्य में स्थापित रखने का उपाय तथा हित=धारण एवं पोषण का उपाय। अतएव चिकित्सास्थान में केवल रोगप्रतिकार के ही उपाय नहीं लिखे गये हैं, अपितु स्वास्थ्य के लिये भी रसायन एवं वाजीकरण का वर्णन करने के लिये अनेक अध्या

[1] इसी में कहा है
शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥
देखिये चरक शारीर ५–६

लिखे गये हैं। पाठक ध्यान देने की कृपा करें— विशेषतः वे, जो कहा करते हैं कि रसायन एवं वाजीकरण के लिये पृथक् स्थान का सन्निवेश क्यों नहीं किया गया है ॥२६॥

अन्नस्य रक्षा विज्ञानं स्थावरस्येतरस्य च।
सर्पदष्टविषज्ञानं तस्यैव च चिकित्सितम् ॥२७॥
दुन्दुभेर्मूषिकाणां च कीटानां कल्प एव च।
अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात् ॥२८॥
अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम्।

कल्पस्थान के अध्याय

अन्नपानरक्षा विज्ञानीय, स्थावर विष विज्ञानीय, जंगमविष विज्ञानीय, सर्पदष्ट चिकित्सा, दुन्दुभि स्वनीय, मूषिककल्प, कीट कल्प—ये आठ अध्याय इस कल्प स्थान में हैं। विषौषध के जानने से इसको कल्प कहते हैं। (कई लोग—दुन्दुभिस्वनीय को मूषिक कल्प के पीछे पढ़ते हैं)। इस प्रकार से पूर्व कहे हुए १२० अध्याय पूर्ण हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—कल्पस्थान अगदतन्त्र का नामान्तर है, जिसको विषविज्ञान भी कह सकते हैं। इस तन्त्र में औषध का ही नाम "अगद" है जिसका अर्थ है—जिसके सेवन से गद = रोग = विषविकार उत्पन्न ही न हों अथच नष्ट—दूर भी हो जायँ ॥२७,२८॥

अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते ॥२९॥
अधिकृत्य कृतं यस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान्।
औपद्रविक इत्येष तस्याग्र्यत्वान्निरुच्यते ॥३०॥
सन्धौ वर्त्मनि शुक्ले च कृष्णे सर्वत्र दृष्टिषु।
संविज्ञानार्थमध्याया गदानां तु प्रति प्रति ॥३१॥
चिकित्साप्रविभागीयो वाताभिष्यन्दवारणः।
पैत्तस्य श्लैष्मिकस्यापि रौधिरस्य तथैव च ॥३२॥
लेख्यभेद्यनिषेधौ च छेद्यानां वर्त्मदृष्टिषु।
क्रियाकल्पोऽभिघातश्च कर्णोत्थास्तच्चिकित्सितम् ॥३३॥
घ्राणोत्थानां च विज्ञानं तद्‌गदप्रतिषेधनम्।
प्रतिश्यायनिषेधश्च शिरोगदविवेचनम् ॥३४॥
चिकित्सा तद्‌गदानां च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते।
नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम् ॥३५॥
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्।
पूतनायास्तथाऽन्धायाः शीतपूतनमण्डिका ॥३६॥
नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा।
कुमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम् ॥३७॥

शल्य तन्त्र का प्रतिपादन करके अर्थवशात् उत्तर तन्त्र को कहते हैं।

इसके आगे अपने (उत्तर) नाम से ही उत्तर तन्त्र कहते हैं। व्रण के उपद्रव ज्वर आदि को बताने के लिये इस तन्त्र को कहते हैं। इस उत्तर तन्त्र के प्रथम अध्याय में कहे हुए उपद्रवों का तथा दुःसाध्य एवं अपरिसंख्येय आँख आदि के रोगों का वर्णन होने से इसके प्रथम अध्याय को 'औपद्रविक' कहते हैं ॥

सन्धि, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, सर्वगत, और दृष्टिगत रोगों को बताने के लिये प्रत्येक के लिये पृथक् पृथक् अध्याय कहे हैं। इस प्रकार से छः अध्याय हैं। सातवां चिकित्सा प्रविभागीय, वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, रक्ताभिष्यन्द, लेख्यरोग प्रतिषेध, भेद्यरोग प्रतिषेध, छेद्यरोग प्रतिषेध, यक्ष्मकोप प्रतिषेध, दृष्टिगत रोग प्रतिषेध, क्रियाकल्पोपक्रम, नयनाभिघात प्रतिषेध, कर्णगतरोग विज्ञानीय, कर्णगतरोग प्रतिषेध, नासिकागत रोग प्रतिषेध, प्रतिश्याय प्रतिषेध, शिरोरोग विज्ञानीय, शिरोरोग प्रतिषेध, इनका शालाक्य तन्त्र में समावेश होता है।

कुमार तंत्र—नवग्रहाकृति विज्ञानीय, स्कन्दग्रह प्रतिषेध, स्कन्दापस्मारप्रतिषेध, शकुनि प्रतिषेध, रेवती प्रतिषेध, पूतना प्रतिषेध, अन्ध पूतना प्रतिषेध, शीत पूतना प्रतिषेध, मुख मण्डिका प्रतिषेध, नैगमेष प्रतिषेध, ग्रहोत्पत्ति, योनिव्यापत्प्रतिषेध–इसका तथा शरीर स्थान में कहे (रजःशुद्धि और गर्भावक्रान्ति) को कुमारतंत्र कहते हैं।

वि०—मन्तव्य—उक्त १२० अध्यायों में जो अनेक स्थलों पर बार-बार कहा गया है कि 'अन्य अर्थों (विषयों) को उत्तर तन्त्र में कहा जायगा'। उनका वर्णन किया गया है। और उसमें उपद्रव अर्थात् दोष विकृति = दोष वैषम्य से उत्पन्न तथा भूतावेश से उत्पन्न उपद्रवों = बाधाओं–रोगों का वर्णन किया गया है। कुमार तन्त्र कौमार भृत्य का नामान्तर है। शारीर स्थान के गर्भिणी व्याकरण नामक (१० वें) अध्याय में कौमार भृत्य का बहुत सा विषय लिखा गया है ॥२९–३७॥

ज्वरातिसारशोषाणां गुल्महृद्रोगिणामपि।
पाण्डूनां रक्तपित्तस्य मूर्च्छायाः पानजाश्च ये ॥३८॥
तृष्णायाश्छर्दिहिक्कानां निषेधः श्वासकासयोः।
स्वरभेदचिकित्सा च कृम्युदावर्तिनोः पृथक् ॥३९॥
विसूचिकारोचकयोर्मूत्राघातविकृच्छ्रयोः।
इति कायचिकित्सायाः शेषमत्र प्रकीर्तितम् ॥४०॥

कायचिकित्सा के अध्याय—

ज्वर, अतिसार, शोष, गुल्म, हृदयरोग, पाण्डु, रक्तपित्त, मूर्च्छा, पानात्ययप्रतिषेध, तृष्णा, छर्दि, हिक्का, श्वास, कास, स्वरभेद, कृमि, उदावर्त्त, विसूचिका, अरोचक, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, ये इक्कीस कायचिकित्सा के शेष रोग इस उत्तरतंत्र में कह दिये हैं ॥३८-४०॥

अमानुषनिषेधश्च तथाऽऽपस्मारिकोऽपरः।
उन्मादप्रतिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते ॥४१॥

भूतविद्या—अमानुषीय रोग प्रतिषेध, अपस्मार, उन्माद रोग प्रतिषेध, इन तीन अध्यायों को अपस्मार, कहते हैं ॥४१॥

रसभेदाः स्वस्थवृत्तं युक्तयस्तान्त्रिकाश्च याः ।
दोषभेदा इति ज्ञेया अध्यायास्तन्त्रभूषणाः ॥४२॥

तन्त्र भूषण अध्यायों को कहते हैं—

रस भेद कल्प, स्वस्थवृत्त, तन्त्रयुक्तियाँ, दोषभेदकल्प—ये चार अध्याय शास्त्र के अलंकार हैं। इन से शास्त्र की प्रतिष्ठा है। (तंत्रयुक्तियाँ चरक कौटिल्य आदि सब में एक समान ही प्रायः दी हैं) ॥४२॥

श्रेष्ठत्वादुत्तरं ह्येतत्तन्त्रमाहुर्महर्षयः ।
बह्वर्थसंग्रहाच्छ्रेष्ठमुत्तरं चाऽपि पश्चिमम् ॥४३॥
शालाक्यतन्त्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या ।
भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे तूत्तरसंज्ञिते ॥४४॥
वाजीकरं चिकित्सासु रसायनविधिस्तथा ।
विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शल्यज्ञानं समन्ततः ॥४५॥
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् ।
विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि ॥४६॥

उत्तरतंत्र के नाम का कारण—

महर्षि लोग इस तंत्र को श्रेष्ठ होने से उत्तरतंत्र कहते हैं। इसमें शालाक्य, कुमार, कायचिकित्सा, भूतविद्या आदि बहुत से अर्थों का संग्रह होने से यह श्रेष्ठतंत्र है, पश्चिम (अन्तिम) होने से भी इस तंत्र को उत्तरतंत्र कहते हैं।

उत्तर तंत्र में कहे शालाक्य, कौमार, कायचिकित्सा, भूतविद्या, ये चार चिकित्सायें, वाजीकरण चिकित्सा, रसायन विधि, कल्पस्थानोक्त विष तंत्र; ये तीन प्रथम कहे शल्य तंत्र में सब तंत्रों में शल्य ज्ञान, यह आठ अंगोंवाला तंत्र धन्वन्तरि द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस आठों अंगोंवाले तंत्र को विधि पूर्वक पढ़कर प्रयोग करता हुआ मनुष्य पृथिवी पर 'प्राणाभिसर' प्राणों को देनेवाला कहलाता है। चरक में- कहा है—

(प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणाम् ।
रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानाम् ।) ॥४३-४६॥

एतद्ध्यवश्यमध्येयम्, अधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यम्, उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति ॥४७॥

यह तंत्र अवश्य ही पढ़ना चाहिये; और पढ़कर कर्म में अवश्य इसका अभ्यास करना चाहिये। दोनों कार्यों को जाननेवाला वैद्य राजा से पूजित होता है ॥४७॥

भवन्ति चात्र—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥४८॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः ॥४९॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥५०॥

'वधं चर्च्छति राजतः' के स्थान में 'वधं चार्हति राजतः' पाठ अधिक उपयुक्त एवं संगत है।

कहा भी है—(यह शास्त्र की रीति है) गद्य के पीछे श्लोक से आरम्भ होता है जो मनुष्य-वैद्य केवल शास्त्र को ही जानता है, और कर्मों के विषय में अशिक्षित है; वह वैद्य रोगी को देखकर उसी प्रकार से घबरा जाता है, जिस प्रकार कि डरपोक आदमी संग्राम में पहुँचकर डर जाता है। और जो वैद्य कर्मों के विषय में भली प्रकार शिक्षित है और शास्त्र से बाहर है, धृष्टता के कारण जिसने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, वह वैद्य सज्जनों में पूजित नहीं होता, अपितु राजाद्वारा वध किये जाने योग्य है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति अशिक्षित, अपने कार्य करने में असमर्थ, आधे ज्ञान को धारण करनेवाले-एक पाँखवाले पक्षी के समान हैं। जिस प्रकार कि एक पंख का पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार ये भी काम नहीं कर सकते ॥४८-५०॥

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यज्ञैरुपहृतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥५१॥

प्र०—किस कारणसे राजा द्वारा वध किया जाने योग्य है?

उत्तर—अमृत के समान प्रभाव करनेवाली औषधियाँ मूढ़ मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त की जाने पर शस्त्र, बिजली और विष के समान प्रभाव करती हैं। इसलिये इन ऊपर कहे मूढ़ वैद्यों का त्याग करना चाहिये[1] ॥५१॥

स्नेहादिष्वनभिज्ञो यश्छेद्यादिषु च कर्मसु ।
स निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्यो नृपदोषतः ॥५२॥

और जो वैद्य स्नेहादि कार्यों में तथा छेद्य आदि कर्मों में (शल्यतंत्र तथा कायचिकित्सा में—आठों में यही मुख्य है) अनभिज्ञ हैं, वे कुत्सित वैद्य राजा के प्रमाद के कारण लोभ वश से मनुष्य को मार देते हैं। (इसी से आगे कहेंगे कि राजा की आज्ञा से चिकित्सा कर्म करना चाहिये) ॥५२॥

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥५३॥

जो वैद्य शास्त्र एवं कर्म दोनों को जानता है तथा ऊहापोह ज्ञानवाला है, वह आरोग्य करने में समर्थ है, जिस प्रकार कि संग्राम में दोनों पहियोंवाला रथ कार्य करने में समर्थ रहता है ॥५३॥

अथ वत्स! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया प्रोच्यमानम्—अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाऽव्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत्

१ चरक में—श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः। वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥ (२) योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ चरक-सूत्र-अ० १

पदं पादं श्लोकं वा, ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेयाः, एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत्, अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं सुव्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत्। न चान्तरेण कश्चिद् व्रजेत् तयोरधीयानयोः ॥५४॥

हे वत्स ! यह आयुर्वेद जिस प्रकार पढ़ना चाहिये वह मुझसे कहा हुआ सुनो। नैत्यिक कार्य करके पवित्र होने पर उत्तरीय वस्त्र धारण करके एकाग्रचित्त से अभिवादन करके अध्ययन काल के उपस्थित होने पर शिष्य के लिये गुरु यथाशक्ति (शिष्य की उत्तम, मध्यम अवर बुद्धि से) पद, (सुप्तिङन्त) पाद (श्लोक का एक चरण) अथवा श्लोक का (चारों चरण) पढ़ाये और ये पद, पाद श्लोक फिर बार-बार क्रम से घटित करे शिष्य को समझाये।

पाठ करने की विधि—नतो बहुत जल्दी, न बहुत रुक रुक कर, बिना भय के, बिना नासिका स्वर के, साफ अक्षर (उच्चारणों) से, वर्ण को बिना खाये (दबाये), आँख, भ्रू, ओठ, हाथों को बिना चलाये-नचाये, साफ मधुर आवाज से, न बहुत ऊँचे न बहुत नीचे-मध्यम स्वर से पाठ करे। पढ़ते हुए गुरु शिष्य के बीच में कोई न आये ॥५४॥

(चरक में-यह विधि विस्तार से दी है[1])

भवतश्चात्र—

शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥५५॥

कहा भी है—

बाह्य और अन्दर की पवित्रता से, गुरु के कार्य में तत्पर चतुर, आलस्य रहित होकर इस विधि से जो शिष्य पढ़ता है, वह इस शास्त्र की समाप्ति तक पहुँचता है ॥५५॥

वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥५६॥

अतिस्पष्ट वाणी के, अर्थज्ञान के, धृष्टता, उत्साह, कर्मनिपुणता, कर्म के अभ्यास में, तथा वाञ्छित अर्थ की सिद्धि में यत्न करता रहे।

वि० मन्तव्य—पढ़ने के अन्त में प्रतिदिन वाणी की सुष्ठुता = वाक्योच्चारण की सुन्दरता में, अर्थों को विशेषरूप से जानने में, प्रतिभा (नवीन २ सूझ) की प्राप्ति में, चिकित्सा विषयक कार्य कौशल में, शास्त्राभ्यास में या उक्त कार्यों के अभ्यास (बार २ करने) में तथा सिद्धि (सफलता) के पूर्ण करने में प्रयत्न करे—करता रहे ॥५६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽध्ययनसंप्रदानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः प्रभाषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पढ़े हुए शास्त्र को फिर अर्थ रूप में व्याख्यान करने का नाम 'प्रभाषण' है। उसी प्रभाषणीय अध्याय को कहते हैं, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥१,२॥

अधिगतमप्यध्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति ॥३॥

पढ़ा हुआ शास्त्र यदि अर्थ पूर्वक जाना न जाये, तो वह गधे के चन्दन के बोझ के समान केवल निरर्थक (परिश्रमकारक) होता है ॥३॥

भवति चात्र—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति॥

कहा भी है—

जिस प्रकार गधा केवल चन्दन बोझ को उठानेवाला होता है, वह चन्दन की सुगन्ध को नहीं जानता, इसी प्रकार जो शिष्य बहुत से शास्त्रों को केवल पढ़ लेते हैं, अर्थ को नहीं समझते, वे केवल बोझ को उठानेवाले होते हैं ॥४॥

तस्मात् सविंशमध्यायशतमनुपदपादश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च, कस्मात् ? सूक्ष्मा हि द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकदोषधातुमलाशयमर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिगर्भसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरणव्रणविनिश्चयभग्नविकल्पाः साध्ययाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमादयश्चान्ये विशेषाः सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः, किं पुनरल्पबुद्धेः ? तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च ॥५॥

इसीलिए उत्तरतन्त्र के साथ एक सौ बीस अध्याय पद-पद, पाद-पाद, श्लोक-श्लोक करके आचार्य को व्याख्यान करना चाहिये शिष्य को सुनना चाहिये। क्योंकि—द्रव्य (स्थावरादि), रस (मधुरादि), गुण (गुर्वादि), वीर्य (शीत-उष्ण), विपाक (मधुरादि), दोष (वातादि), धातु (रसादि), मल (स्वेदादि), आशय (कोष्ठादि), मर्म, शिरा, स्नायु, सन्धि,

---

[1] यथा—अध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्युषं वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपास्य उपस्पृश्योदकं देवर्षिगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टः मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं परदोषप्रमाणार्थं च। एवं मध्यंदिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वद् अपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येत्। चरक वि० अ० ८।

अस्थि, गर्भोत्पत्ति के कारण द्रव्य (शुक्र-शोणित) समूहों का विभाग, इसी प्रकार-त्वचादि में छिपे शल्य का निकालना, वातादि के भेद से व्रण का निश्चय, भग्न के भेद (अनेक प्रकार के), रोगों का साध्य, याप्य, और असाध्य भेद आदि की दृष्टि से हजारों प्रकार के भेद बन जाते हैं। इन भेदों का चिन्तन ज्ञान बहुत विशाल बुद्धिवाले मनुष्य की बुद्धि को भी विचलित कर देता है, फिर अल्प बुद्धिवाले मनुष्य का क्या कहना ? इसलिये आचार्य को अवश्य ही एक-एक पद, पाद और श्लोक की व्याख्या भली प्रकार करनी चाहिये, और शिष्य को सुननी चाहिये ॥५॥

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं, कस्मात् ? न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम् ॥

प्रयोजन वश जो व्याकरण, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, ज्यौतिष शास्त्र आदि यहाँ इस शास्त्र में आये हैं—उन शास्त्रों को उन शास्त्रों के ज्ञाताओं से समझना और सुनना चाहिये। क्योंकि—एक ही शास्त्र में सब शास्त्रों का समावेश करना असम्भव है ॥६॥

भवति चात्र—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥७॥

कहा भी है—एक ही शास्त्र को पढ़नेवाला व्यक्ति शास्त्र के निश्चय को नहीं जान सकता। इसलिये जिसने बहुत से शास्त्र पढ़े हों वही चिकित्सक शास्त्र को समझ सकता है ॥७॥

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत्।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ॥८॥

गुरु के मुख से उपदेश किये शास्त्र को ग्रहण करके, पाठ एवं अर्थ द्वारा बार-बार अभ्यास करके जो वैद्य कर्म करता है वह वैद्य है, शेष सब चोर हैं[1] ॥८॥

औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥९॥

गूढ़ार्थ को समझने के लिये जिन तन्त्रों को समझना चाहिये उनको व्याज से कहते हैं। औपधेनव, औरभ्र, सुश्रुत, पौष्कल, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि शेष शल्य तन्त्रों में यही तन्त्र प्रधान है ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रभाषणीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

---

१ ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥ चरक।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे यन्त्रादि के सम्भार को बताने के लिये 'अग्रोपहरणीय' नामक अध्याय कहते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥१,२॥

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति; तद्व्याधिं प्रति उपदेक्ष्यामः ॥३॥

कर्म तीन प्रकार का है—पूर्व कर्म (शस्त्रावचरण से पूर्व), प्रधान कर्म (शस्त्र कर्म) और पश्चात्कर्म (शस्त्रावचरण के पीछे का कर्म), इन कर्मों का उपदेश प्रत्येक व्याधि में करेंगे, यहाँ पर विस्तारभय से नहीं कहा[1]।

वि० मन्तव्य—कर्म-छेदन आदि शस्त्रकर्म तथा वमन-विरेचन आदि काय-चिकित्सा का नाम है। प्रधान कर्म के पूर्व जो उपचार किये जाते हैं ये 'पूर्वकर्म' तथा पश्चात् (पीछे) जो उपचार किये जाते हैं वे 'पश्चात्कर्म' कहे जाते हैं।

सम्भार (सामग्री) अर्थात् चिकित्सा कर्म में उपयोगी या आवश्यक सहायक वस्तुएँ। परिकर्मी-चिकित्सक के सहायक, इधर उधर का सब काम करनेवाले, कर्मचारी ॥३॥

अस्मिंस्तु शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छस्त्रकर्मैव तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च ॥४॥

इस शास्त्र में शस्त्र कर्म की प्रधानता है। इसलिये सबसे प्रथम शस्त्र कर्म को तथा इसके द्रव्य सम्भारों कहते हैं ॥४॥

तच्च शस्त्रकर्माष्टविधं; तद्यथा—छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति ॥५॥

यह शस्त्र कर्म आठ प्रकार का है। यथा—छेद्य (भगन्दर आदि का दो करना), भेद्य (विद्रधि आदि का विदारना), लेख्य (उपजिह्विका आदि का लेखन), वेध्य (छोटे मुखवाले शस्त्रों से वेंधना-शिरा आदि में छेद करना), एष्य (शलाका आदि से नाड़ी व्रण आदि का ढूँढना), आहार्य (दन्त आदि का निकालना), विस्राव्य (विद्रधि आदि में जलौका आदि से खून बहाना), सीव्य (पद्मकोप आदि में सीना)। वाग्भट ने—उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दाहन कर्म

---

१ कई आचार्य इसका यह अर्थ करते हैं—

'लंघनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च। पाचनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत्स्मृतम्। बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत् ॥

अधिक माने हैं। चरक ने शस्त्र कर्म छै प्रकार का माना है। यथा—पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥५॥

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि भवन्ति। तद्यथा—यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाशृङ्गजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रो(लो)तसूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि, परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तश्च।

पूर्वकर्म—इन आठों में से कोई एक भी कार्य करने से पूर्व वैद्य को निम्न वस्तुएँ तैयार कर लेनी चाहिये। यथा—यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जौंक, अलाबू, जाम्बवौष्ठ (जामुन के समान मुखवाला लौह से बना यन्त्र जलाने के लिये), पिचु (रूई का पोया), प्रोत (कपड़े का टुकड़ा), सूत्र (धागे) पत्र (केले-एरण्ड आदि के), पट्ट (रेशमी वस्त्र-पट्टियाँ); शहद, घी, वसा, दूध, तैल, तर्पण (तृप्तिकारक अन्न सक्तु दूध), कषाय (व्रण शोधनादि द्रव्य कृत क्वाथ) आलेपन (प्रलेप), कल्क (क्षत में लगाने लायक लेप), पंखा, ठण्डा-गरम पानी, कड़ाही आदि लोहे के बने पात्र, सब कर्मों को करनेवाले स्निग्ध-अनुरक्त, दृढ़ एवं बलवान् परिचारक तैयार कर लेने चाहिये। (चरक में भी उपकल्पनीय अध्याय में समारम्भ एकत्रित करने का विधान है) ॥६॥

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा, कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघु भुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य, यंत्रयित्वा, प्राङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्, अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्, सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च, महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रपदमुक्तम् ॥७॥

प्रधानकर्म—इसके पश्चात् श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र में दधि, अक्षत, खान-पान, रत्नों से अग्नि, ब्राह्मणों और वैद्यों की पूजा करके, बलि (पूजोपहार), मंगल (गीतादि), स्वस्तिवाचन (आशीर्वाद उच्चारण) करके, रोगी को थोड़ा सा अन्न खिलाकर, रोगी का मुख पूर्व दिशा में रखते हुए बिठाये। रोगी को भली प्रकार बाँध दे जिससे हिले नहीं। फिर वैद्य पश्चिम की ओर मुख करके—सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनी को बचाकर लोगों के अनुकूल यथायोग्य शस्त्र को पूय (पीब) के निकलने तक गहरा चलाये। शस्त्र को एक बार ही और शीघ्रता से चलाना चाहिये। बहुत बड़े पाक में भी दो अंगुल या तीन अंगुल तक परिमित लम्बा शस्त्र का घाव करना चाहिये। घाव की गम्भीरता व्रण की अपेक्षा से है। अरुणदत्त का कहना है कि दो या तीन अंगुल के बीच[1] में दूसरा व्रण नहीं करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यन्त्रयित्वा—रोगी को बाँधकर या आप्त जनों से पकड़ाकर शस्त्रकर्म करने का विधान क्रियासौकर्य के लिये है, परन्तु आजकल—यह कार्य—क्लोरोफार्म सुंघाकर कर लिया जाता है। व्रण का अर्थ है घाव—चीरा। उत्सङ्ग-व्रण के भीतर का कोटर जिसको पूय बना लेता है—जहाँतक उत्सङ्ग होता है व्रण किया जाता है या करना चाहिये। बड़े-बड़े पाकों में २ अथवा ३ अंगुल के अन्तर अर्थात् दूरी पर एक से अधिक व्रण भी किये जाते हैं। यह व्रण-शोथों में चीरा लगाने की विधि है ॥७॥

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो।
निराश्रय इति व्रणगुणाः ॥८॥

व्रणकर्म में व्रण की प्रशस्त आकृति—आयत (दीर्घ) विशाल (विस्तीर्ण), सम (विषम नहीं बराबर), सुविभक्त भली प्रकार से सब अवयव पृथक् हो गये हों, निराश्रय—ये व्रण के गुण हैं। निराश्रय का अर्थ-पूय के लिये कोई कोटर न रह जाय।

वि० मन्तव्य—व्रण-शोथ में ऐसा व्रण अर्थात् घाव करे जो आयत अर्थात् चौड़ा हो जिससे भीतरी समस्त दोष-विकार पूय निकल जा सके। विशाल अर्थात् लम्बा व्रण करे अर्थात् जहाँतक उत्सङ्ग-कोटर हो, जिससे वहाँतक लेपौषध एवं कवलिका लगायी-पहुँचायी जा सके। सुविभक्त-जिसमें चीरा लगाते ही या शस्त्र निकालने पर मुखरोध न हो जाय। निराश्रय-व्रण शोथोत्पादक दोष के आश्रय को समूल निकाल देना चाहिये। यह व्रण के गुण (सद्गुण) हैं अर्थात् इस प्रकार से व्रण करना चाहिये। अन्यथा बार-बार व्रण करने की आवश्यकता पड़ सकती है। पड़ जाती है ॥८॥

भवतश्चात्र—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥९॥

कहा भी है—

आयत, दीर्घ, विशाल, निम्नोन्नतरहित, भलीप्रकार अलग हुआ, अंगुली द्वारा सम्पूर्ण पूय निकल जाने से निराश्रय; प्राप्त काल (ठीक समय पर-कच्चे व्रण में न किया) हुआ व्रण शस्त्रकर्म में प्रशस्त होता है।

---

१ यहाँ पर अन्तर शब्द विचारणीय है, इसका अर्थ यदि चौड़ाई में किया जाय तो ठीक है। दो या तीन अंगुल चौड़ा व्रण करे, क्योंकि लम्बा व्रण देर में भरता है यह मान्यता ठीक नहीं। पेट के शल्यकर्म में आठ अंगुल लम्बा शस्त्रकर्म करना होता है।

वि० मन्तव्य—'प्राप्तकालकृतः' अर्थात् व्रण करने—चीरा लगाने का काल—समय प्राप्त होनेपर किया गया व्रण प्रशस्त होता है, पूर्व अथवा पश्चात् नहीं। तात्पर्य यह है कि आम शोफ में व्रण करना भी बुरा है और पक्व शोफ में व्रण न करना भी बुरा है ॥९॥

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथू ।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥१०॥

वैद्य के गुण—

शौर्य (उत्साह, निडरपन) आशुक्रिया (लघुहस्तता) रोगी को अधिक देर नहीं लगती; शस्त्रतैक्ष्ण्य (शस्त्र का तेज एवं धार उत्तम होना), पसीने का न आना, और न काँपना, असंमूढता—ये वैद्य के गुण शस्त्रकर्म में प्रशस्त हैं। कायचिकित्सा में इन गुणों की इतनी जरूरत नहीं ॥१०॥

एकेन वा व्रणेनाशुध्यमानेनाऽन्तरा बुद्ध्याऽवेक्ष्यापरान् व्रणान् कुर्यात् ॥११॥

यदि एक व्रण से घाव पूर्णरूप में साफ न हो तो मनुष्य को चाहिये कि बुद्धि से विचारकर दूसरे व्रणों को बीच में बना दे ॥११॥

भवति चात्र—

यतो यतो गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥१२॥

कहा भी है—

व्रण में जिस स्थान पर पूय की गति को देखे, और जहाँ-पूय के संचित होने से उन्नत प्रदेश दिखाई दे, उन उन स्थानों पर व्रण कर देना चाहिये, जिससे कि व्रण में पूय दोष संचित न रहने पाये, बाहर आ जाये। (यहाँ पर दोष शब्द पूय के लिये है) ॥१२॥

तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्यक् छेद उक्तः ॥१३॥

भ्रू, गण्डस्थल, शंख प्रदेश, ललाट, अक्षिवर्त्म (पलक), दन्तवेष्ट (मसूड़े), कक्षा (बाहुमूल), कुक्षि (उदर), वंक्षण (ऊरुसन्धि) इन स्थानों में तिरछा छेदन करना चाहिये १३

चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत् ।
अर्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥१४॥

पाँव एवं हाथ के तन्तुओं में चन्द्रमण्डल के समान (चन्द्राकार) गोल छेदन करना चाहिये (अंगुलियों की जड़ों में धमनियों का चक्र बनता है।) बुद्धिमान् मनुष्य गुद और मेढ्र प्रदेश में भी अर्धचन्द्राकार छेदन करे। शेष स्थानों में सीधा छेदन करना चाहिये ॥१४॥

अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनम्, अतिमात्रं वेदना, चिराद् व्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥१५॥

उपर्युक्त विधि के अनुसार छेदन न करने से सिरास्नायु धमनी आदि कट जाती है, बहुत पीड़ा होती है, और व्रण भी देर में भरता है ॥१५॥

मूढगर्भोदरार्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत ॥१६॥

निम्न रोगों में रोगी को बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिए—

मूढगर्भ, उदररोग, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, रोग में बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिये। क्योंकि खिलाकर कर्म करने से वायु का कोप तथा यन्त्र आदि के चलाने में कठिनता होती है। मुख रोग में भी बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिये। खिलाकर करने से वमन आदि होता है। कोई कोई अर्श, अश्मरी, और भगन्दर इनका पाठ यहाँ ठीक नहीं मानते क्योंकि इनमें भोजन कराकर शस्त्रकर्म किया जाता है ॥१६॥

ततः शस्त्रमवचार्य, शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात् परिपीड्याङ्गुल्या, व्रणमभिमृद्य (ज्य), प्रक्षाल्य कषायेण, प्रो(स्रो)तेनोदकमादाय, तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्तिं प्रणिदध्यात्; ततः कल्केनाच्छाद्य, घनां कवलिकां दत्त्वा, वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्, वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत्, रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ॥१७॥

पश्चात्कर्म—शस्त्रकर्म के पश्चात् शस्त्र को निकालकर शीतल जल से रोगी का स्वेद आदि दूर करके उसे सान्त्वना देते हुए चारों ओर से व्रण को अङ्गुलि द्वारा भली प्रकार दबाकर (पूय निकालकर) क्वाथ से व्रण को धोये। फिर प्लोत द्वारा व्रण का पानी सुखाकर तिलपिष्ट, शहद, घी, एवं मिश्रक अध्यायोक्त अजशृङ्गी आदि औषधियों से लिप्त, न बहुत स्निग्ध एवं न बहुत रूक्ष वर्त्ति व्रण में रखकर कल्क से व्रणको ढापकर मोटी (सान्द्र-जिसमें हवा न जा सके), कवलिका (गद्दी) रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। वेदना नाशक, रक्षोघ्न धूपोंसे व्रण का धूपन करना चाहिए, तथा रक्षोघ्न मंत्रों से व्रण की रक्षा करनी चाहिए। व्रण संक्रमित न हो इस बात का ध्यान रखना चाहिए[2]। (तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढां वर्त्तिं प्रणिधाय पत्रेणाच्छाद्य कवलिकां दत्त्वा बन्धनेनोपपादयेत्-यह भी पाठ है)

---

१ स्निग्धमुष्णम्, अल्पम् अन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तं इति अर्शोऽधिकारे त्वनिलप्रशमनार्थवचनं तु तथा भोजनं दर्शयतीति च विरोधः।

२ पट्टी कवलिका आदि सबको धूपन द्वारा संक्रमण रहित कर लेना चाहिये। जैसा कि वाग्भट्ट में कहा है—
शुचिरूक्षा दृढाः पट्टाः कवलाः सविकेशिकाः।
धूपिता मृदवः श्लक्ष्णाः निर्वलीका व्रणे हिताः॥

भानुमतीवाली निर्णय सागर की पुस्तक में—पत्रेणाच्छाद्य के स्थान पर कल्केनाच्छाद्य पाठ है ॥१७॥

ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रविमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्, आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत ॥१८॥

उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात्, तद्वक्ष्यामः—॥१९॥

धूपन द्रव्य—इसके अनन्तर, गुग्गुलु, अगर, राल, बच, श्वेत सरसों, सैन्धानमक, नीम के पत्ते इनको मिलाकर घी के साथ धूपन करना चाहिये। धूपन कार्य से बचे घी आदि द्रव्य से रोगी के मर्म स्थानों को मलना चाहिये, इससे रोगी में जान आती है। घड़े में से हाथ में पानी लेकर रोगी का परिमार्जन करते २ रक्षा कर्म[1] करना चाहिये ॥१८,१९॥

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥२०॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा॥२१॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥२२॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥२३॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥२४॥
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः ।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥२५॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥२६॥
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पान्तु ते मनः ।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥२७॥
रेतस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाशं खानि ते पान्तु देहं तव वसुन्धरा ॥२८॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥२९॥

[1] रक्षाकर्म—धूपन कार्य से जहाँ व्रण की दुर्गन्धि मिटती है, वहाँ पर कृमि आदि का भी सम्बन्ध नहीं होता! आर्ष ग्रन्थों में कृमि, राक्षस, निशाचर आदि प्रायः वर्त्तमान कालीन germs को ही कहते हैं। क्योंकि इन दोनों के कार्य-भोजन, रहने का स्थान, एवं चिकित्सा एक ही है। अपवित्र वस्तुओं से इनको स्नेह है, पवित्र कार्यों से द्वेष है। इसी से Sterilization या AsePtic कार्य को 'रक्षा कर्म' शास्त्र में कहा है।

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३०॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् ।
(स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ ॥)
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः॥३१॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव ।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥३२॥
इति स्वाहा ॥

रक्षा कर्म को कहते हैं—

कृत्या (अभिचार जनित राक्षसी कर्म) के निवारण के लिये, तथा राक्षसों के भय को दूर करने के लिये रक्षा कर्म करूँगा,—ब्रह्मा इस कर्म का अनुमोदन करें, (सहायता करें)।

जो जो वासुकि आदि नाग, पिशाच (मांस खानेवाले), गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, रावण आदि राक्षस जो जो तुझ व्रणी को पीड़ित करते हैं, उन सबों को ब्रह्मा आदि देवता नष्ट करें।

पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, दिशाओं में जो जो राक्षस विचरते हैं या घर में रहते हैं, वे सब नमस्कार ग्रहण करके, तुझ व्रणी की रक्षा करें, सब पर्वत, सब नदियाँ और सब सागर तेरी रक्षा करें। अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करे, वायु तेरे प्राणों की; चन्द्रमा व्यान की, बादल तेरे अपान की रक्षा करें। विद्युत् तेरे उदान की, बादल तेरे समान--वायु की रक्षा करे। बलपति इन्द्र तेरे बल की, मनु-प्रजापति तेरी बुद्धि तथा मन्यों (ग्रीवा के पिछे की दो शिराओं) की रक्षा करे। तेरी इच्छाओं की रक्षा गन्धर्व करें। तेरे सत्त्व (मन) की रक्षा इन्द्र करें; वरुण राजा तेरी प्रज्ञा की; समुद्र नाभिमण्डल की; सूर्य-आँख की; दिशायें कानों की; चन्द्रमा मन की; नक्षत्र तेरे रूप लावण्य की; रात्रियाँ तेरी छाया (समीप से दीखनेवाली छाया) की; जल तेरे शुक्र की; ओषधियाँ लोमों की, आकाश इन्द्रियों की और पृथ्वी शरीर की रक्षा करे। वैश्वानर अग्नि तेरे शिर की; विष्णु तेरे पराक्रम (उत्साह) की; पुरुषोत्तम-नारायण तेरे पौरुष की; ब्रह्मा जीवन की, ध्रुव तारा भ्रुवों की रक्षा करें। ये उपर्युक्त देवता तेरे शरीर में सदा स्थित हैं। ये देवता सदा तेरी रक्षा करें और तुम को दीर्घायु प्रदान करें। भगवान्[1]--विशिष्ट ज्ञानवान् ब्रह्मा तेरे लिये मंगल करे; देवता लोग मंगल करें; चन्द्रमा--सूर्य मंगल करें, नारद एवं पर्वत, अग्नि-वायु कल्याणकारी हों; इन्द्रानुयायी देवता मंगल कारक हों। पितामह--ब्रह्मा द्वारा की हुई रक्षा तेरे लिये मंगलकारी हो एवं आयु को बढ़ाये। ईतियाँ

[1] भगवान् का लक्षण—
उत्पत्तिं च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

(सब प्रकार के कष्ट) सदा शान्त हों, तू पीड़ा रहित हो जाये। इति स्वाहा—इस प्रकार से उपरोक्त मंत्रों द्वारा आहुति देनी चाहिये ॥२०-३२॥

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः ।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३३॥

इन सब उपयुक्त कृत्यानाशक वेद मन्त्रों से मुझ द्वारा रक्षा किया हुआ तू दीर्घायु को प्राप्त कर ॥३३॥

ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्य, आचारिकमादिशेत् ॥

व्रण रोगी की इस उपरोक्त विधि से रक्षा करके रोगी को घर में प्रविष्ट कराके आचारिक कर्म (आहार विहार रूपी व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे) का उपदेश कर देना चाहिये ॥

ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवमेव बध्नीयाद् वस्त्रपट्टन; न चैनं त्वरमाणोऽपरेद्युर्मोक्षयेत्, द्वितीयदिवसे परिमोक्षणाद्विग्रथितो व्रणश्चिरादुपसंरोहति, तीव्ररुजश्च भवति ॥

इसके पश्चात् तीसरे दिन इस व्रण को खोलकर कषाय से धोकर पूर्व की भांति फिर पट्टी से बाँध देना चाहिये। जल्दी की दृष्टि से इस व्रण को दूसरे दिन नहीं खोलना चाहिये। क्योंकि दूसरे दिन व्रण के खोलने से व्रण अंकुरित नहीं होता, गांठ पड़ जाती है, देर में रुजता है और बहुत पीड़ा होती है ॥

अत ऊर्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपनबन्धाहाराचारान् विदध्यात् ॥३६॥

तीसरे दिन के पश्चात् आगे दोष (वात आदि), काल (हेमन्त आदि), बल (हीन-मध्यम, उत्तम)--वयःसात्म्य आदि को देखकर कषाय, लेपन, बन्धन, आहार, आचार (विहार) करना चाहिये ॥३६॥

न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्, स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति ॥३७॥

जल्दी के कारण से दोष सहित (पूय को अन्दर रखकर) व्रण का रोपण नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार के व्रण में थोड़ा सा भी विरुद्ध कर्म होने पर यह व्रण अन्दर ही कोटर बनाकर विकार को करता है। मुनि ने शुद्ध व्रण का लक्षण—

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक् ।
न चोत्सन्नो न चोत्संगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥

यह किया है ॥३७॥

भवन्ति चात्र—

तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम् ।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ।
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत् स्थैर्योपसंभवात् ॥३८॥

कहा भी है—

इस लिये अन्दर और बाहर से शुद्ध हुए व्रण का ही रोपण करना चाहिये। व्रण के भर जाने पर भी जब तक व्रण में दृढ़ता न आये तब तक अजीर्ण, व्यायाम, मैथुन, हर्ष, क्रोध, भय आदि का परित्याग करना चाहिये। अष्टांग संग्रह में—

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत् ।
मासान् षट् सत वा नृणां विधिरेष प्रशस्यते ॥३८॥

हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत् ।
त्र्यहात् द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥३९॥

हेमन्त और शिशिर ऋतु में तथा बसन्त में तीसरे दिन पट्टी करनी चाहिये। शरद्, ग्रीष्म और वर्षा में दूसरे दिन, पट्टी करनी चाहिये। क्योंकि हेमन्त आदि में शीघ्र पाक का भय नहीं, ग्रीष्म आदि में भी पैत्तिक व्रण की अवस्था में दूसरे दिन पट्टी बदलनी चाहिये। शरद् ऋतु में पैत्तिक व्रण की अवस्था में दिन में दो बार पट्टी बदलनी चाहिये ॥३९॥

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक् ।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥४०॥

अपवाद--जिन आत्ययिक रोगों में जल्दी का काम हो (पूयस्राव आदि उपद्रव अधिक हों) उन में वैद्य को चाहिये कि वह उपयुक्त विधि का खूंटा पकड़कर न बैठ जाये। ऐसी अवस्था में जलते हुए घर के समान जल्दी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥४०॥

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥

शस्त्रावचरण के कारण उत्पन्न हुई जो तीव्र वेदना रोगी को कष्ट देती रहती है, वह वेदना मुलहटी के चूर्ण को घी में मिलाकर-थोड़ा गरम करके लगाने से शीघ्र शान्त हो जाती है॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्रोपहरणीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथात ऋतुचर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

हेमन्त आदि ऋतुओं में जिस प्रकार का आचरण करना चाहिये, वह कहते हैं; जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१;२॥

कालो हि नाम(भगवान्) स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनः अत्र रसव्यापत्संपत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः ॥३॥

जिस वस्तु के ऋतुएँ अंगभूत हैं, उस काल को कहते हैं— यह प्रसिद्ध काल–भगवान्-स्वयं उत्पन्न हुआ है, किसी ने इसको उत्पन्न नहीं किया; आदि मध्य निधन–विनाश से रहित

है। इस काल के अधीन ही द्रव्यों के रस की सम्पत् या व्यापत् है। मनुष्यों का जीवन एवं मरण भी इसी काल के वश में है। यह थोड़े काल के लिये भी नहीं रुकता, सर्वदा गतिशील रहता है। इसी से इस को काल कहते हैं। अथवा—सब प्राणियों का संहार कर इकट्ठा करता है—इस लिये, अथवा सब भूतों को सुख-दुःख के साथ युक्त करता है, इसलिये इसका काल कहते हैं। अथवा—सब का संक्षेप करता है, सब प्राणियों को मृत्यु के समीप लाता है, इसलिये काल है।

वि० मन्तव्य—यहाँ काल समय का नाम है। वह स्वयम्भू है, स्वभाव सम्भूत है, और अनादि तथा अनन्त है, अतः उसका कोई मध्य भी नहीं हो सकता है। काल के ही प्रभाव से इक्षु, इमली एवं मरिच आदि में मधुर आदि रसों की व्यापत्ति (विकृति) होती है, जैसे जनपदोध्वंस आदि के पूर्व औषधियों के रस, वीर्य, गुण, विपाक तथा प्रभाव विकृत हो जाते हैं। और सम्पत्ति (उचित सम्पादन) होती है जैसे सुकाल में। और मनुष्यों के ही नहीं प्राणिमात्र के जीवन मरण अर्थात् उत्पत्ति विनाश का कारण वही काल है, इतना ही नहीं पार्थिव द्रव्यों के निर्माण का कारण भी काल है। उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल के लिये व्यवधान-उच्छेद नहीं होता, वह भूतों-प्राणियों तथा पृथिवी आदि भूतों का संकलन = संयोग या निर्माण तथा कलन विकलन वियोग या नाश करता है अर्थात् प्राणियों तथा विश्व के उत्पादन एवं विनाश का कारण काल है। सच यह है कि जैसे ईश्वरवादी उक्त सब का कारण ईश्वर को मानते हैं तथा अन्य सम्प्रदायवाले, शिव, विष्णु, शक्ति आदि को मानते हैं वैसे ही कालवादी काल को मानते हैं ॥३॥

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ॥४॥

इस संवत्सर रूप काल के भगवान् आदित्य (चन्द्रमा भी) अपनी गति विशेष से निमेष, काष्ठा, काल, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग का विभाग कर देता है[1]।

वि० मन्तव्य—यद्यपि कला का कोई विभाग नहीं हो सकता और न होता ही है, तथापि भगवान् सूर्य की गति (उदय अस्त तथा उत्तरायण एवं दक्षिणायन और मेषादि राशियों पर संक्रमण आदि) के भेद से काल के निमेष, काष्ठा आदि) विभाग मान लिये जाते हैं ॥४॥

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः, कलादशभागश्च त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः ॥५॥

इनमें आकारादि लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका नाम निमेष है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा; तीस काष्ठा की एक कला; बीस कला और कला का दसवाँ भाग—अर्थात् तीन काष्ठा का—एक मुहूर्त्त; तीस मुहूर्त्त का एक रात दिन, पन्द्रह रात दिन का एक पक्ष; यह पक्ष दो प्रकार के हैं। शुक्ल और कृष्ण—इन दो पक्षों का मास होता है।

वि० मन्यव्य—यह समय-विभाग श्री धन्वन्तरि के मतानुसार है, भले ही ज्योतिःशास्त्र, धर्म शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र के मतानुसार इसमें कुछ भेद क्यों न हों। आयुर्वेद में औषधि के संग्रह, निर्माण तथा सेवन में और वमन विरेचन आदि के विधि निषेध में स्वस्थ वृत्त के नियम पालन आदि में काल-समय का विचार आवश्यक है, अतः इसका ज्ञान भी आवश्यक है।

तत्र माघादयो द्वादश मासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षडृतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति ॥६॥

इन मासों में माघ आदि बारह मास हैं। दो-दो मास के मिलने से छै ऋतुयें बनती हैं। यथा—शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त। इन में—तप (माघ,) तपस्य (फाल्गुन) से शिशिर; मधु-(चैत्र), माधव (वैशाख) से वसन्त; शुचि (ज्येष्ठ) शुक्र (आषाढ़) से ग्रीष्म; नभः (श्रावण) नभस्य (भाद्रपद) से वर्षा; इष (आश्विन) ऊर्ज (कार्त्तिक) से शरद्; सह (मार्गशीर्ष) सहस्य (पौष) से हेमन्त ऋतु होती है[1]।

वि० मन्तव्य—सम्भव है सुश्रुतसंहिता के रचना काल में माघ मास से १२ मास गिने जाते हों; जैसे वैदिक काल में शरद् ऋतु से गिने जाते थे। और आज का ज्योतिःशास्त्र वैशाखमास से गिनता है ॥६॥

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भग-

१ वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है "नहि पुरा ततः संवत्सर आस" आनन्दगिरिव्याख्यायाम् पूर्वमिति प्रजापतेरादित्यात्मकत्वाद् तदधीनत्वाच्च संवत्सरव्यवहारस्य, आदित्वात् पूर्वं तद्व्यवहारो नासीद् इत्यर्थः ॥

१ देखिये चरक संहिता सूत्रस्थान अ० ६ सूत्र ४-८॥

वानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते ॥७॥

ये शीत उष्ण, वर्षा रूपी छै ऋतुयें, चन्द्रमा और सूर्य के द्वारा काल का विभाग होने से दो अयनों में विभक्त हो जाते हैं। यथा--दक्षिणायन और उत्तरायण, इनमें दक्षिणायन वर्षा, शरद्, हेमन्त, इन तीन ऋतुओं से उपलक्षित है। इन वर्षादि ऋतुओं से भगवान् चन्द्रमा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं। सब प्राणियों का बल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उत्तरायण-शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म से उत्तरायण बनता है। इन ऋतुओं में सूर्य का बल उत्तरोत्तर बढ़ता है, तिक्त, कषाय और कटु रस बलवान् होते हैं, सब प्राणियों का बल उत्तरोत्तर घटता जाता है। जैसा चरक में कहा है-नृणां दौर्बल्यमावहन्ति—चरक. सू. अ.।

वि० मन्तव्य—स्थूलरूप से-शीत, उष्ण तथा वर्षा प्रधान-मोटे लक्षण या चिह्न हैं उन ६ ऋतुओं के। यूनानी चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार-१-मौसिमे सरदी २-मौसिमे गर्मी तथा मौसिमे बरसात। यह च० वि० अ० ८ के सूत्र १२७ के हेमन्तो ग्रीष्मो, वर्षाश्चेति।—

चरकसंहिता में दक्षिणायन का नाम "विसर्ग" तथा उत्त-रायण का नाम "आदान" है।

भारतवर्ष में उक्त दोनों अयनों का तथा तीनों मौसिमों का प्रभाव अन्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यक्त होता है, क्योंकि भूमण्डल पर ऐसे ही देश हैं जहाँ सर्वदा (वर्ष भर या अधिक मासों तक) एक एक मौसिम का प्रभाव रहता है, यथा—शीत कटिबन्ध के रूस आदि देशों में शीत का, उष्ण कटिबन्ध के अफ्रीका आदि देशों में उष्ण का तथा ब्रह्मा, जावा, सुमात्रा आदि देशों में वर्षा का प्रभाव या आधिक्य रहता है। यद्यपि महत्तर भारत में भी ऐसे तीन प्रकार के प्रदेश (प्रान्त) विद्यमान हैं। और यह क्रम पूर्ण रूप से कहीं भी नहीं घटता, तथापि भौगो-लिक दृष्टि से सन्तोष जनक आवश्यक है ॥७॥

भवति चात्र—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥८॥

शीतांशु—चन्द्रमा पृथ्वी को गीला-करता है, विवस्वान्—सूर्य पृथ्वी को सुखाता है। चन्द्रमा और सूर्य दोनों का आश्रय करके वायु प्रजा का पालन करती है। चन्द्रमा का आश्रय करके वायु जगत् में वृद्धि करता है, सूर्य का आश्रय करके जगत् का शोषण करती है, इस से यथासमय रसोत्पत्ति होती है, जिससे कि प्रजा का पालन होता है[1]।

वि० मन्तव्य—जहाँ पर चन्द्र, सूर्य तथा वायु की उक्त क्रिया जितनी ही व्यक्तरूप से होती रहती है वहाँ पर उतनी ही प्रजा (जनसंख्या) बढ़ती है ॥८॥

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते। स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः काल-श्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमित्युच्यत इत्येके ॥९॥

इन दोनों अयनों के एक साथ मिलने से संवत्सर बनता है। पाँच संवत्सरों के मिलने से एक युग बनता है। यह काल निमेष से लेकर युग पर्यन्त चक्र के समान घूमता हुआ—'काल-चक्र'—नाम से कहा जाता है—ऐसा कई आचार्यों का मत है। "पाँचयुग=संवत्सरः, परिवत्सरः, इन्द्रावत्सरः, इद्वत्सरः वत्सरः-इत्येवं पञ्च वत्सराणि—ते पंचयुगमिति संज्ञा लभन्ते॥" कौटिल्य ने भी पाँच वत्सर को युग कहा है।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेदीय शल्यतन्त्र में ५ वर्ष का युग माना जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी ५ वर्ष का ही युग माना गया है, यथा—'पञ्चसम्वत्सरो युगमिति" कौ० अ० शा० ४१। पुराणों में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का वर्णन भिन्न प्रकार से माना जाता है और स्मृतियों में भिन्न प्रकार से।

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशयनिमित्तं, ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा—भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः; कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति ॥

इस अध्याय में वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् (वर्षा का प्रथम समय प्रावृट् कहाता है) ये छै ऋतुएँ वातादि दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन में कारण हैं। ये छै ऋतुएँ भाद्रपद आदि दो दो मासों में उपलक्षित हैं। यथा—भाद्रपद-आश्विन में वर्षा; कार्त्तिक-मार्गशीर्ष में शरद्; पौष-माघ में हेमन्त; फाल्गुन चैत्र में वसन्त; वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म, आषाढ़-श्रावण में प्रावृट् ऋतु होती है।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद शल्यशास्त्र में वात, पित्त एवं कफ के संचय, प्रकोप तथा प्रशम को ध्यान में रखकर उक्त

---

१ सौम्याः खलु आपः अन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यः अव्यक्तरसाश्च। तास्तु अन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पंचमहा-भूतगुणसमन्विता जंगमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति।
चरक० सू० अ० २६।

६ ऋतु माने गये हैं। कायचिकित्सा के चरक ग्रन्थ में प्रावृट् को न मानकर, उधर शिशिर ऋतु माना है। सू० अ० ६। अस्तु, परन्तु च० वि० अ० ८ सू० १२७ में संशोधन को ध्यान में रखकर शिशिर न मानकर प्रावृट् ऋतु मान लिया गया है। विचार-विधि भेद से यह सब समीचीन है॥ १०॥

तत्र, वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमलप्राया, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जल प्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति; स संचयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति। ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रशान्ताः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्भानोः सतुषारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद् गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचयमापादयन्ति; स संचयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् व्याधीञ्जनयति। ता एवौषधयो निदाघे निःसारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमाना सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाच्च वायोः संचयमापादयन्ति; स संचयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां देहिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति। एवमेष दोषाणां संचयप्रकोपहेतुरुक्तः॥

इन ऋतुओं में वर्षा ऋतु के अन्दर वनस्पतियाँ तरुण--(सार रहित कमजोर) अल्पशक्ति हो जाती हैं। पानी भी अस्वच्छ हो जाता है; भूमि भी मल-मूत्र आदि से दूषित होती है। वनस्पतियाँ और जल आकाश के मेघों से व्याप्त होने तथा जल द्वारा भूमि के गीली होने से; शीत एवं वायु से मन्द की हुई अग्निवाले, तथा क्लिन्न शरीरवाले प्राणियों में अम्लता को प्राप्त हो जाते हैं। अम्लपाक होने से शरीर में पित्त का संचय करते हैं। यह संचय ऋतु के शीत के कारण उस समय कुपित न होकर शरद् ऋतु में, आकाश में मेघों के साफ हो जाने से, भूमि के कीचड़ के सूखने से, सूर्य की किरणों से पिघलकर पित्तजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। और यही औषधियाँ हेमन्त ऋतु में काल के परिपाक से शक्तिशाली परिपक्व वीर्यवाली हो जाती हैं। और पानी भी निर्मल, स्निग्ध और अत्यन्त भारी हो जाते हैं। इस ऋतु में सूर्य की किरणों के मन्द होने से, बर्फ से मिली गीली वायु के कारण स्तम्भित बने पुरुषों में इन वनस्पति तथा जल के उपयोग से, मधुरपाक होने के कारण, स्नेह से, शीतलता से, भारीपन तथा चिकनेपन से कफ का संचय हो जाता है। यह संचय वसन्त ऋतु में थोड़े आलसी बने शरीरवाले पुरुषों में-सूर्य की किरणों से पिघलकर (अन्न द्वेष आदि) कफ जन्य रोगों को उत्पन्न करता है। और ये ही औषधियाँ एवं पानी ग्रीष्म ऋतु में सार रहित, निर्बल रूक्ष और बहुत अधिक हल्की हो जाती हैं। इन बनस्पतियों के साथ पानी के सेवन से, सूर्य की गरमी से शुष्क शरीरवाले पुरुषों में—रूक्ष (स्नेह के अभाव) लघु और विशदगुण के कारण वायु का संचय इस ऋतु में होता है। यह वायु-संचय प्रावृट् ऋतु में पानी के कारण भूमि के बहुत अधिक तर होने से; आर्द्र शरीरवाले पुरुषों में--शीतल-वायु-वर्षा के कारण वातजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वात आदि दोषों के संचय एवं प्रकोप के कारण कह दिये हैं॥ ११॥

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्॥ १२॥

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में संचित वात आदि दोषों को, तथा शरद् वसन्त और प्रावृट् काल में कुपित पित्तादि दोषों को वमन आदि द्वारा निकालना चाहिये। यह निःसारण ऋतु के पिछले मास में करना चाहिये, यथा-पित्त का संशोधन मार्गशीर्ष में, कफ का निर्हरण-चैत्र में, वात का श्रावण मास में संशोधन करना चाहिये॥ १२॥

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव, त एते संचयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः॥ १३॥

उपशम कहते हैं—

कालस्वभाव के कारण ही पित्तजन्य रोगों की शान्ति हेमन्त में, कफजन्य रोगों की ग्रीष्म में और वातजन्य रोगों की शान्ति शरद् ऋतु में होती है। इस प्रकार से दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशम कह दिये हैं॥ १३॥

तत्र, पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्॥ १४॥

सांवत्सरिक विधि को दिन रात में कहते हैं—

दिन के पूर्वार्ध में वसन्त ऋतु के लक्षण (कफ प्रकोप) होते हैं मध्याह्न में ग्रीष्म के लक्षण (वात संचय), अपराह्ण में प्रावृट् के (वात प्रकोप); प्रदोष-रात्रि के पूर्व भाग में वर्षा के (पित्त संचय), आधीरात में शरद् ऋतु के (पित्त प्रकोप), रात्रि के अन्तिम भाग में—उषःकाल में हेमन्त के (कफसंचय) लक्षण होते हैं। इस प्रकार से दिन रात में भी वर्ष भर की, शीत, उष्णिमा, और वर्षा (वर्षा हेमन्त ग्रीष्म ऋतु) की भाँति दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन होता है॥ १४॥

तत्र, अव्यापन्नेषु ऋतुष्वव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्बलवीर्यौजस्कर्यो भवन्ति ॥ १५ ॥

अव्यापन्न—आदूषित ऋतुओं में गेहूँ-चने आदि वनस्पतियाँ तथा पानी निर्दोष होते हैं। इन वनस्पति तथा पानी के उपयोग से—अग्निसोमीय रूपी प्राण शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व-आत्मा के संयोग रूपी आयु, उत्साह रूपी बल, शक्ति, सप्त धातुओं का स्नेह रूपी हृदयाश्रित ओज बढ़ता है ॥ १५ ॥

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्टकारिता, शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्त्यपश्च ॥ १६ ॥

इन ऋतुओं में विपरीतता का कारण अधर्म है। शीत, उष्ण, वायु और वर्षा के विपरीत (हीन, मिथ्या, अतियोग) होने से औषधियाँ एवं जल भी दूषित बन जाते हैं—अपने स्वाभाविक गुण-धर्म को छोड़ बैठते हैं। (सर्वेषामप्यग्निवेश यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः। तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं, तयोः योनिः प्रज्ञापराध एव। चरक) ॥ १६ ॥

तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥

इस प्रकार के दूषित अन्न-पान के सेवन से नाना प्रकार के रोग होते हैं अथवा-महामारी फैलती है[1] ॥१७॥

तत्र, अव्यापन्नानामोषधीनामपां चोपयोगः ॥ १८ ॥

इस अवस्था में (ऋतु के विपरीत होने पर) अदूषित बनस्पतियों का तथा पानी का उपयोग करना चाहिये। पुराना अन्न एवं अव्यापन्न पानी का उपयोग करना चाहिये। इस लिये कहा है—"तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेः विरसीभावाद् उद्धरध्वं भैषज्यानि"—इत्यादि ॥१८॥

कदाचिदव्यापन्नेष्वपि ऋतुषु कृत्याभिशापरक्षःक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः, विषौषधिपुष्पगन्धेन वा वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते, ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावैर्वा ॥ १९ ॥

ऋतु व्यापत्ति के बिना भी कई बार (सदा नहीं) कृत्या (मन्त्रों द्वारा की हुई राक्षसी क्रिया), अभिचारी, अभिशाप (गुरु-सिद्ध आदि द्वारा दिया शाप) हिंसक प्रवृत्तिवाले राक्षसों के क्रोध से, काय, वाणी एवं मन के अधर्म से जनपद नष्ट हो जाते हैं। विष युक्त औषधि, या विषैले फूल की गन्ध वायु द्वारा जिन देशों के समीप पहुँचती है, वहाँ पर दोष, प्रकृति की अभिन्नता से कास, श्वास, वमन, प्रतिश्याय, शिर-वेदना, ज्वर होते हैं। अथवा-आदित्य आदि ग्रहों के तथा अश्विनी आदि नक्षत्रों के गति विशेष से, या घर, भार्या, पलंग, आसन, यान, सवारी, मणि, रत्न आदि उपकरणों के निन्दित लक्षणों के होने से (अकस्मात घर के गिरने से, बार बार कम्पन होने से) जनपद नष्ट होते हैं[1]। (तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणः धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितानि आचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति, प्रागेवानेककुलविनाशाय, नित्यप्रत्ययोपलम्भाद् अनियताश्चापरे) ॥१६॥

तत्र स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यम्, एवं साधु भवति ॥

सामान्यचिकित्सा—अधर्म के कारण ऋतु व्यापत्ति होने से दैव व्यपाश्रय औषध कहते हैं—स्थान का परित्याग, शान्तिकर्म, वेदोक्तमंत्रों से यजन, प्रायश्चित्त-तप, प्रशस्त मणि आदि मंगल वस्तु का धारण, जप, होम, उपहार, देवता बलि, इज्या (याग), अञ्जलि--भक्ति से हाथों को जोड़ना, नमस्कार–प्रणाम, तप, नियम-मौन, दया, दान, दीक्षा, अभ्युपगम गुरुवाक्य आदि को स्वीकार करना देवता-ब्राह्मण, गुरु की सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार करने से कुशल होता है। (येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्। कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते। हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ॥ इत्यादि) ॥ २० ॥

अत ऊर्ध्वमव्यापन्नमृतूनां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥२१॥

वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः।
छन्नस्तुषारैः सविता हिमानद्धा जलाशयाः ॥२२॥
दर्पिता ध्वाङ्क्षखड्गाह्वमहिषोरभ्रकुञ्जराः।
रोध्रप्रियङ्गुपुन्नागाः पुष्पिता हिमसाह्वये ॥२३॥

इसके आगे अव्यापन्न ऋतुओं के लक्षण कहते हैं।

हेमन्तऋतु में—उत्तर दिशा की वायु चलती है। दिशायें धूलि-धूम कोहरे से व्याप्त होती हैं। सूर्य तुषार से घिरा होता है, जलाशय-बर्फ से ढंपे होते हैं। कौवे; गैंडा, भैंसा, मेढ़ा एवं हाथी प्रसन्न रहते हैं। लोधप्रियंगु—तथा पद्मकेशर खूब खिलता है ॥ २१-२३ ॥

शिशिरे शीतमधिकं वातवृष्ट्याकुला दिशः।
शेषं हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः ॥ २४ ॥

शिशिर ऋतु में शीत अधिक रहता है, दिशायें बात से मिश्रित वृष्टि से व्याप्त रहती हैं। शेष सब लक्षण विद्वानों को हेमन्त के समान समझना चाहिये ॥ २४ ॥

---

१ देखिये विस्तार के लिये-चरक-वि-अ० ३।

देखिये-महाभारत-शान्तिपर्व में—'गोवत्सं वडवा सूते, श्वा शृगालं महीपते।'

सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते।
मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते ॥२५॥
वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः।
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥२६॥
दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः।
किंशुकाम्भोजबकुलचूताशोकादिपुष्पितैः ॥२७॥
कोकिलाषट्पदगणैरुपगीता मनोहराः।
दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः ॥२८॥

वसन्त ऋतु में—सिद्ध एवं विद्याधरों की स्त्रियों के चरणों में लगे आलक्त से चिह्नित, चन्दनलता के आलिंगन से सुवासित; कामिजनों को आनन्द देनेवाली तथा कामवर्धक, दम्पतियों के मान को तोड़नेवाली मलयाचल की दक्षिण वायु बहती है। वसन्त में दिशायें निर्मल, जंगलों से शोभित, ढाक, कमल, बकुल, आम, अशोक आदि के फूलों से शोभित होती हैं। कोकिल-भ्रमर आदि के मनोहर गीतों से मिली शोभन अवकाशवाली तथा पल्लव–कोमल पत्तों से शृंगार की हुई और दक्षिण वायु बहती है ॥२५-२८॥

ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतो नैर्ऋतोऽसुखः।
भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव ॥२९॥
भ्रान्तचक्राह्वयुगलाः पयःपानाकुला मृगाः।
ध्वस्तवीरुत्तृणलता विपर्णाङ्कितपादपाः ॥३०॥

ग्रीष्मऋतु में–सूर्य की किरणें तीक्ष्ण रहती हैं। नैर्ऋत की वायु बहती है, यह वायु सुखकारक नहीं होती। जमीन जलती रहती है, नदियों का प्रवाह मन्द पड़ जाता है, दिशायें मानों आग उगलती रहती हैं। घबराये चक्रवाक युगल पानी की फिकर में मंडराते रहते हैं। मृग पानी पीने के लिये व्यग्र होते हैं। वृक्ष, तृण, लतायें नष्ट होती हैं—जमीन पर गिर जाती हैं। वृक्षपत्तों–रहित रुण्ड-मुण्ड हो जाते हैं ॥२९,३०॥

प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः।
अम्बुदैर्विद्युदुद्द्योतप्रस्रुतैस्तुमुलस्वनैः ॥३१॥
कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता ॥३२॥

प्रावृड् ऋतु—पश्चिम दिशा की वायु (मोनसुन) से लाये हुए बादलों से आकाश प्रावृड् ऋतु में घिरा रहता है। बिजली की चमक के साथ बरसनेवाले प्रचंड गर्जनोंवाले बादल घिरे रहते हैं। भूमि कोमल-श्याम दूब से भरी रहती है। भूमि पर वीरबहूटियाँ फैली रहती हैं। कदम्ब, नीम, कुटज, राल, केतकी से भूमि अलंकृत रहती है। जैसा कि रामायण में कहा है—'बालेन्दुगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन' ॥

तत्र वर्षासु नद्योऽम्भश्छन्नोत्खाततटद्रुमाः।
वाप्यः प्रोत्फुल्लकुमुदनीलोत्पलविराजिताः ॥३३॥
भूरव्यक्तस्थलश्वभ्रा बहुसस्योपशोभिता।
नातिमर्जत्स्रवन्मेघनिरुद्धार्कग्रहं नभः ॥३४॥

वर्षाऋतु—वर्षाऋतु में नदियाँ पानी से भरी रहती हैं, जिससे कि किनारे के वृक्ष टूटते हैं। बावड़ियों में कुमुदिनी और नीले कमल खिल रहे होते हैं। भूमि पर गड्ढे और जमीन में भेद नजर नहीं पड़ता, शस्यश्यामला भूमि होती है। बहुत गर्जना न करनेवाले बादलों से नभ और सूर्य तथा तारे छिपे रहते हैं ॥३३,३४॥

बभ्रुरुष्णः शरद्यर्कः श्वेताभ्रविमलं नभः।
तथा सरांस्यम्बुरुहैर्भान्ति हंसांसघट्टितैः ॥३५॥
पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः।
बाणसप्ताह्वबन्धूककाशासनविराजिता ॥३६॥

शरद् ऋतु—शरद् ऋतु में सूर्य कपिल-पिंगल एवं उष्ण होता है। आकाश श्वेत बादलों से व्याप्त एवं विमल होता है। हंसों के द्वारा आलोडित कमलों से तलाब सुशोभित होते हैं। नीचे ऊँचे स्थानों में भूमि समान हो जाती है कीचड़ शुष्क हो जाता है तथा—चिउँटी आदि से व्याप्त होती है। बाण (झिंटी), सप्तपर्ण, दुपहरिया, काश, असन से भूमि शोभित होती है। (बाण का अर्थ—कुरण्ट किया है)।

वि० मन्तव्य—पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः–का अर्थ है कि शरद् ऋतु में—भूमि-निम्न भागों में पङ्क (कीचड़) से आकीर्ण (व्याप्त) रहती है, उन्नत भागों में सूखी रहती है और समतल भागों में द्रुमों (पौदों) से व्याप्त रहती है ॥३५,३६॥

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम् ॥३७॥

उपसंहार—ऋतुओं के जो स्वाभाविक गुण हैं, उन गुणों में अत्यधिकता होने से, अथवा स्वाभाविक गुणों में विपरीत गुण आने से (वर्षाऋतु में वर्षा न होने से), या ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों में विषमता (शीत में गरमी, गरमी में शीत) होने से (इस प्रकार से १८ प्रकार की ऋतु-व्यापत्तियाँ हैं) प्राणियों के वात आदि दोष कुपित होते हैं। (कालार्थ-कर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकाः) ॥३७॥

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ॥३८॥

रोगोत्पत्ति से पूर्व ही दोषों का शमन करना चाहिये। यथा—वसन्त ऋतु में कफ का, शरद् ऋतु में पित्त का, वर्षाऋतु में वायु का शमन करना चाहिये। जिस ऋतु में जो दोष कुपित होता है, उसकी उसी में शान्ति करनी चाहिये। चरक में कहा है—

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते
प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।

घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु ॥

वि० मन्तव्य—वसन्त ऋतु में कफ को (वमन द्वारा) और शरद् ऋतु में पित्त को (विरेचन द्वारा) निकालना चाहिये और वर्षा में वात को शान्त करना चाहिये, परन्तु यह सब कार्य—रोगोत्पत्ति के पूर्व ही कर डालना या करना चाहिये अर्थात् स्वस्थ भी उक्त ऋतुओं में वमन, विरेचन तथा वात शमनोपाय करता रहे, इससे लाभ यह होता है कि उसको ऋतु जनित विकार कभी नहीं होते। शोधन द्वारा दोषों का सञ्चय निकल जाता है, फलतः प्रकोप का अवसर ही नहीं आता।

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे शल्यों को निकालने के साधनों को बताने के लिये 'यंत्रविधि' नामक अध्याय को कहते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१, २॥

यन्त्रशतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, (किं कारणं ? यस्माद्धस्ताहते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव) तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥३॥

यन्त्रों की संख्या साधारणतः एक सौ एक है, (वैसे असंख्य हैं[1])। इन सब यंत्रों में सब से प्रधान यंत्र हाथ को ही समझना चाहिये। क्योंकि—हाथ के बिना यंत्रों का चलना असम्भव है। सब यंत्र-कर्म इसी हाथ के आधीन हैं—

वि० मन्तव्य—यन्त्र-नियन्त्रण या पकड़ने के साधनों—उपकरणों का नाम है। इन से पकड़कर कण्टक एवं दन्त आदि तथा मृतगर्भ कभी २ जीवित गर्भ आदि २ भी निकाले जाते हैं। इन से शल्य को हिलाने-डुलाने या शिथिलमूल करने का काम भी लिया जाता है। गुद, भग तथा मुख आदि को चौड़ा करके (तान करके) भीतर देखने का, औषध लगाने का तथा शस्त्र कर्म करने का काम भी लिया जाता है। मूत्राशय एवं जलोदर आदि में लगाकर स्रावण का तथा आचूषण का भी काम लिया जाता है ॥३॥

तत्र, मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि, तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि ॥४॥

शल्यविनिश्चय में—मन एवं शरीर को पीड़ित करनेवाली वस्तु को 'शल्य' कहते हैं। इस शल्य को निकालनेवाले साधनों को 'यंत्र' कहते हैं ॥४॥

तानि षट्प्रकाराणि तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि, तालयन्त्राणि, नाड़ीयंत्राणि, शलाकायंत्राणि उपयंत्राणि, चेति ॥५॥

यंत्रों के भेद—

ये यंत्र आकृति भेद से छै प्रकार के हैं। यथा—स्वस्तिक यंत्र, संदंशयंत्र, तालयंत्र, नाड़ीयंत्र, शलाकायंत्र और उपयंत्र[1] ॥५॥

तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे संदंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर्नाड्यः, अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि ॥६॥

इनमें स्वस्तिकयंत्र—२४, संदंशयंत्र—२ तालयंत्र—२, नाड़ीयंत्र—२०, शलाकायंत्र—२८, उपयंत्र—२५-इस प्रकार से १०१ यंत्र हैं ॥६॥

तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति, तत्प्रतिरूपकाणि वा तदलाभे ॥७॥

ये यंत्र प्रधानतः लोहे के (स्वर्ण-रजत, ताम्र-वंग लोहा) होते हैं। लोहादि के अभाव में दांत बांस आदि लोहे के समान दृढ़ वस्तुओं से बनाये जाते हैं ॥७॥

तत्र, नानाप्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणां प्रायशः सदृशानि, तस्मात्तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्रदर्शनाद्युक्तितश्च कारयेत् ॥८॥

यंत्रों की बनावट—

यंत्रों के मुख प्रायः भिन्न २ हिंसक पशुओं के तथा पक्षियों के मुख के सदृश होते हैं। इस लिये हिंसक पशु-पक्षियों के मुख के समान, शास्त्र उपदेश से, विदितवेदितव्य वैद्यों के आदेश से, युक्ति से तथा प्रयोजन वश से यन्त्रों की रचना करनी चाहिये ॥८॥

समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥९॥

उपसंहार—

उचित (न अधिक और न कम) परिभाषा के बने, खर चिकने मुखवाले, दृढ़, देखने में सुन्दर, पकड़ने में सरल बनावटवाले यन्त्र बनाने चाहियें ॥९॥

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि, सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगैर्वारुककाककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रक्रौञ्चभृङ्गराजाञ्जलिकर्णावभञ्जननन्दीमुखमुखानि, मसूराकृतिभिः

---

१ वाग्भट्ट में यन्त्रों की संख्या असंख्य मानी है। यथा—"अतः कर्मवशात्तेषामियत्ताऽवधारणमशक्यम्," वा० ग० सू० स्था० अ० २५।

१ विस्तार के लिये—लेखक का 'शल्ययन्त्र' देखिये।

कीलैरवबद्धानि, मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गाणि, अस्थिविदष्टशल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते ॥१०॥

स्वस्तिक यन्त्रों का प्रमाण एवं आकार—

स्वस्तिक यन्त्रों का प्रमाण १८ अंगुल होता है। इनके मुख सिंह, भेड़िया, व्याघ्र (चीता) तरक्षु, भालू, चीता, बिल्ली, गीदड़, हिरण, एर्वारु (हरिणभेद)—इन हिंसक पशुओं के मुख के समान तथा—कौवे, कंक (दीर्घ चोंच का), कुरर, चाष, भास, शशघाति (शशारि), उल्लू , चिल्ली (चील), श्येन, गीध, कौंच, भृङ्गराज—फिंगा, अञ्जलिकर्ण अवभञ्जन, नन्दीमुख—इन पक्षियों के मुख के समान मुखवाले, सिर पर मसूर के समान फलदार कील से जुड़े, जड़ में अंकुश के समान घिरेहुए पकड़ने के स्थानवाले, अस्थि में घुसे शल्य को निकालने के लिये काम में आते हैं।

वि० मन्तव्य—इन पशु-पक्षियों को हिंस्र ही मानना आवश्यक नहीं है, केवल मुख सादृश्य के लिये कुछ पशु-पक्षियों का नामोल्लेख कर दिया गया है, अवभञ्जन पक्षी को पञ्जाब में "ठोक ठेया" तथा उत्तर प्रदेश में 'लोहार' कहते हैं, यह वृक्ष के टहनों में अपनी चौंच से बिल बना लेता है। स्वस्तिक यन्त्र—स्वस्तिक (×) के सदृश होते हैं। इसके २ खण्ड होते हैं और दोनों को मुख-भाग से थोड़ा ऊपर कील से जोड़ा रहता है, परन्तु वह कील दोनों खण्डों के छिद्रों में ढीला रहता है कसा नहीं, ताकि यन्त्र में गति हो सके, कील के दोनों छोर मसूर के समान फूलदार हों, जिससे दोनों खण्ड अलग न हों। वारङ्ग—मूठ का या उस भाग का नाम है, जहाँ पर यन्त्र को हाथ से पकड़ा जाता है, मुख उस भाग का नाम है जिससे शल्य पकड़ा जाता है। इसके उदाहरण हैं दन्त निकालने का जमूर तथा गर्म लोहा पकड़ने की लोहारों की सानी या सन्नी। वाग्भट के शब्दों में—कण्ठे मसूराकारपर्यन्तैः कीलकैः बद्धानि, मूले अंकुशवत् नतानि स्वस्तिकयन्त्राणि विद्यात्। वा० सू० अ० २५ ॥१०॥

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशाङ्गुलौ भवतः, त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते ॥११॥

संदंशयंत्र—दो प्रकार के हैं। यथा—सनिग्रह (संनिबन्ध-संड़ासी) और अनिग्रह (अनिबन्ध चिमटा) इनकी लम्बाई १६ अंगुल होती है। ये त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु में लगे हुए शल्य को निकालने में काम आते हैं।

वि० मन्तव्य—संदंश—चिमटा या चिमटी का नाम है, इस पर एक छल्ला चढ़ाया रहता है उसका नाम है "निग्रह"। जिस पर छल्ला चढ़ा होता है वह "सनिग्रह" कहलाता है। यह छल्ला के दबाव से ही शल्य को पकड़े रहता है, हाथ का दबाव डालने की आवश्यकता नहीं होती और जिस पर छल्ला नहीं रहता वह "अनिग्रह" संदंश कहलाता है, इस पर हाथ का दबाव देकर शल्य पकड़ा जा सकता है। इसमें हाथ का दूना बल लगता है दबाने और खींचने में। इसके छोटे रूप का नाम "मुचुण्डी" है और छल्ला का नाम रुचक है। क्योंकि रुचक का नाम "कटक" है और कटक का नाम वलय है (मेदनीकोश)। सर्वसाधारण की बोली में मुचुण्डी संदंश को "नचकुण्डी" (पञ्जाब) तथा मुचुण्डी-मुचकूँडी कहते हैं। यह काँटा निकालने के लिये घर २ रखी जाती है। इसका लक्षण-—षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्। मुचण्डी सूक्ष्मदन्ता ऋजुः मूले पचकभूषणा। गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च। वा० सू० अ० २५। अर्थात् उक्त दो बड़े (१६-१६ अङ्गुल के) सन्दंशों के अतिरिक्त एक अन्य ६ अंगुल का संदंश होता है जिसका नाम "मुचुण्डी" है। इसके दन्त सूक्ष्म (बारीक) तीखे (नोकदार) नहीं होते हैं, यह आकारतः सीधी होती है, रुचक का भूषण होता है यह सूक्ष्म शल्य, उपपक्ष्म (परवाल), गम्भीर व्रण के दूषित मांस तथा अर्म को निकालने के काम आती है। इसे "मोचना" भी कहते हैं ॥११॥

तालयन्त्रे—द्वादशांगुले मत्स्यतालवदेकतालद्वितालके, कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् ॥१२॥

तालयंत्र भी दो प्रकार के हैं। इनकी लम्बाई १२ अंगुल होती है। इनका मुख मछली के ताल के समान पतला होता है। कइयों में एक प्रदेश होता है, और कइयों में दो प्रदेश होते हैं। इनका उपयोग कान, नासा एवं नाड़ी शल्यों के निकालने में होता है। आंगल भाषा में इनको स्कूप (scooP) कहते हैं।

वि० मन्तव्य—ताल यन्त्र-चम्मच के आकार के होते हैं। इनसे कान की मैल निकालने आदि का काम लिया जाता है॥

नाडीयन्त्राणि—अनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखान्युभयतोमुखानि च, तानि स्रोतोगतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थं क्रियासौकर्यार्थं चेति तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि, यथायोगदीर्घाणि च। तत्र भगन्दरार्शोव्रणबस्त्युत्तरबस्तिमूत्रवृद्धिदकोदरधूमनिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदयन्त्राण्यलाबुशृङ्गयन्त्राणि चोपरष्टाद् वक्ष्यामः ॥१३॥

नाड़ीयन्त्र—भी अनेक प्रकार के तथा अनेक प्रयोजन के लिये बनते हैं। इनमें कुछ यंत्रों में मुख एक ओर होता है, और कुछों में दोनों ओर होता है। इनका उपयोग-कण्ठ आदि स्रोतों में फँसे शल्य को निकालने के लिये, भगन्दर आदि रोग को देखने के लिये, रक्त आदि चूषण के लिये, अर्श आदि में क्रिया को सुगमता के लिये व्यवहार होता है। इसकी मोटाई स्रोतोद्वार के समान होती है और इनकी लम्बाई आवश्यकतानुसार होती है।

नाड़ीयंत्र—भगन्दर, अर्श, व्रणयंत्र[1], बस्ति, उत्तरबस्ति, मूत्रवृद्धि, दकोदर, धूमनेत्र निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अलाबु यंत्र[2] हैं। इनको विस्तार से आगे कहेंगे[3]।

वि० मन्तव्य—नाड़ी यन्त्र–सुषिर अर्थात् खोखले होते हैं नाली या नलिका के आकार के ॥१३॥

शलाकायन्त्राण्यपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च, तेषां गण्डूपदसर्पफणशरपुङ्खबडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते, मसूरदलमात्रमुखे किंचिदानताग्रे स्रोतोमतशल्योद्धरणार्थे, षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि प्रमार्जनक्रियासु, त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि, क्षारौषधप्रणिधानार्थं त्रीण्यन्यानि जाम्बवदनानि, त्रीण्यङ्कुशवदनानि, षडेवाग्निकर्मस्वभिप्रेतानि, नासार्बुदहरणार्थमेकं कोलास्थिदलमात्रमुखं खल्लतीक्ष्णौष्ठं, अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रं, मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति ॥१४॥

शलाका यंत्र भी नाना प्रकार के होते हैं। इनके प्रयोजन भी नाना प्रकार के हैं, इनकी लम्बाई और मोटाई प्रयोजन के यथायोग्य होती है। इन शलाका यंत्रों में–गण्डूपद, सर्पफण, शरपुंख और बडिशमुख–दो दो, (युगल से ही कार्य होता है) इनका कार्य एषण ढूँढ़ने के लिये (गम्भीरपाक में पूय आदि ढूँढ़ने के लिये), व्यूहन—ऊपर को उठाकर बाहर निकालना, चालन करने के लिये, आहरण—खींचकर बाहर निकालने के लिये, दो शलाका यंत्र—विदलित मसूर के समान, आगे से कुछ मुड़े (एक आठ अंगुल और दूसरा ९ अंगुल), इनका उपयोग स्रोतों में फँसे शल्य को निकालने में है। छै शलाकायें—जिनके सिरे पर रूई लिपटी रहती है, इनका उपयोग प्रमार्जन क्रिया में होता है। तीन शलाका यन्त्र–कड़छी के मुख के समान, नीचे की ओर मुख किये, इनका उपयोग क्षार औषध लगाने में होता है। अन्य तीन यन्त्र–जामुन के समान मुखवाले, तीन अंकुश के समान मुखवाले होते हैं। ये छै शलाकायन्त्र अग्नि कर्म—जलाने के कार्य में आते हैं। नासा के अर्बुद को निकालने के लिये एक—बेर की आधी गुठली के समान मुखवाली बीच से गहरी और किनारों पर तेज, एक शलाका यन्त्र—मटर के बराबर मोटी और दोनों सिरों पर मुकुलाकार, एक शलाका मूत्र मार्ग के संशोधन के लिये—मालती पुष्प के वृन्त के अग्रभाग के समान मोटी होती है[1]।

वि० मन्तव्य—अञ्जनार्थमेकं.........मुकुलाग्रम्—यह नेत्र में अञ्जन लगाने की सलाई है पञ्जाब में इसे "सुरमचू" कहते हैं। शलाका ठोस होती हैं, उनके मुख के आकार लम्बाई, मोटाई तथा कार्य भिन्न २ होते हैं।

गण्डूपद—केचुवा के सदृश गोल, लम्बी तथा लचकीली, यथा—रबड़ की बत्ती जो मूत्रमार्ग आदि में जाती है।

सर्पफण मुखी—जिसका अग्रभाग सर्प के मुख के सदृश नोकीला तथा फणा के सदृश चौड़ा हो, मत्त, फन फैलाए सर्प को देखिये।

शरपुंख मुखी शलाका—जिनके अग्रभाग पर शर-बाण के समान पुंख (फर) हों, ऐसे बाण भी होते हैं जो पुंखोंवाले होते हैं। बाण जब वेग से जाकर शरीर में धँसता है तब ये पुंख भीतर फैल जाते हैं और निकलते समय बड़ा व्रण करके निकलते हैं। अस्तु, यह पुंखोंवाली शलाका शल्य को हिलाने-चलाने में प्रयुक्त होती है।

बडिशमुखी शलाका—वह मछली पकड़ने के कांटा के सदृश होती है और गर्भशल्य के आहरण में काम आती है, अपत्य पथ से भीतर गर्भाशय में डालकर गर्भ के हनु आदि में फँसाकर खींच ली जाती है इसे वाग्भट में "गर्भशंकु" कहा है, यथा—आहार्ये बडिशाकृतिः। नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः। वा० सू० अ० २५ ॥२४॥

उपयन्त्राण्यपि—रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कलता-वस्त्राष्ठीलाश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनख-मुखबालाश्वकटकशाखाष्ठीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तमयानि क्षाराग्निभेषजानि चेति ॥१५॥

उपयन्त्र—रस्सी, वेणिका (तीन लड़ी वेणी), पट्ट (सूत की बनी पट्टी), चर्म (चमड़ा), अन्तर्वल्कल ढाक, गूलर आदि की छाल लता (बेल), वस्त्र (कपड़ा), अष्ठीलाश्म (गोल-

१ व्रणयन्त्र—"नाड़ीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडंगुले बस्तियन्त्राकारे मुखतोऽर्कणिके—मलमुखयोरंगुष्ठञ्कलायप्रवेशस्रोतसी मूले निबद्धमृदुर्मणिः" ॥ वृ० वाग्भट्ट ७॥

२ दो भगन्दर यन्त्र, दो अर्श यन्त्र, व्रणयन्त्र एक, वस्तिनेत्र-चार प्रकार, उत्तर वस्तिनेत्र दो—मूत्र वृद्धि १, दकोदर १, धूम नेत्र ३, निरुद्धप्रकश १, सन्निरुद्धगुद १, अलाबु यन्त्र १, इस प्रकार से बीस हैं।

३ वृद्ध वाग्भट ने नाड़ी यन्त्र अधिक कहे हैं। यथा—'कण्ठशल्यदर्शनार्थं नाड़ीदशाङ्गुलायतां पञ्चाङ्गुलपरिणाहाम्। द्विकर्णस्य तु वारङ्गस्य संग्रहार्थं द्विच्छिद्रमुखाम्। शल्यनिर्यातिनी तु पद्मकर्णिकाकारशीर्षा द्वादशांगुला त्र्यंगुलसुषिरा। तथाऽङ्गुलित्राणकं। योनिव्रणदर्शने यंत्रम्—Vagihalspecilum।

आजकल ब्रेस्ट पम्प (Breast-Pump) एक यन्त्र और है—जो कि स्तनों से दूध निकालने के कार्य में आता है।

१ वाग्भट्ट में कर्णशोधन और गर्भशंकु, ये दो शलाका यन्त्र अधिक हैं। यन्त्रों के लिये वाग्भट्ट एवं लेखक का शल्यतंत्र देखिये।

बड़ा पत्थर), मुद्गर, पाँव का तलुवा- हाथ का तलुवा, अंगुलि, जिह्वा, दांत, नख, मुख, बाल, घोड़े की काठी शाखा, ष्ठीवन—कफ आदि, प्रवाहण-वमन-विरेचन-अश्रु निकालने के लिये, हर्ष तुष्टि के लिये, अयस्कान्त (पाषाण विशेष-आकर्षक, द्रावक, चुम्बक, भ्रामक भेद से), और क्षार, अग्नि, एवं औषधियाँ उपयन्त्र हैं। अष्ठीलाश्म—से अष्ठीलालोहे का घन या अन्य ऐसी वस्तु और अश्म से पत्थर दो वस्तुयें हैं।

वि० मन्तव्य—उपयन्त्र अर्थात् यन्त्रण आदि में उपयोगी उपकरण। चर्म-चमड़ा की अनेक प्रकार की पट्टियाँ, बद्धियाँ यथा अन्त्रवृद्धि में बाँधने की पेटी आदि। अन्तर्वल्कल-वृक्षों की कोमल, लम्बी वे छालें जो बन्धन के योग्य हों। जिह्वा-जीभ-दन्तों में लगे धँसे पदार्थ को हिला २ कर निकाल देती है। दन्त से पकड़कर शल्य निकाला जा सकता है और नखों से भी। मुख से चूसकर दुग्ध, विष तथा रक्त निकाला जाता है। एतदर्थ रबड़ के गेन्द सा आचूषक यन्त्र भी होता है। लाल—केशों की गुट्टी बना उससे कण्ठ गत शल्य को फँसाकर निकालने का विधान है। कूची आदि बनाकर धोने, साफ करने आदि के उपकरण बनाये जाते हैं। अश्वकटक—के लिये देखिये अ० २७ का पश्चाङ्गयां....उद्धरति सू० १४। शाखा का वर्णन भी वहीं देखिये। ष्ठीवन—थूककर या खाँसकर कफ निकाला जाता है। प्रवाहण—काँखकर, बल लगाकर पुरीष एवं मूत्र निकाला जाता है और गर्भ को निकालने में गर्भिणी प्रवाहण करती है, उससे एतदर्थ कहा जाता है कि—प्रवाहस्व सुभगे! हर्ष या हर्षण - इसके द्वारा मन-आबाधकर शोक-शल्य निकाला जाता है। शेष देखिये इसी स्थान का अध्याय २७ और सम्पूर्ण सुश्रुत ॥१५॥

एतानि देहे सर्वस्मिन् देहस्यावयवे तथा।
संधौ कोष्ठे धमन्यां च यथायोगं प्रयोजयेत् ॥१६॥

इन यन्त्रों का उपयोग देह के सम्पूर्ण अवयवों में, संधि में कोष्ठ को धमनी में यथास्थान उचित रीति से उपयोग करना चाहिये ॥१६॥

यन्त्रकर्माणि तु—निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवर्तनविवरणपीडनमार्गविशोधनविकर्षणाहरणाञ्छनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जूकरणप्रक्षालनप्रधमनप्रमार्जनानि चतुर्विंशतिः ॥१७॥

यन्त्रों के कर्म—चौबीस प्रकार के हैं। यथा—निर्घातन (इधर-उधर चलाकर निकालना), पूरण (बस्ति-नेत्र आदि को तैल से भरना), बन्धन (रज्जु आदि से बाँधना), व्यूहन (ऊपर को उठाकर काटकर शेष भाग को निकालना), वर्त्तन (गोल करना), चालन (एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले चलना), विवर्त्तन (पराङ्मुख हुई अस्थि आदि का अपवर्त्तन), विवरण (अंगुलि आदि से दबाकर शल्य को बाहर करना), पीड़न (अंगुलि आदि से मलना-दबाना), मार्ग विशोधन (उत्तर बस्ति से मूत्रमार्ग का शोधन), विकर्षण (पकड़कर बाहर निकालना), आहरण (अन्दर स्थित शल्य का बाहर लाना), आञ्छन (आयमन-ऊपर उठाना), उन्नमन (ऊपर करना), विनमन (नीचे करना), भञ्जन (तोड़ना), उन्मथन (मथना-बिलोड़ना), आचूषण (चूसना), ऐषण (ढूँढ़ना), दारण (दो करना-फाड़ना), ऋजूकरण (सीधा कराना), प्रक्षालन (धोना), प्रधमन (नासिका आदि में फूत्कार से औषध भरना), प्रमार्जन (वस्त्र आदि से साफ करना), ये चौबीस कार्य यन्त्रों के हैं।

वि० मन्तव्य—उपयन्त्रों के कर्मों—कार्यों पर ध्यान देने से उपयन्त्रों के आकार-प्रकार तथा उनके उपयोग का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। हमारा विश्वास है कि इन से अधिक न यन्त्र हो सकते हैं और न यन्त्र कर्म ही हो सकते हैं। तथापि—सूत्र १८ देखिये ॥१७॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येयविकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चयः ॥१८॥

उपसंहार—शल्यों के असंख्य भेद होने के कारण बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपनी बुद्धि से ही यन्त्र कर्मों का विभाग कर ले। जिस प्रकार बने उस प्रकार से शल्य बाहर निकालना चाहिये ॥१८॥

तत्र अतिस्थूलम्, असारम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अग्राहि, विषमग्राहि, वक्रं, शिथिलम्, अत्युन्नतम्, मृदुकीलं, मृदुमुखं, मृदुपाशम् इति द्वादश यन्त्रदोषाः ॥

यन्त्र दोषों को कहते हैं—अतिस्थूल (बहुत मोटा), असार (अशुद्ध लोहादि से बने), बहुत लम्बा और बहुत छोटा, अग्राही (विकृत मुख), विषमग्राही (एक देश पकड़े और दूसरा न पकड़े), वक्र (टेढ़ा), शिथिल (दबाव न आये), अत्युन्नत (कील आदि उठी हो), मृदुकील (संधि बन्धन ढीला हो), मृदुमुख (शल्य पीड़न के दबाव को न सह सके), मृदुपाश (तनु पाश)—ये बारह यन्त्र के दोष हैं।

वि० मन्तव्य—असारका अर्थ है साररहित, दुर्बल जो कार्य करते समय टूट सकता हो जिसके टूटने का भय हो। यथा—कमजोर रस्सी या पट्टी और संदंश, शलाका आदि भी वैसे जो टूट जायं। मृदुपाश—ढीले रुचक (छल्लेवाला) देखो मुचुण्डी का वर्णन ॥१९॥

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं यन्त्रमष्टादशाङ्गुलम्।
प्रशस्तं भिषजा ज्ञेयं तद्धि कर्मसु योजयेत् ॥२०॥

इन उपर्युक्त १२ दोषों से रहित १८ अंगुल लम्बा यन्त्र वैद्य को प्रशस्त समझना चाहिये। इसी प्रकार के यन्त्र को शल्य-कर्म में बरतना चाहिए ॥२०॥

दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कङ्कमुखादिभिः।
निर्हरेत शनैः शल्यं शास्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥२१॥

दृश्य शल्यको सिंहमुख आदि यन्त्रों से निकालना चाहिये, और जो शल्य छिपा हो—आँख से दिखाई न दे उसको कंक-मुख आदि से निकालना चाहिए। शस्त्र एवं युक्ति की अपेक्षा से शल्य को धीरे से बाहर करना चाहिए ॥२१॥

नि (वि) वर्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात्। यन्त्रेष्वतःकङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधि-(वि) कारि चैव ॥२२॥

सब यन्त्रों में कङ्कमुख यन्त्र प्रधान है। क्योंकि—यह कङ्कमुख जल्दी ही बाहर निकल आता है और भली प्रकार से जल्दी ही अन्दर घुस जाता है। शल्य को पकड़कर बाहर खींच लेता है। (विवर्त्तते—पाठ में—अन्दर घूम सकता है)। संधि-धमनी आदि सब स्थानों में इस कङ्कमुख की ही प्रधानता है—यही अधिकारी है। इसलिए सब यन्त्रों में कङ्कमुख ही प्रधान है।

वि० मन्तव्य—शल्य को पकड़कर बाहर निकालने में भले ही प्रधान हो, वैसे तो अपने कार्य के लिये यन्त्र ही नहीं उप-यन्त्र रज्जू आदि भी प्रधान हैं, उपयोगी हैं अति-उपयोगी हैं ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने यन्त्रविधिर्नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः शस्त्रावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'शस्त्रावचारणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था।

वि० मन्तव्य—शस्त्र--छेदन, भेदन, आदि अर्थात् चीरने, फाड़ने, काटने, छीलने आदि कार्यों में प्रयुक्त होते हैं जैसे यंत्र बाँधने आदि कार्यों में। देखिए अ० ५ का सू० ५ ॥१,२॥

विंशतिः शस्त्राणि, तद्यथा--मण्डलाग्रकरपत्रवृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचिकुशपात्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रबडिशदन्तशङ्क्वेषण्य इति ॥३॥

शस्त्रों की संख्या बीस है—इनका आकार इनके नाम से ही प्रायः स्पष्ट है। मण्डलाग्र (Circular Knife या Roundhead Knife), करपत्र, (Saw आरी), वृद्धिपत्र (अञ्चिताग्र—Scalpel—प्रयताग्र—Absess knife), नखशस्त्र (Nail—pairs), मुद्रिका (दो अंगुल लम्बा—उस्तरे की बनावट के Finger-knife), कमलपत्र के समान तेज धार वाला उत्पलपत्र (Lancel), अर्धधार (Single Ebged Knife), सूची—सूई कुशा के समान कम चौड़ा परन्तु तीक्ष्ण-धार कुशपत्र, (Bistoury), आरीमुख (आरी—जलवर्धनी नामक पक्षी के समान मुख जैसा), शरारिमुख (दोही चोंच वाला—सफेद स्कन्धोंवाले पक्षी के मुख के समान—कैंची—लोक में), अन्तर्मुख (मध्य में मुखवाला मध्य मुख Curved Bistoury), त्रिकूर्चक (तीन छोटी-छोटी छुरियोंवाला), कुठारिका (हथौड़ी-Ave-shaped), व्रीहिमुख (Trocar) आरा (Owl-like-knife), वेतसपत्र (पतली धार का चाकू Narrow-Bladed knife), बडिश (मछली पकड़ने का काँटा—Hooks), दन्तशंकु (दांतखुरदने का चाकू Tooth pilk), एषणी (Sharp-proves)—इस प्रकार से बीस शस्त्र हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कुठारिका-कुल्हाड़ी के आकार का परन्तु छोटा वह शस्त्र जिसके द्वारा सिरावेध किया जाता है। देखिए सु० शा० अ० सू० ६ ॥३॥

तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटी (टा) मुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे, कुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे, एषण्येषणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीवने, इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥४॥

इनका उपयोग—

इन शस्त्रों में मण्डलाग्र और करपत्र छेदन एवं लेखन कार्यों में; वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधार ये छेदन एवं भेदनकार्यों में; सूची, कुशपत्र, आटीमुख, शरारिमुख, अन्तर्मुख और त्रिकूर्चक-विस्रावणकार्यमें; कुठारिका, व्रीहिमुख,

---

[1] शस्त्रों का ज्ञान प्रत्यक्ष में भली प्रकार होता है। ज्ञान के लिये कविराज हाराणचन्द्रजी की या डल्हण की टीकासे सहायता ली जा सकती है। वाग्भट्ट ने सर्पवक्त्र, शलाका, कर्त्तरि, सूची-कूर्च, खज एवं कर्णव्यधन ये छै शस्त्र अधिक कहे हैं। इनके तथा अन्य लक्षण अष्टांगसंग्रह में देखिये।

आरा, वेतसपत्र, और सूई (कुशपत्र-उत्पलपत्र), भी व्यधन कार्य में; बडिश और दन्तशंकु—आहरण कार्य में; एषणी एषण और अनुलोमन कार्य में; सूई-सीवन कार्य में; इस प्रकार से आठ प्रकार के कार्यों में इन शस्त्रों का उपयोग होता है। (डल्हण ने अनुलोमन का अर्थ विस्रावण किया है) ॥ ४ ॥

तेषामथ यथायोगं ग्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते। तत्र वृद्धिपत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृह्णीयात्, भेदनान्येवं सर्वाणि, वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रं च किंचिदुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्ये, वृन्ताग्रे विस्रावणानि, विशेषेण तु बालवृद्धसुकुमारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणां च त्रिकूर्चकेन विस्रावयेत्, तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां व्रीहिमुखं, कुठारिकां वामहस्तन्यस्तामितरहस्तमध्यमाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठविष्टब्धयाऽभिहन्यात् आराकरपत्रैषण्यो मूले, शेषाणि तु यथायोगं गृह्णीयात् ॥ ५ ॥

इन शस्त्रों को पकड़ने की विधि संक्षेप में कहते हैं—इनमें वृद्धिपत्र को वृन्त और फल के संयोगस्थान में पकड़ना चाहिये। इसी प्रकार सब भेदन शस्त्रों को पकड़ना चाहिये। वृद्धिपत्र और मण्डलाग्र शस्त्र को हाथ को कुछ ऊँचा करके लेखन कार्य में, बहुत वार प्रयोग करना चाहिये। विस्रावण कार्य में आनेवाले शस्त्रों को वृन्त के अगले भाग में पकड़ना चाहिये। बालक, वृद्ध, सुकुमार, भीरु स्त्रियों का, राजा एवं राजपुत्रों का त्रिकूर्चक शस्त्र से रक्त विस्रावण करना चाहिये। व्रीहिमुख के वृन्त को हाथ के तलुवे में ढाँपकर अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी अंगुलियों से पकड़ना चाहिये। वाम हस्त से पकड़कर दक्षिण हाथ की मध्य अंगुली से अंगूठे का सहारा लेकर इसके माथे पर चोट करनी चाहिये। आरा, करपत्र और एषणी को मूल से पकड़ें। शेष शस्त्रों को यथारीति से पकड़ना चाहिये। जैसे उनका कार्य ठीक हो, वैसे पकड़े।

वि० मन्तव्य—वृन्त-शस्त्र की मूठ या वीण्डा का नाम है, जहाँ से पकड़कर शस्त्र चलाया जाता है। फल-शस्त्र के उस भाग का नाम है जिससे छेदन भेदन आदि कर्म किया जाता है। "वृन्तफलसाधारण" भाग वह है जहाँ दोनों का सन्धान जोड़ होता है। त्रिकूर्चक—वह कूची है जिसमें दो से अधिक सूइयाँ एक साथ बंधी रहती हैं, जैसा गोदने या खुनने के लिये प्रयुक्त होता है। वृद्धिपत्र—यहाँ पर वृद्धि शब्द "वृधु-छेदने" धातु (भ्वादि आत्मनेपदी) से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—वृद्धये (छेदनाय) पत्रं (चतुर्थीतत्पुरुष) अर्थात् छेदन के लिये पत्र है। पत्र का अर्थ है पत्र = पत्ती—लोह की तीखी पत्ती। वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने। वा० सू० अ० २६ श्लो० ७। वृद्धिपत्र छुरा या उस्तुरा का या चाकू का नाम है। करपत्र—छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशाङ्गुलम्। विस्तारे द्व्यंगुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम् ॥ अर्थात्–अस्थि काटने के लिये—करपत्र नामक शस्त्र होता है। उसकी धार खरदरी सूक्ष्म २ दन्तों—दन्दों वाली, लम्बाई १० अंगुल, चौड़ाई २ अंगुल। सुन्दर मूठ में बँधी दो कीलों से कसी पत्ती होती है। इसका नाम "आरी" है। मण्डलाग्र—इसका फल तर्जनी अंगुली के नख के आकार का होता है। नखशस्त्र—नख काटने के शस्त्र का नाम है। मुद्रिका—इसे अंगुली पर चढ़ाकर कार्य किया जाता है। इसके अग्रभाग में उस्तुरा अथवा मण्डलाग्र शस्त्र का सा तीखा शस्त्र लगा रहता है। उत्पलपत्रक—कमल की पंखुरी के सदृश आकृतिवाला शस्त्र। अर्द्धधार—इसके फल के आधे अथवा आधे से कुछ अधिक भाग की धार तीखी रहती है। सूची—सूई का नाम है। कुशपत्र—कुश के पत्र के सदृश फलवाला। आटीमुख—आटी या आड़ी नामक पक्षी की चोंच के आकार का शस्त्र। यह पक्षी जल के आसपास रहता है। शरारिमुख—शरारि आटी पक्षी सा कोई पक्षी है। उसकी चोंच सा। अन्तर्मुख—इसका फल अर्द्धचन्द्र (द्वितीया तृतीया का चन्द्र) के सदृश आकृतिवाला और १॥ अंगुल का होता है। इसके अन्तर्भाग में धार होती है। व्रीहिमुख—जौ के सदृश मुखवाला या फलवाला।

आरा—यह वह शस्त्र है जिसके द्वारा नाथ सम्प्रदाय में कान फाड़े जाते हैं। इसका मुख आधा अंगुल चौड़ा होता है और सब घुसा दिया जाता है। वेतसपत्र—वेत के पत्र के सदृश आकारवाला। इसके दोनों ओर वेत के पत्र के समान दन्त या दाँते होते हैं। करपत्र में एक ही ओर होते हैं। बडिश—मछली पकड़ने के काँटे जैसा, द्वितीया के चन्द्र के सदृश टेढ़ा और एक ओर तीखा। दन्तशंकु—दन्त छीलने के योग्य, इसे पञ्जाब में "छिंग" कहते हैं। इससे दन्तशर्करा, दन्तकपालिका उतारी जाती है और दन्त या दाढ़ के खड्डे के सड़े गले या जीर्ण भाग को खुरचा जाता है। एषणी—नासूर के व्रण का पता लगाने में उपयोगी, यह केंचुवा के समान गोल लम्बी एवं लचकीली होती है, परन्तु यह शस्त्र नहीं–यन्त्र कही जा सकती है। भेदन के लिये जो सूई के सदृश तीखे मुखवाली और जिसके मूल में धागा डालने का छिद्र होता है वह भी एषणी कही जाती है। यही शस्त्र गणना में गिनी गई है। अनुलोमन करना ही एषणी यन्त्र का काम है और भेदनोपयोगी सूची का नाम भी एषणी है। बाण का

नाम इषु है, जो शस्त्र होता है और जिस (ईष-गतिहिंसा-दर्शनेषु धातु भ्वादिगणीय) से इषु शब्द निष्पन्न होता है। उसी से एषणी शब्द भी निष्पन्न होता है। इस उपकरण से भेदन रूपी हिंसन और नासूर की गति का दर्शन भी होता है। अतएव अग्रिम ११ वें सूत्र में-तीक्ष्ण काँटे तथा जौ के प्रथम पत्र के सदृश तीखे मुखवाली एषणी कही गई है ॥ ५ ॥

तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ६ ॥

इन शस्त्रों के आकार प्रायः नाम संकीर्त्तन से ही कह दिये हैं ॥ ६ ॥

तत्र नखशस्त्रैषण्यावष्टाङ्गुले, सूच्यो वक्ष्यन्ते, (प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका, दशाङ्गुला शरारिमुखी सा च (या सा) कर्त्तरीति कथ्यते।), शेषाणि तु षडङ्गुलानि ॥ ७ ॥

इनमें नख शस्त्र तथा एषणी आठ अंगुल के होते हैं। सूइयों का वर्णन-अष्टकर्माध्याय में कहेंगे। मुद्रिका-प्रदेशिनी (तर्जनी) के प्रमाण का होता है। शरारिमुख शस्त्र दश अंगुल लम्बा है, उसे कैंची भी कहते हैं। नख शस्त्र, एषणी और सूई को छोड़कर शेष सब शस्त्र छै अंगुल हैं ॥ ७ ॥

तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि, चेति शस्त्रसम्पत् ॥८॥

शस्त्रसम्पत्—सुग्रहाणि (पकड़ने में सुन्दर), सुलोहानि (उत्तम लोहे के बने), सुधाराणि (तीक्ष्ण धारवाले), सुरूपाणि (देखने में सुन्दर रूपवाले), सुसमाहितमुखाग्राणि (सुन्दर मुखवाले) अकरालानि (दांत रहित-देखने में भयानक नहीं) होने चाहिये। ये शस्त्रों के गुण हैं ॥ ८ ॥

तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं खरधारम्, अतिस्थूलम्, अत्यल्पम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, इत्यष्टौ शस्त्रदोषाः। अतो विपरीतगुणमाददीत, अन्यत्र करपत्रात्, तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् ॥ ९ ॥

शस्त्रों के दोष—वक्र (टेढ़ा), कुण्ठ (खुण्डा-मोटी धार), खण्ड (टूटा हुआ) खरधार (कर्कश धारवाला), अतिस्थूल, अतितुच्छ, अति दीर्घ, अति ह्रस्व—ये आठ शस्त्र के दोष हैं। इनसे विपरीत गुणोंवाले शस्त्र को ग्रहण करना चाहिये। परन्तु यह करपत्र के लिये नहीं है। क्योंकि इसकी धार दांतोंवाली होती है, यह अस्थि छेदन के कार्य में होता ह ॥ ९ ॥

तत्र धारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमसूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति ॥ १० ॥

अष्टविध कार्य में धार का निश्चय—

भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार मसूर पत्र की धार के समान मोटी, मण्डलाग्र आदि लेखन शस्त्रों की धार मसूर दल की धार से आधी, कुटारिका सूची कुशपत्र आदि व्यधन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार केश के समान पतली, वृद्धिपत्र आदि छेदन शस्त्रों की धार केश से आधी पतली होनी चाहिये ॥ १० ॥

बडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे। तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुख्येषणी (गण्डूपदाकारमुखी च) ॥ ११ ॥

बडिश आगे से कुछ झुका होना चाहिये, दन्तशंकु भी कुछ टेढ़ा होना चाहिये। एषणी तीन प्रकार की है। यथा—१—तीक्ष्णकण्टक, २—प्रथमयवपत्रमुखी (जौ के प्रथम पत्र के समान), ३—गण्डूपदाकारमुखी (गेंडुवे मुख के समान) ॥ ११ ॥

तेषां पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु। तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु ॥१२॥

पायना—शस्त्रों में तीक्ष्ण आदि गुण सौष्ठव उत्पन्न करने के लिये इनको भिन्न २ वस्तुओं में बुझाया जाता है, इसी को पायना कहते हैं। यह पायना तीन प्रकार की है। यथा—क्षार जल और तैल में। इनमें जो शस्त्र क्षार द्वारा भावित हों, उनका उपयोग शर, शल्य-अस्थि के छेदन में; उदक में भावित शस्त्रों का उपयोग—मांस के छेदन भेदन पाटनकार्य में; तैल में भावित शस्त्रों का उपयोग-सिरा के वींधने में और स्नायु छेदने में करना चाहिये[1]। पायना—पानी चढ़ाना। विवृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणाद् द्रवद्रव्येषु पायना।

वि० मन्तव्य—पायना-निर्माण के पश्चात् अथच शाण पर चढ़ाने के पश्चात् शस्त्रों को पान चढ़ाई जाती है इसी का नाम "पायना" है। शस्त्र के फल को तपाकर जल में अथवा आवश्यकतानुसार क्षारोदक तेल में बुझा दिया जाता है इस क्रिया से धार दृढ़ एवं चिरस्थायी हो जाती है। और विषद्रव में बुझाने से विषैली भी हो जाती है। चाकू आदि को शान पर चढ़ाकर जो जल में डुबोया जाता है वह "पायना" ही है ॥ १२ ॥

तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥ १३ ॥

शस्त्रों को तेज करने के लिए उड़द के समान काली चिकनी पत्थरी का उपयोग करना चाहिए। धार की तीक्ष्णता की रक्षा के लिए सिम्बल का फलक रखना

१ पायना के लिये—लेखक का शल्य तन्त्र देखिये।

चाहिये[1]। धारा संस्थापनार्थ—का अर्थ श्रीघाणेकर जी ने स्ट्रोपिंग (Stropping) किया है। इससे धार स्पष्ट और मृदु हो जाती है।

वि० मन्तव्य—धार को तीक्ष्ण करने के लिये-चमड़े का टुकड़ा तथा कपड़े का खण्ड भी उपयुक्त होता है ॥१३॥

भवति चात्र—

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ॥
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥१४॥

कहा भी है—

धार की पहिचान—जिस समय शस्त्र रोम का छेदन करने लगे (बाल को साफ करनेलगे), तब उसे भली प्रकार तेज समझना चाहिये। शोभन आकारवाला पूर्वोक्त विधि से भली प्रकार पकड़ा हो, पूर्वोक्त प्रमाण में बना हो, तब शस्त्र को छेदन आदि कार्य में प्रयोग करना चाहिये। वाग्भट्ट में रोमच्छेदि के स्थान पर रोमवाही–बाल मूंडनेवाला है।

वि० मन्तव्य—धार की उत्तम कोटि की तीक्ष्णता का लक्षण है सरलता से रोमों–बालों का छेदन-काट डालना ॥१४॥

अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकोग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुल्य इति॥

शिशु—स्त्री आदि में अथवा शस्त्र के अभाव में अनुशस्त्रों का उपयोग करना चाहिये। अनुशस्त्र यथा-त्वक्सार-(बाँस की छाल), स्फटिक, काच, कुरुविन्द-(लोहिताश्मरत्न प्रधान), जलौका, अग्नि, क्षार, नख, गोजी (गाजवा), शेफालिका (हरसिंगार), शाकपत्र (सागौन का पत्ता), बाल अंगुलि-ये अनुशस्त्र हैं।

वि० मन्तव्य—अनुशस्त्र वे कहे जाते हैं जो लोह के शस्त्र नहीं होते, परन्तु उनसे शस्त्र का काम लिया जाता है। जैसे—फफोला आदि के भेदन का काम काच की नोक से ले लिया जाता है, लेखन का काम गाजवाँ के पत्र से जो खरदरा होता है ले लिया जाता है आदि[2]। शेष निचले श्लोकों में देखिये ॥

शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत्।
त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥१६॥

आहार्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत्।
विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् क्षारवह्निजलौकसाम् ॥१७॥
ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये।
गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्रावयेत्तु तान् ॥१८॥
एष्येष्वेषण्यलाभे तु बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः।

इन अनुशस्त्रों का विषय—

शिशुओं में, शस्त्र से डरनेवाले पुरुषों में अथवा शस्त्र के अभाव में छेदन-भेदन कार्य में त्वक्सार आदि चार (वंश, स्फटिका, काच, कुरुविन्द) का प्रयोग करना चाहिये। आहरण, छेदन, भेदन जो कार्य नख से शक्य हों उनसे नख का प्रयोग करना चाहिये। क्षार वह्नि और जौक की विधि आगे कहेंगे। मुख रोगों में तथा नेत्र वर्त्म के रोगों में--गोजी, शेफालिका, शाक--इनके पत्रों का उपयोग करना चाहिये। एष्य कार्य में एषणी के अभाव में बाल, अंगुलि-अंकुर हितकारी हैं॥१६-१८॥

शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु।
कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥१९॥

बुद्धिमान् वैद्य—अपने कर्म में निपुण, कर्मपण्डित–कर्म को जाननेवाले लुहार से, शुद्ध मलरहित, तीक्ष्ण लोहे से शस्त्रों को बनवावे ॥१६॥

प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छस्त्राणां ग्रहणे सदा ॥२०॥

प्रयोग को जाननेवाले वैद्य को आरोग्य संपादन कार्य में सदा सफलता मिलती है। इसलिये सब से प्रथम शस्त्रों का परिचय (ज्ञान) बार-बार प्राप्त करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—शस्त्रों के ग्रहण (पकड़ने तथा उपयोग)—प्रयोग में परिचय-जानकारी का अभ्यास सदा करते रहना चाहिये ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रावचारणीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातो योग्यासूत्रीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे योग्यासूत्रीय (सम्यक् कर्माभ्यास रूपी) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥१,२॥

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत्। सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यो भवति ॥३॥

---

१ वाग्भट्ट ने धार की रक्षा के लिये शस्त्र कोषों का वर्णन किया है। यथा--

स्यान्नवांगुलविस्तारः सुघनो द्वादशांगुलः।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥
विन्यस्तपाशः सुरयुतः सान्तरोर्णात् शस्त्रकः।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोपः सुसंचयः ॥

वाग्भट्ट०

शस्त्र कोषों का वर्णन अन्यत्र भी है।

१ योग्या को Operative surgery ऑपरेटिव सर्जरी कहते हैं। आजकल यह कार्य मृतशरीर पर सिखाते हैं।

सम्पूर्ण शास्त्र पढ़े हुए शिष्य को भी योग्या (कर्माभ्यास) करवाना चाहिये। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि, तथा छेद्य, भेद्य, वेध्य आदि शस्त्र कार्यों में कर्म करने की विधि बतानी चाहिये। क्योंकि बहुत अच्छी प्रकार शास्त्र पढ़ लेने पर भी, कर्माभ्यास किये बिना कार्यों में अयोग्य होता है ॥

तत्र, पुष्पफलालाबूकालिन्दकत्रपुसै (सो) र्वारुककर्कारुकप्रभृतिषु छेद्यविशेषान् दर्शयेत्, उत्कर्तनापकर्तनानि चोपदिशेत्, दृतिवस्तिप्रसेवकप्रभृतिपूदकपङ्कपूर्णेषु भेद्ययोग्यां, सरोम्णि चर्मण्याततं लेख्यस्य, मृतपशुसिरासूत्पलनालेषु च वेध्यस्य, घुणोपहतकाष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबूमुखेष्वेष्यस्य, पनसबिम्बीबिल्वफलमज्जमृतपशुदन्तेष्वाहार्यस्य, मधूच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य, सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य, पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धनयोग्यां, मृदुषु मांसखण्डेष्वग्निक्षारयोग्यां, मृदुचर्ममांसपेशीषूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिबन्धयोग्याम्, उदकपूर्णघटपार्श्वस्रोतस्यलाबूमुखादिषु च नेत्रप्रणिधानवस्तिव्रणवस्तिपीडनयोग्यामिति ॥४॥

पुष्पफल (कूष्माण्ड), अलाबु (घियाकद्दू) कालिन्दक (तरबूजा), त्रपुस (खीरा), एर्वारू (ककड़ी), कर्कारु (ककड़ी भेद), आदि वस्तुओं में छेदन के सब भेदों को दिखाना चाहिये। उत्कर्त्तन (ऊपर को काटना), अपकर्त्तन(नीचे की ओर काटना) ये भी कार्य इन्हीं पर दिखाये। दृति (मश्क), बस्ति (मूत्र से भरी) प्रसेवक (चर्म निर्मित भाण्ड), आदि पानी एवं कीचड़ से भरी वस्तुओं में भेदन योग्य कार्यों को, लोमयुक्त चर्म को फैलाकर उस पर लेखन कार्यों को, मृत पशुओं की सिराओं में तथा कमल नाली में वेधन कार्यों को, घुण से खाई लकड़ी आदि में, वेणु, नल, नाली एवं शुष्क अलाबु के मुखों में एषणी कार्यों को; पनस (कटहल), कन्दूरी, बिल्वफल की मज्जा, मृतपशुओं के दांतों में आहरण कार्यों को, सिम्बल के तख्ते को मोम से लिप्त करके इस पर विस्रावण कार्यों को, वस्त्रादि से या मिट्टी से बनी पुरुष प्रतिमाओं के अंग-प्रत्यङ्ग विशेषों में बन्धनयोग्य कार्यों को, कोमल चर्म, मांस-पेशी तथा कमल नालों में कर्णसन्धि-बांधने योग्य कार्यों को, पानी से भरे घड़े में पार्श्व में छेद करके और अलाबु मुख आदि में नेत्र प्रवेशन बस्ति पीड़न कार्यों को दिखाना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—पनसबिम्बी, बिल्वफल की मज्जा अर्थात् बीज। मधूच्छिष्ट (मोम) से उपलिप्त तखती पर विस्रावण के स्थान में लेखन पाठ अधिक उपयुक्त है ॥४॥

भवतश्चात्र—

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥५॥

उपसंहार, कहा भी है—

इस प्रकार से मेधावी शिष्य पुष्प-फलादि द्रव्यों में यथाविधि कर्माभ्यास करनेवाला कार्यों में मोहित नहीं होता ॥५॥

तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥६॥

इसलिये शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कार्यों में कुशलता चाहने की इच्छा से, जिस कार्य की जिस द्रव्य में समानता देखे, उस द्रव्य में उसी कर्माभ्यास को करना चाहिये ॥६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'विशिखानुप्रवेशनीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। विशिखा—वैद्यक व्यवसाय का कर्म मार्ग यह अर्थ है। है। हाराणचन्द्र जी ने विशिखा का अर्थ रोगी के घर का मार्ग किया है[1] ॥१,२॥

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केनानुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥३॥

गुरु के मुख से शास्त्र को पढ़कर, गुरु के समीप तन्त्रार्थ का अभ्यास करके, कर्मों को देखकर, कर्माभ्यास स्वयं करके, शास्त्र को वढ़ा सकनेवाला, राजा की आज्ञा से (सरकार की आज्ञा प्राप्त करके)

---

१ पुस्त का लक्षण—
"मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्म्मणा।
लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥
पुस्तो दार्व्यादिमय्यास्त्र्याद्याकृतेरुपादानकारणं यद् वस्तु तदुच्यते ॥ अरुणदत्त०

१ जैन-ग्रन्थों में वैशिखा या विशिखा शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि मल्ल लोग कुस्ती से थककर जहाँ खड़े होकर विश्राम लेते हैं, उसे विशिखा कहते हे। इसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र में उज्जैन के अट्टन मल्ल का उपाख्यान दिया है, वह देखना चाहिये।

नख और बाल कटाकर, पवित्र होकर (स्नान करके), सफेद वस्त्र पहिनकर, छत्र लेकर, दण्ड धारण करके, जूता पहिनकर, सुन्दर-सभ्य वेष के साथ, शान्त मन से, मंगल वाणी-व्यवहार से, विना कपटाचरण के, प्राणियों का बन्धु होकर, सहायक के साथ वैद्य को विशिखा-कर्म-मार्ग में (घर में) प्रविष्ट होना चाहिये।

वि० मन्तव्य—शास्त्राध्ययन के अनन्तर-'विशिखा' में प्रवेश किया जाता है। औषधालय खोलकर बैठा जाता है। विशिखा-विपणि (जहाँ लेन देन आदि व्यवहार होता हो), रथ्या (रथ आदि सवारियाँ चलती हों-सुलभ हों), प्रतोली (तोलने-बेचने-खरीदने नापने आदि का कार्य होता हो), पण्य-वीथिका (पैसा-धन के लिये हित-लाभदायक वीथी) बाजार का नाम है और विशिखा का अर्थ है जहाँ विशेषरूप से शयन किया जाय। तात्पर्यार्थ जमकर बैठ जाया जाय। वैद्य को प्रारम्भ में ही लाभ नहीं होने लगता है। वैद्य पुराना ही मान्य होता है। इस विशिखा में अनुकूल-सरल-साधु होकर प्रवेश करना चाहिये और वहाँ इस सूत्र के उपदेशानुसार बोलना, बैठना, चलना तथा रहना चाहिये ॥३॥

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर दूत, निमित्त-सुगन्धित वायु आदि, शकुन (पक्षि विशेष, के प्रशस्त वाक्य आदि), मंगल (भरे हुए घड़े, स्वस्तिक आदि), इनकी अनुकूलता (प्रशस्त होने) से, रोगी के घर में पहुँचकर, बैठकर, रोगी को भली प्रकार देखें, स्पर्श करे और पूछे। कई आचार्यों का मत है कि इन तीन हीं विज्ञानोपाय (दर्शन, स्पर्श और प्रश्न) से प्रायः करके सब रोग जानने चाहिये। यह ठीक नहीं है। क्योंकि रोगों को जानने की विधि छै प्रकार की है। यथा श्रोत्र, आँख, त्वचा, रसना और नासिका ये पाँच तथा प्रश्न ये छै हैं। चरक ने जिह्वा को ज्ञान का साधन नहीं माना[1] है।

वि० मन्तव्य—जब रोगी देखने जाना हो तो तिथि आदि का विचार करके जाना चाहिये। 'तत्तु न सम्यक्' का तात्पर्य है कि वह समीचीन अर्थात् बहुत ठीक नहीं है (ठीक तो है परन्तु बहुत ठीक नहीं) ॥ ४ ॥

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणस्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति' (सू. अ. २६) इत्येवमादयः, स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः। रसनेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रयं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्तिमप्रवृत्तिं कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात् ॥ ५ ॥

इनमें श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य विषयों का वर्णन 'व्रणस्राव विज्ञानीय' आदि रोगों में करेंगे। यथा—"सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो गच्छति-" इत्यादि। स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य शीत, उष्ण, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु, कठिनत्व आदि स्पर्श विशेषों का वर्णन, ज्वर शोफ आदि में करेंगे। चक्षु द्वारा जानने योग्य विषय-शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु के लक्षण, बल, वर्ण विकार आदि हैं। रसनेन्द्रिय से जानने योग्य विषय-प्रमेह आदि में मधुर रस आदि हैं (पिपीलिका के उपसर्पण से मधुर रस का ज्ञान होता है)। घ्राणेन्द्रिय से जानने योग्य विषय-अरिष्टलिंग आदि में, अव्रण तथा व्रणों में जो गन्ध विशेष है ये नासिका द्वारा जाने जाते हैं। प्रश्न द्वारा देश, काल, जाति, सात्म्य (चेष्टा जन्य, आहार जन्य), रोगोत्पत्ति वात आदि वेदनाओं की उन्नति, बल, जाठराग्नि, वातमूत्र मल की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति, कितने समय से यह रोग है—इत्यादि बातों को प्रश्न द्वारा जानना चाहिये। वैद्य यदि रोगी श्रोत्रादि किसी इन्द्रिय से हीन हो तो जानने योग्य बातों को रोगी के पास में स्थित पुरुष से पूछकर जाने[1]। (उपर्युक्त रोग विज्ञान के उपाय यदि स्वयं प्रत्यक्ष करने योग्य हों तो उन उपायों के (इन्द्रियों के) इन अधिष्ठानों द्वारा इन्द्रिय विज्ञेय विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये-यह अर्थ श्री घाणेकर जी ने किया है) ॥

---

१ रसं तु खलु आतुरशरीरगतम् इन्द्रियवैषयिकमपि अनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैव आतुरमुखरसं विद्यात्। यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् ॥ चरक वि० अ० ४ ॥

१ आत्मसदृशेषु—इस पाठ में डल्हणाचार्य ने अर्थ और किया है। उसका कहना है कि रोग ज्ञान के जो छै उपाय बताये हैं, उनमें से वातादि दोषों का स्वरूप जानने के लिये जो उपाय उपयोगी हों उनकी सहायता से रोगों का ज्ञान करना चाहिये। कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'आत्मा सदृशेषु'-यह पाठ रक्खा है। यह संगत लगता है। आत्मसदृशेषु-पाठ से दोषसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु--'षड्विधेषु-श्रोत्रत्वक्चक्षुरसना[illegible]

एवमभिसमीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नैवोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार से रोगों की परीक्षा भली प्रकार से करके साध्य रोगों की चिकित्सा करे, याप्य रोगों को बढ़ने से रोके और असाध्य रोगों की चिकित्सा न करे। एक साल पुराने रोगों को प्रायः करके छोड़देना चाहिये-क्योंकि ये प्रायः असाध्य होते हैं॥

भवति चात्र—
मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् ॥ ७ ॥

कहा भी है—

मिथ्यादृष्टा (ठीक प्रकार से न जाने हुए), दुराख्याता (रोगी द्वारा ठीक प्रकार से वर्णन न किये), दुष्परिमृष्टा (ठीक प्रकार से न पूछे या न विचारे हुए), रोग भिषक् को मोहित कर देते हैं-धोखा दे देते हैं ॥ ७ ॥

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति। तद्यथा—श्रोत्रियनृपतिस्त्रीबालवृद्धभीरुराजसेवककितवदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधिगोपकदारिद्रकृपणक्रोधनानामनात्मवतामनाथानां च, एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति ॥ ८ ॥

निम्न व्यक्तियों में साध्य रोग भी प्रायः करके (सर्वत्र नहीं) अति कष्टसाध्य होते हैं। यथा--श्रोत्रिय (नित्य वेदाध्यायी, स्नान पाठ करने से), राजा (स्वतन्त्र प्रवृत्ति से), स्त्री (सुकुमारता या लज्जावश), बालक-वृद्ध, भीरु (कोमल-डरपोक होने से) राजसेवक (राजा के अधीन होने से), कितव (जुवारी-कोमल-प्रवृत्ति), दुर्बल, वैद्याभिमानी (वैद्य का तिरस्कार करनेवाला), व्याधि को छिपानेवाला, दरिद्र, कपटी, क्रोधी, अपथ्यसेवी, अजितेन्द्रिय, और अनाथ इन पुरुषों के साध्य रोग भी कष्टसाध्य होते हैं। इस प्रकार विचारकर चिकित्सा में प्रवृत्त होने से धर्म अर्थ काम और यश वैद्य को मिलता है। चरक में कहा है—

सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकाः,
तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः ॥
द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निक-
क्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात्
परानुरोधात् बहुचिन्तनाद् भयम् ॥

इत्यादि चरक सि० अ० १२।

वि० मन्तव्य—वैद्यविदग्ध—जो अपने को वैद्य समझता हो और अतः चिकित्सा व्यवस्था में व्यर्थ ननु नच करता हो ॥

भवति चात्र—
स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत्।
दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः ॥ ९ ॥

कहा भी है—

स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठना, एक साथ रहना और स्त्रियों के साथ परिहास, छोड़ देना चाहिये। अन्न आदि से भिन्न स्त्रियों से दी हुई कोई भी वस्तु हो तो ग्रहण नहीं करनी चाहिये[1]। (यह नियम वहाँ के लिये है जहाँ पर चिकित्साव्यवसाय वैद्य करता हो-सर्वत्र नहीं)।

वि० मन्तव्य—यदि स्त्री स्वतन्त्र हो अथवा अपने संरक्षक की सम्मति से अन्न के अतिरिक्त धन आदि कोई द्रव्य देवे तो ले लेना चाहिये। स्त्री ही नहीं-कोई भी व्यक्ति जो देन-लेन में स्वतन्त्र न हो उससे कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिये, अन्यथा बात का बतङ्गड हो सकता है ॥ ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो नाम दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः क्षारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे क्षारपाक विधि की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः, छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्त्रिदोषघ्नत्वाद्विशेषक्रियावचारणाच्च ॥ ३ ॥

मण्डलाग्र आदि शस्त्रों में, त्वक्सार आदि अनुशस्त्रों में क्षार ही सब से मुख्य है, (अग्नि एवं जौंक से भी अधिक है) क्योंकि—क्षार से छेदन, भेदन तथा लेखन कार्य हो जाता है। नाना प्रकार की औषधियों से बनने के कारण त्रिदोष नाशक है। विशेष क्रिया करने से-पीने में भी बरता जाने से, यह क्षार मुख्य है ॥ ३ ॥

तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः ॥ ४ ॥

क्षरणात्—दुष्ट मांस आदि के काटने से, क्षणनात् त्वचामांस आदि के हिंसन करने से इसे 'क्षार' कहते हैं। चरक ने "भित्वा भित्वाशयान् क्षारः, क्षरत्वात् क्षारयत्यधः" अर्थात्-झरना अर्थ किया है ॥ ४ ॥

---

१ चरक में 'न कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यम्। अननुज्ञातञ्च भर्त्राऽथवाऽध्यक्षेण। आमिषं-भोग्यवस्तु।' अन्न-द्रव्य-वृत्ति-जीवनका कारण, होने से ग्राह्य है।

नानौषधिसमवायात्त्रिदोषघ्नः, शुक्लत्वात् सौम्यः, तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा, आग्नेयौषधिगुणभूयिष्ठत्वात्। कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥४॥

वात पित्त-कफ हर औषधियों से बनने के कारण त्रिदोषनाशक है। शुक्ल सफेद होने से सौम्य है, क्षार के सौम्य होने पर भी इसमें दहन, पचन (पाक), दारण, आदि कार्यों की शक्ति अप्रतिहत रहती है, क्योंकि इस क्षार में अग्नि गुण की प्रधानता रहती है, इसलिये क्षार कटु रस, उष्ण वीर्य, तीक्ष्ण गुण, व्रण शोथ पाचक, गुल्म आदि का विलायक, दुष्टव्रणादि का शोधक, शुद्धव्रण का रोपक, व्रण क्लेद का शोषक, अति रक्तस्राव का स्तम्भक, कठिन उन्नत मांस का लेखन, कृमि, आम, कफ-कुष्ठ-विष एवं मेद का नाशक, अति मात्रा में सेवन करने से पुंस्त्व नाशक है[1]। (रक्तपित्त में खासकर—गले के रक्तस्राव में, चरक ने '[2]क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य' में शीतल वस्तुओं का क्षार देने को कहा है।

वि०—यदि क्षार को जल आदि के संयोग से मृदु कर लिया जाता है तो वह सौम्य (सोमगुण युक्त) या आह्लादक हो जाता है, यथा—चूना आदि किसी भी क्षार को जल में घोलकर वृश्चिक के दंश पर सेचन करने से विषवेदना-दाह की शान्ति हो जाती है, पीने से पित्तशूल-यकृत्शूल शान्त हो जाता है, पित्त ज्वर में प्लोत रखने से दाह का शमन होता है आदि २। और यदि तीक्ष्ण रहता है तो दाह पाक आदि करता ही है—यह सर्वविदित है। लेप रूप में व्रणशोथ को पकाता है, पक्वव्रण का दारण करता है, चूर्णों आदि में खाने से पाचनआहार का पाचक है, मृदुक्षार व्रण का रोपण करता है, तीक्ष्ण क्षार पूय अथच मांस वृद्धि का लेखन करता है, अधिक मात्रा में खाने से—वमन विरेचन रूपसे शोधन करता है और अल्पमात्रा में खानेसे वमन विरेचन आदि का स्तम्भन भी करता है। विलयन—चना उरद आदि को गलाता है। मीठा सोड़ा मृदुक्षार ही है। शोषण—जिन व्रणों में से पन्छा बहता है उनका मृदुक्षार द्रव द्वारा सेचन करने से अथच मृदुक्षार बुरकने से पन्छा सूख जाता है। कृमिनाशन—साबुन सोड़ा क्षार ही तो है। वह आम को पचाता है, कफ को ढीला करता है, लेपन से दद्रु आदि कुष्ठों को नष्ट करता है, सर्पदंश पर लगाने से विषनाशक है। नौसादर दंशपर लगाया जाता है। मेदोनाशन—पुंस्त्वनाशन—अधिक सेवन करनेसे कृशता तथा नपुंसकता को उत्पन्न करता है। चूना; कली पत्थर का क्षार है, कास्टिक सोड़ा लवण का क्षार है, सज्जी आदि रेह का क्षार है ॥ ५ ॥

स द्विविधः---प्रतिसारणीयः पानीयश्च ॥ ६ ॥

यह क्षार दो प्रकार है। प्रतिसारणीय (प्रतिसारण के योग्य) और पानीय (पीने के योग्य) है।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारणीय—लेपन, मलना, लगाना या रगड़ना, घिसना आदि बाह्यप्रयोग का नाम प्रतिसारण है, अञ्जन—दन्त मञ्जन आदि बाह्यप्रयोग ही है। प्रतिसारणके योग्य या उसमें उपयोगी क्षार का नाम "प्रतिसारणीय" है। और चूना का पानी जो यकृत् विकार में तथा मन्दाग्नि में पिया जाता है वह "पानीयक्षार" ही है। किसी क्षार को द्रव में घोल पानीय बनाया जा सकता है—जैसा सोड़ा वाटर ॥६॥

तत्र प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यङ्गमशकबाह्यविद्रधिकृमिविषादिषूपदिश्यते सप्तसु च मुखरोगेषूपजिह्वाधिजिह्वाविजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीषु, एतेष्वेवानुशस्त्रप्रणिधानमुक्तम् ॥ ७ ॥

इनमें प्रतिसारणीय क्षार-कुष्ठ, किटिभ, दद्रु, किलास, मण्डल, भगन्दर, अर्बुद, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, मशक, बाह्य विद्रधि, कृमि, विष-जंतु मणि आदि में प्रयोग किया जाता है। उपजिह्वा आदि तीन रोहिणी आदि चार—इन सात मुख रोगों में, उपजिह्वा, अधिजिह्वा उपकुश दन्त विदर्भ, रक्तजन्य सन्निपात एवं असाध्य रोहिणी रोग में—क्षार का उपयोग होता है।

हाराणचन्द्र जी का मत है कि प्रथम शस्त्रानुशस्त्र से काम करके पीछे क्षार का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥

पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकानाहशर्कराश्मर्यभ्यन्तरविद्रधिकृमिविषार्शःसूपयुज्यते ॥ ८ ॥

पानीयक्षार-कृत्रिम विष, दूषित विष, गुल्म, उदर, जिन रोगों में अग्नि मन्द हो जाती है; (यथा विसूचिका, अलसक, विलम्बिका आदि) अजीर्ण, अरुचि, आनाह, शर्करा, अश्मरी, अभ्यन्तर विद्रधि, कृमि, विष, अर्श में उपयोग होता है ॥८॥

अहितस्तु रक्तपित्तज्वरितपित्तप्रकृतिबालवृद्धदुर्बलभ्रमदमूर्च्छातिमिरपरीतेभ्योऽन्येभ्यश्चैवंविधेभ्यः ॥ ९ ॥

जिन रोगोंमें क्षार निषिद्ध है—रक्तपित्त, ज्वर, पित्तप्रकृति बाल, वृद्ध, दुर्बल, भ्रम, मद, मूर्च्छा, तिमिर—इन रोगों से आक्रान्त तथा अन्य इसी प्रकार के रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों में क्षार का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

तं चेतरक्षारवद् दग्ध्वा परिस्रावयेत्, तस्य विस्तरोऽन्यत्र ॥ १० ॥

---

१ देखिये—चरक—विमान अ० १ में—क्षारं नात्यर्थमुपयुञ्जीत। २—क्षारः पुंस्त्वघ्नानां श्रेष्ठः, चरक सू०।

इस पानीय क्षार को प्रतिसारणीय क्षार की भांति जलाकर तय्यार कर लेना चाहिये। इसका विस्तार अन्यत्र गुल्म अध्याय में है। पानीय क्षार की मात्रा–उत्तमा मात्रा–एक पल, मध्यमा तीन कर्ष, अधमा—आधा पल।

वि० मन्तव्य—पलाश, अपामार्ग आदि क्षारीय द्रव्यों को जलाकर जैसे प्रतिसारणीय—सूखा क्षार बनाया जाता है वैसे ही पानीय क्षार भी बनाया जाता है, परन्तु उसे जल में घोल-कर पीने योग्य बना लिया जाता है। इसके निर्माण तथा उप-योग का विस्तार से वर्णन—गुल्म आदि रोगों की चिकित्सा में देखिये॥ १०॥

अथेतरस्त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च। तं चिकीर्षुः शरदि गिरिसानुजं शुचिरुपोष्य प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेश-जातमनुपहतं मध्यमवयसं महान्तमसितमुष्कमधिवास्या-परेद्युः पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाट्य निवाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरारोपयेत्। अथोपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म पृथग्गृह्णीयाद्भस्मशर्कराश्च। अ-थानेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकबिभीत-कारग्वधमिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदली-चित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगु-ञ्जाश्चतस्रश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत्। ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्यमूत्रैर्वा यथोक्तैरे-कविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्दर्व्याऽवघट्ट-यन् विपचेत्। स यदा भवत्यच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छि-लश्च, तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुन-रग्नावधिश्रयेत्। तत एव क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽ-पनयेत्। ततः कटशर्करामश्मशर्कराक्षीरपाकशंखनाभीर-ग्निवर्णाः कृत्वाऽऽयसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निषिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसंमितं शंखनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य, सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः॥ ११॥

प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का है। मृदु, मध्य और तीक्ष्ण। इस क्षार को बनाने की इच्छा से शरद् ऋतु में पवित्र-एवं उपवास करके पर्वत के समीप-प्रशस्त दिन में उत्तम देश में उत्पन्न, अग्नि आदि से न जले, मध्यम आयुवाले, बहुत बड़े काले फूल के मुष्क (घण्टा पारुलि) वृक्ष के पास जाकर मन्त्र के समान बलि कर्म करे। (भूतों को दूर करने के लिये वृक्ष को बलि कर्म देना चाहिये)[1] इसके दूसरे दिन निम्नमंत्र से—हे अग्नि के समान महावीर्य! तेरी शक्ति नष्ट न हो। कल्याण स्वरूप! यहाँ रहो—मेरे कार्य को करोगे। मेरा कार्य करने के पीछे स्वर्गलोक में जाओगे। श्वेत एवं लाल फूलों से हवन करे—आहुति देनी चाहिये। इस वृक्ष को काटकर—टुकड़े करके, इन टुकड़ों को और छोटा करके, वायु रहित प्रदेश में एकत्रित करके चूने के पत्थर डालकर तिल नालों से जलाये। अग्नि शान्त होने पर तिल नालों की भस्म और भस्म शर्करा पृथक् पृथक् एकत्रित कर लेनी चाहिये[1]। इसी मुष्क की विधि से कुटज (कूड़ा), पलाश (ढाक), अश्वकर्ण (शाल भेद), फरहद, विभीतक, आरग्वध (अमलतास), तिल्वक, अर्क (आक), स्नुही (थोर), अपामार्ग (चिरचिटा), पाटला, नक्तमाल (करञ्ज), वृष (वासा), कदली, चित्रक, पूतीक (नाटा करञ्ज), इन्द्र वृक्ष (कुटज भेद), आस्फोत (शारिवा), अश्वमार (कनेर), सप्तपर्ण (सतवन), अग्निमन्थ (अरणी) गुञ्जा, कोषातकी—चार प्रकार को (बृहत्फल, श्वेतपुष्प, पीत-पुष्प, अल्पफल)—इन वृक्षों को मूल-पत्र, फल-शाखा समेत जलाना चाहिये। (वाग्भट्ट में काकजंघा और यवशूकनाल अधिक है)।

क्षार दहन करने के पश्चात्–दो भाग मुष्क भस्म, एक भाग कुटजादि भस्म (अथवा दोनों परस्पर सम भाग)—मिलित एक द्रोण भस्म लेकर छैः द्रोण पानी में मिला देना चाहिये। अथवा 'दुन्दुभि स्वनीय कल्प' में कही विधि से मूत्रों द्वारा २१ बार छान कर—बड़े भारी कड़ाहे में कछड़ी से धीरे धीरे हिलाते हुए पकाना चाहिये। जिस समय यह पकता हुआ क्षार निर्मल, उग्र गन्धवाला, चिपचिपा हो जाय—तब बड़े वस्त्र में इसको छानकर इसके दो भाग कर लेने चाहिये। एक क्षारोदक (नितरा पानी) दूसरा भस्म किट्ट भूत क्षार (नीचे का भाग)। इस क्षारोदक को फिर आग पर रख देना चाहिये—और इस क्षारोदक से एक कुड़व या डेढ़ कुड़व निकाल लेना चाहिये। इसके आगे—कट शर्करा (गांगेष्ठी अभाव में खटिका—खड़िया मिट्टी), भस्म शर्करा (पहिले कही), क्षीरपाक (जलशुक्ति), शंखनाभि (शंखग्रन्थि), इनको लाल अंगारे के समान बनाकर लोहे के पात्र में रक्खे, क्षारोदक में मिलाकर (कट शर्करा) आदि की मात्रा प्रत्येक आठ पल; (कई आचार्य—दो-दो पल प्रत्येक मानते हैं) निर्वापण के लिए बचे क्षारोदक के साथ शंखनाभि आदि को पीसकर (क्षार में गुणोत्पादन के लिए मिलाकर) निरन्तर बिना आलस्य के छार को कछड़ी से हिलाते हुए पाक करना चाहिए। यह क्षार न बहुत घना (ठोस) और न बहुत पतला रहे ऐसा यत्न करना चाहिए। जिस समय यह क्षार पाक हो चुके (पाक के समीप पहुँच जाये) तब इसको

१ भोज ने भी कहा है—
निवसन्तीह भूतानि यान्यस्मिन् कानिचित् द्रुमे।
अपक्रामन्त्व स्छेद्यः परार्थे स्वो ह्ययं द्रुमः॥

१ मुष्क वृक्ष-श्वेतपुष्पः कालपुष्पो रक्तपुष्पस्तथैव च। पीत-पुष्पोवरस्तेषु कालपुष्पः प्रकीर्तितः।

आग पर उतारकर लोहे के घड़े में डालकर—मुख बन्द करके खूब छिपाकर रख देना चाहिये[1]। यह मध्यम क्षार है।

वि० मन्तव्य—यदि पाक के पश्चात् कड़ी धूप में सुखा दिया जाय तो सूखा "क्षार" बन जाता है, जैसा—जौखार, नौसादर एवं सज्जी खार आदि बाजार में मिलते हैं। मुष्कक वृक्ष को मोखा भी कहते हैं। गिरिसानुज—पर्वत की चोटी पर उत्पन्न। संक्षेपतः—मोखा आदि किसी एक अथवा कुटज पलाश आदि अनेक क्षारीय काष्ठों या अपामार्ग आदि के पञ्चाङ्ग को जलाकर भस्म बना लें, भस्म को ६–८ गुने जल में भिगो दें या घोल दें—८-१२ प्रहर में भस्म का क्षार घुल जाता है (भस्म नीचे रह जाती है जो फेंक दी जाती है इस में कुछ नहीं रहता) और नितारकर जल को पृथक् कर लिया जाता है। क्षार मिट्टी के पात्र को खार देता है, अतः लोहपात्र लगे अन्यथा क्षार पसीज जाता है, भाण्ड में मोर्चा लग जाता है, वर्ण एवं रस विकृत हो जाते हैं। इससे भी उत्तम काच भाण्ड (बोतल) होता है ॥११॥

एष चैवाप्रतीवापः पक्वः संव्यूहिमो मृदुः ॥१२॥

इसी मध्यम क्षार में यदि प्रतिवाप्य द्रव्यों का प्रक्षेप न करके पाक कर लिया जाये, तो यही मृदुक्षार बन जाता है। (प्रतिवाप्यद्रव्य—शंखनाभि आदि है) ॥१२॥

प्रतिवापे यथालाभं दन्तीद्रवन्तीचित्रकलाङ्गलीपूतीकप्रवालतालपत्रीविडसुवर्चिकाकनकक्षीरीहिङ्गुवचातिविषाः समाश्लक्ष्णचूर्णाः शुक्तिप्रमाणाः प्रतीवापः। स एव सप्रतीवापः पक्वः पाक्यस्तीक्ष्णः ॥१३॥

तीक्ष्णक्षार—कट शर्करा आदि प्रक्षेप दिये (मध्यम) क्षार में यथायोग्य दन्ती (जमाल-गोटा), द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), चित्रक, लांगली (कलि हारिका), पूतीक पल्लव (नाटा करञ्ज के पत्ते), तालपत्री (मूसली), विड्नमक, हुलहुल, कनकक्षीरी (स्वर्ण पुष्पी चोक), हींग, वच, अतीस ये सब शुक्ति प्रमाण में लेकर—बारीक चूर्ण करके मिला देना चाहिये। इन प्रतिवाप्य द्रव्यों के साथ पकाया हुआ क्षारपाक्य नामक तीक्ष्ण, होता है। प्रतिवाप का लक्षण—'द्रवद्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतिवाप उच्यते'[1] ॥१३॥

तेषां यथाव्याधिबलमुपयोगः ॥१४॥

इन मृदु मध्य-तीक्ष्ण-क्षारों का व्याधि के अनुसार उपयोग करना चाहिये ॥१४॥

क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेद्बलकरणार्थम् ॥१५॥

यदि काल के कारण अथवा हीनौषधि के कारण क्षार मृदु हो जाये, तब क्षार में पूर्व विधि से बनाया क्षारोदक मिलाकर फिर पाक करना चाहिये, जिससे कि तीक्ष्णता--बल उत्पन्न हो जाये ॥१५॥

भवतश्चात्र—

नैवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः ॥१६॥

कहा भी है—

क्षार के गुण दोष—क्षार का अति तीक्ष्ण (१०० तक गिनने से पूर्व यदि क्षार एरण्ड नाल को जला देता है—तो अति तीक्ष्ण) न होना, न मृदु होना, शुक्ल—सफेद, श्लक्ष्ण-(कर्कश न होना), पिच्छिल, अविष्यन्दी (न फैलनेवाला), शिवः (सौम्य), शीघ्र (शीघ्रकारी)—ये क्षार के आठ गुण हैं।

वि० मन्तव्य—अविष्यन्दी—पसीजा हुआ न हो ॥१६॥

अतिमार्दवशैत्यौष्ण्यतैक्ष्ण्यपैच्छिल्यसर्पिताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते ॥१७॥

क्षार के दोष—अति कोमल, बहुत ठण्डा, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति पिच्छिल, बहुत फैलनेवाला, बहुत घना, कच्चा पका हुआ (अपक्व), हीन द्रव्यों से बना ये क्षार के दोष हैं। वाग्भट्ट ने अतितनु यह एक दोष क्षार का अधिक दिया है ॥१७॥

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवातातपे देशेऽसंबाधेऽग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपसंभृतसंभारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावघृष्यावलिख्य प्रच्छयित्वा, शलाकया क्षारं प्रतिसारयेत्, दत्त्वा वाक्शतमात्रमुपेक्षेत ॥

क्षार प्रतिसारण विधि—

क्षार द्वारा साध्य रोग से पीड़ित मनुष्य को वायु रहित, सूर्य के प्रकाश में, खुले स्थान में बिठाना चाहिये। अग्रोपहरणीय अध्याय में कहे प्रशस्त तिथि करण नक्षत्र मुहूर्त आदि की विधि से क्षारकर्म के लिये सब समान तैयार करके (यन्त्र-शस्त्र क्षार-अग्नि आदि पास में रखकर) इस रोगी के रुग्ण

---

१ क्षार में गुणाधिक्य के लिये—दक्ष शकृत्-आदि भी डालते हैं। यथा—

'श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकंककपोतजम्।
चतुष्पात्पक्षि पित्ताल मनोह्वा लवणानि च ॥

(२) लोहे के पात्र में रखने से गुणाधिक्य है।

(३) मुष्कादहमानांत्तु रसः प्रच्यवते यदा।
भस्मना सह संयुक्तं काठिन्यमधिगच्छति ॥

१ संव्यूहं हिमस्तथा पाक्यो द्विविधः क्षार इष्यते।
पाक्यस्तु सप्रतिवापः तीक्ष्णोऽन्यस्तु भवेत् पुनः ॥
सुधादिवर्गं पिष्ट्वा तु सिंचेत् क्षारोदकैः शनैः।
तेनैव तं पुनः पिष्ट्वा त्वपः पात्रे निधापयेत् ॥
एष संव्यूह हिमक्षारो मृदुः।

स्थान को देखकर, पित्त दुष्ट स्थान का घर्षण करके, वात दुष्ट स्थान का लेखन करके, कफ दुष्ट स्थान पर पाछने—लगाकर शलाका द्वारा क्षार लगाना चाहिये। क्षार लगाकर सौ अक्षर के बोलने के समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इतने समय में जो क्षार जला देता है, वह क्षार उत्तम है।

वि० मन्तव्य—वाक् शत या १०० मात्रा (१ मिण्ट)।१८।

यस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम्।
तत्राम्लवर्गः शमनः सर्पिर्मधुकसंयुतः ॥१६॥
अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीर्यते।
इदमालेपनं तत्र समग्रमवचारयेत् ॥२०॥

रुग्ण स्थान में जलने से यदि कृष्णिमा उत्पन्न हो जाये तो भली प्रकार से दग्ध समझना चाहिये।

सम्यग् दग्ध होने के पीछे—सौवीरक, तुषोदक, धान्याम्ल आदि अम्लवर्ग को घी एवं मुलहठी से मिलाकर लगाना चाहिये। यह पीड़ा शामक है। यदि जड़ के दृढ़ होने से क्षार से जला हुआ भाग विशीर्ण नहीं होता, तो आगे कहे सम्पूर्ण लेप को लगाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—क्षार के प्रभाव को अम्ल रस मन्द तथा शान्त कर देता है, फलतः क्षार से उत्पन्न दाह आदि वेदना शान्त हो जाती है और सूर्य की तीक्ष्ण किरणें भी क्षारीय होती हैं, अतएव 'लू', या 'उष्णोपघात' (शा० सं० प्र० खं अ० ७) में आम का पन्ना या इमली आलू बुखारा का पन्ना (घोल-पानक) पीने से लाभ होता है और चूना से मुखपाक (निनामा-सर्वसर नामक मुख रोग) हो जाने पर काञ्जी के कुरले करने से लाभ होता है। माधुर्य का तात्पर्य है मृदु या मन्द हो जाना। क्षारदग्ध पर अम्लरस को मृदु बनाकर लगाना चाहिये, यथा काञ्जी। तीव्र अम्ल हानिकारक होता है। गन्धकाम्ल आदि अम्ल दाहक होते हैं। क्षार के समान अम्ल भी दाहक होता है परन्तु मृदु कर लेने पर दोनों ही दाह शामक हो जाते हैं।

अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान् मधुकमेव च।
प्रपेष्य समभागानि तेनैनमनुलेपयेत् ॥२१॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः।

लेप—अम्ल काञ्जि के नीचे स्थित द्रव्य (किण्व), तिल, मुलहठी, इनको समान भाग में पीसकर क्षारदग्ध स्थान पर लेप करना चाहिये। क्षारदग्ध भाग के विशीर्ण होने के पश्चात् उत्पन्न व्रण में व्रण को भरने के लिये मुलहठी के साथ तिल कल्क को घी में मिलाकर लगाने से क्षार जन्य व्रण भर जाता है। (संग्रह में—मालती वृषांकोलनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्र-क्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्। एषामेव च कल्कक्वाथे सिद्धं सर्पि-स्तैलं वा रोपणम्) ॥२१॥

रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः ॥२२॥
आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति।
एवं चेन्मन्यसे वत्स! प्रोच्यमानं निबोध मे ॥२३॥
अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा।
अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसे ॥२४॥
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति।
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निमद्भिरिवाप्लुतः ॥२५॥

हे वत्स! यदि तुम यह समझो कि तीक्ष्ण गुण युक्त, उष्ण वीर्य, आग्नेय गुणी अम्लरस से मिलकर अग्नि के समान गुणी क्षार किस प्रकार शान्त होता है—तो इसको सुनो—क्षार में अम्ल को छोड़कर और सब रस होते हैं। क्षार में कटु रस की प्रधानता रहती है और लवण रस अनुरस हैं। (कइयों का विचार है कि लवण रस प्रधान रहता है और कटुरस अनुरस होता है, क्योंकि अम्ल खाने पर, लवण रस ही खाते हैं)। तीक्ष्णलवणरस अम्लरस के साथ मिलकर बहुत अधिक मधुर हो जाता है। अपनी तीक्ष्णता को छोड़ देता है। माधुर्य के कारण शान्त हो जाता है, जिस प्रकार की आग पानी से शान्त हो जाती है। (चरक में कहा है-'क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः')। [1]चरक चि० अ० २४ ॥२२-२५॥

तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च।
हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च।
अतिदग्धे दाहपाकरागस्रावाङ्गमर्दक्लमपिपासामू-र्च्छाः स्युर्मरणं वा ॥२६॥

सम्यक् प्रकार से जलने पर—अङ्गों में लघुता आ जाती है, रोग की शान्ति और किसी प्रकार का स्राव नहीं होता।

हीन दग्ध—(कम जलने पर) होने पर—तोद (पीड़ा), कण्डू एवं जड़ता तथा रोग की वृद्धि होती है।

अति दग्ध होने पर—दाह (जलन), पाक (पकना), राग (लालिमा), स्राव, अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना), क्लम (ग्लानि), पिपासा, मूर्च्छा अथवा मृत्यु होती है ॥२६॥

क्षारदग्धव्रणं तु यथादोषं यथाव्याधि चोपक्रमेत् ॥२७॥

क्षार से जले व्रण की—दोषानुसार—तथा रोग की अपेक्षा से चिकित्सा करनी चाहिये ॥२७॥

अथ नैते क्षारकृत्याः--तद्यथा--दुर्बलबालस्थविरभीरु-सर्वाङ्गशूनोदरिरक्तपित्तगर्भिण्यृतुमतीप्रवृद्धज्वरिप्रमेहिरूक्ष-

---

१ अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः।
यात्याशु स्वादुतां तस्मादनिर्वापयेत्तराम् ॥
(२) यतश्चोष्णतमः क्षारः शैत्यं चाऽम्लरसेऽधिकम्।
तस्मात् सेकप्रदेहाभ्यामम्लं क्षारं निवर्त्तयेत् ॥वाग्भट्ट॥

क्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छोपद्रुतक्लीबापवृत्तोद्वृत्तफलयोनयः ॥

निम्न पुरुषों में क्षार कर्म नहीं करना चाहिये—यथा—दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, जिसके सब अङ्गों पर सूजन आ गई हो, उदर रोगी, रक्तपित्त रोगी, गर्भिणी, ऋतुमती, तीव्र ज्वर रोगी, प्रमेही, उरःक्षत रोगी, क्षीण, तृष्णा रोगी, मूर्च्छा रोगी, क्लीब, क्षीण शुक्र, स्थान से योनि के ऊपर चढ़ जाने पर या स्थान से योनि के भ्रंश हो जाने पर, स्थान से अण्ड के ऊपर चढ़ जाने पर, तथा स्थान से अण्ड के भ्रंश हो जाने पर क्षारकर्म नहीं करना चाहिये। (इनमें कुछ रोगी प्रतिसारणीय क्षार के, कुछ पानीय क्षार के लिये निषिद्ध हैं। सर्वाङ्गशूनोदरी को कोई पृथक् पृथक् मानकर, जिसका सारा शरीर सूज गया, एवं जलोदरी में क्षार कर्म न करे—ऐसा अर्थ करते हैं)।

वि० मन्तव्य—यहाँ योनि—गर्भाशय या धरा का नाम है ॥२८॥

तथा मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तःशेफःस्रोतःस्वल्पमांसेषु च देशेष्वक्ष्णोश्च न दद्यादन्यत्र वर्त्मरोगात् ॥२९॥

प्रदेश विशेष से निषेध—मर्म, शिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, गल, नाभि, नख, शिश्न के अन्दर स्रोतों में, जिन स्थानों में मांस कम हो, और वर्त्म रोग को छोड़कर आँखों में भी क्षार कर्म नहीं करना चाहिये ॥२९॥

तत्र क्षारसाध्येष्वपि व्याधिषु शूनगात्रमस्थिशूलिनमन्नद्वेषिणं हृदयसन्धिपीडोपद्रुतं च क्षारो न साधयति।३०।

क्षार कर्म द्वारा साध्य रोगों में भी—निम्न अवस्थाओं में क्षार कर्म सफल नहीं होता। जिनका शरीर सूज गया हो, अस्थि शूल युक्त, अन्नद्वेषी, हृदयरोगी, सन्धिरोगी में क्षार कर्म सफल नहीं होता। (दुर्बल, बालक और वृद्ध आदि प्रतिसारणीय क्षार के लिये अयोग्य हैं)।

वि० मन्तव्य—तीक्ष्ण या तीव्रक्षार—सचमुच विष के समान विषादजनक या मारक, अग्नि के समान दाहक—जलन उत्पन्न करनेवाला, शस्त्र के समान छेदन-भेदन करनेवाला और बिजली के समान सद्योमारक होता है। कास्टिक सोडा, लवणाम्ल (लवण का तेजाब), तथा अन्यान्य क्षार कितने भयानक हैं यह सर्वसाधारण भी जानते हैं। इनका प्रयोग लगाने तथा खाने में बहुत सोच-समझकर करना चाहिये ॥३०॥

भवति चात्र—

विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः
क्षारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो
रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥३१॥

कहा भी है—

अल्प मतिवाले मनुष्य से प्रयुक्त किया हुआ क्षार-विष, अग्नि, शस्त्र, बिजली के समान मारक होता है। वही क्षार बुद्धिमान् मनुष्य से प्रयुक्त किया जल्दी से तीव्र रोगों को शान्त कर देता है, जिस प्रकार विष-मनुष्य को शीघ्र मार देता है, उसी प्रकार से क्षार भी ठीक प्रकार से प्रयोग न किया हुआ—मनुष्य को मार देता है[1] ॥३१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे अग्नि कर्म की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—अग्नि द्वारा दागना, रुग्ण स्थान को जलाना आदि "अग्निकर्म" कहाता है ॥१,२॥

क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भेषजशस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च ॥३॥

क्षार (गुरु) से अग्नि कर्मों में श्रेष्ठ (गुरुतर) है। अग्नि से जले हुए रोगों के फिर उत्पन्न न होने के कारण, भेषज-शस्त्र एवं क्षार द्वारा असाध्य रोगों के इसके द्वारा साध्य होने से अग्नि श्रेष्ठ है। (अंग्रेजी में दाह को 'एक्च्युल कौटरी' कहते हैं। इसके सिवाय विद्युत् तथा आग से दहन कर्म होता है) ॥३॥

अथेमानि दहनोपकरणानि भवन्ति—तद्यथा—पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलौहाः क्षौद्रगुडस्नेहाश्च। तत्र, पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकास्त्वग्गतानां, जाम्बवोष्ठेतरलौहा मांसगतानां, क्षौद्रगुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ॥४॥

---

१ तन्त्रान्तर में क्षारविधि—
प्रशस्तेऽहनि नक्षत्रे कृतं मंगलपूर्वकम्।
कालमुष्ककमादाय दग्ध्वा भस्म सभावयेत् ॥
आढकं त्वेकमादाय जलद्रोणे पचेद् भिषक्।
चतुर्भागावशिष्टं तु वस्त्रपूतेन वारिणा ॥
शंखचूर्णस्य कुडवं प्रक्षिप्य विपचेत् पुनः।
शनैर्मृद्वग्निना पाच्यं यावत् सान्द्रं तनुर्भवेत् ॥
सर्जिकायावशूकाभ्यां शुण्ठीमरिचपिप्पलीः।
वचामतिविषां चैव हिंगुचित्रकयोस्तथा ॥
एषां चूर्णं विनिक्षिप्य पृथक्त्वेनाष्टमाषकम्।
दर्व्या संघट्टितं चापि स्थापयेदायसे घटे।
एष वह्निसमः क्षारः कीर्त्तितः काश्यपादिभिः ॥
भानुमती।

दहन कार्य के निम्न साधन हैं। यथा—पिप्पली, अजा शकृत् (बकरी की मींगनी), गाय का दन्त, शर, शलाका, जाम्बवौष्ठ, इतरलौह (लोहा ताँबा-चाँदी आदि), शहद, गुड़ और स्नेह (तैलादि)। इनमें पिप्पली, अजाशकृत्, गोदन्त, शर, शलाका से त्वचा के रोगों में, जाम्बवौष्ठ, इतरलोह से मांस के रोगों में, मधु, गुड़ और स्नेह से सिरा, स्नायु, सन्धिगत रोगों में अग्निकर्म करना चाहिये ॥४॥

तत्राग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्यां, तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा ॥५॥

शरद् (पित्तप्रकोप के कारण), और ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य सब ऋतुओं में अग्निकर्म करना चाहिये। इन ऋतुओं में भी यदि आवश्यकता पड़े तो, विपरीत उपचार (शीताच्छादन, भोजन आदि) करके, अग्निकर्मसाध्य रोगों में अग्निकर्म करना चाहिये। यथा—चरक में—"आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा प्रयोजयेत्" ॥५॥

सर्वव्याधिष्वृतुषु च पिच्छिलमन्नं भुक्तवतः मूढगर्भाश्मरीभगन्दरोदरार्शोमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत॥६॥

सब रोगों में और सब ऋतुओं में पिच्छिल (बलकारक) गुणवाला अन्न खिलाकर अग्निकर्म करना चाहिये। मूढ़गर्भ, अश्मरी, भगन्दर, अर्श, मुखरोगों में बिना भोजन कराये कर्म करना चाहिये ॥६॥

तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके—त्वग्दग्धं, मांसदग्धं च, इह तु सिरास्नायुसन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः ॥७॥

कई आचार्यों का मत है कि—अग्निकर्म दो प्रकार का है। यथा—त्वग्दग्ध और मांसदग्ध। इस शास्त्र में सिरास्नायु, सन्धि, अस्थि आदि में आवश्यकतानुसार अग्निकर्म करना चाहिये, इसमें अग्निकर्म का निषेध नहीं है[1] ॥७॥

तत्र, शब्दप्रादुर्भावो दुर्गन्धता त्वक्संकोचश्च त्वग्दग्धे, कपोतवर्णताऽल्पश्वयथुवेदना शुष्कसंकुचितव्रणता च मांसदग्धे, कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे रूक्षारुणता कर्कशस्थिरव्रणता च सन्ध्यस्थिदग्धे ॥८॥

त्वचा के जलने पर—शब्दोत्पत्ति, दुर्गन्धता और त्वचा का संकोच होता है। मांस के जलने पर—कबूतर का जैसा नीला रङ्ग, थोड़ी सूजन, वेदना; व्रण शुष्क और संकुचित होता है। सिरा एवं स्नायु के जलने पर—काला रङ्ग, व्रण का ऊपर उठ जाना, और स्राव का निरोध हो जाता है। सन्धि-अस्थि के जलने पर—रूक्षता, लालिमा, कर्कशता और व्रण में कठिनता आ जाती है ॥८॥

तत्र शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्, वर्त्मरोगेष्वार्द्रालक्तकप्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोमकूपान् ॥९॥

शिर के रोगों में तथा अधिमन्थ (अक्षिरोग) में— भ्रू, ललाट, शङ्ख प्रदेश में दाह कर्म करना चाहिये। वर्त्म रोगों में दृष्टि को गीले वस्त्र से ढाँपकर पलकों के बालों को जड़ों में जलाना चाहिये ॥९॥

त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽत्युग्ररुजि वायावुच्छ्रितकठिनसुप्तमांसे व्रणे ग्रन्थ्यर्शोर्बुदभगन्दरापचीश्लीपदचर्मकीलतिलकालकान्त्रवृद्धिसन्धिसिराच्छेदनादिषु नाडीशोणितातिप्रवृत्तिषु चाग्निकर्म कुर्यात् ॥१०॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायुसन्धि-अस्थि में स्थित वायु की तीव्र वेदना में, व्रण में मांस उठ जाये, चेतना रहित मांसयुक्त व्रण में, ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिलकालक, अन्त्रवृद्धि, सन्धि रोग, सिरा, छेदन आदि कार्यों में, नाड़ीव्रण, रक्त के अतिस्राव होने पर—अग्निकर्म करना चाहिये ॥१०॥

तत्र वलय-विन्दु-विलेखा-प्रतिसारणानीति दहनविशेषाः ॥११॥

रोग के आश्रय भेद से अग्निकर्म चार प्रकार का है। यथा—वलय (गोल चिह्न), विन्दु, विलेखा (तिरछी, ऋजु, टेढ़ी—नाना प्रकार की रेखायें) प्रतिसारण—(गरम लोहे की शलाकाओं से अवघर्षण), ये दहनकर्म के भेद हैं। इसके अतिरिक्त संग्रह में—अर्धचन्द्र, स्वस्तिक और अष्टापद तीन अधिक दिये हैं ॥११॥

भवति चात्र—

रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यङ्-
नरस्य मर्माणि बलाबलं च।
व्याधिं तथर्तुं च समीक्ष्य सम्यक्
ततो व्यवस्येद्भिषगग्निकर्म ॥१२॥

कहा भी है—
रोगोत्पत्ति के स्थान को भली प्रकार देखकर, मनुष्य के मर्मों का बल और अबल का विचार करके, ऋतु, आदि को देखकर वैद्य अग्निकर्म में प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय करे[1] ॥१२॥

---

१ कई आचार्यों से अभिप्राय—काश्यप से है। यथा—
"न सिरास्नायुसन्ध्यस्थिमर्मस्वपि कथंचन।
देशस्योत्कर्त्तनं कार्यं दाहो वा भिषजाऽग्निना॥"
परन्तु रक्तातिस्राव की अवस्था में इनके अन्दर भी अग्निकर्म करना चाहिये। यथा 'सिरास्नायुसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितातिप्रवृत्तिषु सिरादिदाहः'। संग्रहः।

१ संग्रह में दाहविधि—अथ दाहार्हमातुरं कृतस्वस्त्ययनमुपहृतसर्वोपकरणं प्राक्शिरःसंविष्टमाप्ताव-

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः ॥ १३ ॥

भली प्रकार से जलने पर—वेदना की शान्ति के लिये-घी और शहद से मालिश करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—अभ्यङ्ग का अर्थ-अभितः-सब ओर-अञ्जन-आञ्जना लगाना है ॥ १३ ॥

अथेमानग्निना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं भीरुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥ १४ ॥

निम्न पुरुषों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिये-पित्त-प्रकृति, अन्तःशोणित (भिन्न-कोष्ठ), जिसका शल्य न निकला हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रणों से पीड़ित, स्वेदन कार्य के अयोग्य व्यक्तियों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिये। अन्तः-शोणित रक्त-पित्त रोगी, भिन्न कोष्ठ-अतिसार रोगी है। इसके सिवाय चरक नेत्र-एवं कुष्ठव्रण में अग्निकर्म का निषेध किया है।

वि० मन्तव्य—अस्वेद्यों को चि० स्था० अ० १२ में देखिये ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वमितरथा दग्धलक्षणं वक्ष्यामः। तत्र, स्निग्धं रूक्षं वाऽऽ (चा) श्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति, अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति, तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका रुजो भवन्ति॥१५॥

इसके आगे अन्य प्रकार से जले हुए व्यक्तियों के लक्षण कहते हैं। स्निग्ध द्रव्य (घी आदि) या रूक्ष द्रव्य (लोहा आदि) का आश्रय लेकर अग्नि जलाती है। आग से गरम स्नेह सूक्ष्म सिराओं का अनुसरण करके त्वचा आदि में घुसकर शीघ्र जलाता है। इसलिये स्नेह से जलने पर अधिक पीड़ा होती है ॥ १५ ॥

तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धम्। तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टं; यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोषदाहरागपाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद् दुर्दग्धं, सम्यग्दग्धमनवगाढं तालवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च, अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, व्रणश्चास्य चिरेण रोहति, रूढश्च विवर्णो भवति। तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं भवति ॥ १६ ॥

आग से जला चार प्रकार का होता है। यथा—प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध, और अतिदग्ध। इसमें प्लुष्ट-स्वाभाविक रङ्ग से विकृत रङ्ग हो जाये और झुलस जाये वह प्लुष्ट है। जिस दाह में छाले उठ आते हैं, चोष (वेदना), जलन, लालिमा, पाक और पीड़ा बहुत हो तथा वेदना देर में शान्त होती हो; उसे दुर्दग्ध कहते हैं। भली प्रकार से जला-अतिदग्ध लक्षणों से रहित, पके हुए ताल फल के समान रङ्गवाला, भली प्रकार स्थिर (न बहुत ऊँचा न नीचा), पूर्व लक्षणों से युक्त (त्वचा-मांस सिरा के दाह लक्षणों से युक्त) होता है। अतिदग्ध की अवस्था में, मांस का लटकना, शरीर का विघटन, सिरा-स्नायु सन्धि-अस्थि का नष्ट होना, तीव्र ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं। इस प्रकार व्रण बहुत देर में भरता है, भर जाने पर भी, विवर्णता हो जाती है। यह चार प्रकार के अग्निदग्ध के लक्षण-वैद्य को अपने चिकित्साकर्म की सफलता देनेवाले हैं।

वि० मन्तव्य—रूढश्च विवर्णो भवति-किसी किसी को श्वित्र—श्वेत दाग हो जाता है ॥ १६ ॥

भवन्ति चात्र—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीयते ॥१७॥
तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ॥१८॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते।

कहा भी है—

अग्नि से विदग्ध हुआ रक्त बहुत अधिक कुपित हो जाता है। इस कुपित रक्त से मनुष्य का पित्त भी कुपित हो जाता है—क्योंकि दोनों के गुण-धर्म समान हैं। दोनों रक्त-एवं पित्त समान वीर्य (उष्ण), समान रस (कटु) समान हेतु तथा अधिकारवाले (सदृश एवाधारो वह्नेः पित्तस्यापि) हैं। इस कारण से जले मनुष्य में तीव्र वेदना होती है। और स्वभाव से विदाह हो जाता है। भयानक छाले उत्पन्न हो जाते हैं, तथा ज्वर एवं तृष्णा उत्पन्न होती है ॥१७-१८॥

दग्धस्योपशमार्थाय चिकित्सा संप्रवक्ष्यते ॥१९॥
प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्।
शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्नं भवति शोणितम् ॥२०॥
प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं नतु शीतं कथंचन ॥२१॥

चिकित्सा कर्म—जले की शान्ति के लिये चिकित्सा कर्म कहते हैं। प्लुष्ट दाह में अग्निकर्म (जले हुए पर जलाना) एवं उष्ण औषध लगानी चाहिये। शरीर के अत्यन्त स्विन्न होने पर रक्त भी स्विन्न हो जाता है। यदि इस समय शीतोपचार किया जायेगा तो, पानी स्वभाव से शीतल है, वह रक्त को और भी अधिक घटटा (गाढ़ा) कर देगा। इसलिये उष्ण उपचार सुख देता है, शीतक्रिया सुख नहीं देती। अतः बाह्य उष्ण चिकित्सा करें।

लम्बितं कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरबदराद्यंगारैः अयोघटनप्रकारेण भस्मानिलाध्मातैः व्यजनेन चोर्ध्वनिर्गच्छज्ज्वाला.......जाम्बौष्ठाग्निभिः व्याधिप्रदेशवशात् वलयार्धचन्द्रस्वस्तिक.......आतुरमाश्वासयन् दहेत्सम्यक् दाहलिंगोत्पत्तेः।

वि० मन्तव्य—प्लुष्ट का अग्नि द्वारा प्रतपन-तपाना अर्थ है जलाना नहीं ॥ १९-२१ ॥

शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रियां कुर्याद्भिषक् पुनः।
घृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत् ॥ २२ ॥

दुर्दग्ध अवस्था में वैद्य को शीतल एवं उष्ण क्रिया करनी चाहिये। मूल भाग के जलने पर स्विन्नरक्त के निर्वापण के लिये शीतल क्रिया करनी चाहिए। यदि बहुत अधिक भाग न जला हो तो स्विन्न रक्त को पिघलाने के लिए उष्ण क्रिया करनी चाहिए। (अतिशय दाह में शीत क्रिया, बहुत न जलने पर उष्ण क्रिया करनी चाहिए)। घी का आलेपन आदि एवं क्वाथ आदि से सेचन ठण्डी अवस्था में करना चाहिए ॥ २२ ॥

सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः।
सामृतः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद्भिषक् ॥ २३ ॥
ग्राम्यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत्।
पित्तविद्रधिवच्चैनं संततोष्माणमाचरेत् ॥ २४ ॥

सम्यक् दग्ध अवस्था में—वंशलोचन, पिलखन, चन्दन लाल, गेरू, गिलोय, इनको घी में मिलाकर आलेप करना चाहिए। वात शान्ति के लिए—अश्व आदि आनूप पशुओं के मांस को पीसकर लेप करना चाहिए। सम्यक् दग्ध अवस्था में निरन्तर दाह होने पर पित्तविद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २३,२४ ॥

अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम्।
क्रियां कुर्याद्भिषक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥ २५ ॥
तिन्दुकीत्वक्कपालैर्वा घृतमिश्रैः प्रलेपयेत्।
व्रणं गुडूचीपत्रैर्वा छादयेदयवौदकैः ॥ २६ ॥
क्रियां च निखिलां कुर्याद्भिषक् पित्तविसर्पवत्।

अति दग्ध की अवस्था में लटके हुए मांस को निकालकर शीतल क्रिया करनी चाहिए। पीछे से धान्य के चावलों के कणों को या—तिन्दुकी की छाल एवं मिट्टी के खपरे को घी में मिलाकर प्रलेप करना चाहिए। पीछे से गिलोय के पत्रों से या कमल आदि पानी में उत्पन्न वृक्षों के पत्तों से व्रणों को ढाँप देना चाहिए। वैद्य को चाहिए कि पित्त विसर्प के समान सम्पूर्ण क्रिया करे। पित्त-रक्त से आक्रान्त व्रण-गिलोय पत्र आदि के ढांपने से गरमी को छोड़कर शीघ्र मरता है। ('तिन्दुकीत्वक्कपालैः' के स्थान पर 'तिन्दुकीत्वक्कषायैः' यह पाठ भी है) ॥ २५,२६ ॥

मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा ॥ २७ ॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्।
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद्रोपणमुत्तमम् ॥ २८ ॥
स्नेहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत्।

मधूच्छिष्ट (मोम), मुलहट्ठी, पठानी लोध, राल, मजीठ, लालचन्दन, मूर्वा, इनको पीसकर घी सिद्ध करना चाहिए। यह सब प्रकार के जले हुए व्रणों में हितकारी है।

तैलादि स्नेह से जलने पर रूक्ष क्रिया को विशेष रूपसे करना चाहिए रूक्ष दग्ध अवस्था में स्नेहन क्रिया करनी चाहिए ॥ २७,२८ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥ २९ ॥
श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥ ३० ॥
सधूमकं निःश्वसिति घ्रेयमन्यन्न वेत्ति च।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥ ३१ ॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति।
धूमोपहत इत्येषः, शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥ ३२ ॥

इसके आगे धूम से पीड़ित व्यक्तियों के लक्षण कहते हैं। रोगी कठिनाई से श्वास लेता है, छींकें आती हैं। बहुत आध्मान होता है, खांसता है, आंखों में जलन होती है, आंखें लाल होती हैं। श्वास में धूम की गन्ध आती है किसी दूसरी गन्ध को नहीं पहचानता। सब प्रकार के रसों को नहीं पहिचानता। रोगी की सुनने की शक्ति नष्ट हो जाती है। तृष्णा, दाह, ज्वर होता है, मूर्च्छा होती है, ये धूम से पीड़ित व्यक्ति के लक्षण होते हैं। इसकी चिकित्सा सुनिए।

वि० मन्तव्य—अधिक धूमपान से, अधिक समय धूम में रहने से उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और सीदति-अवसाद-शिथिलता हो जाती है, और मृत्यु हो जाती है। अनेक बार सुना है कि—किवाड़ बन्द करके, कोयले सुलगाकर कुछ व्यक्ति सो गए और सोये ही रह गये। इस प्रकार धूम के प्रभाव से नर की अपेक्षा नारी की मृत्यु शीघ्र होती है। पशु और भी शीघ्र मरते देखे गए हैं ॥ २९—३२ ॥

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा।
मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥ ३३ ॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद् धूमगन्धश्च नश्यति।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥ ३४ ॥
दाहमूर्च्छातृडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः।
मधुरैर्लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥ ३५ ॥
सम्यग्गृह्णातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित् ॥ ३६ ॥
दृष्टिर्विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥ ३७ ॥

वमन के लिए—घी, गन्ने का रस, किसमिसों का पानी, शक्कर का पानी, मधुर अम्ल (खट्टा-मीठा) रस देना चाहिए। वमन होने से कोष्ठ की शुद्धि हो जाती है और धूम की गन्ध नष्ट होती है। अङ्गों की ग्लानि,

वमन, ज्वर इस प्रकार से शान्त हो जाते हैं। दाह-मूर्छा, प्यास, आध्मान, तीव्र-श्वास एवं कास—मधुर, अम्ल, लवण और कटु रसवाले गरारों (कवलों) से शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों के विषयों को भली प्रकार से ग्रहण करता है और मन भी प्रसन्न हो जाता है। शास्त्र को जाननेवाला वैद्य मात्रा में इस रोगी को शिरोविरेचन देवें। इससे रोगी की दृष्टि साफ हो जाती है। अविदाही, लघु, स्निग्ध भोजन इसको देना चाहिये[1]॥

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा।
शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ॥३८॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नास्ति कथंचन।
इन्द्रवज्राग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत्॥
स्नेहाभ्यङ्गपरीषेकः प्रदेहैश्च तथा भिषक्॥३९॥

उष्ण वात (लू लगने पर), धूप (sunstroke) से जलने पर शीतल क्रिया करनी चाहिये। शीत (वर्फ हिम से), वर्षा (झंझावात) मिश्रित वायु से दग्ध होने पर उष्ण एवं स्निग्ध क्रिया करनी चाहिये। अतितेजस (वज्राग्नि) से जलने पर मनुष्य नहीं बचता। इन्द्राग्नि (बिजली) से जलने पर यदि मनुष्य जीवित हो तो—स्नेह, अभ्यङ्ग परिषेक, प्रदेहों से चिकित्सा करनी चाहिये[2]।

वि० मन्तव्य—हिमालय पर कभी-कभी ऐसा शीत (बर्फ) तथा वर्षा पड़ती है और वायु चलती है जिससे प्राणी-वृक्ष पौधे झुलस जाते हैं, कभी-कभी—हिमालय की तराई में ऐसा होता है ॥३८,३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधिर्नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो जलौकावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'जलौकावचारणीय' अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः ॥३॥

जौंक का विषय—नृप, धनी, वृद्ध, भीरु, दुर्बल, स्त्री, कोमल प्रकृतिवाले पुरुषों के उपकार के लिये रक्तावसेचन कार्य में जौंक का उपयोग अत्यन्त कोमल उपाय है। प्रच्छन एवं सिरा व्यधन कष्टदायी है ॥३॥

तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासंख्यं शृङ्गजलौकालाबुभिरवसेचयेद्विशेषतस्तु विस्राव्यं सर्वाणि सर्वैर्वा ॥

इनमें वात से दूषित रक्त को सींगी से, पित्त से दूषित रक्त को जौंक से, और कफ से दूषित रक्त को अलाबु से निकालना चाहिये। अथवा—विस्राव्य रक्त को इन तीनों से ही निकालना चाहिये। क्योंकि ये उपकरण स्निग्ध, शीत एवं रूक्ष हैं[1] ॥४॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—
उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृंगं प्रकीर्तितम्।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥५॥
शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥६॥
अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम्।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥७॥

कहा भी है—

गाय का सींग—उष्णवीर्य, मधुर, स्निग्ध गुणवाला है। इसलिये वातदूषित रक्त को निकालने के लिये श्रेष्ठ है। जौंक-शीत घर में अर्थात् जल में रहती हैं, मधुर हैं और पानी से उत्पन्न होती हैं। इसलिये पित्तदूषित रक्त को निकालने के लिये उत्तम हैं। अलाबु (तुम्बी) कटुरस, रूक्ष एवं तीक्ष्ण है। इसलिये कफदूषित रक्त को निकालने में प्रशस्त है। चरक में कहा है—

भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्।
पित्तान्वितं जलौकाभिः कफान्वितमलाबुभिः।
चरक चि० अ० २१ ॥५७॥

तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्, सान्तर्दीपयाऽलाब्वा ॥८॥

स्थान पर पच्छ लगाकर पतले वस्त्र से ढाँपकर सींग द्वारा रक्त का आचूषण करना चाहिये। अथवा अलाबु में तिनके

---

१ धूमोपहत, शीताभिहत, अशनिहत की चिकित्सा के लिये देखिये—व्यवहारायुर्वेद, न्यायवैद्यक या Medical Jurisprudence.

२ जलने पर आजकल कैरन औयल (चूने के पानी और तैल को मथकर तुरन्त बनाया) या टैनिक एसिड की मलहम बरतनी चाहिये। शतधौत घृत या पानी में धोया घी भी वही लाभ करता है। इसके लगाने से उष्णिमा बाहर आती है, इससे शान्ति मिलती है। इसी से कहा है—

स्त्याने रक्ते हिमेनौष्ण्यानिष्क्रमेऽनुगतो बहिः।
वेदना वर्धते तेन रुधिरं च विदह्यते ॥
उष्णं निष्क्रामयन् कुर्यात् ऊष्माणं मन्दतां रजः।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन ॥

१ वाग्भट्ट में निम्न विधि बताई है—
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः।
हरेत् शृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि शिराव्यधैः ॥१॥
प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं शिरैव व्यापकेऽसृजि ॥२॥

मद्य या बत्ती जलाकर (इसकी वायु निकालकर) फिर स्थान पर लगाना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—गौ के सींग की टोपी जो ४-६ अंगुल लम्बी होती है लेकर स्वच्छ कर ली जाती है, उसके अग्रभाग में सरसों या राई का सा छिद्र कर लिया जाता है, मूल को घिसकर सम कर लिया जाता है, वह खोखली होती है। इसको 'सिंगी' कहते हैं और पञ्जाब में 'फौकी' कहते हैं। यह मांसल स्थान पर लगाई जाती है और लगती भी वहीं है, अन्यत्र न लगाई जाती है और न लगती ही है। सिंगी लगाने का व्यवसाय पञ्जाब में केवल चमार जाति (जो झाड़ू लगाना आदि काम करती है) की स्त्रियाँ ही करती हैं (अन्य देशों के विषय में हमें कुछ जानकारी नहीं है)। इस सिंगी का उपयोग दो प्रकार का है—१—कच्चा और २—पक्का।

१—कच्चा वह है—जिसमें पच्छ न लगाकर केवल वायु का आचरण किया जाता है।

२—पक्का वह है—जिसमें-पच्छ लगाकर वायु तथा वात दूषित रक्त का आचूषण किया जाता है।

विधि—जिस स्थान पर सिंगी लगानी होती है उस स्थान पर सिंगी धरकर, हाथ से पकड़कर-दबाकर मुख से वायु का आचूषण किया जाता है—जोर से चूसकर सिंगी के छेद पर दबाकर अंगुली रख ली जाती है अथवा मोमी कागज का टुकड़ा चिपका दिया जाता है अथवा मकड़ी का श्वेत जाला जो छिद्ररहित होता है चिपका दिया जाता है, जिससे उसमें वायु का प्रवेश न हो।

३० मिनट से १ घण्टा (घड़ी दो घड़ी) प्रतीक्षा की जाती है, तत्पश्चात्—छिद्र का अवरोध हटा दिया जाता है, तब सिंगी सरलता से अलग हो जाती है। जहाँ सिंगी लगाई गई वह स्थान उभरा—ऊँचा हो जाता है। उसे मसल २ कर पूर्ववत् कर दिया जाता है और पक्की सिंगी के स्थान पर हल्दी का चन्दन लगा दिया जाता है।

अलाबू-तुम्बी की भी यही कथा है, परन्तु उसमें छिद्र नहीं किया जाता तथा आचूषण भी नहीं किया जाता।

लगाने की विधि—जहाँ लगानी हो वहाँ आर्द्र मिट्टी का या सने आटे का दिया रख उसमें कपूर अथवा स्नेह वर्त्ति जलाओ और उसकी लौ पर तुम्बी को औंधी (अधोमुख) करके तपाओ तप जाने पर वहीं धरकर दबा दो, दबाते ही दीपक बुझ जाता है और तुम्बी में आकर्षण प्रतीत होने लगता है। घड़ी दो घड़ी प्रतीक्षा करो, तत्पश्चात् एक ओर से अथवा सब ओर से शरीरावयव को अंगुली दबाकर तुम्बी को अलगकर तुम्बी के अभाव में पीतल का अथवा काच का गिलास भी लगाया जाता है—विधि यही है। लोटा लग सकता है, परन्तु लगाना नहीं चाहिये, उसमें व्यापद् हो सकती है। तुम्बी भी कच्ची एवं पक्की दोनों प्रकार की होती है। सान्तर्दीपका—तुम्बी के भीतर यदि दीपक जलाया जाय तो दीपक को निकालकर तत्काल तुम्बी लगाओ दीपक समेत नहीं। अन्यथा शरीरावयव जल सकता है। इनके द्वारा वायु एवं रक्त का आचूषण हो जाने पर तज्जन्य वेदना शान्त हो जाती है ॥८॥

जलमासामायुरिति जलायुकाः; जलमासामोक इति जलौकसः ॥९॥

जलायुका शब्द की निरुक्ति—इनको जल ही आयु है, या जल में ही इनका घर है, इसलिए इनको 'जलायुका' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—जोंकों का जल ही आयु अर्थात् जीवन है, अतः उनका नाम 'जलायुका' और जल ही उनका ओकस्—घर है, अतः उनका नाम 'जलौकस्' है।

जोंक लगाने का व्यवसाय करनेवालों का नाम 'जोकयारा' है। वे जोंकों को पाल या पकड़ रखते हैं। जोंक जैसे २ रक्त चूसती है वैसे फूलती-बढ़ती जाती है, जोकयारा जब समझ लेता है कि उसका उदर भर गया है। तब उसे छुड़ा लेता है और आवश्यकतानुसार दूसरी तीसरी जोंक लगा देता है। एक दिन का अन्तर देकर जोंक दो बार लगाना चाहिये। अधिक रक्त निकालने के लिए एक से अधिक जोंकें एक साथ भी लगाई जाती हैं। जोंक लगाना रक्तस्रावण का मृदु उपाय है॥

ताः द्वादश, तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः ॥१०॥

ये जलायुका-बारह प्रकार की हैं। जिनमें छै विष युक्त और छै निर्विष (विष रहित) हैं ॥१०॥

तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति। तासु, अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा, वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा, रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा, इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रा इन्द्रायुधा, ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका, गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति। ताभिर्दष्टे पुरुषे

---

[1] त्र्यंगुलास्यं भवेच्छृङ्गं चूषणेऽष्टदशाङ्गुलम्।
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति॥
स्याद् द्वादशांगुलोऽलाबु नाहं त्वष्टादशांगुलः।
चतुस्त्र्यंगुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः श्लेष्मरक्तहृत्॥
शृङ्ग-अलाबुप्रमाण—
विषाणं श्वेतगोरिन्दुचक्रं सप्तांगुलायतम्।
क्षिप्ताऽन्त.पिचुपेशीकं योज्यं वातयुतेऽसृजि॥
अष्टांगुलपरीणाहा चतुरंगुलनालसंमिता सुमुखी।
कृष्णमृदा लिप्ततनुः श्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलाबुः॥

दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र महागदः पानलेपन नस्यकर्मादिषूपयोज्यः । इन्द्रायुधा दष्टमसाध्यम् । इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः ॥११॥

इनमें विष युक्त जौंकें—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना । इनमें—कृष्णा जौंक का रङ्ग अञ्जन (कज्जल) के समान और शिर बड़ा होता है । कर्बुरा जौंक-वर्त्तिमत्स्य (रोहित मछली) के समान सर्पाकार तथा कुक्षि पर उभरी रेखावाली होती है । अलगर्दा-जौंक-रोम-वलियुक्त, महापार्श्व तथा काले मुखवाली है । इन्द्रायुधा-ऊपर से इन्द्र-धनुष के समान चित्र-विचित्र रेखाओं से शोभित होती है । सामुद्रिका—कुछ काली-पीली, नाना प्रकार के श्वेत बिन्दुओं से चित्रित होती है । गोचन्दना जौंक बैल के अण्डकोश की भांति निचले भाग में दो भागों में विभक्त हुई, सूक्ष्म मुखवाली होती है । इन जलौकाओं के द्वारा पुरुष को काटने पर—बहुत अधिक सूजन, खाज, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, वमन, मद-नशा, अङ्गों में ग्लानि होती है । इनकी चिकित्सा के लिए सर्पदष्ट कल्प में कहा महागद पीने के लिये, लेप के लिये, नस्य, परिषेक आदि कार्यों में बरतना चाहिये । इन्द्रायुध-जौंक से काटा हुआ मनुष्य असाध्य है । इस प्रकार से विषैली जौंक का चिकित्सा के साथ वर्णन कर दिया । (महागद-कल्प स्थान में-'त्रिवृद् विशल्ये' इस श्लोक में कहा है ॥११॥

अथ निर्विषाः—कपिला, पिङ्गला शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति । तत्र, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धा मुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च पिङ्गला, यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका, मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी, स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका सा च पश्वर्थे, इत्येता अविषा व्याख्याताः ॥ १२ ॥

निर्विषा जलौका—कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका । इनमें कपिला जौंक—के दोनों पार्श्व मैनसिल से रंगे हुए प्रतीत होते हैं, पीठ-मूँग के समान चिकनी होती है । पिंगला जौंक कुछ लाल गोल शरीर, पिंगल-वर्ण और शीघ्रगामि होती है । शंकुमुखी जौंक-यकृत् के समान रङ्ग की (काली-नीली) शीघ्र-रक्त पीनेवाली, लम्बे एवं तीक्ष्ण मुख की होती है । मूषिका—चूहे के रंग तथा चूहे के आकार की बुरी गन्धवाली होती है । पुण्डरीकमुखी—मूङ्ग के समान रङ्ग-वाली तथा कमल के सदृश मुख की होती है । सावरिका-स्निग्ध, कमल पत्र के रङ्गवाली, अठारह अंगुल लम्बी होती है । यह सावारिका जौंक हाथी आदि पशुओं के लिये ही है । इस प्रकार से विषरहित जौंकों की व्याख्या करा दी है । (संग्रह में चार-पाँच अंगुल की जौंक का उपयोग पुरुष के लिये कहा है । स्त्री जौंक का उपयोग आचारकालीन और अल्प दोषवाले रोग में—पुरुष जौंक का इनसे विपरीत रोगों में कहा है) ॥१२॥

तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि, तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति ॥१३॥

इन निर्विष जलौकाओं के प्रशस्त क्षेत्र—यवन (तुरुष्क देश-टर्की), पाण्ड्य (दक्षिण देश के देश[1] सह्य (नर्मदा के परे की पर्वत माला), पौतन (मथुरा प्रदेश) आदि क्षेत्र हैं । इन क्षेत्रों में—बड़े शरीरवाली, बलवान्, शीघ्र रक्त को पीने-वाली बहुत खानेवाली विष रहित—(खासकर) होती हैं । (जौंक साधारणतः एक से दो ड्राम रक्त पीती है) ॥१३॥

तत्र, सविषमत्स्यकीटदर्दुरमूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भस्सु च सविषाः, पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमलेष्वम्भःसु च निर्विषाः ॥१४॥

विषैले, मछली, कीट, मेंढ़क मूत्र-मल द्वारा सड़े मलिन पानी में उत्पन्न जौंक विषैली होती है । कमल, उत्पल, (थोड़ा नीला), नलिन (थोड़ा लाल), कुमुद, सौगन्धिक (चन्द्रोदय में खिलनेवाला), कुवलय (लाल कमल), पुण्डरीक (बहुत श्वेत कमल), शैवाल (सरवाल) द्वारा सड़े अथवा निर्मल पानी में उत्पन्न जौंक विषरहित होती है ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिषु ।
न च संकीर्णचारिण्यो न च पङ्केशयाः सुखाः ॥१५॥

कहा भी है—

ये पूर्वोक्त निर्विष जलौकायें—बहुत पानीवाले, सुगन्धित क्षेत्रों में रहती हैं । विष आदि विरुद्ध आहार को नहीं खाती—(सरवाल आदि खाती हैं) । कीचड़ में नहीं सोती, अपितु तृणोदक-पत्र आदि में सोती हैं । इसीलिये सुखदायक होती हैं ॥१५॥

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात् ॥१६॥

इन जौंकों को गीले चमड़े से अथवा तुरन्त मारे पशु की मांस पेशी पर घी-मक्खन आदि मलकर पकड़ना चाहिये । शरत्काल में पकड़ना चाहिये ॥१६॥

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य निदध्यात्, भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवलं वल्लूरौदकांश्च

---

१ पाण्ड्य देश—

"काम्बोजाद्दक्षभागे तु इन्द्रप्रस्थाच्च पश्चिमे ।
पाण्ड्यदेशो महेशानि, महाशूरत्वकारकः ॥"

कन्दांश्चूर्णीकृत्य, शय्यार्थं तृणमौदकानि च पत्राणि, त्र्यहात्त्र्यहाच्चाभ्योऽन्यज्जलं भक्ष्यं च दद्यात्, सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेत् ॥१७॥

निर्विष जलौका को पकड़कर नये बड़े घड़े में तालाब या तड़ाग के पानी में कीचड़ को डालकर इसमें जौंक को रखना चाहिये। इनके खाने के लिए सरवाल जलचर प्राणियों का शुष्क मांस या कन्दा का चूर्ण देना चाहिये। सोने के लिए-बिस्तर में तिनके या पानी में होनेवाले कमल आदि के पत्र बरतने चाहिये। तीसरे-तीसरे दिन इनका पानी बदल देना चाहिए। और भोजन भी नया देना चाहिए। सातवें दिन इनको एक घड़े से दूसरे घड़े में बदल देना चाहिए ॥१७॥

भवति चात्र—

स्थूलमध्याः परिक्लिष्टाः पृथ्व्यो मन्दविचेष्टिताः।
अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः ॥१८॥

अप्रशस्त बीच से मोटी, देखने में बुरी, विस्तीर्ण, मन्दगामि, स्थान का ग्रहण न करनेवाली (न लगनेवाली), थोड़ा रक्त पीनेवाली, और विषैली जौंक प्रशस्त नहीं है ॥१८॥

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा, विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमय चूर्णैर्यद्यरुजः स्यात्। गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदकप्रदिग्धगात्रीः सलिलसरकमध्ये मुहूर्तस्थिता विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत्। श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपिचुप्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्, अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं शोणितबिन्दुं वा दद्यात्, शस्त्रपदानि वा कुर्वीत, यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् ॥१९॥

जलौका द्वारा साध्य रोग से ग्रस्त रोगी को बिठाकर अथवा लिटाकर पीड़ा रहित स्थान को मिट्टी या गोबर द्वारा घिसकर रूक्ष कर लेना चाहिए। यदि स्थान पीड़ायुक्त हो तो पिचु से साफ करके रूक्ष कर लेना चाहिए। जौंक को पकड़कर सरसों-हल्दी के कल्कोदक से जौंक के शरीर को मलकर पानी के बर्तन में थोड़ी देर रखकर-थकान दूर होने पर रोगवाले स्थान पर लगा देना चाहिए। चिकने पतले-श्वेत-गीले पिचु या प्लोत से ढाँप देना चाहिए, परन्तु मुख को नहीं ढाँपना चाहिए। यदि स्थान का ग्रहण न करे तो दूध की बूंद रख देनी चाहिए-अथवा शस्त्र से पोंछना चाहिए, जिससे रक्त की गन्ध आ जाए। इस प्रकार भी रक्त ग्रहण न करे तो दूसरी जलौका को लगा देना चाहिए ॥१९॥

यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद् गृह्णातीति, गृह्णन्तीं चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वा धारयेत् ॥२०॥

और जब जौंक लग जाती है तब घोड़े के खुर के समान मुख को करके, स्कन्धों को ऊँचा करके लगती हैं, तब समझना चाहिए कि रक्त ले रही है। रक्त को पीती हुई जौंक को गीले वस्त्र से ढांप देना चाहिए और थोड़ा-पानी डालना चाहिए। जौंक-पहिले दुष्ट रक्त को पीता है-जिस प्रकार हंस-दूध से मिले पानी में प्रथम दूध को पीता है ॥२०॥

दंशे तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमियमादत्तइति, शुद्धमाददानामपनयेत्, अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् ॥ २१ ॥

विशुद्ध रक्त के पीने पर दंश में तोद (धातुक्षय के कारण उत्पन्न वायु की पीड़ा), खाज उत्पन्न होती है। जिस समय शुद्ध रक्त पान करने लगे, तब इसको हटा लेना चाहिए। यदि रक्त की गन्ध के कारण स्थान को न छोड़े तब इसके मुख पर सैन्धव लवण का चूर्ण डाल देना चाहिए। जौंक में गन्धेन्द्रिय नहीं होती, इसलिए शोणितलौल्यात् पाठ ठीक है[1] ॥

अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेदा-मुखात्, तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति। सम्यग्वान्ता सलिलसरके न्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत्। या सीदती न चेष्टते सा दुर्वान्ता तां पुनः सम्यग्वामयेत्। दुर्वान्ताया व्याधिरसाध्य इन्द्रमदो नाम भवति। अथ सुवान्तां पूर्ववत् सन्निदध्यात् ॥ २२ ॥

जिस समय जौंक गिर पड़े तब धान्य के चावलों की कणकियों से इसके शरीर को मलकर, लवण और तैल से मुख को लिप्त करके, बायें हाथ के अंगुली एवं अंगुष्ठ से पूंछ पकड़कर दक्षिण हाथ की अंगुली एवं अंगुष्ठ द्वारा धीरे धीरे लोमों के अनुकूल परिमार्जन करना चाहिए। जब तक भली प्रकार वमन के लक्षण दीखने न लगें तब तक वमन करना चाहिए। भली प्रकार से वमन होने पर पानी के पात्र में रखने पर खाने की इच्छा से विचरण करने लगती है। जो पानी में डूब जाती है, हिलती नहीं, उसने भली प्रकार से वमन नहीं किया ऐसा समझना चाहिए। उसको फिर वमन कराना चाहिए। भली प्रकार से वमन न होने पर जोंक को इन्द्रमद (रक्तमद) नाम का रोग हो जाता है—यह रोग असाध्य है। जिसने भली प्रकार से वमन किया हो, उस जोंक को पूर्व की भाँति रखना चाहिए ॥ २२ ॥

शोणितस्य योगायोगानवेक्ष्य शतधौताभ्यङ्गः तत्पिचुधारणं वा, जलौकोव्रणान् मधुनाऽवघट्टयेत्,

---

१ संग्रह में यही पाठ है—लौल्याच्च दंशममुञ्चन्त्याः क्षौद्रलवणचूर्णं वा मुखे दद्यात्।

शीताभिरद्भिः परिषेचयेद् बध्नीत वा, कषायमधुरस्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति ॥ २३ ॥

शोणितावसेचन होने पर रक्त के योग (सम्यक् स्राव) एवं अयोग (हीन, मिथ्या, अतियोग) को देखकर जलौका के व्रणों की चिकित्सा करनी चाहिये। योगस्राव में शतधौत घृत लगाना चाहिये। हीन अयोग में रक्तस्राव के लिये मधु से घर्षण करना चाहिये। अति रक्तस्राव में-शीतल जल का परिषेचन या शीतल जल की पट्टी बांधनी चाहिये। मिथ्या रक्तस्राव में-कषाय प्रदेह (शेष दुष्ट रक्त के प्रसादन के लिये), मधुर प्रमेह (स्रुत अशुद्ध रक्त को रोकने के लिये), मूर्छा आदि उपद्रवों की शान्ति के लिये शीतल प्रदेह-सेक लगाना चाहिये ॥ २३ ॥[1]

भवति चात्र—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम् ।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद् गदान् ॥२४॥

कहा भी है—

जो वैद्य जलौकाओं के क्षेत्र, पकड़ने की विधि, जाति, पोषणविधि, अवचारणविधि जानता है, वह जलौकाओं द्वारा साध्य रोगों को शान्त कर लेता है ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

—०—

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

पिछले अध्याय में रक्तस्राव का वर्णन किया, इसलिये रक्त का वर्णन करने के लिये 'शोणित-वर्णनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते, तस्य हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद् गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः। तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणि रसे जिज्ञासा-किमयं सौम्यस्तैजसः ? इति। अत्रोच्यते—स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते ॥ ३ ॥

पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों का पेय, भोज्य, भक्ष्य, लेह्य-भेद से चार प्रकार का, मधुर, अम्ल आदि छै भेद से रस का; शीत उष्ण भेद से दो प्रकार के वीर्य का अथवा आठ प्रकार (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु, तीक्ष्ण-भेद से) के वीर्य का, अथवा अनेक (बीस) गुणोंवाले आहार का भोजन करने पर-इसके सम्यक् परिपाक होने से जो तेजोभूत (अग्नि द्वारा उत्पन्न) परम सूक्ष्म सार निर्मल-श्रेष्ठ अंश है-वह रस कहा जाता है। इस रस का स्थान हृदय है[1]। यह रस चौबीस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैलकर रात दिन शरीर का तर्पण करता है (गर्भावस्था में), बढ़ाता है (बाल्यावस्था में), धारण करता है (युवावस्था में), यापन करता है (वृद्धावस्था में) यह कर्म अचेतन होने के कारण अदृष्ट (धर्माधर्म) के कारण होता है। इन चौबीस धमनियों में से दस धमनियाँ ऊपर जाती हैं, और चार धमनियाँ तिरछी जाती हैं। इस रस के शरीर के अन्दर फैलते हुए-इसकी गति को क्षय-वृद्धि विकारों द्वारा अनुमान से जानना चाहिये। इन सम्पूर्ण शरीरावयवों में दोष, धातु-मल-आशय में फैलनेवाले इस रस के विषय में यह जिज्ञासा है कि-क्या यह रस सौम्य है अथवा तैजस (आग्नेय गुणी) है। उत्तर-यह कहा जाता है कि—यह रस द्रव के समान-अनुसरण शील, स्नेहन, जीवन देनेवाला, तर्पण, धारण, अवष्टम्भन आदि भेदों से 'सौम्य' (कफरूप) रूप ही जाना जाता है।

वि० मन्तव्य—तस्य हृदयं स्थानम्—इस रस (सर्वदा गतिशील) का हृदय स्थान अर्थात् कुछ समय के लिये रुकने (गतिहीन होने) का आश्रय है। ष्ठा-गति निवृत्तौ धातु से स्थान शब्द निष्पन्न होता है और गतिनिवृत्ति का अर्थ है गति की निवृत्ति-रुकना। वह रस—हृदय से धमनियों में जाता है अर्थात् हृदय की गति के प्रभाव से उन नालियों में ध्मान की उत्पत्ति होती है। यद्यपि हृदय से रक्त की प्रवृत्ति

---

१ जौंक के काटने पर कई बार बहुत रक्तस्राव होता है। इसका कारण यह है कि जौंक के सिर में कई छोटी छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनका रस व्रणों में पहुँचता है। इस रस में (Hirudin) हीरुडीन नामक द्रव्य होता है। इस द्रव्य के रक्त के साथ मिलने से रक्त जल्दी नहीं जमता। जौंक के दंश के समय रक्त चूसने पर यह पदार्थ व्रण में पहुँच जाता है। इसलिए रक्त जमता नहीं, बहता रहता है।

१ तेज अग्नि द्वारा उत्पन्न शुक्र या घी के समान उत्पन्न, झी के समान श्वेत (Chyls, रूपेण), सारकिट्ट आदि के मल रहित-सूक्ष्म स्रोतों में प्रायः होने वाला है-पोष्य धातु रस का ही हृदय स्थान है। पोषक आहार रस का स्थान धमनियाँ हैं।

होती है, तथापि—रक्त में रस मिला रहता है, अतः एक दृष्टि से वह रस ही कहा जाता है। भले ही वह रक्त कहा जा सकता है और अन्यत्र हृदय (उरस्) को रक्त का आशय माना भी है। तस्मिन् सर्व......जिज्ञासा रस शरीर के समस्त अवयवों (सेल् जीवकोष) आदि में जब अनुकूल—उचित सरण-गति करता है तब वह स्नेहन आदि सद्गुणों के कारण सौम्य (सोम-चन्द्र के) गुणों से युक्त माना जाता है। अन्यथा आग्नेय उक्त-गुणों का नाशक माना जाता है या रोगोत्पादक होता है। चन्द्र को वेद में—"अमृतस्य नाभिः" केन्द्र माना गया है ॥ ३ ॥

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति ॥ ४ ॥

यह जलीय (श्वेत) रस यकृत्-प्लीहा में पहुँचकर लाल हो जाता है। (आजकल भी पाण्डु रोग में—या रक्त की कमी में यकृत् का उपयोग किया जाता है।) सुश्रुत ने भी अति रक्तस्राव में यकृत् ही खाने को कहा है। "यकृद् वा भक्षयेदामामं पित्तसमायुतम्"।

वि० मन्तव्य—रस को "आप्य" इसलिये कहते हैं कि वह व्याप्तिशील है। रस धातु प्रथम रक्त में मिल लेता है और फिर रक्त के साथ २ यकृत् एवं प्लीहा में जाता है और वहाँ रञ्जक पित्त की रासायनिक क्रिया से लाल हो जाता है। रक्त में जो श्वेतकण होते हैं वे रस के ही होते हैं और वे ही वहाँ जाकर लाल हो जाते हैं ॥४॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

कहा भी है—

प्राणियों के शरीरस्थ शुद्ध तेज से (रञ्जक पित्त से) रंगे लाल किये हुए अदूषित जल (रस) को रक्त कहते हैं।

वि० मन्तव्य—वही श्वेत एवं सौम्य रस यकृत्-प्लीह गत रञ्जक पित्त से रञ्जित होकर "रक्त" कहलाता है ॥ ५ ॥

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ६ ॥

रक्त एवं आर्त्तव में भेद—

स्त्रियों में रक्त ही—ऋतुस्राव में योनिमार्ग से रज-रूप में प्रवृत्त होता है। यह रज बारह वर्ष की आयु से लेकर पचास वर्ष की आयु तक रहता है, पीछे नष्ट हो जाता है। (रजः की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का यह नियम सम शीतोष्ण देश की अपेक्षा से है। यूरोप आदि शीत देशों में ऋतुकाल देर में आता है, और गरम देशों में शीघ्र आ जाता है) ॥ ६ ॥

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ॥

आर्त्तव संज्ञक रक्त (आग्नेय) अग्नि गुणविशिष्ट है। क्योंकि गर्भ अग्नीषोमीय है। आगे शरीरस्थान में कहेंगे कि स्त्रियाँ अग्नि गुण भूयिष्ठ हैं, पुरुष सौम्य हैं। इसलिये आर्त्तव भी आग्नेय है ॥ ७ ॥

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः ॥ ८ ॥

दूसरे आचार्यों का मत है कि—जीवरक्त जीव के समान चेतना का कारण रक्त पाँचभौतिक (पृथिवी आदि पंचभूतों से मिला है ॥ ८ ॥

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ ९ ॥

विस्रता (आमगन्धि-पृथिवी का गुण), द्रवता (द्रवभावः—जल का गुण), राग (लालिमा-अग्नि का गुण), स्पन्दन (थोड़ा हिलना-वायु का गुण), लघुता (हल्कापन-आकाश का गुण) ये भूमि आदि पञ्चमहाभूतों के गुण रक्त में दिखायी देते हैं। इसलिये रक्त पांचभौतिक है ॥ ९ ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते ॥१०॥

पाकजन्य प्रसाद भाग से क्रमशः रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार कि गन्ने के रस को पकाने पर ऊपर मलाई उतरती है, नीचे किट्ट भाग रहता है, उसी प्रकार अन्न के पकने से मल (विट् मूत्र) एवं सार भाग (रस) उत्पन्न होता है। इस रस के पुनः पकने से मल (कफ), स्थूल भाग (रस) और सूक्ष्म भाग (रक्त) उत्पन्न होता है। रक्त के पकने से मल (पित्त), स्थूल भाग (मांस) बनता है। मांस के पकने से मल (श्रोत्र, नासिका आदि का मल), स्थूल भाग (मांस) सूक्ष्म भाग (मेद) बनता है। मेद के पकने से मल (स्वेद) स्थूल भाग (मेद) और सूक्ष्म भाग (अस्थि) बनती है। अस्थि के अपनी अग्नि द्वारा परिपाक होने पर मल (केश, लोम, श्मश्रु), स्थूल भाग (अस्थि), सूक्ष्म भाग (मज्जा) बनती है। मज्जा के परिपाक से मल (आँख-त्वचा का स्नेह), स्थूल भाग (मज्जा) और सूक्ष्म भाग (शुक्र) बनता है। शुक्र के स्वाग्नि द्वारा परिपाक होने पर दो ही भाग बनते हैं। अब इसमें से मल भाग नहीं निकलता। स्थूल भाग (शुक्र) और सूक्ष्म भाग (ओज) होता है[1]।

---

१ (१) धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते। चरक सू० अ० २८।

कहा भी है—

"स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वस्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः॥
स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमजीवाक्षये मलः॥

वि० मन्तव्य—रस से धातुओं की उत्पत्ति का यह भी एक प्रकार है वैसे तो रस एवं रक्त से भी धातुओं का पूरण-पूर्त्ति (सू० ११ देखिये) तथा वृद्धि (सू० २१) होती है ॥ १० ॥

तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ ११ ॥

इन धातुओं के मध्य में—पूर्वोक्त रक्त आदि धातुओं की वृद्धि करनेवाला, अन्न-पान का सार भाग यही रस है[1] ॥११॥

रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
अन्नात् पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ॥१२॥

पुरुष की उत्पत्ति भी रस से ही है, इसलिये प्रयत्नपूर्वक रस की रक्षा करनी चाहिये। आलस्य रहित होकर—बुद्धिमान् मनुष्य अन्न एवं पान से रस की रक्षा करता है ॥ १२ ॥

तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥१३॥

रस शब्द की निरुक्ति—रस-गतौ-इस धातु से रस शब्द बनता है। जिसका अर्थ है कि प्रतिदिन चलता रहता है, इस लिये इसको रस कहते हैं ॥ १३ ॥

स खलु त्रीणि त्रीण कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

अष्टादशसहस्राणि सङ्ख्या ह्यस्मिन् समुच्चये ।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥ १५ ॥

यह रस प्रत्येक धातु में ३३१५ कला पर्य्यन्त रहता है। इस प्रकार एक मास में रस धातु पुरुषों में शुक्र और स्त्रियों में आर्त्तव होता है। इस रस से वीर्य बनने के समुच्चय में इस तन्त्र तथा [1]अन्य तन्त्रों के अनुसार भी १८०९० कला समय लगता है। वह रस शब्द, तेज तथा जल के विस्तार की भाँति समस्त शरीर में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रवेश करता है।

वक्तव्य—चरक में रस धातु की उपमा चक्र से दी है, यथा—"संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ।" आयुर्वेद में ध्वनि, उष्णिमा और जल के साथ दी हुई उपमा भी आज-कल फिल्ट्रेशन, ओसोमोषि, डायलेसिस, डिफ्युजन के साथ घटती है। तीक्ष्णाग्नियों में शीघ्र २४ घण्टे में शुक्र बनता है, और मन्दाग्निवालों में एक मास या इससे अधिक समय लगता है और मध्यमाग्निवालों में छे दिन लगते हैं ॥ १४,१५ ॥

स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ॥ १६ ॥

यह रस शब्द-संतान की तरह तिरछा, अर्चि (आग)—संतान की तरह ऊपर की ओर जल संतान की तरह नीचे की ओर गति करके सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है ॥ १६ ॥

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शीघ्रं विरेचयन्ति ॥ १७ ॥

वाजीकरण औषधियाँ अपने बल (प्रभाव) की उत्कर्षता से (संकल्प, पादलेप, कान्तास्पर्श आदि) अपने गुण की उत्कर्षता से (दूध घी आदि) कुछ अपने बल एवं गुण दोनों की उत्कर्षता से (माष आदि) सेवन करने पर विरेचन की भाँति शुक्र का विरेचन करती हैं ॥ १७ ॥

यथाहि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीतिवक्तुं, नैव नास्तीति, अथ चास्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति ज्ञात्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते, स एव विवृतपत्रकेशरे पुष्पे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति, एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति, रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम् । रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति ॥ १८ ॥

प्रसादजन्य धातुओं को कहकर प्रसङ्ग से उपधातुओं को भी कहते हैं। यथा—

"रसात् स्तन्यं तथा रक्तमसृजः कण्डरा शिराः ।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः" ॥

रस से स्तन्य एवं रक्त (आर्त्तव) दोनों उत्पन्न होते हैं। क्योंकि गर्भाधान के पश्चात् ऋतु बन्द हो जाती है—और स्तनों में वृद्धि होने लगती है। दूध आने लगता है। जब तक माता के स्तनों में दूध का जोर रहता है ऋतु भी ठीक नहीं आती।

यह ऋतु भी शुक्र के समान एक मास में रक्त से ही बनता है। इसलिये कोई २ आचार्य आर्त्तव को भी शुक्र कहते हैं। यथा-

"घृतकुम्भो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते ।
विसर्पत्यार्त्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे ॥
सूक्ष्माः केशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः शिराः ।
गर्भाशयं पूरयन्ति मांसाद् बीजाय कल्पते ॥"

इन उपधातुओं में गति—नहीं—अर्थात् अन्य धातु का पोषण नहीं होता—इसलिये इनको उपधातु कहते हैं।

१ जैसा कि चरक में कहा है—पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवं ओज इत्यादि।

---

१ तन्त्रान्तर में कहा है कि—

आहारोऽग्नितनो यः स स्वो रसत्वं नियच्छति ।
शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि, चतुर्थे मांसतामपि ॥
मेदस्त्वं पंचमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे त्वियात् ।
मज्जत्वं शुक्रतां यायान्नियमात्त्वष्टमे, नृणाम् ॥
षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च ।
इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्त्तनम् ॥चरक०॥

जिस प्रकार कि फूल की कली के मध्य में रहनेवाली गन्ध यहाँ पर इस स्थान पर है, अथवा नहीं है, ऐसा निर्णय नहीं होता, 'गन्ध है ऐसा कहना ही ठीक है' उपस्थित पदार्थों का स्पष्टीकरण केवल सूक्ष्मता के कारण नहीं होता। यही गन्ध फूल में—पंखुड़ी-पराग के खिलने पर समयान्तर में स्पष्ट होती है। इसी प्रकार बच्चों में भी आयु के परिणाम (यौवनावस्था) से शुक्रोत्पत्ति होती है (शुक्रवह स्रोतस् कार्य करने लगते हैं)। एवं रोमराजी (दाढ़ी-मूछ गुह्य प्रदेशों में बाल) उत्पन्न होती है। स्त्रियों में रोमराजी उत्पन्न होने के साथ २ रज के धीरे २ एकत्रित होने से स्तन, गर्भाशय, योनि में वृद्धि होती है।

वि० मन्तव्य—बालकों में भी शुक्रधातु होता है केवल व्यक्त नहीं होता। इसी प्रकार बालिकाओं में रजस् रहता है केवल व्यक्त नहीं होता। विद्यमान पदार्थ समय आने पर—अभिव्यक्त हो जाते हैं। वृद्धों में भी रहते हैं परन्तु व्यक्त नहीं रहते ॥ १८ ॥

स एवान्नरसो वृद्धानां (जरा) परिपक्वशरीरत्वाद-प्रीणनो भवति ॥ १९ ॥

यही आहार-रस वृद्ध पुरुषों में बुढ़ापे के कारण शरीर के परिपक्व होने से शरीर का थोड़ा तर्पण करता है। (वृद्धावस्था में—केशिकाओं में कठोरता आती है। धमनीदार्ढ्य होना परिपक्व शरीर का लक्षण है) ॥ १९ ॥

त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते ॥ २०॥

ये रस रक्त आदि शरीर का धारण करने से धातु कहे जाते हैं।

वि० मन्तव्य—डुधाञ् धारणपोषणयोः—धातु से "धातु" शब्द की निष्पत्ति होती है—शरीर का धारण और पोषण करने के कारण रस एवं रक्त आदि द्रव्य—"धातु" कहे जाते हैं ॥

तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते, तस्मात्तदधिकृत्य वक्ष्यामः। तत्र, फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगम-स्कन्दि च वातेन दुष्टं, नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रम-निष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं, गैरि-कोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं, सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम्, जीवरक्तमन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

इन धातुओं की क्षीणता अथवा वृद्धि में मूल कारण रक्त ही है। इसलिये रक्त के ही विषय में कहते हैं। इनमें-फेनिल झागदार, अरुण (लाल), कृष्ण (काला), परुष (अपिच्छिल रूक्ष), तनु (पतला), शीघ्रगामि (जल्दी बहनेवाला), और अस्कन्दि (न जमनेवाला), रक्त वायु से दूषित होता है। नील (नीला), पीत (पीला), हरित (हरा), श्याव (काला), विस्र (आमगन्धि), चिउँटी एवं मक्खियों के लिये अनिष्ट-कारक (पसन्द नहीं करती) और न जानेवाला रक्त, पित्त से दूषित समझना चाहिये। गेरू के पानी के समान (पाण्डुलोहित) स्निग्ध, शीतल, बहल (घन), पिच्छिल, चिरस्रावि (देर में बहनेवाला), मांसपेशी के समान रक्त कफ से दूषित होता है। तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त, काञ्जि के समान, खासकर दुर्गन्धयुक्त रक्त सन्निपात से दूषित होता है। (दो दोषों से दूषित रक्त में दोनों दोषों के लक्षण होते हैं)। जीवरक्त (शुद्ध-शरीरपोषक रक्त) की व्याख्या दूसरी जगह से करेंगे। (रक्त से दूषित, रक्तपित्त से दूषित रक्त के समान परन्तु अधिक काला होता है।

वि० मन्तव्य—रक्त के क्षय—न्यूनता से धातुओं का क्षय और उसकी वृद्धि से उनकी वृद्धि होती है। अरुण—कालिमा लिये लाल ॥ २१ ॥

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ॥ २२ ॥

जो रक्त इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के समान रङ्गवाला, असं-हत (न तो बहुत स्वच्छ और न बहुत घना) और अविवर्ण (तपनीय स्वर्ण वर्ण[1] पद्मालक्तक, गुञ्जाफल वर्णवाला, अथवा वस्त्र आदि पर लगने पर धोने से भी जब विकृत न हो), उस रक्त को स्वाभाविक शुद्ध समझना चाहिये ॥ २२ ॥

विस्राव्याण्यन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २३ ॥

विस्राव्य रक्तों की—किनका रक्त विस्रवण करने योग्य है—व्याख्या अष्टविधकर्माध्याय सू० २५ में करेंगे ॥२३॥

अथाविस्राव्या —सर्वाङ्गशोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजन निमित्तः, पाण्डुरोग्यर्शसोदरिशोषिगर्भिणीनां च श्वयथवः॥

निम्न रोगी विस्रावण के अयोग्य हैं—सर्वाङ्गशोफी, क्षीण पुरुष के, या अम्ल भोजन के कारण उत्पन्न शोथ, पाण्डुरोगी अर्श उदररोगी, शोषि—गर्भिणी, इनके शोथ में (एक अङ्ग में उत्पन्न व्रण-शोथ में भी) रक्तका मोक्षण नहीं करना चाहिये ॥

शस्त्रविस्रावणं द्विविधं प्रच्छानं शिराव्यधनं च ॥२५॥

शस्त्र द्वारा रक्तमोक्षण दो प्रकार का है, यथा—प्रच्छान और सिराव्यधन ॥ २५ ॥

---

१ तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥चरक०॥

'असंहतम्' का अर्थ न बहुत पतला और न बहुत घना भी है। अविवर्ण-विविधवर्ण का—(घाणेकर जी)।

तत्र, ऋज्वसंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्मसिरास्नायुसन्धीनां चानुपघाति ॥२६॥

प्रच्छनविधि–ऋजु (सीधा)—असंकीर्ण (परस्पर एक दूसरे से न मिला–जैसे चेचक के टीके में करते हैं), सूक्ष्म (बहुत बड़ा नहीं), सम (समान रेखावाला), अनवगाढ (बहुत गहरा न जाये), अनुत्तान (बहुत गहरा न हो–केवल मांस को छुए ही), आशु (बिना देर किये) शस्त्र चलाना चाहिये। शस्त्र चलाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मर्म सिरा, स्नायु और सन्धि पर आघात न पहुँचे[1] ॥२६॥

तत्र दुर्दिने दुर्विद्धे शीतवातयोरस्विन्ने भुक्तमात्रे स्कन्दत्वाच्छोणितं न स्रवत्यल्पं वा स्रवति ॥२७॥

मदमूर्च्छाश्रमार्तानां वातविण्मूत्रसंगिनाम्।
निद्राभिभूतभीतानां नृणां नासृक् प्रवर्तते ॥२८॥

बुरे दिन में (बादलों से घिरे आकाश में), सिरा आदि के या वैद्य की क्रिया के दोष से अशुद्ध बिंधने पर, शीत तथा वायु के कारण स्वेद बिना लिये, भोजन न करने पर, रक्त के जमा होने से रक्त नहीं बहता अथवा थोड़ा बहता है। कहा भी है—

विष या मद्यजन्य विकार के कारण उत्पन्न मद से, मूर्छा, श्रम से पीड़ित, अधोवात–मल मूत्र के प्रवृत्त न होने से, निद्रा से युक्त, डरे हुए पुरुषों में रक्त नहीं बहता ॥२७,२८॥

तद् दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं
शोफदाहरागपाकवेदना जनयेत् ॥२९॥

दूषित रक्त के बाहर न निकलने से—कण्डू, शोफ, लालिमा, जलन, पाक, वेदना आदि उपद्रव होते हैं ॥२९॥

अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिविद्धेऽज्ञैर्विस्रावितमतिप्रवर्तते, तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं दाहं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं हिक्कां श्वासकासौ पाण्डुरोगं मरणं चापादयति ॥३०॥

अतियोग—अति उष्ण काल में, अतिस्वेद देने के कारण पसीना अधिक निकलने से, अज्ञ पुरुषों द्वारा विस्रावण करने पर अथवा अतिविद्ध होने से रक्त बहुत अधिक बहता है। रक्तस्राव का अतियोग–शिरोरोग (शिरःशूल), अन्धापन, अधिमन्थ (आँख का रोग), तिमिर (लिंगनाश), धातुक्षय, आक्षेप, पक्षाघात, एक अङ्ग में विकार, तृष्णा, दाह, हिचकी, कास, श्वास, पाण्डुरोग और मरण उत्पन्न करता है ॥३०॥

तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥३१॥
सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत् ॥३२॥

न तो बहुत शीतकाल में, न बहुत उष्णकाल में (साधारण समय में), अतिस्वेद न देकर, सूर्य-धूप आदि से गरम न होने पर, तिलजन्य यवागू को दूसरी या तीसरी बार पीने पर (सद्यः स्नेह करने के कारण अथवा रक्त को कुपित करने से) वैद्य को रक्तमोक्षण करना चाहिये। जिस समय रक्त उचित परिमाण में निकलकर स्वयं रुक जाता है, तब रक्त को भली प्रकार विस्रावित हुआ समझना चाहिये ॥३१,३२॥

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।
सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥३३॥
त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥३४॥

रक्त शुद्धि के लक्षण—शरीर में लघुता, वेदना (रोग)—शान्ति, रोग के वेग का घट जाना, और मन की प्रसन्नता–ये भली प्रकार से रक्तविस्रावण होने के लक्षण हैं। त्वचा के दोष (अष्टादश कुष्ठ), ग्रन्थियाँ (शिराग्रन्थियाँ वातजन्य), शोफ एवं रक्तजन्य रोग–रक्त का मोक्षण करनेवाले पुरुषों में कभी भी नहीं होते। (रक्तजन्य रोग–चरक–सूत्र० अ० २४ में–मुखपाकोऽक्षिरोगश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता, आदि दिये हैं)।

वि० मन्तव्य—प्रसादो मनसस्तथा—मन का प्रसाद (प्रसन्नता) होता है अर्थात् विषाद मिट जाता है, फलतः उन्माद आदि मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं ॥३३,३४॥

अथ खल्वप्रवर्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेत्, एवं सम्यक् प्रवर्तते ॥३५॥

यदि रक्त बाहर न आये (स्रवित न हो) तो इलायची, शीतशिव (कर्पूर), कूठ, तगर, पाठा, देवदार, वायविडंग, चीता, त्रिकटु, (सौंठ, मरीच, पिप्पली), आगारधूम (गृहधूम), हल्दी, आक के अंकुर, नक्तमाल (बड़ा करञ्ज)–इनमें से जो मिले, उनमें से तीन या चार अथवा सब को चूर्ण करके—सैन्धव तिलतैल में अच्छी प्रकार मिलाकर व्रण के मुख पर भली प्रकार रगड़ना चाहिये। इस प्रकार से रक्त भली प्रकार बहता है। (शीतशिव का अर्थ सैन्धव हाराणचन्द्र जी ने किया है) ॥३५॥

अथातिप्रवृत्तं रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत्, सालसर्जार्जुना-

---

१ गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम्।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥
अधोदेशप्रविष्टैस्तैः पदैरुपरिगामिभिः।
न गाढघनतिर्यग्भिः न पदे पदमाचरेत् ॥ वाग्भट्ट०

रिमेदमेषशृङ्गधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन, समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा, यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्, शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः प्रदेहपरिषेकैश्चोपचरेत्, क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तं, व्यधादनन्तरं तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत्, काकोल्यादिक्वाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत्, एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं क्षीरपयूषरसैः सुस्निग्धैश्चाशनीयात्, उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत् ॥३६॥

रक्त के बहुत अधिक बहाव पर—पठानीलोध, मधुक (मुलहठी), प्रियंगु (फूलप्रियंगु), पत्तंग (लाल चन्दन), गैरिक (गेरू), सर्जरस (राल), रसांजन (रसौंत), शाल्मली—पुष्प (सिम्बल का फूल), शंख, शुक्ति (सीप), माष (उड़द), जौ एवं गेहूँ—इनके चूर्ण को व्रण के मुख में धीरे धीरे प्रक्षेप करके—अंगुली के अग्रभाग से दवा देना चाहिये। साल, सर्ज, अर्जुन, अरिमेद, मेढ़ाशृङ्गी, धव, धामन, इनकी छाल के चूर्णों को शहद में मिलाकर या भस्म किये समुद्रफेन, लाक्षाचूर्ण को शहद में मिलाकर-क्षौम, वस्त्र आदि व्रणबन्धन द्रव्यों से कसकर बाँध देना चाहिये। शीतल-भोजन, शीतल-आच्छादन, शीतल घर, शीतल परिषेचन, एवं शीतल प्रदेह वरतने चाहिये। क्षार अथवा अग्नि से जलाना चाहिये, या सिराव्यधन के अनन्तर जिससे रक्त अधिक बह रहा हो, उसी सिरा को फिर बींधना चाहिये[१]। काल्कोल्यादि (गण) (क्वाथ) शर्करा एवं मधु से मीठा करके पिलाना चाहिये। एण (काला हरिण), हरिण, उरभ्र, शश, महिष अथवा वराह का रक्त पिलाना चाहिये। दूध, मूङ्ग का यूष, मांसरस—इनको घी से भली प्रकार स्निग्धशोभन रूप में खिलाना चाहिये। शिरोरोग आदि उपद्रवों की चिकित्सा करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—क्षौमेण वा ध्मापितेन—अर्थात् रेशमी कपड़ा को जलाकर उसकी राख को बुरकना चाहिये। व्यधादनन्तरं·······विध्येत्—अर्थात्—जहाँ व्यध या वेध करने से रक्त की अति प्रवृत्ति हो रही है वहाँ से कुछ ऊपर उसी सिरा का वेध करे। फलतः रक्त का वेग दो भागों में बँट जाता है और रोकने में सरलता होती है। काकोल्यादि·······श्नीयात्—अर्थात् काकोल्यादि जीवनीय द्रव्यों का क्वाथ पीने से—जीवन रक्षा होती है और—एण आदि प्राणियों का रक्त पीने से रक्त की क्षति पूर्ति हो जाती है और क्षीर आदि सेवन से बल लाभ होता है। उक्त सब उपचार चोट आदि से होनेवाले रक्तस्राव में भी किये जायँ ॥३६॥

कहा भी है—

भवन्ति चात्र—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३७॥
तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥३८॥

रक्त के अधिक निकलने पर-धातु के क्षय होने पर अग्नि मन्द हो जाती है। वायु बहुत अधिक कुपित होती है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक न बहुत शीतल, लघु, स्निग्ध, रक्तवर्धक, थोड़े खट्टे (अनार या आँवला), या बिल्कुल खट्टांश रहित (मधुर) भोजनों को खिलाना चाहिये[१] ॥३७,३८॥

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥३९॥
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् सिराः ॥४०॥

रक्त को रोकने के चार उपाय हैं। यथा—सन्धान, स्कन्दन, पाचन और दहन। इनमें कषाय रस—व्रण को जोड़ देता है—मिलता है। शीत क्रिया रक्त को जमाती—घट करती है। रेशम आदि की भस्म पाचन करती है, और दाह-क्रिया सिरा को संकुचित कर देती है ॥३९,४०॥

अस्कन्दमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत्।
संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥४१॥
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते ॥४२॥
शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्तते।
सावशेषे ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥४३॥

रक्त के निकलने पर प्रथम शीतोपचारादि करना चाहिये। यदि इससे भी रक्त न रुके तो हरीतकी या पञ्चवल्कल प्रयोग करना चाहिये। सन्धानक्रिया से भी यदि रक्त न रुके तो पाचन भस्म वरतनी चाहिये। जहाँ तक बने वैद्य को इन्हीं तीनों विधियों से कार्य करना चाहिये। इन सब के असफल होने पर दाहक्रिया करनी चाहिये। दाहक्रिया रक्त को बन्द करने के लिये अचूक उपाय है ॥४१,४२॥

---

१ आजकल टांका लगाना, पीडन, धमनीसंदंश या अङ्ग को ऊँचा करके भी रक्त को बन्द करते हैं। शल्यकर्म में प्रायः धमनी संदंश और टांका लगाना या बाँध देना प्रायः बरता जाता है।

१ चरक में कहा है—
नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग् अग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः ॥
(२) बलदोषप्रमाणाद् वा विशुद्धया रुधिरस्य च।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥
च० सू० अ० २४

क्योंकि रक्त में दोष के शेष रहने पर रोग वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। (अतः रक्त के अन्दर थोड़ा सा दोष रहने पर संशमनादिकार्य द्वारा रोग शान्ति करनी चाहिये)। इसलिये कुछ दूषित रक्त छोड़कर ही रोक देना चाहिये, परन्तु रक्तस्राव का अतियोग नहीं करना चाहिये[1] ॥४३॥

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४४॥

शरीर का मूल—(उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण) रक्त ही है, रक्त से ही शरीर का धारण होता है। इसलिये यत्नपूर्वक रक्त की रक्षा करनी चाहिये–रक्त ही जीव है–यह स्थिति है ॥४४॥

स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत् ॥४५॥

रक्तावशेष में पश्चात्कर्म—रक्तस्राव होने पर शीत परिषेक आदि से वायु का यदि कोप हो जाये एवं सूजन तथा पीड़ा हो तो कवोष्ण घी का उस स्थान पर सेचन करना चाहिये ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शोणितवर्णनीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१,२॥

इसके आगे दोष (वातादि), धातु (रसादि और उपधातु), मल (पुरीषादि), इनके क्षय एवं वृद्धि को बताने के लिये इस अध्याय का अवतरण करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

दोषधातुमलमूलं हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥३॥

हे सुश्रुत ! जिस प्रकार वृक्षों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में मूल ही प्रधान हैं, उसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में दोष धातु एवं मल कारणभूत हैं ! इसलिये इनके वर्णित लक्षणों को सुनो ॥३॥

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति, रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृत् श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥४॥

इनमें—प्रस्पन्दन (शरीर का चालन-व्यान वायु का कार्य), उद्वहन (इन्द्रिय विषयों का धारण करना-उदान कर्म), पूरण (आहार द्वारा भरना-प्राणकर्म), विवेक (रस, मूत्र और पुरीष का पृथक् करना समान वायु का कर्म), धारण (शुक्र-मूत्रादि का वेगोपस्थिति में कर्म करना और आवेगकाल में धारण करना अपान वायु का कर्म), इस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप में विभक्त होकर वायु शरीर को धारण करती है।

प्रकृतिस्थ पित्त—रागकृत् (रस को रंगना-रंजकाग्निपित्त), पक्तिकृत् (आहार का पकाना—पाचकाग्निपित्त), ओजकृत् (हृदय में स्थिति–सोमरूप–साधक), तेजकृत् (दृष्टिकारक आलोचक), मेधाकृत् (बुद्धि को करनेवाला–साधक), ऊष्मकृत् (शरीर की गरमी को करनेवाला–त्वचा में स्थित, भ्राजक), इस प्रकार—पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक, भ्राजक भेद से पाँच भागों में विभक्त हुआ पित्त अग्निकर्म से शरीर का उपकार करता है[1] ॥

प्रकृतिस्थ कफ—सन्धिकृत् (सन्धिबन्धन करता है—श्लेष्मक), स्नेहनकृत् (शरीर को स्निग्ध करता है—क्लेदक), रोपणकृत् (व्रण का भरनेवाला—सौम्य होने से—बोधक), पूरणकृत् (बहुतमूर्त होने से शरीर को भरनेवाला), बल एवं स्थिरता करनेवाला (अवलम्बक), इस प्रकार श्लेष्मक, क्लेदक, बोधक, तर्पक, अवलम्बक भेद से पाँच प्रकार का कफ उदककर्म द्वारा शरीर का उपकार करता है।

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च, अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च, मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति, शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं च ॥५॥

रस—सन्तोष, शरीर का प्रीणन और रक्त का पोषण करता है। रक्त—वर्ण की निर्मलता, मांस का पोषण और जीवन देता है। मांस—शरीर एवं मेद का पोषण करता है। मेद—स्नेह-स्वेद उत्पन्न करता है, शरीर में दृढ़ता और अस्थियों का पोषण करता है। अस्थि-शरीर को धारण करती है और मज्जा-प्रीति, स्नेह, बल, शुक्र का पोषण और अस्थियों

---

१ शरीर से अधिक से अधिक रक्त साढ़े तेरह पल निकलना चाहिये—

परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थशोणितमोक्षणे।
वमने च विरेके च तथा—शोणितमोचणे।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।

१ मेधा एवं ओज का साधक होने से पित्त को साधक कहते हैं। योगी लोग हृदय और मूर्धा का एक करके ही भगवान् को पाते हैं। (यथा—मूर्धानमस्य संसीव्य अथवा हृदयं च यत्। अथर्ववेद)।

का पोषण करती है। शुक्र—शौर्य, जल्दी क्षरण (वीर्य का), प्रीति-स्नेह (स्त्रियों में), देह बल (उत्साह उपचय रूपी), हर्षबीज (स्त्रियों में) और (गर्भ) के लाभ के लिये है (॥१॥)

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च, बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रं, स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत (॥२॥)

पुरीष—शरीर का धारण, वायु, अग्नि का अवष्टम्भ करता है। मूत्र—मूत्राशय का भरना, एवं आर्द्रता उत्पन्न करता है। स्वेद—क्लिन्नता एवं त्वचा में कोमलता उत्पन्न करता है। (मल के लिये कहा है—सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् (॥२॥)

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणं स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति ॥५॥

आर्त्तव—सम्पूर्ण रक्त के लक्षणों से युक्त एवं गर्भ का करनेवाला है। गर्भ—गर्भ के लक्षण (चूचुकों में कृष्णता आदि) उत्पन्न करता है। स्तन्य—दूध स्तनों में भारीपन वृद्धि और बालकों में जीवन देता है ।।५।।

तत्र विधिवत् परिरक्षणं कुर्वीत ॥६॥

इन प्रकृतिस्थ दोष, धातु, मलों की रक्षा भली प्रकार से करनी चाहिये ।।६।।

अत ऊर्ध्वमेषां क्षीणलक्षणं वक्ष्यामः। तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च, श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च ॥७॥

इसके आगे इनके क्षीण होने के लक्षणों को कहते हैं। (इनका क्षय—अतिसंशोधन से, अतिसंशमन से, उपस्थित वेगों के रोकने से, असात्म्य अन्न से, मन के संताप से अतिव्यायाम से, अनशन से, अतिमैथुन से होता है)। इनमें—वायु के क्षय होने पर—शरीर में चेष्टाओं का मन्द होना, अल्पवाक्त्व (थोड़ा बोलना), अप्रहर्ष (अतुष्टि) और मूढ संज्ञता (सम्यक् ज्ञान का नष्ट होना) होती है। पित्त के क्षय होने पर—उष्णिमा एवं अग्नि का मन्द होना तथा निष्प्रभता (चेहरे पर से तेज में कमी) आ जाती है। श्लेष्मा के क्षय होने पर—रूक्षता, शरीर के अन्दर जलन, आमाशय एवं उर, कण्ठ, शिर, सन्धियों में शून्यता (सुप्तता), सन्धियों में शिथिलता—प्यास का लगना और नींद का न आना होता है। (क्षीणा जहाति स्वं लिंगं, कर्मणः प्राकृताद् हानिः वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्—चरक) ।।७।।

तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥८॥

दोषों के क्षय की चिकित्सा—दोषों के क्षय में अपनी योनि (अपने कारण) को बढ़ानेवाले द्रव्यों का (कर्मों का भी) उपयोग करना चाहिये। यही इनकी चिकित्सा है वायु के क्षय में वातवर्धक, पित्त के क्षय में अग्निवर्धक, कफ के क्षय में कफवर्धक उपाय करने चाहिये। कफ की योनि रस, पित्त की योनि रक्त। इसलिये रस—रक्तवर्धक, उपाय करने चाहिये। [1]वायु की योनि वायु है। (धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैः वा वाप्याहारविहारैः अभ्यस्यमानैः वृद्धिं प्राप्नुवन्ति)। कर्मापि यद्यस्य धातोः वृद्धिकरं तत्तदा सेव्यम्—चरक०।

वि० मन्तव्य—स्व-अपने तथा योनि—कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों का उपयोग—सेवन ही प्रतिकार—चिकित्सा है अर्थात् जैसे मांस में—सीधे मांस को बढ़ानेवाले तथा उसके कारण—उत्पादक रक्त को बढ़ानेवाले द्रव्यों का सेवन करना चाहिये ।।८।।

रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च, शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च; मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कतर रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च, मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च, अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गौ रौक्ष्यं च, मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च, शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् ॥९॥

रस के क्षय होने पर—हृदय प्रदेश पर पीड़ा, कम्पन, शोष (मुख का सूखना), शून्यता और तृष्णा होती है। रक्त का क्षय होने पर—त्वचा में कठोरता, वातवृद्धि के कारण अम्लरसेच्छा, उष्णवृद्धि के कारण शीतेच्छा, और सिराओं में शिथिलता होती है। मांस के क्षय होने पर—नितम्ब, गण्डस्थल, ओष्ठ, मेहन, जंघा, वक्षस्थल, कक्षा, पिण्डलियाँ, उदर, ग्रीवा, में शुष्कता, रूक्षता, पीड़ा, अङ्गों का साद और धमनियों में शिथिलता होती है। मेद का क्षय होने पर—प्लीहा का बढ़ना, सन्धियों में शून्यता (सुप्ति), रूक्षता एवं अतिस्निग्ध मांस की इच्छा होती है। अस्थि का क्षय होने पर—अस्थियों में वेदना, दांत, नखों का टूटना और रूक्षता होती है। मज्जा का क्षय होने पर—शुक्र की शून्यता, पर्वों (ग्रन्थियों) में दर्द, अस्थियों में पीड़ा तथा अस्थियों में रिक्तता अनुभव होती है। शुक्र का क्षय होने पर—शिश्न एवं अण्डकोषों में दर्द, मैथुनकार्य में

[1] तेज ही शुक्र है। तेज का स्थान दृष्टि है। कहा भी है—"तेजो दृष्टिरिति ख्यातं-तेजः शुक्रं प्रकीर्त्तितम्" "वातक्षये शीतरूक्षैर्नरवन्यैः कटुकादिभिः। पित्तक्षयेऽपि कटुकैः न तु लवणादिभिः क्षीरादिभिः स्निग्धशीतैः प्रतिकुर्यात् कफक्षये" ॥

असमर्थता, अथवा किसी प्रकार प्रवृत्ति होने पर भी देर में शुक्र का क्षरण, क्षरण होने पर थोड़ा शुक्र आता है या धातुक्षय के कारण कुपित वायु रक्तमिश्रित शुक्र का क्षरण करती है ॥ ९ ॥

तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥ १० ॥

धातुओं का क्षय होने पर भी अपने कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों का (तथा कर्मों का) उपयोग करना चाहिये। यथा—रक्त से मांस बढ़ता है, मांस से मेद, मेद से अस्थि, तरुण अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र बढ़ता है। समान गुणवाले द्रव्यों का उपयोग—रक्त के क्षय होने पर—तैजस पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। द्रव्यों की भाँति कर्मों का भी उपयोग करना चाहिये[1] ॥ १० ॥

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीड़ा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पमूत्रता च, अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः। स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च, तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥ ११ ॥

मल के क्षय होने पर—हृदय प्रदेश एवं पार्श्वों में पीड़ा शब्द के साथ वायु का ऊपर की ओर गमन करना तथा उदर में गति करना होता है। मूत्र के क्षय होने पर—मूत्राशय में पीड़ा और मूत्र का थोड़ा आना होता है। इन अवस्थाओं में भी अपनी योनि को बढ़ानेवाले—समानगुणी द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। स्वेद के क्षय होने पर रोमकूपों में जड़ता, त्वचा में शुष्कता, स्पर्शज्ञान में विकार और पसीना नहीं आता। इस अवस्था में—तैल की मालिश तथा पसीना देना चाहिये ।११।

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च, तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। स्तनक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा, तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः। गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च तत्र प्राप्तवस्तिकालायाः क्षीरवस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोगश्चेति ॥ १२ ॥

आर्त्तव के क्षय होने पर--ठीक समय पर आर्त्तव का न आना अथवा थोड़ा आना, योनि में वेदना होती है। इसके लिये संशोधन (वामक) द्रव्यों का एवं आग्नेय द्रव्यों (तिल, माष, सुरा आदि) का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। दूध का क्षय होने पर-स्तनों में म्लानता, दूध का अभाव अथवा थोड़ा दूध आता है। इस अवस्था में कफवर्धक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। गर्भ के क्षय होने पर- गर्भ में स्पन्दनों का रुक जाना और उदर में वृद्धि का न होना (गर्भाशय का उदर में ऊपर न आना) होता है। इस अवस्था में आठवाँ मास लग जाने पर दूध की व्याधियाँ एवं दूध घी (बकरे का मांस या बस्ताण्ड) आदि मेध्यान्न का उपयाग करना चाहिये। चरक में--गर्भस्त्वामगर्भेन। तत्र पयसां रसानामामगर्भाणां च गर्भवृद्धिकरः ॥ १२ ॥

तत्र ऊर्ध्वमतिवृद्धानां दोषधातुमलानां लक्षणं वक्ष्यामः। वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्यपसेवनाद्भवति। तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामि·(म)··ता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वं च, पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च, श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्धिविश्लेषश्च ॥ १३ ॥

इसके आगे मात्रा से अधिक बढ़े दोष-धातु-मलों के लक्षणों की व्याख्या करते हैं। इन सबकी वृद्धि अपने कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों के अति सेवन से होती है। वात के बढ़ने पर—वचन में कर्कशता, शरीर में मांस का क्षय (कृशता), शरीर में कालिमा, शरीर का फूटना, उष्णता की चाह, नींद का न आना, उत्साहहानि और मल का शुष्क होना होता है। पित्त के बढ़ने पर—पीला दिखाई देना, त्वचा पर पीलापन, संताप (मन की ग्लानि), शीत वस्तुओं की इच्छा, नीद का कम आना, मूर्छा, शक्तिह्रास (ओज का नाश), इन्द्रियों में निर्बलता, मल-मूत्र और आँख में पीलापन हो जाना है। कफ के बढ़ने पर—शरीर में, आँखों में श्वेतिमा, शीतलता, अङ्गों में जड़ता, भारीपन, मन-शरीर में ग्लानि, तन्द्रा, निद्रा, सन्धि टूटना होता है ॥ १३ ॥

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति, रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च, मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च, मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च, अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्तांश्च, मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च, शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च ॥ १४ ॥

रस के अति बढ़ने पर—हृल्लास (मिचली) प्रसेक (लालास्राव) होता है। रक्त के अधिक बढ़ने पर अङ्गों में तथा आंखों में लालिमा, एवं सिरायें (veins) रक्त से भरपूर होती हैं। मांस के बढ़ने पर—नितम्ब, गण्डस्थल, ओष्ठ, जङ्घा, योनि, बाहु, एवं ऊरु में वृद्धि तथा शरीर में भारीपन आ

---

१ कहा भी है—
"यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः।
तथाप्यपां प्रधानत्वाद् रसः सौम्योऽभिधीयते ॥
अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः।
मेदस्यम्बुभुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥
मज्जि शुक्रे वा सौम्यस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनो गुणाः।
भुवो विश्यार्त्तवे त्याग्नेय-प्रस्वेदस्तनयोरपाम् ॥
इति धातुमलेषूक्ता गुणाः प्राधान्यतः स्थिताः।
प्रायेण भगुणा गर्भे स्तोकाद्यनुग्रहा इति ॥"

जाता है। मेद के बढ़ने पर–अङ्गों में चिकनापन, उदर एवं पार्श्वों में वृद्धि, कास, श्वास, हिक्का आदि रोग, और शरीर से दुर्गन्ध आती है। अस्थियों के बढ़ने पर–अधिक अस्थियां (चणकास्थियाँ), एवं दाँतों में अधिकता उत्पन्न होती हैं। मज्जा के बढ़ने पर–सम्पूर्ण अंगों में खासकर आँखों में भारीपन आ जाता है। शुक्र के बढ़ने पर—शुक्राश्मरी एवं शुक्र की अतिप्रवृत्ति होती है ॥ १४ ॥

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च, मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं वस्तितोदमाध्मानं च, स्वेदस्त्वचा दौर्गन्ध्यं कण्डूं च ॥ १५ ॥

मल के बढ़ने पर—आध्मान, एवं कुक्षि (उदर) में वेदना उत्पन्न होती है। मूत्र के बढ़ने पर मूत्र में वृद्धि (या वृद्धि रोग), बार-बार मूत्रत्याग की प्रवृत्ति; मूत्राशय में पीड़ा एवं अफरा होता है। स्वेद के बढ़ने पर—त्वचा में दुर्गन्धता और खाज होती है ॥ १५ ॥

आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च, स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च, गर्भो जठराभिवृद्धिं स्वेदं च ॥ १६ ॥

आर्त्तव के बढ़ने पर—अङ्गों का टूटना, रक्त का अधिक आना और उसमें दुर्गन्धि आती है। दूध के अधिक बढ़ने पर—स्तनों में मोटापा, दूध का बार-बार आना और पीड़ा होती है। गर्भ के बढ़ने पर उदर में वृद्धि और पसीना आता है। ('दौर्गन्ध्यं च' के स्थान पर 'दौर्बल्यं च' भी पाठ है) ।१६।

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥ १७ ॥

इन बढ़े हुए दोष, धातु एवं मलों का अपना २ संशोधन (निकालना-निर्हरण), शमन (शान्त करना-घटाना) तथा क्षय से अविरुद्ध-अनुकूल (क्षयकारक-घटानेवाले) क्रिया विशेष—चिकित्सा विधानों का प्रयोग करना चाहिये ॥१७॥

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥ १८ ॥

ये अपने आप बढ़े हुए भी अनर्थकारक हैं, और दूसरे धातु के कारण बढ़े हुये महान् अनर्थ करनेवाले हैं (रक्त स्वयं बढ़ने पर भी अनर्थकारक है, मांस के कारण रक्त बढ़कर महान् अनर्थ को करता है)। क्योंकि पूर्व (प्रथम) धातु बढ़कर पर (अगले-दूसरे) धातु को बढ़ाता है (रस बढ़कर रक्त को भी बढ़ाता है)। इसी प्रकार पर (दूसरा) धातु बढ़कर पूर्व (प्रथम) धातु को बढ़ाता है (रक्त बढ़कर रस को भी बढ़ाता है)। पर (दूसरा) धातु क्षीण होने पर दूसरे धातु का भी क्षय करता है। इसलिये अति बढ़े हुए धातुओं का ह्रास करना हितकारी है ॥ १८ ॥

बललक्षणं बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदेक्ष्यामः। तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ॥ १९ ॥

इसके आगे बल लक्षणों को तथा बलक्षय के लक्षणों को कहते हैं। रस से लेकर शुक्र तक समस्त धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है, उसी को बल कहते हैं, उसी को ओज कहते हैं—अपने शास्त्र की परिभाषा से यह संज्ञा है।

वि० मन्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि हे सुश्रुत! हम अपने विचार के अनुसार ओजस् को "बल" कहते हैं। वैसे तो ओजस् द्रव्य है जैसा श्लो० २१-२२ में कहा है। और ओजस् बल (शक्ति) का कारण है और बल ओजस् का कार्य है, परन्तु कभी २ कारण एवं कार्य में अभेद (समानता) मान लिया जाता है और फिर ओजस् तथा बल को बढ़ाने की विधि भी एक ही है, जो २ आहार-बिहार ओजस् बढ़ाते हैं वे ही बल को भी ॥ १९ ॥

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥ २० ॥

सब धातुओं के सारभूत बल के कारण शरीर में स्थिरता मांसवृद्धि, शारीरिक मानसिक सब कार्यों में अप्रतिहत गति, स्वर एवं वर्ण की निर्मलता, श्रोत्र, नासिका आदि दशों इन्द्रियों में तथा मन एवं बुद्धि आदि अन्तःज्ञान इन्द्रियों में अपने कार्य का ज्ञान भली प्रकार होता है।

वि० मन्तव्य - बाह्यकरण (बाहरी करण) हस्त पाद आदि कर्मेन्द्रिय और आभ्यन्तर करण (भीतरी करण) श्रोत्र चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय का नाम है, करण अर्थात् इन्द्रिय। करण का अर्थ है 'क्रियते अनेन इति करणम्' किया जाता है जिसके द्वारा वह है "करण"। जिनके द्वारा कर्म किये जाते हैं वे कर्मकरण या कर्मेन्द्रिय तथा जिनके द्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान किया जाता है वे ज्ञानकरण या ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं। और मनस् के द्वारा सुख दुःख आदि का मनन (मानना) किया जाता है और बुद्धि द्वारा बोध (समझना) किया जाता है, अतः वे भी करण-अन्तःकरण माने जाते हैं ॥ २० ॥

भवन्ति चात्र—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥२१॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनः।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥२२॥

कहा भी है—

ओज–सौम्य, स्नेहगुण युक्त, शुक्ल (श्वेत) शीतवीर्य, शरीरावयवों को स्थिर करनेवाला, प्रसरणशील,

विविक्त (श्रेष्ठ गुणों से युक्त), मृदु (कोमल) मृत्स्न (पिच्छिल) एवं अग्नीषोमीय आदि का श्रेष्ठ स्थान है। प्राणियों के सम्पूर्ण शरीरावयव इस ओज (बल) से व्याप्त होते हैं। इस ओज के अभाव से प्राणियों के शरीर नष्ट हो जाते हैं[1] ॥२१,२२॥

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥२३॥

ओज का क्षय—अभिघात से, धातुओं के क्षय से, क्रोध से, शोक से, चिन्ता से, श्रम से, भूख के कारण धातुवह स्रोतों से निकला हुआ ओज उपर्युक्त कारणों के कारण क्षीण हो जाता है। वायु के कारण ओज सम्यक् प्रेरित होकर प्राणियों के हृदय स्थान से चलायमान हो जाता है। "परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः" ॥ चरक० ॥ २३ ॥

१ ओज शब्द से अभिप्राय अण्डों के अन्तःस्राव से है। वृषण दो प्रकार का स्राव उत्पन्न करते हैं। एक बहिःस्राव और दूसरा अन्तःस्राव। बहिःस्राव को शुक्र कहते हैं और अन्तःस्राव को ओज कहते हैं। यही स्राव सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। साधारणतः वृषण अन्तःस्राव को ही उत्पन्न करते हैं। परन्तु स्त्री के सम्पर्क या कामेच्छा के उत्पन्न होने से रक्त में परिवर्त्तन आ जाता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाता है। रक्त की गति बढ़ जाती है। स्त्रियों में स्तन हिलने लगते हैं। इस अवस्था में वृषण बहिःस्राव पैदा करने लगते हैं। अब अन्तःस्राव बन्द हो जाता है। इस अन्तःस्राव ओज के दो भाग हैं। एक पर दूसरा अपर। पर-ओज की मात्रा आठ बिन्दु हैं और अपर ओज की मात्रा आधा अञ्जलि है। पर ओज में स्रंसन या विकार नहीं होता। विकार या क्षय, अपर ओज में ही आता हैं। इसलिये पर ओज में विकार आने से परिणाम मृत्यु हो है। विस्तार के लिये देखिये चरक० सूत्रस्थान।

चरक में ओज के दस गुण—

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥

गाय का दूध ओज के समान गुणवाला है, इससे वह बढ़कर है। विष ओज से विपरीत गुणोंवाला है, इसी से वह मारक है। ओज एक अदृश्य वस्तु है। इसका अनुभव मकरध्वज में से निकलते स्वर्ण एवं शुद्ध स्वर्ण को कसौटी पर रगड़ने से स्वर्ण के ओज के नष्ट होने से कर सकते हैं। मकरध्वज के स्वर्ण से निकली स्वर्ण भस्म, दूसरे स्वर्ण से बनी भस्म की अपेक्षा हीन वीर्य होती है। ओज एक कान्ति है; इसी से वेदमन्त्र में–'तेजोऽसि तेजो मयि देहि; ओजोऽसि ओजो मयि देहि' यह प्रार्थना है। विस्तार के लिये मेरी भारतीय रसपद्धति देखिये।

तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति त्रयो दोषाः लिङ्गानि भवन्ति सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥२४॥

इस ओज के विकृत होने के लक्षण—विस्रंसन (स्थान से चलायमान होना), व्यापत् (अन्यथा रूप होना -विकृत) एवं क्षय—यह दूषित ओज के लक्षण हैं।

ओज के अपने स्थान से चलायमान होने पर—सन्धियों का विघटन, अङ्गों में पीड़ा, दोषों का स्थानभ्रंश होना, शारीरिक-मानसिक क्रियाओं का निरोध होता है। ओज के व्यापन्न (दोषों से दूषित होने पर) अङ्गों में जड़ता, शरीर में भारीपन वातजन्य शोफ, गौर आदि वर्णों का बदलना, ग्लानि और निद्रा का आना (आलस्य) होता है। ओज के क्षय होने पर—मूर्च्छा, मांस का क्षय, मोह, प्रलाप और मृत्यु होती है।

वि० मन्तव्य—ओजस् की तीन विकृतियाँ होती हैं—
१—विस्रंसन—स्वस्थान (समस्त शरीरावयव) से विचलित होना–यह "मज्जौजसां वा......." च० चि० अ० ६ श्लो० ११ के तथा "ओजसा मधुमेहः" चक्रपाणि के अनुसार मधुमेह है अर्थात् मधुमेह में ओजस् मूत्र के साथ बह जाता है, फलतः उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। २—व्यापद्–स्वस्थानस्थित ओजस् का विकृत हो जाना।
३—क्षय–स्वपरिमाण से ह्रास। चरक के शब्दों में—

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवोजसः क्षये ॥ सू०अ० १७॥

अर्थात् ओजस् का क्षय होने पर—डरता है, बार २ दुर्बलता का अनुभव करता है, चिन्ता करता है, इन्द्रियाँ व्यथित–दुर्बल हो जाती हैं, कान्ति नष्ट हो जाती है, मनस् दुःखी रहता है या उसमें बुरी भावना उठती है, शरीर रूक्ष हो जाता है और और कृश हो जाता है ॥ २४ ॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसणं श्रमः ॥२५॥
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम् ॥२६॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।
मूर्च्छा, मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ॥२७॥
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये।

कहा भी है—

ओज के तीन दोष हैं। यथा—व्यापद्, विस्रंसन और क्षय। ओज के विस्रंसन होने पर—शरीर का टूटना, शरीर में

पीड़ा, वातादि की स्थानच्युति, श्रम, क्रियाओं का न होना होता है। ओज के व्यापद् होने पर—शरीर में भारीपन, अङ्गों में जड़ता, ग्लानि वर्ण का बदलना, तन्द्रा, निद्रा, वातजन्य शोफ होता है। ओज के क्षय होने पर—मूर्च्छा, मांस की क्षीणता, मोह, प्रलाप, मूढ़ता एवं पूर्व कहे लक्षण होते हैं ॥ २५-२७ ॥

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्, इतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत् ॥ २८ ॥

चिकित्सासूत्र—ओज के विस्रंसन या व्यापन्न होने की अवस्था में रसायन-वाजीकरण आदि क्रियाओं से अग्नि आदि से अविरुद्ध उपचारों से ओज (बल) को बढ़ाना चाहिये। क्षीण ओज की—जिसमें संज्ञा नष्ट हो गई हो ऐसे पुरुष को छोड़ दे—क्षीणावस्था में असाध्य है[1] ॥ २८ ॥

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥२९॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ॥३०॥
यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत्।
प्रक्षीणं च बलं यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥३१॥

कहा भी है—

जिस पुरुष के दोष या धातु अथवा मल, या बल क्षीण हो जाते हैं, वह अपने कारण को बढ़ानेवाले खान-पान की चाहना करता है। जिस २ खान पान की चाहना क्षीण पुरुष करता है, उस खान-पान के मिलने से उस पुरुष का क्षय नष्ट हो जाता है। जिस पुरुष में धातुक्षय के कारण वायु कुपित होकर संज्ञा एवं कर्म को नष्ट कर देता है, और जिसका बल क्षीण हो गया है—वह असाध्य है[1]। 'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च' ॥ चरक० ॥ २९-३१ ॥

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च। तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याऽव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति, तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति, सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्। उत्पन्ने तु शिलाजतुगुग्गुलुगोमूत्रत्रिफलालोहरजोरसाञ्जनमधुयवमुद्गकोरदूषकश्यामाकोद्दालकादीनां विरूक्षणच्छेदनीयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनवस्त्युपयोगश्चेति ॥ ३२ ॥

रस (आहार रस) के कारण से स्थूलता, कृशता (एवं मध्यमावस्था) होती है। इनमें कफवर्धक आहार करनेवाले, अजीर्णावस्था में या पूर्व भोजन के न पचने पर भोजन करनेवाले, व्यायाम न करनेवाले, सदा दिन में सोनेवाले पुरुष में धातु अग्निद्वारा परिपाक न होने से आमावस्था में ही तथा अधिक मधुर अन्नरस शरीर में फैलकर अतिस्नेह के कारण मेद को उत्पन्न करता है। यह अतिस्थूलता को उत्पन्न करता है। इस स्थूल पुरुष को क्षुद्रश्वास, पिपासा, भूख, नींद, पसीना, शरीर में दुर्गन्धता, क्रथन (सोते हुए गले में घुर्घुर ध्वनि-घर्राटे), अङ्गों में पीड़ा, गद्गद वाक् (अव्यक्त वचन) ये रोग शीघ्र ही आक्रान्त कर लेते हैं। मेद की सुकुमारता के कारण सम्पूर्ण क्रियाओं में असमर्थता होती है। कफ एवं मेद द्वारा मार्ग के रुक जाने से अल्पव्यवाय (अल्पमैथुन शक्ति) होती है। कफ एवं मेद से मार्गों के रुक जाने के कारण शेष रक्तादि धातु वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। इसलिये स्थूल मनुष्य अल्पप्राण होता है। प्रमेह, प्रमेहपिड़िका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि, अथवा वातरोग, इनमें से किसी एक रोग से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। सब प्रकार के स्रोतों के अवरुद्ध होने के कारण—इस पुरुष में सब रोग बलवान् होते हैं। इसलिये स्थूलता के कारणों का त्याग करना चाहिये।

---

१ इसके आगे प्रथम संस्करण में इतना अधिक था—

आग्नेय तेज भी क्रमशः धातुओं के परिपाक से स्नेह में बदलकर वसा रूप हो जाता है। यह वसा स्त्रियों में विशेष करके होती है। इसलिये स्त्रियों में मृदुता, सुकुमारता, कोमलता या थोड़े रोम, उत्साह, आँखों की स्वच्छता, शरीर की बनावट, पाचन शक्ति, कान्ति दीप्ति, आदि गुण होते हैं। यह वसा—कषाय, शीत, तिक्त, रूक्ष, उपस्थित वेगों को रोकने से, अतिमैथुन, व्यायाम और रोग-जन्य कृशता से दूषित हो जाती है। इस वसा के भी विस्रंसन (चलायमान) होने पर—कठोरता रङ्ग का बदलना, पीड़ा, कान्तिहीनता होती है। वसा के दूषित होने पर—कृषता, अग्नि की मन्दता, एवं वसा-नीचे या तिरछी—खिसक जाती है (शरीर का निचला भाग या पार्श्व भारी हो जाता है)। वसा के क्षय होने पर—दृष्टिहानि, अग्नि-मन्दता, बल का नाश, वायु का प्रकोप या मत्यु होती है। वसा के क्षय होने पर—स्नेहपान, स्नेह का अभ्यंग, देह, परिषेक स्निग्ध एवं लघु भोजन देना चाहिये। वसा के विस्रंसन या व्यापद् अवस्था में—रसायन बाजीकरण कर्म करने चाहिये।

१ विस्तार के लिये—खान पान डल्हण की निबन्धसंग्रह टीका में देखिये।

चिकित्सा—स्थूलता उत्पन्न हो जाने पर शिलाजतु, गुग्गुलु, गोमूत्र, त्रिफला, लोहभस्म, रसौंत, मधु, जौ, मूङ्ग, कोरदूषक (कोदो), श्यामक (सोवक) उद्दालक (वनकोद्दालक), गवेधुक आदि क्षुद्र धान्यों का, विरूक्षण (मेद-नाशक-रूक्ष) तथा छेदनीय (स्रोतों का शोधन करनेवाले) द्रव्यों का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। एवं व्यायाम तथा लेखन बस्तियों का[1] उपयोग करना चाहिये ॥३२॥

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति, तस्मादतिकार्श्यं भवति, सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्। उत्पन्ने तु पयस्याश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरीबलातिबलानागबलानां मधुराणामन्यासां चौषधीनामुपयोगः क्षीरदधिघृतमांसशालिषष्टिकयवगोधूमानां च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्यव्यायामबृंहणवस्त्युपयोगश्चेति ॥३३॥

कार्श्य—वातप्राय-अतिरूक्ष आहार के सेवन करने से, अतिव्यायाम से, अतिमैथुन से, पढ़ने से, भय से, शोक-चिन्ता से, रात में जागने से, प्यास-भूख से, कषाय रस से, या थोड़ा खाने आदि कारणों से रस धातु का उपशोषण हो जाता है। यह शुष्क रस धातु शरीर में फैलता हुआ शरीर का पोषण नहीं करता। इसलिये शरीर में अतिकृशता रहती है। यह अतिकृश पुरुष भूख-प्यास-शीत-गरमी-वर्षा भार उठाने में असहनशील, वातरोग-बहुल और क्रियाओं में अल्पशक्ति होता है। श्वासकास-शोष-प्लीहा-उदर-अग्निसाद-मन्दता गुल्म, रक्तपित्त; इनमें से किसी एक रोगसे आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। अल्पशक्ति होने के कारण इस पुरुष के सम्पूर्ण रोग बलवान् होते हैं। इसलिये कृशता को उत्पन्न करनेवाले सब कारणों को छोड़ देना चाहिये।

कृशता उत्पन्न होने पर—विदारीकन्द, असगन्ध, पयस्या (क्षीरकाकोली), विदारी, शतावरी, खरैंटी, अतिबला, नागबला (गंगेरन) अन्य मधुर औषधियों का, दूध, घी मांसरस, शालिधान्य (हेमन्तधान्य), साठीधान्य, जौ और गेहूँ का; दिन में सोना, ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम, बृंहण वस्तियों[1] का उपयोग करना चाहिये ॥३३॥

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षातपसहो बलवांश्च; स सततमनुपालयितव्य इति ॥३४॥

जो मनुष्य समान (न बहुत स्निग्ध, न रूक्ष), स्वस्थवृत्त में कहे साठी लाल चावल, अनार आदि पदार्थों का सेवन करता है, उस व्यक्ति का अन्नरस शरीर में फैलकर समान मात्रा में सब धातुओं को बढ़ाता है। धातुओं के समान होने से मध्यशरीर रहता है। इसलिये सब क्रियाओं में सामर्थ्यवान्-भूख-प्यास शीत-उष्ण-वर्षा-धूप को सहन करनेवाला और बलवान् होता है। इस मध्यशरीर की सदा स्वस्थवृत्त के अनुपालन द्वारा रक्षा करनी चाहिये ॥३४॥

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥३५॥

कहा भी है—

ये स्थूल एवं कृश दोनों बहुत निन्दित हैं। मध्य शरीर श्रेष्ठ है। स्थूल से कृश व्यक्ति श्रेष्ठ हैं। (क्योंकि स्थूल पूर्व-संशोधन-संशमन क्रिया को सहन नहीं कर सकता है, तथा रोग बलवान् रहता है) ॥३५॥

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम् ॥३६॥

कुपित दोष अपनी शक्ति के कारण (पित्त-कटु उष्ण गुण से, वायु शोषण गुण से, कफ-मार्ग निरोध से), धातुओं का ह्रास करते हैं। जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि अपने तेज द्वारा थाली में रक्खे पानी का ह्रास करती है ॥३६॥

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥३७॥

---

१ लेखन बस्तियां—
"त्रिफलाक्वाथ-गोमूत्र-क्षौद्र क्षार-समन्विताः।
उषकादि प्रतिवापा वस्तयो लेखनाः स्मृताः॥
(२) गुरु चापतर्पणं श्रेष्ठं स्थूलानां कर्षणं प्रति।
वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च॥
रूक्षोष्णवस्तयस्तीक्ष्णा, रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च।
प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च॥ चरक०॥

१ बृंहण वस्तियाँ—
बृंहणद्रव्यतः क्वाथस्तत्कल्कस्नेहसैन्धवौ।
युक्ताः खजप्रमथिता वस्तयो बृंहणा मताः॥
(२) हिता मांसरसाः तस्मै पयांसि च घृतानि च।
स्नानानि वस्तयोऽभ्यंगाः तर्पणातर्पणाश्च ये॥
स्वप्नो हर्षः सुखशय्या मनसो निर्वृतिः शमः।
नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः॥
अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च।
स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वराह इव पुष्यति ॥चरक॥

वैलक्षण्यात्—विसदृशता के कारण (वातादि प्रकृति, रस रक्तादि की भिन्नता-छोटे-बड़े आकार के कारण), अस्थायित्वात् अस्थिरता के कारण (अस्थिरता दो प्रकार की है—नित्यग-आवस्थिक), पुरुषों के दोषधातु एवं मल का पलादि मान नहीं है। इनका तोल नहीं हो सकता। "तत्परं प्रमाणमभिज्ञेयम्'। चरक ॥ ३७ ॥

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना ॥३८॥

वैद्यलोग दोष-धातु-मल की जो समता कहते हैं, वह समता-स्वास्थ्य के बिना किसी अन्य कारण द्वारा नहीं कही जा सकती। स्वास्थ्य से ही इनकी समता की परीक्षा होती है ॥३८॥

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ॥३९॥

दोष-धातु मल इनकी असमानता (क्षय, वृद्धि) को अनुमान द्वारा जानना चाहिये। पुरुष को अप्रसन्न इन्द्रियोंवाला देखकर बुद्धिमान् वैद्य अनुमान द्वारा दोषों की असमानता का ज्ञान करे ॥३९॥

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्।
तावद्यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ॥४०॥

स्वस्थ के दोष-धातु-मलों की सदा रक्षा करनी चाहिये। अस्वस्थ के बढ़े दोष धातु-मल का ह्रास करना चाहिये, ह्रास हुए दोष-धातु-मल को बढ़ाना चाहिये। यह कार्य तब तक वैद्य को करना चाहिये—जब तक कि रोग युक्त पुरुष नीरोग हो, यही दोषादि के साम्य लक्षण हैं ॥४०॥

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥४१॥

स्वस्थ पुरुष का लक्षण—समान दोषवाला, समान (न मन्द, न तीक्ष्ण, न विषमाग्नि), अग्निवाला समान धातु, समान मलवाला, समान क्रियावाला, प्रसन्न आत्मा इन्द्रिय-मनवाला पुरुष स्वस्थ कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—सम शब्द का अर्थ है—उचित परिमाण में सम या स्वाभाविक परिमाणवाला। क्रिया का अर्थ है शरीर के अन्त्र, हृदय, फुफ्फुस एवं यकृत् आदि का व्यापार या कर्म॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने दोष-धातुमलक्षयवृद्धि-विज्ञानीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथातः कर्णव्यधबन्धनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'कर्णव्यधबन्धन विधि' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्ले पक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया, पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः, ततः पिचुवर्ति प्रवेशयेत् ॥३॥

बालक के कानों को दो कारणों से बींधा जाता है। एक-रक्षा के कारण (वृद्धिरोग से रक्षा करने के उद्देश्य से[1]), और दूसरा-आभूषण पहिनाने के उद्देश्य से। कान का बींधना--छठे या सातवें महीने में—शुक्लपक्ष में—प्रशस्त-तिथि प्रशस्त करण एवं प्रशस्त मुहूर्त्त तथा नक्षत्रों में मंगल—स्वस्तिवाचन करके, कुमार को परिचारिका की गोद में या कुमार को रखनेवाली की गोद में बिठाकर-खिलौने से प्रलोभित करके—पुचकारते हुए—वैद्य वामहस्त से कान को खींचकर सूर्यकिरणों से प्रकाशित स्वाभाविक छिद्र में (जहाँ पर बसा कम होती है) दक्षिण हाथ से धीरे धीरे सीधा छेद करे। बींधते समय सूई को सीधा चलाना चाहिये। पतले कान को सूई से बींधना चाहिये—मोटे कान को आर से (जिससे कि चमार सीते हैं) बींधे। कुमार का प्रथम दक्षिण कर्ण बींधना चाहिये, पीछे वाम, कुमारिका का प्रथम वाम, फिर दक्षिण कर्ण बींधना चाहिये। बींधने के पश्चात् कान में पिचुवर्त्ति (कपड़े की नरम बत्ती) लगा देनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—रक्षाभूषण निमित्तं······अर्थात् बालग्रहों से रक्षा के लिये। दैवकृत छिद्र कान की पेपड़ी को तानने पर जहाँ से सूर्य की धूप का सा उजाला दिखाई पड़े-प्रतीत हो वह दैवकृत छिद्र

---

१ आंत्र उतरने पर वा अण्डकोषों के विकारों (ब्रघ्न) में अब भी कान को बींधने की प्रथा है। इससे आराम होता हैं। आगे स्वयं भी कहेंगे—

"व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येत् आंत्रवृद्धिनिवृत्तये।" सुश्रुत।

(२) कुमारतन्त्र में—

कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते।
भूष्यतेऽस्य मुखं तस्मात् कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः ॥
यद्यपि कर्णव्यधेन व्रणिनि काले रक्षोभयं भवति,
तथाऽपि तदल्पकालं प्रतिकर्त्तव्यं च ॥
तेन चिरकालरक्षार्थं तदल्पं व्यजत एव। भानुमती।

माना जाता है और वहीं वेध किया जाता है। इस प्रदेश में वेध होने पर रक्त नहीं निकलता अथवा बहुत थोड़ा निकलता है।

शोणितबहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति जानीयात्, निरुपद्रवतया तद्देशविद्धमिति ॥४॥

यदि रक्त अधिक आये एवं वेदना बहुत हो तो समझना चाहिये कि दैवकृत छिद्र में छेद नहीं हुआ। और यदि किसी प्रकार का उपद्रव न हो तो समझना चाहिये स्वाभाविक छेद में विंधा है ॥४॥

तत्राज्ञेन यदृच्छया विद्धासु सिरासु कालिकामर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति। तत्र, कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति, मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च, लोहितिकायां मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति। तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥५॥

कर्णवेध कर्म में—अनजान वेधक द्वारा अथवा दैवयोग से—कालिका मर्मरिका अथवा लोहितिका संज्ञक सिराओं में वेध हो जाता है तो उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं या हो सकते हैं, यथा—कालिका सिरा का वेध हो जाने पर ज्वर, दाह, शोथ और वेदना होती है, मर्मरिका का वेध होने पर—वेदना, ज्वर तथा सिराग्रन्थियाँ होती हैं और लोहितिका का वेध होने पर—मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह, तथा कर्णशूल आदि हो जाते हैं। इन उपद्रवों में यथोचित उपचार करे।

सिराओं की उक्त संज्ञा सम्भवतः—कौमार भृत्य के अनुसार है। वर्त्तमान चरक सुश्रुत में अन्यत्र इनकी चर्चा नहीं है। केवल अष्टाङ्गहृदय उत्तर अ० १ में—कालिका, मर्मरी तथा रक्ता नाम देकर चर्चा की गई है। इस अध्याय में कर्णवेध की विधि अधिक स्पष्ट है। पाठक देखें ॥५॥

क्लिष्टजिह्मप्रशस्तसूचीव्यधाद् गाढतरवर्तित्वाद्दोषसमुदायादप्रशस्तव्यधाद्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र वर्तिमुपहृत्याशु मधुकैरण्डमूलमञ्जिष्ठायवतिलकल्कैर्मधुघृतप्रगाढैरा लेपयेत्तावद्यावत् सुरूढ इति, सुरूढं चैनं पुनर्विध्येत्, विधानं तु पूर्वोक्तमेव ॥६॥

क्लिष्ट (अमनोज्ञ–खुरदरी), जिह्म (टेढ़ी), अप्रशस्त (गुणहीन) सूई से बींधने के कारण या अधिक मोटी बत्ती से अथवा दोष प्रकोप से या दैवकृत छिद्र में न बिंधने से—जहाँ पर सूजन या वेदना हो तो वर्त्ती को निकालकर—मधुक (मुलहठी), एरण्डमूल, मजीठ, जौ और तिल, इनके कल्क को मधु एवं घी में मिलाकर गाढ़ा लेप कर देना चाहिये। यह लेप तब तक बरतना चाहिये जब तक कि भली प्रकार भर न जाये। भली प्रकार रोहण होने पर फिर इसको बींधना चाहिये। बींधने की विधि पूर्व की भाँति है ॥६॥

तत्र सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत्, त्र्यहात्त्र्यहाच्च वर्तिं स्थूलतरां दद्यात्, परिषेकं च तमेव ॥७॥

भली प्रकार से दैवकृत छिद्र में विंधने पर—अपक्व तेल (तिलों को पीसकर निकाला तेल) द्वारा परिषेचन करना चाहिये। प्रत्येक तीसरे दिन बत्ती अधिक मोटी कर देनी चाहिये। बत्ती का आमतेल से परिषेक करते रहना चाहिये ॥७॥

अथ व्यपगतदोषोपद्रवे कर्णे वर्धनार्थं लघु वर्धनकं कुर्यात् ॥८॥

दोष एवं उपद्रवों के शान्त होने पर कानों के छिद्रों को लम्बा करने के लिये (सौन्दर्य दृष्टि से) 'लघुवर्धनक' (दोष विशेष के कारण—अपामार्ग, नीम, कपास आदि लकड़ियों से या सीसक आदि धातुओं से बने–हल्के–छोटे छल्ले बालियाँ) पहिनाने चाहिये। (भार के कारण कान नीचे लटकने लगते हैं) ॥८॥

एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धानं तस्य मे शृणु ॥९॥

इस प्रकार से बढ़ाए हुए पुरुषों के कान, वातादि दोषों से उत्पन्न रोगों से या गिरने आदि से चोट लगने पर—फटकर दो भाग हो जाते हैं। इनको जोड़ने की विधि मुझ से सुनो ॥९॥

तत्र समासेन पञ्चदशकर्णबन्धाकृतयः। तद्यथा—नेमिसन्धानक उत्पलभेद्यको वल्लूरक आसङ्गिमो गण्डकर्ण आहार्यो निर्वेधिमो व्यायोजिमः कपाटसन्धिकोऽर्धकपाटसन्धिकः संक्षिप्तो हीनकर्णो वल्लीकर्णो यष्टिकर्णः काकौष्ठक इति। तेषु, पृथुलायतसमोभयपालिर्नेमिसन्धानकः, वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलभेद्यकः, ह्रस्ववृत्तसमोभयपालिर्वल्लूरकः, अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरासङ्गिमः, बाह्यदीर्घैकपालिर्गण्डकर्णः, अपालिरुभयतोऽप्याहार्यः, पीठोपमपालिरुभयतः क्षीणपुत्रिकाश्रितो निर्वेधिमः, स्थूलाणुसमविषमपालिर्व्यायोजिमः, अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरितराल्पपालिः कपाटसन्धिकः, बाह्यदीर्घैकपालिरितराल्पपालिरर्धकपाटसन्धिकः। तत्र दशैते कर्णबन्धविकल्पाः साध्याः, तेषां स्वनामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः। संक्षिप्तादयः पञ्चासाध्याः तत्र शुष्कशष्कुलिरुत्सन्नपालिरितराल्पपालिः संक्षिप्तः, अनधिष्ठानपालिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः, तनुविषमाल्पपालिर्वल्लीकर्णः ग्रथितमांसस्तब्धसिराततसूक्ष्मपालिर्यष्टिकर्णः, निर्मांससंक्षिप्ताग्राल्पशोणितपालिः काकौष्ठक इति। बद्धेष्वपि तु शोफदाहरागपाकपिडकास्रावयुक्ता न सिद्धिमुपयान्ति ॥१०॥

संक्षेप से कर्णबन्धाकृतियाँ पन्द्रह हैं। यथा—नेमिसन्धानक, उत्पलभेद्यक, वल्लूरक, आसंगिम, गण्डकर्ण, आहार्य, निर्वेधिम, व्यायोजिम, कपाटसन्धिक, अर्धकपाटसन्धिक, संक्षिप्त, हीनकर्ण,

वल्लीकर्ण, यष्टिकर्ण और काकौष्ठक। इनमें—जो पालि (कर्ण-पालि)–पृथुल (विस्तीर्ण), आयात (दीर्घ), सम (तुल्य)–परस्पर होती हैं—वहाँ नेमिसन्धानक बन्ध बरतें। जिसकी दोनों पाली गोल, दीर्घ और समान हो—उसको उत्पलभेद्यक बँधवावें। जिसकी दोनों कर्णपालियाँ छोटी, गोल, एवं परस्पर समान हों वहाँ वल्लूरक बंध बरतें। जिसकी एक कर्णपाली अन्दर एवं लम्बी हो वहाँ आसंगिम बन्ध बरतें। जिनकी एक पाली बाहर एवं लम्बी हो वहाँ मण्डकर्ण बन्ध, दोनों पाली न हों (या अल्प हो) वहाँ आहार्य; जिसकी पालि मूल से ही छिन्न हो—सपाट हो, कर्णपुत्रिका के ऊपर आश्रित हो, वहाँ निर्वेधिम; जिसकी एक पाली का भाग स्थूल हो, दूसरी छोटी हो, एक समान और दूसरी विषम हो, वहाँ व्यायोजिम; जिसकी एक पाली अन्दर–लम्बी हो और दूसरी पाली अल्प हो, वहाँ कपाटसन्धिक बाँध। जिसकी पाली का बाहर का भाग लम्बा हो और दूसरा अल्प हो वहाँ अर्धकपाटसन्धिक बन्ध प्रयोग करना चाहिये। ये दस कर्णबन्ध के भेद साध्य हैं। प्रायः इनकी आकृतियाँ इनके अपने नामों से ही स्पष्ट हैं। संक्षिप्त आदि पाँच बन्धन असाध्य हैं। तथापि इनमें बाह्य पाली का अधिष्ठान (शष्कुली) शुष्क हो तथा दूसरी कर्णपाली छोटी हो तो संक्षिप्त बन्ध करना चाहिये। जिसमें पाली का अधिष्ठान न हो और गण्ड के बाह्य पार्श्व में मांस क्षीण हो तो हीनकर्ण बन्ध बरतना चाहिये। पतली, विषम अल्पपाली में वल्लीकर्ण; ग्रथित मांस स्तब्ध सिरायुक्त सूक्ष्म पालि में यष्टिकर्ण बरतना चाहिये। मांस रहित, रक्त की कमीवाली संक्षिप्त पालि में काकोष्ठक बन्ध बरतना चाहिये। कर्णबन्धन में शोफ, दाह, राग, पाक, पिडिका एवं स्राव होने से—चिकित्सा करने पर भी असाध्य रहते हैं ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह।
कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्ध्वा विवर्धयेत् ॥११॥

कहा भी है—

जिस पुरुष के कानों में दोनों पालि न हों उसके कर्णपीठ को मध्य में बींधकर बढ़ाना चाहिये। (कर्णपुत्रिका—Tragus, Anti Tragus) ॥११॥

बाह्यायामिह दीर्घायां सन्धिराभ्यन्तरो भवेत्।
आभ्यन्तरायां दीर्घायां बाह्यसन्धिरुदाहृतः ॥१२॥

जिस पुरुष की बाम पाली लम्बी हो, उसकी आभ्यन्तर पाली में सन्धि करनी चाहिये। इस प्रकार प्रथम कपाटसन्धिक, दूसरा—अर्धकपाट-सन्धिक बन्धन होता है ॥१२॥

एकैव तु भवेत पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा च या।
तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१३॥

यदि एक ही मोटी, लम्बी और दृढ पाली हो (दूसरी पाली न हो) तो इसको बीच से दो भाग करके दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये ॥१३॥

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्यशास्त्रवित् ॥१४॥

गण्ड प्रदेश में संलग्न जीवित मांस को गण्ड प्रदेश से उखाड़कर—पाली रहित पुरुष में—शास्त्रवित् वैद्य कर्णपाली को बनाये (Rexo Plastic Operation) ॥१४॥

अतोऽन्यतमं बन्धं चिकीर्षुरग्रोपहरणीयोक्तोपसंभृतसंभारं विशेषतश्चात्रोपहरेत् सुरामण्डं क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णं चेति। ततोऽङ्गनां पुरुषं वा ग्रथितकेशान्तं लघु भुक्तवन्तमाप्तैः सुपरिगृहीतं च कृत्वा, बधमुपधार्य, छेद्यभेद्यलेख्यव्यधनैरुपपन्नैरुपपाद्य, कर्णशोणितमवेक्ष्य दुष्टमदुष्टं वेति। तत्र वातदुष्टे धान्याम्लोष्णोदकाभ्यां पित्तदुष्टे शीतोदकपयोभ्यां श्लेष्मदुष्टे सुरामण्डोष्णोदकाभ्यां प्रक्षाल्य कर्णौ, पुनरवलिख्यानुन्नतमहीनमविषमं च कर्णसन्धिं सन्निवेश्य, स्थितरक्तं संदध्यात्। ततो मधुघृतेनाभ्यज्य, पिचुप्रोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य, सूत्रेणानवगाढमनतिशिथिलं च बद्ध्वा, कपालचूर्णेनावकीर्याचारिकमुपदिशेत्, द्विव्रणीयोक्तेन च विधानेनोपचरेत् ॥१५॥

इन उपरोक्त बन्धनों में से किसी एक बन्धन को करने की इच्छा से 'अग्रोपहरणीय' अध्याय में वर्णित आवश्यक वस्तुसमूहों को, खासकर इस कार्य में सुरा, मण्ड दूध, पानी धान्याम्ल और कपालचूर्ण (घड़े के ठीकरे का या शिर की अस्थियों की भस्म—दोनों ही उपयुक्त हैं) को एकत्रित करना चाहिये। इसके अनन्तर स्त्री अथवा पुरुष–दोनों के बालों को पीछे बाँधकर, थोड़ा सा लघु हल्का भोजन कराके, विश्वस्त पुरुषों द्वारा पकड़वाकर बन्धन का निश्चय कर छेद्य, भेद्य, लेख्य, व्यधनकार्यों को करके—कान के दूषित या अदूषित रक्त की परीक्षा करके—कानों का फिर एक बार अवलेखन करके कर्णसन्धि को न ऊँचे, न नीचे और न विषम रखकर–रक्त निकलना बन्द होने पर जोड़ देना चाहिये। वात से दूषित रक्त में—धान्याम्ल एवं उष्णोदक से, पित्त से दूषित रक्त में—शीतोदक एवं दूध से; कफ से दूषित रक्त में—सुरा-मण्ड एवं उष्णोदक से धोना चाहिये। सन्धि करने के अनन्तर मधु एवं घी लगाकर रूई या कपड़े—किसी एक से ढाँपकर—धागे (पट्टी से) से—न तो बहुत कसकर न बहुत ढीला बाँध देना चाहिये। ऊपर से कपाल चूर्ण छिड़क देना चाहिये। इसके अनन्तर—आहार–विहार को समझा देना चाहिये। और द्विव्रणीय अध्याय में कहे गये आलेपादि बरतने चाहिये ॥१५॥

भवति चात्र—

विघट्टनं दिवास्वप्नं व्यायाममतिभोजनम्।
व्यवायमग्निसंतापं वाक्श्रमं च विवर्जयेत्॥ १६॥

कहा भी है—

विघट्टन (विघट्टन--रगड़ना हिलाना--डुलाना), दिन में सोना, व्यायाम, अतिभोजन, मैथुन, आग का सेकना, बोलना, ये कार्य परित्याग कर देने चाहिये॥ १६॥

न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा संदध्यात्। स हि वातदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपुटनवान्, पित्तदुष्टे दाहपाकरागवेदनावान्, श्लेष्मदुष्टे स्तब्धः कण्डूमान्, अतिप्रवृत्तरक्ते श्यावशोफवान्, क्षीणोऽल्पमांसो न वृद्धिमुपैति॥ १७॥

अशुद्धरक्त, अधिक रक्तस्राव होने पर, रक्त के न निकलने पर—सन्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि वात से दूषित रक्त की अवस्था में पट्टी बाँधने पर—परिपोट रोग होता है। पित्त से दूषित रक्त की अवस्था में—दाह, पाक, लालिमा एवं वेदना होती है। कफ से दूषित रक्त की अवस्था में—जड़ता एवं कण्डू होती है। रक्त के अधिक स्रवित होने पर सन्धान करने से कृष्णता और सूजन होती है। रक्त के क्षीण होने पर सन्धि करने से—अल्प मांस—पुनः वृद्धि को प्राप्ति नहीं होता॥१७॥

(आमतैलेन त्रिरात्रं परिषेचयेत्, त्रिरात्राच्च पिचुं परिवर्तयेत्।) स यदा सुरूढो निरुपद्रवः सवर्णो भवति तदैनं शनैः शनैरभिवर्धयेत्। अतोऽन्यथा संरम्भदाहपाकरागवेदनावान्, पुनश्छिद्यते वा॥ १८॥

आमतैल द्वारा तीन दिन तक परिषेचन करना चाहिये। एवं प्रत्येक तीसरे दिन पिचु बदलते रहना चाहिये[1]। जिस समय व्रण भली प्रकार भर जाये, किसी प्रकार का उपद्रव न रहे, त्वचा के समान व्रण का रंग आ जाये, तब फिर इस कर्ण को धीरे २ बढ़ाना चाहिये। इसके विपरीत करने से दाह, पाक, लालिमा, वेदना होती है, अथवा फिर फट जाता है॥ १८॥

अथास्याप्रदुष्टस्याभिवर्धनार्थमभ्यङ्गः। तद्यथा—गोधाप्रतुदविष्किरानूपौदकवसामज्जानो पयः सर्पिस्तैलं गौरसर्षपजं च यथालाभं संभृत्यार्कालर्कबलातिबलानन्तापामार्गाश्वगन्धाविदारिगन्धाक्षीरशुक्लाजलशूकमधुरवर्गपयस्याप्रतिवापं तैलं वा पाचयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात् १९

१ कविराज हाराणचन्द्र जी इसको पद्य में लिखते हैं। यथा-
"आमतैलपरिषेकं त्रिरात्रमवचारयेत।
ततस्तैलेन संसृष्टं त्र्यहादपनयेत् पिचुम्॥'
यह पाठ—'विघट्टनं दिवास्वप्नं'—इस श्लोक के साथ दिया है।

अदूषित कान को बढ़ाने के लिये अभ्यङ्ग कहते हैं। यथा-गोधा, प्रतुद (बटेर आदि), विष्किर (कुक्कुट आदि), आनूप (वराह, महिषादि), औदक (रोहित-मत्स्यादि), इनकी वसा एवं मज्जा को दूध, घी और श्वेत सरसों का तैल-इनमें से जितनी वस्तुयें मिल सकें उनको लाकर आक, श्वेत फूल का आक, बला, अतिबला, सारिवा, अपामार्ग, असगन्ध, शालपर्णी, क्षीरविदारी, जलशूक—शैवाल, रसविशेष विज्ञानीय अध्याय में कहे मधुरवर्ग, पयस्या (क्षीरविदारी), इनके निक्षेप से तैल पकाकर गुप्तस्थान में रख देना चाहिये[1]॥ १९॥

स्वेदितोन्मर्दितं कर्णं स्नेहेनैतेन योजयेत्।
अथानुपद्रवः सम्यग्बलवांश्च विवर्धते॥ २०॥

कान को प्रथम स्वेदन देकर फिर इस तैल के साथ मर्दन करना चाहिये। इस प्रकार करने से कान उपद्रव रहित होकर बढ़ता है, एवं बलवान् होता है॥ २०॥

यवाश्वगन्धायष्ट्याह्वैस्तिलैश्चोद्वर्तनं हितम्।

उद्वर्त्तन—जौ, असगन्ध, मुलहठी और तिल इनके द्वारा कान का उद्वर्त्तन, करना हितकारी है।

शतावर्यश्वगन्धाभ्यां पयस्यैरण्डजीवनैः॥ २१॥
तैलं विपक्वं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्धनम्।

शतावरी, असगन्ध, क्षीरकाकोली, एरण्ड, जीवक (या काकोल्यादि द्रव्य), इनके कल्क से (स्नेह का चतुर्थांश कल्क), केवल क्षीर में तैलपाक करना चाहिये। इस तैल के अभ्यंग से कर्णपालि बढ़ती है॥ २१॥

ये तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः॥ २२॥
तेषामपाङ्गदेशे तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु।
बाह्यच्छेदं न कुर्वीत व्यापदः स्युस्ततो ध्रुवाः॥ २३॥

इस उपरोक्त विधि से जो कान नहीं बढ़ते, उनके लिये अपांग देश में प्रच्छान करना चाहिये (अपांग देश कर्ण पुत्रिका का अधःप्रदेश) इस प्रदेश में थोड़ा-सा छेदन करना चाहिये। अधिक छेदन करने पर (सिरामर्म नामक दो मर्म हैं)—आन्ध्य, दृष्टि का नाश होता है। बाह्यच्छेद—कर्णबाह्य—लतिका का छेदन (त्वचामात्र) करने पर कर्णलतिका का फटना रोग उत्पन्न होते हैं॥२२-२३॥

वर्द्धमात्रं तु यः कर्णं सहसैवाभिवर्धयेत्।
आमकोशी समाध्मातः क्षिप्रमेव विमुच्यते॥ २४॥

१ वात्स्यायन कामसूत्र में भी कर्णपालि एवं स्तन तथा लिंग को बढ़ाने के लिये प्रयोग दिये हैं। उनमें जलशूक का अर्थ 'घोंघा' है। इसके शरीर पर बाल होते हैं। इनके उपयोग से शूकरोग भी होता है। देखिये माधवनिदान और मधुकोष टीका।

तैलपाचन उसी क्रम से करना चाहिये—जिस क्रम से विधान—यथा—कल्क, स्नेह से चतुर्थांश क्षीर—चतुर्गुण तैल से (द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम्, कल्कस्तु स्नेहपादिकः)॥

जो मनुष्य बद्ध मात्र कान को (जो कान अभी थोड़ा ही जुड़ा है) एकदम से—सहसा ही बढ़ता है, वह भली प्रकार से मध्य में से रोहण न होने के कारण शीघ्र ही पृथग् हो जाता है ॥

जातरोमा सुवर्त्मा च श्लिष्टसन्धिः समः स्थिरः ।
सुरूढोऽवेधनो यश्च तं कर्णं वर्धयेच्छनैः ॥ २५ ॥

जिस कान पर बाल उत्पन्न हो गये हों, शोभन छिद्रवाला, संलग्न सन्धि, निम्नोन्नत रहित, समान, दृढ़ भली प्रकार रोहण हुआ, वेदना रहित, जो कान हो, उसको धीरे २ बढ़ाना चाहिये ॥ २५ ॥

अमिताः कर्णबन्धास्तु विज्ञेयाः कुशलैरिह ।
यो यथा सुविशिष्टः स्यात्तं तथा विनियोजयेत् ॥ २६ ॥

कुशलों को ध्यान रखना चाहिये कि कर्णबन्धन असंख्य हैं। जो बन्धन जिस स्थान पर ठीक तरह से बैठे—उसको उसी स्थान पर लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

(कर्णपाल्यामयान्नृणां पुनर्वक्ष्यामि सुश्रुत ! ।
कर्णपाल्यां प्रकुपिता वातपित्तकफास्त्रयः ॥ १ ॥
द्विधा वाऽप्यथ संसृष्टाः कुर्वन्ति विविधा रुजः ।
विस्फोटः स्तब्धता शोफः पाल्यां दोषे तु वातिके ॥२॥
दाहविस्फोटजननं शोफः पाकश्च पैत्तिके ।
कण्डूः सश्वयथुः स्तम्भो गुरुत्वं च कफात्मके ॥ ३ ॥
यथादोषं च संशोध्य कुर्यात्तेषां चिकित्सितम् ।
स्वेदाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रलेपासृग्विमोक्षणैः ॥ ४ ॥
मृद्वीं क्रियां बृंहणीयैर्यथास्वं भोजनैस्तथा ।
य एवं वेत्ति दोषाणां चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥ ५ ॥

(हे सुश्रुत ! मनुष्यों की कर्णपालि के रोगों को फिर से चि० अ० २५ में कहूँगा। वात, पित्त, कफ तीनों दोष, एवं संसृष्ट दोषों से तथा तीनों दोषों के मिलने से (सात प्रकार के) नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। वातजन्य पालिदोष में—विस्फोट जड़ता एवं सूजन होती है। पित्तजन्य पालिदोष में—जलन, विस्फोट और सूजन होती है। कफजन्य पालिदोष में—कण्डू, सूजन (आर्द्र), स्तम्भ और भारीपन होता है। दोषों के अनुसार इनका संशोधन करके चिकित्सा करनी चाहिये ॥

अतऊर्ध्वं नामलिङ्गैर्वक्ष्ये पाल्यामुपद्रवान् ।
उत्पाटकश्चोत्पुटकः श्यावः कण्डूयुतो भृशम् ॥ ६ ॥
अवमन्थः सकण्डूको ग्रन्थिको जम्बुलस्तथा ।
स्रावी च दाहवांश्चैव शृण्वेषां क्रमशः क्रियाम् ॥ ७ ॥

इसके आगे पाली के उपद्रवों का नाम एवं लक्षण कहते हैं—उत्पाटक, उत्पुटक—इनमें खाज बहुत होती है, और इसका रङ्ग काला—हरा होता है। अवमन्थ में खाज होती है। ग्रन्थिक एवं जम्बूल—में स्राव और दाह। इनकी चिकित्सा क्रम से कहते हैं ॥ ६,७ ॥

अपामार्गः सर्जरसः पाटलालकुचत्वचौ ।
उत्पाटके प्रलेपः स्यात्तैलमेभिश्च पाचयेत् ॥ ८ ॥
शम्पाकशिग्रुपूतीकान् गोधामेकोऽथ तद्वसाम् ।
वाराहं गव्यमैणेयं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत् ॥ ९ ॥
लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।

उत्पाटक रोग में—अपामार्ग, राल, पाटला और बड़हल, इनकी छाल, इनका लेप करना चाहिये। और इनके कल्क से दूध में पकाया तैल प्रयोग करना चाहिये। उत्पुटक रोग में शम्पाक, अमलतास, सहजन, पूतीक (नाटा करञ्ज), गोधा की मेद, गोधा की वसा (मांस स्नेह) सुअर का पित्त, गाय का पित्त और काली हरिणी का पित्त इनको घी में मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे ही संस्कृत तैल प्रयोग करना चाहिये।

गौरीं सुगन्धां सश्यामामनन्तां तण्डुलीयकम् ॥ १० ॥
श्यावे प्रलेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।
पाठां रसाञ्जनं क्षौद्रं तथा स्यादुष्णकाञ्जिकम ॥११॥
दद्याल्लेपं सकण्डूके तैलमेभिश्च साधितम् ।
व्रणभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं विजानता ॥ १२ ॥
मधुकक्षीरकाकोलीजीवकाद्यैर्विपाचितम् ।
गोधावराहसर्पाणां वसाः स्युः कृतबृंहणे ॥ १३ ॥
प्रलेपनमिदं दद्यादवसिच्यावमन्थके ।
प्रपौण्डरीकं मधुकं समङ्गां धवमेव च ॥ १४ ॥
तैलमेभिश्च संपक्वं शृणु कण्डूमतः क्रियाम् ।
सहदेवा विश्वदेवा अजाक्षीरं ससैन्धवम् ।
एतैरालेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ॥ १५ ॥
ग्रन्थिके कुटिकां पूर्वं स्रावयेदवपाट्य तु ।
ततः सैन्धवचूर्णं च घृष्ट्वा लेपं प्रदापयेत् ॥ १६ ॥
लिखित्वा तत्स्रुवं घृष्ट्वा चूर्णैर्लोध्रस्य जम्बुले ।
क्षीरेण प्रतिसार्यैनं शुद्धं संरोपयेत्ततः ॥ १७ ॥
मधुपर्णी मधूकं च मधुकं मधुना सह ।
लेपः स्राविणि दातव्यस्तैलमेभिश्च साधितम् ॥ १८ ॥
पञ्चवल्कैः समधुकैः पिष्टैस्तैश्च घृतान्वितैः ।
जीवकाद्यैः ससर्पिष्कैर्दह्यमानं प्रलेपयेत् ॥ १९ ॥)

श्याव रोग में—गौरी (हल्दी), सुगन्धा (रास्ना), श्यामा (निशोथ), अनन्तमूल और चावल की कणियाँ, इनका लेप तथा इनसे साधित तैल का प्रयोग करना चाहिये। कण्डूक रोग में-पाठा, रसौत, शहद, कुलत्थी आदि उष्णवीर्य औषधियों से बनायी उष्ण कांजी, इनका लेप तथा इनसे संस्कृत तैल का प्रयोग करना चाहिये। कण्डूयुक्त यदि व्रण हों तो निम्न तैल प्रयोग करना चाहिये। मुलहठी, क्षीरकाकोली, जीवकगण से सिद्ध तैल का प्रयोग करना उत्तम है। बृंहण कार्य में गोधा,

सुअर और सर्प की बसा देनी (अन्य बृंहण वस्तुओं के साथ) चाहिये। अवमन्थक रोग में प्रक्षालन करके निम्न प्रलेप लगाना चाहिये—प्रपौण्डरीक, मुलहठी, मंजीठ, धव, इनसे संस्कृत तैल या इनका लेप करना चाहिये। कण्डू की शान्ति के लिये क्रिया कहते हैं—सहदेवा (कोयल), विश्वदेवा (नागबला), बकरी का दूध, इनको सैन्धव के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे साधित तैल का प्रयोग करना चाहिये। ग्रन्थिकरोग में—मांसगुटिका का प्रथम स्रवण करके फिर इसको चीरकर-सैंधानमक घिसना चाहिये। पीछे से लेप करना चाहिये। जम्बूल रोग में-ग्रन्थि को दूध के साथ लोध्र के चूर्ण से रगड़कर इन्हीं से प्रलेपन करना चाहिये। वेदना रहित होने पर जम्बूल पर प्रथम कहा मुलहठी द्वारा संस्कृत तैल का लेप करना चाहिये। स्रावीरोग में—मधुपर्णी (गिलोय), मधूक (महुवा) और मुलहठी, इनको शहद में मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे ही संस्कृत तैल लगाना चाहिये। दाहवान् व्रण पर—पञ्चवल्कल (वट, गूलर, पिलखन, जामुन, पीपल), मुलहठी, इनको घी में मिलाकर लेप करना चाहिये। इसी प्रकार काकोल्यादि (जीवक आदि) गण की औषधियों को घी में मिलाकर प्रलेप देना उत्तम है ॥६-२६॥)

त्रिश्लेपितायास्त्वथ नासिकाया,
　　वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां;
　　पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बि तस्य ॥ २७ ॥

येन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रतिसंदधीत तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः॥
सुसंहितं सम्यगतो यथावन्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा।
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु पतङ्गयष्टीमधुकाञ्जनैश्च ॥ २९ ॥
संछाद्य सम्यक् पिचुना सितेन तैलेन सिञ्चेदसकृत्तिलानाम्।
घृतं च पाय्यः स नरः सुजीर्णे स्निग्धो विरेच्यः स यथोपदेशम्
रूढं च सन्धानमुपागतं स्यात्तदर्धशेषं च पुनर्निकृन्तेत्।
हीनां पुनर्वर्धयितुं यतेत समां च कुर्यादतिवृद्धमांसाम् ।३१।

येन केन प्रकार से त्वचा और मांस से नासिका के अलग हो जाने पर इसके संधान की विधि को कहते हैं। वृक्षों के पत्रों को नासा के प्रमाण में काटकर-इनके बराबर (इनको रखकर) गण्ड के पार्श्व से या (ललाट से त्वचामात्र को उखाड़कर एक पार्श्व में लगा रहे। इससे नासिका के अग्रभाग को बनाकर शीघ्रता से सूई आदि द्वारा सीकर—बिना आलस्य किये वैद्य उत्तम बन्धनों से बांध देवे। जिस समय पट्टी ठीक तरह बांधे उस समय श्वास मार्ग के लिये नासिका के छिद्रों को एरण्ड-नाल आदि कोमलनालों से ऊंचा उठा देना चाहिये। बांधने से पूर्व-लालचन्दन, मुलहठी, रसांजन इनके बारीक चूर्ण को बुरक देना चाहिये। इसके ऊपर श्वेत रूई का पिचु रखकर ऊपर से तिलों का तेल बार-बार लगाते रहना चाहिये। भोजन के भली प्रकार जीर्ण होने पर घी (पौष्टिक) देना चाहिये। स्निग्ध होने पर युक्तिपूर्वक विरेचन देना चाहिये। जिस समय भली प्रकार रोहण हो जाये और जुड़ जाये, उस समय इसके शेष आधे भाग को (जो कि पार्श्व में लगा था) फिर काट देना चाहिये। यदि नासिकाप्रमाण में कम रह जाये, तब इसको पुनः बढ़ाने का यत्न करना चाहिये, और यदि मांस अधिक बढ़ जाये तो इसको काटकर फिर समान करना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य–जैसे कर्णवेध किया जाता है वैसे ही "नासा-वेध" भी किया जाता है विशेषतः स्त्रियों का। इसमें भी कर्ण-वेध के समान उपद्रव हो जाते हैं और उनकी चिकित्सा भी वैसे ही की जाती है। अधिक क्या यह सब सर्वविदित विषय है॥

नाडीयोगं विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिम्।
य एवमेव जानीयात् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥३२॥

ओष्ठ-सन्धानविधि (Hair Lip)—

ओष्ठ की सन्धानविधि नासा की सन्धानविधि के समान है, परन्तु इसमें एरण्डनाल आदि नाड़ी का उपयोग नहीं होता। जो वैद्य इस प्रकार के कार्यों को करना जानता है, वह राजा की चिकित्सा करने योग्य है।

वि० मन्तव्य—कुछ देशों में ओष्ठों में वेध किया जाता है और भूषण पहिना जाता है। इसकी विधि, उपद्रव, चिकित्सा सब कर्णवेध के समान है। कभी-कभी दस्यु (डाकू) शत्रु-नाक, कान के भूषणों को खींच लेते हैं तो नासा, कान फट जाते हैं और कभी बर्द्धन कर्म में फट जाते हैं तब उक्त बन्धन या संधान की आवश्यकता पड़ती है। कान में एक से अधिक भी वेध किये जाते हैं, विशेषतः—स्त्रियों के कानों में और नासा में भी दोनों ओर दो और नासा प्राचीर में तीसरा—तीन वेध किये जाते हैं और ओठों में—दोनों में वेध किये जाते हैं। और ओठों को बड़े करने के उपाय भी किये जाते हैं। अफ्रीका की वन्य जातियाँ (हबशी) अब भी ओठ में भूषण पहनती हैं। ये तीन-कान, नाक तथा ओठ का वेध रक्षा एवं भूषण के लिये किया जाता है। परन्तु अति प्राचीन काल में केवल "कर्णवेध" ही होता था, फिर नासावेधन तथा ओष्ठवेधन का प्रचार भी हो गया है। क्योंकि कर्णवेध के मुहूर्त तथा संस्कारविधि का विधान ज्योतिःशास्त्र तथा कर्मकाण्ड में पाया जाता है। रक्षा के निमित्त बालकों का नासावेध किया जाता है और

१ संग्रह में कहा है–तुरन्त कट जानें पर भी यही विधि बरतें। यथा–निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छिन्नेऽप्ययं विधिः॥

उनके नाम—नत्थू, नाथू, नथमल तथा नत्थासिंह आदि रख दिये जाते हैं ।।३२।।

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कर्णव्यधबन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

सप्तदशोऽध्यायः

अथात आमपक्वैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे आमपक्वैषणीय (पच्यमान और पक्व) अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ।।१,२।।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥ ३ ॥

ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी आदि कई (गलगण्ड, अर्बुद, श्लीपद आदि २) व्याधियाँ इस ग्रन्थ में पृथक् पृथक् अध्यायों-प्रकरणों में कहीं गई हैं, जिनका समुत्थान-कारण शोफ होता है परन्तु उन सबसे पृथक् शरीर के किसी भी एक देश में उत्पन्न दोषसंघात (दोषसञ्चय), "शोफ"—व्रण शोफ (फोड़ा) कहलाता है। वह विविध लक्षणोंवाला, कोई चौड़ा (चकलीदार) कोई ग्रथित (गाँठ का सा), कोई सम (गोल) तो कोई विषम (कोनोंवाला) और केवल त्वचा एवं मांस में आश्रित होता है। यह व्रणशोफ या फोड़ा कहलाता है। व्रणशोफ का अर्थ है 'व्रणाय शोफः' अर्थात् व्रण के लिये—घाव होने के लिये जो शोफ होता है वह व्रणशोफ कहलाता है। पाठक विचार करें कि ग्रंथि आदि से इसमें क्रिया विलक्षणता—भेद है ।।३।।

स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः। तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः। तत्र, वातशोफः कृष्णोऽरुणो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति, श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः कठिनः स्निग्धः शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। सर्ववर्णवेदनः सन्निपातश्वयथुः। पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च, पित्तरक्तलक्षण आगन्तुर्लोहितावभासश्च ॥ ४ ॥

यह शोथ छै प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और आगन्तुज। इस शोथ के दोषों को बतानेवाले लक्षणों को कहते हैं। यथा—वातजन्य शोथ लाल वा काला, कठिन, कोमल अस्थिर एवं तोद (सुई के चुभने के समान वेदना), छेदन, भेदन आदि वेदनायें होती हैं। पित्तजन्य शोथ—पीला, कोमल, रक्तयुक्त, शीघ्र फैलनेवाला, ओष, चोष, दाह आदि वेदना (जलने के समान) होती है। कफजन्य शोथ—पाण्डु या सफेद, कठिन, शीत, स्निग्ध, धीरे धीरे फैलनेवाला, उसमें कण्डू, गुरुत्व, सुप्ति आदि वेदनायें होती हैं। सन्निपातजन्य शोथ में—सब दोषों का रङ्ग मिश्रित होता है और सब प्रकार की वेदनायें होती हैं। रक्तजन्य शोथ में—पित्त के समान लक्षण होते हैं और रङ्ग अतिकाला रहता है। आगन्तुज शोथ में—पित्तजन्य, रक्तजन्य शोथ के लक्षण मिश्रित रहते हैं और रक्त की चमक रहती है। इसी से कहा है—"बाह्यस्त्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैः, आगन्तुहेतुः।" चरक ।।४।।

स यदा बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न संभावितः प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययाद्बहुत्वाद्वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति। तस्यामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्र, मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टं, सूचोभिरिव निस्तुद्यते, दश्यत इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसर्प्यत इव, छिद्यत इव शस्त्रेण, भिद्यत इव, शक्तिभिः, ताड्यत इव दण्डेन, पीड्यत इव पाणिना, घट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गं, वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते चावपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्। कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मन्यमानो भिषङ्मोहमुपैति, तत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यमल्परुजताऽश्मवच्च घनता, न तत्र मोहमुपेयादिति ॥ ५ ॥

यह शोथ जब बाह्य (आलेपन आदि) आभ्यन्तर (क्वाथ पान, वमन, विरेचन आदि) उपचारों से शान्त नहीं होता तब अवतर्पण आदि क्रियाओं के विपर्य्यय से या दोषों की प्रबलता होने से पकने लगता है। इस आमशोथ के पच्यमान (पाकाभिमुख) एवं पक्व (पक जाने) के लक्षण कहता हूँ। यथा-आमशोथ के लक्षण—थोड़ी उष्णिमा, त्वचा के समान वर्ण (रङ्ग),

सूजन में ठण्ड, कठिनता, पीड़ा का थोड़ा होना, सूजन में कमी--ये आमशोथ के लक्षण हैं। पच्यमान शोथ--सूई के चुभने के समान पीड़ा, चिउँटियों के चलने के समान प्रतीति, शस्त्र द्वारा छेदन करने के समान, शक्ति से भेदन करने के समान, दण्ड से ताड़न करने की तरह, हाथों से पीड़न करने की तरह, अंगुलि द्वारा चलाने (हिलाने) के समान, अग्नि एवं क्षार से—जलाने या पकाने की भाँति अनुभव होता है, ओष (एक भाग में दाह), पास में रक्खी अग्नि के समान दाह प्रतीति, चारों ओर सारे सूजन में दाह होता है बिच्छू के काटे हुए पुरुष की भाँति, न तो बैठने में, न उठने में, न चलने में, न लेटने में किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं मिलती। भरे हुए मूत्राशय के समान फूला एवं झुर्रियों (त्वचा के संकोच) रहित शोथ होता है। त्वचा का रङ्ग बदलना, शोफ का उत्तरोत्तर बढ़ना, ज्वर, दाह, प्यास, भोजन में अरुचि, ये पच्यमान शोफ के लक्षण हैं। पक्व शोथ के लक्षण—वेदना की शान्ति, पाण्डुता, सूजन का घटना, झुर्रियों का आ जाना, त्वचा का विदीर्ण होना, अंगुलि से दबाने पर नीचे दब जाना (गड्ढा होना) और फिर ऊपर उठ आना, बस्ति में पानी की भाँति गति करना—अर्थात्—एक पार्श्व में दबाने से—दूसरे पार्श्व में भर जाना (Thrill), बार-बार चुभने के समान पीड़ा, कण्डू, (पक्वशोथ में विदाह न रहने से पित्त के लक्षण नहीं होते), सूजन का उन्नत होना, उपद्रवों की शान्ति, भोजन में रुचि होना—ये पक्व शोथ के लक्षण हैं।

कफजन्य रोग में शोथ की गति के गम्भीर (गहरी) होने से, एवं अभिघातजन्य शोथों में समस्त पक्व लक्षणों को न देखकर यह शोथ पका है या नहीं इस प्रकार का संशय (मोह) कई बार उत्पन्न हो जाता है। इन अवस्थाओं में—यदि बाहर से शोथ का रङ्ग त्वचा के समान हो, शोफ में बाहर शीतलता हो (अन्दर उष्णता), स्थूलता, वेदना की कमी, शिला के समान कठोरता हो तो भी संशय नहीं करना चाहिये—(शोथ को पक्व समझना चाहिये) कहा भी है 'न मोहमुपेयात्-यतस्तं रक्तपाकमाचक्षते वृद्धाः'।

वि० मन्तव्य—अवस्था भेद से व्रण शोफ के तीन प्रकार हैं—१—आम-कच्चा फोड़ा, २—पच्यमान—पकता फोड़ा, ३—पक्व—पका हुआ फोड़ा। इस सूत्र में इन तीनों अवस्थाओं के लक्षण कहे गये हैं। कफज तथा अभिघातज व्रण शोफ में गहरा-भीतरी पाक होता है और ऊपर से पका प्रतीत नहीं होता, अतः सन्देह हो जाता है कि पका है अथवा कच्चा है, परन्तु कुशल चिकित्सक को सन्देह (धोखा) नहीं होता। वह अपने अनुभव से जान लेता है और चीरा लगाकर पूय निकाल देता है और फिर शोधन रोपण आदि उपचार करता रहता है। इनके अतिरिक्त अन्य व्रण शोफ ऊपर से पक जाते हैं और फूट भी जाते हैं। संक्षेपतः आमशोथ में वेदनायें मन्द, पच्यमान में तीव्र होती हैं और पक्व में पुनः मन्द हो जाती हैं।

भवन्ति चात्र—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥ ६॥
वाताहृते नास्ति रुजा न पाकः।
पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूयः॥
तस्मात् समस्तान् परिपाककाले।
पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः॥ ७॥

जो वैद्य, आमशोथ, पच्यमानशोथ और पक्वशोथ को भली प्रकार से पहिचानता है, वह वास्तव में "वैद्य" कहलाने योग्य है, शेष सब प्राण-धन के चुराने से चोर हैं। एक दोष के कारण उत्पन्न हुआ शोथ भी पकने के समय तीनों दोषों द्वारा पकता है—वात के बिना शोथ में पीड़ा नहीं होती-पित्त के बिना पाक नहीं होता, कफ के बिना पूय नहीं होती, इसलिये पकते समय शोफ को तीनों दोष एकत्रित होकर पकाते हैं।६,७।

कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं
कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य।
पचत्यतः शोणितमेव पाको
मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः॥ ८॥

शोथ के परिपाक के विषय में विद्वानों का एक और भी मत है। प्रकोप, प्रसार, स्थान, संश्रय-काल विधि से बढ़े हुए पित्त को वश में करके तथा वात एवं कफ को घटाकर रक्त, शोथ को पकाता है, यह दूसरे विद्वानों का विचार है। घाणेकर जी का कहना है कि बढ़ा हुआ पित्त-बल से वात और कफ को विवश करके रक्त को पका देता है।

वि० मन्तव्य—घाणेकर जी वाला अर्थ ही ठीक है, कारण वात एवं कफ स्वभावतः पाक नहीं कर सकते केवल पित्त ही पाक कर सकता है और रक्त को पकाकर पूयरूप में परिणत कर देता है। इतना ही नहीं रक्त भी पित्त का समानधर्मा है अतः वही पकता भी है और तत्स्थानीय मांस वसा आदि सौम्य होने से पकते नहीं, अपितु गलते-सड़ते हैं भले ही पकते प्रतीत होते हों॥ ८॥

तत्र आमच्छेदे मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रधिर्वा भवति। स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वेति॥ ९॥

आमशोथ के छेदन करने पर—मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि की विकृति बहुत अधिक मात्रा में रक्त का स्राव, वेदना का होना, फटना, अनेक प्रकार के उपद्रवों का होना, अथवा क्षतजन्य विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। और जब कभी वैद्य भय या मोह के कारण पक्व शोथ को भी अपक्व समझकर देर तक उपेक्षा करता रहता है तब दूर तक घुसी पूय द्वार के न मिलने से अपने आश्रय को फाड़कर उत्सङ्ग (क्रोड़) या बड़े भारी अवकाश को उत्पन्न करके नाड़ीव्रण बना देती है। इस तरह कष्टसाध्य या असाध्य हो जाती है।

वि० मन्तव्य—यह चेतावनी उस व्रण के लिये है जिसमें आमता या पक्वता में सन्देह होता है, वस्तुतः पका होता है और गम्भीर होने से स्वतः नहीं फूटता तथा चीरा लगाना आवश्यक होता है ॥ ९ ॥

भवति चात्र—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ १० ॥

कहा भी है—

जो वैद्य अज्ञानवश आम शोथ का छेदन करता है, और जो पक्व शोथ की उपेक्षा करता है, इन दोनों असमीक्ष्यकारी वैद्यों को चाण्डाल के समान समझना चाहिये, (क्योंकि समझकर ये काम नहीं करते)।

वि० मन्तव्य—आम को चीरना और पक्व (फोड़ा) को न चीरना बुरा है ॥ १० ॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाऽसहः ॥ ११ ॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥ १२ ॥
प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः ।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ १३ ॥

शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी को भोजन करा देना चाहिये, और जो पुरुष मद्य पीता हो वेदना को न सहनेवाला हो उसको तीक्ष्ण मद्य पिला देना चाहिये। इसका लाभ-अन्न के कारण रोगी मूर्च्छित नहीं होता, और मस्त होने से शस्त्र-पीड़ा का अनुभव नहीं करता। इसलिये कहे हुए रोगों में (मूढगर्भोदराश्मरी आदि को छोड़कर) अवश्य भोजन कराना चाहिये। मनुष्यों का आभ्यन्तर प्राण (बल-शक्ति)—बाह्य प्राण (अन्न) के गुणों के समान गुणवाला है। इसलिये बिना विरोध के इस पांचभौतिक शरीर को धारण करता है[1] ॥ ११–१३ ॥

अल्पो महान् वा क्रियया विना यः
समुच्छ्रितः पाकमुपैति शोफः ।
विशालमूलो विषमं विदग्धः
स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः ॥ १४ ॥

उत्पन्न हुआ अल्प या महान् जो शोथ बिना आलेप आदि क्रिया के पकता है, वह शोथ विशालमूलवाला, विषमपाकी, तथा आभ्यन्तर पूयवाला होता है, इसलिये कष्टसाध्य है। विषमपाकी सब अङ्गों में ठीक प्रकार से नहीं पकता।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य यह कि विम्लापन आदि से व्रण शोथ नहीं शान्त होता और पाकाभिमुख हो जाता है तब पाचन लेप आदि की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। अन्यथा स्वतः पकने के लिये छोड़ रखने से यदि पकता है तो कष्टसाध्य होता है। यही सू० १५ में स्पष्ट किया गया है ॥ १४ ॥

आलेपविस्रावणशोधनैस्तु
सम्यक्प्रयुक्तैर्यदि नोपशाम्येत् ।
पच्येत शीघ्रं सममल्पमूलः
स पिण्डितश्चोपरि चोन्नतः स्यात् ॥ १५ ॥

समान-अल्पमूलवाला शोथ आलेपन, रक्त मोक्षण, संशोधन आदि उपचारों के भली प्रकार से प्रयुक्त करने पर भी यदि शान्त नहीं होता अपितु पकता ही है, तब यह शोथ गोलाकार होकर ऊपर को उठ आता है ॥ १५ ॥

कक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य ।
तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि
मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ १६ ॥

जिस प्रकार कि तृण-बहुल (घास के ढेरवाले) प्रदेश में लगी आग वायु के कारण प्रबल होकर—बलपूर्वक सम्पूर्ण ढेर को जला देती है। उसी प्रकार बाहर न निकली हुई पूय मांस, शिरा, स्नायुओं का भक्षण करती है।

वि० मन्तव्य—अतः पूय को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये ॥१६॥

आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम् ।
तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थीं पाटनक्रियाम् ॥१७॥

---

१ 'योऽवेदनासहः' इस पाठ में—'जो मनुष्य वेदना का सहन न कर सके उसको मद्य पिलाये' यह अर्थ है।

आभ्यन्तर प्राण—अन्नपानरस, बाह्यप्राण अन्न यह भी अर्थ है। "प्राणो वा अन्नम्" "शरीरमन्नादम्"। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः॥" तैत्तिरीयोपनिषत्।

डल्हण ने आभ्यन्तर प्राण का अर्थ—अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व रज तम, पंचेन्द्रिय और भूतात्मा किया है। और बाह्यप्राण—आग्नेय, सौम्य, वायव्य पदार्थ, दिन, वायु, रात, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध किया है। इनमें बाह्यप्राण के अग्नि गुणों से—कटु, अम्ल लवण आदि से—अन्तरग्नि शरीर को धारण करती है।

पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते।
एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥१८॥

व्रणशोफ की चिकित्सा इस सूत्रस्थान में कहते हैं :—

सब से प्रथम विम्लापन (अङ्गुली आदि से मर्दन) करना चाहिये दूसरा—जलौका आदि से अवसेचन (रक्तमोक्षण), तीसरा—उपनाह (पकाने के लिये बन्धन-पुलटिस आदि), चतुर्थ—पाटनक्रिया (शस्त्र से), पाँचवाँ—शोधन (पञ्चवल्कलक्काथ से), छठा—रोपण (प्रलेप आदि) कार्य और सातवाँ कार्य-वैकृतापह (सवर्णकरना, रोमसंजनन आदि कार्य) करना—ये व्रण के सात कार्य हैं[1]। वैकृतापहम्-विकृति को दूर करना।

वि० मन्तव्य—पाटन दो प्रकार से किया जाता है—१—शस्त्र से चीरना फाड़ना और २—दारण लेप से दारण करना-फोड़ना। विम्लापन से बैठ जाता है, यदि न बैठे तो अवसेचन से दब जाता है यदि न दबे तो उपनाह से पकाना चाहिये और पकने पर पाटन अथवा दारण करे। तदनन्तर शोधन—व्रणशोधन करे—पूय निकलता रहे, फिर शोधन के साथ रोपण करे, समतल होने पर केवल रोपण करे। यदि व्रण-भूमि पर काला या श्वेत दाग पड़ जाय तो उसके नाश का उपाय करे। विशेष देखिये—चि० स्था० अ० १ ॥१७,१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आमपक्वैषणीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो व्रणालेपनबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे व्रण के लिये आलेपन, व्रण के बाँधने की विधि को बताने के लिये 'व्रणालेपनबन्धविधि' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च, तं च प्रतिरोगं वक्ष्यामः, ततो बन्धः प्रधानं, तेन शुद्धिर्व्रणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥३॥

आलेप ही, सबसे (बहिःपरिमार्जन या अन्तःपरिमार्जन) औषध द्रव्यों से श्रेष्ठ एवं समीपस्थ उपाय हैं। यही सब प्रकार के शोथों में सामान्य (तुल्य है) और सब उपायों में शीघ्र पीड़ा हर लेने से यही प्रधानतम है। इस आलेप को प्रत्येक रोग के लिये सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में कहेंगे। आलेप के बाद बन्ध प्रधान है। इस बन्ध के द्वारा व्रण का शोधन, व्रण का रोपण, अस्थि की स्थिरता एवं सन्धि की दृढ़ता होती है ॥३॥

तत्र प्रतिलोममालिम्पेत्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥४॥

आलेप को लोमों के अभिमुख (प्रतिलोम) लगाना चाहिये, अनुलोम (लोमों के अनुकूल) नहीं करना चाहिये। क्योंकि—प्रतिलोम लगाने पर औषध भली प्रकार से स्थिति करती हैं और अन्दर प्रविष्ट होती है। रोमकूपों द्वारा, स्वेदवाहिनियों से तथा सिरामुखों द्वारा जाकर वीर्यवान् होती है ॥४॥

न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्, शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च ॥५॥

पीड़न द्रव्यों से जिस व्रण का पीड़न करना अभीष्ट हो, उसको छोड़कर अन्य सूखे हुए आलेप की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि—सूखा हुआ आलेप निरर्थक और दर्द करनेवाला होता है ॥५॥

स त्रिविधः—प्रलेपः, प्रदेहः आलेपश्च। प्रलेपप्रदेहयोरन्तरं—तत्र प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी वा, प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च, मध्यमोऽत्रालेपः। तत्र, रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः, प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशमनः शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च, तस्योपयोगः क्षताक्षतेषु, यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः 'कल्क' इति संज्ञां लभते निरुद्धालेपनसंज्ञः, तेनास्रावसन्निरोधो मृदुतापूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति॥

यह आलेप तीन प्रकार का होता है। यथा—प्रलेप, प्रदेह और आलेप। प्रलेप और प्रदेह में अन्तर (भेद)—प्रलेप-शीतल, पतला, अपीड़ितव्य व्रण में अविशोषि, पीडितव्य व्रण में विशोषि (सूखनेवाला), (चन्दन के समान जो लेप है, वह प्रलेप है)। प्रदेह—विषय की अपेक्षा से उष्ण (वात-कफ-बहुल व्रण में), शीत (पित्त-रक्त-प्रधान व्रण में), बहल (स्थूल), बहुत न सूखनेवाला, (कल्क को पिण्डाकार करके व्रण के ऊपर लगाना-प्रदेह)-प्रदेह है। आलेप-मध्यम (प्रलेप एवं प्रदेह के मिश्रित) लक्षणोंवाला है।

इनमें आलेप-रक्त-पित्त शोथ को शान्त करता है, प्रदेह-वात-कफ को शान्त करता है; जोड़नेवाला, शोधक, रोपक (भरनेवाला), शोफ एवं वेदना को मिटाता है। इस आलेप का उपयोग क्षत अक्षत शोथ में होता है। जो आलेप क्षतजन्य व्रणों में वरता जाता है, उसकी कल्क संज्ञा है। इसी को 'निरुद्धालेपन' कहते हैं। क्योंकि इस आलेप से स्राव का निरोध

---

१ आगे व्रणशोफ के उपक्रम साठ बताये हैं। इन साठों में ये सात मुख्य हैं और सदा कार्य में आते हैं—इसलिये इनको कहते हैं।

(रुकावट) होता है- कोमलता आती है, सड़ा मांस दूर होता है (खींचता है), पूय बाहर आती है और व्रण का संशोधन होता है ॥६॥

अविदग्धेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत् ।
यथास्वं दोषशमनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥७॥
त्वक्प्रसादनमेवाग्र्यं मांसरक्तप्रसादनम् ।
दाहप्रशमनं श्रेष्ठं रुजाकण्डूविनाशनम् ॥८॥
मर्मदेशेषु ये रोगा गुह्येष्वपि तथा नृणाम् ।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥९॥
(षड्भागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके ।
अष्टभागं तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥१०॥)

अविदग्ध शोथों में आलेप ही हितकारी है, (विदग्ध शोथों में प्रदेह-उपनाह उत्तम हैं)। इससे दाह (पित्त की), कण्डू (कफ की) रुजा-पीड़ा (वायु की) अपने अपने दोषों का शमन होता है। त्वचा का प्रसादन करने से सब से श्रेष्ठ (प्रधान) है, मांस-रक्त का प्रसादन करता है, दाह की शान्ति करने से श्रेष्ठ है, तोदकण्डू को नष्ट करता है—ये आलेप के कार्य हैं। पुरुषों के मर्मस्थानों में तथा गुह्य भागों में जो रोग (भगन्दर-अर्श आदि) हों—उनके संशोधन के लिये आलेप ही वैद्य को करना चाहिये। आलेप के अन्दर स्नेह की मात्रा—पैत्तिक आलेप में छठा भाग, वातिक में चौथा भाग, कफजन्य में आठवाँ भाग होनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—आलेपनों (मलहमों) में—राल आदि द्रव्यों का छठा, चौथा अथवा आठवाँ भाग स्नेह (घृत, तैल अथवा वसा) मिलाया जाता है। विधि भेद से आलेपन ४ प्रकार का होता है। १–स्नेह में अष्टमांश मोम डालकर अग्नि पर उष्ण किया जाता है, मोम पिघलने पर उतार लिया जाता है, शीतल होने पर जम जाता है। इस में छ गुने चौगुने अथवा आठगुने द्रव्यों का कपड़छान चूर्ण मिला दिया जाता है। २—द्रव्यों के कपड़छान चूर्ण को स्नेह में मिला, थोड़ा २ जल डालकर घोटा, पीसा, फेंटा जाता है, माखन सा होने पर रख लिया जाता है। ३—कपड़छान द्रव्यों को अथवा कूटे तिल अतसी आदि को स्नेह में डाल हलुवा बना लिया जाता है। प्रथम २ का नाम "मलहम" है और तीसरे का नाम "पुलटिस" और चौथा—द्रव्यों को पीसकर कल्क बनाकर लेप करना चाहिये ॥७-१०॥

तस्य प्रमाणं महिषार्द्रचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति ॥११॥

इस आलेप का प्रमाण—भैंस का गीला चमड़ा जितना मोटा होता है, उतना ही आलेप करना चाहिये। चरक में—"त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः" ॥११॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत, मा भूच्छैत्यविहतोष्मणस्तद्विनिर्गमाद्विकारप्रवृत्तिरिति ॥१२॥

आलेप को रात्रि में नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि—शोफ में आलेप की शीतलता से ऊष्मा के अन्दर रुक जाने से—बाहर न आने के कारण किसी अन्य विकार की उत्पत्ति न हो जाये—इसलिये रात्रि में आलेप नहीं करना चाहिये। एक दूसरा कारण—"तमसा पिहितोह्यूष्मा रोमकूपैरनावृतः। लेपाद् विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः" ॥१२॥

प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं दिवा ।
पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः ॥१३॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
उपर्युपरि लेपं च न कदाचित् प्रदापयेत् ॥१४॥
ऊष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि ।
न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः ।
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः ॥१५॥

प्रदेहसाध्य व्याधि में दिन में आलेप करना उत्तम है। पित्तजन्य, रक्तजन्य, अभिघातजन्य, एवं विषजन्य शोथ में भी खासकर दिन में ही आलेप करना चाहिये, पर्य्युषित (बासे-एक दिन पुराने) आलेप को व्रण में नहीं लगाना चाहिये। एक किये आलेप के ऊपर दूसरा आलेप भी कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार करने से—अधिक उष्णिमा वेदना, दाह, उत्पन्न होता है। ऊपर ऊपर लेप करने से लेप मोटा-घन हो जाता है—इससे ये उपद्रव होते हैं। और एक बार लगाये आलेप को पुनः नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि शुष्क होने से वह निर्वीर्य होता है और ठीक होने पर भी यह निरर्थक है[1] ॥१३–१५॥

---

१ प्रदेहाः सर्व एवैते कर्त्तव्याः संप्रसादनाः ।
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥
अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः ।
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृते घनाः ॥
त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः ।
नातिस्निग्धेन रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् ॥
क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णभावात् प्रवर्त्तयेत् ।
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥
स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते ।
उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते ॥
तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः
अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते ॥
त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि ।
तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यपुटायते ॥

अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः, तद्यथा—क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्क-लालाबूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः, प्रकरणतश्चैषामादेशः ॥

इसके आगे व्रणबन्धन द्रव्यों की व्याख्या कहते हैं। यथा-क्षौम (सन से बनाया), कार्पास (रूई), आविक (मेढे के बालों से बुना), दुकूल (पट्ट वस्त्र), कौशेय (कौशेयु--कोशाकार कृमि से बना-रेशम), चीन पट्ट (चीन देश में बना वस्त्र), चर्म (हरिण आदि का), अन्तर्वल्कल (भूर्जपत्र-गूलर आदि की छाल), अलाबुशकल—(तुम्बीफल का टुकड़ा), लता, विदल (बांस की खपट आदि), रज्जु, तूलफल (सिम्बल का फल आदि), सन्तानिका, लौह (स्वर्ण-सीसा आदि) व्रण को बाँधने के द्रव्य हैं।

इन व्रणबन्धन द्रव्यों का उपयोग व्याधि और काल के अनुसार करना चाहिये, यथा—वात-कफ रोगों में घने व्रण-बन्धन द्रव्यों का, उष्णकाल में पतले व्रण द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार प्रकरणानुसार इनका आदेश करना चाहिये। यथा—सर्पदष्ट में अरिष्टबन्ध, रक्तस्राव में क्षीरसन्तानिका का, भग्नसन्धि के लिये विदल लता आदि का, शिर के व्रणों के लिये अलाबुशकलों का उपयोग करना चाहिए। सन्तानिका का अर्थ घाणेकर जी ने—दो तह या चार तह किया वस्त्र—किया है। डल्हण ने 'क्षीरसंतानिका' भी अर्थ दिया है।

तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितमु(प)त्तोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोफणाः पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ १७ ॥

पट्टियाँ—चौदह प्रकार की पट्टियाँ (बाँधने के प्रकार) हैं। यथा—कोश, दाम, स्वस्तिक, अनुवेल्लित, उत्तोली, मण्डल, स्थगिका, यमक, खट्वा, चीनविबन्ध, वितान, गोफण और पञ्चाङ्गी—ये चौदह प्रकार की पट्टियाँ हैं। प्रायः इनकी आकृतियाँ इसके नामों से ही स्पष्ट हैं[1] ॥ १७ ॥

न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति।
तन्वा लिप्तेन ये दोषाः तानेव जनयेद् भृशम् ॥
संशुष्कः पीडयेद् व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः।
चरक चि अ० २१ ॥९८॥

१ लक्षण—
पूरयित्वौषधैर्बन्धः क्रियते कोशकाकृतिः।
कोशकाख्यः स विज्ञेयो वैद्यैर्बन्धेन वर्जिताम् ॥
दामाकृतिं चतुष्पादां दामाख्यं स्वस्तिकं पुनः।
स्वस्तिकाकृतिमासीव्य पश्चादावेष्ट्य बध्यते ॥

तत्र कोशमङ्गुष्ठांगुलिपर्वसु विदध्यात्, दाम सबाधेऽङ्गे, सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु स्वस्तिकम्, अनुवेल्लितं शाखासु, ग्रीवामेढ्रयोः मु (प्र)त्तोलीं, वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्, अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकां, यमलव्रणयोर्यमकं, हनुशङ्खगण्डेषु खट्वाम्, अपाङ्गयोश्चीनं, पृष्ठोदरोरःसु विबन्धं, मूर्धनि वितानं, चिबुकनासोष्ठांसबस्तिषु गोफणां, जत्रुण ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गीमिति, यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् विदध्यात् ॥ १८ ॥

इनमें कोष बन्ध—अङ्गुष्ठ एवं अंगुलियों के पर्वों में बाँधना चाहिये। दाम—अङ्ग के समीपवाले प्रदेश में—जहाँ दूसरा बन्धन बन्ध न आ सके-अक्षकास्थि आदि में। स्वस्तिक बन्धन-सन्धि कूर्चक (क्षिप्र मर्म के ऊपर दोनों ओर), भ्रू, स्तनों के बीच से हाथ-पाव के तलुवों में। अनुवेल्लित—टांगों बाँहों में (शाखाओं में)। उत्तोली ग्रीवा एवं शिश्न में। मण्डल—गोल अङ्गों में (बाहु, पार्श्व, उदर, ऊरु आदि में)। स्थगिका—अंगुष्ठ–अंगुलि एवं शिश्न के अग्रभाग में। यमक—संयुक्त व्रणों में। खट्वा—हनु, शंख प्रदेश और गण्डस्थल में। चीन—नेत्रप्रान्तों में। गोफण—चिबुक, नासिका, ओष्ठ, अंस और वक्षप्रदेश की संधि (जत्रु) के ऊपर बाँधनी चाहिए। अथवा जो बन्धन शरीर के जिस प्रदेश में ठीक बैठे वह बन्धन उस प्रदेश में बाँधना चाहिए ॥ १८ ॥

अनुवेल्लितं तु तद् विद्यात् मुत्तोलीलक्षणं शृणु।
बह्वंघ्रिमुटिकाकारो जालवद् बहुरन्ध्रकः ॥
मुत्तोलीबन्ध एष स्यात् संज्ञान्तरमतः शृणु।
गोतुण्डिकां चालनीं च तानेवाहुर्भिषग्वराः ॥
मण्डलं वेष्टनाकारं विदध्यात् मण्डलाख्यके।
भेषजादिभिरापूर्य स्थगिका पट्टकेन च ॥
बध्यते मण्डलाकारो यमलव्रणयोस्तु सः।
खट्वा तु बहुभिर्वृता—
चीनबन्धं विजानीयाच्चीराभिर्बहुभिर्वृतम्।
विबन्धो विवधो बन्धः स च षड्ग्रन्थिकायुतः ॥
ज्ञेयो वितानसंज्ञस्तु वितानाकारसंयुतः।
पाषाणगुडकोत्क्षेपकारिणीं गोफणां विदुः ॥
तदाकृतिं भिषक् कुर्यात् फलस्य पञ्चकं त्रिभिः।
पंचांगीं तु वृत्तां कुर्यात् सन्धानाय चिकित्सकः ॥

लेखक का शल्यतन्त्र देखिये। गोफण को भाषा में गोफना कहते हैं—जिससे पक्षी उड़ाते हैं। दाम-बड़ी मोटी माला का नाम है। कोश—तलवार के कोश के समान, जिसे खोल कहते हैं। अनुवेल्लित—बेल के समान ऊपर को बल खाये—इसी प्रकार से सब का वर्णन नाम से स्पष्ट है।

यन्त्रणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ १९ ॥

मृदु, सम और गाढ़ भेद से बन्ध (गांठ) तीन प्रकार का है। यन्त्रण व्रण की गांठ, ऊपर नीचे और तिरछे भेद से तीन प्रकार की है। व्रण की आकृतियों के भिन्न भिन्न आकार होने पर भी यन्त्रण तीन ही प्रकार का है ॥ १९ ॥

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुमनाविद्धमसंकुचितं मृदु पट्टं निवेश्य बध्नीयात्। न च व्रणस्योपरि कुर्याद् ग्रन्थिमाबाधकरं च ॥ २० ॥

व्रण के उपर घनी कवलिका (गद्दी, औषध और पट्टी के बीच में रक्खी वस्तु-केले का पत्ता आदि जो कि औषध की रक्षा के लिये एवं वायु संचार को रोकने के लिये रक्खी जाती है) रखकर वाम और कोमल पट्टी को घुमाते हुए सरल, सीधा (बिना उलझनों के) एवं झुर्रियों रहित (सिलवटों के बिना) दक्षिण हाथ से बाँधना चाहिये। व्रण के ऊपर या व्रण के चारों ओर—(वाम—दक्षिण—पार्श्व में, या पीछे की गई गांठ—सोते समय कष्ट देती है) पीड़ा करनेवाली गांठ नहीं देनी चाहिए ॥ २० ॥

न च विकेशिकौषधे अतिस्निग्धे अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत, यस्मादतिस्नेहात् क्लेदः, रौक्ष्याच्छेदः, दुर्न्यासाद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥ २१ ॥

औषधकल्क—घी एवं शहद को मिलाकर वस्त्र या धागों से बनाई वर्त्ति को विकेशिका कहते हैं। यह विकेशिका—सड़े मांस युक्त व्रणों में भरी जाती है। इस विकेशिका में औषधकल्क अधिक नहीं होना चाहिये। न इसमें अधिक स्नेह न अधिक रूक्षता होनी चाहिये। और न इस विकेशिका को बुरी प्रकार (दबाकर या ढीला) रखना चाहिये। क्योंकि अतिस्नेह से क्लिन्नता, रूक्षता के कारण छेदन (विदीर्णता) और बुरी प्रकार से प्रविष्ट करने पर व्रणमुख का अवघर्षण होता है ॥२१॥

तत्र व्रणायतनविशेषाद्बन्धविशेषस्त्रिविधो भवति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥ २२ ॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः ॥२३॥

व्रण के स्थानभेद से बन्ध भी तीन प्रकार के हैं। यथा—गाढ़, सम और शिथिल। जो बन्ध दबाते समय पीड़ा न करे उसका नाम गाढ़ है, जो बन्ध अन्तः श्वास के साथ हिले—तने-उसका नाम शिथिल और जो बन्धन न गाढ़ और न शिथिलसमान हो उसको 'सम' कहते हैं ॥ २२,२३ ॥

तत्र स्फिक्कुक्षिकक्षावङ्क्षणोरुशिरःसु समः, अक्ष्णोः वदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरःसु समः, अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिल इति ॥ २४ ॥

व्रण के स्थान भेद से बन्ध—

स्फिक्, कुक्षि, कक्षा, वंक्षण, ऊरु एवं शिर इनमें गाढ़ बन्धन चाहिये। शाखा (हाथ-पाँव, मुख, कान, कण्ठ, शिश्न, अण्डकोश, पीठ, पार्श्व, उदर और उर में सम बन्ध बाँधना चाहिये। आँखों में तथा सन्धियों में शिथिल बन्ध बाँधना चाहिये ॥ २४ ॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं बध्नीयात्, समस्थाने शिथिलं, शिथिलस्थाने नैव, एवं शोणितदुष्टं च, श्लैष्मिकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्, एवं वातदुष्टं च ॥ २५ ॥

दोष विशेष से बन्ध—पैत्तिक व्रणों में—जिन स्थानों में गाढ़ बन्धन (स्फिक् आदि में) बाँधा जाता है वहाँ सम बन्ध बाँधना चाहिये और जिन स्थानों (कान-मुख आदि) में सम बन्ध बाँधना है, वहाँ शिथिल, शिथिलबन्ध के स्थानों में बन्ध बाँधना ही नहीं चाहिये। यही नियम रक्तदूषित व्रणों में व्यवहार करना चाहिये। श्लैष्मिक व्रणों में—शिथिल बन्धन के स्थान पर सम, सम के स्थान पर गाढ़ और गाढ़ के स्थान पर अधिक गाढ़ बन्धन बाँधना चाहिये। इसी प्रकार वातदूषित व्रण बन्धन बाँधना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र पैत्तिकं शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्, रक्तोपद्रुतमप्येवं, श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोस्त्र्यहात्, वातोपद्रुतमप्येवम्। एवमभ्यूह्य बन्धविपर्ययं च कुर्यात् ॥ २६ ॥

कालविशेष से बन्ध विशेष—पैत्तिक व्रणों को—शरदृतु में, और ग्रीष्म में—दिन में दो बार बाँधना चाहिये। रक्त दूषित व्रणों को भी इसी विधि से बाँधना चाहिए। श्लैष्मिक व्रणों को—हेमन्त एवं वसन्त के तीसरे दिन बाँधना चाहिये। इसी प्रकार से रक्तदूषित व्रणों को भी बाँधना चाहिये। इस प्रकार अपनी बुद्धि से विचार कर व्रण के बन्धन-विपर्यय को तथा व्रणमोक्षण को करना चाहिये। यथा—पित्तश्लेष्म व्रणों को—प्रातःकाल ग्रीष्म एवं शरदृतु में, हेमन्त में पैत्तिक व्रणों को प्रतिदिन बाँधना चाहिये ॥ २६ ॥

तत्र, समशिथिलस्थानेषु गाढं बद्धे विकेशिकौषधनैरर्थक्यं शोफवेदनाप्रादुर्भावश्च। गाढसमस्थानेषु शिथिले बद्धे विकेशिकौषधपतनं पट्टसंचाराद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति। गाढशिथिलस्थानेषु समं बद्धे गुणाभाव इति ॥२७॥

यदि सम एवं शिथिल बन्ध के स्थान पर गाढ़ बन्ध बाँधा जायगा तो विकेशिका की औषध निरर्थक हो जायेगी एवं शोथ तथा वेदना उत्पन्न हो जायेगी। गाढ़ एवं सम के स्थान पर शिथिल बन्ध बाँधने से विकेशिका की औषधि गिर जायेगी। पट्टी के हिलने से व्रण का मुख रगड़ेगा। गाढ़ एवं शिथिल स्थान पर सम बन्ध बाँधने से गुण नहीं होता ॥ २७ ॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक्प्रसादो मार्दवं च ।२८।

अविपरीत, ठीक प्रकार से, उचित रूप में बाँधने से वेदना की शान्ति, रक्त की स्वच्छता और कोमलता उत्पन्न होती है ।२८।

अवध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिर्विशेषैरभिहन्यते व्रणः, विविधवेदनोपद्रुतश्च दुष्टतामुपैति, आलेपनादीनि चास्य विशोषमुपयान्ति ।२९।

व्रण पर पट्टी को न बाँधने से—दंश (दांस-वनमक्षिका), मशक (मच्छर), तिनका, लकड़ी, पत्थर, धूल, शीत, धूप, वायु आदि से व्रण दूषित हो जाता है, नाना प्रकार की वेदनायें (रोग) एवं उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। व्रण पर किये आलेप आदि सब सूख जाते हैं ॥२९॥

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम् ।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति ॥३०॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥३१॥

चूर्णित (बहुत खण्डों में भग्न), मथित (विलोड़ित), भग्न (काण्डभग्न), विश्लिष्ट (सन्धिच्युत), अतिपातित (स्थान से च्युत-लटकता हुआ), अस्थिच्छिन्न, स्नायुच्छिन्न, सिराछिन्न व्रण बन्धन द्वारा शीघ्र भरता है। बन्धन के कारण व्रणी पुरुष सुख पूर्वक सोता है, सुखपूर्वक चलता-बैठता है। बिस्तर पर लेटने में, आसन पर बैठने में सुख पहुँचता है, व्रण जल्दी भरता है ॥ ३०, ३१ ॥

अबन्ध्याः—पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्ता यदा शोफदाहपाकरागतोदवेदनाभिभूताः क्षाराग्निदग्धाः पाकात् प्रकुथितप्रशीर्णमांसाश्च भवन्ति ॥ ३२ ॥

निम्न अवस्थाओं में बन्धन नहीं बाँधना चाहिए। यथा—पित्तजन्य, रक्तजन्य, अभिघातजन्य और विषजन्य व्रण जब शोफ, दाह, पाक, लालिमा, तोद, वेदना से युक्त हों, क्षार या अग्नि से जलने के कारण पाक के कारण मांस गल गया हो—(लटक रहा हो) तब व्रणों पर पट्टी नहीं बाँधनी चाहिए ॥३२॥

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडकामधुमेहिनाम् ।
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे विषजुष्टाश्च ये व्रणाः ॥ ३३ ॥
मांसपाके न बध्यन्ते गुदपाके च दारुणे ।
स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥

कुष्ठरोगियों के, अग्नि से दग्ध पुरुषों के, मधुमेही पुरुषों की प्रमेहपिडिकायें, मूषिकाविष में, कर्णिका (दूषित मांसाङ्कुर) में, विषयुक्त व्रणों में, मांसपाक की अवस्था में, गुदपाक की भयानक अवस्था में व्रणों पर पट्टी नहीं बाँधनी चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपनी बुद्धि से भी बन्ध्य या अबन्ध्य व्रणों की परीक्षा करे ॥ ३३, ३४ ॥

देशं दोषं च विज्ञाय व्रणं च व्रणकोविदः ।
ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत् ॥ ३५ ॥

व्रण को जाननेवाला विद्वान् देश, दोष, व्रण और शीत-उष्ण-साधारण-ऋतुओं को जानकर बन्धनों को बाँधे ॥३५॥

ऊर्ध्वंतिर्यगधस्ताच्च यन्त्रणा त्रिविधा स्मृता ।
यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः ॥३६॥
घनां कवलिकां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम् ।
विकेशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत् ॥३७॥
प्रक्लेदयत्यतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च ।
युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति ॥३८॥
विषमं च व्रणं कुर्यात् स्तम्भयेत् स्रावयेत्तथा ।
यथाव्रणं विदित्वा तु योगं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥३९॥

उपसंहार—

यन्त्रणा तीन प्रकार की है। यथा—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्। जिस प्रकार से बन्ध बाँधा जाता है, उसकी विधि को सम्पूर्ण रूप से कहता हूँ। व्रण के ऊपर घनी कवलिका को रखकर कोमल वस्त्र से पट्टी बाँधनी चाहिए। विकेशिका की औषध को न तो बहुत स्निग्ध और न बहुत रूक्ष करना चाहिए। अतिस्निग्ध होने से व्रण में क्लिन्नता उत्पन्न करती है, और रूक्ष होने से व्रण का हिंसन करती है। उचित स्नेहवाली बत्ती व्रण को भरती है, बुरी प्रकार से प्रविष्ट की हुई व्रण के मुख का घर्षण करती है। व्रण को विषम बना देती है। स्राव को रोक देती है या स्राव को आरम्भ कर देती है। इसलिए वैद्य को चाहिए कि व्रण को देखकर उपचार करें ॥ ३६-३९ ॥

पित्तजे रक्तजे वाऽपि सकृदेव परिक्षिपेत् ।
असकृत् कफजे वापि वातजे च विचक्षणः ॥४०॥
तलेन प्रतिपीड्याथ स्रावयेदनुलोमतः ।
सर्वांश्च बन्धान् गूढान्तान् सन्धींश्च विनिवेशयेत् ॥

पित्तजन्य एवं रक्तजन्य व्रणों में एक बार ही दबाकर दोष निकालना चाहिए। कफजन्य एवं वातजन्य व्रणों में बार-बार दबाना आदि करना चाहिए। हाथों के तलुओं से व्रण को नीचे दबाकर अनुलोम रूप में स्राव करना चाहिए। सब प्रकार के बन्ध इस प्रकार बाँधे कि उसके सिरे और जोड़ बाहर से दिखाई न दें।

वि० मन्तव्य—२ श्लोकों का अर्थ है कि—पित्त व्रणों पर तथा रक्तजव्रणों पर पट्टी का एक ही लपेट देना चाहिए, जिससे उसमें ऊष्मा की उत्पत्ति न हो। कफज एवं वातज व्रणों पर कई लपेट देने चाहिए, जिससे उनका शमन हो। और 'अथ' अर्थात् यथासमय बन्धन खोलकर व्रण को तल से दबाकर (यदि उसमें पूय सञ्चित हो तो) सीधे मार्ग से पूय का स्रावण करे और फिर बन्धन बाँध देवे। संक्षेपतः सभी बन्धनों में सन्धि बिठाते हुए बन्धन करे। पट्टी के अन्तिम छोर को पट्टी में ही फँसा देवे अर्थात् गाँठ न देवे ॥४०,४१॥

ओष्ठस्याप्येष सन्धाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः ।
बुद्धयोत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता ॥४२॥
उत्तिष्ठतो निषण्णस्य शयनं चाधिगच्छतः ।
गच्छतो विविधैर्यानैर्नास्य दुष्यति स व्रणः ॥४३॥

यह कही हुई विधि ओष्ठ के सन्धान में भी बरतनी चाहिए। विद्वान् वैद्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि से विचार-कर अस्थि आदि जोड़ने के काल में भी उपर्युक्त विधि को काम में लाये। बन्धन बाँधने से-- उठते बैठते लेटते समय, नाना प्रकार की सवारियों से जाने पर भी व्रण दूषित नहीं होता ॥४२,४३॥

ये च स्युर्मांससंस्था वै त्वग्गताश्च तथा व्रणाः ।
सन्ध्यस्थिकोष्ठप्राप्ताश्च सिरास्नायुगतास्तथा ॥४४॥
तथाऽवगाढगम्भीराः सर्वतो विषमस्थिताः ।
नाते साधयितुं शक्या ऋते बन्धाद्भवन्ति हि ॥४५॥

जो व्रण मांस में या त्वचा में आश्रित हो, सन्धि अस्थि कोष्ठ के व्रण, सिरा-स्नायु के व्रण, गम्भीर व्रण, सम्पूर्ण रूप से (चारों ओर से) विषम व्रण- ये सब विना योग्य बन्धन के अच्छे (स्वस्थ) नहीं हो सकते—इनमें बन्धन बाँधना आवश्यक है ॥ ४४,४५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणालेपनबन्धनविधि-र्नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो व्रणितोपासनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे व्रणितोपासनीय (सेवनीय) अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥ १--२ ॥

व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत्, तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्यम् ॥३॥

व्रणी पुरुष के लिए सबसे प्रथम शय्या, आसन, घर आदि की व्यवस्था करनी चाहिए और यह घर प्रशस्त प्रदेश में होना चाहिए[1] ॥३॥

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते ।
निवाते न च रोगाः स्युः शरीरागन्तुमानसाः ॥४॥

क्योंकि प्रशस्त प्रदेश में बने घर में, पवित्र-स्वच्छ एवं धूप तथा सीधी वायु की रुकावट (घर में वायु आये-परन्तु सीधी जोर से नहीं आनी चाहिए)--वाले घर में शारीरिक एवं आगन्तु तथा मानसिक रोग नहीं होते ॥४॥

तस्मिञ् शयनमसंबाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं च कुर्वीत ॥५॥

इस घर में शय्या—पीड़ारहित, असंकुचित (पर्य्याप्त लम्बी चौड़ी), शोभन गद्दे-चादरवाली, रमणीय, हिंसा-निवारण के लिए शस्त्र युक्त करनी चाहिये। शय्या का सिर पूर्व की ओर रखना चाहिये ॥५॥

सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी ।
प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः ॥६॥

इस प्रकार शय्या पर सोने से लाभ—व्रण-रोगी पुरुष सुन्दर बिछौनेवाली शय्या पर सोकर अपनी चेष्टायें भली प्रकार से आराम से कर सकता है। पूर्व दिशा में देवता रहते हैं (सूर्य आदि)। उनकी पूजा के लिए रोगी का सिर पूर्व दिशा में रखा जाता है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥" श्रुतिः, "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" ॥ ६ ॥

तस्मिन् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो यथेष्टमासीत ॥७॥

इस घर में अपने मन के अनुकूल, प्रिय बोलनेवाले मित्रों के साथ मिलकर यथेष्ट समय तक निवास करे ॥ ७ ॥

सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः ।
आश्वासयन्तो बहुशः स्वानुकूलाः प्रियंवदाः ॥८॥

क्योंकि मित्र लोग नई नई बातें कहकर रोग की वेदना को भुला देते हैं। नाना प्रकार से सान्त्वना देते हुए, मन के अनुकूल प्रिय—कहनेवाले मित्र--वेदना को कम कर देते हैं ॥

न च दिवा निद्रावशगः स्यात् ॥९॥
दिवास्वप्नाद् व्रणे कण्डूर्गात्राणां गौरवं तथा ।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैव भृशं भवेत् ॥१०॥

व्रणी पुरुष को कभी भी दिन में नहीं सोना चाहिए। क्योंकि—दिन में सोने से व्रण में कण्डू उत्पन्न हो जाती है, अङ्गों में भारीपन आ जाता है, व्रण में सूजन, लालिमा और बहुत स्राव आरम्भ हो जाता है ॥ ९,१० ॥

उत्थानसंवेशनपरिवर्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणाद्यास्वात्मचेष्टास्वप्रमत्तो व्रणं संरक्षेत् ॥११॥
स्थानासनं चङ्क्रमणं दिवास्वप्नं तथैव च ।
व्रणितो न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥१२॥

व्रणी पुरुष को चाहिए कि अपनी चेष्टाओं में—उठने, बैठने, वाम-दक्षिण करवट बदलने में--चलने में--बहुत सावधानी बरते। उठना, बैठना, घूमना, दिन में सोना बलवान् भी व्रणी सेवन न करे ॥११,१२॥

---

१ प्रशस्त प्रदेश—ऊँचो-नीची भूमि रहित, पूर्व या उत्तर की ओर ढलवान, काली, या स्वर्णमृत्तिकावाला प्रदेश उत्तम है। विस्तार के लिये चरक-सूत्रस्थान में कूटागार विधि दी है। यथा—"अपहृतास्थि-शर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके स्वर्णमृत्तिके वा ।" वास्तुशास्त्र में—बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः । सहकारश्च षड्वृक्षैः आरूढा या समस्थली । निष्कपाला निरुपला कृष्णवल्मीकवर्जिता"—इत्यादि ।

उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या चातिनिषेविता ।
प्राप्नुयान्मारुतादङ्गरुजस्तस्माद्विवर्जयेत् ॥१३॥

अधिक उठने से, अधिक बैठने से, अधिक सीधा खड़ा होने से, अधिक बिस्तर पर पड़े रहने से अङ्गों में वायु प्रकुपित होती है, इससे दर्द बढ़ जाती है ॥१३॥

गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्शनानि दूरत एव परिहरेत् ॥१४॥

गम्य ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियों के दर्शन, इनके साथ बोलचाल, इनके स्पर्श से–दूर से ही बचना चाहिये। (अगम्य स्त्रियों की बात ही नहीं) ॥१४॥

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत् ।
ग्राम्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥१५॥

क्योंकि कभी अकस्मात् स्त्रीदर्शन आदि से शुक्र स्रवित हो जाय तो ग्राम्यधर्म के बिना भी, ग्राम्यधर्म द्वारा उत्पन्न विकार- इस शुक्रस्राव से उत्पन्न हो जाते हैं ॥१५॥

नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीनि परिहरेत् ॥१६॥

निम्न आहार का परित्याग करना चाहिये–नये धान्य (एक साल जिन धान्यों पर नहीं बीता), उड़द, तिल, कलाय (मटर), कुलत्थी, निष्पाव (राजशिम्बी), हरितक[1] अम्ल, लवण, कटुरस, गुड़पिष्टी–गुड़ से बने पदार्थ, वल्लूर (शुष्क मांस), शुष्क शाक, बकरी-भेड़ का मांस, आनूप मांस, औदक मांस, वसा, शीत पानी, कृशरा (तिल-तण्डुल-माष से बनी यवागू), पायस (खीर), दधि, दूध, तक्र प्रभृति (गुरु पदार्थों) का परित्याग करना चाहिये॥

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः ।
दोषसंजननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥१७॥

नवधान्य से लेकर तक्र तक जो पदार्थ कहे हैं, ये सब व्रण में दोष उत्पन्न करनेवाले हैं। इनके सेवन से व्रण में पूय बढ़ती है ॥१७॥

मद्यपश्च मैरेयारिष्टासवसीधुसुराविकारान् परिहरेत्॥१८॥

व्रणी पुरुष यदि मद्यपी हो (या न भी हो) तो भी उस को मैरेय (सुरा और आसव को एक पात्र में बन्द करके बनाने से) अरिष्ट (क्वाथ से बनाया), सीधु (सस्यक), सुरा (लोहित वर्ण)– मद्य के विकारों का परित्याग करना चाहिये। (कई आचार्यों का मत है कि 'अम्लादि गुण युक्त सब प्रकार के मद्य का निषेध हैं' परन्तु अम्लादि से विपरीत-द्राक्षारसादि पिलाने चाहिये) ॥

मद्यमम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः ।
आशुकारि च तत् पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम् ॥१९॥

मद्य–अम्लरस, रूक्ष, तीक्ष्णगुण, उष्णवीर्य, और शरीर में शीघ्र व्याप्त होने से क्षिप्रकारी है, इसलिये व्रण को बहुत जल्दी दूषित कर देता है। (मद्य के दस गुण ओज के गुणों से विपरीत हैं। इसलिये मद्य ओज का नाश करने से व्रण में अहितकर है)॥

वातातपरजोधूमावश्यायातिसेवनातिभोजनानिष्टभोजनश्रवणदर्शनेर्ष्यामर्षभयशोकध्यानरात्रिजागरणविषमाशनशयनोपवासवाग्व्यायामस्थानचङ्क्रमणशीतवातविरुद्धाध्यशनाजीर्णमक्षिकाद्याबाधाः परिहरेत् ॥२०॥

बाह्य आहार-विहार–वात, धूप, धूल, धूंवा, ओस, इनका अधिक सेवन, अतिभोजन, अनिष्ट भोजन, अनिष्ट बात का सुनना, अनिष्ठ वस्तु का दर्शन, ईर्ष्या, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि में जागना, विषमाशन, उपवास करना, विषम शयन, अनशन, वाणी का श्रम (जोर से बोलना), सीधा खड़ा होना, चलना, शीतवायु, विरुद्ध भोजन (दूध, मछली को साथ खाना), अजीर्ण, मक्खी आदि से बचना चाहिये। (विषमशयन-कम या अधिक सोना) ॥२०॥

व्रणिनः संप्रतप्तस्य कारणैरेवमादिभिः ।
क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यङ् न जीर्यति ॥२१॥
अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
ततः शोफरुजास्रावदाहपाकानवाप्नुयात् ॥२२॥

उपर्युक्त एवं अन्य इसी प्रकार के कारणों से व्रणी पुरुष के दुःखी होने पर–मांस और रक्त क्षीण हो जाता है, जिससे कि खाया भोजन भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता। अजीर्ण के होने से वात-पित्त कफ का स्थानान्तर में जाना होता है। इससे सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव, विदाह और पाक उत्पन्न हो जाते हैं॥२१,२२॥

सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरेण भवितव्यमिति। तत् कस्य हेतोः? हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपतिकुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति, सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित् ॥२३॥

व्रणी पुरुष को सदा नख और बाल कटाकर पवित्र-साफ, श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिये। मन की शान्ति, मङ्गल, देवता, ब्राह्मण और गुरु की आज्ञा व सेवा में सदा तत्पर रहना चाहिये। यह सब किसलिये? क्योंकि हिंसा के लिये विहार (प्रवृत्ति)

---

[1] हरितशाक–'कुठेर-शिग्रु-सुरस-सुमुखासुरि-भूस्तृणाः ।
चुक्राक–शुक्रिका चेति वर्गं हरितकं विदुः॥'

करनेवाले बड़े शक्तिशाली महेश; कुबेर और कार्त्तिकेय की आज्ञा का पालन करनेवाले राक्षस—मांस एवं रक्त की चाहना से रक्त के कारण व्रणी पुरुष के पास आते हैं। इनके आने का उद्देश्य-पूजा प्राप्त करना या गतायुष को मारने के लिये आना है[1] ॥२३॥

कहा भी है—

भवति चात्र—

तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तरात्मना।
धूपबल्युपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवोपहारयेत् ॥२४॥

इन पूजाभिलाषी अनुचरों के सत्कार के लिये अन्तरात्मा से प्रयत्न करना चाहिये। इनको धूप (नैवेद्य), बलि (पूजा), उपहार (पशुबलि) एवं उत्तम भक्ष्य देने चाहिये ॥२४॥

ते तु संतर्पिता आत्मवन्तं न हिंस्युः। तस्मात् सततमतन्द्रितो जनपरिवृतो नित्यं दीपोदकशस्त्रस्रग्दामपुष्पलाजाद्यलङ्कृते वेश्मनि संपन्मङ्गलमनोऽनुकूलाः कथा शृण्वन्नासीत ॥२५॥

ये अनुचर भली प्रकार से तृप्त होने पर जितेन्द्रिय पुरुष को नहीं मार सकते, इसलिये सदा सावधान (चौकश), मनुष्यों से घिरा, सदा दीप-पानी-शस्त्र-स्रग् (सिर की माला), दाम-फूल-लाजा-वीणा-चन्दन आदि ऐश्वर्य से युक्त होकर मङ्गल, सुन्दर एवं अनुकूल (मन-पसन्द) कथाओं को सुनता हुआ समय बिताये ॥२५॥

संपदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः।
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात् ॥२६॥

उपर्युक्त ऐश्वर्य से युक्त होकर अनुकूल मन के प्रिय कथाओं को सुनते हुए, रोग की शान्ति में आशा रखने से (मैं अवश्य अच्छा हो जाऊँगा) शीघ्र स्वस्थ हो जाता है ॥२६॥

ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः ॥२७॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आशीर्वादों द्वारा पुरोहित तथा वैद्य प्रातः सायं दोनों सन्ध्याकालों में रोगी की रक्षा करें ॥२७॥

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
द्विरह्नः कारयेद्धूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥२८॥

सरसों, अरिष्टपत्र (निम्बपत्र), घी और सैन्धव नमक, इनके साथ दस दिन तक बिना आलस्य किये—प्रातः सायं 'धूप' देना चाहिये—(व्रण के सिवाय बिस्तर कपड़े आदि पर भी धूप देना चाहिये—जैसा चरक० शारीर ८ अ० में कहा है।) ॥२८॥

छत्रामतिच्छत्रां लाङ्ग(ङ्ग)लीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सहस्रवीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत् ॥२९॥

निम्न औषधियों को सिर पर धारण करना चाहिये। यथा छत्र, अतिच्छत्र (दोनों द्रोणपुष्पी गोमा), लांगली (कलिहारी या कपिकच्छु-कौंच), जटिला (जटामांसी), ब्रह्मचारिणी (मुण्डतिका या लालचन्दन वा मण्डूकपर्णी), लक्ष्मी (लक्ष्मणा या शमी), गुहा (शालपर्णी), अतिगुहा (पृश्निपर्णी), शतवीर्या (शतावरी या दूर्वा) सहस्रवीर्या (श्वेत दूर्वा), और सिद्धार्थक (सरसों), इनको सिर पर धारण करना चाहिये ॥२९॥

व्यजेत बालव्यजनैर्व्रणं न च विघट्टयेत्।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत् ॥३०॥

व्रण को चमर से वायु करते रहना चाहिये, दबाना, सूई आदि से बेधना तथा खुजाना नहीं चाहिये और व्रणरोगी सोते समय भी व्रण की रक्षा करता रहे अर्थात् व्रण पर कोई आघात न पहुँचे ॥३०॥

अनेन विधिना युक्तमादावेव निशाचराः।
वनं केशरिणाऽऽक्रान्तं वर्जयन्ति मृगा इव ॥३१॥

इस उपर्युक्त विधि के सेवन करने से राक्षस लोग पहले से ही भाग जाते हैं, जिस प्रकार कि केसरी-सिंह से आक्रान्त वन में मृग नहीं घुसते, इसी प्रकार राक्षस भी व्रण के पास नहीं आते[1] ॥३१॥

जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम्।
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३२॥
तण्डुलीयकजीवन्तीसुनिषण्णकवास्तुकैः।
बालमूलकवार्ताकपटोलैः कारवेल्लकैः ॥३३॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः।
अन्यैरेवंगुणैर्वाऽपि मुद्गादीनां रसेन वा।
सक्तून् विलेपीं कुल्माषान्जलं चापि शृतं पिबेत् ॥३४॥

सेव्यविधि—स्निग्ध, अल्प उष्ण एवं द्रव-बहुल[2], पुराने शाली चावलों के भात को जांगल मांस के साथ

---

१ पूजा के लिये आगे कहेंगे—
"अशुचि भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्।
हिंस्यहिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥
विस्तार के लिये 'अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध' नामक अध्याय देखिये।

१ राक्षस शब्द या इसके पर्य्याय निशाचर आदि वर्तमानकालीन रोगोत्पादक कीटाणु-मच्छर आदि के लिये सङ्केत हैं। राक्षसों की भांति ये भी रात को अन्धेरे में, असावधानी में आक्रमण करते है, इनको मांस, रक्त पसन्द है। पवित्रता होने से भागते हैं।

२ द्रवोत्तर का अर्थ-भोजन के पीछे पानी पीने से भी है। क्योंकि-'क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, अनुदीर्णञ्चाग्निमुदीरयति। अधिक पानी अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि भोज ने इसको हानिकारक कहा है-'व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत्'

खाने से व्रण शीघ्र भरता है। (क्योंकि—मांस मांस से बढ़ता है)। तण्डुलीयक (चौलाई), जीवन्ती (डोढ़िका), सुनिषण्णक (चौपतिया), वास्तुक (बथुवा), बालमूलक (नर्ममूली), वार्त्ताक (बैंगन) पटोल (परवल), कारवेल्लक (करेला), इनको घी में भूनकर (तेल में नहीं) अनारदाना, आँवला और सैन्धानमक के साथ संस्कृत भात को—इसी प्रकार से अन्य इसी प्रकार के गुणवाले–मूङ्ग, मांसरस के साथ खाये, सत्तू, विलेपी (लप्सी), कुल्माष (अर्द्धस्विन्न गेहूँ या चने) और गरम करके ठण्डा किया जल पीना चाहिये ॥३२-३४॥

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः।
व्रणी वैद्यवशे तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३५॥

वात रहित घर में रहता हुआ रोगी दिन में कभी भी नहीं सोवे। वैद्य की आज्ञा का पालन करने से घाव शीघ्र भर जाता है ॥३५॥

(व्रणे श्वयथुरायासात स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥३६॥)

परिश्रम करने से व्रण में सूजन उत्पन्न होती है, रात में जागने से व्रण में सूजन एवं लालिमा आती है। दिन में सोने से व्रण में सूजन, लालिमा और वेदना हो जाती है। मैथुन से सूजन, लालिमा, वेदना और मृत्यु होती है ॥३६॥

एवंवृत्तसमाचारो व्रणी संपद्यते सुखी।
आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा ॥३७॥

इस प्रकार के आहार-विहार का पालन करने से व्रणी सुखी (स्वस्थ) होता है, दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है–ऐसा धन्वन्तरि का वचन है ॥३७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणितोपासनीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातो हिताहितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'हिताहितीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा था।

वि० मन्तव्य—हित शब्द का अर्थ—"डुधाञ्धारण पोषणयोः" धातु से हित शब्द की निष्पत्ति होती है अर्थात् जो आहार विहार धारण (जीवन) तथा पोषण (पालन) का हेतु होता है वह "हित" कहलाता है और इसके विपरीत "अहित" ॥१,२॥

यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किंचिद् द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वाऽस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते। तत्तु न सम्यक्; इह खलु यस्माद् द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति ॥३॥

कई आचार्यों का मत है कि—जो वस्तु वायु के लिये पथ्य है, वही वस्तु पित्त के लिये अपथ्य (अहितकारी) है। यथा—तैल, काञ्जिक आदि। इसलिये कोई भी द्रव्य पूर्ण रूप में हितकारी या अहितकारी नहीं कहा जा सकता। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि—इस सुश्रुत तन्त्र में—द्रव्य-स्वभाव से (प्रकृति से—जो कि अवस्थाओं में एक समान रहती है यथा–वह्नि की उष्ण, जल की द्रव), संयोग से (एक या दो-तीन द्रव्यों के साथ संयोग होने से) पूर्ण रूप से हितकारी या पूर्ण रूप में अहितकारी अथवा हित एवं अहित दोनों करनेवाले होते हैं।

वि० मन्तव्य—'तत्तु न सम्यक्' अर्थात् यह ठीक (युक्ति संगत) तो है परन्तु बहुत ठीक नहीं है। पथ्य शब्द का अर्थ—जो पथ—जीवन यात्रा के अनपेत—अनुकूल हो। इसके विपरीत अपथ्य ॥३॥

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि; एकान्ताहितानि तु दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यनलक्षारविषादीनि, संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति; हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमिति ॥४॥

इनमें पूर्ण रूप में हितकारी द्रव्य—(जाति-जन्म से ही सात्म्य की दृष्टि से)—पानी, घी, दूध, चावल, जौ, गेहूँ आदि जन्म से ही हितकारी हैं। पूर्णरूप में अहितकारी—अग्नि, क्षार एवं विष आदि वस्तुयें जलाने, पकाने या मारने के लिये व्यवहार में लायी जाती हैं। संयोग के कारण दूसरे द्रव्य विष के समान हो जाते हैं। हितकारी एवं अहितकारी द्रव्य—जो वायु के लिये पथ्य है, वही द्रव्य पित्त के लिये अहितकारी हैं। सात्म्य—निरन्तर उपयोग से जो आत्मा के अनुकूल हो जाये ॥

अतः सर्व प्राणिनामयमाहारार्थं वर्ग उपदिश्यते, तद्यथा—रक्तशालिषष्टिककङ्गुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमकशकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमयववैणवेणहरिणकुरङ्गमृगमातृकाश्वदंष्ट्राकरालक्रकरकपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकामुद्गवनमुद्गमकुष्ठकलायमसूरमङ्गल्यचणकहरेण्वाढकीसतीनाश्चिल्लिवास्तुकसुनिषण्णकजीवन्ती-

---

चरक में—लोहितशालयः शूकधान्यानाम्; मुद्गाः शमीधान्यानाम्, सैन्धवं लवणानाम्, जीवन्तीशाकं शाकानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमः।

तण्डुलीयकमण्डूकपण्यः, गव्यं घृतं, सैन्धवं, दाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः ॥५॥

सब प्राणियों के पथ्य आहार के लिये इस निम्नलिखित वर्ग का उपदेश करते हैं। यथा—लाल चावल, षष्टिक (श्वेत साठी), कङ्गुक (कङ्गनी), मुकुन्द (काले साठी), पाण्डुक (पीले धान्य), पीतक, प्रमोदक, कालक, असनक, पुष्पक, कर्दमक, शकुनाहृत, सुगन्धक (देवशालि), कमल, नीवार, कोद्रव (कोदौ), उद्दालक (वनकोद्रव), श्यामाक (सांवक), गेहूँ, वैणव (वेणुयव) और जौ ये शूकधान्यों में उत्तम हैं। एण (कालाहरिण), हरिण, कुरङ्ग, मृगमातृका, श्वदंष्ट्रा (कर्कटक), कराल कस्तूरीमृग), क्रकर (क्रकस पक्षी), कबूतर, बटेर, तीतर, कपिञ्जल, वर्त्तीर, वर्त्तिका—इनका मांस जांगल मृग एवं जांगल पक्षियों में श्रेष्ठ है। मूङ्ग, वनमूङ्ग, मोठ, कलाय (मटर), मसूर, मङ्गल्य (पाण्डुवर्ण मसूर), चना, हरेणु (सतीन का भेद), आढ़की (अरहर), सतीन (वर्तुलक), चिल्ली (खेत का बथुवा), वास्तुक (बथुवा), सुनिषण्णक (चौपतिया), जीवन्ती, तण्डुलीयक (चौलाई), मण्डूकपर्णी—ये वैदल—दालों में तथा शाकों में श्रेष्ठ हैं। स्नेहों में गाय का घी उत्तम है। नमकों में सैन्धव, फलों में आँवला और अनार उत्तम हैं। यह वर्ग सामान्यरूप में सब प्राणियों के लिये हितकारी है ॥५॥

तथा ब्रह्मचर्य्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशास्वप्नव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः ॥६॥

आहार को कहकर विहार को कहते हैं। यथा—ब्रह्मचर्य्य निवात शयन (वायु रहित स्थान में सोना), गरम पानी से स्नान, रात्र में सोना और व्यायाम तथा उपस्थित वेगों को न रोकना—ये कार्य पूर्णरूप से हितकारी हैं ॥६॥

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि तु प्रागुपदिष्टानि, हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमिति ॥७॥

एकान्त हित (पानी आदि) और एकान्त अहित (अग्नि आदि) वस्तुओं को पहिले कह चुके हैं। हितकारी एवं अहितकारी जो वस्तुयें वायु के लिये हैं, वे ही पित्त के लिए अपथ्य हैं ॥७॥

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति। तद्यथा-वल्लीफलकवककरीराम्लफललवणकुलत्थपिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्कशाकाजाविकमांसमद्यजाम्बवचिलिचिममत्स्यगोधावराहांश्च नैकध्यमश्नीयात् पयसा ॥८॥

अन्य द्रव्य संयोग के कारण विष के समान अहितकारी हो जाते हैं। यथा—वल्लीफल (बेल पर लगानेवाला फल—कूष्माण्ड आदि), कवक (छत्रक), करीर (वंशांकुर), अम्लफल (आम्रातक), लवण, कुलत्थी, पिण्याक (तिलपिष्ट), दही; तैल, आनूप मांस, औदक मांस, विरोहि (जड़ा हुआ धान्य), पिष्ट (पीठी), शुष्कशाक, बकरी या भेड़ का मांस, मद्य, जामुन फल, चिलचिम मत्स्य (सकली) गोधा, वराह—इन वस्तुओं को एक समय में दूध के साथ नहीं खाना चाहिये ॥८॥

रोगं सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
अवेक्ष्याग्न्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥९॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि रोग (उदर आदि), सात्म्य (जाति, आतुर, औषध, अन्न, रस, देश, ऋतु, उदक), देश (आनूप आदि), काल (शीत-उष्णवर्षा) देह स्थूल, कृश और मध्य), अग्नि आदि पदार्थों का भी उपयोग करे। यथा—उदर रोग में तिलमात्र विषभक्षण, या कृष्णसर्प से दष्ट में इक्षु का भक्षण भी हितकारी है।

वि० मन्तव्य—सात्म्य—जो शरीर में उपकार के लिये शयन करे लीन-विलीन हो जाय "सात्म्यं नाम तत् यद् आत्मनि उपशेते तत् सात्म्यम्—सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः।" सात्म्य का नाम उपशय भी है और दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है ॥९॥

अवस्थान्तरबाहुल्याद्रोगादीनां व्यवस्थितम्।
द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ॥१०॥
द्वयोरन्यतरादाने वदन्ति विषदुग्धयोः।
दुग्धस्यैकान्तहिततां विषमेकान्ततोऽहितम् ॥११॥
एवं युक्तरसेष्वेषु द्रव्येषु सलिलादिषु।
एकान्तहिततां विद्धि वत्स सुश्रुत नान्यथा ॥१२॥

वैद्य को रोग आदि की अवस्था भेद के कारण हित एवं अहित की व्यवस्था को नहीं चाहते। स्वस्थवृत्त में हित एवं अहित का विचार करते हैं, रोग में नहीं करते। दूध और विष इन दोनों के ग्रहण करने में एक को (विष को) एकान्त रूप में अधिकारी कहते हैं। हे सुश्रुत! इस प्रकार दूध की भांति प्रभाव संसिद्ध रसयुक्त सलिल आदि द्रव्यों को एकान्त रूप से हितकारी समझना चाहिये ॥१०–१२॥

अतोऽन्यान्यपि संयोगादहितानि वक्ष्यामः—नवविरूढधान्यैर्वसामधुपयोगुडमाषैर्वा ग्राम्यानूपौदकपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्; न पयोमधुभ्यां रोहिणीशाकं जातुकशाकं वाश्नीयात्, बलाकां वारुणीकुल्माषाभ्यां, काकमाचीं पिप्पलीमरिचाभ्यां, नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्यं; मधु चोष्णोदकानुपानं; पित्तेन चाममांसानि; सुराकृशरापायसांश्च नैकध्यं; सौवीरकेण सह तिलशष्कुलीं; मत्स्यैः सहेक्षुविकारान्; गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, गुडेन वाराहं, मधुना च सह विरुद्धं; क्षीरेण मूलकम्; आम्राजाम्बवश्वाविच्छूकरगोधाश्च; सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा; विशेषेण चिलिचिमं; कदलीफलं तालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा; लकुचफलं पयसा दध्ना माषसूपेन वा प्राक् पयसः पयसोऽन्ते वा ॥१३॥

इसके आगे अन्य संयोग से अहितकारी द्रव्यों को कहते है। अकुरित धान्यों के साथ, या वसा, शहद, दूध, गुड़ और उड़दों के साथ ग्राम्य आनूप या औदक (जलचर) मांस नहीं खाना चाहिए। दूध और घी के साथ—रोहिणी शाक या जातुक शाक (पौष्कर शाक) नहीं खाना चाहिये। बलाका (कानावकी) पक्षी को वारुणी (मदिरा) और कुल्माष (अर्द्धस्विन्न गेहूँ आदि) के साथ नहीं खाना चाहिये। काकमाची (मकोय) को पिप्पली एवं कालीमिरचों के साथ, नाड़ी-पल्लव, शाक, कुक्कुट और दही को एक साथ नहीं खाना चाहिये। शहद को गरम अनुपान के साथ, पित्त को कच्चे मांस के साथ; सुरा, कृशरा (तिल-तण्डुल माष से बनी) और पायस (खीर) को एक साथ नही खाना चाहिए। सौवीरक (काञ्जी) के साथ तिल की पूरी को, मछलियों के साथ गन्ने के रस से बनी वस्तुओं को, गुड़ के साथ मकोय को, मधु के साथ मूली को, गुड़ के साथ वराह को (कहीं २ दूध के साथ वराह को-ऐसा पाठ है), और मधु के साथ विरुद्ध आहार को न खाये, ये विरुद्ध हैं। दूध के साथ मूली, आम, जामुन, श्वावित्, शूकर और गोह को, सब मछलियों को खासकर चिलिचिम मत्स्य को नहीं खाना चाहिए। केले के फल को तालफल, दूध, दही या छाछ के साथ, लकुच (बड़हल) को दूध, दही, या उड़द की दाल अथवा दूध से पूर्व या दूध के पीछे नहीं खाना चाहिये ॥ १३ ॥

अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः—कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्नाद्यात्; कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डदार्व्यग्निसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात्, कांस्यभाजने दशरात्रपर्युषितं सर्पिः, मधु चोष्णैरुष्णे वा, मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं, तिलकल्कसिद्धमुपोदिकाशाकं नारिकेलेन वराहवसापरिभृष्टां बलाकां, भासमङ्गारशूल्यं, नाश्नीयादिति ॥ १४ ॥

अब कर्मविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं—सरसों के तेल में भूने कबूतर नहीं खाने चाहिए। एरण्ड की लकड़ियों की अग्नि में कपिञ्जल, मोर, बटेर, तीतर, गोधा–इनका मांस नहीं खाना चाहिये। अथवा एरण्डतैल में सिद्ध इन पशु-पक्षियों का मांस नहीं खाना चाहिये। कांसे के पात्र में दस दिन का रक्खा घी नहीं खाना चाहिये। उष्णवीर्य पदार्थों के साथ या उष्णकाल (ग्रीष्म एवं शरद्) में मधु नहीं खाना चाहिये। जिस पात्र में मछलियाँ या सोंठ पकाई हो उस पात्र में सिद्ध काकमाची (मकोय) नहीं खानी चाहिये। उपोदिका के शाक को तिल-कल्क में सिद्ध करके नहीं खाना चाहिये। वराह की वसा में भूने बलाका पक्षी को नारियल के साथ, भास पक्षी को शूल से बींधकर अङ्गारों में पकाकर नहीं खाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कर्मविरुद्ध—कर्म अर्थात् संस्कार। पकाना-भूनना तलना आदि। तथा रखना-रख छोड़ना, अन्य पदार्थ-वाले भाण्ड में अन्य पदार्थ बनाना-पकाना आदि कर्म कहलाता है। कर्म के प्रभाव से जो द्रव्य अहित हो जाते हैं वे "कर्म-विरुद्ध" कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अतो मानविरुद्धान् वक्ष्यामः—मध्वम्बुनी मधुसर्पिषी मानतस्तुल्ये नाश्नीयात्, स्नेहौ मधुस्नेहौ जलस्नेहौ वा विशेषादान्तरीक्षोदकानुपानौ ॥ १५ ॥

इसके आगे मानविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं–शहद और पानी, शहद और घी—इनको समान वजन में नहीं खाना चाहिये, मधु और स्नेह, एवं जल और स्नेह को (खासकर वर्षा के पानी के साथ) एक समान तोल में नहीं खाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—मानविरुद्ध-मान-परिमाण तौल के कारण जो विरुद्ध अर्थात् अहित हो जाते हैं वे मानविरुद्ध कहे जाते हैं। यह आहार रूप में भरपेट नहीं खाने चाहिये, औषध के अनुपान एवं थोड़ी मात्रा में खाने में कोई हानि नहीं होती, अतएव सितोपलादि चूर्ण आदि में मधुघृत का अनुपान लिखा है, और यदि थोड़ी मात्रा में १-१ तो० मधु घृत समान मात्रा में भी खाया जाता है तो उरःक्षत आदि में लाभ करता है तथा रक्त पित्त में भी। चरक में भी आहार के अधिकरण में इसका उल्लेख किया गया है। देखिये च० सू० अ० २६ का सूत्र ८७-८६ ॥ १५ ॥

अत ऊर्ध्वं रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाकतश्च विरुद्धानि वक्ष्यामः–तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च, मधुरकटुकौ च सर्वतः, मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्यां मधुरकषायौ च, अम्ललवणौ रसतः, अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्, अम्लतिक्तावम्लकषायौ च सर्वतः, लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां, लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः, कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च तिक्तकषायौ रसतः ॥ १६ ॥

इसके आगे रस, वीर्य-और विपाक में विरुद्धद्रव्यों को कहते हैं। यथा—मधुर और अम्ल-रस वीर्यविरुद्ध हैं मधुर-लवण, और मधुर-कटुक, रस-वीर्य-विपाक तीनों से परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर-तिक्त, रस एवं विपाक में, मधुर-कषाय और अम्ल-लवण रस में, अम्ल-कटु, रस और विपाक में, अम्ल-तिक्त और अम्ल-कषाय, रस वीर्यविपाक में, लवण-कटु रस और विपाक में, लवण-तिक्त और लवण-कषाय रस वीर्य विपाक में, कटु-तिक्त-रसवीर्य में, कटु-कषाय और तिक्त-कषाय रसमें परस्परविरुद्ध है।

वि० मन्तव्य—ये रस, वीर्य, विपाक के कारण विरुद्ध-अहित हो जाते हैं। यह सब भी अधिक मात्रा में ही विरुद्ध होते हैं, क्योंकि—मधुर कषाय (गुड़ एवं हरड़) अम्ललवण (अचार, चटनी) लवण कषाय लवण एवं हरड़ के योग आदि २ खाये ही जाते हैं, परन्तु—विरुद्ध नहीं, अपितु हित होते हैं ॥ १६ ॥

तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिस्निग्धानतिरूक्षानत्युष्णानतिशीतानित्येवमादीन् विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

तर-तम योग से युक्त अतिरूक्ष, अतिस्निग्ध, अति उष्ण, अतिशीत,—इस प्रकार के पदार्थों का परित्याग कर देना चाहिए। यथा—भैंस का दूध गाय के दूध से अधिक स्निग्ध है। इसलिए स्वस्थ एवं समाग्नि पुरुष के लिए त्याज्य और तीक्ष्णाग्नि पुरुष के लिए सेव्य है ॥ १७ ॥

भवति चात्र—
विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानिचित्।
तान्येकान्ताहितान्येव शेषं विद्याद्धिताहितम् ॥ १८ ॥

कहा भी है—

इस प्रकार से अन्य जो भी द्रव्य वीर्य से, गुणों से (२० गुण) तथा रस से विरुद्ध हों, वे सब पूर्णरूप में अहितकारी हैं। इसके विरुद्ध जो शेष द्रव्य (माषादि) हैं, उनको हितकारी तथा अहितकारी दोनों प्रकार का समझना चाहिए। कोई द्रव्य दोष का प्रकोपक है और कोई द्रव्य दोष की शान्ति करता है[१] ॥ १८ ॥

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति।
विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवान्नरः ॥ १९ ॥

अजितेन्द्रिय मनुष्य रस, वीर्य, विपाकविरुद्ध द्रव्यों का एक साथ सेवन करने से व्याधि (षाण्ढ्य, अन्धत्व, वीसर्प आदि), इन्द्रियदौर्बल्य (निर्बलता) अथवा मृत्यु को प्राप्त करता है ॥

यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत्।
रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥ २० ॥

कुछ भी खाया हुआ पदार्थ जो कि दोषों को प्रकुपित करके (मैनफल या त्रिवृत की भांति ऊर्ध्व या अधः मार्ग द्वारा) शरीर से बाहर नहीं निकलता, वह पदार्थ रोगोत्पत्ति करता है अथवा रस आदि धातुओं में विकार उत्पन्न करता है। पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक—दोषों को (वातादि को) दूषित करनेवाले, दूसरे—रसादि धातुओं को विकृत करनेवाले ॥ २० ॥

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम्।
वमनं शमनं वाऽपि पूर्वं वा हितसेवनम् ॥ २१ ॥

चिकित्सासूत्र—

विरुद्ध भोजन से उत्पन्न रोगों को प्रत्यनीक विरेचन नष्ट करता है, (कुष्ठ व्याधि के विरुद्ध दिया विरेचन विरुद्ध भोजन से उत्पन्न कुष्ठ को नष्ट करता है, इसी प्रकार से प्रत्येक रोग के विरुद्ध विरेचन देना चाहिए)। वमन या शमन क्रिया तथा हितकारी पदार्थों का पूर्वकालीन सेवन रोगों को नष्ट करता है। बलवान् पुरुष में वमन और विरेचन देना चाहिए। निर्बल के लिये शमन चिकित्सा करनी चाहिये। स्वर्णलोहादि रसायन का प्रथम सेवन करना भी रोगों से बचाता है[१] ॥ २१ ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ २२ ॥

निम्न अवस्थाओं में विरुद्ध भोजन भी निष्फल हो जाता है। यथा—सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल हो जाने) से, मात्रा में अल्प होने से, और तरुण पुरुष की अग्नि के दीप्त होने से, स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से बलवान् बने या व्यायाम से बलवान् बने पुरुष में विरुद्ध भोजन भी निष्फल होता है ॥ २२ ॥

अथ वातगुणान् वक्ष्यामः—
पूर्वः समधुरः स्निग्धो लवणश्चैव मारुतः।
गुरुर्विदाहजननो रक्तपित्ताभिवर्धनः ॥ २३ ॥
क्षतानां विषजुष्टानां व्रणिनः श्लेष्मलाश्च ये।
तेषामेव विशेषेण सदा रोगविवर्धनः ॥ २४ ॥

---

१ चरक में यह विषय बहुत विस्तार से दिया है—यथा—
यत्किंचिद्दोषमास्राव्य न निर्हरति कायतः।
आहारजातं तत् सर्वमहितायोपपद्यते ॥
यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च।
विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सम्पद्विधिभिश्च यत् ॥
च० सू० अ० २६

१ शमन का लक्षण—
'न शोधयति यद् दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् तत् संशमनमुच्यते ॥ चरक ॥

जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी नहीं लगता इसी प्रकार स्वर्णभक्षण से विषप्रभाव नहीं करता।
"न सज्यते हेमपांगे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्"

षाण्ढ्यविसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योः विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥

एषां खल्वपरेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतिकरा भवन्ति। यथा—वमनं विरेचनं च, तद्विरोधिनां द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ चरक सू० अ० २६ ॥

वातलानां प्रशस्तश्च श्रान्तानां कफशोषिणाम्।
तेषामेव विशेषेण व्रणक्लेदविवर्धनः ॥२५॥
मधुरश्चाविदाही च कषायानुरसो लघुः।
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥२६॥
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपणः।
विशदो रूक्षपरुषः खरः स्नेहबलापहः ॥२७॥
पश्चिमो मारुतस्तीक्ष्णः कफमेदोविशोषणः।
सद्यः प्राणक्षयकरः शोषणस्तु शरीरिणाम् ॥२८॥
उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च।
कषायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणः ॥२९॥
तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्धनः।
क्षीणक्षयविषार्तानां विशेषेण तु पूजितः ॥३०॥

दिशा के योग से वायु की हितकारिता, अहितकारिता कहते हैं—(दक्षिण और उत्तर की वायु दोषहर होने से हितकारी है, पूर्व और पश्चिम की वायु अहितकारी है)।

पूर्व की वायु मधुर, स्निग्ध, लवण रस, गुरु, विदाहजनक, रक्त पित्त को बढ़ानेवाली, क्षतरोगी, विषरोगी, व्रणी, कफ प्रकृति मनुष्यों में विशेषकर रोग को बढ़ानेवाली है। दक्षिण दिशा की वायु—वात प्रकृतिवालों के लिये, श्रान्त एवं अतिशय कफ क्षीण हुए पुरुषों के लिये उत्तम है। इन पुरुषों के व्रणों में क्लेद आर्द्रता को विशेष रूप में बढ़ाती है। मधुर, अविदाही, कषाय अनुरस, लघुगुण, आँखों के लिये हितकारी एवं बलवर्धक है। पश्चिम की वायु—रक्त-पित्त को शान्त करनेवाली, वात प्रकुपित नहीं करती। विशद, रूक्ष, परुष, खर (प्रचण्ड वेग), स्नेह एवं बल का नाश करनेवाली, तीक्ष्ण, कफ-मेद को सुखानेवाली, रोगी के बल का शीघ्र क्षय करनेवाली, पुरुष को सुखानेवाली है। उत्तर दिशा की वायु—स्निग्ध, मधुर, कोमल, कषाय-अनुरस, शीतल, दोषों को प्रकुपित नहीं करती है। इसलिये स्वस्थ पुरुषों के लिये बलवर्धक, क्लेदन करनेवाली है, एवं क्षीण (रक्त-मांस से क्षीण), क्षय रोगी तथा विषरोगियों के लिये विशेषतः हितकारी है।

वि० मन्तव्य—लङ्का, उज्जयनी तथा कुरुक्षेत्र आदि को स्पर्श करती हुई जो रेखा उत्तर मेरु तक जाती है वह भूमण्डल की मध्य रेखा कही जाती है। यह दक्षिण से उत्तर गई है और जो रेखा कर्क राशि (भारत में विन्ध्याचल श्रेणि) को स्पर्श करती हुई समस्त भूमण्डल पर परिधि (मेखला) बनती है वह विषुवत् रेखा कही जाती है। यह पूर्व से पश्चिम दिशा को जाती है। पूर्व दिशा वह है जिधर सूर्योदय होता है। अब पाठक दिशाओं को समझ सकते हैं। इन दिशाओं का प्रभाव प्राणियों पर पड़ता है। क्षीणक्षय.......पूजितः—क्षय रोगियों के सेनिटोरियम तथा कुत्ता आदि के विषविनाशार्थ रुग्णालय विशेषरूप से हिमालय प्रदेश में क्यों बनाये जाते हैं, पाठक स्वतः विचार करें ॥२२–३०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने हिताहितीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्रण प्रश्न'[1] नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—व्रण की परिभाषा जानने के लिये किया गया है प्रश्न जिसमें वह अध्याय। इसका उत्तर श्लोक ४० में दिया गया है ॥१,२॥

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥३॥

शरीर की उत्पत्ति में कारण वात, पित्त, कफ ही हैं ये ही तीनों अपनी प्रकृति में स्थित होकर (क्रमशः), नीचे, मध्य में और ऊपर रहकर इस शरीर को धारण करते हैं, जिस प्रकार कि एक घर को तीन स्तम्भ धारण करते हैं। इसलिये कुछ आचार्य इन को 'त्रिस्थूण' शब्द से कहते हैं। ये ही तीनों विकृतावस्था में शरीर के नाश का कारण बनते हैं। संभव (उत्पत्ति), स्थिति, एवं प्रलय में शरीर–इन वात-पित्त-कफ और चौथे रक्त से संयुक्त रहता है[2] ॥३॥

भवन्ति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥४॥

न तो कफ के बिना, न पित्त के बिना, न वायु के बिना और न रक्त के बिना—यह शरीर होता है, अपितु ये चारों संयुक्त होकर ही शरीर को धारण करते हैं। (सुश्रुत में शल्य का विषय होने से और शल्य का सम्बन्ध रक्त से होने के कारण उसे भी इसमें मिला दिया है। चरक में तीन ही प्रकृतियाँ कही हैं—देखिये विमान, अध्याय ८।१५) ॥४॥

---

१ व्रण शब्द से वात आदि कहे जाते हैं, क्योंकि ये ही व्रण को उत्पन्न करते हैं।
आचार्यों ने कहा भी है—
'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्-यो वै वेद स वेदवित् ॥'

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोः, इति धातुः, 'तप' संतापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥५॥

निरुक्ति—वात शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' इस धातु से 'त' औणादिक प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये वात का अर्थ गति से है, यह गति चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो। पित्तशब्द—'तप सन्तापे' इस धातु से त के स्थान में इत् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये शरीर में जो भी उष्णिमा है। वह सब पित्त है। श्लेष्मा शब्द—'श्लिष-आलिंगने' इस धातु के साथ मनिन् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये संश्लेषण रूपी कार्य कफ का है। चरक में कहा भी है—सर्वा हि चेष्टा वातेन, पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणा मुपजायते।'

वि० मन्तव्य—वात, पित्त एवं कफ की महिमा का वर्णन च० सू० अ० १२ में देखिये—वायु गति करता रहता है, फलतः शरीर में गति होती रहती है अर्थात् शरीर में जितनी या जितने प्रकार की गतियाँ होती हैं उन सबका कारण वायु है। पित्त—शरीर के सन्ताप, ऊष्मा-गर्मी का हेतु पित्त है, पित्त का नाम "मायु" भी है जो "डु मिञ् प्रक्षेपणे" धातु (स्वादि गणीय) से बनता है। इसका अर्थ है 'मिनोति देहे ऊष्माणं' अर्थात् जो देह में ऊष्मा को फेंकता-फैलता है—व्याप्त करता है। कफ—कं जलम्, केन जलेन फणति-निष्पद्यते इति कफः—जो जल से उत्पन्न होता है, बढ़ता है। यह श्लेष्मा का पर्याय है। संश्लेषण—सटाना, जोड़ना, चिपकाना, चिपकना आदि कार्य कफ का है। कफ का दूसरा अर्थ है—के शिरसि फणति इति कफः, कं शिरः। शोणित—यह शब्द "शोणृ-वर्णगत्योः" धातु से निष्पन्न होता है। जो रंगा गया—रस को रंगकर रक्त बनाया गया है और गति करता रहता है उसका नाम शोणित है ॥५॥

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः ॥६॥

इसके आगे दोषों के स्थानों को कहते हैं। इनमें संक्षेप से वायु का स्थान—श्रोणि (कटि) और गुदा है। श्रोणि और गुदा के ऊपर और नाभि के नीचे पक्वाशय का स्थान है। पित्त का स्थान-पक्वाशय का और आमाशय के बीच में पित्त का स्थान है। कफ का स्थान—आमाशय है। (चरक में यह विषय—सूत्रस्थान अध्याय २० ।८ में दिया है)।

वि० मन्तव्य—पक्वामाशयमध्यं—पक्व—सर्वथा परिपक्व अर्थात् द्रव मल—केवल मूत्र-पुरीषमय मल का आशय (मलाशय) कहलाता है और आम—सर्वथा आम अपक्व (भोजन-आहार भुक्त द्रव्य) का आशय आमाशय कहलाता है। उक्त दोनों का मध्य—मध्यवर्ती अवयव "पक्वाऽऽमाशय" कहलाता है, जिसे क्षुद्रान्त्र (पतला अन्त्र—अन्तड़ी) कहते हैं। पाचक पित्त का कर्मक्षेत्र यही है और पाचक पित्त ही प्रधान पित्त है, वही सब पित्तों को बल देता है ॥६॥

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते। तत्र वातस्य वातव्याधौ वक्ष्यामः; पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च; श्लेष्मण उरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्धय इति पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥

इसके आगे इनको पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। यथा-वात का पाँच प्रकार से विभाग वातव्याधि में कहेंगे। पित्त का—यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि—(कृष्ण तारका के अन्दर रहनेवाली मसूर दल मात्रा), त्वचा एवं पूर्वोक्त स्थान पित्त का है। कफ का स्थान उर, शिर, कण्ठ, जिह्वामूल, सन्धियाँ और पूर्वोक्त आमाशय हैं। ये प्रकृतिस्थ दोषों के स्थान हैं।

वि० मन्तव्य—दृष्टि—समस्त नेत्र अथवा विशेषतः आधुनिकों का "पीतबिन्दु"। देखिये 'हमारे शरीर की रचना' नेत्रप्रकरण) ॥७॥

भवति चात्र—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥८॥

जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य और वायु ये तीनों विसर्ग, आदान एवं विक्षेप इन कार्यों से जगत् का धारण करते हैं, उसी प्रकार कफ, पित्त वायु अपने कार्यों से इस शरीर का धारण करते हैं ॥८॥

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति; क्षीण ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥९॥

यहाँ पर सन्देह है कि—क्या पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में है—या नहीं अथवा पित्त ही अग्नि है। इसका उत्तर यह है कि—पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में नहीं मिलती। क्योंकि—आग्नेय होने से तथा पित्त के दहन (जलाना), पचन (पकाना), आदि (रञ्जन-दर्शन) कार्य होने से पित्त में अग्नि के समान व्यवहार होता है। पित्त ही अन्तराग्नि है। पित्त के क्षीण होने पर अग्नि

गुणवाले-अग्नि के समान उष्ण द्रव्यों का उपयोग होता है। पित्त के अधिक बढ़ने पर शीतक्रिया का उपयोग होता है। आगम समस्त आयुर्वेद शास्त्र से भी ज्ञात है कि-पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में नहीं मिलती ॥९॥

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा, यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स च रसस्य रागकृदुक्तः यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः, यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः, यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ॥१०॥

प्राक्तन कर्मों के कारण पक्वाशय और आमाशय के मध्य भाग में स्थित पित्त-चार प्रकार के अन्न (भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, पेय) को पचाता है। उसमें से दोष, रस, मूत्र और मल को पृथक् करता है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित रहकर ही अपनी शक्ति से शेष पित्तस्थ पित्तों का और अग्नि (उष्णिमा) कर्म से शरीर का उपकार करता है, इसी पित्त को 'पाचक अग्नि' कहते हैं। और जो पित्त यकृत् एवं प्लीहा में है, उसको 'रञ्जक अग्नि' कहते हैं। क्योंकि यह रस में राग (रङ्ग) उत्पन्न करता है। और जो पित्त हृदय में स्थित है, उसको 'साधक अग्नि' कहते हैं, क्योंकि यह अभिप्रार्थित-मनोरथों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पुरुषार्थ) को सिद्ध करता है। जो पित्त दृष्टि में है उसको 'आलोचक अग्नि' कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही रूप का ग्रहण होता है। और जो पित्त त्वचा में है उसको 'भ्राजक अग्नि' कहते हैं। यही अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन, अवलेपन आदि क्रिया द्रव्यों का पाक करती है (शरीर में विलेपन करती है) और छाया एवं प्रभा को प्रकाशित करती है[1]।

वि० मन्तव्य—साधक अग्नि-पित्त—हृदि तिष्ठति यत् शुद्धं रक्तं ईषत् सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशाद् ना विनश्यति ॥ च० सू० अ० ७, श्लो० ७४। अर्थात् हृदय में जो शुद्ध—स्वच्छ कुछ लाल एवं कुछ पीला (लाल पीला सा) पदार्थ रहता है वह "ओजस्" है, यही साधक पित्त है। 'साधयति अभिप्रार्थितमनोरथान् इति साधकम्।' ओजस्वी मानव ही कार्य साधन में समर्थ होता है ॥१०॥

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥११॥

पित्त के लक्षण—पित्त-तीक्ष्णगुण (राई मिर्च के समान), द्रव, पूति (सड़ी गन्धवाला), नील (सामावस्था में), पीत (निरामावस्था में), उष्ण, कटुरस (प्रकृतिस्थ रूप में), और विदग्धावस्था में अम्ल है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसः, चन्द्र इव आदित्यस्य, चतुर्विधस्याहारस्याधारः, स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति ॥१२॥

इसके आगे कफ के स्थानों को कहते हैं—आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है। क्योंकि कफ का स्वभाव पित्त के विरुद्ध है एवं पित्त अग्नि गुण होने से ऊर्ध्वगामी है, पानी अधोगामी होने से अग्नि को शान्त करता है, इसलिये आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जिस प्रकार कि चन्द्रमा सूर्यमण्डल से ऊपर स्थित है[1]। यह आमाशय चारों प्रकार के आहार का आधार है और यह चार प्रकार का आहार पानी के द्रवस्नेह आदि गुणों के कारण आर्द्र बनकर टुकड़े टुकड़े होकर सुगमता से पचने योग्य हो जाता है।

वि० मन्तव्य—आधुनिक-आमाशयिक रसों को भी पाचक रस कहते हैं, परन्तु आयुर्वेद—उनको क्लेदक कफ मानता है। दोनों कथनों में सम्यक् क्या है पाठक विचार करें। मुख की लाली भी क्लेदक कफ ही है, देखिये सू० ३ पाचक रस पैत्तिकरस को ही कहना चाहिये ॥१२॥

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥१३॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति, उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति, जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने

---

१ जिस प्रकार कि एक ही देवदत्त अपने कार्यभेद से अनेक नामोंवाला (रसोईया, फोटोग्राफर, अध्यापक, बढ़ई) बन जाता है, उसी प्रकार एक ही दोष अपने कार्य एवं स्थानभेद से पाँच प्रकार का हो जाता है।

१ विष्णुपुराण में कहा है कि—चन्द्रमण्डल सूर्यमण्डल से ऊपर है। यथा—

"भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं मैत्रेयमण्डलम्।
लक्षाद्दिवाकरस्यापि मण्डलं शशिनः स्थितम् ॥"

चरक में भी इसको स्पष्ट किया है। यथा—

"एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥"

वर्तते, शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति, सन्धिस्थः श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति ॥१४॥

पानी (कफ) के गुण—आहार के मधुर, पिच्छिल, क्लिन्न होने से, मधुर-शीतल कफ आमाशय में उत्पन्न होता है। आमाशय में स्थित यह कफ शेष श्लेष्मास्थानों में स्थित श्लेष्मा का तथा क्लेदन-पूरण आदि उदक के कार्यों से शरीर का उपकार करता है। उर में स्थित कफ अपने प्रभाव से त्रिक (पृष्ठवंश का अधोभाग) का सन्धारण करता है। अन्न रस के साथ मिलकर हृदय का अवलम्बन करता है—(ओज)। जिह्वामूल और कण्ठ प्रदेश में स्थित कफ—रसेन्द्रिय के सौम्य होने से रस ज्ञान में भली प्रकार कारण बनता है। शिर में स्थित कफ स्नेहन और संतर्पण रूपी कार्य करने से—अपने प्रभाव द्वारा इन्द्रियों का उपकार करता है। सन्धियों में स्थित कफ सब सन्धियों का जोड़ने से सब सन्धियों का उपकार करता है।

वि० मन्तव्य—"माधुर्य्यात्....शीतलः" का अर्थ—आमाशय में गया हुआ आहार—मीठा हो जाने से, पिच्छिल हो जाने से तथा आर्द्रता कारक हो जाने से आमाशयिक रस कफ ही हो सकता है, क्योंकि वह मधुर एवं शीतल है। यदि भोजन करते ही छर्दि होती है और वह मीठी एवं पिच्छिल (चिपचिपी) होती है तो समझा जाता है कि छर्दि का वेग केवल आमाशय से ही हुआ है। उसमें पित्त का मिश्रण नहीं हुआ है और आहार गत, कफवर्द्धक उपादान कफ की वृद्धि करते हैं, अतः जितना कफ आहार को आर्द्र करने में व्यय होता है उसकी क्षतिपूर्ति भी साथ-साथ हो जाती है ॥१३,१४॥

भवति चात्र—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः ॥१५॥

कहा भी है—

श्लेष्मा—कफ श्वेत, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, शीत, मृदु, स्थिर और अपक्व अवस्था में मधुररस है। विदग्धपक्वश्लेष्मा लवण रस है (अथवा प्रकृतिस्थ कफ मधुर रस है और विकृतिस्थ कफ लवण रस है) ॥१५॥

शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ, तच्च प्रागभिहितं, तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति ॥१६॥

रक्त के स्थान यकृत् और प्लीहा हैं, यह पहिले कह चुके हैं। अपने इन स्थानों में रहकर ही रक्त अन्य रक्त स्थान में स्थित रक्त का उपकार करता है ॥१६॥

भवति चात्र—

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥१७॥

कहा भी है—

रक्त, अनुष्ण शीत (साधारण), मधुर, स्निग्ध, रङ्ग में लाल, गुरु, विस्र (आमगन्धि) है। पित्त के समान इसका विदाह है। जिस प्रकार और जिन वस्तुओं से पित्त विदग्ध होता है, उसी प्रकार और उन्हीं वस्तुओं से रक्त भी विदग्ध होता है ॥१७॥

एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु संचीयन्ते दोषाः। प्राक् संचयहेतुरुक्तः। तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथमः क्रियाकालः ॥१८॥

इन उपर्युक्त स्थानों में वात आदि दोषों का सञ्चय होता है। दोषों के सञ्चय के कारण ऋतुचर्य्या-अध्याय में पहिले कह दिये हैं। इन संचित दोषों में—कोष्ठ का स्तब्ध (जड़) होना और पूर्ण (आध्मान) होना— वायु का, पीलापन दिखाई देना (नेत्र-त्वचा-मल में)-पित्त का, उष्णिमा का कम होना, और अङ्गों में भारीपन एवं आलस्य का होना कफ का लक्षण है। एवं संचय के कारणों में द्वेष होना-तीनों दोषों का लक्षण है। यह वातादि दोषों के लिये प्रथम कार्य का समय है ॥१८॥

अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः। तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातलङ्घनप्लवनप्रतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनावारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥१९॥

इसके आगे दोषों के प्रकोपक कारणों को कहते हैं। यथा—बलवान् मल्लों के साथ मल्लयुद्ध करना, अतिव्यायाम, अति स्त्री-सेवन, अति अध्ययन, गिरना, दौड़ना, बहुत दबाना, चोट लगना, लङ्घन, कूदना, नदी में तैरना, रात में जागना, भार का उठाना, हाथी-घोड़ा-रथ पर सवारी या पैदल बहुत चलना (सवारी करना), कटु-कषाय-तिक्त, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य भोजनों का खाना, शुष्क मांस, वरक (कुधान्य-बरटिका), उद्दालक (जङ्गली कोदों), कोरदूष—श्यामाक (सांवक), नीवार (प्रसाधिका), मूङ्ग, मसूर, अरहर, हरेणु (मटर), कलाय, निष्पाव (राजशिम्बी), इनका खाना, उपवास, विषमाशन, अध्यशन (खाने पर खाना), वायु-मूत्र-मल-शुक्र-छर्दि-छींक-उद्गार-आंसू के उपस्थित वेगों का रोकने (काम-भय आदि) से वायु कुपित होती है ॥१९॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः।
प्रत्युषस्यपराह्णे च जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति ॥२०॥

वायु शीतकाल में, बादलों के आनेपर जोर की वायु चलने पर, वर्षा काल में-विशेषकर, कुपित होती है। उषाकाल में, अपराह्न (तीसरे पहर में) और अन्न के जीर्ण होने पर वायु कुपित होती है ॥ २० ॥

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसिहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २१ ॥

निम्न कारणों से पित्त प्रकुपित होता है-क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, आहारादिजन्य विदाह, मैथुन, कटु-अम्ल-लवण-तीक्ष्ण-उष्ण लघु विदाही (खट्टे डकार आयें, दाह-प्यास लगे और जो कठिनाई से जीर्ण हो—पदार्थ विदाही), तिल का तेल, पिण्याक, कुलत्थी, सरसों, अलसी, हरितशाक, गोधा मछली, बकरी-भेंड़ का मांस, स्नेह युक्त दधि, तक्र, कूर्चिका (विग्रथित-फटी छाछ), मस्तु, सौवीरक (कांजी), सुरा विकार (सब मद्य), अम्ल फल (आम्रातक कमरख आदि), कट्वर (स्नेह रहित दधि), चुक्र आदि से पित्त प्रकुपित होता है ॥२१॥

तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः ।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ॥ २२ ॥

उष्ण द्रव्यों के सेवन से, ग्रीष्मऋतु में, शरदृऋतु में, मध्याह्न में, आधी रात में तथा भोजन के पचने के समय पित्त प्रकुपित होता है ॥२२॥

दिवास्वप्नाऽव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहामाषगोधूमतिल-पिष्ट-विकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुकशृङ्गाटकमधुरवल्ली-फलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥ २३ ॥

निम्न कारणों से कफ कुपित होता है। यथा—दिन में सोने से, व्यायाम न करने से, आलस्य, मधुर-अम्ल-लवण-शीत स्निग्ध-गुरु-पिच्छिल, अभिष्यन्दि भोजनों से, हायनक (धान्य विशेष) यवक (शूकधान्य विशेष), नैषध, इत्कट (धान्य विशेष), माष, राजमाष, गेहूँ, तिल-पिष्ट (तिलकुट), पिष्ट-विकृति, दही, दूध, कृशरा (तिल तण्डुल-माष से बनी यवागू), खीर, गन्ने से बने पदार्थ, आनूप-मांस-वसा, औदक प्राणियों का मांस-वसा, बिस (मिस), मृणाल (पद्ममूल), कसेरू, सिंघाड़ा, मधुरफल (ताड़ नारियल आदि), वल्लीफल (अलाबु आदि), समशन (हित-अहित वस्तुओं का खाना), अध्यशन (अजीर्ण में भोजन करना),-इनसे कफ प्रकुपित होता है ॥२३॥

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः ।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति ॥ २४ ॥

शीतल द्रव्यों से, शीतकाल और वसन्त में, पूर्वाह्न में, और रात्रि के प्रथम पहर में तथा भोजन करते ही कफ कुपित होता है ॥२४।

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥ २५ ॥

निम्न कारणों से रक्त कुपित होता है। पित्त प्रकोप के कारणों से एवं बार-बार द्रव, स्निग्ध, गुरु भोजनों के सेवन से, दिन में सोने से, क्रोध, आग, धूप, श्रम, चोट के लगने से, विरुद्ध भोजन, अध्यशन आदि कारणों से रक्त कुपित होता है ॥ २५ ॥

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति ।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥ २६ ॥

रक्त विना दोषों के—स्वतन्त्र रूप में कभी प्रकुपित नहीं होता। रक्त के प्रकोप में दोष के अनुसार समय समझना चाहिये। (वात से दूषित रक्त—वातप्रकोपकाल में कुपित होता है, पित्त के दूषित रक्त—पित्त प्रकोपकाल में, कफ से दूषित रक्त कफप्रकोपकाल में कुपित होता है) ॥ २६ ॥

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ॥ २७ ॥

इन दोषों के प्रकोप से कोष्ठ में पीड़ा, संचरण (परिभ्रमण-वायु के लक्षण), अम्लिका (अम्लोद्गार), पिपासा, परिदाह (जलन—पित्त के लक्षण), अन्न में विद्वेष, हृदयोत्क्लेद (हृल्लास—कफ के लक्षण) उत्पन्न होते हैं। यह दूसरा क्रियाकाल है ॥ २७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः—तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये। स हि रजोभूयिष्ठः, रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा-वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानीति, एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥२८॥

इसके आगे दोषों का प्रसार कहते हैं—

जिस प्रकार किण्व (सुराबीज), पिष्ट (तण्डुलपिष्ट) और पानी के मिश्रण में एक रात रखने पर—उफान आता है उसी

प्रकार उपर्युक्त कारणों से कुपित हुए दोषों का प्रसर होता है। अचेतन होने पर भी वायु ही इन सब में गति का कारण है, क्योंकि वायु में ही गति है। क्योंकि वायु ही रजोबहुल है, और रज ही सब पदार्थों का प्रवर्त्तक है। यथा—जिस प्रकार बहुत अधिक संचित हुआ पानी बन्ध को तोड़कर दूसरे पानी के साथ मिलकर चारों ओर दौड़ने लगता है, उसी प्रकार दोष कुपित होने पर एक दोष से, कभी दो दोषों से, कभी तीनों दोषों से और कभी रक्त से मिलकर अनेक रूप में फैलते हैं। यथा—वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त, वात-पित्त, वात-श्लेष्मा, पित्त-श्लेष्मा; वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ रक्त, वात-पित्त-रक्त, वात-कफ रक्त, पित्त कफ-रक्त, वात-पित्त कफ, वात-पित्त-कफ-रक्त, इस प्रकार से पन्द्रह रूप में शरीर में फैलते हैं। यह दोषों का प्रसर है ॥२८॥

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥ २९ ॥
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥३०॥

शिर-बाहु-जङ्घा—आदि सम्पूर्ण या आधे अथवा एक भाग (चिबुक-पांव आदि अङ्ग) में बहुत अधिक प्रकुपित हुआ दोष उसी स्थान में विकार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार आकाश में एक भाग में स्थित बादल उसी जगह वर्षा करता है; सब जगह नहीं करता। इसी प्रकार दोष जहाँ पर कुपित होते हैं, वहीं रोग पैदा करते हैं। बहुत अधिक संचित होने पर भी—प्रकोप कारणों के अल्प होने के कारण दोष सहसा विकार को उत्पन्न न करके मार्ग में छिपकर बैठ जाता है। यदि दोष की चिकित्सा न की जाये तो समयवश कारण (प्रकोपकारणों) को पाकर फिर कुपित हो जाता है। (यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति अथवा कालप्रकर्षाद् अबलीयांसोऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः। चिराद् वाऽप्यभिनिवर्तन्ते, तनवो वा भवन्ति। चरक०) ॥ २९ ३० ॥

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः, पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्, एष क्रियाविभागः ॥३१॥

पित्तस्थान में पहुँची वायु की पित्त के समान चिकित्सा है, और कफस्थान में पित्त के पहुँचने पर कफ के समान; और वात-स्थान में पहुँचे कफ की—वायु के समान चिकित्सा है। यह चिकित्सा कार्य का विभाग है ॥ ३१ ॥

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य अरोचकाविपाकाङ्गसादश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति, तत्र तृतीयः क्रियाकालः ॥३२॥

इस प्रकार से प्रकुपित एवं प्रसरित[1] वायु अपने स्वाभाविक मार्ग से अन्य मार्ग में जाने लगती है और दर्द के साथ पेट में विक्षोभ करती है। पित्त—ओष (उष्णिमा), चोष (एक प्रदेश में दाह), सर्वत्र जलन, धूम-मिश्रित उद्गार करता है। कफ-अरुचि, अविपाक, अङ्गों में शिथिलता, वमन—ये लक्षण उत्पन्न करता है। यह तीसरा काल है ॥ ३२ ॥

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं प्रकुपितास्तांस्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति। ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गानाहविसूचिकातिसारप्रभृतीञ्जनयन्ति, बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन्, मेढ्रगता निरुद्धप्रकर्षोपदंशशूकदोषप्रभृतीन्, गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन्, वृषणगता वृद्धीः, ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान्, त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पांश्च, मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन्, अस्थिगता विद्रध्यनुशय्यप्रभृतीन्, पादगताः श्लीपदवातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन्, सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतीन्, तेषामेवमभिसंनिविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः, तं प्रतिरोगं वक्ष्यामः। तत्रपूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः ॥ ३३ ॥

फैलते हुए दोषों का जहाँ संग होता है, वह कहते हैं—उपर्युक्त कारणों से कुपित दोष शरीर के उस उस प्रदेश में पहुँच वहाँ उन उन रोगों को करते हैं—वे दोष जब उदर में स्थान बनाते हैं तब गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमान्द्य, आनाह विसूचिका आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। वस्ति में आश्रय बनाकर-प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात और मूत्रदोष आदि को, वृषण में पहुँचकर—वृद्धि रोग को; मेढ्र में पहुँचकर—निरुद्धप्रकर्ष, उपदंश, शूकरोग आदि को उत्पन्न करते हैं। गुदा में पहुँचकर भगन्दर, अर्श आदि को, जत्रु के ऊपर (वक्ष-अंस-सन्धिजत्रु) पहुँचकर जत्रु के ऊपर के रोगों को, त्वचा-मांस एवं रक्त का आश्रय करके क्षुद्र रोगों को, कुष्ठ एवं विसर्प रोग को, मेद का आश्रय लेकर-ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि रोगों को, अस्थि का आश्रय लेकर—विद्रधि आदि को पाद का आश्रय लेकर—श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक आदि रोगों को, सम्पूर्ण अङ्गों का आश्रय लेकर—ज्वर

१ प्रकोप और प्रसर में भेद—जमे हुए घी को आग पर गरम करने पर घी का हिलना मात्र दोषों का प्रकोप है। और यदि घी अधिक गरम करने पर झाग आकर बाहर गिरने लगता है, इसका नाम प्रसर है। इसी प्रकार कड़ाही में दूध को गरम करना है। कड़ाही में दूध उबलता रहे यह प्रकोप, उफनकर बाहर आये यह प्रसर है।

एवं सर्वाङ्गवात व्याधि को, उत्पन्न करते हैं। इन दोषों का अत्यर्थ सन्निवेश होने पर रोग के जो पूर्वरूप—लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन लक्षणों को प्रत्येक रोग में यथास्थान कहेंगे। पूर्वरूप (भावि रोग के प्रारम्भिक लक्षण) के लक्षण प्रकट होने पर—चतुर्थ क्रियाकाल है ॥३३॥

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥३४॥

इसके आगे रोग के दर्शन (ज्ञान) को कहते हैं। यथा—शोफ (त्वचा-मांस में दोष का एकत्रित होना), अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प आदि एवं ज्वर (सन्ताप लक्षण), अतिसार आदि रोगों के लक्षणों का स्पष्ट हो जाना यह-पञ्चम-(पाँचवाँ) क्रियाकाल है। व्याधि की विरुद्ध चिकित्सा करने का पाँचवाँ काल है ॥३४॥

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः, ज्वरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥३५॥

इसके आगे शोफ आदि के पककर फूट जाने पर तथा ज्वर, अतिसार आदि के दीर्घकाल पर्यन्त अनुबन्ध (लगा रहना) रहने पर छठा क्रिया काल है। इस समय चिकित्सा न करने पर वे रोग असाध्य हो जाते हैं ॥३५॥

भवति चात्र—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥३६॥

कहा भी है—

जो दोषों के संचयकाल को प्रकोपकाल को, प्रसरकाल को, स्थान-आश्रय को, व्यक्ति के भेदों (पूर्वरूप तथा रूप) को जानता है, वह वास्तव में वैद्य है ॥३६॥

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥३७॥

संचयकाल में ही यदि दोषों का अपहरण कर दिया जाये, तो अगली गतियों को प्राप्त नहीं करते। उत्तरोत्तर स्थिति में पहुँचकर दोष अधिक—अधिक बलवान् होते जाते हैं। (अपहरण विधि—बहुदोष में शोधन, मध्यमदोष में—लङ्घन-पाचन, अल्पदोष में संशमन क्रिया करनी चाहिये)[1] ॥३७॥

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥३८॥

तीन से अधिक सब भावों से (वायु के लिये रूक्ष आदि, पित्त के लिये उष्णिमा आदि, कफ के लिये स्निग्धत्व आदि), या तीन भावों के अथवा दो के या एक ही भाव के संसर्ग होने पर कुपित हुआ दोष, क्रुद्ध हुए दोष के साथ लग जाता है। अनुबन्ध्य और अनुबन्ध रूप में मिल जाते हैं। प्रथम क्रुद्ध हुए दोष को अनुबन्ध्य कहते हैं, और जो दोष साथ में मिलता है उसको अनुबन्ध कहते हैं। प्रधान व्यक्त लक्षणोंवाला रोग अनुबन्ध्य, दूसरा गौण—अस्पष्टता लक्षणवाला अनुबन्ध है[1] ॥

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥३९॥

दोषों के परस्पर संसर्ग में जो दोष बलवान् हो, उसी दोष की चिकित्सा सब से प्रथम करनी चाहिये। चिकित्सा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शेष—दूसरे दोष के साथ इस चिकित्सा का विरोध न हो। यही विधि सन्निपात में (तीनों दोषों के मिलने पर) भी बरतनी चाहिये[2] ॥

वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥४०॥

व्रण शब्द की निरुक्ति—यह आच्छादन करता है (वृणोति) इसलिये व्रण है, भर जाने पर—अच्छा हो जाने पर भी व्रण का चिह्न नष्ट नहीं होता है, इसलिये व्रण कहते हैं। जब तक जीवन रहता है, तब तक व्रण (चिह्न) रहता है, इसलिये 'व्रण' कहा जाता है। (व्रण का लक्षण चिकित्सा में—'व्रण गात्रविचूर्णने' 'व्रणयतीति व्रणः' दिया है।) ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणप्रश्नाध्यायो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

—:*:—

१ तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रदोषमापद्यते। लङ्घनपाचने तु मध्यमबलदोषाणाम्। बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्—नह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति तद्वद् दोषावसेचनम् ॥
चरक० वि० अ० ३।४४।

१ स्वतन्त्रो व्यक्तलिंगो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः। तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः। अनुबन्ध्यलक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तत् त्रिकं सन्निपातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम्। अनुबन्ध्यानुबन्धविशेष-कृतस्तु बहुविधो दोषभेदः ॥
चरक० वि० अ० ६। ११

२ श्रीघाणेकर जी ने इसमें प्रधान और अप्रधान दोष का निर्णय माना है। उनका कहना है कि जब कुपित दोषों का संसर्ग होता है, तब तीन, दो या एक भाव से कुपित हुआ दोष सर्वभाव से कुपित हुए दोष में लीन हो जाता है, इस नियम के अपवाद भी हैं। यथा—अतिसार में 'त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेत् बलवत्तमः' कहा है, परन्तु ज्वर में 'कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्।' इसी से अष्टांगसंग्रह में इन सब मतों का संग्रह किया है। देखिये संग्रह सूत्र अ० २१।

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्रणस्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्रणस्रावविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः ॥३॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म ये आठ व्रण के अधिष्ठान (स्थान) हैं। इन्हीं आठ स्थानों में सब प्रकार के व्रण उत्पन्न होते हैं। चरक में—त्वचा, सिरा, मांस, मेद, अस्थि, स्नायु, मर्म और अन्तराश्रय (कोष्ठ) ये आठ माने हैं।

वि० मन्तव्य—'व्रणवास्तूनि' पाठ भी है। अर्थ है—व्रण के वास्तु अर्थात् स्थान या घर। इस अध्याय में—व्रण के स्थान, आकार, साध्यत्व दोषकारण, दुष्ट (बुरे) व्रणों के लक्षण, स्राव स्थानभेद से स्राव, व्रण में होनेवाली वेदनाएँ और व्रणों के वर्ण कह दिये गये हैं ॥३॥

तत्र, आद्यैकवस्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः, शेषाः स्वयमविदीर्यमाणा दुरुपचराः ॥४॥

इनमें त्वचा में स्थित, त्वचा का भेदन करनेवाला व्रण सुखसाध्य—भली प्रकार से स्वस्थ हो जाता है। शेष स्थानों में स्थित व्रण—जो स्वयं विदीर्ण नहीं होते हैं अतः कठिनाई से अच्छे होते हैं ॥४॥

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमासः, शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति ॥५॥

संक्षेप में व्रण की आकृतियाँ चार प्रकार की हैं—आयत (दीर्घ), चतुरस्र (चौकोर), वृत्त (गोल), त्रिपुटक (त्रिकोण), शेष (अर्द्ध चन्द्राकार-स्वस्तिक आदि) आकृतियाँ विकृत दूषित हैं, इसलिये कृच्छ्रसाध्य हैं ॥५॥

सर्व एव व्रणाः क्षिप्रं संरोहन्त्यात्मवतां सुभिषग्भिश्चोपक्रान्ताः, अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाद्दोषाणाम् ॥६॥

पथ्य-आहार-विहार का सेवन करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषों के, उत्तम वैद्यों द्वारा चिकित्सा किये जाने पर—सब प्रकार के व्रण शीघ्र भर जाते हैं। अहिताहार-विहार करनेवाले अजितेन्द्रिय पुरुषों के—मूढ वैद्यों से चिकित्सा करने पर सब व्रण दूषित हो जाते हैं—क्योंकि इनमें दोष बहुत बढ़े होते हैं ॥६॥

तत्रातिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूर्णः पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिंगानि। तस्य दोषोच्छ्रायेण षट्त्वं त्रिभज्य यथास्वं प्रतीकारे प्रयतेतेति ॥

दुष्ट व्रण के लक्षण—अतिसंकुचित, अतिविस्तृत (पित्तरक्त से), अतिकठिन (वात से), अतिमृदु (कफ से), उन्नत मांस, हीन मांस, अति शीत, अति उष्ण, काला-पीला-सफेद इनमें से कोई एक रंग हो, भैरव (डरावने लक्षणोंवाला), सड़ी पूय, सड़े मांस, गली सिरा-स्नायु आदि से परिपूर्ण, सड़ी पूय बहती हो, उन्मार्गी (तिर्यग्गामी) उत्संगी (ऊर्ध्वगति), अशोभन दर्शन, अशोभन गन्ध, अतिवेदनावान्, दाह-पाक-लालिमा-कण्डू-शोफ-पिड़िका -इन उपद्रवों से युक्त, दुष्ट रक्तस्राव करनेवाला, चिरकालीन, ये दूषित व्रण के लक्षण हैं। इस व्रण को दोषों की प्रधानता से छै भागों में (वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात और आगन्तुज) विभक्त करके दोषानुसार चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये[1] ॥७॥

अत ऊर्ध्वं सर्वस्रावान् वक्ष्यामः—तत्र घृष्टासु छिन्नासु वा त्वक्षु स्फोटे भिन्ने विदारिते वा सलिलप्रकाशो भवत्यास्रावः किंचिद्विस्नः पीतावभासश्च, मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेतः पिच्छिलश्च, सिरागतः सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृत्तिः पक्वासु च तोयनाडीभिरिव तोयागमनं पूयस्य आस्रावश्चात्र तनुर्विच्छिन्नः पिच्छिलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च, स्नायुगतः स्निग्धो घनः सिंघाणकप्रतिमः सरक्तश्च, अस्थिगतोऽस्थन्यभिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते वा दोषभक्षितत्वादस्थि निःसारं शुक्तिधौतमिवाभाति, आस्रवश्चात्र मज्जमिश्रः सरुधिरः स्निग्धश्च, सन्धिगतः पीड्यमानो न प्रवर्तते, आकुञ्चनप्रसारणोन्नमनविनमनप्रधावनोत्कासनप्रवाहणैश्च स्रवति, आस्रावश्चात्र पिच्छिलोऽवलम्बी सरुधिरोन्मथितश्च, कोष्ठगतोऽसृङ्मूत्रपुरीषपूयोदकानि स्रवति, मर्मगतस्त्वगादिष्ववरुद्धत्वान्नोच्यते। तत्र त्वगादिगतानामास्रावाणां यथाक्रमं पारुष्यश्यावावश्यायदधिमस्तुक्षारोदकमांसधावनपुलाकोदकसन्निभत्वानि मारुताद्भवन्ति, पित्ताद् गोमेदकगोमूत्रभस्मशङ्खकषायोदकमाध्वीकतैलसन्निभत्वानि, पित्तवद्रक्तादतिविस्रत्वं च, कफान्नवनीतकासीसमज्जपिष्टतिलनालिकेरोदकवराहवसासन्निभत्वानि, सन्निपातान्नालि-

[1] कविराज हाराणचन्द्र जी ने—उत्पन्न (ऊपर को उठा), अवसन्न (नीचे को दबा), उन्मार्गी (उर्ध्वमुख), उत्संगी (कोटरवान्) यह अर्थ किया है।

केरोदकैर्वारुकरसकाञ्जिकप्रसादारुकोदकप्रियङ्गुफलयकृन्मुद्गयूषसवर्णत्वानीति ॥८॥

इसके आगे सब प्रकार के स्रावों को कहते हैं—

आगन्तुज कारणवश त्वचा पर रगड़ लगने से या कट जाने से, अथवा अन्तःकारण से त्वचा के फटने से, व्रण के विदीर्ण होने से पानी के समान पतला कुछ आमगन्धि और पीले रंग का सा स्राव होता है। मांसगत व्रण का स्राव-घी के समान, सान्द्र (घना), श्वेत और पिच्छिल होता है। आगन्तुज कारण से शिरा के तुरन्त कट जाने से रक्त बहुत बहता है। शिरा के अन्तःकारण से पक्क होकर विदीर्ण होने पर पानी के समान पूय बहती है, स्राव—पतला, थोड़ा थोड़ा, पिच्छिल, अवलम्बनशील (रुकनेवाला), काला-सा एवं ओस के कणों के समान बूंद-बूंद होता है। स्नायुगत व्रणों का स्राव स्निग्ध, घन, नासिका के मल के समान और रक्तमिश्रित होता है। अस्थिगत व्रण में अस्थि पर चोट लगने से अस्थि फटती है, टूटती है। दोष के कारण अस्थि के विदीर्ण होने पर अस्थि साररहित हो जाती है-क्योंकि दोष के कारण अस्थि खाई जाती है। इसलिये अस्थि-सीप के समान, धुले वस्त्र के समान सफेद चमकती है। और अस्थि का स्राव-मज्जा एवं रक्तमिश्रित, स्निग्ध होता है। सन्धियों में स्राव होने से दबाने से बाहर नहीं आता, परन्तु अङ्ग को सिकोड़ने फैलाने, ऊपर उठाने, नीचे करने, दौड़ने, खाँसने और प्रवाहण (खींचने) से बाहर आता है। इसमें स्राव का रंग-पिच्छिल, अवलम्बी (रुकनेवाला), झाग और पूयमिश्रित एवं कुछ रक्त, मथित (मथा सा) होता है। कोष्ठगत व्रण में—रक्त, मूत्र, मल, पूय और जल रस क्लेद (या पानी) स्रवित होता है। मर्मगत स्राव का अन्तर्भाव त्वग् आदि के स्राव में ही हो जाता है, इसलिये अलग नहीं कहते।

इनमें त्वग् आदि स्थानों के स्राव वात आदि दोषों के क्रमानुसार निम्न हैं। यथा—

वायु के कारण—कठोरता, कालापन, ओस के समान बूंद, दधि, मस्तु, क्षारोदक, मांस के धोवन के समान, पुलाकोदक (गवेधुक के या धान की पुराली के पानी) के समान वायु से स्राव होता है, पित्त के कारण स्राव गोमेद के समान, गोमूत्र, शंख भस्म, कषायोदक के समान, माध्वीक (महुवे) के, तैल के समान होता है। रक्त के कारण स्राव पित्त की भांति होता है और बहुत दुर्गन्ध युक्त होता है। कफ के कारण मक्खन, कासीस, मज्जा के, पिष्ट (पीसे) तिल के-नारियल के पानी के, वराह की बसा के समान होता है। सन्निपात के कारण स्राव नारियल के पानी, ककड़ी के रस के, काँजी के ऊपर के स्वच्छ भाग के, आरुक (आरू), प्रियंगु के फल, यकृत् और मूङ्ग के यूष के समान होता है ॥८॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभः।
क्षारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्स्रवन् ॥९॥
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद् भिषक् ॥१०॥

दो श्लोक भी कहे हैं—

पुलाकोदक (पुराली के पानी) के समान-पक्वाशय से होने वाला स्राव असाध्य है। और जो स्राव रक्ताशय से-क्षारोदक के समान बहता है, वह भी असाध्य है। आमाशय से और त्रिक (कटि के अधोभाग) प्रदेश से जो स्राव मटर के पानी के समान बहता है—वह भी असाध्य है। वैद्य को चाहिये कि पहिले इन स्रावों की परीक्षा करके फिर चिकित्सा कर्म में हाथ लगाये ॥९,१०॥

अत ऊर्ध्वं सर्वव्रणवेदना वक्ष्यामः—तोदनभेदनताडनच्छेदनायमनमन्थनविक्षेपणचुमुचुमायननिर्दहनावभञ्जनस्फोटनविदारणोत्पाटनकम्पनविविधशूलविश्लेषणविकिरणस्तम्भनपूरणस्तम्भनस्वप्नाकुञ्चनाङ्कुशिकाः संभवन्ति, अनिमित्तविविधवेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्मुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदनाविशेषास्तं वातिकमिति विद्यात्; ओषचोषपरिदाहधूमायनानि यत्र गात्रमङ्गारावकीर्णमिव पच्यते यत्र चोष्माभिवृद्धिः क्षते क्षारावसिक्तवच्च वेदनाविशेषास्तं पैत्तिकमिति विद्यात्, पित्तवद्रक्तसमुत्थं जानीयात्, कण्डूर्गुरुत्वं सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्वं स्तम्भः शैत्यं च यत्र तं श्लैष्मिकमिति विद्यात्, यत्र सर्वासां वेदनानामुत्पत्तिस्तं सान्निपातिकमिति विद्यात् ॥११॥

इसके आगे सब व्रणों की वेदना कहते हैं—

जिन व्रणों में निम्न प्रकार की वेदना हो उनको वातिक व्रण समझना चाहिये। यथा—सूई के समान चुभने की, भेदन (त्वचा आदि के फटने की), ताड़न (दण्ड आदि से अभिहनन की), छेदन (काटने की), आयमन (तानने की), मन्थन (मथने की), विक्षेपण (फेंकने की), चुमचुमायन (राई या सरसों के लेप की भाँति चुमचुमाने की सी), (निर्दहन वह्नि से जलने की), अव-भंजन (वायु से टूटने की), स्फोटन (फूटने की), विदारण (नख आदि से फाड़ने की), उत्पाटन (उखाड़ने की), कम्पन (काँपने की), विविध-शूल, विश्लेषण (नाना प्रकार की पीड़ाओं की), विकिरण (व्रण के भिन्न २ अवयवों में वेदन), पूरण (भरना), स्तम्भन (स्तब्धता), स्वप्न (स्पर्शज्ञान की हानि), आकुंचन (संकोच), अंकुशिका (खल्ली-बालों का गिरना), विना कारण के नाना प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होने लगती हैं, और बार बार जहाँ पर वेदनायें हों उस व्रण को वातिक समझना चाहिये।

जिन व्रणों में निम्न लक्षण हों उनको पैत्तिक समझना, यथा—ओष (एक देश में दाह), चोष (चूसने के समान पीड़ा), परिदाह (जलन), धूमायन (धूमप्रतीति), जिन में शरीर अङ्गारों से जलता-सा प्रतीत हो, जहाँ पर उष्णिमा बढ़ी हो, क्षत में क्षार लगने के समान पीड़ा हो-उनको पैत्तिक व्रण समझना चाहिये पित्त के समान रक्तजन्य व्रणों को समझना चाहिये।

जिन व्रणों में निम्न लक्षण हों उनको कफजन्य व्रण समझना चाहिये। यथा—कण्डू (खाज), गुरुत्व (भारीपन), सुप्तत्व (स्पर्शज्ञान का नाश), थोड़ी वेदना, स्तम्भ (जड़ता) और शीतलता हो, उसे श्लैष्मिक व्रण जानना चाहिये। और जिन व्रणों में सब प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होती हों-उन व्रणों को सन्निपातजन्य समझना चाहिये[१] ॥११॥

अत ऊर्ध्वं व्रणवर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोतास्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य, नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः पिङ्गलः इति रक्तपित्तसमुत्थयोः श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य, सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥१२॥

इसके आगे व्रण के रङ्गों को कहते हैं। वायु के कारण व्रण का रङ्ग-भस्म (राख), कबूतर की अस्थि के समान, कठोर, लाल, काला, होता है। पित्त के कारण एवं रक्तजन्य व्रण का रङ्ग—नीला, पीला, हरा, काला, श्याव, लाल, कपिल, पिङ्गल (धूसर) होता है। कफजन्य व्रण का रङ्ग—श्वेत, स्निग्ध, पाण्डु होता है। सन्निपातजन्य व्रण में सब दोषों के रङ्ग मिलते हैं॥

भवति चात्र—

न केवलं व्रणेषूक्तो वेदनावर्णसंग्रहः।
सर्वशोफविकारेषु व्रणवल्लक्षयेद्भिषक् ॥१३॥

कहा भी है—

यहाँ पर जो वेदना एवं वर्ण के विषय में कहा है, यह केवल व्रणों के लिये ही नहीं है, अपितु शोफजन्य सब रोगों में व्रण के समान ही (वेदना एवं वर्ण) वैद्य को समझना चाहिये॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणास्रावविज्ञानीयो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातः कृत्याकृत्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

इसके आगे कृत्याकृत्य विधि (साध्यासाध्य विधि) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

तत्र, वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववतां (आत्मवतां) च सुचिकित्स्या व्रणाः, एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद्‌गुणचतुष्टयं तस्य सुखसाधनीयतमाः। तत्र, वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति, दृढानां स्थिरबहुमांसत्वाच्छस्त्रमवचार्यमाणं सिरास्नाय्वादिविशेषान्न प्राप्नोति, प्राणवतां वेदनाभिघाताहारयन्त्रादिभिर्न ग्लानिरुत्पद्यते, सत्त्ववतां दारुणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति, तस्मादेतेषां सुखसाधनीयतमाः ॥३॥

वयःस्थ (तरुण), दृढ (गूढ़-सिरा-सन्धिवाले संहत शरीर), प्राणवान् (शक्तिशाली), और सत्त्ववान् (व्यसन में भी न घबरानेवाले) पुरुषों के व्रण सुगमता से चिकित्सा किये जाते हैं, अथवा यदि एक ही पुरुष में उपर्युक्त चारों गुण हों तो उसके व्रण अतिशय सुखसाध्य हैं। इनमें—तरुण पुरुषों में—धातु के नवीन होने से व्रण शीघ्र भरते हैं। दृढ पुरुषों में—मांस के स्थिर एवं बहुत होने से—चलाया हुआ शास्त्र सिरा—स्नायु आदि तक नहीं पहुँचता। शक्तिशाली पुरुषों में—वेदना,

---

१ दूषितव्रण—

श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरः।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः॥
रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः॥

व्रण के स्राव—

लसीकाजलपूयासृग्हारिद्रारुणपिञ्जराः।
कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः॥

व्रण के रूप—

कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च।
संवृतो दारुणस्रावी सविषो विषमास्थितः॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्यात् विपर्य्ययात्।
इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः॥

व्रण की गन्ध—

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्त्तिताः॥

दोषों से—

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः॥
तृष्णामोहज्वरस्वेददाहदुष्ट्यवदारणैः।
व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः॥
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धो स्तिमितो मन्दवेदनः।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदः चिरकारी कफव्रणः॥

साध्यासाध्य—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः।
धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः॥
गुणैरन्यतमैर्हीनः ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः।
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः॥

चरक० चि० अ० २५।

अभिघात अथवा आहार के नियमन से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती। सत्त्वशाली पुरुषों में—दुःसह क्रिया कर्मों से पीड़ा नहीं होती, इसलिये इन पुरुषों के व्रण अतिशय सुखसाध्य हैं ॥ ३ ॥

त एव विपरीतगुणा वृद्धकृशाल्पप्राणभीरुषु द्रष्टव्याः ॥४॥

ये ही व्रण वृद्ध, कृश, अल्पप्राण एवं भीरु पुरुषों में विपरीत गुण होने से कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं। एक गुण के अभाव में कृच्छ्रतमसाध्य हैं ॥ ४ ॥

स्फिक्पायुप्रजननललाटगण्डौष्ठपृष्ठकर्णफलकोषोदरजत्रुमुखाभ्यन्तरसंस्थाः सुखरोपणीया व्रणाः ॥ ५ ॥

निम्न स्थानों के व्रण सुखपूर्वक रोहण हो जाते हैं। यथा—स्फिग् (नितम्ब), पायु (गुदा), प्रजनन (गुह्यप्रदेश), ललाट (माथा), गण्ड (गण्डस्थल), ओठ, पीठ, कान, फलकोष (अण्डकोष), उदर, जत्रु (अंस और वक्षः सन्धि) और मुख के अन्दर स्थित व्रण सुखसाध्य हैं ॥ ५ ॥

अक्षिदन्तनासापाङ्गश्रोत्रनाभिजठरसेवनीनितम्बपार्श्वकुक्षिवक्षःकक्षास्तनसन्धिभागगताः सफेनपूयरक्तानिलवाहिनोऽन्तःशल्याश्च दुश्चिकित्स्याः, अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो, रोमान्तोपनखमर्मजंघास्थिसंश्रिताश्च, भगंदरमपि चान्तर्मुखं सेवनीकुटकास्थिसंश्रितम् ॥ ६ ॥

साध्य के भेद कृच्छ्रसाध्य व्रण—आँख, दन्तमूल, नासिका अपांग (भ्रू की कोर-प्रान्त), श्रोत्र, नाभि, जठर, सेवनी, नितम्ब, पार्श्व, कुक्षि, वक्ष, कक्षा, स्तन, सन्धि भाग में स्थित व्रण कष्टसाध्य हैं। जिन व्रणों में से झाग युक्त पूय रक्त, वायु का प्रवाह होता हो, एवं व्रण के अन्दर शल्य हो तो व्रण कष्टसाध्य है। अधोभागस्थित व्रण जो कि ऊपर की ओर मुख किये हों (ऊपर की ओर बढ़ रहे हों), बालों की जड़ों में, नख के पास में, मर्म स्थान में, जङ्घास्थि (पिण्डलियों की अस्थि) में, अस्थिव्रण तथा गुदा के अन्दर मुख किया हुआ भगन्दर, इसी प्रकार से बनी (Perinium) के समीप कुटकास्थि (श्रोणीकाण्डास्थि कटि की अस्थि) में स्थित अन्तःभगन्दर रोग असाध्य है[1]।

वि० मन्तव्य—अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो—अर्थात् वे अन्तर्विद्रधि जो नाभि से निचले अवयवों में उत्पन्न हों परन्तु मुखमार्ग से बहते हों वे। यथा—नाभेरुपरिजाः पक्का यान्ति ऊर्ध्वं इतरे तु अधः। जीवति अधो निःस्रुतेषु, स्रुतेषु ऊर्ध्वं न जीवति ॥ सु० नि० अ० ९ श्लो० २४ ॥ ६ ॥

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ॥७॥

कुष्ठ रोगियों के, दूषी विषयुक्त रोगियों के, शोषरोगियों के, मधुमेही पुरुषों के और जिन पुरुषों के व्रण में दूसरे व्रण हों, उनके व्रण कठिनाई से अच्छे होते हैं ॥ ७ ॥

अवपाटिकानिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदजठराणि, ग्रन्थिक्षतकृमयः प्रतिश्यायजाः कोष्ठजाश्च त्वग्दोषिणां प्रमेहिणां वा ये परिक्षतेषु दृश्यन्ते, शर्करा सिकतामेहो वातकुण्डलिकाऽष्ठीला दन्तशर्करोपकुशः कण्ठशालूकं निष्कोषणदूषिताश्च दन्तवेष्टा विसर्पास्थिक्षतोरःक्षतव्रणग्रन्थिप्रभृतयश्च याप्याः ॥ ८ ॥

असाध्य भेद को (याप्य) कहते हैं—अवपाटिका, विरुद्धप्रकाश, सन्निरुद्ध गुद, सन्निरुद्ध जठर (आंत्र), ग्रन्थि से उपलक्षित क्षत में जब कृमि हों, प्रतिश्यायजन्य कृमियाँ, कोष्ठजन्य कृमियाँ, त्वचा के दोष या प्रमेहरोगियों के क्षतों में जो कृमि दिखाई देते हैं, शर्करा (अश्मरी), सिकतामेह, वातकुण्डलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, उपकुश, कण्ठशालूक, दाँतों के कुरेदने के लिये जो विषयुक्त काष्ठ प्रयुक्त होते हैं—उनसे दूषित दन्तवेष्ट (मसूड़े), विसर्प, अस्थिक्षत, उरःक्षत, व्रणग्रन्थि आदि में होनेवाले व्रण याप्य हैं। अवपाटिका आदि रोगों में होनेवाले व्रण याप्य हैं, रोग याप्य नहीं ॥ ८ ॥

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां यथा ।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥ ९ ॥

क्रिया के न करने अथवा विरुद्ध क्रिया करने से साध्य रोग याप्य हो जाते हैं, याप्य रोग असाध्य हो जाते हैं। और असाध्य रोग प्राणों को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। जैसा कहा है—

सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः ।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥९॥

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम् ।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥ १० ॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम् ।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजितः ॥ ११ ॥

याप्य का लक्षण—जिस रोगी पुरुष को चिकित्साक्रिया धारण करती है उसको 'याप्य' समझना चाहिए। चिकित्साक्रिया के हट जाने से पुरुष उस रोग से शीघ्र नष्ट हो जाता है। याप्य व्याधि से आक्रान्त रोगी को चिकित्सा-क्रिया बचाती है। जिस प्रकार कि गिरते हुए घर को भली प्रकार से लगाया स्तम्भ रोक देता है ॥ १०,११ ॥

अत ऊर्ध्वमसाध्यान् वक्ष्यामः—मांसपिंडवदुद्गताः प्रसेकिनोऽन्तःपूयवेदनावन्तोऽश्वापानवदुद्वृत्तौष्ठाः, केचित् कठिना गोशृंगवदुद्गतमृदुमांसप्ररोहाः, अपरे दुष्टरुधिरास्राविणस्तनुशीतपिच्छिलास्राविणो वा मध्योन्नताः, केचिदवसन्नशुषिरपर्यन्ताः शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शनाः,

[1] कहीं कहीं पर कुटकास्थि के स्थान में 'उपस्थ' पाठ है। उपस्थ मार्ग में मुखवाला भगन्दर रोग असाध्य है।

वसामेदोमज्जमस्तुलुङ्गस्राविणश्च दोषसमुत्था पीतासितमूत्रपुरीषवातवाहिनश्च कोष्ठस्थाः, त एवोभयतोभागव्रणमुखेषु पूतरक्तनिर्वाहिणः, क्षीणमांसानां च सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांसबुद्बुदवन्तः, सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः, क्षीणमांसानां च पूयरक्तनिर्वाहिरोचकाविपाककासश्वासोपद्रवयुक्ताः, भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र मस्तुलुंगदर्शनं त्रिदोषलिंगप्रादुर्भावःकासश्वासौ वा यस्येति ॥ १२ ॥

इसके आगे असाध्य रोगों को कहते हैं। मांसपिण्ड के ऊपर उठे, प्रसेकी (स्राव बहुल), अन्दर पूय-वेदना युक्त, घोड़ी की योनि की भांति उन्नत मुखवाले (किनारोंवाले), कुछ कठिन गाय के सींग के समान ऊपर उठे मांसांकुरोंवाले, दूषित रक्तस्राव करनेवाले, पतला-शीतल-पिच्छिल स्राव बहानेवाले, अथवा बीच से उन्नत या बीच से अन्दर को दबे, सन की रूई के समान-स्नायुजाल युक्त—देखने में बुरे, दोष के कारण—वसा मेद मज्जा मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क का द्रव भाग) का स्राव करनेवाले, कोष्ठ में स्थित व्रणों में—पीला, काला, मूत्र, मल, वायु का स्राव होने से, कोष्ठ स्थित व्रणों का मुख दोनों पार्श्वों में (ऊपर मुख की ओर और नीचे गुदा की ओर) हों, पूय-रक्त को स्रवित करनेवाले, चारों ओर गतिवाले—सूक्ष्म मुखवाले–मांस के समान बुलबुलेवाले, शिर एवं कण्ठ में स्थित व्रणों में से—शब्द के साथ वायु का स्राव हो, क्षीण मांसवाले पुरुषों में पूय रक्त का स्राव होता हो, एवं अरुचि, अविपाक, कास, श्वास—ये उपद्रव साथ में हों, शिर की खोपड़ी के फटने पर जब मस्तिष्क दीखने लगे या तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जायें, कास-श्वास हो, तो व्रण असाध्य समझना चाहिये ॥

भवति चात्र—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुंगं च यः स्रवेत्।
आगन्तुस्तु व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसंभवः ॥ १३ ॥
अमर्मोपहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्जिते।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

कहीं भी है—

जिस आगन्तुज व्रण में से वसा, मेद, मज्जा अथवा मस्तुलुङ्ग का स्राव होता है, वह व्रण साध्य है। दोषजन्य व्रण इस प्रकार के स्राव होने से असाध्य है शिरा-सन्धि एवं अस्थि से रहित, मर्मरहित प्रदेश में यदि विकार हो और वह चिकित्सा करने पर भी सब धातुओं में फैलता जाये, तो उसको असाध्य समझना चाहिए ॥ १३,१४ ॥

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥ १५ ॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥ १६ ॥

रोग धातुओं का सहारा लेकर धीरे २ वृद्धि को प्राप्त हुआ करता है। उस समय बढ़ने पर रोग (साध्य) जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता, जिस प्रकार बड़ा वृक्ष जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता। इसमें कारण—रोग की स्थिरता रोग के बढ़ जाने से और धातुओं का सहारा पकड़ने से रोग औषध के वीर्य को निष्फल कर देता है, जिस प्रकार दुष्टग्रह (स्कन्दापस्मार आदि) मन्त्र की शक्ति निष्फल कर देता है ॥ १५,१६ ॥

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते।
अबद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः ॥ १७ ॥

जो व्रण धातुओं में नहीं फैलता, वह सुखसाध्य है, क्योंकि इस व्रण की जड़ स्थिर नहीं होती। जिस प्रकार कि एक छोटा पौधा मूलके स्थिर न होने से सुगमता से उखाड़ा जा सकता है ॥ १७ ॥

त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिंडकीसमः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥ १८ ॥

शुद्ध व्रण का लक्षण—वात आदि दोषों से रहित (अथवा व्रण की आकृति-गन्ध वर्ण स्राव-वेदनासे रहित, या शीत-उष्ण, मृदु-कठिन, संवृत-विवृत रहित), काले किनारोंवाला, पिडकी (मांसांकुर), समतल, वेदनारहित, स्राव से रहित व्रण को शुद्ध व्रण कहते हैं ॥ १८ ॥

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः।
स्थिराश्च पिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥ १९ ॥

जिस व्रण के अन्तर्भाग (किनारे)—कबूतर के सदृश धूसर वर्णवाले हों और क्लेद (सड़न-पन्छा) से रहित हों, स्थिर (स्थिरतायुक्त) हो और पिड़का (छोटी फुन्सियों) से युक्त—व्याप्त हों वह व्रण "भर रहा है—रोपित हो रहा है" समझा जाता है। जब व्रण उचित प्रकार से भर रहा होता है तब ये लक्षण होते हैं ॥ १९ ॥

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

सम्यक् रूढ़ के लक्षण—व्रण वस्तु भर जावे, किसी प्रकार की गाँठ या-सूजन न हो, दर्द न हो, त्वचा के समान रङ्ग हो, व्रण समतल हो, उस व्रण को भली प्रकार से रोहण हुआ समझना चाहिये ॥ २० ॥

दोषप्रकोपाद्व्यायामादभिघातादजीर्णतः।
हर्षात् क्रोधाद् भयाद्वाऽपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते ॥२१॥

दोष के प्रकोप से, व्यायाम से, चोट लगने से, अजीर्ण से,

अतिहर्ष से, क्रोध से, भय से रोहण हुआ व्रण भी पुनः फट जाता है[1] ॥२१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्य-विधिर्नाम त्र्योविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्याधिसमुद्देशीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसाकि धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

द्विविधास्तु व्याधयः—शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते ॥३॥

विधि भेद से रोग दो प्रकार के हैं। एक—शस्त्र-साध्य और दूसरे स्नेह-स्वेदन आदि क्रियासाध्य। इन से शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहादि क्रियाओं का निषेध नहीं है। परन्तु स्नेहादिक्रियासाध्य रोगों में शस्त्रकर्म निषिद्ध है[2] ॥३॥

अस्मिन् पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात्, सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः क्रियते। प्रागभिहितं 'तद्दुःखसंयोगा व्याधयः' (सू० अ० १) इति तच्च दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकमिति। तत्तु सप्तविधे व्याधावुपनिपतति। ते पुनः सप्तविधा व्याधयः, तद्यथा—आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, देवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति ॥४॥

इस सौश्रुततन्त्र में शालाक्य आदि सब तन्त्रों के सिद्धान्त से सब रोगों का संग्रह किया जाता है। पहिले कह चुके हैं कि शरीर-शरीरी (शरीर और मन) के साथ दुःख का संयोग होने से व्याधियाँ हैं। यह दुःख तीन प्रकार का है। यथा—आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक। इस तीन प्रकार के दुःख का अन्तर्भाव सात प्रकार की व्याधियों में हो जाता है। सात प्रकार की व्याधियाँ, यथा—आदिबलप्रवृत्ता, जन्मबलप्रवृत्ता, दोषबलप्रवृत्ता, संघातबलप्रवृत्ता, कालबलप्रवृत्ता, दैवबलप्रवृत्ता, स्वभावबलप्रवृत्ता ॥४॥

तत्र, आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः तेऽपि द्विविधाः—मातृजाः, पितृजाश्च। जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते, तेऽपि द्विविधाः—रसकृताः दौहृदापचारकृताश्च। दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च, तेऽपि द्विविधाः—आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च, पुनश्च द्विविधाः- शारीरा, मानसाश्च। त एते आध्यात्मिकाः ॥५॥

इनमें आदिबल प्रवृत्ता (दुष्टशोणितबलजाता), जो कि दूषित शुक्र-आर्त्तव के दोष के कारण उत्पन्न होती है, यथा—कुष्ठ, अर्श आदि। ये भी दो प्रकार की हैं। एक—मातृजन्य और दूसरी—पितृजन्य। जन्मबल प्रवृत्ता जो कि माता के दूषित आहार-विहार के कारण उत्पन्न होती है। यथा—पंगुपन, अन्धत्व, बधिरत्व, मूकत्व, मिन्मिन, वामन (नाटा कद) आदि। वे भी दो प्रकार की हैं। एक—रसजन्य (गर्भिणी के आधार-रस से उत्पन्न) और दूसरी—दौहृदावस्था (देखिये शा० अ० ३ सू० १८ में २६) में किये गये अपचार के कारण उत्पन्न। दोषबलप्रवृत्ता—(रज-तम-शक्ति से उत्पन्न—तथा दोष की शक्ति से उत्पन्न रोग), ये मिथ्या-आहार-विहार के कारण उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं, एक—आमाशय से उत्पन्न और दूसरी—पक्वाशय से उत्पन्न। फिर इनके दो भेद हैं—एक शारीरिक और दूसरे मानसिक। ये तीनों (आदिबल जन्मबल और दोषबल से प्रवृत्त) आध्यात्मिक (शरीरस्थ—वातादि—रजप्रभृति दोषजन्य होने से) हैं[1] ॥५॥

संघातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्, तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृताः, व्यालकृताश्च। एते आधिभौतिकाः ॥६॥

संघातबल प्रवृत्ता (प्रहार शक्ति से उत्पन्न) ये आगन्तुज रोग हैं दुर्बल पुरुष का बलवान् के साथ लड़ाई करना। ये भी दो प्रकार के हैं। यथा—शस्त्रजन्य और व्याल—(सर्पादि) आदि से उत्पन्न। ये आधिभौतिक हैं ॥६॥

कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षातपप्रभृतिनिमित्ताः, तेऽपि द्विविधाः—व्यापन्नर्तुकृताः, अव्यापन्नर्तुकृताश्च। दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशप्तका अथर्वणकृता उप-

---

१ स्नायुक्लेदात् सिराक्लेदात् गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात्।
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वाच्च सर्पणात् ॥
नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमातिघट्टनात्।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहात् अतिभैषज्यकर्षणात् ॥
अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात्।
शोकात् क्रोधाद् दिवास्वप्नात् व्यायामान्मैथुनात्तथा ॥
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥
चरक०।

२ शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशः त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानञ्चेति।

१ देखिये चरक विमान आठवें में—प्रकृतितश्च परीक्षेत।

सर्गजाश्च, तेऽपि द्विविधाः—विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च, पुनश्च द्विविधाः—संसर्गजाः, आकस्मिकाश्च । स्वभावबलप्रवृत्ता ये क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधाः—कालजाः, अकालजाश्च, तत्र परिरक्षणकृताः कालजाः, अपरिरक्षणकृता अकालजाः । एते आधिदैविकाः । तत्र सर्वव्याध्यवरोधः ॥७॥

कालबल प्रवृत्ता—जो कि शीत, उष्ण, वायु, वर्षा आदि के कारण उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं। यथा—एक—व्यापन्नर्तुकृत (दूषित ऋतु के कारण उत्पन्न–जनपदध्वंस आदि रोग) दूसरे–अव्यापन्नर्त्तुकृत (अदूषित ऋतुजन्य)। दैवबल प्रवृत्ता (दैवशक्ति से उत्पन्न)—जो कि देवता, गुरु, सिद्ध पुरुषों के साथ द्रोह करने के या गुरुओं के अभिशाप से उत्पन्न या अथर्ववेदप्रणीत आभिचारिक मन्त्रों द्वारा उत्पन्न अथवा रुग्ण मनुष्य के समीप रहने से उपसर्ग द्वारा उत्पन्न संक्रामक ज्वर आदि । ये भी दो प्रकार के हैं। एक—विद्युत् जन्य और अशनिकृत (विद्युत्–लता के आकार में तिरछी–आग के समान गिरनेवाली, अशनि–मूसल के समान सीधी नीचे गिरनेवाली), दूसरा–पिशाचादिजन्य। ये (पिशाचादिजन्य) भी दो प्रकार के हैं। यथा—संसर्गजन्य (रोगी के पास रहने से), दूसरा—आकस्मिक (देव–द्रोह आदि के कारण से उत्पन्न)। स्वभावबल प्रवृत्ता—भूख, प्यास, जरा, मृत्यु आदि (ये भी दो प्रकार के हैं)। यथा—कालजन्य और अकालजन्य। रक्षा करने पर भी जो रोग होते हैं, वे कालजन्य हैं। बिना रक्षा (प्रयत्न) करने पर जो होते हैं, वे—अकालजन्य हैं। ये आधिदैविक रोग हैं। इनमें सब रोगों का समावेश हो जाता है ॥७॥

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं; तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते । दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा—रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयं, अस्थिजोऽयं, मज्जाजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

सब रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ ही है। क्योंकि–तल्लिंगत्वात्, रोगों में - वातादि के लक्षण दिखाई देते हैं। दृष्टफलत्वात् , वातादिहर औषधियों से चिकित्सा करने पर—लाभ होता देखा जाता है, आगमात्—शास्त्र से भी ज्ञात होता है कि वात आदि ही सब रोगों के कारण हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण (महद् आदि चौबीस तत्त्व) विकार समूह–जगत रूप में स्थित होते हुए भी—सत्त्व, रज, तम से पृथग् नहीं होता, उसी प्रकार सब रोग भी वात-पित्त कफ से पृथग् नहीं जाते। दोष (वातादि), धातु, (रसादि), मल (मूत्रादि) के संयोग की भिन्नता से, स्थानभेद से और करणभेद से—रोग में भेद आ जाते हैं। दोषों द्वारा धातुओं के दूषित होने से रसादि की 'दूष्य' यह संज्ञा हो जाती है। दोषजन्य रोगों में—रसजन्य, रक्तजन्य, मांसजन्य, मेदोजन्य, अस्थिजन्य, मज्जाजन्य शुक्रजन्य—यह रोग है, ऐसा व्यवहार हो जाता है। जिस प्रकार–'घी से जल गया, लोहे से जल गया'—ऐसा कहने पर 'घी–में स्थित अग्नि से जला' ऐसा ज्ञात होता है, उसी प्रकार रक्तजन्य यह रोग है, ऐसा कहने पर समझना चाहिये कि रक्त को किसी दोष ने दूषित किया होगा ॥८॥

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालजवलीपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः, कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृति रक्तदोषजाः, गुदमुखमेढ्पाकाश्च, अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः, अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः, तमोदर्शनमूर्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः, क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः, त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतनदोषजाः इत्येष समास उक्तः, विस्तरं निमित्तानि चैषां प्रतिरोगं वक्ष्यामः ॥९॥

अन्न में-द्वेष, अरुचि, अविपाक, अङ्गों का टूटना, ज्वर, हृल्लास (वमन की इच्छा), तृप्ति (बिना भोजन के) भारीपन, हृदयरोग, पाण्डुरोग, मार्गों की रुकावट, कृशता, मुख के स्वाद में परिवर्तन, अङ्गों में पीड़ा, बिना समय के चेहरे पर झुर्रियाँ आना—बालों का सफेद होना आदि रसजन्य विकार हैं। कुष्ठ, वीसर्प, पिडिका, मशक, नीलिका, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त, प्लीहा, विद्रधि, गुल्म, वात-रक्त, अर्श, अर्बुद अङ्गों का टूटना, रक्त-प्रदर, रक्तपित्त आदि रक्तदोषजन्य रोग हैं। गुदा का पाक, मुख का पाक, शिश्न का पाक, अधिमांस, अर्बुद, अर्श, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश, गलशुण्डिका, अलजी, मांससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला आदि मांसजन्य रोग हैं। ग्रन्थि, वृद्धि, गलगण्ड, मेदोजन्य अर्बुद, ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थूलता, अतिस्वेद—आदि मेद दोषजन्य रोग हैं। अधिक अस्थि, अधिक दन्त, अस्थि में पीड़ा, शूल, कुनख आदि अस्थि दोषजन्य रोग हैं। आँखों के सामने अन्धेरा आना, मूर्छा, भ्रम, पर्वों में मोटी जड़ोंवाली फुन्सियों की

उत्पत्ति, ऊरु और जङ्घा, का मोटा एवं भारी होना, नेत्राभिष्यन्द आदि-मेददोषजन्य रोग हैं। क्लीवता, अप्रहर्ष (मैथुन के विषय में अनिच्छा) शुक्राश्मरी, शुक्रमेह और शुक्रजन्य दोष-शुक्रदोष से उत्पन्न होते हैं। त्वचा के दोष (कुष्ठ आदि), कान नासिका-आँख में मल का अवरोध या मलों का अधिक आना, अथवा दूषित रूप में बाहर आना ये-मलस्थानदोषजन्य हैं। इन्द्रियों की अप्रवृत्ति (अपने कार्य में प्रवृत्त न होना) या मिथ्या रूप से प्रवृत्त होना-इन्द्रियस्थानजन्य विकार हैं।

यहाँ पर यह सब संक्षेप में कहा है। विस्तार से इनके कारणों को प्रत्येक रोग में कहेंगे ॥९॥

भवति चात्र—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥१०॥

कहा भी है—

प्रकुपित दोष जब शरीर में इधर उधर दौड़ने लगते हैं, उस समय स्रोतसों के विकार के कारण जिस स्थान पर ये दोष रुक जाते हैं, उसी स्थान पर रोग उत्पन्न हो जाता है ॥१०॥

भूयोऽत्र जिज्ञास्यं किं वातादीनां ज्वरादीनां च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा ? इति, यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः स्युः, अथाप्यन्यथा वातादीनां ज्वरादीनां च, 'अन्यत्र वर्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवति' इति कृत्वा यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति तन्न। अत्रोच्यते—दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति, अथ च न (नित्यः) संबन्धः, यथाहि विद्युद्वाताशनिवर्षाण्याकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याकाशे कदाचिन्न भवन्ति, अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पत्तिरिति, तरङ्गबुद्बुदादयश्चोदकविशेषा इव, वातादीनां ज्वरादीनां च नाप्येवं संश्लेषो न परिच्छेदः शाश्वतिकः, अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति ॥११॥

यहाँ पर एक बात जाननी है कि—क्या वात आदि दोषों का ज्वर आदि रोगों के साथ नित्य सम्बन्ध (समवाय) बना रहता है, या नहीं? यदि इनका नित्यसम्बन्ध है (जिस प्रकार-चन्द्रमा और ज्योत्स्ना का), तो सब प्राणियों को सदा ही रोगी रहना चाहिये और यदि इनका परिच्छेद (पृथक्त्व) मानते हो (जैसा कि-घड़े और कुम्हार का, वस्त्र और जुलाहे में मानते हो) तो वातादि प्रकृतिवाले पुरुषों में ज्वर आदि रोग का या वात रोग का कोई लक्षण नहीं दीखता। अन्यत्र वर्त्तमान भावों के लक्षण अन्यत्र नहीं होते-इस नियम से वात आदि ज्वर आदि के कारण नहीं हैं। इसलिये जो ऊपर कहा कि वात आदि ज्वर आदि का कारण है, यह ठीक नहीं।

इसका उत्तर—ज्वर आदि रोग, दोषों का (वात आदि) परित्याग करके उत्पन्न नहीं होते। और न इनका नित्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार विद्युत्, अशनित, वायु और वर्षा आकाश के बिना नहीं रह सकते, और आकाश के रहने पर भी कभी नहीं भी होते और कारणों से ये ही उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरा उदाहरण—पानी में उत्पन्न होनेवाली तरङ्ग एवं बुलबुले भी न तो सदा उत्पन्न रहते हैं और न सदा अनुत्पन्न रहते हैं, कारण से उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार से वात आदि दोषों का ज्वर आदि रोगों के साथ न तो नित्य संश्लेष (सम्बन्ध) ही है और न नित्य पृथक्त्व ही है। कारण से ही इनकी उत्पत्ति हो जो जाती है ॥११॥

भवति चात्र—

विकारपरिमाणं च संख्या चैषां पृथक् पृथक्।
विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वा बाधा च वक्ष्यते ॥१२॥

विकार परिमाण (रोगों की समुदाय-संख्या), इन रोगों की पृथक् पृथक् संख्या (अठारह कुष्ठ, बीस प्रमेह आदि) सब प्रकार की बाधायें (रोग—ज्वर-अतिसार आदि)—विस्तार से उत्तर तन्त्र में कहेंगे ॥१२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्याधिसमुद्देशीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातोऽष्टविधशस्त्रकर्मीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'अष्टविध शस्त्रकर्मीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। (चरक में शस्त्रकर्म छः[१] कहे हैं-और एकस्थान पर नौ गिने हैं-यथा—छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छन, सीवन और एषण) ॥२॥

छेद्या भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मिकस्तिलकालकः।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥३॥
शल्यं जतुमणिर्मांससंघातो गलशुण्डिका।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥४॥
अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्द्यधिमांसकः।

निम्न रोग छेदन करने के योग्य हैं। यथा—भगन्दर, कफजन्य (आम) ग्रन्थि, तिलकालक (क्षुद्ररोगाधिकारस्थ), व्रणवर्त्म (क्लिन्न व्रणौष्ठ), अर्बुद (सब), अर्श, चर्मकील, (मांसांकुर), अस्थिगत शल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका, गलित स्नायु, गलितमांस, गलित सिरा, वल्मीक, शतपोनक (व्रण-

---

१ छः शस्त्रकर्म यथा-पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा।
पच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥
चरक चि० अ० २५।

विशेष), अध्रुष (मुख रोग), उपदंश, मांसकन्दी (कन्दाकार-मांस) और अधिमांस-इनमें छेदन करना चाहिये ॥३,४॥

भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद् ग्रन्थयस्त्रयः ॥५॥
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः।
प्रमेहपिडकाः शोफः स्तनरोगोऽवमन्थकः ॥६॥
कुम्भीकाऽनुशयी नाड्यो वृन्दौ पुष्करिकाऽलजी।
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटौ तालुदन्तजौ ॥७॥
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः।
वस्तिस्तथाऽश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥८॥

निम्न रोगों में भेदन करना चाहिये। सान्निपातिक विद्रधि को छोड़कर शेष सब विद्रधियाँ, वात-पित्त-कफजन्य तीनों ग्रन्थियाँ, वात-पित्त-कफजन्य—प्रथम तीन विसर्प, सब वृद्धियाँ, विदारिका, प्रमेहपिड़िका, व्रणशोफ, स्तनविद्रधि, अवमन्थक (शूकदोष में), कुम्भिका, अनुशयी, नाड़ीव्रण, वृन्द (एक वृंद और द्वन्द्वकण्ठरोगों में), पुष्करिका, अलजी, प्रायः सब क्षुद्ररोग, तालुपुप्पुट, दन्तपुप्पुट, तुण्डिकेरी, गिलायु और मुखरोगों में कण्ठशालूक आदि जो रोग पकनेवाले हैं, उनकी पच्यमानावस्था में ही, अश्मरी के निकालने के लिये ही (वैसे-नहीं) वस्ति का और जो मेदोजन्य रोग हैं- उनमें भेदन करना चाहिये ॥५-८॥

लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका।
मेदोजो दन्तवदर्भो ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका ॥९॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दी मांसोन्नतिस्तथा।

निम्न रोगों में लेखन करना चाहिये--वात-पित्त-कफ-रक्त-जन्य चार रोहिणी, किलास, उपजिह्विका, दुष्टमेदजन्य ग्रन्थि आदि, दन्तवैदर्भ, नेत्रग्रन्थि, नेत्रवर्त्म अधिजिह्विका, अर्श, मण्डल (कुष्ठ), मांसकन्दी और मांस की वृद्धि (व्रण आदि) में लेखन करना चाहिये ॥९॥

वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् ॥१०॥

नाना प्रकार की सिराओं, मूत्रवृद्धि और जलोदर में वेधन करना चाहिये ॥१०॥

एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये

नाड़ीव्रण, शल्ययुक्त व्रणों में, ऊपर-नीचे-तिरछे (विमार्ग) जानेवाले व्रणों में शलाका द्वारा एषण कार्य करना चाहिये॥

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोऽश्मरी ॥११॥
शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे।

निम्न रोगों में 'आहरण' करना चाहिये। यथा—तीन शर्करायें (मूत्रशर्करा, पादशर्करा और दन्तशर्करा), दाँत का मैल, कान का मैल, अश्मरी, मूढ़गर्भ, शल्य, गुदा में संचित मल का आहरण करना चाहिये ॥११॥

स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते ॥१२॥
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः।
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टं च शोणितम् ॥१३॥
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितश्च ते।
त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका ॥१४॥
सु (शु) षिरो गलशालूकं कण्टकाः क्रृमिदन्तकः।
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः ॥१५॥
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः।

निम्न रोगों में स्रावण (स्राव) करना चाहिये। यथा—सन्निपात विद्रधि को छोड़कर शेष पाँचों विद्रधियाँ, कुष्ठ, पीड़ा के सहित वायु, एकदेशजन्य शोफ (अम्ल भोजन निमित्त), पालि के रोग, श्लीपद, विषदूषित रक्त, अर्बुद, विसर्प, पूर्वोक्त (वात-पित्त-कफज) तीन ग्रन्थियाँ, तीन (वात, पित्त, कफजन्य) उपदंश, स्तनविद्रधि, विदारिका, शौषिर, गलशालूक, तालु-कण्टक, कृमिदन्त, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुप्पुट, पित्त-रक्त एवं कफजन्य ओष्ठरोग एवं बहुत से क्षुद्ररोग स्राव हैं[1]॥ जैसे कहा भी है—

"कर्म्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा। विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्म्मभिः॥

सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ॥१६॥
सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः।

निम्न रोग सीने योग्य हैं—जो रोग मेदोजन्य हों, जो फट गये हों और जिन रोगों में सम्पूर्ण रूप में लेखन कार्य हो चुका हो, चलसन्धि (movable हिलनेवाली) का आश्रय करके जो सद्योव्रण हों—उनको सीना चाहिये ॥१६॥

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिनः ॥१७॥
नान्तर्लोहितशल्याश्च

निम्न अवस्थाओं में सीना नहीं चाहिये—क्षार या अग्नि अथवा विष से दूषित, मारुतवाही (फुप्फुस आदि में) जिन में अन्दर दूषित रक्त या शल्य हों—उन व्रणों को नहीं सीना चाहिये ॥१७॥

तेषु सम्यग्विशोधनम्।
पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत् ॥१८॥
अहृतानि यतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम्।
रुजश्च विविधाः कुर्युस्तस्मादेतान् विशोधयेत् ॥१९॥

इनमें भली प्रकार से संशोधन करना चाहिये। क्योंकि-व्रण में जो धूलि, बाल, नख आदि वस्तुयें या हिलती हुई अस्थि होती हैं, इनको यदि बाहर न निकाला जाये तो वे वस्तुयें व्रण को बहुत अधिक पका देती हैं। एवं नाना प्रकार

१ एक रोग में कई कार्य बताये हैं, यथा—अर्बुद में लेखन भेदन, छेदन आदि। आवश्यकतानुसार है।

की तीव्र वेदनायें उत्पन्न करती हैं। इसलिये इन वस्तुओं का शोधन करना चाहिये ॥१६॥

ततो व्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम्।
सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा ॥२०॥
शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः।
मूर्वागुडूचीतानैर्वा सीव्येद्वेल्लितकं शनैः ॥२१॥

सीने की विधि—व्रण को ऊँचा उठाकर, यथास्थान में स्थित करके (किनारों को पास में मिलाकर), बारीक-धागे से अश्मन्तक वृक्ष (अम्ल लोटक) वल्कल से, सन के या रेशम के धागे से, स्नायु (Cat-Cut) से अथवा बाल से सीना चाहिये (सीने से पूर्व इनको भी Asputic कर लेना चाहिये)। या मूर्वा, गिलोय की बेल के धागों से धीरे धीरे सीना चाहिये ॥२०,२१॥

सीव्येद् गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम्।
ऋजुग्रन्थिमथो वाऽपि यथायोगमथापि वा ॥२२॥

सीना चार प्रकार का है। यथा—वेल्लित, गोफणिका, तुन्नसेवनी, या ऋजु ग्रन्थि[1]। अथवा जैसा उचित समझे, उसी प्रकार से सीना चाहिये ॥२२॥

देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताङ्गुलद्वयम्।
आयता त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा मांसले चाऽपि पूजिता ॥२३॥
धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि।
इत्येतास्त्रिविधाः सूचीस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः ॥२४॥
कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डलाः।
नातिदूरे निकृष्टे वा सूचीकर्मणि पातयेत् ॥२५॥
दूराद् रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुञ्चनम् ॥२६॥

सूई के भेद—सूईयाँ तीन प्रकार की हैं-यथा—अल्प मांस-वाले प्रदेशों में तथा सन्धियों में सीने के लिये सूई गोल—दो अंगुल लम्बी होनी चाहिये। २—मांसल स्थानों के लिये तिकोनी तीन अंगुल लम्बी सूई उत्तम है। ३—मर्मस्थान, फलकोश (अण्ड-कोष) और उदर पर सीने के लिये धनुष के समान वक्राकार सूई प्रशस्त है। ये तीनों प्रकार की सूइयां आगे से खूब तीक्ष्ण, सुगमता से पकड़ने योग्य होनी चाहिये। मालती-पुष्प के समान इनका वृन्त तथा अग्रभाग गोल होना चाहिये। सीवनकार्य में सूई को व्रणमुख से न तो बहुत दूर और न बहुत समीप त्वचा में प्रविष्ट करना चाहिये। क्योंकि दूर में प्रविष्ट करने से व्रण के किनारे में दर्द होगा, पास में प्रविष्ट करने से व्रण का किनारा कट जायेगा।

वि० मन्तव्य—सूची का अग्र तीक्ष्ण होता है और उसके मूलभाग में धागा डालने के लिये छिद्र होता है। यद्यपि सूई में पृथक् वृन्त नहीं होता परन्तु, जहाँ से वह पकड़ी जाती है वह भाग "वृन्त" कहलाता है ॥२३-२६॥

अथ क्षौमपिचुच्छन्नं सुस्यूते प्रतिसारयेत्।
प्रियङ्ग्वञ्जनयष्ट्याह्वरोध्रचूर्णैः समन्ततः ॥२७॥
शल्लकीफलचूर्णैर्वा क्षौमध्यामेन वा पुनः।
ततो व्रणं यथायोगं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥२८॥

सीने के पश्चात् क्रम—भली प्रकार से सीने के पश्चात् रेशम के वस्त्र से और रूई से ढाँप देना चाहिये। इसके ऊपर प्रियंगु (फूल प्रियंगु गावहला), रसांजन, मुलहठी, लोध्र (पठानी लोध) इनका चूर्ण अथवा शल्लकी फल (बीज) के चूर्ण को अथवा क्षौमध्याम (रेशम के वस्त्र की राख) से व्रण के चारों ओर प्रतिसारण कर देना चाहिये। इसके पश्चात् व्रण को यथाविधि बाँधकर व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे आहार बिहार को बता देना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यहाँ प्रतिसारण का तात्पर्य बुरकना है॥

एतदष्टविधं कर्म समासेन प्रकीर्तितम्।
चिकित्सितेषु कार्त्स्न्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥२९॥

यहाँ पर संक्षेप से आठ प्रकार का शस्त्रकर्म कह दिया है। चिकित्सास्थान में सम्पूर्ण रूप से इसको विस्तार से कहेंगे ॥२६॥

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः।
एताश्चतस्रोऽष्टविधे कर्मणि व्यापदः स्मृताः ॥३०॥

आठ प्रकार के कर्मशास्त्र में चार प्रकार की व्यापद (दोष) हैं। यथा—हीनछेदन (आवश्यकता से सम छेदन करना), अतिरिक्त छेदन (अधिक छेदन करना), तिर्यक्छेदन (तिरछा छेदन), और अपने शरीर (अंगों) का छेदन करना-ये चार दोष हैं।

---

[1] वेल्लित का लक्षण—
"अल्पान्तरन्तु कुटिलं सीव्यते बहु वेष्टनम्।
यत्तद् वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः॥"

गोफणिका लक्षण—
"पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम्।
देशं स्पृष्ट्वा यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया॥
नातिस्थूले नातिसूक्ष्मे शलाके द्वे निपात्य च।
तदा सक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनी कृता॥
नाम्ना गोफणिका प्रोक्ता दुष्करा मन्दबुद्धिभिः॥"

तुन्नसेवनी का लक्षण—
"पृथक् पृथक् तु सच्छिन्नं सीव्यते तुन्नसेवनी।
या योज्या पक्ष्मकोपादौ॥"

ऋजुग्रन्थि का लक्षण—
"पार्श्वात् पार्श्वान्तरं यावत् ऋजुसूचीं निपात्य च।
संवेष्ट्याकृष्य सूत्रेण ग्रन्थियैः सन्धिहेतवे।
क्रियते स ऋजुग्रन्थिरोष्ठादिषु विधीयते॥"

कविराज हाराणचन्द्र जी की टीका से।

वि० मन्तव्य--गात्रच्छेदनं, चात्मनः-चिकित्सक का अपने ही अंगुली आदि किसी अवयव पर शस्त्राघात कर बैठना ॥३०॥

अज्ञानलोभाहितवाक्ययोगभयप्रमोहैरपरैश्च भावैः।
यदा प्रयुञ्जीत भिषक्कुशस्त्रं तदा स शोषान् कुरुते विकारान्॥

यदि वैद्य अज्ञान के कारण, लोभवश या अहित की दृष्टि से अथवा वाक्ययोग से (यह तो बचा है—इसमें जौ-मात्र शस्त्र लगाना चाहिये-ऐसे वचन से), भय से, शस्त्रकर्म में मोह आ जाने से, किसी अन्य प्रयोजन में व्यग्र होने से या इसी प्रकार के अन्य कारणों से, जब वैद्य शस्त्र को बुरी तरह (थोड़ा) प्रयोग करता है, तब दोष अवशेष रह जाते हैं ॥३१॥

तं क्षारशस्त्राग्निभिरौषधैश्च भूयोऽभियुञ्जानमयुक्तियुक्तम्।
जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यं विवर्जयेदुग्रविषाहितुल्यम्॥३२॥

जीवन की अभिलाषा करनेवाला रोगी-क्षार, शस्त्र, अग्नि अथवा औषध के अयुक्तियुक्त (विधिरहित) तथा बार-बार (असफल होने पर भी पुनः पुनः) प्रयोग करनेवाले वैद्य को-उग्रविषवाले सर्प के समान (समझकर) दूर से ही परित्याग कर देवे अर्थात् उससे चिकित्सा न करावे।

उक्त ४ व्यापदों में से यह हीन कर्म की व्यापद का वर्णन है। सू० ३३ में अतिकर्म की व्यापद् का वर्णन है। श्लो० ४१ में गात्रच्छेदनं चात्मनः तथा श्लो० ४२ तिर्यक्छेदन का वर्णन है ॥३२॥

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्
हिंस्यात् सिराः स्नायुमथास्थि चैव।
मूर्खप्रयुक्तं पुरुषं क्षणेन
प्राणैर्वियुञ्ज्यादथवा कदाचित् ॥३३॥

शस्त्र के अतियोग होने पर मर्म सन्धि, सिरा-स्नायु और अस्थि की हानि होती है। मूर्ख वैद्य से प्रयुक्त शस्त्र, कभी-कभी एक क्षण में पुरुष को प्राणों से पृथक् कर देता है ॥३३॥

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं संलयनोष्णते च।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववात-
स्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥३४॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव।
दशार्धसंख्येष्वपि विक्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥३५॥

शस्त्र के अतियोग से निम्न लक्षण होते हैं। यथा—भ्रम (चक्कर आना), प्रलाप (बकवाद), पतन (गिरना), प्रमोह (चित्तनाश), विचेष्टन (हाथ-पाँव का चलना), संलयन (सुप्तावस्था में—बे भान रहना), उष्णता (शरीर का परिताप), स्रस्तांगता (शरीर की शिथिलता), मूर्च्छा, ऊर्ध्ववात (श्वास), वात जन्य पूर्वोक्त तीव्र वेदनायें (मन्यास्तम्भ आदि) होती हैं। मांस के धोवन के समान रक्त स्रवित होता है, सब इन्द्रियाँ अपने विषयों में निश्चेष्ट हो जाती हैं। ये मर्मसन्धि, सिरा, स्नायु और अस्थि इन पाँच के व्रणों के सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षण आगे कहेंगे।

वि० मन्तव्य—दशार्धसंख्य—दश से आधे अर्थात् ५ मर्म अधिष्ठान भेद से ५ प्रकार के हैं, यथा—१—मांस मर्म, २—सिरामर्म, ३—स्नायुमर्म, ४-अस्थिमर्म, ५—सन्धिमर्म। इन पर क्षत—आघात होने से भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, हो सकते हैं ॥३४,३५॥

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेद्वै क्षततश्च वायुः।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तां-
श्छिन्नासु भिन्नास्वथवा सिरासु ॥३६॥

मर्मविद्ध शिरा आदि के लक्षण—

सिरा के विंधने पर—व्रण में से बीरबहूटी के समान रंग का, बहुत-सा रक्त बहता है। वायु नाना प्रकार के रोग (शिरोरोग, अधिमन्थ आदि) उत्पन्न करती है, सिराओं के छिन्न या भिन्न होने पर भी ये विकार होते हैं ॥३६॥

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि
तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३७॥

स्नायु के विद्ध होने पर—मनुष्य कुबड़ा हो जाता है, शरीर के अवयव अपने काम में असमर्थ हो जाते हैं, क्रियाओं में अशक्ति, तीव्र वेदना, व्रण देर में भरता है ॥३७॥

शोफातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥३८॥

सन्धि के विद्ध होने पर—सूजन बहुत बढ़ जाता है, तीव्र वेदना होती है, बल का ह्रास, सन्धियों का सूजन तथा सन्धियाँ टूटती प्रतीत होती हैं। सन्धि का कार्य रुक जाता है, ये लक्षण चलसन्धि और अचलसन्धि-दोनों के क्षतों के हैं ॥३८॥

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु न शान्तिरस्ति।
तृष्णाऽङ्गसादौ श्वयथुश्च रुक् च
तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३९॥

अस्थि के विद्ध होने पर—रात-दिन तीव्र (मरणान्त) वेदना रहती है। किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं पड़ती। प्यास, अङ्गों में पीड़ा, शोथ और रूक्षता (रुक्-दर्द) रहती है॥

यथास्वमेतानि विभावयेच्च
लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु।
स्पर्शं न जानाति विपाण्डुवर्णो
यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥ ४० ॥

शिरादि मर्म के विद्ध होने पर—ये ही पूर्वोक्त लक्षण (अपने-अपने) समझने चाहिए। मांस-मर्म के पीड़ित होने पर रोगी का स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है और मांस का रङ्ग धूसरवर्ण हो जाता है ॥ ४० ॥

आत्मानमेवाथ जघन्यकारी
शस्त्रेण यो हन्ति हि कर्म कुर्वन्।
तमात्मवानात्महनं कुवैद्यं
विवर्जयेदायुरभीप्समानः ॥ ४१ ॥

जो गर्हित कर्म करनेवाला चिकित्सक-शस्त्र द्वारा छेदन आदि कर्म करता हुआ अपने ही किसी अवयव पर आघात कर बैठता है, उस आत्मघाती कुवैद्य (कुत्सित-निन्दित चिकित्सक) को—आयु-जीवन चाहनेवाला, आत्मवान् (मनस्वी) रोगी अवश्य त्याग देवे—उससे चिकित्सा न करावे ॥४१॥

तिर्यक् प्रणिहिते शस्त्रे दोषाः पूर्वमुदाहृताः।
तस्मात् परिहरन् दोषान् कुर्याच्छस्त्रनिपातनम् ॥४२॥

शस्त्र के तिर्यक् चलने पर अग्रोपहरणीय अध्याय में कहे—शिरा-स्नायु छेदन आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये दोषों का परिहार करते हुए शस्त्र चलाना चाहिए। (दोष-मांसकन्दी, अतिमात्र वेदना आदि) ॥

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥ ४३ ॥
विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते।

रोगी मनुष्य माता, पिता, पुत्र एवं सम्बन्धी जनों को भी शंका की दृष्टि से देखता है। परन्तु वैद्य में विश्वास करके अपने शरीर को उसे सौंप देता है, किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं करता ॥ ४३ ॥

तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥ ४४ ॥

इसलिये वैद्य को चाहिए कि रोगी की पुत्र के समान रक्षा करे ॥ ४४ ॥

धर्मार्थौ कीर्तिमित्येवं सतां ग्रहणमुत्तमम्।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥ ४५ ॥

इस रक्षा का फल—हितकारी कार्यों के करने से, धर्म, अर्थ, कीर्त्ति, सज्जनों से अत्यन्त सत्कार तथा स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

कोई रोग एक (छेद्य या स्नेहन) कर्म से सिद्ध होता है, कोई दो कर्मों से, कोई तीन से, और कोई चार से सफल होता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः प्रनष्टशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर 'प्रनष्टशल्य विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था।

वि० मन्तव्य—जो शल्य दीखता नहीं उसको जानने का उपाय है जिस अध्याय में, उसको ॥ १,२ ॥

'शल' 'श्वल' आशुगमने धातुः, तयोराद्यस्य शल्यमिति रूपम् ॥ ३ ॥

'शल' और 'श्वल' ये दो धातु शीघ्रगमन अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, इनमें पहले से 'शल्य' शब्द बनता है[1] ॥ ३ ॥

तद् द्विविधं शारीरमागन्तुकं च ॥ ४ ॥

शल्य दो प्रकार के हैं। यथा १—शारीरिक और २—आगन्तुक।

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण शरीर में जिससे पीड़ा होती है, वह शल्य और उसका इस शास्त्र में व्याख्यान है, इसलिए इसको 'शल्यशास्त्र' कहते हैं। यहाँ पर शरीर मन के साथ है। जैसा—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्याय० ॥ ५ ॥

तत्र शारीरं दन्तरोमनखादि-धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः, आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥ ६ ॥

उनमें शारीरिक शल्य हैं, यथा-दुष्ट-विकृत-दन्त-रोम, नख, श्मश्रु आदि, रसादि धातु, अन्न-मल (पुरीषकर्णमल आदि), और दूषित वात आदि दोष। आगन्तु—जितने पदार्थ (तृण, काष्ठ, पाषाण, लोह, लोष्ट आदि) दुःख उत्पन्न करते हैं, शारीरिक शल्य से पृथक् हैं वे सब आगन्तु शल्य हैं ॥ ६ ॥

अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लौहेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः। स च द्विविधः कर्णी, श्लक्ष्णश्च, प्रायेण विविधवृक्षपत्रपुष्पफलतुल्याकृतयो व्याख्याताः, व्यालमृगपक्षिवक्त्रसदृशाश्च ॥ ७ ॥

शल्य के प्रसिद्ध भेद—लोह (स्वर्ण, लोह, चांदी आदि), बांस, वृक्ष, तृण, शृङ्ग अस्थि से बने पदार्थों में 'शल्य' शब्द प्रयुक्त होता है, इनमें भी विशेषकर (स्वर्ण-लोह-त्रपु-चांदी

---

[1] कोई आचार्य—'शल' धातु का अर्थ 'हिंसा' मानते हैं, और कोई 'पीड़ा' अर्थ मानते हैं।

आदि धातु) में ही शल्य शब्द व्यवहृत होता है। क्योंकि— इन धातुओं का उपयोग हिंसा कार्य के लिए होता है, इनकी चोट दुर्वार होती है, या सूक्ष्ममुख होने से भी दूर से ही प्रयुक्त करने के द्वारा कार्यसिद्ध होने से बाण ही शल्य पद के लिये विशेष करके गिना है। यह शर--दो प्रकार का है। यथा एक-कर्णी (कर्णवान् बडिश के समान—कांटों से युक्त मुखवाला) और दूसरा—श्लक्ष्ण (चिकना)। ये दो प्रकार के बाण प्रायः नाना प्रकार के वृक्षों के पत्र फलों के आकारवाले तथा सांप, मृग, पक्षी-इनके मुख के समान होते हैं। इस प्रकार से शल्यों की आकृतियाँ कह दीं ॥ ७ ॥

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गति-विशेष ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजुरिति ॥ ८ ॥

सब प्रकार के छोटे-बड़े शल्यों की गति पाँच प्रकार की होती है। यथा—ऊपर, नीचे, अर्वाचीन, तिरछी और सीधी। अर्वाचीन का अर्थ विपर्यस्त रूप में शरीर में घुसना ॥ ८ ॥

तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तुष्ववतिष्ठन्ते, धमनीस्रोतोऽस्थिविवरपेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु ॥ ९ ॥

ये शल्य वेग में घट जाने से अथवा वेग के प्रतिघात (निवृत्ति) से—त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु आदि व्रण वस्तु में रह जाते हैं। अथवा धमनीछिद्र, स्रोतों में या अस्थिविवर में, या पेशी (मांसखण्ड) आदि शरीरप्रदेशों में रुकते हैं ॥९॥

तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत् द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। श्यावं पिडकाचितं शोफवेदनान्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुन्नत मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति, सामान्यमेतल्लक्षणमुक्तम्। वैशेषिकं तु-त्वग्गते विवर्णः शोफो भवत्यायतःकठिनश्च। मांसगते शाकाभि (ति) वृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषपाकौ च; पेश्यन्तरस्थेऽप्येतदेव चोषशोषवर्जं; सिरागते सिराध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च; स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरम्भश्चोग्रा रुक् च, स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः, धमनीस्थे सफेनरक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गमर्दः पिपासाहृल्लासश्च, अस्थिगते विविधवेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च, अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्णताऽस्थिनिस्तोदः संहर्षो बलवांश्च; सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च, कोष्ठगत आटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात्, मर्मगते मर्मविद्धवच्चेष्टते। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति ॥ १० ॥

शल्य का लक्षण कहते हैं—शल्य के लक्षण दो प्रकार के हैं। एक सामान्य (साधारण) और दूसरे विशेष। इसमें साधारण लक्षण—श्यावता (कालापन), पिडिकाओं से व्याप्त, शोफ एवं वेदनावान्, बार बार रक्तस्राव होना, बुलबुले आना और मांस का कोमल होना, इन लक्षणों से व्रण को शल्य युक्त समझना चाहिए। ये सामान्य लक्षण हैं। विशेष लक्षण—त्वचा में शल्य होने पर—रङ्ग का परिवर्त्तन, सूजन होती है, जो लम्बी (दीर्घाकार) एवं कठिन होती है। मांस में शल्य होने पर-शोफ की वृद्धि, शल्य मार्गों का न भरना, दबाने पर असहनशीलता, चोष (चूषण की प्रतीति) और पाक होता है। दो पेशियों के मध्य-मांस में शल्य के समान सब लक्षण होते हैं, परन्तु चोष और सूजन नहीं होती। शिरा में शल्य होने पर—सिरा में आध्मान, शिरा में शूल और सिरा में सूजन होती है। स्नायु में शल्य होने पर—स्नायुसमूह ऊपर को उठ जाता है, सूजन और तीव्र वेदना होती है। स्रोतों में शल्य होने पर—स्रोतसों के अपने कार्य एवं गुण नष्ट हो जाते हैं। धमनी में शल्य होने पर—झागमिश्रित रक्त को बाहर निकालते समय वायु बाहर आती है, अङ्गमर्द, पिपासा और वमन की अभिरुचि होती है। अस्थि में शल्य होने पर—नाना प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होती हैं और सूजन होती है। अस्थिच्छिद्र में शल्य होने पर—अस्थि में पूर्णता और अस्थि में पीड़ा होती है, बेचैनी होती है, अथवा संघट्ट होता है। सन्धि में शल्य होने पर—अस्थि के समान लक्षण और चेष्टाओं की हानि होती है। कोष्ठ में शल्य होने पर—आटोप (पीड़ा युक्त वायु का विक्षोभ), आनाह (वात-मूत्रमल का अवरोध), और व्रण के मुख से मूत्रमल और आहार आता है। मर्म में शल्य होने पर-मर्म विद्ध पुरुष के समान चेष्टा करता है। जिन शल्यों की गति सूक्ष्म होती है, उनमें ये ही लक्षण अस्पष्ट रहते हैं ॥१०॥

[1]महान्त्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति, विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्यस्थिविवरेषु, दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताजीर्णेभ्यः प्रचलितानि पुनर्बाधन्ते ॥ ११ ॥

वात आदि दोषों से अदूषित-शुद्ध शरीरवाले पुरुषों में-रोग के अनुकूल प्रविष्ट हुए छोटे या बड़े सब प्रकार के शल्य युक्त व्रण भर जाते हैं। खासकर—गला, स्रोतस्, सिरा त्वचा पेशी एवं अस्थिच्छिद्रों में प्रविष्ट हुए शल्यों के व्रण भर जाते हैं। परन्तु दोष के प्रकोप से, व्यायाम से, चोट के लगने से, अजीर्ण से वे शल्य चलायमान होकर शरीर को पुनः पीड़ित करते हैं ॥ ११ ॥

तत्र, त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूमगोमयमृदितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति

१ कहीं २ पर—'महान्ति' के स्थान पर 'मृदूनि' पाठ है।

तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति चालेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात्, मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमानं यत्र संरम्भं वेदनां च जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्, कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्वत्रस्थितमेवमेव परीक्षेत, सिराधमनीस्रोतःस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुते याने व्याधितमारोप्याशु विषमेऽध्वनि यायात्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसरणाकुञ्चनबन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, मर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति ॥१२॥

त्वचा में शल्य छिपे रह जाने पर—त्वचा को तैल से स्निग्ध एवं स्वेद से स्विन्न करके—मिट्टी, उड़द, जौ, गेहूँ, गोबर, इनको पीसकर मर्दन करने पर जहाँ पर सूजन, लाली या वेदना प्रतीत हो वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। अथवा जमा हुआ घी, मिट्टी या चन्दन को घिसकर लेप कर देना चाहिये, जहाँ पर शल्य की उष्णिमा से घी शीघ्र पिघलने लगता है, लेप शुष्क होने लगता है, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। मांस में शल्य नष्ट होने पर—रोगी की स्नेह एवं स्वेदन आदि अविरोधी उपचारों से चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह स्वेदन आदि अविरोधी कार्यों से रोगी को कृश करके—जहाँ पर सूजन या वेदना का अनुभव हो, वहाँ पर ढीले हुए अलग हुए शोथ एवं पीड़ा करनेवाले शल्य को जानना चाहिये। कोष्ठ, अस्थिविवर, सन्धिविवर और पेशियों के मध्य में स्थित शल्य की परीक्षा इसी प्रकार करनी चाहिये। सिरा, धमनी, स्रोत और स्नायु में नष्ट हुए शल्य को जानने के लिये रोगी को टूटे पहियेवाले रथ पर चढ़ाकर ऊँचे-नीचे रास्ते ले जाना चाहिये। इससे जहाँ पर सूजन या वेदना हो, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये[1]। अस्थि में शल्य के नष्ट हो जाने पर अस्थि पर स्नेहन और स्वेदन कार्य पर्याप्त समय तक करके इनको बन्धन एवं पीडन (दबाव) से जहाँ पर सूजन या पीड़ा प्रतीत हो, वहाँ पर शल्य समझना। सन्धि में शल्य नष्ट होने पर सन्धियों को स्नेहन एवं स्वेदन से नरम करके, आकुञ्चन, प्रसारण, बन्धन, पीडन आदि कार्यों का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार करने से जहाँ पर सूजन या वेदना हो, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। मर्म में फँसे शल्य को उपर्युक्त परीक्षा विधि से ही जानना चाहिये। क्योंकि मर्म—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि के संयोग का नाम है।१२॥

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमारोहणधनुर्व्यायामद्रुतयाननियुद्धाध्वगमनलङ्घनप्लवनप्रतरणव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्वा तमूत्रपुरीषशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात् ॥१३॥

सामान्य विज्ञानीय उपाय—

हाथी के ऊपर चढ़ने में, घोड़े की पीठ पर, पहाड़ या वृक्ष के ऊपर चढ़ने में, धनुष के तानने में, शीघ्र गमन में, बाहुयुद्ध में, रास्ते की यात्रा में दीवार आदि के लाँघने में, नदी के तैरने में, कूदने में, व्यायाम में, जम्भाई—उद्गार—कास—छींक—थूकने—हँसने—प्राणायाम में, वायु-मूत्र-मल शुक्र के प्रवाहण में, जहाँ पर वेदना या सूजन हो, वहाँ पर शल्य को समझना चाहिये ॥१३॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च।
घट्टते बहुशो यत्र शूयते रुज्यतेऽपि च ॥१४॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति।
संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत् ॥१५॥

कहा भी है—

जिस शरीरावयव में—सूई के चुभने की सी व्यथा आदि हों, सुप्तता (स्वाप या शून्यता) हो, भारीपन प्रतीत हो, रोगी बार २ दबाता-छूता हो, शोथ एवं वेदना हो, और जिस स्थान पर दूसरे जन द्वारा दबाने पर रोगी उस स्थान की रक्षा करता हो अर्थात् दबाने से रोकता हो या वेदना का अनुभव करता हो उस शरीरावयव में शल्य समझना चाहिये ॥१४,१५॥

अल्पाबाधमशूनं च नीरुजं निरुपद्रवम्।
प्रसन्नं मृदुपर्यन्तं निराघट्टमनुन्नतम् ॥१६॥
एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनान्नूनं निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥१७॥

निःशल्य के लक्षण—

थोड़ी पीड़ा नहीं होती, सूजन भी नहीं होती, किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता, रोगी प्रसन्नचित्त होता है, अन्त तक कोमल, अनिश्चल और उठा हुआ नहीं होता, ऐसे व्रण को एषणी के द्वारा भली प्रकार से देखकर एवं आकुञ्चन-प्रसारण आदि चेष्टाओं से परीक्षा करके—देश को शल्य रहित समझे ॥

अस्थ्यामकं भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्यते।
प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायसं चेति निश्चयः ॥१८॥

[1] आजकल तो X Ray का साधन सब से उत्तम उपाय है। मर्म—मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपातः।

अस्थि रूप शल्य अन्दर दो-तीन भागों में टूट जाता है, और अन्दर शीर्ण हो जाता है। शृङ्ग एवं लोह (धातु) का शल्य प्रायः कुटिल (टेढ़ा) हो जाता है ॥१८॥

वार्क्षवैणवतार्णानि निर्ह्रियन्ते तु नो यदि ।
पचन्ति रक्तं मांसं च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥१९॥

वृक्षजन्य, वेणुजन्य या तृणजन्य शल्यों को यदि शरीर से बाहर न निकाला जाये, तो मनुष्यों के रक्त एवं मांस को शीघ्र पका देते हैं ॥१९॥

कानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम् ।
चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥२०॥

स्वर्ण, चाँदी, ताम्बा, पीतल, सीस-कलई-इनके शल्य बहुत समय तक शरीर में रहने से पित्त-अग्नि के ताप से घुल जाते हैं। इसलिये इनके न निकालने में कोई दोष नहीं है। (विलीयन्ते—का अर्थ घाणेकर जी ने सात्म्य हो जाते हैं' किया है) ॥२०॥

स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मताः ।
द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२१॥

कांसी आदि अन्य धातुवों के शल्य भी जो कि स्वभाव से शीतल एवं कोमल हैं वे सब शरीर में द्रव रूप होकर धाधुओं के साथ मिलकर एक हो जाते हैं—कुछ हानि नहीं करते।

वि० मन्तव्य—उक्त शल्य पर्याप्त समय तक शरीर में—पूर्ण स्वस्थ शरीर में पड़े रह जाने से विलीन हो जाते हैं। परन्तु तब जब कि ये शल्य अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अन्यथा नहीं। जैसे गन्धक के योग से अथवा स्वर्ण माक्षिक योग से पुट देने पर स्वर्ण आदि धातु भस्म हो जाते हैं और खाने पर शरीर में विलीन हो जाते हैं—पच जाते हैं, वैसे ही पित्त जिसमें गन्धक आदि पदार्थ होते हैं और रक्त, जिसमें लोह आदि होते हैं—उनके संयोग से शारीरिक ऊष्मा की पुट मिल जाने पर विलय के योग्य होकर विलीन हो जाते हैं। यह स्मरणीय एवं विश्वसनीय है कि जो वस्तु उदर में पित्त के प्रभाव से पच सकती है वह शरीर के किसी अवयव में पित्त का प्रभाव पड़ने पर पच जाती है और शरीर पर क्रिया भी वैसी ही करती है जैसी उदर में पचने पर। काष्ठ एवं मिट्टी उदर में भी नहीं पचते और शल्य रूप में भी नहीं पचते ॥२१॥

विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि तु ।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥२२॥

विषाण (सींग), दान्त, केश, अस्थि, बाँस, दारु (काष्ठ), उपल (पाषाण) और मृन्मय (मिट्टी से बने) शल्य शरीर में नहीं टूटते—वैसे के वैसे बने रहते ॥२२॥

द्विविधं पञ्चगतिमत्त्वगादिव्रणवस्तुषु ।
यो वेत्ति विष्ठितं शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२३॥

जो वैद्य दो प्रकार के (कर्णी और श्लक्ष्ण) शल्यों को, शल्य की पाँच प्रकार की गति (ऊपर, नीचे, तिरछी, सामने, सीधी), एवं त्वचा आदि व्रण वस्तुओं में शल्य की विविध प्रकार की स्थिति को जानता है, वह वैद्य राजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥२३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शल्यापनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'शल्यापनयनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—शल्य के अपनयन-निकालने के उपाय हैं जिसमें ॥१,२॥

शल्यं द्विविधमवबद्धमनवबद्धं च ॥३॥

शल्य दो प्रकार के हैं। एक—अस्थि आदि में विशेषरूप से आसक्त और दूसरा विशेषरूप से आसक्त नहीं—ढीला ॥३॥

तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः । तद्यथा—स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तो, हर्षश्चेति ॥४॥

इनमें अनवबद्ध (विशेषरूप से न आसक्त) शल्य को निकालने के लिये निम्नलिखित पन्द्रह उपाय हैं। यथा—स्वभाव (प्रकृति), पाचन (अपक्व शल्य का पाचक द्रव्यों से पाक), भेदन (विधारा या वृद्धिपत्र आदि शस्त्रों से फाड़ना), दारण (मिश्रक अध्याय में कहे चिरबिल्व आदि द्रव्यों से), पीड़न, प्रमार्जन (बाल या वस्त्र से पोंछना), निर्ध्मापन (पिप्पली, कट्फल आदि के चूर्ण का नाक में प्रधमन), वमन, विरेचन, प्रक्षालन (पानी आदि से), प्रतिमर्ष (अंगुली आदि से घर्षण), प्रवाहण (विकुन्थन बलपूर्वक बाहर प्रवाह करना), आचूषण (मुख या सींग से चूसना), अयस्कान्त, (चुम्बक) और हर्ष (प्रसन्नता) ये—पन्द्रह उपाय शल्य को निकालने के हैं ॥४॥

तत्राश्रुक्षवथूद्गारकासमूत्रपुरीषानिलैः स्वभावबलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः पतति । मांसावगाढं शल्यमविदह्यमानं पाचयित्वा प्रकोथात्तस्य पूयशोणितवेगाद् गौरवाद्वा पतति । पक्वमभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद्वा । भिन्नमनिरस्यमानं पीडनीयैः पीडयेत् पाणिभिर्वा । अणून्यक्षिशल्यानि परिषेचनाध्मापनैर्बालवस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत् आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमनैर्निर्धमेत् । अन्नशल्यानि वमनाङ्गुलिप्रतिमर्शप्रभृतिभिः । विरेचनैः

पक्वाशयगतानि। व्रणदोषाशयगतानि प्रक्षालनैः। वातमूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणमुक्तम्। मारुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वाचूषणमास्येन विषाणैर्वा। अनुलोमममनवबद्धमकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन। हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेणेति ॥ ५ ॥

इनमें आँसू, छींक, उद्गार, कास, मूत्र, मल और वायु—इन स्वाभाविक शारीरिक शक्ति के कारण—रज आदि शल्य आँख आदि अवयवों से अपने पास बाहर आ जाते हैं। मांस में अन्दर घुसे शल्य—जो कि स्वयं न पकता हो, उसको औषधियों से पकाकर गला देना चाहिये। गल जाने पर पूय—रक्त वेग के कारण अथवा भारीपन से शल्य गिर पड़ता है और जो शल्य स्थान पक जाये, परन्तु स्वयं विदीर्ण न होता हो, उसका शस्त्रों द्वारा भेदन अथवा दारण कर देना चाहिये। जो शल्य भिन्न हो जाये परन्तु शल्य स्वयं बाहर न आता हो, उसको—पीड़न द्रव्यों से या हाथ से दबाकर बाहर करना चाहिए। इन्द्रियों के सूक्ष्म शल्यों को परिषेचन, आध्मापन से अथवा बाल-वस्त्र-हाथों से साफ करना चाहिये। खाते समय कण्ठ नासिका आदि में प्रविष्ट आहार शेष को, श्लेष्मा को, हीनपतित-भ्रष्ट शल्यों को तथा अल्पावयववाले अणु शल्यों को—श्वसन (श्वास), कास, प्रधमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये। अन्नशल्य को वमन द्वारा अंगुली आदि से घर्षण करके निकालना चाहिए। पक्वाशय में स्थित शल्यों को विरेचन द्वारा, व्रण दोष (पूय) एवं व्रण की गुहा में प्रविष्ट अन्य शल्यों को प्रक्षालन द्वारा, वायु-मूत्र-मल और गर्भ की अप्रवृत्ति में प्रवाहण करना चाहिए। वायु-पानी, विष युक्त रक्त को, दूषित दूध को मुख या सींग द्वारा चूसकर बाहर करना चाहिये। ऋजुस्थित अनवबद्ध, (विशेष रूप से न फँसे), अकर्ण (अनुत्तुण्डित, कण्टकवाले मुखों से रहित), विस्तृत मुखवाले व्रण में से शल्य को अयस्कान्त द्वारा निकालना चाहिए। अनेक कारणों से उत्पन्न, हृदय में स्थित शोकशल्य को हर्ष द्वारा बाहर करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—अक्षशल्यानि—अक्षों-इन्द्रियों के अधिष्ठानों (नेत्र, कर्णच्छिद्र नासारन्ध्र आदि) में से—बाल—बालों की कूची या वेणी, वस्त्र की बत्ती आदि पाणि—अंगुली—नख से। अन्नशल्य आमाशयगत अन्नशल्य को वमन से, दन्त या कण्ठ में फँसे अन्नशल्य को अंगुली से या नख से ॥५॥

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः—प्रतिलोमोऽनुलोमश्च ॥ ६ ॥

सब प्रकार के बड़े—या छोटे शल्यों को निकालने की विधियाँ दो ही प्रकार की हैं—एक प्रतिलोम और दूसरी अनुलोम ॥ ६ ॥

तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम्।

इनमें जो शल्य शरीर के अन्दर दूर तक प्रविष्ट नहीं हुआ हो (अर्वाचीन)—उसको उसी प्रवेश-मार्ग से बाहर निकालना चाहिए। क्योंकि दूसरे मार्ग से निकालने पर अविद्ध मार्ग भी विद्ध हो जाता है। और जो शल्य शरीर में बहुत दूर चला गया हो (पराचीन)—उनको अगले पराचीन प्रदेश में लाकर बाहर करना चाहिए। अनुलोमन—सीधा।

वि० मन्तव्य—अर्वाचीन जो अवयव में उआर रहता है और पराचीन जो पार चला जाता है। अर्वाचीन को—प्रतिलोम—उल्टा अर्थात् जिधर से धँसा है उधर ही से निकाले और पराचीन को—जिधर जा निकला है अर्थात् पार से ही निकाले ॥ ७ ॥

उत्तुण्डितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम् ॥८॥

उत्तुण्डित (उन्नत काँटों से व्याप्त) मुखवाले शल्य को निकालने के लिए दूसरी ओर काटकर फिर हाथ-मुद्गर से इधर-उधर हिलाकर अनुलोम या प्रतिलोम मार्ग से इसी प्रकार बाहर करना चाहिये ॥८॥

छेदनीयमुखान्यपि कुक्षिवक्षःकक्षावंक्षणपर्शुकान्तरपतितानि च हस्तशक्यं यथामार्गेण हस्तेनैवापहर्तुं प्रयतेत ॥ ९ ॥

कुक्षि, वक्ष, कक्षा, वंक्षण, पर्शुकाओं के बीच में फँसे शल्य को हाथ से ही निकालने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ ९ ॥

हस्तेनवापहर्तुमशक्यं विशस्य शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत्।

यदि हाथ से बाहर न निकाला जा सके तो शस्त्र या यन्त्र से काटकर बाहर निकालना चाहिये ॥ १० ॥

भवति चात्र—

शीतलेन जलेनैनं मूर्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम् ॥११॥

कहा भी है—

मूर्च्छित होते हुए पुरुष को शीतल जल से सिंचन करना चाहिये। क्षीर तर्पण आदि से इस रोगी के मर्मों (मस्तिष्क) की रक्षा करते हुए—बार-बार आश्वासन देते रहना चाहिये।

वि० मन्तव्य—जब शल्य को खींचकर निकाला जाता है तब इतना कष्ट होता है कि रोगी मूर्च्छित हो जाता है। उस समय उक्त उपचार करे ॥ ११ ॥

ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्यावदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत्। (सिरास्नायुविलग्नं शलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत्, श्वयथुग्रस्तवाङ्गं समवपीड्य श्वयथुं, दुर्बलवाङ्गं कुशादिभिर्बद्ध्वा।) ॥१२॥

इसके पश्चात् शल्य को निकालकर व्रण को रक्तरहित बनाकर, स्वेदयोग्य (व्रण) को अग्नि, घी आदि से स्वेद देकर,

आग से जलाने योग्य को जलाकर, अस्वेद्य एवं रक्तरहित व्रण पर घी मधु का लेप लगाकर पट्टी बाँधकर—आहार-विहार का उपदेश कर देना चाहिए। (सिरा-स्नायु में फँसे शल्य को शलाका आदि द्वारा पृथक् करके निकालना चाहिये। हाथ से ग्रहण करने योग्य शल्यको, सूजन को दबाकर, बाहर निकालना चाहिये। और जो शल्य से ग्रहण करने योग्य न हो, निर्बल हो—उसको कुशादि से बांधकर बाहर करना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—शल्य के गात्र का नाम "वारङ्ग" है। यदि शोथ—सूजन से वारङ्ग आच्छादित हो गया हो अर्थात् ढंक गया हो तो शोथ को दबाकर उसे नगा कर लो और फिर पकड़कर निकाल लो। यदि खींचने में वारङ्ग के टूट जाने का भय हो तो उसे डोरा से बाँधकर निकालो ॥१२॥

हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद्यथामार्गं; दुरुपहरमन्यतोऽपबाध्यमानं पाटयित्वोद्धरेत् ॥१३॥

उद्विग्न हृदयवाले पुरुष के हृदय के समीप स्थित शल्यको निकालते समय—रोगी को शीतल जल से सान्त्वना देकर—शल्य को प्रवेश मार्ग द्वारा बाहर निकालना चाहिये ॥१३॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्, अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभज्य धनुर्गुणैर्बद्ध्वैकतश्चास्य पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकावके बध्नीयात्, अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति, दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद् बद्ध्वोद्धरेत ॥ १४ ॥

अस्थिच्छिद्र में प्रविष्ट या अस्थि में जोर से आसक्त शल्य को निकालने के लिये रोगी को पांव से थामकर यन्त्र द्वारा निकालना चाहिए। यदि इस प्रकार से शल्य बाहर न आये तो रोगी को बलवान् पुरुषों द्वारा पकड़वाकर, यन्त्र द्वारा शल्य के ग्रहण करने योग्य भाग को पकड़कर, टेढ़ा करके मौर्वी (तांत) या धागे से एक पार्श्व में बाँधकर, धागों के दूसरे प्रान्त को पञ्चाङ्गी[1] बन्धन से बंधे घोड़े के मुख में लगाम लगाकर उसमें बाँध देना चाहिये। अब घोड़े को चाबुक से मारना चाहिये। जिससे कि घोड़ा सिर को जोर से ऊँचा उठाये। इस प्रकार करने से शल्य बाहर निकल आता है। अथवा वृक्ष की मजबूत शाखा को झुकाकर धागों का एक पार्श्व इसमें बाँध देना चाहिये और शाखा को छोड़ देना चाहिये। शाखा ऊपर जायेगी, उसके झटके से शल्य बाहर आ जायेगा।

वि० मन्तव्य—भीमसेन जैसे अस्थिसार मानवों तथा हस्ती आदि की अस्थि में धँसे—खुभे शल्य को यदि मानव के हाथ न निकाल सकें तो उक्त विधियों का उपयोग किया जाता है॥

अदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥१५॥

कुक्षि आदि अच्छेदनीय प्रदेशों में अस्थि के अन्दर प्रविष्ट उत्तुण्डित शल्य को निकालने के लिये पत्थर अष्ठीला (शिला), मुद्गर इनमें से किसी एक द्वारा चोट लगाकर हिलाना चाहिये, फिर यन्त्र से पकड़कर यथामार्ग (उचित रास्ते) से बाहर कर लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य— तुण्ड अर्थात् मुख (शल्य का मुख)—अग्रभाग—यदि उत्—उधर—पार चला गया हो और वह अदेश—अमार्ग (वाग्भट्ट सू० अ० २८ श्लो० ४३ देखिये) स्रोतोमय देश (कुक्षि वक्षस् आदि) से भिन्न देश में अर्थात् सक्थि बाहु आदि अवयव में स्थित हो तो उस शल्य को पत्थर आदि के प्रहार से ठोककर जिधर से धँसा है उधर से निकालो। उत्तुण्डित शल्य वह है जिसका तुण्ड पार चला गया हो। इसके मुखपर एकमुखी लोह नाली रखकर प्रहार करे, अन्यथा तीखा मुख मुड़ जाता है और उस ओर से निकलने में कठिनाई—कष्ट होता है, यह वाग्भट्ट की सम्मति है। उक्त अ० २८ श्लो० ४१ देखिये ॥१५॥

विमृदितकर्णानि कर्णवन्त्यनाबाधकरदेशोत्तुण्डितानि पुरस्तादेव ॥१६॥

कर्णवाले शल्य जो कि पीड़ा न करनेवाले प्रदेशों में लगे हों, उनके कर्ण को रगड़ करके, प्रवेश मार्ग से (प्रतिलोम) बाहर निकालना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कर्णवन्ति—कर्ण—कानवाले या पक्षवाले शरशल्य कर्णवान् कहे जाते हैं। यदि कर्णवान् शर उस पार निकल गया हो तो उन कर्णों को रेती से रगड़ दो, साफ हो जाने पर प्रवेश मार्ग से निकाल दो ॥१६॥

जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां, तयाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतं शल्यमुद्धरेत् ॥१७॥

जिस समय लाख आदि वस्तु गले में फँस जावे, उस समय गले में एक नलिका को डालकर उसमें ताम्बे

---

[1] पञ्चाङ्गी का लक्षण-(१) पञ्चानामङ्गानां चतुर्णां पादानां मुखसमाहितानां समाहारः पञ्चाङ्गी-बन्धविशेषः ॥

(२) त्वक्पत्रकुसुमं मूलं फलमेकस्य शाखिनः।
एकत्र मिलितञ्चैतत् पञ्चाङ्गमिति संज्ञितम् ॥

इन पाँचों अङ्गों का समाहार—पञ्चाङ्गी—इनसे बाँधना चाहिये। हाराणचन्द्र जी ने इसका सम्बन्ध मनुष्य के साथ किया है।

आदि की शलाका को (अग्नि में) गरम करके, रोगी के गले में प्रविष्ट करके, लाख आदि को उससे पकड़कर—शीतल जल से सिंचन करके, स्थिर होने पर बाहर निकाल लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य—ताम्र की अग्नितप्त शलाका लाख में धँस जाती है, शीतल जल के सिंचन से शीतल होकर शलाका में लाख सट जाती है, शलाका के साथ बाहर आ जाती है॥१७॥

अजातुषं तु जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेनेत्येके ॥१८॥

यदि लाख आदि वस्तु न हो तो, शलाका पर मोम या लाख लगाकर आग में गरम करके, पूर्व की भाँति गले में प्रविष्ट करके वस्तु निकालनी चाहिये। गरम लाख के साथ वह वस्तु चिपक जायेगी ॥१८॥

अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकदीर्घसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकण्ठात् पूर्णं कोष्ठं च वामयेत्, वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्; मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनापहरत् प्रणुदेद्वाऽन्तः। क्षतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्कराविमिश्रम् ॥१९॥

अस्थिशल्य (मछली का शल्य आदि) या अन्य इसी प्रकार का शल्य जब गले में तिरछा फंस जाये, तब बालों से बनी कूर्ची के एक पार्श्व में दृढ सूत्र बांधकर रोगी को गले तक द्रव भोजन के साथ पिला देना चाहिये। पेट भर जाने पर रोगी को वमन कराना चाहिये। वमन करते समन शल्य को एक देश में फंसा समझकर धागे को जोर से सहसा बाहर खींचना चाहिये, इससे शल्य बाहर आ जायेगा। मृदुशल्य को करञ्ज आदि दातन की कूची से अटकाकर निकालना चाहिए। शल्य बाहर न निकले तो इसको अन्दर की ओर धकेल देना चाहिए। यदि गले में व्रण हो जाये तो रोगी को घी और शहद अथवा मधु एवं शर्करा के साथ त्रिफला का चूर्ण चाटने के लिये देना चाहिए ॥१९॥

उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद् धुनीयाद्वामयेद् वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् ॥२०॥

पानी में डूबने आदि से जब जल पेट में भर जाये तब रोगी का शिर नीचे की ओर करके दबाना चाहिये। उदर को हिलाना चाहिये, वमन कराना चाहिये। मुखपर्य्यन्त राख में प्रविष्ट करना चाहिये। नासिका श्वास के लिये खुली रहनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—गले तक राख में दबाने से पानी सूख जाता है। देखा गया है कि पाँव एवं उदर के शोथ भी उक्त विधि से उतर जाते हैं। उलटा करने से उदर का पानी गल २ कर के निकल जाता है ॥२०॥

ग्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात्, स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत् ॥२१॥

यदि गुप्तशल्य (भोजन का ग्रास) कण्ठ में फंस जाय तो दूसरा मानव-निःशंक होकर बतलाए बिना ही ग्रीवा के पिछली ओर मुक्का से प्रहार करे। इस प्रकार ग्रास शल्य बाहर निकल जाता है। यदि गले में फंसा हो तो द्रव घृत अथवा तैल अथवा मद्य अथवा जल पिला देवे। कण्ठ—श्वास मार्ग का नाम है और गल आहार मार्ग का नाम है। ग्रीवा में दोनों मार्ग आगे पीछे स्थित हैं। श्वास मार्ग में ग्रास अथवा जल आदि द्रव पदार्थ जाने पर स्वतः भी बाहर आ जाता है और शल्य निकल जाता है। ये भी शल्य ही कहे जाते हैं, क्योंकि मनस् एवं शरीर को बाधा पहुँचानेवाला कोई भाव शल्य कहलाता है॥

बाहुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद् वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि, लालास्रावं फेनागमनं संज्ञानाशं चापादयति, तमभ्यज्य संस्वेद्य शिरोविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं विदध्याद्रसं च वातघ्नं दद्यादिति ॥२२॥

बाहु, रस्सी या लता द्वारा गला घोंटने पर (गला दबाने पर) वायु कुपित होकर कफ को कुपित करके स्रोतों को रोक देती है। इससे—मुख में लालास्राव, झाग का आना, सञ्ज्ञानाश उत्पन्न होता है। चिकित्सा रोगी को तैल आदि से मालिश करके, स्वेदन देकर, तीक्ष्ण शिरोविरेचन देना चाहिये। वातनाशक मांसरस देना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—उक्त कारणों से कण्ठश्वास मार्ग का पीड़न होने पर श्वासवाही मार्ग पर शोथ हो जाने से अवरोध हो जाता है। पाश आदि निकाल देने पर भी उक्त लक्षण हो जाते हैं और उक्त उपचार करने पर जीवन बच जाता है और यदि कण्ठ घुटने पर मृत्यु ही हो गई हो तो........॥२२॥

भवन्ति चात्र—

शल्याकृतिविशेषांश्च स्थानान्यावेक्ष्य बुद्धिमान्।
तथा यन्त्रपृथक्त्वं च सम्यक् शल्यमथाहरेत् ॥२३॥
कर्णवन्ति तु शल्यानि दुःखाहार्याणि यानि च।
आददीत भिषक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितः ॥२४॥
एतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्यात्यते यदि।
मत्या निपुणया वैद्यो यन्त्रयोगैश्च निर्हरेत् ॥२५॥
शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्याच्छल्यमनाहृतम्।
वैकल्यं मरणं चापि तस्माद्यत्नाद्विनिर्हरेत् ॥२६॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि विशेष आकृति शल्यों को, शल्य के स्थानों (आंख, कान, नासिका आदि) को देखकर—

---

१ इनकी चिकित्सा के लिये—लेखक की न्यायवैद्यक पुस्तक या Medical-jurisprudence देखिये।

भिन्न भिन्न यन्त्रों से शल्य को बाहर निकाले। कर्णवाले शल्य या जो अन्य शल्य कठिनाई से बाहर निकलते हैं, उनको सावधानी से एवं युक्तिपूर्वक बाहर निकाले। यदि इन उपर्युक्त उपायों से शल्य बाहर न निकलता हो, तो वैद्य को चाहिये कि अपनी चतुर बुद्धि द्वारा अनुक्त यन्त्रों की सहायता से बारह निकाले। क्योंकि यदि शल्य बाहर नहीं निकलता तो सूजन, पाक, तीव्र-वेदना, बेचैनी और मृत्यु उत्पन्न कर देता है। इसलिये यत्नपूर्वक शल्य को बाहर निकालना चाहिये ॥२३-२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शल्यापनयनीयो नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'विपरीत अविपरीत व्रणविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा।
ख्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥३॥

जिस प्रकार फूल—फल के, धूम--अग्नि के, मेघ-जलवृष्टि के भविष्य को बता देते हैं, उसी प्रकार रिष्ट (जिन लक्षणों के प्रकट होने पर मृत्यु निश्चित है--उन लक्षणों को रिष्ट कहते हैं) लक्षण मृत्यु को बता देते हैं।

वि० मन्तव्य—मृत्यु सूचक लक्षण या लक्षणों का नाम 'रिष्ट' तथा 'अरिष्ट' है ॥३॥

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात्।
गृह्यन्ते नोद्गतान्यज्ञैर्मुमूर्षोर्न त्वसंभवात् ॥४॥

मुमूर्षु (मरनेवाले) प्राणी के रिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं, पर मूर्खों द्वारा वे—सूक्ष्म होने से अथवा व्यक्त लक्षण भी प्रमाद से (ध्यान न देने से), अथवा शीघ्र ही लुप्त हो जाने से जाने नहीं जाते, यह नहीं कि रिष्ट-लक्षणों की उत्पत्ति ही नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के पूर्व रिष्ट लक्षण उत्पन्न अवश्य होते हैं, भले ही किसी के ध्यान में आवे अथवा न आवे। अरिष्ट शास्त्र का कथन है कि मृत्यु के पूर्व अरिष्ट लक्षण अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥४॥

ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥५॥

रिष्ट लक्षणों की उत्पत्ति होने पर मृत्यु अवश्य होती है, परन्तु कभी २—राग--द्वेष रहित ब्राह्मणों द्वारा अथवा रसायन सेवन में, तप तथा जप में तत्पर रहने से मृत्यु का निवारण—(रोक थाम) किया जा सकता है ॥५॥

नक्षत्रपीडा बहुधा यथा काले विपच्यते।
तथैवारिष्टपाकं च ब्रुवते बहवो जनाः ॥६॥

जिस प्रकार से सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्रों का फल बहुत समय पीछे होता है, उसी प्रकार से रिष्ट लक्षणों का फल-कालान्तर में होता है, ऐसा बहुत विद्वानों का मत है[1] ॥६॥

असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः।
अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥७॥

जिस व्यक्ति की आयु चली गई ऐसे पुरुष की चिकित्सा करने से वैद्य को लोक में असफलता (धर्म, अर्थ, काम की हानि) होती है। इसलिये कुशल वैद्य को चाहिये कि यत्नपूर्वक रिष्ट लक्षणों की परीक्षा करे ॥७॥

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतः।
वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम् ॥८॥

जब व्रणी पुरुष के गन्ध, वर्ण, रस आदि पंचेन्द्रियों के स्वाभाविक (प्राकृत) विषयों में परिवर्त्तन (विकृति) आ जाये, तब व्रणी पुरुष पक गया--अतः गिरने (मरने) वाला है, ऐसा कहना चाहिये। क्योंकि पकने के पश्चात् गिरने की ही अवस्था आती है ॥ ८ ॥

कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिभिः।
लोहगन्धि तु रक्तेन व्यामिश्रः सान्निपातिकः ॥९॥
लाजातसीतैलसमाः किंचिद्विस्राश्च गन्धतः।
ज्ञेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतोऽन्यद् गन्धवैकृतम् ॥१०॥

प्राकृतिक गन्ध – कटुगन्ध--वायु से, तीक्ष्ण गन्ध पित्त से, विस्र गन्ध-कफ से, लोह की गन्ध-रक्त से तीनों की सम्मिलित गन्ध-सन्निपात से, लाज गन्ध—वातपित्त से, अलसी के तेल की गन्ध-वातकफ से, और कुछ कुछ विस्र (आमगन्ध) गन्ध-पित्त-कफ से होती है—ये स्वाभाविक गन्ध हैं ॥९,१०॥

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ॥११॥
श्ववाजिमूषिकध्वाङ्क्षपूतिवल्लूरमत्कुणैः।
सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गर्हिताः ॥१२॥

इन प्राकृत गन्धों से दूसरी सब गन्ध-वैकृत समझनी चाहिये। यथा-मद्य, अगुरु, घी, जाति (चमेली), कमल, चन्दन और चम्पा के समान गन्ध, एवं दिव्य (उत्तम) गन्ध, मरणासन्न पुरुषों के व्रणों

---

१ "होरायां नवमे सूर्यः सप्तमे च शनैश्चरः।
एकादशे गुरुः शुक्रो मासमेकं न जीवति ॥
अशुभं लग्नसम्प्राप्तं षष्ठाष्टमे निशाकरः।
शनैश्चरो हि बन्धुस्थो द्विमासे मृत्युमृच्छति ॥"

में होती है। श्वा (कुत्ते), वाजी (घोड़ा) मूषिका (चूहा), ध्वांक्ष (कौवा), पूतिवल्लूर (सड़ा-शुष्क मांस), मत्कुण (खटमल), इनके समान गन्ध या कीचड़ की गन्ध अथवा भूमि की गन्ध जिन व्रणों में से आती हो, वे भी व्रण निन्दित हैं ॥११,१२॥

कुङ्कुमश्यामकङ्कुष्ठसवर्णाः पित्तकोपतः ।
न दह्यन्ते न चूष्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१३॥
कण्डूमन्तः स्थिराः श्वेताः स्निग्धाः कफनिमित्ततः ।
दूयन्ते वाऽपि दह्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१४॥
कृष्णास्तु ये तनुस्रावा वातजा मर्मतापिनः ।
स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रुजं तान् परिवर्जयेत् ॥१५॥

कुंकुम (केशर), श्याम (ईषत् कृष्ण), कंकुष्ठ (स्वर्णक्षीरी का निर्यास) के समान व्रण पित्त के प्रकोप से व्रणों में होता है। इस प्रकार के व्रणों में न तो दाह होता है और न चूषण के समान वेदना होती है, अतः वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे। कफ के प्रकोप से व्रण कण्डूयुक्त, स्थिर, श्वेत और स्निग्ध होते हैं। इन व्रणों में पीड़ा होती है, अथवा जलन भी होती है, वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर देवे। वायु के कारण व्रण काले, पतले स्रावबाले एवं मर्मस्थान को पीड़ित करते हैं। यदि इन वातजन्य व्रणों में थोड़ी-सी भी वेदना न हो तो वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे॥

क्ष्वेडन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः ।
त्वङ्मांसस्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये ॥१६॥
ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥

शब्द वैकृत्य—जिन व्रणों में खट-खट शब्द हो या घुर्घुराहट होती हो, या जो व्रण जलते हुए प्रतीत हों, त्वचा-मांस में स्थित व्रणों में यदि वायु शब्द के साथ निकले, मर्मस्थानों में न उत्पन्न होने पर भी जिन व्रणों में अत्यन्त वेदना हो वे असाध्य हैं ॥१६॥

दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिःशीताश्च ये व्रणाः ॥१७॥
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ।

स्पर्श वैकृत—जो व्रण अन्दर से बहुत जलते हों, और बाहर से शीतल हों, या जो व्रण बाहर से बहुत जलते हों और अन्दर से शीतल हों—वे असाध्य है ॥१७॥

शक्तिध्वजरथाः कुन्तवाजिवारणगोवृषाः ॥१८॥
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादकृतयस्तथा ।
चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति चानवचूर्णिताः ॥१९॥

आकृतिविशेष वैकृत--जिन व्रणों में, शक्ति, कुन्त (भाला), ध्वजा, रथ, घोड़ा, हाथी, गाय, बैल अथवा महल की आकृतियाँ दिखाई देती हों और जो व्रण विना चूर्ण (प्रक्षेप) के—चूर्ण किये (प्रतिसारण किये) प्रतीत हों वे भी असाध्य हैं ॥१८,१९॥

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥२०॥

उपद्रव—जिन रोगियों के प्राण क्षीण हो गये हों, मांस क्षीण हो गया हो, श्वास-कास-अरोचक रोग से जो पीड़ित हों, जिन व्रणों में पूय-रक्त बहुत बढ़ा हो, एवं मर्म स्थानों में जो व्रण हों वे असाध्य हैं ॥२०॥

क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिद्ध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेत्तानपि प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥२१॥

उचित रीति से प्रारम्भ में चिकित्सा क्रम करने पर भी जो व्रण अच्छे न होते हों, बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि अपने यश की रक्षा के कारण इनका भी परित्याग कर दे[1] ॥२१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतव्रण-विज्ञानीयो नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनविंशत्तमोऽध्यायः

अथातो विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इनके आगे विपरीताविपरीत दूत-शकुन स्वप्न-निदर्शनीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में अशुभ तथा शुभदूत, दूत की चेष्टाएँ, वैद्य की चेष्टाएँ, दूत तथा वैद्य के शकुन तथा स्वप्नों का वर्णन है ॥१,२॥

दूतदर्शनसंभाषा वेषाश्चेष्टितमेव च ।
ऋक्षं वेला तिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥३॥
देशो वैद्यस्य वाग्देहमनसां च विचेष्टितम् ।
कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥४॥

दूत के दर्शन, दूत का सम्भाषण, दूत का वेश, दूत की चेष्टायें, ऋक्ष—(आर्द्रा आदि नक्षत्र), वेला—मध्याह्न आदि, तिथियाँ—चतुर्थी आदि, निमित्त—सर्प आदि का दर्शन, शकुन—पक्षी आदि की आवाज, अनिल—मृदु स्वर वायु, देश—वैद्य का भूमिभाग, वैद्य की वाणी दैहिक एवं मानसिक चेष्टायें—रोगी के शुभ, अशुभ भावों को कह देती हैं ॥३,४॥

पाख(ष)ण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाः कर्मसिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥५॥
नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः ।
गर्दभोष्ट्ररथप्राप्ताः प्राप्ता च स्युः परम्पराः ॥६॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

पाषण्ड (कापालिक), आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास), वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), ये यदि रोगी

---

[1] यहाँ पर केवल निदर्शनमात्र है। जहाँ पर भी प्राकृत लक्षण से वैकृत दिखाई दे, वहीं पर रिष्ट लक्षण समझना चाहिये। कहा भी है—
"अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ।
विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ॥"

के अपने पक्ष में (कापालिक का कापाली, ब्रह्मचारी आदि) हों तो चिकित्साकार्य में सफलता मिलती है। और यदि ये अपने पक्ष में विपरीत हों (कापालिक का ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी का कापालिक) तो दूत चिकित्साकर्म में विपरीत होते हैं। नपुंसक, स्त्री, बहुत से दूत और जो अनेक दूत एक ही अभिप्राय से न आयें, परस्पर निन्दा करते हुए, गधे या ऊँट की सवारी पर चढ़कर, या एक-दूसरे के पीछे लगातार पंक्ति बनाकर—जो दूत वैद्य के समीप आते हैं, वे सब निन्दित हैं॥

पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ॥७॥
आर्द्रजीर्णापसव्यैकमलिनोद्ध्वस्तवाससः।
न्यूनाधिकाङ्गा उद्विग्ना विकृता रौद्ररूपिणः ॥८॥

पाश (पशुओं को बाँधनेवाले रज्जु), दण्ड (दण्डा), आयुध (खड्ग, शक्ति आदि) को धारण किये, काले पीले-लाल वस्त्र धारण किये हुए, आर्द्र (गीले), जीर्ण (पुराने), अपसव्य (दक्षिण कन्धे पर पड़ा अपसव्य), मलिन (मैले), उद्ध्वस्त (फटे) वस्त्र पहिने, न्यून (हाथ आदि से हीन) या अधिक (इक्कीस अंगुलियाँ आदि) अंगोंवाले, उद्विग्न (घबराये), विकृत (काणा-लंगड़ा आदि) रौद्ररूप (भैरव आकृति) दूत निन्दित हैं ॥७,८॥

रूक्षनिष्ठुरवक्तारस्त्वमङ्गल्याभिधायिनः।

रूक्ष (मैत्री रहित), निष्ठुर (कठोर) वाणी एवं अमंगल बचन बोलते हुए दूत अप्रशस्त हैं॥

छिन्दन्तस्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ॥९॥
वस्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशास्पृशः।
स्रोतोवरोधहृद्गण्डमूर्धोरःकुक्षिपाणयः ॥१०॥
कपालोपलभस्मास्थितुषाङ्गारकराश्च ये।
विलिखन्तो महीं किंचिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः ॥११॥
तैलकर्दमदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः।
फलं पक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम् ॥१२॥
नखैर्नखान्तरं वाऽपि करेण चरणं तथा।
उपानच्चर्महस्ता वा विकृतव्याधिपीड़िताः ॥१३॥
वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः।
याम्यां दिशि प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः ॥१४॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः।

चेष्टायें—

तिनके या लकड़ियों को तोड़ते हुए, नासिका या स्तन को छूते हुए, वस्त्र के प्रान्त को—अनामिका को—केश-नख-रोम (शरीर के बाल), दशा (दीपक की बत्ती) का स्पर्श करते हुए, स्रोत (कान आदि छिद्रों का), अवरोध (स्कन्ध देश)[1], हृदय, गण्डस्थल, शिर, उर, कुक्षि, हाथों को, कपोल उपल (पाषाण), भस्म (जली लकड़ियों का क्षार), अस्थि (हड्डी), तुष और अंगारों का स्पर्श करते हुए, भूमि को कुरेदते हुए, हाथों से कुछ गिराते हुए तथा मिट्टी के ढेले को हाथों से फोड़ते हुए दूत निन्दित हैं—तैल या कीचड़ को अङ्गों पर लगाये हुए, लाल माला एवं लाल आलेप लगाये हुए, पके या सार रहित फल को या अन्य इसी प्रकार की वस्तु को हाथ में लेकर, नखों से नख के मध्य में, या हाथों से पांवों को विदारण करते हुए, हाथ में जूता या चमड़ा लेकर अथवा गलित कुष्ठ आदि विकृत रोग से पीड़ित, विपरीत व्यवहारवाले, रोते हुए, श्रमजनित श्वासयुक्त, विकृत आँखवाले (आँख में फुल्ला हो), दक्षिण दिशा में अंजलि फैलाये हुए, निम्नोन्नत स्थान में सीधे खड़े हुए दूत—जो वैद्य के पास आते हैं, वे निन्दित हैं॥

दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम्।
ज्वलयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्मणि चोद्यतम् ॥१५॥
नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम्।
प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव वा ॥१६॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः।

निम्न कार्य करते हुए वैद्य के पास जो दूत आते हैं—वे निन्दित हैं। यथा—वैद्य के दक्षिण दिशा में मुख किये होने पर, अपवित्र स्थान में, जलती हुई अग्नि को जलाते हुए, कुछ पाक करते हुए, क्रूर कर्म करने में तत्पर हुए, नग्नावस्था में भूमि पर शयन करते हुए, मूत्र-पुरीष के उत्सर्ग में, अपवित्र स्थिति में, विमुक्त केश की अवस्था में, तैल आदि मलने पर, प्रस्वेद सहित विह्वल (बेचैन) अवस्था में जो दूत वैद्य के पास आते हैं, वे निन्दित हैं ॥१५,१६॥

वद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ॥१७॥
मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च।
आर्द्राश्लेषामघामूलपूर्वासु भरणीषु च ॥१८॥

वेला—वैद्य के पितृकार्य में प्रवृत्त होने पर, देवकार्य में तत्पर होने पर, उत्पन्न (भूमि, दिव्य-अन्तरिक्ष) के दर्शन में, मध्याह्न में, आधी रात के समय और सन्ध्याकाल में आये दूत निन्दित हैं।

नक्षत्र—कृत्तिका, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वाषाढ़ा-पूर्वाभाद्रपदा—पूर्वा फाल्गुनी में तथा भरणी नक्षत्री में आये दूत निन्दित हैं ॥१७,१८॥

चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा षष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥१९॥

तिथि—चतुर्थी, नवमी, षष्ठी, देव-प्रेत कार्यों में, सन्ध्याकाल में, वैद्य के पास जो दूत आते हैं, वे निन्दित हैं ॥१९॥

---

१ स्रोतोवरोध का अर्थ—'मार्ग को रोकना' भी है। यदि मार्ग को रोककर खड़े हों तो अशुभ है।

स्विन्नाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः ।
गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यमुपागताः ॥२०॥
त एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृताः ।
एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा संविभजेत्तु तत् ॥२१॥
रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च ।
प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः ॥२२॥

आग के समीप बैठने से उत्पन्न स्वेदवाले दूत मध्याह्न के समय जब वैद्य के पास आते हैं, तब पित्तरोगों में निन्दित होते हैं। ये ही दूत जब कफरोगों में आते हैं, तो चिकित्सा में सफलता करते हैं। इस प्रकार वातरोगों में शीत वायु आदि निन्दित हैं। इस तरह शेष (वात) को समझकर विभाग करना चाहिये। रक्तपित्त, अतिसार, प्रमेह रोगों में जो दूत—पानी के अवरोध (बान्ध) के समीप वैद्य के पास पहुँचते हैं, वे प्रशस्त हैं। इसी प्रकार शेष—(उदावर्त्तमूत्रकृच्छ्र आदि में जलवेग का दर्शन आदि) लक्षण प्रशस्त गिनने चाहिये ॥२०-२२॥

विज्ञायैवं विभागं तु शेषं बुध्येत पण्डितः ।
शुक्लवासाः शुचिर्गौरः श्यामो वा प्रियदर्शनः ॥२३॥
स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्यकरः स्मृतः ।
गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः ॥२४॥
स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् ।
अलङ्कृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः ॥२५॥
स्वस्थं प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् ।
उपसर्पति यो वैद्यं स च कार्यकरः स्मृतः ॥२६॥

श्वेत वस्त्र धारण किये, पवित्र—गौरवर्ण या श्यामवर्ण, मनोहर दर्शनवाला, अपनी (रोगी की) जाति या अपने गोत्र में उत्पन्न दूत चिकित्साकार्य में उत्तम है। वृषभ युक्त (घोड़े अदि प्रशस्त पशु पर) यान पर चढ़कर आया, प्रसन्नचित्त, पैदल चढ़कर आया, उत्तम चेष्टाओं से युक्त, स्मृतियुक्त, विधि एवं काल को जाननेवाला, स्वतन्त्र, उत्तम प्रतिभावाला, शोभन वेश से भूषित, मंगलकारी दूत कार्य को सफल करनेवाला होता है। स्वस्थ, पूर्व दिशा की ओर मुख किये—बैठे, समान एवं पवित्र देश में, पवित्रावस्था में वैद्य के समीप जो दूत आते हैं, वे कार्य करनेवाले होते हैं ॥२३-२६॥

मांसोदकुम्भातपत्रविप्रवारणगोवृषाः ।
शुक्लवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः ॥२७॥
स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्धमानमलंकृता ।
कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि ॥२८॥
हिरण्याक्षतपात्रं वा रत्नानि सुमनो नृपः ।
अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चाषः शिखी तथा ॥२९॥
ब्रह्मदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेणुरथस्वनाः ।
सिंहगोवृषनादाश्च ह्रे (हे) षितं गजबृंहितम् ॥३०॥
शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकं चैव वामतः ।
प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयङ्गमाः ॥३१॥
पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान्नीरुजो द्रुमान् ।
आश्रिता वा नभोवेश्मध्वजतोरणवेदिकाः ॥३२॥
दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः ।
वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये ॥ ३३ ॥
शुष्केऽशनिहतेऽपत्रे वल्लीनद्धे सकण्टके ।
वृक्षेऽथवाऽश्मभस्मास्थिविट्तुषाङ्गारपांशुषु ॥ ३४ ॥
चैत्यवल्मीकविषमस्थिता दीप्तखरस्वराः ।
पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाधकाः ॥ ३५ ॥
पुन्नामानः खगा वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ।
दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वशृगालयोः ।
वामं नकुलचाषाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥ ३६ ॥
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् ।
दर्शनं वा रुतं वाऽपि न गोधाकृकलासयोः ॥ ३७ ॥
दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम् ।
कुलत्थतिलकार्पासतुषपाषाणभस्मनाम् ॥ ३८ ॥
पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् ।
प्रसन्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्षपैः ॥ ३९ ॥
शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः ।
नेष्यन्ते पतितान्तस्थदीनान्धरिपवस्तथा ॥ ४० ॥

शुभ-अशुभ-शकुनों को कहते हैं—

मांस (सद्यःक्षत—कच्चा मांस), उदकुम्भ—पानी का घड़ा—(रोगी के घर में घुसते समय भरा हुआ घड़ा, रोगी के घर से निकलते समय खाली घड़ा), आतपत्र (छाता), विप्र (ब्राह्मण), वारण (हाथी), गाय, वृषभ (बैल), और श्वेत वर्ण—(श्वेत फूल, दधि, अक्षत, मोती आदि) वस्तुयें रोगी के दर्शन के लिये प्रस्थान करते समय मिलना उत्तम है। पुत्र के साथ स्त्री, बछड़े के साथ गाय, अलंकृत यौवनावस्था में पहुँचती कन्या, मछलियाँ, कच्चा फल, स्वस्तिक (माला या स्वस्तिक चिह्न), मोदक, दही, स्वर्ण, अक्षत (लाजा वा यव) चावल से भरा पात्र, रत्न (माणिक्य आदि), सुमन—फूल, राजा, प्रज्वलित अग्नि, घोड़ा, हंस, चाष, मोर ब्रह्म (वेद), दुन्दुभि (नगाड़ा), जीमूत (बादल), शङ्ख, वेणु (बांस) और रथ की ध्वनि का होना, शेर, गाय और बैल की आवाज घोड़ा तथा हाथी का आनन्द से चिघाड़ना, हंस का शब्द तथा उल्लू का वामपार्श्व में बोलना, राजभवन में जानेवाले वैद्य के लिये श्रेष्ठ हैं। हृदय को प्रिय लगनेवाली वाणियों का सुनना भी उत्तम है। पत्ते-फूल-फल एवं दूधवाले वृक्षों पर आश्रित, या आकाश-घर-ध्वजा, तोरण-वेदी पर बैठे, अथवा शान्त दिशाओं में मधुर वाणी को बोलते हुए, पीछे या साथ २ अथवा वाम या दक्षिण दिशा में चलनेवाले पक्षी कार्य में सफलता देते हैं। शुष्क या बिजली से जले पत्तोंवाले, बेल चढ़े हुए, काँटोंवाले वृक्ष पर या पत्थर, राख, अस्थि, मल, तुष, अङ्गारे या धूल, चैत्य, वल्मीक या विषम स्थान पर बैठे, तेज-ऊँची खर-कर्कश स्वर बोलनेवाले, सामने आते हुये या जलती हुई दिशाओं में बोलनेवाले पक्षी कार्यमें असफलता बताते हैं। पुरुषलिंगवाले पक्षियों

का वाम पार्श्व में होना और स्त्रीलिंग पक्षियों का दक्षिण पार्श्व में होना श्रेष्ठ है। कुत्ते और गीदड़ का दक्षिण से वाम दिशा में जाना उत्तम है। नकुल और चाष पक्षी का वाम दिशा में जाना श्रेष्ठ है। शशक, सर्प, भास एवं उल्लू का किसी भी पार्श्व में होना उत्तम नहीं। गोधा या कृकलासिका (किरला) की आवाज या दर्शन दोनों बुरे हैं। इसी प्रकार निन्दित दूतों के समान गुणवाले पुरुषों का दर्शन भी बुरा है। कुलत्थी, तिल, कपास, तुष, पाषाण, भस्म, (राख), अङ्गारे, तैल, कीचड़ से भरे या प्रसन्ना-नामक मद्य को छोड़कर शेष मद्यों से या रक्त से या सरसों से भरा पात्र मिलना निन्दित है। शव के साथ ले जाई जाती हुई लकड़ियाँ, सूखे ढाकों का रास्ते में मिलना (या शुष्क शब्द से-तृण आदि का भी), पतित अन्तःस्थ (चाण्डाल आदि), दीन, अन्धे या शत्रुओं का मार्ग में मिलना उत्तम नहीं है ॥ २७-४० ॥

मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिश्चानिलः शुभः ।
खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥ ४१ ॥

कोमल, शीतल और अनुकूल, सुगन्धित वायु शुभकारी है। खर, उष्ण, प्रतिलोम और बुरी गन्धवाली वायु निन्दित है ॥

ग्रन्थ्यर्बुदादिषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः ।
विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च ॥ ४२ ॥
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते ।
एवं व्याधिविशेषेण निमित्तमुपधारयेत् ॥ ४३ ॥
तथैवाक्रुष्टहाकष्टमाक्रन्दरुदितस्वनाः ।
छर्द्या वातपुरीषाणां शब्दो वै गर्दभोष्ट्रयोः ॥ ४४ ॥
प्रतिषिद्धं तथा भग्नं क्षुतं स्खलितमाहतम् ।
दौर्मनस्यं च वैद्यस्य यात्रायां न प्रशस्यते ॥ ४५ ॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादावेद्यं च यथाऽऽतुरे ।
प्रतिद्वारं गृहे चास्य पुनरेतन्न गण्यते ॥ ४६ ॥
केशभस्मास्थिकाष्ठाश्मतुषकार्पासकण्टकाः ।
खट्वोर्ध्वपादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम् ॥४७॥
नपुंसकव्यङ्गभग्ननग्नमुण्डासिताम्बराः ।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेष्यन्ते दर्शनं गताः ॥ ४८ ॥
भाण्डानां संकरस्थानां स्थानात् संचरणं तथा ।
निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा ॥ ४९ ॥
वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्यादधोमुखः ।
वैद्यं संभाषमाणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा ॥ ५० ॥
प्रमृज्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्तथा ।
हस्तं चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि चोरसि ॥ ५१ ॥
यो वैद्यमुन्मुखः पश्यन्नुन्मार्ष्टि स्वाङ्गमातुरः ।
न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते ॥ ५२ ॥
भवने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्यः स सिध्यति ।
शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ॥ ५३ ॥
आतुरस्य ध्रुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्भिषक् ।

ग्रन्थि, अर्बुद आदि में सदा छेद शब्द सुनाई देना उत्तम है। विद्रधि, उदर एवं गुल्मों में भेदन शब्द, रक्तपित्त और अतिसार में रुद्ध शब्द प्रशस्त है। इस प्रकार से रोग विशेष में शुभ—अशुभ लक्षणों का निश्चय करना चाहिये, (शर्करा रोग में आहरण शब्द उत्तम है)। इसी प्रकार आक्रुष्ट (जोर से चिल्लाना), हा कष्ट, आक्रन्द (जोर से रोना), रुदित (रोने) का शब्द, छर्दि रोग में, वायु-मल का शब्द, गर्दभ या ऊँट का स्वर निन्दित है। भग्न (टूटने) का, क्षुत (छींक) का, स्खलित (स्खलन-गिरने) का, आहत (चोट लगने) का शब्द, वैद्य के मन की बेचैनी यात्रा में प्रशस्त नहीं है। इन दूतादि के लक्षणों को प्रवेशकाल में, रोगी को देखने के समय एवं द्वार भाग में समझ लेना चाहिये, इसलिये पुनः इनको नहीं कहा जाता। वाल, भस्म, अस्थि, काष्ठ, पत्थर, तुष, कपास, काँटे, खाट—चारपाई उल्टी हुई (पाये ऊपर को), मद्यपायी, वसा, तैल, तिल, तृण, नपुंसक, हीनाङ्ग, भग्नशरीर, नग्न, सिर मुंडाये, काले वस्त्र पहिने हुए-इन वस्तुओं का दर्शन घर से प्रस्थान करने में या रोगी के घर में प्रवेश करने के समय उत्तम नहीं है। भण्डार में रक्खे पात्रों का नीचे गिरना, भूमि का खोदना, उखाड़ना, मोड़ना, गिराना या निकलना, वैद्य के आसन का टूट जाना, रोगी नीचे की ओर मुख किये रहे, वैद्य के साथ बातचीत करते हुऐ—अङ्गों को, दिवार को, बिछौने को रगड़ता हुआ रहे, हाथों को—सिर को या पीठ को हिलाये, वैद्य के हाथ को खींचकर अपने सिर या छाती पर रक्खे, जो रोगी वैद्य के सामने मुख उठाकर पूछे या अपने अङ्गों को साफ करे, और जिस घर में वैद्य का सत्कार नहीं होता, वह रोगी नहीं बचता[1]। जिस रोगी के घर में वैद्य का आदर होता है, वह रोगी बचता है। शुभ दूतों में रोगी का शुभ होता है, अशुभ दूतों में रोगी का अशुभ होता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि दूत आदि की परीक्षा निश्चय रूप में करे ॥

वि० मन्तव्य—ग्रन्थि आदि की चिकित्सा करने जाते समय यदि मार्ग में किसी के मुख से छेद वाचक शब्द 'काट डालो' 'काट दिया' आदि सुनाई पड़े तो अच्छा है। इस प्रकार विद्रधि आदि के लिये भेद-वाचक शब्द 'फाड़ दो' आदि तथा रक्तपित्त एवं अतिसार आदि के लिये 'रोधवाचक' 'रोक दिया-बन्द कर दो' आदि शब्द शुभ हैं ॥४२-५३॥

स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च ॥५४॥

१—चरक में भी कहा है। यथा—
आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥
प्रवेशपूर्णकम्पानिमं दूबीजफलसर्पिषाम् ।
वृषब्राह्मणरत्नानां देवतानाञ्च निर्गतिम् ॥

सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभव्यालगर्दभैः ॥५५॥
वराहैर्महिषैर्वाऽपि यो यायाद्दक्षिणामुखः।
रक्ताम्बरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्धजा ॥५६॥
यं चाकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम्।
अन्तावसायिभिर्यो वाऽऽकृष्यते दक्षिणामुखः ॥५७॥
परिष्वजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रव्रजिता (न) स्तथा।
मुहुराघ्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥५८॥
पिबेन्मधु च तैलं च यो वा पङ्केऽवसीदति।
पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येन प्रहसेत्तथा ॥५९॥
निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेच्छिरसा स्रजम्।
यस्य वंशो नलो वाऽपि तालो वोरसि जायते ॥६०॥
यं वा मत्स्यो ग्रसेद्यो वा जननीं प्रविशेन्नरः।
पर्वताग्रात् पतेद्यो वा श्वभ्रे वा तमसाऽऽवृते ॥६१॥
ह्रियेत स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्नुयात्।
पराजीयेत बध्येत काकाद्यैर्वाऽभिभूयते ॥६२॥
पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुषोः।
यः पश्येद् देवतानां वा प्रकम्पमवनेस्तथा ॥६३॥
यस्य छर्दिर्विरेको वा दशनाः प्रपतन्ति वा।
शाल्मलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिभद्रकम् ॥६४॥
पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा योऽधिरोहति।
कार्पासतैलपिण्याकलोहानि लवणं तिलान् ॥६५॥
लभेताश्नीत वा पक्वमन्नं यश्च पिबेत् सुराम्।
स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥६६॥

स्वप्न—

स्वप्नों से मरण एवं शुभ (जीवन) के लक्षण कहते हैं। जो रोगी स्वयं या जिस रोगी के मित्र निम्न स्वप्नों को देखते हैं—उसकी मृत्यु निश्चित है। शरीर पर स्नेह-तैल की मालिश किये, ऊँट के बच्चे सांप या गधे पर अथवा सुअर या भैंस पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर जाता हो; लाल, या काले वस्त्र पहिनकर—हँसती हुई, सिर के बालों को बिखराये हुए, नाचती हुई—जिस रोगी को बाँधकर या खींचकर दक्षिण दिशा में ले जाती हुई स्त्री प्रतीत हो, अथवा अन्तावसायी (निषादस्त्री में चाण्डाल द्वारा श्मशान में उत्पन्न पुत्र) द्वारा जो रोगी दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जाता हो, जिसके साथ प्रेत एवं संन्यासी लोग आलिंगन करें, विकृत, मुखवाले कुत्ते जिसके शिर को सूँघते हों, शहद या तैल पीता हो, कीचड़ में नहाता हो, अङ्गों पर कीचड़ लपेट लिया हो, नाचे या हंसे, नङ्गा होकर सिर में लाल माला को धारण करे, जिसकी छाती पर बाँस या नल अथवा ताल वृक्ष उत्पन्न होता हो, जिसको मछलियाँ निगलें, जो कि अन्धकार युक्त गर्त्त में गिरता हो, पर्वत की चोटी से गिरे, जिसका सिर मुंड जाये, जो मनुष्य माता के शरीर में घुसता हो, स्रोतस् बन गये हों, कौवे आदि पक्षियों से पराजित हो, मारा जाता हो या तिरस्कृत हो रहा हो, तारे चन्द्रमा आदि का गिरना, दीपक एवं आँख का नाश होना, जो देवताओं की प्रतिमाओं में या पृथिवी में कम्पन देखे, जिसे स्वप्न में वमन या विरेचन हो जाये, दांत गिर जायें, सिम्बल—ढाक—यूप (यज्ञ-पशु-बलि काष्ठ) वल्मीक, पारिभद्र (नीम), कोविदार, (कचनार) ये वृक्ष फूल से लदे प्रतीत हों, जो चिता पर चढ़ा हो; कपास, तैल, पिण्याक (खली), लौह (लोहमय वस्तु), नमक, तिल इनको प्राप्त करे, या पक्के अन्न को खाये, मद्य का पान करे—इस प्रकार के स्वप्न यदि स्वस्थ व्यक्ति देखे तो वह रोगी होता है और यदि रुग्ण व्यक्ति इन स्वप्नों को देखता है तो मर जाता है ।५४-६६।

विफल स्वप्न—

यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतस्तथा।
चिन्ताकृतो दिवा दृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥६७॥

अपनी प्रकृति के अनुकूल प्राकृतिक स्वप्न (वातप्रकृति का—संभ्रम से चलना, पित्तप्रकृति का आग, बिजली में प्रविष्ट होना, कफप्रकृति का—कमल, हंस, चक्रवाकों को देखना), विस्मृत (जो स्वप्न बहुत कुछ भूल गये), विहत (पहिले बुरा देखा और फिर अच्छा देखा[1]), चिन्ता से उत्पन्न और दिन में देखे हुए स्वप्न फलरहित होते हैं ॥६७॥

ज्वरितानां शुना सख्यं कपिसख्यं तु शोषिणाम्।
उन्मादे राक्षसैः प्रेतैरपस्मारे प्रवर्तनम् ॥६८॥
मेहातिसारिणां तोयपानं स्नेहस्य कुष्ठिनाम्।
गुल्मेषु, स्थावरोत्पत्तिः कोष्ठे मूर्ध्नि शिरोरुजि ॥६९॥
शष्कुलीभक्षणं छर्द्यामध्वा श्वासपिपासयोः।
हारिद्रं भोजनं वाऽपि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः ॥७०॥
रक्तपित्ती पिबेद्यस्तु शोणितं स विनश्यति।

उत्तरतन्त्र में पढ़े हुए रोगों के लिये अन्य स्वप्न—

ज्वरवाले पुरुषों की कुत्तों के साथ मैत्री, शोषरोगियों की वानरों के साथ मैत्री, उन्माद रोग में राक्षसों के साथ, अपस्मार में प्रेतों के साथ बैठना, प्रमेही एवं अतिसार-रोगियों का पानी पीना, कुष्ठरोगियों का स्नेह पान करना, गुल्मरोगियों के उदर में तथा शिरोरोग में शिर में वृक्ष की उत्पत्ति, छर्दि रोग में (चने-तिल से बनी शष्कुली) पूरी खाना, श्वास एवं तृष्णा रोगी का मार्ग में जाना, पाण्डुरोगी का हल्दी युक्त भोजन खाना और रक्तपित्त रोगी का रक्त को स्वप्न में पीना—इन स्वप्नोंवाला नष्ट हो जाता है ॥६८-७०॥

---

१. कहा भी है—
"अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः।
सौम्यं स्वप्ने पुमान् पश्येत्–तस्य विद्यात् शुभं फलम् ॥"

स्वप्नानेवंविधान् दृष्ट्वा प्रातरुत्थाय यत्नवान् ॥७१॥
दद्यान्माषांस्तिलान् लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा।
जपेच्चापि शुभान् मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा॥७२॥
दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्यादू ध्यात्वा पुनः शुभम्।
जपेद्वाऽन्यतमं वेदं ब्रह्मचारी समाहितः ॥७३॥
न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वप्नमशोभनम्।
देवतायतने चैव वसेद्रात्रित्रयं तथा।
विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते ॥७४॥

इस प्रकार के स्वप्नों को देखकर प्रातःकाल उठकर प्रयत्न पूर्वक—ब्राह्मणों को—उड़द, तिल, लोह (धातु आदि), स्वर्ण आदि देना चाहिये। शुभ-मन्त्रों का जप करना चाहिये, त्रिपदा (तीन व्याहृतिवाली) गायत्री का जप करना चाहिये। रात्रि के प्रथम प्रहर में यदि दुःस्वप्न दिखाई दे तो शुभ बातों का ध्यान करके फिर सो जाना चाहिये। सावधान होकर ब्रह्मचारी रहकर किसी एक वेद (मंत्र) का जप करना चाहिये। अशुभ स्वप्न देखकर किसी से उसका जिकर नहीं करना चाहिये। तीन दिन तक मन्दिर में निवास करना चाहिये। नित्य ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार करने से अशुभ स्वप्नों के कुफल से मनुष्य बच जाता है ॥७१-७४॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम्।
देवान् द्विजान्गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान् ॥७५॥
समिद्धमग्निं साधूंश्च निर्मलानि जलानि च।
पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७६॥
मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेता वासांसि च फलानि च।
लभेत धनलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७७॥
महाप्रासादसफलवृक्षवारणपर्वतान्।
आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७८॥
नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान्।
तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च ॥७९॥
उरगो वा जलौका वा भ्रमरो वाऽपि यं दशेत्।
आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान् ॥८०॥
एवं रूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद्व्याधितो नरः।
स दीर्घायुरिति ज्ञेयस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥८१॥

अब शुभ स्वप्नों को कहते हैं। देवताओं को, ब्राह्मणों को, गाय बैल को (जीवित), मित्रों को, राजाओं को, प्रज्वलित अग्नि को, साधुओं को, निर्मल जल को देखना कल्याण की प्राप्ति के लिये तथा रोगशान्ति के लिये होता है। मांस को, मछलियों को, श्वेत मालाओं को, वस्त्रों का तथा फलों को प्राप्त करना धनप्राप्ति एवं रोग की शान्ति के लिये है। बड़े भारी महल पर, फल युक्त वृक्षों पर, हाथी पर, पर्वत पर चढ़ना धन के लाभ के लिये और रोगशान्ति के लिये है। बढ़े हुए (प्रचलित) नदी (गङ्गा आदि), नद (सिन्धु आदि) समुद्र को या मैले पानी को तैरना कल्याण के लिये या रोग की शान्ति के लिये होता है। जिसको साँप या जोंक अथवा भ्रमर काटे, उसे आरोग्य लाभ होता है और धन लाभ होता है। रोगी मनुष्य यदि इस प्रकार के शुभ स्वप्नों को देखे—तो उसे दीर्घायु समझकर चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करना चाहिये।७५-८१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतस्वप्न-निदर्शनीयो नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अथ 'पंचेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—श्रोत्र, त्वग्, रसना, घ्राण तथा चक्षु नामक ५ इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप नामक अर्थों—विषयों की विपरीत प्रतिपत्ति—समझना। श्रोत्र आदि द्वारा—शब्द आदि का विपरीत ज्ञान भी अरिष्ट ही है ॥१,२॥

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन, व्यासतस्तु निबोध मे ॥३॥

शरीर (पाञ्चभौतिक-प्राण काया), शील (मन के भाव या मन), इनकी प्रकृति (स्वाभाविक धर्म) का विकृत (परिवर्तित) होना—संक्षेप में अरिष्ट होता है। विस्तार से आगे कहते हैं[1]।

शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः।
समुद्रपुरमेघानामसंपत्तौ च निःस्वनान् ॥४॥
तान् स्वनान्नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत्।
ग्राम्यारण्यस्वनांश्चापि विपरीतान् शृणोति च ॥५॥
द्विषच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु कुप्यति।
न शृणोति च योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥६॥

दि० (किन्नर), सिद्ध, गन्धर्व आदि के अभाव में—नाना प्रकार के (गीत, जल्प पाठ के) शब्दों को सुनता है,

---

१ कई आचार्य शरीर, शील और प्रकृति इन तीन को पृथक् मानते हैं। प्रकृति–छै प्रकार की है—जैसा चरक में कहा है "प्रकृतिर्हि जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च, देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता च।" जाति-प्रसक्ता—मनुष्यादि जाति में स्वभावविशेष, कुलप्रसक्ता—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से तप-प्रियता आदि, देशानुपातिनी—लाट-कर्नाटक देशों में अपने व्यवहार, कालानुपातिनी—देहादि में दुर्बलता आदि, वयोऽनुपातिनी—वात्सल्य, सुकुमारता आदि बाल्यावस्था में। ये—शरीर, वचन और मन में भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। दूसरे आचार्य प्रकृति से वात-पित्त-कफ लेते हैं। और कुछ आचार्य सत्त्व, रज और तम प्रकृति का ग्रहण करते हैं।

समुद्र, (नगर), मेघों के अभाव में भी इनके शब्दों को सुनता है, समुद्र, पुर—या मेघों के होने पर इनके शब्द को नहीं सुनता अथवा नहीं पहिचानता (दूसरा शब्द समझता है), ग्राम्य पशुओं के शब्द को अरण्य के पशुओं का शब्द मानता है, अरण्य के शब्द ग्राम्य पशुओं का शब्द मानता है, मित्र के शब्दों से द्वेष करता है, द्वेषी के शब्दों से प्रीति करता है, और कारण के बिना शब्द को जो नहीं सुनता—उस रोगी की आयु समाप्त हुई समझनी चाहिये। (सुहृत्-शब्देषु तथा द्विषच्छब्देषु—के अर्थ—मित्रों के बचनों पर अविश्वास, शत्रु के वचनों पर विश्वास भी है) ॥४-६॥

यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णं च शीतवत्।
संजातशीतपिडको यश्च दाहेन पीड्यते ॥७॥
उष्णगात्रोऽतिमात्रं च यः शीतेन प्रवेपते।
प्रहारान्नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥८॥

जो रोगी शीतल वस्तुओं को उष्ण पदार्थों की भाँति, उष्ण पदार्थों को शीतल पदार्थों की भाँति ग्रहण करता है, जिसके शरीर में कफजन्य शीत पिड़िकाओं के होने पर दाह होता हो, शरीर के अत्यन्त उष्ण होने पर भी जो शीत से काँप रहा हो, जो रोगी आघात को या अंग के काटने को नहीं जानता, वह रोगी असाध्य है ॥७,८॥

पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते।
वर्णान्यता वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥९॥

जो रोगी यह समझे कि उसके अङ्ग धूल से व्याप्त हैं। शरीर का रंग परिवर्तित हो गया, जिसके शरीर पर राजि (रेखायें) उत्पन्न हो जायें उसका बचना असम्भव है।

वि० मन्तव्य—सन्निपात आदि में देखा जाता है कि रोगी अपने शरीर को झाड़ता है ॥९॥

स्नातानुलिप्तं यं चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः।
सुगन्धिर्वाऽति योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥१०॥

स्नान करने तथा चन्दन आदि का लेप करने पर भी जिसके शरीर पर मक्खियाँ आकर बैठें अथवा चन्दन कर्पूर आदि के लेप के बिना भी या सुगन्धि तैल के अभ्यङ्ग आदि के बिना भी जिसका शरीर सुगन्धित हो जाय उसको गतायुः (मरनेवाला) कहते हैं। "अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः। अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः" ॥१०॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान्।
उपयुक्ताः क्रमाद्यस्य रसा दोषाभिवृद्धये ॥११॥
यस्य दोषाग्निसाम्यं च कुर्युर्मिथ्योपयोजिताः।
यो वा रसान्न संवेत्ति गतासुं तं प्रचक्षते ॥१२॥

जो रोगी सेवित रसों का विपरीत रूप में ग्रहण करता है (मधुर रसों को अम्ल, अम्ल को मधुर), और क्रमपूर्वक खाये हुए रस (पूर्वं मधुरमश्नीयात्—पश्चादम्लं—इत्यादि क्रम) जिसमें दोषों को बढ़ायें, मिथ्यारूप से सेवित रस जिस पुरुष के दोषों को एवं अग्नि को समान करते हैं; और जो रसों को भली प्रकार नहीं पहिचानता, उसे मरा हुआ समझना चाहिये ॥११,१२॥

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम्।
गृह्णीते वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः ॥१३॥
यो वा गन्धं न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत्।

जो मनुष्य सुगन्ध को दुर्गन्ध, दुर्गन्ध को सुगन्ध समझता है, अथवा वास्तविक गन्ध को नहीं पहिचानता, दीपक बुझने के समय पीनस आदि नासारोगों से रहित होने पर भी जिसको गन्ध नहीं आती, उस पुरुष को गतायुष समझना चाहिये।

वि० मन्तव्य—रसों आदि के तैल का दीपक बुझता है तब विशेष प्रकार की गन्ध आती है, जो इसका अनुभव नहीं करता 'दीपगन्धं न जिघ्रति' वा० शा० अ० ५ ॥१३॥

द्वन्द्वाण्युष्णहिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा ॥१४॥
विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः।

जो मनुष्य कष्ट देनेवाले द्वन्द्वों को-शीत-उष्ण आदि को, काल की अवस्था को (प्रातः सायं आदि को), [1]दिशाओं को (पूर्व-पश्चिम को), एवं अन्य पदार्थों को—द्रव्य-गुण-कर्मों को विपरीत रूप में ग्रहण करता है, वह मर जाता है ॥१४॥

दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ॥१५॥
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम्।
अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिद्गुणान् ॥१६॥
तडित्वतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान्।
विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम् ॥१७॥
यश्चानिलं मूर्तिमन्तमन्तरिक्षं च पश्यति।
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥१८॥
प्रदीप्तमिव लोकं च यो वा प्लुतमिवाम्भसा।
भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥१९॥
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम्।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥२०॥
ज्योत्स्नादर्शोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥२१॥
श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम्।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥२२॥

---

१ दिश-शब्द से कई आचार्य मानस-स्पर्श मानते हैं। कहा भी है—स्पर्श दो प्रकार है—एक स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य और दूसरा मानस। "स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।"

यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥२३॥

दिन के समय तारे आदि ज्योतियों को जलता हुआ जो देखता है, रात्रि में जलते हुए सूर्य को, दिन में चमकते हुए चन्द्रमा के तेज को, बादलों के न होने पर—इन्द्रधनुष, बिजली आदि को, निर्मल आकाश में बिजली को या घने काले बादलों को, आकाश को विमान, यान अथवा महलों से व्याप्त देखे और जो वायु एवं आकाश को मूर्तिमान देखता हो, पृथ्वी को—धुवें-नीहार, एवं वस्त्र से आवृत जो देखता है, लोक को ग्रीष्म के बिना भी जलते हुए देखे, पानी में डूबते हुए लोक को देखे, अष्टापद (खेलने का खिलौना) आकारवाली रेखाओं से व्याप्त भूमि को जो देखे, सप्तर्षि तारों के साथ साथ अरुन्धती नक्षत्र को जो नहीं देखता, ध्रुव तारे को, आकाश गङ्गा को जो व्यक्ति नहीं देखते वे मरणासन्न हैं। ज्योत्स्ना, आदर्श (शीशे) और धूप में, पानी में जो रोगी अपनी छाया (प्रतिबिम्ब) को नहीं देखता, अथवा छाया को एक अङ्ग से हीन, या विकृतावस्था में या अन्य प्राणी की छाया को देखता है, कुत्ता, काक (कौवा), कङ्क (श्वेतचञ्चुश्वेतचरण[1]), गृध्र पक्षियों की, प्रेतों की, यक्षराक्षस की, पिशाच व साँप की, नागों की तथा देवयोनियों की विकृत छाया को जो आदर्श आदि में देखते हैं, धूमरहित आग जो मोर के कण्ठ के समान देखता है, वह रोगी मर जाता है और स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण हो जाता है।

वि० मन्तव्य-इसके लिये देखिये वाग्भट शा० अ० १५-२३

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातश्छायाविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'छाया विप्रतिपति नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। [2]छाया वर्ण को ढाँपती है, और प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है ॥१,२॥

श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम् ।
अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥३॥

श्याव (काली), लोहितिका (लाल), नीला (नीली), पीतिका (पीली) छाया जिस पुरुष में सहसा उत्पन्न हो जाती है, उसको मरणासन्न समझना चाहिये। 'नाऽच्छायो नाऽप्रभः कश्चिद् विशेषाश्चिह्नयन्ति हि । नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः' ॥३॥

ह्रीरपक्रमते यस्य प्रभास्मृतिधृतिश्रियः ।
अकस्माद्यं भजन्ते वा स गतासुरसंशयम् ॥४॥

जिस पुरुष में से लज्जा चली जाती है, और प्रभा, धृति (नियतात्मिका बुद्धि), स्मृति (स्मरण) और श्री (कमनीयता) उपदेश आदि कारणों के बिना ही उत्पन्न हो जाती हैं, वह निश्चय से मरेगा ॥४॥

यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः ।
उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥५॥
आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा ।
खञ्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुषमादिशेत् ॥६॥
कृष्णा स्तब्धाऽवलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै ।
कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥७॥
कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका ।
अवस्फूर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः ॥८॥
संक्षिप्ते विषमे स्तब्धे रक्ते स्रस्ते च लोचने ।
स्यातां वा प्रस्रुते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥९॥
केशाः सीमन्तिनो यस्य सङ्क्षिप्ते विनते भ्रुवौ ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥१०॥

जिस पुरुष का निचला ओठ लटक जाय, ऊपर का चढ़-उठ जाये, अथवा दोनों ओठ जामुन के फल के समान काले हो जायें, उसका बचना कठिन है। जिस रोगी के दाँत लाल या काले पड़ जायें, अथवा गिर जायें, या खञ्जन पक्षी के गले के समान नीले पड़ जायें उसे मरा समझना चाहियें। जिस रोगी की जीभ काली पड़ जाये, जड़ हो जाये, अवलिप्त (प्रमेह आदि में जैसे थूक से लिसड़ी) हो—वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है। जिस रोगी की नासिका कुटिल (टेढ़ी) हो जाये, स्फुटिता (फैल जाये), शुष्क हो जाये, या अवस्फुरित (शब्द करने लगे) या मग्ना (बैठ जाये) वह रोगी नहीं बचता। जिस पुरुष की आँखें संकुचित हो जायें, ऊँची-नीची हो जायें, निश्चल-गतिरहित हो

---

१ 'कङ्कः स्यात् कङ्कमल्लाख्यो बाणपक्षार्हपक्षकः ।
लोहपृष्ठो दीर्घपादः पक्षाघः पाण्डुवर्णभाक् ॥'
'सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।
संवत्सरान्ते जन्तुः स पश्यत्येव महत्तमः ॥'

२ प्रभा और छाया में अन्तर है यथा—
'वर्णमाक्रामती छाया, प्रभा वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते छाया, प्रभा दूराच्च लक्ष्यते ॥'

वर्ण चार प्रकार के हैं—गौर, कृष्ण, श्याम और गौरश्याम। प्रभा सात प्रकार को है—रक्ता, पीता, सिता, श्यावा, हरिता, पाण्डुरा और असिता। छाया पाँच प्रकार की है—स्निग्धा, विमला, रूक्षा, मलिना, संक्षिप्ता।

जायें, लाल हो जायें—स्रस्त (नीचे गिर जायें अधोदृष्टि हो जाये) हो जाती हैं—उस मनुष्य को निश्चित रूप में गतायुष समझना चाहिये। जिस पुरुष के बाल सीमन्तवाले (माँग-बाल दो भागों में विभक्त) हो जाते हैं, जिस पुरुष की भ्रुवें संकुचित एवं झुक जाती हैं, आँख की पलकों के बालों को जो नोचता है— वह शीघ्र ही मर जाता है ।।५—१०।।

नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः ।
एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणान् जहाति सः ।।११।।
बलवान् दुर्बलो वाऽपि संमोहं योऽधिगच्छति ।
उत्थाप्यमानो बहुशस्तं पक्वं भिषगादिशेत् ।।१२।।
उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुते च यः ।
विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः ।।१३।।
शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नोच्छ्वासश्च यो भवेत् ।
काकोच्छ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ।।१४।।
निद्रा न छिद्यते यस्य यो वा जागर्ति सर्वदा ।
मुह्येद्वा वक्तुकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ।।१५।।
उत्तरौष्ठं च यो लिह्यादुत्कारांश्च करोति यः
प्रेतैर्वा भाषते सार्धं प्रेतरूपं समादिशेत् ।।१६।।

जो मनुष्य मुख में स्थित अन्न को नहीं निगलता, जो शिर को सीधा धारण नहीं करता (गर्दन गिरी रहती है), जिसकी दृष्टि स्थिर हो (पुतली इधर-उधर फिरे नहीं, वह मूढात्मा (जड़ रूपी मनुष्य) शीघ्र ही (उसी दिन) मर जाता हैं। जो बलवान् या दुर्बल मनुष्य बार-बार मूर्च्छित होता है, उठने पर (चेतन करने पर) भी फिर मूर्च्छित हो जाता है—उसकी आयु पूर्ण समझनी चाहिये (वह सात दिन में मर जाता है)। जो सदा पीठ के भार चित्त सोता हो, पांवों को फैलाता-सिकोड़ता रहता हो, और पाँव को पसारनेवाला मनुष्य देर तक नहीं जीता। जिस रोगी के हाथ-पांव और श्वास ये तीनों ठण्डे हो जायें, जो रुक रुककर ऊचा श्वास (गहरा) लेता है या जो कौवे के समान मुख फैलाकर श्वास लेता है, उसका त्याग कर देना चाहिये। जिसकी नींद ही समाप्त नहीं होती अथवा जो सदा जागता रहता है, बोलने के समय जिसको मूर्च्छा आ जाती है, उसे असाध्य समझना चाहिये। जो पुरुष ऊपर के ओठ को चाटता है, जिसको बार-बार उद्‌गार (डकार) आते हों, जो प्रेतों के साथ बात-चीत करता हो, उसको प्रेतरूप समझना चाहिये ।।११-१६।।

खेभ्यः सरोमकूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते ।
पुरुषस्याविषार्तस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ।।१७।।
वाताष्ठीला तु हृदये यस्योर्ध्वमनुयायिनी ।
रुजान्नविद्वेषकरो स परासुरसंशयम् ।।१८।।
अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति, नारीं तु मुखजो, गुह्यजो द्वयम् ।।१९।।
अतिसारो ज्वरो हिक्का छर्दिः शूनाण्डमेढ्रता ।
श्वासिनः कासिनो वाऽपि यस्य तं क्षीणमादिशेत् ।२०।
स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का श्वासश्च मानवम् ।
बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयः ।।२१।।

विष विकार के बिना जिस पुरुष के ऊपर-नीचे के सब छिद्रों से, सब रोमकूपों से रक्त बहता है, वह शीघ्र ही प्राणों का त्याग कर देता है। जिस पुरुष में ऊपर को चढ़नेवाली वायु ऊपर आकर हृदय में शिला के समान बन जाती है, जिससे पीड़ा एवं अन्न में विद्वेष उत्पन्न होता है, वह निश्चित रूप में मरनेवाला है[1]। शोफजन्य उपद्रवों (श्वास, पिपासा, दुर्बलता आदि) से शोफ पांवों में उत्पन्न होकर पुरुष को नष्ट करता है, चेहरे पर शोफ होकर स्त्री को मारता है, गुह्य भाग में उत्पन्न होने से स्त्री-पुरुष दोनों को मारता है। श्वास या कास रोगी को जब अतिसार, ज्वर, हिचकी, वमन, अण्डकोष तथा शिश्न में सूजन हो जाती है, तब उसको क्षीण-मरा समझना चाहिये। बलवान् पुरुष को भी जब प्रभूत, स्वेद, तीव्र दाह, हिचकी, श्वास उत्पन्न हो जाये, वह निश्चय से प्राणों से वियुक्त होगा (तीन रात में मर जायेगा) ।।१७–२१ ।।

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षि निमज्जति ।
मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् ।।२२।।
वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणावुभौ ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः ।।२३।।
अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि गुरुकाणि वा ।
यस्याकस्मात् स विज्ञेयो गन्ता वैवस्वतालयम् ।।२४।।
पङ्कमत्स्यवसातैलघृतगन्धाश्च ये नराः ।
मृष्ठ गन्धांश्च ये यान्ति गन्तारस्ते यमालयम् ।।२५।।
यूका ललाटमायान्ति बलिं नाश्नन्ति वायसाः ।
येषां चापि रतिर्नास्ति यातारस्ते यमालयम् ।।२६।।
ज्वरातिसारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः ।
प्रक्षीणबलमांसस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ।।२७।।
क्षीणस्य यस्य क्षुत्तृष्णे हृद्यैर्मिष्टैर्हितैस्तथा ।
न शाम्यतोऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ।।२८।।
प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलं च दारुणम् ।
पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ।।२९।।

जिस पुरुष की जीभ काली पड़ जाये, जिसकी बाँईं आँख बैठ जाये, और जिसके मुख से दुर्गन्ध आने लगे, वह असाध्य है। जिसका चेहरा आँसुओं से भर जाता है, दोनों पाँव पसीने से तर हो जाते हैं, जिसकी आँखें व्याकुल रहती हैं, वह मरा समझना चाहिये। जिस पुरुष का शरीर एकदम से लघु (हल्का) या भारी हो जाता है, वह शीघ्र ही यमराज के यहाँ

---

१ 'वाताष्ठी' शब्द से यहाँ पर वातव्याधि में कहा रोग समझना चाहिये। वायु ही शिला के समा बन जाती है।

जायेगा। इसी प्रकार जिसका शरीर स्थूल या कृश सहसा हो जाता है, उसे भी मरणासन्न समझना चाहिये। कीचड़ मछली, वजा, तैल, घी की गन्ध या मरिच अथवा निर्मल दिव्य गन्ध जिनके शरीर में से आने लगती है, वे भी मरनेवाले हैं। जिनके माथे पर जूएँ फिरने लगें, जिसकी दी हुई बलि को कौए न खायें और जिसको कहीं भी शान्ति-सुख नहीं मिलता उसे (एक साल में) मरणासन्न समझना चाहिये। जिस पुरुष में परस्पर एक दूसरे के उपद्रवों के कारण ज्वर-अतिसार और रोगी का बल एवं मांस क्षीण हो गया हो तो वह चिकित्सा के अयोग्य है[1]। जिस क्षीण पुरुष की भूख एवं प्यास हृदय के प्रिय, मधुर एवं हितकारी खान-पान से भी नहीं शान्त होती, उसकी मृत्यु समीप में खड़ी समझनी चाहिये। जिस पुरुष को तीव्र प्रवाहिका, तीव्र शिरःशूल, तीव्र कोष्ठशूल, तीव्र पिपासा हो एवं बल (उत्साह-शक्ति) क्षीण हो तो इन रोगियों का मृत्यु-काल आया समझना चाहिये ॥२२—२६॥

विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुराकृतैः।
अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत् ॥३०॥

मृत्यु का कारण—

विषमोपचार से (स्वाभाविक बल आदि भावों के विपरीत उपचार से), पूर्वजन्मकृत शरीरस्थापक कर्मों के क्षीण होने से, देहधारियों के अनित्य होने से जीवन का नाश होता है ॥३०॥

प्रेताः भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च।
मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्ति मानवम् ॥३१॥
तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया।
तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३२॥

मरणासन्न रोगी के समीप प्रेत (दुर्गति प्राप्त प्राणी), भूत (यम के नौकर), पिशाच (मांस को खानेवाले), रावण आदि नाना प्रकार के बहुत से राक्षस आदि नित्य प्रति मारने की इच्छा से आते हैं। इसलिये ये औषधियों की शक्ति का नाश कर देते हैं, अतः सब प्रकार का चिकित्साकार्य निष्फल होता है। पहिले स्वयं कहा भी है—

"स स्थिरत्वान्महत्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्योषधवीर्याणि मंत्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥" ३१,३२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने छायाविप्रतिपत्ति-नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

---

[1] चरक में इसी को इस प्रकार से स्पष्ट किया है—
ज्वरातिसारौ शोफान्ते, श्वयथुर्वा तयोः क्षये।
दुर्बलस्य विशेषेण, नरस्यान्ताय जायते ॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'स्वभाव विप्रतिपत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—स्वभाव अर्थात् स्वाभाविक वर्ण आदि की विप्रतिपत्ति अर्थात् परिवर्त्तन-बदल जाना। यह भी अरिष्ट होता है ॥१,२॥

स्वभावसिद्धानां शरीरैकदेशानामन्यभावित्वं मरणाय। तद्यथा—शुक्लानां कृष्णत्वं, कृष्णानां शुक्लता, रक्तानामन्यवर्णत्वं, स्थिराणां मृदुत्वं, मृदूनां स्थिरता, चलानामचलत्वम्, अचलानां चलता, पृथूनां संक्षिप्तत्वं, संक्षिप्तानां पृथुता, दीर्घाणां ह्रस्वत्वं, ह्रस्वानां दीर्घता, अपतनधर्मिणां पतनधर्मित्वं, पतनधर्मिणामपतनधर्मित्वमकस्मात्, शैत्यौष्ण्यस्नैग्ध्यरौक्ष्यप्रस्तम्भवैवर्ण्यावसादनं चाङ्गानाम् ॥३॥

प्रकृति से प्रसिद्ध-शरीर के एक भाग में स्थित अवयवों का—दूसरे रूप में परिवर्त्तित होना मृत्यु के लिये होता है। यथा—श्वेत (दांत आदि का) वस्तुओं का काला होना, (काली आँख की पुतली या बाल) वस्तुओं का श्वेत होना, लाल (होठ आदि) वस्तुओं का अन्य रङ्ग होना, कठोर (कठोर—अस्थि आदि) वस्तुओं का कोमल होना, मृदु (मांस-शोणित आदि) वस्तुओं का कठोर होना, चल (सन्धियों) में स्थिरता, अचल वस्तुओं (नासा आदि) मे चलत्व (गति), पृथु-विस्तीर्ण (उर आदि) वस्तुओं में संकुचितपन, सक्षिप्त संकुचित (आँख की कनीनिका आदि) वस्तुओं में विस्तार का होना, दीर्घ (जंघा आदि) वस्तुओं का छोटा होना, छोटी वस्तुओं (ग्रीवा शिश्न आदि) का लम्बा होना, अपतनशील (नखादि) वस्तुओं का गिरना, गिरनेवाली वस्तुओं का (मूत्र-पुरीष-सिंघाणक आदि का) न गिरना, अकस्मात्-उष्ण स्वभाववाले हाथ-पाँव में ठण्डक आ जाना, फूत्कार आदि में उष्णता, नयनतारकादि स्निग्ध वस्तुओं में रूक्षता, त्वचा आदि रूक्ष वस्तुओं में स्निग्धता, अंगों में प्रस्तम्भ (स्तब्ध), विवर्णता (रङ्ग परिवर्तन), अवसाद (शिथिलता) होना मृत्यु के लक्षण हैं ॥३॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः शरीरैकदेशानामवस्रस्तोत्क्षिप्तभ्रान्तावक्षिप्तपतितविमुक्तनिर्गतान्तर्गुरुलघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यङ्गप्रादुर्भावो वाऽप्यकस्मात्, सिराणां च दर्शनं ललाटे, नासावंशे वा पिडकोत्पत्तिः, ललाटे वा प्रभातकाले, स्वेदः नेत्ररोगाद्विना वाऽश्रुप्रवृत्तिः, गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे, निलयनं वा कपोतकङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीषवृद्धिरभुञ्जानानां, तत्प्रणाशो वा भुञ्जानानां,

स्तनमूलहृदयोरःसु च शूलोत्पत्तयः, मध्ये शूनत्वमन्तेषु परिम्लायित्वं विपर्ययो वा, तथाऽर्धांगे श्वयथुः शोषोऽङ्गपक्षयोर्वा, नष्टहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्णपुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनखशरीरेषु, यस्य वाऽप्सु कफपुरीषरेतांसि निमज्जन्ति, यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविकृतानि रूपाण्यालोक्यन्ते, स्नेहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च दुर्बलो भक्तद्वेषातिसाराभ्यां पीड्यते, कासमानश्च तृष्णाभिभूतः, क्षीणश्छर्दिभक्तद्वेषयुक्तः सफेनपूयरुधिरोद्वामी हतस्वरः शूलाभिपन्नश्च मनुष्यः, शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी स्रस्तपिण्डिकांसपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाह्णे भुक्तमपराह्णे छर्दयत्यविदग्धमतिसार्यते वा स श्वासान्म्रियते, बस्तवद्विलपन् यश्च भूमौ पतति स्रस्तमुष्कः, स्तब्धमेढ्रो भग्नग्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः, प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभिहन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिनत्ति, अधरोष्ठं दशति, उत्तरोष्ठं वा लेढि, आलुञ्चति वा कर्णौ केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्वैद्यांश्च द्वेष्टि, यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा, यस्योल्काशनिभ्यामभिहन्यते होरा वा, गृहदारशयनासनवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥ ४ ॥

शरीर के अङ्गों का अपने स्वाभाविक स्थान से अवस्रस्त (नीचे आना भ्रू आदि का), उत्क्षिप्त (आँख आदि का ऊपर चढ़ना), भ्रान्त (आँख आदि का भ्रमण), अवक्षिप्त (तिरछा होना), पतित (शिर-ग्रीवा आदि का गिरना), विमुक्त (सन्धि आदि का मोक्ष), निर्गत (जीभ-आँख का बाहर निकल आना), अन्तर्गत (आँख का अन्दर धँसना), गुरु (आँख पलकों का भारी होना), लघुता (बाहु-जंघा का हल्का होना), या अचानक प्रवाल (मूँगे) के समान रङ्गवाले व्यङ्गों का उत्पन्न होना मृत्यु का सूचक है। [1]अकस्मात् ललाट में सिरायें दीखने लगें, नासावंश में सहसा पिड़का का उत्पन्न होना, प्रभातकाल में माथे पर पसीना आना, बिना नेत्ररोग के आँखों से आँसू बहें, जिसके सिर पर गोबर के चूर्ण के समान प्रकाश अथवा गोबर के चूर्ण के समान धूल दिखाई देती है, जिसके सिर पर कबूतर, कौआ, कंक आदि पक्षी बैठें, भोजन न करने पर मूत्र-पुरीष की वृद्धि हो, भोजन करने पर मूत्र पुरीष में ह्रास हो, स्तनमूल-हृदय और उर में शूल उत्पन्न हो, शरीर के मध्य भाग में सूजन हो, हाथ-पाँव में शुष्कता, आधे शरीर में सूजन, आधे में शुष्कता, पक्षार्द्ध में म्लानता, स्वर का नष्ट होना, स्वर का निर्बल होना, स्वर का विकल होना (भर्राई आवाज), स्वर का स्वाभाविक रूप में न रहना, दांत-मुख-नख एवं शरीर में विवर्णता एवं पुष्प का उत्पन्न होना, जिस रोगी का कफ, मल एवं शुक्र पानी में डूब जाता है, जिस रोगी के दृष्टिमण्डल में नाना प्रकार के गाय, भैंस आदि अथवा विकृत (तीन सिर, तीन भुजा या एक हाथ आदि) रूप दिखाई देते हैं, बिना तेल के सिर एवं शरीर तैल से चिकना प्रतीत हो, जो दुर्बल व्यक्ति अन्न-द्वेष तथा अतिसार से पीड़ित हो, खांसते हुए तृष्णा से पीड़ित हो जावे, क्षीण हो, यदि वमन, भोजन में द्वेष हो, झाग मिश्रित रक्त का वमन करनेवाला, निर्बलस्वर एवं शूल से पीड़ित मनुष्य, हाथ-पाँव सूज गये हों—क्षीण, अन्न द्वेष करनेवाला, पिण्डलियाँ—कन्धे पाँव हाथ थक गये हों तथा ज्वर एवं कास से पीड़ित मनुष्य मर जाता है, जो कि पूर्वाह्न में खाये भोजन का अपराह्न में वमन कर देता है, बिना पचा भोजन जिसका अतिसार में बाहर आता है, ये असाध्य हैं। ज्वर एवं कास से पीड़ित व्यक्ति श्वास रोग से मरता है।

कसाई से मारा गया बकरा जिस प्रकार भूमि पर गिरते समय शब्द करता है, उस प्रकार का शब्द करनेवाला मनुष्य असाध्य है। जिसके अण्डकोष स्थान से स्खलित हो जायें या जिसका शिश्न स्तब्ध हो, जिसकी ग्रीवा गिर गई अथवा जिसका शिश्न अन्दर को घुस गया, वह मनुष्य असाध्य है।

स्नान एवं लेप आदि करने पर जिस मनुष्य का शरीर तो गीला हो और हृदय प्रथम शुष्क होने लगता है, वह (पन्द्रह दिन में) मर जाता है और जो पुरुष मिट्टी के ढेले से मिट्टी के ढेले को, लकड़ी से लकड़ी को मारता है, तिनकों को तोड़ता रहता है, निचले ओठ को काटता रहता है, ऊपर के ओठ को चाटता है, कानों को या बालों को खींचता रहता है; देवता-ब्राह्मण, गुरु, मित्र एवं वैद्य से जो द्वेष रखता है वह एक साल में मर जाता है। जिसके ग्रह पूर्वभुक्त राशि पर पुनः आ जाते हैं—वे वक्र ग्रह होते हैं, वक्र एवं अनुवक्र ग्रह जिस पुरुष के गर्हित स्थान पर आकर पीड़ा उत्पन्न करते हैं[1]। जिसके जन्म-

१ चरक में भी कहा है—
धमनीनाममूर्धाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षड्भिर्मासैर्मरिष्यति ॥
बिम्बीविद्रुमवर्णाभा शक्रगोपप्रभाऽपि वा ।
नासावंशे भवेद् यस्य पिडका न स सिध्यति ॥
यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते ।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥

१. ग्रह-गति—
"वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा ।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥"
१२ स्थान भावों के नाम—
"लग्नं धनं सोदरश्च बन्धुः पुत्रो रिपुस्तथा ।

नक्षत्र उल्का, अशनि द्वारा नष्ट होता है, जिसकी होरा (जन्म-राशि) उल्का-अशनि-तेजःपुञ्ज से नष्ट होता हो, या घर, स्त्री, शय्या, आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न, उपकरणों (घट-पिठर आदि) के निन्दित लक्षणोंका प्रादुर्भाव होते हों वह असाध्य है

वि० मन्तव्य—निन्दित लक्षणोंवाले—गृह दारा आदि के प्रभाव से भी स्वामी की मृत्यु हो जाती है ॥ ४॥

भवन्ति चात्र—

चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते ।
प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद् गतायुषः ॥ ५ ॥
निवर्तते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः ।
न चाहारफलं यस्य दृश्यते स विनश्यति ॥ ६ ॥

कहा भी है—

जो रोग भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी बढ़ता ही जाता हो, रोगी का बल (उत्साह) और मांस निरन्तर क्षीण हो रहा हो तो ये लक्षण मरणासन्न रोगी के हैं, जिस पुरुष के महारोग (वातव्याधि, प्रमेह आदि आठ) सहसा अच्छे हो जाते हैं, और भोजन का कुछ भी फल शरीर में दिखाई न देता हो तो वह मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ ५,६ ॥

एतान्यरिष्टरूपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिषक् ।
साध्यासाध्यपरीक्षाणां स राज्ञः संमतो भवेत् ॥ ७ ॥

जो वैद्य अरिष्ट लक्षणों को भली प्रकार से जानता है, वह साध्य असाध्य रोग की परीक्षा में राजा से प्रशंसित होता है—राजा इसकी सराहना करते हैं ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वर्णित अरिष्टों को सम्यक् जानने के लिये—वा० शा० अ० ५ तथा चरक इन्द्रिय स्थान समस्त देखिये ॥ ७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने स्वभावविप्रतिपत्ति-
र्नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

———

भार्य्या च निधनं धर्मः कर्म चायो व्ययस्तथा ॥"

१. अनिष्ट-निमित्त—

घर का गुम्वज गिरना, स्त्रियों का पशु आदि करना, हंसती-गाती चार-पाँच कन्याओं का युगपत् पैदा होना, खट्वा और आसन का सहसा गिरना-नष्ट होना, यान की ध्वजा पर कौवे आदि का गिरना, वाहन (पशु आदि) का रोना, मणिरत्न आदिका निष्प्रभ होना ।

विस्तार के लिये—महाभारत के भीष्म-विराट् पर्व देखने चाहिए ।

"नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ।
वामार्च्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम् ॥"

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽवारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब 'अवारणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था । आयुर्वेद में असाध्य रोगों की पहिचान चार प्रकार की बताई है। यथा—काल, स्वभाव, रिष्ट और उपद्रव । इनमें काल-स्वभाव का संक्षेप में वर्णन करके भी आगे करेंगे, रिष्ट लक्षण कह दिये, अतः अब उपद्रवों के लक्षणों को कहते हैं ।

वि० मन्तव्य—जिन उपद्रव-लक्षणों के उत्पन्न होने पर मृत्यु का निवारण (निरोध) नहीं किया जा सकता ॥ १,२ ॥

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवार्यताम् ।
रसायनाद्विना वत्स ! तान् शृण्वेकमना मम ॥ ३ ॥

हे वत्स सुश्रुत ! उपद्रवों से युक्त जो रोग रसायन के बिना स्वस्थ नहीं होते उन रोगों का नामसंकीर्त्तन एकमन से सुनो[1]।

वि० मन्तव्य—केवल रसायन सेवन से जिनका निवारण (निराकरण या निरोध) हो सकता है । केवल व्याधि विपरीत चिकित्सा से निवारण नहीं होता । रसायन सेवन से प्रशस्त-विशुद्ध रस, रक्त एवं मांस आदि धातुओं का लाभ (उत्पत्ति एवं वृद्धि) होता है, फलतः बल लाभ होता है "बलाधिष्ठानम् आरोग्यम्" के अनुसार आरोग्य लाभ हो जाता है । और रस अर्थात् पारदवाले औषध भी रसायन कहे जाते हैं । उनके लिये रस-शास्त्रों में कहा है कि अन्य सब औषधियाँ साध्य रोगों में लाभ करती हैं, परन्तु—'असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते ।' पारद का प्रयोग असाध्य रोगों पर भी किया जा सकता है, अतः वह अन्य औषधियों से श्रेष्ठ है । यथा—सन्निपात ज्वर में विहित मांसरस, शोथ में दुग्ध, ग्रहणी रोग में तक्र, दधि एवं दूध, यक्ष्मा में अजामांस आदि का प्रयोग और साथमें मकरध्वज, स्वर्ण पर्पटी आदि पर्पटी, तथा वसन्त मालती आदि का प्रयोग ॥ ३ ॥

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम् ।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥ ४ ॥

———

१. उपद्रव का लक्षण—

यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः ॥

२. उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः ।

अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः।

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ और उदर ये—आठ महा रोग हैं। ये आठों रोग प्रकृति से ही कष्टसाध्य हैं ॥४॥

प्राणमांसक्षयः शोषस्तृष्णा च्छर्दिर्ज्वरस्तथा ॥५॥
अतीसारश्च मूर्च्छा च हिक्का श्वासस्तथैव च।
एतैरुपद्रवैर्जुष्टान् सर्वानेव विवर्जयेत् ॥६॥

प्राण एवं मांस से क्षीण रोगी को जब श्वास, तृष्णा, शोष, वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, अथवा हिक्का रोग होता है, अथवा इनमें से कोई तीन रोग उपद्रव रूप हों तो—सफलता चाहनेवाले वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे ॥५,६॥

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम्।
नरं रुजार्तमन्तश्च वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥७॥

वातव्याधि में—शोथादि उपद्रवयुक्त पुरुष को वातव्याधि नष्ट कर देती है। इसी प्रकार—सुप्त त्वचा (स्पर्श-ज्ञानशून्य) भग्न (वायु के कारण टूटे), कम्प एवं आध्मान से पीड़ित, गम्भीर वेदना से व्याकुल पुरुष को वातव्याधि नष्ट कर देती है ॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव वा।
पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥८॥

यथोक्त उपद्रवों (कफ-जन्य मेहों में—मक्षिका उपसर्पण, पित्तजन्य में-वृषणावदारण, वातजन्य में हृद्ग्रह आदि) से युक्त, तथा-प्रतिदिन मूत्र का अतिस्राव करनेवाला शराविका-कच्छपिका आदि पिड़काओं से विशेष रूप में पीड़ित मनुष्य प्रमेहरोग से मरता है। उपद्रव-तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्या-रोचकाविपाकाः ॥८॥

प्रभिन्नप्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हयस्वरम्।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥९॥

प्रभिन्न (विदीर्ण अङ्गोंवाले), प्रस्रुत (जिन अङ्गों से स्राव बहता हो), लाल आँखोंवाले, जिसका स्वर नष्ट हो गया हो, जिस कुष्ठ रोगी में-वमन, विरेचन, रक्तावसेचन और शिरो-विरेचन—ये पंचकर्म फल न करें (अथवा-पंचम धातु अस्थि में स्थित कुष्ठ पर जब संशोधन, संशमन, गुग्गुलु आदि चिकित्सा लाभ नहीं करती) तो रोगी को कुष्ठ रोग नष्ट करता है ॥९॥

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्।
शोफातीसारसंयुक्तमर्शोव्याधिर्विनाशयेत् ॥१०॥

अर्शरोग—तृष्णा, अरुचि तथा शूल से पीड़ित तथा जिसका रक्त बहुत बहता हो, शोफ एवं अतिसार से युक्त रोगी को अर्श रोग नष्ट करता है ॥१०॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च।
भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥११॥

जिस भगन्दर रोगी के भगन्दर से वायु-मूत्र-मल-कृमि एवं शुक्र बहता है, वह रोगी नष्ट हो जाता है ॥११॥

प्रशूननाभिवृषणं रुद्धमूत्रं रुगन्वितम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥१२॥

जिस रोगी की नाभि एवं वृषण सूज गये हों, मूत्र के रुकने से तीव्र वेदना हो रही हो, उसको सिकतामेह, शर्करारोग एवं अश्मरीरोग नष्ट कर देता है। (कई इसका अर्थ—शर्करा से मिश्रित बालुका के समान अश्मरी रोग नष्ट करते हैं) ॥१२॥

गर्भकोषपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः।
हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१३॥

मूढगर्भ रोग में—गर्भाशय का जोर से बन्द हो जाना (या गर्भाशय का स्थान भ्रंश होकर बन्द होना), मक्कल्ल—(गर्भाशय में—प्रसवोत्तर-रक्त के रुक जाने से उत्पन्न वेदनायें), और योनि का संकुचित होना तथा मूढ़गर्भ में कहे कास-आक्षेप-श्वास आदि उपद्रवों का होना स्त्री को मार देता है ॥

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीडितम्।
विरिक्तं पूर्यमाणं च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥१४॥

उदररोग से पीड़ित रोगी को यदि पार्श्व भंग (पखवाड़ों का टूटना), भोजन में द्वेष, सूजन, अतिसार हो तथा विरेचन-द्रव्यों से बार बार रिक्त होने पर भी फिर उदर भर जाता हो तो वह उदररोगी असाध्य है ॥१४॥

यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ॥१५॥
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान्।
नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥१६॥
हिक्काश्वासपिपासार्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्।
संततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥१७॥
आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च।
क्षीणशोणितमांसं च नरं नाशयति ज्वरः ॥१८॥

ज्वर—जो रोगी बार-बार मूर्च्छित हो जाता है, संज्ञा-रहित हो जाता है, गिरते समय संज्ञारहित हो जाता है, बाहर शीत से पीड़ित और अन्दर से उष्ण, इस प्रकार का रोगी ज्वर से मरता है। जिसके शरीर पर रोमांच होता हो, आँखें लाल हों, हृदय में तीव्र वेदना (पत्थर की चोट के समान) होती हो, मुख को ऊँचा उठाकर खोलकर श्वास लेता हो—वह रोगी ज्वर से मरता है। हिचकी-श्वास तथा पिपासा से पीड़ित मूढ (मोह युक्त), जिसके नेत्र लगातार इधर-उधर चलते-फिरते हैं (अस्थिर दृष्टि), निरन्तर ऊर्ध्वश्वास लेनेवाले रोगी को ज्वर तत्क्षण मार देता है। जिस रोगी की आँखें गदराई हों, मोहयुक्त रहता हो, रात दिन नींद में पड़ा रहता हो, रक्त और मांस क्षीण हो गया हो—ऐसे रोगी को ज्वर नष्ट कर देता है ॥

श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१९॥

श्वास, शूल, पिपासा, साँस से क्षीण, ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को अतिसार एवं प्रवाहिका (पेचिश) नष्ट कर देते हैं ॥

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥२०॥

आँखें श्वेत हो गई हों, भोजन में द्वेष हो, ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित हो, कष्टपूर्वक मात्रा में बहुत मूत्र का क्षरण करता हो (अतिशय मूत्र उत्पन्न होने से—मांस-रक्त का क्षय होता है) वह रोगी यक्ष्मा रोग से मरता है ॥२०॥

श्वासशूलपिपासान्नविद्वेषग्रन्थिमूढतः ।
भवन्ति दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः ॥२१॥

गुल्म रोग से मरनेवाले रोगी में—श्वास, शूल, प्यास, भोजन में द्वेष, गुल्म का सहसा लीन हो जाना, तथा दुर्बलत्व उत्पन्न हो जाता है ॥२१॥

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृडन्वितम् ।
रुजाश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२२॥

आध्मान से युक्त, मल मूत्र-पूय आदि का अवरोध, वमन, हिचकी, प्यास, श्वासरोग से पीड़ित व्यक्ति को विद्रधि (अन्तर्विद्रधि) नष्ट कर देती है ॥२२॥

पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः ।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥२३॥

जिस पाण्डुरोगी के दाँत नख पीले पड़ गये हों, आँखें पीली हो गई हों, सब द्रव्य श्वेत-पीले दिखाई देते हों, वह पाण्डुरोगी नष्ट हो जाता है ॥२३॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
रक्तानां च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥२४॥

जो रक्तपित्त रोगी बार-बार रक्त का वमन करता है, जिस की आँखें लाल हो गई हों, दिशाओं में चारों ओर लाल-लाल ही रङ्ग देखता हो, वह रक्तपित्त रोगी नष्ट हो जाता है ॥२४॥

अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः ।
जागरिष्णुरसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥२५॥

जिस उन्माद रोगी का मुख सदा नीचे रहता है, अथवा सदा ऊपर उठा रहता हो, मांस एवं शक्ति (उत्साह) क्षीण हो गई हो, निरन्तर जागता रहता हो, वह उन्मादरोगी निःसन्देह नष्ट होता है ॥२५॥

बहुशोऽपस्मरन्तं तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम् ।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥२६॥

जिस रोगी को बार-बार अपस्मार का वेग आता है, मांस एवं शक्ति क्षीण हो जाये, भ्रवें तिरछी हो जायें, आँखों से तिरछा (विकृत रूप) देखता हो, वह अपस्मारी मर जाता है ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽवारणीयो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'युक्तसेनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1]।

वि० मन्तव्य—'युक्ता सज्जीकृता सेना येन स युक्तसेनः तस्मै हितो युक्तसेनीयः तम्' अर्थात् जब सेना को तैयार करके राजा या सेनापति विजय के लिये चलता है तब उसकी रक्षा के जो उपाय करने चाहिये वे इस अध्याय में कहे हैं। सेना के साथ चिकित्सकों का रहना आवश्यक है ॥१,२॥

नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषतः ।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥३॥
विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः ।
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥४॥

चतुरङ्ग बलवाले राजा की, शत्रुओं को पराजित करने के लिये जाते समय जिस प्रकार से वैद्य को रक्षा करनी चाहिये, वह कहते हैं। जीतने की इच्छा से अमात्य आदि पुरुषों के साथ राजा जब यात्रा करता है, तब वैद्य को चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक आगन्तुक मृत्युओं से, खासकर—स्थावर जङ्गम एवं कृत्रिम विषों से इनकी रक्षा करे ॥३,४॥

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।
दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा ॥५॥
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रवक्ष्यते ।

शत्रु लोग रास्तों (घोड़े आदि के) को, पानी को, छाया को, भक्त (भोजन) को, यवस (घोड़े आदि के तृण आदि) को, इन्धन को दूषित कर देते हैं, इस लिये वैद्य को चाहिये कि इनकी परीक्षा करके शोधन करे। इसके लक्षण और चिकित्सा को कल्पस्थान में कहेंगे ॥५॥

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते ॥६॥
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषा आगन्तवः स्मृताः ।

---

१ 'युक्तसेनीयं'—सेना—चतुरंग बल, जिसकी सेना संग्राम के लिये नियुक्त है, ऐसे राजा की रक्षा का उपाय कहते हैं। क्योंकि आगे कल्पस्थान में कहेंगे कि "राज्ञोऽरिदेशे रिपवः प्रमादात्" इत्यादि। शत्रु के देश में शत्रु तृण-धूल-पानी-वायु को दूषित कर देते हैं। अतः वैद्य को चाहिये इनसे राजा की रक्षा करे।

अथर्ववेद को जाननेवाले व्यक्ति कहते हैं कि मृत्यु एक सौ एक हैं, वहाँ एक कालमृत्यु है, शेष सौ मृत्यु आगन्तुज (अकाल) मृत्यु हैं [1]।

वि० मन्तव्य—१०१ प्राणियों में किसी एक प्राणी की कालमृत्यु होती है और १०० प्राणियों की रोग, विष, दुर्घटना तथा आत्महत्या आदि से मृत्यु हो जाती है, यथा—गाड़ी—कोई पुरानी होकर टूटती है तो कोई अन्यान्यकारणों से (वाह्य वाहक दोष से अथवा मार्ग दोष आदि से) पुरानी होने के पूर्व ही टूट जाती है। शरीर भी एक प्रकार की गाड़ी है। अकाल मृत्यु का अच्छा नाम है अपमृत्यु। शत का अर्थ भी केवल सौ नहीं, अपितु सैकड़ों-असंख्य है ॥ ६ ॥

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्तौ वैद्यपुरोहितौ ॥ ७ ॥

रसशास्त्र (Chemistry रसायनशास्त्र) चतुर वैद्य एवं मन्त्रशास्त्र में दक्ष पुरोहित दोषों (वातादि) से एवं आगन्तुज (विष चोट) आदि मृत्युओं से राजा की यत्न पूर्वक रक्षा करें।

ब्रह्मा वेदाङ्गमष्टाङ्गमायुर्वेदमभाषत ।
पुरोहितमते तस्माद्वर्तेत भिषगात्मवान् ॥ ८ ॥

वैद्य—वेदों के उपांग आयुर्वेद को पढ़ता है, और पुरोहित वेदों को पढ़ता है। ब्रह्मा ने वेदों के उपांग-अष्टांगवाले आयुर्वेद को कहा था—वैद्य उसको पढ़ता है। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि सदा पुरोहित की आज्ञा-सम्मति में रहकर कार्य करें, पुरोहित—वैद्य से श्रेष्ठ है।

वि० मन्तव्य—परन्तु वैद्य स्वयं भी आत्मवान् रहे अर्थात् अपने को प्रशस्त बनाये रहे, अपने विचार आदि का दृढ़तापूर्वक उपयोग-प्रयोग करता रहे। पुरोहित दैवव्यपाश्रय है और वैद्य युक्तिव्यपाश्रय होकर चिकित्सा तत्परता से करता रहे ॥८॥

संकरः सर्ववर्णानां प्रणाशो धर्मकर्मणाम् ।
प्रजानामपि चोच्छित्तिर्नृपव्यसनहेतुतः ॥ ९ ॥

राजा के व्यसनों में फँसने के कारण—ब्राह्मण आदि वर्णों का संकर (एकत्व) उत्पन्न होता है सब ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम नष्ट हो जाते हैं सब ब्राह्मण आदि सब वर्णों के धर्मकार्य बिगड़ जाते हैं, प्रजाओं के कृषि-पशुपालन-वाणिज्य आदि कार्यों का नाश हो जाता है।

वि० मन्तव्य—राजा मद्यपान आदि व्यसनों से स्वयं सत्त्वावजय (मन पर विजय) से अपनी रक्षा करता रहे ॥

पुरुषाणां नृपाणां च केवलं तुल्यमूर्तिता ।
आज्ञा त्यागः क्षमा धैर्यं विक्रमश्चाप्यमानुषः ॥ १० ॥
तस्माद्देवमिवाभीक्ष्णं वाङ्मनःकर्मभिः शुभैः ।
चिन्तयेन्नृपतिं वैद्यः श्रेयांसीच्छन् विचक्षणः ॥ ११ ॥

राजाओं एवं अन्य पुरुषों में केवल आकृति की समानता होती है। राजाओं में—आज्ञा, त्याग, क्षमा, धैर्य और विक्रम ये दैवीगुण रहते दैवीगुण रहते हैं। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि कल्याण की इच्छा से शुभ वाणी, शुभ मन एवं शुभ कार्यों से देवता के समान-सदा राजा की चिन्ता करे ॥

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम् ।
भवेत्सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः ॥ १२ ॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम् ।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः ॥ १३ ॥
स्वतन्त्रकुशलोऽन्येषु शास्त्रार्थेष्वबहिष्कृतः ।
वैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विद्यपूजितः ॥ १४ ॥

बड़े स्कन्धावार (शिविर—सेनानिवेश) में राजनिवास के समीप ही, शस्त्र, क्षार एवं औषध आदि उपकरणों से युक्त वैद्य का निवास हो। वहाँ पर ध्वज के समान यश एवं ख्याति से युक्त (सर्वजनविदित) रहते हुए वैद्य के पास, भूले भटके बिना विषपीड़ित (जख्मी या घायल) तथा रोगपीड़ित (रोगी) जन पहुँच जाते हैं। जो चिकित्सक—आयुर्वेद में कुशल (निपुण) होता है और ज्योतिष-कर्मकाण्ड आदि का भी थोड़ा बहुत जानकार (ज्ञाता) होता है और राजा तथा चिकित्सकों द्वारा सम्मानित होता है वह वैद्य ध्वज (राष्ट्रीय ध्वज) के समान शोभा पाता है—दूर से दिखाई पड़ता है। फलतः सब दुखिया उसके पास जा सकते हैं ॥१२-१४॥

१—मृत्यु दो प्रकार की है—एक कालमृत्यु और दूसरी अकालमृत्यु। क्योंकि दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं। यथा—कालमृत्यु के पक्ष में—

(१) नाकाले म्रियते कश्चित् नास्ति मृत्युरकालजः ।
यो यस्मिन् म्रियते काले मृत्युकालः स तस्य हि ॥
(२) नाकाले म्रियते कश्चिद् विद्धः शरशतैरपि ।
कालप्राप्तस्य कौन्तेय ! वज्रायन्ते तृणान्यपि ॥

अकालमृत्यु के पक्ष में—

(१) यथा वर्षमकाले च यथा पुष्पं यथा फलम् ।
यथा स्याद् दीपनिर्वाणमकाले मरणं तथा ॥
(२) जलमग्निर्विषं शस्त्रं स्त्रियो राजकुलानि च ।
अकालमृत्यवो ह्येते तेभ्यो बिभ्यति पण्डिताः ॥
(३) कालः सुरैरपि वञ्चयितुं न शक्यो
वक्ष्ये विधानमपमृत्युविनाशनाय ।
मृत्युर्भविष्यति कथंचन नापमृत्यु-
र्व्यर्थास्तदा चरकसुश्रुतवाग्भटाद्याः ॥
(४) विष्वग्वातादिभिर्यद्वद् दीपो वर्त्यादिसंयुतः ।
निर्वाप्यते क्षणाद्देहो तथैवागन्तुमृत्युभिः ॥

जिस प्रकार तेल और बत्ती से युक्त दीपक भी वायु के प्रबल झोंको से बुझ जाता है; उसी प्रकार आगन्तुज मृत्युओं के कारण मनुष्य मृत हो जाता है।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः ।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥ १५ ॥
गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक् ।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥ १६ ॥

चिकित्सा के चार पाद हैं—१—वैद्य, २—रोगी, ३—औषध (एवं उपकरण) तथा ४—परिचारक। यह चारों चिकित्सा की सफलता के हेतु (कारण) हैं।

निम्नलिखित गुणों से युक्त रोगी, औषध तथा परिचारक के साथ साथ निम्नलिखित गुणों से युक्त चौथा पाद अर्थात् वैद्य बड़े से बड़े रोग को भी थोड़े समय में सिद्ध कर लेता है-नष्ट कर देता है ॥ १५,१६ ॥

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः ।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥ १७ ॥

वैद्य के बिना तीनों पाद गुणवान् होने पर भी निरर्थक होते हैं, जिस प्रकार यज्ञ में यजुर्वेद-अध्यायी, अध्वर्यु उपाध्याय के बिना-उद्गाता, ब्रह्मा और होता तीनों व्यर्थ होते हैं ॥ १७ ॥

वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरं सदा ।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥ १८ ॥

एक गुणवान् वैद्य सदा रोगियों को रोगरूपी समुद्र के पार पहुँचा देता है। जिस प्रकार नौका का नेता चप्पु चलानेवाले पुरुषों के बिना भी नाव को समुद्र के किनारे ले जाता है ॥१८॥

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती ।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ १९ ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः ।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥ २० ॥

वैद्य के गुण—ठीक प्रकार शास्त्र पढ़ा हुआ, एवं ठीक प्रकार से शास्त्र का अर्थ समझा हुआ, छेदन स्नेहन आदि कर्मों को देखा तथा स्वयं किया हुआ, छेदन आदि शस्त्र-कार्यों में दक्ष हाथवाला, बाह्य एवं अन्दर से पवित्र (रज तम रहित), शूर (विषाद रहित), अग्रोपहरणीय अध्याय में वर्णित साज-सामान सहित, प्रत्युत्पन्नमति (उत्तम प्रतिभा-सूझ वाला), बुद्धिमान् व्यवसायी (उत्साही-न घबरानेवाला), विशारद (पण्डित), सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण होना—ये वैद्य के गुण हैं ॥ १९,२० ॥

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥२१॥

रोगी मनुष्य के गुण-आयुष्मान् (दीर्घायु), सत्त्ववान् (क्लेश सहनेवाला), साध्य (साध्य रोग से पीड़ित), द्रव्यवान् (धनी), आत्मवान् (अलोलुप-जितेन्द्रिय), आस्तिक (परलोक में, दान-यज्ञ में विश्वास रखनेवाला), वैद्य के वचनों को माननेवाला-रोगी उत्तम है ॥ २१ ॥

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ २२ ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ।
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥ २३ ॥

भेषज के गुण—उत्तम देश में उत्पन्न, प्रशस्त दिन में उखाड़ी गई, युक्तमात्र (युक्तप्रमाण), मन के प्रिय, गन्ध-वर्ण-रस से युक्त, दोषों को नष्ट करनेवाली, ग्लानि न उत्पन्न करनेवाली, विपरीत पड़ने पर भी स्वल्प विकार करनेवाली या विकार न करनेवाली, देशकाल आदि की विवेचना करके रोगी को समय पर दी गई औषध गुणकारी होती है ॥ २२,२३ ॥

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥ २४ ॥

परिचारक के गुण—स्निग्ध (प्रीतियुक्त), अजुगुप्सु (लोभ एवं निन्दा रहित), बलवान्, रोगी की रक्षा करने में संलग्न, वैद्य के वचन को बिना किसी ऊहापोह के माननेवाला, खेदरहित परिचारक प्रशस्त हैं ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने युक्तसेनीयो नाम
चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथात आतुरोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'आतुरोपक्रमणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम्; सत्यायुषि व्याध्यृत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत ॥ ३ ॥

रोगी की चिकित्सा करने से पूर्व वैद्य को रोगी की आयु की परीक्षा करनी चाहिये। आयु के शेष होने पर तो, व्याधि (साध्य असाध्य भेद से), ऋतु, अग्नि, वय, देह, बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, भेषज, देश आदि की परीक्षा करनी चाहिये ॥

तत्र महापाणिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुं, विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजंघामेढ्रग्रीवं, गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिम्, अनुच्चैर्बद्धस्तनम्, उपचितमहारोमशकर्णं, पश्चान्मस्तिष्कं, स्नातानुलिप्तं मूर्धानुपूर्व्या विशुष्यमाणशरीरं पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद्दीर्घायुः खल्वयमिति। तमेकान्तेनोपक्रमेत्। एभिर्लक्षणैर्विपरीतैरल्पायुः, मिश्रैर्मध्यमायुरिति ॥ ४ ॥

निम्न लक्षणोंवाला पुरुष दीर्घायु होता है—विशाल हाथ-पाँववाला, विशाल पार्श्ववाला, विशाल पीठ वाला,

विशाल स्तन, विशाल अग्रवाले—दशनोंवाला, विशाल चेहरा, विशाल स्कन्ध, 'विशाल ललाटवाला, दीर्घ-अंगुलियोंवाला, दीर्घ उच्छ्वास (श्वास), दीर्घ आँखोंवाला, दीर्घबाहु, विस्तीर्णभ्रू, विस्तीर्णस्तनान्तर, विस्तीर्णवक्षःस्थल, ह्रस्व जंघा, ह्रस्वमेढ़ू और ह्रस्वग्रीवा, गम्भीरसत्त्व (सत्त्व का प्राचुर्य), गम्भीरस्वर, गम्भीरनाभि, कुछ उठे निबिड़स्तन, मांस से भरे महान्-लोमवाले कर्ण, शिर के पिछले भाग में मस्तिष्क उन्नत होना, स्नान के पश्चात् चन्दन आदि का लेप करने पर पहिले माथे से प्रारम्भ होकर समस्त शरीर का लेप शुष्क हो, पीछे हृदय का लेप शुष्क होता हो, इन लक्षणोंवाले पुरुष को समझना चाहिये कि वह 'दीर्घायु' है। इस प्रकार के मनुष्य की बिना किसी सन्देह के (स्थिरचित्त से) चिकित्सा करनी चाहिये। इन लक्षणों से विपरीत लक्षणोंवाले पुरुष को 'स्वल्पायु' समझना चाहिये। मिले जुले लक्षणोंवाले को 'मध्यमायु' समझना चाहिये ॥४॥

भवति चात्र—

गूढ़सन्धिसिरास्नायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः।
उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ॥५॥
गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते।
शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः ॥६॥

जिस पुरुष की सन्धि, शिरा और स्नायु गूढ़ (छिपी) हैं, गठीले अंगोंवाला, अचलेन्द्रिय, उत्तरोत्तर सुक्षेत्र (पांव की अंगुलियाँ प्रथमक्षेत्र, जंघा और जानु दूसरा क्षेत्र, इस प्रकार से सिर दसवां क्षेत्र है, ये सब एक से एक अच्छा हो) वह पुरुष दीर्घायु होता है। जो पुरुष गर्भावस्था से ही नीरोग है, जिसमें शरीर, ज्ञान (तत्त्वावबोध), विज्ञान (चित्रकर्म कौशल) गुण धीरे-धीरे बढ़ते हैं, वह संक्षेप में दीघायु होता है[1]।

वि० मन्तव्य—उत्तरोत्तर सुक्षेत्र—उत्तरोत्तर दीर्घायुवालों के वंश में उत्पन्न—जिसके माँ-बाप, दादा-दादी, नाना-नानी आदि पूर्वज दीर्घायु रहे हों वह। उत्तरोत्तर सुष्ठु है क्षेत्र-उत्पत्ति स्थान जिसका वह ॥५,६॥

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे।
अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः ॥७॥
द्वे वा तिस्रोऽधिका वाऽपि पादौ कर्णौ च मांसलौ।
नासाग्रमूर्ध्वं च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ॥८॥
यस्य स्युस्तस्य परममायुर्भवति सप्ततिः।

मध्यमायु पुरुष के लक्षण कहते हैं—जिसकी आँखों[1] के नीचे दो या तीन अथवा इससे अधिक लम्बी रेखायें स्पष्ट होती हैं, पांव एवं कान मांस से भरे होते हैं, नासा का अग्रभाग ऊपर को उन्नत हो, पीठ में ऊपर को रेखायें हों, तो इस प्रकार के पुरुष को मध्यमायु समझना चाहिये। इसकी आयु सत्तर वर्ष से ऊपर नहीं होती ॥७,८॥

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥९॥
ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्।
तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥१०॥
ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः।
हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदृश्यते।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम् ॥११॥

इसके आगे जघन्य आयु के लक्षणों को कहते हैं। अंगुलियों के पर्व छोटे हों और शिश्न बड़ा हो वक्षःस्थल अन्दर को दबा हो[2]। पीठ विशाल न हो, जिसके कान अपने स्थान से ऊँचाई पर हों तथा नासिका भी ऊँचाई पर होती है, हंसते बात करते समय जिस पुरुष के मसूड़े दिखाई देते हैं, जो कि चञ्चल दृष्टि से इधर उधर देखता है, वह ह्रस्व आयु, अधिक से अधिक २५ वर्ष तक जीता है ॥९-११॥

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः। तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्थिबाहुशिरांसि, तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति। तत्र, स्वैरङ्गुलैः पदाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ द्व्यंगुलायते; प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानाभिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः; चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले; पञ्चचतुरङ्गुलायतविस्तृता पार्ष्णिः; चतुर्दशाङ्गुलायतः पादः; चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजंघाजानुमध्यानि; अष्टदशाङ्गुला जङ्घा, जानूपरिष्टाच्च द्वात्रिंशदङ्गुलम्, एते पञ्चाशत्; जङ्घायामसमावूरू; द्व्यङ्गुलानि वृषणचिबुकदशननासापुटभागकर्णमूलभ्रूनयनान्तराणि; चतुरङ्गुलानि मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्ट्यन्तराणि; द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिबन्ध-प्रकोष्ठस्थौल्यानि; इन्द्रबस्तिपरिणाहांसपीठकूर्परान्तरायामः षोडशाङ्गुलः; चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः; द्वात्रिंशाङ्गुलपरिमाणौ भुजौ, द्वात्रिंशत्परिणाहावूरू, मणिबन्धकूर्परान्तरं षोडशाङ्गुलं, तलं षट्चतुरङ्गुलायामविस्तारम्, अङ्गुष्ठमूलप्रदेशिनीश्रवणापाङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चाङ्गुले,

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'उत्तरोत्तर सुक्षेत्र' का अर्थ—कौमारावस्था से यौवनावस्था—यौवनावस्था से तरुणावस्था—इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता गिनी है। ज्ञान-विज्ञान शरीर का धीरे २ बढ़ना श्रेष्ठ है। क्योंकि—

"व्यञ्जनादि शुभा विद्या मेदोमेधादयो दश।
अल्पे वयसि यस्तैतन्न स जीवेत् कदाचन ॥"

१ 'अक्षयोः' शब्द का अर्थ डल्हण ने अक्षकास्थि किया है। अक्षकास्थि के नीचे रेखायें यह अर्थ उतना संगत नहीं।

२ 'अवलीढ़ानि' शब्दका अर्थ डल्हण ने आवर्त्तभेद (प्रतिलोम-अनुलोम) किया है।

अर्धपञ्चांगुले प्रदेशिन्यनामिके, सार्धत्र्यंगुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ, चतुर्विंशतिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवं, त्रिभागांगुलविस्तारा नासापुटमर्यादा, नयनत्रिभागपरिणाहा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिः, केशान्तमस्तकान्तमेकादशांगुलं, मस्तकादवटुकेशान्तो दशांगुलः, कर्णावटून्तरं चतुर्दशांगुलं, पुरुषोरःप्रमाणविस्तीर्णा स्त्रीश्रोणिः, अष्टादशांगुलविस्तारमुरः, तत्प्रमाणा पुरुषस्य कटी, सविंशमंगुलशतं पुरुषायाम इति ॥१२॥

इसके आगे आयु के विज्ञान के लिये अङ्गप्रत्यंगों का ज्ञान, प्रमाण, एवं सारों को कहते हैं। अङ्ग–अन्तराधि—(मध्यकाय या धड़), दोनों बाहु एवं दोनों जंघा और सिर ये ६ अङ्ग हैं। इन अङ्गों के अवयवों को प्रत्यङ्ग कहते हैं। इन प्रत्यङ्गों में—पांव का अंगूठा एवं पांव की प्रदेशिनी अंगुलि—दो अंगुल लम्बी (अपनी अंगुलियों से), प्रदेशिनी से मध्यमांगुलि १।५ भाग, मध्यमांगुलि से अनामिका १।५ भाग, अनामिका से कनिष्ठिका १।५ भाग छोटी; पांव का तलुवा चार अंगुल लम्बा और पाँच अंगुल चौड़ा, पार्ष्णि (एड़ी) पाँच अंगुल लम्बी चार अंगुल चौड़ी; पाँव चौदह अंगुल लम्बा, पाँवगुल्फ, जंघा एवं जानु का मध्य स्थान चौदह अंगुल गोल, जंघा अठारह अंगुल लम्बी घुटने के ऊपर बत्तीस अंगुल–इस प्रकार से कुल पचास अंगुल, जंघा के समान दीर्घ ऊरू, अण्डकोष, ठोडी, दांत, नासापुट (नथने), कर्णमूल और कानों तथा भौं एवं नेत्र का अन्तर दो अंगुल, अनुत्तेजित शिश्न, खुला मुख नाक, कान-ललाट ग्रीवा, आँखों का मध्य भाग चार अंगुल, योनिच्छिद्र की गहराई बारह अंगुल (हस्तिनी जाति की स्त्री में); मेहननाभि का अन्तर, हृदय एवं ग्रीवा का अन्तर, दोनों स्तनों का अन्तर, चेहरे की लम्बाई, मणिबन्ध (कलाई) की गोलाई, प्रकोष्ठ भाग बारह अंगुल, इन्द्रवस्ति (जंघा का मध्य भाग) की गोलाई, अंसपीठ एवं कोहनी का मध्य भाग सोलह अंगुल, लम्बाई तथा गोलाई हाथ चौबीस अंगुल, भुजायें बत्तीस अंगुल, ऊरु बत्तीस अंगुल गोलाई में, मणिबन्ध और कोहनी के बीच का अन्तर सोलह अंगुल, हाथ का तलुवा छै अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा, अंगुष्ठ एवं प्रदेशिनी का अन्तर, कान और नेत्र कोणों का अन्तर और मध्यमांगुलि पाँच अंगुल, प्रदेशिनी और अनामिका ४॥ अंगुल, कनिष्ठा और अंगुष्ठ—साढ़े तीन अंगुल, मुख की लम्बाई चार अंगुल और ग्रीवा की गोलाई बीस अंगुल, नासापुट की मर्यादा १।३ अंगुल, आँख की कृष्ण मण्डल या तारक–आँख का १।३ भाग, दृष्टि—तारक का १।६ भाग, बालों की जड़, शङ्ख प्रदेश के एवं मस्तक (चोटी) के स्थान के बीच का भाग ग्यारह अंगुल, मस्तक से ग्रीवा के बालों की जड़ का मध्यभाग दस अंगुल, कान एवं ग्रीवा के पिछले भाग का अन्तर चौदह अंगुल, पुरुष के उर के बराबर (बारह अंगुल) स्त्री का श्रोणिफलक, स्त्री का उरःस्थल अठारह अंगुल चौड़ा, पुरुष की कटि अठारह अंगुल, पुरुष की सम्पूर्ण लम्बाई एक सौ बीस अंगुल है।

वि० मन्तव्य—मेहन–पुरुष के स्वाभाविक लिंग का बाह्यभाग। नाभि और हृदय का अन्तर १२ अंगुल। चतुर्विंशति–अंगुलो हस्तः—कूर्पर से मध्यमांगुलि के अन्त तक २४ अंगुल लम्बा हस्त—हाथ। नयन""""दृष्टिः—नेत्र गोलक (नयनबुद्बुद) का तिहाई भाग तारक (कृष्णमण्डल) हो, और तारक का नौवाँ भाग दृष्टि हो। उत्तर तन्त्र अ० १ के श्लोक १३ के अनुसार मण्डल का सातवाँ भाग दृष्टि होती है। तात्पर्य है दीर्घायु की दृष्टि नौवाँ भाग और अन्यों की सातवाँ भाग होती है। या सर्वसाधारण की सातवाँ भाग होती है। आयत (लम्बा) आयाम (लम्बाई), परिणाह तथा परिक्षेप (मोटाई), गोलाई या घेरा, विस्तार (चौड़ाई)। अन्तर (दूरी) ॥१२॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१३॥

यह उपर्युक्त प्रमाण युवावस्था में ही होता है, थोड़ी आयु में नहीं। क्योंकि—पचीस वर्ष में पुरुष और सोलह वर्ष की आयु में स्त्री, रसादि धातुओं से परिपूर्ण होते हैं। यह बात कुशल वैद्य को भली प्रकार जान लेनी चाहिये[1] ॥१३॥

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः।
युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना ॥१४॥
दीर्घमायुरवाप्नोति वित्तं च महदृच्छति।
मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम् ॥१५॥

शरीर का यह उपर्युक्त मान—मनुष्य की अपनी ही अंगुलियों से समझना चाहिये। यदि इस परिमाण से पुरुष या स्त्री युक्त हो तो वह दीर्घायु एवं बहुत धन को प्राप्त करता है। मध्यम लक्षणोंवाला पुरुष मध्यमआयु, मध्यमवित्त प्राप्त करता है, हीन लक्षणोंवाला, हीन आयु और हीन वित्त प्राप्त करता है ॥१४,१५॥

अथ सारान् वक्ष्यामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्; स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण; अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा;

१ कहा भी है—
"वर्षेऽथ पंचविंशे नरः समन्वितबलः षोडशे नारी।
अर्हति मानोन्मानं जीवितभागे चतुर्थे वा॥"

महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः; स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा; अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितं च मांसेन; स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन; सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति ॥ १६ ॥

इसके आगे सारों को कहते हैं—सत्त्वसार—स्मृति (स्मरण), भक्ति (श्रद्धा), प्रज्ञा (बुद्धि), शौच (पवित्रता), शौर्य (सब कार्यों में अनालस्य) से युक्त, कल्याण विषय में तत्पर (यत्नपर) को सत्त्वसार समझना चाहिये। स्निग्ध—परस्पर मिले एवं श्वेत अस्थि, दांत एवं नखों से युक्त, बहुत काम युक्त, बहुत प्रजायुक्त मनुष्य शुक्रसार युक्त होता है। स्थूल, उत्तमबलयुक्त, स्निग्ध एवं गम्भीर स्वरयुक्त- सौभाग्ययुक्त, विशाल नेत्रवाला पुरुष मज्जासारवाला होता है, महान् सिर, महान् स्कन्ध; मजबूत दांतों, हन्वस्थि, नखवाला, अस्थिसार, स्निग्ध मूत्र, स्वेद एवं स्वरवाला, बड़े शरीरवाला, परिश्रम को न सहन करनेवाला मेद से युक्त होता है। कहीं शरीर दबा (छिद्रयुक्त) न हो, अस्थि एवं सन्धियाँ गूढ़ हों, मांस से भरा शरीर मांससारवाला है। आँख, नख, तालु, जिह्वा, ओंठ, हाथ, पांव के तालुओं का लाल एवं चिकना होना रक्तसार का लक्षण है। त्वचा एवं रोमों का स्वच्छ एवं कोमल होना त्वचा का सार है। इनमें पूर्व-पूर्व सार (त्वचा से रक्तसार, रक्त से मांससार इस प्रकार से) आयु एवं कल्याण के लिये मुख्य है।

वि० मन्तव्य—सारों की व्याख्या चरक वि० अ० ८ में बहुत विशद एवं स्पष्ट है। पाठक अवश्य देखें। वहाँ यह भी लिखा है कि—सब (आठों) सारों से युक्त मानव—अत्यन्त बलवान्, महान्, क्लेश सहनेवाला, सभी कार्यों को करने में अपने को समर्थ समझनेवाला, भले कार्यों में तत्पर, स्थिर एवं ग्रथित शरीरवाला, सुन्दर एवं सावधान गतिवाला, अनुनाद युक्त, स्निग्ध, गम्भीर एवं महान् स्वरवाला, सुख, ऐश्वर्य, सुखभोग तथा सम्मान का भागी (भोक्ता) होता है और उसका बुढ़ापा मन्द (थोड़ा) तथा रोग भी मन्द होता है अपने समान गुणवाली सन्तान (पुत्र पौत्र आदि) वाला होता है तथा चिरजीवी होता है। उक्त सत्त्व (मनस्) आदि सार देखकर आयु का बहुत कुछ पता लग जाता है। सार का अर्थ है स्थिर अंश, जैसे काष्ठ में मध्य काष्ठ सार होता है उक्त सत्त्व आदि जितने अधिक उत्कृष्ट होते हैं उनके अनुसार वे सार कहे जाते हैं, यथा प्रबल सत्त्ववाला "सत्त्वसार" प्रबल शुक्रवाला "शुक्रसार" आदि-आदि ॥ १६ ॥

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु ॥ १७ ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों के प्रमाण द्वारा तथा सार द्वारा आयु की परीक्षा करके जो वैद्य चिकित्सा कर्म करता है, वह कार्य में सफल होता है।

वि० मन्तव्य—चरक ने एड़ी (पार्ष्णि) के पश्चात्-भाग से शिर के शिखा स्थान पर्यन्त उचित परिमाणवाले मानव की लम्बाई ८४ अंगुल मानी है और वह उचित भी है, क्योंकि ३॥ हाथ-८४ अंगुल का पुरुष माना जाता है। १ हाथ २४ अंगुल का और ३॥ हाथ—८४ अंगुल का होता है और सुश्रुत ने—पाँव की मध्यमा—अंगुली से ऊपर को बाहु उठाये पुरुष की लम्बाई १२० अंगुलमानी है, जिसको "पुरुसा" कहते हैं, वह भी उचित ही है, क्योंकि १४ अंगुल का पाँव (पाद) होता है और ऊपर हाथ उठाने से ३० ३० अंगुल लम्बाई बढ़ जाती है। परन्तु—सुश्रुत ने-पार्ष्णि में १, मेहन नाभि के अन्तर में २ और शिर के मान में ५ अङ्गुल अधिक माने हैं। यदि ४४ में से ८ निकाल दें तो ३६ रह जाते हैं और यदि १२० में से ३६ निकाल दें तो ८४ रह जाते हैं और चरक में एकवाक्य और पाया जाता है वह है-"तत् आयामविस्तारसमं समुच्यते" अर्थात् वह शरीर आयाम (लम्बाई-दैर्घ्य) में तथा विस्तार (चौड़ाई बाहु पसारे) में सम-समान सम्-समीचीन उच्यते कहा जाता है। इस प्रकार ९६ अङ्गुल=४ हाथ (६ फूट) लम्बा शरीर भी समीचीन-उत्तम होता है। हमारा विचार है कि चरक ने ८४ तथा ९६ अङ्गुल की अथवा इसके बीच की लम्बाई उत्तम मानी है। इस लम्बाई के युवक सेना एवं पुलिस में भर्ती भी किये जाते हैं और सुडौल भी होते हैं, वशर्त्ते उनके अवयवों का विस्तार भी उक्त प्रकार से सम्पन्न हो। पुरुसा शब्द का प्रयोग-पुरुसा भर गहरा पानी है तथा यह वृक्ष पुरुसा भर लम्बा है आदि-वाक्यों में किया जाता है। श्रीवाग्भट्ट ने शा० स्था० अ० ३ श्लो० ११२ में-'स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्द्धं वपुः पात्रं सुखायुषः।' लिखा अर्थात् ३॥ हाथ लम्बा शरीर सुख आयु का पात्र होता है। इस प्रकार चरकमें ८४ एवं ९६, सुश्रुत में १२० तथा वाग्भट में ८४ अङ्गुल की लम्बाई उत्तम मानी है ॥ १७ ॥

व्याधिविशेषास्तु प्रागभिहिताः, सर्व एवैते त्रिविधाः- साध्याः, याप्याः, प्रत्याख्येयाश्च। तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत किमयमौपसर्गिकः; प्राक्केवलः, अन्यलक्षण इति। तत्र, औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधि जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति, तन्मूलएवोपद्रवसंज्ञः; प्राक्केवलो नाम यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च; अन्यलक्षणो नाम यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूपसंज्ञः।

तत्र सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, बलवन्तमुपद्रवं वा; प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत; अन्यलक्षणे त्वादिव्याधौ प्रयतेत ॥ १८ ॥

व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में रोगों के विषय में प्रथम कह चुके हैं कि सब रोग तीन प्रकार के हैं, यथा—साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय (असाध्य), इन तीनों की फिर तीन प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये। क्या यह रोग उपसर्ग—(उपद्रव) जन्य है, अथवा प्राक्केवल है, या अन्य लक्षण (किसी भावि रोगों का लक्षण रूप है) इनमें औपसर्गिक रोग—पूर्व उत्पन्न रोग के साथ में पीछे से दूसरा रोग उत्पन्न होकर प्रथमरोग के साथ मिल जाता है। उस दूसरे रोग को 'औपसर्गिक रोग' या उपद्रव कहते हैं। और जो रोग पूर्व ही उत्पन्न हो जाता है, एवं पूर्वरूप (भावि रोग के लक्षणों से) रहित तथा उपद्रवों से रहित होता है, उसे 'प्राक् केवल' व्याधि कहते हैं। और जो लक्षण भावि में उत्पन्न होनेवाले रोग के लक्षणों को बतलाता है, उनको 'पूर्वरूप' कहते हैं, (ज्वर आदि रोग अपने पूर्वरूप लक्षणों से युक्त होते हैं)।

इनमें उपद्रवों से युक्त मूलव्याधि को दोनों के अविरोधी चिकित्सा द्वारा शान्त करना चाहिये। अथवा—बलवान् उपद्रव की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिए। प्राक्केवल रोग की आत्मीय चिकित्सा करनी चाहिए। पूर्वरूप व्याधि में, प्रथम से ही (ज्वर के पूर्वरूप स्पष्ट होने पर घृत का पान), पूर्वरूप अवस्था में ही चिकित्सा करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्राक्केवल व्याधि को 'मुख्यव्याधि' प्रधान व्याधि, अनुबन्ध्य कहते हैं। यह रोग वह अवस्था है जब पूर्वरूप नामक लक्षण समाप्त हो जाते हैं और कोई उपद्रव नामक लक्षण उत्पन्न नहीं हुए होते हैं, केवल मुख्य रोग ही विद्यमान होता है। इसे स्वतन्त्र व्याधि, मूलव्याधि तथा लक्ष्य व्याधि भी कहते हैं। पूर्वरूप—मुख्य व्याधि के पूर्व उत्पन्न होते हैं, उनमें से कुछ व्याधि के व्यक्त हो जानेपर शान्त हो जाते हैं और कुछ रह जाते हैं अथवा तीव्र हो जाते हैं और उपद्रव मुख्य व्याधि की विद्यमानता में अथवा उसके शान्त हो जाने पर उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १८ ॥

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ १९ ॥

कहा भी है—

चूँकि दोषों के बिना (वातादि के बिना) कोई रोग उत्पन्न नहीं होता, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि न कहे हुए रोग की भी दोषों के लक्षणों से चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—यदि रोग का शास्त्रानुसार नामकरण न कर सको तो केवल दोषों के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करते रहो। क्योंकि—चरक के शब्दों में—विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ॥ च० सू० अ० १८ श्लो० ५१। वही बात आदि दोष—कारण भेद से तथा स्थानविशेष में जाने से भिन्न २ रोगों को उत्पन्न करते हैं, अतः रोग के कारण एवं स्थान आदि का विचार करके उचित चिकित्सा करे ॥ १९ ॥

प्रागभिहिता ऋतवः ॥ २० ॥

ऋतु-परीक्षा प्रथम कह चुके हैं ॥ २० ॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥२१॥

शीत ऋतु में—शीत के विपरीत उष्णावस्था को उत्पन्न करके, उष्णकाल में—उष्णावस्था के विपरीत शीतावस्था उत्पन्न करके (एवं वृष्टिकाल में वृष्टि के विपरीत अवस्था उत्पन्न करके) अग्निकर्म आदि क्रियायें करनी चाहिये। क्रियाकाल का उल्लङ्घन कभी भी नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया।
क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति २२

क्रियाकाल के उपस्थित न होने पर (आमज्वर में औषध देना) क्रिया करने से, या क्रियाकाल के उपस्थित होने पर क्रिया न करने से साध्य रोग भी नष्ट नहीं होता। बहुदोष में हीन क्रिया व्यर्थ होती है, अल्पदोष में—अतिरिक्तक्रिया (तीव्र क्रिया) रोगी का नाश करती है, इसी प्रकार से मिथ्या क्रिया व्यर्थ है ॥ २२ ॥

या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥२३॥

जो क्रिया उत्कट रोग का शमन करती है, परन्तु अन्यरोग को उत्पन्न नहीं करती, उसका नाम क्रिया है। जो रोग का नाश करे, परन्तु दूसरे रोग को उत्पन्न कर देती है—(स्थौल्यापकर्षण में अपतर्पण से यक्ष्म—वातादि रोग) उसका नाम क्रिया नहीं है ॥ २३ ॥

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति दोषानभिपन्नएकः, विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति-विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा विषमः, यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः; स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते; स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतर पचति; पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापाञ्जनयति, यस्त्वल्पमप्युप-

युक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति, स मन्दः ॥२४॥

व्रणप्रश्नीय अध्याय में प्रथम कहा है कि—अग्नि अन्न का पाचक है। यहाँ एक अग्नि दोषों से अयुक्त रहने पर एक प्रकार की है। दोषों से युक्त होने पर विकृतावस्था में तीन प्रकार की है। यथा—वायु के कारण विषम, पित्त के कारण तीक्ष्ण, कफ के कारण मन्द, तीनों धातुओं के समान होने से सम होती है[1]। इनमें जो अग्नि ठीक समय पर खाये अन्न को भली प्रकार से पचाती है, वह सम अग्नि है, यह तीनों दोषों के समान होने से होती है। जो अग्नि कभी तो भली प्रकार पचाती है और कभी-आध्मान, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, पेट में भारीपन, अन्त्रों में गड़गड़ाहट, प्रवाहण (कुन्थन) उत्पन्न करके पचाती है, वह विषम है। जो अग्नि बहुत अधिक मात्रा में खाये अन्न को भी शीघ्र पचा देती है, वह तीक्ष्ण है। यही तीक्ष्णाग्नि बढ़कर अत्यग्नि कहाती है। यह अत्यग्नि बार-बार अधिक मात्रा में खाये अन्न को बहुत जल्दी पचा देती है, पचाने के पश्चात् गले, तालु, ओठ में शोष, जलन और संताप उत्पन्न करती है। जो अग्नि थोड़ी सी मात्रा में खाये अन्न को भी-उदर, सिर में भारीपन, कास, श्वास, लालास्राव,वमन, अङ्गों की शिथिलता करके बहुत समय पीछे पकाती है, वह मन्द अग्नि है।

वि० मन्तव्य—अत्यग्नि का दूसरा नाम 'भस्मक' है। दोषाऽनभिपन्न अग्नि का ही नाम 'सम' या 'समाग्नि' है॥

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२५॥

विषमाग्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तजन्य रोगों को, मन्दाग्नि कफजन्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥२५॥

तत्र, समे परिरक्षणं कुर्वीत; विषमे स्निग्धाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत, तीक्ष्णे मधुरस्निग्धशीतैर्विरेकैश्च, एवमेवात्यग्नौ, विशेषेण माहिषैश्च क्षीरदधिसर्पिर्भिः, मन्दे कटुतिक्तकषायैर्वमनैश्च ॥२६॥

इनमें समाग्नि की रक्षा करनी चाहिये। तीक्ष्णाग्नि की—स्निग्ध, अम्ल एवं लवण क्रियाओं से- तीक्ष्णाग्नि एवं अत्यग्नि की—मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य एवं विरेचनों द्वारा, खासकर अत्यग्नि में-भैंस का दही, घी एवं दूध देना चाहिये। मन्दाग्नि की कटु, तिक्त-कषाय एवं वमनों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥२६॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥२७॥

जाठराग्नि-भगवान् (महात्म्यवान्) ईश्वर (आठ प्रकार के ऐश्वर्य युक्त, अणिमादि ऐश्वर्यशाली), अन्न का पाचक है। मधुर आदि रसों को परिपाक के लिये ग्रहण करती हुई भी यह अग्नि सूक्ष्म होने के कारण जानी नहीं जा सकती।

वि० मन्तव्य—ईश्वर—आत्मा के समान जीवन का हेतु है, क्योंकि अग्नि के ही कारण-आयु है और अग्नि शान्त होने पर मर जाता है और समाग्नि रहने पर नीरोग रहकर चिरकाल तक जीता है। ईट्सु वरः (ईश्वरः) जीवन का सामर्थ्य देनेवाले अन्य कफ वात आदि में श्रेष्ठ है। अथवा ईश्वर-सामर्थ्यशाली (सम) अग्नि ही भगवान् हैं ॥२७॥

प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः।
ध्मायते पाल्यते चापि स्वां स्वां गतिमवस्थितैः ॥२८॥

प्राण अपान एवं समान ये तीन प्रकार की वायुएँ, अपने अपने स्थानों में रहती हुई अपनी अपनी क्रियाशक्ति से इस अग्नि को प्रज्वलित करती हैं और पालती हैं। फूँक से जिस प्रकार अग्नि तीव्र होती है उसी प्रकार इन वायुओं द्वारा अग्नि भी देदीप्यमान होती है ॥२८॥

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः। ते त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो—वृद्धिः, यौवनं, संपूर्णता, परिहाणिरिति। तत्र, आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति। सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥२९॥

वय तीन प्रकार की है। यथा—बाल्य, मध्य और वृद्धावस्था। इनमें सोलह वर्ष की आयु से कम आयु के बालक होते हैं। ये बालक भी तीन प्रकार के हैं, १–क्षीर पीनेवाले, २–दूध और अन्न खानेवाले, ३–अन्न खानेवाले। इनमें एक साल की आयु तक दूध-पीनेवाले, दो साल के दूध एवं अन्नखानेवाले, इससे बड़ी उमर के बच्चे अन्न खानेवाले हैं। सोलह और सत्तर वर्ष के बीच की आयु मध्यम आयु है। इस मध्यम आयु के भेद वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और हानि हैं। इनमें

---

१ वात आदि प्रकृतिवाले पुरुषों में वात आदि दोषों से युक्त होती है। इसलिये विषम, तीक्ष्ण, मंद ये तीन भेद हैं। अग्नि यद्यपि ईश्वर है, तो भी पूर्व-जन्मकृत कर्मों के कारण इस अग्नि में विषम, तीक्ष्ण, मन्द-दोष होते हैं। अथवा पित्त के दोष से अग्नि में भी दोष आ जाता है।

बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस साल तक यौवन, चालीस तक सब धातु इन्द्रियाँ बल-वीर्य में सम्पूर्णता रखती हैं, इसके आगे सत्तर वर्ष तक धीरे-धीरे कमी क्षीणता आरम्भ हो जाती है। सत्तर वर्ष के आगे-धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, उत्साह में दिन प्रति-दिन क्षीणता प्रारम्भ हो जाती है, शरीर में बलियाँ पड़ जाती हैं, सिर के बाल श्वेत हो जाते हैं, बाल गिरने लगते हैं, कास श्वास आदि रोगों से पीड़ित होकर सम्पूर्ण क्रियाओं में असमर्थता आ जाती है, इस अवस्था को वृद्धावस्था कहते हैं। जिस प्रकार पुराना घर बरसात आदि से गिर रहा होता है, वही अवस्था इस समय शरीर की होती है ॥२९॥

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः, तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत ॥३०॥

सत्तर वर्ष के ऊपर की आयु को छोड़कर, जिस प्रकार उत्तरोत्तर आयु बढ़ती जाती है, उसी प्रकार औषध की मात्रा भी उत्कृष्ट (बढ़ती) हो जाती है। इस वृद्धावस्था में बाल्यावस्था के समान औषधमात्रा देनी चाहिये[1]॥३०॥

भवन्ति चात्र—

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥३१॥

कहा भी है—

बाल्यावस्था में कफ बहुत बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त, वृद्धावस्था में वायु विशेष रूप से बढ़ती है, इसलिये इनका विचार करके औषध देनी चाहिये ॥३१॥

अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां शनैः ॥३२॥

बालक एवं वृद्ध पुरुषों में अग्नि, क्षार एवं विरेचन कर्म नहीं करने चाहिये। यदि इन कार्यों से साध्य रोगों में क्रिया करनी पड़े तो कोमल रूप में करनी चाहिये। यथा—दारण कार्य में-कपोत गीध की विष्ठा, क्षार कर्म में आवाप-प्रतिवाप हीन मृदु क्षार, विरेचन में अमलतास आदि मृदु द्रव्य, अग्निकर्म अजाशकृत् से करना चाहिये ॥३२॥

देहः स्थूलः कृशो, मध्य इति प्रागुपदिष्टः ॥३३॥

देहपरीक्षा—शरीर स्थूल, कृश, मध्य, तीन प्रकार का है, यह पहिले कह चुके हैं ॥३३॥

कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥३४॥

स्थूल शरीर का कर्षण और कृश पुरुष का बृंहण सदा करना चाहिये। मध्यम शरीर की रक्षा निरन्तर वैद्य को करनी चाहिये ॥३४॥

बलमभिहितगुणं, दौर्बल्यं तु स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम्। यस्माद्बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद्बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥३५॥

बल के गुण कह चुके हैं। दुर्बलता की स्वभाव (माता-पिता के शुक्र शोणित से), दोष (वातादि), वृद्धावस्था आदि से परीक्षा करनी चाहिय चूँकि बल के कारण से ही सब क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है, इसलिये क्रियाओं को धारण करनेवालों में बल ही सब से प्रधान है ॥३५॥

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः।
तस्मात् स्थिरत्वं व्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥३६॥

कई शरीर से कृश व्यक्ति प्राणवान् होते हैं और कई स्थूल व्यक्ति अल्पबलवाले होते हैं। इसलिये वैद्य को चाहिए कि स्थिरत्वरूपी बल व्यायाम आदि कार्यों से जाने ॥३६॥

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम् ॥३७॥
सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥३८॥

सत्त्व (मनोबल)-दुःख एवं सुख में कार्य भार आदि तथा छेदन भेदन आदि के स्थानों-अवसरों में ग्लानि या हर्ष का उत्पन्न न होना सत्त्व बल है। यह बल तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इनमें-जो मनुष्य अपने मन को स्वयं दृढ़ बनाकर सब कुछ सहन करता है, वह सात्त्विक बलवाला है। ओर जो दूसरे मनुष्यों से दृढ़ किया जाता है, वह राजस बलवाला है। और जो किसी प्रकार दृढ़ नहीं होता, धैर्य धारण नहीं करता, वह तामसिक बलवाला है। यथा चरक में—सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तंत्रकमात्मसंयोगात्। तत् त्रिविधं बलभेदेन-प्रवरं, मध्यमम्, अवरं चेति[1]॥

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥३९॥

जो देश, काल, जन्य, ऋतु, रोग, व्यायाम, जल, दिवास्वप्न तथा मधुर आदि—प्रकृति के विरुद्ध होने पर भी कोई कष्ट नहीं देते वे "सात्म्य" कहे जाते हैं[2]। यहाँ

---

१ मात्रा विवेचन—

'प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका।
अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः ॥
एकैकां वर्धयेत्तावद यावत्सवत्सरो भवेत्।
तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्यात् यावत्षोडशकाब्दिकाः ॥
षोडशाब्दात्ततस्तूर्ध्वं यावदासप्ततेरिति।
एवमेव विभागोऽयं तदूर्ध्वं बालवत्क्रिया ॥"

१ विस्तार के लिये चरक विमान अ०-८।११-१९ में देखिये।
२ सात्म्य के लिये चरक विमान स्थान आँठवां अध्याय देखिये।

चरक ने भी कहा है कि—"सात्म्यं नाम तत् यत् सातत्येन उपसेव्यमानं उपशेते" अर्थात् जो आहार विहार निरन्तर या बहुत काल तक सेवन करने से "उपशय" हो जाते हैं वह "सात्म्य" कहे जाते हैं। सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः—अर्थात् सात्म्य का अर्थ—तात्पर्य ही उपशय का अर्थ है। उदाहरणार्थ—अनूपदेश अनारोग्यकर होता है, परन्तु वहाँ अधिक समय तक निवास करने से कोई कष्ट नहीं होता, दूध एवं खिचड़ी एक साथ खाने से आमविष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु—सी० पी० के निवासी खाते हैं तो कोई हानि नहीं होती, दिवास्वप्न निषिद्ध है—हानि कर भी है, परन्तु जो सदा दिन में सोते हैं उनको कोई हानि नहीं होती आदि २। रोग भी सात्म्य हो जाते हैं, यथा पुराने व्रण एवं श्वास कास आदि और रुजाकर भाव का नाम रोग है या शल्य है, परन्तु ऐसे शल्य नहीं निकाले जाते जो कष्ट नहीं देते, यथा—सोना आदि के सूक्ष्म शल्य देखिये—इसी स्थान का अ० २६ श्लो० २०,२१॥३९॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥४०॥

जो रस (आहार) अथवा व्यायाम (विहार) तथा अन्य (औषध) निन्तर सेवन करने पर सुखदायक ही हो जाता है वह सब "सात्म्य" कहलाता है ॥४०॥

प्रकृतिं भेषजं चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥४१॥

प्रकृति शरीरस्थान और भेषज का वर्णन आगे करेंगे ॥

देशस्त्वानूपो. जाङ्गलः साधारण इति। तत्र, बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरागभूयिष्ठश्चानूपः; आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः; उभयदेशलक्षणः साधारण इति ॥४२॥

देश तीन प्रकार का है। यथा—आनूप, जांगल और साधारण, इनमें जिस देश में बहुत पानी हो, बहुत नीची-ऊँची जगह हों, बहुत नदियाँ हों, बहुत वर्षा पड़ती हो, वन हो, मृदु एवं शीतल वायु बहती हो, बहुत एवं बड़े-बड़े पर्वत एवं वृक्ष हों, जिस देश के मनुष्य कोमल सुकुमार अङ्गोंवाले हों, जहाँ पर कफ एवं वायु के रोग प्रायः करके होते हों, वह देश आनूप है। जो देश आकाश से समान नीची-ऊँची जगह से रहित, थोड़े एवं कांटेवाले बिखरे-वृक्षों से युक्त, जहाँ पर बरसात नदी झरने आदि पानी के साधन कम हों, जहाँ पर गरम-कठोर वायु चलती हो, विरले-छोटे पहाड़ हों, जहाँ के मनुष्य स्थिर-कृश शरीरवाले हों, जहाँ पर वायु एवं पित्त के रोग प्रायः करके होते हैं, वह जांगल देश है। जिस देश में दोनों देशों के लक्षण होते हैं, वह साधारण देश है ॥४२॥

भवन्ति चात्र—

समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्ममारुताः।
दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥४३॥

कहा भी है—

चूँकि शीत, बरसात, गरमी और वायु, ये वस्तुएँ साधारण देश में समान ही रहती हैं, एवं मनुष्य के दोषों में भी समानता रहती है, इसलिये इसको साधारण देश कहते हैं ॥४३॥

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः ॥४४॥
उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति ॥४५॥

जिस प्रकार जलजन्य पशु (कछुवे आदि) स्थल में आकर उतने बलवान् नहीं रहते, या स्थलजन्य गाय आदि जल में जाकर उतने बलशाली नहीं रहते इसी प्रकार अपने देश में संचित दोष—अपने प्रतिकूल गुणवाले देश में जाकर कुपित होने से उतने बलशाली नहीं रहते। यथा आनूप देश में संचित कफ जांगल देश में जाने पर यदि कुपित होता है तो देशजन्य कोई भय नहीं। परन्तु यदि आनूप देश में संचित कफ जांगल देश में दिवा-स्वप्न आदि करने से कुपित होता है तो भय है। ठीक प्रकार से रहने पर भी जब देशजन्य कोप होता है तो भय नहीं। यद्यपि आहार, स्वप्न, चेष्टा आदि—उस देश के गुण—उचित रूप में हों तो भय नहीं होता ॥४४,४५॥

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः।
संपत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥४६॥
केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात्कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥

सुखसाध्य रोग—देशविपरीत (जांगल देश में कफरोग), प्रकृतिविपरीत (पित्तप्रकृति मनुष्य को कफरोग), सात्म्यविपरीत (कटुसात्म्य को कफरोगोत्पत्ति), ऋतुविपरीत (शरद् ऋतु में वातजन्य) रोग होना, नवीन रोग की अवस्था में भिषग्, रोगी, भेषज, परिचारक गुणवान् होने पर, बल-सत्त्व, एवं वायु आदि की भी सम्पत्ति में, केवल एक दोष से उत्पन्न, समान-कायाग्नि पुरुष में रोग सुखसाध्य होता है। इनसे विपरीत अवस्थाओं में रोग असाध्य है। जिस रोग में साध्य एवं असाध्य के लक्षण मिले रहते हैं, वह कष्टसाध्य है[1] ॥४६,४७॥

---

१ अपवाद—

"ज्वरे तु ह्यतुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥"

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत्।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥४८॥

एक क्रिया के प्रयुक्त करने से यदि पाँच छै दिन तक कुछ लाभ नहीं दीखता, तो दूसरी क्रिया प्रयुक्त करनी चाहिये। प्रथम क्रिया के शान्त होने पर दूसरी क्रिया करनी चाहिये। क्रिया-संकर (दोनों क्रियाओं का एक साथ होना) करना उत्तम नहीं। एक ही काल में दो विरोधी क्रियाओं को करना क्रिया-संकर है ॥४८॥

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥४९॥

यदि रोग कष्टसाध्य हो तो क्रिया के लाभ (गुण) न होने पर भी, यदि वही क्रिया हितकारी हो तो जल्दी में उसे बदल नहीं देना चाहिये, अपितु उसी को कुछ अधिक समय तक चालू रखना चाहिये ॥४९॥

य एवमेनं विधिमेकरूपं बिभर्ति कालादिवशेन धीमान्।
स मृत्युपाशाञ्जगतो गदौघाञ्छिनत्ति भैषज्यपरश्वधेन ॥

जो वैद्य इस प्रकार इस पूर्वोक्त विधान को बिना किसी भेद के ग्रहण कर लेता है, बुद्धिमान् कालादि के सामर्थ्य द्वारा रोगसमूहों को भैषज्य रूपी कुल्हाड़े से काटता है ॥५०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आतुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो भूमिप्रविभागीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१,२॥

इसके आगे 'भूमि-प्रविभागीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥२॥

श्वभ्रशर्कराश्मविषमवल्मीकश्मशानाघातनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरां लोहितां वा भूमिमौषधग्रहणाय परीक्षेत। तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसंबाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्येष भूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः ॥३॥

यह भूमि का विभाग दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। सामान्य भूमि को कहते हैं—श्वभ्र (बिल), शर्करा (पत्थर के टुकड़े), अश्म (पत्थर), विषम, वल्मीक, श्मशान, आघातन (वधस्थान), देवायतन (मन्दिर), सिकता (बालुका) से रहित, अनूषरा (ऊषर रहित), अभंगुर (दराड़ों रहित), अदूरोदका (जहाँ पर पानी दूर न हो साधारण), स्निग्ध, प्ररोहवती (जहाँ पर बीजअंकुर जन्मते हैं), कोमल, स्थिर (वायु, पानी से जहाँ की मिट्टी न खिसकती हो), समान (ऊँची नीची नहीं), काली, सफेद, रक्तवर्ण भूमि की औषध के लिये परीक्षा करनी चाहिये। इस भूमि में उत्पन्न औषधि को भी—कृमि, विष, शस्त्र, धूप, वायु, अग्नि, पानी से अपीड़ित, एकरस (उत्कृष्ट रसयुक्त), पुष्ट (बलवान्), पृथु, विशाल, अवगाढमूल (भूमि में प्रविष्ट मूलवाली), उत्तर दिशा में स्थित औषधि का (उत्तर दिशा में मुख करके) ग्रहण करना चाहिये। यह सामान्य भूमि परीक्षा-विधि है ॥३॥

विशेषस्तु तत्र अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽम्बुगुणभूयिष्ठा, नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाल्पपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा, रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुवृक्षाल्परसकोटरवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा, मृद्वी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥४॥

विशेष भूमिपरीक्षा—पत्थरोंवाली, स्थिर, गुरु, श्याम, कृष्ण, स्थूल वृक्षों से तथा मोटे अन्न से भरी, भूमि पृथ्वीगुणभूयिष्ठ होती है। स्निग्ध, शीतल एवं समीपवर्ती पानीवाली, स्निग्ध सस्य, तिनके एवं कोमल वृक्षों से युक्त एवं निर्मल भूमि पानी के गुणोंवाली होती है। नाना प्रकार के रङ्गों की, छोटे-छोटे पत्थरोंवाली विरले एवं छोटे-छोटे पीले वृक्ष एवं अंकुरोंवाली भूमि अग्निगुणबहुल होती है। रूक्ष, भस्म या गर्दभ के रङ्गवाली, पतले रूक्ष, कोटर (खोखल), तथा अल्परसवाले वृक्षों से युक्त भूमि वायुगुणबहुल होती है। कोमल, समान, गड्ढोंवाली, अव्यक्तरस, अव्यक्त जलवाली, सब स्थानों में सार रहित वृक्षोंवाली, बड़े-बड़े पर्वत-वृक्षोंवाली, श्यामवर्ण भूमि आकाशगुणबहुल होती है ॥४॥

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्क्षीरसारफलान्याददीतेति, तत्तु न सम्यक्, सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते। एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥५॥

कई आचार्यों का कथन है कि—प्रावृट् (वर्षा के आदि मास), वर्षा, शरद्, हेमन्त, बसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः मूल, पत्र, त्वचा, क्षीर, सार और फलों का ग्रहण करना चाहिये। यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि जगत् आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों से बना है। इसलिये सौम्य औषधियों को सौम्य ऋतु में (दक्षिणायन में) लेना चाहिये और आग्नेय औषधियों को आग्नेय ऋतु में (उत्तरायण में) ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार ग्रहण से अदूषित गुणवाली होती हैं। सौम्य औषधियाँ

सौम्य ऋतु में संग्रह करने से, सोमगुण (उदक-गुण) बहुल भूमि में उत्पन्न होने से, अतिमधुर अतिस्निग्ध और अतिशीत होती हैं। आग्नेय औषधियाँ आग्नेय ऋतु में ग्रहण करने पर अग्निगुण-बहुल भूमि में होने से अति उष्ण, अतिरूक्ष, अतिकटु होती हैं। इस प्रकार से शेष (आग्नेय औषधियों) की व्याख्या कर दी है ॥ ५ ॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं बलवत्तराणि भवन्ति ॥६॥

पृथ्वी एवं जल गुण-बहुल भूमि में उत्पन्न विरेचन द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये, अग्नि-आकाश एवं वायुगुण-बहुलभूमि में उत्पन्न वमन द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये। दोनों प्रकार के गुणवाली भूमि में से वमन एवं विरेचन दोनों प्रकार के गुणोंवाली औषधियां लेनी चाहिये। आकाश गुण बहुल भूमि में उत्पन्न—शमन द्रव्यों का संग्रह करे। इस प्रकार वे द्रव्य अधिक बलवान् होते हैं ॥ ६ ॥

सर्वाण्येव चाभिनवानि, अन्यत्र मधुघृतगुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः ॥ ७ ॥

विडङ्गं पिप्पली क्षौद्रं सर्पिश्चाप्यनवं हितम्।
शेषमन्यत्त्वभिनवं गृह्णीयाद्दोषवर्जितम् ॥ ८ ॥

(सर्वाण्येव सक्षीराणि वीयवन्ति,) तेषामसंपत्तावतिक्रान्तसंवत्सराण्याददीतेति ॥ ९ ॥

सब द्रव्यों को नवीन (ताजे) रूप में ही चिकित्साकार्य में बरतना चाहिये। अपवाद—मधु, घी, गुड़, पिप्पली, विडङ्ग, (धनियाँ), इनको पुरातन अवस्था में बरतना चाहिये[1]। सब औषधियाँ रसयुक्त होने पर ही बलवती होती हैं। इन औषधियों को कृमि आदि से खाई न होने पर एवं एक साल के न उतरने तक ही काम में लाना चाहिये ॥ ७–९ ॥

भवन्ति चात्र—

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।
मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥ १० ॥
सर्वावयवसाध्येषु पलाशलवणादिषु।
व्यवस्थितो न कालोऽस्ति तत्र सर्वो विधीयते ॥११॥

गाय को चरानेवाले, तापस (तपस्वी), व्याध (शिकारी), और जो जो अन्य वन में विचरनेवाले हैं और मूल (जड़ आदि) का आहार करनेवाले पुरुषों को औषधि का ज्ञान होता है[1]। पलाश लवण आदि-वस्तुओं में, जिनके कि सब अवयव कार्य में आते हैं, उनके लिए कोई समय नहीं है, उनका सब अवस्था में ग्रहण किया जा सकता है ॥ १०,११ ॥

गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते।
तस्माद् भूमिस्वभावेन बीजिनः षड्रसायुताः ॥१२॥
अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः।
रसः स एव चाव्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद् भवेत् ॥१३॥
सर्वलक्षणसंपन्ना भूमिः साधारणा स्मृता।
द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥ १४ ॥
विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेवं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

गन्ध, वर्ण एवं रस से युक्त भूमि छै प्रकार की है। इसलिए भूमिस्वभाव के कारण वृक्ष भी छै रस से युक्त होते हैं। यह सिद्धान्त द्वारा निश्चित हो चुका है कि जल का रस अव्यक्त है। यही अव्यक्त रस जिस समय व्यक्त होता है, तब भूमि के रस के कारण है। सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त भूमि को साधारण भूमि कहते हैं। इस भूमि में जो द्रव्य उत्पन्न होते हैं उनमें भी वे गुण विशेषकर होते हैं। विकृत गन्ध से अदूषित, रस आदि में अविकृत, नये या पुराने द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये। वायविडङ्ग, पिप्पली, मधु और घी (धनिया भी) इनको पुराना (एक साल पुराना) होने पर औषधकार्य में लाना चाहिये। इनसे अतिरिक्त शेष-नये, दोषरहित द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये ॥ १२-१५ ॥

जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्।
क्षारमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत् ॥ १६ ॥

जङ्गम (गति करनेवाले, पशु-पक्षियों) प्राणियों के रक्त, रोम, नख आदि युवावस्था के ग्रहण करने चाहिये। दूध, मूल, मल ये वस्तुयें—आहार के जीर्ण होने पर (पच जाने पर) ग्रहण करनी चाहिये ॥ १६ ॥

प्लोतमृद्भाण्डफलकशङ्कुविन्यस्तभेषजम्।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ॥ १७ ॥

प्लोत (वस्त्रखण्ड), मिट्टी के बर्त्तन, फलक (काष्ठपट्ट), शंकु (कीला) आदि में रखना, औषध-भण्डार कहाता है। पवित्र स्थान एवं प्रशस्त दिशा (पूर्वदिशा) में औषधियों को रखना चाहिए।

वि० मन्तव्य - वह भेषज-भण्डार उत्तम होता है जो नगर के उत्तर अथवा पूर्व दिशा में हो और जिसमें—भेषज द्रव्य—प्लोत (थैला, बोरा या कपड़ा की गठरी), मृद्भाण्ड (मिट्टी=

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने चौदहवां श्लोक यहाँ पर दिया है। "डल्हणाचार्य" ने 'तेषां' शब्द से मधु, घी आदि का ग्रहण किया है, परन्तु घी, गुड़ इनको एक साल व्यतीत होने पर ही पुराना कहते हैं। इसलिये 'तेषां' शब्द से इनका ग्रहण करना ठीक नहीं।

१ चरक में भी कहा है—
ओषधिर्नामरूपाभ्यां जानन्ते ह्यजपा वने ॥

चीनी, काच के हण्डी का, मर्त्तवान्, बोतल), फलक (फट्टे-आलमारी, टाँड आदि) में धरें अथच शंकु (विलङ्ग, छत का कुण्डा आदि) पर लटकाए गये हों ॥ १७ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने भूमिप्रविभागीयो नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'मिश्रक अध्याय' की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥ १,२ ॥

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रदारु महौषधम् ।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफजित् ॥ ३ ॥
दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।
शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥ ४ ॥
आगन्तुजे रक्तजे च ह्येष एव विधिः स्मृतः ।
विधिर्विषघ्नो विषजे पित्तघ्नोऽपि हितस्तथा ॥ ५ ॥
अजगन्धाऽश्वगन्धा च काला सरलया सह ।
एकैषिकाऽजशृङ्गी च प्रलेपः श्लेष्मशोफहृत् ॥ ६ ॥
एते वर्गास्त्रयो लोध्रं पथ्या पिण्डीतकानि च ।
अनन्ता चेति लेपोऽयं सान्निपातिकशोफहृत् ॥ ७ ॥

मातुलुङ्ग (बिजौरा), अग्निमन्थ (अर्णी), भद्रदारु (देवदारु), महौषध (सोंठ), अहिंस्रा (वृहद् अहिंस्रा), और रास्ना—इनका प्रलेप वातजन्य शोथ को नष्ट करता है। दूर्वा, नलमूल, मधुक (मुलहठी), चन्दन (श्वेत) एवं काकोल्यादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि, ये शीतल गण-इनका प्रलेप पित्तजन्य शूल को नष्ट करता है। आगन्तुज एवं रक्तजन्य शोफ में पित्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये। विषजन्य शोफ में विषनाशक एवं पित्तनाशक विधि हितकारी है। अजगन्धा (अजवायन), अश्वगन्धा (असगन्ध), काला (अहिंस्रा) सरला (लाल जड़ की निशोथ), एकैषिका (श्वेत जड़ की त्रिवृत्), और अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी)—इनका प्रलेप कफजन्य शोथ को नष्ट करता है। ये उपर्युक्त तीनों वर्ग, लोध्र पथ्या (हरड़), पिण्डीतक (मैनफल) और अनन्ता (सारिवा या दुरालभा)—सन्निपातजन्य शोथ को नष्ट करते हैं ॥३-७॥

स्निग्धाम्ललवणो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः ।
पित्ते, चोष्णः कफे क्षारमूत्राढ्यस्तत्प्रशान्तये ॥ ८ ॥

लेप का संस्कार—वातजन्य शोफ में–लेप स्निग्ध, अम्ल, लवण, कोष्ण; पित्त में—दूध मिश्रित शीत लेप, कफजन्य में—क्षार एवं मूत्रबहुल उष्ण प्रलेप करना चाहिये ॥ ८ ॥

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः ।
सक्तवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥ ९ ॥

विम्लापन द्रव्य कहकर पाचन द्रव्यों को कहते हैं—

सन के बीज, मूली (के बीज), सहजन का फल (पका), तिल, सरसों, सत्तू (जौ का), किण्व (सुरा का तलघट), और अलसी एवं उष्णवीर्य द्रव्य (कूठ, अगर आदि) शोथ को पकाने के लिये उत्तम हैं ॥ ९ ॥

चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः ।
कपोतकङ्कगृध्राणां पुरीषाणि च दारणम् ।
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम् ॥१०॥

दारण द्रव्य—

चिरबिल्व (नाटा करञ्ज), अग्निका (कलिहारिका या भल्लातक) दन्ती (जमालगोटा की जड़), चित्रक (चीता की जड़), हयमारक (करवीर-कनेर), कबूतर, गीध एवं कङ्क पक्षियों का मल, ये सब दारण काय में प्रयुक्त हो सकते हैं। क्षारद्रव्य (मुष्क, कुटज, पलाश, अश्वकर्ण, पारिभद्र आदि) या इनसे सिद्ध प्रतीसारणीय क्षार—उत्तम दारण हैं। दारण द्रव्य दो प्रकार के हैं—कपोतपुरीष आदि सुकुमार दारण हैं, क्षार कृच्छ्र दारण हैं ॥ १० ॥

द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम् ।
यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः ॥ ११ ॥

पीड़न द्रव्य— पिच्छिल (सिम्बल, वट आदि) द्रव्यों की त्वचा-मूलप्रपीड़न द्रव्य हैं। जौ, गेहूँ और माष (उड़द) ये संक्षेप में पीड़न द्रव्य हैं। व्रण के मुख को बाहर करके, इन द्रव्यों का लेप करना चाहिये और फिर आग के द्वारा इनको शुष्क करना चाहिये। शुष्क होने से पीड़न होता है ॥ ११ ॥

शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥ १२ ॥

शोधन द्रव्य—शंखिनी (यवतिक्ता), अङ्कोठ (अङ्कोल), सुमन (मालती) करवीर (कनेर) सुवर्चला (हुलहुल या सूर्यमुखी)—एवं आरग्वधादिवर्ग—इनका कषाय व्रण का शोधन करता है। शोधन–आठ प्रकार का है। यथा—कषाय, वर्त्ति, कल्क, घृत, रसक्रिया, चूर्ण एवं धूपन। धूपन चार प्रकार का है—शृत, शीत, फाण्ट और स्वरस। कल्क को पृथक् कहेंगे ॥ १२ ॥

अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया ।
पूतकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥ १३ ॥
कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला ।
कासीसं त्रिवृता दन्ती हरिताल सुराष्ट्रजा ॥ १४ ॥

---

[1] व्रण के उपक्रमों में आठ उपाय अधिक प्रसिद्ध हैं। यथा—विम्लापन, पाचन, दारण, पीड़न, शोधन, रोपण, उत्सेदन, अवसादन—इन आठों का मिश्रित रूप में वर्णन किया गया है।

वर्त्ति—अजगन्धा (अजवायन), अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी), गवाक्षी (इन्द्रायण), लांगली (कलिहारिका), पूतीक (चिरबिल्व), चित्रकं (चीतामूल), पाठा, वायविडङ्ग, एला (बड़ी इलायची), हरेणु (रेणुका), त्रिकटु, यवक्षार (जौखार), लवण (पाँचों नमक), मनःशिला (मैनसिल), कासीस (हीरा कसीस), त्रिवृता (निशोथ), दन्ती (जमालगोटा की जड़), हरिताल (हरताल), सुराष्ट्रजा (सौराष्ट्र की मिट्टी या फिटकरी), इन द्रव्यों को पीसकर बत्ती पर लगाकर व्रण पर रखना चाहिये। यह वर्त्ति नाड़ीव्रण आदि संशोधनीय स्थानों में प्रयुक्त करनी चाहिये ॥१३,१४॥

संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत्।
एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१५॥
कासीसकटुरोहिण्यौ जातीकन्दहरिद्रयोः।
पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्य्यात्तैलं घृतानि च ॥१६॥

कल्क—इन उपर्युक्त अजगन्धा आदि औषधियों से शोधनीय कल्कों को तैयार करना चाहिये। कासीस, कटुरोहिणी (कुटकी), जाती-कन्द (चमेली की जड़), हरिद्रा (हल्दी-दारुहल्दी), इनके कल्क द्वारा पूर्वोक्त अजगन्धा आदि के क्वाथ से तैल या घृत सिद्ध करना चाहिये। (कषाय से कल्क चतुर्थांश होना चाहिये) ॥१५,१६॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानि च।
जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१७॥
पूर्वोद्दिष्टानि आस्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम्।

अर्क (आक की जड़), उत्तमा (त्रिफला), स्नुहीक्षीर (थोहर का दूध), उत्तम क्षारद्रव्यों को (मुष्क, कुटज आदि को), जातीमूल (जटामांसी, जातुकन्द इग पाठ में गुग्गुलु), दोनों हल्दियाँ, कासीस और कटुरोहिणी (कुटकी), एवं शोधन-वर्त्ति में कहे द्रव्यों के साथ संशोधनघृत तैयार करना चाहिये ॥१७॥

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥१८॥
बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला।
शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१९॥

शोधन तैल—मयूरक (अपामार्ग), राजवृक्ष (अमलतास), निम्ब (नीम), कोषातकी (कड़ुवी तुरई), तिल, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी), हरिताल (हरताल), मैनसिल, शोधनवर्त्ति में कहे हुए द्रव्यों को शोधन तैल में मिलाना चाहिये ॥१८,१९॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये।
शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वीत शोधनम् ॥२०॥

शोधनचूर्ण—कासीस, सैन्धानमक, किण्व (सुरा-पिष्ट), वच, दोनों हल्दी, शोधनवर्त्ति में कही औषधियों का चूर्ण—शोधन कार्य में बरतना चाहिये ॥२०॥

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च।
रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२१॥

सालसारादिगण में कही औषधियों से, परवल एवं त्रिफला से, शोधनवर्त्ति में कहे द्रव्यों से—शोधनी रसक्रिया बनानी चाहिये। (रसक्रिया विधि—द्रव्य की अपेक्षा से आठगुणा (कोमल द्रव्यों में) या सोलहगुण (कठिन द्रव्यों में) जल डालकर क्वाथ करना चाहिये। जब अष्टमांश पानी रह जाये या सोलहवाँ भाग क्वाथ रह जाये तब छानकर पुनः इस कषाय को राब के समान पकाना चाहिये, यही रसक्रिया है) ॥२१॥

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि।
सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२२॥

श्रीवेष्टक (धूप), सर्जरस (राल), सरल (सरलवृक्ष की त्वचा), देवदारु, सार (सालसारादिगण की औषधियों) से व्रण का धूपन बुद्धिमान् को करना चाहिये ॥२२॥

कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणानां त्वक्षु साधितः।
शृतः शीतकषायो वा रोपणार्थ प्रशस्यते ॥२३॥

रोपणकषाय—अनुष्ण वृक्षों की (न्यग्रोध, उदम्बर, पीपल, पिलखन आदि) त्वचा से बनाये क्वाथ अथवा शीत कषाय (फाण्टस्वरस) रोपणकार्यों में प्रशस्त है। (द्रव्य को रात्रि में पानी में रखकर जो कषाय बनता है, वह शीत कषाय है) ॥२३॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा।
क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२४॥

सोम (सोम का बल्कल ब्राह्मी), अमृता (गिलोय), अश्वगन्धा (असगन्ध) तथा काकोल्यादिगण में कही औषधियों से, क्षीरिप्ररोहों (न्यग्रोध, गूलर आदि के अंकुरों) से रोपणवर्त्तियाँ तैय्यार करनी चाहिये ॥२४॥

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः।
काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२५॥

समङ्गा (मजीठ), सोम, सरल, सोमवल्का (कायफल), चन्दन, काकोल्यादिगण की औषधियाँ इनका कल्क व्रण के संरोहण के लिये प्रशस्त है ॥२५॥

पृथक्पर्ण्यात्मगुप्ता च हरिद्रे मालतीसिता।
काकोल्यादिश्च योज्यः स्याद्विषजा रोपणे घृते ॥२६॥

पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), आत्मगुप्ता (कौंच), दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), मालती (जाती-चमेली), सिता (शर्करा), या श्वेतदूर्वा और काकोल्यादिगण की औषधियों से सिद्ध घृत को रोपणकार्य में बरतना चाहिये ॥२६॥

कालानुसार्यगुरुणीहरिद्रे देवदारु च।
प्रियङ्गवश्च रोध्रं च तैले योज्यानि रोपणे ॥२७॥

कालानुसारी (तगर), अगर, हरिद्रा (हल्दी-दारुहल्दी), देवदारु, प्रियंगु (फूल प्रियंगु), रोध्र (पठानीलोध), ये रोपणतैल में प्रयुक्त करने चाहिये ॥२७॥

कङ्गुका त्रिफला रोध्रं कासीसं श्रवणाह्वया।
धवाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपणं चूर्णमिष्यते ॥२८॥

प्रियङ्गुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव च ।
त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते ॥२९॥

रोपणचूर्ण—कंगुका (कंगनी), त्रिफला, रोध्र, कासीस, श्रवणाह्वा (मुण्डतिका), धव एवं अश्वकर्ण (अश्वकर्ण, पलाश), इनकी छाल का चूर्ण रोपणकार्य में उत्तम है। प्रियंगु, सर्जरस (राल) कासीस-पुष्प, धववृक्ष की त्वचा का चूर्ण रोपण के लिये उत्तम है ॥२८,२९॥

त्वक्षु न्यग्रोधवर्गस्य त्रिफलायास्तथैव च ।
रसक्रियां रोपणार्थे विदधीत यथाक्रमम् ॥३०॥

न्यग्रोधगण की तथा त्रिफला की (हरड़, बहेड़ा, आँवला) त्वचा से, द्विव्रणीय अध्याय में कही विधि से रोपणकार्य के लिये रसक्रिया बनानी चाहिये ॥३०॥

अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला ।
उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः ॥३१॥

अपामार्ग की जड़, असगन्ध, तालपत्री (मूसली), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त) की जड़, एवं काकोल्यादिगण की औषधियाँ— उत्सादन (मांसवर्धन) कार्य में प्रशस्त हैं ॥३१॥

कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला ।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ॥३२॥
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ॥३३॥

कासीस, सैन्धानमक, किण्व, कुरुविन्द (लाल रत्न), मैनसिल, मुर्गे के अण्डे के छिलके, चमेली की कली, शिरीष, करञ्ज, धातुचूर्ण (हरिताल, पुष्पकासीस, रसाञ्जन आदि)—ये वस्तुयें उभरे हुए मांस काटने के लिये (अवसादन के लिये) प्रशस्त हैं ॥३२,३३॥

समस्तं वर्गमर्धं वा यथालाभमथापि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥३४॥

इस मिश्रक अध्याय में, द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में संशोधन-संशमनीय अध्याय में कहे हुए द्रव्यों में से जितने चार, पाँच, छै द्रव्य, या सम्पूर्ण अथवा आधे, जितने भी प्राप्त हो सकें, उनको लेकर वैद्य को चाहिये कि कार्य में व्यवहार कर ले ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने मिश्रकाध्यायो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यसंग्रहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे द्रव्यसंग्रहणीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

समासेन सप्तत्रिंशद्द्रव्यगणा भवन्ति ॥३॥

संक्षेप में सैंतीस द्रव्य समूह हैं। (यथा—प्रत्येक गण का नाम आदिम दवाई के नाम से है) ॥३॥

तद्यथा—विदारिगन्धा विदारी विश्वेदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादो वृश्चिकाल्यृषभी चेति ॥४॥

विदारीगन्धा (शालपर्णी), विदारी (भूमिकूष्माण्ड), विश्वेदेवा (श्वेतबला-गगेरन), सहदेवा (पीले फूल की बला), श्वदंष्ट्रा (गोखरु), पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी-पिठवन), शतावरी, सारिवा (अनन्तमूल), कृष्णसारिवा (श्यामलता), जीवक, ऋषभक, महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), दोनों बृहती (छोटी एवं बड़ी कटेरी), पुनर्नवा (साटोड़ी), एरण्ड, हंसपादी (हंसपदी-हंसराज), वृश्चिकाली (बिच्छूबूटी बिछातु—अथवा मेषशृङ्गी), ऋषभी (कौंच का फल) ॥४॥

विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः ॥५॥

यह विदारीगन्धादिगण पित्त एवं वायु का नाश करनेवाला है। शोष (राजयक्ष्मा), गुल्म, अङ्गों में पीड़ा, ऊर्ध्वश्वास, कासरोग का नाश करनेवाला है। इस गण से अथवा अन्य गणों से शृतशीत, कषाय, फाण्ट, रसक्रिया, गुटिका, चूर्ण, प्रलेप, प्रदेह, परिषेक, अवगाहन, घी, तैल आदि तैय्यार करके प्रयोग करने चाहिये ॥५॥

आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरण्टक-गुडूची चित्रकशार्ङ्ग(ङ्गे)ष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति ॥६॥

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः ।
मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः ॥७॥

आरग्वधादिगण—आरग्वध (अमलतास) मदन (मैनफल), गोपघण्टा (ककोंटी), कण्टकी (विकङ्कत), कुटज (कूड़ा), पाठा, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव (कूड़ा), सप्तपर्ण (सतवन), निम्ब, कुरण्टक (श्वेतपुष्प झिंटी), दासीकुरंटक (नीलपुष्प झिंटी), गुडूची (गिलोय), चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा), करञ्जद्वय (नाटा और पूतीकरञ्ज), पटोल, किराततिक्त, (चिरायता) सुषवी (करेला)—यह आरग्वधादिगण-श्लेष्मा, विष, कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, वमन, कण्डू का नाशक तथा व्रणशोधक है ॥६,७॥

सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गतिनिशचन्दनकुचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतिकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकं चेति ॥८॥

सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः ।
मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥९॥

सालसारादिगण—सालसार (साल का सार), अजकर्ण (सर्ज-साल का भेद), खदिर (खैर), कदर (श्वेत या पूति खदिर), कालस्कन्ध (तमाल), क्रमुक (सुपारी), भूर्ज (भोजपत्र), मेषशृङ्गी (मेढ़ाश्रृङ्गी), तिनिश (सादण), चन्दन (श्रीचन्दन), कुचन्दन (लाल चन्दन), शिंशिपा (शीशम), शिरीष, असन, धव, अर्जुन, ताल (ताड़), शाक (सहगौन), नक्तमाल (करञ्ज), पूतीक (नाटाकरञ्ज), अश्वकर्ण (साल भेद), अगरु, और कालीयक (कालिया चन्दन)-यह सालसारादिगण कुष्ठनाशक, प्रमेह-पाण्डुरोगनाशक, कफ और मेद का शोषक है ॥८,९॥

वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषश्रृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरी—बिल्वाजश्रृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति ॥१०॥

वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारणः ।
विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ॥११॥

वरुण (वरना), आर्त्तगल (नील झिंटी), शिग्रु (कड़ुवा और मीठा सहजन, श्वेत एवं लाल फूल का), तर्कारी (जयन्ती), मेषश्रृङ्गी (मेढ़ाश्रृङ्गी), पूतीक (चिरबिल्व-करञ्ज), नक्तमाल (बड़ी करञ्ज), मोरटा (अंकोठपुष्प), अग्निमन्थ (अरंणी), सैरेयक (लाल फूल और नीले फूल की दो झिण्टियाँ), बिम्बी (ओष्ठोपम फल), बसुक (बकपुष्प-मौलसरी), वसिर (अपामार्ग या गजपिप्पली), चित्रक, शतावरी, बिल्व, अजश्रृङ्गी (मुण्डतिका-काकड़ाश्रृङ्गी), दर्भ (कुशा[1]), बृहतीद्वय (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी)—यह वरुणादिगण—कफ मेदनाशक, शिरःशूल, गुल्म एवं अन्तर्विद्रधि को नष्ट करता है ॥१०,११॥

वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसुकवसिरभल्लूककुरण्टकेन्दीवरकपोतवङ्काः श्वदंष्ट्रा चेति ॥१२॥

वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः ॥१३॥

वीरतर्वादि गण—

वीरतरु (अर्जुन वृक्ष), सहचरद्वय (पीले और नीले फूल की दो झिण्टी), दर्भ, वृक्षादनी (वन्दाक), गुन्द्रा (बिना गाँठ का तृण—पादरक भेद), नल (प्रसिद्ध है), कुशा, काश, अश्मभेद (पाषाणभेद), अग्निमन्थ (अरणी), मोरटा (मूर्वा), वसुक (बकपुष्प), वसिर (अपामार्ग), भल्लूक (श्योनाक), कुरण्टक (सिरिवालिका—लाल रङ्ग की झिण्टी), इन्दीवर (नीला कमल), कपोतवङ्का (सुवर्चला), श्वदंष्ट्रा (गोखरु)—यह वीरतर्वादिगण—वातविकारनाशक, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात की पीड़ा को शान्त करता है ॥१२,१३॥

लोध्रसावरलोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली चेति ॥१४॥

एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदः कफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥१५॥

लोध्रादिगण—लोध्र (पठानीलोध), सावरलोध्र (सफेदमोटी छाल), पलाश (ढाक), कुटन्नट (स्योनाक), अशोक, (लाल फूल का—रक्ताशोकश्चलकिसलयो वामपादाभिलाषी), फञ्जी (भार्गी), कट्फल (कायफल), एलवालुक (नालुका—हरिवालुक), शल्लकी (जगभद्या—शिल्लकी), जिङ्गिनी (जिङ्गन), कदम्ब, साल, कदली (केला)- यह लोध्रादिगण-मेदकफ-नाशक योनिदोषहर, स्तम्भक, वर्ण के लिये हितकारी, विषनाशक है ॥१४,१५॥

अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्चेति ॥१६॥

अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥१७॥

अर्कादिगण—अर्क (लाल फूल का आक), अलर्क (श्वेत फूल का आक) दोनों—नाटा और बड़ा करञ्ज, नागदन्ती (बड़ी जड़वाली दन्ती-जमालगोटा), मयूरक (अपामार्ग), भार्गी, रास्ना, इन्द्रपुष्पी (लांगली), क्षुद्रश्वेता (सेफन्द या अतीस), महाश्वेता (अपराजिता), वृश्चिकाली (बिछुटी), अलवणा (ज्योतिष्मती), तापसवृक्ष (इंगुदी)—यह अर्कादिगण कफ मेद एवं विष का नाशक, कृमि-कुष्ठ को शान्त करनेवाला, खासकर व्रण का शोधक है ॥१६,१७॥

सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेरककासमर्दक्षवकखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति ॥१८॥

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥१९॥

सुरसादिगण—सुरसा, श्वेतसुरसा (सफेद एवं काले फूल की तुलसी), फणिज्झक (मरुवा), अर्जक (वर्वरिका) भूस्तृण (द्रोणपुष्पी), सुमुख (राजिका), कालमालिका (कृष्णमल्लिका), कासमर्द (कसौंदी), क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्प (वनवर्वरिका), वायविडङ्ग, कायफल, सुरसी (तुलसी), निर्गुण्डी (सिन्दुवार), कुलाहल (मुण्डिका), इन्दुकर्णी (मूषिकपर्णी), फञ्जी (भार्गी), प्राचीबल (मत्स्याक्ष), काकमाची (मकोय), और विषमुष्टि (कुचिला)—यह सुरसादिगण कफ को दूर करनेवाला एवं कृमिनाशक है। प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास, कास नाशक एवं व्रणशोधक है ॥१८,१९॥

---

१ दर्भ—

"कुशः काशा बल्वजाश्च तथान्ये तीक्ष्ण-रोमशाः ।
मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव षड् दर्भाः संप्रकीर्त्तिताः ॥

मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकशिंशपावज्रवृक्षा - स्त्रिफला चेति ॥२०॥

मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत्।
मेहार्शःपाण्डुरोगाश्मशर्करानाशनः परः ॥२१॥

मुष्क (क्षारवृक्ष), पलाश (ढाक), धव, चित्रक, मदन (मैनफल), वृक्षक (कुटज), शिंशिपा (शीशम), वज्रवृक्ष (सेहुण्ड) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आँवला)—यह मुष्ककादिगण मेदोनाशक तथा शुक्रदोष को मिटानेवाला है। प्रमेह, अर्श, पाण्डुरोग नाशक एवं शर्करा को दूर करने के लिये श्रेष्ठ है ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्ति - पिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्ब - फलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥२२॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥२३॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य (चविका), चित्रक, शृङ्गवेर (आर्द्रक), मरिच (कालीमिर्च), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), हरेणुका (रेणुका), एला (बड़ी इलायची), अजमोदा (अजवायन), इन्द्रजौ, पाठा, जीरा, सरसों, महानिम्ब-फल (बकायन की निमौली), हींग, भार्गी, मधुरसा (मूर्वा), अतीस, वच, वायविडङ्ग और कुटकी, यह पिप्पल्यादिगण कफनाशक, प्रतिश्याय, वायु, अरुचि को मिटानेवाला, दीपक (अग्नि को बढ़ानेवाला), गुल्म एवं शूल का नाशक एवं आम रस का पाक करनेवाला है[१] ॥२२,२३॥

एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकु - ङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ॥२४॥

एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः ॥२५॥

एलादिगण-एला (सूक्ष्मैला), तगर, कुष्ठ, मांसी (जटामांसी), ध्यामक (कत्तृण रोहिषतृण), त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपात), नागपुष्प (नागकेसर), प्रियंगु, (फूल प्रियंगु), हरेणुका (रेणुका), व्याघ्रनख (नाखूना), शुक्ति (नख का भेद-अल्पनख), चण्डा (चोरक चोरपुष्पी), स्थौणेयक (थुणेरक), श्रीवेष्टक (सरलवृक्ष), चोच (दालचीनी का भेद-वानवासिका त्वक), चोरक (सुगन्धित द्रव्य-पहाड़ में होता है), वालुक (एलावालुक), गुग्गुलु, सर्जरस (राल), तुरुष्क (सिह्लारक), कुन्दरु (गोंद भेद), अगुरु (अगर), स्पृक्का (सुगन्धित द्रव्य), उशीर, भद्रदारु (देवदारु), कुंकुम (केसर), पुन्नागकेशर (पद्मकेशर या नागकेशर), यह एलादिगण वायु, कफ, विष को नष्ट करता है। वर्ण (रंग) को स्वच्छ करता है, कण्डू, पिड़का और कोठ[१] को नष्ट करता है ॥२४,२५॥

वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति ॥२६॥

हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ॥२७॥

एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ।
आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ॥२८॥

वचादिगण-वच, मुस्ता (नागरमोथा), अतीस, अभया (हरड़ बड़ी), भद्रदारु (देवदारु) और नागकेशर। हरिद्रादिगण-हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), कलशी (पृश्निपर्णी), इन्द्रजौ एवं मुलहठी-ये वचादि एवं हरिद्रादि दोनों गण स्तन्य (दूध) के शोधक, आमातिसारनाशक, खासकर दोषों का पाचन करनेवाले हैं ॥

श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लक - रम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीस - प्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति ॥२९॥

उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः।
आनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः ॥३०॥

श्यामादिगण-श्यामा (काली त्रिवृत), महाश्यामा (विधारा), त्रिवृत (निशोथ), दन्ती (जमालगोटा की जड़), शङ्खिनी (यवतिक्ता-कालमेघ), तिल्वक (रोध्रलालत्वचा वैरेचनिक वृक्ष), क्रमुक (सुपारी), पुत्रश्रेणी (दन्ती का भेद), गवाक्षी (इन्द्रायण), राजवृक्ष (अमलतास), करञ्जद्वय (दोनों करञ्ज नाटा और पूती), गुडूची (गिलोय), सप्तला (सातला), छागलांत्री (विधारे का भेद), सुधा (सेहुण्ड), और स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी चोक)—यह श्यामादिगण गुल्म एवं विषनाशक है। आनाह, उदररोगनाशक, मलविरेचक, एवं उदावर्त्तनाशक है ॥२९,३०॥

बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकं चेति ॥३१॥

पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापहः।
कफारोचकहृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः ॥३२॥

बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), कुटजफल (इन्द्रजौ), पाठा, मधुक (मुलहठी), यह बृहत्यादि गण—पाचक, पित्त-वायु-नाशक, कफ, अरुचि, हृदयरोग, मूत्रकृच्छ्र की पीड़ा को दूर करता है ॥३१,३२॥

पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति ॥

पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः।
ज्वरोपशमनो व्रणयश्छर्दिकण्डूविषापहः ॥३४॥

पटोल (परवल), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लाल चन्दन), मूर्वा, गिलोय, पाठा और कुटकी यह पटोलादिगण—पित्त कफ अरुचि का नाशक, ज्वर को शान्त करनेवाला, व्रण के

---

१ आमपाचन—
"जठरानलदौर्बल्याद् अविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः ॥"

१ बरटीदष्टसंकाशः कण्डुमान् लोहितोऽस्रकफवातात्।
क्षिप्रोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते सद्भिः ॥

लिये हितकारी, छर्दि, कण्डू, विष को नाश करता है ।३३,३४।

काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णी-मेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्ड-रीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं चेति ॥ ३५ ॥

काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥ ३६ ॥

काकोल्यादिग—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, छिन्नरुहा (गिलोय), कर्कटश्रृङ्गी (काकड़ाश्रृंगी), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), पद्मक (पद्माख), प्रपौण्डरीक, (श्वेतकमल), ऋद्धि, वृद्धि, मृद्वीका (द्राक्षा), जीवन्ती (स्वर्णजीवन्ती) और मधुक (मुलहठी), यह काकोल्यादिगण पित्त रक्त-वायु का नाशक है। जीवन, बृंहण, वृष्य है, दूध एवं कफ का वर्धक है ॥ ३५,३६ ॥

ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गुतुत्थकं चेति ३७

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥ ३८ ॥

ऊषक (क्षारमृत्तिका), सैन्धव—सैन्धानमक, शिलाजतु (शिलाजीत), कासीसद्वय (हरा एवं पीला कासीस), हींग, तुत्थक (नीला थोथा)—यह ऊषकादिगण कफ, मेद का नाशक है, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, शूल एवं गुल्म का नाशक है ॥ ३७,३८ ॥

सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूक-पुष्पाण्युशीरं चेति ॥ ३९ ॥

सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः।
पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः ॥ ४० ॥

सारिवा (अनन्तमूल), मधुक (मुलहठी), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लालचन्दन), पद्मक (पद्माख), काश्मरी फल (गम्भारी फल), मधूकपुष्प (महुवे के फूल), और उशीर—यह सारिवादिगण पिपासा तथा रक्तपित्त कफ-नाशक है। पित्त ज्वर को शान्त करता है, खासकर दाह को नष्ट करता है ॥ ३९,४० ॥

अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनके-शराणि मधुकं चेति ॥ ४१ ॥

अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं भृशम् ॥ ४२ ॥

अञ्जन (स्रोतोऽञ्जन), रसांजन (रसौंत) नागपुष्प (नागकेशर), प्रियंगु (फूलप्रियंगु) नीलोत्पल (नीलाकमल), नलद (उशीर), नलिनकेशर (पद्मकेशर) और मुलहठी—यह अञ्जनादिगण रक्त-पित्त का नाशक, एवं खासकर शरीर के अन्दर के दाह को नष्ट करता है ॥ ४१,४२ ॥

परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफ-लानि त्रिफला चेति ॥ ४३ ॥

परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः।
मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः ॥ ४४ ॥

परूषक (फालसा), द्राक्षा (मुनक्का), कट्फल (कायफल), दाड़िम (अनार), राजादन (पियालफल), कतकफल (निर्मली), शाकफल (शगुन का फल) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला)। यह परूषकादिगण वायु का नाशक, मूत्र दोष को मिटानेवाला, हृदय के लिये प्रिय पिपासानाशक है एवं रुचि उत्पन्न करता है ॥ ४३,४४ ॥

प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दन-मोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोऽञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ॥ ४५ ॥

अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमंगाकट्वंगमधुकबिल्वपेशिका-सावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति ॥ ४६ ॥

गणौ प्रियंग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥ ४७ ॥

प्रियंगु, समङ्गा (मजीठा), धातकी (धाय), पुन्नाग (तुङ्ग), नागपुष्प (नागकेशर), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लालचन्दन), मोचरस (सिम्बल का गोंद), रसाञ्जन (रसौंत), कुम्भीक (जलपर्णी-पाना), स्रोतोऽञ्जन, पद्मकेशर, योजनवल्ली (मजीठ-वराहक्रान्ता), दीर्घमूला (दुरालभा या शालपर्णी)।

अम्बष्ठा (पाठा), धातकीकुसुम (धाय के फूल), समंगा (वराहक्रान्ता), कट्वङ्ग (श्यानाक), मधुक (मुलहठी); बिल्वपेशिका (बाल बिल्वगिरी), सावर-रोध्र (पठानीलोध), पलाश (ढाक), नन्दीवृक्ष (काश्मरी गम्भारी), पद्मकेशर (नागकेशर)—ये दोनों प्रियंग्वादि एवं अम्बष्ठादिगण पक्व-अतिसार का नाश करनेवाले हैं। दोनों गण टूटी अस्थियों को जोड़नेवाले, पित्त में हितकारी और वर्णों का सराहण करने-वाले हैं ॥ ४५-४७ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनककुभाम्रको-शाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्ब-बदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसावररोध्रभल्लातकपलाशा नन्दी वृक्षश्चेति ॥ ४८ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः।
रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥ ४९ ॥

न्यग्रोध (बड़), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पिलखन), मधुक (महुवा), कपीतन (आम्रातक), ककुभ (अर्जुन), आम्र (आम), कोशाम्र (काष्ठ आम), चोरकपत्र (चोर वृक्ष के पत्ते), जम्बूद्वय (जामुन और जिमाया), पियाल, मधुक (मुलहठी), रोहिणी (कटुरोहिणी), वञ्जुल (वेतस), कदम्ब, बदरी (बेर), तिन्दुकी, सल्लकी, रोध्र, सावर-रोध्र, भलातक (भिलावा), पलाश (ढाक), और नन्दीवृक्ष (पाश्वंपीपल)—यह न्यग्रोधादिगण वण के लिये हितकारी, संग्राही, भग्न को मिलानेवाला, रक्तपित्तनाशक, दाह-मेद को तथा योनिरोगों को दूर करता है ॥ ४८,४९ ॥

गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बरुचन्दनानि पद्मकं चेति ॥ ५० ॥
एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ।
हृल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥ ५१ ॥

गिलोय, नीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया), चन्दन और पद्माख, यह गुडूच्यादिगण सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। अग्निदीपक है। हृल्लास (मचली), अरुचि, वमन, पिपासा, दाह को नष्ट करता है ॥ ५०,५१ ॥

उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥ ५२ ॥
उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।
पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्छाहरो गणः ॥ ५३ ॥

उत्पल (कमल), लालकमल, कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (सुगन्धि), कुवलय (थोड़ा नीला-श्वेतकमल), पुण्डरीक (श्वेतपद्म) और मुलहठी—यह उत्पलादिगण दाह-पित्त-रक्तनाशक है। पिपासाविष-हृदयरोग, छर्दि (वमन), मूर्च्छा को दूर करता है ॥ ५२,५३ ॥

मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकविभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति ॥ ५४ ॥
एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः ।
योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥ ५५ ॥

मुस्ता (नागर मोथा), हरिद्रा (हल्दी), दारुहरिद्रा (दारुहल्दी), हरीतकी, आँवला, बहेड़ा, कूठ, हैमवती (श्वेत वच), पाठा, कटुरोहिणी (कुटकी), शार्ङ्गेष्टा (यवतिक्ता), अतिविषा (अतीस), द्राविड़ी (इलायची), भल्लातक (भिलावा), चित्रक (चीता)—यह मुस्तादिगण कफनाशक है। योनिदोषनाशक, दूध का शोधन करनेवाला और पाचन है ॥ ५४,५५ ॥

हरीतक्यामलकविभीतकानीति त्रिफला ॥ ५६ ॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशिनी ॥ ५७ ॥

हरड़, बहेड़ा और आँवला—इनका नाम त्रिफला है। यह त्रिफला—कफपित्तनाशक है, प्रमेह कुष्ठ को नष्ट करता है, आँखों के लिये हितकारी, अग्निदीपक और विषम ज्वर को नष्ट करता है ॥ ५६,५७ ॥

पिप्पलीमरिचशृंगवेराणीति त्रिकटुकम् ॥ ५८ ॥
त्र्यूषणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।
निहन्याद्दीपनं गुल्मपीनसाग्न्यल्पतामपि ॥ ५९ ॥

पिप्पल्यादिगण—पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (सोंठ)—इनका नाम त्रिकटु है। यह त्रिकटु (त्र्यूषण) कफ मेदनाशक, प्रमेह, कुष्ठ, त्वचा के रोगों को दूर करता है। अग्निवर्धक है, गुल्म, पीनस, अग्निमान्द्य को दूर करता है ॥५८,५९॥

आमलकीहरीतकीपिप्पलीचित्रकाश्चेति ॥ ६० ॥
आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥ ६१ ॥

आँवला, हरड़, पिप्पली और चित्रक—यह आमलकादिगण सब प्रकार के ज्वरों को दूर करता है। आँखों के लिये हितकारी अग्निदीपक, वृष्य, कफ एवं अरुचिको नष्ट करता है।

त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलश्चेति ॥
गणस्त्रप्वादिरित्येष गरकृमिहरः परः ।
पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥ ६३ ॥

त्रपु, सीसक, ताम्बा, रजत (चाँदी), कृष्णलोह (तीक्ष्णलोह) स्वर्ण, लोहमल (किट्ट[1])—यह त्रप्वादिगण, गर (कृत्रिम विष) एवं कृमिनाशक है। पिपासा, विष, हृदयरोग, पाण्डु, प्रमेह को दूर करता है ॥ ६२,६३ ॥

लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥ ६४ ॥
कषायतिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।
कुष्ठकृमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ॥ ६५ ॥

लाक्षा (लाख), आरेवत (शम्पाक), कुटज (कूड़ा), अश्वमार (करवीर), कट्फल (कायफल), हरिद्राद्वय (हल्दी, दारुहल्दी), निम्ब, सप्तच्छद (सातवन), मालती (चमेली), त्रायमाणा (जलब्रहुला) और (त्रिफला), यह गण कषाय, तिक्त, मधुर रस, कफ-पित्तज रोगों को नष्ट करनेवाला, कुष्ठ-कृमिनाशक, एवं दूषित व्रण का शोधक है ॥ ६४,६५ ॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—
तत्र त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥ ६६ ॥
कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥ ६७ ॥

इसके आगे पाँच पञ्चमूल कहते हैं। इनमें—प्रथम पञ्चमूल, त्रिकण्टक (गोखरु), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी (पृश्निपर्णी) और विदारीगन्धा (शालपर्णी)—यह लघु पञ्चमूल है। यह लघु पञ्चमूल कषाय, तिक्त, मधुररस है, वातनाशक, पित्तशामक, बृंहण एवं बलवर्धक है ॥७६,६७॥

बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मरी चेति महत् ।
सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।
मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥ ६९ ॥

महापञ्चमूल—बिल्व (बेलगिरि), अग्निमन्थ (अरणी), टिण्टुक (श्योनाक), पाटला (पाटली) और काश्मरी (गम्भारी)—यह महा पञ्चमूल है। महापञ्चमूल—तिक्तरस, कफवातनाशक, पाक में लघु, अग्निवर्धक, मधुर अनुरस है ॥

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥ ७० ॥
गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

---

१ किट्ट का लक्षण—
"शताब्दमुत्तमं किट्टं मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम् ।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥

इन दोनों (लघु और महान्) को दशमूल कहते हैं। यह दशमूल—श्वासनाशक, कफ, पित्त, वायु नाशक, आम का पाचक एवं सब प्रकार के ज्वर को नष्ट करता है ॥७०,७१॥

विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः ७२।
करमर्दीत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः
रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ।
सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

वल्लीपञ्चमूल—विदारीकन्द, सारिवा (अनन्तमूल), रजनी (हल्दी), गुडूची और अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी), यह वल्ली पञ्चमूल है।

कण्टक पञ्चमूल—करमर्द (करौंदा), त्रिकण्टक, (गोखरु), सैरीयक (झिण्टी), शतावरी और गृध्रनख (नाखून) ये कण्टक पञ्चमूल है।

ये दोनों पञ्चमूल रक्तपित्तनाशक, वातपित्त, कफजन्य तीनों प्रकार के शोथों को नष्ट करते हैं। सब प्रकार के प्रमेहों को मिटाते हैं। शुक्रदोष को दूर करते हैं[1] ॥७२-७४॥

कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञकः ॥७५॥
मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

तृण पञ्चमूल—कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु (गन्ना) इनकी तृणपञ्चमूलसंज्ञा है। यह तृण पञ्चमूल मूत्रदोष का, रक्तपित्त को दूध के साथ देने से शीघ्र आराम कर देता है[2] ॥७५,७६॥

एषां वातहरावाद्यावन्त्यः पित्तविनाशनः।
पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरौ परिकीर्तितौ ॥७७॥

इनमें लघु एवं महापञ्चमूल वातनाशक हैं, तृणपञ्चमूल पित्तनाशक है। शेष दो, वल्ली और कण्टक पञ्चमूल दानों कफनाशक हैं ॥७७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥७८॥

त्रिवृत आदि को अन्यत्र कहेंगे ॥७८॥

समासेन गणा ह्येते प्रोक्तास्तेषां तु विस्तरम्।
चिकित्सितेषु वक्ष्यामि, ज्ञात्वा दोषबलाबलम् ॥७९॥

यहाँ पर ये गण संक्षेप में कह दिये हैं—इनका विस्तार चिकित्सास्थान में दोषादि के बलाबल की अपेक्षा से करेंगे ॥

एभिर्लेपान् कषायांश्च तैलं सर्पींषि पानकान्।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक् ॥८०॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि इन गणों से लेप, कषाय, तैल, घी, पानक (ठण्डाई आदि) आदि वस्तुयें आवश्यकतानुसार तैय्यार करनी चाहिये ॥८०॥

धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते।
ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधसंग्रहम् ॥८१॥

विधिपूर्वक औषधियों को एकत्रित करके—धूम, वर्षा, वायु, जल से रहित एवं सब ऋतुओं में उपद्रवों से रहित घर में औषधियों का संग्रह करना चाहिये ॥८१॥

समीक्ष्य दोषभेदांश्च भिन्नान् मिश्रान् प्रयोजयेत्।
पृथङ्मिश्रान् समस्तान्वा गणं वा व्यस्तसंहतम् ॥८२॥

दोषों को भिन्न-पृथक् पृथक् देखकर गणों को भी पृथक् पृथक् प्रयोग करना चाहिये। दोषों को मिश्रित (द्वन्द्व रूप में) देखकर गणों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। समस्त (तीनों) दोषों के मिले होने पर—तीन या अधिक गणों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। अथवा गण की एक दो तीन या चार औषधियों को पृथक् या दूसरे गण की औषधियों से मिलाकर प्रयोग करना चाहिये ॥८२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यसंग्रहणीयो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः संशोधनसंशमनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे संशोधन, संशमनीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पी-बिम्बीवचामृगेर्वारुश्चित्राचेत्यूर्ध्वभागहराणि। तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि ॥३॥

संशोधन दो प्रकार का है। वमन और विरेचन। इनमें वमन मुख्य होने से इसको प्रथम कहते हैं—

मदन (मैनफल), कुटज (कूड़ा), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (कड़वी तुरई), कृतवेधन (कोषातकी का भेद), सर्षप (सरसों), विडंग (वायविडंग), पिप्पली, करञ्ज, प्रपुन्नाड (पनयाड), कोविदार (कचनार), कर्बुदार (लसोड़ा), अरिष्ट (नीम), असगन्धा, विदुल (वेतस), बन्धुजीवक (बन्धुजीव), श्वेता (श्वेतवच), शणपुष्पी, बिम्बी (कन्दुरी), वचा, मृगेर्वारु

---

१. वल्लीज पञ्चमूल—
"वल्लीजं पञ्चमूलं तु प्रशस्तं कफनाशनम्।
सृष्टमूत्रानिलहरं वृष्यमिन्द्रियबोधनम् ॥"
कण्टकपञ्चमूल—
"कण्टकाख्यं पञ्चमूलं कफानिलहरं परम्।
मधुरानुरसं चैव पक्वाशयविशोधनम् ॥"

२. क्षीरपाकविधि—
"द्रव्यादष्टगुणं तोयं, क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥"

(इन्द्रायण), चित्रा (द्रवन्ती)—ये द्रव्य ऊर्ध्वभाग—मार्ग से दोषों को (वमन रूप में बाहर) निकालते हैं। इनमें कोविदार से पूर्व के द्रव्यों का फल ग्रहण करना चाहिये और कोविदार आदि द्रव्यों का मूल ग्रहण करना चाहिये ॥३॥

त्रिवृताश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिका-गवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीकुशकाश-तिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकविभीत-कनीलिनीचतुरङ्गुलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योति-ष्मती चेत्यधोभागहराणि। तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः, कम्पिल्लकफलरजः, पूगादीनामेरण्डान्तानां फलादि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति ॥४॥

त्रिवृत (निशोथ), श्यामा (लाल मूल की निशोथ), दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती, सप्तला (सातला-सेहुण्ड), शङ्खिनी (कालमेघ), विषाणिका (मेढाश्रृंगी), गवाक्षी (इन्द्रायण), छाग-लान्त्री (वृक्षदारक), स्नुक् (स्नुही), स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), चित्रक, किणिही (कटभी), कुश, काश, तिल्वक (स्वल्पलोध्र), कम्पिल्लक (कमीला), रम्यक (बकायन), पाटला, पूग (सुपारी), हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीलिनी (नीलिबध्न-श्रीफलिका वननीली), चतुरंगुल (अमलतास), एरण्ड, पूतीक (चिरबिल्व), महावृक्ष (बहुत काँटोंवाली स्नुही) सप्तच्छद (सप्तपर्ण), और ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), ये द्रव्य अधोभाग द्वारा (विरेचन से) मलों को बाहर करते हैं। इनमें तिल्वक से पूर्व द्रव्यों के मूल, तिल्वक से लेकर पाटला तक औषधियों की त्वचा, कम्पिल्लकफल की रज (बूर), पूग से लेकर एरण्ड तक औषधियों के फल, पूतीक एवं आरग्वध के पत्र; शेष द्रव्यों का दूध बरतना चाहिये ॥४॥

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि। एषां स्वरसा इति ॥५॥

कोशातकी (तुरई), सप्तला (दातलास्नुहीभेद), शङ्खिनी (यवतिक्ता), देवदाली और कारवेल्लक (करेला) ये वस्तुयें वमन एवं विरेचन दोनों मार्गों से दोषों को निकालते हैं। इन औषधियों का स्वरस बरतना चाहिये ॥५॥

पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकर-वीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्का-लर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेष-शृंगीमातुलुंगामुरंगीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुल-वणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि। तत्र करवी-रपूर्वाणां फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, ताली-शपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृंगयोस्त्वचः, मातुलुंगीमुरंगीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मद्यान्यासुतसंयोगाः शकृद्रस-मूत्रे मलाविति ॥६॥

शिरोविरेचन द्रव्य—पिप्पली, वायविडङ्ग, अपामार्ग (चिरचिटा), शिग्रु (सहजन), सिद्धार्थक (सरसों), शिरस, मरिच, करवीर (कनेर), बिम्बी (कन्दुरी), गिरिकर्णिका (सेफन्द, अपराजिता), किणिही (कटभी), वच, ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), करञ्ज, आक, अलर्क (श्वेत पुष्प का आक), लशुन, अतीस, सोंठ, तालीशपत्र, तमालपत्र, सुरसा (तुलसी), अर्जक (कुठेरक तुलसीभेद), इंगुदी, मेढाशृङ्गी, मातुलुङ्गी (बिरौज भेद), मुरंगी (लालफूल का सहजन), पीलु, जाति (मालती), साल, ताड़, महुवा, लाख, हींग, लवण, मद्य, गोमयरस, गोमूत्र–ये शिरो-विरेचन द्रव्य हैं। इनमें करवीर से लेकर आक तक की औष-धियों की जड़, तालीशपत्र से पूर्व द्रव्यों का कन्द तालीशपत्र से लेकर अर्जक तक के द्रव्यों के पत्र, इंगुदी और मेषशृङ्गी की त्वचा, मातुलुङ्गी, मुरंगी, पीलु जाति के पत्र, शाल–ताड़ और महुवे का सार, हींग और लाख गोंद हैं, लवण खनिज सन्धान के प्रभाव से प्रस्तुत द्रव "मद्य" होते हैं। गोबर और मूत्र ये मल हैं ॥६॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठाहरि-द्रावरुणमेषशृंगीबलातिबलार्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षी-वीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कश-तावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिका-लीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च, द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ, समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥७॥

इसके आगे संशमन—द्रव्य कहते हैं। भद्रदारु (देवदारु), कूठ, हरिद्रा (हल्दी), वरुण (वरना), मेढाशृङ्गी, बला (खरैटी), अतिबला (पीले फूल की बला), आर्त्तगल (ककुथ), कच्छुरा (शूक, शिम्बी, कौंच, सल्लकी, कुबेराक्षी (पोटिका—पाटल), वीर-तरु (अर्जुन), सहचर (कन्टशेलियाक, अथवा पियाबाँसा), अग्नि-मन्थ (अरणी), वत्सादनी (गिलोय), एरण्ड, अश्मभेद (पाषा-णभेद), अलर्क (श्वेत पुष्प का आक), आक, शतावरी, पुनर्नवा (साठी इटसिठ), वसुक (मौलसिरी का फूल—वनपुष्प), वशिर (सूर्यावर्त्त), काञ्चनक (धतूरा), भार्ङ्गी, कार्पासी (बन कपास) वृश्चिकाली (बिच्छूटी), पत्तूर (कुचन्दन), बेर, जौ, कोल (झाड़ी का बेर) कुलत्थी आदि (माष, तिल, अलसी आदि) द्रव्य एवं विदारीगन्धादि गण तथा प्रथम दो पञ्चमूल (लघु और महा पञ्चमूल)—यह संक्षेप से वातसंशमन वर्ग है ॥७॥

चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीश-तावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द (द) लीदूर्वामू-र्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादि-न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥८॥

चन्दन (श्वेत चन्दन), कुचन्दन (लाल चन्दन), ह्रीबेर (बालक ह्रीबेर), उशीर (खस), मजीठ, पयस्या (क्षीरकाकोली, शतावरी), विदारीकन्द, शतावरी, गुंद्रा (एड़काकत्तृण), शैवाल (काई), कह्लार (लाल कमल), कुमुदोत्पल (श्वेत कमल), कन्दली (पद्मबीज या सर्पच्छत्रिका), दूर्वा, मूर्वा आदि (मधुर, तिक्त द्रव्य), काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि और तृण पञ्चमूल—यह संक्षेप में पित्तशामक वर्ग है ॥८॥

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनः काकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिबृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः ॥९॥

कालेयक (मलयाचल का चन्दन विशेष जो काले रंग का होता है), अगुरु (अगर), तिलपर्णी (हुलहुल), कूठ, हरिद्रा, शीतशिव (कर्पूर), शतपुष्पा (सौंफ), सरला (त्रिवृत), रास्ना, प्रकीर्या (गोटाकरञ्ज), उदकीर्या (चिरबिल्व, करञ्ज), इंगुदी, सुमन (चमेली), काकादनी (हिंस्रा, गुञ्जा), लांगली (कलिहारी) हस्तिकर्ण (लाल एरण्ड), मुञ्जातक (स्वल्पकन्द विशेष), लामज्जक (उशीर) आदि द्रव्य, वल्ली एवं कण्टक पञ्चमूल, पिप्पल्यादि, वृहत्यादि, मुष्ककादि, वचादि, सुरसादि, आरग्वधादि गण संक्षेप में कफनाशक है ॥९॥

तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात्। तत्र, व्याधिबलादधिकमौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति; अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टभ्य वा पच्यते; पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम्; एवं संशोधनमतिपातयति। हीनमेभ्यो दत्तमकिंचित्करं भवति। तस्मात् सममेव विदध्यात् ॥१०॥

इनमें संशोधन एवं संशमन सब औषधियाँ रोग, अग्नि, पुरुष के बल को देखकर प्रयुक्त करनी चाहिये। यदि व्याधि के बल से अधिक औषधि रोगी को दी जाती है, तो वह रोग को शान्त करके अन्य रोग को उत्पन्न कर देती है। अग्निबल से अधिक औषध अजीर्ण उत्पन्न करके, शरीर में देर तक स्थिर होकर (विबन्ध या) शूल उत्पन्न करके पचती है। पुरुष बल से अधिक औषध ग्लान, मूर्च्छा, मद (नशा) उत्पन्न करती है। ये संशमन द्रव्यों के गुण, दोष हैं। संशोधन औषध भी बहुत हानि करती है। हीन मात्रा में दी हुई औषध कुछ गुण नहीं करती, इसलिये उचित मात्रा में औषध देनी चाहिये ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्दोषदुर्बलः।
तस्मै दद्याद्भिषक् प्राज्ञो दोषप्रच्यावनं मृदु ॥११॥

कहा भी है—

संशोधन साध्य रोग में जो रोगी दुर्बल हो, उस के लिये कोमल विरेचन देना चाहिये। (यथा मृदु-वीर्य, अमलतास आदि) ॥११॥

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतात्र बलं नृणाम्।
अव्याधिदुर्बलस्याति शोधनं हि तदा भवेत् ॥१२॥
स्वयं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम्।
भवेदल्पबलस्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥१३॥

दोष के अपने स्थान से चलायमान होने पर एवं कोष्ठ के मृदु होने पर विना व्याधि के कारण (उपवासादि से) दुर्बल होने की अवस्था में—रोगी के बल की विवेचना नहीं करनी चाहिये। यह दुर्बल विरेचन को सहन नहीं कर सकता, ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। क्योंकि—जब दोष स्वयं प्रवृत्त (चलायमान) हो रहे हों, कोष्ठ मृदु हो, अल्प बलवाले रोगी को भी दिया हुआ संशोधन रोग का नाशक होता है। (कहा भी है—अपने स्थान से स्खलित, पके हुए दोषों को निबल या बलवान् दोनों को निकालना चाहिये।) ॥१२,१३॥

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते।
बिडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोऽक्षसंमितः ॥१४॥

रोग अग्नि एवं पुरुष के मध्यम बल होने पर (शृत, शीत, फाण्ट) को अञ्जलि (चार पल) देनी चाहिये। चूर्णविडाल पद (एक कर्ष), कल्क (द्रवपिष्ट) एक अक्ष (कर्ष मात्र) देना चाहिये। रोग आदि के हीन बल होने पर मात्रा भी अधिक होनी चाहिये ॥ १४ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने संशोधनसंशमनीयो नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

—०—

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'द्रव्य, रस, गुण, वीर्य विपाक विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥ १,२ ॥

---

१ द्रव्य—औषध, रस, मधुरादि, गुण-शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, पिच्छिल, विशद, श्लक्ष्ण, परुष, कठिन, मृदु, द्रव, सान्द्र, स्थिर, सर, स्थूल, सूक्ष्म—ये बीस गुण हैं। वीर्य आठ प्रकार का है। (आगे-शीतोष्ण भेद कहेंगे)। गुण और वीर्य में भेद-हरीतकी के समान ही आँवले में गुण हैं।

केचिदाचार्या ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानं कस्मात्? व्यवस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा—आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति; नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति; स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि; पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः; आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयः; आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा—'विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्' इत्येवमादिषु न रसादिस्तत्रारम्भः, शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे योगानां, यथा—'मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च' इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते, क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः संपूर्णे संपूर्णा इति, एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते यथा—महावृक्षक्षीरेणेति, तस्माद् द्रव्यं प्रधानं न रसादयः; कस्मात्? निरवयवत्वात्। द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥३॥

कुछ आचार्यों की सम्मति है कि इन सब में 'द्रव्य' ही प्रधान है। कारण-व्यवस्थित होने से। द्रव्य ही व्यवस्थित रहता है, रस आदि व्यवस्थित नहीं रहते। जिस प्रकार कि कच्चे फल में प्रथम कषाय, अम्ल रस रहता है, पकने पर पीछे मधुर रस उत्पन्न हो जाता है—वे रस नहीं रहते, परन्तु वह आम का फल-आम्रातक या कोशाम्र दूसरा फल नहीं बनता, अपितु आम ही रहता है। दूसरा कारण—नित्यत्वात् नित्य होने से द्रव्य प्रधान है। द्रव्य नित्य हैं और गुण अनित्य—विनाशी हैं। जिस प्रकार कल्क (स्वरस, शृत, फाण्ट) आदि में गुण, रस, गन्ध, वे ही रहते हैं, या बदल बिगड़ जाते हैं। तीसरा कारण—अपनी (पार्थिवादि) जाति में अवस्थित रहने के कारण द्रव्य प्रधान है। जिस प्रकार पार्थिव द्रव्य, जलीय आदि जाति में परिवर्त्तित नहीं होते, उसी पार्थिव रूप में रहते हैं। चौथा कारण—पाँचों इन्द्रियों से द्रव्य का ग्रहण होता है। इसलिए द्रव्य प्रधान है। पाँचों इन्द्रियों से द्रव्य का ही ग्रहण होता है, रस आदि का नहीं। पांचवाँ कारण-आश्रय होने से द्रव्य प्रधान है। रसादि द्रव्य में ही आश्रय करके रहते हैं। छठा कारण—योग का आरम्भ—उपक्रम सामर्थ्य में ही है। यथा-विदारीगन्धा आदि द्रव्यों को लाकर, कूटकर पकाना चाहिये, यह व्यवहार द्रव्य में ही होता है, रसादि में नहीं। सातवाँ कारण शास्त्र के प्रमाण से द्रव्य प्रधान है। यथा—मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ आदि में द्रव्य का ही उपदेश शास्त्र में है, रसादि का नहीं। आठवाँ कारण—रस आदिमें क्रम की अपेक्षा रहती है, क्योंकि रस आदि द्रव्य के क्रम की अपेक्षा रखते हैं। यथा—तरुण द्रव्य में रस भी तरुण रहते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य में रस भी सम्पूर्ण रहते हैं। नौवाँ कारण—रोगों के एकदेश द्वारा साध्य होने से। यथा—द्रव्यों के एक भाग से रोग अच्छे होते हैं—जैसे—महावृक्ष के दूध से। इसलिये रस-वीर्य-विपाक में द्रव्य ही प्रधान है। रसादि प्रधान नहीं। क्योंकि रसादि अवयव रहित हैं। द्रव्य का लक्षण—क्रिया गुण वान् एवं समवायिकरणवाला द्रव्य है। जिसमें क्रिया तथा गुण रहें और जो समवायी करण हो वह द्रव्य है, यथा—वस्त्र में तन्तु, घड़े में मिट्टी ॥३॥

नेत्याहुरन्ये; रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते, शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः उपदेशात्, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति, तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा। रसलक्षणमन्यत्र पदेक्ष्यामः ॥४॥

दूसरे आचार्यों का कथन है कि यह ठीक नहीं (द्रव्य प्रधान नहीं है), रस ही प्रधान हैं। क्योंकि—आगम के प्रमाण से। आगम का अर्थ शास्त्र है। शास्त्र में रस को ही प्रधानता दी गई है। यथा—आहार रस के अधीन है और प्राण आहार के आश्रित हैं। दूसरा कारण—उपदेश से यथा-मधुर, अम्ल, लवण रस वायु का शमन करते हैं। तीसरा कारण—अनुमान से रस के द्वारा ही द्रव्य का अनुमान होता है, यथा—यह मीठा है। चौथा कारण—ऋषि के वचन से। ऋषिवचन का अर्थ वेद है, यथा—यज्ञ के लिये कुछ थोड़ा मधुर (मीठा) लाओ, यहाँ पर द्रव्य को न कहकर रस को मांगा। इसलिये रस ही प्रधान है। रस की भांति गुण भी प्रधान है। रस का लक्षण (रसविज्ञानीय अध्याय में) कहेंगे ॥४॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसाङ्ग्राहिकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति। तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं

परन्तु वीर्य में भेद है, हरीतकी उष्णवीर्य और आँवला शीतवीर्य है। द्रव्य, रस, गुण, विपाक द्वारा जो कार्य नहीं हो सकता, वह प्रभाव से होता है।

"वीर्यं शक्तिरुत्पत्तिविशेषः सामर्थ्यं प्रभाव इत्यर्थान्तरम्।"

चेति। एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्, तथा कुलत्थः कषायः कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदु शीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च, तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्; मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं; कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥५॥

यह भी ठीक नहीं—वीर्य ही प्रधान है, ऐसा तीसरे आचार्यों का मत है। कारण—वीर्य की अधीनता से औषध कर्म होता है। औषध कर्म, यथा—ऊर्ध्वभाग (वमन), अधोभाग (विरेचन), दोनों भागों का संशोधन, संशमन, संग्राहक (शाल्मलीत्वच् आदि), अग्निदीपक (चित्रक आदि), प्रपीड़न, लेखन (पत्तली-करण), बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन (मत्तताकरण), प्राणघ्न, विषप्रशमन (अगदादि), आदि कर्म वीर्य की प्रधानता से ही होते हैं। यह वीर्य दो प्रकार का है—शीत और उष्ण। क्योंकि—जगत् अग्नीषोमीय है, आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों से उत्पन्न हुआ है[1]। कई आचार्यों का मत है कि वीर्य आठ प्रकार का है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल मृदु और तीक्ष्ण। ये वीर्य अपने गुण की प्रधानता से रस को पराजित करके अपना कार्य करते हैं। यथा—महापञ्चमूल उष्णवीर्य होने से ही तिक्तकषाय-अनुरस होने पर भी वायु का शमन करता है। कुलत्थी कषाय रस, पलाण्डु कटुरस होने पर भी स्निग्ध (स्निग्धवीर्य) होने से वायु का शमन करते हैं। गन्ने का मधुर रस—शीतवीर्य होने से वायु को बढ़ाता है। पिप्पली का कटुरस मृदु, शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करता है। आँवले का खट्टा रस और सैन्धव का लवण रस मृदु, शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करते हैं। मकोय का तिक्तरस पित्त को बढ़ाता है, उष्णवीर्य होने से। मछलियों का मधुर रस, मूली का कटुरस कफ को बढ़ाता है स्निग्ध वीर्य होने से। रूक्ष वीर्य होने से, खट्टा कैथ और मधुर शहद कफ का शमन करते हैं। यह केवल उदाहण मात्र ही हैं ॥५॥

भवन्ति चात्र—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥६॥

ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥७॥

ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
स्नेहगौरवशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥८॥

तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति ॥९॥

कहा भी है—

जो रस (मधुर, अम्ल, लवण) वायु का शमन करते हैं, यदि इनमें रूक्ष, लघु, शीतवीर्य हो तो ये वायु का शमन नहीं कर सकते। जो रस (मधुर, तिक्त, कषाय) पित्त का शमन करते हैं, यदि इनमें तीक्ष्ण, उष्ण, लघु वीर्य हो तो ये पित्त का शमन नहीं कर सकते। जो रस (कटु, तिक्त, कषाय) कफ का शमन करते हैं, यदि इनमें स्नेह गुरु, शीतवीर्य हो तो ये कफ का शमन नहीं कर सकते। इसलिये रस से भी वीर्य ही प्रधान है॥

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपकत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपकानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। तत्राहुरन्ये-प्रतिरसं पाक इति। केचित्त्रिविधमिच्छन्ति-मधुरमम्लं कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादामाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः, दृष्टान्तं चोपदिशन्ति,—यथा तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्तथा शालियवमुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिद्वदन्ति—अबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थितिः, तस्माद् सिद्धान्त एष आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव पाक इति ॥१०॥

यह बात ठीक नहीं, विपाक ही प्रधान है—ऐसी चौथे आचार्यों की सम्मति है। कारण—सब भुक्त द्रव्य ही, विपाक द्वारा गुण या दोष को उत्पन्न करते हैं। सम्यक्विपाक होने पर गुण एवं मिथ्याविपाक होने पर दोष उत्पन्न करते हैं। कई आचार्यों का कहना है कि पाक—प्रत्येक रस के अनुसार होता है। (इस प्रकार से छः प्रकार का विपाक है)। कोई तीन प्रकार का विपाक मानते हैं, यथा—मधुर, अम्ल और कटु। यह ठीक नहीं है। क्योंकि—पृथ्वी और अग्नि के गुणों से एवं आम के कारण 'अम्ल' विपाक नहीं है—पित्त ही विदग्ध होकर

---

१ उपनिषदों में भी कहा है—'प्रजापतिः प्रजाकामो। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्च, इत्येतौ प्रजाः करिष्यन्ते। रयिरेव चन्द्रमाः, प्राण एव सूर्यः॥' प्रश्नोपनिषद्।

अम्ल हो जाता है, आग्नेय गुण होने से। यदि अम्ल विपाक को मानते हो तो–'लवण' भी एक पाक होगा, क्योंकि श्लेष्मा विदग्ध होकर 'लवण' हो जाता है। कई आचार्यों का कहना है कि मधररस का मधरविपाक, अम्ल रस का अम्लविपाक। इस प्रकार से सब रसों का (प्रतिरस) विपाक होता है। वे अपने इस कथन की पुष्टि में उदाहरण भी देते हैं–जिस प्रकार थाली (कड़ाही) में रक्खा दूध पकने पर भी मधुर ही रहता है, जिस प्रकार शाली (हेमन्तधान्य), जौ, मूङ्ग आदि भी भूमि में बोए जाने पर दूसरा फल लगने (पकने) पर भी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकते। इसी प्रकार से रस भी जठराग्नि द्वारा पाक होने पर भी अपने मधुर आदि स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकते। कई आचार्यों का कथन है कि—निर्बल रस बलवान् रसों के वश में आ जाते हैं। इसीलिये यह निश्चित नहीं, यह अनागम है। अपना पक्ष—शास्त्र में दो ही प्रकार का पाक है, यथा—मधुर और कटु। इनमें मधुर विपाक गुरु और कटु विपाक लघु है। इनमें—पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों के भी गुरु लघु, गुण साधर्म्य के कारण दो भेद हैं। यथा—पृथिवी और जल गुरु, तेज वायु और आकाश लघु हैं। इसलिये पाक भी दो प्रकार का ही है ।।१०।।

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥११॥
तेजोऽनिलाकाशगुणः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥१२॥

कहा भी है—

द्रव्यों के पाककाल में जब पृथ्वी और जल के गुण अधिक प्रवल होते हैं, तव मधुर विपाक होता है। और जिन द्रव्यों के पाककाल में तेज, वायु, आकाश के गुण अधिक प्रवल रहते हैं तव कटुविपाक होता है ॥११,१२॥

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः॥१३॥

भिन्न-भिन्न रूपसे देखनेवाले वादियों के मत ऊपर दिखा दिये हैं। बुद्धिमान् मनुष्य रस, वीर्य, गुण और विपाक इन चारों की समुदायता को स्वीकार करते हैं ॥१३॥

तद्द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥१४॥

कोई तो द्रव्य अपने द्रव्यत्व से, कोई द्रव्य अपने वीर्य से, कोई अपने रस से और कोई अपने विपाक से दोष को उत्पन्न करता है, या दोष का शमन करता है। यथा—खैर कुष्ठ को, महत्पञ्चमूल वीर्य द्वारा वायु का शमन करता है। तिक्त गिलोय उष्णवीर्य होने पर भी (रस से) पित्त का शमन करती है। शुण्ठी कटु रस होने पर भी (मधुरविपाक के कारण) वायु का शमन करती है[1] ॥१४॥

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ॥१५॥

विना वीर्य के तो विपाक नहीं, विना रस के वीर्य नहीं, विना द्रव्य के रस नहीं, इसलिये द्रव्य को श्रेष्ठ कहा है ॥१५॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्देहदेहिनोः ॥१६॥
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥१७॥
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥१८॥

जिस प्रकार (देह शरीर) और देही (आत्मा) का जन्म परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से है, उसी प्रकार द्रव्य एवं रस की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है। आठों प्रकार का वीर्य भी द्रव्य में ही आश्रित है। यह वीर्य रसों में नहीं हो सकता, क्योंकि गुण तो निर्गुण हैं (गुण में गुण नहीं रहता), गुण द्रव्य में रहते हैं। पञ्चमहाभूतों से बने इस द्रव्य (शरीर) में आहार द्रव्य पकते हैं, गुणों का पाक नहीं होता (मधुर आदि रस नहीं पकते)। इसलिये रस, वीर्य विपाक में द्रव्य को ही श्रेष्ठ समझना चाहिये, ये रसादि उसी के आश्रित हैं ॥१६-१८॥

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥१९॥

जो औषधियाँ स्वभाव से ही प्रसिद्ध हैं (यथा—खदिर, तुवरक, रसाञ्जन, हरिद्रादि-कुष्ठनाशक हैं।—उनके विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इनका स्वभाव (प्रभाव) अचिन्त्य है। इसी प्रकार जो औषधियाँ शास्त्र से व्यवहार में आती हैं, वे भी अविचारणीय हैं[2] ॥१९॥

---

१ किंचिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन ॥
रसौ विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ चरक।

२ 'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥
प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥'

प्रभाव दो प्रकार का है। यथा—चिन्त्य और अचिन्त्य। चिन्त्य प्रभाव पाठा का संग्राही होना, अचिन्त्य प्रभाव—मणिमुक्ता के धारण से रोगनिवृत्ति, दन्ती—चित्रक के समान रस, वीर्य होने पर भी एक विरेचक है, दूसरा नहीं।

रस, वीर्य, विपाक प्रभाव के विस्तार के लिये—

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन ॥ २० ॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥ २१ ॥

शास्त्र की प्रधानता—

जिन औषधियों का शास्त्र के कथनानुसार प्रत्यक्ष लक्षण, प्रत्यक्षफल दीखता है, स्वभाव से ही जिनके कार्य प्रसिद्ध हैं, उन औषधियों की तर्क द्वारा परीक्षा नहीं करनी चाहिये। हजारों तर्क से भी अम्बष्ठा (पाठा) आदि औषधियों से विरेचन कार्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि सदा शास्त्र के अनुसार व्यवहार करे—तर्क से नहीं ॥ २०,२१ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'द्रव्य-विशेष-विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥ ३ ॥

इनमें, पृथ्वी, अप्, तेज वायु और आकाश के मिलने से द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों के समुदाय में से जिस भूत के गुणों की उत्कर्षता होती है, उसी से वह द्रव्य पहिचाना जाता है, यह पार्थिव है, यह जलीय है, यह तेजस है, यह वायवीय है, यह आकाशीय है। "इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ।" (अष्टांगसंग्रहः) ॥ ३ ॥

तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं, तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति ॥(१)॥

इनमें जो द्रव्य स्थूल, सार (दृढ) सान्द्र (घन), मन्द, स्थिर, गुरु, कठिन, गन्धबहुल, थोड़ा कषाय रस, प्रायः मधुर रस होता है, वह पार्थिव द्रव्य है। यह द्रव्य शरीर में स्थिरता, बल, गुरुता, कठिनता और वृद्धि उत्पन्न करता है। विशेषकर यह पार्थिव द्रव्य अधोगामी (विरेचन गुण) स्वभाववाला होता है ॥(१)॥

"द्रव्यगुण-संग्रह" अवश्य देखिये। अथवा श्रीयादवजी महाराज का "द्रव्य-गुण-विज्ञान" प्रथम भाग देखें।

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यं; तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥(२)॥

जो द्रव्य शीत, स्तिमित (जड़), स्निग्ध, मन्द, गुरु, सर (फैलनेवाला), सान्द्र, मृदु, पिच्छिल, रसबहुल, ईषत्कषाय, अम्ल-लवणरस, एवं प्रायः मधुर रस होता है, वह आप्य है। यह द्रव्य स्नेहन; प्रह्लादन (सुखोत्पत्ति में हेतु) क्लेदन (आर्द्रता), बन्धन (संहति उत्पन्न करनेवाला), विष्यन्दन (द्रव का बहानेवाला) है ॥(२)॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपबहुलमीषदम्ललवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥(३)॥

जो द्रव्य—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खर, लघु, विशद, एवं रूप-गुण-बहुल थोड़ा अम्ल-लवण रस, प्रायः (अधिकतया) कटुरस, खासकर ऊर्ध्वभाग (वमन) में जानेवाला तैजस द्रव्य है। यह द्रव्य—दहन (जलाने), पाचन (पकाने), दारण; तापन (शरीरादि सन्तापन), प्रकाशन (अभिव्यक्ति), प्रभा-तेज वर्ण—(गौरादि) करनेवाला है ॥(३)॥

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं, तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥(४)॥

जो द्रव्य—सूक्ष्म, रूक्ष, खर, शिशिर, लघु, विशद, स्पर्शबहुल, थोड़ा सा तिक्त रस और अधिकतया कषाय रसवाला हो, वह वायवीय द्रव्य है। यह द्रव्य—विशदता, लाघव, ग्लपन (हर्ष का नाश), विरूक्षण (रूक्षता), विचारण (मन में अनेक प्रकार के विचार) उत्पन्न करता है ॥(४)॥

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दवशौषिर्यलाघवकरमिति ॥(५)॥

जो द्रव्य—चिकना, सूक्ष्म, मृदु, व्यवायी (सम्पूर्ण देह में फैलकर जो पीछे से पक्व होता है), विभक्त (पृथक् बना हुआ), अव्यक्त रस, शब्दबहुल होता है, वह आकाशीय द्रव्य है। यह मृदुता, शुषिरता (सच्छिद्रता), और लघुता को उत्पन्न करता है।

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति ॥ ५ ॥

इस दृष्टि से इस स्थावर-जङ्गम संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो कि औषधि-(दोषों का नाश करनेवाला) रूप न हो, (क्योंकि सब वस्तुयें पञ्चमहाभूतों के समुदाय से ही बनी हैं)। इसलिये—जल, अग्नि, संस्कार, भावना आदि

योजनाओं के कारण एवं नाना प्रकार के रोगों के नाश के प्रयोजन की दृष्टि से, सब द्रव्य अपने वीर्य एवं गुणों के कारण कार्यशील होते हैं। ये द्रव्य जिस समय में क्रिया करते हैं, वह काल है, जो क्रिया (शोधनादि, भेषज द्रव्य व्यापार) करते हैं, वह कर्म है, जिस शक्ति से कार्य करते हैं, वह वीर्य हैं, जिस स्थान में (पञ्चमहाभूत समवायी शरीर में) कार्य करते हैं, वह अधिकरण है, जिस प्रकार (स्वरस, ऋतु; फाण्ट, घृत, तैल आदि) से करते हैं वह उपाय है, जो (स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य) उत्पन्न होता है, वह फल है ॥ ५ ॥

तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि पृथिव्यापो गुर्व्यः, तानि गुरुत्वादधोगच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्, आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनं सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं, तत्समानत्वात्, लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठं, बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्, एवमौषधकर्माण्यनुमानात् साधयेत् ॥ ६ ॥

विरेचनद्रव्यों में पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता रहती है। पृथिवी और जल भारी हैं, इसलिये भारी होने से नीचे जाते हैं। इसलिये अनुमान द्वारा यह जाना जा सकता है कि विरेचनद्रव्य प्रायः अधोगामी होते हैं। वमनद्रव्यों में—अग्नि एवं वायु के गुणों की अधिकता रहती है। अग्नि और वायु लघु हैं—इसलिये लघु होने से ऊपर जाते हैं। इसलिये वमन द्रव्य भी ऊपर को जाते हैं। दोनों प्रकार के गुणवाले [अधोमार्गी और ऊर्ध्वमार्गी] द्रव्य दोनों मार्गों से जाते हैं। आकाशगुण की अधिकतावाले द्रव्य संशमन गुणवाले हैं[1]। संग्राहक द्रव्यों में वायु के गुणों की अधिकता रहती है। चूंकि वायु शोषक है। दीपन गुणवाले द्रव्यों में अग्निगुणों की अधिकता रहती है। चूंकि ये आग्नेय द्रव्य-जाठराग्नि के समान होते हैं। लेखनद्रव्यों में—वायु एवं अग्नि के गुणों की अधिकता होती है। बृंहणद्रव्यों में—पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता रहती है। इस प्रकार से औषध के कार्यों को अनुमान से जानना चाहिये ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

भूतजाग्निरजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।
भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥
खतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुतः ॥ ८ ॥

१ संशमन का लक्षण—
'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् तत् संशमनमुच्यते ॥'

आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥ ९ ॥

कहा भी है—

पुरुषों में वायु—पृथिवी, अग्नि और वायु के द्रव्यों से, पित्त—पृथिवी, वायु और जलीय द्रव्यों से, कफ—आकाश, अग्नि और वायवीय द्रव्यों से वायु शान्त होते हैं। आकाश एवं वायवीय द्रव्यों से वायु, आग्नेय द्रव्यों से पित्त, पृथिवी एवं जलीय से कफ बढ़ता है ॥ ७-९ ॥

एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम्।
द्विशो वा बहुशो वापि ज्ञात्वा दोषेषु चाचरेत् ॥ १० ॥

इस प्रकार गुणों की प्रधानता प्रत्येक द्रव्यों में निश्चित है। इस प्रधानता को देखकर; (एक दोष की), दो दोषों अथवा बहुत दोषों की अधिकता में (चिकित्सा में) उन तत्वों का उपयोग करना चाहिये ॥ १० ॥

तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ; शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षितिसमीरगुणभूयिष्ठं वैशद्यं; विपाकावुक्तगुणौ। तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः, गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। तेषां मृदुशीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिलविशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्यां, स्निग्धरूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनात्। गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च। तत्र तुल्यगुणेषु भूतेषु रसवैशेष्यमुपलक्षयेत्, तद्यथा—मधुरो गुरुश्च पार्थिवः, मधुरः स्निग्धश्चाप्य इति ॥ ११ ॥

यह जो वीर्य संज्ञक गुण है। यथा—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद। इनमें तीक्ष्ण और उष्ण गुण आग्नेय हैं, शीत और पिच्छल, जलगुण—बहुत होते हैं; स्नेह में पृथिवी एवं जलीय गुण की अधिकता रहती है, रूक्ष में वायवीय गुणों की अधिकता, वैशद्य में पृथिवी, वायु के गुण की अधिकता रहती है। गुरु एवं लघु विपाक (मधुर एवं कटु विपाक) के गुण पहले कह चुके हैं। इनमें—उष्ण एवं स्निग्ध वातनाशक, शीत, मृदु और पिच्छल पित्तनाशक, तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद गुण श्लेष्मानाशक हैं। गुरु (मधुर) विपाक वात-पित्तनाशक, लघु (कटु) कफनाशक हैं। इनमें से मृदु-शीत और उष्णगुण स्पर्शेन्द्रिय-ग्राह्य हैं। पिच्छिल एवं विशद गुण आँख और स्पर्शेन्द्रिय द्वारा, स्निग्ध और रूक्ष आँख द्वारा, तीक्ष्ण गुण-मुख में दुःख उत्पन्न होने से, गुरुपाक (मधुरविपाक) मल—मूत्र की प्रवृत्ति से एवं कफ से जनित वमनेच्छा होने से; लघुपाक (कटुविपाक)—मल मूत्र के अवरोध

से (विबन्ध होने से) और वायु के प्रकोप द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार से—पञ्चमहाभूतों के समान गुणवाले द्रव्यों में-रस की विलक्षणता को जानना चाहिये। यथा—पार्थिव द्रव्य-मधुर एवं गुरु, जलीयद्रव्य मधुर एवं स्निग्ध होते हैं॥ ११॥

भवति चात्र—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते यथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥१२॥

कहा भी है—

द्रव्यों में जो ये बीस (या इनसे अधिक) गुण कहे हैं, ये गुण इसी प्रकार से शरीरों (प्राणियों के देहों) में भी हैं। इसलिये प्राणियों के शरीर में दोष, धातु, मल का अपने स्थान में रहना इनका बढ़ना अथवा इनका क्षीण होना, द्रव्यों के कारण से ही होता है॥ १२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यविशेषविज्ञानीयो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४१॥

—:०:—

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रसविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २॥

इसके आगे 'रसविशेषविज्ञान' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १,२॥

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्मादाप्या रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते; तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषाय इति॥ ३॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि, इनमें क्रमशः एक-एक गुण की उत्तरोत्तर वृद्धि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण होते हैं। यथा—आकाश में केवल शब्द, वायु में-शब्द और स्पर्श, अग्नि में-शब्द, स्पर्श और रूप, जल में-शब्द, स्पर्श, रूप और रस, पृथिवी में-शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं, (परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट हुए हैं)। इसलिए-रस जल से उत्पन्न होता है। इन सब भूतों में परस्पर सम्बन्ध है। क्योंकि-एक दूसरों में मिले हैं, एक दूसरों का उपकार करते हैं, एक दूसरों में प्रविष्ट हुए हैं। इसलिये सब भूतों के गुण मिलते हैं, परन्तु उत्कर्ष (वृद्धि) एवं अपकर्ष (ह्रास) द्वारा इनका ग्रहण होता है, (वायु में स्पर्श अधिक है, आकाश में शब्द गुण अधिक है।) यह जलीय रस अन्य भूतों के संसर्ग के कारण परिपक्व होकर छै प्रकार का हो जाता है। यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। और ये रस परस्पर-एक दूसरे में मिलकर तिरसठ (६३) प्रकार के हो जाते हैं। इनमें-मधुर-रस-पृथ्वी और जल गुण की अधिकता से अम्लरस-पृथ्वी और अग्नि गुण की अधिकता से, लवण रस-जल और अग्नि गुण की अधिकता से, कटुरस-वायु और अग्नि की अधिकता से, तिक्त-वायु और आकाश गुण की अधिकता से, कषाय-पृथिवी, वायु की अधिकता से उत्पन्न होता है॥ ३॥

तत्र मधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः॥ ४॥

इनमें मधुर-अम्ल और लवण वायु का, मधुर, तिक्त, और कषाय पित्त का; कटु तिक्त और कषाय कफ का नाश करते हैं॥

तत्र, वायोरात्मैवात्मा पित्तमाग्नेयं श्लेष्मा सौम्य इति॥ ५॥

इनमें वायु-वायु से ही उत्पन्न होता है, पित्त-अग्नि, से, और कफ-सोम (जल) से उत्पन्न होता है॥ ५॥

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च॥

इनमें जो रस जिस कारण (दोष) से उत्पन्न होते हैं, वे उसको बढ़ाते हैं (अपनी योनि को बढ़ाते हैं)। और दूसरों को शान्त करते हैं॥ ६॥

केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः-सौम्या आग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः-स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च, सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः॥ ७॥

कई आचार्यों का कहना है कि-रस दो ही प्रकार के हैं, क्योंकि (स्थावर जङ्गमात्मक) जगत, आग्नेय और सौम्य इन दो तत्त्वों से उत्पन्न होता है, इसलिये रस भी दो ही हैं। यथा—सौम्य और आग्नेय (स्निग्ध, गुरु, लघु, शीत, रूक्ष, उष्ण) इनका समावेश इन्हीं दोनों में हो जाता है। इनमें—मधुर, तिक्त और कषाय सौम्य कटु अम्ल, लवण, आग्नेय, मधुर, अम्ल, लवण स्निग्ध और गुरु हैं, कटु, तिक्त कषाय रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीतवीर्य और आग्नेय रस उष्णवीर्य हैं॥ ७॥

तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः, तस्य समानयोनिः कषायो रसः सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्यात् वैष्टम्भ्यमिति ॥(१)॥

इनमें वायु-शीतल, रूक्ष, लघु, विशद, विष्टम्भी गुणोंवाला है। इस वायु के समान योनि (उत्पत्तिस्थान) वाला कषाय रस है। यह कषाय रस शीतल होने से वायु के शीत गुण को बढ़ाता है, अपनी रूक्षता से रूक्ष गुण को, अपनी लघुता से लघु गुण को, विशदता से विशदता को, विष्टम्भी होने से विष्टम्भि गुण को बढ़ाता है ॥ १ ॥

औष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं वैशद्याद्वैशद्यमिति ॥ (२) ॥

पित्त—उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, लघु, विशद गुणवाला है। इस पित्त के समान योनिवाला 'कटु' रस है। यह रस अपनी उष्णता से उष्ण गुण को, तीक्ष्णता से तीक्ष्ण गुण को, रूक्षता से रूक्ष गुण को, लघुता से लघु गुण को, विशदता से विशद गुण को बढ़ाता है ॥ २ ॥

माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति ॥ (३) ॥

कफ—मधुर, स्नेह, गुरु, शीतल, पिच्छिल गुणवाला है। इस कफ के समान योनिवाला रस 'मधुर' रस है। यह रस अपनी मधुरता से कफ के मधुर गुण को, स्नेह से स्नेह को गौरव से गुरुता को शीतलता से शीत को और पिच्छिलता से पिच्छिल गुण को बढ़ाता है ॥ ३ ॥

तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः, स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद् गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति ॥८॥

अन्य योनि (विरोधी गुण) वाला कटु रस है और वह इस कफ के विरुद्ध गुणोंवाला हैं। इसलिये—कटुरस होने से मधुरता का तिरस्कार करता है। अपने रूक्ष गुण के कारण स्नेह का; लघुता से गौरव गुण का; उष्णता से शीत गुण का; विशदता से पिच्छिलता का नाश करता है। यह तो केवल उदाहरण मात्र है। इसी प्रकार पित्त की योनि के विपरीत मधुर रस पित्त का शमन करता है। "रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति' ते तानभिवर्धयन्ति' विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति अभ्यस्यमानाः। एतद् हि व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां त्रित्वं च दोषाणाम्।" चरक ॥ ८ ॥

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्धयति स मधुरः; यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः, यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति मार्दवं चापादयति स लवणः, यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति मुखवैशद्यं जनयति भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च स तिक्तः, यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषाय इति ॥ ९ ॥

इसके आगे रस के लक्षणों को कहते हैं—इनमें जो रस परितोष (तुष्टि) को उत्पन्न करता है, सुख उत्पन्न करता है, तृप्ति करता है, प्राणों को धारण करता है, मुख को मल से लिप्त करता है और कफ को बढ़ाता है, वह मधुर रस है। जो रस दांतों में हर्ष (कुण्ठता) उत्पन्न करता है, मुख से लाला का स्राव उत्पन्न करता है, भोजन में श्रद्धा को उत्पन्न करता है, वह अम्ल रस है और जो भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, कफ का प्रसेक तथा मृदुता का आपादक है वह लवण रस है। जो रस जीभ के अगले भाग को पीड़ित करता है, नासिका से स्राव बहाता है, वह कटु रस है। जो रस गले में खिंचाव (चूसने की तरह पीड़ा) उत्पन्न करता है, वह तिक्त रस है। जो रस मुख को शुष्क कर देता है, जिह्वा को जड़ बना देता है, गले को रोक देता है, हृदय (आमाशय) को खींचता है और पीड़ित करता है, वह कषाय रस है ॥ ९ ॥

रसगुणानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः--तत्र, मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत्सन्धानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमस्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः क्रिमिकफकरश्चेति; स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातक्रिमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्बुदश्लीपदबस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति ॥ (१) ॥

इसके आगे रस के गुणों को कहते हैं--इनमें—

मधुर रस-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र स्तन्य (दूध स्त्रियों में) को बढ़ानेवाला, आँखों बालों तथा शरीर के वर्ण के लिये—हितकारी है, बलकारक, जोड़नेवाला, रक्त-रस को स्वच्छ करनेवाला, बालक वृद्ध और क्षतक्षीण रोगी के लिये हितकारी, भौंरे और चिऊँटियों के लिये प्रियतर, तृष्णा मूर्छा-दाह को शान्त करनेवाला, मन समेत पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला और कृमियों तथा कफ को उत्पन्न करता है। यह मधुर रस उपर्युक्त गुणोंवाला होने पर भी अकेला ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—कास, श्वास, अलसक, वमन; मुख की मधुरता, स्वरभङ्ग, कृमि, गलगण्ड रोगों को एवं अर्बुद, श्लीपद, बस्ती-गुदा में उपलेप (चिपचिपापन) अभिष्यन्द (नेत्र दुखना) आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १ ॥

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिःशीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नरुग्णशूनप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति ॥(२)॥

अम्ल रस—आहार का पाचन करनेवाला; दोष एवं आम का पाचक, अग्निदीपक, वायु को शान्त करनेवाला, वायु-मलमूत्र का अनुलोमक, कोष्ठ में विदाह करनेवाला, बाह्य उपचार में शीतल; क्लेदक और प्रायः हृदय के लिये हित होता है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला अम्लरस ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—दाँतों में जड़ता, आँखों का संकोच, रोमहर्ष, कफ का विलयन (पतलापन) और शरीर की शिथिलता को उत्पन्न करता है। क्षत-अभिहत (चोट युक्त), दग्ध (जला हुआ), दष्ट (डसा हुआ), भग्न, शून, रुग्ण, प्रच्युत (स्खलित), अवमूत्रित (मूत्र विष से दूषित को), विसर्प, छिन्न-भिन्न विद्ध—उत्पिष्ट आदि व्रणों को—आग्नेय स्वभाव होने से पका देता है, गला छाती और हृदय को जलाता है ॥(२)॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लिकाप्रभृतीनापादयति ॥(३)॥

लवणरस—वमन–विरेचन द्वारा संशोधक, अन्न का पाचक, रस एवं मल का विश्लेषक, आहार का क्लेदक तथा शिथिलताकारक, उष्ण, सब रसों से विपरीत, विशोधक शरीर के सब अवयवों को कोमल करता है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला लवणरस ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—शरीर में कण्डू, कोठ, शोफ, विवर्णता, शुक्रक्षय, इन्द्रियों—नेत्रादि का उपताप (अपने कर्मों की हानि अर्थात् शक्तिनाश), मुख-आँख का पाक; रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लिका (अम्लोद्गार) को उत्पन्न करता है ॥(३)॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनःसन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणपार्श्वप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति ॥(४)॥

कटुरस—अग्निदीपक, आहार का पाचक, रोचक, शोधक, स्थूलता आलस्य कफ-कृमि-विष कुष्ठ-कण्डू को शान्त करनेवाला, सन्धि-बन्धों का विच्छेदक, अनुत्साह उत्पन्न करनेवाला, दूध-शुक्र एवं मेद को नष्ट करनेवाला है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला कटुरस अधिक मात्रा में सेवन करने से—भ्रम, मद, गला तालु-ओठ की शुष्कता; गात्रसंताप बल का ह्रास कम्प-तोद भेद उत्पन्न करता है, हाथ-पाँव पार्श्व-पीठ आदि अवयवों में वातजन्य शूलों को उत्पन्न करता है ॥(४)॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ॥(५)॥

तिक्तरस—(कफ का) छेदक, रोचक (स्वयं रुचिकर न होकर भी दूसरों में रुचि उत्पन्न करनेवाला), कण्डू कोठ-प्यास-मूर्च्छा-ज्वर को शान्त करनेवाला, दूध का शोधक, मल-मूत्र-आर्द्रता-मेद वसा-पूय को सुखानेवाला भी यह रस अकेला अधिक मात्रा में सेवन करने से—शरीर-मन्या (ग्रीवा की दो शिरायें) का स्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, शिरःशूल, भ्रम, तोद, भेद, छेद (विचित्र प्रकार की पीड़ा), मुख की विरसता को उत्पन्न करता है ॥(५)॥

कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमुचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृती-ञ्जनयति ॥१०॥

कषायरस—संग्राही, व्रणरोपक, स्तम्भक, व्रणशोधक, लेखक, शोषक, पीड़क, क्लेद (आर्द्रता) को सुखानेवाला है। यही रस इन गुणों के होने पर भी अकेला अधिक मात्रा में सेवन करने पर—हृदय की पीड़ा, मुख की शुष्कता, उदर में आध्मान, वाक्यग्रह (वाणी की जड़ता), मन्यास्तम्भ गात्रों में स्फुरण, चुमचुमायन (राई के लेप की भाँति), आकुञ्चन, आक्षेप आदि उत्पन्न करता है। (वायु के विकार उत्पन्न करता है)॥१०॥

अतः सर्वेषामेव द्रव्यण्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्टिकयवगोधूममाषशृङ्गाटककसेरुकत्रपुसैर्वारुकर्कारुकालाबूकालिन्दकतकगिलोड्यप्रियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजादनताल-नालिकेरेक्षुविकारबलातिबलात्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरक्षीरमोरटमधूलिकाकूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः। दाडिमामलकमातुलुङ्गाम्रातककपित्थकरमर्दबदरकोलप्राचीनामलकतिन्तिडीककोशाम्रकभव्यपारावतवेत्रफललकुचाम्लवेतसदन्तशठदधितक्रसुराशुक्तसौवीरकतुषोदकधान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः। सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमकसामुद्रकपक्त्रिमयवक्षारोषरप्रसूतसुवर्चिका-

प्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः। पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रुमधुशिग्रुमूलकलशुनसुमुखशीतशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकावल्गुजफलचण्डागुग्गुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः, अरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णीवेत्रकरीरहरिद्राद्वयेन्द्रयववरुणस्वादुकण्टकसप्तपर्णबृहतीद्वयशङ्खिनीद्रवन्तीत्रिवृत्कृतवेधनकर्कोटककारवेल्लवार्ताकुकरीरकरवीरसुमनःशङ्खपुष्प्यपामार्गत्रायमाणाशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलापुनर्नवावृश्चिकाली ज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः। न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादी रोध्रादिस्त्रिफलाशल्लकीजम्ब्वाम्रबकुलतिन्दुकफलानि कतकशाकफलपाषाणभेदकवनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुवककोविदारकजीवन्तीचिल्लीपालङ्क्यासुनिषण्णकप्रभृतीनि वरकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः ॥११॥

इसके आगे सम्पूर्ण रसों के द्रव्यों को कहते हैं। यथा—

मधुरवर्ग–काकोल्यादिगण, दूध, घी, वसा, मज्जा, शालि, शाठी, जौ, गेहूँ, सिंघाड़ा, कसेरु, खीरा, ककड़ी, कर्कारुक (खरबूजा), अलाबु (तुम्बी), कालिन्द (तरबूज), कतक (निर्मली का बीज), पियाल, पुष्करबीज (कमलगट्टा), काश्मरी (गम्भारी), मधूक (महुआ), मुनक्का, खजूर, राजादन (खिरनी), ताड़, नारियल, गन्ना और गन्ने के रस से बनी वस्तुयें, खरैटी, अतिबला, कौंच के बीज, बिदारीकन्द, पयस्या (विदारीभेद), गोखरू, क्षीरमोरट (तुरन्त प्रसूता गाय का सात दिन तक अशुद्ध दूध अर्थात् खीस अथवा इक्षुमूल), मधूलिका (मूर्वा), कूष्माण्ड (पेठा) आदि संक्षेप में मधुरवर्ग है।

अम्लवर्ग–अनार, आँवला, बिजौरा, आम्रातक (आमड़ा), कैथ, करौंदा, वृक्ष का बेर, झाड़ी का बेर, प्राचीन आमलक (सूखा आँवला), तिन्तिडीक (इमली), कोशाम्र (आम का भेद), भव्य (कमरख), पारावत (कामरूप में मधुर-अम्लरस फल), (वेत्रफल वेत का फल), लकुच (बड़हल), अम्लवेतस, दन्तशठ (निम्बु), दही, छाछ, सुरा, शुक्त, सौवीरक (काञ्जी), तुषोदक–धान्याम्ल आदि–संक्षेप में अम्लवर्ग है।

लवणवर्ग—सैन्धव, सौवर्चल, विड, पाक्य (उद्भिद), रोमक (साम्भर), सामुद्रक (समुद्रजल से निष्पन्न) पक्त्रिम (पाक द्वारा बनाया), यवक्षार, ऊषरप्रसूत (ऊषरलवण), सुवर्चिका (सज्जीक्षार) आदि संक्षेप में लवणवर्ग है। (आदि शब्द से टङ्कणक्षार तथा अन्य क्षारों का ग्रहण होता है)।

कटुरस—पिप्पल्यादि, सुरसादिगण; सहजन, लालफूल का मीठा सहजन, मूली, लहसुन, सुमुख (तुलसीभेद), शीतशिव (कर्पूर), कूठ, देवदारु, हरेणुका (मेथी), अवल्गुजाबीज), (बावची बीज) चण्डा (अजवायन के आकार का सुगन्धित द्रव्य या शङ्खपुष्पी का भेद), गुग्गुल, नागरमोथा, लांगली (कलिहारी), शुकनासा (श्योनाक), पीलु आदि, द्रव्य एवं सालसारादिगण (प्रायः करके) कटुवर्ग है।

तिक्तवर्ग—आरग्वध आदिगण, उडूची आदिगण, मण्डूकपर्णी, वेत्रकरीर (वेत्रांकुर), हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, वरुण (वरना), स्वादुकण्टक (विकङ्कत), सप्तपर्ण (सतवन) बृहतीद्वय (छोटी-बड़ी कटेरी), शङ्खिनी (यवतिक्ता का भेद) द्रवन्ती, त्रिवृत् (निशोथ), कृतवेधन (तुरई), कर्कोटक (ककोड़ा), कारवेल्ल (करेला), वार्ताक (बैंगन , करीर, करवीर (कनेर), सुमन (जाती चमेली), शङ्खपुष्पी, अपामार्ग, त्रायमाणा, अशोक, रोहिणी (कटुकी), वैजयन्ती, (तर्कारी), सुवर्चला (हुलहुल), पुनर्नवा, वृश्चिकालि (बिच्छूटी), ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी) आदि द्रव्य संक्षेप में तिक्तवर्ग है।

कषायवर्ग—न्यग्रोधादि, अम्बष्ठादि, प्रियंग्वादि, रोध्रादि, त्रिफला, शल्लकी (गजभक्ष्या), जामुन, आम, मौलसरी, तिन्दुक—इन सब वृक्षों के फल, कतक (निर्मली), शाक (सहगुन), पाषाणभेद, बनस्पतियों के फल, सालसारादिगण, प्रायः कुरुवक (लालझिण्टी–कण्ठसेलायक), कोविदार (कचनार), जीवन्ती, चिल्ली (बथुआ), पालंक्या (पालक), सुनिषण्णक (सूषणी) आदि, नीवारक आदि कुधान्य, मूङ्ग आदि वैदलिक (दालें)–संक्षेप में कषायवर्ग हैं ॥११॥

तत्रैतेषां रसानां संयोगास्त्रिषष्टिर्भवन्ति। तद्यथा—पञ्चदश द्विकाः, विंशतिस्त्रिकाः, पञ्चदश चतुष्काः, षट् प्रयोजनानि वक्ष्यामः ॥१२॥

इन छै रसों के परस्पर संयोग से तिरसठ (६३) भेद बन जाते हैं। यथा—दो रसों की प्रधानता से १५, तीन रसों से २०, चार रसों से १५, पाँच रसों से ६, छै रसों से एक, और एक-एक रस से छै रस। इन ६३ रसों का प्रयोजन अन्यत्र कहेंगे[1]। (उत्तरतन्त्र ६३ अध्याय में इस विषय का वर्णन दिया जायगा) ॥१२॥

भवति चात्र—

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वश्यतां रसाः।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः ॥१३॥

कहा भी है—

मधुर आदि छः ही रस खा लेने पर बलवान् (छः में जो अधिक हो) रस के बस—अधीन (तदनुसार कार्य करनेवाले) हो जाते हैं, जैसे प्रकुपित दोष (बलवान

---

१ दोषों के परस्पर संयोग से ६३ भेद होते हैं, रसों के ये ६३ भेद भी इन भेदों के अनुसार दोषों को शान्त करते हैं। स्वस्थ अवस्था में —मिलित छै रस ही स्वास्थ्यवर्धक—उपयोगी हैं। विस्तार के लिये तथा स्पष्टीकरण के लिये, चरक में रसों का प्रकरण "यज्ज.पुरुषीय अध्याय" में देखिये।

चरक सूत्र अ० २६।

वातादि दोष) बलीयान् (अधिक बलवान् = अधिक कुपित) दोष के अधीन हो जाते हैं। तात्पर्य या सचाई यह है कि संसार का कोई भी द्रव्य-(प्राकृतिक पदार्थ हरीतकी आदि) एक रस-केवल एक रसवाला नहीं है और न ज्वर आदि रोग एक दोषज-केवल वात आदि किसी भी एक (अकेले) दोष से उत्पन्न होता है, यथा-'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वात् द्रव्याणाम्' (च० वि० अ० ८ सू० १४२)। 'तत्र खलु अनेकरसेषु द्रव्येषु अनेकदोषात्मकेषु च। विकारेषु (रोगेषु)' (चरक वि० अ० १ सू० ६)। "तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसम्भवात्। नैकदोषास्ततो रोगाः तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः॥ अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चित्--अन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते" (अनुरसः)। (अ० हृ० सू० अ० ६) तथापि—द्रव्यों को मधुर अम्ल कहा ही जाता है और वातज्वर, पित्तातिसार, कफकास आदि नामकरण किये ही जाते हैं। यह सब इसलिये कि-रस प्रधान या व्यक्त रस के और दोष प्रधान या बलवान् दोष के अधीन हो जाते हैं। यों समझिये कि-यदि मधुर रस का अधिक सेवन होता है तो अन्य रस अपना गुण दोष नहीं उत्पन्न कर पाते। एवमेव अन्य रसों के विषय में भी समझ लें। अलमति विस्तरेण ॥१३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयो नाम द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

वमनद्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति। अथ मदनपुष्पाणामातपपरिशुष्काणां चूर्णप्रकुञ्चं प्रत्यक्पुष्पीसदापुष्पीनिम्बकषायाणामन्यतमेनालोड्य मधुसैन्धवयुक्तां पुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् मदनशलाटुचूर्णान्येवं वा बकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तान्यभिप्रतप्तानि, मदनशलाटुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम्। निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशगूढावबद्धमृद्गोमयप्रलिप्तानां यवबु (तु) षमुद्गमाषशाल्यादिधान्यराशावष्टरात्रोषितक्लिन्नभिन्नानां फलानां फलपिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोषयेत्, तासां दधिमधुपललविमृदितपरिशुष्काणां सुभाजनस्थानामन्तर्नखमुष्टिमुष्णे यष्टिमधुककषाये कोविदारादीनामन्यतमे वा कषाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्तमाशीर्भिरभिमन्त्रितमुदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेदनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य—

"ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानलानिलाः।
ऋषयः सोषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥१॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥२॥"

विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु, अप्रवर्तमाने वा दोषे पिप्पलीवचागौरसर्षपकल्कोन्मिश्रैः सलवणैरुष्णाम्बुभिः पुनः पुनः प्रवर्त्तयेदासम्यग्वान्तलक्षणादिति। मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्क्वाथपरिभावितं मदनफलकषायेण, मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागासृक्पित्तहृद्दाहयोः, मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफप्रसेकच्छर्दिमूर्छातमकेषु मदनफलमज्जरसं स्नेहं वा भल्लातकस्नेहवदादाय फाणितीभूतं लेहयेत्, आतपपरिशुष्कं वा तमेव जीवन्तीकषायेण, पित्ते कफस्थानगते, मदनफलमज्जक्वाथं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकषाययोरन्यतरेण संतर्पणकफजव्याधिहरं मदनफलमज्जचूर्णं वा मधूककाश्मर्यद्राक्षाकषायेण। मदनफलविधानमुक्तम् ॥३॥

मदनफल, कुटज, जीमूतक, इक्ष्वाकु आदि वमनद्रव्यों में मैनफल सब से श्रेष्ठ है। मैनफल के फूलों को धूप में सुखाकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इसके चूर्ण की उपयुक्त मात्रा को प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग), या सदापुष्पी (आक), या नीम के कषाय में घोलकर तथा मधु और सैन्धव नमक मिलाकर (मैनफल के चूर्ण की उपयुक्त मात्रा) पिलाकर वमन कराना चाहिये। मैनफल के कच्चे फल के चूर्ण को भी इस प्रकार अथवा बकुल (मौलसरी), महानिम्ब (बकायन) के चारगुना कषाय में घोलकर, मधु और सैन्धव (चतुर्थांश) मिलाकर; गरम करके पिलाना चाहिये। मैनफल के कच्चे फल के चूर्ण में सिद्ध की हुई तिल एवं चावलों की यवागू (लप्सी) पिलानी चाहिये। और जो मैनफल के फल बिल्कुल पक गये हों, बहुत हरे या पीले न हों, उनको कुशा से बने सम्पुटों में—बन्द करके ऊपर से मिट्टी या गोबर का लेप कर देना चाहिये। इनको अब जौ, तुष, मूङ्ग, माष, शालि आदि धान्यों के ढेर के अन्दर आठ दिनों तक रखना चाहिये। जब फल नरम होकर फूट जायें, तब इनके बीजों को (फल-पिप्पली) निकालकर धूप में सुखाना चाहिये। इन बीजों को दधि, शहद, पलल (तिल का चूर्ण), इनके साथ मलकर सुखाना चाहिये। इनको एक उत्तम पात्र में रखना चाहिये। इनमें से एक मुट्ठी भर (नखों को अन्दर रखकर मुट्ठी में जितने आ जायें), चूर्ण को मुलहठी के उष्ण कषाय में अथवा कोविदारादि (संशोधनसंशमनीय ग्यारह कषायों में से)

किसी एक कषाय में मिलाकर (मथकर) रात भर भिगोकर—प्रातःकाल इसमें मधु तथा सैन्धवनमक मिलाकर आशीर्वाद-परक मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके वैद्य उत्तर दिशा में अपना मुख करके, रोगी का मुख पूर्व दिशा की ओर करके औषध पिलाये। अभिमन्त्रित करने का मन्त्र (मूल में है) का अर्थ यह है।

"ब्रह्मा-दक्ष-अश्विनी-रुद्र इन्द्र-पृथ्वी-चन्द्र-सूर्य-अग्नि एवं वायु, औषधिसमूह ऋषि-लोग, भूतसमूह तेरी रक्षा करें। जिस प्रकार ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत, नागों के लिये जिस प्रकार सुधा है, उसी प्रकार वह औषध तेरे लिये हो।"

विशेष करके उपयुक्त योग कफज्वर, जुकाम और अन्तर्विद्रधि इनमें देने चाहिये[1]।

इन योगों से यदि दोष प्रवृत्त (बाहर) न हों, तब—पिप्पली, बच, श्वेत सरसों इनके कल्क को नमक-मिश्रित तुषोदक के साथ बार-बार पिलाना चाहिये। यह कार्य तबतक करते रहना चाहिये, जब तक वमन भली प्रकार से न हो, भली प्रकार से वमन होने के लक्षण स्पष्ट न हों, मैनफल की मज्जा के चूर्ण को मैनफल के क्वाथ से भावना देकर मैनफल के कषाय के साथ पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध की मलाई को शहद में मिलाकर देना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध देना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध में बनी यवागू (लप्सी) को अधोगामी रक्त-पित्त में हृदय के दाह में देना चाहिये। मैनफल को मज्जा द्वारा सिद्ध दूध से दही जमाकर, दही की मलाई को अथवा दही को ही, कफस्राव, वमन, मूर्च्छा, तमक (श्वास) में पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा के रस को अथवा स्नेह (तेल) को, भिलावे के तैल के समान निकालकर; पकाने से राब की भांति होने पर चटाना चाहिये। (भिलावे के तेल की विधि 'द्विव्रणीय' अध्याय में कही है) जब पित्त कफ के स्थान में पहुँचा हो तो मैनफल की मज्जा के चूर्ण को धूप में सुखाकर जीवन्तीकषाय के साथ पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण की औषधियों का प्रक्षेप देकर मदनफलमज्जा के चूर्ण को नीम, रूपिका (आक), इनमें से किसी एक के कषाय के साथ संतर्पण एवं कफजन्य रोगों में देना चाहिये। अथवा मैनफल की मज्जा के चूर्ण को मुलहठी, गाम्भारी, द्राक्षा के कषाय के साथ देना चाहिये। मदनफल के ये इकतीस प्रयोग कह दिये हैं ॥३॥

जीमूतककुसुमचूर्णं पूर्ववदेव क्षीरेण, निर्वृत्तेषु क्षीरयवागूं, रोमशेषु सन्तानिकां, अरोमशेषु दध्युत्तरं हरितपाण्डुषु दधि, तत्कषायसंसृष्टां वा सुरां कफारोचककासश्वासपाण्डुरोगयक्ष्मसु. पर्यागतेषु मदनफलमज्जवदुपयोगः।

जीमूतक (देवदाली) के फूलों का चूर्ण पूर्व की भाँति (अपामार्ग आक के रस में भिगोकर) या दूध के साथ पिलाना चाहिये। निर्वृत्त (जात मात्र-छोटी अवस्था के) फलों को दूध की लप्सी के साथ, रोमश (कठिनावस्था) के फलों को दूध मलाई के साथ, अरोमश (बहुत बड़े उत्तम), फलों को दही की मलाई के साथ, हरे पीले फलों को दही के साथ, जीमूतक कषाय के साथ सुरा को मिलाकर, कफ, अरोचक, कास, श्वास, पाण्डुरोग, यक्ष्मा रोग में देना चाहिये[1]। हरे-पीले जीमूतक के फल न मिलने पर मदनफल की मज्जा के समान जीमूतकफल की मज्जा का उपयोग करना चाहिये ॥४॥

तद्वदेव कुटजफलावधानम् ॥५॥

जीमूतक की भांति कूड़े के फलों का भी उपयोग करना चाहिये ॥५॥

कृतवेधनानामप्येष एव कल्पः ॥६॥

कुटजफल की भांति कृतवेधन (कड़वी तुरई) की भी यही विधि बरतनी चाहिये ॥६॥

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववत्, एवं क्षीरेण, कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः ॥७॥

इक्ष्वाकु (कड़ुवी तुम्बी) के फूलों को दूध के साथ तथा मैनफल की भांति—(कुटज और कृतवेधन की भांति नहीं), कास, श्वास, छर्दि, कफ रोगों में बरतना चाहिये ॥७॥

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगः विशेषतस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्मामयेषु वायौ च कफस्थानगते॥

धामार्गव (पीले फूल की कड़वी तोरी) का भी मदनफल की मज्जा के समान ही (पुष्प, शलाटु, क्षीर, सुरा) उपयोग करना चाहिये। विशेषतया-गर, गुल्म, उदर, कास, श्वास, कफरोगों में अथवा कफ-स्थान में वायु के पहुँचने पर प्रयोग करना चाहिये॥

कृतवेधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां बहुशश्चूर्णमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति, तत्त्रनवबद्ध-

---

[1] वमन में मधु का गरम वस्तुओं से निषेध नहीं। यथा—सर्वेषु तु मधु सैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्। न चोष्णविरोधो मधुनः छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनात् दोषनिर्हरणाच्च ॥ चरक।

[1] सुरा-विधान—जीमूत के क्वाथ में उड़द पकाना चाहिये, जीमूत के क्वाथ से ही धान्य—चावल का प्रक्षालन करना चाहिये। माष और धान्य-चावलों को कूटकर मिला देना चाहिये। इनको सुखाकर, दूसरे धान्य-चावलों को जीमूत-क्वाथ के साथ पीसकर, थोड़ा-सा गरम कर लेना चाहिये। इन सब के तीन भाग, किण्व भाग चौथा, सन्धान के लिये भार्ङ्गीक्वाथ-इन सब को एक पात्र में रखने से सुरा बन जाती है। यह पैष्टिक सुरा है, इसलिये इसमें न तो गुड़ पड़ता है और न मधु। कई वैद्य गुड़ डालते हैं।

दोषेषु यवागूमाकण्ठात्पीतवत्सु च विदध्यात्। वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं वा प्रधानतमानि भवन्ति ॥

कृतवेधन (कडुवी तुरई) के बीजों को वमनद्रव्यों के कषाय से कई बार भावना देकर उत्पल (कुमुद, पुण्डरीक सौगन्धिक) आदि कमलों पर फैलाकर सूँघने से वमन होता है। यह क्रिया उस समय करनी चाहिये, जब कि दोष बहुत अधिक बढ़े हों, उस समय गले तक (पेट भरकर) यवागू पिलाकर वमन कराना चाहिये। बमन, विरेचन, शिरोविरेचन आदि द्रव्य इस प्रकार से (द्रव्य वमनादि कषायों से) भावना देने पर अधिक वीर्यशाली हो जाते हैं। यहाँ पर कषाय की जगह (स्वरस) द्वारा भावना देने से अधिक गुण होता है ॥

भवतश्चात्र—

वमनद्रव्ययोगानां दिगियं संप्रकीर्तिता।
तान् विभज्य यथाव्याधि कालशक्तिविनिश्चयात् १०
कषायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान्।
पेयलेह्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत्॥ ११ ॥

कहा भी है—

वमन, द्रव्यों के योगों का निर्देश मात्र यहाँ कर दिया है। समय एवं शक्ति का विचार करके वमनद्रव्यों का विभाग करके प्रयोग करना चाहिए। कषाय (शृत, शीत, फाण्ट) से स्वरस (यंत्रादि द्वारा पीड़ित स्वरस) से, कल्क (पत्थर पर पीसकर), चूर्णों से, पेय, लेह्य, पूरी आदि वस्तुयें बनाकर वमनार्थ खाने को देनी चाहिये ॥ १०,११ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यामः ॥ १ ॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'विरेचन-द्रव्य-विकल्प-विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी ॥ ३ ॥
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका।
सुधापयः पयःसूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः।
तेषां विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ४ ॥

मूलविरेचनों में लाल रंग की (थोड़ी लाल) निशोथ की जड़ श्रेष्ठ है। त्वचों में तिल्वक की छाल श्रेष्ठ है। फलविरेचनों में हरीतकी का फल श्रेष्ठ है। तैलों में एरण्डतैल श्रेष्ठ है। स्वरसों में कारवेल्ल (करेला) का स्वरस श्रेष्ठ है। दूधों में स्नुही का दुध उत्तम है, ये श्रेष्ठ द्रव्य हैं। इन निशोथ आदि द्रव्यों की विधि क्रमशः यथाविधि कहते हैं ॥ ३,४ ॥

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं मूलं महत्त्रैवृतमस्तदोषम्।
चूर्णीकृतं सैन्धवनागराढ्यमम्लैः पिबेन्मारुतरोगजुष्टः ॥

त्रिवृत को महान् एवं कृमि आदि दोष रहित चिकनी जड़ की त्रिवृत आदि विरेचन द्रव्यों के रस से भावना देकर, इसका चूर्ण करा लेना चाहिये। इस चूर्ण में चतुर्थांश सैन्धव नमक और सोंठ मिलाकर—अनारदाना या बिजौरे निम्बू आदि खट्टे द्रवों के साथ, वायुरोग से पीड़ित मनुष्य को (छै मासे) पिलाना चाहिये[1] ॥ ५ ॥

इक्षोर्विकारैर्मधुरै रसैस्तत् पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेच्च।
गुडूच्यरिष्टत्रिफलारसेन सव्योषमूत्रं कफजे पिबेत्तत् ॥६॥

पैत्तिक रोग में—विरेचनार्थ—निसोत के चूर्ण को—खण्ड, गुड़ आदि के पानक (शर्बत) अथवा दाख, मुनक्का आदि के मीठे रसों अथवा दूध के साथ पीना चाहिये अर्थात् चूर्ण फाँककर ऊपर से उक्त द्रव पीना चाहिये। कफज रोग में—विरेचनार्थ-गिलोय, नीम अथवा त्रिफला के रस के साथ अथवा त्रिकटु चूर्ण मिश्रित गोमूत्र के साथ पीवे ॥ ६ ॥

त्रिवर्णकत्र्यूषणयुक्तमेतद् गुडेन लिह्यादनघेन चूर्णम्।
प्रस्थे च तन्मूलरसस्य दत्वा तन्मूलकल्कं कुडवप्रमाणम् ॥
कर्षोन्मिते सैन्धवनागरे च विपाच्य कल्कीकृतमेतदद्यात्।
तत्कल्कभागः समहौषधार्धः ससैन्धवो मूत्रयुतश्च पेयः ८

विरेचनार्थ—दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, सोंठ, मरिच पीपल १–१ तोला, निसोत का चूर्ण ६ तो० सबको मिलाकर रख लो, मा० ४–८–१२–१६ आना भर, पुराना गुड़ चूर्ण से दुगुना मिलाकर चाट लेवे। अथवा चूर्ण से द्विगुण गुड़ की चासनी में उक्त चूर्ण मिला अवलेह बनाकर १ तोला खावे अथवा निसोत की जड़ (की छाल) का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तो०), निसोत का कल्क १ कुड़व (१६ तो०) सैन्धव लवण तथा सोंठ १–१ तोला सब को एक साथ पकाकर कल्क जैसा हो जाने पर उचित मात्रा में खावे। अथवा—निसोत का कल्क १ भाग, सोंठ आधा भाग और लवण आधा भाग मिलाकर—गोमूत्र के साथ पीवे ॥ ७,८ ॥

समास्त्रिवृन्नागरकाभयाः स्युर्भागार्धकं पूगफलं सुपक्वम्।
विडङ्गसारो मरिचं सदारुयोगः ससिन्धूद्भवमूत्रयुक्तः ॥९॥

---

१ अस्तदोष का अर्थ—कविराज हाराणचन्द्र जी ने, 'कार्कश्यादि दोष रहित' किया है। महत् का अर्थ—गम्भीर किया है। जैसा कि चरक में पाठ है—'गम्भीरानुगतां श्लक्ष्णाम्'।

निशोथ, सोंठ, हरड़ ये तीनों परस्पर समान भाग, भली प्रकार पकी सुपारी का फल आधा भाग (निशोथ का), वायविडङ्ग के बीज; मरिच; देवदारु और सैन्धानमक; इनमें प्रत्येक द्रव्य सोंठ के बराबर मिलाकर गोमूत्र के साथ पीना चाहिये ॥

विरेचनद्रव्यभवं तु चूर्णं रसेन तेषां भिषजा विमृद्य ।
तन्मूलसिद्धेन च सर्पिषाऽऽक्तं सेव्यं तदाज्ये गुटिकीकृतं वा

विरेचन द्रव्यों के चूर्ण को (त्रिवृतादि के चूर्ण को), इन्हीं त्रिवृतादि विरेचनद्रव्यों के रस के साथ पीसकर, त्रिवृतमूल द्वारा सिद्ध घृत के साथ गोली बनाकर खाना चाहिये। बलवान् पुरुष में मात्रा एक कर्ष (१ तोला) है ॥ १० ॥

गुडे च पाकाभिमुखे निधाय
चूर्णीकृतं सम्यगिदं विपाच्य ।
शीतं त्रिजाताक्तमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः ॥ ११ ॥

मोदकपाक की विधि से चूर्ण से दुगुने गुड़ का पाक करना चाहिये, जब गुड़पाक के करीब हो तब इसमें निशोथ का चूर्ण (गुड़ से आधा) मिलाना चाहिये। जब ठण्डा हो जाये तो सुगन्ध के लिये त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता) मिलाकर, गोलियाँ बना लेनी चाहिये। मात्रा—उचितमात्रा में देनी चाहिये ॥ ११ ॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं
सिद्धं सार्धं क्वाथभागैश्चतुर्भिः ।
आमृद्नीयात् सर्पिषा तच्छृतेन
तत्क्वाथोष्मस्वेदितं सामितं च ॥ १२ ॥
पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं तत्
क्षिप्तं पक्वं चावतार्यं प्रयत्नात् ।
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धाः
कार्यास्त्वेते भक्ष्यकल्पाः समासात् ॥१३॥

निसोत का चूर्ण १ भाग, निसोत का क्वाथ ४ भाग, दोनों को एक साथ पकाओ और निसोत के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध घृत का मोइन डालकर गेहूँ के मैदा को मलो, फिर निसोत के क्वाथ में स्वेदित कर लो, फिर दोनों को राव (खण्ड) की परिपक्व चासनी में मिलाकर तत्काल अग्नि पर से उतार लो और शीतल होने पर उसमें सुगन्धि के लिये दालचीनी; इलायची तथा तेजपत्ता का चूर्ण थोड़ा सा मिलाकर मोदक बनालो। यह मोदक एक प्रकार की मिठाई (भक्ष्य) जैसे होते हैं-खाने में स्वाद। गेहूँ के मैदा का नाम "समिता" है और समिता से बना पदार्थ "सामित" कहलाता है उदाहरण—मैदा का हलुवा आदि पदार्थ "सामित" होता है ॥

रसेन तेषां परिभाव्य मुद्गान्
यूषः ससिन्धूद्भवसर्पिरिष्टः ।
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद्वमनौषधैश्च ॥ १४॥

यूषविधि—मूँग को त्रिवृत आदि विरेचन द्रव्यों के रस की भावना देकर, इसमें घी और सैन्धानमक मिलाकर यूष तैय्यार करना चाहिये। इस प्रकार से मसूर आदि अन्य विदलों से भी यूष बनाना चाहिये। इसी प्रकार वमनादि औषधियों मे भी यूष तैय्यार करना चाहिये ॥ १४ ॥

भित्त्वा द्विधेक्षुं परिलिप्य कल्कैस्त्रि-
भण्डिजातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा ।
पक्वं च सम्यक् पुटपाकयुक्त्या
खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम् ॥ १५ ॥

एक गन्ने को बीच से चीरकर इसमें त्रिभण्डी (निशोथ) के कल्क को भरकर पुनः एक रस्सी से बाँध देना चाहिये। इसके ऊपर निशोथ आदि के पत्ते लपेटकर ऊपर से कीचड़ का लेप करके अङ्गारों में पुटपाक—विधि से पकाना चाहिये। जब कीचड़ पक जाये तब इसको निकालकर, ठण्डा होने पर, पित्तरोगी को खाने के लिये देना चाहिये ॥ १५ ॥

सिताजगन्धात्वक्क्षीरीविदारीत्रिवृतः समाः ।
लिह्येन्मधुघृताभ्यां तु तृड्दाहज्वरशान्तयेः ॥ १६ ॥

सिता (शर्करा), अजगन्धा (वनयवानी), त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), विदारीकन्द, और निशोथ इनको समान मात्रा में मिलाकर, घी और शहद के साथ (असमान अनुपात से) चाटना चाहिये। इससे प्यास, दाह और ज्वर शान्त होता है ॥

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम् ॥ १७ ॥
पचेल्लेहं सिताक्षौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।
त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥ १८ ॥

त्रिवृत् के चूर्ण को शर्करा और शहद में त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपात), मरिच इनको चतुर्थांश मिलाकर चटाने से कोमल प्रकृतिवालों को विरेचन हो जाता है। शर्करा एक पल (चार तोले), मधु आधा कुड़व (८ तोले) लेकर उसमें त्रिवृतचूर्ण चतुर्थांश (५ तोले) डालें, (शर्करा को पानी में मिलाकर चास बनाकर इसमें निशोथ का चूर्ण मिलाना चाहिये। पाकाभिमुख होने पर इसमें दालचीनी आदि आवश्यकतानुसार मिलाना चाहिये। शीतल होने पर शहद मिलाना चाहिये)। यह लेह विरेचक एवं पित्तनाशक है ॥ १७,१८ ॥

त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीर्मधुनाऽऽप्नुयात् ।
सर्वश्लेष्मविकाराणां श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ १९ ॥

त्रिवृत (निशोथ), श्यामा (विधारा), क्षार (यवक्षार), सोंठ और पिप्पली, इनके चूर्ण को शहद से तर करके

चटाना चाहिये। सब प्रकार के कफरोगों में यह उत्तम विरेचन है ॥१९॥

बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजान्।
तैलभृष्टान् रसानम्लफलैरावाप्य साधयेत् ॥२०॥
घनीभूतं त्रिसौगन्ध्यत्रिवृत्क्षौद्रसमन्वितम्।
लेह्यमेतत्कफप्रायैः सुकुमारैर्विरेचनम् ॥२१॥

बीजाढ्यपथ्या (पकी बीजवाली हरड़), काश्मरी (गम्भारी), धात्री, (आँवला), दाड़िम (अनार) कोल (बेर) इनको एरण्ड-तैल में भूनकर, बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस में इनको पकाना चाहिये। जब कफ हो जाये तब इनमें दालचीनी, इलायची, तेजपात सुगन्धि के लिये तथा निशोथ एवं शहद मिलाकर चाटना चाहिये। तैलमात्रा इतनी होनी चाहिये, जिसमें भुन जाये। क्वाथ के लिये जल हरड़ से सोलह गुणा, बिजौरे का रस क्वाथ से चतुर्थांश, त्रिवृत और शहद प्रत्येक लेह का चतुर्थांश। यह लेह कफबहुल सुकुमार रोगियों के लिये विरेचन है ॥२०,२१॥

नीलीतुल्यं त्वगेलं च तैस्त्रिवृत्ससितोपला।
चूर्णं संतर्पणं क्षौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत्॥२२॥

नीली (नील की जड़ की त्वचा) के समान मिलित दालचीनी और इलायची, इनके बराबर शर्करामिश्रित निशोथ का चूर्ण मिलाकर इसमें मधु और अनार का रस मिलाकर बनाया संतपर्ण सन्निपातनाशक है। सन्निपात रोग अच्छा होने पर उपद्रव शान्ति के लिये देना उत्तम है ॥२२॥

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः।
मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहाः ॥२३॥

निशोथ, श्यामा (विधारा), सिता (मिश्री), कृष्णा (पिप्पली), त्रिफला और माक्षिक (मधु), इनको समान भाग लेकर लड्डू बना लेने चाहिये। ये विरेचन लड्डू—सन्निपात, ऊर्ध्वरक्तपित्त तथा ज्वरनाशक है ॥२३॥

त्रिवृद्भागास्त्रयः प्रोक्तास्त्रिफला तत्समा तथा।
क्षारकृष्णाविडङ्गानि संचूर्ण्य मधुसर्पिषा ॥२४॥
लिह्याद् गुडेन गुटिकाः कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत्।
कफवातकृतान् गुल्मान् प्लीहोदरहलीमकान् ॥२५॥
हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम्।

निशोथ तीन भाग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) तीन भाग, क्षार (यवक्षार), कृष्णा (पिप्पली), विडङ्ग (वायविडङ्ग), इनका चूर्ण भी तीन भाग लेकर घी और शहद में मिलाकर अथवा गुड में गोली बाँधकर खाना चाहिये। इससे कफ एवं वायुजन्य गुल्मरोग, प्लीहा, उदर, हलीमक रोग नष्ट होते हैं। यह उपद्रवरहित विरेचन है ॥२४,२५॥

चूर्णं श्यामा त्रिवन्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा ॥२६॥
चव्येन्द्रबीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसाम्बुभिः।
पीतं विरेचनं तद्धि रूक्षाणामपि शस्यते ॥२७॥

श्यामा (विधारा), त्रिवृत् (निशोथ), नील, कट्वी (कटुकी), मुस्ता (मोथा), दुरालभा (धमासा), चव्य (चविका), इन्द्रबीज (इन्द्रजौ), त्रिफला, घी, इनको मांसरस के साथ साथ देने से रूक्ष शरीरवाले पुरुष को भी विरेचन होता है। (स्निग्ध पुरुषों को त्रिफला तक औषधियों का चूर्ण पानी के साथ देना चाहिये)॥

वैरेचनिकनिःक्वाथभागाः शीतास्त्रयो मताः।
द्वौ फाणितस्य तच्चापि पुनरग्नावधिश्रयेत् ॥२८॥
तत् साधुसिद्धं विज्ञाय शीतं कृत्वा निधापयेत्।
कलसे कृतसंस्कारे त्रिभज्यर्तू हिमाहिमौ ॥२९॥
मासादूर्ध्वं जातरसं मधुगन्धं वरासवम्।
पिबेदसावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्वपि ॥३०॥

वैरेचनिक (निशोथादि) के शीतल क्वाथ के तीन भाग, फाणित (राब) के दो भाग, इनको मिलाकर फिर आग पर रखना चाहिये। जिस समय भली प्रकार पक जाये (आधा रह जाये) तब शीतल करके, अन्दर से धुले एवं मधु-पिप्पली से लिप्त तथा अगुरु से धूपित मटके में डालकर, उष्ण ऋतु में एक पक्ष, शीत ऋतु में एक मास तक धान्यराशि में रख देना चाहिये। जब एक मास बीत जाये, रस निकल आये और मद्य की सी गन्ध आने लगे तब इस आसव को पीना चाहिये। क्षार, मूत्र आदि आसवों में भी यही विधि बरतनी चाहिये ॥

वैरेचनिकमूलानां क्वाथे माषान् सुभावितान्।
सुधौतांस्तत्कषायेण शालीनां चापि तण्डुलान् ॥३१॥
अवक्षुद्यैकतः पिण्डान् कृत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान्।
शालितण्डुलचूर्णं च तत्काषायोष्मसाधितम् ॥३२॥
तस्य पिष्टस्य भागांस्त्रीन् किण्वभागविमिश्रितान्।
मण्डोदकार्थं क्वाथं च दद्यात्तत्सर्वमेकतः ॥३३॥
निदध्यात्कलसे तां तु सुरां जातरसां पिबेत्।
एष एव सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्तितः ॥३४॥

वैरेचनिक निशोथादि द्रव्यों के क्वाथ में उड़द (की दाल) को अच्छी प्रकार से[1] भावना देनी चाहिये। शालिधान्यों के चावलों को भी वैरेचनिक द्रव्यों के क्वाथ से भली प्रकार धोना चाहिये। इन दोनों को मिलाकर कूटना चाहिये। गीले होने से जब गोला—पिण्ड-सा बन जाये, तब इनको सुखाना चाहिये। वैरेचनिक द्रव्यों के कषाय की उष्णिमा से धान्य के चावलों को पृथक् पकाना चाहिये। उपर्युक्त चूर्ण के तीन भाग और किण्व का एक भाग, इनको मिलाकर, मण्ड पानी के लिये विरेचनद्रव्यों का क्वाथ मिलाना चाहिये। इनको एक पात्र में रख देना चाहिये। जब रस उत्पन्न हो जाय तब इस

१ "दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत् ॥"

सुरा को पीना चाहिये। यही सुराकल्पविधि वमन औषधियों में भी बरतनी चाहिये ॥३१-३४॥

मूलानि त्रिवृदादीनां प्रथमस्य गणस्य च।
महतः पञ्चमूलस्य मूर्वाशार्ङ्गेष्टयोरपि ॥३५॥
सुधां हैमवतीं चैव त्रिफलातिविषे वचाम्।
संहृत्यैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयोः ॥३६॥
कुर्यान्निःक्काथमेकस्मिन्नेकस्मिंश्चूर्णमेव तु।
क्षुण्णांस्तस्मिंस्तु निःक्काथे भावयेद्बहुशो यवान् ॥३७॥
शुष्काणां मृदुभृष्टानां तेषां भागास्त्रयो मताः।
चतुर्थं भागमावाप्य चूर्णानामत्र कीर्तितम् ॥३८॥
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् ततस्तं तदनन्तरम्।
तेषामेव कषायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥३९॥
पूर्ववत् सन्निदध्यात्तु ज्ञेयं सौवीरकं हि तत् ॥

त्रिवृत आदि संशोधनीयगण में कही औषधियाँ, प्रथमगण (विदारीगन्धादि), महापञ्चमूल, मूर्वा (चोरस्नायु), शार्ङ्गष्टा (नाटाकरंज), सुधा (स्नुही का दूध), हैमवती (रक्तवच अथवा अन्य मत से उशारे रेवन्द), त्रिफला, अतीस, वच, इनको परस्पर समान भाग लेकर दो भाग करने चाहिये। एक भाग से क्वाथ सिद्ध करना चाहिये और दूसरे भाग का चूर्ण बनाना चाहिये। जौ को कूट करके इस क्वाथ से बार-बार भावना देनी चाहिये। इनको सुखाकर मधुर आँच पर धीमे २ भून लेना चाहिये। इन जौओं के तीन भाग लेने चाहिये। उपर्युक्त चूर्ण का चौथा भाग मिलाकर इस समस्त चूर्ण को एक पात्र में रखकर ऊपर से वैरेचनिक द्रव्यों का शीतल कषाय डालकर पूर्व की भाँति बन्द करके रख देना चाहिये। इस प्रकार से उत्तम हितकारी सौवीरक (काञ्जी) बन जाती है ॥३५-३९॥

पूर्वोक्तं वर्गमाहृत्य द्विधा कृत्वैकमेतयोः ॥४०॥
भागं संक्षुद्य ससृज्य यवैः स्थाल्यामधिश्रयेत्।
अजशृङ्ग्याः कषायेण तमभ्यासिच्य साधयेत् ॥४१॥
सुसिद्धांश्चावतार्यैतानौषधिभ्यो विवेचयेत्।
विमृद्य सतुषान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ॥४२॥
पूर्वोक्तौषधभागस्य चूर्णं दत्त्वा तु पूर्ववत्।
तेनैव सह यूषेण कलशे पूर्ववत् क्षिपेत् ॥४३॥
ज्ञात्वा जातरसं चापि तत्तुषादकमादिशेत्।
तुषाम्बुसौवीरकयोर्विधिरेष प्रकीर्तितः ॥४४॥
षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्तिते।

पूर्वोक्त (त्रिवृतादिमूल, विदारिगन्धादि) महापञ्चमूल (मूर्वा, शार्ङ्गष्टा आदि) वर्ग के दो भाग करके इनमें से एक भाग को कूटना चाहिये। इसमें जौ मिलाकर थाली में रखना चाहिये। इनको अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी) के कषाय से आर्द्र करके पकाना चाहिये। और जब भली प्रकार से पक जावे तब इन तुषयुक्त जौ को औषधि से पृथक् कर लेना चाहिये। इन तुष युक्त जौ को भली प्रकार से पीसकर दो भाग परिमित लेना चाहिये। इसमें पूर्वोक्त औषधियों के चूर्ण का एक भाग पूर्व की भाँति (चतुर्थ भाग) मिलाना चाहिये। इस चूर्ण को तथा पूर्वोक्त अजशृङ्गी के यूष को पात्र में भरकर पूर्व की भाँति रख देना चाहिये। जब अम्लता उत्पन्न हो जाये, तब 'तुषोदक' बन गया, ऐसा समझना चाहिये। तुषाम्बु और सौवीरक की यह विधि कह दी है। छै या सात दिन में (अत्यन्त उष्णकाल में छै दिन के अन्दर) ये पीने के योग्य हो जाते हैं ॥४०-४४॥

वैरेचनेषु सर्वेषु त्रिवृन्मूलविधिः स्मृतः ॥४५॥

शेष अवशिष्ट श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला आदि विरेचन द्रव्यों में त्रिवृतमूल के समान विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥४५॥

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि विशेषान्मृत्कुशान्तरे।
पिप्पलीक्षौद्रयुक्तानि स्विन्नान्युद्धृत्य शोषयेत् ॥४६॥
ततस्त्रिवृद्विधानेन योजयेच्छ्लेष्मपित्तयोः।

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों को मिट्टी एवं कुशा के अन्दर रखकर पुटपाक विधि से पकाना चाहिए। जब भली प्रकार से स्विन्न हो जायें तब पिप्पली और शहद में मिलाकर, त्रिवृत की विधि से कफ-पित्त रोगियों में प्रयोग करना चाहिये ॥४६॥

तयोः कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ॥४७॥
सर्पिश्च पक्वं वीसर्पकक्षादाहालजीर्जयेत्।
मेहगुल्मानिलश्लेष्मविबन्धांस्तैलमेव च ॥४८॥
चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसंरोधजा रुजः।

दन्ती और द्रवन्ती के कल्क एवं कषाय से चक्र तैल (तिल-तैल-कोल्हू में पिरा हुआ) सिद्ध करना चाहिये। तैल ३२ पल-दन्ती द्रवन्ती कल्क ८ पल, दन्ती द्रवन्ती क्वाथ १२८ पल लेना चाहिये। इसी प्रकार दन्ती-द्रवन्ती के मूल के कल्क एवं कषाय से सिद्ध घृत, वीसर्प, कक्षा-दाह, अलजी को जीतता है। तथा इसी प्रकार सिद्ध तैल, प्रमेह, गुल्म, वायु, कफ, विबन्ध को नष्ट करता है। इनसे सिद्ध चतुःस्नेह (वसा, घी, तैल, मज्जा), मल, शुक्र, वायु के अवरोधजन्य उदावर्त की पीड़ा को नष्ट करता है[1] ॥४७,४८॥

दन्तीद्रवन्तीमरिचकनकाह्वयवासकैः ॥४९॥
विश्वभेषजमृद्वीकाचित्रकैर्मूत्रभावितम्।
सप्ताहं सर्पिषा चूर्णं योज्यमेतद्विरेचनम् ॥५०॥
जीर्णे संतर्पणं क्षौद्रं पित्तश्लेष्मरुजापहम्।
अजीर्णपार्श्वरुक्पाण्डुप्लीहोदरनिबर्हणम् ॥५१॥

दन्ती, द्रवन्ती, मरिच, कनकाह्वा (नागकेसर[2]) यवास (दुरालभा), विश्वभेषज (सोंठ), मृद्वीका (किसमिस),

१ वृद्ध वैद्य—दशमूल क्वाथ भी मिलाते हैं।

२ कनकाह्व का अर्थ कंकुष्ठ (सत्यानाशी) भी करते हैं। आजकल वैद्य समाज में कंकुष्ठ अभी अनिश्चित द्रव्य है।

चित्रक—इनको सप्ताह तक मूत्रों द्वारा भावना देकर चूर्ण करना चाहिये। इस चूर्ण को घी के साथ मिलाकर चाटने से विरेचन होता है। इसके जीर्ण होने पर लाजा-सक्तुमिश्रित शहद सन्तर्पण के लिये देना चाहिये। इससे पित्त-कफ-जन्य-रोग, अजीर्ण, पार्श्वशूल, पाण्डु, प्लीहा और उदररोग नष्ट हो जाते हैं ॥४९-५१॥

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्युः पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥५२॥
कृत्वैतन्मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि।
ततः खादेदुष्णतोयसेवी निर्यन्त्रणास्त्विमे ॥५३॥
दोषघ्ना ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठनाशनाः।

गुड़ आठ पल, पथ्या (हरड़) बीस पल, दन्तीमूलचूर्ण एक पल, चित्रकमूलचूर्ण एक पल, पिप्पली एक कर्ष, त्रिवृत एक कर्ष, इनको परस्पर मिलाकर इनसे दस मोदक (लड्डू) बनाने चाहिये। एक एक लड्डू को दसवें दिन खाना चाहिये। लड्डू खाकर गरम पानी पीना चाहिये, तथा वायु, धूप आदि के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। ये मोदक दोषनाशक, ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श एवं कुष्ठ नाशक हैं ॥५२,५३॥

व्योषं त्रिजातकं मुस्ता विडङ्गामलके तथा ॥५४॥
नवैतानि समांशानि त्रिवृदष्टगुणानि वै।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतानीह दन्तीभागद्वयं तथा ॥५५॥
(सर्वाणि चूर्णितानीह गालितानि विमिश्रयेत् ॥)
षड्भिश्च शर्कराभागैरीषत्सैन्धवमाक्षिकैः ॥५६॥
पिण्डितं भक्षयित्वा तु ततः शीताम्बु पाययेत्।
बस्तिरुक्तृड्ज्वरच्छर्दिशोषपाण्डुभ्रमापहम् ॥५७॥
निर्यन्त्रणमिदं सर्वविषघ्नं तु विरेचनम्।
त्रिवृदष्टकसंज्ञोऽयं प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥५८॥
भक्ष्यः क्षीरानुपानो वा पित्तश्लेष्मातुरैर्नरैः।
भक्ष्यरूपसधर्मत्वादाढ्येष्वेव विधीयते ॥५९॥

व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात); नागरमोथा, वायविडङ्ग और आँवला एक एक भाग और त्रिवृत आठ भाग, इनको बारीक चूर्ण करके कपड़े में छान लेना चाहिये। इनको मिलाकर इसमें शक्कर छै भाग और सैन्धव तथा शहद थोड़ा मिलाकर लड्डू बना लेने चाहिये। इनमें से एक लड्डू को खाकर ऊपर से शीतल जल पीना चाहिये। इससे बस्तिशूल, प्यास, ज्वर, वमन, शोष, पाण्डु, भ्रम (चक्कर आना) रोग नष्ट होता है। वायु, धूप से बचने की आवश्यकता नहीं है। विषनाशक विरेचन है। इस विरेचन को 'त्रिवृदष्टक' कहते हैं, यह पित्तरोगियों के लिये उत्तम है। पित्त-कफ रोगियों को चाहिये कि इसको खाकर ऊपर से दूध पीयें। भक्ष्य रूप होने के कारण धनी पुरुषों के लिये भी उत्तम है। (इसके अपूप आदि भी बना सकते हैं)॥

तिल्वकस्य त्वचं बाह्यमन्तर्वल्कविवर्जिताम्।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कषायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीयं भावितं तेन भागं शुष्कं तु भावितम्।
दशमूलीकषायेण त्रिवृद्वत्संप्रयोजयेत् ॥६१॥

तिल्वक (लोध्र की जड़) के अन्दर की त्वचा को छोड़कर, बाहर की त्वचा को लेकर इसका चूर्ण करना चाहिये। इस चूर्ण के दो भागों को तिल्वक के कषाय से पकाना चाहिये, इक्कीस बार छानना चाहिये। चूर्ण के तीसरे भाग को इस क्वाथ से भावना देकर चूर्ण बनावें। इसका दशमूल के कषाय से त्रिवृत् के समान प्रयोग करना चाहिये ॥६०,६१॥

विधानं त्वक्षु निर्दिष्टं फलानामथ वक्ष्यते।
हरीतक्याः फलं त्वस्थिविमुक्तं दोषवर्जितम् ॥६२॥
योज्यं त्रिवृद्विधानेन सर्वव्याधिनिबर्हणम्।
रसायनं परं मेध्यं दुष्टान्तर्व्रणशोधनम् ॥६३॥

त्वचाओं की विधि को कहकर अब फलों की विधि को कहते हैं। अस्थि (गुठली) से रहित, दोषरहित हरड़ के फल को लेकर त्रिवृत की विधि से प्रयोग करना चाहिये। यह सब रोग-नाशक, रसायन, अतिशय-मेधा-वर्धक, दुष्ट तथा अन्तर्व्रण-शोधक है ॥६२,६३॥

हरीतकी विडङ्गानि सैन्धवं नागरं त्रिवृत्।
मरिचानि च तत्सर्वं गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६४॥
हरीतकी भद्रदारु कुष्ठं पूगफलं तथा।
सैन्धवं शृङ्गवेरं च गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६६॥
नीलिनीफलचूर्णं तु नागराभययोस्तथा।
लिह्याद् गुडेन सलिलं पश्चादुष्णं पिबेन्नरः ॥६५॥
पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम्।
सैन्धवोपहितां सद्य एष योगो विरेचयेत् ॥६७॥
हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥६८॥
वातानुलोमनी वृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी।
संतर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥६९॥

हरड़, विडङ्ग, सैन्धव, सोंठ, निशोथ, मरिच, इनको गोमूत्र के साथ लेने से विरेचन होता है। हरड़, देवदारु, कूठ, पूगफल (सुपारी), सैन्धव और सोंठ यह गोमूत्र के साथ लेने से विरेचन हैं।

नीलीफल के चूर्ण को सोंठ तथा हरड़ के चूर्ण को गुड़ के साथ मिलाकर खाना चाहिये। ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये। हरड़ को पिप्पल्यादिगण के कषाय के साथ पीसकर तथा सैन्धानमक मिलाकर खाने से शीघ्र विरेचन होता है। सोंठ या गुड़ के साथ हरड़ को खाने से, या सैन्धव के साथ निरन्तर खानेसे अग्नि बढ़ती है, हरड़, वायु की अनुलोमक, वृष्य (शुक्रवर्धक) इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाली, तथा सन्तर्पणजन्य रोगों को नष्ट करती है ॥६४–६९॥

शीतमामलकं रूक्षं पित्तमेदःकफापहम् ।
बिभीतकमनुष्णं तु कफपित्तनिबर्हणम् ॥७०॥
त्रीण्यप्यम्लकषायाणि सतिक्तमधुराणि च ।

आँवला—शीतवीर्य, रूक्ष है, पित्त-मेद और कफ का नाशक है । विभीतक (बहेड़ा) न तो उष्ण है न शीत तथा कफ-पित्तनाशक है । तीनों ही (हरड़, बहेड़ा और आँवला) अम्ल, कषाय, तिक्त तथा मधुररस युक्त है (इनमें कटु तथा लवणरस नहीं है) ॥७०॥

त्रिफला सर्वरोगघ्नी त्रिभागघृतमूर्च्छिता ॥७१॥
वयसः स्थापनं चापि कुर्यात् संततसेविता ।

तीसरे भाग युक्त घी में मूर्च्छित (भूनी) त्रिफला-सम्पूर्ण रोग (दोष) नाशक, आयुस्थापक होती है । इसके निरन्तर सेवन से बुढ़ापा शीघ्र नहीं आता ॥७१॥

हरीतकीविधानेन फलान्येवं प्रयोजयेत् ॥७२॥
विरेचनानि सर्वाणि—

आँवला आदि सब विरेचक फलों को हरड़ के समान प्रयोग करना चाहिये ॥७२॥

विशेषाच्चतुरङ्गुलात् ।
फलं काले समुद्धृत्य सिकतायां निधापयेत् ॥७३॥
सप्ताहमातपे शुष्कमतो मज्जानमुद्धरेत् ।
तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद्वा प्रपीड्य च ॥७४॥
तस्योपयोगो बालानां यावद्वर्षाणि द्वादश ।
लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ॥७५॥
सुखोदकं चानुपिबेदेष योगो विरेचयेत् ।

खासकर चतुरंगुल (अमलतास) के फल को पकने के समय में तोड़कर रेत में गाड़ देना चाहिये । सात दिन के पीछे इसको धूप में सुखाकर इसकी मज्जा (गूदे) को निकाल लेना चाहिये । इस मज्जा को जल में पकाकर अथवा तिलों के समान कोल्हू में पीसकर तेल निकालना चाहिये । इस तैल का उपयोग बारह साल की आयु तक के शिशुओं में करना चाहिये । इस तेल को एरण्डतैल कूठ तथा त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पल) के साथ मिलाकर चाटना चाहिये । ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये, इससे विरेचन होता है ।

वि० मन्तव्य—अमलतास की मज्जा (गूदा) का ही प्रयोग किया जाता है तैल का नहीं और तैल निकाला भी नहीं जाता उसमें तैल होता भी नहीं । उसके बीजों की गिरी का तैल हो सकता है, परन्तु—चरक कल्पस्थान अ० ८ में कहा है कि—'ततो मज्जानम् उद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत्' अर्थात् अमलतास की फली से मज्जा निकालकर स्वच्छ भाण्ड में धर देवे । और वहाँ सब प्रयोग मज्जा के ही लिखे हैं, तैल की चर्चा भी नहीं की गई है । सम्भव है कि उक्त "तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद् वा प्रपीड्य च" पाठ के अनुसार अमलतास के बीजों का तैल भी विरेचनार्थ निकालकर प्रयोग में लाया जाता रहा हो ॥७३-७५॥

एरण्डतैलं त्रिफलाक्वाथेन त्रिगुणेन तु ॥७६॥
युक्तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ।
बालवृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

एरण्ड तैल को तिगुने त्रिफला क्वाथ, अथवा दूध अथवा मांसरस के साथ (अथवा उनमें मिलाकर) पीने से विरेचन हो जाता है । इसका प्रयोग बाल, वृद्ध, क्षत (उरःक्षत) तथा क्षीण (क्षय पीडित) और सुकुमार के लिये उत्तम है । एरण्ड तैल की मात्रा १से४ तोला है ॥७६,७७॥

फलानां विधिरुद्दिष्टः क्षीराणां शृणु सुश्रुत ।
विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥
अज्ञप्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।
विजानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम् ॥७९॥
भिनत्त्याश्वेव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

हे सुश्रुत ! फलों की विधि कह दी है, अब दूध की विधि को सुनो । तीक्ष्ण विरेचनों में स्नुही का दूध सबसे उत्तम विरेचन है । यदि इसी विरेचन को मूढ़ मनुष्य कर्म को न जानकर प्रयोग करते हैं, तो यह विष के समान रोगी को मार देता है । जाननेवाले मनुष्य से प्रयुक्त होने पर, बड़े भारी दोष संचय को तथा कठिन रोगों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है ॥

महत्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्योश्चैकशः पृथक् ॥८०॥
कषायैः समभागं तु तदङ्गारेषु शोषितम् ।
अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥

बृहत् पञ्चमूल, लघु बृहती (छोटी कटेरी) और बड़ी कटेरी इनके पृथक् पृथक् कषाय को समान भाग लेना चाहिये । इनके एक भाग के समान स्नुही के दूध को लेकर अङ्गारों पर शुष्क कर लेना चाहिये । इसमें से कोल (आधा कर्ष) परिमित, अम्लादि (दाडिम, आँवला या काञ्जी, सुरा आदि) के साथ दोष विशेषानुसार पीना चाहिये ।

वि० मन्तव्य—सेहुण्ड दूध की आधा तोला मात्रा बहुत अधिक है, सूखे दूध की मात्रा—२–४ रत्ती है और आर्द्र की ८–१० बून्द, इसके ऊपर घृत का हलुवा खाना चाहिये । अ० ४५—॥८०,८१॥

महावृक्षपयःपीतैर्यवागूस्तण्डुलैः कृताः ।
पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥
लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुहीक्षीरपयोघृतैः ।
भाविताास्तु स्नुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥
चूर्णं काम्पिल्लकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम् ।

महावृक्ष (स्नुही) के दूध से भावित, तण्डुलों से बनाई लप्सी अथवा गुड़ के साथ बनाई उत्कारिका शीघ्र विरेचन करती है । अथवा—स्नुही के दूध, दूध सिता एवं घी से सिद्ध लेह विरेचक है । पिप्पली को लवण (सैन्धव) से मिलाकर स्नुही के दूध में भावना देकर खाने से

अथवा काम्पिल्ल (कमीले) को स्नुही के दूध में मिलाकर गोली बनाकर खाने से विरेचन होता है ॥ ८२,८३ ॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ॥८४॥
मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम्।
कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ॥८५॥
आघ्रायावृत्य वा सम्यङ्मृदुकोष्ठो विरिच्यते।

सप्तला, शंखिनी (यवतिक्ता), दन्ती, निशोथ, आरग्वध (अमलतास), इनको गाय के मूत्र में सात दिन तक भिगोकर, पीछे स्नुही के दूध से भावित करना चाहिये। इस चूर्ण को माला, वस्त्र आदि पर छिड़ककर सूँघने या धारण करने से मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति को शीघ्र विरेचन होता है ॥ ८४,८५ ॥

क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तितैः।
अवेक्ष्य सम्यग्रोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥
त्रिवृच्छाणमितास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुड़ेन वा।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम्।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥ ८९ ॥

क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णित प्रयोगों को रोग आदि के अनुसार उचित विधि में व्यवहार करना चाहिये। निशोथ तीन शाण (नौ मासे), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आँवले) की त्वचा तीन शाण, वायविडङ्ग, पिप्पली, क्षार (यवक्षार) एक एक शाण, इन सबके चूर्ण को घी और शहद के साथ मिलाकर चाटने से या गुड़ के साथ लड्डू बनाकर खाने से विरेचन होता है। यह उत्तम अव्यर्थ विरेचन है। इसमें परिहार की आवश्यकता नहीं है। गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि, कफ वातजन्य रोगों को नष्ट करता है ॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि
मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु।
भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु
विरेचनान्यग्र्यमतिर्विदध्यात् ॥९०॥

अग्र्यमति (अतिप्रधान बुद्धि) वैद्य को चाहिये कि—घी, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, रस (मांसरस), भक्ष्य (मोदकादि), अन्न (चावल आदि) तथा भिन्न-भिन्न चाटनों के रूप में विरेचन देवे ॥

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः
शृतश्च शीतश्च तथैव चूर्णम्।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां
यथोत्तरं ते लघवः प्रतिष्ठाः ॥९१॥

औषधियों की कल्पनाविधि छै प्रकार की है। यथा—क्षीर, स्वरस, कल्क, शृत-कषाय, शीत कषाय, और चूर्ण, इनमें उत्तरोत्तर लघु है। यथा—क्षीर से रस, रस से कल्क, कल्क से कषाय आदि[1] (चूर्ण के स्थान पर फाण्ट भी पाठ है) ॥९१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रवद्रव्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे द्रवद्रव्यविधि की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

पानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसममृतं सौम्यंतर्पणं धारणसमाश्वासजननं श्रमक्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमं च ॥३॥

अन्तरिक्ष का जल—(वहाँ उत्पन्न नहीं होता, अपितु वाष्प से बन जाता है) अनिर्देश्य रस (अव्यक्त रस-अत्यल्प रस होने के कारण अप्रकटित रसवाला है, यह बात नहीं कि जल में रस नहीं)। अमृत (अमृत के समान है, चूंकि दोषों का प्रकोप नहीं करता, इसलिये पानी का कहीं भी निषेध नहीं है)। जीवन (प्राण धारण करनेवाला), सौम्य (धातुओं की ओज वृद्धि करनेवाला है), तर्पण (तृप्तिकारक), धारण (शस्त्रजन्य व्यथा के कारण या अन्य कारणों से शरीर में मूर्च्छा उत्पन्न होने पर धारण करता है), आश्वासजनक (मार्ग चलने से थक जाने पर प्राणों को सहारा देता है)। श्रम (थकान), क्लम (मानसिक श्रान्ति), प्यास, मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा, दाह को शान्त करता है, अत्यन्त पथ्य है, इसलिये रुग्ण एवं स्वस्थ दोनों के लिये हितकारी है।

वि० मन्तव्य—आन्तरीक्ष = द्यौ एवं पृथिवी के मध्य का अवकाश है अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष में वर्त्तमान जल का नाम है आन्तरीक्ष जल और यह जल पानीय (पीने योग्य—हित) है। इस जल को सब प्राणी सर्वदा पीते रहते हैं और इसमें किसी भी मधुर आदि रस का निर्देश नहीं किया जा सकता। यह

---

१ इनके लक्षण—
"यन्त्रादिपीडितद्रव्यरसः स्वरस उच्यते।
यः पिण्डश्चार्द्रपिष्टानां स कल्कः परिकीर्त्तितः ॥
वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः।
उपोषितं निशायां तु तोयस्थं शीतमुच्यते ॥
चूर्णमुष्णेन संपृक्तं तत् फाण्टमभिधीयते।
अभिभूयाम्बुनोष्णेन क्षणात् पूतमितीतरे ॥"
चरक ने कल्क के अन्दर चूर्ण का अन्तर्भाव किया है। इस पाँचवी कल्पना से फाण्ट अभिप्रेत है।

वह उदक है जो प्रत्येक श्वास में पिया जाता है। अतः यह अमृत है, जिसके पान से प्राणी मृत (मुर्दा) नहीं होता। यह आकाश में सर्वदा व्याप्त रहता है, अतः इसका नाम वेद में अप् है और इसी को पीने की प्रार्थना की जाती है "आपो भवन्तु पीतये" हमारे पीतये पीने के लिये, आप् हों—वर्त्तमान विद्यमान रहें। विश्वास कीजिये यह कटोरा में भरकर पीने का जल नहीं है। यह शीतकाल में अधिक तथा उष्णकाल में स्वल्प हो जाता है। इस प्रकरण में अन्तरिक्ष से गिरनेवाला जल सभी "आन्तरिक्ष" माना है, यथा वर्षा, ओले, बर्फ आदि। इसका संग्रह करने आदि का विधान सू० ७ में देखिये। चरक (सू० अ० २६) में उक्त आप् को सौम्य माना है, क्योंकि भाप शीत पाकर ही जल का रूप धारण करती है, फिर वह चाहे वर्षा आदि किसी रूप में परिणत हो जाती है ॥३॥

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिदविकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥४॥

यही अन्तरिक्ष का जल भूमि पर गिरकर स्थान विशेष के कारण मधुर आदि किसी एक रस को प्राप्त कर लेता है। स्थान-विशेष-नदी (गंगादि), नद (सिन्धु, शोण आदि), सर (सरोवर), तड़ाग (तालाब), वापी (बावली), कूप (कुंवा), चुण्टी (बिना चिना कुंवा), प्रस्रवण (झरना), उद्भिद (भूमि में से पानी का निकलना), विकिर (रेत को हटाकर निकाला पानी, फल्गु नदी आदि), केदार (आलवाल द्वारा बांधा खेत), पल्वल (छोटा सर) आदि शब्द से ह्रद आदि स्थानों में स्थित रहता है।

वि० मन्तव्य—पृथ्वी पर से बाष्प बनकर जल आकाश में जाता है, वह वर्षा आदि के रूप में पुनः पृथ्वी पर गिरता है और वहाँ शोषित या चूषित होकर पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाता है, वही कूप आदि में उपलब्ध होता है ॥४॥

तत्र, 'लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासङ्ख्यमुदकानि संभवन्ति' इत्येके भाषन्ते ॥५॥

कई आचार्यों का कहना है कि—लोहित (लाल), कपिल, पाण्डु, नीला, शुक्ल भूमिप्रदेशों में-क्रमशः मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय रसवाले जल होते हैं ॥५॥

तत्तु न सम्यक्, पृथिव्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण। तत्र, स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं, लवणं च, अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं, तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं च, वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्, आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः, तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरीक्षालाभे ॥६॥

यह कहना ठीक नहीं--पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के परस्पर प्रविष्ट होने से सलिलरस उत्कर्ष (वृद्धि) एवं अपकर्ष (ह्रास) के कारण छै गुणोंवाला (रसोंवाला) हो जाता है। इनमें पृथ्वीगुणबहुल भूमि में अम्ल एवं लवण रस, जलगुणबहुल भूमि में मधुर, तेजोगुणबहुल भूमि में कषाय रस, आकाशगुणबहुल भूमि में अव्यक्त रस होता है, क्योंकि आकाश-अव्यक्त है। आकाशगुण-बहुल भूमि में गिरा हुआ जल, अन्य स्थानों की भूमि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अव्यक्त रस है। अन्तरिक्ष के जल न मिलने पर आकाशगुणबहुल भूमि का जल पीना चाहिये[1] ॥६॥

तत्रान्तरीक्षं चतुर्विधम्। तद्यथा—धारं कारं तौषारं हैममिति। तेषां धारं प्रधानं लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं-गाङ्गं, सामुद्रं चेति। तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति। तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत–शाल्योदनपिण्डमकुथितविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यं, वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम्। सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद् भवति। गाङ्गं पुनः प्रधानं,तदुपाददीताश्वयुजे मासि। शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युतमथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वाशुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्ण राजते मृण्मये वा पात्रे निदध्यात्। तत् सर्वकालमुपयुञ्जीत, तस्यालाभे भौमम्। तच्चाकाशगुणबहुलम्। तत् पुनः सप्तविधम्। तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्रवणम्, औद्भिदं, चौण्ट्यमिति ॥७॥

यह आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का है। यथा—धार (धारा वर्षा के रूप में गिरा हुआ)–कार, वर्षा में गिरे ओले, तुषार (ओस का पानी), हैम (हिम का पानी), इन चारों प्रकार के पानी में धार-पानी प्रधान है, लघु होने से। यह धार जल फिर दो प्रकार का है—एक गांग और दूसरा सामुद्र। इनमें गांग जल प्रायः आश्विन मास में बरसता है। इन दोनों प्रकार के पानी की परीक्षा करनी चाहिये। जिस समय बादल बरस रहा हो, उस समय पकाये चावलों के न गले हुए अविवर्ण एक पिण्ड को चांदी के पात्र में रखना चाहिये। इस प्रकार कुछ देर तक (४, ५ घण्टे तक) रखने पर भी यदि पिण्ड

[1] अन्य आचार्य दो भूतों के संसर्ग से रसोत्पत्ति मानते हैं—पृथ्वी जलगुणभूयिष्ठ-भूमि में मधुर, भूमिअनिलगुण भूयिष्ठ में अम्ल, जल अग्निगुणभूयिष्ठ में लवण, वायु-अग्निगुणभूयिष्ठ में कटु, पृथ्वी-अनिलगुणभूयिष्ठ में कषाय रस उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार रहता है, तो समझना चाहिये कि गांग जल बरस रहा है। यदि रङ्ग बदल जाये, कोथ या गँदलापन दिखाई देवे तो समझना चाहिये कि 'सामुद्र' जल बरस रहा है। यह सामुद्र जल ग्रहण करने योग्य नहीं। सामुद्र जल को भी आदि आश्विन मास में ग्रहण किया जाये, तो यह भी गांग जल की भांति हो जाता है। गांग जल श्रेष्ठ है, इसको आश्विन मास में जो शुद्ध-स्वच्छ-सफेद-फैले वस्त्र के एक भाग में गिरा हो उसे अथवा ईंट आदि से बने महल की छत पर से या किन्हीं अन्य स्वच्छ पात्रों में इकट्ठा करके स्वर्ण चाँदी या मिट्टी के पात्र में रखना चाहिये। इस पानी का सब समय में उपयोग करना चाहिये, इसके न मिलने पर भूमि का पानी बरतना चाहिये। इस भूमि के पानी में आकाशगुण की अधिकता रहती है। यह पानी सात प्रकार का है। यथा—कौप (कुंए का), नादेय (नदी का), सारस (सरोवर का) ताड़ाग (तड़ाग का), प्रास्रवण (झरने का), औद्भिद (ओगल का), चौण्ट्य (बिना चिने कुंए का)।

वि० मन्तव्य—सामुद्र–सागर में सर्वदा नदियों, नदों द्वारा जल पड़ता—भरता रहता है, परन्तु वह उछलता नहीं, भरकर इधर उधर नहीं बहता—वेला का उल्लंघन नहीं करता, कारण यह है कि उसमें से वाड़व अग्नि के प्रभाव से तथा सूर्य के सन्ताप से सर्वदा वाष्प–भाप उड़ती रहती है, जो आजकल की भाषा में "मानसून" कही जाती है। इस मानसून के बादलों (मेघों) से जो जल बरसता है वह "सामुद्र" (समुद्र का) कहलाता है। और जो गंगा (गच्छति इति गंगा) अर्थात् चलती नदियों का जल भाप बनकर उड़ता है और फिर बरसता है वह "गाङ्ग" जल कहलाता है। विश्वास कीजिये कि—गंगा केवल भागीरथी नामक भारतीय एक नदी का नाम नहीं है, अपितु विश्व की समस्त गतिशील छोटी बड़ी नदियों का नाम है। वर्षा ऋतु में प्रायः मानसून का जल बरसता है और उसके व्यतीत होने के अनन्तर अगस्त्य का उदय होने पर—शरद् ऋतु में गाङ्ग जल बरसता है, तथापि उसकी उक्त विधि से परीक्षा कर लेनी चाहिये। सम्भव है शरद् ऋतु में भी सामुद्र जल बरस रहा हो और उसका सञ्चय करना व्यर्थ और पान हानिकर है। भले ही वह बरसात के जल की अपेक्षा शुद्ध—स्वच्छ होता है।

धार जल कभी कभी वर्षा होने पर गिरता है अथवा यों कहिये कि वर्षाजल का नाम "धार" है। करका ओलों का नाम है, ओले कुछ समय के पश्चात् जल रूप में परिणत हो जाते हैं उस जल का नाम "कार" है। तुषार "ओस" का नाम है उसके जल का नाम "तौषार" है, ओस सर्वदा पड़ती रहती है, परन्तु—प्रातःकाल में घास आदि पर दिखाई पड़ती है। हिम नाम बर्फ का है, इसके जल का नाम "हैम" है। यह हिमालय की ऊँची चोटियों पर सर्वदा पड़ती रहती है और निचले प्रदेशों में कभी २ पड़ती है, उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों में सर्वदा गिरती रहती है, परन्तु सर्वदा वाष्परूप में उड़ती भी रहती है। दोपहर का भात चाँदी के ही नहीं, किसी भी पात्र में रखने पर सायंकाल क्लेद युक्त हो जाता है, वह परीक्षार्थ वर्षा में नहीं—अपितु छाया में सिकहर पर धरा हुआ क्लेद युक्त हो जाता है। वस्तुतः समस्त वातावरण में उस समय सामुद्र जल व्याप्त रहता है। शरद् आदि ऋतु में वर्षा होती रहने पर भी भात में क्लेद (गीलापन) नहीं होता। शुचि""""निदध्यात्—स्वच्छ कपड़ा कुछ ढीला तान दिया जाता है, जब वर्षा होती है तब उस चौड़े-लम्बे कपड़ा पर गिरा वर्षा जल निचले पात्र में गिरता रहता है। अथवा पक्की छत का जल सञ्चित कर लिया जाता है। इस प्रकार के जल के लिये गुजरात एवं सिन्धु देश में बड़ी २ टंकियां बना ली जाती हैं। वहाँ के निवासी उसी का पान करते हैं॥७॥

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत, महागुणत्वात्, शरदि सर्वं, प्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडागं वा, वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा, ग्रीष्मेऽप्येवं, प्रावृषि चौण्ट्यमनभिवृष्टं सर्वं चेति ॥८॥

वर्षा ऋतु में (आश्विन मास में, भाद्रपद में नहीं), आन्तरिक्ष या औद्भिद जल सेवन करना चाहिये, (भाद्रपद में पानी को गरम करके या आकाशगुणबहुल भूमि में संचित पानी को पीना चाहिये[1])। क्योंकि ये दोनों प्रकार के पानी महान् गुणवाले हैं। शरद् ऋतु में सब प्रकार का पानी पीना चाहिये, क्योंकि अगस्त्य के उदय होने से सब प्रकार का पानी स्वच्छ हो जाता है। हेमन्त ऋतु में सरोवर या तड़ागों का पानी पीना चाहिये। वसन्त ऋतु में कुंए या झरनों का पानी पीना चाहिये। ग्रीष्म में भी कुंये या झरने का पानी बरतना चाहिये। प्रावृट् ऋतु में चौण्ट्य, (सरोवर या तड़ाग का या कुंए का पानी) बरसात का नहीं पीना चाहिये, परन्तु यदि बादल बरस रहा हो तो सब प्रकार का पानी पीना चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्रावृषि...........चेति=प्रावृट् ऋतु में चौण्ट्य जल अथवा वर्षाजल के अतिरिक्त सब प्रकार का जल पीने तथा नहाने योग्य होता है ॥८॥

कीटमूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम्।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम् ॥९॥

---

१ वर्षा ऋतु में पानी दूषित होता है। यथा—
"बलाहाकाद्याः समदाः कीटा लूताश्च खेचराः।
तद्विषोत्सर्गसंसर्गाद् न ग्राह्यं तत्तदा जलम् ॥"

योऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्वाऽपि नवं जलम्।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु ॥

कीट (विषयुक्त-बिच्छू आदि कीड़ों से), मूत्र, मल, अण्डों से, शव के कारण सड़ा एवं दूषित, तिनके एवं पत्तों के समूह के कारण दूषित, मलिन, विषयुक्त, वर्षाऋतु के (आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद) नवीन जल में जो स्नान करता है, या इस पानी को पीता है वह शीघ्र ही बाह्य एवं आभ्यन्तर-जन्य रोगों से आक्रान्त होता है।

वि० मन्तव्य—पृथिवी पर आठ मास का कूड़ा करकट एवं गन्दगी आदि मल सञ्चित रहता है और वह सब बरसात के जल में घुल मिल जाता है, फलतः बरसात का जल दूषित-मलिन गन्दा रहता है, बरसात के पश्चात् शरद् ऋतु में पृथिवी-धुल जाती है—स्वच्छ हो जाती है, फलतः उस काल की वर्षा का जल भी शुद्ध-स्वच्छ रहता है ॥९,१०॥

तत्र यत् पङ्कशैवलहठतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं रविशशिकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टं तद्व्यापन्नमिति विद्यात्। तस्य स्पर्शरूपरसगन्धवीर्यविपाकदोषाः षट् संभवन्ति। तत्र, खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः, पङ्कसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः, व्यक्तरसता रसदोषः, अनिष्टगन्धता गन्धदोषः, यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः, यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति। त एते आन्तरिक्षे न सन्ति ॥११॥

जो पानी पङ्क (कीचड़), शैवाल (शिवाल काई)-हठ (जलकुम्भी), तृण, पद्मपत्र (कमलपत्र) आदि से आच्छादित (ढँका) रहता है, चन्द्रमा, सूर्य की किरणें तथा वायु जिस पानी का स्पर्श नहीं करतीं, जिस पानी में गन्ध, वर्ण, रस स्पष्ट हो, उस पानी को दूषित समझना चाहिये। इस पानी में छै प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, यथा—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वीर्य, विपाक, ये छै दोष होते हैं। इनमें—खरता (कर्कशता), पैच्छिल्य (पिच्छिलता), औष्ण्य (उष्णता), दन्तग्राहिता (दान्तों में लगना), ये स्पर्श दोष हैं। पङ्क (कीचड़), सिकता (रेत), शैवाल (सरवाल), बहुवर्णता (बहुत से रङ्ग होना), ये रूप के दोष हैं। रस का स्पष्ट होना रस का दोष है। इष्ट गन्ध का न होना गन्ध का दोष है। यदि सेवन करने से तृष्णा, भारीपन, शूल, लालास्राव उत्पन्न हो तो वीर्य का दोष समझना चाहिये। यदि सेवन करने पर देर में जीर्ण होता है, पेट में गुड़-गुड़ शब्द उत्पन्न करता है, तो विपाक दोष समझना चाहिये। ये छै प्रकार के दोष आन्तरीक्ष जल में नहीं हैं ॥११॥

व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च कर्तव्यं, नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति ॥

स्वच्छ करने के उपाय—

अतिदूषित पानी को आग पर गरम करने से, अल्प दोषवाले पानी को सूर्य की धूप में गरम करने से, मध्यम दोष युक्त पानी में लोहे की पिण्डका (गोले) को, रेत को या मिट्टी के ढेले को अग्नि में गरम करके पानी में बुझाने से तथा प्रसादन-नितारने पर निर्मली आदि से निर्मल करने से पानी स्वच्छ हो जाता है। दुर्गन्ध को दूर करने के लिये—नाग (नागकेसर), चम्पक (राजचम्पा), उत्पल (कमल), पाटला आदि (केतकी, मल्लिका आदि) वस्तुओं से सुगन्धित करना चाहिये ॥१२॥

सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥१३॥

स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, मणि (स्फटिक एवं काचमणि-काँच) अथवा मिट्टी के पात्र में जल पीना चाहिये और वह जल जिस पर फूल तैरते हों तथा जो सुगन्धित (गुलाब केवड़ा आदि से) हो। और इन्हीं स्वर्ण आदि के पात्रों में रखना भी चाहिये ॥१३॥

व्यापन्नं वर्जयेन्नित्यं तोयं यच्चाप्यनार्तवम्।
दोषसंजननं ह्येतन्नाददीताहितं तु तत् ॥१४॥
व्यापन्नमुदकं यस्तु पिबतीहाप्रसादितम्।
श्वयथुं पाण्डुरोगं च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥१५॥
श्वासकासप्रतिश्यायशूलगुल्मोदराणि च।
अन्यान्वा विषमान् रोगान्प्राप्नुयादचिरेण सः ॥१६॥

दूषित एवं ऋतु के विपरीत (बिना ऋतु में बरसे) पानी का सदा परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार का पानी दोषों को उत्पन्न करता है और अहितकारी है। जो आदमी दूषित पानी को बिना स्वच्छ किये पीता है, उसको श्वयथु, पाण्डुरोग, त्वचा के रोग, अजीर्ण, श्वास, कास, प्रतिश्याय, शूल, गुल्म, उदररोग एवं अन्य विषम (कठिन) रोग शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥१४-१६॥

तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति तद्यथा-कतकगोमेदकबिसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति ॥१७॥

सात वस्तुयें मलिन जल को स्वच्छ करनेवाली है। यथा-कतक (निर्मली), गोमेदक (गोमेद रत्न का तेजपात), बिसग्रन्थि (पद्ममूल), शैवालमूल (काई की जड़), वस्त्र, मुक्ता (मोती) मणि (फिटकरी आदि) ये वस्तुयें पानी को स्वच्छ करती हैं ॥१७॥

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति। तद्यथा—फलकं, त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयं, उदकमञ्चिका, शिक्यं चेति ॥१८॥

पाँच वस्तुयें ऐसी हैं जिनके ऊपर पानी के बर्त्तन रक्खे जाते हैं, इस प्रकार करने से भूमि आदि का स्पर्श दोष नहीं लगता। यथा—फलक (सिम्बल आदि का बना तख्ता), त्र्यष्टक (तिकंटि), मुञ्जवलय (मुञ्जादि से गोल बने ईण्डवे), उदकमंचिका (घड़ौंची आदि), शिक्य (छिक्का आदि) १८

सप्त शीतीकरणानि भवन्ति; तद्यथा—प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणं यष्टिकाभ्रामणं, व्यजनं, बस्त्रोद्धरणं, बालुकाप्रक्षेपणं शिक्यावलम्बनं चेति ॥ १९ ॥

पानी को ठण्डा करने के सात उपाय हैं—प्रवातस्थापन (वायु में पानी को रखना), उदकप्रक्षेपण (पानी से भरे वर्त्तन पर वस्त्र लपेटकर, पानी से तर रखना); यष्टिकाभ्रामण (यन्त्र, यष्ट्यादि का घुमाना), व्यजन (पंखा चलाना), वस्त्रोद्धरणम् (वस्त्र द्वारा छानना), वालुकाप्रक्षेपणम् (पानी के बर्त्तन को रेत में गाड़ना या पानी में रेत डालना), शिक्यावलम्बनम् (छींके पर घड़े को लटकाना)॥ १९ ॥

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥ २० ॥

भूमि के पानी के गुण—निर्गन्ध, अव्यक्तरस, तृष्णानाशक, शुचि (अदूषित), शीतल, स्वच्छ, लघु हृदय के लिये प्रिय पानी गुणवाला कहा जाता है ॥ २० ॥

तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, लघूदकत्वात्, पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्, दक्षिणाभिमुखा नातिदोषलाः, साधारणत्वात्। तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यवन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पथ्या बलारोग्यकर्य इति ॥ २१ ॥

इनमें पश्चिम समुद्र में गिरनेवाली (जांगल-प्रदेशस्थ) नदियाँ पथ्यकारक हैं, हल्का पानी होने से। पूर्व के समुद्र में गिरनेवाली (आनूप-प्रदेशस्थ) नदियाँ उत्तम नहीं, भारी पानी होने से। दक्षिण के समुद्र में गिरनेवाली (मध्य देश में स्थित) नदियाँ बहुत अधिक दोष युक्त नहीं, क्योंकि इनका पानी साधारण है। इनमें सह्याद्रि की पर्वतमाला से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ कुष्ठरोग को उत्पन्न करती हैं, विन्ध्याचल से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ कुष्ठ एवं पाण्डुरोग को उत्पन्न करती हैं, मलय पर्वत से निकलनेवाली (जिनमें रेत और पत्थर नहीं होता) नदियाँ कृमिरोग को उत्पन्न करती हैं (रेत और पत्थर वाली नदियाँ पथ्यकारी हैं)। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ श्लीपद एवं उदर रोगों को उत्पन्न करती हैं। हिमालय से (अधोभाग में से) उत्पन्न होनेवाली नदियाँ हृदयरोग, श्वयथु, शिरोरोग, श्लीपद, गलगण्ड रोग को उत्पन्न करती हैं (हिमाचल के ऊपर के भाग से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ पथ्यकारी हैं)। अवन्ती (उज्जयनी) प्रदेश के पूर्व भागों से उत्पन्न (प्राच्यवन्त्या), अवन्ती के पश्चिम भाग से उत्पन्न नदियाँ अर्शरोग को उत्पन्न करती हैं। पारियात्र पर्वत से उत्पन्न (तड़ागजन्य-मानसरोवर आदि से) नदियाँ पथ्यकारक, बलकारक और आरोग्यकारक हैं। (गुहाओं में उत्पन्न नदियाँ दोषयुक्त हैं)।

वि० मन्तव्य—भारत के पश्चिम समुद्र की ओर मुखवाली या उसमें गिरनेवाली पथ्य-हित होती है, यथा शतलुज, व्यास, आदि फलतः वहाँ के निवासी अधिक स्वस्थ होते हैं। पूर्व समुद्र की ओर मुखवाली या उसमें गिरनेवाली नदियाँ यथा—गङ्गा, यमुना एवं सरजू आदि प्रशस्त--पथ्य नहीं है, फलतः उनके समीप रहनेवाले अधिक स्वस्थ नहीं होते। यद्यपि-हिमालय से दोनों प्रकार की नदियाँ निकलती हैं, तथापि उनका प्रभाव भिन्न २ होता है, पाठक ध्यान दें। इसी प्रकार अन्य नदियों का प्रभाव भी वहाँ के निवासियों पर पड़ता है ॥२१॥

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः।
गुर्व्यः शैवालसंछन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥ २२ ॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः।
लघ्व्यः समधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः ॥ २३ ॥

जो नदियाँ तीव्र गति से बहती हैं, और जिनका पानी स्वच्छ है, वे लघु गुणवाली होती हैं। जो नदियाँ शैवाल से ढँपी रहती हैं, धीरे २ बहती हैं, जिनका पानी गँदला रहता है, वे गुरु होती हैं। मरु-रेतीले मैदान की नदियाँ तिक्त एवं लवण रसवाली प्रायः होती हैं, इनमें थोड़ा कषाय रस भी होता है, मधुर लघु-विपाकवाली बलकारक एवं हितकारी हैं।

वि० मन्तव्य—विश्वभर की नदियों के सम्बन्ध में यह दोनों श्लोक लागू होते हैं—इस विधि भेद से सब नदियाँ दो भागों में विभक्त की गई हैं, १—शीघ्रवहा—शीघ्रगामी प्रवाहवाली और २—मन्दगा—मन्द प्रवाहवाली। भारतीय पुराण गाथाओं के अनुसार—शीघ्रवहा नदियाँ "गङ्गा" कही जा सकती हैं और गङ्गा विष्णुपदी है और विष्णु—पालन के अधिष्ठात्री देवता हैं। और मन्दगा नदियाँ "यमुना" कही जा सकती हैं और यमुना यमकी भगिनी हैं और यम संहार (मृत्यु) का अधिष्ठात्री देवता हैं, फलतः मन्दगा नदियों के समीपवासी अधिक स्वस्थ नहीं होते। एक और बात है—एक ही नदी कहीं पर शीघ्रवहा रहती है, जैसे हरिद्वार में गङ्गा और कहीं पर मन्दगा रहती है जैसे—काशी में गङ्गा। एक और जल की विकृति का कारण है 'अमीवा' नामक जन्तु से, जो सन्तान वृद्धि करके जल में पिच्छिल जाला का रूप धारण कर लेता है,

फलतः जल विकृत हो जाता है। अतएव यजुर्वेद में 'अनमीवा' अमीवारहित जल के लिये प्रार्थना की गई है। देखिये—'अपमीवां बाधते (अमीवां अपबाधते)' सूर्य अमीवा को नष्ट करता है (यजु० अ० २४—मं० २५)। श्वात्राः पीता भवत यूयं आपोऽस्माकं अन्तः उदरे सुशेवाः। 'ताऽस्मभ्यं अयक्ष्मा अनमीवा'और शीघ्रवहा नदियों के जल पत्थरों पर टकराते हैं, फलतः अमीवा मर जाता है और जल विकृत नहीं होता—जैसे हरिद्वार की गङ्गा का जल। शीघ्रवहा का जल लघु और मन्दगा का जल गुरु होता है। 'अनागसः स्वदन्तु देवीः अमृता ऋतौ ऋधः' यजु० अ० ४—१२ ॥ २२,२३ ॥

तत्र सर्वेषामेव भौमानां ग्रहणं प्रत्युषसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुण इति ॥

सब प्रकार के भूमि जलों को प्रातःकाल (उषःकाल) में संग्रह करना चाहिये। इस समय पानी के अन्दर निर्मलता और शीतलता सब समयों से अधिक रहती है। ये ही दोनों गुण जल के श्रेष्ठ गुण हैं ॥ २४ ॥

दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥ २५ ॥

दिन भर सूर्य की किरणों से व्याप्त और रात में चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया हुआ पानी आकाश के पानी के समान रूक्षतारहित (स्नेह-युक्त), अनभिष्यन्दि (रोगों को न उत्पन्न करनेवाला) होता है।

वि० मन्तव्य—इसको चरक एवं वाग्भट ने 'हंसोदक' कहा है ॥ २५ ॥

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत्‌ सुभाजने।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम ॥ २६ ॥

उत्तम पात्र में यदि बरसात का पानी इकट्ठा किया जाये तो यह त्रिदोषनाशक, बलकारक, रसायन पवित्र होता है। अधिक श्रेष्ठ (स्वर्ण आदि के) पात्र में इकट्ठा करने से और अधिक गुणशाली होता है ॥ २६ ॥

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम्।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ॥२७॥

चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल राक्षसभय को दूर करनेवाला, शीतल, सुखदायक, ज्वरदाह-विष का नाश करनेवाला, पित्तनाशक और स्वच्छ होता है। चन्द्रमा की किरणों के प्रविष्ट होने से नाभस, मणिसे उत्पन्न होने के कारण भौम है।

वि० मन्तव्य—जैसे सूर्यकान्त (अतसी शीशा इसी का प्रतिनिधि है) में सूर्य की किरण पड़ने पर अग्नि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही चन्द्रकान्त मणि पर चन्द्रमा की किरण पड़ने से जल चूने लगता है—यथा शीशा के पात्र में बर्फ रखने से पात्र के बाह्य पृष्ठ पर जल के कण बैठ जाते हैं, वह वस्तुतः आकाश जल के कण होते हैं। आकाश का आन्तरिक्ष जल जो अब तक बाष्परूप में था वही बर्फ की शीतता से जल रूप होकर बर्फ के पात्र पर बैठ गया है ॥ २७ ॥

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते।

निम्न अवस्थाओं में शीतल पानी का देना उत्तम है—मूर्च्छा, पित्तवृद्धि, उष्ण (शरद् एवं ग्रीष्मऋतु में) दाह में, विषविकार में, रक्तविकार में, मद्यविकार में, भ्रम (चक्कर आने) में, क्लम (थकान आने) पर, तमक श्वास में, वमन में, और ऊर्ध्वमार्गगामी रक्तपित्तमें शीतल जल देना चाहिए ॥

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ॥ २९ ॥
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धे नवज्वरे।
हिक्कायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥ ३० ॥

निम्न अवस्थाओं में शीतल पानी नहीं देना चाहिये। (उष्ण पानी बरतना चाहिये)। यथा—पार्श्वशूल में, प्रतिश्याय में, वातरोग में, गलग्रह में, आध्मान में, स्तिमित (आम) कोष्ठ में, जिस दिन संशोधन लिया हो उस दिन, नवज्वर में, हिचकीरोग में, स्नेहपान करने पर शीतल जल नहीं देना चाहिये ॥ २९,३० ॥

नादेयं वातलं रूक्षं दीपनं लघु लेखनम्।
तदभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कफावहम ॥ ३१ ॥
तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायं मधुरं लघु।
ताडागं वातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च ॥ ३२ ॥
वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षारं कटु पित्तलम्।
सक्षारं पित्तलं कौपं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु ॥ ३३ ॥
चौण्ट्यमग्निकरं रूक्षं मधुरं कफकृन्न च।
कफघ्नं दीपनं हृद्यं लघु प्रास्रवणोद्भवम ॥ ३४ ॥
मधुरं पित्तशमनमविदाह्यौद्भिदं स्मृतम्।
वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नं लघु दीपनम् ॥ ३५ ॥
कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम्।
तद्वत्पाल्वलमुद्दिष्टं विशेषाद्दोषलं तु तत् ॥ ३६ ॥
सामुद्रमुदकं विस्रं लवणं सर्वदोषकृत्।

शीघ्रवहा नदी का जल—वायुकारक, रूक्ष, अग्निदीपक, लघु, लेखन होता है। मन्दगा नदियों का पानी अभिष्यन्दि (दोष-प्रकोपक), मधुर, सान्द्र, गुरु और कफवर्धक होता है। सरोवर का पानी तृष्णानाशक, बलकारक, कषाय एवं मधुररस लघु होता है। तड़ाग का जल वायुकारक, स्वादु, कषायरस एवं कटु-विपाकयुक्त होता है। वापी का जल-वात-कफ-नाशक, क्षारयुक्त, कटुरस और पित्तवर्धक है। कुँए का खारा पानी—क्षारयुक्त, पित्तकारक, श्लेष्मनाशक, अग्निदीपक और लघु है। (कई कुओं का पानी अव्यक्तरस होता है)। चौण्ट्य (बिना

चिने कुएँ का) पानी अग्निकारक, रूक्ष, मधुर और कफ नहीं करता। झरने का पानी—कफनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, लघु होता है। औद्भिद (ओगल, जमीन से निकला) पानी मधुर, पित्तशामक, अविदाही होता है। वैकिर (रेत आदि हटाकर प्राप्त किया पानी, फल्गु नदी आदि का) पानी कटु क्षारयुक्त, श्लेष्मानाशक, लघु और अग्निदीपक है। केदार (खेतों) का पानी मधुर, विपाक में गुरु और दोषप्रकोपक है। पल्वल (छोटे गड्ढों) का पानी भी केदार के पानी के समान है, विशेषतया दोषप्रकोपक है। समुद्र का पानी-विष (दुर्गन्ध-युक्त), लवण मिश्रित, सब दोषों का प्रकोपक है ॥३१-३६॥

अनेकदोषमानूपं वार्यभिष्यन्दि गर्हितम् ॥३७॥
एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यं तु जाङ्गलम्।
पीतेऽविदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्धनम् ॥३८॥
दीपनं स्वादु शीतं च तोयं साधारणं लघु।

आनूप देश का पानी—अनेक दोषों से युक्त, अभिष्यन्दि (सम्पूर्ण देह में व्याप्त होनेवाला है), और निन्दित है। जांगल देश का पानी—आनूपदेश के पानी के दोषों से रहित और प्रशंसित है। साधारण देश का पानी दाह उत्पन्न नहीं करता, तृष्णानाशक, श्रेष्ठ, प्रीति को बढ़ानेवाला, अग्निदीपक, स्वादु, शीतल और लघु होता है ॥३७,३८॥

कफमेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥३९॥
श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा।

गरम पानी—कफ, मेद, वायु और आम का नाशक अग्निदीपक, वस्तिका शोधन करता है, श्वास, कास एवं ज्वर को दूर करनेवाला—सदा पथ्य (हितकारी) है ॥३९॥

यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु ॥४०॥
चतुर्भागावशेषं तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम्।

जो पानी पकाने से निर्वेग (निश्चेष्ट), झागरहित, निर्मल एवं चौथाई बचाया जाता है, वह लघु एवं अधिक गुणकारी होता है ॥४०॥

न च पर्युषितं देयं कदाचिद्वारि जानता ॥४१॥
अम्लीभूतं कफोत्क्लेदि न हितं तत् पिपासवे।

रात का बासी पानी कभी भी पीने के लिये नहीं देना चाहिये। जो कि अम्ल हो जाता है, कफ को कुपित करता है, वह प्यासे मनुष्य के लिये हितकारी नहीं होता ॥४१॥

मद्यपानात्समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा ॥४२॥
सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते।

मद्यपान से उत्पन्न रोग में, पित्तजन्य रोग में एवं सन्निपात-जन्य रोग में, गरम करके ठंडा किया पानी बरतना चाहिये॥

स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥४३॥
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नालिकेरोदकं गुरु।

नारियल का पानी—स्निग्ध, मधुर, हिम (ठण्डा), हृदय के लिये प्रिय, अग्निदीपक, वस्ति का शोधक (मूत्रल), वृष्य (वीर्यवर्धक), पित्त एवं पिपासा का नाशक और गुरु है ॥४३॥

दाहातीसारपित्तासृङ्मूर्च्छामद्यविषार्तिषु ॥४४॥
शृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च।

निम्न अवस्थाओं में गरम करके ठण्डा किया हुआ जल देना चाहिये—दाह, अतीसार, रक्त-पित्त, मूर्च्छा, मद्यजन्य मत्तता—विष रोग में, तृष्णा, वमन और भ्रमरोग में गरम पानी को ठण्डा करके देना चाहिये ॥४४॥

अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये ॥४५॥
मन्देऽग्नावुदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा।
व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥४६॥
इति जलवर्गः

निम्न अवस्थाओं में पानी थोड़ा या धीरे-धीरे पीना चाहिये—अरुचि में, प्रतिश्याय में, मुख लाला (लार) बहने में, श्वयथु में, क्षय में, अग्निमान्द्य में, उदर रोग में, ज्वर में, नेत्ररोगों में, व्रण-रोग में, मधुमेह में, पानी धीरे-धीरे (घूँट-घूँट) पीना चाहिये ॥४५,४६॥

इति जलवर्गः।

अथ क्षीरवर्गः।

गव्यमाजं तथा चौष्ट्रमाविकं माहिषं च यत्।
अश्वायाश्चैव नार्याश्च करेणूनां च यत्पयः ॥४७॥

इसके आगे दूध का वर्ग कहते हैं—

दूध आठ प्रकार का है, यथा–गाय का, बकरी का, ऊँटनी का, भेड़ का, भैंस का, घोड़ी का, स्त्री का, हथिनी का—इन आठों का दूध व्यवहार में आता है ॥४७॥

तत्त्वनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु।
मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥४८॥

यह दूध अनेक द्रव्यों (वनस्पतियों) के रस का प्रसाद (सार रूप) है, इसलिये सब प्राणियों के लिये सात्म्य रस होता है। इस दूध में ओज के दस गुण हैं—यह मधुर, पिच्छिल, शीत, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सर, मृदु, प्राणों को देनेवाला और गुरु है[1] ॥४८॥

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममद-दाहपिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्त-

१ विस्तार के लिये देखिये चरकसंहिता में ओज एवं गाय के दूध के गुण, जो परस्पर समान हैं। यथा—

तदेवं गुणमेवौजःसामान्यादभिवर्धयेत् ॥

तिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भस्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं, पाप्मापहं बल्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् ॥४६॥

यह आठों प्रकार का दूध सब जरायुज प्राणियों के लिये अनुकूल है, जन्म से ही सुखकारक होने से। वात-पित्त रक्त एवं मानस (रज तम-संसर्गजन्य) रोगों में विरुद्ध भी नहीं है। जीर्णज्वर, कास, श्वास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, प्यास, हृद्रोग, वस्तिदोष, (मूत्रदोष), पाण्डुरोग, ग्रहणी दोष, अर्श, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्त, पित्त, श्रम, क्लम का नाशक, पापनाशक, बल्य, वाजीकरण, रसायन, मेध्य, (मेधाजनक), सन्धान(भग्न को जोड़नेवाला), वयस् का आस्थापन, आयुष्य, जीवन, बृंहण, वमन, विरेचन, आस्थापन, ओज के समान गुणवाला होने से आयुवर्धक, बालक, वृद्ध, क्षत क्षीण पुरुषों के लिये एवं भूख, व्यवाय (मैथुन) और व्यायाम से कृश हुए पुरुषों के लिये अतिशय पथ्य है ॥४६॥

अल्पाभिष्यन्दि गोक्षीरं स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥५०॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्।

गाय का दूध—अल्पाभिष्यन्दि (रोगोत्पादक नहीं), स्निग्ध, गुरु, रसायन, रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुररस, एवं विपाक में मधुर, जीवनधारक (प्राणदायक), अतिशयेन वातपित्तनाशक है ॥५०॥

गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम् ॥५१॥
दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्।
अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात् ॥५२॥
नात्यम्बुपानाद्व्यायामात् सर्वव्याधिहरं पयः।

बकरी का दूध—गाय के दूध के समान गुणवाला है, खासकर क्षयरोगियों के लिये हितकारी है। अग्निदीपक, लघुसंग्राहक श्वास कास-रक्त-पित्त-नाशक है। बकरियों का शरीर छोटा होने से, कटु-तिक्त रस के सेवन करने से, थोड़ा पानी पीने से, व्यायाम करने से, इनका दूध सब रोगों का नाश करनेवाला है॥

रूक्षोष्णं लवणं किंचिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु ॥५३॥
शोफगुल्मोदरार्शोघ्नं कृमिकुष्ठविषापहम्।

ऊंटनी का दूध—रूक्ष, उष्ण, लवणरस (थोड़ा) और मधुररस, लघु है। शोफ, गुल्म, उदर, अर्श रोगनाशक एवं कृमि, कुष्ठ, विष को दूर करता है ॥५३॥

आविकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम् ॥५४॥
पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे।

भेड़ का दूध—मधुर, स्निग्ध, गुरु है। पित्त एवं कफ का नाशक; शुद्ध वायुरोगों में एवं वायुजनित कासरोग में पथ्य है। (कई आचार्य सेक के लिये इसको उत्तम मानते हैं) ॥५४॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ॥५५॥
निद्राकरं शीतकरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु।

भैंस का दूध—दोष-धातु-मल स्रोतों में अतिशय रूप से क्लेद उत्पन्न करने के कारण अभिष्यन्दि, मधुर, अग्निनाशक, निद्रा को उत्पन्न करनेवाला, अधिक शीतल है, गाय के दूध से अधिक स्निग्ध और गुरु है ॥५५॥

उष्णमेकशफं बल्यं शाखावातहरं पयः ॥५६॥
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु।

घोड़ी (एक शफ वाली) गधी का भी दूध—उष्ण, बलकारक, बाहु, जंघा की वायु नाशक, मधुर, अम्लरस, रूक्ष, लवण अनुरस वाला और लघु है ॥५६॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम् ॥५७॥
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम्।

स्त्रियों का दूध—मधुर, कषाय-अनुरस, शीतल, नस्य एवं आश्च्योतन (आँखों में छोड़ने के) कार्य में पथ्य, जीवन लघु अग्निदीपक है ॥५७॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कषायानुरसं गुरु ॥५८॥
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्धनम्।

हथिनी का दूध—मधुर, वृष्य (वाजीकरण), कषाय-अनुरस, गुरु, स्निग्ध, स्थिरता उत्पन्न करनेवाला, शीतल आँखों के लिये हितकारी और बलवर्धक है ॥५८॥

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥५९॥
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा।

प्रायः प्रातःकाल का दूध गुरु विष्टम्भि, शीतल होता है। क्योंकि रात्रिकाल सोमगुण युक्त होता है, और व्यायाम का अभाव रहता है ॥५९॥

दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात् ॥६०॥
श्रमघ्नं वातनुच्चैव चक्षुष्यं चापराह्णिकम्।

सायंकाल का दूध—सूर्य की किरणों से गौ आदि गरम होने से, व्यायाम एवं वायु के सेवन से वायु का अनुलोमक, थकान को दूर करनेवाला और आँखों के लिये हितकारी है ॥६०॥

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्तितम् ॥६१॥
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम्।

कच्चा दूध—अभिष्यन्दि और प्रायः गुरु, होता है। यही दूध पककर—बहुत ही लघु और अनभिष्यन्दि हो जाता है॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥६२॥

स्त्री के दूध को छोड़कर अन्य सब दूधों को गरम करके पीना चाहिये। स्त्री का दूध कच्चा ही हितकारी है ॥६२॥

धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा ।

धारोष्ण दूध—गुणवाला होता है, इससे विपरीत अर्थात् देर से निकाला हुआ दूध गुणहीन होता है ॥६२॥

तदेवातिश्रृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते ॥६३॥

इसी दूध को यदि अधिक पकाया जाय तो शीतल, गुरु और बृंहण (देहवृद्धिकारक) होता है ॥६३॥

अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत् ।

वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ॥६४॥

इति क्षीरवर्गः ।

निम्न प्रकार का दूध—अनिष्टगन्ध (जिस दूध में इष्ट गन्ध न हो), अम्लरस, विवर्ण (शुक्ल से अन्य रंगवाला), विरस (मधुर से अन्य रसवाला), लवणयुक्त, विग्रथित (फटा हुआ) त्याज्य है ॥६४॥

अथ दधिवर्गः ।

दधि मधुरमम्लमत्यम्लं चेति; तत्कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यं च ॥६५॥

दही तीन प्रकार का है, यथा—मधुर, अम्ल, अत्यम्ल (अतिखट्टा)। दही के सामान्य गुण—कषायअनुरस, स्निग्ध, तथा उष्णवीर्य है, पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, कृशता को दूर करनेवाला, वृष्य, प्राणकारक और मंगल्य (पवित्र) है[1] ॥६५॥

महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्धनम् ।

कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम् ॥६६॥

मधुर दही—महा अभिष्यन्दि, कफ एवं मेद को बढ़ानेवाला है, अम्लदही—कफ—पित्त को करता है, अत्यम्ल दही रक्त को दूषित करता है ॥६६॥

विदाहि सृष्टविण्मूत्रं मन्दजातं त्रिदोषकृत् ।

मन्द जात दही—(जो दही भली प्रकार से नहीं जमा) विदाही, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाला एवं तीन दोषों को कुपित करता है ॥

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम् ॥६७॥

वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम् ।

गाय का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, अग्निदीपक, बलवर्धक, वात को दूर करनेवाला, पवित्र, रुचिप्रद होता है ॥

दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम् ॥६८॥

दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम् ।

बकरी का दही—कफ-पित्तनाशक, लघु, वायु-क्षय को दूर करता है। अर्श, श्वास, कास रोग में हितकारी एवं अग्निदीपक है ॥६८॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् ॥६९॥

बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम् ।

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात-पित्त को शान्त करनेवाला, कफवर्धक विशेष कर स्निग्ध है ॥६९॥

विपाके कटु सक्षारं गुरु भेद्यौष्ट्रिकं दधि ॥७०॥

वातमर्शांसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च ।

ऊँटनी का दही—विपाक में कटु, क्षारयुक्त, गुरु, भेदक (विरेचक), वायु, अर्श, कुष्ठ, कृमि और उदररोग को नष्ट करता है ॥७०॥

कोपनं कफवातानां दुर्नाम्नां चाविकं दधि ॥७१॥

रसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्दि दोषलम् ।

भेड़ का दही—कफ, वायु एवं अर्शरोग को बढ़ाता है। रस और विपाक में मधुर, अत्यन्त अभिष्यन्दि और दोषों को कुपित करता है (अपथ्य होने से विकार उत्पन्न करता है) ॥७१॥

दीपनीयमचक्षुष्यं वाडवं दधि वातलम् ॥७२॥

रूक्षमुष्णं कषायं च कफमूत्रापहं च तत् ।

घोड़ी के दूध का दही—अग्निदीपक, आँखों के लिये अहितकर, वायुजनक, रूक्ष, उष्ण, कषायरस, कफ एवं मूत्ररोग को दूर करता है ॥७२॥

स्निग्धं विपाके मधुरं बल्यं संतर्पणं गुरु ॥७३॥

चक्षुष्यमग्र्यं दोषघ्नं दधि नार्या गुणोत्तरम् ।

स्त्री के दूध का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलकारक, सन्तर्पक, गुरु आँखों के लिये अति श्रेष्ठ, दोषनाशक एवं गुणों में उत्कृष्ट है ॥७३॥

लघु पाके बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ॥७४॥

कषायानुरसं नाग्या दधि वर्चोविवर्धनम् ।

हथिनी के दूध का दही—विपाक में लघु, कफनाशक, उष्णवीर्य, अग्निमान्द्यकारक, कषाय—अनुरस, मल को बढ़ानेवाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ॥७५॥

विज्ञेयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ।

यहाँ पर गाय आदि के दही के जो जो गुण पृथक् रूप से कहे हैं, इन सब में गाय के दूध का दही ही उत्तम गुणवाला समझना चाहिये ॥७५॥

वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ॥७६॥

कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि यत् सुपरिस्रुतम् ।

वस्त्र में से छाना दही—वायुनाशक, कफकारक, स्निग्ध, बृंहण (देहवर्धक) है, पित्त को बहुत नहीं बढ़ाता। भोजन में रुचि उत्पन्न करता है ॥७६॥

श्रृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ॥७७॥

वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्धनम् ।

उबालकर दूध से बनाया दही—गुणवाला होता है, वातपित्तनाशक, रुचिकारक, धातु-अग्नि और बल को बढ़ाता है।

१—"दधि तु मधुरं सृष्टपुरीषं गुर्वम्लमभिष्यन्दि, श्लेष्मपित्तशोफवर्धनं कार्श्यापहं रोचनं माङ्गल्यं च। तदेव चोद्धृतसारं ग्राह्यनभिष्यन्दि च॥ ससरं कफमेदःशुक्रकृत्। त्रिदोषकृन्मन्दजातम्॥" यह पाठान्तर है।

दध्नः सरो गुरुर्वृष्यो विज्ञेयोऽनिलनाशनः ॥७८॥
वह्नेर्विधमनश्चापि कफशुक्रविवर्धनः ।

दही के ऊपर का स्नेह भाग (मलाई) गुरु, वृष्य (शुक्र-वर्धक) है, वायुनाशक है। अग्निनाशक एवं कफ तथा शुक्र को बढ़ाता है। (शुक्र को बढ़ाता भी है और क्षरण भी करता है) ॥७८॥

दधि त्वसारं रूक्षं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् ॥७९॥
दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ।

स्नेह भाग रहित दही—रूक्ष, संग्राहि, विष्टम्भि (पेट में वायु का दर्द—मल का न उतरना, गुड़गुड़ाहट होना), वायु-कारक, अग्निदीपक, लघु (पचने में लघु), कषायरस, रुचिदायक होता है ॥७९॥

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ॥८०॥
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ।

प्रायः शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतु में दही निन्दित है। हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही श्रेष्ठ है ॥८०॥

तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ॥८१॥
अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ।
प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत् ।
बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

मस्तु के गुण - (दही को कपड़े में बांधकर लटका देने से जो द्रवभाग नीचे आता है, उसका नाम 'मस्तु' है)। मस्तु—तृष्णा, थकान को दूर करता है, लघु, स्रोतों का शोधक, अम्ल-कषायरस, मधुर, अवृष्य, कफवात का नाशक, सुखदायक, पुष्टिदायक, मल को शीघ्र प्रवृत्त करता है। शीघ्र ही शरीर में बल उत्पन्न करता है, भोजन में रुचि करता है ॥८१,८२॥

स्वाद्वम्लमत्यम्लकमन्दजातं
　　तथा श्रृतक्षीरभवं सरश्च ।
असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन्
　　वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥
इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में सात प्रकार के दही के—स्वादु, अम्ल, अत्यम्ल, मन्दजात, श्रृत क्षीर से उत्पन्न, सर, असार के गुण एवं मस्तु के गुण कह दिये हैं ॥८३॥

इति दधिवर्गः ॥

अथ तक्रवर्गः ।

तक्रं तु मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं च ॥

तक्र-मधुर, अम्ल, कषाय-अनुरस, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, अग्निदीपक है, गर (संयोगजन्य विष), शोफ, अतिसार, ग्रहणी-रोग, पाण्डरोग, अर्श, प्लीहा, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, तृष्णा, वमन, लालास्राव, शूल, मेद, कफ, और वायु का नाशक है। मधुरविपाकी, हृदय के लिये प्रिय, मूत्रकृच्छ्रनाशक, स्नेह के अतियोग या अयोग से उत्पन्न रोगों को शान्त करने-वाला, अवृष्य (अशुक्रल) है[1] ॥८४॥

मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत् ।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ॥८५॥

जिस दही में आधा पानी मिलाकर मथने से स्नेह पृथक् हो जाता है, न तो बहुत गाढ़ा और न तो बहुत पतला तक्र मधुर विपाकी रस में अम्ल एवं कषायरस होता है ॥८५॥

यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते ।

जिस दही में पानी मिलाकर मथा जाये एवं स्नेह (घी) भाग पृथक् न किया जाये, उसको घोल कहते हैं। स्नेह एवं जल मिश्रित तक्र को उदश्वित् कहते हैं।

नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले ।
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥८६॥

निम्न अवस्थाओं में तक्र का उपयोग नहीं करना चाहिये-क्षत लगने पर, उष्णकाल में (ग्रीष्म और शरद् ऋतु में), दुर्बल अवस्था में, मूर्च्छा, भ्रम एवं दाह में, रिक्तपित्त रोग में तक्र नहीं बरतना चाहिये ॥८६॥

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च ।
मार्गावरोधे दुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते ॥८७॥

निम्न अवस्थाओं में तक्र देना उत्तम है—

शीत काल में, अग्निमान्द्यरोग में, कफजन्यरोगों में, स्रोतों के अवरुद्ध होने पर, वायु के दूषित होने पर तक्र उत्तम है॥

तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनं च; अम्लं वातघ्नं पित्तकरं च ॥८८॥

मधुर तक्र—कफप्रकोपक और पित्तशामक है। अम्लतक्र-वायुनाशक और पित्तकारक है ॥८८॥

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम् ।
पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम् ॥८९॥

वायु की अवस्था में—अम्ल तक्र में नमक मिलाकर पीना चाहिये, पित्त की अवस्था में—मधुर तक्र में शर्करा मिलाकर, कफ की अवस्था में—तक्र में सोंठ, मरिच, पीपल और कोई क्षार मिलाकर पीना चाहिये ॥८९॥

ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका ।

तक्रकूर्चिका (फटी हुई छाछ, जिसमें फुटकियाँ हों), संग्राही, वायुकारक, रूक्ष, कठिनाई से पचती हैं।

तक्राल्लघुतरो मण्डः कूर्चिकादधितक्रजः ॥९०॥

१—तक्र के तीन भेद हैं—
"रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥"

दधि के साथ दूध के पकाने से 'दधिकूर्चिका' बनती है, इसी प्रकार तक्र के साथ दूध को पकाने से तक्रकूर्चिका बनती है। तक्र से लघु छाछ का मण्ड [मस्तु] है, तक्रकूर्चिका दधि-कूर्चिका से लघु है।

वि० मन्तव्य—तक्र के तथा दही के गाढ़े भाग का नाम "कूर्चिका" है, उसे "पनीर" भी कहते हैं, उसके जल का नाम "मस्तु" है, उसको तक्रमण्ड तथा दधिमण्ड भी कहते हैं। दूध के गाढ़े भाग का नाम भी "कूर्चिका" है, जिसका नाम "खोया" या "खुर्चन" है। दूध को पकाने पर जलांश भाप बनकर उड़ जाता है और "खोया" रह जाता है, दूध को फाड़कर घन भाग ले लिया जाता है उसको "छेना" कहते हैं।

गुरुः किलाटोऽनिलहा पुंस्त्वनिद्राप्रदः स्मृतः।

किलाट (फटे हुए दूध का घना भाग), गुरु, वायुनाशक, पुंस्त्वप्रद (शुक्रवर्धक) एवं निद्राप्रद है।

मधुरौ बृंहणौ वृष्यौ तद्वत्पीयूषमोरटौ ॥ ६१ ॥

पीयूष (तुरन्त विआई गाय का सात दिन तक का दूध), और मोरट (सात दिन के पीछे जब तक दूध साफ न हो), मधुररस और देह एवं शुक्रवर्धक हैं।

वि० मन्तव्य – पीयूष को "फेउँच" तथा पञ्जाब में "बाहुली" कहते हैं। परन्तु यह प्रसूता गौ भैंस के दूध को गर्म करने पर बनती है। वैसे भी दुहने के १०, २० मिनट के पश्चात् दूध जम जाता है। यह दूध यदि धारोष्ण दिया जाय तो श्वास में लाभ करता है, इसका नाम पीयूष-अमृत है। प्रसव के अनन्तर ३-४-५ दिन तक का दूध पीयूष कहलाता है। जब तक वह जमता या गाढ़ा होता रहता है ॥ ६१ ॥

नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहं, चिरोत्थितं गुरु कफमेदोविवर्धनं बलकरं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते ॥ ६२ ॥

तुरन्त निकाला मक्खन-लघु, देह को कोमल करनेवाला, मधुर-कषाय, थोड़ा अम्ल, शीतल, मेधावर्धक अग्निदीपक, हृद्य, संग्राही, पित्त-वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), अविदाहि, क्षय, कास, श्वास, व्रण, शोष, अर्श, अर्दित को दूर करनेवाला है। देर का निकला मक्खन—गुरु, कफ, मेद को बढ़ानेवाला, बलकारक (ओजस्कर), बृंहण (देह की वृद्धि करनेवाला), शोषनाशक, विशेषकर बालकों के लिये उत्तम है ॥ ६२ ॥

क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च।

दूध से निकला मक्खन—इसमें स्नेह और मधुरता बहुत अधिक रहती है, अतिशीतल, देह को सुकुमार करनेवाला, आँखों के लिये हितकारी, संग्राहि, रक्तपित्तनेत्ररोगनाशक एवं वर्ण को स्वच्छ करनेवाला है ॥ ६३ ॥

संतानिका पुनर्वातघ्नी तर्पणी वृष्या बल्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च ॥

दूध की मलाई – वातनाशक, तृप्ति करनेवाली, बलकारक, शुक्रवर्धक, स्निग्ध, रुचिकारक, मधुररस, विपाक में मधुर, रक्त-नाशक और गुरु है ॥ ६४ ॥

विकल्प एष दध्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः।
विकल्पानवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत् ॥ ६५ ॥
इति तक्रवर्गः।

यह जो दधि एवं तक्र आदि का वर्णन किया है, यह सब गाय के दूध से ही बनी वस्तुओं के हैं, अजा आदि के शेष रहे भेदों को दूध के वीर्य (गुणों) से ही कल्पना कर लेना चाहिये ॥ ॥ ६५ ॥ इति तक्रवर्गः ॥

अथ घृतम्।

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमनभिष्यन्दिस्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं विषहरं रक्षोघ्नं च ।६६।

इसके आगे घृतवर्ग कहते हैं—

घी के सामान्य गुण—मधुररस, सौम्य, मृदु, शीतवीर्य, थोड़ा अभिष्यन्दि, शरीर को स्निग्ध करनेवाला; उदावर्त्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वातपित्त को शान्त करता है, अग्निदीपक, स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सुकुमारता, ओज तेज बल को बढ़ाता है, आयुवर्धक, वृष्य, पवित्र है, आयु को स्थिर रखता है, गुरु, आँखों के लिये हितकारी, कफवर्धक पाप एवं अलक्ष्मी को शान्त करता है, विषनाशक एवं राक्षस भय को दूर करता है[1] ॥ ६६ ॥

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविषापहम्।
चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिर्गुणोत्तरम् ॥६७॥

गाय का घी—विपाक में मधुर, शीतवीर्य, वात-पित्त-विष-नाशक, आँखों के लिये अतिश्रेष्ठ, बलकारक, गुणों में अतिश्रेष्ठ है ॥ ६७ ॥

आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्धनम्।
कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥ ६८ ॥

बकरी का घी—अग्निदीपक, चक्षुष्य, बलवर्धक कास, श्वास, क्षय में भी हितकारी, और विपाक में लघु है ॥ ६८ ॥

मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम्।
वातपित्तप्रशमनं सुशीतं माहिषं घृतम् ॥ ६९ ॥

१—"यस्मात्तेजोमयं ब्रह्म घृते तच्च व्यवस्थितम्।
तेजोऽमृतमयं दिव्यं महापातकनाशनम् ॥"

भैंस का घी—मधुर, रक्त-पित्त नाशक, विपाक में गुरु, कफवर्धक, वात-पित्त को शान्त करनेवाला शीतवीर्य होता है ॥

औष्ट्रं कटु घृतं पाके शोफकृमिविषापहम् ।
दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ १०० ॥

ऊँटनी का घी—विपाक में कटुरस, शोफ-कृमिविष को दूर करनेवाला, अग्निदीपक, कफ-वायुनाशक, कुष्ठ, गुल्म, उदर को नष्ट करता है ॥ १०० ॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् ।
कफेऽनिले योनिदोषे शोषे कम्पे च तद्धितम् ॥ १०१ ॥

भेड़ का घी—विपाक में लघु, पित्त को कुपित नहीं करता। कफ, वायु, योनिरोग, शोष और कम्परोग में हितकारी है ॥ १०१ ॥

पाके लघूष्णवीर्यं च कषायं कफनाशनम् ।
दीपनं बद्धमूत्रं च विद्यादैकशफं घृतम् ॥ १०२ ॥

घोड़ी का घी—विपाक में लघु, उष्णवीर्य, कषायरस कफनाशक, अग्निदीपक, मूत्र को रोकनेवाला है ॥ १०२ ॥

चक्षुष्यमग्र्यं स्त्रीणां तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् ।
वृद्धिं करोति देहाग्न्योर्लघुपाकं विषापहम् ॥ १०३ ॥

स्त्रियों का घी—आँखों के लिये अतिश्रेष्ठ, अमृत के समान, शरीर एवं अग्नि को बढ़ाता है, विपाक में लघु, विषनाशक है ॥ १०३ ॥

कषायं बद्धविण्मूत्रं तिक्तमग्निकरं लघु ।
हन्ति कारेणवं सर्पिः कफकुष्ठविषकृमीन् ॥ १०४ ॥

हथिनी का घी—कषायरस, मल-मूत्र का अवरोधक, तिक्त, अग्निकारक, लघु, कफ, कुष्ठ, कृमि को नष्ट करता है ॥१०४॥

क्षीरघृतं पुनः संग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रशमनं नेत्ररोगहितं च ॥ १०५ ॥

दूध से निकला घी—संग्राहि, रक्तपित्त, भ्रम, मूर्च्छा को नाश करता है और नेत्र रोगों में हितकारी है ॥ १०५ ॥

सर्पिर्मण्डस्तु मधुरःसरो योनिश्रोत्राक्षिशिरसां शूलघ्नो वस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०६ ॥

घी का मण्ड (पिघले घी के ऊपर का स्वच्छ भाग), मधुर; सर (विरेचक), योनिशूल, कर्णशूल, नेत्रशूल और शिरःशूल को मिटानेवाला, वस्ति (कर्म), नस्य एवं आँख के पूरण तर्पण में व्यवहृत होता है ॥ १०६ ॥

सर्पिः पुराणं सरं कटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं बस्तिनस्यपूरणेषूपदिश्यते ॥ १०७ ॥

पुरातन घी (दस साल पुराना)—सर (विरेचक), कटुविपाकी त्रिदोष—(वात, पित्त, कफ) नाशक, मूर्च्छा, मद (विष-रक्त एवं मद्यजनित मद), उन्माद, ज्वर, उदर, गर (संयोगजन्य विष)—शोष; अपस्मार रोगनाशक; योनिशूल; कर्णशूल, नेत्रशूल, शिरःशूल को नष्ट करता है, अग्निदीपक, बस्ति-कर्म नस्य और आँख के तर्पणमें प्रयुक्त किया जाता है ॥

भवति चात्र—

पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत् ।
मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ १०८ ॥

दस साल का पुराना घी—तिमिर (नेत्ररोग), श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रह (स्कन्दादि), अपस्मार को नाश करता है ॥ १०८ ॥

(एकादशशतं चैव वत्सरानुषितं घृतम् ।
रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम् ॥१०९॥

एक सौ ग्यारह साल तक रक्खा हुआ घी, राक्षसों के भय को नाश करता है, इसके आगे (एकसौ ग्यारह साल के आगे) महाघृत हो जाता है। एक सौ ग्यारह साल का घी कुम्भसर्पि हो जाता है, कई आचार्य सौ साल के पुराने घी को कुम्भसर्पि कहते हैं।

वि० मन्तव्य—पुराना घी—१ वर्ष पुराना, १० वर्ष पुराना, १५ वर्ष से अधिक पुराना अथवा १०० वर्ष अथवा १११ वर्ष पुराना घृत "पुराण" या पुराना कहलाता है। सब का तात्पर्य है जितना अधिक पुराना हो उतना अधिक उत्तम होता है। पुराना होने पर घृत का वर्ण मोमियाँ या कुछ काला-पीला सा हो जाता है जैसा मोममिश्रित तैल का। उसमें विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न हो जाती है। वह सन्निपात में शिर (तालु ब्रह्म-रन्ध्र स्थान) पर, श्वास में—वक्षस् एवं पार्श्व पर लगाया या मला जाता है। अपस्मार आदि में ५-१० रत्ती मात्रा में खाया भी जाता है। इसका नाम "महाघृत" है ॥

पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः ।
बल्यं पवित्रं मेध्यं च विशेषात्तिमिरापहम् ॥११०॥
सर्वभूतहरं चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥ १११ ॥)

इति घृतवर्गः ।

जिन प्राणियों में वायु की अधिकता हो उनको महाघृत पीना चाहिये, वह कफनाशक है। बलकारक, पवित्र, मेधावर्धक खासकर नेत्ररोगनाशक है। सब तरह की बाधा को दूर करता है, यह घी प्रशस्त है ॥ ११०,१११ ॥

अथ तैलानि

तैलं त्वाग्नेयमुष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासि वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधामार्दवमांसस्थैर्यवर्णबलकरं चक्षुष्यं बद्धमूत्रं लेखनं तिक्तकषायानुरसं पाचनमनिलबलासक्षयकरं कृमिघ्नमशितं पित्तजननं योनिशिरःकर्णशूलप्रशमनं गर्भाशयशोधनं च तथा छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टच्युतमथितक्षतपिच्चितभग्नस्फुटितक्षाराग्निदग्धविश्लिष्टदारिताभिहतदुर्भग्न-

मृगव्यालविदष्टप्रभृतिषु च परिषेकाभ्यङ्गावगाहादिषु तिल- तैलं प्रशस्यते ॥११२॥

इसके आगे तैल कहते हैं—

तैल आग्नेय गुण, उष्ण, तीक्ष्ण, मधुररस, मधुरविपाक, बृंहण (शरीर को बढ़ानेवाला), प्रीणन, व्यवायी, सूक्ष्म, विशद, गुरु, सर, विकासि, (सन्धि बन्धों को खोलनेवाला), वृष्य (शुक्रल), त्वक्प्रसादन (अभ्यंग और भोजन में त्वचा का प्रसादन करनेवाला), शोधन, मेधावर्धक, मार्दव (कोमलता), मांस-स्थिरता-वर्ण-बलकारक, आँखों के लिये हितकारी, मूत्र को रोकनेवाला, लेखन, तिक्तकषाय अनुरस पाचक, वायु, कफ का नाशक, कृमिनाशक, खाने पर पित्तजनक (थोड़ा पित्त प्रकोपक); योनिशूल, शिरःशूल, कर्णशूल का शामक, और गर्भाशय का शोधक है। छिन्न (दो भागों में विभक्त), भिन्न (विदारित), विद्ध (सूई आदि से बिंधा), उत्पिष्ट (चूर्णित), च्युत (स्थान से गिरा), मथित (विलोडित), क्षत (क्षत घाव आदि), पिच्चित (चपटा हुआ), भग्न (टूटा), स्फुटित (फूटा), क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, विश्लिष्ट (सन्धिबन्ध से अलग हुआ), दारित (बहुत स्थानों से फटा), अभिहत (चोट लगने पर), दुर्भग्न (चूर्णित, अवपातित, बुरी तरह से टूटा), मृग (शेर आदि), व्याल (सर्प आदि) के काटने पर परिषेक, अभ्यंग, अवगाहन आदि कार्यों में तिलतैल उत्तम है[1] ॥११२॥

तद्बस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ।
अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये ॥११३॥

तिल का तेल—बस्ति कार्य में, पान में, नस्य, कान या आँख में डालने के लिये, खानपान को संस्कृत (पकाने) करने में, वायु को शान्त करने के लिये तिलतैल बरतना चाहिये ॥

एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मस्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरं च ॥११४॥

एरण्ड का तैल—मधुर उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु-कषाय अनुरस, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में घुसनेवाला), स्रोतों का शोधक, त्वचा के लिये हितकारी, वृष्य (शुक्रवर्धक), विपाक में मधुर, वयःस्थापक, योनि (गर्भाशय) एवं शुक्र का शोधक, आरोग्य, मेधा, कान्ति (प्रभा), स्मृति एवं बल कारक, वातकफनाशक और अधोभाग (विरेचन) द्वारा दोष का हरण करनेवाला है ॥११४॥

निम्बातसीकुसुम्भमूलकजीमूतकवृक्षककृतवेधनार्ककम्पिल्लकहस्तिकर्णपृथ्वीकापीलुकरञ्जेङ्गुदीशिग्रुसर्षपसुवर्चलाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि चेति ॥११५॥

निम्ब (नीम), अतसी (अलसी), कुसुम्भ, मूलक (मूली), जीमूतक (देवदाली), वृक्षक (कुटज), कृतवेधन (तुरई), अर्क (आक), कंपिल्ल (कमीला), हस्तिकर्ण (लाल एरण्ड), पृथ्वीका (काला जीरा), पीलु, करञ्ज (करंजुवा), इंगुदी, शिग्रु (सहजन), सर्षप (सरसों), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), विडङ्ग (वायविडङ्ग) ज्योतिष्मती (मालकंगनी), इनके फलों के तेल, तीक्ष्ण, लघु, उष्णवीर्य, कटुरस, कटु विपाक, सर (विरेचक) हैं, वायु, कफ, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग को नष्ट करनेवाले हैं ॥११५॥

वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं बलावहम् ।
कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥११६॥

अलसी (क्षुमा) का तेल—वायुनाशक, कटुविपाक, आँखों के लिये अहितकारी, स्निग्ध, उष्ण, गुरु और पित्तकारक है ॥

कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु ।
कफमेदोनिलहरं लेखनं कटुदीपनम् ॥११७॥

सरसों का तेल—कृमिनाशक, कण्डू, कुष्ठ को नाश करनेवाला, लघु, कफ, मेद, वायु नाशक, लेखन (स्थूलता को कम करनेवाला) कटु विपाक और अग्निदीपक है ॥११७॥

कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु ।
कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम् ॥११८॥

इङ्गुदी का तेल—कृमिनाशक, थोड़ा तिक्तरस लघु, है। कुष्ठरोग, कृमिरोग का नाशक, दृष्टि, शुक्र, बलको कम करता है ॥

विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषकृत् ।
रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च ॥११९॥

कुसुम्भ का तैल, विपाक में कटु, तीनों दोषों को कुपित करता है, रक्तपित्त—कारक, तीक्ष्ण आँखों के लिये अहितकर और विदाहि है ॥११९॥

किराततिक्तकातिमुक्तकबिभीतकनालिकेरकोलाक्षोडजीवन्तीप्रियालकर्बुदारसूर्यवल्लीत्रपुसैर्वारुककर्कारुकूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि चेति ॥१२०॥

किराततिक्तका (चिरायता), अतिमुक्त (माधवी लता का फल), बिभीतक (बहेड़ा), नालिकेर (नारियल), कोल (बैर) अक्षोड़ (अखरोट), जीवन्ती (स्वर्ण जीवन्ती फल), पियाल, कर्बुदार (कचनार), सूर्यवल्ली (अर्कपुष्पी), त्रपुस (ककड़ी), एर्वारुक (खीरा), कर्कारु (वाडव-छोटा खीरा) कूष्माण्ड (पेठा)

१—प्रभा-आग्नेय गुणयुक्त परन्तु उष्ण नहीं, क्षार उष्ण हैं, परन्तु सौम्य हैं, मछलियाँ उष्ण हैं, परन्तु आग्नेय गुण नहीं हैं। तिल आग्नेय और उष्ण दोनों है।

आदि के तैल, मधुररस, मधुर-विपाक, वात-पित्तशामक, शीत-वीर्य, अभिष्यन्दि, मूत्रविरेचक और अग्निमान्द्य करनेवाले हैं ॥

मधूककाश्मर्यपलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि ॥१२१॥

मधुक (महुआ), काश्मरी (गम्भारी), पलाश (ढाक) के बीजों के तैल-मधुर-कषाय रस, कफपित्तनाशक है ॥१२१॥

तुवरकभल्लातकतैले उष्णे मधुरकषाये तिक्तानुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहक्रिमिप्रशमने उभयतोभागदोषहरे च ॥१२२॥

तुवरक[1] और भिलावे का तैल—उष्णवीर्य, मधुरकषायरस, तिक्त-अनुरस, वायु, कफ, कुष्ठ, मेद, मेह, कृमि, नाशक तथा वमन एवं विरेचन दोषों मार्गों से दोष नाशक हैं ॥१२२॥

सरलदेवदारुशिंशपागुरुगण्डीरसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च ॥१२३॥

सरल, देवदारु, गण्डीर (वृक्ष विशेष), शिंशपा (शीशम), अगर के सार (मध्य काष्ठ) का स्नेह, तिक्त, कटु, कषायरस, दूषित व्रणों का शोधक, कृमि-कुष्ठ वायु नाशक है ॥१२३॥

तुम्बीकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीश्यामासप्तलानीलिकाकम्पिल्लकशङ्खिनीस्नेहास्तिक्तकटुकषाया अधोभागदोषहराः कृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च ॥१२४॥

तुम्बी (कड़ुवी तुम्बी), कोशाम्र (एक प्रकार के आम), दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती, (दन्त भेद), श्यामा (विधारा), सप्तला (सातला), नीलिका (नीलनी), कम्पिल्ल (कमीला), शङ्खिनी (यवतिक्ता), इनका स्नेह, (तैल), तिक्त, कटु, कषाय रस, अधो भाग (विरेचन) द्वारा दोषनाशक, कृमि, कुष्ठ, कफ, वायुनाशक, दूषित व्रणों का शोधक है ॥१२४॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोषप्रशमनमीषत्तिक्तमग्निदीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं च ॥१२५॥

यवतिक्ता (कालमेघ) के फल का तेल, सब दोषों को शान्त करता है, थोड़ा-सा तिक्त, अग्निदीपक, लेखन (मेद को कम करनेवाला), मेध्य (पवित्र), पथ्य और रसायन है ॥१२५॥

एकैषिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिलप्रकोपणं श्लेष्माभिवर्धनं च ॥१२६॥

एकैषिका (काली त्रिवृत का फल) का तेल, मधुर, अतिशीतल, पित्तहर, वायु का प्रकोपक और कफवर्धक है ॥१२६॥

सहकारतैलमीषत्तिक्तमतिसुगन्धि वातकफहरं रूक्षं मधुरकषायं रसवन्नातिपित्तकरं च ॥१२७॥

सहकार तैल (आम का तेल), ईषत् तिक्त, अतिसुगन्धित, वात-कफह, रूक्ष, मधुर-कषाय, रसवान्, बहुत पित्तकारक नहीं (थोड़ा पित्त करनेवाला) है ॥१२७॥

फलोद्भवानि तैलानि यान्यनुक्तानि कानिचित्।
गुणान् कर्म च विज्ञाय फलानीव विनिर्दिशेत् ॥१२८॥

इस स्थान में फल से उत्पन्न जिन तेलों का वर्णन नहीं किया उन तेलों के गुण एवं कर्मों से ही जानना चाहिये ॥

यावन्तः स्थावराः स्नेहाः समासात्परिकीर्तिताः।
सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः ॥१२९॥

जितने भी स्थावर स्नेह संक्षेप से यहाँ पर कहे हैं; उन सब के गुण तैल के समान समझना चाहिये, ये सब तैल वायु के नाशक हैं।

वि० मन्तव्य—स्थावर द्रव्यों का स्नेह—तिल, एरण्ड एवं निम्ब आदि, किराततिक्त आदि, मधूक आदि बीजों का स्नेह (तैल) कोल्हू आदि में पीड़ कर निकाला जाता है। इसी प्रकार सौंफ, अजवायन तथा इलायची, लवङ्ग, जायफल आदि का भी निकाला जाता है। तुम्बी आदि के बीजों का तैल होता है और प्रणियों की वसा आदि स्नेह भी स्निग्ध होने के कारण तैल के समान खाने और लगाने के उपयोग में आते हैं ॥१२९॥

सर्वभ्यस्त्विह तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते।
निष्पत्तेस्तद्गुणत्वाच्च तैलत्वमितरेष्वपि ॥१३०॥

सब प्रकार के तेलों में तिल का तेल ही गुणवान् है—अन्य एरण्डादि के स्नेह को भी तैल कहते हैं। क्योंकि—निष्पत्तेः-(जिस प्रकार तिलों से तेल बनता है, उसी प्रकार इनसे भी बनता है), गुणत्वात्—तिल तैल के कर्म-धर्मगुणयुक्त होने से अन्यों को भी तैल कहते हैं ॥१३०॥

ग्राम्यानूपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः, जाङ्गलैकशफक्रव्यादादीनां लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नाः, प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः। तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च ॥१३१॥

इति तैलवर्गः।

ग्राम्य (गाय, ऊँट आदि), आनूप (महिष आदि), औदक (मछली आदि) प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा गुरु, उष्णवीर्य, मधुररस, वातनाशक है। जाङ्गल (हिरण आदि) एकशफ (घोड़े आदि), क्रव्याद (व्याघ्र आदि), की वसा आदि लघु, शीत, कषाय रस, रक्त-

[1] तुवरक—पश्चिमसमुद्र तीर पर उत्पन्न होनेवाला एक वृक्ष है। जैसे कहा है :—

पत्रैस्तु केशराकारैः कपित्थसदृशैः फलैः।
वृक्षस्तुवरको नाम पश्चिमार्णवतीरजः ॥

पित्तनाशक, प्रतुद (कबूतर आदि) विष्किर (बटेर आदि) कफनाशक हैं। इनमें घी, तैल, वसा, मेद, मज्जा, ये उत्तरोत्तर (घी से तेल, तैल से वसा आदि), गुरु विपाक और वातनाशक हैं ॥१३१॥ इति तैलवर्गः ॥

अथ मधुवर्गः।

मधु तु मधुरं कषायानुरसं रूक्षं शीतमग्निदीपनं वर्ण्यं स्वर्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरणं सन्धानं शोधनं रोपणं संग्राहि चक्षुष्यं प्रसादनं सूक्ष्ममार्गानुसारिपित्तश्लेष्ममेदोमेहाहिक्काश्वासकासातिसारच्छर्दितृष्णाक्रिमिविषप्रशमनं ह्लादि त्रिदोषप्रशमनं च; तत्तु लघुत्वात् कफघ्नं, पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् ॥१३२॥

इसके आगे मधुवर्ग कहते हैं—

मधु के सामान्य गुण—मधुर, कषाय-अनुरस, रूक्ष, शीतल अग्निदीपक, वर्ण्य (वर्ण के लिये हितकारी), स्वर्य (स्वर के लिये हितकारी), लघु, सुकुमार (सुकुमारता करनेवाला), लेखन (मेदनाशक), हृद्य (हृदय के लिये प्रिय), सन्धान (भग्न को जोड़नेवाला), शोधन, रोपण, वाजीकरण (शुक्रल), संग्राहि, चक्षुष्य, प्रसादन (आंख और शरीर को स्वच्छ करनेवाला), सूक्ष्म मार्गों में घुसनेवाला, पित्तश्लेष्म, मेद, मेह; हिचकी, श्वास, कास, अतिसार, छर्दि, तृष्णा, कृमिविष को शान्त करता है, ह्लादि (सुखकारक) और त्रिदोषनाशक है। यह मधु लघु होने से कफनाशक है, पिच्छिल गुण होने से मधुरता से, कषाय होने के कारण वात पित्तनाशक है ॥१३२॥

पौत्तिकं भ्रामरं क्षौद्रं माक्षिकं छात्रमेव च।
आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥१३३॥

मधु के आठ भेद हैं। यथा—पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक छात्र, आर्घ्य औद्दालक, दाल[1] ॥१३३॥

विशेषात्पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात्।
वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदकृन्मधु ॥१३४॥

विषयुक्त मक्षिकाओं से (अथवा विषयुक्त पुष्पों से) उत्पन्न होने के कारण-पौत्तिक मधु--रूक्ष, उष्ण, वायु-रक्त-पित्त को करनेवाला, मेद-ग्रन्थि आदि का छेदक, विदाही, मत्तता उत्पन्न करता है ॥१३४॥

पैच्छिल्यात् स्वादुभूयस्त्वात् भ्रामरं गुरुसंज्ञितम्।
क्षौद्रं विशेषतो ज्ञेयं शीतलं लघु लेखनम् ॥१३५॥
तस्माल्लघुतरं रूक्षं माक्षिकं प्रवरं स्मृतम्।
श्वासादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद्विशेषतः ॥१३६॥
स्वादुपाकं गुरु हिमं पिच्छिलं रक्तपित्तजित्।
श्वित्रमेहक्रमिघ्नं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् ॥१३७॥

पिच्छिल गुण होने से तथा मधुरता के अधिक होने से भ्रामर मधु—गुरु होता है। क्षौद्र—मधु शीतल, लघु, एवं मेद का लेखन करनेवाला है। माक्षिक मधु--क्षौद्र से भी अधिक लघु; रूक्ष एवं श्रेष्ठ होता है। यह मधु श्वासकासादि रोगों में खासकर उत्तम है। छात्र मधु--स्वादु (मधुर) विपाक, गुरु, शीतवीर्य, पिच्छिल, रक्त-पित्त-नाशक, श्वित्र-प्रमेह-कृमि-नाशक एवं गुणों में श्रेष्ठ है ॥१३५-१३७॥

आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम्।
कषायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत् ॥१३८॥

आर्घ्य मधु—आँखों के लिये अतिहितकर, अतिशय, कफ-पित्तनाशक, कषायरस, विपाक में कटु, बलकारक, तिक्त है, परन्तु वायु नहीं करता ॥१३८॥

औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम्।
कषायमम्लमुष्णं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥१३९॥

औद्दालक मधु—रुचिकारक, स्वर्य (स्वर के लिये उपयोगी) कुष्ठ-विषनाशक, कषाय, उष्णवीर्य, अम्ल, पित्तकारक और विपाक में कटु होता है ॥१३९॥

छर्दिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्भवम्।

दाल मधु—छर्दि, एवं प्रमेह का नाशक तथा रूक्ष होता है[1]॥

बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं समम् ॥१४०॥
मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम्।

नूतन मधु—बृंहण (देह एवं शुक्र को बढ़ानेवाला), कफ को बहुत अधिक कम नहीं करता और सर (विरेचक) होता है।

---

१ मक्खियों के भेद—"महत्याः पिंगलायास्तु मक्षिकाः पुत्तिकाः स्मृताः।" भ्रमर-प्रसिद्ध हैं, इनका मधु भ्रामर है। 'मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्माः क्षुद्राऽऽख्यास्तत्कृतं मधु। मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तं।' माक्षिक—"महत्यः पिंगलास्तीक्ष्णविषास्तु मक्षिकाः स्मृताः।" छात्र—"वरटाः पिंगलाः पोताः प्रायो हिमवतो वने। कुर्वन्ति छत्राकारं तज्जं छात्रं मधु स्मृतम्॥" आर्घ्य—"तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णाः षट्पदसन्निभाः। अर्घ्यास्ता मक्षिका ज्ञेया आर्घ्यं तत्कृतमुच्यते॥" औद्दालक—"प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिलाः स्वल्पकीटकाः। कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत् स्यादौद्दालकं मधु॥" दाल-"इन्द्रनील-दलाकाराः सूक्ष्मा या मक्षिकाः शुभाः। वृक्षकोटरमध्यस्थास्तज्जं दालमुदाहृतम्॥" (इन्द्रनील का लक्षण—"क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरञ्चेन्नीलतां व्रजेत्। इन्द्रनील इति ख्यातः")। वर्ण द्वारा इनका भेद—"माक्षिकं तैलवर्णं स्यात् घनवर्णन्तु पौत्तिकम्। क्षौद्रं कपिलवर्णं स्यात्, श्वेतं भ्रामरमुच्यते॥"

१ निर्णयसागर की छपी सुश्रुत में—
"कषायमुष्णमम्लं च पित्तकृत् कटुपाकि च॥"
यह पाठ दाल मधु के गुणों में लिखा है, परन्तु हाराणचन्द्र जी ने पृथक् किया है।

पुराना मधु—मेद एवं स्थूलता को घटानेवाला, संग्राहि और अतिशय लेखन करनेवाला होता है ।।१४०।।

दोषत्रयहरं पक्वमामसम्लं त्रिदोषकृत् ।।१४१।।

कालवश के कारण पका हुआ मधु (अग्नि के संयोग से नहीं), तीनों दोषों का नाशक होता है, आम (थोड़े समय का संचित मधु, अपक्व) मधु—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है ।।

तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून् ।
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु ।।१४२।।

मधु यदि युक्तिपूर्वक नाना प्रकार के औषधि-समूहों के साथ मिलाकर व्यवहार किया जाये, तो बहुत से रोगों का नाश करता है । क्योंकि—मधु नाना प्रकार के द्रव्यों से एकत्रित किया जाता है, और अति उत्तम योगवाही है (जिस प्रकार के द्रव्य के साथ मिलता है, उसी प्रकार का कर्म करता है) ।१४२।

तत्तु नानाद्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविरुद्धानां पुष्परसानां मक्षिकासंभवत्वाच्चानुष्णोपचारम् ।।१४३।।

निम्न कारण से मधु को शीत अवस्था में ही (बिना गरम किये) व्यवहार में लाना चाहिये । मधु—नाना प्रकार के द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक विरुद्ध, पुष्प रसों से उत्पन्न होने के कारण; विषैली मक्खियों से उत्पन्न होने के कारण मधु उष्ण वस्तुओं के साथ नहीं मिलता ।।१४३।।

उष्णैर्विरुध्यते सर्वं विषान्वयतया मधु ।
उष्णार्तमुष्णैरुष्णे वा तन्निहन्ति यथा विषम् ।।१४४।।

विषैली मक्खियों से उत्पन्न होने के कारण मधु गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता । क्योंकि—जिस प्रकार विष गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता, उसी प्रकार—उष्णार्त्त (घर्म-गरमी से पीड़ित) उष्ण (उष्ण स्पर्श वाले) द्रव्यों के साथ (उष्णवीर्य द्रव्य के साथ नहीं) उष्ण (उष्ण देश या काल) में मधु नहीं मिलता ।।१४४।।

तत्सौकुमार्याच्च तथैव शैत्यान्नानौषधीनां रससंभवाच्च ।
उष्णैर्विरुध्येत विशेषतश्च तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि ।।

और जिस प्रकार कोमल नवनीत गरम पानी या गरम वस्तुओं के साथ नहीं मिलता, इसी प्रकार मधु भी कोमल, शीतल होने से, नाना प्रकार की औषधियों के रस से उत्पन्न होने कारण मधु गरम द्रव्यों से तथा आन्तरीक्ष जल के साथ विरोधी होता है ।।१४५।।

उष्णेन मधु संयुक्तं वमनेष्ववचारितम् ।
अपाकादनवस्थानान्न विरुध्येत पूर्ववत् ।।१४६।।

— परन्तु वमन कार्यों में मधु को उष्ण द्रव्यों के साथ मिलाकर देना चाहिये । क्योंकि इस प्रकार से यह जीर्ण नहीं होता, शरीर में स्थिर नहीं होता, इसलिये पूर्व कारणों से विरोधी नहीं है । (तथापि वृद्ध वैद्य इसका व्यवहार नहीं करते, क्योंकि कहीं कुछ भाग नीचे की ओर न चला जाये ।।१४६।।

मध्वामात्परस्त्वन्यदामं कष्टं न विद्यते ।
विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम् ।।१४७।।

इति मधुवर्गः ।

मधुजन्य आम (अजीर्ण) से बढ़कर और कोई अजीर्ण नहीं है, मधु से उत्पन्न अजीर्ण रोग अतिकष्टसाध्य है । क्योंकि—विरुद्ध चिकित्सा होने से (आम की, स्वेद, उष्णोदक उपचार हैं, इनका मधु के साथ विरोध है । यह अजीर्ण विष के समान सम्पूर्ण चिकित्सा को निष्फल कर देता है ।

वि० मन्तव्य—वनवासी तथा हिमालय आदि पर्वतों के निवासी आज भी भोजन में तथा महामान्यों (महमानों) के भोजन में खण्ड एवं गुड़ शक्कर के समान ही मधु का प्रयोग करते हैं और प्राचीन काल में तो मधुपर्क का भोजन के समान प्रयोग-उपयोग होता ही था । अस्तु-इस प्रकार भरपेट मधु खाने पर यदि अजीर्ण हो जाता है तो वह अन्य रोटी आदि के अजीर्ण की अपेक्षा बड़ा भीषण होता है । मधु की उक्त जातियों को आज भी वे लोग कुछ न कुछ जानते हैं । छात्रमधु—बर्रे के छत्ता में मिशरी के से कण पाये जाते हैं । माक्षिकमधु—मक्षिकाविट् नाम से बाजार में मिलता है । आयुर्वेदिक योगों में उसकी चर्चा भी पाई जाती है, यूनानी चिकित्सा में उसका विशेष प्रचार है । हमारे विचार में 'दाल' मधु वह है जो आम आदि के दलों पत्तों पर तेलिया लगता है । यह कभी २ कहीं लगता है, मधुर होता है । क्षौद्रमधु—यह श्वेताभ, छोटी २ प्रायः न काटनेवाली मक्षिकाओं का मधु है, इनको मखीर कहते हैं, इनकी गोणी भी छोटी होती है । अर्घ्यमधु-यह अर्घोपयोगी मधु है जो अधिक पाया जाता है । यही सर्वत्र मधु या शहद के नाम से मिलता है, इसकी गोणी बहुत बड़ी होती है । उस में से ५–७–१० सेर तक मधु और १ सेर तक मोम निकलता है, यह मक्षिका तीक्ष्णतुण्डा-बुरी तरह काटनेवाली होती हैं । उक्त सब प्रकार की मक्षिकाओं को धूआँ से उड़ाकर मधु प्राप्त किया जाता है ।।१४७।।

इति मधुवर्गः ।

अथेक्षुवर्गः ।

इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तशमनाः कृमिकफकराश्चेति । ते चानेकविधाः । तद्यथा—।।१४८।।

इसके आगे इक्षुवर्ग कहते हैं—

इक्षु के समान्य गुण—इक्षु मधुर, मधुरविपाक, गुरु, शीतल, स्निग्ध, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक), मूत्रल रक्तपित्त-शामक, कृमि एवं कफ को करते हैं ।।१४८।।

यथा—

पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः श्वेतपोरकः ।
कान्तारस्तापसेक्षुश्च काष्ठेक्षुः सूचिपत्रकः ।।१४९।।

नैपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत् ।
इत्येता जातयः स्थौल्याद्,

पौण्ड्रक (पोण्डा), भीरुक, वंशक, शतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोरा, कोशकृत, ये संक्षेप में (स्थूलदृष्टि से) बारह भेद हैं ॥१४९॥

गुणान् वक्ष्याम्यतः परम् ॥१५०॥

सुशीतो मधुरः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलः सरः ।
अविदाही गुरुर्वृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥१५१॥
आभ्यां तुल्यगुणः किंचित्सक्षारो वंशको मतः ।
वंशवच्छ्वेतपोरस्तु किंचिदुष्णः स वातहा ॥१५२॥
कान्तारतापसाविक्षू वंशकानुगतौ मतौ ।
एवंगुणस्तु काष्ठेक्षुः स तु वातप्रकोपणः ॥१५३॥
सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो दीर्घपत्रकः ।
वातलाः कफपित्तघ्नाः सकषाया विदाहिनः ॥१५४॥
कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः ।

इसके आगे इनके गुणों को कहते हैं—

पौंड्रक और भीरुक–शीतल, मधुर, स्निग्ध, बृंहण (देहवर्धक), कफकारक, सर (विरेचक), अविदाहि, गुरु, वृष्य (शुक्रवर्धक) है । वंशक (बाँस गन्ना)—पौण्ड्रक और भीरुक के समान गुणवाला है, परन्तु कुछ क्षारयुक्त होता है । शतपोर के गुण वंशक के समान हैं, परन्तु कुछ उष्ण एवं वायुनाशक है । कान्तार और तापसेक्षु के गुण वंशक गन्ने के समान हैं। काष्ठेक्षु के गुण भी वंशक के समान हैं, परन्तु यह वातप्रकोपक है । सूचीपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, और नीलपोर वायुकारक, कफ पित्तनाशक, कषायरस, विदाही हैं । कोशकार–गुरु, शीतल, रक्तपित्त एवं क्षय का नाश करता है ॥१५०-१४४॥

अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव तु ॥१५५॥
अग्रेष्वक्षिषु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः ॥१५६॥

इक्षु जड़ में अति मधुर होता है, मध्य में मधुर होता है, तथा गन्ने की आँख (पर्वसन्धि जहाँ पर से गन्ना उगता है) में नमकरस होता है ॥१५५,१५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारणः ।
वक्त्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥१५७॥

दांतों से चूसकर निकाला हुआ रस—अविदाही, कफकारक, वात (पाठ भेद में रक्त)-पित्त का नाशक, मुख को आनन्दित करता है, वृष्य (शुक्रवर्धक) है ॥१५७॥

गुरुर्विदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ।

यन्त्र (चरखी) में निकाला रस—गुरु, विदाही[1] विष्टम्भि वायुकारक) होता है । (कोल्हू में–वायु-धूप का योग होने से तथा छिलके के भी पेरने से गुरुत्व आदि गुण आ जाते हैं, जिससे देर में पचता है) ।

पक्वो गुरुः सरः स्निग्धः सतीक्ष्णः कफवातनुत् ॥१५८॥

आग पर गरम किया रस—गुरु, सर (विरेचक) स्निग्ध, तीक्ष्ण, कफ-वायु—नाशक है ॥१५८॥

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमवृष्यं त्रिदोषकृच्च ॥

फाणित (राब)—गुरु, मधुर, अभिष्यन्दि, बृंहण, अवृष्य, त्रिदोषकारक है ॥१५९॥

गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो मूत्ररक्तशोधनो नातिपित्तजिद्वातघ्नो मेदःकृमिकफकरो बल्यो वृष्यश्च ॥

मैला गुड़—ईषत्क्षार, मधुर, थोड़ा शीतवीर्य, स्निग्ध, मूत्रशोधक, पित्त का थोड़ी मात्रा में शमन करनेवाला, वायुनाशक, मेदकफकारक और वृष्य (शुक्रवर्धक) है ॥१६०॥

पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः ।
सपुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः ॥१६१॥

निर्मल गुड़—पित्तनाशक मधुर, वायुनाशक, रक्त को स्वच्छ करता है । पुराना गुड़—अधिक गुणशाली एवं अतिशय हितकारी हो जाता है ॥१६१॥

मत्स्यण्डिकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च ॥१६२॥

गुड़ से मत्स्यण्डिका (लाल खण्ड), मत्स्यण्डिका से खाण्ड, खाण्ड से शर्करा, साफ होती है, ये उत्तरोत्तर शीतल, स्निग्ध, गुरुतर (अधिक भारी), मधुरतर, वृष्य, रक्त-पित्त शामक एवं तृष्णा का नाश करती है[1] ।

वि० मन्तव्य—मत्स्यण्डिका-कच्ची खण्ड-बिना मली खण्ड है, इसमें राब का अंश रहता है; खाण्ड—दरदरी खण्ड, कुछ स्वच्छखण्ड मली हुई खण्ड का नाम है, शर्करा—सर्वथा स्वच्छ श्वेत खण्ड का नाम है । शास्त्र विरुद्ध धारणा के कारण–साधारण जनता मलिन खण्ड तथा भुरे गुड़ को शर्करा (शक्कर) कहने लग गई है ॥१६२॥

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा ।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा ॥१६३॥

इन गन्ने के विकारों में जिस जिस प्रकार से स्वच्छता आती है, उसी प्रकार से स्नेह (स्निग्धता), गौरव (गुरुता), शीतलता एवं सरत्व (विरेचन गुण) आता जाता है ॥१६३॥

---

१ विदाही का लक्षण—
''द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद् वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् ।
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि ॥''

१ क्रियात्मक रूप में शर्करा से खाण्ड और खाण्ड से दानेदार मिश्री (विलायती चीनी) अधिक साफ होती है । खाण्ड से शर्करा कभी भी अधिक साफ नहीं होती । इसलिये 'शर्कराखण्डमत्स्यण्डिका विमला जाता' यह पाठ सम्भवतः ठीक रहता ।

यो यो मत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः।
तेन तेनैव निर्देश्यस्तेषां विस्रावणो गुणः ॥१६४॥

मत्स्यण्डिका, खण्ड और शर्करा के जो जो अपने गुण हैं; वे ही गुण इनके विसृत (स्रवित) रस (शर्बतों) में समझने चाहिये।

वि० मन्तव्य—मत्स्यण्डिका आदि को चुआ कर, उसमें से चोटा या सीरा निकाल कर खण्ड को स्वच्छ किया जाता है, जितना ही चोटा निकलता जाता है उतना ही स्वच्छता आती है। शर्करा को जमाकर मिश्री बनाई जाती है, फूलमिश्री सर्वथा स्वच्छ होती है। यह बिल्लौर के समान स्वच्छ, श्वेत एवं चमकीली होती है। चोटा का नाम "विस्रावण" है। मिशरी बनाने के लिये चुआते समय शर्करा से जो चोटा निकलता है अधिक स्वच्छ होता है। राब को खाँची में डाल दिया जाता है, ऊपर सेवार बिछा दी जाती है, कुछ दिनों पश्चात् उसका सीरा (चोटा) खाँची के निचले छिद्र से बहने लगता है और कण खाँची में रह जाते हैं ॥१६४॥

सारस्थिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा।
तथा गुणवती सर्वा विज्ञेया शर्करा बुधैः ॥१६५॥

जैसे जैसे शर्करा मल के निकल जाने से सारमात्र बची हो, इसलिये अत्यन्त स्वच्छ एवं क्षार से रहित हो, वह वैसे वैसे ही गुणवाली समझनी चाहिये ॥१६५॥

मधुशर्करा पुनश्छर्द्यतीसारहरी रूक्षा छेदनी प्रसादनी कषायमधुरा मधुरविपाका च ॥१६६॥

कालान्तर में, शुष्क होने से मधु में शर्करा बैठ जाती है, यही मधुशर्करा—वमन, अतिसार रोगनाशक, रूक्ष, छेदक (कफ आदि को), प्रसादनी (त्वचा-रक्त आदि को स्वच्छ करनेवाली), कषाय-मधुर और मधुर विपाकवाली है।

वि० मन्तव्य—मधुशर्करा—जैसे राब में खण्ड बैठती है वैसे किसी-किसी मधु में भी खाण्ड बैठ जाती है—खण्ड के से कण बन जाते हैं और चोटा के समान मधु का तरल भाग ऊपर आ जाता है। बोतल या भाण्ड में मधु रख देने पर—चार छः मास में खण्ड के कण बैठ जाते हैं। मधु का तरल भाग पृथक् करने पर "मधुशर्करा" मधु की खण्ड रह जाती है॥

यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा चेति ॥१६७॥

यवास शर्करा (यवास के क्वाथ को घन करके उत्पन्न की गई शर्करा)—मधुर-कषायरस, तिक्त—अनुरस कफनाशक और विरेचक होता है।

वि० मन्तव्य—यवास शर्करा—माना या मना नाम से मिलती है। यह राजयोग्य विरेचन है, इसे १-२ तोला लेकर गुलाब जल में घोलकर पीने से विरेचन होता है, यूनानी का "तुरञ्जबीन" भी यही है, जवासा के पौद पर मधुर कण बैठ जाते हैं उनका संग्रह कर लिया जाता है ॥१६७॥

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः ॥१६८॥

जितनी भी शर्करायें हैं, वे सब दाह (जलन) को नष्ट करती हैं। रक्तपित्तनाशक, छर्दि मूर्छा तृषा को नष्ट करती है।

वि० मन्तव्य—ताड़, मुनक्का आदि जितने मधुर द्रव्य हैं उनके रसों को इक्षुरस के समान पकाकर-सुखाकर, इक्षुशर्करा के समान शर्कराएँ बना ली जाती हैं। मधुरसार ही गुड़ तथा गुड़ का सार शर्करा है ॥१६८॥

रूक्षं मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तकृत्।
कफघ्नं मधुरं पाके कषायं बस्तिदूषणम् ॥१६९॥

इतीक्षुवर्गः।

महुवे के फूलों से बनाई राब रूक्ष, वातपित्तकारक, कफनाशक, मधुर, विपाक में कषायरस और बस्ति को दूषित करती है ॥१६९॥ इति इक्षुवर्गः।

अथ मद्यवर्गः।

सर्वं पित्तकरं मद्यमम्लं रोचनदीपनम्।
भेदनं कफवातघ्नं हृद्यं बस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विदाह्युष्णं तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम्।
विकासि सृष्टविण्मूत्रं शृणु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

इसके आगे मद्यवर्ग कहते हैं—

मद्य के सामान्यगुण—सब मद्य पित्तकारक, अम्लरस, अग्निदीपक, रोचक, भेदक (कफ), कफवातनाशक, हृदय के लिये प्रिय, बस्तिशोधक (मूत्रल) हैं। पचने में लघु विदाही, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, इन्द्रियबोधन (इन्द्रियों में पटुता होशियारी उत्पन्न करता है), मल-मूत्र का प्रवर्त्तक है। विशेष लक्षणों को आगे कहते हैं। ये गुण—पैष्टिक, मार्द्वीक और गौड तीन प्रकार के मद्य के हैं ॥१७०,१७१॥

मार्द्वीकमविदाहित्वान्मधुरान्वयतस्तथा।
रक्तपित्तेऽपि सततं बुधैर्न प्रतिषिध्यते ॥१७२॥
मधुरं तद्धि रूक्षं च कषायानुरसं लघु।
लघुपाकि सरं शोषविषमज्वरनाशनम् ॥१७३॥

मार्द्वीक (मृद्वीका से बने) मद्य के गुण—अविदाहि होने से एवं मधुर द्रव्य (द्राक्षा) से उत्पन्न होने के कारण रक्तपित्त रोग में भी निरन्तर उपयोग कर सकते हैं[1]। यह मार्द्वीक मद्य—मधुररस, रूक्ष, कषाय अनुरस, लघु, विपाक में लघु, सर (विरेचक), शोष-विषमज्वरनाशक है ॥१७२,१७३॥

१ रक्तपित्त चिकित्सा में—
'द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा।
शृतं पयो वाप्यथ पर्णिनीभिः।'' चरक।

माद्वीकाल्पान्तरं किंचित् खार्जूरं वातकोपनम्।
तदेव विशदं रुच्यं कफघ्नं कशनं लघु ॥ १७४ ॥
कषायमधुरं हृद्यं सुगन्धीन्द्रियबोधनम्।

खार्जूर (खजूर से बना) मद्य—माद्वीक मद्य से गुणों में थोड़ा ही भिन्न है, वायुकोपक, विशद, रुचिकारक, कफनाशक, लघु, कृशता उत्पन्न करनेवाला, कषाय-मधुर, हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, इन्द्रियों में पटुता उत्पन्न करता है ॥१७४॥

कासार्शोग्रहणीदोषमूत्राघातानिलापहा ॥ १७५ ॥
स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा बृंहणदीपनी।

सुरा कास-अर्श-ग्रहणीरोग और मूत्राघात-वायुरोग-नाशक, दूध, रक्त की क्षीणता में हितकारी, बृंहण (शरीरवर्धक) और अग्निदीपक है ॥१७५॥

कासार्शोग्रहणीश्वासप्रतिश्यायविनाशिनी ॥ १७६ ॥
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्तमांसकरी सुरा।

श्वेत सुरा—कास, अर्श, ग्रहणी, श्वास, प्रतिश्यायनाशक, मूत्र-कफ-दूध-रक्त और मांस को बढ़ाती है ॥१७६॥

छर्द्यरोचकहृत्कुक्षितोदशूलप्रमर्दनी ॥ १७७ ॥
प्रसन्ना कफवातार्शोविबन्धानाहनाशनी।

प्रसन्ना (मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग)—वमन, अरुचि, हृद्रोग, तोद (पीड़ा), शूल को नष्ट करती है, कफवायु, अर्श, विबन्ध, आनाह को नष्ट करती है ॥१७७॥

पित्तलाऽल्पकफा रूक्षा यवैर्वातप्रकोपणी ॥ १७८ ॥
विष्टम्भिनी सुरा गुर्वी श्लेष्मलं तु मधूलकम्।
रूक्षा नातिकफा वृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता १७९

कुधान्य यव किण्व द्वारा तैयार की गई सुरा—पित्तकारक, थोड़ा कफ को बढ़ाती है, रूक्ष एवं वायुप्रकोपक है। मधूलिका[1] (छोटे गेहुँओं से बनी) सुरा—विष्टम्भि (गुड़गुड़ शब्द करनेवाली), गुरु एवं कफकारक है। आक्षिकी (बहेड़ों से बनी) सुरा—रूक्ष, कफ को थोड़ा बढ़ाती है, वृष्य, पाचन होती है। यह सुरा बहेड़ों की बल्कलों से बनती है ॥१७८,१७९॥

त्रिदोषो भेद्यवृष्यश्च कोहलो वदनप्रियः।
ग्राह्युष्णो जगलः पक्ता रूक्षस्तृट्कफशोफकृत् ॥१८०॥
हृद्यः प्रवाहिकाटोपदुर्नामानिलशोषहृत्।

कोहल मद्य (जौ के सत्तु से बना)–त्रिदोष (तीनों दोषों को उत्पन्न करता है), भेदि, अवृष्य और मुख के लिये प्रिय है। जगल (मद्य के नीचे बैठा, किण्व भाग)—संग्राहि, उष्ण, पाचक (लेप करने से शोथ का), रूक्ष, प्यास -कफ (लेप द्वारा) का नाशक है। हृदय के लिये प्रिय, प्रवाहिका, आटोप (आध्मान), दुर्नाम (अर्श), अनिल (वायु) और शोथ (क्षय) को नष्ट करता है ॥१८०॥

---

१ मधूलिका का अर्थ महुवे के फूलों से बनी भी करते हैं।

बक्कसो हृतसारत्वाद्विष्टम्भी वातकोपनः ॥ १८१ ॥

बक्कस (जल रहित किण्व) में सार न रहने से यह विष्टम्भि (देर में जीर्ण होनेवाला) एवं वायुप्रकोपक है ॥१८१॥

दीपनः सृष्टविण्मूत्रो विशदोऽल्पमदो गुरुः।
कषायो मधुरः शीधुर्गौडः पाचनदीपनः ॥ १८२ ॥

गुड़जन्य (गन्ने के रस को पकाकर उसमें धाय के फूल, और थोड़ा—गुड़ डालकर बनाया) सीधु–मल-मूत्र निकालनेवाला, थोड़ा मदकारक, कषाय मधुररस, पाचक तथा अग्निदीपक है[1] ॥१८२॥

शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो बस्तिशोधनः।
वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः ॥ १८३ ॥

शर्कराजन्य शीधु–मधुर, रुचिकारक, अग्नि-दीपक मूत्राशय का शोधन करता है। वातनाशक, विपाक में मधुर, हृदय को प्रिय, इन्द्रियों में पटुता उत्पन्न करता है ॥१८३॥

कर्शनः शीतरसिकः श्वयथूदरनाशनः।
वर्णकृज्जरणः स्वर्यो विबन्धघ्नोऽर्शसां हितः ॥१८४॥

शर्करा की भाँति पके हुए रस से बना सीधु—बल एवं वर्ण (गौरादि)–कारक, विरेचक, शोथनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, रुचिकारक, कफ तथा अर्श रोग के लिये हितकारी है ॥१८४॥

तद्वत् पक्वरसः शीधुर्बलवर्णकरः सरः।
शोषघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः ॥१८५॥

शीतरसिक[2] (अपक्व गन्ने के रस से बना) सीधु–शरीर में कृशता उत्पन्न करता है, शोफ और उदररोगनाशक, वर्णकारक, अन्नादि को जीर्ण करता है, स्वर के लिये हितकारी, विबन्धनाशक; और अर्श के लिये हितकारी है ॥१८५॥

माक्षिकः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः संग्राहको लघुः।
कषायमधुरः शीधुः पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनः ॥१८६॥

आक्षिक (बहेड़े के छिलकों से बना) सीधु—पाण्डु-रोगनाशक, व्रण के लिये हितकारी, संग्राहि, लघु, कषाय-मधुर, पित्तनाशक, रक्त को स्वच्छ करता है ॥१८६॥

जाम्बवो बद्धनिष्यन्दस्तुवरो वातकोपनः।

जाम्बव (जामुन से बना) सीधु—बद्धनिष्यन्द (मूत्र को बन्द करनेवाला), तुवर (कषाय)—रस, वात का प्रकोपक है। (यह मद्य जामुन के रस में धाय के फूल प्रक्षेप करके बनता है)।

तीक्ष्णः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ॥ १८७ ॥
मुखप्रियः स्थिरमदो विज्ञयोऽनिलनाशनः।

---

१ "शालिपिष्टकपिष्टयादि कृतं मद्यं सुरा।"

(२) "इक्षुः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसः स्मृतः।
आमैस्तैरेव यः सीधुः स शीतरसिको मतः॥"

सुरासव—(सुरा से बना आसव)—तीक्ष्ण; हृदय के लिये प्रिय, मूत्रल, कफ-वातनाशक, मुख के लिये प्रिय, स्थिरमद (चिरकाल तक मत्तता करनेवाला), वायुनाशक है ॥१८७॥

लघुर्मध्वासवश्छेदी मेहकुष्ठविषापहः ॥ १८८ ॥
तिक्तः कषायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकृत् ।

मध्वासव (मधु और गुड़ से बनाया)—लघु, छेदी (कफ को निकालनेवाला), प्रमेह, कुष्ठ, विषनाशक, तिक्तकषायरस, शोफनाशक, तीक्ष्ण, स्वादु एवं गुरु है ॥१८८॥

तीक्ष्णः कषायो मदकृद्दुर्नामकफगुल्महृत् ॥ १८९ ॥
कृमिमेदोनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः ।

मैरेय (सुरा और आसव को मिलाकर तैय्यार की हुई शराब)-तीक्ष्ण, कषाय, मदकारक, दुर्नाम (अर्श), कफगुल्म नाशक, कृमि मेद-वायु नाशक, मधुर एवं गुरु है ॥१८९॥

बल्यः पित्तहरो वर्ण्यो हृद्यश्चेक्षुरसासवः ॥ १९० ॥

गन्ने के रस से बना आसव-बलकारक, पित्तनाशक, वर्णकारक, हृदय के लिये प्रिय होता है ॥१९०॥

शीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाह्यग्निबलप्रदः ।
रूक्षः कषायः कफहृद्वातपित्तप्रकोपणः ॥ १९१ ॥

महुवे के फूलों से बना सीधु——विदाही, अग्नि एवं बलवर्धक, रूक्ष, कषायरस, कफनाशक वातपित्तप्रकोपक है ॥

निर्दिशेद्रसतश्चान्यान् कन्दमूलफलासवान् ।

कन्द, मूल, फल (काण्डत्वक्) आदि से बने आसवों के गुण इनके रसों के अनुसार ही समझने चाहिये ॥

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम् ॥ १९२ ॥
अनिष्टगन्धि विरसमहृद्यं च विदाहि च ।

नूतन मद्य-अभिष्यन्दि, गुरु, वात आदि दोषों का प्रकोपक, अवाञ्छित गन्धवाला, रस रहित, हृदय के लिये अप्रिय और विदाहि होता है। (नूतन मद्य-एक साल पुराना न हो, या जिसमें रसोत्पत्ति न हुई हो) ॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु कृमिनाशनम् ॥ १९३ ॥
स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम् ।

पुरातन (जीर्ण) मद्य—सुगन्धि, रोचिष्णु (अच्छी प्रकार रुचता है), अग्निदीपक, हृदय को प्रिय, कृमिनाशक, स्फुट स्रोतस्कर (स्रोतों को खोलनेवाला), लघु, वायु-कफनाशक है। (पुरातन—एक साल व्यतीत होने पर) ॥१९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ॥ १९४ ॥
बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः ।
दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्ताविरोधनः ॥ १९५ ॥
शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णार्शसां हितः ।

अरिष्ट के गुण[1]—अरिष्ट में आसव से अधिक (अभया-चित्रक आदि) द्रव्यों का संयोग होता है, संस्कार से (आसव से अधिक कर्म किये जाने से), गुणों में अधिक होता है। अतः अरिष्ट—बहुत रोगों को नष्ट करता है, दोषों को शान्त करनेवाला है, अग्निदीपक, कफवातनाशक, सर (विरेचक), पित्त को थोड़ा कम करता है। शूल, आध्मान, उदर, प्लीहा, ज्वर, अजीर्ण, अर्शरोग में हितकारी है ॥१९४-१९५॥

पिप्पल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः ॥ १९६ ॥

पिप्पल्याद्यरिष्ट—पिप्पल्यादिगण से बनाया अरिष्ट—गुल्म-कफ-रोग-नाशक है ॥१९६॥

चिकित्सितेषु वक्ष्यन्तेऽरिष्टा रोगहराः पृथक् ।

रोगनाशक अरिष्टों को पृथक् रूप से चिकित्सास्थान में कहेंगे।

अरिष्टासवशीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् ॥१९७॥
बुद्ध्या यथास्वं संस्कारमवेक्ष्य कुशलो भिषक् ।

अरिष्ट (क्वाथ द्वारा सिद्ध-द्रव्य प्रधान), आसव (बिना क्वाथ के सिद्ध-द्रव्य प्रधान), सीधु (गुडकृत), मद्य (द्रव्य एवं द्रवप्रधान-उभयप्रधान), इनके गुण-कर्म को—इनके संस्कार (बनाने की विधि) को देखकर—जो जिस रोग आदि की अपेक्षा से द्रव्य संस्कार किया जाता है, उसके अनुसार इनके गुण-कर्मों को अपनी बुद्धि से वैद्य को जानना चाहिये ॥१९७॥

सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धं विरसं कृमिलं गुरु ॥ १९८ ॥
अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् ।
अल्पौषधं पर्युषितमत्यच्छं पिच्छिलं च यत् ॥१९९॥
तद्वर्ज्यं सर्वथा मद्यं किंचिच्छेषं च यद्भवेत् ।
तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु ॥ २०० ॥
कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्जरं च विशेषतः ।
पित्तप्रकोपि बहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च ॥ २०१ ॥
अहृद्यं पेलवं पूति कृमिलं विरसं च यत् ।
तथा पर्युषितं चापि विद्यादनिलकोपनम् ॥ २०२ ॥
सर्वदोषैरुपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ।

सान्द्र (घना), विदाही (देर में जीर्ण होनेवाला), दुर्गन्ध, रसरहित, कृमियुक्त, गुरु, अप्रिय, तरुण (नूतन), तीक्ष्ण, उष्ण (स्पर्श में) कुत्सित पात्र में स्थित, अल्पौषध (जिसमें धातकी आदि द्रव्य थोड़े पड़े हों), पर्युषित (सन्धान से दूसरे पात्र में रात को रक्खा), अति अच्छ (अत्यन्त पतला), पिच्छिल (गुरु, और जो मद्य नीचे पात्र में थोड़ा बचा हो, वह

१ "अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात्" आसव-बिना क्वाथ के बनता है।

मद्य सदा त्याज्य है। जिस मद्य में औषधियाँ थोड़ी हों, तरुण (नवीन), पिच्छिल (स्निग्ध) गुरु हो वह कफ को प्रकुपित करनेवाला, और खासकर दुर्जर होता है। बहल (सान्द्र), तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही मद्य पित्तप्रकोपक है। अप्रिय, पेलव (अच्छ-स्वच्छ), पूति (दुर्गन्धयुक्त), कृमियुक्त, रसरहित, एवं रात को रक्खा मद्य वायुप्रकोपक होता है। सम्पूर्ण दोषों से युक्त मद्य सब दोषों को प्रकुपित करता है ॥१९८-२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफवातजित् ॥२०३॥
रुच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदावहम् ।

मद्य के गुण—

पुराना देर तक रक्खा, जातरस (रस पूर्ण उत्पन्न हो गया है), अग्निदीपक, कफ-वातनाशक, रुचिकारक, प्रसन्न (निर्मल) सुरभि (सुगन्धि), मदावह (हर्ष उत्पन्न करनेवाला) मद्य सेवन करना चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यतः ॥२०४॥
सौक्ष्म्यादौष्ण्याच्च तैक्ष्ण्याच्च विकासित्वाच्च वह्निना।
समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम् ।
विचाल्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयतेऽचिरात् ॥२०५॥

मद्य जिस प्रकार से मद उत्पन्न करता है, वह कहते हैं—

रस एवं वीर्य के कारण मृद्वीका आदि भेद से अनेक प्रकार का मद्य—अपनी शक्ति द्वारा चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा मन को चलायमान (चञ्चल) करके, वह्नि के साथ मिलकर, धमनियों के द्वारा ऊपर की ओर (आग का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है) जाकर हृदय में पहुँचकर शीघ्रता से मद उत्पन्न कर देता है। अग्नि के साथ—मद्य के मिलने के कारण—सौक्ष्म्य से (मद्य सूक्ष्म गुण है), औष्ण्यसे (उष्ण होने से ऊर्ध्वगामी है), तैक्ष्ण्य से (तीक्ष्ण होने से शीघ्र मद उत्पन्न करता है), विकासी (सन्धि-बन्धनों को शिथिल करता) है ॥२०४,२०५॥

चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पानतो जायते मदः ।
आचाराद्वातिके दृष्टिः, पैत्तिके शीघ्रमेव च ॥२०६॥

कफप्रकृति के मनुष्य में मद्य पीने से मद (नशा) देर में उत्पन्न होता है, वातप्रकृति के में जल्दी, पित्त प्रकृति के मनुष्य में भी शीघ्र एवं तीक्ष्ण (तेज) नशा होता है ॥२०६॥

सात्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमण्डनलालसः ।
गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मदः ॥२०७॥

मानसभेद से मदभेद—

सत्त्वप्रकृति के मनुष्य में नशा होने से—शौच (पवित्रता), दाक्षिण्य (सहायता), हर्ष (आनन्द) मण्डन लालसा (वेश-भूषा की इच्छा), गीत-अध्ययन की इच्छा, गायन, अध्ययन सौभाग्य (कीर्ति), सुरतोत्साह (मैथुन में उत्साह) उत्पन्न होता है ॥२०७॥

राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागंससाहसम् ।
कलहं सानुबन्धं तु करोति पुरुषे मदः ॥२०८॥

राजसप्रकृति के मनुष्य में मद होने से—दुःख उठाना, शरीर नाश करने का साहस[1], निरन्तर लड़ाई-झगड़ा उत्पन्न होता है ॥२०८॥

अशौचनिद्रामात्सर्यागम्यागमनलोलताः ।
असत्यभाषणं चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥२०९॥

तमोगुणवाले पुरुष में मद होने से—अशौच (अपवित्रता), निद्रा मात्सर्य (अदखाई-ईर्षा), अगम्या के गमन की अभिलाषा, असत्य-भाषण—ये लक्षण होते हैं ॥२०९॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदनं भुक्तपाचनम् ।
वैस्वर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुकृमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।

[2]शुक्त—(कांजी या मस्तु में गुड़, शहद मिलाकर बनाया) रक्त-पित्तकारक, छेदि (कफ भेदन), भोजन को पचाता है। स्वरभंग करता है, आमाशय में जलन पैदा करता है, कफ-पाण्डुरोग-कृमि-नाशक, लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, कफनाशक और विपाक में कटु है ॥२१०॥

तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त के समान सन्धान द्वारा कन्दादि से बनाये शुक्त भी शुक्त समान गुणवाले हैं, परन्तु विशेष रूप में रुचिकर होते हैं ॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।
तथापूर्वं गुरुतराण्यभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥

शुक्त के भेद —

गौड़ (गुड़ से बने), रसशुक्त (गन्ने के रस से बनाये), मधुशुक्त (जम्बीर फल के रस से बनाये), तथा—पूर्व (जो जिससे पूर्व है वह, मधुशुक्त से रसशुक्त, रसशुक्त से गुड़शुक्त) गुरु हैं एवं दोष-धातु-मलों में क्लिन्नता उत्पन्न करनेवाले हैं (प्रकोपक हैं)[1] ॥२१२॥

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ।

तुषाम्बु[2]—अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, हृदय-पाण्डु कृमिरोग नाशक है।

ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

सौवीरक (कांजी)—ग्रहणी-अर्शरोग नाशक भेदक (विरेचक) है ॥२१३॥

---

१ साहस पाँच प्रकार का है। यथा—मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥

२ शुक्त का लक्षण—

"यन्मस्त्वादिशुचौ भाण्डे सगुडचौद्रकांजिकम् ।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते ॥"

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।
स्पर्शात् पानात्तु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥
तैक्ष्ण्याच्च निर्हरेदाशु कफं गण्डूषधारणात् ।
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषक्लमापहम् ॥२१५॥
दीपनं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।
समुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥२१६॥
इति मद्यवर्गः ।

धान्याम्ल[3]—चूँकि धान्यों से बना है, इसलिये जीवन (प्राणधारक), दाहनाशक (स्पर्श द्वारा), पीने से-वायु-कफ एवं तृष्णा नाशक, लघु, तीक्ष्ण होने से कफ को शीघ्र बाहर निकालता है। मुख में कुल्ले के रूप में धारण करने से—मुख की विरसता, दुर्गन्धता को, मल को, शुष्कता को दूर करता है, थकान को मिटाता है, अग्निदीपक, पाचक, भेदी (मलभेदि), अस्थापन (निरूहण बस्तियों) में उपकारी है। समुद्र में रहकर जीवन व्यतीत करनेवाले (नाविकों) पुरुषों को 'सात्म्य' होता है ॥२१४-२१६॥ इति मद्यवर्गः ॥

अथ मूत्राणि ।

मूत्राणि गोमहिष्यजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातक्रिमिमेदोविषगुल्मार्शउदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

इसके आगे मूत्रक कहते हैं—

मूत्रों के सामान्य गुण—मूत्र आठ प्रकार के हैं। यथा—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट, के। ये मूत्र—उष्णवीर्य, कटु-तिक्त, लवण-अनुरस, लघु, संशोधक, कफ-वायु-कृमि-मेद-विष-गुल्म-अर्श—उदर-कुष्ठ-शोफ—अरोचक—पाण्डुरोग-नाशक, हृदय के लिये प्रिय और अग्निदीपक है।

वि० मन्तव्य—मूत्रप्राणी के शरीर का पित्तप्रधान द्रव है, अत एव पित्त का समानधर्मा है—दोनों के रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव समान हैं और कर्म भी समान हैं। मूत्र-वातजनित विकारों तथा कृमि आदि रोगों में विरेचनार्थ दिया जाता है। इसमें जो पीलापन होता है वह पित्त के मिश्रण का सूचक है, प्राणी जितना लवण खाता है उसका अधिकांश मूत्र में घुला रहता है। अतएव वह लवणानुरस होता है, कटु तिक्त आदि भक्ष्यों के रस भी मूत्र के साथ निकल जाते हैं। पित्त मिश्रित होने के कारण ही यह उष्ण, तीक्ष्ण एवं अग्निदीपक होता है ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत् सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।
शोधनं कफवातघ्नं क्रिमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥
अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।
पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

कहा भी है—

सब प्रकार के मूत्र—कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण लवण-अनुरस, लघु, स्रोतों के शोधक, कफ वायु-नाशक, कृमि-मेद विष अर्श-उदर-गुल्म-शोफ-अरोचक-पाण्डुरोग नाशक, विरेचक, हृदय के लिये प्रिय और अग्निदीपक एवं पाचक हैं ॥२१८-२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम् ।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफवातनुत् ॥२२०॥
शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गाय का मूत्र—(बैल का नहीं)—कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त होने से वायुकारक नहीं। लघु, अग्निदीपक, मेध्य (पवित्र), पित्तकारक, कफ—वायुनाशक, शूल, गुल्म, उदर, आनाह (आध्मान) नाशक, विरेचन एवं आस्थापन तथा जो रोग मूत्रप्रयोगसाध्य हैं, उनमें गाय का मूत्र प्रयोग करना चाहिये[1] ॥२२०,२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।
आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

---

१ गुडाम्बु का लक्षण—
"गुडाम्बुना सतैलेन सन्धानं काञ्जिकं तु यत् ।
कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥"

मधुशुक्त का लक्षण—
"जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीमूलसंयुतम् ।
मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत् ।
त्र्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥"

कई आचार्य—मधुशुक्त के स्थान पर मद्यशुक्त पढ़ते हैं।

मद्यशुक्त का लक्षण—
"सर्वं मद्यं पञ्चरसं (लवणवर्जं) कालान्तरवशाद्यदा ।
त्यक्त्वान्यरसमम्लत्वं याति शुक्तं तदुच्यते ॥"

२ तुषोदक—"तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः"

सौवीरक—
"सौवीरकं यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतम् ।
गोधूमैरपि सौवीरमाचार्य्याः केचिदूचिरे ॥"

३ धान्याम्ल—
"धान्याम्लं शालिचूर्णैश्च कोद्रवादिकृतं च यत् ॥"

१ गाय, भैंस, बकरी, भेड़ इनमें स्त्रीलिङ्ग का घोड़ा, गधा ऊँट, हाथी इनमें पुरुष जाति का मूत्र बरतना चाहिये।

भैंस का मूत्र (भैंसे का नहीं)—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, मेह, अविशुद्धि (वमन आदि की उचित प्रवृत्ति न होने) में, आनाह, शोफ, गुल्म, पाण्डुरोग में बरतना चाहिये ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।
कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र (बकरे का नहीं)—कासश्वासनाशक, शोफ, कामला, पाण्डुरोगनाशक, कटु-तिक्तरस, बकरी का मूत्र वायु को थोड़ा सा प्रकुपित करता है ॥२२३॥

कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोग्रहे हितम् ।
सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् ॥२२४॥

भेड़ का मूत्र (पुंल्लिंग का नहीं)—कास प्लीहा, उदर, श्वास, शोष (क्षय), वर्चग्रह (मलावरोध-मल का सूख जाना) में हितकारी, क्षारयुक्त, तिक्त-कटुरस, उष्णवीर्य, वातनाशक है॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।
आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिदद्रुषु शस्यते ॥२२५॥

घोड़े का मूत्र (घोड़ी का नहीं)—अग्निदीपक, कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, वायु एवं मानस रोगों को दूर करता है। कफनाशक, कृमि एवं दाद में घोड़े का मूत्र उत्तम है ॥२२५॥

सतिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।
तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हाथी का मूत्र (हथिनी का नहीं)—तिक्त, लवणरस, भेदि (विरेचक), वातनाशक, पित्तप्रकोपक, तीक्ष्णक्षार कार्य (जलाने) में; किलास (कुष्ठभेद) रोग में हाथी का मूत्र प्रयोग करना चाहिये ॥२२६॥

गरचेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणिरोगनुत् ।
दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् ॥२२७॥

गधे का मूत्र (गधी का नहीं]—गर (संयोगजन्यविष) एवं मानस रोगों का नाशक, तीक्ष्ण, ग्रहणीरोगनाशक, अग्निदीपक, कृमि, वात, कफ नाशक है ॥२२७॥

शोफकुष्ठोदरोन्मादमारुतकृमिनाशनम् ।
अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं मानुषं च विषापहम् ॥२२८॥

ऊँट का मूत्र (ऊँटनी का नहीं)-शोफ, कुष्ठ,उदर,उन्माद, वायु, कृमिरोग नाशक एवं अर्शरोग नाशक है। प्रसंगवश--मनुष्यमूत्र के गुण—मनुष्य का मूत्र विषनाशक है।

वि० मन्तव्य—नरमूत्र—सर्प विष की उत्तम औषध है। मात्रा-४-४ तोला कई बार १-१ घण्टा पर देने से विषवेग शान्त होने लगता है। दंशस्थल पर मूत्र का सेचन भी करना चाहिये। वृश्चिक एवं बर्रै (भिण्ड-भरिण्ड पञ्जाबी भाषा) के दंश पर भी सेचन से लाभ होता है ॥२२८॥

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितानि तु ।
देशकालविभागज्ञो नृपतेर्दातुमर्हति ॥२२९॥

देश-काल के विभाग को जाननेवाला वैद्य (कहे या न कहे) सम्पूर्ण द्रव (तरल) द्रव्यों को राजा के लिये विधान कर सकता है ॥२२९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे "अन्नपानविधि" नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥

धन्वन्तरिमभिवाद्य सुश्रुत उवाच—प्रागभिहितः 'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च, स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयिणः' द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयवृद्धी दोषाणां साम्यं च, ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः, आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च, तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यं, तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्यानेकविधविकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथग्द्रव्यरसगुणवीर्यविपाककर्माणीच्छामि ज्ञातुं, न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिषजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिग्रहणं च कर्तुं समर्थाः, आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यस्मात्तस्मादन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवानित्युक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः—अथ खलु वत्स सुश्रुत! यथाप्रश्नमुच्यमानमुपधारयस्व ॥३॥

धन्वन्तरि को नमस्कार करके सुश्रुत ने कहा—आपने पहिले कहा है कि–प्राणियों के बल एवं ओज का कारण आहार है। यह आहार छः रसों में आश्रित है। रस द्रव्य के आश्रित है; दोष-धातुओं का साम्य, क्षय एवं वृद्धि, द्रव्य, रस, गुण, वीर्य विपाक के कारण से होती है। ब्रह्म आदि लोकों[1] का भी आहार ही स्थिति (अवस्थान), उत्पत्ति, विनाश का कारण है। आहार से ही शरीर की वृद्धि बल एवं आरोग्य एवं वर्ण स्वच्छता तथा चक्षु आदि इन्द्रियों में निर्मलता (या पटुता) आती है। आहार की विषमता से ही अस्वास्थ्य उत्पन्न होता है। इस चार प्रकार (अशित, पीत, लीढ और खादित रूप) एवं बहुत प्रकार के पृथिवी आदि द्रव्यों से उत्पन्न

---

१ ब्रह्मादिलोक—ब्रह्मा का प्रथमलोक ब्रह्मलोक है—
"षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ॥"

होनेवाले तथा अनेक प्रकार के (मण्ड-पेया-विलेपी आदि) की संस्कारकल्पनावाले, नाना प्रकार की शक्तिवाले आहार के, पृथग्-पृथग् द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्मों को जानना चाहता हूँ। कारण—बिना स्वरूप को जाने वैद्य स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोग का निवारण नहीं कर सकते। चूंकि—सब प्राणी आहार के वश में हैं। इसलिये—हे भगवान्! आप अन्नपान विधि (कल्पना) का उपदेश मुझको करिये।

इस प्रकार कहने पर-भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को कहा कि हे वत्स! अपने प्रश्न का उत्तर ठीक प्रकार से सुनकर धारण करो ॥३॥

तत्र, लोहितशालिकलमकर्दमकपाण्डुकसुगन्धकशकुनाहृतपुष्पाण्डकपुण्डरीकमहाशालिशीतमीरुकरोध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहायनकदूषकमहादूषकप्रभृतयः शालयः ॥ ४ ॥

शालिवर्ग—लोहितक शालि (लाल चावल), कलम (कलवि), कर्दमक (कोंदा), पाण्डु (पीले तुष का, राम जवान), सुगंधक (देवशालि-बासमती), शकुनाहृत[1] (हंसराज), पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरु, रोध्रपुष्प, दीर्घशूक, कांचनक, महिषशूक, महाशूक, हायनक, दूषक, महादूषक आदि (यवक-नैषध आदि) शालि हेमन्त में पकनेवाले धान्य हैं[2] ॥४॥

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः।
पित्तघ्नाल्पानिलकफाः स्निग्धा बद्धाल्पवर्चसः ॥५॥

शालियों के सामान्य गुण मधुर, शीतवीर्य, लघुपाकी, बलकारक, पित्तनाशक, वायु-कफ को थोड़ा बढ़ाते हैं, स्निग्ध, मल को थोड़ा शुष्क (कम) करते हैं ॥५॥

तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः।
चक्षुष्यो वर्णबलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तृषापहः ॥६॥
व्रण्यो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविषापहः।

इन शालियों में लालशालि (लालमती) श्रेष्ठ, दोषनाशक, शुक्रल, मूत्रल, चक्षुष्य, वर्णकृत्, बलकारक, स्वर के लिये हितकारी, हृदय के लिये प्रिय, प्यासशामक, व्रण के लिये हितकारी ज्वरहर, सम्पूर्ण रोगों को तथा विष को दूर करता है ॥६॥

तस्मादल्पान्तरगुणा क्रमशः शालयोऽवराः ॥७॥

इन लाल शालि से अन्य शालि के गुणों में थोड़ा ही भेद है, अन्यशालि इस लालशालि से उत्तरोत्तर हीन गुणवाले हैं॥

षष्टिककाङ्गुकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलकासनपुष्पकमहाषष्टिकचूर्णककुरवककेदारप्रभृतयः षष्टिकाः ॥८॥

षष्टिक (साठी धान्य-ग्रीष्म ऋतु में पकनेवाले)—षष्टिक (श्वेत साठी), कंगु (कङ्गनी), मुकुन्दक-पीतकक्काकलक असन-पुष्पक-महाषष्टिक-चूर्णक-कुरवक-केदार आदि षष्टिक (साठी-धान्य) हैं-ये ग्रीष्म ऋतु में पकते हैं ॥८॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः।
शालीनां च गुणैस्तुल्या बृंहणाः कफशुक्रलाः ॥९॥

ये साठी धान्य—मधुररस, मधुरविपाक, वातपित्तशामक, शालिकों के समान गुणवाले, बृंहण (देहवर्धक), कफ एवं शुक्रवर्धक हैं ॥९॥

षष्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
मृदुः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नः स्थैर्यकृद्बलवर्धनः ॥१०॥
विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः।

इन साठी धान्यों में सफेद साठी श्रेष्ठ होते हैं, कषाय-अनुरस, लघु, मृदु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, स्थिरताकारक, बल-वर्धक मधुर-विपाक, संग्राही लाल धान्यों के समान गुण वाले हैं ॥१०॥

शेषास्त्वल्पान्तरास्तस्मात् षष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥११॥

शेष साठी धान्यों में श्वेत साठी के गुणों से थोड़ा ही भेद होता है, ये साठी-श्वेत साठी से गुणों में कुछ कम होते हैं॥

कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावाक्षकत्वरितककुक्कुटाण्डकपारावतकपाटलप्रभृतयो व्रीहयः ॥ १२ ॥

व्रीहि-धान्य (वर्षा ऋतु में पकनेवाले धान्य)—कृष्णव्रीहि (काले तुषवाले धान्य), शालामुख, जतुमुख, नन्दीमुख, लावाक्ष (बटेर की आँख के समान), त्वरित, कुक्कुटाण्डक, पारावतक, पाटन आदि (खञ्जरीट, खञ्जन क्षौमक) व्रीहिधान्य हैं ॥१२॥

कषायमधुराः पाकेऽमधुरा वीर्यतोऽहिमाः।
अल्पाभिष्यन्दिनस्तुल्याः षष्टिकैर्बद्धवर्चसः ॥१३॥

सामान्य गुण—कषाय, मधुररस, मधुरविपाक, शीतवीर्य, अल्प अभिष्यन्दि, मल को रोकनेवाले और साठी धान्यों के समान गुणवाले हैं (कुधान्यों से श्रेष्ठ हैं) ॥१३॥

कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां कषायानुरसो लघुः।
तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशो व्रीहयोऽपरे ॥१४॥

इन व्रीहिधान्यों में काले तुषवाले धान्य श्रेष्ठ हैं,

---

१ शकुनाहृत—
"द्वीपान्तरात् समानीतो गरुडेन महात्मना।
शकुनाहृतः सः शालिः स्यात् गरुडापरनामकः॥"

२ देश भेद से द्रव्य का नाम बदल जाता है। इसलिए शूक, शमी, कुधान्य इनको किसानों से पूछना चाहिये, जानवरों को शिकारियों से, पक्षियों को चिड़ीमारों से, कन्द-मूल-फलों को तपस्वियों से, शाकों को ग्राम्य एवं अरण्यवासियों से, कृतान्न (सिद्ध-अन्नों) को रसोइयों से, औषध द्रव्यों को अत्तारों से और जो कि औषध द्रव्य बाजार में नहीं मिलते, उनको बनवासियों से जानना चाहिये।

कषाय-अनुरस, लघु हैं। इस कृष्ण व्रीहि से अन्य व्रीहि धान्यों के गुणों में थोड़ा-सा ही भेद है—कृष्णव्रीहि से गुणों में कुछ कम है ॥१४॥

दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः ।
कषाया बद्धविण्मूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥१५॥

जली हुई भूमि में उत्पन्न शालि—लघुपाकी (शीघ्र जीर्ण होनेवाले), कषायरस, मलमूत्र को रोकनेवाले, रूक्ष, कफ को कम करनेवाले होते हैं ॥१५॥

स्थलजाः कफपित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः ।
किंचित्सतिक्तमधुराः पवनानलवर्धनाः ॥१६॥

स्थलजन्य (जांगल देश में उत्पन्न)—धान्य कफ-पित्तनाशक, कषायरस, कटु-अनुरस, कुछ तिक्त, मधुरविपाक, वायु-पित्त को बढ़ाते हैं ॥१६॥

कैदारा मधुरा वृष्या बल्याः पित्तनिबर्हणाः ।
ईषत्कषायाल्पमला गुरवः कफशुक्रलाः ॥१७॥

केदार (खेतों में—जलबहुल देश में उत्पन्न) धान्य—मधुर, शुक्रवर्धक, बलकारक, पित्तनाशक, थोड़ा कषाय रस, थोड़े मल कारक, गुरु कफ एवं शुक्रवर्धक हैं ॥१७॥

रोप्यातिरोप्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः ।
अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्धनाः ॥१८॥

जो धान्य एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाये जाते हैं, वे धान्य लघु, शीघ्र जीर्ण होनेवाले, गुणों में श्रेष्ठ, अदाहि, दोषनाशक, बलकारक और मूत्र को बढ़ानेवाले हैं ॥

शालयश्छिन्नरूढा ये रूक्षास्ते बद्धवर्चसः ।
तिक्ताः कषायाः पित्तघ्ना लघुपाकाः कफापहाः ॥१९॥

जो धान्य काटने के पीछे फिर चढ़ते हैं—ये धान्य रूक्ष एवं मल को रोकनेवाले हैं। तिक्त, कषायरस, पित्तनाशक, लघुपाकी और कफ नाशक हैं ॥१६॥

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हिताहितः ।
तद्वत् कुधान्यमुद्गादिमाषादीनां च वक्ष्यते ॥२०॥

इति शालिवर्गः ।

शालिवर्ग को हित-अहित रूप में विस्तार से यहाँ कह दिया है। इसी प्रकार (विस्तार से)—कुधान्य, मूङ्ग आदि तथा माष आदि को भी कहेंगे ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्गः ।

कोरदूषकश्यामाकनीवारशान्तनुवरकोद्दालकप्रियङ्गु-
मधूलिकानन्दीमुखीकुरुविन्दगवेधुकसरबरुकतोद-(य)-
पर्णिमुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः कुधान्यविशेषाः ॥२१॥

कुधान्य—कोरदूषक (कोदा), श्यामाक (सांवक-तीन प्रकार का है—श्यामक, उष्ट्रश्यामक, हस्तिश्यामक), नीवार (उड़िया-धान्य), शान्तनु, वरक (वरटिका), उद्दालक, प्रियंगु, मधूलिका, नान्दीमुखी, कुरुविन्द, गवेधुक, तोदपर्णी, मुकुंदक, वेणुयव आदि (झण्टी-घर्भुटी आदि) कुधान्यवर्ग हैं ॥२१॥

उष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः ।
श्लेष्मघ्ना बद्धनिष्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः ॥२२॥
कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः ।
कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः ॥२३॥

सामान्य गुण—उष्णवीर्य, कषायरस, मधुर, रूक्ष, कटु-विपाक, कफनाशक, मूत्र को रोकनेवाला, वातपित्तप्रकोपक हैं। इनमें कोद्रव नीवार-श्यामाक-शान्तनुकषाय, मधुररस, शीतवीर्य, पित्तनाशक हैं ॥२२,२३॥

कृष्णा रक्ताश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गवः ।
यथोत्तरं प्रधानाः स्यू रूक्षाः कफहराः स्मृताः ॥२४॥

काला, लाल, पीला, श्वेत, प्रियंगु—उत्तरोत्तर रूक्ष, कफ-हर आदि गुणों में श्रेष्ठ ॥२४॥

मधूली मधुरा शीता स्निग्धा नन्दीमुखी तथा ।

मधूलिका और नान्दीमुख—मधुर, शीतल, स्निग्ध होते हैं ॥

विशोषी तत्र भूयिष्ठं वरुकः समुकुन्दकः ॥२५॥

बरुक-मुकुन्दक—ये विशेषकर द्रव धातुओं को सुखाते हैं ॥

रूक्षा वेणुयवा ज्ञेया वीर्योष्णाः कटुपाकिनः ।
बद्धमूत्राः कफहराः कषाया वातकोपनाः ॥२६॥

वेणुयव (बाँस के जौ)—रूक्ष, उष्णवीर्य, कटु-विपाक, मूत्र को रोकनेवाला, कषायरस, कफनाशक, वातकोपक हैं ॥२६॥

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसतीन-
त्रिपुटकहरेण्वाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

शमी धान्य—मूङ्ग (हरे, पीले, काले, लाल), वनमुद्ग (वन में उत्पन्न मूङ्ग), कलाय (मटर), मकुष्ठक (मोठ), मसूर (दो प्रकार के हैं—काले और पाण्डुर), चणक (चने), सतीन (वर्त्तुलक-मटर) त्रिपुटक (स्वल्प), हरेणु, आढकी (अरहर) आदि की वैदल संज्ञा है,. वैदल—दो दलोंवाले हैं, दाल के काम में आते हैं ॥२७॥

कषायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्सराः ।
बद्धमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥
नात्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः ।
प्रधाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

मूङ्ग के गुण—कषाय-मधुररस, शीतवीर्य, विपाक में कटु, वायुकारक, मल-मूत्र को बाँधनेवाले, पित्तकफनाशक, एवं वायु को बहुत नहीं बढ़ाते, आँखों को स्वच्छ करते हैं। इन मूङ्गों में हरे मूङ्ग श्रेष्ठ हैं, वनमूङ्ग-मूङ्ग के समान गुणकारी हैं ॥२८,२९॥

विपाके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः ।

मसूर—मधुर विपाक, मल को रोकनेवाले हैं॥

मकुष्ठकाः क्रिमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मोठ—कृमि को उत्पन्न करते हैं, कलाय (मटर) वायु को बढ़ाते हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

अरहर—कफ-पित्तनाशक, वायु को थोड़ा प्रकुपित करती है॥

वातलाः शीतमधुराः सकषाया विरूक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

चने के गुण—वातनाशक, शीतवीर्य, मधुर, कषायरस, रूक्ष, कफनाशक, रक्त-पित्तनाशक, पुंस्त्व (पुरुषत्व)—नाशक हैं। चनों को यदि घी के साथ मिलाकर बरता जाये तो त्रिदोष-नाशक होते हैं ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्चसः ।

ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन—मल को रोकते हैं। मूँग और मसूर को छोड़कर सब वैदल (दालें) आध्मान (पेट में अफारा) उत्पन्न करते हैं, (मूङ्ग-मसूर थोड़ा आध्मान उत्पन्न करते हैं) ॥३३॥

माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः

स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः ।

संतर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

माष (उड़द)—गुरु, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाले, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य (शुक्रवर्धक), मधुर, वायुनाशक, सन्तर्पक, (तृप्ति-कारक), दुग्धवर्धक, खासकर बलवर्धक; शुक्रप्रवर्त्तक एवं कफ प्रवर्त्तक हैं ॥३४॥

कषायभावान्न पुरीषभेदी

न मूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

संतर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

राजमाष (अलसान्द्र)—कषायरस होने से—मल का विरेचक नहीं, मूत्रल भी नहीं, कफ को उत्पन्न नहीं करता, मधुरविपाक, मधुररस, सन्तर्पण (तृप्तिकारक), दुग्धवर्धक और रुचि कारक है। (कफहर होने से अवृष्य भी है) ॥३५॥

माषैः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आत्मगुप्ता (कौंच) और काकाण्डफल (शूक-शिम्बी) के गुण भी माष (उड़द) के समान हैं।

आरण्यमाषा गुणतः प्रदिष्टा

रूक्षाः कषाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

जङ्गली उड़द—रूक्ष, कषायरस और अविदाही होते हैं (अन्य उड़दों की अपेक्षा से) ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कषायः

कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः ।

शुक्राश्मरीगुल्मनिषूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहन्ता ॥३७॥

कुलत्थी—उष्णवीर्य, कषायरस, विपाक में कटु, कफ-वायुनाशक, शुक्र, अश्मरी गुल्मनाशक, संग्राही, पीनस एवं कासनाशक हैं ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिक्का—

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

वन कुलत्थी (चाकसू)—आनाह (अफारा), मेद, गुदकील (अर्श), हिचकी--श्वासरोग नाशक, रक्तपित्तकारक, कफनाशक अक्षिरोगों को खासकर नष्ट करती है ॥३८॥

ईषत्कषायो मधुरः सतिक्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः

स्निग्धो व्रणे लेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र—

स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च ।

तिल—कुछ कषाय-अनुरस, मधुर, ईषत् तिक्त, संग्राही, पित्तकारक, उष्ण, विपाक में मधुर, बलकारक, स्निग्ध, व्रण पर लेप करने के लिये हितकारी है। दान्तों के लिये हितकारी, अग्निजनक, मेधाजनक, मूत्र को थोड़ा बढ़ाता है, दूधवर्धक, बालों के लिये हितकारी, वायुनाशक और गुरु है ॥३९॥

तिलेषु सर्वेष्वसितप्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

तिलों में काले तिल सबसे अधिक श्रेष्ठ हैं, सफेद तिल मध्यम और अन्य (हरे, पीले, लाल) हीन गुणवाले हैं ॥४०॥

यवः कषायो मधुरो हिमश्च

कटुर्विपाके कफपित्तहारी ।

व्रणे तु पथ्यस्तिलवच्च नित्यं

प्रबद्धमूत्रो बहुवातवर्चाः ॥४१॥

स्थैर्याग्निमेधास्वरवर्णकृच्च

सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च ।

मेदोमरुत्तृड्हरणोऽतिरूक्षः

प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥४२॥

यव—जौ कषाय, मधुर, शीतवीर्य, विपाक में कटु, कफ-पित्तनाशक, व्रणरोग में लेपन के लिये पथ्य (वात, पित्त, कफ-जन्य व्रणों में तिल के समान पथ्य है), मूत्र को कम करनेवाला (इसीलिये प्रमेहरोगियों के लिये पथ्य), कुक्षिवात और मल को बढ़ाता है। स्थिरता (आयु की), अग्नि-मेधा-स्वर और वर्ण को बढ़ाता है। कुछ पिच्छिल है और स्थूल का कर्षण (पतला

करता है। मेद-वायु प्यास को (मेद से रुकी वायु को) नष्ट करता है, अत्यन्त रूक्ष है, स्रोतों का विशोधक है। रक्त-पित्त का प्रसादक है ॥४१,४२॥

एभिर्गुणैर्हीनतरैस्तु किंचि—
द्विद्याद्यवेभ्योऽतियवानशेषैः ।

अतियव—(बिना शूक के, काले, लाल जौ)-में भी यव के समान गुण हैं, परन्तु विशेषकर ये हीनगुण-निम्न श्रेणी के हैं॥

गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च
बल्यः स्थिरः शुक्ररुचिप्रदश्च ॥४३॥
स्निग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता
सन्धानकृच्छ्लेष्मकरः सरश्च ।

गोधूम (गेहूँ)—मधुर, गुरु, बलकारक, स्थिर (स्थिरता करनेवाली, आयुःस्थापक), शुक्रप्रद और रुचिप्रद हैं। अति स्निग्ध, अतिशीत; वायु-पित्त का नाशक; भग्नस्थान को जोड़ती है, कफवर्धक (नूतन—गेहूँ; एक साल पुरानी गेहूँ कफवर्धक नहीं), और सर (विरेचक) है ॥४३॥

रूक्षः कषायो विषशोषशुक्र—
बलासदृष्टिक्षयकृद्विदाही ॥४४॥
कटुर्विपाके मधुरस्तु शिम्बः
प्रभिन्नविण्मारुतपित्तलश्च ।

शिम्बी के सामान्यगुण—रूक्ष, कषायरस, विष, शोष, शुक्र; कफ, दृष्टि का क्षय करनेवाली, विदाही, विपाक में कटु, मधुर, वायु और मल का अवरोधक तथा पित्तकारक है[1]॥४४॥

सितासिताः पीतकरक्तवर्णा
भवन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्बाः ॥४५॥
यथादितस्ते गुणतः प्रधाना
ज्ञेयाः कटूष्णा रसपाकयोश्च ।

सित (श्वेत), असित (काले), पीतक (पीले) रक्त (लाल) रंग के जो अनेक प्रकार के शिम्बी (सेम) हैं, वे क्रमशः काले से श्वेत, पीले से काला, लाल से पीला गुणों में (रस, वीर्य, विपाक लक्षणों में) अधिक श्रेष्ठ होते हैं, कटुरस, उष्णवीर्य, एवं कटु विपाक है ॥४५॥

सहाद्वयं मूलकजाश्च शिम्बाः
कुशिम्बिवल्लीप्रभवास्तु शिम्बाः ॥४६॥
ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च
बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च ।

दोनों सहा (मुद्गपर्णी, मासपर्णी), मूलकजन्य शिम्बी कौंच की लता से उत्पन्न कच्चे बीज, ऊपर पके बीजों का गुण हैं, अथवा मूलकशिम्बी), वल्लीशिम्बी (शूकशिम्बी), मधुररस, मधुरविपाक, बलवर्धक और पित्तनाशक हैं ॥४६॥

१ शिम्बी—दाने मटर का दाना आदि।

विदाहवन्तश्च भृशं विरूक्षा
विष्टभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ॥४७॥
रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च
सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिम्बाः ।

वैदलिक (मूङ्ग से लेकर मटर तक के शिम्बी), विदाहवान् (अम्लपाकी), अत्यन्त रूक्ष, पेट में गुड़गुड़ाहट उत्पन्न करके जीर्ण होते हैं, वायुकारक, रुचिप्रद, कठिनाई से पचते हैं॥४७॥

कटुर्विपाके कटुकः कफघ्नो
विदाहिभावादहितः कुसुम्भः ॥४८॥

कुसुम्भ (धनिया)—कटुरस, कटुविपाक, कफनाशक अम्लपाकी होने से अहितकारी है ॥४८॥

उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी
पित्तोल्बणा स्यात् कटुका विपाके ।

अतसी (अलसी)—उष्णवीर्य, मधुररस, वायुनाशक, पित्तवर्धक, विपाक में कटु है।

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः
सिद्धार्थकः शोणितपित्तकोपी ॥४९॥
तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न—
स्तथागुणश्चासितसर्षपोऽपि ।

सिद्धार्थक (सरसों)—कटुरस, कटुविपाक, रक्त-पित्तप्रकोपक, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कफ-वायु-नाशक है। काली सरसों के गुण भी श्वेत सरसों के समान हैं ॥४९॥

अनार्तवं व्याधिहतमपर्यागतमेव च ।
अभूमिजं नवं चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥५०॥

त्याज्य धान्य—अनार्त्तव (अन्य ऋतु में उत्पन्न), व्याधिहत (कुंकुम आदि कनसुवा, कुंभी आदि रोग लगने पर), अपर्यागत (अपक्व), अभूमिजन्य (ऊसर, पत्थरवाली, विषयुक्त भूमि में उत्पन्न), नव (नया) जो एक साल पुराना न हो वह धान्य (शूक, शमी धान्य) गुणवाला नहीं है ॥५०॥

नवं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोषितम् ।

नये धान्य (शूक-शिम्बी)—अभिष्यन्दि होते हैं और एक साल से ऊपर दूसरे वर्ष तक ही धान्य लघु (गुणकारी) रहता है, इसके आगे वीर्य रहित हो जाता है[1]।

विदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम् ॥५१॥

विरूढ़ (अंकुरित) धान्य—विदाहि, गुरु, विष्टम्भि (गुड़ गुड़ शब्द के साथ जीर्ण होते हैं), और आँखों को दूषित करते हैं ॥५१॥

शाल्यादेः सर्षपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः ।
कालप्रमाणसंस्कारमात्राः संपरिकीर्तिताः ॥५२॥

इति कुधान्यवर्गः ।

१ कहा भी है—
"वर्षोषितं सर्वधान्यं परित्यजति गौरवम् ।
न तु त्यजति तद्वीर्यं क्रमशो विजहाति तत् ॥"

शालि से लेकर सरसों तक नाना प्रकार के आहार द्रव्यों को काल-प्रमाण (एक साल पुराना) संस्कार (व्रीहि गुरु होने पर संस्कार—पाकविशेष से ताजा रूप हल्के, लघु[१] हो जाते हैं), मात्रा-(अग्निबल की अपेक्षा करती है, तीन प्रकार की है, हीन, मध्य और उत्तम) भेद से कह दिया है।

वि० मन्तव्य—शूक धान्य-जिन पर शूक (छोटा या बड़ा शूक)—तीखा तूड़ होता है, यथा सब प्रकार के चावल तथा गेहूँ जौ आदि, शिम्बी धान्य-जो फली के भीतर होते हैं, जैसे माष, मूंग आदि, इनको "शमी धान्य" कहते हैं। शालि वे हैं जो जलप्लावन चाहते हैं या जिनको अधिक जल की आवश्यकता होती है। षष्टिक धान्य-जो बोने पर ६० दिन में पक जाते हैं। जैसे मक्का जुनरी आदि। कुधान्य-कुत्सित या निम्न-श्रेणी के धान्य या तृण धान्य-घास के रूप में उत्पन्न धान्य, यथा-कोदों सामा आदि। वैदलधान्य-जिनके बीज में दो दाल होते हैं। इन्हीं का नाम शिम्बी धान्य है। धान्य का अर्थ है-धाने पोषणे साधुः। (पोषण)—शरीर पोषण में साधक। खाद्य या भोजनोपयोगी औषध बीज ॥५२॥

अथ मांसवर्गः।

अत उर्ध्वं मांसवर्गानुपदेक्ष्यामः, तद्यथा—जलेशया आनूपाः, ग्राम्याः, क्रव्यभुजः, एकशफाः, जाङ्गलाश्चेति षण्मांसवर्गा भवन्ति। एतेषां वर्गाणामुत्तरोत्तरा प्रधानतमाः। ते पुनर्द्विविधा जाङ्गला आनूपाश्चेति। तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः तद्यथा-जङ्घालाः, विष्किराः, प्रतुदाः, गुहाशयाः, प्रसहाः, पर्णमृगाः, बिलेशयाः, ग्राम्याश्चेति। तेषां जङ्घालविष्किरौ प्रधानतमौ ॥५३॥

इसके आगे मांस वर्ग को कहते हैं—

यथा—मांसवर्ग छै भागों में विभक्त है—जलेशय (जल में रहनेवाले), आनूप (जलबहुल प्रदेश में रहनेवाले, महिष आदि), ग्राम्य (गाय आदि), क्रव्यभुज (मांस खानेवाले, गुहाशय और प्रसह); एक शफवाले (घोड़े आदि) और जाङ्गल (जंघाल, विष्किर, प्रतुद, पर्ण मृग, बिलेशय) ये छः भेद हैं। इन वर्गों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। छै प्रकार के होने पर भी स्थानभेद से दो प्रकार के हैं-जांगल और आनूप। यह जांगल-वर्ग आठ प्रकार का है। यथा-जंघाल, विष्किर, प्रतुद, गुहाशय, प्रसह, पर्णमृग, बिलेशय और ग्राम्य। इनमें जंघाल और विष्किर श्रेष्ठ हैं ॥५३॥

तत्रैणहरिणर्क्षकुरङ्गकरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रापृषतचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्घाला मृगाः कषाया मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्ष्णा हृद्या बस्तिशोधनाश्च ॥५४॥

इनमें जंघाल—(प्रशस्त जंघावाले)—एण (काला) हरिण (श्वेत हरिण), ऋक्ष (नीलाण्ड), कुरङ्ग (चतुरङ्ग), कराल (कस्तूरा) कृतमाल (समूह में रहने वाले मृग), शरभ (ऊँट के समान, बड़े सींगों का); श्वदंष्ट्रा (चतुर्दंष्ट्र), पृषत (चित्तल) चारुष्कर (चारु शरीर), मृगमातृका (मोटे पेटवाली) आदि जंघाल मृग हैं। गुण—कषाय, मधुर, वात पित्तनाशक, तीक्ष्ण, हृदय के प्रिय, वस्ति (मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में पथ्य, मूत्रविरेचक हैं) ॥५४॥

कषयामधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा।
संग्राही रोचनो बल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥५५॥

एण मृग—कषायरस, मधुरवीर्य, हृदय के लिये प्रिय, पित्त-रक्त-कफरोग-नाशक, संग्राही, रोचक, बलकारक, एवं ज्वरनाशक है ॥५५॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः।
शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥

कृष्ण हरिण—मधुररस, मधुर विपाक, दोषनाशक, अग्निदीपक है। सुगन्ध हरिण—शीतल, मल-मूत्र का अवरोधक (इसलिये अतिसार एवं प्रमेही रोगियों के लिये पथ्य) और लघु है ॥५६॥

एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते।
यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥

एण और हरिण में भेद—काले मृग को एण कहते हैं, ताम्रवर्ण को हरिण कहते हैं। और जो न काला एवं न ताम्र वर्ण होता है उसे कुरङ्ग कहते हैं ॥५७॥

शीताऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्कारुचिप्रणुत् ॥५८॥

मृगमातृका—शीतवीर्य, रक्त-पित्तशामक, सन्निपात, क्षय, श्वास, कास, हिचकी एवं अरुचिनाशक है ॥५८॥

लावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकावर्तकनप्तृकावार्तीकचकोरकलविङ्कमयूरक्रकरोपचक्रकुक्कुटसारङ्गशतपत्रकुतित्तिरिकुरुवाहकयवालकप्रभृतयस्त्र्याहला[१] विष्किराः ॥५९
लघवः शीतमधुराः कषायाः दोषनाशनाः।

विष्किर (विखेरकर खानेवाले)—लाव (बटेर), तित्तिरि (तीतर), कपिञ्जल (गौर तित्तिर), वर्तीर (कपिंजल), वर्तिका (वर्त्तीर से बड़ा), वर्त्तक, नप्तृका (घुग्घू), वर्तीक (वर्त्तिचटक), चकोर, कलविंक (काला चटक), मयूर, क्रकर (कयार), उपचक्र (चक्रवाक), कुक्कुट, सारङ्ग (चातक), शतपत्रक (करफोड़ा), कुतित्तिरि, कुरुवाहक (कुरुरुक), यवालक (यवगुड़क), आदि

१ लघुपाकी का लक्षण—
"लघु पथ्यतमं प्रोक्तं गुर्वपथ्यतमं स्मृतम्।
पाकं गच्छति यच्छीघ्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम् ॥"

१ त्र्याहला का अर्थ—चञ्चु और दोनों पञ्जों से चोट करके खाते हैं, इसलिये त्र्याहला कहते हैं।

तीन नखों वाले हैं, ये तीन नखों से भूमि को कुरेदते हैं। इनके गुण लघु, शीतवीर्य, मधुरकषाय और दोषशामक हैं ॥५६॥

संग्राही दीपनश्चैव कषायमधुरो लघुः।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते तु पूजितः ॥ ६० ॥

लाव (बटेर) संग्राहि, अग्निदीपक, कषाय, मधुररस, लघु, विपाक में कटु और सन्निपात रोग में उत्तम है[1] ॥६०॥

ईषद्गुरूष्णमधुरो वृष्यो मेधाग्निवर्धनः।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥ ६१ ॥

तीतर के गुण—ईषद्गुरु, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधा एवं अग्नि का वर्धक, सर्वदोषनाषक, संग्राही, वर्ण को स्वच्छ करता है ॥ ६१ ॥

रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः।
कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥ ६२ ॥

कपिञ्जल—रक्त-पित्तनाशक, शीतल और लघु है। कफ-जन्य रोगों में तथा वायु के मन्द (Dull) होने में श्रेष्ठ हैं ॥

हिक्काश्वासानिलहरो विशेषाद् गौरतित्तिरिः।
वातपित्तहरा वृष्या मेधाग्निबलवर्धनाः ॥ ६३ ॥
लघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः।

क्रकर (केकरा)—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल), मेधा-अग्नि-बलवर्धक लघु एवं हृदय के लिये प्रिय है। उपचक्र के गुण भी क्रकर के समान हैं ॥ ६३ ॥

कषायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ हितः ॥६४॥
मयूरः स्वरमेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत्।
स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः ॥ ६५ ॥

मोर के गुण—कषाय, मधुर, लवण, त्वचा एवं केशों के लिए हितकारी, अरुचि में प्रशस्त, स्वर, मेधा, अग्नि, आँख, कर्णेन्द्रिय को दृढ (मजबूत) करता है, उष्णवीर्य, वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धन), स्वेद, स्वर, बलदायक है ॥ ६४,६५ ॥

बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद्ग्राम्यो गुरुस्तु सः।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥ ६६ ॥

कुक्कुट—वन का कुक्कुट बृंहण (देहवर्धक) गुरु है, ग्राम्य कुक्कुट—बृंहण एवं अधिक गुरु है। वायुरोग क्षय, वमन, विषमज्वर कों नष्ट करता है ॥ ६६ ॥

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिकुलिङ्गगृहकुलिङ्ग-गोक्ष्वेडकडिण्डिमाणवकशतपत्रकमातृनिन्दकभेदाशिशुक-सारिकावल्गुलीगिरिशालट्वान्नदूषकसुगृहाखञ्जरीटहा-रीतदात्यूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥ ६७ ॥

प्रतुद—कपोत (जङ्गली कबूतर), पारावत (घर में पले कबूतर), भृङ्गराज (भंवरा), परभृत (कोयल), कोयष्टिक (कौयंग), कुलिङ्ग (जङ्गली चटक), गोक्ष्वेड (गोनर्द), गृहकुलिङ्ग (घर की चटक), डिण्डिमाणवक, शतपत्रक (राज-शुक), मातृनिन्दक (पुत्रज्ञक), मेदाशी (पुन्नाशी), शुक (तोता), सारिका (मैना), वल्गुली (गुदलिका), गिरीश (गिरिवर्तिका), लट्वा (लाट), अन्नदूषक, सुग्रहा (पीत-मस्तक), खंजरीट (सित-असित वर्ण), हारीत, दात्यूह (कालकण्टक) आदि प्रतुद हैं ॥६७॥

कषायमधुरा रूक्षाः फलाहारा मरुत्कराः।
पित्तश्लेष्महराः शीता बद्धमूत्राल्पवर्चसः ॥ ६८ ॥

इसके सामान्यगुण—कषाय, मधुर, रूक्ष, फल को खानेवाले वायु को उत्पन्न करते हैं, पित्त-कफनाशक, शीतवीर्य, मूत्र को कम करनेवाले और मल को रोकनेवाले हैं ॥ ६८ ॥

सर्वदोषकरस्तेषां भेदाशी मलदूषकः।

भेदाशी—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है, वातादिदोष जनक, मूत्रादि-मल-दूषक हैं।

कषायस्वादुलवणो गुरुः काणकपोतकः ॥ ६९ ॥

काण कपोत—(बनवासी कबूतर) कषाय, स्वादु, लवग-रस और गुरु है ॥ ६९ ॥

रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च।
विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥ ७० ॥

पारावत—रक्त-पित्तनाशक, कषायरस, विशद (पिच्छिल के विपरीत), विपाक में मधुर और गुरु है ॥ ७० ॥

कुलिङ्गो मधुरः स्निग्धः कफशुक्रविवर्धनः।
रक्तपित्तहरो वेश्मकुलिङ्गस्त्वतिशुक्रलः ॥ ७१ ॥

कुलिंग—मधुर, स्निग्ध, कफ शुक्रवर्धक, रक्त-पित्तनाशक है; घर का कुलिंग—अतिशय शुक्र को बढ़ाता है ॥ ७१ ॥

सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगेर्वारुकप्र-भृतयो गुहाशयाः ॥ ७२ ॥

गुहाशय (गुफा में रहनेवाले)–सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), तरक्षु, ऋक्ष, द्वीपी, मार्जार, शृगाल, मृग, एर्वारुक आदि—पर्वत की गुहाओं में रहते हैं ॥ ७२ ॥

मधुरा गुरवः स्निग्धाः बल्या मारुतनाशनाः।
उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम् ॥ ७३ ॥

इनके सामान्य गुण—मधुर, गुरु, स्निग्ध, बलकारक, वायुनाशक, उष्णवीर्य, नेत्ररोगी एवं गुह्यप्रदेश (शिश्नादि में उत्पन्न रोग) के रोगियों के लिये सदा हितकारी हैं ॥ ७३ ॥

काककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्र-प्रभृतयः प्रसहाः ॥ ७४ ॥

---

[1] बटेर के चार भेद—
'गौरिकः पांसुलश्चैव पौण्ड्रको दर्भरस्तथा।
लावश्चतुर्विधः प्रोक्तः तित्तिरो द्विविधः स्मृतः ॥"
गौर तीतर—हिचकी, श्वास, वायु का नाशक है।

[1] कंक—कङ्कः स्यात् कंकमल्लाख्यो बाणपत्रार्हपक्षकः।
लोहपृष्ठो दीर्घपादः पक्षाषः पाण्डुवर्णभाक् ॥"

प्रसह—काक (कौवा), कङ्क[1] (दीर्घचंचु), कुरर (कुरल), चाक, भास, शशघाती[1], उलूक, चिल्लि, श्येन (बाज), गीध आदि पक्षी, झपटकर (छीनकर) खाते हैं' इसलिये प्रसह हैं ॥

एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः।
रसवीर्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः ॥ ७५ ॥

इनके सामान्य गुण–ये कौवे आदि सब पक्षी गुणों में रस, वीर्य, विपाक में सिंह आदि के समान हैं। विशेषकर राजयक्ष्मा रोगी के लिये हितकारी हैं ॥ ७५ ॥

मद्गुमूषिकवृक्षशायिकावकुशपूतिघासवानरप्रभृतयः पर्णमृगाः ॥ ७६ ॥

पर्णमृग-मद्गु (वृक्षचर सर्प), मूषिक, वृक्षशायिका (गिलहरी), अवकुश (गोलांगूल), पूतिघास (खाटाश), वानर आदि वृक्षों पर रहने से पर्णमृग हैं ॥ ७६ ॥

मधुरा गुरवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च कासार्शःश्वासनाशनाः ॥ ७७ ॥

सामान्य गुण—मधुर, गुरु, वृष्य (शुक्रवर्धक), नेत्ररोग के लिये हितकारी, राजयक्ष्मा रोगी के लिये उत्तम, मल-मूत्र के प्रवर्त्तक, कास, अर्श, श्वास नाशक हैं ॥ ७७ ॥

श्वाविच्छल्यकगोधाशशवृषदंशलोपाकलोमशकर्णकदली-मृगप्रियकाजगरसर्पमूषिकनकुलमहाबभ्रुप्रभृतयो बिलेशयाः।

बिलेशय–श्वावित् (सूई के समान बालोंवाला) शल्लकी, गोधा (गोह), शश (शशक), वृषदंश (गाँव की बिल्ली), लोपाक (शृगाल भेद लोमड़ी), लोमशकर्ण (बड़े बिल्ले के समान), कदलीमृग, अजगर (सर्प), सर्प (सांप दर्वीकर), मूषिक, (चूहा), नकुल (नेवला), महाबभ्रु (बड़ा नकुल), आदि जानवर बिलों में रहने से बिलेशय हैं ॥ ७८ ॥

---

१ शशघ्नी—Golden Eagle—

यह पक्षी हिमालय, उत्तर एशिया और यूरोप में होता है। इस पक्षी में यह खास बात है कि शिकार में नर और मादा एक दूसरे की मदद करते हैं। यह पक्षी एक पत्नीव्रत वाला होता है। खरगोश और इनके बच्चे दिन भर बिल में रहा करते हैं। इन को बिल में से बाहर निकालने के लिये यह खास युक्ति करता है। यह युक्ति इस पक्षी की, किसी भी अनुभवी एवं होशियार शिकारी से कम नहीं होती है। अर्थात् नर और मादा में से कोई एक पक्षी बिल के पास छिपकर बैठ जाता है, और फिर दूसरा पक्षी झाड़ियों में जाकर तेज आवाज से सीटी सी बजाता है, साथ में इतनी गड़बड़ और तूफान मचाता है कि खरगोश और उसके बच्चे घबरा के बाहर निकलकर भागने के लिये बाधित होते हैं। और ज्यों ही खरगोश बाहर निकलता है, त्यों ही निगरानी रखनेवाला पक्षी इन पर झपट पड़ता है, और इनको पकड़ लेता है।

क्योंकि इस पक्षी का मुख्य आहार खरगोश है, इसलिये इसको शशघ्नी, शशघाती—ये नाम दिये गये हैं।

वर्चोमूत्रं संहतं कुर्युरेते
वीर्ये चोष्णाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः।
वातं हन्युः श्लेष्मपित्तं च कुर्युः
स्निग्धाः कासश्वासकार्श्यापहाश्च ॥७९॥

इसके समान्य गुण–मल और मूत्र को बद्ध करते हैं, उष्णवीर्य, मधुरविपाक, वातनाशक, कफ पित्त को करनेवाले, स्निग्ध, कास, श्वास, कृशता को मिटाते हैं ॥ ७९ ॥

कषायमधुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः।
नातिशीतलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥ ८० ॥

इसमें शशक–कषाय मधुररस, पित्तनाशक, न तो वायु को करता है, और न वायु का शमन करता है, (मधुर होने से वातशमक है और शीतल होने से वायुकारक नहीं, इसलिये साधारण है) ॥ ८० ॥

गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका स्मृता।
वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बलवर्धनी ॥ ८१ ॥

गोधा–मधुरविपाक (कषाय-कटुरस), वातपित्तशामक, बृंहण (देहवर्धक), बलवर्धक है ॥ ८१ ॥

शल्यकः स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विषापहः।
प्रियको मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥ ८२ ॥

शल्यक–मधुर, पित्तनाशक, लघु, शीतल, विषनाशक है। प्रियक–वायुरोग में पथ्य है। अजगर–अर्शरोगियों के लिये हितकारी है ॥ ८२ ॥

दुर्नामानिलदोषघ्नाः क्रिमिदूषीविषापहाः।
चक्षुष्या मधुराः पाके सर्पा मेधाग्निवर्धनाः ॥८३॥

सांप—दुर्नाम (अर्श) वायु-नाशक, क्रिमि एवं दूषीविष को दूर करते हैं, आँखों के लिये हितकारी, मधुर-विपाक, मेधा-अग्निवर्धक है ॥ ८३ ॥

दर्वीकरा दीपकाश्च तेषूक्ताः कटुपाकिनः।
मधुराश्चातिचक्षुष्याः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥ ८४ ॥

इन साँपों में दर्वीकर (दर्वी जैसे फणावाले), और दीपक (राजीमन्त) कटुपाकी हैं, मधुर, आँखों के लिये अति हितकारी, मल-मूत्र एवं वायु के प्रवर्तक हैं ॥ ८४ ॥

अश्वाश्वतरगोखरोष्ट्रबस्तोरभ्रमेदःपुच्छकप्रभृतयो ग्राम्याः ८

ग्राम्य–अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गाय, खर (गधा), ऊँट, बस्त (बकरा), उरभ्र (मेढ़ा), मेदःपुच्छ (दुम्बा) आदि ग्रामों में रहने से ग्राम्य हैं ॥ ८५ ॥

ग्राम्या वातहराः सर्वे बृंहणाः कफपित्तलाः।
मधुरा रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्धनाः ॥ ८६ ॥

इनके सामान्य गुण—ग्राम्य पशु वातनाशक, बृंहण (शरीर वर्धक) कफ-पित्त को करते हैं। मधुररस मधुरविपाक अग्निदीपक और बलवर्धक हैं ॥८६॥

नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥८७॥

बकरी (छागल)—ईष, शीतल, गुरु, स्निग्ध अल्पपित्त, अल्प कफकारक (अल्प स्नेह और अल्प गुरुता होने से अल्प-कफकारक, उष्णता का सम्पर्क होने से तथा अल्प शीतल होने से अल्प पित्त), अनभिष्यन्दि, (दोष, धातु, मलों को थोड़ा उत्तेजित करती है) तथा पीनसरोगनाशक है ॥८७॥

बृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मापहं गुरु ।

औरभ्र मांस का गुण—बृंहण (देहवर्धक) पित्तकफनाशक, गुरु है।

मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्रसदृशं गुणैः ॥८८॥

मेद-पुच्छ (दुम्बा)—वृष्य (शुक्रल) तथा उरभ्र के समान गुणवाला है ॥८८॥

श्वासकासप्रतिश्यायविषमज्वरनाशनम् ।

श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥८९॥

गव्य (गाय) मांस का गुण—श्वास, कास, प्रतिश्याय, ज्वरनाशक, श्रम एवं अल्पाग्नि के लिये हितकारी, पवित्र, वायुनाशक है ॥८९॥

औरभ्रवत्सलवणं मांसमेकशफोद्भवम् ।

एक शफ (खुरवाले घोड़े आदि) का मांस उरभ्र के समान गुणकारी, थोड़ा नमक युक्त होता है ।

अल्पाभिष्यन्द्ययं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥९०॥

दूरे जनान्तनिलया दूरे पानीयगोचराः ।

ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥

अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः ।

ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥९२॥

यह जाङ्गल वर्ग थोड़ा अभिष्यन्दी है । जो मृग और पक्षी मनुष्यों के समीपवर्ती स्थान से दूर रहते हैं, तथा पानी के स्थान से दूर रहते हैं, वे अल्प अभिष्यन्दी होते हैं (उच्छिष्ट-अभिष्यन्दि भोजनों के न मिलने से दोषकोपक नहीं होते)। जो मृग-पक्षी घरों के बहुत समीप रहते हैं, या जो पानी के बहुत समीप रहते हैं, वे बहुत ही अभिष्यन्दी दोषप्रकोपक होते हैं ॥९०-९२॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधः । तद्यथा—कूलचराः, प्लवाः, कोषस्थाः, पादिनो, मत्स्याश्चेति ॥९३॥

आनूपवर्ग (जल बहुल प्रदेश का) पाँच प्रकार का है। यथा—कूलचर (किनारों पर चरनेवाले), प्लव (तैरनेवाले), कोषस्थ (शङ्खादि सम्पुट में रहनेवाले), पादी (पाँववाले) और मछलियाँ ॥९३॥

तत्र गजगवयमहिषरुरुचमरसृमररोहितवराहखड्गिगोकर्णकालपुच्छकोद्रन्यङ्क्वरण्यगवयप्रभृतयः कूलचराः पशवः ॥९४॥

इनमें कूलचर—गज (हाथी), गवय, महिष (भैंसे), रुरु, चमर, सृमर (महाशूकर) रोहित, वराह, खड्गी (गैंडा), गोकर्ण, कालपुच्छक, ओन्दुर (ऊदबिलाव), न्यंकु (मृग), अरण्यगवय (वन्य गौ) आदि कूल—पानी के किनारे चरनेवाले पशु हैं ॥

वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः ।

शीतला बलिनः स्निग्धाः मूत्रलाः कफवर्धनाः ॥९५॥

इनके सामान्यगुण—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल) मधुररस, मधुरविपाक, शीतल, बलकारक, स्निग्ध, मूत्रल और कफवर्धक हैं ॥९५॥

विरूक्षणो लेखनश्च वीर्योष्णः पित्तदूषणः ।

स्वाद्वम्ललवणस्तेषां गजः श्लेष्मानिलापहः ॥९६॥

गज (हाथी)—रूक्ष, लेखन, उष्णवीर्य, पित्तप्रकोपक, स्वादु, अम्ल, लवणरस, कफवायुनाशक हैं ॥९६॥

गवयस्य तु मांसं हि स्निग्धं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुरं चापि व्यवायस्य तु वर्धनम् ॥९७॥

गवय का मांस, स्निग्ध मधुररस, कासनाशक, मधुरविपाक और मैथुन शक्ति को बढ़ाता है ॥९७॥

स्निग्धोष्णमधुरो वृष्यो महिषस्तर्पणो गुरुः ।

निद्रापुंस्त्वबलस्तन्यवर्धनो मांसदार्ढ्यकृत् ॥९८॥

भैंस का मांस—स्निग्ध, उष्ण, मधुर, वृष्य (शुक्रल) तर्पण (तृप्तिकारक), गुरु, निद्रा, पुंस्त्व (पुरुषत्व), बल और दूध को बढ़ाता है, मांस को दृढ़ करता है ॥९८॥

रुरोर्मांसं समधुरं कषायानुरसं स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥९९॥

तथा चमरमांसं तु स्निग्धं मधुरकासजित् ।

विपाके मधुरं चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥१००॥

सृमरस्य तु मांसं च कषायानुरसं स्मृतम् ।

वातपित्तोपशमनं गुरु शुक्रविवर्धनम् ॥१०१॥

रुरु का मांस—मधुररस, कषाय अनुरस, वातपित्तशामक, गुरु, शुक्रवर्धक है। चमर का मांस स्निग्ध, मधुररस, कासनाशक, मधुरविपाक, वात-पित्तनाशक है। शुक्रवर्धक है ॥

स्वेदनं बृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरुः ।

श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्धनम् ॥१०२॥

वराह (सूअर) का मांस—स्वेदक, बृंहण, वृष्य, शीतल, तर्पण (तृप्तिकारक), गुरु, स्निग्ध, श्रम-वायुनाशक और बलवर्धक है ॥१०२॥

कफघ्नं खड्गिपिशितं कषायमनिलापहम् ।

पित्र्यं पवित्रमायुष्यं बद्धमूत्रं विरूक्षणम् ॥१०३॥

खड्ग (गैंडे) का मांस—कफनाशक, कषायरस, वायुनाशक, पितरों के लिये हितकारी, पवित्र, आयुवर्धक, मूत्र को रोकनेवाला और रूक्ष है ॥१०३॥

गोकर्णमांसं मधुरं स्निग्धं मृदु कफावहम् ।
विपाके मधुरं चापि रक्तपित्तविनाशनम् ॥१०४॥

गोकर्ण का मांस—मधुर, स्निग्ध मृदु, कफनाशक, मधुर-विपाक, रक्तपित्तनाशक है ॥१०४॥

हंससारसक्रौञ्चचक्रवाककुररकादम्बकारण्डवजीवञ्जीवकवकबलाकापुण्डरीकप्लवशरारीमुखनन्दीमुखमद्गूत्क्रोशकाचाक्षमल्लिकाक्षशुक्लाक्षपुष्करशायिकाकोनालकाम्बु-कुक्कुटिकामेघरावश्वेतवारलप्रभृतयः प्लवाः संघातचारिणः।

प्लव (तैरनेवाले) पक्षी—हंस, सारस, क्रौंच, चक्रवाक (चकवा), कुरर, कादम्ब (कलहंस), कारण्डव; जीवञ्जीव, बक, बलाका, पुण्डरीक, प्लव, शरारीमुख, नन्दीमुख, मद्गु (जल-कौवा), उत्क्रोश, काचाक्ष, मल्लिकाक्ष, शुक्लाक्ष, पुष्करशायिका, कोनालक, अम्बुकुक्कुटिका (जलकुक्कुटी), मेघराव (चातक) श्वेतवारल आदि तैरनेवाले पक्षी हैं, ये इकट्ठे रहते हैं ॥१०५॥

रक्तपित्तहराः शीताः स्निग्धा वृष्या मरुज्जिताः ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च मधुरा रसपाकयोः ॥१०६॥

इनके सामान्यगुण—रक्त-पित्तनाशक, शीतल, स्निग्ध, वृष्य (शुक्रवर्धक), वायुनाशक, मलमूत्र के प्रवर्त्तक, मधुररस मधुर विपाक हैं ॥१०६॥

गुरूष्णमधुरः स्निग्धः स्वरवर्णबलप्रदः ।
बृंहणः शुक्रलस्तेषां हंसो वातविकारकृत् ॥१०७॥

हंस के गुण, उष्णवीर्य, मधुररस, स्निग्ध, स्वरवर्ण-बल-प्रद बृंहण (देहवर्धक), शुक्रवर्धक, वायुविकारनाशक है ॥१०७॥

शङ्खशङ्खनखशुक्तिशम्बूकभल्लूकप्रभृतयः कोशस्थाः ॥

कोशस्थ (शङ्ख आदि में रहनेवाले)—शङ्ख, शङ्खनख, (क्षुद्रशङ्ख), शुक्ति (सीप), शम्बूक (आवर्त्तकोश), भल्लूक (आदि शम्बूक, वोडिक) कोशस्थ हैं ॥१०८॥

कूर्मकुम्भीरश्वेतकर्कटकृष्णकर्कटकशिशुमारप्रभृतयः पादिनः॥

पादी (पाँववाले)—कूर्म (कच्छुआ), कुम्भीर (घड़ियाल), श्वेत कर्कटक, कृष्ण कर्कटक (केंकडा), शिशुमार पाँववाले (गुहामच्छ) हैं ॥१०९॥

शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः ।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥

शङ्ख एवं कूर्मादि—मधुररस, मधुरविपाक, वायुनाशक, शीतवीर्य, स्निग्ध, पित्तरोग में हितकारी, वर्चस्य (वृष्य–कूर्मो वातहरो वृष्यो) और कफवर्धक है ॥११०॥

कृष्णकर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिलापहः ।
शुक्लः सन्धानकृत् सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा ॥१११॥

इनमें कृष्ण कर्कटक–उष्ण, वायुनाशक है। श्वेत कर्कटक-भग्न को जोड़नेवाला, मलमूत्र का विरेचक और वायु-पित्त-नाशक है ॥१११॥

मत्स्यास्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

मछलियाँ दो प्रकार की हैं। एक—नदी में रहनेवाली (नादेय) और दूसरी–समुद्र में रहनेवाली (सामुद्र) ॥११२॥

तत्र नादेयाः–रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्मिगोमत्स्यकृष्णमत्स्यवागुञ्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयः ॥११३॥

इनमें नादेय—रोहित, पाठीन, पाटला, राजीव, वर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य[1], वागुञ्जार, मुरल, सहस्रदंष्ट्र आदि नादेय (नदी में रहनेवाली) मछलियां हैं ॥११३॥

नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।
रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः ॥११४॥

नादेय मत्स्य के सामान्य गुण—मधुर, गुरु, वायुनाशक, रक्त-पित्त प्रकोपक, उष्ण, वृष्य, स्निग्ध और मल को थोड़ा बढ़ाती हैं ॥११४॥

कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः ।
रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११५॥
पाठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।
दूषयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।

रोहितक (रोहू) मत्स्य—कषाय अनुरस, शष्पशैवाल को खानेवाली, वायुनाशक, पित्त को थोड़ा कुपित करती हैं। पाठीन मत्स्य–कफवर्धक, वृष्य, निद्राकर, मांसभक्षक (होने से पुष्टिकारक), अम्लपित्त रोग तथा कुष्ठरोग को उत्पन्न करती है ॥

मुरलो बृंहणो वृष्यः स्तन्यः श्लेष्मकरस्तथा ॥११६॥

मुरल—बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रल), दूध और कफ को बढ़ाती है ॥११६॥

सरस्तडागसंभूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।
महाह्रदेषु बलिनः, स्वल्पेऽम्भस्यबलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर एवं तालाबों में उत्पन्न मछलियाँ–स्निग्ध, मधुररस होती हैं। बड़े भारी जलाशयों में उत्पन्न मछलियाँ बलवान् तथा थोड़े पानीवाले जलाशयों में उत्पन्न मछलियाँ निर्बल होती हैं ॥

तिमितिमिङ्गिलकुलिशपाकमत्स्यनिरुलनन्दिवार (रु)-लकमकरगर्गरचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः ॥

समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ—तिमि, तिमिङ्गिल, कुलिश, पाकमत्स्य, निरालक, नन्दिवारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव आदि मछलियाँ समुद्र में रहती हैं ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धाः मधुरा नातिपित्तलाः ।
उष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥११९॥
बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।
समुद्रजेभ्यो नादेया बृंहणत्वाद् गुणोत्तराः ॥१२०॥

---

१ कृष्ण मत्स्य—
"कृष्णमत्स्यस्तु शकली बहुकण्टकसंयुतः ।
कषायवर्णो रक्ताचः कथितो मत्स्यवेदिभिः ॥"

तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चचौण्ट्यकौप्यौ गुणोत्तरौ ।
स्निग्धत्वात् स्वादुपाकत्वात्तयोर्वाप्या गुणाधिकाः ॥१२१॥

सामुद्रमत्स्य के सामान्य गुण—समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ–गुरु, स्निग्ध, मधुर, ईषत्पित्तप्रकोपक, उष्ण, वायुनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), वर्चस्य (मलवर्धक) और कफवर्धक हैं।

समुद्र में रहनेवाली मछलियां मांसभक्षक होने के कारण खासकर बलवर्धक हैं। और नदियों में रहनेवाली मछलियां बृंहण (देहवर्धक) होने से समुद्रजन्य मछलियों से गुणों में श्रेष्ठ हैं। इन समुद्र एवं नदियों की मछलियों से चौण्ट्य और कूप की मछलियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे वायुनाशक हैं और वापी (बावड़ी) की मछलियाँ स्निग्ध एवं मधुर विपाक होने के कारण, चौण्ट्य और कूप की मछलियों से अधिक श्रेष्ठ हैं ॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।
सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥

नदियों से उत्पन्न मछलियाँ—चूँकि पूंछ और मुख की सहायता से गति करती हैं, इसलिये मध्य भाग से गुरु होती हैं। सरोवर एवं तालाबों में उत्पन्न मछलियों का शिर, विशेष करके लघु होता है ॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात्तस्मादुत्सोदपानजाः ।
किंचिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरवस्तु ते ॥१२३॥

उत्स (झरना), उदपान (क्षुद्र जलाशय) में उत्पन्न मछलियाँ चूँकि अधिक दूरी तक नहीं फिरतीं (अल्प व्यायाम करती हैं) इसलिये शिरोदेश को छोड़कर, बहुत गुरु होती हैं ॥

अधस्ताद् गुरवो ज्ञेया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।
उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

सरस (सरोवर) में उत्पन्न मछलियों का निचला भाग विशेष करके भारी होता है, क्योंकि ये मछलियाँ छाती के द्वारा गति करती हैं, इसलिये इनका पूर्व भाग लघु रहता है ॥१२४॥

इत्यानूपो महास्यन्दी मांसवर्ग उदीरितः ॥१२५॥

यह महाभिष्यन्दि[1] (दोष, धातु मलों का अतिशय क्लिन्नकरने वाला) आनूप, मांसवर्ग कह दिया ॥१२५॥

तत्र शुष्कपूतिव्याधिविषसर्पहतदिग्धविद्धजीर्णकृशबालानामसात्म्यचारिणां च मांसान्यभक्ष्याणि, यस्माद्विगतव्यापन्नापहृतपरिणताल्पासंपूर्णवीर्यत्वाद्दोषकराणि भवन्ति; एभ्योऽन्येषामुपादेयं मांसमिति ॥१२६॥

शुष्क, पूति (दुर्गन्धयुक्त), व्याधिहत (रोगग्रस्त), विषहत, सर्पहत, दिग्ध (विषादि से लिप्त शस्त्र द्वारा), विद्ध (बींधा), जीर्ण (वृद्ध), कृश (दुर्बल), बालक, असात्म्य (अनुचित आहार खानेवाले), पशुओं का मांस अभक्ष्य है। क्योंकि–शुष्क होने से, रसहीन, व्यापन्न (दूषित), अपहृत, परिणत, अल्प, असम्पूर्णवीर्य, तथा दोषकारक होने से अभक्ष्य है। इन दोषों से रहित मांस खाना चाहिये ॥१२६॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं प्रवर्त्तयेत् ।
विषव्याधिहतं मृत्युं बालं छर्दिं च कोपयेत् ॥१२७॥
कासश्वासहरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम् ।
क्लिन्नमुत्क्लेशजननं कृशं वातप्रकोपणम् ॥१२८॥

दूषित मांस के खाने में दोष—

शुष्क मांस—अरुचि, प्रतिश्याय, भारीपन करता है। विष एवं रोग से मरे पशु का मांस मृत्यु करता है। बालक पशु का मांस–वमन रोग करता है। वृद्ध पशु का मांस—कास, श्वास करता है। रोग से पीड़ित पशु का मांस—तीनों दोषों को कुपित करता है। क्लिन्न (पूति) मांस–उत्क्लेश (जी मचलाना) करता है। कृश पशु का मांस वायु को कुपित करता है ॥१२७,१२८॥

स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरेष्वल्पशरीराः, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः। एवमेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः प्रधानतमाः॥१२९॥

लिङ्ग आदि का विचार—

चौपायों में स्त्रीलिंग श्रेष्ठ है, पक्षियों में पुंल्लिङ्ग श्रेष्ठ है। महाशरीर (भैंसा, गैंडा) वाले आनूप देश के प्राणियों में अल्प शरीरवाले (रुरु आदि) श्रेष्ठ हैं। अल्पशरीरवाले (लावा आदि) विष्किरों में महान् शरीरवाले पक्षी उत्तम हैं। समान जातीयों में महान् शरीरवालों से कृशशरीरवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं ॥१२९॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः। तद्यथा रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुषूत्तरोत्तरा गुरुतराः, तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिरःपादकरकटीपृष्ठचर्मकालेयकयकृदन्त्राणि॥

स्थान के विचार से मांस का गुरु–लाघव कहते हैं, यथा-रक्त से आरम्भ करके शुक्र तक धातुओं में उत्तरोत्तर गुरुत्व आता जाता है। रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र गुरु है। इसी प्रकार—सक्थि (ऊरु), स्कन्ध (कन्धे), क्रोड (उदर), शिर, पांव (पिछले), कर (अगले पांव), कटि, पीठ, चर्म (त्वचा), कालयेक (वृक्क), यकृत् (जिगर) और आंत ये उत्तरोत्तर गुरु हैं ॥१३०॥

शिरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः ।
गुरु पूर्वं विजानीयाद्धातवस्तु यथोत्तरम् ॥१३१॥

शिर, स्कन्ध, कटि, पीठ, टांगों में अपनी अपेक्षा से पूर्व को गुरु जानना चाहिये। रक्तादि धातुओं में अपनी अपेक्षा से पिछले को गुरु समझना चाहिये ॥१३१॥

---

[1] अभिष्यन्दि—
"हृदयस्थान्ननिर्यासवाहिस्रोतोमुखानि यत ।
भुक्तं लिम्पति पैच्छिल्यादभिष्यन्दि तदुच्यते ॥"

सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः ।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योषिताम् ॥१३२॥
उरोग्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् ।
पक्षोत्क्षेपात्समो दृष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् ॥१३३॥

सब प्राणियों का मध्य भाग गुरु होता है, पुरुषों का पूर्व भाग गुरु होता है, स्त्रियों का अधोभाग गुरु होता है। पक्षियों की छाती और ग्रीवा विशेषकर गुरु होती हैं, पक्षियों का मध्यभाग न तो लघु, न गुरु, समान होता है, क्योंकि पंखों के चालन के कारण समान रहता है ॥१३२,१३३॥

अतीव रूक्षं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ।
बृंहणं मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् ॥१३४॥
मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं धन्वचारिणाम् ।

आहार दृष्टि से गुरु-लाघव—

फल खानेवाले पक्षियों का मांस अति रूक्ष होता है। मांस खानेवाले पक्षियों का मांस अतिशय देहवर्धक होता है। मछलियों को खानेवाले (बगुले आदि) पक्षियों का मांस पित्तकारक होता है, धन्व (जांगल देश) चारी पक्षियों का मांस वातनाशक होता है ॥१३४॥

जलजानूपजा ग्राम्याः क्रव्यादैकशफास्तथा ॥१३५॥
प्रसहा बिलवासाश्च ये च जंघालसंज्ञिताः ।
प्रतुदा विष्किराश्चैव लघवः स्युर्यथोत्तरम् ।
अल्पाभिष्यन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥१३६॥

वर्गों का गुरु-लाघव—जलज (जल में रहनेवाले) आनूपज (आनूप—जलबहुल प्रदेश में), ग्राम्य (गौ आदि), क्रव्याद (मांस खानेवाले), एकशफ (घोड़े आदि), प्रसह (काक आदि), बिलवासी (सिंह आदि) और जंघाल (मृग आदि), प्रतुद (कपोत-पारावत आदि), विष्किर (बटेर आदि) ये उत्तरोत्तर लघु एवं अल्प अभिष्यन्दि होते हैं। (आनूप से जलज गुरु और महा अभिष्यन्दि हैं) ॥१३५,१३६॥

प्रमाणाधिकास्तु स्वजातावल्पसारा गुरवश्च । सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यः प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत, प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥१३७॥

अपनी ही स्वजाति में जो पशु शरीर में अधिक होते हैं वे अल्पसार (तुच्छ बल) होते हैं, तथा गुरु होते हैं। सब प्राणियों में, सम्पूर्ण शरीर के अन्दर यकृत् प्रदेश में रहने वाली सिरा स्नायु-मांस अधिक प्रधान (श्रेष्ठ) होते हैं, इनका ग्रहण करना चाहिये। (पित्ताशय-(Gale-Bladder) एवं पित्तवाहक प्रणाली को छोड़ देना चाहिये यह वृद्धवैद्यप्रथा है)। यदि प्रधान (श्रेष्ठ) न मिले तो मध्यम आयुवाले, तरुण तुरन्त मारे पशु का, अक्लिष्ट (मन के अनुकूल) मांस का ग्रहण करना चाहिये ॥१३७॥

भवति चात्र—

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया ।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते॥१३८॥

इति मांसवर्गः ।

कहा भी है—

मांस के विषय में निम्न बातों का विचार करना चाहिये—चर (किस स्थान में विचरता है), शरीरावयव (शरीर के भाग), स्वभाव, धातु (रस रक्तादि), क्रिया (चेष्टा), लिङ्ग, प्रमाण और संस्कार (कल्पना) का विचार करना चाहिये ॥

चर—किस स्थान पर विचरता है, धन्व (जांगल देश) में, या आनूप (जलबहुल में), जल में विचरता है, किस प्रकार का यह आहार करता है, किस प्रकार का इसका विहार है। इत्यादि बातों को देखना चाहिये। शरीरावयव—शरीर के भाग पक्षियों की उर और ग्रीवा भारी होती है। स्वभाव—स्वभाव में, बटेर लघु होते हैं। धातु—रक्त से मांस धातु गुरु है। क्रिया—छाती के सहारे चलने से इनका पूर्व भाग लघु होता है। लिंग—चौपायों में स्त्री लघु है, पक्षियों में पुरुष लघु है। प्रमाण—महाशरीरों में अल्प शरीर लघु हैं। संस्कार—चावलों से लाजा लघु हैं। मात्रा—गुरु पदार्थों को आधे पेट खाना, लघु पदार्थों को पेट भरकर खाना।

'च' से अग्निबल की अपेक्षा से भी विचार करना चाहिये। इन सब बातों का विचार करके गुरु लघु का निश्चय करना चाहिये ॥१३८॥

अथ फलवर्गः ।

अत ऊर्ध्वं फलान्युपदेक्ष्यामः । तद्यथा—दाडिमामलकबदरकोलकर्कन्धुसौवीरसिञ्चितिकाफलकपित्थमातुलुङ्गाम्राम्रातककरमर्दप्रियालनारङ्गजम्बीरलकुचभव्यपारावतवेत्रफलप्राचीनामलकतिन्तिडीकनीपकोशाम्राम्लीकाप्रभृतीनि ॥१३९॥

इसके आगे फलों को कहते हैं—

यथा—दाड़िम (अनार), आमलक (आंवला), बदर (बड़े बेर), कोल (झाड़ी के बेर), कर्कन्धु (छोटे बेर), सौवीर (बेर का भेद), सिञ्चितिका (पाठान्तर में शिम्बतिका—बेर का भेद), कपित्थ (कैथ), मातुलुङ्ग (बिजौरा), करमर्द (करौंदा), पियाल, नारंग(नारंगी), जम्बीर, लकुच(बड़हल), भव्य(कामरंग-कमरख),

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'आत्तपचयोः' यह पाठ 'आत्मपक्षयोः' के स्थान पर दिया है। इसका अर्थ स्त्री एवं पुंल्लिङ्ग भेद से किया है।

पारावत, वेत्रफल, प्राचीन आमलक (पानीयामलक), तिन्तिड़ीक, नीप (कदम्ब), कोशाम्र (कोसिम्ब), आम्लीका (इमली) आदि फल हैं ॥१३६॥

अम्लानि रसतः पाके गुरूण्युष्णानि वीर्यतः।
पित्तलान्यनिलघ्नानि कफोत्क्लेशकराणि च ॥ १४० ॥

सामान्य गुण—फलों के रस, अम्लरस, गुरुविपाक (मधुर), उष्णवीर्य, पित्तकारक, वायुनाश और कफ को कुपित करते हैं।

कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम्।
दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम् ॥ १४१ ॥
द्विविध तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च।
त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम् ॥ १४२ ॥

दाड़िम (अनार)—कषाय—अनुरस, थोड़ा पित्तकारक, अग्निदीपक, रुचिकर, हृदय के लिये प्रिय, मल को रोकनेवाला है। अनार दो प्रकार का है—मीठा और खट्टा। इनमें मधुर—त्रिदोषनाशक और अम्ल (खट्टा) अनार वात-कफनाशक है ॥

अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम्।
चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम् ॥ १४३ ॥
हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१४४॥

आमलकी फल—अम्ल, थोड़ा मधुर, तिक्त—कषाय- कटु रस, आँखों के लिये हितकारी, त्रिदोषनाशक, वृष्य, शुक्रवर्धक है। अम्लरस होने से वायु का, मधुर एवं शीतवीर्य होने से पित्त का, रूक्ष—कषाय होने से कफ का नाश करता है, इसलिये दूसरे सब फलों से अधिक गुणकारी है ॥१४३,१४४॥

कर्कन्धुकोलबदरमामं पित्तकफावहम्।
पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं समधुरं सरम् ॥ १४५॥
पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु।

कर्कन्धु, कोल, बदर—ये कच्ची अवस्था में, पित्त एवं कफवर्धक हैं। पकने पर पित्त—वायुनाशक, स्निग्ध, मधुर और सर (विरेचक) हैं। पुराने बेर—प्यासशामक, थकान को मिटाते हैं, अग्निदीपक और लघु हैं ॥१४५॥

सौवीरं बदरं स्निग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥१४६॥
कषायं स्वादु संग्राहि शीतं सिञ्चितिकाफलम्।

सौवीर बेर—स्निग्ध, मधुर, वातपित्तनाशक है। सिञ्चितिका (बेर का ही भेद) फल—कषाय रस, मधुरविपाक, संग्राही और शीतल है ॥१४६॥

आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम् ॥ १४७॥
कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु।
श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥ १४८ ॥

कपित्थ (कैथ)—कच्चा कैथ—स्वर के लिये हानिकारक, कफनाशक, संग्राहि, वातनाशक है। पकने पर—कफ—वायुनाशक, मधुर, अम्लरस, गुरु हैं, श्वास, कास, अरुचिनाशक, तृष्णानाशक और गले का (स्वर का) शोधन करता है ॥

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ॥ १४९ ॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्।
मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥ १५० ॥
दीपनं लघु संग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केसरम्।
शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥ १५१ ॥

मातुलुङ्ग (बिजौरा)—लघु, अम्ल, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय है। इसकी छाल—तिक्त, दुर्जर एवं वायु, कृमि और कफनाशक है। इसका मांस (गुद्दा)—मधुर, शीतल, गुरु, स्निग्ध, वायु पित्तनाशक है। मेध्य (मेधा के लिये हितकारी), शूल, वायु, छर्दि, कफ और अरुचि का नाशक है। इसका केसर (तन्तुजाल)—अग्निदीपक, लघु, संग्राही, गुल्म-अर्शनाशक, शूल, अजीर्ण विबन्ध (मलावरोध), अग्निमान्द्य और कफवायु रोगों में हितकारी है ॥१४९–१५१॥

अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते।
पित्तानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेशरम् ॥ १५२ ॥

बिजौरे का रस—अरुचि में खासकर उपयोगी है। बाल (छोटा बिजौरा)—पित्त एवं वायुकारक है। बद्धकेसर (जिस बिजौरे में तन्तु बद्ध रुका है) पित्तकारक है ॥१५२॥

हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम्।
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहण गुरु ॥ १५३ ॥
पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम्।

पक्का आम—हृदय के लिये प्रिय, वर्णकारक, रुचिकर, रक्तमांस-बलवर्धक, कषाय-अनुरस, स्वाददार, वातहर, बृंहण और गुरु है तथा पित्तशामक और शुक्रवर्धक है ॥१५३॥

बृंहणं मधुरं बल्यं गुरु विष्टभ्य जीयति ॥ १५४ ॥
आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्धनम्।

आम्रातक फल—देहवर्धक, मधुर, बलकारक, गुरु, विष्टम्भ (वायु, ताद, शूल होना, मल का न आना) उत्पन्नकर जीर्ण होता है। वृष्य स्नेहयुक्त और कफवर्धक है ॥१५४॥

त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥ १५५ ॥

लकुच (बड़हल)—तीनों दोषों को उत्पन्न करता है, विष्टम्भ (गुड़गुड़ाहट) करता है, और शुक्र को नष्ट करता है ॥

अम्लं तृषापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम्।

करमर्द (करौंदा)—अम्लरस, तृषानाशक, रुचिकर, पित्तकारक है।

वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥ १५६ ॥

पियाल (चिरौंजी)-वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), गुरु और शीतल है ॥१५६॥

हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् ।
पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥ १५७ ॥

भव्य—हृदय के लिये प्रिय, स्वादु, कषाय-अम्ल, और मुख का शोधक है। पित्त-कफनाशक, संग्राहि, गुरु, विष्टम्भी, शीतल है ॥१५७॥

पारावतं सुमधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ।

पारावत—मधुर, रुचिकारक, अत्यग्नि, एवं वायु का नाश करता है।

गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं यथा ॥ १५८ ॥

नीप (कदम्ब)—गर (संयोगजन्य विष)—दोषनाशक है, प्राचीन आमलक (पानीय आँवला) भी गरदोषनाशक है।

वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ।
प्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं संपक्वं कफवातनुत् ॥ १५९ ॥

कच्ची तिन्तड़ी (कच्ची इमली)—वातनाशक, पित्त,कफकारक है। पक्की इमली—संग्राही, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, रुचिकारक, कफ-वातनाशक है ॥१५९॥

तस्मादल्पान्तरगुणं कोशाम्रफलमुच्यते ।

कोशाम्र (कोशाम्री) फल—के गुण—इमली से कुछ कम गुणवाले हैं।

अम्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद्भेदि तु केवलम् ॥१६०॥

पक्की अम्लिका (इमली) के गुण—पक्के तिन्तड़ीफल के समान ही हैं, किन्तु यह विरेचक हैं ॥१६०॥

अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।
वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥ १६१ ॥

नारङ्ग (नारङ्गी)—अम्ल, मधुर, हृदय के लिये प्रिय, विशद, भोजनमें रुचिकर, वातनाशक, दुर्जर, गुरु (चिरपाकी) होता है ॥१६१॥

तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।
वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥ १६२ ॥

जम्बीर—तृष्णा, शूल-कफ की वृद्धि, वमन, श्वासनाशक, वायु कफ एवं विबन्धनाशक, गुरु, पित्तकारक है। ऐरावत दन्तशठ (गुदड़िया निम्बु)—रक्त पित्तकारक है ॥१६२॥

क्षीरिवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलतिन्दुकबकुलधन्वनाश्मन्तकाश्वकर्णफल्गुपरूषकगाङ्गेरुकीपुष्करवर्त्तिबिल्वबिम्बीप्रभृतीनि ॥ १६३ ॥

कषायरस-बहुल फल—

क्षीरिवृक्षफल (बड़, पीपल, पिलखन, गूलर, आदि), जाम्बव (जामुन), राजादन (क्षीरिणी), तोदन (राजप्रिय), शीतफल (उदुम्बर), तिन्दुक, बकुल (मौलसरी), धन्वन (धामन), अश्मन्तक (आसन्त अथवा कचनारभेद), अश्वकर्ण (शाल), परुष (फालसा) फल्गु (अञ्जीर), गांगेरुकी (नागबला), पुष्करवर्त्ति, बिल्व (बेलगिरी), बिम्बी (कंदूरी) आदि हैं ॥१६३॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।
संग्राहकाणि रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥ १६४ ॥

इनके सामान्य गुण—ये फल शीतवीर्य, कफ-पित्तनाशक हैं। संग्राही, रूक्ष और कषाय एवं मधुररस हैं ॥१६४॥

क्षीरिवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
कषायं मधुरं साम्लं नातिमारुतकोपनम् ॥ १६५ ॥

क्षीरिवृक्ष फलों के गुण—गुरु विष्टम्भि, शीतल, कषाय,मधुर, अम्लरस प्राय, वायु को कुपित करते हैं ॥

अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।

जामुन का फल—अत्यन्त वातप्रकोपक, संग्राही, कफपित्तनाशक है ॥

स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥ १६६ ॥

राजादन फल—स्निग्ध, स्वादु-कषाय रस और गुरु है ॥

कषायं मधुरं रूक्षं तोदनं कफवातजित् ।
अम्लोष्णं लघु संग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥

तोदन फल—कषाय, मधुर, रूक्ष, कफ-वातनाशक है। अम्ल, उष्ण, लघु, ग्राही, स्निग्ध, पित्त एवं अग्निवर्धक है ॥

आमं कषायं संग्राहि तिन्दुकं वातकोपनम् ।
विपाके गुरु संपक्वं मधुरं कफपित्तजित् ॥ १६८ ॥

तिन्दुक फल—आम, कषायरस, संग्राही, वातकोपक है। भली प्रकार से पका फल, मधुरविपाक, मधुररस, कफ-पित्तनाशक है ॥१६८॥

मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि बाकुलम् ।
स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥ १६९ ॥

बकुल (मौलसरी)—मधुर, कषाय, स्निग्ध, संग्राही दान्तों को स्थिर (दृढ़ करनेवाला) एवं स्वच्छ करता है ॥

सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।
तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यादश्मन्तकफलानि च ॥ १७० ॥

धान्वन (धामण) फल—कषायरस, शीत, स्वादु, कफवायुनाशक है। गंगेरन और अश्मन्तक के फल में भी ये ही गुण हैं ॥१७०॥

विष्टम्भि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पणं गुरु ।

फल्गु (काकादुम्बरिका अञ्जीर) का फल—विष्टम्भी, मधुर, स्निग्ध, तृप्तिकारक एवं गुरु है।

अत्यम्लमीषन्मधुरं कषायानुरसं लघु ॥ १७१ ॥
वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम् ।

परूष (कच्चा फालसा)—अत्यन्त खट्टा, थोड़ा मीठा, कषाय अनुरस, लघु, वातनाशक, पित्तकारक है ॥१७१॥

तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम् ॥ १७२ ॥

विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम् ।

पक्का फालसा—मधुररस, वायु-पित्तनाशक, विपाक में मधुर, शीत, रक्तपित्त को स्वच्छ (शान्त) करता है ।

पौष्करं स्वादु विष्टम्भि बल्यं कफकरं फलम् ॥१७३॥

पौष्कर (कमल)—मधुर, विष्टम्भी, बलकारक, कफवर्धक और गुरु है ॥१७३॥

कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम् ।
कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम् ॥१७४॥
विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गुरु ।
विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम् ॥१७५॥

बेल (कच्चा)—कफ वायुनाशक, तीक्ष्ण, स्निग्ध, संग्राही, अग्निदीपक, कटु, तिक्त, कषायरस, उष्ण होता है। यही बेल पकने पर मधुर-अनुरस, गुरु, विदाही, विष्टम्भकारक, दोषप्रकोपक एवं दुर्गन्धित वायु[1] को उत्पन्न करता है ॥१७४,१७५॥

बिम्बीफलं साश्वकर्णं स्तन्यकृत् कफपित्तजित् ।
तृड्दाहज्वरपित्तासृक्कासश्वासक्षयापहम् ॥१७६॥

बिम्बीफल—(कंदूरी)—अश्वकर्णफल-दुग्धवर्धक, कफ-पित्त नाशक, तृषा, दाह, ज्वर, पित्त, रक्त, कास, क्षय रोग को नष्ट करते हैं ॥१७६॥

तालनालिकेरपनसमोचप्रभृतीनि ॥१७७॥

मधुर फल कहते हैं—

ताल (ताड़), नारिकेल (नारियल), पनस (कटहल) और मोच (केला) आदि मधुर फल हैं ॥१७७॥

स्वादुपाकरसान्याहुर्वातपित्तहराणि च ।
बलप्रदानि स्निग्धानि बृंहणानि हिमानि च ॥१७८॥

इनके सामान्य गुण—मधुररस, मधुरविपाक, वात-पित्त-नाशक, बलदायक, स्निग्ध, देहवर्धक और शीतल हैं ॥१७८॥

फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरु पित्तजित् ।
तद्बीजं स्वादुपाकं तु मूत्रलं वातपित्तजित् ॥१७९॥

ताल का फल—मधुररस, गुरु, पित्तनाशक है। ताड़ का बीज, मधुरविपाक, मूत्रल, वात-पित्त नाशक है ॥१७९॥

नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम् ।
बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम् ॥१८०॥

नारियल का फल—गुरु, स्निग्ध, पित्तनाशक, मधुर, शीतल, बलप्रद, मांसप्रद हृदय के लिये प्रिय, बृंहण (देहवर्धक) और बस्तिशोधक (मूत्रल) है ॥१८०॥

पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु ।

पनस (कटहल)—कषायरस (थोड़ा), स्निग्ध, मधुररस और गुरु है ।

मोचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् ॥१८१॥
रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु ॥

मोच (केला)—मधुररस, कषाय, थोड़ा शीतल, रक्त-पित्त-नाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), रुचिकर कफकारक और गुरु है ॥

द्राक्षाकाश्मर्यमधूकपुष्पखर्जूरप्रभृतीनि ॥१८२॥

द्राक्षा (किसमिस), काश्मरी (गम्भीर), खर्जूर (खजूर, पिण्डखजूर) और मधुक-पुष्प (महुवे के फूल) आदि फल हैं ॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च ।

सामान्य गुण—ये रक्त-पित्तनाशक, गुरु एवं मधुर-रस, मधुर विपाक हैं ।

तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला ॥१८३॥
रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा ।

द्राक्षा फल—सर (विरेचक), स्वर्य (गले के लिये हितकारी), मधुर, स्निग्ध, शीतल है। रक्त-पित्त, ज्वर, श्वास, तृषा, दाह, क्षय नाशक है ॥१८३॥

हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम् ॥१८४॥
केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ।

काश्मरी फल—हृदय के लिये प्रिय, मूत्रावरोधनाशक, पित्त-रक्त-वायु को नष्ट करता है। केशों के लिये हितकारी रसायन, मेध्य (मेधा के लिये हितकारी है) ॥१८४॥

क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु ॥१८५॥
रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत् ।

खजूर—क्षत-क्षयनाशक, हृदय के लिये प्रिय, शीतल, तृप्तिकारक, गुरु, मधुररस, मधुरविपाक और रक्त-पित्तनाशक है ॥

बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु ।
वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥१८६॥

महुवे का फूल—बृंहणीय (देहवर्धक), हृदय के लिये अप्रिय गुरु है। इसका फल वात-पित्तशामक है ॥१८६॥

वाताम्राक्षोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचमोरुमाणप्रभृतीनि ॥

बाताम (बदाम), अक्षोड़ (अखरोट), अभिषुक (अंगूर), निचुल, पिचु, निकोचम (पिस्ता), उरुमाण (खुरमन्ति), लवली आदि फल हैं ॥१८७॥

पित्तश्लेष्महराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च ।
बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च ॥१८८॥

इनके सामान्य गुण—कफ-पित्तनाशक, स्निग्ध, उष्ण, गुरु, बृंहण (देहवर्धक), वायुनाशक, बलकारक और मधुररस, मधुरविपाक हैं ॥१८८॥

कषायं कफपित्तघ्नं किंचित्तिक्तं रुचिप्रदम् ।
हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥१८९॥

---

१ 'पूतिमारुतं' का अर्थ डल्हणाचार्य ने सुगन्धित वायु किया है। पकने पर सुगन्धित गन्धवाला होता है। तथा—
"पूतिः खट्वाशः वनजा मधुकर्कटी
पूतिपुष्पेति—सुगन्धितपुष्पेत्यर्थः ॥"

लवलीफल[1] (हरफा रेवड़ी)—कषाय, कफ-पित्त-नाशक, कुछ तिक्त, रुचिकारक, हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, विशद (सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचनेवाला) है ॥१८६॥

वसिरं शीतपाक्यं च सारुष्करनिबन्धनम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं शीतलं वातकोपनम् ॥१९०॥
विपाने मधुरं चापि रक्तपित्तप्रसादनम् ।
ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥१९१॥

वसिर (सूर्यावर्त्तफल) शीतपाक्य (बलफल) और अरुष्कनिबन्धन भिलावे का वृन्त)—ये विष्टम्भ (पेट में गुड़गुड़ाहट कारक), दुर्जर (पकने में कठिन), रूक्ष, शीतल, वायुप्रकोपक, मधुरविपाक, रक्त-पित्तनाशक हैं ॥१९०,१९१॥

शीतं कषायं मधुरं टङ्कं मारुतकृद् गुरु ।

टंक (नीलकपित्थफल)—शीत, कषाय, मधुरविपाक, वायुकारक और गुरु है ।

स्निग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातश्लेष्मघ्नमैङ्गुदम् ॥१९२॥

ऐंगुद (इंगुदी फल)—स्निग्ध, उष्ण, तिक्त, मधुर, वातकफ नाशक है ॥१९२॥

शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम् ।

शमी का फल—गुरु, स्वादु, रूक्ष, उष्ण, केशनाशक है ।

गुरु श्लेष्मातकफलं कफकृन्मधुरं हिमम् ॥१९३॥

श्लेष्मातक (लिसोड़े का) फल—गुरु, कफकारक, मधुर, और शीतल है ॥१९३॥

करीराक्षिकपालूनि तृणशून्यफलानि च ।
स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च ॥१९४॥

करीर (करील), अक्षक (तिनशफल या रुद्राक्ष), पीलु, तृणशून्य (मल्लिका) फलों के सामान्य गुण—मधुर, तिक्त, कटु उष्णवीर्य, कफ-वातनाशक है ॥१९४॥

तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च ।
तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित् ॥१९५॥

पीलु के गुण–तिक्त, पित्तकारक, सर (विरेचक), कटुविपाक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कटुरस, स्नेहयुक्त, कफ एवं वायु का नाशक है ॥

आरुष्करं तौवरक कषायं कटुपाकि च ।
उष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनम् ॥१९६॥

आरुष्कर (भिलावा) और तौवरक (प्रमेह चिकित्सा में कहा तुवरक फल)—कषाय, कटुविपाक, उष्ण, कृमि, ज्वर, आनाह, प्रमेह, उदावर्त्त नाशक है ॥१९६॥

कुष्ठगुल्मोदरार्शोघ्नं कटुपाकि तथैव च ।
करञ्जकिंशुकारिष्टफलं जन्तुप्रमेहनुत् ।
अङ्कोलस्य फलं विस्रं गुरु श्लेष्महरं हिमम् ॥१९७॥

करञ्ज, किंशुक (ढाक), अरिष्टफल (निमोली)–कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, अर्शरोग नाशक, कटुविपाक, कटुरस, कृमि (अन्तः- और बाह्य दोनों) और प्रमेह के नाशक हैं ॥१९७॥

रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।
तिक्तमीषद्विषहितम् विडङ्गं कृमिनाशनम् ॥१९८॥

विडङ्ग (वायविडङ्ग)—रूक्ष, उष्णवीर्य कटुविपाक, लघु, व यु-कफनाशक, ईषत् तिक्त विषरोग में हितकारी और कृमिनाशक है ॥१९८॥

व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।
कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम् ॥१९९॥

अभया (हरड़) का फल—व्रण के लिये हितकारी, उष्ण, सर (विरेचक), मेध्य (मेधा के लिये हितकारी), दोष (वातादि) नाशक, शोफ, कुष्ठनाशक, कषाय, अग्निदीपक, अम्ल, आंखों के लिये हितकारी है ॥१९९॥

भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यकृमिनाशनम् ।
चक्षुष्यं स्वादु पाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित् ।२००।

अक्ष (बहेड़ा) फल–भेदक (विरेचन), लघु उष्ण, स्वरभंग के लिये हितकर, कृमिनाशक, आँखों के लिए हितकारी, मधुरविपाक, कषाय, कफ-पित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रूक्षं वक्त्रक्लेदमलापहम् ।
कषायमीषन्मधुरं किंचित् पूगफलं सरम् ॥२०१॥

पूग (सुपारी) फल—कफ-पित्तनाशक, रूक्ष, मुख की आर्द्रता और मल को दूर करता है । कषाय, थोड़ा मधुर और कुछ विरेचक है ॥२०१॥

जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।
कक्को (ङ्को) लकं लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम् ।२०२।
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम् ।

जाती कोश (जायफल), कपूर, जाती (जावित्री), कटुक (लघु कक्कोल, कवाबचीनी या लताकस्तूर), कक्कोल (शीतलचीनी) और लंवग (लौंग)—तिक्त, कटु, कफ नाशक, लघु, तृष्णानाशक, मुख की आर्द्रता और दुर्गन्ध का नाश करते हैं ॥

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥२०३॥
तृष्णायां मुखशोषे च वैरस्ये चापि पूजितः ।
लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधनी ॥२०४॥

कर्पूर—तिक्त, सुगन्धि, शीतल, लघु, लेखन (कफनाशक) है, तृष्णा और मुख की शुष्कता एवं मुख की विरसता में उत्तम है । लताकस्तूरी के भी गुण कर्पूर के समान हैं, शीतल है, बस्ति (मूत्राशय) का शोधक (विबन्धनाशक) है ॥२०३,२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।

फलों की मज्जा—

पियाली की मज्जा (गिरि)–मधुर, वृष्य (शुक्रवर्धक) पित्त-वायु-नाशक है ।

---

१ लवलीफल—
"घनस्निग्धा हरितांशुप्रपुन्नाटसदृक्छदा ।
सुगन्धिमूला लवली पाण्डुकोमलवल्कला ॥"

बैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः ॥२०५॥

विभीतक मज्जा—मदकर (मदकारक), कफ-वायुनाशक है॥

कषायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः ।
तृष्णाच्छर्द्यनिलघ्नश्च तद्वदामलकस्य च ॥२०६॥

(कोल)—बेर की मज्जा—कषाय-मधुर, पित्तनाशक है। प्यास, वमन और वायुनाशक है। आँवले की मज्जा में भी बेर के समान गुण हैं ॥२०६॥

बीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाम्रसंभवः ।
स्वादुपाकोऽग्निबलदः स्निग्धः पित्तानिलापहः॥२०७॥

बीजपूरक (बिजौरा), शम्याक (किरमालक-अमलतास), कोशाम्र—इनकी मज्जा—मधुर विपाक, अग्निवर्धक, बलप्रद, स्निग्ध, पित्त एवं वायुनाशक है ॥२०७॥

यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम् ।
तस्य तस्यैव वीयण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२०८॥

जिस २ फल का जैसा वीर्य (गुण-कर्म) होता है, मज्जा को भी उसी उसी गुण-कर्मोंवाली समझना चाहिये ॥२०८॥

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम् ।
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम् ।
ग्राह्युष्णं दीपनं तद्धि कषायकटुतिक्तकम् ॥२०९॥

जो फल पका होता है, वह गुणों में श्रेष्ठ होता है, परन्तु बिल्व (बेलगिरी) में इनका अपवाद है, बेल का कच्चा फल गुणों में श्रेष्ठ है। बिल्वफल संग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कषाय, कटुतिक्तरस है ॥२०९॥

व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकातीतमकालजम् ।
वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥

इति फलवर्गः ।

त्याज्य फल—

व्याधित (रोगयुक्त), कृमिजुष्ट (कृमियों से व्याप्त), पाकातीत (बहुत पका हुआ), अकालज (बिना ऋतु के उत्पन्न हुआ), और अपर्यागत (अपुष्ट) फल त्याज्य है ॥२१०॥

इति फलवर्गः ।

अथ शाकवर्गः ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—
तत्र पुष्पफलालाबुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

इसके आगे शाकों[1] को कहते हैं—

इनमें पुष्पफल (कूष्माण्ड), अलाबु (तुम्बी), कालिन्द (मतीरा-तरबूज) आदि शाक हैं ॥२११॥

पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके सामान्य गुण—पित्तनाशक वायुकारक कफ को कम करते हैं, मूत्र-मल को प्रवृत्त करते हैं, और मधुररस हैं ॥२१२॥

पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं मध्यं कफावहम् ।
शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥२१३॥

बाल (कच्चा) कूष्माण्ड—पित्तनाशक, मध्य कूष्मांड कफनाशक, शुक्ल (पूर्ण पका श्वेत), लघु; उष्ण, क्षारयुक्त, अग्निदीपक, बस्तिशोधक (मूत्रल-मूत्र-विरेचक) है ॥२१३॥

सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।
दृष्टिशुक्रक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

कालिन्द—त्रिदोषनाशक, हृदय के लिये प्रिय, चेतोविकार (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा आदि) के रोगियों के लिये पथ्य है। दृष्टि एवं शुक्रनाशक और कफ-वायुकारक है ॥२१४॥

अलाबुर्भिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला ।
तिक्तालाबुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

अलाबु (मीठी तुम्बी) भिन्नविट्का (मलप्रवर्त्तक द्रवकारक) रूक्ष, गुरु अतिशीतल है। कड़ुवी अलाबु—हृदय के लिये अप्रिय, वामक, वायुपित्तनाशक है ॥२१५॥

त्रपुसैर्वारुकर्कारुकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥
स्वादु तिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च ।
सृष्टमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

फलशाक—त्रपुस (खीरा), एर्वारु (ककड़ी), कर्कारु (खीरे के भेद), शीर्णवृन्त (ककड़ी का भेदविशेष, चिर्भट या कचरी) आदि हैं। इनके सामान्यगुण—स्वादु, तिक्तरस, कफ-वायुकारक, गुरु, विष्टम्भि, शीतल, मधुरविपाक, कफ-वातकारक, मलमूत्र के प्रवर्त्तक, रक्त-पित्तनाशक हैं[1]। (पाठान्तर में क्षारयुक्त और मधुर हैं) ॥२१६,२१७॥

बालं सनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम् ।
तत्पाण्डु कफकृज्जीर्णमम्लं वातकफापहम् ॥२१८॥

त्रपुस (खीरा)—बाल्यावस्था में जब नीला-सा होता है, तब पित्तनाशक है। पीला होने पर—कफकारक, बहुत पकने पर—अम्लरस, वायु कफनाशक है ॥२१८॥

---

१ शाकों के भेद—
"मूल-पत्र-करीराग्र-फल-काण्डाधिरूढकम् ।
त्वक्पुष्पं कवकञ्चैव शाकं दशविधं स्मृतम् ॥"
मूल (मूली आदि), पत्र (पटोलादि), करीर (वंशादि), अग्र (बेंत आदि), फल, काण्ड (कूष्मांड आदि), अधिरूढ़ (लता), त्वक् (मातुलुङ्ग आदि), पुष्प (कचनार आदि), कवक (छातिया) आदि।

१ कविराज हाराणचन्द्र की टीका में—'स्वादुतिक्तरसान्याहुः कफवातकराणि च' यह पाठ नहीं है। 'रक्तपित्तहराणि' के स्थान में 'सक्षारमधुराणि च' यह पाठ है।

एर्वारुकं सकर्कारु संपक्कं कफवातकृत्।
सक्षारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

एर्वारु और कर्कारु—भली प्रकार से पकने पर—कफ एवं वायुकारक हैं। क्षारयुक्त, मधुर, रुचिकारक, अग्निदीपक और थोड़ा पित्त को करती है ॥२१६॥

सक्षारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम्।
भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्ठीलनुल्लघु ॥२२०॥

शीर्णवृन्त (चिर्भट)—थोड़ा क्षारयुक्त, मधुर, कफनाशक, भेदक (विरेचक), अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, आनाह (आध्मान), अष्ठीला (वाताष्ठीला) रोगनाशक एवं लघु है ॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरकुस्तुम्बुरुजम्बीर-सुमुखसुरसार्जकभूस्तृणसुगन्धककासमर्दककालमालकुठेर-कक्षवकखरपुष्पशिग्रुमधुरशिग्रुफणिज्झकसर्षपराजिकाकुलाहलावगुत्थगण्डीरहिलपर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनक-लायपलाण्डुकलायप्रभृतीनि ॥२२१॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (आर्द्रक), हींग, जीरा, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ), जम्बीरक (निम्बु), सुमुख (वनबर्वरी), सुरसा (तुलसी), अर्जक (श्वेत कुठेरक), भूस्तृण (राहिषतृण), सुगन्धक (गन्धतृण), कासमर्द्दक (कालकासन्दी), कालमाल (कृष्ण तुलसी), कुठेरक (तुलसीभेद), क्षवक (छिंकणी), खरपुष्प (मरूवक), शिग्रु (कडुवा सहजन), मधुशिग्रु (मधुर सहजन), फणिज्झक (तुलसी भेद), सर्षप (सरसों), राजिका (राई), कुलाहल (मुण्डितक), वेणु (बाँस), तिलपर्णिका (चोरक, अन्य लाल चन्दन), वर्षाभू (पुनर्नवा), चित्रक (चीता), मूलक (मूली), लशुन पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर) आदि शाक संस्कार एवं आहार के काम में आते हैं ॥२२१॥

कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च।
कृतान्नेषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

इनके सामान्य गुण—कटु, उष्ण, रुचिकर वात-कफनाशक, कृतान्न (मुद्गयूष-लाजमण्ड) के संस्कार तथा अनेक (क्वाथकल्कादि भेद से) प्रकार से आहारों में इनका उपयोग होता है ॥२२२॥

तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ॥२२३॥

पिप्पली (गीली)—गुरु, मधुर, शीतल कफनाशक है। शुष्क पिप्पली—कफ-वायुनाशक वृष्य (शुक्रवर्धक और ईषत् पित्तशामक है। (गीली-पित्तशामक, शुष्क–पित्तप्रकोपक हैं) ॥

स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च।
कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित् ॥२२४॥
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मारिचं सितम्।
गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः ॥२२५॥

मरिच (आर्द्र)—मधुरविपाक, गुरु, कफस्रावक, कटु, उष्ण लघु है। शुष्क मरिच—अवृष्य (शुक्रवर्धक नहीं) और कफ-वायुनाशक है। श्वेत मरिच (शोभाञ्जन का बीज) न तो अति उष्ण और न अतिशीत है, साधारण वीर्यवान् है। मरिच के समान गुणकारी है, खासकर आँखों के लिये हितकारी है २२४,२२५॥

नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु।
वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ॥२२६॥

नागर (सोंठ)—कफ वायुनाशक, मधुरविपाक, वृष्य (शुक्रवर्धक), उष्ण रोचक, हृदय के लिये प्रिय, स्नेह युक्त, लघु, और अग्निदीपक है ॥२२६॥

कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत्।
कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ॥२२७॥

आर्द्रक (आदी)–कफ-वायुनाशक, स्वर के लिये हितकारी, विबन्ध, आनाह और शूलनाशक है। कटुरस, उष्णवीर्य, रोचक हृदय के लिये प्रिय, वृष्य (शुक्रवर्धक है) ॥२२७॥

लघूष्णं पाचनं हिङ्गु दीपनं कफवातजित्।
कटु स्निग्धं सरं तीक्ष्णं शूलाजीर्णविबन्धनुत् ॥२२८॥

हींग—लघु, उष्ण, पाचक, अग्निदीपक, कफ वायुनाशक कटु स्निग्ध, सर (विरेचक), तीक्ष्ण, शूल-अजीर्ण–विबन्धनाशक है ॥२२८॥

तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम्।
कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ॥२२९॥
कारवी करवी तद्वद्विज्ञेया सोपकुञ्चिका।

दोनों (श्वेत और काला) जीरे, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुविपाक, रुचिकारक, पित्तवर्धक, अग्निवर्धक, कटुरस, कफ-वायुनाशक, गन्धबहुल होते हैं। कारवी (सूक्ष्म जीरा), करवी (सूक्ष्म कृष्ण जीरक), उपकुञ्चिका (काली जीरी)-के गुण भी जीरे के समान हैं २२९॥

भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता ॥२३०॥
आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्।
सा शुष्का मधुरा पाके स्निग्धा तृड्दाहनाशनी ॥२३१
दोषघ्नी कटुका किंचित् तिक्ता स्रोतोविशोधनी।

कुस्तुम्बरी (धनिया हरा)—भक्ष्य (लड्डू आदि), व्यंजन (शाक आदि), भोज्यों (दाल आदि) में नाना प्रकार से उपयोग करने पर स्वादु (मधुरता) और सुगन्धि तथा हृदय के लिये प्रियता उत्पन्न करता है। सूखा धनिया–मधुरविपाक, स्निग्ध, प्यास एवं दाहनाशक, दोषनाशक, कटुरस, थोड़ा तिक्त और स्रोतोविशोधक है। (पित्त प्रकृतिवालों के लिये विरेचक है) ॥

जम्बीरः पाचनस्तीक्ष्णः कृमिवातकफापहः ॥२३२॥
सुरभिर्दीपनो रुच्यो मुखवैशद्यकारकः।
कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः ॥२३३॥

जम्बीर—पाचन (पाचक), तीक्ष्ण, कृमि, वायु, कफ नाशक है। सुरभि—अग्निदीपक, रुचिकारक, मुख की स्वच्छता को उत्पन्न करता है। कफ, वायु, विष, श्वास, कास एवं दुर्गन्धता को दूर करता है ॥२३२,२३३॥

पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः ।
तद्वत्तु सुमुखो ज्ञेयो विशेषाद् गरनाशनः ॥२३४॥

सुरस—पित्तकारक, पार्श्वशूलनाशक है। सुमुख के गुण भी सुरस के समान हैं, खासकर गर (संयोगजन्य विष) को दूर करता है ॥२३४॥

कफघ्ना लघवो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णाः पित्तवर्धनाः ।
कटुपाकरसाश्चैव सुरसार्जकभूस्तृणाः ॥२३५॥

सुरस-आर्जक-भूस्तृण-कफनाशक, लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तवर्धक, कटुविपाक, कटुरस हैं ॥२३५॥

मधुरः कफवातघ्नः पाचनः कण्ठशोधनः ।
विशेषतः पित्तहरः सतिक्तः कासमर्दकः ॥२३६॥

कासमर्द—मधुर, कफ वायुनाशक, पाचक, कण्ठशोधक, खासकर पित्तनाशक, तिक्त है ॥२३६॥

कटुः सक्षारमधुरः शिग्रुस्तिक्तोऽथ पिच्छिलः ।
मधुशिग्रुः सरस्तिक्तः शोफघ्नो दीपनः कटुः ॥२३७॥

सहजन (कड़वा)—कटु, क्षारयुक्त, मधुर, तिक्त, पिच्छिल है। मधुशिग्रु (मीठा सहजन) सर (विरेचक), तिक्त, शोफनाशक अग्निदीपक और कटु है ॥२३७॥

विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च ।
त्रिदोषं सार्षपं शाकं गाण्डीरं वेगनाम च ॥२३८॥

सरसों का शाक, गाण्डीर और वेग (मारवाल फल)—विदाही, मल-मूत्र-अवरोधक, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण, तीनों दोषों को उत्पन्न करते हैं ॥२३८॥

चित्रकस्तिलपर्णी च कफशोफहरे लघु ।

चित्रक और तिलपर्णी—कफ-शोफनाशक और लघु हैं।

वर्षाभूः कफवातघ्नी हिता शोफोदरार्शसाम् ॥२३९॥

वर्षाभू (पुनर्नवा)—कफ-वातनाशक, शोफ, उदररोगी एवं अर्शरोगियों के लिये हितकरी है ॥२३९॥

कटुतिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी ।
सर्वदोषहरा लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका ॥२४०॥
महत्तद्गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णमामं त्रिदोषकृत् ।
तदेव स्नेहसिद्धं तु पित्तनुत् कफवातजित् ॥२४१॥
त्रिदोषशमनं शुष्कं विषदोषहरं लघु ।
विष्टम्भि वातलं शाकं शुष्कमन्यत्र मूलकात् ॥२४२॥

मूलकपोतिका (मूली)—कटु, तिक्तरस, हृदय के लिये प्रिय, रोचक, अग्निदीपक, त्रिदोषनाशक, लघु, गले के लिये हितकारी है। महत् (बड़ी मूली)—गुरु और विष्टम्भी है। आम (असंस्कृत अर्थात् कच्ची)—तीक्ष्ण और तीनों दोषों को उत्पन्न करती है। यही मूली स्नेह में सिद्ध होने पर-पित्तनाशक, कफवायु कारक है। सूखी मूली-त्रिदोषशामक, विषदोषनाशक और लघु है। मूली को छोड़कर अन्य सब शुष्क शाक—विष्टम्भी और वायुकारक हैं ॥२४०-२४२॥

पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः ।
तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्तृ
फलं निहन्यात् कफमारुतौ तु ॥२४३॥

पुष्प, पत्र और फल इनमें उत्तरोत्तर लघु हैं, पुष्प से पत्र (पत्ते), पत्तों से फल लघु हैं। इनमें पुष्पकफ-पित्तनाशक हैं, और फल कफवायुनाशक हैं। (कई आचार्य-ये गुण मूली के मानते हैं) ॥२४३॥

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च
गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः ।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षु-
र्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥२४४॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल —
विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान् ।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु
समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२४५॥

रसोन (लहसुन)—स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, कटुरस, पिच्छिल, गुरु, सर (विरेचन), मधुररस, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक), मेधा (बुद्धि), स्वर वर्ण, आँखों के लिये हितकारी, भग्नास्थि को जोड़नेवाला है। हृदयरोग, जीर्णज्वर, कुक्षिशूल (उदरशूल), विबन्ध, गुल्म, अरुचि, कास, शोक, दुर्नाम (अर्श), कुष्ठ, अनलसाद (अग्निमांद्य), जन्तु (कृमि), समीरण (वायु), श्वास और कफ को नष्ट करता है ॥२४४,२४५॥

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च
तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च ।
बलावहः पित्तकरोऽथ किंचित्
पलाण्डुरग्निं च विवर्धयेत्तु ॥२४६॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी
बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च ।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः
सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥२४७॥

पलाण्डु (प्याज)—अति उष्णवीर्य नहीं, (ईषत् उष्णवीर्य), वायुनाशक, तीक्ष्ण, गुरु, ईषत्कफकारक, बलकारक, ईषत्पित्तकारक, अग्निवर्धक है। क्षीरपलाण्डु (मधुररस युक्त प्याज), स्निग्ध, रुचिकारक, धातुओं को स्थिर करनेवाला, बलकारक, मेधा (बुद्धि) कफ और पुष्टि कारक, स्वादु (मधुर), गुरु, रक्तपित्त में प्रशस्त और पिच्छिल है ॥२४६,२४७॥

कलायशाकं पित्तघ्नं कफघ्नं वातलं गुरु ।
कषायानुरसं चैव विपाके मधुरं च तत् ॥२४८॥

कलाय शाक (मटर)-पित्तनाशक, कफनाशक, वायुकारक, गुरु, कषाय—अनुरस, विपाक में मधुर है ॥२४८॥

जन्तुघ्नकुच्चूयूथिकातरुणीजीवन्तीबिम्बीतिकानदी[1] (न्दी) भल्लातकच्छगलान्त्रीवृक्षादनीफञ्जीशाल्मलीशेलुवनस्पतिप्रसवशणकर्बुदारकोविदारप्रभृतीनि ॥२४९॥

कषायमधुर शाक—

जन्तुघ्न, चुच्चू, यूथिका (जूही), तरुणी, जीवन्ती, बिम्बी (कन्दूरी के पत्ते), नन्दी, भल्लातक, छगलान्त्री (विधारे के पत्ते), वृक्षादनी (बन्दा), फञ्जी, शाल्मली, शेलु (लिसोड़ा), वनस्पतिप्रसव (गूलर आदि के पत्ते), शण, कर्बुदार (कचनार), कोविदार (श्वेतकचनार) आदि शाक है ॥२४९॥

कषायस्वादुतिक्तानि रक्तपित्तहराणि च ।
कफघ्नान्यनिलं कुर्युः संग्राहीणि लघूनि च ॥२५०॥

इसके सामान्य गुण—

कषाय-स्वादुरस, तिक्तरस, रक्त-पित्तनाशक, कफनाशक, वायुकारक, संग्राही और लघु हैं ॥२५०॥

लघुः पाके च जन्तुघ्नः पिच्छिलो व्रणिनां हितः ।
कषायमधुरा ग्राही चुच्चूस्तेषां त्रिदोषहा ॥२५१॥

चुच्चू—विपाक में लघु, कृमिनाशक, पिच्छिल, व्रणरोगियों के लिये हितकारी है। कषाय-मधुररस, संग्राही और तीनों दोषों को नष्ट करता है ॥२५१॥

चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता ।

जीवन्ती—आँखों के लिये हितकारी, त्रिदोषनाशक है।

वृक्षादनी वातहरा, फञ्जी त्वल्पबला मता ॥२५२॥

वृक्षादनी—वातनाशक और फञ्जी (भांग) अल्प बलवाली है, ईषत् बलवर्धक है ॥२५२॥

क्षीरवृक्षोत्पलादीनां कषायाः पल्लवाः स्मृताः ।
शीताः संग्राहिणः शस्ता रक्तपित्तातिसारिणाम् ।२५३।

क्षीरवृक्ष (अश्वत्थ आदियों) के तथा उत्पल (कमल) आदि के पल्लव (कोंपल)—कषायरस, शीतल, संग्राहक, रक्तपित्त अतीसार में प्रशस्त हैं ॥२५३॥

पुनर्नवावरुणतर्कार्युरुबूकवत्सादनीबिल्वशाकप्रभृतीनि ॥

पुनर्नवा (श्वेत), वरुण (वरना), तर्कारी (अरणिका) उरुबूक (शुक्ल एरण्ड), वत्सादनी (गिलोय), बिल्वशाक (बिल्व के पत्ते) आदि शाक हैं ॥२५४॥

उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च ।

इसके सामान्य गुण—स्वादु, तिक्तरस और वात नाशक हैं।

तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोफनाशनम् ॥२५५॥

इनमें पुनर्नवा का शाक—खास करके शोफ (सूजन) को नष्ट करता है ॥२५५॥

तण्डुलीयकोपोदिकाऽश्वबलाचिल्लीपालङ्क्यावास्तूकप्रभृतीनि

तण्डुलीयक (चौलाई), उपोदिका (पोई), अश्वबला (मेथी), चिल्ली (खेत बथुवा), पालङ्क्या (पालक), वास्तूक (बथुवा) आदि पत्रशाक है[1] ॥२५६॥

सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ।
मन्दवातकफान्याहू रक्तपित्तहराणि च ॥२५७॥

इनके सामान्य गुण—मल-मूत्र-प्रवर्त्तक (विरेचक), क्षारयुक्त, मधुर, कफ एवं वायु को कम करते हैं, रक्तपित्तनाशक है।

मधुरो रसपाकाभ्यां रक्तपित्तमदापहः ।
तेषां शीततमो रूक्षस्तण्डुलीयो विषापहः ॥२५८॥

तण्डुलीयक (चौलाई)—मधुररस, मधुरविपाक, रक्त-पित्त-मदनाशक, अत्यन्त शीतल, रूक्ष, विषनाशक है ॥२५८॥

स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा ।
उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरी हिमा ।२५६

उपोदिका (पोई)—मधुररस, मधुरविपाक वृष्य, वातपित्त-मदनाशक, सर (विरेचक), स्निग्ध, बलकारक, कफवर्धक और शीतल है ॥२५६॥

कटुर्विपाके क्रिमिहा मेधाग्निबलवर्धनः ।
सक्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तूको रोचनः सरः ॥२६०॥

वास्तूक (बथुवा)—कटुविपाक, कृमिनाशक, मेधाअग्नि-बलवर्धक, ईषत्क्षारयुक्त, त्रिदोषनाशक, रोचक और सर (विरेचक) है ॥२६०॥

चिल्ली वास्तूकवज्ज्ञेया पालङ्क्यास्तण्डुलीयवत् ।
वातकृद्बद्धविण्मूत्रा रूक्षा पित्तकफे हिता ।
शाकमाश्वबलं रूक्षं बद्धविण्मूत्रमारुतम् ॥२६१॥

चिल्ली—बथुवे के समान और पालक चौलाई के समान है। वायुकारक, मल-मूत्र का अवरोधक, रूक्ष, पित्त कफ में हितकारी, आश्वबल (मेथी) का शाक—रूक्ष, मल मूत्र और वायु का अवरोधक है ॥२६१॥

मण्डूकपर्णीसप्तलासुनिषण्णकसुवर्चलाब्रह्मसुवर्चलापिप्पलीगुडूचीगोजिह्वाकाकमाचीप्रपुन्नाडावल्गुजसतीनबृहतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताककारवेल्लककटुकिकाकेबु (म्बु) कोरुबूकपर्पटककिराततिक्तकर्कोटकारिष्टकाशातकीवेत्रकरीराटरूषकार्कपुष्पीप्रभृतीनि ॥२६२॥

तिक्तप्राय शाक—

मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), सप्तला (चर्म्मसाह्वा), सुनिषण्णक (चौपतिया[2]) सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), ब्रह्मसुवर्चला (सूर्यमुखी), पिप्पली, गिलोय, गोजिह्वा (गाजवां), काकमाची (मकोय), प्रपुन्नाड (पनवाड़), अवल्गुजा (बावची), सतीन (मटर),

---

१ निर्णयसागर की छपी पुस्तक में 'नन्दी' के स्थान में नदी पाठ है।

१ मेथी और हिस्फित्था के भेद—
"वातपित्तहरा तिक्ता लघ्वी श्लेष्मावरोधिनी ।
मेथिका तत्समं किञ्चित् हिस्फित्थं पुष्टिदं गुरु ॥"

२ चौपतिया—
"चांगेरीसदृशैः पत्रैः सुनिषण्णश्चतुर्दलः ।
शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति कथ्यते ॥"

बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरी) के फल, पटोल (परवल), वार्त्ताक (बैंगन), कारवेल्ल (करेला), कटुकिका (कटुकी), केबुक, उरुबूक (श्वेत एरण्ड), पर्पटक (पित्तपापड़ा), किराततिक्ता (चिरायता), कर्कोटक (कंकड़ा), अरिष्ट (नीम), कोशातकी (तुरई कडुवी) वेत्रकरीर वेत का अंकुर), आटरूष (बाँसा), अर्कपुष्पी (कुटुम्बनि या आक के पत्ते) आदि शाक हैं ॥२६२॥

रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च ।
कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ॥२६३॥

इनके सामान्य गुण—रक्त पित्तनाशक, हृदय के लिये प्रिय, लघु कुष्ठमेह, ज्वर, श्वास, कास और अरुचिनाशक है ॥

कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा ।
लघ्वी मण्डूकपर्णी तु तद्वद्गोजिह्विका मता ॥२६४॥

मण्डूकपर्णी—कषायरस, पित्त में हितकारी, मधुरविपाक, मधुररस, शीतल, लघु है। गोजिह्वा के गुण भी मण्डूकपर्णी के समान हैं ॥२६४॥

अविदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही सुनिषण्णकः ।

सुनिषण्णक—अविदाही, त्रिदोषनाशक, संग्राही है ।

अवल्गुजः कटुःपाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥२६५॥

अवल्गुज—कटुविपाक, तिक्त, पित्तकफनाशक है ॥२६५॥

ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम् ।
नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम् ॥२६६॥

सतीन (मटर के पत्र)-थोड़ा तिक्त, त्रिदोषनाशक, कटुरस है। काकमाची (मकोय)—न तो अधिक उष्ण और न अधिक शीत (साधारण), कुष्ठनाशक, तिक्त और कटुरस हैं ॥२६६॥

कण्डूकुष्ठक्रिमिघ्नानि कफवातहराणि च ।
फलानि बृहतीनां तु कटुतिक्तलघूनि च ॥२६७॥

बृहतीफल (कटेरी-बड़ी कटेरी के फल)—कण्डू, कुष्ठ, क्रिमिनाशक, कफ-वात को दूर करते हैं। कटु, तिक्त और लघु हैं ॥२६७॥

कफपित्तहरं व्रण्यमुष्णं तिक्तमवातलम् ।
पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम ॥२६८॥

पटोल (परवल)—कफ-पित्तनाशक, व्रण के लिये हितकारी, उष्ण, तिक्त, परन्तु वायुकारक नहीं, विपाक में कटु, वृष्य (शुक्रवर्धक), रोचक और अग्निदीपक है ॥२६८॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ।
वार्ताकं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सक्षारपित्तलम् ॥२६९॥

वार्त्ताक (बैंगन)—कफ-वायुनाशक, तिक्त, रोचक, कटु और लघु एवं अग्निदीपक है। जीर्ण (पका हुआ) बैंगन—ईषत्क्षारयुक्त और पित्तकारक है ॥२६९॥

तद्वत् कर्कोटकं विद्यात् कारवेल्लकमेव च ।

कर्कोट (कंकोड़ा) और कारवेल्लक (करेला) बैंगन के समान है ॥

आटरूषकवेत्राग्रगुडूचीनिम्बपर्पटाः ।
किराततिक्तसहितास्तिक्ताः पित्तकफापहाः ॥२७०॥

आटरूषक (बासा), वेत्राग्र (बेत का अग्रभाग), गुडूची (गिलोय), निम्ब (नीम), और पर्पट (पित्तपापड़ा), किराततिक्त (चिरायता), तिक्ता (कटुकी)—ये सब तिक्त, पित्त कफ-नाशक हैं ॥२७०॥

कफापहं शाकमुक्तं वरुणप्रपुन्नाड (ट) योः ।
रूक्षं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥२७१॥

वरुण (वरना) और प्रपुन्नाड़ (पनवाड़)—का शाक कफ-नाशक, रूक्ष, लघु, शीतल, वायु-पित्तप्रकोपक है ॥२७१॥

दीपनं कालशाकं तु गरदोषहरं कटु ।

कालशाक अग्निदीपक, गरदोष (संयोगजन्य विष) को नष्ट करता है और कटु है ।

कौसुम्भं मधुरं रूक्षमुष्मं श्लेष्महरं लघु ॥२७२॥

कौसुम्भ (कुसुम्भा) का शाक—मधुर, रूक्ष, उष्ण, कफहर और लघु है ॥२७२॥

वातलं नालिकाशाकं पित्तघ्नं मधुरं च तत् ।

नालिकाशाक—वायुकारक, पित्तनाशक और मधुर है ।

ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता ।
उष्णा कषायमधुरा चाङ्गेरी चाग्निदीपनी ॥२७३॥

चांगेरी (खट्टमिट्ठी)—ग्रहणी-अर्शरोगनाशक, खट्टी, वायु-कफरोग में हितकारी, उष्ण, कषायमधुर और अग्निदीपक है ॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चलाडुडुरक-
कुतुम्बककुठिञ्जरकुन्तलिकाकुरण्टिकाप्रभृतयः ॥२७४॥

लोणिक (लूणि), जातुकत्रिपर्णिका, पत्तूर (शालिञ्ची शाक), जीव, सुवर्चला (ब्राह्मी), डुडुरक, कुतुम्बक (राजझिण्टी), कुठिञ्जर (तुलसीभेद), कुन्तलिका (नीलझिन्टी), कुरण्टिका (पीतझिण्टी) आदि (राजक्षवक आदि), शाक हैं[1] ॥२७४॥

स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः ।
लवणानुरसाः रूक्षाः सक्षाराः वातला सराः ॥२७५॥

इनके सामान्य गुण—

मधुररस, मधुरपाक, शीतवीर्य, कफनाशक, ईषत्पित्तकारक, लवण-अनुरस, रूक्ष, ईषत्क्षारयुक्त, वायुकारक और सर (विरेचक) हैं ॥२७५॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका कषाया सकुरण्टिका ।

कुरण्टिका—कषायरस, कुन्तलिका—स्वादु एवं तिक्तरस हैं।

संग्राहि शीतलं चापि लघु दोषापहं तथा ।
राजक्षवकशाकं तु शटीशाकं च तद्विधम् ॥२७६॥

१ कविराज हाराणचन्द्रजी ने 'डुडुरक' को नहीं पढ़ा है ।

राजक्षवक—संग्राही, शीतल, लघु, दोषनाशक है। शटी का शाक भी राजक्षवक के समान गुणकारी है[1] ॥२७६॥

स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिमन्थजम्।

हरिमन्थ (चने)—मधुररस, मधुरविपाक और दुर्जर हैं।

भेदनं मधुरं रूक्षं कलायमतिवातलम् ॥२७७॥

कलाय (मटरभेद) का शाक, भेदक (विरेचक), मधुर, रूक्ष, अतिवायुकारक है ॥२७७॥

स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम्।
शोफघ्नमुष्णवीर्यं च पत्रं पूतिकरञ्जकम् ॥२७८॥

पूतिकरञ्ज (नाटाकरञ्ज) के पत्तों का शाक—स्रंसन (विरेचक), विपाक में कटु, लघु, वायु-कफनाशक, शोफनाशक, उष्णवीर्य है ॥२७८॥

ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम्।
सुगन्धि विशदं तिक्तं स्वर्यं वातकफापहम् ॥२७९॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम्।
वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविशोधनम् ॥२८०॥

ताम्बूलपत्र (पान का पत्ता)—तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, पित्त-प्रकोपक, सुगन्धि, विशद, तिक्त, ज्वर के लिये हितकारी, वायु-कफनाशक, स्रंसन[2] (मल-विरेचक) विपाक में कटु, कषाय, अग्निदीपक, मुख की खाज, मल की आर्द्रता एवं दुर्गन्धता को नष्ट करता है ॥२७९,२८०॥

अथ पुष्पवर्गः।

कोविदारशणशाल्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च, वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि च ॥२८१॥

इसके आगे पुष्प वर्ग (शाक)—

कोविदार (कचनार), शण, शाल्मली (सिम्बल)—इसके फूल मधुररस, मधुरविपाक और रक्त-पित्तनाशक हैं। वृष (बांसा) और अगस्त के फूल तिक्तरस, कटुविपाक एवं क्षय-कासनाशक हैं॥

आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते ॥२८२॥

अगस्त्यपुष्प के विशेष गुण—न तो अतिशीत और न अति-उष्ण (साधारण), नक्तान्धों (रतौंधी रोगियों) के लिये उत्तम हैं ॥२८२॥

करीरमधुशिग्रुकुसुमानि कटुविपाकानि वातहरणानि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२८३॥

करीर, मधुशिग्रु (मीठा सहजन), के फूल—विपाक में कटु, वायुनाशक, मल-मूत्र के प्रवर्त्तक हैं ॥२८३॥

रक्तवृक्षस्य निम्बस्य मुष्ककार्कासनस्य च।
कफपित्तहरं पुष्पं कुष्ठघ्नं कुटजस्य च ॥२८४॥

रक्तवृक्ष (लाल चन्दन), निम्ब (नीम), मुष्क (क्षारवृक्ष), अर्क (आक) और असन—इनके पुष्प तथा कुटज (चूड़े) के फूल—कफपित्तनाशक और कुष्ठरोगनाशक हैं ॥२८४॥

सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम्।

पद्म (कमलपुष्प)—ईषत् तिक्त, मधुररस, शीतवीर्य और पित्त-कफनाशक है।

मधुरं पिच्छिलं स्निग्धं कुमुदं ह्लादि शीतलम्।
तस्मादल्पान्तरगुणे विद्यात् कुवलयोत्पले ॥२८५॥

कुमुद (चन्द्रोदय में खिलनेवाला) मधुर, पिच्छिल, स्निग्ध, ह्लादि (सुखदायक) और शीतल है। कुवलय और उत्पल में कुमुद से कुछ हीन गुण हैं ॥२८५॥

सिन्धुवारं विजानीयाद्धितं पित्तविनाशनम्।

सिन्धुवार (निर्गुण्डी) पुष्प—हितकारी और पित्तनाशक है॥

मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने ॥२८६॥

मालती (जाति), मल्लिका (जूही)—तिक्तरस, सुगन्धि से पित्त का नाश करती हैं ॥२८६॥

सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलं पाटलानि च।

बाकुल (मौलसरी) और (पाटल फूल) के पुष्प—सुगन्धि, विशद, हृदय के लिये प्रिय होते हैं।

श्लेष्मपित्तविषघ्नं तु नागं तद्वच्च कुङ्कुमम् ॥२८७॥

नाग (नागकेसर), कफ पित्त-विषनाशक है, कुंकुम (केसर) में भी नागकेसर के समान गुण हैं ॥२८७॥

चम्पकं कफपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम्।

चम्पक (चम्पा)—रक्त-पित्तनाशक, शीत–उष्ण (साधारण) कफनाशक है।

किंशुकं कफपित्तघ्नं तद्वदेव कुरण्टकम् ॥२८८॥

किंशुक (ढाक) और कुरण्टक के पुष्प-कफ पित्त नाशक हैं॥

यथावृक्षं विजानीयात् पुष्पं वृक्षोचितं तथा।

उपसंहार—वृक्ष के अनुसार-पुष्प में भी गुण समझने चाहिये।

मधुशिग्रुकरीराणि कटु श्लेष्महराणि च ॥२८९॥

मधुशिग्रु (मीठे सहजन) के करीर (नाल) कटुरस और कफनाशक हैं ॥२८९॥

क्षवककूलेचरवंशकरीरप्रभृतीनि कफकराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च ॥२९०॥

क्षवक (छत्रक), कूलेचर (खुखुण्डक) और वंशकरीर (वंशांकुर)—आदि कफनाशक और मल मूत्र प्रवर्त्तक हैं॥

क्षवकं कृमिलं तेषु स्वादुपाकं सपिच्छलम्।
विष्यन्दि वातलं नातिपित्तश्लेष्मकरं च तत् ॥२९१॥

---

१ राजक्षवक का अर्थ राई किया है। परन्तु राई शीतल न होकर उष्ण है।

२ कई आचार्य स्रंसन आदि गुण (कच्चे) सुपारी फल के मानते हैं।

क्षवक-कृमिकारक, मधुर-विपाक, पिच्छिल, विष्यन्दि (कफस्रावि), वायुकारक, पित्त-कफ को थोड़ा बढ़ाता है ॥

वेणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः २९२॥

बाँस के अंकुर—कफकारक, मधुरविपाक, विदाही, वायुकारक, कषाय एवं रूक्ष हैं ॥२९२॥

उद्भिदानि पलालेक्षुकरीषवेणुक्षितिजानि। तत्र पलालजातं मधुरं मधुरविपाकं रूक्षं दोषप्रशमनं च, इक्षुजं मधुरं कषायानुरसं कटुपाकं शीतलं च तद्वदेवोष्णं कारीषं कषायं वातकोपनं च, वेणुजातं कषायं वातकोपनं च; भूमिजं गुरु नातिवातलं भूमितश्चास्यानुरसः ॥२९३॥

उद्भिद शाक—(भूमि में से उत्पन्न होनेवाले और बिना बोये)—

पलाल (पुआल शस्यशून्य काण्ड), इक्षु (गन्ने), करीष (शुष्क गोमय), वेणु (बाँस), क्षितिज (भूमि में उत्पन्न) उद्भिद (छत्रकादि) शाक हैं। इनमें पलाल (पुआल) में उत्पन्न शाक-मधुररस, मधुरविपाक, रूक्ष, दोषनाशक हैं। गन्ने में उत्पन्न शाक—मधुररस, कषाय—अनुरस, कटु और शीतल हैं। करीष में उत्पन्न शाक-उष्ण, कषाय और वातप्रकोपक हैं। वेणु (बाँस) में उत्पन्न शाक-कषाय एवं वायुप्रकोपक हैं। भूमिजन्य शाक—गुरु, ईषत्—वायुकारक और भूमि के समान गुणवाले होते हैं ॥२९३॥

पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि ॥२९४॥

पिण्याक (अलसी-सरसों की खल), तिलकल्क (तिल खल), स्थूणिका (वटक-नालवड़ियाँ) और ये शुष्क शाक-तीनों दोषों को कुपित करते हैं ॥२९४॥

विष्टम्भिनः स्मृताः सर्वे वटका वातकोपनाः।
सिण्डाकी वातला साद्रा रुचिष्यानलदीपनी ॥२९५॥

वटक (सब प्रकार की बड़ियाँ, मूँग, उड़द आदि से बनी) विष्टम्भि और वायुप्रकोपक होती हैं। सिण्डाकी (मूली आदि के शाक को थोड़ा-सा उबालकर, कूटकर, इसमें सुगन्धित एवं मिर्च आदि द्रव्य मिलाकर बनी बड़ियाँ सिण्डाकी कहलाती है, यह आर्द्र और शुष्क भेद से दो प्रकार की हैं)-वायुकारक हैं, आर्द्रा-रोचक एवं अग्निदीपक हैं ॥२९५॥

विड्भेदि गुरु रूक्ष च प्रायो विष्टम्भि दुर्जरम्।
सकषायं च सर्वं हि स्वादु शाकमुदाहृतम् ॥२९६॥

सब स्वादु (मधुर) शाक—विरेचक, गुरु, रूक्ष, प्रायः करके विष्टम्भि (गुड़गुड़ाहट कारक), दुर्जर, और कषायरस है ॥

पुष्पं पत्रं फलं बालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ॥

पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द शाक ये उत्तरोत्तर गुरु हैं, पुष्पशाक से पत्रशाक, पत्रशाक से फलशाक, उससे नालशाक, नालशाक से कन्दशाक गुरु हैं ॥२९६॥

कर्कशं परिजीर्ण च कृमिजुष्टमदेशजम्।
वर्जयेत् पत्रशाकं तद्यदकालविरोहि च ॥२९७॥

त्याज्य पत्रशाक—कर्कश (खर-स्पर्श), परिजीर्ण (पुरातन पीला), कृमिजुष्ट (कीड़ों से खाया हुआ), अदेशज (अनुचित देश में उत्पन्न), अकालविरोहि (अकाल में उत्पन्न) पत्रशाक त्याज्य है ॥२९७॥

अथ कन्दवर्गः।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरीबिसमृणालशृङ्गाटककशेरुकपिण्डालुकमध्वालुकहस्त्यालुककाष्ठालुकशङ्खालुकरक्तालुकेन्दीवरोत्पलकन्दप्रभृतीनि ॥२९८॥

विदारीकन्द (विदारी), शतावरी, बिस (कमलमूल), मृणाल (कमलनाल), शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), कशेरु, पिण्डालु, मध्वालु, हस्त्यालु, काष्ठालु, शंखालु, रक्तालु, इन्दीवर (नीलकमल), उत्पल (श्वेत या लालकमल) आदि कन्द (भूमि में उत्पन्न) हैं।

वि० मन्तव्य—आज के पाश्चात्य शिक्षा शिक्षितों का विश्वास है कि आलू—आज से कुछ शताब्दी पूर्व अमेरिका से भारत में आया है, परन्तु यह ऋत है कि अनृत इसका विवेचन पाठक स्वयं करें और देखें कि इस सूत्र में एक नहीं अनेक आलुओं का नामोल्लेख है और—च० सू० अ० २७ में भी "तद्वत् पिण्डालुकं विद्यात् कन्दत्वात् च मुखप्रियम्" कह कर आलू का उल्लेख किया गया है। आज के समान उस समय भी यह मुखप्रिय था ॥२९८॥

रक्तपित्तहराण्याहुः शीतानि मधुराणि च।
गुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च ॥२९९॥

इनके सामान्य गुण—रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, गुरु, शुक्रवर्धक हैं और स्तन्यवृद्धि (दूध को बढ़ाना) करते हैं ॥

मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः।
विदारीकन्दो बल्यश्च पित्तवातहरश्च सः ॥३००॥

विदारीकन्द—मधुर, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रवर्धक), शीतल, स्वर के लिये हितकारी, अतिमूत्रवर्धक, बलकारक, पित्त वायुनाशक है ॥३००॥

वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी।
महती चैव हृद्या च मेधाग्निबलवर्धिनी ॥३०१॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी।
कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवङ्कुराः स्मृताः ॥३०२॥

शतावरी—वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रवर्धक), स्वादु-तिक्तरस है। महती (बड़ी) शतावर—हृदय के लिये प्रिय, मेधा अग्नि एवं बल की वर्धक है। ग्रहणी रोग-नाशक वृष्य,

(शुक्ल), शीतल एवं रसायन है। शतावरी के अंकुर (प्ररोह) कफ-पित्तनाशक, तिक्त होते हैं ॥ ३०१,३०२ ॥

अविदाहि बिसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम्।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥ ३०३ ॥

बिस (कमलमूल)–अविदाहि (जलन उत्पन्न नहीं करती), रक्त-पित्तनाशक है। रसरहित बिस विष्टम्भि, दुर्जर, रूक्ष, वायुकारक है ॥३०३॥

गुरू विष्टम्भिशीतौ च शृङ्गाटककशेरुकौ।

सिंघाड़ा और कशेरू—गुरु, विष्टम्भि और शीतल हैं।

पिण्डालुकं कफकरं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ ३०४ ॥

पिण्डालु—कफकारक गुरु और वायुप्रकोपक है ॥३०४॥

सुरेन्द्रकन्दः श्लेष्मघ्नो विपाके कटु पित्तकृत्।

सुरेन्द्रकन्द (वज्रकन्द) कफनाशक, कटुविपाक एवं पित्तकारक है।

वेणोः करीरा गुरवः कफमारुतकोपनाः ॥ ३०५ ॥

बांस की मूल का अंकुर–गुरु, कफ एवं वायुप्रकोपक हैं॥

स्थूलसूरणमाणकप्रभृतयः कन्दा ईषत्कषायाः कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च ॥३०६॥

स्थूलकन्द (ग्रामकन्द), सूरणकन्द (जिमिकन्द), माणककन्द (मानकन्द) आदि कन्द–ईषत्कषाय रस, कटुविपाक, रूक्ष, विष्टम्भि, गुरु, कफ-वायुकारक और पित्तनाशक हैं ॥३०६॥

मान (ण) कं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्तितम्।
स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः सूरणो गुदकीलहा ॥ ३०७ ॥

माणककन्द–स्वादु (मधुर), शीतल और गुरु है। स्थूलकन्द-थोड़ा उष्ण है, सूरणकन्द–गुदकील–(अर्शरोग) नाशक है।

कुमुदोत्पलपद्मानां कन्दा मारुतकोपनाः।
कषायाः पित्तशमना विपाके मधुरा हिमाः ॥ ३०८ ॥

कुमुद, उत्पल और पद्म, इनके कन्द–वायु-प्रकोपक, कषायरस, पित्तशामक, विपाक में मधुर और शीतवीर्य हैं ३०८

वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः।
मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः ॥ ३०९ ॥

वाराहकन्द (सुअरकन्द-सुअर जैसे बाल होते हैं)–कफनाशक, कटुरस, कटुविपाक, प्रमेह-कुष्ठ कृमिनाशक, बलकारक, वृष्य (शुक्रवर्धक) और रसायन है ॥३०९॥

तालनारिकेलखर्जूरप्रभृतीनां मस्तकमज्जानः ॥३१०॥
स्वादुपाकरसानाहू रक्तपित्तहरांस्तथा।
शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥ ३११ ॥

ताल (ताड़), नारिकेल (नारियल) खर्जूर (खजूर) आदि वृक्षों की मस्तकमज्जा (अग्रमज्जा-भाग)–मधुररस, मधुरविपाक, रक्तपित्तनाशक, शुक्रवर्धक, वायुनाशक, एवं कफ को बढ़ाती है।

वि० मन्तव्य–ताड़ आदि वृक्षों के अग्रभाग–जहाँ पर हरे पत्र लगे रहते हैं–के मध्य में कोमल गूदा रहता है। उसका शाक बङ्गाल तथा मद्रास में खाया जाता है ॥३१०,३११॥

बालं ह्यनार्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम्।
कन्दं विवर्जयेत् सर्वं यो वा सम्यङ् न रोहति ॥३१२॥

त्याज्यकन्द–बाल (छोटे), अनार्त्तव (अऋतुकालजन्य) जीर्ण (पके-पुरातन), व्याधित (रोगयुक्त), कृमिभक्षित (कीड़ों से खाये), अथवा जो कन्द भली प्रकार से उत्पन्न नहीं हुआ-उसको छोड़ देना चाहिये ॥३१२॥

अथ लवणवर्गः।

अथ लवणानि सैन्धवसामुद्रविडसौवर्चलरोमकोद्भिदप्रभृतीनि यथोत्तरमुष्णानि वातकराणि कफपित्तकराणि कटुपाकीनि यथापूर्वं स्निग्धानि स्वादूनि सृष्टमूत्रपुरीषाणि चेति ॥३१३॥

इसके आगे लवणों को कहते हैं–

सैन्धव (सैन्धा लाहौरी), सामुद्र (गुजरात में समुद्र के पानी से तैयार), बिड (मेड़ी नमक), सौवर्चल (सुगन्धी काला लवण), रोमक (साम्भर), औद्भिद (भूमि में उत्पन्न खार या खार युक्त पानी से तैयार हुआ) आदि नमक हैं।

इनके सामान्य गुण–ये उत्तरोत्तर (सैन्धव से सामुद्र गुरु, सामुद्र से बिड गुरु....इस प्रकार से) गुरु हैं, वातनाशक, कफपित्तकारक हैं। यथापूर्व (सामुद्र से सैन्धव, बिड से सामुद्र....इस क्रम से) क्रम में–स्निग्ध, स्वादु (मधुर), मल-मूत्र के प्रवर्त्तक हैं ॥३१३॥

चक्षुष्यं सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धं सुमधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम् ॥३१४॥

सैन्धव—आँखों के लिये हितकारी, हृद्य (प्रिय), रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक, स्निग्ध, मधुर, वृष्य (शुक्रवर्धक), शीतल, दोषनाशक और नमकों में श्रेष्ठ हैं ॥३१४॥

सामुद्रं मधुरं पाके नात्युष्णमविदाहि च।
भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलहृद्रोगनाशनम् ॥३१५॥

सामुद्रनमक–विपाक में मधुर, ईषत् उष्ण, अविदाही, भेदक (विरेचक), ईषत् स्निग्ध, शूलनाशक, ईषत् पित्तकारक है ॥३१५॥

सक्षारं मधुरं सूक्ष्मं शूलहृद्रोगनाशनम्।
रोचनं तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम् ॥३१६॥

विडनमक–क्षारयुक्त, अग्निदीपक, रूक्ष, शूलहृदयरोगनाशक, रोचक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य और वायु का अनुलोमन करता है ॥३१६॥

लघु सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु।
गुल्मशूलविबन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम् ॥३१७॥

सौवर्चलनमक—मधु, उष्णवीर्य, विशद, कटुविपाक, गुल्म शूल एवं विबन्ध (मल-मूत्रावरोध) नाशक, हृदय के लिये प्रिय, सुरभि (सुगन्धित) और रोचक है ॥३१७॥

रोमकं तीक्ष्णमत्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च।
वातघ्नं लघु विष्यन्दि सूक्ष्मं विड्भेदि मूत्रलम् ॥३१८॥

रोमक (साम्भर)—तीक्ष्ण, उष्ण, व्यवायि (अपक्वावस्था में शरीर में व्याप्त हो जाता है), फिर शरीर में पचता है, विपाक में कटु, वातनाशक, लघु, विष्यन्दि (कफस्रावक), सूक्ष्म, बल विरेचक और मूत्रल है ॥३१८॥

लघु तीक्ष्णोष्णमुत्क्लेदि सूक्ष्मं वातानुलोमनम्।
सतिक्तं कटु सक्षारं विद्याल्लवणमौद्भिदम् ॥३१९॥

औद्भिद लवण—लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, उत्क्लेदि (वमन की अभिरुचि करनेवाला), सूक्ष्म, वायु का अनुलोमक, ईषत्‌तिक्त, कटुरस, क्षारयुक्त होता है ॥३१९॥

कफवातक्रमिघ्नं च लेखनं पित्तकोपनम्।
दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकाह्वयम् ॥३२०॥

गुटिका लवण (पकाने पर गुटिकाकार बना नमक)–कफ वायु कृमिनाशक, लेखन (कफ का), पित्तप्रकोप, अग्निदीपक, पाचक (व्रण को पकानेवाला), भेदि (विरेचक) है ॥३२०॥

ऊषसूतं बालुकैलं शैलमूलाकरोद्भवम्।
लवणं कटुकं छेदि विहितं कटु चोच्यते ॥३२१॥

ऊषसूत (ऊपर भूमि में उत्पन्न), बालुकैल (रेतीलीभूमि में उत्पन्न, उदयपुर में इसे डिडुआना कहते हैं), शैलमूलाकरोद्भव[1] (पर्वत की जड़ में उत्पन्न-खनिज)—नमक, कटुरस, छेदि और विपाक में कटु होते हैं ॥३२१॥

यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोपक्षारपाकिमटङ्कणक्षारप्रभृतयः॥

यवक्षार (जौखार), स्वर्जिकाक्षार (सज्जीखार) ऊषक्षार, पाकिम (पाक द्वारा बनाया, पानीय और प्रतिसारणीय अथवा-धूलि आदि से निकाला), टङ्कणक्षार (सुहागा) आदि क्षार हैं॥

गुल्मार्शोग्रहणीदोषशर्कराश्मरिनाशनाः।
क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥३२२॥

इनके सामान्य गुण—गुल्म अर्श ग्रहणीरोग प्रतिश्याय-नाशक हैं। सब क्षार पाचक (व्रणों को पकानेवाले) रक्त-पित्त-कारक हैं ॥३२२॥

ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शोगुल्मप्लीहविनाशनौ ॥३२३॥

स्वर्जिकाक्षार और यवक्षार—अग्नि के समान उष्ण हैं, शुक्र, कफ-विबन्धन (मल-मूत्र अवरोध), अर्श-गुल्म एवं प्लीहा के नाशक हैं ॥३२३॥

उष्णोऽनिलघ्नः प्रक्लेदी चोषक्षारो बलापहः।
मेदोघ्नः पाकिमः क्षारस्तेषां बस्तिविशोधनः ॥३२४॥

ऊषक्षार (ऊपर भूमि में तैय्यार)—उष्ण, वायुनाशक, क्लिन्नता उत्पन्न करता है, बल (शुक्र ओज) नाशक है। पाकिम (पाक द्वारा तैयार) क्षार—मेदनाशक और बस्ति (मूत्र) विशोधक (प्रवर्त्तक) है ॥३२४॥

विरूक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मघ्नः पित्तदूषणः।
अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णष्टङ्कणः क्षार उच्यते ॥३२५॥

टङ्कणक्षार—रूक्ष, वायुकारक, कफनाशक, पित्तप्रकोपक, अग्निदीपक और तीक्ष्ण है। लवणक्षार पार्थिव हैं, इसलिये अन्य स्वर्णादि धातुओं के भी पार्थिव होने से उनके गुण कहते हैं ॥३२५॥

सुवर्णं स्वादु हृद्यं च बृंहणीयं रसायनम्।
दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनम् ॥३२६॥

स्वर्ण (भस्म)–मधुर, हृदय के लिये प्रिय, बृंहण (देहवर्धक) रसायन, तीनों दोषनाशक, शीतल, आँखों के लिये हितकारी और विषनाशक है[1] ॥३२६॥

रूप्यमम्लं सरं शीतं सस्नेहं पित्तवातनुत्।

रूप्य (चांदी)—अम्ल, सर (विरेचक), शीतल, स्नेहयुक्त, पित्त वायुनाशक है॥

ताम्रं कषायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम् ॥३२७॥

ताम्र—कषाय, मधुर, लेखन (कफ-मेद का), शीतल[2] और सर (विरेचक) है ॥३२७॥

सतिक्तं लेखनं कांस्यं चक्षुष्यं कफवातजित्।

कांस्य—(कांसी-धातु ताम्र एवं यशद से बनाई जाती है, खनिज नहीं)—तिक्त, लेखन, आँखों के लिये हितकारी, कफ-वायुनाशक है॥

वातकृच्छीतलं लोहं तृष्णापित्तकफापहम् ॥३२८॥

लोह–वायुकारक, शीतल, तृष्णा पित्त और कफनाशक है॥

कटु क्रमिघ्नं लवणं त्रपु सीसं च लेखनम्।

त्रपु (रांगा) सीसा—कटु, कृमिनाशक, लवण और विलेखन (कफ मेद का), गुणकारी है॥

मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादयः ॥३२९॥
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः ॥३३०॥

इति लवणादिवर्गः।

प्रसंगवश–मणियों के गुण—

मुक्ता (मोती) विद्रुम (प्रवाल), वज्रेन्द्र (हीरा), वैदूर्य,

---

१ 'शैलमूलाकरोद्भव' का अर्थ डल्हणाचार्य ने, प्रशस्त तुरङ्ग की उत्पत्ति भूमि (तुरुष्क देश) किया है। इस देश में उत्पन्न यह अर्थ किया है।

१ यहाँ पर धातुओं की भस्म के गुण समझने चाहिये।

२ लघु-शीतवीर्य लिखा है, परन्तु अन्य ग्रन्थों में ताम्र को उष्ण कहा है; देखिये रसेन्द्रसारसंग्रह। परन्तु अष्टांगसंग्रह में भी इसे शीत कहा है।

स्फटिक आदि मणियां—आँखों के लिये हितकारी, शीतल, लेखन, विषनाशक, पवित्र, धारण करने योग्य, पाप्मा (पाप) अलक्ष्मी (दौर्भाग्य) और मल के नाशक हैं ॥३२६-३३०॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव शाकेषु चानुक्तमिहाप्रमेयात्।
आस्वादतो भूतगुणैश्च मत्वा तदादिशेद्द्रव्यमनल्पबुद्धिः॥

अनल्पबुद्धि (अगाध बुद्धिशाली वैद्य)—इस शास्त्र में-‐अप्रमेयात् (अनन्त होने से), धान्य, मांस, फल एवं शाक (कन्द) वर्गों में-न कहे हुए द्रव्यों को आस्वादतः (रस के आस्वाद से) तथा भूतगुणों से (द्रव्यारम्भक भूत गुणों से, वीर्य-विपाक आदि से) पहिचान ले ॥३३१॥

षष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः।
मुद्गाढकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः ॥३३२॥

कहे हुए द्रव्यों में श्रेष्ठ द्रव्यों का विचार—

धान्यों में श्रेष्ठ—षष्टिक, यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), और लाल शालि, मूङ्ग, अरहर और मसूर श्रेष्ठ हैं ॥३३२॥

लावतित्तिरिसारङ्गकुरङ्गैणकपिञ्जलाः।
मयूरवर्मिकूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह ॥३३३॥

मांसवर्ग में श्रेष्ठ—लाव (बटेर), तित्तिरि, सारङ्ग, कुरङ्ग, ऐण, कपिञ्जल, मोर, वर्मि, कूर्म (कछुवा) श्रेष्ठ है ॥३३३॥

दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूषकम्।
राजादनं मातुलुङ्गं फलवर्गे प्रशस्यते ॥३३४॥

फलवर्ग में श्रेष्ठ—अनार, आँवला, द्राक्षा, खजूर, फालसा, राजादन, बिजौरा श्रेष्ठ हैं ॥३३४॥

सतीनो वास्तुकश्चुच्चूचिल्लीमूलकपोतिकाः।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गे प्रशस्यते ॥३३५॥

शाकवर्ग में श्रेष्ठ—सतीन (मटर), बथुवा, चुञ्चू, चिल्ली, मूलकपोतिका (बालमूली), मण्डूकपर्णी, जीवन्ती श्रेष्ठ है॥३३५॥

गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं सैन्धवं लवणेषु च।
धात्रीदाडिममम्लेषु, पिप्पली नागरं कटौ ॥३३६॥
तिक्ते पटोलवार्ताकं मधुरे घृतमुच्यते।
क्षौद्रं, पूगफलं श्रेष्ठं कषाये सपरूषकम् ॥३३७॥
शर्करेक्षुविकारेषु, पाने मध्वासवौ तथा।

दूध और घी में गाय का दूध घी उत्तम है, नमकों में सैन्धव नमक, खटाई-अम्लरस में अनार और आँवला, कटुरस में पिप्पली और सोंठ, तिक्तरस में पटोल और बैंगन, मधुररस में घी और शहद, कषायरस में पूगफल (सुपारी) और फालसा, गन्ने के विकारों में शर्करा, आसवों में (मद्यों में), मृद्वीका और द्राक्षसव श्रेष्ठ हैं ॥३३७॥

परिसंवत्सरं धान्यं मांसं वयसि मध्यमे ॥३३८॥
अपर्युषितमन्नं तु संस्कृतं मात्रया शुभम्।
फलं पर्यागतं, शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ॥३३९॥

एक साल पुराने धान्य, मध्यम आयुवाले पशु का मांस, जिस पर रात नहीं बीती ऐसा एवं संस्कृती (भली प्रकार पका), मात्रा में (उचित अग्निबलानुसार) एवं शुभ (पवित्र), अन्न पर्यागत (पका पुष्ट) फल तथा अशुष्क (हरा), तरुण (मध्यमवय) एवं नव (नया) शाक उत्तम है ॥३३८,३३९॥

अथ कृतान्नवर्गः।

अतः परं प्रवक्ष्यामि कृतान्नगुणविस्तरम्।
लाजमण्डो विशुद्धानां पथ्यः पाचनदीपनः ॥३४०॥
वातानुलोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः।

इसके आगे "कृतान्न" वर्ग के गुणों को कहते हैं—

लाजमण्ड विशुद्ध (वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध हुए) रोगियों के लिये हितकारी है, पाचन एवं अग्निदीपक है। पिप्पली एवं सोंठ से युक्त लाजमण्ड वायु का अनुलोमक एवं हृदय के लिये प्रिय है[1]।

वि० मन्तव्य—किया-बनाया-पकाया हुआ अन्न-भोजन-'कृतान्न' कहलाता है। लाजमण्ड-भुने चावलों का मण्ड माण्ड पिच्छ। पेया-चावलों या जौ, गेहूँ का बनाया वह खाद्य जो पीने योग्य हो जैसे साबूदाना या बारली, इनमें चावल आदि घुले रहते हैं। विलेपी—जो खाद्य पेया से कुछ गाढा हो, कड़छुली में लिपता-सटता है, जैसे--फिरनी खिचड़ी आदि। यवागू विलेपी से भी गाढा खाद्य जैसे—दलिया आदि। ओदन-भात पकाए गये चावल आदि धान्य। ओदन के दो प्रकार—१-अप्रस्तुत-जिसका मन्ड पृथक् नहीं किया है—इसे "पिच्छमार भात" कहते हैं। २—सुप्रस्तुत भात जिसका मण्ड पृथक् कर दिया गया—चुआ दिया गया है। विधि भेद से ओदन के दो प्रकार—भृष्टतन्दुल-जो चावलों को थोड़ा भूनकर भात बनाया जाता है। अभृष्टतन्दुल-जो चावलों को बिना भूने बनाया जाता है। यह सब शालि एवं षष्टिक धान्यों के खाद्य हैं जो प्रायः रोगियों के लिये उपयोगी हैं। इनके भात एवं रोटियाँ आदि स्वस्थों के लिये बनते हैं। क्षीरोपसाधित दूध से पकाए चावल आदि जैसे खीर आदि। सूप—दालों-द्विदलों के खाद्य जो तरल रहते हैं वे सूप यूष तथा जूस कहे जाते हैं। यह पतली दाल है। परन्तु मूली आदि के पके रसों को भी "यूष" कहते हैं। कृशरा—शालि अथवा षष्टिक धान्य तथा द्विदल के योग से बना खाद्य-खिचड़ी आदि। शाक-पत्र पुष्प फल आदि वे पदार्थ जिनके शाक बनाए जाते हैं। स्विन्न-उबाला हुआ निष्पीडित-‐जिसका रस निचोड़ दिया गया है। स्नेह संस्कृत स्नेहघृत तैल आदि में छौंका हुआ ॥३४०॥

---

१ सोंठ और पिप्पली का योग—षडंग परिभाषा के अनुसार होना चाहिये। यथा—

"यदप्सु शृतशीतासु षडंगादि प्रयुज्यते।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि॥"

स्वेदाग्निजननी लघ्वी दीपनी वस्तिशोधनी ॥३४१॥
क्षुत्तृट्श्रमग्लानिहरी पेया वातानुलोमनी ।

पेया—स्वेद एवं अग्निजनक, लघु, अग्निदीपक, बस्तिशोधक (मूत्रल), क्षुत् (भूख), प्यास, श्रम और ग्लानि नाशक, एवं वायु का अनुलोमन करती है ॥३४१॥

विलेपी तर्पणी हृद्या ग्राहिणी[1] बलवर्धनी ॥३४२॥
पथ्या स्वादुरसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तृषापहा ।

विलेपी—(पेया से सान्द्र-चाटने योग्य)—तर्पणी (तृप्तिकारक), हृद्या (हृदय के लिये प्रिय), संग्राही, बलवर्धक, पथ्या (हितकारी), मधुररस, लघु, अग्निदीपक, भूख-प्यासनाशक है ॥

हृद्या संतर्पणी वृष्या बृंहणी बलवर्धनी ॥३४३॥
शाकमांसफलैर्युक्ता यवाग्वोऽम्लाश्च दुर्जराः ।

यवागू—हृदय के लिये प्रिय, सन्तर्पण (तृप्तिकारक) वृष्य (शुक्रल), बलवर्धक है । शाकमांस या फल के साथ पकाने से यवागू दुर्जर हो जाती है ॥३४३॥

सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ॥३४४॥
विलेपी बहुसिक्था स्याद्यवागूर्विरलद्रवा ।

यवागू के भेद—

मण्ड—सिक्थ से रहित होता है, पेया—सिक्थ के साथ होती है। [2]विलेपी—बहुत सिक्थवाली है, [3]यवागू—विरलद्रव होती है ॥३४४॥

विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः ॥३४५॥

पायस—खीर विष्टम्भि, बलकारक, मेद-कफ को बढ़ाती है, और गुरु है ॥३४५॥

कफपित्तकरी बल्या कृशराऽनिलनाशनी ।

कृशरा—(तिल चावल और माष से बनाई) कफपित्तकारक, बलकारक और वायुनाशक है ।

धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोज्ञः सुरभिः समः ॥३४६॥
स्विन्नः सुप्रस्रुतस्तूष्णो विशद्धस्त्वोदनो लघुः ।

धौत (धुले हुए), निर्मल, शुद्ध, मनोहर, सुगन्धित और अच्छी तरह पके हुए और मांड निकाले हुए उष्ण चावल विशद और लघु होते हैं ॥३४६॥

अधौतोऽप्रस्रुतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ॥३४७॥

अधौत (न धोये), अप्रस्रुत (बिना मण्ड निकाले)—अस्विन्न (अधपके) शीतल-ओदन (भात) गुरु होता है ॥३४७॥

लघुः सुगन्धिः कफहा विज्ञेयो भृष्टतण्डुलः ।

भृष्ट तण्डुल (भूने चावल) का भात—लघु, सुगन्धि, कफनाशक है ।

स्नेहैर्मांसैः फलैः कन्दैर्विदलाम्लैश्च संयुताः ॥३४८॥
गुरवो बृंहणा बल्या ये च क्षीरोपसाधिताः ।

स्नेह (घृत आदि), मांस, फल, कन्द, वैदल (शमी धान्य-दालें आदि) और क्षीर (दूध) में बनाये आहार गुरु, बृंहण (देहवर्धक) और बलकारक हैं ॥३४८॥

सुस्विन्नो निस्तुषो भृष्ट ईषत् सूपो लघुर्हितः ॥३४९॥

सुस्विन्न (भली प्रकार से उबाला), निस्तुष (बिना तुष के धुले), थोड़े भूने द्विदलों का सूप (दालें), लघु तथा हितकारी है ।

स्विन्नं निष्पीडितं शाकं हितं स्यात् स्नेहसंस्कृतम् ।
अस्विन्नं स्नेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ॥३५०॥

स्विन्न (जोश दिया), निष्पीड़ित (निचोड़ा) और घी आदि स्नेह द्वारा संस्कृत शाक हितकारी है । अस्विन्न, स्नेहरहित, एवं बिना निचोड़ा (जिसमें पानी रह गया) शाक अहितकारी है ।

मांसं स्वभावतो वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम् ।
स्नेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह ॥३५१॥
सिद्धं मांसं हितं बल्यं रोचनं बृंहणं गुरु ।

मांस—स्वभाव से ही वृष्य (शुक्रल), स्नेहन, बलवर्धक है । यही मांस स्नेह (घृत आदि), गोरस (दही आदि), धान्याम्ल (काञ्जी आदि), फलाम्ल (अनार आदि), कटुक (मरिच आदि) के साथ सिद्ध करने पर, हितकारी, बलकारक, रोचक, बृंहण (देहवर्धक) और गुरु है ।

वि० मन्तव्य—स्वभावतः कच्चा मांस, सिद्धमांस—घृत, दही डालकर बनाया मांस—रसेदार मांस ॥३५१॥

तदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम् ॥३५२॥
विद्यात्पित्तकफोद्रेकी बलमांसाग्निवर्धनम् ।

यही मांस—पाक काल में सुगन्धित (त्वग्-इलायची आदि) द्रव्यों के साथ मिलाकर, तथा उपयोग काल में गोरस[1] (दही या छाछ) के साथ मिलाकर उपयोग करने पर, कफ-पित्त को बढ़ाता है, बल, मांस और अग्नि का वर्धक है ॥३५२॥

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी—'हृद्या ग्राहिणी' आदि पाठ नहीं पढ़ते । इसके स्थान पर—'वस्तिसंशोधनी वृष्या ज्वरातिसारयोर्हिता' यह पढ़कर विलेपी के गुण मानते हैं ।

२ 'विलेपी बहुसिक्था स्यात्' के स्थान पर 'यवागू बहुसिक्था स्यात्' यह पाठ करते हैं । यह चरक के अनुसार है । परिभाषा—
"अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे ।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥"
डल्हणाचार्य ने—'मण्डं पञ्चगुणे तोये, यवागूं षड्गुणे पचेत् । चतुर्दशगुणे पेया विलेपी तु चतुर्गुणे ॥' यह पाठ दिया है ।

३ चतुर्विधं भवेद् भक्तं जलदानप्रमाणतः । तत्र भक्तं विलेपी च यवागू पेयया सह ॥

१ गोरस शब्द से—दही और तक्र का ही ग्रहण है, दूध का नहीं, क्योंकि दूध मांसरस के साथ नहीं मिलता । यथा—

परिशुष्कं[1] स्थिरं स्निग्धं हर्षणं प्रीणनं गुरु ॥३५३॥
रोचनं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवर्धनम् ।

शुष्क मांस को सिद्ध करने पर—स्थिर (कठिन), स्निग्ध, हर्षण (हर्षोत्पादक), प्रीणन (पुष्टिकारक), गुरु, रोचक, बल, मेधा, अग्नि, मांस, ओज तथा शुक्रवर्धक है ।

वि० मन्तव्य—परिशुष्क मांस—पकाया हुआ वह मांस जो सूखा हो जैसे—कबाब आदि ॥३५३॥

तदेवोल्लुप्तमपिष्टत्वादुल्लुप्तमिति पाचकाः ॥३५४॥

इससे परिशुष्क मांस को पहिले खूब अच्छी प्रकार से काट-कर, पीछे से पीस लिया जाये, तो उल्लुप्त पिष्ट होने के कारण पाचक (रसोइये) इसको 'उल्लुप्त' मांस कहते हैं ।

वि० मन्तव्य—उल्लुप्त-मांस को काट-काट कर लुगदी बना, नमक, मसाला मिलाकर पकाया गया ॥३५४॥

परिशुष्कगुणैर्युक्तं वह्नौ पक्वमतो लघु ।

यह मांस आग पर पकाने से, परिशुष्क मांस के समान गुणोंवाला तथा लघु होता है ।

तदेव शूलिकाप्रोतमङ्गारपरिपाचितम् ॥३५५॥
ज्ञेयं गुरुतरं किंचित् प्रदिग्धं गुरुपाकतः ।

यही उल्लुप्त मांस—शलाकाओं पर लगाकर—अंगारों पर पकाने से (शूलाकृत मांस), तथा स्नेह (घृत आदि), धान्याम्ल तक्रादि से मिला होने पर, गुरुपाक होने से कुछ गुरुपाक है, इसका नाम "प्रदिग्ध" है ।

वि० मन्तव्य—प्रदिग्ध-उल्लुप्त-मांस को लोह की शलाका सरिया पर लपेटकर अंगारों पर पकाया जाता है । इसे "शूल्य" भी कहते हैं ॥३५५॥

उल्लुप्तं भर्जितं पिष्टं प्रतप्तं कन्दुपाचितम् ॥३५६॥
परिशुष्कं प्रदिग्धं च शूल्यं यच्चान्यदीदृशम् ।
मांसं यत्तैलसिद्धं तद्वीर्योष्णं पित्तकृद् गुरु ॥३५७॥
लघ्वग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं दृष्टिप्रसादनम् ।
अनुष्णवीर्यं पित्तघ्नं मनोज्ञं घृतसाधितम् ॥३५८॥

उल्लुप्त (छेद करके पीसा), भर्जित (भूना), पिष्ट (पीसा), प्रतप्त (गरम किया), कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध और शूल्य एवं इस प्रकार के अन्य सब मांस, तैल में सिद्ध किये जाने पर—उष्णवीर्य, पित्तकारक और गुरु हैं । घी में सिद्ध होने पर, लघु अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, रुचिकारक, आंखों की ज्योति बढ़ाते हैं, अनुष्णवीर्य, पित्तनाशक, मन के लिये सुन्दर होते हैं[1] ॥३५६–३५८॥

प्रीणनः प्राणजननः श्वासकासक्षयापहः ।
वातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः ॥३५९॥
स्मृत्योजःस्वरहीनानां स्वरक्षीणक्षतोरसाम् ।
भग्नविश्लिष्टसन्धीनां कृशानामल्परेतसाम् ॥३६०॥
आप्यायनः संहननः शुक्रदो बलवर्धनः ।

मांसरस—प्रीणन (पुष्टिकारक), प्राणदायक, श्वासकासक्षय-नाशक, वायु-पित्त-श्रमहर, हृदय के लिये प्रिय है । स्मृति, ओज, तथा स्वर से हीन पुरुषों के लिये हितकारी, ज्वर से क्षीण, क्षत (उरःक्षत) रोगियों के लिये उत्तम है । भग्न एवं सन्धि भ्रंश में हितकारी है, कृश एवं अल्पवीर्यवालों को स्वास्थ्यदायक है। आप्यायन (देह को बढ़ानेवाला), संहनन (सन्धानकारक), शुक्र, ओज और बल को बढ़ाता है ।

वि० मन्तव्य—मांस रस-रसेदार मांस का रस जो शोरवा कहलाता है, जैसे आलू आदि का रस्सा । अथवा मांस का स्वरस ॥३५९,३६०॥

स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोषनाशनः ॥३६१॥
प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम् ।
क्षुत्तृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरावः स्वादुशीतलः ॥३६२॥

इस मांसरस को अनार के साथ मिलाकर खाने से वृष्य (शुक्रवर्धक) है, कटुरस (मरिच आदि) से संस्कृत होने पर—दोषनाशक (त्रिदोषनाशक) है । शोरवा[2] (सौराव)—प्रीणन (सब प्राणियों के लिये पुष्टिकारक), खासकर मुखशोषवाले रोगियों के लिये उत्तम है । भूख-प्यास को हटाता है । उत्तम तथा मधुर एवं शीतल है ।

वि० मन्तव्य—मांस रस को यदि छौंक दिया जाता है, तथा उसमें अम्लता के लिये अनारदाना डाला जाता है तो वह "सौराव" कहलाता है ॥३६१,३६२॥

यन्मांसमुद्धृतरसं न तत् पुष्टिबलावहम् ।
विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं विरसं मारुतावहम् ॥३६३॥

"शाकाम्लफलपिण्याककुलत्थलवणामिषैः ।
करीरदधिमाषैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते ॥"

१ परिशुष्क मांस—
"सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु ।
जीरकाद्यैर्घनं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते ॥"

१ "भर्जितं स्याद् घृतादौ तु पिष्ट्वा यत्साधितं पुनः ।
अपूपादिकृतं पिष्टं दधिदाडिमसौरभैः ॥
सिद्धं साज्यैस्तथाजाजीसामुद्रमरिचैरपि ।
अंगारादिषु यत्पक्वं प्रतप्तं तदुदाहृतम् ॥
पिशितं सौरभैर्लिप्तं कन्दुपक्वं मधुप्रभम् ।
राजिकाकल्कलिप्तं च कन्दुपाचितमुच्यते ॥
हिंगूदके परिक्षिप्तं शूले निष्पीडितं ततः ।
सिक्त्वा सिक्त्वाम्बुधाराभिः विधूमेऽग्नौ प्रतापयेत् ॥
फलाम्लेनापि यत्पक्वं शूल्यं तत् सौरभान्वितम् ॥"

२ 'कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां प्राणिनामपि ।'
यह गुण शोरवे के माने गए हैं ।

जिस मांस में से रस निकाल लिया है, वह मांस—पुष्टि एवं बलकारक नहीं होता। विष्टम्भि, पचने में दुर्जर रूक्ष, रस रहित और वायु कारक होता है ॥३६३॥

दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः खानिष्कस्तु परं गुरुः।

खानिष्क (शुष्क मांस को पीसकर तैयार किया)—अत्यन्त गुरु है, इसलिये जिनकी अग्नि दीप्त होती है, उन रोगियों के लिये पथ्य है ॥

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेषितम् ॥३६४॥
पिप्पलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम्।
ऐकध्यं पाचयेत् सम्यग्वेसवार इति स्मृतः ॥३६५॥
वेसवारो गुरुःस्निग्धो बल्यो वातरुजापहः।

वेसवार अस्थि रहित मांस को थोड़ा-सा जोश देकर शिला पर पीस लेना चाहिये। इसमें पिप्पली, मरिच, सोंठ, गुड़ और घी मिलाकर एक साथ पकाने से वेसवार बनता है। यह वेसवार[1]—गुरु, स्निग्ध, बलकारक और वातरोगनाशक है ॥

कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां व्रणिनामपि ॥३६६॥
ज्ञेयः पथ्यतमश्चैव मुद्गयूषः कृताकृतः।

मूङ्ग का यूष—कफनाशक, अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध व्रणियों के लिये हितकारी है। कृत-अकृत (लवण मरिच द्वारा संस्कृत या असंस्कृत)—मूङ्ग यूष—अतिशय पथ्य है।

वि० मन्तव्य—कृतयूष—जो मरिच हींग आदि से छौंका हुआ हो, अकृत—छौंका न गया हो ॥३६६॥

स तु दाडिममृद्वीकायुक्तः स्याद्रागषा (खा) डवः॥
रुचिष्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृत्।

इस मूङ्ग के यूष में दाड़िम (अनार) और मृद्वीका (किसमिस) को मिलाने से 'रागषाडव' बनता है। यह राग खाडव-रुचिकारक, लघुपाक, वात आदि दोषों का थोड़ा शमन करता है ॥३६७॥

मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः ॥३६८॥
कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शस्यते।

मसूर, मूङ्ग, गेहूँ, कुलत्थी तथा नमक से तैयार किया पञ्चक यूष—कफ-पित्त का अविरोधी तथा वायु रोग में उत्तम है। (मूङ्ग और मसूर का यूष वायु में, मसूर, मूङ्ग, गेहूँ, इन तीनों का यूष पित्तनाशक, और पाँचों का यूष कफनाशक है)॥

मृद्वीकादाडिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलार्दिते ॥३६९॥
रोचनो दीपनो हृद्यो लघुपाक्युपदिश्यते।

इसी पंचक यूष में मृद्वीका और अनार का योग होने से, अतीव वायुनाशक हो जाता है। रुचिकारक, अग्निदीपक हृदय के लिये प्रिय, लघुपाकी है ॥३६९॥

पटोलनिम्बयूषौ तु कफमेदोविशोषिणौ ॥३७०॥
पित्तघ्नौ दीपनौ हृद्यौ कृमिकुष्ठज्वरापहौ।

पटोल (परवल) और नीम का यूप—कफ और मेद को सुखाता है। पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, कृमि-कुष्ठ-ज्वरनाशक है ॥३७०॥

श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान् ॥३७१॥
हन्ति मूलकयूषस्तु कफमेदोगलग्रहान्।

मूलक यूष (बाल-शुष्क मूली का यूष)—श्वास, कास, प्रतिश्याय, प्रसेक (लालास्राव), अरोचक, ज्वरनाशक है। एवं कफ-मेद और गले के रोगों को नष्ट करता है ॥३७१॥

कुलत्थयूषोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः ॥३७२॥
तूणीप्रतूणीकासार्शगुल्ममेदःकफापहः।

कुलत्थी का यूष—वायुनाशक, श्वास-पीनस नाशक है। तूणी-प्रतूणी, कास, अर्श, गुल्म, मेद और कफनाशक है ॥

दाडिमामलकैर्यूषो हृद्यः संशमनो लघुः ॥३७३॥
प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नो वात पित्तजित्।

अनार और आँवले का यूष—हृदय के लिये प्रिय, संशमन (बिना वमन और बिना विरेचन के वहीं पर स्थित दोषों का शमन करता है), लघु है। प्राण-अग्निजनक, मूर्च्छा-मेद-नाशक पित्त वायु को नष्ट करता है ॥३७३॥

मुद्गामलकयूषस्तु ग्राही पित्तकफे हितः ॥३७४॥

मूङ्ग और आँवले का यूष—संग्राही, पित्त और कफरोग में हितकारी है ॥३७४॥

यवकोलकुलत्थानां यूषः कण्ठ्योऽनिलापहः।

यव (जौ), कोल (बेर) और कुलत्थी का यूष—गले के लिये हितकारी और वायुनाशक है ॥३७४॥

सर्वधान्यकृतस्तद्वद्बृंहणः प्राणवर्धनः ॥३७५॥

सब धान्यों (शूक धान्यों एवं शमीधान्यों) से बनाया यूष बृंहण (देहवर्धक) है। इसीको 'नवपुष्टि यूष' कहते हैं ॥३७५॥

खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ।

[1]खड और काम्बलिक-यूष-हृदय के लिये प्रिय, वायु-कफ में हितकारी है।

---

१ 'प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुखशोषिणाम्'—वेशवार के ये गुण कविराज हराणचन्द्र जी ने माने हैं।

१ खडयूष दो प्रकार का है—
एक—सतक्रशमीधान्य और दूसरा—सतक्र शाक।
"सतक्राणि शमीधान्यानि स्निग्धानि संग्राहकाणि खलानि ॥"
"कपित्थ तक्र-चांगेरी मरिचाजाजि-चित्रकैः।
सुपक्वः खडयूषोऽयं तथा काम्बलिकोऽपरः ॥
दध्यम्ल-लवण-स्नेह-तिल-माष-समन्वितः ॥"
मतान्तरे—तिलं सुलुञ्चितं कृत्वा पिष्टं क्षीरे त्र्यहोषितम्।
परे पूतं पचेद् धीमान् आर्द्रकोत्थापिते ततः ॥
मरिचाजाजिसामुद्रैः युक्तः तिलखडो भवेत् ॥

बल्यः कफानिलौ हन्ति दाडिमाम्लोऽग्निदीपनः ।३७६।
दध्यम्लः कफकृद्बल्यः स्निग्धो वातहरो गुरुः ।
तक्राम्लः पित्तकृत् प्रोक्तो विषरक्तप्रदूषणः ॥३७७॥

अनार के द्वारा खट्टा किया यूष—बलकारक, कफ-वायुनाशक है। दही से खट्टा यूष कफकारक, बलकारक, स्निग्ध, वायुनाशक और गुरु है। तक्र से खट्टा किया—पित्तकारक, विषरक्त प्रदूषक है ॥३७६,३७७॥

खडाः खडयवाग्वश्च षा (खा) डवाः पानकानि च ।
एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ॥३७८॥

खड़, खडयवागू, षाडव[1], पानक (इमली द्राक्षादि से बनाये) आदि वस्तुयें वैद्य की आज्ञा से बनाई जाती हैं ।३७८।

अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटकैर्विना ।
विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ॥३७९॥

अकृत (असंस्कृत)—स्नेह (घी), नमक और कटु (शुण्ठी) आदि के बिना सब असंस्कृत हैं। नमक, स्नेह और शुण्ठी के साथ संस्कृत (कृत यूष) हैं ॥३७९॥

अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरम्लितं च यत् ।
यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ॥३८०॥

गोरस (दही या छाछ), धान्याम्ल, फलाम्ल, इनके साथ मिला मांसरस, संस्कृत की अपेक्षा असंस्कृत (मांसरस) अधिक लघु एवं हितकारी है। गोरस से संस्कृत की अपेक्षा धान्याम्ल, धान्याम्ल की अपेक्षा फलाम्ल अधिक लघु एवं हितकारी है ॥

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।

काम्बलिक यूष का लक्षण–दही-मछलियाँ और अम्ल (खट्टाई) द्वारा सिद्ध यूष—काम्बलिक यूष—है ।

तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम् ॥३८१॥
सिण्डाकी च गुरूणि स्युः कफपित्तकराणि च ।

तिल–विकृति (मोदकादि), पिण्याक विकृति, शुष्क शाक, विरूढ़ (अंकुरित धान्य), सिण्डाकी (मूली आदि शाकों को कुछ उबालकर-कूटकर दालचीनी इलायची सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिलाकर वटक बनाने से सिण्डाकी होती है), ये गुरु तथा कफ-पित्तकारक हैं ॥३८१॥

तद्वच्च वटकान्याहुर्विदाहीनि गुरूणि च ॥३८२॥

वटक—उसी प्रकार गुरु और विदाही हैं ॥३८२॥

लघवो बृंहणा वृष्या हृद्या रोचनदीपनाः ।
तृष्णामूर्च्छाभ्रमच्छर्दिश्रमघ्ना रागषाडवाः ॥३८३॥

[1]रागषाडव--लघु, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य, हृदय के लिये प्रिय, रोचक, अग्निदीपक, तृष्णा-मूर्च्छा-भ्रम वमन और श्रम के नाशक हैं ॥३८३॥

रसाला बृंहणी बल्या स्निग्धा वृष्या च रोचनी ।

[2]रसाला—बृंहण (देहवर्धक), बलकारक, स्निग्ध, वृष्य रोचक है।

स्नेहनं गुडसंयुक्तं हृद्यं दध्यनिलापहम् ॥३८४॥

गुड़युक्त दही—स्नेहन, हृदय के लिये प्रिय और वायुनाशक है ॥३८४॥

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः ।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते ॥३८५॥
मन्थः सद्योबलकरः पिपासाश्रमनाशनः ।

मन्थ—जौ के सत्तू को घी में मसलकर, ठण्डे पानी में, न तो बहुत पतले और न बहुत सान्द्र घोलने से मन्थ बनता है। यह मन्थ—सद्यः (तुरन्त) बलकारक, पिपासा-श्रमनाशक है ॥

साम्लस्नेहगुडो मूत्रकृच्छ्रोदावर्तनाशनः ॥३८६॥
शर्करेक्षुरसद्राक्षायुक्तः पित्तविकारनुत् ।
द्राक्षामधूदकयुतः कफरोगनिबर्हणः ॥३८७।
वर्गत्रयेणोपहितो मलदोषानुलोमनः ।

यही मन्थ–अम्ल (खट्टाई), स्नेह और गुड़ के साथ मिलकर—मूत्रकृच्छ्र, उदावर्त्त (वातोदावर्त्त आदि) नाशक है। शर्करा, इक्षुरस और द्राक्षा से मिला मन्थ—पित्तरोग नाशक द्राक्षा और मधूक (महुवे) के साथ संयुक्त मन्थ-कफ रोग को नष्ट करता है। तृतीयवर्ग (अम्ल-स्नेह और गुड़) से मिला मन्थ-मल मूत्र के दोष (अवरोध) को नष्ट करता है ॥३८६,३८७॥

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम् ॥३८८॥
तदेव खण्डमृद्वीकाशर्करासहितं पुनः ।
साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ॥३८९॥

गुड़ से बना—खट्टा या बिना अम्ल के–पानक (शर्बत)–गुरु और मूत्रल है। यदि इस गुड़ के शर्बत में—खाण्ड, मृद्वीका, शर्करा, अम्ल (इमली आदि), तीक्ष्ण (मरिचादि), हिम (कर्पूर), मिला दिया जाये तो अत्यन्तश्रेष्ठ हो जाता है ॥

काम्बलिकः यूषः—
"दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः ।
पुनः सौवर्चलाजाजीबीजपूरकसौरभैः ॥
संयोज्य मथितः स्वच्छ एष काम्बलिको भवेत् ॥"

१ षाडव—"स्पष्टाम्लमधुरोऽस्पष्टकषायलवणोषणः ।
अतिक्तः षाडवःकोलकपित्थाद्युपबृंहितः ॥"

१ रागषाडव— सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः ।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥

२ रसाला—अर्द्धाढकः सुचिरपर्य्युषितस्य दध्नः,
खण्डस्य षोडश पलानि शशिप्रभस्य ।
सर्पिः पलं मधु पलं मरिचं द्विकर्षम्
शुण्ठ्याः पलार्धमपि चार्द्धपलं विडस्य ॥
सूक्ष्मे पटे सुविमले मृदुपाणिघृष्टा-
कर्पूरधूलिसुरभीकृतपात्रसंस्था ॥
एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला ॥

माद्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम् ।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम् ॥३९०॥

मृद्वीका (किसमिस) से बना शर्बत—श्रमनाशक, मूर्च्छा, दाह, तृषानाशक है। फालसे और बेरों का बना शर्बत–हृदय के लिये प्रिय और विष्टम्भि होता है ॥३९०॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मात्रां च सर्वतः ।
पानकानां यथायोगं गुरुलाघवमादिशेत् ॥३९१॥

इति कृतान्नवर्गः ।

सब पानकों में द्रव्यसंयोग तथा संस्कार एवं मात्रा को जानकर—पानकों का गुरु-लाघव समझना चाहिये। यह कृतान्नवर्ग कह दिया ॥३९१॥

अथ भक्ष्यवर्गः ।

वक्ष्याम्यतः परं भक्ष्यान् रसवीर्यविपाकतः ।

इसके आगे भक्ष्य (लड्डू आदि) वस्तुओं का रस, वीर्य, विपाक कहते हैं।

भक्ष्याः क्षीरकृता बल्या वृष्या हृद्याः सुगन्धिनः॥३९२॥
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ।

गेहूँ आदि के आटे को दूध में सिद्ध करके बनाये भक्ष्य बलकारक, शुक्रवर्धक, हृदय के लिये प्रिय सुगन्धित, अदाही (ईषद् दाह युक्त), पुष्टिकारक, अग्निदीपक, और पित्तनाशक हैं।

वि० मन्तव्य—भक्ष्य वे कहे जाते हैं जो स्वस्थों का आहार हैं। इस प्रकरण में उन्हीं का वर्णन किया गया है॥

तेषां प्राणकरा हृद्या घृतपूराः कफावहाः ॥३९३॥
वातपित्तहरा वृष्या गुरवो रक्तमांसलाः ।

घृतपूर[1]—प्राणकारक, हृदय के लिये प्रिय, कफकारक, वात-पित्तनाशक, वृष्य (शुक्रल), गुरु, रक्त और मांस के वर्धक हैं ॥३९३॥

बृंहणा गौडिका भक्ष्या गुरवोऽनिलनाशनाः ॥३९४॥
अदाहिनः पित्तहराः शुक्रलाः कफवर्धनाः ।

गौडिक (गुड़ प्रधान) भक्ष्य—बृंहण (देहवर्धक) भक्ष्य, गुरु, वायुनाशक, अदाहि, पित्तनाशक, शुक्रल और कफवर्धक हैं।

मधुशीर्षकसंयावाः पूपा ये ते विशेषतः ॥३९५॥
गुरवो बृंहणाश्चैव मोदकास्तु सुदुर्जराः ।
रोचनो दीपनः स्वर्यः पित्तघ्नः पवनापहः ॥३९६॥

मधुमस्तक (मधुशीर्षक), संयाव[2] पूप—गुरु, देहवर्धक है। मोदक (लड्डू)—दुर्जर हैं, रोचन, अग्निदीपक, स्वरभङ्ग के लिये हितकारी, पित्तनाशक, वायु को दूर करते हैं ३९५,३९६

१ घृतपूर–"मर्दिता समिताः क्षीरा नालिकेरसितादिभिः ।
अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते ॥"

२ संयाव–"समितां मधुदुग्धेन माधुर्यत्वात् शुभाननः ।
पचेद् घृतोत्तरे भाण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः ।
संयावोऽसौ युतश्चूर्णैः खण्डैलमरिचार्द्रकैः ॥"

गुरुर्मृष्टतरश्चैव सट्टकः प्राणवर्धनः ।
हृद्यः सुगन्धिमधुरः स्निग्धः कफकरो गुरुः ॥३९७॥

सट्टक[1]—गुरु, अतिमिष्ट और प्राणवर्धक हैं। हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, मधुर, स्निग्ध, कफकारक गुरु हैं ॥३९७॥

वातापहस्तृप्तिकरो बल्यो विष्यन्द उच्यते ।
बृंहणा वातपित्तघ्ना भक्ष्या बल्यास्तु सामिताः ॥३९८॥

विष्यन्दि[2]—वायुनाशक, तृप्तिकारक, बलकारक हैं। सामित (गेहूँ के आटे से बने भक्ष्य)—बृंहण (देहवर्धक), वात-पित्तनाशक, बलकारक हैं ॥३९८॥

हृद्याः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकादयः ।
मुद्गादिवेसवाराणां पूर्णा विष्टम्भिनो मताः ॥३९९॥

फेनकादि[3]—हृदय के लिये प्रिय, अतिशय पथ्यकारक और लघु हैं। मूङ्ग आदि धान्य तथा वेसवार से भरे पूप (रोटी, गुझिया, कचौरी आदि) विष्टम्भि होते हैं ॥३९९॥

वेसवारैः सपिशितैः संपूर्णा गुरुबृंहणाः ।
पाललाः श्लेष्मजननाः, शष्कुल्यः कफपित्तलाः ॥४००॥

मांसयुक्त वेसवार से भरे पूप-गुरु और देहवर्धक हैं। पालल (तिल पिष्ट एवं गुड़ से बने) कफजनक हैं, शष्कुली (पूरी) कफ-पित्तकारक हैं ॥४००॥

वीर्योष्णाः पैष्टिका भक्ष्याः कफपित्तप्रकोपणाः ।
विदाहिनो नातिबला गुरवश्च विशेषतः ॥४०१॥

पैष्टिक (उड़द की पिट्ठी से बने)—भक्ष्य उष्णवीर्य, कफ-पित्तप्रकोपक, विदाही, ईषद् बल कारक, और खासकर गुरु हैं॥

वैदला लघवो भक्ष्याः कषायाः सृष्टमारुताः ।
विष्टम्भिनः पित्तसमाः श्लेष्मघ्ना भिन्नवर्चसः ॥४०२॥
बल्या वृष्यास्तु गुरवो विज्ञेया माषसाधिताः ।

वैदल (दाल आदि से बने) भक्ष्य—लघुकषायरस, वायु को प्रवृत्त करते हैं। उड़द से बने भक्ष्य—विष्टम्भि, पित्त के समान, कफनाशक, मलप्रवर्त्तक (विरेचक), बलकारक, वृष्य एवं गुरु होते हैं ॥४०२॥

कूर्चिकाविकृता भक्ष्या गुरवो नातिपित्तलाः ॥४०३॥

(फटे दूध के जमने से उत्पन्न कूर्चिका से बने) भक्ष्य-गुरु और ईषत् पित्तकारक हैं ॥४०३॥

१ सट्टक–'लवंग व्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम् ।
दाडिमं बीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम् ।
सट्टकं सुप्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् ॥"

२ विष्यन्द–'आमं गोधूमचूर्णं च सर्पिक्षीरगुणान्वितम् ।
नातिसान्द्रो नातिघनो विष्यन्दो नाम नामतः ।'

३ फेनका–'विमर्द्य विमलां शुक्लां समितां नातिशर्कराम् ।
संवेष्टनाय गर्भार्थं खरपाकं घृते पचेत् ।
फेनक फेनसंकाशं सम्पूर्णं शशिसन्निभम् ॥'

विरूढककृता भक्ष्या गुरवोऽनिलपित्तलाः ।
विदाहोत्क्लेशजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः ॥४०४॥

विरूढक (अंकुरित) धान्यों से बनाये भक्ष्य—गुरु, वायु-पित्तकारक हैं। विदाही, उत्क्लेश (जीमचलाना), रूक्ष हैं। दृष्टि (आँखों) को दूषित करते हैं ॥४०४॥

हृद्याः सुगन्धिनो भक्ष्या लघवो घृतपाचिताः ।
वातपित्तहरा बल्या वर्णदृष्टिप्रसादनाः ॥४०५॥

घी में तले (संस्कृत) भक्ष्य-हृदय के लिये प्रिय, सुगन्धित, लघु, वात-पित्तनाशक, बलकारक, वर्ण-एवं दृष्टि को स्वच्छ करते हैं ॥४०५॥

विदाहिनस्तैलकृता गुरवः कटुपाकिनः ।
उष्णा मारुतदृष्टिघ्नाः पित्तलास्त्वक्प्रदूषणाः ॥४०६॥

तैल में संस्कृत भक्ष्य—विदाही, गुरु, कटुविपाक, उष्ण, वायुनाशक, दृष्टि को हानि पहुँचानेवाले, पित्तकारक, त्वचा को दूषित करनेवाले हैं ॥४०६॥

फलमांसेक्षुविकृतितिलमाषोपसंस्कृताः ।
भक्ष्या बल्याश्च गुरवो बृंहणा हृदयप्रियाः ॥४०७॥

फलवर्ग, मांसवर्ग, इक्षुविकार, तिल, माष से संस्कृत भक्ष्य बलकारक, गुरु, बृंहण (देहवर्धक) और हृदय के लिये प्रिय हैं ॥

कपालाङ्गारपक्वास्तु लघवो वातकोपनाः ।
सुपक्वास्तनवश्चैव भूयिष्ठं लघवो मताः ॥४०८॥

कपाल (मिट्टी के ठीकरे) पर पकाये भक्ष्य—अतिशय लघु और वायुकोपक हैं। अच्छी प्रकार से पके भक्ष्य—पतले-फुलके सूक्ष्म और लघु हैं ॥४०८॥

सकिलाटादयो भक्ष्या गुरवः कफवर्धनाः ।
कुल्माषा वातला रूक्षा गुरवो भिन्नवर्चसः ॥४०९॥
उदावर्तहरो वाट्यः कासपीनसमेहनुत् ।
धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः ॥४१०॥

किलाट (क्षीर कूर्चिका पिण्ड) के संयोग से बने भक्ष्य गुरु और कफवर्धक हैं। कुल्माष—वायुकारक, रूक्ष, गुरु और मल विरेचक हैं। वाटियाँ—उदावर्त्तनाशक, कास-पीनस एवं प्रमेह के नाशक हैं। धान (भूने जौ), उलुम्बा (होले)—लघु, कफ एवं मेद को शुष्क करते हैं ॥४०९,४१०॥

शक्तवो बृंहणा वृष्यास्तृष्णापित्तकफापहाः ।
पीताः सद्योबलकरा भेदिनः पवनापहाः ॥४११॥

शक्तु—(जौ आदि के सत्तू)देहवर्धक, वृष्य (शुक्रवर्धक), तृष्णा-पित्त और कफनाशक है। पीने पर तुरन्त बल शक्ति आती है, भेदि (विरेचक) और वायु को नष्ट करते हैं ॥४११॥

गुर्वी पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वी सैव विपर्ययात् ।
शक्तूनामाशु जीर्यत मृदुत्वादवलेहिका ॥४१२॥

अत्यन्त खर (कठिन) पिण्डी गुरु होती है, विपर्यय से (मृदु) पिण्डी लघु हैं। सत्तुओं की अवलेहिका कोमल होने से शीघ्र जीर्ण हो जाती है ॥४१२॥

लाजाश्छर्द्यतिसारघ्ना दीपनाः कफनाशनाः ।
बल्याः कषायमधुरा लघवस्तृण्मलापहाः ॥४१३॥

लाज—(भूनने पर खिले धान्य) छर्दि (वमन) और अतिसार नाशक, अग्निदीपक, कफ को नष्ट करते हैं, बलकारक, कषाय, मधुर, तृषा और मल के नाशक हैं ॥४१३॥

तृट्छर्दिदाहघर्मार्तिनुदस्तत्सक्तवो मताः ।
रक्तपित्तहराश्चैव दाहज्वरविनाशनाः ॥४१४॥

लाजसक्तु—तृषा, छर्दि, दाह, घर्मार्ति (गर्मी का दुःख), को नष्ट करते हैं। रक्तपित्तनाशक, दाह ज्वरनाशक हैं ।४१४।

पृथुका गुरवः स्निग्धा बृंहणाः कफवर्धनाः ।
बल्याः सक्षीरभाधात्तु वातघ्ना भिन्नवर्चसः ॥४१५॥

पृथुक (चौले—चूडा गीले शालि धान्यों के थोड़ासा भूनकर ऊखल में कूटने से बनाये)—गुरु, स्निग्ध देहवर्धक और कफ को बढ़ाते हैं बल कारक हैं। दूध में मिलाकर खाने से, वायुनाशक और मल का रेचन करते हैं ॥४१५॥

संधानकृत् पिष्टमामं ताण्डुलं कृमिमेहनुत् ।

धान्यपिष्ट—आम (नया-अपक्व) पीसा धान्य भग्न को जोड़ता है। तण्डुल-कृमि और प्रमेह को नष्ट करता है[1] ।

सुदुर्जरः स्वादुरसो बृंहणस्तण्डुलो नवः ॥४१६॥

नया चावल (तण्डुल)—पचने में दुर्जर, मधुररस और देहवर्धक है ॥४१६॥

सन्धानकृन्मेहहरः पुराणस्तण्डुलः स्मृतः ।

पुराना चावल--भग्न अंग को जोड़ता है प्रमेह नाशक है।

यदाकारणमासाद्य भोक्तॄणां छन्दतोऽपि वा ॥४१७॥
भक्ष्यादयः प्रकल्प्याः स्युस्तदा सुनिपुणो भिषक् ।
द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेक्ष्य च ।
अनेकद्रव्ययोनित्वाच्छास्त्रतस्तान् विनिर्दिशेत् ॥४१८॥

इति भक्ष्यवर्गः ।

जिस कारण (दोष रोग प्रतिकार रूपी कारण) से अथवा भोक्ता (खानेवालों की) इच्छानुसार, भक्ष्य आदि बनाये गये हों, उस—भक्ष्य द्रव्य के अनेक द्रव्य उत्पत्ति कारण होने से, द्रव्य, संयोग, संस्कार एवं विकारों (परिवर्त्तनों) को शास्त्र दृष्टि से विचारकर, इन भक्ष्य द्रव्यों के गुणों को कहना चाहिये ॥

अतः सर्वानुपानान्युपदेक्ष्यामः ।—

इसके आगे संपूर्ण अनुपानों को (अन्न के पीछे पिये जाने वाली वस्तुओं को) कहते हैं[2] ।

---

१ यह पाठ कविराज हाराणचन्द्र जी ने नहीं पढ़ा।

२ अनुपान का गुण—
दोषवद् गुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा ।
यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्य्यति ॥

अम्लेन केचिद्विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति।
तथाऽम्लयोगे मधुरेण तृप्तास्तेषां यथेष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥

अम्लरस से उबकाये (उद्विग्न) हुए बहुत से मनुष्य-मधुररस के उपयोग से सुखी हो जाते हैं। इसी प्रकार मधुररस से तृप्त मनुष्य अम्लरस के योग में दुःखी होते हैं, यही इनकी इच्छानुसार पथ्य है ॥४१६॥

शीतोष्णतोयासवमद्ययूषफलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम्।
यस्यानुपानं तु हितं भवेद्यत्तस्मै प्रदेयं त्विह मात्रया तत् ॥
व्याधिं च कालं च विभाव्य धीरै-
र्द्रव्याणि भोज्यानि च तानि तानि।
सर्वानुपानेषु वरं वदन्ति
मेध्यं यदम्भः शुचिभाजनस्थम् ॥४२१॥

अनुपान द्रव्य—

शीत जल, उष्ण जल, आसव (द्रव प्रधान) द्रव्य प्रधान-मद्य, यूष, फलाम्ल, धान्याम्ल, (कांजी), पय (दूध), रस (मांस-रस), जो अनुपान हितकारी हो, वही उस पुरुष को उचित मात्रा में देना चाहिये। व्याधि (व्रण-ज्वरादि), काल (आवस्थिक और आर्त्तव), इनको विशेष रूप से जानकर, द्रव्य (तैलादि), भोज्य (रक्तशलि आदि), इन सब को तर्क द्वारा जानकर अनुपान देना चाहिये।

सब अनुपानों में श्रेष्ठ अनुपान—पवित्र पात्र में रक्खा, [1]मेध्य (अन्तरिक्ष) का) जल है ॥४२०,४२१॥

लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं
तोयात्मकाः सर्वरसाश्च दृष्टाः।
सङ्क्षेप एषोऽभिहितोऽनुपाने-
ष्वतः परं विस्तरतोऽभिधास्ये ॥४२२॥

कारण—संसार के (मनुष्यों के) जन्मकाल से प्रारम्भ करके यही जल उत्तम है, सब रस जलमय ही हैं। यह अनुपान संक्षेप में कह दिया। इसके आगे विस्तार से कहेंगे ॥४२२॥

उष्णोदकानुपानं तु स्नेहानामथ शस्यते।
ऋते भल्लातकस्नेहात् स्नेहात्तौवरकात्तथा ॥४२३॥
अनुपानं वदन्त्येके तैले यूषाम्लकाञ्जिकम्।
शीतोदकं माक्षिकस्य पिष्टान्नस्य च सर्वशः ॥४२४॥
दधिपायसमद्यार्तिविषजुष्टे तथैव च।
केचित् पिष्टमयस्याहुरनुपानं सुखोदकम् ॥४२५॥
पयो मांसरसो वाऽपि शालिमुद्गादिभोजिनाम्।
युद्धाध्वातपसंतापविषमद्यरुजासु च ॥४२६॥
माषादेरनुपानं तु धान्याम्लं दधिमस्तु वा।
मद्यं मद्योचितानां तु सर्वमांसेषु पूजितम् ॥४२७॥
अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते।
क्षीरं घर्माध्वभाष्यस्त्रीक्लान्तानाममृतोपमम् ॥४२८॥
सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम्।
निरामयानां चित्रं तु भुक्तमध्ये प्रकीर्तितम् ॥४२९॥
स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते।
अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम् ॥४३०॥
हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा।
अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विषार्तिषु ॥४३१॥

भिलावे और तुवरक[1] स्नेह को छोड़कर—शेष सब स्नेहों के लिये, उष्णोदक (गरम पानी) का अनुपान प्रशस्त है। कुछ आचार्यों का विचार है कि-उष्णकाल में तैल का अनुपान यूष, शीतकाल में तेल का अनुपान कांजी है। माक्षिक (मधु) और पिष्टान्न (तण्डुल पिष्ट) का अनुपान शीतल जल है। दधि, पायस (खीर), मद्यार्त्ति (मद्य विदाह), विष जुष्ट (विष व्यामोह में)—अनुपान शीतल जल है। पिष्टान्न का अनुपान कई आचार्य ईषदुष्ण पानी मानते हैं। शालि (हेमन्त धान्य), मूङ्ग आदि खानेवालों के लिये, युद्ध, अध्व (मार्ग) आतप (धूप), सन्ताप (मनः सन्ताप, बेचैनी), विष, मद्य की पीड़ा में -दूध या मांसरस का अनुपान उचित है। माष (उड़द) आदि का अनुपान—धान्याम्ल (कांजी), दधि, या मस्तु है। मद्य पीनेवालों के लिये तथा सब मांसों में मद्य अनुपान है। जो मद्य नहीं पीते, उनके लिये पानी और फलाम्लों का अनुपान उत्तम है। घर्म (गरमी), अध्व (मार्ग), भाष्य (जोर से बोलना), स्त्री संभोग से थके पुरुषों के लिये सुरा और स्थूल पुरुषों के लिये, दूध अमृत के समान है। कृश पुरुषों के लिये सुरा और स्थूल पुरुषों के लिये शहद का शर्बत अनुपान है। निरामय (स्वस्थ) पुरुषों के लिये चित्र (नाना प्रकार के अनुपान) भोजन के बीच-बीच में देने चाहिये। वायु रोग में—स्निग्ध और उष्ण, कफ में—रूक्ष एवं उष्ण, पित्त में मधुर और शीतल अनुपान हितकारी है। रक्त पित्त रोगियों के लिये—दूध और गन्ने का रस हितकारी है। विषार्त्ति (विष पीड़ा) में—आक, सेलु (लसूड़ा) और शिरीष इनका आसव उत्तम है ॥४२३-४३१॥

अतः परं तु वर्गाणामनुपानं पृथक् पृथक्।
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण सर्वेषामेव मे शृणु ॥४३२॥

इसके आगे प्रत्येक वर्ग का अनुपान पृथक् पृथक् रूप में कहता हूँ। इसको मुझसे सुनो—

तत्र पूर्वशस्यजातानां बदराम्लं, वैदलानां धान्याम्लं, जङ्गालानां धन्वजानां च पिप्पल्यासवः, विष्किराणां कोलबदरासवः, प्रतुदानां क्षीरवृक्षासवः, गुहाशयानां खर्जूर-

---

१ मेध्य का अर्थ—कविराज हाराणचन्द्रजी ने पवित्र किया है। इस दृष्टि से पवित्र जल-उत्तम पात्र में रखना श्रेष्ठ है।

१ तुवरक का लक्षण—
"पत्रैस्तु केशराकारैः कलायसदृशैः फलैः।
वृक्षास्तुवरनामानः पश्चिमार्णवतीरजाः ॥"

नालिकेरासवः, प्रसहानामश्वगन्धासवः, पर्णमृगाणां कृष्णगन्धासवः, विलेशयानां फलासवः एकशफानां त्रिफलासवः, अनेकशफानां खदिरासवः, कूलचराणां शृङ्गाटककशेरुकासवः, कोशवासिनां पादिनां च स एव, प्लवानामिक्षुरसासवः, नादेयानां मत्स्यानां मृणालासवः, सामुद्राणां मातुलुङ्गासवः, अम्लानां फलानां पद्मोत्पलकन्दासवः, कषायाणां दाडिमवेत्रासवः, मधुराणां त्रिकटुकयुक्तखण्डासवः, तालफलादीनां धान्याम्लं, कटुकानां दूर्वानलवेत्रासवः, पिप्पल्यादीनां श्वदंष्ट्रावसुकासवः, कूष्माण्डादीनां दार्वीकरीरासवः, चुच्चुप्रभृतीनां लोध्रासवः, जीवन्त्यादीनां त्रिफलासवः, कुसुम्भशाकस्य स एव मण्डूकपर्ण्यादीनां महापञ्चमूलासवः, तालमस्तकादीनामम्लफलासवः, सैन्धवादीनां सुरासव आरनालं च, तोयं च सर्वत्रेति ॥४३३॥

प्रथम कहे अन्न समूहों (शूक धान्य, कुधान्य) का अनुपान-बदराम्ल, वैदलों (मूङ्ग आदि) का धान्याम्ल (कांजी), जंघाल (ऐणादि) और धन्वज (वर्त्तकादि) का पिप्पल्यासव, विष्किरों का—कोलाम्ल (स्वल्प बेर), बदराम्ल (मध्य प्रमाण का बेर), प्रतुदों का क्षीरी वृक्षों (वटादि का) का आसव, गुहाशयों (सिंहादि) का खर्जूरासव और नारिकेलासव, प्रसहों के लिये अश्वगन्धासव, पर्णमृगों के लिये कृष्णगन्धा (शोभाञ्जन) का आसव, बिलेशयों के लिये फलसारासव, एकशफों (घोड़े आदि) के लिये त्रिफलासव, अनेक शफों (बकरी आदि) के लिये खदिरासव, कूलचरों के लिये शृङ्गाटक और कशेरु का आसव, कोशवासि और पादियों के लिये शृङ्गाटक कशेरुकासव, प्लवों के लिये इक्षुरसासव, नादेय मछलियों के लिये मृणालासव, सामुद्र मछलियों के लिये मातुलुंगासव, कषायवर्ग के लिये दाडिम वेत्रासव, मधुरवर्ग के लिये त्रिकटुक युक्त खण्डासव, ताल-फल आदि के लिये धान्याम्ल, कटुवर्ग के लिये दूर्वानल वेत्रासव, पिप्पल्यादि के लिये श्वदंष्ट्रा (गोखरू), वसुक (वुक-वगहुल) का आसव, कूष्माण्ड आदि के लिये दार्वी (दारुहल्दी) करीरासव, चुच्चु आदि के लिये लोध्रासव, जीवन्ती आदि के लिये त्रिफलासव, कुसुम्भ शाक के लिये त्रिफलासव, मण्डूकपर्णी आदि के लिये महापञ्चमूलासव, तालमस्तक आदि के लिये अम्लफलासव, सैन्धव आदि के लिये सुरासव और आरनाल अनुपान है, सब स्थानों पर जल का भी अनुपान देना चाहिये ॥४३३॥

भवन्ति चात्र—

सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम् ।
सात्म्यं वा यस्य यत्तोयं तत्तस्मै हितमुच्यते ॥४३४॥
उष्णं वाते कफे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम् ।

कहा भी है—

सब अनुपानों के लिये—माहेन्द्र (आन्तरिक्ष) जल उत्तम अनुपान है । जो जल (नदी, सरोवर, तड़ाग आदि का) जिस पुरुष को सात्म्य हो, वही जल उस पुरुष के लिये हितकारी है । वायु और कफ में—गरम जल, पित्त और रक्त में शीतल जल बरतना चाहिये ॥४३४॥

दोषवद् गुरु वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा ॥४३५॥
यथोक्तेनानुपानेन सुखमन्नं प्रजीर्यते ।

दोषवत् (वातादि दोषकारक), गुरु, अधिक मात्रा में खाया भोजन, यथोक्त—उचित अनुपान की सहायता से, बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक जीर्ण हो जाता है ॥४३५॥

रोचनं बृंहणं वृष्यं दोषसंघातभेदनम् ॥४३६॥
तर्पणं मार्दवकरं श्रमक्लमहरं सुखम् ।
दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ॥४३७॥
बल्यं वर्णकरं सम्यगनुपानं सदोच्यते ।

अनुपान के गुण—रोचक, बृंहण (देहवर्धक), वृष्य (शुक्रवर्धक), दोषसमूहों का भेदन करता है, तर्पण (तृप्तिकारक) मार्दवकर (शरीर में कोमलता उत्पन्न करनेवाला), श्रम-क्लम को दूर करता है, सुख (स्वास्थ्य उत्पन्न करता है) । अग्निदीपक, दोष शामक, पिपासा को नष्ट करने में श्रेष्ठ, बलकारक, वर्णकारक है । इस प्रकार का उचित अनुपान सर्वदा व्यवहार करना चाहिये । (आगे अनुपान से जल को समझना, क्योंकि प्रायः जल ही बरता जाता है) ॥४३६,४३७॥

तदादौ कर्शयेत्पीतं स्थापयेन्मध्यसेवितम् ॥४३८॥
पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥

भोजन से पहिले पिया अनुपान शरीर को अति कृश करता है, भोजन के मध्य में सेवन किया अनुपान शरीर को पूर्ववत् रखता है । भोजन के पीछे पिया अनुपान शरीर को बढ़ाता है, इसलिये विचारकर अनुपान का प्रयोग करना चाहिये ॥४३८॥

स्थिरतां गतमक्लिन्नमन्नमद्रवपायिनाम् ॥४३९॥
भवत्याबाधजननमनुपानमतः पिबेत् ।

अद्रवपायी (अनुपान न पीनेवाले) मनुष्यों को—स्थिरता (निश्चलता), अक्लिन्न (शुष्कता), आबाधजनन (पीड़ा) होती है, इसलिये अनुपान पीना चाहिये । "समस्थूलकृशा भक्तमध्यान्तप्रथमांबुपाः" हृदय ॥४३९॥

न पिबेच्छ्वासकासार्तो रोगे चाप्यूर्ध्वजत्रुगे ॥४४०॥
क्षतोरस्कः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ।

निम्न पुरुषों को अनुपान नहीं पीना चाहिये—

श्वास-कास रोगी, गले से ऊपर के रोगों में, उरः क्षत रोगी, प्रसेकी (लालास्रावी) और जिस रोगी को स्वरभङ्ग हो उसे अनुपान नहीं पीना चाहिये ॥४४०॥

पीत्वाऽध्वभाष्याध्ययनगेयस्वप्नान्न शीलयेत् ॥४४१॥
प्रदूष्यामाशयं तद्धि तस्य कण्ठोरसि स्थितम् ।
स्यन्दाग्निसादच्छर्द्यादीनामयाञ्जनयेद्बहून् ॥४४२॥

अनुपान पीकर—अध्व (मार्गगमन), भाष्य (जोर से बोलना), अध्ययन (पढ़ना), गेय (गाना), शयन नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह अनुपान कण्ठ-उर में स्थित वातादि दोषों को तथा आमाशय को दूषित करके, पुरुष में-स्यन्द (नेत्राभिष्यन्द), अग्निमान्द्य, छर्दन (वमन) आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है ॥४४१,४४२॥

गुरुलाघवचिन्तेयं स्वभावं नातिवर्तते।
तथा संस्कारमात्रान्नकालांश्चाप्युत्तरोत्तरम् ॥४४३॥

गुरु लाघव विचार—

द्रव्यों का गुरु-लाघव, स्वभाव (नैसर्गिकता) से ऊपर तथा (यथा जंघाल-जंगल में विचरनेवाले स्वभाव के कारण ही लघु है), संस्कार, मात्रा, अन्न, काल के ऊपर निर्भर है। यथा—संस्कार स्वभाव से गुरु व्रीहि भी, संस्कार के कारण लाजा रूप में लघु हैं। मात्रा—गुरु पदार्थों को आधा पेट भर के खाना और लघु पदार्थों को पूरा पेट भर के खाना। अन्न-मण्ड-पेया विलेपी-भक्त-पूपादि यथोत्तर गुरु हैं। काल-नया धान्य अभिष्यन्दि और साल भर पुराना अन्न लघु है। उत्तरोत्तर-स्वभाव से संस्कार, संस्कार से मात्रा, मात्रा से अन्न, अन्न से काल, गुरु-लघु के विचार को अतिक्रमण नहीं करते[1] ॥४४३॥

मन्दकर्मानलारोग्याः सुकुमाराः सुखोचिताः।
जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्त्यते ॥४४४॥

जो पुरुष—मन्दकर्म (आलसी), मन्दानल (मन्दाग्नि), मन्दारोग्य (रोगी), सुकुमार (मृदुशरीर), सुखोचित (सुखी) हैं—उनके विषय में गुरु लघु का विचार करना आवश्यक है॥

बलिनः खरभक्ष्या ये ये च दीप्ताग्नयो नराः।
कर्मनित्याश्च ये तेषां नावश्यं परिकीर्त्यते ॥४४५॥

इत्यनुपानवर्गः।

जो पुरुष-बली (शक्तिशाली), खरभक्ष्य (अमृदुभोजी), दीप्ताग्नि (तीक्ष्णाग्नि) और कर्मनित्य (सदा कर्म करनेवाले हैं), उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करना आवश्यक नहीं॥

यह सर्व अनुपान वर्ग कह दिया—

अथाहारविधिं वत्स ! विस्तरेणाखिलं शृणु।
आप्तास्थितमसंकीर्णं शुचि कार्यं महानसम् ॥४४६॥

हे वत्स ! सम्पूर्ण आहार विधि को अब विस्तार से कहता हूँ—उसे सुनो। महानस (रसोई)—आप्तास्थित (विश्वस्त पुरुषों से युक्त), असंकीर्ण (असंकट-खुली-छोटी नहीं), शुचि (पवित्र-साफ सुथरी) रसोई बनानी चाहिये ॥४४६॥

तत्राप्तैर्गुणसंपन्नं भक्ष्यमन्नं सुसंस्कृतम्।
शुचौ देशे सुसंगुप्तं समुपस्थापयेद् भिषक् ॥४४७॥

इस रसोई में विश्वस्त पुरुषों द्वारा सुसंस्कृत (भली प्रकार से तैयार किये), गुण सम्पन्न (इष्ट-रस, गन्ध, स्पर्श-वर्णयुक्त), भक्ष्य (खाने योग्य) अन्न को, पवित्र स्थान में भली प्रकार छिपाकर (शत्रु आदि जहाँ न जा सके), वैद्य को रखना चाहिये॥

विषघ्नैरगदैः स्पृष्टं प्रोक्षितं व्यजनोदकैः।
सिद्धैर्मन्त्रैर्हृतविषं सिद्धमन्नं निवेदयेत् ॥४४८॥

विषघ्न (विष नाशक) औषधियों से स्पृष्ट (छुए) व्यजनोदक प्रोक्षित (विषनाशक अगदोदक से धोये पंखों की वायु से शुद्ध किये अथवा, अथर्ववेद के मन्त्रों से अभिमन्त्रित), सिद्ध, मन्त्र (अव्यभिचारि, कुह कुल्ला आदि मन्त्रों द्वारा)—विष को नष्ट करके, सिद्ध (तय्यार), भोजन खानेवाले को समर्पित करना चाहिये[1] ॥४४८॥

वक्ष्याम्यतः परं कृत्स्नामाहारस्योपकल्पनाम्।
घृतं कार्ष्णायसे देयं, पेया देया तु राजते ॥४४९॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वैदलेषु तु।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥४५०॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत्।
कट्वराणि खडांश्चैव सर्वाञ्छैलेषु दापयेत् ॥४५१॥
दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुभृतं पयः।
पानीयं पानकं मद्यं मृन्मयेषु प्रदापयेत् ॥४५२॥
काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च।
दद्याद्वैदूर्यचित्रेषु रागषाडवसट्टकान् ॥४५३॥
पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे।
सूदः सूपौदनं दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥४५४॥
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च।
तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुञ्जानस्योपकल्पयेत् ॥४५५॥
प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः।
खडान् यूषांश्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥४५६॥
सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाडवसट्टकान्।
पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः ॥४५७॥

इसके आगे सम्पूर्ण भोजन को परोसने की विधि कहता हूँ। घी को कृष्णलोह के पात्र में, सब प्रकार की पेया राजत पात्र में, फल और लड्डू आदि सब प्रकार के भक्ष्य पदार्थ-पत्तों की पत्तली या दोनों में देने चाहिये। परिशुष्क[2] और प्रदिग्ध (दही या तक्र में मिला) मांस को स्वर्ण

१—चरक में संस्कार के लिये—संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते। चरक० विमाने अ० १।

१ दुन्दुभिस्वनीय अध्याय में कही विधि से—विष रहित करके देना चाहिये।

२ परिशुष्क मांस—

"सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु।
जीरकाद्यैर्घनं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते॥"

प्रदिग्ध मांस—तदेव गोरसादानं प्रदिग्धमिति विश्रुतम्।

के पात्रों में देना चाहिये। प्रद्रवाणि (अतिशय द्रव-मण्डादि) और रसों (मांस रसों) को–चाँदी के पात्रों में देना चाहिये। कट्वर[1] (तक्र), और खड यूषों को पत्थर के बर्त्तनों में देना चाहिये। भली प्रकार उबालकर ठण्डा किया दूध–ताम्र के पात्र में देना चाहिए। पानी, पानक और मद्य इनको मिट्टी के पात्रों में देना चाहिये। राग, षाड्व, सट्टक को कांच, स्फटिक के भव्य एवं शीतल पात्रों में, वैडूर्य (बिल्लौर) के विचित्र पात्रों में देना चाहिये। पूर्वोक्त-विमल एवं खूब फैले (चौड़े), सुन्दर (स्थाली आदि) पात्रों में रसोइये—दाल चावल और अच्छी प्रकार से तैय्यार किये प्रलेहों (चाटने योग्य वस्तुओं) को दें। फल सब भक्ष्य (लड्डू आदि), और परिशुष्क वस्तुओं को खानेवाले के दक्षिण पार्श्व में रखना चाहिये। गुड से बनी सब वस्तुओं को, राग, षाड़व, सट्टक को सामने में अथवा किसी एक पार्श्व में, (जहाँ उचित समझे) रखना चाहिये ॥४४६-४५७॥

एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम्।
भोक्तारं विजने रम्ये निःसंपाते शुभे शुचौ ॥४५८॥
सुगन्धपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत्।

बुद्धिमान् मनुष्य उपरोक्त प्रकार से भोजन के परोसने की विधि को जानकर–भोजन करनेवाले मनुष्य को, विजन (एकान्त) में, रम्य (मनोहर), निःसंपात (खुले-विस्तार युक्त), शुभ एवं पवित्र, सुगन्धित फूलों से शोभित, समतल स्थान में बिठाकर भोजन कराये ॥४५८॥

विशिष्टमिष्टसंस्कारः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ॥४५९॥
मनोज्ञं शुचि नात्युष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम्।

इष्ट संस्कार (वाञ्छित कल्पनाविधि) से बने, हितकारी-प्रिय रस-गन्ध-वर्ण से युक्त, मनोज्ञ (सुन्दर), शुचि (पवित्र), बहुत गरम नहीं (थोड़ा गरम), प्रत्यग्र (अभिनव), अशन (भोजन) करना चाहिये ॥४५६॥

पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ ॥४६०॥
पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत्।
आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् ॥४६१॥
ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चित्रांस्ततः परम्।
घनं पूर्वं समश्नीयात्, केचिदाहुर्विपर्ययम् ॥४६२॥
आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शस्यते।
निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ॥४६३॥
मृणालबिसशालूककन्देक्षुप्रभृतीनि च।
पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुङ्क्ते कदाचन ॥४६४॥

भोजनों में सब से पूर्व मधुररस खाना चाहिये (जिससे पक्वाशय गत वायु का ह्रास हो), अम्ल और लवणरस को भोजनों के मध्य में खाना चाहिये (जिससे पित्ताशय में अग्नि प्रदीप्त हो), शेष कटुवादि रसों को अन्त में (कफ की शान्ति के लिये) खाना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि सब से प्रथम दाड़िम (अनार) आदि-अम्ल फलों को खाये (जिससे कि वायु शान्त हो)। इसके पीछे पीने योग्य पेय वस्तुओं को खाना चाहिये, फिर नाना प्रकार के भक्ष्य-भोजनों (दाल चावल आदि) को खाना चाहिये। प्रथम घन (कठिन) भोजन खाना चाहिये, कई आचार्य कहते हैं कि इसके विपरीत प्रथम द्रव भोजन करना चाहिये। भोजन के आदि में, मध्य में और अन्त में, आँवला-फल दोषहर होने से, बिना किसी रुकावट के बरता जा सकता है। मृणाल (पद्मनाल), बिस (भिस), शालूक, कन्द, गन्ने आदि वस्तुओं को भोजन से पूर्व देना चाहिये, भोजन के उपरान्त कभी भी नहीं देना चाहिये ॥४६०-४६४॥

सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः।
काले सात्म्यं लघु स्निग्धमुष्णं क्षिप्रं द्रवोत्तरम् ॥४६५॥
बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद्धिदितागमः

सुख पूर्वक, भूमि से ऊँचाई पर–शरीर को (शिर-ग्रीवा और पीठ को) समान रखकर, भोजन में तत्पर (कामादि व्यग्रता को छोड़कर), होकर उचित समय पर, अपनी आत्मा के अनुकूल, लघु, स्निग्ध, जल्दी (न कि बहुत जल्दी) और उष्ण द्रवप्रधान भोजन करना चाहिये। हेय उपादेय सम्बन्धि हिताहित की विवेचना करनेवाला—भूख होने पर, मात्रा के परिमाण में भोजन करे[1] ॥४६५॥

---

१ कट्वर—"सीवाराम्लमथात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः।
तदधो भागं तक्रं वा ह्यम्लतां गतम्।
सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम् ॥"
राग—"सिताख्चक सिन्धूत्यैः सवृक्षाम्लपरूषकैः।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥"
सट्टक—"लवंगं व्योषखण्डैस्तु दधि तिर्मथ्य गालितम्।
दाडिमबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णविचूर्णितम्।
सट्टकं तत्प्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् ॥"

१ चरक में भोजन विधि—विमान स्थान में—"उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणे नातिद्रुतं नातिविलम्बितं तन्मना भुञ्जीत।"

सच्ची भूख में भोजन करना चाहिये– कहा भी है "भवत्यकालेऽपि या बुभुक्षा सा मन्दबुद्धि विषवन्निहन्ति।"

मात्रा का लक्षण—
"अपीडनं भवेत्कुक्षेः पार्श्वयोरविपाटनम्।
अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य न गौरवम् ॥
प्राणनं चक्षुरादीनां शमनं क्षुत्पिपासयोः।
उच्छ्वासश्वासहास्यादिकथासु सुखवर्त्तनम्।
सुखेन परिणामः स्यादन्ने भुक्ते दिवानिशि।"

काले प्रीणयते भुक्तं सात्म्यमन्नं न बाधते ॥४६६॥
लघु शीघ्रं व्रजेत् पाकं स्निग्धोष्णं बलवह्निदम् ।
क्षिप्रं भुक्तं समं पाकं यात्यदोषं द्रवोत्तरम् ॥४६७॥
सुखं जीर्यति मात्रावद्धातुसाम्यं करोति च ।

समय पर खाया भोजन तृप्ति को करता है, सात्म्य (अपनी आत्मा के अनुकूल) अन्न शरीर को पीड़ा नहीं पहुँचाता। लघु अन्न शीघ्र जीर्ण होता है, स्निग्ध और उष्ण अन्न, बल एवं अग्नि को बढ़ाता है। न तो बहुत जल्दी और न रुक-रुककर खाया अन्न एक साथ जीर्ण (पचता) होता है, द्रव-प्रधान भोजन दोषों को कुपित नहीं करता। मात्रा में खाया अन्न भली प्रकार विना किसी कष्ट के पच जाता है और धातुओं को समान करता है ॥४६६,४६७॥

अतीवायतयामस्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः ॥४६८॥
तेषु तत्प्रत्यनीकाढ्यं भुञ्जीत प्रातरेव तु ।

जिन ऋतुओं में (हेमन्त और शिशिर में) रात्रियाँ बहुत लम्बे प्रहरोंवाली होती हैं, उनमें काल बल प्रवृत्त दोषों के विरोधी गुण बहुल भोजन-प्रातः ही (चौथे प्रहर में, शीघ्र) कर लेना चाहिये ॥४६८॥

येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः ॥४६९॥
तेषु तत्कालविहितमपराह्णे प्रशस्यते ।

जिन ऋतुओं में (ग्रीष्म और प्रावृट्) दिन बहुत लम्बे हो जाते हैं, उन ऋतुओं में कालोचित द्रव-स्निग्ध-मधुर प्राय अन्न अपराह्न में भी खाना चाहिये ॥४६९॥

रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः ॥४७०॥
कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम् ।

जिन ऋतुओं में (शरद् और वसन्त) में रात और दिन बराबर हो जाते हैं, उन ऋतुओं में दिन रात को बराबर करके समय पर भोजन करना चाहिये।

ये नियम ऋतु अलक्षित काल के लिये हैं। आवस्थिक के नियम स्वस्थ वृत्ताध्याय में कहेंगे ॥४७०॥

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा ॥४७१॥
अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः ।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति ॥४७२॥
अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले ।
कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयं च न काङ्क्षति ॥४७३॥
हीनमात्रमसंतोषं करोति च बलक्षयम् ।
आलस्यगौरवाटोपसादांश्च कुरुतेऽधिकम् ॥४७४॥

अप्राप्त काल (भोजन बेला के न आने पर) में अतीतकाल में (भोजन का समय व्यतीत हो जाने पर), हीन मात्रा अथवा अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये। कारण-शरीर में भारीपन रहने पर अप्राप्तकाल में भोजन करने से शिरोवेदना आदि अनेक रोग अथवा मृत्यु हो जाती है। अतीतकाल में भोजन न करने पर, वायु के कारण अग्नि के मन्द पड़ जाने से, भोजन कठिनाई से पचता है, और दूसरे भोजन की फिर इच्छा नहीं होती। भोजन की हीन मात्रा असन्तोष और बल का क्षय करती है। भोजन की अधिक मात्रा आलस्य, गौरव (भारीपन), आटोप (आध्मान), साद (अङ्गों में शिथिलता) उत्पन्न करती है ॥४७१-४७४॥

तस्मात् सुसंस्कृतं युक्त्या दोषैरेतैर्विवर्जितम् ।
यथोक्तगुणसंपन्नमुपसेवेत भोजनम् ॥४७५॥
विभज्य दोषकालादीन् कालयोरुभयोरपि ।
अचोक्षं दुष्टमुत्सृष्टं पाषाणतृणलोष्टवत् ॥४७६॥
द्विष्टं व्युषितमस्वादु पूति चान्नं विवर्जयेत् ।
चिरसिद्धं स्थिरं शीतमन्नमुष्णीकृतं पुनः ॥४७७॥
अशान्तमुपदग्धं च तथा स्वादु न लक्ष्यते ।

इसलिये युक्ति पूर्वक—साधु रीति से संस्कृत (तैय्यार किये) एवं उपरोक्त दोषों से रहित तथा पूर्वोक्त गुण से युक्त अन्न दोनों समय खाना चाहिये। जो अचोक्ष (अपवित्र-मलिन), विषादि से दुष्ट, उत्सृष्ट, (खाने से बचा हुआ), द्विष्ट (मन के प्रतिकूल), व्युषित (बासी सड़ा), अस्वादु (स्वाद रहित), पूति (दुर्गन्धयुक्त) चिर सिद्ध (देर का पकाया), स्थिर (कठोर), शीत (ठण्डा), पुनः गरम किया, अशान्त (बहुत उष्ण—जिसकी बाष्प शान्त नहीं हुई), उपदग्ध (जला हुआ) और जो अन्न स्वादु नहीं दीखता-तथा पत्थर तृण और मिट्टी के कणों से युक्त हो छोड़ देना चाहिये ॥४७७॥

यद्यत् स्वादुतरं तत्तद्विदध्यादुत्तरोत्तरम् ॥४७८॥

जो वस्तु अधिक स्वादु हो (खाने में स्वादिष्ट हो) उससे अधिक स्वादिष्ट वस्तु उत्तरोत्तर देनी चाहिये। एक स्वादु वस्तु खाने पर, दूसरी बार उससे अधिक स्वादु वस्तु देनी चाहिये, तीसरी बार उससे भी अधिक स्वादिष्ट वस्तु देनी चाहिये ॥४७८॥

प्रक्षालयेदद्भिरास्यं भुञ्जानस्य मुहुर्मुहुः ।
विशुद्धे रसने तस्य रोचतेऽन्नमपूर्ववत् ॥४७९॥
स्वादुना तस्य रसनं प्रथमेनातितर्पितम् ।
न तथा स्वादयेदन्यत्तस्मात् प्रक्षाल्यमन्तरा ॥४८०॥

भोजन करते हुए बार बार पानी से मुख धोना (गरारे करनी) चाहिये। ऐसा करने से जिह्वा के शुद्ध होने पर भोजन अपूर्व (नया ही) के समान प्रिय लगता है। प्रथम मधुर वस्तु के कारण जिह्वा अत्यन्त तृप्त सी हो जाती है, इसलिये अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती, अतः बीच में मुख को धोना चाहिये॥

सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखम् ।
स्वादु संजनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम् ॥४८१॥

भुक्त्वाऽपि यत् प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम् ।

स्वादु अन्न—सौमनस्य (सुमनस्कता), बल (ओज), पुष्टि (शरीर की वृद्धि), उत्साह, हर्षण (प्रसन्नता), सुख (नीरोगता), को उत्पन्न करता है। अस्वादु अन्न-इनसे विपरीत गुणों को

उत्पन्न करता है। भोजन करनेवाला पुरुष जिस भोजन को एक बार खाकर फिर फिर मांगता है, उसको अवश्य स्वादु समझना चाहिये ॥४८१॥

अशितश्चोदकं युक्त्या भुञ्जानश्चान्तरा पिबेत् ॥४८२॥

भोजन करनेवाले पुरुष को चाहिये कि—भोजन करके, पीछे से पानी को मात्रा में पीये ॥४८२॥

दन्तान्तरगतं चान्नं शोधनेनाहरेच्छनैः।
कुर्यादनिर्हृतं तद्धि मुखस्यानिष्टगन्धताम् ॥४८३॥

भोजन के उपरान्त दांतों में फंसे अन्न को तिनके आदि से बाहर निकाल दे। क्योंकि न निकालने पर मुख में यह अन्न दुर्गन्ध उत्पन्न करता है ॥४८३॥

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि, तस्माद् भुक्तेरितं कफम् ॥४८४॥

भोजन के जीर्ण (पचने) होने पर वायु बढ़ती है, भोजन के विदग्ध (अर्ध पक्व) अवस्था में पित्त बढ़ता है, भोजन के उपरान्त कफ बढ़ता है ॥४८४॥

धूमेनापोह्य हृद्यैर्वा कषायकटुतिक्तकैः
पूगकङ्कोलकर्पूरलवङ्गसुमनः फलैः ॥४८५॥
फलैः कटुकषायैर्वा मुखवैशद्यकारकैः।
ताम्बूलपत्रसहितैः सुगन्धैर्वा विचक्षणः ॥४८६॥

इसलिये भोजन के द्वारा प्रेरित कफ को धूमपान के द्वारा अथवा कषाय-कटु तिक्त रसवाले, हृदय के लिये प्रिय द्रव्यों द्वारा या—पूग (सुपारी), कंकोल (शीतल चीनी), कपूर, लौंग, सुमनफल (जायफल-जावित्री) से तथा मुख को स्वच्छ करनेवाले कषाय, एवं कटु रस युक्त फलों के द्वारा अथवा ताम्बूलपत्र (पान) में सुगन्धित वस्तुयें मिलाकर खाने से नष्ट करना चाहिये॥

भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः।
ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥४८७॥

भोजन करने के उपरान्त—जब तक भोजन जन्य श्रम दूर न हो जाये, तबतक राजासन (भद्रासन[1]) से बैठना चाहिये। इसके पीछे सौ पांव चलकर वाम पार्श्व से लेटना चाहिये एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) आराम जरूर लेना चाहिये ॥४८७॥

शब्दान् रूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥४८८॥

भोजन करने के पीछे मन के अनुकूल शब्दों स्पर्शों रूपों रसों और गन्धों का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार से अन्न भली प्रकार से पचता है ॥४८८॥

शब्दरूपरसा गन्धाः स्पर्शाश्चापि जुगुप्सिताः।
अशुच्यन्नं तथा भुक्तमतिहास्यं च वामयेत् ॥४८९॥

जुगुप्सित (निन्दित-अप्रिय)—शब्दों, रूपों, रसों, गन्धों और स्पर्शों का सेवन से अपवित्र अन्न के खाने से, अति भोजन से, तथा अतिहास्य के कारण भोजन का वमन हो जाता है ॥४८६॥

शयनं चासनं वाऽपि नेच्छेद्वापि द्रवोत्तरम्।
नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम् ॥४९०॥

भोजन करने के उपरान्त न तो अधिक देर लेटना-सोना चाहिये, न बैठना चाहिये, और न बहुत पानी पीना चाहिये (द्रव बहुल भोजन नहीं करना चाहिये)।

न तो अग्नि, न धूप, सेवन करनी चाहिये। न स्नान (जल में तैरना उछलना कूदना), न गमन (तेज या दूर चलना) और न घोड़े आदि की सवारी करनी चाहिये ॥४९०॥

न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन।
शाकावरान्नभूयिष्ठमम्लं च न समाचरेत् ॥४९१॥

कभी भी एक ही रस का निरन्तर (अथवा बार-बार) अभ्यास—सेवन नहीं करना चाहिये। शाक (पत्र-पुष्पादि) अवरान्न (वेणुयवादि) तथा अम्ल रस को अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये। 'एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्'—चरक ॥४९१॥

एकैकशःसमस्तान् वा नाध्यश्नीयाद्रसान् सदा।
प्राग्भुक्ते त्वविविक्तेऽग्नौ द्विरन्नं न समाचरेत्॥४९२॥
पूर्वभुक्ते विदग्धेऽन्ने भुञ्जानो हन्ति पावकम्।

एक एक रस को पृथक् पृथक् करके अथवा सब रसों को एक साथ में मिलाकर भोजन नहीं करना चाहिये। अपितु कुछ रसों को पृथक् पृथक् करके और कुछों को मिलाकर खाना चाहिये। दोष और रोग की अपेक्षा से एक एक रस का और स्वस्थ की अपेक्षा से सब मिलित रसों का निषेध है। प्रातः या पूर्व भोजन करने के उपरान्त जब तक अग्नि स्पष्ट न हो (भूख न लगे), तब तक दूसरी बार किया भोजन जठराग्नि को मन्द (नष्ट) कर देता है ॥४९२॥

मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः ॥४९३॥
पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः।
द्विगुणं च पिबेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति।

जो द्रव्य लघु हैं (मूङ्ग आदि हैं) उनको मात्रा से (अधिक मात्रा में) छोड़ देना है, और जो द्रव्य स्वभाव से गुरु (माष आदि) हैं उनको वैसे ही अधिक नहीं खाना चाहिये।

पिष्टान्न (संस्कार जन्य गुरु मात्रा का द्योतक) को कभी नहीं खाना चाहिये। यदि खाना हो तो मात्रा में

---

१ भद्रासन—
"सीमन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्।
वृषणाऽधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत्।
भद्रासनसमुद्दिष्टम्।" नृपासनमेतद् भद्रासनम् ॥

तथा भूख लगने पर ही खाना चाहिये[1]। इसको खाकर दुगुना पानी पीना चाहिये, इससे सुखपूर्वक पाचन हो जाता है।

पेयलेह्याद्यभक्ष्याणां गुरु विद्याद्यथोत्तरम् ॥४९४॥

चार प्रकार के अन्न में (पेय, लेह्य आद्य-खाद्य और भक्ष्य) उत्तरोत्तर प्रकार का अन्न गुरु समझना चाहिये। यथा–पेय–जलादि से लेह्य-मध्वादि, लेह्य से खाद्य (चावल आदि), खाद्य से भक्ष्य (लड्डू आदि) गुरु हैं ॥४९४॥

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते।
द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते ॥४९५॥
द्रवाढ्यमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते।

जो पदार्थ स्वभाव से या संस्कार के कारण गुरु हैं, उनको आधी मात्रा में (आधे पेट-भूख रखकर) खाना चाहिये। और जो पदार्थ लघु हैं, उनको तृप्ति (थोड़ी भूख रखकर—ईषत् तृप्ति) तक खाना चाहिये। द्रवोत्तर (द्रव बहुल-तक्रादि) और द्रव (पेयादि) का भी अधिक मात्रा में सेवन करना ठीक नहीं, जो पदार्थ शुष्क हैं, वे भी द्रव बहुल होने पर बिना दोष उत्पन्न किये भली प्रकार से पच जाते हैं। क्योंकि पानी का पाचन बृहदंत्र में होने से सम्पूर्ण अन्न प्रणाली को धोता जाता है ॥४९५॥

विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ॥४९६॥
पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति।

विशुष्क (सूखा) अन्न सेवन करने पर भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता। अपितु असंक्लिन्न (ठीक प्रकार से गीला न होकर) एक गोल सा बनकर विदग्ध हो जाता है (आधा कच्चा-पका रह जाता है) ॥४९६॥

स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति ॥४९७॥
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते।

जिस समय पित्त अन्नवह स्रोतस् (अन्त्र) में तथा (अग्नि स्थान) में रुक जाता है, उस समय विदाही अन्न तथा अविदाही भोजन सब विदग्ध हो जाता है ॥४९७॥

शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् ॥४९८॥

शुष्क (भृष्टान्नादि), विरुद्ध, (दूध, मछली आदि), विष्टम्भि (चना मसूर आदि) अन्न अग्नि दोष को उत्पन्न करते हैं ॥४९८॥

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥४९९॥

कफ, पित्त और वायु के कारण, आम अजीर्ण, विदग्ध अजीर्ण और विष्टब्ध अजीर्ण—इन तीन प्रकारों के अजीर्ण होते हैं। कई आचार्य आहार के परिपाक से शेष बचे रस का परिपाचन के कारण उत्पन्न चौथे प्रकार का भी अजीर्ण मानते हैं।

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा
संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्त-
मन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥५००॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन
लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमान-
मन्नं न सम्यक् परिणाममेति ॥५०१॥

अजीर्ण का कारण—अधिक पानी पीने से, विषमाशन (विषमाशन का लक्षण आगे कहेंगे), मूत्र पूरीष के उपस्थित वेगों को रोकने से, स्वप्न के विपर्यय (दिन में सोना रात में जागने) से ठीक समय पर और उचित (आत्मा के अनुकूल) एवं लघु (स्निग्ध, उष्णादि) भोजन भी ठीक प्रकार से जीर्ण नहीं होता। इसी प्रकार ईर्षा (दूसरे की सुख-सम्पत्ति में असहिष्णुता), भय क्रोध से युक्त मनवाले, लालची (लोभयुक्त), शुक् (शोक), दैन्य (दीनता) से युक्त मनवाले पुरुष का अन्न भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता ॥५००,५०१॥

माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं,
विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्।
किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं
विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम् ॥५०२॥

कफ के प्रभाव से जब अन्न में मधुरता उत्पन्न हो जाती है, तब उसका नाम 'आम' होता है। पित्त के कारण जब अम्लता उत्पन्न हो जाती है, तब इसकी संज्ञा 'विदग्ध' होती है। वायु के कारण जब भोजन कुछ पक जाता है और कुछ कच्चा रह जाता है, बहुत पीड़ा एवं शूल होता है, वायु विशेष रूप में रुक जाता है या प्रवृत्त नहीं होता, तब इसकी संज्ञा 'विष्टब्ध' होती है[1]। तीन प्रकार के अजीर्ण हैं—आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण तथा विष्टब्धाजीर्ण ॥५०२॥

उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा
न जायते हृद्गुरुता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसेकं
चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥५०३॥

उद्गार (डकार) के शुद्ध होने पर भी भोजन की इच्छा न हो, हृदय प्रदेश पर भारीपन हो, तथा मुख से लालास्राव हो तो इसको रसावशेष जन्य चौथे प्रकार का अजीर्ण कहते हैं।

---

१ चरक में भी कहा है—
गुरुपिष्टमयं द्रव्यं तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेत्सामां खादेद् बुभुक्षितः॥
आहारमात्रा पुनः अग्निबलापेक्षिणी द्रव्यापेक्षयाच।
त्रिभागं सौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते॥
चरक०

१ कफ कार्य—गौरव, स्नेह, कण्डू आदि पित्तकार्य—तिक्त अम्लोद्गार आदि, वात कार्य-जृम्भा, अंगमर्द आदि का भी उपलक्षण करना चाहिये।

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥५०४॥

अजीर्ण के उपद्रव—

मूर्च्छा (चेतना नाश), प्रलाप (असंबद्ध भाषण), वमथु (वमन), प्रसेक (मुख से लालास्राव), सदनं (अङ्गों का टूटना या अङ्गों में ग्लानि), भ्रम (चक्कर आना), अथवा मृत्यु—ये उपद्रव अजीर्ण के कारण होते हैं ॥५०४॥

तत्रामे लङ्घनं कार्यं, विदग्धे वमनं हितम्।
विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं, रसशेषे शयीत च ॥५०५॥

चिकित्सा—

आम अजीर्ण में लंघन करना चाहिये। विदग्धाजीर्ण में वमन हितकारी है, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन, तथा रसशेषाजीर्ण में—सोना (तथा पाचन एवं स्वेदन) हितकारी है ॥

वामयेदाशु तं तस्मादुष्णेन लवणाम्बुना।
कार्यं वाऽनशनं तावद्यावन्न प्रकृतिं भजेत् ॥५०६॥
लघुकायमतश्चैनं लङ्घनैः समुपाचरेत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥५०७॥

वमन के लिये लवणयुक्त गरम जल पिलाना चाहिये, जिससे शीघ्र वमन हो जाये। जब तक अजीर्ण की निवृत्ति न हो तब तक अनशन करना चाहिये। इस प्रकार से अग्नि दीप्त होनेसे शरीर के हल्के होने पर लघु भोजन देने चाहिये। जब तक दोष एवं प्राण (बल) से प्रकृति (स्वास्थ्य) में न आ जाये तब तक लघु भोजन ही देना चाहिये ॥५०६,५०७॥

हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्।
बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम् ॥५०८॥
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून्व्याधीन्करोति वा ॥५०९॥

हितकारी और अहितकारी[1] अन्न को एक साथ मिलाकर खाना—'समशन' कहाता है। बहुत अधिक या थोड़ा अथवा बिना समय के खाना 'विषमाशन' कहाता है। अजीर्णावस्था में भोजन करना 'अध्यशन' कहाता है। ये तीनों ही मनुष्य को शीघ्र मार देते हैं, अथवा बहुत से रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥५०८,५०९॥

अन्नं विदग्धं हि नरस्य शीघ्रं
शीताम्बुना वै परिपाकमेति।
तद्ध्यस्य शैत्येन निहन्ति पित्त-
माक्लेदिभावाच्च नयत्यधस्तात् ॥५१०॥

विदग्धाजीर्ण की चिकित्सा-विदग्ध अन्न शीतल पानी पीने से शीघ्र जीर्ण हो जाता है। क्योंकि—शीतलता के कारण यह जल पित्त को शान्त करता और भोजन को आर्द्र बनाकर नीचे की ओर ले जाता है, दस्त लाता है ॥

विदह्यते यस्य तु भुक्तमात्रे
दह्येत हृत्कोष्ठगलं च यस्य।
द्राक्षाभयां माक्षिकसंप्रयुक्तां
लीढ्वाऽभयां वा स सुखं लभेत ॥५११॥

जिस पुरुष के भोजन करने के उपरान्त आमाशय में विदग्धाजीर्ण हो जाता है, और हृदय कोष्ठ और गले में जलन होती है, उसके लिये द्राक्षा और हरड़ को शहद में मिलाकर देना चाहिये। अथवा खाली अभया (हरड़) को शहद में मिलाकर चाटना चाहिये ॥५११॥

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का
स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले।
प्रातः सशुण्ठीमभयामशङ्को
भुञ्जीत संप्राश्य हितं हितार्थी ॥५१२॥

जिस बलवान् एवं स्निग्ध शरीरवाले पुरुष को भोजन के समय अजीर्ण की आशङ्का हो, उसको चाहिये कि प्रातःकाल सोंठ और अभया (हरड़) को खाले। फिर बेफिकरी के साथ हितकारी भोजन को खाये ॥५१२॥

स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं
लीनं न तेजःपथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा
या मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति ॥५१३॥

जिस समय—थोड़ा--एक पार्श्व में छिपा आमदोष के साथ मिलकर, अग्निमार्ग को नहीं रोकता, उस समय अजीर्णावस्था में भी खाने की इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा-मन्दबुद्धि पुरुष को विष के समान मार देती है, इस समय में भोजन करने से दोष-रोग अधिक बढ़ जाता है[1] ॥५१३॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥५१४॥
ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः ॥५१५॥
स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥५१६॥
पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥५१७॥

---

१ हिताहित—
"धान्यं नवं पुराणं यच्छाकं जीर्णं च कोमलम्।
ऐकध्यं तद् विरुद्धं स्याच्छीतोष्णं च स्वजातितः ॥"

१ कुछ लोग निम्न पाठ अधिक मानते हैं—
अन्नेन कुक्षेर्द्वाविंशौ पानेनैकं च पूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥

दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा ।
सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः ॥५१८॥
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥५१९॥
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ।
द्रवः प्रक्लेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद्बन्धकारकः ॥५२०॥
श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः, कर्कशो विशदो यथा ।
सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ॥५२१॥
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्धृल्लासारुचिकारकः ।
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो मन्दो यात्राकरः स्मृतः ॥५२२॥
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ॥५२३॥
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः ॥
गुणा विंशतिरित्येवं यथावत्परिकीर्तिताः ।

इसके आगे गुणों के कर्मों को विस्तार से कहते हैं। चूंकि नाना द्रव्यों में आश्रित शुभाशुभ २० गुण कर्मों से ही जाने जाते हैं। शीत गुण—ह्लादक (सुख दायक), स्तम्भक है, मूर्च्छा, प्यास, स्वेद और दाह का नाशक है। उष्णगुण शीत-गुण के विपरीत गुणोंवाला और विशेष कर पाचक (व्रणादि को पकानेवाला) है। स्निग्ध गुण—स्नेहन, मार्दव (कोमलता), बल एवं वर्ण को उत्पन्न करता है। रूक्षगुण—स्निग्ध के विपरीत गुणोंवाला तथा विशेष करके स्तम्भक एवं खर (कर्कश) है। पिच्छिलगुण—जीवनदायक, बलकारक, सन्धानकारक, कफवर्धक और गुरु है। विशदगुण—पिच्छिलगुण के विपरीत है, इसलिये—आर्द्रता का नाश करनेवाला और रोहण करता है। तीक्ष्णगुण—दाह (जलन), पाक (व्रण को पकाना) उत्पन्न करता है, और स्रावक है। मृदुगुण, तीक्ष्णगुण के विपरीत है। गुरुगुण—साद (अङ्ग ग्लानि), उपलेप (मलवृद्धि), बल (कफ) वर्धक, तर्पण (तृप्तिकर), बृंहण (देह वर्धक) है। लघुगुण—गुरु गुण के विरुद्ध तथा लेखन (पतला) करनेवाला, और रोपण है। शीत आदि दस गुणों के कर्मों को कह दिया, अब द्रव आदि दस गुणों के कर्मों को कहते हैं। द्रवगुण अक्लेदक (क्लिन्न करनेवाला), सान्द्रगुण स्थूल, बन्धकारक (उपचयकारक) है। श्लक्ष्ण गुण—पिच्छिल के समान है, कर्कशगुण—विशद के समान हैं। सुगन्ध गुण—सुखदायक सूक्ष्म, रोचक और मृदु है। दुर्गन्ध गुण—सुगन्ध के विपरीत है, इसलिये—जी मच-लाना तथा अरुचिकारक है। सरगुण—वायु का अनुलोमक है, मन्द गुण—शरीर के वर्त्तन को कराता है। व्यवायी गुण-प्रथम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर पीछे से जीर्ण होता है। विकासी गुण—अपक्वावस्था में ही सम्पूर्ण शरीर में फैलकर, मद्य एवं विष के समान, सब शरीर-धातुओं को शिथिल करता है। आशुकारी गुण—जिस प्रकार पानी में तैल फैल जाता है, उसी प्रकार शीघ्र धातुओं में फैल जाता है। सूक्ष्म गुण—सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म स्रोतों में फैल जाता है। इस प्रकार के बीस गुणों को कह दिया है।

वि० मन्तव्य—इस पाठ में २० गुणों के व्याख्यान की प्रतिज्ञा की गई हैं, परन्तु २२ गुण गिन दिये गये हैं—सुगन्ध एवं दुर्गन्ध अधिक हैं। यद्यपि "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" च० सू० अ० १ के अनुसार अर्थ—शब्द आदि विषयों को भी गुण कहा जाता है। अतः सुगन्ध एवं दुर्गन्ध को गुणों में गिना जा सकता है, तथापि च० सू० अ० २५ में आहार के २० ही गुण माने हैं और उनमें सुगन्ध एवं दुर्गन्ध नहीं पढे गये हैं। और इस सुश्रुत संदर्भ के अनुसार व्यवायी एवं विकासी भी चरक के उक्तप्रकरण वाग्भट सू० स्थान अ० १ में भी नहीं पढ़े गये हैं। अस्तु ॥५१४-५२४॥

संप्रवक्ष्याम्यतश्चोर्ध्वमाहारगतिनिश्चयम् ॥५२५॥

जिस जिस प्रकार का अन्न-जीर्ण होकर जिस द्रव्य का पोषण करता है, उसका निर्णय कहते हैं ॥५२५॥

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः ।
विपक्वः पञ्चधा सम्यग्गुणान् स्वानभिवर्धयेत् ॥५२६॥

इस पृथ्वी आदि पञ्चभूतात्मक शरीर में, आहार की पञ्चमहाभूतों की अग्नि द्वारा पककर अपने गुणों को बढ़ाता है। पृथ्वी गुणवाले आहार-पार्थिव को बढ़ाते हैं, द्रव गुणवाले जलीय गुण को बढ़ाते हैं[1] ॥५२६॥

अविदग्धः कफं, पित्तं विदग्धः, पवनं पुनः ।
सम्यग्विपक्वो निःसार आहारः परिबृंहयेत् ॥५२७॥

अविदग्ध (मधुर आहार) आहार कफ को बढ़ाता है, विदग्ध (अम्लीभूत) आहार पित्त को बढ़ाता है। भली प्रकार से पका आहार—सार रहित होने से (मल द्वारा) वायु को बढ़ाता है ॥५२७॥

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥५२८॥

शोणित वर्णनीय अध्याय में—विट् (मल) और मूत्र और रस की आहार से उत्पत्ति कह दी। यह रस व्यान वायु के द्वारा प्रेरित होकर केदारकुल्या न्याय से सब धातुओं का पोषण करता है ॥५२८॥

१—चरक में भी कहा है—
"यथास्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेवं शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥"

कफः पित्तं मलः खेपु स्वेदः स्यान्नखरोम च ।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः ॥५२९॥

आहार का मल—मल और मूत्र, रस का मल कफ, रक्त का मल पित्त, मांस का मल—कान मुख नासिका का मल, मेदका मल-स्वेद, अस्थियों के मल नख और रोम, मज्जा का मल—आँख मल, त्वचा का जो स्नेह है, वह मल है, ये धातुओं के क्रमशः मल है। शुक्र—मल रहित है, इसलिये इसका कोई मल नहीं है, जिस प्रकार कि हजारों बार तपाये स्वर्ण में से मल नहीं निकलता। इसलिये—शुक्रस्य सारमोजः। अत्यन्त शुद्धतयास्य मलाभावः ॥

वि० मन्तव्य—रस आदि धातुओं का स्वस्वस्थान में स्वस्वाग्नि द्वारा परिपाक होने पर कफ आदि मलों की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है ॥५२९॥

दिवा[1] विबुद्धे हृदये जाग्रतः पुण्डरीकवत् ।
अन्नमक्लिन्नधातुत्वादजीर्णेऽपि हितं निशि ॥५३०॥
हृदि संमीलिते रात्रौ प्रसुप्तस्य विशेषतः ।
क्लिन्नविस्रस्तधातुत्वादजीर्णे न हितं दिवा ॥५३१॥

दिन में जागते हुए पुरुष का हृदय कमल के समान खिला रहता है (मनुष्य का मस्तिष्क क्रियाशील रहता है। चेष्टावद् तन्तु गति करते हैं)। धातुओं के अक्लिन्न होने से, रात्रि में, अजीर्णावस्था में भी किया गया भोजन हितकारी होता है। रात्रि में खासकर सोने से हृदय संकुचित हो जाता है (ज्ञान तन्तु सुप्तावस्था में रहते हैं), इसलिये धातुओं के क्लिन्न एवं शिथिल होने से अजीर्णावस्था में दिन के समय भोजन करना हितकारी नहीं। सायंकाल के भोजन करने से यदि अजीर्ण उत्पन्न हो तो प्रातःकाल भोजन नहीं करना चाहिये। प्रातःकाल के भोजन करने से यदि अजीर्ण उत्पन्न हो तो सायंकाल का भोजन हानिकारक नहीं है ॥५३०,५३१॥

इमं विधिं योऽनुमतं महामुने-
र्नृपर्षिमुख्यस्य पठेद्धि यत्नतः ।
स भूमिपालाय विधातुमौषधं
महात्मनां चार्हति सूरिसत्तमः ॥५३२॥

इसका फल—

जो मनुष्य महामुनि एवं राजर्षियों में अग्रगण्य धन्वन्तरि से अनुमत—सूत्रस्थान में वर्णित इस आहार विधि को पढ़ता है, वह सूरिसूत्तम (पण्डित प्रधान)—राजा के लिये औषध बना सकता है, तथा राजाओं के समान सत्कार को पाने के योग्य भी होता है ॥५३२॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशत्तमोध्यायः ।

१—दिन में मनुष्य चलता-फिरता रहता है, इसलिये दिन में भोजन हानि नहीं करता ।

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥
तस्मिन् विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ॥
न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धावतः ।
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ॥
अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विमिश्रितम् ।
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृत्तेष्वनयेषु च ॥
यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ।
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ चरक०-
चि० अ० १५ ।

अथ निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

हेतु, लिंग और औषध ज्ञान इनको बीज रूप से सूत्रस्थान में कहकर हेतु लक्षण का प्रतिपादन करने के लिये इस-निदान-स्थान का आरम्भ करते हैं। इसमें भी वायु के सबसे प्रधान होने से तथा आरोग्य लाभ की इच्छा से सबसे प्रथम 'वात-व्याधि निदान' की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1]।

वि० मन्तव्य—निदान शब्द का अर्थ—रोगों के हेतु तथा लक्षण का निर्देश-वर्णन जिस प्रकरण में हो उसका नाम निदानस्थान है। जिसके द्वारा रोग का निश्चय किया जाता है उसका नाम निदान है। इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति का नाम निदान हो जाता है, परन्तु निदान-रोग के निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण, मूल, प्रवर्त्तक, उत्पादक का नाम भी है, पूर्वरूप—भावी, उत्पत्स्यमान, भविष्यत् रोग के लक्षण का नाम है, रूप-उत्पन्न-वर्त्तमान-विद्यमान रोग के लक्षणों का नाम है, रूप के पर्याय हैं—संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, चिह्न, आकृति आदि। इनमें व्यञ्जन वह लक्षण है जो रोग का प्रधान लक्षण या स्व-स्वकीय रूप होता है अर्थात् जिसके बिना वह रोग "वह रोग" ही नहीं कहला सकता है, यथा—ज्वर का सन्ताप, पाण्डुरोग का पाण्डुवर्ण, कास का कसन—खाँसना, श्वास का श्वास फूलना तथा अर्श का अर्शोङ्कुर—मांसांकुर आदि २। उपशय—हेतु एवं रोग के विपरीत अथवा विपरीतार्थकारी (विपरीत न होने पर भी विपरीत अर्थ-फल करनेवाले) औषध, आहार तथा विहार का सुखानुबन्ध (आरोग्य प्रद) उपयोग-सेवन का नाम है और सम्प्राप्ति-रोग की उत्पत्ति के प्रकार का नाम है। इस निदानस्थान में जितने रोग लिखे गये हैं उनके संक्षिप्त अथवा विस्तृत निदान पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति सब लिखे गये हैं। यदि उपशय न भी लिखा गया हो तो समझ लिया जाय कि—जो आहार—विहार रोग के निदान-कारण होते हैं उनसे विपरीत आहार—विहार उपशय होते हैं। वातव्याधि—वातजनित विशिष्ट रोग है ॥ १,२ ॥

१—यथा चरक में—
"वायोर्यथा स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय।"

धन्वन्तरिं धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम्[1]।
चरणावुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥ ३ ॥
वायोः प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च कोपनैः।
स्थानं कर्म च रोगांश्च वद मे वदतां वर! ॥ ४ ॥

धर्मात्माओं में वरिष्ठ (श्रेष्ठ) एवं अमृत कलश के साथ उत्पन्न भगवान् धन्वन्तरि के चरणों को छूकर सुश्रुत ने पुनः पूछा कि—हे वक्ताओं में श्रेष्ठ! अपनी प्रकृति (स्वभाव) में स्थित एवं वायु के समान द्रव्य गुण कर्मों के द्वारा कुपित होने से विकृत वायु के स्थान कर्म (सामान्य एवं विशेष) तथा रोगों को मेरे प्रति कहें ॥३,४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः।
स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥ ५ ॥
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ६ ॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूयानामेष कारणम्।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः ॥ ७ ॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥ ८ ॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः।

भिषजों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने सुश्रुत के वचन को सुनकर उत्तर दिया—यह वायु भगवान् (समस्त ऐश्वर्य-अणिमादि गुणों से युक्त) है। अपने कार्य में स्वतन्त्र होने से, नित्य तथा सर्वत्र व्याप्त (गतिमान्) होने से (आकाश की भाँति) इसको स्वयम्भू कहते हैं। एवं सूक्ष्म-परमाणु होने से भी स्वयम्भू है। सब स्थावर एवं जंगम पदार्थों में कारण-कार्यात्मक रूप से विद्यमान है। सब प्राणियों की स्थिति (जीवन), उत्पत्ति और विनाश में यही वायु कारणभूत है, इसलिये सम्पूर्ण लोक इसको नमस्कार करता है। अव्यक्त (अदृश्य) होते हुये भी इसके कर्म (कार्य) व्यक्त (प्रकट) हैं। वायु के कर्म—रूक्ष, शीत (असंयुक्तवायु) लघु, खर (कर्कश), तिर्य्यंग (तिर्य्यग् गामी), द्विगुण (शब्द-स्पर्श गुण), रजोबहुल (रजोगुण की प्रधानता), अचिन्त्यवीर्य (अचिन्त्यशक्ति), दोषाणां नेता (दोष-धातु-मल का प्रेरक), पित्त-कफ रक्तादि के रोग समूहों में शोभित होता है, (सबसे अधिक अस्सी वात विकार हैं),

१ "अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः।"

आशुकारी (शीघ्रकारी), प्रकृति में रहने पर भी बार बार गति करता है। इस वायु के स्थान पक्वाधान (पक्वाशय-बृहदंत्र) और गुदा हैं[१]।

वि० मन्तव्य—पक्वाधान—मलाशय और गुदा वायु का प्रधान स्थान है, अर्थात् उनमें विकार उत्पन्न होने पर ही वायु के विकार उत्पन्न होते हैं और उनके शुद्ध रहने पर वायु भी शुद्ध-शान्त रहता है ॥ ५-८ ॥

देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥ ९ ॥
दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च ।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥ १० ॥
(इन्द्रियार्थोपसंप्राप्तिं दोषधात्वग्न्यवैकृतम् ।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद्वायुरदूषितः ॥ १० ॥)

शरीर के अन्दर गति करती हुई वायु के लक्षणों (मुझ से कहे) को सुनो—दोष एवं धातु तथा अग्नि की समानावस्था में रखना, शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध (विषयों) में मन को इन्द्रियों के साथ संयुक्त करना, शारीरिक वाणी एवं मन की क्रियाओं को प्रवृत्त करना, ये अकुपित-प्रकृतिस्थ वायु के कार्य हैं ॥ ९,१० ॥

यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः ।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः ॥११॥
प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥१२॥

जिस प्रकार से अग्नि (पित्त)—नाम (पाचक रञ्जक आदि), स्थान (आमाशय-पक्वाशय), एवं कर्म (अन्न पाचन आदि) के भेद से पाँच प्रकार की है, उसी प्रकार से एक वायु भी नाम-स्थान और कर्म के कारण पाँच प्रकार की है। यथा—प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान-ये पाँच भेद हैं। स्वास्थ्यावस्था में ये पाँचों शरीर को धारण करती हैं ॥११,१२॥

यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥ १३ ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ।

इनमें जो वायु वक्त्र (मुख-उर-कण्ठ) में संचरण करता है, उसका नाम प्राण है[१]। यह प्राण शरीर को धारण करता है, भोजन को शरीर के अन्दर प्रविष्ट करता है, प्राणों का (अग्नि सोमीय) अधिष्ठान (आधार भूत-आश्रय स्थान) है। दूषित होकर यह प्राण-हिक्का—श्वास-प्रतिश्याय आदि रोगों को उत्पन्न करता है।

वि० मन्तव्य—प्राण प्रकर्षेण आ-समन्तात् अनिति अर्थात् जिसके द्वारा जन्तु जीवित रहता है प्राणी कहलाता है अथवा प्राणयति इति प्राणः-अर्थात् जो जीवित रहता है। इसका स्थान—नाभि माना जाता है-शरीर में दो अवयवों का नाम "नाभि" है १-धुन्नी या तुन्न जो उदर पर बाहर दीखती है। गर्भ या भ्रूण का प्राणन इसी के द्वारा होता है। २-"पक्वाऽऽमाशययोः मध्यं सिराप्रभवा नाभिः नाम मर्म" (सु०शा०अ०६) अर्थात् मलाशय एवं आमाशय का मध्य (क्षुद्रान्त्र नामक अवयव) "नाभि" है। यहीं से रसवाही सिराओं का प्रारम्भ होता है। जन्म के पश्चात्—नालच्छेदन के अनन्तर इसी नाभि से प्राण की प्रवृत्ति होती है जीवन भर और उसका हृदय भी माना जाता है -क्योंकि साधारणतः—हृदय की गति चालू रहने पर ही जीवन-प्राण रहता है अन्यथा नहीं। प्राण-उदान आदि शब्द "अन् प्राणने" धातु में उपसर्ग लगाकर बनाये गये हैं। प्राण का प्रभाव जीवन पर हैं ॥ १३ ॥

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥ १४ ॥
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥ १५ ॥

जो श्रेष्ठ वायु ऊपर को जाती है उसका नाम 'उदान' है इसके स्थान—नाभि-उर और कण्ठ हैं[२]। इस वायु के द्वारा ही—भाषण, गाना, उच्छ्वास आदि विशेष होते हैं। खासकर यह वायु जत्रु से ऊपर के (वक्ष एवं अंस संधि से ऊपर के), आँख, मुख, नासिका, कान एवं शिर के रोगों को तथा कामला आदि रोगों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—उदान—उत्—ऊर्ध्व—आ—समन्तात् अनिति इति उदानः। अर्थात् जो ऊपर के अवयवों

१—यथा छान्दोग्योपनिषद् में—"वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते"। इसी प्रकार—"वायुर्त्वीय संसर्गः"—यहाँ से आरम्भ करके—'आध्यात्मं प्राणो वाव संसर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति'। (छा० ४ । ३ । ३)

२—सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
सांख्यकारिका ।

३—वायुस्तंत्रयंत्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः,....इत्यादि ।
चरक० सू० अ० १२।

१ उपनिषद् में—"कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामीति-स प्राणमसृजत् ॥"

२-यथा सैन्धवोऽश्वः शंकुमुत्पाट्य धावति—तद्वत् प्राणो रुद्धः सन् सर्वान् वायूनुत्पाद्य प्रयाणकाले धावति ॥

२ यथा चरक में—
"उदानस्य पुनः स्थानं नाभि उरः कण्ठ एव च ।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोजो बलवर्णादि कर्म च ॥"

का प्राणन करता है । इसका प्रभाव श्वास क्रिया पर है । श्वास क्रिया से ही भाषित आदि की प्रवृत्ति होती है ॥१५॥

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः ।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि ॥१६॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् ।

समान वायु—पच्यमान आहार के आशय स्थान आमाशय में, वह्नि (जठराग्नि) से संगत (पार्श्व में) रहती है[1] । यह समान वायु अन्न का पाचन करती है, तथा अन्न से उत्पन्न होने वाले रस, दोष, मूत्र, मलों को पृथक् करती है और विकृत होने पर—गुल्म, अग्निसाद (अग्निमान्द्य), अतीसार आदि रोगों को उत्पन्न करती है ।

वि० मन्तव्य—समान–सं–सम्यक् आसमन्तात् अनिति इति समानः । इसका प्रभाव–अधिकार पाचन क्रिया पर है ॥

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥१७॥
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१८॥

व्यान वायु—सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, तथा रसादि को प्रेरित करती है । स्वेद, एवं रक्त का विस्रावण करती है । प्रसारण, आकुंचन, विन्नमन, उन्नमन, तिर्य्यग् गमन (या गति प्रसारण-उत्क्षेप, निमेष-उन्मेष) आदि–यह पाँच प्रकार की चेष्टायें करती है । कुपित होने पर सर्व शरीर व्यापी ज्वर, अतिसार आदि रोगों को उत्पन्न करती है ।

वि० मन्तव्य—व्यान–विशेषेण आ-समन्तात् अनिति इति व्यानः । इसका प्रभाव समस्त शरीर पर है ॥

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः ।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च ॥१९॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान् ।

अपान का स्थान पक्वाशय है । यह वायु समय होने पर मल-मूत्र-शुक्र-गर्भ और आर्त्तव को नीचे की ओर खींचती है । क्रुद्ध होने पर वस्ति आश्रित (अश्मरी आदि) एवं गुदाश्रित (भगन्दर आदि) भयंकर रोगों को उत्पन्न करती है ।

वि० मन्तव्य—अप अधस्तात् आ—समन्तात् अनिति इति अपानः । इसका प्रभाव—मलाशय, गुद मूत्राशय–मूत्र संस्थान तथा गर्भाशय और शुक्रवहस्रोतस् तथा डिंबकोश आदि बस्तिगह्वर के अवयवों पर है ॥१९॥

शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ॥२०॥
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्द्युरसंशयम् ॥

व्यान और अपान वायु के मिलित अवस्था में कुपित होने से शुक्रजन्य एवं प्रमेह रोग उत्पन्न होते हैं[1] । एक साथ यदि सब वायु कुपित हो जायें तो, निःसन्देह शरीर का नाश कर देते हैं ॥२०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ॥२१॥
वहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ।
वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ॥२२॥
मोहं मूर्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ।
पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ॥२३॥
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ।
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः ॥२४॥

इसके आगे नाना स्थानों में आश्रित वायु के प्रकोप से होनेवाले रोगों को कहता हूँ । आमाशय में कुपित वायु-छर्दि (वमन), ऊर्ध्व रक्तपित्त, हृत्स्तम्भ आदि रोगों को मोह (चेतना नाश), मूर्च्छा, प्यास, हृदयग्रह (हृत्पीड़ा), पार्श्वशूल को उत्पन्न करती है । पक्वाशय में स्थित वायु कुपित होकर आंतों में गुड़-गुड़ाहट, नाभि में शूल, मल-मूत्र की कठिनाई से प्रवृत्त होना आनाह (आध्मान), त्रिक वेदना (कटिशूल), श्रवण दर्शन आदि विषयों में कुपित वायु कर्णादि इन्द्रियों का नाश करती है। मान–वर्त्तमान है, तथापि वह कारणभेद से किसी एक दो अवयवों में भी विकार रोग उत्पन्न कर देता है ॥२१–२४॥

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमुचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२५॥
व्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।
तथा मेदः श्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान् ॥२६॥
कुर्यात् सिरागतः शूल सिराकुञ्चनपूरणम् ।
स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥२७॥
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।
अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२८॥
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले ॥२९॥

त्वचा में स्थिर वायु कुपित होकर विवर्णता स्फुरण (फड़कना), रूक्षता, सुप्तिं (स्पर्श ज्ञान का नाश), चुमचुमायन (शरीर पर सरसों का कल्क लगाने के समान चुनचुनाहट), त्वचा में शूल, त्वचा का सम्पूर्ण रूप में फटना एवं विदीर्ण होना उत्पन्न करती है । मांस में आश्रित वायु कुपित होकर रक्तजन्य व्रणों को तथा शूलयुक्त ग्रन्थियों को उत्पन्न करती है । मेद में आश्रित वायु कुपित होकर व्रण रहित तथा मन्द वेदना

---

[1] यथा चरक में—"अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानः ॥"

[1] शुक्र के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से, प्रमेह के रस दूष्य प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण व्यानजन्य तथा मेढ्द्वार में आश्रित होने से अपान जन्य रोग होते हैं ।

वाली ग्रन्थियों को उत्पन्न करती है। शिरा में आश्रित वायु कुपित होकर–शिराशूल एवं शिराओं का संकोच एवं शिराओं में रक्त पूर्णता (High Blood Pressure) उपन्न करती है। स्नायु में स्थित वायु कुपित होकर–स्तम्भ (जड़ता) कम्पन, शूल और आक्षेप उत्पन्न करती है। सन्धियों में आश्रित वायु कुपित होकर-सन्धियों का नाश, शूल एवं सूजन उत्पन्न करती है। अस्थियों में आश्रित वायु के कुपित होने पर–अस्थिर शोष (tuberclosis of Bones) अस्थियों का टूटना अथवा अस्थियों में शूल होना है। मज्जा में स्थित वायु के कुपित होने पर, मज्जा का शोष तथा कभी भी शान्त न होनेवाली पीड़ा उत्पन्न करती है। शुक्र स्थान में स्थित वायु के कुपित होने पर, शुक्र की अप्रवृत्ति अथवा अति शीघ्र या बहुत देर में, ग्रथित-विवर्ण शुक्र का आना होता है ॥२५-२६॥

हस्तापादशिरोधातूंस्तथा संचरति क्रमात्।
व्याप्नुयाद्वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम् ॥३०॥
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सर्वगः।

जिस प्रकार से वायु हाथ पांव-शिर तथा धातुओं में गति करती है, उसी प्रकार से पुरुषों के सम्पूर्ण शरीर में गति द्वारा व्याप्त होकर—स्तम्भन (जड़ता), आक्षेप, अस्वाप (निद्रा नाश), शोफ, एवं शूल को सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न करती है ॥

स्थानेषूक्तेषु संमिश्रः समिश्राः कुरुते रुजः ॥३१॥

उपर्युक्त स्थानों में—पित्त आदि के साथ मिलकर वायु सम्मिलित वेदनायें (दाह आदि) उपन्न करती है ॥३१॥

कुर्यादवयवप्राप्तो मारुतस्त्वमितान् गदान्।
दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ॥३२॥
शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते।
सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता ॥३३॥
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते।

अवयवों में पहुँचकर वायु असंख्य रोगों को उत्पन्न करती है। तथा—वायु के पित्त के साथ मिलने पर दाह, सन्ताप (बेचैनी) और मूर्च्छा उत्पन्न होती है। वायु के कफ के साथ मिलने पर शीतलता, सूजन और शरीर में भारीपन होता है। वायु के रक्त के साथ संयुक्त होने पर–सूई चुभने के समान पीड़ायें, स्पर्श ज्ञान में अप्रीति, स्पर्शज्ञान का नाश तथा अन्य पित्तजन्यरोग होते हैं ॥३२,३३॥

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ॥३४॥
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते।
उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः ॥३५॥
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते।
समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम् ॥३६॥
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते।
अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः ॥३७॥
अधःकायगुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते।
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ॥३८॥
गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम्।
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च ॥३९॥

प्राणवायु के पित्त के साथ मिलने पर—छर्दि और दाह (जलन) होती है, प्राण के कफ के साथ मिलने पर—दुर्बलता, अंगों में ग्लानि तन्द्रा और विवर्णता आती है। उदान वायु के पित्त के साथ मिलने पर, मूर्च्छा, दाह, भ्रम, क्लम (विना-परिश्रम के थकना) होता है, कफ के साथ मिलने पर पसीने का न आना, शरीर में रोमांच, अग्निमान्द्य, शीतलता और जड़ता उत्पन्न होती है। समान वायु के पित्त के साथ मिलने पर—स्वेद का आना, दाह, उष्णिमा और मूर्च्छा, कफ के साथ मिलने पर, कफ युक्त मल एवं मूत्र तथा शरीर में रोमांच होता है। अपान वायु के पित्त के साथ मिलने पर, दाह, उष्णिमा तथा स्त्रियों में रक्त प्रदर (रक्ताधिक्य) उत्पन्न होता है। अपानवायु के कफ के साथ मिलने पर शरीर के कटि से निचले भाग में विशेषरूप से भारीपन आ जाता है। व्यानवायु के पित्त के साथ मिलने पर—दाह, शरीर की इधर-उधर गति एवं क्लम उत्पन्न होता है। व्यान वायु के कफ के साथ मिलने पर—सम्पूर्ण अंगों में भारीपन, अस्थि सन्धियों में जड़ता, गमनादि चेष्टाओं में स्तम्भन होता है।

वि० मन्तव्य—आवृत का अर्थ है रुकना—प्राण आदि की गति को उदान आदि यदि रोक देते हैं तो वह "आवरण" या "आवृत होना" कहलाता है। उक्त प्राण आदि पांचों का परस्पर आवरण होता है, फलतः भिन्न २ विकार उत्पन्न हो जाते हैं और रस आदि धातुओं, वात कफ तथा अंत्र आदि से भी वायु का आवरण होता है। यथा–वायोः धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च। अर्थात्-वायु का कोप दो प्रकार से होता है—१–रसादि धातुओं के क्षय-ह्रास से—शरीर रिक्त–शुषिर या खोखला हो जाने से—इस अवस्था में वायु को इधर उधर दौड़ने फैलने का अवसर मिल जाता है और २–मार्ग के आवरण-अवरोध से--प्रकृत मार्ग न मिलने--रुकने से इस अवस्था में वायु रुककर विकृत हो जाता है, क्योंकि यह सदागति है–सर्वदा गति करता है तभी शुद्ध रहता है ॥३४-३९॥

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽऽहारविहारिणाम्।
रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥४०॥
ऋतुसात्म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्।

अव्यवाये[1] तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥४१॥

वातरक्त रोग का कारण—

मिथ्या—अनुचित आहार एवं विहार (काय-वाङ्—मन का व्यापार) से, रोग से, अध्व (मार्ग), प्रमदा (स्त्री), मद्य, और व्यायाम के अति सेवन से, ऋतु के विपरीत होने से सात्म्य के विपरीत होने से, स्नेहादि पंचकर्मों के अतियोग—अयोग या मिथ्या योग से, व्यवाय (मैथुन) करने से, स्थूल एवं सुकुमार पुरुषों में वायु के कारण वातरक्त विशेष रूप में कुपित हो जाता है।

वि० मन्तव्य—वातरक्त रोग-वायु के रक्त के साथ मिलने तथा रक्त द्वारा आवृत होने पर होता है ॥४१॥

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः
कोपं यातः कारणैः सेवितैः स्वैः ।
तीक्ष्णोष्णाम्लक्षारशाकादिभोज्यैः
संतापाद्यैर्भूयसा सेवितैश्च ॥४२॥
क्षिप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च
वायोर्मार्गं संरुणद्ध्याशु यातः ।
क्रुद्धोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायु-
रत्युद्रिक्तं दूषयेद्रक्तमाशु ॥४३॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ।
तद्वत् पित्तं दूषितेनासृजाऽऽक्तं
श्लेष्माद्दुष्टो दूषितेनासृजाऽऽक्तः ॥४४॥

सम्प्राप्ति—

हाथी—घोड़े ऊँट की सवारी से अथवा अन्य मार्गगमन आदि कारणों से एवं स्वयं सेवन किये, विदाह कारक तीक्ष्ण-उष्ण-अम्ल-क्षार-शाक आदि भोजनों से, अथवा सन्ताप (धूप सेवन) आदि कारणों के सेवन से रक्त शीघ्र दूषित हो जाता है। यह दूषित रक्त शीघ्रगामी वायु के मार्ग को रोक लेता है। मार्ग के रुक जाने से वायु अत्यन्त कुपित होकर रक्त को विशेष मात्रा में दूषित कर देती है। यह रक्त-दूषित वायु के साथ संयुक्त होने से एवं वायु की प्रधानता के कारण (रक्त की अप्रधानता से) 'वातरक्त' कहा जाता है। इसी प्रकार से दूषित रक्त के साथ मिलकर पित्त भी दूषित हो जाता है, दूषित रक्त से मिलकर कफ भी दूषित हो जाता है।

वि० मन्तव्य—हाथी, घोड़ा तथा ऊँट आदि पर पाँव लटकाकर सवारी करने से-पाँव में रक्त उतर आने से होता है ॥

[1]—डल्हणाचार्य ने अव्यवाय का अर्थ—मैथुनवर्जित किया है। यहाँ पर नञ्-अप्रशस्त अर्थ में है, क्योंकि कहा भी है—"भजतो विधिहीनञ्च स्वप्नजागरमैथुनम् ॥"

स्पर्शोद्विग्नौ तोदभेदप्रशोष-
स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ।
पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेता-
मत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदू च ॥४५॥
कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ
पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते ।
सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः
स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति ॥४६॥

जिस समय 'वातरक्त' में वायु की प्रधानता रहती है, तब पाँवों में स्पर्श की असहिष्णुता, तोद (चुभने की वेदना), भेद (विदीर्णता), प्रशोष (शुष्कता), स्वाप (स्पर्श ज्ञान का नाश) होता है। जब पित्त एवं रक्त की प्रधानता रहती है, तब-तीव्र जलन, अतिशय उष्णता, लालरङ्ग की एवं कोमल सूजन (दबाने से दबनेवाली) होती है। जिस समय वातरक्त में कफ की प्रधानता रहती है—तब पाँव में खाज होती है, पाँव श्वेत एवं शीतल रहते हैं, सूजन होती है, मोटे हो जाते हैं, पाँवों में जड़ता रहती है। जिस समय वातरक्त में तीनों दोष मिले रहते हैं, उस समय सब दोषों के लक्षण पाँव में स्पष्ट होते हैं ॥

प्राग्रूपे शिथिलौ स्विन्नौ शीतलौ सविपर्ययौ ।
वैवर्ण्यतोदसुप्तत्वगुरुत्वोषसमन्वितौ ॥४७॥

पूर्वरूप—पाँव शिथिल के विपरीत कठिन, स्विन्न के विपरीत स्वेद रहित, शीतल के विपरीत उष्ण होते हैं। पाँवों में विवर्णता, तोद (वेदना), सुप्तता (स्पर्शज्ञान का अभाव), भारीपन और दाह होता है ॥४७॥

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमनुसर्पति ॥४८॥

कभी कभी यह वातरक्त पाँव या हाथ के मूल (तलुवे) का आश्रय प्राप्त करके—सम्पूर्ण शरीर में चूहे के विष के समान फैल जाता है। जिस प्रकार कि चूहे का विष प्रथम एक स्थान पर रहकर पीछे सम्पूर्ण शरीर में फैलता है, उसी प्रकार वातरक्त रोग भी।

वि० मन्तव्य – आखुविष के लिये देखिये—कल्प स्थान का मूषिक कल्पाध्याय ७ ॥४८॥

आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत् ।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥४९॥
शोणितं तदसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।

असाध्य लक्षण—

जो वात रक्त जानु पर्य्यन्त फटा (व्याप्त) हो, जिसमें से स्राव बहता हो और जिसमें त्वचा विदीर्ण हो जाये, प्राण—(बल) एवं मांस का क्षय हो रहा हो (अंगुलिवक्रता, अर्बुद आदि हों) वह वातरक्त असाध्य है। एक साल पुराना वातरक्त याप्य होता है ॥४९॥

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ॥५०॥

तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ।
मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥५१॥

आक्षेपक—

जिस समय कुपित वायु सम्पूर्ण धमनियों में (नाड़ियों) में व्याप्त हो जाती है, उस समय बार बार गति करनेवाली वायु शरीर को बार-बार आकुंचन एवं प्रसारण करती है। बार-बार आक्षेप उत्पन्न करने से इसको आक्षेपक कहते हैं।

वि० मन्तव्य—आक्षेपक--इस रोग में बार-बार आक्षेपण--झटके लगना—गिर जाना होता है ॥५०,५१॥

सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा ।
कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥५२॥
स दण्डवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः ।
हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्रान्निषेवते ॥५३॥
धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ।
अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ॥५४॥
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ।
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ॥५५॥
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः ।
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥५६॥
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् ॥५७॥
कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ।
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ॥५८॥

जो आक्षेपक बीच-बीच में रोगी को मोहित कर देता है, उसको अपतानक[1] कहते हैं। जिस समय वायु का कफ के साथ अधिक सम्पर्क होता है और पित्त के साथ कम होता है, उस समय वायु धमनियों में व्याप्त होकर शरीर को दण्ड की भाँति जड़ बना देती है, इसको 'दण्डापतानक' कहते हैं। यह रोग कष्ट साध्य है। यदि वायु के कारण हनु सन्धि जाम हो जाती है, इसे हनुग्रह कहते हैं। इसमें रोगी अन्न को कठिनाई से चबाता है। वायु शरीर को धनुष की भाँति झुका दे तो 'धनुस्तम्भ' होता है। जिस समय बलवान् वायु—अंगुलि गुल्फ (गिट्टे), जठर (उदर), हृदय, वक्ष (उरःस्थल), गलका आश्रय करके सिरा स्नायु जाल में आक्षेप उत्पन्न करती हैं, उस समय रोगी 'विष्टब्धाक्ष' (निश्चलनेत्र), स्तब्ध हनु (स्थिर हनु सन्धि-वाला), पार्श्व टूटते हुए एवं कफ (श्लेष्मा), का वमन करते हुए, अन्दर की ओर धनुष के समान मुड़ जाता है, इस अवस्था को अन्तरायाम कहते हैं और जिस समय बलवान् वायु, पादमूल-पिण्डिकाकटि-पीठ, ग्रीवा पश्चिम भाग—इन स्थानों के बाह्य स्नायु जालों का आश्रय करके शरीर को बाहर की ओर झुकाती है, उसको 'बाह्यायाम' कहते हैं। वक्षकटि और ऊरु के टूटने पर यह रोग असाध्य है (यदि वक्ष-कटि और ऊरु का भंग न हो तो रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये)। आक्षेप रोग चार प्रकार का है। यथा—कफयुक्त, पित्तयुक्त, केवल वातजन्य और चौथा अभिघात जन्य[1]।

वि० मन्तव्य—आक्षेपक--इस रोग में अप-विपरीत अनुचित तनाव होता है। दण्डापतानक—शरीर सीधा तन जाता है। धनुस्तुल्यं नमेत्—धनुष् खींचने पर जैसे नमता है वैसे—शरीर या उसके अवयव वेग के समय नमते हैं, सर्वदा के लिये नहीं नम जाते। आयाम—खिंचाव या झुकाव—यह भी वेग के समय होता है, सर्वदा नहीं ॥५२-५८॥

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ।
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ॥५९॥

असाध्य अपतानक—

जो अपतानक रोग गर्भपात के कारण से अथवा अतिरक्त-स्राव से या चोट के कारण से उत्पन्न होता है, वह असाध्य है, यदि भाग्यवश कभी अच्छा भी होता है तो विकृति उत्पन्न कर देता है।

वि० मन्तव्य—अपतानक तथा अपतन्त्रक—गर्भस्राव—पात या प्रसव हो जाने पर प्रायः शान्त हो जाता है, परन्तु यदि इस दशा में उत्पन्न हो जाता है तो असाध्य होता है। अभिघात—शिर के भीतरी भाग में अथवा हृदय आदि मर्म पर आघात होने से होता है ॥५९॥

अधोगमाः सतिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहगाः ।
यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते ॥६०॥
तदाऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ॥६१॥
यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम् ।
ततः पतत्यसून् वाऽपि त्यजत्यनिलपीडितः ॥६२॥

पक्षाघात—

जिस समय अत्यन्त कुपित वायु-अधोगामी, तिर्यग्गामी और शरीर में ऊपर को जानेवाली, धमनियों (सिरा-स्नायु आदि) में व्याप्त हो जाती है, उस समय एक पार्श्व के सन्धि-बन्धनों को शिथिल बनाकर पक्ष (आधे शरीर) का हनन (चेष्टा नाश) करती है। इसको श्रेष्ठ वैद्य पक्षाघात कहते हैं। जिस पुरुष का सम्पूर्ण आधा शरीर अकर्मण्य (चेष्टा रहित) एवं अचेतन (स्पर्शज्ञान रहित) बन जाता है, वह वायु रोग से पीड़ित मनुष्य प्राणों को शीघ्र छोड़ देता है।

वि० मन्तव्य—पक्षाघात—कहा जाता है और प्रायः देखा भी जाता है कि जीवन में पक्षाघात के तीन दौरे

१—अपतानक चार प्रकार का है--दण्डापतानक, अन्तरायाम, बहिरायाम और धनुस्तम्भ।

१—आक्षेप चार प्रकार का है—अपतानक, संसृष्टाक्षेपक, केवलाक्षेपक और अभिघात जन्य।

होते हैं। कई कई मासों अथवा वर्षों पर और अन्तिम (तीसरे) दौरे में मृत्यु अवश्य हो जाती है। इस रोग का प्रभाव १३ से १५ दिन में समाप्त हो जाय या घट जाय तो ठीक अन्यथा जीवन भर रह जाता है। अर्द्धभाग में होने के कारण जीभ (वाणी) लड़खड़ा जाती है। यह रोग दक्षिण अथवा शरीरार्ध भाग में होता है ॥६२॥

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥६३॥

यदि वायु का कफादि के साथ संसर्ग न हो, केवल वायु के कारण ही पक्षाघात उत्पन्न हुआ हो तो वह कष्ट साध्य है। वायु का कफ आदि के साथ संसर्ग होने पर जो पक्षाघात उत्पन्न होता है, वह सुख साध्य है, धातु क्षय द्वारा कुपित वायु जन्य पक्षाघात रोग असाध्य है ॥६३॥

वायुरूर्ध्वं व्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः।
शङ्खौ च पीडयत्यङ्गान्याक्षिपेन्नमयेच्च सः ॥६४॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति।
निरुच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वस्यान्नष्टचेतनः ॥६५॥
स्वस्थः स्याद्धृदये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुह्यति।
कफान्वितेन वातेन ज्ञेय एषोऽपतन्त्रकः ॥६६॥

अपतन्त्रक—

कुपित वायु अपने स्थान से ऊपर की ओर जाकर हृदय, शिर (मस्तिष्क), शंख प्रदेश (कनपटी) को पीड़ित करती है, हाथ-पाँव को चलाती है, या मोड़ देती है, रोगी की आँखें बन्द हो जाती हैं, निश्चेष्ट (चेष्टा रहित), अथवा आँखें स्तब्ध (स्थिर खुली) हो जाती हैं, । गले से कबूतर की तरह शब्द आता है, श्वास बन्द हो जाता है अथवा कठिनाई से श्वास लेता है, चेतना (ज्ञान) नष्ट हो जाती है, हृदय (मस्तिष्क पर से) पर से वायु का जोर हटने पर स्वस्थ हो जाता है, हृदय पर वायु का प्राबल्य होने पर फिर मूर्छित हो जाता है, इसको 'अपतन्त्रक' रोग कहते हैं। इसमें वायु का कफ के साथ संसर्ग रहता है[1]। इसको कोई अपतानक भी कहते हैं।

यथा—

वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ॥
चरक० सि० अ० ९।

वि० मन्तव्य—अपतन्त्रक—इस रोग में रोगी अपतन्त्रक-अस्वतन्त्र-अस्वाधीन हो जाता है। भीतर से चेतना बनी भी रहती है और नहीं भी। स्थानात्-पक्वाधानात् अर्थात्-मलाशय से वायु ऊपर को उठता है। रोगी के शब्दों में धूआँ सा उठकर हृदय से टकराता हुआ कण्ठ में डाट सा जाता है। फलतः उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यूनानी चिकित्सा ग्रन्थों में इसे "इख्तनाक उल रहम" कहा गया है, जिसका अर्थ है रहम = गर्भाशय उल=का इख्तनाक = ऐण्ठन मरोड़ और इसी भावना से भावित एलोपैथी ग्रन्थों में इसे "हिस्टीरिया" कहा है और यही जान सुनकर कुछ भारतीय वैद्यों ने इसे "योषापस्मार"—नारी का अपस्मार कहना प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु ईसवीय सन् १९१८-२० के आसपास हमारे गुरु भाई श्री पं० नानकचन्द जी लाहौर (अधुना दिल्ली) ने उक्त भावनाओं का खण्डन करके इसे अपतन्त्रक सिद्ध किया था। अर्थात् यह नारियों का या गर्भाशय का ही रोग नहीं अपितु, पुरुष में भी यह होता है और अब तो एलोपैथ भी मानने लगे हैं कि यह भ्रम है, अस्तु। श्री घाणेकर जी ने भी अपने शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है कि "कामशोकभयाद् वायुः कुर्यात्" के अनुसार यह रोग-नारियों तथा सैनिकों में अधिक अवश्य पाया जाता है। हाँ—जब यह कण्ठ में डाट के समान होकर रुक जाता है तब रोगी बोल नहीं सकता, पर भीतर से ज्ञानवान् रहता है और जब वायु शिर तक चला जाता है तब अचेतन हो जाता है ॥६४-६६॥

दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एष श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥६७॥

मन्यास्तम्भ—

दिन में सोने से, असमय (ऊपर नीचे) शय्या से, निरन्तर विकृत (तिरछा) या ऊपर को देखने से, कफ मिश्रित वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—मन्यास्तम्भ—इसमें ग्रीवा जकड़ जाती है, इधर उधर नहीं घूमती और घुमाने का यत्न करने पर वेदना होती है ॥६७॥

(गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्क्षये।)
उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो भाराद्विषमाच्छयनादपि ॥६८॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः।
अर्दयित्वाऽनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ॥६९॥
वक्रीभवति वक्त्रार्द्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते।
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ॥७०॥
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना।
यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ॥७१॥
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः।
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविशारदाः ॥७२॥

अर्दित—

गर्भवती-'सूतिकावस्था' में, बालक, वृद्ध या क्षीण (निर्बल) पुरुष में, रक्त का क्षय होने, ऊँचे जोर से बोलने पर अति

१—"क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शंखौ च पीडयन् ॥""कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः" ॥ चरक० सि० अ० ९, १२, १४।

कठिन पदार्थों को खाने से, हँसने से, भार उठाने से (शिर पर), विषम या कठिन शय्या से, शिर, नासिका, ओठ, चिबुक, ललाट (माथा), नेत्र की सन्धियों में स्थित वायु मुख को पीड़ित करके 'अर्दित' रोग को उत्पन्न करती है। इससे चेहरे का आधा भाग टेढ़ा बन जाता है, ग्रीवा भी टेढ़ी हो जाती है शिर हिलता है, वाणी नहीं उठती, (साफ बोला नहीं जाता), नेत्र-भ्रूगण्ड आदि विकृत हो जाते हैं। जिस पार्श्व में अर्दित होता है, उस पार्श्व की ग्रीवा-चिबुक (हनु) और दान्तों में पीड़ा होती है। अर्दित रोग में पूर्वरूप—रोम हर्ष (रोमांच), वेपथु (कम्पन), नेत्रों में मलिनता और (गदलापन) वायु की ऊपर की ओर गति, त्वचा में स्पर्शज्ञान का नाश, तोद (शूल), मन्यास्तम्भ और हनुग्रह उत्पन्न होता है। ये अर्दित रोग के पूर्वरूप हैं, ऐसा रोगविशारद कहते हैं।

वि० मन्तव्य—अर्दित—इसे "लकवा" कहते हैं। इसका प्रभाव मुख पर ही होता है और आधे मुखमण्डल पर ऊपर से नीचे के आधे भाग पर और कभी २ समग्र मुखमण्डल पर भी होता है, यथा—अर्धे तस्मिन् मुखार्धे स्यात् केवले वा तद् अर्दितम्। च० चि० अ० २८। अर्थात् पक्षाघात यदि केवल मुख पर ही होता है तो उसे अर्दित कहते हैं ॥६८-७२॥

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताऽव्यक्तभाषिणः।
न सिध्यत्यर्दितं बाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ॥७३॥

असाध्य—

जो व्यक्ति क्षीण हो, अनिमेष (स्तब्ध) आँखोंवाले, प्रसक्त (निरन्तर) स्पष्ट बोलनेवाले, पुरुष का एवं बाढम् (गाढ-अतिशय) बढ़ा हुआ, तीन वर्ष का पुराना और वेपन (कम्पन) शील व्यक्ति का अर्दित रोग असाध्य है ॥७३॥

पार्ष्णिप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपे निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता ॥७४॥

गृध्रसी—

गुल्फ के अधो भाग एड़ी एवं अंगुलियों से सम्बन्धित स्थूल कण्डरा वायु से पीडित होकर टाँगों की गति को तिरस्कृत कर देती है, उसे गृध्रसी कहते हैं ॥७४॥

तलप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता ॥७५॥

विश्वाची—

तल (हाथ के अन्तःभाग की कण्डरा)—एवं प्रत्यंगुली (प्रत्येक अंगुलियों) की जो बाह्य कण्डरा है, वह वायु से पीड़ित होने पर बाहुओं की गति का ह्रास करती है, इसको 'विश्वाची' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—बाहु की गृध्रसी का नाम विश्वाची है। गृध्रसी में—चलने में और विश्वाची में बाहु उठाने में प्रथम कठिनाई होती है, परन्तु पश्चात् वह दूर हो जाती है ॥७५॥

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः।
शिरः क्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकमूर्धवत् ॥७६॥

क्रोष्टुक शीर्ष—

जो सूजन वात एवं रक्त के कारण घुटने में उत्पन्न हो, तीव्र वेदना को करती है, तथा शृगाल के शिर के समान-स्थूल मोटी होती है, उसे 'क्रोष्टुक शीर्ष' कहते हैं ॥७६॥

वायुः कट्यां स्थितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः, पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ॥७७॥

खञ्ज और पंगु—

जिस समय कटि में आश्रित वायु टाँगों की कण्डरा (सिरा-स्नायुओं) को कार्य हीन कर देती है, उस समय पुरुष खञ्ज—(लंगड़ाकर चलता है) और यदि दोनों टाँगों की गति का नाश हो जाये, तो मनुष्य पंगु हो जाता है।

वि० मन्तव्य—खञ्जता तथा पंगुता में सक्थि की मांस-पेशियाँ सूख जाती हैं और अस्थियाँ सूख जाती हैं, और संकुचित (छोटी) भी हो जाती हैं। कुणि या अवबाहुक में भी ऐसा ही होता है ॥७७॥

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति।
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ॥७८॥

कलाय खञ्ज—

जिस समय रोगी चलने के प्रारम्भ में काँपता है और लंगड़े के समान चलता है उसे 'कलाय खञ्ज' कहते हैं। यह रोग सन्धिबन्धनों के शिथिल होने से उत्पन्न होता है। (यह रोग कलाय-मटर को खाने से होता है) ॥७८॥

न्यस्ते तु विषमं (मे) पादे रुजः कुर्यात् समीरणः।
वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुड्काश्रितः ॥७९॥

वात कण्टक—

जिस समय खुड्‌क (एड़ी में अथवा पाद एवं जंघा सन्धि) में आश्रित वायु पाँव के विषम स्थान में पड़ने से वेदना उत्पन्न करती है, उसको 'वात कण्टक' कहते हैं ॥७९॥

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः।
विशेषतश्चङ्क्रमणात् पाददाहं तमादिशेत् ॥८०॥

पाद दाह—

पित्त एवं रक्त के साथ संयुक्त वायु—जिस समय पाँवों में दाह उत्पन्न करती है, इसको पाद दाह कहते हैं। यह रोग अधिक चलनेवालों में विशेष रूप से होता है ॥८०॥

हृष्यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत्।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपजः ॥८१॥

पाद हर्ष—

जब दोनों पाँव में हर्ष (झनझन) उत्पन्न होता है, और दोनों पाँवों में स्पर्श का अभाव हो जाता है (अन्दर से शीत), उसको पादहर्ष कहते हैं, यह रोग कफ-वातके प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥ ८१ ॥

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबन्धनम् ।
सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम् ॥ ८२ ॥

अंस प्रदेश में स्थित वायु स्कन्ध बन्धन (अंस सन्धि की श्लेष्मा) को सुखाकर अंस शोष रोग उत्पन्न करती है ! अंस देश में स्थित वायु = अंसप्रदेश की शिराओं का आकुंचन (संकोच) उत्पन्न करके अवबाहुक रोग को उत्पन्न करती है ॥ ८२ ॥

यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति ।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥८३॥

बाधिर्य—

जब केवल वायु अथवा कफ के साथ (रक्त-पित्त के साथ भी) संयुक्त वायु-शब्दवह स्रोतों को घेरकर स्थिर हो जाती है, उस समय मनुष्य बधिर हो जाता है ॥ ८३ ॥

हनुशङ्खशिरोग्रीवं यस्य भिन्दन्निवानिलः ।
कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

कर्णशूल—

जब वायु हनु-शंखप्रदेश, शिर एवं ग्रीवा को विदीर्ण करते हुए, कानों में शूल उत्पन्न करती है, उसे 'कर्णशूल' कहते हैं ॥ ८४ ॥

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनीः ।
नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिणगद्गदान् ॥ ८५ ॥

जिस समय वायु कफ के साथ मिलकर शब्दवह धमनियों (नाड़ियों के स्रोतों) को घेर लेता है, उस समय मनुष्य मूक (गूङ्गा—Aphosia), मिन्मिण (सानुनासिक वाणी), और गद्गद (अस्पष्ट) वाणीवाला होता है ॥ ८५ ॥

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ॥ ८६ ॥
गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥ ८७ ॥

तूनी-प्रतितूनी—

जिस समय वर्च (मलाशय) और मूत्राशय से उत्पन्न वेदना—गुदा एवं उपस्थ को (क्रमशः) विदीर्ण करती हुई नीचे जंघाओं में जाती हैं, उसे 'तूनी' कहते हैं। जिस समय गुदा तथा उपस्थ से उत्पन्न वेदना प्रतिलोम (नीचे से ऊपर की ओर) फैलती है, और रुक-रुककर जोर के साथ पक्वाशय में पहुँचती है, इसको 'प्रतितूनी' कहते हैं ॥ ८६,८७ ॥

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ।
आध्मानमिति जानीयाद्घोरं वातनिरोधजम् ॥ ८८ ॥

आध्मान—

जिस समय उदर—कोष्ठ में आटोप (गुड़गुड़ शब्द) हो, अत्यन्त वेदना और उदर (पक्वाशय) वायु से फूला हो, इसको आध्मान कहते हैं। यह रोग कष्टकारी एवं वायु के अवरोध से उत्पन्न होता है ॥ ८८ ॥

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥८९॥

प्रत्याध्मान—

जिस समय कफ युक्त वायु के कारण आध्मान आमाशय से उत्पन्न हो और पार्श्व तथा हृदय में वेदना उत्पन्न करे तो इसको 'प्रत्याध्मान' कहते हैं ॥ ८९ ॥

अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम् ।
वाताष्ठीलां विजानीयाद् बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥९०॥

अष्ठीला—

जिस समय वायु—अष्ठीला (गोल बड़े पाषाण अथवा लुहारों के घन) के समान—ग्रन्थि के आकार की अति ऊँची—गोलाकार सूजन उत्पन्न करती है इसको वाताष्ठीला कहते हैं। यह वायु मल मूत्र के बाह्य वेगों को रोक देती है ॥ ९० ॥

एनामेव रुजायुक्तां वातविण्मूत्ररोधिनीम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ९१ ॥

प्रत्यष्ठीला—

जिस समय यही अष्ठीला उदर में तिरछी उत्पन्न होकर, वेदना उत्पन्न करती एवं वायु, मल और मूत्र को रोक देती है, इसको 'प्रत्यष्ठीला' कहते हैं ॥ ९१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वातव्याधिनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

पाँचों प्रकार की वायु[1] पित्त एवं कफ के साथ मिलकर अर्शरोग को उत्पन्न करती है, इसलिये अर्श रोग में वायु की प्रधानता होने के कारण वात व्याधि के अनन्तर अर्श निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति ॥ ३ ॥

अर्श रोग छै प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और सहज, अर्थात् गर्भ में

१ पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व्वं एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥

रक्त अथवा शुक्र के दुष्ट होने से गुदारम्भकमात्र बीज के दूषित होने से जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है।

वि० मन्तव्य—विधि भेद से अर्श २ प्रकार के होते हैं—१—सहज, २—जन्मोत्तर कालज। पुनश्च—१—शुष्कार्श—वातज एवं कफज और २—आर्द्रार्श पित्तज एवं रक्तज ॥३॥

तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्टवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥

सामान्य कारण—

अजितेन्द्रिय पुरुषों में यथोक्त वात प्रकोपक कारणों (बलवान् के साथ लड़ाई, रूक्ष, शीत, अमिताशन आदि), से विरुद्ध भोजनों से, अध्यशन से, अति स्त्री-सेवन से, उत्कटासन (अकड़ु बैठने), पृष्ठयान (घोड़े-बाईसिकल आदि सवारी) से, वेगविधारण (मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने) आदि कारणों से दोष अलग-अलग अथवा दो-दो दोष मिलकर या समस्त रूपमें अथवा रक्त के साथ कुपित होकर क्रमशः फैलकर प्रधान धमनी (रक्त वाहिनी) में पहुँचकर गुदा की वलियों को (झुर्रियों को) दूषित करके मांसांकुरों को उत्पन्न करते हैं। मन्दाग्नि पुरुष में यह रोग विशेष रूप से होता है[1]। तिनके, काष्ठ-उपल (पत्थर), लोष्ट, वस्त्र आदि से एवं ठण्डे पानी के स्पर्श से ये अंकुर विशेष रूप में बढ़ते हैं। इन अंकुरों को 'अर्श' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—मलाशय के नीचे त्रिवलिमय अवयव का नाम गुद है, उसका निम्न भाग "गुदौष्ठ" (गुद का ओठ) कहलाता है, यह पुरीषोत्सर्ग का मार्ग है, इसमें मांसमय अंकुर-मस्से उत्पन्न हो जाते हैं, जो अर्श कहे जाते हैं, इसे "बवासीर" कहते हैं। ये गुदौष्ठ पर भी होते हैं, जो सर्वदा बाहर ही वर्तमान रहते हैं। यह अंकुर एक भी और एकाधिक भी होते हैं। अर्शोंसि अधिमांसविकाराः (च० चि० अ० १४) अर्थात् ये अर्श मांस के मस्से हैं। मांस में अधिष्ठित विकार हैं ॥४॥

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः, तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति चतुरङ्गुलायताः, सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः ॥५॥

गुदा—स्थूलांत्र से सम्बन्धित साढ़े चार अंगुल परिमित भाग को गुदा कहते हैं। इसमें तीन वलियाँ आधे-आधे अंगुल के अन्तर से स्थित हैं। इन वलियों के नाम-प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी हैं। ये सब चार अंगुल मोटी (संकुचितावस्था में) हैं और मूत्र वलियाँ विना अन्तर के एक अंगुल ऊपर स्थित हैं।

वि० मन्तव्य—प्रवाहणी—पुरीष का प्रवाहण करती है, उसे निकालने का प्रयत्न करती है, विसर्जनी—उसे त्यागती है, संवरणी—उसे रोकती है। यदि पुरीष नहीं ही रुकता तो गुदौष्ठ तब तक रोकता है, जबतक पुरीषोत्सर्गार्थ बैठा जाता है ॥५॥

शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः।
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः।
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः ॥६॥
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे ॥७॥

ये वलियाँ शंख के ऊपर-ऊपर पड़े आवर्त्त (भँवरों) के समान एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इनका वर्ण—हाथी के तालु के समान (कुछ काला लाल) है। रोम प्रान्तों से (रोमराजि से) डेढ़ यव ऊपर गुदौष्ठ है। प्रथम वलि गुदौष्ठ से एक अंगुल भर दूर है। एक अंगुल = ८ यव के बराबर या ३।४ इंच है ॥६,७॥

तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात् पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यमक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशंका पाण्डुरोगग्रहणीदोषशोषाणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ॥८॥

पूर्वरूप—

भोजन में अरुचि, भोजन का कठिनाई से पचना, अम्लीका (खट्टे डकार आना), परिदाह (हृदय में जलन), सक्थिसदन (टांगों से न चला जाना-ग्लानि), आटोप (आध्मान), कार्श्य (कृशता), उद्गार बाहुल्य (डकारों का आना), आँखों में सूजन, अन्त्रकूजन (आँतों में गुड़गुड़ाहट), गुदपरिकर्त्तन (गुदा में कटने के समान क्षत), पाण्डु-ग्रहणीशोष की आशंका, कास-श्वास, शक्तिह्रास, भ्रम (चक्कर आना), तन्द्रा निद्रा और इन्द्रियों में दुर्बलता—ये भावि अर्श के पूर्वरूप हैं ॥८॥

जातेष्वेतान्येव लक्षणानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति ॥९॥

अर्शरोग के उत्पन्न होने पर यही लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते हैं ॥९॥

---

१ त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ॥ चरक।

तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः सशूलं संहतमुपवेश्यते, कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना भवन्ति, गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपूरीषश्च पुरुषो भवति ॥१०॥

वातजन्य अर्श—

वायु के कारण अर्श परिशुष्क (स्राव रहित), अरुण वर्ण (लाल काले रंग के), नाना प्रकार के वर्णोंवाले, बीच में से नीचे ऊँचे, कदम्बपुष्प, तुण्डिकेरी (तालु रोग भेद या वन कार्पासी के फूल के समान), नाड़ी (नील) और मुकुल (डोडी) के समान एवं सूई (तीक्ष्ण मुख) के समान मुखवाले होते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित मनुष्य शूल के साथ कठिन मल का त्याग करता है। कटि, पीठ, पार्श्व, मेढ़ (शिश्न), गुदा, नाभि प्रदेश में इसकी वेदना होती है। अर्शरोग के कारण ही इस पुरुष को गुल्म, अष्ठीला, प्लीहोदर हो जाते हैं। रोगी की त्वचा नख-आँखें दांत चेहरा—मूत्र और मल भी काला पड़ जाता है ॥१०॥

पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥११॥

पित्तजन्य अर्श—

आगे से नीले तनु (कृश), विसर्पी (फैलनेवाले), पीले रंग के, यकृत् के समान काले-नीले, तोते की जीभ के समान आकारवाले, जौ के समान बीच में से मोटे, किनारों से पतले, जोंक के शरीर के समान संकोच एवं प्रसरण स्वभाववाले, प्रक्लिन्न (स्राव युक्त) होते हैं। इन उपद्रवों से पीड़ित मनुष्य जलन एवं रक्त मिश्रित मलका त्याग करता है। इस व्यक्ति को ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा उपद्रव होते हैं। रोगी की त्वचा, नख, आँखें, दाँत, चेहरा, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥

श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति; तैरुपद्रुतः श्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥१२॥

कफजन्य अर्श—

श्वेत, महान् मूलवाले, स्थिर (कठिन), गोल, स्निग्ध (चिकने), पाण्डु (धूसरवर्ण), करीर (वंशांकुर या करीर वृक्ष), पनस (कटहल) के फल के समान, गाय के स्तन जैसे अंकुर होते हैं। ये अंकुर न तो फटते हैं न इन से स्राव बहता है, इनमें खाज बहुत अधिक होती है। इन उपद्रवों से पीड़ित व्यक्ति कफ मिश्रित, मात्रा में बहुत अधिक, मांस के धोवन के समान मल का त्याग करता है। इस व्यक्ति को शोफ, शीतज्वर, अरुचि, अविपाक, शिर में भारीपन—ये उपद्रव इसी अर्श के कारण होते हैं। रोगी की त्वचा--नख, आँखें, दन्त, चेहरा, मूत्र और मल श्वेत हो जाते हैं ॥१२॥

रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, मदावगाढपुरीषपीडितानि भवन्ति, तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति ॥१३॥

रक्तजन्य अर्श—

न्यग्रोध प्ररोह (वटांकुर), विद्रुम (मूङ्गा), काकणन्तिका (गुंजा-रत्ती) के फल के समान लालवर्ण एवं पित्तजन्य अर्श के लक्षणों से युक्त होते हैं। जिस समय मल के कठिन होने से इन अंकुरों पर दबाव पड़ता है, तब इन अंकुरों से अत्यन्त दूषित, बहुत अधिक रक्त सहसा निकलने लगता है। रक्त के अधिक स्राव होने से अतिरक्त स्रावजन्य आक्षेपकादि उपद्रव हो जाते हैं ॥१३॥

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ॥१४॥

सन्निपातजन्य अर्श में सब दोषों के लक्षण मिलते रहते हैं॥

सहजानि दुष्टिशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यं, विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पांसूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेता, क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निप्राणः परमलसश्च, तथा घ्राणशिरोऽक्षिनासाश्रवणरोगी, सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ॥१५॥

भवति चात्र—

सहजात अर्श—दूषित शुक्र एवं दूषित रक्त के कारण उत्पन्न होते हैं। इन अर्शों में दोष के लक्षणों को देखकर चिकित्सा करनी चाहिये। दुर्दर्शनानि (कठिनाई से दीखते हैं), परुष (कठोर), पाण्डु (धूसरवर्ण), दारुण (कष्टदायक) और अन्दर की ओर मुख किये अन्तःवलि में होते हैं। इन लक्षणों से पीड़ित व्यक्ति-कृश, थोड़ा खानेवाला, शरीर पर सिरा जाल दीखता है, थोड़ी संतानवाला, क्षीणवीर्य, क्षीण स्वरयुक्त, क्रोधी, अल्पाग्नि, अल्पबल, शिर-आँख-नाक-कान के रोगों से युक्त, निरन्तर अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ाहट), आटोप (आध्मान), हृदय कफ से व्याप्त, अरुचि आदि रोगों से पीड़ित रहता है ॥१५॥

बाह्यमध्यवलिस्थानां प्रतिकुर्याद् भिषग्वरः।
अन्तर्वलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१६॥

कहा भी है—

बाह्य और मध्य वलि में स्थित अर्श रोग की वैद्य को चिकित्सा करनी चाहिये। अभ्यन्तर वलि में स्थित अर्श रोग का निराकरण करके—(असाध्य समझकर) चिकित्सा करनी चाहिये ॥१६॥

प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति। ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा, ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वं, योनिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीराञ्जनयन्ति, ते तु योनिमुपघ्नन्त्यार्तवं च, नाभिमभिप्रपन्नाः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डूपदमुखसदृशान् करीराञ्जनयन्ति। त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिर्वर्तयन्ति, तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च, नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदना स्रावो दर्शननाशश्च घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखं च, वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति ॥१७॥

मेढ्रादि में अर्श—

कुपित हुए वातादि दोष—मेढ्र (मेहन) में आश्रित होकर मांस एवं रक्त को दूषित करके कण्डू उत्पन्न करते हैं। कण्डू के कारण व्रण उत्पन्न हो जाता है। इस क्षत में दूषित मांस जन्य प्ररोह (अंकुर) शिश्न के मणि भाग पर या त्वचा के ऊपर (बाह्यचर्म) उत्पन्न हो जाते हैं। ये अंकुर—पिच्छिल (चिकने), रुधिर का स्राव करनेवाले और कूर्चकि (सुअर के बाल के समान-मोटे दीर्घ) के समान शिश्न के ऊपर या अन्दर होते हैं। ये अंकुर शिश्न का नाश कर देते हैं और पुरुषत्व को भी मिटा देते हैं। दूषित दोष योनि का आश्रय करके मांस एवं रक्त को दूषित करके सुकुमार (कोमल), दुर्गन्ध युक्त, चिकने, रक्तस्रावि, छतरी के आकारवाले अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। ये अंकुर योनि और आर्त्तव दोनों का नाश कर देते हैं। ये ही दूषित दोष आन्तों में पहुँचकर कोमल, दुर्गन्धयुक्त, चिकनें, गण्डूपद (गिडोये) के मुख के समान अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। ये ही दोष श्रोत, आँख, नासिका और मुख में ऊपर की ओर आकर अर्श रोग को उत्पन्न करते हैं। इनके कारण कानों में बधिरता, शूल, कान से पूय (दुर्गन्ध) आना, आँखों में वर्त्मावरोध (आँख की पलक का बन्द होना), पीड़ा, स्राव तथा अन्धापन उत्पन्न होता है। नासिका में अर्श होने से प्रतिश्याय, छींकों का बहुत आना, कठिनाई से श्वास लेना, पूतिनस्य (नाक से दुर्गन्ध आना), सानुनासिक वाक्य (नासिका मिश्रित वचन) और शिर में वेदना होती है। मुख में—कण्ठ, ओष्ठ, तालु—इनमें से कहीं पर अर्श होने से, गद्गद (अस्पष्ट) वाणी, रस की अज्ञानता और मुख के रोग होते हैं।

वि० मन्तव्य—टाउँसल कण्ठ के अर्श हैं। ये कफ कारक आहार से उत्पन्न होते हैं और कफ नाशक चिकित्सा से शान्त हो जाते हैं। कण्ठरोगों में इन (टाउँसल) का वर्णन नहीं मिलता, क्लिष्ट कल्पना करना दूसरी बात है। अर्श के समान यद्यपि इनका भी छेदन किया जाता है, परन्तु "भ्रंशस्तत्र सुदारुणः" (च० चि० अ १४) इसमें थोड़ी भी भूल भीषण होती है ॥१७॥

व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयति, तानि चर्मकीलान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥१८॥

प्रकुपित व्यान वायु कफ के साथ मिलकर गुदौष्ठ से बाहर (अथवा अन्यत्र त्वचा में) स्थिर (कठोर), कील के समान (शंकु-खुण्टे की भांति) अर्श (अंकुरों) को उत्पन्न करती हैं। इनको चर्मकील रूप अर्श कहते हैं ॥१८॥

भवन्ति चात्र—

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते।
श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रन्थित्वं च विनिर्दिशेत् ॥१९॥
पित्तशोणितजं रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्लक्ष्णता तथा।
समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम् ॥२०॥

कहा भी है—

इन चर्मकीलों में विशेष रूप से शूल का होना वायु का लक्षण है। कफ के कारण चर्मकीलों का रङ्ग कफ के समान श्वेत और ग्रन्थि रूप इनका आकार होता है। पित्त एवं रक्तजन्य चर्मकीलों में—रूक्षता, कालापन चिकना रङ्ग तथा समुदीर्णखरत्व (अतिशय खरता) होता है ॥

वि० मन्तव्य—एक आश्चर्य—चर्मकील इष्टदेवता की कोई मनौती मानने पर लुप्त हो जाते हैं, अर्श-मन्त्राभिमन्त्रित चान्दी का छल्ला पहनने से शान्त हो जाते हैं। अनेक सज्जन इस प्रकार के छल्ले बाँटते हैं। खोज कीजिये ॥१९,२०॥

अर्शसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यतस्तु यत्।
तत्सर्वं प्राग्विनिर्दिष्टात्साधयेद्भिषजां वरः ॥२१॥

मेढ्र आदि स्थानों में उत्पन्न अर्श के जो लक्षण संक्षेप में कहे हैं, इनको पूर्व कहे हुए (वात आदि के भेद से विस्तार रूप में—कहे हुए) लक्षणों द्वारा वैद्य को जानना चाहिये। (अथवा अर्श संक्षेप में छः प्रकार का और विस्तार में पन्द्रह प्रकार का है ऐसा कोई आचार्य मानते हैं) ॥२१॥

अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥२२॥

जिस समय अर्श में दोनों के लक्षण स्पष्ट दीखते हों, उस समय इसको संसर्ग जानना चाहिये। यह संसर्ग (मिश्रण) छः प्रकार का है। यथा—वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ, वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, इनके लक्षणों को सूत्रस्थानोक्त वर्ण-वेदना के लक्षणों से जानना चाहिये[1] ॥२२॥

त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत्।
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ॥२३॥
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च।
सन्निपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ॥२४॥

वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न, अल्प लक्षणों-वाले अर्श याप्य हैं। द्वन्द्व (संसर्ग जन्य) जन्य अथवा दूसरी बलि में आश्रित एवं एक साल पुराना अर्श रोग कष्ट साध्य है। सन्निपातजन्य एवं सहजन्य (जन्म के) अर्श सर्वथा असाध्य हैं।

सर्वाः स्युर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः।
तैस्तु प्रतिहतो वायुरपानः सन्निवर्तते ॥२५॥
ततो व्यानेन सङ्गम्य ज्योतिर्मृद्नाति देहिनाम् ॥२६॥

अग्निमान्द्य का कारण—

जिन पुरुषों की सब बलियाँ अर्श रोग (अंकुरों) से भरी होती हैं, उन पुरुषों में अवरोध होने से अपान वायु रुक जाती है (बाहर नहीं निकलती)। यह अपान वायु व्यान वायु से मिलकर पुरुषों की ज्योति (पञ्चात्मक) अग्नि को मन्द कर देती है। यह उपद्रव प्रायः करके सहजन्य अर्श रोग में होता है॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽर्शोनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीणां निदानं व्याख्यास्यामः॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २ ॥

गुदा और वस्ति का एक ही समान आश्रय होने से इस सजातीयधर्म की अपेक्षा से अर्श रोग के पीछे अश्मरी निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति, श्लेष्माधिष्ठानाः। तद्यथा—श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति ॥३॥

अश्मरी रोग चार प्रकार का है, श्लेष्मा इन अश्मरियों का अधिष्ठान (समवायी कारण) है। यथा—कफजन्य, वातजन्य पित्तजन्य, और शुक्रजन्य।

वि० मन्तव्य—अश्मरी को पथरी कहते हैं। यह वृक्क की विकृति—से मूत्राशय में आगत श्लेष्मा को केन्द्रित (मूल) बना कर धीरे-धीरे निर्मित होती रहती है और कभी वृक्क में भी इसका निर्माण हो जाता है। जैसे पाषाण की खान में पाषाण का छोटा कण भी कालान्तर में अपने उपादान का संग्रह करते-करते बड़ा हो जाता है वैसे अश्मरी भी बढ़ती रहती है। आजकल के चिकित्सक (एलोपैथ) यकृत् या पित्तकोश में भी अश्मरी की सत्ता मानते हैं, परन्तु वह पित्तग्रन्थि होती है "पित्तेषु इव रोचना गोः" जैसे गौ के पित्त में रोचन (पित्तग्रन्थि) का निर्माण हो जाता है। मेरे प्रिय शिष्य—श्री पं० शिवरामजी वैद्य (खाड़ अम्बाल) ने सन् १९४१ या ४२ में पित्ताश्मरी (पित्त ग्रन्थि) उदर पर ईख पीड़ने की वेलन घुमा कर पुरीष के साथ निकाली थी, जो छोटे अंगूर के समान थी, परन्तु वह ४-५ मास में सूखकर मटर से भी छोटी हो गई थी, किन्तु मूत्राशय की अश्मरी सूखकर छोटी नहीं होती। जब मूत्र में वे पदार्थ आकर वस्ति में सञ्चित होने लगते हैं, जो कि मूत्र के साथ निकल जाने चाहिये, तब अश्मरी का रूप धारण कर लेते हैं ॥३॥

तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य बस्तिमश्मरीं जनयति ॥४॥

सम्प्राप्ति—(वात-पित्त और कफ-दोषजन्य अश्मरी की) असंशोधन शील (जो कि वमन, विरेचन नहीं करता), अपथ्य-कारी (निदान सेवी) व्यक्ति में कफ कुपित होकर मूत्र के साथ मिलकर वस्ति (मूत्राशय) में पहुँचकर अश्मरी को उत्पन्न करता है। जैसे कहा है—

"संहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः।
तद्वद्बलासं वस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः" ॥४॥

तासां पूर्वरूपाणि—ज्वरो बस्तिपीडारोचकौ मूत्रकृच्छ्रं बस्तिशिरोमुष्कशेफसां वेदना कृच्छ्रावसादो बस्तगन्धित्वं मूत्रस्येति ॥५॥

पूर्वरूप—

ज्वर, बस्ति पीड़ा (वस्ति में आध्मान), अरुचि, मूत्रकृच्छ्र (कठिनाई से मूत्रस्राव), बस्ति शिर (वृक्क एवं गवीनी-मूत्र प्रणाली), मुष्क (अण्डकोष) और शेफ (शिश्न) में वेदना (पीड़ा), ज्वर, कृच्छ्रावसाद (कष्टयुक्तअङ्ग ग्लानि, मूत्र में बस्त-गन्ध (बकरे की गन्ध) आना, ये अश्मरी रोग के पूर्वरूप हैं। (बस्ति शिर का अर्थ श्रीघाणेकर जी ने Internal urethal orific) किया है ॥५॥

---

१ पन्द्रह भेद—उपरोक्त छै भेद, वातपित्त-रक्त, वातकफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, वातजन्य, पित्तजन्य, कफ-जन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और वात पित्त-कफ एवं रक्तजन्य, ये पन्द्रह भेद हैं: सहज अर्शो का इन्हीं में अन्तर्भाव होता है।

यथास्ववेदनावर्ण दुष्टं सान्द्रमथाविलम् ।
पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः ॥६॥

वातादि दोष के अनुसार वेदना तथा मूत्र में वर्ण (रङ्ग), सान्द्र (घनता), आविल (गदलापन) होता है। अश्मरी रोग के पूर्वरूप में, रोगी कठिनाई से मूत्रत्याग करता है ॥६॥

अथ जातासु नाभिबस्तिसेवनीमेहनेष्वन्यतमस्मिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाशमत्याविलं ससिकतं विसृजति, धावनलङ्घनप्लवनपृष्ठयानोष्णाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति ॥ ७ ॥

सामान्य लक्षण—

अश्मरी के उत्पन्न होने पर मूत्र प्रवाहण के समय बस्ति (मूत्राशय), सेवनी (perinium) और मेहन इनमें से किसी एक में वेदना (पीड़ा), मूत्र मार्ग में अश्मरी के आने से मूत्र की धारा का निरोध, रक्त मिश्रित मूत्र का आना, अश्मरी के मार्ग से हट जाने पर मूत्र का रङ्ग गोमेदक मणि के समान अति आविल (बहुत गदला) होता है। सिकता (वालुका) मिश्रित मूत्र त्याग करता है। भागना, कूदना, तैरना, पृष्ठयान (घोड़े आदि की सवारी), उष्ण गमन (गरमी में चलना, पसीने के रास्ते जलीय भाग कम होने से अथवा ग्रीष्म ऋतु में), अध्वगमन (सफर करने) से वेदना होती है[1] ॥७॥

तत्र श्लेष्माश्मरी श्लेष्मलमन्नमभ्यवहरतोऽत्यर्थमुपलिप्याधः परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दाल्यते भिद्यते निस्तुद्यत इव च बस्तिर्गुरुः शीतश्च भवति, अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधूकपुष्पवर्णा वा भवति, तां श्लैष्मिकीमिति विद्यात् ॥८॥

इनमें श्लेष्माश्मरी—कफवर्धक अन्न को अधिक मात्रा में सेवन करने से कफ नवघट पंक-न्याय से नीचे की ओर बढ़ता हुआ बस्ति मुख मूत्राशय) का आश्रय करके मूत्र स्रोतों को रोक देता है। मूत्र के रुक जाने से बस्ति में कुल्हाड़े से काटने के समान वेदना, आरी से चीरने के समान पीड़ा, सूइयों के चुभने के समान शूल होता है, वस्ति भारी और शीतल हो जाती है। कफ जन्य अश्मरी—श्वेत, स्निग्ध, महान् कुक्कुट के अण्डे के समान अथवा महुवे के फूल के रङ्ग की होती है। इसको कफ जन्य अश्मरी कहते हैं ॥८॥

पित्तायुतस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य बस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद्दूष्यते चूष्यते दह्यते पच्यत इव बस्तिरुष्णवातश्च भवति, अश्मरी चात्र सरक्ता पीतावभासा कृष्णा भल्लातकास्थिप्रतिमा मधुवर्णा वा भवति, तां पैत्तिकीमिति विद्यात् ॥९॥

पित्त से मिश्रित श्लेष्मा संघात (कठिन) होकर पूर्व की भांति बढ़कर बस्ति मुख का आश्रय करके मूत्रवह स्रोतों को रोक लेता है। मूत्र के अवरोध से बस्ति समीपस्थ अग्नि द्वारा मानो तपाया जाता हो, जलाया जाता हो, अथवा पकाया जाता हो, ऐसा प्रतीत होता है तथा उष्ण वात नामक मूत्ररोग भी होता है। पित्त जन्य अश्मरी—रक्त मिश्रित-पीली झाँई वाली, काली, भिलावे की गुठली के समान अथवा शहद के रङ्ग की होती है। इसको पैत्तिक अश्मरी जानना चाहिये ॥९॥

वातयुतस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिगुणमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीव्रा वेदना भवति, तदाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति, नाभिं पीडयति, मेढ्रं प्रमृद्नाति, पायुं स्पृशति, विशर्धते, विदहति, वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण चास्य मेहतो निःसरन्ति, अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिकीमिति विद्यात् ॥१०॥

वायु से मिश्रित कफ कठिन होकर पूर्वोक्ता की भांति बढ़कर बस्ति मुख का आश्रय करके मूत्रवह स्रोतों को रोक लेता है। मूत्र के रुक जाने पर बस्ति में तीव्र वेदना होती है। इस वेदना से अत्यन्त पीड़ित होकर रोगी दांतों को भींचता है, नाभि को दबाता है, मेढ्र (शिश्न) को मलता है, पायु (गुदा) को छूता है, जोर से चिल्लाता है, परितप्त होता है। मूत्र का प्रवाहण करने पर, वायु-मूत्र और मल कठिनाई से बाहर आते हैं। इसमें अश्मरी—कृष्णवर्ण, कठोर, ऊँची-नीची (टेढ़ी), खुरदरी, कदम्ब के फूल के समान कांटों से व्याप्त होती है, इस को वातजन्य अश्मरी जानना चाहिये ॥१०॥

प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति; तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादनुपचितमांसत्वाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति। महतां तु शक्राश्मरी [1]शुक्रनिमित्ता भवति ॥११॥

प्रायः करके ये तीनों दोषजन्य अश्मरियां बालकों में होती हैं। क्योंकि—दिन में सोने से, हिताहित आहार करने से, शीत-गुरु-मधुर आहार के प्रिय होने से बच्चों में होती हैं। इन बालकों में बस्ति के तथा शरीर के छोटा होने से, बस्ति में मांस

---

१ कहा भी है—
"विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने ।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ।
तत्संक्षोभात् क्षते सास्रम् ॥"

१ बारह वर्ष से पूर्व शुक्र उत्पन्न नहीं होता। इस अवस्था में पौरुष ग्रन्थि का श्वेत वर्ण स्राव होता है, जिसको कि कई शुक्र समझते हैं।

के बहुत अधिक न बढ़ने से सुख पूर्वक खींचकर बाहर निकाली जा सकती है। बड़े पुरुषों में शुक्राश्मरी 'शुक्र के कारण से उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥

मैथुनविघातादतिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छद्विमार्गगमनादनिलोऽभितः संगृह्य मेढ्वृषणयोरन्तरे संहरति, संहृत्य चोपशोषयति; सा मूत्रमार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्रं बस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते; तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् ॥ १२ ॥

एकाएक मैथुन रोकने से, अथवा अति मैथुन के कारण अपने स्थान से चलायमान शुक्र मार्ग से बाहर न आकर अथवा विमार्ग (उल्टे रास्ते) में जाकर-वायु द्वारा, ऊपर-नीचे-पार्श्वस्थ दोनों धमनियों से एकत्रित होकर, मेढ्र, वृषण के मध्य (बस्ति द्वार के नीचे, शुक्राशय) में इकट्ठा, गोलाकार बन जाता है। इसको एकत्रित करके वायु सुखा देती है। यह शुष्क शुक्ररूपी अश्मरी मूत्रमार्ग को बन्द कर देती है। इसके कारण—मूत्र का कठिनाई से आना, बस्ति में वेदना तथा दोनों अण्डकोषों में सूजन उत्पन्न हो जाती है। शुक्राशय पर दबाव डालने से (गुदा में अंगुलि प्रवेश करके) इसी प्रदेश में अश्मरी-छोटी होने से विलीन हो जाती है। इसको शुक्राश्मरी समझना चाहिये। (ये लक्षण नूतन अश्मरी के समझना चाहिये) ॥ १२ ॥

वदन्ति चात्र—

शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्।

कहा भी है—

शर्करा (बारीक रेत) मेह, सिकता (दानेदार वालुका) मेह और भस्माख्य (मूत्र शुक्र नामक मूत्र रोग) ये अश्मरी के विकार (कार्य) हैं ॥

अश्मर्या शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना ॥ १३ ॥

पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः।

शर्करा में अश्मरी के समान ही लक्षण और वेदना होती है। खासकर यदि अश्मरी छोटी हो, तो वायु के अनुकूल होने पर बाहर निकल आती है।

वि० मन्तव्य—अश्मरी प्रारम्भ में जब वह छोटी होती है तो मूत्र के साथ निकल भी जाती है और बड़ी होने पर भी यदि वह टूट २ कर कण रूप में परिणत या विभक्त होने लगती है तो मूत्र के साथ निकलती रहती है, यही सिकता या शर्करा कहलाती है। जैसे पाषाण का चूर्ण—सिकता (बारीक बालू) तथा शर्करा (मोटा बालू रेत) कहलाता है। भस्मक मेह में—भस्म के घोल कासा मूत्र होता है ॥ १३ ॥

सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

हृत्पीडा सक्थिसदनं कुक्षिशूलं च वेपथुः।

तृष्णोर्ध्वगोऽनिलः कार्ष्ण्यं दौर्बल्यं पाण्डुगात्रता ॥१५॥

अरोचकाविपाकौ तु शर्करार्ते भवन्ति च।

यही अश्मरी जब वायु द्वारा छोटे-छोटे परमाणुओं में विभक्त हो जाती है तब इसको शर्करा कहते हैं। शर्करा रोगी में—हृदय प्रदेश में वेदना, सक्थि सदन (टांगों में ग्लानि) उदरशूल, कम्पन, तृष्णा, वायु का ऊपर को आना, कृष्णवर्णता, दुर्बलता, शरीर में पीलापन (रक्त की कमी), अरुचि और अजीर्ण होता है ॥ १४,१५ ॥

मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १६ ॥

दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमरोचकम्।

पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ १७ ॥

जिस समय अश्मरी मूत्रमार्ग में पहुँचकर रुक जाती है, उस समय—दुर्बलता, बेचैनी, कृशता, उदरशूल, अरुचि, पाण्डुरोग, उष्णवात (मूत्ररोग), तृष्णा, हृदय में वेदना और वमन—इन उपद्रवों को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—यदि वह शर्करा कुछ बड़ी होती है तो मूत्रमार्ग में अटक जाती है ॥ १६,१७ ॥

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसाम्।

एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः ॥ १८ ॥

अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः।

बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदः।

एकसंबन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवराश्रिताः ॥ १९ ॥

नाभि, पृष्ठ (पीठ), कटि, अण्डकोष, गुदा, वंक्षण (Groin) और शेफ (शिश्न), इनके मध्य में—नीचे की ओर मुख किये—एक द्वारवाली बस्ति है, बस्ति की त्वचा बहुत पतली (सूक्ष्म) है। बस्ति—(मूत्र से खाली होने पर) अलाबु (घिया कद्दू) के समान रूपवाली है, (मूत्र से भरने पर हंस के डिम्ब के आकार की भाँति होती है)। बस्ति में सिरा स्नायु का जाल है, (मांस नहीं है) बस्ति (मूत्राशय) बस्ति शिर पौरुष (शिश्न या भग), वृषण (अण्डकोश) और गुदा—ये एक समान आश्रयवाले हैं, अर्थात् गुदास्थित विवर में स्थित हैं[1] ॥ १८,१९ ॥

मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥ २० ॥

पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।

तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ २१ ॥

सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।

नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ २२ ॥

जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।

आमुखात्सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥ २३ ॥

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने—'अलाब्वा इव रूपेण' आदि पाठ एक सम्बन्धिनी से पूर्व पढ़ा है। यह ठीक है ॥

मूत्राशय रूपी मलाधार (किट्ट रूप मल का आश्रय) और प्राणों का श्रेष्ठ स्थान है, इस पक्वाशय में रहनेवाली मूत्र-वहा नाड़ियाँ मूत्रद्वारा वस्ति को सदा भरती रहती हैं, जिस प्रकार कि नदियाँ सागर को भरती हैं। इन नाड़ियों के हजारों मुख सूक्ष्म होने के कारण पता नहीं लगता। आमाशय तथा पक्वाशय के बीच से नाड़ियों द्वारा लाये हुए मूत्र के निःस्यन्द (मन्द-मन्द क्षरण) से जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में (रात दिन) वस्ति भरती रहती है। जिस प्रकार कि नये घड़े को गले तक पानी में डुबोकर रखने पर पार्श्वों से पानी रिस रिस कर घड़े को भर देता है, उसी प्रकार मूत्र द्वारा बस्ति भरती है। श्री घाणेकरजी का कहना है कि "यह वर्णन प्रत्यक्ष विरुद्ध अतएव अप्रामाणिक है"।

वि० मन्तव्य—नाभि....पूर्यते—इस पाठ में वस्ति के आकार तथा मूत्र निर्माण आदि का बहुत ही सुन्दर एवं युक्ति-युक्त वर्णन दिया गया है, परन्तु खेद है कि यह श्रीगणनाथ सेन जी तथा श्रीघाणेकरजी को पसन्द नहीं आया और अपनी ओर से उक्त दोनों सज्जनों ने अप्रिय आक्षेप भी कर डाले हैं। भला, हम उनको दुहराना पसन्द नहीं करते, परन्तु इस पाठ की अच्छाई-सचाई दिखा देने का यत्न अवश्य करेंगे—वस्ति जहाँ बतलाई गई है वहीं है इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यह मूत्र का आशय—आकर शयन करने—ठहरने का स्थान है और उसका अधः की ओर एक मुख भी है (तीन नहीं)। इसमें जितना भी मूत्र संचित होता है वह वस्तुतः पक्वाशय (मलाशय) के द्रवमल (मूलपुरीष मय मलसार-रस से रहित मल) का द्रवांश ही है, रक्त में जो आहार का सार-भूत रस मिलता है वह तो धातु पोषण में व्यय होता है न कि उसका मूत्र (जो मल है) बनता है। इसका प्रत्यक्ष प्रत्येक पाठक स्वतः कर सकता है—यदि पुरीषोत्सर्ग में विलम्ब कर दिया जाय तो मूत्र अधिक आता है और पुरीष अपेक्षाकृत गाढा आता है। अतएव "पक्वाशयगताः मूत्रवहा नाड्यः (नाल्यः–सिराः) मूत्रं सदा तर्पयन्ति" लिखा है। "यथा सरितः सागरं तर्पयन्ति" उदाहरण मात्र है, जैसे छोटी २ नदियाँ बड़ी नदियों में मिलकर सागर को सर्वदा भरती रहती हैं। परन्तु इसके मुख-मुहाने इतने सूक्ष्म हैं कि चर्मचक्षुओं से उपलब्ध-सम्यक् ज्ञात नहीं होता, यही वृक्क हैं जो बस्ति शिर नाम से इसी सन्दर्भ में कहे गये हैं। इनमें मूत्र का निःस्यन्द वैसे ही होता है जैसे कोरे घड़े को जल में गले तक डुबाकर रखने से घड़े के भीतर जल का निःस्यन्द होता रहता है। वृक्कों से आनेवाले दोनों स्रोतों को वैदिक कालीन ऋषि भी जानते थे जो "गवीनी" नामकरण कर गये और सुश्रुत भी जानता था जो इसी सु०शा०अ० ६ में "मूत्रवहे द्वे" (स्रोतसी भवतः) लिख गया है और चरक भी जानता था जो "मूत्र वहानां स्रोतसां वस्तिः वंक्षणौ च मूलम्" लिख गया है। भले ही गणनाथ सेन और श्री घाणेकरजी आदि सज्जन—ऐलोपैथी के "शारीर" के पूर्व न जानते हों। वंक्षण शब्द-'वांक्षी-कांक्षायां' धातु से बनता है जो तृट् का वाचक है और तृट् (तृष्) तृषा-पिपासा का वाचक है। वंक्षण जब अधिक जल खींचने लगते हैं तब पिपासा भी अधिक लगती है, यथा—प्रमेह में "तृट् स्वादु आस्यं च जायते" पिपासा अधिक हो जाती है। आहार रस भी यद्यपि तरल होने के कारण जलीय है तथापि वह उतना ही जल अपने में लेता है, जितने से वह उचित रूप में तरल बने यदि अधिक जल लेता है तो उसका अभिष्यन्द होने लगता है, जिससे अवयवों में शोथ हो जाता है। वंक्षण—वस्ति सिरस का वाचक है, क्योंकि वस्ति सिरस्—मूल–प्रारम्भ स्थल वही है 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं (गीता)'। और अन्न का पाचन पीला पित्त—आहार रस के साथ नहीं जाता-छनता-मिलता। फलतः रस श्वेत बना रहता है, परन्तु वह मल द्रव में से अधिकांश—द्रवांश के साथ जाता है और वृक्क—रक्त में से भी—पित्त मिश्रित द्रवांश को लेते हैं, फलतः मूत्र का वर्ण पीला रहता है और सुनिये—यदि २-३ दिन पुरीषोत्सर्ग न किया जाय तो पुरीष का वर्ण काला रह जाता है और वह सूखकर मेंगन बन जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि मलद्रव से ही मूत्र बनता है, रस से या रक्त से नहीं ॥ २०-२३ ॥

घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते।
एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा ॥ २४ ॥

जिस प्रकार से घड़े में स्नेह पहुँच जाता है, उसी प्रकार से वात, पित्त, कफ मूत्र के साथ मिलकर वस्ति में पहुँच कर अश्मरी रोग उत्पन्न करते हैं ॥ २४ ॥

मूत्रयुक्तमुपस्नेहात् प्रविश्य कुरुतेऽश्मरीम्।
V. Imp अप्सु स्वच्छा (स्था) स्वपि यथा निषिक्तासु नवे घटे॥
कालान्तरेण पङ्कः स्यादश्मरीसंभवस्तथा।
संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः ॥२५॥
तद्वलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः।

नूतन (अति स्वच्छ) घड़े में अत्यन्त स्वच्छ पानी के रखने पर भी, कालान्तर में कीचड़ उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार से वस्ति में निर्मल मूत्र से भी अश्मरी बन जाती है। जिस प्रकार से दिव्य (अन्तरिक्ष) जल को वायु, अग्नि और बिजली कठोर (ओले के रूप में) बना देती है, उसी प्रकार से मूत्राशय स्थित बलास (कफ), को ऊष्मा (पित्त) और वायु कठोर बना देती हैं।

वि० मन्तव्य—मूत्र के साथ—वायु, पित्त एवं कफ की वृक्कों से छनकर वस्ति में आ जाते हैं, मूत्र में पीलापन पित्त का ही होता है, श्वेतता या लसीलापन कफ का ही होता है। वृक्कों के विकृत होने पर—शरीरोपयोगी अन्य धातुओं के उपादान भी रसमय रक्त में से छनकर मूत्र के साथ बहने लगते हैं। वृक्कों के विषय में आयुर्वेद बहुत कुछ जानकारी रखता है, यथा—मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं—रक्त में मिश्रित मेदस् के उपादान को मूत्र के साथ न बहने देने का मूल-कारण वृक्क है, अतएव शार्ङ्गधर में लिखा है कि—वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः ॥ २५,२६ ॥

मारुते प्रगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥२७॥

वस्ति में वायु के अनुकूल होने पर मूत्र भली प्रकार से प्रवृत्त होता है। वायु के प्रतिलोम होनेपर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २७ ॥

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।
मूत्रदोषाश्च ये कचिद्वस्तावेव भवन्ति हि ॥२८॥

वायु के प्रतिलोम होने से ही, वस्ति में, मूत्राघात, प्रमेह, शुक्र दोष और मूत्र दोष सम्बन्धी रोग होते हैं[१] ॥२८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽश्मरीनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अश्मरी और भगन्दर रोग का आश्रय स्थान वस्ति और गुदा है, ये दोनों स्थान समान आश्रय हैं, इसलिये अश्मरी निदान के पीछे भगन्दर निदान कहते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राविशम्बूकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति। ते तु भगगुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च 'भगन्दरा' इत्युच्यन्ते। अभिन्नाः पिडकाः भिन्नास्तु भगन्दराः॥

वायु, पित्त, कफ, सन्निपात एवं आगन्तुज, कारणों से क्रमशः पाँच प्रकार के भगन्दर उत्पन्न होते हैं। यथा—शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावि, शम्बूकावर्त्त और उन्मार्गि। ये भग स्थान, गुदा और वस्ति स्थान को दारण करते हैं इसलिये इन्हें भगन्दर कहते हैं। जब तक नहीं पकते तब तक इनका नाम पिड़का है, और पककर फूटने से इनका नाम भगन्दर है। (वाग्भट्ट ने परिक्षेपी, ऋजु और अर्शोज भगन्दर, ये तीन अधिक कहे हैं) ॥ ३ ॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—कटीकपालवेदना कण्डूर्दाहः शोफश्च गुदस्य भवति ॥ ४ ॥

पूर्वरूप—

कटिकपाल (नितम्बास्थि-त्रिकास्थि) में वेदना, गुदा में कण्डू और दाह, और गुदा में सूजन का होना, ये भगन्दरों के पूर्वरूप हैं ॥ ४ ॥

तत्रापथ्यसेविनां वायुः प्रकुपितः सन्निवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले द्व्यङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिडकां जनयति, साऽस्य तोदादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, मूत्राशयाभ्याशगतत्वाच्च व्रणः प्रक्लिन्नः शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते, तानि च छिद्राण्यजस्रमच्छं फेनानुविद्धमधिकमास्रावं स्रवन्ति, व्रणश्च ताड्यते भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव निस्तुद्यते, गुदं चावदीर्यते, उपेक्षिते च वातमूत्रपुरीषरेतसामप्यागमश्च तैरेव छिद्रैर्भवति; तं भगन्दरं शतपोनकमित्याचक्षते ॥ ५ ॥

अपथ्य सेवन करनेवाले पुरुष में वायु कुपित होकर अपने कार्यों से निवृत्त एवं निश्चल होकर गुदा के चारों ओर एक या दो अंगुल परिमित स्थान में मांस तथा रक्त को दूषित करके, लाल रङ्ग की पिड़का उत्पन्न करता है। यह पिड़का तोद (चुभने की सी वेदना) आदि रूपी वेदनाओं को उत्पन्न करता है। चिकित्सा न करने पर पिड़का पक जाती है। मूत्राशय के समीप में होने से व्रण आर्द्र एवं शतपोनक (आटा छानने की चलनी,) भांति सूक्ष्म मुखवाले छिद्रों से भर जाता है। इन छिद्रों से निरन्तर स्वच्छ, झाग से मिश्रित बहुत अधिक स्राव बहता है। व्रण में ताड्यते(दण्डे से पीड़ने के समान), भिद्यते (कुठार से काटने के समान), छिद्यते (दाँतों से काटने के समान), सूईयों के चूभने के समान वेदना होती है, गुदा फटती सी प्रतीत होती है। वायु मूत्र, मल और शुक्र भी इन्हीं छिद्रों से बाहर आता है। इस भगन्दर को शतपोनक कहते हैं[१]।

पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववदवस्थितं रक्तां तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रग्रीवाकारां पिडकां जनयति; साऽस्य

---

[१] अश्मरी कफ जन्य है, क्योंकि शरीर में कफ एक चिकास वाला पदार्थ है। इसके न्युक्लियस के चारों ओर दोष एकत्रित होकर अश्मरी बनाते हैं। दोषों को एकत्रित होने के लिये एक केन्द्र चाहिये। वह केन्द्र कफ होता है। जैसे बछड़ा खूण्टे से बन्धा होने पर उसके चारों ओर ही घूमता है, इसी प्रकार दोष इसके चारों ओर एकत्रित होते हैं।

[१] पिडका के उत्पन्न होने से मूत्र सम्पूर्ण या आधे रूप में रुककर, मांस, शिरा स्नायु को दूषित करके समीपवर्त्ति स्थान को सदा आर्द्र रखता है।

चोषादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्चाग्निक्षाराभ्यामिव दह्यते, दुर्गन्धमुष्णमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरमुष्ट्रग्रीवमित्याचक्षते ॥ ६ ॥

अपथ्य सेवन से पित्त प्रकुपित होकर वायु के द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर पूर्व की भांति निश्चल बनकर लाल रङ्ग की पतली, ऊपर को उठी हुई ऊँट की ग्रीवा के समान बीच में से दबी हुई पिड़का उत्पन्न करता है। इसमें चोष (जलन) आदि वेदनायें होती हैं। चिकित्सा न करने पर यह पिड़का पक जाती है। व्रण में, अग्नि एवं क्षार से पकने के समान वेदना होती है, जलन होती है। दुर्गन्ध युक्त गरम स्राव बहता है, उपेक्षा करने पर व्रण में से वायु-मूत्र-मल-शुक्र बाहर आता है। इस भगन्दर को 'उष्ट्रग्रीव' कहते हैं ॥ ६ ॥

श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्ववदवस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां जनयति, साऽस्य कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च कठिनः संरम्भी कण्डूप्रायः, पिच्छिलमजस्रमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति, तं भगन्दरं परिस्राविणमित्याचक्षते ॥

अपथ्य सेवन से कफ कुपित होकर वायु के द्वारा नीचे प्रेरित होकर पूर्व की भांति निश्चल बनकर मोती की चमकवाली श्वेत रङ्ग की स्थिर एवं कण्डू-युक्त पिड़का को उत्पन्न करता है। यह पिड़का-कण्डू आदि वेदनाओं को उत्पन्न करती है। चिकित्सा न करने पर पक जाती है। इसमें व्रण कठिन, संरम्भी (निरन्तर वेदनाशील), कण्डूबहुल होता है। निरन्तर चिकना स्राव बहता रहता है। उपेक्षा करने पर व्रण से वायु-मूत्र-मल-शुक्र बहने लगता है। इस भगन्दर को 'परिस्रावी' कहते हैं ॥ ७ ॥

वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठाग्रप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति, साऽस्य तोददाहकण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः, तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते ॥

अपथ्य सेवन से कुपित वायु कुपित पित्त कफ को साथ लेकर नीचे की ओर आकर पूर्व की भांति निश्चल होकर, पाँव के अँगूठे के समान, तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त पिड़का को उत्पन्न करती है। इसमें तोद, दाह, कण्डू आदि के रूप में वेदनायें होती हैं। चिकित्सा न करने पर यह पिड़का पक जाती है। व्रण में से नाना प्रकार का स्राव बहता है। भरी हुई नदी के समान अथवा शम्बूक (शंख) के आवर्त (भँवर-चक्कर) की तरह से निरन्तर तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। इस भगन्दर को 'शम्बूकावर्त्त' कहते हैं। आवर्त्त अर्थात् Boring pains ॥

मूढेन मांसलुब्धेन यदस्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृतं यदाऽवगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाधः प्रेरितमसम्यगागतं गुदमपक्षिणोति तदा क्षतनिमित्तः कोथः उपजायते, तस्मिंश्च क्षते पूयरुधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलप्रक्लिन्नायां क्रमयः संजायन्ते। ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति, तस्य तैर्मार्गैः क्रिमिकृतैर्वातमूत्रपुरीषरेतांस्यभिनिःसरन्ति तं भगन्दरमुन्मार्गिणमित्याचक्षते ॥

आगन्तुज भगन्दर—

मूढ व्यक्ति मांस के लालच में अस्थि शल्य को अन्न के साथ खा जाता है, तब यह शल्य कठिन मल के साथ मिलकर अपान वायु द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर–अनुचित रूप से (तिरछा) आकर गुदा को चोट पहुँचाता है। क्षत के कारण से यहाँ पर कोथ (पूतिभाव दुर्गन्ध–सड़ांद) उत्पन्न होता है। पूय और रक्त से भरे इस क्षत में मांस से सड़ने से क्रमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार कि जल से गीली भूमि में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। ये क्रमि गुदा को खाते हुए पार्श्वों में गुदा को विदीर्ण कर देते ह। क्रमियों से बनाये इन मार्गों में से, वायु-मल–मूत्र और शुक्र बाहर निकलने लगता है। इस भगन्दर को 'उन्मार्गी' (तिर्यग्गामी) कहते हैं ॥ ८ ॥

भवन्ति चात्र—

उत्पद्यतेऽल्परुक् शोफात् क्षिप्रं चाप्युपशाम्यति।
पाय्वन्तदेशे पिडका सा ज्ञेयाऽन्या भगन्दरात् ॥१०॥
पायोः स्याद् द्व्यङ्गुले देशे गूढमूला सरुग्ज्वरा।
भागन्दरीति विज्ञेया पिडकाऽतो विपर्ययात् ॥११॥

कहा भी है—

सूजन के कारण से थोड़ी वेदनावाली एवं शीघ्र शान्त होनेवाली जो पिड़का गुदा के समीप उत्पन्न होती है वह भगन्दर से भिन्न होती है। गुदा के दो अंगुल परिमित स्थान में गूढ़ मूल (गम्भीर मूलवाली) एवं वेदना तथा ज्वरकारी जो पिड़का उत्पन्न होती है, इसको उपर्युक्त पिड़का से भिन्न, भगन्दर को उत्पन्न करनेवाली पिड़का समझना चाहिये ॥ ११ ॥

यानयानान्मलोत्सर्गात् कण्डूरुग्दाहशोफवान्।
पायुर्भवेद् रुजः कट्यां पूर्वरूपं भगन्दरे ॥१२॥

पूर्वरूप में—

यान (रथादि) की सवारी से अथवा मल के त्याग में प्रथम पायु में, कण्डू, जलन, वेदना और सूजन होती है, कटि में वेदना होती है ॥ १२ ॥

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्वे एव भगन्दराः।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च भगन्दरः ॥१३॥

सब ही भगन्दर घोर (कष्टदायक) एवं कृच्छ्रसाध्य हैं। इनमें से सन्निपातजन्य एवं क्षतजन्य (आगन्तुज) भगन्दर असाध्य हैं ॥१३॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भगन्दरनिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

भगन्दर रोग के समान असाध्य कुष्ठ रोग के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाद् गुरुविरुद्धासात्म्याजीर्णाहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायामग्राम्यधर्मसेविनो ग्राम्यानूपौदकमांसानि वा पयसाऽभीक्ष्णमश्नतो यो वा मज्जत्यप्सूष्माभितप्तः सहसा छर्दिं वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रपद्य समुद्धूय बाह्यमार्गं प्रति समन्ताद्विक्षिपति; यत्र यत्र च दोषो विक्षिप्तो निश्चरति तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वचि दोषस्तत्र तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं प्रतिपद्यते धातूनभिदूषयन् ॥३॥

मिथ्या (अनुचित) आहार (अन्न पान) एवं आचार (मनु धर्मोक्त-आचमन-स्नान आदि नियमों) से, विशेष करके गुरु (भारी), विरुद्ध (हिताहितीय अध्याय में कहे हुए), असात्म्य (आत्मा के प्रतिकूल) भोजन से, अजीर्ण में भोजन करने से, अहित वस्तुओं के सेवन से, स्नेह पान करके अथवा वमन कर्म करके व्यायाम, ग्राम्यधर्म (मैथुन) के सेवन से, अथवा बहुत करके दूध के साथ ग्राम्य अथवा आनूप (जल बहुल) मांस के सेवन से, ऊष्मा (अग्नि) से, अभितप्त (गरम) होने पर स्नान करने से, एकदम से वमन के वेग को रोकने से वायु कुपित होकर पित्त एवं कफ को साथ में लेकर, तिरछी जानेवाली शिराओं में पहुँचकर इनको दूषित करके बाह्यमार्ग (रक्त-लसीका-त्वचा और मांस) को चारों ओर से घेर लेते हैं। जिस स्थान पर दोष प्रक्षिप्त होकर बाहर निकलता है, उस उस स्थान में मण्डल (चक्के) उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार से त्वचा में उत्पन्न दोष उस उस स्थान में बढ़कर, चिकित्सा न करने पर रोम मार्ग से अन्दर पहुँचकर धातुओं को दूषित कर देता है ॥३॥

तस्य पूर्वरूपाणि—त्वक्पारुष्यमकस्माद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतविसर्पणमसृजः कृष्णता चेति ॥४॥

कुष्ठ के पूर्वरूप—त्वचा में कठोरता, बिना कारण के ही रोमांच होना, शरीर में कण्डु, पसीने का बहुत आना या बिलकुल न आना, अंग-प्रत्यंगों में स्पर्श ज्ञान का अभाव, क्षत विसर्पण (व्रण का फैलना) और रक्त का काला पड़ना, ये सब कुष्ठों के पूर्वरूप हैं ॥४॥

तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, एवमष्टादश कुष्ठानि भवन्ति । तत्र महाकुष्ठान्यरुणोदुम्बरर्ष्य(र्क्ष)जिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति । क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभ (मं) पामा रकसा चेति ॥५॥

सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि च भवन्ति, उत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात् ॥

संख्या—

कुल मिलाकर कुष्ठ अठारह प्रकार के हैं। इनमें सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं। महाकुष्ठ यथा—अरुण, उदुम्बर, ऋष्यजिह्व, कपाल, काकणिक, पुण्डरीक, दद्रु। क्षुद्र कुष्ठ यथा स्थूल-अरुष्क, महाकुष्ठ, एवं कुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परिसर्प, सिध्म, विचर्चिका, किटिभ, पामा और रकसा। सम्पूर्ण कुष्ठ (छोटे-बड़े सब) वायु-पित्त-कफ एवं कृमि के कारण से उत्पन्न होते हैं। दोष की उत्कटता (प्रबलता) से यह कहा जाता है कि कुष्ठ वातजन्य है, यह पित्तजन्य है, इत्यादि। क्योंकि दूसरे दोषों की उसमें न्यूनता रहती है।

वि० मन्तव्य—ये सब कृमि—रक्तज कृमि होते हैं, यथा—केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा। कुष्ठजाः सपरीसर्पा ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः ॥ सु० उ० अ० ३४ तथा—शोणितजानां (कृमीणां) तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्। निदानम्....अतिवृद्धानां च त्वक् सिरा स्नायुमांसतरुणास्थिभक्षणमिति। च० वि० अ० ७। तथा कुष्ठैककर्माणः। मा० नि० ॥५,६॥

तत्र वातेनारुणं, पित्तेनोदुम्बरर्ष्य(र्क्ष)जिह्वकपालकाकणकानि, श्लेष्मणा पुण्डरीकं दद्रुकुष्ठं चेति। तेषां महत्त्वं क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वं चेति ॥७॥

इन महाकुष्ठों में—वायु की प्रधानता से अरुण, पित्त की प्रधानता से ऋष्यजिह्व, उदुम्बर, कपाल और काकणक, कफ की प्रधानता से पुण्डरीक और दद्रु, इन कुष्ठों की महानता—तीन कारणों से है। यथा—चिकित्साकार्य के महान् होने से, उत्तरोत्तर रक्तादि धातुओं में प्रविष्ट होने से, एवं असाध्य होने से ये सातों कुष्ठ महान् हैं ॥७॥

तत्र वातेनारुणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोदभेदस्वापयुक्तान्यरुणानि। पित्तेन पक्वोदुम्बरफलाकृतिवर्णान्यौदुम्बराणि, ऋष्य(क्ष)जिह्वाप्रकाशानि खराणि ऋष्य(क्ष)जिह्वानि, कृष्णकपालिकाप्रकाशानि कपालकुष्ठानि, काकणान्तिकाफलसदृशान्यतीव रक्तकृष्णानि काकणकानि; तेषां चतुर्णामप्योषचोषपरिदाहधूमायनानि

क्षिप्रोत्थानप्रपाकभेदित्वानि कृमिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि। श्लेष्मणा पुण्डरीकपत्रप्रकाशानि पौण्डरीकाणि, अतसीपुष्पवर्णानि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च दद्रुकुष्ठानि तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता कण्डूश्चिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि ॥८॥

इनमें अरुण कुष्ठ—वायु के कारण से लाल (काला मिश्रित) झाँईवाला, पतला, फैलनेवाला, तोद (चुभने की दर्द), भेद, स्वाप (स्पर्श शून्यता) युक्त होता है। पित्त के कारण उदुम्बर कुष्ठ—पके हुए गूलर के फल की आकृति एवं वर्ण (रङ्ग) वाला होता है, ऋष्यजिह्व कुष्ठ-ऋष्य (हरिण भेद) की जीभ के समान खर (ककश) होता है, कपाल कुष्ठ—कृष्णकपालिका (काली मिट्टी) के समान होता है, काकणककुष्ठ—काकणान्तिका (गुञ्जा-रत्ती) के फल के समानाकार एवं बहुत लाल एवं काला होता है। इन चारों में ओष (अग्नि के पास बैठने के समान दाह), चोष (चूसने के समान वेदना), परिदाह (जलन) और धूमायन (धूम के आकार का कृष्ण वमन), ये लक्षण होते हैं। ये कुष्ठ शीघ्र उत्पन्न होते हैं, शीघ्र पकते हैं, और शीघ्र ही फूट जाते हैं, इनमें कृमि भी जल्दी उत्पन्न होते हैं। ये इन कुष्ठों के सामान्य लक्षण हैं।

पुण्डरीक कुष्ठ पुण्डरीक (पद्म[1]) के पत्र के समान होता है. दद्रुकुष्ठ—अतसी (अलसी) के फूल के समान अथवा ताम्रवर्ण, फैलनेवाली, छोटी छोटी पिड़काओं से युक्त होता है। इन दोनों पुण्डरीक और दद्रुकुष्ठ[2] में उत्सन्नता 'उभार' और परिमण्डलता (चक्कर—वर्त्तुलाकार घेरा), कण्डू (खाज) एवं देर में उत्पन्न होना—ये सामान्य लक्षण हैं ॥८॥

क्षुद्रकुष्ठान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—
स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि
स्थूलारुषि स्युः कठिनान्यरूंषि।
त्वक्संकोचभेदस्वपनाङ्गसादाः
कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति ॥९॥

इसके आगे क्षुद्र कुष्ठों को कहते हैं—

स्थूलारुष्क कुष्ठ में—अरूंषि (फुन्सियाँ) स्थूल मूलवाली सन्धियों में उत्पन्न अतिकष्ट साध्य स्थूल एवं कठिन (कठोर) होती है।

महाकुष्ठ में—त्वचा का संकोच, त्वचा का भेदन (स्फुटन), त्वचा का स्वाप (संज्ञा नाश) एवं अंगसाद (अंग ग्लानि) होता है ॥९॥

कृष्णारुणं येन भवेच्छरीरं
तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम्।
स्युर्येन कण्डूव्यथनौषचोषा—
स्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति ॥१०॥

एक कुष्ठ में—जिस कुष्ठ में शरीर काला लाल हो जाता है, उसको एक कुष्ठ कहते हैं।

चर्मदल कुष्ठ में—हाथ-पाँव के तलुओं में कण्डु (खाज), व्यथा (पीड़ा) ओष (दाह) और चोष (चूसने) की वेदना होती है ॥१०॥

विसर्पवत् सर्पति सर्वतो य-
स्त्वग्रक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम्।
मूर्च्छाविदाहारतितोदपाकान्
कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः ॥११॥

विसर्प कुष्ठ[1]—त्वचा, रक्त, मांस को दूषित करके शीघ्र ही (और कुष्ठों के समान देर में नहीं) विसर्प रोग की भाँति फैलने लगता है इसमें मूर्च्छा, विदाह (जलन) अरति (बेचैनी) तोद (शूल) पाक (पकाना) आदि विकार होते हैं ॥११॥

शनैः शरीरे पिडकाः स्रवन्त्यः
सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः।
कण्डूवन्वितं श्वेतमपायि सिध्मं
विद्यात्तनुं प्रायश ऊर्ध्वकाये ॥१२॥

परिसर्प कुष्ठ में—शरीर के ऊपर धीरे-धीरे फैलनेवाली, एवं स्रावयुक्त पिडकायें निकल आती हैं।

सिध्म कुष्ठ[2]—खाजयुक्त, श्वेतवर्ण, अपायि (अकष्टकारि); तनु (सूक्ष्म आकार का) प्रायः शरीर के ऊर्ध्वभाग में (छाती एवं मुख पर) होता है ॥१२॥

राज्योऽतिकण्डूवर्तिरुजः सरूक्षा
भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्।
कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना
विपादिका पादगतेयमेव ॥१३॥

विचर्चिका—रोग में हाथ पाँव पर राजि (बाह्य त्वचा के फटने से रेखायें) उत्पन्न हो जाती हैं, अति कण्डू (बहुत खाज की पीड़ा—खजूरी पीड़ा—कौंच के लगने पर जैसी पीड़ा होती है), रुज् (पीड़ा), एवं रूक्षता

---

१ पुण्डरीक का लक्षण—
"श्वेतं च रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्।
सोत्सेधं च सरागञ्च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥" चरक।

२ दद्रुकुष्ठ दो प्रकार का है—श्वेत (सित) और कृष्ण (असित)। इनमें असित कुष्ठ—महान कष्टसाध्य होने से महाकुष्ठों में पढ़ा है। सितकुष्ठ-सुखसाध्य होने से, पीड़ा करने से चरक में क्षुद्रकुष्ठों में पढ़ा है।

१ विसर्प रोग इस कुष्ठ से भिन्न है—क्योंकि विसर्परोग धीरे धीरे फैलता है। विसर्पकुष्ठ तीन ही दोषों तक सीमित रहता है।

२ सिध्मकुष्ठ दो प्रकार का है। यथा—पुष्पिका और सिध्म। पुष्पिकाकुष्ठ सुखसाध्य होने से सुश्रुत में क्षुद्र कुष्ठों में पढ़ा है। सिध्मकुष्ठ साध्य न होने से चरक ने महाकुष्ठ में पढ़ा है। सिध्म—"शीत से नष्ट हो जाता है।" (अपायि शीतर्त्तौ विनाशि)।

आ जाती है। जिस समय यह विचर्चिका पांव में होती है, उस समय इसमें खाज, जलन और पीड़ा होती हो, तो इसको विपादिका कहते हैं।

किटिभ कुष्ठ—स्रावयुक्त वृत्त (गोल), घन (स्थिरकठिन) तीव्र कण्डूयुक्त, स्निग्धकृष्ण (उज्ज्वल कृष्ण) होता है ॥१३॥

यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु
तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं (सं) वदन्ति।

सास्रावकण्डूपरिदाहकाभिः
पामाऽणुकाभिः पिडकाभिरूह्या ॥१४॥

स्फोटैः सदाहैरति सैव कच्छूः
स्फिक्पाणिपादप्रभवैर्निरूप्या।

पामा—कुष्ठ में-छोटी छोटी बारीक पिड़कायें उत्पन्न होती हैं। इन पिड़काओं से स्राव बहता रहता है, इनमें खाज और जलन होती हैं। जिस समय यह पामा स्फिक् (नितम्ब), पाणि (हाथ) और पांव में उत्पन्न हो जाये और इनमें स्फोट (बड़े-बड़े छाले-पिड़कायें नहीं) काले रङ्ग के उत्पन्न हो जायें इनमें जलन और खाज हो तो इसको "कच्छू" कहते हैं[1] ॥१४॥

कण्ड्वन्विता या पिडका शरीरे
संस्रावहीना रकसोच्यते सा ॥१५॥

रकसा–सम्पूर्ण शरीर में--खाज युक्त एवं स्राव रहित जो पिड़कायें उत्पन्न हो जाती हैं, उनको रकसा कहते हैं ॥१५॥

अरुः ससिध्मं रकसा महच्च
यच्चैककुष्ठं कफजान्यमूनि।

वायोः प्रकोपात् परिसर्पमेकं
शेषाणि पित्तप्रभवाणि विद्यात् ॥१६॥

इन ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों में—अरुष्क, सिध्म, रकसा, महाकुष्ठ और एक कुष्ठ, ये कफजन्य हैं। परिसर्प कुष्ठ वायु से उत्पन्न होता है। शेष (विसर्प, किटिभ, विचर्चिका, पामा, चर्मदल) कुष्ठ पित्तजन्य हैं ॥१६॥

किलासमपि कुष्ठविकल्प एव, तत्त्रिविधं--वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा चेति। कुष्ठकिलासयोरन्तरं त्वग्गत मेव किलासमपरिस्रावि च। तद्वातेन मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च, पित्तेन पद्मपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं स्निग्धं बहलं कण्डूमच्च। तेषु संबद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धं च ॥१७॥

किलास (Leucoderma) भी कुष्ट का ही भेद है। यह रोग तीन प्रकार का है, यथा—वायुजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य। कुष्ठ और किलास में अन्तर--त्वचा में ही स्थित (लसीका रक्त—मांस में नहीं) और स्राव रहित को किलास कहते हैं।

[1] कहा भी है—"सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेताः, ज्ञेयाः पाण्योः कच्छूरुग्राः स्फिचोश्च।"

वायुजन्य किलास मण्डलाकार, अरुण (लाल), परुष (कठिन) और परिध्वंसि (रोमनाशक) पित्त के कारण उत्पन्न किलास—कमल पत्र के समान आकार का और दाहयुक्त होता है। कफजन्य-श्वेत, स्निग्ध, बहल (स्थूल-कठिन) और कण्डू युक्त होता है। इनमें जिस किलास में मण्डल परस्पर मिले (सम्बद्ध) हो, जो अन्त स्थानों में (ओठ, पाणि, पांव या गुह्य प्रदेश में) उत्पन्न हो, जिसमें बाल लाल हो जायें, तथा अग्नि से जलने से जो उत्पन्न हुआ है, वह किलास असाध्य समझना चाहिये[1] ॥

कुष्ठेषु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफभेदकौण्यस्वरोपघाता वातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्णनासाभङ्गाक्षिरागसत्त्वोत्पत्तयः पित्तेन, कण्डूवर्णभेदशोफास्रावगौरवाणि श्लेष्मणा ॥१८॥

कुष्ठ में त्वचा का संकोच, त्वचा में स्पर्श नाश, पसीना न आना, सूजन, त्वचा का फटना, कौण्य (हाथों की विकलता) और स्वरभंग, ये वायु के कारण उत्पन्न होते हैं। पकना, फटना, अंगुलियों का गिरना, कान,--नाक का नाश, आंखों में लालिमा सत्त्वोत्पत्ति (कृमियों का उत्पन्न होना), ये पित्त के कारण से होता है। खाज, वर्ण का नाश, सूजन, स्राव और भारीपन कफ के कारण से होता है ॥१८॥

तत्रादिबलप्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम् ॥१९॥

इनमें आदि बल (शुक्र शोणित के दोषजन्य) से प्रवृत्त, पुण्डरीक और काकणक ये तीनों कुष्ठ असाध्य हैं ॥१९॥

भवन्ति चात्र—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृष्टिविवर्धितैः ॥२०॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः ॥२१॥

कहा भी है—२०,२१॥

जिस प्रकार से उत्पन्न वनस्पति समय की अधिकता से, मूल (जड़) पकड़कर-वृष्टि से बढ़कर भूमि के अन्दर स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार से त्वचा में उत्पन्न हुआ कुष्ठ-चिकित्सा न करनेवाले पुरुष में समय की अधिकता से रक्त आदि धातुओं में फैल जाता है॥

[1] कहा भी है—
"गुह्य पाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्ज्जनीयं विशेषण किलासम् ॥"

(२) किलास जिस समय त्वचा से आगे रक्तादि धातुओं में आ जाता है, तो इसका नाम श्वित्र हो जाता है। श्वित्र किलास का ही भेद है। यथा—

"त्वग्गतं तु यदाऽस्रावि किलासं तत् प्रकीर्त्तितम्।
यदा त्वचमतिक्राम्य तद् धातुमवगाहते।
हित्वा किलाससंज्ञं तत् श्वित्रसंज्ञां लभेत च ॥"

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते ।
वैवर्ण्यं रूपभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते ॥२२॥

त्वचागत कुष्ठ के लक्षण—स्पर्शज्ञान की हानि, पसीने का थोड़ा आना, कण्डू (खाज), विवर्णता (रङ्ग परिवर्त्तन) और रूक्षता होती है ॥ २२ ॥

त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्याभिप्रवर्तनम् ।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥२३॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥२४॥

कुष्ठ के रक्त में होने पर—त्वचा का स्पर्श नाश, रोमांच, स्वेद का बहुत आना, कण्डू और विपूयक (पूयोत्पत्ति) होती है। मांस में कुष्ठ होने पर—बाहुल्य (स्थूल-कठोर मण्डल), मुख की शुष्कता, पिड़काओं का उत्पन्न होना, तोद (पीड़ा), स्फोट (छाले), स्थिरत्व (कठिनता) होते हैं ॥ २३,२४ ॥

दौर्गन्ध्यमुपदेहश्च पूयोऽथ क्रिमयस्तथा ।
गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदःसमाश्रिते ॥२५॥
नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च क्रिमिसंभवः ।
भवेत् स्वरोपघातश्च ह्यस्थिमज्जसमाश्रिते ॥२६॥
कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।
शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥२७॥

मेद में कुष्ठ पहुँचने पर-दुर्गन्धता, उपदेह (परिलिप्तता) पूय कृमियों की उत्पत्ति, शरीर का विदीर्ण होना होता है। अस्थि और मज्जा में कुष्ठ होने पर—नासिका नाश, आँखों में रक्तिमा, क्षत-व्रणों में कृमि की उत्पत्ति तथा स्वर भङ्ग होता है। शुक्र स्थान में कुष्ठ के पहुँचने पर – कौण्य (अङ्गों में विकलता), गतिक्षय (चलना-फिरना नष्ट होना), अङ्गों का फूटना, व्रण का फैलना तथा उपर्युक्त (त्वचा से लेकर मज्जा तक कहे) लक्षण होते हैं ॥ २५-२७ ॥

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥२८॥

कुष्ठ दोष के कारण जिन पिता-माता का शुक्र और शोणित दूषित होता है, उनकी यदि सतान उत्पन्न होती है, तो वह भी कुष्ठ राग से पीड़ित होती है ॥ २८ ॥

कुष्ठमात्मवतः साध्यं त्वग्रक्तपिशिताश्रितम् ।
मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम् ॥२९॥

आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष का त्वचा रक्त और मांस में आश्रित कुष्ठरोग साध्य है, मेद में आश्रित याप्य है, शेष स्थानों में पहुँचा असाध्य है ॥ २९ ॥

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः ।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥३०॥

ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, सज्जन वध, दूसरे के धन के हरने के कारण—इस पापरोग-कुष्ठ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से कर्मजन्य कुष्ठ को कहा है ॥ ३० ॥

म्रियते यदि कुष्ठेन पुनर्जातेऽपि गच्छति ।
नातः कष्टतरो रोगो यथा कुष्ठं प्रकीर्तितम् ॥३१॥

यदि कुष्ठरोग से मनुष्य मरता है, तो उत्पन्न होने पर फिर इसको कुष्ठ रोग होता है। इसलिये कुष्ठ से अधिक दुःख दायी और दूसरा कोई रोग नहीं है ॥ ३१ ॥

आहाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम् ।
औषधीनां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात् ।
यस्तेन मुच्यते जन्तुः स पुण्यां गतिमाप्नुयात् ॥३२॥

वर्णित आहार एवं आचार के नियमों का पालन करते हुए बड़ी भारी विचारणा को करने से, विशेष औषधियों के तथा तप (चन्द्रायण आदि व्रत) के सेवन से जो पुरुष कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है वह पुण्य गति को प्राप्त करता है[1] ॥३२॥

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥३३॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥३४॥

प्रसंग (संक्रान्त व्यक्तिसे मैथुन करने) से, संक्रान्त व्यक्ति के शरीर-स्पर्श से, संक्रान्त व्यक्ति के निःश्वास से, सक्रान्तव्यक्ति के साथ भोजन करने से, संक्रान्त व्यक्ति के साथ सोने से, बैठने से, उसकी उपभुक्त वस्तु वस्त्र माला या अनुलेप (अङ्गराग) को लगाने से, कुष्ठ, ज्वर, शोथ (क्षय), नेत्राभिष्यन्द (नेत्र-रोग) और औपसर्गिक[2] (मसूरिका, रोमान्तिका, आदि) रोग, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ जाते हैं ॥ ३३,३४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने कुष्ठनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

कुष्ठ के त्रिदोषजन्य होने पर भी एक एक दोष की प्रबलता से कुष्ठ को कहकर अब त्रिदोषजन्य प्रमेह-

---

१ यह राग कर्मजन्य है। जैसा कि कहा है—
"यथाशास्त्रं विनिर्णीतो यथाविधि चिकित्सितः
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्म्मजो बुधैः ॥"
इसलिये कर्म्मों के क्षय होने से इसका क्षय है। यतः—
"कर्म्मक्षयात् कर्म्मकृता दोषजाः स्वरभेषजैः ।
कर्म्मदोषोद्भवा यान्ति कर्म्मदोषक्षयात् क्षयम् ॥"
इसलिये औषध एवं तप आदि के सेवन का विधान किया है।

२ औपसर्गिक रोग—
मसूरिकाश्च रोमान्त्यो ग्रन्थिर्वीसर्प एव च ।
उपदंशश्च कण्ड्वाद्या औपसर्गिकसंज्ञकाः ॥

निदान को कहते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

दिवास्वप्नाऽव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुर-मेद्यद्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति ॥३॥

प्रमेह के कारण—

दिन में सोने, व्यायाम (शारीरिक परिश्रम) न करनेवाले, निरन्तर सदा आलसी, शीत स्निग्ध (घृत बहुल), मधुर, मेद्य (मेदवर्धक) द्रव (तरल) खान-पान को सेवन करनेवाले पुरुष में प्रमेह उत्पन्न होता है[1] ॥३॥

तस्य चैवंप्रवृत्तस्यापरिपक्का एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदसा सहैकत्वमुपेत्य मूत्रवाहिस्रोतांस्यनुसृत्याधो गत्वा वस्तेर्मुखमाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहाञ्जनयन्ति।

इस प्रकार के आहार-विहार को सेवन करनेवाले पुरुष के अपरिपक्व (आमावस्था के) अवस्था में ही वात, पित्त और कफ मेद (एवं बसा) के साथ मिलकर मूत्रवाही स्रोतों के आश्रय से नीचे की ओर आकर वस्ति मुख का आश्रय लेकर जब बाहर निकलने लगते हैं, तब प्रमेहों की उत्पत्ति होती है[2] ॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥५॥

प्रमेह के पूर्वरूप—

हाथ और पाँव के तलुओं में जलन, शरीर में स्निग्धता (चेहरे पर बिना तेल के तेल की झलक), चिकनापन और भारीपन होना, मूत्र में मधुरता और सफेदपन, तन्द्रा (आलस्य), साद (अङ्गों में ग्लानि), प्यास, श्वास में दुर्गन्ध, श्वास-तालु, गले-जिह्वा और दांतों में मल का बहुत उत्पन्न होना, बालों का आपस में उलझा रहना, और नखों का शीघ्र बढ़ना—ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं ॥५॥

तत्राविलप्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति ॥६॥

सब प्रमेहों में मूत्र का गदलापन और मात्रा में मूत्र का बहुत आना सामान्य लक्षण हैं।

वि० मन्तव्य—आहार का परिपाक हो जाने के पश्चात्-मल द्रव का जलीयांश आचूषित होकर रस के समान ही रक्त में मिलता है और रक्त में आहार रस मय सब धातुओं के उपादान विद्यमान रहते हैं। रक्त में से वृक्कों द्वारा मूत्रांश छनता है, तब यदि धातुओं के उपादान भी मूत्र में छनने लगते हैं और अप—धातु (जितने जल की शरीर को सर्वदा आवश्यकता होती है—रहती है उतना जल) भी अधिक छनने लगता है तो मूत्र—आविल (अस्वच्छ) तथा अपेक्षाकृत अधिक आने लगता है। फलतः धातुओं का उचित पोषण नहीं होता। इसी रोग का नाम "प्रमेह" या मेह है। शेष सब लक्षणों पर ध्यान दें। और—स्थूलः प्रमेही बलवान् इह एकः कृशः तथैकः परिदुर्बलश्च। (च० चि० अ० ६) जिस रोगी के मेदस् तथा ओजस् सुरक्षित रहते हैं वह स्थूल और बलवान् बना रहता है। जिसके नहीं वह कृश एवं दुर्बल हो जाता है ॥६॥

सर्व एव सर्वदोषसमुत्थाः सह पिडकाभिः ॥७॥

सब प्रमेह एवं प्रमेह जन्य सब पिडकायें (कुष्ठ की भांति) सब दोषों से उत्पन्न होती हैं ॥७॥

तत्र, कफादुदकेक्षुवालिकासुरासिकताशनैर्लवणपिष्ट-सान्द्रशुक्रफेनमेहा दश साध्याः, दोषदूष्याणां समक्रियत्वात्, पित्तान्नीलहरिद्राम्लक्षारमञ्जिष्ठाशोणितमेहाः षड् याप्याः, दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वात्, वातात् सर्पिर्वसाक्षौद्रहस्तिमेहाश्चत्वारोऽसाध्यतमाः, महात्ययिकत्वात्॥८॥

इनमें कफ के कारण से दस प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते हैं। यथा—उदकमेह, इक्षुवालिकामेह, सुरामेह, सिकतामेह, शनैर्मेह, लवणमेह, सान्द्रमेह, पिष्टमेह, शुक्रमेह और फेनमेह। ये दसों प्रमेह साध्य हैं। क्योंकि इनमें दोष (कफ) और दूष्य (मेद-मज्जा आदि) की चिकित्सा कार्य एक समान है। अर्थात् कफ और मेद दोनों ही रूक्ष एवं उष्ण तथा कटु तिक्त कषाय से शान्त होते हैं, इसलिये साध्य हैं। पित्त के कारण से—नीलमेह, हरिद्रामेह, अम्लमेह, मञ्जिष्ठामेह और शोणितमेह—ये छै प्रमेह उत्पन्न होते हैं। छै प्रमेह याप्य हैं। क्योंकि इनमें दोष (पित्त) और दूष्य (मेद-लसीका आदि) का चिकित्साकार्य विषम रूप है। अर्थात् पित्त मधुर एवं शीत, स्निग्ध क्रिया से शान्त होता है, और मेद लसीका—उष्ण एवं कटु रूक्ष क्रिया से शान्त होती है, इसलिये याप्य हैं। वायु के कारण से—सर्पिर्मेह, वसामेह, क्षौद्रमेह, और हस्तिमेह—चार प्रमेह होवे

१ कई आचार्य्यों का कथन है कि प्रमेहरोग स्त्रियों को नहीं होता। इसके लिये वे कहते हैं कि—

"रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति।
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः ॥"

यह वचन ठीक नहीं है। क्योंकि किसी तन्त्र ने इसको नहीं माना और प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। परन्तु यह भी सत्य है कि जिस स्त्री को ऋतु धर्म ठीक प्रकार से आता रहता है, इसको मूत्र दोष नहीं होते या कम होते हैं। और जिस को प्रमेह होता है, उनको रजो दोष की शिकायत रहती है। विशेष चिकित्सास्थान में देखें।

२ कहा भी है—

"दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः।
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्पते ॥"

हैं। ये अतिशय असाध्य हैं। क्योंकि—महात्ययिक होने से—अर्थात् अतिशय धातु क्षय करने के कारण शीघ्र विनाशकारी हैं एवं इनमें भी विषम क्रिया है। (मधुर रस वायु को शमन करता है, स्निग्ध गुण वायु का शामक है, परन्तु ये दोनों दूष्य—मेद को बढ़ाते हैं) ॥८॥

तत्र वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा श्लेष्मप्रमेहाञ्जनयति, वातकफशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो वायुर्वातप्रमेहान् ॥९॥

इनमें वायु-पित्त और मेद (मांस आदि भी[1]) से युक्त कफ-कफजन्य प्रमेहों को उत्पन्न करता है। वायु-कफ और रक्त एवं मेद से मिश्रित पित्त-पित्तजन्य प्रमेहों को, कफ-पित्त वसा मज्जा और मेद से मिश्रित वायु-वातजन्य प्रमेहों को उत्पन्न करती है ॥९॥

तत्र, श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति, इक्षुरसतुल्यमिक्षुवालिकामेही, सुरातुल्यं सुरामेही; सरुजं सिकतानुविद्धं सिकतामेही; शनैः सकफं मृत्स्नं शनैर्मेही; विशदं लवणतुल्यं लवणमेही; हृष्टरोमः पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही; आविलं सान्द्रं सान्द्रमेही; शुक्रतुल्यं शुक्रमेही; स्तोकं स्तोकं सफेनमच्छं फेनमेही मेहति ॥१०॥

इनमें उदकमेही रोगी—श्वेतवर्ण मूत्र-बिना किसी पीड़ा के—पानी के समान स्वच्छ प्रवाहण करता है। इक्षुमेही रोगी—गन्ने के समान, सुरामेही—सुरा के समान, सिकतामेही-पीड़ा के साथ सिकता (दूषित कफ वालुका में परिवर्त्तित होता है—इसलिये वालुका) मिश्रित, शनैर्मेही-धीरे धीरे—कफ मिश्रित मृत्स्न (पिच्छिल-चिकासयुक्त), लवणमेही विशद (निमल), लवणरस युक्त, एवं लवणोदक के समान, पिष्टमेही—हृष्टरोमा (शरीर में रोमांच उत्पन्न होकर), पिष्टरस (पिढीमिले पानी) के समान, सान्द्रमेही—आविल (कलुषित), सान्द्र[2] (घन), शुक्रमेही—शुक्र के समान चिकना, फेनमेही-धीरे-धीरे फेन मिश्रित मूत्र प्रवाहित करता है ॥१०॥

अत ऊर्ध्वं पित्तनिमित्तान् वक्ष्यामः—सफेनमच्छं नीलं नीलमेही मेहति; सदाहं हरिद्राभं हरिद्रामेही; अम्लरसगन्धमम्लमेही; स्रुतक्षारप्रतिमं क्षारमेही; मञ्जिष्ठोदकप्रकाशं मञ्जिष्ठामेही; शोणितप्रकाशं शोणितमेही मेहति ॥११॥

इसके आगे पित्तजन्य प्रमेहों की व्याख्या करते हैं—नीलमेही रोगी—फेनयुक्त अच्छे (निर्मल), नीलवर्ण (दूषित पित्त के कारण से) मेहन करता है। हरिद्रामेही-दाह से युक्त एवं हरिद्रा मिश्रित जल के समान, अम्लमेही—अम्लरस एवं अम्लगन्ध युक्त, क्षारमेही—स्रुतक्षार (गलित क्षार द्रव) के तुल्य, मञ्जिष्ठामेही—मञ्जिष्ठा मिश्रित पानी के समान लाल, शोणितमेही—रक्त के समान मूत्र प्रवाहण करता है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं वातनिमित्तान् वक्ष्यामः—सर्पिःप्रकाशं सर्पिर्मेही मेहति; वसाप्रकाशं वसामेही; क्षौद्ररसवर्णं क्षौद्रमेही; मत्तमातङ्गवदनुप्रबन्धं हस्तिमेही मेहति ॥१२॥

इसके आगे वातजन्य प्रमेहों की व्याख्या करते हैं—सर्पिर्मेही-सर्पि (घी) के समान, वातमेही वसा के समान, क्षौद्रमेही—मधु के समान रस एवं वर्णयुक्त, हस्तिमेही—मत्त हाथी के समान निरन्तर वेग पूर्वक और पीछे से बिना वेग के धीरे धीरे प्रवाहण करता है।

वि० मन्तव्य—हस्तिमेह में वस्ति का मुख खुल जाता है, फलतः सर्वदा मूत्र बहता रहता है, रोगी को उसके लिये—रबड़ की थैली मेहन के मुख पर लगानी पड़ती है। कफज मेह में—आहार रस में अधिक मधुरता उत्पन्न होने लगती है। यहाँ तक कि स्वेद और मूत्र भी मधुर होने लगते हैं। (स्वस्थ के स्वेद एवं मूत्र लावणिक होते हैं)। फलतः—शरीर एवं मूत्र पर मक्षिका बैठने लगती हैं। यह कफज मेह का उपद्रव है, मेद बढ़ने पर होता है। वातज मेह का उपद्रव—हृद्ग्रह इससे हृदय की स्वाभाविक गति में रुकावट होने लगती है। फलतः वातप्रमेही की नाड़ी भी रुक-रुक कर चलती है। पाठक नाड़ी देखते समय ध्यान दें। स्तम्भ—गतिशील अवयवों का स्तब्ध हो जाना—देखा सुना जाता है। वात प्रमेह के रोगियों की मृत्यु हृत्स्तम्भ से (हार्ट फेल होने से) होती है। और उक्त वातज चारों मेह प्रायः सुखी सुकुमार एवं मस्तिष्क से काम लेनेवालों (वकील, जज, विद्वान् तथा धनिकों) को अधिक होते हैं ॥१२॥

मक्षिकोपसर्पणमालस्यं मांसोपचयः प्रतिश्यायः शैथिल्यारोचकाविपाकाः कफप्रसेकच्छर्दिनिद्राकासश्वासाश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः; वृषणयोरवदरणं बस्तिभेदो मेढ्रतोदो हृदि शूलमम्लीकाज्वरातीसारारोचका वमथुः परिधूपनं दाहो मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं चेति पैत्तिकानां, हृद्ग्रहो लौल्यमनिद्रा स्तम्भः कम्पः शूलं बद्धपुरीषत्वं चेति वातजानाम्। एवमेते विंशतिः प्रमेहाः सोपद्रवा व्याख्याताः ॥१३॥

मक्षिकोपसर्पण (शरीर की मधुरता में स्नान एवं अनुलेपन करने पर भी मक्खियों का आना), आलस्य, मांसोपचय (मांसवृद्धि), प्रतिश्याय, शैथिल्य,-(अङ्गों में शिथिलता), अरुचि, अविपाक, कफप्रसेक (मुख से लालास्राव), छर्दि, निद्रा-कास,

१ चरक में कहा है कि—
"स विसपन् सर्वशरीरे मेदसैवाहितः मिश्रीभावं गच्छति। मेदसो बह्वबद्धत्वात्"।

२ यदा पर्य्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥

श्वास-ये कफजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव-अण्डकोषों का फटना (पकना), मूत्राशय में पीड़ा, शिश्न में वेदना, हृदय शूल, खट्टे डकार ज्वर, अतिसार, अरुचि, वमन, परिधूमायन (उष्णिमा के कारण-धूमोद्गार या चारों ओर से ताप प्रतीति), दाह, मूर्च्छा, प्यास, निद्रा का नाश, पाण्डुरोग, मल-मूत्र—और नेत्र का पीला होना, पित्तजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। वायु जन्य प्रमेहों के उपद्रव—हृदय में पीड़ा (बेचैनी), लौल्य (सब रसों के खाने की इच्छा), अनिद्रा, स्तम्भ (जड़ता), कम्पन, मल का अवरोध (काठिन्य)—ये वातजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं। इस प्रकार से ये बीस प्रमेह उपद्रवों के साथ कह दिये ॥१३॥

तत्र वसामेदोभ्यामभिपन्नशरीरस्य त्रिभिर्दोषैश्चानुगतधातोः प्रमेहिणो दश पिडका जायन्ते। तद्यथा—शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका, विद्रधिका चेति ॥१४॥

वसा (मांस स्नेह) एवं मेद के कारण अभिपन्न (दूषित) शरीरवाले प्रमेही के धातुओं में तीन दोष व्याप्त होकर दस पिड़कायें उत्पन्न करते हैं[1]। यथा—शराविका, सर्षपिका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदारिका और विद्रधि। ये पिड़कायें प्रायः शरीर के निचले भाग में (ग्रीवा के नीचे) होती हैं ॥१४॥

शरावमात्रा तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सार्षपी ॥१५॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥१६॥
महती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता।
महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडका सा तु पुत्रिणी ॥१७॥
मसूरसमसंस्थाना ज्ञेया सा तु मसूरिका।
रक्ताऽसिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत् ॥१८॥

शराविका पिड़का—शराव (चप्पन) के समान, इसी के आकार की, बीच से दबी होती है। सर्षपिका—श्वेत सरसों के आकार की, सरसों के बराबर बड़ी होती है। कच्छपिका—जलनयुक्त—कछुवे के समान बीच में से ऊपर को उठी होती है। जालिनी पिड़का—तीव्र दाहयुक्त—एवं मांस एवं शिराजाल से घिरी रहती है। विनता—महान् एवं नीले रङ्ग की होती है। पुत्रिणी—महती (स्थूल) एवं छोटी-छोटी पिड़काओं से व्याप्त (चारों ओर से घिरी) होती है। मसूरिका—मसूर के समान आकार की होती है। अलजी—लाल-काली स्फोटवती (त्वचा के फटने से छाले के रूपवाली), अति कठिन (कष्टदायक होती है ॥१५-१८॥

विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका।
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका बुधैः ॥१९॥

विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल एवं कठिन होती है। विद्रधि पिड़का—विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है ॥१९॥

ये यन्मयः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तत्कृताः।

जिन दोषों के कारण से प्रमेह उत्पन्न होते हैं, उन्हीं दोषों के कारण से ये प्रमेह जन्य पिड़कायें उत्पन्न होती हैं॥

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥२०॥

गुदा, हृदय, शिर, अंस (बाहुका शिर), पीठ, मर्मस्थानों में उत्पन्न एवं तृषा-कास आदि उपद्रवों से युक्त, एवं अल्पाग्नि तथा अल्पशरीरवाले पुरुष में पिड़कायें असाध्य होती हैं[1] ॥२०॥

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अधः प्रक्रमते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः ॥२१॥

वायु, मेद, मज्जा और वसा (ओज एवं लसीका) के साथ मिलकर सम्पूर्ण शरीर का विलोड़नकर समस्त धातुओं को मूत्र मार्ग द्वारा प्रवाहण करती है, इसलिये शरीर के अधः भाग में पिड़कायें बलवान् होती हैं। इसलिये वातजन्य पिड़कायें असाध्य हैं ॥२१॥

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते।
किंचिच्चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२२॥

पूर्वारूपावस्था में सब रोग सुखसाध्य होते हैं—इसलिये कहते हैं कि—जिस रोगी में प्रमेह के पूर्वरूप के लक्षण स्पष्ट होने लगें अथवा मूत्र में कुछ अधिकता आने लगे, तो समझ लेना चाहिये कि यह प्रमेही है—इसको प्रमेह होनेवाला है ॥२२॥

कृत्स्नान्यर्धानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे।
प्रवृत्तामूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत् ॥२३॥

जिस रोगी में सम्पूर्ण अथवा आधे प्रमेह पूर्वरूप के लक्षण स्पष्ट हों और मूत्र की मात्रा विशेष रूप से बढ़ जाये, उस रोगी को प्रमेह है, ऐसा जानना चाहिये ॥२३॥

पिडकापीडितं गाढमुपसृष्टमुपद्रवैः।
मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तितः ॥२४॥

---

१ यद्यपि सब प्रमेहियों के लिये पिड़कायें कही हैं, तथापि मधुमेही रोगी में विशेष करके पिड़कायें उत्पन्न होती हैं, जैसा कि चरक के 'कियन्तःशिरसीय' अध्याय में कहा है।

१ पिड़काओं के उपद्रव—
"तृट्कासमांसकोथमोहहिक्कामदज्वराः।
विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः॥"

अतिशय रूप में पिड़काओं से पीड़ित एवं प्रमेह जन्य उपद्रवों से युक्त, मेही को मधुमेही कहते हैं, यह असाध्य है[1] ॥

स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति ।
आसनाद् वृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति ॥२५॥

मधुमेही रोगी चलने की अपेक्षा खड़ा रहना (काम न करना) खड़े रहने की अपेक्षा बैठना, बैठने की अपेक्षा शय्या (बिस्तर पर लेटना), शय्या से सोना अधिक पसन्द करता है ॥

यथा हि वर्णानां पञ्चानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण शबलबभ्रुकपिलकपोतमेचकादीनां वर्णानामनेकेषामुत्पत्तिर्भवति, एवमेव दोषधातुमलाहारविशेषेणोत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण प्रमेहाणां नानाकरणं भवति ॥२६॥

जिस प्रकार कि पांच (सित हरित, कृष्ण, पीत और रक्त) रंगों के उत्कर्ष (अधिकता) एवं अपकर्ष (न्यूनता) द्वारा विशेष संयोग करने पर शबल (मिश्रित वर्ण), बभ्रु (पिंगल वर्ण), कपिल (उज्ज्वल पिंगल), कपोत (कबूतरी) और मेचक (उज्ज्वल श्यामवर्ण) आदि अनेक प्रकार के रङ्ग उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार से दोष (वातादि), दूष्य (मेद वसा आदि), मल आहार की विशेषता के न्यूनाधिक द्वारा विशेष होने पर नाना प्रकार के प्रमेह उत्पन्न होते हैं ॥२६॥

भवति चात्र—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकुर्वतः ।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२७॥

कहा भी है—

सब प्रकार के प्रमेह—प्रथम क्रियाकाल में चिकित्सा न करने पर मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं । मधुमेह हो जाने पर असाध्य हो जाते हैं ॥२७॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने प्रमेहनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथात उदराणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

प्रमेह की भांति उदररोग भी शीघ्र उत्पन्न हुए ही सुखसाध्य हैं, इसलिये प्रमेह के पीछे उदररोग की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो
राजर्षिरिन्द्रप्रतिमोऽभवद्यः ।
ब्रह्मर्षिपुत्रं । विनयोपपन्नं
शिष्यं शुभं सुश्रुतमन्वशात् सः ॥३॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ एवं राजर्षि इन्द्र के समान आयुर्वेदज्ञाता धन्वन्तरि (शल्यशास्त्र के ज्ञाता), विनय से युक्त (जितेन्द्रिय), ब्रह्मर्षिपुत्र (विश्वामित्र के पुत्र—तप से ब्रह्मत्व प्राप्त करने के कारण), विनय शील आदि शुभ गुणों से युक्त, शिष्य रूप से आये सुश्रुत को शिक्षा देने लगे ॥३॥

पृथक् समस्तैरपि चेह दोषैः
प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।
आगन्तुकं सप्तममष्टमं च
दकोदरं चेति वदन्ति तानि ॥४॥

इस शास्त्र में उदररोग आठ प्रकार के हैं । यथा—एक-एक दोष से (वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य) तीन, सब दोषों से एक, इस प्रकार से चार प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, आगन्तुज और दकोदर आठवाँ है । (यकृद्दाल्युदर का अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही होता है) ॥४॥

सुदुर्बलाग्नेरहिताशनस्य
संशुष्करूक्षपूत्रनिषेवणाद्वा ।
स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तो-
र्वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः ॥५॥

---

१ जिस प्रकार से शिशु में क्रूरता-शूरता आदि गुण देखकर—'सिंहो माणवकः' यह प्रयोग होता है, उसी प्रकार से मधुमेही शब्द से—मधु के समान मूत्र प्रवाहित होता है, इसका द्योतक मधुमेही शब्द है । इसी प्रकार से—उत्पत्तिजन्य तथा सहजन्य दोनों प्रकार का मधुमेह असाध्य है । कहा भी है—

जातः प्रमेही मधुमेही नो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् । ये चापि केचित्कालजा विकाराः भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥

(२) प्रमेह रोग, केवल मूत्रमार्ग का ही रोग है, यह बात नहीं । प्रमेह तो सारे शरीर का एक रोग है । इस रोग का मुख्य लक्षण—'प्रभूत-आविल मूत्रता'—मूत्र का मात्रा में अधिक और मलिन होना है । वह लक्षण शरीर में दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होता है । इसी से चरक में कहा है "त्रयाणामेषां निदानादविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते—प्रागतिभूयस्त्वात्, संप्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते, शरीरशैथिल्यात् । स विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति । मेदसश्चैव बहुबद्धत्वात् मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात् ।" इत्यादि ।

चरक० नि० अ० ४ ।

(३) मधुमेह में शरीर की उष्णिमा कम हो जाती है । इसीलिये इस रोग में जो पिड़कायें बनती हैं वे पकती नहीं । इसी उष्णिमा को बढ़ाने के लिये इन्स्युलीन (पित्ताग्नि) दी जाती है ।

गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ।

कारण—

दुर्बल जठराग्निवाला व्यक्ति जब अहिताशन (विरुद्ध-सम-अध्यशन—विषमाशन) करता है, अथवा अतिशुष्क, दुर्गन्ध युक्त अन्न के खाने से, पुरुष के स्नेह-स्वेदन, वमन विरेचनादि कार्यों के अनुचित रूप में सेवन करने से, दोष कुपित होकर कोष्ठ (आमाशय, पित्ताशय और पक्वाशय) का आश्रय करके गुल्मरोग के समान आकार एवं चिह्न रूपी लक्षणों को उत्पन्न करके कष्टदायक उदररोग को उत्पन्न करते हैं ॥५॥

कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ॥६॥
त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ता-
द्विवर्धमानो जठरं करोति ।

सम्प्राप्ति—दूषित अनिल (प्राण-अपान वायु) के कारण प्रेरित अन्नसार (अन्नरस), कोष्ठ से उपस्नेह की भाँति (जिस प्रकार से नवीन घट में से तैल सूक्ष्म छिद्रों द्वारा बाहर आता है—उसी प्रकार से) बाहर निकलकर त्वचा को भली प्रकार से तानकर (आध्मान करके), चारों ओर से धीरे-धीरे बढ़ते हुए उदर रोग को उत्पन्न करता है ॥६॥

तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षा-
वलीविनाशो जठरे हि राज्यः ॥७॥
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो
बस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः ।

उदररोग के पूर्वरूप—रोगी में बल और वर्ण की चाह रहती है (बल वर्ण घट जाता है), उदर की वलियाँ (झुर्रियाँ) नष्ट हो जाती हैं, उदर पर रेखायें (उदर में आध्मान होने से) उत्पन्न हो जाती हैं। भोजन के जीर्ण या अजीर्ण होने का ज्ञान नहीं होता, विदाह (जलन) होती है, बस्ति में दाहयुक्त वेदना और पाँवों में सूजन आ जाती है ॥७॥

संगृह्य पार्श्वोदरपृष्ठनाभी-
र्यद्वर्धते कृष्णसिरावनद्धम् ॥८॥
सशूलमानाहवदुग्रशब्दं
सतोदभेदं पवनात्मकं तत् ।

वातोदर—जब वायु—कृष्णरक्तवाही शिराओं का आश्रय करके पार्श्व उदर-पीठ और नाभि को घेरकर बढ़ती है, तब इसमें शूल, आनाह के समान तीव्र गुड़गुड़ शब्द, तोद एवं भेद (कुल्हाड़े के काटने के समान) होती है—इसको वातोदर कहते हैं ॥८॥

यच्चोषतृष्णाज्वरदाहयुक्तं
पीतं सिरा भान्ति च यत्र पीताः ॥९॥
पीताक्षिविण्मूत्रनखाननस्य
पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि ।

पित्तोदर—उदररोग में चोष (चूसने के समान वेदना), तृष्णा, ज्वर, दाह हो, जब पीली शिरायें (पित्तवह सिरायें) अधिक पीली हो जायें, आँख, मल-मूत्र-नख और चेहरा भी पीला हो जाता है तो पित्तोदर बहुत शीघ्रता से बढ़ता है ॥९॥

यच्छीतलं शुक्लसिरावनद्धं
गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य ॥१०॥
स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं
कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि ।

कफोदर में—उदर शीतल एवं उदर पर शिराजाल श्वेत-सा दीखता है। उदर भारी, स्थिर (कठिन) हो जाता है। रोगी का चेहरा और नख श्वेत हो जाते हैं। उदर, स्निग्ध, महान्—शोफयुक्त होता है, अङ्गों में ग्लानि होती है, उदर चिरकाल में बढ़ता है ॥१०॥

स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्र
विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ॥११॥
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च
दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ।
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः
कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ॥१२॥
तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु
विशेषतः कुप्यति दह्यते च ।
स चातुरो मूर्च्छति संप्रसक्तं
पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ॥१३॥
प्रकीर्तितं दूष्युदरं तु घोरं

सन्निपातोदर—दुराचारी स्त्रियाँ एवं अविवेकी पुरुष नख रोम-मत्र-मल-आर्त्तव युक्त खान-पान को, शत्रु गर (संयोगजन्य कृत्रिम विष) जिस व्यक्ति को देते हैं उसको एवं दूषित जल (विष-मत्स्यादि युक्त), दूषीविष (जो विषदावाग्निवायु और आतप के कारण मन्द हो जाये) के सेवन करने से रक्त और वातादि दोष शीघ्र कुपित होकर त्रिलिंग (वात-पित्त-कफ के लक्षणवाला), घोर उदररोग को उत्पन्न करते हैं। शीत से, वायु से, बादलों के आने पर विशेष रूप में यह रोग बढ़ता है, इसमें जलन होती है। रोगी निरन्तर मूर्च्छित रहता है, रोगी पाण्डुवर्ण, कृश हो जाता है, प्यास से गला शुष्क हो जाता है। इस उदर को घोर (भयानक-कष्टकारी) एवं दूष्युदर (दुष्प्रतीकार होने से निन्दनीय) कहते हैं।

वि० मन्तव्य—सौभाग्य की दुरभिलाषा से प्रेरित नारियाँ कार्मण का प्रयोग करती हैं, तथा दुष्टा अपने जारों के बहकावे में आकर पति को उक्त प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग कर बैठती हैं और शत्रु—तत्काल पुलिस की कार्यवाही आदि के भय से दूषीविषों का अलक्षित प्रयोग करते हैं। फलतः वह अभागा घुल-घुल कर महीनों खटिया सेकर मरता है ॥११-१३॥

प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ।
विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ॥१४॥
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति
प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ॥१५॥
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।

इसके आगे प्लीहोदर कहते हैं—उसे जानो—

विदाही एवं अभिष्यन्दि (दोष-धातु मल स्रोतसों के क्लेद कारक) पदार्थों के निरन्तर सेवन करने से रक्त और कफ अतिशय रूप में कुपित होकर निरन्तर प्लीहा की वृद्धि को करते हैं, इसको विद्वान् प्लीहोदर कहते हैं। प्लीहा की वृद्धि वामपार्श्व में (पसलियों के नीचे) होती है, रोगी को विशेष रूप में अंग ग्लानि होती है। रोगी को मन्द (थोड़ा २) ज्वर रहता है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, कफ और पित्तजन्य उदरों के लक्षण रहते हैं। रोगी का बल बहुत घट जाता है, शरीर अत्यन्त पीला पड़ जाता है ॥१४,१५॥

सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे
ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥१६॥

तदेव (यही प्लीहोदर-दूषित कफ और रक्त) सव्येतर (दक्षिण) पार्श्व में यकृत् के दूषित होने पर 'यकृद् दाल्युदर' कहाता है। (इसका अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही है) ॥१६॥

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा ।
संचीयते तत्र मलः सदोषः
क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि ॥१७॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
त (य) श्चोदरं विट्समगन्धिकं च ॥१८॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः,

जिस पुरुष की आँतों में—उपलेपि (पिच्छिलकेबुकादि) अन्न के कारण से अथवा बाल या अश्म (पत्थर के कणों) से पृथक्-पृथक् अथवा समुदित रूप में, तीनों दोषों से सम्मिलित मल एकत्रित हो जाता है, जिस प्रकार कि नाड़ी (प्रणाली) में (झाड़ू से एकत्रित की गई) धूल का ढेर हो जाता है, उसी प्रकार से गुदा में मल संचित होता है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा मल बाहर आता है। उदर हृदय और नाभि के मध्य में बढ़ने लगता है। प्रच्छर्दयन् (आँतों के आमाशय को दबाने से जो वमन आता है, वह) उदर मल के समान गन्धयुक्त होता है, इसको बद्धगुदोदर कहते हैं ॥१७,१८॥

ततः परिस्राव्युदरं निबोध ॥
शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं
भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा ॥१९॥
तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ।
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं
निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च ॥२०॥
एतत् परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं

इसके आगे परिस्रावि उदर को कहते हैं—उसे जानो—

जिस पुरुष में अन्न से मिला शल्य (मत्स्यकण्टक आदि) अथवा अन्यथा (अनुचित तिर्यग् रूप में आया तीर, बरछा छुरा आदि शल्य) रूप से आँतों में आकर शल्य आँतों को विदीर्ण कर देता है। इसलिये आंतों से पानी के समान निकला हुआ स्राव-गुदा से बार-बार बाहर आता है। उदर में नाभि के निचले स्थान में वृद्धि आरम्भ होती है, चुभने के समान अतिशय वेदना और विदाह होता है। इसको परिस्रावि उदर कहते ॥१९,२०॥

दकोदरं कीर्तयतो निबोध ।
यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा
वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ॥२१॥
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य
स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ।
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु
दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ॥२२॥
स्निग्धं महत् सपरिवृत्तनाभि
भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च
शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२३॥

इसके आगे दकोदर को कहते हैं—वह जानो—

स्नेहपान करने पर, अनुवासन कर्म करने पर, वमन करके, विरेचन लेकर, अथवा निरूढ कर्म करके जो पुरुष एकदम शीतल जलपान करता है, उस पुरुष के जलवाही स्रोत सहसा दूषित हो जाते हैं। अथवा स्रोतों के स्नेहादि से लिप्त होने पर जब शीतल जल पीता है, तब पूर्व (परिस्रावि) की भांति-नाभि के निचले भाग में 'दकोदर' (जलोदर) बढ़ता है। इस रोग में उदर ऊपर से बहुत सा चिकना, नाभि-गोलाकार तथा बहुत ऊँची उठी होती है। जिस प्रकार से मशक पानी से भरी होने पर-क्षुभित होती है, कम्पन करती है, शब्द करती है, उसी प्रकार से उदर भी क्षुभित होता है, हिलता है, गति करता है, शब्द करता है, इसको दकोदर (Ascitis) कहते हैं ॥२१-२३॥

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोफः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ।

दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥२४॥

सामान्य लक्षण—

आध्मान (अफारा), चलने में अशक्ति, दुर्बलता, अग्निमांद्य, शोफ (सूजन), अंगों में ग्लानि, वात-मल का अवरोध, दाह, तृष्णा—ये लक्षण सब उदररोगों में सामान्य हैं ॥२४॥

अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु।
सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत् ॥२५॥

साध्यासाध्य—

सब उदररोगों के अन्त में उदर के अन्दर पानी उत्पन्न हो जाता है। इसलिये काल के परिणाम से सब उदररोग इस अवस्था में आकर असाध्य हो जाते हैं ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने उदरनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो मूढगर्भनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

उत्सेध की सामान्यता से उदररोगों के उपरान्त मूढगर्भ[1] निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडन–धावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्ष-कटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिभिर्विशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः, स विमुक्तबन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः कोष्ठ-संक्षोभमापादयति, तस्या जठरसंक्षोभाद्वायुरपानो मूढः पार्श्वबस्तिशीर्षोदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं च्यावयति तरुणं शोणितस्रावेण; तमेव कदाचिद्विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसंमोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते ॥३॥

मैथुन, रथादि, वाहन (अश्वादि), अध्वगमन (रास्ते की मुसाफिरी), प्रस्खलन (अकस्मात् पांव का फिसलना), प्रपतन (गिरना) प्रपीडन (दबना), धावन (भागना), अभिघात (चोट लगना), विषम शयन (ऊँची-नीची जगह सोना), विषमासन (ऊँची-नीची जगह बैठना), उपवास, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, अतिरूक्ष कटु-तिक्त भोजन से, शोक से, अतिक्षार के सेवन से, अतिसार-वमन-विरेचन से, प्रेंखोलन (झूला झूलने से), अजीर्ण से (गर्भपात कारक चित्रकादि औषधियों के सेवन करने तथा अन्य) कारणों से गर्भ बन्धन (नाडीबन्धन) से छूट जाता है, जिस प्रकार कि प्रहारादि के कारण फल वृन्त (गुच्छ, टहनी) से पृथक् हो जाता है, (अकाल में गिर जाता है)।

यह गर्भ नाड़ीबन्धन से पृथक् होकर गर्भशय्या का उल्लंघन करके यकृत्, प्लीहोदर और अन्त्र के अन्तराल में से नीचे की ओर गिरता हुआ कोष्ठ (मल-मूत्राशय) में विक्षोभ उत्पन्न करता हैं। गर्भिणी स्त्री में उदर के विक्षोभ के कारण अपान वायु मूढ़ (क्रिया रहित) होकर पार्श्व-बस्तिशीर्ष-उदर-योनि में शूल, आनाह (आध्मान), मूत्रसंग (निरोध)—इनमें से किसी एक रोग को उत्पन्न करके रक्तस्राव द्वारा तरुण (अजातसार-अव्यक्त चेतन रूप) गर्भ च्युत करती है। इसी जातसार गर्भ को जब यह निरन्तर बढ़कर असम्यग् (विलोम भाग से) रूप से योनिमार्ग में पहुँच जाता है, और अपान वायु के विलोम होने से मूर्च्छित होने के कारण–मार्ग से बाहर नहीं निकलता, तब इसको मूढ़ गर्भ कहते हैं ॥३॥

ततः कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति। तत्र, ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः; निःसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी प्रतिखुरः; यो निर्गच्छत्येकशिरोभुजः स बीजकः, यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठति स परिघः, इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते। तत्तु न सम्यक्; कस्मात्? स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्रपद्यते तदा सङ्ख्या हीयते ॥४॥

यह मूढ़गर्भ चार प्रकार का है। यथा-कील, प्रतिखुर, बीजक और परिघ। इनमें–जो गर्भ बाहुओं को ऊपर रखकर शिर एवं पांवों द्वारा योनिमुख को रोक लेता है, वह कील (शंकु) की भाँति होने से 'कील' है। जो गर्भ हाथ पांव और शिर बाहर निकालकर शरीर के मध्यभाग से योनिमार्ग को रोकता है, वह 'प्रतिखुर' है। जिस गर्भ की एक भुजा और शिर बाहर निकल जाता है, उसे 'बीजक' कहते हैं। और जो गर्भ परिघ (अर्गल) के समान (तिर्यगवस्था-Transvers Position)–योनिमुख को घेर के रहता है इसे 'परिघ' कहते हैं, इस प्रकार से मूढ़गर्भ चार प्रकार का है, ऐसा कई आचार्यों का सिद्धान्त है। यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि—जिस समय विलोम अपान वायु से पीड़ित होकर अनेक रूप से योनिमार्ग में आता है, उस समय इस चार संख्या का अतिक्रमण कर जाता है ॥

तत्र, कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन, कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः, कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनि-

---

१ मूढगर्भ का लक्षण—
सर्वावयवसम्पूर्णो मनोवृद्ध्यादिसंयुतः।
विगुणापानसंमूढो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥

द्वारं पिधायावतिष्ठते, अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम, इत्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा समासेन ॥

यथा—कोई गर्भ दोनों टांगों से योनिमुख में आता है, कोई गर्भ एक टांग को संकुचित करके एक टांग से योनिमार्ग में उतरता है, कोई गर्भ टांग और शरीर को संकुचित करके—स्फिग् (नितम्ब) भाग से तिरछे रूप में योनिमुख में पहुँचता है। कोई गर्भ उर, पीठ पार्श्व—इनमें से किसी एक अवयव से योनिद्वार को रोक कर रहता है। कोई गर्भ शिर को अन्दर की ओर झुकाकर चिबुक को छाती पर रखकर—एक बाहु द्वारा योनिमुख में आता है। कोई गर्भ शिर को संकुचित करके दोनों बाहुओं से, कोई शरीर के मध्यभाग को झुकाकर हाथ-पांव और शिर से, कोई गर्भ एक ही टांग से और कोई गर्भ गुदा द्वारा योनिमार्ग में आता है। इस प्रकार से संक्षेप में आठ प्रकार की मूढगर्भ की गतियाँ कह दी हैं ॥५॥

तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकासभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् ॥६॥

इनमें सातवें या आठवें प्रकार का मूढगर्भ स्वभाव से ही असाध्य है। शेष मूढगर्भों में निम्न लक्षण होने पर इनको भी असाध्य समझना चाहिये। यथा—जिस समय स्त्री रूपादि इन्द्रिय-विषयों को ठीक प्रकार से ग्रहण न कर सके, आक्षेपक (Convolsions) हो, योनिभ्रंश (योनि का बाहर आना), योनिसंवरण (योनि का संकोच), मक्कल्ल (प्रसूता स्त्री में वायु रक्त को रोककर बस्ति, शिर में शूल उत्पन्न करती है), श्वास, कास, भ्रम (चक्कर)-ये लक्षण हों तो असाध्य समझना चाहिये॥

भवन्ति चात्र—

कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद्यथा फलम्।
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥७॥
एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीनिबन्धनात्।
गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥८॥

कहा भी है—

जिस प्रकार से कालजन्य परिपाक के कारण वृन्त (टहनी) से मुक्त हुआ फल स्वभाव से ही गिरने लगता है, अन्यथा रूप में स्वयं नहीं गिरता, उसी प्रकार काल-स्वभाव से गर्भाशय में स्थिर गर्भ नाड़ीबन्धन से पृथक् होकर जन्म ग्रहण करता है ॥

क्रिमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्।
पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद् गर्भविच्युतिः ॥९॥

जिस प्रकार से कृमि, वायु अथवा चोट के कारण से यही फल (बिना समय) में गिर पड़ता है, उसी प्रकार से यह गर्भ भी असमय में गिरता है ॥९॥

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेत् गर्भविच्युतिः।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥१०॥

यदि चार मास तक के गर्भ का भ्रंश हो तो इसको गर्भस्राव (Abortion) कहते हैं, (चार मास तक मूढगर्भ नहीं है)। चार मास के पीछे शरीर के स्थिर होने पर 'गर्भपात' कहा जाता है (Mis carriage)। इनके आगे सातवें मास में पूर्व प्रसव (Pri·Birth) कहते हैं ॥१०॥

प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥११॥

जो स्त्री अंगों को झुकाकर शिर को अतिशय हिलाती-डुलाती है, जिस स्त्री की लज्जा सर्वथा चली गई, जिस स्त्री की शिरायें ऊपर को उठ गई एवं काली पड़ गई हैं, वह स्त्री गर्भ को और वह गर्भ उस गर्भवती स्त्री को नष्ट कर देता है ॥११॥

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तमृते शिशौ ॥१२॥

शिशु के गर्भाशय में मर जाने पर, गर्भ का स्पन्दन (हिलना-डुलना) बन्द हो जाता है, आवि (प्रसववेदनायें) नष्ट हो जाती हैं, शरीर का रंग काला-पीला पड़ जाता है, निःश्वास में दुर्गन्ध आती है ॥१२॥

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः ॥१३॥

माता के मानसिक (शोकादि) एवं आगन्तुज (चोट आदि) दुःखों द्वारा पीड़ित होने से तथा रोगों के कारण पीड़ित गर्भ कुक्षि (गर्भाशय) में मर जाता है[1] ॥१३॥

बस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक् ॥१४॥

बस्तमार (गला घोटकर शीघ्र-बिना कष्ट से मारी हुई बकरी के समान-शीघ्र मृत) की भांति मृत स्त्री के उदर में यदि गर्भ जीवित हो (चेष्टा करता हो) तो —

१ अन्य लक्षण—
'सोऽन्तर्मृतो गर्भो शूनो बस्तिरिवाततः।
उत्क्षिप्यन्त इवांगानि मूत्रवस्तिश्च भिद्यते ॥
क्लोमप्लीहा यकृच्चैव फुप्फुसं हृदयं तथा।
गर्भेण पीडितं पित्तादूर्ध्वं प्रकामति स्त्रियः ॥
सा शूयते मुह्यति च कृच्छ्रश्वासा च जायते।
पूतिगन्धस्तथा स्वेदो जिह्वा तालु च शुष्यति ॥
वेपते भ्राम्यति तथा जीवितं चोपरुध्यते।
एतैर्लिंगैर्विजानीयात् मृतं गर्भचिकित्सकः ॥

तत्क्षण जन्मसमय में उदर को चीर कर गर्भ को निकाल लेना लेना चाहिये। अन्यथा शिशु भी मर जायगा[1]।

श्री हाराणचन्द्र जो ने तो यह अर्थ किया है, कि जब अपत्यमार्ग तंग हो तब प्रसव के समय उदरमार्ग को चीरकर बच्चा बाहर निकाल लेना चाहिये। श्री घाणेकर जी का कहना है कि बालक के जन्म के समय जब माता की विपन्नावस्था हो, तब उदर को चीरकर बालकको बाहर कर लेना चाहिये।१४।

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मूढगर्भनिदानं नामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां निदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शस्त्रचिकित्सा के साधर्म्य से मूढगर्भ निदान के अनन्तर विद्रधि के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि॰ मन्तव्य--विद्रधि वह फोड़ा है जिसका मूल अस्थि में होता है। परन्तु बाह्यविद्रधि का ही मूल अस्थि में होता है, अन्तर्विद्रधि का नहीं ॥ १.२ ॥

सर्वामरगुरुः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिपः।
शिष्यायोवाच निखिलमिदं विद्रधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

देवताओं के गुरु कारणवश पृथिवी पर राजा के रूप में अवतीर्ण हुए भगवान् धन्वन्तरि ने आगे कहे जानेवाले इन विद्रधि लक्षणों को समस्त रूप में शिष्य के लिये कहा है ॥३॥

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ ४ ॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम्।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा, विज्ञेयः स च षड्विधः ॥ ५ ॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ ६ ॥

सम्प्राप्ति--अतिशय कुपित वातादि दोष अस्थि का आश्रय करके त्वचा, रक्त, मांस एवं मेद को दूषित करके घोर शोथ को धीरे-धीरे उत्पन्न करते हैं। "विदहति इति विद्रधिः" "शीघ्रं विदाहित्वात् विद्रधिरित्यभिधीयते।" चरक। जिस समय यह शोथ महान् मूलवाला, अतिशय पीड़ायुक्त, गोलाकार अथवा आयताकार होता है, उस समय बुद्धिमान् पुरुष इसको 'विद्रधि' कहते हैं। यह विद्रधि रोग छै प्रकार का है। यथा-पृथक् पृथक् दोषों (वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य) समस्त दोषों (सन्निपातजन्य) से, चोट लगने से और रक्तजन्य इन छै प्रकार की विद्रधि के लक्षणों को कहते हैं ॥ ४-६॥

कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदनः।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥ ७ ॥

वातजन्य विद्रधि-कृष्ण या अरुण (लाल) वर्ण, कठोर, अत्यन्त वेदना युक्त, देर में उत्पन्न होती है, और देर में ही पकती है। श्रीघाणेकरजी ने 'चिरोत्थान' के स्थान पर 'चित्रोत्थान' पाठ करके विविध प्रकार से उठनेवाली अर्थ किया है[1]।

पक्वोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥ ८ ॥

पित्तजन्य विद्रधि--

पके हुए गूलर के समान लाल या काली, ज्वर एवं दाह से युक्त, शीघ्र उत्पन्न होती है ओर शीघ्र ही पक जाती है ॥८॥

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धोऽल्पवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च सकण्डूश्च कफोत्थितः ॥ ९ ॥

कफजन्य विद्रधि---

शराव के समान बड़ी, चक्केदार, पाण्डुवर्ण, शीतल, स्तब्ध (जड़) थोड़ी वेदना युक्त, देर में उत्पन्न होती है और देर में पकती है, एवं कण्डू होती है ॥ ९ ॥

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः।

इनमें पकने पर-वातजन्य विद्रधि का स्राव-(पतला) पित्तजन्य का पीला और कफजन्य का श्वेत स्राव होता है।

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ॥ १० ॥
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः।

सन्निपातजन्य विद्रधि---

नानावर्ण युक्त (काली पीली शुक्ल), अनेकविध पीड़ा युक्त (तोद-दाह-कण्डू युक्त), नानाविध स्राव युक्त (तनु पीत-

---

(२) चरक में—

"अन्तःकुक्षौ गर्भो म्रियते, तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवति अस्पन्दनो गर्भः, शूलमधिकमुपजायते, न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवति, अक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतः, ताम्यति, व्यथते, भ्रमते, श्वसिति, अरतिबहुला च भवति। न चास्या वेगप्रादुर्भाव उपलभ्यते।"

१ वाग्भट्ट में निम्न प्रकार से यह श्लोक पढ़ा है—
"वस्तिद्वारे विपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि।
जन्मकाले ततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेद् भिषक् ॥"

गर्भिणी के मरने पर बस्ति द्वार के पास में कुक्षि अतिशय रूप में हिलती हो तो कुशल वैद्य को चाहिये कि कुक्षि के प्रस्पन्दन के पीछे उदर को चीरकर शिशु को बाहर निकाल लेवे।

१ चित्रौ नानाविधौ वायोः विषमक्रियत्वाद् उद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा "मधुकोष"।

शुक्ल), अत्यन्त उभरी हुई, विषम आकार की, बहुत फैली हुई, विषम रूप में (कुछ भाग शीघ्र पकता है, कुछ देर में अथवा गम्भीर एवं उत्तान भेद से) पकती हैं ॥ १० ॥

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यसेविनः ॥ ११ ॥
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।
ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ १२ ॥
एष विद्रधिरागन्तुः पित्तविद्रधिलक्षणः ।

आगन्तुज विद्रधि—
व्रण में—घोड़े से गिरने या गूढ़ प्रहार आदि से चोट लगने पर, अथवा अपथ्य सेवन करने पर व्रण की उष्मा (पित्त), वायु से फैलकर रक्त एवं पित्त को प्रेरित करता है। इसके कारण पुरुष को—ज्वर-तृष्णा और दाह उत्पन्न होता है। इसको आगन्तुज विद्रधि कहते हैं, इसमें पित्तजन्य विद्रधि के लक्षण होते हैं ॥ ११,१२ ॥

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः ॥ १३ ॥
पित्तविद्रधिलिङ्गैस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

रक्तजन्य विद्रधि—काली फुंसियों से घिरी हुई काले रङ्ग की, तीव्र दाह एवं अतिशय वेदना से युक्त, पित्तजन्य विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है ॥ १३ ॥

उक्ता विद्रधयो ह्येते तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ॥ १४ ॥

इन उपर्युक्त विद्रधियों में सन्निपातजन्य विद्रधि असाध्य है, शेष पाँच साध्य हैं ॥ १४ ॥

आभ्यन्तरानतस्तूर्ध्वं विद्रधीन् परिचक्षते ।
गुर्वसात्म्यविरुद्धान्नशुष्कसंसृष्टभोजनात् ॥ १५ ॥
अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविदाहिभिः ।
पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥१६॥
वल्मीकवत्समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।

इसके आगे आभ्यन्तर (अन्तः) विद्रधियों को कहते हैं-- गुरु-असात्म्य विरुद्ध अन्न के सेवन से, शुष्क भोजन से, संसृष्ट (दूषित प्रदेश में) भोजन करने से, अति मैथुन से, व्यायाम से, उपस्थित मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से, विदाही भोजनों से, दोष—पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में कुपित होकर गुल्म के समान कठोर विद्रधि को उत्पन्न करते हैं। यह अन्तः विद्रधि वल्मीक के समान (पच्यमानावस्था में) ऊपर को उठी होती है।

वि० मन्तव्य—अन्तर्विद्रधि—भीतरी अवयवों के फोड़ा का नाम है ॥ १५,१६ ॥

गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥१७॥
वृक्कयोर्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा ।
तेषां लिङ्गानि जानीयाद्बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १८ ॥
आमपक्वैषणीयाच्च पक्वापक्वं विनिर्दिशेत् ।

स्थान—गुदा, बस्तिमुख, नाभि (अन्त्र), कुक्षि (उदर), वंक्षण (Croins), वृक्क (गुर्दा), यकृत्, प्लीहा, हृदय और क्लोम (पित्ताशय या आमाशय) में उत्पन्न होती हैं। बाह्य विद्रधि के लक्षणों से ही अन्तःविद्रधि को पहचानना चाहिये। 'आमपक्वैषणीय' अध्याय में वर्णित पक्व एवं अपक्व के लक्षणों से पक्वापक्व का निश्चय करना चाहिये ॥ १७,१८ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिंगं शृणु विशेषतः ॥ १९ ॥
गुदे वातनिरोधस्तु बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ।
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥२०॥
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ।
वृक्कयोः पार्श्वसङ्कोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ॥२१॥
सर्वांगाप्रग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुणः ।
श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ॥२२॥

स्थानभेद से विशेष लक्षणों को सुनो—गुदा में विद्रधि होने पर वायु का अवरोध, बस्ति में होने से कठिनाई से थोड़ा मूत्र आता है, नाभि में होने पर हिचकी एवं आटोप (आध्मान), कुक्षि में होने पर वायु का प्रकोप वंक्षणजन्य विद्रधि में—कटि-ग्रह और तीव्र पृष्ठग्रह (जकड़ना) होता है, वृक्क में होने पर पार्श्वों में संकोच, प्लीहा में होने में श्वास का अवरोध (रुकना), हृदय में होने पर—तीव्ररूप में सब अङ्गों का ग्रह (पकड़ा जाना), तीव्र शूल होता है, यकृत् में विद्रधि होने पर—श्वास और तृष्णा होती है, क्लोम में होने पर अधिक प्यास लगती है॥

आमो वा यदि वापक्वो महान् वा यदि वेतरः ।
सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥२३॥

मर्मस्थान में यदि कोई आम (अपक्व) या पक्व, महान् अथवा अल्प–किसी भी प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है, वह सब कष्ट रूप होती है ॥ २३ ॥

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
जीवत्यधो निःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ २४ ॥
हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ २५ ॥

नाभि से ऊपर (प्लीहा, यकृत्-क्लोम, कुक्षि और हृदय में) उत्पन्न विद्रधियाँ पकने पर ऊपर की ओर (मुख-नाक से) स्रवित होती हैं। दूसरी—(गुदा-बस्ति-वंक्षण-वृक्क में) विद्रधियाँ पकने पर नीचे की ओर (गुदा मूत्र मार्ग) से स्रवित होती हैं। इनमें नीचे की ओर बहनेवाली विद्रधियों में मनुष्य जीता है, ऊपर को स्रवित होनेवाली विद्रधियों में मनुष्य नहीं जीता। यदि कभी भाग्यवश से हृदय, नाभि और बस्ति की विद्रधियों को छोड़कर अन्य (शेष-गुदा-कुक्षि वंक्षण-यकृत् प्लीहा क्लोम और वृक्क की) विद्रधियाँ बाहर की ओर त्वचा में फूट जाती हैं, तो मनुष्य कदाचित् बच जाता है, परन्तु हृदय नाभि और बस्ति की आभ्यन्तर विद्रधियों के नीचे की ओर फटने पर पुरुष कभी नहीं जीवित रहता ॥ २४,२५ ॥

स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥२६॥

रक्तविद्रधि—गर्भ के पात या स्राव होने से अथवा ठीक समय प्रसव करने पर अहित (शीत-रूक्ष आहार-विहार के) सेवन से स्त्रियों में—दाह, ज्वर एवं कष्टदायक रक्तजन्य (आर्त्तवजन्य) विद्रधि उत्पन्न होती है ॥२६॥

अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम् ।
रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥२७॥

ठीक समय पर भली प्रकार से प्रसव होने पर भी यदि गर्भाशय से रक्त (दूषित रक्त) बाहर न निकले तो मक्कल्ल के कारण कुक्षि में रक्तजन्य विद्रधि (स्त्रियों में) उत्पन्न होती है।

वि० मन्तव्य—प्रसूता के गर्भाशय के शूल का नाम भी "मक्कल" है ॥२७॥

सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रपच्यते ।

यदि यह रक्तजन्य विद्रधि सात दिन में शान्त न हो तो पित्त की उष्णिमा के कारण अन्दर पकती है, पकने पर असाध्य हो जाती है।

विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधिगुल्मयोः ॥२८॥
गुल्मदोषसमुत्थानाद्विद्रधेर्गुल्मकस्य च ।
कस्मान्न पच्यते गुल्मी विद्रधिः पाकमेति च ॥२९॥
न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धनः ।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते ॥३०॥
विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा ।
एवंप्रकारो गुल्मस्तु तस्मात् पाकं न गच्छति ॥३१॥
मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः ।
मांसशोणितहीनत्वाद्गुल्मः पाकं न गच्छति ॥३२॥
गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ।
विद्रधिः पच्यते तस्माद्गुल्मश्चापि न पच्यते ॥३३॥

इसके आगे गुल्म और विद्रधि रोग में भेद को कहते हैं—

प्रश्न—गुल्म और विद्रधि के कारण दोष एक समान हैं। इस पर गुल्म किस कारण से नहीं पकता और विद्रधि किस लिये पकती है? उत्तर—गुल्म का कोई निबन्ध (मूल) नहीं है, (रक्तादि द्रव्यों का अभाव रहता है), विद्रधि रोग का मूल (त्वचा रक्त-मांस आदि) है। गुल्म रोग में वातादि दोष स्वयं ही (दूष्य के आश्रय के बिना ही) गुल्माकार बन जाते हैं, विद्रधि में दोष मांस एवं रक्त का आश्रय लेकर गुल्म रूप होते हैं। जिस प्रकार से पानी में वायु से बुलबुले बन जाते हैं, इसी प्रकार से वायुजन्य गुल्म विवर (स्रोतों में) का अनुसरण करके कफ पित्त-रक्त में ग्रन्थि रूप से हो जाता है। इसलिये गुल्म पकता नहीं। विद्रधि में मांस और रक्त की अधिकता रहती है इसलिये विद्रधि पकती है। गुल्म में मांस और रक्त नहीं रहता है, इसलिये गुल्म नहीं पकता। गुल्म अपने वातादि दोषों में ही रहता है, विद्रधि मांस-रक्त (दूष्यों) में रहती है, इसलिये विद्रधि पकती है और गुल्म नहीं पकता ॥३३॥

हृन्नाभिवस्तिज: पक्वो वर्ज्यो यश्च त्रिदोषजः ।

हृदय, नाभि, बस्ति में उत्पन्न विद्रधि पकने पर तथा सन्निपातजन्य विद्रधि—जहाँ कहीं भी हो, वह असाध्य है।

अथ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते ॥३४॥
सोऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ।
ततः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते ॥३५॥
अस्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत् ।
विकारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम् ॥३६॥
अथास्य कर्मणा व्याधिर्द्वारं तु लभते यदा ।
ततो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु ॥३७॥
भिन्नेऽस्थ्नि निःस्रवेत् पूयमेतदस्थिगतं विदुः ।
विद्रधिं शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम् ॥३८॥

प्राक्तन कर्मों के कारण अथवा उपेक्षा से विद्रधि अस्थि में पहुँचकर पक जाती है—उसके लक्षण कहते हैं—उपेक्षा से या कर्मवश कष्टकारी मज्जा का परिपाक होने लगता है। यह मज्जा पाक अस्थि एवं मांस से रुक जाने पर मार्ग नहीं पा सकता। तब वह स्थान इस मज्जापाक रोग से अग्नि के समान जलने लगता है। अस्थि एवं मज्जा की उष्णिमा से जलते हुए के समान शीर्ण (राख-भस्म) हो जाता है। यह शल्य रूप विकार रोगी को देर तक दुःख देता है। जब शस्त्रकर्म द्वारा रोग को मार्ग मिल जाता है, तब मेद के समान स्निग्ध, श्वेत, शीतल, गुरु (भारी) पूय—अस्थि के भिन्न होने पर बाहर स्रवित होती है। शास्त्रकुशल वैद्य इसको अस्थिगत विद्रधि कहते हैं। इसमें सन्निपातजन्य पीड़ा होती है ॥३४-३८॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने विद्रधिनिदानं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

—०—

१ सब गुल्मों में वायु मुख्य कारण है—इसी से कहा है—
'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णदोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥
'चरक'

चरक में जहाँ गुल्मचिकित्सा में पक्वगुल्म का वर्णन है, वह अन्तः विद्रधि का समझना चाहिये। चरक के त्रिशोथीय अध्याय में गुल्म का वर्णन किया है। विद्रधि के दो भेद बताते हुए—"विद्रधिं द्विविधामाहुः बाह्यामाभ्यन्तरीं तथा"—कहकर—अन्तः विद्रधि का समावेश गुल्म में किया है। सुश्रुत में गुल्म और विद्रधि दोनों पृथक् रखखे हैं, इसलिये, अन्तः विद्रधि को—विद्रधि में रख दिया है—'कृतवास्तुपरिग्रह' गुल्म पकता है, 'अकृतवास्तुपरिग्रह' गुल्म नहीं पकता—यह दूसरा भी अन्तर है।

दशमोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

त्वचा रक्त आदि दूष्य (आश्रित) वस्तुओं की समानता से विद्रधि के अनन्तर विसर्प नाड़ी स्तन रोग की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—यह विसर्प कुष्ठनिदानोक्त विसर्प कुष्ठ से भिन्न है इसमें कुष्ठ के पूर्वरूप नहीं होते और यह सहसा उत्पन्न होता है और १०-२० दिन में शान्त भी हो जाता है। एक विलक्षण विसर्प का वर्णन चरक में आया है और कभी कभी दृष्टिगोचर भी होता है वह है—यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूता च० चि० अ० १२। ये स्फोट (फफोले) यज्ञोपवीतव्याप्य शरीरावयव पर होते हैं। बाँएँ स्कन्ध से दाईं कुक्षि या पार्श्व तक—वक्षस् एवं पीठ पर निकलते हैं ॥१,२॥

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः
सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम्।
कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्नतमाशु शोफं
तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥३॥

कुपित हुए वातादि दोष सम्मिलित होकर त्वचा (त्वचाश्रित उसी का भी), मांस और रक्त का आश्रय करके—सर्वांगविसर्पि (अन्तः एवं बाह्य तथा अवयव रूप से अंगों में फैलनेवाली), अस्थित (अनिश्चल-इधर उधर फिरनेवाली), आत्मलिंग (व्यस्त समस्तरूप वातादि लक्षणों से युक्त), फैला हुआ ऊपर न उठा हुआ सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को सब ओर फैलने से इसे शास्त्र में 'विसर्प' कहते हैं[1] ॥३॥

वातात्मकोऽसितमृदुः परुषोऽङ्गमर्द-
संभेदतोदपवनज्वरलिङ्गयुक्तः।
गण्डैर्यदा तु विषमैरतिदूषितत्वा—
द्युक्तः स एव कथितः खलु वर्जनीयः ॥४॥

यद्यपि विसर्प त्रिदोषजन्य है, तथापि चिकित्सासौकर्य के लिये वातादि दोष भेद से लक्षणों को कहते हैं—

वातजन्य विसर्प—कृष्ण, कोमल, खुरदरा होता है, शरीर में पीड़ा, भेद तोद (चुभने के समान), एवं वायुजन्य ज्वर के लक्षणों से युक्त, वायु से अति दूषित होने के कारण विषम (निम्नोन्नत) गण्डों से (मांसजन्य गुडिका अथवा अग्नि से जलने पर उत्पन्न छालों जैसे) युक्त होता है। इस अवस्था में वह असाध्य है। (कोई २ आचार्य गण्डों की उत्पत्ति वातपित्त से मानते हैं) ॥४॥

पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहपाक-
स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतजप्रकाशः।
दोषप्रवृद्धिहतमांससिरो यदा स्यात्
स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिध्येत् ॥५॥

पित्तजन्य विसर्प—शीघ्र फैलनेवाला, तीव्र ज्वर, तीव्र दाह, पाक स्फोट (छाले) एवं काटने के समान वेदना से युक्त क्षतज (रक्त या वर्ण) के समान दीखता है। जिस समय दोष के अति बढ़ने से मांस और शिरायें नष्ट हो जायें, और रङ्ग स्रोत (सौवीरांजन) के समान या कर्दम (कीचड़) की भाँति हो जाय, तब यह असाध्य है। (कोई आचार्य पित्त-कफ के लक्षण मानते हैं) ॥५॥

श्लेष्मात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः
स्निग्धः सितश्वयथुरल्परुगुग्रकण्डुः।

कफजन्य विसर्प—धीरे धीरे फैलता है, देर में पकता है, स्निग्ध, श्वेत वर्ण, थोड़ी सूजन युक्त और कण्डू-तीव्र होती है॥

सर्वात्मकस्त्रिविधवर्णरुजोऽवगाढः
पक्वो न सिध्यति च मांससिराप्रशातात् ॥६॥

सन्निपातजन्य विसर्प में—वातादि तीनों दोषों का काला-पीला श्वेत वर्ण, तीनों दोषों की तोद-दाह, कण्डू, वेदना होती है, आभ्यन्तर मूलवाला है। मांस और शिरा के नष्ट होने पर, पक्वावस्था में असाध्य है, प्रथम अवस्था में कष्टसाध्य है ॥६॥

सद्यः क्षतव्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं
रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम्।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं
स्फोटैः कुलत्थसदृशैरसितैश्च कीर्णम् ॥७॥

क्षतजन्य विसर्प—दोषबहुल (कुष्ठ-वातरक्तादि पूर्व-रूप दोषदूषित धातु) पुरुष में पित्त और रक्त सद्यःक्षतजन्य व्रण में पहुँचकर शोफ को उत्पन्न करते हैं। यह शोफ—कृष्णवर्ण, रक्तवर्ण, अतिज्वर, अतिदाह, अतिपाक से युक्त. कुलथी के समान काले छालों से व्याप्त होता है ॥७॥

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।

---

१ विसर्प की उत्पत्ति में सात धातु कारण हैं, यथा—
रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषाः त्रयो मलाः।
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः॥

इसलिये चरक में कहा है—
"स च सप्तविधो दोषैः विज्ञेयः सप्तधातुकः॥"

विसर्प के स्थान—
(२) बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रिताः।
विसर्पो बलमेषान्तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम्॥

(३) कविराज हाराणचन्द्र जी "कुर्वन्ति यं विस्तृतमुद्यतमाशु शोफम्" यह पाठ पढ़ते हैं।

इसमें 'उन्नत' का अर्थ 'ऊँचा उठा' किया है।

पैत्तानिलावपि च दर्शितपूर्वलिंगौ
सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः ॥८॥

इनमें साध्यासाध्य—वात, पित्त और कफजन्य विसर्प साध्य हैं, सन्निपातजन्य और क्षतजन्य विसर्प असाध्य हैं। गण्ड (छालों) युक्त वातजन्य विसर्प, अञ्जन की भाँति कीचड़ की तरह का पित्तजन्य विसर्प, तथा मर्मस्थानों में उत्पन्न विसर्परोग कष्टसाध्य हैं ॥८॥

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥९॥

नाड़ी—अनुचित कर्म करनेवाला वैद्य पके हुए शोथ को अपक्व (कच्चा) समझकर अथवा अतिपूययुक्त व्रण की उपेक्षा करता है, उक्त पुरुष में यह पूय पूर्वोक्त त्वचादि व्रण-वस्तु को विदीर्ण करके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है ॥९॥

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरित्यतश्च
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

इस पूय के अतिमात्रा में अन्दर की ओर जाने से इसको 'गति' कहते हैं, नाड़ी (प्रणालीसिरा) की भाँति इसमें पूय का वहन होता है, इसलिये इसको 'नाड़ी' कहते हैं।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥१०॥

संख्या—तीनों दोषों से पृथग् पृथग् तीन (वात, पित्त, कफजन्य), सन्निपातजन्य एक, द्विदोषजन्य, वात पित्त, पित्त-कफ, कफ-वातजन्य, और शल्यजन्य, इस प्रकार से पाँच प्रकार के नाड़ीव्रण हैं।

वि० मन्तव्य—नाड़ी व्रण को "नासूर" कहते हैं इसका मुख छोटा होता है और भीतरी भाग चौड़ा या बड़ा होता है फलतः इसके भीतर प्रलेप (मलहम) पहुँच नहीं पाता या वत्ती आदि से पूर्णरूप से पहुँचाया नहीं जा सकता अतः यह शीघ्र नष्ट भी नहीं होती यदि इसका मुख—शस्त्र द्वारा अथवा क्षार द्वारा बड़ा कर लिया जाता है तो व्रण के समान शोधन रोपण से नष्ट हो जाती है ॥१०॥

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम्।

वातजन्य नाड़ी—कठोर, सूक्ष्ममुखयुक्त, वेदनायुक्त होती है एवं फेन से मिश्रित स्राव बहाती है। यह स्राव रात्रि में (शीत के कारण शीतकाल में भी) अधिक होता है।

तृट्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु पित्तात् ॥११॥

पित्तजन्य नाड़ी—में प्यास, संताप, चुभने की वेदना अंगग्लानि तथा ज्वर की पीड़ा होती है। पीले रङ्ग का उष्ण स्राव बहता है, यह स्राव दिन में (उष्णता के कारण) अधिक बहता है ॥११॥

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
रात्रिस्रुतिः स्तिमितरुक्कठिना सकण्डूः।

कफजन्य नाड़ी—में स्राव मात्रा में बहुत, गाढ़ा श्वेत तथा चिकना होता है। स्राव रात्रि में अधिक होता है। नाड़ी में मन्द वेदना, कठोरता और कण्डू होती है।

दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन
तिस्रो गतिर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात् ॥१२॥

द्विदोषजन्य—उपर्युक्त दोषों के लक्षणों को द्वन्द्वरूप में संसर्ग होने पर व्यतिकर—प्रभव (द्वन्द्वजन्य) तीन गतियाँ जान-मान लेवे। यथा—वातपित्तजन्य, पित्त-कफजन्य और वातकफ-जन्य ॥१२॥

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि।
तामादिशेत् पवनपित्तकफप्रकोपाद्-
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम् ॥१३॥

सन्निपातजन्य नाड़ी—जिस नाड़ी में दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मुख की शुष्कता, तथा पूर्वोक्त (लक्षण उत्पन्न स्राव का काला झागयुक्त, पीला, श्वेत होना) हों, उसे पित्त-वायु-कफ-जन्य समझना चाहिये। यह नाड़ी कालरात्रि के समान भयानक एवं प्राणनाशक होती है ॥१३॥

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति।
सा फेनिलं मथितमच्छमसृग्विमिश्र—
मुष्णं स्रवेत सहसा सरुजा च नित्यम् ॥१४॥

शल्यजन्य नाड़ी—उदीरित (पूर्वोक्तवर्णित त्वचादि) स्थानों में किसी प्रकार से (दृष्टिमार्ग में न आने से अथवा सूक्ष्म होने के कारण) शल्य के नष्ट होने से वा अनुमार्ग (स्रोतोमार्ग[1]) में घुसने पर शल्य-शीघ्रता से नाड़ीव्रण उत्पन्न करते हैं। इसमें स्राव—झागदार, मथित (बिना जल के मथित तक्र के समान), (मांस के नष्ट होने से) निर्मल, रक्तमिश्रित, उष्ण स्राव बहता है। इनमें अकस्मात् स्राव बहता है, नित्य दर्द रहती है ॥१४॥

यावत्यो गतयो यैश्च कारणैः संभवन्ति हि।
तावन्तः स्तनरोगाः स्युः स्त्रीणां तैरेव हेतुभिः ॥१५॥

स्तन्य निदान—जितने प्रमाण की गतियाँ हैं, और जिन वात, पित्त, कफ, सन्निपात, अभिघातजन्य कारणों से उत्पन्न

---

१ कविराज हाराणचन्द्र—'अणुमात्रमुदीरितेषु'—यह पाठ पढ़ते हैं।

होती हैं, उतने ही प्रकार की और उन्हीं कारणों से स्त्रियों में स्तन रोग उत्पन्न होते हैं ॥१५॥

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।
दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥१६॥

कन्या (अप्राप्त गर्भवाली स्त्रियों) के स्तनों में आश्रित धमनियाँ संवृतद्वार (अवरुद्ध मार्ग) होती हैं। इसलिये वातादि दोषों के रुके रहने से इनमें स्तनरोग नहीं होते हैं ॥१६॥

तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ।
स्वभावादेव विवृता जायन्ते संभवन्त्यतः ॥१७॥

इन्हीं स्त्रियों के प्रसवकाल में तथा गर्भवती स्त्रियों में वे धमनियाँ स्वभाव से खुल जाती हैं। इसलिये इनमें स्तनरोग होते हैं ॥१७॥

रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः ।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥१८॥

पक्वाहार के कारण उत्पन्न रस का प्रसाद (उत्तम सार-तेज रूप) एवं मधुर भाग—सम्पूर्ण शरीर से जब स्तनों में पहुँचता है, तब इसका नाम स्तन्य (दूध) हो जाता है[1] ॥१८॥

विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१९॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥२०॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥२१॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात् स्मरणादपि ।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥२२॥
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ।

जिस प्रकार से गन्ने के रस में गुड़, दूध में घी व्याप्त होता है, उसी प्रकार से शुक्र एवं स्तन्य शरीर में व्याप्त है। इसलिये शरीर के सूक्ष्मरूप से काटने पर भी शुक्र दिखाई नहीं देता। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से शुक्र की भाँति दूध भी शुक्र के समान है; शरीर के काटने पर भी नहीं मिलता। यही शुक्र—इष्ट युवती के दर्शन से, युवती के स्मरण से, युवती के शब्द सुनने से, युवती के स्पर्श से, तथा मानसिक हर्ष—प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। शुक्र के उत्पन्न होने में मन की प्रसन्नता ही मुख्य कारण है। जिस प्रकार से शुक्र आहार रस से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार स्त्रियों में स्तन्य भी आहार रस से ही उत्पन्न होता है। यह स्तन्य भी पुत्र के स्पर्श से, पुत्र के दर्शन से, उसके स्मरण से, उसके पकड़ने से, शरीर में से शुक्र की भाँति बाहर निकलने (झरने) लगता है। इस दूध के झरने में मुख्य कारण निरन्तर स्नेह है ॥१९-२२॥

तत् कषायं भवेद्वातात् क्षिप्तं च प्लवतेऽम्भसि ॥२३॥
पित्तादम्लं सकटुकं राज्योऽम्भसि च पीतिकाः ।
कफाद्घनं पिच्छिलं च जले चाप्यवसीदति ।
सर्वैर्दुष्टैः सर्वलिङ्गमभिघाताच्च दुष्यति ॥२४॥

यह स्तन्य वायु से दूषित होने पर—कषायरस एवं पानी में गेरने पर तैरता है। पित्त के कारण—अम्ल एवं ईषत्कटु रस, तथा पानी में डालने पर पीली-लाल-नीली रेखायें दीखती हैं। कफ के कारण—घन (सान्द्र), पिच्छिल एवं जल में दूध डूब जाता है। सन्निपातजन्य तथा अभिघात (पतन-पीडनादि) से, दूध में सब दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—क्षीरपायी बालकों की चिकित्सा करते समय—धात्री के दूध का निरीक्षण अवश्य कर लेना चाहिये क्योंकि बालक कोई अन्य वस्तु तो खाता नहीं है ॥२३,२४॥

यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥२५॥

जो दूध पानी में डालने से पानी के साथ मिलकर एक-सा हो जाता है तथा सफेद, स्वाद में मधुर, पीतादिवर्ण रहित है, उस दूध को प्रसन्न (प्रकृतिस्थ निर्दोष) समझना चाहिये ॥२५॥

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
रक्तं मांसं च सन्दूष्य स्तनरोगाय कल्पते ॥२६॥

सम्प्राप्ति—दूध युक्त अथवा बिना दूध की दूध उत्पन्न करने में समर्थ होने पर भी बालक के उपयुक्त समय तक दूध पी चुकने के पश्चात् स्त्री के स्तनों में कुपित दोष पहुँचकर, रक्त एवं मांस को दूषित करके स्तनरोगों को उत्पन्न करते हैं ॥

---

१ (१) आहारजन्य रस सम्पूर्ण शरीर में सिरा एवं रक्तवाहिनियों द्वारा घूमता फिरता है। शरीरस्थ अवयव और ग्रन्थियाँ इस रस में से अपनी आवश्यक वस्तु अपनी शक्ति से उत्पन्न करती हैं। यथा—निकण्ठ कण्ठ ग्रन्थि (Thyroid gland) एकरस (Iodia Thyria) उत्पन्न करती है, और उपवृक्क (Supera-Renal) दूसरा रस (Adernalin) उत्पन्न करता है। इसी प्रकार से अण्डकोश भी दो रस उत्पन्न करते हैं। एक बाह्य रस—जिसको शुक्र कहते हैं। यह कामेच्छा से उत्पन्न होता है। और दूसरा रस अन्तःस्राव-ओज है। यह शरीर को बढ़ाता है। इसी प्रकार से स्तन्य ग्रन्थियाँ (anamary glands) भी रस में से दूध रूपा स्राव उत्पन्न करती हैं। इस रसस्राव के ऊपर भी काम-क्रोध का प्रभाव पड़ता है। जिससे कि दूध दूषित हो जाता है। इसलिये इन अवस्थाओं में दूध पिलाना उत्तम नहीं।

(२) कविराज रामचन्द्र सेन का कहना है कि स्तन-रोग सदा गर्भ में पुत्र होने पर ही उत्पन्न होता है, पुत्री को अवस्था में नहीं। यह बात प्रायः सत्य प्रतीत हुई है। कुछ थोड़े ही अपवाद हैं।

पञ्चानामपि तेषां तु हित्वा शोणितविद्रधिम्।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥२७॥

वातादिजन्य पाँचों स्तनरोगों के लक्षण, शोणितजन्य विद्रधि को छोड़कर—शेष बाह्य विद्रधि के लक्षणों के समान होते हैं ॥ २७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने विसर्पनाडीस्तनरोग-
निदानं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथात ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डानां निदानं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शोथ की सामान्यता से विसर्परोग के पीछे ग्रन्थि, अर्बुद, गलगण्ड अपची निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—ग्रन्थि को "मोगलीफोड़ा" कहते हैं। अपची या गण्डमाला को "गलशीराँ" और गलगण्ड को शिमला की तराई में गिल्लड़ और गोरखपुर आदि में घेंघा कहते हैं। अर्बुद को "रसौली" कहते हैं ॥ १,२ ॥

वातादयो मांसमसृक् च दुष्टाः
संदूष्य मेदश्च कफानुविद्धम्।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं तु शोफं
कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ ३ ॥

वात, पित्त, कफ, दूषित होकर मांस एवं रक्त तथा कफ संयुक्त मेद को दूषित करके, गोलाकार, उठी हुई, गाँठ के समान, कठोरता युक्त शोथ उत्पन्न करते हैं। इसलिये इसको ग्रन्थि कहते हैं[1] ॥ ३ ॥

आयम्यते व्यथ्यत एति तोदं
प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम्।
कृष्णोऽमृदुर्बस्तिरिवाततश्च
भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ ४ ॥

वातजन्य ग्रन्थि में—वायु के आकर्षण के कारण लम्बी सी की जाने के सदृश, आरे से काटने के समान, सुई चुभने के समान, खींच कर ढेला आदि लगने के समान, कुठार से काटने के समान तथा परशु से फाड़ने के समान वेदना होती है। ग्रन्थि कृष्णवर्ण, कठोर तथा मूत्राशय के समान तनी होती है। इसके फटने पर स्वच्छ रक्त बहता है[1] ॥ ४ ॥

दन्दह्यते धूप्यति चूष्यते च
पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्-
भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥ ५ ॥

पित्तजन्य ग्रन्थि में—अतिशय दाहयुक्त प्रतीत होती है, अतिशय सन्ताप युक्त अथवा गरम प्रतीत होती है, चूसने के समान वेदना युक्त होती है, अतिशय पकती है, तथा जलती सी प्रतीत होती है, ग्रन्थि का वर्ण लाल या पीला होता है। इसके फूटने पर अति उष्ण रक्त बहता है ॥ ५ ॥

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः
पाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्-
भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ ६ ॥

कफजन्य ग्रन्थि—

शीत, कुछ मलिन रङ्गवाली, अल्प वेदनावाली, अधिक कण्डूवाली, पत्थर की तरह कठिन होती है। शनैः २ बढ़ती है, इसके फूटने पर श्वेत गाढ़ा पूय बहता है ॥ ६ ॥

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः
स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डूः।
मेदःकृतो गच्छति चावभिन्ने
पिण्याकसर्पिः प्रतिमं तु मेदः ॥ ७ ॥

मेदोग्रन्थि—

शरीर की वृद्धि से बढ़ती है और शरीर क्षय से घटती है, चिकनी, आकार में महान्, मन्द वेदना युक्त अधिक कण्डूवाली होती है। इसके फूटने पर पिण्याक (तिलकल्कखल) और घी के समान मेद बाहर आती है ॥ ७ ॥

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तै-
राक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम्।
संपीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि
ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥ ८ ॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो
भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च।
अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ ९ ॥

शिराजन्यग्रन्थि—

निर्बल पुरुष के अतिशय व्यायाम करने पर तथा अन्य वायुवर्धक कारणों से वायु कुपित होकर शिराजालों को पीड़न करके, संकुचित करके अथवा शुष्क करके गोल, उन्नत (उठी हुई) ग्रन्थि को शीघ्र उत्पन्न करती है। यदि शिराजन्य ग्रन्थि

---

१ भोज ने भी कहा है—
"वायुर्मेदो यदा मांसं सक्षिपेदथवा त्वचि।
तत्र मेदोभवा ग्रन्थिः श्यावो भवति कण्डुलः ॥"
पाँचवीं—शिराजन्यग्रन्थि (Toumar) है।

१ अपक्वावस्था में ही स्वच्छ (पूय रहित) रक्त निकलता है। पककर फूटने पर पूय-मिश्रित रक्त जाता है।

वेदना युक्त और चल (गतिशील) हो तो कृच्छ्रसाध्य है। और यदि अचल (निश्चल), महान् और वेदना रहित हो, अथवा मर्मस्थानों में उत्पन्न हुई हो तो असाध्य समझनी चाहिये ।८,६।

हन्वस्थिकक्षाक्षकबाहुसन्धि-
मन्यागलेषूपचितं तु मेदः ।
ग्रन्थिं स्थिरं वृत्तमथायतं वा
स्निग्धं कफश्चाल्परुजं करोति ॥ १० ॥
तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रै-
र्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः ।
अनन्यवर्णैरुपचीयमानं
चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥ ११ ॥
कण्डूयुतास्तेऽल्परुजः प्रभिन्नाः
स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।
मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष
सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी ॥ १२ ॥

अपची रोगकी सम्प्राप्ति—हन्वस्थि सन्धि, कक्षा (बाहुमूल) सन्धि, अक्षक (Geavical Bones) सन्धि, बाहुसन्धि (वंक्षणसन्धि भी), मन्या (ग्रीवा के पार्श्व भाग में स्थित दो धमनियाँ), और गले में संचित मेद और कफ ग्रन्थि को उत्पन्न करते हैं। यह ग्रन्थि स्थिर, गोल अथवा आयताकार (लम्बी) स्निग्ध, और मन्द वेदनायुक्त होती है। कोई ग्रन्थि आँवले के फल के समान होती है और अन्य (कोई) मछलियों के अण्डों के जाल के समान (गुच्छाकार एवं छोटी) होती हैं। निरन्तर चढ़ती जाने पर भी इनका रङ्ग त्वचा के समान रहता है। चय (उपचय-संचय) की अधिकता से इनको 'अपची' कहते हैं। इन ग्रन्थियों में कण्डु होती है, मन्द वेदना रहती है। फूटने पर बहती हैं और नष्ट हो जाती हैं। दूसरी नई ग्रन्थियाँ निकल आती हैं। यह रोग मेद और कफ के कारण से उत्पन्न होता है। बहुत वर्षों का पुराना होने पर यह रोग कष्टसाध्य है[1]। (चक्रपाणि ने चरक की टीका में ग्रन्थिविसर्प को 'अपची' कई कहते हैं—ऐसा लिखा है) चरक ॥ १०-१२ ॥

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः
संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ १३ ॥
कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोफं
तमर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

अर्बुद—सम्मूर्च्छित (कुपित हुए) वातादि दोष शरीर के किसी भी भाग में मांस और रक्त को दूषित करके गोल, स्थिर, मन्द वेदना युक्त, महान् एवं विस्तृत मूलवाली, देर में बढ़नेवाली, पाक रहित (न पकनेवाली), मांसोच्छ्रय (मांससंघात युक्त) तथा अगाध (गम्भीर) शोफ उत्पन्न करते हैं। शास्त्रविद् इसको 'अर्बुद' कहते हैं ॥ १३ ॥

वातेन पित्तेन कफेन चापि
रक्तेन मांसेन च मेदसा च ॥ १४ ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि
ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति ।

वायु, पित्त, कफ, रक्त, मांस एवं मेद के कारण छै प्रकार का अर्बुद होता है। इस अर्बुद के लक्षण ग्रन्थि के समान होते हैं ॥ १४ ॥

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु
संपीड्य सङ्कोच्य गतस्त्वपाकम् ॥ १५ ॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं
मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धिम् ।
स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्ट-
मसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात् ॥ १६ ॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
पाण्डुर्भवेत् सोऽर्बुदपीडितस्तु ।

अर्बुद के लक्षण—दूषित वातादि दोष एवं रक्त शिराओं को पीड़ित एवं संकुचित करके, पकने पर रक्त की मात्रा बढ़ने से एवं त्वचा के न फटने के कारण मांसपिण्ड को ऊपर की ओर उभार देते हैं। यह शोथ (उभार) मांसांकुरों से व्याप्त होता है और शीघ्र बढ़ता है। इससे निरन्तर दूषित रक्त बहता रहता है। यह रक्तजन्य अर्बुद असाध्य है। रक्त के क्षय के कारण उपद्रवों से (मूर्च्छा आदि रक्तपित्तजन्य उपद्रवों से) पीड़ित तथा अर्बुद रोगी जो पाण्डु वर्ण हो जाये, वह भी असाध्य हैं ॥१५,१६॥

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम् ॥ १७ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण-
मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढ-
मेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ १८ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं

---

[1] इस रोग में वायु-पित्त का भी थोड़ा योग रहता है जैसा कि भोज ने कहा है—

"वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् ।
जंघयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥
कुर्वन्ति ग्रन्थयस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः ।
त्रिदोषादूर्ध्वगो वक्षः कक्षामन्या गलाश्रितः ॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची स्मृता ।
व्यामिश्रदोषजातस्य कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता ॥
तासां वातोत्तरा रूक्षा वातवेदनयान्विता ।
क्षिप्रपाकसमुत्थाना दाहयुक्ता तु पैत्तिकी ।
गूढा तु वातकठिना कफात्स्निग्धाल्परुक्करा ॥"

मांसजन्य अर्बुद—मुष्टिप्रहार आदि (मुक्का की चोट आदि) के कारण अङ्गों में चोट लगने से मांस दूषित होकर शोफ उत्पन्न करता है। यह शोफ वेदना रहित, स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, पाक रहित, पत्थर के समान कठोर एवं निश्चल (न हिलनेवाला) होता है। मांसपरायण (अतिशय-मांसभक्षी) पुरुष के मांस के अति दूषित होने से यह अर्बुद (स्फिक्, कक्षा, जंघा आदि मांसबहुल स्थानों में) विशेषकर होता है। यह मांसार्बुद असाध्य है ॥१७,१८॥

साध्येष्वपीमानि विवर्जयेत्त।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं
स्रोत.सु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥१९॥
यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२०॥

साध्य अर्बुदों में भी निम्नलिखित अर्बुदों को चिकित्सा कर्म में छोड़ देना चाहिये। यथा—जिन अर्बुदों में से रक्त का स्राव होता हो, जो अर्बुद मर्म या स्रोतस् स्थानों में उत्पन्न हुआ हो, जो अचल हो, प्रथम अर्बुद के होने पर जो अर्बुद फिर-दूसरा उत्पन्न होता है उसको 'अध्यर्बुद' जानना चाहिये। जो अर्बुद एक साथ द्वन्द्व (जोड़िया) रूपमें अथवा क्रम से (एक के पीछे दूसरा) उत्पन्न होते हैं, उनको द्विरर्बुद कहते हैं—ये द्विरर्बुद (एवं द्विदोषजन्य भी) तथा अध्यर्बुद असाध्य हैं॥

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्-
मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां
सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥२१॥

न पकने का कारण—अर्बुदों में कफ और मेद की अधिकता विशेष रूप में रहती है, इसलिये, यथा वातादि दोषों के स्थिर (मांसोन्नति के कारण चिरकाल तक रहने से कठोर) होने से एवं वातादि दोषों के ग्रन्थि रूप में (निश्चल) बन जाने से, सब प्रकार के अर्बुद स्वभाव से ही नहीं पकते हैं।

वि० मन्तव्य—सब अर्बुद पकते नहीं परन्तु रुधिरात्मक अर्बुद में से स्राव अवश्य निकलता है ॥२१॥

वातः कफश्चैव गले प्रवृद्धौ
मन्ये तु संसृत्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिंगैः
समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥२२॥

गलगण्डसम्प्राप्ति—अतिशय रूप में प्रवृद्ध वायु और कफ तथा मेद-मन्या (ग्रीवा के पार्श्व भाग की धमनियों) का आश्रय करके वातकफ के (अपने अपने) लक्षणों से युक्त, क्रमशः (शनैः-वृद्धिशील) गण्डरोग को उत्पन्न करते हैं, इसको गलगण्ड कहते हैं। (पित्तजन्य गलगण्ड नहीं होता)।

गलगण्ड प्रायः—पर्वतीय प्रदेशों तथा तराइयों में होता है जहाँ कूप नहीं होते केवल कुल्याओं का जल पीना पड़ता है। इससे रोगी प्रायः आलसी एवं जड़ होते हैं ॥२२॥

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः
कृष्णोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
मेदोन्वितश्चोपचितश्च कालाद्-
भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च ॥२३॥

वातजन्य गलगण्ड—तोदान्वित (सूई चुभने की वेदना युक्त), कृष्ण-शिराओं से व्याप्त, कृष्ण अथवा लालवर्ण होता है। यदि कालवश से संचित मेद के साथ संयुक्त हो जाता है तो अतिशय स्निग्ध एवं अरुज (वेदना रहित) होता है ॥२३॥

पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको
यदृच्छया पाकमियात् कदाचित्।
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ॥२४॥

यह अर्बुद कठोरता युक्त, देर में वर्धनशील, देर में पकनेवाला, भाग्यवश कभी पकता है। रोगी के मुख का स्वाद बदल जाता है, तालु और गला सूख जाता है ॥२४॥

स्थिरः सवर्णोऽल्परुगुग्रकण्डूः
शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु।
चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च
प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ॥२५॥
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः।

कफजन्य गलगण्ड—स्थिर, त्वचा के समान वर्ण, मन्द वेदनाशील, कण्डूबहुल, शीतल, एवं महान् होता है। बहुत देर में बढ़ता है और कभी भाग्य से बहुत देर में पकता है तब थोड़ी वेदना होती है। रोगी का मुख मीठा रहता है, तालु और गला कफ से भरा रहता है ॥२५॥

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो
मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डूः ॥२६॥
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो
देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः।
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-
र्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ॥२८॥

मेदजन्य गलगण्ड—स्निग्ध, मृदु (कोमल), पाण्डुवर्ण, अनिष्ट गन्ध (दुर्गन्ध) युक्त, वेदना रहित, कण्डू-बहुल होता है। अलाबु (घिया कद्दू) के समान नीचे लटकता है, मूल-अल्प (छोटा) होता है, शरीर की वृद्धि से बढ़ता है और शरीर के

क्षय से घटता है। रोगी का मुख स्निग्ध रहता है, सर्वदा या बोलने पर गले से शब्द आता रहता है।

वि० मन्तव्य—मेदोज गलगण्ड ही अधिक देखा जाता है॥

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं
संवत्सरातीतमरोचकार्तम्।
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डिनं तु
भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत्तु ॥२८॥

असाध्यता—कठिनाई से श्वास लेनेवाला रोगी हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल (थोथला) हो, एक साल पुराना हो गया हो, अरोचक रोग से पीड़ित, शरीर से क्षीण तथा भिन्नस्वर (शब्द स्वर टूटे हुए) रोगी को असाध्य समझना चाहिये ॥२८॥

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥२९॥

गलगण्ड का स्वरूप—जिस रोगी के गले में महान् अथवा ह्रस्व सूजन, अण्डकोष के समान लटकने लगती है, उसको गलगण्ड कहते हैं[1]॥२९॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने गलगण्डगण्डमाला-
पच्यर्बुदनिदानं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदानां निदानं व्याख्यास्यामः ।१।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

शोथ की सामान्यता से अर्बुद आदि निदान के पीछे वृद्धि, उपदेश, श्लीपद निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

वातपित्तश्लेष्मशोणितमेदोमूत्रान्त्रनिमित्ताः सप्त वृद्धयो भवन्ति। तासां मूत्रान्त्रनिमित्ते वृद्धी वातसमुत्थे, केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतमः ॥३॥

वृद्धि रोग सात प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, मेदोजन्य, मूत्रजन्य और अन्त्रजन्य, (द्वन्द्वजन्य वृद्धिरोग नहीं होता) इनमें मूत्रजन्य तथा अन्त्रजन्य वृद्धि की उत्पत्ति का कारण वायु है, वायु के कारण वृद्धि होती है। उत्पत्ति का प्रधान कारण मूत्र या अंत्र इनमें से कोई एक होता है।

वि० मन्तव्य—मूत्र वृद्धि में मूत्र का सा द्रव भर जाता है जैसे जलोदर में ॥३॥

अधः प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोशवाहिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोषयोर्वृद्धिं जनयति, तां वृद्धिमित्याचक्षते ॥४॥

कोई एक दोष नीचे की ओर (नाभिसे नीचे) कुपित होकर अण्डकोषवाहिनी धमनी (Spinal-Cord), में पहुँचकर फलकोषों में वृद्धि (enlargement) उत्पन्न करता है, इसको 'वृद्धिरोग' कहते हैं। चरक में कहा है "ब्रध्नोऽनिलाद्यैः वृषणे स्वलिंगैः अन्त्रं निरेत्य प्रविशेन्मृदुश्च। मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत्, स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम्।" ॥४॥

तासां भविष्यतीनां पूर्वरूपाणि-बस्तिकटीमुष्कमेढ्रेषु वेदना मारुतनिग्रहः फलकोशशोफश्चेति ॥५॥

पूर्वरूप—वृद्धिरोग के पूर्वरूप—बस्ति (मूत्राशय) में वेदना, कटिशूल, मुष्क (अण्ड) में वेदना, शिश्न में वेदना, वायु का अवरोध—एवं फलकोश में सूजन (orchitis) होती है ॥५॥

तत्रानिलपरिपूर्णां बस्तिमिवाततां परुषामनिमित्तानिलरुजां वातवृद्धिमाचक्षते, पक्वोदुम्बरसङ्काशां ज्वरदाहोष्मवतीं चाशुसमुत्थानपाकां पित्तवृद्धिं; कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डुमतीं श्लेष्मवृद्धिं, कृष्णस्फोटावृतां पित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिं, मृदुस्निग्धां कण्डुमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकाशां मेदोवृद्धिं, मूत्रसंधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति, मूत्रकृच्छ्रं वेदनां वृषणयोः श्वयथुं कोशयोश्चापादयति, तां मूत्रवृद्धिं विद्यात्, भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैर्वायुरभिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्येतरस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा वङ्क्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति, आध्मातो बस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति सशब्दमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनराध्मायते तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥६॥

लक्षण—वातजन्य वृद्धि वायु से भरी बस्ति के समान बिना कारण के वेदनाशील होती है। पित्तवृद्धि पके हुए गूलर फल के समान, ज्वर-दाह एवं उष्णिमा युक्त, शीघ्र उठने एवं शीघ्र पकनेवाली होती है। कफ वृद्धि—कठिन, अल्पवेदना युक्त, शीत-स्पर्श, कण्डूमान् होती है। रक्तजन्य वृद्धि-काले स्फोटों से व्याप्त पित्तजन्य वृद्धि के समान लक्षणों से युक्त होती है। मेदजन्य वृद्धि मृदु, स्निग्ध, कण्डू युक्त, मन्दवेदना शील, पक्व ताल फल के समान होती है। जिस मनुष्य को मूत्र रोंकने की आदत होती है, उसको मूत्रवृद्धि रोग होता है। चलते समय यह मूत्रवृद्धि—जल से भरी मशक के समान हिलती है, मूत्रप्रवाहण में कष्ट, वृषणों में वेदना तथा अण्डकोषों में सूजन अ।

---

[1] यथा—

मेदः कफात् शोणितसंचयोत्थो
गण्डस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः
स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः
दीप्तानिलेष्वल्पबलान्विते च ॥
साध्या स्मृता पीनसपार्श्वशूल-
कासज्वरच्छर्दियुता त्वसाध्या ॥

जाती है। इसको मूत्रवृद्धि कहते हैं। अंत्रवृद्धि—भार को उठाने से, बलवान् पुरुष के साथ युद्ध करने से, वृक्ष से गिरने पर—अथवा अन्य इस प्रकार के परिश्रमजन्य कारणों से वायु स्वस्थान में अतिशय बढ़कर एवं कुपित होकर स्थूलांत्र के एक इतर भाग को टेढ़ा (दुहेरा) करके वंक्षणसन्धि में नीचे की ओर ले जाकर ग्रन्थि (गांठ) रूप में रहती है। चिकित्सा न करने पर कुछ समय के पीछे फलकोशों (scrotam) में घुसकर मुष्कशोथ को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में शोफ-आध्मान (फूली), वस्ति के समान विस्तृत और लम्बी होती है। दबाने पर आवाज के साथ ऊपर को चढ़ जाती है (सूजन हट जाती है)। छोड़ने पर (शब्द के साथ) नीचे आकर फुला देती है। इस अंत्रवृद्धि को (Hernia) असाध्य (भेषज रूप से) कहते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—अन्त्रवृद्धि—इसको "आँत उतरना" आँत गिरना कहते हैं। जहाँ क्षुद्रान्त्र का अन्त और बृहदन्त्र का प्रारम्भ होता है वहाँ एक सींग सा परन्तु अत्यन्त मृदु, ३-४ अंगुल लम्बा, अंगूठा सा मोटा अवयव होता है उसे "उपान्त्र" कहते हैं यह अपने स्थान से खिसक कर कुल्ले में आ जाता है—अड़ जाता है, गाँठ सी प्रतीत होती है और कभी २ उससे भी नीचे आकर अण्डकोश में आ जाता है और दबाने से ऊपर को चला जाता है। यह लम्बा शोफ प्रतीत होता है, शोफ नहीं होता उपान्त्र ही गुल्ला सा रहता है इसको खिसकने से रोकने के लिये कुण्डलिका का या पेटी का प्रयोग किया जाता है, शस्त्र चिकित्सा से भी खिसकना रुक जाता है ॥६॥

तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा तथाऽतिब्रह्मचारिणी चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां सङ्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रियामकामामचौक्षसलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशनविषशूकनिपातनाद्बन्धनाद्धस्ताभिघाताच्चतुष्पदीगमनादचौक्षसलिलप्रक्षालनादवपीडनाच्छुक्रवेगविधारणान्मैथुनान्ते वाऽप्रक्षालनादिभिर्मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते ॥७॥

अतिमैथुन के सेवन से, अतिब्रह्मचारिणी (मैथुन से अतिनिवृत्त होने के कारण योनि के संकुचित एवं कर्कश हो जाने से), कदाचित् ही मैथुन करनेवाली अर्थात् देर से जिसने मैथुन छोड़ रक्खा है, रजस्वला (ऋतुमती), दीर्घ रोमवाली, कर्कश रोमवाली, संकीर्ण (घने) रोमवाली, निगूढ़ (अन्तःप्रविष्ट होने से छिपे) रोमवाली, अल्पद्वार (तंग योनि मुख) वाली, महाद्वारवती, अप्रिया (प्रेम न रखनेवाली), अकामा (मैथुनेच्छा न करनेवाली-जांघों को संकुचित करनेवाली) अचौक्ष (अपवित्र) सलिल से प्रक्षालित योनि (योनि से निकलनेवाले पानी से तर योनि), अप्रक्षालित (मलिन) योनि, योनिरोग युक्त, स्वभाव (प्रकृति) से ही दुष्ट योनि (वातादि से दूषित योनि), वियोनि (पशु आदि की योनि को अथवा पारुष्यादि दोषों से दूषित-कर्कश आदि के सेवन से) अथवा स्त्री के अति सेवन से, तथा नख, दाँत, विष, शूक (जलशूक घोंघा) के लिंग पर गिरने या लगने से, अथवा जलशूक के बाँधने से, या हाथ से चोट लगने पर, चतुष्पदी (गाय-भैंस) की योनि में मैथुन करने से, अपवित्र जल से लिंग को धोने के कारण, अवपीड़न (लिंग को दबाने से), शुक्र मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से, मैथुन के अन्त में शिश्न को न धोने आदि कारणों से कुपित हुए वातादि दोष शिश्न में आकर क्षतयुक्त अथवा क्षतरहित सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को उपदंश कहते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कीटाणुवाद या कृमिवाद—भले ही सिफलिस को पृथक् माने परन्तु—उपदंश के उक्त कारण एवं उक्त लक्षण तथा चिकित्सा विधान एवं चिकित्सा सफलता को देखकर पृथक् मानना उचित नहीं प्रतीत होता। उक्त कृमि रक्तज कृमि अवश्य माने जा सकते हैं जो कुष्ठैककर्मा कहे हैं। योनिरोगोपसृष्टा—उपदंश रोग से उपसृष्टा—उपद्रुता—पीडिता। योनि—भग का नाम है और भग मैथुनोपयोगी अवयव है जो नर नारी में समान रूप से होता है केवल उसके आकार में भेद है और यह भेद भी अस्थायी है-परिवर्त्तन शील है, आयुर्वेद में लिंग परिवर्त्तनार्थ पुंसवन का विधान है और वेद में पुंसवन संस्कार का विधान है और आज का शल्य चिकित्सक लिंग परिवर्त्तन में सफल भी हो गया है और पुराणों में इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख पाया जाता है अतः

---

१ कविराज हाराणचन्द्र जी—'स्थूलांत्रस्येतरस्य चैकदेशं' यह पाठ पढ़ते हैं। यहाँ पर इतर शब्द से क्षुद्रांत्र का ग्रहण है।

१ आजकल जिस रोग को सिफलिस कहा जाता है, उसका कारण एक कृमि (Spreochita Paladia) है। यह एक संक्रामक रोग है। जो कि स्पर्श से पहुँचता है। पुश्त दरपुश्त उतरता है। इसकी तीन अवस्थायें हैं।

(२) अन्य लक्षण—

"मेढ्रसन्धौ व्रणा केचित् केचित् सर्वाश्रयाः स्मृताः।
कुल्याकृतयः केचित् केचित् मुद्गदलोपमाः।
रुग्दाहपरीताश्च तृष्णामोहसमन्विताः।
शीघ्रं केचित् विसर्पन्ति शनैः केचित्तथापरे॥
स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः॥"

उपदंश पीड़ित नर का उपसेवन करनेवाली नारी के उस अवयव में यह रोग हो सकता है, यह लिखना अनुचित नहीं है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित भी है। पाठक ठण्डे दिल से विचार करें। इसका विशद वर्णन च० चि० अ० ३० में ध्वजभंग नाम से किया गया है और भगवान् पुनर्वसु ने इस रोग को योनि व्यापद् प्रकरण में ही लिखा भी है। क्षतेऽक्षते वा–मैथुन करने में अथवा अन्य नख दन्तपात आदि से क्षत–खरोश—घाव होने पर अथवा क्षत के बिना ही फुनसी के रूप में शोथ हो जाता है। एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्–यही शोथ ५–७ दिन में व्रण का रूप बना लेता है ॥७॥

स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति।

यह उपदंश रोग पाँच प्रकार का है। यथा—तीन दोषों से पृथग्-वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य, तीनों के सन्निपात से एक और पाँचवाँ रक्तजन्य ॥८॥

तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्तब्धमेढ्रता परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः, पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पक्वोदुम्बरसङ्काशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाश्च; श्लैष्मिके श्वयथुः कण्डूमान् कठिनः स्निग्धः श्लेष्मवेदनाश्च; रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसृक्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं ज्वरदाहौ शोषश्च; याप्यश्चैव कदाचित्; सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनमवदरणं च शेफसः क्रिमिप्रादुर्भावो मरणं चेति ॥९॥

इनमें—वातजन्य उपदंश में—कठोरता, त्वचा का फटना, शिश्न में जड़ता (अकड़ाहट) सूजन में काठिन्य और नाना प्रकार की वातजन्य वेदनायें होती हैं। पित्तजन्य उपदंश में—ज्वर, पके हुए गूलर के समान वर्ण, तीव्र जलन, जल्दी से पकना और पित्तजन्य वेदनायें होती हैं। कफजन्य उपदंश से—सूजन, कण्डू, काठिन्य, स्निग्धता और कफजन्य वेदनायें होती हैं। रक्तजन्य उपदंश में—काले छालों की उत्पत्ति, अतिशय रक्तस्राव, पित्तजन्य उपदंश के लक्षण, अतिशय ज्वर, दाह और शोष होता है। यह उपदंश कभी २ याप्य है। सन्निपातजन्य उपदंश में—सम्पूर्ण दोषों के लक्षणों का स्पष्ट होना, शिश्न का विदीर्ण होना, शिश्न या शरीर में कृमियों का उत्पन्न होना और मृत्यु होती है ॥९॥

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं श्लीपदमित्याचक्षते। तत्त्रिविधं वातपित्तकफनिमित्तमिति ॥१०॥

श्लीपद (Elephantiasis)—प्रकुपित वात, पित्त, कफदोष नीचे की ओर सरककर वंक्षण, ऊरु, जानु और जंघा में स्थान करके कुछ समय पीछे पाँवों में उतरकर धीरे-धीरे सूजन उत्पन्न करते हैं। इस सूजन को श्लीपद कहते हैं।

यह रोग तीन प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य।

वि० मन्तव्य—श्लीपद को फीलपाँव–हाथी पाँव कहते हैं। जब इसका वेग होता है तब शीत ज्वर भी हो जाता है ॥१०॥

तत्र वातजं खरं कृष्णं परुषमनिमित्तानिलरुजं परिस्फुटति च बहुशः, पित्तजं तु पीतावभासमीषन्मृदु ज्वरदाहप्रायं च; श्लेष्मजं तु श्वेतं स्निग्धावभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुपचितं च ॥११॥

वातजन्य श्लीपद—खरदरा, कृष्णवर्ण, कठोर, बिना कारण के ही वातजन्य वेदना युक्त तथा बहुत से स्थानों पर फूट पड़ता है (त्वचा फट जाती है)। पित्तजन्य श्लीपद–पीले रङ्ग की झांईवाला, थोड़ा कोमल, ज्वर एवं दाह युक्त होता है। श्लेष्मजन्य श्लीपद – श्वेत स्निग्ध (चिकना), चमक युक्त, मन्दवेदनाशील, गुरु, महाग्रन्थि बहुत बड़ी ग्रन्थि से युक्त तथा कांटों से व्याप्त होता है ॥११॥

तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकवज्जातं प्रस्रुतमिति वर्जनीयानि ॥१२॥

इनमें एक साल पुराना, अतिमहान्, वल्मीक के समान अनेक शिखराकार फैला हुआ श्लीपद रोग असाध्य है ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥१३॥

कहा भी है--उपर्युक्त तीनों श्लीपद कफ की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि गुरुत्व और महत्त्व ये दोनों बातें कफ के बिना उत्पन्न नहीं होतीं ॥१३॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥१४॥

प्रायः करके श्लीपद रोग उन देशों में होता है, जो कि सब ऋतुओं में शीतल रहते हैं (समुद्र के किनारे के) तथा जहाँ पर पुराने पानी का व्यवहार अधिकतया होता है[१] ॥१४॥

पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम्।
कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥१५॥

१ श्लीपद रोग का कारण आजकल 'फाईलेरिया' नामक कृमि माना जाता है। यह रोग मदुरा में अधिक होता है। इसलिये इसको Madura foot भी कहते हैं। यह रोग प्रायः वहीं होता है, जहाँ पानी खड़ा रहता है, ऐसा माना जाता है। केवल यही कारण हो, ऐसा नहीं दीखता, साथ में वहाँ ठण्डक भी रहनी चाहिये इस रोग का कृमि प्रायः रात में रक्त के अन्दर मिलता

मनुष्यों के (स्त्रियों के भी) पाँव के समान हाथों में श्लीपद रोग प्रायः होता है। कई आचार्यों का कहना है कि कान, आँख, नासिका, ओष्ठ (मुख एवं योनि दोनों) में भी होती है॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपद निदानं नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथातः क्षुद्ररोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

वृद्धि, उपदंश आदि रोगों को कहकर इसके आगे क्षुद्ररोगों के निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था[1]॥१,२॥

समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति। तद्यथा-अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीकम्, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभः, जालगर्दभः, कक्षा, विस्फोटकः, अग्निरोहिणी, चिप्पं, कुनखः, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुदं, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदरम्, अलसेन्द्रलुप्तौ, दारुणकः; अरुंषिका, पलितं, मसूरिका, यौवनपिडका, पद्मिनीकण्टकः, जतुमणिः, मशकः, चर्मकीलः, तिलकालकः, न्यच्छं, व्यङ्गः, परिवर्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकशः, संनिरुद्धगुदः, अहिपूतनं, वृषणकच्छुः, गुदभ्रंशश्चेति॥३॥

संक्षेप में चवालिस क्षुद्ररोग हैं, यथा—अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, वल्मीक, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाणगर्दभ, जालगर्दभ, कक्षा, विस्फोटक, अग्निरोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, शर्करार्बुद, पामा, विचर्चिका, रकसा, पाददारिका, कदर, अलस, इन्द्रलुप्त, दारुणक, अरूंषिका, पलित, मसूरिका, यौवनपिडका, पद्मिनीकण्टक, जतुमणि, मशक, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, परिवर्त्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अहिपूतन, वृषणकच्छू और गुदभ्रंश ये चवालिस रोग हैं॥३॥

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका॥४॥

१ अजगल्लिका—स्निग्ध, त्वचा के समान वर्ण, ग्रथित, वेदना रहित एवं मूंग के समान होती है। यह रोग कफ एवं वायुजन्य है, प्रायः बालकों में (कभी कभी बड़ों में भी) होता है॥४॥

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते॥५॥

२ यवप्रख्या—जौ के समान आकारवाली, अतिकठिन, ग्रथित, मांस से आश्रित पिड़का को 'यवप्रख्या' कहते हैं। यह कफ-वातजन्य है॥५॥

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम्॥६॥

३ अन्धालजी—कठिन, मुख रहित या अल्पमुखी गोल ऊपर उठी तथा अल्पपूययुक्त पिड़का को 'अन्धालजी' कहते हैं। यह कफ-वातजन्य है[1]॥६॥

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसन्निभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम्॥७॥

४ विवृता—खुले मुखवाली, महान् दाहयुक्त, पके गूलर फल के समान, गोल पिड़का को 'विवृता' कहते हैं। यह पित्तजन्य है॥७॥

ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोन्नताः।
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः॥८॥

५ कच्छपिका—कच्छ (बगल) में पाँच वा छै कठिन गांठें कच्छूए की पीठ के समान निकल आती हैं, उनको 'कच्छपिका' कहते हैं। यह रोग कफ और वायु से होता है॥८॥

पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि।
ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते॥९॥

है। रात के बारह बजे एक बूंद रक्त में ३०० से ६०० तक इनकी संख्या मिलती है। दिन के समय यह कृमि फेफड़े, वृक्क आदि में पहुंच जाता है। इस रोग के कारण रोगी को ज्वर आता है और वंक्षण में दर्द, शोथ, ग्रन्थि में वेदना होती है। पैर में सूजन तथा भारीपन अनुभव होता है। यह भारीपन शिला के भार के समान होता है—जैसा कि संग्रह में कहा है—"शिलावत् पदं श्लीपदम्। शनैः शनैः घनं शोफं श्लीपदं तत् प्रचक्षते।" "यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्त्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण। तच्छ्लीपदं स्यात्।" "श्लीपदं जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं श्रमात्॥"

१ 'क्षुद्ररोग' इस नाम का अर्थ स्पष्ट नहीं है। कविराज हाराणचन्द्र जी का कहना है कि—नामग्रहण मात्र से ही रोग स्पष्ट हो जाता है, इसलिये इनको क्षुद्ररोग कहते हैं। दूसरे आचार्य 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से इनमें पढ़े महारोगों का भी इन क्षुद्ररोगों में अन्तर्भाव करते हैं। अथवा पूर्वाचार्यों ने इन रोगों की यह संज्ञा की है।

१ यह रोग स्नायुजन्य है। यथा—
'श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिड़कां परिमण्डलाम्।
दुष्टौ जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम्॥
आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्धालजीन्तु ताम्॥

तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्मुखैर्वृतः ।
व्याधिवल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥१०॥

६ वल्मीक—हाथ-पाँव के तलुओं में, सन्धि में, ग्रीवा में जत्रु (ग्रीवा अंससन्धि) के ऊपर के भाग में जो ग्रन्थि वल्मीक के समान धीरे धीरे बढ़ती है, उस ग्रन्थि में चुभने की सी वेदना, गीलापन, जलन, तथा कण्डुशील व्रणों से युक्तता रहती है। यह रोग कफ, पित्त, वायु से उत्पन्न होता है ॥९-१०॥

पद्मपुष्करवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।
इन्द्रवृद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥११॥

७ इन्द्रवृद्धा—पद्मबीजकोष के समान बीच में छोटी-छोटी पिड़काओं से घिरी होती है। यह इन्द्रवृद्धा पिड़का वात-पित्त-जन्य है ॥११॥

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्य द्वातपित्तजाम् ॥

गर्दभिका—पिडकाओं से घिरी हुई, लाल, ऊपर की ओर उठी हुई, गोल, पीड़ा से युक्त मण्डल को गर्दभिका जानना चाहिए। यह पिडका वातपित्तजन्य होती है।

कर्णौ परिसमन्ताद्वापृष्ठे वा पिडकोग्ररुक् ।
शालूकवत्पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् ॥१२॥

८ पनसिका—कानों के चारों ओर अथवा कान के पीछे (कान के अन्दर भी) शालूक कुमुदादि की जड़ के समान उठी हुई एवं अतिवेदनाशील पिड़का को पनसिका कहते हैं, यह कफवातजन्य है ॥१२॥

हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम् ।
पाषाणगर्दभं विद्याद्बलासपवनात्मकम् ॥१३॥

९ पाषाणगर्दभ—(Munips)—हनुसन्धि में (ग्रन्थियों-लालाग्रन्थियों के कारण) उत्पन्न, मन्द वेदनायुक्त, स्थिर सूजन को 'पाषाणगर्दभ' कहते हैं, यह रोग कफ-वातजन्य है ॥१३॥

विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः ।
अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥१४॥

१० जालगर्दभ—विसर्प के समान जो सूजन फैले, सूजन में दाह तथा ज्वर हो, शोथ तनु (उत्तानसूक्ष्म हो), सूजन पके नहीं, उसे 'जालगर्दभ' कहते हैं, यह रोग पित्तजन्य है¹॥१४॥

पिडिकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥१५॥

इरिवेल्लिका—जो पिडिका गोल, अतिपीडा और ज्वरकारक तीनों दोषोंवाली तथा तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ) के लक्षणों से युक्त शिर में होवे उसे इरिवेल्लिका समझना चाहिए ॥१५॥

बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामिति विनिर्दिशेत् ॥१६॥

११ कक्षा (Boil)—बाहु-पार्श्व अंस और कक्षा में काले रङ्ग के छाले उत्पन्न हो जायें, इन छालों में वेदना हो, इनको (कक्षा) कहते हैं। यह रोग पित्त के प्रकोप से होता है ॥१६॥

एकामेवंविधां दृष्ट्वा पिटिकां स्फोटसन्निभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धनामां प्रचक्षते ॥१७॥

१ गन्धनामा—इसी प्रकार की, स्फोट के तुल्य, चर्मपटल में आश्रित करके पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई पिडिका को गन्धनामा या गन्धमाला कहते हैं ॥१७॥

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वराः पित्तरक्ततः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृता विस्फोटका इति॥१८॥

२ विस्फोटक में—अग्नि से जलने की भाँति उत्पन्न छाले (पानीयुक्त) सम्पूर्ण शरीर में अथवा शरीर के किसी एक भाग में उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें ज्वर हो जाता है यह रोग रक्त-पित्तजन्य है ॥१८॥

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारु (र) णाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥१९॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः ॥२०॥

३ अग्निरोहिणी—कक्षा सन्धि (वंक्षण-गलसन्धि में भी) में मांस के कारण कठिन या मांस के दारक—फाड़नेवाले जो छाले उत्पन्न होते हैं, तथा इन छालों के कारण तीव्र अन्तर्दाह, तीव्र अन्तर्ज्वर रोगी को हो, छालों में जलती अग्नि के समान जलन रहती हो, इसको 'अग्निरोहिणी, कहते हैं। यह रोग वातजन्य होने से सात दिन में, पित्ताधिक होने पर बारह दिन में और कफाधिक होने पर पन्द्रह दिन में रोगी को मार देता है। सन्निपातजन्य रोग असाध्य है¹ ॥१९,२०॥

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम् ।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥२१॥
तदेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि ।

४ चिप्प—और वायु नख के मांस का आश्रय लेकर

---

१ इस रोग पित्तमें की प्रधानता रहती है, इसलिये थोड़ा पकता है यह तो मानना ही पड़ेगा। जैसा कि भोज ने कहा है—

"पित्तोत्करास्त्रयो दोषाः जनयन्ति त्वगाश्रिताः ।
विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम् ॥"

१ अन्य स्थानों में—मांस को फाड़नेवाले छाले उत्पन्न होते हैं—ऐसा कथन है। यथा—

"पित्तोत्तरा नृणां दोषा प्रदीप्तांगारसन्निभाः ।
कक्षाभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान् ॥
मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् ।
पक्षाद्दशाहादर्वाक् वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी ॥"

वेदना, दाह एवं पाक को उत्पन्न करते हैं। इस रोग की 'चिप्प' कहते हैं। इसी को क्षतरोग या उपनख भी कहते हैं ॥२१॥

अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः ॥२२॥
भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ।

१५ कुनख—चोट के लगने से जो नख रूक्ष, काला और कर्कश हो जाता है, उसको 'कुनख' अथवा 'कुलीन' कहते हैं ॥

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ॥२३॥
कफादन्तःप्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक् ।

१६ अनुशयी—गम्भीर (अनुत्तान—गहरी), अल्पशोथ युक्त त्वचा के समानवर्ण, ऊपरी (शिरोभाग में) स्थित, पिड़का को 'अनुशयी' कहते हैं। यह कफ के कारण अन्दर से पकती है, इसीलिये गम्भीर है ॥२३॥

विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ॥२४॥
रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम् ।

१७ विदारिका—विदारीकन्द के समान गोल, कक्षा—वंक्षण सन्धियों में उत्पन्न, (लालवर्ण) पिड़िका को 'विदारिका' कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य है, इसमें वातादि सब दोषों के लक्षण सम्मिलित रहते हैं ॥२४॥

प्राप्य मांससिरास्नायु श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ॥२५॥
ग्रन्थिं कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वसानिभम् ।
स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ॥२६॥
मांसं विशोष्यग्रन्थिस्तां शर्करां जनयेत् पुनः ।
दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ॥२७॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्करार्बुदम् ।

१८ शर्कराऽर्बुद—मांस, शिरा, स्नायु तथा मेद में कफ और वायु पहुँचकर ग्रंथि (गाँठ) उत्पन्न करते हैं। इस गाँठ के फूटने पर मधु, घी और वसा के समान नाना रङ्ग का स्राव बहने लगता है। इस अवस्था में उस स्थान की वायु कुपित होकर मांस को शुष्क करके ग्रथित (दानेदार) शर्करा को उत्पन्न करती है। इसके कारण शिराओं से दुर्गन्ध युक्त, क्लिन्न (आर्द्र-पूति), नाना रंग का रक्त सहसा बहने लगता है। इसको 'शर्करार्बुद' कहते हैं ॥२५-२७॥

पामाविचर्च्यौ कुष्ठेषु रकसा च प्रकीर्तिता ॥२८॥

१९-२०-२१ पामा विचर्चिका और रकसा का वर्णन कुष्ठ रोग में कर चुके हैं ॥२८॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।
पादयोः कुरुते दारीं सरुजां तलसंश्रितः ॥२९॥

२२ विपादिका—पाददारिका परिक्रमणशील (सदा नंगे पाँव से मुसाफरी करनेवाले) व्यक्ति के अत्यन्त रूक्ष बने पैरों में वायु पाददारिका (दारण-बिवाई) रोग उत्पन्न करती है। इसके एड़ी में होने पर पीड़ा होती है ॥२९॥

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम् ॥३०॥
सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा ।
कोलमात्रः सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु सः ॥३१॥

२३ कदर—(Cornea) शर्करा (कंकड़ आदि से पाँव के पीड़ित होने पर या काँटे आदि से पाँव में क्षत होने पर वातादि दोष मेद-रक्त के साथ मिलकर कील (शंकु) के समान एवं कठिन, बेर के आकार की ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं। यह ग्रन्थि पाँव के नीची मध्यम या उन्नत होती है। इसमें वेदना और स्राव होते हैं। इसको 'कदर' कहते हैं ॥३०,३१॥

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विनिर्दिशेत् ॥३२॥

२४ अलस—पाँव की अंगुलियों में आर्द्रता, कण्डू, दाह और पीड़ा रहने पर दूषित कदम (कीचड़) के स्पर्श से (कफ के रक्त के साथ मिलने पर) 'अलस' रोग उत्पन्न होता है ॥३२॥

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥३३॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते ॥३४॥

२५ इन्द्रलुप्त—रोमकूपों में पहुँच पित्त वायु के साथ मूर्च्छित (दूषित) होकर, रोमों को गिरा देता है। इसके अनन्तर कफ रक्त से मिलकर रोमकूपों को रोक लेता है। इसलिये दूसरे नये रोमकूप उत्पन्न नहीं होते। इस रोग को इन्द्रलुप्त खालित्य या 'रुह्या' कहते हैं[1]। (इन्द्रलुप्त श्मश्रु में होता है, खालित्य शिर में और रुह्या सारे शरीर में होती है) ॥३३,३४॥

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥३५॥

२६ दारुणक—कफ-वायु के प्रकोप से कठिन कण्डुरा (कण्डुयुक्त) एवं रूक्ष केश भूमि (शिर की त्वचा) विशेषरूप में फटती है। इसको 'दारुणक' कहते हैं। (इस रोग में पित्त रक्त का भी अनुबन्ध रहता है ॥३५॥

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्धनि ।
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥३६॥

२७ अरुंषिका—मनुष्यों के शिर में—कफ-रक्त और कृमियों के प्रकोप से अनेक मुखवाले, तथा अतिस्राव युक्त अरुष् (फुन्सियाँ) उत्पन्न हो जाते हैं। इनको अरुंषिका कहते हैं ॥३६॥

१—यह रोग स्त्रियों में नहीं होता। क्योंकि—
"अत्यन्तसुकुमारांग्यो रजो दुष्टं स्रवन्ति च ।
अव्यायामरता यस्मात् तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः ।

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३७॥

२८ पलित—क्रोध, शोक और परिश्रम के कारण शरीर की गरमी शिर में पहुँचकर वहाँ पर पित्त के साथ मिलकर बालों को पकाती है। इसलिये 'पलित' (समय से पूर्व बालों का श्वेत होना) रोग होता है ॥३७॥

दाहज्वररुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः ।
गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः ॥३८॥

२९ मसूरिका—इस रोग में शरीर में तथा मुख के अन्दर दाह-ज्वर उत्पन्न करनेवाले, पीड़ाकारक-ताम्र वर्ण के तथा पीले छाले उत्पन्न होते हैं[1] ॥३८॥

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः ।
जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः ॥३९॥

३० मुखदूषिका—(Acne)—यौवन पिड़का सिम्बल के काँटों के समान—छोटी छोटी पिड़कायें युवा पुरुषों के मुख पर कफ, वायु, रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हो जाती हैं, इनसे चेहरे का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है ॥३९॥

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥४०॥

३१ पद्मिनीकण्टक—पद्मिनी के काँटों के समान काँटों से भरा गोलाकार, कण्डू-युक्त, पाण्डुवर्ण मण्डल को 'पद्मिनीकण्टक' कहते हैं, यह रोग कफवातजन्य है ॥४०॥

नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम् ।
सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः ॥४१॥

३२ जतुमणि—जन्म से ही उत्पन्न, बिना वेदना के मण्डल को 'जतुमणि' कहते हैं। यह थोड़ा लाल, श्लक्ष्ण (कर्कशता रहित) तथा कफरक्तजन्य होता है ॥४१॥

अवेदनं स्थिरं चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं वदेत् ॥४२॥

३३ मषक (Moles) वेदना रहित, स्थिर, उड़द के समान, काले तिल शरीर में जो उत्पन्न हो जाते हैं, उनको 'मषक' कहते हैं ॥४२॥

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥४३॥

३४ तिलकालक-कृष्णवर्ण, तिल के समान बड़े, वेदना रहित त्वचा के बराबर होते हैं। वायु-पित्त से कफ की शुष्कता होने के कारण उत्पन्न होते हैं[1] ॥४३॥

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम् ।
सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥४४॥

३५ न्यच्छ—यदि जन्मकाल से ही शरीर पर वेदना रहित महान् या ह्रस्व, श्वेत या काला मण्डल हो, तो इसको न्यच्छ कहते हैं ॥४४॥

समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम् ।

३६ चर्मकील—समुत्थान (सम्प्राप्ति) और निदान से चर्मकीलों को अर्श निदान में कह दिया है, (पूर्वाचार्यों ने इनको क्षुद्ररोग में पढ़ा है)।

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ॥४५॥
सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः ।
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥४६॥

३७ व्यङ्ग—क्रोध या परिश्रम (जृम्भा आदि) से प्रकुपित वायु पित्त के साथ मिलकर सहसा मुख में आकर वेदना रहित सूक्ष्म, श्यामवर्ण मण्डल को उत्पन्न करती है। इसको 'व्यङ्ग' कहते हैं ॥४५,४६॥

कृष्णमेवं गुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ।

नीलिका—उपर्युक्त व्यङ्ग के समान ही जो काले रङ्ग का मण्डल शरीर पर या मुख पर होता है उसे नीलिका कहते हैं।

मर्दनात् पीडनाच्चापि तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥४७॥
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रतिनिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥४८॥
सवेदनः सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित् ।
मारुतागन्तुसंभूतां विद्यात्तां परिवर्तिकाम् ॥४९॥
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ।

३८ परिवर्तिका—(Para Phymasis) जिस समय सर्वत्र फिरनेवाला व्यान वायु शिश्न के मलने से दबाने से अथवा शिश्न पर चोट लगने से शिश्न की त्वचा में आ जाता है, उस समय वायु से व्याप्त चर्म पीछे की ओर लौट जाता है, (मणि नग्न हो जाती है)। मणि के नीचे (पीछे) चर्मकोश गांठ के समान लटकने लगता है। इसमें वेदना और जलन होती है, कभी यह पक भी जाता है। यह रोग वायुजन्य है। यदि इसमें कण्डू और काठिन्य हो तो इस परिवर्तिका रोग को कफजन्य समझना चाहिये ॥४७-४९॥

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बालां गच्छेत् स्त्रियं नरः ॥५०॥
हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ।
मर्दनात्पीडनाद्वाऽपि शुक्रवेगविघाततः ॥५१॥

१—इसमें रक्त का मिश्रण रहता है। यथा—
"पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् ।
तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनः ॥
मसूरमुद्गमाषाणां तुल्या कोलोपमा इति ।
मसूरिका तु विज्ञेयाः पिडका रक्तपित्तजाः ॥"

१—केचित्—"वातपित्तासृगुच्छोषात्" यह पाठ पढ़ते हैं।

यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

३६ अवपाटिका—अल्पयोनिद्वारवाली–सोलह वर्ष की आयु से कम स्त्री के साथ अतिहर्ष (उत्तेजनावस्था) से जब पुरुष सम्भोग करता है, अथवा हाथ के अभिघात से (हस्त-मैथुन से) बलात्कार चर्म उत्तान होकर लौट जाता है। अथवा जिस पुरुष का चर्म (शिश्न की त्वचा) मर्दन से, दबाने से अथवा शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से फट जाता है, उसको 'अवपाटिका' रोग कहते हैं[१] ॥५०,५१॥

वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम् ॥५२॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम् ॥५३॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न च विदीर्यते ।
निरुद्धप्रकशं विद्याद्दुरूढां चावपाटिकाम् ॥५४॥

४० निरुद्धप्रकश–(Phymasis)—मर्दन पीड़न या अभिघात के कारण व्यान वायु कुपित होकर शिश्न चर्म के साथ मिलकर मणि का सम्पूर्ण रूप में आश्रय कर लेती है, उस समय शिश्नचर्म मणि के साथ चिपट जाता है (पीछे नहीं सरकता)। इससे मूत्रस्रोत रुक जाता है। मूत्रछिद्र के तंग हो जाने से मूत्र की धारा मन्द एवं थोड़ी वेदना युक्त रहती है। इस रोग में मणि को कोई नुकसान नहीं होता। इस रोग को निरुद्धप्रकश कहते हैं। दुरूढा (अनुचित रूप से रोहित) अवपाटिका भी 'निरुद्धप्रकश' कहाती है ॥५२-५४॥

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदमाश्रितः ।
निरुणद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥५५॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥५६॥

४१ सन्निरुद्धगुद—मल के उपस्थित वेग को रोकने से गुदा में आश्रित वायु कुपित होकर मार्ग को रोककर महान् स्रोत को सूक्ष्म द्वार बना देती है। मार्ग के सूक्ष्म होने के कारण मल कठिनाई से बाहर आता है। इस रोग को 'सन्निरुद्धगुद' कहते हैं। यह रोग कष्टसाध्य है।

वि० मन्तव्य—जैसे उल्लिखित निरुद्धप्रकश में मूत्र का मार्ग छोटा-तङ्ग होता है वैसे ही पुरीष का मार्ग तङ्ग हो जाता है ॥५५,५६॥

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।
स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥५७॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५८॥

४२ अहिपूतन—मल मूत्र से युक्त अपान (गुदा) के साफ न करने पर तथा स्वेद होने पर भी स्नान न कराने से शिशु में–रक्त एवं कफजन्य कण्डू उत्पन्न होती है। कण्डू के करने से शीघ्र छाले उत्पन्न हो जाते हैं। इन छालों से स्राव बहता है। गुदा व्रणों के साथ मिलकर एक हो जाने पर यह रोग भयानक है। इसको अहिपूतन कहते हैं ॥५७,५८॥

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः ।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं संजनयेत्तदा ॥५९॥
तत्र कण्डूयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥६०॥

४३ वृषणकच्छु—स्नान एवं उत्सादन (उबटन) न लगानेवाले पुरुष में मल अण्डकोषों में एकत्रित होकर पसीने के कारण जब आर्द्र होता है, तब कण्डु उत्पन्न करता है। कण्डु करने पर शीघ्र स्रावयुक्त स्फोट (छाले) पैदा हो जाते हैं। इसको 'वृषणकच्छू' कहते हैं—यह रोग कफ रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है ॥५९,६०॥

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।
रूक्षदुर्बलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत् ॥६१॥

४४ गुदभ्रंश—(Prolapsuani)—प्रवाहण (अतिशय कांखना) एवं अतिसार के कारण रूक्ष एवं निर्बल शरीरवाले पुरुष की गुदवलियाँ बाहर आ जाती हैं। इस रोग को गुदभ्रंश कहते हैं ॥६१॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने क्षुद्ररोगनिदानं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

—०—

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः शूकदोषनिदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

क्षुद्रत्व धर्म की समानता से क्षुद्ररोग के पीछे शूक दोष निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[१] ॥१,२॥

१—वात्स्यायन कामसूत्र में लिखा है कि–न प्रसह्य किंचिदाचरेत्।' इसकी व्याख्या में जयमङ्गल ने लिखा है कि जबर्दस्ती करने से अवपाटिका रोग उत्पन्न होता है।

१ शूक—जलशूक (घोंघा) है, इसकी सहायता से लिंग को बढ़ानेवाले योग बनाये जाते हैं। यथा—

'भल्लातकास्थिजलशूकसथाब्जपत्र–
मन्तःविदाह्यमतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्ट–
मालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥
स्थूलंमहत्तरमतुङ्गमतुल्यमाशु–
शोफःकरोत्यभिनवं नहि संशयोऽस्ति ।

लिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ च व्याधयो जायन्ते। तद्यथा—सर्षपिका; अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भिका, अलजी, मृदितं, संमूढपिडका, अवमन्थ, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोतकः, त्वक्पाकः, शोणितार्वुदं, मांसार्वुदं, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति ॥ ३ ॥

लिंगवृद्धि (आयाम और परिणाह रूप में) की चाह करनेवाले एवं शास्त्रोक्त क्रम का अनुसरण न करनेवाले पुरुषों में अठारह प्रकार के शूकदोषजन्य रोग होते हैं। यथा—सर्षपिका अष्ठीलिका, ग्रथित, कुम्भीका, अलजी, मृदित, संमूढपिडका, अवमन्थ, स्पर्शहानि, उत्तमा, शतपोनक, त्वक्पाक, शोणितार्बुद, मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक ये अठारह रोग हैं[1] ॥ ३ ॥

गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भग्नहेतुका।
पिडका कफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः ॥ ४ ॥

सर्षपिका—शूकदुर्भग्नहेतुका (दुरवचारित शूक हेतु के कारण) श्वेत सरसों के समान पिड़का उत्पन्न होती है। यह पिड़का कफ-रक्तजन्य है[2] ॥ ४ ॥

कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्य प्रकोपतः।
शूकैस्तु विषसंभुग्नैः पिडकाऽष्ठीलिका भवेत् ॥ ५ ॥

अष्ठीलिका—(विषसंयुक्त भल्लातकास्थि आदि) शूकों के कारण से वायु का प्रकोप होने पर कठिन एवं विषम अन्तों से युक्त (प्रान्त भागों पर निम्नोन्नत) पिड़का उत्पन्न होती है, इसको 'अष्ठीलिका कहते हैं ॥ ५ ॥

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं तत् कफोत्थितम्।
कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ॥६॥

कुम्भीका—शश्वत् (प्रतिदिन) शूक (आत्मगुप्ता, कौंच आदि अथवा जलशूकों) के सेवन से (एक दिन के अन्तर से सेवन करना चाहिये), कफ से ग्रथित जामुन के समान अशुभ (काली) पिड़का उत्पन्न होती है। यह कुम्भीका पिड़का रक्तपित्तजन्य है। (कफ के कारण पिड़का गांठ रूप होती है) ॥६॥

अलजीलक्षणैर्युक्तामलजीं च वितर्कयेत्।

अलजी—पिड़का प्रमेहपिड़का में कही अलजी पिड़का के समान लक्षणोंवाली होती है।

मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वायुकोपतः ॥ ७ ॥
पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत्।

संमूढपिड़का—पीड़ित (शूक प्रयोग करने के कारण शोथ आदि के उत्पन्न होने से) मृदित (अभिभूत), तथा शूकप्रयोगों को लगाने के पीछे हाथों से विशेष रूप में मलने के कारण (शिश्न के सुप्त होने पर) वायु के कोप से (वातरक्तजन्य) संमूढ-पिड़का उत्पन्न होती है ॥ ७ ॥

दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ॥ ८ ॥
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत्।

अवमन्थ—शूक कर्म के उपचार से दीर्घ (लम्बी) बहुत सी पिड़कायें उत्पन्न हो जाती हैं, ये बीच में से फट जाती हैं। यह अवमन्थ रोग कफ रक्त से उत्पन्न होता है। इसमें वेदना और शरीर में रोमांच होता है ॥ ८ ॥

पित्तशोणितसंभूता पिडका पिडकाचिता ॥ ९ ॥
पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा।

पुष्करिका—पित्त रक्त के कारण से—पिड़काओं से व्याप्त, पद्मकर्णिका के आकार की पिड़का उत्पन्न होती है, इसको पुष्करिका कहते हैं ॥ ९ ॥

जनयेत् स्पर्शहानिं तु शोणितं शूकदूषितम् ॥ १० ॥

स्पर्शहानि—शूक द्वारा दूषित रक्त स्पर्शहानि रोग को उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

मुद्गमाषोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा।
उत्तमैषा तु विज्ञेया शूकाजीर्णनिमित्तजा ॥ ११ ॥

उत्तमा—शूकाजीर्णनिमित्तजा (बार-बार शूक के सेवन से निर्वृत्त एवं विकृति विशेष से उत्पन्न) मूँग, माष के समान आकार की, लाल पिड़का को 'उत्तमा' कहते हैं, यह रक्त पित्तजन्य है ॥ ११ ॥

छिद्रैरणुमुखैर्वस्तु चितं यस्य समन्ततः।
वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥ १२ ॥

शतपोनक रोग में—मेढ्र-चारों ओर सूक्ष्म मुखवाले छिद्रों से भर जाता है, यह रोग वात-रक्त जन्य है ॥ १२ ॥

पित्तरक्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान्।

त्वक्पाक रोग—पित्त-रक्तजन्य है। इसमें रोगी को ज्वर और दाह होता है ॥

कृष्णैः स्फोटैः सरक्तैश्च पिडकाभिश्च पीडितम्।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥ १३ ॥

शोणितार्बुद—जिसमें वास्तु (अधिष्ठान शिश्न) काले छालों एवं लालवर्ण की पिड़काओं से व्याप्त होता है, उसको 'शोणितार्बुद' कहते हैं। यह रोग शूकापचार द्वारा रक्त के दूषित होने से होता है ॥ १३ ॥

इनसे उत्पन्न दोष (रोगों) की व्याख्या करते हैं। "दोषा ह्यपि रोगशब्दं लभन्ते।"

१ निन्दित कल्पों को छोड़कर जलशूक आदि से रहित प्रशस्त कल्पों के प्रयोग में हानि नहीं। प्रशस्तकल्प यथा—

"अश्वगन्धावरीकुष्ठमासीसिंहीफलान्वितम्।
चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत्।
स्तनलिंगकर्णपालिवर्धनं म्रक्षणादिदम् ॥"

२ किसी किसी स्थान पर—'शूकदुर्भंगहेतुका' यह पाठ है। वहाँ पर 'शूक और दूषित भग के कारण' यह अर्थ है।

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम्।

मांसार्बुद—मांस में उत्पन्न होनेवाला मांसार्बुद मांसदोष से (मांस की वृद्धि से) उत्पन्न होता है ॥

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यत्र सर्वाश्च वेदनाः ॥१४॥
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक्।

मांसपाक—जिस रोगी के शिश्न का मांस शीर्ण (गल जाता) हो जाता है, वातादि सब दोषों की (तोद-दाह-कण्डु आदि) वेदनायें होती हैं, उसको मांसपाक कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१४॥

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥१५॥

विद्रधि—सन्निपातजन्य विद्रधि के समान इसमें लक्षण होते हैं ॥१५॥

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि च।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥१६॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः।
सन्निपातसमुत्थानं तं विद्यात्तिलकालकम् ॥१७॥

तिलकालक—कृष्णवर्ण अथवा चित्रवर्ण (श्वेत, पीले, नीले विचित्रवर्ण) वाले और विषयुक्त (भिलावा मिश्रित) जलशूकों के प्रयोग करने से शिश्न सम्पूर्ण रूप में पक जाता है। शिश्न का मांस पके हुए तिलों के समान काला पड़कर गलने (झड़ने) लगता है। इस रोग को तिलकालक कहते हैं, यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१६,१७॥

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१८॥

असाध्य रोग—मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक ये चार शूकापचारजन्य रोग असाध्य हैं ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने शूकदोषनिदानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो भग्नानां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

शूकदोष के समान भग्न निदान के भी क्षुद्र होने से अब भग्न-निदान की व्याख्या करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालमृगदशनप्रभृतिभिरभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भङ्गमुपदिशन्ति ॥३॥

भग्नरोग के कारण—गिरने से, दबाने से, चोट लगने से, आक्षेपण (आकर्षण अथवा अतिशय झटकने से), व्याल (सिंहादि), मृग (हरिण आदि) के दन्त-नख आदि से, (एवं बलवान् से लड़ाई करने आदि से) चोट विशेष लगने के कारण बहुत प्रकार से अस्थियों का भङ्ग होता है ॥३॥

तत्र भङ्ग (ग्न) जातमनेकविधमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोपपद्यते सन्धिमुक्तं, काण्डभग्नं च। तत्र षड्विधं सन्धिमुक्तं द्वादशविधं काण्डभग्नं भवति ॥४॥

सम्पूर्ण प्रकार के भग्नों का तत्तत् रूप में अनुसन्धान करने से (संक्षेप रूप से) दो प्रकार के भग्नों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यथा सन्धिमुक्त (dislocation) और काण्डभग्न (Fracture) ॥४॥

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम् ॥५॥

इनमें सन्धिमुक्त भग्न छै प्रकार का है। यथा—उत्पिष्ट (चूर्णित), विश्लिष्ट (पृथग् हुआ), विवर्तित (दक्षिण या वामपार्श्व में घुमा), अवक्षिप्त (ऊपर या नीचे क्षिप्त), अतिक्षिप्त (मांस आदि का विदारण करके उत्पन्न), और तिर्यक्क्षिप्त (टेढ़ा होकर थोड़ा सा हिला हुआ) ॥५॥

तत्र प्रसारणाकुञ्चनविवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्षणमुक्तम् ॥६॥

लक्षण—प्रसारण (फैलाने में) आकुंचन (संकोच) विवर्तन (विपरीत घुमाने), आक्षेपण (अतिशय चालन अथवा आकर्षण) में अशक्ति, तीव्रवेदना, स्पर्श की असहिष्णुता ये सन्धिमुक्त के सामान्य लक्षण हैं ॥६॥

वैशेषिकं तूत्पिष्टे सन्धावुभयतः शोफो वेदनाप्रादुर्भावो विशेषतश्च नानाप्रकारा वेदना रात्रौ प्रादुर्भवन्ति, विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदनासातत्यं सन्धिविक्रिया च, विवर्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च; अवक्षिप्ते सन्धिविश्लेषस्तीव्ररुजत्वं च; अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च; तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थं वेदना चेति ॥७॥

विशेष लक्षण—उत्पिष्ट सन्धिमुक्त में—सन्धि के दोनों पार्श्वों में शोफ, वेदना का होना, और विशेषतः नाना प्रकार की वेदनायें रात्रि में उत्पन्न होती हैं। विश्लिष्ट सन्धिमुक्त में—थोड़ी सूजन, निरन्तर वेदना, सन्धि में अक्रियता आ जाती है। विवर्तित सन्धिमुक्त में—सन्धि के एक पार्श्व से हटकर दूसरे में जाने से अङ्ग में विषमता तथा वेदना होती है। अवक्षिप्त सन्धिमुक्त में—सन्धि का पृथग् होना और तीव्र वेदना होती है। अतिक्षिप्त सन्धिमुक्त में—सन्धिवाली—दोनों अस्थियाँ परस्पर दूर हट जाती हैं और वेदना होती है। तिर्यक्क्षिप्त सन्धिमुक्त में—एक अस्थिपार्श्व में दूरी आ जाती है और तीव्र वेदना होती है ॥७॥

काण्डभग्नमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—कर्कटकम्, अश्वकर्णं, चूर्णितं, पिच्चितम्, अस्थिच्छल्लितं, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अतिपातितं, वक्रं, छिन्नं, पाटितं, स्फुटितमिति द्वादशविधम् ॥८॥

इसके आगे काण्डभग्न की व्याख्या करते हैं।

काण्डभग्न (नलकास्थि का भंग) बारह प्रकार का है। यथा—कर्कटक, अश्वकर्ण, पिच्चित, अस्थिछल्लित, काण्डभग्न, मज्जानुगत, अतिपातित, वक्र, छिन्न, पाटित और स्फुटित ॥८॥

श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनविवर्तनस्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम् ॥

सामान्य लक्षण—सूजन की अधिकता, स्पन्दन और विवर्तन में स्पर्श की असहिष्णुता, दबाने पर या रगड़ने पर शब्दोत्पत्ति (Crapitation) बालों को रगड़ने के समान), अङ्ग का गिरा रहना, नाना प्रकार की वेदनाओं की उत्पत्ति, किसी भी अवस्था में शान्ति लाभ न होना, ये काण्डभग्न के सामान्य लक्षण हैं ॥९॥

विशेषस्तु संमूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भ (ल) ग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकं स्पृश्यमानं शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्, पिच्चितं पृथुतां गतमनल्पशोफं, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छलितं वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्, अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्, अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नं, पाटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलं विस्फुटितं स्फुटितमिति ॥१०॥

विशेष लक्षण—कर्कटक में—अस्थि मध्य में से टूट जाने पर ऊर्ध्व और अध: दोनों प्रान्तों से संमूढ़ (कार्य में अशक्य) बन जाती है, अस्थि केकड़े के समान ऊपर को उठी रहती है। घोड़े के कान के समान ऊपर को उठी अस्थि अश्वकर्ण है। चूर्णितभग्न में—अस्थि स्पर्श करने पर चर-चर शब्द करती हुई प्रतीत होती है। पिच्चितभग्न से—अस्थि फैल जाती है और सूजन थोड़ी होती है। अस्थिछल्लित में—अस्थिपार्श्वों में कुछ ऊपर को उठ जाती है (अथवा इसमें अस्थि टूटकर छलका-सा बन जाता है)। काण्डभग्न में—अस्थि हिलाने पर चलती (हिलती) है। मज्जानुगत में—अस्थि का कोई भाग अस्थि के अन्दर घुसकर मज्जा को बाहर कर देता है। अतिपातित भग्न में—अस्थि सम्पूर्ण रूप में छिन्न हो जाती है। वक्र भग्न में—अस्थि मुड़ जाती है परन्तु पृथग् नहीं होती। छिन्न—एक पार्श्व में लगी रहती है और एक पार्श्व से छिन्न हो जाती है। पाटित—फटने से बहुत से छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं और तीव्र वेदना हो जाती है। स्फुटित-शूक-(यवादि धान्यों का अग्रभाग)—पूर्ण के समान वेदना युक्त, आध्मात (सूजी हुई), विपुल विस्फुटित (विशेष रूप से विदलित—कणों के रूप में टूटी) अस्थि "स्फुटित" होती है[1] ॥१०॥

तेषु चूर्णितच्छिन्नातिपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि, कृशवृद्धबालानां क्षतक्षीणकुष्ठिश्वासिनां सन्ध्युपगतं चेति ॥११॥

इनमें—स्फुटित, चूर्णित, छिन्न, अतिपातित, मज्जानुगत, ये काण्डभग्न कष्टसाध्य हैं। कृश वृद्ध और बालक तथा क्षत (उरःक्षत रोग), क्षीण, कुष्ठ एवं श्वास रोगी में सन्धिभग्न कष्टसाध्य है, (इनमें काण्डभग्न भी कष्टसाध्य समझना चाहिये) ॥११॥

भवन्ति चात्र—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम्।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेत्तच्चिकित्सकः ॥१२॥

कपाल (Flat) अस्थियों के भग्न होने पर, कटिसन्धि के मुक्त अथवा च्युत (स्खलित) होने पर, जघनस्थान में पिष्ट (उत्पिष्ट) भग्न होने पर, असाध्य समझना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कटि की सन्धि मुक्त होने पर कुब्जता हो जाती है जो असाध्य होती है, जघनास्थि पिस जाने पर उसका सन्धान नहीं होता ॥१२॥

असंश्लिष्टं कपालं तु ललाटे चूर्णितं च यत्।
भग्नं स्तनान्तरे शङ्खे पृष्ठे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१३॥

कपालास्थियों की सन्धियों के पृथक् होने पर, ललाट में कपालभग्न होने पर, स्तनों के मध्यवर्ती शंख नामक मर्म के भग्न होने पर पीठ एवं शिर के दोनों प्रकार के भग्न को असाध्य समझना चाहिये ॥१३॥

आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिरथापि वा।
सम्यग्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाद्दुर्निबन्धनात् ॥१४॥
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत्।

आदि से (जन्मोत्पत्ति काल से ही), दुर्जात (दूषित सन्धान के कारण) उत्पन्न अस्थि अथवा सन्धि असाध्य है। सम्यक् प्रकार से संहत (मिलाई) भी अस्थि—दुर्न्यास (बुरी प्रकार से रखने के कारण) से अथवा अनुचित रूप में बाँधने पर या संक्षोभ (हिलाने-जुलाने) से जो विकृत हो जाती है, वह अस्थि असाध्य समझनी चाहिये ॥१४॥

मध्यस्य वयसोऽवस्थास्तिस्रो याः परिकीर्तिताः ॥१५॥
तत्र स्थिरो भवेज्जन्तुरुपक्रान्तो विजानता।

प्रथम जो तीन (वृद्धि यौवन और सम्पूर्ण) अवस्थायें कही हैं, इनमें मध्यम आयु के अन्दर (चालीस वर्ष की आयु में) पुरुष के धातु स्थिर रहते हैं (१६ से ४० तक धातु स्थिर रहते हैं)। इस अवस्था में चिकित्सा करनी चाहिये। इसके आगे

---

[1] कविराज हाराणचन्द्रजी ने 'खल्लितं प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्' यह पाठ दिया है। यहाँ पर खल्लित का अर्थ गर्त्तयुक्त किया है। यथा—खल्लो वस्त्र प्रभेदे स्याद् गर्त्ते। मेदिनी।

चालीस से सत्तर वर्ष की आयु में अतिशय कष्टसाध्य हो जाता है ॥१५॥

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ॥१६॥
कपालानि विभिद्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ।

तरुणास्थियाँ (Cartilage-घ्राण, कान, आँख की)—टेढ़ी बन जाती हैं। नलक (Long-Bones शाखास्थियाँ) टूटती हैं। कपालास्थियाँ (Flat–सिर आदि की) फटती हैं। रुचक (दाँत आदि) एवं वलयास्थियों (Small Bones कलई की) में स्फुटन (दराड़) होता है। इस प्रकार से अस्थियाँ पाँच प्रकार की बताई हैं। यथा—तरुण, कपाल, वलय, रुचक और नलक ॥१६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भग्ननिदानं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथातो मुखरोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे मुखरोग निदान की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मुखरोगाः पञ्चषष्टिर्भवन्ति सप्तस्वायतनेषु। तत्रायतनानि-ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालु, कण्ठः, सर्वाणि चेति। तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेषु ॥३॥

मुख रोग पैंसठ प्रकार के हैं। ये सब रोग सात स्थानों में उत्पन्न होते हैं। सात स्थान यह हैं—दोनों ओठ, दन्तमूल, दांत, जीभ, तालु, कण्ठ और सम्पूर्ण मुख। इनमें ओठों में आठ, दन्तमूलों में पन्द्रह, दाँतों में आठ, जिह्वा में पाँच, तालु में नौ, कण्ठ में सत्रह और सब स्थानों में तीन, इस प्रकार से कुल ६५ मुखरोग हैं ॥३॥

तत्रौष्ठप्रकोपा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांसमेदोऽभिघातनिमित्ताः ॥४॥

इनमें ओष्ठरोग—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, मांस, मेद और अभिघात के कारण उत्पन्न होते हैं ॥४॥

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः ॥५॥

वायु के कारण ओष्ठ—खुरदरे, कठोर, निश्चल, काले हो जाते हैं, इनमें तीव्र वेदना होती है, ओठ गम्भीर रूप में फट जाते हैं, और इनकी (त्वचा) उखड़ फट जाती है ॥५॥

आचितौ पिडकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् ।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥६॥

पित्त के कारण ओठ—सरसों के आकारवाली पिड़काओं से पूर्ण रूप में भर जाते हैं। इन ओठों में जलन, पाक और स्राव होता है। ओठों का रङ्ग नीला या पीला पड़ जाता है ।६।

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।
कण्डूमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥७॥

कफ के कारण ओठ—त्वचा के समान वर्णवाले पिड़काओं से भर जाते हैं, इनमें वेदना नहीं होता। ओठों में कण्डु होती है, ओठ सूजे हुए, पिच्छिल, शीतल और भारी हो जाते हैं ॥७॥

सकृत् कृष्णौ सकृत् पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥८॥

सन्निपात के कारण ओठ—कभी काले, कभी पीले और कभी श्वेत हो जाते हैं। अनेक प्रकार की पिड़काओं से ओठ भरे रहते हैं ॥८॥

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥९॥

रक्त के कारण ओठ—खर्जूर के फल के समान वर्ण की पिड़काओं से भरे रहते हैं। इनमें लाल रङ्ग का रक्त बहता है ॥

मांसदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्योभयतो मुखात् ॥१०॥

मांस के कारण ओष्ठ—गुरु (भारी), स्थूल (मोटे) एवं मांसपिण्ड के समान उन्नत हो जाते हैं। मुख के दोनों पार्श्वों में स्थित व्रणों में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥

मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू ।
अच्छस्फटिकसङ्काशमास्रावं स्रवतो गुरू ॥११॥

मेद के कारण ओठ—घृतमण्ड (घी के ऊपर के स्वच्छ भाग) के समान, एवं कण्डूयुक्त स्थिर (निश्चल) और कोमल होते हैं। इनसे स्वच्छ-स्फटिक के समान स्राव बहता है और ओठ भारी हो जाते हैं ॥११॥

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ।
ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ॥१२॥

अभिघात के कारण ओठ—क्षतज (रक्त) की आभावाले होते हैं, गहरे रूप में फट जाते हैं, इनकी त्वचा फट जाती है। ओठों में गाँठ-सी पड़ जाती है, इनमें कण्डू होती है। (अभिघातजन्य ओष्ठरोगों में वायु, कफ रक्त के साथ मिलकर कारण बनती है) ॥१२॥

दन्तमूलगतास्तु—शीतादो, दन्तपुप्पुटको, दन्तवेष्टकः, शौषिरो, महाशौषिरः, परिदर, उपकुशो, दन्तवैदर्भो, वर्धनः, अधिमांसो, नाड्यः पञ्चेति ॥१३॥

दन्तमूल में स्थित रोग-शीताद, दन्तपुप्पुटक, दन्तवेष्टक, शौषिर, महाशौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ, वर्धन, अधिमांस और पाँच नाड़ीव्रण—इस प्रकार से पन्द्रह रोग हैं ॥१३॥

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते ।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥१४॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥१५॥

शीताद—बिना किसी कारण के दन्तवेष्टों (मसूड़ों) में से रक्त बहने लगता है मसूड़ों का मांस दुर्गन्ध युक्त, काला, क्लेद (स्राव बहुल) और कोमल हो जाता है । मसूड़ों का मांस गलने लगता है, मसूड़े पक जाते हैं (पूय उत्पन्न हो जाती है) । यह रोग कफ-रक्तजन्य है[1] ॥१४,१५॥

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुः सरुजो महान् ।
दन्तपुप्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः ॥१६॥

दंतपुप्पुटक—दो या तीन दाँतों के मूल में जब बहुत अधिक शोथ एवं वेदना उत्पन्न हो जाती है, तब इसको दन्तपुप्पुटक कहते हैं । यह रोग कफ-रक्तजन्य है ॥१६॥

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥१७॥

दन्तवेष्ट—मसूड़ों में से रक्त और पूय बहती है, दाँत हिलने लगते हैं, यह रोग दूषित रक्त से उत्पन्न होता है ॥१७॥

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।
लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः ॥१८॥

शौषिर रोग में—मसूड़ों में सूजन उत्पन्न हो जाती है, इसमें वेदना होती है, यह रोग कफ-रक्तजन्य है । मुख से लाला बहती है, खाज होती है ॥१८॥

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।
दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते ॥१९॥
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः ।

महाशौषिर रोग में—दांत मसूड़ों को छोड़ देते हैं, तालु फट जाता है, मसूड़े पक जाते हैं, मुख भी (अधिक गलने से) आक्रान्त बन जाता है । यह रोग सन्निपातजन्य है ॥१९॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ॥२०॥
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ।

परिदर रोग में—मसूड़े गल जाते हैं, रक्त मिश्रित थूक आती है, यह रोग पित्त-कफ-रक्तजन्य है ॥२०॥

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च ॥२१॥
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते ॥२२॥
यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः ।

उपकुश रोग में—मसूड़ों में जलन होती है, मसूड़े पक जाते हैं, इनसे दाँत निकल जाते हैं । दाँतमूलों को पकड़कर हिलाने दबाने से रक्त बहने लगता है, मंद वेदना होती है । रक्त के निकलने पर मसूड़े पुनः फूल जाते हैं, मुख में दुर्गन्ध आती है । यह रोग पित्त रक्तजन्य है ॥२१,२२॥

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान् ॥२३॥
भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः ।

वैदर्भ रोग में—मसूड़ों को घिसने पर तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाता है । दाँत हिलने लगते हैं, यह रोग अभिघातजन्य है॥

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ॥२४॥
वर्धनः स मतो व्याधिर्जाते रुक् च प्रशाम्यति ।

वर्धन (Extra-tooth)—वायु के कारण से तीव्र शूल युक्त अधिक दाँत उत्पन्न होता है । इस दाँत के उत्पन्न होने पर दर्द (व्याधि प्रभाव से) स्वयं शान्त हो जाती है ॥२४॥

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्छोथो महारुजः ॥२५॥
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ।

अधिमांस—हनु के अन्तिम दंतमूल में तीव्र वेदनायुक्त महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है । इस रोग में मुख से लाला बहती है, यह रोग कफजन्य है ॥२५॥

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥२६॥

पूर्वोक्त नाड़ीव्रण की भाँति पाँच नाड़ियाँ दन्तमूल में भी होती हैं । इनके लक्षण उसी प्रकार के हैं ॥२६॥

दन्तगतास्तु—दालनः, क्रिमिदन्तको, दन्तहर्षो, भञ्जनको, दन्तशर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनुमोक्षश्चेति ॥२७॥

दंतरोग—दालन, क्रमिदंतक, दंतहर्ष, भञ्जनक, दन्तशर्करा, कपालिका, श्यावदंतक और हनुमोक्ष—ये आठ रोग हैं । इनमें—

दाल्यन्त बहुधा दन्ता यस्मिंस्तीव्ररुगन्विताः ।
दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः ॥२८॥

दालनरोग में—दंत अनेक स्थानों से फट जाते हैं, इनमें तीव्र वेदना होती है, यह रोग सदागति (वायु) के कारण उत्पन्न होता है, (असाध्य है) ॥२८॥

कृष्णश्छिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः ।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥२९॥

क्रिमिदंत रोग में—दाँत के अन्दर काला रङ्ग आ जाता है, छेद बन जाता है, दाँत हिलता है, दाँत में से स्राव बहता है, शोथ होती है, वेदना तीव्र होती है, बिना कारण के ही वेदना होने लगती है, यह रोग वायुजन्य है ॥२९॥

शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च ।
यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात् ॥३०॥

दंतहर्ष (Irriation of the tooth) रोग में दाँत शीत या उष्ण वस्तु के स्पर्श को सहन नहीं कर सकते । यह रोग वातजन्य है ॥३०॥

१. इसके लक्षण Pyrrhoie पाईरोया से मिलते हैं ।

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक्।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥ ३१ ॥

भञ्जनक—रोग में मुख टेढ़ा हो जाता है, दाँत टूट जाते हैं, तीव्र वेदना होती है, यह रोग कफवातजन्य है ॥३१॥

शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै।
सा दन्तानां गुणहरी विज्ञेया दन्त शर्करा ॥ ३२ ॥

दंतशर्करा—जिन दाँतों में शर्करा (बालू के सूक्ष्म कण) के समान मल जम जाता है, उसे दंतशर्करा कहते हैं। यह रोग दाँतों के शुक्लता आदि गुणों को नष्ट कर देता है ॥३२॥

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ ३३ ॥

कपालिका—रोग में दाँतों के वल्कल (त्वचा उपरि-भाग वल्कल के समान ऊपर का श्वेत वर्ण प्लास्टर) शर्करा के साथ विदीर्ण हो जाते हैं। यह रोग दाँतों को नष्ट करनेवाला (असाध्य) है ॥३३॥

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ॥३४॥

श्यावदंतक—रोग में दाँत रक्त मिश्रित पित्त से पूर्ण रूप में जल जाता है, दांत का रङ्ग काला या नीला हो जाता है, इसको श्याव-दंतक कहते हैं ॥३४॥

वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥ ३५ ॥

हनुमोक्ष—ऊँचे बोलने से, कठिन पदार्थों के भक्षण से, जृम्भा आदि कारणों से वायु कुपित होकर हनु सन्धि को शिथिल कर देती है। इस रोग में अर्दित के समान लक्षण (दाँतपीड़ा आदि) होते हैं। इसका नाम हनुमोक्ष है ॥३५॥

जिह्वागतास्तु—कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः, अलास, उपजिह्विका चेति ॥ ३६ ॥

जिह्वागत—कण्टक तीन प्रकार के, वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य, तीनों दोषों से। अलास और उपजिह्विका—ये जिह्वा के काँटों में नहीं होते, जीभ में होते हैं ॥३६॥

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता
भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा।

वायु के कारण जिह्वा—ईषद् विदीर्ण, प्रसुप्त (रसज्ञान में असमर्थ) एवं शाकच्छद (खरपत्र शेगुन के पत्ते) के समान होती है।

पित्तेन पीता परिदह्यते च
चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ॥

पित्त के कारण जिह्वा—पीली और जलती प्रतीत होती है। जीभ लाल-लाल काँटों से भरी रहती है।

कफेन गुर्वी बहुला चिता च
मांसोद्गमैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥३७॥

कफ के कारण जिह्वा—भारी, स्थूल एवं सिम्बल के काँटों के समान मांसांकुरों से व्याप्त होती है ॥३७॥

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥ ३८ ॥

अलास—कफ-रक्त के समान मूर्त्ति रूप (कफ-रक्तजन्य) गम्भीर शोथ जीभ के नीचे उत्पन्न होकर जीभ को जड़ बना देती है (वायु के कारण)। बढ़ने पर जड़ में विशेष रूप से पक जाती है (पित्त के कारण)। इसलिये यह रोग सन्निपात-जन्य होने से असाध्य है[1] ॥३८॥

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वा-
मुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता
प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥ ३९ ॥

उपजिह्विका (Ranala)—कफ रक्त के कारण उत्पन्न जीभ के अग्रभाग के समान शोथ जिह्वा को ऊपर उठाकर उत्पन्न होती है। इसमें—लाला प्रसेक (स्राव) कण्डु, जलन होती है, इसका नाम उपजिह्विका है ॥३९॥

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरि, अध्रुषः, कच्छपः, अर्बुदं, मांससङ्घातः, तालुपुप्पुटः, तालुशोषः, तालुपाक इति ॥ ४० ॥

तालुजन्य रोग—गलशुण्डिका, तुण्डिकेरी, अध्रुष, मांस-कच्छप, अर्बुद, मांससंघात, तालुपुप्पुट, तालुशोष और तालुपाक ये नौ रोग हैं ॥४०॥

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो
दीर्घः शोफो ध्मातबस्तिप्रकाशः।
तृष्णाकासश्वासकृत् संप्रदिष्टो
व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥ ४१ ॥

कण्ठशुण्डी (गलशुण्डी)—कफ-रक्त के कारण से उत्पन्न शोथ तालुमूल से आगे की ओर बढ़कर गलशुण्डी (Toncils) में पहुँच जाता है। यह शोथ वातपूर्ण बस्ति के समान एवं लम्बा हो जाता है। इस रोग में—तृष्णा, कास, श्वास उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वैद्य इसको 'कण्ठशुण्डी' के नाम से जानते हैं ॥४१॥

शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

तुण्डिकेरी—पूर्वोक्त कफ-रक्त के कारण स्थूल, तोद (चुभने की वेदना) दाह एवं पकनेवाला शोथ उत्पन्न होता है। यह शोथ वनकार्पासी के समान होता है, इसको तुण्डिकेरी कहते हैं।

---

१ कहा भी है—
प्रायस्तोयं तदा जिह्वा शोणितं चान्तरान्तरा।
प्रचुरं स्रावयेत् सद्यः शिराच्छेदादलासके ॥

शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे
रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराढ्यः ॥४२॥

अध्रुष—रक्त के कारण तालु प्रदेश में लालवर्ण एवं जड़ (निश्चल) शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसको अध्रुष कहते हैं। इसमें वेदना तथा ज्वर रहता है ॥४२॥

कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा-
ऽरक्तो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात्।

मांसकच्छप—कफ के कारण कछुवे के समान मध्य में से उठा हुआ, वेदना रहित, पाण्डुरवर्ण का धीरे धीरे फैलनेवाला शोथ उत्पन्न होता है। इसको कच्छप कहते हैं।

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ ४३ ॥

अर्बुद—रक्त के कारण से तालु के मध्य में पद्मकर्णिका के समान आकार का शोथ उत्पन्न होता है। इसके लक्षण रक्तार्बुद के समान (पूर्वोक्त लक्षणों के समान) होते हैं ॥४३॥

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च
ताल्वन्तःस्थं मांससंघातमाहुः।

मांससंघात—तालू के अन्दर का मांस कफ के कारण दूषित हो जाता है, इसमें वेदना नहीं होती, इसको मांससंघात कहते हैं।

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्यान्-
मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥ ४४ ॥

तालुपुप्पुटक—मेदोमिश्रित कफ के कारण से तालु प्रदेश में वेदना रहित, स्थायी (स्थिर) एवं कोलमात्र (बेर के आकार का) शोथ उत्पन्न होता है, उसको तालुपुप्पुट कहते हैं ॥४४॥

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात् ॥

तालुशोष—इस रोग में अत्यन्त शोष (शुष्कता) होता है, तालु विशेष रूप में फट जाता है। श्वास उत्पन्न होता है, यह रोग वात पित्तजन्य है।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥ ४५ ॥

तालुपाक—जिस समय पित्त तालु में अतिभयानक पाक उत्पन्न करता है, उसको 'तालुपाक' कहते हैं ॥४५॥

कण्ठगतास्तु—रोहिण्यः पञ्च, कण्ठशालूकम्; अधिजिह्वो, वलयो, वलास, एकवृन्दो, वृन्दः; शतघ्नी, गिलायुः, गलविद्रधिः, गलौघः, स्वरघ्नो, मांसतानो, विदारी चेति ॥

कण्ठगत रोग—पाँच रोहिणी (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्तजन्य), कण्ठशालूक, अधिजिह्वा, वलय, बलास, एकवृन्द, वृन्द, शतघ्नी, गिलायु, गलविद्रधि, गलौघ, स्वरघ्न, मांसतान और विदारी ये सत्रह रोग हैं ॥४६॥

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्
सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी ॥४७॥

रोहिणी—वायु एवं मूर्च्छित (प्रवृद्ध) पित्त और कफ पृथग् २ अथवा सन्निपात रूप से एवं रक्त गले में मांस को दूषित करके, गले को रोकनेवाले अङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं। इन अङ्कुरों को रोहिणी कहते हैं। यह रोग प्राणनाशक है ॥४७॥

जिह्वां समन्ताद्भृशवेदना ये
मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् ॥ ४८ ॥

वातजन्य रोहिणी—जो मांसांकुर जिह्वा के चारों ओर उत्पन्न हो जायें तथा इनमें तीव्र वेदना होती हो, इनके कारण गला रुक जाये, इनको वातजन्य रोहिणी कहते हैं। इसमें वातजन्य मन्यास्तम्भ आदि उपद्रव विशेष रूप से रहते हैं ॥४८॥

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा स्यात्।

पित्तजन्य रोहिणी में—अङ्कुर शीघ्र उत्पन्न होते हैं, शीघ्र ही विदग्ध होते हैं, शीघ्र ही पकते हैं। इनमें तीव्रज्वर उत्पन्न होता है, यह रोग पित्तजन्य है।

स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका
गुर्वी स्थिरा सा कफसंभवा वै ॥ ४९ ॥

कफजन्य रोहिणी में—अङ्कुर स्रोत (कण्ठस्रोत) को रोक लेते हैं, धीरे २ पकते हैं, गुर्वी (भारी) एवं स्थिर (कठिन) होते हैं ॥४९॥

गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या
त्रिदोषलिंगा त्रयसंभवा स्यात्।

सन्निपातजन्य रोहिणी—गम्भीर (अनुत्तान) पकती है, अप्रतिवारवीर्या (दुर्निवार शक्तिवाली) होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण रहते हैं।

स्फोटाचिता पित्तसमानलिंगा-
ऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम् ॥५०॥

रक्तजन्य रोहिणी—स्फोटों (छालों) से व्याप्त, पित्त के समान लक्षणों से युक्त एवं असाध्य होती है[१] ॥५०॥

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो
ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्य-
स्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ ५१ ॥

---

१ असाध्य निर्णय—

"वातात् पित्तात् कफात् त्रिभ्यो रक्ताद् रोहिण्य ईरिताः।
अन्या सद्यो मारयन्ति साध्यास्तिस्रः क्रियां विना ॥"

कण्ठशालूक—गले में कफ के कारण बेर के समान जो ग्रन्थि उत्पन्न होकर कण्टक की भाँति पीड़ाकारक होती है, स्पर्श में खर, स्थिर (निश्चल) होती है, यह रोग शस्त्र द्वारा साध्य है, इसको कण्ठशालूक कहते हैं ॥५१॥

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु
जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष
विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥५२॥

अधिजिह्वा—रक्तमिश्रित कफ के कारण जिह्वा के अग्रभाग के समान शोथ—जिह्वा मूल के ऊपर उत्पन्न हो जाता है। इसको 'अधिजिह्वा' कहते हैं। यदि यह पक जावे तो असाध्य समझना चाहिये ॥५२॥

बलास एवायतमुन्नतं च
शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवाप्रतिवारवीय
विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥५३॥

वलय—कफ अन्न मार्ग को रोककर आयत (लम्बा) और उन्नत (उठा हुआ) शोथ उत्पन्न करता है। यह रोग सर्वदा ही असाध्य है। इस वलय रोग को चिकित्सा कर्म में छोड़ देना चाहिये ॥५३॥

गले तु शोफं कुरुतः प्रवृद्धौ
श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम्।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेतदाहु-
र्बलाससंज्ञं निपुणा विकारम् ॥५४॥

बलास—प्रकुपित कफ और वायु—गले में शोफ उत्पन्न करते हैं, जिससे श्वास में कठिनता होती है, यह रोग मर्मच्छिद (प्राणनाशक) है, बुद्धिमानों का कहना है कि यह रोग अतिशय कष्टसाध्य है ॥५४॥

वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः
कण्ड्वन्वितोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥५५॥

एकवृन्द—बलास (कफ) और क्षतज (रक्त) के कारण से वृत्त (गोल), उन्नत (उठा हुआ), दाहयुक्त, कण्डूयुक्त, पाक रहित, कठोर एवं भारी जो शोथ उत्पन्न होता है, उसको 'एकवृन्द' कहते हैं ॥५५॥

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं
तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपा-
द्विद्यात् सतोदं पवनास्रजं तु ॥५६॥

वृंद—पित्त और रक्त के प्रकोप से ऊपर को उठा, गोलाकार, तीव्रदाह, तथा तीव्र ज्वर युक्त शोथ उत्पन्न होता है। यदि इसमें तोद (चुभने की वेदना) हो तो इसको वात-रक्तजन्य समझना चाहिये ॥५६॥

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषाज्-
ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या ॥५७॥

शतघ्नी—जो गाँठ कठोर, गले को रोकनेवाली, मांसांकुरों से बहुत अधिक व्याप्त होती है एवं त्रिदोषजन्य होने से तोद-दाह कण्डू नाना प्रकार की वेदनाकारी, तथा शतघ्नी (कण्टकों से व्याप्त—महान् शिला या लोहपिण्ड) के समान होती है, उसको शतघ्नी कहते हैं, यह असाध्य है ॥५७॥

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ॥५८॥

गिलायु—कफ-रक्त के कारण गले में आँवले के समान बड़ी, स्थिर, मन्दवेदनायुक्त ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि गले में भक्ष्य वस्तु (भोजन) अटक रहा है। यह रोग शस्त्रसाध्य है ॥५८॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः।
स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु
तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥५९॥

गलविद्रधि—जो शोफ सम्पूर्ण गले में व्याप्त हो, इस शोथ में वातादि सब दोषों की पीड़ायें (तोद-दाह-कण्डू आदि होती हैं। यह गलविद्रधि रोग सन्निपातजन्य है, इसमें सन्निपातजन्य विद्रधि के समान ही लक्षण होते हैं ॥५९॥

शोफो महानन्नजलावरोधी
तीव्रज्वरो वातगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥६०॥

गलौघ—कफ और रक्त के कारण से गले में महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस शोथ के कारण—अन्न जल का मार्ग रुक जाता है, वायु की गति (उद्गार जृम्भा आदि) भी बन्द हो जाती है। रोगी को तीव्र ज्वर रहता है। इस रोग को 'गलौघ' कहते हैं ॥६०॥

योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं
भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।

---

२ "तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीति विनिर्दिशेत्।
त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम् ॥
कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं संपद्यते सुखी ॥" चरक०

कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥६१॥

स्वरघ्न—अनिलायन (वातस्थानों) में कफ भर जाने से रोगी अत्यन्त कठिनाई के साथ (अन्धकार आँखों के सामने आ जाता है) निरन्तर श्वास लेता है, स्वर भिन्न (टूट) हो जाता है, गला शुष्क और टूटता हुआ प्रतीत होता है। यह रोग वायु के कारण से उत्पन्न होता है ॥६१॥

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥६२॥

मांसतान—जो शोथ फैलानेवाला, कष्टदायक और धीरे धीरे बढ़कर क्रमशः गले को बन्द कर देता है, एवं नीचे की ओर लटकता है, इसको मांसतान कहते हैं, यह रोग सन्निपात-जन्य है, एवं प्राणनाशक है ॥६२॥

सदाहतोदं श्वयथुं सरक्त-
मन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं
पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥६३॥

विदारी—रोग में उत्पन्न शोथ—लालवर्ण एवं दाह तथा तोद युक्त होता है। यह शोथ गले में दुर्गन्धित एवं श्रृत (गले) मांस के कारण होता है। यह रोग पित्तजन्य है। मनुष्य जिस पार्श्व (करवट) से प्रायः सोता है, उसी पार्श्व की ओर मुख में उत्पन्न होता है। (अन्यत्र भी इसका होना संभव है) ॥

सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ताः ॥६४॥

सर्वसर रोग (सम्पूर्ण मुख में होनेवाले रोग)—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य ये चार हैं[1] ॥६४॥

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ता-
दस्याचितं सर्वसरः स वातात्

वातजन्य सर्वसर में—सम्पूर्ण मुख चारों ओर से तोदयुक्त छालों से भरा रहता है।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-
र्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ॥६५॥

पित्तजन्य सर्वसर में—मुख लालवर्ण, दाहयुक्त, सूक्ष्म एवं पीले छालों से भरा रहता है।

कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णै-
र्यस्याचितं चापि स वै कफेन।

कफजन्य सर्वसर में—मुख कण्डू-युक्त-मन्दवेदनावाले—त्वचा के समान वर्ण छालों से भरा रहता है।

रक्तेन पित्तोदित एक एव
कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः ॥६६॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
द्वितीयं निदानस्थानम् ॥२॥

कई आचार्य जो रक्तजन्य सर्वसर को मानते हैं, वह पित्त-जन्य सर्वसर ही है (पित्तजन्य मुखपाक ही है)। इस प्रकार से तीन ही सर्वसर हैं, और कुल पैंसठ मुख रोग हैं[1] ॥६६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मुखरोगनिदानं
नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

---

१ पीछे सर्वसर रोग तीन कहे हैं। इसलिये रक्तजन्य सर्वसर रोग को जो आचार्य मानते हैं उनके लिये यहाँ कहा है। जैसा कि

१ रक्तजन्य सर्वसर के लक्षण—
"मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषौ तिक्तवक्त्रता।
क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणा दुःखास्तु रक्तजे॥"

आगे स्वयं स्पष्ट कर देंगे इसीलिये संख्या में भेद नहीं।

अथ शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।[1]

वक्तव्य—शारीरज्ञान में अंगप्रत्यंगविज्ञान (शरीरविचय) गर्भावक्रान्ति, शरीर-कार्य विज्ञान आदि अनेक विषयों का समावेश होता है। इसी से चरक में कहा है—

"शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा।
सर्वभावैर्यतस्तस्मात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥"

वि० मन्तव्य—शारीर—शरीरं अधिकृत्य कृतं शारीरं—शरीर की रचना का वर्णन है जिसमें। इस स्थान में—सब प्राणियों की उत्पत्ति का चिन्तन—विचार किया गया है। शरीर के विज्ञान के लिये १० अध्यायों का वर्णन किया गया है (सू० अ० ३)। भूत शब्द का अर्थ—भूतिः अस्ति अस्य—जिसमें ऐश्वर्य-सामर्थ्य हो, या भाव्यते स्म इति—या भवति प्राप्नोति—जो प्राप्त करता है, आहार आदि का ग्रहण करता है, जन्तु-प्राणीमात्र, परन्तु इस प्रकरण में मानव प्राणी का ध्यान रखकर विचार किया गया है। प्राणियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न २ दर्शनों, पुराणों, विचारकों के भिन्न २ प्रकार के विचार हैं परन्तु आयुर्वेद का विचार यहाँ लिखा गया है। यह आयुर्वेद का अपना "दर्शन" है। इसमें यदि किसी दर्शन से विरोध प्रतीत हो तो उस दर्शन के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो ॥

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥३॥

सब प्राणियों का कारण अव्यक्त (अगोचर-मूलप्रकृति) है। यह अव्यक्त स्वयं अकारण (कारण रहित) है, सत्व-रज और तम इसका स्वरूप है, आठ रूपोंवाला है (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पंचतन्मात्रा, अथवा—मन, बुद्धि, अहंकार और महाभूत या धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य)। इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का कारण है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जल-जन्तु एवं पद्मादि-स्थावर जङ्गम रूप पदार्थों का आश्रय होता है, उसी प्रकार से यह अव्यक्त एक होते हुए भी अनेक क्षेत्रज्ञ (जीवात्माओं) का अधिष्ठान है[1]।

वि० मन्तव्य—अव्यक्त—न व्यज्यते स्म या न व्यज्यते कार्यं यस्मिन् अर्थात् जो व्यक्त-स्फुट विशिष्ट लक्षण युक्त नहीं है या जिसमें कार्य-व्यक्त नहीं रहता। यह सब भूतों का कारण है परन्तु इसका कोई कारण नहीं है यह स्वयंसिद्ध—अनादि है। सत्त्व—अस्तित्व, रजस्—राग—आकर्षण, तमस्—विकर्षण ही उसका लक्षण है। इसमें से समस्त जगत् उत्पन्न होता है। इसमें अनेक-असंख्य आत्माएँ विद्यमान हैं कहीं अन्यत्र से नहीं आतीं जैसे समुद्र—समुद्र के जल में सब शंख, शुक्ति, शैवाल, मगर, मत्स्य आदि विद्यमान रहते हैं उचित परिस्थिति-कार्य कारण की उचित स्थिति होने पर व्यक्त—उत्पन्न हो जाते हैं। स्मरणीय—कार्योत्पत्ति के पूर्व--कारण अव्यक्त होताहै उसमें कार्य के आकार-प्रकार व्यक्त नहीं होते जैसे बीज (कारण) में वृक्ष (कार्य) के शुक्र शोणित में प्राणों के और समुद्र जल में मत्स्य आदि के कारण जो अव्यक्त कहलाता है उसमें ही चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मा का अधिष्ठान होता है, वही अव्यक्त को साथ लेकर प्राणी रूप में परिणत हो जाता है। प्राणी का ही नाम "भूत" है, यही सब इस अध्याय में वर्णित विषय है ॥३॥

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं,

---

[1] क्योंकि कहा भी है—
"भूतेभ्यो हि परं यस्मात् नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥"

[1] क्षेत्रज्ञ का लक्षण—
(१) "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥"
गीता० अ० १२।
(२) सांख्यकारिका में कहा भी है—'मूलप्रकृतिरविकृतिः।'

रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, तेषां विशेषा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥४॥

इस अव्यक्त से अव्यक्त के लक्षणोंवाला (सत्त्व-रज तमरूप) महान् (महत् तत्त्व या बुद्धि तत्त्व) उत्पन्न होता है[1]। इस महान्-रज-तम लक्षणोंवाले महत् तत्त्व से सत्त्व-रज-तम लक्षणों से युक्त अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार (अभिमान) तीन प्रकार का है। यथा—वैकारिक-सात्विक, तैजस राजस, भूतादि तामस। इनमें वैकारिक (सात्विक) अहंकार से, तैजस (राजस) अहंकार की सहायता द्वारा, इन्हीं लक्षणोंवाली (सात्विक एवं राजस) ग्यारह इन्द्रियाँ [पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन (सात्विक), पाँच कर्मेन्द्रिय, (राजस)] उत्पन्न होती हैं। यथा—श्रोत्र (कान), त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण (नासिका), वाक् (वाणी), हस्त (हाथ), उपस्थ (शिश्न-भग), पायु (गुदा), पाद (पाँव) और मन, ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। ये पहली पाँच इन्द्रियाँ बुद्धि (ज्ञान)-इन्द्रियाँ हैं, शेष पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन, ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार का है, चूँकि दोनों के साथ प्रवृत्त होता है। भूतादि (तामसिक) अहंकार से भी तैजस (राजस) अहंकार की सहायता द्वारा, इन लक्षणोंवाली पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। यथा—शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा। इन तन्मात्राओं के विशेष (भेदक) गुण-क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इन विभेदक गुणों से क्रमशः व्योम (आकाश), अनिल (वायु), अनल (अग्नि), जल और पृथिवी—ये भूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से चौबीस तत्त्वों की (अव्यक्त, महान्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत) व्याख्या कर दी है[2]।

वि० मन्तव्य—यह भूत-प्राणी की उत्पत्ति का वर्णन है—जब उक्त अव्यक्त में विद्यमान आत्मा जीव-चेतयिता-पुरुष-चेतना धातु—शरीरी नामधेय—उचित परिस्थिति पाकर चेतना-गति-हरकत उत्पन्न करता है—उत्पन्न होने लगता है तब—महान्—बोध-ज्ञान उत्पन्न होता है उससे या उसके पश्चात् अहंकार, अहंकार से या उसके पश्चात्—श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ या इन्द्रियों के अधिष्ठान—आदि २—उत्पन्न होने लगते हैं और काल परिणाम से शरीर एवं आत्मा का यौगिक प्राणी जन्तु उत्पन्न हो जाता है। दार्शनिक दृष्टि से—उत्पत्ति का प्रारम्भ होते ही समस्त शरीर का सूक्ष्म ढाँचा बन जाता है केवल उसका व्यक्ति भाव काल परिणाम से होता है। समय पाकर बीज ही वृक्ष, शुक्र शोणित ही प्राणी तथा समुद्र जल ही मत्स्य आदि का रूप = आकार धारण कर लेता है ॥४॥

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः, कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥५॥

इन चौबीस तत्त्वों में बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः वचन (बोलना-वाणी का), आदान (ग्रहण करना हाथ का), आनन्द (उपस्थेन्द्रिय का), विसर्ग (पायु का) और विहरण (चलना पाँव का) कार्य है ॥५॥

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडशविकाराः ॥६॥

अव्यक्त, महान् (बुद्धि), अहंकार और पञ्चतन्मात्र ये आठ प्रकृतियाँ हैं, शेष सोलह (ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चभूत) विकार हैं—(किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न नहीं करते[1])।

वि० मन्तव्य—अव्यक्त तो प्रकृति (कारण) है ही परन्तु महान् आदि भी प्रकृति हैं परन्तु—ये विकृति विकार-कार्य भी हैं क्योंकि ये उत्पत्ति काल में उत्पन्न होते हैं। और—सोलह तत्व—विकार-कार्य ही हैं इनसे

---

१ महान का रूप—

"यदेतत् विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्।
महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते ॥"

बुद्धितत्त्वं—सत्त्वसमुद्रेकात् निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छाया-संक्रान्तिप्राप्तचैतन्यं पुरुषवन्नानात्मकाध्यवसेयविषयं निश्चितार्थं-करणमित्यर्थः।

चरक में भी कहा है—

"शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥" इत्यादि॥

२ कहा भी है—

"सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकारिकादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसाभावात् ॥" सां० का०
"तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता।
तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषस्ततो हिते ॥" वि० पु०

इनमें भूत परस्पर अनुप्रविष्ट हैं। यथा—"पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः।" इससे "शब्दतन्मात्रात्—शब्दगुणं व्योम; शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्रात्—वायुः, शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्रात्-शब्द-स्पर्श-रूप-गुण-तेजः।"

इसी प्रकार से आगे-विस्तार के लिये डल्हणाचार्य की टीका देखिये।

१ "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
...... शेषाः षोडश विकाराः......॥"

प्रकृति से अभिप्राय—तत्त्वान्तर को उत्पन्न करने से है। इसलिये बुद्धि, अहंकार, विकृति—प्रकृति दोनों हैं।

नवीन वस्तु की—या विलक्षण वस्तु-तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती केवल इनका संयोग तथा वृद्धि ही होती है। दृश्यमान शरीर इन्हीं २४ तत्त्वों से निर्मित रहता है। इसमें पुरुष—अर्थात् चेतना धातु पचीसवाँ तत्त्व है—चेतना धातु अपि एकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः—अर्थात् अकेली चेतना धातु (आत्मा) का नाम भी पुरुष है और "खाऽऽदयः चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः" (च० शा० अ० १) अर्थात् आकाश आदि पञ्च तत्त्व तथा चेतना के संयोग (प्राणी मात्र) का नाम भी आयुर्वेद दर्शन में पुरुष है ॥६॥

स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं, स्वयमध्यात्मम्, अधिदैवतम्—अथ बुद्धेर्ब्रह्मा, अहंकारस्येश्वरः मनसश्चंद्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥७॥

इन चौबीस तत्त्वों के अपने अपने विषय आधिभौतिक हैं, (भूतों के अधीन हैं)। स्वयं आध्यात्मिक हैं। अधिदैवत यथा—(जो जो देवता, विष्णु के अंश से उत्पन्न हुआ, वह वह उस तत्त्व का अधिष्ठाता है) बुद्धि का ब्रह्मा, अहंकार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशा, त्वचा का वायु, चक्षु का सूर्य, रसना का जल, घ्राण का पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पाँव का विष्णु, पायु का मित्र और उपस्थ का प्रजापति अधिष्ठाता है[1]।

वि० मन्तव्य—इनके विषयों—गुणों का अधिष्ठानभूत है प्राणी है और इन सब का अधिष्ठान—आत्मा है, और इनके अधिकारी या अधिष्ठानभूत दैवत—शक्तिदाता या प्रेरक हैं—ब्रह्मा आदि। यह विषय एक दार्शनिक विषय है इसे समझ लेना या मान लेना दार्शनिक दृष्टि से उचित है ॥७॥

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥८॥

इन प्रस्तुत सम्पूर्ण चौबीस तत्त्वों का वर्ग अचेतन (जड़) है। पुरुष (चेतन जीवात्मा) पचीसवाँ तत्त्व है। कार्य (शरीर) और कारण (इन्द्रियाँ) इनके साथ संयुक्त होकर पुरुष—चेतयिता (चैतन्य का आश्रय) हो जाता है। जिस प्रकार से जड़ क्षीर (दूध) वत्स (बछड़े) की वृद्धि के लिये स्वयं झरता है, उसी प्रकार से स्वयं अचेतन (जड़भूत) प्रधान (प्रकृति) भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है। इस प्रकार से पंगु तथा अन्धे पुरुष के समान इनका संयोग है[1]।

वि० मन्तव्य—यह सम्पूर्ण शरीर वस्तुतः अचेतन—जड़ है परन्तु लोहादि निर्मित यन्त्र (इञ्जन) के समान (गतिशील होने पर भी) जड़ नहीं है। पुरुष के संयोग से—कार्य (१६ विकार) एवं कारण (अष्टधा प्रकृति) मय शरीर–समस्त शरीर चेतन रहता है यहाँ तक कि वत्स को देखकर गौ का, सन्तान को देखकर माता का दूध भी गतिशील चेतन के समान चलनेवाला हो जाता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग की क्रिया का कहना ही क्या। तात्पर्य यह है प्राणी का शरीर जड़ होने पर भी चेतना के संयोग से क्रियाशील बना रहता है उसके हृदय आदि यन्त्र विधिवत् चलते रहते हैं और कुछ यन्त्र (यथा मैथुनोपयोगी अवयव और माता के दुग्धनिर्माता अवयव) समय समय पर क्रियाशील हो जाते हैं ॥८॥

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति, एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ॥९॥

इसके आगे प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य की व्याख्या करते हैं। यथा—(प्रथम साधर्म्य)—दोनों ही अनादि (आदि कारण से शून्य), दोनों ही अनन्त (अविनाशी), दोनों ही अलिङ्ग (आकार रहित), दोनों ही नित्य, दोनों ही अपर (परश्रेष्ठ–दोनों से कोई अधिक श्रेष्ठ नहीं, इसीलिये ऊपर है), और दोनों ही सर्वगत (व्यापक सम्पूर्ण मूर्त संयोगी) हैं। वैधर्म्य—इनमें प्रकृति अचेतन (जड़) एक है, त्रिगुण (सुख, दुःख, मोहात्मक या सत्त्व-रज-तमोगुण रूप), बीजधर्मिणी (बीज के धर्मवाली, उत्पादक शक्ति युक्त), प्रसवधर्मिणी (सगर्भावस्था में—कार्यावस्था में परिणामिनी), अमध्यस्थधर्मिणी (सुख, दुःख, भोगवती) है। पुरुष (जीवात्मा) अनेक हैं, चेतन हैं, निर्गुण हैं, बीज धर्म रहित, प्रसवधर्म से शून्य, मध्यस्थधर्म (सुख दुःख से) रहित हैं[2]।

---

१ (१) उपनिषद् में भी कहा है—
'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्।'
(२) "वागध्यात्ममिति प्राहुः ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥"
इसी प्रकार से बुद्धिरध्यात्मं, बोद्धव्यम् अधिभूतं, ब्रह्मा अधिदैवतम्—इत्यादि।

१ कहा भी है—
"वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद् अव्यक्तम् ॥"
२ कहा भी है—
(१) तस्मात् न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते।

वि० मन्तव्य—साधर्म्य—समानधर्मता—समानता अर्थात् उक्त कुछ बातों में प्रकृति एवं पुरुष समान हैं। वैधर्म्य—विपरीत धर्मता—असमानधर्मता—असमानता अर्थात् उक्त कुछ बातों में प्रकृति एवं पुरुष समान नहीं हैं। बीजधर्मिणी—जैसे बीज में वृक्ष सूक्ष्मरूप से विद्यमान होता है और आगे चलकर इतना बड़ा रूप (शरीर) धारण कर लेता है वैसे प्रकृति से ही सब मूर्तिमान्—रूप उत्पन्न होते हैं। प्रसवधर्मिणी—प्रकृति में से ही सब पदार्थों का प्रसवजन्य-प्रादुर्भाव होता है। अमध्यस्थधर्मिणी–सुख दुःख आदि ज्ञान–गुण से रहित। जड़ होने से ज्ञान शून्य। और पुरुष—अबीजधर्माणः-प्रकृति के समान बीज के धर्मवाले नहीं, चेतना धातु में से कुछ विलक्षण वस्तु उत्पन्न नहीं होती। अप्रसवधर्माणः—प्रकृति के समान उसमें से किसी पदार्थ का प्रसव नहीं होता। मध्यस्थधर्माणः—सुख दुःख आदि के ज्ञान से युक्त—ज्ञानी–ज्ञानाधिकरणं आत्मा–अनुभवी ॥९॥

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति, तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥१०॥

कारण के अनुसार ही कार्य होता है, श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र बनता है, इस न्याय से ये सब भूत भौतिक सम्पूर्ण कार्य, सत्त्व, रज तमो रूप (सुख दुःख मोहात्मक) हैं। चूँकि उसी के समान आकार होने से तथा बुद्धि में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण तन्मय होने से पुरुष भी सत्त्व, रज तमोमय होते हैं, ऐसा कई आचार्य मानते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कारण के अनुरूप–अनुकूल–समान रूप—मूर्तिवाला कार्य होता है यह कुछ विद्वानों का मत है सबका नहीं क्योंकि यह न्याय (सिद्धान्त)—अतिव्याप्ति रहित या निर्दोष नहीं है कारण के विरूप भी कार्य होते हैं यथा हरिद्रा-चूर्ण संयोग में लालिमा आदि आदि। इस सिद्धान्त को मानने-वाले निर्गुण पुरुष (आत्मा) को सगुण—सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों से युक्त होते देखे जाते हैं और वैसे भी वह पुरुष-सत्त्वादि गुणमय बना रहता है ॥१०॥

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥११॥

वैद्यक शास्त्र में तो उदार बुद्धिवाले (दूरदर्शी, संकुचित विचार न रखनेवाले) लोकस्वभाव (अर्थात् तत्तद्द्रव्य से प्रति-बद्ध सहजधर्म या गुण), ईश्वर, काल, यदृच्छा (अनेक प्रकार की अचानक घटनाओं को उत्पन्न करनेवाली शक्ति) नियति (धर्माधर्म जनित फल) तथा परिणाम इनको ही प्रकृति (उपा-दान कारण) मानते हैं। परन्तु वास्तव में कुछ तो कारण नहीं बन सकते और कुछ निमित्त कारण हैं[1]।

नापि संसरति कश्चित्।
संसरति-बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥
तस्मात् च विपर्य्यासात् सिद्ध साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यमाध्यस्थं दुष्टत्वमकर्त्तृभावश्च ॥''

(२) ''तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावल्लिगम् ॥''

१ ''तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृताः विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥''

जिस प्रकार से कि एक ही स्त्री रूप, यौवन, कुलशील से युक्त होने पर स्वामी को सुखी करती है, सपत्नियों को दुःखी करती है, अन्य पुरुषों को मोहित करती है, इसी प्रकार से यह प्रकृति भी तीनों गुणवाली है। इसी प्रकार से स्फटिक मणि के पास रखा जासुदी का फूल स्फटिकमणि में चमकता है, बच्चा मणि में से फूल लेना चाहता है, इसी प्रकार से पुरुष के अत्यन्त समीप में आई प्रकृति में पुरुष के गुण चमकने लगते हैं—इसीलिये योगसूत्र में कहा है—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र।'' जिस प्रकार से मैले दर्पण में मनुष्य अपना मुख देखकर चिन्ता करने लग जाता है, उसी प्रकार से सुख आदि का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब पड़ने पर अपने को सुखी अनुभव करता है। इसीलिये कहा है—

''तस्मिंश्चिद् दर्पणस्फोटसमस्तावस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥''

१ कुछ आचार्य इसका अर्थ इस प्रकार से करते हैं—

वैद्यक शास्त्र में विपुल बुद्धिवाले विद्वान् स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम इन छै को कारण मानते हैं। यथा—

स्वभाव—काँटों में तीक्ष्णता, मृग-पक्षियों के चित्र विचित्र रङ्ग, मरिच में कटुता स्वभाव से ही है।

ईश्वर—मनुष्य जड़ है, आत्मा-सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग-नरक में जाता है।

काल—काल ही सृष्टि की स्थिति प्रलय का कारण है—'कालः कलयतामहम् ॥'

यदृच्छा—जो स्वयं उत्पन्न हो जाता है—यथा तृण और अरणि के संयोग से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार संसार स्वयं बन जाता है।

नियति—धर्म-अधर्म ही सब की उत्पत्ति में कारण है।

परिणाम—प्रधान (प्रकृति) ही महद्-अहंकार आदि रूप में बदलकर सब को उत्पन्न करता है। आयुर्वेद शास्त्र में इन छै के उदाहरण मिलते हैं। यथा—

वि० मन्तव्य—पृथुदर्शी एकग्रही-एकान्त ग्रहण करनेवाले या आग्रही नहीं होते अतः वे कोई एक ही प्रकृति (कारण) नहीं मानते अपितु अनेक कार्यों के अनेक कारण मानते हैं और यह उचित भी है। यदृच्छा—जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न हो जाता है वही उसका कारण मान लिया जाता है, दूसरे शब्दों में-अलक्षित कारण से कार्य की उत्पत्ति "यदृच्छा" कही जाती है। देखिये चि० अ० १८ श्लो० ४१=यद्यपि अर्बुद पकता नहीं है परन्तु कभी २ अदृष्ट कारण से पक भी जाता है ॥११॥

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥१२॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते।१३।

वास्तव में भूत (पञ्चमहाभूत) तन्मय (प्रकृतिमय) हैं। कार्य और कारण में भेद न होने से एवं प्रकृति के सत्व, रज, तम गुणोंवाले हैं—चूँकि कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं। इन महाभूतों से तल्लक्षण (भूतों के लक्षणों से युक्त)। सम्पूर्ण भूतग्राम (स्थावरजङ्गमात्मक) उत्पन्न हुए। इस भूतग्राम का सदा से ही चिकित्सा के लिए उपयोग किया जा रहा है। क्योंकि चिकित्साशास्त्र में भूतों से पर (श्रेष्ठ, क्षेत्रज्ञ, अव्यक्त आदि) का (जीवात्मा का) चिकित्सोपकरण रूप में विचार ही नहीं किया जाता है[1]।

वि० मन्तव्य—प्रकृति पुरुष (जड़ चेतन) मय भूतः-प्राणी हैं अतः वे भी प्रकृति पुरुष के गुणों से युक्त हैं और उन भूतों से-तल्लक्षण-भूतों के लक्षणोंवाला (वस्तुतः प्रकृति पुरुष के लक्षणोंवाला) समस्त भूत समूह (प्राणि जगत्) प्रादुर्भूत हुआ था और होता है-होता रहेगा। और चिकित्सा शास्त्र में इसी भूत समूह का उपयोग होता है अर्थात् चिकित्सा के उपकरण भी और उपकार्य भी यही भूत हैं और भूतों (प्राणियों) से परे-आगे-ऊपर-चिकित्सा शास्त्र में चिन्ता-विचार ही नहीं किया जाता या किया गया है—रोगी भी भूत है और वनस्पति, वानस्पत्य वीरुध् तथा ओषधी भी भूत है, और खनिज पदार्थ भी भूत परन्तु अन्य भूत से मिलकर क्रियाशील होते हैं अन्यथा नहीं। तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः १-संस्वेदज, २-जरायुज, ३-अण्डज, ४ उद्भिज्ज संज्ञः सु० सू० अ० १। अर्थात् स्वेद-प्राणी का और भूमि आदि का स्वेद, इससे प्रादुर्भूत-जूएँ, मच्छर आदि, जरायु-जेरखेड़ी में प्रादुर्भूत-मानव, गौ, घोड़ा आदि, अण्ड से प्रादुर्भूत-पक्षी, सर्प आदि और उद्भिज-बीज, पौदा, घास आदि से प्रादुर्भूत वृक्ष, पौदा, घास आदि। बस यही जगत्, संसार या सृष्टि है—गच्छति इति जगत्, संसरति इति संसारः (गम्लृ)-गतौ सृ-गतौ धातुः-जो गति करता है—ज्ञान, गति (चलना) तथा प्राप्ति करता है, प्राणि मात्र में यह तीनों गुण हैं, स्थावर प्राणी में गति-स्थानान्तर प्राप्ति भले ही न हो, पर वह भी—ज्ञान एवं प्राप्ति—आदान अवश्य करता है। इसी जगत् या संसार का विचार आयुर्वेद में किया गया है, आयुर्वेद दर्शन इसी को देखता है मानता है और समझता है ॥१३॥

यतोऽभिहितं—"तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः" (सू० अ० १); भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥१४॥

क्योंकि पहले कहा है कि—'पुरुष' के ग्रहण से ही पुरुष से उत्पन्न होनेवाले शुक्र शोणित आदि द्रव्यसमूहों (जिनका कारण पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत हैं) का भी ग्रहण हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र में इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियों के विषय शब्दादि भी भौतिक ही कहकर वर्णन किये जाते हैं[2]।

स्वभाव—
(१) अङ्ग-प्रत्यङ्ग-निर्वृत्ति-स्वभावादेव जायते।
(२) धातुषु क्षीयमाणेषु वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः॥
(३) स्वभावाल्लघवो मुद्गाः तथा लावकपिञ्जलः॥
ईश्वर—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। काल—'महाभूतविशेषास्तु शीतोष्णद्वयभेदतः। काल इत्यध्यवस्यन्ति....॥"
यदृच्छा—यदृच्छाचोपगतानि पाकं, पाकक्रमेणोपचरेद् विधिज्ञः।

नियति (धर्माधर्म)—
(१) "ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम्।
(२) कर्मजा व्याधयः केचित्।
परिणाम—
(१) जाठराग्नेस्तु संयोगात् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥
(२) ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्ति।
(३) सम्यक्परिणतस्याहारस्य सारो रसः।
(४) बालानां वयःपरिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति।
ऊपर अर्थ कविराज हाराणचन्द्र के अनुसार दिया है।

---

१ यथा—लोको हि द्विविधः-स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र पुरुषः प्रधानं तस्योपकरणमन्यत्॥

२ कहा भी है—
खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्।
सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्॥

आयुर्वेद शास्त्र का इन्द्रियों के विषय में सांख्यशास्त्र से जो भेद है—उसको स्पष्ट करते हैं—सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से, भूतादि (तामसिक) अहंकार से पञ्चतन्मात्र की उत्पत्ति मानकर इनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति मानी है। परन्तु आयुर्वेद में—

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में (यहाँ) श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ भौतिक मानी जाती हैं और उनके शब्द आदि विषय भौतिक माने जाते हैं क्योंकि—॥१४॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

मनुष्य इंद्रियों द्वारा निश्चित इन्द्रिय के अर्थ (विषय) का ही ग्रहण करता है। क्योंकि—इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय के कारण समान हैं। इसलिये अन्य विषय को इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती है ॥१५॥

मनुष्य श्रोत्र द्वारा शब्द को ही सुनता है, गन्ध को नहीं ग्रहण कर सकता। चूँकि श्रोत्र तथा शब्द कारण समान हैं (आकाश ही दोनों की योनि है)। इसलिये आकाश गुण शब्द को ग्रहण करने के लिये आकाश इन्द्रिय चाहिये। इसलिये अनुमान द्वारा कह सकते हैं—

"घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषु मध्ये गंधस्यैव व्यञ्जकत्वात्। कुंकुमगंधाऽभिव्यञ्जकघृतादिवत् ॥"

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति, आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं, त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' (सू० अ० १) इति, स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥१६॥

आयुर्वेद शास्त्र में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा पुरुष) को सर्वगत नहीं मानते अपितु नित्य कहते हैं और असर्वगत क्षेत्रज्ञों में नित्य कहते हैं। अणु आत्मा को प्रतिपादन करने के लिये पुरुष की नित्यता को बतानेवाले कारणों को कहते हैं[१]। आयुर्वेद शास्त्र के सिद्धान्त से धर्म और अधर्म के कारण ही असर्वगत (अणु) और नित्य क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा-आत्मा) तिर्यग्योनि-देवयोनि और मनुष्ययोनि में विहार करता फिरता है। इन आत्माओं को हम अनुमान द्वारा ही जान सकते हैं। ये आत्मायें अतिसूक्ष्म, चेतन, नित्य हैं। तथा शुक्र एवं शोणित के संयोग होने पर ही (जिस प्रकार कि सूर्यकांतमणि के लैन्स द्वारा घास के जलने पर ही सूर्य की किरणों को अनुमान द्वारा ही जानते हैं) स्पष्ट होती हैं। इसलिये कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग का नाम 'पुरुष' है और यही कर्मफल भोगी पुरुष चिकित्सा का अधिकरण है[१] ॥१६॥

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥१७॥

इस कर्मफल भोगी शरीर—आत्मा एवं मन का संयोग होने पर जो गुण उत्पन्न होते हैं—वे कहते हैं, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन का संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय (निश्चयात्मक बुद्धि) और विषय का ज्ञान (इन्द्रिय द्वारा) ये गुण हैं। ये सोलह गुण हैं, इन्हीं को 'कला' शब्द से उपनिषदों में कहा है। ये गुण आत्मा में रहते हैं—इसलिये गुणी को आत्मा कहते हैं ॥१७॥

सात्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च; राजसास्तु-दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च; तामसास्तु-विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥१८॥

मन के सात्विक आदि गुणों को कहते हैं—

आनृशंस्य (क्रूर कर्म का न करना, दया), संविभागरुचिता (बाँटकर खाने की इच्छा), तितिक्षा (द्वन्द्व सहिष्णुता) सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि (तत्काल विषय सूझना), मेधा (ग्रन्थावधारण शक्ति), धृति (धैर्य), स्मृति, अनभिषंग (अनासक्ति-निष्कामता) ये सात्विक गुण हैं।

दुःख की अधिकता, अटनशीलता (घूमने-फिरने की प्रवृत्ति), अधीरता, अहङ्कार, आनृतिकत्व (मिथ्यावचनशीलता) अकारुण्य (निर्दयता), दम्भ (छल-कपट), मान, हर्ष, काम और क्रोध ये राजस गुण हैं।

शब्दो विहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः।
रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः॥

१ आत्मा को विभु माननेवाले यथा—
"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चनन्त्याय कल्पते।
विशुद्धे अन्तःकरणे आत्मानो विभुत्वं दर्शयति ॥" सत् कारण रहित वस्तु नित्य है। भोज ने भी कहा है—
"शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतिः।
देहाद्देहान्तरं याति क्रमिवत् शाश्वतोऽव्ययः।
नित्य इत्युच्यते सद्भिः सन्न कारणवान् यतः ॥"

१ चरकसंहिता में कहा है—
"सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥"

विषादित्व (अप्रसन्नता), नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धि का कुन्द होना, अज्ञान, दुर्मेधा (दुष्ट बुद्धि), अकर्मशीलता (काम न करना आलस्य), निद्रालुत्व (निद्राधिक्य) ये तामसगुण हैं ॥ १८ ॥

आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु-स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च, तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च, आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च, पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥ १९ ॥

महाभूतों के गुणों को कहते हैं–शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), सम्पूर्णछिद्रता (अवकाश) तथा शिरा-स्नायु आदि का परस्पर पृथक् होना आकाश का गुण है । स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), नमन-उन्नमन आदि सम्पूर्ण चेष्टायें तथा सम्पूर्ण शरीर में स्पन्दन (गति का होना) एवं लघुता (हल्कापन) वायु का गुण है । रूप—रूपेन्द्रिय (आँख), वर्ण (गौरादि), संताप, भ्राजिष्णुता (दीप्तता) पक्ति (आहार की परिणति), अमर्ष (क्रोध), तीक्ष्णता (आशुक्रिया) और शौर्य (शूरता) अग्नि के गुण हैं। रस, रसनेन्द्रिय (जिह्वा), सम्पूर्ण दोष-धातु समूहों में द्रवत्व, भारीपन, शीतलता, स्नेह और रेतः (वीर्य) ये जल के धर्म हैं। गंध, गन्धेन्द्रिय (नासिका), सम्पूर्ण पदार्थों में काठिन्य, भारीपन पृथ्वी के धर्म हैं ॥ १६ ॥

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति।

इनमें आकाश सत्त्व प्रधान, वायु रज प्रधान, अग्नि सत्त्व एवं रज प्रधान, जल सत्त्व एवं तम प्रधान और पृथ्वी तम प्रधान है ॥ २० ॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ २१ ॥

दो श्लोक कहे भी हैं—ये पञ्चभूत परस्पर एक दूसरे में अनुप्रविष्ट (घुसे) हुए हैं। अर्थात् एक के धर्म दूसरे में भी आ जाते हैं[1] । यथा—आकाश का गुण शब्द वायु में, वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप गुण अगले भूतों में पहुँच जाता है । परन्तु अपने-अपने द्रव्य में ही इनके अपने विशेष गुण का प्रकाशन होता है ॥ २१ ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु ।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रतः ॥ २२ ॥

इस अध्याय में स्वतन्त्र (अपने सिद्धान्त से) और परतन्त्र (सांख्य-सिद्धान्त से) दृष्टि से आठ प्रकृतियाँ, और सोलह विकार तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का वर्णन संक्षेप में कर दिया है ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शुक्र और शोणित के संयोग से क्षेत्रज्ञ आत्मा की अभिव्यक्ति होती है, यह प्रथम कहा है, इसलिये शुक्र और शोणित के स्वरूप को बताने के लिये इस अध्याय का अवतरण करते हैं । जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ।

वि० मन्तव्य—इस शास्त्र में मानव प्राणी के शरीर की रचना तथा क्रिया का वर्णन है अतः उसीके शुक्र एवं शोणित का वर्णन इस अध्याय में किया गया है ॥ १,२ ॥

वात पित्त श्लेष्म-कुणप-ग्रन्थि-पूतिपूय-क्षीण-मूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥ ३ ॥

सब से प्रथम रोग की परीक्षा करनी चाहिये, इसके लिये दूषित शुक्र को कहते हैं—

वात, पित्त, कफ से दूषित, रक्त से दूषित (रक्त मिश्रित या रक्तिमा युक्त) कुणप (मुर्दे की गन्धवाला अथवा जिसमें शुक्रकीट मृत हो गये हों), ग्रथित (गाँठवाला), पूति (दुर्गन्ध युक्त), पूय (मवाद-पस युक्त), क्षीण (जिनका वीर्य क्षीण हो गया है), जिनके वीर्य में मल मूत्र की गन्ध आती है,

---

१ (१) अथवा सम्पूर्ण भूत परस्पर सब भूतों में प्रविष्ट हैं। अर्थात्-आकाश में—शब्द गुण के साथ पृथ्वी-जल-तेज और वायु के भी गुण प्रविष्ट हैं। परन्तु अणुमात्र में हैं, इसलिये स्पष्ट नहीं होते, जहाँ पर इनकी अधिकता रहती है, वहीं पर स्पष्ट होते हैं। गौतम ऋषि ने भी कहा है—'विष्टं ह्यपरं परेण'—एक भूत दूसरे अगले भूत में प्रविष्ट हुआ है ।

(२) वायु का स्पर्श—अनुष्णशीत है । अग्नि के साथ मिलकर उष्ण स्पर्श, जल के साथ मिलकर शीत स्पर्श देती है ।

जल में भी आकाश विद्यमान है, व्यापक होनेसे, जल में वायु भी विद्यमान है, बुलबुले उठने से, जल में अग्नि भी विद्यमान है, क्योंकि अग्नि वहाँ से उत्पन्न होती है (अद्भ्योऽग्निः), भूमि भी अणुरूप से जल में व्याप्त है। इस प्रकार से सब भूत परस्पर प्रविष्ट हैं ।

ऐसे पुरुष संतानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते[1] ॥ ३ ॥

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः, मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्या इति ॥ ४ ॥

वायु के कारण शुक्र के दूषित होने पर वीर्य में लाल-काला वर्ण तथा वातजन्य-तोद, भेद आदि वेदनायें होती हैं। पित्त के कारण शुक्र के दूषित होने पर, पीला नीला वर्ण तथा ओष-चोष आदि वेदनायें होती हैं। कफ के कारण शुक्र के दूषित होने पर श्वेत वर्ण तथा कण्डू आदि वेदनायें होती हैं। रक्त के कारण दूषित शुक्र में मुर्दे के समान गन्ध तथा मात्रा में अधिक एवं रक्तवर्ण और ओष-चोष आदि वेदनायें होती हैं। कफ और वायु से दूषित वीर्य ग्रन्थि रूप (बहुत गांठवाला) हो जाता है। पित्त और कफ के कारण दूषित वीर्य दुर्गन्ध युक्त तथा मवाद मिश्रित होता है। पित्त और वायु के कारण से वीर्य क्षीण हो जाता है, क्षीण वीर्य के लक्षण प्रथम कह चुके हैं। सन्निपात के कारण वीर्य में मूत्र और मल की गन्ध आने लगती है[2]।

इनमें कुणप-ग्रन्थि-पूति-पूय-क्षीण-वीर्यवाले व्यक्ति कष्टसाध्य हैं। मूत्र-मलमिश्रित वीर्यवाले व्यक्ति असाध्य हैं। शेष, वात, पित्त, कफ रक्त से दूषित वीर्यवाले व्यक्ति साध्य हैं।

वि० मन्तव्य—वात, पित्त तथा कफ से दूषित शुक्र के स्खलन के समय उक्त वेदनायें होती हैं ॥ ४ ॥

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम्। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं, साध्यमन्यच्चेति ॥ ५ ॥

आर्त्तव भी वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों से, रक्त से, द्वन्द्वों से (वात, पित्त, वातकफ, पित्तकफ) और सन्निपात रूप से दूषित होने पर प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है। इस आर्त्तव में भी दोषों के अनुसार वर्ण और वेदनायें समझनी चाहिये।

इनमें भी कुणप, ग्रन्थि, पूति, पूय, क्षीण मूत्र, मल सदृश आर्त्तव असाध्य हैं और शेष साध्य हैं।

वि० मन्तव्य—वातादि से दूषित आर्त्तव में मासिक स्राव या प्रदर हो जाने पर उक्त वेदनायें होती हैं। इनमें भी कुणप, ग्रन्थि, पूति, पूय तथा क्षीण आर्त्तव कष्टसाध्य होते हैं और मूत्र पुरीषगन्धी असाध्य होते हैं। इस प्रकार आर्त्तव (शोणित) भी प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है ॥ ५ ॥

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः ॥ ६ ॥

कहा भी है—इनमें से आदि के (वात, पित्त, कफ) तीन शुक्रदोषों की स्नेहन-स्वेदन द्वारा (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, उत्तरवस्ति) तथा विशेष चिकित्सा द्वारा और रसायन औषधियों से तथा उत्तरबस्ति द्वारा (दोषों के अनुसार) चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

पाययेत् तं नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ॥ ७ ॥
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम्।
ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं पालाशे वाऽपि भस्मनि ॥ ८ ॥
परूषकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम्।
प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥ ९ ॥
विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः।
स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम् ॥१०॥
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना।

कुणपगन्धी शुक्रदोष में वैद्य को चाहिये कि रोगी को धाय के फूल खदिर (खैर की छाल) अनार (की छाल) तथा अर्जुन की छाल से साधित घृत अथवा सालसारादिगण के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत रोगी को पिलावें। ग्रन्थिभूत (गांठदार) वीर्यदोष में

---

१ मल और मूत्र के वीर्य में आने से भगन्दर रोग होते हैं। जैसे कहा भी है—

"वातमूत्रपुरीषाणि कृमयः शुक्रमेव च।
भगन्दराः स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥"

२ चरकसंहिता में दोषों से दूषित वीर्य के लक्षण निम्न कहे हैं—

"फेनिलं तनु रूक्षञ्च कृच्छ्रेणाल्पञ्च मारुतात्।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते ॥
सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धिता।
दहल्लिंगं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥
श्लेष्मणा रुद्धमार्गन्तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥" चरक०

शुक्रक्षय के लक्षण— शुक्रक्षये मेढ्रवृषणयोर्वेदनाऽशक्तिर्मैथुने, चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनञ्च ॥ सु०सू०अ० १५।

शुक्राभाव (Aspermia), शुक्र का कम होना (Oligospermia), शुक्र का पतला होना (Hydrospermia), शुक्र में रक्त मिला होना (Hoemospermia), शुक्रकीट का निर्जीव होना (Necro zoospermia), शुक्रकीटों का कम होना (Oligo zoospermia), शुक्रकीटों का न होना (Azoospermia), शुक्र में पीलापन (Pyo-spermia) कहते हैं। विस्तार के लिये वैद्य जयदेव का सुश्रुत शारीर देखिये।

शठी (कचूर) द्वारा सिद्ध अथवा पलाशभस्म (पलाश की राख या पलाशक्षारजल) में साधित घृत पिलाना चाहिये। पूय-नामक वीर्यदोष में परुषकादि या वटादिगण द्वारा साधित घृत रोगी को पिलावे। क्षीणवीर्य की अवस्था में दोषादिविज्ञानीय में कहे स्वयोनिवर्धक द्रव्यों का उपयोग तथा क्षीणबलीय नामक अध्याय में कही विधि को बरतना चाहिये। मल मूत्र गंधि शुक्र-दोष में चित्रक, खस और हींग से साधित घी का प्रयोग करना चाहिये। शुक्रदोष से पीड़ित व्यक्ति को प्रथम स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन आदि कर्म करने के पश्चात् उत्तर-बस्ति का यथाविधि प्रयोग करना चाहिये[1] ॥ ७-१० ॥

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ॥११॥
शुक्रमिच्छन्ति, केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा।
विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ॥ १२ ॥

शुद्ध शुक्र की परीक्षा—

शुद्ध वीर्य—स्फटिक मणि के समान श्वेत (जरा-सी नीली झांई लिये), द्रव (तरल) स्निग्ध (चिकनाहट युक्त), मधुर (रस में) और मधु के समान गन्धवाला होता है। कई आचार्यों की मान्यता है कि शुद्ध वीर्य तिल तैल और मधु के समान वर्ण में तथा घट्ट होता है, ऐसा वीर्य प्रजा-उत्पादन में समर्थ है[1] ॥ ११,१२ ॥

क्षीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तववार्तिषु।
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च ॥
ग्रन्थिभूते पिबेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च।
दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे ॥ १४ ॥
पिबेद्भद्रश्रियः क्वाथं चन्दनक्वाथमेव च।
शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम् ॥ १५ ॥
योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु।
अन्नं शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥ १६ ॥

आर्त्तवशुद्धि के लिये उत्तरबस्ति पर्यन्त शुक्रदोषों में कही चिकित्सा करनी चाहिये। वात, पित्त, कफ और रक्तजन्य आर्त्तव दोषों के लिये स्नेहन आदि कर्मों के साथ साथ योनि में कल्क, पिचु, पथ्य आचमन (योनिप्रक्षालन—वातादिदोष-हर, क्वाथ्य द्रव्यों से बने) का प्रयोग करना चाहिये। आर्त्तव के ग्रन्थि-युक्त होने पर पाठा, त्र्यूषण (त्रिकटु) और वृक्षक (इन्द्रजौ) इनका क्वाथ पीना चाहिये। यदि आर्त्तव दुर्गन्धित पूय के समान अथवा मज्जा के तुल्य हो तो भद्रश्रिय (हरि-चन्दन-व्यवहार में देवदारु) और चन्दन (श्वेत चन्दन) इनका क्वाथ पिलाना चाहिये[2]। वातादि एकदोषजनित आर्त्तव की शुद्धि के लिये शुक्रदोषनाशक पूर्वोक्त स्नेह स्वेदादि कर्म तथा योगों (रसायन, वाजीकरण, मूत्रदोषनाशकप्रयोग)—दोषों के अनुसार—प्रयोग करना चाहिये। आर्त्तवपीड़ा में—भोजन

---

१ (१) घृतसाधन का नियम—

यत्रादिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेहसंविधौ।
तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना॥

क्वाथ्य से आठगुणा जल, शेष चतुर्थांश, घृत क्वाथ से चतुर्थांश, कल्क घृत से चतुर्थांश है।

(२) चरक में—

वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः।
अभयामलकीयञ्च पैत्ते शस्तं विरेचनम् ॥
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम्।
कफोद्भवं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥
वाजीकरणीययोगैस्तैरुपयुक्तैः शुभैः हितम्।
रक्तपित्तहरैः योगैः योनिव्यापदिकैस्तथा ॥
दुष्टं तावत् यदा शुक्रं तदा तत् समुपाचरेत्।
घृतं यज्जीवनायोक्तं च्यवनप्राश एव च ॥
गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषान् व्यपोहति ॥

तंत्रान्तरीय प्रयोग—अमृतसारलौह, अमृतप्राशघृत, गोधूमादिघृत देने चाहिये।

(३) धातकीघृत—आदि तीनों घी क्वाथ एवं कल्क में सिद्ध होंगे। मात्रा आधा तोला।

(४) सालसारादि, वटादि और परूषकादिगण के लिये सूत्र-स्थान देखिये।

(५) पलाशघृत—पलाशभस्म एक आढक, पानी छै आढ़क में सात बार छानकर एक आढ़क, पानी में एक प्रस्थ घी पकाना चाहिये।

रक्तगुल्म में पलाशघृत की विधि—पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा।

(६) उत्तरबस्ति के लिये चरकसिद्धिस्थान या संग्रह देखिये।

१ (१) चरक ने शुद्ध शुक्र के लक्षण निम्न कहे हैं—स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।

(२) स्फटिक मणि के समान श्वेत वर्ण शुक्र श्वेतगौर वर्ण संतान को, तैल वर्ण शुक्र कृष्ण वर्ण और मधु वर्ण शुक्र श्यामवर्ण संतान को उत्पन्न करता है। दिवार पर फेंका शुक्र नीचे नहीं बहता।

(३) वैद्य जयदेव ने 'मधुर' शब्द का अर्थ—Natural in Recation किया है। यथा—The semial fluid is viscie, Natural or Alkaline inrecation है। इसको गन्ध खास होती है, जो किसी से नहीं मिलती। शुद्ध वीर्य का दाग साधारणतः धोने पर साफ नहीं होता।

२ आचमन—उत्तरबस्ति तथा योनिप्रक्षालन के लिये त्रिफलाक्वाथ बरतना चाहिये।

के लिये शालि साठी (हेमन्त धान्य), जौ, मद्य, तथा पित्त-वर्धक मांस हितकारी है ॥ १३-१६ ॥

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ १७ ॥

शुद्ध आर्त्तव की परीक्षा—जो आर्त्तव खरगोश के रक्त के समान रङ्ग में तथा घनता में होता है, अथवा लाख के पानी के समान होता है, वस्त्र पर शुष्क हुआ आर्त्तव धोने से कपड़े पर धब्बा नहीं छोड़ता, वह रज गर्भ धारण करने के योग्य होता है[1] ॥ १७ ॥

तदेवाति प्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि ।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥ १८ ॥
असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ।
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा ॥ १९ ॥
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ।

यही आर्त्तव जब ऋतुकाल में भी अधिक मात्रा में आता है, अथवा अधिक दिनों तक चालू रहता है, या ऋतुकाल के दिनों के अतिरिक्त अन्य समय में भी आता है, और इस रक्त का रङ्ग आर्त्तव से भिन्न हो तो इसको असृग्दर (रक्तप्रदर) जानना चाहिये[2] ।

सब प्रकार के असृग्दर में—अङ्गों में टूटने की पीड़ा, गर्भाशय के समीप के अङ्गों में पीड़ा होती है । और यदि रक्तप्रदर अधिक मात्रा में हो तो दुर्बलता, भ्रम (चक्कर आना), मूर्च्छा (बेहोशी), तम (आँखों के सामने अन्धकार), प्यास, दाह, प्रलाप पाण्डुता (शरीर का वर्ण पीला पड़ना), तन्द्रा एवं वातजन्य (आक्षेपकादि) रोग होते हैं ॥ १८,१९ ॥

---

१ चरक में—
"गुंजाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम् ।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमेव तत् ॥
मासान्निष्पिच्छदाहार्त्तिपञ्चरात्रानुबन्धि च ।
नैवातिबहुनात्यल्पं तदार्त्तवं शुद्धमादिशेत् ॥"

आर्त्तव का परिमाण साधारणतः ५ से १० औंस है, परन्तु अनिश्चित है ।

आर्त्तव की चारों स्थितियाँ, आर्त्तव के विषय में निम्न पुस्तकें देखिये—

धात्रीशिक्षा, सुश्रुत-शारीर जयदेव कृत पृष्ठ २५, Midwifery by Johnstone और हमारे शरीर की रचना ।

२ जीवरक्त और आर्त्तवरक्त में परीक्षा—
तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुक्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुक्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रभावानां कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं चेत् पित्तं, शुद्धं तु शोणितम् ॥
आजकल—मैनोरेजिया और मेटोरेजिया कहते हैं ।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक् ॥ २० ॥
रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ।

तरुणी (सोलह वर्षवाली), पथ्य सेवन करनेवाली, अल्प उपद्रवों से युक्त (निरन्तर स्राव का बहना-दुर्बलता आदि) रोगिणी में रक्तपित्त (तथा रक्तार्श एवं रक्तातिसार) की विधि से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २० ॥

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः ॥ २१ ॥
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः ।
पाने मूत्रमुदश्चिच्च दधि शुक्तं च भोजने ॥ २२ ॥
क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ।
तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत् ॥ २३ ॥

वातादि दोषों के कारण आर्त्तव—वहाँ (गर्भाशय) की रक्तवाहिनियों के अवरोध हो जाने पर स्त्रियों में आर्त्तव की प्रवृत्ति नहीं होती । इसके लिये—मछलियाँ, कुलथी, अम्लरस, तिल, माष, सुरा हितकारी है । पीने के लिये मूत्र (गायों का मूत्र तीक्ष्ण होने से), उदश्वित् (अर्द्धोदक मिला तक्र), दधि, और शुक्त देना चाहिये । क्षीणार्त्तव के लक्षण[1] और चिकित्सा प्रथम दोषादिविज्ञानीय अध्याय में कह दी है । इसके साथ २ नष्टार्त्तव की भी चिकित्सा मिला लेनी चाहिये ॥ २१–२३ ॥

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च ॥ २४ ॥

इस प्रकार से दोष रहित वीर्यवान् पुरुष और शुद्ध आर्त्तववाली स्त्री ही उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ॥२४॥

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत् । किं कारणं ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद्दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् । दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत् । ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासः समलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत् । तत् कस्य हेतोः ? ॥ २५ ॥

अष्टांग मैथुन से रहित ब्रह्मचारिणी स्त्री को चाहिये कि ऋतुकाल[2] के प्रथम दिन से ही दिन में सोना,

---

१ क्षीणार्त्तव के लक्षण—
"आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च ।
तत्र संशोधनाग्नेयानाञ्च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः ॥" सु० सू०

२ ऋतुकाल —"ऋतुस्तु दुष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति, षोडशरात्रमित्यन्ये । शुद्धयोनिगर्भाशय आर्त्तवायाःमासमपि केचित् । तद्वद् दृष्टार्त्तवाऽप्यस्तीत्यपरे ॥ अष्टांगसंग्रह ॥

आँखों में अञ्जन, रोना, स्नान, अनुलेपन (चन्दन आदि का शरीर पर लगाना), अभ्यंग, नखों का काटना, दौड़ना, ऊँचे हंसना, बहुत बोलना, ऊँचे शब्दों का सुनना, अवलेखन (कङ्घी से सिर साफ करना), वायु का सीधा झोंका, परिश्रम करना छोड़ देवे, क्योंकि—दिन में सोने से शिशु निद्रालु होता है, अञ्जन करने से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टिवाला, स्नान और अनुलेपन से दुःखशील, तैल की मालिश से कुष्ठी, नखों के काटने से दूषित नखवाला, भागने से चञ्चल, हँसने से श्यावदन्तक, श्यामवर्ण ओठ, तालु, जिह्वावाला, बहुत बोलने से प्रलापी (बकवादी), ऊँचे शब्द सुनने से बहरा, सिर खुजाने से गंजा, वायु और परिश्रम के सेवन करने से उन्मत्त (पागल) होता है, इसलिये इन बातों का त्याग करना चाहिये।

कुशा को बिछाकर उसके ऊपर सोनेवाली, हाथ—मिट्टी के पात्र अथवा पत्ते पर हविष्य-(घी मिश्रित शालि-धान्य या दूध में संस्कृत गेहूँ आदि का) अन्न का भोजन करनेवाली स्त्री तीन दिन पति से अपनी रक्षा करे—अलग रहे। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हुई स्त्री उत्तम वस्त्र तथा सुन्दर आभूषण धारण करके, मङ्गल पाठ स्वस्तिवाचन करने के पश्चात् पति का दर्शन करे[1] ॥२५॥

यह सब किस लिये?

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥२६॥
ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं ह्येतमारभेत विचक्षणः ॥२७॥

ऋतुस्नात स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का दर्शन सबसे प्रथम करती है, उसी प्रकार के पुत्र को उत्पन्न करती है। इसलिये सबसे प्रथम पति का दर्शन करना चाहिये। इसके पश्चात् वैदिक कर्म को जाननेवाला याज्ञिक-पुत्रेष्टि विधि को (चरकोक्त-तन्त्राचार्यों द्वारा) आरम्भ करे। इस कर्म के उपरान्त बुद्धिमान् पति वक्ष्यमाण कार्य को करे ॥२६,२७॥

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामभिरभिविश्वास्य, विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२८॥

जो पुरुष एक मास तक ब्रह्मचारी रह चुका हो, वह घृत द्वारा स्निग्ध होकर पुत्रीय कर्म के पश्चात् सायंकाल घी और दूध से शालि चावलों को खाये। इसी प्रकार से एक मास तक ब्रह्मचर्य्य धारण की हुई स्त्री तैल से स्निग्ध होकर सायंकाल तैल, उड़द का भोजन करे। रात्रि में इस स्त्री को सामादि वचनों से शान्त करके पति स्त्री से सहवास करे। इस प्रकार से यदि पुत्र की कामना हो तो चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, दशमी और बारहवीं (आर्तवस्राव से) रात्रि में सहवास करना चाहिये[1] ॥

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥२९॥

अतः परं-पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः, त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः ॥३०॥

इसमें भी उत्तरोत्तर तिथियों में आयु, आरोग्य, प्रजा, सौभाग्य, ऐश्वर्य, बल की वृद्धि होती है। इसके आगे पांचवीं, सप्तमी, नवमी और एकादशी रात्रि में पुत्री की कामनावाले पति पत्नी के सहवास के लिये उत्तम है। इनमें भी उत्तरोत्तर रात्रियाँ श्रेष्ठ हैं। शेष त्रयोदशी आदि रात्रियाँ निन्दित हैं[2] ॥

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमु-

---

बिना ऋतुदर्शन हुए भी गर्भ रह जाता है।

१ कहा भी है—

"नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णे शोणिते।
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा॥"

१ गर्भाधान के विषय में बहुत से भेद एवं नियम हैं। सधारणतः ऋतुकाल के समाप्त होने पर गर्भधारण करने की जो शक्ति गर्भाशय में रहती है, वह पीछे उतनी नहीं रहती। इसी कारण से १०-१५ दिन बाद किया गर्भाधान इतना विश्वास का नहीं होता, जितना पहिला। दूसरी बात-प्रथम दिनों में गर्भाधान करने से शिशु उतना पुष्ट नहीं होता, जितना कि पिछले दिनों में गर्भाधान करने से होता है। इसलिये पिछली उत्तरोत्तर तिथियों को आचार्य ने श्रेष्ठ बताया है।

(१) हमारे शास्त्र में गर्भाधान का समय रात्रि का माना है। उस समय भी दिये का मन्द प्रकाश रखना कहा है। जिससे कि आँख की कनीनिका ठीक रहती है। परन्तु डाक्टर कोवन आदि दिन का समय मानते हैं। यह हमारी दृष्टि में सहमत नहीं। साथ ही स्मृति का कथन है—'प्राणा एव प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।'

(२) सहवास से पूर्व स्त्री की अनुकूलता प्राप्त करनी आवश्यक है।

२ पुत्र और पुत्री के लिये यह साधारण नियम है। चूंकि युग्म तिथियों में स्त्री का रक्त घटा होता है और पुरुष का वीर्य चन्द्रमा के कारण बढ़ा होता है। अयुग्म तिथियों में इसके विपरीत होता है। इसका उदाहरण समुद्र का ज्वारभाटा है।

च्यते, द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा, तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति, चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेतद्द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपेयात् ॥३१॥

ऋतुमती स्त्री के साथ प्रथम दिन सहवास करने से मनुष्य की आयु कम होती है[1] और जो गर्भ रहता है वह प्रसवकाल में मर जाता है। ऋतुकाल के दूसरे दिन जो गर्भ रहता है, वह सूतिका घर में (दस दिन के भीतर ही) मर जाता है। ऋतु के तीसरे दिन जो गर्भ रहता है, वह असम्पूर्ण अंगों वाला और अल्पायु होता है। चौथे दिन जो गर्भ रहता है, वह सम्पूर्ण अंगों वाला ओर दीर्घायु होता है। बहते हुए रक्त में प्रविष्ट हुआ बीज गुणकारी नहीं होता। जिस प्रकार कि—बहती हुई नदी की धारा के विपरीत फेंकी हुई तैरनेवाली वस्तु वापस आ जाती है, उपर को नहीं जाती, उसी प्रकार से शुक्रकीट भी आर्त्तव के प्रवाह के साथ गर्भाशय से बाहर आ जाती है, गर्भाशय में नहीं पहुँचता। इसलिये ऋतु के तीन दिनों में नियम पालन करनेवाली स्त्री से पृथक् रहना चाहिये। इसके पश्चात् (गर्भ न रहने पर) एक मास के उपरान्त सहवास करना चाहिये। जल्दी जल्दी सहवास करने से गर्भ स्थिर हुआ भी गिर जाता है।

वि० मन्तव्य—कभी २ या किसी २ स्त्री को बहुत थोड़ा या थोड़े समय के लिये आर्त्तवस्राव होता है इस दशा में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिन में भी गर्भाधान हो जाता है। और बहते हुए आर्त्तवस्राव में तो सहवास करने पर आर्त्तव के साथ ही शुक्र भी बह जाता है इसलिये तीन दिन तो सहवास करना ही नहीं चाहिये। आयुर्वेद में गर्भाधान के लिये ही सहवास का विधान है वासनापूर्त्ति के लिये नहीं ॥३१॥

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमां क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत् ॥३२॥

गर्भस्थिति होने पर वैद्य को चाहिये कि (स्त्री पुरुष के विभेदक लक्षणों के प्रकट होने से पूर्व अर्थात् दो मास से पूर्व ही) लक्ष्मणा, वटशुङ्ग (वटप्ररोह), सहदेवा, (बला भेद), अथवा विश्वदेवा (गांगेरुकी-गंगेरन) इनमें से किसी एक को दूध के साथ पीसकर पुत्र की कामना करनेवाली स्त्री के दक्षिणनासापुट में, तीन चार बूँदें डाल दे। कन्या की कामना करनेवाली स्त्री के बाम नासापुट में तीन-चार बूंदें डाल देनी चाहिये। स्त्री को चाहिये कि इनको थूके नहीं[1] ॥३२॥

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकम्।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥३३॥

जिस प्रकार ऋतुकाल, क्षेत्र (खेत), अम्बु (जल), और बीज के संयोग से अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार से विधिपूर्वक ऋतुकाल, क्षेत्र, (गर्भाशय), अम्बु (शोणित) और बीज (शुक्र) के परस्पर मिलने से निश्चित रूप में गर्भ रहता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥३३॥

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः।
भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणे हिताः ॥३४॥

इस प्रकार से रूपवान्, तेजस्वी, महान् पराक्रमी, दीर्घायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। ये सत्पुत्र ऋण से माता पिता को छुड़ाते हैं, तथा माता-पिता के लिये हितकारी होते हैं ॥३४॥

तत्र तेजोधातुर्वर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। 'यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवति' इत्येके भाषन्ते। तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥३५॥

इन पाँचों भूतों में तेज धातु, वह सब प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति में कारण है। यह तेज धातु जब

---

१ ऋतुमती का लक्षण-"गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्न-शुक्र-शोणितगर्भाशयामृतुमतीं व्याचक्षते ॥ चरक० ॥

१ (१) गर्भावस्था में स्त्री—पुरुष के लिंगों का निर्माण एक या १½ मास के पश्चात् होता है। इसलिये इस समय से पूर्व ही पुंसवन कर्म करना चाहिये। यथा चरक में कहा है—

"तस्मादापन्नगर्भायाः स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावात् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्।"

(२) लक्ष्मणा आदि का नस्य गर्भस्थान के लिये भी दिया जाता है। गर्भ रहने पर पुंसवन कार्य के लिये तीन मास तक प्रतिदिन या समय समय पर देते रहना चाहिये। यथा—

"पूर्वमौषधसहस्रामिहुतं कृत्वा मांगल्यदेशे गोः क्षीरेण पेषयित्वा तस्मात् त्रीन् बिन्दून् दक्षिणे नासापुटे दद्यात्। न निष्ठीवेत्तान् कण्ठप्राप्तान् सा पञ्च दिनानि पयसोदनमश्नीयात् तदूर्ध्वं ग्राम्यधर्मसेवनम्।

"पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छिता सदा।
लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥"

गर्भोत्पत्ति (गर्भाधान काल) में जलीय धातु प्रधान होता है, तब गर्भ को गौर वर्ण करता है। जब तेज धातु पृथिवी धातु बहुल होता है, तब कृष्णवर्ण होता है। और जब पृथिवी, आकाश धातु प्रधान रहता है, तब कृष्णवर्ण रहता है। जब जल और आकाश धातु की बहुलता रहती है, तब गौर श्याम-वर्ण रहता है। कई आचार्यों का मत है, कि गर्भिणी स्त्री जिस वर्ण के आहार का अधिक मात्रा में सेवन करती है, उसी वर्ण की संतान उत्पन्न होती है[1]।

यदि चौथे मास में तेज दृष्टि भाग (चक्षु इन्द्रिय के आश्रय स्थान) में नहीं पहुँचता, तो शिशु जन्म से ही अन्धा रहता है। तेज धातु रक्त के साथ मिल जाये तो लाल आँखोंवाला, पित्त से मिल जाय तो पीली आँखोंवाला, कफ से मिल जाय तो श्वेत आँखोंवाला और वायु से मिल आय तो विकृत आँखों वाला शिशु उत्पन्न होता है[2] ॥३५॥

भवति चात्र—

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते।
विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥३६॥

कहा भी है—जिस प्रकार से जमा हुआ घृत अग्नि के पास रखने से पिघल जाता है, इसी प्रकार से पुरुषों के साथ सहवास करने पर इन्द्रियद्वयसंघर्षण द्वारा उत्पन्न उष्णिमा द्वारा विलीन आर्त्तव-स्त्रियों में प्रवर्त्तित होता है। इस क्रिया से मार्ग के शुद्ध होने पर शुक्रकीट और डिम्ब सुगमता से मिल जाते हैं।

वि० मन्तव्य—पुमान् समागम के बिना भी आर्त्तव की प्रवृत्ति होती रहती है परन्तु शुक्र संयोग के बिना गर्भाधान नहीं होता[3] ॥३६॥

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३७॥

शुक्र और शोणित (शुक्रकीट और डिम्ब) के अन्तःवायु (व्यान) द्वारा दो भाग होने पर दो जीव गर्भाशय में उत्पन्न होते हैं। इनको यम कहते हैं। ये अधर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। अथवा वायु के कारण दो शुक्रकीट और दो डिम्ब मिल-कर यमसंतान को उत्पन्न करते हैं।

वि० मन्तव्य—दो से अधिक गर्भ भी उत्पन्न हो जाते हैं। यमगर्भ—परस्पर उदर अथवा पीठ पर से जुड़े भी रहते हैं। दो से अधिक गभ प्रायः जन्मते ही मर जाते हैं अथवा उनमें से कोई १-२ जीवित भी रहते हैं, जुड़े हुए भी जीवित रहते हैं। और किसी २ गर्भ के अधिक अंग भी होते हैं यथा—दो से अधिक ३-४ बाहु या टाँगें तथा १ से अधिक २ शिर आदि, किसी का गुद मार्ग ही नहीं होता अथवा अन्य कोई अवयव ही नहीं रहता ये भी प्रायः जन्मते ही मर जाते हैं। यम को जोड़ले जोड़े, यमक (ल) कहते हैं। कभी २ एक बालक और एक बालिका भी जन्मते हैं। जन्म में एक क्षण से लेकर कई दिन का अन्तर रहता है, यमलों के जरायु-नाल ही पृथक् २ होते हैं, इनमें कोई जीवित तो कोई मृत भी जन्मता है ॥३७॥

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥३८॥

माता-पिता के अत्यल्प बीज (शुक्र-शोणित) होने से 'आसेक्य' नामक नपुंसक संतान उत्पन्न होती है। इस आसेक्य पुरुष में शिश्न की उत्तेजना शुक्र को खाकर उत्पन्न होती है। अर्थात् यह आसेक्य पुरुष अपने मुख में अन्य पुरुष से मैथुन करवाकर क्षरित शुक्र को खाकर ही उत्तेजना प्राप्त करता है। इसका दूसरा नाम 'मुखयोनि' है।

वि० मन्तव्य—आसेक्यः—आसेचयितुं—शुक्रजनकद्रव्यैः तर्पयितुं योग्यः अर्थात् शुक्रजनक मकरध्वज (शिवशुक्र) तथा अश्वगन्धा आदि के सेवन द्वारा जो ध्वजोच्छ्राय (लिंग हर्ष) को प्राप्त करता है वह आसेक्य है ॥३८॥

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥३९॥

जो पुरुष दुर्गन्धित योनि में उत्पन्न होता है, उसका नाम 'सौगन्धिक' है। यह पुरुष योनि और शिश्न की गन्ध को सूँघ-कर बल प्राप्त करता है। इसका दूसरा नाम 'नासायोनि' है।

वि० मन्तव्य—साँड, कुत्ते आदि के समान ॥३९॥

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते।
कुम्भीकः स तु विज्ञेयः ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥४०॥

---

१ वर्ण की उत्पत्ति के विषय में चरक में लिखा है कि—जिस जिस वर्ण तथा पराक्रम को संतान गर्भवती स्त्री उत्पन्न करना चाहे, उन उन जनपदों का मन से ध्यान करे। इसी के लिये सुन्दर हरिचन्दन से अंकित श्वेत बैल को देखना बताया है। देखिये चरक शारीर आठवाँ अध्याय।

२ चरक में इस बात को बहुत ही खूबी से कहा है, यथा—"यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषा प्रकोपमापद्यन्ते, तस्य तस्यावयवस्य विकृतिर्जायते—नोपजायते चानुपतापाद् तस्माद् उभयोरुत्पत्तिः ॥ चरक० शा० ४।

३ जिस प्रकार कि लोहे के साथ चुम्बक की प्रीति है, पारे को मसूड़ों के तन्तुओं से, संखिये को आमाशय से, इसी प्रकार शुक्रकीट को डिम्ब से लगाव है। यही कारण हैं कि शुक्रकीट जहाँ भी होगा वहीं से डिम्ब उसे खींच लेगा।

जो पुरुष अब्रह्मचर्य्य के कारण स्त्रियों में उनकी गुदा में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है, उसे कुम्भीक जानना चाहिये। अथवा जो मनुष्य अपनी गुदा में मैथुन करवाकर शिश्न की उत्तेजना को प्राप्त करके—फिर स्त्रियों में प्रवृत्त होता है, इसका नाम 'कुम्भीक' है बिना अप्राकृतिक मैथुन के इसको शक्ति नहीं मिलती[1]। इसी का नाम गुदयोनि है।

वि० मन्तव्य—कुम्भीक को यह व्यसन होता है। इसका एक दूसरा भी रूप है यथा—बीजात् समांशात् उपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः (च० शा० अ० २)–अर्थात् माता-पिता के शोणित एवं शुक्र के समानांश होने तथा उपतप्त (विकृत) होने से जो सन्तान होती है वह स्त्रीलिंग (योनि-भग) तथा पुंलिंग (शिश्न) वाली तथा द्विविध-दोनों प्रकार के रेतस् वाली होती है इसको कभी पुमान् के साथ और कभी स्त्री के साथ सहवास की इच्छा होती है। इसको योनि भी होती है और शिश्न भी होता है। कुम्भीक इस इच्छा को अन्य पुमान् से स्वगुद में रति कराकर पूर्ण करता है इस क्रिया में कुम्भीक का शुक्र भी स्खलित हो जाता है ॥४०॥

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते।
ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयः षण्ढकं शृणु पञ्चमम् ॥४१॥

इसके आगे ईर्ष्यक को सुनो। जो पुरुष दूसरों के मैथुन को देखकर मैथुन में प्रवृत्त होता है, इसको ईर्ष्यक कहते हैं। बिना मैथुन देखे इसमें उत्तेजना नहीं होती[2]।

वि० मन्तव्य—यह सन्तान उनको उत्पन्न होती है जो नर नारी परस्पर की ईर्ष्या (असहिष्णुता-मनमुटाव) से अभिभूत होने पर फलतः मन्द हर्ष (मैथुनाभिलाष) से युक्त होकर गर्भाधान करते हैं ॥४१॥

आगे पाँचवें षण्ढक नपुंसक को सुनो।

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्ढसंज्ञितः ॥४२॥

जो पुरुष मोह (अज्ञान या स्वरस के लोभ) वश ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ स्त्री की भाँति (नीचे पुरुष और स्त्री ऊपर होकर) प्रवृत्त होता है, इससे जो पुत्र होता है, उसकी चेष्टा और आकार स्त्री के समान रहते हैं। इस अवस्था में पुरुष विपरीत बन्धन द्वारा क्रिया में प्रवृत्त होता है[3]।

वि० मन्तव्य—षण्ढ (हिजड़ा) को न योनि होती है और न शिश्न ही होता है परन्तु मैथुनाभिलाष तो होती है, फलतः वह स्वमूत्रमार्ग पर अथवा स्वगुद में अन्य पुमान् से....यह प्रायः स्त्री की वेषभूषा में रहता है। कोई ऐसे भी होते हैं जिनके शिश्न होता है या बहुत छोटा एवं दुर्बल होता है। स्तन नहीं बढ़ते ॥४२॥

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि।
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४३॥

यदि ऋतुकाल में स्त्री पुरुष की भाँति (पुरुष को नीचे रखकर) मैथुन करती है, उससे यदि कन्या उत्पन्न होती है, तो उसकी चेष्टायें पुरुष के समान होती हैं[1]।

वि० मन्तव्य—यह भी षण्ढ के समान होती है किसी २ को योनि भी होती है परन्तु अपूर्ण। यह प्रायः नर के समान वेषभूषा में रहती है। इसके स्तन भी कुछ या अपूर्ण बढ़ते हैं। इन दोनों प्रकार के षण्ढों को थोड़ी दाढ़ी एवं मोछ भी होती है किसी को नहीं भी। इनको नपुंसक या तृतीय प्रकृति कहा जाता है और चरक शा० स्था० अ० २ में—इन दोनों को नर षण्ढ एवं नारी षण्ढ कहा गया है। इनका उत्पादक बीज (शुक्र शोणित) मन्द शक्ति एवं अल्प होता है फलतः ये भी बलहीन एवं हर्षहीन होते हैं। यदि गर्भाशय में ही गर्भ के शुक्रस्रोत को वायु नष्ट कर डालता है तो "पवनेन्द्रिय" यदि शुक्रस्रोत के मुख अवरुद्ध हो जाते हैं तो "संस्कारवाही" माता के व्यवाय का प्रतिघात तथा पिता का शुक्र दुर्बल होने से "वक्री" वायु एवं पित्त की विकृति से—वृषण का नाश हो जाने से "वत्तिकषण्ढक" नामक गर्भ विकृतियाँ हो जाती हैं। च० शा० अ० २ देखिये। इनके अतिरिक्त—वन्ध्या, पूतिप्रजा तथा रान्ता नामक तीन स्त्रीव्यापद् और वन्ध्य, पूतिप्रज तथा तृणपुत्रिक (तृणपुत्तलिक या तृणपूलिक) नामक तीन पुरुष व्यापद् होती हैं ये दोष भी माता-पिता के शोणित शुक्र के विकार से गर्भोत्पत्ति काल में ही उत्पन्न हो जाते हैं। विवरण देखिये च० शा० अ० ४ में। ये सब अपूर्ण स्त्री पुरुष हैं अर्थात् न पूर्ण स्त्री और न पूर्ण पुरुष होते हैं ॥४३॥

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा।
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ढसंज्ञितः ॥४४॥

इनमें आसेक्य, सुगन्धि, कुम्भीक और ईर्ष्यक ये चार नपुंसक होते हुए भी शुक्रवाले (प्रजोत्पादन में समर्थ) हैं। षण्ढ नपुंसक शुक्र रहित (प्रजोत्पादन में असमर्थ) हैं ॥४४॥

---

१ कुम्भिल की उत्पत्ति—
"अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेदृतौ।
अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्जायते कुम्भिलस्तदा ॥"

२ ईर्ष्यक का लक्षण—
"इर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यार्ह्वयस्यापि वदन्ति हेतुम् ॥"

३ षण्ढस्तु स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतस्वमेढ्रस्योर्ध्वप्रदेशे अपरपुरुषात् वीर्यच्युतिं कारयति।

१ स्त्रीरूपापि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनिघर्षणं करोति ॥

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः।
हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ।४५।

शुक्रभक्षण आदि विरुद्ध अथवा विशेष स्वभाव द्वारा शुक्रवाही शिरायें हर्ष के कारण फूल जाती हैं, इसीलिये ध्वज (शिश्न) की उत्तेजना होती है। बिना उपर्युक्त कारणों के उत्पादक केन्द्र-मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड के केन्द्र उत्तेजित नहीं होते ॥४५॥

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥४६॥

सहवास के समय स्त्री और पुरुष की चेष्टायें, आहार, और आचार जैसे होते हैं, इनकी संतान में भी वैसा ही आहार आचार एवं चेष्टा रहती हैं।

वि० मन्तव्य—इसका विशद वर्णन-च० शा० अ० ८ में देखिये। और गर्भाधान के पूर्व माता पिता के आहार, आचार तथा चेष्टा का भला बुरा प्रभाव गर्भ पर पड़ता है॥

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन।
मुञ्चतः शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४७॥

जिस समय सम्भोग की इच्छावाली दो स्त्रियाँ काम से अभिभूत होकर परस्पर मिलती हैं, उस समय परस्पर शुक्र के मिलने से जो मांसपिण्ड बनता है, वह अस्थि रहित या कोमलास्थिवाला होता है[1]।

वि० मन्तव्य—वात्स्यायन काम सूत्र में इसे 'विसृष्टि सुख' कहा है, केवल शुक्र क्षरण-शुक्र विसर्जन का सुख पाने की इच्छा में दो नारियाँ तथा दो पुमान् परस्पर सहवास करते हैं। शुक्र धातु ही नारी तथा नर को मैथुन के लिये बाध्य करता है और उसके क्षरण में आनन्द का अनुभव होता है अतएव उपस्थ (योनि एवं शिश्न) का विषय-आनन्द (सु० शा० अ० १-६) माना है। नारी का शुक्र भी पुमान् के शुक्र का सा लसीला, श्वेत एवं विशिष्ट गन्धवाला होता है। यह भग की भित्तियों से स्रवता है। इससे गर्भाधान हो जाता है भले ही वह पैत्रिक गुणों से हीन होता है। वृषस्यन्ती कामुकी-कामातुरा का नाम है जो अपने शुक्र का विसर्जनमात्र करना चाहती है किसी भी प्रकार से ॥४७॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्।
आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥४८॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः ॥४९॥

जो ऋतुस्नाता स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है, तो वायु आर्त्तव को प्राप्त करके कुक्षि में गर्भ रूप कर देती है। यह रुद्ध आर्त्तव गुल्म रूप में प्रतिमास बढ़कर गर्भ के लक्षणों को (जी मचलाना, आर्त्तव का न आना आदि) उत्पन्न कर देता है। यह गर्भ कलल के रूप में बदल जाता है, इसमें पिता के गुण (केश, नख, अस्थि, नहीं होते)[1]।

वि० मन्तव्य—पुमान् के समान स्त्री को भी स्वप्न दोष होता है और उसके शुक्र का क्षरण भी होता है इस शुक्र को कभी २ वायु लेकर गर्भाशय में पहुँचा देता है और तत्रस्थ आर्त्तव के साथ मिला देता है फलतः उक्त प्रकार का गर्भ हो जाता है ॥४८,४९॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम् ॥५०॥

स्त्रियों के जो गर्भ सांप-बिच्छू, पेठे के समान विकृत आकृतियों वाले होते हैं, ये सब पापजन्य हैं[2] ॥५०॥

---

१ वास्तव में यह बात संगत नहीं—चूंकि स्त्रियों का शुक्र निरर्थक है—

"योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे।
गर्भस्य तन्न किंचित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥'

१ रक्तगुल्म के लक्षण देखिये—चरक में इसके ही लक्षण मिलते हैं। इसी प्रकार चरक के शारीर में भी 'ओजोऽशनाना-मित्यादि' श्लोक देखना।....लेखक की धात्रीशिक्षा में गर्भ के लक्षण देखिये। जो स्त्रियाँ गर्भ के लिये अतिशय उत्कण्ठित रहती हैं, उनमें स्वयं आर्त्तव अवरुद्ध होकर गर्भ के लक्षण उत्पन्न कर देता है। परन्तु क्लोरोफार्म सुँघाकर उदर की परीक्षा करें, तो कोई लक्षण स्पष्ट नहीं होते।

२ आजकल साधारण तौर से विकृत भ्रूणों के निम्न रूप हैं। यथा—

(क) Hemitaria इसमें बौना, दैत्य शरीर, अत्यन्त छोटा सिर, दो गर्भाशय आदि होते हैं।

(ख) Heterotaxia इसमें अवयव अपने स्थान पर नहीं होते।

(ग) Thratism बनावट की विकृति—

(१) Ectromelic monstor हाथ-पैर पूरी आकृति के नहीं होते।

(२) Symelic monstor—निचले अवयव मिले होते हैं।

(३) Celosomatic monstor—मध्य भाग बाहर को निकला होता है।

(४) Exencephalic-monstor—मस्तिष्क की बनावट ठीक नहीं होती।

(५) Pseudencephalic monstor—बृहत्मस्तिष्क नहीं होता।

(६) Anencephalic monstor—सम्पूर्ण मस्तिष्क नहीं होता।

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते ।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिण एव वा ॥५१॥

गर्भावस्था में गर्भ के अन्दर वायु का प्रकोप होने से अथवा गर्भवती स्त्री की श्रद्धा का खण्डन होने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (विकृत हाथोंवाला) पंगु (लङ्गड़ा), अथवा मूक (गूङ्गा) और मिन्मिन अस्पष्ट बोलनेवाला होता है ॥५१॥

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः ।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात् ॥५२॥

माता-पिता के नास्तिक होने से, अथवा पूर्वकृत अशुभ कर्मों से, अथवा वातादि दोषों के प्रकोप के कारण गर्भ विकृत हो जाता है ।

वि० मन्तव्य—नास्तिक्यात्—आयुर्वेदीय उपदेशों के अनुसार आचरण न करने से ॥५२॥

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च ।
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥५३॥

मल के अत्यन्त अल्प होने से, वायु और पक्वाशय का परस्पर संयोग न होने के कारण गर्भ-वायु, मूत्र और मल का त्याग नहीं करता[1] ।

वि० मन्तव्य—गर्भ का पोषण माता के आहार रस के द्वारा होता है अतः मलाशय में पुरीष का सञ्चय होता ही नहीं । मलाशय में वायु की गति भी नहीं होती अतः पुरीष का या तद्गत वायु का निःसरण भी नहीं होता, और अतएव मूत्र का निर्माण भी नहीं होता और न त्याग ही । तात्पर्य यह है भ्रूण के उक्त अवयव क्रियाशील ही नहीं होते, होने का आवश्यकता भी नहीं होती ॥५३॥

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते ।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥५४॥

जरायु द्वारा गर्भ का मुख बन्द होने से तथा गले में कफ रुका होने से, दोषजनक वायु का मार्ग रुका रहने से गर्भस्थ बालक रोता नहीं है ।

वि० मन्तव्य—भ्रूण के फुप्फुस भी क्रियाशील नहीं होते फलतः न श्वास लेता है, न बोलता एवं रोता है ॥५४॥

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति ।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसंभवान् ॥५५॥

गर्भ के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्न आदि सब कार्य माता के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वर पर निर्भर रहते हैं । अर्थात् बच्चे का जीवन तथा मानसिक संकल्प आदि सब कुछ माता के साथ सम्बद्ध हैं । उनका प्रभाव बच्चे पर पड़ा रहता है ।

वि० मन्तव्य—जीवन के लिये अत्यावश्यक श्वास उच्छ्वास एवं जागरण स्वप्न आदि की प्राप्ति—गर्भ माता के ही श्वास आदि से कर लेता है ॥५५॥

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥५६॥

शरीर-अवयव-चरणादि की रचना-विशेष दूध के दाँतों का गिरना तथा नये स्थायी दाँतों का उत्पन्न होना, हथेली या पाँव के तलुवे में बालों का उत्पन्न न होना, ये सब कार्य स्वभाव से ही होते हैं[1] ।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेददर्शन में—स्वभाव को भी कारण माना है (शा० अ० १ सू० ११) ॥५६॥

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः ।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५७॥

जिन लोगों ने पूर्व जन्म में निरन्तर शास्त्राभ्यास के द्वारा अन्तःकरण को पवित्र कर लिया होता है, वे इस जन्म में सत्त्वबहुल होते हैं, इन पुरुषों को अपनी पूर्व जाति का स्मरण रहता है[2] ।

---

(७) Cyclocephalic monstor—नाक नहीं होती ।
(८) Octocephalic monstor—कान मिलकर एक हो जाते हैं ।
(९) Omphalositic monstor—हृदय नहीं होता ।
(१०) Double monstor—दो भ्रूण जुड़े होते हैं । इसके निम्न भेद हैं—
(i) Sternopagus—उरोऽस्थि मिली रहती है ।
(ii) Ischiopagus—श्रोणि प्रदेश पर जुड़े होते हैं ।
(iii) Cephalopagas—सिर जुड़े होते हैं ।
(iv) XiphoPagns—उरोऽस्थि का अधोभाग जुड़ा होता है । Syncephalic—शिर का कुछ भाग जुड़ा होता है । Monocephalic—सिर एक ही होता है । Synosomatie—शरीर एक देश से मिले होते हैं । monosomatic शरीर एक होता है । Double Parusitic monstor—एक भ्रूण दूसरे भ्रूण के बीच में होता है ।

१ गर्भ का पोषण माता के रक्त और अपरा से होता है, अतः शरीर की शुद्धि भी इन्हीं से हो जाती है । इसलिये पक्वाशय-बस्ति आदि अवयव कार्य नहीं करते ।

१ चरक में इसका उत्तर दूसरी प्रकार से दिया है-अर्थात्-जिस प्रकार मोम आदि के साँचे में स्वर्ण रजत आदि डालने पर सांचे के आकार के हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य की योनि में बीज के पड़ने से वह भी उस आकार में ढल जाता है ।

१ देखिये भगवद्गीता में 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव....' इत्यादि श्लोक ।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में—चेतनाधातु को नित्य माना है अर्थात् वह अनेक बार जन्म ग्रहण करता है अतः पूर्व-जन्म की स्मृति भी कभी-कभी बनी रहती है ॥५७॥

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥५८॥

जिन कर्मों की प्रेरणा से मनुष्य इस शरीर को धारण करता है, तथा पूर्वजन्म में जिन गुणों का अभ्यास किया हुआ होता है, उन्हीं कर्मों तथा गुणों को इस जन्म में पाता है ।

वि० मन्तव्य—वर्तमान जन्म में उन गुणों–दुर्गुणों को शीघ्र ग्रहण करता है जो पूर्वजन्म में अभ्यस्त होते हैं ॥५८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शुक्रशोणित-
शुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो गर्भावक्रान्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पिछले अध्याय में कहा है कि चार वस्तुओं के संयोग से गर्भ रहता है, इसलिये इसको स्पष्ट करने के लिये गर्भावक्रान्ति (गर्भ का अवतरण) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात् (परस्परानुग्रहात्) परस्परानुप्रवेशाच्च ॥३॥

शुक्र सौम्य (सोमगुण-भूयिष्ठ) है और आर्त्तव-आग्नेय (अग्निगुणबहुल) है । इन दोनों अग्नि और जल के अतिरिक्त पृथिवी आदि शेष भूतों का भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सम्पर्क है। क्योंकि—पृथिवी आदि भूत परस्पर-एक दूसरे का उपकार करते हैं, एक दूसरे के अनुग्राहक हैं, एक दूसरे में घुसे हुए हैं, इसलिये इन तीन कारणों के कारण इनका इनमें प्रवेश है[१] ।

वि० मन्तव्य—शुक्र एवं शोणित दोनों पञ्च महाभूतात्मक होते हैं । परस्पराऽनुग्रहात्—परस्पर–एक दूसरे से अनुगृहीत-आकृष्ट होने से । शुक्र, शोणित एवं जीव के संयुक्त–मिश्रित पदार्थ का नाम "बीज" है । इसी बीज से शरीर का निर्माण होता है ॥३॥

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥४॥

स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज (उष्णिमा) को उत्पन्न करती है । यह तेज वायु के साथ मिलकर शुक्र को क्षरित करता है । क्षरित शुक्र (शरीर के सब अवयवों के प्रतिनिधियों को साथ में लेकर) योनि में पहुँचता है । वहाँ आर्त्तव के साथ मिल जाता है । इसके पश्चात् आग्नेय तथा सोमगुण के सम्बन्ध से बनता गर्भ गर्भाशय में पहुँचता है । इसके साथ में क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाचक शब्दों से कहा जानेवाला अक्षय, अव्यय (निर्विकार) अचिन्त्य, रूप (आत्मा) भूतात्मा तथा सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ, या लिंग शरीर के साथ अपने कर्मों के अनुसार सत्त्व, रज, तम, तथा दैव, आसुर, पशु भावों से युक्त हुआ वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर स्थिति करता है[१] ।

वि० मन्तव्य—क्षेत्रज्ञ शरीर भर को जाननेवाला, वेदयिता–सुख दुःख का अनुभव करनेवाला (कुछ दर्शनों के अनुसार मन को अनुभव करानेवाला), स्प्रष्टा-स्पर्श का अनुभव करनेवाला, घ्राता--सूँघनेवाला, द्रष्टा–देखनेवाला, श्रोता–सुननेवाला, रसयिता--रस का ज्ञान करनेवाला, पुरुष—पुरि-शरीरे शेते–शरीर में शयन करनेवाला या पूरुषः—शरीर का पूरण-आप्यायन करनेवाला, स्रष्टा--रचना सृष्टि करनेवाला अपने शरीर की रचना करनेवाला या अगली सन्तान की सृष्टि करने वाला, गन्ता-चलनेवाला, साक्षी--ज्ञाता, धाता—धारण पोषण का कारण, वक्ता--बोलनेवाला, अक्षय--न घटनेवाला, अव्यय--विकृति-रूपान्तर को प्राप्त न होनेवाला, अचिन्त्य--मनस् द्वारा जिसका चिन्तन नहीं हो सकता । भूतात्मा–मनस् । अक्ष–इन्द्रियाँ । गर्भाशयं अनुप्रविश्य अवतिष्ठते–गर्भाशय में जाकर उसमें चिपक जाता है और वहाँ चिपकता है जहाँ से रजस् की प्रवृत्ति होने में क्षत हुआ रहता है ॥४॥

---

१ विस्तार के लिये देखिये प्रश्नोपनिषद् में–"भगवन् कुतेमाः प्रजायन्ते । सहोवाच—प्रजापतिर्हि प्रजाकामो स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्च । इत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यन्ते । रयिरेव चन्द्रमाः प्राण एव सूर्यः ।" इत्यादि ।

१ शुक्र सम्पूर्ण सिर से नख तक के अवयवों का सार है। इसमें सब शरीर के प्रतिनिधि मिले रहते हैं । इस शुक्र के साथ ही आत्मा भी अवतरण करता है । आत्मा के साथ पूर्वजन्म-कृत कर्म भी शरीर में अवतरित होते हैं । इस शुक्र को नियमित करने वाले सुषुम्ना और मस्तिष्क केन्द्र हैं । शुक्र के साथ पौरुषग्रन्थि तथा अन्य ग्रन्थियों के भी स्राव मिले रहते हैं। यह शुक्र डिम्ब से मिलकर गर्भ को बनाता है ।

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ॥५॥

शुक्र की प्रबलता—अधिकता होने से पुरुष, आर्त्तव की प्रबलता–अधिकता होने से स्त्री, और दोनों की समानता रहने से नपुंसक संतान उत्पन्न होती है ।

वि० मन्तव्य—यह एक मत है इस विषय में अन्य मत-विचार भी हैं । यथा—श्लो० १२ देखिये ॥५॥

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥६॥

रजोदर्शन के पश्चात् ऋतुकाल बारह दिन तक रहता है । कई आचार्यों का मत है कि रजोदर्शन न होने पर भी ऋतुकाल होता है । गर्भस्थिति की योग्यता की परीक्षा के लिये ऋतुधर्म को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये । मासिक धर्म के बिना भी ऋतुधर्म रह जाता है, क्योंकि—

वि० मन्तव्य—किसी २–लाखों में किसी एक स्त्री को रजोदर्शन होता ही नहीं परन्तु गर्भाधान होता है । ७-८ वें श्लोक में इसी के लक्षण लिखे हैं । यद्यपि ये सब लक्षण दृष्टार्त्तवा के भी देखे जाते हैं । ऋतु—गर्भाधान का समय—उत्तम समय । कभी २ इस समय के पश्चात् भी गर्भाधान हो जाता है । परन्तु वह--उत्तम गर्भ नहीं होता है ॥६॥

भवन्ति चात्र—

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ॥७॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् ।
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥८॥

कहा भी है—

ऋतुमती के लक्षण—जिस स्त्री का मुख पुष्ट तथा प्रसन्न हो, आत्मा (शरीर) मुख और दाँत (मसूड़े), विशेष रूप में क्लिन्न हो जायें, जो पुरुष की इच्छा करती हो, प्रिय वचन बोलती हो, कुक्षि, आँख और बाल शिथिल हों, जिसकी भुजायें, कुच, श्रोणि, नाभि, ऊरु, जघन और नितम्ब में स्फुरण होता हो, जिसको हर्ष एवं उत्सुकता रहती हो, उसे ऋतुमती समझना चाहिये ॥७,८॥

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं तथा ।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥९॥

दिन के व्यतीत होने पर सायंकाल में जिस प्रकार कमल फूल बन्द हो जाता है, उसी प्रकार से ऋतुकाल व्यतीत होने पर स्त्री की योनि का मुख बन्द हो जाता है । योनि का मुख बन्द होने से वीर्य गर्भाशय तक नहीं पहुँचता ।

वि० मन्तव्य—परन्तु शुक्र इतना सूक्ष्म होता है कि कभी २ गर्भाशय में प्रविष्ट हो ही जाता है और हो सकता है ऋतुकाल के पश्चात् भी किसी गर्भाशय का मुख खुला रह जाता हो । यह सत्य है कि—अधिकांश गर्भाधान ऋतुकाल में ही होते हैं । योनि शब्द गर्भाशय का भी नाम है और व्यवहार में भग का भी । ऋतुकाल व्यतीत होने पर गर्भाशय का मुख संकुचित हो जाता है, योनि-भग या अपत्य पथ का मुख बन्द नहीं हो जाता। पाठक ध्यान दें ॥९॥

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् ।
ईषत्कृष्णं विवर्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥१०॥

एक मास तक परिपक्व होता हुआ आर्त्तव (डिम्ब) समय पर वायु द्वारा धमनियों में से होकर योनिमुख की ओर लाया जाता है । इसी समय गर्भाशय की धमनियों से भी रक्त बाहर आता है । यह रक्त किंचित् कृष्ण तथा विकृत गन्धवाला होता है[1] ॥१०॥

तद्वर्षाद्द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः ।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥११॥

यह रक्त बारह साल की आयु से प्रारम्भ होता है और वृद्धावस्था के कारण शरीर का परिपाक होने पर पचास वर्ष की आयु में नष्ट हो जाता है । यह समय रजोनिवृत्ति का है ॥११॥

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला ।
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥१२॥

ऋतुकाल के युग्म (समसंख्यक) दिनों में मैथुन करने से पुत्र उत्पन्न होता है और अयुग्म दिनों में संयोग करने से कन्या उत्पन्न होती है । इसलिये संतान की इच्छावाले पुरुष को चाहिये कि वह पवित्र होकर पुष्पकाल (ऋतुसमय) में सहवास करे[2] ॥१२॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि–श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ।१३।

जिस स्त्री ने अभी गर्भ ग्रहण किया हो उसके लक्षण निम्न हैं–श्रम (थकावट), ग्लानि (दिल का मचलाना), प्यास, टांगों

---

१ मासिक धर्म में जो रक्त आता है, उसका स्वरूप मसूड़ों से बहनेवाले रक्त से मिलता है । इसमें योनि, गर्भाशय के एपीथिलियम होते हैं । यह रक्त जमता नहीं, इसका रङ्ग काला होता है । यह आर्त्तव कभी चालीस वर्ष से पूर्व बन्द हो जाता है, और कभी ५० के बाद भी चालू रहता है ।

२ विदेह ने भी कहा है—"युग्मेषु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः । संयोगं तत्र या गच्छेत् पुमांसं सा प्रसूयते । अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद् बहुतरं रजः । संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥" इसी प्रकार भोज ने भी कहा है ।

में शिथिलता, शुक्र और शोणित का रुक जाना, और योनि का स्फुरण (Pulsation) आदि लक्षण होते हैं[१]।

वि० मन्तव्य–शुक्र एवं शोणित का अवबन्ध–बद्धमिलित--मिश्रित हो जाना—मिल जाना फलतः बाहर न निकलना—जिस दिन गर्भाधान होता है उस दिन मैथुन के पश्चात् शुक्र बाहर नहीं निकलता अपितु गर्भाशय में ही रह जाता है अन्य दिनों में निकल जाता है। गर्भाधान होते ही योनि—गर्भाशय में स्फुरण होने लगता है। बहुशः प्रसूता तत्काल उसका अनुभव कर लेती है। यह वही स्फुरण है जिसे वेद में "सोऽस्फुरत्" वह स्फुरित होने लगा। यही स्फुरण जीवन भर रहता है। इसी से शरीर की-गर्भ की—वृद्धि होने लगती है ॥१३॥

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥१४॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥१५॥

गर्भिणी के लक्षण—

स्तनमुखों का काला होना, लोमहर्ष, आँखों की पलकों का विशेष रूप से बन्द होना, बिना इच्छा के वमन होना, शुभ, गन्धों से उद्विग्नता (घबराहट) होना, मुख से लाला बहना और अंगों में शिथिलता होना गर्भिणी के लक्षण हैं[२]।

वि० मन्तव्य—स्तनों के मुखों में दूसरे तीसरे मास में कृष्णता व्यक्त हो जाती है। छर्दि—किसी २ को, कभी २, किसी २ गर्भाधान में प्रथम दिन से प्रसव पर्यन्त होती है और किसी को एक दो, दस बीस बार। मासिक रजः स्राव भी बन्द हो जाता है परन्तु किसी २–लाखों में एक को प्रसव पर्यन्त नियमित रूप से होता रहता है और गर्भ को कोई हानि भी नहीं पहुँचती। उदर धीरे २ बढ़ने लगता है ज्यों २ गर्भ बढ़ता है त्यों त्यों। इसी प्रकार स्तन भी बढ़ने लगते हैं। किसी २ के पाँव में शोफ तथा विदाह भी होता है ॥१४,१५॥

तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ॥१६॥

जिस समय से ही गर्भस्थिति के लक्षण स्पष्ट हो जायें, उसी समय से अर्थात् प्रथम मास से ही व्यायाम, व्यवाय (मैथुन) अपतर्पण (शरीर को तृप्त-पुष्ट न करनेवाला आहार-विहार), अतिकर्षण (कृश करनेवाला), दिन में सोना, रात्रि में जागना, शोक, सवारी (घोड़े आदि) पर चढ़ना, भय, उत्कट आसन (उकडू बैठना), इनको एकदम से त्याग कर देना चाहिये। असमय में स्नेहादि क्रिया, रक्तमोक्षण तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को नहीं रोकना चाहिये[१]।

वि० मन्तव्य—व्यवाय आदि के सेवन से—गर्भ-गर्भाशय में ही मर जा सकता है, उसका स्राव अथवा पात अथवा शोष हो सकता है। अधिक जानने के लिये देखिये च० चि० अ० ८–२२। और देखिये इसी स्थान का १० वाँ अध्याय ॥१६॥

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥१७॥

वात आदि दोषों तथा आघात के कारण गर्भिणी का जो भाग या अंग पीड़ित होता है, गर्भस्थ शिशु के भी वही अंग तथा भाग पीड़ित होते हैं ॥१७॥

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते; द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते, यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निवर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति; चतुर्थे सर्वांगप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते। दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥१८॥

शुक्र और आर्त्तव का संयोग होने के पीछे प्रथम मास में कलल (बुद्बुदाकार) रूप गर्भ होता है। दूसरे मास में शीत (कफ) और उष्म (पित्त) एवं अनिल (वायु) द्वारा पंचमहाभूतों के संघात का परिपाक होने पर गर्भ घन (ठोस) हो जाता है। यदि यह घन पिण्डाकार (गोल) हो तो पुरुष, यदि पेशी के आकार में (लम्बा-चार कोनों वाला) हो तो स्त्री, यदि अर्बुद (सिम्बल के फूल—Tumour) के आकार में हो तो नपुंसक समझना चाहिये। तीसरे महीने में दो हाथ दो पाँव और शिर को बतानेवाली पिण्डकायें (निशान) बन जाते हैं, शेष अंगों प्रत्यङ्गों का विभाग अतिसूक्ष्म रहता है। चौथे मास में सब अङ्गों प्रत्यङ्गों की बनावट अधिक स्पष्ट हो जाती है। गर्भ के हृदय के स्पष्ट होने (हृदय की धड़कन के स्पष्ट सुनाई देने) से

---

१ चरक ने भी कहा है—"तृप्तिश्च बीजग्रहणञ्च योन्यां गर्भस्य सद्योनुगतस्य बिम्बम्"।

२ चरक ने भी कहा है—'आर्त्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषः छर्दिररोचकोऽम्लकामता च' इत्यादि।

१ विस्तार के लिये लेखक की धात्रीशिक्षा-पुस्तक देखिये।

चेतना (आत्मा-चेतना) धातु स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि-चेतना का स्थान हृदय ही है। इसलिए चतुर्थ मास में गर्भ इन्द्रियों के विषयों में चाह (इच्छा) करने लगता है। अतः स्त्री को दो हृदयवाली होने से—"दौहृदिनी" कहते हैं। दौहृद (गर्भवती) की इच्छा का प्रतिघात होने से संतान कुबड़ी, कुत्सित हाथों वाली, एक टांग से लंगड़ी, जड़, नाटी, विकृत आँखोंवाली, अथवा अन्धी उत्पन्न होती है। इसलिये गर्भिणी जिस जिस वस्तु की इच्छा करे वह-वह इसको देनी चाहिये। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से संतान वीर्यशाली और चिरायु होती है[1]।

वि० मन्तव्य—यदि दुर्भाग्य से दूसरे मास में गर्भस्राव हो जाता है तो पिण्ड, पेशी अथवा अर्बुद जैसा गर्भ गिरता है और यदि मृत गर्भिणी का शवच्छेदन किया जाय तो देखा जा सकता है और गर्भिणी अत्यन्त कृश हो तो चतुर दाई स्पर्श द्वारा अनुमान लगा सकती है अथवा "एक्सरे" द्वारा देखा जा सकता है। इसके पश्चात् भी गर्भस्राव-पात होने पर गर्भ के आकारों का ज्ञान होता है। चौथे मास से गर्भ हिलता-डुलता भी प्रतीत होने लगता है। दापयेत्—दिलावे—अर्थात् गृह-चिकित्सक घरवालों से कह सुनकर अवश्य दिलावे। चतुर्थ मास में गर्भवती को विशेष प्रकार की उत्कट इच्छा-अभिलाषा हुआ करती हैं इनको घर की बड़ी बूढ़ियाँ समझ लेती हैं कि यह दौहृद है—गर्भ एवं गर्भिणी की सम्मिलित इच्छा है। दौहृद = दो हृदयों का भाव। दौहृद को "दोहद" कहते हैं॥

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्॥१९॥
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥२०॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना।
प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये॥२१॥

कहा भी है—

गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के जिस जिस विषय का भोग करना चाहती हो, वैद्य को चाहिये कि गर्भहानि के भय से उन-उन पदार्थों को लाकर गर्भिणी को देवे। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से गुणशाली पुत्र उत्पन्न होता है। और स्त्री की इच्छा के पूर्ण न होने से गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) ही विकार आ जाता है। गर्भवती स्त्री की जिन जिन विषयों में पूर्ति नहीं होती, पुत्र की उन्हीं २ इन्द्रियों में पीड़ा होती है। वही वही इन्द्रिय बच्चे की खराब रहती है॥१९-२१॥

राजसंदर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥२२॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात्।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते॥२३॥
आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम्।
दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते॥२४॥
गोधामांसाशने पुत्रं सुषुप्सुं धारणात्मकम्।
गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा॥२५॥
माहिषे दौहृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्।
वराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं संजनयेत् सुतम्॥२६॥
मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम्।
सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात्॥२७॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौहृदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति॥२८॥

जिस गर्भवती स्त्री को राजा के दर्शन की इच्छा होती है, वह धनवान् और भाग्यशाली कुमार को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को दुकूलपट्ट (क्षौमवस्त्र), तथा कौशेय (रेशमी) वस्त्र एवं आभूषण आदि की चाह होती है, वह अलंकार प्रिय एवं सुन्दर पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को तपस्वियों के निवास स्थान में रहने की इच्छा होती है वह धर्मात्मा एवं संयमी पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को देवताओं की प्रतिमा को देखने की इच्छा होती है, वह पार्षद (सभा में प्रशस्त पुरुष-सभ्य) के समान पुत्र को उत्पन्न करती है[1]। जिस स्त्री को हिंसक पशुओं को देखने की इच्छा होती है वह हिंसाशील पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को गोह का मांस खाने की इच्छा होती है वह सोने की इच्छावाले एवं दौड़नेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है[2]। जिस स्त्री को गोमांस की इच्छा होती है वह बलवान् एवं सब क्लेशों को सहनेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को भैंस के मांस में अभिरुचि होती है वह शूरवीर, लाल आँखोंवाले तथा बालों-वाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को वराह (सुअर) मांस की इच्छा होती है वह सोनेवाले एवं शूरवीर पुत्र को

---

१ रघुवंश के तीसरे सर्ग में सुदक्षिणा की चाह को पूर्ण करने का वर्णन कालिदास ने किया है। इसी प्रकार गर्भवती सीता को वन की शोभा देखने के लिये रामचन्द्र जी ने भेजा था।

१ पार्षद का अर्थ हाराणचन्द्र जी ने—रुद्र के अनुचर, किया है। कहा भी है—"रुद्रैर्बलाढ्यैर्वृषभाधिरूढैः सपार्षदैरम्बरमापुपूरे"।

२ कहीं पर 'धारणात्मकम्' यह पाठ है—हाथ में पकड़कर न छोड़नेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है।

उत्पन्न करती है। जिस स्त्री की मृग मांस में रुचि होती है वह विक्रांत (उद्योगी), जंघाल (जोर से दौड़नेवाला) तथा सदा वन में घूमनेवाले पुत्र को उत्पन्न करती है। सृमर (मृग भेद या चँवर) मांस की इच्छावाली स्त्री चंचल मनवाली संतान को, तीतर के मांस की इच्छावाली स्त्री डरपोक संतान को उत्पन्न करती है इनसे अनुक्त = न कहे पदार्थों में गर्भवती स्त्री जिस जिस प्रकार की कामना करती है, वह उन्हीं पदार्थों के समान शरीर-आचार और स्वभाववाली संतान को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—विक्रान्त—लम्बी डग भरनेवाला या छलांग मारनेवाला, जङ्घाल—लम्बी टाँगोंवाला ॥२२-२८॥

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्।
यथा तथा दैवयोगाद्दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥२९॥

पूर्वजन्म के कर्मों के कारण से ही बालक का भविष्य(जन्म अगला शरीर) बनता है। इसी प्रकार दैवयोग (प्राक्तन कर्मों के कारण) से ही हृदय में दोहद (इच्छा) उत्पन्न होती है॥२९॥

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्, नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥३०॥

पांचवें मास में मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है (क्रियाशील हो जाता है)। छठे मास में बुद्धि और सातवें मास में सब अंग-प्रत्यंग का विभाजन अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है। इस मास में यदि बालक उत्पन्न हो जाये तो वह जीता नहीं क्योंकि इसके ओज को निर्ऋति (राक्षस) छीन लेते हैं, अतः मांस और चावलों की बलि निर्ऋति के लिये देनी चाहिये[1]। आठवें मास के बाद नवम-दशम ग्यारह और बारहवें किसी एक मास में प्रसव हो जाता है। इसके आगे गर्भ की विकृति समझनी चाहिये[2]।

वि० मन्तव्य—ज्यों ही आठवें मास में प्रसव होने लगे त्योंही मांसोदन की बलि दे देना चाहिये। कौमारभृत्य का कथन है अष्टम मास में जन्म लेनेवाले के ओज को राक्षस खा जाते हैं शेष देखिये उ० तं० अ० ३७। चरक का कथन है कि—अष्टम मास में गर्भ माता से और माता गर्भ से—रसवाहिनियों द्वारा बार-बार ओजस् को परस्पर आदान-प्रदान करते रहते हैं, फलतः ओजस् के अनवस्थित रहने के कारण उस मास में गर्भ का जन्म व्यापत्तिमान् होता है। च० शा० अ० ४। सातवें मास में जन्मा जीवित रहता है भले ही कुछ दुर्बल एवं कृश रहता है। १२ मास के पश्चात् भी उपविष्टक एवं नागोदर नामक गर्भ गर्भाशय में पड़े रहते हैं, चिकित्सा करने अथवा स्वतः पोषण प्राप्त होने पर—कई वर्ष पश्चात् जन्मते हैं। देखिये च० शा० अ० २ तथा अ० ८॥३०॥

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥३१॥

माता की रसवहा नाड़ी में गर्भ की नाभिनाड़ी बँधी होती है। यह गर्भनाभि-नाड़ी माता के आहार-रस-वीर्य को बालक में पहुँचाती है। इस नाड़ी द्वारा उपस्नेहन-पोषण मिलने के कारण गर्भ बढ़ता है। योनि में शुक्रसिंचनरूपी गर्भाधान क्रिया से प्रारम्भ करके जब तक संपूर्ण अंग-प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में—तिर्यग् रूप में व्याप्त रसवहा धमनियों द्वारा ही उपस्नेहन होने से गर्भ जीवित रहता है[1]।

वि० मन्तव्य—रसवहा-रसमय रक्तवहा नाड़ी-नाली सिरा—जो गर्भाशय का तर्पण करती है और जो "त एव रक्तं अभिवहतः विसृजतः च नारीणां आर्त्तवसंज्ञम्" सु० शा० अ० ६-७ में वर्णित हैं यह वाम दक्षिण भाग में दो हैं। जो गर्भ के पूर्व तथा पश्चात् आर्त्तव का वहन एवं विसर्जन करती हैं वे ही गर्भाधान हो जाने पर—गर्भ का पोषण करती हैं। भोज के शब्दों में-गर्भ उन रसमय रक्त के स्रोतों को रोक देता है-फलतः मासिक रजःस्राव नहीं होता परन्तु उस रसमय रक्त से-जरायु का

---

१ ओज-जब माता में पहुँचा हो तब यदि शिशु का प्रसव होता है तो मरा होता है। यदि ओज शिशु में हो, तब प्रसव होता है तो वह निर्बल होने के कारण अधिक समय नहीं जीता। इसलिये यह कहा है कि—

"अष्टमे मासि जातस्य हरन्त्योजो निशाचराः।"

२ गर्भावस्था के विस्तृत लक्षणों के लिये—धात्रीशिक्षा, सुश्रुत-शारीर (जयदेव) देखिये।

१ उपस्नेहन का अर्थ—"यथा पूर्णं सरः सलिलोपस्नेहः चत्वरे जाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोति। तथा च भोजः—गर्भो रुणद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै। रक्ताज्जरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका॥ सा नाडी गर्भमाप्नोति तथा गर्भस्य वर्त्तनम्॥ यद्यदश्नाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्। तस्मादन्नाद्रसीभूतं वीर्यं द्वेधा प्रवर्तते। भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते॥ गर्भः पुष्यति भागेन वर्धसे च यथाक्रमम्॥ गर्भकुल्येव केदारं नाड़ी प्रीणाति तर्पिता॥ उपासन्नं निष्यन्देन स्नेहयतीत्युपस्नेहः।

तथा गर्भनाल का निर्माण होता है और गर्भ का वर्त्तन-वृत्ति-भरण-पोषण होता है। गर्भिणी जो २ आहार खाती है उसका रस नामक वीर्य (सार) दो भागों में विभक्त हो जाता है १—से उक्त कार्य होता है और २—से स्तनों में स्तन्य की वृद्धि होने लगती है स्तन पुष्ट होने लगते हैं। गर्भ भी गर्भिणी का एक अवयव ही होता है।

रसवहा गर्भाशय का तर्पण करती है और गर्भाशय के भीतर चिपका हुआ गर्भ भी तृप्त होता रहता है आगे चलकर गर्भनाल बनने लगती है और गर्भनाल के अग्रभाग से वद्ध होने से गर्भाशय की दीवार से दूर होता जाता है और गर्भाशय में गर्भोदक भी उत्पन्न होने लगता है, अब गर्भ को गर्भनाल द्वारा जो गर्भ की नाभि में संसक्त रहती है और उधर गर्भाशय की दीवार में संसक्त रहती है—रसरूप पोषण पदार्थ मिलता रहता है और उसका वर्त्तन-भरण-पोषण होता रहता है। गर्भ को पृथक् भूख प्यास नहीं लगती माता (गर्भिणी) का ही आश्रय लेकर जीवित रहता है निर्वाह करता रहता है ॥३१॥

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीत्याह शौनकः शिरोमूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणां, हृदयमिति कृतवीर्यो, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः पाणिपादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य, मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसंभवस्य। तत्तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिः, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च, तद्यथा-चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात् तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात् तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति, एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ॥३२॥

शौनक ऋषि का विचार है कि गर्भ का सबसे प्रथम शिर बनता है, क्योंकि सब इन्द्रियों में शिर ही मूल है। कृतवीर्य ऋषि का विचार है कि सबसे प्रथम हृदय बनता है, क्योंकि यह बुद्धि और मन का स्थान है। पाराशर्य ऋषि का कथन है कि नाभि सबसे प्रथम बनती है, चूँकि सब प्राणी इसी से बढ़ते हैं (यही केंद्र है)। मार्कण्डेय ऋषि का कथन है कि हाथ पाँव सबसे प्रथम बनते हैं, चूँकि गर्भ की सब चेष्टायें इन्हीं के वश में हैं। सुभूति गौतम का मत है कि मध्य शरीर सबसे प्रथम बनता है, चूँकि सम्पूर्ण शरीर का आश्रय यही है।

भगवान् धन्वन्तरि का कथन है कि ये सब विचार ठीक नहीं हैं, गर्भ के सब अंग-प्रत्यंग एक साथ बनते हैं, परन्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण पता नहीं लगता। जिस प्रकार बांस के अंकुर तथा आम के फल में होता है। यथा—आम्र फल के पक जाने पर केशर, मांस (गुदा), अस्थि (गुठली), मज्जा (गिरी) पृथक् पृथक् दीखने लगते हैं, यह सब कालवश से हो जाता है, परन्तु यही वस्तुयें कच्चे फल में उपलब्ध नहीं होतीं—क्योंकि ये सूक्ष्म होती हैं। समय पर ये सूक्ष्म केशरादि स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार से वंशांकुर को भी समझना चाहिये। इसी तरह गर्भ की तरुणावस्था में सब अङ्ग-प्रत्यंग होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण ही उपलब्ध नहीं होते। यही अङ्ग-प्रत्यंग समय आने पर स्पष्ट हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—चेतनामय शुक्र शोणित का मिश्रण-बीज उक्त सब ऋषियों के मत में शिर आदि अवयवों का उपादान होता है और अपने २ मत की पुष्टि में सबने हेतु भी दिये हैं और यह सब मत उनके दृढ़ मत हैं अतः भगवान् धन्वन्तरि ने उनका स्मरण किया है और सबल खण्डन भी नहीं किया है केवल "तत् तु न सम्यक्" अर्थात् वह बहुत ठीक नहीं कहकर अपने मत का प्रतिपादन किया है। उन मतों की अपेक्षा धन्वन्तरि का मत अधिक युक्तिसंगत है इसी का समर्थन श्री पुनर्वसु ने भी (च० शा० अ० ६ में) किया है। बीज में समस्त शिर आदि अवयव सूक्ष्म रूप से विद्यमान होते हैं जो काल पाकर कुछ गर्भाशय में और कुछ जन्म के पश्चात् व्यक्त होते हैं यथा जन्म से ७-१२ मास में २४ दाँत उत्पन्न होते हैं और उनके गिर जाने पर पुनः ३२ दन्त उगते हैं, यौवन में दाढ़ी मोछ आदि व्यक्त होते हैं ॥३२॥

तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मजसत्त्वजसात्म्यजानि शारीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तशिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि॥३३॥

अब गर्भ के पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्वज, सात्म्यज-शरीर लक्षणों की व्याख्या करते हैं। गर्भ के केश, श्मश्रु, लोम, नख, अस्थि, दांत, शिरा, स्नायु, धमनी और वीर्य आदि स्थिर वस्तुयें पिता के अंश से उत्पन्न होती हैं। मांस, रक्त, मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, आँतें, गुदा आदि कोमल वस्तुयें माता से उत्पन्न होती हैं। शरीर का उपचय (गठन), बल, वर्ण, स्थिति, हानि रसजन्य हैं। इन्द्रियाँ,

ज्ञान-विज्ञान, आयु, सुख, दुःख आदि आत्माजन्य हैं। सत्व-जन्य वस्तुओं की आगे व्याख्या करेंगे। वीर्य, आरोग्यता, बल, वर्ण, मेधा यह सात्म्यजन्य हैं॥ ३३॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिण-कुक्षिमहत्त्वं च पूर्णं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति, स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयमवनतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितं लक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति॥ ३४॥

जिस स्त्री के दक्षिण स्तन में सब से प्रथम दूध का दर्शन होता है, दक्षिण कुक्षि भारी रहती है, प्रथम दक्षिण टांग में उत्कर्ष (रोमांच) आता है, प्रायः करके पुंल्लिंग नामवाले पदार्थों की चाह करती है, स्वप्नावस्था में पद्म, उत्पल, कुमुद, आम्रातक (अम्बाड़ा) आदि पुल्लिङ्ग वस्तुओं को प्राप्त करती है. जिसका मुखवर्ण स्वच्छ प्रसन्न हो, वह पुत्र को उत्पन्न करेगी ऐसा समझना चाहिये। इसके विपरीत लक्षणोंवाली स्त्री कन्या को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री के दोनों पार्श्व उठे होते हैं, पेट आगे को निकला होता है पूर्वोक्त नपुंसक गर्भ के लक्षण उपस्थित हों, वह नपुंसक सन्तान उत्पन्न करती है। जिस स्त्री का पेट बीच से दबा एवं द्रोणी (गून) के समान होता है वह जोड़िये बच्चों को उत्पन्न करती है[1]।

वि० मन्तव्य—दक्षिणं सक्थि उत्कर्षति—चलते समय या पलंग आदि पर चढ़ते समय प्रथम दाहिना पाँव उठाती है। चौथे पाँचवें आदि मासों में स्तनों से श्वेत द्रव-सा बहने लगता है उसी को स्तन्य कहा गया है। पुत्र गर्भवती का गर्भ—गर्भाशय के दक्षिण पार्श्व से संसक्त होता है। द्रोणीभूतं-द्रोणी—गून या गोणी का नाम है जो वस्तु भर कर गधे-खचर आदि पर लादी जाती है वह दो भागों में भरी रहती है। उदर जितना बड़ा होता है वस्तुतः उतना बड़ा गर्भ नहीं होता उसमें (गर्भाशयमें) गर्भोदक भरा रहता है जिसमें जरायु में लिपटा गर्भ तैरता रहता है। प्रसव के समय प्रथम यही निकलता है और फिर गर्भ, कभी-कभी गर्भ जरायु को साथ लिये भी निकलता है किन्तु प्रायः वह भीतर ही रह जाता है जैसे पके आम को जोर से दबाने पर छिलका हाथ में ही रह जाता है, यह प्रसव के पश्चात् स्वयं गिर जाती है परन्तु कभी कभी गिराने का प्रयत्न भी करना पड़ता है इसी में नाल भी लगी रहती है जो खिंचकर गर्भ के साथ बाहर आ जाती है और उधर जरायु से भी लगी रहती है। गर्भोदक १-२ सेर होता है। नाल की लम्बाई १-१॥ हाथ होती है। कभी कभी जरायु इतनी नहीं फटती जिसमें से गर्भ बाहर आ सके इस दशा में उसे अधिक फाड़ना पड़ता है। प्रसव के समय की वेदना का नाम "आवी" है उस समय गर्भाशय में ऐंठन या सिकुड़न होने लगती है इसी ऐंठन का नाम आवी है, अकाल में आवी होने से गर्भस्राव अथवा गर्भपात हो जाता है॥ ३४॥

भवन्ति चात्र—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥ ३५॥

कहा भी है—जो माता-पिता, देवता, ब्राह्मण की पूजा (सत्कार) करने में तत्पर रहते हैं, शौच (पवित्रता) तथा आचार का पालन करते हैं, वे महागुणशाली पुत्रों को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत आचरणवाले माता पिता निर्गुण संतान उत्पन्न करते हैं।

वि० मन्तव्य—माता के उक्त पवित्र आचरण का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है॥ ३५॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः।
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः॥ ३६॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निर्माण स्वभाव से ही होता है परन्तु अङ्गप्रत्यङ्गों के निर्माण में जो गुण या अवगुण होते हैं, वे गर्भ के धर्म-अधर्म के कारण से होते हैं।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद दर्शन में स्वभाव को भी कारण माना है (दे० शा० अ० १-११)॥ ३६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो गर्भव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

पूर्व अध्याय में वर्णित गर्भ की रचना को विस्तार में कहने के अभिप्राय से गर्भव्याकरण नाम अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

---

१ चरक में भी कहा है—
(१) सव्यांगचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते॥
पुत्रं त्वतो लिंगविपर्ययेण व्यामिश्रलिंगा प्रकृतिं तृतीयाम्॥
(२) रोमराजी भवेन्निम्ना यस्याः सा सूयते यमौ।

वि० मन्तव्य—आकरणं-आकारः-आकृतिः, विशिष्टानां विविधानां वा आकरणं=व्याकरणम् तच्च अस्ति अस्मिन् इति तत्। अर्थात् इस अध्याय में—शरीर के विशिष्ट या विविध अवयवों के आकारों-आकृतियों का वर्णन किया गया है ॥१-२॥

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥ ३ ॥

अग्नि (पित्त के पाँचों भेद), सोम (कफ, रस, शुक्र द्रव भाग), वायु, सत्त्व, रज, तम, पाँचों इन्द्रियाँ और भूतात्मा (जीव) ये प्राण हैं। शरीर का प्राणन इनके कारण ही होता है ॥ ३ ॥

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्वान् वर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठानाः द्वितीया लोहिता नाम, षोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, द्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नामाष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पंचमी वेदिनी नाम पंचभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपदगलगण्डाधिष्ठाना, सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा; भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना। यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु च, यतो वक्ष्यत्युदरेषु—'व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्' (चि०अ०१४) इति ॥४॥

भूतात्मा से अधिष्ठित शुक्र-शोणित के परिपाक होने से सात त्वचायें उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार दूध के परिपाक करने पर मलाई जमती है। इनमें सब से प्रथम त्वचा का नाम अवभासिनी है। यह प्रथम त्वचा—गौरादि सब वर्णों को तथा पाँचों प्रकार की छाया (कान्ति–आसन्ना लक्ष्यते छाया) को प्रकाशित करती है। इस त्वचा की मोटाई जौ के अठारहवें भाग के बराबर है। इसी त्वचा में सिध्म तथा पद्मकण्टक रोग होते हैं। दूसरी त्वचा (स्तर) का नाम 'लोहिता' है। यह व्रीहि के सोलहवें भाग के बराबर मोटी है। इस त्वचा में तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग आदि रोग होते हैं। तीसरी त्वचा का नाम 'श्वेता' है। इसकी मोटाई व्रीहि का बारहवाँ भाग है। चर्मदल, अजगल्ली, मशक आदि रोग इसमें होते हैं। चौथी त्वचा का नाम 'ताम्रा' है, यह व्रीहि का आठवाँ भाग मोटी है। इसमें नाना प्रकार के किलास और कुष्ठ (त्वचा के रोग) होते हैं। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है, यह व्रीहि का पाँचवाँ भाग मोटी है। इसमें कुष्ठ-वीसर्प रोग होते हैं। छठी रोहिणी नामक है, यह व्रीहि के बराबर मोटी है। इसमें ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड रोग होते हैं। सातवीं त्वचा का नाम मांसधरा है। यह दो जौ के बराबर मोटी है। इसमें भगन्दर, विद्रधि, अर्श रोग होते हैं। यहाँ पर जो मोटाई का प्रमाण कहा है, वह उदर आदि मध्य शरीर तथा मांसल-स्थानों से समझना चाहिये। ललाट, सूक्ष्म अंगुलि आदियों में नहीं। चूँकि आगे उदर रोग में कहेंगे कि व्रीहिमुख शस्त्र द्वारा अंगुष्ठोदर के बराबर गहरा वेधन करना चाहिए[1]।

वि० मन्तव्य—त्वचा—त्वच् संवरणे धातु (तु० प०) से त्वचा शब्द का निर्माण होता है—जो शरीर का संवरण (सम्यक् प्रकार से ढकना) करती है, इसका पर्याय है असृग्धरा जो रक्त को बहने से रोकती है। यह शीतोष्ण (सरदी गर्मी) से बचाती है जैसे वस्त्र। "तनु विस्तारे" से भी त्वचा शब्द बनाया जा सकता है अर्थ है जो शरीर पर फैली हुई है। इसमें रोमकूप रहते है उनकी जड़ वेदिनी त्वचा तक होती है। इसमें से स्वेद निकलता है। त्वचा के सात स्तर हैं—१—अवभासिनी—अवभासयति-प्रकाशयति वर्णं इति। गौर श्यामादि वर्ण इसी में रहते हैं। २—लोहिता-लाल, ३—श्वेता—श्वेत, ४—ताम्रा—ताम्र की सी लाल, ५—वेदिनी—वेदयति स्पर्श-स्पर्शज्ञान इसी से होता है, कण्टक जब चारों त्वचाओं को पार कर जाता है तब अनुभव होता है, शीत-उष्ण आदि का अनुभव भी इसी से होता है अतः इसका नाम वेदिनी-विदित अवगत करानेवाली। ६—रोहिणी—इस पर रोह-प्ररोह होते हैं—रोहाः सन्ति अस्यां इति रोहिणी। ७—मांसधरा—जो मांस को धारण करती है उससे सम्बद्ध है उस पर लिपटी है यह त्वचा का भीतरी अन्तिम स्तर है। शुक्र शोणित के मिश्रण पर सर्व प्रथम जो आवरण बनता है उसे

---

१ चरक में छै ही त्वचा कहीं हैं। यथा—उदकधरा, असृग्धरा, सिध्मकिलाससंभवाधिष्ठाना, दद्रु-कुष्ठसम्भवाधिष्ठाना, अलजी-विद्रधिसम्भवाधिष्ठाना, यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति।

कविराज गणनाथ सेन जी ने स्थूल दृष्टि से दीखनेवाली त्वचा के दो ही स्तर माने हैं। (१) एक उपरि त्वचा (Epidermis) और दूसरी अन्तः त्वचा (DerMis)। परन्तु यदि अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो प्रथम त्वचा पाँच स्तरों में तथा अन्तः त्वचा दो भागों में विभक्त दीखती है। इस प्रकार से ये सात स्तरें मिलकर त्वचा को बनाती हैं।

(२) छाया और प्रभा में भेद है। यथा—आसन्ना लक्ष्यते छाया, प्रभा दूरप्रकाशिनी।

इधर उधर बह जाने से रोकता है वह त्वचा ही है। वही काल पाकर उक्त रूप धारण कर लेती है। इन स्तरों की मोटाई का उल्लेख पूर्ण स्वस्थ के लिये है ॥४॥

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः ॥५॥

धातुओं (रस-रक्तादि तथा कफ, पित्त, मलादि) के आशयों में सीमा (मर्यादाभूत) कलायें (Membrans) भी सात हैं।

वि० मन्तव्य—धातु-पदार्थ तथा धातु के आशय के अन्तर मध्य की मर्यादा "कला" कहलाती है। जैसे कटोरा में कागज धरकर कोई वस्तु धरी जाती है वैसे ही आशय में कला रहती है, मांसधरा कला मांस पेशियों पर लिपटी रहती है ॥५॥

भवतश्चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुर्मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥६॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥७॥

कहा भी है—जिस प्रकार वृक्ष के काष्ठ को काटने से सार दीखने लगता है (रस बहने लगता है), उसी प्रकार मांस के काटने पर धातु (रस-रक्तादि) दीखने लगते हैं। जो स्नायुओं द्वारा भली प्रकार से ढंपे होते हैं, जरायु (उल्बा झिल्ली) से सम्यक् प्रकार से व्याप्त होते हैं, तथा कफ से घिरे रहते हैं, उनको कला कहते हैं[1]।

वि० मन्तव्य—हमारे विचार में छठे श्लोक का उत्तरार्ध "तथा कलासु धातुर्हि छिद्यमानासु दृश्यते" होना चाहिये अर्थात् वैसे ही कला के कट-फट जाने पर धातु—उसके भीतर का पदार्थ दिखाई पड़ता है—आशय के कट जाने पर भी यदि उसके भीतर की कला न कटे तो उसके भीतर का पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता। और छठे श्लोक के आगे—'धात्वाशयान्तरेऽन्यस्य यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति। देहोष्मणा विपक्वस्तु सा कला इत्यभिधीयते ॥' पाठ होना चाहिये। अर्थात् धातु एवं आशय के मध्य में जो क्लेद—पिच्छिल द्रव रहता है वह शरीर की उष्मा से परिपक्व होकर—कागज का सा होकर "कला" कहलाता है। यह माड़ी एवं मोम से पालिश किये रेशमी कपड़ा की सी होती है। कपड़ा के धागे स्नायु, माँड़ी जरायु तथा मोम श्लेष्मा कहा जा सकता है ॥६,७॥

तासां प्रथमा मांसधरा यस्यां मांसे शिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥८॥

सात कलाओं में प्रथम कला का नाम 'मांसधरा' है। इसमें से होकर ही शिरा, धमनी, स्नायु और स्रोत—इनकी शाखायें मांस में पहुँचती हैं।

वि० मन्तव्य—यह मांसपेशियों पर लिपटी रहती है। इसीके कारण मांस मांसपेशियों में विभक्त रहता है ॥८॥

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥९॥

कहा भी है—जिस प्रकार से बिस और मृणाल कीचड़-भूमि तथा पानी में रहकर चारों ओर बढ़ते हैं, इसी प्रकार से मांस में शिरा आदि (Blood vessels) चारों ओर फैलते हैं ॥९॥

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति ॥१०॥

दूसरी कला का नाम 'रक्तधरा' है, यह कला मांस के अन्दर रहती है। इसमें रक्त का संवहन होता है। यह कला विशेषकर शिराओं में, यकृत् और प्लीहा में रहती है ॥१०॥

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥११॥

कहा भी है—दूधवाले वृक्षों पर चोट लगने से जैसे उनमें से दूध बहने लगता है, इसी प्रकार मांस पर आघात होने से रक्त शीघ्र बहने लगता है ॥११॥

तृतीया मेदोधरा, मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥१२॥

तीसरी कला का नाम 'मेदोधरा' है। सब प्राणियों के उदर में तथा सूक्ष्म अस्थियों में मेद, तथा बड़ी अस्थियों में मज्जा रहती है। यह कला मेद और मज्जा को धारण करती है[1] ॥१२॥

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१३॥

विशेषकर स्थूलास्थियों के मध्य में मज्जा रहती है, छोटी अस्थियों में रक्तयुक्त मेद रहता है। शुद्ध मांस के स्नेह को वसा कहते हैं ॥१३॥

---

१. वृद्ध वाग्भट्ट ने कहा है—"यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथा स्वमूष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्म जरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषाल्पत्वात् कलासंज्ञः।"

१. कविराज गणनाथ सेनजी ने इनमें, निम्न भेद किये हैं। यथा—'मेदो नाम सान्द्रसर्पिस्तुल्यः स्नेहधातुः शरीरस्य। वसा तु—मांसान्तरानुप्रविष्टः स्नेहः। मज्जा—अस्थिमध्यगतः स्नेहः। स द्विविधो पीतो रक्तश्च ॥' प्रत्यक्ष० शा० पृ० १०।

चतुर्थी श्लेष्मधरा सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥१४॥

चौथी कला का नाम 'श्लेष्मधरा' है। यह कला प्राणियों की सब सन्धियों में रहती है ॥१४॥

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते ।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥१५॥

जैसे चक्र के अक्ष (धुरी) के स्नेह आदि से चिकना होने पर पहिया आराम से घूमता है, इसी प्रकार श्लेष्मा से युक्त सन्धियाँ भी अपना काम भली प्रकार से करती हैं ॥१५॥

पञ्चमी पुरीषधरा नाम, याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था ॥१६॥

पाँचवीं कला का नाम 'पुरीषधरा' है। कोष्ठ के अन्दर पक्वाशय में स्थित हुई अन्न को मलरूप में विभक्त करती है ॥

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता ॥
उण्डु (न्दु) कस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥१७॥

'मलधरा' कलाकोष्ठ में यकृत् से आरम्भ होकर सब आँतों में व्याप्त होती हुई उण्डूक (caccum) स्थित मल को पृथक् करती है। मल का विभाग अग्नि तथा वायु के कारण से होता है[1]। उण्डूक तक मल के साथ अन्न का कुछ भाग मिला रहता है। परन्तु उण्डूक में पहुँचने पर सार भाग आँतों से खींचा जाता है, केवल पानी का भाग ही रहता है और कुछ नमक रहता है। बृहदंत्र का भाग इनको मल से पृथक् कर लेता है, इस प्रकार से मल ही बाहर होता है ॥१७॥

षष्ठी पित्तधरा, या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥१८॥

छठी कला का नाम 'पित्तधरा' है। यह कला चारों प्रकार के खाये अन्न-पान को आमाशय से निकालकर पक्वाशय में जाने के लिये धारण करती है, इसी को ग्रहणी कहते हैं[2] ॥१८॥

१. "तथा च—अग्निकृतो यथा—विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि। मारुतकृतो यथा—सोऽन्नं पचति तज्जांशविशेषान् विविनक्ति।" कोष्ठ का लक्षण—

"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥" पाचन के लिये 'हमारे शरीर की रचना' देखिये।

२. पित्तधरा—"षष्ठी पित्तधरा नाम। पक्वाशयामाशयमध्यस्था, सा ह्यन्तरग्न्यधिष्ठानतमा आमपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधम् अन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचति। पक्वं च विमुञ्चति। ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः ॥" अष्टांगसंग्रहः।

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥१९॥

कहा भी है—अशित (खाया हुआ) पीत खादित और लीढ चार प्रकार का भोजन कोष्ठ में पहुँचकर पित्त की उष्णिमा से सुखाया जाकर यथासमय में सुखपूर्वक पचता है।

वि० मन्तव्य—जीर्यति—पच जाता है अर्थात् सार एवं किट्ट रूप में विभक्त हो जाता है, ग्रहणी में ही आहार का साररस गृहीत होकर शरीर पोषणार्थ पृथक् हो जाता है ॥१९॥

सप्तमी शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥

सातवीं 'शुक्रधरा' नाम कला है। यह कला सब प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है ॥२०॥

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥२१॥

जिस प्रकार कि दूध में घी गन्ने में रस गूढ़ छिपा हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यों के शरीर में शुक्र को समझना चाहिये। (शुक्र शरीर के प्रत्येक कण कण में व्याप्त है) ॥२१॥

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥२२॥

बस्तिद्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण पार्श्व में—मूत्रस्रोत के मार्ग से ही पुरुषों में शुक्र प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य—सप्तमी शुक्रधरा द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्त्तयति ॥ वृद्धवाग्भट्ट। द्व्यङ्गुले दक्षिणे इत्यादि—इत्यत्र द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे इत्येव साधीयान् पाठः—अन्यथा प्रत्यक्षविरोधः (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात पृ० ७२)।

वि० मन्तव्य—शुक्रवहे द्वे स्रोतसी सु० शा० अ० ९। शुक्रवाही दो स्रोतस् हैं। ये वस्ति—मूत्राशय द्वार के दो अंगुल नीचे पुमान् के मूत्रमार्ग में खुलते हैं। अतः "दक्षिणे वामे" यह पाठ साधीयान् है। और नारी के भग की दीवारों में अनेकमुखी होकर व्याप्त रहते हैं। मैथुन आदि के समय शुक्र समस्त शरीर से आकर इन्हीं स्रोतों में से होकर बाहर आता है, शुक्र को सर्वदा बहने से रोकनेवाली "शुक्रधरा" कला है। शेष देखिये—सु० नि० अ० १० श्लोक० १८–२२ ॥२२॥

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्तते ॥२३॥

शुक्र सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। प्रसन्न मन के कारण, स्त्रियों में सम्भोग करने पर, हर्ष के कारण वह शुक्र प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य—संकल्पो वृष्याणाम् श्रेष्ठतमः, चरक। हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि । अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते ॥ तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टा-संकल्प-पीडनात्। शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥ चरक० चि० अ० २ ॥ २३ ॥

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते, शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीतोन्नतपयोधरा भवन्ति ॥ २४ ॥

स्त्री के गर्भवती होने पर गर्भ के कारण आर्त्तववह स्रोत बन्द हो जाते हैं। इसलिये गर्भवती स्त्री में आर्त्तव का दर्शन नहीं होता। यह आर्त्तव नीचे रुक जाने से ऊपर की ओर आकर और अन्य आर्त्तव उपचित-सञ्चित होते २ बढ़ते जाने पर, 'अपरा' शब्द से कहा जाता है। शेष बचा आर्त्तव ऊपर आकर स्तनों में पहुँचता है। इसलिये गर्भवती के स्तन मोटे और भारी तथा उन्नत हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य-आर्त्तव-मासिक रजस् ही रुककर सञ्चित होता हुआ "अपरा" जरायु तथा नालका रूप धारण कर लेता है और उसका कुछ भाग स्तनों को पुष्ट करने लगता है॥

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः, शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥ २५ ॥

गर्भ के यकृत्-प्लीहा रक्तजन्य हैं। फेफड़े रक्त की झाग से बनते हैं उण्डूक रक्तके किट्ट से बनता है।

वि० मन्तव्य—गर्भ यकृत् एवं प्लीहा का निर्माण रक्त से होता है और रक्त का निर्माण भी ये ही करते हैं। 'स खलु आप्यो रसो यकृत् प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति' (सु० सू० अ० १४)। जन्म से २-३ मास तक तत्पश्चात् बालक ज्यों २ बड़ा होता है यकृत् पर्शुकाओं से बाहर उदर में स्पर्शोपलभ्य रहता है यकृत् पर्शुकाओं के पञ्जर के अन्दर हो जाता है, फिर कभी ज्वर आदि कारणों से बढ़कर उदर में स्पर्शोपलभ्य हो जाता है, प्लीहा की दशा भी ऐसी ही रहती है। ज्वर आदि से वह भी बढ़ जाती है। फुप्फुस या फुस्फुस—रक्त की फेन से निर्मित होता है, और स्वरूपतः भी फेन-झाग के गुप्फे जैसा ही होता है, यह उदान--प्राण मिश्रित—श्वास उछ्वास का साधन है, "उदानवायोः आधारः फुप्फुसं प्रोच्यते बुधैः।" कण्ठ से श्वास मार्ग का प्रारम्भ होता है और आगे जाकर वह दो भागों में विभक्त हो जाता है और दोनों फुप्फुसों में चला जाता है और आगे फुप्फुसों में जाकर फेन-सदृश असंख्य कोष्ठ प्रकोष्ठों में विभक्त होकर समस्त फुप्फुसों में व्याप्त हो जाता है। फलतः श्वास द्वारा गृहीत वायु फुप्फुस के कोने-कोने में जा सकता है। इन्हीं का नाम-फेफड़ा है, यह वायु के प्रवेश से कुछ फूलते और निकलने से कुछ संकुचित होते रहते हैं। फुप्फुसों को मर्म का वर्णन करते हुए श्री धन्वन्तरि ने—अध्याय ६ में स्तनमूल, स्तनरोहित, अपलाप नामक ३ अवयवों में विभक्त माना है और श्वास मार्ग के फुप्फुसों में जानेवाले दोनों मार्गों को अपस्तम्भ कहा है। देखिये शा० अ० ६-२५। फुस्फुसायते इति फुस्फुसः-श्वासक्रिया में फुस्फुसाते हैं-अतः फुस्फुस कहे जाते हैं। आशयों का वर्णन करते समय इनको वाताशय कहा गया है (सु० शा० अ० ५)। फुप्फुसों में सर्वदा वायु भरा रहता है, जितना श्वास में भीतर जाता है उतना उछ्वास में निकल जाता है। उण्डुक या उन्दुक—उन्दी-क्लेदने धातु (रुधादिगण) से उन्दुक शब्द बनता है। अर्थ है जो आर्द्र करता है या जिसके द्वारा आर्द्र किया जाता है—मलद्रव का जलांश यहीं से समस्त शरीर में पहुँचता है, जिससे शरीर आर्द्र बना रहता है। देखिये इसी अध्याय का श्लोक १७ ॥ २५ ॥

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥ २६ ॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः।
उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ॥ २७ ॥
कफशोणितमांसानां साराज्जिह्वा प्रजायते।
यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ॥ २८ ॥
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा।
मेदसः स्नेहमादाय सिरा स्नायुत्वमाप्नुयात् ॥ २९ ॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः।
आशयाभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥ ३० ॥

रक्त और कफ का जो अति उत्तम भाग है, उसका पित्त से परिपाक होते समय वायु भी इसमें भाग लेता है। इससे गर्भ के अन्त्र, गुदा, बस्ति बनते हैं। उदर में पचते हुए कफ, रक्त और मांस के सार से जिह्वा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार धोंकने पर स्वर्ण का सार मात्र ही बचता है, जिस प्रकार यथायोग्य उष्णिमा से युक्त वायु स्रोतों को विभक्त करता है उसी प्रकार वायु मांस में प्रविष्ट होकर पेशियों को विभक्त करता है। शिरा मेद से स्नेह को लेकर स्नायुरूप बनती हैं। शिराओं का पाक मृदु रहता है, और स्नायुओं का इनसे खर (कठोर) रहता है। बारम्बार स्थिर रहने का अभ्यास करने से वायु आशयों को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—श्री पं० हरिप्रपन्न जी ने 'शिरा स्नायुत्वमाप्नुयात' के स्थान पर 'शिरा स्नायुत्वमप्यथ' पाठ बदला है। उनके

अर्थ में वायु अन्त्र से स्नेह को लेकर मेद को उदर में एकत्रित करती है। इस मेद के स्नेह के मृदुपाक होने से शिरायें और खर पाक होने से स्नायु उत्पन्न होते हैं। यही वायु मांसपेशियों में सब ओर निवास करके हृदय आदि आशयों को उत्पन्न करती है। (रसयोगसागर० पृ० ११३,११४)।

वि० मन्तव्य—अन्त्र—आमाशय एवं पक्वाशय के मध्यवर्त्ती नली का नाम अन्त्र है। इसकी लम्बाई साढ़े तीन व्याम होती है, १—व्याम=४ हाथ, ३॥ व्याम = १४ हाथ=२१–२२ फुट। नारियों में यह आधा व्याम छोटी होती है। अम् गतौ धातु (भ्वादि गणीय) से अन्त्र शब्द बनता है—अर्थात् जो गति करती है या जिसके द्वारा खाया हुआ आहार गति करता है। इसी गति के कारण—आहार-आमाशय से अन्त्र में, अन्त्र से मलाशय में और मलाशय से गुद द्वारा बाहर चला जाता है। वस्ति का वर्णन सु० नि० अ० ३ में देखिये। गुद का वर्णन अ० २ में देखिये। और शा० अ० ५–६ तथा शा० अ० ६—२५ देखिये। जिह्वा—रसनेन्द्रिय तथा वागिन्द्रिय का अधिष्ठान है। इसके द्वारा मधुर अम्ल आदि रसों का अनुभव होता है और बोला जाता है। यह कफ शोणित तथा मांस के सार से बनी है, यथा—जिह्वा अधिकतर मांस से बनी है, मांस के ऊपर श्लैष्मिक मोटी कला चढ़ी रहती है। यह कई मांस पेशियों द्वारा अधो हन्वस्थि से जुड़ी रहती है। यह संकोच से छोटी और प्रसार से बड़ी-चौड़ी हो जाती है। इस पर छोटे २ अङ्कुर होते हैं, इन्हीं से रस का ग्रहण—अनुभव होता है। यह कफ रसन नामक कफ है, जिससे आर्द्र रहने पर इसका अनुभव होता है 'रस्यते अनेन इति रसनः'। पेशी—शरीर पर जितना भी मांस है वह मांस पेशियों में विभक्त है और मांस पेशियों के आकार भिन्न २ होते हैं। उन पर मांसधरा कला लिपटी रहती है। देखिये मांसधरा कला अ० ५ का सू० ३७-४१। शिरा—इसके लिये देखिये सु० शा० अ० ७। और स्नायु के लिये देखिये—अ० ५। आशय-इसके लिये देखिये-शा० अ० ५–८। इसका अर्थ है—जिसमें कोई वस्तु आकर शयन करती है, कुछ समय के लिये रुकती है। गर्भ निर्माण के समय केवल वायु उन स्थानों में जहाँ आशय की आवश्यकता होती है आकर-रुककर आशय का निर्माण कर देता है। इस परिभाषा के अनुसार क्षुद्रान्त्र, शिरा तथा शुक्रवाही स्रोत आदि को आशय कहना उचित है कि अनुचित पाठक स्वयं विचार करें॥ २६-३०॥

रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ, मांसासृक्कफमेदःप्रसादाद् वृषणौ, शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः, तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च, तद्विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति॥ ३१॥

रक्त और मेद के सार से वृक्क बनते हैं। मांस-रक्त-कफ मेद के सार भाग से वृषण, रक्त-कफ के सार भाग से हृदय उत्पन्न होता है। क्योंकि प्राणवहा धमनियाँ इसी हृदय के आश्रित हैं। इस हृदय के नीचे वाम पार्श्व में प्लीहा और फेफड़े, दक्षिण पार्श्व में यकृत् और क्लोम है। यह हृदय विशेष रूप में चेतना का स्थान है। इसीलिये इस हृदय के तम से ढँप जाने पर सब प्राणी सोते हैं।

वि० मन्तव्य—वृक्क—गर्भ के वृक्क—रक्त एवं मेदस् के प्रसाद—स्वच्छ सार भाग से निर्मित होते हैं। अतएव वे-रक्त में से अनुपयोगी अंश को छानकर मूत्र का निर्माण करते और मेदस् की रक्षा करते हैं—बहने से रोकते हैं। ये दो होते हैं, जन्म हो जाने पर क्रियाशील होते हैं, उदर के भीतर-पिछली ओर पृष्ठवंश के दाहिनी एवं बाईं ओर रहते हैं, उनके सामने अन्त्र गेण्डली मारे पड़ी रहती है, ये दोनों ओर की बारहवीं पर्शुकाओं के नीचे फलतः सुरक्षित भी रहते हैं। इनकी आकृति लोबिये के बीज जैसी होती है, यौवन में—इनकी लम्बाई ४ इञ्च, चौड़ाई २½ इञ्च, मोटाई १ इञ्च (लगभग) होती है, भार २ छटाँक से कुछ कम, रङ्ग बैंगनी होता है। इसीसे मूत्रवाही स्रोतस्—(गवीनी) निकलकर मूत्राशय में पहुँचते हैं। वृषण—वर्षति शुक्रं—जो शुक्र को बरसाता है, इसका नाम मुष्क भी है, जो शरीर से शुक्र को चुराता है—चुपके से ले लेता है, अण्ड—अयति अस्मात् शुक्रम् इति जहाँ से शुक्र चलता है, अण्डकोष—अण्डों का कोश-थैला। यह वृषण दो हैं, गर्भ के अण्डकोश में नहीं उतरते, शिश्न मूल के दोनों ओर पड़े रहते हैं, जन्म के कई दिन पश्चात् कोश में आ जाते हैं। कोष एक सूक्ष्म झिल्ली द्वारा दो भागों में विभक्त रहता है, उनमें दोनों अण्ड (अण्डाकार ग्रन्थियाँ) शिराओं तथा लसीका वाहिनियों द्वारा अवलम्बित होकर लटके रहते हैं, इतना ही नहीं, उक्त शिरा तथा लसीका वाहिनी नालियों द्वारा उनका पोषण भी होता है और उनमें शुक्र का निर्माण भी, उनमें से दो नालियां आकर 'शुक्रवहे द्वे'—शुक्रवाही दोनों स्रोतों से सम्बद्ध रहती हैं, जिनके द्वारा शुक्र शुक्र-स्रोतों में पहुँचता है। इन सब अवयवों की क्रिया भी यौवन में पूर्णरूप से सम्पन्न होती है। गर्भनिर्माण काल में इनका निर्माण—मांस, रक्त, कफ एवं मेदस् से होता है। जैसे मुर्गी आदि के अण्डों में जीव रहता है वैसे ही इनमें भी जीव रहता है जो शुक्र के साथ आकर—शोणित से मिलकर—उत्पन्न

परिस्थिति पाकर—अपना शरीर बना लेता है। अतएव पिता कहता है—आत्मा वै पुत्रनामासि—तू आत्मा ही पुत्र नाम हो और शुक्रं देहात् प्रसिच्यते—चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते॥ च० वि० अ० २.४६। अंगात् अंगात् सम्भवसि अर्थात्—जो शुक्र देह से पसीजता है—पसीज कर शुक्रवह स्रोतों द्वारा गर्भाशय में पहुँचता है। वह गतिशील-ज्ञान, गमन प्राप्तिशील विश्वरूप-आत्मा का रूप—चक्षुर्ग्राह्य द्रव्य है। हे पुत्र! तू अंग अंग से उत्पन्न होता है। अतएव च-सु०शा०अ० २-श्लो० ३३ में-वृक्ष आदि के बीज को शुक्र की उपमा दी गई है और इसी अध्याय २ का ४७ श्लोक भी देखिये। हृदय—यह शरीरारम्भक रक्त एवं कफ के प्रसाद से निर्मित होता है। रक्तवाहिनी शिराओं में यहीं से ध्मान-धमनक्रिया का प्रारम्भ होता है, जिसको देखकर-उनको "धमनी" कहा जाता है, यह हृदय-अमर कोशोक्त-"हृदयं हृत्" है। इसका पाठ अमर कोश के द्वितीय काण्ड के मनुष्य वर्ग श्लो० ६४ में है। और "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन् मानसं मनः।" अ० को० प्र० काण्ड काल वर्ग में भी हृदय एवं हृत् शब्द का उल्लेख है। और उक्त दोनों शब्द—हृदय (हृत्पिण्ड) तथा (२४ तत्त्वों में १) के वाचक हैं और दोनों के लिये प्रयुक्त भी होते हैं, परन्तु प्रस्तुत हृदय या हृत् शब्द मनुष्यवर्गोक्त हृदय के वाचक हैं, मनस् के नहीं और यही हृत् शब्द लैटिन भाषा में परिवर्तित होकर "हार्ट" हो गया है। इसका अर्थ है—हरति रक्तं तथा ह्रियते रक्तं अनेन—जो रक्त को लेता है तथा जिसके द्वारा रक्त लिया जाता है—शरीर में प्राप्त किया जाता है, इस हृत् का यही काम है। ध्मानवाली शिराओं को प्राणवहा इस लिये कहा गया है कि हृत् (हार्ट) के अपने कार्य से वञ्चित (फेल) हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्क के फेल होने पर मृत्यु नहीं होती। मूर्च्छा में कई घण्टों तथा अभिन्यास में कई दिनों—सप्ताहों तक मानव जीवित रहता है, क्योंकि उनमें हृदय क्रियाशील रहता है। इस सचाई पर ध्यान देने से मस्तिष्क को भी प्रस्तुत हृत् समझना कथमपि उचित नहीं है। अलमतिविस्तरेण, प्रस्तुतमनुसरामः—हाँ, तो यह हृत् जो गर्भनिर्माण के समय रक्त एवं कफ से निर्मित होता है वह—वक्षस् के फुफ्फुसों के अन्तराल में स्थित है, इसकी आकृति अधोमुख पुण्डरीक (कमल) के सदृश है या मुट्ठी—अँगूठा ऊपर को निकालकर बाँधी गई मुट्ठी के सदृश है। बकरा के हृदय की बनावट भी मानव के हृदय जैसी होती है। इसमें चेतना का विशेष निवास है, अतः कहा जाता है कि जागने का हृदय विकसित होता हैं और सोने का निमीलित होता है (श्लो० ३२), क्योंकि जागते में चेतना क्रियाशील रहती है और सोते (गाढ निद्रा) में क्रियाशील नहीं रहती, हृदय को पुण्डरीक के सदृश कहा है, अतः विकसन (खिलना) तथा निमीलन (मिचना) कहा गया है। यह हृदय शिरामर्म है। (देखिये अ० ६ मर्माध्याय)। रक्त को ले जाने एवं लानेवाली शिराओं का संयोग स्थल है, या यों कहिये कि—शिरा ने "हृत्" का रूप बना लिया है या शिरा "हृत्" रूप में (आकृति में) परिणत हो गई है। और यह रक्ताशय भी हैं। देखिये अ० ५ का सू० ८। क्योंकि इसमें आकर रक्त एक क्षण के लिये ठहरता है—रुकता है रुककर फिर चल पड़ता है॥३१॥

भवति चात्र—

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥३२॥

इसमें श्लोक भी है—हृदय कमल के समान (उलटे किये हुए कमल-अर्धविकसित) नीचे की ओर मुख किये हुये है। जागते समय यह विकसित (खिला) रहता है और सोने पर बन्द हो जाता है।

वक्तव्य—"प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनमागारं कर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥ तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति॥" हृदय के अर्थ में विवाद है। हृदय से वर्तमान में 'हार्ट' जहाँ लेते हैं, वहाँ मस्तिष्क के वैन्ट्रीकल भी लेते हैं। इसके सिवाय हृदय-केन्द्र के लिये भी आयुर्वेद में आता है, यथा—गुल्म चिकित्सा में—"मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं नत्वत्र हृदयं स्पृशेत्॥" वर्तमान हार्ट शब्द से कहे जानेवाले हृदय का आकार कमल के अर्धविकसित फूल को उल्टा करके जिससे नोक नीचे आ जाये, सरीखा कह सकते हैं। तम की प्रवृत्ति मस्तिष्क में है। जागृत अवस्था में मस्तिष्क क्रियाशील रहता है, और सोते समय अक्रियाशील रहता है। चेतना का विशेषकर हृदय स्थान है, क्योंकि—"वेदनानामधिष्ठानं मनो-देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्तमलद्रवगुणैर्विना" ॥३२॥

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा संभवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले, तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति॥३३॥

निद्रा विष्णु की माया की भाँति है, इसे पाप भी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही सब प्राणियों में होती है। जब संज्ञावह स्रोतों में तम की प्रधानतावाला कफ पहुँच जाता है तब तामसी निद्रा उत्पन्न होती है, इसमें प्राणी जागता नहीं, यह निद्रा

प्रलय काल में होती है। तम की प्रधानतावाले प्राणियों में दिन में और रात में नींद आती है। रजोगुण की अधिकतावालों को बिना कारण के नींद आती है—(किसी समय नींद आ जाती है)। सत्त्वगुण की प्रधानतावालों को आधी रात के समय आती है। क्षीण कफवाले, वात प्रधानतावाले, मानसिक और शारीरिक दुःख से पीड़ित व्यक्तियों को नींद नहीं भी आती। यह वैकारिकी (विकारजन्य) निद्रा है।

वक्तव्य—चरक में—"यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥" नींद सात प्रकार की है, यथा—"तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च, मनःशरीरश्रमसंभवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा॥" चरक० सू० अ० २१। तामसिक पशु-रात-दिन सोते रहते हैं, यथा भैंस या सिंह। राजस-व्यक्ति–किसी भी समय रात या दिन में नींद पूरी कर लेते हैं। सत्वप्रकृति आधी रात में सोते हैं। प्रातः काल-उषाकाल में सत्व गुण की अधिकता रहने से सब देशों के मनुष्य पूजा-पाठ में, मन्दिरों में जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। रात में–सायंकाल में तमोगुण की अधिकता होने से सब देशों में पापाचार के घर, मदिरालय खुलते हैं, लोग उनका उपभोग करते हैं। प्रातःकाल मद्यपान करता हुआ कोई विरला ही देखा जाता है। यह स्वभाव से है, सारे संसार के देशों में रिवाज है।

वि० मन्तव्य—निद्रा २ प्रकार की होती है १—वैष्णवी-विष्णु पालन (भरण-पोषण) के अधिष्ठाता हैं, (भारतीय भावना के अनुसार पालक हैं) और वह निद्रा—"रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्" जो रात्रि में स्वभाव से उत्पन्न होती है उसको भूतधात्री—भूत-प्राणी की धात्री--धाय दूध पिलानेवाली -धारण पोषण करनेवाली निद्रा कही जाती है। और-२—पाप्मा-पाप है -धर्म विरुद्ध है--अघ का मूल है--तमोभवामराहुअघस्य मूलं शेषाः पुनः व्याधिषु निर्दिशन्ति (च० सू० अ० २१) अर्थात् तमोगुण की अधिकता से जो निद्रा होती है वह अव-पाप का मूल है तथा रोग रूप है।

अनवबोधिनी—जिसके आने पर पुनः जागरण नहीं होता, यह प्रलय काल–मृत्यु के समय आती है।

अनिमित्तं-जब जागने का कोई निमित्त-कारण नहीं होता तभी आ जाती है। यह रजोगुणी--संसार के कामों में संलग्न प्राणी को आनेवाली निद्रा है, वह प्राणी जब कार्य में लीन रहता है तब नहीं आती, जब खाली होता है तब खट से आ जाती है॥३३॥

भवतश्चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम॥३४॥
निद्राहेतुस्तमः, सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥३५॥

इसमें श्लोक हैं—हे सुश्रुत! मनुष्यों की चेतना का स्थान हृदय कहा है। उस हृदय के तम से आक्रान्त होने पर मनुष्यों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण तम है, और जागरण में सत्त्व गुण कारण है। अथवा स्वभाव को ही श्रेष्ठ कारण कहा जाता है। अर्थात् स्वभाव से ही निद्रा आती है।

वि० मन्तव्य—तमोगुण से निद्रा आती है और कफ भी तमोगुणी है, अतः कफ से निद्रा आती है। तमोभवा, श्लेष्मसमुद्भवा च (च० सू० अ० २१)। यथा भोजन करते ही कफ बढ़ने पर निद्रा आ जाती है या जब जब कफ की वृद्धि होती है, यथा कफ ज्वर में तब तब निद्रा आ जाती है॥३४,३५॥

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान्॥३६॥

सोते हुए व्यक्ति का स्वामी भूतात्मा है। यह भूतात्मा रजोगुण युक्त मन के साथ मिलकर पूर्व शरीर में अनुभूत शुभ-अशुभ विषयों का ग्रहण करता है॥३६॥

करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते॥३७॥

तम के कारण इन्द्रियों में विकलता बढ़ जाने से न सोता हुआ भी भूतात्मा सोया हुआ कहा जाता है॥३७॥

वक्तव्य—भूतात्मा कभी सोता नहीं, केवल इन्द्रियों के तम के कारण विषयों का ग्रहण न करने से हम आत्मा को सोया हुआ कहते हैं। इसीलिये उपनिषद् में कहा है कि-यही आत्मा है कि जो सोते हुए भी जागता रहता है॥३७॥

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम, तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्यायशिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति, रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति॥३८॥

सब ऋतुओं में दिन के समय सोना निषिद्ध है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में (रातों के छोटी होने से) दिन में

सोना निषिद्ध नहीं है। अपवाद—प्रतिषेध में भी बालक, वृद्ध, स्त्री सेवन से कृश, उरःक्षत रोगी, क्षीण, मद्यपान करने वाले, वाहन (घोड़े आदि की सवारी), यान (रथ रेल आदि), मुसाफिरी या मेहनत के कारण थके, भोजन न करनेवाले, मेद-स्वेद-कफ-रक्त-रस से क्षीण हुए, अजीर्ण रोगियों के लिये मुहूर्त्त भर (थोड़ी देर) सोना विधेय है। जिन्होंने रात में जागरण किया हो, वे भी रात्रि जागरण से आधे समय तक दिन में सो सकते हैं। दिन में सोना एक विकार है। दिन में सोने से अधर्म होता है। सब दोषों का प्रकोप होता है। दोषों के प्रकोप से कास, श्वास, प्रतिश्याय, सिर में भारीपन, अङ्गों का टूटना, अरोचक, ज्वर, अग्नि दुर्बलता होती है। रात में भी जागने से वात-पित्तजन्य वही कास, श्वास आदि उपद्रव होते हैं[1]॥३८॥

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्॥ ३९॥
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम्॥४०॥

इसमें श्लोक भी हैं—इसलिये ज्ञानी मनुष्य रात में न जागे और दिन में न सोये, क्योंकि ये दोनों बातें दिन में सोना और रात में जागना दोष प्रकोपक हैं। इसलिये उचित प्रमाण में नींद ले। इस प्रकार करने से मनुष्य नीरोगी, प्रसन्न-चित्त, बल-वर्णयुक्त, पुरुषत्वयुक्त, न बहुत मोटा और न बहुत कृश, ऐश्वर्यशाली होता है, एक सौ वर्ष जीता है।

वक्तव्य—'निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥ अकालेऽतिप्रसंगाच्च न च निद्रा निषेविता। सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥ सैव युक्ता पुनर्युङ्क्ते निद्रा देहं सुखायुषा। पुरुषं योगिनं सिद्ध्या सत्या बुद्धिरिवागता॥ रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा। अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम्॥ देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः। स्वप्नाऽऽहारसमुत्थे च स्थौल्यकार्श्ये विशेषतः॥" चरक सू० अ० २१॥

(निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा।)
दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः।
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते॥ ४१॥

(जिन लोगों ने रात में या दिन में सोने की आदत बना ली है) जो मनुष्य दिन या रात में सोने या जागने के आदी हो गये हैं उनको दिन में सोने या रात में जागने से (यथा सिनेमा देखने के शौकीन आदि) किसी प्रकार का दोष नहीं होता॥ ४१॥

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि॥
संभवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति॥ ४२॥
निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्।
गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च॥ ४३॥
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः॥
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः॥ ४४॥
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च।
द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि॥ ४५॥
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च।
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान्॥४६॥

वायु के कारण, पित्त से, मन के संताप से, रसादि धातुओं की क्षीणता से, चोट आदि के लगने से नींद नहीं आती। विपरीत कारणों से नींद नहीं आती। विपरीत कारणों से नींद के न आने पर—शरीर पर तैल का अभ्यङ्ग, शिर पर तैल लगाना, अङ्गों पर उबटन करना, शरीर का संवाहन (दबाना, चापी करना) उत्तम है। शाली, गेहूँ, पिट्ठी से बने भोजन, गुड़ आदि से बनाये पदार्थ, मधुर एवं स्निग्ध भोजनों को दूध, मांस रस आदि के साथ खाना उत्तम है। बिलेशय चूहे आदि और विष्किर (मुर्गे आदि) के मांस रस के साथ भोजन करे। रात में द्राक्षा, मिश्री, ईख आदि द्रव्यों का उपयोग करे। शय्या, आसन, सवारी—कोमल और मन को प्रिय बनाये। निद्रा नाश में दूसरे अन्य उपाय भी बुद्धिमान् करे।

वक्तव्य—"अभ्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः। शाल्यन्नं सदधि क्षीरं स्नेहो मद्यं मनःसुखम्॥ मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च। चक्षुषस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च। स्वास्तीर्णं शयनं वेश्म सुखं कालस्तथोचितः। आनयन्त्यचिरान्निद्रां प्रनष्टा या निमित्ततः॥" चरक सू० अ० २१॥ ४२-४६॥

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च।
लंघनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च॥ ४७॥

निद्रा के अतियोग में वमन और संशोधन, लंघन, रक्त-मोक्षण तथा मन को व्याकुल करनेवाले साधन उत्तम हैं।

वक्तव्य—"कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ता क्रोधः कथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम्। उपवासोऽसुखाशय्या सत्त्वौदार्यं तमो जयः। निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम्॥ एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥" चरक सू०अ० २७।४७।

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।

---

[1] ग्रीष्मे त्वादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते।
रात्रीणां चातिसंक्षेपाद् दिवास्वप्नः प्रशस्यते॥
चरक सू० अ० २१।

कफ, मेद और विष से पीड़ित मनुष्यों को रात में जागना हितकारी है।

दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम् ॥४८॥

प्यास, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतिसार के रोगियों को दिन में सोना हितकारी है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ ४९ ॥

तन्द्रा—इन्द्रियों के विषयों की अप्राप्ति, भारीपन, जम्भाई आना, क्लम, नींद से पीड़ित मनुष्य के समान (हाथ पैर टूटना, मोड़ना) जिसकी चेष्टायें हों, उसको तन्द्रा समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः।
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः ॥ ५० ॥

मुख को खोलकर वायु का एक उच्छ्वास (घूँट) पीकर, हाथों को और शरीर को ऐंठता (मोड़ता) हुआ जिस वायु को मुख से नेत्रों में आंसुओं के साथ बाहर करता है, उसे जम्भाई कहते हैं।

वक्तव्य—छींक का लक्षण—"प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतःपथि स्थितौ। नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत्" ॥ ५० ॥

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ ५१ ॥

जो थकान बिना किसी मेहनत के, बिना किसी श्वास की गति के बढ़े, उत्पन्न होती है, उसको क्लम कहते हैं। यह इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में रुकावट उत्पन्न करता है ॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ॥ ५२ ॥

मुख स्पर्श की चाह, दुःख के कारणों से बचने की लालसा, सामर्थ्य होने पर भी कार्य करने में उत्साह का न होना आलस्य कहा जाता है ॥ ५२ ॥

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥ ५३ ॥
वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५४॥

मुख में पानी आने एवं थूक से प्रेरित हुआ अन्न उत्क्लेशित (बाहर आने की प्रवृत्ति का) होकर, न निकले हृदय पर (आमाशयिक प्रदेश पर) दबाव प्रतीत हो, उसे उत्क्लेश कहना चाहिये। मुख में मीठापन, तन्द्रा, हृदय में ऐंठन, चक्कर आना, अन्न में रुचि न होना, इसको ग्लानि कहना चाहिये ॥ ५३,५४ ॥

आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रं मन्यते नरः।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ५५ ॥

जो मनुष्य शरीर को गीले चमड़े से जकड़ा हुआ सा मानता है, तथा शिर में बहुत भारीपन अनुभव करता हो, उसे गौरव कहना चाहिये ॥ ५५ ॥

मूर्च्छा पित्ततमः प्राया, रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ ५६ ॥

प्रायः करके मूर्च्छा में पित्त-तम की अधिकता रहती है, भ्रम, रजोगुण, पित्त और वायु से होती है। तन्द्रा तमोगुण वायु और कफ से होती है। निद्रा-कफ और तम से उत्पन्न होती है।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥ ५७ ॥

गर्भ की वृद्धि-अन्न रस के कारण से और वायु के आध्मान (फूलने) से होती है।

वि० मन्तव्य—गर्भाधान होते ही जो शुक्रशोणित के मिश्रण में स्फुरण होता है, (देखिये शा० अ० ३ सू० १३) वह वायु का आध्मान—फुलाना ही है। इससे शुक्र शोणित का मिश्रण फूलता है और उसमें रस प्रविष्ट हो जाता है। फलतः आध्मान होते २ और आध्मात-अवकाश में रस का प्रवेश होते २ गर्भ की परि—सब प्रकार या उचित प्रकार से वृद्धि होती जाती है। यह रस—रसमय रक्त माता से मिलता रहता है। इसीका स्पष्टीकरण निम्न श्लोकों में किया गया है ॥ ५७ ॥

भवन्ति चात्र—
तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्।
तदाधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥ ५८ ॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥ ५९ ॥

इसमें श्लोक भी हैं—गर्भ की नाभि के बीच में ज्योतिःस्थान (अग्निस्थान) है। इस स्थान को वायु फूँकती है, इससे इस गर्भ का शरीर बढ़ता है, उष्म (पित्त) के साथ मिली वायु इस गर्भ के ऊपर, तिरछे और नीचे गये स्रोतों को खोलती है। इससे भी यह बढ़ता है।

वक्तव्य यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि गर्भ में सारा काम यकृत् को ही करना पड़ता है। गर्भ का हृदय फेफड़े बिल्कुल काम नहीं करते। इनका काम भोजन पचाने का काम यकृत् ही करता रहता है। इसीसे यह बड़ा भी होता है। जो पीछे घटता जाता है। यही यकृत् आयुर्वेद में पित्त (अग्नि) का स्थान है। इस पित्त को ले जानेवाला, गति देनेवाला वायु है। इस पित्त के कारण पाचन ठीक होने से गर्भ के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ते हैं।

वि० मन्तव्य—यह दोनों श्लोक पाराशर महर्षि के प्रतीत होते हैं—आपने अध्याय ४ सू० ३२ में—कहा है कि उत्पन्न

होते हुए गर्भ का सर्व प्रथम "नाभि" नामक अवयव बनता है—पूर्ण नाभि नहीं, नाभि का पूर्वरूप बनता है, वहीं से देही का देह बढ़ता है यही इन श्लोकों में भी कहा गया है—इन नाभि में ज्योति—अग्नि का स्थान है, जो उस आगत रस का उचित परिपाक करता रहता है। इसके साथ वायु मिलकर आगे २ स्रोतों का दारण करता जाता है और उक्त अग्नि उनका पाक करता है। फलतः दारण होने पर भी रस का अनुचित प्रवहण नहीं होता और रस को मार्ग मिलता जाता है, देह बढ़ता जाता है। वह सींढ़ का सा शुक्र-शोणित का मिश्रणकर एक दिन करारविन्द से पदारविन्द को मुखारविन्द में धरते हुए बालमुकुन्द का रूप धारण कर लेता है, जो वटपत्र के दोने के आकारवाले गर्भाशय में शयन करता है। च० वि० अ० ५ में कुछ आचार्यों ने स्रोतों के समुदाय को ही पुरुष—प्राणी माना है। यही उक्त दो श्लोकों में कहा गया है॥

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन।
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥६०॥

मनुष्य की दृष्टि और रोमकूप कभी भी नहीं बढ़ते। ये दोनों वस्तुएँ ध्रुव (स्थिर) हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥६०॥

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥६१॥

शरीर के क्षीण होने पर भी नख और केश-स्वभाव एवं प्रकृति के कारण सदा ही बढ़ते रहते हैं ॥६१॥

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक् द्विशः, समस्तैश्च॥

प्रकृतियाँ सात प्रकार की हैं—पृथक्-पृथक् दोषों से दो दोषों के मिलने से, और सब दोषों के मिलने से, सात प्रकृतियाँ बनती हैं ॥६२॥

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥६३॥

शुक्र और आर्त्तव के मिलने के समय जो दोष प्रबल होता है, उस दोष से प्रकृति उत्पन्न होती है, उस प्रकृति के लक्षणों को मुझसे सुनो।

वक्तव्य—"समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः। सा चेष्टरूपा। तस्माद् भवन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः, पित्तप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्य हि आधिक्यभावात्सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते। तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति। सन्ति खलु वातलाः, पित्तलाः, श्लेष्मलाश्चाऽप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः॥" चरक वि० अ० ६ ॥६३॥

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तखादी च भवति ॥६४॥

इसमें वातप्रकृति मनुष्य जागनेवाला (रात में नींद कम आती है), शीत से द्वेष करनेवाला, देखने में कुरूप, चोर, द्वेष बुद्धिवाला, अनार्य, गन्धर्वचित्त (इधर उधर घूमने के मन का) हाथ-पैर फटे हुए, श्मश्रु-नख और केश, छोटे एवं रूक्ष, क्राथि (हिंसाशील) सोते हुए दाँतों को कटकटानेवाला होता है। (क्राथी के स्थान पर क्रोधी भी पाठ है) ॥६४॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी। द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६५॥

अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः॥६६॥
(वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥६७॥)

वातप्रकृति मनुष्य धैर्य रहित, कच्ची मित्रतावाला, कृतघ्न, कृश, कठोर धमनियाँ (शिरायें) दीखती हैं, बहुत बोलनेवाला, जल्दी चलनेवाला, इधर उधर घूमने के स्वभाव का, अस्थिर चित्त होता है। सोते हुए एकदम से आकाश में जाता है (खाली व्यर्थ की कल्पना करता है—आकाश में हवाई महल बनाता रहता है)। अस्थिर बुद्धि, चंचलदृष्टि, इसके रत्न, धन-संचय और मित्र कम होते हैं, कुछ न कुछ बिना मतलब और बिना प्रसंग के बोलता रहता है, ऐसा मनुष्य वातप्रकृति होता है। (वातप्रकृति का मनुष्य बकरी, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊँट, कुत्ता, गीध, कौआ, गधे के स्वभाववाला होता है)॥६७॥

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति ॥६८॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः। सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥६९॥

न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥७०॥
(भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥७१॥)

पित्तप्रकृति मनुष्य को पसीना बहुत आता है, शरीर से दुर्गन्ध आती है, इसके अंग पीले और ढीले रहते हैं। नख-आँख-तालु जिह्वा-ओष्ठ-पैर हाथ के तलुए ताम्रवर्ण, देखने में बहुत सुन्दर नहीं (थोड़ा भाग्यवान्), झुर्रियाँ, बालों का श्वेत होना, बालों का गिरना, बहुत खानेवाला, उष्ण से द्वेष रखनेवाला, जल्दी कुपित एवं प्रसन्न होनेवाला, मध्यम बल और

मध्यम आयु का होता है। यह मनुष्य बुद्धिशाली, चतुर-अक्ल-वाला, जबरदस्त बोलनेवाला, तेजस्वी, सभाओं में न हारने-वाला होता है। सोते हुए स्वर्ण, ढाक, अमलतास, अग्नि, विद्युत्, उल्कापात को देखता है। भय से किसी के आगे नहीं झुकता, न झुकनेवालों के लिये कठोर, झुकनेवालों के लिये सान्त्वना दान देने की प्रकृति का, इसकी गति सदा चंचल रहती है। इस प्रकार का मनुष्य पित्तप्रकृति होता है। (साँप उल्लू गन्धर्व-यक्ष बिल्ली बन्दर, व्याघ्र-रीछ-नकुल के स्वभाववाले पित्तप्रकृति के मनुष्य होते हैं) ॥७१॥

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति ॥७२॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७३॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥७४॥
(दृढशास्त्रमति स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ॥७५॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥७६॥)

कफ प्रकृति के मनुष्य श्वेत दूर्वा-नीलाकमल-तलवार, गीला अरीठा, शरकण्डे का काण्ड, इनमें से किसी एक के समान वर्णवाले, देखने में सुन्दर (भाग्यवान्), प्रिय दर्शन, मधुर रस को चाहनेवाले, कृतज्ञ, धैर्यशाली, सहनशील, लोभरहित, बलवान्, देर में समझनेवाले (देर में निर्णय करनेवाले), और दृढवैरवाले होते हैं। इनकी आँखें श्वेत रहती हैं, बाल दृढ घुँघराले, भ्रमर के समान नीलवर्ण होते हैं। मनुष्य लक्ष्मीशाली, इसकी आवाज बादल, मृदंग या सिंह की गर्जना की भाँति गम्भीर होती है। सोते हुए कमल, हंस, चक्रवाक एवं सुन्दर जलाशयों को देखता है। आँखें किनारों से लाल, अंगों की रचना पृथक् पृथक्, स्निग्ध कान्तिवाला, सत्त्वगुण से युक्त, क्लेश को सहनेवाला, गुरुओं का आदर करनेवाला मनुष्य कफ प्रकृति का होता है। इसका शास्त्र ज्ञान दृढ होता है, मित्र और धन स्थिर रहते हैं। बहुत विचारकर, देर में बहुत देता है। इसके वाक्य-पद (बोलने की भाषा) सदा नियमित रहते हैं। यह व्यक्ति सदा ही गुरुओं का आदर करता है। इसका स्वभाव ब्रह्म-इन्द्र-वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, गाय, बैल, गरुड़, हंस के समान होता है ॥७२-७६॥

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥७७॥

वैद्य दो या तीन दोषों के मिलित लक्षणों से संसर्गज प्रकृतियों को समझे ॥७७॥

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥७८॥

स्वभाव से ही प्रकृतियों का प्रकोप (बहुत बढ़ना), अथवा बदल जाना या घट जाना नहीं होता (ये स्वस्थ अवस्था में नहीं होते), अपितु ये तब होते हैं जब मनुष्य मरनेवाले होते हैं।

वक्तव्य—चरक में—शीलं व्यावर्त्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च परिवर्त्तते। चरक० इ० अ० १२।४६ ॥७८॥

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥७९॥

विष से उत्पन्न कीड़ा जिस प्रकार विष से नहीं मरता, उसी प्रकार ये प्रकृतियाँ मनुष्य को किसी प्रकार का कष्ट नहीं करतीं। इसी से कहा है चरक में—

"त्रयस्तु पुरुषा भवन्ति आतुराः, ते त्वनातुराः तंत्रान्तरीयाणां भिषजाम्। तद्यथा वातलः, पित्तलः, श्लेष्मलश्चेति।" चरक० वि० अ० ६।

समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादि मानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचिद् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥ तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः। दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ चरक ॥७९॥

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥८०॥

कोई आचार्य मनुष्यों की प्रकृति को पंचमहाभूतवाली कहते हैं। इनमें से वायु, अग्नि और जल की प्रकृतियाँ वात, पित्त, कफ से कह दी हैं। पार्थिव प्रकृति का मनुष्य स्थिर, बड़े शरीर का और क्षमाशील होता है। आकाश प्रकृति का मनुष्य पवित्र, दीर्घायु और इसके कान, नाक के छेद (अंग) बड़े होते हैं ॥८०॥

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८१॥
माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥८२॥
शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥८३॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥८४॥
गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥८५॥
प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्छुचिः ।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥८६॥
जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥८७॥

सत्त्वादि गुण भेद से प्रकृति—ब्रह्मकाय–पवित्रता, आस्तिकमति, वेदों का स्वाध्याय, गुरुओं की पूजा, अतिथियों का सत्कार, यज्ञ करना–यह ब्रह्मकाय का लक्षण है । महान् आत्मत्व, शूरता, निरन्तर आज्ञा करने की प्रवृत्ति, शास्त्र में वृद्धि, भृत्यों का पोषण करना, यह महेन्द्र काय का लक्षण है । शीतल पदार्थों में प्रीति, सहनशीलता, केश आदि में भूरापन, बालों में हरा रंग, मीठा बोलना यह वारुण शरीर का चिह्न है । उदासीन वृत्ति, सहनशीलता, धन को प्राप्त करना और एकत्रित रखना, बहुत सन्तान पैदा करना यह कौबेर शरीर का लक्षण है । सुगन्ध (इत्र आदि) एवं माला में रुचि, नाच, गाने-बजाने का शौक, घूमने की इच्छा—ये गान्धर्व शरीर के लक्षण हैं। युक्ति से काम निकालनेवाला, दृढ़ता से काम को आरम्भ करनेवाला, भय-रहित, स्मृतिशाली, पवित्र, जप, व्रत, यज्ञ, ब्रह्मचर्य और अध्ययन के स्वभाव का, ज्ञान, विज्ञान से सम्पन्न मनुष्य को ऋषि सत्त्ववाला कहा है ।

वक्तव्य—वात प्रकृति आदि शरीर की दृष्टि से, सात्विक शरीर आदि मन की दृष्टि से कहे हैं । इसी से चरक में कहा है—"त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं राजसं तामसमिति । शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम् । तस्मात् कतिचित्सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः ।" चरक शा० अ० ४।३७॥८१–८७॥

सप्तैते सात्त्विकाः काया राजसांस्तु निबोध मे ।
ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम् ॥८८॥
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ।
तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा ॥८९॥
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ।
विवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ॥९०॥
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ।
एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ॥९१॥
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ।
उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ॥९२॥
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ।
असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ॥९३॥
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ।
षडेते राजसाः कायाः,

ये सात सात्त्विक शरीर हैं । राजस प्रकृतियों को सुनो—ऐश्वर्यशाली, रौद्र, शूर, क्रोधी, निन्दा करनेवाला, अकेला ही खानेवाला, पेटू (बहुत खानेवाला) आसुर प्रकृति होता है । तीक्ष्ण परिश्रमी, डरपोक, क्रोधी, छली, घूमने तथा खाने में चपल मनुष्य सर्प सत्व है । अतिशय विषयसेवी, निरन्तर खाने का ही विचार करनेवाला, असहनशील, अस्थिर मनवाला मनुष्य शाकुन (पक्षी) स्वभाव का है । एकान्त में रहनेवाला, रौद्र, निन्दा करने वाला, धर्म के विरुद्ध बरतनेवाला, अतिशय तमोगुणी मनुष्य राक्षस-प्रकृति का है। जूठा खानेवाला, तीक्ष्ण स्वभाव, साहसिक कार्यों में रुचि, स्त्रीलोलुप, लज्जा रहित मनुष्य पिशाच प्रकृति का होता है । बराबर बाँट के न खानेवाला, आलसी, दुःख भोगने का आदी, निन्दा करने वाला, लालची, किसी को न देनेवाला मनुष्य प्रेतसत्त्व होता है । ये छै राजस शरीर हैं ॥८८-९३॥

तामसांस्तु निबोध मे ॥९४॥
दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥९५॥
अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥९६॥
एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥९७॥
इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ।

मुझसे तामस को सुनो । बुद्धि का दूषित होना, मन्द बुद्धि, स्वप्न में मैथुन कामना, किसी भी वस्तु का प्रतिकार न करने की इच्छा पशु के गुण हैं । अस्थिरता, मूर्खता, डरपोकपन, पानी की चाह, एक दूसरे से लड़ना-झगड़ना, ये मत्स्य सत्त्व के लक्षण हैं । एक ही स्थान पर बैठे रहना, सदा खाने-पीने में रत रहना, धर्म, अर्थ, काम से अलग रहना, यह वानस्पत्य सत्त्व के लक्षण हैं। इस प्रकार से ये तीन तामस प्रकृतियाँ कह दी हैं । (डल्हण ने मन्दता का अर्थ जिह्मता-कुटिलता किया है)॥

कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥९८॥
महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृताः ।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत् ॥९९॥

शरीरों की प्रकृति को समझकर उसके अनुसार चिकित्सा करे । रज, सत्त्व और तमजन्य प्रकृतियों को, महाप्रकृतियों को महाप्रकृतियाँ कहते हैं । लक्षणों से इन को भली प्रकार कह दिया, वैद्य इनको अच्छी प्रकार समझ लें ।

वि० मन्तव्य—प्रकृति का विचार करके चिकित्सा करे, देखिये च० वि० अ० ८—९६ । गर्भ का शरीर—शुक्र शोणित

की, काल एवं गर्भाशय की, आहार–विहार की, आकाश आदि महाभूतों की प्रकृति के अनुकूल बनता है, उक्त शुक्र आदि में जो दोष अधिक होता है उस २ दोष का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है। इस लिये मानव की वह २ प्रकृति कही जाती है और यह गर्भाधान काल से गर्भ पर अपना प्रभाव डालती है और जीवन भर एक सी बनी रहती है। पाठक लक्षणों पर ध्यान दें यहाँ प्रकृति-स्वभाव का नाम है स्वास्थ्य का नहीं। जिन पञ्च-महाभूतों के समवाय से शरीर का निर्माण होता है। उनमें के तीन महाभूत १—वात (वायु), २—पित्त (अग्नि) तथा ३—कफ (जल) ही वस्तुतः क्रियाशील हैं। अतः वे ही सुख–दुःख या आरोग्य एवं रोग या उत्पत्ति एवं विनाश के हेतु—कारण माने जाते हैं और अन्य दो महाभूत निष्क्रिय अर्थात् १—पृथिवी नामक महाभूत केवल आधार तथा २—आकाश केवल अवकाश है। यह दोनों उन तीनों के क्रिया स्थल मात्र हैं, अतः वात, पित्त एवं कफ प्रकृतियों का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया गया है और पार्थिव एवं नाभस प्रकृतियों का संक्षेप में वर्णन किया है और शरीर का मनस् पर तथा मनस् का शरीर पर प्रभाव पड़ता है, अतः दोनों के गुणधर्मों का वर्णन प्रकृति वर्णन में पाया जाता है। इन ५ के अतिरिक्त—ब्रह्म आदि सात्विक (सत्त्वगुण प्रधान), आसुर आदि रजस् (रजोगुण-प्रधान) तथा पाशव आदि तामस (तमोगुण प्रधान) प्रकृतियों का भी वर्णन कर दिया गया है। यद्यपि किसी एक मानव में उक्त प्रकृतियों में से कोई एक प्रकृति विशुद्धरूप से या पूर्णरूप से नहीं मिलती जैसे कोई रोग एक दोषज तथा कोई द्रव्य एकरस नहीं मिलता, तथापि जैसे वैद्य—रोग को वातिक, पैत्तिक तथा कफज और द्रव्य को मधुर एवं अम्ल आदि मानकर चिकित्सा करता है वैसे प्रकृतियों का भी निश्चय करे और तदनुसार चिकित्सा करे ॥६८,६६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शरीर संख्या व्याकरण शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—शरीर के अवयवों की संख्या–गणना तथा उनका व्याकरण–विशिष्ट आकार का वर्णन है जिसमें उस शरीर-शरीर विषयक अध्याय का वर्णन करेंगे ॥१,२॥

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरं' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥३॥

गर्भाशय में स्थित शुक्र और आर्त्तव, आत्मा प्रकृति (आठ) और विकार (सोलह) से मिलने पर गर्भ इस नाम से कहा जाता है। इस चेतनायुक्त गर्भ को वायु विभक्त करता है। तेज इसका परिपाक करता है, जल इसको नरम बनाता है, पृथ्वी इसको संगठित करती है, आकाश इसको बढ़ाता है। इस प्रकार बढ़ता हुआ यह गर्भ जब हाथ, पैर, जिह्वा, नासिका, कान, नितम्ब आदि अंगों से युक्त हो जाता है, तब 'शरीर' इस नाम से कहा जाता है। इस शरीर के छै अंग हैं--यथा चार शाखायें (दो बाहु दो टांग), पाँचवाँ मध्यभाग और छठा शिर।

वक्तव्य—जिस प्रकार लैन्स या प्रीज्म में सूर्य किरणें प्रविष्ट होकर रूई या तिनकों को जला देती हैं, परन्तु किरणों का प्रवेश आँख से नहीं दीखता, अपितु जलने के कार्य से प्रतीत होता है, उसी प्रकार शुक्र और आर्त्तव के मिलने पर चेतना धातु प्रविष्ट होती है। इसके अगले क्षण जीने–बढ़ने के कार्य से इस चेतना धातु का ज्ञान होता है। "शरीरं नाम चेतनाधिष्ठान-भूतं पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि।" चरक शा० अ० ६। तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः, तद्यथा द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवमन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ चरक शा० अ० ७—५।

वि० मन्तव्य—गर्भ का नाम भ्रूण भी है। गर्भ ही जन्म होने पर बाल-बालक -बालिका कहा जाता है और वही आगे चलकर युवा एवं वृद्ध कहलाता है। शरीर—पञ्चमहाभूतात्मक है और उक्त प्रकार से इसके निर्माण में वे योगदान करते हैं और माता के रस से प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह रस भी पञ्च-महाभूतात्मक होता है और इस आहार से आता है और आहार भी पञ्चभूतात्मक है। फलतः गर्भ सर्वाङ्ग सम्पन्न होने पर "शरीर" कहलाता है। इसमें जब तक आत्मा का संयोग रहता है तब तक शरीर, आत्मा का वियोग होने पर "शव" कहलाता है। मध्य—मध्यकाय, अन्तराधि या धड़। शिर--ग्रीवा समेत शिर ॥३॥

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः; कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवङ्क्षणवृषणपार्श्वस्फिग्जानुकूर्परबाहु-

रुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥४॥

इसके आगे प्रत्यंग कहे जाते हैं। मस्तक, उदर, पीठ, नाभि, ललाट, नासा, चिबुक, बस्ति, ग्रीवा ये एक-एक हैं। कान, आँख, भ्रू, शंख, अंस, गण्ड, कक्ष, स्तन, वंक्षण, वृषण, पार्श्व, नितम्ब, जानु, कोहनी, बाहु, ऊरु, आदि ये दो दो हैं। अँगुलियाँ बीस हैं, स्रोत कहे जायेंगे, यह प्रत्यङ्गों का विभाग है। (आदि शब्द से—ओठ, कुकुन्दर, सृक्कि आदि लेने चाहिये)।

वि० मन्तव्य—प्रत्यङ्ग—जो अंग के भी अङ्ग या अंग पर अङ्ग हैं ॥४॥

तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्ज्वः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि शिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥५॥

इनकी अब गिनती करते हैं, त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आमाशय, अन्त्र, वृक्क, स्रोत, कण्डरा, जाल, कूर्च, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धि, स्नायु, पेशी, मर्म शिरा, धमनी और योगवाही स्रोत (प्राण, उदक अन्न आदि के वाहक)।

वि० मन्तव्य—इन सब के समूह का नाम "शरीर" है ॥

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त शिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे संधिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति, समासः ॥६॥

त्वचायें सात हैं, कला सात हैं, आशय सात हैं, धातु सात हैं, शिरायें सात सौ हैं। पेशी पाँच सौ हैं, स्नायु नौ सौ हैं, अस्थियाँ तीन सौ हैं, संधियाँ दो सौ दस हैं, मर्म एक सौ सात हैं, धमनियाँ चौबीस हैं, दोष तीन हैं, मल तीन हैं, स्रोत नौ हैं, कण्डरायें सोलह हैं, जालक सोलह हैं, कूर्च छै हैं, रज्जु चार हैं, सेवनी सात हैं, संघात चौदह हैं, सीमन्त चौदह हैं, योगवाहि स्रोत बाईस हैं, आँतें दो हैं। ये संक्षेप में हैं।

वक्तव्य—सेवनी (सीवन)—जैसी कमीजों में दर्जी देते हैं। कूर्च—दातुन की कुञ्ची जैसे। संघात—मिलना। सीमन्त-जैसे ओरतें शिर में मांग निकालती हैं। जालक—मछली पकड़ने के जाल की भाँति ॥६॥

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च॥

इसके आगे विस्तार से कहते हैं—त्वचायें, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनको पहले कह चुके हैं ॥७॥

आशयास्तु-वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥८॥

आशय-वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय ये सात हैं। स्त्रियों में आठवाँ गर्भाशय भी है।

वि० मन्तव्य—वाताशय फुप्फुस है, उसमें सर्वदा वायु भरा रहता है। श्वास क्रिया में जितना वायु भीतर जाता है उतना निकल जाता है। पित्ताशय—पित्त-द्रव पित्त का आशय-यह मांस एवं सौत्रिक तन्तु से निर्मित एक थैली है जो यकृत् के नीचे के पृष्ठ के एक गड्ढे में रहती है। इसकी आकृति नासपाती जैसी होती है....इससे एक नली निकलती है....जब भोजन अन्त्र में होता है तब उसके द्वारा पित्तरस भोजन में जा पहुँचता है। जब भोजन पचाने की आवश्यकता नहीं होती, तब पित्तरस उसी थैली में ठहरता है। श्लेष्माशय—उरस्या कला का पर्याशय भाग—इस कला के दो स्तर हैं। यह दोनों कला फुप्फुस को लपेटे अपनी गोद में लिए रहती हैं, श्वास लेने पर फुप्फुस में वायु भरने से फूलने पर दोनों स्तर समीप आ जाते हैं और श्वास निकालने पर—फुप्फुस संकुचित होने से अधिक दूर हो जाते हैं और लम्बी, चौड़ी तथा दोनों ओर से बन्द थैली (आशय) के समान है, दोनों स्तरों के भीतर लसीका (श्लेष्मा) रहती है यही बढ़कर "उरस्तोय" नामक रोग का रूप धारण कर लेती (देखें प्रत्यक्ष शा० आशयखण्ड) शार्ङ्गधर संहिता में श्लेष्माशय का स्थान उरस् माना भी है। रक्ताशय—हृदय है-रक्त का नाम शोणित है, अर्थ है चलने वाला—रक्त सर्वदा चलता ही रहता है, परन्तु कुछ समय के लिये हृदय में ठहरता है और ठहर कर पुनः चल पड़ता है। अतः वह आशय कहा गया है देखिये अ० ४ का सू० ३१। आमाशय—खा लेने पर आहार आमाशय में ठहरता है, कुछ समय के पश्चात् अन्त्र में जाना प्रारम्भ करता है। पक्वाशय—पक्वस्यजातपाकस्य आहारस्य आशयः, अर्थात् मलाशय, अन्त्र में तो आहार चलता ही रहता है ठहरता नहीं है, ठहरता है तो मलाशय में जाकर ठहरता, अतः अन्त्र—क्षुद्रान्त्र को आशय नहीं माना जाता और न मानना ही चाहिये। मूत्रा-

शय—मलद्रव में से चल कर जलीयांश मूत्राशय अर्थात् वस्ति में ही ठहरता है। गर्भाशय—गर्भ गर्भाशय में कई मास पर्यन्त ठहरता है। आशय का अर्थ है जिसमें आकर ठहरा जाता है। शुक्रशोणित गर्भाशय में आकर ठहरते हैं, अतः वह आशय कहलाता है। अष्टाङ्गहृदयशा० स्था० अ० ३ में–'सप्त च आधारा रक्तस्य आध्यः क्रमात् परे। कफामपित्तपक्वानां वायोः मूत्रस्य च स्मृताः। गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां।' आशय का नाम आधार है, इसका भी वही अर्थ है आगत को धारण करनेवाला। शार्ङ्गधर संहिता में स्तनों को भी दो आशय माना है। ये आशय माने जा सकते हैं, परन्तु क्लिष्ट कल्पना से। आशय को 'स्थान' भी कहते हैं—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। स्थान शब्द का अर्थ है—जहाँ गति—गमन की निवृत्ति हो जाय—चलते २ ठहरा जाय। इस प्रकार आशय, आधार तथा पर्याय वाचक हैं ॥८॥

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां,
स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥९॥

पुरुषों की आंत्र की लम्बाई साढे तीन व्याम है, स्त्रियों में आँतों की लम्बाई तीन व्याम है।

वक्तव्य—व्याम–हाथों को कन्धों के बराबर फैलाकर मध्यमांगुली से दूसरी मध्यमांगुली तक की लम्बाई व्याम है।

वि० मन्तव्य—व्याम ४ हाथ का होता है। पुमान् की अन्त्र की लम्बाई लगभग १४ हाथ, स्त्री की अन्त्र की लम्बाई लगभग १२ हाथ होती है। रक्त का प्रसाद—सार भाग ही मांस का रूप धारण करता है, अतः यह मांस से बनी कोमल नाली है, मोटाई अँगूठा जैसी। यह १४ हाथ लम्बी अँगूठा जैसी मोटी रबड़ की नाली की सी लचकीली और गेण्डली मारे सर्प के समान उदर में पड़ी रहती है, इसका प्रारम्भ आमाशय से और अन्न मलाशय के प्रारम्भिक भाग पर होता है, वस्तुतः आमाशय भी इसी का प्रारम्भिक भाग है और मलाशय अन्तिम भाग। इसके भीतरी भाग पर जो कला चिपकी रहती है उसमें आहार रस को ग्रहण करनेवाले अवयव होते हैं, अतः उसको ग्रहणी कहते हैं। अन्त्रोत्पत्ति के वर्णन में–(अ०४ सू० २६ २०) बतलाया गया है। अन्त्र शब्द 'अम्'—गतौ धातु से बना है। जब आमाशय में आहार जाता है तब उसमें गति होने लगती है। फलतः विलोड़न होने से आहार घुलने लगता है। जितना घुलता जाता है उतना अन्त्र में गिरने लगता है। अन्त्र के प्रारम्भिक भाग में पित्ताशय की नली का मुख लगा है उसके द्वारा पाचक पित्त आकर अन्न में मिलने लगता है और उसके प्रभाव से—आहार का रस–सार-भाग रस धातु पृथक होने लगता है और अन्त्र भर में ग्रहणी नामक कला के अवयवों द्वारा गृहीत-आचूषित हो जाता है। अवशिष्ट मलद्रव पक्वाशय अर्थात् मलाशय में चला जाता है। वहाँ जलांश आचूषित होकर मूत्र बनने के लिये रक्त में चला जाता है और गाढ़ा भाग पुरीष रूप में वहीं रह जाता है ॥९॥

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च ॥१०॥

दो कान, दो नयन, मुख, २ नासिका, गुदा, मेहन में नौ स्रोत मनुष्यों में बहिर्मुख होते हैं। स्त्रियों में ये नौ स्रोत तो हैं ही, परन्तु तीन और अधिक हैं, इनमें दो स्तनों में और एक अपत्यपथ नीचे ॥१०॥

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु, तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखा अग्रप्रोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च ॥११॥

कण्डरायें सोलह हैं—इनमें चार कण्डरायें पैरों में, हाथ, ग्रीवा, पीठ में भी चार-चार हैं। इनमें हाथ पैर की कण्डराओं के अग्रप्ररोह (आगे निकले अंकुर रूप) नख हैं। ग्रीवा हृदय को बाँधनेवाली, नीचे की ओर गई हुई कण्डराओं का अग्रप्ररोह मेहन है। श्रोणि-पीठ-को बाँधनेवाली-नीचे (पीछे) की ओर जानेवाली कण्डराओं का प्ररोह बिम्ब (नितम्ब) हैं। ऊरु, वक्ष, अंशपिण्ड इत्यादि की कण्डराओं का प्ररोह शिर है ॥११॥

मांसशिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् ॥१२॥

जालकों का वर्णन–मांस, शिरा, स्नायु और अस्थि प्रत्येक के चार चार जाल हैं। ये जाल मणिबन्ध (कलई), गुल्फ(गिट्टे) में स्थित हैं। एक दूसरे से परस्पर बंधे हुए हैं, और एक दूसरे में गवाक्ष (वातायन) की भाँति है। जिनसे कि यह शरीर गवाक्षित (छिद्रित) बना हुआ है, (मांस-शिरा स्नायु और अस्थि इनके जाल परस्पर फँसे हुए हैं) ॥१२॥

षट् कूर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु, हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः ॥१३॥

कूर्च छैः हैं—ये हाथ, पैर, ग्रीवा और मेहन में हैं। इनमें हाथ में दो, पैरों में दो, ग्रीवा में एक, मेहन में एक ॥१३॥

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥१४॥

बड़ी मांस रज्जु चार हैं—पृष्ठ वंश के दोनों ओर पेशियों को बाँधने के लिये बाहर की तरफ दो, अन्दर की तरफ दो ॥

सप्त सेवन्यः; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका, ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥१५॥

सेवनी सात हैं – सिर में अलग अलग पाँच, जिह्वा और मेहन में एक एक। शस्त्रकर्म में इनको बचाना चाहिये ॥१५॥

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः, तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥१६॥

अस्थियों के संघात चौदह हैं—इनमें से तीन संघात गुल्म, जानु और वंक्षण में हैं। इसी प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में समझना। त्रिक और सिर में एक-एक अस्थि संघात है ॥१६॥

चतुर्दशैव सीमन्ताः, ते चास्थिसङ्घातवद् गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः, ये ह्युक्ताः संघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम् ॥१७॥

सीमन्त चौदह हैं—इनकी अस्थि संघात के समान गणना करनी चाहिये। क्योंकि अस्थि संघात इन से मिले हुए हैं। कई आचार्यों के मत से कहे हुए अस्थि संघात अठारह हैं।

वक्तव्य—पूर्वोक्त चौदह, श्रोणि काण्ड के ऊपर एक, उदर और उसकी सन्धि में एक, अंश कूट के ऊपर एक। भोजने—

"संघाताः सीविता यैस्तु सीमन्तांस्तान् प्रचक्ष्महे।"

जिनसे अस्थिसंघात सिये हुए हैं उनको सीमन्त नाम दिया है ॥

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्यैव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥१८॥

वेदवादी (चरक, याज्ञवल्क्य आदि) लोग अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ कहते हैं। परन्तु शल्य तन्त्र में तीन सौ ही अस्थियाँ कही हैं। इनमें से एक सौ बीस अस्थियाँ शाखाओं में, एक सौ सत्रह अस्थियाँ श्रोणिपार्श्व-पीठ आदि छाती में हैं। ग्रीवा से ऊपर तिरसठ हैं। इस प्रकार से तीन सौ अस्थियाँ पूरी हो जाती हैं।

वक्तव्य—वेदवादी ऋषियों ने अस्थियों का विचार धार्मिक, यज्ञ कर्म की दृष्टि से किया है। जिनको छूने से प्रायश्चित्त आदि करना होता है। इसी से स्मृति में अस्थियों को गिनने की जरूरत हुई। शल्य तन्त्र में शल्य शास्त्र की दृष्टि से अस्थियों को गिना है।

वि० मन्तव्य—हमारा विचार है कि वैदिककाल में मानव शरीर में ३६० तथा शल्य तन्त्र काल में ३०० अस्थियाँ पाई जाती होंगी। इसका कारण मानव शरीर का ह्रास है, क्योंकि—यूनानी चिकित्सा के शारीर स्थान के वर्णन में २४६ या २४४ और आज २०६ या २०० पाई जाती हैं। जो कुछ हो त्रिलोकीनाथ वर्मा के शब्दों में यदि एक दो वर्ष के बालक की अस्थियों के सब टुकड़े गिने जायँ तो उनकी सख्या तीन सौ या उससे भी अधिक हो जायँगी। ११-१२ वर्ष के बालक के हाथ में ३८ अस्थियाँ होती हैं। अस्तु, अस्थि जैसी मोटी वस्तु के गिनने में प्राचीनों ने इतनी भूल की है यह मानने को मन नहीं चाहता। अस्थि ऊपर बाहर से श्वेत या श्वेताभ होती है और भीतर से उसकी बनावट स्पञ्ज जैसी होती है। इस भाग में मज्जा भरी रहती है। अस्थि भी जीवित शरीर में चेतनामय होती है, अतएव उसमें वेदना-रुजा-रुक् का अनुभव होता है। वह शरीर का सार या कठोर- सबसे कठोर भाग है। आधुनिक शरीरवेत्ता—दाँतों एवं नखों को अस्थि मानना उचित नहीं समझते, क्योंकि उनकी और अस्थियों की रचना में भेद है। हमारा विचार है कि प्राचीनों में पुनर्वसु भी ऐसा ही मानते थे। अतएव च० शा० अ० ७ में—"दाँतों, दन्तोलूखलों तथा नखों को साथ मिलाकर ३६० अस्थियाँ होती हैं" ऐसा लिखा है। यदि इनमें कोई भेद न होता तो ऐसा न लिखा जाता ॥१८॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि। तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके, ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥१९॥

पैर के प्रत्येक अंगुली में तीन-तीन अस्थियाँ हैं, इस प्रकार से ये पन्द्रह हैं। तलुआ, कूर्च और गुल्फ में दस, पार्ष्णि में एक, जंघा में दो, जानु में एक, ऊरू में एक, इस प्रकार से एक टाँग में तीस अस्थियाँ होती हैं। इसी प्रकार दूसरी टाँग और बाहुओं में समझनी चाहिये। श्रोणी प्रदेश में पाँच, जिनमें से गुदा, भग और नितम्ब में चार, त्रिक में एक, पार्श्व में छत्तीस एक तरफ, और दूसरे पार्श्व में भी छत्तीस, पीठ में तीस, उर में आठ, अंश फलक में दो, ग्रीवा में नौ, कण्ठ नाड़ी में चार, हनु में दो, दाँत बत्तीस, नासा में तीन, तालु में एक, गण्ड-कर्ण और शंख में एक-एक, शिर में छे अस्थियाँ हैं।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र द्वारा प्राचीनों ने अंगुष्ठ में भी

तीन अस्थियाँ मानी हैं, जो भारतीय वैद्यों में विवाद का और नवीनों में शिरःशूल का कारण बनी हुई हैं, श्री गणनाथ सेन आदि ने तो इस पर बहुत कुछ कह डाला है और इसे प्राचीनों की बहुत बड़ी भूल माना है, प्रत्यक्षदर्शन के साथ-साथ अग्रिम सूत्र २६ के सन्धिगणना के "द्वौ अंगुष्ठे" पाठ का उल्लेख भी किया है, परन्तु हमारे विचार में यह सब निराधार है। कारण सुनिये—श्री डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा ने अपनी ह० श० र० के प्रथम भाग के अ० ३ में एक चित्र - ३५ वर्ष की स्त्री के हाथ का एक्सरे चित्र दिया है। उसमें अँगूठा में एक गोल अस्थि दिखाई दे रही है और यह सर्वथा पृथक् है। अतः अस्थियाँ तीन और सन्धियाँ दो मानना उचित है कि अनुचित पाठक स्वयं विचार करें और सम्भव है इसी को मान कर प्राचीनों ने तीन अस्थियाँ मानी हों और यह भी सम्भव है कि उस समय यह अस्थि सब में व्यक्त रहती हो। दन्ता द्वात्रिंशत्–दाँत ३२ होते हैं, परन्तु किसी के ३० भी होते हैं, और दूध के दाँत २४ ही रहते हैं, जो छठे, सातवें वर्ष में गिर जाते हैं ॥१९॥

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति, तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि। तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥२०॥

ये अस्थियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—यथा, कपाल (मिट्टी के ठीकरे समान), रुचक, तरुण, वलय (कंगन के या उसके खण्ड आकार की), नलक। इनमें जानु, नितम्ब, अंश, फलक, गण्ड, तालु, शंख और शिर में कपाल अस्थियाँ हैं। दाँतों को रुचक कहते हैं। नासिका, कान, ग्रीवा, अक्षिकोष में तरुणास्थि हैं। पार्श्व, पीठ और छाती में वलय, शेष स्थानों पर नलकास्थियाँ हैं ॥२०॥

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ॥
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥२१॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२२॥
मांसान्यत्र निबद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२३॥

इस में श्लोक भी हैं—जिस प्रकार वृक्ष अन्दर के सार भागों से स्थिर रहते हैं, उसी प्रकार अस्थि रूपी सारों से मनुष्यों के शरीर धारण किये जाते हैं। इसलिये त्वचा और मांस नष्ट होने पर भी देह की सारभूत अस्थियाँ नष्ट नहीं होतीं। मांस-शिराओं और स्नायुओं के द्वारा अस्थियों में बंधे होने से न तो फटते हैं और न गिरते हैं।

वि० मन्तव्य—अस्थि के ढाँचा पर मासपेशियाँ लिपटी तो हैं ही, पर शिरा एवं स्नायु रूप डोरियों से बँधी भी हैं, मांसपेशियों के उचित निवेश से मानव का वर्तमान आकार (आकृति) बनता है। यदि उसे पृथक् कर दिया जाता है तो कोई नहीं कह सकता कि यह देवदत्त का अस्थिपञ्जर है कि अथवा यज्ञदत्त का। अस्थिपञ्जर का नाम "कंकाल" है।२१-२३।

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः, स्थिराश्च ये ॥२४॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२५॥

सन्धियाँ दो प्रकार की हैं—चेष्टावान् और स्थिर। शाखा, हनु, और कटि में चेष्टाशील सन्धियाँ हैं। शेष सब स्थानों पर स्थिर सन्धियाँ समझनी चाहिये।

वि० मन्तव्य–अस्थियों के संयोग स्थल का नाम "सन्धि" है। यद्यपि वे परस्पर सर्वथा मिली या जुड़ी नहीं होतीं। उनके मध्य में श्लेषण नामक कफ विद्यमान रहता है। चेष्टावान् या चल सन्धियाँ चेष्टा—गति करनेवाली और स्थिर या अचल सन्धियाँ चेष्टा रहित होती हैं। सन्धि को सन्धान एवं श्लेष भी कहते हैं—अस्थियों के सटने का स्थान। सन्धिस्थल में श्लेषण कफ रहने से चल सन्धियाँ घर्षण से बच जाती हैं और अचल सन्धियाँ सटी रहती हैं ॥२४-२५॥

सङ्ख्यातास्तु दशोत्तरे द्वे शते। शाखास्वष्टषष्टिः। एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश, जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ; तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयक्लोमनि, बद्धास्त्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ वर्त्ममण्डलयोर्नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः; द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि ॥२६॥

सन्धियों की संख्या दो सौ दस है। इन में शाखाओं में अड़सठ, कोष्ठ में उनसठ, ग्रीवा से ऊपर तिरासी (८३) हैं। पैर की प्रत्येक अँगुली में तीन-तीन, अँगूठे में दो, ये कुल चौदह हुईं। जानु-गुल्फ और वंक्षण में एक-एक, इस प्रकार से एक टांग में कुल सत्रह सन्धियाँ हैं। इस प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में समझना चाहिये। कटि कपालों में तीन, पृष्ठ वंश में चौबीस-चौबीस ही पार्श्वों में, उर में आठ। आठ ग्रीवा में, कण्ठ में तीन, हृदय क्लोम से सम्बद्ध नाड़ियों में अठारह, दाँतों के बराबर दन्त मूलों में अर्थात् बत्तीस,

काकलक में एक, नासा में एक, नेत्राश्रित वर्त्म मण्डल में दो, गण्ड में एक, कान में एक, शंख में एक, हनुसन्धि में दो, भ्रुकुटी के ऊपर दो, शंखों के ऊपर दो, शिरःकपालों में पाँच, मूर्ध्नि (शिर) में एक।

वि० मन्तव्य—द्वौ अंगुष्ठे—अंगूठा में चणकास्थि समेत तीन अस्थियाँ होने पर भी सन्धियाँ दो ही हैं, क्योंकि तीसरी चणकास्थि कण्डरा में पृथक् रहती है। दन्तमूलेषु—दन्त के मूल में ऊखलाकार, इन में दन्त धँसे-धरे रहते हैं या जुड़े रहते हैं ॥२६॥

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥२७॥

ये सन्धियाँ आठ प्रकार की हैं। यथा कोर (कोन किनारे की-इस लकड़ी की कोर मार देना), उलूखल, सामुद्ग, प्रतर, तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शंखावर्त्त—इनमें से अंगुली, कलई, गुल्फ, जानु और कोहनी में कोर सन्धि हैं। कक्षा, वंक्षण और दांतों में उलूखल सन्धि, अंसपीठ, गुदा, भग, नितम्ब में सामुद्ग, ग्रीवा और पृष्ठवंश में प्रतर, शिर और कटि कपालों में तुन्नसेवनी, हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड, कण्ठ हृदय नेत्र-क्लोम नाड़ी में मण्डल, श्रोत्र शृंगाटकों में शंखावर्त्त। नाम से ही इनकी आकृति बता दी है।

वक्तव्य—कोर—किनारेवाली, उलूखल-ओखली के आकार की, सामुद्ग सम्पुट के आकार की, प्रतर तैरनेवाली, तुन्नसेवनी-एक दूसरी के बीच में फँसी, वायसतुण्ड—कौवे की चोंच के समान, मण्डल—गोलाकार, शंखावर्त्त—शंख के ऊपर के चक्करों की भाँति।

वि० मन्तव्य—कोरसन्धि कोरनामक सन्धि सन्धान-जोड़-कोर कलिका-कली (अविकसित फूल) का नाम है। जहाँ दो अस्थियों के सिरे कोर जैसे रहते हैं और वे दोनों अस्थियाँ जहाँ जुड़ी रहती हैं उस सन्धि का नाम कोर सन्धि है। ये सब चल होती हैं। उलूखल सन्धि-एक अस्थि में ऊखली का गढा या थाला रहता है और दूसरी अस्थि का सिरा मूसल के समान उसमें पड़ा या धँसा रहता है। यह भी दो प्रकार की होती है १—अचल जैसे दन्त एवं दन्तोलूखल की और २—चल जैसे—कक्षा एवं वंक्षण की। सामुद्ग—जो भली प्रकार ऊपर टिकी रहती है या सम्पुट के समान बनी रहती है—दोनों अस्थियों के सिरों में गर्त रहता है और गर्त्त के किनारे मिले रहते हैं जैसे सम्पुट में दो सिकोरों के। प्रतर—जहाँ दो अस्थियाँ तरपतर धरी-जुड़ी रहती हैं; प्रतर—तले ऊपर—नीचे ऊपर। तुन्नसेवनी—जहाँ दो अस्थियों के दांते कांटे फँसे रहते हैं, ध्यान से देखने पर दोनों अस्थियाँ परस्पर सिली हुई प्रतीत होती हैं जैसे शिरःकपालों में कपालों के दांते फँसे रहते हैं, जैसे परस्पर सिले हों। वायसतुण्ड—इस में एक अस्थि का सिरा काक की तुण्ड—चोंच का सा होता है दूसरी से जुड़ा रहता है। जैसे अधोहनु का सिरा शंखास्थि से जुड़ा है। मण्डल—जहाँ अस्थियाँ मण्डल या चक्र के आकार में परिणत हो जाती हैं या जिनसे घेरा बन जाता है। जैसे कण्ठ अर्थात् श्वास मार्ग-नलिका में। शंखावर्त्त—शंख के भीतरी आवर्त्तों—घुमावों के समान ॥२७॥

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते॥२८॥

ये केवल अस्थियों की ही सन्धियाँ कही गई हैं। पेशी, स्नायु और सिराओं की सन्धियों की गिनती नहीं है ॥२८॥

नव स्नायुशतानि। तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षण्निचितास्तास्त्रिंशत्, तावत्यएव तलकूर्चगुल्फेषु, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत्, षट्त्रिंशद् ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्, एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥२९॥

स्नायु नौ सौ हैं। इनमें से शाखाओं में छै सौ हैं। कोष्ठ में दो सौ तीस। ग्रीवा से ऊपर सत्तर हैं। पैर की एक एक अंगुली में छै छै स्नायु हैं, कुल तीस हैं। तल, कूर्च और गुल्फ में भी तीस, जंघा में भी तीस, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वंक्षण में दस, इस प्रकार टाँग में एक सौ पचास स्नायु हैं। इसी प्रकार दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं को समझना। कटि में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों में साठ (छाती में तीस) ग्रीवा में छत्तीस, शिर में चौंतीस। इस प्रकार से नौ सौ स्नायु कह दिये।

वि० मन्तव्य—स्नायु को पञ्जाब में सड़ी या सढ़ी कहते हैं। यह शण के रेशों—तन्तुओं जैसी श्वेत एवं लम्बी होती हैं और अत्यन्त दृढ़ भी, इनसे (पशु की स्नायु से) धनुष की ज्या (डोरी) तथा रूई धुनने की तांत बनाई जाती हैं। इनसे शरीर की सन्धियाँ बँधी रहती हैं (दे० श्लो० ४२) और इसके जाल (प्रतान—ताना बाना के रूप में) मांसपेशियों में भी तने रहते हैं और वे सड़े गले व्रणों में—दिखाई पड़ते हैं (दे० सू० अ०

२३ का सूत्र १२ यथा "शणतूलवत्-स्नायुजालवन्तो" अर्थात् शण के तन्तुओं जैसे स्नायु जाल से युक्त व्रण)। स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसाऽस्थिमेदसाम् (शा० ध० सं० अ० ५)। मांसान्यत्र निबद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा (सू० शा० अ० ५ श्लो० २५) स्नायु के द्वारा व्रण को सिला भी जाता है (सु० अ० २५ श्लो० २१) १-प्रतानवती-शणतूल के जाल जैसी, २—वृत्त-गोल तथा ठोस-अशुषिर, ३—पृथु चौड़ी या चपटी, ४—शुषिर-खोखली-कठोर सिरा रूप, क्योंकि जिन सिराओं का खरपाक होता है वे स्नायु कही जाती हैं। उपादान दोनों का समान है, देखिये सू० शा० अ० ४ श्लोक ३० ॥२९॥

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥३०॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥३१॥
आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥३२॥
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥३३॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥३४॥
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥३५॥
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥३६॥

इसमें श्लोक भी हैं—स्नायु चार प्रकार की हैं, यथा प्रतानवती, वृत्त, पृथु और शुषिर (खोखली)। इनमें प्रतानवती स्नायु शाखाओं में और सब सन्धियों में हैं। वृत्त (गोल)स्नायु को कण्डरायें समझना चाहिये। आमाशय, पक्वाशय और वस्ति में शुषिर स्नायु हैं। पार्श्व छाती, पीठ और शिर पर पृथु (चपटी) स्नायु हैं। जिस प्रकार लकड़ी के तख्तों से तैय्यार की, बहुत से बन्धनों से बँधी हुई नाव पानी में बहुत से आदमियों के बोझ को उठाने में समर्थ होती है, उसी प्रकार इस शरीर में जितनी भी संधियाँ है, वे सब स्नायुओं से बँधी हुई हैं, इसी से मनुष्य भार को उठाने में समर्थ होते हैं। न तो अस्थियाँ न पेशी, न सिरायें, न सन्धियाँ आहत होने पर इतना कष्ट नहीं देतीं (निकम्मा नहीं करतीं) जितना कि स्नायु के आघात से बेकार हो जाता है। जो अन्दर और बाहर के स्नायु को जानता है, वह मनुष्य प्राणियों के शरीर में से गहराई में गये शल्य को भी निकाल सकता है ॥३०-३६॥

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डु (न्दु)केषु, ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायां, द्वे ओष्ठयोः, द्वे नासायां, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति, एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥३७॥

पेशियाँ पाँच सौ हैं। इनमें से शाखाओं में चार सौ, कोष्ठ में छयासठ, ग्रीवा से ऊपर चौंतीस। पैर की प्रत्येक अंगुली में तीन, कुल पन्द्रह। प्रपद में दस, पैर के ऊपर कूर्च में लगी हुई भी दस। गुल्फ तल में दस। गुल्फ और जानु के बीच में बीस। जानु में पांच। ऊरु में बीस, वंक्षण में दस। इस प्रकार से एक टांग में एक सौ पेशियाँ है। इसी प्रकार दूसरी टांग और दोनों बाहुओं में गिननी चाहिये। पायु में तीन, मेहन में एक, सेवनी में एक, वृषणों में दो, प्रत्येक नितम्ब में पांच, पांच, वस्तिशिर में दो, उदर में पांच, नाभि में एक, पीठ के ऊपर के भाग में लगी हुई लम्बी पांच-पांच, पार्श्वों में छै, वक्ष में दस, अक्षक और अंस के चारों ओर सात, हृदय और आमाशय में दो, यकृत्, प्लीहा, उण्डुक में छः, ग्रीवा में चार, हनु में आठ, काकलक और गले में एक-एक, तालु में दो, जिह्वा में एक, ओष्ठ में दो, नासा में दो, नेत्र में दो, गण्ड में चार, कान में दो, ललाट में चार, शिर में एक। इस प्रकार से पांच सौ पेशियाँ पूर्ण हो जाती हैं ॥३७॥

भवति चात्र—

शिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥३८॥

इसमें श्लोक भी है—

मनुष्यों की सिरायें, स्नायु, अस्थि, पर्व और सन्धियाँ पेशियों से ढँपी हुई हैं। इसलिये ये बलवान् रहती हैं ॥३८॥

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्चपञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः; अपत्यपथे चतस्रः—तासां प्रसृते अभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव। पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति।

स्त्रियों में बीस पेशियाँ अधिक हैं। प्रत्येक स्तन में पाँच, पाँच, दोनों स्तनों में दस। यौवन काल में इनमें वृद्धि होती है। अपत्य मार्ग में चार पेशी हैं। इनमें से दो अन्दर की ओर फैली हैं। और दो गोलाई में बाहर की ओर अपत्य पथ के मुख में रहती हैं। गर्भद्वार के मुखपर स्थित तीन पेशियाँ हैं। शुक्र आर्त्तव को प्रविष्ट करनेवाली तीन और हैं। पित्ताशय और पक्वाशय के बीच में गर्भशय्या (गर्भाशय) रहता है, जहाँ पर गर्भ रहता है।

वि० मन्तव्य—अपत्यपथ—गर्भ का मार्ग—योनिमार्ग। योनिव्यापद् आदि प्रसंगों में योनि गर्भाशय का नाम है—यु मिश्रणे धातु (अदादि गण) से योनि शब्द बनता है। अर्थ—जहाँ पर शुक्र शोणित का मिश्रण हो। योनि—भगौष्ठ, भग एवं गर्भाशय का सम्मिलित नाम है, देखें अग्रिम श्लो० ४३ ॥३९॥

तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति ॥४०॥

पेशियों का आकार—बहल, पेलव, (तनु-पतली) स्थूल, सूक्ष्म, पृथु (चपटा), गोल, ह्रस्व, दीर्घ, स्थिर, मृदु, श्लक्ष्ण, कर्कश स्वभाव का होता है। पेशियाँ सन्धि, स्नायु-अस्थि-सिरा को ढाँपती हैं, अतः स्थान के अनुसार इनका स्वभाव होता है (जहाँ जैसी जरूरत होती है, वहाँ वैसा होता है)।

वि० मन्तव्य—पेशियों के उक्त बहल पेलव आदि भावों के कारण ही प्रतिप्राणी की आकृति में भेद होता है और पुष्टि एवं कार्श्य होता है, एक ही के शरीर के भिन्न २ अङ्गों एवं प्रत्यङ्गों में भी पुष्टि एवं कार्श्य होता है। इसी प्रकार अबलता-सबलता भी होती है। व्यायाम से इसी प्रकार पेशियों को पुष्ट बनाया भी जा सकता है ॥४०॥

भवति चात्र—

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥४१॥

इसमें श्लोक भी है—

पुरुषों के मेहन और मुष्क (वृषण) में रहनेवाली जो पेशियाँ कही हैं, वे ही पेशियाँ स्त्रियों में अन्तर्गत फल (डिम्ब) को ढाँपे रहती है। (लक्षण-लिंग-डल्हण)।

वक्तव्य—भोज तीन पेशियाँ कम मानते हैं। यथा—पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्जे विद्धि भूमिप। अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः ॥४१॥

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥४२॥

मांस, सिरा, धमनी, और स्रोतों का विभाग अन्यत्र कहेंगे ॥४२॥

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥४३॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥४४॥

योनि शंखनाभि के आकार की, तीन आवर्त्त से युक्त होती है, उसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या रहती है। रोहित मत्स्य के मुख की जैसी आकृति होती है, उसी के समान उसी के आकार की गर्भशय्या होती है। (अर्थात् आगे से मुख छोटा-तंग रहता है, और पीछे बड़ा हो जाता है) ॥४३,४४॥

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥४५॥

गर्भ गर्भाशय में अंगों को संकुचित करके सामने की ओर से रहता है। यह गर्भ प्रसव के समय स्वभाव से ही (शिर के भारी होने के कारण) शिर के बल आता है (पहले शिर आता है) ॥४५॥

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥४६॥

शरीर का त्वक् पर्यन्त जो यह अंग विनिश्चय है, वह किसी भी प्रकार शल्य ज्ञान के बिना वर्णन नहीं किया जा सकता है। (शल्य ज्ञान से अंगों का निश्चय किया जा सकता है) ॥४६॥

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥४७॥
प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम् ॥४८॥

इसलिये शल्य के हरण करनेवालों को मृत शरीर का शोधन करके अच्छी प्रकार अंगों का निश्चय करना चाहिये। प्रत्यक्ष से देखा हुआ और शास्त्र से जाना हुआ ये दोनों ही बातें संक्षेप में ज्ञान की वृद्धि में कारण होती हैं। चरक में कहा है—शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥४७,४८॥

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमावहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य, ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुवल्वजकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥४९॥

इसलिये सम्पूर्ण अंगोंवाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ बरस की आयु से कम आयु के, शव में से आन्त्र और मल को निकालकर, पुरुष के शव का बहते हुए जलवाली नदी में पिञ्जरे के अन्दर, मंजु, वल्कल, कुश, सन आदि किसी एक से लपेटकर, एकान्त स्थान में

रखकर सड़ाये (नरम करे)। भली प्रकार नरम बन जाने पर इसको निकालकर इस शरीर को सात दिन तक खस, बाल, बाँस, वल्वज की बनाई किसी एक की कूची से धीरे धीरे रगड़ता हुआ त्वचा से लेकर सब ही बाहर और अंदर के अंग-प्रत्यंग भागों को, उनकी विशेषताओं को कहे हुये अनुसार आँख से देखे। (अप्रकाशे का अर्थ अँधेरे में भी करते हैं)।

वि० मन्तव्य—आजकल आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक विद्यालयों में शवच्छेद किया जाता है वहाँ—शव में—फमालिन एवं संखिया का इन्जेक्शन कर दिया जाता है। फलतः वह सड़ता नहीं है, सूख अवश्य जाता है और उसमें रंग भी चढ़ा दिया जाता है, जिससे रक्त सिराएँ लाल बनी रहती हैं। धीरे २ महीनों चीर २ कर अङ्ग प्रत्यङ्ग देख लिये जाते हैं॥

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः।
दृश्यते ज्ञानचक्षुभिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥५०॥

शरीर में अतिसूक्ष्म विभु-परमात्मा को आँख से नहीं देख सकते। यह आत्मा तो ज्ञान चक्षु से और तप की आँखों से ही देखा जा सकता है। इसीसे कहा है—

'यद्दुष्करं यद्दुरापं यच्च दुर्गं यद् दुस्तरम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥'

वि० मन्तव्य—विभुः-विविधो भवति, विकृतो—विकारयुक्तो भवति इति अर्थात् जो विश्वरूप है या जो शरीर धारण करता है वह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, एक्सरे से भी नहीं देखा जा सकता, शुक्र में जो सर्पाकार कीटाणु देखा भी जाता है वह आत्मा नहीं, अपितु उसका पाञ्चभौतिक शरीर है। भले ही वह भी सूक्ष्म है परन्तु सूक्ष्मतम नहीं। वह तो ज्ञान चक्षु—सुख दुःख आदि गुणों—लक्षणों से देखा जाता है। अथवा तपःप्राप्त दृष्टि—दिव्य दृष्टि से ॥५०॥

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सदेहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥५१॥

शरीर के विषय में और शास्त्र के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। देखकर और सुनकर-संदेह को मिटाकर ही चिकित्सा कार्य आरम्भ करें।

वि० मन्तव्य—विशारद-प्रगल्भ-जो शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को भली भाँति देख लेता है और शास्त्र को समझ लेता है, वह विशिष्टा शारदा वाणी यस्य सः—विशारद—प्राध्यापक शरीर का व्याख्याता हो सकता है ॥५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरण-शारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे प्रत्येक मर्मनिर्देश शरीर का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—प्रत्येक (१०७) मर्म का निर्देश—वर्णन है, जिसमें मर्म का लक्षण देखिये २२ वें सूत्र में ॥१,२॥

सप्तोत्तरं मर्मशतम् तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि सन्धिमर्माणि चेति। न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥३॥

मर्म एक सौ सात हैं। ये मर्म पाँच प्रकार के हैं, यथा—मांस मर्म, सिरा मर्म स्नायु मर्म अस्थि मर्म और सन्धिमर्म। मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि से पृथक् कोई मर्म नहीं होते, क्योंकि इनसे पृथक् और नहीं मिलते। (मारयन्तीति मर्माणि)।

वि० मन्तव्य—पञ्चात्मक—मांस आदि मय अर्थात् उनसे निर्मित यथा मांसमर्म—मांस मय मर्म, सिरामर्म—सिरामय मर्म, स्नायुमर्म—स्नायुमय मर्म, अस्थिमर्म—अस्थिमय मर्म और सन्धिमर्म—सन्धिमय मर्म। यथा मृन्मय—मिट्टी से बना—निर्मित घट आदि। क्योंकि मांस आदि के अतिरिक्त—रहित मर्मस्थल उपलब्ध नहीं होते ॥३॥

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ॥४॥

इनमें ग्यारह मांसमर्म, इकतीस सिरामर्म, सत्ताईस स्नायुमर्म आठ अस्थिमर्म, और बीस सन्धि मर्म हैं। इस प्रकार से ये एक सौ सात मर्म हैं।

वि० मन्तव्य—विधि भेद से मर्मों की संख्या इस प्रकार है ॥४॥

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् ॥५॥

इनमें से ग्यारह मर्म एक टाँग में होते हैं। इस प्रकार से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं को समझना चाहिये। पेट और छाती में बारह, पीठ में चौदह, ग्रीवा से ऊपर के भाग में सैंतीस मर्म हैं ॥५॥

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्युर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरत

सक्थि व्याख्यातम् । उदरोरसोस्तु गुदबस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति । पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति । बाहुमर्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रबस्तिकूर्पराण्युर्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति, एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः । जत्रुण ऊर्ध्वं चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे द्वे फणे द्वावपाङ्गौ द्वावावर्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खावेका स्थपनी पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ॥६॥

इनमें सक्थि (टांग) के मर्म—क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्चशिर, गुल्फ, इन्द्रवस्ति, जानु, आणि, ऊर्वी, लोहिताक्ष और विटप ये ग्यारह मर्म हैं। इसी भाँति दूसरी टांग में समझना। पेट और छाती के मर्म—गुद, बस्ति, नाभि, हृदय, स्तनमूल, स्तनरोहित, अपलाप, और अपस्तम्भ। पीठ के मर्म—कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब, पार्श्वसन्धि, बृहती, अंसफलक और अंस। बाहुके मर्म—क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्चसिर, मणिबन्ध, इन्द्रबस्ति, कूर्पर, आणि, ऊर्वी, लोहिताक्ष और कक्षधर। इसी से दूसरी बाहु भी समझना। जत्रु से ऊपर के मर्म—चार धमनियां, आठ मातृका, दो कृकाटिका, दो विधुर, दो फणा, दो अपाङ्ग, दो आवर्त्त, दो उत्क्षेप, दो शंख, एक स्थपनी, पाँच सीमन्त, चार शृङ्गाटक, एक अधिपति हैं।

वि० मन्तव्य—उदरोरसोस्तु.......चेति—इन में उदर के ३ मर्म हैं—१—गुद, २—वस्ति, ३—नाभि (अन्त्र)। शेष ६ उरस् के मर्म हैं ॥६॥

तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि, नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणास्तनमूलापलापापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि, आणी (णि) विटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि, कटीकतरुणनितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि, जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि ॥७॥

इनमें—तलहृदय, इन्द्रवस्ति, गुद, स्तनरोहित ये मांस मर्म हैं। नीलधमनी, मातृका, शृंगाटक, अपांग, स्थपनी, फणा, स्तनमूल, अपलाप, अपस्तम्भ, हृदय, नाभि, पार्श्वसन्धि, बृहती, लोहिताक्ष, ऊर्वी ये सिरा मर्म हैं। आणि, विटप, कक्षधर, कूर्च, कूर्चशिर, वस्ति, क्षिप्र, अंस, विधुर, उत्क्षेप ये स्नायु मर्म हैं। कटिकतरुण, नितम्ब, अंसफलक, शंख ये अस्थिमर्म हैं। जानु, कूर्पर, सीमन्त, अधिपति, गुल्फ, मणिबन्ध, कुकुन्दर, आवर्त्त और कृकाटिका ये संधि मर्म हैं ॥७॥

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि भवन्ति, तद्यथा—सद्यःप्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणि चेति। तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्यघ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति ॥

ये सब मर्म पांच प्रकार के हैं। यथा सद्यः प्राणहर, कालान्तरप्राणहर, विशल्यघ्न, वैकल्यकर और रुजाकर। इनमें सद्यः प्राणहर उन्नीस हैं। कालान्तर प्राणहर तेंतीस हैं। विशल्यघ्न तीन हैं। वैकल्यकर चौवालीस हैं। रुजाकर मर्म आठ हैं ॥८॥

भवन्ति चात्र—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदयं बस्तिनाभ्यौ (भी) च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥९॥
वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः।
कटीकतरुणे सन्धौ पार्श्वजौ बृहती च या ॥१०॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु।
उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् ॥११॥
लोहिताक्षाणि जानूर्वीकूर्चविटपकूर्पराः।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥१२॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ तथा।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च ॥१३॥
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान्।
क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥१४॥

इसमें श्लोक भी हैं—शृङ्गाटक, अधिपति, शंख (दोनों), कण्ठसिरा, गुदा, हृदय, बस्ति और नाभि इन पर आघात लगने से तुरन्त मृत्यु हो जाती है। (कण्ठसिरा-मातृका) वक्ष मर्म (छाती के मर्म), सीमन्त, तलहृदय, क्षिप्र, इन्द्रवस्ति, कटिकतरुण, पार्श्वसन्धि, बृहती, नितम्ब ये कालान्तर में प्राणहर होते हैं। दो उत्क्षेप और स्थपनी ये विशल्यघ्न हैं। लोहिताक्ष, जानु, ऊर्वी, कूर्च, विटप, कूर्पर, अंस, अंसफलक, अपांग दो नील, दो मन्या, दो फण, कुकुन्दर, कक्षधर, विधुर, कृकाटिका दो आवर्त ये वैकल्यकारक हैं। गुल्फ दो, दो मणिबन्ध, कूर्चसिर चार, ये आठ मर्म रुजाकर हैं। क्षिप्रमर्म वेधन होने पर तुरन्त भी मारता है। और कुछ समय पीछे भी मारता है ॥९-१४॥

मर्माणि मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः, तेषु स्वभावतः एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति, तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते ॥१५॥

मर्म का लक्षण—मांस-सिरा-स्नायु-अस्थि और सन्धि इनके मिलने के स्थल का नाम मर्म है। इनमें स्वभाव से ही प्राण विशेष रूप में रहते हैं। इसलिये मर्मों पर आघात पहुँचने पर शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नष्ट हो जाता है, मन बदल जाता है। अथवा भ्रम, प्रलाप, गिरना और प्रमोह ये लक्षण होते हैं।

वि० मन्तव्य—मांस आदि के सन्निपात अर्थात् संयोग स्थल का नाम "मर्म" है अथवा यों कहिये—जहाँ मांस आदि

का संयोग रहता है उस स्थल का नाम "मर्म" है। ये स्थल विशेषरूप से प्राणों के आधार हैं। प्राण के लिये देखिये अ० ३ का तीसरा सूत्र। और इसी अध्याय का ३५ वाँ श्लोक। तान् तान् भावान् आपद्यन्ते—"उन उन भावों-आपदाओं को प्राप्त होते हैं" के लिये देखिये—सू० स्था० अ० २५ के श्लोक २३ से ४० तथा इसी अध्याय के श्लो० ३६ से ४०। अभिघात—संक्षेपतः अभिघात तीन प्रकार से होता है १—गिरने आदि से चोट लगना, २ शत्रु द्वारा दण्ड एवं शस्त्र आदि की चोट लगना, ३—शस्त्र-कर्म हैं ॥१५॥

तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठन्ति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते (पाकात्पतितशल्यो वा जीवति), वैकल्यकराणि सौम्यानि सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च, प्राणावलम्बनं करोति, रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि विशेषतश्च तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके ॥१६॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्म आग्नेय (अग्नि गुणवाले) हैं। शरीर में अग्निगुणों के शीघ्र कम होने से मारक होते हैं। कालान्तर प्राणहर मर्म सौम्य और आग्नेय गुणवाले हैं। अग्निगुणों के तुरन्त क्षीण होने पर और सौम्य गुणों के कुछ समय पीछे क्षीण होने पर कालान्तर में मारक हैं। विशल्य प्राणहर मर्म वायव्य हैं—शल्यमुख से रुकी हुई वायु जब तक अन्दर रहती है, तब तक रोगी जीता है। शल्य के निकालते ही मर्म स्थान में स्थित वायु निकल आती है। इसलिये शल्य रहने पर जीता है, शल्य के निकाल लेने पर मर जाता है। (अथवा पक जाने पर शल्य के गिर जाने से रोगी जीता है)। वैकल्य कारक मर्म सौम्य हैं। क्योंकि सोम स्थिर एवं शीतल होने से प्राणों को सहारा देता है। रुजाकर मर्म अग्निगुण-वायुगुण की अधिकतावाले हैं। अग्नि और वायु विशेषकर दर्द करनेवाले हैं। कोई आचार्य वेदना को पंचभूतजन्य वेदना मानते हैं।

वि० मन्तव्य—पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुः एके अर्थात्—रुजाकर में केवल आग्नेयरुजा-दाह-सन्ताप आदि तथा वायव्य-रुजा-शूल-उद्वेष्टन आदि ही रुजा नहीं होती, अपितु—पार्थिव रुजा-कफजरुजा-कण्डू, शैत्य आदि तथा आकाशीय रुजा—शून्यता, शोफ आदि रुजा भी होती हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। हमारे विचार में उनका जो कहना है वह सभी आचार्यों को कहना चाहिये, क्योंकि मर्म ही नहीं शरीर के किसी अवयव पर आघात होने से उक्त प्रकार की वेदना होती देखी जाती हैं ॥१६॥

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां समवायात् सद्यःप्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि, त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं, यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥

कई आचार्यों की मान्यता है कि मांस-सिरास्नायुअस्थि और सन्धि इन पाँचों के मिलने से और बढ़ने पर सद्यः प्राणहर मर्म होते हैं। कालान्तर प्राणहर मर्म एक रचना के कम होने से या थोड़े परिणाम में मिलने से होते हैं। दो रचनाओं के कम होने पर विशल्य प्राणहर मर्म होते हैं। तीन रचनाओं के कम होने से वैकल्य कारक, और एक ही रचना के होने से रुजाकर मर्म होते हैं। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि अस्थि मर्म पर भी आघात होने से रक्त आता है, (जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ भी मांससिरा का संयोग है)।

वि० मन्तव्य—जहाँ मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि का विवृद्ध—पूर्ण संयोग है सबके संयोगों का सम्मिलन है वहाँ जो "मर्म" बनता है वह सद्यः प्राणहर (सद्योमारक) होता है और जहाँ मांस आदि में से किसी एक का हीन या अल्प संयोग होता है वह मर्म-कालान्तरमारक होता है। इसी प्रकार अन्य मर्म भी समझिये। परन्तु क्योंकि मांस सिरा आदि पाचों शरीर में सर्वत्र पाये जाते हैं, तथापि मर्म १०७ ही हैं, इसलिये यह "केचित् आहुः" कोई ऐसा कहते हैं वह ठीक नहीं है। इस के लिये देखिये निम्नलिखित श्लोक॥

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतियापयन्ति ॥१८॥

क्योंकि इस शरीर में जो चार प्रकार की सिरायें हैं, वे प्रायः करके मर्मों में स्थित हैं। ये सिरायें स्नायु, अस्थि, मांस और सन्धियों को पोषण देती हुई शरीर का पालन करती हैं॥

ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धा
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥१९॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छ-
न्मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥२०॥

अतः मर्म पर चोट लगने पर कुपित हुआ वायु चारों ओर से इन सिराओं में फैल जाता है। बढ़ती हुई यह वायु शरीर में तीव्र वेदनायें उत्पन्न करती हैं। फिर वेदनासे पीड़ित यह शरीर सुन्न बन जाता है, और इसकी चेतना जाती रहती है। इसलिये शल्य को निकालने की इच्छावाला वैद्य परिश्रम के साथ मर्मों की परीक्षा करके शल्य को निकाले॥१९,२०॥

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥२१॥

वायु के लक्षणों के अनुसार पित्त और कफ के भी लक्षण पैदा होते हैं

वक्तव्य—पित्त के लक्षण दाह, चोष आदि हैं। कफ के लक्षण-तन्द्रा, भारीपन, स्रोतोनिरोध आदि हैं ॥२१॥

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरसन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति, विशल्यघ्नं वैकल्यकरं च भवति, वैकल्यकरं कालान्तरेण क्लेशयति रुजां च करोति रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति ॥२२॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्मों के आस-पास पर आघात लगने से कालान्तर में मृत्यु होती है। कालान्तर प्राणहर मर्मों के छोर पर आघात लगने से वैकल्य कारक मर्म की अवस्था होती है। विशल्यघ्न मर्म वैकल्य कारक बन जाता है। वैकल्य कारक मर्म कुछ समय पीछे दुःख देता है और पीड़ा करता है। रुजाकर मर्म में तीव्र वेदना नहीं होती ॥२२॥

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥२३॥

इनमें सद्यः प्राणहर मर्म सात रात के अंदर रोगी को मार देता है। कालान्तर प्राणहर मर्म पन्द्रह दिन या महीने में मनुष्य को मारता है। इनमें भी क्षिप्रमर्म कभी शीघ्र भी मारक बन जाता है। विशल्य प्राणहर और वैकल्य कर मर्म कभी बहुत जोर का आघात लगने पर मारक हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—इस प्रकरण में "सद्यः" शब्द का अर्थ—सात रात्र (सात दिन) और "कालान्तर" शब्द का अर्थ एक पक्ष (१५ दिन) तथा १ मास (३० दिन या २७ दिन) है।२३।

अत ऊर्ध्वं सक्थिमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्र रुजाभिर्मरणं, क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरः तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फः, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा, पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिः, तत्र शोणितक्षयेण मरणं, जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु, तत्र खञ्जता, जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च, ऊरुमध्ये उर्वी, तत्र, शोणितक्षयात् सक्थिशोषः, उर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसंधेरूरुमूले लोहिताक्षं, तत्र लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा, वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं, तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति, एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि, तानि बाह्वौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि, यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥२४॥

इनके आगे सक्थि (टाँग) के मर्मों का व्याख्यान करें—इनमें पैर के अंगूठे और मध्यमा अंगुलि के बीच में क्षिप्र नाम का मर्म है। इसके वेधन होने पर आक्षेपों के कारण मृत्यु होती है। मध्यमांगुलि की सीधी रेखा में पैर के तलुवे में तलहृदय नामक मर्म है, इसमें वेदना के कारण मृत्यु होती है। क्षिप्र मर्म के ऊपर में दोनों ओर कूर्च नाम का मर्म है। इससे पैर में तिरछापन और कम्पन आ जाता है। गुल्फ सन्धि के नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नाम का मर्म है, इसमें वेदना और सूजन होती है। पैर और जंघा की सन्धि पर गुल्फ मर्म है, इसमें वेदना, पैर का स्तब्ध होना, या लंगड़ापन होता है। पार्ष्णि के ऊपर जंघा के बीच में इन्द्रवस्ति नाम का मर्म है, इसमें रक्तक्षय से मृत्यु होती है। जंघा और ऊरु की सन्धि पर जानु मर्म है, इससे लंगड़ापन होता है। जानु से ऊपर तीन अंगुल में दोनों ओर आणि नामक मर्म है। इसमें शोफ की वृद्धि, टाँग की स्तब्धता होती है। ऊरु के बीच में उर्वी मर्म है, इसमें रक्त के क्षय से टांग सूख जाती है। उर्वी मर्म के ऊपर, वंक्षण सन्धि के नीचे, ऊरु की जड़ में लोहिताक्ष मर्म है। वंक्षण और वृषणों के बीच में विटप मर्म है, इससे नपुंसकता, शुक्र की कमी होती है। इस प्रकार से टाँग में ग्यारह मर्म कह दिये हैं। इसी से दूसरी टाँग और बाहु को समझना। विशेष भेद यह है कि टाँग में जो गुल्फ, जानु और विटप मर्म हैं, वे ही मर्म बाहु में मणिबन्ध, कूर्पर और कक्षधर नाम से हैं। जिस प्रकार वंक्षण और वृषण के बीच में विटप मर्म हैं, उसी प्रकार वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षधर है। इसके वेधन से वे ही (विटप के समान) उपद्रव होते हैं। भेद-मणिबन्ध के वेधन होने पर हाथ में निकम्मापन, कूर्पर के विद्ध होने पर लूलापन, कक्षाधर में पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं के चौवालीस मर्म कह

दिये हैं।

वि० मन्तव्य—पाठक ध्यान दें कि इन मर्मों में कौन-कौन मांसमर्म हैं और कौन-कौन सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थि-मर्म अथवा सन्धिमर्म हैं। कूर्चमर्म—पाँव एवं हाथ की शलाकास्थियों को बाँधनेवाले स्नायु का जाल है। तलहृदय मांसमय मर्म है, लोहिताक्ष—सिरामर्म है और जानु एवं कूर्पर गुल्फ एवं मणिबन्ध सन्धिमर्म हैं। इस प्रकार सर्वत्र विचार किया जाय तो मर्मों का रहस्य समझ में आ सकता है, कूर्च-कूची-झाडू के समानाकार अथवा झाडू की शलाका जैसे रस्सी से बँधी रहती है वैसे ही ये अस्थियाँ स्नायु-से बँधी हैं। कूर्च-शिर—कूर्च का मूल भाग या जहाँ से कूर्च जुड़ा रहता है—कूर्च का शिर। इस मर्म में अनेक अस्थियां रहती हैं। मणिबन्ध- मणि जैसी छोटी छोटी अस्थियों का बन्ध बन्धन स्नायु। इन्द्रवस्ति—मांसमर्म है। इसका वर्णन देखिये–चि० स्था० अ० १८ श्लो० २५-२६ में। लोहिताक्ष—यह लाल वर्ण के अक्ष-कौड़ी का सा होता है, पांव-टांग में ठोकर आदि आघात से भी सूज जाता है और इसी के शोथको "वाघी" कहते हैं और यही प्लेग की ग्रन्थि भी है, जिसे विदारिका या वातालिका कहते हैं। यद्यपि अन्यत्र की ग्रन्थियों के शोथ भी (सोपद्रव) प्लेग कहे जाते हैं, परन्तु ८०-९० प्रतिशत लोहिताक्ष के शोथ देखे जाते हैं और यह भीषण भी अतएव होता है क्योंकि यह मर्मस्थल है। विटप–यह वृषण या वृषणवाहक स्नायु हैं, क्योंकि विटप स्नायुमर्म है और इस पर आघात होने से—सर्वथा नाश होने से षाण्ढ्य–नपुंसकता और स्वल्प आघात होने से अल्पशुक्रता होती है और उक्त मर्मों का परिमाण–लम्बाई चौड़ाई का विचार इसी अध्याय के श्लो० २८-२९ से कीजिये ॥२४॥

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः–तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणं; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिः, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति; पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिः, तत्रापि सद्योमरणं, स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं, तत्रापि सद्य एव मरणं; स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया (कासश्वासाभ्यां) म्रियते, स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणं, उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥२५॥

इसके आगे उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इनमें वायु और मल (पुरीष) को निकालनेवाला, स्थूलांत्र से सम्बद्ध गुदा नाम का मर्म है। इससे तुरन्त मृत्यु होती है। थोड़े मांस और थोड़े रक्तवाला, कटि के अन्दर स्थित, मूत्र का स्थान 'वस्ति' नामक मर्म है। इसमें भी अश्मरीजन्य व्रण को छोड़कर वेधन होने से तुरन्त मृत्यु होती है। अश्मरी व्रण में भी दोनों तरफ से (आर-पार) वेधन होने पर रोगी नहीं बचता। एक तरफ वेधन होने पर मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। इस व्रण की सावधानी से चिकित्सा करने पर यह भर जाता है। पक्वाशय और आमाशय के बीच में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि है। इसके वेधन पर भी तुरन्त मृत्यु होती है। स्तनों के मध्य में, छाती के भीतर, आमाशय द्वार के पास में हृदय नामक मर्म है, यह हृदय सत्त्व, रज, तम का स्थान हैं, इसके आघात से भी तुरन्त मृत्यु होती है। स्तनों के नीचे दो अंगुल, दोनों ओर स्तनमूल नामक मर्म है। इसके कफ से भर जाने पर कास, श्वास से रोगी मर जाता है। स्तन चूचुकों के दो अंगुल ऊपर दोनों ओर स्तन रोहित मर्म हैं। इनके रक्त से भर जाने पर कास, श्वास के कारण रोगी मर जाता है। अंस कूटों के नीचे, पार्श्वों के ऊपर के भाग में अपलाप नामक मर्म हैं। इनमें रक्त के पूय में बदल जाने से मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर, वात को ले जानेवाली जो दो नाड़ियाँ हैं, उनका नाम अपस्तम्भ है, इनमें वायु के भर जाने पर कास श्वास के कारण रोगी मर जाता है। इस प्रकार छाती और ऊपर के बारह मर्म कह दिये हैं।

वक्तव्य—"स्तन मूल को Root of the lungs; स्तन रोहित = Base of lungs; अपलाप = Apex of lungs; अपस्तम्भ = Bronchi कहते हैं।

वि० मन्तव्य—गुद-वात-अपान वायु तथा वर्चस्-पुरीष का निरसन–निर्गमन होता है, जिसके द्वारा स्थूलान्त्र–मलाशय के साथ प्रतिबद्ध-ऊपर के छोर से बँधा हुआ। इसका वर्णन—नि० स्था० अध्याय २ में देखिये। बस्ति—मूत्राशय–इसका वर्णन नि० अ० ३ के श्लो० १८-२४ देखिये। नाभि–क्षुद्रान्त्र जहाँ रसवाहिनी सिराओं का प्रभव-उत्पत्ति या मूल या प्रारम्भ है। यह नाभि—धुन्नी या तुन्न नामक उदर के बाहर दृश्यमान अवयव नहीं है। अपितु पक्वाशय–मलाशय एवं आमाशय के मध्यवर्त्ती अन्त्र का नाम है, जहाँ अन्त्र में से रस का पृथक्करण एवं ग्रहण होता है। विशेष देखिये शा० अ० ४-२६-२७

तथा शा० अ० ५-६। हृदय-हृत् (हार्ट)। स्तन-बाह्यवर्त्तिस्तन-मंडल (स्तन चूचुक नहीं अपितु स्तन का पूरा घेरा) से आच्छादित स्थान के भीतर अवस्थित फुप्फुस का वाचक भी हो सकता है, यथा—स्तन शब्द ष्टन्-शब्दे धातु (भ्वादि गणीय) से निष्पन्न होता है और शब्द—शप आक्रोशे धातु (भ्वादि गणीय) से निष्पन्न होता है—शब्द तथा आक्रोश (चिल्लाना) फुप्फुसों के ही बल पर हो सकता है, बाह्य स्तन से नहीं और स्तन का पर्याय "कुच" है और कुच शब्द—कुच-संयोगे धातु (तुदादि गणीय) से निष्पन्न होता है और कोच-संकोच (सिकुड़ना)—फुप्फुस में ही होता है। बाह्य कुचों में नहीं, भले ही ये दोनों शब्द बाह्य स्तनों के लिये भी साहित्य में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु हमारा दृढ विश्वास है कि इस प्रकरण में स्तन शब्द फुप्फुस के लिये आया है। विश्वास का कारण—ये सिरा मर्म है और फुप्फुस का प्रत्येक कोष्ठ-प्रकोष्ठ सिरा से व्याप्त है। दूसरे इन पर आघात होने पर उरःक्षत, फलतः कफ पूर्णकोष्ठता एवं कास श्वास होने का उल्लेख है और रक्त के पूय भाव को प्राप्त होने का भी उल्लेख है तथा—इन्हीं में जानेवाली दो वातवह नाड़ियों का भी उल्लेख है जो श्वासमार्ग के दो मार्ग होकर फुप्फुसों में जाती हैं। और बाह्यस्तनों पर आघात होने से यहाँ तक कि उनमें व्रण, व्रणशोथ आदि हो जाने पर भी कास श्वास आदि कुछ भी नहीं होते, स्तन काट दिये जाते हैं, सड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं तथापि कासश्वास नहीं होते। और-वक्षस् उरस् के मर्मों में हृदय को सद्योमारक मानकर अन्य स्तनमूल आदि मर्मों को कालान्तरमारक माना है। यही कारण है कि इन पर आघात होने पर यदि कास श्वास आदि हो जाते हैं तो कालान्तर में मृत्यु होती है। और उक्त मर्म दो हैं—दोनों फुप्फुसों में १-१।

स्तनमूल नामक मर्म—फुप्फुसों का अधस्तन दो अंगुल भाग है। स्तन रोहित नामक मर्म-फुप्फुसों का बाह्यस्तन के चूचुक (स्तन का कृष्णमण्डल) से उपलक्षित मध्य भाग से २ अङ्गुल ऊपरी भाग है। अपलाप नामक मर्म—अंसकूट के नीचे (भीतर) पार्श्वों (फुप्फुसों) के उपरि भाग में विद्यमान है। यहाँ स्पष्ट पार्श्व शब्द का प्रयोग किया है, अर्थ है—पर्शुकासु भवं पार्श्वम्-पर्शुकाओं के भीतर फुफुस ही विद्यमान हैं। अपस्तम्भ नामक मर्म—उरस् में दोनों ओर विद्यमान वातवह—श्वास वायु का वहन करनेवाली दो नालियाँ जो श्वासनलिका से विभक्त होकर दोनों फुप्फुसों में जाती हैं। इस प्रकार १ गुद, २ वस्ति तथा ३ नाभि, यह तीन मर्म उदर के और १—हृदय तथा फुप्फुसों के ८ मर्म (दोनों में ४-४) यह ९ मर्म उरस् के कह दिये हैं। उरस् शब्द ऋ गतौ धातु से निष्पन्न होता है, जिसमें गति हो वह उरस् कहलाता है, अतः एव वह हृदय एवं फुप्फुसों के लिये प्रयुक्त भी होता है, यद्यपि बाह्य स्तनों को भी "उरोज" तथा वक्षोज कहते हैं, परन्तु वह साहित्य की बात है—आयुर्वेद की नहीं ॥२५॥

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते, पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो कुकुन्दरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च, श्रोणिकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणं अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी, तत्र लोहितापूर्णकोष्ठतया म्रियते, स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहती, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते, पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ बाहुमूर्धग्रीवामध्येंऽसपीठस्कन्धबन्धनावंसौ तत्र स्तब्धबाहुता, एवमेतानि चतुर्दशपृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि॥

इसके आगे पृष्ठ के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इसमें पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटिकतरुण नामक अस्थि मर्म है। इनमें रक्त के क्षय से पाण्डु वर्ण, विवर्ण और हीन रूपवाला होकर मर जाता है। पार्श्वों में जघन के बाह्य भागों में पृष्ठ-वंश के दोनों ओर कुकुन्दर नामक मर्म हैं, इनमें शरीर के निचले भाग में स्पर्श की अप्रतीति, और चेष्टा नाश होता है। श्रोणीकाण्ड के ऊपर, आशय को ढाँपनेवाले, पार्श्वों के बीच में सम्बद्ध नितम्ब हैं, इन में शरीर के निचले भाग में शोष, और निर्बलता से मृत्यु होती है। पार्श्वों के नीचे लगे हुए, जघन और पार्श्वों के बीच में जघन के ऊपर और तिरछे पार्श्व सन्धि नामक मर्म हैं, इनमें रक्त के भर जाने से मृत्यु होती है। स्तनमूलों की सीध में पृष्ठवंश के दोनों ओर बृहती नामक मर्म है, इस में रक्त के अतिस्रावजनित उपद्रवों से रोगी मर जाता है। पीठ के ऊपर पृष्ठ वंश के दोनों ओर त्रिक से सम्बद्ध अंसफलक मर्म हैं, इन से बाहुओं में सुन्नता और शोष होता है। कन्धा और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और स्कन्ध को बांधनेवाला 'अंस' मर्म है। इस पर चोट आने से बाहु जड़ (अक्रियाशील) हो जाती है। इस प्रकार से पीठ के चौदह मर्म कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—पृष्ठ के ऊपर वा बाहर से अङ्गुलि निर्देश योग्य तथा पृष्ठ के भीतर या पृष्ठ की भित्ति के समीप रहनेवाले मर्म पृष्ठमर्म कहे जाते हैं। कटिक तरुण—यह दोनों अस्थि मर्म हैं, और पृष्ठ वंश के अधोभागिक श्रोणिकाण्ड के दोनों ओर की दो तरुणास्थियाँ हैं। कुकुन्दर—यह दोनों सन्धिमर्म हैं, ऊरु

के ऊपरी भाग का संयोग स्थल जिसका नाम वंक्षण सन्धि है, यह उलूखल सन्धि है। यह जघनास्थि के बहिः पार्श्व में स्थित है। इस पर आघात होने से अधःकाय की चेष्टा (चलना आदि) का उपघात हो जाता है और साथ २ तत्संबद्ध सिरास्नायु पर भी आघात होने से शून्यता हो जाती है। नितम्ब—यह भी अस्थिमय मर्म हैं, यह दो चौड़ी कपालास्थियाँ हैं—"गुदभग-नितम्बेषु चत्वारि" (अ० ५ सू० १६) में से दोनों ओर की दो अस्थियाँ तथा—जानु नितम्ब""कपालानि (अ० ५ सू० २०) में वर्णित हैं। ये श्रोणिकाण्ड से कुछ ऊंची, बस्ति आदि आशयों का आच्छादन करनेवाली—दोनों पासों से बचानेवाली, दोनों पासों में अन्दर से बंधी है, यह "नितम्बास्थि" कही जाती है। पार्श्वसन्धि—यह सिरामर्म हैं, यह दोनों वृक्क हैं, यह—पार्श्व-फुप्फुस से अधः भाग में प्रतिबद्ध, जघनास्थि के पार्श्वों के मध्य—परन्तु तिरछे किन्तु उससे ऊपर-ऊँचे में स्थित हैं। श्री त्रिलोकी नाथ वर्मा के शब्दों में—ये दोनों इन्द्रियाँ (नहीं२ यन्त्र) उदर में उसकी पिछली दीवार से लगी हुई, रीढ़ के दाहिनी और बाँई ओर रहती हैं, उनके आगे अन्त्र की गेण्ड-लियाँ पड़ी रहती हैं, हर एक गुर्दे (वृक्क) के पीछे १२ वीं पसली रहती है। ह० श० की र० अ० १२। इन पर आघात होने पर कोष्ठ में (वस्ति में) रक्त भर जाने से मृत्यु हो जाती है। बृहती नामक दो मर्म—यह दोनों भी सिरा मर्म हैं, परिमाण में आधा अंगुल है तथा कालान्तर या एक हैं। यह फुप्फुस का, पीठ की ओर का भाग है, दोनों के दो भाग हैं। शेष देखिये स्तनमूल मर्म का वक्तव्य। अंसफलक—यह दोनों अस्थिमर्म हैं, पीठ के उपरिभाग में, पृष्ठ वंश के दोनों ओर, त्रिक (दोनों स्कन्ध तथा ग्रीवा का सन्धान स्थल) से सम्बद्ध तथा बाहर से स्पर्शोपलभ्य हैं जो खब्बे या फर या पर कहे जाते हैं। ये कपालाकार हैं। अंस—कन्धे कहे जाते हैं, ये स्नायु मर्म हैं, बाहु के मूर्ध=ऊपर का शिर (सिरा) तथा ग्रीवा के मध्य भाग में वर्त्तमान, अंसपीठ (भार उठाने योग्य पीढ़ा) स्कन्ध (कन्धा) नामक प्रदेश को बांधनेवाले स्नायु अस नामक मर्म कहे जाते हैं ॥२६॥

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठ-नाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये। व्यत्यासेन तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणं, शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके, तत्र चलमूर्धता, कर्णपृष्ठतोऽधः संश्रिते विधुरे, तत्र बाधिर्यं, घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे, तत्र गन्धाज्ञानं, भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णो-र्बाह्यतोऽपाङ्गौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा भ्रुवोरुपरि-निम्नयोरावर्तौ नाम तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा भ्रुवो-रन्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ, तत्र सद्यो मरणं, शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ, तत्र सशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः, भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी, तत्रोत्क्षेपवत्, पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं, घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वा-संतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्योमरणं, मस्तकाभ्यन्त-रोपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥२७॥

इसके आगे जत्रु से ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे—इस में कण्ठ नाडी के दोनों ओर चार धमनियां हैं, एक नीला और एक मन्या। दूसरे पार्श्व में एक नीला और एक मन्या, इनका वेधन होने पर गूँगापन, स्वर विकृति, रस का ग्रहण न करना होता है। ग्रीवा के दोनों ओर चार सिरा मातृकायें हैं, इनमें तुरन्त मृत्यु होती है। शिर और ग्रीवा के सन्धि पर कृकाटिका मर्म हैं, इन में शिर हिलता रहता है कर्ण पीठ के नीचे स्थिर विधुर मर्म हैं, इससे बहरापन होता है। नासिका मार्ग के दोनों पार्श्वों में स्रोत मार्ग से सम्बद्ध, अन्दर की ओर 'फणा' मर्म है, इससे गन्ध ज्ञान का नाश होता है। भ्रुवों के अन्तिम (बाह्य) छोर पर, नीचे की ओर, आँखों के बाहर की ओर अपांग है, इस में अन्धापन, दृष्टि की विकृति होती है। भ्रुवों के ऊपर नीचे की ओर आवर्त्त नामक मर्म है, इनमें भी अन्धापन और दृष्टि का विकार होता है। भ्रुवों के अन्दर में ऊपर की ओर कान और माथे के बीच में शंख मर्म हैं, इनमें भी तुरन्त मृत्यु होती है। शंखों के ऊपर बालों के सिरे पर उत्क्षेप मर्म है, इन में शल्य रहने पर जीता है, स्वयं पककर शल्य के गिरने से भी जी सकता है, परन्तु शल्य निकालने से नहीं जीता। भ्रुवों के बीच में स्थपनी मर्म है, इसमें उत्क्षेप की भांति, लक्षण होते हैं। शिर में पांच सन्धियां अलग अलग पांच सीमन्त मर्म हैं, इन में उन्माद, चिन्ता, भय, चित्तनाश के कारण मृत्यु होती है। नासिका, कान नाक-जिह्वा को पोषण देनेवाली सिराओं के मध्य में सिराओं के मिलने का नाम शृङ्गाटक है, ये चार मर्म हैं, इन में भी तुरन्त मृत्यु होती है। मस्तिष्क के अन्दर ऊपर की ओर, सिराओं के सन्धि स्थान, बालों के आवर्त्त (भँवर चक्कर) के समान अधिपति मर्म है। इसमें भी तुरन्त मृत्यु होती है। इस प्रकार से ऊर्ध्व जत्रु के सैंतीस मर्मों का व्याख्यान कर दिया।

वि० मन्तव्य—दो नीला तथा दो मन्या नामक मर्म—दोनों ओर एक एक। ये सिरा मर्म हैं, ग्रीवा में कण्ठ नाड़ी के दोनों ओर-इनका स्पर्श किया जा सकता है। दोनों के

धमान अंगुली द्वारा जाने जाते हैं। इन पर अंगुली का दबाव डालने से बोला नहीं जा सकता, मूकता हो जाती है। इनके सम्बन्ध में चरक र० स्था० अ० ३४-६ में चर्चा की गई है, यथा-तस्य चेत् मन्ये परिमृश्यमाने (स्पृश्यमाने) न स्पन्दयेतां (फड़कन प्रतीत न हो) परासुः (मृतः) इति विद्यात् (जाने)। मातृका नामक मर्म—ये सिरा मर्म हैं—ये चार हैं, दोनों ओर दो दो। यह शिर की ओर से लौटनेवाली सिरा हैं। मातृका—माता के समान पालिका। कृकाटिका—यह सन्धि मर्म है—शिर एवं ग्रीवा की अस्थियों का सन्धान स्थल है। पृष्ठवंश के शिखर पर जहाँ शिर धरा हुआ है वह स्थल है, इसी भाग को 'शिरोधरा' कहा जाता है। यहाँ आनेवाली दो सिरा हैं (दो सिरासन्निपात हैं) जो अगले अध्याय आठ में सू० २२ में 'द्वे कृकाटिकयोः' कहकर अवेध्य कही हैं। विधुर नामक मर्म—दोनों कानों के नीचे स्थित हैं । ये स्नायु मय मर्म हैं, यह शुषिर स्नायु है, जो धमनी कहा जाता है और वाग्भट ने इसे 'धमनी मर्म' माना भी है और सुश्रुत ने भी अ० ७ सू० २२ में इनको अवेध्य सिरा माना है। ये कानों का तर्पण करती हैं। इन्हीं दो को अ० ६ सू० ५ में शब्द का ग्रहण करनेवाली दो धमनियाँ माना है। फणा नामक मर्म - ये भी सिरा मर्म है, नासिका के दोनों स्रोतों के भीतरी भाग में सम्बद्ध है, सर्प के फन के समान प्रसार संकोच युक्त दृश्यमान नासापुटों के अन्दर की ओर लगे हैं। इनको सु० शा० अ० ७ सू० २२ में औपनासिक्यः चतस्रः कहकर अवेध्य माना है और अ० ६-सू० ५ में गन्ध का ग्रहण करनेवाली धमनी कहा है। इन पर आघात होने से गन्ध का ज्ञान नहीं होता। अपाङ्ग—ये सिरा मर्म हैं, ये अपाङ्ग की वे सिरा (सिरासन्निपात) हैं जो अपाङ्ग की एक एक सिरा अवेध्य मानी है और रूप का ग्रहण करनेवाली दो 'धमनियाँ' मानी हैं (पताफणावाला)। ये नेत्र का तर्पण करने तथा रूप का ग्रहण करनेवाली हैं । आवर्त्त—ये सन्धि मर्म हैं, जहाँ भ्रू के बाल उगते हैं। यहाँ रहनेवाली वह सिरा जिस को अवेध्य माना है । यह भी दृष्टि का तर्पण करती है । शंख नामक मर्म—ये अस्थिमय मर्म हैं, पुटपुटी या पुड़पुड़ी कहे जाते हैं । यहाँ आनेवाली शंख गता सिरा अवेध्या मानी गई है, यह आघात होने पर सद्योमारक मर्म है। ये भ्रू की पुच्छ के अन्त में स्थित हैं। उत्क्षेप—ये स्नायु मर्म हैं। इस स्थान की सिरा भी अवेध्य हैं। स्थपनी—यह सिरामर्म है। यहाँ ललाट की दो सिराओं का सन्निपात है। दोनों के संयोग से वह एक हो जाती है, अतः स्थपनी की एक सिरा अवेध्य मानी है। सीमन्त नामक मर्म—ये सन्धि मर्म हैं, शिरः कपालों की ५ सन्धियाँ है, इनमें से जो सिरा गुजरी हैं वे अवेध्य मानी हैं और 'सप्त सेविन्यः शिरसि विभक्ताः पञ्च'.....अ० ५ का सू० १५ देखिये। चरक सिद्धिस्थान अ० ६ में—शिर पर अभिघात होने से—मन्यास्तम्भ, अर्दित, चक्षुर्विभ्रम आदि होने का उल्लेख है। शृंगाटक नामक मर्म—शिर के भीतर मस्तिष्क या शिरो मज्जा नामक (भेजा नाम से प्रसिद्ध) अवयव में-वे चार केन्द्र हैं, जहाँ घ्राण, श्रोत्र, अक्षि तथा रसना नामक इन्द्रियों का वहन करनेवाली सिराओं के सन्निपात हैं, क्योंकि ये मर्म—सिरा मर्म हैं और अभिघात होने पर सद्योमारक हैं। अधिपति मर्म—यह शिर के भी सबसे ऊपर शिखर पर का मर्म है, इसका सूचक शिर पर—बाहर रोमावर्त्त (भौंरी, बालों का आवर्त्त) होता है। इसमें आनेवाली एक सिरा अवेध्य मानी गई है। इसके उपर की अस्थि में छिद्र रहता है, जो ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है, परन्तु यह १ वर्ष व्यतीत होने पर बाल्यावस्था में ही पूर्ण हो जाता है, सद्योजात शिशु के शिर पर हाथ रखने से इसमें सिरा (धमनी) का स्पदन (धमन) प्रतीत होता है, अर्थ है—अधिकृत्य पाति रक्षति इति अधिपतिः, इस अवयव को अधिकृत करके आत्मा शरीर का रक्षण करता है, यही पुराणों का ब्रह्मलोक, वैष्णव पुराणों का विष्णुलोक या वैकुण्ठ तथा शैव पुराणग्रन्थोक्त शिवलोक या कैलाश है। और गीता का ऊर्ध्वमूल-है, अधःशाख शाख शरीर का ऊपर की ओर वर्त्तमान भी मूल—जड़—जीवन हेतु है। योगशास्त्र में शिर के पिछले कपाल के अन्दर में स्थित केन्द्र को शिवरन्ध्र माना है, परन्तु यह शैवों का विचार है, वे उसी को जीवन का केन्द्र मानते हैं। इन २३ मर्मों से युक्त समस्त शिर को ही मर्म समझना चाहिये, शिर का पर्याय 'उत्तमाङ्ग' है, उसके लिए भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः (श्रिताः) सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥' और शिरसि इन्द्रियाणि, इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि....संश्रितानि (चरक सि० अ० ६ सू० ४)। और शिरसि अभिहते-मन्यास्तम्भ, अर्दित चक्षुर्विभ्रम, मोह, उद्वेष्टन, चेष्टानाश, काम, श्वास, हनुग्रह, मूकत्व, गद्गदत्व, अक्षिनिमीलन, गण्डस्पन्द, जृम्भण, लालास्राव, स्वरहानि, वदनजिह्मत्वादीनि (भवन्ति)। च० सि० अ० ६ सू० ६। चरक में वही लिखा है कि १०७ मर्म होते हैं। उनका पीड़न—अभिहनन होने से प्राणी को बहुत अधिक पीड़ा का (अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक) अनुभव होता है, क्योंकि उन (मर्मों) में प्राणों का विशेषरूप से अनुबन्ध-सम्बन्ध होता है। शाखाश्रित मर्मों की अपेक्षा स्कन्ध अर्थात् अन्तराधि के मर्म विशेष महत्त्व रखते हैं। उनमें भी हृदय, वस्ति तथा शिर (ग्रीवा समेत शिर-२३ मर्मों का अधि-

स्थान शिर) अत्यन्त महत्त्व रखते हैं, क्योंकि समस्त शरीर (उसकी स्थिति) इन्हीं तीनों के अधीन है। शिर का अर्थ श्रीयते इति शिरः, अर्थात् जीवन का आश्रय। मस्तक भी शिर का पर्याय है। यह शब्द 'मसी परिणामे' धातु (दिवादि गणीय) से निष्पन्न होता है। जहाँ प्रत्येक विषय का परिणाम-परिपाक-विनिश्चय होता है ॥२७॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम्।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥२८॥
हृद्बस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम् ॥२९॥

इस विषय में श्लोक भी हैं—उर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षधर, स्तनमूल ये एक-एक अंगुल परिमित हैं। मणिबन्ध, गुल्फ ये दो-दो अंगुल है, दोनों कूर्पर तीन अंगुल, हृदय, वस्ति, कूर्च, गुदा, नाभि, शिर के चारों श्रृङ्गाटक, पांचों सीमन्त, गले के बाहर (दो नीला, दो मन्या, आठ मातृकायें) ये हथेली के गड्ढे के बराबर हैं। शेष मर्म आधे अंगुल लम्बे-चौड़े समझने चाहिये।

वि० मन्तव्य—इन पाठों में मर्म स्थलों का परिमाण बतलाया गया है, जिससे शस्त्र प्रयोग में वे स्थल बचाए जा सकें। स्वपाणितलकुञ्चितसम्मितानि—अर्थात् इनमें कुछ पाणितल के परिमित हैं और कुञ्चितपाणि (मुट्ठी) परिमित हैं, यथा हृदय ॥२८,२९॥

एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम्।
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥३०॥

इस परिमाण को जानकर मर्म बचाते हुए शस्त्र कर्म करना चाहिये। क्योंकि मर्मों के पास में भी अभिघात होने पर मनुष्य मर जाता है। इसलिये मर्मस्थान को बचाकर शस्त्र कर्म करना चाहिये ॥३०॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥३१॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधनिपातनिकृत्तमूला ॥३२॥

हाथ-पैर के काटने पर मनुष्यों की शिराओं के संकुचित हो जाने से रक्त थोड़ा ही निकलने पाता है, यद्यपि हाथ-पैर के काटने पर मनुष्य भयंकर संकट को प्राप्त करता है, तथापि शाखा के कटने पर जैसे वृक्ष नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु भी नहीं होती। क्षिप्र और तलहृदय मर्म के वेधन पर रक्त बहुत जाता है, और वायु भी अधिक पीड़ा करती है। इनके वेधन होने पर मनुष्य शस्त्र के आघात से कटे हुये मूलवाले वृक्ष की भाँति मृत्यु को प्राप्त करता है॥

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे
मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः ॥३३॥
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचि-
त्ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि।

इसलिये तलहृदय और क्षिप्र मर्म के वेधन होने पर मनुष्य के हाथ, पैर तुरन्त मणिबन्ध और गुल्फ प्रदेश के ऊपर से काट डालने चाहिये। मर्मों पर चोट लगने से तुरन्त मृत्यु होती है, इसलिये मर्म शल्य शास्त्र का आधार भाग है। यदि किसी योग्य वैद्य की चिकित्सा से कोई बच भी जाता है तो भी वह निश्चित रूप में विकलांग बन जाता है।

वि० मन्तव्य—मणिबन्धनगुल्फदेशे—मणिबन्धन एवं गुल्फ से कुछ ऊपर काटना चाहिये। शल्य विषयार्ध—शल्य शास्त्र का अर्ध-आधा अङ्ग मर्मज्ञान है। अर्थात् मर्मों का ज्ञान-शल्यचिकित्सा के लिये परमावश्यक है ॥ ३३ ॥

सभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रनिहतैश्च शरीरदेशैः ॥३४॥
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-
र्येषां न मर्मसु कृता विविधाः प्रहाराः।

कोष्ठ, शिर, कपाल, ये फूटकर भले ही जर्जरित हो जायें, टांग, बाहु पैर और हाथ ये भी सम्पूर्ण कट जायें, शस्त्रों के आघात से सारा शरीर छिन्न भिन्न हो जाये, परन्तु यदि मर्म बचे रहते हैं, तो मनुष्य जीवित रहता है ॥ ३४ ॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥३५॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः।

मर्मों में प्रायः सोम (जल), वायु, अग्नि, रज, सत्व, तम, और भूतात्मा (आत्मा) ये रहते हैं। इसलिये मर्मों पर आघात लगने पर प्राणी जीवित नहीं रहते।

वि० मन्तव्य—इसको समझने के लिये देखिये—शा० अ० ४ का सू० ३ ॥३५॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः ॥३६॥
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते।
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवं धातुक्षयो नृणाम् ॥३७॥
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति।
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ॥३८॥
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात्।
विशल्यघ्ने तु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥३९॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥४०॥

सद्यः प्राणहर मर्मों पर आघात लगने से रूप रस आदि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता। मनस् एवं बुद्धि में वैपरीत्य हो जाता है और नाना प्रकार की तीव्र वेदनायें होती हैं। कालान्तरघ्न मर्मों पर आघात होने पर धातुक्षय निश्चित रूप में होता है। इसलिये धातुओं के क्षय से और वेदनाओं के कारण रोगी की मृत्यु होती है। वैकल्य कारक मर्मों पर आघात होने पर केवल वैद्य की बुद्धिमानी से शरीर क्रिया युक्त रहने पर भी विकलता को प्राप्त होता है। विशल्यघ्न मर्मों का विघात होने पर जब तक शल्य रहता है, तब तक जीता है, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार मृत्यु समझनी चाहिये। रुजाकर मर्मों पर आघात पहुँचने पर नाना प्रकार की पीड़ायें होती हैं। और यदि किसी अनाड़ी वैद्य के चंगुल में फस गया तो रोगी विकलांग हो जाता है ॥३६–४०॥

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥४१॥

मर्मों के समीप मर्म पर छेदन, भेदन, चोट लगने, जलने, फटने, से भी मर्मों के ऊपर लगे सीधे आघात के समान लक्षण होते हैं।

वि० मन्तव्य—मर्मस्थल पर छेदन भेदन आदि से भी उपघात के ही समान लक्षण होते हैं अर्थात् उसके ऊपर चाहे चिकित्सा के दृष्टिकोण से किये छेदन आदि कर्म हो जायँ अथवा अन्य प्रकार से दण्ड एवं तलवार बर्च्छी आदि से आघात हो जायँ, परन्तु लक्षण समान ही होते हैं। अतएव श्लो० ३३ में मर्मज्ञान को शल्यतन्त्र-शल्यचिकित्सा का आधा भाग होना है और समझने के लिये देखिये श्लो० ३०, ३१, ३२, ३३ तथा ३४ और ४२ तथा ४३ ॥ ४१ ॥

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वापि निरत्ययो वा।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥४२॥

मर्मों पर चोट पहुँचने से थोड़ा उपद्रव या बिल्कुल हानि न हो, यह बात असम्भव है। मर्मों पर आघात पहुँचने पर प्रायः विकलता अथवा मृत्यु अवश्य होती है ॥४२॥

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥४३॥

शरीर के जो भी विकार मर्म स्थानों में होते हैं, वे प्रयत्न-पूर्वक चिकित्सा करने पर भी प्रायः कष्टसाध्य रहते हैं ॥४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्म-
निर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातः सिरावर्णविभक्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे सिरा वर्ण विभक्ति शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में सिराओं का तथा उनके वर्णों का वर्णन है ॥१, २॥

सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः, तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥३॥

सात सौ शिरायें हैं। जिस प्रकार जल को ले जानेवाली नाली द्वारा उपवन अथवा कुल्या (कुलसरे) के द्वारा जिस प्रकार खेत का उपस्नेहन और पोषण होता है, उसी प्रकार इन सिराओं के सिकुड़ने फैलने आदि से इस शरीर का स्नेहन और पोषण होता है। ये सिरायें शरीर में वृक्ष के पत्ते की सेवनियों के समान फैली हुई हैं। इन सिराओं का मूल नाभि है, वहाँ से ये सिरायें ऊपर, नीचे और तिरछी जाती हैं।

वक्तव्य—तीन उपमाओं से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सिराओं को बताया है। जिस प्रकार नाली में चलता हुआ पानी आस-पास की भूमि को भी गीला करके पोषण देता है, उसी प्रकार सिराओं से पास के तन्तुओं का भी पोषण होता है, इसी का नाम 'उपस्नेहन' है ॥३॥

भवतश्चात्र श्लोकौ—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥४॥

इसमें दो श्लोक हैं—मनुष्यों के शरीर में जितनी भी सिरायें हैं, वे सब नाभि से सम्बद्ध हैं। वहाँ से (नाभि से) ये चारों ओर फैलती हैं ॥४॥

नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥५॥

प्राणियों के प्राण नाभि में आश्रित हैं, और प्राणों से नाभि आश्रित है। नाभि सिराओं से घिरी है, जिस प्रकार चक्र (पहिये की धूरी)-आरों से घिरी रहती है।

वक्तव्य—सम्भवतः यह कल्पना गर्भावस्था में गर्भ की स्थिति के आधार पर की गई है। गर्भावस्था में गर्भ का जीवन इसी नाभि के आधार से रहता है, यहीं से उसे पोषण मिलता है।

वि० मन्तव्य–गर्भ का जीवन उस बाह्य नाभि (धुन्नी-तुन्न) के आधार में रहता ही है, परन्तु जन्म के पश्चात् उसके जीवन का आधार नाभि नामक मर्म है वहीं से इसके साथ साथ प्राण का सञ्चार भी होता है। इसको समझने के लिये श्री शार्ङ्गधराचार्य का सुभाषित स्मरणीय एवं मननीय हैं, यथा—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् ।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥
पीत्वा चाऽम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ।
प्रीणयन् देहमखिलं दीपयन् जठरानलम् ॥

अर्थात्—नाभि में स्थित प्राणवायु सिराओं द्वारा हृदय कमल के अन्तर (भीतरी भाग) को स्पर्श करके (भीतर से होकर) कण्ठ (श्वास मार्ग) से बाहर निकल जाती है, केवल विष्णुपद (आकाश) के अमृत (अमृत तत्त्व मय आप्—व्याप्त जल) को पीने के लिये और आकाश के पीयूष (अमृत) को पीकर तत्काल पुनः भीतर चली जाती है। जाते ही समस्त शरीर का प्रीणन तर्पण करती है और जठराग्नि का दीपन करती है। यह क्रिया जन्म के पश्चात् जीवन भर चलती रहती है। सिराएँ नाभि से प्राणमय रस को लेकर हृदय में आती हैं और हृदय से फुप्फुसों में ले जाती हैं और और रस तो फुप्फुसों में ही रह जाता है, परन्तु प्राण वायु उदान के साथ मिलकर कण्ठ से बाहर चला जाता है, परन्तु तत्काल लौट आता है। हृदय भी सिरामय मर्म है (दे० शा० अ० ६ सू० ७)। सिराओं ने ही हृदय का रूप बना लिया है या सिराओं का ही आगे चलकर "हृदय" बन गया है, हृदय से यद्यपि रक्त चालू होता है, परन्तु वह रसमय होता है और रस ही लाल हो जाने पर रक्त कहलाता है। यह रस या रसमय रक्त प्राणमय होता है, फलतः समस्त शरीर को अनुप्राणित करता है। हृदय से शरीर की ओर जानेवाली भी सिरा ही हैं, उनमें ध्मान होता है, अतः धमनी कही जाती हैं, जहाँ आगे चलकर अत्यन्त सूक्ष्म (द्रुमपत्र सेवनीवत्) रूप में परिणत हो जाती है वहाँ "स्रोतस्" कही जाती हैं और वहाँ से लौटकर पुनः हृदय की ओर आनेवाली सिरा ही सिरा कही जाती हैं, चरक के शब्द में ध्मानात् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः च० सू० अ० ३। यह स्रोतस् शब्द सुश्रुत के योगवाही स्रोतों तथा मुख नासा आदि बहिर्गामी स्रोतों (छिद्रों) से भिन्न हैं ॥५॥

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत् ; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः, एवमेतानि सप्त सिराशतानि ॥६॥

इनमें मूल सिरायें चालीस हैं। इनमें दस सिरायें वातवहा, दस पित्तवहा, दस कफवहा और दस रक्तवहा हैं। वायु को ले जानेवाली और वायु के स्थानों में पहुंची सिरायें एक सौ पचहत्तर (१७५) हैं। इतनी ही पित्त स्थान में रहनेवाली, पित्त को ले जानेवाली, इतनी ही कफ स्थान गत और कफ को ले जानेवाली, इतनी ही रक्त को ले जानेवाली—रक्त के स्थान यकृत्, प्लीहा में रहनेवाली सिरायें हैं। इस प्रकार से सात सौ सिरायें हैं।

वि० मन्तव्य—मूल अर्थात् मुख्य या वर्णन करने योग्य सिरा ४० हैं। वायु के स्थान हैं–नाभि (प्राण का) 'उदानवायोः आधारः फुष्फुस प्रोच्यते बुधैः। आमपक्वाशयमध्यचरः समानः, मलाशयचरः अपानः। सर्वशरीरचरो व्यानः' दे० नि० अ० १। वैसे तो वायु एक ही है, परन्तु स्थान नाम आदि भेद से ५ प्रकार का माना जाता है। पित्त के स्थान—अग्न्याशय, यकृत् एवं प्लीहा, हृदय नेत्र तथा त्वचा। कफ के स्थान—आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिरस् तथा सन्धियाँ। अथवा—वातस्थान—वाताशय, पित्तस्थान—पित्ताशय, कफस्थान—श्लेष्माशय (दे० शा० अ० ५ सू० ७)। इन अवयवों का उपस्नेहन- सिञ्चन-सन्तर्पण करनेवाली है। उक्त सिराओं में १०-१० एवं १०×४=४० ॥६॥

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एवोदरे, दश वक्षसि।

एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, षण् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवाहिनीनां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त शिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥७॥

एक टाँग में वातवाही सिरायें पच्चीस हैं। इतनी ही दूसरी टाँग और बाहुओं में समझना। विशेष भेदकोष्ठ में चौतीस सिरायें हैं, इनमें आठ सिरायें गुदा और मेहन का आश्रय करके श्रोणी में रहती हैं। पार्श्वों में दो-दो, पीठ में छै, उदर में भी छै वक्षःस्थल में दश। जत्रु से ऊपर इकतालीस सिरायें हैं। इनमें से ग्रीवा में चौदह, कान में चार, जिह्वा में नौ, नासिका में छै, नेत्रों में आठ। इस तरह वातवाही एक सौ पचहत्तर सिरायें कह दीं। इसी प्रकार से शेष सिराओं का विभाग है। केवल भेद इतना है, कि—नेत्रों में पित्तवाहिनी दस हैं, कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवहा और कफवहा हैं। इस प्रकार से ये सात सौ सिरायें विभाग के साथ कह दीं हैं।

वि० मन्तव्य—नेत्र तेजस् विशिष्ट स्थान है, अतः उसके वर्द्धनार्थ पित्तवाहिनी दो सिरा अधिक हैं, रक्त-धातु–पित्तमय होता है, अतः रक्तवाहिनी सिरा दो अधिक हैं और पित्त एवं रक्त के शमनार्थ कफवाहिनी सिरा भी दो अधिक हैं। और पित्तवाहिनी, रक्तवाहिनी तथा कफवाहिनी सिरा दो दो ही हैं जब कि कर्ण में वात वाहिनी सिरा चार हैं, क्योंकि–कर्ण शब्दवह स्रोत है और वायु शब्दवह है ॥७॥

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥८॥
यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥९॥
भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्।
संसर्पत् स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि।
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥११॥
स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१३॥
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१४॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१५॥

इसमें श्लोक भी हैं—अपनी सिराओं में गति करता हुआ वायु क्रियाओं में किसी प्रकार की रुकावट को उत्पन्न नहीं करता बुद्धि के कर्मों में मोह (अज्ञान) उत्पन्न नहीं करता, अन्य गुणों (प्रस्पंदन, उद्वहन, पूरण आदि) भी करता है। कुपित हुआ वायु जब अपनी सिराओं में गति करता है, तब वातजन्य नाना प्रकार के रोग मनुष्य को होते हैं। पित्त अपनी सिराओं में गति करता हुआ भ्राजिष्णुता (कान्ति), अन्न में रुचि, अग्नि की प्रदीप्ति, नीरोगता उत्पन्न करता है। कुपित हुआ पित्त जब अपनी सिराओं में जाता है, तब पित्तजन्य नाना प्रकार के रोग मनुष्य को होते हैं। अपनी सिराओं में गति करता हुआ कफ अंगों में स्निग्धता, सन्धियों में स्थिरता, प्रबल बल और दूसरे भी गुणों को उत्पन्न करता है। जब कुपित कफ अपनी सिराओं में गति करता है तब कफजन्य नाना रोग मनुष्य को होते हैं। अपनी सिराओं में चलता हुआ रक्त धातुओं को भरना, वर्ण (कान्ति), संशय रहित स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को उत्पन्न करता है। और जब कुपित रक्त अपनी सिराओं में फिरता है, तब रक्तजन्य नाना रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—वायु के कार्य आदि के लिये चरक सूत्रस्थान अध्याय बारह, सुश्रुत० सूत्रस्थान अ० १५ देखें।

वि० मन्तव्य—जब वायु अपनी सिराओं में ही घूमता है तब वह प्रकृतिस्थ होता है अथवा यों कहिये कि प्रकृतिस्थ वायु अपनी सिराओं में घूमता है -विकृत नहीं। तब तो उसका उन्मार्ग गमन–मार्ग का उल्लंघन करके गमन ध्रुव–निश्चित है, इसी प्रकार पित्त, कफ एवं रक्त को भी समझिये। तात्पर्य यह है कि वायु, पित्त, कफ एवं रक्त जब तक प्रकृतिस्थ रहते हैं तब तक अपनी सिराओं में गति करते हैं। फलतः प्राणी प्रकृतिस्थ स्वस्थ रहता है और जब वे अपनी शिराओं का उन्मार्गगमन करते हैं तब प्राणी अस्वस्थ हो जाता है और उन्मार्गगमन तभी करते हैं जब विकृत हो जाते हैं ॥८-१५॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृता ॥१६॥

कोई भी सिरा अकेली न तो वायु का, न पित्त का, न कफ का अकेला वाहन करती है, अपितु सब सिराओं का बहन करती हैं। इसलिये इनको सर्ववहा कहते हैं।

वि० मन्तव्य - वास्तव में सब सिरा सर्ववहा हैं अर्थात् प्रत्येक सिरा वात, पित्त, कफ एवं रक्त की वहा होती हैं। आहार पांचभौतिक होता है। उसका रस भी पाञ्चभौतिक होता है वही रस रक्त में मिलता है और रञ्जक पित्त द्वारा रंगा जाने पर रक्त कहलाता है और रक्त वहन उक्त सिरा करती हैं, तात्पर्य है कि—वात-पित्त-कफमय रक्त होता है,

तथापि वातस्थानों में वात, पित्तस्थानों में पित्त, कफस्थानों में कफ तथा रक्तस्थानों में रक्त का वहन विशेष रूप से होता है, अतः वातवहा आदि कहना उचित ही है। अर्थात् सर्ववहा होने पर भी उक्त नामकरण किया जाता है ॥१६॥

प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१७॥

दूषित होकर दौड़नेवाले दोष परस्पर मिलकर अपने स्थान या मार्ग को छोड़कर गलत मार्ग में जरूर जाते हैं। इसलिये सब सिरायें सर्ववहा कही जाती हैं।

वि० मन्तव्य—प्रदुष्ट दोषों का उन्मार्ग गमन होने से ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं, प्रदुष्ट होकर वे परस्पर मिल भी जाते हैं और बे लगाम घोड़ा के समान प्रधावतां—दौड़ने लगते हैं और वायु पीड़ा आदि, पित्त—दाह आदि तथा कफ कण्डू आदि और रक्त-कुष्ठ आदि रक्तज रोगों को उत्पन्न कर देता है और सिरावेध (देखिये अ० ८) द्वारा तथा जलौका आदि (दे० सू० अ० १३) द्वारा रक्त अर्थात् वात पित्त कफ मय रक्त निकाल देने से उक्त रोग शान्त हो जाते हैं। अतएव "सिराव्यधः चिकित्सार्धं" (शा० अ० ८-२३) कहकर सिरावेध अर्थात् रक्तस्रावण का महत्त्व बतलाया गया है सच है कि रक्त-स्रावण को दृष्टि में रखकर यह सब कथा कही गई है ॥१७॥

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१८॥

इनमें वातवहा सिरायें अरुण वर्ण की, और वायु से भरी रहती हैं। पित्त से सिरायें नीली और उष्ण होती हैं, कफ से शीतल, स्थिर और श्वेत वर्ण की होती है। रक्त को वहन करनेवाली रोहिणी (गहरे लाल रंग की) रंग की तथा न बहुत उष्ण और न बहुत शीतल होती हैं।

वक्तव्य—रक्त अनुष्णाशीत है, यथा—"अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥" सुश्रुत०।

वि० मन्तव्य—इन लक्षणों द्वारा चतुर चिकित्सक सिराओं को देखकर वायु आदि की अधिकता का अनुभव कर सकता है और जब वे वातपूर्ण हो जाती हैं तब अरुण कालापन लिये लाल) पित्त से नीली तथा कफ से श्वेत हो जाती हैं। फलतः शरीर का वर्ण भी अरुण, पीत या नील तथा श्वेत हो जाता है ॥१८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक्।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥१९॥
शिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान्।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टं च मूर्धनि ॥२०॥
शाखासु षोडश सिरा कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥२१॥

इसके आगे उन सिराओं को कहूँगा—जिनका कि वेधन वैद्य को नहीं करना चाहिये। क्योंकि उन अवेध्य सिराओं का वेधन करने से विकृतता या मृत्यु निश्चित है। शाखाओं में चारसौ, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस, शिर में एक सौ चौसठ (१६४) सिरायें हैं। इनमें से शाखाओं में सोलह, कोष्ठ में बत्तीस और शिर में पचास सिरायें अवेध्य कही हैं।

वि० मन्तव्य—जिन सिराओं के वेधन का निषेध किया गया है, वे सब मर्म स्थान गत हैं अथवा उनके समीपगत हैं देखिये शा० अ० ६ में प्रत्येक मर्म का निर्दिष्ट स्थल और उनके नाम। सिरावेध अवश्य करना चाहिये, उससे मानव की व्याधियों की लगभग आधी चिकित्सा हो जाती है, परन्तु वेध करते समय उक्त स्थानों की सिराओं का वेध नहीं करना चाहिये अर्थात् उनको बचाकर अन्यत्र वेध करना चाहिये यही उसका तात्पर्य है। वेध निषेध के हेतु १—धमन होने के कारण क्षत का सन्धान होने में कठिनाई होती हैं, २—रक्त का स्रावण बहुत वेग के साथ होता है, ३—उक्त स्थान मर्मस्थल है अथवा मर्म के समीपस्थ हैं। इन १६, ३२, ५०×९८ सिराओं का रक्तस्रावण के लिये वेध नहीं करना चाहिये और उक्त स्थानों पर छेदन भेदन आदि शस्त्रकर्म करते समय उन सिराओं को कटने से बचाना चाहिये। वहाँ पर अग्निकर्म तथा क्षारकर्म का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये (देखिये अ० ६ का श्लोक० ४१) ॥२१॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति, तासां जलधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा चैका, तास्त्वव्यध्याः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु। द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च, अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे, चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहतीसिरे, तावत्य एवोदरे तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत्; चत्वारिंशद्वक्षसि तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ, एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति। चतुःषष्टं सिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति, तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशाव्यध्याः, हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत्, षट्त्रिंशज्जिह्वायां तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत्,

तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे, अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः, तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत्, कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत्, नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः, आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या, शंखयोर्दश, तासां शंखसन्धिगतामेकैकां परिहरेत्, द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, कृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥२२॥

प्रत्येक टांग में एक सौ सिरायें है, उनमें से जालधरा सिरा और अन्दर की ओर तीन सिरायें (दो-उर्वी और लोहिताक्ष) वे अवेध्य हैं। इसी तरह दूसरे पैर और बाहुओं की सिरायें समझना। इस तरह सब शाखाओं में सोलह सिरायें अवेध्य हैं। (जालधरा सिरातल हृदय मर्म में रहती है)।

श्रोणि में बत्तीस सिरायें हैं। इनमें आठ सिरायें अवेध्य हैं, विटपमर्मों में दो-दो। एक एक पार्श्व में आठ सिरायें रहती हैं। उनमें ऊपर जानेवाली एक एक सिरा को बचाना चाहिये। पार्श्व सन्धिगत दो सिराओं को भी बचाना चाहिये। पृष्ठ में पृष्ठवंश के दोनों ओर २४ सिरायें हैं। उनमें ऊपर जानेवाली बृहती नामक दो सिरायें बचानी चाहिये। उदर में भी चौबीस सिरायें हैं। इनमें से मूत्रेन्द्रिय के ऊपर, रोमराजी के दोनों ओर दो दो सिराओं को बचाना चाहिये। बक्षस्थल में चालिस सिरायें हैं, उनमें से चौदह सिरायें शस्त्र कर्म में अयोग्य हैं। यथा—हृदय तथा स्तनमूल में दो-दो, स्तन रोहित में दो दो अपलाप और अपस्तम्भ दोनों ओर एक एक, इस प्रकार आठ सिरायें अवेध्य हैं। इस तरह पीठ, पेट, छाती में बत्तीस सिरा अवेध्य हैं।

जत्रु के ऊपर के भाग में एक सौ चौसठ सिरायें हैं, ग्रीवा में ५६ सिरायें हैं। उनमें से १२ मर्म संज्ञक सिरायें, दो कृकाटिका, दो विधुर, इस प्रकार ग्रीवा में सोलह सिरायें बचानी चाहिये। हनुके दोनों ओर आठ आठ सिरायें हैं, उनमें सन्धि में रहनेवाली दो-दो धमनियाँ छोड़नी चाहिये। जिह्वा में ३६ सिरायें हैं। इनमें से सोलह जिह्वा के नीचे होती हैं, इनमें दो रसवहा और दो वाग्वहा सिरायें शस्त्रकर्म में बचानी चाहिये। नासिका में २४ सिरायें हैं, इनमें से नाक के पास की चार सिरायें बचानी चाहिये। तालु के मृदु देश में की एक सिरा को भी बचाना चाहिये। दोनों नेत्रों में अड़तीस सिरायें हैं। इसमें से अपांगों की एक एक सिरा को बचाना चाहिये। कानों में दस सिरायें हैं—इनमें से एक एक शब्दवाहिनी सिरा को बचाना चाहिये। नासिका और नेत्र गत ललाट में साठ सिरायें हैं, इनमें से केशान्तों में जानेवाली चार, आवर्त्तमर्मों में एक एक, स्थपनी में एक, कुल सात सिरायें बचानी चाहिये। शंखों में दस सिरायें हैं, उनमें से शंख सन्धि की एक एक सिरा को बचाना चाहिये। शिर में बारह सिरायें हैं—इनमें से उत्क्षेप मर्म में दो, सीमन्तों की पांच, अधिपति में से एक सिरा को बचाना चाहिये। इस प्रकार से पचास सिरायें जत्रु के ऊपर अवेध्य हैं ॥२२॥

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद् बिसादीनां तथा जलम् ॥२३॥

इसमें श्लोक भी है–जिस प्रकार पद्मिनी कन्द से निकले बिष आदि के प्रतान जल में फैले रहते हैं, उसी प्रकार नाभि से निकली सिराओं के प्रतान इस सारे शरीर में फैले हुए हैं॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सिराव्यध विधि शारीर का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—सिरा का व्यध या वेधन सिराव्यध कहलाता है। रोग शान्ति के लिये सिरावेध किया जाता है, जब रुक्—रुजा—रोग का हेतु वातादि से दूषित रक्त होता है तब सिरा वेध आवश्यक है। यूनानी चिकित्सा करने वाले भारतीय चिकित्सक प्रायः सिरा वेध करते हैं। पञ्जाब-जहाँ रक्तसार मानव अधिक हैं–में सिरावेध किया जाता है। च० सू० अ० २४ में लिखा है कि—शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः उपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक्साध्या न सिध्यन्ति रक्तजान् तान् विभावयेत् ॥ अर्थात् जो रोग—शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्ष आदि द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करने पर सुखसाध्य रोग भी शान्त नहीं होते उनको रक्तज रोग समझना चाहिये। देखा गया है कि जीर्ण ज्वर आदि में अनेक चिकित्साओं के असफल होने पर सिरा वेध से आरोग्य लाभ हुआ। वातादि द्वारा रक्त दूषित होने पर शारीरिक ही नहीं मानसिक रोग भी हो जाते हैं, अतः उन्माद, अपस्मार, मद, मोह, मूर्च्छा, उद्वेग, महागद, अभिन्यास, हृदयद्रव (जड़कन) आदि अनेक रोग हो जाते हैं। उनकी शान्ति के लिये भी सिरावेध का स्मरण कर लेना अच्छा है। जलौका, सिंगी एवं पच्छ से एकदेशीय रोग की शान्ति होती है, परन्तु सिरा सर्वाङ्ग शोधिनी है। कुष्ठ के प्रारम्भ में यदि

बार २ सिरा वेध किया जाय तो बहुत लाभ हो। परन्तु खेद है कि कोई चिकित्सक इधर ध्यान ही नहीं देता। सु० सू० अ० १४ के श्लो० ३३ तथा ३४ में कहा गया है कि—रक्त का समीचीन विस्रावण हो जाने पर-शरीर में लघुता, वेदना की शान्ति, व्याधि के वेग का परिक्षय तथा मनस् का प्रसाद (प्रसन्नता-निर्दोषता) हो जाता है और कुष्ठ आदि त्वग्दोष, ग्रन्थियाँ, व्रणशोथ तथा अन्य सब रक्तविकार कभी नहीं होते॥

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्यपाध्वस्त्रीकर्शितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति॥३॥

निम्न अवस्थाओं में सिरावेध न करे-बालक, वृद्ध, रूक्ष, उरःक्षतः से क्षीण, डरपोक, थका हुआ, मद्य पीनेवाला, यात्री; एवं स्त्री के सेवन से कृश, वमन, विरेचन आस्थापन-अनुवासन दिये, रात में जागरण किया, नपुंसक, कृश, गर्भवती, कास, श्वास, शोष, तीव्रज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास, प्यास, मूर्च्छा से पीडित अवस्थाओं में वैद्य सिरा का वेधन न करे। अवेध्य शिराओं में भी वेधन न करे। वेधन योग्य सिरा यदि दिखाई न दें, तो उसमें भी वेधन न करे। देखने पर भी यदि सिरा को बाँधा नहीं गया, तो भी वेधन न करे। बाँधने पर भी यदि सिरा ऊपर को न उभरें, तो भी वेधन न करे।

वक्तव्य—सिरा में इंजैक्शन देने के लिए जो विधि बरती जाती है, वही विधि सिरा वेध की है। प्रायः करके कोहनी के जरा नीचे सिरा (ब्रेक्रियल वेन) का वेधन करते हैं। इसमें सिरा का वेधन करने के लिये पहले सिरा को ऊंचा उभारना आवश्यक है। इसके लिये बाहुपर कसकर पट्टी, रबड़ की नली, या दूसरी तरह से दबाव देते हैं। जिससे रक्त का ऊपर जाना जरा देर के लिये रुक जाये। रक्त न जाने से सिरा में रक्त रुकने से सिरा फूल आती है। फूलने पर उभर आती है। अब इसका वेधन किया जाता है॥३॥

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत्॥४॥

रक्त मोक्षण से अच्छे होनेवाले रोग पहले सूत्रस्थान अध्याय चौदह में कह दिये हैं, उन रोगों में तथा रक्त मोक्षण से ठीक होनेवाले जो रोग वहाँ नहीं कहे (जैसे गुल्म, प्लीहा आदि), उनमें एवं रोगों की अपक्वावस्था में (रक्त मोक्षण साध्य रोगों की), अभ्यास के अनुसार (जिस शिरा का वैद्य वेधन करते हैं) जैसा न्याय (उचित) हो, वैद्य उस प्रकार सिरा का वेधन करे। (यथाभ्यासमिति यथासमीपमिति--डल्हणः)॥४॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम्॥५॥

जिन लोगों के लिये सिरावेध का निषेध किया है; उनमें भी विष के उपद्रव होने पर तथा आत्ययिक रोग (विनाशक रोग-विद्रधि, अन्तः विद्रधि आदि) होने पर सिरा वेधन करना चाहिये॥५॥

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य प्राप्तं शास्त्रमादाय सिरां विध्येत्॥६॥

रोगी को स्नेहन देकर दोष के विपरीत पतला सा अन्न पिलाकर अथवा यवागू पिलाकर योग्य काल में अपने समीप बिठाकर या खड़ा करके, जीवन में जिससे हानि न हो, ऐसे वस्त्र पट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, लतादि किसी वस्तु से बाँधकर बहुत कड़ा या बहुत ढीला न हो, ऐसे ढंग से शरीर के उस भाग में यथोक्त शस्त्र से शिरा का वेध करे॥६॥

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन॥७॥

बहुत शीतकाल में या अधिक गरमी में, जोर से चलती वायु में, आकाश के मेघाच्छन्न होने पर, तथा बिना किसी रोग के सिरा का वेधन न करे।

वि० मन्तव्य—रक्तस्रावण भी वमन विरेचन के समान शोधन कर्म है, अतः वमन विरेचन के समान देश काल आदि का विचार कर लेना चाहिये। एतदर्थ—सूत्रस्थान का अध्याय १२ तथा अध्याय १६ और चिकित्सा स्थान का अ० ३३ आदि अवश्य देख लेना चाहिये। अरोगे वा कदाचन—का तात्पर्य है कि अरोग-आरोग्य म भी कभी २ रक्तस्राव कराना चाहिये, यथा वमन विरेचनात्मक संशोधन किया जाता है—शीतोद्भवं दोषचयं वसन्ते विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान् न जातु॥ इन्हीं समयों में सिरावेध भी किया जाता है और आत्ययिक दशा में जब भी आवश्यक हो तभी रक्त स्रावण कर देना चाहिये, परन्तु तदनुकूल व्यवस्था करके। जैसा कि १० वें श्लोक में कहा गया है—सिरावेध करते समय सु० सू० अ० १४ के पाठ-२१ से ४५ अवश्य देखिये और आवश्यकतानुसार तदनुसार कार्य कीजिये॥

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परे सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात् स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्, एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः। पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत्। अथोपरिष्टाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा। सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत्। गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य। बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः। अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे। उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधो जिह्वायाम्। अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च। एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥८॥

जिस पुरुष का सिरा वेध करना हो, उसको बालिश्तभर ऊँची चौकी पर सूर्य की ओर मुख रखकर बिठाये। टांगों को घुटनों पर मोड़कर घुटने पर दोनों कोहनियों को रखवाकर, अंगूठा अन्दर को रखते हुए मुट्ठियाँ बन्द करावे। इन मुट्ठियों का ग्रीवा में मन्या पर रखवाये। फिर गर्दन और मुट्ठियों को यंत्रण-शाटक (बांधने के कपड़े) से लपेट कर—घुमाकर पीछे की ओर खड़े दूसरे व्यक्ति के बायें हाथ में यंत्रण-शाटक के दोनों छोर पकड़ाकर, वैद्य उस व्यक्ति से कहे कि दहिने हाथ से शिराओं का उत्थान करने के लिये न बहुत जोर से न बहुत धीमे, यंत्रशाटक को कसने लगो। रक्त का निर्हरण होने के लिये यंत्र को पीठ के मध्य में ऐंठन दो। रोगी मुख में हवा भर कर बैठे। यह यन्त्रणविधि अन्तर्गत सिराओं को छोड़कर शिरोगत शेष शिराओं के वेधन के लिये है।

जिस पुरुष के पैर की सिरा का वेधन करना हो, उसका पैर समान स्थान पर अच्छी प्रकार रखकर दूसरे पैर को थोड़ा सा ऊँचा करके, जिस पैर में सिरावेध करना हो, उस पैर को घुटने के नीचे यन्त्रण शाटक से लपेटकर, गुल्फ पर्यन्त दोनों हाथों से दबाकर अथवा वेध्य स्थान के ऊपर चार अङ्गुल प्लोत (कपड़ा) या चमड़ा किसी से बाँधकर पैर की शिरा का वेधन करे।

हाथों की शिराओं के वेधन के लिये अंगूठे को मुट्ठी के अन्दर की ओर दबाकर अच्छी तरह आसन पर सुख पूर्वक बिठाकर, पुरुष के हाथ को पूर्वोक्त विधि से बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे।

गृध्रसी और विश्वाची में घुटने और कोहनी को संकुचित कराकर फिर यन्त्रण करे। श्रोणी, पीठ, कन्धे में सिरावेध करना हो तो पीठ को ऊँचा करके और सिर को झुकाकर बैठे हुए व्यक्ति को सीधी तनी हुई पीठ होने पर सिरा वेध करे। पेट और छाती में सिरा वेध करना हो तो, शिर को ऊँचा उठाकर, छाती तथा मध्य शरीर को फैलाकर शरीर में दृश्यमान सिरा का वेधन करे। पार्श्वों में शिरावेध करना हो तो बाहुओं से शरीर को थमाकर सिरा का बेध करे। मेहन पर सिरावेध करना हो तो मेहन को बिना झुकाये सिरा वेध करे। जिह्वा के सिरावेध में जिह्वा को ऊपर उठाकर, जिह्वाग्र को दबाकर जिह्वा के नीचे की सिराओं का वेधन करे। तालु और दन्तमूलों के सिरावेध में मुख को खोलकर तालु और दन्तमूलों में सिरावेध करे।

इसी प्रकार अनुक्त स्थानों में सिराओं को यंत्रों से अथवा अन्य उपायों से बांधकर-सिराओं को उभारनेवाले साधनों से काम लेकर, शरीर रोग के अनुसार सिरा का वेधन करे ॥८॥

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥९॥

मांसल प्रदेशों में जौ मात्र शस्त्र से वेधन करे। मांसल स्थानों से भिन्न स्थानों में आधे जौ के बराबर या व्रीहिमुख शस्त्र से जौ भर वेधन करे। अस्थियों के ऊपर कुठारिका नामक शस्त्र से आधा जौ के बराबर गहरा सिरावेध करे।

वि० मन्तव्य—मांसल—अधिक मांसवाले अवयवों में वेधन करते समय सिरा शस्त्र के दबाव से मांस में धँस जाती है—धँस सकती है, अतः व्रीहिमुख—नहेरने जैसे पर दोनों ओर धारवाले शस्त्र से वेध किया जाता है और जहाँ सिरा के नीचे अस्थि रहती है वहाँ कुठारिका कुल्हाड़ी के आकार का छोटा शस्त्र उपयुक्त होता है। इस शस्त्र के उपयोग की विधि—कुठारिकां वामहस्तन्यस्तां इतरहस्तमध्यमांऽगुल्यंगुष्ठविष्टब्धया अभिहन्यात् सु० सू० अ० ८-५। अर्थात्—कुठारिका को बाएँ हाथ से वेध्यस्थल पर रखकर—दाहिने हाथ की मध्यमा अँगुली को अंगूठा से बलपूर्वक स्तब्ध करके कुठारिका की पीठ पर आघात करे—मारे। इस प्रकार वह सिरा का वेधन कर देती है, परन्तु आघात-चोट उतनी ही हो जिससे सिरा का आधा भाग करे, समस्त सिरा न कट जाय अथवा उससे भी आगे कुठारिका की धार न धँस जाय ॥९॥

त्वभ्रे वर्षासु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥१०॥

वर्षाऋतु में जब बादल न हो, ग्रीष्मऋतु में ठण्ड के समय, हेमन्तऋतु में मध्याह्न में शस्त्र कर्म करना चाहिये ॥

वक्तव्य—आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेत्-उत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ चरक ॥

वि० मन्तव्य—सिरावेधन एवं छेदन भेदन आदि सभी प्रकार के शस्त्रकर्म के लिये उक्तकाल उपयुक्त होते हैं ॥१०॥

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत् ॥११॥

अच्छे प्रकार शस्त्र चलाने से धारा के रूप में कुछ काला-काला खून बहे, पीछे रुक जाये, उसे सुविद्ध जानना ॥११॥

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते ॥१२॥

जिस प्रकार कुसुम्भ के फूलों से पहले पीला रंग आता है, उसी प्रकार सिराओं का वेध करने पर पहले दूषित रक्त निकलता है।

वि० मन्तव्य—यह दुष्ट रक्त दोषानुसार वर्णवाला होता है, यथा-वायु से दूषित रक्त-अरुण-कालापन लिये लाल, कफ से दूषित रक्त-नीलापन लिये अथवा नीलापन लिये लाल, कफ से दूषित रक्त-सफेदी लिये लाल और त्रिदोष दूषित रक्त क्वाथ अथवा गोमूत्र के सदृश वर्णवाला होता है। यह भी स्मरणीय है कि कुछ रक्त उक्त प्रकार का निकलकर शुद्ध रक्त आने लगता है और तब उसे रोकने का उपाय करना चाहिये। रोकने के उपाय देखिये सु० सू० अ० १४ पाठ ३६। और यदि सिरावेध करने पर रक्त की उचित रूप से प्रवृत्ति न हो तो उक्त अ० १४ के पाठ ३५ के अनुसार उपाय करो। दूषित रक्त भी ६८ तो० से अधिक नहीं निकालना चाहिये एक बार में, आवश्यकता हो तो पुनः १०-२० दिन के पश्चात् शिरावेध कर देना चाहिये। इस प्रकार ३-४ अथवा १०-२० बार सिरावेध किया जाता है। आरोग्य लाभ या रोगशान्ति पर्यन्त अनेक बार ॥१२॥

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः ॥१३॥

मूर्छित, बहुत डरे, थके हुए, प्यासे, एवं न उभरी, न बांधी हुई, शिराओं में वेधन करने पर रक्त भली प्रकार नहीं बहता।

वि० मन्तव्य—सिरावेध होते ही, रक्त की गन्ध आते ही कोई २ रोगी मूर्च्छित हो जाता है तब रक्तस्राव नहीं होता। अतिभीत, श्रान्त तथा तृषित का रक्त गाढ़ा रहता है, अतः भीत को आश्वासित करके, श्रान्त एवं तृषित का जल पिलाकर सिरावेध करना चाहिये ॥१३॥

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा ॥१४॥

क्षीण, बहुत दोषवाले, मूर्च्छा से पीड़ित व्यक्ति में सिरावेध अपराह्न में दूसरे या तीसरे दिन करना चाहिये ॥१४॥

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिनिःस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत् ॥१५॥

दूषित रक्त को भी सम्पूर्ण रूप से बाहर नहीं करना चाहिये। उस दोष से युक्त शेष रक्त की चिकित्सा संशमन विधि से करे।

वि० मन्तव्य—इस श्लोक को भली भाँति समझने के लिये देखिये सू० अ० १४ का श्लो० ४३। तथा ४४। संशमन विधि है—रक्त शोधन क्वाथ आदि का पान ॥१५॥

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥१६॥

बलवान्, प्रचुर, दोषवाले और तरुण व्यक्ति का रक्त अधिक से अधिक एक प्रस्थ (१३½ पल) निकालना चाहिये। कहा भी है—

"वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः" ॥१६॥

तत्र पाददाहपादहर्षचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्यां, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीहि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये (कफोदरे च) एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां, श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे), वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽविद्रधौ पार्श्वशूले च बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधः स्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके, हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शंखकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धा-

ग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्व-श्यामयेषूपनासिके ललाटेऽयामपाङ्ग्यां वा, एता एव शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥१७॥

पाददाह, पादहर्ष, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी इत्यादि रोगों में क्षिप्र मर्म के दो अंगुल ऊपर व्रीहिमुख शस्त्र से सिरा वेध करे। श्लीपद में सिरा वेध इस रोग की चिकित्सा में कहेंगे। क्रोष्टु शीर्ष, खञ्ज, पंगुल तथा वातवेदना में—जंघा में—गुल्फ के ४ अंगुल ऊपर सिरावेध करे। अपची में इन्द्र वस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे सिरावेध करे। गृध्रसी में जानुसन्धि के चार अंगुल ऊपर या नीचे सिरावेध करे गलगण्ड में ऊरुमूल की सिरा का वेधन करे। इसी तरह दूसरी टांग और दोनों बाहुओं के सिरावेध को समझना। विशेष भेद प्लीहा-रोग में वाम बाहु के मध्य में भीतर की ओर कूर्पर सन्धि के समीप अथवा कनिष्ठिका और अनामिका के मध्य देश में सिरा वेध करे। इसी तरह यकृत दाल्युदर रोग में कास-श्वास में दक्षिण बाहु में सिरावेध करे। विश्वाची रोग में गृध्रसी के समान सिरावेध करे। शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी के चारों ओर दो अंगुल की दूरी पर सिरावेध करे। परिवर्त्तिका उपदंश शूक रोग और शुक्र रोगों में मेहन के मध्य में, मूत्रवृद्धि में वृषणों के पार्श्वों में उदकोदर में नाभि के नीचे, सीवनी के बाईं तरफ अंगुल पर सिरावेध करे अतः विद्रधि और पार्श्वशूल में वाम कक्षा में, कक्षा और स्तन के बीच सिरावेध करना बाहुशोध और अवबाहुक रोग में कन्धे के मध्य में सिरा वेध करे, ऐसा कई आचार्य कहते हैं। तृतीयकज्वर में त्रिकसन्धि के मध्य की सिरा का वेधन करे। चतुर्थक ज्वर में किसी भी एक पार्श्व में स्कन्ध सन्धि के नीचे सिरावेध करे। अपस्मार में हनुसन्धि के बीच में रहनेवाली सिरा का, अपस्मार और उन्माद में शंख तथा केशान्त सन्धिगत, वक्षस्थल, अपांग और ललाट में रहनेवाली सिराओं का वेध करे। जिह्वा रोग और दन्त रोगों में जीभ के नीचे रहनेवाली शिराओं का वेध करे। तालु के रोगों में तालु में शिरा वेध करे। कर्ण पीड़ा और कर्ण रोगों में कानों के ऊपर चारों ओर शिरावेध करना चाहिये। गन्ध का ग्रहण न होने पर और नाक की बीमारियों में नाक के अग्र भाग में शिरा वेध करे। तिमिररोग, अक्षिपाक आदि रोगों में नाक के समीप ललाट की या अपांग की शिराओं का वेधन करे। शिरोरोग, अधिमन्थ आदि रोगों में इन्हीं सिराओं में वेध करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यद्यपि सिरा सर्वाङ्गशोधिनी होती है, क्योंकि सिरा में सर्व शरीरगामी रक्त का वहन होता है, (यदि उससे रक्त का वहन न रोका जाय तो सारा रक्त निकल जाता है) तथापि रुग्ण स्थान पर जैसे जलौका एवं सिंगी आदि का प्रयोग किया जाता है, करने का विधान है और लाभ भी देखा जाता है, परन्तु यह एक विलक्षणता है कि अन्त्र स्थित रोग की शान्ति के लिये अन्यत्र सिरावेध किया जाता है और विभिन्न रोगों के लिये भिन्न भिन्न स्थानों में भी। यथा अपची रोग में इन्द्रवस्ति के नीचे, गलगण्ड में ऊरुमूल में। अस्तु, होगा कोई परस्पर सम्बन्ध ॥१७॥

दुष्टव्यधा विंशतिः—दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युदीर्णाऽन्ते विद्धा परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा सिरास्नायवस्थिसन्धिमर्मसु चेति ॥१८॥

दूषित रूप में वेधन हुई सिरायें बीस हैं, यथा–दुर्विद्ध, अतिविद्ध, कुञ्चित, पिच्चित, कुट्टित, अप्रस्रुत, अत्युदीर्ण, अन्तेविद्ध, परिशुष्क, कूणित, वेपित, अनुत्थित विद्ध, शस्त्रहत, तिर्यग् विद्ध, अपविद्ध, अव्यध्य, विद्रुत, धेनुका, पुनः पुनः विद्ध, मांस सिरा स्नायु अस्थि और सन्धि मर्मों में विद्ध, इस प्रकार से दूषित वेधन बीस प्रकार का है।

वि० मन्तव्य—सिरा वेध की अकुशलता के कारण उक्त प्रकार के २० दुष्ट व्यध (वेध) हो सकते हैं और उनसे निम्न सू० १६ में लिखी व्यापद् हो सकती हैं ॥१८॥

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणिततातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवं, कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता, कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिता, अप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्यन्तेविद्धा, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागासादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाःशोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा, स्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥१९॥

सूक्ष्मशस्त्र से वेधन करने पर थोड़ा रक्त आता हो, वेदना और सूजन हो, उसे दुर्विद्धा समझना। प्रमाण से अधिक वेधन

होने पर रक्त शरीर के अन्दर हो, उसे अतिविद्धा जानना। कुञ्चिता में भी अतिविद्धा के लक्षण होते हैं। कुण्ठित शस्त्र से कुचली जाने के कारण चौड़ी हुई सिरा पिच्चिता कहाती है। सिरा के न मिलने पर पास की सिराओं में बार-बार वेधन करने पर कुट्टिता कहलाती हैं। शीत, भय, या मूर्च्छा से रक्त न निकलने पर अप्रस्नुता कहलाती हैं। तीक्ष्ण और बड़े मुखवाले शस्त्र से वेधन होने पर अत्युदीर्णा कहलाती हैं। शिरा के अन्तिम छोर पर वेधन करने पर थोड़ा सा रक्त निकलने पर अन्ते विद्धा कहलाती हैं। जिसका रक्त क्षीण होकर वायु भर गई हो उसे परिशुष्का कहते हैं। शस्त्र जब सिराके चौथाई भाग में ही प्रवेश करे, थोड़ा-सा रक्त निकले, उसे कूणिता कहते हैं। स्थान को छोड़कर सिरा को बाँधने से काँपनेवाली सिरा का रक्त बाहर नहीं आता, इसे वेपिता कहते हैं। शिरा के न उठने पर भी वेधन करने पर वेपिता के लक्षण होते हैं उसे अनुत्थितविद्धा कहते हैं। शस्त्र से कटने के कारण बहुत मात्रा में रक्त निकले, सिरायें अपना कार्य न करें, उसको शस्त्रहता कहते हैं। तिरछा शस्त्र चलाने के कारण जो शिरा कटने से थोड़ी बच गई हो उसे तिर्यग्विद्धा कहते हैं। हीन शस्त्र प्रयोग के कारण बहुत स्थानों पर चोट लगने पर अपविद्धा होती है। शस्त्र कर्म के अयोग्य सिराओं को अव्यध्या कहते हैं। चंचल सिराओं का वेधन होने से विद्रुता कहते हैं। शिरा प्रदेश के जोर से दबने पर जब शस्त्र से ऊपर ही ऊपर चिह्न हो जाते हैं और इन क्षतों से रक्त बार-बार बहता हो, तो इसे धेनुका कहते हैं। सूक्ष्म शस्त्र के कारण बार-बार वेधन करने पर कटी सिराओं को पुनः पुनः विद्धा कहते हैं। मांस-सिरा-स्नायु सन्धि और अस्थि मर्म पर वेधन करने से पीड़ा, सूजन विकलता और मृत्यु होती है ॥१९॥

भवति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येता स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत् ॥२०॥

इसमें श्लोक भी हैं—शिराओं में चंचलता (अस्थिरता) स्वभाव से ही है। ये सिरायें मछली की तरह परिवर्तन करती हैं (मछली हाथ में आकर जैसे फिसल जाती है)। इसलिये सिराओं के विषय में उनकी जानकारी किसी को भी नहीं है। अतः इनका भेदन प्रयत्न पूर्वक करे ॥२०॥

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चेता बहवश्चाप्युपद्रवाः ॥२१॥

शस्त्र कर्म में अज्ञ व्यक्ति यदि शरीर पर शस्त्र चलाये तो पूर्वोक्त बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं, और बहुत उपद्रव भी होते हैं ॥२१॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥

स्नेहन, स्वेदन, अथवा लेपों से रोग उतनी अच्छी तरह जल्दी शान्त नहीं होते हैं, जितना सिरा वेध से जल्दी और अच्छी तरह शान्त होते हैं ॥२२॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥२३॥

शल्य तंत्र में सिरावेध चिकित्सा का आधा भाग है, जिस प्रकार कि काय चिकित्सा का बस्ति आधा भाग है। (यथा-तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति, सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके। चरक०)।

वि० मन्तव्य—सिरावेध का महत्त्व—शल्यशास्त्रोक्त रोग शान्ति के सब उपाय एक ओर और अकेला सिरावेध एक ओर अर्थात् यह अकेला ही सबके समान है, जैसे कायचिकित्सा में सभी संशमन उपाय एक ओर अकेला वस्ति प्रयोग एक ओर माना जाता है भगवान् पुनर्वसु ने तो कहा है कि वस्ति को कायचिकित्सा का आधा भाग है तो सभी आचार्य कहते हैं, परन्तु कुछ आचार्य उसे समस्त चिकित्सा मानते हैं अर्थात् वस्ति प्रयोग से सभी रोगों की पूर्ण चिकित्सा हो सकती है ॥२३॥

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥२४॥

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और सिरावेध करने पर क्रोध, परिश्रम, मैथुन, दिन में सोना, बहुत बोलना, व्यायाम, सवारी करना, पढ़ना, बैठना, खड़े रहना, घूमना, शीतल वस्तुयें, वायु, धूप विरुद्ध असात्म्य-अजीर्ण भोजन, इनसे शरीर में बल आने तक बचा रहे। कोई आचार्य कहते हैं कि एक मास तक बचे। इनका विस्तार आतुरोपद्रव चिकित्सा में कहेंगे ॥२४॥

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥२५॥

दूषित रक्त को सिरामोक्षण, तुम्बी, जौंक या पाछना से निकाले। पूर्व-पूर्व प्रकार गंभीर देश के लिये बरतना चाहिये। अतिशय गम्भीर होने पर सिरावेध करे, सबसे गहराई होने पर पाछे।

वि० मन्तव्य—इसके लिये देखिये सु० सू० अ० १३ ॥२५॥

अवगाढे जलौका स्यात् प्रच्छन्नं पिण्डिते हितम्।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥२६॥

खूब गहरे भाग में दूषित हो (एक स्थान पर हो) तो जौंक लगाये, रक्त स्थान पर पिण्डित रूप में हो तो पाछना चाहिये। दूषित रक्त अङ्ग में फैला हो तो सिरा वेध करे। त्वचा में दूषित रक्त हो तो सींग या अलाबु से निकाले।

चरक में—'भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः कफान्वितमलाबुभिः ॥ यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा शिराम् ॥ चरक० चि० अ० २१।६८॥

वि० मन्तव्य—खुनना या गोदना भी "प्रच्छन" ही है, इसे "पच्छ लगाना" कहते हैं। स्थानिक वेदना शान्ति के लिये यह अच्छा उपाय है ॥२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शरीरस्थाने सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे धमनी व्याकरण शारीर की व्याख्या करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—धमनी का व्याकरण—विशेष आकार या विवरण इस अध्याय में किया गया है ॥१,२॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः तत्र केचिदाहुः सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिरा विकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यात्, आगमाच्च केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ ३ ॥

नाभि से उत्पन्न होनेवाली धमनियाँ चौबीस कही हैं। इस में कई कहते हैं कि सिरा, धमनी, स्रोत, इनका परस्पर कोई भेद नहीं है, धमनियाँ और स्रोत सिराओं के ही रूपान्तर हैं। यह बात ठीक नहीं है, धमनियाँ और स्रोत सिराओं से अलग ही हैं, क्योंकि—इनके लक्षण (आकृति, चिह्न) भिन्न हैं, इनके मूल भी भिन्न हैं, कर्म भी अलग हैं, शास्त्र में भी इनको पृथक् २ माना है। तथापि परस्पर में सम्बन्ध रहने से, शास्त्र में समान वचन मिलने से, साधारण कर्म के कारण, सूक्ष्मता के कारण, शिरा, स्रोत और धमनी के कार्य भिन्न होने पर भी ये सब एक से ही मालूम होते हैं।

वक्तव्य—"स्रोतांसि, सिरा धमन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो, मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवाता संवृतानि स्थानानि आशयाः क्षया निकेताश्चेति शरीरं धात्ववकाशानां लक्ष्या लक्ष्याणां नामानि भवन्ति ॥

(२) धमनाद् धमन्यः, सरणात् सिराः, स्रवणात् स्रोतांसि ॥ चरक, (३) आकाश से दो सिरा-धमनी-स्रोत (इनकी सुषिरता) बनते हैं। यथा—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः" ॥३॥

वि० मन्तव्य—धमनी के सम्बन्ध में जैसा विवाद श्रीगणनाथ सेन (दे० प्रत्यक्षशारीरं), श्री हरिप्रपन्नजी (दे० रसयोगसागर का उपोद्घात), श्रीगङ्गाधर शास्त्री, तथा श्रीघाणेकर आदि सुप्रसिद्ध मनीषियों में आज चल रहा है वैसा ही श्री सुश्रुत के समय में भी चलरहा था, हम इस विवाद को विविध वाद मानते हैं, विरुद्ध वाद नहीं, परन्तु श्री गणनाथ सेन एवं गङ्गाधर शास्त्री आदि ने कुछ बहुत आगे बढ़कर लिख डाला है, उसका प्रतिवाद भी अनेक मनीषियों ने किया है। अस्तु, किसी शब्द या वाक्य आदि का अर्थ करने-लगाने—समझने की विधि भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार बतलाई है कि—तन्त्रकर्त्ता (शास्त्रकर्त्ता) के अभिप्राय को तथा तन्त्र युक्तियों को समझकर "अर्थ" प्रकृत अर्थ कहना चाहिये, अतः "धमनी" का अर्थ करने में शास्त्रकर्त्ता का अभिप्राय देखना बहुत आवश्यक है, तन्त्राध्येता को तन्त्रकर्त्ता की ही बुद्धि से अवगम करना (समझना) चाहिये। तभी सत्य अर्थ किया जा सकता है, दूसरे तन्त्र कर्त्ताओं की दृष्टि से देखना उचित नहीं और उससे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। देखें च०सू०अ०२६ श्लोक ३७। अर्थ भी दो प्रकार का होता है १—तात्त्विक या वास्तविक अर्थ और २—व्यावहारिक बोलचाल लेनदेन आदि विषयक अर्थ। यह दोनों ही अर्थ ठीक—बहुत ठीक या समीचीन होते हैं, यथा-पाञ्चभौतिक होने के नाते हरड़ एवं बहेड़ा में कोई भेद नहीं, परन्तु हरड़ हरड़ है और बहेड़ा बहेड़ा। तत्त्वतः—केचित् आहुः—के कथनानुसार सिरा, धमनी एवं स्रोतस् में कोई भेद नहीं है, कारण १—अनेक आचार्य ऐसा कहते हैं, यथा-ध्मानात् धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः, ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः। चरक सू० अ० ३०। सिरा भी नाभिप्रभवा हैं और धमनी भी, सु०शा० अ० ९ सू० २ तथा सु० शा० अ० ७ श्लो० ४-५, धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ। शा० सं० आदि अनेक शास्त्र

वाक्यों के अनुसार रसवहन कर्म की समानता से सिरा धमनी एक ही वस्तु है। रहा ध्मान का भेद या प्रश्न—ध्मान वस्तुतः सिरा एवं स्रोतों में भी होता है, यद्यपि वह अस्फुट या अव्यक्त होता है। अन्यथा रस आदि का सञ्चार ही नहीं हो सकता, यदि वायु भी रस आदि को धकेलता है तो वह ध्मान हुए बिना आगे नहीं सरक सकता है। इसी सूत्र में स्वीकार किया गया है कि सिरा का विकार (कार्य-रूपान्तर में परिवर्त्तन) ही धमनी हैं, क्योंकि हृदय सिरामर्म है और उसी में नाभि से आनेवाली तथा शरीर से आनेवाली सिरा आती हैं और यहाँ से आगे चलनेवाली सिराओं में धमन अधिक स्फुट या व्यक्त हो जाता है। परन्तु वह भी रस का या रसमय रक्त का ही वहन करती हैं और वही आगे चलकर "बहुधा फलन्ति" (च० सू० अ०) बहुत प्रतानों के रूप में फलित हो जाती है—फैल जाती है, अतः स्रोत कही जाती है, रस का वहन यहाँ भी होता है। धमन भलेही अस्फुट हो जाता है। अतः वस्तुतः रस वहन की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। यह है तात्त्विक या वास्तविक अर्थ। आगे व्यावहारिक अर्थ सुनिये—इस प्रकार पूर्व पक्ष या अनेक महर्षियों के मत का प्रतिपादन करके भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं 'तत् तु न सम्यक्'—अर्थात् वह उल्लिखित मत ठीक तो है, परन्तु बहुत ठीक नहीं, कारण—जिनको हम इस अध्याय में धमनी एवं स्रोतस् नाम से लिखेंगे, वे धमनी एवं स्रोतस् सिराओं से भिन्न हैं, क्योंकि उनका जो लक्षण लिखेंगे वह भी सिराओं से भिन्न है, मूलतः भी भिन्न है, अर्थात् मूलतः सिरा ४० कही हैं, परन्तु धमनियाँ २४ मानी हैं, कर्म भी भिन्न हैं अर्थात् हम शब्द, स्पर्श, रूप रस एवं गंध का वहन तथा लेपाऽभ्यङ्ग आदि के वीर्य का वहन आदि कर्म धमनियों का मानेंगे। कहेंगे सिराओं का नहीं कहेंगे और हम आगम अर्थात् आप्तवचन का भी उदाहरण—प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं, यथा—आगम में अनेकत्र-ऐसे वचन मिलते हैं जहाँ एक ही वाक्य में—सिरा धमनी तथा स्रोतस् का नामोल्लेख किया गया है, यथा—मर्मसिरास्नायुधमनीः परिहरन् शस्त्रकर्म कुर्यात् तथा—सू० अ० ११ के पाठ २६ में क्षार कर्म का निषेध करते हुए—एक ही पाठ में सिरा और धमनी पढ़ा गया है। इन सब कारणों से हम सिरा से धमनी को पृथक् मानते हैं। यह सब व्यावहारिक अर्थ है, अतएव इसी सूत्र में "रसवाहसमकर्मत्वात्" कहकर धन्वन्तरि भी स्वीकार करते हैं कि सिरा एवं धमनी को एक मानना कोई अनुचित नहीं है, क्योंकि आगम में अनेकत्र—सिरा एवं धमनी को पर्याय माना है और दोनों का कर्म (रस वहन) भी एक ही है। यथा—आकाशीय (खोखले सुषिर) अवकाशानां देहे नामानि देहिनां। सिरा स्रोतांसि, मार्गाः खं धमन्यः (डल्लन) और स्रोतांसि, सिरा, धमन्यो, रसायिन्यः, रसवाहिन्यो नाड्यः—आदि शब्द पर्यायवाचक हैं। च० वि० अ० ५। और आगे इसी अध्याय में स्रोतों का नाम निर्देश करते समय लिखा है 'एषु अधिकारः' (सू० १२) अर्थात् हम इन्हीं को स्रोत कहेंगे। यह शास्त्रसमय है। स्रोतस् का विचार उक्त सू० १२ में किया जायगा। किमधिकम्।

इस समस्त कथानक का तात्पर्य यह है कि—सिरा कहिये अथवा धमनी दोनों का उद्भव नाभि (गर्भ की नाभि अर्थात् धुन्नी और जात प्राणी की नाभि नामक मर्म अर्थात् अन्त्र) से हुआ है—आरम्भ वहीं से हुआ है और आगे चलकर सिरा ही हृदय रूप में परिणत हो गई हैं और हृदय से आगे सिरा ही धमनी रूप में परिणत हो गई हैं। अब उनमें केवल धमन स्फुट हो गया है, कर्म वही रसवाहन ही है। आगे चलकर सिरा ही अथवा धमन के भेद से धमनी ही स्रोतस् रूप में परिणत हो गई है, केवल स्रोतस् रूप में परिणत होने पर धमन अस्फुट हो गया है और आगे चलकर स्रोतस् ही सिरा रूप में परिणत हो गया है और जिस रस को लेकर सिरा—नाभि से चली थी, उसका समस्त शरीर में वितरण करके उसके द्वारा प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव का तर्पण करके बचे-खुचे रस को लेकर हृदय में आ पहुँचती है और इधर नाभि से रस को लानेवाली सिरा भी रस लेकर आ पहुँचती है और जितना रस-शरीर तर्पण में व्यय होता है उसकी पूर्ति हो जाती है, फिर पूर्ववत् हृदय से धमनी द्वारा रस चल पड़ता है। यह क्रम जीवन भर चलता रहता है। यही सब कुछ—तत्र "रस गतौ" धातुः-अहरहः गच्छति इत्यतो रसः, तथा तत्र एतेषां धातूनां अन्नपानरसः प्रीणयिता (सु० सू० अ० १४ सू० १३-११) आदि वाक्यों का तात्पर्य है। कोई कुछ भी कहे, परन्तु अग्निवेष का सहाध्यायी भेल-सिराओं के घूम फिरकर पुनः हृदय में पहुँचने की कथा को जानता था-यथा-हृदो रसो निःसरति तत एव च सर्वतः। सिराभिः हृदयं च एति तस्मात् हृत्प्रभवाः सिराः॥ (भेल संहिता) अर्थात्—हृदय से रस निकलता है और सब ओर घूम फिर कर सिराओं द्वारा हृदय में आ जाता है, इसलिये—केवल इस कर्म को देखकर सिरा को "हृदयप्रभवा"—हृदय से—उद्भूत होनेवाली कहा जाता है। वैसे तो मूलतः सिरा नाभिप्रभवा ही हैं। पाठकों से

निवेदन है कि इस सन्दर्भ को समझने के लिये–सु० सू० अ० १४ का अध्ययन अवश्य करें। संक्षेपतः-सिरा में जहाँ धमन होता है वहाँ उसका नाम धमनी हो जाता है। ४० एवं २४ का विचार–स्यात्–नाभि से उद्भूत ४० सिराओं में १६ सिरा रसायनी हैं, जो रस को लेकर शरीर का तर्पण करती हैं और २४ वे हैं जो हृदय की ओर आकर रक्त को लेकर शरीर का तर्पण करती हैं ॥३॥

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥४॥

नाभि से उत्पन्न होनेवाली इन दस धमनियों में दस ऊपर को दस नीचे को, और चार तिरछी जाती हैं ॥४॥

ऊर्ध्वगाः शब्दरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिन्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥५॥

ऊपर को जानेवाली धमनियाँ—शब्द, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उछ्वास, जम्भाई, छींक, हंसना, बोलना, रोना इत्यादि को वहन करतीं हुई शरीर को धारण करती हैं। ये धमनियाँ हृदय में पहुँचकर तीन भागों में विभक्त होकर तीस बन जाती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त आदि रस को दो दो वहन करती हैं, इस प्रकार ये दस होती हैं। आठ धमनियाँ शब्द, रूप, रस और गन्ध का वहन करती हैं। दो धमनियों से बोला जाता है। दो धमनियों से घोष (अव्यक्त शब्द) होता है। दो से सोया जाता है। दो से जागा जाता है। दो से आंसुओं का वहन करती हैं। दो स्त्री के स्तनों में रहती हुई दूध का वहन करती हैं। वे ही दो धमनियाँ पुरुषों के स्तन में से शुक्र का वहन करती हैं। इस प्रकार से तीस धमनियों का व्याख्यान कर दिया। इन्हीं से नाभि के ऊपर उदर, पार्श्व, पीठ, उर, स्कन्ध, ग्रीवा और बाहु का धारण और पोषण होता है।

वि० मन्तव्य—ऊर्ध्वगा धमनियाँ–शब्द, रूप, रस एवं गन्ध नामक चार ही विषयों का अभिवहन करती हैं और स्पर्श का अभिवहन तिर्यग्गा धमनियाँ करती हैं (दे०सू०६)। भाषते और घोषते-भाष व्यक्तायां वाचि (भ्वादिगण) अर्थात् व्यक्त-इकारादि व्यंजन युक्त वाणी का उच्चारण करता है और घोषते–घुषिर् शब्दे (चुरादिगण) अर्थात् शब्द–अकारादि स्वरों का उच्चारण करता है। पाठक स्वयं अनुभव करें कि बोलने और चिल्लाने में नाभि पर बल-जोर पड़ता है कि नहीं। यदि पड़ता है तो समझिये कि धमनी नाभिप्रभवा है कि नहीं। जिन दो धमनियों के द्वारा भाषते-बोलता है वे वागिन्द्रिय का और जिन दो धमनियों द्वारा घोषते-पोषण करता है वे कण्ठगत स्वरवह अवयव का धारण एवं यापन करती हैं। यह वे हैं जिनका वर्णन अ० ६ सूत्र २७ में किया गया है। जिनके आघात से मूकता एवं स्वर वैकृत हो जाता है और अ० ७ में—"वाग्वहे च द्वे" कहकर जिनको अवेध्य माना है। इसी प्रकार शब्द आदि का वहन करनेवाली धमनियों को अ० ६ तथा अ० ७ में देखकर समझने का प्रयत्न किया जाय। सोना जागना भी धमनियों के द्वारा होता है, जब मनस् एवं इन्द्रियाँ क्लान्त हो जाती हैं—थक जाती हैं, फलतः विषय ग्रहण से निवृत्त होती हैं तब मानव सोता है (च० सू० अ० २१)। शब्द आदि विषयों का वहन धमनियाँ करती हैं, थक जाने पर वहन करना छोड़ देती हैं, फलतः निद्रा आ जाती है। धार्यन्ते और याप्यन्ते—इनके द्वारा धारण होता है—जीवन की स्थिति बनी रहती है, और रस का भी वहन करती है, अतः भरण-पोषण भी होता है और यापन अवयवों का सञ्चालन भी होता है। अतएव पक्षाघात में–"अधोगमा, तिर्यग्गमा तथा उर्ध्वदेहगा धमनी" का उल्लेख किया है (दे० नि० अ० १ श्लो० ६०)। धमनियों की विकृति से अवयवों का सञ्चालन घट जाता है—रुक जाता है ॥५॥

भवति चात्र—

ऊर्ध्वगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।

इसमें श्लोक भी है—ऊपर को जानेवाली धमनियाँ इस प्रकार से इन सब कार्यों को करती हैं।

अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥६॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां च रसस्थानं चाभिपूरयन्ति मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति, आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्, तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे अष्टावन्यास्तिर्यग्गामिनीनां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभि-

रधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥७॥

नीचे की तरफ जानेवाली धमनियों के कार्यों को ठीक प्रकार से कहता हूँ। अधोगामी धमनियाँ वायु (अपना वायु), मूत्र, मल, शुक्र, आर्त्तव, को नीचे की ओर वहन करती हैं। ये पित्ताशय में पहुँचकर अग्नि की उष्णिमा से भली प्रकार परिपाक हुए अन्नरस और जलीय रसों का विवेचन और वहन करती हुई शरीर का पोषण करती हैं। ऊर्ध्वगत और तिर्य्यग्गत धमनियों को रस पहुँचाती हैं और रस स्थान (हृदय) को रस से भरती हैं। मूत्र, मल, स्वेद का अलग-अलग विभाग करती हैं। इन धमनियों के आमाशय और पक्वाशय के बीच में तीन विभाग होते हैं। इस प्रकार से ये तीस हो जाती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रस और रक्त को दो-दो धमनियाँ वहन करती हैं। इस प्रकार दस धमनियाँ हुईं। अंत्रों का आश्रय करके अन्न को ले जानेवाली दो, जल का वहन करनेवाली दो, मूत्राशय में मूत्र को ले जानेवाली दो, शुक्र की उत्पत्ति करने के लिये शुक्र को ले जानेवाली दो, शुक्र को बाहर निकालने के लिये दो। ये ही दो धमनियाँ स्त्रियों में आर्त्तव का वहन करती हैं और विसर्ग करती हैं। स्थूलांत्र से सम्बद्ध दो धमनियाँ मल को निकालती हैं। शेष आठ धमनियाँ तिर्यक् जानेवाली धमनियों को स्वेद पहुँचाती हैं। इस प्रकार से तीस धमनियों का व्याख्यान कर दिया। अधोगामी धमनियाँ उपर्युक्त इन सब कार्यों को करती हैं।

वि० मन्तव्य—अधोगमा धमनियों के सम्बन्ध में—आपाततः यह नहीं समझना चाहिये कि मूत्र एवं पुरीष आदि धमनियों में से होकर निकलते हैं, अपितु यह समझना चाहिये कि ये धमनियाँ उन अवयवों का धारण एवं यापन करती हैं, जिनके द्वारा उक्त कार्य होते हैं। पित्ताशय—पित्त-पाचक पित्त का आशय अर्थात् कार्य करने का आशय अर्थात् अन्त्र। अन्त्र से अन्नपान के विपक्व रस को विवेचयन्त्यः अर्थात् अन्नपान में से पृथक् करके उसका वहन करती हुई शरीर का तर्पण करती हैं। मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयन्ति—अर्थात्-मलाशय में पहुँचे रसहीन अन्नपान = मलद्रव में से मूत्र एवं स्वेद अर्थात् मलद्रव के जलीयांश को पृथक् करती हैं। आगे चलकर यह जलीयांश उक्त रस में ही मिश्रित हो जाता है और रस, रक्त में और वृक्कों में जाकर रक्त से पृथक् होकर मूत्र रूप में परिणत हो जाता है और तिर्यग्गा धमनियों में पहुँच जाता है वह स्वेद रूप में परिणत हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्नपान का लवण-अधिकांश इसी जलीयांश के साथ शरीर में पहुँचता है। अतः एवं च मूत्र स्वेद में समान रूप से लवण रस पाया जाता है। द्वे अन्नवाहिन्यो अन्त्राश्रिते—ये वे धमनियाँ हैं, जिनके द्वारा अन्त्र में गति होती है और जिनकी विकृति से अन्त्र की गति में रुकावट होने लगती है अथवा अवरोध हो जाता है रुकावट होने से अन्नपान विलम्ब से सरकता है, परन्तु पाचन में कोई न्यूनता नहीं आती है, अवरोध होने से आनाह नामक रोग हो जाता है, जिसमें अन्नपान वहीं का वहीं पड़ा रहता है—सरकता ही नहीं, इन दोनों दशाओं में भी रस का विवेचन करनेवाली धमनियाँ क्रियाशील रहती हैं। योगवहे द्वे—ये वे धमनियाँ हैं, जिनकी विकृति से तृषा उत्पन्न होती है—तृषा रोग संक्षेपतः—दो प्रकार का देखा जाता है १—वह जिसमें जितना जल दिया जाता है वह विलीन होता रहता है और २—वह जिसमें आमाशय में जल भरा रहता है—पर शोष है, मुख शोष आदि होते रहते हैं। इसे सु० उ० अ० ४८ के श्लो० ८ में "स्रोतोनिरोधो" कहकर सूचित किया गया है। मूत्रवहे द्वे—ये मूत्रवह स्रोतों का धारण एवं यापन करती हैं। शुक्रवहे द्वे—जो अण्डकोश का और द्वे विसर्गाय-शुक्रवाही स्रोतों का धारण एवं यापन करती हैं। और ये शुक्र के साथ २ नारियों के आर्त्तव का उत्पादन एवं विसर्जन करती हैं अर्थात् उन अवयवों का जहाँ शुक्र एवं आर्त्तव का निर्माण होता है और जिनके द्वारा विसर्जन होता है धारण एवं यापन करती हैं। स्थूलान्त्र (मलाशय) में सम्बद्ध वे दो धमनियाँ—जिनके धमन से पुरीष का निरसन-बहिर्निर्गम होता है, यदि ये निष्क्रिय हो जाती हैं तो पुरीष निकलता ही नहीं, वस्ति द्वारा दी गयी औषध भी लौटकर नहीं आती। स्थूलान्त्र में आठ धमनियाँ और हैं जो तिर्यग्गमा धमनियों को स्वेद-मलद्रव में से जलीयांश का समर्पण प्रदान करती हैं। उक्त कार्यों के अतिरिक्त वे—पक्वाशय आदि का धारण एवं यापन करती हैं, तत्स्थानपि-गर्भाशय का भी धारण यापन करती हैं। पाठक एक सचाई पर ध्यान दें—ऊर्ध्वगा धमनियाँ हृदय में जाकर ३० हो जाती हैं। उनमें से १०-वात, पित्त, कफ, शोणित तथा रस का वहन करती हैं और अधोगमा धमनियाँ आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य (अन्त्र या नाभिमर्म) में उत्पन्न होती हैं और उनमें से १० धमनियाँ-वात, पित्त, कफ, शोणित एवं रस का वहन करती हैं। पित्ताशय—(पित्त के कार्य का स्थान—अन्त्र-नाभि नामक मर्म ग्रहणी) से अन्नपान रस को लेकर समस्त शरीर का तर्पण करती हैं और रसस्थान—हृदय का अभिपूरण करती हैं। तात्पर्य यह है कि नाभि से उत्पन्न (नाभिप्रभवा) धमनी हैं, वे ही हृदय में रस पहुँचाती हैं। हृदय से उनमें धमान स्फुट हो जाता है यही एकमात्र कारण है जो सिरा को ही धमनी कहने-कहलाने के लिये प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखकों को बाध्य करता है॥६,७॥

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः ।
तर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥८॥

तिर्यग्गाणां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते, तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः ॥९॥

तिर्यग्गत धमनियों को और इनके कार्यों को कहता हूँ—चार तिर्यग्गत धमनियों में प्रत्येक धमनी उत्तरोत्तर सैकड़ों और हजारों विभागों में विभक्त होती है । इस प्रकार से इनके विभाग असंख्येय हो जाते हैं । इन धमनियों से यह शरीर गवाक्षित (झरोखों के रूप में जाल के समान) के रूप में बँधा हुआ एवं फैला रहता है । इन धमनियों के मुख रोमकूपों से मिले रहते हैं । इनके मुखों के द्वारा पसीने का वहन होता है, ये रस द्वारा, अन्दर और बाहर तर्पण करती हैं । इनके मुखों से त्वचा पर किया अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन, आलेपन, आदिका वीर्य शरीर के अन्दर पहुँचता है । इन्हीं के द्वारा सुखकर और असुखकर स्पर्श ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार सारे शरीर में फैली ये चार धमनियाँ विभाग के साथ कह दी हैं ।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च ।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥१०॥

जिस प्रकार कमलनाल और बिस में स्वभाव से स्रोत रहते हैं, उसी प्रकार धमनियों में छिद्र होते हैं, जिनसे रस का ग्रहण ये करती हैं । (मृणाल जिस प्रकार छेदों से रस खींचते हैं, उसी प्रकार धमनियाँ रस को ग्रहण करती हैं) ॥१०॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति ।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥११॥

पंचाभिभूताः (पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुई धमनियाँ) पञ्चेन्द्रिय (पाँच इन्द्रियोंवाले कर्म पुरुष को) पंचसु (कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, नेत्र इनके अधिष्ठानों में), पंचकृत्वः (पर्य्यायक्रम से पांचबार) भावयन्ति (नियुक्त करती हैं)। पंचेन्द्रियं (सूक्ष्मरूप इन्द्रिय पंचक को) पञ्चसु (आकशादि पंच महाभूतों में), भावयित्वा (नियुक्त करके) विनाशकाले (नाश होने के समय में) पञ्चत्वं (नाश को), आयान्ति (प्राप्त होती हैं)।

वक्तव्य—इस प्रकार से ये धमनियां पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से उत्पन्न होकर प्राणियों को कान नेत्र आदि में पाँच बार लगाती हैं । प्राणियों के नाश होते समय ये धमनियाँ सूक्ष्म शरीर को पंचमहाभूतों में समाप्त करती हुई स्वयं नष्ट हो जाती हैं । ज्ञान अलग-अलग होता है, इसलिये पंचवारान् शब्द कहा है । क्योंकि ज्ञान में मन का संयोग इन्द्रियों के साथ अवश्य है । मन एक है—अणुत्वमथ एकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ—एक समय में मन एकही इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो सकता है, इसलिये पंचवारान् कहा है ।

वि० मन्तव्य—पञ्चत्वं आयान्ति विनाशकाले—विनाश काल-मृत्यु काल में-पञ्चत्व-पञ्चभूतावशेषत्व को प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् धमनियों का स्वरूप केवल पञ्चमहाभूतमय रह जाता है और उनका ध्मान ही जीवन है-जिस क्षण में गर्भाधान होता है उसी क्षण में—स्फुरणं च योनेः (सु० शा० अ० ३-१३) गर्भाशय में जो स्फुरण होता है वही आगे चलकर ध्मान कहलाता है और वह जीवन भर सदा सर्वदा होता रहता है और जब वह ध्मान रुक जाता है तब मृत्यु हो जाती है, जीवन की यही कहानी है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः । तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदामूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः एकेषां बहूनि, एतेषां विशेषा बहवः । तत्र प्राणवहे द्वे; तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याक्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति; अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च, उदकवहे द्वे, तयामूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च, रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं, तल्लिङ्गानि च, रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः यत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च, मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च, मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च, मूत्रवहे द्वे, बस्तिमेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च, पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च, शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च, आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तव-

वाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च, सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति। स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्, उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥१२॥

इसके आगे स्रोतों के मूल में विद्ध होने से उत्पन्न लक्षणों को कहेंगे-ये स्रोत प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, मलवह शुक्रवह, आर्त्तववह हैं, इन्हीं स्रोतों का (योगवाही) शल्य तंत्र में वर्णन है। एक स्रोत के बहुत से भेद हैं, इनके फिर बहुत से भेद होते हैं। इनमें प्राणवह स्रोत दो हैं:—इनका मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने से चिल्लाना, झुकना, मूर्च्छा, चक्कर आना, कम्पन अथवा मृत्यु भी हो जाती है। अन्नवह स्रोत दो हैं। उनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी हैं। इनका वेधन होने पर आध्मान, शूल, अन्न में द्वेष, वमन, प्यास, अन्धापन और मृत्यु होती है। उदक वह स्रोत दो हैं, इनका मूल तालु और क्लोम है। इनका वेधन होने पर प्यास, और तुरन्त मृत्यु होती है। रसवह दो स्रोत हैं, इनका मूल हृदय और रसवाहिनियाँ है। इनका वेधन होने पर शोष, प्रणवहा स्रोतों के विद्ध होने पर होनेवाले लक्षण और मृत्यु होती है। रक्तवह स्रोत दो हैं, इनका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। इनका वेध होने पर अंगों में श्यावता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, रक्त का आना और आँखों में सुर्खी होती है। मांसवह स्रोत दो हैं—इनका मूल स्नायु-त्वचा और रक्तवहा धमनियाँ हैं। इनका वेधन होने पर शाथ, मांस शोष, शिराओं में गाँठें और मृत्यु होती है। मेदोवह स्रोत दो हैं—इनका मूल कटी और दो वृक्क हैं। इनमें वेधन होने से पसीने का आना, अंगों में स्निग्धता, तालु शोष, मोटी (गहरी) सूजन और प्यास होती है। मूत्रवह स्रोत दो हैं, इनका मूल वस्ति और मेहन हैं, इनके विद्ध होने से वस्ति में फूलाव, मूत्र का अवरोध और मेहन में स्तब्धता होती है। पुरीषवह स्रोत दो हैं, इनका मूल पक्वाशय और गुदा है। इनमें वेधन होने से आनाह, दुर्गन्धता, आँतों में गाँठ पड़ना होता है। शुक्रवह स्रोत दो हैं, इनका मूल स्तन और दोनों वृषण हैं, इनके विद्ध होने पर नपुंसकता, शुक्र का देर में क्षरण, और शुक्र के साथ रक्त आना होता है। आर्त्तववह स्रोत दो हैं—इनका मूल आर्त्तववहा धमनियाँ और गर्भाशय है। इनका वेधन होने पर वन्ध्यापन, मैथुन की असहिष्णुता, आर्त्तव नाश होता है। सेवनी के कटने से वेदना उत्पन्न होती है। वस्ति, गुदा के विद्ध होने पर होनेवाले लक्षण पहले कह दिये हैं। स्रोतों के विद्ध होने पर असाध्य कहकर चिकित्सा करे। स्रोतों में से शल्य निकालकर क्षतविधि से चिकित्सा करनी चाहिये[1]।

वक्तव्य—सुश्रुत ने ये ग्यारह (दो के योग से बाईस) योगवाही स्रोत कहे हैं। चरक में—स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि। स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। तद्यथा प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति, वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां स्रोतांस्ययनभूतानि ॥

अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोरपि। विमार्गगमनं वाऽपि स्रोतसां दुष्टि लक्षणम् ॥ आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः। धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ चरक विमा० अ० ५.३१-३२॥

वि० मन्तव्य—स्रोतस्—स्रु गतौ धातु (भ्वादि गणीय) से स्रोतस् शब्द निष्पन्न है, अर्थ है जिसमें से गति हो। प्राण अन्न एवं उदक आदि की गति जिनमें से होती है उनका ही नाम 'स्रोतस' है। यह अर्थ इसी प्रकरण को ध्यान में रखकर किया गया है, क्योंकि इस प्रकरण में यही ११ स्रोतस् माने जाते है। भले ही अनेक आचार्य-बहुत असंख्येय स्रोतस् मानते हैं-यथा पुरुष में (नर नारी के शरीर में) जितने भी मूर्तिमान् भाव विशेष हैं उतने ही इसमें स्रोतों के प्रकार विशेष हैं, क्योंकि सभी भाव स्रोतों के बिना न उत्पन्न होते हैं और न क्षय को प्राप्त होते हैं, सच यह है कि—स्रोतस्—परिणाम-परिपाक (कारण से कार्य रूप में परिणत होने के लिये क्रियाशील धातुओं का अभिवहन करनेवाले) हैं, केवल मार्ग के अर्थ में अर्थात् जब रस रक्त रूप में परिणत होना चाहता है, तब स्रोतस् नामक मार्ग से वहाँ पहुँचता है जहाँ वह रक्त रूप में परिणत हो सकता है। कुछ आचार्य तो स्रोतों के समुदाय को ही पुरुष मानते हैं, क्योंकि स्रोतस् सर्व शरीरव्यापी हैं और दोषों को प्रकुपित तथा प्रशान्त करनेवाले भावशरीर में सर्वत्र गति शील देखे जाते हैं, परन्तु उनका यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि—ये स्रोतस् जिसके (जिस शरीर के) हैं और जिसका वहन (ले जाना) तथा आवहन (लेआना) करते हैं, वह सब उन स्रोतों से भिन्न है। पाठक इस सन्दर्भ को एक उदाहरण से समझें—किसी ने कहा कि नगर गलियों का ही समुदाय है। यद्यपि यह कहना झूठ नहीं है,

---

१ क्लोम से फैरिक्स (pharynx) लेना चाहिये। गर्भावस्था में मुख के स्थान पर एक गह्वर रहता है जिसे कोईलम (coelom) और स्टोमेडियम (stomodeum) कहते हैं। ये दोनों पीछे एक छिकल्ली से अलग हो जाते हैं। क्लोम और कोइलम आपस में प्रायः मिलते हैं।

तथापि सम्यक् भी नहीं है, क्योंकि जिन भवनों के कारण गलियाँ बनी हैं और, गलियों के मार्ग से जो वस्तुओं का ले जाना और ले आना होता है वह सब गलियों से भिन्न है। दोनों ओर भवन बन जाने से गली कही जाती है। वस्तुतः भवनों के समुदाय का नाम नगर है। इस सबका तात्पर्य यह है कि उन मार्गों का नाम स्रोतस् है जिनके द्वारा शरीर गत द्रव्यों का एक स्थान से दूसरे स्थानों से आना-जाना होता है। मूल-विद्ध—शल्य तन्त्र की दृष्टि से यहाँ विद्ध अर्थात्—वेध होने से उत्पन्न लक्षण कहने की प्रतिज्ञा की गई है, परन्तु वेध के अतिरिक्त वातादि दोषों द्वारा प्रदुष्ट होने से भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। तदर्थ च० वि० अ० ५ देखिये ॥ १२ ॥

भवति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ १३ ॥

इसमें श्लोक भी है—शरीर में मूल छेद से आरम्भ हुए, रसको ले जानेवाले अन्तर (छिद्र या अवकाश को स्रोत जानना चाहिये ॥ १३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे गर्भिणी व्याकरण शारीर की व्याख्या करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नापभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयशस्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं नापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि सेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत् शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विदध्यात् हृद्यं द्रवमधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्। सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ ३ ॥

गर्भवती स्त्री प्रथम दिन से ही लेकर सभी दिनों में नित्य प्रसन्न मनवाली, पवित्र, अलंकारों को धारण किये, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाली, शान्तिपरायण, मंगलकारी, (स्वस्ति बाचन पढ़नेवाली), देवता, ब्राह्मण, गुरु की सेवा (पूजा) करनेवाली हो। मलिन, विकृत या हीनांगों का स्पर्श न करे। दुर्गन्ध एवं बुरे दृश्यों का त्याग करे। बेचैनी उत्पन्न करनेवाली कथायें न सुने। शुष्क, बासी, सड़े गले अन्न को न खाये। घर से बाहर निकलना, सूने घर में जाना, चैत्य, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहना छोड़ दे। क्रोध एवं भय तथा निन्दित पदार्थों को, ऊँचे से बोलना आदि को और जिन कारणों से गर्भ को नुकसान पहुँचाता है, उनको छोड़ देवे। बार २ तैल का अभ्यङ्ग और उत्सादन (उबटन) लगाना छोड़ देवे। शरीर से मेहनत न करे और गर्भावक्रान्ति में कहे अपथ्यों को छोड़ देवे। शय्या, एवं आसन कोमल, बिछे हुये, बहुत ऊँचे नहीं होने चाहिये। इनमें सहारा-आश्रय रहना चाहिये, ये पीड़ा कारक या तङ्ग छोटे न हों। मन के लिये प्रिय, द्रव, मधुर रस की अधिकतावाले, स्निग्ध, अग्निवर्धक दीपनीय द्रव्यों से संस्कृत भोजन को खाये। प्रसूति होने तक के लिये यह साधारण नियम है।

वक्तव्य—सौमनस्यं गर्भधारकाणां श्रेष्ठतमः। चरक। अपाश्रयोपेतम्—चँदोआ लगाया (जयदेव)। अपाश्रयचन्द्रातपश्चेति पर्य्यायौ-हाराणचन्द्रः। अपाश्रयोपेतं—प्रतिवाहकसहितमिति डल्हणः।

वि० मन्तव्य—यानि च गर्भं व्यापादयन्ति—जो आहार-विहार तथा औषध गर्भ का व्यापादन-(विकृत करना) तथा व्यवाय, व्यायाम आदि (दे० शा० अ० ३-१६) और च० शा० अ० ८ सू० ३१ और ३२। चैत्य—देवताधिष्ठित वृक्ष—ग्रामवासियों के विश्वासानुसार जिस देवता का निवास माना जाता है, अथवा बौद्धविहार या संन्यासियों का आश्रय। अयशस्कर भाव-जिन कार्यों से अपयश हो। अपाश्रयोपेत-शयन-शय्या तथा आसन-पीढ़ा-गद्दी आदि पर सिरहाना-तकिया आदि आश्रय-पीठ की ओर सहारा देनेवाला हो। असम्बाध-जिस पर करवट-पार्श्वपरिवर्त्तन, पाद प्रसारण आदि में बाधा न हो ॥ ३ ॥

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत; विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्, चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषेत्येके; चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं च भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः, अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः ततः पयोमधुरकषाय-

सिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥ ४ ॥

विशेष करके गर्भवती प्रथम द्वितीय तृतीय महीनों में मधुर शीत-द्रव बहुल आहार का सेवन करे। विशेष करके तीसरे महीने में साठी के भात को दूध से खाये। चौथे महीने में दही से, पाँचवें में दूध से और छठे में घी से खाये ऐसा कई कहते हैं। चौथे महीने में दूध और मक्खन मिला भोजन करे, और जांगल मांस के साथ मन के लिये प्रिय अन्न खाये। पाँचवें में दूध से निकाले घी से मिलाकर (या दूध और घी से) खाये। छठे महीने में गोखरु से सिद्ध किया घी मात्रा से पिलाये। सातवें में विदारिगन्धादि से सिद्ध किया घी मात्रा से पिलावे। इस प्रकार करने से गर्भ पुष्ट होता है। आठवें में बैरों के पत्तों के पानी में बला, अतिबला, सौंफ, तिलकल्क, दूध, दही, मस्तु, तैल, लवण, मैनफल, मधु, घी मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। जिससे पुरातन मल का शोधन हो जाये और वायु का अनुलोमन हो। फिर दूध और वायु काकोल्यादि मधुर गण से सिद्ध तैल से अनुवासन दे। वायु का अनुलोमन होने पर सुख पूर्वक प्रसव होता है और कोई उपद्रव नहीं होता। इसके आगे स्निग्ध यवागू से एवं जांगल मांस रस से प्रसव काल आने तक भोजन देता रहे। इस प्रकार परिचर्या करनेपर स्निग्ध, बलवान्, उपद्रव रहित रहते हुए सुख पूर्वक प्रसव करती है।

वक्तव्य—छठे या सातवें मास में प्रायः मूल में एल्ब्युमिन आता है। इस बात का यह चिह्न है शरीर में विष की अधिकता है, इससे पैरों पर तथा मुख में सूजन आ जाती है। इसीलिये इस समय मूत्रल और विषनाशक उपचार बताया है। गोखरू मूत्रल है। और घृत विषनाशक है, यथा—'वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्" चरक। विषकी अवस्था में घृत पान कराते हैं—"दातव्यं सर्वरोगेषु (विषेषु) घृताशिनी हिताशिनी।"

चरक में—"अतश्चैवास्याः तैलपिचुं योनौ प्रणयेत् गर्भस्थापनमार्गस्नेहनार्थम् ॥" इस विधि को बरतने पर प्रसव के समय होनेवाला योनिदारण नहीं होता ॥ ४ ॥

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ते तिथ्यादौ। तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वागारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कं समुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥ ५ ॥

नवम मास लगने पर गर्भवती को सूतिका घर में प्रशस्त तिथि आदि का विचारकर ले जाये। सूतिका घर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिये क्रमशः श्वेत, लाल, पीली एवं काली भूमि पर-बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे का लकड़ी से बने घर में तथा इन्हीं की लकड़ियों से बने पलंग से युक्त, अच्छी प्रकार लिपी पोती दिवारोंवाले, सब साधन अलग २ स्थान पर भले प्रकार से जहाँ रक्खे हों, पूर्वकी ओर या दक्षिण की ओर द्वारवाले, आठ हाथ लम्बे और चार हाथ चौड़े, रक्षाकारक वस्तुओं से (सरसों, अजवायन आदि युक्त) तथा मङ्गलकारी वस्तुओं (मधु-लाजा आदि) से युक्त घर में ले जाये।

वक्तव्य—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते भगवति शशिनि, कल्याणकरे मैत्रे मुहूर्त्ते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यः तृणोदकं मधु लाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानि इष्टानि दत्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य स्वस्ति वाचयेत्। पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्त्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकाऽऽगारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं परीक्षेत ॥ चरक शा० अ० ८-३७ ॥ ५ ॥

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ ६ ॥

कुक्षि के शिथिल होने पर, हृदयबन्धन के छूट जाने पर, जघन में दर्द होने पर समझना चाहिये कि स्त्री प्रसव करनेवाली है।

वि० मन्तव्य—यह प्रसव का लक्षण है, इसके पूर्व सू० ४ के अनुसार आस्थापन एवं अनुवासन का प्रयोग करके कोष्ठशुद्धि अवश्य कर देनी चाहिये ॥ ६ ॥

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥

प्रसव के उपस्थित होने पर कटि एवं पीठ भाग के चारों ओर दर्द होता है, मल आता है, और मूत्र बार-बार प्रवाहित होता है, योनिमुख से श्लेष्मा आती है। (भवति, मूत्रमभीक्ष्णं प्रसिच्यते, यह पाठ ठीक है)।

वक्तव्य—"तस्य तु खल्विमानि लिंगानि प्रजननकालमभितो भवन्ति। तद्यथा-क्लमो गात्राणां ग्लानिराननस्याक्ष्णोः शैथिल्यं विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः कुक्षेरवस्रंसनमधोगुरुत्वं, वंक्षणबस्तिकटिकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदो, यानेः प्रस्रवणमनन्नाभिलाषश्च ॥" चरक शा० अ० ८-३८ ॥ ये लक्षण आसन्नप्रसवा के हैं।

प्रसव की तीन अवस्थायें हैं, प्रथमावस्था—ततोऽनन्तरभावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। द्वितीयावस्था

गर्भनाडीप्रबन्धमुक्तिः (२) श्रोणिवंक्षणवस्तिशिरःसु शूलं, स यदा विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति । बस्तिशिरोऽवगच्छति । आवीनां त्वरणम् । गर्भस्य परिवर्त्तनम् । योनिमुखप्रपत्तिः विलशयाभावश्च । इति तृतीयावस्था । यदा च प्रजाता स्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्याः अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्ना चेति ॥ चरक० शा० अ० ८ ॥

वि० मन्तव्य—प्रसव वेदना का नाम 'आवी' है, यह प्रवाहिका की वेदना के समान वेगवती वेदना होती है। कहा जाता है कि यह गर्भाशय की ऐंठन या पीड़न से उत्पन्न होती है या उसकी सूचक है और इसके साथ ही गर्भोदक का बड़े वेग के साथ प्रसेचन—निःसरण होता है—चरक के शब्दों में—ततोऽन्तरम् आवीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य (च० शा० अ० ८ ३८)। गर्भवती का जितना बड़ा उदर होता है उतना ही बड़ा गर्भ नहीं होता, अपितु गर्भाशय में गर्भोदक भरा रहता है, जिसमें गर्भ तैरता रहता है। इसका प्रसेचन हो जाने पर भी आवियाँ चालू रहती हैं। प्रथम द्वितीय आवियों के प्रभाव से गर्भोदक तो निकल ही जाता है। अब आवी का प्रभाव गर्भ पर पड़ता है—जैसे पके आम को दबाने से (पीडन से) प्रथम रस निकलता है और फिर दबाने से गुठली पर दबाव पड़ता है, वैसे ही गर्भ पर दबाव पड़ने से गर्भ—आम की गुठली के समान बाहर निकलने के लिये बाध्य होता है। अभीक्ष्णं........च—गर्भ का दबाव मलाशय पर पड़ने से पुरीष की और बस्ति पर पड़ने से मूत्र की बार २ प्रवृत्ति होती है और प्रकृति की विलक्षण महिमा है कि गर्भाशय के मुख से श्लेष्मा—लसीला द्रव पसीजने लगता है, जिससे गर्भ फिसलकर अपत्यपथ में से सुखपूर्वक बाहर आ जाय। आवी के दबाव से गर्भाशय का मुख खुल जाता है ॥७॥

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्, ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशला कर्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥८॥

प्रसव काल समीप आया जानकर शरीर पर अभ्यंग करके, गरम जल से स्नान करे। फिर शान्ति पाठ और स्वस्ति वाचन पढ़कर बालक और बालिकाओं से वेष्टित होकर पुन्नामफल हाथ में लेवे। फिर घी के साथ यवागू को पेट भर के पिलाये; फिर विस्तीर्ण और कोमल शय्या पर तकिया लगाकर पीठ के भार चित्त लेट करके पैरों को तानकर बैठे, और जिनसे किसी प्रकार का संकोच न हो, वृद्धा एवं प्रसूति करने में कुशल, नख को कटाई हुई चार स्त्रियाँ इसकी सेवा में रहें ॥

वक्तव्य—आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यात् मृद्वास्तरणोपपन्नम्। तदध्यासीत सा ततस्तां ताः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्तो वाग्भिर्ग्राहिणीभिः सान्त्वनीयाभिः। च० शा० अ० ८-३६।

स्त्रियों के गुण—स्त्रियश्च बहुशः प्रजाता सौहार्दयुक्ताः सदक्षिणाचाराः प्रतिपत्ति कुशलाः प्रकृतिवत्सलाः त्यक्तविषादाः क्लेशसहिष्णवोऽभिमताः ॥ चरक० ॥

वि० मन्तव्य—प्रसव एक बहुत बड़ा काण्ड है। इस समय भगवान् ही रक्षा करता है, आवी एक प्रकार की दुःसह वेदना होती है। अनेक सुकुमारियाँ मूर्छित हो जाती हैं और अनेक मृत भी। अतः माङ्गलिक—कल्याण कारक कर्म और स्वस्ति वाचन (सुख हो भला हो कहलाना) और छोटे २ बच्चों का और उनका खेलना कूदना आदि और गर्भिणी के हाथ में फल आदि देना आवश्यक होता है। अतः एव अभ्यङ्ग तथा उष्णोदक से स्नान एवं प्राण रक्षार्थ यवागूपान भी आवश्यक होता है। ततः.....रिति - आवी के प्रारम्भिक वेगों के समय जब तक पुरीष, मूत्र एवं गर्भोदक की प्रवृत्ति होती रहे तब तक भूमि पर ही लेटना उचित होता है। इसके पश्चात् कोमल एवं विस्तीर्ण शय्या पर लेटाना और प्रसवोपचार करना चाहिये। कर्त्तितनखाः—अपत्यपथ के भीतर हाथ डालने की आवश्यकता पड़ सकती है, अतः प्रसव करानेवाली के पहिले ही नख काट देना अच्छा है। इस अवस्था में प्रायः प्रसव हो ही जाता है, परन्तु यदि न हो तो—॥८॥

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैतामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, नचाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवंक्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः, शनैः, ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥९॥

जब स्त्री लेट जाये, तब विशिखान्तर (अपत्यमार्ग) को अन्दर से बाहर की ओर मालिश करती हुई परिचारिका उससे कहे, हे सुभगे! प्रवाहण करो, किन्तु आवी (प्रसववेदना) न होने पर प्रवाहण न करो। गर्भ नाड़ी का बन्धन छूटने पर श्रोणी, वंक्षण, वस्तिशिर में पीड़ा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो गर्भ के बाहर आने पर जोर से प्रवाहण करो। गर्भ के योनिमुख में आ जाने पर और भी अधिक जोर करो। जब तक गर्भ बाहर न आ जाये। वेदना होने से पूर्व यदि प्रवाहण किया जायेगा तो पुत्र बहरा, गूँगा, कुबड़ा, टेढी

ठोड़ीवाला, शिर में चोट लगा ,कास, श्वास, शोष से पीड़ित तथा विलक्षण आकार का उत्पन्न होगा।

वक्तव्य—ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युरनागताऽऽवीर्या प्रवाहिष्ठाः। या ह्यनागताऽऽवीः प्रवाहते, व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति। प्रजा चास्या विकृता, विकृतिमापन्ना वा श्वासकासशोषप्लीहाप्रसक्ता वा भवति। (२) तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहते। ततोऽनन्तरं बलवत्तरम्। च० शा० ८·४४।

वि० मन्तव्य—अपत्यपथ के भीतर बला तेल आदि किसी स्नेह का अभ्यङ्ग करे। इससे वायु का अनुलोमन हो जाता है, और प्रसव हो जाता है। तथापि यदि न हो तो—गर्भिणी से कहे कि—जब आवी का रंग हो तब प्रवाहण कर आदि २। यदि इतना करने पर भी प्रसव न हो तो—॥६॥

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्, प्राञ्जलमाकर्षेत् ॥१०॥

यदि गर्भ उलटा हो (नितम्ब नीचे, शिर ऊपर) तो उसे सीधा करें। सीधा हो (शिर नीचे हो तो) तो उसे बाहर खींचे। (प्रतिलोम कई प्रकार का है)—इसे मूढगर्भ चिकित्सा में कहेंगे।

वि० मन्तव्य—समझो कि मूढ गर्भ गर्भमूढ—टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है, तब उक्त चार स्त्री-परिचारिकाओं में जो सबसे निपुण हो गर्भ को सीधा करके—अपत्यपथ में हाथ डालकर सीधा करके निकाल लेवे यदि तथापि न निकले तो—॥१०॥

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा ॥११॥

गर्भ के योनि में रुक जाने पर (बाहर न आने पर वेदनायें बन्द हो जाने पर) काले साँप की केंचुली, अथवा मैनफल से योनि में धूपन करे। कलिहारी की जड़ को हाथ पैर में बाँधे। हुलहुल या विशल्या (कलिहारी) को धारण करे।

वि० मन्तव्य—यह धूपन आदि उपचार करे। यदि तथापि प्रसव न हो तो—अथर्व वेद के ज्ञाता ब्राह्मण द्वारा मन्त्र यन्त्र आदि का प्रयोग करे यथा—एक सिद्ध मन्त्र—

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते॥

यह मन्त्र गर्भवती के कान में कहना चाहिये और वह इसे ध्यान देकर सुने। अथवा निम्न मन्त्र से अभिमन्त्रित जल पीने को देवे यथा—

इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सहलवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्॥

एक सिद्ध यन्त्र—चक्रव्यूह का आकार कांस्य की थाली में हरिद्राद्रव से लिखकर दिखावे तथा शुद्ध जल से धोकर पिलावें। इतने पर भी यदि प्रसव न हो तो मूढगर्भ चिकित्सा अ० १५ के अनुसार उपचार करे ॥११॥

अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्, ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥१२॥

बालक के पैदा होने पर प्रथम जरायु को हटाकर, घी और सैन्धव से मुख का शोधन करे। घी से स्निग्ध पिचु को सिर पर रक्खे। फिर नाभि नाड़ी को नाभि से आठ अंगुल नाप कर धागे से बाँधकर काट देवें। धागे के एक भाग को बच्चे के गले में बाँध देवें।

वक्तव्य—नाड़ी को दो स्थानों से बाँधते हैं। जिससे रक्त प्रवृत्ति बच्चे की तरफ से भी न हो, और माता की तरफ से भी न हो। जब तक नाड़ी में स्पन्दन प्रतीत होता रहे, तब तक नाड़ी को नहीं काटना चाहिये। स्पन्दन बन्द होना इस बात का चिह्न है कि माता से रक्त आना बन्द हो गया। इसको नाभि से दो इञ्च बाँधते हैं। गले में लटकाने से नाल मिट्टी आदि में खराब नहीं होती। मल मूत्र से बची रहती है। नाड़ी के ठीक प्रकार न काटने से—"असम्यक् कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डिकापिण्डकालिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम्॥" गले में ढीला लटकाये। काटने के लिये—नाभिबन्धनात् प्रभृत्यष्टांगुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्द्धधारेण छेदयेत्ताम्॥ चरक० शा० अ० ८॥

वि० मन्तव्य—यदि जात शिशु स्वस्थ है, तो ईश्वर का धन्यवाद करो। यदि गर्भनाल शिशु के साथ ही बाहर आ गई हो तो नाभि से आठ अंगुल पर सूत्र से बाँध कर—कसकर बाँधकर एक अंगुल आगे से काट देवे और यदि प्रसूता के गर्भाशय से सम्बद्ध हो तो नाल पर दो बन्धन लगाकर बीच से काट देना चाहिए, बन्धन लगा देने से शिशु तथा प्रसूता के शरीर से नाल द्वारा रक्त स्राव नहीं होता। ग्रीवा में बाँधने से झटका लगने का भय नहीं रहता। अन्यथा समय से उखड़ जाने पर अनेकानेक हानियाँ हो सकती हैं। और जब तक शिशु पूर्णरूप से प्रकृतिस्थ न हो तब तक नाल छेदन नहीं करना चाहिए। सच यह है, कि माता के शरीर से जन्म हो जाने पर भी शिशु को पोषण मिलता रहता है, जब तक नाल गर्भाशय से सम्बद्ध रहे तब तक

नालच्छेदन किया ही न जाय। अतएव भगवान् पुनर्वसु ने—अपरापातन के पश्चात् नालच्छेदन का विधान बतलाया है, (च० शा० अ० ८-४७-४८) ॥१२॥

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्, ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथा कालं यथादोषं यथाविभवं च ॥१३॥

फिर ठण्ढे जल से बालक को आश्वासित करके जातकर्म करने के पश्चात् घी और मधु से मिश्रित थोड़ी सुवर्णभस्म अनामिका अंगुलि से चटाये। फिर बलातैल का अभ्यंग करके बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की त्वचा से बनाये क्वाथ से अथवा एलादि गण के जल से या चाँदी अथवा सुवर्ण को तपाकर बुझाये जल से या कैथ के पत्तों के गरम कषाय से समय, दोष और वैभव का ध्यान रखकर स्नान कराये।

वक्तव्य—यह समझ लेना चाहिये कि मधु श्लेष्मा को निकालता है। बच्चे के मुख में रुकी श्लेष्मा इससे निकल जाती है। घी और स्वर्ण विषनाशक है। इसी से कहा है—'न सज्जति हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद् विषम्।' स्वर्ण खानेवाले के शरीर में विष प्रभाव नहीं करता। बच्चे पर विष जल्दी प्रभाव करता है, इसी से उसकी रक्षा की है। सर्वगन्ध से अभिप्राय-एलादि गण से है।

वि० मन्तव्य—सू० १२ के अनुसार शिशु के मुख नासा का परिमार्जन-शोधन कर देने पर भी यदि श्वास की गति न हो तो शीतल जल के छींटे मारने चाहिये, इससे शिशु हुलमसी लेता है ओर रो पड़ता है, श्वास की गति चालू हो जाती है—गर्भाशय में तो श्वास चलता ही नहीं (दे० सु० शा० अ० २ श्लो० ५०)। यदि चेतना हीन या मूर्च्छित हो तो-कानों के पास पाषाणों की अथवा कांसा के खड़ताल आदि की ध्वनि तथा सूर्य-पंखा आदि से वायु तब तक करे जब तक श्वास-प्रश्वास चालू हो जाय और हाथ-पांव हिलाना प्रारम्भ हो जाय, अर्थात् सचेतन हो जाय। यदि इतने पर भी कोई फल न हो तो सैन्धव लवण मिश्रित घृत वक्षस् पर मले, इससे वमन हो जाता है और जीवन लाभ हो जाता है। तथापि लाभ न हो तो नाळ को अग्नि से तपावे, सम्भव है प्राण आ जायँ तत्पश्चात्-अभ्यङ्ग आदि उपचार करे ॥१३॥

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥१४॥

हृदय में स्थित धमनियों के खुलने के पीछे—तीन या चार दिन के अनन्तर स्त्रियों में दूध आता है।

वक्तव्य—पहले पीयूष (कोलोस्ट्रम) आता है। जिसे बोलचाल की भाषा में खीस कहते हैं। इसके देने न देने में भेद है, इसके देने से मृदु विरेचक गुण के कारण यह मल को बाहर करता है। न देनेवाले भारी होने से इसको नहीं देते। वे इसके लिये मधु देते हैं।

वि० मन्तव्य—यहाँ स्तन्य का अर्थ उस स्तन्य-दूध से है जो शिशु के पीने योग्य होता है। वैसे तो श्वेत द्रव की प्रवृत्ति गर्भवती को ही होने लगती है, यथा—शा० अ० ३-३४ में कहा है तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति। जैसे गौ भैंस आदि का दूध भी ३-४ दिन पीने योग्य-शिशु के पीने योग्य नहीं होता वैसे ही मानुषी का भी नहीं होता। तीन चार दिन पर दूध की प्रवृत्ति होती है और 'स्तन्यावतरणे नारीणां ज्वरो दोषैः प्रवर्त्तते' अर्थात् दूध उतरने में प्रसूता को ज्वर हो जाता, है फलतः उस समय भी दूध नहीं पिलाया जाता, परन्तु यह ज्वर एक दो दिन में शान्त भी हो जाता है जो छटी का दूध कहलाता है ॥१४॥

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥१५॥

इसलिये पहले दिन घी और मधु के साथ थोड़ा सा स्वर्ण मन्त्र से पवित्र करके तीन बार पिलाये। दूसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया घृत देवे। तीसरे दिन भी यही देवे, फिर घी और शहद को (विषममात्रा में) बच्चे की हथेली की मात्रा में दो समय देकर स्तन पिलाना आरम्भ करे।

वक्तव्य—अनन्त बराबर सुवर्ण, इसकी मात्रा आधी रत्ती या चौथाई रत्ती दे। 'अनन्ता' पाठ मानकर हाराणचन्द्र जी 'सारिवाली' कहते हैं अष्टांगसंग्रह में दूर्वा ली है। यथा 'अनन्तामिश्रे मधुसर्पिषी—अनन्ता दूर्वा'।

"ऐन्द्री ब्राह्मी शंखपुष्पी वचेन्द्रीकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाभिमंत्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण वा मेधायुर्बलजननं प्राशयेद्, ब्राह्मीवचानन्ता शतावरी अन्यतमचूर्णं वा ॥'संग्रह।

चरक में पहले दिन स्तनपान करना कहा है। यथा—ततोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम्। तद्यथा मधुसर्पिषी मंत्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्।

वि० मन्तव्य—अतः तब तक मधुसर्पि आदि चटाकर जीवन यापन करे। अथवा वे द्रव देवे जिनकी व्यवस्था वृद्धा स्त्रियाँ करें ॥१५॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्ति-

पिप्पलीचित्रकशृंगवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बल मग्निबलं चावेद्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके॥१६॥

इसके पश्चात् सूतिका के शरीर पर बलातैल का अभ्यंग कराकर एरण्ड-भद्रदारु आदि वातहर औषधियों के क्वाथ से स्नान कराये। यदि दोष पूरी तरह न निकलता हो तो (रक्त बन्द हो गया हो तो) उसी दिन पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, चित्रक, सोंठ के चूर्ण को गुड़ के गरम पानी के साथ पिलाये। इसी प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक दूषित रक्त न निकल जाये तब तक करे। रक्त का शोधन हो जाने पर विदारीगन्धादि गण से सिद्ध किये घी से युक्त यवागू को या सिद्ध किये दूध में बनाई यवागू को तीन दिन पीने के लिये देवे। फिर जौ, बेर, कुलत्थी सिद्ध या जांगल मांस रस के साथ शाली धान्यों का भात अग्निबल के अनुसार खाने को देवे। इस प्रकार डेढ़ (१½) महीने तक नियम पालन करने पर आहार-और आचार (विहार) परहेज को छोड़ने से 'विगतसूतिका' शब्द से कही जाती है (अर्थात् डेढ मास के पीछे उसके लिये सूतिका का परहेज नहीं रहता)। कई आचार्यों का मत है कि प्रसव के पीछे प्रथम बार आर्त्तव दर्शन तक वह सूतिका रहती है, उसे सूतिका का आहार विहार तब तक पालन करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—सशेषदोषां—यदि गर्भाशय से निकल जाने योग्य रक्त आदि न निकल गये हों। विगतसूतिकाऽभिधाना—अब उसका नाम 'सूतिका' या 'प्रसूता' नहीं रह जाता। अतः सूतिका के लिये विहित उपचारों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। पुनरार्त्तव दर्शनात्—प्रसव से ४०-४५ दिन पर थोड़ा बहुत आर्त्तव दिखाई दे जाता है स्वस्थ स्त्री को। इसके पश्चात् किसी २ को प्रतिमास आर्त्तव होने लगता है और किसी २ को जब तक बालक को दूध पिलाती है तब तक नहीं होता। आर्त्तव दिखाई देने पर पुनः गर्भाधान की सम्भावना हो जाती है, परन्तु अधिकांश स्त्रियों को नियमितरूप से-प्रसव से-४०-४५-दिन पर अथवा १-२-३-४-५ वर्ष पर गर्भाधान हुआ करता है॥१६॥

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां स्नेहनित्या च स्यात त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवती; अबलां यवागूं पाययेत् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत्॥१७॥

धन्वभूमि (मरुप्रदेश) में उत्पन्न प्रसूता को घी या तैल इनमें से किसी एक की मात्रा को पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान से पिलाये। बलवान् स्त्री को पाँच दिन स्नेह का पान, अभ्यंग आदि देवें। निर्बल प्रसूता को तीन या पाँच दिन यवागू देनी चाहिये। इसके बाद स्निग्ध अन्नसंसर्ग (पेया, विलेपी अन्न) विधि बरते।

वक्तव्य—"अथ सूतिकां बलातैलेनाभ्यज्यात्, बुभुक्षितां च पंचकोलचूर्णेन यवान्युपकुञ्चिकाचव्यचित्रकव्योषसैन्धवचूर्णेन वा युक्तामहःपरिणामिनीं यथासात्म्यं स्नेहमात्रां पाययेत् स्नेहयोग्यां तातहरौषधक्वाथं हस्तपंचमूली क्वाथं पीतवत्याश्च यमकेनाभ्यज्य वेष्टयेदुदरं वस्त्रेण। तथा न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयति अनवकाशत्वात्। जीर्णे तु स्नेहे पूर्वौषधिभिरेव सिद्धां विदार्यादिगणक्वाथेन वा क्षीरेण यवागूं सुस्विन्नां द्रवां मात्रया पाययेत्"॥ (अ० सं० शा० अ० ३)।

वि० मन्तव्य—धन्वभूमिजातां तु सूतिकां—धन्व भूमि-मरुभूमि आरोग्यद भूमि होती है, वहाँ की निवासिनी प्रायः अधिक स्वस्थ होती है, अतः उसे स्नेह की मात्रा का विधान किया गया है, अर्थात् उसे अधिक से अधिक घृत आदि का प्रयोग किया जा सकता है और वह उसे पच भी जाता है। वह ५-७ दिन में ही पुनः पूर्ववत् स्वस्थ-बलवती हो जाती है। अबलां—अनूपभूमि अनूप देश की निवासिनी प्रसूता प्रायः अबला-दुर्बला होती है। अतः उसे यवागू दलिया अथवा खिचड़ी आदि में मिलाकर स्नेह देना चाहिये। ११ दिन के पश्चात् उचित-स्वाभाविक भोजन की व्यवस्था करे, परन्तु वह स्निग्ध हो। इस प्रकार १॥-२ मास में प्रसूता पूर्ववत् पूर्ण स्वस्थ हो जाती है॥१७॥

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत् क्रोधायासमैथुनादींश्च परिहरेत्॥१८॥

प्रायः करके बहुत गरम जल से प्रसूता को स्नान करावे। क्रोध, थकान, मैथुन आदि से बचे।

वि० मन्तव्य—पुनरार्त्तव दर्शन पर्यन्त उष्णोदक से स्नान होना चाहिये और क्रोध आदिका पूर्णरूपसे परित्याग भी॥१८॥

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
सोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥१९॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
प्रतीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्॥२०॥

प्रसूता के मिथ्या आचार से या अपतर्पण के कारण प्रसूता को जो रोग उत्पन्न हो जाता है, वह कष्टसाध्य होता है, या असाध्य हो जाता है। इसलिये देश काल और रोग सात्म्य को देखकर चिकित्सा करे। सदा परीक्षा करके इस प्रकार करे, जिससे कोई विपद या हानि न हो।

वि० मन्तव्य—प्रसूना अत्यन्त दुर्बल एवं कृश होती है, अतः थोड़े भी मिथ्या आहार-विहार से भीषण आपत्ति आ सकती है। प्रसूना को अपतर्पण-(भूखे प्यासे रहना) नहीं करना चाहिये। भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-सूतिका को जो भी रोग हो जाता है, वह कष्टसाध्य अथवा असाध्य होता है, क्योंकि-गर्भ की वृद्धि के लिये उसके सब रस-रक्त आदि धातुओं का क्षय-व्यय हो चुका है और प्रसववेदना तथा रक्तस्राव से शरीर शून्य-निःसार हुआ होता है। अतः उसका उपचार-विधिपूर्वक-सावधान होकर करे और भौतिक (मासी आदि भूत नाशक), जीवनीय, बृंहणीय, मधुर तथा वातनाशक औषधों से सिद्ध-अभ्यङ्ग, उबटन, परिषेचन, अवगाहन, अन्न तथा पान की व्यवस्था करे। क्योंकि प्रजाता-प्रसूता नारियों का शरीर प्रायः खोखला होता है ॥१९,२०॥

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबूकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्षक्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्पल्यादि वा मद्येन सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरवस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन वा कृतनखेन हस्तेनापहरेत् ॥२१॥

बाहर न आई अपरा (कमल) आध्मान और आनाह करती है। इसलिये बाल लिपटी हुई अंगुली से इस प्रसूता के गले को अन्दर से खुरखुराए। कड़ुई तुम्बी, अमलतास, सरसों, सांप की केंचुली, इनको सरसों के तेल में मिलाकर योनिमुख में धूप देवे। कलिहारी की मूल के कल्क को इसके हाथ-पैरों पर लेप करे। इसके सिर पर थोर का दूध डाले। कूठ और कलिहारी के मूल कल्क को मद्य या मूत्र किसी एक के साथ पिलाये। शालिमूल के कल्क को या पिप्पल्यादि गण के कल्क को मद्य से पिलाये। सरसों, कूठ, कलिहारी, इनको थोर के दूध या सुरामण्डक में मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। इन्हीं से सिद्ध सरसों के तैल से वस्ति देवे। अथवा नख कटाये हुए हाथ को घी या तैल से चिकना करके इससे बाहर निकाल ले।

चरक में—"यस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टात् बलवन्निपीड्य सव्येन पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धुतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पादपार्ष्ण्या श्रोणिमाकोटयेत्। तस्याः स्फिचावुपसंगृह्य सुपीडितं पीडयेत्। अथास्या बालवेण्याकण्ठतालु परिस्पृशेत्॥ चरक० शा० अ० ८।४५।

वि० मन्तव्य—प्रसव के कुछ समय पश्चात् अपरा स्वतः गिर जाती है। यदि विलम्ब हो रहा हो तो उक्त उपचार करे। यथासम्भव उसका शीघ्र गिर जाना ही अच्छा होता है। अच्छा तो यह है कि—ज्यों ही प्रसव हो त्यों ही ध्यान दिया जाय कि गिरी अथवा नहीं, यदि नहीं गिरी तो उन परिचारिकाओं में से एक स्त्री दाहिने हाथ से-नाभि से चार अंगुल ऊपर से बलपूर्वक दबाकर और बाएँ हाथ से पीठ की ओर से दबाकर नीचे की ओर को निचोड़ देवें, जिससे "अपरा" बाहर आ जाय। यदि इससे भी न निकले तो उदर को तो दबाए रहे और अन्य स्त्रियाँ उक्त उपाय करें और तब तक निरन्तर करें जब तक अपरा गिर न जाय। अन्तिम उपाय यह है कि अपत्य पथ में हाथ डालकर अपरा को निकाल देवें। अपरा निकल आने पर नाड़ीच्छेदन करे और इसके पश्चात् भूख लगने पर स्नेहमात्रा अथवा स्नेह यवागू आदि यथोचित पथ्य देकर-उदर पर स्नेहाभ्यङ्ग करके-बड़े से और स्वच्छ वस्त्र से उदर का आवेष्टन कसकर कर देवें। इससे अवकाश न मिलने के कारण वायु उदर में कोई विकृति उत्पन्न नहीं कर सकता और गर्भाशय अपने स्वरूप में आ जाता है। अन्यथा कईयों का उदर बड़ा रह जाता है। एतदर्थ कश्यप संहिता का वाक्य स्मरणीय है, यथा—

प्रजातमात्रमाश्वास्य सूतां शक्ता प्रसाविका।
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा।
पीडयेद् दृढमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्।
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति॥

का० सं० सूतिकोपक्रमणीय। ४०-४५ दिन में गर्भाशय अपनी पूर्ववत् स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यदि उदर बड़ा ही रह जाय तो दशमूल, पिप्पलीमूल तथा सोया का क्वाथ पिलाते रहना चाहिये ॥२१॥

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ वस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति, ततश्च नाभिवस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचाभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम्। तत्र वीरतर्वादिसिद्धं जलमूषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा सुखोदकेन पिप्पल्यादिक्काथेन वा, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिक्वाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादिक्वाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥२२॥

रूक्ष शरीरवाली प्रसूता स्त्री के तीक्ष्ण औषधियों से अविशोधित रक्त में, उस स्थान की वायु नाभि के नीचे, पार्श्वों में, वस्ति में, अथवा वस्ति शीर्ष में गाँठ उत्पन्न करती है। इससे नाभि, वस्ति और उदर में शूल होता है। पक्वाशय में सूई चुभने के समान पीड़ा होती है। यह फटता हुआ सा प्रतीत होता है। पेट चारों ओर फैलता है, मूत्र रुकता है, यह मक्कल्ल के (After pains) के लक्षण हैं।

वक्तव्य—"प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजनितशूलमकल्लः, अवरुद्धरक्तपाकजनितो विद्रधिरपि मकल्लः। डल्हणः—"विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति॥" चरक०।

चिकित्सा—इस मकल्ल में वीरतर्वादि गण के सिद्ध जल में ऊषकादिगण का प्रक्षेप देकर पिलाये यवक्षार के चूर्ण को गरम पानी से या पिप्पल्यादि क्वाथ से दे। पिप्पल्यादि चूर्ण को सुरामण्ड से देवें। वरुणादि क्वाथ में पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) और इलायची का प्रक्षेप देकर पिलाये। शालिपर्णी आदि के क्वाथ में देवदारु और मरिच मिलाकर देवें। या पुराने गुड़ को सोंठ, मरिच, पीपल, दालचीनी, इलाइची, तेजपात, नागकेसर, धनिया मिलाकर खाये। या केवल अरिष्ट (अभयारिष्ट-डल्हण) पीवे।

वि० मन्तव्य—गर्भाशय के शोधन का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। तदर्थ—मक्कल्ल नाशक उपायों का अवलंबन करे तथा अपरा पातन के उपायों का और आस्थापन तथा अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे, इससे वायु का अनुलोमन हो जाता है, और वायु के अनुलोमन से गर्भाशय में रुके अपद्रव्य-अपरा एवं दुष्ट रक्त आदि सब बाहर निकल जाते हैं॥२२॥

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत् पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत॥२३॥

इसके पीछे बालक को रेशमी वस्त्र ओढ़ाकर रेशमी वस्त्र से बिछाई शय्या पर सुला देवे। पीलु, बेर, नीम, फालसा, इनकी शाखा से इसको हवा करे। प्रतिदिन इसके सिर पर तैल का फोया रक्खे। रक्षोघ्न धूप (सरसों, अजवायन, नीम के पत्ते नमक) से इसको धूप देवे। रक्षोघ्न द्रव्यों को इसके हाथ, पैर, शिर, ग्रीवा में बांध देवे। तिल, अलसी, सरसों को इसके चारों ओर बिखेर देवे। घर में अग्नि जलती रक्खे। व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे विधान को बरते।

वि० मन्तव्य—शिर पर—ब्रह्मरन्ध्र पर गर्मियों के दिनों में नवनीत का पिचु भी उपयोगी होता है। बालक के घर में, शय्या में, कपड़ों में धूप देना चाहिये। धूपन द्रव्य हैं—जौ, सरसों, अलसी, हींग, गूगल, वचा, चोरपुष्पी, हरड़ या ब्राह्मी, दूब, जटामांसी, लोबान, साँप की केंचुली सबको दरदरा कूटकर घृत में मसलकर रख लेवे। बालक के शयन, आसन, ओढ़ना एवं बिछावन सब—कोमल, लघु, स्वच्छ एवं सुगन्धित हों। स्वेद, मल, जूएँ आदि से रहित तथा मल मूत्र में उपसृष्ट न हों, अर्थात् नये अथवा धुले भली भाँति सूखे हों। खिलौने–विचित्र, छनकनेवाले, सुन्दर, लघु जिन का अग्रभाग तीक्ष्ण न हों, जो मुख में प्रविष्ट न हो सकें, जो घातक न हों और डरावने न हों। च० शा० अ० ८॥२३॥

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा॥२४॥

फिर दसवें दिन माता-पिता, मंगल, कौतुक, स्वस्तिवाचन करके, मन के अनुकूल या नक्षत्र के अनुसार इस बच्चे का नामकरण करें।

चरक में—"द्वे नामनी कारयेत्, नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च। तत्राभिप्रायिकं घोषवदाद्यन्तस्थान्तम् ऊष्मान्तं वाऽवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनवप्रतिष्ठितम्। नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा"॥ चरक शा० ८-४५।

वि० मन्तव्य—नाम करण संस्कार—देश, जाति एवं कुल परम्परा के अनुसार किया जाता है। नाम—अभिप्रेत अर्थात् जो नाम रखना अभीष्ट हो। नक्षत्र नाम—ज्योतिः शास्त्रानुसार नक्षत्र का–अक्षर–जिस नाम में प्रथम हो। जिस नक्षत्र में जन्म होता है उस नक्षत्र के अक्षरों को ध्यान में रखकर नाम चुन लिया जाता है॥२४॥

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्का(सा)मरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनामव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामारोग्यबलवृद्धये बालस्य। तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्। ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्॥२५॥

फिर वर्ण के अनुसार—(ब्राह्मण के लिये ब्राह्मणी

इत्यादि) धात्रीको बुलाये। धात्री मध्यम आकार की (न बहुत लम्बी, न छोटी), बहुत उमर की न हो (मध्यम वय की प्रौढ़ा), नीरोगी, उत्तम स्वभाव की, चंचलता रहित, निर्लोभी, न मोटी, निर्मल दूधवाली, जिसके ओठ लम्बे न हों, जिसके स्तन लम्बे या ऊपर को न हों, अव्यंगी, व्यसनों से रहित, जीवित बालकवाली, मधुर दूधवाली, प्रेम करनेवाली, नीच कर्म न करनेवाली, उत्तम कुल में उत्पन्न होने के कारण बहुत से गुणों से युक्त, श्यामा इस प्रकार की धात्री बालक के आरोग्य, बल और वृद्धि के लिये होती है। इनमें ऊर्ध्वस्तनवाली बालक को कराल (आगे निकले हुए दांतोंवाला) बना देती है। लम्बे स्तनोंवाली नासिका के मुख को बन्द करके मृत्यु का कारण बनती है। फिर प्रशस्त तिथि में शिर समेत बच्चे को स्नान कराके नये वस्त्र पहनाकर उत्तर की ओर मुख करके बिठाये। धात्री को पूर्व की ओर मुख करके बिठाये। पहले दक्षिण स्तन को धोकर थोड़ा-सा दूध बाहर निकालकर निम्न मंत्र से आमन्त्रित करके पिलाये।

वि० मन्तव्य—यदि किसी कारण से जननी दूध पिलाने योग्य न हो अथवा न रहे तो धात्री का चुनाव करे। यदि प्रमादवंश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिये तैयार करे क्योंकि—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत् परं देहवृद्धये—अर्थात् जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टिवृद्धि के लिये परमोत्तम होता है। श्यामा-श्यामवर्णा स्त्री प्रायः स्वस्थ गौरी की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होती है, (पुरुष भी) और अतएव उसको दूध भी अधिक होता है—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति (डल्लन) दूध पिलाने की उक्त विधि जननी एवं धात्री दोनों के लिये समान है, और यह एक दिन के लिये ही नहीं प्रतिदिन या प्रतिबार इसी प्रकार स्तन्यपान कराना चाहिये। दूध पिलाने के पूर्व पिलानेवाली अपने स्तनों को हाथ से मसल लिया करे, जिससे दूध तरल हो जाय और स्तन चूचकों की कठोरता दूर हो जाय और अधिक दूध हो तो पर्याप्त, अन्यथा थोड़ा सा दूध चुआ दिया करे, इस प्रकार सू० २६ में कथित काम आदि विकार नहीं होते और शिशु को चूषण में सरलता हो जाती है। जीवद्वत्सा-जिसका अपना शिशु जीवित एवं स्वस्थ हो—यह दूध की उत्तमता का सूचक है। दोग्ध्री-धात्री को दो शिशुओं को पालना होता है, अतः दो के योग्य दूध होना आवश्यक है। धात्री के जो गुण लिखे हैं उनसे भी अधिक गुणोंवाली हो। वत्सला-इस शिशु के साथ अपने शिशु के समान स्नेह करनेवाली हो। कोई २ शिशु स्तन्य चूषण नहीं करते, परन्तु कुछ दिनों में अभ्यास हो जाने पर करने लगते हैं। तब तक सीपी या चम्मच में दुहकर दूध पिलाते रहना चाहिये ॥२५॥

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥२६॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥२७॥

मंत्र—हे सुभगे! तुम्हारे स्तनों में दूध को वहन करनेवाले चारों समुद्र बालक की वृद्धि के लिये हों। हे शुभानने! जिस प्रकार देवता अमृत का पान करके दीर्घायु हुए, उसी प्रकार तुम्हारा अमृत रूपी दूध पीकर बालक दीर्घायु हो॥

वक्तव्य—श्यामा "शीतकाले भवेदुष्णा, ग्रीष्मकाले च शीतला। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते"। विस्तार के लिये मेरी पुस्तक "हमारे भोजन की समस्या" पढ़ें॥२६,२७॥

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद् व्याधिजन्म भवति ॥२८॥

इससे विपरीत नाना (भिन्न-भिन्न) दूध के उपयोग करने से—असात्म्य-होने के कारण रोग उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—बार-बार दूध बदलते रहने से दूध अनुकूल नहीं होता। दूध के अनुकूल न पड़ने से रोग होते हैं। इसलिये एकही धात्री को रक्खे। इसी प्रकार गाय या बकरी एक का ही दूध बच्चे को देना चाहिये। बार-बार दूध बदलना नहीं चाहिये। माता के दूध के अभाव में धात्री का दूध, धात्री के अभाव में बकरी या गाय का दूध देवे "स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं हितम् ॥" वाग्भट में कहा है—मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये। स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले' ॥२८॥

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्तपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥२९॥

स्तनों में से दूध न निकलने के कारण दूध के रुके रहने से, स्तनों के कठोर एवं भरे होने पर-स्तनपान करने से, स्रोतों के भराव होने पर बच्चे को कास, श्वास, वमन होता है। इसलिए इस प्रकार का दूध न पिलावे।

वक्तव्य—स्तनों में दूध रुकने से स्तन भारी और कठोर होते हैं। बच्चा दबा नहीं सकता। या जोर से दबाने पर स्रोतों में दूध का जोर होने से दूध जोर से आकर बच्चे के मुख में भर जाता है, इससे कास श्वास होता है। अतः पहले स्तनों में से दूध निकालकर फिर पीने को देना चाहिए ॥२९॥

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्दमधुकशतावरीनालिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥३०॥

क्रोध, शोक, अममत्व आदि से दूध सूख जाता है। इस अवस्था में दूध को बढ़ाने के लिए मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जौ, गेहूँ, शालि, साठी, मांसरस, सुरा, काञ्जी, तिलखली, लहसुन, मछली, कसेरु, सिंघाड़ा, बिस, विदारीकन्द, मुलैहठी, शतावरी, नालिका, अलाबू, काल शाक आदि देवे।

वि० मन्तव्य—स्तनप्रवृत्ति के लिए देखिए—नि० स्था० अ० १० श्लो० १५ से २७। निरन्तर—सच्चा स्नेह ही स्तन्य की प्रवृत्ति का हेतु है तथापि यदि क्रोध शोक आदि के कारण स्तन्य प्रवृत्ति न हो तो उचित उपाय करे लाभ अवश्य होता है। स्तन्य का क्षय होने पर—स्तन ढीले हो जाते हैं। अथवा घट जाते हैं। इस दशा में कफवर्द्धक द्रव्यों का प्रयोग करे। (सु० सू० अ० १५ सू० १२) ॥३०॥

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति। न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहारतर्पितायाः, स्तन्यं पाययेत्, नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥३१॥

इसके पीछे दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह दूध—शीतल, निर्मल, पतला, शङ्ख के समान कान्ति का, जल में डाला हुआ मिश्रित हो जाता है, झाग रहित, तन्तु की भांति नहीं, पानी में न बैठता है और न ऊपर तैरता है, तो इस दूध को शुद्ध समझे। इससे बच्चे में आरोग्य शरीर की पुष्टि, बल की वृद्धि होती है। भूखी होने पर, शोक से दुःखी, थकी, दूषित धातु, गर्भवती, ज्वर आए हुए, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदग्ध भोजन या विरुद्ध भोजन किए, उपवास किए—इन अवस्थाओं में दूध न पिलावे। बालक को यदि औषध न पची हो तो उसे दूध न देवे। क्योंकि दोष औषध और मल से तीव्र वेगोत्पत्ति का भय रहता है।

वि० मन्तव्य—दूध पिलानेवाली के दूध की परीक्षा अवश्य कर ले। कदाचित् दूध अशुद्ध हो तो शिशु अस्वस्थ हो जाता है। एतदर्थ देखिए नि० स्थान अ० १० और शुद्ध दूध भी पिलानेवाली की क्षुधित आदि दशाओं में नहीं नहीं पिलाना चाहिये। यदि शिशु को कोई औषध दी गई हो जब तक वह पच न जाय तब तक दूध न पिलाया जाय। यदि बालक—मुखपाक आदि किसी कारण से स्तन चूचुक का आचूषण न कर सकता हो तो सीपी या चम्मच अथवा कोमल कपड़ा की बत्ती द्वारा दूध पिलाना चाहिये। शिशु दूध पीता रहे तब तक इस सूत्र को ध्यान में रखना चाहिए ॥३१॥

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥३२॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः।
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥३३॥

इसमें श्लोक भी हैं—धात्री के गुरु, विषम और दोषकारक भोजनों के करने से दोष शरीर में दूषित होते हैं, इससे दूध दूषित हो जाता है मिथ्या आहार विहार करनेवाली धात्री के दूषित हुए वातादि दोष दूध को भी दूषित कर देते हैं, इससे बच्चे में रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को कुशल वैद्य भली प्रकार पहचाने।

वि० मन्तव्य—यह सच है कि क्षीरपायी शिशु कोई अन्य पदार्थ तो खाता नहीं है, उसे यदि कोई विकार हो तो उसका कारण दूध ही हो सकता है। अतः दूध पिलानेवाली के आहार-विहार पर पूर्णरूप से ध्यान और नियन्त्रण रखना आवश्यक है। आहार रस से दुग्ध का निर्माण होता है, यथा—'रसप्रसादमधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते॥ तथा—आहाररसयोनित्वात् एवं स्तन्यमपि स्त्रियाः।' अतः धात्री के आहार-विहार से दूध में विकृति आती है और विकृत दूध पीने से शिशु में विकृति आती है। दुग्धशोधनार्थ धात्री को दुग्ध शोधक क्वाथ आदि पिलाना चाहिए ॥३२,३३॥

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥३४॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत्।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥३५॥
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३६॥

बच्चे के जिस अंग-प्रत्यङ्ग में वेदना होती है, वह उस स्थान को बार-बार स्वयं छूता है, परन्तु दूसरा कोई छूए तो वह रोता है। शिर में रोग होने पर आँखें बन्द कर लेता है, शिर को सीधा नहीं रखता। मूत्राशय में रोग होने पर मूत्र का रुकना, पीड़ा, प्यास और मूर्च्छा होती है। कोष्ठ में स्थित दोषों

को मल-मूत्र के रुकने से, विवर्णता से, वमन से, आध्मान से, आंतों की गड़गड़ाहट से पहचाने। सारे शरीर में उत्पन्न विकार को रोने से समझे।

वि० मन्तव्य—शिशु स्वतः बोलकर अपना कष्ट बतला नहीं सकता, अतः इन लक्षणों से और अपनी प्रतिभा से उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिये ॥३४-३६॥

तेषु यथाभिहितं मृदुच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा संयुक्तं विदध्यात्, धात्र्याश्च केवलं, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च पूर्ववत्, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः ॥३७॥

इन रोगों में इन रोगों के अनुसार कोमल कफ-मेद का लेखन करनेवाली, औषध को मात्रा से दूध पीनेवाले बच्चे को दूध और घी के साथ मिलाकर देवे। और धात्री को अकेली औषध पिलाये। दूध और अन्न खानेवाले बालक को पूर्व की भांति बच्चे और धात्री दोनों को औषध देवे। अन्न खानेवाले बच्चे में केवल बच्चे को ही कषाय आदि औषध देवे, धात्री को औषध न दे।

वि० मन्तव्य—शिशु तीन प्रकार के होते हैं १—क्षीरप अर्थात् केवल दूध पीनेवाले। २—क्षीरान्नाद अर्थात् दूध के साथ २ अन्न खानेवाले। ३—अन्नाद अर्थात् धात्री का दूध छोड़कर केवल अन्न पर निर्वाह करनेवाले। बालक को चाटने का भी अभ्यास नहीं होता, अतः दुग्ध एवं घृत में घोलकर औषध पिलानी चाहिये। औषध तीक्ष्ण या उग्र नहीं हो, क्योंकि शिशु स्वभावतः कोमल एवं सुकुमार होते हैं। चरक के शब्दों में—और यदि कुमार को कोई व्याधि आ जाय तो प्रकृति, निमित्त, पूर्वरूप, रूप एवं उपशय के द्वारा भली भाँति समझकर तथा रोगी, देश, काल, रागाश्रय आदि का विचारकर मधुर, मृदु, लघु, सुगन्धित, शीत एवं कल्याण कारक औषध एवं उपचारों का प्रयोग करते हुए चिकित्सा करे, क्योंकि कुमारों को इसी प्रकार के औषध एवं उपचार अनुकूल होते हैं, और इस प्रकार वे सुख का सदा के लिये लाभ करते हैं। जब वे स्वस्थ रहें तब स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान-व्यवस्था करे। इस प्रकार वह—बल, वर्ण, शरीर एवं आयुः की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेते हैं। (च० शा० अ० ८ ६६) ॥३७॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसंमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्पमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति ॥३८॥

एक मास से ऊपर की आयुवाले दूध पीनेवाले बच्चे को दूध-घी में मिलाई औषध को अंगुली के प्रथम दो पर्वों तक मात्रा में देवे। दूध और अन्न खानेवाले को औषध कल्क की, बेर की गुठली के बराबर मात्रा देवे। अन्न खानेवाले को बेर बराबर मात्रा देवे।

वक्तव्य—प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका। अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः॥ एकैको वर्धयेत्तावत् यावत्संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्याद् यावत् स्युः षोडशाब्दकाः ॥३८॥

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥३९॥

जिन जिन रोगों को नष्ट करनेवाले योग आगे कहे जायेंगे उन उन रोगों में उन उन योगों के कल्क से स्तनों पर लेप करके बच्चे को स्तन पिलाये।

वि० मन्तव्य—जो ज्वर आदि नाशक औषध बड़ी आयुवालों को दिये जाते हैं, वे ही बालक को देवे, परन्तु उनकी मात्रा न्यून हो, अथच यथासम्भव उनके लिये मृदु, मधुर, लघु एवं शीत औषधों का चुनाव करे ॥३६॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥४०॥
न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ।
विरेकवस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥४१॥

स्तनपायी शिशु को ज्वर में क्रमशः वातज्वर में एक दिन, पित्तज्वर में दो दिन और कफज्वर में तीन दिन घृत न देवे। क्षीरान्नभोजी को और अन्नभोजी को जैसा उचित समझे, वैसा करे। बच्चे को प्यास लगी है, इस धोखे में बार-बार स्तन न देवे। बिना जरूरत के बच्चे को वमन, विरेचन या वस्ति न देवे।

वक्तव्य—घी बच्चे को सदा देना चाहिये, योग्य मात्रा में ऐसा पता लगता है। इससे यह नियम ज्वर के लिये अपवाद रूप दिया है। बच्चे को रोता देखकर चुप कराने के लिये बार बार स्तन मुख में देना हानिकारक है। एरण्ड तैल का विरेचन के लिये उपयोग प्रायः करते रहना ठीक नहीं है। इन साधारण बातों का यहाँ निर्देश है।

वि० मन्तव्य—आवश्यकतानुसार लंघन आदि की व्यवस्था भी करे। यथा आमाशय विकारों में लंघन और हस्त्रडस्त्रा (श्वास) में वमन एवं विरेचन आवश्यक होता है ॥४०,४१॥

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत्।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥४२॥
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा।

मस्तुलुंग के क्षय के कारण वायु तात्वस्थि को झुका देती है। तब बच्चे को प्यास लगती है, और चेहरा गरीब दीखता है। इसमें काकोल्यादि गण से सिद्ध घृत का पान

और अभ्यंग में उपयोग करे। शीतल पानी के सेचन से बच्चे को उद्वेजित करे।

वि० मन्तव्य—शिशु के शिर की कपालास्थियाँ अधूरी होने के कारण ब्रह्मरन्ध्र पर केवल त्वचा का ही आवरण होता है और वहाँ स्पर्श करने पर धमन प्रतीत होता है तथा वह स्थल पिलपिला रहता है। यदि किसी कारण से भेजा या मस्तुलुङ्ग का क्षय हो जाता है तो वहाँ वह स्थल निम्न—दबा हुआ हो जाता है। इसी को तालुपात कहते हैं, इस पर सर्वदा नवनीत का पिचु धरा जाता है, और धरना चाहिये। शीतल जल के छींटे मारने से शिशु ज्योंही "हुलभसी" लेता है, त्योंही निम्नता दूर हो जाती है, परन्तु तब जब कि मस्तुलुङ्ग पिण्ड खिसकने से तालु पात होता है। यदि क्षय से होता है तब नवनीत का पिचु धरने से लाभ होता है ॥४२॥

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ॥४३॥
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः।
गुदापाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्।
रसाञ्जनं विशेषेण पानलेपनयोर्हितम् ॥४४॥

वायु से नाभि फूल जाये और उसमें वेदना हो तो इसको तुण्डिनाभि कहते हैं। इसमें वात नाशक स्नेहन स्वेदन, उपनाह बांधकर चिकित्सा करे। बच्चों के गुदा पाक में पित्तनाशक चिकित्सा करे। विशेष करके रसौंत का पान, और लेप में व्यवहार करे।

वि० मन्तव्य—नालच्छेदन के समय खिंच जाने से अथवा उसके पश्चात् नालखण्ड खिंचकर समय के पूर्व टूट जाने से "तुण्ड" नामक व्याधि हो जाती है, इसमें नाभि की गम्भीरता नहीं रहती है। पित्तातिसार आदि में अथवा पित्तप्रकोप से—मुखपाक के समान भी हो जाता है और कभी कभी गुदभ्रंश भी। इससे गुदवलियाँ हो जाती हैं, गुद में गिनामा हो जाता है॥

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धं, तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥४५॥

स्तनपायी शिशु को—सरसों, वच, जटामांसी, विदारी, चिरचिटा, शतावरी, सारिवा, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी कूठ और सैन्धव से सिद्ध घृत पिलाये। दूध और अन्नभोजी शिशु को—मुलैहठी, वच, चित्रक, पिप्पली, त्रिफला से सिद्ध किया घृत देवे। अन्नभोजी शिशुको—दशमूल, दूध, तगर, देवदारु, मरिच, मुलैहठी, वायविडंग, द्राक्षा, दोनों ब्राह्मी से सिद्ध घी देवे। इनसे बच्चे में नीरोगता, बल, मेधा और आयु बढ़ते हैं ॥४५॥

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात् सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत्, कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः, एवमविहतमना ह्यभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥४६॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥४७॥

बालक को इस प्रकार उठाये, जिससे उसके अंगों में तकलीफ़ न हो (अस्थि आदि न उतरे)। इसको कभी धमकायें नहीं। कभी भी एक दम से न जगायें क्योंकि बच्चा डर जाता है। बालक को एक दम दूसरों से खीच कर न लें, न इसको ऊपर उछालें, इससे वात आदि दोषों के कोप का भय रहता है। जल्दी बिठाना आरम्भ न करे, कुबड़ा होने के डर से। हानि न करनेवाली प्रिय बातों से सदा इसका मन प्रसन्न रक्खे इस प्रकार करने से बालक सदा प्रसन्न रहकर बढ़ता है, बलिष्ठ नीरोग और सुप्रसन्न रहता है। इसे उत्तम सत्त्व प्राप्त होता है। वायु, धूप, बिजली, प्रभा (चमक), वृक्ष, लता, खाली घर, गड्ढे आदि नीचे स्थान, ग्रहों की छाया तथा बुरे ग्रहों के उपद्रवों से बालक की रक्षा करे। गन्दे स्थान में आकाश में, ऊँची नीची जगह पर, गरमी, वायु, वर्षा में, धूल, धूम पानी में बच्चे को न छोड़े।

न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र वा विधेयतामागच्छति, राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामानि चाह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥ चरक शा० अ० ८-६८ ॥४६,४८॥

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥४८॥

बालक को दूध सात्म्य जानकर उसे बकरी या गाय का दूध, माता का दूध पर्याप्त न होने पर योग्य मात्रा में देना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यदि धात्री का दूध पर्याप्त न हो तो बकरी का, वह न मिले तो गौ का दूध देना चाहिये। परन्तु ये दूध उष्ण करके पिलाए जायँ, आवश्यकता हो तो कुछ जल मिलाकर, उष्ण करके दिये जायँ। एक ही गौ अथवा बकरी का दूध देना चाहिये ॥४८॥

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥४९॥

छठे महीने में (जब दांत निकलते हैं) इस बालक को लघु और हितकर अन्न देवे।

वि० मन्तव्य—अन्न प्राशन का विधान छठे मास में अवश्य है, परन्तु यदि १–२ या ३–४ मास टाल दिया जाय तो और उत्तम है, और उचित तो यह है, कि जब तक दन्तोद्भेद न हो या पूर्णरूप से दन्त न आएँ तब तक अन्न का प्राशन न किया जाय अथवा अत्यन्त थोड़ा किया जाय, शीघ्र अन्न देने से—शिशु का उदर बढ़ जाता है और अनेक बाधाएँ भी होने लगती हैं। और जब अन्न खाने लग जाता है, तब उसे रोकना अथवा थोड़ा खाने के लिए बाध्य करना बहुत ही कठिन है, अथवा असम्भव है। बड़ी बुढ़ियों का विचार है कि जब तक जननी पुनः गर्भवती न हो तब तक अन्न देना ही न चाहिये, जितना ही अधिक दिनों में माता का दूध अथवा अपर्याप्त होने के कारण बकरी अथवा गौ का दूध पिया जाता है बालक उतना ही पुष्ट एवं स्वस्थ होता है और जीवन भर स्वस्थ रहता है। माता के गर्भवती होने पर भी माता का दूध छुड़ाकर बकरी का दूध यथासम्भव ३–५ वर्ष तक दिया जाय तो अत्युत्तम है। देखा जाता है कि जिन अभागों को थोड़े दिन दूध मिलता है अथवा शीघ्र अन्न देना प्रारम्भ कर दिया जाता है वे जीवन भर दुबले-पतले तथा अस्वस्थ रहते हैं ॥ ४६ ॥

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥५०॥

बालक को सदा अवरोध में (अन्तःपुर में) रक्खे, उपसर्ग (गिरना आदि) भय से उसको बचाये। ग्रहों के उपद्रवों से बालक की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—बालक के संरक्षण में सर्वदा सावधान रहना परमावश्यक है, वे संसार रूपी वाटिका के कोमल, सुगन्धित एवं मनोहर पुष्प हैं ॥ ५० ॥

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टोष्ठः क्रूरो भिन्नवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥५१॥

बालक उद्विग्न हो जाता है, डरता है, रोता है, बेहोश हो जाता है। नख दांतों से धात्री को और अपने को नोचता, काटता है। दांतों को कटकटाता है कराहता है, जम्भाई लेता है, भ्रुवों को ऊपर चढ़ाता है, ऊपर को देखता है, मुख से झाग फेंकता है। ओठों को काटता है। देखने में भयानक पतला-आम मल आता है, स्वर-दीन और पीड़ित होता है, रात को सोता नहीं, दुर्बल, मलिन अंगों का, शरीर से मछली, छुछुन्दर, खटमल की गन्ध आती है, पहले जिस प्रकार धात्री के दूध को चाहता था, वैसा अब नहीं चाहता, ग्रहों से आक्रान्त शिशु के ये सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षणों को उत्तर तंत्र में कहेंगे ॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५२॥

बालक के शक्तिमान् होने पर वर्ण के अनुसार उसको विद्या पढ़ावे ॥५२॥

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशदशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥५३॥

विद्याध्ययन करने पर जब आयु पच्चीस वर्ष की हो जाये तब सोलह साल की कन्या से इसका विवाह करवा दे। जिससे कि यह पितृऋण, धर्म, अर्थ काम और प्रजा को प्राप्त करे।

वक्तव्य—क्योंकि कहा है कि बिना संतान के स्वर्ग नहीं मिलता।

वि० मन्तव्य—पच्चीस वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री पूर्णरूप से बलवीर्य युक्त हो जाते हैं तभी उनका विवाह होना चाहिये। इस प्रकार वे दोनों—पित्र्य-माता पिता सास श्वसुर आदि बड़ों की सेवा कर सकते हैं, और उनके और्ध्वदैहिक-श्राद्धादि कृत्य कर सकते हैं, धर्म-यज्ञ दान आदि एवं अपने धारण पोषण में समर्थ हो सकते हैं, अर्थ—धन कमाने के उपाय कर सकते हैं, काम-शारीरिक एवं मानसिक सुखों का लाभ और उपभोग कर सकते हैं और उत्तम सन्तान का उत्पादन कर सकते हैं और इसके विपरीत छोटी आयु में विवाह करने से उक्त सुखों का पूर्ण लाभ भी नहीं होता और भी वे दुःखी अथवा रोगी बने रहते हैं। आयु के उक्त २५ तथा १६ वर्षों का निर्देश उपलक्षण मात्र है, अतः—कोई पुरुष २० वर्ष की आयु में पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेता है, और कोई ३० वर्ष में प्राप्त करता है, अत एव-अष्टाङ्गसंग्रह में-२१ वर्ष, शार्ङ्गधर में २० वर्ष और मनुस्मृति में ३० वर्ष की आयु में विवाह का विधान किया गया है। परन्तु नारी का सोलह १६ वर्ष के पूर्व विवाह होना ही नहीं चाहिये, भलेही कोई कुछ कहे। वाग्भट के शब्दों में-पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संयुता। शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि। वीर्यवन्तं सुतं सूते, ततो न्यूनाब्दयोः पुनः। रोगी अल्पायुः अधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा। अ० हृ० अ० १ ॥५३॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥५४॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥५५॥

पच्चीस वर्ष की आयु से कम आयु का पुरुष सोलह साल से कम आयु की कन्या में यदि गर्भाधान करता है, तो गर्भ

उदर में ही मर जाता है। यदि किसी प्रकार उत्पन्न हो जाये तो वह देर तक नहीं जीता। यदि किसी प्रकार जीवित रह जाये तो निर्बल इन्द्रियोंवाला होता है। इसलिये अत्यन्त छोटी आयु की कन्या में गर्भाधान न करे।

इसीसे संग्रह में कहा है—पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयाम्....उद्वहेत्। तस्यां षोडशवर्षीयायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं यतेत, तदा तौ प्राप्तवीर्यौ वीर्यान्वितं अवश्यं जनयतः॥

वि० मन्तव्य—१६ वर्ष से नीचे नारी को गर्भाधान हो जाने से सन्तान की हानि तो होती ही है, नारी को भी अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं, और जीवन भर के लिये रोगिणी बनकर जीना पड़ता है। उसके साथ २ पति देवता भी पत्नी एवं सन्तान के कष्टों से व्याकुल बने रहते हैं॥५४, ५५॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति॥५६॥

अति बूढ़ी, चिरकालीन रुग्णा, अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित स्त्री में गर्भाधान न करे। इसी प्रकार के व रुग्ण पुमान् में भी यही दोष होते हैं। (अर्थात् गर्भ उदर में मर जाता है)।

वि० मन्तव्य—अतिवृद्धा-५० वर्ष के पश्चात् भी कभी २ गर्भाधान हो जाता है, परन्तु वह गर्भ उत्तम गुण सम्पन्न नहीं होता। दीर्घरोगिणी—कुष्ठ अर्श आदि लम्बे रोगोंवाली स्त्री की सन्तान भी अर्श आदि से उपद्रुत होती है, अथवा जीर्ण ज्वर-यक्ष्मा, श्वास आदि रोगों से पीड़िता को प्रसव काल में मृत्यु आदि का भय हो सकता है और सन्तान भी रोगयुक्त, अपुष्ट तथा निर्गुण होती है। अन्येन वा विकारेण-उपदंश आदि योनि रोगों से उपद्रुत नारी में भी गर्भाधान करने से लाभ के स्थान में हानि ही होती है। इसी प्रकार के पुमान् भी इस योग्य नहीं होते कि वे गर्भाधान करें अन्यथा वे ही हानियाँ होती हैं, जो नारी के लिये कही गई हैं॥५६॥

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवंक्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च। तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयश्रृतक्षीरपानैश्च। गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्। प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं च प्रक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः। वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्राकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम्, आनाहे हिङ्गुसौवर्चललशुनवचासिद्धम्। अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिकागैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा श्रृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दक्वाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्। अथादृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्यासिद्धं पयः पाययेत्। तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा बृहतीद्वयोरुपूकशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते, रुजो गर्भश्चाप्यायते। व्यवस्थिते च गर्भे गव्येनोदुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्। अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि। वस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा। वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तं मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्। कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत। वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्। शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः, तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥५७॥

गर्भावक्रांति अध्याय में कहे तथा मूढ़गर्भ निदान में कहे कारणों से गर्भ के गिरते समय गर्भाशय-कटिवंक्षण-वस्ति में शूल होता है। रक्त दिखाई देता है। इसमें शीतस्पर्श, शीतवीर्य औषधियों से परिषेक, अवगाहन, प्रदेह आदि बरते। जीवनीय गण से सिद्ध किया दूध पीने को देवे। गर्भ के स्फुरण होने में उसको रोकने के लिए उत्पलादि गण से सिद्ध किया दूध बार-बार पीने को देवे। गर्भ के बहने के समय जलन, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल, रक्त प्रदर, आनाह, मूत्र का अवरोध होता है। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर खिसका आने पर कोष्ठ में शोथ होती है, इसमें स्निग्ध शीतल उपचार करें। वेदना होने पर मुद्गपर्णी, मुलैहठी, गोखरू, कटेरी से सिद्ध किये दूध में शर्करा और मधु मिलाकर पिलाये। मूत्र के अवरोध में पंचतृणमूल से सिद्ध दूध देवे। आनाह में हींग, संचल, लहसुन

और बचा से सिद्ध दूध देवे। रक्त के बहुत अधिक बहने पर कोष्ठागारिका (दिवारों में जो कीड़ा मिट्टी का घर बनाता है) नामक जन्तु के घर की मिट्टी, मजीठ, धाय के फूल, वनमालिका, गेरू, राल, रसौत इनका चूर्ण मधु से चटाये। बरगद आदि क्षीर वृक्षों की छाल या कोमल पत्ते जो मिल सकें उनको पीसकर दूध से पिलाये। उत्पलादि गण के कल्क को पीसकर दूध के साथ देवे। कसेरू, सिंघाड़ा, कमलकन्द, इनके कल्क को गरम किये दूध से देवे। गूलर के फल, पानी के कन्द इनके क्वाथ में शर्करा और मधु मिलाकर इससे चावलों को पीसकर देवे। बरगद आदि के क्वाथ में भिगोये वस्त्र के टुकड़े को योनि में रक्खे। यदि न दिखाई देने पर वेदना हो मुलहठी, देवदारु, मजीठ, विदारी से सिद्ध दूध पिलाये। अथवा अश्मन्तक, शतावरी, विदारी से या शालपर्णी आदिगण से सिद्ध दूध पिलाये। कटेरी, बड़ी कटेरी, कमल, शतावरी, सारिवा, विदारी और मुलहठी से सिद्ध दूध देवे। इस प्रकार करने से वेदनायें शान्त होती हैं, और गर्भ पुष्ट होता है। गर्भ के स्थिर हो जाने पर गूलर के कच्चे फलों से सिद्धकिये गाय के दूध से भोजन देवे। गर्भपात हो जाने पर लवण और स्नेहों से रहित उद्दालक (कोदो) से बनाई यवागू को पाचनीय (पञ्चकोल आदि) द्रव्यों से मिलाकर, जितने मास का गर्भ पात हुआ हो, उतने दिनों तक पिलाये। वस्ति में शूल होने पर दीपनीय द्रव्यों से युक्त पुराना गुड़ या अरिष्ट देवे। वायु के उपद्रवों के कारण गर्भ स्रोतों में छिपा रहता है, फिर वहाँ बहुत दिन रहने पर मर जाता है, इसमें मृदु स्नेहन आदि विधि से चिकित्सा करे।

उत्क्रोश—(कुरर) के मांस रस में बनाई यवागू में प्रचुर घी डालकर पिलाये। उड़द, तिल, कच्चे बिल्वफल से सिद्ध किये कुल्माषों (अर्ध स्विन्न गेहूँ या जो) को खाये। मधु मद्य माध्वीक मद्य पीछे से पीये। इस प्रकार सात दिन करे। समय (प्रसव समय तथा ९ या १० मास) के बीत जाने पर भी स्थिर रहे। गर्भ में—ऊखल में धान्य डालकर मूसल से कूटे। विषम सवारी या आसन (स्थित) को बरते। वायु से पीड़ित गर्भ सूख जाता है; यह गर्भ माता की कोख को पूरा नहीं भरता और धीमे से गति करता है। इस गर्भ की बृंहणीय द्रव्यों से सिद्ध दूध से और मांस रस से चिकित्सा करे। शुक्र और आर्त्तव के वायु से आक्रान्त होने पर जीवात्मा का अवतरण हो जाने पर उदर फूलता है; यह गर्भ जब कभी बिना किसी कारण के ही शान्त हो जाता है (बैठ जाता है या मर जाता है), तब इसको नैगमेष ने ले लिया है, ऐसा कहते हैं। यही गर्भ जब भी छिपा रहता है, तब इसको नागोदर कहते हैं, इसमें भी लीनगर्भ की भाँति चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। ततो यष्टीमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिसंस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत्। तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधो नाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्॥ (२) यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति गर्भे जातसारे पुष्पदर्शनं स्यात् अन्यो वा योनिस्रावः तस्याः गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति, निःसृतत्वात्। सकालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित्। उपवासव्रतकर्मपरायाः, पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति, परिशुष्कत्वात्। स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। तन्नागोदरमित्याचक्षते"॥ चरक०॥

जैसे गान्धारी का गर्भ समय के बहुत पीछे तक प्रसव नहीं हुआ था—फिर उसने गुस्से में उसे निकाल दिया था। जिस को महर्षि व्यास ने फिर बाहर रखकर पाला था। (३) गर्भ नष्ट होना—

असृङ् निरुद्धं पवनेन नार्याः
गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैः
उष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्॥
दृष्ट्वासृगेवं न च गर्भसंज्ञं
केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति॥ चरक॥

दूध पाक का नियम—

द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ ५७॥
अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः—॥ ५८॥
मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी॥ ५९॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च॥ ६०॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका॥ ६१॥
शृंगाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः॥
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः॥ ६२॥

इसके पश्चात् प्रत्येक मास में देने योग्य औषधियाँ कहते हैं। मुलहठी, सागौन के बीज, विदारी और देवदारु, पहले महीने में; अश्मन्तक, तिल, पिप्पली, मजीठ और शतावर, दूसरे मास में; बोदा, विदारी, प्रियंगु, कमलगट्टा, और अनन्तमूल, तीसरे महीने में; अनन्ता (दुर्वा या दुरालभा), सारिवा, रास्ना, भार्गी, और मुलहठी, चौथे मास में। कटेरी, बड़ीकटेरी,

गम्भारी, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कोमले पत्ते और छाल, घृत, इनको पाँचवें मास में। पृश्निपर्णी, बला, सहजन, गोखरू और गिलोय छठें मास में। सिंघाड़ा, विस, द्राक्षा, कसेरु, मुलहठी और मिश्री सातवें मास में, प्रत्येक मास में दूध के साथ इनको देवे। ये सात योग आधे श्लोक में कहे गये हैं। गर्भ स्राव में क्रमशः दूध के साथ इनको बरतना चाहिये ॥

कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिकाः।
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्भिषगष्टमे ॥ ६३ ॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥ ६४ ॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥ ६५ ॥

आठवें मास में—कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, परवर, ईख, छोटी कटेरी, की जड़ से सिद्ध किया दूध देवे। नवम मास में—मुलहठी, दूर्वा, क्षीर विदारी और अतन्त मूल से सिद्ध दूध पीये। दसवें मास में—सोंठ और क्षीरकाकोली से सिद्ध किया दूध देना चाहिये। अथवा सोंठ, मुलहठी, देवदारु से सिद्ध किया दूध देवे। इस प्रकार से गर्भ पुष्ट होता है, और तीव्र वेदना शान्त होती है ॥ ६३-६५ ॥

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥६६॥

प्रसव निवृत्ति के पीछे यदि छः साल के ऊपर प्रसूति हो तो बालक अल्पायु होता है।

वक्तव्य—गर्भाशय या योनि दोष के कारण ही प्रसव-या गर्भाधान होना रुकता है। इनकी चिकित्सा न करने पर यदि आहार-विहार के कारण अचानक गर्भ रहकर प्रसव होता है, तो वह अल्पायु होता है।

वि० मन्तव्य—किसी २ को १५-२० वर्ष पश्चात् सन्तान होती है या होनी प्रारम्भ हो जाती है ॥६६॥

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥६७॥

गर्भवती स्त्री को यदि कोई महान् भयानक रोग उत्पन्न हो जाय तो मधुर-अम्ल अन्न के साथ वमन करे और मधुर-अम्ल अन्न से उसे अनुलोमन कराये। संशमनीय चिकित्सा करे। खान पान में नरम वस्तु देवे। मृदुवीर्य, प्रायः करके मधुर, गर्भ के लिये अविरोधि भोजन करे। गर्भ के अप्रतिकूल एवं कोमल जो योग्य क्रियायें—उपचार हों, उनको बरते।

वि० मन्तव्य—सामान्यतः गर्भिणी को वमन विरेचन का निषेध है, तथापि अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर करना चाहिये, यथा—अलसक विलम्बिका आदि विषविकारों में तथा कफजनित विकारों में—वमन तथा पित्तज विकारों में एवं पुरीषरोध आदि में विरेचन आवश्यक होता है ॥ ६७ ॥

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
मत्स्याक्षकः शंखपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥६८॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥६९॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥७०॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण
महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां
तृतीयं शारीरस्थानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

(१) सुवर्ण भस्म, कूठ, मधु घृत और वच इन इनका उत्तम चूर्ण, (२) ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णभस्म, (३) अर्कपुष्पी, मधु, घी, सुवर्ण भस्म और वच, (४) स्वर्ण भस्म, वकायन, श्वेता (अपराजिता), दूर्वा, घी और मधु, ये चार प्राश आधे श्लोकों से बताये गये हैं। ये योग बालकों के शरीर-मेधा, बल और बुद्धि को बढ़ाते हैं।

वक्तव्य—कैडर्य का अर्थ गम्भारी उत्तम हैं। क्योंकि कहा भी है—

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम्।
शिताकाश्मर्यमधुकैः, हितमुत्थापने पयः ॥ ६८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं
शारीरं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

शारीरकोष्ठकानि

पंचविंशतितत्त्वानि

- २५ पुरुषः
  - १ अव्यक्तम्
    - २ महान्
      - ३ अहंकार
        - वैकारिकः (तैजससहायः) १४ एकादशेन्द्रियाणि
          - (पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः)
            - १. श्रोत्रम् — शब्दः
            - २. त्वक् — स्पर्शः,
            - ३. चक्षुः, — रूपम्,
            - ४. जिह्वा — रसः,
            - ५. घ्राणम् — गन्धः
            - विषयाः—शब्दः स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धः
          - पञ्चकर्मेन्द्रियाणि
            - १. वाक् — वचनम्
            - २. हस्तः — आदानम्,
            - ३. उपस्थम् — आनन्दनम्
            - ४. पायुः — विसर्गः,
            - ५. पादः — विहरणम्
            - विषयाः—वचनम् आदानम्, आनन्दनम् विसर्गः, विहरणम्
        - तैजसः
        - भूतादिः (तैजससहायः) १६ पंचतन्मात्राणि
          - १. शब्दतन्मात्रम् — २० आकाशं
          - २. स्पर्शतन्मात्रम् — २१ अनिलः
          - ३. रूपतन्मात्रम् — २२ अनलः
          - ४. रसतन्मात्रम् — २३ जलम्
          - ५. गन्धतन्मात्रम् — २४ उर्वी

त्वचां विभागाः

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य (भूतात्माधिष्ठितस्य) त्वचः सु० शा० शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव

सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति

संख्या	नाम	कार्यक्रमम्	प्रमाणम्	अधिष्ठानम्
प्रथमा	अवभासिनी	सर्ववर्णानवभासयति पंचविधां छायां च प्रकाशयति	व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा	सिध्मपद्मकंटकौ
द्वितीया	लोहिता		व्रीहिषोडशभागप्रमाणा	तिलकालकन्यच्छव्यंगानि
तृतीया	श्वेता		व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा	चर्मदलम् अजगल्ली मशकः
चतुर्थी	ताम्रा		व्रीहेरष्टभागप्रमाणा	विविधकिलासकुष्ठानि
पंचमी	वेदिनी		व्रीहिपंचभागप्रमाणा	कुष्ठविसर्पौ
षष्ठी	रोहिणी		व्रीहिप्रमाणा	ग्रन्थिः, अपची, अर्बुदम्, श्लीपदम्, गलगण्डम्
सप्तमी	मांसधरा		व्रीहिद्वयप्रमाणा	भगन्दरः, विद्रधिः अर्शः

कलाः (सप्त) (सु० शा० अ० ४. ५. २३)

धात्वाशयान्तरमर्यादाः

संख्या	नाम	अधिष्ठानम्	कार्यम्
प्रथमा	मांसधरा	मांसम्	यस्यां सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति।
द्वितीया	रक्तधरा	मांसस्य अभ्यन्तरतः	तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहानश्च भवन्ति।
तृतीया	मेदोधरा	उदरस्थमण्वस्थिषु	
चतुर्थी	श्लेष्मधरा	सर्वसन्धिषु	स्नेहाभ्यक्तं यथा ह्यक्षचक्रं साधु प्रवर्तते संधयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्माणः तथा।
पंचमी	पुरीषधरा	पक्वाशयस्था	या अन्तःकोष्ठे मलमभिविभजत् यकृत्समन्तात् कोष्ठं च, तथाऽन्त्राणि समाश्रिता (सा) उण्डुकस्थं विभजते मलम्।
षष्ठी	पित्तधरा	पक्वामाशयमध्यस्था	या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति (पाकार्थम्)।
सप्तमी	शुक्रधरा	सर्वशरीरव्यापिनी	यथा पयसां सर्पिस्तु गूढं चेक्षौ रसो यथा शरीरेषु तथा शुक्रं विद्यात्।

अस्थिसंख्याविवरणम्—१

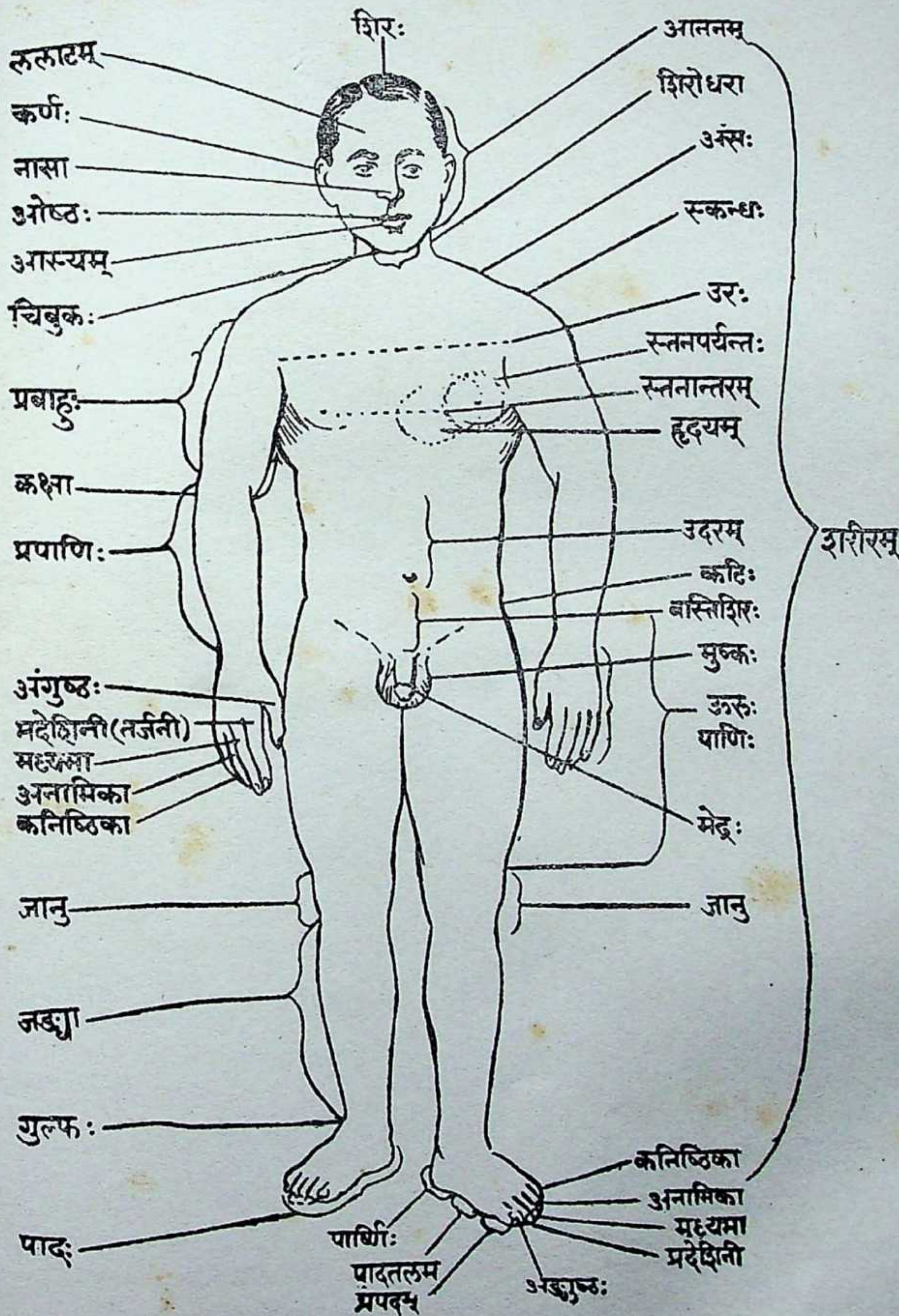
अस्थिनामानि	संग्रहे	चरके		सुश्रुते		प्रत्यक्षशारीरे	
नखानि	२०		२०	न गणितानि		न गणितानि	
अंगुल्यस्थीनि	६०		६०		६०		५६
अंगुलिशलाकाः	२०		२०	तलास्थीनि २०			२०
अंगुलिशलाकाबन्धने	४	अधिष्ठानानि	४	कूर्च-२०		पादकूर्चेषु १४ हस्तकूर्चेषु १६ = ३०	
अंगुलिशलाकाकूर्चास्थीनि	८		—	गुल्फयोः २०			
गुल्फास्थीनि	४		४		२		
मणिबन्धास्थीनि	४		२		२		
पार्ष्ण्यस्थीनि	२		२		—		
मणिबन्धौ	२		—				
—	—	जानुकपालिके	२		४		—
जंघास्थीनि	४		४		४		४
प्रकोष्ठास्थीनि	४	अरत्न्यस्थीनि	४		४		४
जान्वस्थीनि	२		२		२		२
कूर्परौ	२		—		२		—
ऊर्वस्थीनि	२		२		२		२
प्रगण्डास्थीनि	२	बाह्वस्थीनि	२		२		२
एवम् शाखास्थीनि	१४०		१२८		१२०		१२०
पर्शुकाः	२४		२४		२४		२४
पर्शुकास्थालकानि	२४		२४		२४		—
पर्शुकास्थालकार्बुदानि	२४		२४		२४		—
पृष्ठे	३०		४५		३०	कशेरुका	२४
उरसि	८		१४		८	उरःफलम्	१
भगास्थि	१		१		१		—
त्रिकास्थिनी	१		—		१		१
नितंबास्थिनी	२	श्रोणिफलके	२		२		२
अक्षकास्थिनी	२		२		—		२
अंसास्थिनी	२		—		—		—
अंसफलकास्थिनी	२		२		२		२
गुदास्थि	—		—		१		१
—	—		—		—	कण्ठास्थि	१
एवमन्तराधौ	१२०		१३८		१७		५८

अस्थिसंख्याविवरणम् (२)

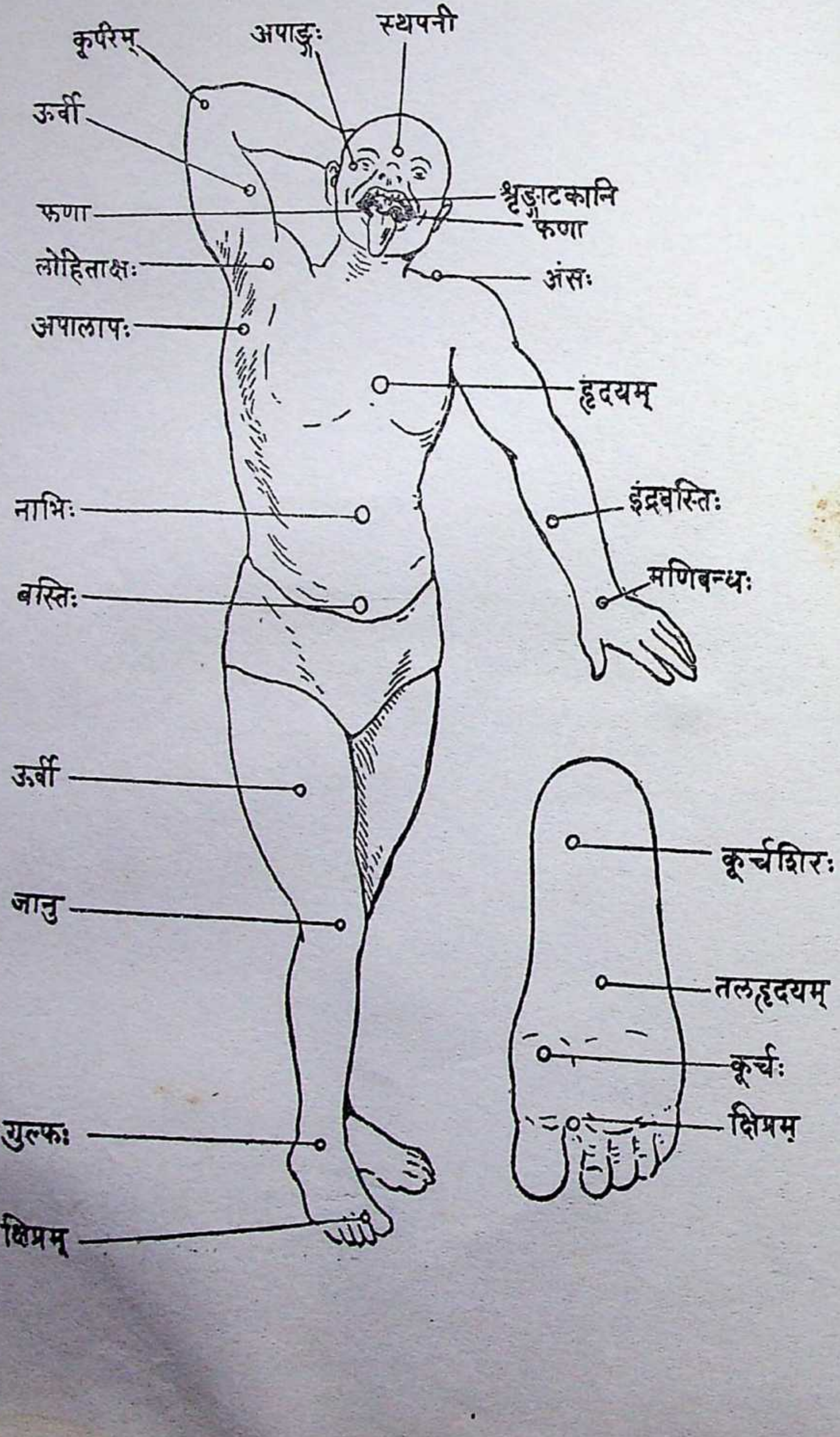
अस्थिनामानि	संग्रहे	चरके	सुश्रुते	प्रत्यक्षशारीरे	
ग्रीवायाम्	१३	१५	६	पृष्ठवंशे	
कंठनाड्याम्	४	—	४	गणितानि	
हनुबन्धने	२	२	३२	ऊर्ध्वहनु	२
दन्ताः	३२	३२			—
दन्तोलूखलानि	३२	३२	नगणिता		—
नासायाम्	३	१	३		२
शिरसि	६	शिरःकपालानि ४	६	शिरःकपालानि	४
गण्डास्थिनी	२	१	२		२
कर्णास्थिनी	२	—	२		—
जत्रु	२	२	—		२
तालु	१	१	१		—
हन्वस्थि	१	१	—		२
ललाटास्थि	—		—		१
	—				—
—				जतुकास्थि	१
—				झर्झरास्थि	१
				नासाशुक्तिके	२
				नासामध्यसिरिका	१
				अश्रुपीठे	२
एवं ग्रीवाशिरोस्थीनि,	१००	९४	६३	केवल शिरोस्थीनि	२२
एवम् शरीरेऽस्थि— संख्या—	३६०	३६०	३००		†२००

† केवल षट्संख्याकानि कर्णान्तरास्थीन्यन्तर्भाव्य २०६ संख्यामस्थ्नां ब्रुवते।

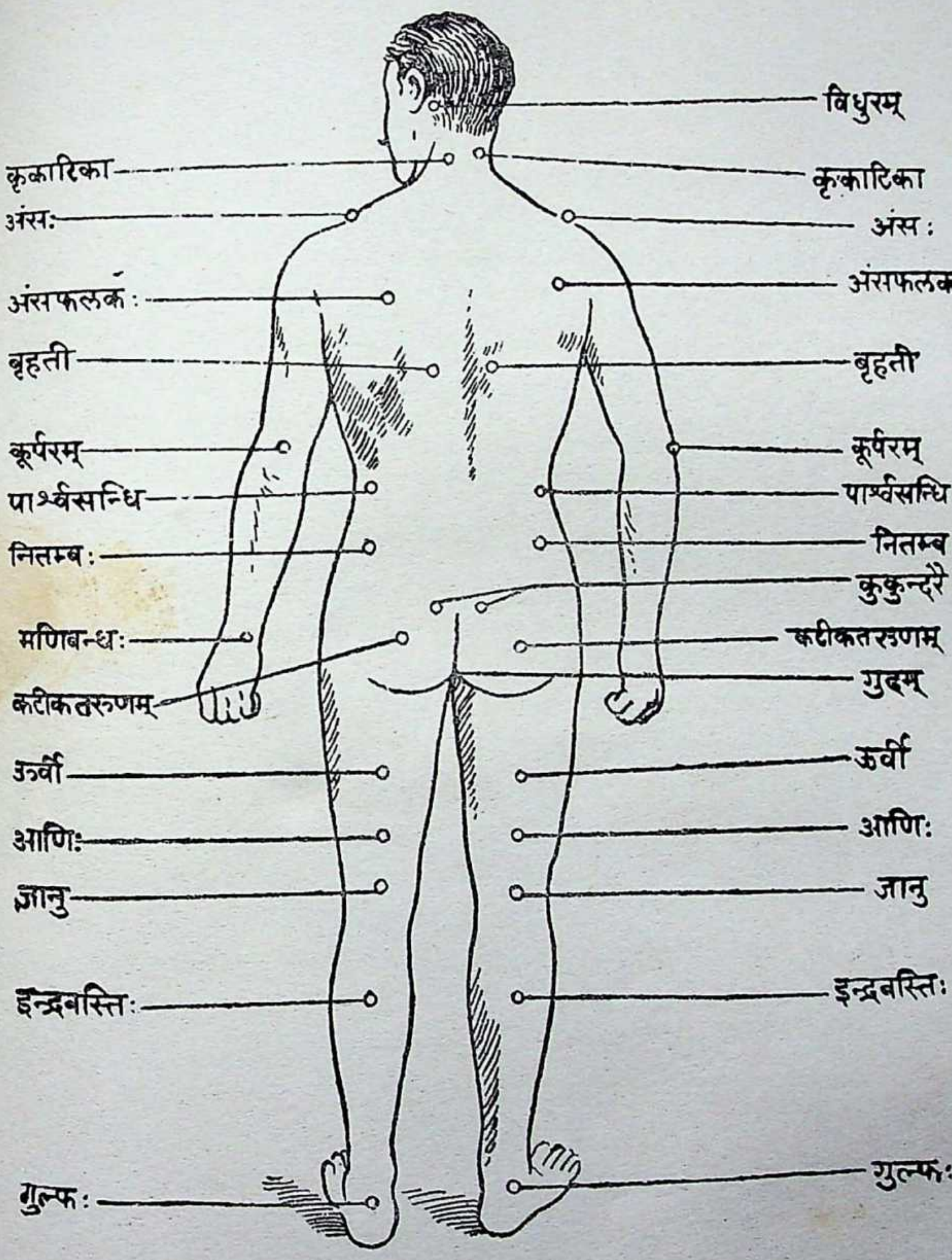
अंगप्रत्यंगानि ।


शिरः
ललाटम्
कर्णः
नासा
ओष्ठः
आस्यम्
चिबुकः
आननम्
शिरोधरा
अंसः
स्कन्धः
उरः
स्तनपर्यन्तः
स्तनान्तरम्
हृदयम्
प्रबाहुः
कक्षा
प्रपाणिः
उदरम्
कटिः
बस्तिशिरः
मुष्कः
ऊरुः
पाणिः
शरीरम्
अंगुष्ठः
प्रदेशिनी (तर्जनी)
मध्यमा
अनामिका
कनिष्ठिका
मेढ्रः
जानु
जानु
जङ्घा
गुल्फः
कनिष्ठिका
अनामिका
मध्यमा
प्रदेशिनी
पादः
पार्ष्णिः
पादतलम्
प्रपदम्
अङ्गुष्ठः

मर्मशारीरम् ।

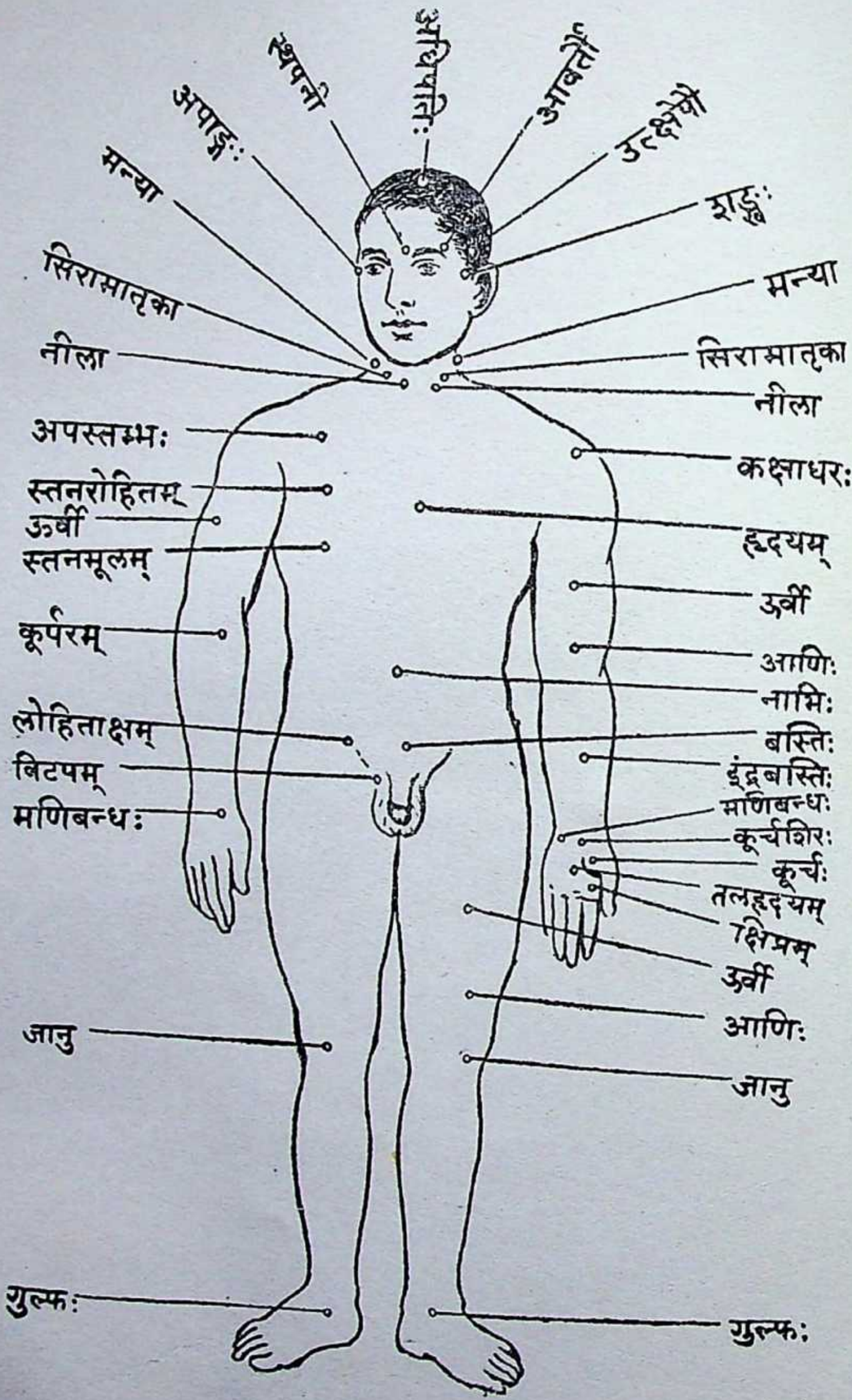

कूर्परम्
अपाङ्गः
स्थपनी
ऊर्वी
शृङ्गाटकानि
फणा
फणा
लोहिताक्षः
अंसः
अपालापः
हृदयम्
नाभिः
इंद्रबस्तिः
मणिबन्धः
बस्तिः
ऊर्वी
कूर्चशिरः
जानु
तलहृदयम्
कूर्चः
क्षिप्रम्
गुल्फः
क्षिप्रम्

मर्मशारीरम् ।



विधुरम्
कृकाटिका
कृकाटिका
अंसः
अंसः
अंसफलकः
अंसफलकः
बृहती
बृहती
कूर्परम्
कूर्परम्
पार्श्वसन्धि
पार्श्वसन्धि
नितम्बः
नितम्ब
कुकुन्दरे
मणिबन्धः
कटीकतरुणम्
कटीकतरुणम्
गुदम्
ऊर्वी
ऊर्वी
आणिः
आणिः
जानु
जानु
इन्द्रबस्तिः
इन्द्रबस्तिः
गुल्फः
गुल्फः

मर्मशारीरम् ।



अधिपतिः
स्थपनी
आवर्तौ
अपाङ्गः
उत्क्षेपौ
मन्या
शङ्खः
सिरामातृका
मन्या
नीला
सिरामातृका
नीला
अपस्तम्भः
कक्षाधरः
स्तनरोहितम्
ऊर्वी
हृदयम्
स्तनमूलम्
ऊर्वी
कूर्परम्
आणिः
नाभिः
लोहिताक्षम्
बस्तिः
विटपम्
इंद्रबस्तिः
मणिबन्धः
मणिबन्धः
कूर्चशिरः
कूर्चः
तलहृदयम्
क्षिप्रम्
ऊर्वी
आणिः
जानु
जानु
गुल्फः
गुल्फः

अस्थिसन्धयः २१०

(दशोत्तरे द्वे शते)

		सन्धिसंख्यास्थिराः		चेष्टावन्तः
१ शाखासु	=६८	०		६८
२ कोष्ठे	=५९	५६		३
३ मूर्धनि	८३	७३	+	१०
	२१०=	१२९		८१

अस्थिसन्धिविस्तारवर्णनम्

				सन्धिसंख्या
(१) शाखासु—(६८)	एकस्मिन् सक्थ्नि एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां		३×४=१२	
	अंगुष्ठे	=	२	
	गुल्फे, जानुनि वंक्षणे, १ १ १	=	३ १७	
	एवं तिसृषु शाखासु	=	१७×४=	६८
(२) अन्तराधौ—(५९)	कटिकपालेषु	=	३	
	पृष्ठवंशे	=	२४	
	पार्श्वयोः	=	२४	
	उरसि	=	८	
			५९ =	५९
(३) मूर्धनि—(८३)	ग्रीवायाम्	=	८	
	कंठनाड्याम्	=	३	
	हृदयक्लोमनाडीषु कंठनाडीनिबद्धाः	=	१८	
	दन्तमूलेषु	=	३२	
	काकलनासामूर्ध्नसु १ १ १	=	३	
	गंड–कर्ण–शंख–वर्त्म–नेत्र–हनुसंधिषु = २, २, २, २, २, २,		१२	
	भ्रुवारुपरिष्टात्	=	२	
	शिरःकपालेषु	=	५	
			८३ =	८३
२१०				२१०

स्नायूनां नवशतानि [९००]

१ शाखासु	६००	एकस्मिन् सक्थ्नि		स्नायुसंख्या
		एकैकस्यां पादांगुल्याम्	६ × ५—३०	
		तलकूर्चगुल्फेषु	१० × ३—३०	
		जंघायाम्	—३०	
		जानुनि	—१०	
		ऊरौ	—१०	
		वंक्षणे	—३०	
			१५० × ४—६००	६००
२ कोष्ठे	२३०	कट्याम्	—६०	
		पृष्ठे	—८०	
		पार्श्वयोः	—६०	
		उरसि	—३०	
			२३०	२३०
३ ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम	७०	ग्रीवायाम्	—३६	
		मूर्ध्नि	—३४	
			७०	७०
	९००			९००

द्विविधाः स्नायवः

१ बाह्याः　　　　२ आभ्यन्तराः

चतुर्विधाः स्नायवः

१ प्रतानवत्यः — शाखासु—

२ वृत्ताः — सर्वसंधिषु—

३ पृथ्व्यः — पार्श्वोरसि, पृष्ठे शिरसि ।

२ सुषिराः — आमपक्वाशयान्तेषु, बस्तौ

स्नायुकर्म

एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिबहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥

पेशीनां पंचशतानि [५००]

(मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते)

(१) शाखासु— ४००		
एकस्मिन् सक्थिन —		
एकैकस्यां पादांगुल्यां	३ × ५ = १५	पेशी संख्या
प्रपदे	—१०	
पादोपरि कूर्चसन्निविष्टाः	—१०	
गुल्फ-तलयोः ५ ५	—१०	
गुल्फजान्वन्तरे	—२०	
जानुनि	—५	
ऊरौ	—२०	
वंक्षणे	१०	
	१०० × ४	४००

(२) कोष्ठे	६६	
पायौ	—१	
मेढ्रे	—१	
सेवन्याम्	—३	
वृषणयोः	—२	
स्फिचोः	५ × ५ = १०	
बस्तिशिरसि	—२	
उदरे	—५	
नाभ्याम्	—१	
पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टादीर्घाः	५ + ५–१०	
पार्श्वयोः	—६	
वक्षसि	—१०	
अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात्	—७	
हृदयामाशययोः	—२	
यकृत्प्लीहोण्डुकेषु	—६	
	६६	६६

(३) ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम्	= ३४	
ग्रीवायाम्	—४	
हन्वोः	—८	
काकलकगलयोः १ १	—२	पेशी संख्या
तालुनि	—२	
जिह्वायाम्	—१	
ओष्ठयोः	—२	
नासायाम्	—२	
नेत्रयोः	—२	
गण्डयोः	—४	
कर्णयोः	—२	
ललाटे	—४	३४
शिरसि	—१	
		५००
	३४	

स्त्रीणां तु विंशतिरधिकाः	
स्तनयोः	५ × २ = १०
अपत्यपथे	—४
गर्भच्छिद्रसंश्रिताः	—३
शुक्रार्तवप्रवेशिन्यः	—३
	३०

पेशीनां स्थानवशात् नानास्वरूपत्वम् (प्रकाराः)

१. बहलाः	७. ह्रस्वाः		
२. पेलवाः	८. दीर्घाः		
३. स्थूलाः	९. स्थिराः		
४. अणवः	१०. मृदवः	सन्ध्यस्थिसिराः	पेशीकर्म ।
५. पृथवः	११. श्लक्ष्णाः	स्नायुप्रच्छादकाः	सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
६. वृत्ताः	१२. कर्कशाः		पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥

सिरासंख्याविवरणम् (सुश्रुतात्)

(सिरासंख्या—७००)

मूला सिरा—४०

वातवाहिन्यः	पित्तवाहिन्यः	कफवाहिन्यः	रक्तवाहिन्यः
१०	१०	१०	१०
(अरुणाः)	(उष्णाः नीलाः)	(शीताः गौर्यः स्थिराः)	(नात्युष्णशीतलाः रोहिण्यः)
वातस्थानगताः	पित्तस्थानगताः	कफस्थानगताः	रक्त-(यकृत् प्लीहा) स्थानगताः
१७५	१७५	१७५	१७५

वातवाहिन्यः सिराः १७५

एकस्मिन् सक्थ्नि	२५×४=१००	१००
कोष्ठे—		
श्रोण्याम् गुदमेढ्राश्रितः	८	
पार्श्वयोः द्वे द्वे	४	
पृष्ठे षट्	६	३४
उदरे षट्	६	
वक्षसि दश	१०	
जत्रुणः ऊर्ध्वम्		
ग्रीवायाम्	१४	
कर्णयोः	४	
जिह्वायाम्	६	
नासिकायाम्	६	४१
नेत्रयोः	८	
		१७५

एवम् पित्तकफरक्तवाहिसिरासु बोद्धव्यम्=७००

विशेषः पित्तवाहिषु—कर्णयोः २ नेत्रयोः १०

सिराः सप्तशतानि (७००)

	व्यधनीयाः सिराः	अव्यधनीयाः सिराः	सिरासंख्याः
(१) शाखागताः	३७४	१६	४००
(२) अन्तराधिगताः	१०४	३२	१३६
(३) मूर्धगताः	११४	५०	१६४
	६०२	९८	७००

व्यधनीयाव्यधनीयसिराणां विस्तारवर्णनम्

सिरासंख्या (७००)		अव्यधनीयसिरासंख्या (९८)		
(१) शाखागताः—		जालन्धरा	१	
एकस्मिन् सक्थ्नि शतं सिराः		ऊर्वीसंज्ञे	२	
१०० × ४ = ४००		लोहिताक्षसंज्ञा	१	
		४ × ४ =		१६
(२) अन्तराधिगताः—		वंक्षणयोः (विटपयोः)	४	
श्रोण्याम्	३२	कटीकतरुणयोः	४	
(गुदमेढ्राश्रयाः)			८	
पार्श्वगताः	१६	पार्श्वयोः तयोरूर्ध्वगाम् एककाम्	१	
		पार्श्वसंधिसंज्ञाम्ः (मर्मणि)	१	
			२	
पृष्ठगताः	२४	पृष्ठवंशमुभयतः द्वे द्वे	२	
		ऊर्ध्वगामिन्यौ	२	
			४	३२
उदरगताः	२४	मेढ्रस्योपरि रोमराजीमुभयतो	२	
		द्वे द्वे	२	
			४	
वक्षोगताः	४०	हृदये द्वे =	२	
	१३६	स्तनमूलयोः =	४	
		स्तनरोहितयोः =	४	
		अपस्तम्भयोः =	२	
		अपालापयोः =	२	
			१४	

(३) मूर्धगताः—		नीले २ मन्ये २	=	४	
ग्रीवागताः	२४	मातृका	=	८	
		कृकाटिकयोः	=	२	
		विधुरयोः	=	२	
				१६	
हनुगताः	१६	सन्धिसंबंधिन्यौ	=	२	
जिह्वागताः	१६	रसवेदिन्यौ	=	२	
		वाक्प्रवर्तिन्यौ	=	२	
				४	
नासागताः	२४	गन्धवेदिन्यौ	=	२	
		तालुनि	=	१	५०
				३	
नेत्रगताः	५६	उन्मेष निमेषक्रिये अपांग	=	६	
ललाटे नासानेत्रगताः		२ २ २			
		केशान्तानुगता आवर्त स्थपनि	=	७	
		४ २ १			
				१३	
कर्णगताः	१६	शब्दवाहिन्यौ शंखसंधिगते	=	४	
		२ २			
शिरोगताः	१२	उत्क्षेपयोः सीमन्तेषु अधिपति	=	८	
		२ ५ १			
	१६४				
	७००				९८

मर्मविवरणं कोष्ठकम्

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः					स्थानम्	विशेषः
			मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म		
	(१) सद्यः प्राण-हराणि—१९								
१	गुदम्	१	❀					स्थूलांत्रप्रतिबद्धम्	वातवर्चोनिरसनम्
२	बस्तिः (मूत्राशयः)	१		❀				कट्या अभ्यन्तरतः	अल्पमांसशोणितः धनुर्वक्र एकद्वारोऽधोमुखः
३	नाभिः	१		❀				पक्वामाशयमध्ये	
४	हृदयम्	१		❀				कोष्ठवक्षसोः स्तनयोश्च मध्ये	सत्त्वरजस्तमोधिष्ठानमामाशयद्वारम्
५	मातृकाः	८		❀				ग्रीवायामुभयतः	
६	शंखौ	२						भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपर्यनुकर्ण-ललाटे	
७	शृङ्गाटकानि	४		❀	❀	❀		जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्रतर्पणीनां सिराणां तालुनि संनिपातः	
८	अधिपतिः (रोमावर्तः)	१					❀	अन्तर्मस्तकं सर्वोर्ध्वं सिरा, संधीनां संगमः	
	(२) कालान्तर प्राणहराणि ३०								
९	तलहृदयानि	४	❀					पादकरतलमध्ये मध्यमांगुल्य-भिमुखेन	तत्र विद्धस्य रुजया मरणम्
१०	क्षिप्राणि	४			❀			अंगुष्ठांगुल्योर्मध्ये	तत्राऽऽक्षेपकेन मरणम्
११	इन्द्रबस्तयः	४	❀					पार्ष्णिमणिबन्धप्रभृति जंघा-प्रपाणिमध्ये	शोणितक्षयान्मरणम्
१२	स्तनमूले	२		❀				वक्षसि स्तनयोरधस्ताद्द्व्य-ङ्गुलमुभयतः	कफपूर्णकोष्ठस्य मरणम्
१३	स्तनरोहिते	२	❀					वक्षसि स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः	शोणितपूर्णकोष्ठस्य मरणम्
१४	अपस्तम्भौ	२						वक्षसि उभयोः द्वे वातवहे नाड्यौ	शोणितपूर्णकोष्ठतया कास-श्वासाभ्यां च मरणम् (वातपूर्णकोष्ठतया इति सुश्रुतः)

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः					स्थानम्	विशेषः
			मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म		
१५	अपालापौ	२		❀				अंसपार्श्वान्तरयोर्मध्ये किंचित्पार्श्वभागे	पूयत्वमापन्नेन रक्तेन मरणम्
१६	कटिकतरुणे	२				❀		पृष्ठवंशस्य द्वयोः पार्श्वयोः विद्यमाने प्रतिश्रोणिकर्णावस्थिनी	शोणितक्षयात्पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते
१७	नितम्बौ	२				❀		पृष्ठवंशस्य द्वयोः पार्श्वयोः श्रोणिकर्णयोरुपरि पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पक्वाशयस्याच्छादने	अधःकाये शोफः दौर्बल्यं मरणम् च (अधःकाये शोष इति सुश्रुतः)
१८	पार्श्वसन्धौ	२		❀				जघनपार्श्वयोर्मध्ये तिर्यगूर्ध्वं च	शोणितपूर्णकोष्ठतया मरणम्
१९	बृहत्यौ	२					❀	पृष्ठवंशस्योभयतः स्तनमूलयोरार्जवेन	शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्मरणम्
२०	सीमन्ताः	५					❀	शिरसितिर्यगूर्ध्वं च कपालानां पंचसंधयः	उन्माद भ्रमचित्तनाशैर्मरणम् (भ्रम शब्दस्थले भयशब्दं प्राह सुश्रुतः)
२१	(३) विशल्यघ्नानि ३ उत्क्षेपौ	२						शंखयोरुपरि केशान्ते	अपशल्यो जीवति पाकाद्वा स्वयं पतिते शल्ये जीवति उद्धृतशल्यो न जीवेत्
२२	स्थपनी	१	❀					भ्रुवोर्मध्ये	उत्क्षेपवत्
२३	(४) विकलत्वकराणि ४४ कूर्चाः	४			❀			क्षिप्रस्योपरि द्व्यङ्गुले उभयतः	हस्तपादयोः भ्रमणवेपने
२४	जानुनी	२					❀	जंघोर्वोःसन्धाने	खञ्जता
२५	कूर्परौ	२					❀	प्रपाणिप्रबाहुसंगमे	कुणिता
२६	आणयः	४			❀			जानुकूर्परयोस्त्र्यंगुलादूर्ध्वमुभयतः	शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिबाहुता च
२७	ऊर्व्यः	४		❀				ऊरुप्रबाह्वोर्मध्ये	रक्तक्षयात् सक्थिप्रबाहुशोथः
२८	लोहिताक्षाणि	४		❀				ऊरुप्रबाह्वोर्मूले वंक्षणस्कन्धसन्ध्योरधस्तात्	रक्तक्षयात् पक्षाघातैः [सक्थि (प्रबाहु) शोष इत्यधिकं सुश्रुते]
२९	विटपौ	२			❀			वंक्षणवृषणयोर्मध्ये	षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा
३०	कक्षाधरौ	२			❀			कक्षाक्षमध्ये	कुणिता
३१	कुकुन्दरौ	२					❀	पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतः	स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टानाशश्च

क्रमांक	मर्मनाम	मर्म सं०	मर्मणां प्रकाराः मांसमर्म	सिरामर्म	स्नायुमर्म	अस्थिमर्म	संधिमर्म	स्थानम्	विशेषः
३२	अंसौ	२			✿			ग्रीवाबाहुशिरोमध्ये अंसपीठ-स्कंधबन्धनौ	स्तब्धबाहुता
३३	अंसफलकौ	२				✿		पृष्ठवंशमुभयतो बाहुमूल-संबृद्धे	बहुस्वापशोषौ
३४	नीले	२		✿				कंठनाडीमुभयतः	मूकता स्वरवैकृत्यं रसा-ग्राहिता वा
३५	मन्ये	२		✿				कंठनाडीमुभयतः	नीलावत्
३६	कृकाटिके	२		✿			✿	शिरोग्रीवयोः संधाने	चलमूर्धता
३७	विधुरे	२			✿			कर्णपृष्ठयोरधः संश्रिते	बाधिर्यम्
३८	फणौ	२		✿				घ्राणमार्गमुभयतः श्रोत्रमार्ग-प्रतिबद्धौ अभ्यन्तरतः	गन्धाज्ञानम्
३९	अपांगौ	२		✿				भ्रुवोः पुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णां बाह्यतः	आन्ध्यम् दृष्ट्युपघातो वा
४०	आवर्तौ	२			✿		✿	भ्रुवारुपारानम्रया	अपांगवत् रुजाशोफौ
४१	(५) रुजाकराणि ८ कूर्चशिरांसि	४					✿	गुल्फमणिबन्धसन्ध्योरधः	
४२	गुल्फौ	२			✿			पादजंघयोः सन्धाने	रुक्स्तब्धसक्थिता षण्ढता वा
४३	मणिबन्धौ	२					✿	करप्रयाण्योः सन्धाने	कुणिता

धमन्यः चतुर्विंशतिः (सु० शा० ६-४-६)

(नाभिप्रभवाः)

ऊर्ध्वगाः १०

हृदयमभिप्रपन्नाः त्रिधा जायन्ते ताः त्रिंशत्

वातवहे	२
पित्तवहे	२
कफवहे	२
शोणितवहे	२
रसवहे	२
शब्दवहे	२
रूपवहे	२
रसवहे	२
गन्धवहे	२
द्वाभ्यां भाषते	२
द्वाभ्यां घोषं करोति	२
द्वाभ्यां स्वपिति	२
द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते	२
द्वे अश्रुवाहिण्यौ	२
द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः	२
ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यां अभिवहतः	
	३०

अधोगामिन्यः १०

पित्ताशयमभिप्रपन्नाः आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते ताः त्रिंशत्

वातवहे	२
पित्तवहे	२
कफवहे	२
शोणितवहे	२
रसवहे	२
अन्नवाहिन्यौ (अंत्राश्रिते)	२
तोयवहे	२
मूत्रवहे (मूत्रबस्तिनाभिप्रपन्ने)	२
शुक्रवहे (शुक्रप्रादुर्भावाय)	२
शुक्रवहे (विसर्गाय)	२
वर्चोनिरसन्यौ (स्थूलांत्रप्रतिबद्धे)	२
द्वे तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदं अर्पयन्ति	८
	३०

तिर्यग्गाः ४

एकैकां शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसंख्येयाः ।

तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि यैः स्वेदं अभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णाति, तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वांगगताः ।

ते एव रक्तमभिवहतो (विसृजतश्च) नारीणामार्तवसंज्ञम्

अथ चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद द्विव्रणीय चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वतरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—दो प्रकार के व्रणों को ध्यान में रखकर लिखी चिकित्सा अर्थात् व्याधि प्रतिकार ॥ १,२ ॥

द्वौ व्रणौ भवतः—शारीरः आगन्तुश्च। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः, आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्गचक्रेषु परशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिजातनिमित्तः। तेन तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजनसामर्थ्याद् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते ॥ ३ ॥

दो प्रकार के व्रण होते हैं—शारीर और आगन्तुक। इनमें शारीरिक व्रण-वायु, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपातजन्य हैं, आगन्तुज व्रण भी—पुरुष, पक्षि, हिंसकपशु, साँप आदि के गिरने से, पीड़न-प्रहार अग्नि-क्षार विष-तीक्ष्णौषध-काष्ठ आदि के टुकड़ों, कपाल, सींग, चक्र, बाण, परशु, शक्ति, कुन्त, आदि शस्त्रों के अभिघात से उत्पन्न होते हैं। इन दोनों में व्रणत्व सामान्य होने से, दो कारणों के कारण उत्पन्न होने के उद्देश्य से इस अध्याय को द्विव्रणीय कहते हैं। जैसा कि चरक में भी इस अध्याय का नाम "द्विव्रणीय"२ रक्खा है। यथा—'यो व्रणो पूर्वमुद्दिष्टो निजश्चागन्तुरेव च। श्रूयतां विधिवत्सौम्य तयोर्लिङ्गं सभेषजम्' चरक ॥ ३ ॥

सर्वस्मिन्नेवागन्तुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारणविधिविशेषसन्धानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद् द्विकारणोत्थानप्रयोजनम्, उत्तरकालं तु दोषोपप्लवविशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥ ४ ॥

सभी प्रकार के आगन्तुज व्रणों में उसी समय क्षत की उष्णिमा को आगे न फैलने देने के लिये, पित्त की भाँति शीतल क्रिया को करने तथा व्रण को मिलाने के लिये मधु और घृत का उपयोग करना, ये दो कारणों के उत्पन्न होने के उद्देश्य हैं। पीछे से दोषों के कोप होने प्रर शरीरजन्य व्रणों की भाँति चिकित्सा है।

वक्तव्य—दो उद्देश्य होने से इसे द्विव्रणीय कहा है। आगन्तुज व्रण पीछे दोषों से मिल जाता है, यथा—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं, निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः। तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्, ज्ञात्वा ततः कर्म समादिशेत् ॥ डल्हण ने उत्तरकाल से सात दिन पीछे का समय माना है। सात दिन के पीछे आगन्तुज व्रणों में दोष की अधिकता से शारीरिक व्रणों की भाँति चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—आगन्तुक व्रण में तत्काल उक्त उपचार करने से पाक आदि का प्रारम्भ नहीं होता, परन्तु यदि हो ही जाय तो शारीर व्रण के समान शोधन रोपण आदि उपचार करे। जब तक—पाकादि का प्रारम्भ नहीं होता तब तक व्रण को आगन्तु समझा जाता है और उक्त उपचार किया जाता है, सन्धान के लिए—मधु १ तोला, गो घृत २ तोला मिला फेंटकर लेप करे और आवश्यकता हो तो सीवन कर्म करे। तदर्थ देखिये सू० अ० २५ के श्लोक १६ से २६। यही विशिष्ट कर्म का उपदेश करने के लिए व्रण को दो प्रकार का कहा—लिखा गया है। क्योंकि उसके पश्चात् दोषों का प्रवेश हो जाने पर—पाक आदि का प्रारम्भ हो जाने पर तो आगन्तु तथा शारीर दोनों व्रण समान ही होते हैं अर्थात् उनके लक्षण एवं चिकित्सा दोनों समान होते हैं ॥ ४ ॥

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः प्रसरणसामर्थ्यात्, यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे, शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके ॥ ५ ॥

दोषों का उपप्लव भेद संक्षेप में पन्द्रह प्रकार का है, यह भेद इन दोषों के फैलने के अनुसार है, इसको व्रण प्रश्नाधिकार में कह चुके हैं। एक भेद शुद्ध व्रण होने से व्रण सोलह प्रकार का है ऐसा कई मानते हैं।

वक्तव्य—दोष से वात, पित्त, कफ और रक्त चारों ही का यहाँ ग्रहण है, इसी से कहा है, "नर्ते देहः कफादस्ति, न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥" ॥ ५ ॥

तस्य लक्षणं द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं रुक्। 'व्रण' गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषः ॥ ६ ॥

व्रण के लक्षण दो प्रकार के हैं, सामान्य और वैशेषिक (विशिष्टता के सूचक)। इनमें सामान्य लक्षण दर्द होना है। व्रण-गात्रविचूर्णने इस धातु से व्रण शब्द बनता है, जिसका अर्थ शरीर में विचूर्णता करना है। विशेष-लक्षण—वातादि दोषों से लक्षणों की भिन्नता है।

वक्तव्य—वृणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति। आदेहधारणात्तस्मात् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥ सु० सू० अ० २१। शरीर जब तक रहता है, तब तक विवर्णता रहती है।

वि० मन्तव्य—व्रण में रुजा—वेदना होना सामान्य लक्षण है अर्थात् रुजा सब व्रणों में होती है। व्रण गात्रविचूर्णने धातु है—व्रणयति गात्रं विचूर्णयति इति व्रणः—अर्थात् जो गात्र को चूर २ कर देता है वह व्रण कहलाता है। जितने स्थान में व्रण होता है उतना स्थान चूर २ हो जाता है। देखिये सू० स्था० अ० २१-२२ तथा भगन्दर आदि के प्रकरण। व्रण का नाम है घाव। वह आगन्तु व्रण छः प्रकार का होता है—'छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च। घृष्टं आहुः तथा षष्ठं' और शारीर व्रण—वह है जो प्रथम शोथ उत्पन्न होता है और फिर उसके पककर फूटने पर घाव बनता है। इन सब में गात्र का विचूर्णन होता है, अतः "व्रण" कहलाता है ॥ ६ ॥

तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्, क्षिप्रजः पीतनीलाभः किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति पित्तात्, प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालावततः कठिनः पाण्डुवभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति कफात्, प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात्, तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्यां, कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाल्पस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्यां, गुरुः सदाह उष्णः शीतपाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्यां, रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्णास्रावी चेति वातशोणिताभ्यां, घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिमृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्यां, रक्तो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरो सरक्तपाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्यां, स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्यः, कण्डूस्फुरणचुमचुमायमानप्रायः पाण्डुघनरक्तस्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः, दाहपाकरागकण्डूप्रायः पाण्डुघनस्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः; त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः, निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूस्वापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः, जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥ ७ ॥

वातजन्य व्रण—श्याव या अरुण वर्ण, पतला, या शीतल, पिच्छिल, थोड़े स्राववाला, रूक्ष, चटचट करनेवाला (फटनेचिरने के स्वभाव का), स्फुरण (फड़कन), खिंचाव, तोद, भेद की अधिक वेदनावाला और मांस रहित (कम मांस का) होता है। पित्तजन्य व्रण-जल्दी उत्पन्न होता है, पीली झांईवाला, ढाक के फूल के पानी के समान, उष्ण स्राव युक्त दाह पाक सुर्खी एवं विकारकारी, पीली पिड़काओं से भरा होता है। कफजन्य व्रण—निरन्तर भयानक, कण्डू बहुल, मोटे किनारों का, सिरा स्नायु के जालों से भरा, कठिन, पाण्डु (श्वेत) वर्ण की झांई का, मन्द वेदना युक्त, श्वेत, शीतल, सान्द्र, पिच्छिल स्राव युक्त और गुरु होता है। रक्तजन्य व्रण—मूँगे की शाखा के समान कान्तिवाला, काले छाले, एवं पिडिकाओं के जाल से भरा, घुड़साल के समान तीक्ष्ण गन्धवाला, वेदना युक्त अतिशय धूमोद्गार करने जैसा, रक्त का स्राव करनेवाला और पित्त वर्ण के लक्षणोंवाला होता है। वात-पित्तजन्य व्रण-तोद, दाह, धूमोद्गार की प्रधानतावाला, पीली या लाल झांई का, वात-पित्त के व्रण के समान वर्ण एवं स्राव युक्त होता है। वात-कफजन्य व्रण—कण्डू युक्त, चुभने की दर्द, रूक्ष, भारी, कठोर, बार-बार शीतल-पिच्छिल और थोड़ा स्राव करनेवाला होता है। पित्त रक्त के कारण व्रण गुरु, दाहयुक्त, उष्ण, पीला और पाण्डुव्रण का स्राववाला होता है। वातरक्तजन्य वर्ण-रूक्ष, पतला, तोद (चुभने की दर्द) की अधिकता का, सोया हुआ सा, लाल—अरुण झांई का, वात-रक्त के समान वर्ण एवं स्राव युक्त होता है। पित्त रक्त के कारण—घी के मण्ड (उपरिभाग) के समान कान्ति का, मछली के धोये हुए पानी के समान गन्ध का, कोमल, फैलनेवाला, उष्ण एवं काला स्राव करनेवाला होता है। कफ रक्तजन्य व्रण—लाल, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, कण्डू बहुल, स्थिर, रक्त (लाल) एवं पाण्डु वर्ण का स्राव करता है। वात-पित्त-रक्तजन्य व्रण—स्फुरण, तोद, दाह, धूमोद्गमन बहुल, पीला-पतला रक्तस्राव करनेवाला होता है। वात कफ-रक्तजन्य-कण्डु, स्फुरण, चुमचुमायमान, तथा पाण्डुघट्ट रक्त स्राववाला होता है। पित्तकफ रक्त-जन्य व्रण-दाह-सुर्खी-पाक-कण्डुबहुल, पाण्डु घट्ट रक्त स्राववाला होता है। वात पित्त-कफ के कारण व्रण तीनों दोषों के वर्ण, स्राव, वेदना के लक्षणों से युक्त होता है। वायु-पित्त, कफ और रक्त के कारण व्रण—जलाने की भांति, मथने की भाँति, स्फुरण, तोद, दाह, पाक, सुर्खी, कण्डू, सुप्तता बहुल, नाना प्रकार की वेदना, वर्ण, स्राव से युक्त होता है। शुद्ध व्रण—जिह्वा तल के समान (दोनों से भरा-लाल) कोमल, स्निग्ध, चिकना, वेदना रहित, भली प्रकार स्थित, बिना स्राव का होता है।

वक्तव्य—चुमचुमायमान-सरसों का लेप करने पर या धूप में गरमी में बैठने पर जैसे किड़ियाँ सी लड़ती हों। चरक में—स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ तृष्णामोहज्वरस्वेददाहदुष्टयवदारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धस्रावैश्च पूतिकैः ॥ बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदः चिरकारी कफव्रणः ॥ चरक० चि० अ० ॥२५-११॥

वि० मन्तव्य—दोष भेद से व्रणों के ये १५ प्रकार हैं और शुद्ध व्रण भी व्रण तो है ही, भले ही उसमें किसी दोष के व्यक्त लक्षण नहीं रहते, परन्तु रोपण कर्म करना ही होता है और साथ २ रक्षाविधान आदि भी। अतः उसको साथ में गिनने से व्रणों की संख्या १६ हो जाती है ॥७॥

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा—अपतर्पणमालेपः परिषेकोऽभ्यङ्गः स्वेदो विम्लापनमुपनाहः पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमप्रसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्धः पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधुसर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति ॥८॥

व्रण के उपक्रम साठ हैं, यथा-अपतर्पण, आलेप, परिषेक, अभ्यंग, स्वेद, विम्लापन, उपनाह, पाचन, विस्रावण, स्नेह, वमन, विरेचन, छेदन, भेदन, दारण, लेखन, एषण, आहरण, व्यधन, 'विस्रावण, सीवन, सन्धान, पीड़न, शोणितास्थापन, निर्वापण, उत्कारिका, कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया, अवचूर्णन, व्रण धूपन, उत्सादन, अवसादन, मृदुकर्म, दारुणकर्म, क्षारकर्म, अग्निकर्म, कृष्णकर्म, पाण्डुकर्म, प्रतिसारण, रोमसञ्जनन, लोमापहरण, वस्तिकर्म, उत्तरवस्तिकर्म, बन्ध, पत्रदान, कृमिघ्न, बृंहण, विषघ्न, शिरोविरेचन, नस्य, कवलधारण, धूम, मधुसर्पि, यंत्र, आहार, और रक्षाविधान। (मधुसर्पि-एक गिनना चाहिये)।

वक्तव्य—डल्हण ने लिखा है कि इसमें प्रतिसारण को नहीं गिने, तब साठ उपक्रम पूरे होते हैं। परन्तु इस पाठ में 'सर्पि' दो बार आता है। इसे एक स्थान पर गिनकर प्रतिसारण को गिनने से साठ हो जायेंगे।

चरक में छत्तीस उपक्रम कहे हैं, यथा—

शोफघ्नं षड्विधं चैव, शस्त्रकर्मावपीडनम्।
निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणा ॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ।
द्वौ स्नेहौ तद्गुणौ पत्रच्छेदने द्वे च बन्धने ॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः।
काठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे ॥
वर्णाविचूर्णनं व्रण्यं रोपणं लोमरोहणम्।
इति षट् त्रिंशदुद्दिष्टाव्रणानां समुपक्रमाः ॥
(पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेपनं तथा।
प्रोञ्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्)

वि० मन्यव्य—व्रण के ये ६० उपक्रम-उपचार हैं। इनका समय २ पर अथच आवश्यकताऽनुसार प्रयोग किया जाता है।

तेषु कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनमिति शोधनरोपणानि, तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः, शोणितास्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं बन्धविधानं चोक्तानि, स्नेहस्वेदनवमनविरेचनबस्त्युत्तरबस्तिशिरोविरेचनस्य धूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः। यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यते ॥९॥

इनमें कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया, अवचूर्णन ये कर्म शोधन और रोपण दोनों को करते हैं। इनमें आठ शस्त्र कर्म हैं। शोणितास्थापन, क्षार, अग्नि, यंत्र, आहार, रक्षाविधान, बन्धविधान पहले कह चुके हैं। स्नेह, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति, उत्तरवस्ति शिरोविरेचन, नस्य, धूम, कवलधारण, इनको अन्यत्र कहेंगे। इनसे जो उपक्रम शेष रह गये हैं, उनको यहाँ पर कहेंगे।

वि० मन्तव्य—इनमें ८ उपक्रम-शस्त्रद्वारा किये जाते हैं, यथा—१-छेदन, २-भेदन या दारण, ३-लेखन, ४-एषण, ५-आहरण, ६-व्यधन, ७-विस्रावण तथा ८-सीवन। शोणितास्थापन—रक्तप्रवाह को रोकने का उपाय सू० स्था० अ० १५ में, क्षार कर्म सू० अ० ११ में, अग्निकर्म सू० अ० १२ में, यन्त्रण सू० अ० ७ मे, आहार सू० स्था० १६ तथा २० में, रक्षाविधान सू० स्था० १६ तथा अ० ५ में, बन्धविधान—सू० स्था० अ० १६ तथा १८ में देखिये। स्नेहन—चि० स्था० अ० ३१, स्वेदन—चि० स्था० अ० ३२, वमन अ० ३३, विरेचन अ० ३३, वस्तिकर्म अ० ३५, उत्तरवस्ति अ० ३६, शिरोविरेचन—धूम, नस्य, कवलग्रह अ० ४० में देखिये ॥६॥

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः, तस्यैकादशोपक्रमाभवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः, ते च विषेशेण शोथप्रतोकारे वर्तन्ते, व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते, शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव ॥१०॥

पहले कहा है कि शोफ छै प्रकार का है, इस शोफ के अपतर्पण से लेकर विरेचन तक ग्यारह उपक्रम होते हैं। ये उपक्रम मुख्यतः शोथ की चिकित्सा में बरते जाते हैं। शोथ के

व्रण में बदल जाने पर भी इनका उपयोग हो सकता है। शेष उपक्रम प्रधानतः व्रण की चिकित्सा में काम आते हैं।

वि० मन्तव्य—छ प्रकार का शोथ या शोफ सू० अ० १७ में देखिये। इनमें कुछ उपक्रम शोथ (फोड़ा) को दबाने—बैठाने के लिये किये जाते हैं और कुछ पकाने के लिये। यथा अपतर्पण-उपवास से शोथ को बढ़ने के लिये बल नहीं मिलता, वमन विरेचन से शारीरिक दोषों का मूलोच्छेद ही हो जाता है, अतः भी वह नहीं बढ़ता आलेप से विम्लापन पर्यन्त उपक्रमों से शोथ में सञ्चित दोषों का विलयन हो जाता है और विस्रावण से स्थानीय रक्त दोषों को साथ लेकर निकल जाता है। यदि इन सब उपक्रमों से शोथ नहीं बैठता तो उपनाह एवं पाचन लेपों से वह सरलता से और शीघ्र पक जाता है, यद्यपि स्वयं भी व्रणशोथ पक जाते हैं, परन्तु उनका पकना हानिकारक होता है। पकने पर जब वह फूट जाता है अथवा छेदन एवं दारण आदि अष्टविध शस्त्रकर्म द्वारा चीर दिया या फोड़ दिया जाता है, तब वह 'व्रण' कहलाता है। इस दशा में भी आवश्यकतानुसार अपतर्पण से विरेचन पर्यन्त कर्मों का प्रयोग किया जाता है। और अवशिष्ट सब उपक्रम आवश्यकतानुसार समय समय पर किये जाते हैं। उन सब उपक्रमों के उपयोग के हेतु तथा फल आगे विस्तार के साथ कहे गये हैं। उनका परिश्रम पूर्वक अध्ययन कीजिये ॥१०॥

अपतर्पणमाद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च ॥११॥

अपतर्पण ही सबसे पहला उपक्रम है। यह अपतर्पण सब प्रकार के शोथों में सामान्य—तुल्य है और सबसे मुख्य है ॥११॥

भवन्ति चात्र—

दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः।
अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम् ॥१२॥

इस विषय में श्लोक भी हैं—मनुष्य में दोष की प्रधानता देखकर-कुपित दोष की शान्ति के लिये दोष का तथा प्राण (शक्ति बल) का विचार करके, अपतर्पण—लंघन कराना चाहिये ॥१२॥

ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितैः।
न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः ॥१३॥

ऊर्ध्ववात, प्यास, भूख, मुखशोष, श्रम से पीड़ित तथा गर्भवती, बालक, वृद्ध, दुर्बल और डरपोक को उपवास लंघन न कराये। ऊर्ध्ववात का लक्षण—भुक्तेऽभुक्ते तथा सुप्ते यस्योद्गारं भृशं भवेत्। ऊर्ध्ववातं तं विद्यात्, उदानव्यानसंभवम् ॥१३॥

शोफेषूत्थितमात्रेषु व्रणेषूग्ररुजेषु च।
यथास्वैरौषधैर्लेपं प्रत्येकश्येन कारयेत् ॥१४॥

शोफ के तुरन्त उत्पन्न होते ही, तीव्र वेदनावाले व्रणों में दोषों के अनुसार प्रत्येक दोष की दृष्टि से—औषधियों का लेप करे।

वि० मन्तव्य—व्रणशोथ पर-उसे बैठाने एवं पकाने के लिये और व्रणभाव को प्राप्त हो जाने पर शोधन रोपण के लिये लेप लगाये जाते हैं। बैठाने एवं पकाने के लेप तो लेप ही कहलाते हैं और शोधन रोपण के लेप 'मलहर' या 'मलहम' कहलाते हैं॥

यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्।
क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः ॥१५॥
प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा।
उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत् ॥१६॥

जिस प्रकार जलते हुए घर पर शीतल पानी को डालते हैं, इसी प्रकार लेप जलन और वेदना को तुरन्त शान्त कर देता है। व्रण की वेदना को हटाने के कारण सुख देने में, शोधन में, (शोफ को नाश करने में) और रोपण में लेप इन कार्यों को करता है। (अवसादन-नीचे करना भी कार्य लेप से होता है उत्सादन से ही इसे गिनना) ॥१५,१६॥

वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलधान्याम्लमांसरसवातहरौषधनिष्क्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत, पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधक्षीरवृक्षनिष्क्वाथैरनुष्णैः परिषेकान् कुर्वीत, श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिष्क्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत ॥१७॥

यथाऽम्बुभिः सिच्यमानः शान्तिमग्निर्नियच्छति।
दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति ॥१८॥

वातजन्य शोफ में वेदना की शान्ति के लिये घी, तैल कांजी, मांसरस, भद्रदारु आदि वातहर औषधियों के क्वाथ को कोसा करके परिषेक करे। पित्त-रक्तविष और चोट जन्य व्रणों में—दूध, घी, मधु, शर्करा का शर्बत, इक्षुरस, मधुरौषध (काकोल्यादि), बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के शीतल क्वाथों से परिषेक करे। कफजन्य शोफ में —तैल, मूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त और कफघ्न औषधियों के उष्ण क्वाथों से परिषेक करे। जिस प्रकार पानी के छिड़काव से अग्नि शान्त हो जाती है, इसी प्रकार दोषों की अग्नि परिषेक से तुरन्त शान्त होती है।

वि० मन्तव्य—परितः सिच्यते अनेन इति परिषेचनं परिषेकः अर्थात् जिस द्रव से व्रणशोथ अथवा व्रण का सेचन किया जाता है उसका नाम परिषेचन या परिषेक है। इसे 'टकोर' कहते हैं, इससे धुल भी जाता है और वेदना एवं शोथ की शान्ति भी होती है ॥१७,१८॥

अभ्यङ्गस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो दोषोपशमं मृदुतां च करोति ॥१९॥

स्वेदविम्लापनादीनां क्रियाणां प्राक् स उच्यते ।
पश्चात् कर्मसु चादिष्टः स च विस्रावणादिषु ॥२०॥

दोष को देखकर प्रयुक्त क्रिया अभ्यंग दोष की शान्ति और मृदुता करता है। यह अभ्यंग स्वेदन विम्लापन आदि क्रियाओं से पहले बरता जाता है। विस्रावण आदि कार्यों में अभ्यंग पीछे से बरता जाता है। (विस्रावण से लेकर परिषेचन तक कार्यों में पीछे बरतते हैं)।

वि० मन्तव्य—अभितः अज्यते अनेन इति अभ्यंगः-अभ्यञ्जनम् अर्थात् जिससे सब ओर आक्त किया-स्निग्ध किया जाता है। अभ्यञ्जन स्नेहों द्वारा किया जाता है—स्नेह के लेपन का नाम है अभ्यङ्ग। अर्थात् स्नेह को उस स्थान पर चुपड़ देना—लगा भर देना ॥१९,२०॥

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च ।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः ॥२१॥

वेदनावाले, कठोर, वायु से सख्त (रूक्ष) शोफों में तथा इस प्रकार के व्रणों में स्वेदन करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—स्विद्यते अनेन इति स्वेदनम्—जिसके द्वारा व्रणशोथ तथा वण का स्थान स्विन्न हो जाता है। स्वेदन के लिये देखिये चि० अ० ३२ ॥२१॥

स्थिराणां रुजतां मन्दं कार्यं विम्लापनं भवेत् ।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या ततः शनैः ॥२२॥
विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा ।

स्थिर, वेदनावाले (थोड़ी वेदनावाले—कफाधिक) शोफों में विम्लापन करना चाहिये। इसके लिये अभ्यंग करके, स्वेदन देकर, बाँस की पोरी से, या हाथ की हथेली से अथवा अंगूठे से वैद्य धीरे धीरे मर्दन करे।

वि० मन्तव्य—विम्लापन—अंगुली आदि से मर्दन करके शोथ का विलयन करना। जब व्रणशोथ उत्पन्न होने लगता है तबही यह उपक्रम किया जाय ॥२२॥

शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः ॥२३॥
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च ।

आम और विदग्ध दोनों ही अवस्थाओं में शोफ पर उपनाह (पुलटिस) बाँधनी चाहिये। इस उपनाह से न पका शोफ बैठ जाता है, और आधा पका शोथ पूरा पक जाता है।

वि० मन्तव्य—उपनाह-उपनह्यते अनेन इति उपनाहः—अर्थात् व्रणशोथ को बैठाने अथवा पकाने के लिये जो लेप किया जाता है। उपनाहोपयोगी द्रव्य—सू० अ० ३७ के श्लो० १ से ८ देखिये ॥२३॥

निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः ॥२४॥
तस्य संपाचनं कुर्यात् समाहृत्यौषधानि तु ।
दधितक्रसुराशुक्रधान्याम्लैर्योजितानि तु ॥२५॥
स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम् ।
सैरण्डपत्रया शोफं नाहयेदुष्णया तया ॥२६॥
हितं सम्भोजनं चापि पाकायाभिमुखो यदि ।

विरेचन तक कहे हुए उपचारों के बरतने पर भी जो शोफ शान्त नहीं होता, उसके लिये औषधियाँ लाकर उसका पाचन करे। इसके लिये—मिश्रकोक्त अध्याय में कहीं शणमूल बीजक आदि औषधियों को दही, तक्र, सुरा, शुक्त, कांजी में मिलाकर, तैल आदि से स्निग्ध करके, इसमें अच्छी मात्रा में नमक मिलाकर उत्कारिका (लपसी सी) बनाये। इसको गरम करके एरण्ड पत्र के साथ शोफ पर बांध देवे। यदि शोफ पक रहा हो तो उसे भोजन भी यथेष्ट (पकानेवाला) देवे। (पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं संभोजनं मतम्। ऐसा भोजन दे अर्थात् पथ्य-अपथ्य मिलाकर भोजन देवे, ऐसा भी कई मानते हैं)॥

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च ॥२७॥
अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम् ।
सशोफे कठिने ध्यामे सरक्ते वेदनावति ॥२८॥
संरब्धे विषमे चापि व्रणे विस्रावणं हितम् ।
सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा ॥२९॥
वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा ।

तत्काल उत्पन्न शोफ में वेदना की शान्ति के लिये और पकने से बचाने के लिये जौंक से रक्तमोक्षण करे। शोफ-युक्त कठिन, फूले, सुर्खीवाले, वेदना युक्त, विशाल मलवाले, और विषम व्रण में (नीचे ऊँचे व्रण में), विस्रावण हितकारी है। विषवाले व्रणों में तो मुख्यतः जौंकों से, अथवा पाछकर, रक्त मोक्षण करे। जिससे वेदना शान्त हो जाये और पकने से बच जाये।

वि० मन्तव्य—रक्तमोक्षण—व्रणस्थान पर जोंक लगाकर अथवा पच्छ लगाकर रक्त निकालना ॥२९॥

सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम् ॥३०॥
यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते ।

उपद्रववाले, रूक्ष, कृश, व्रणजन्य शोष से पीड़ित व्यक्तियों में उनके अपने दोषों के अनुसार औषधियों से सिद्ध स्नेह का पान कराना चाहिये ॥३०॥

उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः ॥३१॥
संक्लिष्टश्या (ध्या) मरुधिरे व्रणे प्रच्छर्दनं हितम् ।

शोफ में मांस उभरा होने पर, विशेषकर कफयुक्त व्रणों में, रक्त के दूषित एवं श्याम-काला होनेपर वमन हितकारी है।

चरक में कहा भी है—

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम् ।
ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च ॥
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः ॥३१॥

वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु ॥३२॥
विरेचनं प्रशंसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः ।

वायु-पित्त से दूषित और पुराने-देर से चालू व्रणों में व्रण को जाननेवाले विरेचन को उत्तम बताते हैं ॥३२॥

अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थितेषु च ॥३३॥
स्नायुकोथादिषु तथा च्छेदनं प्राप्तमुच्यते ।

मेद-कफ-ग्रन्थि-मांस आदि न पकनेवाले या थोड़ा पकनेवाले, दृढ़ एवं स्थिर रोगों में तथा स्नायु कोथ आदि में (सिरा आदि के सड़ने में) छेदन करना उत्तम है। (जैसे कि गैंगरीन में छेदन करना श्रेयस्कर है)।

वि० मन्तव्य—छेदन—व्रणभूमि – गली सड़ी या गलने सड़नेवाली व्रणभूमि को मूलतः शस्त्रद्वारा निकाल देना अथवा शोधन द्वारा साफ कर देना, अथवा जन्तुमारक कृमि उत्पन्न करके दूषित भाग को खिला देना ॥३३॥

अन्तःपूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि ॥३४॥
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ।

अन्दर पूयवाले परन्तु बिना मुख के, अन्दर खोखली व्रण वास्तु (कैविटी-गुहा) वाले तथा गतिवाले व्रणों में भेदन उत्तम है ॥३४॥

बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि ॥३५॥
मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम् ।
सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते ॥३६॥
पाकोद्वृत्तेषु दोषेषु तत्तु कार्यं विजानता ।
सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥३७॥

बालक, वृद्ध, न सहन करनेवाले (शस्त्र को जो न सह सके), क्षीण, डरपोक, स्त्रियों के तथा मर्म स्थानों के ऊपर उत्पन्न रोगों में, एवं भली प्रकार पके, पीण्डित (एक स्थान पर स्थित) शोफ में मिश्रकोक्त चिरबिल्वादि पीड़न द्रव्यों से पीड़न करके फाड़ना उत्तम है। दोषों के त्वचा में आने पर (उत्तान होने पर), दारण द्रव्यों को भली प्रकार पीसकर इनसे लेप करके फाड़े अथवा क्षार से दारण करे।

वि० मन्तव्य—भेदन—जब व्रणशोथ में पूय उत्पन्न हो जाता है तब किया जाता है, यदि ऊपर से न पककर भीतरी—गम्भीरपाक होता है तब शस्त्र द्वारा चीरा लगाया जाता है अथवा क्षार मिश्रित लेप लगाकर दारण किया जाता है।३५-३७।

कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः ।
कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक् ॥३८॥
समं लिखेत् सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः ।
वर्त्मनां तु प्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत् ॥३९॥

कठिन, मोटे या गोल किनारों के बार-बार फट जानेवाले तथा कठिन एवं ऊपर को उठे मांसवाले व्रणों में वैद्य लेखन करे। व्रण में भली प्रकार-समान रूप में लेखन करे। सम्पूर्ण रूप में लेखन करे। व्रण के किनारों के प्रमाण में बराबर शस्त्र से लेखन करे ॥३९॥

क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम् ।
कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थं प्रदापयेत् ॥४०॥

अलसी—वस्त्र, कपड़े का टुकड़ा, रूई का फोया, जौ का क्षार, समुद्र फेन, सैन्धव और शेफालिका आदि खुरदरे पत्ते, लेखन के लिये बरते।

वि० मन्तव्य—लेखन—छील देना—जो भाग छील देने योग्य हो उसे छील देना। रगड़कर दूर कर देना ॥४०॥

नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः ।
करीरबालाङ्गुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक् ॥४१॥
नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः ।
चुच्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेत्तु ताः ॥४२॥

नाड़ी व्रणों को, शल्यवाले, उन्मार्गी अंदर से खोखले व्रणों में वैद्य करीर बाल, अंगुलि या ऐषणी से धीमे रूप में ऐषण कार्य करे। नेत्र वर्त्म (पलक), गुदा के समीप, छोटे मुख के नाड़ी व्रण, रक्तवाले व्रणों में—चुच्चु, पोई—इनके चिकने कोमल नालों से इनको खोजे।

वि० मन्तव्य—एषण—व्रण के मार्ग को खोजना कि वह कहाँ तक है और खोजकर—वहाँ तक बत्ती—औषधलिप्त बत्ती चढ़ाना—पहुँचाना अथवा शस्त्र द्वारा या दारण लेपों द्वारा वहाँ तक भेदन करके या दारण करके शोधन रोपण उपचार के योग्य बना लेना ॥४२॥

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान् भिषक् ।
यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्तोद्धरणलक्षणम् ॥४३॥

जिन व्रणों के मुख खुले रहते हैं और बन्द रहते हैं (कभी खुल जाते हैं और कभी भर जाते हैं) ऐसे ऐसे व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य सद्यः प्राणहर, विशल्यघ्न आदि मर्मों को बचाकर शस्त्र कर्म करे ॥४३॥

रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणतः ।
शस्त्रं निदध्याद्दोषं च स्रावयेत् कीर्तितं यथा ॥४४॥

व्यधन साध्य रोगों में उद्देश्य एवं प्रमाण के विचार से शस्त्र कर्म करे, और दोष का स्राव कहे अनुसार करे। (यथा—महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलान्तरं त्र्यंगुलान्तरे वा शस्त्रनिपातनम्)। यहाँ पर दो उपक्रम व्यधन और विस्रावण कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—व्यधन—वींधना—जैसे फफोले को सूई से वींधकर और मूत्रवृद्धि तथा जलोदर रोगों में कोष तथा उदर को वींधकर तद्द्रव जल—द्रव निकाला जाता है। कीर्तितं तथा—जैसा उन २ रोगों की चिकित्सा में कहा गया है ॥४४॥

अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये ।
यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च ॥४५॥

जिन व्रणों में पाकजन्य उपद्रव नहीं है, जिनका

मुख खुला है और जो मांस में स्थित हैं, उनमें कही विधि से सीना चाहिये, और इनका सन्धान करना चाहिये ॥४५॥

पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान्मर्मगतानपि ।
यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥४६॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ।
न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते ॥४७॥

पूय से भरे, छोटे मुखवाले, मर्म गत व्रणों में कहे हुए पीडन द्रव्यों से चारों ओर में पीड़न करना चाहिये। पीड़न कार्य में प्रदेहलेप को सूखने देना चाहिये। व्रण के मुख पर लेप लगाने से दोष बाहर नहीं आता ॥४६,४७॥

तैस्तैर्निमित्तैर्बहुधा शोणिते प्रस्रुते भृशम् ।
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत् ॥४८॥

सिरावेध आदि भिन्न-भिन्न कारणों से रक्त के बहुत अधिक निकलने पर वैद्य यथोक्त विधि से रक्त स्थापन (रक्त को रोकना) करे। (सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दाहनं तथा) ॥४८॥

दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः ।
रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत् ॥४९॥
यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृताप्लुतैः ।
दिह्यादबहुलान् सेकान् सुशीतांश्चावचारयेत् ॥५०॥

पित्त प्रकोप के कारण दाह, पाक, ज्वर होने पर या रक्त से आक्रान्त व्रणों में निर्वापण करना चाहिये। इसके लिये मिश्र-कोक्त दूर्वादि द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर घी मिलाकर पतला लेप करे। अतिशीतल सेक (परिषेक) करे।

वक्तव्य—"श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपः चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वगतस्योष्मणो रोधात्" चरक।

वि० मन्तव्य—निर्वापण—दाह शान्ति का उपाय, शीतल उपचार ॥४९,५०॥

व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु ।
तोदकाठिन्यपारुष्यशूलवेपथुमत्सु च ॥५१॥
वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा ।
स्नैहिकेषु च बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥५२॥
तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम् ।

क्षीण मांसवाले, पतले स्राववाले, न पकनेवाले तोद-कठिनता रूक्षता शूल एवं कम्पनवाले, तथा स्थिर एवं वेदना-वाले व्रणों में—भद्रदार्व्यादि वातघ्न, सौवीरक, तुषोदक आदि अम्लवर्ग और काकोल्यादिगण, तिल-अलसी-सरसों एरण्ड आदि स्नेहवाले बीजों के साथ उत्कारिका पकाकर इससे स्वेदन करे।

वि० मन्तव्य-उत्कारिका–लपसी–हलुआ या पुल्टिस बनाकर गरम-गरम बाँधे ॥५१,५२॥

दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः ॥५३॥
कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः ।
अन्तःशल्यानणुमुखान् गम्भीरान् मांससंश्रितान् ॥५४॥
शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान् यथाक्रमम् ।
पूतिमांसप्रतिच्छन्नान् महादोषांश्च शोधयेत् ॥५५॥
कल्कीकृतैर्यथालाभं वर्तिद्रव्यैः पुरोदितैः ।

दुर्गन्धवाले क्लेदयुक्त विशेषकर पिच्छिल व्रणों में पहिले कहे हुए (शंखिनी अंकोट सुमनादि) द्रव्यों के शोधन कषायों से शोधन करे। अन्दर शल्यवाले, सूक्ष्म मुखवाले, गहरे, मांस में स्थित व्रणों का क्रम से (प्रथम सूक्ष्म, फिर स्थूल, फिर स्थूलतर, फिर स्थूलतम) शोधन द्रव्य युक्त वर्त्तियों से शोधन करे। सड़े मांस से ढंपे हुये, और बहुत दोषवाले व्रणों का पूर्वोक्त वर्तिद्रव्यों में से जो मिल सकें उनको पीसकर शोधन करे। ('दोष' से पूय लेना चाहिये) ॥५३–५५॥

पित्तप्रदुष्टान् गम्भीरान् दाहपाकप्रपीडितान् ॥५६॥
कार्पासीफलमिश्रेण जयेच्छोधनसर्पिषा ।

पित्त से दूषित, गहरे गये, दाह-पाक से युक्त व्रणों का कासीस, अजगन्धा आदि द्रव्यों में कपास का फल मिलाकर इनसे घृत सिद्ध करके, उससे शोधन करे।

वक्तव्य—डल्हण का कहना है कि—कार्पास फल शोधन द्रव्यों के बराबर, इनके कल्क से चारगुणा घी, घी से चारगुणा जल मिलाकर घृत बनाये। दूसरे इन द्रव्यों में घी मिलाकर लगाते हैं ॥५६॥

उत्सन्नमांसानस्निग्धानल्पस्रावान् व्रणांस्तथा ॥५७॥
सर्षपस्नेहयुक्तेन धीमांस्तैलेन शोधयेत् ।

ऊपर उठे मांसवाले, अस्निग्ध (स्नेह रहित), अल्प स्राव-वाले व्रणों का बुद्धिमान वैद्य सरसों के तैल को तिलतैल और मिश्रकोक्त मयूरादि शोधन द्रव्यों से सिद्ध करके तैल से शोधन करे ॥५७॥

तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम् ॥५८॥
व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्याद् द्रव्यैरुदीरितैः ।
कषाये विधिवत्तेषां कृते चाधिश्रयेत् पुनः ॥५९॥
सुराष्ट्रजां सकासीसां दद्याच्चापि मनःशिलाम् ।
हरितालं च मतिमांस्ततस्तामवचारयेत् ॥६०॥
मातुलुङ्गरसोपेतां सक्षौद्रामतिमर्दिताम् ।
व्रणेषु दत्वा तां तिष्ठेत् त्रींस्त्रींश्च दिवसान् परम् ॥६१॥

जो व्रण तैल से शुद्ध न होते हों, एवं स्थिर मांसवाले हों, उनमें शोधनीय द्रव्यों से बनाई रसक्रिया को बरतें। इस के लिये मिश्रकोक्त शालसारादि द्रव्यों को क्वाथ विधि से क्वाथ करके इस क्वाथ को पुनः अग्नि पर पकाये। पकाते समय इसमें फिटकरी, कासीस, मैनसिल, हरताल-इनको (कषाय का चतुर्थांश), मिलाये। पकाते हुए जब यह दर्वीप्रलेप रूप में राब

की भाँति हो जाये तब इसको उतारकर इसमें बिजौरे का रस और थोड़ा सा मधु मिलाकर व्रण में लगाये। इसको तीन दिन तक लगा रहने दे। फिर चौथे दिन उतारे ॥५८-६१॥

मेदोजुष्टानगम्भीरान् दुर्गन्धांश्चूर्णशोधनैः।
उपाचरेद् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्तिजैः ॥६२॥

मेद से युक्त, गहरे न गये (उत्तान), दुर्गन्ध युक्त व्रणों की कासीसादि शोधन चूर्णों से एवं अजगन्धा आदि शोधन वर्त्ति द्रव्यों से वैद्य चिकित्सा करे। ये चूर्ण चिकने बारीक बनाये।

वि० मन्तव्य—यह चूर्ण व्रण पर बुरके जाते हैं, इनसे व्रण शीघ्र सूखता है। यही "अवचूर्णन" नामक उपक्रम है, (दे० सू० ८) ॥६२॥

शुद्धलक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम्।
तत्र कार्यं यथोद्दिष्टैर्द्रव्यैर्वैद्येन जानता ॥६३॥

शुद्ध व्रण के लक्षणों से युक्त व्रण में रोपण कषाय बरते। इसके लिये जाननेवाला वैद्य बटादि-पूर्वोक्त द्रव्यों से कषाय बनाये ॥६३॥

अवेदनानां शुद्धानां गम्भीराणां तथैव च।
हिता रोपणवर्त्यङ्कृता रोपणवर्तयः ॥६४॥

वेदना रहित, शुद्ध एवं गम्भीर व्रणों में-सोम, अमृता, अश्वगन्धा, काकोली आदि रोपण वर्ति द्रव्यों से बनाई रोपण वर्त्तियाँ बरतनी चाहिये ॥६४॥

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम्।
कल्कः संरोहणः कार्यस्तिलजो मधुसंयुतः ॥६५॥
स माधुर्यात्तथौष्ण्याच्च स्नेहाच्चानिलनाशनः।
कषायभावान्माधुर्यात्तिक्तत्वाच्चापि पित्तहृत् ॥६६॥
औष्ण्यात् कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्च कफे हितः।
शोधयेद्रोपयेच्चापि युक्तः शोधनरोपणैः ॥६७॥
निम्बपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चापि युक्तश्चाप्युपरोपणः ॥६८॥
तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः।
शमयेदविदग्धं च विदग्धमपि पाचयेत् ॥६९॥
पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेत्तथा।

जिन व्रणों में से सड़ा गला मांस निकल गया, मांस में स्थित होने पर भी जो व्रण भरते नहीं हैं, उनमें तिलों को पीस कर मधु से युक्त कल्क लगाये। यह कल्क स्निग्ध, उष्ण और मधुर होने से वायु को नष्ट करता है। कषाय, मधुर और तिक्त होने से पित्तनाशक है। उष्ण, तिक्त और कषाय होने से कफ में उत्तम है। शोधन और रोपण द्रव्यों से मिला तिलकल्क व्रण का शोधन और रोपण भी करता है। नीम के पत्ते और मधु से मिला तिलकल्क संशोधक है। नीम के पत्ते, मधु और घी से मिला तिलकल्क रोपण भी है। कोई आचार्य जौ के कल्क को भी तिल कल्क की भाँति मानते हैं। अविदग्ध (न पके) व्रण को शान्त करता है, विदग्ध (अधपके) व्रण को पकाता है। पके हुये को फाड़ देता है, भेदन किये हुए का शोधन और रोपण दोनों कार्य करता हैं ॥६५-६६॥

पित्तरक्तविषागन्तून् गम्भीरानपि च व्रणान् ॥७०॥
रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा।

पित्त-रक्त-विष और आगन्तुज एवं गम्भीर व्रणों में भी पृथक्पर्ण्यादि मिश्रकोक्त रोपणीय द्रव्यों से सिद्ध घृत से रोपण करना चाहिये ॥७०॥

कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक् ॥७१॥
कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः।

कफ वात से आक्रान्त व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य कालानुसारी अगुरु आदि मिश्रकोक्त रोपण द्रव्यों से सिद्ध तैल से रोपण करे।

अबन्ध्यानां चलस्थानां शुद्धानां च प्रदुष्यताम् ॥७२॥
द्विहरिद्रायुतां कुर्याद्रोपणार्थां रसक्रियाम्।

जिनमें पट्टी नहीं बाँधी जा सकती (पित्त, रक्त विष अभिघातजन्य) चेष्टा शील, स्थानों के शुद्ध होने पर भी जो बार-बार दूषित हो जाते हैं, उन व्रणों में रोपण के लिये हल्दी दारुहल्दी युक्त रस क्रिया को करे।

वक्तव्य—न्यग्रोधादि वर्ग और त्रिफला का क्वाथ करके रसक्रिया की कल्पना करते हुये इसमें हल्दी दारुहल्दी चूर्ण मिलाकर रस क्रिया बनावे ॥७२॥

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक् ॥७३॥
चूर्णं विदध्यान्मतिमान् प्राक्स्थानोक्तो विधिर्यथा।

समान, स्थिर (कठिन) मांसवाले, त्वचा में स्थित व्रणों में वैद्य सूत्रस्थान में कही विधि से चूर्ण बरते। (किंशुकत्रिफलारोध्रं सू० अ० ३७ में कही विधि से चूर्ण बरते) ॥७३॥

शोधनो रोपणश्चैव विधिर्योऽयं प्रकीर्तितः ॥७४॥
सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषतः।

यह शोधन, रोपण की विधि निज और आगन्तुज सब व्रणों के लिये है, क्योंकि दोनों व्रण—दोषों से भिन्न नहीं हैं। (कहा भी है—'कालान्तरेण दोषोपप्लवविशेषाच्छरीरवत् प्रतिकारः' सुश्रुत। चरक में—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं, निजस्तथागन्तु रपि प्रवृद्धः) ॥७४॥

एष आगमसिद्धत्वात्तथैव फलदर्शनात् ॥७५॥
मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन।

यह शोधन रोपणविधि शास्त्र से मान्य होने से एवं प्रत्यक्ष फल देखने से मंत्र की भाँति बरतनी चाहिये, इस में तर्क वितर्क या सन्देह नहीं करना चाहिये ॥७५॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु ॥७६॥
भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया।

कषाय, वर्त्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रस क्रिया और चूर्ण, इन सातों में वैद्य अपनी बुद्धि से—योग के अनुसार

(जैसा ठीक हो) पूर्व कही हुई औषधियों को बरते। इसी से कहा है—

तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्कः। मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः। (२) यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत, तद् विदध्यात्। चरक० वि० अ० ८ ॥७६॥

आद्ये द्वे पञ्चमूल्यौ तु गणो यश्चानिलापहः ॥७७॥
स वातदुष्टैर्दातव्यः कषायादिषु सप्तसु।
न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिषु यः स्मृतः॥७८॥
तौ पित्तदुष्टे दातव्यौ कषायादिषु सप्तसु।
आरग्वधादिस्तु गणो यश्चोष्णः परिकीर्तितः ॥७९॥
तौ देयौ कफदुष्टे तु, संसृष्टे संयुता गणाः।

बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल और भद्रदार्व्यादि वात नाशक गण को वायु से दूषित व्रण में—कषाय, वर्त्ति आदि रूपों में बरते। न्यग्रोधादि और काकोल्यादि गण को पित्त से दूषित व्रण में--कषाय आदि सात रूपों में बरते। आरग्वधादि, एवं उष्ण गण (मुष्ककादि और सुरसादि गण) को कफ से दूषित व्रणों में बरते। दोषों के संसर्ग होने पर-गणों को दोषों के अनुसार मिलाकर बरते। इसी से कहा है-'वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेत्' चरक०।

वि० मन्तव्य—इसके लिये देखिये सू० स्था० अ० ३८॥

वातात्मकानुग्ररुजान् सास्रावानपि च व्रणान् ॥८०॥
सक्षौमयवसर्पिभिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत्।

वात दोषवाले, तीव्र वेदना युक्त स्राव जिन में बहता हो ऐसे व्रणों में अलसी, जौ घी और धूपन द्रव्यों (श्रीवेष्ट के सर्जरस से सू० अ० ३७ में कहे) से धूप देना चाहिये ॥८०॥

परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च ॥८१॥
कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च।
मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः ॥८२॥
विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते।

जो व्रण सूख गये हों, थोड़े मांसवाले हों, गहरे हों, उनमें अपामार्ग-अश्वगन्धा आदि उत्सादन द्रव्यों से बनाया घी और आलेप बरते। मनुष्य विधिपूर्वक मांस खानेवाले प्राणियों के मांसों को विधिपूर्वक पकाकर खाये। मन की प्रसन्नता होने पर मांस-मांस खाने से बढ़ता है। इसी से कहा है—

शरीबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते। चरक।

वि० मन्तव्य—व्रणों पर जो लेप आदि उपचार किये जाते हैं उनसे वस्तुतः व्रणों या व्रणभूमि का सड़ना-गलना रुकता है और रोपण तो भीतरी पोषण से ही होता हैं। अतः व्रणस्थान की पूर्ति के लिये मांस खाने का विधान किया है, मांस खाने से मांस की वृद्धि शीघ्र होती है, फलतः व्रण शीघ्र भर जाता है। जो मांस नहीं खाते उनको अन्य हलुवा आदि पुष्टि कारक आहार देना चाहिये ॥८१,८२॥

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम् ॥८३॥
कुर्याद् द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह।

जिन व्रणों में कोमल मांस ऊपर को बढ़ आया हो, उनमें अवसादन (नीचे करना) करना चाहिये इसके लिये कासीस आदि कहे हुए द्रव्यों के चूर्ण को मधु के साथ लगाये।

वि० मन्तव्य—कभी २ व्रण में मांस ऊँचा उठ आता है, तल से भी ऊँचा हो जाता है, तब उसे समतल करने के लिये "अवसादन" क्रिया जाता है, यह भी लेखन का ही एक प्रकार है, मधु से लेखन होता है ॥८३॥

कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना ॥८४॥
मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत्।
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत् ॥८५॥
मृदुत्वमाशुरोहं च गाढो बन्धं करोति हि।

कठिन और थोड़े मांसवाले, वायु से दूषित व्रणों में मधुर, स्निग्ध, कोष्ण-लवण आदि से बाह्य एवं अन्तः रूप में कोमल उपचार करना चाहिये। रक्तानुगत वायु में रक्त मोक्षण करे। कफ का योग वायु के साथ होने पर भद्रदार्व्यादि बातनाशक औषधियों से मिले स्नेह और सेक करे। कसकर बांधी हुई पट्टी भी कोमलता और शीघ्र रोहण को उत्पन्न करती है।

वि० मन्तव्य—यह मृदु कर्म नामक उपक्रम है। मृदुकर्म से व्रण की अनुचित दारुणता नष्ट की जाती है ॥८५॥

व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम्।
धवप्रियङ्ग्वशोकानां रोहिण्याश्च त्वचस्तथा ॥८६॥
त्रिफलाधातकीपुष्पलोध्रसर्जरसान् समान्।
कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत् ॥८७॥

कोमल मांसवाले व्रणों को कठिन बनाना चाहिये। इसके लिये धव, प्रियंगु, अशोक, रोहिणी (कुटकी, डल्हण के मत से कायफल) की छाल, त्रिफला, धाय के फूल, लोध, राल, इनको समान भाग लेकर इनका सूक्ष्म चूर्ण करके इसे व्रण पर बुरके[1]।

वि० मन्तव्य—यह दारुण कर्म नामक उपक्रम है। अवचूर्णन सूखा चूर्ण बुरकने से व्रण की अनुचित मृदुता नष्ट की जाती है ॥८६,८७॥

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान्।
तथैव खलु दुःशोध्यान् शोधयेत् क्षारकर्मणा ॥८८॥

जिन व्रणों में मांस उभर आया हो, कठिन कण्डू युक्त

---

१ रोहिणीत्वच—से हरड़ की छाल लेना ठीक है, रोहिणी, हरड़ का एक भेद है। डल्हण ने स्वयं ९४ वें श्लोक की व्याख्या में इसे माना है।

और देर से चलते हुए, एवं कठिनाई से शोधन होनेवाले व्रणों का क्षार क्रिया से शोधन करे ॥८८॥

स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः ।
निःशेषच्छिन्नसन्धींश्च साधयेदग्निकर्मणा ॥८९॥

अश्मरीजन्य जिन व्रणों से मूत्र बहता हो तथा जिन व्रणों से रक्त बहता हो, जो सन्धियां सम्पूर्ण रूप में काटी गई हों, इनमें अग्निकर्म करे।

वक्तव्य—अश्मरीजन्य मूत्रस्रावी व्रण को सात दिन के उपरान्त दाह करे, सद्योव्रण में दाह न करे।

वि० मन्तव्य—अग्निकर्म के लिये देखिये सू० अ० १२।८९॥

दुरूढत्वात्तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत् ।
भल्लातकान् वासयेत्तु क्षीरे प्राङ्मूत्रभावितान् ।
ततो द्विधा च्छेदयित्वा लौहे कुम्भे निधापयेत् ॥९०॥
कुम्भेऽन्यस्मिन् निखाते तु तं कुम्भमथ योजयेत् ।
मुखं मुखेन सन्धाय गोमयैर्दाहयेत्ततः ॥९१॥
यः स्नेहश्च्यवते तस्माद् ग्राहयेत्तं शनैर्भिषक् ।
ग्राम्यानूपशफान् दग्ध्वा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥९२॥
तैलनानेन संसृष्टं शुक्लमालेपयेद् व्रणम् ।
भल्लातकविधानेन सारस्नेहांस्तु कारयेत् ॥९३॥
ये च केचित् फलस्नेहा विधानं तेषु पूर्ववत् ।

ठीक प्रकार रोहण होने से शुक्ल हुए व्रणों में कृष्ण कर्म (काला करना) उत्तम है। इसके लिये गोमूत्र में भावना दिये भिलावों को सात दिन गाय के दूध में रक्खे। फिर इनके दो टुकड़े करके लोहे के घड़े में रख देवे। फिर भूमि में गड़े हुए एक दूसरे लोहे के घड़े पर—मुखको मुख से मिलाकर रक्खे। दोनों क मुखों को कपड़ मिट्टी से मिला देवे। फिर ऊपर के घड़े के चारों ओर छाने लगाकर आग लगा दे। इस प्रकार करने से जो स्नेह निचले घड़े में आता है, उसको धीरे से वैद्य निकाल ले। इस तैल में—ग्राम्यपशु (गाय आदि), आनूप पशु (भैंसे आदि) के खुरों को जलाकर इनका सूक्ष्म चूर्ण मिला दे। इस तैल से शुक्लव्रण पर लेप करे। भिलावे की विधि से सारादिगण (साल आदिक) से स्नेह बनायें। बहेड़ा, आदि स्नेह फलवाले जो हैं, उनमें भी यही भिलावे की विधि बरते। तैल में ग्राम्य-आनूप पशुओं के खुरों की राख अवश्य मिलाये।

वि० मन्तव्य—कभी व्रण का रोपण पूर्णरूप से हो जाने पर—व्रणस्थान पर श्वित्र का सा श्वेत दाग हो जाता है। उसे मिटाने के लिये यह विधि बतलाई गई है, इसका नाम "कृष्ण-कर्म" या "कृष्णी-करण" है। अग्निदग्ध व्रण का श्वेत दाग असाध्य होता है देखिये सु० नि० अ०५ का सू० १७। भिलावा वाले घड़ा के मुख में लोह की पतली तारों का-जाल लगा देना चाहिये। अन्यथा भिलावे निचले घड़े में गिर जाते हैं। इस तैल निकालने की क्रिया को "पाताल यन्त्र" कहते हैं। इस क्रिया में एक प्रकार का काला द्रव निकलता है उसीको तैल कह देते हैं। सारस्नेहान् तु कारयेत् अर्थात् शाल, चन्दन एवं शीशम आदि के सारकाष्ठ का बुरादा लेकर अथवा बहेड़ा, बदाम, ठारी आदि की मज्जा (माँगी-गिरी) लेकर भी उक्त प्रकार से काला द्रव प्राप्त किया जाता है, यह द्रव चर्मदल आदि पर भी लगाया जाता है, यह द्रव एक प्रकार की दुर्गन्ध से युक्त होता है ॥९०-९३॥

दुरूढत्वात्तु कृष्णानां पाण्डुकर्म हितं भवेत् ॥९४॥
सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागलं रोहिणीफलम् ।
तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम् ॥९५॥
नवं कपालिकाचूर्णं वैदुलं सर्जनाम च ।
कासीसं मधुकं चैव क्षौद्रयुक्तं प्रलेपयेत् ॥९६॥
कपित्थमुद्धृते गांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत् ।
कासीसं राचनां तुत्थं हरितालं मनःशिलाम् ॥९७॥
वेणुनिर्लेखनं चापि प्रपुन्नाडरसाञ्जनम् ।
अधस्तादर्जुनस्यैतन्मासं भूमौ निधापयेत् ॥९८॥
मासादूर्ध्वं ततस्तेन कृष्णमालेपयेद् व्रणम् ।

व्रण के ठीक प्रकार रोहण न होने से काले हुए व्रणों में पाण्डुकर्म (श्वेत करना) करना हितकारी होता है। रोहिणी फल (हरड़ की छाल) को सात दिन बकरी के दूध में रखकर-- उसी दूध के साथ बारीक पीस ले। यह त्वचा के समान रंग करने में उत्तम है। नये ठीकरे का चूर्ण, बेंत का मूल, राल, कासीस, मुलैहठी, इनके चूर्ण को मधु के साथ लेप करे। कैथ के अन्दर से गूदा निकालकर उसमें बकरे का मूत्र भर देवे। इसी मूत्र में कासीस, गोरोचन, तुत्थ, हरताल, मैनसिल, बांस के छिलके की बुरकी, पनवाड़, रसौत, भी मिला दे। फिर इस कैथ को एक मास तक अर्जुन वृक्ष की जड़ में गाड़ देवे। एक मास के पीछे इससे कृष्ण भाग पर लेप करे। (नवं कपालिका चूर्णम्—से कई एक भिन्न तुरन्त मरे मनुष्य की खोपड़ी की भस्म लेते हैं)।

वि० मन्तव्य— कभी-कभी व्रण भूमि पर काला दाग हो जाता है उसको मिटाने के लिये पाण्डुकर्म किया जाता है इसे "पाण्डुकरण" या "सवर्णकरण" कहते हैं। इससे शरीर के सदृश वर्ण हो जाता है। इन दोनों उपक्रमों का उद्देश्य है व्रण स्थान का शरीर के सदृश वर्ण बना देना। गहरे व्रणों का चिह्न तो रह ही जाता है जीवन भर के लिये ॥९४-९८॥

कुक्कुटाण्डकपालानि कतकं मधुकं समम् ॥९९॥
तथा समुद्रमण्डूकी मणिचूर्णं च दापयेत् ।
गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम् ॥१००॥

मुर्गे के अण्डे के छिलके, कतक (जल शोधनफल निर्मलीफल) मुलहठी, समुद्रमण्डूकी (जल शुक्तियाँ मुक्ताशुक्ति), और मणिचूर्ण, इनमें प्रत्येक को समान भाग लेकर गोमूत्र से पीसकर गोलियाँ बना ले । इनसे व्रणों पर प्रतिसारण करे ।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारण—घर्षण का नाम है, जब कभी व्रण में मांसोन्नति अथवा मांसकन्दी हो जाती है तब उक्त प्रतिसारण किया जाता है, इस कर्म को छेदन अथवा लेखन कह सकते हैं, देखिये सू० अ० २५ के सू० ४ तथा ६ । और उक्तयोग में सब द्रव्य लेखन हैं भी ॥ ९९,१०० ॥

हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम् ।
रोमाण्यतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि ॥१०१॥
चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना ।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः ॥१०२॥
कासीसं नक्तमालस्य पल्लवांश्चैव संहरेत् ।
कपित्थरसपिष्टानि रोमसंजननं परम् ॥१०३॥

हाथी दन्त की राख करके इनमें श्रेष्ठ रसौत को मिलाकर (बकरी के दूध के साथ) लगाने से हथेली में भी बाल उग आते हैं, व्रण में तो उग ही आयेंगे । पशुओं की खाल, रोम, खुर, सींग, अस्थि, इनकी भस्म को चूर्ण करले । पहले स्थान पर तैल लगाकर इनका चूर्ण उस पर बुरक देवे । इससे पुनः बाल उग आते हैं । कासीस, करञ्ज के कोमल पत्ते इनको कैथ के रस में पीसकर लगावे । इससे बाल उत्पन्न होते हैं ।

वि० मन्तव्य—व्रण भूमि पर रोम उगाने का यह उपाय है । इसे "लोमसञ्जनन" उपक्रम कहते हैं ॥१०१–१०३॥

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति ।
क्षुरकर्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत् ॥१०४॥
शंखचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम् ।
शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम् ॥१०५॥
तैलं भल्लातकस्याथ स्नुहीक्षीरं तथैव च ।
प्रगृह्यैकत्र मतिमान् रोमशातनमुत्तमम् ॥१०६॥
कदलीदीर्घवृन्ताभ्यां भस्मालं लवणं शमी ।
बीजं शीतादपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत् ॥१०७॥
आगारगोधिकापुच्छं रम्भाऽऽलं बीजमैङ्गुदम् ।
दग्ध्वा तद्भस्मतैलाम्बु सूर्यपक्वं कचान्तकृत् ॥१०८॥

जो व्रण भली प्रकार रोहण नहीं होता उसमें अधिक रोम उग आते हैं उनको कैंची या मोचने से निकाल देवे । (शंख का चूर्ण दो भाग, हरताल एक भाग–इनको शुक्त (सिरका) के साथ पीस कर लगाये । इससे बाल गिर जाते हैं) । भिलावे का तेल और थोर का दूध इनको एकत्र मिलाकर लगाये, यह बालों को नष्ट करता है । केला, श्योनाक की राख, हरताल, सैंधवलवण, शमीबीज, इनको शीतल जल से पीसकर लगाये, यह बालों को नष्ट करता है । छिपकली की पूँछ, केला, हरताल, ईङ्गुदी के बीज, इनको जलाकर इनकी भस्म तैल और पानी में मिलाकर, धूप में गरम करके लगाये, यह बाल नाशक है ।

वि० मन्तव्य—कभी २ व्रण स्थान पर मोटे २ बाल उग आते हैं, उनको हटाने के ये सब उपाय हैं । इसे लोमापहरण नामक उपक्रम कहा गया है । उक्त योगों से अन्यत्र के रोम भी हटाए जाते हैं । शंखचूर्ण का अर्थ है, शंख का चूना अर्थात् भस्म । शंखचूर्ण एवं हरिताल का योग ही आज का "वैरियुमसलफायड" है, जो बाल उड़ाने का प्रसिद्ध पाउडर सर्वत्र मिलता है । हरिताल की भस्म नहीं की जाती, वैसे ही मिला दी जाती है । पाठक आश्चर्य से देखें कि सुश्रुत के समय में भी साबुन—बाल उड़ाने का साबुन बनाया जाता था, यथा–भस्म अर्थात् क्षार, तैल एवं जल को मिलाकर धूप में उष्ण करने पर जो पदार्थ तैयार होता है, वही आज का "साबुन" है ॥१०८॥

वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः ।
अधःकाये विशेषेण तत्र बस्तिर्विधीयते ॥१०९॥

जो व्रण वायु से दूषित हो, रूक्ष हो, अतिशय वेदना करता हो, विशेषकर नाभि से नीचे हो, उसमें वस्ति देनी चाहिये ॥

मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे ।
तथैवार्तवदोषे च बास्तरप्युत्तरो हितः ॥११०॥

मूत्राघात, मूत्रदोष, शुक्रदोष, अश्मरीजन्य व्रण में, आर्त्तव दोष में उत्तरवस्ति उत्तम है ॥ ११० ॥

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम् ।
रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते ॥१११॥

पट्टी बाँधने से व्रण का शोधन होता है, कोमल बनता है, बिना किसी बाधा के भरता है, इसलिए व्रणपर पट्टी बाँधते हैं ॥

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम् ।
पत्रदानं भवेत् कार्यं यथादोषं यथर्तु च ॥११२॥
एरण्डभूर्जपूतीकहरिद्राणां तु वातजे ।
पत्रमाश्वबल यच्च काश्मर्यापत्रमेव च ॥११३॥
पत्राणि क्षीरवृक्षाणामौदकानि तथैव च ।
दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः ॥११४॥
पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः ।
पत्रं च शुकनासाया योजयेत् कफजे व्रणे ॥११५॥
अकर्कशमविच्छिन्नमजीर्णं सुकुमारकम् ।
अजन्तुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते ॥११६॥
स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः ।
नादत्ते यत्ततः पत्रं लेपस्योपरि दापयेत् ॥११७॥

शैत्योष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च ।
दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता ॥११८॥

स्थिर, अल्प मांसवाले एवं रूक्षता के कारण न भरनेवाले व्रणों में दोष और ऋतु के अनुसार पत्रदान (पत्ते का रखना) करना चाहिए[1] । वातजन्य व्रणों में एरण्ड, भोजपत्र, करञ्ज, और हल्दी के पत्ते रक्खे। रक्त-पित्त से दूषित व्रणों में बुद्धिमान वैद्य अश्ववला (पोई), गम्भारी के पत्ते, बरगद आदि क्षीर-वृक्षों के पत्ते, कमल आदि जलीय पत्रों को रक्खे। कफजन्य व्रण में—पाठा, मूर्वा, गिलोय, मकोय, हल्दी, और शकनास के पत्र बरते। जो पत्ता खरदरा न हो, फटा न हो, पुराना न हो, कीड़ों से न खाया हो, कोमल हो, वह गुणशाली होता है। पत्तों के बीच में आने से वस्त्र स्नेह और औषधसार (वीर्य) को नहीं ले लेता। इसलिये व्रणपर लेप करके, उसपर पत्र रक्खे (फिर पत्ते पर गौज-कवलिका, रूई रखकर पट्टी बाँध देवे)। शीतलता उत्पन्न करने के लिए (रक्त-पित्त व्रणों में) और स्नेह को बचाये रखने के लिए जाननेवाला वैद्य पत्र का उपयोग करे ॥ ११२-११८ ॥

मक्षिका व्रणमागत्य निःक्षिपन्ति यदा क्रमीन् ।
श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥११९॥
तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते ।
सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा ॥१२०॥
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः ।
हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन वा ॥१२१॥
प्रच्छाद्य सपेश्यामां वा क्रमीनपहरेद् व्रणात् ।
विंशतिं क्रमिजातीस्तु वक्ष्याम्युपरि भागशः ॥१२२॥

मक्खियाँ जब व्रण पर बैठकर क्रमि (अण्डे) उत्पन्न कर देती हैं, तब उन कीड़ों के खाने से व्रण में भयानक शोथ उत्पन्न होता है। इसमें तीव्र एवं नाना प्रकार की वेदनायें और रक्तस्राव होता है। इसमें सुरसादि गण का धोने और भरने में उपयोग करना चाहिए। सतवन, करञ्ज, आक, नीम, खिरनी की छाल, इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे या क्षारोदक से परिषेक करे। अथवा मांस पेशी से ढाँपकर व्रण से क्रमियों को निकाले। क्रमि की बीस जातियों को उत्तर तन्त्र में कहूंगा।

वक्तव्य—व्रण पर रक्त मिश्रित मांस पेशी रखने पर क्रमि मांस रक्त के लोभ से पेशी में आ जायेंगे—जब यह भर जाये, इसे हटाकर दूसरी रख देवे। इस प्रकार करे।

वि० मन्तव्य—ये क्रमि "जन्तुमाता" कहे हैं—जन्तुः मक्षिका माता जननी येषां ते जन्तुमातरः, अर्थात् मक्षिका है, जननी जिनकी। बीस प्रकार के क्रमियों का वर्णन उत्तर तन्त्र अ० ५४ में किया जायगा। परन्तु जन्तुमाता नामक क्रमियों का वर्णन चरक विमान स्थान अ० ७ के सू० ११ में देखिये ॥

दीर्घकालातुराणां तु कृशानां व्रणशोषिणाम् ।
बृंहणीयो विधिः सर्वः कायाग्निं परिरक्षता ॥१२३॥

चिरकालीन रोगी कृश एवं व्रण से शुष्क बने पुरुषों में—जाठराग्नि की रक्षा करते हुए—सम्पूर्ण रूपमें बृंहण विधि बरतनी चाहिये ॥ १२३ ॥

विषजुष्टस्य विज्ञानं विषनिश्चयमेव च ।
चिकित्सितं च वक्ष्यामि कल्पेषु प्रविभागशः ॥१२४॥

विष से आक्रान्त व्रण के लक्षण, विष की परीक्षा और विष चिकित्सा को अलग २ कल्पस्थान में कहूँगा ॥१२४॥

कण्डूमन्तः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः ।
शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात्कुशलो भिषक् ॥१२५॥

कण्डूयुक्त, शोफयुक्त, तथा गले से ऊपर के जो व्रण हों, उनमें कुशल वैद्य शिरो विरेचन दे ॥ १२५ ॥

रुजावन्तोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः ।
व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता ॥१२६॥

वेदना युक्त, वायु से आक्रान्त, रूक्ष और जत्रु से ऊपर के जो व्रण हों, उनमें जानकार वैद्य नस्य देवे ॥ १२६ ॥

दोषप्रच्यावनार्थाय रुजादाहक्षयाय च ।
जिह्वादन्तसमुत्थस्य हरणार्थं मलस्य च ॥१२७॥
शोधनो रोपणश्चैव व्रणस्य मुखजस्य वै ।
उष्णो वा यदि वा शीतः कवलग्रह इष्यते ॥१२८॥

दोषों को निकालने के लिए, रुजा और दाह नष्ट करने के लिये, जीभ एवं दाँत में उत्पन्न मलों को दूर करने के लिये, मुख के व्रण के शोधन एवं रोपण के लिये उष्ण या शीत कवल उत्तम है ॥ १२७,१२८ ॥

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् व्रणांश्च कफवातजान् ।
शोफस्रावरुजायुक्तान् धूमपानैरुपाचरेत् ॥१२९॥

जत्रु से ऊपर के रोगोंमें, कफवातजन्य व्रणों में शोफ, स्राव, पीड़ा होने पर (जत्रु से–गले के ऊपर के रोग एवं व्रणों में) धूमपान से चिकित्सा करे ॥ १२९ ॥

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च ।
सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥१३०॥

सद्यःक्षत की उष्मिमा को रोकने के लिये, इसको जोड़ने के लिए, चौड़े-व्रणों में मधु और घृत (मिला-

---

१ गुरुकुल कांगड़ी में आज से तीस साल पहले डाक्टर सुखदेव जी केले के कोमल पत्ते का उपयोग पुराने व्रणों पर करते थे। इससे जहाँ व्रण का उपकार होता है, वहाँ स्नेह या औषध पट्टी को या रूई आदि को भी नहीं बिगाड़ती। यह वहाँ बहुत चलता रहा।

कर) बरतते हैं। (मधु-घृत यह एक उपक्रम गिनने से साठ उपक्रम हो जाते हैं ॥१३०॥

अवगाढास्त्वणुमुखा ये व्रणाः शल्यपीडिताः।
निवृत्तहस्तोद्धरणा यन्त्रं तेषु विधीयते ॥१३१॥

जो व्रण गहरे, सूक्ष्म मुख, शल्य से पीड़ित हो, जिनमें हाथ से शल्य नहीं निकाला जा सकता, उनमें यंत्र का प्रयोग किया जाता है ॥१३१॥

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्निदीपनः।
सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता ॥१३२॥

सब व्रणरोगियों को, मात्रा में लघु, गुणों में लघु, स्निग्ध, उष्ण और अग्नि दीपक आहार सदा देना चाहिये ॥१३२॥

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।
रक्षाविधानैरुद्दिष्टैर्यमैः सनियमैस्ततथा ॥१३३॥

व्रणरोगी की सदा राक्षसों से (कृमियों से चूँकि ये भी राक्षसों की भांति रात में—अन्धेरे में रहते हैं, मांस-आदि खाते हैं) रक्षा करनी चाहिये। इसके लिये कहे हुये रक्षा उपायों से (गुग्गुल-सरसों आदि का धुँवा, मंत्र आदि) तथा यम और नियम से रक्षा करे।

वक्तव्य—निशाचर ही कृमि हैं—दोनों का जीवन एक ही सा है। यम—अहिंसा, सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। अथवा—अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहार-लाघवम्। अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्त्तिताः॥

वि० मन्तव्य—निशाचरों को कृमि मानने और सिद्ध करने का आजकल प्रचार या हठ सा हो गया है, आयुर्वेद के जाननेवाले भी यही प्रचार करते हैं। परन्तु आयुर्वेद के आठ अंगों में—"भूतविद्या नाम....शमनार्थम्" (सु० सू० अ० १.४ तथा च० सू० अ० ३०.२८) में भूतविद्या नामक विशिष्ट अङ्ग या तन्त्र माना गया है और आयुर्वेद के उक्त ग्रन्थों में यत्र-तत्र इस विद्या के उल्लेख भी पाए जाते हैं। उनको देखकर भी पाश्चात्य कीटाणु पैथी के पीछे भागना कहाँ तक उचित है पाठक स्वयं विचार करें और उक्त पैथी में कीटाणु पुरीष, रक्त एवं कफ में पाये जानेवाले कृमि है, जिनका वर्णन सुश्रुत एवं चरक में पृथक् किया गया है। पुनरपि पाठक—आयुर्वेदज्ञ विवेकशील विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें, गतानुगतिक बनना उचित नहीं है॥

षण्मूलोऽष्टपरिग्राहो पञ्चलक्षणलक्षितः।
षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ॥१३४॥

सारांश—व्रण के छै मूल (वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात, आगंतुज) हैं, आठ परिग्रह-स्थान हैं (त्वचा, मांस, सिरा स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ, और मर्म), पांच लक्षणों से—जाना हुआ (वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तुज लक्षणों से जाना हुआ), व्रण, साठ उपक्रमों द्वारा, चार से (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) अच्छा किया जाता है ॥१३४॥

योऽल्पौषधकृतो योगो बहुग्रन्थभयान्मया।
द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति ॥१३५॥

ग्रन्थ के बहुत बढ़ने के भय से थोड़ी औषधियों से कहा हुआ जो योग हो उसमें उसके समान द्रव्यों के मिलान में कोई दोष नहीं होता ॥१३५॥

प्रसङ्गाभिहितो यो वा बहु दुर्लभभेषजः।
यथोपपत्ति तत्रापि कार्यमेव चिकित्सितम् ॥१३६॥

अथवा प्रसंग के कारण जो योग बहुत-सी एवं अप्राप्य औषधियोंवाला कहा गया है, उसमें भी उपपत्ति के अनुसार (जो मिले, जो ठीक समझे) चिकित्सा कार्य कर लेना चाहिये॥

गणोक्तमपि यद्द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम्।
तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम् ॥१३७॥

गण में कहा हुआ भी जो द्रव्य रोग के लिये ठीक न लगे, उसको निकाल देवे। और योग्य द्रव्य यदि न भी कहा हो, तो भी उसको मिलाये।

वक्तव्य—'तेभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्, यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं वा मन्येत, तत्तद् विदध्यात्। वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेना नेकेन वा, युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य। बीजमिव कर्षकस्य, सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति। तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः' ॥चरक० वि०अ० ८॥१३७॥

उपद्रवास्तु विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च।
तत्र गन्धादयः पञ्च व्रणस्योपद्रवाः स्मृताः ॥१३८॥
ज्वरातिसारौ मूर्च्छा च हिक्का च्छर्दिररोचकः।
श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य तु ॥१३९॥

व्रण एवं व्रणरोगी के उपद्रव बहुत प्रकार के हैं। इनमें गन्ध आदि पांच उपद्रव व्रण के कह दिये हैं। ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का, वमन, अरोचक, श्वास, कास, अविपाक, और तृष्णा ये व्रणरोगी के उपद्रव हैं॥

वक्तव्य—सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्त्तिताः॥
विसर्पपक्षघातश्च शिरस्तम्भापतानकाः।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णाहनुग्रहः॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणानां व्रणचिन्तकैः॥

वि० मन्तव्य—व्रण के पञ्चज्ञानेन्द्रियग्राह्य-गन्ध, रूप, शब्द,

स्पर्श तथा रस नामक उपद्रव सू० स्था० अ० २८ में कहे गये हैं। वहीं देखिये श्लो० ८ से श्लो० १६ तक ॥१३८-१३९॥

व्रणक्रियास्वेवमासु व्यासेनोक्तास्वपि क्रियाम्।
भूयोऽप्युपरि वक्ष्यामि सद्योव्रणचिकित्सिते ॥१४०॥

इस प्रकार से इन व्रण क्रियाओं में विस्तार से चिकित्सा कह देने पर भी पुनः सद्योव्रण चिकित्सा में क्रिया को कहूँगा।

वि० मन्तव्य—सद्योव्रणचिकित्सित नामक अगला ही अध्याय है ॥१४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः सद्योव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सद्योव्रणचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—सद्यः—तत्काल या तत्क्षण जो व्रण होता है वह "सद्योव्रण" कहलाता है। इसी का नाम आगन्तु व्रण है, क्योंकि इसका कारण आगन्तु या बाहरी शस्त्र आदि होता है। शारीर व्रण इसके विपरीत होता है, उसमें—प्रथम शोथ उत्पन्न होता है। फिर यह पकता है और फिर जब फूटता या फटता है, या चीरा लगाया जाता है, तब "व्रण" होता है, इसका कारण भी भीतरी वात आदि दोष होता है ॥१,२॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः।
विश्वामित्रसुतं शिष्यमृषिं सुश्रुतमन्वशात् ॥३॥

धर्मधारियों में श्रेष्ठ, उत्तम वक्ता धन्वन्तरि ने विश्वामित्र के पुत्र, शिष्यरूप से आये हुए सुश्रुत ऋषिको शिक्षा दी-कहा॥

नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः।
नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥४॥

नाना प्रकार की धारा एवं मुखवाले शस्त्रों के नाना स्थानों पर लगने से भिन्न भिन्न प्रकार के जो व्रण हो जाते हैं, उनके लक्षण कहूँगा ॥४॥

आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा।
अर्धचन्द्रप्रतीकाशा विशाला कुटिलास्तथा ॥५॥
शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे।
एवंप्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः ॥६॥
दोषजा वा स्वयंभिन्नाः न तु वैद्यनिमित्तजाः।

आयताकार, चकोर, त्रिकोण, गोलाकार, अर्धचन्द्र की भांति, (विशाल बड़े) कुटिल (टेढ़े-मेढ़े) चप्पन के समान बीच से दबे, (किनारों पर उठे), तथा जौ के समान (बीच में चौड़े-किनारों पर तङ्ग आकार के), इन आकारों के दोषजन्य या स्वयं विदीर्ण हुए तथा आगन्तुज व्रण होते हैं। वैद्य के द्वारा बनाये गये व्रण इन से पृथग् आकार के हैं। (वैद्यजन्य व्रण-आयत, विशाल सम विभक्त लक्षणों के होते हैं) ॥५,६॥

भिषग्व्रणाकृतिज्ञो हि न मोहमधिगच्छति ॥७॥
भृशं दुर्दर्शरूपेषु व्रणेषु विकृतेष्वपि।

व्रण की आकृति को जाननेवाला वैद्य देखने में अतिशय कुरूप तथा विकृत व्रणों में भी नहीं घबराता ॥७॥

अनन्ताकृतिरागन्तुः स भिषग्भिः पुरातनैः ॥८॥
समासतो लक्षणतः षड्विधः परिकीर्तितः।

पुरातन वैद्यों ने आगन्तुज व्रण को असंख्येय आकार का माना है। संक्षेप में लक्षणों के अनुसार आगन्तुज व्रण छै, प्रकार का है ॥८॥

यथा—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ॥९॥
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।

छिन्न, भिन्न, विद्ध, पिच्चित, क्षत और घृष्ट-छै प्रकार का है, इनके लक्षण कहता हूँ ॥९॥

तिरश्चीन ऋजुर्वाऽपि यो व्रणश्चायतो भवेत् ॥१०॥
गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते।

जो व्रण-तिरछा या सीधा अथवा आयताकार हो, जिसमें शरीर से अंग अलग हो जाये (या कुछ कट जाये) उस व्रण को छिन्न कहते हैं ॥१०॥

कुन्तशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः ॥११॥
हतः किञ्चित् स्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते।

भाला, शक्ति, ऋष्टि (शर्वला), तलवार सींग आदि से आशय में चोट लगने पर इसमें से कोई वस्तु बहे, तो उसे भिन्न व्रण कहते हैं ॥११॥

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ॥१२॥
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।

आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डुक और फेफड़े—इनको कोष्ठ कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—कोष्ठ अर्थात् आशय कहा गया है। ये अवयव भीतर से खोखले होते हैं और इनमें कोई न कोई वस्तु भरी रहती है जो इनके फटने पर बहती है—बाहर निकल आती है—निकलने लगती है। यह भी एक शास्त्रसमय है। यद्यपि क्षत आदि व्रणों में भी रक्त तो निकलता ही है तथापि उसे "भिन्न" नहीं कहा जाता, यथा—'लकड़ी फटती है, और घड़ा फूटता है आदि वाक्यों को प्रयोग होता है। किसी कोष्ठ

अर्थात् आशय के फूटने को "भिन्न" व्रण कहना शास्त्रीय परिभाषा है ॥१२॥

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ॥१३॥
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ।
मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च ॥१४॥
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ।
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ॥१५॥
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ।

कोष्ठ के भिन्न होने पर रक्त के भर जाने पर ज्वर और दाह होता है। मूत्रमार्ग, गुदा, और मुख से तथा नासिका से रक्त जाता है। मूर्च्छा, श्वास, प्यास, आध्मान, भोजन में अनिच्छा होती है। मल-वायु-मूत्र का अवरोध रहता है, पसीना आता है। आँखों में सुर्खी होती है। मुख से रक्त की गन्ध आती है, शरीर से दुर्गन्ध होती है, हृदय में शूल और पार्श्वों में शूल होती है।

वि० मन्तव्य—यह सब भिन्न व्रण के सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षण नीचे लिखे हैं उनको सुनिये। लोहगन्धित्वं आस्यस्य-अर्थात्--लोह को तपाकर जल में बुझाने पर जैसी गन्ध आती है वैसी गन्ध रोगी के मुख से आती है ॥१३-१५॥

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत् पुनः ॥१६॥
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ।
पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च ॥१७॥
शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः ।

इनके विशेष लक्षणों को सुनो—रक्त के आमाशय में होने पर बार बार रक्त का वमन होता है। अधिक मात्रा में आध्मान रहता है, अतिभयानक शूल होता है। रक्त के पक्वाशय में होने पर पीड़ा और भारीपन रहता है, नाभि के नीचे शीतलता, और मूत्र मार्ग एवं गुदा मार्ग से रक्त आता है ॥१६,१७॥

अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् ॥१८॥
पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ।

जिस प्रकार कि घड़े का मुख बन्द होने पर घड़े के पार्श्वस्थ छेदों से घड़े में पानी भर जाता है, इसी प्रकार आमाशय के विदीर्ण हुए बिना भी आंत्रों के सूक्ष्म छेदों से आंत्र रक्त आदि से भर जाती हैं ॥१८॥

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयाद्विना ॥१९॥
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ।

सूक्ष्म मुखवाले शल्य से आशयों के बिना शरीर में वेधन होने से शल्य ऊपर को उठ आये (अन्दर रहने पर) या बाहर निकल आये, उसको विद्धव्रण कहते हैं ॥१९॥

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ॥२०॥
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ।

न तो बहुत कट के दो टुकड़े हुए हों, और न बहुत भिन्न हुआ हो, परन्तु छिन्न और भिन्न दोनों के लक्षण जिसमें हों, जो व्रण विषम (नीचा-ऊँचा) हो उसे क्षत व्रण कहते हैं ॥२०॥

प्रहारपीडनाभ्यां तु तदङ्गं पृथुतां गतम् ॥२१॥
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ।

प्रहार से या दबाव के कारण जो अंग अस्थि समेत चौड़ा हो जाये, मज्जा और रक्त से भरा हो उसको पिच्चित कहते हैं।

वि० मन्तव्य—इनमें अंग पिच्चित हो जाता है—पिचक जाता है, परन्तु बाहर से त्वचा नहीं फटती है, फलतः रक्त बाहर नहीं आता। देखिये श्लो० २६,२७। विघृष्ट व्रण त्वचा तक ही रहता है, अतः उसमें त्वचागत लसीका मात्र का स्राव होता है, दे० श्लो० २२ ॥२१॥

विगतत्वग्यदङ्गं हि संघर्षादन्यथाऽपि वा ॥२२॥
उषास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते ।

रगड़ लगने से या अन्य किसी कारण से अंग की त्वचा उतर जाये, इसमें उषा (दाह) और स्राव हों, तो इसको घृष्ट व्रण कहते हैं ॥२२॥

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् ॥२३॥
रक्तक्षयाद्रुजस्तत्र करोति पवनो भृशम् ।
स्नेहपानं हितं तत्र तत्सेको विहितस्तथा ॥२४॥
वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम् ।
धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धान्यालेपनानि च॥२५॥
वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्बस्तिर्विधीयते ।

छिन्न-भिन्न विद्ध, क्षत व्रण में रक्त बहुत निकलता है। रक्त क्षय के कारण कुपित वायु इसमें बहुत वेदना करता है। इसमें स्नेह पान कराये, कोष्ण स्नेह से सेक करे। वेसवार (कीमाया किये मांस को गुड़, घी, पिप्पली, मरिच के साथ स्विन्न करके), कृशरा (तिल, चावल, उड़द से बनी) इनको, तथा स्निग्ध पुलटिस को बांधे। माष आदि से कोष्ठ सेके, स्निग्ध आलेपन करे। एरण्ड आदि वातनाशक औषधियों से सिद्ध स्नेहों की वस्ति देवे।

वक्तव्य—कोई लोग धान्य शब्द से धान्याम्लकांजी लेते हैं। रक्तस्राव के पीछे चिकित्सा—

नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं
रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् ॥
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग्
अग्निर्विशेषेण च रक्षणीयः ॥ चरक ॥

रक्त का स्पर्श अनुष्णशीत है, वायु भी अनुष्णशीत है, इसलिये भोजन भी साधारण बताया है ॥२३-२५॥

पिच्चिते च विघृष्टे च नातिस्रवति शोणितम् ॥२६॥
अगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते ।

तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः ॥२७॥
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः ।

पिच्चित और घृष्ट व्रणों में रक्त बहुत नहीं बहता । इनमें दाह और पाक विशेष रूप में होता है । इनमें उष्णिमा को, तथा दाह एवं पाक को बचाने के लिये शीतल आलेप करना और परिषेक भी शीतल करना चाहिये ॥२६,२७॥

षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः ॥२८॥
ज्ञेयं समर्पितं सर्वं सद्योव्रणचिकित्सितम् ।

छिन्न आदि छै व्रणों की संक्षेप में सम्पूर्ण रूप से सद्यो चिकित्सा कह दी हैं ॥२८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि छिन्नानां तु चिकित्सितम्॥२९॥
ये व्रणा विवृताः केचिच्छिरःपार्श्वावलम्बिनः ।
तान् सीव्येद्विधिनोक्तेन बध्नीयाद् गाढमेव च ॥३०॥

इसके आगे छिन्न व्रणों की चिकित्सा कहूँगा । जो कोई व्रण, चौड़े मुखवाले शिर या पार्श्व में स्थित हों, उन व्रणों को कही हुई विधि से सी देना चाहिये, उन पर कसकर पट्टी बाँध देवे ॥२९,३०॥

कर्णं स्थानादपहृतं स्थापयित्वा यथास्थितम् ।
सीव्येद्यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाभिप्रतर्पयेत् ॥३१॥
कृकाटिकान्ते छिन्ने तु गच्छत्यपि समीरणे ।
सम्यङ्निवेश्य बध्नीयात् सीव्येच्चापि निरन्तरम्॥३२॥
आजेन सर्पिषा चैत्रं परिषेकं तु कारयेत् ।
उत्तानोऽन्नं समश्नीयाच्छयीत च सुयन्त्रितः ॥३३॥

स्थान से खिसके कान को यथास्थान बिठाकर उसे यथोक्त विधि से सी देवे । कान में तैल (वातघ्न तैल) भरे । गले के पिछले भाग तक ग्रीवा के कट जाने पर और वायु के बाहर निकलने पर भी ग्रीवा को भली प्रकार बिठाकर-बाँध देवे और चारों ओर से सी देवे । बकरी के घी से परिषेक करे । पीठ के भार चित लेटकर अन्न को खाये, भली प्रकार सावधानी से (जिससे ग्रीवा स्थिर रहे) सोये ।

वि० मन्तव्य—यदि बाह्यकर्ण अर्थात् कर्णशष्कुली को कोई दूसरा खींचकर उखाड़ देवे तो तत्काल उसे उसी स्थान पर स्थापित कर देवे और विधिपूर्वक विहित उपचार करे, इस प्रकार वह जुड़ जाती है । कृकाटिका—शिर एवं ग्रीवा के सन्धान स्थल पर कृकाटिका नामक दो मर्म हैं, (दे० शा० अ० ६.२७) इन मर्मों के अन्त-समीप तक ग्रीवा कट जाने पर भी, श्वासवह स्रोतस् के कट जाने पर छिन्न व्रण में से श्वास वायु के आ जाने पर भी, यदि कृकाटिका कटने से बच गई हो तो यथास्थान ग्रीवा को स्थापित करके निरन्तर-अन्तर रहित सीवन कर्म कर देवे । यदि केवल श्वास नलिका ही कटी हो, अन्य मातृका आदि मर्म कटने से बचे रहे हों तो रोगी इस दशा में भी बच जाता है । सीवन कर्म के अनन्तर विहित उपचार करता रहे । और रोगी स्वतः ग्रीवा को हिलाने डुलाने में तब तक सावधान रहे जब तक व्रण का रोपण-सन्धान भली भांति हो जाय । सीवन कर्म के लिये देखिये सू०अ० २५ ॥

शाखासु पतितांस्तिर्यक् प्रहारान् विवृतान् भृशम् ।
सीव्येत् सम्यङ्निवेश्याशु सन्ध्यस्थीन्यनुपूर्वशः॥३४॥
बध्वा वेल्लितकेनाशु ततस्तैलेन सेचयेत् ।
चर्मणा गोफणाबन्धः कार्यो यो वा हितो भवेत्॥३५॥

हाथ-पैर के कट जाने पर, तिरछे प्रहारों के कारण चौड़ा व्रण होने पर, सन्धि-अस्थियों को शीघ्र ही ठीक बिठाकर तुरन्त सी देवे । वेल्लित बन्ध (पट्टी) बांधकर इस पर तुरन्त तेल से सेचन करे । अथवा चमड़े से गोफण बन्ध या जो ठीक समझे वह बाँधे ।

वि० मन्तव्य—इस प्रकार कटी अस्थि भी जुट जाती है, परन्तु यह सब उपचार आशु—अत्यन्त शीघ्र तत्क्षण ही हो जाना चाहिये तभी सफलता मिलती है । पाक का प्रारम्भ बचाने के लिये साथ साथ उचित उपचार भी होना चाहिये और उस स्थान या शाखा को हिलाने डुलाने में भी बहुत सावधान रहना चाहिये । बन्ध विशेष के लिये देखिये सू० अ० १८, तथा अ० १६ । यह सब उसी दशा के लिये कहा गया है जब शाखा (टाङ्ग या बाहु) पूर्ण रूप से न कटी हो, कटकर अलग न हुई हो । पूर्ण रूप से कट जानेपर श्लो० ३७ के अनुसार कार्य करे ॥

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत्तु तम् ।
अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत् पुरुषं व्रणे ॥३६॥

जिसके पीठ में व्रण हो वह चित, पीठ के भार मुख ऊपर रखकर सोये (जिससे स्राव नीचे बहे) । छाती पर व्रण होने में रोगी को उल्टा-मुख नीचे करके सुलाये ।

वक्तव्य—गयी ने "पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदनुत्तानः शयीत सः । अतोऽन्यथा चोरसिजे शयीत पुरुषो व्रणे ।" यह पाठ दिया है । यह उस समय के लिये है जब स्राव बन्द होकर व्रण शुद्ध हो गया हो ।

वि० मन्तव्य—हमारे विचार में आचार्य गयी का पाठ ही समीचीन है और व्रण का स्राव तो व्यान वायु द्वारा प्रेरित होकर निकलता है । पृष्ठ गत व्रण में उत्तान होकर लेटने से तो व्रण पर दबाव पड़कर उसमें विकृति आ सकती है और यह अवस्था सह्य भी नहीं हो सकती और फिर लेटने के दो ही प्रकार नहीं हैं । पार्श्व के बल भी लेटा जाता है और इस प्रकार पीठ एवं उरस् के व्रणों का बचाव भी हो सकता है । पाठक इस विषय पर स्वतः गम्भीर विचार करें ॥३६॥

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन बुद्धिमान् ।
बध्नीयात् कोशबन्धेन प्राप्तं कार्यं च रोपणम् ॥३७॥

सम्पूर्ण रूप से कटी हुई शाखा में गरम तैल से जलाकर कोश बन्ध से बाँध दे । रोपण क्रिया करना उत्तम है ॥३७॥

चन्दनं पद्मकं रोध्रमुत्पलानि प्रियङ्गवः ।
हरिद्रा मधुकं चैव पयः स्यादत्र चाष्टमम् ॥३८॥
तैलमेभिर्विपक्वं तु प्रधानं व्रणरोपम् ।

चन्दन, पद्माख, लोध, कमल, प्रियंगु, हल्दी, मुलहठी, और आठवां दूध, इनसे तैल सिद्ध करे। यह उत्तम व्रण रोपक है ॥३८॥

चन्दनं कर्कटाख्या च सहे मास्याह्वयामृता ॥३९॥
हरेणवो मृणालं वा त्रिफला पद्मकोत्पले ।
त्रयोदशाङ्गं त्रिवृतमेतद्वा पयसाऽन्वितम् ॥४०॥
तैलं विपक्वं सेकार्थे हितं तु व्रणरोपणे ।

चन्दन, कर्कटश्रृंगी मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जटामांसी, गिलोय, मटर, कमलनाल, त्रिफला, पद्माख, नीलोफर इस त्रयोदशांग के कल्क से दूध में (पानी मिलाकर) सिद्ध किया त्रिवृत्त तैल (घी, वसा, मज्जा और तैल) व्रण के रोपण के लिये परिषेक करने में उत्तम है। (इसमें घी आदि से, दूध और पानी चार गुण लेना चाहिये) ॥३९,४०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भिन्नानां तु चिकित्सितम् ॥४१॥
भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लभ्यते तु यत् ।
तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः ॥४२॥
पीडयेत् पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण तु ।
ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा ॥४३॥

इसके आगे भिन्न व्रणों की चिकित्सा कहता हूँ—जिस नेत्र में भिन्न व्रण होने से नेत्र काम में अयोग्य (देखने में अयोग्य) हो, परन्तु भिन्न (फटा-विदीर्ण) न हुआ हो, और बाहर लटक गया हो, उसे धीरे से, सिराओं को बिना नुकसान किये, ठीक स्थान पर बिठा कर, उस पर कमल का पत्ता रख कर हाथ से भली प्रकार (धीमे से) दबाये। इस पर मधु और घी लगाकर इसका घी से तर्पण करे, और घी से नस्य देवे। (कोई अनेन के स्थान पर 'आजेन' पाठ पढ़ते हैं और बकरी के घी से नस्य देवे-अर्थ करते हैं)।

वि० मन्तव्य—'नस्यं चाऽनेन सर्पिषा' का अर्थ है इस (आजं—प्रशस्यते) पाठ द्वारा कहे सिद्ध घृत से तर्पण नेत्रपूरण करे और इसी की नस्य देवे। इस उपचार से नेत्रगोलक अपने स्थान में पूर्ववत् स्थित हो जाता है ॥४१-४३॥

आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुकं चोत्पलानि च ।
जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥४४॥
सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत् प्रशस्यते ।

बकरी का घी, दूध एक आढ़क, मुलैहठी, कमल, जीवक, ऋषभक, इनको पीसकर, इनसे गाय का घृत सिद्ध करे। सब प्रकार के नेत्राभिघातों में यह घृत उत्तम है ॥४४॥

वक्तव्य—बकरी का घी, मुलैहठी आदि द्रव्य समान अंश में लेकर—आठ पल मात्रा में, घी एक प्रस्थ, और दूध एक आढ़क लेकर घी सिद्ध करे। इसमें कई मुलैहठी आदि को बकरी के घी में पीसते हैं ॥

उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः ॥४५॥
कषायभस्ममृत्कीर्णां बध्वा सूत्रेण सूत्रवित् ।
अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यान्मधुसमायुतम् ॥४६॥
बध्वा व्रणं सुजीर्णेऽन्ने सर्पिषः पानमिष्यते ।
स्नेहपानादृते चापि पयःपानं विधीयते ॥४७॥
शर्करामधुयष्टिभ्यां लाक्षया वा श्वदंष्ट्रया ।
चित्रासमन्वितं चैव रुजादाहविनाशनम् ॥४८॥
आटोपो मरणं वा स्याच्छूलो वाऽच्छिद्यमानया ।
मेदोग्रन्थौ तु यत्तैलं वक्ष्यते तच्च योजयेत् ॥४९॥

जिस मनुष्य के पेट में से मेद की वर्त्ति (मेद या आंतों का आवरण) निकल आई हो, उस पुरुष में मेद वर्त्ति पर सर्जक-अर्जुन आदि कषाय रसवाले वृक्षों की भस्म (क्षार), काली मिट्टी, इनको लगाकर (बुरककर) सूत्र को बाँधना जानने-वाला वैद्य धागे से इसे बाँध दे। फिर अग्नि में गरम किये शस्त्र से इसको काट देवे। काटकर इस पर मधु लगाकर बाँध देवे। अन्न के भली प्रकार पच जाने पर घृत का पान कराये। स्नेह पान के सिवाय दूध का पान भी कराया जाता है। दूध को शर्करा, मुलैहठी और लाक्षा, या गोखरु और ऐरण्ड तैल के साथ देना चाहिये। इससे वेदना और दाह नष्ट होते हैं। न काटने पर आटोप, मृत्यु या शूल होती है। मेद ग्रन्थि में जो तेल कहा जायेगा, उसे यहाँ बरते।

वक्तव्य—कषाय रस वृक्ष की भस्म होने से कषाय रस के कारण यह संकुचित होकर सुगमता से अन्दर प्रविष्ट हो जा सकती है। क्षार, मिट्टी का आंतों पर लेप करने से जलाने में आंतों के अन्दर गहरा जलने का भय नहीं रहता। अग्नि में गरम किये शस्त्र से पकने का भय नहीं, इसीसे डल्हण ने कहा 'अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्।'—डल्हण ने दो योग माने हैं—मुलैहठी के क्वाथ से सिद्ध दूध में शर्करा और एरण्डतैल से एक, गोखरू के क्वाथ से सिद्ध दूध में लाक्षा और एरण्ड-तैल मिलाने से दूसरा। परन्तु संग्रह में इसे एक ही योग माना है, यथा—"क्षीरं वा शर्कराचित्रलाक्षागोक्षुरकैः श्रृतम्। रुग्दाहजित् स यष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः" ॥४५-४६॥

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥५०॥

शल्य त्वचा को पार करके, सिरा आदि का भेदन करके, या इनको बचाकर भी—कोष्ठ में रहने पर कहे हुये उपद्रवों को (कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात्—सू० अ० २० २६) उत्पन्न करता है ।।५०।।

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुं शीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ।।५१।।

इसमें—कोष्ठ के अन्दर रक्त आजाने पर, रोगी का वर्ण श्वेत हो जाने पर, पैर हाथ मुख ठंडा हो जाने से, श्वास ठण्डा होने पर, आँखों में सुर्खी, दोषों के रुके होने पर असाध्य माने ।।५१।।

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते ।
पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम् ।।५२।।
आस्थापनं च निःस्नेहं कार्यमुष्णैर्विशोधनैः ।
यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च ।।५३।।
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत् सैन्धवसंयुताम् ।
अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक् ।।५४।।

रक्त के आमाशय में रहने पर वमन पथ्य है । पक्वाशय में रक्त होने पर बिना संशय के विरेचन देना चाहिये । उष्ण एवं विशोधक गोमूत्र आदि से आस्थापन (निरूहण वस्ति) देना चाहिये । जौ, बेर और कुलत्थी के स्नेह रहित यूष के साथ या स्नेह रहित मांस रस के साथ अन्न को खाये । सैन्धव मिश्रित यवागू को पिये । जिसका रक्त बहुत निकल गया या कोष्ठ फट गया हो, वह रक्त को पिये ।

"मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् ।
पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ।।
तदेव दर्भमृदितं रक्तं वस्ति प्रदापयेत् ।।"
चरक० सि० अ० ६ ।।

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः ।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः ।।५५।।

जिस पुरुष के मल-मूत्र और वायु अपने मार्गों से प्रवृत्त हो रहे हों, उपद्रवों से रहित हों वह व्यक्ति कोष्ठ के विदीर्ण होने पर भी जीता है । (उपद्रव—ज्वर आध्मान आदि) ।।

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत् ।
पिपीलिकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु ।।५६।।
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः ।
प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः ।।५७।।
प्रवेशयेत् क्षीरसिक्तं शुष्कमन्त्रं घृताप्लुतम् ।
अङ्गुल्याऽभिमृशेत् कण्ठं जलेनोद्वेजयेदपि ।।५८।।
हस्तपादेषु संगृह्य समुत्थाप्य महाबलाः ।
भवत्यन्तःप्रवेशस्तु यथा निर्धुनुयुस्तथा ।।५९।।
तथाऽन्त्राणि विशन्त्यन्तः स्वां कलां पीडयन्ति च ।
व्रणाल्पत्वाद्बहुत्वाद्वा दुष्प्रवेशं भवेत्तु यत् ।।६०।।
तदापाट्य प्रमाणेन भिषगन्त्रं प्रवेशयेत् ।
यथास्थानं निविष्टे च व्रणं सीव्येदतन्द्रितः ।।६१।।
स्थानादपेतमादत्ते प्राणान् गुम्फितमेव वा ।
वेष्टयित्वा तु पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ।।६२।।
घृतं पिबेत् सुखोष्णं च चित्रातैलसमन्वितम् ।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधः प्रवृत्तये ।।६३।।
ततस्तैलमिदं कुर्याद्रोपणार्थं चिकित्सकः ।
त्वचोऽश्वकर्णधवयोर्मोचकीमेषशृङ्ग्योः ।।६४।।
शल्लक्यर्जुनयोश्चापि विदार्या क्षीरिणां तथा ।
बलामूलानि चाहृत्य तैलमेतैर्विपाचयेत् ।।६५।।
व्रणं संरोपयेत्तेन वर्षमात्रं यतेत च ।

जो आंत विदीर्ण न हुई हो, परन्तु बाहर निकल आई हो, उसे ठीक तरह पहले की भाँति प्रविष्ट करे । यदि आँत फट गई हो तो दोनों सिरों को भूरी चिऊँटी से कटवाकर उनके सिरों को उसी में लगा रहने देते हुए—आँतों को पूर्व की भाँति अन्दर बिठाये, ऐसा भी कई आचार्य कहते हैं । इसके लिये तिनके, रक्त या धूलि से लिपटी आँत को दूध से धोकर नखों को कटाये हुए वैद्य आँत को घी से स्निग्ध करके धीरे-धीरे प्रविष्ट करे । शुष्क आँत को दूध से सेचन करके, घी से तर बनाकर प्रविष्ट करे । अंगुली से गले में खर-खरायें, शीतल जल से कम्पकँपी उठाये । बलवान् व्यक्ति इस रोगी को हाथ और पैरों से पकड़कर इस प्रकार हिलायें-डुलायें, जिससे कि आंत्र अन्दर प्रविष्ट हो जाये । इस प्रकार करने से आंत अन्दर प्रविष्ट हो जाती है, और अपनी कला (मलधरा—पांचवी) को दबाती है—उसमें बैठ जाती है । व्रण के छोटे होने से या आँतों के बहुत होने से जब आँत अन्दर न जा सकें, तब उसके प्रमाण में चीरकर आँत्रों को अन्दर प्रविष्ट करे । आँतों के यथास्थान बैठ जाने पर वैद्य सावधानी से व्रण को सी देवे । क्योंकि स्थान से हटी हुई आंत्र अथवा परस्पर एक दूसरी में उलझी आँत मृत्यु का कारण बन जाती है । फिर वस्त्र से लपेट कर घी का सेक करे । एरण्ड तैल से मिला—सुहाता गरम घी पिये । इससे मल कोमल रहता है, और वायु प्रवृत्त होती रहती फिर वैद्य रोपण के लिए निम्न तैल बनाये—

तैल—अश्वकर्ण, धव, सिम्बल और मेषशृंगी, शल्लकी, अर्जुन इनकी छाल, विदारी और बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर आदि क्षीरि वृक्षों की छाल, बलामूल, इनके साथ तैल सिद्ध करे । इस तैल से व्रण का रोपण करे । एक साल तक परहेज में रहे ।

वि० मन्तव्य—यह उस दशा का उपचार है, जब उदर फट जाने पर अन्त्र बाहर निकल आती है । व्रणाल्पत्वा……यत्—यदि उदर का व्रण छोटा होता है,

अन्त्र लौटाकर यथास्थान स्थापित नहीं हो सकती तो उदर का व्रण बड़ा करके अन्त्र को प्रविष्ट करना चाहिये ॥ ५६-६५ ॥

पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोद्य चाक्षिणी ॥६६॥
प्रवेश्य तुन्नसेवन्या मुष्कौ सीव्येत्ततः परम्।
कार्यो गोफणिकाबन्धः कट्यामावेष्ट्य यन्त्रकम् ॥६७॥
न कुर्यात् स्नेहसेकं च तेन क्लिद्यति हि व्रणः।
कालानुसार्यगुर्वेलाजातीचन्दनपद्मकैः ॥६८॥
शिलादार्व्यमृतातुत्थैस्तैलं कुर्वीत रोपणम्।

जिस पुरुष के अण्ड बाहर आ गये हों, उसके पैर और आँखों पर शीतल जल का सेचन करके अण्डों को अण्डकोष में प्रविष्ट करके—अण्डकोषों को तुन्न सेवनी सीवन से सी देवे। फिर गोफणिका बन्ध बाँध देवे। रोगी की कटि में इस प्रकार बाँध दे—कि वह चले-फिरे या हिले-जुले नहीं। यहाँ पर स्नेह का सेक न करें। क्योंकि इससे व्रण क्लिन्न होता है। इसके रोपण के लिये, कालानुसारी, अगरु, इलायची, चमेली, चन्दन, पद्माख, मैनसिल, दारुहल्दी, गिलोय, तुत्थ इनसे रोपण तैल बनाये।

वि० मन्तव्य—यह उपचार तब किया जाता है जब अण्डकोश फट जाने पर अण्ड बाहर आकर लटकने लगते हैं॥

शिरसोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं निवेशयेत् ॥६९॥
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत्।
हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत् ॥७०॥
व्रणे रोहति चैकैकं शनैर्बालमवक्षिपेत्।

शिर में से शल्य को निकालकर इस छेद में बालों की बनाई वर्ति प्रविष्ट कर देवे। क्योंकि बालों की वर्त्ति न लगाने से व्रण में से मस्तुलुङ्ग बहता है। इससे वायु कुपित होकर इसको मार देता है, इसलिये इस प्रकार की चिकित्सा करे। जैसे २ व्रण भरता जाता हो, वैसे २ एक एक बाल उसमें से निकलता जाये।

वि० मन्तव्य—मस्तुलुङ्ग—शिरसो बलाधानस्त्यानघृताकारम्। आज कल का 'सैरिब्रोस्फाईन फ्लुड' का शायद अभिप्राय हो।

वि० मन्तव्य—यह उपचार तब किया जाता है जब शिर पर आघात होने से कपालास्थि टूट जाती है, परन्तु मस्तुलुङ्ग सुरक्षित रहता है। इस दशा में कपालास्थि के टुकड़े निकाल दिये जाते हैं और केवल त्वचा के व्रण का रोपण कर दिया जाता है। मस्तुलुङ्ग—स्नेह कफ (जो मूर्धा में रहता है) मथ शिरो मजा (भेजा) का नाम है। यही कपालास्थियों के भीतर भरा रहता है। इसी में अधिपति आदि शिरोगत मर्म हैं॥

गात्रादपहृतेऽन्यस्मात् स्नेहवर्तिं प्रवेशयेत् ॥७१॥
क्षते निःशोणिते चापि विधिः सद्यक्षते हितः।

शरीर के अन्य भाग में लगे शल्य को निकालकर कपड़े की बनाई-तैल में भिगोई वर्त्ति को प्रविष्ट करे। व्रण को रक्त रहित बनाकर सद्यः क्षत का उपचार करना चाहिये ॥ ७१ ॥

दूरावगाढाः सूक्ष्माः स्युर्ये व्रणास्तान् विशोणितान् ॥
कृत्वा सूक्ष्मेण नेत्रेण चक्रतैलेन तर्पयेत्।

जो व्रण बहुत लम्बे या गहरे हों, सूक्ष्म हों, उनको रक्त रहित बनाकर, पतली नली द्वारा इनमें कोल्हू का ताजा तेल प्रविष्ट करे। (चक्रतैल–कोल्हू की लकड़ी से अणुतैल विधि—जो आगे कहेंगे—से बनाया तैल चक्रतैल, यह डल्हण का मन्तव्य है) ॥ ७२ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां त्रिवर्गं तुत्थमेव च ॥७३॥
विडङ्गं कटुकां पथ्यां गुडूचीं सकरञ्जिकाम्।
संहृत्य विपचेत् काले तैलं रोपणमुत्तमम् ॥७४॥

मजीठ, हल्दी, पद्मा (भार्गी), त्रिफला, तुत्थ, विडंग, कुटकी, हरड़, गिलोय, करञ्ज, इनको लाकर इन से तैल बनाये। यह तैल व्रण के संरोहण काल में उत्तम रोपण है॥

तालीशं पद्मकं मांसी हरेण्वगुरुचन्दनम्।
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः ॥७५॥
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम्।

तालीश, पद्माख, जटामांसी, हरेणु, अगरु, चन्दन, हल्दी, दारुहल्दी, कमल के बीज, खस और मुलहठी, इनमें सिद्ध किया तैल, सद्योव्रणों में उत्तम रोपण तैल है ॥ ७५ ॥

क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद्विधिः ॥७६॥

क्षत व्रण में क्षतविधि (मधु घी, तैल का सेचन) करे, पिच्चित में भग्न के समान उपचार करे ॥ ७६ ॥

घृष्टे रुजो विगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद् व्रणम्।

घृष्ट व्रण में शीतल उपचार से वेदना को बन्द करके, व्रणों को चूर्णों से (शाल, सर्ज, अर्जुन आदि से) चिकित्सा करे॥

विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव च ॥७७॥
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशनम्।
अयमेव विधिः कार्यः क्षीणे मर्महते तथा ॥७८॥

जिसकी सन्धियाँ गिरने आदि से ढीली हो गई हों, गिर गई हों, बलपूर्वक दबाई गई हों (मिच गई हों), लाठी आदि से जो मारा गया हो उस मनुष्य को तैल (तिलतैल) से भरी द्रोणी (टब) में रख देवें। खाने को मांस रस देवें। यही उपचार मुसाफिरी आदि से क्षीण हुये या मर्म स्थानों पर चोट लगने पर बरतना चाहिये ॥ ७७,७८ ॥

रोपणे सपरीषेके पाने च व्रणिनां सदा।
तैलं घृतं वा संयोज्यं शरीरर्तूनवेक्ष्य हि ॥७९॥

रोपण में, परिषेक में, पान में, व्रण रोगियों को सदा, ऋतु, शरीर को देखकर घी या तैल को देना चाहिये। वात कफ

प्रकृति-शिशिर काल होने पर तैल, रक्त-पित्त प्रकृति—शरद् आदि ऋतु होने पर घी पीने को देवें ॥ ७९ ॥

घृतानि यानि वक्ष्यामि यत्नतः पित्तविद्रधौ।
सद्योव्रणेषु देयानि तानि वैद्येन जानता ॥८०॥

पित्त विद्रधि में जो घृत, कहूँगा उनको सद्यो व्रणों में बुद्धिमान् वैद्य बरतें ॥ ८० ॥

सद्यःक्षतव्रणं वैद्यः सशूलं परिषेचयेत्।
सर्पिषा नातिशीतेन बलातैलेन वा पुनः ॥८१॥

सद्यःक्षत व्रण में वेदना होने पर बहुत शीतल नहीं (साधारण शीतल) घी से या बला तेल से परिषेक करे। (वात कफ प्रकृति, शीत काल में बला तैल से, रक्त पित्त प्रकृति शरद् काल में घी से परिषेक करे) ॥ ८१ ॥

समङ्गां रजनीं पद्मां पथ्यां तुत्थं सुवर्चलम्।
पद्मकं रोध्रमधुकं विडङ्गानि हरेणुकाम् ॥८२॥
तालीसपत्रं नलदं चन्दनं पद्मकेशरम्।
मञ्जिष्ठोशीरलाक्षाश्च क्षीरिणां चापि पल्लवान् ॥८३॥
प्रियालबीजं तिन्दुक्यास्तरुणानि फलानि च।
यथालाभं समाहृत्य तैलमेभिर्विपाचयेत् ॥८४॥
सद्योव्रणानां सर्वेषामदुष्टानां तु रोपणम्।

मंजीठ, हल्दी, भार्गी, हरड़, तुत्थ, हुलहुल, पद्माख, लोध, मुलहठी, वायविडंग, हरेणु, तालीश पत्र, नलद (मांसी) चन्दन, कमलकेसर, मंजीठ, खस, लाख बरगद आदि क्षीर वृक्षों के कोमल पत्ते, चिरौंजी, तिन्दुक के कच्चे फल, इनमें से जो मिले, उनको लाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल दूषित सद्यः क्षत व्रणों में उत्तम रोपण है।

वक्तव्य—समङ्गा का अर्थ छुईमुई भी है। यदि मंजीठ, लें तो मंजीठ दुगुनी होती है, इसमें कोई दोष नहीं "घृते तैले च योगे च यद् द्रव्यं पुनरुच्यते। तज्ज्ञातव्यमिहाचार्य्यैः भागतो द्विगुणं भवेत् ॥" इसके अनुसार मंजीठ दो बार होने से दुगुनी हो सकती है ॥ ८२-८४ ॥

कषायमधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धाश्च योजयेत् ॥८५॥
सद्योव्रणानां सप्ताहं पश्चात् पूर्वोक्तमाचरेत्।

सद्यो व्रणों में सात दिन तक कषाय, मधुर, शीतल, स्निग्ध, उपचार बरते। पीछे द्विव्रणीयोक्त विधि को बरते ॥ ८५ ॥

दुष्टव्रणेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ॥८६॥
विशोषणं तथाऽऽहारः शोणितस्य च मोक्षणम्।
कषायं राजवृक्षादौ सुरसादौ च धावनम् ॥८७॥
तयोरेव कषायेण तैलं शोधनमिष्यते।
क्षारकल्पेन वा तैलं क्षारद्रव्येषु साधितम् ॥८८॥

दूषित व्रणों में वमन, विरेचन देना चाहिये। सुखानेवाला (तिक्त, कटु कषाय) भोजन देना चाहिये। रक्त मोक्षण करना चाहिये। आरग्वधादि और सुरसादि का कषाय धोने के लिये बरते। इन्हीं कषायों में पकाया तैल शोधन के लिये उत्तम है। अथवा मुष्क पलाश आदि द्रव्यों में क्षार कल्पना से बनाया तैल बरते ॥ ८६-८८ ॥

द्रवन्ती चिरबिल्वश्च दन्ती चित्रकमेव च।
पृथ्वीका निम्बपत्राणि कासीसं तुत्थमेव च ॥८९॥
त्रिवृत्तेजोवती नीली हरिद्रे सैन्धवं तिलाः।
भूमीकदम्बः सुवहा शुकाख्या लाङ्गलाह्वया ॥९०॥
नैपाली जालिनी चैव मदयन्ती मृगादनी।
सुधामुर्वार्ककीटारिहरितालकरञ्जिकाः ॥९१॥
यथोपपत्ति कर्तव्यं तैलमेतैस्तु शोधनम्।
घृतं वा यदि वा प्राप्तं कल्काः संशोधनास्तथा ॥९२॥

द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) करञ्ज, जमालगोटा, चित्रक, बड़ाजीरा, नीम के पत्ते, कासीस, तुत्थ, निशोथ, तेजबल, हल्दी, दारुहल्दी, सैन्धव, तिल, भूमिकदम्ब, सुवहा (श्यामाकाली निशोथ), शुकाख्या (श्योनाक या शिरीष), कलिहारी, मैनसिल, कडुई तोरी, मेहदी, इन्द्रवारुणी, स्नुही, मूर्वा, आक, वायविडंग, हरताल, नाटाकरञ्ज, इनमें से जो मिल सके, उनसे तैल सिद्ध करे।

अथवा इन्हीं में से घृत सिद्ध करे। उत्सन्नमांसान् स्निग्धान् (चि० अ० १ में) कहे व्रणों में तैल पित्त से दूषित गम्भीर, दाह, पाक से पीड़ित व्रणों में घृत बरते। इन तैल या घृतों में संशोधन कल्क मिलाये ॥ ८९-९२ ॥

सैन्धवत्रिवृदेरण्डपत्रकल्कस्तु वातिके।
त्रिवृद्धरिद्रामधुककल्कः पैत्ते तिलैर्युतः ॥९३॥
कफजे तिलतेजोह्वादन्तीस्वर्जिकचित्रकाः।
दुष्टव्रणविधिः कार्यो मेहकुष्ठव्रणेष्वपि ॥९४॥

सैन्धव, निशोथ, एरण्ड के पत्ते, इनका कल्क वायुजन्य व्रणों में; निशोथ, हल्दी, और मुलहठी का तथा तिल का कल्क पित्त में; तिल, तेजबल, दन्ती, स्वर्जिकाक्षार, चित्रक इनका कल्क कफज व्रणों में बरते। मेह जन्य व्रण और कुष्ठ व्रणों में दुष्ट व्रण का उपचार करे ॥ ९३,९४ ॥

षड्विधः प्राक् प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः।
नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभिः ॥९५॥

सद्यो व्रण निश्चय, जो छै प्रकार का पहले कहा है, इससे अधिक बहुत बारीक विवेचना करनेवाले भी नहीं कह सकते ॥

उपसर्गैर्निपातैश्च तत्तु पण्डितमानिनः।
केचित् संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः ॥९६॥
बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेष्वेवावतिष्ठते।
विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम् ॥९७॥

अपने को पण्डित माननेवाले, अभिमान के कारण इन्हीमें उपसर्ग और निपात मिलाकर इनको अनेक प्रकार से कहते हैं। इनका बहुत प्रकार का कहना इन छै में ही समाविष्ट होजाता है।

जिस प्रकार सामान्य कर्मों में विशेष कर्मों का समावेश हो जाता है, इसलिये छै ही सबसे श्रेष्ठ हैं।

वक्तव्य—उपसर्ग लगाकर—सम्यग्-छिन्नम् संछिन्नम्। परितः छिन्नं, परिछिन्नम्। निपात से—अतिक्रम्य छिन्नम्-अतिछिन्नम्। अल्पं छिन्नम् ईषत् छिन्नम् ॥६६,६७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सद्योव्रणचिकित्सितं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो भग्नानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे भग्नचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—भग्न का विवरण नि० स्था० अ० १५ में देखिये ॥१,२॥

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥३॥

थोड़ा खानेवाले, अजितेन्द्रिय, वात प्रधान, या उपद्रवों से युक्त व्यक्ति में भग्न रोग कठिनाई से अच्छा होता है ॥३॥

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥४।

भग्न रोगी—लवण, कटुरस, क्षार, अम्ल, मैथुन, धूप, व्यायाम और रूक्ष भोजन का सेवन न करे ॥४॥

शालिर्मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः।
बृंहणं चान्नपानं स्याद्देयं भग्नाय जानता ॥५॥

भग्नरोगी—को जाननेवाला वैद्य, शालि, मांसरस, दूध, घी, मटर का घी से बनाया यूष, वृद्धिकारक खान पान देवे। (मटर-वातकर होने पर भी घी आदि से संस्कृत करके दिया जाता है) ॥५॥

मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः।
वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥६॥

महुआ, गूलर, पीपल, ढाक, अर्जुन, इनकी छाल, बाँस, सर्ज, बरगद की छाल, इनको कुशा के काम (स्प्लिन्ट) में बरते।

वि० मन्तव्य—कुश-भग्न नलकास्थि पर जो लकड़ी की लम्बी फट्टियाँ धरकर बन्धन किया जाता है उन फट्टियों का नाम कुश है। ये फट्टियाँ महुआदि की मोटी छाल की अथवा उनके काष्ठ की होनी चाहिये अथवा मोटे बाँस को फाड़कर बनाई गई हों। यह सब काष्ठ शीतवीर्य एवं शीतस्पर्श होते हैं, अतः पाक का प्रारम्भ नहीं होने देते। भग्न स्थान पर कपड़ा लपेट उसके ऊपर कुश धरकर बन्धन किया जाता है, (दे० अ० हृ० उ० त० अ० २७) ॥६॥

आलेपनार्थं मञ्जिष्ठांमधुकं रक्तचन्दनम्।
शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥७॥

मजीठ, मुलैहठी, लालचन्दन, इनको शतधौत घृत में मिलाकर और शाली को पीसकर इनसे लेप करे।

वि० मन्तव्य—यह लेप भी शीतल होने के कारण-पाक को रोकता है ॥७॥

सप्ताहादथ सप्ताहात् सौम्येष्वृतुषु बन्धनम्।
साधारणेषु कर्तव्यं पञ्चमे पञ्चमेऽहनि ॥८॥
आग्नेयेषु त्र्यहात् कुर्याद्भग्नदोषवशेन वा।

सौम्य ऋतुओं में (शीतकाल हेमन्त में) सात-सात दिन पीछे पट्टी बाँधे। साधारण ऋतुओं (शरद् ऋतु) में पाँचवें-पाँचवें दिन, आग्नेय ऋतु (ग्रीष्म) में तीसरे दिन पट्टी को बदले अथवा भग्न दोष में दोष के अनुसार जब ठीक समझे तब बदल दे ॥८॥

तत्रातिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते ॥९॥
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च।
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः ॥१०॥

पट्टी को बहुत ढीला बाँधने से सन्धि स्थिर नहीं होती। कसकर बाँधने से त्वचा आदि में सूजन, वेदना और पाक होता है। इसलिये भग्न से साधारण बन्धन (न ढीला न कसा) उत्तम है।

वि० मन्तव्य—सन्धि टूटी अस्थि का सन्धान स्थिर नहीं होता उचित सन्धान नहीं होता—टेढ़ा मेढ़ा सन्धान हो जाता है और वह अवयव सदा के लिये टेढ़ा हो जाता है ॥९,१०॥

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने।
पञ्चमूलीविपक्वं तु क्षीरं कुर्यात् सवेदने ॥११॥

परिषेचन कार्य में न्यग्रोधादिगण का कषाय बरते। वेदना होने पर बृहत्पंचमूल से पकाया दूध बरते ॥११॥

सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता।

अथवा जाननेवाला वैद्य सुहाता गरम चक्रतैल बरते। (चक्रतैल-कोल्हू से ताजा निकला तेल)।

विभज्य कालं दोषं च दोषघ्नौषधसंयुतम् ॥१२॥
परिषेकं प्रदेहं च विदध्याच्छीतमेव च।

दोष और काल की विवेचना करके दोषनाशक औषधियों से युक्त—मिश्रित परिषेक या प्रदेह शीतल ही करे।

वि० मन्तव्य—भग्न स्थान पर परिषेचन तथा प्रदेह (लेप) शीतल ही करना चाहिये। उष्ण से पाक का प्रारम्भ हो सकता है और पाक का प्रारम्भ हो जाने पर एक नई विपत्ति खड़ी हो जाती है। देखिये इसी अध्याय का ६९ वाँ श्लोक ॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम् ॥१३॥
शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः ।

काकोल्यादि मधुर औषधियों से संस्कृत प्रथम बार ब्याई गाय के दूध को घी के साथ, ठण्डा करके, लाक्षा के साथ, भग्न नर प्रातःकाल पिये ॥१३॥

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः ॥१४॥
प्रतिसार्य कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत् ।

व्रणवाले भग्नों में घी और मधु प्रधान कषायों को (क्षीरि वृक्ष आदि कषाय रसवाले द्रव्यों का कल्क) लेप करके शेष आहार-विहारादि भग्न की भाँति करे ॥१४॥

प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत् ॥१५॥
अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके ।

प्रथम वय (बचपन) में हुआ भग्न सुखसाध्य होता है। इसी प्रकार थोड़े दोषवाले प्राणीका और शिशिर काल में हुआ भग्न सुख साध्य है ॥१५॥

प्रथमे वयसि त्वेवं मासात् सन्धिः स्थिरो भवेत् ।१६।
मध्यमे द्विगुणात् कालादुत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः ।

बचपन में सन्धि को दृढ़ होने के लिये एक मास का समय चाहिये। मध्यम वय (युवावस्था) में दो मास और वृद्धावस्था में तीन महीने का समय चाहिये ॥१६॥

अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत् ॥१७॥
आञ्छेदतिक्षिप्तमधो गतं चोपरि वर्तयेत् ।
आञ्छनैः पीडनैश्चैव सङ्क्षेपैर्बन्धनैस्तथा ॥१८॥

नीचे दबी अस्थि को ऊपर को उठाये, ऊपर उठी को नीचे दबाये। बहुत दूर की हड्डी को पास में खींचकर लाये, नीचे की दबी को ऊपर की ओर लाये ॥१७,१८॥

सन्धीञ्छरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि ।
एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक् ॥१९॥

बुद्धिमान वैद्य चल और अचल शरीर की सब प्रकार की सन्धियों को आंछन (खींचना) पीड़न (दबाना), संक्षेप (सकुचित करना) और बाँधकर इनको ठीक बिठाने के साधनों से ठीक बिठाये ॥१९॥

उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत् ।
तस्य शीतान् परीषेकान् प्रदेहांश्चावचारयेत् ॥२०॥
अभिघाते हृते सन्धिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः ।
घृतदिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि ॥२१॥
पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा यथावद्बन्धमाचरेत् ।

उत्पिष्ट (चूर्णित) विश्लिष्ट (च्युत) सन्धियों को वैद्य न चलाये। इनपर शीतल परिषेक और शीतल प्रदेह बरते। चोट का प्रभाव हटने पर फिर अपने स्थान पर बिठाकर घी से लिप्त वस्त्र से लपेट कर पट्टी के ऊपर कुशाओं को रखकर ठीक प्रकार से बन्ध बाँध देवे ॥२०,२१॥

प्रत्यङ्गभग्नस्य विधिरत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥२२॥

प्रत्येक अंग के भग्न की चिकित्सा इसके आगे कहेंगे ॥२२॥

नखसन्धि समुत्पिष्टं रक्तानुगतमारया ।
अवमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टेन लेपयेत् ॥२३॥

चूर्णित हुई नखसन्धि में रक्त भर जाने पर आरा शस्त्र से मथकर (बहुत से छेद करके तोदकर) रक्त निकाले, पीछे से चावलों को पीसकर लेप कर दे ॥२३॥

भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाऽङ्गुलीं समाम् ।
अणुनाऽऽवेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥२४॥

भग्न या सन्धि से अलग हुई अंगुलियों को बराबर बिठाकर, सूक्ष्म पतली पट्टी से लपेट देवें। ऊपर से घी का सेक करें॥

अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम् ।
वस्त्रपट्टेन बध्नीयान्न च व्यायाममाचरेत् ॥२५॥

पैर के तलुए में भग्न होने पर घी से अभ्यङ्ग करके ऊपर से कुशा रखकर वस्त्र पट्टी से बाँध देवे। इसमें व्यायाम न करे ॥२५॥

अभ्यज्यायामयेज्जङ्घामूरुं च सुसमाहितः ।
दत्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥२६॥

अति सावधानी से जंघा और ऊरु पर अभ्यङ्ग करके इनको खींचे। फिर न्यग्रोधादि शीतल वृक्षों की त्वचा बाँधकर पट्टी से लपेट देवे ॥२६॥

मतिमांश्चक्रयोगेन ह्याञ्छेदूर्वस्थि निर्गतम् ।
स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात् पूर्ववद्भिषक् ॥२७॥

बाहर की ओर या अपने कोटर से खिसकी ऊर्वस्थि को बुद्धिमान् वैद्य चारों ओर गोलाई में घुमाकर बिठाये, स्फुटित या पिच्चित में भी पूर्व की भाँति वैद्य पट्टी करे ॥२७॥

आञ्छेदूर्ध्वमधो वापि कटिभग्नं तु मानवम् ।
ततः स्थानस्थिते संधौ वस्तिभिः समुपाचरेत् ॥२८॥

जिस मनुष्य की कटि टूट गई हो, उसमें ऊर्ध्वगत अस्थिको नीचे, अधोगत अस्थिको ऊपर की ओर खींचे। फिर संधि के अपने स्थान पर बैठ जाने पर वस्तियों से चिकित्सा करे ॥२८॥

पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः ।
दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निबन्धनीः ॥२९॥
ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत् सुसमाहितः ।
तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम् ॥३०॥

पर्शुकाओं के भग्न में रोगी को सीधा खड़ा करके, घी का अभ्यंग करे। दक्षिण या वाम पार्श्व की पर्शुकाओं में मांस रज्जुओं पर घी का अभ्यंग करके; ऊपर से कवलिका (बाँस के खप्पच पर रूई की गद्दी रखकर वस्त्र पट्ट से भली प्रकार बाँध देवे। रोगी को तैल से भरे कड़ाहा या टब में सुलायें ॥२९,३०॥

मुसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामंससन्धौ विसंहते।
स्थानस्थितं च बध्नीयात् स्वस्तिकेन विचक्षणः॥३१॥

अंस सन्धि के अलग होने पर कक्षा को मूसल से ऊँचा उठाये। स्थान पर बुद्धिमान् वैद्य स्वस्तिक बन्धन बाँधे॥३१॥

कौर्परं तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत्।
अनुमृज्य ततः सन्धिं पीडयेत् कूर्पराच्च्युतम्॥३२॥
प्रसार्याकुञ्चयेच्चैनं स्नेहसेकं च दापयेत्।

कूर्पर सन्धि भंग को अंगूठे से मले। मलकर कोहनी की अलग हुई सन्धि को दबाये। खींचकर इसको कोहनी पर संकुचित (मोडे) करे, ऊपर से स्नेह का परिषेक करे॥३२॥

एवं जानुनि गुल्फे च मणिबन्धे च कारयेत्॥३३॥

जानु-गुल्फ और मणिबन्ध के भंग में इसी प्रकार करे॥ ३३॥

उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः।
बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारयेत्॥३४॥
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवणं च ततः परम्।
हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम्॥३५॥

मनुष्य की हथेली टूटने पर दोनों हथेलियों को समान करके, बाँध देवें। ऊपर कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करे। पहले मिट्टी का ढेला पकड़े, फिर सैन्धव नमक को पकड़े। हाथ में बल आने पर धीरे-धीरे पत्थर को थमाना आरम्भ करे।

वि० मन्तव्य—जब भग्न ठीक हो जाय और पट्टी खोल दी जाय तब प्रथम मिट्टी का फिर लवण का ढेला सर्वदा हाथ में रखा रहे कुछ और बल आने पर पत्थर को धारण करे॥ ३४,३५॥

सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमक्षकं मुसलेन तु।
तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद् गाढमेव च॥३६॥

अक्षक अस्थि नीचे दबी हो तो इसको मूसल से ऊपर उठाये, ऊपर को उठी अस्थि को मूसल से नीचे दबाये। कसकर पट्टी बाँध देवे॥ ३६॥

ऊरुवच्चापि कर्तव्यं बाहुभग्नचिकित्सितम्।

बाहुभग्न की चिकित्सा उरु की भाँति करनी चाहिये।

ग्रीवायां विवृतायां तु प्रविष्टायामधोऽपि वा॥३७॥
अवटावथ हन्वोश्च प्रगृह्योन्नमयेन्नरम्।
ततः कुशाः समं दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्॥३८॥
उत्तानं शाययेच्चैनं सप्तरात्रमतन्द्रितः।

ग्रीवा के टेढ़ी होने या नीचे को बैठ जाने पर रोगी को ठोड़ी और गर्दन के पिछले भाग (गुद्दी) से पकड़कर ऊँचा करे। फिर बराबर कुशाओं को बिठाकर पट्टी से बाँध देवे। बिना आलस्य किये वैद्य इसको सात दिन पीठ के बल (चित) सुलाये॥३७,३८॥

हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते॥३९॥
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद्भिषक्।
वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम्॥४०॥

हनुसन्धि के अलग होने पर हनु की अस्थियों को ठीक बिठाकर, स्वेदन करे। ठीक बैठ जाने पर पञ्चाङ्गी बन्ध बाँध देवे। भद्रदार्व्यादि, विदारिगन्धादि और काकोल्यादि से सिद्ध घृत नस्य में उत्तम है॥४०॥

अभग्नांश्चलितान् दन्तान् सरक्तानवपीडयेत्।
तरुणस्य मनुष्यस्य शीतैरालेपयेद्बहिः॥४१॥
सिक्त्वाऽम्बुभिस्ततः शीतैः सन्धानीयैरुपाचरेत्।
उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते॥४२॥
जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्जयेच्चलितान् द्विजान्।

युवा मनुष्य के न टूटे हुए, हिले एवं रक्तवाले दांतों को दबाये, बाहर शीतल लेप करे। शीतल जल से परिषेक करके, मधु घृत आदि सन्धानीय द्रव्यों से चिकित्सा करे। कमल के नाल से दूध पिलाये। वृद्ध मनुष्य के हिलते हुए दाँतों की चिकित्सा न करे।

वि० मन्तव्य—अभिघात से दन्त हिल जाने (दन्त में सन्धिमुक्त नामक भग्न हो जाने) पर यह उपाय किये जाते हैं। यदि वृद्ध के दन्त हिल जाते हैं तो वे फिर अचल नहीं होते॥४१,४२॥

नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया॥४३॥
पृथङ्नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत्।
ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत्॥४४॥

दबी हुई या टेढ़ी हुई नासा को शलाकाओं से सीधा करके, प्रत्येक नासा में दो मुखवाली नाड़ी प्रविष्ट करे। फिर वस्त्र से लपेटकर घी का सेक करे।

वि० मन्तव्य—श्वास के लिए द्विमुखी नली लगाई जाती हैं॥४३,४४॥

भग्नं कर्णं तु बध्नीयात् समं कृत्वा घृतप्लुतम्।
सद्यः क्षतविधानं च ततः पश्चात् समाचरेत्॥४५॥

भग्न कर्ण को ठीक बाँधकर, प्रचुर घृत युक्त मधु से सद्यः-क्षत की भाँति, अभ्यङ्ग, परिषेक आदि पीछे से बरते॥४५॥

मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी।
दत्त्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद्घृतम्॥४६॥

शिर की अस्थियों के भिन्न होने पर यदि मस्तुलुंग नहीं भग्न नहीं हुआ, तो मधु और घी को लगाकर बांध देवे, और सात दिन घृत पीये॥४६॥

पतनादभिघाताद्वा शूनमङ्गं यदक्षतम्।
शीतान् प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत्॥४७॥

गिरने से या चोट लगने से जिस अंग में क्षत हुए बिना सूजन आ गई हो, उस पर शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक वैद्य बरते॥४७॥

अथजङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्।
कीलकाबन्धनार्थं च पञ्च कार्या विजानता॥४८॥

यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा।
सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ॥४९॥

जंघा और ऊरु के टूटने पर रोगी को लकड़ी के तख्ते पर लेटाना चाहिये। रोगी हिले-डुले नहीं इसलिये तख्ते पर पांच कीलें गाड़ देनी चाहिये (एक तलुये के साथ दो जंघा में दो ऊरु की दोनों ओर) भग्न रोगी हिले-डुले नहीं, ऐसा प्रयत्न करे। इसमें जंघा भग्न में एक कील तलुए पर, दो कीलें गुल्फ सन्धि की दोनों ओर और दो जानु सन्धि की दोनों ओर गाड़े। ऊरु भग्न में—जानु सन्धि के पास दो, वंक्षण सन्धि के पास दो और तलुए पर एक कील गाड़े ॥४८,४९॥

श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा।
भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥५०॥

श्रोणी, पृष्ठवंश, वक्षःस्थल, अक्षक इनके भग्न होने पर या सन्धि मुक्त होने पर यही विधि बरते। अर्थात् रोगी को लेटाये रक्खे हिलने न दे।

वि० मन्तव्य—कपाट शयनं की व्यवस्था करें ॥५०॥

सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान् स्विन्नान् मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च सम्यक् प्रकृतिमानयेत् ॥५१॥

देह से अलग हुई सन्धियों में स्नेहन स्वेदन करके इनको नरम करे। फिर कहे हुए उपायों से और अपनी बुद्धि से वैद्य इनको भली प्रकार पूर्वावस्था में लाये ॥५१॥

काण्डभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्बणसंहिते।
आपोथ्य समयेद्भग्नं ततो भग्नवदाचरेत् ॥५२॥

काण्डभग्न-विषम उल्वण जुड़ने पर यदि भर गया हो (स्थिर हो गया हो) तो भी इसको अलग करके भग्न को समान बनाये-शेष क्रिया भग्न की भांति है ॥५२॥

कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः।
सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत् ॥५३॥

व्रण के एक भाग में सूखी और बाहर निकली अस्थि को सावधानी से काट देवे। अथवा व्रणवाले भग्न में सन्धि के समीप से काट देवे और व्रण युक्त भग्न के समान उपचार करे।

ऊर्ध्वकाये तु भग्नानां मस्तिष्क्यं कर्णपूरणम्।
घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम् ॥५४॥

शिर के भग्नों में शिर पर शिरोवस्ति, घी या तैल का पिचु, कान में तैल डालना, घृत पान, और नस्य उत्तम है। हाथ-पैर के भग्नों में अनुवासन वस्ति उत्तम है ॥५४॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलं भग्नप्रसाधकम्।
रात्रौ रात्रौ तिलान् कृष्णान् वासयेदस्थिरे जले ॥५५॥
दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत्।
तृतीयं सप्तरात्रं तु भावयेन्मधुकाम्बुना ॥५६॥
ततः क्षीरं पुनः पीतान् सुशुष्कांश्चूर्णयेद्भिषक्।
काकोल्यादि सयष्ट्याह्वं मञ्जिष्ठां सारिवां तथा ॥५७॥
कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचन्दनम्।
शतपुष्पां च संचूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत् ॥५८॥
पीडनार्थं च कर्तव्यं सर्वगन्धशृतं पयः।
चतुर्गुणेन पयसा तत्तैलं विपचेद्भिषक् ॥५९॥
एलामंशुमतीं पत्रं जीवकं तगरं तथा।
रोध्रं प्रपौण्डरीकं च तथा कालानुसारि(वा)णम् ॥६०॥
सैरेयकं क्षीरशुक्लामनन्तां समधूलिकाम्।
पिष्ट्वा शृङ्गाटकं चैव पूर्वोक्तान्यौषधानि च ॥६१॥
एभिस्तद्विपचेत्तैलं शास्त्रविन्मृदुनाऽग्निना।
एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु ॥६२॥
आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथाऽर्दिते।
मन्यास्तम्भे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे ॥६३॥
बाधिर्ये तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षयं गताः।
पथ्यं पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये बस्तिषु भोजने ॥६४॥
ग्रीवास्कन्धोरसां वृद्धिरमुनैवोपजायते।
मुखं च पद्मप्रतिमं स सुगन्धिसमीरणम् ॥६५॥
गन्धतैलमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्।
राजार्हमेतत् कर्तव्यं राज्ञामेव विचक्षणैः ॥६६॥

इसके आगे भग्न को स्वस्थ करनेवाला तैल कहूँगा। काले तिलों को सात दिन तक रात्रि में नदी के बहते जल में रक्खे और दिन में धूप में सुखाये, फिर सात दिन गाय के दूध से इनको भावित करे। तीसरे हप्ते में मुलैहठी के क्वाथ से भावना दे। फिर चौथे सप्ताह पुनः गाय के दूध से भावित करके, सुखाकर चूर्ण कर ले। इसमें काकोल्यादि गण के द्रव्य, मुलैहठी, मजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ, इनका चूर्ण (आपस में समान भाग) तिल के चूर्ण के समान भाग से मिलाये। फिर एलादि गण से सिद्ध दूध से इस चूर्ण को गीला बनाकर, इन तिलों से तैल निकाले। इस तैल को तैल से चार गुने दूध के साथ—इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, तगर, लोध, प्रपौण्डरीक, कालानुसारी, झिण्टी, क्षीरविदारी, सारिवा, मधूलिका, सिंघाड़ा, पूर्वोक्त औषधियाँ (काकोल्यादि से लेकर सौंफ तक की)—इनको कल्क के साथ मृदु अग्नि पर शास्त्र को जानने वाला तैल सिद्ध करे। यह तैल भग्न व्यक्तियों के सब कार्यों में पथ्य है। आक्षेपक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, कर्णशूल, हनुग्रह, बधिरता, तिमिर रोगों में तथा जो पुरुष स्त्रियों में क्षीण हुए हैं, उनके पान, अभ्यङ्ग, नस्य बस्ति और भोजन में पथ्य है। इस तैल से ग्रीवा, स्कन्ध और छाती की वृद्धि होती है। मुख कमल के समान, मुख की वायु सुगन्धित होती है। इस तैल का नाम गन्धतैल है, वायु के सब विकारों को नष्ट करता है। यह तैल राजाओं के योग्य है, बुद्धिमानों को राजाओं के लिये ही बनाना चाहिये ॥५५-६६॥

त्रपुसाक्षप्रियालानां तैलानि मधुरैः सह।
वसां दत्त्वा यथालाभं क्षीरे दशगुणे पचेत् ॥६७॥
स्नेहोत्तममिदं चाशु कुर्याद् भग्नप्रसाधनम्।
पानाभ्यञ्जननस्येषु बस्तिकर्मणि सेचने ॥६८॥

खीरा, बहेड़ा, चिरौंजी इनके तैलों को, काकोल्यादि गण के साथ, दस गुणे दूध में सिद्ध करे। यदि बसा मिल जाये तो उसे भी मिला दे। यह उत्तम स्नेह-भग्नों को जल्द स्वस्थ करता है। पान, अभ्यङ्ग, नस्य, परिषेचन और वस्ति कर्म में उत्तम है ॥६७,६८॥

भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति ॥६९॥

वैद्य को चाहिये कि वह ऐसा प्रयत्न करे कि भग्न पकने न पाये। मांस, सिरा, स्नायु के पक जाने पर भग्न कठिनाई से अच्छा होता है ॥६९॥

भग्नं सन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्बणम्।
सुखचेष्टाप्रचारं च संहितं सम्यगादिशेत् ॥७०॥

जिस भग्न या सन्धि भंग से रोगी को बेचैनी अंग की कमी (छोटा पड़ना) या ऊपर को उठना न हो, सिकोड़ने फैलाने आदि चेष्टाओं में सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो, उसे भली प्रकार जुड़ा जाने॥

"अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः।
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः॥
स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम्।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयादचलं सुखम्॥
अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत्।
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका॥"
॥ चरक चि० अ० २५ ॥७०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भग्नचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे वातव्याधिचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्।
देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥ ३ ॥
चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकाऽतिविषाऽभया।
वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ ४ ॥

आमाशय गत वायु में विधि अनुसार वमन करा के, सात दिन तक षड्धारण योग को गरम पानी से देना चाहिये। चित्रक, इन्द्रजौ, पाठा, कटुकी, अतीस और हरड़, इसका नाम षड्धरण है, यह वातरोग को नाश करनेवाला है। (छ धरण-बराबर है, मध्यम आकार के इक्कीस निष्पाव के)।

वक्तव्य—यथाविधि—स्नेहन स्वेदन देकर, वमन के लक्षण, वेग, कायशुद्धि संसर्जन क्रम के अनुसार। षड्धरण—यह एक संज्ञा है। प्रथम दिन एक कर्ष देकर, प्रतिदिन तीन तीन निष्पाव बढ़ाने से सातवें दिन पूरे हो जाते हैं ॥ ३,४ ॥

पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्।
बस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥ ५ ॥

वायु के पक्वाशय में होने पर स्नेह विरेचन देना चाहिये, शोधनीय वस्तियाँ दे। लवण प्रधान भोजन देना चाहिये। (शोधन वस्तियाँ—शोधन द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क, स्नेह के साथ) वक्तव्य—

"विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः।
पाचनीयैर्दीपनीयैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान्॥
गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्त्तनुद् हितम्।
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथा दोषहराः क्रियाः॥"
चरक ॥ ५ ॥

कार्यो बस्तिगते चापि विधिर्बस्तिविशोधनः।
बस्तिगत वायु में वस्ति शोधक उपाय करे।

श्रोत्रादिषु प्रकुपिते कार्यश्चानिलहा क्रमः ॥ ६ ॥
श्रोत्र आदि में वायु प्रकोप होने पर वात-नाशक चिकित्सा (स्नेहन, स्वेदन) करे ॥ ६ ॥

स्नेहाभ्यङ्गोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च।
त्वङ्मांसासृक्सिराप्राप्ते कुर्याच्चासृग्विमोक्षणम् ॥

त्वक् (रस), मांस-सिरा और रक्त में वायु के पहुँचने पर स्वेदन, अभ्यङ्ग, उपनाह, मर्दन, आलेपन, और रक्तमोक्षण करना चाहिये।

स्वेदाभ्यंगा निवातानि हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते।
शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्॥
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च।
बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ॥ च० ॥

स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च।
स्नायुसन्ध्यस्थिसंप्राप्ते कुर्याद्वायावतन्द्रितः ॥ ८ ॥

वायु के स्नायु-सन्धि और अस्थि में आ जाने पर, स्नेहन, उपनाह, अग्निकर्म, बन्धन, उन्मर्दन कार्य बिना आलस्य के (चिरकाल तक) करना चाहिये ॥ ८ ॥

निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते।
नाडीं दत्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत्पवनं बली ॥ ९ ॥

अस्थि में वायु के जानेपर, अस्थि को आरा शस्त्र से चीर-कर, उसमें दो मुखवाली नाड़ी लगाकर, बलवान् वैद्य, वायु का आचूषण करे।

वक्तव्य—अस्थियों में वक्रता (रिकट) या अस्थियों का क्षय करने का कारण आयुर्वेद में वायु को माना है वायु के लिये स्नेहन—स्निग्ध उपचार हैं। इसीसे कहा है—"बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थि मज्जगतं जयेत् ॥" अन्दर बाहर दोनों में स्नेहन बरते । (२) अस्थिक्षयजान् बस्तिभिः तिक्तकोपहितैश्च ॥ संग्रह । इसमें कैलसियम जैसी रूक्षवस्तु कैसे लाभ करती है, यह विचारणीय है-आयुर्वेद की दृष्टि से हैलीवर ऑयल, कॉडलीवर ऑयल इनका देना तो स्निग्ध होने से समझ में आता है ॥ ६ ॥

शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोषचिकित्सितम् ।

वायु के शुक्र में आने पर शुक्र दोष चिकित्सा बरते ।

हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् ।
विवृद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद् विरेचनम् ॥ च० ॥

अवगाहकुटीकर्षूप्रस्तराभ्यङ्गवस्तिभिः ॥१०॥
जयेत् सर्वाङ्गजं वातं सिरामोक्षैश्च बुद्धिमान् ।
एकाङ्गगं च मतिमाञ्छृङ्गैश्चावस्थितं जयेत् ॥११॥

सर्वांग गत वायु में-अवगाहन, कुटीस्वेद, कर्षूस्वेद, प्रस्तर स्वेद, अभ्यंग, वस्ति और सिरामोक्षणसे वैद्य वायुको शान्त करे। एकांग में क्षणिक रूप में स्थित वायु को बुद्धिमान् सींग से शान्त करे। (सदा रहनेवाली एकांग वायुमें अवगाहन आदि बरते)।

"सर्वांगकुपितेऽभ्यंगो बस्तयः सानुवासनाः ॥ च० ॥

बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिनः ।

कफ, पित्त से मिली वायु को इनके अविरोधि चिकित्सा से शान्त करे ।

सुप्तिवाते त्वसृङ्मोक्षं कुर्यात्तु बहुशो भिषक् ॥१२॥
दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलसमन्वितैः ।

रक्त के आवृत वायु में त्वचा में स्पर्श ज्ञान न होने पर, वैद्य बार २ रक्त मोक्षण करे। रक्त मोक्षण के पश्चात् (वायु प्रकोप न हो) सैन्धव घर का धुंवासा इनको तेल में मिलाकर लगाये ।

पञ्चमूलीशृतं क्षीरं फलाम्लो रस एव च ॥१३॥
सुस्निग्धो धान्ययूपो वा हितो वातविकारिणाम् ।

वातरोगियों के लिये बृहत्पञ्चमूल से सिद्ध किया दूध, अनार आदि खट्टे फल, मांसरस, अति स्निग्ध उड़द आदि का यूष उत्तम है ॥ १३ ॥

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः ॥१४॥
सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः ।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः साल्वणः परिकीर्तितः ॥१५॥
तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम् ।

साल्वण—काकोल्यादिगण, वातघ्न द्रव्य (भद्रदार्व्यादि, विदारीगन्धादि), सब खट्टे द्रव्य (शुक्त, कांजी सुरा, सौवीरक, दही मस्तु आदि या अनार, बिजौरा आदि), औदक मांस (कछुए, मछली आदि के) आनूप मांस (भैंस-सूअर आदि के) सर्वस्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा,) इनके साथ प्रचुर लवण मिलाकर सुहाता हुआ गरम लेप 'साल्वण' कहा जाता है । इससे वातरोगियों में सदा उपनाह करें ।

कुञ्च्यमानं रुजार्तं वा गात्रं स्तब्धमथापि वा ॥१६॥
गाढं पट्टैर्निबध्नीयात् क्षौमकार्पासिकौर्णिकैः ।
बिडालनकुलोन्द्राणां चर्मगोण्यां मृगस्य वा ॥१७॥
प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं साल्वणेनोपनाहितम् ।

जो अंग संकुचित हो गया हो, जिसमें पीड़ा हो, या जो अङ्ग जड़ (स्थिर) बन गया हो, उस अंग पर क्षौम (रेशमी) कपास के वस्त्र, तथा ऊन की पट्टियाँ कसकर बाँध देवे। अथवा भली प्रकार स्नेह अभ्यंग करके, साल्वण से उपनाह देकर अङ्ग को बिल्ली, नेवला, चूहा, या हरिण इनकी खाल से बनी थैली में उस अङ्ग को रख देवे ॥ १६,१७ ॥

स्कन्धवक्षस्त्रिकप्राप्तं वायुं मन्यागतं तथा ॥१८॥
वमनं हन्ति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम् ।

स्कन्ध, वक्ष, त्रिक और मन्यागत वायु को कुशल वैद्य से दिया वमन और नस्य नष्ट कर देता है । (नस्य-शिरोविरेचन)॥

शिरोगतं शिरोबस्तिर्हन्ति वाऽसृग्विमोक्षणम् ॥१९॥
स्नेहं मात्रासहस्रं तु धारयेत्तत्र योगतः ।

शिरोगत वायु को शिरोवस्ति या रक्त मोक्षण नष्ट करता है । इसमें स्नेह को युक्ति से एक सहस्र मात्रा तक धारण करे।

मात्रा का परिमाण—

"निमेषोन्मेषणे पुंसां स्फोटनं वा तथाङ्गुलेः ।
अक्षरस्य लघोर्वाऽपि मात्रा तूच्चारणं भवेत्" ॥ १९ ॥

सर्वाङ्गगतमेकाङ्गस्थितं वाऽपि समीरणम् ॥ २० ॥
रुणद्धि केवलो वस्तिर्वायुवेगमिवाचलः ।

सर्वांग गत या एकांग गत वायु को अकेली वस्ति ही रोक देती है, जिस प्रकार पहाड़ वायु के वेग को रोक देता है ॥

स्नेहस्वेदस्तथाऽभ्यङ्गो बस्तिः स्नेहविरेचनम् ॥२१॥
शिरोबस्तिः शिरःस्नेहो धूमः स्नैहिक एव च ।
सुखोष्णः स्नेहगण्डूषो नस्यं स्नैहिकमेव च ॥२२॥
रसाः क्षीराणि मांसानि स्नेहाः स्नेहान्वितं च यत् ।
भोजनानि फलाम्लानि स्निग्धानि लवणानि च ॥२३॥
सुखोष्णाश्च परीषेकास्तथा संवाहनानि च ।
कुंकुमागुरुपत्राणि कुष्ठैलातगराणि च ॥२४॥
कौशेयौर्णिकरोमाणि कार्पासानि गुरूणि च ।
निवातातपयुक्तानि तथा गर्भगृहाणि च ॥२५॥
मृद्वी शय्याऽग्निसंतापो ब्रह्मचर्यं तथैव च ।
समासेनेवमादीनि योज्यान्यनिलरोगिषु ॥२६॥

वातरोगियों के सेवनीय-स्नेह, स्वेद, अभ्यंग, वस्ति, स्नेह-विरेचन, शिरोवस्ति, शिर पर स्नेह लगाना, स्नैहिकधूम, सुहाता गरम स्नेह का गण्डूष, स्नैहिकनस्य, मांसरस, दूध, मांस, स्नेह (वसा, घी, तैल आदि), स्नेह से युक्त अन्य भोजन, दाडिम आदि खट्टे फल, स्निग्ध एवं लवण युक्त भोजन, सुहाता गरम परिषेक, संवाहन, केसर-अगरु-तेजपत्र-कूठ बड़ी इलायची तगर का प्रयोग, रेशम, ऊन, रोमोंवाले कपास के भारी वस्त्र, वायुरहित-धूपवाले गर्भ गृहों में रहना, कोमल शय्या, अग्नि का सेकना, ब्रह्मचर्य, आदि इसी प्रकार आहार-विहार संक्षेप में वात रोगियों को देना चाहिये ॥२१-२६॥

त्रिवृद्दन्तीसुवर्णक्षीरीसप्तलाशङ्खिनीत्रिफलाविडङ्गाना-मक्षसमाः भागाः, बिल्वमात्रः कल्कस्तिल्वकमूलकम्पिल्लकयोः, त्रिफलारसदधिपात्रे द्वे द्वे, घृतपात्रमेकं, तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्, तिल्वकसर्पिरेतत् स्नेहविरेचनमुपदिशन्ति वातरोगिषु। तिल्वकविधिरेवाशोकरम्यकयोर्द्रष्टव्यः ॥२७॥

तिल्वक घृत—निशोथ, जमालगोटा, स्वर्णक्षीरी (चोक), सप्तला (यवतिक्ता), शंखिनी, त्रिफला, वायविडंग, प्रत्येक एक कर्ष, तिल्वकमूल, कमीला इनका कल्क एक बिल्व (एकपल परिमाण में), त्रिफला क्वाथ दो आढ़क, दही-दो आढ़क, घी एक आढ़क, इन सबको एक साथ मिलाकर पकाये। यह तिल्वकघृत वातरोगियों के लिये विरेचन है। तिल्वक की भाँति अशोक और महानिम्ब (डेक) से भी घृत बनाना चाहिये। (रम्यक-पर्वत निम्ब-डल्हण) ॥२७॥

तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरिपीतान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वाऽवक्षुद्य महति कटाहे पानीयेनाभिप्लाव्य क्वाथयेत्, ततः स्नेहमम्बुपृष्ठाद्यदुदेति तत् सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं स्नेहपाककल्पेन विपचेत्, एतदणुतैलमुपदिशन्ति वातरोगिषु; अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यत इत्यणुतैलम् ॥२८॥

जिस कोल्हू ने बहुत दिनों तक तेल पिया हो, उस कोल्हू की लकड़ियों को लाकर, उनके टुकड़े-टुड़े करके, कूटकर, बड़े भारी कड़ाहे में पानी भरकर इनको भली प्रकार पकावे। इससे जो स्नेह पानी की पीठ पर आ जाये, उसको रूई के फाहें या कपड़े अथवा हाथ से निकाल ले। इस तैल में भद्रदार्व्यादि वातघ्न औषधियों का कल्क मिलाकर स्नेह पाक विधि से पाक करे। इसको अणु तैल कहते हैं, वातरोगियों के लिये उत्तम बताते हैं। सूक्ष्म तैल द्रव्यों से बनाया जाने के कारण इसे अणु तैल कहा जाता है ॥२८॥

अथ महापञ्चमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसितमुषितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्मनिवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्, यत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत्तत् पणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततस्तैलं वातहरौषधक्वाथमांसरसक्षीराम्लभागसहस्रेण सहस्रपाकं विपचेद्यावता कालेन शक्नुयात् पक्तुं, प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगाश्च गन्धा वातघ्नानि च, तस्मिन् सिध्यति शङ्खानाध्मापयेद् दुन्दुभीनाघातयेच्छत्रं धारयेद् बालव्यजनैश्च वीजयेद् ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्, तत् साधु सिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृन्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, तदेतत् सहस्रपाकमप्रतिवारवीर्यं राजार्हं तैलम्, एवं भागशतविपक्वं शतपाकम् ॥२९॥

काली भूमिपर बिल्वादि महापंचमूल की बहुत सी लकड़ियाँ एकत्रित करके इनको जलावे। एक रात के पीछे अग्नि के शान्त हो जाने पर, अग्नि को हटाकर, राख से खाली की भूमि पर, विदारी गन्धादि गण से सिद्ध किये तैल के एक सौ घड़ों से एवं एक सौ दूध के घड़ों से इस भूमि पर सेचन करे। फिर एक रात के पीछे जितनी भूमि स्निग्ध हो, उतनी मिट्टी को लेकर, गरम पानी में एक बड़े कड़ाहे के अन्दर घोल देवे। इससे जो तैल पानी के उपर आ जाये, उसे हाथों से लेकर सुरक्षित रख देवे। फिर इस तैल का वातहर औषधियों के क्वाथ मांसरस, दूध, कांजी इनके हजार भागों के साथ, जितने समय में एक हजार बार पाक कर सके, उतने समय कल्क रूप में हिमालय के और विन्ध्याचल (दक्षिण पथ) के गन्ध द्रव्य और वातघ्न औषधियों को डाले। इस तैल के बनते समय शंखों को बजाये, नगाड़े बजाये, इस पर छत्र चढ़ाये, बालों की चँवर झुलाये। एक हजार ब्राह्मणों को भोजन करायें। फिर भली प्रकार सिद्ध होने पर उतारकर सुवर्ण, चाँदी, या मिट्टी के पात्र में सुरक्षित रख देवे। यह सहस्र पाक, अप्रतिहत शक्ति वाला तैल राजाओं के योग्य है, इस प्रकार एक सौ बार पकाया तैल शतपाक तैल है[1] ॥२९॥

गन्धर्वहस्तमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्रकादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत्पत्रलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु ॥३०॥

एरण्ड, मुष्क, करंज, अडूसा, नाटा करंज, अमलतास, चित्रक आदि के हरे पत्तों को लेकर नमक के साथ ऊखल में

---

१ गन्ध द्रव्य—कस्तूरी, शटी, कुष्ठ, मांसी, सरल देवदारु आदि उत्तरीय प्रदेश के, चन्दन, जातीफल, शीतलचीनी, लँवग, दालचीनी आदि दक्षिण प्रदेश के द्रव्य बरते। इनका कल्क तेल का चतुर्थांश।

कूटकर, घी के घड़े में रखकर, (मुख बन्द करके) मिट्टी से घड़े के मुख पर लेप करे। इस घड़े के चारों ओर उपले रखकर आग लगाये। इस पत्र लवण को वातरोगों में उपयोगी कहते हैं।

एवं स्नुहीकाण्डवार्ताकुशिग्रुलवणानि संक्षुद्य घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जाभिः प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु। (इति काण्डलवणम्) ॥३१॥

स्नुही (थोर) की डण्डी, बड़ी कटेरी, सुहांजना और सैन्धव-लवण, इन सब को कूटकर, घड़े में भरकर, घी, तैल, वसा, मज्जा इनको भरकर, मिट्टी से लेप करके, गाय के छानों से इसको जलाये। इसको स्नेह लवण कहते हैं, वात रोगों में इसे बरते। (इसे काण्ड लवण भी कहते हैं) ॥३१॥

गण्डीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगन्धानीपनिम्बनिर्दहन्यटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकण्टकारिकाभल्लातकेङ्गुदीवैजयन्तीकदलीबाष्पद्वयेक्षुरकेन्द्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृज्य पूर्ववद्दग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, प्रतिवापश्चात्र हिङ्ग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा। इत्येतत् कल्याणकलवणं वातरोगगुल्मप्लीहाग्निसङ्गजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभिः क्रिमिभिरुपद्रुतानां चोपदिशन्ति पानभोजनेष्वपीति ॥३२॥

गण्डीर, ढाक, कूड़ा, बिल्व, आक, स्नुही, चिरचिटा, पाटला, फरहद, जलजम्बू, सुहांजना, कदम्ब, नीम, निर्दहनी (मोरट या चित्रक), अडूसा, करंज, नाटा करंज, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, भिलावा, जींगोट, वैजयन्ती (अरणी), केला, वाष्पद्वय, तालमखाना, इन्द्रायण, श्वेता (अपराजिता), मोक्षक, इन सबको हरा ही मूल-पत्र-शाखा में लाकर सबके बराबर नमक ले। नमक को छोड़कर शेष औषधियों को पूर्व की भाँति क्षार कल्पना से जलाकर, इसमें, नमक मिलाकर, घोलकर नितार लेवे। इस नितरे जल को पकाये, पकाते समय चौथाई रूप में हिंग्वादि गण का या पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप इस में मिलाये। यह कल्याणक लवण वातरोग, गुल्म, प्लीहा, अग्नि मांद्य, अजीर्ण, अर्श, अरोचक के रोगियों के लिये तथा कास, श्वास, हिक्का, कृमियों से पीड़ित व्यक्तियों के पान भोजन में बरतना चाहिये ॥३२॥

भवति चात्र—

विष्यन्दनादुष्णभावाद्दोषाणां च विपाचनात्।
संस्कारापाचनाच्चेदं वातरोगेषु शस्यते ॥३३॥

नमक—विष्यन्दन (स्रवण बहाने के गुण से) करने से, उष्ण होने से तथा दोषों का पाचन करने के कारण, संस्कार के कारण अधिक पाचन बन जाने से वात रोगों में प्रशस्त है ॥३३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो महावातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे महावात व्याधि चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—महावातव्याधि—बड़ी बड़ी वातव्याधियाँ, यथा—वातरक्त एवं अपतानक आदि ॥१,२॥

द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते, तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढीभवति, तस्मान्न द्विविधम् ॥३॥

वात रक्त उत्तान और गम्भीर भेद से दो प्रकार का है, ऐसा कई कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह वातरक्त कुष्ठ की भाँति उत्तान बनकर कुछ समय पीछे गम्भीर बनता है, इसलिये वात रक्त दो प्रकार का नहीं है॥ परन्तु चरक दो प्रकार का कहता है, यथा—

"उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते।
त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥"

चरक में चिकित्सा के दृष्टिकोण से इसे दो प्रकार का माना है। सुश्रुत में कारण की दृष्टि से इस को एक कहा है, यथा—

"तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन,
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्" ॥३॥

तत्र बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितस्य वायोर्गुरूष्णाध्यशनशीलस्य प्रदुष्टं शोणितं मार्गमावृत्य वातेन सहैकीभूतं युगपद्वातरक्तनिमित्तां वेदनां जनयतीति वातरक्तम्। तत्तु पूर्वं हस्तपादयोरवस्थानं कृत्वा पश्चाद्देहं व्याप्नोति। तस्य पूर्वरूपाणि तोददाहकण्डूशोफस्तम्भत्वक्पारुष्यसिरास्नायुधमनीस्पन्दनसक्थिदौर्बल्यानि श्यावारुणमण्डलोत्पत्तिश्चाकस्मात् पाणिपादतलाङ्गुलिगुल्फमणिबन्धप्रभृतिषु, तत्राप्रतिकरणोऽपचारिणश्च रोगो व्यक्ततरः तस्य लक्षणमुक्तं, तत्राप्रतिकारिणो वैकल्यं भवति ॥४॥

इसमें-गुरु, उष्ण एवं भोजन पर भोजन करने की आदत वाले व्यक्ति में दूषित रक्त और बलवान् व्यक्ति के साथ कुश्ती आदि वायुकोपक कारणों से प्रकुपित वायु के मार्ग को रोककर साथ मिलाकर, एक साथ वात और रक्तजन्य वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं, इसको वातरक्त कहते हैं। यह वातरक्त पहले हाथ पैरों में स्थान बनाकर फिर सारे शरीर में फैलता है। इसके पूर्वरूप—तोद, दाह, कण्डू, शोफ, स्तम्भ, त्वचा में कठोरता सिरा-स्नायु-धमनी में स्पन्दन, टांगों में दुर्बलता, होते हैं

और श्याव या अरुण चकत्ते, बिना कारण के ही—हाथ, पैर के तलुओं में, अंगुलियों में, गुल्फ, कलई आदि में निकल आते हैं। इस दशा में चिकित्सा न करने से तथा अपथ्य सेवन करनेवाले में रोग और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके लक्षण निदानस्थान में कह दिये हैं। इस अवस्था में भी चिकित्सा न करने से विकलता होती है।

"तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः ॥१॥
कृत्वादौ हस्तपादेषु मूलं देहे विधावति।
सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च देहं गच्छन् शिरायनैः ॥२॥
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते।
स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥३॥
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात्प्रायेण सन्धिषु।
जानुजंघोरुकट्यंसहस्तपादांगसन्धिषु ॥४॥
निस्तोदः स्फुरणं मेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च।
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत्।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिः वातासृक् पूर्वलक्षणम् ॥
चि० अ० २९ चरक।

आज कल चलनेवाली खाज प्रायः करके हाथों की अंगुलियों के बीच में, पैरों पर, गुल्फों में होती है। इसमें छोटी फुंसी होती है, जिसका मुँह पूय से भरा होता है, यह वातरक्त से पृथक् है। चरक कहता है, अंगुली के बीच स्थान वक्र होने से दोष यहाँ रहकर रोग उत्पन्न करते हैं ॥४॥

भवति चात्र—

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्।
स्थूलानां सुखिनां चापि वातरक्तं प्रकुप्यति ॥५॥

प्रायः करके यह वात रक्त नाजुक प्रकृति, मिथ्याहार-विहार करनेवाले, स्थूल एवं सुखी जीवन व्यतीत करनेवाले पुरुषों में होता है ॥५॥

तत्र प्राणमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तम्भारोचकाविपाकविसरणसंकोचनैरनुपद्रुतं बलवन्तमात्मवन्तसुपकरणवन्तं चोपक्रमेत् ॥६॥

इसमें प्राणक्षय, मांसक्षय, प्यास, ज्वर, मूर्च्छा, श्वास, कास, स्तम्भ, अरोचक, अविपाक, विसरण, संकोचन—इन उपद्रवों से रहित, बलवान्, जितेन्द्रिय, साधन सम्पन्न रोगी की चिकित्सा करे। चरक चि० अ० २९।

"अस्वप्नारोचकाश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः।
मूर्च्छा च मदरुक् तृष्णा ज्वरमोहप्रलेपकाः ॥
हिक्का पांगुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः।
अंगुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मगुदार्बुदाः ॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वापि यत्।
संप्रसाविविवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ॥
वर्जयेच्च संकोचकरमिन्द्रियतापनम्।
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्" ॥६॥

तत्र, आदावेव बहुवातरूक्षम्लानाङ्गादृते मार्गावरणाद् दुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिञ्चेद्वातकोपभयात्। ततो वमनादिभिरुपक्रमैरुपपाद्य प्रतिसंसृष्टभक्तं वातप्रबले पुराणघृतं पाययेत्। अजाक्षीरं वाऽर्धतैलं मधुकाक्षयुक्तं, शृगालविन्नासिद्धं वा शर्करामधुरं, शुण्ठीशृङ्गाटककशेरुकसिद्धं वा श्यामारास्नासुषवीशृगालविन्नापीलुशतावरीश्वदंष्ट्राद्विपञ्चमूलीसिद्धं वा। द्विपञ्चमूलीकाथाष्टगुणसिद्धेन पयसा मधुकमेषशृङ्गीश्वदंष्ट्रासरलभद्रदारुवचासुरभिकल्कप्रतीवापं तैलं पाचयित्वा पानादिषूपयुञ्जीत, शतावरीमयूरककिणिह्यजमोदामधुकक्षीरविदारीबलातिबलातृणपञ्चमूलीक्वाथसिद्धं वा काकोल्यादिप्रतीवापं, बलातैलं शतपाकं वेति। वातहरमूलसिद्धेन च पयसा परिषेचनमम्लैर्वा कुर्वीत। यवमधुकैरण्डतिलवर्षाभूभिर्वा प्रदेहः कार्यः। तत्र चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु प्रत्येकशः काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकबलातिबलाबिसमृणालशृगालविन्नामेषशृङ्गीप्रियालशर्कराकशेरुकसुरभिवचाकल्कमिश्रेषूपनाहार्थं सर्पिस्तैलवसामज्जादुग्धसिद्धाः पञ्च पायसा व्याख्याताः स्नैहिकफलसारोत्कारिका वा चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु मत्स्यपिशितवेशवारो वा, बिल्वपेशिकातगरदेवदारुसरलारास्नाहरेणुकुष्ठशतपुष्पैलासुरादधिमस्तुयुक्त उपनाहः, मातुलुङ्गाम्लसैन्धवघृतमिश्रं मधुशिग्रुमूलमालेपस्तिलकल्को वेति वातप्रबले ॥७॥

इसमें सबसे प्रथम—वायु की अधिकता, रूक्षता एवं म्लानता (शुष्कता) से रहित अंग में मार्ग के रुकने से दूषित रक्त थोड़ा थोड़ा करके बहुत बार निकाले, जिससे कि वायु का प्रकोप न होने पाये। फिर वमन—विरेचन आदि चिकित्सा को बरत कर, पेया-विलेपी आदि अन्न क्रम से भोजन देकर, वात की अधिकता होने पर पुरातन घृत पिलाये। अथवा बकरी के दूध में आधा तेल और मुलहठी का चूर्ण एक कर्ष मिलाकर दे। पृश्नपर्णी से सिद्ध किये दूध को शर्करा और मधु से मीठा करके दे। सोंठ सिंघाड़ा और कसेरू से सिद्ध किया दूध देवे। निशोथ, रास्ना, सुषवी (मोटा जीरा), पृश्निपर्णी, पीलु, शतावरी, गोखरू, दशमूल से सिद्ध दूध देवे। दशमूल के क्वाथ में, आठगुणे दूध को सिद्ध करे। इस दूध में मुलहठी, मेषशृङ्गी, गोखरू, चीड़, देवदारु, वचा, रास्ना, इनके कल्क का प्रक्षेप देकर तैल सिद्ध करे। इस तैल को पान आदि में बरते। शतावरी, चिरनिटा, झनझनिया, अजवायन, मुलैहठी, क्षीरविदारी, बला, अतिबला, पंच तृण मूल, के क्वाथ काकोल्यादि गण का प्रक्षेप देकर सिद्ध तैल पिलाये। शरपाक किया बला तैल बरते। एरण्ड आदि वातहर द्रव्यों के मूल से सिद्ध जल से या कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से स्नान कराये। जौ, मुलहठी, एरण्ड, तिल और पुनर्नवा का लेप करे। जौ, गेहूँ, तिल, मूँग

और उड़द इनमें एक एक के चूर्ण में काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, बला, अतिबला, बिष, कमलनाल, पृश्निपर्णी, मेषश्रृङ्गी, पियाल, शर्करा, कसेरु, रास्ना और वचा इनका कल्क मिलाकर, घी, तैल, वसा, मज्जा और दूध में सिद्धकर उपनाह के लिये पायस (खीर) बनाये—इस प्रकार से पाँच खीर बन जाती हैं। अथवा अलसी, तिल, चिरौंजी आदि तेलवाले फलों से उत्कारिका (लपसी) बनाये। जौ, गेहूँ, तिल, मूँग और उड़द इनके चूर्णों में मछली का मांस या किमिया किया मांस मिलाकर उत्कारिका बनाये। बिल्व का गूदा, तगर, देवदारु, निशोथ, रास्ना, हरेणु, कूठ, सौंफ, इलायची, सुरा, दही, मस्तु से मिला उपनाह बनाये। बिजौरा का रस, सैन्धव, घी इनमें मीठे सहजन की मूल का या तिल का कल्क मिलाकर वात प्रबल वात रक्त में लेप करे ॥७॥

पित्तप्रबले द्राक्षारेवतकट्फलपयस्यामधुकचन्दनकाश्मर्यकषायं शर्करामधुरं पाययेत्, शतावरीमधुकपटोलत्रिफलाकटुरोहिणीकषायं गुडूचीकषायं वा पित्तज्वरहरं वा चन्दनादिकषायं शर्करामधुमधुरं, मधुरतिक्तकषायसिद्धं वा सर्पिः, बिसमृणालभद्रश्रीयपद्मककषायेणार्धक्षीरेण परिषेकः, क्षीरेक्षुरसैर्मधुकशर्करातण्डुलोदकैर्वा द्राक्षेक्षुकषायमिश्रैर्वा मस्तुमद्यधान्याम्लैः जीवनीयसिद्धेन वा सर्पिषाऽभ्यङ्गः, शतधौतघृतेन वा काकोल्यादिकल्ककषायविपक्वेन वा सर्पिषा, शालिषष्टिकनलवञ्जुलतालीसश्रृङ्गाटकगलीड्यगौरीगैरिकशैवलपद्मकपद्मपत्रप्रभृतिभिर्धान्याम्लपिष्टैः प्रदेहो घृतमिश्रः, वातप्रबलेऽप्येष सुखोष्णः प्रदेहः कार्यः ॥८॥

पित्तप्रबल वात रक्त में—द्राक्षा, अमलतास, कटफल, विदारी, मुलैहठी, चन्दन, गम्भारी इनका कषाय शर्करा और मधु से मीठा करके पिलाये। शतावरी, मुलैहठी, पटोल, त्रिफला, कुटकी का कषाय या गिलोय का कषाय या पित्त ज्वर नाशक चन्दनादि कषाय को शर्करा, मधु से मीठा करके पिलाये। मधुर एवं तिक्त कषाय से सिद्ध घृत पिलाये। बिष, मृणाल, चन्दन, पद्माख इनके कषाय में आधा दूध मिलाकर परिषेक करे। दूध, ईख का रस, मुलैहठी, शर्करा, या चावलों के पानी से या द्राक्षा, इक्षु के कषाय के साथ मस्तु-मद्य और कांजी मिलाकर परिषेक करे। जीवनीय गण से सिद्ध घी से अभ्यंग करे। शतधौत घृत से अभ्यंग करे। शाली, सांठी, नड़सर, जलवेतस, तालीश, सिंघाड़ा, कमलबीज, हल्दी गेरू, सरवाल, पद्माख, कमलपत्र आदि को कांजी में पीसकर घी मिलाकर लेप करे। वायु की प्रबलता होने पर इन्हीं को सुहाता गरम करके लेप करे ॥८॥

रक्तप्रबलेऽप्येवं बहुशश्च शोणितमवसेचयेत्, शीततमाश्च प्रदेहाः कार्या इति ॥९॥

रक्त की प्रधानतावाले बातरक्त में भी इसी विधि को बरते। बहुत बार रक्त मोक्षण करे। अतिशय शीत प्रदेह लगाने चाहिये ॥९॥

श्लेष्मप्रबले त्वामलकहरिद्राकषायं मधुमधुरं पाययेत्, त्रिफलाकषायं वा; मधुकश्रृङ्गवेरहरीतकीतिक्तरोहिणीकल्कं वा सक्षौद्रं, मूत्रतोययोरन्यतरेण गुडहरीतकीं वा भक्षयेत्, तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैश्च परिषेकः आरग्वधादिकषायैर्वोष्णैः; मस्तुमूत्रसुराशुक्तमधुकसारिवापद्मकसिद्धं वा घृतमभ्यङ्गः, तिलसर्षपातसीयवचूर्णानि श्लेष्मातककपित्थमधुशिग्रुमिश्राणि क्षारमूत्रपिष्टानि प्रदेहः, श्वेतसर्षपकल्कः, तिलाश्वगन्धाकल्कः, प्रियालसेलुकपित्थकल्कः, मधुशिग्रुपुनर्नवाकल्कः व्योषतिक्ताप्रथकपर्णीबृहतीकल्क इत्येतेषां पञ्च प्रदेहाः सुखोष्णाः क्षारोदकपिष्टाः शालिपर्णी पृश्निपर्णीबृहत्यौ वा क्षीरपिष्टास्तर्पणमिश्राः ॥१०॥

कफ प्रबल वात रक्त में—आँवले हल्दी के कषाय को मधु से मीठा करके पिलाये। या त्रिफला का कषाय पिलाये। मुलैहठी, सोंठ, हरड़, कुटकी-इनके कल्क को मधु के साथ खिलाये। गोमूत्र या जल के साथ गुड़ हरीतकी (गुड़ और हरड़) को खिलाये। तैल, गोमूत्र, क्षारोदक, सुरा, शुक्त, कफघ्न औषधियों के (आरग्वधादि गण) के सुहाते गरम कषाय से परिषेक करे। आरग्वधादि गण के गरम कषाय से परिषेक दे। मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलैहठी, सारिवा और पद्माख से सिद्ध घी से अभ्यंग करे। तिल, सरसों, अलसी, जौ, इनके चूर्णों को, लसूड़ा, कैथ, मीठा सहजन इनमें मिलाकर क्षार (यवक्षार) और गोमूत्र में पीसकर प्रदेह करे। श्वेत सरसों के कल्क से लेप करे। तिल-अश्वगन्धा के कल्क से लेप करे। प्रियाल, लसूड़ा और कैथ के कल्क का लेप करे। मीठा सहजन, पुनर्नवा का लेप करे। त्रिकटु, कुटकी, शालपर्णी, बड़ी कटेरी, इनको क्षारोदक से पीसकर सुहाता हुआ गरम लेप एक-एक से अलग-अलग, या सबको मिलाकर करे, इस प्रकार से ये पाँच प्रदेह कहे हैं। शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, और बड़ी कटेरी, इनको दूध में पीसके-जौ के सत्तू के साथ मिलाकर लेप करे ॥

संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथमुक्तं मिश्रं कुर्यात् ॥११॥

दोषों के संसर्ग या सन्निपात में कही चिकित्सा को मिलाकर बरते ॥११॥

सर्वेषु च गुडहरीतकीमासेवेत, पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेन्, क्षीरौदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च दश वेति, तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदराशःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति, जीवनीयप्रतीवापं सर्पिःपयसा पाचयित्वाऽभ्यञ्ज्यात् स ह्यासहृद्देवा-

चन्दनमूर्वामुस्ताप्रियालशतावरीकशेरुपद्मकमधुकशतपुष्पाविदारीकुष्ठानि क्षीरपिष्टः प्रदेहो घृतमण्डयुक्तः सैरेयकारूषकबलातिबलाजीवन्तीसुषवीकल्को वा च्छागक्षीरपिष्टः, क्षीरपिष्टः काश्मर्यमधुकतर्पणकल्को वा मधूच्छिष्टमञ्जिष्ठासर्जरससारिवाक्षीरसिद्धं पिण्डतैलमभ्यङ्गः, सर्वेषु च पुराणघृतमामलकरसत्रिपक्वं वा पानार्थं, जोवनीयसिद्धं परिषेकार्थे, काकोल्यादिकाथकल्कसिद्धं वा सुषवीकाथकल्कसिद्धं वा, कारवेल्लकक्काथमात्रसिद्धं वा, बलातैलं वा परिषेकावगाहबस्तिभोजनेषु, शालिषष्टिकयवगोधूमान्नमनवं भुञ्जीत पयसा जाङ्गलरसेन वा मुद्गयूषेण वाऽनम्लेन, शोणितमोक्षं चाभीक्ष्णं कुर्वीत; उच्छ्रितदोषे च वमनविरेचनास्थापनानुवासनकर्म कर्तव्यम् ॥१२॥

सब प्रकार के वातरक्त में गुड़ और हरड़ का सेवन करे। पिप्पली को दूध से या पानी से पीसकर पाँच-पाँच बढ़ाते हुए अथवा दस दस बढ़ाते हुए दस दिन तक खाये। भोजन में दूध और भात लेवे। फिर पाँच-पाँच या दस दस क्रमशः कम करता जाये। इस प्रकार पाँच जब तक या दस पर न आ जाये तब तक घटाये। इस विधि को पिप्पली-वर्धमान कहते हैं। यह प्रयोग वातरक्त, विषमज्वर, अरोचक, पाण्डु रोग, प्लीहा, उदर, अर्श, कास, श्वास, शोफ, शोष, अग्निसाद, हृद्रोग और उदर रोग को नष्ट करता है। जीवनीय गण के कल्क से साधित घी से सिद्ध किये दूध से अभ्यंग करे। माषपर्णी, सहदेवा, चन्दन, मूर्वा, मुस्ता, चिरौंजी, शतावरी, कसेरू, पद्माख, मुलैहठी, सौंफ, विदारी, कुष्ठ इनको दूध के साथ पीसकर घृतमण्ड के साथ मिलाकर प्रदेह करे। झिण्टी, अडूसा, बला, अतिबला, जीवन्ती, सुषवो, इनके कल्क का बकरी के दूध में पीसकर लेप करे। गाम्भारी, मुलहठी, जौ का सत्तू, इनको गाय के दूध में पीस कर लेप करे। मोम, मजीठ, राल, सारिवा, दूध इनसे सिद्ध किया तेल अभ्यंग में बरते, इसको पिण्ड तैल कहते हैं (अपार-स्रुत-न छना किट्ट युक्त तेल, पिण्डतेल है)। सब वातरक्त में आँवले के रस से पकाया पुरातन घृत (दस सालका) पीने के लिये देवे। जीवनीय गण से सिद्ध पुरातनघृत परिषेक में बरते। काकोल्यादि क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत परिषेक में बरते। सुषवी के क्वाथ कल्क में सिद्ध किया घृत परिषेक में या करेले के अकेले क्वाथ में सिद्ध घृत परिषेक में बरते। बलातेल को परिषेक, अवगाहन, वस्ति और भोजन में बरते। पुरातन शाली, साठी, जौ और गेहूँ को दूध से मांस रस से या खटाई रहित मूंग के यूष के साथ खाये। बार-बार रक्तमोक्षण करे। दोष के उत्कट होनेपर वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन कर्म करे। (सुषवी—कलौंजी-इरयेके) ॥१२॥

पटोलत्रिफलाभीरुगुडूचीकटुकाकृतम्।
क्वाथं पीत्वा जयत्याशु वातशोणितजां रुजम् ॥१३॥

परवल, त्रिफला, शतावरी, गिलोय और कुटकी, इनका क्वाथ पीने से वातरक्त की तीव्र वेदना शीघ्र शान्त होती है॥

भवन्ति चात्र—

एवमाद्यैः क्रियायोगैरचिरोत्पतितं सुखम्।
वातासृक् साध्यते वैद्यैर्याप्यते तु चिरोत्थितम् ॥१४॥

इसमें श्लोक भी हैं—इस चिकित्सा से थोड़े काल का उत्पन्न वातरक्त वैद्य अच्छा कर लेते हैं, और देर का उत्पन्न वात रक्त याप्य होता है ॥१४॥

उपनाहपरोषेकप्रदेहाभ्यञ्जनानि च।
शरणान्यप्रवातानि मनोज्ञानि महान्ति च ॥१५॥
मृदुगण्डोपधानानि शयनानि सुखानि च।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते मृदुसंवाहनानि च ॥१६॥

उपनाह, परिषेक, प्रदेह, अभ्यंग, खुली वायु रहित सुन्दर और बड़े विशाल घर, कोमल गोदूम तकिया (मसनद), सुखदायक शय्या और कोमल संवाहन वात रक्त में उत्तम हैं॥

व्यायामं मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणाशनम्।
दिवास्वप्नमभिष्यन्दि गुरु चान्नं विवर्जयेत् ॥१७॥

व्यायाम, मैथुन, क्रोध, उष्ण-अम्ल-लवण भोजन दिन में सोना, अभिष्यन्दि और गुरु अन्न इसमें त्याज्य-अपथ्य हैं।१७।

अपतानकिनमस्रस्ताक्षमवक्रभ्रुवमस्तब्धमेढमस्वेदनमवेपनमप्रलापिनमखट्वापातिनमबहिरायामिनं चोपक्रमेत। तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थं, अनन्तरं विदारिगन्धादिक्वाथमांसरसक्षीरदधिपक्वं सर्पिरच्छं पाययेत्, तथा हि नातिमात्रं वायुः प्रसरति, ततो भद्रदार्वादिवातघ्नगणमाहृत्य सयवकोलकुलत्थं सानूपौदकमांसं पञ्चवर्गमेकतः प्रक्वाथ्य तमादाय कषायमम्लक्षीरैः सहोन्मिश्र्य सर्पिस्तैलवसामज्जभिः सह विपचेन्मधुरकप्रतीवापं; तदेतत् त्रैवृतमपतानकिनां परिषेकावगाहाभ्यङ्गपानभोजनानुवासननस्येषु विदध्यात, यथोक्तैश्च स्वेदविधानैः स्वेदयेत्, बलीयसि वाते सुखोष्णतुषबुसकरीषपूर्णे कूपे निदध्यादामुखात्, तप्तायां वा अङ्गारचुल्ल्यां तप्तायां वा शिलायां सुरापरिषिक्तायां पलाशदलच्छन्नायां शाययेत् कृशरावेशवारपायसैर्वा स्वेदयेत्। मूलकोरुबूकस्फूर्जार्जकार्कसप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धं तैलमपतानकिनां परिषेकादिषूपयोज्यम्। अभुक्तवता पीतमम्लं दधि मरिचवचायुक्तमपतानकं हन्ति, तैलसर्पिर्वसाक्षौद्राणि वा। एतच्छुद्धवातापतानकविधानमुक्तं, संसृष्टे संसृष्टं कर्तव्यम्, वेगान्तरेषु चावपीडं दद्यात्, ताम्रचूडकर्कटकृष्णमत्स्यशिशुमारवराहवसाश्चासेवेत, क्षीराणि वा वातहरसिद्धानि, यवकोलकुलत्थमूलकदधिघृततैलसिद्धा वा यवागूः, स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्रा-

हृतवेगमुपक्रमेत्, वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत, रक्षाकर्म च कुर्यादिति ॥१८॥

जिसकी आँख गिरी न हों, भौंहें टेढ़ी न हुई हों, मेहन में स्तब्धता न हो, पसीना और कम्पन न हो, बकवाद न करता हो, खाटपर ही न पड़ा रहनेवाला, बहिरायाम से न पीड़ित ऐसे अपतन्त्रक रोगी की चिकित्सा करे। इसमें सब से प्रथम स्नेह का अभ्यंग करके शरीर में स्वेदन देकर शिर की शुद्धि के लिये तीक्ष्ण अवपीड़न नस्य देवें। इसके पीछे विदारीगन्धादि क्वाथ मांसरस, दूध और दही से सिद्ध घी को अकेला ही पिलाये। क्योंकि इस प्रकार करने से वायु बहुत अधिक नहीं फैलती। फिर भद्रदार्व्यादि वातघ्नगण की औषधियों के साथ जौ, बेर, कुलत्थी, आनूपमांस, पाँचों वर्ग का औदक मांस (कूलचर, प्लव, कोशस्थ, पादी, मछली) इन सबका एक साथ क्वाथ करे। यह क्वाथ, कषाय द्रव्य (बरगद आदि) अम्ल (कांजी, सुरा आदि) दूध इनको मिलाकर, इसमें काकोल्यादि गण का प्रक्षेप डालकर, घी, तैल, वसा, मज्जा, इनको सिद्ध करे। यह त्रैवृत घृत (तैल, वसा मज्जा से घी के युक्त होने के कारण) अपतानक रोगियों के पान, परिषेक, अवगाहन, अभ्यंग, भोजन, अनुवासन और नस्य में बरतना चाहिये। कही हुई स्वेदन विधियों से स्वेद देवे। वायु के बलवान् होने पर सुहाते हुए गरम तुष, भूसा, छानों से भरे गढ़े में मुख तक गाड़ देवे। अंगारों से गरम भट्टी पर या गरम शिलापर सुरा का छिड़काव करके, ढाक के पत्ते बिछाकर सुलाये। तिलतण्डुल उड़द की खिचड़ी या खीर अथवा कीमिया किये मांस से स्वेद देवे। मूली, एरण्ड, स्फूर्ज, अर्जक, आक सप्तला, शंखिनी, इनके स्वरस से सिद्ध तैल अपतानक रोगी के परिषेक आदि में बरते। बिना भोजन किये खट्टी दही में मरिच, वच मिलाकर पीने से अपतानक रोग नष्ट होता है। तैल, घी, वसा और मधु पीये। यह चिकित्सा शुद्ध (अकेली) वायु जन्य अपतानक की है, दोषों के मिला होने पर मिलाकर चिकित्सा करे। आक्रमणों के मध्य में अवपीड़न नस्य देवे। मुर्गा, केकड़ा, काली मछली, शिशुमार (नाका) और सुअर की वसा का सेवन करे। वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध पीये। जौ, बेर, कुलत्थी, मूली, दही, घी, तैल से सिद्ध यवागू पीये। दस दिन तक आक्रमण न होने पर स्नेह विरेचन, आस्थापन, अनुवासन से इसकी चिकित्सा करे। वात व्याधि की चिकित्सा करे और रक्षा कर्म करे ॥१८॥

पक्षाघातोपद्रुतसम्लानगात्रं सहजमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत। तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकालमाक्षेपकविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिः, अणुतैलमभ्यङ्गार्थे, साल्वणमुपनाहार्थे, बलातैलमनुवासनार्थे, एवमतन्द्रितस्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथमुपसेवेत ॥१९॥

पक्षाघातवाले जिस रोगी का शरीर या अंग सूखा न हो, वेदना होती हो, जितेन्द्रिय एवं जो साधन सम्पन्न हो, उसकी चिकित्सा करे। इसमें प्रथम ही स्नेह स्वेदन, देकर मृदु संशोधन करके अनुवासन, आस्थापन देकर, समय के अनुसार आक्षेपक चिकित्सा से उपचार करे। इसमें इतना भेद है कि इसमें मस्तिष्क के लिये हितकारी शिरोबस्ति, एवं स्नेह (पिचु) बरती जाती है, अभ्यंग के लिये अणुतैल, उपनाह के लिये बला तैल बरते। इस प्रकार बिना आलस्य के यह चिकित्सा तीन या चार मास करे। इसी से कहा है—

हनुस्तम्भार्दिताक्षेप-पक्षाघातापतानकाः।
कालेन महताऽऽव्यानां यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा ॥१६॥

मन्यास्तम्भेऽप्येतदेव विधानं विशेषतो वातश्लेष्महरैर्नस्यै रूक्षस्वेदैश्चोपचरेत् ॥२०॥

मन्यास्तम्भ में भी यही चिकित्सा है, विशेष कर वात कफ नाशक नस्य देवे, और रूक्ष स्वेद करे ॥२०॥

अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत्, वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत, वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैर्मोक्षयेत्, तुम्बुरुपुष्कराह्वहिंग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्वाथेन पातुं प्रयच्छेत्, पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धं, वातश्लेष्मापनुच्च कर्म कुर्यात् ।२१।

अपतन्त्रक रोगी को लंघन न कराये। इसे वमन आस्थापन और अनुवासन भी न देवे। वायु-कफ के कारण श्वास काठिन्य होने पर तीक्ष्ण प्रधमन नस्य देवे। तुम्बुरु, पुष्करमूल, हींग, अम्लवेतस, हरड़, सैन्धव, सौवर्चल और विड़ इनके चूर्ण को जौ के क्वाथ के साथ पीने को देवे। पचास हरड़, सौवचल दो पल, इनसे चार गुणे दूध में सिद्ध किया घी पीने को देवे। वात कफ नाशक चिकित्सा करे ॥२१॥

अर्दितातुरं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकैश्च मस्तिष्क्यशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः ततः सतृणं महापञ्चमूलं काकोल्यादिं विदारिगन्धादिमौदकानूपमांसं तथैवोदककन्दांश्चाहृत्य द्विगुणोदकं क्षीरद्रोणे निःक्वाथ्य क्षीरावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य तैलप्रस्थेनोन्मिश्रय पुनरग्नावधिश्रयेत्, ततस्तैलं क्षीरानुगतमवतार्य शीतीभूतमभिमथ्नीयात् तत्र यः स्नेह उत्तिष्ठेत्तमादाय मधुरौषधसहाक्षीरयुक्तं विपचेत्, एतत् क्षीरतैलमर्दितातुराणां पानाभ्यङ्गादिषूपयोज्यं, तैलहीनं वा क्षीरसर्पिरक्षितर्पणमिति ॥१२॥

बलवान्, जितेन्द्रिय, साधन सम्पन्न अर्दित रोगी की वातव्याधि चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करे। विशे-

षतः—मस्तिष्क के लिये हितकारी शिरोवस्ति, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेहन, नाड़ी स्वेद आदि से चिकित्सा करे। पंचतृणमूल, बिल्वादि महा पंचमूल, काकोल्यादि गण, विदारीगन्धादि गण, औदकमांस, आनूपमांस, उदककन्द (सिंघाड़ा, कमलकन्द आदि) इनको लाकर सबका एक आढ़क, जल दो द्रोण, दूध एक द्रोण लेकर क्वाथ करे। जब दूध एक द्रोण रह जाये, तब इसे उतारकर छान ले। फिर इसमें एक प्रस्थ तैल मिलाकर पुनः अग्नि पर पकाये। जब तैल दूध में मिल जाये तब इसको उतारकर ठण्डा होने दे, ठण्डा होने पर इसको मथे। इससे जो तेल निकले उसको लेकर, उसे काकोल्यादि गण, मुद्गपर्णी और दूध के साथ पकाये। यह क्षीर तैल अर्दित रोगियों के पान, अभ्यंग आदि में बरतना चाहिये। तैल के बिना मिलाये दूध का घी, आँखों के तर्पण के लिये श्रेष्ठ है।२२।

गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातकण्टकपाददाहपादहर्षावबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च शिराव्यधं कुर्यात्, अन्यत्रावबाहुकात्, वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत ॥२३॥

गृध्रसी, विश्वाची, क्रोष्टुकशीर्ष, खंज, पंगुल, वातकण्टक, पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बाधिर्य, धमनी गत वात रोगों में कहे के अनुसार, उद्देश्य के विचार से सिरावेध करे। अवबाहुक में सिरावेध न करे। बातव्याधि की चिकित्सा भी बरते ॥२३॥

कर्णशूले तु शृङ्गवेररसं तैलमधुसंसृष्टं सैन्धवोपहितं सुखोष्णं कर्णे दद्यात् अजामूत्रमधुतैलानि वा, मातुलुङ्गदाडिमतिन्तिडीकस्वरसमूत्रसिद्धं तैलं, शुक्तसुरातक्रमूत्रलवणसिद्धं वा, नाडीस्वेदैश्च स्वेदयेत्, वातव्याधिचिकित्सां चावेक्षेत; भूयश्चोत्तरे वक्ष्यामः ॥२४॥

कर्णशूल में अदरक का रस, तैल, मधु, सैन्धव मिलाकर थोड़ा गरम करके डाले। बकरी का मूत्र, मधु या तैल डाले। बिजौरा, दाडिमी, तिन्तिडीक (इमली), इनके स्वरस और गोमूत्र में सिद्ध तैल कान में डाले। शुक्त, सुरा, तक्र, मूत्र और नमक में सिद्ध तैल डाले। नाड़ी स्वेद करे। वातव्याधि की चिकित्सा करे। अधिक उत्तर स्थान में कहेंगे ॥२४॥

तूनीप्रतून्योः स्नेहलवणमुष्णोदकेन पाययेत्, पिप्पल्यादिचूर्णं वा हिङ्गुयवक्षारप्रगाढं वा सर्पिः बस्तिभिश्चैनमुपक्रमेत ॥२५॥

तूनी, प्रतूनी में स्नेह लवण को गरम जल से पिलाये। पिप्पल्यादि चूर्ण को पिलाये। प्रचुर मात्रा में हींग और यवक्षार मिलाकर घी देवे। बस्तियों से चिकित्सा करे ॥२५॥

आध्माने त्वपतर्पणपाणिताप (दीपनचूर्ण) फलवर्तिक्रियापाचनीयदीपनीयबस्तिभिरुपाचरेत्, लंघनानन्तरं चान्नकाले धान्यकजीरकादिदीपनसिद्धान्यन्नानि। प्रत्याध्माने छर्दनापतर्पणदीपनानि कुर्यात् ॥२६॥

आध्मान में अपतर्पण, हाथों को गरम करके उदर पर सेकें। (दीपन चूर्ण), फलवर्त्ति प्रयोग, दीपनीय पाचनीय औषधियों से तथा बस्तियों से चिकित्सा करे। लंघन के पीछे, भोजन के समय में धनिया जीरा आदि दीपनीय औषधियों से सिद्ध अन्न देवे। प्रत्याध्मान में वमन अपतर्पण, दीपन आदि उपचार करे ॥२६॥

अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यन्तरविद्रधिवत् क्रियाविभाग इति ॥२७॥

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला में गुल्म और अभ्यन्तर विद्रधि की भाँति चिकित्सा करे ॥२७॥

हिङ्गुत्रिकटुवचाजमोदाधान्याजगन्धादाडिमतिन्तिडीकपाठाचित्रकयवक्षारसैन्धवविडसौवर्चलस्वर्जिकापिप्पलीमूलाम्लवेतसशटीपुष्करमूलहपुषाचव्याजाजीपथ्याश्चूर्णयित्वा मातुलुङ्गाम्लेन बहुशः परिभाव्याक्षमात्रा गुटिकाः कारयेत्। ततः प्रातरेकैकां वातविकारी भक्षयेत- एष योगः कासश्वासगुल्मोदरारोचकहृद्रोगाध्मानपार्श्वोदरबस्तिशूलानाहमूत्रकृच्छ्रप्लीहार्शस्तूनीप्रतूनीरपहन्ति ।।

हिंग्वादि चूर्ण—हींग, सोंठ, मरिच, पीपल, वच, अजवायन, धनियाँ, अजगन्धा, दाड़िमी, इमली, पाठा, चित्रक, यवक्षार, सैन्धव, विड, सौवर्चल, सर्जक्षार, पिप्पलामूल, अम्लवेतस, कचूर, पुष्कर मूल, हाऊबेर, चव्य, जीरा, हरड़, इनको चूर्ण करके बिजौरा के रस से बहुत बार (सातबार या इक्कीसबार) भावित करके कर्ष परिमाण की गोलियाँ बना लेवे। इनमें से एक एक गोली प्रातः वातविकार रोगी खायें। यह योग कास, श्वास, गुल्म, उदर, अरोचक, हृद्रोग, आध्मान, पार्श्वशूल, उदरशूल, वस्तिशूल, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहा, अर्श, तूनी, प्रतूनी को नष्ट करता है।

वक्तव्य—इसमें क्षार, हींग, अम्लवेतस दुगुने मिलाने चाहिये, यथा—यच्चूर्णं गुटिकायाश्च कर्त्तव्या वातगुल्मिनाम्। द्विगुणक्षारहिंग्वम्लवेतसास्ता हिताः स्मृताः ॥ चरक में—

हिंगुत्रिकटुकापाठां हपुषामभयां शटीम्।
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिड़ीकाम्लवेतसौ ॥
दाडिमं पुष्करं धान्यं अजाजी चित्रकं वचाम्।
द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥
चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यं अनुपानेष्वनत्ययम्।
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ॥
भाविता मातुलुंगस्य चूर्णमेतद् रसेन वा।
बहुशो गुटिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ॥

भवति चात्र—

केवले दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिलः।

विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्चाविरोधतः ॥२९॥

इस विषय में श्लोक भी हैं—शुद्ध वायु को दोषों से युक्त वायु को, या रसादि धातुओं से आवृत वायु को, लक्षण और तर्क से जानना चाहिये, बिना दूसरे के विरोध के इसकी चिकित्सा करे।

वक्तव्य—वायु का प्राण-अपान आदि से आवरण होने पर बीस भेद चरक में कहे हैं, यथा—

मारुतानां च पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु।
लिंगं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघ ॥
प्राणो वृणोत्युदानाद्यान् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च।
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ॥
विंशत्यावरणान्येतान्युल्वणानां परस्परम्।
मारुतानां तु पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ॥२६॥

रुजावन्तं घनं शीतं शोफं मेदोयुतोऽनिलः।
करोति यस्य तं वैद्यः शोथवत् समुपाचरेत् ॥३०॥

मेद से मिली वायु-वेदनाशील, मोटी शीतल शोथ को उत्पन्न करती है। इसकी चिकित्सा शोथ की भाँति करे ॥३०॥

कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते।
तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः ॥३१॥
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ।
गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते ॥३२॥
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे।

कफ और मेद से आवृत वायु जब ऊरु में पहुँच जाती है, तब अंगों का टूटना, स्तिमितता, रोमांच, वेदना, ज्वर, नींद का न आना, स्तब्धता, शीतलता, चेतना का अभाव, भारीपन, नरम तथा रोगी अपने ऊरु को अपना ही नहीं समझता। इस रोग को ऊरुस्तम्भ कहते हैं। दूसरे आढ्यवात कहते हैं। चरक में—

"जंघोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने।
पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चलने चाप्यनीश्वरः।
अन्यनेयौ हि संभग्नावूरु पादौ च मन्यते ॥
यदा दाहार्तितोदार्त्तो वेपनः पुरुषो भवेत्।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम्" ॥३१,३२॥

स्नेहवर्जं पिबेत्तत्र चूर्णं षड्धरणं नरः ॥३३॥
हितमुष्णाम्बुना तद्वत् पिप्पल्यादिगणैः कृतम्।
लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णं क्षौद्रेण कटुकान्वितम् ॥३४॥
मूत्रैर्वा गुग्गुलं श्रेष्ठं पिबेद्वाऽपि शिलाजतु।
ततो हन्ति कफाक्रान्तं समेदस्कं प्रभञ्जनम् ॥३५॥

इसमें मनुष्य घी-तैल-वसा-मज्जा-सब स्नेह को छोड़कर षड्धरण योग (चित्रकेन्द्रयवपाठा आदि) को गरम पानी से या पिप्पल्यादि गण के चूर्ण से पीये। त्रिफला चूर्ण में मरिच आदि कटु द्रव्य मिलाकर मधु के साथ चाटे। मूत्र के साथ महिषाक्षगुग्गुल या शिलाजीत को पीये। इससे कफ द्वारा आक्रान्त मेद युक्त वायु नष्ट होती है। हृदयरोग, अरुचि, गुल्म, और अन्तः विद्रधि नष्ट होती है।

"वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्राद् उद्धरणं तथा ॥
तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम्।
न चैव वमनं यस्मात् तन्निबोधत कारणम् ॥"
चरक ॥३३-३५॥

हृद्रोगमरुचिं गुल्मं तथाऽभ्यन्तरविद्रधिम्।
सक्षारमूत्रस्वेदांश्च रूक्षाण्युत्सादनानि च ॥३६॥
कुर्याद्दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करञ्जफलसर्षपैः।

यवक्षार के साथ मूत्र से स्वेद देवे, रूक्ष उत्सादन बरते। करंजफल और सरसों को प्रचुर मूत्र के साथ पीसकर लेप करे॥

भोज्याः पुराणश्यामाककोद्रवोद्दालशालयः ॥३७॥
शुष्कमूलकयूषेण पटोलस्य रसेन वा।
जाङ्गलैरघृतैर्मांसैः शाकैश्चालवणैर्हितैः ॥३८॥

पुरातन सांवक, कोदो, उद्दालक, शालि, इनको सूखी मूली के यूष से या परवल के रस से खाये। जांगल मांसों अथवा रसों में घी मिलाकर तथा नमक रहित शाकों के साथ खाये॥

यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी।
तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत् ॥३९॥

जब कफ और मेद बहुत क्षीण हो जायें, तब फिर इसमें स्नेहन आदि कर्म करे ॥३९॥

सुगन्धिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसे।
कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः ॥४०॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वपकर्षणः।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत् ॥४१॥
सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः।
तं प्रातस्त्रिफलादार्वीपटोलकुशवारिभिः ॥४२॥
पिबेदावाप्य वा मूत्रैः क्षारैरुष्णोदकेन वा।
जीर्णे यूषरसैः क्षीरैर्भुञ्जानो हन्ति मारुतः ॥४३॥
गुल्मं मेहमुदावर्तमुदरं सभगन्दरम्।
कृमिकण्ड्वरुचिश्वित्राण्यर्बुदं ग्रन्थिमेव च ॥४४॥
नाड्याढ्यवातश्वयथून् कुष्ठदुष्टव्रणांश्च सः।
कोष्ठसन्ध्यस्थिगं वायुं वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥४५॥

गुग्गुल सुगन्धि, अति लघु (हल्का), सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण, रस में कटु, विपाक में कटु, सर, हृद्य, स्निग्ध एवं पिच्छिल है। इसमें नया गुग्गुल बृंहण और वृष्य है, और पुराना गुग्गुल अपकर्षण करता है। तीक्ष्ण और उष्ण होने से कफ वात नाशक सर होने से मलपित्त नाशक है, सुगन्धित होने से कोष्ठ की दुर्गन्ध को नष्ट करता है, सूक्ष्म होने से अग्नि वर्धक है। इस गुग्गुल

को त्रिफला, दारु हल्दी, पटोल, कुशा इनके क्वाथ में या गोमूत्र में अथवा क्षारोदक में अथवा गरमजल में घोलकर प्रायः पीये। इसके पच जाने पर–यूष से, मांस रस से या दूध के साथ भोजन करे। इस प्रकार एक मांस सेवन करने पर गुल्म, प्रमेह, उदावर्त्त, उदर, भगन्दर, कृमि, कण्डु, अरुचि, श्वित्र, अर्बुद, ग्रन्थि, नाड़ी, आढ्यवात, श्वयथु, कुष्ठ, दुष्टव्रण, कोष्ठगत-सन्धिगत और अस्थिगत वायु नष्ट होती है, जिस प्रकार कि बिजली से वृक्ष नष्ट होते हैं ॥४०-४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महावातव्याधिचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अर्शों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा—भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति। तत्र, अचिरकालजातान्यल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि, मृदुप्रसृतावगाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण, कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना, तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण। तत्र भेषजसाध्यानामर्शसामदृश्यानां तु भेषजं भवति, क्षाराग्निशस्त्रसाध्यानां तु विधानमुच्यमानमुपधारय ॥३॥

अर्शों की चिकित्सा चार प्रकार की है। यथा—भेषज, क्षार, अग्नि और शस्त्र। इनमें नूतन उत्पन्न हुए, थोड़े लक्षण एवं थोड़े उपद्रववाले अर्श औषध साध्य हैं। कोमल, फैले हुए गहरे गये या ऊपर को उभरे अर्श क्षार साध्य हैं। कर्कश, स्थिर चपटे और कठिन अर्श अग्निसाध्य हैं। पतले मूलवाले, ऊपर को नहीं उठे और क्लेदवाले अर्श शस्त्रसाध्य हैं। इसमें भेषज से चिकित्सा करने योग्य तथा न दीखनेवाले अर्शों में औषध से उपचार किया जाता है। क्षार, अग्नि और शस्त्र की विधि को मुझसे सुनो।

"तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना ॥
अस्त्येतद् भूरि तन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तस्य च दारुणः ॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्" ॥३॥

तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नमनिलवेदनाभिवृद्धिप्रशमार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तमुपवेश्य संवृ (भृ) ते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काल समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानं किञ्चिदुन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्टं यन्त्रणाशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थि परिकर्मिभिः सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा ततोऽस्मै घृताभ्यक्तगुदाय घृताभ्यक्तं यन्त्रमृज्वनुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय, प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य, शलाकयोत्पीड्य, पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य, क्षारं पातयेत्। पातयित्वा च पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय वाक्छतमात्रमुपेक्षेत, ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं चावेक्ष्य पुनरालेपयेत्, अथार्शः पक्वजाम्बवप्रतीकाशमवसन्नमीषन्नतमभिसमीक्ष्योपावर्तयेत्, क्षारं प्रक्षालयेद्धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा, ततो यष्टीमधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यन्त्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्, अशीताभिरित्येके, ततो निर्वातमागारं प्रवेश्याचारिकमादिशेत्, सावशेषं पुनर्दहेत्, एवं सप्तरात्रादेकैकमुपक्रमेत, तत्र बहुषु पूर्वं दक्षिणं साधयेत्, दक्षिणाद्वामं वामात् पृष्ठजं, ततोऽग्रजमिति ॥४॥

अर्श रोग से पीड़ित बलवान् रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर, बढ़ी हुई वायु की वेदना को शांत करने के लिये, स्निग्ध उष्णद्रव बहुल अन्न को थोड़ी सी मात्रा में देकर, एकान्त तथा पवित्र स्थान में, न बहुत गरम, न बहुत ठण्डे बादल रहित दिन में, समतल फलक या शय्या पर बिठाये। रोगी की गुदा को सूर्य के सामने रक्खे। रोगी का नाभि से ऊपर का भाग दूसरे मनुष्य की गोदी में चित (उत्तान-मुख को ऊपर रखकर) रखवाये। कटि के नीचे वस्त्र या कम्बल की एँडवी (गद्दी) रखकर कटि प्रदेश को कुछ ऊंचा उठाये। फिर यंत्र शाटिका को ग्रीवा और टांगों में बँधवाकर, सहायकों से भली प्रकार पकड़वाये, जिससे कि रोगी हिल न सके। फिर गुदा में घृत का अभ्यङ्ग करके, घी से स्निग्ध यंत्र को, सीधा गुदा-मुख के साथ साथ गुदा में धीरे-धीरे, रोगी के प्रवाहण करते रहने पर प्रविष्ट करे। यंत्र के गुदा में पहुँच जाने पर अर्श को देखकर, शलाका से दबाकर, रूई के फोये या वस्त्र से साफ करके क्षार लगाए। क्षार लगाकर, हाथ से यन्त्र द्वार को बन्द करके एक सौ गिनने के समय तक प्रतीक्षा करे। फिर क्षार को साफ करके क्षार बल और रोग की शक्ति को देखकर फिर क्षार लगाये। यदि अर्श पके हुए जामुन के समान रंग के, दबे, थोड़े झुके हों तो क्षार लगाना बन्द कर दे। क्षार को कांजी, दही, मस्तु, शुक्त या बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस से धोये। फिर मुलैहठी मिले घी को लगाकर जलन शान्त करे। यंत्र निकालकर, रोगी को उठाकर गरम पानी में बिठाये और शीतल जल से स्नान कराये। कई आचार्य कहते हैं कि गरम पानी से स्नान कराये, तत्पश्चात् वायुरहित

घर में प्रवेश कराकर आहार-विहार की व्याख्या करे। जड़ समेत सम्पूर्ण रूप में इनको फिर जलाये। इस प्रकार से सात-सात दिन के अन्तर से एक एक अर्श की चिकित्सा करे। बहुत अर्श होने पर पहले दक्षिण पार्श्व के अर्श जलाये, दक्षिण के पीछे वाम पार्श्व के, वाम पार्श्व के पीछे पीठ की तरफ के, पीठ के बाद सामने के अर्श जलावे।

वक्तव्य—क्षार परिमाण–"क्षारमात्रा नखोत्सेधप्रमाणाऽऽद्या प्रकीर्तिता। द्विगुणा मध्यमा मात्रा त्रिगुणा महती मता। पित्ते श्लेष्मणि वाते च यथासंख्यं प्रयोजयेत् ॥" जलने का रंग—"पक्वजाम्बवकाश्मर्यवर्णं दग्धेऽनिलार्शसि। पित्तजे भृंगमायूरकण्ठ-वर्णे विनिर्दिशेत् ॥ वृहतीपुष्पवर्णत्वं सम्यग् दग्धे कफार्शसि ॥"

कफ वातानुबन्ध में गरम पानी में बिठाये तथा स्नान कराये। रक्त-पित्तार्श में शीतल जल में बिठाये और शीतल जल से स्नान कराये ॥४॥

तत्र वातश्लेष्मनिमित्तान्यग्निक्षाराभ्यां साधयेत्, क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि ॥५॥

इसमें वात-कफजन्य अर्शों की चिकित्सा अग्नि और क्षार से करनी चाहिये। पित्त-रक्तजन्य अर्शों की मृदु क्षार से चिकित्सा करे ॥५॥

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिरग्निदीप्तिर्लाघवं बलवर्णोत्पत्तिर्मनस्तुष्टिरिति सम्यग्दग्धलिङ्गानि, अतिदग्धे तु गुदावदरणं दाहो मूर्च्छा ज्वरः पिपासा शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा भवन्ति। श्यामाल्पव्रणता कण्डूरनिलवैगुण्यमिन्द्रियाणामप्रसादो विकारस्य चाशान्तिर्हीनदग्धे ॥६॥

इसमें वात की अनुलोमता, अन्न में रुचि, अग्नि की प्रदीप्ति, लघुता, बल वर्ण का बढ़ना, और मन की प्रसन्नता-ये सम्यक् दग्ध के लक्षण हैं। अतिदग्ध में गुदा का फटना, दाह, मूर्च्छा, ज्वर, प्यास, रक्त की अतिप्रवृत्ति और रक्तजन्य उपद्रव होते हैं। हीन दग्ध में कृष्ण श्याम वर्ण, थोड़ा व्रण (चिन्ह) होना, कण्डु, वायु की विपरीतता, इन्द्रियों की अशुद्धि और रोग का शान्त न होना होता है ॥६॥

महान्ति च प्राणवतश्छित्त्वा दहेत्, निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद्विना स्वेदाभ्यङ्गस्नेहावगाहोपनाहविस्रावणलेपक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत्, प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन, भिन्नपुरीषाणि चातीसारविधानेन, बद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेनोदावर्तविधानेन वा, एवं सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः ॥७॥

शक्ति सम्पन्न रोगी के बड़े अर्शों को शस्त्र से काटकर अग्नि से जलाये। बाहर निकले हुए, अतिशय दोषों से भरे अर्शों को, यंत्र के बिना ही, स्वेदन, अभ्यंग, स्नेह के अवगाहन, उपनाह, रक्तमोक्षण, आलेप, क्षार, अग्नि या शस्त्र से चिकित्सा करे। जिनमें से रक्त बहता हो, उनकी रक्तपित्त विधि से चिकित्सा करे। जिनको अतिसार हो, उनकी अतिसार विधि से चिकित्सा करे। जिनको मलबन्ध रहता हो, उनकी स्नेहपान विधि से और उदावर्त्त विधि से चिकित्सा करे। यह मेहन-कान-नाक आदि सब स्थानों के अर्शों के जलाने की विधि हैं ॥७॥

आसाद्य च दर्वीकूर्चकशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत्। भ्रष्टगुदस्य तु विना यन्त्रेण क्षारादिकर्म प्रयुञ्जीत। सर्वेषु च शालिषष्टिकयवगोधूमान्नं सर्पिःस्निग्धमुपसेवेत पयसा निम्बयूषेण पटोलयूषेण वा, यथादोषं शाकैर्वास्तूकतण्डुलीयकजीवन्त्युपोदिकाश्वबलाबालमूलकपालङ्क्यसनचिल्लीचुच्चूकलायवल्लीभिरन्यैर्वा। यच्चान्यदपि स्निग्धमग्निदीपनमर्शोघ्नं सृष्टमूत्रपुरीषं च तदुपसेवेत ॥८॥

अर्श को देखकर, कड़छी, कूर्च, शलाका इनमें से किसी एक से अर्श पर क्षार लगाये। जिस रोगी की गुदा निकलती हो, उसमें यंत्र के बिना ही क्षार आदि कर्म करे। सब अर्शों में शाली, सांठी, जौ, गेहूँ के अन्न को घी से स्निग्ध बनाकर, दूध से, नीम के यूष से या परवल के यूष से खाये। अथवा दोष के अनुसार बथुवा, चौलाई, चिल्ली, चुच्चु, मटर, वल्ली (कूष्माण्ड) आदि या अन्य शाकों के साथ खाये। इसके सिवाय जो भी कोई अग्नि दीपक, स्निग्ध, अर्शनाशक, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाला हो, उसका सेवन करे।

"यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये।
अन्नपानौषधं द्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥
यदतो विपरीतं स्यात् निदाने यत्प्रदर्शितम्।
गुदजाभिपरीतेन तत्सेव्यं न कथंचन ॥"

चरक ॥८॥

दग्धेषु चार्शःस्वभ्यक्तोऽनलसन्धुक्षणार्थमनिलप्रकोपसंरक्षणार्थं च स्नेहादीनां सामान्यतः क्रियापथमुपसेवेत। विशेषतस्तु वातार्शःसु सर्पींषि च वातहरदीपनीयसिद्धानि हिङ्ग्वादिभिश्चूर्णैः प्रतिसंसृज्य पिबेत्, पित्तार्शःसु पृथक्पर्ण्यादीनां कषायेण दीपनीयप्रतीवापं सर्पिः, शोणितार्शःसु मञ्जिष्ठामुरुङ्ग्यादीनां कषाये पाचयेत्, श्लेष्मार्शःसु सुरसादीनां कषाये। उपद्रवांश्च यथास्वमुपाचरेत् ॥९॥

अर्शों के जलने पर भली प्रकार से अभ्यंग करके अग्नि को बढ़ाने के लिये और वायु के प्रकोप से बचने के लिये स्नेह आदि का सम्पूर्ण रूप से अर्शनाशक विधि से चिकित्सा में प्रयोग करे। विशेषकर के वातार्शों में—भद्रदार्व्यादि वातनाशक, पिप्पल्यादि दीपनीय द्रव्योंसे सिद्ध घृतों में हिंग्वादि चूर्ण मिलाकर पीये। पित्तार्शसों में—पृश्निपर्णी आदि के कषाय से सिद्ध घृत में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप मिलाकर पीये। शोणितार्श में घी को मंजिष्ठा मुरंगी आदि गण (वरुणादि गण के

अन्तर्गत) के कषाय में सिद्ध करे। कफज अर्शों में घी को सुरसादि गण के कषाय में सिद्ध करे। उपद्रवों की दोषों के अनुसार चिकित्सा करे ॥ ९ ॥

परं च यत्नमास्थाय गुदे क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेत्, तद्विभ्रमाद्धि षाण्ढ्यशोफदाहमदमूर्च्छाटोपानाहातीसारप्रवाहणानि भवन्ति मरणं वा ॥ १० ॥

बहुत ही सावधानी के साथ गुदा में क्षार कर्म, अग्निकर्म और शस्त्र कर्म करना चाहिये। क्योंकि इनमें भूल होने से नपुंसकता, शोफ, दाह, मद, मूर्च्छा, आटोप, आनाह अतिसार, प्रवाहिका या मृत्यु हो जाती है ॥ १० ॥

अत ऊर्ध्वं यन्त्रप्रमाणमुपदेक्ष्यामः - तत्र यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं पुंसां षडङ्गुलपरिणाहं नारीणां तलायतं, तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थम्, एकच्छिद्रं तु कर्मणि, एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति, छिद्रप्रमाणं तु त्र्यङ्गुलायतमङ्गुष्ठोदरपरिणाहं, यदङ्गुलमवशिष्टं तस्यार्धाङ्गुलादधस्तादर्धाङ्गुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकम्, एष यन्त्राकृतिसमासः ॥ ११ ॥

इसके आगे अर्शयंत्र का प्रमाण कहते हैं—यंत्र लोहे का, दाँतका, सींग का, या वृक्षका बनाना चाहिये। इसका आकार गाय के स्तन जैसा, चार अंगुल लम्बा और पाँच अंगुल घेरेका, पुरुषों के लिये, स्त्रियों के लिये छः अंगुल मोटाई के तले पर चपटा दर्शन के लिये दो छिद्र का, अग्नि क्षार शस्त्र कर्म के लिये एक छिद्र का होना चाहिये। क्योंकि एक रास्ता होने से शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म का अतिक्रम नहीं होता (गल्ती नहीं होती)। छिद्र का प्रमाण-तीन अंगुल, लम्बा, अंगूठे की मोटाई के बराबर (गोलाई) का होना चाहिये। इसके बाद जो एक अंगुल बचता है, उसमें आधा अंगुल नीचे, आधा अंगुल ऊँची उठी ऊपर में गोल कर्णिका होनी चाहिये। यंत्र का आकार संक्षेप में ऐसा है ॥ ११ ॥

अत ऊर्ध्वमर्शसामालेपान् वक्ष्यामः—स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः प्रथमः, कुक्कुटपुरीषगुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः, दन्तीचित्रकसुवर्चिकालाङ्गलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीयः, पिप्पलीसैन्धवकुष्ठशिरीषफलकल्कः स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थः, कासीसहरितालसैन्धवाश्वमारकविडङ्गपूतीककृतवेधनजम्ब्वर्कोत्तमारणीदन्तीचित्रकालर्कस्नुहीपयःसु तैलं विपक्वमभ्यञ्जनेनार्शः शातयति ॥ १२ ॥

इसके आगे अर्शों के लिये लेपों को कहेंगे—१—हल्दी के चूर्ण को थोर के दूध में मिलाकर लगाये, यह पहला लेप है। २—मुर्गे की बीठ १ रत्ती, हल्दी, पिप्पलीचूर्ण इनको गोमूत्र में पीसकर लगाये। ३—दन्ती, चित्रक, हुलहुल, कलिहारी इनका कल्क गोमूत्र में पीसकर लगाये। ४—पिप्पली, सैन्धव, कुष्ठ, शिरीष फल, इनका कल्क थोर के दूध या आक के दूध में पीसकर लगाये। ५—कासीस, हरताल, सैन्धव, कनेर, वायविडङ्ग, करञ्ज, अमलतास, जामुन, आक का दूध, उत्तमारणी (उत्तमवारुणी-पाठान्तर में इन्द्रायण), जमालगोटा, चित्रक, श्वेत फूल का मन्दार (आक) का दूध, थोर का दूध, इनसे सिद्ध किया तैल लगाने पर अर्श नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥

अत ऊर्ध्वं भेषजसाध्येष्वर्शःसु योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः—प्रातः प्रातर्गुडहरीतकीमासेवेत, ब्रह्मचारी गोमूत्रद्रोणसिद्धं वा हरीतकीशतं प्रातः प्रातर्यथाबलं क्षौद्रेण, अपामार्गमूलं वा तण्डुलोदकेन सक्षौद्रमहरहः, शतावरीमूलकल्कं वा क्षीरेण, चित्रकचूर्णयुक्तं वा सीधुं परार्ध्यं, भल्लातचूर्णयुक्तं वा सक्तुमन्थमलवणं तक्रेण, कलशे वाऽन्तश्चित्रकमूलकल्कावलिप्ते निषिक्तं तक्रमम्लमनम्लं वा पानभोजनेषूपयुञ्जीत, एष एव भार्गीस्फोतायवान्यामलकगुडूचीषु तक्रकल्पः, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकविडङ्गशुण्ठीहरीतकीषु च पूर्ववदेव, निरन्नो वा तक्रमहरहर्मासमुपसेवेत, शृङ्गवेरपुनर्नवाचित्रककषायसिद्धं वा पयः कुटजमूलत्वक्फाणितं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं क्षौद्रेण, महावातव्याध्युक्तं हिङ्ग्वादिचूर्णमुपसेवेत तक्राहारः क्षीराहारो वा क्षारलवणांश्चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेत्, चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धं वा पयः पलाशतरुक्षारसिद्धं वा, पलाशतरुक्षारसिद्धान् वा कुल्माषान्, पाटलापामार्गबृहतीपलाशक्षारं वा परिस्रुतमहरहर्घृतसंसृष्टं, कुटजबन्दाकमूलकल्कं वा तक्रेण, चित्रकपूतीकनागरकल्कं वा पूतीकक्षारेण क्षारोदकसिद्धं वा सर्पिः पिप्पल्यादिप्रतीवापं, कृष्णतिलप्रसृतं प्रकुञ्चं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत शीतोदकानुपानम्; एभिरभिवर्धतेऽग्निरर्शांसि चोपशाम्यन्ति ॥ १३ ॥

इसके आगे औषधासाध्य, न दीखनेवाले अर्शों के लिये योगों को यापनार्थ कहते हैं—प्रतिदिन गुड़ और हरड़ का सेवन करे। ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके एक द्रोण गोमूत्र में सिद्ध की हुई एक सौ हरड़ों में से प्रातःकाल प्रतिदिन बल के अनुसार खाये। प्रतिदिन चिरचिरे की जड़ को मधु मिश्रित चावलों के पानी से पीये। शतावरीमूल कल्क को दूध से पीये। चित्रकचूर्ण युक्त सींधु को पीये। भिलावे चूर्ण मिश्रित-जौ के सत्तू को (भिलावे के चूर्ण से जौ का सत्तू सोलह गुण) नमक रहित तक्र के साथ पीये। अथवा घड़े के अन्दर चित्रकमूल का कल्क लगाकर इसमें रखा हुआ खट्टा या खट्टाई रहित तक्र खान-पान में बरते। इसी विधि से भार्गी, अनन्तमूल, अजवायन, आंवला, गिलोय में तक्र कल्क करे। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, वायविडंग, सोंठ, हरड़, में भी पूर्व की भाँति कल्प करे। अन्न के बिना प्रतिदिन तक्र को ही १ मास पीये। सोंठ, पुनर्नवा,

चित्रक के कषाय में सिद्ध दूध पीये। कुटजमूल की रसक्रिया में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप देकर मधु से खाये। तक्र का या दूध का ही आहार करते हुए महावात व्याधि में कहा हिंग्वादि चूर्ण खाये। क्षार लवणों से या चित्रकमूल के क्षारोदक में सिद्ध कुल्माषों (अर्धस्विन्न गेहूँ या जौ को) को खाये। पाटला, चिरचिटा, बड़ी कटेरी, ढांक का क्षार, इनको घोलकर नितार कर घी में मिलाकर प्रतिदिन पीये। कुटजमूल वन्दाकमूल के कल्क को तक्र के साथ खाये। चित्रक, करञ्ज, सोंठ इनके कल्क को करञ्ज क्षार से खाये। क्षारोदक से सिद्ध घृत में पिप्पल्यादि गण का प्रक्षेप देकर बरते। शीतल जल के अनुपान काले तिल के दो पल या एक पल प्रतिदिन प्रातः काल खाये। इनसे अग्नि बढ़ती है, और अर्श शान्त होते हैं।

अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च।
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः॥
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः।
तक्रदोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत्॥
हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु॥ १३॥
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनाम्॥
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्त्तते।
नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे॥ चरक॥

वि० मन्तव्य—यापनार्थं—इन योगों का सेवन करने से रोग दबा रहता है॥ १३॥

द्विपञ्चमूलीदन्तीचित्रकपथ्यानां तुलामाहृत्य जलचतुर्द्रोणे विपाचयेत्, ततः पादावशिष्टं कषायमादाय सुशीतं गुडतुलया सहोन्मिश्रय घृतभाजने निक्षिप्य मासमुपेक्षेत यवपल्ले, ततः प्रातः प्रातर्मात्रां पाययेत्, तेनार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगोदावर्तारोचका न भवन्ति दीप्तश्चाग्निर्भवति॥

दशमूल, दन्ती, चित्रक और हरड़ इनके एक सौ पल लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। जब चौथाई शेष रह जाये तब उतारकर छानकर इसमें एक सौ पल गुड़ मिलाकर घृत से चिकने पात्र में भरकर एक मास तक जौ के ढेर में रख दे। फिर प्रतिदिन इसमें से मात्रा में पीये। इससे अर्श, ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, उदावर्त्त, अरोचक नहीं रहते हैं और अग्नि बढ़ती है॥ १४॥

पिप्पलीमरिचविडङ्गैलवालुकलोध्राणां द्वे द्वे पल, इन्द्रवारुण्याः पञ्च पलानि, कपित्थमध्यस्य दश, पथ्याफलानामर्धप्रस्थः, प्रस्थो धात्रीफलानां, एतदैकध्यं जलचतुर्द्रोणे विपाच्य, पादावशेषं परिस्राव्य, सुशीतं गुडतुलाद्वयेनोन्मिश्रय, घृतभाजने निक्षिप्य, पक्षमुपेक्षेत यवपल्ले; ततः प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत। एष खल्वरिष्टप्लीहाग्निसंगार्शोग्रहणीहृत्पाण्डुरोगशोफकुष्ठगुल्मोदरक्रिमिहरो बलवर्णकरश्चेति॥ १५॥

पिप्पली, मरिच, विडंग, ऐलवालुक, लोध, दो दो पल, इन्द्रायण पाँच पल, कैथ का गूदा दस पल, हरड़ के फल आधा प्रस्थ, आँवले एक प्रस्थ इन सबको लेकर चार द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर छानकर इसमें दो सौ पल गुड़ को घोलकर घृत के पात्र में भरकर पन्द्रह दिन जौ के ढेर में रख देवे। फिर प्रतिदिन प्रातः बल के अनुसार सेवन करे। यह अरिष्ट प्लीहा, अग्निमान्द्य, अर्श, ग्रहणी, हृदयरोग, पाण्डुरोग, शोक, कुष्ठ, गुल्म, उदर, कृमि को नष्ट करता है, बल और वर्ण को बढ़ाता है॥ १५॥

तत्र, वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषिद्धं, पित्तजेषु विरेचनम्, एवं रक्तजेषु संशमनं, कफजेषु शृंगवेरकुलत्थोपयोगः, सर्वदोषहरं यथोक्तं सर्वजेषु, यथास्वौषधिसिद्धं च पयः सर्वेष्विति॥

वातबहुल अर्शों में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन विरुद्ध नहीं हैं। पित्तज अर्शों में विरेचन, रक्तज अर्शों में संशमन, कफजन्यों में सोंठ और कुलत्थी का योग निषिद्ध नहीं है। सन्निपातजन्य अर्शों में कही हुई सर्व दोषहर चिकित्सा बरते। अपने २ दोषहर औषधियों से सिद्ध दूध सब में देना चाहिये।

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्।
शोणितं दोषमनिलं तद् रोगान् जनयेद् बहून्॥
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम्॥
हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्॥
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्॥
चरक चि० अ० १४॥ १६॥

अत ऊर्ध्वं भल्लातकविधानमुपदेक्ष्यामः—भल्लातकानि परिपक्वान्यनुपहतान्याहृत्य तत एकमादाय द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य तस्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृताभ्यक्ततालुजिह्वौष्ठः प्रातः प्रातरुपसेवेत, ततोऽपराह्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः, एवमेकैकं वर्धयेद्यावत् पञ्चेति, ततः पञ्च पञ्चाभिवर्धयेद्यावत् सप्ततिरिति, प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेद् भूयः पञ्च पञ्च यावत् पञ्चेति, पञ्चभ्यस्त्वेकैकं यावदेकमिति। एवं भल्लातकसहस्रमुपयुज्य सर्वकुष्ठार्शोभिर्विमुक्तो बलवानरोगः शतायुर्भवति॥ १७॥

इसके आगे भल्लातक विधि का उपदेश करेंगे—भली प्रकार पके हुए और कीड़े आदि से न खाये हुये भिलावों को लाकर, उनमें से एक भिलावे को दो, तीन या चार टुकड़े बनाकर कषाय कल्पना से इनको पकाकर, इस कषाय की शुक्ति मात्रा (आधा पल) को मनुष्य के तालु-जिह्वा और ओष्ठ को घी से स्निग्ध कर पीने के लिये प्रतिदिन

प्रातःकाल देवे। फिर सायंकाल में दूध, घी, और चावल खाये। इस प्रकार से एक एक भिलावा प्रतिदिन बढ़ाये, जब तक कि यह संख्या पाँच तक न पहुँच जाये। फिर इनको पाँच पाँच करके बढ़ाये, जब तक कि इनकी संख्या सत्तर न हो जाये। सत्तर संख्या हो जाने पर पाँच पाँच संख्या में कम करना आरम्भ करे, जब तक कि पाँच पर न आ जाये। पाँच पर पहुँच कर फिर एक एक घटाना आरम्भ करे, जब तक कि एक पर न आ जाये। इस प्रकार से एक हजार भिलावों का उपयोग करने पर सब प्रकार के कुष्ठ, अर्श से मुक्त होकर, बलवान्, नीरोग, एक सौ वर्ष की आयु का होता है।

वक्तव्य—पके भिलावों को चैत्र-वैशाख में लाकर, जौ के ढेर में या उड़द के ढेर में रख देना चाहिये। मार्गशीर्ष या पौष में इनका व्यवहार करे। एक हजार भिलावों का उपयोग विधि से पैंतीस दिन में पूरा होता है। इसी प्रकार एक सौ तक बढ़ाने में उत्तम, सत्तर तक मध्यम और तीस तक बढ़ाने का अधम प्रयोग है। इसमें अनुपान नारियल का जल है।

चरक में—भल्लातकानि अनुपहतानि अनामयानि आपूर्णरसवीर्यप्रमाणानि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्। तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः। पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्। तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषान्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः। प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः प्रयोगान्तं च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः॥ चरक० चि० अ० १।१३। भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥

वि० मन्तव्य—भिलावा का रस जहाँ लग जाता है वहाँ शोथ तथा अरुषिका (छोटी २ फुन्सियाँ) हो जाती हैं, अतः मुख के अन्दर-तालु, जिह्वा तथा ओष्ठों पर घृत का अभ्यञ्जन कर लेना चाहिये और तब भिलावा का क्वाथ पीना चाहिये। इस प्रकार उक्त शोथ तथा अरुषिका उत्पन्न होने का भय नहीं रहता॥१७॥

द्विव्रणीयोक्तेन विधानेन भल्लातकनिश्च्युतितं स्नेहमादाय प्रातः प्रातः शुक्तिमात्रमुपयुञ्जीत, जीर्णे पूर्ववदाहारः फलप्रकर्षश्च। भल्लातकमज्जभ्यो वा स्नेहमादायापकृष्टदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तो निवातमागारं प्रविश्य यथाबलं प्रसृतिं प्रकुञ्चं वोपयुञ्जीत, तस्मिञ्जीर्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य मासत्रयमादिष्टाहरो रक्षेदात्मानं, ततः सर्वोपतापानपहृत्य वर्णवान् बलवाञ् श्रवणग्रहणधारणशक्तिसंपन्नो वर्षशतायुर्भवति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति, एवं दशमासानुपयुज्य वर्षसहस्रायुर्भवति॥१८॥

द्विव्रणीय में कही विधि से निकाला हुआ भिलावों का तेल लेकर प्रतिदिन प्रातःकाल आधापल मात्रा में पीये। जीर्ण होने पर पहले की भाँति भोजन करे, फलश्रुति भी समान है। अथवा भिलावे की मज्जा से स्नेह निकालकर, वमन विरेचनादि से शुद्ध हुआ, पेया-विलेपी क्रम का सेवन करके, वायु रहित घर में रहकर, बल के अनुसार दो पल या आधा पल सेवन करे। इसके जीर्ण होने पर दूध, घी, चावल खाये। इस प्रकार से एक मास तक सेवन करके तीन मास तक ऊपर कहा भोजन, दूध, घी, चावल ही खाये। फिर सब रोगों से मुक्त होकर वर्णशाली, बलवान्, सुनते ही ग्रहण एवं धारण करने की शक्तिवाला, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। एक एक मास के प्रयोग से एकसौ-एकसौ वर्ष की आयु बढ़ी है। इस प्रकार दस मास तक सेवन करने से एक हजार वर्ष की आयु होती है॥१८॥

भवन्ति चात्र—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हितः खदिरबीजकौ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः॥१९॥
हरिद्रायाः प्रयोगेण प्रमेहा इव षोडश।
क्षाराग्नी नातिवर्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः॥२०॥

इसमें श्लोक भी हैं—जिस प्रकार सब कुष्ठों को खैर और त्रिजयसार नष्ट करते हैं, उसी प्रकार सब अर्शों को भिलावे और कुटज नष्ट करते हैं। हल्दी के प्रयोग से जिस प्रकार सोलह प्रहमे नष्ट होते हैं, उसी प्रकार दृश्य गुदांकुर क्षार और अग्नि से नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—वात कफजन्य अर्शों में भिलावा, रक्त-पित्तजन्य अर्शों में कुटज बरतना चाहिये॥१९,२०॥

घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः।
आसवाश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम्॥२१॥

दोष की प्रधानता को देखकर पिप्पल्यादि या षट्पल घृत आदि दीपनीय घृत, कुटजादि अवलेह, नवायस आदि अयस्कृतियाँ, सुरा, आसव बरतने चाहिये॥२१॥

वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कुटुकासनम्।
यथास्वं दोषलं चान्नमर्शःसु परिवर्जयेत्॥२२॥

मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना, स्त्री पवन, घोड़े आदि की सवारी, ऊकड़ूँ बैठना, दोषों के अपने अनुसार दोष को बढ़ानेवाला अन्न, अर्श रोग में त्याज्य है॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अश्मरी चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः ।
औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥३॥
तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते ।
तेनास्यापचयं यान्ति व्याधेर्मूलान्यशेषतः ॥४॥

अश्मरी रोग भयानक है, यह रोग मृत्यु के समान (मारक) है। नूतन उत्पन्न रोग औषधियों से साध्य है, परन्तु बढ़ने पर शस्त्र कर्म से काटकर निकाली जाती है। अश्मरी रोग के पूर्वरूपों में स्नेहन आदि चिकित्सा करे। इस चिकित्सा से इस अश्मरी रोग के कारण सम्पूर्णरूप में नष्ट हो जाते हैं।

वक्तव्य—अश्मरी में प्रथम एक न्युक्कीयस (केन्द्र) शरीर के दोष से बनता है, यह न्युक्कीयस कफ रूप होता है। बस इस केन्द्र के चारों ओर दोष एकत्रित होकर इसको बढ़ाते जाते हैं। स्नेहादि क्रम से ये दोष नष्ट होने से केन्द्र भी नष्ट हो जाता है। नूतन आरम्भ हुए रोग में ही यह चिकित्सा लाभ करती है। इसी से निदान में कहा है—

"प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीं जनयति ॥" सुश्रुत० नि० अ० ३।४ ॥३,४॥

पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तजो तथा ।
शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका ॥५॥
कपोतवङ्काऽऽर्त्तगलः कच्चकोशीरकुब्जकाः ।
वृक्षादनी भल्लुकश्च वरुणा शाकजं फलम् ॥६॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च ।
ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथैर्धृतं घृतम् ॥७॥
भिनत्ति वातसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ।

पाषाणभेद, बकपुष्प, अपामार्ग, सिरहटा, शतावरी, गोखरु, बड़ी कटेरी, कपोतवंका (ब्राह्मी या सुवर्चला), आर्त्तगल (सहचर या झिंटी), कच्चक, खस, कुब्जक (गुब्बा), बन्दा, श्योनाक, वरुणा, सागौन के फल, जौ, कुलत्थी, बेर, निर्मली, इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप देकर घृत सिद्ध करे। यह घृत वातजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है ॥५-७॥

क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥८॥
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् वातनाशने ।

इस वातनाशक गण में पेय क्षारों को, यवागू को, कषाय, दूध और भोजन बनाये ॥८॥

कुशः काशः सरो गुन्द्रा इत्कटो मोरटोऽश्मभित् ॥९॥
वरी विदारी वाराही शालिमूलत्रिकण्टकम् ।
भल्लूकः पाटलाः पाठा पत्तूरोऽथ कुरुण्टिका ॥१०॥
पुनर्नवा शिरीषश्च क्वथितास्तेषु साधितम् ।
घृतं शिलाजमधुकबीजैरिन्दीवरस्य च ॥११॥
त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम् ।
भिनत्ति पित्तसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥१२॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् पित्तनाशने ॥१३॥

कुश, काश, सरकण्डा, गुन्द्रा (एरक), इत्कट, मोरट (इक्षुमूल), पाषाण भेद, शतावरी, विदारी, वाराहीकन्द, शालीमूल, गोखरू, श्योनाक, पाटला, पाठा, मछेछी, झिण्टी, पुनर्नवा, शिरीष—इनके क्वाथ में शिलाजतु, मुलैहठी, कमलगट्टा, खीरा-ककड़ी-कूष्माण्ड आदि के बीजों के कल्क से सिद्ध किया घृत पित्तजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट कर देता है। इस पित्तनाशक वर्ग में पेय क्षारों को, यवागू, यूष, कषाय, दूध और भोजनों को बनाये ॥९-१३॥

गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेलाहरेणवः ।
कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैःससुराह्वयैः ॥१४॥
एतैः सिद्धमजासर्पिरूषकादिगणेन च ।
भिनत्ति कफसंभूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥१५॥
क्षारान् यवागूयूषांश्च कषायाणि पयांसि च ।
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् कफनाशने ॥१६॥

वरुणादि गण, गुग्गुलु, इलायची, हरेणु, कूठ, भद्रदार्व्यादिगण, मरिच, चित्रक, देवदारु, इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का कल्क देकर सिद्ध किया बकरी का घृत कफजन्य अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है। इस कफ नाशक वर्ग में क्षार, यवागू, यूष, कषाय, दूध और भोजन सिद्ध करे ॥१४-१६॥

पिचुकाङ्कोलकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः ।
चूर्णितैः सगुडं तोयं शर्कराशमनं पिबेत् ॥१७॥

करीर, अंकोल, निर्मलीफल, सागौन, कमल के फल इनका चूर्ण करे। इस चूर्ण में चूर्ण के बराबर गुड़ मिलाकर गरम पानी से पिलाये। यह शर्करा नाशक है। गुड़ का परिमाण—

चूर्णे चूर्णसमो देयो मोदके द्विगुणो गुडः ॥१७॥

क्रौञ्चोष्ट्ररासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका ।
अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च ॥१८॥
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा ।

कौंच पक्षी, ऊंट और गधे की अस्थि की भस्म, गोखरू, मूसली, अजवायन, कदम्ब का मूल, सोंठ, इनको सुरा या गरम पानी से पीने पर शर्करा नष्ट होती है ॥१८॥

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम् ॥१९॥
अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत् ।

गोखरु के बीजों के चूर्ण को मधु के साथ, भेड़ के दूध में घोलकर सात दिन पीने से अश्मरी नष्ट होती है ॥१९॥

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालितः ॥२०॥
ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः संयुक्तः साधितः शनैः।
तत्रोषकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः ॥२१॥
एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि।

घृतों के लिये कहे वर्गों के द्रव्यों को लेकर तिल नालों से जलाकर, इनको भेड़ के मूत्र में घोलकर छान लेवे। इसमें गाय-बकरी आदि ग्राम्य पशुओं के गोबर-लीद आदि को जलाकर बनाया क्षार, मिलाकर इनको धीरे धीरे पकाये। पकाते समय इसमें ऊषकादिगण का प्रक्षेप और त्रिकटु मिला दे। यह क्षार अश्मरी को, गुल्म को, शर्करा को नष्ट करता है ॥२०,२१॥

तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः ॥२२॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः।

तिल, चिरचिट, केला, ढाक, जौ के तुष, इनका क्षार, भेड़ के मूत्र से पीना चाहिये। यह शर्करा को नष्ट करता है। (क्षार की मात्रा दो कर्ष या तीन कर्ष लेकर-दो पल मूत्र से पीये)॥

पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत ॥२३॥

पाटला और करवीर (कनेर) के क्षार को भी इसी प्रकार भेड़ के मूत्र से बरते ॥२३॥

श्वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मीकल्कं वाऽक्षसमं पिबेत्।

गोखरू, मुलैहठी और ब्राह्मी का कल्क एक कर्ष मात्रा में भेड़ के मूत्र से पीये।

सहैडकाख्यौ पेयौ वा शोभाञ्जनकमार्कवौ ॥२४॥

पनवाड़, सुहांजना और भांगरा इनको भेड़ के मूत्र से पीये॥

कपोतवंकामूलं वा पिबेदम्लैः सुरादिभिः।
तत्सिद्धं वा पिबेत् क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ॥२५॥

कपोतवंका (ब्राह्मी या सुवर्चला) का मूल, कांजी आदि अम्ल द्रवों से या सुरा आदि के साथ पीये। अथवा वेदना से पीड़ित मनुष्य कपोतवंका मूल से सिद्ध किया दूध पीये ॥२५॥

हरीतक्यादिसिद्धं वा वर्षाभूसिद्धमेव वा।

त्रिफला या पुनर्नवा से सिद्ध किया दूध पीये।

सर्वथैवोपयोज्यः स्याद् गणो वीरतरादिकः ॥२६॥

वीरतरादिगण का घी, दूध, कषाय, यवागू, भोजन आदि सब कार्यों में उपयोग करना चाहिये ॥२६॥

घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः।
यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥२७॥

घी, क्षार, कषाय, दूध, उत्तरबस्ति, से भी अश्मरी शान्त न हो तब, आगे कही विधि (शस्त्र कर्म) करे ॥२७॥

कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा।
उपक्रमो जघन्योऽयमतः संपरिकीर्तितः ॥२८॥

इस शस्त्र कर्म में कुशल वैद्य की भी सफलता अनिश्चित रहती है, इसलिये यह शस्त्र-कर्म जघन्य-हीन कहा गया है॥२८॥

अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्।
तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥२९॥

इसलिये अच्छा कार्य करनेवाले वैद्य को चाहिये कि राजा या स्वामी की आज्ञा लेकर, उसे यह समझाकर कि चिकित्सा न करने पर तो मृत्यु निश्चित ही है, और चिकित्सा करने पर जीने की सम्भावना भी हो सकती है, यह बताकर, तब शस्त्र कर्म करे ॥२९॥

अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषमीषत्कर्शितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवन्तं कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनमग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसम्भारमाश्वास्य, ततो बलवन्तमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपविष्टान्यपुरुषस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटीकं वस्त्रधारकोपविष्टं सङ्कुचितजानुकूर्परमितरेण सहावबद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा, ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वे विमृद्य मुष्टिनाऽवपीडयेदधोनाभेर्यावदश्मयधः प्रपन्नेति, ततः स्नेहाभ्यक्ते कॢप्तनखे वामहस्तप्रदेशिनीमध्यमे अङ्गुल्यौ पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेढ्रान्तरमानीय निर्वलीकमनायतमविषमं च बस्तिं सन्निवेश्य भृशमुत्पीडयेदङ्गुलिभ्यां यथा ग्रन्थिरिवोन्नतं शल्यं भवति ॥३०॥

इसके उपरान्त रोगी व्यक्ति का स्नेहन करके, वमन, विरेचन से दोषों को निकालकर, रोगी को थोड़ा कृश (लंघन) करके, स्नेहन, स्वेदन देकर, भोजन देवे। फिर बलि, मंगल पाठ, स्वस्तिवाचन आदि कर्म करके अग्रोपहरणीय अध्याय में कही विधि से सब साधन सामग्री को तैय्यार करके, रोगी को सान्त्वना देवे। फिर बलवान् एवं न घबरानेवाले रोगी को घुटनों के बराबर ऊँची चौकी पर, पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुए दूसरे पुरुष की गोदी में--नाभि से ऊपर का भाग रख देवे। रोगी के नितम्बों के नीचे कपड़े की गद्दी या ऐंडवी रखकर कटि को ऊँचा उठाकर, घुटने और कोहनियों को संकुचित करके, एक दूसरे के साथ धागे या कपड़े से बांध देवे। फिर अच्छा प्रकार स्नेह का अभ्यंग करके, नाभि प्रदेश के वाम पार्श्व में मलकर, मुट्ठी द्वारा नाभि के नीचे दबाये, जब तक पत्थरी नीचे न आ जाये। फिर स्नेह से स्निग्ध, नख कटवाये हुए, वाम हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को गुदा में प्रविष्ट करके सेवनी के साथ २ ले जाते हुए—गुदा और मेहन के बीच में लाकर कोशिश एवं बल पूर्वक, त्वचा में संकोच हुए बिना, बस्ति को आयताकार-और सीधा करके, अंगुलियों से जोर से दबाये, जिससे कि शल्य (अश्मरी) गांठ के समान ऊपर को उठ आये ॥३०॥

स चेद्गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः ।
हतवल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो मृतोपमः ॥३१॥
न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत्त म्रियेत सः ।
विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं प्रयतेत वै ॥३२॥

अश्मरी के हाथ में आने से यदि रोगी की आँखें स्तब्ध हो जाती हैं, वह मूर्च्छित हो जाता है, मरे हुए के समान गर्दन लटका देता है, चेष्टा रहित हो जाता है, मृत पुरुष की भांति दीखता है तो ऐसे मनुष्य की पत्थरी को न निकाले, क्योंकि निकालने से वह मर जाता है। जिस में उपर्युक्त लक्षण न हों, उसमें अश्मरी निकालने का प्रयत्न करे॥३१,३२॥

ततः सव्ये पार्श्वे सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वाऽवचारयेच्छस्त्रमश्मरीप्रमाणं दक्षिणतो वा क्रियासौकर्यहेतोरित्येके, यथा सा न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति, तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत; स्त्रीणां तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः, तस्मात्तासामुत्सङ्गवच्छस्त्रं पातयेत्। अतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत्, पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रक्षरणम्; अश्मरीव्रणादृते भिन्नबस्तिरेकधाऽपि न भवति, द्विधा भिन्नवस्तिराश्मरिको न सिध्यति, अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधा भिन्नबस्तिर्जीवति, क्रियाभ्यासाच्छास्त्रविहितच्छेदान्निःस्यन्दपरिवृद्धित्वाच्च शल्यस्येति। उद्धृतशल्यं तूष्णोदकद्रोण्यामवगाह्य स्वेदयेत्, तथा हि वस्तिरसृजा न पूर्यते; पूर्णे वा क्षीरवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात्॥

फिर वाम पार्श्व में सेवनी से जौ भर बचाकर, अश्मरी के प्रमाण से शस्त्र चलाये। कई आचार्यों का कहना है कि कर्म की सुगमता के लिये दक्षिण पार्श्व में शस्त्र कर्म करें। पत्थरी टूटे नहीं, चूरा न बने, ऐसा यत्न करे, क्योंकि थोड़ा सा भी चूरा फिर पत्थरी को बढ़ा देता है। इसलिये सम्पूर्ण पत्थरी को अग्रवक्त्र शस्त्र से निकाल ले। स्त्रियों में वस्ति के पार्श्व में ही गर्भाशय रहता है। इसलिये इनमें ऊपर की ओर धारवाले शस्त्र न चलाये। नहीं तो इनमें मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। अथवा पुरुष में भी मूत्रमार्ग में आघात होने पर मूत्रक्षरण होता है। अश्मरी व्रण के बिना भिन्न वस्ति फिर नहीं जुड़ती। अश्मरी कर्म में भी दो स्थान से (ऊपर और नीचे दोनों ओर) विदीर्ण हुई वस्ति नहीं जुड़ती। अश्मरी व्रण के कारण एक तरफ से विदीर्ण वस्ति जुड़ जाती है, इसलिये रोगी जीता है। क्योंकि—उष्णोदक, क्षीरीवृक्ष कषाय आदि उपचार के निरन्तर सेवन करने से, शास्त्र के अनुसार छेदन करने के कारण, तथा निःस्यन्द (मूत्र) को बढानेवाले यवागू गुड़ आदि के खाने से रोगी जीता है। शल्य निकालकर गरम पानी के टब में बैठाकर स्वेद देवे। इस प्रकार करने से वस्ति में रक्त नहीं भरता। यदि रक्त भर जाये तो पुष्प नेत्र से बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के कषाय से धो देवे।

वक्तव्य – पुरुषों में शस्त्र कर्म मण्डलाग्र (स्केल्पर) से करे, स्त्रियों में वृद्धिपत्र (विस्ट्री) से करे, ऐसा ग्रन्थ का अभिप्राय दीखता है। 'निःस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च' गयी ने इतना ही पाठ माना है, हमको भी इतना ही ठीक लगा है, इसलिये 'शल्यस्य' यह पाठ छोड़ दिया है॥३३॥

भवति चात्र—
क्षीरिवृक्षकषायस्तु पुष्पनेत्रेण योजितः ।
निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं बस्तिगतं च यत् ॥३४॥

इसमें श्लोक भी है—पुष्पनेत्र से प्रयुक्त किया बरगद आदि क्षीरिवृक्षों का कषाय शीघ्र ही वस्तिगत अश्मरी को और रक्त को निकाल देता है॥३४॥

मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुड़सौहित्यं वितरेत्; उद्धृत्य चैनं मधुघृताभ्यक्तव्रणं मूत्रविशोधनद्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेतोभयकालं त्रिरात्रं, त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेद्दशरात्रं (मूत्रासृग्विशुद्ध्यर्थं व्रणक्लेदनार्थं च), दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जाङ्गलरसैरुपाचरेत्, ततो दशरात्रं चैनमप्रमत्तः स्वेदयेत् स्नेहेन द्रवस्वेदेन वा, क्षीरवृक्षकषायेण चास्य व्रणं प्रक्षालयेत्, रोध्रमधुकमञ्जिष्ठाप्रपौण्डरीककल्कैर्व्रणं प्रतिमाहयेत्, एतेष्वेव हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यञ्जनमिति, स्यानशोणितं चोत्तरवस्तिभिरुपाचरेत्, सप्तरात्राच्च स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन विधिना दहेदग्निना, स्वमार्गप्रतिपन्ने चोत्तरबस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेन्मधुरकषायैरिति, यदृच्छया वा मूत्रमार्गं प्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसाऽपहरेत्, एवं चाशक्ये विदार्य नाडीं शस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत्। रूढव्रणश्चाङ्गनाश्वनगनागरथद्रुमान् नारोहेत वर्षं, नाप्सु प्लवेत, भुञ्जीत वा गुरु॥३५॥

मूत्रमार्ग के शोधन के लिये इस रोगी को पेटभर गुड़ खिलाये। गरम पानी के टब में से इस रोगी को निकालकर, व्रण पर मधु और घी का लेप करे, और पंचतृणमूल, गोखरू, कूष्माण्ड, पाषाण भेद आदि मूत्र शोधन द्रव्यों से सिद्ध की, घृत मिश्रित गरम यवागू को तीन दिन तक प्रातः और सायं दोनों समय देवे। तीन दिन के पीछे दस दिन तक, प्रचुर गुड़वाले दूध के साथ गला हुआ कोमल भात थोड़ा सा देवे (जिससे मूत्र और रक्त का शोधन हो और व्रण में आर्द्रता आये)। दस दिन पीछे दाडिम आदि खट्टे फल और जांगल मांस रस खाने को देवे, फिर दस दिन तक बिना

आलस्य किये इस रोगी को द्रव, स्वेद या स्नेह से स्वेद देवें। व्रण को बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर आदि क्षीरिवृक्षों के कषाय से धोये। लोध, मजीठ, कमल, इनके कल्क को व्रण पर लेप करे। इन्हीं में हल्दी मिलाकर इनसे तैल या घृत सिद्ध करके व्रण पर अभ्यंग करे। रक्त जम गया हो तो उत्तर वस्ति देवे। सात दिन के पीछे मूत्र जब अपने स्वाभाविक मार्ग पर न आने लगे, तब व्रण को कही हुई विधि से अग्नि जलाये। मूत्र के अपने मार्ग से आने पर, मधुर एवं कषायगण के द्रव्यों से आस्थापन, अनुवासन और उत्तर बस्ति देवे। जो शुक्राश्मरी, शर्करा स्वयं अपने आप ही मूत्र मार्ग में आकर फंस जाये, उसे मूत्र स्रोत में से निकाल दें। यदि इस तरह से यह फंसी अश्मरी या शर्करा बाहर न आये तो नाड़ी को चीरकर शस्त्र से या बड़िश से निकाले। व्रण के भर जाने पर भी स्त्री सेवन, घोड़ा, हाथी, पहाड़, रथ, वृक्ष पर एक साल तक न चढ़े। पानी में न तैरे, भारी भोजन न करे। (डल्हण ने गुडसौहित्य का 'गुडेन वासितं भक्तम्'—यह अर्थ किया है-गुड से बने भक्ष्य देवे) ॥३५॥

मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदबस्तीनष्टौ परिहरेत्। तत्रमूत्रवहच्छेदान्मरणं मूत्रपूर्णबस्तेः, शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा, मुष्कस्रोतउपघाताद् ध्वजभङ्गः मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रप्रक्षरणं, सेवनियोनिच्छेदाद्रुजः प्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥

शस्त्र कर्म में—मूत्रवहस्रोत, शुक्रवहस्रोत, मुष्क, मूत्रप्रसेक, सेवनि, योनि, गुदा और वस्ति इन आठ अंगों को बचाये। इनमें मूत्रवह स्रोतों के कटने से मृत्यु और बस्ति मूत्र से भर जाती है। शुक्रवहस्रोतों के कटने से मृत्यु या नपुंसकता होती है। मुष्कस्रोत में हानि पहुँचने से ध्वजभंग होता है। मूत्रप्रसेक में आघात होने से मूत्र निकलता है, सेवनि और योनि के कटने से वेदना उत्पन्न होती है। वस्ति और गुदा के विद्ध होने के लक्षण पहले कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—कभी २ वृक्क में अश्मरी उत्पन्न होकर मूत्रवह स्रोतों में फंस जाती है। यथासम्भव उन स्रोतों पर शस्त्र कर्म न करे। केवल इसी अध्यांय में लिखित श्लो० ४ से २७ पर्यन्त में उपदिष्ट उपचार करे। जहाँ तक सम्भव हो शुक्रवह स्रोत आदि पर भी शस्त्र कर्म न करे—अन्य चिकित्सा विधानों से रोग शान्ति का प्रयत्न करे। यद्यपि आवश्यकतानुसार इन सब पर शस्त्र कर्म का उपदेश किया गया है तथापि बहुत सम्भल कर शस्त्रकर्म करे। बस, यही इस सूत्र का तात्पर्य है ॥३६॥

भवतश्चात्र—

मर्माण्यष्टावसंबुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम्।
व्यापादयेद्बहून्मर्त्यान् शस्त्रकर्माऽपटुर्भिषक् ॥३७॥

इसमें श्लोक भी हैं—शस्त्र कर्म में अनिपुण वैद्य मनुष्यों के स्रोतजन्य आठ मर्मों को न जानकर बहुत से मनुष्यों को मार देता है।

वि० मन्तव्य—इसका तात्पर्य भी यही है कि—उक्त मर्म स्थलों पर शस्त्र कर्म करनेवाला अनिपुण-अकुशल वैद्य बहुतोंको मार डालता है, परन्तु कुशल वैद्य इन सब पर शस्त्र कर्म करके बहुतों को आरोग्य एवं जीवन भी देता है ॥३७॥

सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम्।
मूत्रासेकं मूत्रवहं योनिर्बस्तिस्तथाऽष्टमः ॥३८॥

सेवनी, शुक्रवहा, मुष्क, गुदा, मूत्रप्रसेक, मूत्रवह स्रोत, योनि और वस्ति, ये आठ मर्म हैं।

वि० मन्तव्य—इन आठों अवयवों का परिचय-शारीरस्थान आदि में देखकर प्राप्त कीजिये ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽश्मरीचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे भगन्दरों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वतरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—भगन्दर का विवरण नि० स्था० अ० ४ में देखिये ॥१, २॥

पञ्च भगन्दरा व्याख्याताः, तेष्वसाध्यः शम्बूकावर्तः शल्यनिमित्तश्च; शेषाः कृच्छ्रसाध्याः ॥३॥

भगन्दर पांच प्रकार से कहे हैं। इनमें शम्बूकावर्त्त असाध्य है, तथा शल्यजन्य भगन्दर भी असाध्य है। शेष भगन्दर कष्ट साध्य हैं ॥३॥

तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडकं पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यन्त्रयित्वा, भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमर्वाचीनं वा ततः प्रणिधायेषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण; अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्; आसाद्य वाऽग्निं क्षारं चेति; एतत् सामान्यं सर्वेषु ॥४॥

इनमें अपक्व पिडकावाले भगन्दर के रोगी की अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त कहे हुए ग्यारह उपक्रमों से चिकित्सा करे। पिड़का के पक जाने पर-स्नेहन करके, टब में बिठाकर स्वेदन देकर, शय्या पर बिठाकर, अर्श की भांति यन्त्रित करके, भगन्दर को अन्तर्मुख है या बहिर्मुख पहचान करे, एषणी को

अन्दर डालकर, इस ऐषणी को ऊँचा उठाकर, आशय समेत शस्त्र से काट देवे। इसी प्रकार अन्तर्मुख में यंत्र को भली प्रकार गुद में प्रविष्ट करके प्रवाहण करते हुए रोगी के, भगन्दर मुख को देखकर ऐषणी डालकर शस्त्र चलाये। अथवा भगन्दर को देखकर अग्नि या क्षार कर्म करे, यह चिकित्सा सब भगन्दरों में सामान्य है।

वि० मन्तव्य—प्रारम्भ में भगन्दर की पिड़का जब तक पक कर फूटती नहीं तब तक अपतर्पण से विरेचन पर्यन्त उपक्रमों (देखिये चि० अ० १ का सू० ८) से बैठ जाती है। परन्तु जब पककर फूट जाती है। तब इस विधि से चिकित्सा करे। विधि भेद से भगन्दर दो प्रकार के होते हैं—१-पराचीन अर्थात् अन्तर्मुख इनका मुख भीतर—गुद के भीतर होता है। २—अर्वाचीन अर्थात् बहिर्मुख इनका मुख गुदौष्ठ से बाहर होता है। शासय—भगन्दर का व्रण जितने स्थान में हो उतने स्थान को काटकर निकाल देना चाहिये ॥४॥

विशेषतस्तु—
नाड्यन्तरे व्रणान् कुर्याद्भिषक् तु शतपोनके।
ततस्तेषूपरूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत् ॥५॥

विशेष चिकित्सा—शतपोनक भगन्दर में—वैद्य नाड़ीव्रणों के बीच में व्रणों को करे। इन व्रणों के भर जाने पर शेष नाड़ीव्रणों की चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—शतपोनक में अनेक नाड़ीव्रण—नासूर होते हैं, अतः एक-एक नाड़ी व्रण में शस्त्र क्रिया करके रोपण कर्म करे अर्थात् एक का रोपण हो जाने पर दूसरे नाड़ी व्रण में शस्त्र कर्म करे इसी प्रकार तीसरे चोथे आदि में। सब व्रणों को एक साथ काटना उचित नहीं है। इसे समझने के लिए निम्न श्लोक ६–८ देखिये ॥५॥

गतयोऽन्योन्यसंबद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा।
नाडीरनभिसंबद्धा यश्छिनत्त्येकधतर भिषक् ॥६॥
स कुर्याद्विवृतं जन्तोर्व्रणं गुदविदारणम्।
तस्य तद्विवृतं मार्गं विण्मूत्रमनुगच्छति ॥७॥
आटोपं गुदशूलं च करोति पवनो भृशम्।
तत्राधिगततन्त्रोऽपि भिषङ्मुह्येदसंशयम् ॥८॥
तस्मान्न विवृतः कार्यो व्रणस्तु शतपोनके।

एक दूसरे से मिली हुई नाड़ियों को अनेक रूप में बाहर काटे। जो नाड़ियाँ परस्पर एक दूसरे से नहीं मिलीं उनको एक ही साथ काट देता है, वह वैद्य मनुष्य के व्रण को चौड़ा बना देता है, और गुदा को विदीर्ण कर देता है। इस चौड़े हुए मार्ग से मल-मूत्र आता है। आटोप, गुदा शूल को वायु उत्पन्न करती है। इसमें भली प्रकार शास्त्र अभ्यास किया वैद्य भी निःसन्देह चूक जाता है, इसलिये शतपोनक में व्रण को कभी चौड़ा न करे ॥६–८॥

व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा वै विजानता ॥९॥
अर्धलाङ्गलकश्छेदः कार्यो लाङ्गलकोऽपि वा।
सर्वतोभद्रको वाऽपि कार्यो गोतीर्थकोऽपि वा ॥१०॥
(द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलको मतः।
ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलाङ्गलकः स्मृतः॥
सेवनी वर्जयित्वा च चतुर्धा दारिते गुदे।
सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः।
पार्श्वागतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत् ॥)
सर्वतः स्रावमार्गांस्तु दहेद्वह्निस्तथाऽग्निना।
सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः ॥११॥

इसलिये, इस बहुत छिद्रवाले भगन्दर में जाननेवाला वैद्य अर्धलांगलक छेदन या लांगलक छेदन, या सर्वतोभद्रक अथवा गोतीर्थक करे। वैद्य सब मार्गों को पूर्णतः अग्नि से जलाये। नाजुक प्रकृति एवं डरपोक में शतपोनक कष्ट साध्य है।

वक्तव्य—"द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लांगलको मतः। ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलांगलकः स्मृतः ॥ सेवनीं वर्जयित्वा तु चतुर्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रकं छेदमाहुश्छेदविदो जनाः ॥ पार्श्वे गतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत् ॥"

लाँगल—हल, अर्धलांगलक—आधा हल, सर्वतो भद्र-आसनविशेष (गोलाई लिये), गोतीर्थ—गाय का मत्र जैसे टेढ़ा-मेढ़ा पड़ता है, अथवा गाय की योनि के समान।

वि० मन्तव्य—केवल अर्धलाङ्गलक आदि आकार प्रकार के व्रण करना चाहिये। अथवा अग्निकर्म द्वारा ही स्राव-मार्गों-नासूरों का अवरोध कर देना चाहिये ॥९-११॥

रुजास्रावापहं तत्र स्वेदमाशु प्रयोजयेत्।
स्वेदद्रव्यैर्यथोद्दिष्टैः कृशरापायसादिभिः ॥१२॥
ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैर्लावाद्यैर्वाऽपि विष्किरैः।
वृक्षादनीमथैरण्डं बिल्वादिं च गणं तथा ॥१३॥
कषायं सुकृतं कृत्वा स्नेहकुम्भे निषेचयेत्।
नाडीस्वेदेन तेनास्य तं व्रणं स्वेदयेद्भिषक् ॥१४॥
तिलैरण्डातसीमाषयवगोधूमसर्षपान्।
लवणान्यम्लवर्गं च स्थाल्यामेवोपसाधयेत् ॥१५॥
आतुरं स्वेदयेत्तेन तथा सिध्यति कुर्वतः।
स्विन्नं च पाययेदेनं कुष्ठं च लवणानि च ॥१६॥
वचाहिङ्ग्वजमोदं च समभागानि सर्पिषा।
माद्वींकेनाथवाऽम्लेन सुरासौवीरकेण वा ॥१७॥
ततो मधुकतैलेन तस्य सिञ्चेद्भिषग्व्रणम्।
परिषिञ्चेद् गुदं चास्य तैलैर्वातरुजापहैः ॥१८॥
विधिनाऽनेन विण्मूत्रं स्वमार्गमधिगच्छति।
अन्ये चोपद्रवास्तीव्राः सिध्यन्त्यत्र न संशयः ॥१९॥

रुजा-वेदना और स्राव को कम करनेवाला स्वेद

शीघ्र देवे। इसके लिये कहे हुए स्वेद द्रव्यों से, कृशरा (तिल-तण्डुल, उड़द की खिचड़ी) खीर आदि से स्वेद देवे। ग्राम्य मांस, आनूप मांस, औदक मांस, बटेर आदि विष्किरों के मांस, बन्दाक, एरण्ड और बिल्वादि गण इनका भली प्रकार कषाय बनाकर तैल के घड़े में भर देवे। इस कषाय से नाड़ी स्वेद द्वारा वैद्य व्रण में स्वेद दे। तिल, एरण्ड, अलसी, उड़द, जौ, गेहूँ, सरसों, पाँचों लवण, अम्लवर्ग इनको थाली (चौड़े पात्र) में क्वाथ करे। इससे रोगी को स्वेद देवे। इस प्रकार करने से भगन्दर अच्छा होता है। स्वेदन के उपरान्त रोगी को कूठ, पाँचों नमक, वच, हींग, अजवायन इनको समान मात्रा में लेकर घी से, द्राक्षा से, दाडिम या बिजौरे के रस से, सुरा से या कांजी से पिलाये। इसके व्रण पर मुलैहठी के तेल से परिषेक करे। वात वेदना को नष्ट करनेवाले तेलों से गुदा पर भी परिषेक करे। इस प्रकार करने से मल मूत्र अपने अपने मार्ग में आने लगते हैं। और दूसरे भी जो उपद्रव होते हैं, वे (निःसन्देह) शान्त हो जाते हैं। शतपोनक भगन्दर को कह दिया।

वि० मन्तव्य—छेदन कर्म अथवा अग्निकर्म से उत्पन्न वेदना आदि की शान्ति के लिये तत्काल इस विधि से स्वेदन की व्यवस्था कर देनी चाहिये ॥१२-१६॥

शतपोनक आख्यात उष्ट्रग्रीवे क्रियां शृणु।
अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत् ॥२०॥
पूतमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः।
अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः पिष्टैः प्रलेपयेत् ॥२१॥
बन्धं ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं तु सर्पिषा।
तृतीये दिवसे मुक्त्वा यथास्वं शोधयेद् भिषक् ॥२२॥
ततः शुद्धं विदित्वा च रोपयेत्तु यथाक्रमम्।

उष्ट्रग्रीव की चिकित्सा को सुनो। उष्ट्रग्रीव को ढूँढ़कर, काटकर, इसमें क्षार लगाये। सड़े हुए मांस को निकालने के लिये क्षार कर्म करे। इसमें अग्नि का दाह उत्तम नहीं। फिर पिसे हुए तिलों को घी में मिलाकर लेप करे। फिर पट्टी बाँध देवे, घी से परिषेक करे। तीसरे दिन खोलकर वैद्य दोषानुसार करे। शोधन हुआ जानकर विधि के अनुसार रोपण करे।

वक्तव्य—उष्ट्रग्रीव भगन्दर—टेढ़ा-मेढ़ा होता है, इसमें क्षार तो द्रव होने से सब स्थानों पर पहुँच जायेगा, परन्तु अग्नि सब स्थान पर नहीं पहुँचाई जा सकती।

वि० मन्तव्य—उष्ट्रग्रीव भगन्दर पित्तज होता है, अतः अग्निकर्म को पूजित नहीं माना है ॥२०-२२॥

उत्कृत्यास्रावमार्गांस्तु परिस्राविणि बुद्धिमान् ॥२३॥
क्षारेण वा स्रावगतिं दहेद्धुतवहेन वा।
सुखोष्णेनाणुतैलेन सेचयेद् गुदमण्डलम् ॥२४॥
उपनाहाः प्रदेहाश्च मूत्रक्षारसमन्विताः।
वामनीयौषधैः कार्याः परिषेकाश्च मात्रया ॥२५॥
मृदुभूतं विदित्वैनमल्पस्रावरुगन्वितम्।
गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात् खर्जूरपत्रकम् ॥२६॥
चन्द्रार्धं चन्द्रवक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम्।
छित्त्वाऽग्निना दहेत् सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः ॥२७॥
ततः संशोधनैरेव मृदुतूर्यैर्विशोधयेत्।

परिस्रावि भगन्दर में बुद्धिमान् सब स्राव मार्गों को शस्त्र से काटकर स्राव के रास्ते को क्षार से या अग्नि से जलाये। सुहाते गरम अणुतेल से गुदा के चारों ओर से सेक करे। गोमूत्र और क्षार युक्त प्रलेप और उपनाह बाँधे। मदन फल आदि वामक औषधियों से थोड़ा परिषेक करे। जब यह कोमल हो जाये, स्राव और पीड़ा कम हो जाये, तब गति रास्ते को ढूँढ़कर शस्त्र से खर्जूर के पत्र के समान, अर्धचन्द्राकार, पूर्ण चन्द्रमा के समान, सूचीमुख, नीचे को मुख किये रूप में काटे। फिर क्षार से या अग्नि से भली प्रकार जलाये। फिर पहले मृदु शोधन देकर पीछे से तीक्ष्ण संशोधन (विरेचन) दे।

वि० मन्तव्य—खर्जूरपत्रक-खर्जूर के पत्र का सा, चन्द्रार्ध-अर्धचन्द्राकार, चन्द्रवक्र-द्वितीया के समान टेढ़ा, सूचीमुख-सूई के समान सूक्ष्म मुखवाला, व्रण करे। अवाङ्मुख-अर्वाचीन मुखवाले भगन्दर में क्षारकर्म अथवा अग्निकर्म करे ॥२३-२७॥

बहिरन्तर्मुखश्चापि शिशोर्यस्य भगन्दरः ॥२८॥
तस्याहितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचारणम्।
यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्यावचारयेत् ॥२९॥

जिस बच्चे में भगन्दर बहिर्मुख या अन्तर्मुख हो, उसमें विरेचन, अग्निकर्म, शस्त्रकर्म, अहितकारी है। इसमें न तो तीक्ष्ण और न बहुत मृदु उपचार करे ॥२९॥

आरग्वधनिशाकालाचूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
अग्रवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम् ॥३०॥
योगोऽयं नाशयत्याशु गतिं मेघमिवानिलः।

अमलतास, हल्दी, काला (कटुतुम्बी या झिंटी) इनके चूर्ण को प्रचुर घी और मधु में मिलाकर, सूत की बनी वर्त्ती पर लगाकर व्रण में रक्खे, यह व्रणों का शोधन करती है। जिस प्रकार वायु बादलों की गति को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार यह वर्त्ति व्रणों को नष्ट करती है ॥३०॥

आगन्तुजे भिषङ्नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः ॥३१॥
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया।
दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः ॥३२॥
कृमिघ्नं च विधिं कुर्याच्छल्यानयनमेव च।

आगन्तुज भगन्दर में वैद्य शस्त्र से नाड़ी को यत्नपूर्वक काटकर, अग्नि में लाल किये जम्बौष्ठ शस्त्र से या गरम की

हुई शलाका से बुद्धिमान् वैद्य सावधानी के साथ जलाये। शल्य होने पर कृमिनाशक एवं शल्य निकालने का उपचार करे ॥३१,३२॥

प्रत्याख्यायैष चारभ्यो वर्ज्यश्चापि त्रिदोषजः ॥३३॥

यह आगन्तुज भगन्दर असाध्य कहकर चिकित्सा आरम्भ करे, त्रिदोषजन्य असाध्य है ॥३३॥

एतत् कर्म समाख्यातं सर्वेषामनुपूर्वशः।
एषां तु शस्त्रपतनाद्वेदना यत्र जायते ॥३४॥
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते।
वातघ्नौषधसंपूर्णां स्थालींछिद्रशराविकाम् ॥३५॥
स्नेहाभ्यक्तगुदस्तप्तामध्यासीत सबाष्पिकाम्।
नाड्या वाऽस्याहरेत् स्वेदं शयानस्य रुजापहम्।
उष्णोदकेऽवगाह्यो वा तथा शाम्यति वेदना ॥३६॥

सबके लिये क्रमशः यह चिकित्सा कह दी है। इनमें शस्त्र कर्म के कारण जहाँ वेदना उत्पन्न हो जायें, वहाँ, अणु तैल को गरम करके उससे परिषेक करे। भद्रदारु, एरण्ड आदि वातनाशक औषधियों के क्वाथ से पात्र को भरे। इसके ऊपर छिद्रोंवाला ढक्कन रख दे। गुदा पर स्नेह लगाकर गरम होते हुए पात्र पर बैठे, और वाष्प स्वेद लेवे। अथवा लेटकर नाड़ी से स्वेद ले। इससे वेदना नष्ट होती है। अथवा गरम पानी में अवगाहन करे, इससे वेदना शान्त होती है ॥३६॥

कदलीमृगलोपाकप्रियकाजिनसंभृतान्।
कारयेदुपनाहांश्च साल्वणादीन् विचक्षणः ॥३७॥

कदलीमृग, लोमड़ी, प्रियक, इनके चर्मों से मिलाकर उपनाह करे। साल्वण आदि उपनाह बाँधे ॥३७॥

कटुत्रिकं वचाहिङ्गुलवणान्यथ दीप्यकम्।
पाययेच्चाम्लकौलत्थसुरासौवीरकादिभिः ॥३८॥

त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), वच, हींग, लवण और अजवायन इनको कांजी, कुलत्थी की सुरा, सौवीरक (सतुष धान्यों की कांजी) के साथ पिलाये ॥३८॥

ज्योतिष्मतीलाङ्गलकीश्यामादन्तीत्रिवृत्तिलाः।
कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका ॥३९॥
कासीसकाञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते।

मालकंगनी, कलिहारी, निशोथ, काली निशोथ, तिल, कूठ, सौंफ, गोलोमी (श्वेत दूर्वा), तिल्वक, श्वेत अपराजिता, कासीस, स्वर्णक्षीरी ये द्रव्य भगन्दर में शोधन कार्य में उत्तम हैं ॥३९॥

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मंजिष्ठा पयसा सह ॥४०॥
उत्सादनं भवेदेतत्त सैन्धवक्षौद्रसंयुतम्।

निशोथ, तिल, नागदन्ती, मजीठ, विदारी, इनमें सैन्धव और मधु मिलाकर उत्सादन करे।

वि० मन्तव्य—उत्सादन—उपक्रम करे (देखिये चि० स्था० अ० १ का सू० ८) उत्सादनं निम्नव्रणवास्तुनः (गहरे व्रणस्थान का) पूरणं (भरनेवाला) लेपनयोगेन (लेपन रूप में प्रयोग करने से) इति डल्हनटीका ॥४०॥

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठानिम्बपल्लवाः ॥४१॥
त्रिवृत्तेजोवतीदन्तीकल्को नाडीव्रणापहः।
कुष्ठं त्रिवृत्तिला दन्ती मागध्यः सैन्धवं मधु ॥४२॥
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद् व्रणशोधनम्।

रसौत, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, नीम के पत्ते, निशोथ, तेजबल, जमालगोटा, इनका कल्क नाड़ीव्रण नाशक है। कूठ, निशोथ, तिल, जमालगोटा, पिप्पली, सैन्धव, मधु, हल्दी, त्रिफला, नीला तुत्थ ये व्रण के शोधन करने में हितकारी हैं।

वि० मन्तव्य—यह दोनों योग-कल्क नामक उपक्रम है देखिये चि० अ० १ का सू० ८। इनका कल्क बनाकर आवश्यकतानुसार भगन्दर के व्रण पर लगाया या भरा जाता है, इससे व्रण का शोधन हो जाता है ॥४१,४२॥

मागध्यो मधुकं रोध्रं कुष्ठमेला हरेणवः ॥४३॥
समङ्गा धातकी चैव सारिवा रजनीद्वयम्।
प्रियंगवः सर्जरसः पद्मकं पद्मकेसरम् ॥४४॥
सुधा वचा लांगलकी मधूच्छिष्टं ससैन्धवम्।
एतत् संभृत्य संभारं तैलं धीरो विपाचयेत् ॥४५॥
एतद्धि गण्डमालासु मण्डलेष्वथ मेहिषु।
रोपणार्थं हितं तैलं भगन्दरविनाशनम् ॥४६॥

पिप्पली, मुलैहठी, लोध, कूठ, इलायची, हरेणु, मजीठ, धातकी फूल, सारिवा, हल्दी, दारुहल्दी, प्रियंगु, राल, पद्माख, कमलकेशर, स्नुही-बच, कलिहारी, मोम सैन्धव, इन सबको लाकर इनसे तैल सिद्ध करे। यह तैल गण्डमाला में, मेहरोगियों की पिडकाओं में, मण्डलों में, रोपण के लिये तथा भगन्दर के नाश के लिये उत्तम है ॥४३–४६॥

न्यग्रोधादिगणश्चैव हितः शोधनरोपणे।
तैलं घृतं वा तत्पक्वं भगन्दरविनाशनम् ॥४७॥

शोधन और रोपण में न्यग्रोधादि गण को बरते। अथवा इसमें सिद्ध किया तैल या घृत भगन्दर के नाश के लिये उत्तम है ॥४७॥

त्रिवृद्दन्तीहरिद्रार्कमूलं लोहाश्वमारकौ।
विडंगसारं त्रिफला स्नुह्यर्कपयसी मधु ॥४८॥
मधूच्छिष्टसमायुक्तैस्तैलमेतैर्विपाचयेत्।
भगन्दरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः ॥४९॥

निशोथ, जमालगोटा, हल्दी, आक की जड़, अगरू, कनेर, वायविडंग, त्रिफला, थोर का दूध, मधु, और मोम इनके साथ तैल पकाये। इस तैल को मुख्यतः भगन्दर के नाश के लिए बरतना चाहिये ॥४८,४९॥

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलपूं हयमारकम्।

सुधां वचां लाङ्गलकीं सप्तपर्णं सुवर्चिकाम् ॥५०॥
ज्योतिष्मतीं च सम्भृत्य तैलं धीरो विपाचयेत् ।
एतद्धि स्यन्दनं तैलं भृशं दद्याद् भगन्दरे ॥५१॥
शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा ।
द्विव्रणीयमवेक्षेत व्रणावस्थासु बुद्धिमान् ॥५२॥

चित्रक, आक, निशोथ, पाठा, कठगूलर, कनेर, थोर, वच, कलिहारी, सप्तपर्ण, हुलहुल, मालकंगनी, इन सब से तैल सिद्ध करे। इस तैल का नाम स्यन्दन (दोषों को बहानेवाला) तैल है, भगन्दर में इनको खास कर बरते। यह तैल शोधन, तथा सवर्ण करने में उत्तम है। व्रण की अवस्थाओं में द्विव्रणीयोक्त विधान से चिकित्सा करे ॥५०-५२॥

छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयन्त्रस्य यन्त्रवित् ।
ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्धेन्दुसन्निभम् ॥५३॥

यंत्र को जाननेवाला, अर्शयंत्र के छिद्र से ऊपर ओठ को निकालकर, भगन्दर में अर्धचन्द्रमाकार के इस यंत्र को बरते।

व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च ।
संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः ॥५४॥

व्यायाम, मैथुन, क्रोध, सवारी, भारी भोजन, इनको व्रण के भरने के एक साल पीछे तक सेबन न करे—इनसे बचे ।५४।

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भगन्दरचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कुष्ठ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१, २॥

विरुद्धाध्यशनासात्म्यवेगविघातैः स्नेहादीनां चायथारम्भैः पापक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति ।

विरुद्ध भोजन, अध्यशन, असात्म्य भोजन, मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, स्नेहनादि कार्यों के ठीक प्रकार न करने से, पापाचरण एवं पुरातन किये कर्मों के कारण त्वग् रोग होते हैं।

वि० मन्तव्य—त्वग्दोष-त्वग्रोग-त्वचा का रोग। यह सब कुष्ठ के ही नाम हैं। कुष्ठरोग में त्वचा दूषित हो जाती है, अतः त्वग्दोष कहते हैं ॥३॥

तत्र त्वग्दोषो मांसवसादुग्धदधितैलकुलत्थमाषनिष्पावेक्षुपिष्टविकाराम्लविरुद्धाध्यशनाजीर्णविदाह्यभिष्यन्दीनि दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत् ॥४॥

त्वग् रोगवाला व्यक्ति—मांस, वसा, दूध, दही तैल, (तिलका), कुलत्थी, उड़द, सेम, ईख के बने पदार्थ, पिट्ठी से बनी वस्तुयें, खटाई, विरोधी भोजन, अध्यशन, अजीर्ण में भोजन, विदाही, अभिष्यन्दि पदार्थ, दिन में सोना और मैथुन को छोड़ देवे ॥४॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोरदूषश्यामाकोद्दालकादीननवान् भुञ्जीत मुद्गाढक्योरन्यतरस्य यूषेण सूपेन वा निम्बपत्रारुष्करव्यामिश्रेण, मण्डूकपर्ण्यवल्गुजाटरूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिःसिद्धैः सर्षपतैलसिद्धैर्वा, तिक्तवर्गेण वाऽभिहितेन, मांससात्म्याय वा जाङ्गलमांसममेदस्कं वितरेत्, तैलं वज्रकमभ्यङ्गार्थे, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, पातपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषायम्, इत्येष आहाराचारविभागः ॥५॥

पथ्य—पुरातन शाली, सांठी, जौ, गेहूँ, कोरदूष, उद्दालक, श्यामाक, आदि को, मूंग, अरहर इनके यूष, या दलों में नीम के पत्ते तथा भिलावा मिलाकर इनके साथ खाये। मण्डूकपर्णी, बावची अडूसा, आक के फूलों से घी या सरसों का तेल सिद्ध करके तिक्तवर्ग-(प्रपुन्नाड़, बावची, पटोल आदि) के साथ सिद्ध घृत मिलाकर खाये। मांस सात्म्यवाले रोगी को मेद रहित जांगल मांस खाने को देवे। अभ्यंग के लिये वज्रक तेल (आगे सप्तपर्ण आदि से कहा है), उत्सादन में आरग्वधादि कषाय, परिषेक, अवगाहन आदि कार्यों में खदिर कषाय बरते, यह आहार-आचार नियम है।

वक्तव्य—सरसों का तेल रोग महत्ता से विधेय है। अथवा वात कफ कुष्ठों में सरसों का तेल बरते ॥५॥

तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत। तत्र त्वक्संप्राप्ते शोधनालेपनानि, शोणितप्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनानि, मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनारिष्टमन्थप्राशाः, चतुर्थकर्मगुणप्राप्तं याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च; तत्र संशोधनाच्छोणितावसेचनाच्चोर्ध्वं भल्लातशिलाजतुधातुमाक्षीकगुग्गुल्वगुरुतुवरकखदिरासनायस्कृतिविधानमासेवेत; पञ्चमं नैवोपक्रमेत ॥६॥

कुष्ठ रोग के पूर्व रूपों में वमन, विरेचन बरते। त्वचा में कुष्ठ होने पर शोधन, आलेपन करे, रक्त में पहुँचने पर संशोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण करे, मांस में पहुँचने पर शोधन, लेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, अरिष्ट, मन्थ और प्राश (अवलेह) बरते। मेद में पहुँचा कुष्ठ-संशोधन आदि करने पर जितेन्द्रिय पुरुष के साधन सम्पन्न होने पर याप्य रहता है। इसमें संशोधन और रक्तमोक्षण के उपरान्त भिलावा, शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिक, गुग्गुल, अगुरु, तुवरक, खैर, असन, अयस्कृति चिकित्सा का सेवन करे। अस्थि आदि पाचवीं धातु में पहुँचा कुष्ठ असाध्य है, उसकी चिकित्सा न करे ॥६॥

तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत् । मेषशृङ्गीश्वदंष्ट्राशार्ङ्गेष्टागुडूचीद्विपञ्चमूलीसिद्धं तैलं घृतं वा वातकुष्ठिनां पानाभ्यङ्गयोर्विदध्यात्, धवाश्वकर्णककुभपलाशपिचुमर्दपर्पटकमधुकरोध्रसमङ्गासिद्धं सर्पिः पित्तकुष्ठिनां, प्रियालशालारग्वधनिम्बसप्तपर्णचित्रकमरिचवचाकुष्ठसिद्धं श्लेष्मकुष्ठिनां भल्लातकाभयाविडङ्गसिद्धं वा सर्वेषां तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति ॥७॥

इसमें सबसे प्रथम कुष्ठ रोगी को वमन आदि संशोधन देकर स्नेहपानविधि से चिकित्सा करे। मेषशृंगी, गोखरू, शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता या काकजंघा), गिलोय और दशमूल से सिद्ध घृत या तैल वातकुष्ठ रोगियों में पान और अभ्यंग के लिये बरते। धव, अश्वकर्ण, अर्जुन, पलाश (ढाक), नीम, पित्तपापड़ा, मुलहठी, लोध, छुईमुई (या मजीठ) से सिद्ध घृत पित्त कुष्ठियों में पीने और अभ्यंग के लिये देवे। पियाल, शाल, अमलतास, नीम, सप्तपर्ण, चित्रक, मरिच, वच, कूठ इनसे सिद्ध किया घृत (या तैल) कफ कुष्ठियों के पीने और अभ्यंग के लिये बरते। अथवा भिलावा, हरड़ विडंग से सिद्ध किया घृत कफ कुष्ठ रोगियों में बरते। सब प्रकार के कुष्ठों में तुवरक तेल या भिलावे का तेल बरते।

वि० मन्तव्य—तुवरक तैल का वर्णन चि० अ० १३ में देखिये, कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध चालमोगरा तैल ही तुवरक तैल है। इसको ४-६ मासे खाने से वमन एवं विरेचन हो जाता है और अल्पमात्रा में खाने से रक्त शोधन होता है। अभ्यङ्ग से त्वग्दोष शान्त हो जाते हैं ॥७॥

सप्तपर्णारग्वधातिविषेक्षुरपाठाकटुरोहिण्यमृतात्रिफलापटोलपिचुमर्दपर्पटकदुरालभात्रायमाणामुस्ताचन्दनपद्मकहरिद्रोपकुल्याविशालामूर्वाशतावरीसारिवेन्द्रयवाटरूषकषड्ग्रन्थामधुकभूनिम्बगृष्टिका इति समभागः कल्कः स्यात्, कल्काच्चतुर्गुणं सर्पिः प्रक्षिप्य तद्द्विगुणो धात्रीफलरसस्तच्चतुर्गुणा आपस्तदेकध्यं समालोड्य विपचेत्, एतन्महातिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वररक्तपित्तहृद्रोगोन्मादापस्मारगुल्मपिडकासृग्दरगलगण्डगण्डमालाश्लीपदपाण्डुरोगविसर्पार्शः षाण्ढ्यकण्डूपामादीञ्छमयेदिति ॥८॥

महातिक्तकघृत—सप्तपर्ण, अमलतास, अतीस, तालमखाना, कटुकी, गिलोय, त्रिफला, परवल, नीम, पापड़ा, धमासा, त्रायमाण, मुस्ता, चन्दन, पद्माख, हल्दी, पिप्पली, बड़ी इन्द्रायण, मूर्वा, शतावरी, सारिवा, इन्द्र जौ, अडूसा, वच, मुलैहठी, चिरायता, बेर प्रत्येक समान भाग लेकर इनका कल्क करे। कल्क से चार गुणा घी, घी से दुगना आँवले का स्वरस, स्वरस से चार गुणा पानी, सबको एक साथ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह महातिक्तक नामक घृत कुष्ठ, विषमज्वर, रक्तपित्त, हृदय रोग, उन्माद, अपस्मार, गुल्म; पिडका, रक्तप्रदर, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, पाण्डुरोग, विसर्प, अर्श, नपुंसकता कण्डू पामा आदि को नष्ट करता है।

वक्तव्य—गृष्टि शब्द एक बार की ब्याई गाय तथा बेर के लिये है, यथा—'अथ गृष्टिः सकृत्प्रसूतगवीबदरयोः स्त्रियाम्' इति मेदिनी। इससे बेर लेना होता है। चरक में "पाठा" पढ़ा है। वह इस पाठ में नहीं है। इसी प्रकार श्वेत और कृष्ण दोनों सारिवा उसमें हैं ॥७॥

त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूषकटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणाः पर्पटकश्चैतेषां द्विपलिकान् भागाञ्जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, एतत्तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्पषाण्ढ्यशमनमूर्ध्वजत्रुगतरोगघ्नं चेति ॥९॥

तिक्तकघृत-त्रिफला, पटोल, नीम, अडूसा, कुटकी, धमासा, त्रायमाणा और पित्तपापड़ा ये प्रत्येक दो पल लेकर एक द्रोण जल में डालकर क्वाथ विधि से चौथाई क्वाथ शेष रक्खे। इसमें त्रायमाण, मुस्ता, इन्द्रजौ, चन्दन, चिरायता, पिप्पली प्रत्येक आधा पल लेकर इनको पीसकर कल्क मिलाये। इसमें घी एक प्रस्थ डालकर पकाये। यह तिक्तकघृत कुष्ठ, विषमज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणीदोष, शोफ, पाण्डुरोग, विसर्प, नपुंसकता को नष्ट करता है, ऊर्ध्व जत्रु के रोगों को नष्ट करता है ॥९॥

अतोऽन्यतमेन घृतेन स्निग्धस्विन्नस्यैकां द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा सिरा विध्येत्, मण्डलानि चोत्सन्नान्यवलिखेदभीक्ष्णः प्रच्छयेद्वा समुद्रफेनशाकगोजाकाकोदुम्बरिकापत्रैर्वाऽवघृष्यालेपयेल्लाक्षासर्जरसरसाञ्जनप्रपुन्नाडावल्गुजतेजोवत्यश्वमारकार्ककुटजारेवतमूलकल्कैर्मूत्रपिष्टैः पित्तपिष्टैर्वा, स्वर्जिकातुत्थकासीसविडङ्गागारधूमचित्रककटुकसुधाहरिद्रासैन्धवकल्कैर्वा, एतान्येवावाप्य क्षारकल्पेन निःस्रुते पालाशे क्षारे ततो विपाच्य फाणितमिव संजातमवतार्य लेपयेत्, ज्योतिष्कफललाक्षामरिचपिप्पलीसुमनः पत्रैर्वा हरितालमनःशिलार्कक्षीरतिलशिग्रुमरिचकल्कैर्वा; स्वर्जिकाकुष्ठतुत्थकुटजचित्रकविडङ्गमरिचरोध्रमनःशिलाकल्कैर्वा, हरीतकीकरञ्जिकाविडङ्गसिद्धार्थकलवणरोचनावल्गुजहरिद्राकल्कैर्वा ॥१०॥

सर्वे कुष्ठापहाः सिद्धा लेपः सप्त प्रकीर्तिताः।

इनमें से किसी एक घृत से स्नेहन करके, स्वेदन देकर, एक, दो, तीन, चार या पाँच सिरा का वेधन करे। ऊँचे उठे मण्डलों में बार-बार लेखन करे। अथवा पाछना करे। समुद्रफेन, सागौन, गाजवाँ कठगूलर, इनके पत्तों से रगड़कर, लाख, राल, रसौंत, पनवाड़ के बीज, बावची, तेजबल, कनेर, आक, कुटज, अमलतास की मूल, इनके कल्क को गोमूत्र से या गाय के पित्त से पीसकर लेप करे। सर्जक्षार, तुत्थ, का सीस

विडंग, घर का धुंवासा, चित्रक, कुटकी, थोर, हल्दी, सैन्धव इनके कल्क से लेप करें। इन्हीं की तिलनालों से जलाकर छै गुणे पलाशक्षार में घोलकर क्षार विधि से नितारकर फिर पकाये। जब राब की भाँति हो जाये तब उतारकर लेप करे। ज्योतिष्क फल (माल कांगनी के फल या काकादनी-रत्ती के फल), लाख, मरिच, पिप्पली, चमेली के पत्ते, इनसे, अथवा हरताल, मैनसिल, आक का दूध, तिल, सुहांजना, मरिच, इनके कल्क से लेप करे। स्वर्जिका, कूठ, तुत्थ, कुटज, चित्रक, विडंग, मरिच, लोध, मैनसिल इनके कल्क से अथवा हरड़, लताकरंज, विडंग, सरसों, सैन्धव, हल्दी, बावची, रोचना (गोरोचना) इनके कल्क से लेप करे। लेपों को गोमूत्र में या गाय के पित्त में पीसकर लगायें। सब प्रकार के कुष्ठों के नाश करनेवाले ये सात सिद्ध लेप कह दिये हैं ॥१०॥

वैशेषिकानतस्तूर्ध्वं दद्रूश्वित्रेषु मे शृणु ॥ ११ ॥

लाक्षा कुष्ठं सर्षपाः श्रीनिकेतं
रात्रिर्व्योषं चक्रमर्दस्य बीजम् ॥
कृत्वकस्थं तक्रपिष्टः प्रलेपो
दद्रूघ्नो मूलकाद्बीजयुक्तः ॥ १२ ॥

इसके आगे दद्रु और शिवत्रों के लिये विशेष योगों को सुनो—

लाख, कूठ, सरसों, नवनीत धूप (गन्धाविरोजा-सरल का गोन्द धूप) हल्दी, त्रिकटु, पनवाड़ के बीज, मूली के बीज, इनको एक साथ तक्रमें पीसकर दद्रु में लेप करे ॥१२॥

सिन्धूद्भूतं चक्रमर्दस्य बीज-
मिक्षूद्भूतं केशरं तार्क्ष्यशैलम् ।
पिष्टो लेपोऽयं कपित्थाद्रसेन
दद्रूस्तूर्णं नाशयत्येष योगः ॥ १३ ॥

सैन्धव, पनवाड़ के बीज, गुड़, मौलश्री, रसौत, इनको कैथ के रस में पीसकर लगाने से दद्रु शीघ्र नष्ट होती है ॥१३॥

हेमक्षीरी व्याधिघातः शिरीषो
निम्बः सर्जो वत्सकः साजकर्णः ।
शीघ्रं तीव्रा नाशयन्तीह दद्रूः
स्नानालेपोद्घर्षणेषूपयुक्ताः ॥ १४ ॥

स्वर्णक्षीरी (डल्हण के मत से कंकुष्ठ), अमलतास, शिरीष, नीम, राल, इन्द्रजौ, अजकर्ण, इनको स्नान, आलेप, उद्घर्षण में बरतने से तीव्र दाद शीघ्र नष्ट होती है ॥१४॥

भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं
दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलप्वाः ।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं
स्फोटान् श्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात् ॥१५॥

बड़ी कठगूलर, और छोटी कठगूलर (अंजीर) इन दोनों के मूल एक पल लेकर सोलह पल पानी में क्वाथ करे। चौथाई शेष रहने पर इस क्वाथ को ग्रीष्म काल में (या दुपहर में), गरम पीकर धूप में बैठे और सरसों के तेल का अभ्यंग करे। इस प्रकार करने से श्वित्र में और पुण्डरीक कुष्ठ में छाले उत्पन्न होते हैं। (औषध के जीर्ण होने पर गाय के तक्र या दाडिम यूष से भोजन करे) ॥१५॥

द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा
भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः ।

चीते या हाथी की खाल को जलाकर इस राख को आवर्त्त की मूल से सिद्ध तैल में मिलाकर, छालों के फूटने पर लेप करे।

वक्तव्य—"आवर्त्तकीमूलसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यावचूर्णयेद् गजद्वीपिचर्ममसीचूर्णेन, त्रिफलालोहचूर्णेन वा ॥" आवर्त्तकी का गुजराती नाम आवल है।

पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेको निहन्ति ॥ १६॥

अकेला पूतिकीट अमलतास के क्षार के साथ क्षारोदक में मिलाकर लगाने से श्वित्र को नष्ट करता है। (पूतिकीट—तेलिया कीड़ा बरसात में होता है, पर बड़े होते हैं) ॥१६॥

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा
बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम् ।
एतत् समस्तं मृदितं प्रलेपात्
श्वित्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम् ॥१७॥

काले सांप की भली प्रकार से जलाकर बनाई राख को बहेड़े के तेल में मिलाकर लेप करने से सब प्रकार के श्वित्र नष्ट होते हैं। (जलाने पर जब बहुत काला हो जाये तब मसी या राख कहते हैं, थोड़ा जलाने पर जब श्वेत रहे, तब क्षार कहते हैं) ॥१७॥

अध्यर्धतोये सुमतिस्रुतस्य क्षारस्य कल्पेन तु सप्तकृत्वः ।
तैलं शृतं तेन चतुर्गुणेन श्वित्रापहं म्रक्षणमेतदग्र्यम् ॥

काले सांप की मसी से डेढगुणा (१½) पानी लेकर इसको क्षार विधि से सात बार नितारकर, तैल से चौगुना लेकर इसमें तैल सिद्ध करे। इसका लेप श्वित्र को नष्ट करने में श्रेष्ठ है ॥१८॥

घृतेन युक्तं प्रपुनाडबीजं कुष्ठं च यष्टीमधुकं च पिष्ट्वा ।
श्वेताय दद्याद्गृहकुक्कुटाय चतुर्थभक्ताय बुभुक्षिताय ॥
तस्योपसंगृह्य च तत् पुरीषमुत्पाचितं सर्वत एव लिम्पेत् ।
अभ्यन्तरं मासमिमं प्रयोगं प्रयोजयेत् श्वित्रमथो निहन्ति ॥

पनवाड़ के बीज, कूठ, मुलैहठी, इनको घी के साथ पीस कर घर के श्वेत मुर्गे को एक दिन पूरा भूखा रखकर-दूसरे दिन सायंकाल में (खूब भूख लगने पर) खाने के लिये देवे। फिर छाले आदि से पकाये कुष्ठ या श्वित्र पर इसकी बीट को

एकट्ठा करके लेप करे। इस प्रकार एक मास प्रयोग करने पर यह श्वित्र को नष्ट कर देता है ॥१९-२०॥

क्षारे सुदग्धे गजगण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्रुते च।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजस्य ॥२१॥
एतद्यदा चिक्कणतामुपेति तदा समस्तं गुटिका विदध्यात्।
श्वित्रं प्रलिम्पेदथ संप्रघृष्य तया व्रजेदाशु सवर्णभावम् ॥

हाथी की लीद को भली प्रकार जलाकर बनाये क्षार को हाथी के मूत्र में घोलकर कई बार नितार ले। इसके एक द्रोण में दसवां भाग बावची के बीज मिलाकर पकाये। पकाते समय जब कड़छी पर लगे तब इसकी गोलियाँ बना ले। श्वित्र को घिसकर उसपर इनका लेप करे, इससे त्वचा के समान रंग आता है।

वक्तव्य—जलपिप्पली बहुत गरम है, प्लेग की गाँठ पर इसका कल्क बांधते हैं। इससे गांठ पक जाती है, या बैठ जाती है। 'जलकण्डजे' के स्थान पर 'गजलेण्डजे' पाठ होने पर हाथी की विष्ठा अर्थ है। यह भी बहुत गरम है, गर्भधृति को रोकने के लिये इसे बरतते हैं ॥२१-२२॥

कषायकल्पेन सुभावितां तु जलं त्वचा चूतहरीतकीनाम्।
तां ताम्रदीपे प्रणिधाय धीमान् वर्तिं वटक्षीरसुभावितां तु ॥
आदीप्य तज्जातमसीं गृहीत्वा
तां चापि पथ्याम्भसि भावयित्वा।
संप्रच्छितं तद्बहुशः किलासं
तैलेन सिक्तं कटुना प्रयाति ॥२४॥

आम और हरड़ की छाल को कषाय विधि से क्वाथ करके इस क्वाथ से रूई की वर्त्ति को भली प्रकार भावित करके, कटुतैल से तर करके, ताम्र के दीपक में रखकर, जलाये। इसके जलने से जो मसी (स्याही) बने, उसे हरड़ के क्वाथ और वट क्षीर से भावित करके, कड़ुए तेल (सरसों का तेल) में मिला कर, किलाश को बहुत बार पाछकर, इससे लेप करे। इससे किलाश नष्ट हो जाता है। (भाव्यद्रव्यसमं क्वाथ्यं क्वाथश्चाष्टांशशेषितः ॥२३-२४॥

आवल्गुजं बीजमग्र्यं नदीजं
काकाह्वानौदुम्बरी या च लाक्षा।
लौहं चूर्णं मागधी तार्क्ष्यशैलं
तुल्याः कार्याः कृष्णवर्णास्तिलाश्च ॥२५॥
वर्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां
लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी।
लेपात् पित्तं शैखिनं श्वित्रहारि
ह्रीबेरं वा दग्धमेतेन युक्तम् ॥२६॥

बावची के बीज, उत्तमस्वर्णमाक्षिक, कठगूलर, लाख, लोहचूर्ण, पिप्पली, रसौत, इन सब के बरावर काले तिल इनको गाय के पित्त में पीसकर गोली बना ले। श्वित्रों पर इनका लेप करने से श्वित्र नष्ट होते हैं। ह्रीबेर को जलाकर मोर के पित्त में मिलाकर लेप करने से भी श्वित्र नष्ट होते हैं ॥२५,२६॥

तुत्थालकटुकाव्योषसिंहार्कहयमारकाः।
कुष्ठावल्गुजभल्लातक्षीरिणीसर्षपाः स्नुही ॥२७॥
तिल्वकारिष्टपीलूनां पत्राण्यारग्वधस्य च।
बीजं विडङ्गाश्वहन्त्रोर्हरिद्रे बृहतीद्वयम् ॥२८॥
आभ्यां श्वित्राणि योगाभ्यां लेपान्नश्यन्त्यशेषतः।

(१) तुत्थ, हरताल, कुटकी, त्रिकटु, सिंह (अडूसा), आक, मनेर, कूठ, बावची, भिलावा, दूधी सरसों और थोर, (२) तिल्वक, नीम, पीलु, अमलतास के पत्ते, वायविडंग और कनेर के बीज, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ी कटेरी, इन दो योगों के लेप से श्वित्र सम्पूर्ण रूप में नष्ट होते हैं ॥२७-२८॥

वायसीफल्गुतिक्तानां शतं दत्त्वा पृथक् पृथक् ॥२९॥
द्वे लोहरजसः प्रस्थे त्रिफलाच्याढकं तथा।
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावद्भागौ द्वावसनादपि ॥३०॥
शिष्टौ च विपचेद् भूय एतैः श्लक्ष्णप्रपेषितैः।
कल्कैरिन्द्रयवव्योषत्वग्दारुचतुरङ्गुलैः ॥३१॥
पारावतपदीदन्तीबाकुचीकेशराह्वयैः।
कण्टकार्या च तत्पक्वं घृतं कुष्ठिषु योजयेत् ॥३२॥
दोषधात्वाश्रितं पानादभ्यङ्गात्त्वग्गतं तथा।
अप्यसाध्यं नृणां कुष्ठं नाम्ना नीलं नियच्छति ॥३३॥

वायसी (काकतिक्ता, मकोय), कठगूलर (या अंजीर) कुटकी, प्रत्येक एक सौ पल, लोह चूर दो प्रस्थ, त्रिफला तीन आढ़क, असन (विजय सार) दो प्रस्थ, मिलाकर तीन द्रोण जल में पकाये। जब एक भाग जल जल जाये, दो भाग बच जाये, तब उतार कर छान ले। इसमें इन्द्रजौ त्रिकटु, दालचीनी, देवदारु, अमलतास, पारावतपदी, जामालगोटा, बावची, नागकेशर, कटेरी, उनका बारीक पीसा कल्क मिलाकर आढ़क घृत को सिद्ध करे। यह घृत कुष्ठ रोगियों में देवे। इस घृत के पीने से दोष धातुओं में स्थित तथा अभ्यंग में त्वचा में स्थित, असाध्य कुष्ठ भी अच्छा हो जाता है। इसका नाम नीलघृत है॥

त्रिफलात्वक् त्रिकटुकं सुरसा मदयन्तिका।
वायस्यारग्वधश्चैषां तुलां कुर्यात् पृथक् पृथक् ॥३४॥
काकमाच्यकेवरुणदन्तीकुटजचित्रकात्।
दार्वीनिदिग्धिकाभ्यां तु पृथग्दशपलं तथा ॥३५॥
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावत् षट्प्रस्थं परिशेषितम्।
शकृद्रसदधिक्षीरमूत्राणां पृथगाढकम् ॥३६॥
तद्वद्घृतस्य तत्साध्यं भूनिम्बव्योषचित्रकैः।
करञ्जफलनीलिकाश्यामावल्गुजपीलुभिः ॥३७॥
नीलिनीनिम्बकुसुमैः सिद्धं कुष्ठापहं कृतम्।
म्रक्षणादङ्गसावर्ण्यं श्वित्रिणां जनयेन्नृणाम्।
भगन्दरं कृमीनर्शो महानीलं नियच्छति ॥३८॥

महानीलघृत—हरड, बहेड़ा, आंवला की बकली, सोंठ, मरिच, पीपल, तुलसी, मेंहदी, मकोय, अमल तास, ये प्रत्येक

एकसौ पल, मकोय, आक, वरुण, जमालगोटा, कुटज, चित्रक, दारुहल्दी, कटेरी पृथग् दश पल, लेकर इन सबको तीन द्रोण जल में क्वाथ करे। जब छै प्रस्थ शेष रह जाये तब छानकर इसमें गोबर का स्वरस, दही, दूध, गोमूत्र और गोघृत प्रत्येक एक आढ़क, तथा चिरायता, त्रिकटु, चित्रक, करंज फल, नीलिनी, निशोथ, बावची, पीलु, नीलिका, नीम के फूल इनका कल्क मिलाकर घृत को सिद्ध करे। यह घृत खाने में कुष्ठ नाशक है, और मलने से श्वित्र में त्वचा के समान रंग लाता है। यह महानील घृत भगन्दर, कृमि अर्श को नष्ट करता है।

वक्तव्य—वायसी-का अर्थ काकमाची (मकोय) और काकोदुम्बरिका (कठगूलर) दोनों है। इसलिये एक स्थान पर मकोय और दूसरे स्थान में कठगूलर ले सकते हैं। या दोनों स्थान पर मकोय भी ले सकते हैं। जैसे त्रिकटु का पाठ दो स्थान पर है। नीलिका और नीलिनी-में नीलिनी से तो नील (रंगने का द्रव्य) लेते हैं। नीलिका के स्थान में चरक में—संग्रह में नलिका पाठ है, जिसका अर्थ कोष में कलम्ब (जलज शाक, कल्मी शाक) दिया है। काश्मीर में कलम्ब का शाक विशेष प्रचलित है ॥३४-३८॥

मूत्रं गव्यं चित्रकव्योषयुक्तं
सर्पिःकुम्भे क्षौद्रयुक्तं स्थितं हि।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत्
कुर्याच्चास्मिन् कुष्ठदिष्टं विधानम् ॥३९॥

गोमूत्र में चित्रक, त्रिकटु मिलाकर, मधु के साथ घी के भाण्ड में पन्द्रह दिन रहने दें। इसके पीछे श्वित्र रोगी इसको पीवें और इसमें कुष्ठ में कही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—चित्रक, त्रिकटु और मधु को मिलाकर घड़े के अन्दर इतनी मात्रा में लेप करें, जिससे मूत्र में कटुता आजाये॥

पूतीकार्कस्नङ्नरेन्द्रद्रुमाणां
मूत्रैःपिष्टाः पल्लवाः सोमनाश्च।
लेपः श्वित्रं हन्ति दद्रुर्व्रणांश्च
दुष्टान्यर्शांस्येष नाडीव्रणांश्च ॥४०॥

करंज, अर्क, थोर और अमलतास तथा चमेली के पत्तों को गोमूत्र के साथ पीसकर लेप करे। इससे श्वित्र, दद्रु, व्रण, दूषित अर्श और नाड़ी व्रण नष्ट होते हैं ॥४०॥

अस्मादूर्ध्वं निःस्रुते दुष्टरक्ते
जातप्राणं सर्पिषा स्नेहयित्वा।
तीक्ष्णैर्योगैश्छर्दयित्वा प्रगाढं
पश्चाद्दोषं निर्हरेच्चाप्रमत्तः ॥४१॥

इसके आगे दूषित रक्त के निकल जाने पर शरीर में पुनः बल आ जाने से रोगी को घी से स्नेहन करके तीक्ष्ण वामक योगों से भली प्रकार वमन करके, पीछे बिरेचन आदि से दोषों को बिना आलस्य के निकालता रहे ॥४१॥

दुर्वान्तो वा दुर्विरिक्तोऽपि वा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्तदेहः।
निःसन्दिग्धं यात्यसाध्यत्वमाशु
तस्मात् कृत्स्नान्निर्हरेत्तस्य दोषान् ॥४२॥

कुष्ठ रोगी को वमन या विरेचन भली प्रकार यदि न हों, तो दोषों के कुपित होकर सारे शरीर में फैल जाने पर रोगी अवश्य असाध्य हो जाता है, इस लिये इसके दोषों को सम्पूर्ण रूप में बाहर करे ॥४२॥

पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्-
मासान्मासात् स्रंसनं चापि देयम्।
स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं
नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात् त्रिरात्रात् ॥४३॥

कुष्ठ रोगी को पन्द्रह-पन्द्रह दिन पीछे वमन और एक-एक मास पीछे विरेचन देना चाहिये। वर्ष में दो बार (छै छैमास में) थोड़ा-थोड़ा रक्त निकालना चाहिये। तीन-तीन दिन पीछे रोगी को नस्य देना चाहिये ॥४३॥

पथ्या व्योषं सेक्षुजातं सतैलं
लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात्।
धात्रीपथ्याक्षोपकुल्याविडङ्गान्
क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वाऽवलिह्यात् ॥४४॥
पीत्वा मासं वा पलांशां हरिद्रां
मूत्रेणान्तं पापरोगस्य गच्छेत्।
एवं पेयश्चित्रकः श्लक्ष्णपिष्टः
पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्रयुक्ताः ॥४५॥
तद्वत्ताद्यं मासमात्रं च पेयं,
तेनाजस्रं देहमालेपयेच्च।
आरिष्टी त्वक् साप्तपर्णी च तुल्या
लाक्षा मुस्तं पञ्चमूल्यौ हरिद्रे ॥४६॥
मञ्जिष्ठाक्षौ वासको देवदारु
पथ्यावह्नी व्योषधात्री विडङ्गः।
सामान्यांशं योजयित्वा विडङ्ग-
श्चूर्णं कृत्वा तत्पलोन्मानमश्नन् ॥४७॥
कुष्ठाज्जन्तुर्मुच्यते त्रैफलं वा
सर्पिर्द्रोणं व्योषयुक्तं च युञ्जन्।
गोमूत्राम्बुद्रोणसिद्धेऽक्षपीडे
सिद्धं सर्पिर्नाशयेच्चापि कुष्ठम् ॥४८॥
आरग्वधे सप्तपर्णे पटोले
सवृक्षके नक्तमाले सनिम्बे।
जीर्णं पक्वं तद्धरिद्राद्वयेन
हन्यात् कुष्ठं मुष्कके चापि सर्पिः ॥४९॥

हरड़, त्रिकटु, गुड़, तैल इनको एक साथ मिलाकर चाटने से कुष्ठ रोग से मुक्त होता है। अथवा आँवला, हरड़, बहेड़ा, पिप्पली, विडंग, इनको मधु और घी के साथ चाटे। हल्दी

का रस एक पल मात्रा में गोमूत्र के साथ एक मास तक पीने से कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार चित्रक या पिप्पली को बारीक पीसकर एक पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ पीना चाहिये। इस प्रकार रसौंत को गोमूत्र के साथ एक मास तक पीये और रसौत का शरीर पर निरन्तर लेप करे। रीठे की छाल, सप्तपर्ण की छाल, समान मात्रा में, लाख, मुस्ता, दशमूल, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, बहेड़ा, अडूसा, देवदारु, हरड़, चित्रक, त्रिकटु, आंवला, विडंग, इन सबको समान भाग लेकर, इन सब के बराबर इसमें विडंग का चूर्ण मिलाये। इसमें से रोगी एक पल मात्रा को प्रतिदिन (गोमूत्र से) खाये। अथवा त्रैफल घृत में त्रिकटु मिलाकर इसको एक द्रोण भी खाने से रोगी कुष्ठ से मुक्त हो जाता है। एक द्रोण गोमूत्र में अक्षपीड (यवतिक्ता) से सिद्ध किया घृत कुष्ठ को नष्ट कर देता है। अमलतास, सप्तपर्ण, पटोल, कुटज, करंज, नीम, हल्दी, दारुहल्दी और मुष्कक (मोखा) इनसे सिद्ध किया पुरातन घृत कुष्ठ को नष्ट करता है ॥४६॥

रोध्रारिष्टं पद्मकं रक्तसारः
सप्ताह्वाक्षौ वृक्षको बीजकश्च।
योज्याः स्नाने दह्यमानस्य जन्तोः
पेया वा स्यात् क्षौद्रयुक्ता त्रिमण्डी ॥५०॥

पित्त की अधिकता के कारण जिसको बहुत जलन होती हो, उसके स्नान के लिये लोध, नीम, पद्माख, रक्तसार (मजीठ), सप्तपर्ण, बहेड़ा, कुटज, असनसार इनका षडंगोदक परिभाषा से बनाया क्वाथ स्नान में देवे। अथवा निशोथ को मधु के साथ पीये।

वक्तव्य—षडंग परिभाषा—'यदप्सु शृतशीतासु षडंगादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्ध-शृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ॥' डल्हण ने षडंगोदक से स्नान करना लिखा है, परन्तु कषाय विधि से क्वाथ बनाकर स्नान कराने में कोई हानि नहीं ॥५०॥

(खादेत् कुष्ठी मांसशा (पा) ते पुराणान्
मुद्गान् सिद्धान्निम्बतोये सतैलान्॥)

कुष्ठ रोगी का मांस गिरता हो तो वह नीम के क्वाथ में पुराने मूंग को तैल के साथ पकाकर खाये (यहाँ पर नीम का क्वाथ भी षडंग परिभाषा से करे)।

निम्बक्वाथं जातसत्त्वः पिबेद्वा
क्वाथं वाऽर्कालर्कसप्तच्छदानाम् ॥५१॥
जग्धेष्वङ्गेष्वश्वमारस्य मूलं
लेपो युक्तः स्याद्विडङ्गैः समूत्रैः।
मूत्रैश्चैनं सेचयेद्भोजयेच्च
सर्वाहारान् संप्रयुक्तान् विडङ्गैः ॥५२॥
कारञ्जं वा सार्षपं वा क्षतेषु
क्षेप्यं तैलं शिग्रुकोशाम्रयोर्वा।
पक्वं सर्वैर्वा कटूष्णैः सतिक्तैः
शेषं च स्याद् दुष्टवत् संविधानम् ॥५३॥

कुष्ठ में कृमि उत्पन्न होने पर नीम का क्वाथ अथवा आक, श्वेत फूल का आक, सप्तपर्ण इनका क्वाथ पीये। कीड़ों से खाये अंगों पर कनेर की मूल वायविडंग इनको गोमूत्र में पीस-कर लेप करे। इन पर गोमूत्र का परिषेक करे, और सब भोजनों में वायविडंग को बरते। अथवा व्रणों पर करंज का, सरसों का सुहांजने का या कोशाम्र बीज का तेल लगाये। अथवा मरिच आदि कटु द्रव्य, निम्बादि तिक्त द्रव्यों के कषाय में तैल पाक विधि से करंज आदि के तेल सिद्ध करके लगाये। शेष सब चिकित्सा दुष्ट व्रण की भांति करनी चाहिये ॥५१-५३॥

सप्तपर्णकरञ्जार्कमालतीकरवीरजम्।
स्नुहीशिरीषयोर्मूलं चित्रकास्फोतयोरपि ॥५४॥
विषलाङ्गलवज्राख्यकासीसालमनःशिलाः।
करञ्जबीजं त्रिकटु त्रिफलां रजनीद्वयम् ॥५५॥
सिद्धार्थकान् विडङ्गानि प्रपुन्नाडं च संहरेत्।
मूत्रपिष्टैः पचेदेतैस्तैलं कुष्ठविनाशनम् ॥५६॥
एतद्वज्रकमभ्यङ्गान्नाडीदुष्टव्रणापहम्।

वज्रक तैल—सप्तपर्ण करंज, आक, चमेली, कनेर, थोर, शिरीष-इनके मूल, चित्रक मूल, सारिसा मूल, मीठा तेलिया, कलिहारी, वज्राख्या (नागफली), कासीस, हरताल, मैनसिल, करंज बीज, त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, सरसों, वाय-विडंग, पनवाड, इनको गोमूत्र के साथ पीसकर इनके कल्क से गोमूत्र में तैल सिद्ध करे। यह वज्रक तैल कुष्ठ नाशक है। मलने से नाड़ी व्रण, दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है। (इसमें गयी सरसों के तैल का सिद्ध करना मानता है, जो युक्ति युक्त भी है) ॥५४-५६॥

सिद्धार्थककरञ्जौ द्वौ द्वे हरिद्रे रसाञ्जनम् ॥५७॥
कुटजश्च प्रपुन्नाडसप्तपर्णौ मृगादनी।
लाक्षा सर्जरसोऽर्कश्च सास्फोतारग्वधौ स्नुही ॥५८॥
शिरीषस्तुवराख्यस्तु कुटजारुष्करौ वचा।
कुष्ठं कृमिघ्नं मञ्जिष्ठा लाङ्गली चित्रकं तथा ॥५९॥
मालती कटुतुम्बी च गन्धाह्वा मूलकं तथा।
सैन्धवं करवीरश्च गृहधूमं विषं तथा ॥६०॥
कम्पिल्लकं ससिन्दूरं तेजोह्वातुत्थकाह्वयम्।
समभागानि सर्वाणि कल्कपेष्याणि कारयेत् ॥६१॥
गोमूत्रं द्विगुणं दद्यात्तिलतैलाच्चतुर्गुणम्।
कारञ्जं वा महावीर्यं सार्षपं वा महागुणम् ॥६२॥
अभ्यङ्गात् सर्वकुष्ठानि गण्डमालाभगन्दरान्।
नाडीदुष्टव्रणान् घोरान् नाशयेन्नात्र संशयः ॥६३॥
महावज्रकमित्येतन्नाम्ना तैलं महागुणम्।

महावज्रक तैल—सरसों, नाटाकरञ्ज, हल्दी, दारुहल्दी, रसौंत, कुटज, पनवाड़, सप्तपर्ण, इन्द्रायण, लाख, राल, आक, सारिवा, अमलतास, थोर, शिरीष, तुवरक, कुटज, भिलावा, वच, कूठ, वायविडङ्ग, मजीठ, कलिहारी, चित्रक, चमेली, कड़ुई तुम्बी, गन्धक, मूली, सैन्धव, कनेर, घर का धुंवासा, मीठा तेलिया, कमीला, सिन्दूर तेजबल, तुत्थ, इन सबको समान भाग लेकर पीस लेवे। इन से दुगुना गोमूत्र, गोमूत्र के बराबर तिलतैल, तिलतैल से चार गुण करञ्ज या सरसों का तेल मिलाकर इनसे तैल सिद्ध करें। यह तैल अतिशक्तिशाली महागुणवान् है। इस तैल के लगाने से सब कुष्ठ, गण्डमाला, भगन्दर, नाड़ीव्रण, सब बिना सन्देह के नष्ट हो जाते हैं। इस तैल का नाम महावज्रक है, अतिशय गुणकारी है ॥ ५७-६३ ॥

पित्तावापैर्मूत्रपिष्टैस्तैलं लाक्षादिकैः कृतम् ॥६४॥
सप्ताहं कटुकालाब्वां निदधीत चिकित्सकः।
पीतवन्तं ततो मात्रां तेनाभ्यक्तं च मानवम् ॥६५॥
शाययेदातपे तस्य दोषा गच्छन्ति सर्वशः।

लाक्षादि गण को अथवा महावज्रक में पढ़े लाक्षा सर्जरस आदि को पीसकर, गोमूत्र में (तैल से चार गुणे) गाय के पित्तका प्रक्षेप देकर सिद्ध किया तिलतैल वैद्य, सात दिन कड़ुए तुम्बे के पात्र में रख देवे। फिर इस तैल को मात्रा में पीये, और शरीर पर मालिश करे। रोगी धूप में सोये रहे, इससे दोष सम्पूर्ण रूप में निकल जाते हैं ॥ ६४,६५ ॥

स्रुतदोषं समुत्थाप्य स्नातं खदिरवारिणा ॥६६॥
यवागूं पाययेदेनं साधितां खदिराम्बुना।

दोषों के निकल जाने पर रोगी को धूप से उठाकर खैर के क्वाथ से स्नान कराये। खैर के क्वाथ में बनाई यवागू इस रोगी को पीने के लिये देवे ॥ ६६ ॥

एवं संशोधने वर्गे कुष्ठघ्नेष्वौषधेषु च ॥६७॥
कुर्यात्तैलानि सर्पींषि प्रदेहोद्धर्षणानि च।

इसी प्रकार संशोधन वर्ग तथा कुष्ठघ्न औषधियों में तैल, घृत सिद्ध करे। इन औषधियों से प्रदेह और उद्घर्षण करे।

वक्तव्य—संशोधनवर्ग–संशोधन संशमनीयाध्यायोक्त। कुष्ठघ्न–'खदिराभयामलकहरिद्रारुष्करसप्तपर्णारग्वधकरवीरविडंगजातिप्रवाला इति दशेमानि कुष्ठघ्नानि भवन्ति ॥' चरक॥

प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान् वैरेचनान् शुभान्।
पंच षट् सप्त चाष्टौ वा यैरुत्थानं न गच्छति ॥६८॥

प्रतिदिन प्रातःकाल विरेचक योगों का सेवन करे, जिससे पाँच, छः, सात या आठ बार मल त्याग करे। अथवा पाँच, छः, सात, आठ दिन बाद विरेचन ले, जिससे दोष प्रकोप न हो। (डल्हण ने यहाँ पर कोई अर्थ नहीं दिया) ॥ ६८ ॥

कारभं वा पिबेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम्।
धातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षड्भिरपोहति ॥६९॥

अथवा ऊँट का मूत्र पीये, इसके पचने पर ऊँटनी के दूध का भोजन करे। इस प्रकार छः मास करने पर कीड़े पड़ा कुष्ठ भी नष्ट हो जाता है। मूत्र-ऊँट का लेना चाहिये, क्योंकि—

"गोऽजाविमहिषीणान्तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम्" ॥६९॥
दिहत्तुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः।
सर्वथैव प्रयुंजीत स्नानपानाशनादिषु ॥७०॥
यथा हन्ति प्रवृद्धत्वात् कुष्ठमातुरमोजसा।
तथा हन्त्युपयुक्तस्तु खदिरः कुष्ठमोजसा ॥७१॥

कुष्ठ से पीडित मनुष्य कुष्ठरोग को नष्ट करने के लिए खैरका स्नान, पान-भोजन आदि सब कार्यों में सम्पूर्ण रूप से उपयोग करे। जिस प्रकार कि बढ़ा होने से कुष्ठ अपने तेज से रोगी को मार देता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में बरता खैर अपनी शक्ति से कुष्ठ, को नष्ट कर देता है ॥ ७०,७१ ॥

नीचरोमनखः श्रान्तो हिताश्यौषधतत्परः।
योषिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति ॥७२॥

कुष्ठ रोगी—बाल और नख कटवाकर, आराम करके हितकारी भोजन एवं औषध का सेवन निरन्तर करके, स्त्री-मांस-सुरा से अलग रहकर कुष्ठ मुक्त हो जाता है।

('श्रान्तः' के स्थान पर 'अश्रान्तः' पाठ ठीक है—आराम ले, अथवा श्रान्तः पाठ रखने में जितेन्द्रिय, रोगी वासना से रहित यह अर्थ करना होगा।)

वि० मन्तव्य—श्रान्त पाठ इस दृष्टि से समीचीन है कि श्रम से स्वेद की प्रवृत्ति होकर और आहार पाचन होकर शरीर निर्दोष हो जाता है। और नूतन दोष बढ़ने या सञ्चित नहीं होने पाते ॥ ७२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो महाकुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे महाकुष्ठ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

कुष्ठेषु मेहेषु कफामयेषु
सर्वांगशोफेषु च दारुणेषु।

कृशत्वमिच्छत्सु च मेदुरेषु
योगानिमानग्र्यमतिर्विदध्यात् ॥ ३ ॥

कुष्ठ रोग में, प्रमेहों में, कफ रोगों में, भयानक सर्वांग-शोफों में, मोटे आदमी जो पतले होना चाहते हैं, उनमें कुशाग्रबुद्धि इन-आगे कहे जानेवाले योगों को बरते ॥ ३ ॥

क्षुण्णान् यवान्निष्पूतान् रात्रौ गोमूत्रपर्युषितान् महति किलिंजे शोषयेत्, एवं सप्तरात्रं भावयेच्छोषयेच्च, ततस्तान् कपालभृष्टान् शक्तून् कारयित्वा प्रातः प्रातरेव कुष्ठिनं प्रमेहिणं वा सालसारादिकषायेण कण्टकिवृक्षकषायेण वा पाययेद्भल्लातकप्रपुन्नाडावल्गुजार्कचित्रकविडङ्ग-मुस्तचूर्णचतुर्भागयुक्तान् एवमेव सालसारादिकषायपरिपीतानामारग्वधादिकषायपरिपीतानां वा गवाश्वशकृद्भूतानां वा यवानां शक्तून् कारयित्वा भल्लातकादीनां चूर्णान्यावाप्य खदिराशननिम्बराजवृक्षरोहीतकगुडूचीनामन्यमन्यतमस्य कषायेण शर्करामधुमधुरेण द्राक्षायुक्तेन दाडिमामलकवेतसाम्लेन सैन्धवलवणान्वितेन पाययेत्, एष सर्वमन्थकल्पः ॥ ४ ॥

जौ को कूटकर-पछोड़कर, साफ करके रात भर गोमूत्र में रखकर दिन में एक बड़ी चटाई फैलाकर सुखाये। इस प्रकार सात दिन गोमूत्र में भावित करे और दिन में सुखाये। फिर इसको भाड़ में (मिट्टी के ठीकरे में) भुनवाकर सत्तू बनाये। इसमें मिलावा, पनवाड़, बावची, आर्क, चित्रक, विडंग और मुस्ता इनका चूर्ण चतुर्थांश मिलाकर प्रतिदिन कुष्ठ रोगी या प्रमेह रोगी को सालसारादिगण के क्वाथ से या खैर-बेर-इरिमेद आदि कण्टकी वृक्षों के क्वाथ से पीने को देवे। इसी प्रकार सालसारादि कषाय से भावित या आरग्वधादि कषाय से भावित जौ का अथवा गाय या घोड़े को जौ खिलाकर, उसके गोबर एवं लीद में निकले जौ का (या गाय-घोड़े की लीद और गोबर के रस से भावित जौ का) सत्तू बनाकर, इसमें भिलावे आदि का चूर्ण मिलाकर खैर, असन, नीम, अमलतास, रोहेड़ा, गिलोय इनमें से किसी एक के कषाय को शर्करा, मधु से मीठा बनाकर, द्राक्षा मिलाकर, अनारदाना, आँवला, अम्लवेतस से खट्टा करके, थोड़ा सैन्धव मिलाकर पिलाये। यह सब प्रकार के मन्थ की विधि है।

'खराश्वगोधेनुकसंभृतानां तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः'॥ चरक ॥ ४ ॥

यावकांश्च भक्ष्यान् धानोलुम्बककुल्माषापूपपूर्णकोशोत्कारिकाशष्कुलिकाकुणावीप्रभृतीन् सेवेत; यवविधानेनधूमवेणुयवानुपयुंजीत ॥ ५ ॥

जौ के बनाये भोज्य पदार्थों को; धाना (भाड़ में भूने धान्य जैसे-मक्की ज्वार आदि), उलुम्बक (हरे चने या हरे जौ आग में भूने होले), कुल्माष (अर्धस्विन्नउबाले अन्न गेहूँ आदि), आपूप (पूड़े) पूर्ण कोप (कचौरी आदि-पूरन पोळी आदि), उत्कारिका (लपसी), शष्कुली (गुजिया), कुणावी-पपड़ी आदि बनाकर खाये। जौ की विधि से गेहूँ वेणुयव (बाँस के बीज) का सेवन करे ॥

"देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः" ॥ चरक० चि० अ० ६ ॥ ५ ॥

अरिष्टानतो वक्ष्यामः—पूतीकचव्यचित्रकसुरदारुसारिवादन्तीत्रिवृत्त्रिकटुकानां प्रत्येकं षट्पलिका भागा बदरकुडवस्त्रिफलाकुडव इत्येषां चूर्णानि; ततः पिप्पलीमधुघृतैरन्तः प्रलिप्ते घृतभाजने प्राक्कृतसंस्कारे सप्तोदककुडवानयोरजोऽर्धकुडवमर्धतुलां च गुडस्यामिहितानि चूर्णान्यावाप्य स्वनुगुप्तं कृत्वा यवपल्ले सप्तरात्रं वासयेत्, ततो यथाबलमुपयुंजीत, एषोऽरिष्टः कुष्ठमेहमेदः पाण्डुरोगश्वयथूनपहन्ति। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ चारिष्टान् कुर्वीत ॥ ६ ॥

इसके आगे अरिष्टों को कहेंगे—करंज, चव्य, चित्रक, देवदारु, सारिवा, दन्ती, निशोथ, त्रिकटु, प्रत्येक छः पल, बेर एक कुड़व, त्रिफला (मिलित) एक कुड़व, इन सबका चूर्ण, पिप्पली, मधु और घृत से अन्दर में लिप्त किये, एवं धूप आदि देकर संस्कार किये घड़े में—पानी सात कुड़व, लोहभस्म आधा कुड़व, गुड़ की आधा तुला, तथा उपर्युक्त सबका चूर्ण मिलाकर सुरक्षित करके, जौ के ढेर में सात दिन तक रख देवे। फिर अग्निबल के अनुसार बरते। यह अरिष्ठ कुष्ठ, प्रमेह, मेद, पाण्डुरोग, श्वयथु को नष्ट करता है। इसी प्रकार शालसारादिगण, न्यग्रोधादिगण और आरग्वधगण से अरिष्टों को बनाये॥६॥

आसवानतो वक्ष्यामः—पलाशभस्मपरिस्रुतस्योष्णोदकस्य शीतीभूतस्य त्रयो भागा द्वौ फाणितस्यैकध्यमरिष्टकल्पेन विदध्यात्। एवं तिलादीनां क्षारेषु, शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ मूत्रेषु चासवान् विदध्यात् ॥ ७ ॥

इसके आगे आसवों को कहेंगे—ढाक की भस्म को गरम पानी में घोलकर नितार ले। शीतल होने पर इसके तीन आढक राब दो आढक, इनको अरिष्ट विधि से बनाये। इसी प्रकार अश्मरी में पढ़े तिल आदि औषधियों के क्षारों में आसव बनावे। और शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गणों के योग से मूत्रों में आसवों को बनावे। त्रिफला, बेर का चूर्ण इसमें भी मिलाये।

वि० मन्तव्य—शार्ङ्गधराचार्य का वह वाक्य जो अरिष्ट एवं आसव में भेदसूचक है एकपक्षीय है, सर्वसम्मत नहीं। आपने अपनी शार्ङ्गधर संहितामें लिखा है कि–यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टःक्वाथसिद्धः स्यात् (शा०सं०अ०१०)। इस

प्रकार आपने सुरा की परिभाषा भी भिन्न प्रकार से लिखी है, यथा—परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः । श्री सुश्रुत ने इन परिभाषाओं का अनुकरण नहीं किया है ॥७॥

अथ सुरां वक्ष्यामः—शिंशपाखदिरयोः सारमादायोत्पाट्य चोत्तमारणीब्राह्मीकोशवतीस्तत्सर्वमेकतः कषायकल्पेन विपाच्योदकमाददीत मण्डोदकार्थं, किण्वपिष्टमभिषुणुयाच्च यथोक्तम् । एवं सुराः शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च विदध्यात् ॥८॥

इसके आगे सुरा कहते हैं—शीशम और खैर का सार भाग (मध्यभाग) लाकर, इसको फाड़कर उत्तमारणी, ब्राह्मी, देवदाली इन सबको एक साथ कषाय विधि से पकाकर क्वाथ को मण्ड कार्य के लिये (घोलने के लिये) लेकर इसमें किण्व पिष्ट (सुरा बीज) कही हुई विधि से (मूत्र स्थान में विरेचनाधिकार में कही) मिलाये । इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गण से सुरा बनाये ।

वक्तव्य—उत्तमारणी के स्थान में कोष में उत्तर-वारुणी-पढ़कर करम्भा या इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण) अर्थ दिया है। अथवा उत्तमा-त्रिफला अरणी, अग्निमन्थ-ये दो द्रव्य हो सकते हैं ॥८॥

अतोऽवलेहान् वक्ष्यामः—खदिरासननिम्बराजवृक्षशालसारक्वाथे तत्सारपिण्डाञ्छ्लक्ष्णपिष्टान् प्रक्षिप्य विपचेत्, ततो नातिद्रवं नातिसान्द्रमवतार्य तस्य पाणितलं पूर्णमप्रातराशो मधुमिश्रं लिह्यात् । एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च लेहान् कारयेत् ॥९॥

इसके आगे अब लेहों को कहेंगे—खैर, असन, नीम, अमलतास, शाल का मध्यभाग, इनके क्वाथ में इन्हीं द्रव्यों के मध्यकाष्ठ को बारीक पीसकर मिलाकर, पकाये। जब यह न तो बहुत पतला, न बहुत गाढ़ा हो, तब उतारकर, इसकी पाणितल (कर्ष मात्रा या हथेली भर मात्रा) मात्रा को मधु में मिलाकर, प्रातःकाल कुछ न खाते हुए खाये। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गण से अवलेह बनाये ।

वक्तव्य—डल्हण ने अप्रातराश का अर्थ 'सायंकाल ही भोजन करता हुआ खाये। अर्थात् दिन में एक ही समय, सायंकाल को ही भोजन करे' किया है ॥९॥

अतश्चूर्णक्रियां वक्ष्यामः—शालसारादीनां सारचूर्णप्रस्थमाहृत्यारग्वधादिकषायपरिपीतमनेकशः शालसारादिकषायेणैव पाययेत्, एवं न्यग्रोधादीनां फलेषु पुष्पेष्वारग्वधादीनां चूर्णक्रियां कारयेत् ॥१०॥

इसके आगे चूर्ण क्रिया को कहेंगे—शालसारादि गण की औषधियों के सार भाग का चूर्ण एक प्रस्थ लाकर, आरग्वधादि कषाय से इसको अनेक बार भावित करके, शालसारादिगण के कषाय के साथ ही पिलाये । इसी प्रकार न्यग्रोधादि गण के फलों के चूर्ण को, आरग्वधादि गण के पुष्पों के चूर्णों की भावना देकर इनसे चूर्ण क्रिया बनाये ॥१०॥

अत ऊर्ध्वमयस्कृतीर्वक्ष्यामः—तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण निर्वापयेत् षोडशवारान् ततः खदिराङ्गारतप्तान्युपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेद् घनतान्तवपरिस्रावितानि ततो यथाबलं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्यनम्लमलवणमाहारं कुर्वीत, एवं तुलामुपयुज्य कुष्ठमेहमेदःश्वयथुपाण्डुरोगोन्मादापस्मारानपहत्य वर्षशतं जीवति, तुलायां तुलायां वर्षशतमुत्कर्षः, एतेन सर्वलोहेष्वयस्कृतयो व्याख्याताः ॥

इसके आगे अयस्कृति, कहते हैं—तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रों पर सैन्धव-सौवर्चल आदि लवण वर्ग का लेप करके, गोबर के अग्नि में लाल गरम करके, त्रिफला, शालसारादि कषाय में इनको बुझाये (ठंडा करे) । इस प्रकार सोलह बार करे । फिर इनको खैर के अंगारों पर गरम करके, ठण्डा होने दे । पीछे से इनको फिर खैर के अंगारों पर गरम करे (इस प्रकार सोलह बार या जब तक चूर्ण होने लायक न हों तब तक करे । इनका सूक्ष्म चूर्ण करके बहुत महीन वस्त्र (रेशम) से इसको छान ले । फिर अग्नि बल के अनुसार इसकी मात्रा को मधु और घृत में मिलाकर खाये । इसके पचने पर रोग के अनुसार, नमक और खटाई से रहित भोजन करे । इस प्रकार इस चूर्ण की एक तुला (एक सौ पल) खाकर, कुष्ठ, मेद, मेह, शोथ, पाण्डुरोग उन्माद अपस्मार से मुक्त होकर एक सौ वर्ष जीता है । एक एक तुला के उपयोग से एक एक सौ वर्ष आयु बढ़ती है । इसी प्रकार से दूसरे सब लोहों (स्वर्ण-चाँदी आदि) की अयस्कृतियाँ बनाये ।

वि० मन्तव्य—अयस्कृतिः—लोह अथवा लोहों (स्वर्ण आदि धातु भी लोह कहे जाते हैं) की कृति–कर्म या संस्कार करना अर्थात् उनको खाने योग्य बनाना। यह सब विधान लोह आदि का क्षार बनाने का विधान है । आज भी एलोपैथी इसी विधान का अनुसरण प्रायः कर रही है, यथा—स्वर्ण लवण, रजत लवण आदि २ ॥

त्रिवृच्छ्यामाग्निमन्थसप्तलाकेबुकशङ्खिनीतिल्वकत्रिफलापलाशशिंशपानां स्वरसमादाय पालाशीं द्रोण्यामभ्यासिच्य खदिराङ्गारतप्तमयःपिंडं त्रिसप्तकृत्वो निर्वाप्य तमादाय पुनरासिच्य स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत् ततश्चतुर्थभागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य भूयोऽग्नितप्तान्ययःपत्राणि प्रक्षिपेत्, सिध्यति चास्मिन् पिप्पल्यादिचूर्णभागं द्वौ मधुनस्तावद्घृतस्येति दद्यात्, ततः प्रशान्तमायसे पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं शुक्तिं प्रकुञ्चं चोपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्याहारमुपसेवेत । एषौषधायस्कृतिरसाध्यं कुष्ठं प्रमेहं वा साधयति, स्थूलमपकर्षति, शोफमुपहन्ति, सन्नमग्निमुद्धरति विशेषेण चोपदिश्यते राजयक्ष्मिणां, वर्षशतायुश्चानया पुरुषो

भवति। शालसारादिक्वाथमासिच्य पालाश्यां द्रोण्यामयोघनांस्तप्तान्निर्वाप्य कृतसंस्कारे कलशेऽभ्यासिच्य पिप्पल्यादिचूर्णभागं क्षौद्रं गुडमिति च दत्त्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, एतां महौषधायस्कृतिं मासमर्धमासं वा स्थितां यथाबलमुपयुञ्जीत। एवं न्यग्रोधादावारेवतादिषु च विदध्यात् ॥१२॥

निशोथ, काली निशोथ, अरणी, सप्तला, केचुक, शंखिनी, तिल्वक, त्रिफला, ढाक, शीशम, इनका स्वरस (अभाव में क्वाथ या शीत कषाय) लेकर गीले ढाक की बनी द्रोणी (टब) में डाल देवे। फिर लोहे के पिण्ड को खैर के अंगारों में गरम करके इस स्वरस में बुझाये। इस प्रकार से इक्कीस बार करे। फिर इस पानी को (स्वरस को) लेकर थाली में (चौड़े पात्र में) रखकर गोबर की आग से पाक करे। जब यह स्वरस चौथाई रह जाये, तब इसको उतारकर, छान ले। फिर दुबारा लोहे के पत्रों को आग में लाल करके इसमें डाल देवे। (इन लोह पत्रों को इस कषाय से पीसकर इसीमें मिला दे।) फिर इनमें पिप्पल्यादि चूर्ण एक भाग (लोह पात्र के बराबर), मिलाकर पकाये। जब यह लेह की भाँति हो जाये, उतारकर ठण्डा करे, ठण्डा होने पर इसमें मधु दो भाग (एक सौ पल) और घी भी एक सौ पल मिलाये। जब सब बन जाये, तब इसको लोह पात्र में रख कर सुरक्षित रख देवे। फिर योग के अनुसार आधा पल या एक पल खाये। इसके पचने पर रोग के अनुसार आहार करे। यह औषध अयस्कृति असाध्य कुष्ठ या प्रमेह को भी अच्छा कर देती है। मोटापे को कम करती है, शोथ को नष्ट करती है। मन्द अग्नि को बढ़ाती है, राजयक्ष्मा रोगियों के लिये विशेष रूप में कही जाती है। इसके उपयोग से पुरुष की आयु एक सौ बरस की होती है। ढाक की द्रोणी में शालसारादि गण का क्वाथ डालकर, आग में लाल किये लोहे के पिण्डों को इसमें बुझाकर, धूप आदि से संस्कृत बनाये घड़े में इस कषाय को लोह पिण्डों समेत डालकर, इसमें पिप्पल्यादिगण का चूर्ण एक भाग मधु, और गुड़ दो-दो भाग मिलाकर सुरक्षित स्थान पर रख देवे। इस महौषधायस्कृति को एक मास या पन्द्रह दिन के पीछे अग्निबल के अनुसार बरते। इसी प्रकार न्यग्रोधादि, आरेवतादि (आरग्वधादिगण) से भी अयस्कृतियाँ बनाये।

वक्तव्य—प्रथम योग में गुड़ मिलाना मूल पाठ में नहीं है, परन्तु डल्हण ने "द्वौ मधुनः द्वौ गुडस्येतिपलाशतमित्यर्थः"—लिखा होने से इस में गुड़ भी मिलाना चाहिये ॥१२॥

अतः खदिरविधानमुपदेक्ष्यामः—प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा तस्य मध्यमं मूलं छित्त्वाऽयोमयं कुम्भं तस्मिन्नन्तरे विदध्याद्यथा रसग्रहणसमर्थो भवति, ततस्तं गोमयमृदाऽवलिप्तमवकीर्येन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेद्यथाऽस्य दह्यमानस्य रसः स्रवत्यधस्तात, तद्यथा जानीयात् पूर्णं भाजनमिति। अथैनमुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन् पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च, प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। खदिरसारतुलामुदकद्रोणे विपाच्य षोडशांशावशिष्टमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, तमामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत। एष एव सर्ववृक्षसारेषु कल्पः। खदिरसारचूर्णतुलां खदिरसारक्वाथमात्रां वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, खदिरसारक्वाथसिद्धमाविकं वा सर्पिः॥

इसके आगे खदिर विधान को कहते हैं—प्रशस्त देश में उत्पन्न, अग्नि-धूप आदि से न मारे हुये, मध्यम वय (तरुण), खैर को चारों ओर से खोदकर, उसके मध्यममूल (मुख्य जड़) को काटकर इसके बीच में लोहे का एक घड़ा इस प्रकार से रक्खे, कि गिरा हुआ रस इस घड़े में गिरे। फिर इस खैर को चारों ओर गोबर और मिट्टी से लेप करके, लकड़ी, उपले आदि से घेरकर, इसमें आग लगा देवे। जिससे जलने पर इसका रस नीचे घड़े में गिरे। जब जाने कि घड़ा भर गया, तब इस घड़े को निकालकर, छानकर, दूसरे पात्र में रखकर सुरक्षित रख देवे। फिर योग के अनुसार इसकी मात्रा को आँवले के रस, मधु और घी में मिलाकर खाये। इसके पचने पर भिलावे की भाँति आहार एवं परहेज करे। एक प्रस्थ खाने पर एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है। खैर के सार भाग की एक तुला (एक सौ पल) को एक द्रोण जल में पकाये। जब सोलहवाँ भाग रह जाये, तब उतारकर सुरक्षित रख देवे। यही इसको आँवले के रस, मधु और घी में मिलाकर खाये। यही विधान सब वृक्षसारों के लिये है। खैर के सार के चूर्ण की एक तुला को, या खैर के सार के क्वाथ की मात्रा को प्रतिदिन प्रातः खाये। अथवा खैरसार के क्वाथ में सिद्ध किया भेड़ का घी बरते।

वक्तव्य—प्रशस्तदेश—"तत्र देशे जांगले साधारणे वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणे कुश्मशानचैत्यदेवयजनागारसभाश्वभ्रारामवल्मीकोषरविरहिते, कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णस्वर्णवर्णमधुरमृत्तिके मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैः बलवत्तरैः द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते।" चरक० क० अ० १।६॥१३॥

अमृतवल्लीस्वरसं क्वाथं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, तत्सिद्धं वा सर्पिः अपराह्णे ससर्पिष्कमोदनमामलकयूषेण भुञ्जीत, एवं मासमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुच्यत इति ॥१४॥

गिलोय का स्वरस या क्वाथ प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे। अथवा गिलोय के क्वाथ से सिद्ध किया घृत खाये। सायंकाल में घी मिश्रित भात को आँवले के यूष से खाये। इस प्रकार एक मास करने से सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त हो जाता है ॥१४॥

कृष्णतिलभल्लातकतैलामलकरससर्पिषां द्रोणं शालसारादिकषायस्य च, त्रिफलात्रिकटुकपरुषफलमज्जविडङ्गफलसारचित्रार्कावल्गुजहरिद्राद्वयत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीन्द्रयवयष्टीमधुकातिविषारसाञ्जनप्रियङ्गूणां पालिका भागास्तानैकध्यं स्नेहपाकविधानेन पचेत्, तत् साधुसिद्धमवतार्य परिस्राव्यानुगुप्तं निदध्यात्। तत उपसंस्कृतशरीरः प्रातः प्रातरुत्थाय पाणिशुक्तिमात्रं क्षौद्रेण प्रतिसंसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन सर्पिष्मन्तं खदिरोदकसिद्धं मृद्वोदनमश्नीयात् खदिरोदकसेवी, इत्येवं द्रोणमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुक्तः शुद्धतनुः स्मृतिमान् वर्षशतायुररोगो भवति ॥१५॥

काले तिल, भिलावे का तेल, आँवले का रस, घी, शालसारादि कषाय, प्रत्येक एक द्रोण, त्रिफला, त्रिकटु, फालसे की गुठली, वायविडंग, एरण्ड, आक, बावची, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, जमालगोटा, मोगलई एरण्ड, इन्द्रजौ, मुलैहठी, अतीस, रसौत, प्रियंगु—प्रत्येक एक पल, इन सबको मिलाकर स्नेह पाक विधि से पकाये। फिर भली प्रकार पकने पर छानकर, इसको सुरक्षित स्थान पर रख देवे। फिर वमनादि से शरीर का संस्कार करके, प्रतिदिन प्रातःकाल इसकी एक पल मात्रा को मधु के साथ मिलाकर खाये। इसके पचने पर नमक रहित मूंग और आँवले के यूष के साथ, खैर के क्वाथ में पकाया, कोमल भात घी डालकर खाये। खैर का ही क्वाथ पीने में बरते। इस प्रकार से एक द्रोण भर खाकर मनुष्य सब प्रकार के कुष्ठों से मुक्त हो जाता है, शरीर शुद्ध हो जाता है, स्मृतिशाली होता है, एक सौ बरस तक नीरोगी होता है ॥१५॥

भवति चात्र—

सुरामन्थासवारिष्टांल्लेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥१६॥

इसमें श्लोक भी है—बुद्धिमान् व्यक्ति इन बीज रूप योगों से हजारों (बहुत से) सुरा, मन्थ, आसव, अरिष्ट, लेह, चूर्ण, अयस्कृतियाँ बनाले ॥ चरक में—

बीजमिव कर्म्मकस्य सूत्रं बुद्धिमताम्।
अल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महाकुष्ठचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे प्रमेह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

द्वौ प्रमेहौ भवतः—सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥३॥

प्रमेह दो प्रकार का होता है, सहज (जन्मजात) और अपथ्य कारण जन्य। इनमें सहज प्रमेह माता पिता के बीज दोषजन्य है। अहिताहारजन्य प्रमेह अपथ्य कारण से होता है। इनमें पूर्व प्रकार के प्रमेह से पीड़ित रोगी कृश, रूक्ष, थोड़ा खानेवाला, प्यासयुक्त और अतिशय घूमने के स्वभाववाला होता है। अपथ्य सेवन जन्य प्रमेही स्थूल, बहुत खानेवाला, स्निग्ध, लेटने बैठने सोने में सुख अनुभव करनेवाला प्रायः होता है।

वक्तव्य—"स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च॥ संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥" चरक। तत्रान्तर में एक श्लोक दिया है—"रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥" इसका अभिप्राय यह नहीं कि आर्त्तव धर्म होते रहने से स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता। स्त्रियों में मधुमेह या अन्य प्रकार के प्रमेह देखे जाते हैं। परन्तु जिन औरतों को ठीक प्रकार से नियमित रूप में रजोदर्शन होता रहता है, उनमें प्रमेह नहीं मिलता। प्रमेह उन्हीं औरतों में होता है, जिनको मासिक धर्म नियमित या शुद्ध रूप से नहीं होता। ठीक प्रकार से नियमित रूप में मासिक धर्म होने से शरीर के दोष शुद्ध होने से प्रमेह होने की सम्प्राप्ति का अवसर ही नहीं रहता। इसी से कहा है "कफः सपित्तः पवनश्च दोषाः, मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः। मज्जा रसोजः पिशितं च दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः॥" चरक० चि० अ० ६-८ ॥३॥

तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत, स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः ॥४॥

इनमें कृश व्यक्ति की खान-पान की संस्कृत की क्रियाओं से (स्निग्ध क्रियाओं से) चिकित्सा करे। स्थूल पुरुष की अपतर्पणवाली क्रियाओं से (व्यायाम, तिक्तकटु आदि रसों से) चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"गुरु चातर्पणं श्रेष्ठं स्थूलानां कर्षणं प्रति। कृशानां बृंहणार्थे च लघुसन्तर्पणं च यत्॥ वातघ्नान्यन्नपानानि

श्लेष्ममेदोहराणि च। रूक्षोष्णा बस्तयस्तीक्ष्णा रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च" ॥ ४ ॥

सर्व एव च परिहरेयुः सौवीरकतुषोदकशुक्तमैरेयसुरासवतोयपयस्तैलघृतेक्षुविकारदधिपिष्टान्नाम्लयवागूपानकानि ग्राम्यानूपौदकमांसानि चेति ॥५॥

सब प्रकार के प्रमेही—सौवीरक (सतुषकांजी), तुषोदक (निस्तुषकांजी), शुक्त, मैरेय, सुरा, आसव, पानी, दूध, तैल, घी, इक्षु विकार (गुड़ आदि), दही, पिठ्ठी से बनी वस्तु, अम्ल, यवागू, पानक (शर्बत), ग्राम्यमांस, आनूपमांस, औदकमांस इनको त्याग करे ॥५॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवोद्दालकाननवान् भुञ्जीत चणकाढकीकुलत्थमुद्‍गविकल्पेन, तिक्तकषायाभ्यां च शाकगणाभ्यां निकुम्भेङ्गुदीसर्षपातसीतैलसिद्धाभ्यां, बद्धमूत्रैर्वा जाङ्गलैर्मांसैरपहृतमेदोभिरनम्लैरघृतैश्चेति ॥६॥

फिर पुरातन शालि, सांठी, जौ, गेहूँ, कोद्रा, उद्दालकों को, चना, अरहर, कुलत्थी और मूंग इनके साथ बदल बदल खाये। तिक्त गण पनवाड़, पटोल आदि, कषायगण-वटशुंगादि शाकगणों को दन्ती, इंगुदी (हिंगोट), सरसों, अलसी, इनके तैल में सिद्ध करके इनके साथ खाये। हरिण आदि का मांस, मेद निकालकर जांगल पशुओं के मांस को बिना घी और बिना खटाई के खायें॥ चरक में –

"मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः
पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही
तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ॥"

चरक० चि० अ० ६।२०।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में दन्ती अर्थात् जमालगोटा के तैल में शाक आदि को सिद्ध करके खाने का विधान किया है, परन्तु वह अत्यन्त तीव्र वामक एवं विरेचक है, रत्ती आधी रत्ती की मात्रा में भी। अतः चिकित्सक को विचारकर कार्य करना चाहिये। यदि किसी दिन वमन विरेचन कराना हो तो ½ या ¼ रत्ती का प्रयोग किया जा सकता है अन्यथा नहीं, जैसे निम्नलिखित सूत्र ७ में बतलाया गया है ॥६॥

तत्रादित एव प्रमेहिणं स्निग्धमन्यतमेन तैलेन प्रियङ्ग्वादिसिद्धेन वा घृतेन वामयेत् प्रगाढं विरेचयेच्च विरेचनादनन्तरं सुरसादिकषायेणास्थापयेन्महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैन्धवयुक्तेन दह्यमानं च न्यग्रोधादिकषायेण निःस्नेहेन ॥७॥

इनमें सबसे प्रथम स्निग्ध प्रमेह रोगी को प्रियंगु आदि गण से सिद्ध किये उपर्युक्त किसी तेल से या घी से तीक्ष्ण वमन कराये, और तीक्ष्ण विरेचन देवे। विरेचन के पीछे सुरसादि गण के कषाय में सोंठ, देवदारु, मुस्ता का प्रक्षेप एवं मधु और सैन्धव मिलाकर आस्थापन वस्ति देवे। यदि जलन होती हो तो तैल रहित न्यग्रोधादिकषाय से वस्ति देवे।

"स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः
कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते,
मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम् ॥" चरक चि० अ० ६

निःस्नेह का अर्थ कोई अल्प घृत करते हैं। कफ प्रमेह में वमन, पित्त प्रमेह में विरेचन दे ॥७॥

ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्ताकषायं वा, शालकम्पिल्लकमुष्ककल्कमक्षमात्रं वा मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं, कुटजकपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा, निम्बारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि, एते पञ्च योगाः सर्वमेहानामपहन्तारो व्याख्याताः ॥८॥

शरीर का शोधन हो जाने पर आँवले के रस से (चार पल), हल्दी को (एक कर्ष)–मधु (एक कर्ष) मिलाकर पिलाये। त्रिफला, देवदारु, इन्द्रवारुणी, मुस्ता इनका क्वाथ पिलाये। शाल, कमीला, मुष्कक इनका कल्क एक कर्ष, मधु से मीठे किये आँवले के रस और हल्दी के साथ देवे। कुटज, कैथ, रोहेड़ा, बहेड़ा, सप्तपर्ण इनके फूलों का कल्क या नीम, अमलतास, सप्तपर्ण, मूर्वा, कुटज, विट्खैर, ढाक, इनकी छाल, पत्ते, मूल, फल, पुष्प के कषाय का उपयोग करे। ये पाँच योग सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करते हैं। (इन सब योगों में आंवले का रस, हल्दी और मधु मिलाना चाहिये। इसीसे कहा है– "क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसेनामलकीफलानाम्।"चरक॥

विशेषश्चात ऊर्ध्वं—तत्रोदकमेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्, इक्षुमेहिनं वैजयन्तीकषायं, सुरामेहिनं निम्बकषायं, सिकतामेहिनं चित्रककषायं शनैर्मेहिनं खदिरकषायं, लवणमेहिनं पाठाऽगुरुहरिद्राकषायं, पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं, सान्द्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं, शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरञ्जकसेरुककषायं ककुभचन्दनकषायं वा फेनमेहिनं त्रिफलारग्वधमृद्वीकाकषायं, मधुमधुरमिति, पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेत्, हरिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायम्, अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं, क्षारमेहिनं त्रिफलाकषायं, मञ्जिष्ठामेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दुकास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रम्, अत ऊर्ध्वमसाध्येष्वपि योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः, तद्यथा सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिङ्गुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्। वसामेहिनमग्निमन्थकषायं शिंशपाकषायं वा, क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं, हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुःस्पर्शाकषायं मधुमधुरं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति, दह्यमानमौदककन्दक्वाथसिद्धां यवागूं क्षीरेक्षुरसमधुरां पाययेत॥

इसके आगे विशेष रूप में कहते हैं—उदकमेही को पारिजात (फरहद) का कषाय पिलाये। इक्षुमेही को वैजयन्ती (अरणी) कषाय पिलाये। सुरामेही को नीम का कषाय, सिकतामेही को चित्रक का कषाय, शनैःमेही को खैर का कषाय, लवणमेही को पाठा, अगरु और हल्दी का कषाय, पिष्टमेही को हल्दी, दारुहल्दी का कषाय, सान्द्रमेही को सप्तपर्ण का कषाय, शुक्रमेही को दूब, शैवाल, प्लव (केवटी मोथा), हठ (जलकुम्भी) करंज और कसेरु का कषाय या ककुभ (अर्जुन) और चन्दन का कषाय, फेनमेही को त्रिफला, अमलतास और द्राक्षा का कषाय दे। इन सब कषायों को मधु से मीठा करके देवे। पित्तजन्य प्रमेहों में नीलमेही को शालसारादिगण का या पीपल का कषाय पिलाये। हरिद्रामेही को अमलतास का कषाय, अम्लमेही का न्यग्रोधादि गण का क्वाथ, क्षारमेही को त्रिफला कषाय, .मजिष्ठामेही को मजीठ और चन्दन का कषाय, शोणितमेही को—गिलोय, तिन्दुक की गुठली, गम्भारी, खर्जूर का कषाय देवे, इन सब में मधु मिलाये। इसके आगे असाध्य प्रमेहों में भी यापना के लिये योगों को कहेंगे—यथा-सर्पिमेही को—कुष्ठ, कुटज, पाठा, हींग, कुटकी का कल्क, गिलोय, चित्रक के कषाय से पिलाये। वसामेही को अग्निमन्थ का या शीशम का कषाय, मधुमेही को कदर (खैर—जिसमें बदबू आती है), और सुपारी का कषाय हस्तिमेही को तिन्दुक, कैथ, शिरीष,ढाक, पाठा, मूर्वा, धमासा इनका कषाय पिलाये, सब कषायों में मधु मिलाये। हाथी, घोड़ा, सुअर, गधा, ऊँट इनकी अस्थियों को जलाकर इनका क्षार पानी में घोलकर शीतल रूप में हस्तिमेही को पिलाये।

शरीर में जलन होने पर (प्रमेह में जलीय धातु—क्लेद के क्षीण होने से, इसके विरोधी पित्त के बढ़ने पर दाह होता है)—औदक कन्दों (कमल की जड़, विस, कसेरु, सिंघाड़ा आदि) के क्वाथ में सिद्ध की यवागू को दूध, गन्ने का रस इनसे मीठा करके पिलाये।

वक्तव्य—प्रमेहों में मधु का मधुर रस विधेय है, क्योंकि यह योगवाही है "नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।" चरक। दूसरी सब शर्करायें—खासकर दानेदार मशीन की शक्कर बहुत हानिकारक है। कन्दों का क्वाथ-षडंग परिभाषा से करना चाहिये। इस तरह बनाई यवागू अपवाद रूप है ॥९॥

ततः प्रियङ्ग्वनन्तायूथिकापद्मात्रायन्तिकालोहितिकाम्बष्ठादाडिमत्वक्शालपर्णीपद्मतुङ्गकेशरधातकीबकुल-शाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवांश्च कुर्वीत, शृंगाटकगिलोड्यविसमृणालकाशकसेरुकमधुकाम्रजम्ब्वसनतिनिशककुभकट्वंगरोध्रभल्लातकपलाशचर्मवृक्षगिरिकर्णिकाशीतशिरनिचुलदाडिमाजकर्णहरिवृक्षराजादनगोपघोण्टाविकङ्कतेषु वा, यवान्नविकारांश्च सेवेत, यथोक्तकषायसिद्धां यवागूं चास्मै प्रयच्छेत्, कषायाणि-वा पातुम् ॥१०॥

प्रियंगु, अनन्ता (सारिवा), यूथिका (जूही), भार्गी, त्रायन्तिका (मेंहदी), लोहितिका (मजीठ), अम्बष्ठा (पाठा-जल जमनी), अनार की छाल, शालपर्णी, कमल, नागकेशर, धाय का फूल (धातकी), मौलसरी, सिम्बल, धूपवृक्ष, मोचरस (सिम्बल का गोंद) इनसे पूर्व की भांति अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव बनाये। सिंघाड़ा, कमलकन्द, विष, कमलनाल, कास, कसेरु, मुलैहठी, आम, जामुन, असन, सांदन, अर्जुन, श्योनाक, लोध, भिलावा, ढाक, चर्मवृक्ष (कीकर या दूसरा कोई), अपराजिता, शीतशिव (डल्हण के मत से शतपुष्पा भेद, दूसरों के मत से चन्दन), जलवेतस, अनार, अजकर्ण, हरिवृक्ष (धव), खिरनी, गोपघंटा (झाड़ी बेर), विकङ्कत (वैंकड़ा) इनसे आसव, अरिष्ट, अयस्कृति लेह बनाये। जौ से बने भक्ष्यों को खाये। प्रियंगु आदि या शृंगाटक आदि के कषाय में सिद्ध यवागू इसे पीने को देवे तथा कषाय पीने को देवे ॥१०॥

महाधनमहिताहारमौषधद्वेषिणमीश्वरं वा पाठाभयाचित्रकप्रगाढमनल्पमाक्षिकमन्यतममासवं पाययेत्, अंगारशूल्योपदंशं वा माध्वीकमभीक्ष्णं, क्षौद्रकपित्थमरिचानुविद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेत्, उष्ट्राश्वतरखरपुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु; हिङ्गुसैन्धवयुक्तैर्यूषैः सार्षपैश्च रागैर्भोजयेत्; अविरुद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेद्रसगन्धवन्ति च; प्रवृद्धमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीडागजतुरगरथपदातिचर्यापक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सेवेरन् ॥११॥

बड़े भारी ऐश्वर्यवाला मनुष्य, या राजा जो कि अहिताहार हो, और औषधियों से द्वेष करता हो, उसे पाठा, हरड़, चित्रक की प्रचुर मात्रा एवं अतिशय मधु मिलाकर प्रियंगु आदि गण का कोई आसव पिलाये। अंगारों पर सेके हुए मांस के साथ माध्वीक मद्य बार-बार देवे। खान, पान में मधु, कैथ, मरिच मिलाकर देवे। भोजनों में ऊँट, खच्चर, गधा की लीद का चूर्ण मिलाकर देवे। हींग और सैन्धव मिले यूषों से तथा सरसों राई रागों (रायता आदि) के साथ भोजन देवे। जो विरोधी न हों, ऐसे खान, पान, रस एवं गन्धयुक्त (रुचि पैदा करने के लिये) इसको देवे। बढ़े हुए प्रमेहवाले रोगी व्यायाम, कुश्ती आदि खेल, घोड़े-हाथी या रथ की सवारी, पैदल मुसाफिरी-घूमना-फिरना, अस्त्र (शास्त्र विहित धनुष),

उपास्त्र—(शास्त्र नियम वर्जित धनुष) का उपयोग करे।

वक्तव्य—धर्मशास्त्रों में—आर्य संस्कृति में इसीलिये तीर्थ यात्रा-तीर्थ दर्शन का महत्त्व है। मनुष्य साल भर में एक बार बद्रीनाथ पैदल जब जायेगा, वहाँ के मुनिधान्य, तृणधान्य खायेगा, परिश्रम करेगा, वह नीरोगी रहेगा, यह इस देश की दृष्टि से सोचना है।

वि० मन्तव्य—अस्त्रोपास्त्रे—अस्त्र--धनुष का चढ़ाना खींचना, आदि अभ्यास तथा उपास्त्र-गुलेल, ढेला फेंकना आदि अभ्यास। व्यायाम आदि सब प्रमेह-पीडितों के लिये लाभदायक हैं। क्रीड़ा—कबड्डी आदि दौड़-धूपवाली क्रीड़ा। इन सबका तात्पर्य है कि प्रमेह रोगी घोर परिश्रम करता रहे यह सब हेतुविपरीत चिकित्सा है ॥११॥

अधनस्त्वबान्धवो वा पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्याशी ग्रामैकरात्रवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिकं वा गच्छेत्, महाधनो वा श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्, तन्मूत्रशकृद्भक्षः सततमनुव्रजेद्गाः, ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्राह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः खनेद्वा कूपम्, कृशं तु सततं रक्षेत् ॥१२॥

जो मनुष्य गरीब हो, कोई परिचारक, भाई—मित्र न हो, उसे चाहिये कि जूता और छाता छोड़कर, नंगे सिर और नंगे पैर ही भिक्षावृत्ति (मधुकरी) पर जीवन निर्वाह करते हुए, एक ग्राम में (एक स्थान में) एक बसेरा करके, मुनि के साथ इन्द्रियों को वश में रखकर, एक सौ योजन या इससे भी अधिक चले। अथवा जो ऐश्वर्य शाली हो, वह सांवक-नीवार पर रहकर आंवला, कैथ, तिन्दुक, अश्मन्तक (सिरहटा) के फलों का आहार करते हुए मृगों के साथ (जंगल में) रहे। मूत्र, गोबर को खाते हुए निरन्तर गायों के पीछे चले (गायों के मूत्र पीवे और गोबर को खाये)। अथवा यदि वह ब्राह्मण हो-शिला एवं उञ्छवृत्ति पर रहकर ब्रह्मरथ का उद्धार करे। ब्राह्मण से दूसरा मनुष्य हल चलाये या कुएं को खोदे। कृश व्यक्ति की सदा रक्षा करे—उससे मेहनत न कराये।

वक्तव्य—काटते हुए गेहूँ आदि की भूमि पर गिरे रहने से बचे अन्न को उठाना शिलवृत्ति-चावल की कणियों (जो कि पछोड़ कर अलग निकाल ली जाती हैं) पर रहना उंछवृत्ति है।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैः
उद्वर्त्तनैः स्नानजलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलाऽगुरुचन्दनाद्यैः
विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः॥

क्लेदश्च मेदश्च कफप्रवृद्धो
प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु
मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि॥

चरक० चि० अ० ६।

वि० मन्तव्य—ब्रह्मरथमुद्धरेत् के स्थान में—"ब्रह्मरथमुपधारयेत् पठेत् सततम्, इतरः खनेद् वा कूपम्" पाठान्तर है। इसका अर्थ है-ब्राह्मण ब्रह्मरथ अर्थात् वेद का उपधारण-पठन-पाठन करे निरन्तर—सर्वदा। इतरः अर्थात् ब्राह्मणेतर-अन्य शूद्र कूप को खोदे, तालाब बावड़ी खोदे। इन सबका तात्पर्य है कि प्रमेह रोगी घोर परिश्रम किया करे। देखा जाता है कि घोर परिश्रम करनेवाले प्रायः प्रमेह से पीड़ित नहीं होते ॥१२॥

भवति चात्र—

**अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्नतन्द्रितः।
संवत्सरादन्तराद्वा प्रमेहात् प्रतिमुच्यते ॥१३॥**

इस विषय में श्लोक है—निर्धन मनुष्य वैद्य के उपदेशानुसार-बिना आलस्य के इस प्रकार से बरते। इस प्रकार करने पर एक साल में या बीच में ही प्रमेह रोग से मुक्त हो जाता है॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

**अथातः प्रमेहपिडकाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥**

अब इसके आगे प्रमेह पिडका चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

शराविकाद्या नव पिडकाः प्रागुक्ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ता मृद्व्योऽल्परुजः क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः ॥३॥

शराविका आदि नौ पिड़कायें पहले कह दी हैं। इनमें-बलवान् (सत्त्ववान् धैर्यशाली) पुरुष में, छोटी होने से, त्वचा और मांस में ही स्थिर रहने पर, कोमल एवं थोड़ी पीड़ा-वाली, तथा जल्दी पकनेवाली एवं फूटनेवाली पिड़कायें साध्य होती हैं।

वक्तव्य—ये पिड़कायें प्रमेह के बिना भी होती हैं। यथा—"बिना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः॥ जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥"

वि० मन्तव्य—नि० स्थान अ० ६ में—१० पिड़का

कही हैं। यहाँ भी "नव" के स्थान में "दश" पाठ होना चाहिये ॥३॥

ताभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्। तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं वनस्पतिकषायं बस्तमूत्रं चोपदिशेत्, एवमकुर्वतस्तस्य मधुराहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तो भवति, तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत एवमकुर्वतस्तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणिते प्रदूष्य शोफं जनयन्त्युपद्रवान् वा कांश्चित्, तत्रोक्तः प्रतीकारः सिरामोक्षश्च, एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्रं रुजो विदाहमापद्यते, तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च, एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः, तस्मादादित एव प्रमेहिणमुपक्रमेत् ॥४॥

शराविका आदि पिड़काओं से पीड़ित प्रमेह रोगी की चिकित्सा करे। इन पिड़काओं के पूर्वरूपों में ही अपतर्पण, बरगद आदि का कषाय, बकरे का मूत्र पिलाये। इस प्रकार न करने से और मधुर भोजन करते रहने पर मूत्र, स्वेद और कफ मधुर हो जाता है और प्रमेह स्पष्ट दीखता है। इस अवस्था में वमन, विरेचन दोनों संशोधन ले। इस प्रकार न करने से मांस और रक्त दूषित होकर शोफ को तथा कई उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं। इसके लिये द्विव्रणीय में अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त कही चिकित्सा और सिरामोक्षण करे। इसमें भी चिकित्सा न करने पर इस रोगी के अतिशय बढ़े शोफ में वेदना और विदाह विशेष रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में शस्त्र कर्म और व्रणक्रिया चिकित्सा आवश्यक होती है। इस समय में भी उपचार न करने से-पूय अन्दर के मांस-तन्तु-सिरा आदि को नष्ट करके, खोखला बनाकर—बहुत बड़ी केवीटी (गुहा) बनाने से रोग असाध्य हो जाता है। इसलिये प्रमेह रोगी की प्रारम्भ में ही चिकित्सा करे।

वक्तव्य—"त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, प्रगतिभूयस्त्वात्। स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृप्तिं लभते। शरीरशैथिल्यात् स विसर्पन् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति। मेदसश्चैव बहुबद्धत्वात्, मेदसश्च गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्ठत्वात्। स मेदसा मिश्रीभावं गच्छन्दूषयत्येनद् विकृतत्वात्। स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गं गच्छति। क्लेदमांसयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात् समांसे मांसप्रदोषात्, पूतिमांसपिडकाः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्, शरीरक्लेदं पुनः दूषयन् मूत्रत्वेन परिणमयति ॥" चरक० नि० अ० ॥ ४।६ ॥४॥

भल्लातकबिल्वाम्बुपिप्पलीमूलोदकीर्यावर्षाभूपुनर्नवाचित्रकशटीस्नुहीवरुणकपुष्करदन्तीपथ्या दशपलोन्मिता यवकोलकुलत्थांश्च प्रास्थिकान् सलिलद्रोणे निष्क्वाथ्य चतुर्भागावशिष्टेऽवतार्य वचात्रिवृत्कम्पिल्लकभार्गीनिचुलशुण्ठीगजपिप्पलीविडङ्गरोध्रशिरीषाणां भागैरर्धपलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेन्मेहश्वयथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्रधिपिडकानां नाशनं नाम्ना धान्वन्तरम् ॥५॥

भिलावा, बिल्व, मुस्ता, पिप्पलीमूल, करंज, श्वेतपुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, चित्रक, कचूर, थोर, वरणा, पुष्करमूल, दन्ती, हरड़, प्रत्येक दस पल, जौ, बेर, कुलत्थी, प्रत्येक एक प्रस्थ, पानी एक द्रोण लेकर क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर उतार कर, इसमें वच, निशोथ, कमीला, भार्गी, जलवेतस, सोंठ, गजपिप्पली, विडंग, लोध, शिरीष प्रत्येक आधापल, घी एक प्रस्थ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत प्रमेह, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदर, अर्श, प्लीहा, विद्रधि पिड़काओं को नष्ट करता है, इसका नाम धान्वन्तर घृत है ॥५॥

दुर्विरेच्या हि मधुमेहिनो भवन्ति मेदोऽभिव्याप्तशरीरत्वात्, तस्मात्तीक्ष्णमेतेषां शोधनं कुर्वीत। पिडकापीडिताः सोपद्रवाः सर्व एव प्रमेहा मूत्रादिमाधुर्ये मधुगन्धसामान्यात् पारिभाषिकीं मधुमेहाख्यां लभन्ते ॥६॥

मधुमेह रोगी का विरेचन बहुत ही कठिनाई से होता है, क्योंकि इसके शरीर में मेद बहुत बढ़ी होती है। इसलिये इसको तीक्ष्ण विरेचन देवे। पिड़का से पीड़ित, उपद्रव युक्त सब प्रमेह, मूत्र आदि (स्वेद-कफ आदि) में मधुरता आने से, मधु के समान गन्ध होने से मधुमेह इस परिभाषा से कहे जाने लगते हैं।

वक्तव्य—"सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या हि भवन्ति हि ॥ मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥" वाग्भट्ट। मधुमेह दो प्रकार का होता है, यथा—"क्रुद्धे धातुक्षयाद् वायौ दोषैरावृतपथेऽथवा ॥"

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं,
मधूपमं स्याद् द्विविधोपचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्
संतर्पणाद्वा कफसंभवः स्यात् ॥ चरक ॥६॥

न चैतान् कथंचिदपि स्वेदयेत्, मेदोबहुत्वादेतेषां विशीर्यते देहः स्वेदेन ॥७॥

इनको कभी भी किसी प्रकार स्वेद न देवे। मेद की अधिकता के कारण स्वेद से इनके शरीर नष्ट हो जाते हैं।

"कषायमद्यनित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम्।
पित्तिनां सातिसाराणां रूक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥
भिषक्तैमिरिकाणां च न स्वेदमवतारयेत् ॥"
च० सू० अ० १४।१६-१९ ॥७॥

रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः, ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडकाः प्रादुर्भवन्ति ॥

रस, पित्त, कफ, रक्तवहा धमनियों के निर्बल होने से प्रमेहियों में दोष ऊपर को नहीं जाते (अपितु दोष नीचे भाग में ही अधिक रहते हैं, इसलिये विरेचन ही अधिक दे)। इससे मधुमेह रोगियों के शरीर के अधो भाग में पिड़कायें होती हैं ॥

अपक्वानां तु पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः पक्वानां व्रणवदिति, तैलं तु व्रणरोपणमेवादौ कुर्वीत, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, शालसारादिकषायं परिषेचने, पिप्पल्यादिकषायं पानभोजनेषु, पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टाक्षुद्राबृहतीसारिवासोमवल्कसप्तपर्णारग्वधकुटजमूलचूर्णानि मधुमिश्राणि प्राश्नीयात् ॥९॥

अपक्व पिड़काओं की चिकित्सा व्रण शोफ की भाँति और पक्व पिड़काओं की चिकित्सा व्रण की भाँति करे। व्रण रोपण में तैल को प्रारम्भ से ही बरते। उत्सादन में आरग्वधादि कषाय, परिषेचन में शालसारादि गण का कषाय, खान पान में पिप्पल्यादि कषाय देवे। पाठा, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा, कटेरी, बड़ी कटेरी, सारिवा, कट्फल, सप्तपर्ण, अमलतास, कुटजमूल इनके चूर्ण मधु में मिलाकर खाने को देवे ॥९॥

शालसारादिवर्गकषायं चतुर्भागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुनरुपनीय साधयेत्, सिध्यति चामलकरोध्रप्रियङ्गुदन्तीकृष्णायस्ताम्रचूर्णान्यावपेत, एतदनुपदग्धं लेहीभूतमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगमुपयुञ्जीत, एष लेहः सर्वमेहानां हन्ता ॥१०॥

शालसारादि गण का कषाय, जब चौथाई रह जाये, तब इसको उतारकर, छानकर, फिर आगपर पकाये। पकाते समय इसमें—आँवला, लोध, प्रियंगु, दन्ती, कालालोह और ताम्र भस्म मिला देवे। इस लेह को जलने से बचाकर, लेह बन जाने पर (कड़छी पर चिपकने लगे) उतारकर सुरक्षित स्थान रख देवे। फिर योग के अनुसार खाये। यह लेह सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है।

वि० मन्तव्य—कृष्णायस्ताम्रचूर्णानि—कृष्णलोह अर्थात् लोह का और ताम्र का चूर्ण अर्थात् चूना—भस्म। भस्म बनाने की विधि सु० चि० अ० १० के सू० ११–१२ में लिखी है। अथवा रस शास्त्र के अनुसार बनाई गई भस्मों का प्रयोग करे ॥१०॥

त्रिफलाचित्रकत्रिकटुकविडङ्गमुस्तानां नव भागास्तावन्त एव कृष्णायश्चूर्णस्य; तत्सर्वमैकध्यं कृत्वा यथायोगं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, एतन्नवायसम्; एतेन जाठयं न भवति, सन्नोऽग्निराप्यायते, दुर्नामशोफपाण्डुकुष्ठरोगाविपाककासश्वासप्रमेहाश्च न भवन्ति ॥११॥

त्रिफला, चित्रक, त्रिकटु, वायविडंग, मुस्ता, ये नौ भाग, काले लोहे की भस्म भी इतनी ही अर्थात् नौ भाग, इन सब को मिलाकर योग के अनुसार मात्रा में मधु और घी के साथ मिलाकर खाये, इसका नाम नवायस है। इससे उदर रोग (या स्थूलता) नहीं होती, मन्द अग्नि प्रदीप्त होती है, अर्श, शोफ, पाण्डु, कुष्ठ, अविपाक, कास, श्वास, प्रमेह नहीं होते॥

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्थांशावशेषिते।
परिस्रुते ततः शीते मधु माक्षिकमावपेत् ॥१२॥
फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च।
श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च ॥१३॥
ऐकध्यमावपेत् कुम्भे संस्कृते घृतभाविते।
पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्तेऽन्तःशुचौ दृढे ॥१४॥
श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान्।
खदिराङ्गारतप्तानि बहुशः सन्निपातयेत् ॥१५॥
सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत्।
मासांस्त्रींश्चतुरो वाऽपि यावदालोहसंक्षयात् ॥१६॥
ततो जातरसं तं तु प्रातः प्रातर्यथाबलम्।
निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥१७॥
कार्श्यकृद्वह्निनामेष सन्नस्याग्नेः प्रसाधकः।
शोफनुद् गुल्महृत् कुष्ठमेहपाण्ड्वामयापहः ॥१८॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः।
अभिष्यन्दापहरणो लोहारिष्टो महागुणः ॥१९॥

लोहारिष्ट—शालसारादिगण का क्वाथ चौथाई बचाकर छान ले। ठण्डा हो जाने पर इसमें (मधुमद्य) शहद मिलाये। जब यह राब जैसा हो जाये, तब इसमें साफ किया गुड़ और पिप्पल्यादिगण की औषधियों को बारीक पीसकर मिला देवे। फिर घी से चिकने किये, धूप आदि देकर संस्कृत किये घड़े में पिप्पली चूर्ण और मधु का लेप करके इस घड़े में उपर्युक्त औषध को डाल देवे। फिर तीक्ष्ण लोह के चिकने-पतले पत्रों को खैर के अंगारों पर गरम करके बहुत बार इसमें डालता जाये। इसको ढांप कर जौ के ढेर में तीन या चार महीने तक अथवा जब तक लोहा घुले, इसको रहने दे। फिर तैयार हो जाने पर प्रतिदिन इसको अग्नि बल के अनुसार पीये। मोटे पुरुषों को यह पतला करता है, मन्द अग्नि को प्रदीप्त करता है। शोफ, गुल्म, कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डु रोग को नष्ट करता है। प्लीहोदर को नष्ट करता है, विषमज्वर को शीघ्र नष्ट करता है। अभिष्यन्द को नष्ट करता है, यह लोहारिष्ट महा शक्तिशाली है। (अभिष्यन्द शब्द से-मूत्र निःस्यन्द लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—लोहारिष्ट की निर्माणविधि-शालसारादिगण चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ १ द्रोण, मधु आधी तुला (५० पल), गुड़ १ तुला (१०० पल), पिप्पल्यादि गण का चूर्ण १० पल डालना चाहिये। लोह पत्र १—२ सेर डाल देना चाहिये। वे उसमें जितने मान में घुल जायँ उतना ही उत्तम हैं ॥१२-१९॥

प्रमेहिणो तदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्।

विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते ॥२०॥

प्रमेह रोगी का मूत्र जब पिच्छिलता रहित, गदलेपन से रहित (साफ), विशद (रूक्ष), तिक्त एवं कटु रसवाला हो जाता है, तब आरोग्य कहा जाता है ॥२०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहपिडका-
चिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो मधुमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मधुमेह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

मधुमेहित्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम् ।
योगेनानेन मतिमान् प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥३॥
मांसे शुक्रे शुचौ चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः ।
जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥४॥
शिलाजत्विति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम् ।

जिसे कि मधुमेह हो गया है, वैद्यों ने जिसे जवाब दे दिया है, उस प्रमेह रोगी की बुद्धिमान् वैद्य इस योग से चिकित्सा करे। ज्येष्ठ और आषाढ़ मास में सूर्य की किरणों से गरम हुये पर्वत लाख के समान स्वरस, शिलाओं से चुआते हैं, क्योंकि यह शिलाओं से लाख के समान बहता है, इसलिये शिलाजतु कहते हैं, यह सब रोगों को नष्ट करता है ॥ चरक में—

"न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः
शिलाह्वयं यन्न जयेत्प्रसह्य ।
तत्कालयोगैः विधिभिः प्रयुक्तं,
सुस्वस्थचोर्जो विपुलां दधाति" ॥३,४॥

त्रप्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम् ॥५॥
ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षडयोनिप्रथितं क्षितौ ।

शिलाजतु-त्रपु (रांगा), सीसा, तांबा, चाँदी, स्वर्ण और कृष्णलोह इन छैः में से किसी एक के साथ मिला रहता है। इसके छै कारण (उत्पत्तिस्थान) हैं। इनको इनकी अपनी गन्ध से जानना चाहिये। (चरक में स्वर्ण, चाँदी, ताम्र और लोहे के ही शिलाजतु के गुण कहे हैं। त्रपु और सीसा का अति उपयोगी न होने से छोड़ दिये हैं) ॥५॥

लोहाद् भवति तद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥६॥
तस्य लोहस्य तद्वीर्यं रसं चापि बिभर्ति तत् ।

इसमें जो शिलाजतु लोह में से उत्पन्न होता है, वह लाख के समान होता है, यह लोहे के रस, (वीर्य) और प्रभाववाला होता है। चरक में इसीको श्रेष्ठ कहा है, यथा—

"कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ।
गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु योगिकाः ॥
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ।" चरक ॥६॥

त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम् ॥७॥
यथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठे श्रेष्ठगुणाः स्मृताः ।

त्रपु, सीस, ताम्र, चाँदी, सोना और लौह के शिलाजतु में उत्तरोत्तर शिलाजतु श्रेष्ठ है। तो भी प्रयोग में श्रेष्ठ द्रव्य में श्रेष्ठ गुण होते हैं ॥७॥

तत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम् ॥८॥
कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा ।

सब प्रकार के शिलाजतु—तिक्त, कटुरस, कषाय अनुरस, सर (मृदुविरेचक) विपाक में कटु उष्णवीर्य शोषक एवं छेदन करनेवाले हैं।

वक्तव्य—चरक में केवल ताम्र का शिलाजतु उष्ण कहा है, शेष को शीतवीर्य कहा है। वास्तव में शिलाजतु 'नात्युष्णशीतं' न बहुत उष्ण न बहुत शीत अर्थात् योगवाही है। जैसे कि रक्त को सुश्रुत में अनुष्णाशीत कहा है। यथा—"अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णत । शोणितम्" ॥८॥

तेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं च यत् ॥९॥
गोमूत्रगन्धि यच्चापि तत् प्रधानं प्रचक्षते ।

इनमें जो शिलाजतु कृष्णवर्ण, भारी, स्निग्ध, रेती आदि से रहित, गोमूत्र की गन्धवाला हो, वह उत्तम कहा जाता है ॥९॥

तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषो दिनोदये ॥१०॥
पिबेत् सारोदकेनैव श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम् ।
जाङ्गलेन रसेनान्नं तस्मिञ्जीर्णे तु भोजयेत् ॥११॥
उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात् ।
वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः ॥१२॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः ।
शतं शतं तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके ॥१३॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः ।
मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम् ॥१४॥
शोषं शोफार्शसी गुल्मं पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
अपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम् ॥१५॥
न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यान्न शिलाजतु ।
शर्करां चिरसंभूतां भिनत्ति च तथाश्मरीम् ॥१६॥
भावनालोडने चास्य कर्तव्ये भेषजैर्हितैः ।

इस शिलाजतु को शालसारादि गण से भावना देकर, वमनादि से शरीर का शोधन करके, प्रातःकाल मेही, शालसारादि गण के क्वाथ से पीसकर (घोलकर) इसको बल के अनुसार पीये। इसके जीर्ण होने पर जांगल मांस रस से भोजन खाये। इस प्रकार अमृत के समान शिलाजतु के एक सौ पल खाकर, शरीर-वर्ण-बल से पुष्ट हो जाता है, मधुमेह जाता रहता है। बुढ़ापे से रहित बनकर, देवताओं के समान होकर

एक सौ वर्ष जीता है। एक सौ पल सेवन करने से एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है, दस तुला (तुला एक सौ पल खाने पर एक हजार वर्ष की आयु होती है। भिलावे के समान परहेज पाले। प्रमेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, गरविष, शोष, शोफ, अर्श, गुल्म, पाण्डु, विषमज्वर इनको देर तक सेवन करने पर शिलाजतु नष्ट करती है। ऐसा कोई रोग नहीं जिसे शिलाजतु अच्छा न करे। चिरकाल से उत्पन्न शर्करा और अश्मरी को यह तोड़ देती है। हितकारी औषधियों से शिलाजतु की भावना और घोलना चाहिये। चरक में—

"पयांसि तक्राणि रसाः सयूषाः
तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्ताः
ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्॥

पथ्य—शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत्॥
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वात् अश्मनो भेदनाः परम्।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते॥

वि० मन्तव्य—शिलाजतु के सेवन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसको १ तुला भर अथवा इससे भी अधिक (१०० पल, अथवा कई सौ पल) खाने का विधान है, परन्तु रोगी १—२ तो० अथवा ५-७ तोला शिलाजीत खाकर ही कोई लाभ न होने पर विरत हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि इससे कोई लाभ नहीं हुआ और इसकी प्रतिदिन की मात्रा भी भगवान् पुनर्वसु ने—पलं अर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता (च० चि० अ० १), ४ तो०, २ तो० अथवा १ तो० कही है। खानेवाले १-२ रत्ती की मात्रा खाकर पूरा लाभ चाहते हैं, और उसके पथ्य आदि पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। इन सब बातों का विचार वैद्य तथा रोगी को अवश्य करना चाहिये ॥१०-१६॥

एवं च माक्षिकं धातुं तापाजममृतोपमम् ॥१७॥
मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम्।
पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान् ॥१८॥
तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थांश्च विवर्जयेत्।

इसी प्रकार तापी नदी में उत्पन्न अमृततुल्य माक्षिक धातु स्वर्णमाक्षिक या रजतमाक्षिक को पीने से जरा, कुष्ठ, मेह, पाण्डुरोग, क्षय नष्ट होते हैं। स्वर्णमाक्षिक मधुररस एवं रजतमाक्षिक अम्लरस होता है। शिलाजतु और माक्षिक का सेवन करनेवाला मनुष्य कपोत (कबूतर) और कुलत्थ को सदा के लिये छोड़ देवे ॥१७,१८॥

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम् ॥१९॥
योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्।

पंचमधातु (मेद में स्थित) में कुष्ठ के पहुँचने पर जब संशोधन, संशमन, अभ्यंग, गुग्गुलु आदि किसी से भी लाभ न हो सके, तब (अथवा वमनादि पाँचों कार्य जहाँ व्यर्थ दीखते हों) श्रद्धालु एवं जीने की इच्छावाले, कुष्ठ रोगी की भी बुद्धिमान् वैद्य इस योग से चिकित्सा करे ॥१९॥

वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु ॥२०॥
वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः।
तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे ॥२१॥
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च।
तिलवत् पीडयेद् द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत् ॥२२॥
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात्।
अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ॥२३॥
स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान्।
चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे ॥२४॥
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम्।
तत्र मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्र्यते ॥२५॥
'मज्जसार महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय।
शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः ॥२६॥
तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषायान्त्यसकृत्ततः।
अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत् ॥२७॥
पञ्चाहं प्रपिबेत्तैलमनेन विधिना नरः।
पक्षं परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः ॥२८॥
पञ्चभिर्दिवसैरेवं सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते।
तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ॥२९॥
निहितं पूर्ववत् पक्षात् पिबेन्मासमतन्द्रितः।
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम् ॥३०॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम् ॥३१॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना।
पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ॥३२॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम्।
वपुष्मन्तं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम् ॥३३॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया।
महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः ॥३४॥

पश्चिम समुद्र के (कोंकण एवं मलयालं के समुद्र के किनारे) किनारे तुवरक नामक वृक्ष हैं, इनके पत्ते समुद्र की लहरों के थपेड़ों से कम्पित हुई वायु से हिलते रहते हैं। वर्षा आने पर इसके भली प्रकार पके हुए फलों को एकत्रित कर ले। इन फलों में से मज्जा को निकालकर, सुखाकर चूर्ण कर ले। इसको द्रोणी (कोल्हू) में तिलों की भाँति पीडन करे, या कुसुम्भ की भाँति हाथों से दबाकर तेल निकाल ले। इस तेल को फिर पकाकर सब पानी नष्ट कर देवे। फिर इस तेल को लेकर, गोबर के ढेर में पन्द्रह दिन रख देवे। स्नेहन, स्वेदन करके दोषों को निकालकर (वमनादि से) पन्द्रह दिन के उपरान्त,

सावधानी से, शुक्ल पक्ष में, उत्तम दिन में, चौथे समय के सायंकाल के भोजन में (पन्द्रह दिन के पीछे अगले दिन प्रातः सायं स्वाभाविक भोजन करे। दूसरे दिन प्रातः स्वाभाविक भोजन करे, और सायंकाल के स्वाभाविक भोजन में) मंत्र से पवित्र किये हुए इस तैल की मात्रा को बल के अनुसार पीये। जिस मंत्र से यह तैल अभिमन्त्रित किया जाता है, उसे यहाँ पर कहता हूँ। 'हे मज्जसार! महावीर्य! सब धातुओं का शोधन कर। शंख, चक्र, गदा हाथ में लिये हुए भगवान् कृष्ण तुमको आज्ञा कर रहे हैं।' इस तैल से रोगी के दोष वमन और विरेचन के रूप में एक साथ प्रवृत्त होते हैं। सायंकाल में नमक और स्नेह रहित, शीतल यवागू इनको पीने के लिये देवे। इस विधि से मनुष्य पाँच दिन तैल पीये। फिर पन्द्रह दिन छोड़कर, मूंग यूष के साथ चावल खाये। इस प्रकार पाँच दिन में ही कुष्ठ से मुक्त हो जाता है। इसी तेल को तीन गुणे खैर के क्वाथ में भली प्रकार सिद्ध करके, पूर्व की भाँति गोबर में रखकर पन्द्रह दिन के पीछे एक मास तक विना आलस्य के पीये। इसी तैल का शरीर पर अभ्यंग करे और कहा हुआ मूँग का यूष और चावल खाये। जिस का स्वर बैठ गया हो, आँखों में सुर्खी हो, मांस झड़ रहा हो, कीड़े पड़ गये हों, उस कुष्ठ रोगी की भी इस प्रयोग से वैद्य चिकित्सा करे। इस तैल को घी और मधु के साथ मिला कर खैर के क्वाथ के साथ पीने से एवं पक्षियों के मांस रस का आहार करने पर दो सौ वर्ष की आयु होती है। पचास दिन तक इस तेल का नस्य लेने से मनुष्य उत्तम शरीरवाला और सुनते ही धारण करनेवाला, तीन सौ वर्ष की आयु का होता है। इस तुवरक फल की मज्जा मात्रा में पीने से मनुष्य का शोधन करती है। तुवरक अतिशक्तिशाली कुष्ठ और प्रमेह के नाशन में श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—तुवरक तैल की मात्रा—कर्ष प्रमाण, अनुपान, शीतलजल, फलों का रस।

वि० मन्तव्य—तुवरक-भावप्रकाश निघण्टु में जिस तुवरी तैल का उल्लेख है वह इससे भिन्न है। वह तुवरी-सरसों के से क्षुप होते हैं जो पञ्जाब में 'तोरिया' या तोड़िया नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु निघण्टुरत्नाकर (विष्णु वासुदेव गोडबोलेकृत) में तुवरक की चर्चा इस प्रकार है—'तुवरः सागरोद्भूतः कुष्ठ-हाऽलसकापहः। तुवरस्तुवरश्चोष्णो रसे पाके च तिक्तकः॥ कफव्रणकृमिमेहकुष्ठज्वरविनाशनः। आनाहमर्शः शोफं च च नाशयेद् इति ते जगुः॥' इस पाठ में "ते जगुः" पाठ से प्रतीत होता है कि यह पाश्चात्य निघण्टुकारों की ओर संकेत है। गोडबोले तथा आपके सहायकों ने स्यात् सुश्रुत के तुवरक पर ध्यान नहीं दिया। जो कुछ हो, हमारे विचार में यह सुश्रुत का ही तुवरक है, क्योंकि इसके विवरण में गोडबोले महाशय ने लिखा है कि—इसके वृक्ष समुद्र एवं नदियों के तट पर होते हैं। शालिग्राम निघण्टु भूषण ॥२०-३४॥

सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः
क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च।
पैल्यं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्
नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन ॥३५॥

तुवरक फल की मज्जा अन्तर्धूम विधि से जलाकर तुवरक के तैल में डालकर इसमें सैन्धव नमक और सुरमा मिलाये। इसका अंजन करने से पिल्लरोग अर्म, नक्तान्ध्य, कांच, नीली रोग और तिमिर नष्ट होते हैं। (डल्हण ने मज्जा, सैन्धव, अंजन तीनों को अन्तर्धूम विधि से जलाना लिखा है) ॥३५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मधुमेहचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथात उदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे उदररोगों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—यद्यपि अतिसार, ग्रहणीरोग एवं शूल आदि अनेक रोग उदर में होते हैं, परन्तु वे उदर के एक देश में होते हैं और उदर रोग उदर के यकृत् एवं अन्त्र तथा हृदय आदि मध्यकायिक समस्त अवयवों की विकृति से उत्पन्न होते हैं ॥१,२॥

अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि। तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि च, अवशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि, सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत। तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः, उत्तरः शस्त्रसाध्यः, कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि वा ॥३॥

आठ उदर पहले कह दिये हैं, इनमें बद्ध गुदोदर और परिस्रावी उदर असाध्य हैं। शेष उदर कष्टसाध्य हैं। सभी उदर रोगों को असाध्य कहकर चिकित्सा आरम्भ करे। इनमें पहले चार उदर (वात, पित्त, कफ, सन्निपातोदर) औषधसाध्य हैं, शेष पिछले चार (प्लीहोदर, बद्धगुदोदर, छिद्रोदर, दकोदर) शस्त्रसाध्य हैं। अथवा समय की अधिकता के कारण सब ही उदर शस्त्रसाध्य होते हैं अथवा असाध्य हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—इसका विवरण नि० अ० ७ में किया गया है ॥३॥

उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत्, शालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान् नित्यमश्नीयात् ॥४॥

उदर रोगी-गुरु, अभिष्यन्दि, रूक्ष, विदाही, स्निग्ध पदार्थ मांस, स्नान, अवगाहन को छोड़ देवे। शाली, सांठी, जौ, गेहूँ, नीवार को सदा खाये ॥४॥

तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य, चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगन्धादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, साल्वणेन चोपनाह्येदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन च, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥५॥

उनमें वातोदर रोगी को विदारिगन्धादि गण से सिद्ध घृत से स्नेहन देकर, तिल्वक से पकाये घी से विरेचन देकर, विदारिगन्धादि के कषाय में एरण्ड तैल प्रचुर मात्रा में मिलाकर आस्थापन और अनुवासन देवे। उदर पर साल्वण उपनाह बाँधे। विदारिगन्धादि से सिद्ध दूध से या जांगलमांसरस से इसको भोजन कराये। बार-बार स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—साल्वण उपनाह चि० अ० ४ श्लो० १४-१५ में देखिये ॥५॥

पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, श्यामात्रिफलात्रिवृद्धिपक्वेनानुलोम्य, शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, पायसेनोपनाह्येदुदरं भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा ॥६॥

पित्तोदर रोगी को काकोल्यादि मधुर गण से पकाये घृत से स्नेह करके, निशोथ से पकाये घी से विरेचन देकर, न्यग्रोधादि गण के कषाय में प्रचुर मात्रा में शर्करा, मधु, घृत मिलाकर आस्थापन और अनुवासन देवे। उदर पर खीर बाँधे। विदारिगन्धादि गण से सिद्ध दूध से इसको खिलाये ॥६॥

श्लेष्मोदरिणं तु पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य, स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य, त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलबीजकल्कैश्चोपनाह्येदुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥७॥

कफोदर रोगी को पिप्पल्यादि कषाय से सिद्ध घृत से स्नेहन करके, स्नुही दूध से पकाये घी से विरेचन देकर, मुष्ककादि गण के क्वाथ में त्रिकटु, गोमूत्र, यवक्षार, तैल प्रचुर मात्रा में मिलाकर आस्थापन और अनुवासन वस्ति देवे। सन, अलसी, धाय के फूल, सुराबीज, सरसों, मूली के बीज इनके कल्क से उदर पर उपनाह करे। त्रिकटु बहुल कुलत्थी के यूष से या खीर से इसको भोजन खिलाये। बार-बार स्वेद देवे ॥

दूष्योदरिणं तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्धमासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा; शुद्धकोष्ठं तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्; इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेद्वल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत् तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ॥८॥

दूष्योदर रोगी को असाध्य कहकर सप्तला, शंखिनी, इनके स्वरस से सिद्ध घृत से एक मास तक या पन्द्रह दिन विरेचन देवे। थोर का दूध, सुरा, गोमूत्र में सिद्ध घृत से विरेचन देवे। कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर मद्य के साथ, कनेर, रत्ती, काकादनी, इनके मूल के कल्क को पिलाये। अथवा गन्ने के टुकड़े को काले सांप से कटवाकर या, ककड़ी, खीरा आदि सांप से कटवाकर खिलावे। मूलज या कन्दज विष का सेवन करे। एवं इससे या तो रोगी नीरोग हो जाता है, या मर जाता है।

"क्रियातीते त्रिदोषे च जठरे चोपशाम्यति।
ज्ञातीन्ससुहृदो दारान्ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरून्॥
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन्।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्॥
एवमाख्याय तस्यैदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः।
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत्॥
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम्।
तद्भोजयेदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः।
तेनास्य दोषसंघातः स्थिरो लीनो विमार्गगः॥
विषेणाशुप्रमाथित्वात् आशुभिन्नः प्रवर्त्तते।
विषेण हृतदोषं तं शीताम्बु परिषेचितम्॥" चरक।

वि० मन्तव्य—इसके नीचे लिखे चरकोक्त सन्दर्भ को पूर्णरूप से देखिये। च० चि० अ० १३ में ॥८॥

भवति चात्र—
कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च।
सर्वोदरेषु शंसन्ति बहुशस्त्वनुलोमनम् ॥९॥

इस विषय में श्लोक है—उदर रोगों में मुख्यकारण कुपित वायु तथा मलों का एकत्रित होना है। इसलिये सब उदरों में बहुत बार विरेचन देना उत्तम माना जाता है, बहुत बार विरेचन देवे।

अतिसंचितदोषाणां, पापं कर्म च कुर्वताम्।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः॥
मलवृद्ध्या प्रवर्त्तन्ते विशेषेणोदराणि तु॥
चरक० चि० अ० १३ ॥९॥

अत ऊर्ध्वं सामान्ययोगान् वक्ष्यामः। तद्यथा-एरण्डतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी, माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम्, उष्ट्रीक्षीराहारो वाऽन्नवारिवर्जी पक्षं, पिप्पलीं वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनासेवेत, सैन्धवाजमोदायुक्तं वा निकुम्भतैलम्, आर्द्रश्रृङ्गवेररसपात्रशतसिद्धं वा वातशूलेऽवचार्य, चव्यश्रृङ्गवेरकल्कं वा श्रृङ्गवेररसविपक्वं क्षीरमासेवेत,

पयसा सरलदेवदारुचित्रकं वा, (सु) सुरङ्गीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं वा, ज्योतिष्कफलतैलं वा क्षीरेण स्वर्जिकाहिङ्गुमिश्रं पिबेत्, गुडद्वितीयां वा हरीतकीं भक्षयेत्, स्नुहीक्षीरभावितानां वा पिप्पलीनां सहस्रं कालेन पथ्याकृष्णाचूर्णं वा स्नुहीक्षीरभावितामुत्कारिकां पक्वां दापयेत्; हरीतकीचूर्णं प्रस्थमाढके घृतस्यावाप्याङ्गारेष्वभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वाऽर्धमासं यवपल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीक्वाथाम्लदधीन्याबाप्य विपचेत् तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेत्, विपक्वं चावतार्य शीतीभूतं मन्थानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्, तद्यथायोगं मासं मासार्धं वा पाययेत्; चव्यचित्रकदन्त्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदाहरिद्राशङ्खिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्धकार्षिका भागा राजवृक्षफलमज्जामष्टौ कर्षाः महावृक्षक्षीरपले द्वे, गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि, एतत् सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; एतानि तिल्वकघृतचतुर्थानि सर्पींष्युदरगुल्मविद्रध्यष्ठीलानाहकुष्ठोन्मादापस्मारेषूपयोज्यानि विरेचनार्थं; मूत्रासवारिष्टसुराश्चाभीक्ष्णं महावृक्षक्षीरसंभृताः सेवेत; विरेचनद्रव्यकषायं वा शृङ्गवेरदेवदारुप्रगाढम् ॥१०॥

इसके आगे सामान्य योगों को कहेंगे—तद्यथा एरण्ड तैल को प्रतिदिन मूत्र के साथ या दूध के साथ एक मास या दो मास तक पीये, इस बीच में पानी न पीये। सात दिन भैंस के मूत्र को दूध के साथ निराहार रहकर पीये। अन्न और जल छोड़कर ऊँटनी का दूध ही पन्द्रह दिन पीये। पूर्वोक्त विधि (वर्धमान पिप्पली नियम) से पिप्पली का एक मास तक सेवन करे। दन्ती के तैल को सैन्धव और अजवायन के साथ पीये। वातशूल में आर्द्रक के एक आढ़क स्वरस में सिद्ध किया दन्ती तैल देवे। आर्द्रक रस से सिद्ध किया दूध सेवन करे। और आर्द्रक के कल्क को अथवा चीड़, देवदारु, चित्रक इनके कल्क को दूध के साथ सेवन करे। शोभांजन, शालपर्णी, निशोथ, पुनर्नवा के कल्क को दूध के साथ पीये। मालकंगनी के तेल में सर्जक्षार हींग मिलाकर दूध के साथ पीये। हरड़ को गुड़ के साथ खाये। थोर के दूध में भावित एक हजार पिप्पलियों को जितने समय में खा सके खाये। हरड़ और पिप्पली के चूर्ण को थोर के दूध में भावित करके उत्कारिका (लपसी बनाकर) देवे। हरड़ का चूर्ण एक प्रस्थ लेकर एक आढ़क घी में मिलाकर, अग्नि पर पिघलाकर, मन्थन दण्ड से मथकर, सुरक्षित करके पन्द्रह दिन जौ के ढेर में रख देवे। फिर निकालकर, छानकर, हरड़ का क्वाथ, खट्टी दही मिलाकर पकाये। फिर योग के अनुसार एक मास या आधा मास पीये। गाय के दूध में थोर का दूध मिलाकर पकाये, पक जाने पर उतारकर, ठण्डा होने पर मथानी से मथकर, मक्खन निकालकर, फिर इस मक्खन को थोर के दूध से ही पकाये। फिर योग के अनुसार एक मास या पन्द्रह दिन पीये। चव्य, चित्रक, दन्ती, अतीस, कूठ, सारिवा, त्रिफला, अजवायन, हल्दी, शंखिनी, निशोथ, त्रिकटु, प्रत्येक आधा कर्ष, अमलतास का गूदा आठ कर्ष, थोर का दूध दो पल, गौ का दूध, गौ का मूत्र प्रत्येक आठ पल, घी एक प्रस्थ, इन सबको एक साथ पकाये। इस घृत को एक मास या आधा मास खाये। ये तीनों घृत और चौथा तिल्वकघृत ये सब घृत उदर, गुल्म, विद्रधि, अष्ठीला, आनाह, कुष्ठ, उन्माद, अपस्मार में विरेचन के लिये देने चाहिये। थोर के दूध से मिलाये, मूत्र, आसव, अरिष्टों को बहुत बार सेवन करे। त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों का क्वाथ सोंठ, देवदारु का चूर्ण मिलाकर (एक कर्ष मात्रा) पीये। (एरण्ड तैल प्रतिदिन लेने में मरोड़ा न हो, इसलिये सोंठ का चूर्ण मिला लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—चिकित्सा करते समय बीच २ में आवश्यकतानुसार जिसे उचित समझे उस योग से विरेचन देते रहना चाहिये। इन योगों में कुछ योग तीव्र एवं कुछ योग मृदु विरेचन हैं। सरल अर्थात् चीढ़ तथा देवदारु का गोन्द लेना चाहिये ॥१०॥

वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याणां पालिका भागाः पिप्पल्यादिवचादिहरिद्रादिपरिपठितानां च द्रव्याणां श्लक्ष्णपिष्टानां यथोक्तानां च लवणानां, तत्सर्वं मूत्रगणे प्रक्षिप्य महावृक्षक्षीरप्रस्थं च मृद्वग्निना अवघट्टयन् विपचेदप्रदग्धकल्कं, तत्साधुसिद्धमवतार्य शीतीभूतमक्षमात्रा गुटिका वर्तयेत्, तासामेकां द्वे तिस्रो वा गुटिका बलापेक्षया मासांस्त्रींश्चतुरो वा सेवेत, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया विशेषेण महाव्याधिषूपयुज्यते (विशेषेण) कोष्ठजांश्च क्रिमीनपहन्ति कासश्वासक्रिमिकुष्ठप्रतिश्यायारोचकाविपाकोदावर्तांश्च नाशयति ॥११॥

संशोधन संशमनीय अध्याय में कहे वमन द्रव्य (मदनफलादि), विरेचन द्रव्य (त्रिवृदादि), शिरोविरेचनद्रव्य (विडंगादि) प्रत्येक एक एक पल, द्रव्य संग्रहणीयाध्याय में पठित, पिप्पल्यादि, वचादि, हरिद्रादि गण के द्रव्य जो मिल सकें उनको, सब नमक, इनको बारीक पीसकर, सब (आठों) मूत्रों में घोल दे। इसमें थोर का दूध भी एक प्रस्थ मिलाये। फिर इस सबको मृदु अग्नि से पकाये, पकाते समय निरन्तर कड़छी से चलाता जाये। कल्क जलने न पाये। जब भली प्रकार सिद्ध हो जाये, तब उतारकर, ठण्डा होने पर कर्ष के बराबर गोली बनाये। इनमें से दो, या तीन गोलियों को बल की अपेक्षा से तीन या चार महीने खाये। यह आनाहवर्त्ति प्रायः करके महारोगों में विशेष रूप से (मूत्र के अनुपान से) बरती

जाती है। कोष्ठ के कृमियों को नष्ट करती है। कास, श्वास, कृमि, कुष्ठ, प्रतिश्याय, अरोचक, अविपाक, उदावर्त्त को नष्ट करती है।

वक्तव्य—आठ महारोग-प्रमेह, अर्श, कुष्ठ आदि हैं ॥११॥

मदनफलमज्जकुटजजीमूतकेदवाकुधामार्गवत्रिवृत्त्रिकटुकसर्षपलवणानि महावृक्षक्षीरमूत्रयोरन्यतरेण पिष्ट्वाऽङ्गुष्ठमात्रां वर्तिं कृत्वोदरिण आनाहे तैललवणाभ्यक्तगुदस्यैकां द्वे तिस्रो वा पायौ निदध्यात्, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया वातमूत्रपुरीषोदावर्ताध्मानानाहेषु विधेया ॥१२॥

मैनफल की मज्जा, कुटज, देवदाली, कड़ुतुम्बी, कड़ुई तुरई, त्रिकटु, सरसों, नमक, इनको थोर के दूध या गोमूत्र में पीसकर अंगूठे के बराबर (यव के आकार की, बीच से मोटी, किनारों से पतली) वर्ति बनाकर उदर रोगी को आनाह होने पर, गुदा में तेल और नमक लगाकर एक या दो वर्त्ति या तीन वर्त्ति गुदा में रक्खे। यह आनाहवर्त्ति क्रिया वायु-मूत्रमल के उदावर्त्त एवं आध्मान, आनाह में बरतनी चाहिये।

"फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः।
धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्॥
करांगुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्।
स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे॥" च०

वि० मन्तव्य—इस वर्ति को गुदा में प्रविष्ट करने से गुदवलियों में गति होकर वायु अनुलोम हो जाता है और पुरीष एवं मूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है, अपान वायु खुलता है। इसके अभाव में साबुन की, ग्लेसरीन की अथवा अन्य प्रकार की बत्ती दे दी जाती है ॥१२॥

प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः सिरां विध्येत्, विमर्दयेच्च पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थं; ततः संशुद्धदेहं समुद्रशुक्तिकाक्षारं पयसा पाययेत्, हिङ्गुसौवर्चिके वा क्षीरेण, स्रुतेन पलाशक्षारेण वा यवक्षारकिंशुकक्षारोदकेन वा बहुशः स्रुतेन यवक्षारं, पारिजातकेक्षुरकापामार्गक्षारं वा, तैलसंसृष्टं शोभाञ्जनकयूषं पिप्पलीसैन्धवचित्रकयुक्तं, पूतिकरञ्जक्षारं वाऽम्लस्रुतं विड्लवणपिप्पलीप्रगाढम् ॥१३॥

प्लीहोदर रोगी का स्नेहन, स्वेदन देकर दही से भोजन खिलाकर वामबाहु में कोहनी के अन्दर की ओर सिरा का वेधन करे। रक्त का बहाव करने के लिये हाथ से प्लीहा को मले। फिर वमन, विरेचन से शरीर का शोधन करके समुद्र की सिप्पी का क्षार दूध से पिलाये। या दूध से हींग और सौवर्चल को, नितारे पलाशक्षार यवक्षार या बहुत बार नितारे ढाक के क्षारोदक से यवक्षार को पिलाये। अथवा पारिजात (हारसिंगार) तालमखाना, चिरचिटा का क्षार पिलाये। सुहांजन के यूष में तैल मिलाकर, पिप्पली, सैन्धव, चित्रक डालकर पिलाये। लताकरंज के क्षार को शतावर खट्टी कांजी में घोलकर, छान ले, इसमें विड्लवण और पिप्पली प्रचुर मात्रा में मिलाकर पिलाये (पलाशक्षार से ढाक की छाल का, किंशुकक्षार से—ढाक के फूलों का क्षार लेना) ॥१३॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः, घृतप्रस्थं तत्तुल्यं च क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत्, एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसङ्गगुल्मोदरोदावर्तश्वयथुपाण्डुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति। मन्दाग्निर्वा हिङ्ग्वादिकं चूर्णमुपयुञ्जीत ॥१४॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार, सैन्धव प्रत्येक एक पल, घी एक प्रस्थ, दूध भी एक प्रस्थ, इन सबको एक साथ मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह षट् पलक नामक घृत, प्लीहा, अग्निमांद्य, गुल्म, उदर, उदावर्त्त, श्वयथु, पाण्डुरोग, कास, श्वास, प्रतिश्याय, ऊर्ध्ववात, विषमज्वर को नष्ट करता है। मन्दाग्निवालों के लिये हिंग्वादि चूर्ण बरते।

चरक में—सैन्धव का पाठ नहीं है, यथा—
पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
पलिकैः सयवक्षारैः घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥१४॥

यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः। विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ सिराव्यधः ॥१५॥

**मणिबन्धं सक्रन्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम्।
दहेत् सिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशान्तये ॥१६॥**

यकृद्दाल्य रोग में भी यही चिकित्सा है, केवल सिरावेध दक्षिण बाहु में करे।

वैद्य प्लीहा की शान्ति के लिये—कलई को थोड़ा सा झुका कर (मोड़कर) वाम अंगुष्ठ की ओर जाती हुई सिरा को, अग्नि में लाल किये शर (बाण) से जलाये ॥१५,१६॥

बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत् संधानं च यथोक्तं कारयेत्, यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत्, ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेत्, वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति ॥१७॥

बद्धगुद उदर में तथा परिस्रावि उदर में रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर, नाभि के नीचे अभ्यंग करके नाभि के वाम पार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, चार अंगुल उदर को चीरकर, आँतों को

निकालकर, बद्धगुद में आंत को रोकनेवाले पत्थर, बाल या मल को देखकर, उसको दूर करके, घी और मधु से आंतों पर अभ्यंग करके, आंतों को ठीक स्थान पर बिठाकर, उदर के बाह्य व्रण को सी देवे। परिस्रावी उदर में भी यही विधि बरते, इसमें शल्य को निकालकर, आंत्र के स्रावों का संशोधन करके, छेदवाली आंत्र को ठीक मिलाकर काली चिऊँटियों से कटवाये। काट लेने पर इनके शिरों को वहाँ लगा रहने देवे, और शेष भाग को निकाल देवे। फिर पूर्व की भांति सी देवे। कही विधि से संधान करे। मुलैहठी मिली काली मिट्टी का लेप करके पट्टी बाँध दे। फिर वायु रहित घर में रखकर कर्त्तव्य विधि समझा दे अथवा तैल या घी की द्रोणी (टब में) लेटाये रक्खे, खाने में केवल दूध ही देवे।

वक्तव्य—भूरी चिऊँटी–आम आदि के वृक्षों पर पत्तों को जोड़कर ऐसा घोंसला सा बनाती है, कि उसमें से एक बूँद पानी भी बाहर नहीं आता। चारों ओर, ऊपर, नीचे पत्ते इस तरह जोड़ती है कि बरसात में कितना ही पानी पड़े, उनको, उसके अन्दर पानी नुकसान नहीं करता ॥१७॥

दकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्याकक्षात् परिवेष्टितस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्। तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत् न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत्, सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातीसारश्वासकासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसञ्जातप्राणस्य, तस्मात्तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत्; निःसृते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं, तथा नाध्मापयति वायुः, षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा, ततस्त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा, अवशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत, एवं संवत्सरेणागदो भवति ॥१८॥

दकोदर रोगी को वातहर तैल का अभ्यंग कराके गरमजल से स्वेदन देकर बिठाये। विश्वस्त मनुष्यों से इसको पकड़वाकर कक्षा से लेकर नाभितक लपेटकर, नाभि के नीचे वामपार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, व्रीहीमुख शस्त्र से अंगूठे की मोटाई के बराबर गहरा वेधन करे। इसमें कलई आदि की दो मुखवाली नाड़ी या पंख की नाड़ी को लगाकर दोष युक्त पानी को निकाल ले। फिर नाड़ी को निकालकर व्रण पर तैल और नमक का लेप करके पट्टी बाँध देवे। एक ही दिन में सम्पूर्ण दोषोदक को न निकाले। एकदम से सब पानी निकाल लेने पर प्यास, ज्वर, अंगों का टूटना, अतिसार, श्वास, कास, पाददाह उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा, बल आने के पूर्व ही उदर में और भी अधिक पानी भर जाता है। इसलिये तीन, चार, पांच, छै, आठ, दस, बारह, सोलह, दिनों का अन्तर रखकर दोषोदक को थोड़ा २ बाहर करे। दोष के निकल जाने पर पेट को भेड़ के चमड़े, रेशम या अन्य चमड़े से (मजबूत पट्टी से) कसकर बाँध देवे। इससे वायु आध्मान नहीं करती। छैः मास दूध से या जांगलमांसरस से भोजन करे, फिर तीन मास तक आधापानी मिले दूध से, बिजौरा आदि फलों (खट्टे फलों)के रससे जांगल मांस रस से भोजन करे। शेष तीन मास तक हितकारी, लघु अन्न खाये। इस प्रकार करने से एक साल में नीरोगी होता है।

वक्तव्य—चरक में भोजन के लिये—

निःसृते लंघितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्।
अतः परं च षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः॥
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत् त्रींश्चापि भोजयेत्।
श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेण लघुभोजनः॥
नरः संवत्सरेणैव जयेत्प्राप्तं जलोदरम्॥

चरक० चि० अ० १३-१९।

वि० मन्तव्य–सब प्रकार के उदररोगों में तथा शोथरोगों में शृत दूध का प्रयोग बहुत ही लाभप्रद प्रमाणित होता है ॥१८॥

भवति चात्र—

आस्थापने चैव विरेचने च
पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं
क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा॥१९॥

इसमें श्लोक है—आस्थापन में, विरेचन में, पीने में, आहारविधि विधान में, सबमें कुशल वैद्य को उदर रोगियों के लिये गरम किया दूध या जांगल-मांसरस बरतना चाहिये।

वक्तव्य—"प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत्। दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च॥ प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः। सर्वधातुक्षयार्त्तानां देवानाममृतं यथा" ॥ चरक चि० अ० १३ ॥१९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातः मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूढ गर्भ चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—मूढगर्भ का विवरण नि० अ० ८ में देखिये ॥१,२।

नातोऽन्यत् कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम्, अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन. उत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जूकरणदारणानि चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं चाहिंसता, तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत ॥३॥

मूढगर्भ को निकालने जैसा कठिन कार्य दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि इसमें योनि, यकृत्, प्लीहा, आंत्रविवर, गर्भाशय के बीच में स्पर्श से ही काम करना होता है। गर्भ और गर्भिणी को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बिना एक ही हाथ से उत्कर्षण (ऊपर को खींचना), नीचे खींचना, स्थान परिवर्त्तन, काटना, टुकड़े करना, छेदन करना, दबाना, सीधा करना आदि कार्य करने पड़ते हैं। इसलिये स्वामी की आज्ञा लेकर, अतिशय सावधानी के साथ कर्म आरम्भ करे ।।३॥

तत्र समासेनाष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा; स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति-शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा ॥४॥

संक्षेप में मूढ़ गति आठ प्रकार की कही है—स्वभाव (प्रकृति से) आने पर तीन तरह की रुकावटें होती हैं, यथा—शिर की विपरीतता से, अंसों (कन्धों) के कारण और नितम्ब के कारण ।।४।।

जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत। निर्हर्तुमशक्ये च्यावनान् मन्त्रानुप श्रृणुयात्; तान् वक्ष्यामः ॥

'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥६॥
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्
मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः।
मुक्ताः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः' ॥८॥

गर्भ के जीवित रहने पर सूतिका में गर्भ निकालने का यत्न करे। यदि न निकल सके, तो च्यावन मंत्रों को सुनाये, उन मंत्रों को कहते हैं – हे स्त्री ! तेरे मन्दिर में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा रहे। हे स्त्री ! यह अमृत रूपी जल लाया हूँ, तेरा लघु गर्भ छूट जाये। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र और समुद्र तुझे शान्ति प्रदान करें। पशु, विपाश (मुक्त) हो गये, सूर्य ने किरणें छोड़ दीं, गर्भ सब भय से मुक्त हो गया, जल्दी आ, आ, देरी न कर।

वक्तव्य—इन च्यावन मंत्रों से पानी को अभिमन्त्रित करके पिलाते हैं ॥५-८॥

औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि। मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वनगवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमपहरेत् तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाञ्छेत्, एकसक्थ्ना प्रतिपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्यापहरेत्, स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्यापहरेत् तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य पश्चादर्धमूर्ध्वमुत्क्षिप्य पूर्वार्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्; पार्श्वापवृत्तशिरसमंसं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत्, बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोऽनुलोममानीयापहरेत्, द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढ़गर्भौ, एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत् ॥९॥

सचेतनं च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्।
दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत् ॥१०॥
अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्।
न गर्भिण्या विपर्यासस्तस्मात्प्राप्तं न हापयेत् ॥११॥

शरीर स्थान अध्याय दस में कही अपरापातन की औषधियों का इसमें प्रयोग करे। गर्भ के अन्दर मर जाने पर स्त्री को पीठ के भार चित लेटाकर, टांगों को घुटना पर मोड़कर, नितम्ब के नीचे ऐंडवी (कपड़ों की गद्दी) रखकर, कटि को ऊँचा उठाकर, योनि में सेमल के फूलों की पिच्छ एवं घृत से लिप्त हाथ प्रविष्ट करके गर्भ को निकाल ले। इनमें जो गर्भ दोनों टांगों से आ रहा हो, उसको सीधा अनुलोम रूप में खींचे। जिस गर्भ की एक टांग बाहर आई हो, उसकी दूसरी टांग को फैलाकर, फिर खींचे। जिस बच्चे के नितम्ब योनि में आये हुये हों, उसके नितम्बों को दबाकर ऊपर धकेले और टांगों को फैलाकर बाहर लाये। जो बच्चा तिरछा अर्गल की भाँति आड़ा आ रहा हो, उसमें पिछले आधे भाग को (नितम्ब-टांग आदि को) ऊपर की ओर धकेलकर, पूर्वार्ध (शिर के भाग को) को योनि में सीधा लाकर निकाले। जिसका सिर पार्श्व की ओर मुड़ा हो, उस गर्भ में कन्धों को दबाकर ऊपर की ओर धकेल कर, शिर को योनिमार्ग में लाकर निकाले। जिस गर्भ के दोनों बाहु योनि मार्ग में आ गये हों, उसमें कन्धों को ऊपर की ओर दबाकर, शिर को सीधा लाकर बच्चे को बाहर करे। अन्त के दो मूढगर्भ असाध्य हैं। इस प्रकार यदि करना सम्भव न हो, तो शस्त्र कर्म करे।

चेतन गर्भ पर शस्त्र कर्म न करे। यदि ऐसा किया जाता है, तो गर्भ माता और अपने को मार बैठता है। जब रोग-अवस्था असह्य हो, तब गर्भ का पातन करना ठीक है। गर्भिणी को मारना उत्तम नहीं, इसलिये जो ठीक हो, वह उस समय कर ले।

वक्तव्य—अपनी हानि, यश का नाश और अप्रतिष्ठा होना। गर्भ की रक्षा या माता की रक्षा ये प्रश्न अवस्थानुसार

ही चिकित्सक निर्णय करता है, इसलिये जो समय पर ठीक हो वह करे।

वि० मन्तव्य—उक्त दो मूढगर्भों में शस्त्रकर्म करना इसलिये विहित है, कि किसी प्रकार गर्भिणी के प्राण बचाए जायँ, परन्तु जीवित गर्भ पर शस्त्र द्वारा कर्म करना भी उचित नहीं है अन्यथा वह तड़पकर अपने को और गर्भिणी को मार डालता है, इस दशा में आज कल तो उदर तथा गर्भाशय चीरकर जीवित गर्भ निकाल लिया जाता है। इस विषय पर वर्तमान सुश्रुत में जो आपके हाथों में है, कोई विधान नहीं मिलता है, परन्तु हमारा विश्वास है कि वह विधान अवश्य रहा होगा। भगवान् धन्वन्तरि ने अवश्य कहा होगा। कारण ? कारण सुनिये - उक्त पाठ में कहा है, कि दो प्रकार के मूढ गर्भ असाध्य अर्थात् हाथ से निकालने योग्य नहीं होते और सचेतन-जीवित गर्भ पर शस्त्र कर्म करके निकालने का भी निषेध किया है, इस दशा में यदि उक्त प्रकार के दोनों मूढगर्भ जीवित हों तो क्या किया जाय ? यह एक विचारणीय विषय है, अतः हमारा दृढ़ विश्वास है, कि उदर एवं गर्भाशय चीरकर गर्भ निकालने का विधान भगवान् धन्वन्तरि ने अवश्य किया होगा। भले ही वह विधानात्मक पाठ आज के सुश्रुत में नहीं है। अश्मरी तथा गर्भ एक ही प्रकार से निकाले जाते हैं। मृते च–मृत ही नहीं जीवित मूढ गर्भ भी इसी विधि से निकाले जाते हैं, परन्तु शस्त्र कर्म मृत पर ही किया जाता है। यदि कोई ऐसा रोग हो जाय जो गर्भपात होने पर शान्त हो सकता हो अन्यथा गर्भिणी की मृत्यु निश्चित हो तब गर्भपातन ही कर देना चाहिये, जिससे नारी के प्राण बच जायँ ॥९-११॥

ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य, शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत्; अभिन्नशिरसमक्षिकूटे गण्डे वा, अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्, जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति ॥१२॥

फिर स्त्री को आश्वासन देकर, मण्डलाग्र या अंगुली शस्त्र से शिर का विदारण करके, शिर की अस्थियों को निकालकर, शंकु से छाती, या कक्षा में फँसाकर बच्चे को खींच ले। शिर के न टूटने पर अक्षिकूट या गण्ड में शंकु को फँसाकर खींचे। अंसों से फँसे गर्भ में कन्धे पर से बाहु को काटकर निकाले। मशक की तरह वायु से भरने के कारण फूले हुए उदर को चीरकर, आंतों को निकालकर, ढीला हो जाने पर निकाले। नितम्ब से फँसे गर्भ में जघन कपालों को काटकर बाहर निकाले।

वि० मन्तव्य—यह उन अन्त के दो असाध्यमूढ गर्भों को काटकर निकालने का विधान है ॥१२॥

किंबहुना—

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्।
सम्यग्विनिर्हरेच्छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः ॥१३॥
गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः।
तत्रानल्पमतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम् ॥१४॥
नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः।
स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा ॥१५॥
मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेद्यमन्तर्विजानता।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन ॥१६॥
अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्।
हस्तेनापहरेद्वाऽपि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा ॥१७॥
धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद्वांऽसपिण्डिकाम्।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ॥१८॥
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ॥१९॥
एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।

गर्भ का जो-जो अंग रुकता हो, वैद्य उस अंग को काटकर निकाले। गर्भिणी की रक्षा सब उपायों से करे। वायु के प्रकोप से गर्भ की गतियाँ नाना प्रकार की होती हैं। इनमें प्रचुरबुद्धिवाला वैद्य विधिपूर्वक बरते। मरे हुये गर्भ की एक क्षण भी उपेक्षा न करे। यह मृत गर्भ माता को मार देता है, जिस प्रकार कि गला घोटने पर पशु तुरन्त मर जाता है। जाननेवाला वैद्य अन्दर शस्त्रकर्म मण्डलाग्र से करे, क्योंकि शायद कभी वृद्धि पत्र से माता को हानि होना सम्भव है। इसके पीछे न निकली अपरा को वैद्य निकाले। यदि हाथों से बाहर न निकाली जा सके, तो पार्श्वों को दबाकर निकाले। नारी को बार-बार झकोरे, अथवा अंसपिण्डिका को दबाये। तैल से योनि को स्निग्ध करे, इस प्रकार से वैद्य अपरा को निकाले। यदि इस प्रकार अपरा के बाहर आ जाने पर गरम पानी से स्नान कराये। फिर शरीर पर तैलाभ्यंग करके योनि में तैल रक्खे। इस प्रकार करने से योनि को मल होती है, और शूल शान्त हो जाती है ॥१३-१९॥

कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिंगुभार्गीः सदीप्यकाः ॥२०॥
वचामतिविषां रास्नां चव्यं संचूर्ण्य पाययेत्।
स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च ॥२१॥
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम्।
शाकत्वग्हिङ्ग्वतिविषापाठाकटुकरोहिणीः ॥२२॥
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत् पूर्ववद् भिषक्।
त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत् ॥२३॥
पाययेतासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्।
शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम् ॥२४॥
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत्।
सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना ॥२५॥

स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता ।
पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ॥२६॥
रसं दशाहं शेते तु यथायोगमुपाचरेत् ।
व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च वरवर्णिनीम् ॥२७॥
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत परिहारतः ।

पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ, इलायची, हींग, भार्गी, अजवायन, बच, अतीस, रास्ना, राल, चव्य, इनका चूर्ण करके घृत के साथ पिलाये, जिससे दोषों का बहाव हो और वेदना की शान्ति हो । अथवा स्नेह रहित इनका क्वाथ या कल्क देवे । सागौन की छाल, हींग, अतीस, पाठा, कुटकी, तेजबल, इनको वैद्य घी के साथ, या विना घी के क्वाथ, या कल्क के रूप में तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन पिलाये । पीछे से स्नेह फिर पिलाये । निर्मल आसव या सुसंस्कृत अरिष्ट पिलाये । शिरीष और अर्जुन का सिद्ध जल पीने में उत्तम है । जो दूसरे उपद्रव हों, उनकी दोषों के अनुसार अपनी अग्नी चिकित्सा करे । सम्पूर्ण रूप से शुद्ध होने पर स्निग्ध एवं थोड़ा भोजन करे, नित्य स्वेद एवं स्नेह की मालिश करे, क्रोध न करे, सौंफ आदि वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध दस दिन तक भोजन में दे । दस दिन तक मांसरस दे, शेष दस दिन में जैसा ठीक हो, वैसा भोजन दे । उपद्रव रहित, विशुद्ध होने पर एवं रंग निखर आने से, चार मास के पीछे परहेज पालना छोड़े ॥२०-२७॥

योनिसन्तर्पणेऽङ्गे पाने बस्तिषु भोजने ॥२८॥
बलातैलमिदं चास्यै दद्यादनिलवारणम ।
बलामूलकषायस्य दशमूलीश्रृतस्य च ॥२९॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथस्य पयसस्तथा ।
अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदेकतः ॥३०॥
पचेदावाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम ।
तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च ॥३१॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम् ।
मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम् ॥३२॥
शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम् ।
तत् साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृन्मयेऽपि वा ॥३३॥
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्तं निधापयेत् ।
बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत् ॥३४॥
यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत् ।
या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान् ॥३५॥
वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा ।
भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते ॥३६॥
एतदाक्षेपकादीन् वै वातव्याधीनपोहति ।
हिक्कां कासमधीमन्थं गुल्मं श्वासं च दुस्तरम् ॥३७॥
षण्मासानुपयुज्यैतदन्त्रवृद्धिमपोहति ।
प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः ॥३८॥
राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः ।
सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः ॥३९॥

योनि के सन्तर्पण में, अभ्यंगमें, पीने में, बस्ति में, भोजन में, निम्नलिखित बला तैल बरतना चाहिए । यह वायु को नष्ट करता है । तैल एक भाग, बलामूल का क्वाथ, दशमूल का क्वाथ, जौ बेर, कुलत्थी का क्वाथ, और दूध, प्रत्येक आठ भाग, इन सबको मिलाकर पकाये । इसमें कल्कद्रव्य—काकोल्यादि मधुरगण, सैन्धव, अगरु, राल, देवदारु. मजीठ, चन्दन, कूठ, इलायची, कालानुसारी, जटामांसी, शैलेयक (छड़ीला), तेजपत्र, तगर, सारिवा, बच, शतावरी, असगन्ध, सौंफ, पुनर्नवा, इनका कल्क (स्नेह से चतुर्थांश) मिलाकर पकाये । भली प्रकार सिद्ध हो जाने पर इसको छानकर सोने, चाँदी या मिट्टी के घड़े में भरकर, सुरक्षित रख देवे । यह बला तैल सब प्रकार के वात रोगों को नष्ट करता है । इसकी मात्रा को बल के अनुसार सूतिका को देवे । अथवा जो स्त्री गर्भ की चाह रखती हो, जिस मनुष्य का शुक्र क्षीण हो गया हो, उसे दे । वायु से क्षीण, मर्म पर चोट लगे, मथित चोट लगे, टूटे, थकान से पीड़ित, व्यक्तियों में सब प्रकार से बरते । यह तैल आक्षेप आदि वात रोगों को नष्ट करता है । हिचकी, कास, अधिमन्थ, गुल्म, भयानक श्वास को नष्ट करता है । छै मास के उपयोग से अंत्रवृद्धि नष्ट हो जाती है । इस तैल से पुरुष नूतन रसादि धातुओंवाला, स्थिर यौवन होता है । यह तैल राजाओं के लिये या जो राजाओं के समान वैभवशाली हों, उनके लिये बनाना चाहिये । जो सुखी, कोमल प्रकृति एवं धनी हों, उनके लिये भी बनाये ॥२८-३९॥

बलाकषायपीतेभ्यस्तिलेभ्यो वाऽप्यनेकशः ।
तैलमुत्पाद्य तत्क्वाथश्रृतपाकं कृतं शुभम् ॥४०॥
निवाते निभृतागारे प्रयुञ्जीत यथाबलम ।
जीर्णेऽस्मिन् पयसा स्निग्धमश्नीयात् षष्टिकौदनम् ॥
अनेन विधिना द्रोणमुपयुज्यान्नमीरितम् ।
भुञ्जीत द्विगुणं कालं बलवर्णान्वितस्ततः ॥४२॥
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः शतायुः पुरुषो भवेत् ।
शतं शतं तथोत्कर्षो द्रोणे द्रोणे प्रकीर्तितः ॥४३॥

अथवा तिलों को बला क्वाथ से बहुत बार (इक्कीस बार) भावित करके, इन तिलों से तैल निकाल लें । इस तैल को बला क्वाथ से एक सौ बार सिद्ध करे (प्रत्येक बार नया ही बला क्वाथ ले) । इस शतपाकी बला तैल को वायु रहित, एकान्त घर में बल के अनुसार बरते । इसके जीर्ण होने पर साठी के चावलों को दूध के साथ खाये । इस विधि से इस तैल की एक द्रोण मात्रा का उपयोग करके, कहे हुए अन्न को दुगने समय तक खाये । इस प्रकार करने से बल-वर्ण से युक्त होकर, सब पापों से (रोगों से) मुक्त होकर एक सौ वर्ष की

आयु भोगता है। एक एक द्रोण तैल सेवन से, एक सौ, वर्ष की आयु बढ़ती है ॥४०-४३॥

बलाकल्पेनातिबलागुडूच्यादित्यपर्णिषु ।
सैरेयके वीरतरौ शतावर्यां त्रिकण्टके ॥४४॥
तैलानि मधुके कुर्यात् प्रसारिण्यां च बुद्धिमान् ।

बला तैल की विधि से बुद्धिमान् वैद्य अतिबला, गिलोय, सूर्यपर्णी, झिण्टी, वीरतरु, शतावरी, गोखरू, मुलैहठी, और प्रसारणी से भी शतपाकी तैल सिद्ध करे ॥ ४४ ॥

नीलोत्पलं वरीमूलं गव्ये क्षीरे विपाचयेत् ॥४५॥
शतपाकं ततस्तेन तिलतैलं पचेद् भिषक् ।
बलातैलस्य कल्कांस्तु सुपिष्टांस्तत्र दापयेत् ॥४६॥
सर्वेषामेव जानीयादुपयोगं चिकित्सकः ।
बलातैलवदेतेषां गुणांश्चैव विशेषतः ॥४७॥

नीलोफर, शतावरी का मूल इनको गाय के दूध में पकाये। इससे वैद्य तिल तैल को एक सौ बार सिद्ध करे। सिद्ध करते समय बला तैल में कहे कल्कों को भी इसमें मिलाये। इन सब की उपयोग विधि, और इन सब गुणों को वैद्य बला तैल के समान ही जाने।

"शतेन यष्टिमधुकात्साध्यं दशगुणं पयः ।
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु ॥
सिद्धं मधुकाश्मर्यरसैः वातरक्तनुत् ।
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणम् ॥
क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेव मधुकाच्छतैः ॥"

इस बला तैल में बला क्वाथ के साथ बला का कल्क भी तैल पाक में मिलाना कई आचार्य कहते हैं। 'शत' शब्द-बहु अर्थ का द्योतक है। अधिक से अधिक संख्या में तैल सिद्ध करे। दूध पाक में पानी को मिलाना चाहिए। बिना पानी के दूध में औषधियों का पूरा गुण नहीं आता ॥ ४५-४७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मूढगर्भचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे विद्रधियों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२ ॥

उक्ता विद्रधयः षड्ये तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः ।
शेषेष्वामेषु कर्तव्या त्वरितं शोफवत् क्रिया ॥३॥

निदान स्थान में जो छै प्रकार की विद्रधियाँ कही हैं, उनमें सन्निपातजन्य विद्रधि असाध्य है। शेष जो पाँच विद्रधियाँ हैं, उनकी आमावस्था में शोफ की चिकित्सा जल्दी से करनी चाहिये। (शोफ की चिकित्सा-अपतर्पण से लेकर विरेचन तक कहे ग्यारह उपक्रम बरतने चाहिये। छैः विद्रधि कहने से द्वन्द्वज विद्रधि का निषेध किया है) ॥ ३ ॥

वातघ्नमूलकल्कैस्तु घृततैलवसायुतैः ।
सुखोष्णो बहलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ॥४॥
सानूपौदकमांसस्तु काकोल्यादिः सतर्पणः ।
स्नेहाम्लसिद्धो लवणः प्रयोज्यश्चोपनाहने ॥५॥
वेशवारैः सकृशरैः पयोभिः पायसैस्तथा ।
स्वेदयेत् सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम् ॥६॥
स चेदेवमुपक्रान्तः पाकायाभिमुखो यदि ।
तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याद् भिन्नं च शोधयेत् ॥
पञ्चमूलकषायेण प्रक्षाल्य लवणोत्तरैः ।
तैलैर्भद्रादिमधुकसंयुक्तैः प्रतिपूरयेत् ॥८॥
वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च ।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धेन त्रैवृतेन च रोपयेत् ॥९॥

वातजन्य विद्रधि में—वातघ्न (एरण्ड आदि अथवा भद्रदार्व्यादि गण) द्रव्यों के मूल कल्कों को घी, तैल और वसा के साथ मिलाकर सुहाता हुआ, गरम एवं मोटा लेप करना चाहिये। उपनाहन (पुलटिस) के लिये आनूप मांस (भैंस, सूअर आदि का), औदकमांस (कछुआ, मछली आदि का), काकोल्यादि गण इनको जौ के आटे के साथ मिलाकर, इसमें थोड़ा सा नमक मिलाकर तैल आदि स्नेह एवं कांजी आदि अम्ल द्रव्यों से सिद्ध करके उपनाह बाँधना चाहिये। वेशवार (अस्थि रहित मांस को पीसकर-स्विन्न करके, पिप्पली, मरिच आदि मिलाकर बनाया), कृशरा (तिल, तण्डुल, माष से बनाई यवागू), दूध एवं पायस (खीर) इनसे निरन्तर स्वेदन करे। और रक्त को भी निकाले। इतनी सब चिकित्सा करने पर भी यदि विद्रधि पकने की ओर हो तो, उसे पकाकर शस्त्र से चीर देवे। चीरकर इसका शोधन करे। विद्रधि को बृहत्पञ्चमूल के कषाय से धोकर, लवण प्रधान एवं भद्रदार्व्यादिगण तथा मुलैहठी से मिले तैलों से इसको भर देवे। तथा त्रिवृत् आदि विरेचन द्रव्यों के चूर्णों को घी, तैल, वसा में मिलाकर शोधन करे। अथवा मिश्रकोक्त अध्याय में कहे रोपण घृतोक्त पृथक्पर्णी आदि से सिद्ध किये घी तैल और वसा इनसे रोपण करे ॥ ४-९ ॥

पैत्तिकं शर्करालाजामधुकैः सारिवायुतैः ।
प्रदिह्यात् क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचन्दनैः ॥१०॥
पाक्यैः शीतकषायैर्वा क्षीरैरिक्षुरसैस्तथा ।
जीवनीयघृतैर्वाऽपि सेचयेच्छर्करायुतैः ॥११॥
त्रिवृद्धरीतकीनां च चूर्णं लिह्यान्मधुद्रवम् ।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् पक्वं चापाट्य बुद्धिमान् ॥
क्षीरवृक्षकषायेण प्रक्षाल्यौदकजेन वा ।
तिलैः सयष्टीमधुकैः सक्षौद्रैः सर्पिषा युतैः ॥१३॥

उपदिह्य प्रतनुना वाससा वेष्टयेद् व्रणम् ।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः ॥१४॥
सहरिद्रैः कृतं सर्पिः सक्षीरं व्रणरोपणम् ।
क्षीरशुक्लापृथक्पर्णीसमङ्गारोध्रचन्दनैः ॥१५॥
न्यग्रोधादिप्रवालेषु तेषां त्वक्ष्वथवा कृतम् ।

पित्तज विद्रधि में-शर्करा, लाजा, मुलैहठी, सारिवा इनको दूध में पीसकर लेप करे। अथवा क्षीरविदारी, खस और चन्दन इनके क्वाथ से या शीत कषाय से, या दूध से, गन्ने के रस से, अथवा शर्करा मिश्रित जीवनीय घृत से इस पर परिषेचन करे। निशोथ और हरड़ के चूर्ण को मधु से पतला बनाकर उससे लेप करे। जौंक से रक्त को निकाले। इतना सब करने पर भी यदि पकने लगे तो उपनाह लगावे। पकने पर इसको चीरकर बुद्धिमान् वैद्य बरगद आदि क्षीरवृक्षों के कषाय से या कमल आदि के कषाय से धोकर तिल, मुलैहठी, इनको मधु और घी में मिलाकर लेप करे। ऊपर से पतले वस्त्र द्वारा व्रण को ढाँप दे। पौण्डरीक, मजीठ, मुलैहठी, खस, पद्माख और हल्दी इनके द्वारा दूध में सिद्ध किया घृत व्रण रोपक है। अथवा विदारी, पृश्निपर्णी, मजीठ, लोध, चन्दन, बरगद आदि क्षीरवृक्षों के पत्ते या इनकी छालों में सिद्ध किया घृत उत्तम व्रण रोपक है।

वक्तव्य—"द्रव्यमापोथितं सम्यगत्युष्णोदकसंस्थितम्। रात्रि पर्युषितं शीतकषायं····विदुः॥" डल्हणः "द्रव्यमापोथितं तोये प्रतप्ते निशि संस्थितम्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः॥ क्षितोष्णतोयेमृदितं तत्फाण्टं परिकीर्त्तितम्॥" चरक॥ १०-१५॥

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च ॥१६॥
सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा।
द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी ॥१७॥
प्रियङ्गुः कुशमूलं च निचुलस्य त्वगेव च।
मञ्जिष्ठाचन्दनोशीरमुत्पलं सारिवे त्रिवृत् ॥१८॥
एतेषां कार्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
दुष्टव्रणप्रशमनं नाडीव्रणविशोधनम् ॥१९॥
सद्यश्छिन्नव्रणानां च करञ्जाद्यमिदं शुभम्।
दुष्टव्रणाश्च ये केचिद्ये चोत्सृष्टक्रिया व्रणाः ॥२०॥
नाड्यो गम्भीरिका याश्च सद्यश्छिन्नास्तथैव च।
अग्निक्षारकृताश्चैव ये व्रणा दारुणा अपि ॥२१॥
करञ्जाद्येन हविषा प्रशाम्यन्ति न संशयः।

करञ्ज के नूतन उत्पन्न कोमल पत्ते, और फल, चमेली के पत्ते, पटोल (परवल), तथा नीम के पत्ते, हल्दी, दारुहल्दी, मोम, मुलहठी, कुटकी, प्रियङ्गु, कुशा की जड़ और जलवेतस की छाल, मंजीठ, चन्दन, खस, कमल, सारिवा, कृष्णसारिवा, निशोथ, प्रत्येक एक कर्ष लेकर इससे एक प्रस्थ घृत पाक करे। यह घृत दूषित व्रण की शान्ति करनेवाला, नाड़ी व्रण का शोधक, तुरन्त छिन्न हुए व्रणों के लिये करञ्जादि घृत मंगलकारी है और जो दुष्ट व्रण हैं, और जो व्रण असाध्य समझ लिये गये, गहरी नाड़ियाँ और तुरन्त कटे हुए व्रण, अग्नि एवं क्षार से उत्पन्न भयङ्कर व्रण, इस करञ्जादि घृत से बिना संशय के अच्छे हो जाते हैं॥ १६-२१॥

इष्टकासिकतालोष्टगोशकृत्तुषपांशुभिः ॥२२॥
मूत्रैरुष्णैश्च सततं स्वेदयेच्छ्लेष्मविद्रधिम्।
कषायपानैर्वमनैरालेपैरुपनाहनैः ॥२३॥
हरेद्दोषानभीक्ष्णं चाप्यलाब्वाऽसृक् तथैव च।
आरग्वधकषायेण पक्वं चापाट्य धावयेत् ॥२४॥
हरिद्रात्रिवृताशक्तुतिलैर्मधुसमायुतैः।
पूरयित्वा व्रणं सम्यग्बध्नीयात् कीर्तितं यथा ॥२५॥
ततः कुलत्थिकादन्तीत्रिवृच्छ्यामार्कतिल्वकैः।
कुर्यात्तैलं सगोमूत्रं हितं तत्र ससैन्धवम् ॥२६॥

कफ जन्य विद्रधि में ईंट, रेती, ढेला, गाय का छाना (जंगल में सूखा गोबर), तुष और पांशु (धूली), तथा मूत्र इनको गरम करके, इनसे निरन्तर स्वेद देवे। कषायों को पिलाकर, वमन से, आलेपन से, उपनाहनों से दोषों को बार बार निकाले। अलाबु (तुम्बी से) रक्त को निकाले। पक जाने पर चीरकर आरग्वधादि गण के कषाय से इसको धोये। हल्दी, निशोथ, सत्तू, तिल और मधु मिलाकर इनसे व्रण को भर देवे। सूत्रस्थान अध्याय अठारह में कही विधि से इस व्रण को भली प्रकार बाँध देवे। फिर कुलत्थी, दन्ती, निशोथ, काली निशोथ, आक, तिल्वक, सैन्धव इनसे गोमूत्र के साथ तैल सिद्ध करके लगाये॥ २२-२६॥

पित्तविद्रधिवत् सर्वाः क्रिया निरवशेषतः।
विद्रध्योः कुशलः कुर्याद्रक्तागन्तुनिमित्तयोः ॥२७॥
वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते।
ऊषकादिप्रतीवापं पिबेत् सुखकरं नरः ॥२८॥
अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्विरेचनेन च।
अचिराद्विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितम् ॥२९॥
एभिरेव गणैश्चापि संसिद्धं स्नेहसंयुतम्।
कायमास्थापनं क्षिप्रं तथैवाप्यनुवासनम् ॥३०॥
पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥३१॥
तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वाऽपि सुरादिभिः।
यथादोषगणक्वाथैः पिबेद्वाऽपि शिलाजतु ॥३२॥
प्रधानं गुग्गुलुं चापि शुण्ठीं च सुरदारु च।
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम् ॥३३॥

रक्तजन्य और आगन्तुज विद्रधियों की भाँति सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये। अन्तः विद्रधि के

अपक्व होने पर वरुणादि गण के क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप देकर पीना मनुष्य को सुखकर होता है। वरुणादि गण के क्वाथ में ऊषकादि गण का प्रक्षेप मिलाकर सिद्ध किया घृत अथवा त्रिवृता आदि विरेचन द्रव्यों से सिद्ध किया घृत प्रातःकाल नित्य प्रति सेवन करने पर विद्रधि को शीघ्र नष्ट करता है। इन्हीं वरुणादि गण ऊषकादिगण के कल्क और तैल मिलाकर या त्रिवृता आदि विरेचन द्रव्यों के क्वाथ में तैल मिलाकर आस्थापन एवं अनुवासन शीघ्र देना चाहिये। पीने में, आलेपन में, भोजन में मीठे सहजन का उपयोग दोष के अनुसार प्रक्षेप मिलाकर पीने पर अपक्व विद्रधि को शीघ्र नष्ट करता है। अथवा मीठे सहजन को पानी के साथ (पित्त विद्रधि में), कांजी के साथ (वात विद्रधि में), गोमूत्र के साथ (कफ विद्रधि में), सुरा आदि के साथ (अविदग्ध रक्त विद्रधि में) पीना चाहिये। दोष गणों के क्वाथों से दोषों के अनुसार शिलाजतु को पीये। उत्तम गुग्गुल, को सोंठ को, (कफज विद्रधि में), देवदारु को (वातिक विद्रधि में) पीये। स्नेहन और उपनाहन सदा करे। अनुलोमन सदा बरतना चाहिये ॥

वक्तव्य—"घनेन वाससा श्लैष्मिकं गाढस्थाने गाढतरम्" इस विधि से बाँधे। वरुणादिगण का क्वाथ अन्तः देना चाहिये। और पकने पर पाटन शोधन आदि बाह्योपचार करने चाहिये ॥२७-३३॥

यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक्।
रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्बाहौ वदन्ति तु ॥३४॥

कफजन्य अन्तः विद्रधि में वैद्य पूर्वोक्त कही सिरा का ("वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरे दन्तः विद्रधौ पार्श्वशूले च" शा० अ० ८) वेधन करे। रक्तजन्य, पित्तजन्य, वातजन्य विद्रधि में बाहु के अन्दर सिरा वेध करने को भी कई वैद्य कहते हैं ॥३४॥

पक्वं वा बहिरुन्नद्धं भित्वा व्रणवदाचरेत्।
स्रुतेषूर्ध्वमधो वाऽपि मैरेयाम्लसुरासवैः ॥३५॥
पेयो वरुणकादिस्तु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा।
शिग्रुमूलजले सिद्धं ससिद्धार्थकमोदनम् ॥३६॥
यवकोलकुलत्थानां यूषैर्भुञ्जीत मानवः।
प्रातः प्रातश्च सेवेत मात्रया तैल्वकं घृतम् ॥३७॥
त्रिवृतादिगणक्वाथसिद्धं वाऽप्युपशान्तये।

जो विद्रधि पक गई हो, या बाहर को उठी हो, उसे चीरकर व्रण की भाँति चिकित्सा करे। अथवा अपने आप ऊपर (मुख आदि से) से या नीचे से (गुदा आदि से) बह जाने पर वरुणादिगण को या मीठे सहजन को मैरेय, कांजी, सुरा या आसव के साथ पीना चाहिये। सहजन मूल के क्वाथ में चावलों को पकाकर और इसमें राई का बघार (संस्कार) देकर, जौ-बेर और कुलत्थी के यूष के साथ मनुष्य खाये। प्रति दिन प्रातः-काल तैल्वक घृत को मात्रा में सेवन करे। अथवा त्रिवृतादिगण क्वाथ में सिद्ध घृत को विद्रधि की शान्ति के लिये खाये ॥

नोपगच्छेद्यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक् ॥३८॥
पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता।

विद्रधि पकने न पाये, इस प्रकार का वैद्य को प्रयत्न करना चाहिये। विद्रधि का परिपाक हो जाने पर सफलता अनिश्चित रहती है ॥३८॥

प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजाते तु विद्रधौ ॥३९॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम्।
विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्वे वाऽस्थि तु भेदयेत् ॥४०॥
निःशल्यमथ विज्ञाय कर्तव्यं व्रणशोधनम्।
धावेत्तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तथा हितम् ॥४१॥
यदि मज्जपरिस्रावो न निवर्तेत देहिनः।
कुर्यात् संशोधनीयानि कषायादीनि बुद्धिमान् ॥४२॥
प्रियङ्गुधातकीरोध्रकट्फलं तिनिशसैन्धवम्।
एतैस्तैलं विपक्तव्यं विद्रधिव्रणरोपणम् ॥४३॥

मज्जाजन्य विद्रधि को असाध्य कहकर चिकित्सा करे। इस विद्रधि में स्नेहन और स्वेदन करके रक्त मोक्षण ही करे। विद्रधि में कही सम्पूर्ण चिकित्सा बरते। पक जाने पर अस्थि को काट देवे। जब शल्य रहित (बाह्य वस्तु पूय आदि) हो जाये तब व्रण की भाँति शोधन करे। तिक्त कषाय से इसको धोये, तथा तिक्त सर्पि खाने को दे। यदि रोगी में मज्जा का स्राव बन्द नहीं होता (थोड़ा बना ही रहता है), तब बुद्धिमान् संशोधनीय को बरते। प्रियंगु, धातकी, लोध, कट्फल, तिनिश (सांदन), सैन्धव, इनसे तैल पकाना चाहिये, यह तैल विद्रधि व्रण को भरनेवाला होता है।

वि० मन्तव्य—अंगुली पर जो "फिटमुहा" (पञ्जाब में इसी नाम से प्रसिद्ध फोड़ा) या गलका निकल आता है। उसमें अंगुली की एक अथवा दो अस्थियाँ गल जाती हैं वे निकाल दी जाती हैं और व्रण का रोपण कर दिया जाता है। अंगुली टेढी हो जाती है अथवा नष्ट। इसी प्रकार अन्यत्र के मज्जापाक में अस्थि सड़ जाती है, इसी सड़ी अस्थि को श्लो० ४१ में "निःशल्यं" कहकर सूचित किया है। इसमें अस्थि-खण्ड का निकल जाना अथवा निकाल देना ही उत्तम एवं आवश्यक है। इसके व्रण के लिये निम्नलिखित प्रियंगु आदि से सिद्ध तैल का रोपण के लिये प्रयोग करना चाहिये ॥३९-४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विद्रधिचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे विसर्प-नाडी-स्तनरोग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।१.२॥

साध्या विसर्पास्त्रय आदितो ये
न सन्निपातक्षतजौ हि साध्यौ।

प्रथम तीन वीसर्प (वातज, पित्तज, कफजन्य) साध्य हैं। सन्निपातजन्य और क्षतजन्य ये दो वीसर्प असाध्य हैं (द्वन्द्वज वीसर्प कष्टसाध्य हैं) ॥

साध्येषु तत्पथ्यगणैर्विदध्याद्-
घृतानि सेकांश्च तथोपदेहान् ॥३॥

साध्य वीसर्पों में वातादि दोषों के अपने अपने गणों (वातादि दोषहर गणों) से घृत सिद्ध करके, या इन गणों से परिषेक, उपदेह (लेप) आदि करे ॥३॥

मुस्ताशताह्वासुरदारुकुष्ठ-
वाराहिकुस्तुम्बुरुकृष्णगन्धाः।
वातात्मके चोष्णगणाः प्रयोज्याः
सेकेषु लेपेषु तथा शृतेषु ॥४॥
यत् पञ्चमूलं खलु कण्टकाख्य-
मल्पं महच्चाप्यथ वल्लिजं च।
तच्चोपयोज्यं भिषजा प्रदेहे
सेके घृते चापि तथैव तैले ॥५॥

मोथा, सौंफ, देवदारु, कुष्ठ, वाराही, धनिया, शोभांजन, उष्णगण (भद्रदार्व्यादि और पिप्पल्यादि) इनको वातजन्य वीसर्प में परिषेक, लेप और घृत में बरतना चाहिये। इसके सिवाय, कण्टकपंचमूल, बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल और वल्लिज पंचमूल इनको वैद्य लेप में, परिषेक में, घृत में और तैल में बरते ॥४,५॥

कसेरुशृङ्गाटकपद्मगुन्द्राः
सशैवलाः सोत्पलकर्दमाश्च।
वस्त्रान्तराः पित्तकृते विसर्पे
लेपा विधेयाः सघृताः सुशीताः ॥६॥
ह्रीवेरलामज्जकचन्दनानि
स्रोतोजमुक्तामणिगैरिकाश्च।
क्षीरेण पिष्टाः सघृताः सुशीता
लेपाः प्रयोज्यास्तनवः सुखाय ॥७॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पयस्या
मञ्जिष्ठिका पद्मकचन्दनं च।
सुगन्धिका चेति सुखाय लेपः
पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्यः ॥८॥
न्यग्रोधवर्गैः परिषेचनं च
घृतं च कुर्यात् स्वरसेन तस्य।
शीतैः पयोभिश्च मधूदकैश्च
सशर्करैरिक्षुरसैश्च सेकान् ॥९॥

कसेरु, सिंघाड़ा, कमल, इत्कट, शैवाल, कमल, और कीचड़, इनको घी में मिलाकर अतिशय शीतल करके वस्त्र के व्यवधान से पित्तजन्य वीसर्प में लेप करना चाहिये। ह्रीवेर, खस, चन्दन, स्रोतांजन, मुक्ता, मणि, गेरू, इनको दूध में पीसकर घी के साथ अतिशय शीतल लेप-पतले करने पर सुख दायक होते हैं। पौण्डरीक, मुलैहठी, विदारी, मंजीठ, पद्माख, चन्दन, सुगन्धिमूल, इनका लेप पित्तज वीसर्प में सुख के लिये बरतना चाहिये। बरगद आदि क्षीरी वृक्षों से परिषेचन करे। बरगद आदि के स्वरस से घृत सिद्ध करके लेप करे। शीतल दूध से और ईख के रस से परिषेक करना चाहिये।

वक्तव्य—वस्त्रान्तराः-वस्त्र के ऊपर लगाकर व्रण पर लगावे अथवा व्रण पर पतला वस्त्र रखकर लेप करे जिससे उतारने में सुगमता रहे। तनुलेप—"श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वग्गतस्योष्मणो रोधात् शीतकृच्चान्यथाऽगुरोः ॥" चरक। इसलिये पतला लेप करे ॥६-९॥

घृतस्य गौरीमधुकारविन्दरोध्राम्बुराजादनगैरिकेषु।
तथार्षभे पद्मकसारिवासु काकोलिमेदाकुमुदोत्पलेषु ॥
सचन्दनायां मधुशर्करायां
द्राक्षास्थिरापृश्निशताह्वयासु।
कल्कीकृतासूदकमत्र दत्त्वा
न्यग्रोधवर्गस्य तथा स्थिरादेः ॥११॥
गणस्य बिल्वादिकपञ्चमूल्या-
श्चतुर्गणं क्षीरमथापि तद्वत्।
प्रस्थं विपक्वं परिषेचनेन
पैत्तीर्निहन्यात्तु विसर्पनाडीः ॥१२॥
विस्फोटदुष्टव्रणशीर्षरोगान्
पाकं तथाऽऽस्यस्य निहन्ति पानात्।
महार्दिते शोषिणि चापि बाले
घृतं हि गौर्यादिकमेतदिष्टम् ॥१३॥

गौर्यादिघृत—घृत एक प्रस्थ, कल्क द्रव्य हल्दी, मुलैहठी, कमल, लोध, वालक, खिरनी, गेरू, ऋषभक, पद्माख, सारिवा, काकोली, मेदा, कुमुद, नीला कमल, चन्दन, मधु शर्करा, द्राक्षा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, सौंफ, क्वाथ द्रव्य न्युग्रोधादिगण का क्वाथ, बृहत्पंचमूल का क्वाथ और गाय का दूध, इनसे घृत पाक करे। इस घृत के परिषेक से पित्तज विसर्प नाड़ी शान्त होती है। विस्फोट दुष्ट व्रण, शीर्षरोग (शिरोरोग) मुख-पाक इसके पान से नष्ट होता है। गुद से पीड़ित, शोष रोगी बालक में भी यह गौर्यादिघृत कहा है ॥१०-१३॥

अजाऽश्वगन्धा सरला सकाला
सैकैषिका चाप्यथवाऽजशृङ्गी।
गोमूत्रपिष्टो विहितः प्रदेहो
हन्याद्विसर्पं कफजं सुशीघ्रम् ॥१४॥

कालानुसार्यागुरुचोचगुञ्जा-
रास्नावचाशीतशिवेन्द्रपर्ण्यः ।
पालिन्दिमुञ्जातमहीकदम्बा
हिता विसर्पेषु कफात्मकेषु ॥१५॥

अजगन्धा (बृक्), अश्वगन्धा, सरला (त्रिवृत्त या सरलकाष्ठ), काला (कालानुसारिवा या कासमर्द—डल्हण), एकैषिका (शतावरी), अजशृङ्गी (कर्कटशृंगी या मेंढासिंगी), इनका गोमूत्र में किया प्रलेप कफजन्य वीसर्प को शीघ्र नष्ट कर देता है। कालानुसारिवा, अगरु, दालचीनी, रत्ती बेल की जड़, रास्ना, वच, शीतशिव (शतपुष्पा भेद-डल्हण, कपूर या चन्दन) इन्द्रवारुणी, पालिन्दी, (निशोथ), मुञ्जात, भूकदम्ब, ये कफजन्य वीसर्प में हितकारी हैं ॥१५॥

गणस्तु योऽयो वरुणप्रवृत्तः
क्रियासु सर्वासु विचक्षणेन ।
संशोधनं शोणितमोक्षणं च
श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि ॥१६॥
सर्वांश्च पक्वान परिशोध्य धीमान्
व्रणक्रमेणापचरेद्यथोक्तम् ।

वरुणादिगण का प्रयोग कुशल वैद्य सब क्रियाओं में करे। संशोधन, रक्तमोक्षण, ये सब वीसर्पों में उत्तम चिकित्सा है। सब विसर्पों में पाक होने पर इनका शोधन करके बुद्धिमान् वैद्य यथोक्त विधि से व्रण चिकित्सा करे।

वक्तव्य—विसर्प में रक्तमोक्षण का महत्त्व—"यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये। एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः। विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते॥" चरक० चि० अ० २१।१४१। विसर्प में जौंक से रक्षमोक्षण करवाना उत्तम है। अलाबु और सींगी का उपयोग ठीक तरह से नहीं हो सकता ॥१६॥

नाडी त्रि[illegible]प्रभवा न सिध्ये-
च्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥१७॥
तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्व-
मशेषतः पूयगतिं विदार्य ।
तिलैरपामार्गफलैश्च पिष्ट्वा
ससैन्धवैर्बन्धनमत्र कुर्यात् ॥१८॥
प्रक्षालने चापि सदा व्रणस्य
योऽयं महद्यत् खलुपञ्चमूलम् ।
हिंस्रां हरिद्रां कटुकां बलां च
गोजिह्विकां चापि सबिल्वमूलाम् ॥१९॥
संहृत्य तैलं विपचेद् व्रणस्य
संशोधनं पूरणरोपणं च ।

सन्निपात जन्य नाड़ी अच्छी नहीं होती शेष चार चार नाड़ियाँ यत्नपूर्वक साध्य हैं, इनमें वातजन्य नाड़ी में सबसे प्रथम उपनाह करके, सम्पूर्ण रूप में पूय के मार्ग को चीरकर इसमें तिल, चिरचिटे के बीज, सैन्धव इन को पीसकर बाँध देवे। व्रण को धोने के लिये सदा ही बृहत्पंचमूल के क्वाथ का उपयोग करना चाहिये। झिण्टी, हल्दी, कुटकी, बला, गाजवाँ और बिल्व मूल इनको लाकर इनसे तैल सिद्ध करे। यह तैल व्रण का शोधन करनेवाला और व्रण को भरनेवाला एवं रोहण करनेवाला है। (यहाँ पर तैल पाक में जल तैल से चार गुणा मिलाना चाहिये-अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं स्मृतम्)॥

पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमान्-
त्कारिकाभिः सपयोघृताभिः ॥२०॥
निपात्य शस्त्रं तिलनागदन्ती-
यष्ट्याह्वकल्कैः परिपूरयेत्ताम् ।
प्रक्षालने चापि ससोमनिम्बा
निशा प्रयोज्या कुशलेन नित्यम् ॥२१॥

पित्तजन्य नाड़ी में बुद्धिमान् मनुष्य उत्कारिका (लपसी) एवं दूध और घी से प्रथम उपनाह करके—इसमें शस्त्र से चीरा देवे। पीछे से तिल, नागदन्ती (दन्ती), और मुलैहठी के कल्क से इसको भर देवे। इस नाड़ी के धोने के लिये सोम (विट्ट खैर) नीम और हल्दी, इनका क्वाथ कुशल वैद्य नित्य बरते। (सोम का अर्थ कटफल जैज्जट ने किया है)॥२०,२१॥

श्यामात्रिभण्डीत्रिफलासु सिद्धं
हरिद्रयो रोध्रकवृक्षयोश्च ।
घृतं सदुग्धं व्रणतर्पणेन
हन्याद् गतिं कोष्ठगताऽपि या स्यात् ॥२२॥

काली निशोथ, निशोथ, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, लोध, कुटज, इनके साथ दूध में सिद्ध किया घृत व्रण मे भरने से कोष्ठ में स्थित नाड़ी को भी नष्ट करता है ॥२२॥

नाडीं कफोत्थामुपनाह्य सम्यक्
कुलत्थसिद्धार्थकशक्तुकिण्वैः ।
मृदूकृतामेष्य गतिं विदित्वा
निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी ॥२३॥
दद्याद् व्रणे निम्बतिलान् सदन्तीन्
सुराष्ट्रजासैन्धवसंप्रयुक्तान् ।
प्रक्षालने चापि करञ्जनिम्ब-
जात्यक्षपीलुस्वरसाः प्रयोज्याः ॥२४॥
सुवर्चिकासैन्धवचित्रकेषु
निकुम्भतालीनलरूपिकासु ।
फलेष्वपामार्गभवेषु चैव
कुर्यात् समूत्रेषु हिताय तैलम् ॥२५॥

कफजन्य नाड़ी में कुलत्थी, सरसों, सत्तु, और किण्व इनसे भली प्रकार उपनाह करके, इसे कोमल बना ले। फिर ऐषणी से इसके मार्ग को जानकर—सम्पूर्णरूप में शस्त्र से इसको चीर देवे। व्रण में नीम के पत्ते, तिल, दन्ती (जमालगोटा की जड़),

सुराष्ट्रजा (फिटकरी या गेरु), और सैन्धव इनको मिलाकर भर देवे। इसको धोने के लिये करंज, नीम, चमेली, बहेड़ा, पीलु, इनका स्वरस बरतना चाहिये। सुवर्चिका (हुलहुल), सैन्धव, चित्रक, दन्ती, तालीनल (मूसली मूल), आक, चिरचिटे का बीज, इनसे गोमूत्र में तैल सिद्ध व्रण में लगावे ॥२३-२५॥

नाडीं तु शल्यप्रभवां विदार्य
निर्हृत्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम्।
संशोधयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढै-
स्तिलैस्ततो रोपणमाशु कुर्यात् ॥२६॥
कुम्भीकखर्जूरकपित्थबिल्व-
वनस्पतीनां च शलाटुवर्गैः।
कृत्वा कषायं विपचेत्तु तैल-
मावाप्य मुस्तासरलाप्रियङ्गूः ॥२७॥
सुगन्धिका मोचरसाहिपुष्पं
रोध्रं विदध्यादपि धातकीं च।
एतेन शल्यप्रभवा तु नाडी
रोहेद् व्रणो वा सुखमाशु चैव ॥२८॥

शल्यजन्य नाड़ी को चीर कर उसमें से शल्य को निकालकर मार्ग का शोधन करके (साफ करके), तिलों को मधु और घृत की प्रचुर मात्रा में मिलाकर इसका शोधन करे। शोधन होने के उपरान्त इसका रोपण करना चाहिये। कुम्भीक (स्थलकुम्भी), खर्जूर, कैथ, बिल्व, और बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर, पारसपीपल इनके कच्चे छोटे फल, इनका क्वाथ बनाकर इसमें मुस्ता, सरलकाष्ठ, प्रियंगु, उत्पल, सारिवा, सिम्बल का गोंद, नाग केसर, लोध, धाय के फूल इनके कल्क से तैल सिद्ध करे। यह तैल शल्यजन्य नाड़ी को और व्रण को जल्दी ही सुखपूर्वक भर देता है ॥२६-२८॥

कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥२९॥
एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ॥३०॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत् प्रवेशयेत् ॥३१॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः।
भगन्दरेऽप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥३२॥
अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्।
सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितान् वा समन्ततः॥
मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम् ॥३३॥

कृश, दुर्बल और डरपोक पुरुषों की नाड़ी को या जो नाड़ी मर्म में आश्रित हो, उसको शस्त्र से बुद्धिमान् वैद्य न काटे, अपितु क्षार सूत्र से काटे। इसके लिये एषणी से गति (मार्ग) को ढूंढकर—क्षारसूत्र के साथ साथ सूई को ले जाकर, गति (मार्ग) के दूसरे सिरे पर ऊँचा उठाकर इसको बाहर निकाल ले। वहाँ पर क्षार सूत्र के सिरे को लाकर कसकर बाँध देवे। फिर क्षार बल को देखकर (यदि क्षार बल कम हो गया हो तो) दूसरा क्षार सूत्र बदल देवे। इस प्रकार बुद्धिमान् वैद्य तक क्षार सूत्र बदले, जब तक कि गति कट न जाये। जाननेवाले वैद्य को चाहिये कि भगन्दर आदि में भी यही विधि बरते। अर्बुद आदि में इनको ऊँचा उठाकर (संदंश से खींचकर) जड में क्षारसूत्र बाँधे। अथवा जौ के समान टेढ़े मुखवाली सूइयों से चारों ओर से इन अर्बुदादि को घेरकर-जड़ में क्षार सूत्र से बाँध देवे। इनके कट जाने पर व्रण की चिकित्सा करे।

वक्तव्य—क्षारसूत्र—क्षार में भिगोया सूत्र। अथवा—हल्दी, आक का दूध और थोर के दूध में भली प्रकार भिगोया सूत्र। आजकल घोड़े का बाल भी मस्सों को बाँधने में बरतते हैं। सूइयों को जड़ में डालने का विधान विशाल मूलवाले अर्बुद आदि में हैं। इसमें अर्बुद के कई टुकड़े कर लेते हैं। २९-३३।

या द्विव्रणीयेऽभिहितास्तु वर्त्य-
स्ताः सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।
घोण्टाफलत्वग्लवणानि लाक्षा-
पूगीफलं चालत्रणं च पत्रम् ॥३४॥
स्नुह्यर्कदुग्धेन तु कल्क एष
वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीः।
बिभीतकाम्रास्थिवटप्रवाला
हरेणुकाशङ्खिनिबीजमस्य ॥३५॥
वाराहिकन्दश्च तथा प्रदेयो
नाडीषु तैलेन च मिश्रयित्वा ॥३६॥
धत्तूरजं मदनकोद्रवजं च बीजं
कोशातकी शकुनसा मृगभोजिनी च।
अङ्कोटबीजकुसुमं गतिषु प्रयोज्यं
लाक्षोदकाहृतमलासु विकृत्य चूर्णम् ॥३७॥
तथा च गोमांसमसीं हिताय
कोष्ठाश्रितस्यादरतो दिशन्ति।
वर्तीकृतं माक्षिकसंप्रयुक्तं
नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा ॥३८॥
दुष्टव्रणे यद्विहितं च तैलं
तत् सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।
चूर्णीकृतैरथ विमिश्रितमेभिरेव
तैलं प्रयुक्तमचिरेण गतिं निहन्ति ॥३९॥
एष्वेव मूत्रसहितेषु विधाय तैलं
तत् साधितं गतिमपोहति सप्तरात्रात्।
पिण्डीतकस्य तु वराहविभावितस्य
मूलेषु कन्दशकलेषु च सौवहेषु ॥४०॥
तैलं कृतं गतिमपोहति शीघ्रमेतत्
कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु।
भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन
सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च ॥४१॥

स्यान्मार्कवस्य च रसेन निन्हन्ति तैलं
नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च ॥

द्विव्रणीय अध्याय में जो वर्त्तियाँ कही हैं, उन सबको सब नाड़ियों में बरतना चाहिये। घोण्टा फल (बेर), बेरी की छाल, सैन्धवादि पाँचों नमक, लाख, सुपारी, काकमर्दनिका के पत्ते, इनको थोर और आक के दूध से पीसकर कल्क बना ले। इसकी बनाई वर्ति नाड़ी को शीघ्र नष्ट करती है। बहेड़ा, आम की गुठली, बरगद के कोमल पत्ते, हरेणुका, यवतिक्ता के बीज इनको जलाकर बनाई राख (क्षार) और वाराहीकन्द इनको तैल में मिलाकर नाड़ियों में लगाना चाहिये। धतूरा, मैनफल, कोदा के बीज, देवदाली (बन्दाल), शुकनासा (चर्मकार वट), इन्द्रायण, अंकोठ के बीज और फूल, इनका चूर्ण नाड़ियों में प्रयुक्त करना चाहिये। प्रयोग करने से पूर्व लाक्षादि गण के क्वाथ से इनका शोधन कर लेना चाहिये। (कोई कोई इस चूर्ण को लाक्षादि गण के क्वाथ में घोलकर बरतते हैं)। इसी प्रकार गाय के मांस की भस्म को कोष्ठाश्रित नाड़ी के लिये उत्तम कहते हैं। अथवा सैन्धव और मधु को मिलाकर बनाई गई वर्ति नाड़ी नाशक है। दुष्ट व्रण में जो तैल कहा है (द्रवन्ती चिरबिल्व इत्यादि से चि० अ० २ में) उसको सब नाड़ियों में वैद्य बरते। धत्तूर आदि द्रव्यों का चूर्ण करके इसको तैल में मिलाकर प्रयोग करने से गति व्रण शीघ्र नष्ट होता है। धतूरे आदि द्रव्यों में—गोमूत्र के साथ सिद्ध किया तैल गति व्रण को सात रात में नष्ट कर देता है। वराह विभावित पिण्डीतक के मूल में, सुवहा केन्द्र के टुकड़ों में तथा वज्रकन्द से संस्कृत तैल गति को शीघ्र नष्ट करता है। भिलावा, आक, मरिच, सैन्धव, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, सैन्धव, और भांगरे का रस इनसे सिद्ध किया तैल-कफ वात जन्य नाड़ी को, अपची को और व्रण को नष्ट करता है।

वक्तव्य—द्विव्रणीय में कहे 'अन्तः शल्यानणुमुखान्' (चि० अ०१) में कहे। वराह पिण्डीतक-पिण्डीतक तीन प्रकार का है—कृष्ण पुष्प, श्वेत पुष्प और पीत पुष्प, इनमें वराह वर्ण (सुअर का वर्ण) के पुष्पों से उपलक्षित कृष्ण पुष्प पिण्डीतक (मैनफल), सुवहा-गन्ध-नाकुली, इसके कन्दखण्डों में। अमरवरायुध-वज्र-उसके नामवाला वज्रकन्द (डल्हण) ॥३४-४१॥

स्तन्ये गते विकृतिमाशु भिषक् तु धात्रीं
पीतां घृतं परिणतेऽहनि वामयेत्तु ॥४२॥
निम्बोदकेन मधुमागधिकायुतेन
वान्तागतेऽहनि च मुद्गरसाशना स्यात्।
एवं त्र्यहं चतुरहं षडहं वमेद्वा
सर्पिः पिबेत्त्रिफलया सह संयुतं वा ॥४३॥

भार्गीं वसामतिविषां सुरदारु पाठां
मुस्तादिकं मधुरसां कटुरोहिणीं च।
धात्रीं पिबेत्तु पयसः परिशोधनार्थं-
मारग्वधादिषु वरं मधुना कषायम् ॥४४॥
सामान्यमेतदुपदिष्टमतो विशेषा-
द्दोषान् पयोनिपतितान् शमयेद्यथास्वम्।

दूध के विकृत हो जाने पर वैद्य तुरन्त ही धात्री को घृत पिलाये। इसके पच जाने पर अर्थात् स्निग्ध हो जाने पर उसी दिन इसको वमन देवे। वमन के लिये मधु और पिप्पली युक्त नीम का क्वाथ पिलाये। वमन हो जाने पर दूसरे दिन मूँग के यूष का भोजन करे। इस प्रकार तीन दिन, चार दिन या छः दिन में, कफ, पित्त, वायु का अनुबन्ध देखकर, जब तक शरीर का पूर्ण शोधन न हो, तब तक वमन करे। अथवा त्रिफला के साथ संस्कृत घी-शोधन के लिये पीये। संशमन चिकित्सा-भार्गी, वच, अतीस, देवदारु, सोंठ, मुस्तादि गण, मूर्वा, कुटकी, आरग्वधादिगण इनके कषाय को मधु के साथ-दूध के शोधन के लिये धात्री को पीना प्रशस्त है। यह चिकित्सा सामान्यरूप में कह दी है, इसके आगे दूध में मिश्रित वातादि दोषों की अपनी-अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥४२-४४॥

रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्या-
द्यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् ॥४५॥
संपच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः
संभोजनेन खलु पाचयितुं यतेत।
शीघ्रं स्तनो हि मृदुमांसतयोपनद्धः
सर्वं प्रकोथमुपयात्यवदीर्यते च ॥४६॥
पक्वे तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः
कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्।
आमे विदाहिनि तथैव गते च पाकं-
धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत ॥४७॥

स्तन में उत्पन्न रोग (विद्रधि) को देखकर वैद्य विद्रधि में कही चिकित्सा का बार-बार उपयोग करे। स्तनविद्रधि पक रही हो तो इस पर उपनाह न बँधाकर केवल भोजनों द्वारा ही इसको पकाने का यत्न करे। क्योंकि स्तन कोमल मांस से बना होने के कारण जल्दी ही सड़ जाता है और विदीर्ण हो जाता है। जब विद्रधि पक जाये, तब स्तन्य (दूध)वाहिनी नाड़ियों को तथा कृष्ण चूचुक युगलों को बचाते हुए शस्त्र से चीरा देवे। आमावस्था में (विदग्धता से बचाने के लिये), विदाहिनि (विपाक से बचाने के लिये), पक जाने पर (नाड़ी व्रण से बचाने के लिये) धात्री के स्तनों का बार-बार दूध निकालना चाहिये ॥

वक्तव्य—"यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः क्लिद्यते एवं माषतिलदुग्ध-

प्रभृतिभिः व्रणः प्रक्लिद्यते॥" उ० त० अ० ६५।११॥ दूध, उरद आदि के खिलाने से व्रण पकता है, इसलिये व्रणरोगी को दूध नहीं देवे ॥४५-४७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विसर्पनाडीस्तन-रोगचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथवा ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे ग्रन्थि-अपची-अर्बुद गलगण्ड चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥

ग्रन्थिष्वथामेषु भिषग्विदध्या-
च्छोफक्रियां विस्तरशो विधिज्ञः।
रक्षेद्बलं चापि नरस्य नित्यं
तद्रक्षितं व्याधिबलं निहन्ति ॥३॥

अपक्व ग्रन्थियों में विधि को जाननेवाला वैद्य शोफ चिकित्सा (अपतर्पण से लेकर विरेचन पर्यन्त) को प्रधानतया करे। रोगी के बल की सदा रक्षा करता रहे, रक्षा किया हुआ रोगी का बल रोग के बल को (रोग की तीव्रता को) कम करता है ॥३॥

तैलं पिबेत् सर्पिरथो द्वयं वा
दद्या वसां वा त्रिवृतं विदध्यात्।
अपेहिवातादशमूलसिद्धं
वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा ॥४॥

रोगी, तैल को पीये, या घी को पीये, या इन दोनों को मिलाकर पीये। अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर पीये। अथवा इन दोनों में वसा मिलाकर त्रैवृत्त के रूप में इन स्नेहों को पीये। प्रसारिणी और दशमूल से सिद्ध किया तैल, घी या दोनों या चारों स्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा) को पीये।

वक्तव्य—गयी की मान्यता है कि वातजन्य ग्रन्थि में—वातहर क्वाथ सिद्ध तैल पीये। पित्त में-पित्तहर क्वाथ सिद्ध घृत पीये। कफ में कफहर क्वाथ सिद्ध तैल पीये। संसर्ग-सन्निपात में दो-तीन या चार स्नेहादि से सिद्ध स्नेह पीये ॥४॥

हिंस्राऽथ रोहिण्यमृताऽथ भार्गी
श्योनाकबिल्वागुरुकृष्णगन्धाः।
गोजी च पिष्टा सह तालपत्र्या
ग्रन्थौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः ॥५॥
स्वेदोपनाहान् विविधांश्च कुर्या-
त्तथा प्रसिद्धानपरांश्च लेपान्।
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
प्रक्षाल्य बिल्वार्कनरेन्द्रतोयैः ॥६॥
तिलैः सपञ्चाङ्गुलपत्रमिश्रैः
संशोधयेत् सैन्धवसंप्रयुक्तैः।
शुद्धं व्रणं वाऽप्युपरोपयेत्तु
तलेन रास्नासरलान्वितेन ॥७॥
विडङ्गयष्टीमधुकामृताभिः
सिद्धेन वा क्षीरसमन्वितेन।

वातजन्य ग्रन्थि में—झण्टी, कुटकी, गिलोय, भार्गी, श्योनाक, बिल्व, अगरु, शोभांजन, गाजवां और मूसली इनको पीसकर लेप करे। इन पर स्वेदन और उपनाह करे। नाना प्रकार के प्रसिद्ध दूसरे लेपों को (मिश्रकोक्त मातुलुंगादि) लगाये। पकने पर ग्रन्थि को चीरकर पूय को निकालकर बिल्व, अमलतास इनके क्वाथ से धोकर तिल, एरण्ड के पत्ते और सैन्धव इनका लेप करके व्रण का शोधन करे। व्रण का शोधन हो जाने पर रास्ना-सरल गोन्द से मिश्रित तैल से व्रण को भरे। अथवा—वायविडंग, मुलैहठी, गिलोय और दूध से सिद्ध तैल से व्रण का रोषण करे ॥५-७॥

जलौकसः पित्तकृते हितास्तु
क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च ॥८॥
काकोलिवर्गस्य च शीतलानि
पिबेत् कषायाणि सशर्कराणि।
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि
चूर्णं पिबेच्चापि हरीतकीनाम् ॥९॥
मधूकजम्ब्वर्जुनवेतसानां
त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेत।
सशर्करैर्वा तृणशून्यकन्दै-
र्दिह्यादभीक्ष्णं मुचुकुन्दजैर्वा ॥१०॥
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं
धावेत् कषायेण वनस्पतीनाम्।
तिलैः सयष्टीमधुकैर्विशोध्य
सर्पिः प्रयोज्यं मधुरैर्विपक्वम् ॥११॥

पित्तजन्य ग्रन्थियों में जौंक का लगाना और दूध और जल से परिषेचन करना उत्तम है। काकोल्यादिगण के शीतल कषायों में शर्करा मिलाकर पीये। हरड़ के चूर्ण को द्राक्षारस से या गन्ने के रस के साथ पीये। महुआ, जामुन, अर्जुन और अम्लवेतस इनकी छालों से लेप करे। केवड़े को शर्करा में मिलाकर उससे या मुचुकुन्द (मुचुलुन्द) से लेप बार-बार करे। पक जाने पर ग्रन्थि को चीरकर, सब पूय निकालकर बरगद, पीपल, गूलर इनके कषायों से इसे धोये। तिल, मुलैहठी के लेप से व्रण का शोधन करके, काकोल्यादि वर्ग में सिद्ध घृत का उपयोग करे ॥८-११॥

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या
ग्रन्थौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु।
स्विन्नस्य विम्लापनमेव कुर्या-
दङ्गुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः ॥१२॥

विकङ्कतारग्वधकाकणन्ती-
काकादनीतापसवृक्षमूलैः ।
आलेपयेत् पिण्डफलार्कभार्गी
कारञ्जकालामदनैश्च विद्वान् ॥१३॥

कफजन्य ग्रन्थि में वैद्य स्नेहन-स्वेदन के क्रम से वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन, रक्तमोक्षण से कफ, पित्त, वात दोषों को निकाल देने पर रक्तमोक्षण के उपरान्त स्वेदन करके अंगूठे, लोह, पत्थर, बांस के दण्डे से विम्लापन करे। विकङ्कत (बैंकड़ा), अमलतास, रत्ती, काकादनी(कौआठूंटी-वायस तिन्दुका), इंगुदी इनकी जड़ से, पिण्डफल (तिक्तालाबु डल्हण), आक, भार्गी, करंज, काला (कचुहिसा या काला-तुसारी), मैनफल इनसे कुशल पुरुष लेप करे ॥१२,१३॥

अमर्मजातं शममप्रयान्त-
मपक्वमेवापहरेद्विदार्य ।
दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा
सद्यः क्षतोक्तं च विधिं विदध्यात् ॥१४॥

जो ग्रन्थि मर्म में उत्पन्न न हुई हो, और उपर्युक्त चिकित्सा से शान्त न होती हो, उसे अपक्वावस्था में चीरकर निकाल देवे। कुशल वैद्य इसको जलाये और रक्त के बन्द होने पर सद्यः क्षत में कही विधि को करे।

वक्तव्य—"संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः सांगुष्ठदण्डैर्विलयेद-पक्वम्। विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोषं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रण-वच्चिकित्सेत्। अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च, प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्। तस्मादशेषः कुशलैः समन्तात् छेद्यो भवेद् वीक्ष्य शरीरदेशान् ॥" चरक चि० अ० ॥१२-१४॥

या मांसकन्द्यः कठिना बृहत्य-
स्तास्वेष योज्यश्च विधिर्विधिज्ञैः ।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य सुपक्वमाशु
प्रक्षालयेत् पथ्यतमैः कषायैः ॥१५॥
संशोधनैस्तं च विशोधयेत्तु
क्षारोत्तरैः क्षौद्रगुडप्रगाढैः ।
शुद्धे च तैलं त्ववचारणीयं
विडङ्गपाठारजनीविपक्वम् ॥१६॥

शरीर में जो मांसकन्दी कठिन और बड़ी हों, उनमें भी विधि को जाननेवाला वैद्य यही विधि बरते। भली प्रकार मांसकन्दी को शस्त्र से शीघ्र ही चीरकर, कफोत्थव्रणहर कषायों से धोये। यवक्षार प्रधान मधु, और गुड़ का लेप करके इन संशोधनों से इसका शोधन करे। शोधन हो जाने पर विडंग, पाठा, हल्दी से पकाये तैल को लगाना चाहिये।

वक्तव्य—अमर्मजन्य मांसकन्दी में ही शस्त्र से पाटन है। मर्मजन्य ग्रन्थि में औषधियों से दारण करे ॥१५,१६॥

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं
दत्त्वोपरिष्टाद् द्विगुणं पटान्तम् ।
हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्या
ल्लोहेन धीमानदहन् हिताय ॥१७॥
प्रलिप्य दार्वीमथ लाक्षया वा
प्रतप्तया स्वेदनमस्य कार्यम् ।
निपात्य वा शस्त्रमपोह्य मेदो
दहेत् सुपक्वं त्वथवा विदार्य ॥१८॥
प्रक्षाल्य मूत्रेण तिलैः सुपिष्टैः
सुवर्चिकाद्यैर्हरितालमिश्रैः ।
ससैन्धवैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः
क्षारोत्तरैरेनमभि प्रशोध्य ॥१९॥
तैलं विदध्याद् द्विकरञ्जगुञ्जा-
वंशावलेखेङ्गुदमूत्रसिद्धम् ।

मेदोजन्य ग्रन्थि में तिलकल्क का लेप करके, इसके ऊपर दुहरा कपड़ा रख देवे। फिर अग्नि में गरम किये लोहे से इसको बार-बार स्पर्श करे, परन्तु त्वचा को जलने न देवे (मेद ही पिघले)। अथवा कड़छी पर लाख लगाकर इसको गरम करके इससे स्वेदन करे। अथवा शस्त्र से चीरकर मेद को निकालकर जलाये। अच्छी प्रकार पकी हुई को चीरकर गोमूत्र से धोकर, अच्छी प्रकार पिसे तिल, सुवर्चिका, यवक्षार, हरताल, सैन्धव, मधु और घृत एवं क्षार प्रधान द्रव्यों से इसका शोधन करके, करंज, नाटाकरंज, रत्ती, बांस की छाल, हिंगोट और गोमूत्र में सिद्ध तैल बरते ॥१७-१९॥

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च
दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव ॥२०॥
सर्पिः कृतं हन्त्यपचीं प्रवृद्धां
द्विधा प्रवृत्तं तदुदारवीर्यम् ।
निर्गुण्डिजातीबरिहिष्ठयुक्तं
जीमूतकं माक्षिकसैन्धवाढ्यम् ॥२१॥
अभिप्रतप्तं वमनं प्रगाढं
दुष्टापचीषूत्तममादिशन्ति ।
कैटर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं
तैलं हितं मूर्धविरेचनं च ॥२२॥
शाखोटकस्य स्वरसेन सिद्धं
तैलं हितं नस्यविरेचनेषु ।
मधूकसारश्च हितोऽवपीडे
फलानि शिग्रोः खरमञ्जरेर्वा ॥२३॥

जीमूतक (देवदाली), कोशातकीफल (कड़ुवी तुम्बी), दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) और निशोथ (इनकी जड़) इनसे सिद्ध किया घी बढ़ी हुई अपची को दोनों मार्गों से (वमन विरेचनसे) दोषों का हरण करके नष्ट करता है। यह घृत उत्कृष्ट शक्ति का है। निर्गुण्डी (सम्भालु), चमेली, बरिहिष्ठ (बालक), जीमूतक (देवदाली), मधु और सैन्धव प्रचुर मात्रा में मिलाकर गरम करके दिया हुआ यह वमन, (बड़ी मात्रा में) दुष्ट अपचियों में

उत्तम कहा जाता है। बकायन, कन्दूरी, कनेर इनके कल्क से सिद्ध किया तैल (द्रव स्थान में जल) शिरो विरेचन में उत्तम है। शाखोटक के स्वरस में सिद्ध किया तैल नस्य विरेचन में उत्तम है। महुआ का सार, शोभांजन के फल या चिरचिटे के फलों को गरम पानी से पीसकर अवपीड़न नस्य देना चाहिये ॥

ग्रन्थीनमर्मप्रभवानपक्वा-
नुद्धृत्य चाग्निं विदधीत पश्चात्।
क्षारेण वाऽपि प्रतिसारयेत्तु
संलिख्य शस्त्रेण यथोपदेशम् ॥२४॥

मर्मस्थान से अतिरिक्त स्थानों में उत्पन्न अपक्व ग्रन्थियों को निकाल देना चाहिये। अथवा क्षार से इनका प्रतिसारण करे-घिसे। कहे अनुसार शस्त्र से लेखन करके क्षार से घिसे ॥

पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि
मित्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान्।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो
निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात् ॥२५॥
आ गुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तो-
स्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य।
घोणर्जुवेधः सुरराजबस्ते-
र्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति ॥२६॥

पार्ष्णि (एड़ी) से लेकर पिण्डली में बारह अंगुल मापकर वहाँ पर इन्द्रवस्ति मर्म को बचाकर वैद्य चीरा देवे। इस स्थान पर मछली के अण्डे के समान (आपस में जुड़े), जो जाल (शिराओं का गुच्छा) हो उसे निकालकर जला देवे। दूसरे आचार्य कहते हैं कि-गुल्फ के कर्णभाग से लेकर घुटने तक माप करके, उस माप का आठवाँ भाग खुड़ (पैर और जंघा की संधि) स्थान से छोड़कर इन्द्रवस्ति मर्म को नेत्र के बराबर (दो अंगुल) बचाते हुए नासिका के समान सीधा वेधन करना चाहिये।

वक्तव्य—इन्द्रवस्ति मर्म-जंघा के मध्य में हैं, यथा-त्रयोदशांगुले पार्ष्णिं प्रति कालान्तरासुहृत्। इन्द्रबस्तिरसृक्स्रावी मांसगोऽर्धाङ्गुलो भवेत् ॥ इन्द्रबस्ति यद्यपि आधा अंगुल है, तथापि यहाँ दो अंगुल बचाने को कहा है। भोजन—

"वातपित्तकफास्त्वद्धामेदश्चापि समाचितम्।
जंघयोः कण्डरां प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥
कुर्वन्ति ग्रन्थीन् यस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः।
दोषैस्तैरूर्ध्वगो वक्षःकक्षामन्यागलाश्रितः ॥
नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता।
व्यामिश्रदोषोत्पन्नां तु कृच्छ्रसाध्यां विनिर्दिशेत्" ॥२५, २६॥

मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक्।
अङ्गुल्यन्तरितं सम्यगपचीनां निवृत्तये ॥२७॥

अथवा मणिबन्ध (कलई) के ऊपर वैद्य तीन रेखायें एक एक अंगुली के अन्तर से, अपचियों की निवृत्ति के लिये करे। (कक्षा, कूर्पर, सन्धिगत अपचियों में बाहु में कर्म करे) ॥२७॥

चूर्णस्य काले प्रचलाककाकगोधाहिकूर्मप्रभवां मसीं तु।
दद्याच्च तैलेन सहेङ्गुदीनां यद्वद्यते श्लीपदिनां च तैलम् ॥
विरेचनं धूममुपाददीत भवेच्च नित्यं यवमुद्गभोजी।

रोपण काल में—मोर, कौवा, गोह, साँप, कछुआ इनकी मसी (राख क्षार) को हिंगोट के तैल के साथ देवे। वैरेचनिक धूम का प्रयोग करे। नित्य प्रति जौ और मूंग का भोजन करे।

कर्कारुकैर्वारुकनारिकेलप्रियालपञ्चाङ्गुलबीजचूर्णैः॥२९॥
वातार्बुदं क्षीरघृताम्बुसिद्धैरुष्णैः सतैलैरुपनाहयेत्तु।
कुर्याच्च मुख्यान्युपनाहनानि सिद्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः॥
स्वेदं विदध्यात् कुशलस्तु नाड्या
शृङ्गेण रक्तं बहुशो हरेच्च।
वातघ्ननिर्यूहपयोम्लभागैः
सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा ॥३१॥

कर्कारु (कूष्माण्ड), एर्वारुक (ककड़ी), नारियल, चिरौंजी, एरण्ड इनके बीजों के चूर्ण से दूध और घृत के साथ सिद्ध करके रक्तपित्त का अनुबन्ध होने पर वातार्बुद पर उपनाह करे। शुद्ध वातार्बुद में तैल युक्त गरम गरम उपनाह करे। मांस एवं वेसवार से सिद्ध किये मुख्य उपनाह (साल्वण आदि) बरते। कुशल वैद्य नाड़ी से स्वेद करे, और शृङ्ग से बार-बार रक्त मोक्षण करे। देवदारु आदि वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ दूध और कांजी में तैल का शतपाक करके पीये। अथवा घृत, तैल, वसा इस त्रिवृत स्नेह को पूर्वोक्त वातहर द्रव्यों के क्वाथ, दूध, कांजी में सिद्ध करके पीये।

वक्तव्य—शतधा पाक—तैल का एक बार पाक करके फिर इसी तरह एक सौ बार करे। डल्हण की मान्यता है कि शतधाऽपतानक विधि से (चि० अ० ५। १८) करे ॥२९-३१॥

स्वेदोपनाहा मृदवस्तु कार्याः
पित्तार्बुदे कायविरेचनं च।
विघृष्य चोदुम्बरशाकगोजी-
पत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिम्पेत् ॥३२॥
श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियङ्गु-
पत्तङ्गरोध्राञ्जनयष्टिकाह्वैः।
विस्राव्य चारग्वधगोजिसोमाः
श्यामा च योज्याः कुशलेन लेपे ॥३३॥
श्यामागिरिह्वाञ्जनकीरसेषु
द्राक्षारसे सप्तलिकारसे च।
घृतं पिबेत् क्लीतकसंप्रसिद्धं
पित्तार्बुदी तज्जठरी च जन्तुः ॥३४॥

पित्तार्बुद में—स्वेदन, उपनाह, ये कोमल रूप में करे, अर्थात् द्रवस्वेद देवे, काकोल्यादि मृदु द्रव्यों से बन्धन करे, इनको दूध और अम्ल में पीसकर बहुत गरम न बाँधे विरेचन भी मृदु ही देवे। गूलर, सागौन, गाजवाँ इनके पत्तों से अर्बुद को रगड़कर इस पर राल, प्रियंगु, लाल चन्दन, लोध, अंजन (सुरमा) और मुलैहठी इनको चूर्ण करके मधु में मिलाकर बहुत बार लेप करे। रक्त निकालकर अमलतास, गाजवाँ, कट्फल और काली निशोथ इनका लेप लगाये। काली निशोथ, गिरिह्वा (श्वेतस्यन्द), अंजन की (नीलाञ्जनिका का शरद् ऋतु का फल) इनके क्वाथ में और द्राक्षारस में तथा सप्तलिका (यवतिक्ता) के रस में मुलैहठी के कल्क से सिद्ध किया घृत पित्तार्बुद रोगी और पित्तोदरी पीये ॥३२-३४॥

शुद्धस्य जन्तोः कफजेऽर्बुदे तु
रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत्।
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च दोषान्
हरन्ति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात् ॥३५॥
कपोतपारावतविड्विमिश्रैः
सकांस्यनीलैः शुकलाङ्गलाख्यैः।
मूत्रैस्तु काकादनिमूलमिश्रैः
क्षारप्रदिग्धैरथ वा प्रदिह्यात् ॥३६॥

वमन से शुद्ध हुए कफार्बुद रोगी का रक्त (अलाबु से) निकालकर अर्बुद पर अपची में कहे ऊर्ध्व और अधः मार्ग (वमन-विरेचन) से दोषों को निकालनेवाले द्रव्यों के कल्क से (जीमूतक, घोषवती, दन्ती, द्रवन्ती, त्रिवृत आदि) लेप करे। कबूतर की बीट, पारावत की बीट, काँसी की स्याही, शुक (ग्रन्थिपर्ण), कलिहारी, काकादनी का मूल इनको मूत्र में पीसकर लेप करे। अथवा क्षार में मिलाकर लेप करे। (अथवा कबूतर की बीट आदि को क्षारोदक में मिलाकर लेप करे)।

वि० मन्तव्य—कांस्यनील—काँसा के पात्र में मण्ठा (गौ का तक्र) डालकर धूप में धर दिया जाता है २-३-५ ७ दिन में वह नीलवर्ण का होकर सूख जाता है। इसको "जंगाल" कहते हैं। यह "तूतिया" का ही एक प्रकार है और उसीके समान लेखन होता है, परन्तु उससे कुछ मृदु होता है। काँसा, ताम्र एवं यशद का मिश्रण है ॥३५,३६॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कै-
र्मांसप्रगाढैर्दधिमस्तुयुक्तैः।
लेपं विदध्यात् कृमयो यथाऽत्र
मूर्च्छन्ति मुञ्चन्त्यथ मक्षिकाश्च ॥३७॥
अल्पावशिष्टे कृमिभक्षिते च
लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात्।
यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीस-
पट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा ॥३८॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात्
प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः।
आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः
कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम् ॥३९॥
शुद्धे च तैलं विदधीत भार्गीविडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम्।
यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥४०॥

सेम, खली (या तिलकल्क), कुलथी इनका कल्क, मांस, दही, मस्तु इनको अच्छी तरह मिलाकर अर्बुद पर लेप करे। इस लेप से खींचकर मक्खियाँ इस अर्बुद पर गिरेंगी और वहाँ अण्डे और कृमि उत्पन्न हो जायँगे। कीड़े जब इस अर्बुद को खा जायें, थोड़ा बचे, तब इसका लेखन करके अग्नि से इसको जलाये। जिस अर्बुद का मूल छोटा हो, उसे राँगा, ताम्र, सीसा, या लोहा इनके पतरे से चारों ओर से घेरकर इस अर्बुद पर क्षार, अग्नि या शस्त्र कर्म बार-बार वैद्य सावधानी से करे, परन्तु प्राणों को नुकसान न होने देवें। साखि, चमेली, कनेर इनके पत्तों का क्वाथ व्रण के धोने के लिये उत्तम है। व्रण के शुद्ध हो जाने पर भार्गी, विडंग, पाठा, त्रिफला से पकाया तैल बरते। जो अर्बुद अचानक चोट आदि के कारण पक जायें उनमें विधि को जाननेवाला वैद्य पाक की चिकित्सा बरते।

वि० मन्तव्य—यद्यपि कफज अर्बुद पकता नहीं है, परन्तु "न रोगोऽप्येकदोषजः" के अनुसार, अथवा यों ही पक जाय तो अर्बुद पर पच्छ लगाकर लेप करके उस पर मक्षिका बैठने दो और प्रतीक्षा करो कि कोई किरौनी मक्षिका (पञ्जाब में इस मक्षिका को "हाई" कहते हैं) आकर बैठे। यह हरे वर्ण की होती है, इसे बैठने दो, यह श्वेत-श्वेत बहुत ही सूक्ष्म अण्डे देती है, २४ या २६ घण्टा में कृमि प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इन कृमियों को चरकसंहिता वि० स्था० अ० ७ में—जन्तुमातरश्चेति। ११। अर्थात् जन्तुमाता कहा है—जन्तु है माता जिनकी। कृमि भक्षित व्रण का रोपण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। इनके विनाश का उपाय है—तूतिया के द्रव से अथवा तुलसीपत्र के द्रव से प्रक्षालन ॥३७-४०॥

मेदोर्बुदं स्विन्नमथो विदार्य विशोध्य सीव्येद्गतरक्तमाशु।
ततो हरिद्रागृहधूमरोध्रपत्तङ्गचूर्णैः समनःशिलालैः ॥४१॥
व्रणं प्रतिग्राह्य मधुप्रगाढैः करञ्जतैलं विदधीत शुद्धे।
सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति ॥
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्युः सशेषाणि यथा हि वह्निः।

मेदोर्बुद में स्वेदन करके इसको चीरकर इसका शोधन करे। रक्त बन्द हो जाने पर इसको सी देवे। इसके पीछे हल्दी, घी का धुँवासा, लोध, चन्दनकाष्ठ, मैनसिल, हरताल, इसके चूर्ण को मधु में भली प्रकार मिलाकर व्रण पर रगड़े। शोधन हो जाने पर विद्रधि में कहा करंज तैल बरते। क्योंकि दोष के रह जाने पर अर्बुद फिर से उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये अर्बुदों को सम्पूर्ण रूप में बाहर निकाले। जैसे कि आग सम्पूर्ण नष्ट करती है, उसी प्रकार इनको जड़ समेत नष्ट करे।

वक्तव्य—"ग्रन्थिर्महान् मांसभवस्त्वनर्त्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च। विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत्।" चरक० चि० अ० १२-२८।

वि० मन्तव्य—अर्बुद का थोड़ा भी मूल अवशिष्ट रह जाने पर वह पुनः बढ़ जाता है और वह कभी अच्छा नहीं होता, कुछ दिन में उसीसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है॥४१,४२॥

संस्वेद्य गण्डं पवनोत्थमादौ नाड्याऽनिलघ्नौषधपत्रभङ्गैः॥
अम्लैः समूत्रैर्विविधैः पयोभि-
रुष्णैः सतैलैः पिशितैश्च विद्वान्।
विस्रावयेत् स्विन्नमतन्द्रितश्च
शुद्धं व्रणं चाप्युपनाहयेत्तु॥४४॥
शणातसीमूलकशिग्रुकिण्वप्रियालमज्जानुयुतैस्तिलैस्तु।
कालामृताशिग्रुपुनर्नवार्कगजादिनामाकरहाटकुष्ठैः॥४५॥
एकैषिका वृक्षकतिल्वकैश्च सुराम्लपिष्टैरसकृत् प्रदिह्यात्।
तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब-
हंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्डरोगे॥४७॥

वातजन्य गण्ड में वैद्य वातनाशक (एरण्ड आदि) द्रव्यों के पत्तों से नाड़ी द्वारा स्वेद देवे। पित्तावृत वायु में कांजी से, कफावृत में मूत्र क्वाथ से, रक्तावृत वायु में मांस के साथ, तैल मिलाकर गरम स्वेदन हो जाने पर बिना आलस्य के विद्वान् जौंक आदि से रक्तमोक्षण करे। रक्त हरण से शुद्ध हो जाने पर सन, अलसी, मूली, सुहांजना, किण्व, (सुराबीज), गिलोय, सहजन, पुनर्नवा, आक, गजपिप्पली, मैनफल, कुष्ठ, एकैषिका (पाठा), कुटज, तिल्वक, इनको सुरा और कांजी में पीसकर बार-बार लेप करे। गिलोय, नीम, हंसराज, कुटज, पिप्पली, बला, देवदारु इनसे सिद्ध किया तैल गलगण्ड रोग में नित्य हितकारी है॥४३-४७॥

स्वेदोपनाहैः कफसंभवं तु
संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात्।
ततोऽजगन्धातिविषाविशल्या-
विषाणिकाकुष्ठशुकाह्वयाभिः॥४८॥
पलाशभस्मोदकपषिताभि-
र्दिह्यात् सुगुञ्जाभिरशीतलाभिः।
दशार्धसङ्ख्यैर्लवणैश्च युक्तं
तैलं पिबेन्मागधिकादिसिद्धम्॥४९॥
प्रच्छर्दनं मूर्धविरेचनं च
धूमश्च वैरेचनिको हितस्तु।
पाकक्रमो वाऽपि सदा विधेयो
वैद्येन पाकङ्गतयोः कथञ्चित्॥५०॥

कफजन्य गलगण्ड में स्वेदन और उपनाह करके इसको स्वेद देकर रक्तमोक्षण ही करना चाहिये। फिर अजगन्धा, अतीस, कलिहारी, मेढ़ासिंगी, कुष्ठ, शुकनास, रत्तियाँ इनको पलाश क्षारोदक में पीसकर, गरम करके लेप करे। पाँचों नमक के साथ, पिप्पली आदि गण के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया तैल पीये। वमन, शिरोविरेचन, वैरेचनिक धूम, बरतने चाहिये। वात और कफजन्य गलगण्ड के किसी प्रकार पक जाने पर वैद्य को पाक विधि बरतनी चाहिये॥४८-५०॥

कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा
भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः।
सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा
हिताय देया गलगण्डरोगे॥५१॥

भक्ष्यों (धान्य, कुल्माष आदि) का गोमूत्र में भिगोकर, सुखाकर, जौ के बने भक्ष्य, मूँग का रस, इनको तथा त्रिकटु को मधु के साथ खाये। शृङ्गवेर परवल, नीम को गलगण्ड रोग में देना उत्तम है॥५१॥

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां विध्येत् सिरां स्निग्धतनोर्नरस्य।
श्यामासुधालोहपुरीषदन्तीरसाञ्जनैश्चापि हितः प्रदेहः॥५२॥
मूत्रेण वाऽऽलोड्य हिताय सारं
प्रातः पिबेत् सालमहीरुहाणाम्।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य विदार्य चैनं
मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत्॥५३॥
मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेद्वा दग्धे च सर्पिर्मधु चावचार्यम्।
कासीसतुत्थे च ततोऽत्र देये चूर्णीकृते रोचनया समेते॥५४॥
तैलेन चाभ्यज्य हिताय दद्यात्
सारोद्भवं गोमयजं च भस्म।
हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो
गाढश्च बन्धो यवभोजनं च॥५५॥

मेदजन्य गलगण्ड में स्नेहन देकर कही हुई सिरा (ऊरुसन्धिमें कही) का वेधन करे। निशोथ, चूना, (या सेहुण्ड) लोहे का मैल (किट्ट) दन्ती, और रसौत इनका लेप करे। सालसारादिगण के वृक्षों के सारकल्क को (कर्षमात्रा में) गोमूत्र में घोलकर

प्रातःकाल पीये। अथवा इसको शस्त्र से चीरकर, मेद को निकालकर, इसको पुनः सी देवे। अथवा मज्जा घी, मेद और मधु से इसे जलाये। जल जाने पर घी और मधु को लगाये। पीछे से कासीस, तुत्थ, गोरोचना (या हल्दी) इनका चूर्ण व्रण में रगड़े। फिर तैल लगाकर सालसारादिगण की और गोबर (छानों) की भस्म लगाये। त्रिफला कषाय नित्य उत्तम है। कसकर पट्टी बाँधनी चाहिये और नित्य जौ का भोजन करना चाहिये ॥ ५२-५५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगल-गण्डाचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वृद्धि-उपदंश-श्लीपद चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अन्त्रवृद्ध्या विना षड्या वृद्धयस्तासु वर्जयेत्।
अश्वादियानं व्यायामं मैथुनं वेगनिग्रहम् ॥३॥
अत्यासनं चङ्क्रमणमुपवासं गुरूणि च।

अन्त्रवृद्धि को छोड़कर जो छः वृद्धि रोग हैं, उनमें घोड़े आदि पर चढ़ना, व्यायाम, मैथुन, उपस्थित वेगों को रोकना, बहुत बैठना, घूमना (मुसाफरी), उपवास और भारी भोजन नहीं करने चाहिये। इनसे बचना चाहिये ॥ ३ ॥

तत्रादितो वातवृद्धौ त्रैवृतस्निग्धमातुरम् ॥४॥
स्विन्नं चैनं यथान्यायं पाययेत विरेचनम्।
कोशाम्रतिल्वकैरण्डफलतैलानि वा नरम् ॥५॥
सक्षीरं वा पिबेन्मासं तैलमेरण्डसंभवम्।
ततः कालेऽनिलघ्नानां क्वाथैः कल्कैश्च बुद्धिमान् ॥६॥
निरूहयेन्निरूढं च भुक्तवन्तं रसौदनम्।
यष्टीमधुकसिद्धेन ततस्तैलेन योजयेत् ॥७॥
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च प्रदेहांश्चानिलापहान्।
विदग्धां पाचयित्वा वा सेवनीं परिवर्जयेत् ॥८॥
भिन्द्यात्ततः प्रभिन्नायां यथोक्तं क्रममाचरेत्।

इनमें वातवृद्धि में सबसे प्रथम रोगी को त्रैवृत स्नेह से (वातव्याधि में कहे), स्निग्ध करके, स्वेदन देवे। फिर जो योग्य हो, वह विरेचन पिलाये। कोशाम्र (अम्बाड़ा), तिल्वक, एरण्डफल इनके तेलों को रोगी पीये। अथवा एक मास तक दूध के साथ एरण्ड तैल को पीये। फिर आवस्थिक काल में वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से बुद्धिमान् निरूह देवे। निरूह हो जाने पर मांस रस (या मुद्गरस) के साथ चावल खिलाकर, मुलैहठी से सिद्ध किये तैल से अनुवासन देवे। स्नेहन और उपनाह करे, वातनाशक प्रदेहों को लगाये। और जो वृद्धि विदग्ध (पाकाभिमुख) हो, उसको पकाकर, सेवनी को बचाकर चीरे। फिर भेदन हो जाने पर द्विव्रणीयोक्त विधि को करे ॥ ४-८ ॥

पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रंथिक्रमो हितः ॥९॥
पक्वां वा भेदयेद् भिन्नां शोधयेत् क्षौद्रसर्पिषा।
शुद्धायां च भिषग्दद्यात्तैलं कल्कं च रोपणम् ॥१०॥
रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेद् भिषक्।
पिबेद्विरेचनं वाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ॥११॥
पित्तग्रन्थिक्रमं कुर्यादामे पक्वे च सर्वदा।

पित्तजन्य अपक्व पित्त विद्रधि में पित्त ग्रन्थि की चिकित्सा करे। पकने पर चीरे। चीरने के उपरान्त मधु और घी से शोधन करे। शुद्ध हो जाने पर वैद्य रोपण करनेवाला तैल और कल्क (द्विव्रणीयोक्त या मिश्रकाध्यायोक्त) वरतें। रक्तजन्य वृद्धि में वैद्य जौंक से रक्त को निकाले। अथवा शर्करा और मधु से मिला विरेचन पीये। आम एवं पक्व वृद्धि में सदा पित्तग्रन्थि की चिकित्सा करे ॥ ९-११ ॥

वृद्धिं कफात्मिकामुष्णैर्मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत् ॥१२॥
पीतदारुकषायं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम्।
विम्लापनादृते वाऽपि श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः ॥१३॥
पक्वायां च विभिन्नायां तैलं शोधनमिष्यते।
सुमनारुष्कराङ्कोठसप्तपर्णेषु साधितम् ॥१४॥

कफजन्य वृद्धि में उष्णवीर्यवाले द्रव्यों को (वचादि पिप्पल्यादि गुण या मिश्रकोक्त अजगन्धादि को) मूत्र में पीसकर लेप करे। दारुहल्दी के कषाय को गोमूत्र के साथ पीये। विम्लापन को छोड़कर शेष सम्पूर्ण चिकित्सा कफजन्य ग्रन्थि की वरते। पकने पर फट जाने पर (या चीर कर) चमेली, भिलावा, अंकोट, सप्तपर्ण के कल्क, कषाय से सिद्ध किया तैल शोधन के लिये व्यवहार में लाये।

(पीतदारु से हल्दी लिया जाये तो उत्तम है। डल्हण ने दारुहरिद्रा अर्थ किया है) ॥ १२-१४ ॥

मेदःसमुत्थां संस्वेद्य लेपयेत् सुरसादिना।
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः ॥१५॥
स्विन्नां चावेष्ट्य पट्टेन समाश्वास्य तु मानवम्।
रक्षन् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत् ॥१६॥
मेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात् कासीससैन्धवे।
बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत् ॥१७॥
मनःशिलालवणैः सिद्धमारुष्करेषु च।

मेदजन्य वृद्धि में स्वेदन करके सुरसादि गण को या पिप्पली, वायविडंग, अपामार्ग, आदि संशोधन, संशमन में कहे शिरोविरेचन द्रव्यों को मूत्र में पीसकर सुहाता गरम लेप करे। स्वेदन देकर, रोगी को आश्वासन देकर वस्त्र से बाँध कर, फल (वृषण) और सेवनी को बचाते हुए वृद्धिपत्र से

चीरे। फिर इसमें से मेद निकालकर कासीस और सैन्धव लगाकर गोफणिका या स्थगिका बन्ध बाँध देवे। व्रण का शोधन हो जाने पर मैनसिल, हड़ताल, सैन्धानमक और भिलावे से सिद्ध किया तैल बरते। कोई 'आवेष्ट्य पट्टेन' का अर्थ— 'वृद्धि को वस्त्र से घेरकर' करते हैं।

वक्तव्य—कासीस, सैन्धव, सुहागा—आज भी कार्बंकल आदि बड़े फोड़ों को साफ करने के लिये देहात में नाई लोग चीर कर भरते हैं। यह प्रायः एक ही दिन करना होता है। इससे गला, सड़ा मांस साफ हो जाता है। यह प्रत्यक्ष की हुई वस्तु है ॥ १५-१७ ॥

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥१८॥
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद्भिषक् ॥१९॥
मूत्रं, नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्।
शुद्धायां रोपणं दद्याद्वर्जयेदन्त्रहैतुकीम् ॥२०॥
अप्राप्तफलकोषायां वातवृद्धिक्रमो हितः।
तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया ॥२१॥
सम्यङ्मार्गावरोधार्थं कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्।
त्वचं भित्त्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेच्चाङ्गविपर्ययात् ॥२२॥
अनेनैव विधानेन वृद्धी वातकफात्मिके।
प्रदहेत् प्रयतः किंतु स्नायुच्छेदोऽधिकस्तयोः ॥२३॥
शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा सिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये ॥२४॥

मूत्रजन्य वृद्धि में स्वेदन देकर वृद्धि को पट्टी से लपेटकर, सेवनी के पार्श्व में नीचे की ओर व्रीहिमुख से वेधन करे। फिर इसमें दो मुखवाली नाड़ी लगाकर वैद्य सब मूत्र निकाल लेवे। फिर नाड़ी को निकालकर स्थगिका बन्ध बाँधे। शोधन हो जाने पर रोपण करे। अन्त्र हेतुकीम् (कोश में पहुँची) वृद्धि की चिकित्सा न करे। जो अन्त्र वृद्धि कोष (फलकोष) में न पहुँची हो, उसे वात वृद्धि की चिकित्सा करे। जो अन्त्र वृद्धि वंक्षण में ही स्थित हो (अभी आगे—ईङ्गुनल्यरिंग से बाहर न आई हो) उसे अर्द्धेन्दुवक्त्रा (हँसली के आकार की हँसिया) शलाका से जला दे, जिससे कि मार्ग भली प्रकार रुक जाये। जो अन्त्र वृद्धि फल कोष में उतर आई हो (फिर वापिस न जाती हो) उसकी चिकित्सा न करे। अन्त्र की विपरीत दशा में (दक्षिण पार्श्व में होने पर वाम में, वाम में होनेपर दक्षिण पार्श्व में) अंगूठे में (पैर के) त्वचा को चीरकर दाह कर्म करे। वातकफजन्य वृद्धि में भी इसी विधि से सावधानी के साथ जलाये। किन्तु वातकफजन्य वृद्धि में स्नायु को अधिक छेदन करें, थोड़ा गहरा जलाये। अन्त्र वृद्धि की शान्ति के लिये—शङ्ख प्रदेश के ऊपर, कान के पार्श्व पर सेवनी को यत्नपूर्वक छोड़ते हुए विरुद्ध पार्श्व में सिरा का वेधन करे।

वक्तव्य—मूत्र को निकाले—वास्तव में जो पानी निकलता है, उसका रङ्ग और रसायनिक विश्लेषण लगभग मूत्र से निकलता है। इसलिये इसे 'मूत्र' नाम से कहा है, यथा—"सामान्यात् गन्धवर्णयोः रक्तस्य पित्तमाख्यातं मनीषिभिः॥" वही हेतु यहाँ है। कान का वेधन—पाली के ऊपर के भाग में आज भी गाँवों में ब्रघ्न या वृद्धि को रोकने के लिये करते हैं। एक दो रोगियों को आराम भी देखा है। परन्तु सब में नहीं ॥१८-२४॥

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः।
सिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः ॥२५॥
हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्।
सद्योऽपहृतदोषस्य रुक्शोफावुपशाम्यतः ॥२६॥
यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तं विरेचनम्।
निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान् ॥२७॥

साध्य उपदंशों में रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर मेहन के मध्य में शिरा का वेधन करे। अथवा जौंके लगाये। (बहुत दोष या गम्भीर रूप में दोष होने पर वेधन करे, अल्प दोष या दोष के ऊपर होने पर जौंक लगाये)। अत्यन्त बढ़े हुए दोषों को वमन और विरेचन से निकाल देवे। दोष के निकल जाने से वेदना और शोफ तुरन्त शान्त हो जाते हैं। यदि दुर्बल होने के कारण रोगी विरेचन के अयोग्य हो तो, उसे निरूह देकर अतिशय बढ़े हुए दोषों को निकाले॥

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्ववर्षाभूकुष्ठदारुभिः।
सरलागुरुरास्नाभिर्वातजं संप्रलेपयेत् ॥२८॥
निचुलैरण्डबीजानि यवगोधूमसक्तवः।
एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः संप्रलेपयेत् ॥२९॥
प्रपौण्डरीकपूर्वैश्च द्रव्यैः सेकः प्रशस्यते।

वातजन्य उपदंश में—प्रपौण्डरीक, मुलैहठी, पुनर्नवा, कूठ, देवदारु, चीड़ का गोन्द, अगरु, रास्ना इनसे लेप करे। वेतूल, एरण्ड के बीज, जौ, गेहूँ के सत्तू, इनको वातजन्य उपदंश में तैल मिलाकर सुहाता हुआ गरम लेप करे। प्रपौण्डरीक आदि द्रव्यों से परिषेक करना उत्तम है ॥ २८,२९ ॥

गैरिकाञ्जनयष्ट्याह्वसारिवोशीरपद्मकैः ॥३०॥
सचन्दनोत्पलैः स्निग्धैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः ॥३१॥
सर्पिःस्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं संप्रलेपयेत्।
सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः ॥३२॥
अथवाऽपि सुशीतेन कषायेण वटादिना।

पैत्तिक उपदंश में—गेरु, अञ्जन (रसौत), मुलैहठी, सारिवा, खस, पद्माख, चन्दन, कमल, इनको घी से स्निग्ध करके लेप करे। कमल, नीला कमल, मृणाल, सर्जरस, अर्जुन, अम्ल वेतस, और मुलैहठी इनको घी

से स्निग्ध करके पैत्तिक उपदंश में लेप करे। घी, दूध, शर्करा का शर्बत, गन्ने का रस, शहद का जल इनसे परिषेक करे। अथवा बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के अति शीतल कषाय से परिषेक करें ॥३०-३२॥

सालाश्वकर्णाजकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम् ॥३३॥
सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत्।
रजन्यतिविषामुस्तासुरसासुरदारुभिः ॥३४॥
सपत्रपाठापत्तूरैरथ वा संप्रलेपयेत्।
सुरसारग्वधाद्योश्च काथाभ्यां परिषेचयेत् ॥३५॥

कफजन्य उपदंश में—साल, अश्वकर्ण, अजकर्ण, धव इनकी छाल को सुरा से पीसकर तैल मिलाकर गरम करके लेप करे। अथवा हल्दी, अतीस, मुस्ता, तुलसी, देवदारू, तमालपत्र, पाठा, पत्तूर (मछेछी) इनसे लेप करे। सुरसादिगण अथवा आरग्वधादिगण के क्वाथ से परिषेक करे ॥३३-३५॥

एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः।
प्रतिकुर्यात् क्रियायोगैः प्राक्स्थानोक्तैर्हितैरपि ॥३६॥
न याति च यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
विदग्धैस्तु सिरास्नायुत्वङ्मांसैः क्षीयते ध्वजः ॥३७॥
शस्त्रेणोपचरेच्चापि पाकमागतमाशु वै।
तदाऽपोह्य तिलैः सर्पिःक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत् ॥३८॥
करवीरस्य पत्राणि जात्यारग्वधयोस्तथा।
प्रक्षालने प्रयोज्यानि वैजयन्त्यर्कयोरपि ॥३९॥

इस प्रकार संशोधन, लेप, परिषेक रक्तमोक्षण, आदि चिकित्सा तथा सूत्रस्थान में कहे एवं मिश्रकोक्त विधि से आम उपदंश की चिकित्सा करे। जिस प्रकार पके नहीं वैद्य ऐसा यत्न करे। क्योंकि पक जाने पर सिरा-स्नायु त्वचा और मांस के सड़ने से मेहन क्षीण हो जाता है। पक जाने पर तुरन्त शस्त्र चिकित्सा करे। फिर पूय को हटाकर घी और मधु में मिलाये तिलों से लेप करे। कनेर चमेली, अमलतास के पत्ते, वैजयन्ती (अरणी वृक्ष) और आक इनके पत्तों का कषाय धोने के लिये बरते ॥३६-३९॥

सौराष्ट्रीं गैरिकं तुत्थं पुष्पकासीससैन्धवम्।
रोध्रं रसाञ्जनं दार्वीं हरितालं मनः शिलाम् ॥४०॥
हरेणुकैले च तथा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तच्चूर्णं क्षौद्रसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम् ॥४१॥

सौराष्ट्री (फिटकरी), गेरू, तुत्थ, पुष्पांजन (जस्त का फूला) कासीस, सैन्धव, लोध, रसौंत, दारुहल्दी, हरताल, मैनसिल, हरेणुका, इलायची, इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर इस चूर्ण को मधु में मिलाकर उपदंशों में बरते ॥४०,४१॥

जम्ब्वाम्रसुमनानिम्बश्वेतकाम्बोजिपल्लवाः।
शल्लकीबदरीबिल्वपलाशतिनिशत्वचः ॥४२॥
क्षीरिणां च त्वचो योज्याः क्वाथे त्रिफलया सह।
तेन क्वाथेन नियतं व्रणं प्रक्षालयेद् भिषक् ॥४३॥
अस्मिन्नेव कषाये तु तैलं धीरो विपाचयेत्।
गोजीविडङ्गयष्टीभिः सर्वगन्धैश्च संयुतम् ॥४४॥
एतत् सर्वोपदंशेषु श्रेष्ठं रोपणमिष्यते।

जामुन, आम, चमेली, नीम, श्वेत (श्वेतस्यन्द, या कोयल), काम्बोजिका (कूविका या माषपर्णी), इनके पत्ते, शल्लकी (सलई), बेर, बिल्व, ढाक, तिनिश (सांदन), इनकी छाल, बरगद आदि क्षीरी वृक्षों की छाल, इनका क्वाथ करके जिसमें त्रिफला क्वाथ मिलाकर इस क्वाथ से वैद्य प्रतिदिन व्रण को धोये। इसी क्वाथ में धीर वैद्य तैल सिद्ध करे। इस तैल में गाजवाँ, वायविडंग, मुलैहठी, और एलादिगण–सर्वगन्ध द्रव्यों को मिलायें। यह तैल सब उपदंशों में रोपण के लिये श्रेष्ठ है।

वक्तव्य—यहाँ पर गाजवाँ आदि का कल्क तैल सिद्ध होने पर मिलाना है। दूसरे आचार्य तैल सिद्ध करने में कषाय के साथ डालते हैं ॥४२–४४॥

स्वर्जिका तुत्थकासीसं शैलेयं च रसाञ्जनम् ॥४५॥
मनःशिलासमैश्चूर्णं व्रणवीसर्पनाशनम्।
गुन्द्रां दग्ध्वा कृतं भस्म हरितालं मनःशिला ॥४६॥
उपदंशविसर्पाणामेतच्छान्तिकरं परम्।
मार्कवस्त्रिफला दन्ती ताम्रचूर्णमयोरजः ॥४७॥
उपदंशं निहन्त्येष वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा।

सर्जक्षार, तुत्थ, कासीस, शैलेय (शिला-पुष्प) रसौंत और मैनसिल इनको समान भाग में लेकर चूर्ण करे। यह चूर्ण उपदंश व्रण जन्य वीसर्प को नष्ट करता है। गुन्द्रा (लसूड़ा) को जलाकर भस्म करे। इस भस्म में मैनसिल और हरताल मिलाये। उपदंश जन्य वीसर्पों को शान्त करने में यह श्रेष्ठ है। भांगरा, त्रिफला, दन्ती (जमाल गोटा), ताम्र की भस्म, यह चूर्ण उपदंश को ऐसे नष्ट कर देता है जैसे कि बिजली वृक्ष को नष्ट करती है ॥४५-४७॥

उपदंशद्वयेऽप्येतौ प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥४८॥
तयोरेव च या योग्या वीक्ष्य दोषबलाबलम्।
उपदंशे विशेषेण शृणु भूयस्त्रिदोषजे ॥४९॥

रक्तजन्य और सन्निपातजन्य उपदंशों में कारण की समानता होने पर-इन दोनों को असाध्य कहकर चिकित्सा करे। इनमें दोष के बल और अबल का विचार करके, जो योग्य चिकित्सा हो, उसे वातादि दोष के अनुसार करे॥४८,४९॥

दुष्टव्रणविधिं कुर्यात् कुथितं मेहनं त्यजेत्।
जम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन पश्चाच्छेषं दहेद् भिषक् ॥५०॥
सम्यग्दग्धं च विज्ञाय मधुसर्पिः प्रयोजयेत्।
शुद्धे च रोपणं दद्यात् कल्कं तैलं हितं च यत् ॥५१॥

सन्निपातजन्य उपदंश में विशेष चिकित्सा को सुनो इसमें दुष्ट व्रण की चिकित्सा करे और सड़े हुए मेहन की चिकित्सा

न करे। जितना मेहन सड़ गया हो, उसे काटकर पीछे से अग्नि में लाल किये जम्ब्वोष्ठ शस्त्र से बचे हुए मेहन के अग्र भाग पर अग्नि कर्म करे। भली प्रकार दाह हुआ जानकर मधु और घृत लगाये। शोधन होने पर उससे रोपण करे, इसके लिये जो कल्क तैल हितकारी हो ॥५०,५१॥

स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक्।
कृत्वा गुल्फोपरि सिरां विध्येत्तु चतुरङ्गुले ॥५२॥
समाप्यायितदेहं च बस्तिभिः समुपाचरेत्।
मासमेरण्डजं तैलं पिबेन्मूत्रेण संयुतम् ॥५३॥
पयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च।
त्रैवृतं चोपयुञ्जीत शस्तो दाहस्तथाऽग्निना ॥५४॥

वातजन्य श्लीपद में वैद्य स्नेहन और स्वेदन करके गुल्फ से चार अंगुल ऊपर में सिरा का वेधन करे। रक्त निकालने के उपरान्त शरीर के स्वस्थ-प्रकृतरूप में आ जाने पर रोगी को निरूहबस्ति देवे। मास तक एरण्ड तैल को गोमूत्र के साथ पीये। सोंठ (एक कर्ष) के कषाय से सिद्ध किये दूध के साथ चावल खाये। व्यातव्याधि में कहे त्रैवृत्त स्नेह को बरते। अग्नि आदि से दाह उत्तम है।

वक्तव्य—बनारस के गायघाट पर मैंने एक रोगी देखा था। आयु २२ वर्ष की थी, उसके बायें पैर में श्लीपद था। उसने वहाँ एक मनुष्य से दाह करवाया था। दाह के निशान उसके पैर में थे। दाह करवाये तीन साल हो चुके, जब मैंने देखा था। उसने कहा कि दाह करवाने से अब श्लीपद नहीं बढ़ता। वह रोगी साधारण मजदूर था ॥५२–५४॥

गुल्फस्याधः सिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसंभवे।
पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्यात् पित्तार्बुदविसर्पवत् ॥५५॥

पित्तजन्य श्लीपद में गुल्फ से नीचे सिरा का वेधन करे। पित्तार्बुद और पित्तविसर्प की भांति पित्तनाशक चिकित्सा करे ॥५५॥

सिरां सुविदितां विध्येदङ्गुष्ठे श्लैष्मिके भिषक्।
मधुयुक्तानि चाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः ॥५६॥
पिबेद्वाऽप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन च।
कटुकाममृतां शुण्ठीं विडङ्गं दारु चित्रकम् ॥५७॥
हितं वा लेपने नित्यं भद्रदारु सचित्रकम्।
विडङ्गमरिचार्केषु नागरे चित्रकेऽथवा ॥५८॥
भद्रदार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च।
तैलं पक्वं पिबेद्वाऽपि यवान्नं च हितं सदा ॥५९॥
पिबेत् सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये।
पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वाऽपि यथाबलम् ॥६०॥
अनेनैव विधानेन पुत्रञ्जीवकजं रसम्।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित् ॥६१॥
केबुकाकन्दनिर्यासं लवणं त्वथ पाकिमम्।
रसं दत्त्वाऽथ पूर्वोक्तं पेयमेतद् भिषग्जितम् ॥६२॥

कफजन्य श्लीपद में वैद्य अंगुष्ठ में—भली प्रकार जानी सिरा का क्षिप्र मर्म के चार अंगुल ऊपर में वेधन करे। मनुष्य मधु मिश्रित कफ नाशक कषायों को बार-बार पीये। आठों मूत्रों में से किसी एक मूत्र से हरड़ के कल्क को पीये। कुटकी, गिलोय, सोंठ वायविडंग, देवदारु, चित्रक, इनका नित्यप्रति लेप करे। वायविडंग, मरिच, आक, सोंठ चित्रक, अथवा देवदारु, एलवालुक और पांचों नमक इनमें सिद्ध किया तैल पीये और जौ का भोजन करना उत्तम है। श्लीपद रोगों की शान्ति के लिये सरसों का तेल पीये। अग्नि-बल की अपेक्षा से नाटाकरंज पत्तों का स्वरस पीये। करंज की विधि से ही काल, सात्म्य को समझनेवाला बुद्धिमान् वैद्य जियापोते के पत्तों का स्वरस पिलाये। केबुक कन्द का निर्यास (स्वरस), विडलवण, इनमें जियापोते का स्वरस या करंज का स्वरस मिलाकर यह औषध रोगी पीये ॥६२॥

काकादनीं काकजङ्घां बृहतीं कण्टकारिकाम्।
कदम्बपुष्पीं मन्दारीं लम्बां शुकनसां तथा ॥६३॥
दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत् क्षारकल्पवत्।
तत्र दद्यात् प्रतीवापं काकोदुम्बरिकारसम् ॥६४॥
मदनाच्च फलात् क्वाथं शुकाख्यस्वरसं तथा।
एष क्षारस्तु पानीयः श्लीपदं हन्ति सेवितः ॥६५॥
अपचीं गलगण्डं च ग्रहणीदोषमेव च।
भक्तस्यानशनं चैव हन्यात् सर्वविषाणि च ॥६६॥

काकादनी (कालाहिंसा-डल्हण, वायसतिन्दु), काकजंघा, बड़ीकटेरी, छोटीकटेरी, कदम्बपुष्पी, मन्दारी, लम्बा (कड़ुई तुम्बी), शुकनासा इनको जलाकर गोमूत्र में घोलकर क्षारकल्पना विधि से नितार लेवे। इसमें कठगूलर का रस, मैनफल का क्वाथ, शुकनासा का स्वरस प्रतिवाप रूप में मिलायें। यह पानीय क्षार पीने पर श्लीपद, अपची, गलगण्ड, ग्रहणीरोग, भोजन के अजीर्ण को और सब विषों को नष्ट करता है ॥६३-६६॥

एष्वेव तैलं संसिद्धं नस्याभ्यङ्गेषु पूजितम्।
एतानेवामयान् हन्ति ये च दुष्टव्रणा नृणाम् ॥६७॥

काकादनी आदि के क्वाथ में और कठगूलर के स्वरस, मैनफल के क्वाथ और शुकनासा स्वरस (ये क्वाथ के समान) में सिद्ध किया तेल नस्य और अभ्यंग में श्रेष्ठ है। यह तैल भी उपर्युक्त रोगों को एवं दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है ॥६७॥

द्रवन्तीं त्रिवृतां दन्तीं नीलीं श्यामां तथैव च।
सप्तलां शङ्खिनीं चैव दग्ध्वा मूत्रेण गालयेत् ॥६८॥
दद्याच्च त्रिफलाक्वाथमेष क्षारस्तु साधितः।
अधो गच्छति पीतस्तु पूर्वैश्चाप्याशिषः समाः ॥६९॥

द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), निशोथ, जमालगोटा की जड़, नीलिनी, काली निशोथ, ससला (शिकाकाई), यवतिक्ता, इनको जलाकर गोमूत्र में घोलकर नितार लेवे। इसमें त्रिफला क्वाथ मिलाकर बनाया हुआ क्षार विरेचन करता है। इसमें पूर्वोक्त फलश्रुति समान है, पूर्वोक्त रोगों का नाश इससे होता है॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१६॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे क्षुद्र रोग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—क्षुद्ररोग का विवरण नि० स्था० अ० १३ में देखिये ॥१,२॥

तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत्।
शुक्तिश्यामायवक्षारकल्कैश्च लेपयेद् भिषक् ॥३॥
श्यामालाङ्गलकीपाठाकल्कैर्वाऽपि विचक्षणः।
पक्वां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयेत् ॥४॥

अपक्व अजगल्लिका में वैद्य—जोंक लगाकर रक्त निकाले। सीप, सर्जक्षार और यवक्षार इनसे लेप करे। काली निशोथ, कलिहारी, पाठा इनके कल्कों से चतुर वैद्य लेप करे। पक जाने पर कही हुई व्रण विधि से चिकित्सा करे ॥३,४॥

अन्धालजीं यवप्रख्यां पनसीं कच्छपीं तथा।
पाषाणगर्दभं चैव पूर्वं स्वेदेन योजयेत् ॥५॥
मनः शिलातालकुष्ठदारुकल्कैः प्रलेपयेत्।
परिपाकगतान् भित्त्वा व्रणवत् समुपाचरेत् ॥६॥

अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसी, कच्छपी और पाषाण गर्दभ इनमें प्रथम स्वेद देवे। मैनसिल, हरताल, कुष्ठ, देवदारु इनके कल्क से लेप करे। पक जाने पर चीरकर व्रण की भाँति चिकित्सा करे ॥५,६॥

विवृतामिन्द्रवृद्धां च गर्दभीं जालगर्दभम्।
इरिवेल्लीं गन्धनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा ॥७॥
पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद् भिषक्।
रोपयेत् सर्पिषा पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः ॥८॥

विवृता, इन्द्रवृद्धा, गर्दभी, जालगर्दभ, इरिवेल्ली, गन्धनामक, कक्षा, विस्फोटक, इनमें वैद्य पित्तजन्य विसर्प की चिकित्सा करे। पक जाने पर काकोल्यादिगण से सिद्ध किये घी से इनका रोपण करे ॥७,८॥

चिप्प्य(प्प)मुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद् भिषक्
चक्रतलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत् ॥९॥
बन्धेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत्
मधुरौषधसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत् ॥१०॥
कुनखे विधिरप्येष कार्यो हि भिषजा भवेत्।
उपाचरेदनुशयीं श्लेष्मविद्रधिवद् भिषक् ॥११॥

चिप्प रोग में गरम पानी से सेक करके शस्त्र से दूषित एवं पके मांस को काटकर वैद्य रक्त को बहाये। फिर कोल्हू के निकले ताजे तैल से सेचन करके राल का चूर्ण इस पर बुरक देवे। ऊपर से पट्टी बाँध देवे। यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो, अग्नि से जलाये। फिर काकोल्यादिगण से सिद्ध किये तैल से रोपण करे। कुनख में भी वैद्य यही विधि बरते। कफजन्य विद्रधि की भाँति वैद्य अनुशयी रोग की चिकित्सा करे ॥९-११॥

विदारिकां समभ्यज्य स्विन्नां विम्लाप्य लेपयेत्।
नगवृत्तिकवर्षाभूबिल्वमूलैः सुपेषितैः ॥१२॥
व्रणभावगतायां वा कृत्वा संशोधनक्रियाम्।
रोपणार्थं हितं तैलं कषायमधुरैः शृतम् ॥१३॥
प्रच्छानैर्वा जलौकोभिः स्राव्याऽपक्वा विदारिका।
अजकर्णैः सपालाशमूलकल्कैः प्रलेपयेत् ॥१४॥
पक्वां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयोः।
कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत् ॥१५॥
बद्ध्वा च क्षारवृक्षस्य कषायैः खदिरस्य च।
व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धां ततस्तां रोपयेत् पुनः ॥१६॥

विदारिका को भली प्रकार अभ्यंग करके स्वेदन देकर अंगूठे आदि से मले। फिर नगवृत्तिक (जिंगण), पुनर्नवा, बिल्वमूल इनको पीसकर लेप करे। व्रणरूप में हो जाने पर संशोधन चिकित्सा करके, कषाय एवं काकोल्यादि मधुर गणों से सिद्ध किया तैल रोपण के लिये बरते। अपक्व विदारिका में पाछने से या जलौका से रक्त निकालना चाहिये। अजकर्ण, ढाक की मूल इनके कल्कों से लेप करे। पकी हुई विदारिका को शस्त्र से चीरकर, पटोल, नीम, तिल इनके कल्क को घी और मधु में मिलाकर लेप करे। बरगद आदि क्षीरिवृक्षों के तथा खैर के कषाय से व्रण को धोये। शोधन हो जाने पर पुनः रोपण करे॥

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्कराबुदम्।
कच्छुं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत् समुपाचरेत् ॥१७॥
लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपैः।
वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम् ॥१८॥
सारतैलमथाभ्यङ्गे कुर्वीत कटुकैः शृतम्।

शर्करार्बुद की चिकित्सा मेदोऽर्बुद की भाँति करे। कच्छू, विचर्चिका, पामा की चिकित्सा कुष्ठ की भाँति करे। मोम, सौंफ और सरसों से लेप उत्तम है। बच, दारुहल्दी, पीली सरसों इनका तैल अथवा करंज का तैल, अथवा सार तैल Tar-Oil—शीशम, अगरु, सरल, देवदार-कैल आदि का पाताल से निकाला तैल), एवं पिप्पल्यादि कटुक औषधियों से सिद्ध किया तैल उत्तम है ॥१७-१८॥

पाददार्यां सिरां विद्ध्वा स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत् ।१६।
मधूच्छिष्टवसामज्जसर्जचूर्णघृतैः कृतः ।
यवाह्वगैरिकोन्मिश्रः पादलेपः प्रशस्यते ॥२०॥

पाददारी में स्नेहन और स्वेदन करके सिरा का वेधन करे। मोम, वसा, मज्जा, राल, जौखार और गेरू इनके चूर्ण को घी में मिलाकर बनाये लेप पैर पर लगाये ॥१६,२०॥

पदौ सिक्त्वाऽऽरनालेन लेपनं ह्यलसे हितम् ।
कल्कीकृतैर्निम्बतिलकाशीसालैः ससैन्धवैः ॥२१॥
लाक्षारसोऽभया वाऽपि कार्यं स्याद्रक्तमोक्षणम् ।
सिद्धं रसे कण्टकार्यास्तैलं वा सार्षपं हितम् ॥२२॥
कासीसरोचनशिलाचूर्णैर्वा प्रतिसारणम् ।

अलस रोग में पैरों पर कांजी से परिषेक करके नीम, तिल, कासीस, हड़ताल, सैन्धव इनको पीसकर लेप करना उत्तम है। अथवा लाक्षारस (महावर) और हरड़ का लेप करे। रक्त मोक्षण करे। कण्टकारी के स्वरस में सिद्ध किया-सरसों का तेल उत्तम है। कासीस, हल्दी, मैनसिल इनके चूर्ण से मलना श्रेष्ठ है ॥

उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत् कदरसंज्ञकम् ॥२३॥

कदर (आटन) को शस्त्र से काटकर अग्नि से गरम किये तैल से जलाना चाहिये। (तैल सूक्ष्म मार्गानुसारि है। यथा—"अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वाद् त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति" सुश्रुत सूत्र अ० ११।१५) ॥२३॥

इन्द्रलुप्ते सिरां मूर्ध्नि स्निग्धविन्नस्य मोक्षयेत् ।
कल्कैः समरिचैर्दिह्याच्छिलाकासीसतुत्थकैः ॥२४॥
कुटन्नटादारुकल्कैर्लेपनं वा प्रशस्यते ।
प्रच्छयित्वाऽवगाढं वा गुञ्जाकल्कैर्मुहुर्मुहुः ॥२५॥
लेपयेदुपशान्त्यर्थं कुर्याद्वाऽपि रसायनम् ।
मालतीकरवीराग्निनक्तमालविपाचितम् ॥२६॥
तैलमभ्यञ्जने शस्तमिन्द्रलुप्तापहं परम् ।

इन्द्रलुप्त में रोगी का स्नेह और स्वेदन करके शिर में शिरा का मोक्षण करे। मरिच, मैनसिल, कासीस और तुत्थ का लेप करे। कुटन्नट (तगर), देवदारु इनके कल्क से लेप करना उत्तम है। अथवा गहरे रूप में पाछने लगाकर रत्ती के कल्कों से बार-बार लेप करे। अथवा रोग की शान्ति के लिये रसायन विधि का पालन करे। चमेली, कनेर, चित्रक, करंज से सिद्ध किया तैल अभ्यंग में उत्तम है, सर्वथा इन्द्रलुप्त नाशक है ॥२४-२६॥

अरूंषिकां हृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा ॥२७॥
दिह्यात् सैन्धवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु ।
हरितालनिशानिम्बकल्कैर्वा सपटोलजैः ॥२८॥
यष्टीनीलोत्पलैरण्डमार्कवैर्वा प्रलेपयेत् ।
इन्द्रलुप्तापहं तैलमभ्यङ्गे च प्रशस्यते ।

अरुंषिका में रक्त निकालकर नीम के पानी से परिषेक करे। घोड़े की लीद के रस में सैन्धव मिलाकर उससे लेप करे। हरिताल, हल्दी, नीम और पटोल इनके कल्क से लेप करे। अथवा मुलैहठी, नीला कमल, एरण्ड और भांगरे से लेप करे। इन्द्रलुप्त नाशक तैल का अभ्यंग उत्तम है ॥२७,२८॥

सिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धस्विन्नस्य मूर्धनि।२६।
अवपीडं शिरोबस्तिमभ्यङ्गं च प्रयोजयेत् ।
क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोयं प्रशस्यते ॥३०॥

दारुण रोग में रोगी को स्नेहन स्वेदन देकर शिर पर सिरा का वेधन करे। अवपीड, नस्य, शिरोबस्ति और अभ्यंग करे। धोने के लिये कोदा के तिनकों का क्षार जल उत्तम है ।२६,३०।

उपरिष्टात् प्रवक्ष्यामि विधिं पलितनाशनम् ।

पलित रोग की चिकित्सा आगे मिश्रकोक्त चिकित्सा (२५ वें अध्याय) में कहूँगा।

मसूरिकायां कुष्ठघ्नलेपनादिक्रिया हिता ॥३१॥
पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया वा संप्रशस्यते ।

मसूरिका में कुष्ठ नाशक लेपन आदि क्रिया हितकारी है। अथवा विसर्प में कही पित्त, कफ नाशक चिकित्सा उत्तम है ॥

जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम् ॥३२॥
क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः ।

जतुमणि, तिककालक और मषक को भली प्रकार काटकर युक्तिपूर्वक क्षार से या अग्नि से धीरे धीरे जलाये ॥३२॥

न्यच्छे व्यङ्गे सिरामोक्षो नीलिकायां च शस्यते ॥३३॥
यथान्यायं यथाभ्यासं ललाटाद्यादिसिराव्यधः ।
घृष्ट्वा दिह्यात्त्वचं पिष्ट्वा क्षीरिणां क्षीरसंयुताम् ॥३४॥
बलातिबलयष्ट्याह्वरजनीर्वा प्रलेपनम् ।
पयस्यागुरुकालीयलेपनं वा सगैरिकम् ॥३५॥
क्षौद्राज्ययुक्तया लिम्पेद्दंष्ट्रया शूकरस्य च ।
कपित्थराजादनयोः कल्कं वा हितमुच्यते ॥३६॥

न्यच्छ, व्यंग और नीलिका में सिरा मोक्षण उत्तम है। यह सिरा वेध, जैसा योग्य हो, एवं जैसा अभ्यास में आया हो, उस प्रकार से ललाट आदि की सिरा का वेध करे। फिर समुद्र फेन आदि से घिसकर, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की छाल को दूध के साथ पीसकर लेप करे। अथवा बला अतिबला, मुलैहठी, हल्दी इनका लेप करे। या विदारी, अगरु, कालीयक और गेरू इनका लेप करे। शूकर की दंष्ट्रा को घिसकर मधु और घी में मिलाकर लेप करे। अथवा कैथ और खिरनी का कल्क उत्तम कहा जाता है ॥३३-३६॥

यौवने पिडकास्वेष विशेषाच्छर्दनं हितम् ।
लेपनं च वचारोध्रसैन्धवैः सर्षपान्वितैः ॥३७॥
कुस्तुम्बुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम् ।

युवावस्था में पिड़काओं में विशेषकर वमन करना उत्तम है। वच, लोध, सैन्धव और सरसों से लेप करना उत्तम है। अथवा धनियाँ, वच, लोध, और कुष्ठ का लेप उत्तम है ॥३७॥

पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा ॥३८॥
तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिःपानं प्रदापयेत् ।
निम्बारग्वधयोः कल्को हितमुत्सादने भवेत् ॥३९॥

पद्मिनी कण्टक रोग में रोगी को नीम के पानी से वमन कराये। नीम के क्वाथ से सिद्ध किये घी को मधु के साथ पिलाना उत्तम है। उबटन में नीम और अमलतास के पत्तों का कल्क उत्तम है ॥३८,३९॥

परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत् ।
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत् पीडयेन्मणिम् ॥४०॥
प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः ।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा वातघ्नैः साल्वणादिभिः ॥४१॥
दद्याद्वातहरान् वस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत् ।
वपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सकः ॥४२॥

परिवर्त्तिका में स्वेदन भली प्रकार करके घी से स्निग्ध करके बाँध देवे। तब घी से अभ्यङ्ग करके मणि को दबाते हुये चर्म को आगे लाये। मणि के अन्दर घुस जाने पर चर्म पर उपनाहनों से (अलसी आदि से) मृदु स्वेद करे। यह स्वेद वातनाशक साल्वण आदि द्रव्यों से तीन या पाँच दिन दोष की विकल्पना से करना चाहिए। वातनाशक वस्तियाँ देवे। स्निग्ध अन्नों को खिलाये। चिकित्सक दोषानुसार इसी विधि से अवपाटिका की चिकित्सा करे ॥४०-४२॥

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम् ।
दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥४३॥
परिषेके वसामज्जाशिशुमारवराहयोः ।
चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम् ॥४४॥
त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाडीं प्रवेशयेत् ।
स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत् ॥४५॥
भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत् ।
सन्निरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम् ॥४६॥
प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत् ।
विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम् ॥४७॥
सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया ।

निरुद्ध प्रकश रोग में—दोनों ओर मुखवाली लोहे की नाड़ी को या लकड़ी अथवा लाख से बनाई नाड़ी को घी से स्निग्ध करके अन्दर प्रविष्ट करे। परिषेक में शिशुमार या सुअर की वसा और मज्जा बरते। अथवा वातनाशक द्रव्यों से मिला कोल्हू का ताजा तेल बरते। तीन तीन दिन के उपरान्त मोटी मोटी नाडी प्रविष्ट करता जाये। इस प्रकार से स्रोत को चौड़ा करे, और रोगी को स्निग्ध अन्न दे। अथवा सेवनी को बचाकर शस्त्र से चीरकर सद्यः क्षत विधि से चिकित्सा करे। सन्निरुद्ध गुद, वल्मीक और अग्नि रोहिणी को असाध्य कहकर यथायोग्य चिकित्सा करे। अग्नि रोहिणी की चिकित्सा विसर्पोक्त विधि से करे। सन्निरुद्ध गुद रोग में निरुद्ध प्रकश की चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत्। अर्थात्—मणि पर आनेवाली रहनेवाली त्वचा को काट देवे जैसे मुसलमान 'सुन्नत' करते हैं। सुन्नत भी सेवनी को बचाकर ही की जाती है ॥४३-४७॥

शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत् ॥४८॥
विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत् ।
वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम् ॥४९॥
तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद् भिषक् ।
कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च ॥५०॥
आरेवतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैस्तथैव च ।
श्यामामूलैः सपललैः शक्तुमिश्रैः प्रलेपयेत् ॥५१॥
सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक् तमुपनाहयेत् ।
पक्वं वा तद्विजानीयाद् गतीः सर्वा यथाक्रमम् ॥५२॥
अभिज्ञाय ततश्छित्त्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक् ।
संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत् ॥५३॥
व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान् भिषक् ।
सुमना ग्रन्थयश्चैव भल्लातकमनःशिले ॥५४॥
कालानुसारी सूक्ष्मैला चन्दनागुरुणी तथा ।
एतैः सिद्धं निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम् ॥५५॥
पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम् ।
वल्मीकं यत् सशोफं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता ॥५६॥

वल्मीक को शस्त्र से काटकर क्षार और अग्नि से जलाये। अर्बुदोक्त विधि से शोधन करके रोपण करे। जिस रोगी में वल्मीक बहुत बड़ा न हो तथा मर्म स्थान पर न उत्पन्न हो, उसमें संशोधन करके वैद्य रक्त मोक्षण करे। फिर कुलत्थी की जड़, गिलोय, नमक, आरेवत का मूल, जमाल गोटे की जड़, निशोथ का मूल, तिल कल्क इनको सत्तू में मिलाकर लेप करे। वल्मीक पर अतिशय स्निग्ध एवं सुहाते हुये गरम द्रव्यों से वैद्य उपनाह करे। वल्मीक को पका हुआ जानकर वैद्य नाड़ी व्रण की सम्पूर्ण विधि बरते। इसमें इसको काटकर बुद्धिमान् वैद्य जला देवे। दूषित मांसों का शोधन करके क्षार से रगड़े, व्रण को शुद्ध हुआ जानकर वैद्य रोपण करे। रोपण के लिये-चमेली के डोडे, भिलावा, मैनसिल, कालानुसारी, छोटी इलायची, चन्दन, अगरु, इनसे सिद्ध किया नीम का तैल वल्मीक में उत्तम रोपण है। हाथ-पैरों पर बहुत छिद्रोंवाला वल्मीक हो, तथा जिसमें सूजन भी हो, उसे जाननेवाला वैद्य छोड़ दे उसकी चिकित्सा न करे।

वक्तव्य—ये रोग असाध्य हैं, फिर भी—यावद् उच्छ्व-

स्थिति प्राणो तावत् कार्या प्रतिक्रिया। कदाऽपि दैवयोगेन दृष्टारिष्टोऽपि जीवति॥ इस न्याय से चिकित्सा कही है ॥४८-५६॥

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना।
पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम् ॥५७॥
पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम्।
त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम् ॥५८॥
कासीसरोचनातुत्थहरितालरसाञ्जनैः।
लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैन्धवसंयुता ॥५९॥
कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत्।
चिकित्सेन्मुष्ककच्छूं चाप्यहिपूतनपामवत् ॥६०॥

बालक के अहिपूतना रोग में धात्री के दूध का शोधन करके चिकित्सा करे। परवल के पत्ते, त्रिफला, रसौंत (धात्रीके) दुःसाध्य अहि पूतना को भी अच्छा कर देता है। त्रिफला बेर, खैर इनका कषाय व्रण का रोपण करता है। कासीस, हल्दी, तुत्थ, हरताल, रसौंत इनको कांजी में पीसकर अथवा बेर की छाल सैंधवनमक इनको कांजी में पीसकर लेप करे। रोपण काल में मिट्टी के ठीकरे का चूर्ण और तुत्थ का चूर्ण छिड़के। मुष्क कच्छु की चिकित्सा अहि पूतना और पामा की भांति करे ॥६०॥

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥६१॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः।
क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जिताम् ॥६२॥
पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम्।
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥६३॥

गुदभ्रंश में गुदा पर स्वेदन करके स्नेह से गुदा को स्निग्ध करके अन्दर प्रविष्ट करे। फिर बीच में छेद रखकर चमड़े की पट्टी बाँध दे। वायु निकलती है, इसलिये उदर पर बार-बार स्वेद देवे। अन्त्र रहित चुहिया को, महत्पञ्चमूल को दूध में पकाये। इस दूध में वातनाशक औषधियों के साथ तैल सिद्ध करे। इस तैल के पीने और अभ्यङ्ग से कष्ट साध्य गुदभ्रंश भी अच्छा होता है ॥६१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षुद्ररोगचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शूकदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शूकदोष चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे- जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—शूक दोषों का वर्णन नि० स्था० अ० १४ में देखिये ॥१,२॥

संलिख्य सर्षपीं सम्यक् कषायैरवचूर्णयेत्।
कषायेष्वेव तैलं च कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥३॥

सर्षपी में भली प्रकार लेखन करके कषाय वृक्षों के चूर्ण से अवचूर्णन करे (मिश्रकोक्त शोधन कषाय द्रव्यों के चूर्ण को छिड़के)। रोपणसाध्य कषाय द्रव्यों के कल्क से जल में तैल सिद्ध करे, यह व्रण रोपक है ॥३॥

अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेच्च पुनः पुनः।
तथा चानुपशाम्यन्तीं कफग्रन्थिवदुद्धरेत् ॥४॥

अष्ठीलिका में बार-बार जौंक लगाये। इससे भी रोग शान्त न हो तो कफ ग्रन्थि के समान शस्त्र से इसको काटकर निकाल देवे ॥४॥

स्वेदयेद् ग्रथितं शश्वन्नाडीस्वेदेन बुद्धिमान्।
सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत् ॥५॥
कुम्भीकां पाकमापन्नां भिन्द्याच्छुद्धां तु रोपयेत्।
तैलेन त्रिफलालोध्रतिन्दुकाम्रातकेन तु ॥६॥

ग्रथित को बुद्धिमान् वैद्य निरन्तर नाड़ी स्वेदसे स्वेद देवे। अतिशय स्निग्ध एवं सुहाते हुए गरम उपनाहों से इसको बाँधे। पकी हुई कुम्भिका को चीरे। शोधन करके इसका रोपण करे। रोपण के लिये त्रिफला, लोध, तिन्दुक और अम्बाड़ा इनसे चौगुने जल में तैल सिद्ध करे ॥५,६॥

ग्राहयित्वा जलौकोभिरलजीं सेचयेत्ततः।
कषायैस्तेषु सिद्धं च तैलं रोपणमिष्यते ॥७॥

अलजी को जौंक लगाकर पिलखन आदि कषाय वृक्षों के कषाय से परिषेक करे। इन कषाय वृक्षों के कषाय में सिद्ध तैल रोपण के लिये उत्तम है ॥७॥

बलातैलेन कोष्णेन मृदितं परिषेचयेत्।
मधुरैः सर्पिषा स्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहयेत् ॥८॥

मृदित को गुनगुने बला तेल से परिषेक करे। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों को घी से स्निग्ध करके सुहाता हुआ गरम उपनाह बांधे ॥८॥

संमूढपिडिकां क्षिप्रं जलौकोभिरुपाचरेत्।
भित्त्वा पर्यागतां चापि लेपयेत् क्षौद्रसर्पिषा ॥९॥

संमूढ पिड़का में तुरन्त जौंक लगाये। पक जाने पर चीरकर, मधु और घी से लेप करे ॥९॥

अवमन्थे गते पाकं भिन्ने तैलं विधीयते।
धवाश्वकर्णपत्तङ्गसल्लकीतिन्दुकीकृतम् ॥१०॥
क्रियां पुष्करिकायां तु शीतां सर्वां प्रयोजयेत्।
जलौकोभिर्हरेच्चासृक् सर्पिषा चावसेचयेत् ॥११॥
स्पर्शहान्यां हरेद्रक्तं प्रदिह्यान्मधुरैरपि।
क्षीरेक्षुरससर्पिर्भिः सेचयेच्च सुशीतलैः ॥१२॥

अवमन्थ के पक जाने पर, फूटने पर, तैल बरता जाता है। यह तैल धव, अश्वकर्ण, लाल चन्दन, सल्लकी और तिन्दुक से बनाना चाहिए। पुष्करिका में सब शीतल क्रियायें करनी चाहिये। जौंक से रक्त को निकाले और घी से परिषेक करे। स्पर्शहानि में रक्तमोक्षण करे और काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से लेप करे। दूध ईख का रस, घी एवं अतिशीतल द्रव्यों से परिषेक करे ॥१०-१२॥

पिडकामुत्तमाख्यां च वडिशेनोद्धरेद्भिषक्।
उद्धृत्य मधुसंयुक्तैः कषायैरवचूर्णयेत् ॥१३॥

उत्तमा नामक पिडका को वैद्य वडिशसे निकाले। निकालकर मधुमिश्रित कषाय द्रव्यों के चूर्ण से, अवचूर्णन करे ॥१३॥

रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके।
पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च देयं तैलमनन्तरम् ॥१४॥
क्रियां कुर्याद्भिषक् प्राज्ञस्त्वक्पाकस्य विसर्पवत्।

शतपोनक में लेखन करके शोधन काल में शोधन द्रव्य कषायों से और रोपण काल में रोपण द्रव्य कषायों से रस क्रिया बनाकर बरतनी चाहिये। पीछे से पृथक्‌पर्ण्यादि से (मिश्रकोक्त रोपण घृत में कहे) सिद्ध किया तैल बरते। त्वक् पाक में वैद्य विसर्प की भाँति चिकित्सा करे ॥१४॥

रक्तविद्रधिवच्चापि क्रियाशोणितजेऽर्बुदे ॥१५॥
कषायकल्कसर्पींषि तैलं चूर्णं रसक्रियाम्।
शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥१६॥
हितं च सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम्।
हितः शोणितमोक्षश्च यच्चापि लघु भोजनम् ॥१७॥
अर्बुदं मांसपाकं च विद्रधिं तिलकालकम्।
प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक् सम्यक् प्रतिक्रियाम् ॥१८॥

रक्तजन्य अर्बुद में रक्त विद्रधि की भाँति उपचार करे। द्विव्रणीय अध्याय में कही हुई अवस्थाओं को समय समय पर देखकर कषाय, कल्क, घी, तैल, चूर्ण, रसक्रिया, शोधन और रोपण बरते। घी का पीना हितकारी है। विरेचन भी पथ्य है। रक्तमोक्षण और लघु भोजन भी हितकारी है। अर्बुद, मांसपाक, विद्रधि तिलकालक, इनको असाध्य कहकर वैद्य योग्य चिकित्सा करे ॥१५-१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शूकरोगचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मुखरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मुखरोग की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च।
वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान् ॥३॥
विदध्यादोष्ठकोपे तु साल्वणं चोपनाहने।
मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम् ॥४॥
श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु।
यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात् प्रतिसारणम् ॥५॥
पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत्।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः ॥६॥
शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च।
हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके ॥७॥
त्र्यूषणं स्वर्जिकाक्षारो यवक्षारो बिडं तथा।
क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥८॥
मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः।
प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ॥९॥
एतदोष्ठप्रकोपानां साध्यानां कर्म कीर्तितम्।

बुद्धिमान् मनुष्य वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में मोम मिश्रित घी, तैल, वसा और मज्जा इन चार प्रकार के स्नेह से अभ्यंग करे और नाड़ी से स्वेद देवे। (स्नेह को वात हर द्रव्यों के क्वाथ में सिद्ध करके मोम मिलाकर बरतना चाहिये)। उपनाह में साल्वण स्वेद के द्रव्य बरते। शिरोबस्ति में और नस्य में वातहर तैल हितकारी है। राल, श्रीवेष्टक (धूप), देवदारु, गुग्गुल, और मुलैहठी इनका चूर्ण मलना चाहिये। पित्तजन्य, रक्तजन्य और अभिघातजन्य में जौंक लगानी चाहिये। पित्तविद्रधि की भाँति सम्पूर्ण चिकित्सा करे। कफजन्य ओष्ठ प्रकोप में रक्त को निकालकर शिरोविरेचन धूम, स्वेद और कवल बरतने चाहिये। सोंठ, मरिच, पिप्पल, स्वर्जिक्षार, यवक्षार और विड़नमक इनको मधु में मिला कर प्रतिसारण करना चाहिये। मेदजन्य ओष्ठ प्रकोप में स्वेद देकर फट जानेपर मेद के निकल जाने पर शुद्ध होने पर अग्नि से जलाना पथ्य है। प्रियंगु, त्रिफला, लोध, इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे, साध्य ओष्ठ प्रकोपों की यह चिकित्सा कह दी है।

वि० मन्तव्य—घृत आदि सब अथवा कोई एक स्नेह ८ तो० में १ तोला मोम पिघलाकर रखलो और ओठ पर बार-बार लगाते रहो ॥३-९॥

दन्तमूलगतानां तु रोगाणां कर्म वक्ष्यते ॥१०॥
शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान्।
निष्क्वाथ्य त्रिफलां मुस्तं गण्डूषः सारसाञ्जनः ॥११॥
प्रियङ्गवश्च मुस्तं च त्रिफला च प्रलेपनम्।
नस्यं च त्रिफलासिद्धं मधुकोत्पलपद्मकैः ॥१२॥
दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम्।
सपञ्चलवणः क्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम् ॥१३॥
हितः शिरोविरेकश्च नस्यं स्निग्धं च भोजनम्।

दन्तमूल में होनेवाले रोगों की चिकित्सा कहेंगे। शीतादि रोग में रक्त को निकालकर सोंठ और सरसों को जल में क्वाथ

करके इसमें त्रिफला मुस्ता और रसौत को मिलाकर गण्डूष करे। प्रियंगु, मुस्ता और त्रिफला से प्रलेप करे। मुलैहठी, कमल, पद्माख, त्रिफला से सिद्ध किया तैल नस्य में बरते। नूतन दन्त पुप्पुटक में रक्तमोक्षण करना चाहिये। पाँचों नमक यवक्षार और मधु इनसे प्रतिसारण करे। शिरोविरेचन, नस्य और स्निग्ध भोजन उत्तम है ॥१०-१३॥

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणांस्तु प्रतिसारयेत् ॥१४॥
रोध्रपत्तङ्गयष्टयाह्वलाक्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः।
गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः ॥१५॥
काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिश्च नस्यतः।
शौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसाञ्जनैः ॥१६॥
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः।
सारिवोत्पलयष्टयाह्वसावरागुरुचन्दनैः ॥१७॥
क्षीरे दशगुणे सिद्धं सर्पिर्नस्ये च पूजितम्।
क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः ॥१८॥

दन्तवेष्ट में रक्त निकालकर व्रणों पर लोध, लालचन्दन, मुलैहठी, लाख, इनके चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। बरगद आदि क्षीरि वृक्षों का कषाय, मधु, घी और शर्करा मिलाकर गण्डूष में बरतना चाहिये। काकोल्यादिगण के कल्क और दसगुने गायके दूध में घी सिद्ध करके नस्य ले। शौषिर में रक्त निकालकर लोध, मुस्ता, रसौत इनको मधु में मिलाकर लेप करे। गण्डूष में बरगद आदि क्षीरि वृक्षों को बरते। सारिवा, उत्पल (कमल), मुलैहठी, सावरलोध, अगरु, चन्दन इनके कल्क से और दसगुने गाय के दूध में सिद्ध किया घृत नस्य में प्रशस्त है। परिदर रोग में बुद्धिमान् वैद्य शीताद में कही चिकित्सा को कर ॥१४-१८॥

संशोध्योभयतः काये शिरश्चोपकुशे तथा।
काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक् ॥१९॥
क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत्।
पिप्पलीः सर्षपान् श्वेतान्नागरं नैकुलं फलम् ॥२०॥
सुखोदकेन संसृज्य कवलं चापि धारयेत्।
घृतं मधुरकैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ॥२१॥
शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्।
ततः क्षारं प्रयुञ्जीत क्रिया सर्वाश्चशीतलाः ॥२२॥
उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्।
कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता ॥२३॥

उपकुश रोग में वमन, विरेचन से काय संशोधन करके पीछे से शिरोविरेचन से शिर का शोधन करना चाहिये। कठगूलर, गोजी (गाजवाँ) इनके पत्तों से रगड़कर रक्त को निकाले। पाँचों नमक, सोंठ, मरिच, पीपल मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। पिप्पली, पीली सरसों, सोंठ, वेतस फल इनको गरम पानी में मिलाकर मुख में कवल धारण करे। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत कवल और नस्य में उत्तम है। दन्तवैदर्भ में शस्त्र से दन्त मूलों का शोधन करे। अधिक दन्त को जड़ से निकालकर अग्नि से जला देवे। जाननेवाला वैद्य कृमिदन्त का भी उपचार इसमें करे ॥२३॥

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत्।
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायावशूकजैः ॥२४॥
क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः।
पटोलत्रिफलानिम्बकषायश्चात्र धावने ॥
हितः शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः ॥२५॥

अधिमांस को काटकर बच, तेजबल, पाठा, सर्ज क्षार और यवक्षार उनका चूर्ण मधु में मिलाकर रगड़े। गरम पानी में मधु और पिप्पली मिलाकर कवल करे। धोने के लिये परवल त्रिफला और नीम का कषाय बरते। शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम प्रशस्त है ॥२५॥

सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु।
नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत् ॥२६॥
यं दन्तमधिजायेत नाडी तं दन्तमुद्धरेत्।
छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नापरिजो भवेत् ॥२७॥
शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा।
भिनत्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थि गतिर्ध्रुवम् ॥२८॥
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्भग्नमस्थिरम्।
उदधृते तूत्तरे दन्ते समूलं स्थिरबन्धने ॥२९॥
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि।
काणः संजायते जन्तूरर्दितं चास्य जायते ॥३०॥
चलमप्युत्तरं दन्तमतो नापहरेद्भिषक्।
धावने जातिमदनस्वादुकण्टकखादिरम् ॥३१॥
कषायं जातिमदनकटुकस्वादुकण्टकैः।
यष्ट्याह्वरोध्रमञ्जिष्ठाखदिरैश्चापि यत् कृतम् ॥३२॥
तैलं संशोधनं तद्धि हन्याद्दन्तगतां गतिम्।
कीर्तिता दन्तमूले तु क्रिया दन्तेषु वक्ष्यते ॥३३॥

नाड़ी-दन्तनाड़ी की सामान्य चिकित्सा नाड़ी व्रण के समान है। इसमें विशेष सुनो। दन्त की नाड़ियों में नाड़ीव्रण के अनुसार चिकित्सा करे। जिस दान्त में नाड़ी उत्पन्न हो जाये, उस दात को उखाड़ दे। इसके लिये मांस को शस्त्र से काटकर दांत को उखाड़े। परन्तु ऊपर के दांत को न उखाड़े। शोधन करके इसको क्षार या अग्नि से जला देवे। दन्त की उपेक्षा करने पर नाड़ी हनुकास्थि को अवश्य नष्ट कर देती है। इसलिये टूटे एवं हिलते हुए दांत को जड़ के साथ ही उखाड़े। स्थिर बन्धन वाले (मजबूत) ऊपर के दांत को जड़ समेत उखाड़ने पर रक्त के अतिस्राव से पूर्वोक्त भयानक रोग होते हैं। इसके सिवाय रोगी काना हो जाता है। इसलिये वैद्य हिलते हुए भी ऊपर के दांत को यथासंभव न उखाड़े। प्रक्षालन में चमेली, मैनफल, कुटकी, गोखरू, इनका कषाय बरते। मुलेहठी, लोध, जमीठ और खैर से सिद्ध किया तैल दन्तगति को संशोधन करके अवश्य

नष्ट करता है। दन्तमूलों के लिये चिकित्सा कह दी गई है वह करे। दन्त रोगों की चिकित्सा कहेंगे ॥

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रैवृतस्य वा।
निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः ॥३४॥
स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धं च भोजनम्।
रसो रसयवाग्वश्च क्षीरं सन्तानिका घृतम् ॥३५॥
शिरोवस्तिर्हितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः।
अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक् ॥३६॥
लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत्।
दन्तहर्षक्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥३७॥
कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता।
जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम् ॥३८॥
तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः।
भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः ॥३९॥
चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेत् सुषिरस्य च।
ततो विदारीयष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुकैः ॥४०॥
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत्।

स्नेहों के या घी के अथवा वातव्याधि में कहे त्रैवृत स्नेह के सुहाते हुए गरम कवल, वातघ्न द्रव्यों के कषाय दन्तहर्ष को नष्ट करते हैं। स्नैहिकधूम, नस्य, स्निग्ध भोजन, मांसरस, यूष, यवागू, दूध, मलाई, घृत, शिरोबस्ति, वातनाशक जो चिकित्सा हो वह करे। मसूड़ों को हानि पहुँचाये बिना वैद्य शर्करा को उखाड़े। फिर मधु को लाक्षा चूर्ण में मिलाकर दाँतों पर रगड़े। सम्पूर्णरूप में दन्तहर्ष की चिकित्सा करे। कपालिका रोग कष्टसाध्य है, उसमें भी यही चिकित्सा बरते। न हिलनेवाले कृमिदन्त में स्वेदन करके रक्त निकालकर अथवा लार टपकाकर शान्त करे। वातनाशक, अवपीड नस्य को धारण करे। भद्रदार्वादिगण एवं पुनर्नवा का लेप करे। स्निग्ध भोजन देवे। हिलते हुये दाँत को उखाड़कर खोखले स्थान को जला देवे। विदारी, मुलैहठी, सिंघाड़ा, कसेरु, इनके द्वारा तैल को दस गुने दूध में सिद्ध करके नस्य में बरते।

वि० मन्तव्य—ऊपर के दन्त अथवा जाढ़ को निकालने के विकल्पों पर पाठक भली भाँति ध्यान देवें। दन्तमूल में यदि नाड़ी व्रण हो जाता है तो नाड़ी व्रण के समान ही कष्टसाध्य अवश्य होता है, परन्तु असाध्य नहीं होता, निरन्तर वर्षों तक उक्त अथवा उचित चिकित्सा करके देखना चाहिये। यदि लाभ ही न हो तो दन्त निकालने का उपक्रम करना चाहिये, किसी के कहने से घबराकर दन्त निकलवा देना उचित नहीं है। अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर, यदि कोई अन्य उपाय रह ही न जाय तब निकलवा देने पर कोई हानि भी नहीं है, इस क्रिया में जो काना आदि होने का उल्लेख किया गया है वह भी कादाचित्क ही है, लाख में स्यात् किसीको ऐसा हो। कृमिदन्त रोग जाढ़ में होता है और जाढ़ का मध्य भाग जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फलतः उसमें गड्ढा पड़ जाता है। इस दशा में भी जाढ़ उखाड़ना उचित नहीं है, उक्त विस्रावण आदि उपचार से वेदना शान्त हो जाती है, अथवा जाढ़ के उस खोखले स्थान को तेजाब के फाहा से जलावे, अग्नि से नहीं। इस रोग में जाढ़ का बाह्यभाग ही क्रिमियों द्वारा खादित होता है उसकी जड़ नहीं, अतः बाह्यभाग टूट जाने पर जड़ जीवन भर बनी रहती है, और चर्वण में सहायक भी रहती है॥

हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चार्दितवत् क्रियाम् ॥४१॥
फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्।
तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्तरोगी विवर्जयेत् ॥४२॥
साध्यानां दन्तरोगाणां चिकित्सितमुदीरितम्।

हनुमोक्ष में अर्दित के समान चिकित्सा करे। दन्तरोगी, खट्टे फल, शीतल पानी, रूक्ष अन्न, दातुन करना तथा अतिकठिन भक्ष्यों को छोड़ देवे। साध्य दन्त रोगों की चिकित्सा कह दी है।

वि० मन्तव्य—दालन, मज्जनक तथा श्यावदन्तक नामक दन्तरोग तो असाध्य होते हैं ॥४१-४२॥

जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये ॥४३॥
ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम्।
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत् कार्यं भिषजा भवेत् ॥४४॥
पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते।
प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम् ॥४५॥
कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये।
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥४६॥
गृह्णीयात् कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः।
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत् ॥४७॥
उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् ॥४८॥
जिह्वागतानां कर्मोक्तं—

जिह्वा गत साध्य रोगों की चिकित्सा सफलता के लिये कहता हूँ। वातजन्य ओष्ठ प्रकोप में जो चिकित्सा पहले कही है, वातजन्य जिह्वा कण्टकों में वही कार्य वैद्य करे। पित्तजन्य जिह्वा कण्टकों में गोजी-शेफालिका आदि के पत्तों से घर्षण करके दूषित रक्त को निकालकर मधुर प्रतिसारण और मधुर गण्डूष और मधुर नस्य बरते। कफजन्य कण्टकों में लेखन करके रक्त निकालकर, पिप्पल्यादि गण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। श्वेतसरसों और सैन्धव के कवल मुख में धारण करे। पटोल, नीम, कटेरी बड़ी, यवक्षार, और यूषों से भोजन करे। उपजिह्वा में लेखन कर क्षार से प्रतिसारण करे। शिरोविरेक, गण्डूष, धूम से चिकित्सा करे। जिह्वागत रोगों की चिकित्सा कह दी है ॥४३-४८॥

तालव्यानां प्रवक्ष्यते।

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम् ॥४९॥
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ।
नोत्कृष्टं चैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद्भिषक् ॥५०॥
अत्यादानात् स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ।
हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः ॥५१॥
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः ।
गलशुण्डीं तु सञ्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम् ॥५२॥
मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः ।
क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत् ॥५३॥
वचामतिविषां पाठां रास्नां कटुकरोहिणीम् ।
निष्क्वाथ्य पिचुमन्दं च कवलं तत्र योजयेत् ॥५४॥
इङ्गुदीकिणिहीदन्तीसरलासुरदारुभिः ।
पञ्चाङ्गीं कारयेत् पिष्टैर्वर्तिं गन्धोत्तरां शुभाम् ॥५५॥
ततो धूमं पिबेज्जन्तुर्द्विरह्नः कफनाशनम् ।
क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः ॥५६॥
तुण्डिकेर्यध्रुषे कूर्मे सङ्घाते तालुपुप्पुटे ।
एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ॥५७॥
तालुपाके तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनम् ।
स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ॥५८॥
कीर्तितं तालुजानां तु-

तालु के रोगों की चिकित्सा कहते हैं। जिह्वा के ऊपर लटकी गलशुण्डिका को अंगूठा और अंगुलि के संदंश से खींचकर मण्डलाग्र से काट देवे। न तो बहुत अधिक काटे और न कम ही काटे, अपितु एक तिहाई भाग को (दो भाग को बचाकर) काटे। अधिक मात्रा में काटने से रक्त के निकलने के कारण रोगी मर जाता है। थोड़ा काटने से शोफ, लालास्राव, निद्रा, भ्रम और अन्धकार होता है। इसलिये चिकित्सा कर्म को देखे हुए, कुशल वैद्य सावधानी से गलशुण्डी को काटकर निम्न चिकित्सा करें। मरिच, अतीस, पाठा, वच, कूठ, श्योनाक, लवण इनको मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। वच, अतीस, पाठा, रास्ना, कुटकी, नीम इनका क्वाथ करके कवल कराये। इंगुदी (हिंगोट) चिरचिटा, दन्ती, त्रिवृत, देवदारु इन पाँच द्रव्यों को पीसकर प्रचुर गन्ध द्रव्य मिलाकर वर्त्ति बनाये। इस वर्त्ति का धूम रोगी दिन में दो बार कफ के नाश के लिये पीये। यवक्षार में सिद्ध किये मूंगों का यूष भोजन में उत्तम है। तुण्डिकेरी, अध्रुष, कूर्म, मांससंघात, तालुपुप्पुट में यही चिकित्सा बरते, विशेष कर शस्त्र चिकित्सा करे। तालुपाक में पित्तनाशक चिकित्सा बरतनी चाहिये। तालु शोष में स्नेह और स्वेद करे। एवं वातनाशक चिकित्सा करे। तालुजन्य रोगों की चिकित्सा कह दी है ॥४९-५८॥

कण्ठ्यानां कर्म वक्ष्यते ।
साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम् ॥५९॥
छर्दनं धूमपानं च गण्डूषो नस्यकर्म च ।
वातिकीं तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत् ॥६०॥
सुखोष्णान् स्नेहगण्डूषान् धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ।
पतङ्गशकराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत् ॥६१॥
द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहे ।
आगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत् ॥६२॥
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम् ।
नस्यकर्मणि योक्तव्यम् तथा कवलधारणे ॥६३॥
पित्तवत् साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम् ।
विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत् ॥६४॥
एककालं यवान्नं च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः ।
उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम् ॥६५॥
एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत् ।
गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत् ॥६६॥
अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद् गलविद्रधिम् ।

कण्ठ के रोगों की चिकित्सा कहते हैं—साध्य रोहिणियों में रक्त मोक्षण उत्तम है। वमन, धूम्रपान, गण्डूष और नस्य कर्म करे। वातज रोहिणी में रक्त निकालकर नमक से प्रतिसारण करे। सुहाते गरम स्निग्ध गण्डूषों को बार-बार धारण करे। पित्तजन्य रोहिणी में लालचन्दन, शर्करा और मधु से प्रतिसारण करे। द्राक्षा और फालसे का क्वाथ कवल के लिये उत्तम है। कफजन्य रोहिणी में घर का धुवांसा और कटु द्रव्यों (मरिच आदि) से प्रतिसारण करे। कोयल, वायविडंग, दन्ती, सैन्धव इनसे सिद्ध किया तैल नस्य कर्म में और कवल धारण में बरतना चाहिये। रक्तजन्य रोहिणी की चिकित्सा पित्तज रोहिणी की भांति करे। कण्ठशालूक में रक्तमोक्षण करके, तुण्डकेरी के समान चिकित्सा करे। जौ के स्निग्ध भोजन को थोड़ी मात्रा में एक समय खाये। अधिजिह्विका की चिकित्सा उपजिह्विका की भांति करे। एक वृन्द में रक्तमोक्षण करके शोधन विधि बरते। गिलायुरोग में शस्त्र चिकित्सा करे। गलविद्रधि जो मर्म में स्थित न हो, भली पकी हो, उसका भेदन करे ॥५९-६६॥

वातात् सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत् ॥६७॥
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ।
ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ॥६८॥
शालराजादनैरण्डसारैरिङ्गुदमधूकजाः ।
मज्जानो गुग्गुलुध्याममांसीकालानुसारिवाः ।
श्रीसर्जरसशैलेयमधूच्छिष्टानि चाहरेत् ॥६९॥
तत्सर्वं सुकृतं चूर्णं स्नेहेनालोड्य युक्तितः ।
टुण्टूकवृन्तं सक्षौद्रं मतिमांस्तेन लेपयेत् ॥७०॥
एष सर्वसरे धूमः प्रशस्तः स्नैहिको मतः ।
कफघ्नो मारुतघ्नश्च मुखरोगविनाशनः ॥७१॥
पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः ।
सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥७२॥
प्रतिसारणगण्डूषौ धूमः संशोधनानि च ।
कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात् कफापहम् ॥७३॥

पिबेदतिविषां पाठां मुस्तं च सुरदारु च ।
रोहिणीं कटुकाख्यां च कुटजस्य फलानि च ॥७४॥
गवां मूत्रेण मनुजो भागैर्धरणसंमितैः ।
एष सर्वान् कफकृतान् रोगान् योगोऽपकर्षति ॥७५॥

वातजन्य सर्वसर में लवण के चूर्ण से प्रतिसारण करे। वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल कवल और नस्य में बरते। फिर विचक्षण वैद्य इसमें निम्न स्नैहिक धूम को बरते। शाल, खिरनी, एरण्ड, हिंगोट, महुआ, सार (सार वृक्ष, साल) इनकी मज्जा; गुग्गुल, ध्यामक, जटामांसी, कालानुसारी, सर्जरस, शिलापुष्प और मोम, इन सबका चूर्ण भली प्रकार बनाकर स्नेह में मसलकर, इसको मधु लगाई श्योनाक की डंडी पर लेप करे। यह स्नैहिक धूम सर्वसर में उत्तम है। यह धूम कफनाशक, वायुनाशक और मुखरोगनाशक हैं। पित्तजन्य सर्वसर में वमन विरेचन देकर रोगी में पित्तनाशक, मधुर-शीतल सम्पूर्ण चिकित्सा बरते। प्रतिसारण, गण्डूष, धूम, और संशोधन बरते। कफजन्य सर्वसर में कफनाशक विधि करे। अतीस, पाठा, मुस्ता, देवदारु, कटुकी, इन्द्रजौ इनको एक धरण (छै माशा) मात्रा में गोमूत्र के साथ पीये। यह योग कफजन्य सब रोगों को नष्ट करता है ॥७४,७५॥

क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः ।
विदध्यात् कवलान् वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥७६॥

दोष को देखकर दूध, गन्ने का रस, गोमूत्र, दधि, मस्तु, अम्लकांजी, (धान्याम्ल और कांजी) तैल और घृत इनसे कवल करे ॥७६॥

रोगाणां मुखजातानां साध्यानां कर्म कीर्तितम् ।
असाध्या अपि वक्ष्यन्ते रोगा ये तत्र कीर्तिताः ॥७७॥
ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः ।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगतिसौषिरौ ॥७८॥
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनमञ्जनाः ।
जिह्वागतेष्वलासस्तु ताल्व्येष्वर्बुदं तथा ॥७९॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो विदार्यलस एव च ।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी च या ॥८०॥
असाध्या कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव च ।
तेषां चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥८१॥

साध्य मुख रोगों की चिकित्सा कह दी है। असाध्य रोगों को यहाँ कहते हैं, जो पहले कहे हैं। ओष्ठ प्रकोप में मांसजन्य, रक्तजन्य और सन्निपातजन्य ओष्ठ प्रकोप असाध्य हैं। दन्त मूलों में सन्निपातजन्य गति और सुषिर, दन्त रोग में श्याव, दालन, और मञ्जन, जिह्वागत रोगों में अलास, ताल्व्य रोग में अर्बुद, तथा स्वरघ्न, वलय, वृन्द, विदारी, अलस, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी, रोहिणी, ये उन्नीस रोग असाध्य कहकर चिकित्सा करे ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मुखरोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शोफानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शोफों की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे--जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहितो लक्षणतः प्रतिकारतश्च, सर्वसरस्तु पञ्चविधः, तद्यथा—वातपित्तश्लेष्मसन्निपातविषनिमित्तः ॥३॥

अवयव में उत्पन्न शोफ लक्षण और चिकित्सा की दृष्टि से छैः प्रकार का है। और सर्वसर शोथ पाँच प्रकार का है, यथा-वात, पित्त, कफ, सन्निपात और विषजन्य है।

"त्रयः शोथा भवन्ति, वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। ते पुनर्द्विविधा निजागन्तुभेदेन ॥ प्रकृतिभिस्ताभिः भिद्यमानो द्विविधः त्रिविधः चतुर्विधः सप्तविधोऽष्टविधश्चशोथउपलभ्यते। पुनश्चैक एवोत्सेधसामान्यात् ॥" च०सू०अ० १८।

वि० मन्तव्य—स्थान के आमपक्वैषणीय १७ में कहा गया है कि "शोफसमुत्थाना ग्रन्थि-विद्रधि-अलजी-प्रभृतयः प्रायेण व्याधयः अभिहिता अनेकाकृतयः, तैः विलक्षणः पृथुः ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते, स षड्विधः वातपित्तकफशोणितसन्निपाताऽऽगन्तुनिमित्तः" व्याख्या वहीं देखिये। इस शोफ से भी विलक्षण (पृथक्-विशिष्ट लक्षणवाला) जो सर्वसर अर्थात् समग्र शरीर में (बाहर एवं भीतर) फैलनेवाला शोथ या श्वयथु नामक रोग होता है, जिसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शास्त्र समयानुसार यह ५ प्रकार का माना गया है। यह लोक भाषा में "सूजन" या "सोजा" कहा जाता है ॥३॥

तत्रापतर्पितस्याध्वगमनादतिमात्रमभ्यवहरतो वा पिष्टान्नहरितकशाकलवणानि क्षीणस्य वाऽतिमात्रमम्लमुपसेवमानस्य मृत्पक्वलोष्टकटशर्करानूपौदकमांससेवनादजीर्णिनो वा ग्राम्यधर्मसेवनाद्विरुद्धाहारसेवनात् वा हस्त्यश्वोष्ट्ररथपदातिसङ्क्षोभणाद् दोषा धातून् प्रदूष्य श्वयथुमापादयन्त्यखिले शरीरे ॥४॥

इनमें लंघन, व्यायाम, वमन, रूक्षादि आहार विहार के कारण कृश हुए व्यक्ति के मुसाफरी करने से, अथवा बहुत अधिक मात्रा में भोजन करने से, पिट्ठी के बने भक्ष्य, हरितवर्ग के शाक, लवण आदि के अधिक सेवन करने से क्षीण व्यक्ति के बहुत अधिक मात्रा में अम्ल रस के सेवन करने से

मिट्टी, पक्व लोष्ट (घड़े का ठीकरा आदि), कटशर्करा (अग्निदग्ध शर्करा-चूना), आनूप या औदक (मछली आदि) मांस के सेवन करने से, अजीर्ण रोग में मैथुन करने से, विरोधि आहार के सेवन करने से अथवा हाथी, ऊँट, घोड़ा, रथ, मुसाफरी के संक्षोभ से, एकत्रित हुए दोष धातुओं को दूषित करके सम्पूर्ण शरीर में श्वयथु-शोथ उत्पन्न करते हैं ॥४॥

तत्र वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषाः, पित्तश्वयथुः पीतः सरक्तो वा मृदुः शीघ्रानुसार्यूषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः; श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः शुक्लो वा स्निग्धः कठिनः शीतो मन्दानुसारी, कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषाः, सन्निपातश्वयथुः सर्ववर्णवेदनः, विषनिमित्तस्तु गरोपयोगाद् दुष्टतोयसेवनात् प्रकुथितोदकावगाहनात् सविषसत्त्वदिग्धचूर्णेनावचूर्णनाद्वा सविषमूत्रपुरीषः शुक्रस्पृष्टानां वा तृणकाष्ठादीनां संस्पर्शनात्, स तु मृदु क्षिप्रोत्थानोऽवलम्बो चलोऽचलो वा दाहपाकरागप्रायश्च भवति ॥५॥

इनमें वातजन्य शोथ अरुण या कृष्णवर्ण, मृदु अस्थिर (एक स्थान पर न रहनेवाला) तथा इसमें तोद, भेद, स्फुरण आदि विशेष वेदनायें होती हैं। पित्तश्वयथु पीला, ईषत्‌रक्त, मृदु, शीघ्र फैलनेवाला तथा इसमें ऊष, चोष आदि विशेष वेदनायें होती हैं। कफश्वयथु-पाण्डुवर्ण या शुक्ल, स्निग्ध, कठिन, शीत, धीरे फैलनेवाला और इसमें कण्डु आदि विशेष-वेदनायें होती हैं। सन्निपातजन्य श्वयथु-सब प्रकार के वर्ण एवं सब प्रकार की वेदनावाला होता है। विषजन्य शोथ, गरविष के सेवन से, दूषित पानी के सेवन से, सड़े हुए गदले पानी में स्नान करने से, विषैले प्राणी के विष से लिप्त चूर्ण के छिड़कने से, विषयुक्त मूत्र-मल शुक्र से स्पर्श हुए तिनके या लकड़ियों के छूने से होता है। यह विषजन्य शोथ मृदु, जल्दी ही उत्पन्न होनेवाला, देर तक रहनेवाला, स्थिर या फैलनेवाला, प्रायः करके जलन, सुर्खी एवं पकनेवाला होता है, (यथा मकड़ी का फिर जाना, या शहद की बड़ी मक्खी का काटना) "यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति। स्नेहोष्णमर्दनाभ्यां च प्रणश्येत् स च वातिकः॥" विस्तार के लिये देखिये च० सु० अ० १८॥५॥

भवन्ति चात्र—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः।
पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः॥६॥
कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा।

कहा भी है—आमाशय स्थित दोष ऊपर के भाग में शोथ उत्पन्न करते हैं। पक्वाशय में स्थित दोष मध्यभाग में मलाशय में स्थित दोष अधोभाग में सम्पूर्ण शरीर में फैले दोष सारे शरीर में फैले शोथ को उत्पन्न करते हैं॥६॥

श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः॥७॥
अर्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्ध्वं परिसर्पति।
श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः॥८॥
हिक्कातीसारकासाश्च शूनं सङ्क्षपयन्ति हि।
सामान्यतो विशेषाच्च तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥९॥

जो शोथ शरीर के मध्य भाग में होता है, वह सन्निपात ज्वर की भाँति विरुद्धचिकित्सा होने से कष्ट साध्य है। और जो शोथ सारे शरीर में फैला होता है, वह भी कष्टसाध्य है। शरीर के आधे अङ्ग में जो शोथ होता है, वह भी अरिष्ट के समान है। और जो शोथ नीचे से ऊपर को जाता है, या ऊपर से नीचे को फैलता है, वह भी असाध्य है। शोथ युक्त व्यक्ति को श्वास, प्यास, दुर्बलता, ज्वर, वमन, अरोचक, हिक्का, अतिसार, कास ये रोग नष्ट कर देते हैं। इन शोथों की सामान्य और विशेष रूप में चिकित्सा कहूँगा।

वक्तव्य—अर्धांग—नासा से आधे भाग में एक पक्ष में, अथवा, नाभि से आधे भाग में—ऊपर नीचे के भेद से। "यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वांगगो भवेत्। जन्तोः स च सुकष्टः स्यात् प्रसृतः स्त्रीमुखाच्च यः॥ यश्चापि गुह्यप्रभवः स्त्रिया वा पुरुषस्य वा। सच कष्टतमो ज्ञेयो यस्य च स्युरुपद्रवाः॥" चरकः "ऊर्ध्वगामिनरं पद्भ्यामधोगामिमुखात् स्त्रियाम्"॥७-९॥

शोफिनः सर्व एव परिहरेयुरम्ललवणदधिगुडवसापयस्तैलघृतपिष्टमयगुरूणि॥१०॥

सब शोफ रोगी अम्ल, लवण, दही, गुड़, वसा, जल, तैल, घृत, पिट्ठी की बनी और गुरु वस्तुओं का त्याग कर देवें।

वि० मन्तव्य—इन सबका त्याग करके—केवल दूध पर ही निर्वाह करे। निम्नलिखित ११ वें सूत्र के अनुसार अथवा अन्य प्रकार से—विरेचन अवश्य करे। यदि दूध पीने पर भी रोगी जल पीने का हठ करे तो अत्यन्त अल्प मात्रा में उष्ण जल दिया जा सकता है। मुखगत शोथ में तीक्ष्ण नस्य देना चाहिये॥१०॥

तत्र वातश्वयथौ त्रैवृतमेरण्डतैलं वा मासमर्धमासं वा पाययेत्, न्यग्रोधादिककषायसिद्धं सर्पिः पित्तश्वयथौ, आरग्वधादिसिद्धं सर्पिः श्लेष्मश्वयथौ, सन्निपातश्वयथौ स्नुहीक्षीरपात्रं द्वादशभिरम्लपात्रैः प्रतिसंसृज्य दन्तीद्रवन्तीप्रतीवापं सर्पिः पाचयित्वा पाययेत्, विषनिमित्तेषु कल्पेषु प्रतीकारः॥११॥

इनमें वातजन्य शोथ में—घी, तैल और वसा इस त्रैवृत स्नेह को या एरण्ड तैल को एक मास या पन्द्रह दिन पिलाये। पित्तज शोफ में न्यग्रोधादिगण के कषाय में सिद्ध घृत को पिलाये। कफजन्य श्वयथु में आरग्व-

धादिगण के क्वाथ में सिद्धघृत को पिलाये। सन्निपातज शोथ में—स्नुहीक्षीर एक आढ़क को बारह आढ़क कांजी में मिलाकर इसमें तन्दी और द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) का कल्क मिलाकर इसमें घी सिद्ध करे और विरेचनार्थ पिलाये। विषजन्य शोथ की चिकित्सा कल्पस्थान में कहेंगे ॥११॥

अत ऊर्ध्वं सामान्यचिकित्सितमुपदेक्ष्यामः—तिल्वकघृतचतुर्थानि यान्युक्तान्युदरेषु ततोऽन्यतममुपयुज्यमानं श्वयथुमपहन्ति, मूत्रवर्तिक्रियां वा सेवेत, नवायसं वाऽहरहर्मधुना, विडङ्गातिविषाकुटजफलभद्रदारुनागरमरिचचूर्णं वा धरणमुष्णाम्बुना, त्रिकटुक्षारायश्चूर्णानि वा त्रिफलाकषायेण, मूत्रं वा तुल्यक्षीरं, हरीतकीं वा तुल्यगुडामुपयुञ्जीत, देवदारुशुण्ठीं वा गुग्गुलुं वा मूत्रेण वर्षाभूकषायानुपानं वा, तुल्यगुडं शृङ्गवेरं वा, वर्षाभूकषायं मूलकल्कं वा सशृङ्गवेरं पयोऽनुपानमहरहर्मासं, व्योषवर्षाभूकषायसिद्धेन वा, सर्पिषा मुद्गोलुम्बान् भक्षयेत्, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकमयूरकवर्षाभूसिद्धं वा क्षीरं पिबेत्, सहौषधमुरङ्गीमूलसिद्धं वा, त्रिकटुकैरण्डश्यामामूलसिद्धं वा, वर्षाभूशृङ्गवेरसहदेवदारुसिद्धं वा, तथाऽलाबूबिभीतकफलकल्कं वा तण्डुलाम्बुना, क्षारपिप्पलीमरिचशृङ्गवेरानुसिद्धेन च मुद्गयूषेणाल्पलवणेनाल्पस्नेहेन भोजयेद्यवान्नं गोधूमान्नं वा, वृक्षकार्कनक्तमालनिम्बवर्षाभूक्वाथैश्च परिषेकः, सर्षपसुवर्चलासैन्धवशार्ङ्गेष्टाभिश्च प्रदेहः कार्यः यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानि तीक्ष्णान्यजस्रमुपसेवेत, स्नेहस्वेदोपनाहांश्च, सिराभिश्चाभीक्ष्णं शोणितमवसेचयेदन्यत्रोपद्रवशोफादिति ॥१२॥

इसके आगे सामान्य चिकित्सा का उपदेश करेंगे—उदरों में "हरीतकीचूर्ण प्रस्थ" एक, 'गव्ये पयसि महावृक्ष,' दूसरा, 'चव्यचित्रकेत्यादि'—तीसरा, 'तिल्वकं,' चौथा (वातव्याधि में कहा) ये जो चार घृत कहे हैं, इनका सेवन करने से शोथ नष्ट होता है। अथवा मूत्रवर्त्ति क्रिया (उदरोक्त-वमन विरेचन शिरोविरेचन द्रव्याणां आदि में कही) का सेवन करे। अथवा प्रतिदिन नवायस (प्रमेह पिड़का में कहे) को मधु से चाटे। अथवा वायविडंग, अतीस, इन्द्रजौ, देवदारु, सोंठ, मरिच के चूर्ण को गरम पानी से पीये। या त्रिकटु, यवक्षार, लोहभस्म को त्रिफला कषाय के साथ पीये। मूत्र (गोमूत्र) में समान मात्रा में दूध मिलाकर पीये। हरड़ को समान गुड़ के साथ खाये। देवदारु, सोंठ, कों पीये। गुग्गुल को गोमूत्र से या पुनर्नवा के कषाय के अनुपान से पीये। समान गुड़ के साथ सोंठ को खाये। पुनर्नवा के कषाय को या पुनर्नवा के मूल के कल्क को सोंठ के साथ दूध के अनुपान से प्रतिदिन एक मास तक खाये। त्रिकटु और पुनर्नवा के कषाय से सिद्ध किये घी के साथ उबालकर कुछ भूने हुए मूंग को खाये। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक अपामार्ग, पुनर्नवा, से सिद्ध दूध पीये। सोंठ, सहा (माषपर्णी), शोभांजन की मूल से सिद्ध दूध पीये। त्रिकटु, एरण्ड, निशोथ मूल से सिद्ध दूध पीये। अथवा पुनर्नवा, सोंठ, माषपर्णी और देवदारु से सिद्ध दूध पीये। कड़ुई तुम्बी, बहेड़ा का फल इनका कल्क चावल के पानी के साथ पीये। यवक्षार, पिप्पली, मरिच, सोंठ इनसे सिद्ध किये मूंग के यूष में थोड़ा सा नाम मात्र को ही सैन्धव मिलाकर तथा थोड़ा सा घी डालकर इसके साथ जौ से बना या गेहूँ से बना भोजन करे। कुटज, आक, करंज, नीम और पुनर्नवा इनके क्वाथ से परिषेक करे। सरसों, हुलहुल, सैन्धव, शार्ङ्गेष्ठी (काकजंघा) इनसे शोफ पर प्रदेह करना चाहिये। दोष के अनुसार निरन्तर तीक्ष्ण वमन, विरेचन, आस्थापनो को बरते। स्नेह, स्वेद और उपनाह भी करे। उपद्रवजन्य शोथ को छोड़कर शिराओं से बार-बार रक्त को निकाले।

वक्तव्य—आजकल शोथ में मकोय के पत्ते पीस कर उसका लेप करते हैं, उनका अर्क पीते हैं। शीतोष्णस्निग्धरूक्षादि चिकित्सा से जो शोफ शान्त न हो उसमें रक्त मोक्षण करे।

वि० मन्तव्य—पाठक विचार करें—उक्त योगों में-कोई विरेचन है तो कोई मूत्रल है। इन सबमें नवायस योग, पुनर्नवा के योग तथा पयोनुपान आदि पर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिये। मूंग, यव तथा गेहूँ का यद्यपि विधान है, तथापि ये बहुत ही अल्प मात्रा में दिये जायँ। ग्रहणी आदि रोगों में शोथ उपद्रव से भी हो जाता है, उस दशा में शोणित का अवसेचन नहीं करना चाहिये। शोथरोग की चिकित्सा के लिये च० चि० अ० १२ अवश्य देख लेना चाहिये ॥१२॥

भवति चात्र—

पिष्टान्नमम्लं लवणानि मद्यं
मृदं दिवास्वप्नमजाङ्गलं च।
स्त्रियो घृतं तैलपयोगुरूणि
शोफं जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥१३॥

कहा भी है—

पिट्ठी के बने भक्ष्य, अम्लरस, लवण, सब रूप में, मद्य, मिट्टी, दिन में सोना, जांगल मांस के बिना दूसरे मांस, स्त्रीसहवास, घृत, तैल, दूध और गुरु-भोजन, शोफ को नष्ट करने की इच्छावाला व्यक्ति इनका त्याग करे ॥१३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शोथचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातोऽनागताबाधाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अनागताबाधाप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—अनागतः-ईषत् आगतः, नञ् ईषद् अर्थे, बाधा दुःखम्, तस्याः प्रतिषेधः—चिकित्सितम् (डल्हनः) अर्थात्—जो बाधा अर्थात् दुःख नहीं आया है अथवा कुछ आ गया है आने की सम्भावना है उसका प्रतिषेध इस अध्याय में कहा गया है। यथा-मुख की मलिनता के विनाशार्थ दतवन का विधान आदि २। इस अध्याय में वे उपदेश दिये गये हैं, जिनके अनुसार चलने से कष्टों का आना ही रुक जाय—प्रतिषेध निरोध ॥ १,२ ॥

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनारोग्यमिच्छता।
धीमता यदनुष्ठेयं तत् सर्वं संप्रवक्ष्यते ॥३॥

आरोग्य को चाहनेवाले, स्वस्थ (रोगी नहीं) एवं बुद्धिमान् मनुष्य को निरन्तर प्रतिदिन जो करना चाहिये, वह सब भली प्रकार कहा जाता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद का उद्देश्य "स्वस्थस्य परिरक्षणञ्च" भी है। उसीके लिये यह अध्याय है। उठकर मलत्याग-शौचकार्य प्रथम है, यथा—"ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्, स्वस्थो रक्षार्थमायुषः। शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः॥" स्वस्थ मनुष्य को उषःकाल में उठना चाहिये। यह स्वास्थ्य के लिये नितान्त आवश्यक है॥ ३ ॥

तत्रादौ दन्तधवनं द्वादशाङ्गुलमायतम्।
कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम् ॥४॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम्।
अवेक्ष्यर्तुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत् ॥५॥
कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः।
निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥६॥
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा।
क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च ॥७॥
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत्।
एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च ॥८॥
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन्।
तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति ॥९॥
वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च।
न खादेद् गलताल्वोष्ठजिह्वारोगसमुद्भवे ॥१०॥
अथास्यपाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च।
दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥११॥
शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पीनक्लमान्वितः।
अर्दितो कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः ॥१२॥

प्रथम दातुन करे। दातुन—बारह अंगुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटी, सीधी, बिना गांठवाली, काणी या खोखली नहीं, दो गांठें जिसमें न हों और जो ताजी एवं उत्तम भूमि में पैदा हुई हो उस दातुन को करे। ऋतु, दोष और दातुन का रस और वीर्य को देखकर दातुन को चुने। कषाय, मधुर, तिक्त और कटुरस की दातुन प्रातःकाल उठकर करे। तिक्त वृक्षों में नीम, कषाय वृक्षों में खैर, मधुर वृक्षों में महुआ और कटु वृक्षों में करञ्ज श्रेष्ठ है। मधु त्रिकटु, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, सैन्धव, तेजबल का चूर्ण इनको तैल (तिल, तैल या सरसों का तेल) में मिलाकर इससे सदा दाँतों को साफ करे। कोमल कूची से एक एक दाँत को (ऊपर के दाँतों को नीचे की ओर, नीचे के दाँतों को ऊपर की ओर) रगड़े। दातुन के साथ दन्तशोधन चूर्ण को रगड़े। इसमें मसूड़ों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाये। इस प्रकार करने से मुख की दुर्गन्धि, मैल और कफ निकल जाता है। मुख में निर्मलता, अन्न में रुचि और मन की प्रसन्नता होती है। गले-तालु-ओष्ठ-जिह्वा रोग में दातुन न करे। मुखपाक श्वास, कास और हिक्का में भी दातुन अच्छी नहीं। दुर्बल, अजीर्ण में भोजन क्रिया, मूर्च्छा से पीड़ित, मद से दुःखी, शिरोरोगी, प्यास से पीड़ित, थका हुआ, मद्यपान के क्लम से युक्त, अर्दितरोगी, कर्णशूलरोगी, दन्तरोगी दातुन न करें ॥४-१२॥

जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च।
तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ॥१३॥
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यशोफजाड्यहरं सुखम्।
दन्तदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेहगण्डूषधारणम् ॥१४॥

जिह्वा को साफ करने की जिभ्भी चाँदी की, सोने की, लकड़ी की होनी चाहिये। यह जिभ्भी मल को दूर करने में योग्य, कोमल, चिकनी और दस अंगुल लम्बी होनी चाहिये। इससे मुख की विरसता, दुर्गन्धि, शोफ, जड़ता दूर होकर सुख मिलता है। तैल के गण्डूष का मुख में धारण करना दाँतों को दृढ़ करता है और भोजन में रुचि उत्पन्न करता है॥१३,१४॥

क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः।
भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ॥१५॥
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा।
नीलिकां मुखशोषं च पिडकां व्यङ्गमेव च ॥१६॥
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत्।

मुख प्रक्षालन—बरगद आदि क्षीरवृक्षों के कषाय से अथवा इनके कषाय दूधमें मिलाकर या लोध के कषाय से अथवा आंवले के क्वाथ से या शीतल जल से स्वस्थ मनुष्य मुख और नेत्रों को धोये। इस प्रकार करने से नीलिका, मुखशोष,

पिडका, व्यंग, रक्तपित्तजन्य रोग शीघ्र ही नष्ट होते हैं।

वक्तव्य—गरम पानी या साबुन का उपयोग तथा पाउडर का लगाना मुख के सौन्दर्य को, त्वचा की कोमलता को बिगाड़ता है—इसे सदा याद रक्खें ॥१६॥

सुखं लघु निरीक्षेत दृढं पश्यति चक्षुषा ॥१७॥
मतं स्रोतोऽञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसंभवम् ।
दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम् ॥१८॥
तेजोरूपावहं चैव सहते मारुतातपौ ।
न नेत्ररोगा जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत् ॥१९॥

आँखों में अंजन (या काजल) लगाने से मनुष्य बिना कष्ट के सुखपूर्वक बारीक वस्तु को देखता है, आँख से स्थिरता से देखता है। सिन्ध प्रदेश में उत्पन्न निर्मल स्रोतांजन श्रेष्ठ माना है। यह अंजन आँख की जलन, खाज, मैल को नष्ट करता है, आँख की क्लिन्नता (गदलापन) और पीड़ा को दूर करता है। आँख सूर्य का प्रतिनिधि होने से-अंजन लगाने पर आँखों में तेज आता है, और आँख वायु एवं धूप को भी बर्दाश्त करती है। अंजन लगाने से नेत्र में रोग नहीं होते, इसलिये अंजन करना चाहिये ॥१७-१९॥

भुक्तवाञ्छिरसा स्नातः श्रान्तश्छर्दनवाहनैः ।
रात्रौ जागरितश्चापि नाञ्ज्याज्ज्वरित एव च ॥२०॥

भोजन करके, शिर समेत स्नान करके, वमन या अन्य थकान के कारणों से थका, रात्रि में जागरण किया और ज्वर रोगी आँख में अंजन न करे ॥२०॥

कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः ।
सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम् ॥२१॥
मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम् ।
हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम् ॥२२॥
प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम् ।
पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे ॥२३॥
रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम् ।
रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम् ॥२४॥

कर्पूर, जातीफल, शीतलचीनी, लवंग, कटुका (लताकस्तूरी), चूना और सुपारी के साथ पान खाना उत्तम है। पान को खाने से मुख की निर्मलता, मुख में सुगन्धि, कान्ति, सौष्ठव आता है। हनु-दन्त-स्वर-मल-जिह्वा-इनका शोधन होता है। मुख से पानी आना बन्द होता है। पान हृद्य है, गल के रोगों को नष्ट करता है। सोकर उठने पर, भोजन के पीछे स्नान के उपरान्त, वमन के पीछे मनुष्य पान खाये। रक्तपित्त रोगी क्षत-क्षीण, प्यास-मूर्च्छा से पीड़ित, रूक्ष, दुर्बल एवं मुख शोष रोगियों के लिये पान हितकारी नहीं है ॥२१-२४॥

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोभ्यङ्गोऽपकर्षति ।
केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम् ॥२५॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम् ।
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां सिरसः प्रतिपूरणम् ॥२६॥

शिर को तेल से भरना (शिर पर भली प्रकार तैल लगाना) शिर पर किया तेल का अभ्यंग शिर के रोगों को दूर करता है। बालों को कोमल, लम्बा, घना, चिकना और काला बनाता है। शिर को खाली (शून्य) नहीं होने देता। मुख की त्वचा को भी सुन्दर करता है। इन्द्रियों को सन्तर्पित करता है॥

मधुकं क्षीरशुक्लां च सरलं देवदारु च ।
क्षुद्रकं पञ्चनामानं समभागानि संहरेत् ॥२७॥
तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ।
सदैव शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत् ॥२८॥

मुलैहठी, विदारी, सरलकाष्ठ, देवदारु, लघुपंचमूल, ये प्रत्येक समभाग लेकर इनके कल्क और कषाय से कोल्हू का ताजा निकाला तैल सिद्ध करे। इस तैल का शिर पर लगाना सब धातुओं में शीतल है ॥२७-२८॥

केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा ।

कंघी का करना बालों के लिये हितकारी है तथा धूल, जूं आदि का नाश करता है।

हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् ॥२९॥

कानों में तेल डालना-हनु-मन्या शिर और कान के शूल को नष्ट करता है।

वक्तव्य—"धारयेत् पूरणं कर्णे, कर्णमूलं विमर्दयन्। रुजः स्यान्मार्दवं यावत् मात्राशतमवेदने" ॥२९॥

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः ।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः ॥३०॥

स्नेह का अभ्यंग सम्पूर्ण शरीर पर करना त्वचा को कोमल करता है, कफ और वायु को रोकता है। रसादि धातुओं को पुष्ट करता है, त्वचा की शुद्धि, वर्ण, बल को देता है।

वक्तव्य—"रोमान्तेषु अनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहः चतुर्भिर्गच्छति त्वचम् ॥"

सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसाधकः ।
क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥३१॥
जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः ।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥३२॥

सम्पूर्ण अंगों का परिषेक-श्रमनाशक, वायु हृद्रोग-भग्न-सन्धि का प्रसाधक, क्षत अग्नि से जले, चोट लगे, घिसड़ लगे हुओं की पीड़ा को मिटाता है। जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर जल से सेचन करने पर बढ़ते हैं उसी प्रकार स्नेह से सेचन करने पर धातुओं की वृद्धि होती है ॥३१,३२॥

सिरामुखं रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन् ।
शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥३३॥

अवगाहन में प्रयुक्त किया स्नेह शिरा मुखों द्वारा रोमकूपों से धमनियों को तृप्त करता हुआ स्नेह शरीर में बल उत्पन्न करता है। (स्नेह के अन्दर डुबकी मारना, बैठना) ॥३३॥

तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित्।
तैलं घृतं वा मतिमान् युंज्यादभ्यङ्गसेकयोः ॥३४॥

इसमें प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, देश, दोष और विकार को जाननेवाला बुद्धिमान् वैद्य, अभ्यंग और परिषेक में तैल या घृत जो ठीक समझे वह बरते ॥३४॥

केवलं सामदोषेषु न कथञ्चन योजयेत्।
तरुणज्वरजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथञ्चन ॥३५॥
तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः।
पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा ॥३६॥
शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः।
सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत् ॥३७॥

आम युक्त दोषों में अकेला स्नेह (असंस्कृत स्नेह) किसी भी अवस्था में नहीं बरतना चाहिये। तरुण ज्वर रोगी और अजीर्ण रोगी को कभी अभ्यंग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार विरेचन दिये, वमन कराये, और जिस मनुष्य को निरूह दिया गया, उनको भी अभ्यंग न कराये। प्रथम दो अवस्थाओं में रोग का कष्ट साध्य होना अथवा रोग का असाध्य होना होता है। शेष रोगियों को उस दिन अग्निमान्द्य आदि रोग हो जाते हैं। सन्तर्पणजन्य रोगों में भी स्नेह का अभ्यंग न करे।

वक्तव्य—सन्तर्पणजन्य रोग—"रोगास्तस्योपजायन्ते संतर्पणनिमित्तजाः। प्रमेहकण्डूपिडकाः कोठपाण्ड्वामयज्वराः ॥ कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकाः। तन्द्राक्लैव्यमतिस्थौल्यमालस्यं गुरुगात्रता ॥ इन्द्रियस्रोतसां लेपो बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः।" चरक० सूत्र अ० २३-५ ॥३५–३७॥

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्।
तत् कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः ॥३८॥
शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा ॥३९॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते ॥४०॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्।
न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात् ॥४१॥
न चैनं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति।
स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च ॥४२॥
व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव ॥४३॥
वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्।
व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम् ॥४४॥
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते।
व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥
स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः।
सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः ॥४६॥
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा।
हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते ॥४७॥
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्।
वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च ॥४८॥
समीक्ष्य कुर्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।
क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥४९॥
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसंभवाः।
रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षतातुरः ॥५०॥
भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणस्तृड्भ्रमार्तश्च वर्जयेत्।

शरीर में जिस कर्म से आयास उत्पन्न होता है, उस कर्म को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम करके शरीर को सुखपूर्वक चारों ओर से मले (जोर से नहीं मले)। व्यायाम करने से शरीर की पुष्टि, कान्ति, अंगों का पृथक्त्व, अग्नि की प्रदीप्ति, आलस्य का न होना, स्थिरता, लघुता, शुद्धि, श्रम-क्लम-प्यास-उष्णिमा और शीत आदि को सहने की शक्ति, और उत्तम आरोग्य मिलता है। मोटापे को कम करने के लिये व्यायाम के समान दूसरी वस्तु नहीं। व्यायाम करनेवाले मनुष्य के शत्रु बलपूर्वक तिरस्कार नहीं कर सकते। इस पर बुढ़ापा एक दम से चढ़कर नहीं बैठ सकता (अपने समय पर ही आता है)। व्यायाम करनेवाले का मांस दृढ़ होता है (ढीला नहीं रहता)। इसके पास रोग भी नहीं फटकते, जिस प्रकार शेर के पास छोटे मृग जानवर नहीं पहुँच पाते। वय, रूप, और गुण से हीन मनुष्य को भी व्यायाम देखने में सुन्दर बना देता है। नित्य व्यायाम करनेवाले मनुष्य का विरुद्ध भोजन भी, विदग्ध हुआ (अम्लपाक) एवं अविदग्ध (उत्तम विदग्ध) भोजन बिना दोष के पच जाता है। क्योंकि स्निग्ध भोजन करनेवाले बलवान् पुरुषों के लिये व्यायाम सदैव पथ्य है। इन लोगों को शीतकाल और वसन्त ऋतु में व्यायाम पथ्य है। (इन ऋतुओं में दूसरी ऋतुओं से थोड़ा अधिक करना चाहिये)। अपना हित चाहनेवाले मनुष्यों को प्रतिदिन सब ऋतुओं में व्यायाम करना चाहिये। इससे अधिक करने पर वह नुकसान करता है। व्यायाम करते हुए हृदय में स्थित वायु जब मुख में आने लगे (मनुष्य हांपकर मुख से श्वास लेने लगे) यह बलार्ध का लक्षण है। वय, बल, शरीर, देश, काल, खान-पान को देखकर व्यायाम करे, अन्यथा रोग उत्पन्न होता है। क्षय, तृष्णा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, भ्रम, क्लम, कास, शोष, ज्वर, श्वास, ये रोग अति-व्यायाम से उत्पन्न होते हैं। रक्तपित्त रोगी कृश-व्यक्ति, शोषरोगी, श्वास, कास, उरःक्षतरोगी, भोजन किया, स्त्री सेवन से कृश, प्यास और भ्रम से पीडित मनुष्य व्यायाम न करे।

वि० मन्तव्य—बलार्द्ध या अर्द्ध शक्ति—व्यायाम

करते समय जब श्वास फूलने लगता है, तब समझ लेना चाहिये कि आधा बल लग चुका है, इस समय व्यायाम से विरत हो जाना चाहिये। कुछ दिन व्यायाम करते २ पसीना आने लगे तब समझ लेना चाहिये कि आधा बल चुक गया है ॥३८-५०॥

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम् ॥५१॥
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।

उद्वर्त्तन (उबटन लगाना)—वातनाशक, कफ और मेद को विलयन करनेवाला है, अंगों को स्थिर करता है। त्वचा को अतिशय निर्मल करता है। (विम्लापनम्-द्रवीकरणम्)॥५१॥

सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥५२॥
उद्घर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम्।
उत्सादनाद् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः॥५३॥
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम्।
उद्घर्षणं तु विज्ञेयं कण्डूकोठानिलापहम् ॥५४॥
ऊर्वोः संजनयत्याशु फेनकः स्थैर्यलाघवे।
कण्डूकोठानिलस्तम्भमलरोगापहश्च सः ॥५५॥
तेजनं त्वग्गतस्याग्नेः सिरामुखविवेचनम्।
उद्घर्षणं त्विष्टिकथा कण्डूकोठविनाशनम् ॥५६॥

उद्घर्षण और उद्वर्त्तन से त्वचा में स्थित सिराओं के मुख का खुलना, त्वचा में स्थित अग्नि (भ्राजक पित्त) की दीप्ति निश्चय रूप से होती है। उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेष रूप से सुन्दर होता है। शरीर में प्रहर्ष, सौभाग्य, शुद्धि, लघुता आदि गुण आते हैं। उद्घर्षण, कण्डू, कोठ और वायु को नष्ट करता है। फेनक जंघाओं में स्थिरता एवं लघुता लाता है। फेनक कण्डु, कोठ, वायु, स्तम्भ, मैलजन्य रोगों को (वृषण कच्छू आदि को) नष्ट करता है। त्वचा में स्थित भ्राजक अग्नि को प्रदीप्त करता है, सिराओं के मुख को खोलता है। ईंट आदि से उद्घर्षण कण्डु, कोठ को नष्ट करता है।

वक्तव्य—उद्घर्षण-अस्नेहौषधचूर्णादिभिः घर्षणम्, यथा-चने या मसूर के आटे से मलना। उत्सादन–स्नेहकल्केन उद्घर्षणम् उद्वर्त्तनम्, यथा—चने के आटे में तेल और दही मिलाकर मलना। फेनक–रीठे या आंवले आदि के पानी से या साबुन से धोना। ईंटे (झामा) से उद्घर्षण आजकल खड़ के स्पंज से शरीर को रगड़ना, या खद्दर के कपड़े से स्नान करते समय शरीर को रगड़ना ॥५२-५६॥

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्।
हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम् ॥५७॥
तन्द्रापाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्।
रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम् ॥५८॥
उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा।
शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत् ॥५९॥
श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम्।
काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत् ॥६०॥
अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम्।
अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्धनम् ॥६१॥
तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु।
आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् ॥६२॥
सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम्।
स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम् ॥६३॥
स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम्।

स्नान—निद्रा, दाह एवं श्रम का नाशक, स्वेद, कण्डु और प्यास का नाशक, हृद्य, मल को दूर करने में श्रेष्ठ, सब इन्द्रियों को सचेष्ट बनानेवाला, तन्द्रा, पाप्मा (अलक्ष्मी-मनहूसी) को दूर करनेवाला है। प्रसन्नता एवं पुरुषत्व का वर्धक, रक्त को निर्मल करनेवाला और अग्नि को बढ़ानेवाला है। गरम पानी से शिर का धोना आँखों के लिये सदा हानिकारक है। शीतल पानी से सिर का स्नान करना आँखों के लिये हितकारी है। कफ और वायु के प्रकोप में रोग के बल और निर्बलता को जानकर इच्छानुसार गरम पानी से शिर का स्नान औषध रूप में ही बरते। अति शीतल या शीतऋतु में ठण्डे पानी का स्नान कफ और वायु को कुपित करता है। अतिउष्ण जल या उष्णऋतु में गरम पानी का स्नान पित्त और रक्त को कुपित करता है। अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वातव्याधि, आध्मान, अरोचक, अजीर्ण एवं भोजन करनेपर स्नान करना निन्दित है। अनुलेपन (चन्दन आदि का शरीर पर लेप) सौभाग्य देनेवाला, वर्ण को बढ़ानेवाला, प्रीति, ओज, बलवर्धक है, स्वेद, दौर्गन्ध्य, विवर्णता और श्रम को नष्ट करता है। जिन लोगों के लिये स्नान निषिद्ध है, उनके लिये अनुलेपन भी निषिद्ध है॥

रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम् ॥६४॥
सुमनोम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्।

फूलों की माला, सुन्दर वस्त्रों एवं रत्नों को धारण करना, रक्षोघ्न (भूत आदि बाधा, विष बाधा आदि से बचानेवाला), ओज के लिये हितकारी, सौभाग्य करनेवाला (बड़प्पन श्रीमत्त्व देनेवाला) और प्रीति को बढ़ाता है।

वक्तव्य—"वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका। कर्केतनः सर्पमणिर्वैडूर्यं गजमौक्तिकम्। धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः॥" चरक० चिकि०। "काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्। श्रीमत् पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्॥ वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं गन्धमाल्यनिषेवणम्। धन्यं मंगलमायुष्यं श्रीमद् व्यसनसूदनम्॥ हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम्॥" चरक सूत्र० अ० ५ ॥५७-६४॥

मुखालेपाद् दृढं चक्षुः पीनगण्डं तथाननम् ।६५॥
अव्यङ्गपिडकं कान्तं भवत्यम्बुजसन्निभम् ।

मुख पर लेप करने से (जैसा कि ब्रह्मदेश में औरतें मुख पर एक विशेष लकड़ी को घिस कर लगाती हैं) चक्षु मजबूत होती हैं, गण्डस्थल और मुख मोटा (भरा हुआ) होता है। मुख पर व्यंग (झांई) एवं पिड़कायें नहीं होतीं, मुख सुन्दर तथा कमल के समान होता है ॥६५॥

पद्मलं विशदं कान्तममलोज्ज्वलमण्डलम् ॥६६॥
नेत्रमञ्जनसंयोगाद् भवेच्चामलतारकम् ।
यशस्यं स्वर्ग्यमायुष्यं धनधान्यविवर्धनम् ॥६७॥
देवतातिथिविप्राणां पूजनं गोत्रवर्धनम् ।

आंखों में काजल लगाना (स्याही लगाना) पलकों के बालों को घना एवं मलरहित (गीद रहित), सुन्दर उज्ज्वल बाह्य चक्षुवाला बनाता है। पुतली निर्मल रहती है। देवता-अतिथि-ब्राह्मण का सत्कार करना यश देनेवाला, स्वर्ग के लिये उत्तम, आयुवर्धक, धन-धान्य को बढ़ानेवाला तथा गोत्रवर्धक (पुत्र देनेवाला) है ॥६६,६७॥

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः ॥६८॥
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोग्निविवर्धनः ।

आहार—पुष्टिदायक, तुरन्त बल कारक, देह को टिकानेवाला, आयु, तेज (कान्ति), उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि को बढ़ाता है ॥६८॥

पादप्रक्षालनं पादमलरोगश्रमापहम् ।
चक्षुःप्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥६९॥

पैरों का धोना-पैरों के मैल-रोग एवं श्रम को दूर करता है। आँखों को निर्मल बनाता है, वृष्य, रक्षोघ्न तथा प्रीतिवर्धक है ॥६९॥

निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत् ॥७०॥
पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः ।

पैर पर तेल मलना (पैर के तलुओं पर तेल घिसना)—निद्रा को लानेवाला, शरीर को सुख देनेवाला, आँखों के लिये उत्तम, श्रम और पाँव के स्वाप को नष्ट करता है। पैर की त्वचा को कोमल बनाता है।

वक्तव्य—यह प्रथा पुरानी है-यथा—"उपानद्युगलनिक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यां उच्चासन उपविष्टा तिष्ठति।" मृच्छकटिका—अंक ४ ॥७०॥

पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम् ॥७१॥
सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम् ।
अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत् ॥७२॥
पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम् ।
पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ॥७३॥
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ।
बाणवारं मृजावर्णतेजोबलविवर्धनम् ॥७४॥

जूते का पहनना—पैर के रोगों को नष्ट करनेवाला, वृष्य, रक्षोघ्न, प्रीतिवर्धक, चलने में सुख पहुँचानेवाला और ओजवर्धक है। जूते बिना सदा चलते फिरते रहना—अस्वास्थ्य कारक, आयु को कम करनेवाला और आँखों को हानि पहुँचाता है। केश नख और रोम को कटवाना-अलक्ष्मी को नष्ट करता है। हर्ष, लघुता, सौभाग्य, और उत्साह को बढ़ाता है। कवच का धारण करना (अंगरखी का पहनना) शुद्धि, तेज, वर्ण और बल को बढ़ाता है। (चंक्रमणम्-टहलना-घूमना) ॥७१-७४॥

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोपहम् ॥

शिर पर पगड़ी, आदि पहना पवित्र, बालों के लिये उत्तम है, वायु, धूल और धूप को नष्ट करता है।

वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम् ॥७५॥
वर्ण्यं चक्षुष्यमोजस्यं शंकरं छत्रधारणम् ।

छाते का धारण करना—वर्षा, वायु, धूल, बर्फ (ओस) आदि को दूर करता है। वर्ण, ओज एवं आँखों के लिये हितकारी, तथा सुखकारक है ॥७५॥

शुनः सरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम् ॥७६॥
श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते ।
सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम् ॥७७॥
अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम् ।

हाथ में दण्डे का धारण करना—कुत्ता, सांप, हिंसक पशु या गाय बैल के भय से बचाता है। थकान एवं फिसलने के दोष से रक्षा करनेवाला, बुढ़ापे में सहारा है। सत्त्व, उत्साह (बल), ओज, स्थिरता, धैर्य, शक्ति को बढ़ाता है। सहारा देनेवाला और भयनाशक है ॥७६,७७॥

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यकरी सुखा ॥७८॥

बैठना (आराम करना)—वर्ण, कफ, स्थूलता, सुकुमारता एवं सुख को देता है ॥७८॥

अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यविनाशनः ।
अत्यध्वा विपरीतोऽस्माज्जरादौर्बल्यकृच्च सः ॥७९॥
यत्तु चङ्क्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत् ।
तदायुर्बलमेधाग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम् ॥८०॥

मुसाफरी—वर्ण, कफ, स्थूलता, सुकुमारता को नष्ट करती है। अतिशय मुसाफरी-वर्ण-कफ आदि को बहुत अधिक मात्रा में नष्ट करती है, तथा बुढ़ापा एवं दुर्बलता लाती है। जितने चलने में शरीर में बहुत अधिक कष्ट न हो, उतना चलना आयु, बल, मेधा, अग्नि को बढ़ाता है और इन्द्रियों को सचेष्ट बनाता है ॥७९,८०॥

श्रमानिलहरं वृष्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम् ।
सुखं शय्यासनं, दुःखं विपरीतगुणं मतम् ॥८१॥
वालव्यजनमौजस्यं मक्षिकादीनपोहति ।
शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नो व्यजनानिलः ॥८२॥

सुखदायक शय्या (चौड़ी-लम्बी, तथा गद्दे एवं तकियों से युक्त) पर सोना, श्रम और वायुनाशक, तथा वृष्य है, पुष्टि, निद्रा एवं धृति को देनेवाला है। इससे विपरीत शय्या दुःखदायी और विपरीत गुण करती है। बालों की चंवर से हवा करना ओज के लिये उत्तम, मक्खी-मच्छर आदि को हटानेवाला है। पंखे की वायु-शोष, दाह, श्रम, स्वेद और मूर्च्छानाशक है ॥८१,८२॥

प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम् ।
संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम् ॥८३॥

संवाहन (चापी करना)–प्रीति, निद्रा को देनेवाला, वृष्य है। कफ, वात एवं श्रम का नाशक, मांस, रक्त और त्वचा को निर्मल करनेवाला तथा सुखदायक है। (सवाहनं–हस्ताभ्यां शनैः शनैराहननम्) ॥८३॥

प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहपक्तिनुत् ।
स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा ॥८४॥
सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः ।
निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा ॥८५॥
आतपः पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत् ।
दाहवैवर्ण्यकारी च छाया चैतानपोहति ॥८६॥
अग्निर्वातकफस्तम्भशीतवेपथुनाशनः ।
आमाभिष्यन्दजरणो रक्तपित्तप्रदूषणः ॥८७॥
पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम् ।
करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता ॥८८॥

सामने के ओर की वायु—रूक्षता, विवर्णता, स्तम्भ करनेवाली, दाह एवं पाक को नष्ट करती है। पसीना, मूर्च्छा और प्यास को दूर करती है। जो वायु सामने से झोंक में नहीं आती वह इससे विपरीत गुण करती है। ग्रीष्म और शरद् ऋतु में मनुष्य सुख से (जितना सहन हो सके) वायु का सेवन करे। निवात (झोंके की सामने की वायु से बचकर) का सदा सेवन करना आरोग्य एवं आयु को देता है। धूप का सेवन-पित्त, तृष्णा, अग्नि, स्वेद, मूर्च्छा भ्रम, और रक्त को करता है। दाह और विवर्णता को उत्पन्न करता है। छाया–धूप के विकारों को दूर करती है। आग का तापना-वायु, कफ, स्तम्भ, शीत और कम्पन को नष्ट करता है। आम एवं अभिष्यन्द को जीर्ण करता है, रक्तपित्त को दूषित करता है। समय पर सेवन की हुई निद्रा-पुष्टि, बल, वर्ण, उत्साह, अग्नि की दीप्ति, अतन्द्रिता (जागरण) एवं धातुओं की समता को करती है ॥८४-८८॥

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघ्वुष्णीषच्छत्रोपानत्केन दण्डपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बन्धुभूतेन भूतानां गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खलूपचरितव्यं, तदपि न रात्रौ, न केशास्थिकण्टकाश्मतुषभस्मोत्करकपालाङ्गारमेध्यस्नानबलिभूमिषु, न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात् ॥

बचपन से ही नख और रोम कटवाकर, पवित्र, श्वेत, निर्मलवस्त्र धारण करनेवाला, लघु-हल्की पगड़ीवाला, छाता एवं जूता धारण करने का आदी, हाथ में दण्ड (सोटी) रखनेवाला, समय पर हितकारी, थोड़ा एवं मधुर बोले। मिलने पर प्रथम कुशल मंगल पूछे। प्राणियों में बन्धुभाव (मैत्री भाव) रखते हुये, गुरु एवं वृद्ध पुरुषों से आज्ञा प्राप्त करके, उत्तम अच्छे सहायक के साथ, एकाग्रमन से चलना चाहिये। इतना होने पर भी रात्रि में बाहर नहीं जाये। केश, अस्थि, काँटे, पत्थर, तुष, राख, कूड़े का ढेर, कपाल (ठीकरे), अंगार अपवित्रस्थान (वध्य भूमि आदि), स्नान एवं बलिभूमि पर से नहीं जाना चाहिये। विषमस्थान, यज्ञ के लिये गाड़े हुए यूप, चौराहे गड्ढे के ऊपर से नहीं जाना चाहिये ॥८६॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानिब्रवेत्, न देवब्राह्मणपितृपरिवादांश्च; न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचानुपासीत।

राजा के विरोधी, कठोर, छलवाले, झूठ वचन न बोले। देवता, ब्राह्मण, पितर की निन्दा न करे। राजा जिनसे द्वेष करता है, उनकी, उन्मत्त, पतित (स्वकीय धर्म से भ्रष्ट) क्षुद्र (लघु) नीच (म्लेच्छ आदि) की सेवा न करे ॥९०॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुञ्जराद्यधिरोहणानि परिहरेत्, पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि, भिन्नशून्यागारश्मशानविजनारण्यवासाग्निसंभ्रमव्यालभुजङ्गकीटसेवाश्च, ग्रामाघातकलहशस्त्रसन्निपातव्यालसरीसृपशृङ्गिसन्निकर्षांश्च ॥९१॥

वृक्ष, पर्वत प्रपात (झरना), विषम, वल्मीक, दुष्ट घोड़े, दुष्ट हाथी आदि पर न चढ़े। भरी हुई नदी, समुद्र, न जाने हुए सरोवर, कुआँ, गड्ढे में न उतरे। टूटे अथवा खाली पड़े घर में, श्मशान में, मनुष्यों से रहित; जंगल में रहना न करे। अग्नि संभ्रम (आग का लगना), हिंसक पशु, साँप, कीट (बिच्छू आदि) के पास न जाये। ग्रामाघात (महामारी या मारक रोग जहाँ फैला हो) कलह (झगड़ा जहाँ चल रहा हो), शस्त्र सन्निपात (युद्ध), हिंसकपशु, साँप (अजगर) गाय बैल आदि के पास न जाये।

वि० मन्तव्य—प्रपात-जिस पर से बहुत नीचे गिरता है यथा ऊँची दीवार, नदी द्वारा कटी भूमि का तट-ढांग। उपासीत–पास बैठना, रहना, साथ २ कार्य करना, मिलना जुलना, व्यहार करना। अग्निसम्भ्रम-ज्वालामुखी का गह्वर, जहाँ ज्वाला फूटी हो ॥९१॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेङ्खाद्म्पत्यन्तरेण यायात्। न शवमनुयायात्। देवब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रमेत। नास्तं गच्छन्तमुद्यन्तं वाऽऽदित्यं वीक्षेत। गां धापयन्तीं धयन्तीं परसस्यं वा चरन्तीं न

कस्मैचिदाचक्षीत, न चोल्कापातोत्पातेन्द्रधनूंषि। नाग्निमुखेनोपधमेत्। नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात्॥

आग, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेंखा (दोला), दम्पती (पति-पत्नी)—इनके बीच में से न गुजरे। मुर्दे के पीछे अनुगमन न करे। देवता, गौ, ब्राह्मण, चैत्य, ध्वजा, रोगी, पतित और पाप करनेवाली छाया को न लांघे। छिपते हुए या उगते हुए सूर्य को न देखे। बछड़े को दूध पिलाती, या स्वयं पीती हुई अथवा दूसरे के अन्न को खाती हुई गाय की चर्चा किसीसे न करे। उल्कापात (आकाश से अग्नि का गिरना) उत्पात, इन्द्र धनुष को न देखे। मुख से अग्नि में फूंक न मारे। पानी या भूमि में पैर से चोट न करे।

वक्तव्य—उत्पात-दिव्य-भौम और आन्तरिक्ष भेद से तीन प्रकार के हैं। दिव्य उत्पात प्रतिमा-रोदन, गन्धर्व नगर दर्शन आदि। भौम-भूकम्प आदि। आन्तरिक्ष-तारापतन, रविपरिवेष आदि। गन्धर्वनगर का नाम चरक, सत्यार्थप्रकाश एवं दर्शन में भी आता है॥९२॥

न वेगान् धारयेद् वातमूत्रपुरीषादीनाम्। न बहिर्वेगान् ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसन्निकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम्॥९३॥

वायु, मूत्र और मल आदि के उपस्थित वेगों को न रोके। मल-मूत्र आदि बाह्य वेगों को ग्राम, नगर, मन्दिर, श्मशान, चौराहा, पानी के तालाब, रास्ता इनके पास न त्यागे। खुले मैदान में (दिखाई दे) न त्याग करे। वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, गौ, गुरु की ओर मुख करके मल मूत्र न त्यागे॥

न भूमिं विलिखेत्, नासंवृतमुखः सदसि जृम्भोद्गारकासश्वासक्षवथूनुत्सृजेत्, न पर्यङ्किकावष्टम्भपादमसारणानि गुरुसन्निधौ कुर्यात्॥९४॥

भूमि को न कुरेदे। मुख को बिना ढाँपे सभा में जम्भाई, डकार, कास, श्वास, छींक न करे। गुरु के पास में कुर्सी पर सहारा लगाकर, या पैर को फैलाकर न बैठे॥९४॥

न बालकर्णनासास्रोतोदशनाक्षिविवराण्यभिकुष्णीयात्, न वीजयेत् केशमुखनखवस्त्रगात्राणि, न गात्रनखवक्त्रवादित्रं कुर्यात्, न काष्ठलोष्टतृणादीनभिहन्याच्छिन्द्याद्भिन्द्याद्वा॥९५॥

बाल, कान, नासा-स्रोत, आँख, दांत इनके विवरों को न कुरेदे (इनमें अंगुली न डालें)। केश, मुख, नख, वस्त्र या शरीर को न कम्पाये। शरीर, नख, मुख इनसे बाजे का काम न करे, काष्ठ, लोष्ट, तिनके आदि पर चोट न करे, न इनको तोड़े और न इनके टुकड़े करे॥९५॥

न प्रतिवातातपं सेवेत, न मुक्तमात्रोऽग्निमुपासीत, नोत्कटकाल्पकाष्ठासनमध्यासीत, न ग्रीवां विषमं धारयेत् न विषमकायः क्रियां भजेत मुञ्जीत वा, न प्रततमीक्षेत विशेषाज्ज्योतिर्भास्करसूक्ष्मचलभ्रान्तानि, न भारं शिरसा वहेत्, न स्वप्नजागरणशयनासनस्थानचङ्क्रमणयानवाहनप्रधावनलङ्घनप्लवनप्रतरणहास्यभाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यतिसेवेत॥९६॥

सामने की वायु या धूप का सेवन न करे। खाते ही अग्नि को न सेके। बहुत ऊँचे (विषम), छोटे, लकड़ी के आसन पर न बैठे। गर्दन को टेढ़ा न रक्खे। शरीर को टेढ़ा करके (झुकाकर) कार्य न करे। और न भोजन करे। बल लगाकर या निरन्तर न देखे। विशेषतः ज्योतिः सूर्य, सूक्ष्म, अस्थिर, भ्रान्त रूपों को निरन्तर न देखे। शिर पर बोझ न उठाये। नींद, जागना, लेटना, बैठना, खड़े रहना, घूमना, घोड़े आदि की सवारी, रथ आदि की सवारी, दौड़ना, कूदना, लांघना, तैरना, हास्य, बोलना, मैथुन, व्यायाम आदि उचित कार्यों को भी अधिक मात्रा में सेवन न करे।

वक्तव्य—"पृष्ठतः सेवेदर्कं, जठरेण हुताशनम्"॥९६॥

उचितादप्यहितात् क्रमशो विरमेत्, हितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशः, चैकान्ततः पादहीनात्॥९७॥

उचित भी (अभ्यास किये—जिसकी आदत पड़ी हुई है) परन्तु हानिकारक आहार विहार से क्रमशः—धीरे-धीरे अलग हो जाये। हितकारी परन्तु अनुचित (अनभ्यस्त-जिसकी आदत नहीं) आहार विहार का क्रमशः सेवन करे। चतुर्थांश या षोडशांश रूप के विना सम्पूण रूप से आहार विहार का सेवन या त्याग न करे।

वक्तव्य—अभ्यस्त वस्तु का चतुर्थांश या षोडशांश छोड़ते हुए इसमें अनभ्यस्त वस्तु का उतना ही चतुर्थांश या षोडशांश मिलता जाये। इस प्रकार बरते हुए सम्पूर्ण वस्तु त्याग करके सम्पूण अनभ्यस्त वस्तु का ग्रहण करे। "अचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः। हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते॥ प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्। एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा॥" चरक० सू० अ० ७।३६-३७॥

नावाक्शिराः शयीत, न भिन्नपात्रे भुञ्जीत, नविना पात्रेण, नाञ्जलिपुटेनापः पिबेत्, काले हितमितस्निग्धमधुरप्रायमाहारं वैद्यप्रत्यवेक्षितमश्नीयात्, ग्रामगणगणिकापणिकशत्रुसत्रशठपतितभोजनानि परिहरेत्, शेषाण्यपि चानिष्टरूपरसगन्धस्पर्शशब्दमानसानि, अन्यान्येवंगुणान्यपि संभूय दत्तानि, (तान्यपि) मक्षिकाबालोपहतानि, नाप्रक्षालितपाणिपादो भुञ्जीत, न मूत्रोच्चारपीडितः, न

सन्ध्ययोर्नानुपाश्रितो नातीतकालं हीनमतिमात्रं (नोद्धृतस्नेहं) चेति ॥९८॥

शिर को नीचा करके न सोये। टूटे हुए पात्र में भोजन न करे, पात्र के बिना (हाथ में लेकर) भोजन न करे। चूल्लू में लेकर पानी न पीये। समय पर हितकारी, थोड़ा, स्निग्ध, मधुरबहुल, वैद्य से देखे हुए आहार को खाये। ग्राम-गण (गाँव मिलकर जो अन्न पकाते हैं), वेश्या, पणिक् (वैश्यों से दूसरे जो सूद कार्य करते) हैं, शत्रु, सत्र (यज्ञ), शठ, पतित (नीच) के भोजन का न खाये। शेष मनुष्यों का भी रूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्द-मन से अनिच्छित भोजन को न खाये। दूसरे भी इच्छित रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, मनवाले, भोजन जो मिलाकर बनाये गये हों, उनको भी न खाये। इन्हीं गुणों का भोजन मक्खी, बाल से युक्त होने पर न खाये। हाथ पैर बिना धोये भोजन न करे। मूत्र और मल के वेग से पीड़ित होने पर भोजन न करे। सन्ध्याकाल में भोजन न करे। किसीकी दया से मिला (आश्रित बनकर) भोजन न करे। समय बीतने पर भोजन न करे, मात्रा से कम या मात्रा में अधिक भोजन न करे। (स्नेहवाली जिस वस्तु से स्नेह निकाल लिया गया हो उसको न खाये)।

वि० मन्तव्य— ग्रामभोजन–जिसमें गाँव भर का साझा हो, गण भोजन–समुदाय–बहुतों का साझा भोजन, डल्लन के कथनानुसार रथकार एवं चारण जातिवालों का भोजन। पणिक भोजन–होटल बासा, तन्दूर आदि से खरीदा गया। न अनुपाश्रितः–आसनरहितः न भुञ्जीत–अर्थात् आसन पर बैठकर खाना चाहिये। सम्भूय दत्तानि–मिलित्वा यावत् दत्तानि भोजनानि परिहरेत्, सम्भ्रमदत्तानि–(पाठान्तर है)–सर्वाणि च त्वरया दत्तानि परिहरेत्–(डल्लन) अर्थात्–अनेकों जनों द्वारा मिलकर दिये गये अथवा घबराहट—उद्वेग के साथ दिये गये, भोजनों का परित्याग करे। ऐसे भोजन सन्दिग्ध होते हैं, अनिष्ट के लिये या उपहास के लिये हो सकते हैं ॥९८॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नष्टं पर्युषितं पयः।
न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम् ॥९९॥
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना।
अन्यथा जनयेत् कुष्ठविसर्पादीन् गदान् बहून् ॥
नात्मानमुदके पश्येन्न नग्नः प्रविशेज्जलम् ॥१००॥

जिस दूध में से स्नेह (चिकनाई) निकाल लिया हो, जो दूध फट गया हो, या जो बासी हो, उस दूध को न पीये। रात्रि में दही न खाये। घी और शर्करा के बिना, मूँग के यूष के बिना, मधु के बिना, उष्णवस्तु (सोंठ आदि) के बिना, आँवलों के बिना रात्रि में दही न खाये। अन्यथा दही कुष्ठ, वीसर्प आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। अपनी परछांई जल में न देखे, और नंगा होकर जल में न घुसे ॥१००॥

द्यूतमद्यातिसेवाप्रतिभूत्वसाक्षित्वसमाह्वानगोष्ठीवादित्राणि न सेवेत, स्रजं छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि न चान्यैर्धृतानि धारयेत्, ब्राह्मणमग्निं गां च नोच्छिष्टः स्पृशेत् ॥१०१॥

जुआ, मद्य का अतिसेवन, प्रतिभू (जमानती), साक्षी होना, समाह्वान (अप्रासंगिक बोलना), गपशप करना, गाना-बजाना न करे। माला, छाता, जूता, स्वर्ण, पुराने-जीर्ण वस्त्र, या दूसरों से धारण किये-इनको न धारण करे। जूठी अवस्था में ब्राह्मण गाय या अग्नि का स्पर्श न करे।

वि० मन्तव्य— समाह्वान–किसीके बुलाने पर जूआ खेलना, अथवा प्राणियों—गो आदि या पत्नी, भगिनी आदि को दाव पर लगाकर जूआ खेलना। गोष्ठी वादित्र—सभा में या सभासद् की भाँति सभा में सम्मिलित होकर मृदंग आदि बाजे बजाना ॥१०१॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्।
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥१०२॥
वर्षासु न पिबेत्तोयं पिबेच्छरदि मात्रया।
वर्षासु चतुरो मासान् मात्रावदुदकं पिबेत् ॥१०३॥
उष्णं हैमे वसन्ते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम्।
हेमन्ते च वसन्ते च सीध्वरिष्टौ पिबेन्नरः ॥१०४॥
शृतशीतं पयो ग्रीष्मे प्रावृट्काले रसं पिबेत्।
यूषं वर्षति, तस्यान्ते प्रपिबेच्छीतलं जलम् ॥१०५॥
स्वस्थ एवमतोऽन्यस्तु दोषाहारगतानुगः।
स्नेहं सैन्धवचूर्णेन पिप्पलीभिश्च संयुतम् ॥१०६॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं न च वेगान् विधारयेत्।

कहा भी है—जिस जिस ऋतु में मनुष्यों के जो-जो दोष कुपित होते हैं, उन-उन ऋतुओं में वे-वे रस जाननेवाला वैद्य देवे। वर्षा ऋतु में पानी न पीये (बहुत थोड़ा पीये)। शरत्ऋतु में मात्रा से (थोड़े परिमाण में) पीये। वर्षा के चारों मासों (आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन) में मात्रा से पानी पीये। शीत और वसन्त ऋतु में गरम पानी, इच्छानुसार—उष्ण अथवा शीत, ग्रीष्म में शीतल जल पीये। ग्रीष्म ऋतु में गरम करके ठण्डा दूध पीये, प्रावृट्काल में मांस रस पीये। वर्षा में मूँग आदि का यूष पीये। वर्षा के अन्त में शीतल जल पीये, स्वस्थ मनुष्य इस प्रकार करें। रोगी मनुष्य दोष और आहार के अनुसार पीये। अग्नि को बढ़ाने के लिए स्नेह को सैन्धवचूर्ण और पिप्पली के साथ मिलाकर खाये। (इसी से षट्पलघृत हम देते हैं)। उपस्थित वेगों को न रोके ॥१०२-१०६॥

अग्निदीप्तिकरं नृणां रोगाणां शमनं प्रति ॥१०७॥
प्रावृट्शरद्वसन्तेषु सम्यक् स्नेहादिमाचरेत्।
कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको बस्तिरीरणे ॥१०८॥

शस्यते त्रिष्वपि सदा व्यायामो दोषनाशनः ।
भुक्तं विरुद्धमप्यन्नं व्यायामान्न प्रदुष्यति ॥१०९॥

मनुष्यों में रोगों को शान्त करने के लिये अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये । प्रावृट्, शरद् और वसन्त में भली प्रकार स्नेह आदि का सेवन करे । कफ में वमन, पित्त में विरेचन, वायु में बस्ति, उत्तम है । तीनों दोषों में व्यायाम का सदा करना दोषनाशक है । खाया हुआ विरोधि भोजन भी व्यायाम के कारण दूषित नहीं होता, दोष नहीं करता ॥१०७-१०९॥

उत्सर्गमैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मनाः ।
नेच्छेद्दोषचयात् प्राज्ञः पीडां वा कायमानसीम् ॥११०॥
अतिस्त्रीसंप्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान् ।
शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः ॥१११॥
अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्च क्षेपकादयः ।
आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः ॥११२॥
स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः ।
त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्वा समीयात् प्रमदां नरः ॥११३॥
सर्वेष्वृतुषु, घर्मेषु पक्षात् पक्षाद् व्रजेद् बुधः ।
रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा ॥११४॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम् ।
हीनाङ्गीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषसमन्विताम् ॥११५॥
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि ।
सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः ॥११६॥
गोसर्गे चार्धरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च ।
लज्जासमावहे देशे विवृतेऽशुद्ध एव च ॥११७॥
क्षुधितो व्याधितश्चैव क्षुब्धचित्तश्च मानवः ।
वातविण्मूत्रवेगी च पिपासुरतिदुर्बलः ॥११८॥
तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम् ।
दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत् ॥११९॥
रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्धावरणमेव च ।
स्थितावुत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम् ॥१२०॥
क्रीडायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत् ।
रजस्वलां प्राप्नवतो नरस्यानियतात्मनः ॥१२१॥
दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत् ।
लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु ॥१२२॥
वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवितक्षयः ।
गर्भिण्या गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः ॥१२३॥
हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां कामं वन्ध्यामसंवृते ।
देशेऽशुद्धे च शुक्रस्य मनसश्च क्षयो भवेत् ॥१२४॥
क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृषितोऽबलः ।
स्थितश्च हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विन्दति ॥१२५॥
अतिप्रसङ्गाद् भवति शोषः शुक्रक्षयावहः ।
व्याधितस्य रुजा प्लीहि मृत्युर्मूर्च्छा च जायते ॥१२६॥
प्रत्यूषस्यर्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः ।
तिर्यग्योनावयोनौ च दुष्टयोनौ तथैव च ॥१२७॥
उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रस्य च क्षयः ।
उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे ॥१२८॥
उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु संभवः ।
सर्वं परिहरेत्तस्मादेतल्लोकद्वयेऽहितम् ॥१२९॥
शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न सन्धार्यं कथंचन ।

मलमूत्र के त्याग, मैथुन, आहार एवं शरीर के शोधन में मनुष्य दत्तचित्त बनकर रहे । बुद्धिमान् मनुष्य दोष के संचय से शारीरिक या मानसिक पीड़ा को न चाहे । (इसलिये इन कार्यों में मन लगाये) । जितेन्द्रिय बनकर अतिस्त्री सेवन से अपने को बचाये । अतिस्त्री सेवन से शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पाण्डुरोग, क्षय, आक्षेप आदि रोग होते हैं । स्त्रियों में संयमी पुरुष दीर्घायु, देर में बुड्ढे होनेवाले, शरीर-बल-वर्ण से युक्त, कठिन स्थिर मांसवाले होते हैं । सब ऋतुओं में तीन-तीन दिन के अन्तर से स्त्री सेवन करे, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में पन्द्रह दिन के अन्तर से बुद्धिमान् स्त्री सेवन करे ।

मैथुन में अयोग्य स्त्री—रजस्वला, मैथुन की अनिच्छावाली, मैली, अप्रिय, अपने वर्ण से ऊँचे वर्ण की, आयु में बड़ी, रोग से पीड़ित, हीन अंगवाली, गर्भवती, द्वेष रखनेवाली, योनि रोग से पीड़ित, समान गोत्रवाली, गुरु की पत्नी, संन्यासिनी स्त्री से सहवास न करे । सन्ध्याकाल में, पर्व समय में (सूर्य ग्रहण आदि के समय), सास, लड़की आदि मैथुन के अयोग्य स्त्री से पुरुष मैथुन न करे । गायों के छुटने के समय (प्रातःकाल में), आधी रात में, मध्याह्न में, जिस स्थान पर लज्जा अनुभव हो, खुले मैदान में, अशुद्धस्थान पर सहवास न करे । भूख लगी होने पर, रोगी होने पर, विक्षुब्धमन की अवस्था में मनुष्य मैथुन न करे । वायु-मल-मूत्र का वेग उपस्थित होने पर, प्यास लगी होने पर, अतिनिर्बलता में, तिर्यग् योनि (बकरी आदि में) अयोनि में (मुख आदि में) शुक्र के क्षरण में उपस्थित वेग को, दूषित योनि में शुक्र के त्याग को बलवान् पुरुष भी छोड़ देवे । शुक्र का अतिशय त्याग, शिश्न के अग्रभाग का ढकना, खड़े होकर या चित लेटकर शुक्र का त्याग करना बहुत निन्दित है । बुद्धिमान् एवं हित चाहनेवाला मनुष्य क्रीड़ा में भी शुक्र का त्यान न करे । असंयमी मनुष्य के रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने पर दृष्टि, आयु और तेज की हानि एवं अधर्म होता है । संन्यासिनी, गुरुपत्नी या समान गोत्रवाली स्त्री के साथ, अथवा पर्व में, वृद्धा के साथ या सन्ध्याकाल में मैथुन करने से जीवन का नाश होता है । गर्भवती के साथ मैथुन करने पर गर्भ को हानि होती है, रुग्णा के साथ मैथुन करने पर बल का क्षय होता है । हीन अंगोंवाली, मलिन, शत्रुबनी, न चाहनेवाली, वन्ध्या या खुले स्थान पर अथवा मलिनस्थान पर मैथुन करने पर

शुक्र और मन का क्षय (ग्लानि) होता है। खड़े होकर मैथुन करने पर शुक्र की हानि और वायु का कोप होता है। अतिमैथुन से शोष, शुक्र-क्षय होता है। रोगी पुरुष के मैथुन करने पर प्लीहा के रोग, मृत्यु या मूर्च्छा होती है। प्रातःकाल में या आधीरात में मैथुन करने पर (क्रमशः) वात, पित्त कुपित होते हैं। तिर्यग्योनि (बकरी आदि) में या अयोनि में, दूषित योनि में मैथुन करने से उपदंश, वायु का कोप और शुक्र का क्षय होता है। मल-मूत्र के या शुक्र के उपस्थित वेग को धारण करने से तथा चित लेटकर (अधः स्थितः पुमानुत्तानः तदुपरिस्थिता नारी-अनुत्ताना), मैथुन करने से शुक्राश्मरी शीघ्र उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इन सब उपरोक्त बातों से बचे, ये दोनों लोकों (इहलोक, परलोक) में गर्हित हैं। उपस्थित शुक्र को कभी भी अज्ञान के कारण रोकना नहीं चाहिये। (शुक्रवेग-निरोधः षाण्ढ्यकराणाम्—चरक)।

वि० मन्तव्य—मूर्धावरणमेव च— शिश्न के मूर्धमणि पर आवरण चढ़ाना—जैसे फ्रेंच लेदर आदि का उपयोग सन्तति निरोधार्थ किया जाता है, सुना है कि इससे नर-नारी दोनों को हानि पहुँचती है। यथा दाक्षिणात्याः कृतकमणिं कारयन्ति इति जज्जराचार्यः-अर्थात् बनावटी शिश्न का प्रयोग न करे। वात्स्यायन काम सूत्र अधिकरण ७ अ० २ में "अपद्रव्य" नाम से इसका उल्लेख है। बलवान् अपि वर्जयेत्—अत्यन्त मैथुन सामर्थ्य होने पर भी ऐसा न करे। अकामा—अकामा के साथ संसर्ग करना "बलात्कार" कहलाता है, जो दण्डविधान में अपराध माना गया है। क्रीडायां अपि........परिवर्जयेत्—अर्थात् केवल क्रीड़ा के लिये—खेल २ में मैथुन करना उचित नहीं, यथा कुछ नर-नारियाँ परस्पर मित्र बनकर इस कर्म को करने में संकोच नहीं करते, आयुर्वेद-स्वास्थ्य शास्त्र हैं। वह केवल उत्तम सन्तान के लिये ही मैथुन का उपदेश करता है, यथा—

सन्तोऽपि आहुः अपत्यार्थं दम्पत्योः संगतं रहः।
दुरपत्यं कुलाङ्गारो जातं गोत्रे महत्यपि॥
अ० हृ० शा० अ० १

अतएव बन्ध्या के साथ भी संसर्ग का निषेध किया गया है ॥१२६॥

वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलान्विताम् ॥१३०॥
अभिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलङ्कृताम्।
सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणबृंहितः ॥१३१॥
भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरं ससितं रस एव च।
स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायान्ते हितानि तु ॥१३२॥

वय, रूप, गुण से युक्त, समान स्वभाववाली, उत्तम कुल-युक्ता, चाहवाली, कामेच्छावाली (वृषस्यन्तीं—सकामाम् इति डल्लन), प्रसन्न, अलंकृत (शृंगार की हुई), स्त्री के साथ, वाजीकरण औषधियों से पुष्ट प्रसन्न मन मनुष्य युक्ति के साथ सहवास करे। मैथुन के पीछे, शर्करा मिश्रित भक्ष्य (खाद्य), शर्करा (मिश्री) मिला दूध, मांसरस, स्नान, पंखे की वायु, सोना उत्तम है ॥१३०-१३२॥

वक्तव्य—"स्नानं सशर्करं क्षीरं रसो भक्ष्याश्च गौडिकाः। व्यजनं स्वप्नसेवा च व्यवायान्ते हितानि तु॥ रात्रि में स्नान कठिन है, फिर भी प्रातःस्नान विधेय है। मैथुन के तुरन्त पीछे स्नान ठीक नहीं। शरीर के स्वस्थ हो जाने पर (साधारणतः दो या तीन घण्टे के पीछे) स्नान करना चाहिये।

वि० म०—सव्यजनं स्नानं, पंखा करके मैथुन जन्य श्रम दूर हो जाने पर स्नान करने से कोई हानि नहीं, अपितु लाभ होता है। स्नानं सशर्करं क्षीरं भक्ष्यं ऐक्षवसंस्कृतम्। वातो मांसरसः स्वप्नो सुरतान्ते हिता अमी॥ भा० प्र० पू० खं० प्रकरण ४। स्नानानुलेपनहिमानिलखण्डखाद्यशीताम्बुदुग्धरस-यूषसुराप्रसन्नाः। सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्य तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम॥ वाग्भट्ट ॥१३०-१३२॥

मुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्येतदीरितम्।
आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥१३३॥

यह सद्वृत्त केवल प्रधानरूप में दिग्दर्शन रूप से कहा है। अनाचारवाले मनुष्य आरोग्य आयु और धन प्राप्त नहीं कर सकते ॥१३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनागताबाध-
चिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मिश्रकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मिश्रक चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

पाल्यामयास्तु विस्राव्या इत्युक्तं प्राङ्निबोध तान्।
परिपोटस्तथोत्पात उन्मन्थो दुःखवर्धनः ॥३॥
पञ्चमः परिलेही च कर्णपाल्यां गदाः स्मृताः।

विस्रावण के योग्य पाली के जो रोग हैं, उनको मुझसे सुनो। परिपोट, उत्पात, उन्मन्थ, दुःखवर्धन और परिलेही ये पाँच कर्णपाली के रोग कहे हैं ॥३॥

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्धिते ॥४॥
कर्णशोफो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥५॥
गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादपि।
शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥६॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः।
बलाद्वर्धयतः कर्णे पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥७॥

गृहीत्वा सकफं कुर्याच्छोफं तद्वर्णवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥८॥
वर्धमाने यदा कर्णे कण्डूदाहरुगन्वितः ।
शोफो भवति पाकश्च त्वक्स्थोऽसौ दुःखवर्धनः ॥९॥
कफासृक्कृमयः कुर्युः सर्षपाभा विकारिणीः ।
स्राविणीः पिडकाः पाल्यां कण्डूदाहरुगन्विताः ॥१०॥
कफासक्कृमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिह्यात् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥११॥
पाल्यामया ह्यमी घोरा नरस्याप्रतिकारिणः ।
मिथ्याहारविहारस्य पालीं हिंस्युरुपेक्षिताः ॥१२॥

परिपोट सुकुमारता के कारण बहुत समय से छोड़े हुए कान का सहसा छेदन करने से पाली में वेदना युक्त जो कर्ण-शोफ होता है, उसको परिपोट कहते हैं। यह परिपोटक वायु के कारण कृष्ण-अरुण वर्ण तथा स्तब्ध (कड़ा) होता है। भारी आभूषणों के पहनने से, थप्पड़ आदि लगाने से या कुश्ती आदि में रगड़ पड़ने से पाली में जो शोफ-श्याव वर्ण, दाह, पाक, वेदना एवं सुर्खीवाला होता है, उसे उत्पात कहते हैं, यह रोग रक्त और पित्त से होता है। जबरदस्ती कान को वेधते हुए पाली में वायु प्रकुपित होती है। यह वायु कफ के साथ मिलकर कफ के वर्ण (श्वेत) एवं वेदना से युक्त शोफ को उत्पन्न करती है। इस रोग को उन्मन्थक कहते हैं, इसमें कण्डु रहती है, यह रोग कफवातजन्य है। कान को वेधते समय कण्डु दाह और सुर्खीवाला शोफ एवं पाक, त्वचा में हो जाता है, उसे दुःखवर्धन कहते हैं। कफ-रक्त और कृमि विकार करनेवाली, एवं स्राव युक्त, सरसों जैसी पिड़काओं को पाली में उत्पन्न कर देते हैं। इसमें कण्डु, दाह और वेदना होती है। कफ रक्त और कृमि से उत्पन्न यह पिड़का इधर-उधर फैलते हुए शष्कुली और पाली को चट कर जाती है, इसे परिलेही कहते हैं। चिकित्सा न करनेवाले एवं मिथ्या आहार-विहारवाले पुरुष में पाली के ये भयानक रोग उपेक्षा करने पर पाली को नष्ट कर देते हैं।

वि० मन्तव्य—बालक को सुकुमार समझकर छठे अथवा सातवें मास में कर्णवेध नहीं किया जाता और १-२-३-४ ५ वर्ष का होने पर किया जाता है तो परिपोटक हो जाता या हो सकता है ॥४-१२॥

तस्मादाशु भिषक् तेषु स्नेहादिक्रममाचरेत् ।
तथाऽभ्यङ्गपरीषेकप्रदेहासृग्विमोक्षणम् ॥१३॥
सामान्यतो विशेषाच्च वक्ष्याम्यभ्यञ्जनं प्रति ।
खरमञ्जरियष्ट्याह्वसैन्धवामरदारुभिः ॥१४॥
सुपिष्टैः साश्वगन्धैश्च मूलकावल्गुजैः फलैः ।
सर्पिस्तैलवसामज्जमधूच्छिष्टानि पाचयेत् ॥१५॥
सक्षीराण्यथ तैः पालीं प्रदिह्यात् परिपोटके ।
मञ्जिष्ठातिलयष्ट्याह्वसारिवोत्पलपद्मकैः ॥१६॥
सरोध्रैः सकदम्बैश्च बलाजम्ब्वाम्रपल्लवैः ।
सिद्धं धान्याम्लसंयुक्तं तैलमुत्पातनाशनम् ॥१७॥
तालपत्र्यश्वगन्धार्कवाकुचीफलसैन्धवैः ।
तैलं कुलीरगोधाभ्यां वसया सह पाचितम् ॥१८॥
सरलालाङ्गलीभ्यां च हितमुन्मन्थनाशनम् ।
तथाऽश्मन्तकजम्ब्वामपत्रक्वाथेन सेचनम् ॥१९॥
प्रपौण्डरीकमधुकमञ्जिष्ठारजनीद्वयैः ।
चूर्णैरुद्वर्तनैः पालीं तैलाक्तामवचूर्णयेत् ॥२०॥
लाक्षाविडङ्गकल्केन तैलं पक्त्वाऽवचारयेत् ।
स्विन्नां गोमयपिण्डेन प्रदिह्यात् परिलेहिके ॥२१॥
पिष्टैर्विडंगैरथवा त्रिवृच्छ्यामार्कसंयुतैः ।
करञ्जेङ्गुदिबीजैर्वा कुटजारग्वधायुतैः ॥२२॥
सर्वैर्वा सार्षपं तैलं सिद्धं मरिचसंयुतम् ।
सनिम्बपत्रैरभ्यंगे मधूच्छिष्टान्वितं हितम् ॥२३॥
पालीषु व्याधियुक्तासु तन्वीषु कठिनासु च ।
पुष्ट्यर्थं मार्दवार्थं च कुर्यादभ्यञ्जनं त्विदम् ॥२४॥
लोपाकानूपमज्जानं वसां तैलं नवं घृतम् ।
पचेद्दशगुणं क्षीरमावाप्य मधुरं गणम् ॥२५॥
अपामार्गाश्वगन्धे च तथा लाक्षारसं शुभम् ।
तत्सिद्धं परिपूतं च स्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥२६॥
तेनाभ्यञ्ज्यात् सदा पालीं सुस्विन्नामतिमर्दिताम् ।
एतेन पाल्यो वर्धन्ते नीरुजो निरुपद्रवाः ॥२७॥
मृद्व्यः पुष्टाः समाः स्निग्धा जायन्ते भूषणक्षमाः ।

इसलिये वैद्य इनमें शीघ्र ही स्नेहादि उपचार करे। एवं अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रदेह, रक्त मोक्षण करे। यह सामान्य रूप में कहा, अब प्रत्येक के लिये विशेष रूप में प्रत्येक रोग के लिये अभ्यंग आदि कहते हैं। चिरचिटा, मुलैहठी, सैंधव, देवदारु, अश्वगन्धा, मूली और बावची के फल, इनसे दूध के साथ घी, तैल, वसा, मज्जा और मोम को पकाये। इसका परिपोटक में पाली पर लेप करे। मंजीठ, तिल, मुलैहठी, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, कदम्ब, बला, जामुन और आम के पत्ते, इनसे कांजी के साथ सिद्ध किया तैल, उत्पात-नाशक है। मुसली, अश्वगन्धा, आक, बावची, मैनफल, सैंधव, सरल, कलिहारी, इनसे तैल को, केंकड़ा और गोह इनकी वसा के साथ सिद्ध करे। यह तैल उन्मन्थ नाशक है। अश्मन्तक, जामुन, आम इनके पत्तों के क्वाथ से परिषेचन करना उत्तम है। लाख और विडङ्ग के कल्क से तैल को पकाकर इससे पाली को स्निग्ध करके, प्रपौण्डरीक, मुलैहठी, मजीठ, हल्दी, दारुहल्दी इनके चूर्ण को पाली पर बुरक देवे। परिलेहिक में गोमयपिण्ड (गीला गोबर) से स्वेद करके वायविडङ्ग अथवा निशोथ, श्यामा (काली निशोथ),

आक, करञ्ज, हिंगोट के बीज, कूडा और अमलतास इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करे। या इन द्रव्यों से मरिच, नीम के पत्तों के साथ गोमूत्र में सरसों का तेल सिद्ध करके बरते। अभ्यंग के लिये इस तेल में मोम मिलाये। रोगग्रस्त, छोटी तथा कठिन पालियों में पुष्टि एवं कोमलता के लिये निम्न तैल में अभ्यंग करे। लोमड़ी, भैंस आदि आनूप प्राणियों की मज्जा, वसा, तैल, नूतनघृत (मक्खन) इनको दस गुणे दूध में मिलाकर, काकोल्यादिमधुरगण का और चिरचिटा, अश्वगन्धा कामी प्रक्षेप देकर, लाक्षारस मिलाकर सिद्ध करे। सिद्ध हो जाने पर छानकर सुरक्षित स्थान पर रख देवे। भली प्रकार स्वेद करके अतिशय मर्दन की हुई पाली पर इससे अभ्यंग करे। इस तेल से पालियां बिना पीड़ा एवं उपद्रव के बढ़ती हैं। कोमल, पुष्ट, समान, स्निग्ध एवं आभूषणों को सहने योग्य हो जाती हैं।

वि० मन्तव्य—किसी किसी बालक की कर्णपाली तन्वी—बहुत छोटी एवं कठोर होती है। इस दशा में उसे बड़ी एवं कोमल करने का उपाय किया जाता है, तदर्थ ही लोपाकादि स्नेह का अभ्यङ्ग करने का विधान है ॥१३-२७॥

नीलीदलं भृङ्गरजोऽर्जुनत्वक्
पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च।
बीजोद्भवं साहचरं च पुष्पं
पथ्याक्षधात्रीसहितं विचूर्ण्य ॥२८॥
एकीकृतं सर्वमिदं प्रमाय पङ्केन तुल्यं नलिनीभवेन।
संयोज्य पक्षं कलशे निधाय लौहे घटे सद्मनि सापिधाने।
अनेन तैलं विपचेद्विमिश्रं रसेन भृङ्गत्रिफलाभवेन।
आसन्नपाके च परीक्षणार्थं पत्रं बलाकाभवमाक्षिपेच्च ॥
भवेद्यदा तद्‌भ्रमराङ्गनीलं
तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे।
कृष्णायसे मासमवस्थितं तद-
भ्यङ्गयोगात् पलितानि हन्यात् ॥३१॥

नील के पत्र, भांगरा, अर्जुन की छाल, काले फूल का मैनफल, लोह का चूरा, बीजक (असन) और झिण्टी के फूल, हरड़, बहेड़ा और आंवला इन सबका चूर्ण करके, इनको मिलाकर, नलिनी का कीचड़ समान मात्रा में लेकर, उसके साथ मथकर ढकनदार लोहे के घड़े में पन्द्रह दिन सुरक्षित रख देवे। पन्द्रह दिन के पीछे इसमें त्रिफला और भांगरे के क्वाथ और स्वरस (क्रमशः) मिलाकर तैल सिद्ध करे। जब तैल पाक होने के लगभग आ जाये तब इस तैल की परीक्षा के लिये इसमें बलाका (बगला) पक्षी का श्वेत पंख गिराये। जब यह पंख भ्रमर के अंगों के समान नीला (काला) हो जाये, तब पका हुआ जाने। इसको लोहे के पात्र में एक महीने तक रक्खे। इस तैल के लगाने से पलितरोग नष्ट होता है ॥२८-३१॥

सैरीयजम्ब्वर्जुनकाश्मरीजं पुष्पं तिलान्मार्कवचूतबीजे।
पुनर्नवे कर्दमकण्टकार्यौ कासीसपिण्डीतकबीजसारम् ॥
फलत्रयं लोहरजोऽञ्जनं च
यष्ट्याह्वयं नीरजसारिवे च।
पिष्ट्वाऽथ सर्वं सह मोदयन्त्या
साराम्भसा बीजकसंभवेन ॥३३॥
साराम्भसः सप्तभिरेव पश्चात्
प्रस्थैः समालोड्य दशाहगुप्तम्।
लौहे सुपात्रे विनिधाय तैल-
मक्षोद्भवं तच्च पचेत् प्रयत्नात् ॥३४॥
पक्वं च लौहेऽभिनवे निधाय
नस्यं विदध्यात् परिशुद्धकायः।
अभ्यङ्गयोगैश्च नियुज्यमानं
भुञ्जीत माषान् कृशरामथो वा ॥३५॥
मासोपरिष्टाद्घनकुञ्चिताग्राः
केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः।
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयु-
र्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति ॥३६॥
बलं परं संभवतीन्द्रियाणां भवेच्च वक्त्रं बलिभिर्विमुक्तम्।
नाकामिनेऽनर्थिनि नाकृताय नैवारये तैलमिदं प्रदेयम् ॥

सैरीय (कांटासरैया), जामुन, अर्जुन और गम्भारी के फूल, तिल, भांगरा, आम की गुठली, पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, कीचड़, कटेरी, कासीस, मैनफल, विजयसार, त्रिफला, लोहचूर्ण, रसांजन या (स्रोतोंजन), मुलैहठी, नीलोत्पल, सारिवा, मल्लिका, इन सबको असन वृक्ष की लकड़ी के क्वाथ के साथ पीसकर इनको सात प्रस्थ असन के क्वाथ में घोलकर दस दिन सुरक्षित रख देवे। फिर लोहे के पात्र में बहेड़े का तैल एक आढ़क डालकर इस क्वाथ से सिद्ध करे। सिद्ध हुए तैल को लोहे के नये पात्र में रक्खे। वमनादि से शरीर का शोधन करके इस तैल से नस्य करे। इस तैल का अभ्यंग में व्यवहार करे। भोजन में उड़द या तिल तण्डुल की खिचड़ी खाये। इस प्रकार एक मास तक इसका सेवन करने पर बाल घने और घुंघरीले एवं काले बन जाते हैं। खलति में नये केश उत्पन्न हो जाते हैं, और बुढ़ापा भी एक दम से नहीं आता। इन्द्रियों में उत्तम बल आता है, मुख की झुर्रियाँ मिट जाती हैं। न चाहनेवाले, बिना मांगे, कृतघ्न के लिये, शत्रु के लिये यह तैल नहीं देना चाहिये। (तैल को एक मास तक रखकर सिद्ध हो जाने के एक मास पीछे बरते)।

वि० मन्तव्य—इस तैल में मोदयन्ती शब्द से मेंहदी के पत्र लेना अधिक उपयुक्त है। श्लो० ३८-४२ के लाक्षादि

तैल में पारद शब्द से शिंगरफ लेना चाहिये। इस तैल को सिद्ध करके अन्त में मोम (तैल से ८ वाँ अथवा १६ वाँ भाग) डालकर पिघलावे और अन्त में शिंगरफ को अत्यन्त सूक्ष्म पीसकर मिलावे ॥३७॥

लाक्षा रोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले
कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च।
मञ्जिष्ठोग्रा स्यात् सुराष्ट्रोद्भवा च
पत्तङ्गं वै रोचना चाञ्जनं च ॥३८॥
हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य
कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम्।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च
काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः ॥३९॥
मेदो मज्जा सिक्थकं गोघृतं च
दुग्धं क्वाथः क्षीरिणां च द्रुमाणाम्।
एतत् सर्वं पक्वमैकध्यतस्तु
वक्त्राभ्यङ्गे सर्पिरुक्तं प्रधानम् ॥४०॥
हन्याद् व्यङ्गं नीलिकां चातिवृद्धां
वक्त्रे जाताः स्फोटिकाश्चापि काश्चित्।
पद्माकरं निर्वलीकं च वक्त्रं
कुर्यादेतत् पीनगण्डं मनोज्ञम् ॥४१॥
राज्ञामेतद्योषितां चापि नित्यं
कुर्याद्वैद्यस्तत्समानां नृणां च।
कुष्ठघ्नं वै सर्पिरेतत् प्रधानं
येषां पादे सन्ति वैपादिकाश्च ॥४२॥

लाक्षा, लोध, हल्दी, दारुहल्दी, मैनसिल, हरताल, कुष्ठ, नागकेसर, गेरु, वर्णकर (कमीला), मंजीठ, वच, सुराष्ट्रा, (गोपीचन्दन), चन्दन, गोरोचना, स्रोतोंजन, आरग्वध की छाल, बरगद का पीला पत्र, कालीयक, पद्माख, कमल का केशर, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, पारद और काकोल्यादिगण को दूध में पीसकर, मेद, मज्जा, मोम, गाय का घी, दूध, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों का क्वाथ, इन सबको मिलाकर एक साथ पाक करे। इस सिद्ध हुए घृत का मुख पर अभ्यंग करना श्रेष्ठ है। इसके लगाने से व्यंग, बहुत बढ़ी हुई झांई, मुख पर उत्पन्न हुई जो फुन्सियाँ हैं वे सब नष्ट होती हैं। यह घृत मुख को कमल के समान सुन्दर, झुर्रियों रहित, भरी गालोंवाला और सुन्दर कर देता है। राजाओं, औरतों एवं इनके समान वैभवशाली पुरुषों के लिये वैद्य इस तैल को बनाये। यह घृत कुष्ठ को नाश करने में तथा जिनके पाँव में बिवाई फटी हो, उसके लिये श्रेष्ठ है[1] ॥३८-४२॥

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम्।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः॥
हरड़ का चूर्ण, नीम के (या रीठे के पत्ते), आम की छाल, अनारपुष्प की कली, मेंहदी के पत्ते, इनका लेप राजाओं के योग्य अंगराग है।

वक्तव्य—हरीतकीपूतमरिष्टपत्रं चूतत्वचो दाडिमवल्कलश्च।
एषोऽङ्गरागः कथितोऽङ्गनानाम्, जंघा कषायश्च नराधिपानाम् ॥
घोड़े की सवारी से जंघायें खराब हो जाती हैं, इसलिये अंगराग लगाते हैं।

वि० मन्तव्य—अकेली मेंहदी भी हाथ-पाँव के तलुओं पर अंगराग के लिये और केशों तथा श्मश्रु पर राग के लिये लगाई जाती है। इससे बाल लाल हो जाते हैं ॥४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मिश्रकचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे क्षीणबलीय वाजीकरण चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वाजीकरण तन्त्र का संक्षेपतः वर्णन कर दिया गया है। इसमें–अल्प, दुष्ट, क्षीण तथा विशुष्क (खर, श्लो० १४) शुक्र के आप्यायन, प्रसादन, उपचयन तथा जनन के लिये अनेक आहार विहार एवं औषध लिखे गये हैं और छः प्रकार के क्लैब्य का भी वर्णन किया गया है। भगवान् पुनर्वसु ने भी (च० चि० अ० २) एक ही अध्याय में वाजीकरण तन्त्र का वर्णन पूरा कर दिया है ॥१,२॥

---

[1] १—लाक्षा मनोह्वागजरोध्रतालं
पतंगरक्ताकनकाभिधानाः।
सौराष्ट्रिका पाण्डुवटस्य पत्रं
कालीयकं पद्मकपद्ममध्यम् ॥
गोरोचनाकुंकुमगैरिकाणि
निशाद्वयं पारदचन्दने च।
क्षौद्रोत्थमज्जाज्यवसापयांसि
सस्वादुवर्गामयवर्णकानि ॥
क्षीरद्रुमाणां-क्वथनेन पिष्ट्वा
संपाचितं ताम्रमये कटाहे।
अभ्यंगयोगेन निषेव्यमाणं
व्यंगं समस्तान् पिडकाश्च सर्पिः ॥
वक्त्रे प्रवृद्धामतिनीलिकां च
तूर्णं निहन्यात्तिलकालकांश्च।
वलीविमुक्तं दृढपीनगण्डं
कुर्याच्च वक्त्रं कमलानुकारि ॥
यह पाठ भेद है। हेमांगत्वक् से कुछ स्वर्णक्षीरी की छाल लेते हैं।

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥३॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् ।
योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥४॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् ।
नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः ॥५॥

रोग रहित, तरुण (उठती हुई जवानी या भरी हुई जवानी के) एवं वाजीकरण औषधियों का सेवन करनेवाले व्यक्ति के लिये सब ऋतुओं में प्रतिदिन स्त्री सहवास करना मना नहीं है, अर्थात् वह संयोग कर सकता है । बुड्ढे—मैथुन की इच्छा-वाले, स्त्रियों का प्यार चाहनेवाले, स्त्रीसेवन से क्षीण हुए, नपुंसक एवं थोड़े शुक्रवाले, विलासी, धनी, रूप एवं यौवन से भरे, बहुत औरतोंवाले पुरुषों के लिये वाजीकर योग उत्तम है ।

वाजीकर—"अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन इति वाजीकरणम् । येन वाऽत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम् । वक्ष्यति च-येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः । व्यज्यते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ वाजः शुक्रं, सोऽस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरणम् । किंवा वाजो मैथुनम् , उक्तं हि हारीते-वाजो नाम प्रकाशत्वाच्च मैथुनसंज्ञितम् । वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ॥ शिवदाससेनः ॥३-५॥

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान् ।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥६॥
भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च
वाचःश्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा ॥७॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना ।
गीतं श्रोत्रमनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः ॥८॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च ।
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम् ॥९॥

जिस के उचितरूप से निरन्तर सेवन करने पर मनुष्य घोड़े के समान अतिशय वेगवान् बनकर स्त्री को संतुष्ट करता है, उससे उसे वाजीकरण कहते हैं । नानाप्रकार के भोजन, अनेक प्रकार के पेय, कानों के लिये प्रिय वाणियाँ, त्वचा के लिये सुखदायी स्पर्श, चन्द्रमा से शोभित रात्रि, उठती जवानीवाली स्त्री, कानों के लिये मनोहर गीत, पान, मदिरा, मालायें मन की प्रिय सुगन्धियाँ (अतर), मन के प्रिय एवं नाना प्रकार के रूप, बाग-बगीचे, मन में ग्लानि (उदासी) का न होना मनुष्य को वीर्यवान् बनाते हैं ॥

वक्तव्य—"सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः, फुल्लाः वनान्ता विशदान्नपानाः । गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च ॥ सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्रीचायुधं सर्वमिहात्मजस्य । वयो नवं जातमदश्च कालो, हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥" चरक० चि० अ० २-३० ।

वाजीकरण तीन प्रकार का है—शुक्रजनक, यथा—मांस घृतादि, प्रवर्त्तक-उच्चटा चूर्णादि, जनक और प्रवर्त्तक दोनों गुणवाला यथा-गोघृत, कौंच आदि । देहबलकारक जनक-गोधूमादि, केवल मनो बलकर-संकल्पादि (संकल्पो वृष्याणाम् चरक) । घृत क्षीर आदि देह और मन दोनों को बल देते हैं । प्रवर्त्तक-विरेचन-क्षरणाभिमुख करनेवाले, न कि शुक्र का क्षय करनेवाले ॥६-९॥

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते ।
द्वेष्यस्त्रीसंप्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम् ।
कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः ॥१०॥
सौम्यधातुक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तदपरं स्मृतम् ।
अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः ॥११॥
ध्वजभङ्गमवाप्नोति तच्छुक्रक्षयहेतुकम् ।
महता मेढ्ररोगेण मर्मच्छेदेन वा पुनः ॥१२॥
क्लैब्यमेतच्चतुर्थं स्यान्नृणां पुंस्त्वोपघातजम् ।
जन्मप्रभृति यः क्लीबः क्लैब्यं तत् सहजं स्मृतम् ॥१३॥
वलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्मचर्यतः ।
षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु खरशुक्रनिमित्तजम् ॥१४॥
असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत् ।
साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः ॥१५॥

भय, अविश्वास, स्त्रीदोष-दर्शन आदि हृदय के लिये अप्रिय भावों से मैथुन करनेवाले पुरुष के मन पर आघात पहुँचने से, और शत्रु स्त्री के संयोग के कारण जो क्लीबता होती है, उसे मानस क्लीबता कहते हैं । कटु, अम्ल, उष्ण रसों के अतिमात्रा में सेवन करने से शुक्र धातु का क्षय देखा जाता है, यह दूसरा आहार जन्य क्लैब्य कहा है । जो अतिशय मैथुन करते हुए-वाजीकर योगों को सेवन नहीं करता, उसे शुक्रक्षय के कारण ध्वजभंग हो जाता है । बहुत बड़े मेढ्र रोग के कारण अथवा शुक्रवह नाड़ियों (मर्म) के छेदन होने से पुरुष में पुंस्त्व का नाश होने से चौथे प्रकार की क्लीबता होती है । जो मनुष्य जन्म से ही क्लीब है, उसे सहज (जन्मजात) क्लीव कहते हैं । बलवान् परन्तु चंचल चित्त (असंयमी) मनुष्य में ब्रह्मचर्य के कारण छठे प्रकार की क्लीबता होती है, यह क्लीबता शुक्र के कठिन (शुष्क) होने के कारण होती है । इनमें सहज तथा मर्मच्छेद से उत्पन्न क्लीबता असाध्य है । शेषों में कारण से विपरीत चिकित्सा करने से ये साध्य हैं ।

वक्तव्य—ब्रह्मचर्यजन्य क्लीबता को देखकर ही अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में "त्रय उपस्तम्भाः शरीरस्य, आहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति" पढ़कर—"मनः शरीरस्थितिमात्रमेव सेवेत् व्यवायं न च तत्परः स्यात् ॥" यह नियम कर दिया । विस्तार के लिये अनुवाद अष्टांगसंग्रह पृष्ठ—१०२ देखें ।

वि० मन्तव्य—महता मेढ्ररोगेण—उपदंश एवं शूक दोष आदि के विकारों से भी क्लीवता हो जाती है। कभी २ तो शिश्न ही सड़ जाता है। मर्मच्छेदेन वा पुनः—शुक्रवह स्रोतस् अथवा अण्डवह सिराओं अथवा अण्ड वृषणों के कटने, निकाल देने, बधिया कर देने से भी नपुंसकता हो जाती है। एक स्मरणीय एवं विचारणीय बात है—उक्त प्रकार की क्लीवता नर के समान नारी में भी होती है। मैथुन कर्म की इच्छा न होना अथवा सामर्थ्य न होना नर नारी दोनों में समान रूप से मैथुन की इच्छा एवं सामर्थ्य हो जाते हैं, इसलिये यहाँ पर नर का उद्देश करके जो कुछ भी कहा गया है वह सब नारी के लिये भी समझना चाहिये। अर्थात् नर-नारी दोनों के लिये वाजीकरण का वैसे ही उपयोग किया जाता है जैसे ज्वरादि रोगों में अन्यान्य चिकित्सा का ॥१०-१५॥

विधिर्वाजीकरो यस्तु तं प्रवक्ष्याम्यतः परम्।
तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा ॥१६॥
पौण्ड्रकेक्षुरसैरार्द्रं मर्दितं सैन्धवान्वितम्।
वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत् ॥१७॥
तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम्।

इसके आगे श्रेष्ठ वाजीकर विधि को कहूँगा। तिल, उड़द, विदारी अथवा शालिधान्य के चूर्ण को पौण्डे या गन्ने के रस में गूँथकर (मथकर) इसमें थोड़ा सा सैन्धानमक मिलाकर, सुअर की मेद के साथ घी में उत्कारिका (पूरी या कचौरी) तले। इनको खाकर पुरुष एक सौ स्त्रियों में रमण करता है ।१६,१७।

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ॥१८॥
शिशुमारवसापक्वाः शष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः।
यः खादेत् पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत् ।१९।

बकरे के अण्ड से सिद्ध किये दूध में तिलों को बहुत बार भावित करके दूध के अनुपान से खाये। इन्हीं तिलों की बनाई कचौरियों को शिशुमार की वसा में पकाकर खाये। इस प्रकार जो पुरुष इन योगों का सेवन करता है, वह एकसौ औरतों में प्रथम सुरत की तरह रमण करता है।

वक्तव्य—"द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः" ॥१८,१९॥

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि।
साधिते भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम् ॥२०॥

दूध से निकाले घी में पिप्पली और लवण के साथ बकरे के अण्ड सिद्ध करके जो पुरुष खाता है, वह एक सौ स्त्रियों में रमण कर सकता है ॥२०॥

पिप्पलीमाषशालीनां यवगोधूमयोस्तथा।
चूर्णभागैः समैस्तैस्तु घृते पूपलिकां पचेत् ॥२१॥
तां भक्षयित्वा पीत्वा तु शर्करामधुरं पयः।
नरश्चटकवद् गच्छेद्दशवारान्निरन्तरम् ॥२२॥

पिप्पली, उड़द, चावल, जौ और गेहूँ इनके समान भाग चूर्ण से घी में पूपलिका (पूरी) सिद्ध करे। इनको खाकर पीछे से शर्करा से मधुर किया दूध पीये। इससे मनुष्य चिड़िया के समान निरन्तर दस बार मैथुन कर सकता है ॥२१,२२॥

विदार्याः सुकृतं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्।
सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति ॥२३॥
एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्युक्तं लीढ्वा पयः पिबेत् ॥२४॥
एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति।

विदारी का अच्छी प्रकार (बारीक) बनाया चूर्ण विदारी के स्वरस से भावित करके (सात बार) घी और मधु के साथ मिलाकर चाटने से मनुष्य दस स्त्रियों में मैथुन करता है। इसी प्रकार आँवले के चूर्ण को आंवले के स्वरस से भावित करके शर्करा, मधु और घी के साथ चाटकर पीछे से दूध पीये। इससे अस्सी वर्ष का बुड्ढा भी युवा की भाँति प्रसन्न होता है।२३,२४।

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते ॥२५॥
शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम्।
कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत् ॥२६॥
महिषर्षभवस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः।

घी में तले हुए बकरे के अण्डों का या शिशुमार के अण्ड को पिप्पली और सैन्धानमक के साथ खाये। ये अतिशय वाजीकर हैं। कुलीर (केकड़ा), कछुआ, नक्र इनके अण्डों को भी इसी प्रकार खाये। अथवा मनुष्य भैंस, बैल या बकरे के शुक्र को पीये।

वक्तव्य—आजकल जुन्द वेदस्तर का यूनानी में उपयोग इसी कार्य के लिये होता है। एलौपेथी में अण्डों का चूर्ण, गोली, इंजेक्शन बरता जाता है। इनको दूसरी ग्रन्थियों के साथ मिलाकर या अलग बरतते हैं ॥२५,२६॥

अश्वत्थफलमूलत्वक् शुङ्गासिद्धं पयो नरः ॥२७॥
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति।
विदारिमूलकल्कं तु शृतेन पयसा नरः ॥२८॥
उडुम्बरसमं पीत्वा वृद्धोऽपि तरुणायते।
माषाणां पलमेकं तु संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा ॥२९॥
अवलिह्य पयः पीत्वा तेन वाजी भवेन्नरः।
क्षीरपक्वांस्तु गोधूमानात्मगुप्ताफलैः सह ॥३०॥
शीतान् घृतयुतान् खादेत्ततः पश्चात् पयः पिबेत्।
नक्रमूषिकमण्डूकचटकाण्डकृतं घृतम् ॥३१॥
पादाभ्यङ्गेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत्।
यावत् स्पृशति नो भूमिं तावद् गच्छेन्निरन्तरम्।
स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम्।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥३२॥

उच्चटाचूर्णमप्येवं क्षीरेणोत्तममिष्यते ।
शतावर्युच्चटाचूर्णं पेयमेवं बलार्थिना ॥
स्वयंगुप्ताफलैर्युक्तं माषसूपं पिबेन्नरः ॥३४॥
गुप्ताफलं गोक्षुरकाच्च बीजं
तथोच्चटां गोपयसा विपाच्च ।
खजाहतं शर्करया च युक्तं
पीत्वा नरो हृष्यति सर्वरात्रम् ॥३५॥
माषान् विदारीमपि सोच्चटां च
क्षीरे गवां क्षौद्रघृतोपपन्नाम् ।
पीत्वा नरः शर्करया सुयुक्तां
कुलिङ्गवद्धृष्यति सर्वरात्रम् ॥३६॥

पीपल के फल, मूल, छाल, शुंग (आगे के कोमल पत्ते) इनसे सिद्ध किया दूध शर्करा और मधु के साथ पीकर मनुष्य कुलिंग (चिड़िया) की भाँति हर्षित (उत्तेजित) होता है[1] । विदारी मूल के कल्क की गूलर के समान मात्रा को गरम किये दूध के साथ पीकर वृद्ध भी युवा की भाँति आचरण करता है । उड़दों की एक पल मात्रा को मधु और घी में मिलाकर, चाटे पीछे से दूध पीये । इसी से मनुष्य शुक्रशाली बनता है । गेहूँ और कौंच को दूध में पकाये, शीतल होने पर इनमें घी मिलाकर खाये, पीछे से दूध पीये । नक्र, चूहा, मेढक, चिड़िया इनके अण्डों से (वृषण नहीं, eggs) बनाया घी पैरों के तलुए पर मलने से, तब तक बलवान् करता है, जब तक कि मनुष्य पृथ्वी को नहीं छूता । तब तक वह स्त्री सेवन कर सकता है । कौंच और तालमखाने के फल का चूर्ण शर्करा के साथ मिलाकर धारोष्ण दूध के साथ पीने से मनुष्य के शुक्र का क्षय नहीं होता । उच्चटा (रत्ती श्वेत गुञ्जा) के चूर्ण को दूध के साथ पीने से भी यही गुण होता है । बल की इच्छावाले को चाहिये कि वह शतावरी और श्वेत घुंघची के चूर्ण को भी दूध से पीये । कौंच के फलों से मिली उड़द दाल मनुष्य पीये । कौंच के फल, गोखरू के बीज और श्वेत घुंघची इनको गाय के दूध में पकाकर मन्थनदण्ड से मिलाये । इसमें शर्करा मिलाकर पीने से मनुष्य सारी रात हर्षित रहता है । उड़द, विदारी, और श्वेत घुंघची, इनको गाय के दूध में पकाकर इसमें मधु, घी और शर्करा मिलाकर पीने से मनुष्य सारी रात कुलिंग की भाँति हर्षित रहता है ॥२७-३६॥

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषपर्णभृतां गवाम् ।
यत् क्षीरं तत् प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु ॥३७॥
क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः ।
वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत् ॥३८॥

प्रथम बार ब्यायी, जिसका बछड़ा बड़ा हो गया (दूध पलेटा हो गया), जिसको उसको उड़द के पत्ते खाने को दिये जाते हैं, उस गाय का दूध बल चाहनेवाले मनुष्यों के लिये उत्तम है । सब प्रकार के दूध, सब प्रकार के मांस, और काकोल्यादिगण, ये वाजीकरण के कारण हैं, इसलिये इनका प्रयोग करे ॥३७-३८॥

एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः ।
सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया ॥३९॥

ये वाजीकर योग प्रीति (स्त्री प्रीति), सन्तान और बल को देनेवाले हैं । वमन विरेचन से शोधित एवं पुष्ट शरीरवाले मनुष्यों को देश, काल आदि की अपेक्षा से इनका सेवन करना चाहिये ॥३९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातः सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्वोपघातशमनीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ।

वक्तव्य—सर्वोपघातशमनीय शब्द से 'रसायन' शब्द अभिप्रेत है । रसायन—"लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥"—रसायन दो प्रकार की है—कुटी प्रावेशिक और वातातपिक । यह फिर तीन प्रकार की है—काम्य—प्राणकामः मेधाकामः श्रीकामः—इत्यादि । नैमित्तिक—व्याधि-निमित्त-शिलाजतु, भल्लातक, तुवरकादि सेवन । आजस्रिक-दूध घी का निरन्तर सेवन आदि ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में रसायन तन्त्र का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम् ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥३॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः ।
न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः ॥४॥
शरीरस्योपघाता ये दोषजा मानसास्तथा ।
उपदिष्टाः प्रदेशेषु तेषां वक्ष्यामि वारणम् ॥५॥

बुद्धिमान् वैद्य, स्निग्ध एवं शुद्ध शरीरवाले मनुष्य को किशोरावस्था में, अथवा मध्यावस्था में सदा रसायन का सेवन कराये । शरीर का शोधन किये बिना रसायन विधि बरतना ठीक नहीं । मलिन वस्त्र पर जैसे रङ्ग नहीं चढ़ता, इसी प्रकार

---

१ "शमीमश्वत्थमारूढः तत्र पुंसवनं कृतम् । तद् वै पुत्रस्य वेदनम् ॥" अथर्ववेद, अश्वत्थ का उपयोग पुत्रोत्पत्ति में विशेषकर पुंसवन में है ।

मलिन शरीर पर रसायन का रंग नहीं निखरता। शरीर को नष्ट करनेवाले वातादि शारीरिक दोष, रज-तम मानसिक दोष जो स्थान स्थान पर कहे हैं, उनका निवारण कहता हूँ।

वक्तव्य—पूर्वे वयसि, मध्ये वा। इससे चरकोक्त—बाल्य मध्य अवस्था लेनी चाहिये। बाल अवस्था सोलह से लेकर तीस वर्ष तक, मध्य अवस्था—तीस से साठ तक है। इस समय में रसायन सेवन करना उत्तम है॥ देखिये चरक० वि० अ० ८।१२२॥३-५॥

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः॥६॥

ठण्डा पानी, दूध, मधु, घी इनको अलग अलग, या किन्हीं दो को, किन्हीं तीन को अथवा सबको मिलाकर भोजन से पूर्व (प्रातः) पीने से वय स्थिर रहती हैं॥६॥

तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेदेवमहरहर्मासं, तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा, मधुद्राक्षा क्वाथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा, गुडूचीक्वाथेन वा, एवमेते पञ्च प्रयोगा भवन्ति, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, एते खल्वर्शांसि क्षपयन्ति, क्रमीनुपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति॥७॥

विडंग-तण्डुल (वाय विडंग की पिप्पली) के चूर्ण को लाकर इसमें मुलेहठी का चूर्ण और मधु मिलाकर बल के अनुसार शीतल जल से खाये। पीछे से भी शीतल जल पीये। इस प्रकार प्रति दिन एक मास तक करे। विडंग तण्डुल चूर्ण को मधु में मिलाकर भिलावे के कषाय से पीये। विडंग-तण्डुल चूर्ण को मधु और द्राक्षा क्वाथ में मिलाकर पीये। विडंग-तण्डुल को मधु और आँवले के साथ अथवा गिलोय के क्वाथ से पीये। इस प्रकार से पाँच प्रयोग हैं। इसके जीर्ण हो जाने पर नमक रहित और घी थोड़ा डालकर मूँग और आँवले के यूष के साथ घी मिला भात खाये। ये योग अर्श को नष्ट करते हैं। कृमियों को मारते हैं। वस्तु को समझने की ओर धारण शक्ति (स्मृति) को उत्पन्न करते हैं। एक एक मास के प्रयोग से एक सौ वर्ष की आयु बढ़ती है॥७॥

विडङ्गतण्डुलानां द्रोणं पिष्टपचने पिष्टवदुपस्वेद्य विगतकषायं स्विन्नमवतार्य दृषदि पिष्टमायसे दृढे कुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि भस्मराशावन्तर्गृहे चतुरो मासान्निदध्यात्, वर्षाविगमे चोद्धृत्योपसंस्कृतशरीरः सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, पांशुशय्यायां शयीत, तस्य मासादूर्ध्वं सर्वांगेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्, द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूकास्तथैवापहरेत्, चतुर्थे दन्तनखरोमाण्यवशीर्यन्ते; पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते, अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति, दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि चास्य भवन्ति, रजस्तमसी चापोह्य सत्त्वमधितिष्ठति, श्रुतनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजबलोऽश्वजवः पुनर्युवाऽष्टौ वर्षशतान्यायुरवाप्नोति; तस्याणुतैलमभ्यङ्गार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चंदनमुपलेपनार्थे, भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च॥८॥

विडंग-तण्डुल की एक द्रोण मात्रा को पिष्ट पचन (भाप से गरम करके, जैसा कि गुजरात में ढोकरा बनाने में करते हैं) विधि से पिट्ठी की तरह उबालकर, कषाय से अलग करके, गल जाने पर निकालकर पत्थर पर पीसकर लोहे के दृढ़ घड़े में—मधु-मिश्रित जल पर्याप्त डालकर प्रावृड् काल में राख के ढेर में, अन्दर के घर में चार मास तक रख देवे। वर्षा बीत जाने पर इसको निकालकर, शरीर को शुद्ध करके, एक हजार आहुतियाँ सहस्र संपात विधि से देकर, प्रतिदिन प्रातः काल बल के अनुसार उपयोग करे। इसके पच जाने पर नमक रहित मूँग और आँवले के यूष के साथ घृत मिश्रित भात खाये। धूल की शय्या पर सोये। एक मास के पीछे इसके शरीर से कृमि निकलते हैं। इन पर अणुतैल का अभ्यंग करके बाँस की खप्पच्च (चिमटे से इनको अलग करे। दूसरे महीने में चिऊँटी और तीसरे महीने में जूँ निकलती हैं, इनको भी इसी प्रकार हटायें। चौथे मास में दाँत—नख और रोम गिर जाते हैं। पाँचवें महीने में उत्तम लक्षणोंवाले दाँत, नख रोम निकल आते हैं। पाँचवें मास में मनुष्यों से अधिक (दिव्य), सूर्य के समान शरीर हो जाता है। कान और आँख की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। रज और तम नष्ट होकर सत्त्व गुण बढ़ जाता है। सुनते ही कहनेवाला, नई नई बात कहनेवाला, घोड़े के समान वेगवान्, हाथी के समान बलवान्, पुनः युवा बनकर आठ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। इसको अभ्यंग के लिये अणुतैल, उत्सादन के लिए अजकर्ण (साल) का कषाय, स्नान के लिये खस मिला कुएँ का पानी, लेप के लिए चन्दन बरते। आहार और परिहार (त्याज्य) भिलावे के विधान की भाँति है।

वक्तव्य—विडंग-तण्डुल को पोटली में बाँधकर पानी में लटकाकर भी पका सकते हैं। इसमें पोटली का कुछ भाग पानी से छूता रहेगा। इसी कषाय में मधु मिलाकर घड़े में रक्खे। आठ वर्ष के घोड़े की उपमा चरक में भी है,—"एतैः प्रयोगैः विधिवद्वपुष्मान्, वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः। हर्षान्वितो वाजिव-

भवेत् समर्थश्च वरांगनासु ॥" घोड़ा आठ वर्ष की अवस्था में पूर्ण यौवन पर होता है ॥८॥

काश्मर्याणां निष्कुलीकृतानामेष एव कल्पः पांशुशय्याभोजनवर्जं; अत्र हि पयसा श्रृतेन भोक्तव्यं- समानमन्यत् पूर्वेणाशिषश्च । शोणितपित्तनिमित्तेषु विकारेष्वेतेषामुपयोगः ।९॥

गम्भारी फलों में से गुठली निकालकर इसी विधि से कल्प करे, परन्तु इसमें धूलि की शय्या और भोजन न बरते। इसमें दूध से पकाया भात खाना चाहिये, और सब एक जैसा है, और फलश्रुति भी पहले की भाँति है। रक्त-पित्तजन्य रोगों में इनका उपयोग है ॥९॥

यथोक्तमागारं प्रविश्य बलामूलार्धपलं पलं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य द्वादशवर्षाणि वयस्तिष्ठति; एवं दिवसशतमुपयुज्य वर्षशतं वयस्तिष्ठति । एवमेवातिबलानागबलाविदारीशतावरीणामुपयोगः । विशेषतस्त्वतिबलामुदकेन, नागबलाचूर्णं मधुना, विदारीचूर्णं क्षीरेण, शतावरीमप्येवं, पूर्वेणान्यत् समानमाशिषश्च समाः । एतास्त्वौषधयो बलकामानां शोषिणां रक्तपित्तोपसृष्टानां शोणितं छर्दयतां विरिच्यमानानां चोपदिश्यन्ते ॥१०॥

कहे हुए आगार (घर में - सूत्र० अ० १६।४) में जाकर बला के मूल की आधा पल या पल भर मात्रा को दूध में घोलकर पीये। इसके जीर्ण होने पर दूध, घी और भात का आहार करे। इस प्रकार बारह रात्रि सेवन करने से बारह वर्ष तक वय स्थित रहता है। इसी प्रकार एक सौ दिन सेवन करने से एक सौ वर्ष तक वय स्थिर रहता है। इसी प्रकार से अतिबला, नागबला, विदारी, शतावरी का उपयोग करे, भेद इतना है कि अतिबला को पानी से, नागबला के चूर्ण को मधु से, विदारी के चूर्ण को दूध से, नागबला से शतावरी को भी दूध से लेवे। शेष सब पहले की भांति, और फलश्रुति भी समान है। ये औषधियाँ बलकी चाहवाले, शोषरोगी, रक्त-पित्त से पीड़ित, रक्त का वमन करनेवाले तथा विरेचन करनेवालों के लिये कही जाती है।

वि० मन्तव्य—पुनर्वसु के शब्दों में यह कुटीप्रावेशिक रसायन सेवन का विधान है च० चि० अ० १ में देखिये ॥ १० ॥

वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, प्रतिषेधोऽत्र पूर्ववत्, प्रयोगमिममुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम्, एतेनैव चूर्णेन पयोऽवचूर्ण्य शतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुञ्जीत सायं प्रातरेककालं वा, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति ॥११॥

वाराही कन्द के मूल का चूर्ण एक तुला (एक सौ पल) लेकर इसमें से योग मात्रा को मधु युक्त दूध में घोलकर पीये। इसके जीर्ण होने पर दूध घी चावल का भोजन करे। इसमें अपथ्य पूर्व की भाँति है। इस प्रयोग के उपयोग से एक सौ वर्ष की आयु होती है, स्त्रियों में अक्षयता (शुक्र का नाश न होना) मिलती है। वाराही मूल के चूर्ण को दूध में मिलाकर पकाये। इस पके हुए दूध के मथने से जो घी निकले, उस घी को मधु में मिलाकर प्रातः और सायं या एक समय खाये। इसके पचने पर दूध, घी, चावल का भोजन करे। इस प्रकार एक मास सेवन करने पर एक सौ वर्ष की आयु होती है।

वक्तव्य—वाराहीकन्दकल्क, दूध चार गुणा, घी एक द्रोण सिद्ध करे। इस प्रकार इस घृत को एक सौ बार पाक करे। इसमें जल भी चौगुना मिलाना चाहिये, ऐसा कई कहते हैं ॥ ११ ॥

चक्षुःकामः प्राणकामो वा बीजकसाराग्निमन्थमूलं निष्क्वाथ्य माषप्रस्थं साधयेत्, तस्मिन् सिध्यति चित्रकमूलानामक्षमात्रं कल्कं दद्यादामलकरसचतुर्थभागं, ततः स्विन्नमवतार्य सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा। शीतीभूतं मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्योपयुञ्जीत यथाबलं यथासात्म्यं च लवणं परिहरन् भक्षयेत्। जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात् पयसा वा मासत्रयम्, एवमाभ्यां प्रयोगाभ्यां चक्षुः सौपर्णं भवत्यनल्पबलः स्त्रीषु चाक्षयो वर्षशतायुर्भवतीति ॥१२॥

आँखों के तेज या प्राणों की इच्छावाले जो हों, वे विजयसार, साल, अग्निमन्थ इनके मूल का क्वाथ करके इसमें एक प्रस्थ उड़द सिद्ध करें। जब उड़द पक रहे हों, तब इसमें चित्रक मूल का कल्क एक कर्ष आँवले का रस चौथाई भाग मिलाये। उड़दों के पक जाने पर उतारकर, सहस्र संपात आहुतियों से होम करके, ठण्डा होने पर इसमें मधु और घृत मिलाकर बल के अनुसार खाये। सात्म्य के अनुसार-नमक को छोड़ते हुए, भोजन करे। पच जाने पर नमक रहित मूंग और आँवले के यूष के साथ घृत मिला भात खाये या दूध के साथ भात खाये। इस प्रकार तीन मास करे। इस प्रकार इन प्रयोगों को करने से आँख गरुड़ के समान हो जाती है, बहुत बल आता है, स्त्रियों में निर्बलता अनुभव नहीं होती, एक सौ वर्ष की आयु होती है ॥ १२ ॥

भवति चात्र—

पयसा सह सिद्धानि नरः शणफलानि यः ।
भक्षयेत् पयसा सार्धं वयस्तस्य न शीर्यते ॥१३॥

कहा भी है—जो मनुष्य दूध के साथ सिद्ध किये शण के फलों को दूध के साथ खाता है, उसका वय-गिरता नहीं (वय स्थिर रहता है)॥१३॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सर्वोपघातशमनीयं रसायनचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो मेधायुष्कामीयंरसायनचिकित्सितं व्याख्यास्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मेधायुष्कामीय रसायन चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में मेधा–स्मरण शक्ति तथा आयु की प्राप्ति के उपाय लिखे गये हैं। उन्माद एवं अपस्मार आदि रोगोंमें भी इन उपायों का प्रयोग करना चाहिये ॥१,२॥

मेधायुष्कामः श्वेतावल्गुजफलान्यातपपरिशुष्काण्यादाय सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा गुडेन सहालोड्य स्नेहकुम्भे सप्तरात्रं धान्यराशौ निदध्यात्, सप्तरात्रादुद्धृत्य हृतदोपस्य यथाबलं पिण्डं प्रयच्छेदनुदिते सूर्य, उष्णोदकं चानुपिवेत् भल्लातकविधानवच्चागारप्रवेशः, जीर्णौषधश्चापराह्णे हिमाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रः शालीनां षष्टिकानां च पयसा शर्करामधुरेणौदनमश्नीयात्, एवं षण्मासानुपयुज्य विगतपाप्मा बलवर्णोपेतः श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। कुष्ठिनं पाण्डुरोगिणमुदरिणं वा कृष्णाया गोमूत्रेणालोड्यार्धपलिकं पिण्डं विगतलौहित्ये सवितरि पाययेत्, अपराह्णे चालवणेनामलकयूषेण सर्पिष्मन्तमोदनमश्नीयात्; एवं मासमुपयुज्य स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। एष एवोपयोगश्चित्रकमूलानां रजन्याश्च, चित्रकमूले विशेषो द्विपलिकं पिण्डं परं प्रमाणं, शेषं पूर्ववत्।

मेधा और आयु की कामनावाला मनुष्य श्वेत बावची के फलों को धूप में सुखाकर बारीक चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को गुड़ के साथ मिलाकर घी से स्निग्ध घड़े में रखकर सात दिन तक धान्यराशि में रख देवे। सात दिन के पीछे इसको निकालकर दोषों को वमन-विरेचन से शुद्ध करके, बल के अनुसार सूर्य के उगने से पहले ही योग्य मात्रा में खाकर पीछे से गरम पानी पीये। भिलावे के विधान की भाँति घर में प्रवेश करके नियम पाले। औषध के जीर्ण होने पर अपराह्ण में ठण्डे जल से स्नान करके शाली या सांठी के भात को शर्करा मिश्रित दूध से खाये। इस प्रकार छैः मास तक सेवन करने पर पाप रहित, बल-वर्ण से युक्त; सुनते ही धारण करनेवाला, स्मृतिशाली नीरोगी, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। कुष्ठरोगी, पाण्डुरोगी या उदररोगी को काली बावची के बीजों का चूर्ण गोमूत्र में घोलकर, आधापल की मात्रा में, सूर्य के लाल वर्ण से पहले अर्थात् उषाकाल में ही पिला देवे। अपराह्ण में नमक रहित यूष से घीवाला भात खाये। इस प्रकार एक मास सेवन करने पर स्मृतिशाली, नीरोगी, एक सौ वर्ष की आयु का होता है। यही उपयोग चित्रकमूल और हल्दी का है। चित्रकमूल में इतना भेद है कि इसकी उत्कृष्ट मात्रा दो पल है, शेष पूर्व की भांति है।

हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत् पयोऽनुपानं वा, तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत, तिलैर्वा सह भक्षयेत्त्रीन् मासान् पयोऽनुपानं जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः, एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसी श्रुतिनिगादी भवति वर्षशतमायुरवाप्नोति। त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनां भक्षयेत्, त्रिरात्रादूर्ध्वं पयः सर्पिरिति चोपयुञ्जीत। बिल्वमात्रं पिण्डं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत् एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥४॥

वमन विरेचन से दोषों को निकालकर पेया आदि का संसर्जन क्रम पालकर क्रमशः भोजन पर पहुँच जाने पर आगार (घर) में प्रविष्ट होकर, मण्डूकपर्णी का स्वरस निकालकर सहस्र संपात आहुतियाँ देकर, बल के अनुसार स्वरस को दूध में मिलाकर पीये, अथवा स्वरस को पीसकर पीछे से दूध, पीये। इसके जीर्ण होने पर जौ के अन्न को दूध के साथ खाये। अथवा तिल के साथ खाये। दूध का अनुपान बरते, इस प्रकार तीन मास करे। औषध के जीर्ण होने पर दूध, घी और भात का ही भोजन करे। इस प्रकार करने से ब्रह्मवर्चसवाला, सुनते ही धारण करनेवाला होता है, एक सौ वर्ष की आयु होती है। अथवा तीन दिन उपवास करके तीन दिन इस मण्डूकपर्णी को खाये। तीन दिन के पीछे दूध, घी को खाये। ब्राह्मी की या ब्राह्मीकल्क की बिल्वमात्रा (एक पल मात्रा) को दूध में घोलकर पीये। इस प्रकार बारह रात्रि खाने पर मेधावी और एक सौ वर्ष की आयु होती है ॥४॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्, क्षीरसाल्यो वा पयसा भुञ्जीत, एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चस्वी मेधावी भवति द्वितीयं सप्तरात्रमुपयुज्य ग्रन्थमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति, तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारितं शतमप्यवधारयति, एवमेकविंशतिरात्रमुपयुज्यालक्ष्मीरपक्रामति, मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति, सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठन्ति, श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति ॥५॥

वमन, विरेचन से शुद्ध होकर घी में जाकर पेया आदि संसर्जन विधि पूरी करके ब्राह्मी स्वरस को लेकर सहस्रसंपात विधि से होम करके, बल के अनुसार पीये। औषध के जीर्ण होने पर अपराह्न में नमक रहित यवागू को पीये। दूध जिसको सात्म्य हो, वह दूध के साथ यवागू खाये। इस प्रकार सात दिन खाकर ब्रह्मवर्चस्वी, मेधावी होता है। दूसरे सात दिन औषध खाकर इच्छित ग्रन्थ को बनाता है, भूला हुआ स्मरण हो जाता है, तीसरे सात दिन सेवन करने से दो बार कही सौ बात भी याद हो जाती हैं। इस प्रकार इक्कीस दिन सेवन करने से दारिद्र्य दूर होता है, सरस्वती देवी सामने मूर्त्ति रूप से खड़ी हो जाती है। सब श्रुतियाँ (वेद) याद हो जाती हैं। सुनते ही याद करता है, पाँच सौ वर्ष की आयु होती है ॥५॥

ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडङ्गतण्डुलानां कुडवं द्वे द्वे पले वचामृतयोर्द्वादश हरीतक्यामलकबिभीतकानि श्लक्ष्णपिष्टान्यावाप्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, पूर्ववच्चात्र परीहारः, एतेनोर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रमयो निष्क्रामन्ति, अलक्ष्मीरपक्रामति, पुष्करवर्णः स्थिरवयाः श्रुतनिगादी त्रिवर्षशतायुर्भवति, एतदेव कुष्ठविषमज्वरापस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु संशोधनमादिशन्ति ॥६॥

ब्राह्मी स्वरस दो प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, विडङ्ग-तण्डुल एक कुडव, वच, गिलोय दो-दो पल, हरड़ आँवला और बहेड़ा मिलित बारह पल लेकर इनको बारीक पीसकर एक साथ सिद्ध करके, सुरक्षित स्थान पर रख देवे। फिर पूर्व विधि से (वमनादि से शुद्ध होकर पेयादि क्रम का पालन करके) इसको बलानुसार सेवन करे। पचने पर दूध, घी, और भात खाये। पूर्व की भाँति परिहार है। इससे मुख, नासा, गुदा, मूत्र आदि ऊपर एवं नीचे के तथा हाथ पैर आदि सब स्थानों से (त्वचा से) क्रमि निकलते हैं। अलक्ष्मी दूर होती है, कमल जैसा वर्ण, स्थिर वय, सुनते ही धारण करनेवाला, तीन सौ वर्ष की आयु का होता है। कुष्ठ, विषमज्वर, अपस्मार, उन्माद, विष-भूत-ग्रह और अन्य महारोगों में यही संशोधन कहा जाता है। (पुष्करवर्णः–पुष्करं पद्मवराटकम्। श्रुतनिगादी–श्रुतग्रहणशक्तिमान्—डल्हणः)।

वि० मन्तव्य—मण्डूकपर्णी एवं ब्राह्मी का सेवन करने—४-५ तथा ६ सूत्रों के अनुसार आहार विहार, मात्रा आदि पर ध्यान देवें। प्रायः ब्राह्मी के ७ या १४ पत्तों का प्रयोग करके पूर्ण लाभ की असफल कामना की जाती है। वचामृतयोः के स्थान पर वचात्रिवृतयोः पाठान्तर अधिक संगत है, क्योंकि इस घृत का कुष्ठ आदि रोगों में संशोधनार्थ प्रयोग करने का आदेश है ॥६॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य हैमवत्या वचायाः पिण्डमामलकमात्रमभिहुतं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुञ्जीत, ततोऽस्य श्रोत्रं विव्रियते द्विरभ्यासात् स्मृतिमान् भवति; त्रिरभ्यासात् श्रुतमादत्ते, चतुर्द्वादशरात्रमुपयुज्य सर्वं तरति किल्बिषं, तार्क्ष्यदर्शनमुत्पद्यते, शतायुश्च भवति। द्वे द्वे पले इतरस्या वचाया निष्क्वाथ्य पिबेत्, पयसा, समानं भोजनं समाः पूर्वेणाशिषश्च ॥७॥

वमनादि से शरीर के दोषों को निकालकर घर में प्रविष्ट होकर श्वेत वच की आँवले के समान मात्रा को होम विधि करके, दूध में घोलकर पीये। इसके जीर्ण होने पर घी, दूध, और भात का भोजन करे। इस प्रकार बारह दिन करे। इससे इसके कान खुल जाते हैं। दो बारह दिन (चौबीस दिन) सेवन करने से स्मृतिशाली हो जाता है। छत्तीस दिन सेवन करने पर सुनते ही याद हो जाता है, अड़तालीस दिन सेवन करने पर सब पाप नष्ट हो जाते हैं, एक सौ वर्ष की आयु होती है। दूसरी प्रकार की लाल वच के दो-दो पल दूध के साथ क्वाथ करके पीये। भोजन पूर्व की भाँति और फलश्रुति भी पूर्व की भाँति है। (क्षीर पाक विधि से पाक विधि है) ॥७॥

वचाशतपाकं वा सर्पिर्द्रोणमुपयुज्य पञ्चवर्षशतायुर्भवति, गलगण्डापचीश्लीपदस्वरभेदांश्चापहन्तीति ॥८॥

वचा के कल्क से एक सौ बार सिद्ध किये घी की एक द्रोण मात्रा को खाने से पाँच सौ वर्ष की आयु होती है। गलगण्ड-अपची श्लीपद स्वरभेद नष्ट हो जाते हैं ॥८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि आयुष्कामरसायनम्।
मन्त्रौषधसमायुक्तं संवत्सरफलप्रदम् ॥९॥
बिल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान् सहस्रशः।
श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने ॥१०॥
सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम्।
त्वचं विहाय बिल्वस्य मूलक्वाथं दिने दिने ॥११॥
प्राश्नीयात् पयसा सार्धं स्नात्वा हुत्वा समाहितः।
दशसाहस्रमायुष्यं स्मृतं युक्तरथं भवेत् ॥१२॥
हुत्वा बिसानां क्वाथं तु मधुलाजैश्च संयुतम्।
अमोघं शतसाहस्रं गुक्तं युक्तरथं स्मृतम् ॥१३॥

इसके आगे आयुष्काम (आयुवर्धक) मंत्र और औषध के साथ, एक वर्ष में फल देनेवाली रसायन को कहूँगा। बिल्व के चूर्ण को पुष्य नक्षत्र में श्रीसूक्त से (हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजामित्यादि) एक हजार बार होम करके सुवर्ण के साथ घी और मधु मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल में खाये। यह उत्तम दारिद्र्य नाशक है। बिल्वमूल की छाल उतारकर इसका क्वाथ करके प्रतिदिन दूध के साथ खाये।

खाने से पूर्व स्नान और होम करे। इस प्रकार करने से दस हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है, और युक्तरथ होता है। हवन करके, बिस (भिस) के क्वाथ को मधु और लाजा के साथ मिलाकर खाये। यह अव्यर्थ एवं एक सौ हजार वर्ष की आयु देती है, और युक्तरथ है।

वक्तव्य—बिल्व की इतनी बड़ी महिमा से ही, शायद बिल्वपत्र भगवान् शंकर पर चढ़ाने की प्रथा आर्य-संस्कृति में है। युक्तरथ-जोड़े हुए रथों में भी जो बरता जाये अर्थात् इनमें किसी प्रकार का परिहार नहीं होता। अथवा जैसे जुड़ा हुआ रथ होने पर तुरन्त कहीं भी जा सकते हैं, उस प्रकार यह रसायन तुरन्त जब इच्छा हो तभी ली जा सकती है, इसके लिये वमनादि कर्म की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार युक्त रथ बस्ति है, जो कि जब जरूरत समझी उसी समय बरती जा सकती है ॥९-१३॥

सुवर्णं पद्मबीजानि मधु लाजाः प्रियङ्गवः।
गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत् ॥१४॥
नीलोत्पलदलक्वाथो गव्येन पयसा श्रृतः।
ससुवर्णस्तिलैः सार्धमलक्ष्मीनाशनः स्मृतः ॥१५॥
गव्यं पयः सुवर्णं च मधूच्छिष्टं च माक्षिकम्।
पीतं शतसहस्राभिर्हुतं युक्तरथं स्मृतम् ॥१६॥

सुवर्ण भस्म (या वरक), कमलगट्टा, मधु, लाजा, प्रियंगु, इनको गाय के दूध से पीने पर पाप-दौर्भाग्य नष्ट होता है। नीले कमल के पत्तों का क्वाथ गाय के दूध से पकाया हुआ, सुवर्ण और तिल के साथ खाना उत्तम अलक्ष्मी—नाशक है। गाय का दूध, सुवर्ण, मोम और मधु (भ्रामर मधु) पीने पर युक्त रथ रसायन हैं, इसके साथ एक लाख आहुतियों से होम करे॥

वचाघृतसुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम्।
मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम् ॥१७॥
वासामूलतुलाक्वाथे तैलमावाप्य साधितम्।
हुत्वा सहस्रमश्नीयान्मेध्यमायुष्यमुच्यते ॥१८॥
यावकांस्तावकान् खादेदभिभूय यवांस्तथा।
पिप्पलीमधुसंयुक्तान् शिक्षा चरणवद्भवेत् ॥१९॥

वचाचूर्ण, सुवर्णभस्म और बिल्वचूर्ण इनको घी के साथ चाटे। मेधा, आयुष्य, आरोग्य, पुष्टि, और सौभाग्य इससे बढ़ता है। वासामूल के क्वाथ में तैल प्रक्षेप देकर सिद्ध करे। एक हजार आहुति देकर खाये, यह मेध्य और आयुवर्धक कहा जाता है। जौ को कूटकर बनाये भक्ष्य को पिप्पली और मधु के साथ खाने पर गुरु से सीखे बिना ज्ञान होता है, जिस प्रकार कि बाल्यावस्था में घुटने चलने के उपरान्त, बिना सीखे पैरों से चलना आ जाता है ॥१७-१९॥

मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्॥
प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात् ॥२०॥
शतावरीघृतं सम्यगुपयुक्तं दिने दिने।
सक्षौद्रं ससुवर्णं च नरेन्द्रं स्थापयेद्वशे ॥२१॥
गोचन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु।
सुवर्णमिति संयोगः पेयः सौभाग्यमिच्छता ॥२२॥
पद्मनीलोत्पलक्वाथे यष्टीमधुकसंयुते।
सर्पिरासादितं गव्यं ससुवर्णं सदा पिबेत् ॥२३॥
पयश्चानुपिबेत् सिद्धं तेषामेव समुद्भवे।
अलक्ष्मीघ्नं सदाऽऽयुष्यं राज्याय सुभगाय च ॥२४॥
यत्र नोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने।
शब्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदा भवेत् ॥२५॥
पाप्मानं नाशयन्त्येता दद्युश्चौषधयः श्रियम्।
कुर्युर्नागबलं चापि मनुष्यममरोपमम् ॥२६॥

मधु, आँवले का चूर्ण और सुवर्ण इनको खाकर मृत्यु से पकड़ा हुआ भी मनुष्य प्राण संशय से छूट जाता है। शतावरी-घृत को सुवर्ण और मधु के साथ प्रतिदिन भली प्रकार खाने पर राजा को भी वश में कर देता है। सौभाग्य को चाहनेवाला व्यक्ति गोचन्दन (प्रियंगु), मोहनिका (जिया पोता), मुलैहठी, माक्षिक मधु और सुवर्ण को मिलाकर पीये। लालकमल, नीला कमल, मुलैहठी इनके क्वाथ में सिद्ध किया गाय का घृत सुवर्ण के साथ सदा पीये। और इसके पीछे लाल, नीले कमल और मुलैहठी में सिद्ध किया दूध पीये। यह अलक्ष्मी नाशक, सदा आयुवर्धक, राज्य के लिये और मंगल के लिये है। इन योगों के बनाने में जहाँ मंत्र का विधान नहीं किया, वहाँ सब स्थानों में तीन पदवाली गायत्री का पाठ करना चाहिये। ये औषधियाँ अलक्ष्मी का नाश करती हैं, और लक्ष्मी को देती हैं। मनुष्यों में हाथियों का बल देती हैं और मनुष्य को देवता के समान बना देती हैं।

वक्तव्य—त्रिपदा गायत्री—"ॐ भूर्भवःस्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्" ॥२०-२६॥

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रावलोकनम्।
तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गु (ग) णः ॥२७॥
आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम् ॥२८॥

निरन्तर अध्ययन (स्वाध्याय), वाद, दूसरों के ग्रन्थों को देखना, उस विद्या को जाननेवाले आचार्यों की सेवा, ये बुद्धि-मेधा को करनेवाले हैं। पहले भोजन के जीर्ण होने पर भोजन करना, मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और साहसिक कार्यों का त्याग आयुवर्धक है।

वक्तव्य—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' बुद्धि-समझने की शक्ति, मेधा-स्मृति-धारण करने की शक्ति।

ब्रह्मचर्यमायुष्यकराणाम्, अहिंसा प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमा। चरक० ॥२७,२८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मेधायुष्कामीयं रसायनं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन का व्याख्यान करेंगे - जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—स्वभावतः होनेवाली जरा एवं मृत्यु आदि रोगों का निरोध करने के उपाय इस अध्याय में लिखे गये हैं। युवावस्था के पश्चात् जरा स्वभावतः आती है और जरा के पीछे मृत्यु भी स्वभावतः आती है, परन्तु इन उपायों से कुछ काल के लिये जरा एवं मृत्यु का निरोध किया जा सकता है ॥ १,२ ॥

ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥३॥

ब्रह्मा आदि देवताओं ने बुढ़ापा और मृत्यु के नाश के लिये पूर्वकाल में सोम संज्ञावाले अमृत को बनाया था। उस सोम का विधान कहा जायेगा ॥३॥

एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥४॥

सोम वास्तव में एक ही है, परन्तु स्थान, नाम, आकार, वीर्य की भिन्नता से चौबीस प्रकार का हो जाता है ॥४॥

तद्यथा—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥५॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि।
स्वयंप्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥६॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥७॥
गायत्र्या त्रिपदायुक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥८॥
सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥९॥

जैसा कि—अंशुमान्, मुंजवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत, गायत्र, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, शाक्वर, अग्निष्टोम, रैवत, त्रिपदा गायत्री से युक्त और उडुपति—ये चौबीस सोम वेदोक्त शुभ नामों से कहे जाते हैं। इन सब सोमों के सेवन करने की एक ही विधि है और सबका समान ही गुण है। इनका विधान-सेवन-विधि कही जाती है ॥५-९॥

अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्ते देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारेकृतमङ्गलस्वस्तिवाचनः सोमकन्दं सुवर्णसूच्यां विदार्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे (राजते वा) पात्रेऽञ्जलिमात्रं, ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्, तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥१०॥

इनमें से किसी भी एक सोम को पीने की इच्छावाला मनुष्य सब साधन एवं परिचारकों से युक्त, उत्तम स्थान में तीन खण्डवाली (एक कोठरी के अन्दर दूसरी, दूसरी में तीसरी) कोठरी बनवाकर, वमनादि से शरीर के दोषों को निकालकर, पेया आदि क्रम का पालन करके, प्रशस्त तिथि-करण-मुहूर्त्त-नक्षत्रों में, याज्ञिक विधि से अंशुमान् सोम को लाकर, ऋत्विगों से स्नान कराये एवं अग्नि में दिये हुए सोम को, घर के अन्दर, मंगल (शान्तिपाठ) और स्वस्तिवाचन करके सोमकन्द को सुवर्ण की सुई से (चाकू) से चीरकर, सोने या चाँदी के पात्र में एक अंजलि परिमाण रस को ले ले। इस रस को एकदम से ही पी जाये, घूँट-घूँट करके न पीये। फिर आचमन करके, बचे हुए को जल में फेंककर, अपने को यम-नियम रखते हुए, वाणी को नियमित (मौन) करके, मित्रों के साथ विहार करे—घूमे फिरे, बैठे।

वक्तव्य—साधन—गां दोग्ध्रीं शीलवतीमनातुरां जीवद्वत्सां सुप्रतिविहिततृणशरणपानीयम् पात्र्याचमनीयोदककोष्ठं, मणिकघटपिठरपर्योगकुम्भीकुम्भकुण्डशरावदर्वीकटोदञ्चनपरिपचमन्थान-चर्मचेलसूत्रकार्पासोर्णादीनि च, चरक सूत्र०। "प्रशस्तदेश-प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परिवापपुष्करण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले।" वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतंगं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात्॥" चरक। विहार चार प्रकार है, यथा—गमन, चंक्रमण, स्थान, और आसन ॥१०॥

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः।
आसीत् तिष्ठेच्च क्रामेच्च न कथंचन संविशेत् ॥११॥

रसायन पीकर मनुष्य वायु रहित स्थान में (जहाँ सीधी वायु न आये) रसायन में मन लगाकर, पवित्रता के साथ रहे, बैठे, खड़ा रहे और चले, परन्तु लेटे (सोये) नहीं ॥११॥

सायं वा मुक्तवानुपश्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत, तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत् (अशनायितो वा क्षीरं); ततः

प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत, तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते, ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं छर्दितवते सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्; ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्यते, स तेनानिष्टप्रतिग्रहभक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्विनिर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति, ततः सायं स्नाताय पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्, क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्, ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते ततः सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत, ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्; एवं पञ्चमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत, केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्; ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति, तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत्, ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, ततोऽस्य मांसमाप्याय्यते, त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति; तस्य नवमदिवसात्प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेकः; ततो दशमेऽहन्येतदेव वितरेत्, ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति; एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत; ततस्त्रयोदशाहात् प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः; एवमाषोडशाद्वर्तेत; ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकप्रकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः। तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत् पञ्चविंशतिरिति; ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा, ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः स्थिराः स्निग्धा लक्षणसंपन्नाः केशाश्च सूक्ष्मा जायन्ते, त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशाः; ऊर्ध्वं च मासात् केशान् वापयेत्, वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत्, ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात् केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्थिराः स्निग्धाः, ततस्त्रिरात्रात् प्रथमावसथपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्, ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्यं, यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे सुखोष्णं च पयः परिषेकार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चन्दनमनुलेपार्थे, आमलकरसविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थे; एवं दशरात्रं, ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत; ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत, किञ्चिदातपपवनान् वा सेवेत, पुनश्चान्तः प्रविशेत्, न चात्मानमादर्शेऽप्सु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्, ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेत्, एवं सर्वेषामुपयोगविकल्पः विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपकादयः सोमा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्भक्षयितव्याः। तेषां तु प्रमाणमर्धचतुष्कमुष्टयः ॥१२॥

अथवा सायंकाल में भोजन करके शान्तिपाठ सुनकर, कुशा की शय्यापर काले मृग की मृगछाला बिछाकर-मित्रों से घिरा हुआ सोये। प्यास लगने पर शीतल जल ही थोड़ा सा पीये। (भोजन न करने पर दूध ही पीये) फिर प्रातःकाल उठकर शान्तिपाठ सुनकर, स्वस्तिवाचन करके, गाय का स्पर्श करके पूर्व की भाँति रहे। सोम के जीर्ण होने पर वमन होता है। फिर रक्तमिश्रित कृमियुक्त वमन करनेवाले मनुष्य को सायंकाल गरम करके ठण्डा किया दूध देवे। फिर तीसरे दिन कृमिमिश्रित मल आता है। इससे वह मनुष्य अनिष्ट-प्रतिग्रह भोजन आदि से मुक्त होकर शुद्ध शरीरवाला होता है। फिर सायंकाल स्नान किये हुए को पूर्व की तरह दूध देवे। रेशम की चादर बिछाई शय्यापर इसको सुलाये। फिर चौथे दिन इसमें शोथ उत्पन्न होता है। फिर सब अंगों से कृमि निकलते हैं। फिर उसी दिन शय्यापर धूल बिछाकर सोये। सायंकाल पूर्व की भाँति गरम करके ठण्डा किया दूध दे। इसी तरह पाँचवें और छठे दिन करे। केवल दोनों समय इसको दूध ही देवे। फिर सातवें दिन मांस के बिना, त्वचा और अस्थिमात्र रहते हैं, सोम के पीने के कारण ही बचा रहता है। उस दिन सुहाते हुए गरम दूध से स्नान करके तिल, मुलैहठी और चन्दन का लेप शरीर पर कराके दूध पिलाये। फिर आठवें दिन प्रात.काल में ही दूध से स्नान कराके, चन्दन का शरीर पर लेप कराके, दूध पिलाये। धूल की शय्या को छोड़कर रेशम से बिछाई शय्यापर लिटा देवे। फिर इसका मांस बढ़ने लगता है (पुष्ट होता है)। त्वचा फटती है, दाँत-नख और रोम गिर जाते हैं। नवें दिन से इसके शरीर पर अणुतैल का अभ्यंग करे, खैर की छाल के कषाय से स्नान कराय। दसवें दिन इसी प्रकार करे। इससे इसकी त्वचा स्थिर बन जाती है। ग्यारहवें और बारहवें दिन भी इसी प्रकार करे। तेरहवें दिन से लेकर खैर की छाल के कषाय से स्नान कराये। इस प्रकार सोलहवें दिन तक करे। फिर सतरहवें और अठारहवें दिन नोकदार, स्निग्ध, वज्र-वैडूर्य-स्फटिक-के समान निर्मल, समान, स्थिर, खट्टे आदि का सहन करनेवाले दाँत निकल आते हैं। तब से लेकर पुराने शाली चावलों की कणियों से दूध में बनाई यवागू को खाये। पचीसवें दिन तक इसी प्रकार करें। फिर इसको शाली चावलों का नरम भात दूध के साथ दोनों समय देवे। फिर इसके मूंग, बीरबहूटी, तरुण सूर्य के समान लाल नख निकल आते हैं। स्थिर, स्निग्ध, सूक्ष्म एवं लक्षणों से युक्त बाल उग आते हैं। नीले कमल, अलसी के फूल, तथा वैडूर्य के सदृश वर्णवाली त्वचा हो जाती है। एक मास के पीछे बालों को कटवा दे। बाल कटवा कर खस, चन्दन, काले तिल इनको

पीसकर सिर पर लेप करे। अथवा दूध से स्नान कराये। इससे सात दिन पीछे, भ्रमर के समान काले घुंघराले, स्थिर, स्निग्ध बाल उत्पन्न होते हैं। फिर तीन दिन पीछे पहले घर की देहली मेंसे (घर की चार दिवारी से) बाहर आकर, थोड़ी सी दूर रह कर फिर अन्दर उसी घर में चला जाये। अभ्यंग के लिये इसे बलातैल बरतना चाहिये। उद्वर्त्तन के लिये जौ का आटा, परिषेक के लिये सुहाता हुआ गरम पानी, उत्सादन के लिये अजकर्ण (साल) का कषाय, स्नान के लिये खस मिश्रित कुए का पानी, लेपन के लिये चन्दन, यूष सूप आदि आँवले का रस मिलाकर बनाये। गाय के दूध और मुलैहठी के कल्क से सिद्ध किया काले तिलों का तेल, शाक, आदि वस्तुओं के सिद्ध करने में बरते। इस प्रकार दस दिन करे। दूसरे दस दिन दूसरे घर में रहें। इसके पश्चात् तीसरे घर में दस दिन तक वहीं रहे। थोड़ी धूप और वायु का सेवन करने लगे। और फिर अन्दर चला जाये। अतिशय सुन्दर होने से अपना मुख शीशे या पानी में न देखे। अगले दस दिन तक क्रोध आदि को छोड़ देवे। यह विधि सब सोमों के सेवन की है। विशेषकर वल्ली (लता आदि), (दूर्वा जैसे)–क्षुपक (झाड़ी जैसे) आदि सोम ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को खाने चाहिये। इनकी मात्रा साढ़े तीन मुष्टि (पल) है ॥१२॥

अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात्, चन्द्रमसं राजते तावुपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति, शेषास्तु ताम्रमये मृन्मये वा रोहिते वा चर्मणि वितते, शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः। ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति ॥१३॥

अंशुमान् सोम को सुवर्ण के पात्र से निचोड़े। चान्द्रमस सोम को चाँदी के पात्र में निचोड़े। इन दोनों का उपयोग करके मनुष्य देवताओं के अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त करके भगवान् शिव में प्रवेश करता है। शेष सोमों को ताम्र के, मिट्टी के, या लोहित मृग के चमड़े से बने पात्र में निचोड़े। शूद्र को छोड़कर शेष तीनों वर्ण सोमका उपयोग करें। फिर चौथे मास में पूर्णमासी के दिन पवित्र स्थान पर ब्राह्मणों की पूजा करके, स्वस्तिपाठ करके, घर से निकलकर इच्छानुसार जाये।

वक्तव्य—अष्टविधमैश्वर्यम्—"अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ इत्यष्टगुणमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ॥" चरक० ॥१३॥

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥१४॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च।
तस्यालमायुःक्षपणे समर्थानि भवन्ति हि ॥१५॥
भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रस्रुतानामनेकधा।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥१६॥
क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥१७॥
कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः ॥१८॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥१९॥

बुद्धिमान् मनुष्य औषधियों के स्वामी सोम का उपयोग करके दस हजार वर्ष तक नूतन शरीर को धारण करता है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र और अस्त्र कोई भी इसकी आयु को नष्ट नहीं कर सकते। अपितु इसको बढ़ाते हैं। उत्तम जाति के साठ वर्ष की आयुवाले तथा मद बहाते हुये हजारों हाथियों का बल आ जाता है। क्षीरसमुद्र, इन्द्र का घर-स्वर्ग, उत्तर कुरु-जहाँ भी जाना चाहता है, वहाँ पर वह बेरोक-टोक गति से जा सकता है। रूप में कामदेव के समान, कान्ति में चन्द्रमा के समान, यह महान् तेजस्वी मनुष्यों के मनों को प्रसन्न करता है। अंग–उपांगों समेत सब वेदों को तत्त्व रूप से जानता है। देवता के समान अव्यर्थ संकल्पवाला जगत् में घूमता है।

वक्तव्य—'उत्तर-कुरु' वर्तमान थ्यानशान (देवताओं का पर्वत) है जो मध्य एशिया में है। उत्तर कुरु का नाम किरातार्जुनीय में भी अर्जुन की विजय वर्णन में आया है, यथा—'विजित्य या प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ॥१४-१९॥

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥२०॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥२१॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥२२॥
अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवाँल्लशुनच्छदः ॥२३॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ ॥२४॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ।
तथाऽन्ये मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ॥२५॥
सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥२६॥

सब प्रकार के सोमों के पत्ते पन्द्रह होते हैं। ये पत्ते शुक्ल पक्ष में उत्पन्न होते हैं, और कृष्ण पक्ष में गिर जाते हैं। शुक्ल

पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्र सोम में बढ़ता है, और पूर्णमासी में पूरे पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं। कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्र झड़ने लगता है, और अमावस्या के दिन केवल लता मात्र बच जाती है। अंशुमान् सोम घृत के समान गन्धवाला, एवं कन्दवान् होता है। रजतप्रभ केले के आकार के कन्दवाला है। मुंजवान में लहसुन के समान पत्ते होते हैं। चन्द्रमा और कनकप्रभ सदा जल में रहते हैं। गरुडाहृतनामा और श्वेताक्ष ये पाण्डुर वर्ण, सांप की कैंचुली जैसे, वृक्ष के अग्रभाग में लटकते हैं। शेष दूसरे चित्रित मण्डल (धब्बों से) चित्रित हुए दीखते हैं। सब सोमों के पत्ते पन्द्रह होते हैं, इनके कन्द में दूध होता है, लता रहती है, नाना प्रकार के पत्ते होते हैं ॥२०-२६॥

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥२७॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥२८॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥२९॥
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥३०॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥३१॥

हिमालय, पहाड़ की चोटी पर, सह्याद्रि में, महेन्द्र में, मलयाचल पर, श्रीपर्वत पर, देवगिरि पर, देवसहगिरि पर, पारियात्र में, विन्ध्याचल में, देवसुन्द में, ह्रद में, वितस्ता के उत्तर में, जो ऊंचे पाँच पर्वत हैं, उनके नीचे, मध्य में, सिन्धु नामक जो बड़ी नदी है, उसमें सोमों में श्रेष्ठ चन्द्रमा सोम हठ (जल कुम्भी) की तरह तैरता है। इसके समीप में ही मुंजवान् अंशुमान् रहता है। कश्मीर में क्षुद्रक मानस नाम का दिव्य तालाब है, यहाँ पर गायत्र, त्रैष्टुभ, पांक्त, जागत, शाक्वर तथा चन्द्रमा के समान कान्तिवाले दूसरे सोम हैं ॥२७-३१॥

यैश्चात्र मन्दभाग्यैस्ते भिषजश्चापमानिताः।
न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥३२॥

इन स्थानों पर जो वैद्यों का अपमान करते हैं, अधर्मात्मा, कृतघ्न, औषध से द्वेष करनेवाले, ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाले हैं वे लोग इन सोमों को नहीं देख सकते ॥३२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निवृत्तसन्तापीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे निवृत्त सन्तापीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१-२॥

यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः।
तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः ॥३॥

जिस प्रकार स्वर्ग में देवता संताप (दुःख) से रहित होकर आनन्द करते हैं, उसी प्रकार इन औषधियों को प्राप्त करके पृथ्वीतल पर मनुष्य आनन्द अनुभव करते हैं ॥३॥

अथ खलु सप्त पुरुषाः रसायनं नोपयुञ्जीरन्, तद्यथा-अनात्मवानलसो दरिद्रः प्रमादी व्यसनी पापकृद् भेषजापमानी चेति। सप्तभिरेव कारणैर्न संपद्यते, तद्यथा-अज्ञानादनारम्भादस्थिरचित्तत्वाद्दारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्मादौषधालाभाच्चेति ॥४॥

सात पुरुष रसायन का सेवन न करें। यथा—अजितेन्द्रिय, आलसी, दरिद्र, प्रमादी, व्यसनी, पापकर्म करनेवाला और औषध का अपमान करनेवाला। सात कारणों से रसायन औषध गुण नहीं करती, यथा—अज्ञान से, औषध का आरम्भ न करने से, चित्त के अस्थिर होने से, दारिद्र्य से (दरिद्रता से), अनायत्तता से, अधर्म से, औषध के न मिलने से ॥४॥

अथौषधीर्व्याख्यास्यामः—तत्राजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, चैत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः। तासौ सोमवत् क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहिताः। तासामागारेऽभिहुतानां याः क्षीरवत्यस्तासां क्षीरकुडवं सकृदेवोपयुञ्जीत यास्त्वक्षीरा मूलवत्यस्तासां प्रदेशिनीप्रमाणानि त्रीणि काण्डानि प्रमाणमुपयोगे, श्वेतकापोतीं समूलपत्रां भक्षयितव्या, गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्राव्याभिचारितमभिहुतं च सकृदेवोपयुञ्जीत, चक्रकायाः पयः सकृदेव, ब्रह्मसुवर्चला सप्तरात्रमुपयोक्तव्या। भव्यकल्पेन शेषाणां पञ्च पञ्च पलानि क्षीराढककथितानि प्रस्थेऽवशिष्टेऽवतार्य परिस्राव्य सकृदेवोपयुञ्जीत। सोमवदाहारविहारौ व्याख्यातौ, केवलं नवनीतमभ्यङ्गार्थं, शेषं सोमवदानिर्गमादिति ॥५॥

इसके आगे औषधियों का व्याख्यान करेंगे—अजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणु, अजा, चक्रका; आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती, ये

अठारह औषधियाँ सोम के समान शक्तिशाली हैं। इनकी क्रिया (सेवन विधि), और फलश्रुति-स्तुति शास्त्र में सोम के समान कही है। इनके स्थान पर होम करके, जो दूधवाली हों, उनके दूध की एक कुडव मात्रा एक साथ पी जाये। जो औषधियाँ दूध रहित हैं, और मूलवाली हैं, उनके मूल में से तर्जनी के बराबर तीन टुकड़े लेकर उपयोग करें। श्वेतकापोती को मूल और पत्ते के साथ खाना चाहिये। गोनसी, अजगरी, कृष्णकापोती, इनको नाखूनों समेत मुट्ठी भरकर-टुकड़े करके, काटकर दूध के साथ पकाकर, छानकर, घृत से थोड़ा स्निग्ध करके, पीछे से होम करके, इसको एक साथ पी जाये। चक्र का दूध एक साथ पीये। भक्ष्य विधि से ब्रह्मसुवर्चला को सात दिन खाना चाहिये। शेष औषधियों के पाँच-पाँच पल लेकर एक आढ़क दूध में पकाये। एक प्रस्थ रहने पर उतारकर, छानकर एक साथ पी जाये। आहार और विहार सोम की भाँति है। केवल भेद इतना है कि अभ्यङ्ग के लिये मक्खन बरते। शेष सब विधि बाहर आने तक सोम की भाँति है ॥५॥

भवन्ति चात्र—

युवानं सिंहविक्रान्तं कान्तं श्रुतनिगादिनम्।
कुर्युरेताः क्रमेणैव द्विसहस्रायुषं नरम् ॥६॥
अङ्गदी कुण्डली मौली दिव्यस्रक्चन्दनाम्बरः।
चरत्यमोघसंकल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे ॥७॥
व्रजन्ति पक्षिणो येन जललम्बाश्च तोयदाः।
गतिः सौषधिसिद्धस्य सोमसिद्धे गतिः परा ॥८॥

कहा भी है—ये औषधियाँ मनुष्य को युवा, सिंह के समान पराक्रमी, सुन्दर शरीर, सुनते ही धारण करनेवाला, तथा दो हजार वर्ष की आयुवाला करती हैं। केयूरयुक्त, कुण्डल धारण किये, मुकुटधारी, दिव्य माला चन्दन और वस्त्र को धारण करके, अव्यर्थ संकल्पवाला होकर बादल से भी न जाने योग्य आकाश में विचरता है। जिससे पक्षी जाते हैं, और पानी से भरे बादल जिस गति (मार्ग) से जाते हैं, औषधि से सिद्ध मनुष्य की वह गति है, सोम से सिद्ध व्यक्ति की गति इससे भी ऊपर हो जाती है ॥६-८॥

अथ वक्ष्यामि विज्ञानमौषधीनां पृथक् पृथक्।
मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ॥९॥
पञ्चारत्निप्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः।
निष्पत्रा कनकाभासा मूले द्व्यंगुलसंमिता ॥१०॥
सर्पाकारा लोहितान्ता श्वेतकापोतिरुच्यते।
द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमण्डलाम् ॥११॥
द्व्यरत्निमात्रां जानीयाद् गोनसीं गोनसाकृतिम्।
सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम् ॥१२॥
एवंरूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत्।
कृष्णसर्पस्वरूपेण वाराही कन्दसंभवा ॥१३॥
एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा।
छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसंभवे ॥१४॥
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते।
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ॥१५॥
कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी।
करेणुः सुबहुक्षीरा कन्देन गजरूपिणी ॥१६॥
हस्तिकर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी।
अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ॥१७॥
अजा महौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा।
श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्यां समां क्षुपाम् ॥१८॥
चक्रकामोषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम्।
मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः ॥१९॥
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदाऽऽदित्यानुवर्तिनी।
कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति ॥२०॥
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला।
अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यंगुलसंमितैः ॥२१॥
पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः।
श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ॥
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा।
गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसंभवे ॥२३॥
हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः।
अथवा शङ्खपुष्प्या च समाना सर्वरूपतः ॥२४॥
वेगेन महताऽऽविष्टा सर्पनिर्मोकसन्निभा।
एषा वेगवती नाम जायते ह्यम्बुदक्षये ॥२५॥

इसके आगे औषधियों को पृथक् २ पहिचान कहेंगे। अजगरी—चित्रित कपिल वर्ण के धब्बोंवाली, साँप के आकार की, पाँच पत्तों की पाँच अरत्नि प्रमाण होती है। (अरत्नि—बालिस्त)। श्वेतकापोती—पत्र रहित, स्वर्ण के समान चमकवाली, मूल में दो अंगुल लम्बी, साँप के आकार की, अन्दर से लाल होती है। गोनसी—दो पत्तोंवाली, मूल में अरुण वर्ण काले धब्बों की दो अरत्नि लम्बी, गाय की नासा के समान आकार की होती है। कृष्णकापोतिका—दूधयुक्त, रुँआटेवाली, कोमल, रस में गन्ने के रस के समान होती है। छत्रा, अतिच्छत्रा—एक पत्तेवाली, महान् शक्ति सम्पन्न, तोड़े हुए अञ्जन के समान कान्ति युक्त, रक्षोघ्न एवं कन्द से उत्पन्न होती हैं। ये जरा और मृत्यु को नष्ट करती हैं, श्वेतकापोतिका के आकार की हैं। कन्या—सुन्दर एवं मोर के बालों के समान बारह पत्रों से युक्त, कन्द से उत्पन्न, स्वर्ण के समान दूधमहौषधी है। करेणु—बहुत दूधवाली, और हाथी के समान कन्दवाली है। अजा-महौषधी—हस्ति कर्णपलाश (हाथी चिवारी ढाक) के समान पत्तों की, दो पत्तोंवाली, बकरी के स्तनों के समान कन्द की, दूधवाली, क्षुपरूप, शंख, कुन्द (मोगरा), इन्दु के समान श्वेत होती है। चक्रका औषधि—श्वेतवर्ण, विचित्र फूलों की, काकादनी के समान क्षुप की, जरा और मृत्यु को नष्ट करनेवाली है। आदित्यपर्णिनी—मूलवाली पाँच पत्तों की, ये पत्तो-

सूय के समान लाल, कोमल, होते हैं। यह महौषधी, सूर्य की ओर सदा मुख रखती है। इसकी चमक स्वर्ण के समान, जल के किनारों पर सब ओर फैलती है ब्रह्मसुवर्चला—दूधवाली, कमलिनी के समान, अरत्निमात्र (बालिस्तभर) क्षुप की, दो अङ्गुल लम्बे पत्तों की, नीले कमल के समान फूलों की, और फल अञ्जन के समान काले होते हैं। महा श्रावणी—स्वर्ण के समान कान्ति की और दूधवाली है। श्रावणी-पाण्डुरवर्ण और महाश्रावणी के लक्षणों की है। गोलोमी और अजलोमी–रुँआटेवाली एवं कन्द से उत्पन्न होती है। वेगवती—हंसपाद (हंसराज) के समान टूटे हुए, मूल से निकलते हुए पत्तोंवाली, अथवा सब प्रकार से शंखपुष्पी के समान, बड़े भारी वेग से घिरी हुई, साँप के केंचुली के समान होती है। वर्षा के बीतने पर यह उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—अरत्निः–विस्तृतकनिष्ठिकाङ्गुलिमुष्टिकहस्तः अरत्निः। बद्धमुष्टिकरः अरत्निः–दोनों ही अर्थ डल्हण के हैं। अम्बुदक्षये शरदि ॥९–२५॥

सप्तादौ सर्परूपिण्यो ह्यौषध्यो याः प्रकीर्तिताः।
तासामुद्धरणं कार्यं मन्त्रेणानेन सर्वदा ॥२६॥
महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै ॥२७॥
मन्त्रेणानेन मतिमान् सर्वा एवाभिमन्त्रयेत्।
अश्रद्दधानैरलसः कृतघ्नैः पापकर्मभिः ॥२८॥
नैवासादयितुं शक्याः सोमाः सोमसमास्तथा।

साँप के आकार की पहली जो सात औषधियाँ कही हैं, उनको निम्नमंत्र के साथ उखाड़ना चाहिये। महेन्द्र, राम, कृष्ण, ब्राह्मण, गाय, इनके तप या तेज के कारण कल्याण के लिये उपशमन करो। इस मंत्र से बुद्धिमान् सब औषधियों को आमन्त्रित करे। श्रद्धाहीन आलसी, कृतघ्न और पापकर्म करनेवाले मनुष्य सोम को तथा सोम जैसी अजगरी आदि को नहीं प्राप्त कर सकते ॥२६-२८॥

पीतावशेषममृतं देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः ॥२९॥
निहितं सोमवीर्यासु सोमे चाप्योषधीपतौ।

ब्रह्मा के आगे चलनेवाले देवताओं के पीने से बचे हुए अमृत को सोमवीर्यवाली औषधियों में और औषधियों के पति सोम नामक औषधी में रख दिया था ॥२९॥

देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे ॥३०॥
दृश्यते च जलान्तेषु मेध्या ब्रह्मसुवर्चला।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हिमसंक्षये ॥३१॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥३२॥
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा।
गोलोमी चाजलोमी च महती श्रावणी तथा ॥३३॥
वसन्ते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते।
कौशिकीं सरितं तीर्त्वा सञ्जयन्त्यास्तु पूर्वतः ॥३४॥
क्षितिप्रदेशो वल्मीकैराचितो योजनत्रयम्।
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्धसु ॥३५॥
मलये नलसेतौ च वेगवत्यौषधी ध्रुवा।
कार्तिक्यां पौर्णमास्यां च भक्षयेत्तामुपोषितः ॥३६॥
सोमवच्चात्र वर्तेत फलं तावच्च कीर्तितम्।
सर्वा विचेयास्त्वोषध्यः सोमाश्चाप्यर्बुदे गिरौ ॥३७॥
स शृंगैर्देवचरितैरम्बुदानीकभेदिभिः।
व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितः ॥३८॥
गुहाभिर्भीमरूपाभिः सिंहोन्नादितकुक्षिभिः।
गजालोडिततोयाभिरापगाभिः समन्ततः॥
विविधैर्धातुभिश्चित्रैः सर्वत्रैवोपशोभितः ॥३९॥
नदीषु शैलेषु सरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाःपरिमार्गितव्याः सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते॥

ब्रह्मसुवर्चला तालाबों में श्रेष्ठ देवसुन्द में, महानदी सिन्धु में और जल के किनारे मेध्य बुद्धिवर्धक ब्रह्मसुवर्चला मिलती है। आदित्यपर्णी भी वसन्त में वहीं मिलती है। अजगरी सदा मिलती है, गोनसी वर्षा में मिलती है। काश्मीर में क्षुद्रक मानस नाम का दिव्य तालाब है, वहाँ पर करेणु, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, गोलोमी, अजलोमी, महाश्रावणी होती है। वसन्त में कृष्णसर्पा और गोनसी दीखती है। कौशिकी नदी को पार कर सञ्जयन्ती नदी से पूर्व की ओर वल्मीकों से भरे जो क्षिति (भूमि) भाग हैं, ये भूमि भाग तीन योजन लम्बे हैं, वहाँ से ये उत्पन्न होती हैं। वहाँ पर वल्मीक की चोटी पर श्वेतकापोती उत्पन्न होती है। मलय और नलसेतु पर वेगवती औषधियाँ होती हैं। उपवास करके इस औषधि को कार्तिकी की पूर्णिमा को खाये (सोम के समान आचरण करे), फल भी सोम के समान है। इन सब औषधियों को और सोम को भी अर्बुद पर्वत से एकत्रित करना चाहिये। यह पर्वत देवताओं के विचरने से पवित्र बादलों से भी ऊँचा सिद्धर्षि–देवताओं से सेवित प्रसिद्ध हैं। भयङ्कर गुहाओं से युक्त सिंह की गर्जना से नादित हाथी से आलोड़ित जलवाली नदियों से घिरा नानाप्रकार के विचित्र धातुओं से सब स्थानों पर शोभित है। नदियों में, पर्वतों में, तालाबों में, पवित्र जङ्गलों में, आश्रमों में सब स्थानों में ये सब औषधियाँ ढूँढनी चाहिये, क्योंकि–भूमि सर्व वसु—(रत्नों को) धारण करती है।

वि० मन्तव्य—अ० २९ तथा ३० में सोमवर्ग की जिन २४ औषधियों का तथा अजगरी आदि १८ औषधियों का वर्णन किया गया है उनको जानना पहिचानना लुप्त हो गया है और साथ ही उनका प्रचार भी समाप्त हो गया है। यद्यपि जिन स्थानों पर उनका होना

अठारह औषधियाँ सोम के बतलाया गया है वहाँ सर्वत्र मानव आज भी जाता-आता है, निवास करता है परन्तु उन दिव्य औषधियों को भूल गया है ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निवृत्तसंतापीयं रसायनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्नेहोपयौगिक चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में स्नेहों के उपयोग तथा प्रयोग का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोवस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः ॥३॥

यह पुरुष स्नेहसार (स्नेह के सहारे टिकनेवाला) है, और प्राण भी स्नेह की मुख्यतावाले हैं, (प्राणों का भी मुख्य आधार स्नेह ही है)। तथा रोग भी स्नेह से ही साध्य होते हैं। क्योंकि स्नेह पान-अनुवासन-मस्तिष्क (शिरोविरेचन) शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति, नस्य, कर्ण में भरने, शरीर पर अभ्यंग, भोजनों में बरतना चाहिये ॥३॥

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः स्नेहगुणाश्च। तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति ॥४॥

इसमें स्नेह की योनि (उत्पत्तिस्थान) दो प्रकार की (स्थावर और जंगम) है। स्नेह के चार भेद (घी, तैल, वसा और मज्जा) पहले (सू० ४–५ में देखिये) कहे हैं। इनमें जंगम स्नेहों में (घी, वसा, मज्जा में) गौ का घृत प्रधान है। और स्थावर स्नेहों में तिल तैल प्रधान है।

वक्तव्य—घृत की प्रधानता में—"नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते, यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम् ॥ चरक० (२) सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः। एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्त्तनात् ॥ चरक०। तैल शब्द—तिलों से उत्पन्न तेल को तैल कहना चाहिये, तथापि दूसरे स्थावर द्रव्यों से उत्पन्न स्नेह को भी तैल कहते हैं. यथा—'निष्पत्तेः तद्गुणत्वाच्च तत्तैलमितरेष्वपि ॥' घी दो प्रकार का है, दूध से निकाला हुआ और दही से निकाला। शुद्ध मांस का स्नेह वसा है, अस्थियों में आश्रित स्नेह मज्जा है। जंगमों में घी प्रधान है, स्थावरों में तिलतैल, विरेचन के लिये एरण्ड तैल उत्तम है ॥४॥

अत ऊर्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाप्रधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः—तत्र तिल्वकैरण्डकोशाम्रदन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकम्पिल्लकशम्पाकनीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति, जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति, विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलुसिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरो विरेचयन्ति, करञ्जपूतीककृतमालमातुलुङ्गेङ्गुदीकिराततिक्तस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते, तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिषु, त्रपुसैर्वारुकर्कारुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहा मूत्रसंगेषु, कपोतवङ्कावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु, कुसुम्भसर्षपातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहेषु, तालनारिकेलपनसमोचप्रियालबिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ, बिभीतकभल्लातकपिण्डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे, श्रवणकङ्गुकटुण्टुकस्नेहाः पाण्डूकरणे, सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठकिटिभेषु, सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नन्ति, तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः ॥५॥

इसके आगे प्रयोजन के अनुसार, प्रधान (मुख्य) की दृष्टि से स्थावर स्नेहों को कहेंगे—इनमें तिल्वक, एरण्ड, कोशाम्र, जमालगोटा, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) सप्तला (सातला), शंखिनी (यवतिक्ता), ढाक, विषाणिका (मेढ़ासिंगी) गवाक्षी (इन्द्रायण), कमीला, अमलतास, नीलिनी, इनके स्नेह विरेचन करते हैं। जीमूतक (देवदाली), कूड़ा, कृतवेधन (कोशातकी—कड़ुई तोरई) इक्ष्वाकु (कड़ुआ तुम्बा), धामार्गव (घिया तोरई—नेनुआ), मैनफल, इनका स्नेह वमन कराते हैं। विडंग, चिरचिटा, मीठा सहजन, सूर्यवल्ली (आदित्य भक्ता—हुलहुल), पीलु, सरसों, मालकंगनी इनका स्नेह शिर का विरेचन करता है। करंज, पूतीकरंज, अमलतास, बिजौरा, हिंगोट, चिरायता इनका स्नेह दूषित व्रणों में बरता जाता है। तुवरक, कैथ, कमीला, भिलावा, पटोल इनका स्नेह महारोगों में बरता जाता है। खीरा, ककड़ी, कर्कारु (फूट), तुम्बी पेठा इनका स्नेह मूत्र के अवरोधों में बरता जाता है। कपोतवङ्का, (ब्रह्मसुवर्चला या ब्राह्मी) बावची, हरड़ का स्नेह शर्करा एवं अश्मरी में प्रयुक्त होता है। कुसुम्भ (बर्रे), सरसों, अलसी, नीम, माधवीलता, भाण्डी, कड़ुईतुम्बी और नीली अपराजिता (कोयल) इनका स्नेह प्रमेहों में बरता जाता है। ताल, नारियल, कटहल, केला, पियाल, बिल्व, महुआ, लसूड़ा, अम्बाड़ा, इन फलों के स्नेह पित्त से मिली वायु में बरते जाते हैं। बहेड़ा, भिलावा, मैनफल, इनका स्नेह श्वेत व्रण को काला बनाने में बरता जाता है। श्रवण, कङ्गुक (प्रियंगु) और श्योनाक के

स्नेह काले को श्वेत बनाने में, चीड़, देवदारु, शीशम, अगरु, इन लकड़ियों का स्नेह द्रद्रु, कुष्ठ, किटिभ में बरता जाता है। सभी स्नेह वायु का नाश करते हैं। तैलगुणों को संक्षेप से कह दिया है।

वक्तव्य—महाव्याधि—महाकुष्ठ—प्रमेह आदि आठ हैं। मोच का अर्थ सिम्बल और शिग्रु भी किया है ॥५॥

अत ऊर्ध्वं कषायस्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः । तत्र केचिदाहुः-त्वक्पत्रफलमूलादीनां भागस्तच्चतुर्गुणं जलं चतुर्भागावशेषं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः, स्नेहप्रसृतेषु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्चाक्षसमानभेषजपिण्डानित्येष स्नेहपाककल्पः। एतत्तु न सम्यक्, कस्मात् ? आगमासिद्धत्वात् ॥६॥

इसके आगे कषाय तथा स्नेह की पाकविधि का उपदेश करेंगे। इसमें कई आचार्य कहते हैं कि छाल, पत्र, फल, मूल आदि का एक भाग, इससे चार गुणा पानी मिलाकर क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर उतार लेवे, यह कषाय कल्पना है। स्नेह के छै प्रसृत लेकर इसमें चौगुना द्रव मिलाकर, चार अक्ष मात्रा में औषधि का कल्क मिलाकर पाक करे, यह स्नेहपाक विधि है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र से मान्य नहीं है।

वक्तव्य—प्रसृत (दोपल) अथवा, "संयुक्त पंचाङ्गुलिरीषद् विस्तृतपाणिरेकः"। अक्ष-बहेड़े के बराबर या कर्ष मात्रा में ॥६॥

पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः—तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः, ते षोडश सुवर्णम्, अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति ॥७॥

इसलिये पल-कुड़व आदि का परिमाण कहते हैं—इसमें श्रेष्ठ मध्यम आकार के बारह माषों (उड़दों) का एक सुवर्ण माष है। ये सोलह सुवर्ण माष एक सुवर्ण कर्ष के बराबर हैं। अथवा मध्यम आकार के उन्नीस निष्पाव (सेम के बीज) एक धरण के बराबर हैं। इन अढ़ाई धरण से एक कर्ष होता है। इससे आगे प्रत्येक का चार गुणा करते हुए पल, कुडव, प्रस्थ, आढ़क, द्रोण बन जाते हैं। तुला का परिमाण एक सौ पल है। बीस तुला से एक भार बनता है। यह मान शुष्क द्रव्यों के लिये ही है। गीले तथा द्रवों के लिये इस परिमाण को दुगुना करना चाहिये।

वक्तव्य—चार कर्ष से एक पल, चार पल का एक कुड़व, चार कुड़व से एक प्रस्थ, चार प्रस्थ से एक आढ़क, चार आढ़क का एक द्रोण। कहीं पर आर्द्र द्रव्यों का भी दुगुना नहीं बरतते, यथा—"वासाकुटजकूष्माण्डशतमूलीसहामृता। प्रसारण्यश्वगन्धा च शतपुष्पा सहाचराः॥ नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या न तासां द्विगुणं भवेत् ॥ प्रस्थ के विषय में—'द्वात्रिंशताऽत्रिंशत्यापलैः, षोडशभिः क्रमात्। तोयस्नेहविशुष्काणां द्रव्याणां प्रस्थमादिशेत् ॥ सुश्रुत का मान मागध मान कहाता है, चरक का मान कालिंग मान है[1] ॥७॥

तत्रान्यतमपरिमाणसंमितानां यथायोगं त्वक्पत्रफलमूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्वाऽवकुट्याष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाभिषिच्य स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वाऽपहरेदित्येष कषायपाककल्पः। स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः, तदैकध्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः। अथवा तत्रोदकद्रोणे त्वक्पत्रफलमूलादीनां तुलामावाप्य चतुर्भागावशिष्टं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रवमावाप्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः ॥८॥

इनमें से किसी एक परिमाण के अनुसार, योग के अनुकूल छाल, पत्ते, फल, मूल आदि जो धूप में सुखाये हों, उनको लेकर उनमें से काटने योग्यों को काटकर, तोड़ने योग्यों को तोड़कर, सबको कूटकर, आठ गुणे (साधारण सख्त द्रव्यों में) या सोलह गुणे (खैर आदि कठिन द्रव्यों में) पानी में डालकर पात्र में रखकर पकाये। पानी का चौथाई अंश रह जाने पर इसको उतार ले, यह कषाय कल्पना है। स्नेह से चार गुणा द्रव, स्नेह से चतुर्थांश औषध का कल्क, इनको एक साथ, मिलाकर पकाये, यह स्नेहपाककल्प है। अथवा एक द्रोण जल में छाल, पत्ते, फल, मूल आदि की एक तुला मिलाकर, चौथाई रह जाने तक क्वाथ करे, यह कषाय पाक की विधि है। स्नेह के एक कुड़व में—औषधि एक पल पीसकर कल्क बनाकर मिलाये, इसमें चार गुणा द्रव (स्नेह का) मिलाकर पाक करे, यह कषाय स्नेहपाकविधि है।

वक्तव्य—कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावद् तोयमष्टगुणं भवेत् ॥ चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं भवेत्। (२) मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं जलम् ॥ कठिनात् कठिने देयं जलं षोडशिकं मतम् ॥ स्नेहपरिमाण—यत्रैकद्वित्रिचतुराणि द्रवद्रव्याणि तत्र सर्वाण्येव स्नेहाच्चतुर्गुणानि पञ्चप्रभृतीनि स्नेहसमानानि। पञ्चप्रभृति यत्र स्युः द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः अर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥८॥

---

[1] मान के लिये रसयोगसागर भाग-२, और द्रव्यगुणविमर्श का उत्तरार्द्ध देखिये।

भवतश्चात्र—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम् ।
तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु ॥९॥
अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम् ।
कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् ॥१०॥

कहा भी है—स्नेह, औषध और पानी का परिमाण जहाँ पर न कहा गया हो, वहाँ पर यह उपर्युक्त विधि बरतनी चाहिये। कहे हुए स्थान पर कही हुई विधि बरतनी चाहिये। द्रव कार्य में जहाँ कोई द्रव्य न कहा हो, वहाँ पर जल बरतना चाहिये। क्वाथ और कल्क का जहाँ पर निर्देश न किया हो, वहाँ पर उसी गण का क्वाथ एवं कल्क समझना चाहिये ॥१०॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः । स तु त्रिविधः, तद्यथा—मृदुः, मध्यमः, खर इति । तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति, मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः कृष्णमवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषजं स खर इति, अत ऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति, तं पुनः साधु साधयेत् । तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति ॥११॥

इसके आगे स्नेहपाकविधि का उपदेश करेंगे-यह विधि तीन प्रकार की है, यथा—मृदु, मध्यम और खर। जिस स्नेह पाक में औषध और स्नेह पृथक् मात्र ही होते हैं, वह मृदुपाक है। जिसमें औषध मोम के समान निर्मल, चिपटनेवाली, हो जाती है, वह मध्यम पाक है। जिसमें औषध काली, जली हुई, थोड़ी काली विकास युक्त हो जाती है, वह खर पाक है। इसके आगे स्नेह जल जाता है। इस स्नेह को पुनः ठीक प्रकार से पकाये। पीने, खाने में मृदु स्नेहपाक, नस्य और अभ्यंग में मध्यम, बस्ति और कान में डालने के लिये खर पाक स्नेह उत्तम है।

वक्तव्य—'मृदुर्नस्ये, खरोऽभ्यंगे,पाने बस्तौ च मध्यमः॥" चरक० क० अ० १२। दोनों ही प्रमाण हैं ॥११॥

भवतश्चात्र—

शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपशमे तथा ।
गन्धवर्णरसादीनां संपत्तौ सिद्धिमादिशेत् ॥१२॥
घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात् कुशलो भिषक् ।
फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ॥१३॥

कहा भी है—घृतपाक में (द्रव) शब्द की समाप्ति होने पर और झाग आना रुक जाने पर, गन्ध, वर्ण, रस आदि की समृद्धि हो जाने से सिद्ध हुआ जाने। कुशल वैद्य घृत पाक में यह नियम समझे। तैल पाक में, झाग बहुत आती है, और शेष लक्षण घृत पाक के समान हैं ॥१२,१३॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममुपदेक्ष्यामः—अथ खलु लघुकोष्ठायातुराय कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत् । पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत् ॥१४॥

इसके आगे स्नेह पान विधि का उपदेश करते हैं—हल्के (नरम) कोष्ठवाले रोगी को शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन करा के, गरम किये सोने की सी किरणोंवाले, पीले लाल सूर्य के उदयाचल पर्वत के शिखर पर पहुँच जाने पर रोगी के बल के अनुसार तैल या घृत की मात्रा पीने को देवे। पीने के पीछे तुरन्त गरम जल का आचमन करके, जूता पहनकर सुख के साथ रोगी घूमना आरम्भ करे।

वक्तव्य—"द्रवोष्णमनभिष्यन्दिभोज्यमन्नं प्रमाणतः। नातिस्निग्धमसंकीर्णं श्वः स्नेहं पातुमिच्छता। पिबेत् संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकांक्षितः। शुद्धयर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः॥ चरक० सू० अ० १३ ॥६०-६१ ॥१४॥

रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम् ।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥१५॥
क्रिमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः ।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये ॥१६॥
व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः ।
महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥१७॥
क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः ।
मज्जानमाप्नुयुः सर्वे सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥१८॥

रूक्ष, क्षत, विष से पीड़ित, वात-पित्त रोगियों के लिये, मेधा और स्मृति में हीन पुरुषों के लिये घृतपान उत्तम है। कृमिकोष्ठवाले, वायु जिनमें भरी है (बहुत वायुवाले), कफ और मेद की जिनमें अधिकता है, जिनको तैल-सात्म्य है, शरीर को जो दृढ़ करना चाहते हैं, वे तैल को पीयें। व्यायाम से कृश हुए, रेत और रक्त जिनके सूख गये अतिशय पीड़ा युक्त प्रवृद्ध अग्निवाले बढ़ी वायुवाले तथा महा प्राणवाले हैं, वे मनुष्य वसा के योग्य हैं। क्रूर आशयवाले (क्रूर कोष्ठ), क्लेश को सहनेवाले, वायु से पीड़ित, प्रदीप्त अग्नि के पुरुष मज्जा का सेवन करें, अथवा अपने रोग की औषध से युक्त घृत पीयें।

वक्तव्य—महाग्निमारुतप्राणा का अर्थ, अतिशयअग्नि, अतिशयवायु एवं अतिप्राण (अतिबलवाले) भी हैं। अथवा जिनमें वायु बहुत प्रबल है वे वसा को पीयें। यथा—"बलवान्मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति। महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च ये नराः॥" विस्तार के लिये देखिये च० सू० अ० १३। ४१-५० ॥१५-१८॥

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम् ।
देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम् ॥१९॥

पित्तविकार में शुद्ध (किसी द्रव्य से न मिलाये) घी पीना

चाहिये। वायुरोग में नमक के साथ, कफ की अधिकता होने पर त्रिकटु और यवक्षार से मिलाकर देना चाहिये।

वक्तव्य—"न सर्पिः केवलं पित्ते पेयं सामे विशेषतः। सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत्॥" इसलिये गयी का अर्थ—'पित्तहरद्रव्यसाधितमेव केवलम्' यह ठीक है ॥१६॥

दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च।
युञ्ज्यात्त्रिषष्टिधाभिन्नैः समासव्यासतो रसैः ॥२०॥

दोषों की न्यूनता या अधिकता का, उनके संसर्ग का विचार करके, समास व्यास रूप से तिरसठ प्रकार के रसों से घी का या स्नेह का उपयोग करना चाहिये।

वक्तव्य—"रसैश्चोपहिताः स्नेहःसमासव्यासयोगिभिः। षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलः॥ एवमेषा चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणा। ओकर्त्तुव्याधिपुरुषान्प्रयोज्या जानता भवेत्॥" चरक सू० अ० १३-२७-२८ ॥२०॥

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्णशीतले।
अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम् ॥२१॥

स्नेह जिनको सात्म्य है, क्लेश को सहने के आदी हैं, न बहुत उष्ण एवं न बहुत शीतल काल के होने पर केवल स्नेह (असंस्कृत) को पीये। क्योंकि केवल स्नेहपान उत्तम है।

"अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथमकल्पिकः॥"
चरक अ० सू० १३-२६ ॥२१॥

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि।
वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥२२॥

शीतकाल में दिन के समय स्नेह को पीये। उष्णकाल में रात्रि में स्नेह को पीये। वातपित्त की अधिकता में रात्रि में स्नेह पान करे। वात-कफ की अधिकता में दिन में स्नेह पान करे।

वक्तव्य—वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः। श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे॥ "त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं प्रयोजयेत्। उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिस्तु दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा॥" च० सू० अ० १३-१६॥२२॥

वातपित्ताधिकस्योष्णे तृण्मूर्च्छोन्मादकारकः।
शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत् ॥२३॥

वात-पित्त की अधिकता में उष्ण ऋतु में दिन में पिया स्नेह प्यास, मूर्च्छा, उन्माद करता है। शीत ऋतु में वात-कफ से पीड़ित मनुष्य द्वारा रात में पिया स्नेह गौरव, अरुचि और शूल करता है।

वक्तव्य—"अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छां पिपासामुन्मादं कामलां वा समीरयेत्॥ शीते रात्रौ पिबेत्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा। आनाहमरुचिं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति॥
च० सू० अ० १३-२० ॥२३॥

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः।
एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत् ॥२४॥
दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत्।

स्नेह पीने के पीछे यदि प्यास उत्पन्न हो तो गरम पानी पीये। यदि इससे भी प्यास न बुझे तो गरम पानी पीकर स्नेह का वमन कर देवे। शीतल चन्दन आदि का शिर पर लेप करे, शीतल पानी में गोता लगाये।

वक्तव्य—स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली। स्नेहाऽग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत्।
चरक सू० अ० १३-७० ॥२४॥

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि ॥२५॥
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत यथाऽर्धदिवसे गते ॥२६॥
सा वृष्या बृंहणीया च मध्यदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते ॥२७॥
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता।
या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि ॥२८॥
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।
अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यति ॥२९॥
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।
यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत्तु विचक्षणः ॥३०॥
पीतो ह्यतिबहुः स्नेहो जनयेत् प्राणसंशयम्।
मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति ॥३१॥
विष्टभ्य चापि जीर्यत्तं वारिणोष्णेन वामयेत्।
ततः स्नेहं पुनर्दद्याल्लघुकोष्ठाय देहिने।
जीर्णाजीर्णविशंकायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत् ॥३२॥
तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा।
स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारतिक्लमाः ॥३३॥

दिन के एक चौथाई भाग (एक प्रहर) में स्नेह की जो मात्रा जीर्ण हो जाती है, वह मात्रा अग्नि को बढ़ाती है, और थोड़े दोषवाले मनुष्य के लिये उत्तम है। स्नेह की जो मात्रा आधे दिन (दो प्रहर) में जीर्ण होती है, वह मात्रा वृष्य है, बृंहण करनेवाली और मध्य दोष में प्रशस्त है। स्नेह की जो मात्रा तीन प्रहर में जीर्ण होती है वह मात्रा स्नेहन करने में एवं बहुत दोषवाले पुरुष के लिये उत्तम है। जो मात्रा सारे दिन में (चार प्रहर में) जीर्ण होती है, ग्लानि, मूर्च्छा मद को उत्पन्न नहीं होने देती (या जिसके पीने से उत्पन्न ग्लानि आदि स्वयं नष्ट हो जाती है) स्नेह की मात्रा स्नेहन में उत्तम है। किसी भी प्रकार का विकार न किये स्नेह की जो मात्रा चौबीस घण्टे में (दिनरात) जीर्ण होती है, वह मात्रा कुष्ठ, उन्माद, विष, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करती है।

वक्तव्य—"अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्द्धाहं च प्रतीक्ष्यते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति॥"

वि० मन्तव्य—बुद्धिमान् चिकित्सक-रोगी की जठराग्नि का विचार करके स्नेह की प्रथम मात्रा (१ प्रहर में पचनेवाली) पिलावे क्योंकि अत्यधिक मात्रा में पीया गया स्नेह प्राण संकट उत्पन्न कर सकता है। मिथ्या आहार-विहार के कारण अथवा अधिक मात्रा में होने के कारण जिसका स्नेह नहीं पचता अथवा उदर में विष्टम्भ उत्पन्न करके विलम्ब से पचता है उसको उष्ण जल पिलाकर वमन करा देवे। इसके पश्चात् जब उसका उदर लघु-हल्का हो जाय तब पुनः उचित मात्रा में स्नेह पिलावे। यदि स्नेह के पचने या न पचने का सन्देह हो तो उष्ण जल पीना चाहिये। इस प्रकार उष्ण जल पीने से उद्गार शुद्ध हो जाता है और भोजन में रुचि हो जाती है। स्नेह पचते समय-प्रायः तृषा, दाह, भ्रम, शिथिलता, अरति तथा ग्लानि हो सकते हैं जो पच जाने पर स्वतः शान्त हो जाते हैं अथवा साधारण उचित उपचार से शान्त किये जा सकते हैं ॥२५-३३॥

परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम्।
यवागूं पाययेच्चोष्णां कामं क्लिन्नाल्पतण्डुलाम् ॥३४॥
देयौ यूषरसौ वाऽपि सुगन्धी स्नेहवर्जितौ।
कृतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते ॥३५॥

स्नेह के जीर्ण हो जाने पर मनुष्य को गरम पानी से स्नान कराये। थोड़ी सी चावलों-कणियों को खूब गलाकर बनाई हुई यवागू को गरम एवं यथेच्छ पिलाये। सुगन्धी एवं स्नेह से रहित यूष एवं मांस रस देवे। या इनमें थोड़ा घी डालकर देवे। अथवा विलेपी देवे ॥३४,३५॥

पिबेत्त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा।
सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः ॥३६॥

स्नेह को तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, छै दिन, अथवा सात दिन पीये। सात दिन के पीछे स्नेह सात्म्य हो जाता है। (फिर आगे लाभ नहीं करता। आत्मा शब्द—शरीर के लिये है)।

"स्नेहनस्य प्रकर्षौ तु सप्तरात्रत्रिरात्रकौ॥"

चरक० सू० १३-५१ ॥३६॥

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा।
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत् ॥३७॥

नाजुक प्रकृति, कृश, वृद्ध, बालक, स्नेह से द्वेष करनेवाले, प्यास से पीड़ित को ग्रीष्मकाल में स्नेह को भोजन के साथ मिलाकर देवे।

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोष्ठाश्च ये नराः।
क्लेशासहा मद्यनित्यास्तेषामिष्टा विचारणा॥

चरक० सू० अ० १३-८२ ॥३७॥

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकः।
पीतमैकध्यमेतद्धि सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥३८॥
भृष्टा मांसरसे स्निग्धा यवागूः सूपकल्पिता।
प्रक्षुद्रा पीयमाना तु सद्यः स्नेहनमुच्यते ॥३९॥
सर्पिष्मती पयःसिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला।
सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते ॥४०॥
पिप्पल्यो लवणं सर्पिस्तिलपिष्टं बराहजा।
वसा च पीतमैकध्यं सद्यः स्नेहनमुच्यते ॥४१॥
शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम्।
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यः स्नेहनमुच्यते ॥४२॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिकान्वितः।
पयो दधि सुरा चेति घृतमष्टमं भवेत् ॥४३॥
सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यःस्नेहनमुत्तमम्।
राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद्घृतोत्तमम् ॥४४॥

पिप्पली, लवण, (सैन्धव) घी-तैल-वसा मज्जा चारों स्नेह, दधि, मस्तु, इनको एक साथ मिलाकर पीने पर तुरन्त स्नेहन होता है। मांस रस में भूनकर भली प्रकार बनाई स्निग्ध यवागू को थोड़ी सी राब मिलाकर पीने से तुरन्त स्नेहन होता है। थोड़े से चावलों में दूध में बनाई, प्रचुर घी मिश्रित यवागू को गरम गरम सेवन करने पर स्नेहन होता है। पिप्पली, सेन्धा-नमक, घी, तिल की पिट्ठी, सुअर की वसा इनको एक साथ मिलाकर पीने पर तुरन्त स्नेहन होता है। दोहनी (जिसमें दूध दोहते हैं) में शर्करा, घी रखकर इसमें दूध निकाले। इस दूध को पीने से रूक्ष मनुष्य का तुरन्त स्नेहन होता है। जौ, बेर, कुलथी इनका क्वाथ, इसमें पिप्पली का प्रक्षेप मिलाकर, दूध, दही, सुरा और आठवाँ घी इनके साथ घृत को सिद्ध करे। यह घृत पीने पर तुरन्त स्नेहन करता है। राजाओं को या राजा के समान वैभवशालियों को यह घृत देना चाहिये।

वक्तव्य—"तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा। पिबेत्सफाणितं क्षीरं नरः स्निह्यति वातिकः ॥१॥ धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः। नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ॥२॥ च० सू० अ० १३।८७।८८ ॥३८-४४॥

बलहीनेषु वृद्धेषु मृद्वग्निस्त्रीहतात्मसु।
अल्पदोषेषु योज्याः स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः ॥४५॥

निर्बलों में, वृद्धों में, मृदु अग्निवालों में, स्त्री में क्षीण हुए पुरुषों में, थोड़े दोषवालों में, ऊपर कहे हुए योग भली प्रकार बरतने चाहियें ॥४५॥

विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी तरुणज्वरी।
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥४६॥
छर्द्यर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः।
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः ॥४७॥
अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिबेन्नरः।
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत् ॥४८॥

स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः ।
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः ॥४९॥
गर्भाशयेऽवशेषाः स्यू रक्तक्लेदमलास्ततः ।
स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च ॥५०॥
दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत् ।

स्नेहपान का निषेध–अजीर्णरोगी, तरुण ज्वरवाला, दुर्बल, अरोचकरोगी, स्थूल, मूर्च्छा से पीड़ित, मदपीड़ित, छर्दि से पीड़ित, पिपासा से दुःखी, भ्रान्त, मद्यपान के थकान से दुःखी, बस्ति जिसने ली है, विरेचन लिये, वमन किया हुआ, असमय में बादल आने पर मनुष्य स्नेहपान न करे। जिसने असमय पर प्रसव किया है, वह स्त्री स्नेहपान न करे। स्नेह पान करने से इनको नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं। रोग कष्टसाध्य हो जाते हैं, अथवा असाध्य बन जाते हैं। यदि रक्त, क्लेद, मल ये गर्भाशय में रुक जायँ तो स्नेह को छोड़ देवे, पाचन और रूक्ष औषध सेवन करे। दस दिन के पीछे यथा योग्य स्नेह को बरते ॥४६-५०॥

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते ॥५१॥
उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ।
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः ॥५२॥

स्नेह के अयोग में—पुरीष (मल) गाँठदार, रूक्ष होता है। अन्न कठिनाई से पचता है। छाती जलती है, वायु कोष्ठ से ऊपर आती है (डकार आते हैं)। वर्ण बदल जाता है, दुर्बल होता है, रूक्ष रहता है।

"पुरीषं ग्रथितं रूक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः ।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्निग्धलक्षणम् ॥"
चरक० सू० अ० १३-५७ ॥५१,५२॥

सुस्निग्धा त्वग्विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता ।
ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम् ॥
सम्यक्स्निग्धस्य लिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च ॥५३॥

भली प्रकार की चिक्कण त्वचा, मल में ढीलापन, अग्नि की प्रदीप्ति, शरीर में कोमलता, ग्लानि, अङ्गों में हल्कापन, गुदा से स्नेह का आना, स्नेह से उद्वेग (जी मचलाना) ये सम्यक् स्निग्ध के लक्षण हैं।

"वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम् ।
मार्दवं स्निग्धता चांगे स्निग्धानामुपजायते ॥"
चरक अ० सू० १३-५८॥५३॥

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका ।
पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम् ॥५४॥

भोजन में द्वेष, मुख से स्राव, गुदा में दाह, प्रवाहिका, मल की अतिप्रवृत्ति, ये अतिस्निग्ध के लक्षण हैं।

"पाण्डुता गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता ।
तन्द्रिररुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्धलक्षणम् ॥
चरक सू० अ० १३-५९ ॥५४॥

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम् ।
श्यामामकोरदूषान्नतक्रपिण्याकशक्तुभिः ॥५५॥

रूक्ष व्यक्ति का स्नेहन द्रव्यों से स्नेहन करे। अतिस्निग्ध का रूक्षण करे। रूक्षण के लिये—सांवक, कोरदूष, अन्न, तक्र, पिण्याक (खल) सत्तु आदि देवे।

'तक्रारिष्ट प्रयोगश्च रूक्षपानान्नसेवनम् ।
मूत्राणां त्रिफलायाश्च स्नेहव्यापत्तिभेषजम् ॥"
चरक सू० अ० १३-७८ ॥५५॥

दीप्तान्तराग्निः परिशुद्धकोष्ठः
प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः ।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः
स्नेहोपसेवी पुरुषो भवेत्तु ॥५६॥

स्नेह का नित्य सेवन करनेवाले पुरुष की जठराग्नि प्रबल रहती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है, रसादि धातु बल, वर्ण, सदा नूतन रहते हैं। इन्द्रियाँ दृढ़ रहती हैं, बुढ़ापा देर में आता है। आयु सौ साल की होती है ॥५६॥

स्नेहो हितो दुर्बलवह्निदेह-
सन्धुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य ।
बलान्वितौ भोजनदोषजातैः
प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ ॥५७॥

रोग से पीड़ित व्यक्ति की दुर्बल अग्नि, दुर्बल शरीर को बढ़ाने में स्नेह उत्तम है। स्नेहपान से बल प्राप्त किये हुए शरीर और अग्नि को भोजन दोष से उत्पन्न विकार भी एकदम से पीड़ित नहीं कर सकते ॥५७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्नेहोपयौगिक-
चिकित्सितं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्वेदावचारणीय चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में स्वेदविधि का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

चतुर्विधः स्वेदः; तद्यथा—तापस्वेदः, ऊष्मस्वेदः, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति; अत्र सर्वस्वेदविकल्पावरोधः ॥

स्वेद चार प्रकार का है, यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद। इन्हीं चार स्वेदों में अन्य सब (तेरह प्रकार के चरकोक्त) स्वेदों का अन्तर्भाव हो जाता है।

यथा—तापस्वेद में—जेन्ताक, कर्षू, कुटी, कूप, और होलाक का, ऊष्मस्वेद में—संकर, प्रस्तर, अश्म, घन, नाड़ी, कुम्भ और भूस्वेद इन छे का, द्रव स्वेद में—परिषेक और अवगाहन का समावेश है ॥३॥

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकन्दुककपालवालुकावस्त्रैः । प्रयुज्यते, शयानस्य चाङ्गतापो बहुशः खादिराङ्गारैरिति ॥

तापस्वेद—इनमें तापस्वेद हाथ, कांसी, कन्दुक, ठीकरा, रेत, वस्त्रों द्वारा किया जाता है। सोते हुये (लेटे हुये) के अंगों को खैर के अंगारों से बहुत बार गरम करके तापस्वेद दिया जाता है।

(कन्दूकम्-अपूपपाचनभाण्डम्-गोलवस्तु-तवा आदि)

वि० मन्तव्य—हाथ तपा-तपा कर, कांस्य पात्र को तपा २ कर, कन्दुक-रुई भरी पोट्टली, तकिया आदि को तपा कर, कपाल-मिट्टी के ठीकरों को तपा २ कर,- बालुका—तपे बालू की पोट्टली अथवा बालू की पोट्टली को तपा २ कर अथवा वस्त्र को तपा २ कर वेदना युक्त अवयव पर स्पर्श करना। तपे बालू पर चलना, बैठना, लेटना आदि। तपे बिस्तर पर लेटना, तपा तकिया लगाना आदि २। अंगारो को शय्या के नीचे रखना आदि २। स्वेद का विस्तृत वर्णन च० सू० अ० १४ में देखिये। सूखी रूखी वस्तुओं से जो स्वेदन किया जाता है वह ताप स्वेद कहलाता है ॥४॥

ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिच्यैदम्लद्रव्यैर्वा, तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत्। मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्वाथपूर्णा वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्। पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्या मुखमभिसन्धाय तस्मिञ्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्।

ऊष्मस्वेद के लिये-—ठीकरा, पत्थर, ईंट, लोहपिण्ड इनको अग्नि में लाल गरम करके इनके ऊपर ठण्डे पानी या कांजी के छींटे देकर (जब तक सौं सौं आवाज आये तब तक) इनको गीले वस्त्र में लपेटकर अंगप्रदेश पर स्वेद देवे। मांसरस, दूध, दही, स्नेह, कांजी, एरण्ड आदि वातहर पत्रों के क्वाथ से भरे पात्र को गरम करके, उस पात्र को कम्बल आदि से ढाँप कर (जिस प्रकार कि आज कल चाय की केटली को ढाँपने की प्रथा है, जिससे वह गरम रहे) उसकी गरमी रोगी ले। अथवा इस घड़िया के पार्श्व में छेद करके उसमें अथवा इस घड़िया के मुख पर एक दूसरी हांडी (घड़िया) औंधी (उल्टी) रखकर-दोनों का मुख जोड़कर, ऊपर की हांडी में छेद करके उस में हाथी के शुण्ड के आकार की मुड़ी हुई नलिका लगाकर (जिससे कि वाष्प सीधा जोर से न आये, अपि तु मुड़कर आये) स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—ऊष्म-वाष्प या भाप से जो स्वेदन किया जाता है वह ऊष्म स्वेद कहलाता है। हस्तिशुण्डाकार नाड़ी या नाली वही है जिसके द्वारा अर्क निकाला जाता है। इनकी उपयोगिता तथा निर्माण विधि श्लो० ६-७ में देखिये ॥५॥

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥
सुखा सर्वाङ्गगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम् ।६।
व्यामार्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः ।
स्वेदनार्थं हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका ॥७॥

भली प्रकार अभ्यंग (तैल का) किये, भारी गरम वस्त्र से ढाँपे हुए, आराम से बैठे, वात रोगी को हस्ति के शुण्ड के आकार की नाड़ी से स्वेद देवे। यह सब अंगों पर सुख से स्वेद देती है, मनुष्य को दुःख नहीं पहुँचाती। नाड़ी की लम्बाई आधा व्याम होनी चाहिये, तीन स्थान पर घुमाववाली (मुड़ी) और हाथी की सूंड के आकार की, किलञ्ज (जिसकी लड़कों की कलम बनती है, उसकी, या नड़सर, काश आदि की) बनी नाड़ी स्वेदन के लिये उत्तम है।

(व्याम— दोनों हाथों को कन्धे के समानान्तर सीधा फैलाने पर जो अन्तर बनता है वह व्याम है)। तीन स्थान पर मोड़ने से—वाष्प के साथ पानी नहीं आयेगा और भाप भी तेज नहीं होगी।

वि० मन्तव्य—कैलिञ्जी-किलिञ्ज कट अर्थात् चटाई का नाम है, कुश आदि की चटाई बनाकर और उसे मोड़कर बनाई नाली का नाम "कैलिञ्जी" है और वह हाथी की सूंड के समान, घड़े की ओर मोटी और स्वेदनीय मानव की ओर पतली होनी चाहिये। इसीका नाम हस्तिशुण्डिका नाली है॥

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः ।
काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥८॥
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः ।

पुरुष की लम्बाई के बराबर भूमि को खोदकर उसको खैर की लकड़ियों से गरम करके, इस पर दूध, कांजी या पानी का सिंचन करके, वातघ्न पत्तों से इसको ढांपकर रोगी को लेटाकर स्वेद देवे ॥८॥

पूर्ववत् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम् ॥९॥

अथवा शिला पर खैर की लकड़ियाँ जलाकर, राख को हटाकर, पानी का सिंचन करके, वातहर, पत्रों से ढांपकर—इस पर रोगी को लेटाकर स्वेद देवे ॥९॥

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं स्वेदयेत् ॥१०॥

चार द्वारवाली कुटिया को बनाकर उसमें पूर्व की भाँति (शिल तैल, वाष्प स्वेद की भाँति), उसके अन्दर बैठकर, इसके चारों द्वारों पर चलते हुए अंगारे रखकर रोगी को स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—यह कुटी स्वेद का विधान है, जैसे बंगलों में अग्न्याधान बने रहते हैं, शीत कटिबन्ध के

देशों में घर घर बने रहते हैं वही सब इस सूत्र द्वारा बतलाया गया है। इसका विशद वर्णन च० सू० अ० १४ में इस प्रकार है—

भूगृहेषु च जेन्ताकेषु उष्णगर्भगृहेषु च।
विधूमाऽङ्गारतप्तेषु स्वभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥२८॥
अनति-उत्सेध विस्तारां वृत्ताकारां अलोचनाम्।
घनभित्ति कुटीं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्।
प्रावाराऽजिनकौशेयकुथकम्बलगोलकैः।
हसन्तिकाभिः अंगारपूर्णाभिः तां च सर्वशः।
परिवार्य अन्तः आरोहेत् अभ्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥५४॥

पूर्ववत्—जैसा चि० अ० २६ के सू० १० में सोम-सेवन के लिये आगार-कुटी बनाने का विधान है तथा सू० अ० १६ में आगार बनाने का विधान है ॥१०॥

कोशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्, एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत् ॥११॥

फलीवाले धान्यों (उड़द आदि) को भली प्रकार स्वेदन कर चटाई या इसीके समान किसी कम्बल आदि पर बिछा कर, लेटकर, ढाँपकर स्वेद देवे। इसी प्रकार धूली, गोबर, तुष, भूसा, तिलखली की उष्णिमा से स्वेद देवे ॥११॥

उपनाहस्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः साल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत् ॥१२॥

उपनाह स्वेद में—वातघ्नमूल (एरण्ड मूल आदि) द्रव्यों के कल्कों को कांजी में पीसकर प्रचुर मात्रा में नमक मिलाकर, तैल आदि से स्निग्ध बनाकर सुहाता हुआ गरम गरम लेप करके स्वेदन देवे। इसी प्रकार काकोल्यादि; एलादिगण, सुरसादिगण, तिल, अलसी, सरसों का कल्क, खिचड़ी, खीर, उत्कारिका (लपसी) वेशवार (कीमिया किया मांस) साल्वण (वातव्याधि में कहा) द्रव्यों का लेप करके सूक्ष्म वस्त्र से बाँध कर स्वेद देवे।

वक्तव्य—पित्तानुगत वायु में सुरसादि काकोल्यादि या एलादिगण से, कफानुगत वायु में तिल, अलसी, सरसों से शुद्ध-वायु में—कृशरा, वेशवार या साल्वण द्रव्यों से स्वेद देवे।

वि० मन्तव्य—उष्ण एवं स्निग्ध द्रव्य बाँधना-मोटा लेप लगाना "उपनाह" स्वेद कहलाता है। फोड़ा आदिपर जो तीसी की पुल्टिस बाँधी जाती है वह स्वेदन के लिये ही बाँधी जाती है। लेप लगाकर ऊपर से वस्त्र-पट्टी बाँधना चाहिये। द्रव्यों को वस्त्र में बाँधकर-पोटली बनाकर स्वेदन करना ऊष्मस्वेद कहलाता है ॥१२॥

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यकाथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्, एवं पयोमांसरसयूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहेत, एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेदिति ॥१३॥

द्रवस्वेद—वातहर द्रव्यों के गरम क्वाथ से भरे कड़ाहे या द्रोणी (टब) में गोता लगाकर (बैठकर) स्वेद ले। इसी प्रकार दूध, मांसरस, यूष, तैल, कांजी, घी, वसा, मूत्रों में अवगाहन करे। इन्हीं द्रव्यों के सुहाते गरम कषायों से रोगी परिषेचन (स्नान) करे।

वि० मन्तव्य—किसी भी उष्ण द्रव में बैठना अथवा उससे स्नान करना अथवा पीड़ित अवयव पर परिषेचन करना-टकोर करना सब "द्रवस्वेद" कहलाता है। शीतकाल में उष्ण जल का स्नान भी द्रवस्वेद ही है। उक्त चारों प्रकार का स्वेद—चरक के शब्दों में अग्निगुण संश्रय है अर्थात् अग्नि के संयोग से किया जाता है ॥१३॥

तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्नः अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति ॥१४॥

इनमें तापस्वेद ऊष्मस्वेद ये विशेषरूप में कफनाशक हैं। उपनाहस्वेद वातनाशक है, किसी एक कफ या वायु से पित्त के मिले होने पर द्रवस्वेद देना चाहिये ॥१४॥

कफमेदोन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदमुत्पादयेदिति ॥१५॥

निरग्निस्वेद—वायु के कफ और मेद से मिला होने पर (जैसे ऊरुस्तम्भ में)—वायु रहित निवास धूप, भारी गरम ओढ़ना, कुश्ती आदि बलकार्य, मुसाफरी, व्यायाम, भार उठाना, क्रोध, इनसे रोगी का स्वेद उत्पन्न करे।

वि० मन्तव्य—निवातनिवास आदि से जो स्वेद उत्पन्न किया जाता है वह निरग्निस्वेद अर्थात् अग्नि के संयोग के बिना किया जाता है यथा—शीतकाल में निवातघर में रहना, गुरु ओढ़ना—दुलाई, कम्बल आदि से शरीर ढकना, आदि २ सब स्वेद के लिये ही किया जाता है ॥१५॥

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ॥१६॥

कहा भी है—चार प्रकार का जो स्वेद कहा है, वह दो प्रकार से बरता जाता है। यथा—यह स्वेद सम्पूर्ण शरीर में या शरीर के किसी अंग पर किया जाता है ॥१६॥

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैव हि देहिनाम्।
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः ॥१७॥
पश्चात् स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भानुपद्रवा।
सम्यक् प्रजाता काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता ॥

स्वेद्याः पूर्वं च पश्चाच्च भगन्दर्यर्शसस्तथा ।
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शेषाञ्छास्त्रे प्रचक्ष्महे ॥१९॥

जिन मनुष्यों को नस्य देना हो, बस्ति देनी हो, और जो शोधन के योग्य हों, उनको इन कार्यों से पहले स्वेदन देना चाहिये। शल्य निकालने के उपरान्त, उपद्रव रहित मूढगर्भा स्त्री, समय पर जिसने ठीक प्रकार प्रसव किया हो, इनको पीछे से स्वेद देना चाहिये। भगन्दर, अर्श और अश्मरी में रोगी को शस्त्र कर्म से पहले और पीछे स्वेद देना चाहिये। शेषों के लिये शास्त्र में कहेंगे ॥१७-१९॥

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे
स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित् ।
दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु
गच्छेद्भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम् ॥२०॥

स्वेद को जाननेवाला वैद्य बिना अभ्यंग (तैल अभ्यंग) के, शरीर का स्नेहन किये बिना कभी भी स्वेदन न देवे। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि बिना स्नेहन किया काष्ठ स्वेदन देने पर टूट जाता है, (ऐसे ही बिना स्नेहन किया शरीर. स्वेद से नष्ट हो जायेगा) ॥२०॥

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः
स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः ।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं
प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैर्यान्त्यशेषम् ॥२१॥

धातुओं में स्थित, अपने स्थानों में स्थित और कोष्ठ शाखा-मर्म-अस्थि-सन्धि आदि मार्गों में छिपे हुए जो दोष हैं वे स्नेह से क्लिन्न बनकर स्वेद देने पर द्रव बनकर कोष्ठ में आकर शोधन द्रव्यों से (वमन, विरेचन से)—सम्पूर्ण रूप में बाहर निकल आते हैं ॥२१॥

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं
भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम् ।
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां
सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः ॥२२॥

भली प्रकार दिया हुआ स्वेद—अग्नि की दीप्ति, कोमलता, त्वचा की निर्मलता, भोजन में रुचि, स्रोतों की निर्मलता को उत्पन्न करता है। निद्रा, तन्द्रा को नष्ट करता है जड़ बनी सन्धियों को शीघ्र ही क्रियाशील बनाता है ॥२२॥

स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं
शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य ।
सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेत-
न्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव ॥२३॥
स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः
स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः ।
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च
कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम् ॥२४॥

भली प्रकार स्वेद होने पर पसीने का टपकना, रोग का नाश, शरीर में हल्कापन, शीत की चाह, कोमलता, रोगी के भली प्रकार से स्विन्न होने पर यह लक्षण होते हैं। ठीक प्रकार स्वेद न होने पर इनसे विपरीत लक्षण होते हैं। स्वेद के अत्यधिक होने पर—सन्धियों में पीड़ा, विदाह, छालों की उत्पत्ति, पित्त, रक्त का प्रकोप, मूर्छा, भ्रान्ति, दाह, प्यास, क्लम होता है। ऐसी अवस्था में तुरन्त शीत उपचार करना चाहिये ॥२३,२४॥

पाण्डुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः
क्षामोऽजीर्णी चोदरार्तो विषार्तः ।
तृट्च्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो
नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी ॥२५॥
स्वेदादेषां यान्ति देहा विनाशं
नो साध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः ।
स्वेदैः साध्यो दुर्बलोऽजीर्णभक्तः
स्यातां चेद्द्वौ स्वेदनीयौ ततस्तौ ॥२६॥

पाण्डुरोगी, प्रमेही, रक्तपित्तरोगी, क्षयरोगी, क्षाम (निर्बल), अजीर्णरोगी, उदररोगी, विष से पीड़ित, प्यास, वमन से दुःखी, गर्भवती, मद्यपान किया, अतीसाररोगी, इनको स्वेद नहीं देना चाहिये। स्वेद देने से ये मर जाते हैं, अथवा इनके रोग असाध्य हो जाते हैं। दुर्बल एवं अजीर्ण में भोजन किया व्यक्ति, यदि ये दो मनुष्य किसी स्वेद-साध्य रोग से पीड़ित हों तो इनको स्वेद दे सकते हैं ॥२५,२६॥

एतेषां स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान् ।
मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥२७॥
सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी ॥२८॥
स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ।
सम्यक्स्विन्नं विमृदितं स्नातमुष्णाम्बुभिः शनैः ॥२९॥
स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गं च निवातशरणस्थितम् ।
भोजयेदनभिष्यन्दि सर्वं चाचारमादिशेत् ॥३०॥

अस्वेद के अयोग्य इन व्यक्तियों को यदि कोई रोग स्वेद-साध्य हो तो इनको मृदु स्वेद देना चाहिये। हृदय, मुष्क और आँख पर भी मृदु स्वेद देना चाहिये। सब प्रकार का स्वेद वायुरहित स्थान में और अन्न के जीर्ण होने पर करना चाहिये। शरीर पर स्नेह का अभ्यंग करके और आँखों को शीतल वस्तुओं से ढांप कर स्वेद देवे। स्वेदन देते समय हृदय पर मणिमुक्ता आदि शीतल द्रव्यों से बार-बार स्पर्श करते रहना चाहिये। भली प्रकार स्वेदन हो जाने पर शरीर का मर्दन करके, गरम पानी से धीरे-धीरे स्नान कराके, भली प्रकार अभ्यंग करके, अंगों को वस्त्र से ढांपकर वायु रहित घर में बिठाये। अनभिष्यन्दि सब भोजन देवे—सब आचार-व्यवहार-

परहेज आदि के नियम बता देवे।

वक्तव्य—"आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥१॥ वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदु नैव वा। मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥ सुशुद्धैर्नक्तकैः पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी। मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैर्भाजनैरपि। जलार्द्रैर्जलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत् ॥ रात्रौ बद्धं दिवा मुंचेन्मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम्। विदाहपरिहारार्थं स्यात् प्रकर्षस्तु शीतले ॥ चरक सू० अ० १४·६-१४।

आचार—"उष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारीक्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारानुदीर्णान्न न धारयेत् ॥ व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोधशोकौ हिमाऽऽतपौ। वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम् ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वमन विरेचन साध्य-उपद्रव चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वमन एवं विरेचन का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः ॥३॥

क्षीण हुए दोष बढ़ाने चाहिये, कुपित हुए दोष शान्त करने चाहिये, बढ़े हुए दोष निकालने चाहिये, समान रूप में स्थित दोषों की रक्षा करनी चाहिये, यह सिद्धान्त है।

वि० मन्तव्य—जैसे वातादि दोषों के बढ़ने पर विकार उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही उनके घटने (क्षीण होने) पर विकार उत्पन्न होते हैं। देखिये सु० सू० अ० १५ ॥३॥

प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्। तस्मात्तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय ॥४॥

दोषों को शरीर से निकालने में मुख्यतः वमन और विरेचन बरते जाते हैं। इसलिये इनकी कही हुई विधि को समझो।

वि० मन्तव्य—वात, पित्त एवं कफ ही केवल वमन विरेचन में नहीं निकलते अपितु उनके द्वारा दूषित पुरीषादि मल भी निकलते हैं, और रसादि धातुओं का दूषित जलीयांश भी निकलता है ॥४॥

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यन्दिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति संभोजयेत्तीक्ष्णाग्निं बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च ॥५॥

तीक्ष्ण अग्निवाले, बलवान्, बहुत दोषयुक्त, महान् रोग से पीड़ित और वमन सात्म्यवाले रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर और अभिष्यन्दी आहारों द्वारा दोषों को ढीला हुआ जानकर, कल इसको वमन पिलाऊँगा, ऐसा निश्चय करके इस रोगी को भरपेट भोजन करावे ॥५॥

भवति चात्र—

पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः।
स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते ॥६॥

कहा भी है—स्नेहन और स्वेदन दिये रोगी के दोषों को कोमल, कफवर्धक नाना प्रकार के भोजनों से उत्क्लेशित करके दिया हुआ वमन भली प्रकार प्रवृत्त होता है ॥६॥

अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य, असात्म्यबीभत्सदुर्गन्धदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि, तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत, तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात् ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुलीगन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्त वामयेत्तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति ॥७॥

फिर दूसरे दिन साधारण समय (न ठण्डे और न गरम) में—कोष्ठ की भिन्नता का विचार करके, जो ठीक हो, उस मात्रा में—वमन द्रव्य को कषाय, कल्क, चूर्ण, स्नेह इनमें से किसी एक रूप में पिलाये। असात्म्य (मन के अप्रिय), बीभत्स (घृणोत्पादक) दुर्गन्धवाले, देखने में अप्रिय वमन द्रव्य बनाये। विरेचन द्रव्य-मन के प्रिय, सुन्दर, सुगन्धवाले, प्रिय करके देवे। इसमें नाजुक प्रकृति, कृश, बालक, वृद्ध, डरपोक, इनको यदि वमन साध्य रोग हो जाये, तब दूध, दही, तक्र, यवागू, इनमें से कोई एक वस्तु गले तक (पेट भरकर) पिलाकर वमन देवे। औषध पी चुकने पर आग के सामने बैठकर हाथों से अग्नि को तापते हुए दो घड़ी प्रतीक्षा करे। अग्नि के संताप से पसीना उत्पन्न होने पर दोष ढीले बने हुए, अपने स्थानों से चलायमान होकर आमाशय की ओर जाते हुए जाने। फिर जी मचलाना (उबकाई) आरम्भ होने पर घुटनों के बल रोगी को बिठाकर विश्वस्त परिचारकों से माथा, पीठ, पार्श्व और गले से

पकड़वाकर, अँगुली से, या एरण्ड की नाल अथवा कमलनाल से गले को स्पर्श करते हुए-वमन कराये, जब तक कि भली प्रकार किये हुए वमन के लक्षण दिखाई न दें[1]।

वि० मन्तव्य—जानुमात्रासनोपविष्टं-जानुभर ऊँचे आसन (कुरसी) पर उपविष्ट-बैठे रोगी को भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में-अस्मै जानुसमं असंबाधं सुप्रयुक्ताऽऽस्तरण-उत्तर प्रच्छद-उपधानं, सोपाश्रयं आसनं उपवेष्टुं प्रयच्छेत्। इसको बैठने के लिए आराम कुरसी देवे। च० सू० अ० १५ ॥७॥

भवतश्चात्र—

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं
कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः।
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च
हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते ॥८॥

कहा भी है-ठीक प्रकार से वमन न होने पर लाला (कफ) का गिरना, हृदय का (आमाशय प्रदेश का) साफ न होना, और कण्डु होती है। अतिशय वमन होने पर पित्त की अति प्रवृत्ति, मूर्च्छा और हृदय एवं गले में पीड़ा होती है ॥८॥

पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते
शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च
स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत् ॥९॥

भली प्रकार वमन होने पर पहले कफ, पीछे पित्त आता है। हृदय, कण्ठ और शिर-निर्मल बन जाते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, कफ निकल जाता है, इन लक्षणों से रोगी को भली प्रकार वमन हुआ जाने।

चरक में—"क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च, यस्यैति सम्यग् वमितः स दुष्टः। हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ, तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे। दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डु हृत्खा विशुद्धिः गुरुगात्रता च। तृण्मोह-मूर्च्छानिलकोपनिद्रा, बलार्तिहानिर्वमनेऽति च स्यात्।" ॥९॥

सम्यग्वान्तं चैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥

भली प्रकार वमन हुआ जानकर इस रोगी को स्नेहन, विरेचन और शमन धूमों में से किसी एक धूम को सामर्थ्य के अनुसार पिलाकर परहेजी-के आचार नियम समझा देवे ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेह-
मुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां
यूषै रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु ॥११॥

कहा भी है-फिर अपराह्न में (सायंकाल) गरम पानी से स्नान करके शरीर के निर्मल और शुद्ध हो जाने पर कुलत्थी, मूंग, अरहर, इनके यूष के साथ या जांगल पशु-पक्षियों के मांस रसों से इसको भोजन देवे ॥११॥

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित् ॥

वमन करनेवाले व्यक्ति को, कास, स्रोतों में मलवृद्धि, स्वरभेद, निन्द्रा, तन्द्रा, मुख की दुर्गन्धता, विषजन्य उपद्रव, कफ का स्राव, ग्रहणीरोग कभी नहीं होते ॥१२॥

छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा
यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन
तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति ॥१३॥

जिस प्रकार वृक्ष के काटने पर जैसे पुष्प, फल, अंकुर एकदम से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वमन द्वारा कफ का शोधन होने से कफजन्य रोग भी शान्त हो जाते हैं ॥१३॥

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहक्रिमिश्रमार्तान्।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान् केवलवातरोगान् ॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान्।
ऊर्ध्वास्रपित्तिक्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ॥

वमन का निषेध-तिमिररोग, ऊर्ध्ववातरोगी, गुल्म, उदर, प्लीहा, क्रमिरोगी, थकान से पीड़ित, स्थूल (मोटे आदमी को), क्षतक्षीण, कृश, अतिवृद्ध, मूत्र रोग से पीड़ित, शुद्ध वातरोग से पीड़ित, स्वरभेद, अध्ययन में फँसे, भली प्रकार जिसे वमन में दुःख हो, दूषित (कठिन) कोष्ठ, प्यास से पीड़ित, बालकों को, ऊर्ध्वरक्तपित्त रोगी, भूखे, अतिरूक्ष, गर्भवती, उदावर्त्तरोगी और जिसे निरूह दिया गया है-इनको वमन न देवे।

ऊर्ध्ववायु का लक्षण—अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा कुपितेन च। करोत्यनिशमुद्गारमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥ (विस्तार के लिये देखिये चरक० सिद्धि स्थान अ० २) ॥१४,१५॥

अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः ॥१६॥

वमन के अयोग्य पुरुषों में वमन देने से रोग कष्ट साध्य हो जाते हैं। अथवा असाध्य हो जाते हैं, इसलिये इनको वमन नहीं देना चाहिये ॥१६॥

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः।
अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना ॥१७॥

अपवाद—इन उपरोक्त रोगियों को भी अजीर्ण होने पर वमन देना चाहिये, और जो विष से पीड़ित हों उनको भी वमन देवे और जिनमें कफ अतिशय बढ़ा हो उनको भी वमन

[1] वमनविधि—चरक के सूत्रस्थान (१५) उपकल्पनीय अध्याय में विस्तार से दी है, वह वहाँ देखनी चाहिये।

देवे। इनको वमन मुलैहठी के क्वाथ से (क्वाथ के साथ वमन द्रव्य मिलाकर) वमन देवे ॥१७॥

वाम्यास्तु-विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदर्बुदाविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्यपच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतीनासकण्ठौष्ठवक्त्रपाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति ॥१८॥

वमन के योग्य—विषदोष, शोषरोगी, स्तन्यदोष, (दूषित दूध), मदाग्नि, उन्माद, अपस्मार, श्लीपद, अर्बुद, विदारिका, मेद, प्रमेहरोग, ज्वर, अरुचि, अपची, आमातीसार, हृद्रोग, चित्तविभ्रम, विसर्प, विद्रधि, अजीर्ण, मुख प्रसेक (लालास्राव), जी मचलाना, श्वास, कास, पीनस, पूतीनासा, कण्ठपाक, ओष्ठपाक, मुखपाक, कर्णस्राव, अधिजिह्विका, उपजिह्विका, गुलशुण्डिका, अधोगामि रक्तपित्तरोगी, कफस्थानजन्य रोगों में और कफ रोगों से पीड़ित मनुष्यों को वमन देना चाहिये।[1] (ज्वर नवज्वर और विषम ज्वर में वमन देवे, डल्हण) ॥१८॥

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय च देयम्, अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति ॥१९॥

विरेचन भी स्नेहन, स्वेदन, किये और वमन कराये रोगी को देना चाहिये। क्योंकि वमन न किये हुए पुरुष में भली प्रकार विरेचन होने पर भी नीचे को आया हुआ कफ ग्रहणी (अग्नि) को ढांप लेता है, इससे भारीपन उत्पन्न होता है। अथवा प्रवाहिका उत्पन्न हो जाती है।

वक्तव्य—एकाहोपरतस्तद्वत् भुक्त्वाप्रच्छर्दनं पिबेत्।
स्नेहात्प्रस्कन्दनं जन्तुः त्रिरात्रोपरतः पिबेत्॥
वान्तं षडहसंसृष्टं पुनः संस्नेहितं क्रमात्।
उष्णं लघु त्र्यहं युक्तं षोडशेऽह्नि विरेचयेत्॥

चरक ॥१९॥

अथातुरं श्वो विरेचनं पाययिताऽस्मीति पूर्वाह्णे लघु भोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्। अथापरेऽहनि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेद्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत ॥२०॥

इस रोगी को कल विरेचन पिलाऊँगा, ऐसा मन में निश्चय करके, पूर्वाह्न में लघु (हल्का) भोजन देवे। से पीछे अनार के फल का रस या गरम पानी इसको पिलाये। फिर दूसरे दिन कफधातु के नष्ट हो जाने पर (कफ के घट जानेपर) आतुरोपक्रमणीय सु० सू० अ० ३५ वां से रोगी की परीक्षा करके इसको विरेचन औषध की मात्रा पीने के लिये देवे ॥२०॥

तत्र मृदुः, क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति यत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः, समदोषो मध्यमः, स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति। पीतौषधश्च तन्धनाः शय्याभ्याशे विरिच्यते ॥२१॥

कोष्ठ तीन प्रकार का है, मृदु, मध्यम और क्रूर। इनमें पित्त की अधिकतावाला कोष्ठ मृदु है, इसमें दूध से भी विरेचन हो जाता है। वायु और कफ की अधिकतावाला कोष्ठ क्रूर कोष्ठ है, इसमें कठिनाई से विरेचन होता है। समान दोषों वाला कोष्ठ मध्यम कोष्ठ है, इसे साधारण कहते हैं। इनमें मृदु कोष्ठवाले के लिये मृदु मात्रा, क्रूर में तीक्ष्ण मात्रा, और मध्यम में मध्यम मात्रा बरतनी चाहिए। औषध को पीकर औषध में मन को लगाकर, शय्या के समीप में ही विरेचन करता है। (जल्दी विरेचन होता है)।

वक्तव्य—द्वे पले ज्येष्ठमाख्यातं मध्यमं तु पलं भवेत्। पलार्धमुपयुञ्जीत कनीयस्तु विरेचनम् ॥२१॥

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान् धारयेद्बुधः।
निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत् ॥२२॥

विरेचन पीने पर बुद्धिमान् मनुष्य मल के वेग को न रोके। वायुरहित स्थान पर रहे, ठण्डे पानी का स्पर्श न करे, और बलात् प्रवाहण न करे ॥२२॥

यथा च वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति, एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति ॥२३॥

जिस प्रकार वमन ओषध में क्रम से-प्रसेक (थूक), औषध, कफ, पित्त और वायु क्रम से निकलते हैं, इसी प्रकार विरेचन में मूत्र, मल, पित्त, औषध, कफ, क्रम से निकलते हैं ॥२३॥

भवन्ति चात्र—
(स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो
दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः।)
हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाहकण्डू-
विण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरिक्ते।
मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः
शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम् ॥२४॥

कहा भी है—भली प्रकार विरेचन न होने पर—हृदय और उदर में मैलापन (भारीपन), जलन, कण्डू रहती है, वायु-मल, मूत्र का अवरोध रहता है। अति-

---

१ विस्तार के लिये चरक सिद्धिस्थान अ० २ में देखिये।

मात्रा में विरेचन होने पर मूर्च्छा, गुदभ्रंश, कफ का अतिस्राव, शूल का होना होता है ॥२४॥

गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु
नाभ्या लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं
सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत् ॥२५॥

पित्तस्थानगत वात मल, कफ और पित्त के निकल जाने पर नाभि प्रदेश पर हल्कापन, मन की प्रसन्नता, वायु के अनुलोम हो जाने पर (गुदा मार्ग से वायु लगने पर)–भली प्रकार विरेचन हुआ जाने ॥२५॥

"स्रोतो विशुद्धीन्द्रियसंप्रसादो, लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्। प्राप्तिश्च पिट्वित्तकफानिलानां सम्यग् विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण । चरक० सि० अ० १।१७।

मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं
न पाययेताहनि तत्र पेयाम् ।
क्षीणं कृषार्तं सुविरेचितं च
तन्वीं सुखोष्णां लघु पाययेच्च ॥२६॥

अग्निमान्द्य होने पर, क्षीण हुये, भली प्रकार विरेचन न होने पर उस दिन रोगी को पेया न पिलाये। क्षीण, प्यास से पीडित, भली प्रकार विरेचन हुये रोगी को पतली, हल्की, थोड़ी गरम पेया को पिलाये ॥२६॥

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां
धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति
विरेचनं सम्यगुपायमानम् ॥२७॥

भली प्रकार लिया हुआ विरेचन बुद्धि की निर्मलता, इन्द्रियों में बल, धातुओं में स्थिरता, बल, अग्नि की प्रदीप्ति, वय का देर में पकना (बुढ़ापा देर में आना), करता है ॥२७॥

यथौदकानामुदकेऽपनीते
चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां
पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः ॥२८॥

जल में रहनेवाले मछली आदि चर, कमल आदि स्थावर, जिस प्रकार जल के हटा लेने पर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विरेचन से पित्त को निकाल देने पर पित्तजन्य उपद्रवों का नाश हो जाता है ॥२८॥

मन्दाग्न्यतिस्नेहितबालवृद्ध-
स्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः ।
श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो
गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक् ॥२९॥
नवप्रतिश्यायमदात्ययी च
नवज्वरी या च नवप्रसूता ।
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः
स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च ॥३०॥

विरेचन के अयोग्य—मन्दाग्नि, अतिशयस्नेह दिया, बालक, वृद्ध, स्थूल, क्षतक्षीण, भय से डरा, थका हुआ, प्यास से पीडित, अजीर्ण में भोजन किया, गर्भवती, अधोगामि रक्तपित्तरोगी, नूतन प्रतिश्याय का, मदात्यय रोगी, नवज्वरी, नूतनप्रसववती, शल्य से पीड़ित और जिसका स्नेहन आदि नहीं किया, इनको विरेचन नहीं देना चाहिये ॥२९,३०॥

अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान्
विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम् ।
विरेचनैर्यान्ति नरा विनाश—
मज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः ॥३१॥

अपवाद—इनमें भी यदि पित्त की बहुत अधिकता हो तो, इनको भी धीरे धीरे विरेचन देवे। अविरेचनीय पुरुष मूर्ख से दिये हुए विरेचनों से नष्ट हो जाते हैं ॥३१॥

विरेच्यास्तु—ज्वरगरारुच्यर्शोऽर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधिपाण्डुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगन्दरच्छर्दियोनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबन्धविसूचिकालसकमूत्राघातकुष्ठ-विस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफवृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्ध-दुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यन्दशिरःकर्णाक्षिनासास्युगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधिपरीता इति ॥३२॥

विरेचन के योग्य पुरुष—ज्वर, गरविष, अरुचि, अर्श, अर्बुद, उदर, ग्रन्थि, विद्रधि, पाण्डुरोग, अपस्मार, हृदरोग, वातरक्त, भगन्दर, वमन, योनिरोग, विसर्प, गुल्म, पक्वाशय के रोग, विबन्ध, विसूचिका, अलसक, मूत्राघात, कुष्ठ, विस्फोट, प्रमेह, आनाह, शोफ, वृद्धि, शस्त्रक्षत, क्षार, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, अक्षिपाक, काच-तिमिर-अभिष्यन्द, शिरोरोग, कर्णपाक, अक्षिरोग, नासारोग, मुखरोग, गुदरोग, मेढ्रपाक, दाह, ऊर्ध्वरक्तपित्त, कृमिकोष्ठ में तथा पित्तस्थान गत अन्य दोषजनित रोगों में एवं पित्तरोग से पीड़ित व्यक्तियों को विरेचन देना चाहिये ॥३२॥

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम् ।
वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा ॥३३॥

विरेचन सर होने से (सरण शील होने से), सूक्ष्म होने से (सूक्ष्म स्रोतों में पहुँचने से), तीक्ष्ण होने से, उष्ण होने से, विकासी होने से (धातुओं को शिथिल करने के कारण), तथा अपने स्वभाव से दोषों को अधोमार्ग से निकालता है। वमन-सर होने से, सूक्ष्म होने से, तीक्ष्ण होने से, विकासी होने से, इससे विपरीत अर्थात् मुखमार्ग से दोषों को निकालता है। यह स्वभाव से ही है ॥३३॥

वक्तव्य–प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, यथा–"ऊर्ध्वानुलोमिकं यद्यत्तत्प्रभावप्रभावितम् (च० सू० अ० २६)। विरेचन और

वमन में गुणों की समानता होने पर भी कार्य की भिन्नता का कारण स्वभाव (प्रभाव) ही है परन्तु चरक में—अग्निवाय्वात्मकत्वात् ऊर्ध्वभागप्रभावात् औषधस्य ऊर्ध्वं उद्भिद्यते। सलिलपृथिव्यात्मकत्वात् अधोभागप्रभावाच्च औषधस्य अधः प्रवर्त्तते। उभयतश्च उभयगुणत्वात्।

चरक० कल्प० अ० १ ॥३३॥

यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम्।
गुणोत्कर्षाद्व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥३४॥

पचता हुआ विरेचन दोष को लेकर नीचे (अधोमार्ग से) जाता है। वमन-विना पचे ही, अपने गुण की उत्कर्षता के कारण ऊपर को जाता है ॥३४॥

कहा भी है—

अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम्, निर्हरेद् ॥ चरक कल्प० ॥३४॥

मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतितीक्ष्णं विरेचनम्।
न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितम् ॥३५॥

मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति में, अग्नि के प्रदीप्त होने से, अतितीक्ष्ण विरेचन अतिशीघ्र बाहर निकल जाने के कारण दोषों को भली प्रकार नहीं निकालता ॥३५॥

पीतं यदौषधं प्रातर्भुक्तपाकसमे क्षणे।
पक्ति गच्छति दोषांश्च निर्हरेत्तत् प्रशस्यते ॥३६॥

प्रातः पी हुई औषध आहार के पचने के समय तक (तीन-प्रहर तक) जीर्ण हो जाती है, और दोषों को निकालती है, वह प्रशस्त है ॥३६॥

दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः।
हरेत् प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत् प्रच्युतानपि ॥३७॥

दुर्बल व्यक्ति के प्रचुर एवं चलायमान हुए दोषों को थोड़ा थोड़ा करके बाहर निकाले। दोष यदि थोड़ी मात्रा में हो तो उनके चलायमान होने पर भी दुर्बल मनुष्य में वहीं इनको शान्त करे। (यथा—क्षय रोगी में—उसे विरेचन, वमन न देवे) ॥

हरेद्दोषांश्चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य वा।
चला ह्युपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम् ॥३८॥

बलवान् या दुर्बल व्यक्ति के पके हुए एवं चलायमान दोषों को शरीर से बाहर करे। क्योंकि इन दोषों की उपेक्षा करने पर ये दोष रोगी को देर तक पीड़ित करते हैं ॥३८॥

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः।
सन्धुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत् ॥३९॥

मन्दाग्नि एवं क्रूरकोष्ठवाले व्यक्ति की जाठराग्नि को यवक्षार, लवण मिश्रित घृतों से (षट्पलघृत आदि) प्रदीप्त करके, स्नेहन और स्वेदन देकर विरेचन दे ॥३९॥

स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात्।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम् ॥४०॥

स्नेहन और स्वेदन से स्निग्ध एवं स्विन्न शरीरों में औषधि द्वारा बलपूर्वक उत्क्लेशित हुआ दोष मार्गों में नहीं लीन होता, जिस प्रकार चिकने पात्र में पानी नहीं रहता।

वक्तव्य—"स विच्छिन्नः परिप्लवः स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावात् आमाशयमागत्य ॥च०॥४०॥

न चातिस्नेहपीतस्तु पिबेत् स्नेहविरेचनम्।
दोषाः प्रचलिताः स्थानाद्भूयः श्लिष्यन्ति वर्त्मसु ॥४१॥

अतिशय स्नेहपान होने पर स्निग्ध विरेचन नहीं पीना चाहिये। क्योंकि चलायमान हुये दोष फिर रास्तों में चिपक जाते हैं (स्नेह के कारण) ॥४१॥

विषाभिघातपिडकाशोफपाण्डुविसर्पिणः।
नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथा कुष्ठिप्रमेहिणः ॥४२॥

विषपान किये, चोट लगे, पिडका, शोफ, और पाण्डुरोगी, विसर्परोगी, कुष्ठ एवं प्रमेहरोगी को बहुत स्निग्ध किये बिना (रूक्ष अवस्था में ही) विरेचन देना चाहिये ॥४२॥

विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत्।
तेन दोषा हृतास्तस्य भवन्ति बलवर्धनाः ॥४३॥

स्नेहसात्म्य व्यक्ति को रूक्ष बनाकर, फिर से स्नेहन करके उसे विरेचन देना चाहिये। इस शोधन से निकाले हुए दोष इस रोगी के लिये बलवर्धक होते हैं। (दोषों के निकलने से बल अच्छी प्रकार बढ़ता है) ॥४३॥

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेतौषधं मृदु।
ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः ॥४४॥

जिस रोगी ने पहले कभी विरेचन औषध नहीं पी हो, उसे पहले मृदु औषध देवे। फिर कोष्ठ का ज्ञान हो जाने पर पुनः संशोधन करना चाहिये ॥४४॥

सुखं दृष्टफलं हृद्यमल्पमात्रं महागुणम्।
व्यापत्स्वल्पात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम् ॥४५॥

राजा या कोमल प्रकृति, मनुष्य सुख से पीने योग्य, जिसका फल देखा हुआ हो, मन के लिये प्रिय, थोड़ी मात्रावाली, अधिक गुणकारी, आपत्ति होने में थोड़ी हानि करनेवाली औषध पीयें ॥४५॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारु शुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते ॥४६॥

स्नेहन और स्वेदन किये बिना जो मनुष्य संशोधन पीता है, वह नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार शुष्क लकड़ी स्नेहन एवं स्वेदन किये बिना मोड़ने में टूट जाती है।

"शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथा न्यायं किं पुनर्जीवितो नरान् ॥

चरक० सू० अ० १४।५॥४६॥

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥४७॥

स्नेहन और स्वेदन से चलायमान हुये, कोष्ठ में पहुँचे हुये दोष स्निग्ध रसों से बाहर की ओर प्रेरित होकर वमन-विरेचन रूपी विशोधनों से सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वमन विरेचन व्यापत् चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—वमन एवं विरेचन का सेवन करने में जो कोई व्यापद्—आपद् या विपत्ति आ जाती हैं—खड़ी हो जाती हैं उनकी चिकित्सा इस अध्याय में कही गई है। ये व्यापद् चिकित्सक, रोगी, परिचारक अथवा औषध के दोष से होती हैं ॥१,२॥

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्याधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्; सामान्यमुभयोः—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं, हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलम्, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं, विबन्ध, अङ्गप्रग्रह इति ॥३॥

वैद्य और रोगी के कारण (इसी में औषध और परिचारक का अन्तर्भाव करना) वमन और विरेचन की व्यापत्ति (हानि-नुकसान) पन्द्रह प्रकार की होती है। यथा—इनमें वमन द्रव्य का नीचे जाना और विरेचन द्रव्य का ऊपर को जाना, यह अलग अलग है। शेष दोनों में सामान्य हानियाँ हैं, यथा—औषध का बचे रहना, औषध का पच जाना, दोष का थोड़ा निकालना, वातशूल, अयोग, अतियोग, जीवादान, आध्मान, परिकर्त्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, विबन्ध, अंगप्रग्रह (अंग का पकड़ा जाना) ॥३॥

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद्वमनमधो गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥४॥

इनमें भूख से पीड़ित या अतितीक्ष्ण अग्निवाले मृदुकोष्ठ व्यक्ति में रुका हुआ (जीर्ण हुआ) वमन अथवा भली प्रकार से वमन न होने पर वमन औषध विरेचन के समान सरत्व आदि गुणवाली होने के कारण नीचे अधो मार्ग में जाती है (विरेचन करती है)। इससे इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, दोष का उत्क्लेश होता है। इस अवस्था में रोगी को शीघ्र स्नेहन करके फिर पहले से अधिक तीक्ष्ण वामक औषध पिला कर वमन कराये ॥४॥

अपरिशुद्धामाशयस्योत्क्लिष्टश्लेष्मणः सशेषान्नस्य वाऽहृद्यमतिप्रभूतं वा विरेचनं पीतमूर्ध्वं गच्छति तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च, तत्राशुद्धामाशयमुल्बणश्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेत्, आमान्वये त्वामवत् संविधानम्, अहृद्येऽतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणयुक्तं च, अत ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्यौषधे न तृतीयं पाययेत्, ततस्त्वेनं मधुघृतफाणितयुक्तैर्लेहैर्विरेचयेत् ॥५॥

जिसका आमाशय शुद्ध (वमन से) नहीं हुआ, उसमें, अथवा बहुत बढ़े हुए कफवाले में, अन्न का पाचन पूर्ण न होने से, मन को अप्रिय या मात्रा में बहुत अधिक पिया हुआ विरेचन ऊपर की ओर आता है। इससे इच्छित फल नहीं होता, दोष का प्रकोप होता है। इसमें अशुद्ध आमाशयवाले एवं प्रचुर कफवाले रोगी को तुरन्त वमन करा के फिर अतिशय तीक्ष्ण विरेचन देवे। आम का योग होने पर आम की भाँति उपचार (लंघन-पाचन) करे। मन के लिये अप्रिय मात्रा में बहुत अधिक औषध की अवस्था में मन के लिये प्रिय और मात्रा में औषध देवे। इतने पर भी यदि औषध ऊपर की ओर जाये तो तीसरी बार विरेचन औषध न देवे। इस समय रोगी को मधु, घी, राब से युक्त लेहों से विरेचन देवे।

वि० मन्तव्य—उक्त दशाओं में अथच उक्त कारणों में से विरेचन औषध से विरेचन न होकर वमन हो जाता है परन्तु यदि आमाशय में कफ रहने से वमन हो गया हो तो पुनः विरेचन औषध से विरेचन हो जाता है परन्तु यदि तथापि वमन हो ही जाय तो फिर विरेचन औषध न देकर केवल मधुघृत एवं फाणित युक्त औषध (च्यवनप्राश आदि) से विरेचन करे। अनेकों की ऐसी प्रकृति होती है जिससे—विरेचन के औषध से वमन हो जाया करता है। यह भी एक व्यापद् ही है ॥५॥

दोषविग्रथितमल्पमौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा न स्रंसयति दोषान्, तत्र तृष्णा पार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गाराविशुद्धिश्च भवति; तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेदूर्ध्वभागिके, अधोभागिकेऽपि च सावशेषौषधमतिप्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तलक्षणमप्येवं वामयेत् ॥६॥

दोष से मिश्रित, मात्रा में थोड़ी औषध, पच जाने पर औषध दोषों को वमन या विरेचन रूप में बाहर नहीं करती। इससे प्यास, पार्श्वशूल, वमन, मूर्च्छा, पर्वभेद, जी मचलाना, बेचैनी, अथवा डकार की अशुद्धि होती है। इसमें वमन

औषध की अवस्था में गरल पानी से वमन कराये। विरेचन औषध में भी—औषध के शेष रह जाने पर, दोष के अतिशय चलायमान होने पर अतिशय बलवान् पुरुष को तथा भली प्रकार विरेचन न हुए लक्षण देखकर वमन कराये ॥६॥

क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति, तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्ह्रियमाणा व्याधिविभ्रमं बलविभ्रंशं चापादयन्ति, तमनल्पममन्दमौषधं च पाययेत् ॥७॥

क्रूर कोष्ठवाले पुरुष में या अतितीक्ष्ण अग्निवाले पुरुष में—थोड़ी औषध या थोड़े गुणवाली औषध भोजन की भाँति पच जाती है। इसमें उदीर्ण हुए दोष समय पर बाहर न निकालने पर रोग का विभ्रम (कोष्ठादि में क्षोभ), बल विभ्रंश (सन्धिविश्लेष आदि) को उत्पन्न कर देते हैं। इस रोगी को प्रचुर मात्रा में तीक्ष्ण औषध पिलाये।

वि० मन्तव्य—यह जीर्णौषधत्व नामक व्यापद् है ॥७॥

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तमल्पान दोषान् हन्ति, तत्र वमने दोषशेषो गौरवमुत्क्लेशं हृदयाविशुद्धिं व्याधिवृद्धिं च करोति, तत्र तं यथायोगं पाययित्वा वामयेद्दृढतरं; विरेचने तु गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोर्व्याधिवृद्धिं च करोति, तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद्दृढतरं, दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति ॥८॥

स्नेहन, स्वेदन दिये बिना अथवा थोड़े गुणवाली दी हुई औषध थोड़े दोषों को नष्ट करती है। इसमें वमन की अवस्था में दोष के रह जाने से भारीपन, जी मचलाना, हृदय की अविशुद्धि और रोग की वृद्धि होती है। इसमें रोगी को यथायोग्य औषध पिलाकर पहले से अधिक जोर से वमन कराये। विरेचन में गुदा में काटने की सी वेदना, आध्मान, शिर में भारीपन, वायु का बाहर न आना, रोग का बढ़ना होता है। इसमें रोगी को पुनः स्नेह और स्वेद देकर पहले से अधिक तीक्ष्ण विरेचन देवे। दृढ़ शरीरवाले एवं बहुत दोषवाले व्यक्ति में दोषों के चलायमान होने पर तीसरे दिन (विरेचन या वमन देने के तीसरे दिन) थोड़े गुणवाली औषध देवे।

वि० मन्तव्य—यह हीनदोषापहृतत्व नामक व्यापद् है ॥८॥

अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति, तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति, तं वातशूलमित्याचक्षते, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत् ॥९॥

बिना स्नेहन स्वेदन किये, या रूक्ष औषध के सेवन से अथवा ब्रह्मचर्यव्रत पालन न करने से वायु कुपित हो जाती है। इसमें कुपित वायु पार्श्व, श्रोणि, मन्या, मर्म (हृदय) में शूल, मूर्च्छा, भ्रम, मद, संज्ञानाश कर देती है। इस अवस्था को वातशूल कहते हैं। इसमें स्नेह का अभ्यंग करके उड़द आदि धान्यों से स्वेद देकर मुलैहठी के क्वाथ से सिद्ध किये तैल से अनुवासन देवे।

वि० मन्तव्य—यह वातशूल नामक व्यापद् है ॥९॥

स्नेहस्वेदाभ्यामविभावितशरीरेणाल्पमौषधमल्पगुणं वा पीतमूर्ध्वमधो वा नाभ्येति दोषांश्चोत्क्लेश्य तैः सह बलक्षयमापादयति, तत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति, तमयोगमित्याचक्षते; तमाशु वामयेन्मदनफललवणाम्बुभिर्विरेचयेत्तीक्ष्णतरैः कषायैश्च । दुर्वान्तस्य तु समुत्क्लिष्टा दोषा व्याप्य शरीरं कण्डूश्वयथुकुष्ठपिडकाज्वराङ्गमर्दनिस्तोदनानि कुर्वन्ति, ततस्तानशेषान्महौषधेनापहरेत् । अस्निग्धस्विन्नस्य दुर्विरिक्तस्याधोनाभेः स्तब्धपूर्णोदरता शूलं वातपुरीषसंगः कण्डूमण्डलप्रादुर्भावो वा भवति, तमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्तीक्ष्णेन । नातिप्रवर्तमाने तिष्ठति वा दुष्टसंशोधने तत्सन्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत् . पाणितापैश्च पार्श्वोदरमुपस्वेदयेत् , ततः प्रवर्तन्ते दोषाः । अनुप्रवृत्ते चाल्पदोषे जीर्णौषधं बहुदोषमहःशेषं बलं चावेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात् । अप्रवृत्तदोषं दशरात्रादूर्ध्वमुपसंस्कृतदेहं स्नेहस्वेदाभ्यां भूयः शोधयेत् । दुर्विरेच्यमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत् । ह्रीभयलोभैर्वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजः श्रोत्रियाश्च भवन्ति, तस्मादेते दुर्विरेच्याः, बहुवातत्वात्; अत एव ताननतिस्निग्धान् स्वेदोपपन्नान् शोधयेत् ॥१०॥

स्नेहन और स्वेदन किये हुये शरीरों में थोड़ी मात्रा में या थोड़े गुणवाली पी हुई औषध ऊपर या नीचे नहीं जाती (वमन या विरेचन नहीं करती)। अपितु दोषों को उत्क्लेशित करके उनके साथ में बलक्षय उत्पन्न कर देती है। इससे आध्मान, हृदयग्रह, तृष्णा, मूर्च्छा और दाह होता है। इस अवस्था को अयोग कहते हैं. इस रोगी को तुरन्त मैनफल और सैन्धव के कषाय से वमन कराये और अतितीक्ष्ण कषायों से विरेचन देवे। भली प्रकार वमन न होने पर अतिशय उत्क्लेशित हुए दोष शरीर में फैलकर कण्डु, शोथ, कुष्ठ, पिड़का, ज्वर, अंगमर्द, निस्तोद उत्पन्न करते हैं। इन सब दोषों को सम्पूर्ण रूप में औषध की बड़ी मात्रा से निकाले। स्नेहन स्वेदन किये बिना विरेचन लेने पर या भली प्रकार विरेचन न होने पर नाभि के नीचे उदर में जड़ता और भारीपन, शूल, वायु, मल का अवरोध, कण्डु, चकत्तों का उत्पन्न होना होता है। इसको आस्थापन (निरूह) देकर, फिर से स्नेह करके

स्नेह करके तीक्ष्ण विरेचन देवे। विरेचन के अन्दर रुक जाने पर या ठीक प्रकार से प्रवृत्त न होने पर, संशोधन के दूषित होने पर (क्रियाशील न होने पर) इसके तेज को बढ़ाने के लिये गरम पानी पिलाये। हाथों को आग पर गरम करके पार्श्व और उदर पर सेक करे। इससे दोष प्रवृत्त होते हैं। दोष के पीछे से प्रवृत्त होने पर, या थोड़ी मात्रा में प्रवृत्त होने पर, औषध के जीर्ण होने पर, दोष की प्रचुरता को देखकर यदि दिन शेष हो तो, रोगी बलवान् हो—तो इसको फिर औषध की मात्रा पिलाये। दोष के प्रवृत्त न होने पर दस दिन के पीछे स्नेहन और स्वेदन से शरीर को संस्कृत बनाकर फिर संशोधन देवे। जिसे कठिनाई से विरेचन होता हो, उसे, निरूह देकर—फिर स्नेहन करके विरेचन देवे। भय, लज्जा, लोभ से, उपस्थित वेगों को रोकने के स्वभाववाली प्रायः स्त्रियाँ, राजसेवक, वणिक् और श्रोत्रिय होते हैं। इसलिये इनको कठिनाई से विरेचन होता है। क्योंकि इनमें वायु की अधिकता रहती है। इसलिये इनको अतिशय स्नेहन देकर—स्वेद कराके फिर शोधन देवे।

"सदातुरा, श्रोत्रिय राजसेवकाः तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः॥ चरक सि० अ० १२-२५।

वि० मन्तव्य—यह "अयोग" (हीनयोग) नामक व्यापद् है॥१०॥

स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रमतिमृदुकोष्ठस्य वाऽतितीक्ष्णमधिकं वा दत्तमौषधमतियोगं कुर्यात्। तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तं घृतेनाभ्यज्यावगाह्य शीतास्वप्सु शर्करामधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वं, विरेचनातियोगे कफस्यातिप्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य, तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तमतिशीताम्बुभिः परिषिच्यावगाह्य वा शीतैस्तण्डुलाम्बुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्, पिच्छाबस्तिं चास्मै दद्यात्, क्षीरसर्पिषा चैनमनुवासयेत्, प्रियङ्ग्वादिं चास्मै तण्डुलाम्बुना पातुं प्रयच्छेत्, क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत्॥

अतिमात्रा में स्नेहन और स्वेदन करने पर, मात्रा में अधिक औषध पीने से, अतिमृदु कोष्ठ व्यक्ति में अतितीक्ष्ण या अधिक मात्रा में दी हुई औषध अतियोग को उत्पन्न कर देती है। इसमें वमन का अतियोग होने पर पित्त की अतिप्रवृत्ति, बल की हानि, वायु का अतिशय कोप होता है। इसमें घी से अभ्यंग और शीतल जल से स्नान करके दोषों के अनुसार शर्करा मधुमिश्रित लेह चाटने को देवे। विरेचन के अतियोग में कफ की अतिशय प्रवृत्ति, और पीछे से रक्त मिश्रित मल या कफ आता है। इसमें भी बल की हानि और वायु का अतिशय प्रकोप होता है। इसमें रोगी को अतिशीतल जल में गोता लगवाकर या स्नान कराके, चावलों के अतिशीतल धोवन में मधु मिलाकर वमन कराये। पिच्छाबस्ति देवे। दूध से निकाले घी से अनुवासन दे। प्रियंगु आदि को कर्षमात्रा में चावल के पानी से पीने को देवे। दूध या मांसरस किसी एक से भोजन कराये।

वि० मन्तव्य—यह अतियोग (वमन विरेचन अधिक होना) नामक व्यापद् है॥११॥

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमपसरणमक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञ्यमित्युपद्रवा भवन्ति; तमजासृक् चन्दनोशीराञ्जनलाजचूर्णैः सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्, फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुङ्गाभिर्वा वटादीनां पेयां सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा, पयसा जाङ्गलरसेन वा भोजयेत्, अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्; जिह्वामतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रघृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वाऽन्तः पीडयेत्, अन्तःप्रविष्टायामम्लमन्ये तस्य पुरस्तात् खादयेयुः, व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्, हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्, तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्॥१२॥

इसी अतियोग में वमन का अतियोग बहुत बढ़ जाने पर थूक में या वमन में रक्त आता है। इसमें जिह्वा आगे निकल आती है, या पीछे मुड़ जाती है, आँखें पलट जाती हैं, जवाड़ी बन्द हो जाती हैं, प्यास, हिक्का, ज्वर, विसंज्ञा ये उपद्रव होते हैं। इस रोगी को बकरी का रक्त—चन्दन, खस, सुरमा, लाजाओं का चूर्ण इनसे शर्करा के शर्बत में मन्थ (घोल) बनाकर पिलाये। अनार बिजौरे आदि फलों के रस में घी, मधु, शर्करा मिलाकर बरगद आदि वृक्षों के कोपलों से बनाई पेया को पिलाये। अथवा मल को बाँधनेवाले (कुटज, बिल्व आदि) द्रव्यों को दूध या जांगल मांस रस से अथवा मधु से देवे। अतिशय निकले रक्त की चिकित्सा विधि बरते। जीभ बहुत बाहर निकल आई हो तो इस पर मरिच आदि कटु द्रव्य, लवण का चूर्ण या तिल-द्राक्षा का लेप करके अन्दर को दबाये। अन्दर घुस जाने पर दूसरे मनुष्य इसके सामने खट्टे फलों को खायें। आँख के पलट जाने पर आँखों पर घी का अभ्यङ्ग करके दबाये। जवाड़ी बन्द हो जाने पर वात-कफ नाशक नस्य और स्वेद देवे। तृष्णा आदि में उनकी अपनी चिकित्सा करे। विसंज्ञा (संज्ञाहीन) होने पर वीणा, वेणु (बंसरी) या गीत की ध्वनि सुनावे॥१२॥

विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति, ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति, तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्, निःसर्पितगुदस्य

गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत् क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत, वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत, न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं वस्तिभिरुपाचरेत्, शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्, न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु ॥१३॥

विरेचन के अतियोग में चन्द्रिकावाला मल (जलरूप में) बाहर आता है, फिर मांस के धोने के समान मल आता है, और पीछे से शुद्ध रक्त आता है। फिर गुदा का बाहर आना, कम्पन और वमन के अतियोगवाले उपद्रव हो जाते हैं। इसकी भी चिकित्सा अतिशय निकले रक्त की भाँति करे। गुदा के बाहर निकलने पर गुदा पर अभ्यङ्ग करके, स्वेदन देकर अन्दर को दबाये अथवा क्षुद्र रोग में कही गुदभ्रंश की चिकित्सा करे। कम्पन में वातव्याधि की चिकित्सा करे। जिह्वानिःसरण आदि की चिकित्सा सू० १२ में कह दी है। शुद्ध रक्त के अतिमात्रा में प्रवृत्त होने पर गाम्भारीफल, बेर, दूर्वा, खस से सिद्ध किये दूध में घृत का मण्ड और सुरमा मिलाकर इसे अतिशीतल करके निरूह देवे। न्यग्रोधादि गण के कषाय, गन्ने का रस, घी, रक्त इनसे मिली बस्तियों से चिकित्सा करे। थूक में रक्त आने पर रक्त पित्त और रक्तातीसार की चिकित्सा करे। खान पान में न्यग्रोधादिगण का व्यवहार करे।

वि० मन्तव्य—सू० १२ तथा १३ में जीवादान नामक व्यापद् का वर्णन किया गया है। सू० १४ में रक्त की शुद्धि एवं अशुद्धि की पहचान बतलाई गई है। यदि शुद्ध रक्त जा रहा हो तो तत्काल रोकने का प्रयत्न करे अन्यथा रक्तपित्त, रक्तातिसार तथा रक्तार्श के समान व्यवस्था करे। कभी-कभी रक्तार्श आदि के रोगी को उष्णवीर्य विरेचन दे देने पर अर्श का रक्त चालू हो जाता है ऐसी दशा में उक्तविधि से जान लिया जाता है कि यह रक्त रक्तार्श का सञ्चित एवं दूषित रक्त है अथवा जीव शोणित है ॥१३॥

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं सोतं वा क्षिपेत्, यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं, सभक्तं च शुने दद्याच्छक्तुसंमिश्रं वा, स यद्युपभुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्, अन्यथा रक्तपित्तमिति ॥१४॥

शुद्ध रक्त और अशुद्ध रक्त की परीक्षा के लिये रक्त में रुई का फोया या कपड़े का टुकड़ा भिगोये। यदि गरम पानी से धोने पर भी कपड़े पर दाग बना रहता है, तो इसको शुद्ध रक्त जानना चाहिये। इस रक्त को भोजन में मिलाकर कुत्ते को देवे। अथवा सत्तु में मिलाकर दे। यदि कुत्ता इसे खा जाये तो इसको जीवरक्त (शुद्धरक्त) समझे, अन्यथा अशुद्ध रक्त समझे ॥१४॥

सशेषान्नेन बहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधमाध्मापयति, तत्रानिलमूत्रपुरीषसंगः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभंगो गुदबस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति, तं चाध्मानमित्याचक्षते, तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत् ॥१५॥

अन्न के शेष रह जाने पर (न पचने पर), बहुत दोषवाले पुरुष के, रूक्षप्रकृति, वातबहुल कोष्ठवाले पुरुष के वात एवं रूक्ष औषध पीने पर औषध आध्मान उत्पन्न करती है। इससे वायु-मूत्र मल का अवरोध होता है, पेट चढ़ जाता है (तनता है), पड़खे फटते हैं, गुदा और बस्ति में चुभने की सी दर्द, भोजन में अरुचि होती है। इसको आध्मान कहते हैं। इसमें रोगी को स्वेदन देकर, आनाह (अनुलोमन), वर्त्ति (गुदावर्त्ति), दीपन बस्ति से चिकित्सा करे।

वक्तव्य—गुदवर्त्ति,—फलश्यामादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः। धूममाषवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम्॥ कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत्। अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे॥ अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम्॥ च० सि० अ० ७।२३-२५।

वि० मन्तव्य—यह आध्मान नामक व्यापद् है ॥१५॥

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वाऽतितीक्ष्णोष्णातिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति, तत्र गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तनमनिलसंगो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति, तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बुपरिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत् ॥१६॥

निर्बल शरीर, अतिमृदुकोष्ठ, मन्दाग्नि अथवा रूक्षव्यक्ति अतितीक्ष्ण उष्ण अतिलवण या अतिरूक्ष औषध को जब पीता है, तब पी हुई औषध पित्त और वायु को दूषित करके परिकर्त्तिका रोग को उत्पन्न करती है। इसमें गुदा, नाभि, मेढ्र, और वस्ति शिर में दाह के साथ काटने के समान वेदना, वायु का अवरोध, वायु की गड़गड़ाहट और भोजन में अरुचि होती है। इसमें पिच्छाबस्ति को मधु, मुलैहठी, काले तिल का कल्क और घी के साथ देवे। शीतल जल से स्नान कर चुकने पर इसको दूध के साथ भोजन देकर, मुलैहठी से सिद्ध घृतमण्ड या तैल से अनुवासन देवे।

वि० मन्तव्य—यह परिकर्त्तिका नामक व्यापद् है इसमें गुद (गुदवलियों में), नाभि (अन्त्र में), मेढ्र (मूत्र मार्ग में) तथा बस्तिशिरस्—वृक्क एवं मूत्रवह

स्रोतों में परिकर्त्तन-खरोंच पड़ जाते हैं। उसी के रोपणार्थ पिच्छा बस्ति का विधान है। यदि बस्ति की व्यवस्था न हो तो विलगिरी, ईसबगोल आदि पिच्छिल द्रव्य खिला देवे।१६।

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति, ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति, तत्र दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः, तं परिस्रावमित्याचक्षते, तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तैरास्थापयेत्, उपशान्तदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत् ॥१७॥

क्रूरकोष्ठव्यक्ति को या अतिशय प्रचुर दोषवाले को दी हुई मृदु औषध दोषों को उत्क्लेशित करके सम्पूर्ण रूप में बाहर नहीं निकालती। इससे वे दोष परिस्राव उत्पन्न करते हैं। इससे दुर्बलता, पेट में गड़गड़ाहट, अरुचि, अंगों में शिथिलता होती है। वेदना के साथ पित्त और कफ बहते हैं। इसको परिस्राव कहते हैं। इसमें अजकर्ण (साल), धावड़ी, सांदन, ढाक, बला, इनके क्वाथ में मधु मिलाकर आस्थापन बस्ति देवे। दोष के शान्त होने पर स्नेहन देकर फिर से संशोधन देवे।

वि० मन्तव्य—यह परिस्राव नामक व्यापद् है। इसमें पुरीष रहित केवल पित्त एवं कफ का स्राव बार २ होता रहता है।

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वातवर्च उदीरयति वेगाघातेन वा, तदा प्रवाहिका भवति, तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमाणः कफमुपविशति, तां परिस्रावविधानेनोपचरेत् ॥१८॥

अतिरूक्ष या अतिस्निग्ध पुरुष में बरती हुई औषध अनुपस्थित वायु और मल को प्रेरित करके अथवा मल को रोककर प्रवाहिका उत्पन्न करती है। इसमें वायु के साथ, दाह, शूल के साथ भारी, चिकना, श्वेत, काला, रक्त मिश्रित अथवा मात्रा में बहुत कफ प्रवाहण करने पर आता है। इसकी चिकित्सा परिस्राव विधि से करे।

वक्तव्य—"भेषजेनावचारितेनाप्तयोर्वा वातवर्चसोरुदीरणेन वेगाघातेन वा प्रवाहिका भवति।" यह पाठ रुचिकर है।

वि० मन्तव्य—यह प्रवाहिका नामक व्यापद् है। इसमें प्रवाहिका के सब लक्षण होते हैं देखिये उ० तं० अ० ४० का श्लो० १३८ १३९ तथा इसके आगे उसकी चिकित्सा-प्रवाहण अर्थात् काँखना-मल-प्रवृत्ति के लिये प्रयत्न करना-बल लगाना।

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाच्छेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते, उद्ताक्षो जिह्वां खादति, प्रताम्यत्यचेताश्च भवति, तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः, तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टिमधुकसिद्धेन च तैलेनानुवासयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रायेण चैनं बस्तिभिरुपाचरेत् ॥१९॥

जो व्यक्ति ऊपर या नीचे की ओर प्रवृत्त औषध के वेग को मूर्खता से रोक देता है, उसमें दोष हृदय की ओर जाते हैं। इसमें हृदय के सन्ताप से वेदना के कारण अतिशय दुःखी होता हुआ दाँतों को दबाता है, आँखें बाहर आ जाती हैं, जीभ काटता है, मूर्च्छा आती है, बेभान हो जाता है। मूर्ख लोग इसकी चिकित्सा नहीं करते। इस पर घी का अभ्यंग करके उड़द आदि धान्यों से स्वेद देवे। मुलैहठी से सिद्ध तैल का अनुवासन देवे। इसको तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवे, चावलों के पानी में मुलैहठी का कल्क मिलाकर वमन कराये। दोष की अधिकता के अनुसार बस्ति से इसकी चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—यह हृदयोपसर्पण नामक व्यापद् है। मूर्ख (जो इस व्यापद् का ज्ञाता नहीं है) चिकित्सक इस व्यापद् के उक्त भीषण लक्षणों को देखकर घबरा जाते हैं—असाध्य मानकर चिकित्सा से विरत हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान चिकित्सक इस दशा को वमनविरेचन की व्यापद् मात्र समझ कर उक्त उपचार करे। न गच्छेत्विभ्रमं तत्र च० सि० अ० ६

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत, तस्य दोषाः स्रोतःस्ववलीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापाद्य विबध्यन्ते, तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति, तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत, अधोभागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवाम्लमूत्रसंसृष्टं विरेचनाय पाययेत्, आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्, यथादोषमाहारक्रमं च उभयतोभागे तूपद्रवविशेषान् यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥२०॥

जिस पुरुष के दोष ऊपर या नीचे प्रवृत्त हुए हैं, वह मनुष्य जब शीतल घर, शीतल पानी या वायु का अथवा अन्य शीतल आहार-विहार का सेवन करता है, उसके दोष स्रोतों में विलीन होते हुए ठोसरूप बनकर वायु-मूत्र, मल को रोककर स्वयं रुक जाते हैं। इससे पेट का चढ़ना, दाह, ज्वर, तीव्र वेदना होती है। इसको तुरन्त वमन कराके जो ठीक समझे वह चिकित्सा करे। विरेचन की अवस्था में—अधोभागहर (विरेचन) द्रव्य को सैन्धव, कांजी, मूत्र में मिलाकर विरेचन के लिये देवे। दोष के अनुसार आस्थापन और अनुवासन देवे। दोष के अनुसार ही आहार विधि बरते। वमन विरेचन दोनों की अवस्था में दोषों के अपने अनुसार उपद्रवों की चिकित्सा करे। (यथा कफ में, दूध-पित्त में, मांस रस-वायु में देवे)।

वि० मन्तव्य—यह विबन्ध नामक व्यापद् है। इसके आगे "अङ्ग प्रग्रह" नामक व्यापद् का वर्णन होना चाहिये किसी भी प्रति में वह खोजने पर भी उपलब्ध नहीं हुआ और श्रीहाराणचन्द्रजी ने तो सू० ३ में गिनी गई व्यापदों में से अंगप्रग्रह नामक व्यापद् को निकाल ही दिया है। स्यात् इन उपलब्ध प्रतियों में उसके वर्णन को न पाकर आप ने ऐसा साहस कर डाला है और श्रीयादव शर्मा ने भी "अङ्गप्रग्रहः" इत्यंशं न पठति हाराणचन्द्रः। टिप्पणी लिख डाली है परन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि अंगप्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णनात्मक सूत्र (पाठ) नष्ट हो गया है, रहा अवश्य होगा क्योंकि च० सि० अ० ६ में गात्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णन पाया जाता है—

आध्मानं परिकर्त्तिश्च स्रावो हृद्-गात्रयोर्ग्रहः।
जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥२६॥
अयोगात् अतियोगात् च दश एता व्यापदः स्मृताः।
प्रेष्य (परिचारक) भैषज्यवैद्यानां वैगुण्यात् आतुरस्य च ॥

और विवरण में—गात्र-अङ्ग-ग्रह-प्रग्रह नामक व्यापद् का वर्णन है—

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा।
रुद्धोऽति वाऽविशुद्धस्य गृह्णाति अङ्गानि मारुतः ॥७६॥
स्तम्भवेपथु निस्तोद सादो द्वेष्टन मन्थनैः।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत् ॥७७॥

और सु० चि० अ० ३६ के श्लो० ४४-४५ में अंगग्रह नामक व्यापद् का लक्षण एवं चिकित्सा लिखी गई है। इन सब कारणों से उक्त व्यापद् को व्यापदों की श्रेणि से निकाल देना उचित नहीं है ॥२०॥

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनं, यदधः परिस्रवणं स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वं शुष्कोद्गारा इति ॥२१॥

विरेचन में जो गुदपरिकर्त्तिका है, वही वमन में गले का कुरकुराना (क्षत-खरोंच होना) है। विरेचन में जो परिस्राव है, वमन में वही कफ प्रसेक है। विरेचन में जो प्रवाहिका है, वमन में वही शुष्क उद्गार है ॥२१॥

भवति चात्र—

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दश पञ्च च तत्त्वतः।
एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः ॥२२॥

कहा भी है—

परमार्थ रूप से जो ये पन्द्रह व्यापदायें कही हैं, ये विरेक के अतियोग, मिथ्यायोग एवं अयोग के कारण उत्पन्न होती हैं।

वक्तव्य—विरेचन शब्द वमन और रेचन दोनों के लिये है। यथा—तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्। उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनशब्दं लभते॥ च० (२) आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः। जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः। अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः। प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च। शुद्धोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमतिबाध्यते ॥

चरक० सि० अ० ६।२५-२६ ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नेत्रबस्ति प्रमाणप्रविभाग चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—नेत्र-नली जो एक ओर से बस्ति में बाँध दी जाती है और दूसरी ओर से गुद, भग एवं मूत्रमार्ग में प्रविष्ट की जाती है। बस्ति—थैली जो मृग भैंस आदि का मूत्राशय लेकर उपयोग में लाया जाता है अथवा गाढ़े वस्त्र की थैली, आजकल तो रबड़ की भी बनाई जाती है, इसमें आधेय द्रव भरा जाता है। नेत्र एवं बस्ति के संयुक्त उपकरण का नाम भी बस्ति है और इसके द्वारा जो द्रव प्रयुक्त किया जाता है उसका नाम भी बस्ति है। इन सब संज्ञाओं को समझकर इस अध्याय का अध्ययन कीजिये! बस्ति को 'पिचकारी' कहते हैं। आजकल केवल कांच की पिचकारी भी बनाई जाती हैं। और पीतल आदि धातु की भी ॥१,२॥

तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककर्मकरत्वाद्बस्तेः; इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधनसंशमनसंग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहन्ति, वयः स्थापयति।

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥४॥

स्नेहादि कर्मों में आचार्य बस्ति को सबसे मुख्य मानते हैं। क्योंकि—बस्ति अनेक कार्यों को सिद्ध करती है, बस्ति नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग के कारण दोषों का संशोधन, संशमन, संग्रहण करती है, क्षीण शुक्र को शुक्रवान् बनाती है, कृश को पुष्ट-मोटा बनाती है, मोटे को पतला करती है, आँखों को तेजस्वी

करती है, वलि और पलित को मिटाती है, वय को स्थिर करती है। भलीप्रकार सेवन की हुई बस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्यता और दीर्घायु को उत्पन्न करती है।

वक्तव्य—"तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ॥ (२) बस्तिः वयःस्थापयिता सुखायुःबलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च। चरक सि० अ० १ ॥४॥

तथा ज्वरातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकाङ्गसर्वाङ्गरोगाध्मानोदरयोनिशूलशर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशोणितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्ग्रहहनुमन्याग्रहशर्कराश्मरीमूढगर्भप्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते ॥५॥

ज्वर, अतिसार, तिमिर, शिरोरोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकांगरोग, सर्वाङ्गरोग, आध्मान, उदर, योनिशूल, शर्करा, शूल, वृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वात-मूत्र-मल-उदावर्त्त, शुक्रनाश, आर्त्तवनाश, स्तन्यनाश, हृद्ग्रह, मन्याग्रह, हनुग्रह, शर्करा, अश्मरी, मूढगर्भ आदि रोगों में विशेषतः बस्ति बरती जाती है ॥५॥

भवति चात्र—

वस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते।
संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा ॥६॥

कहा भी है—

वायु में, पित्त में, कफ में, रक्त में, दोषों के संसर्ग में और दोषों के सन्निपात में बस्ति ही उत्तम है ॥६॥

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुलद्व्यङ्गुलार्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि। तेषु चास्थापनद्रव्यप्रमाणमातुरहस्तसंमितेन प्रसृतेन संमितौ प्रसृतौ द्वौ चत्वारोऽष्टौ च विधेयाः ॥७॥

वर्षान्तरेषु नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि।
वयोबलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम् ॥८॥

इसमें एक साल के बच्चे के लिये छै अंगुल, आठ साल के लिये आठ अंगुल, और सोलह साल के लिये दस अंगुल लम्बी होनी चाहिये। इनकी मोटाई क्रमशः कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमांगुलि के बराबर, आगे इनमें कर्णिका डेढ अंगुल, दो अंगुल, एवं साढे तीन अंगुल, दूरी पर बनानी चाहिये। इनका प्रवेशस्थल क्रमशः कंकपक्षी, श्येन और मोर के पंख की नाड़ी के समान बनाना चाहिये। इनका स्रोत क्रमशः, मूंग, उड़द और मटर के जाने योग्य रखना चाहिये। इसमें आस्थापन द्रव्य की मात्रा रोगी के अपने हाथ के माप से दो अंजली, चार अंजली और आठ अञ्जली क्रमशः रखनी चाहिये। बीच के वर्षों में नेत्र और बस्ति का परिमाण रोगी के बल, वय और शरीर को देखकर उसके अनुसार बढ़ा लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में—नेत्र की लम्बाई और मोटाई का वर्णन है और नेत्र पर कर्णिका बनाई जाती है जिससे नेत्र गुद आदि में आवश्यकता से अधिक नहीं प्रविष्ट हो सकता। प्रवेशस्थल—नेत्र का प्रवेशस्थल वह है जो गुद आदि में प्रविष्ट किया जाता है यथा छ अंगुल का यदि नेत्र बनाया जाता है तो उसके अग्र से १½ अंगुल ऊपर कर्णिका बनाई जाती है और गुद में नेत्र का १½ अंगुल भाग ही प्रविष्ट किया जाता है यह १½ अंगुल भाग ही "प्रवेश" कहलाता है। इस प्रवेश की मोटाई कङ्क आदि पक्षियों के पंख की मूलनलिका के समान होनी चाहिये। और नेत्र का छिद्र मूंग आदि के जाने आने योग्य हो ॥७,८॥

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरीणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्, अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलास्थिमात्रछिद्रं, क्लिन्नकलायमात्रछिद्रमित्येके, सर्वाणि मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि। आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहितं द्वादशप्रसृताः। सप्ततेस्तूर्ध्वं नेत्रप्रमाणमेतदेव, द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत् ॥९॥

पच्चीस वर्ष के ऊपर नलिका बारह अंगुल लम्बी, मूल में अंगूठे की मोटाई के बराबर, आगे में कनिष्ठिका अंगुली की मोटाई के बराबर, आगे में तीन अंगुल की दूरी बनी कर्णिकावाली, गिध के पंख की नाड़ी के तुल्य जाने योग्य, बेर की गुठली के बराबर स्रोतवाली, अथवा गीला करके फुलाये मटर के प्रवेश योग्य स्रोतवाली होनी चाहिये। बस्ति को बाँधने के लिये सब नेत्रों के मूल में दो कर्णिकायें (गांठ) होनी चाहिये। आस्थापन द्रव्य का परिमाण बारह प्रसृत (अंजली) रखना चाहिये। सत्तर साल से आगे नेत्र का प्रमाण यही रखना चाहिये, परन्तु द्रव्य की मात्रा सोलह वर्ष के समान है।

वि० मन्तव्य—इस सूत्र में २५ वर्ष से ऊपर की वयस्वालों के लिये जो नेत्र बरता जाता है। उसकी लम्बाई आदि बतलाया गया है। नेत्र के मूल में दो अंगुल पर दो कर्णिका बस्ति-थैली को बाँधने के लिये बनाई जाती हैं इन पर बस्ति का मुख भाग बाँध दिया जाता है ॥९॥

मृदुर्बस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः।
तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हिंस्याद् बलायुषी ॥१०॥

बालक और वृद्ध में विशेषकर मृदु बस्ति बरतनी चाहिये। इनमें दी हुई तीक्ष्ण बस्ति इनके बल और आयु को नष्ट कर देती है।

वि० मन्तव्य—यहाँ बस्ति शब्द आधेय द्रव के लिये आया है ॥१०॥

(व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं मुद्गवाहिस्रोतः, व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत ॥११॥

व्रण नेत्र की लम्बाई आठ अंगुल, स्रोत मूंग के जाने योग्य व्रण को देखकर दोषों के अनुसार स्नेहकषाय बरते ॥११॥

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीन्यृजूनि गुटिकामुखानि च ॥१२॥

नेत्र-सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, लोह, पीतल, दाँत, सींग, मणि (कांच भी) वृक्ष की लकड़ी के बने, चिकने दृढ़ गाय की पूँछ के आकार के, (मूल में मोटे और आगे क्रमशः पतले हुए) सीधे और आगे गोल (गुटिकाकार) मुखवाले होने चाहिये। (आगे से तीखे नहीं) ॥१२॥

बस्तयश्च बन्ध्या मृदवो नातिबहला दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम् ॥१३॥

नेत्रालाभे हिता नाडी नलवंशास्थिसंभवा।
बस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम् ॥१४॥

बस्तियाँ—बाँधने योग्य, कोमल, बहुत मोटी नहीं, मजबूत, प्रमाणवाली (प्रमाण के अनुसार-बच्चों में बच्चों की, युवाओं में युवाओं की), गाय-भैंस, सुअर, बकरी, भेड़ के मूत्राशय की होनी चाहिये।

नेत्र के न मिलने पर नडसर, बांस अथवा अस्थि की नलिका से काम चलाना चाहिये। बस्ति के अभाव में पतला चर्म, या मजबूत वस्त्र बरत लेना चाहिये।

चरक में-जारद्गवो माहिषहारिणौ वा स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वाऽपि। दृढस्तनुर्नष्टशिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः ॥ (२) बस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा ॥ चरक० सि० अ० ३-१०,११ ॥१३,१४॥

बस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्।
मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम् ॥१५॥
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्युब्जं तु विवृताननम्।
बद्ध्वा लोहेन तप्तेन चर्म स्रोतसि निर्दहेत् ॥१६॥
परिवर्त्य ततो बस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत्।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत् ॥१७॥

बस्ति—मांसादि से रहित, शुद्ध, भली प्रकार साफ की हुई, कोमल, न बड़ी और न कम, बार-बार स्नेह से मसली हुई लेकर नेत्र की जड़ में नीचे की ओर मुख रखकर-मुख को खुलाकर बाँधनी चाहिये। फिर गरम किये लोहे से चमड़े के छेद जला दे—। फिर बस्ति को उल्टाकर, बाँधकर सुरक्षित रख देवे। इस बस्ति से आस्थापनबस्ति और तैलबस्ति ठीक प्रकार से देवे ॥१५-१७॥

तत्र द्विविधो बस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च। आस्थापनं, निरूह इत्यनर्थान्तरं; तस्य विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्धबस्तिरिति। स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद्वा निरूहः, वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनम्। माधुतैलिकविधानं च निरूहोपक्रमचिकित्सिते वक्ष्यामः। यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहबस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादाव (प) कृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति ॥१८॥

निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः।
निरूहशोधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति ॥
अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम् ॥१९॥

बस्ति दो प्रकार की है—नैरूहिक और स्नैहिक। आस्थापन और निरूह ये नैरूहिक के पर्य्यायवाची हैं। इसी का भेद माधुतैलिक बस्ति है, इसके पर्याय यापना, युक्तरथ और सिद्धबस्ति हैं। दोषों को निकालने से अथवा शरीर का रोहण करने से निरूह कहलाती है। वय को या आयु को स्थिर रखने से आस्थापन कहलाती है। माधुतैलिक विधि को निरूहचिकित्सा में कहेंगे। यथा प्रमाण कही हुई बस्ति के परिमाण में से चतुर्थांश भाग निकालने पर स्नेहबस्ति का भेद अनुवासन होता है। शरीर के अन्दर रहने पर भी दूषित नहीं होती, या प्रति दिन दी जाती है, इसलिये अनुवासन कहते हैं। इसी अनुवासन का भेद—आधे की भी आधी मात्रा लेने से—मात्रा बस्ति होती है, इसमें परिहार की आवश्यकता नहीं है।

वक्तव्य—यापना बस्ति—"आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्त्तनं कुर्वन्तीति यापनाबस्तयः ॥" चन्द्रपाणी, युक्तरथ-रथ में घोड़े जुड़े होने पर तुरन्त जो बिना किसी पूर्व तैय्यारी के दी जा सकती है, जिन में किसी तरह का परहेज नहीं वह युक्तरथ। बस्ति की मात्रा, "षट्पली भवेच्छ्रेष्ठा, मध्यमा त्रिफली भवेत्। कनीयस्यध्यर्धपला त्रिधा मात्राऽनुवासने। चौबीस पल में से चतुर्थांश छै पल लेने से अनुवासन की मात्रा है (स्नेह मात्रा है)। इसका भी आधा का आधा लेने से १½ पल मात्रा बस्ति है। गयी के विचार से छै पल स्नेह बस्ति, तीन पल अनुवासन बस्ति, और १½ पल मात्रा बस्ति है,- ऐसा मानते हैं। चरक में—"निरूह पादांशसमे न तैलम्—" २४ पल निरूह से छै पल स्नेह चतुर्थांश होता है। यह उत्तम मात्रा है ॥१८-१९॥

सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः।
तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहबस्तिर्विधीयते ॥२०॥

निरूह—शोधन द्रव्यों से बना होने के कारण लेखन करता है। स्नैहिक बस्ति बृंहण करती है।

निरुह से शोधित मार्गों में (धातुओं में) स्नेह भली प्रकार जाता है जिस प्रकार कि सब दोष रहित नालियों में बहता हुआ जल पहुँचता है। स्नेहवस्ति—सब दोषों को नाश करनेवाली, शरीर को जीवन देती है। इसलिये शुद्ध शरीर में स्नेहबस्ति दी जाती है॥

वि० मन्तव्य—निरूहणबस्ति उचित द्रव्यों के कषाय (क्वाथ), कोई क्षार तथा तैल मिलाकर दी जाती है अतः वह पुरीष को निकालती है फलतः मलाशय शुद्ध हो जाता है और उसके पश्चात् समय पर स्नेह बस्ति दी जाती है उससे शरीर का बृंहण (पुष्टि) होता है ॥२०॥

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शःपाण्डुरोगभ्रमदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्यश्वासकासकण्ठशोषशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बाल वृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः॥

उन्माद, भय, शोक, प्यास, अरोचक, अजीर्ण, अर्श, पाण्डुरोग, भ्रम, मद, मूर्च्छा, वमन, कुष्ठ, मेह, उदर, स्थूलता, श्वास, कास, कण्ठशोष, शोफ से पीड़ित, उरःक्षत, क्षीण, सात मास तक की गर्भवती, दुर्बलाग्नि, सहन न करनेवाला, बालक, वृद्ध, इनको तथा वायुरोग के बिना दूसरे कारण से कृश हुए व्यक्तियों को न तो अनुवासन देना चाहिये और न आस्थापन देना चाहिये ॥२१॥

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः।
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्याः कथञ्चन ॥२२॥

उदररोगी, प्रमेहरोगी, कुष्ठी, स्थूल मनुष्य इनको अवस्था पड़ने पर जरूर आस्थापन देना चाहिये, परन्तु अनुवासन किसी भी हालत में नहीं देना चाहिये॥

यथा उदररोग में—सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणः निरूहैः समुपाचरेत्॥
वा० चि० अ० १५ ॥२२॥

असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत् ॥२३॥

इनमें अनुवासन देने से रोग असाध्य हो जाते हैं। असाध्यावस्था में भी अंगों का टूटना विशेष रूप में होता है॥

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः।
सम्यक्प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति ॥२४॥
पक्वाशयात्बस्तिवीर्यं खैर्देहमनुसर्पति।
वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम् ॥२५॥

भली प्रकार दी हुई बस्ति पक्वाशय, श्रोणि और नाभि के नीचे चारों ओर इन स्थानों पर ठहरती है। पक्वाशय से बस्ति की शक्ति शरीर के मार्गों से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में दिये पानी की शक्ति से—वृक्ष के स्रोतों द्वारा सारे वृक्ष में फैल जाती है॥

"मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमःस्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रः। काले महान्पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ चरक सि० अ० १ ॥२४,२५॥

स चापि सहसा बस्तिः केवलः समलोऽपि वा।
प्रत्येति वीर्यं त्वनिलैरपानाद्यैर्विनीयते ॥२६॥

कई बार यह बस्ति अकेली या मल के साथ अपान, उदान आदि की शक्ति से तुरन्त वापिस आ जाती है, अथवा, ऊपर को चली जाती है, सब शरीर में पहुँच जाती है ॥२६॥

वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात् (न्)।
पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव ॥२७॥
स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य सञ्चयान्।
उत्खानमूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः ॥२८॥

पक्वाशय में स्थित बस्ति अपनी शक्ति से सिर से लेकर पैर तक के सब दोषों को ग्रहण कर लेती है। जिस प्रकार आकाश में स्थित भूमि के रसों को खींच लेता है। भली प्रकार दी हुई यह बस्ति अपनी शक्ति से कटि-पीठ कोष्ठ में स्थित सचित दोषों को जड़ समेत उखाड़ देती है ॥२७,२८॥

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः ॥२९॥
वायोर्विषहते वेगं नान्या वस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ॥३०॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥३१॥

वायु, पित्त, कफ इन तीनों दोषों को कुपित करने में शक्तिमान् वायु ही है। इसलिये बढ़ी हुई वायु, जो वायु शरीर को हानि कर रही है, उसके वेग को बस्ति के बिना कोई भी क्रिया (चिकित्सा कर्म) सहन नहीं कर सकती है। जिस प्रकार वायु से ताड़ित समुद्र जल के (लहरों को) वेग को वेला ही सहन करती है। भली प्रकार सेवन की हुई बस्ति शरीर की पुष्टि, वर्ण, बल, आरोग्यता, आयु की वृद्धि को करती है ॥३१॥

वक्तव्य—शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च। ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥ विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्। तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यत् बस्ति विना भेषजमस्ति किञ्चित्॥

च० सि० अ० १-३८।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य यह है कि वायु की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय "बस्ति" है। कुपित वायु के वेग को बस्ति वैसे रोकती है जैसे समुद्र के ज्वार को बेला अर्थात् समुद्र का कूल-किनारा ॥३१॥

अत ऊर्ध्वं व्यापदो वक्ष्यामः। तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः; अतिस्थूलं, कर्कशम्, अवनतं, अणुभिन्नं, सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम, अस्रिमदित्येकादश नेत्रदोषाः, बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णतः, दुर्बद्धतेति पञ्च बस्तिदोषाः, अतिपीडितता, शिथिलपीडितता, भूयो भूयोऽवपीडनं, कालातिक्रम इति चत्वारः पीडनदोषाः, आमता, हीनता, अतिमात्रता, अतिशीतता, अत्युष्णता, अतितीक्ष्णता, अतिमृदुता, अतिस्निग्धता, अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता, अतिद्रवता इत्येकादश द्रव्यदोषाः; अवाक्शीर्षोच्छीर्षन्युब्जोत्तानसंकुचितदेहस्थितदक्षिणपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्त शय्यादोषाः; एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशद्व्यापदो वैद्यनिमित्ताः। आतुरनिमित्ताः पञ्चदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यन्ते। स्नेहस्त्वष्टभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैः अशनाभिभूतो मलव्यामिश्रो, दूरानुप्रविष्टो, अस्विन्नस्य, अनुष्णो, अल्पम्भुक्तवतो अल्पश्चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति। अयोगस्तूभयोः आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहो, अतियोगो जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति ॥३२॥

इसके आगे व्यापद (हानियाँ) कहते हैं। इनमें नेत्र का हिलना, घूम जाना, वाम या दक्षिण पार्श्व में दबना, अतिशय ऊपर को उठना, नीचे को दबना, तिरछा प्रविष्ट करना, ये छै दोष नेत्र प्रवेश के हैं। बहुत मोटा, कर्कश, झुका हुआ, बीच से फटा, पास में कर्णिकावाला, सुदूर कर्णिकावाला सूक्ष्ममुख, बृहन्मुख, बहुत लम्बा, बहुत छोटा, अस्रिमत् (टेढ़ा धारवाला) ये ग्यारह नेत्र दोष हैं। मोटा होना, छोटा होना, छेदवाला होना, स्नायु जालयुक्त होना, ठीक प्रकार से न बंधा होना ये पाँच बस्ति के दोष हैं। बहुत जोर से दबाना, धीरे दबाना, बार-बार दबाना, समय के अनुसार जल्दी या देर में देना ये चार पीड़न के दोष हैं। स्नेह का कच्चा रहना, कम होना, मात्रा में अधिक होना, बहुत ठण्डा होना, बहुत गरम होना, बहुत तीक्ष्ण होना, बहुत कोमल होना, अतिस्निग्ध होना, बहुत रूक्ष होना, बहुत घट्ट होना, बहुत पतला होना, ये ग्यारह द्रव्य के दोष हैं। सिर को नीचे बहुत रखना, सिर को ऊँचा रखना, रोगी को पेट के भार मुख नीचे रखकर लेटाना, चित्त (पीठ के भार) लेटाना, शरीर को सिकोड़ कर स्थित-खड़ा करके या दक्षिणपार्श्व में लेटाकर बस्ति देना ये सात शय्या-लेटने के दोष हैं। ये चवालीस हानियाँ वैद्य की भूल का परिणाम हैं। रोगी की भूल से होनेवाली पन्द्रह हानियों को आतुरोपद्रव चिकित्सा में कहेंगे। दिया हुआ स्नेह आठ कारणों से वापिस नहीं आता। यथा—वातादि तीन दोषों के कारण, भोजन से रुका, मल से मिला, दूर पहुँचा हुआ, बिना स्वेद दिये, ठण्डा दिया स्नेह, थोड़ा भोजन करने पर, और मात्रा में थोड़ा होने से वापिस नहीं आता। ये हानियाँ वैद्य और रोगी दोनों के कारण होती हैं। निरूह और अनुवासन दोनों का अयोग-आध्मान, परिकर्त्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, अंगप्रग्रह, अतियोग और जीवादान—ये नौ हानियाँ वैद्य के कारण से होती हैं ॥३२॥

भवति चात्र—

षट्सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः।
तासां वक्ष्यामि विज्ञानं सिद्धिं च तदनन्तरम् ॥३३॥

कहा भी है—ये जो छिहत्तर हानियाँ संक्षेप में कही हैं, उनके लक्षण कहकर पीछे से उनकी चिकित्सा कहूँगा।

चरक में "विषममांसलच्छिद्रस्थूलजालकवातलाः। स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तीन्कर्मसु वर्जयेत् ॥ गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः। फेनिलच्युत्यधार्यत्वं बस्तेः स्युर्बस्तिदोषतः ॥ सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुत्क्षिप्तकम्पिताः। अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः। चरक सि० अ० ५।६,७-८ ॥३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नेत्र बस्ति व्यापत् चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में बस्ति देने में उत्पन्न व्यापदों का वर्णन किया गया है। ये व्यापद् नेत्र आदि के दोषों से उत्पन्न होती हैं। देखिये अध्याय ३५ का सू० ३२ ॥१,२॥

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते।
गुदे क्षतं रुजा वा स्यात्तत्र सद्यःक्षतक्रियाः ॥३॥
अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा।
विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्च सेचनम् ॥४॥
तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद्बस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते ॥
ऋजु नेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग्विजानता ॥५॥

नेत्र के हिल जाने से या घूम जाने से गुदा में क्षत और वेदना होती है। इसमें सद्यः क्षत की चिकित्सा करे। नेत्र उपर को उठ जाने या नीचे हो जाने से गुदा में वेदना होती है। इसमें पित्तनाशक उपचार और स्नेहों से परिषेक करना चाहिये। नेत्र के तिरछा प्रविष्ट होने पर या पार्श्व में दब जाने से मुख के बन्द होने के कारण बस्ति भली प्रकार नहीं जाती।

इसमें जाननेवाला व्यक्ति नेत्र को सीधा रखकर प्रविष्ट करे ॥

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रेऽस्निमति घर्षणात् ।
गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं तस्य पूर्ववत् ॥६॥
आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽव्यपार्थकः ।
अवसेको भवेद्वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत् ॥७॥
प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात् ।
क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्बस्तिश्च पिच्छिलः ॥८॥
ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो बस्तिश्च पूर्ववत् ।
प्रत्यागच्छंस्ततः कुर्याद्रोगान् बस्तिविघातजान् ॥६॥
दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत् ।

नेत्र के अति मोटा, कर्कश या धारवाला होने के कारण रगड़ लगने से गुदा में क्षत और वेदना हो जाती है, इसमें सद्यःक्षत के समान उपचार करे। नेत्र में कर्णिका के बहुत पास होने से बस्ति देना निरर्थक है। और बस्ति के फटा (चीरा) होने से बस्ति चूती है, इसलिए इन दोषों को छोड़ देवे। कर्णिका के दूर होने पर गुदा मर्म के दबने से रक्त आता है। इसमें पित्तघ्न विधि करे और पिच्छल बस्ति देवे। प्रमाण से हीन एवं सूक्ष्मछेद होने से क्लेश होता है और बस्ति निरर्थक रहती है। वापिस आती हुई बस्ति के रुकने से मूत्राघात आदि रोगों को उत्पन्न करती है। नेत्र के लम्बा या बड़े स्रोतवाला होने से अतिशय जोर से दबाने की भाँति लक्षण (नासामुख से बस्ति का आना एवं गल पीड़न आदि उपचार) तथा उपचार जानने चाहिये ॥६–६॥

प्रस्तीर्णे बहले चापि बस्तौ दुर्बद्धदोषवत् ॥१०॥
बस्तावल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याल्पा गुणा मताः ।
दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत् ॥११॥

बस्ति के स्नायु जाल से आवृत या मोटा होने पर ठीक प्रकार से न बँधे हुए के समान दोष होते हैं। बस्ति के छोटा होने से द्रव्य थोड़ा आता है, और गुण भी कम होता है। ठीक तरह न बाँधने पर–सूक्ष्म रूप में फटी होने से–फटे हुए नेत्र के समान बस्ति चूती है ॥१०,११॥

अतिपीड़ितो बस्तिः प्रयात्याशयं ततः ।
वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते ॥१२॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम् ।
शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान ॥१३॥
शनैः प्रपीडितो बस्तिः पक्वाधानं न गच्छति ।
न च संपादयत्यर्थं तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत् ॥१४॥
भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते ।
तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र बस्तयः ॥१५॥
कालातिक्रमणात् क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते ।
तत्र व्याधिबलघ्नं तु भूयो बस्तिं निधापयेत् ॥१६॥

अतिशय जोर से दबाई बस्ति वायु से प्रेरित होकर आमाशय की ओर जाकर मुख एवं नासा से बाहर आती है (यह असम्भव सा है–विचारणीय है)। इसमें तुरंत गले को दबाये, रोगी को हिलाये, (झकोरे)। तीक्ष्ण शिरोविरेचन, तीक्ष्ण कायविरेचन, शीतल परिषेक करे। धीरे से दबाई बस्ति पक्वाशय तक नहीं जाती और इच्छित फल नहीं करती, इसलिये ठीक प्रकार से दबाये। बार-बार (रुक-रुककर) दबाने से वायु अन्दर जाकर पीड़ा उत्पन्न करती है, इससे रोगी को आध्मान, तीव्र वेदना होती है, यहाँ पर उनको अपने योग्य बस्तियाँ देवे। समय के बीत जानेपर बस्ति देने से क्लेश और रोग दोनों बढ़ जाते हैं। इसमें व्याधि बल को नष्ट करनेवाली बस्ति फिर से देवे ॥१२–१६॥

गुदोपदेहशोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि ।
तत्र संशोधनो बस्तिर्हितं चापि विरेचनम् ॥१७॥
हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ मतौ ।
अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१८॥
मूर्च्छां दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ ।
मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ ॥१९॥
तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः ।
गुदबस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः ॥२०॥
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः ।
तत्र सान्द्रे तनुं बस्ति तनौ सान्द्रं च दापयेत् ॥२१॥
स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते ।
बस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत् ॥२२॥

अपक्व स्नेह गुदा में मलवृद्धि, शोफ उत्पन्न करता है। इसमें संशोधन बस्ति और विरेचन श्रेष्ठ है। हीन मात्रा में दी गई स्नेहबस्ति और निरूहबस्ति दोनों बहुत कार्य नहीं करती। अतिमात्रा में दी गई ये बस्तियाँ आनाह, क्लम, अतीसार उत्पन्न करती हैं। अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण बस्ति–मूर्च्छा, दाह, अतिसार और पित्त को करती हैं। मृदु और शीतल बस्ति वायु का विबन्ध और आध्मान करती हैं। इनमें हीन आदि दोषों में विरोधि चिकित्सा उत्तम है। यह सांद्र निरूह-की बस्ति गुदा में मल वृद्धि करती है या प्रवाहिका उत्पन्न कर देती है। पतली बस्ति थोड़ा गुण करती है। इसमें सान्द्र बस्ति के दोष में तनुबस्ति, तनुबस्ति के दोष में सांद्र बस्ति देवे। स्निग्ध बस्ति अतिशय जड़ता करती है। रूक्षबस्ति, स्तम्भ और आध्मान करती हैं। अति स्निग्ध में रूक्षबस्ति और रूक्ष में स्निग्ध बस्ति देवे।

वक्तव्य—प्रत्यनीक, हीनमात्रा में अधिक-मात्रा, अधिकमात्रा में हीनमात्रा, तीक्ष्ण में मृदु, मृदु में तीक्ष्ण, शीत में उष्ण और उष्ण में शीत बस्ति देवे ॥१७–२२॥

अतिपीडितवद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके ।
उच्छीर्षके समुन्नाहं बस्तिः कुर्याच्च मेहनम् ॥२३॥
तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः ।
न्युब्जस्य बस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः ॥२४॥

हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्टमथापि च ।
उत्तानस्यावृते मार्गे बस्तिर्नान्तः प्रपद्यते ॥२५॥
नेत्रसंवेजनभ्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकुप्यति ।
देहे सङ्कुचिते दत्तः सक्थ्नोरप्युभयोस्तथा ॥२६॥
न सम्यगनिलाविष्टो बस्तिः प्रत्येति देहिनः ।
स्थितस्य बस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमागात्यवाङ्मुखः ॥२७॥
न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः ।
नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः ॥२८॥
दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः ।
न्युब्जादीनां प्रदानं च बस्तेर्नैव प्रशस्यते ॥२९॥
पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत् ।

शिर को नीचा रखकर दी गई बस्ति अति पीड़न के समान दोषों को करती है। शिर को ऊँचा रखकर दी गई बस्ति मेहन को उन्नत (ऊँचा-स्तब्ध) कर देती है। इसमें भली प्रकार स्वेदन करके (मेहन पर) उत्तर बस्ति देना उत्तम है। मुख को नीचा करके दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती। विमार्ग में गई हुई हृदय और गुदा पर दबाव देती है, वायु कोष्ठ को दबाती है। चित्त लेटाकर दी गई बस्ति मार्ग में रुक जाने से अन्दर नहीं जाती। नेत्र के कम्पन से चलित वायु अन्दर कुपित होती है। शरीर को या दोनों सांथलों को संकुचित करके दी गई बस्ति वायु से भरी होने के कारण मनुष्य में से बाहर नहीं आती। खड़ाकर दी गई बस्ति तुरन्त ही वापिस लौट आती है। आशय का तर्पण नहीं करती, इसलिये व्यर्थ ही रहती है। दाहिने पार्श्व से लेटे व्यक्ति को दी गई बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुँचती। क्योंकि पक्वाशय वाम पार्श्व की ओर रहता है। इसलिये मुख को नीचा आदि रखकर बस्ति देना उत्तम नहीं। पीछे से वायु का कोप होने पर उनकी अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥२३-२९॥

व्यापदः स्नेहबस्तेस्तु वक्ष्यन्ते तच्चिकित्सिते ॥३०॥

स्नेह बस्ति की हानियाँ और चिकित्सा अ० ३७ में कही जायेंगी ॥३०॥

अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिताः ।
अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो बस्तिर्नैति प्रयोजितः ॥३१॥
विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते ।
तत्र तीक्ष्णो हितो बस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम् ॥३२॥
सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः ।
अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च ॥३३॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः ।
तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम् ॥३४॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम् ।
तत्र तीक्ष्णतरो बस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम् ॥३५॥
अतितीक्ष्णोऽतिलवणो रूक्षो बस्तिः प्रयोजितः ।
सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम् ॥३६॥
नाभिबस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः ।
पिच्छा बस्तिर्हितस्तस्य स्नेहश्च मधुरैः शृतः ॥३७॥
अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते ।
दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः ॥३८॥
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद्गुदे ।
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र बस्तिः क्षीरघृतेन च ॥३९॥
प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात् सानुवासनात् ।
सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफामगुपवेश्यते ॥४०॥
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम् ।
सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम् ॥४१॥
अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः ।
हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम् ॥४२॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाऽङ्गगौरवम् ।
सर्वदोषहरं बस्तिं शोधनं तत्र दापयेत् ॥४३॥
रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च ।
बस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः ॥४४॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः ।
पर्वभेदश्च तत्रेष्टा स्वेदाभ्यञ्जनबस्तयः ॥४५॥
अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽतिस्वेदितस्य च ।
अल्पदोषस्य वा बस्तिरतियोगाय कल्पते ॥४६॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम् ।
पिच्छाबस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः ॥४७॥
अतियोगात् परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत् ।
देयस्तत्र हितश्चाप्सु पिच्छाबस्तिः सशोणितः ॥४८॥
नवैता व्यापदो यास्तु निरूहं प्रत्युदाहृताः ।
स्नेहबस्तिष्वपि हि ता विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥४९॥
इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः ।
भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवन्ति हि ॥५०॥

अयोगजन्य जो हानियाँ हैं, उनको चिकित्सा के साथ कहूँगा। जो बस्ति गरम नहीं (शीत), थोड़ी औषधियोंवाली होने से हीन गुण बस्ति देने पर वापिस नहीं आती, वह विष्टम्भ और आध्मान करती है, इसको अयोग कहते हैं। इसमें तीक्ष्ण बस्ति और तीक्ष्ण विरेचन हितकारी है। अन्नशेष अजीर्ण में, भोजन करने पर, बहुत दोष में, बहुत भोजन किये हुए में थोड़ी स्नेहबस्ति, अति मात्रा में भोजन किये हुए को बहुत, थोड़ी गरम दी गई स्नेहबस्ति अथवा लवण एवं स्नेह रहित बहुत मात्रा में दी गई बस्ति, एवं बहुत मलवाले पुरुष में जल्दी शीघ्रता से दी गई बस्ति—आध्मान उत्पन्न कर देती है। इससे हृदय, कटि, पार्श्व, पीठ में अतिभयानक शूल होता है। इसमें पहले से अधिक तीक्ष्ण बस्ति और अनुवासन उत्तम है। अतितीक्ष्ण, अतिलवणवाली रूक्ष बस्ति देने पर पित्त युक्त वायु कुपित होती है और परिकर्त्तिका उत्पन्न होती है। इससे नाभि, बस्ति एवं गुद से—फटते हुए रोगी को प्रतीत होते हैं। इससे पिच्छा बस्ति तथा काकोल्यादि मधुरगण से पकाया स्नेह उत्तम है। अति अम्ल, लवण, तीक्ष्ण बस्ति परिस्राव उत्पन्न करती है। दुर्बलता और अङ्गों का टूटना रोगी को होता है। तब पित्त बहता है,

जिससे गुदा में दाह होता है। इसमें पिच्छा बस्ति या दूध से बनाये घी की बस्ति दे। तीक्ष्ण निरूह या अनुवासन से प्रवाहिका होती है। दाह और शूल के साथ कठिनाई से कफ मिश्रित रक्त मल में आता है। इसमें पिच्छाबस्ति उत्तम है, दूध से भोजन देवे। काकोल्यादि से सिद्ध घृत एवं तैल का अनुवासन दे। अति तीक्ष्ण निरूह या अनुवासन देते हुए वायु के अन्दर चले जाने पर वायु हृदय में पहुँचकर अंगों में पीड़ा करती है, दोषों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनायें, मद, मूर्च्छा, अंगों में भारीपन होता है। इसमें सब दोषों को नाश करनेवाली शोधन बस्ति देवे। रूक्ष मनुष्य में बहुत वायुवाले, एवं ठीक प्रकार न लेटे हुए पुरुष में दी गई बस्ति अंगग्रह (अंगों का पकड़ना) कर देती है। मदु-अल्प औषधवाली बस्ति अंगों की शिथिलता, जड़ता, जम्भाई, ऐंठन, कम्पन, पर्वभेद करती है। इसमें स्वेद, अभ्यंग और बस्ति देवे—अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण, अतिशय अधिक, अतिशय स्वेद दिये हुए पुरुष को, अधिक औषधिवाली, या अल्पदोषवाले को दी गई बस्ति अतियोग उत्पन्न करती है। इसके लक्षण विरेचन के अतियोग के समान हैं। इसमें पिच्छाबस्ति का प्रयोग शीतल वस्तु सुखदायक है। अतियोग से विरेचन के अतियोग की भाँति रक्त आने लगे तब पिच्छा बस्ति में रक्त मिलाकर देना चाहिये। ये नौ हानियाँ जो निरूह के लिये कही हैं, उनको कुशल वैद्य स्नेह बस्ति में भी समझे। सब हानियाँ लक्षण और चिकित्सा के साथ कह दी हैं। वैद्य को ऐसा यत्न करना चाहिये कि जिससे ये हानियाँ न हों ॥३६-५०॥

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरोढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः ॥५१॥

भली प्रकार वमन होने के पन्द्रह दिन पीछे विरेचन देवे। विरेचन के सात दिन पीछे निरूहण देवे, निरूहण के तुरन्त पीछे अनुवासन दे ॥५१॥

चरक में—"संसृष्टभक्तं नवमेऽह्निसर्पिः तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा। दद्यात्त्र्यहात्रा निबुभुक्षिताय तैलाक्तगात्राय ततो निरूहम्॥ शय्या-वामाश्रये हि ग्रहणीगुदे च, तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः॥ लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात्सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्॥ उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथास्य देहम्॥ दत्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात्स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम्। ईषत्पदांगुष्ठयुगं च कर्षेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात्॥ स्नेहेन पार्ष्ण्यंगुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवारुगार्त्ताः॥ तांश्चावमृज्यात्ससुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः॥ चरक० सि० अ० ३-२४ २९॥५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अनुवासन उत्तर बस्ति चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में अनुवासन बस्ति का विधान बतलाया गया है ॥१,२॥

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै।
कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ॥३॥

विरेचन के सात दिन पीछे रोगी में बल आ जाने पर अन्न का भोजन लेने पर अनुवासन के योग्य हो जाने पर अनुवासन भली प्रकार देना चाहिये।

वक्तव्य—"अथ ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्॥ चरक० सू० अ० १५।७—सात दिन के पीछे रोगी स्वाभाविक भोजन पर आये ॥३॥

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम् ॥४॥

वय के अनुपात से निरूहों की जो मात्रा कही है, उसकी चौथाई मात्रा मनुष्यों के लिये स्नेह बस्ति में बरते।

वक्तव्य—षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत्। कनीयस्यर्धपलिका त्रिधा मात्राऽनुवासने॥ (२) निरूह पादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन॥ (३) निरूहमात्राप्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः। आद्वादशात्स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद्द्वादशतः परं स्युः॥ आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम्॥ चरक० सि० अ० ३।२८-३२॥४॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्।
एतैर्हि विहतः स्नेहो नैवान्तः प्रतिपद्यते ॥५॥
स्नेहबस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः।
स्नेहवीर्यं तथा दत्ते देहं चानुविसर्पति ॥६॥

वायु, मल, मूत्र का त्याग किये हुए पुरुष में बस्ति देनी चाहिये। क्योंकि इनसे रुका स्नेह अन्तर प्रविष्ट नहीं होता। बिना शोधन किये हुए पुरुष में स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिये। शुद्ध शरीर में स्नेहबस्ति स्नेह के वीर्य को देती है और सारे शरीर में फैलती है ॥५,६॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलानीह यथाक्रमम्।
पानान्वासननस्येषु यानि हन्युर्गदान् बहून् ॥७॥

इसके आगे उन तैलों को कहेंगे, जो उचित रूप में पान, नस्य, अनुवासन में बरतने से बहुत से रोगों को नष्ट करते हैं ॥७॥

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः।
शताह्वाकुष्ठयष्ट्याह्ववचाबिल्वहुताशनैः ॥८॥

सुपिष्टैर्द्विगुणक्षीरं तैलं तोयचतुर्गुणम् ।
पक्त्वा बस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम् ॥९॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम् ।
कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥१०॥

शटी (कचूर), पुष्करमूल, पिप्पली, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूट, मुलैहठी, वच, बिल्व, चित्रक इनको पीसकर, तैल से दुगना दूध, तैल से चौगुना पानी लेकर तैल सिद्ध करे। यह तैल बस्ति में देने पर मूढवायु का अनुलोमन करता है। अर्श, ग्रहणी रोग, आनाह-विषमज्वर, कटि, ऊरू-पीठ और कोष्ठ में स्थित वायु जन्य रोगों को नष्ट करता है ॥८-१०॥

वचापुष्करकुष्ठैलामदनामरसिन्धुजैः ।
काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥११॥
पाठाजीवकजीवन्तीभार्गीचन्दनकट्फलैः ।
सरलागुरुबिल्वाम्बुवाजिगन्धाग्निवृद्धिभिः ॥१२॥
विडङ्गारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकर्धिभिः ।
पिष्टैस्तैलं पचेत् क्षीरपञ्चमूलरसान्वितम् ॥१३॥
गुल्मानाहाग्निषङ्गार्शोग्रहणीमूत्रसङ्गिनाम् ।
अन्वासनविधौ युक्तं शस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥१४॥

बच, पुष्करमूल, कूट, इलायची, मैनफल, देवदारु, सैन्धव, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलैहठी, मेदा, महा मेदा, अमलतास, पाठा, जीवक, जीवन्ती, भार्गी, चन्दन, कट्फल, चीड़, अगरु, बिल्व, वालक, अश्वगन्धा, चित्रक वृद्धि, विडंग, अमलतास, काढीनिशोथ, निशोथ, पिप्पली, ऋद्धि, इनके कल्क से दूध और बृहत्पञ्चमूल के क्वाथ में तैल सिद्ध करे। यह तैल वात रोगियों में अनुवासन रूप से बरतने पर गुल्म, आनाह, अग्नि-मांद्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्र अवरोध को नष्ट करता है।

वक्तव्य—अमलतास दो बार आने से दुगुनी लेनी चाहिये – धृते तैलश्च योगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते। तद्दातव्य मिहाचार्यैः भागतो द्विगुणं मतम् ॥११-१४॥

चित्रकातिविषापाठादन्तीबिल्ववचामिषैः ।
सरलांशुमतीरास्नानीलिनीचतुरङ्गुलैः ॥१५॥
चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः ।
जीवकर्षभवर्षाभूवस्तगन्धाशताह्वयैः ॥१६॥
रेण्वश्वगन्धामञ्जिष्ठाशटीपुष्करतस्करैः ।
सक्षीरं विपचेत्तैलं मारुतामयनाशनम् ॥१७॥
गृध्रसीखञ्जकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् ।
शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु नियोजितम् ॥१८॥

चित्रक, अतीस, पाठा, जमालगोटा, बिल्व, वच, सौंफ-चीड़, शालपर्णी, रास्ना, नील, अमलतास, चव्य, अजवायन, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा, देवदार, जीवक, ऋषभक, पुनर्नवा, अजगन्धा, सोया, रेणुका, अश्वगन्धा, मजीठ, कचूर, पुष्करमूल, चोरक, इनसे दूध के साथ तैल सिद्ध करे। यह तैल वायुनाशक गृध्रसी, खंज, कुब्ज, आढ्यवात, मूत्र, उदावर्त्त रोगियों के लिये बस्ति में देना उत्तम है ॥१५-१८॥

भूतिकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः ।
दशमूलसहाभार्गीषड्ग्रन्थामरदारुभिः ॥१९॥
बलानागबलामूर्वावाजिगन्धामृताद्वयैः ।
सहाचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥२०॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितैः शृतम् ।
जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरचतुर्गुणम् ॥२१॥
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरःस्थितान् ।
हन्याद्वातविकारांस्तु बस्तियोगैर्निषेवितम् ॥२२॥

भूतिक (कत्तृण या अजवायन), ऐरण्ड, पुनर्नवा, रास्ना, अडूसा, रोहिषघास, दशमूल, माषपर्णी, भार्गी, वच, देवदारु, बला, नागबला, मूर्वा, अश्वगन्धा, अमृताद्वय (गिलोय और हरड़) झिण्टी, शतावरी, सोंठ, कौआटूंटी, विदारी, जौ, उड़द, अलसी, बेर, कुलत्थी इनके क्वाथ में जीवनीयगण का कल्क प्रक्षेप देकर, तैल से चार गुण दूध में सिद्ध किया तैल जंघा, ऊरुत्रिक, पार्श्व, अंश, बाहु, मन्या, शिर में स्थित वात रोगों को बस्ति में देने से नष्ट करता है ॥१९-२२॥

जीवन्त्यतिबलामेदाकाकोलीद्वयजीवकैः ।
ऋषभातिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः ॥२३॥
रास्नामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचन्दनैः ।
स्वयङ्गुप्ताशटीशृङ्गीकलसीसारिवाद्वयैः ॥२४॥
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु ।
तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्धनम् ॥२५॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम् ।
नस्ये पाने च संयुक्तमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥२६॥

जीवन्ती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पिप्पली, कौआटूंटी, वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलैहठी, चीड़, शतावरी, कौंच, कचूर, काकड़ाशृंगी, पृश्निपर्णी, सारिवा, कृष्णसारिवा इनके कल्क से घी और तैल से आठ गुणे दूध में घी और तैल (मिलित) सिद्ध करे। इसको अनुवासन में देने से शुक्र और अग्नि का बल बढ़ता है। यह बृंहण, वात पित्त नाशक, गुल्म आनाह नाशक है। नस्य और पीने में बरतने से जत्रु के ऊपर के रोगों को नष्ट करता है ॥२३-२६॥

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचन्दनैः ।
श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषाम्बुभिः ॥२७॥
तैलपादं पचेत् सर्पिः पयसाऽष्टगुणेन च ।
न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं बस्तिषु योजितम् ॥२८॥

दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन् ।
पित्तरक्तज्वराद्यांश्च हन्यात् पित्तकृतान् गदान् ॥२९॥

मुलेहठी, खस, गाम्भारी, कुटकी, कमल, चन्दन, निशोथ, दद्माख, देवदाली, इन्द्रजौ, अतीस, वालक, इनका कल्प, तैल का चतुर्थांश घी और तैल से आठ गुणा दूध मिलाकर तैल को न्यग्रोधगण के क्वाथ के साथ सिद्ध करे। इस तैल का बस्ति में उपयोग करने पर दाह, रक्तप्रदर, वीसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्त, ज्वर आदि एवं पित्तजन्यरोग नष्ट होते हैं। (जीमूत, मुस्तक, श्यामा, प्रियंगु, डल्हण) ॥२९॥

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः ।
चन्दनद्वयभूनिम्बपद्मबीजकसेरुकैः ॥३०॥
पटोलकटुकारक्तागुन्द्रापर्पटवासकैः ।
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं तृणमूलरसेन च ॥३१॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम् ।
नस्येऽभ्यञ्जनपाने वा हन्यात् पित्तगदान् बहून् ॥३२॥

कमलनाल, कमल, कमलमूल (कन्द), सारिवा, कृष्णसारिवा, केसर, चन्दन, लालचन्दन, चिरायता, कमलगट्टा, कसेरू, पटोल, कुटकी, मजीठ, गुन्द्रा (पटेरन), पित्तपापड़ा, अडूसा, इनके कल्क से पञ्चतृण मूल के क्वाथ में दुगुना दूध मिलाकर सिद्ध किये तैल घृत बस्ति कर्म में बरते। नस्य अभ्यंग और पान में बरते। पित्तजन्य बहुत से रोगों को नष्ट करता है।

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः ।
निम्बारग्वधषड्ग्रन्थासप्तपर्णनिशाद्वयैः ॥३३॥
गुडूचीन्द्रसुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः ।
तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम् ॥३४॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्तिषु योजितम् ।
स्थूलतालस्यकण्ड्वादीन् जयेत्कफकृतान् गदान् ॥३५॥
पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः ।
सरलागुरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुमैः ॥३६॥
मरिचैलाभयाकट्वीशटीग्रन्थिककट्फलैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा पक्वमेभिः समायुतम् ॥३७॥
बल्लीकण्टकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च ।
हन्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान् ॥३८॥
विडंगोदीच्यसिन्धूत्थशटीपुष्करचित्रकैः ।
कट्फलातिविषाभार्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः ॥३९॥
मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः ।
शताह्वानीलिनीरास्नाकलसीवृषरेणुभिः ॥४०॥
बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादन्तीचव्यनराधिपैः ।
तैलमेरण्डतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम् ॥४१॥
प्लीहोदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् ।
प्रमेहशर्करार्शांसि हन्यादाश्वनुवासनैः ॥४२॥

त्रिफला, अतीस, मूर्वा, त्रिवृत्त, चित्रक, अडूसा, नीम, अमलतास, वच, सतवन, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय, इन्द्रायण, पिप्पली कूट, सरसों, सोंठ इनको समान भाग लेकर इनके कल्क से सुरसादिगण के क्वाथ में पकाया तैल पान, अभ्यंग, गण्डूष, नस्य और बस्ति में बरतने से स्थूलता, आलस्य, कण्डू आदि कफजन्य रोगों को नष्ट करता है। पाठा, अजवायन, शार्ङ्गेष्टा (मजीठ), पिप्पली, गजपिप्पली, सोंठ, चीड़, अगरु, कालीयक, भार्गी, चव्य, देवदारु, मरिच, इलायची, हरड़, कटुकी, कचूर, वच, कट्फल इनके कल्क से, बल्लीपञ्चमूल (विदार्यादि पञ्चमूल) और कण्टक पञ्चमूल इनके क्वाथ में सिद्ध किया एरण्ड तैल या तिल तैल अनुवासन में देने से कफजन्य रोगों को नष्ट करता है। विडंग, खस, सैन्धव, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, कट्फल, अतीस, भार्गी, वच, कूट, देवदारु, मेदा, मैनफल, मुलेहठी, निशोथ, जलवेतस, सोंठ, सौंफ, नील, रास्ना, पृश्निपर्णी, अडूसा, रेणु (पर्पटक), बिल्व, अजवायन, पिप्पली, दन्ती, चव्य, अमलतास, इनके कल्क से, मुष्कक आदि के क्वाथ में सिद्ध किया तिल तैल या एरण्ड तैल प्लीहा, उदावर्त्त, वातरक्त, गुल्म, आनाह, कफरोग, प्रमेह, अर्श, शर्करा को अनुवासन में बरतने से शीघ्र नष्ट करता है।

वक्तव्य—शट्यादि, वचादि, चित्रकादि, भूतीकादि तैल प्रायः वातरोगों में, जीवन्त्यादि, मधुकादि, मृणालादि तैल प्रायः पित्त-रक्त रोगों में, त्रिफलादि, पाठादि तैल कफ रोगों में, विडंगादि तैल कफप्रधान वायु में, संसर्गसन्निपात में इनको यथायोग्य रूपमें मिलाकर बरते। बल्लीपञ्चमूल और कण्टकपंचमूल सूत्रस्थान अध्याय अड़तीस में हैं ॥३३-४२॥

अशुद्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानुवासयेत् ॥४३॥

यदि रोगी शुद्ध वायु से ही पीड़ित हो तो उसका शोधन (विरेचन आदि) न भी हुआ हो तो उसे पूर्वाह्न में या दिन रात में सब समय अनुवासन देना चाहिये। (केवलेन-धातुक्षयहेतुना, डल्हण) ॥४३॥

रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान् ।
दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत् ॥४४॥

रूक्ष एवं बहुत वायु पुरुष को पहले दो या तीन अनुवासन देकर, जब शरीर स्निग्ध बन जाये, तब पीछे से निरूह देवे॥

अस्निग्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम् ।
स्नेहप्रगाढैर्मतिमान्निरूहैः समुपाचरेत् ॥४५॥

शुद्ध वायु से (किसी दूसरे दोष का संसर्ग न होने पर) अतिशय पीड़ित होने पर स्नेहन दिये रोगी को भी बुद्धिमान् वैद्य स्नेह प्रचुर निरूहों से चिकित्सा करे ॥४५॥

अथ सम्यङ्निरूढं तु वातादिष्वनुवासयेत् ।
बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रमम् ॥४६॥

भली प्रकार निरूहण हो जाने पर वातादि दोषों में क्रमशः बिल्वतैल, मुलैहठी के तैल, और मैनफल इनसे सिद्ध किये तैल से अनुवासन दे ॥

वक्तव्य—बिल्वतैल—बिल्वकल्क या क्वाथ से सिद्धतैल अथवा—शाताह्वा फल बिल्वाख्यैः तैलं सिद्धसमीरणे। यष्ट्याह्व-तैल—भूतीकादि द्रव्य-जीवनीयगण से कहा हुआ। मैनफल—फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णा रास्ना, भूनिम्बदारुभिः—इनसे सिद्ध किया तैल बरते ॥४६॥

रात्रौ बस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः।
स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम् ॥४७॥

रात्रि में बस्ति का प्रयोग न करे। क्योंकि आहार के विदाह से या समय की शीतलता के कारण रात्रि में दोषों का उत्क्लेश होता है। वह उत्क्लेश स्नेह की शक्ति से युक्त होकर आध्मान, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—"अविशुद्धे तु हृदये निशि क्लिन्नेषु धातुषु। विदग्धेऽन्नरसे स्रोतः सूपलिप्तेषु देहिनाम् ॥ व्यापारेभ्यो निवृत्तानां दोषोत्क्लेशो भवेदिति ॥४७॥

अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते।
स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति ॥४८॥

दिन में दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, अग्नि के रस से युक्त होने पर, शरीर के स्रोतों के मुख खुले होने से स्नेह का ओज सारे शरीर में फैल जाता है ॥४८॥

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते।
नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम् ॥४९॥
उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः।
संभवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक् ॥५०॥

अपवाद—वात रोग से पीड़ित, रूक्ष शरीर मनुष्य में कफ के क्षीण होने पर और पित्त की अधिकता में ग्रीष्म ऋतु होने पर रात्रि में भी अनुवासन देना चाहिये। ग्रीष्म काल में या पित्त की अधिकता में दिन के समय अनुवासन देने पर दाह आदि रोग होते हैं। इसलिये-प्रदोष में रात्रि के प्रथम प्रहर में अनुवासन देवे ॥४९,५०॥

शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये।
स्नेह्यो दिनान्ते पानोक्तान् दोषान् परिजिहीर्षता ॥५१॥

स्नेह पान में कहे हुए दोषों से बचने की इच्छावाला व्यक्ति शीतकाल और वसन्त में दिन के समय और ग्रीष्म, प्रावृट् एवं शरद ऋतु में दिन के अन्त में स्नेहन लेवे। (अनुवासन बस्ति ले)।

वक्तव्य—"शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो रात्रौ शरद् ग्रीष्मघनागमेषु। तानेव दोषान्परिरक्षता ये, स्नेहस्य पाने परिकीर्त्तिताः प्राक् ॥ चरक० सि० अ० १।२२। देखिये—चरक० सूत्र० अ० १३।१६,२१ ॥५१॥

अहोरात्रस्य कालेषु सर्वष्वेवानिलाधिकम्।
तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५२॥

दिन रात के सब समयों में वायु की अधिकता होने पर तीव्र वेदना होने से, अन्न पच गया हो तो—भोजन कराके अनुवासन देवे ॥५२॥

न चाभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथञ्चन।
शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत् ॥५३॥

बिना भोजन दिये (खाली पेट) स्नेह कभी नहीं देना चाहिये। क्योंकि कोष्ठ के शुद्ध एवं खाली होने से स्नेह ऊपर की ओर जा सकता है ॥५३॥

सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम्।
ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः ॥५४॥
न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः ॥५५॥
रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत्।
युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५६॥
यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधि समीक्ष्य वा।
यथोचितात् पादहीनं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥५७॥

भोजन कराके हाथ धुलाते ही, रोगी को अनुवासन सदा देवे। अन्न की विदग्धावस्था में दिया गया स्नेह ज्वर कर देता है। अतिस्निग्ध भोजन खिलाकर अनुवासन न देवे। दो प्रकार से दिया हुआ स्नेह मद और मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। रूक्ष अन्न खाने पर बल और वर्ण घटता है। इसलिये थोड़े परिमाण में (मात्रा में) स्नेहभोजन में देकर अनुवासन देवे। मूंग आदि का यूष, दूध या मांसरस—जो रोग के अनुकूल हों, जो सात्म्य हों, उनको प्रतिदिन की भोजन की मात्रा से चतुर्थांश कम मात्रा में खिलाकर अनुवासन दे।

वक्तव्य—"पादहीनमुत्तममध्यममन्दाग्निविशेषेण पादेन पादाभ्यां पादैर्वादीनम् इति ज्ञेयम्। अर्धहीनं त्रिभागं वा भोजयित्वाऽनुवासयेत्। डल्हण—दो तरह के दिये स्नेह की हानि—"स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रति भुञ्जान एव च। स्नेह मिथ्योपचाराद्धि जायन्ते दारुणा गदाः ॥५४-५७॥

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः ॥५८॥
विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत् स्नेहबस्तिना।
प्रणिधानविधानं तु निरूहे संप्रवक्ष्यते ॥५९॥

जिसको अनुवासन देना हो—उस रोगी को भली प्रकार स्नेह से अभ्यंग देकर, धीरे-धीरे गरम पानी से स्वेदन देवे। फिर शास्त्र विधि से भोजन कराके कुछ घुमाये। मल मूत्र का त्याग कर चुकने पर स्नेहबस्ति देवे। बस्ति की प्रणिधानविधि निरूह में कहेंगे।

वि० मन्तव्य—हाथ-पाँव के तलुवों तथा स्फिचों पर थपथपाने तथा शय्या को थोड़ा उठाकर पटकने से अनुवासन का स्नेह तत्काल नहीं निकलता यह स्वभाव है क्योंकि ऐसा करने पर पुरीष का वेग भी कुछ समय के लिये रुक जाता है। बात बहुत छोटी है परन्तु है बड़े महत्त्व की। पाठक इस पर गम्भीर विचार करें और अग्रिम श्लोक ६५ को देखकर समझें॥५९॥

ततः प्रणिहितेनेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्।
प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति॥६०॥
ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन् वाराञ्छनैः शनैः।
स्फिचोश्चैनं ततः शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत्ततः॥६१॥
एवं प्रणिहिते बस्तौ मन्दायासोऽथ मन्दवाक्।
स्वास्तीर्णे शयने काममासीताचारिके रतः॥६२॥

स्नेहबस्ति ले चुकने पर एक सौ मात्रा तक चित्त-पीठ के भार और हाथ पैर-सब अङ्गों को पसारकर रोगी लेटा रहे। इस प्रकार स्नेह का वीर्य सारे शरीर में फैल जाता है। हाथ-पैर के तलुवों पर धीरे-धीरे तीन-तीन बार थपथपाये। नितम्बों पर भी थपथपाये। शय्या की पांयत को तीन बार ऊँचा उठाकर इस प्रकार से बस्ति के देने पर रोगी थोड़ा परिश्रम करे और थोड़ा बोले। अपने बिस्तर पर आराम से पड़ा रहे और नियम पालन में दत्तचित्त रहे॥६०-६२॥

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः।
देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम्॥६३॥
यस्यानुवासनो दत्तः सक्रुदन्वक्षमात्रजेत्।
अत्यौष्ण्याद‌तितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः॥६४॥
सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः।
तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति॥६५॥
विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने।
दाहक्लमप्रवाहार्तिकरश्चात्यनुवासनः॥६६॥

स्नेह को सैन्धव नमक और सौंफ के साथ मिलाकर सुहाता हुआ गरम देना चाहिये, इससे सहसा सुखपूर्वक बाहर आता है। अति उष्णिमा के कारण, अतितीक्ष्ण होने से, वायु के दबाव के कारण, वायु के साथ जाने से, मात्रा में अधिक होने से, अथवा भारी होने से, औषध का साथ होने से जिस रोगी में दिया हुआ स्नेह एकदम तुरन्त बाहर आ जाता है, उसमें दूसरा स्नेह पहले से थोड़ी मात्रा में देवे, क्योंकि स्नेह यदि नहीं ठहरता तो रोगी स्निग्ध नहीं होता। स्नेह हीन दिया हुआ अनुवासन विष्टब्धता (वायु-मल मूत्र का अवरोध), दाह, क्लम, प्रवाहिका, परिकर्त्तिका, उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—"चूर्णमाषः पले स्नेहे सिन्धुजन्मशताह्वयोः॥"

वि० मन्तव्य—स्नेह का मलाशय में कुछ समय (४-६ घण्टा) रुकना आवश्यक है जिससे उसका वीर्य शरीर में जा सके और उसके पश्चात् बचा-खुचा स्नेह निकल जाना भी आवश्यक है, यदि न निकले और कोई हानि भी न करे तो उसकी उपेक्षा कर देवे अर्थात् निकालने का कोई प्रयत्न न करे देखिये श्लोक ६८। परन्तु यथासाध्य अनुवासन के स्नेह में सैन्धव लवण तथा सोया का थोड़ा (२४ माशा) चूर्ण अवश्य मिला देना चाहिये और स्नेह को कुछ उष्ण करके प्रयुक्त करना चाहिये। ऐसा करने से वह सुखपूर्वक-किसी उपद्रव के बिना उचित समय पर लौट आता है। जैसे-आहार में लवण मिलाने से समय पर पुरीषोत्सर्ग हो जाता है और लवण एवं सोया से स्नेह का पाचन भी अधिक हो जाता है जैसे आहार का। और यदि स्नेह उक्त कारणों से तत्काल-बस्ति देते ही तुरन्त लौट आवे तो दुबारा थोड़ी मात्रा में स्नेहबस्ति देना चाहिये जो कुछ समय के लिये रुके, क्योंकि यदि स्नेह मलाशय में नहीं रुकता तो स्नेहन भी नहीं होता—अनुवासन का कोई लाभ नहीं होता। स्नेहहीनेऽनुवासने—हीन-न्यून मात्रा में स्नेह की बस्ति देने पर-वायु, पुरीष एवं मूत्र का अवरोध होता है और अत्यनुवासनः—अधिक मात्रा में स्नेह की बस्ति (देने पर)-दाह, क्लम, प्रवाहिका एवं अरति को उत्पन्न करती है॥६३-६६॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु।
ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः॥६७॥
जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः।
लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि॥६८॥
प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यनागरसाधितम्।
तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकाङ्क्षा च जायते॥६९॥

जिस पुरुष में ओष एवं चोष (जलन और दाह) के बिना, वायु और मल के साथ स्नेह शीघ्र वापिस आ जाता है, उसे भलीप्रकार अनुवासन हुआ जाने। यदि रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो ता, स्नेह के वापिस आने पर, पहला भोजन पच जाने पर, सायंकाल में लघु भोजन यथेच्छ देवे। प्रातःकाल धनिया और सोंठ से सिद्ध गरम पानी देना चाहिये। इससे अग्नि प्रदीप्त होती है, और भोजन में रुचि होती है॥६७-६९॥

स्नेहबस्तिक्रमेष्वेवं विधिमाहुर्मनीषिणः।
बुद्धिमानों ने स्नेह बस्ति क्रम में यह विधि कही है।
अनेन विधिना षड् वा सप्त वाऽष्टौ नवैव वा॥७०॥
विधेया बस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम्।

इस विधि से छै, सात, आठ या नौ बस्तियां (स्नेहबस्तियाँ) देवे, इनके बीच बीच में निरूह बस्ति देवे।

वक्तव्य—"त्रीन् पंचवाऽऽहुश्चतुरोऽथषड्वा वातादिकानामनुवासनीयान्। स्नेहान् प्रदायाऽशु भिषग्विदध्यात् स्रोतो-

विशुद्धयर्थमतो निरूहान् ॥ च० सि० अ० १–४६ ॥७०॥

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवङ्क्षणौ ॥७१॥
सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत् ।
जनयेद्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः ॥७२॥
रसं चतुर्थो रक्तं तु पञ्चमः स्नेहयेत्तथा ।
षष्ठस्तु स्नेहयेन्मांसं मेदः सप्तम एव च ॥७३॥
अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम् ।
एवं शुक्रगतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत् ॥७४॥

भली प्रकार दी हुई प्रथम बस्ति वंक्षण और बस्ति का स्नेहन करती है। द्वितीयबस्ति ऊपर के शरीर की (पक्वाशय से ऊपर की) वायु को शान्त करती है। तृतीय बस्ति बल और वर्ण को उत्पन्न करती है। चौथी बस्ति रस का और पाँचवी रक्त का स्नेहन करती है। छठी बस्ति मांस का और सातवीं मेद का स्नेहन करती है। आठवीं अस्थि का नवीं मज्जा का स्नेहन करती है। इस प्रकार अठारह बस्तियाँ शुक्रगत रोगों को भली प्रकार से अच्छा करती हैं ॥

वक्तव्य—नौ स्नेहबस्ति, नौ निरूह बस्ति इस प्रकार अठारह। "एकं त्रीन् वा बलासे स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत्। पंच वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले ॥ वाग्भटः ॥ त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि, कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः। सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक्स्नेह एकः परतश्च पंच ॥ काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः। योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः ॥
च० सि० अ० १ ४८ ॥७१–७४॥

अष्टादशाष्टदशकान् बस्तीनां यो निषेवते ।
यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण च ॥७५॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवेस्तुल्योऽमरप्रभः ।
वीतपाप्मा श्रुतधरः सहस्रायुर्नरो भवेत् ॥७६॥

जो मनुष्य यथोक्त विधि से और परहेजी को पालते हुए अठारह निरूह और अठारह स्नेहबस्तियों को (परिवर्त्तन से) सेवन करता है, वह बल में हाथी के समान, वेग में घोड़े के समान, कान्ति में देवताओं के समान, पाप रहित, सुनते ही धारण करनेवाला, हजार वर्ष की आयुवाला होता है ॥७५ ७६॥

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात् पवनाद्भयम् ॥७७॥
तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः ।
नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम् ॥७८॥

स्नेहबस्ति और निरूहबस्ति अकेली ही का सेवन न करे। स्नेह से अग्नि का नाश और उत्क्लेश (मिचली) और निरूह से वायु के कुपित होने का भय है। इसलिये निरूह देने के पीछे अनुवासन और अनुवासन के पीछे निरूह देवे (दो निरूह या दो अनुवासन एक साथ न दे) इस प्रकार करने से न तो पित्त या कफ का उत्क्लेश होने का डर रहता है, और न वातकोप की आशंका रहती है।

चरक—"स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्। उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहात् निरूहात्पवनाद्भयम् ॥ तस्मात् निरूढः स्नेह्यः स्याद् निरूह्यश्चानुवासितः। स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत्।

वि० मन्तव्य—यद्यपि अकेली स्नेहबस्ति अथच अकेली निरूहण बस्ति का ही सेवन करना निषिद्ध-हानिकारक है, परन्तु रूक्ष के लिये अल्पमात्रा में स्नेहबस्ति तथा स्निग्ध के लिये अल्पमात्रा में निरूहणबस्ति हानिकारक नहीं होती। देखिये श्लो० ८०। सच यह है, कि—जैसे स्नेहयुक्त आहार के साथ २ रूक्ष आहार स्वास्थ्य के आवश्यक है, वैसे ही बस्ति कर्म में भी स्नेह के लिये साथ २ रूक्षण करना आवश्यक है ॥७७,७८॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने ।
दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्त्र्यहात् ॥७९॥

रूक्ष एवं बहुत वायुवाले व्यक्ति को वैद्य प्रतिदिन स्नेहबस्ति देवे। अन्य पुरुषों में अग्निमान्द्य के भय से तीन दिन के अन्तर से देवे ॥७९॥

स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः ।
तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते ॥८०॥

रूक्ष पुरुषों में दीर्घकाल तक दिया अल्प स्नेह किसी प्रकार की हानि नहीं करता। इसी प्रकार स्निग्ध पुरुषों में थोड़ी मात्रा से दिया निरूह कोई हानि नहीं करता ॥८०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेहबस्तिजाः ।
बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः ॥८१॥
अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान् ।
कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः, स चापि न निवर्तते ॥८२॥
तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता ।
जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः ॥८३॥
पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत् ।
दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता ॥८४॥
श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता ।
गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीतज्वरोऽरुचिः॥८५॥

स्नेहबस्तिजन्य हानियों को इसके आगे कहूँगा। जब कोष्ठ में वायु आदि दोष बलवान् रहते हैं, तब अल्पवीर्यस्नेह को पराजित करके पृथग् २ उपद्रवों को स्नेह उत्पन्न करते हैं और वह स्नेह वापिस भी नहीं आता। इनमें वायु से स्नेह के पराजित होने पर मुख में कषाय रस, जम्भाई, वायु जनित भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनायें, कम्पन, विषमज्वर हो जाता है। स्नेहके

पित्त से अभिभूत होने पर मुख में कटुता होती है, दाह, प्यास, ज्वर, पसीना, नेत्र-मूत्र एवं अंगों में पीलापन होता है। स्नेह का कफ से पराजय होने पर मुख से लाला स्राव, मुख में मधुरता, भारीपन, वमन, कठिनाई से श्वास लेना, शीतपूर्वक ज्वर और अरुचि होती है।

वि० मन्तव्य—जैसे वमन, विरेचन तथा निरूहण बस्ति में वैद्य, रोगी, परिचारक एवं औषध के दोष से व्यापद् खड़ी हो जाती हैं वैसे ही स्नेह बस्ति (अनुवासन बस्ति) में भी व्यापद हो जाती हैं ।।८१-८५।।

तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे बस्तिं निधापयेत् ।
यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च ॥८६॥

दोष से अभिभूत स्नेह में दोषों के अनुसार निरूहण बस्ति देवे और दोष शामक जो चिकित्सा हो, उसे दोषों के अनुसार बरते। (आम के सम्बन्ध से लंघन आदि) ॥८६॥

अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा ।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसंचरः ॥८७॥
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ।
तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते ॥८८॥
अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः ।
तदाऽङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते ॥८९॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम् ।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम् ॥९०॥
शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम् ।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम् ॥९१॥
स्नेहगन्धि मुखं चापि कासश्वासावरोचकः ।
अतिपीडितवत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा ॥९२॥

बहुत अधिक भोजन करने के कारण अन्न से तिरस्कृत स्नेह जब बाहर नहीं आता, तब आमाशय में भारीपन, शूल, वायु का रुकना, हृदय पीड़ा, मुख में विरसता, श्वास, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि होती है। इसमें अपतर्पण कराके पीछे से अग्नि-दीपन चिकित्सा करे। विरेचन-निरूह दिये बिना दिया गया स्नेह जब वापिस नहीं आता तब अंगों में शिथिलता, आध्मान, श्वास और शूल होता है। और पक्वाशय में भारीपन रहता है। इसमें निरूहण देवे। अथवा तीक्ष्ण औषधियों से बनाया तीक्ष्ण अनुवासन भी दे। विरेचन आदि से शुद्ध हुए व्यक्ति में स्नेह के दूर तक पहुँच जाने पर मल में स्नेह का आना, शरीर में, सब इन्द्रियों में मलवृद्धि, ग्लानि, मुख में स्नेह की गन्ध, कास, श्वास, अरोचक होता है। इसमें अतिपीड़न की भाँति (गला दबाना, झकोरना आदि) चिकित्सा करे और आस्थापन बस्ति देवे ॥८७-९२॥

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः संप्रयोजितः ।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते ॥९३॥
विबन्धगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति ।
तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम् ॥९४॥

स्वेदन एवं वमन विरेचन न दिये पुरुष में थोड़ा, शीतल और मृदु दिया गया स्नेह वापिस न आकर धीरे-धीरे, थोड़ा वापिस आता है। पक्वाशय में वायु का अवरोध, भारीपन, आध्मान, शूल होता है। इसमें अनुवासन के साथ आस्थापन शीघ्र देवे ॥९३,९४॥

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा ।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत् ॥९५॥
तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन बस्तिना ।
(अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते) ॥९६॥

थोड़ा खाने पर दिया हुआ थोड़ा स्नेह मन्द गुण होने से वापिस नहीं आता, क्लम, उत्क्लेश और अतिशय बेचैनी उत्पन्न करता है। इसमें शोधनीय बस्ति से आस्थापन करना चाहिए। (शोधनीय स्नेहन से अनुवासन दवे) ॥९५,९६॥

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति ।
कुर्याद्बस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत् ॥९७॥

दिन-रात—चौबीस घण्टे में भी वापिस नहीं हुआ स्नेह किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करता। अपितु बस्ति के गुणों को करता है, परन्तु पच जाने पर थोड़ा गुण करता है ॥९७॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहबस्तिरनिःसृतः ।
सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥९८॥

बाहर न आई स्नेह बस्ति जिस पुरुष में किसी प्रकार का उपद्रव न करे, सम्पूर्णरूप में या थोड़े रूप में बाहर न आये, उसे रूक्षता के कारण रुका हुआ जानकर बुद्धिमान् वैद्य उसकी उपेक्षा कर दे ॥९८॥

अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत् ।

चौबीस घण्टे के पीछे भी स्नेह वापिस न आये, तो संशोधनों से उसे निकाले।

स्नेहबस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते ॥९९॥

स्नेह बस्ति के वापिस न आने पर दूसरी स्नेह बस्ति नहीं देनी चाहिए ॥९९॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वा सलक्षणचिकित्सिताः ।

इस प्रकार से सब हानियाँ लक्षण और चिकित्सा के साथ कह दी हैं।

बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम् ॥१००॥
चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रमातुराङ्गुलसंमितम् ।
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम् ॥१०१॥

इसके आगे उत्तरबस्ति की विधि का व्याख्यान करेंगे। रोगी की अपनी अँगुलियों के माप से नेत्र का माप चौदह

अंगुल, अग्रभाग चमेली के फूल के वृन्त के समान, छेद सरसों के जाने योग्य होना चाहिये।

वक्तव्य—अंगुल्यान्यथ चत्वारि पंच षट् सप्त वा तथा। सप्तांगुलं परं नेत्रं प्रणिधेयं भिषग्विदा॥ हिंस्याद् बस्तिं नरं चेह प्रमाणादधिकं ततः॥

वि० मन्तव्य—उत्तर बस्ति वह है, जो मूत्रमार्ग तथा भग में दी जाती है॥१००,१०१॥

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः।
पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम्॥१०२॥

उत्तरवस्ति में स्नेह की अधिक से अधिक मात्रा एक प्रकुंच (पल) भर है। यह मात्रा पच्चीस साल के लिये है। इससे छोटी आयु के लिये बुद्धि के अनुसार बना ले। (एक साल के लिये एक पल का पच्चीसवाँ भाग है)॥१०२॥

निविष्टकर्णिकं मध्ये, नारीणां चतुरङ्गुले।
मूत्रस्रोतः परीणाहं मुद्गवाहि दशाङ्गुलम्॥१०३॥
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः।

पुरुषों के नेत्र में कर्णिका मध्य भाग में रखनी चाहिये। स्त्रियों में नेत्र कर्णिका चार अंगुल की दूरी पर हो। मूत्र स्रोत के अनुसार मोटा, मूंग के जाने योग्य छिद्रवाला, और दस अंगुल लम्बा होना चाहिए। कई आचार्य मेहन के समान लम्बा नेत्र (कुछ अधिक बड़े छेद का) पसन्द करते हैं॥१०३॥

तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम्॥१०४॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमङ्गुलम्।
विधेयं चाङ्गुलं तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा॥१०५॥

स्त्रियों के योनिमार्ग में नेत्र को चार अंगुल प्रविष्ट करे। मूत्र मार्ग में दो अंगुल। कन्याओं के मूत्र मार्ग में एक अंगुल प्रविष्ट करे। यह माप उनकी अपनी अँगुलियों से लेना चाहिये। (कन्या-अप्राप्त द्वादशवर्षा)॥१०४,१०५॥

स्नेहस्य प्रसृतं चित्रं स्वाङ्गुलीमूलसंमितम्।
देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम्॥१०६॥

उत्तर वस्ति में स्नेह का प्रसृत अपनी अँगुली मूल से माप कर लेवे। यह स्नेह की उत्तम मात्रा है। (स्त्रियों की उत्तर बस्ति में)। इससे कम मात्रा अपनी बुद्धि के अनुसार बना ले॥१०६॥

औरभ्रः शौकरो वापि बस्तिराजश्च पूजितः।
तदलाभे प्रयुञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम्॥१०७॥

मेढा, सुअर या बकरे की बस्ति (मूत्राशय) इसमें उत्तम है। इसके अभाव में पक्षियों का गलचर्म बरते। (इसके अप्राप्य होने पर मशक का पैर, अथवा कोमल चर्म बरते॥१०७॥)

अस्यालाभे दृतेः पादो मृदुचर्म ततोऽपि वा।
अथातुरमुपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम्॥१०८॥
यवागूं सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम्।
निषण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम्॥१०९॥
स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मानवम्।
ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम्॥११०॥
पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम्।
शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्यादङ्गुलानि षट्॥१११॥
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम्।
ततोऽवपीडयेद्बस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत्॥११२॥
ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः।
भोजयेत् पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा॥११३॥
अनेन विधिना दद्याद्बस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा।

विधि—रोग को स्नेहन और स्वेदन देकर—वायु-मूत्र-मल के त्याग करने से आशय के ढीला होने पर, घृत और दूध मिलित यवागू को यथाशक्ति पिलाकर; घुटनों के बराबर ऊँची चौकी पर, सहारा (तकिया) लगाकर बिठाये। गरम तैल से बस्ति शिर को भली प्रकार मलकर, इसके मूत्र नाल को प्रहर्षित (उत्तेजित) करके समान रूप में रखकर--प्रथम शलाका से मार्ग की परीक्षा करके, पीछे से घी से स्निग्ध किये नेत्र को धीरे-धीरे छै अंगुल प्रविष्ट करे। कई आचार्य मेहन के बराबर प्रविष्ट करने के लिये कहते हैं। फिर बस्ति को दबाये और धीरे से नेत्र को निकाल ले। फिर स्नेह के वापिस आने पर सायंकाल में बुद्धिमान् वैद्य दूध से, यूष से या मांस रस से मात्रा में भोजन देवे। इस विधि से तीन या चार बस्ति देवे।

वि० मन्तव्य—प्रहर्षितम्—(सुश्रुत), हृष्टे मेढ्रे (चरक) हृष्टे इति स्तब्धे (चक्रपाणि) तथा हृष्टे मेढ्रे स्थिते च ऋजौ (वाग्भट सू० अ० १९) इन तीनों आचार्यों के कथनानुसार प्रहर्षित अर्थात् हृष्टऋजु सीधे स्थित-खड़े मेढ्र-शिश्न में शलाका तथा उत्तर बस्ति का नेत्र देने का विधान किया गया है परन्तु हमारा विचार है कि इन प्रहर्षित आदि शब्दों के साथ "नञ्" होना चाहिये अर्थात् शिथिल मेढ्र में शलाका देवें क्योंकि प्रहर्षित मेढ्र की दण्डिका फूल जाने के कारण शलाका प्रवेश नहीं हो सकता। यहाँ तक कि इस दशा में मूत्र भी नहीं उतरता और क्रियात्मक रूप में भी देखा जाता है कि शिथिल शिश्न में ही शलाका प्रवेश आदि क्रिया की जाती है। पाठक गम्भीर विचार करें॥

चरक-पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्। जातीपुष्पस्य वृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्॥ रौप्यं वा सर्ष[illegible] च्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलम्। तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धप[illegible] नयेत्॥ यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा। स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा॥ सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जा[illegible] समे मृदौ। ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृतान्विते

शलाकयान्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत् । ततः शेफः प्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत् ॥ गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनुसेवनीम् । हिंस्याद् बस्तिगतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति ॥ सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षन्नेत्रमेव च । प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत् । अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च ॥

चरक० सि० अ० ६ ।५०-५७ ॥१०८-११३॥

ऊर्ध्वजान्वै स्त्रियै दद्यादुत्तानायै विचक्षणः ॥११४॥
सम्यक् प्रपीडयेद्यो न दद्यात् सुमृदुपीडितम् ।
त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद्योनिमुखं प्रति ॥११५॥

स्त्री में उत्तर बस्ति देने के लिये उसे पीठ के भार उत्तान लेटाकर घुटनों को मोड़कर ऊँचा कराये । धीरे से बस्ति को दबाकर उत्तर बस्ति देते समय योनि को भली प्रकार दबाये । इसमें तीन कर्णिकावाले नेत्र को योनिमुख की ओर रखकर बस्ति देवे ।

वि० मन्तव्य—विचक्षणः—"विचक्षणः" इत्यत्र केचित् 'समाहितः' इति पठन्ति कामसंकल्परहितेन अचलितचित्तप्रकृतिना इत्यर्थः—अर्थात् वैद्य विचक्षण–समाहित अर्थात् सावधान होकर बस्ति देवे, योनि दर्शन से कामातुर—विचलित चित्त न हो जाय । यह श्री डल्हण ने अर्थ किया है परन्तु हमारा विचार है कि स्त्रियों में बस्तिकर्म स्त्री-चिकित्सिका ही करे पुरुष नहीं । प्रतीत होता है कि डल्हण जी के समय में कोई नारी चिकित्सिका नहीं होती थी । सुश्रुत एवं पुनर्वसु के समय में प्रसव के लिये जब कि नारियों का अधिकार माना है तब बस्तिकर्म के लिये भी नारियों का अधिकार मानना उचित है ।११४,११५।

गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु ।

गर्भाशय के शोधन के लिये स्नेह की मात्रा दो गुनी (दो प्रसृत) लेनी चाहिये ।

क्वाथप्रमाणं प्रसृतं, स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत् ॥११६॥
कन्येतरस्याः, कन्यायास्तद्वद्बस्तिप्रमाणकम् ।

पुरुषों में क्वाथ की मात्र एक प्रसृत, प्रसूता या प्रसवरहित बड़ी आयु की स्त्री में दो प्रसृत मात्रा, अप्रसूता या गर्भग्रहण के अयोग्य एवं कन्या में (बारह वर्ष से कम) पुरुष के समान स्नेह की मात्रा अपने हाथ के माप से एक प्रसृत, बस्ति के शोधन के लिये लेनी चाहिये ॥११६॥

अप्रत्यागच्छति भिषग् बस्तावुत्तरसंज्ञिते ॥११७॥
भूयो बस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गणैः ।
गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसंभृताम् ॥११८॥
प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारमथैषणीम् ।
पीडयेद्वाऽप्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना ॥११९॥
आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च ।
कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वापि ससैन्धवाः ॥१२०॥
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु ।
बस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया ॥१२१॥
आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः ।
कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनतारैः ॥१२२॥
अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत् ।

उत्तर बस्ति के वापिस न आने पर वैद्य त्रिवृत आदि संशोधनीय द्रव्यों से मिली बस्ति को देवे । अथवा शोधन द्रव्यों से बनी गुद में वर्त्ति बरते । अथवा बस्तिद्वार (मूत्र मार्ग में) ऐषणी प्रविष्ट करे । अँगूठे को अन्दर रखकर बाँधी मुट्ठी से नाभि के नीचे जोर से दबाये । अमलतास के पत्ते, सम्भालु का स्वरस, गोमूत्र और सैन्धव इनको पीसकर-वय के अनुसार मूंग, इलायची का दाना, सरसों के बराबर वर्त्ति बनाकर शलाका की सहायता से मूत्र मार्ग में रक्खे, जिससे बस्ति आ जाये । घर का धुंवासा, कटेरी, पिप्पली, मैनफल, सैन्धव, इनसे शुक्त, गोमूत्र और सुरा में पीसकर बनाई वर्ति बरते । अनुवासन चिकित्सा में जो बस्ति लौटाने के विधान आदि कहा है, वह भी करे ।

वक्तव्य–बस्तिर्मात्राशतादूर्ध्वं प्रत्यागच्छति । अनागच्छति वर्ति पायौ नाले निदध्यात् ॥ मूत्रमार्ग में बस्ति या मूत्र को लाने के लिये कर्पूर का कण भी रखते हैं । वर्त्ति को छाया में सुखाकर घी से चिकना करके मूत्रमार्ग में रखना चाहिये ॥

शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकाम्बुना ॥१२३॥
दह्यमाने तदा बस्तौ दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ।
क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च ॥१२४॥

बस्ति में यदि जलन होती हो तो, मुलैहठी के शीतल कषाय में शर्करा और मधु मिलाकर बस्ति देवे । अथवा न्यग्रोधादिगण के शीतल कषाय में दूध मिलाकर बस्ति देवे ।

वि० मन्तव्य—यह बस्ति—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात (सुजाक-गनोरिया में भी बहुत लाभ करती है बहुशोऽनुभूत है । २ तोला मुलैहठी को ४० तोला जल में अर्धावशिष्ट क्वाथ करे और स्वच्छ खण्ड या मिशरी २ तोला, मधु २ तोला मिलाकर उत्तर बस्ति देवे । प्रदर रोग में इसी की बस्ति भग में देवे ॥

शुक्रं दुष्टं शोणितं चाङ्गनानां
पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम् ।
मूत्राघातान्मूत्रदोषान् प्रवृद्धान्
योन्यव्याधिं संस्थितिं चापरायाः ॥१२५॥
शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीं च
शूलं बस्तौ वङ्क्षणे मेहने च ।
घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान्
हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः ॥१२६॥

दूषित शुक्र को, स्त्रियों के दूषित आर्त्तव को, रज की अधिकता को, रजोनाश को, रजः कष्ट को, मूत्रघात को, बढ़े हुए मूत्र दोषों को, योनिव्याधि को, अपरा की रुकावट को, शुक्र के उत्सेक को, शर्करा को, अश्मरी को बस्ति-वंक्षण, मेहन

के शूल को, बस्ति जन्य अन्य भयानक रोगों को प्रमेहों को छोड़कर उत्तरबस्ति नष्ट करती है।

वि० मन्तव्य—जो बस्ति कषाय, क्षार एवं स्नेह मिलाकर दी जाती है वह निरूहण और जो केवल स्नेह (एरण्ड तैल आदि) से दी जाती है वह अनुवासन कहलाती है और उत्तर बस्ति निरूहण भी होती है और अनुवासन भो। उत्तरबस्ति प्रमेह रोग में नहीं दी जाती शेष–शुक्रदोष एवं रजोविकार आदि, मूत्राशय एवं गर्भाशय के सभी विकारों में दी जाती है॥

सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च।
बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना॥१२७॥

उत्तरबस्ति के सम्यग् योग के लक्षण, हानियाँ और उनकी चिकित्सा सब स्नेहबस्ति के समान है॥१२७॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनुवासनोत्तरबस्ति-चिकित्सितं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो निरूहक्रमचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे निरूह क्रम चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—निरूहण बस्तियों द्वारा मलाशय का शोधन किया जाता है परन्तु उसके जो योग इस अध्याय में लिखे गये हैं उनके द्वारा वे सब कार्य होते हैं जो मुखमार्ग से औषध देने पर होते हैं। सच यह है कि शरीर में सर्वत्र वात, पित्त एवं कफ अपना २ कार्य सर्वदा करते हैं इसलिये मलाशय में भी पहुँचाई गई औषधियों का पाचन हो जाता है। यही नहीं, त्वचा पर लेपन, अभ्यङ्ग आदि के रूप में लगाई गई औषधियों का भी पाचन होता है इसलिये बस्तियों तथा लेप आदि में वे ही द्रव्य प्रयुक्त होते हैं जो खाने की औषधों—आहारों में प्रयुक्त होते हैं॥१,२॥

अथानुवासितमास्थापयेत्; स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टवहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधःसुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशप्रतिव्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चीतदक्षिणसक्थिमितरप्रसारितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा, ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सव्यपाणिं कनिष्ठिकानामिकाभ्यां बस्तेर्मुखार्धं सङ्कोच्य, मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृतास्यं कृत्वा, बस्तावौषधं प्रक्षिप्य, दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चानुसिक्तमनायतमबुद्बुदमसंकुचितमवातमौषधासन्नमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिञ्चेत्, ततः सूत्रेणौषधान्ते द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात्, अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना बस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमांगुलिप्रदेशिनोभ्यां नेत्रमुपसंगृह्यांगुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तगुदाय प्रयच्छेदनुपृष्ठवंशं सममुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात्॥३॥

बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत्।
एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम्॥४॥

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात्। अथातुरमुपवेशयेदुत्कुटुकं बस्त्यागमनार्थम्। निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति॥५॥

अनेन विधिना बस्तिं दद्याद् बस्तिविशारदः।
द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः॥६॥

अनुवासन दिये हुए व्यक्ति को आस्थापना (निरूह) बस्ति देनी चाहिये। इसके लिये रोगी को भली प्रकार स्नेहन और स्वेदन कराके, मलमूत्र का त्याग कराके, वायुरहित, पवित्र घर में मध्याह्न समय में—विस्तृत चौड़ी बिछाई नीचे (पैरों की ओर) भली प्रकार पकड़ने योग्य, कटि प्रदेश की ओर ऊँची बिना सिरहाने की शय्या पर रोगी को वामपार्श्व से लेटाये। रोगी की दक्षिण टांग सिकोड़कर वाम टांग फैलाकर—प्रसन्न मन, अन्न जीर्ण होने पर, मौन रखकर, शिथिल शरीर हुआ जानकर, बायें पैर के ऊपर बस्तिनेत्र को करके, दूसरे दक्षिण पैर के अंगूठे और अंगुली से बस्ति को कर्णिका के ऊपर दबाकर बायें हाथ की कनिष्ठका और अनामिका से बस्ति के मुख के आधे भाग को दबाकर, मध्यमा, प्रदेशिनी और अङ्गूठे से आधेमुख को खुला रखकर, बस्ति में औषध डाले। दक्षिण हाथ के अंगूठे से, प्रदेशिनी और मध्यमांगुली से, ठीक प्रकार से (ऊपर से न बहे ऐसा करे) रखते हुए, बहुत फैलाकर नहीं, बुलबुले रहित, बिना सिकोड़े, वायु के बिना (औषध डालकर वायु निकाले), औषधि के पास पकड़े। फिर वाम हाथ से इस को पकड़कर, दक्षिण हाथ से इसमें से थोड़ी औषधि निकाले। फिर औषध की समाप्ति पर धागे से दो तीन लपेटे देकर नेत्र पर बाँध देवे। फिर दक्षिण हाथ को चित्त-सीधा करके बस्ति को पकड़कर बायें हाथ की मध्यमांगुली और प्रदेशिनी से नेत्र को थामकर, अङ्गूठे से नेत्र का मुख बन्द रखकर, नेत्र के अग्रभाग पर घी लगाकर, घी से गुदा को स्निग्ध करके पृष्ठवंश के साथ साथ, समान, मुख को ऊपर रखकर, कर्णिका पर्यन्त नेत्र को रोगी अन्दर प्रविष्ट करे। बस्ति को बायें हाथ में थामकर दक्षिण हाथ से एक ही दबाव में दबाये। न तो जोर से दबाये और न धीरे दबाये, फिर नेत्र को निकालकर बस्ति देने से लेकर तीस मात्रा कालतक प्रतीक्षा

करे। फिर रोगी को खड़ा होने के लिये कहे। रोगी को ऊकडूं बिठाये, जिससे बस्ति बाहर आ जाये। निरूह के वापिस आने का समय मुहूर्त्त (दो घटिका) होता है। बस्ति को जाननेवाला वैद्य इस प्रकार से बस्ति को देवे। प्रयोजन की अपेक्षा से दो, तीन या चार बस्ति देवे।

वक्तव्य—मात्रा, "यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणं जानुमण्डलं। निमेषोन्मेषकालो वा सा मात्रा परिकीर्त्तिता॥

(२) जानुमण्डलमावेष्ट्य दत्ते दक्षिणपाणिना। कृष्टनेत्रश्छटाशब्दं शतं तिष्ठेत वेगवान्॥ यह समय बस्ति की प्रतीक्षा का कहा है। यह क्रूर कोष्ठ की अपेक्षा से है ॥३–६॥

सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवारयेत्।

भली प्रकार बस्ति देने के लक्षण उत्पन्न हो जाने पर निरूह बस्ति देना बन्द कर देवे।

विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः ॥७॥
अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्।

कोमल प्रकृति पुरुषों में निरूह बस्ति कम मात्रा में देवे। भले ही कम बस्ति देवे, परन्तु अधिक मात्रा में कभी भी बस्ति न दे ॥७॥

यस्य स्याद्बस्तिरल्पोऽल्पवेगो हीनमलानिलः ॥८॥
दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान्।

जिसमें बस्ति कम हो, वेग अल्प हो, मल और वायु कम हों, उसे भली प्रकार निरूह नहीं हुआ जानना चाहिये। इसको मूत्र की पीड़ा, अरुचि, जड़ता रहती है ॥८॥

यान्येव प्राङ्मयोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते ॥९॥
तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता।

अतिविरेचन के जो लक्षण मैंने पहले कहे हैं, वे ही लक्षण बुद्धिमान् को अतिनिरूह में समझने चाहिये ॥९॥

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः ॥१०॥
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत्।

जिस रोगी में क्रमशः मल, पित्त, कफ और वायु निकलते हैं, शरीर में हल्कापन आता है उसे भली प्रकार से निरूह हुआ जानें।

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि। रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थिता च, बलं च तस्स्यात् सुनिरूढलिंगम्॥ चरक० सि० अ० १।४१।

चरक में—"बस्तिं ततः सव्यकरे निधाय सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्व्यलीकम्। अंगुष्ठमध्येन मुखं पिधाय नेत्राग्रसंस्थामपनीय-वर्त्तिम्॥ तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम्। समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने॥ सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानं। निकुञ्च्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम्॥ स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धं शनैः मृदु ऋजु पृष्ठवंशम्॥ अकम्पनावेपन-लाघवादीन्पाण्योः गुणांश्चापि हि दर्शयंस्तम्। प्रपीड्य चैकग्रहणेन, दत्तं, नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत्॥ च० सि० अ० ३।१०॥

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातवन्तं तु भोजयेत् ॥११॥
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्।
सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः ॥१२॥
त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापि वा।
यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते ॥१३॥
अनन्तरं ततो युञ्ज्याद्यथास्वं स्नेहबस्तिना।

भली प्रकार निरूह हो जाने पर रोगी को स्नान कराके भोजन देवे। पित्तवाले को दूध से, कफवाले को यूष से और वायुवाले को मांस रस के साथ भोजन देवें। अथवा सबको ही विकार न करनेवाले जांगल मांस रस के साथ भोजन दे। भोजन की मात्रा, अग्नि एवं दोष के अनुसार प्रतिदिन के भोजन से ⅓ भाग कम या इससे भी कम हो। इसके पीछे दोषों के अनुसार स्नेह बस्ति देवे। चरक में—"रसेन वाते प्रतिभोजने स्यात्क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः ॥११–१३॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः ॥१४॥
आस्थापनस्नेहबस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्।

आस्थापन और स्नेहबस्ति के भली प्रकार देने पर सम्यग् अवधारण (विवेकबुद्धि) शक्ति, मन की प्रसन्नता, स्निग्धता और रोग की शान्ति होती है ॥१४॥

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते ॥१५॥
रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम्।

निरूह देने के दिन वायु के कोप का बहुत भय रहता है, इसलिये मांसरस से भात देवे और उसी दिन अनुवासन देवे॥

पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम् ॥१६॥
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहबस्तिर्विधीयते।

फिर अग्निबल को देखकर, वायु की गतिविधि जानकर, अन्न से कोष्ठ में सहारा हो जाने पर स्नेहबस्ति देनी चाहिये॥

अनायान्तं मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत् ॥१७॥
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्लसंयुतैः।

एक मुहूर्त्त प्रतीक्षा करने पर यदि निरूह, बस्ति वापिस नहीं आये, तब त्रिवृतादि शोधन एवं तीक्ष्ण निरूहों में यवक्षार, गोमूत्र, कांजी मिलाकर देवे, इनसे उसे बाहर करे ॥१७॥

विगुणानलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम् ॥१८॥
शूलारतिज्वरानाहान्मरणं वा प्रवर्तयेत्।

विपरीत गतिमान् वायु से रुका हुआ निरूह, देरतक रुक जाता है। इससे शूल, आनाह, बेचैनी, ज्वर या मृत्यु भी हो जाती है ॥१८॥

न तु भुक्तवतो देयमास्थापनमिति स्थितिः ॥१९॥
विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम् ।
कोपयेत् सर्वदोषान् वा तस्माद्‌द्यादभोजिते ॥२०॥

भोजन करने पर आस्थापन नहीं देना चाहिये, यह सिद्धान्त है । ऐसा न करने से या तो विसूचिका होती है, या भयानक वमन होता है । अथवा सब दोषों को निरूह कुपित कर देता है, इसलिये भोजन न किये हुए को निरूह देवें ॥

जीर्णान्नस्याशये दोषाः पुंसः प्रव्यक्तिमागताः ।
निःशेषाः सुखमायान्ति भोजनेनाप्रपीडिताः ॥२१॥
न वाऽऽस्थापनविक्षिप्तमन्नमग्निः प्रधावति ।
तस्मादास्थापनं देयं निराहाराय जानता ॥२२॥
आवस्थिकं क्रमं चापि बुद्‌ध्वा कार्यं निरूहणम् ।
मलेऽपकृष्टे दोषाणां बलवत्त्वं न विद्यते ॥२३॥

अन्न के जीर्ण होने पर आशय (पक्वाशय) में वातादिदोष स्पष्ट हुए होने से—भोजन के कारण से न दबे होने पर सम्पूर्ण रूप में शान्त हो सकते हैं । अथवा आस्थापन से विक्षिप्त बनी अग्नि अन्न की ओर नहीं दौड़ती । इसलिये जाननेवाला बिना भोजन किये हुए में आस्थापन देवे ॥

आवस्थिक (अवस्थानुसार) विधि को समझकर भी निरूह देना चाहिये । क्योंकि मल के निकल जाने पर दोषों का बल कम हो जाता है ॥२१–२३॥

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसास्तथा ।
लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचा ॥२४॥
एला त्रिकटुकं रास्ना सरलो देवदारु च ।
रजनी मधुकं हिङ्गु कुष्ठं संशोधनानि च ॥२५॥
कटुका शर्करा मुस्तमुशीरं चन्दनं शटी ।
मञ्जिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसाञ्जनम् ॥२६॥
बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजा यवाः ।
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ॥२७॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका ।
निरूहेषु यथालाभमेष वर्गो विधीयते ॥२८॥

दूध, अम्ल, मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मांसरस, लवण, त्रिफला, मधु, सौंफ, सरसों, बच, इलायची, सोंठ, मरिच, पिप्पली, रास्ना, चीड़, देवदार, हल्दी, मुलैहठी, हींग, कूट और त्रिवृत्त आदि संशोधन, कुटकी, शर्करा, मुस्ता, खस, चन्दन, कचूर, मजीठ, मैनफल, चण्डा (गठोना), त्रायमाण, रसौंत, बिल्व का गूदा, अजवायन, प्रियंगु, इन्द्रजौ, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका इनमें से जो मिल सके उनका निरूहों में उपयोग करे ॥

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः ।
क्रुद्धेऽनिले चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः ॥२९॥
सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां लवणं पुनः ।
क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा ॥३०॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे कल्पना त्वियम् ॥३१॥

स्वस्थ अवस्था में क्वाथ के चार भाग और पाँचवाँ भाग स्नेह, वायु कोप में स्नेह चौथा भाग, पित्त में छठा भाग और कफ में स्नेह का आठवाँ भाग होना चाहिये । सब निरूहों में कल्क का आठवाँ भाग होना चाहिये । लवण, मधु, मूत्र, मैनफल, दूध, कांजी, मांसरस इनको बुद्धिमान् युक्ति से मिलाये ।

वक्तव्य—मधुस्नेहनकल्काख्यकषाया वापतः क्रमात् । त्रीणि षड्द्वादशत्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम् ॥ पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपंच चतुष्टयम् । षट्त्रीणि द्वे दशत्रीणि कफे चापि निरूहणम् ॥ चरक में—भागाः कषायस्य तु पंचपित्ते स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च । वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः ॥ चरक ॥२९–३१॥

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः ।
बस्तेः सुकल्पना प्रोक्ता तस्य दानं यथार्थकृत् ॥३२॥

कल्पनाविधि—कल्क, स्नेह, और कषाय ये सब मिलकर एक हो जायें, यह कल्पना वैद्यों ने बताई है । बस्ति की सुकल्पना बनाकर उसका देना यथार्थ फलदायक है ।

वक्तव्य—न धावत्यौषधं पाणिं न तिष्ठत्यावलिप्य च । न करोति च सीमन्तं स निरूहः सुयोजितः ॥३२॥

दत्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम् ।
पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः ॥३३॥
सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम् ।
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान् ॥
गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च ।
यथा वा साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः समः ॥३५॥
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु ।
कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत् ॥३६॥

प्रथम सैन्धव एक कर्ष मात्रा में डाले, मधु दो प्रसृत मिलाकर पात्र में इनको हाथ से खूब मथे । मथने पर तैल धीरे धीरे मिलता जाये । भली प्रकार मथे जाने पर मैनफल का कल्क इसमें मिलाये फिर पीछे से कहे हुए दूसरे कल्कों को बारीक पीसकर मिलाये । इस सब को अब एक बड़े गहरे पात्र में डालकर मन्थन दण्ड से मथे । अथवा जैसे ठीक समझे, वैसे मथे । यह न तो बहुत घट्ट होना चाहिये और न पतला, अपितु समान रहना चाहिये । दोषों की अवस्था देखकर मांसरस, दूध कांजी, मूत्र मिलाये । इसमें भली प्रकार छाना हुआ कषाय पाँच प्रसृत मिलाये ।

वक्तव्य—अन्यत्र "माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्" यह क्रम कहा है । चरक में—पूर्वं हि योज्यं मधुसैन्ध-

वाभ्यां स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनुकल्कम्। विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तद्वस्तौ निदध्यात्मथितं खजेन ॥ "लवण का परिमाण मात्रा में रखना चाहिये, अन्यथा दाह और अतिसार करता है ॥३३-३६॥

अत ऊर्ध्वं द्वादशप्रसृतान् वक्ष्यामः—
दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्।
विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतित्रयम् ॥३७॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्।
संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम् ॥३८॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्।
एवं प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत् ॥३९॥
ज्येष्ठायाः खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम्।
अपह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत् प्रसृतिह्रापनम् ॥४०॥
यथावयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता।
सैन्धवादिद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः ॥४१॥

इसके आगे बारह प्रसृतवाले निरूहों को कहेंगे—प्रथम सैन्धव एक कर्ष, मधु दो प्रसृत (चार पल), इनको मिलाकर इसमें स्नेह तीन प्रसृत मिलाये। जब स्नेह मिलकर एक हो जाये तब इसमें कल्क एक प्रसृत मिलाये। मिलकर एक हो जाने पर कषाय चार प्रसृत मिलाये। पीछे से इसमें प्रक्षेप दो प्रसृत मिलाये। इस प्रकार बनाने से बस्ति बहरा प्रसृत की बनती है। यह मात्रा श्रेष्ठ बस्ति की उत्तम मात्रा है। घटाने में वैद्य इसमें एक एक प्रसृति वय के अनुसार घटाये। सिद्धि की सफलता चाहनेवाला वैद्य सैन्धव से लेकर कषाय पर्यन्त द्रव्यों में इसी अनुपात में कमी करे।

चरक में—निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः। आद्वादशात्स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः। आसप्ततेरुक्तमिदं प्रमाणमतःपरं षोडशवद् विधेयम् ॥ निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः ॥३७-४१॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते बस्तयोऽत्र विभागशः।
यथादोषं प्रयुक्ता ये हन्युर्नानाविधान् गदान् ॥४२॥

इसके आगे पृथग् रूप में बस्तियों को कहते हैं। ये बस्तियाँ रोग एवं दोष के अनुसार दी जाने पर नाना प्रकार के रोगों को नष्ट करती हैं ॥४२॥

शम्पाकोरुबुवर्षाभूवाजिगन्धानिशाच्छदैः।
पञ्चमूलीबलारास्नागुडूचीसुरदारुभिः ॥४३॥
कथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः।
कल्कैर्मागधिकाम्भोदहपुषामिसिसैन्धवैः ॥४४॥
वत्साह्वयप्रियंगूग्रायष्ट्याह्वयरसाञ्जनैः।
दद्यादास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम् ॥४५॥
पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसङ्गिनाम्।
ग्रहणीमारुतार्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम् ॥४६॥

अमलतास, एरण्ड, पुनर्नवा, अजवायन, शटी, बृहत्पंचमूल, बला, रास्ना, गिलोय, देवदारु इन द्रव्यों को सोलह पल लेकर (चार मैनफल से एक पल बनता है)—एक सौ अट्ठाईस पल पानी में क्वाथ करके, छानकर बत्तीस पल बचाये। इसमें से आठ पल लेकर पिप्पली, मुस्ता, हाऊबेर, सौंफ, सैन्धव, इन्द्रजौ, प्रियंगु, मुलैहठी, बच, रसौत इनका कल्क मिलाये। मधु, लवण आदि से संस्कृत करके सुहाता हुआ गरम आस्थापन देवे। पीठ, ऊरू, त्रिकशूल, अश्मरी–मल–मूत्र–वायु के अवरोध, ग्रहणी, वायु–अर्श को नष्ट करता है, रक्त-मांस तथा बल देता है। (क्वाथ में से आठ पल ले, शेष क्वाथ को दूसरी या तीसरी बार के लिये रख लेवे–डल्हण) ॥४३-४६॥

गुडूचीत्रिफलारास्नादशमूलबलापलैः।
कथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियङ्गुघनसैन्धवैः ॥४७॥
शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठबिल्वजैः।
सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्धपलान्वितैः ॥४८॥
क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः।
समालोड्य च मूत्रेण दद्यादास्थापनं परम् ॥४९॥
तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्निप्राणवर्धनम्।
सर्वमारुतरोगघ्नं वयःस्थापनमुत्तमम् ॥५०॥

गिलोय, त्रिफला, रास्ना, दशमूल, बला ये सोलह द्रव्य, और मांस (इन द्रव्यों के बराबर) द्रव्य एक एक पल और मांस सोलह पल लेकर एक सौ छत्तीस पल पानी में क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर छानकर इसमें एक पुटक के लिए आठ पल लेकर, प्रियंगु, मुस्ता, सैन्धव, सौंफ, बच, पिप्पली, अजवायन, कूठ, बिल्व, इनका बारीक कल्क, और गुड़ एक एक अक्ष मिलाकर इसमें मैनफल आधा पल, मधु, घी, दूध, शुक्त, कांजी, मस्तु और मूत्र इन सबको घोलकर आस्थापन देवे। यह निरूह तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, अग्नि और प्राण को बढ़ाने में श्रेष्ठ है। सब वात रोगों को नष्ट करता है। वय को स्थिर रखने में उत्तम है ॥ ७-५०॥

कुशादिपञ्चमूलाब्दत्रिफलोत्पलवासकैः।
सारिवोशीरमञ्जिष्ठारास्नारेणुपरूषकैः ॥५१॥
पालिकैः कथितैः सम्यग् द्रव्यैरेभिश्च पेषितैः।
शृङ्गाटकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचन्दनैः ॥५२॥
विदारीमिसिमञ्जिष्ठाश्यामेन्द्रयवसिन्धुजैः।
फलपद्मकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः ॥५३॥
दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः।
दाहासृग्दरपित्तासृक्पित्तगुल्मज्वराञ्जयेत् ॥५४॥

कुश, काश, नल, दर्भ, इक्षु, मुस्ता, त्रिफला, नीलाकमल, अडूसा, सारिवा, खस, मजीठ, रास्ना, रेणु (पर्पटक), फालस

इनको एक-एक पल लेकर क्वाथ करे। इसमें सिंघाड़ा, कौंच, नागकेसर, अगरु, चन्दन, विदारी, सौंफ, मजीठ, निशोथ, इन्द्रजौ, सैन्धव, मैनफल, पद्माख, मुलैहठी इनका बारीक पिसा कल्क, मधु, दूध, घी इनको घोलकर बनाये आस्थापन को शीतल होने पर देवे। इसमें कांजी आदि खट्टे द्रव्य न मिलाये। यह दाह, रक्तप्रदर, पित्तरक्त, पित्तगुल्म और ज्वर को नष्ट करता है ॥५१-५४॥

रोध्रचन्दनमञ्जिष्ठारास्नानन्तावलर्धिभिः ।
सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः ॥५५॥
स्थिरादितृणमूलैश्च क्वाथः कर्षत्रयोन्मितः ।
पिष्टैर्जीवककाकोलीयुगर्धिमधुकोत्पलैः ॥५६॥
प्रपौण्डरीकजीवन्तीमेदारेणुपरूषकैः ।
अभीरुमिसिसिन्धूत्थवत्सकोशीरपद्मकैः ॥५७॥
कसेरुशर्करायुक्तः सर्पिर्मधुपयप्लुतैः ।
द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो बस्तिः सुशीतलः ॥५८॥
गुल्मासृग्दरहृत्पाण्डुरोगान् सविषमज्वरान् ।
असृक्पित्तातिसारौ च हन्यात्पित्तकृतान् गदान् ॥५९॥

लोध, चन्दन, मजीठ, रास्ना, सारिवा, वला, ऋद्धि, कालीसारिवा, अडूसा, गम्भारी, मेदा, मुलैहठी, पद्माख, लघुपंचमूल, पंचतृणमूल, प्रत्येक तीन कर्ष इनका क्वाथ, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, मुलैहठी, नीलाकमल, प्रपौण्डरीक (कमल) जीवन्ती, मेदा, पर्पटक, फालसा, शतावरी, सैन्धव, इन्द्रजौ, खस, पद्माख, कसेरू, इनका कल्क, शर्करा तीनपल, घी, मधु, दूध में इनको घोलकर तीक्ष्ण एवं अम्ल द्रव्यों को छोड़कर बनाई शीतल बस्ति देने पर गुल्म (रक्त या पित्त गुल्म) रक्तप्रदर, हृदयरोग, पाण्डुरोग, विषमज्वर, रक्त-पित्त, अतिसार और पित्तजन्य रोगों को नष्ट करती है ॥५५–५९॥

भद्रानिम्बकुलत्थार्ककोशातक्यमृतामरैः ।
सारिवाबृहतीपाठामूर्वारग्वधवत्सकैः ॥६०॥
क्वाथः, कल्कस्तु कर्तव्यो वचामदनसर्षपैः ।
सैन्धवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥६१॥
कटुतैलमधुक्षारमूत्रतैलाम्लसंयुतैः ।
कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापाण्डुमेहिनाम् ॥६२॥
मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम् ।
गलगण्डगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥६३॥

कट्फल, नीम, कुलत्थी, आक, तुरई, गिलोय, देवदारु, सारिवा, कटेरी, पाठा, मूर्वा, अमलतास, इन्द्रजौ इनका क्वाथ, बच, मैनफल, सरसों, सैन्धव, देवदारु, इलायची, कूट, पिप्पली, बिल्व, सोंठ, इनका कल्क, सरसों का तेल, मधु, यवक्षार, मूत्र, तैल, कांजी इनसे बनाया आस्थापन देने पर शीघ्र ही कामला, पाण्डु, प्रमेह को नष्ट करता है। मेदस्वी, अग्निमान्द्य रोगी, कफरोग से पीड़ित, भोजन में अरुचिवाले गलगण्ड, गर, ग्लानि, श्लीपद और उदररोगियों के लिये उत्तम है ॥६०–६३॥

दशमूलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः ।
कथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैन्धवदारुभिः ॥६४॥
पाठामागधिकेन्द्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः ।
कुर्यादास्थापनं सम्यङ्मूत्राम्लफलयोजितैः ॥६५॥
कफपाण्डुगदालस्यमूत्रमारुतसंगिनाम् ।
आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मक्रिमिविकारिणाम् ॥६६॥

दशमूल, हल्दी, बिल्व, पटोल, त्रिफला, देवदारु, इनका क्वाथ, मुस्ता, सैन्धव, दारुहल्दी, पाठा, पिप्पली, इन्द्रजौ इनका कल्क, तैल, क्षार, मधु, मूत्र, खट्टे फल (बिजौरे का रस) मिलाकर बनाया आस्थापन कफ, पाण्डुरोग, आलस्य, मूत्रावरोध, वायुरोध, आम, आध्मान, अपची, कफगुल्म, कृमि रोगों को नष्ट करता है ॥६४–६६॥

वृषाश्मभेदवर्षाभूधान्यगन्धर्वहस्तकैः ।
दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः ॥६७॥
कुलत्थबिल्वभूनिम्बैः क्वथितैः पलसंमितैः ।
कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वषड्ग्रन्थामरसर्षपैः ॥६८॥
पिप्पलीमूलसिन्धूत्थयवानीमिसिवत्सकैः ।
क्षौद्रेक्षुक्षीरगोमूत्रसर्पिस्तैलरसाप्लुतैः ॥६९॥
तूर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्टबहुरोगिणाम् ।
गृध्रसीशर्कराष्ठीलातूनीगुल्मगदापहम् ॥७०॥

वासा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, धनिया, एरण्ड, दशमूल, बला, मूर्वा, जौ, बेर, शटी, कुलत्थी, बिल्व, चिरायता एक एक पल लेकर क्वाथ करे। मैनफल, मुलैहठी, वच, देवदारु, सरसों, पिप्पलीमूल, सैन्धव, अजवायन, सौंफ, इन्द्रजौ, इनको एक-एक पल लेकर इनका कल्क, मधु, ईख का रस, दूध, गोमूत्र, घी, तैल, मांसरस घोलकर बनाया आस्थापन दोषों के संसर्ग एवं सन्निपातजन्य रोगों में देना चाहिये। इससे गृध्रसी, शर्करा, अष्ठीला, तूनी, गुल्मरोग नष्ट होते हैं ॥६७-७०॥

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः ।
त्रायमाणामृतारक्तापञ्चमूलीबिभीतकैः ॥७१॥
सबलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः ।
यष्ट्याह्वमिसिसिन्धूत्थफलिनीन्द्रयवाह्वयैः ॥७२॥
रसाञ्जनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः ।
युक्तो बस्तिः सुखोष्णोऽयं मांसशुक्रबलोजसाम् ॥७३॥
आयुषोऽग्नेश्च संस्कर्ता हन्ति चाशु गदानिमान् ।
गुल्मासृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान् ॥७४॥
विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुण्डलीम् ।
जानुजङ्घाशिरोबस्तिग्रहोदावर्तमारुतान् ॥७५॥
वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचीः ।
रक्तपित्तकफोन्मादप्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान् ॥७६॥

रास्ना, अमलतास, पुनर्नवा, कुटकी, खस, मुस्ता, त्राय-माण, गिलोय, मजीठ, बृहत्पंचमूल, बहेड़ा, बला, एक-एक

पल लेकर क्वाथ करे। मैनफल, मुलैहठी, सौंफ, सैन्धव, प्रियंगु, इन्द्रजौ, रसौत, मांसरस, मधु, द्राक्षा, सौवीर (कांजी) इनको मिलाकर दी गई गरम सुहाती बस्ति मांस, शुक्र, बल, ओज, आयु, अग्नि को बढ़ाती है और गुल्म, रक्तप्रदर, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, उरःक्षत, क्षय, विषमज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुण्डलिका को नष्ट करती है। जानु-जंघा-शिर बस्ति का पकड़ा जाना, उदावर्त्त, वायु, वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला, कुक्षिशूल, उदर, अरुचि, रक्तपित्त, कफोन्माद, प्रमेह, आध्मान, हृद्ग्रह को नष्ट करती है।

वक्तव्य—यहाँ पर स्नेह नहीं कहा है, फिर भी मिलाना चाहिये। यथा—"स्नेहो गुडो मांसरसः पयांसि साम्लानि मूत्रं मधु सैन्धवं च। एते निरूहे विदुषा प्रयोज्याः क्वाथश्च कल्को मदनात् फलं च ॥ हारीतः ।७१-७६।

वातघ्नौषधनिष्क्वाथाः सैन्धवत्रिवृतायुताः।
साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्बस्तयः कुपितेऽनिले ॥

वायु के कुपित होने पर भद्रदार्व्यादि वातघ्न औषधियों के क्वाथ में सैन्धव, निशोथ, कांजी मिलाकर सुहाती हुई गरम बस्तियाँ देनी चाहिये ॥७७॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथाः काकोल्यादिसमायुताः।
विधेया बस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः ॥७८॥

पित्त में न्यग्रोधादिगण के क्वाथ में काकोल्यादिगण का कल्क, घी, और शर्करा मिलाकर बस्तियाँ (शीतल) देनी चाहिये ॥७८॥

आरग्वधादिनिष्क्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे ॥७९॥

कफ के कुपित होने पर आरग्वधादि गण के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण का प्रक्षेप देकर मधु और गोमूत्र मिलाकर सुहाती गरम बस्तियाँ देनी चाहिये ॥७९॥

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः।
क्षीरवृक्षकषायाढ्या बस्तयः शोणिते हिताः ॥८०॥

रक्त में—न्यग्रोधादि वृक्षों के क्वाथ में शर्करा, ईख का रस, दूध, घी मिलाकर दी गई अतिशीतल बस्तियाँ उत्तम हैं ॥८०॥

शोधनद्रव्यनिष्क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैन्धवैः।
युक्ताः खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥८१॥

शोधन बस्तियाँ—वमन, विरेचन में कहे हुए शोधन द्रव्यों के क्वाथ में, इन्हीं द्रव्यों का कल्क, स्नेह, सैन्धव मिलाकर, मन्थनदण्ड से मथकर बनाई बस्ति शोधनबस्तियाँ हैं ॥८१॥

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः।
ऊषकादिप्रतीवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥८२॥

त्रिफला का क्वाथ, गोमूत्र, मधु, क्षार, इनके साथ ऊषकादिगण का प्रक्षेप देकर बनाई बस्तियाँ लेखन कही जाती हैं ॥८२॥

बृंहणद्रव्यनिष्क्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः।
सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥८३॥

विदारीगन्धादि बृंहण द्रव्यों के क्वाथ में काकोल्यादि का प्रक्षेप देकर, मांसरस, घी मिलाकर बनाई गई बस्तियाँ बृंहण हैं ॥८३॥

चटकाण्डोच्चटाक्वाथाः सक्षीरघृतशर्कराः।
आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम् ॥८४॥

चिड़ियों के अण्डे, उच्चटा (श्वेत घुँघची) का क्वाथ, इसमें दूध, घी, शर्करा और कौंच के फल का कल्क मिलाकर बनाई बस्तियाँ वाजीकर कही हैं ॥८४॥

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनाङ्कुराः।
क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छिलसंज्ञिताः ॥८५॥
वाराहमाहिषौरभ्रबैडालैणेयकौक्कुटम्।
सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु ॥८६॥

पिच्छाबस्ति—बेर, नागबला, लसूड़ा, सिम्बल, धामन इनके कोमल पत्ते, इनको तीन-तीन पल लेकर चौबीस पल दूध में चौगुना जल मिलाकर दूध मात्र शेष रक्खे। इसमें रुधिर मिलाकर बस्ति देवे। यह पिच्छिलबस्ति है। पिच्छिलबस्तियों में-सुअर, भैंस, मेढ़ा, बिल्ली, हरिण, मुर्गा अथवा बकरा इनको तुरन्त का ताजा रक्त पिच्छिलबस्तियों में मिलाना चाहिये ॥

प्रियङ्ग्वादिगणक्वाथा अम्बष्ठाद्येन संयुताः।
सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो बस्तयः स्मृताः ॥८७॥

प्रियंगु आदि द्रव्यों के गण के क्वाथ में अम्बष्ठादिगण का प्रक्षेप मिलाकर-मधु और घृत डालकर बनाई बस्तियाँ ग्राही हैं ॥८७॥

एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक् पृथक्।
समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेहबस्तयः ॥८८॥

इन्हीं उपर्युक्त योगों में पृथक् पृथक् सिद्ध किये स्नेह या इनको मिलाकर इनसे सिद्ध किया स्नेह बस्तियों के रूप में भी भली प्रकार देना चाहिये ॥८८॥

वन्ध्यानां शतपाकेन शोधितानां यथाक्रमम्।
बलातैलेन देयाः स्युर्बस्तयस्त्रैवृतेन च ॥८९॥

वन्ध्या स्त्रियों का वमन विरेचनादि से शोधन करके शतपाक किये बलातैल से या त्रैवृत स्नेह से (घी, तैल, वसा से) बस्ति देनी चाहिये। (त्रैवृत स्नेह महाव्याधि में, बलातैल मूढगर्भचिकित्सा में कहा है। डल्हण शतपाकतैल से अलग बस्ति मानता है, वातव्याधि में कहा शतपाकतैल बरतने को कहता है। परन्तु शतपाक, बलातैल उत्तम है) ॥८९॥

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं बस्तिं निधापयेत्।
मध्यमं मध्यसत्त्वस्य विपरीतस्य वै मृदुम् ॥९०॥

उत्तम सत्त्ववाले मनुष्य में तीक्ष्णबस्ति देवे। मध्यमसत्त्ववाले में मध्यम और हीनसत्त्ववाले में मृदु बस्ति देवे ॥९०॥

एवं कालं बलं दोषं विकारं च त्रिकारवित् ।
बस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य बस्तीन् प्रयोजयेत् ॥९१॥

इसी प्रकार समय, बल, दोष, रोग, बस्तिद्रव्य के बल को देखकर रोग को समझनेवाला वैद्य बस्तियाँ देवे ॥९१॥

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः ।
पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः ॥९२॥

बुद्धिमान् पहले दोषों को उत्क्लेश करनेवाली बस्ति देवे, मध्य में दोषनाशक और अन्त में संशमनीय बस्ति देवे ॥९२॥

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा ।
हपुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥९३॥
शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च ।
सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥९४॥
प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम् ।
सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः परः ॥९५॥

एरण्डबीज, मुलैहठी, पिप्पली, सैन्धव, वच, हाऊबेर, मैनफल, इनके कल्कवाली बस्ति उत्क्लेशक कही है । सौंफ, मुलैहठी, इन्द्रजौ, मैनफल, कांजी, गोमूत्रवाली बस्ति दोषहर है । प्रियंगु, मुलैहठी, मुस्ता, रसौंत और दूधवाली बस्ति दोषों का शमन करती है ।९३-९५।

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि ।
नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि ॥९६॥
दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च ।
समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम् ॥९७॥
यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र नोच्यते ।
फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसंभवः ॥९८॥
योज्यस्त्वतः सुखेनैव निरूहक्रममिच्छता ।
यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता ॥९९॥

राजाओं या राजाओं के समान वैभवशाली बड़े पुरुषों के लिये, स्त्रियों के लिये, नाजुक प्रकृति एवं बालक तथा वृद्धों के दोषों को निकालने के लिये, बल-वर्ण को बढ़ाने के लिये संक्षेप में माधुतैलिक बस्तियों की विधि कहूँगा । इन बस्तियों में—सवारी, स्त्री-सेवन, भोजन आदि का कोई परहेज नहीं है । फल भी बहुत अधिक है और हानियों के होने की सम्भावना नहीं है । इसलिये निरूह विधि को चाहनेवाले सुखपूर्वक इनका व्यवहार कर सकते हैं । बुद्धिमान् जब चाहे, तब इनको बरत सकता है (इनमें शोधनविधि आवश्यक नहीं) ॥९६-९८॥

मधुतैले समे स्यातां क्वाथश्चैरण्डमूलजः ।
पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च ॥१००॥
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः ।
देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः ॥१०१॥

मधु और तैल परस्पर समान (चार प्रसृत, दो कर्ष), एरण्डमूल का क्वाथ भी चार प्रसृत और दो कर्ष, सौंफ आधा पल, सैन्धव एक कर्ष, मैनफल-एक संख्या में यह नौ प्रसृत बनाकर मन्थनदण्ड से मथकर—सुहाती गरम बस्ति वैद्य देवे । इनका नाम माधुतैलिक है । (गयी ने 'पलेनैकेन संयुक्तः' पाठ दिया है । इससे मांसरस, कांजी आदि मिलाते हैं) ॥१००,१०१॥

वचामधुकतैलं च क्वाथः सरससैन्धवः ।
पिप्पलीफलसंयुक्तो बस्तिर्युक्तरथः स्मृतः ॥१०२॥

बच, सैन्धव, पिप्पली, मुलैहठी, मैनफल प्रत्येक एक कर्ष, मधु और तैल चार प्रसृत, एरण्ड का क्वाथ चार प्रसृत, इनको मिलाकर बनाई बस्ति युक्तरथ है । (जब चाहे तब दे सकते हैं, रथ के तैयार जुड़ा होने पर भी दी जा सकती है) ॥१०२॥

सुरदारु वरा रास्ना शतपुष्पा वचा मधु ।
हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥१०३॥

देवदारु, त्रिफला, रास्ना, सौंफ, बच, मधु, हींग, सैन्धव से मिलाकर बनाई बस्ति दोषहर है ॥१०३॥

पञ्चमूलीकषायं च तैलं मागधिका मधु ।
बस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैन्धवः ॥१०४॥

बृहत्पञ्चमूल के कषाय में तैल, पिप्पली, मधु, सौंफ, सैन्धव मिलाकर बस्ति देवे ॥१०४॥

यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु ।
ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ॥१०५॥

जौ, बेर, कुलत्थी का क्वाथ, पिप्पली, मधु, सैंधव, मुलैहठी इनसे बनी बस्ति सिद्ध बस्ति है ॥१०५॥

मुस्तापाठामृतातिक्ताबलारास्नापुनर्नवाः ।
मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान् ॥१०६॥
पालिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम् ।
जलाढके पचेत् क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत् ॥१०७॥
क्षीरार्धाढकसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम् ।
पादेन जाङ्गलरसस्तथा मधुघृतं समम् ॥१०८॥
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः ।
कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः ॥१०९॥
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्रविबन्धनुत् ।
विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः ॥११०॥
बल्यः संजीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः ।
यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः ॥१११॥

यापन बस्ति—मुस्ता, पाठा, गिलोय, कुटकी, बला, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास, खस, त्रायमाण, गोखरू, बृहत्पंचमूल, लघुपंचमूल प्रत्येक एक पल, मैनफल, संख्या में आठ लेकर एक आढक जल में क्वाथ करे । चौथाई शेष रहने पर छान ले । इसमें दूध आधा आढक मिलाकर फिर पकाये । दूध मात्र रह जाने पर इसमें चौथाई, जांगलपशु-पक्षियों का मांसरस, मधु, और घृत (छः पल), सौंफ, प्रियंगु, मुलैहठी, इन्द्रजौ, रसौत से प्रत्येक एक कर्ष कल्क रूप में और सैन्धव मिलाकर बस्ति देवे । यह वातरक्त, प्रमेह, शोफ, अर्श, गुल्म, मूत्रावरोध, विसर्प, ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त को नष्ट करती है । बलदायक,

जीवनदायी, वृष्य, चक्षुष्य, शूलनाशक है। यह मुस्तादिक यापन बस्ति सबमें श्रेष्ठ है ॥१०६-१११॥

अवेक्ष्य भेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित्।
बीजेनानेन शारुज्ञः कुर्याद्बस्तिशतान्यपि ॥११२॥

रोग को समझनेवाला वैद्य बुद्धि से औषध और रोग को समझकर इस बीज रूप न्याय से सैकड़ों बस्तियों को बनाये। ('बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्कः-च०) ॥११२॥

अजीर्णे न प्रयुञ्जीत दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
आहाराचारिकं शेषमन्यत् कामं समाचरेत् ॥११३॥

अजीर्ण में बस्ति न देवे। बस्ति लेने पर दिन में न सोये। शेष आहार-आचार विधान का यथेच्छानुसार पालन करे ॥

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।
माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्बस्तिरुच्यते ॥११४॥
रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते।
यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ॥११५॥
बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ॥११६॥
सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाश्च ये नराः।
मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ॥११७॥

क्योंकि मधु और तैल इनमें मुख्यतः दिये जाते हैं, इसलिये वैद्य इनको 'माधुतैलिक कहते हैं। जुड़े हुए तैयार रथों के तैयार घोड़े, तथा हाथी के होने पर भी इनका उपयोग किया जा सकता है, इसलिये इनको युक्त रथ कहते हैं। सैकड़ों रोगों में इनसे बल, वर्ण और पुष्टि में सिद्धि मिलती है, इसलिये इनको सिद्धबस्ति कहते हैं। जो मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत करते हों, थोड़े दोषवाले हों; और जो नित्य स्निग्ध रहते हों, जो मृदु कोष्ठवाले हों, उनमें माधुतैलिक बस्तियाँ बरतनी चाहिये ॥

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात्।
एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा ॥११८॥

सिद्धबस्तियों के कोमल होने से, इसमें पादहीन होने से, वमनादि सम्पूर्णविधि का सेवन न करने से और केवल एक ही बस्ति दिये जाने के कारण सिद्ध बस्तियों में किसी प्रकार का परहेज नहीं रहता ॥११८॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निरूहक्रम-
चिकित्सितं नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथात आतुरोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे आतुरोपद्रवचिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः।
निरूढस्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥३॥
सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तः प्रशाम्यति।
अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ॥४॥
स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते।
काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धुक्षित इवानलः ॥५॥

स्नेहपान किये, वमन किये, विरेचन लिये, रक्तमोक्षण करवाये पुरुष की और निरूह लिये व्यक्ति की कायाग्नि मन्द हो जाती है। यह अग्नि अतिशय भारी अन्न के सेवन से शान्त हो जाती है जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि बड़ी २ बहुत सी लकड़ियों के डालने से बुझ जाती है। और यही अग्नि थोड़े, एवं लघु अन्न के सेवन से तीव्र हो जाती है, जिस प्रकार बाह्य अग्नि सूक्ष्म और थोड़ी लकड़ियों से बढ़ जाती है। इसी से कहा है:—

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः सन्धुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण। महान्स्थिरः सर्वसहस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः॥ च० सि० अ० १ ॥१२॥३-५॥

हृतदोषप्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः।

दोषों के निकलने के अनुसार सदा आहार विधि कही है।

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च, यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायाः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥ च० सि० अ० १।११॥

त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाढकम् ॥६॥
तत्रावरं प्रस्थमात्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे।

यहाँ पर तीन माप हैं। यथा—प्रस्थ, आधा आढक और आढक। इनमें प्रस्थ अवर माप, आधा आढक मध्य माप, और आढक उत्तम माप है। (प्रस्थ यहाँ पर साढ़े तेरह पल का लेना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—जिस परिमाण में विरेचन में दोष (पुरीष के अतिरिक्त द्रव) निकलें उसके अनुसार आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। उत्तम कोटि के विरेचन में एक आढक, मध्यम कोटि के विरेचन में आधा आढक और अवर कोटि के विरेचन में १ प्रस्थ दोष निकल जाना चाहिये। परन्तु कुछ आचार्यों का कथन है कि वह विरेचन उत्तम कोटि का माना जाता है जिसके अन्त में कफ का निःसरण हो भले ही एक ही विरेचन में कफ का निःसरण हो जाय (देखिये श्लो० १६) और कुछ आचार्यों का कथन है कि हीन कोटि के विरेचन में १०, मध्यम कोटि के विरेचन में २० और उत्तम कोटि के विरेचन में ३० वेग (वार विरेचन होना) माने जाते हैं। (द्र० च०

सि० अ० १ श्लो० १४)। इन तीनों में कफान्त विरेचन का सिद्धान्त सर्वोत्तम प्रतीत होता है क्योंकि वह निर्विवाद है ॥६॥

प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतण्डुला ॥७॥
द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते।
विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः ॥८॥
दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्।
अस्निग्धलवणं स्वच्छमुद्गयूषयतं ततः ॥९॥
अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्।
ततस्तु कृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना ॥१०॥
त्रीनंशान् वितरेद्भोक्तुमातुरायौदनं मृदु।
ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः ॥११॥
लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः।

प्रस्थविरेचन में थोड़े से चावलों से बनाई (अष्टांश तण्डुल) यवागू देनी चाहिये (यह यवागू पेया एक बार देनी चाहिये) और आधे आढ़क विरेचन में यवागू दो बार देनी चाहिये। एक आढ़क विरेचन में सिद्ध यवागू तीन बार (तीन समय) देनी चाहिये। अभ्यास किये रोज के भोजन से चौथाई भाग से बनाई विलेपी देवे। यह विलेपी अच्छी प्रकार गलायी कणियोंवाली एवं चावल रहित होनी चाहिये इसके उपरान्त बिना स्नेहन और लवण के स्वच्छ (पतले) मूंग के यूष के साथ अच्छी प्रकार गलाया हुआ भात, प्रतिदिन के भोजन की आधी मात्रा में देवे। इसके आगे कृतसंज्ञक यूष (स्नेह, नमक आदि से बघारे संस्कृत) जो कि मन को प्रिय एवं इन्द्रियों को जाग्रत करनेवाला हो, उस यूष के साथ नरम भात प्रतिदिन के भोजन का ३/४ तीन चौथाई भाग रोगी को दे। इसके बाद चतुर वैद्य रोगी को भोजन, बटेर, हरिण, चित्रितहरिण आदि के भली प्रकार संस्कृत मांसरस के साथ खाने को देवे।

वक्तव्य—यवागू—"सिक्थकैरहितो मण्डो पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्था स्यात् विलेपी विरलद्रवा॥" कृतयूष—"अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना। विज्ञेयं स्नेहलवणकटुकैः संस्कृतं कृतमिति॥" चरक में प्रथम तीन अन्न कालों में पेया, दूसरे तीन कालों में विलेपी, तीसरे तीन अन्न कालों में कृता-कृतयूष, चौथे तीन कालों में कृत-कृतरस, इस प्रकार बारह अन्न कालों में अर्थात् सातवें दिन साधारण भोजन पर आ जायेगा। इसके अतिरिक्त—"अथैनं सायाह्ने परे वाह्नि सुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालितण्डुलानां स्ववक्लिन्नानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूं पाययेदग्निबलमभिसमीक्ष्य च। एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थे त्वन्नकाले तथा विधानामेव शालितण्डुलानामुत्स्विन्नानां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामल्पस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले। सप्तमे त्वन्नकाले तथा विधानामेवं शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमुष्णोदकानुपानं तनुना तनुस्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्। एवमष्टमे नवमे चान्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिञ्जलादीनामन्यतमस्य मांसरसेनौदकलावणिकेनापि सारवता भोजयेत् उष्णोदकानुपानम्। एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले। अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् क्रमेणोपभुञ्जानः सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत्॥" चरक सू० अ० १५ ॥७–११॥

हीनमध्योत्तमेष्वेषु विरेकेषु प्रकीर्तितः ॥१२॥
एकद्वित्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमस्त्वयम्।

एक प्रस्थ विरेचन हीनविरेचन है, इसमें पेया क्रम एक एक अन्न काल में देना चाहिये। आधा आढ़क विरेचन मध्यविरेचन है। इसमें पेयादिक्रम दो दो अन्न काल दे। आढ़क विरेचन उत्तमविरेचन है, इसमें पेयादिक्रम तीन तीन अन्नकाल तक देवे ॥१२॥

कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान् हीनविशोधितान् ॥१३॥
पेयाऽभिष्यन्दयेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

कफ-पित्त की अधिकतावाले, नित्य मद्यपान करनेवाले, ठीक प्रकार से जिनका शोधन नहीं हुआ उनमें पेया अभिष्यन्द (स्रोतों में कफ वृद्धि) उत्पन्न करती है। इसलिये इनमें तर्पणादिविधि बरते। (तर्पणलाजा के सत्तु से बनाया तर्पण दे) ॥१३॥

वेदनालाभनियमशोकवैचित्त्यहेतुभिः ॥१४॥
नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत्।

वेदना, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति, उपवासादि नियम, शोक, उन्माद आदि मानसिक कारण से उपवास किये या कृश हुए पुरुषों को विरेचन दिये हुए की भाँति चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—लङ्घन के पश्चात् भी जब आहार देने का समय आवे तब-विरेचनोक्त विधि से पेया-विलेपी आदि की व्यवस्था करे ॥१४॥

आढकार्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने ॥१५॥
श्लेष्मान्तत्वाद्विरेकस्य न तामिच्छन्ति तद्विदः।
एको विरेकः श्लेष्मान्तो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ॥१६॥

आढ़क, आधा आढ़क और प्रस्थ यह मात्रा विरेचन के विषय में है। परन्तु विरेचन को समझनेवाले इसको नहीं मानते, क्योंकि कफ का आना ही विरेचन की उत्तमता है (विरेचन में पहले पित्त आता है, पित्त के निकलने के उपरान्त दूरस्थ आम रूपी कफ आता है)। कफ का आना ही एक (मुख्य) विरेचन है, दूसरे विरेचन की क्या बात ?॥

कहा भी है—"तस्मान्मतिमता नित्यमात्मानं परिरक्षता। पित्तान्तं वमनं स्थाप्यं कफान्तं च विरेचनम्॥" १५,१६॥

बलं यत्त्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा।
तत्रानुक्रममेकं तु बलस्थः सकृदाचरेत् ॥१७॥

द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन् वारान् दुर्बलस्तथा।
केचिदेवं क्रमं प्राहुर्मन्दमध्योत्तमाग्निषु ॥१८॥

क्योंकि बल प्रवर, मध्य और अवर भेद से तीन प्रकार का कहा है, इसलिये आहार क्रम भी तीन प्रकार का है। बलवान् मनुष्य एक अनुक्रम को एक ही बार बरते। मध्यम बलवाला दो बार और दुर्बल मनुष्य तीन बार बरते। कई आचार्य इस विधि को मन्दाग्नि, मध्यमाग्नि और उत्तमाग्नि के विचार से मानते हैं ॥१७,१८॥

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्भजेत्।
प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः ॥१९॥
स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम्।
स्निग्धरूक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत्ततः ॥२०॥

पेयादि अन्न संसर्जन क्रम से बढ़ी हुई अग्नि में दोषों के कुपित होने के भय से प्रथम मधुर, तिक्त, स्निग्ध, अम्ल, लवण, कटु रस खाये। पीछे मधुर, अम्ल, लवण रसों को, फिर मधुर और तिक्त को, इसके बाद स्निग्ध, रूक्ष को अदल-बदलकर खाये। इससे आगे स्वस्थ की भाँति बरते।

कहा भी है—"दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः॥ अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत्॥ वृद्धवाग्भट्ट।" अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद् भिषक्॥ चरक।

वि० मन्तव्य—पेया विलेपी आदि आहार कल्पना का नाम "संसर्गक्रम" तथा "संसर्जन क्रम" है। इस क्रम से जठराग्नि का सन्धुक्षण होने पर प्राकृतिक आहार देना प्रारम्भ करे॥

केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम्।
स सप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम् ॥२१॥

जिसने केवल स्नेह ही पीया हो अथवा केवल वमन ही किया हो, वह मनुष्य सात दिन केवल लघु भोजन ही करे ॥२१॥

कृतः सिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम्।
स ना परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान् भवेत् ॥२२॥

जिसने सिरावेध कराया हो, जिसको विरेचन दिया गया हो, ऐसे मनुष्य एक मास तक या जब तक बलवान् न हों, क्रोध आदि को छोड़ देवें ॥२२॥

त्र्यहं त्र्यहं परिहरेदेकैकं बस्तिमातुरः।
तृतीये तु परीहारे यथायोगं समाचरेत् ॥२३॥

रोगी एक एक अनुवासनवस्ति लेकर—तीन तीन दिन तक क्रोध आदि परहेज का पालन करे। तीसरे परहेज के पालने के उपरान्त जैसा ठीक जँचे, वैसा करे। (दूसरे कहते हैं कि अग्नि बल आदि का विचार करके चार-पाँच दिन के पीछे जब ठीक समझे तब अनुवासन दे।) ॥२३॥

तैलपूर्णाममृद्भाण्डसधर्माणो व्रणातुराः।
स्निग्धशुद्धाक्षिरोगार्ता ज्वरातीसारिणश्च ये ॥२४॥

व्रणरोगी, स्निग्धशरीर, शुद्धशरीर, आँख के रोगी, ज्वर और अतिसाररोगी ये तैल से भरे पात्र की भाँति (जरा झटका लगने से गिरनेवाले) एवं मिट्टी के कच्चे बर्तन की भाँति (शीघ्र टूटनेवाले) होते हैं।

यथैव तरुणं पूर्णं तैलपात्रं तथैव च। गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः॥ शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेद्॥ चरक सि० अ० १२-४-५ ॥२४॥

क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान्।
आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति ॥२५॥
मथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः।
आक्षेपकं पक्षघातमङ्गप्रग्रहमेव च ॥२६॥
गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ।
रुधिरं शुक्रवच्चापि सरजस्कं प्रवर्तते ॥२७॥
लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान् व्याधीन् कफात्मकान्।
प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पाण्डुतां श्वयथुं ज्वरम् ॥२८॥
मोहं सदनमङ्गानामविपाकं तथाऽरुचिम्।
तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनन्दति ॥२९॥
उच्चैः संभाषणाद्वायुःशिरस्यापादयेद्रुजम्।
आन्ध्यं जाड्यमजिघ्रत्वं बाधिर्यं मूकतां तथा ॥३०॥
हनुमोक्षमधोमन्थमर्दितं च सुदारुणम्।
नेत्रस्तम्भं निमेषं वा तृष्णां कासं प्रजागरम् ॥३१॥
लभते दन्तचालं च तांस्तांश्चान्यानुपद्रवान्।
यानयानेन लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान् ॥३२॥
तथैवाङ्गग्रहं घोरमिन्द्रियाणां च विभ्रमम्।
चिरासनात्तथा स्थानाच्छ्रोण्यां भवति वेदना ॥३३॥
अतिचङ्क्रमणाद्वायुर्जङ्घयोः कुरुते रुजः।
सक्थिप्रशोषं शोफं वा पादहर्षमथापि वा ॥३४॥
शीतसंभोगतायानां सेवा मारुतवृद्धये।
ततोऽङ्गमर्दविष्टम्भशूलाध्मानप्रवेपकाः ॥३५॥
वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात्।
विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति ॥३६॥
असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसंशयम्।
अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥३७॥

क्रोध करने पर कुपित हुआ पित्त, दाह, प्यास आदि पित्तजन्य उपद्रवों को करता है। परिश्रम करने से या सोचने से चित्त विभ्रम उत्पन्न होता है। स्त्री सेवन करने पर भयानक रोग, आक्षेपक, पक्षाघात, अंगों का जकड़ा जाना, गुह्यभाग में शोथ, भयानक कास, श्वास, नारी का शुक्र की

भाँति रक्त अथवा रज (आर्त्तव) आता है। दिन में सोने से कफजन्य रोग, प्लीहोदर, प्रतिश्याय, पाण्डु, शोथ, ज्वर, मोह, अङ्गों की शिथिलता, अविपाक, अरुचि होती है। जो रोगी सोना ही पसन्द करता है, वह तमोगुण से अभिभूत हो जाता है। ऊँचे बोलने से वायु शिर में दर्द उत्पन्न करती है, तथा अन्धापन, जड़ता, गन्धनाश, बधिरता, गूँगापन, जबाड़े का खुला रहना, अधिमन्थ, अर्दित, नेत्रस्तम्भ, निमेषस्तम्भ, तृष्णा, कास, निद्रानाश, दाँतों का हिलना और अन्य वातजन्य उपद्रव हो जाते हैं। सवारी पर सवारी करने से वमन, मूर्च्छा, भ्रम, क्लम, अङ्गों का पकड़ा जाना, इन्द्रियों का विभ्रम होता है। देर तक बैठे रहने से श्रोणि में वेदना होती है। बहुत चलने से वायु जंघाओं में वेदना करती है, टाँगों का सूखना, या शोफ अथवा पादहर्ष करती है। शीतलजल तथा चन्दन आदि शीतल वस्तुओं के भोग करने से वायु की वृद्धि होती है, अङ्गों का टूटना, विष्टम्भ, शूल, आध्मान, कम्पन होता है। वायु और धूप के सेवन से विवर्णता, ज्वर भी हो जाता है। विरुद्ध एवं अध्यशन से मृत्यु या भयानक रोग होता है। असात्म्य भोजन से बल और वर्ण नष्ट होते हैं। जो असंयमी मनुष्य पशु की भाँति प्रमाण से अधिक खाते हैं वे रोग समूह के कारण अजीर्ण के शिकार बनते हैं ॥२५-३७॥

व्यापदां कारणं वीक्ष्य व्यापत्स्वेतासु बुद्धिमान् ।
प्रयतेतातुरारोग्ये प्रत्यनीकेन हेतुना ॥३८॥

बुद्धिमान् वैद्य रोगी के आरोग्य के लिये व्यापत्तियों के कारण को समझकर इन व्यापत्तियों में विपरीत हेतु से प्रयत्न करे। (इन कारणों से रोगी को बचाये) ॥३८॥

विरिक्तवान्तर्हरिणैणलावकाः
शशश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः ।
सषष्टिकाश्चैव पुराणशालय-
स्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम् ॥३९॥

वमन एवं विरेचन किये रोगी—हरिण, एण, बटेर, खरगोश, मोर, तीतर, साँठी, पुराने चावल, मूँग और जो लघु भक्ष्य हैं, उनका सेवन करे ॥३९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने आतुरोपद्रवचिकित्सितं नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे धूमनस्य कवलग्रह चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—धूम, नस्य तथा कवल के ग्रहण—सेवन द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है ॥१,२॥

धूमः पञ्चविधो भवति; तद्यथा–प्रायोगिकः, स्नैहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति ॥३॥

धूम पाँच प्रकार का है, यथा—प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक, कासघ्न और वामनीय।

वि० मन्तव्य—प्रायोगिक धूम–जो प्रतिदिन स्वस्थों द्वारा पिया जाता है यथा—स्वस्थ वृत्त में भगवान् पुनर्वसु ने कहा है "धूमपः" च० सू० अ० ८। तथा च० सू० अ० ५ में श्लो० २०–२४ तथा २७–३६। स्नैहिक धूम जो स्नेहन के लिये पिया जाता है, वैरेचनिक धूम— जो शिरोविरेचन के लिये पिया जाता है, कासघ्न–जो कास श्वास एवं स्वरभेद आदि कण्ठ रोगों में पिया जाता है, वमनीय–जो वमन के लिये पिया जाता है, इसको पीने से वमन हो जाती है। यह चार धूम–रोगियों की रोगनिवृत्ति के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। और प्रायौगिक धूम–तत्र प्रयोगः = स्वस्थस्य सततोपयोगः तत्र साधुः प्रायौगिकः, सच श्लेष्माणं उत्क्लेशयति, उत्क्लिष्टं च अपकर्षति, शमयति वातं, स्नेहनविरेचनाभ्यां तुल्यत्वात् इति डल्हणाचार्यः। तथा स्वयं सुश्रुतः १४ तमे सूत्रे ॥३॥

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशाङ्गुलं शरकाण्डमंगुलिपरिणाहं क्षौमेणाष्टांगुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके, स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलुप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः, स्नैहिके, शिरोविरेचनद्रव्यैर्वैरेचने, बृहतीकण्टकारिकात्रिकटुकासमर्दहिङ्गुइङ्गुदीत्वङ्मनःशिलाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासघ्ने, स्नायुचर्मखुरशृङ्गकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये ॥४॥

इसके लिये एलादिगण में से कूठ और तगर को छोड़कर शेष द्रव्यों को बारीक पीसकर बारह अंगुल लम्बे और अंगुली के समान मोटे सरकण्डे पर रेशम के वस्त्र को आठ अंगुल लपेटकर—इनका लेप कर दे। यह वर्ति प्रायोगिक धूम (प्रतिदिन बरतने के) लिये है। ऐरण्ड आदि स्नेहफल, देवदारु आदि की लकड़ी (का बुरादा) मोम, राल, गुग्गुलु आदि को स्नेह में मिलाकर स्नैहिक धूम में बरते। शिरोविरेचन द्रव्य (चिरचिटे के बीज, विडंग आदि) विरेचन धूम में बरते। बड़ी कटेरी, कटेरी, त्रिकटु, कसौंदी, हींग, हिंगोट, मैनसिल, गिलोय, काकड़ाश्रृंगी आदि और कासहर वस्तुयें कासघ्न धूम में बरते। स्नायु, चर्म, खुर, सींग, कैंकड़े की अस्थि, सूखी मछली, सूखा मांस, कृमि (केंचुआ) आदि वमन करनेवाले द्रव्यों को वामनीय धूप में बरते।

वि० मन्तव्य—चरक में क्षौम-रेशम वस्त्र से लपेटने का विधान नहीं है, होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि रेशम के धूम में दुर्गन्ध होती है ॥४॥

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्रद्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। धूमनेत्रं तु कनिष्ठिकापरिणाहमग्रे कलायमात्रस्रोतो मूलेऽङ्गुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोऽङ्गुलान्यष्टचत्वारिंशत् प्रायोगिके, द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशतिर्वैरेचने, षोडशाङ्गुलं कासघ्ने वामनीये च। एतेऽपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं व्रणधूपनार्थं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहिस्रोत इति ॥५॥

धूमनेत्र को बनाने के साधन बस्तिनेत्र के समान (स्वर्ण, चाँदी, लकड़ी आदि) हैं। धूमनेत्र आगे में कनिष्ठिका अँगुली के समान मोटा, मटर के जाने योग्य स्रोत का, मूल में अँगूठे के समान मोटाई का, धूमवर्त्ति के प्रवेश होने योग्य स्रोतवाला, अड़तालीस अंगुल लम्बाई का प्रयोगिक धूम के लिये होना चाहिये। स्नेहन के लिये बत्तीस अंगुल, विरेचन के लिये चौबीस, कासघ्न धूम में सोलह, और वमनीय में भी सोलह अँगुल होना चाहिये। इनका छेद बेर की गुठली के बराबर होता है। व्रणनेत्र की लम्बाई आठ अंगुल, व्रण में धूम देने के लिये, मटर के बराबर मोटाई और छेद कुलथी के जाने योग्य होता है।

वि० मन्तव्य—जो सज्जन कहा करते हैं कि हुक्का पीना भारतीयों ने मुसलमानों से सीखा है वे इस सूत्र में बतलाई गई धूमनेत्र (धूम पान की नलिका = हुक्का, कली तथा चिलम) के निर्माण की विधि पर ध्यान दें। और सू० ६ पर भी धूमनेत्र बनाने का प्रकार भगवान् पुनर्वसु ने भी च० सू० अ० ५ में बतलाया है। व्रण में धूम देना व्रण के ६० उपक्रमों में "व्रणधूपन" नाम से बतलाया है और श्लो० ८० में विधि कही है, देखिये चि० स्था० अ० १। च० चि० अ० १७ श्लो० ७६ में 'मल्लकसम्पुटे पाठ है, भाषाविशेषज्ञ मल्लक का अपभ्रंश "चलय-चिलय" मानते हैं ॥५॥

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत् ॥६॥

मुखेन तं पिबेत् पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत्।
मुखपीतं मुखेनैव वमेत् पीतं च नासया ॥७॥
मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत्।
तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ॥८॥

विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां, नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ ॥९॥

सुखपूर्वक बैठाकर, प्रसन्न चित्त, कमर को सीधा रखकर, नीचे को देखते हुए, बिना आलस्य के, स्नेह से भिगोई—एवं अग्नि से प्रदीप्त धूमवर्त्ति को नेत्र स्रोत में लगाकर धूम पीये। पहले धूम को मुख से पीये, फिर नासिकाओं से पीये। मुख से पीये धूम को तथा नासा से पीये धूम को मुख से ही निकाले। मुख से धूम को पीकर नासिका से कभी न निकाले। क्योंकि नासा से निकालने पर दृष्टि को हानि पहुँचती है। विशेषकर प्रायोगिक धूम को नासिका से लेवे। स्नैहिक धूम को मुख और नासा से, वैरेचनिक को नासा से, कासघ्न और वमनीय धूम को मुख से ही लेवे।

वि० मन्तव्य—प्रायोगिक धूम को नासा से पीने का विधान विचारणीय है ॥६-९॥

तत्र प्रायोगिके वर्तिं व्यपगतशरकाण्डां निवातातपशुष्कामङ्गारेष्ववदीप्य नेत्रमूलस्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेति ब्रूयात्; एवं स्नेहनं वैरेचनिकं च कुर्यादिति। इतरयोर्व्यपेतधूमाङ्गारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्तिं मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत, प्रशान्ते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोषविशुद्धेः; एष धूमपानोपायविधिः ॥१०॥

प्रायोगिक धूम में वर्त्ति को शरकण्डे में से निकालकर, वायुरहित—एवं छाया में सुखाकर अङ्गारों से जलाकर, नेत्रमूल स्रोत में रखकर धूम पी, ऐसा रोगी को कहे। स्नेहन और वैरेचनिक धूम में भी ऐसा ही करे। कासघ्न और वमनीय धूम में—वर्त्ति के जल जाने पर धूम रहित अङ्गारों में धरकर, वर्त्ति को दृढ़ एवं भली प्रकार धरे। शराव (चिलम) में रख देवें। इसके ऊपर दूसरा शराव, जिसके मूल में छेद हो, उसे रखकर (ढाँकर) छेद में धूमनेत्र के मूल को लगाकर धूम पीये। धूम के शान्त हो जाने पर, बची हुई वर्त्ति को फिर से रखकर धूम पीये। जबतक कि दोष का शोधन न हो जाये। यह धूम पान की विधि है।

वि० मन्तव्य—शराव आजकल का चिलम है, च० चि० अ० १८ के श्लो० ६५-७५ में भी शरावसम्पुट का विधान है॥

तत्र शोकश्रमभयामर्षौष्ण्यविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्गारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीताल्पकफाश्च न धूममासेवेरन् ॥११॥

शोक, थकान, भय, क्रोध, गरमी, विष, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, प्यास, पाण्डुरोग, तालुशोष, वमन, शिरोऽभिघात, उद्गार, अपतर्पण, तिमिर, प्रमेह, उदर, आध्मान, ऊर्ध्ववात से पीड़ित, बालक-वृद्ध, दुर्बल, विरेचन लिया, आस्थापन लिया, रात का जागा, गर्भवती, रूक्ष, क्षीण, उरःक्षत, मधु-घृत-दधि-

दूध-मछली मद्य-यवागु का पान किये, अल्पकफवाले व्यक्ति धूम पान न करें ॥११॥

अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम्।
घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥१२॥

बिना समय के किया हुआ धूमपान भ्रम, मूर्च्छा, शिरोरोग, घ्राण-नेत्र-आँख-जिह्वा, इनका नाश भयानक रूप में करता है ॥१२॥

आद्यास्तु त्रयो धूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः। तद्यथा—क्षुतदन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरुषितशस्त्रकर्मान्तेष्विति । तत्र विभागो—मूत्रोच्चारक्षवथुहसितरुषितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः, स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषु वैरेचनिकः, दन्तप्रक्षालनस्य स्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषु प्रायोगिक इति ॥१३॥

इनमें पहले तीन धूमों का उपयोग बारह समयों में करना चाहिये—छींक लगने पर, दातुन करने पर, नस्य लेने पर, स्नान के पीछे, भोजन कर चुकने पर, दिन में सोकर, मैथुन के पीछे, वमन करके, मल-मूत्र त्यागकर, हँसनेपर, क्रोध करने के पीछे और शस्त्रकर्म के पीछे करे। इसमें स्नैहिकधूम—मल-मूत्र त्याग कर, छींक आनेपर, हँसनेपर, क्रोध करनेपर और मैथुन के पीछे बरतें। वैरेचनिक धूम—स्नान, वमन, और दिन में सोने के पीछे बरते। प्रायोगिक धूम—दातौन करने के पीछे, नस्य, स्नान, भोजन, शस्त्रकर्म के पीछे बरते ॥१३॥

तत्र स्नैहिको वातं शमयति, स्नेहादुपलेपाच्च; वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च, प्रायोगिकःश्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षति शमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति ॥

स्नैहिकधूम स्नेह एवं उपलेप (कफवृद्धि) से वायु का शमन करता है। वैरेचनिक धूम-रूक्ष तीक्ष्ण उष्ण एवं विशद होने के कारण कफ को उत्क्लेशित करके बाहर निकालता है। प्रायोगिकधूम स्नैहिक और वैरेचनिक धूम के समान होने से कफ को उत्क्लेशित करता है, और उत्क्लिष्ट कफ को बाहर निकालता है, एवं वायु को शान्त करता है ॥१४॥

भवति चात्र—

नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः ॥१५॥

तथा कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेदमुखास्रावक्षवथुवमथुक्रथतन्द्रानिद्राहनुमन्यास्तम्भाः पीनसशिरोरोगकर्णाक्षिशूला वातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवन्ति ॥१६॥

कहा भी है—

धूम के सेवन से मनुष्य की इन्द्रियाँ और मन निर्मल बन जाते हैं। केश, दाँत, दाढ़ी-मूंछ दृढ़ होते हैं। मुख सुगन्धित और विशद-साफ हो जाता है। इसी प्रकार कास, श्वास, अरोचक, मुख की दुर्गन्ध, स्वरभेद, मुख का स्राव, छींक आना, (वमन), क्रथ (घर्राटे भरना या अचानक श्वास का रुकना), थूक आना, तन्द्रा, निद्रा, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, पीनस, शिरोरोग, कर्णशूल, अक्षिशूल, वात, कफजन्य मुखरोग इसको नहीं होते ॥१५,१६॥

तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोगो रोगाप्रशमनः, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यान्यतियोगो जनयति ॥१७॥

धूमपान के योग, अयोग और अतियोग जानने चाहिये। इनमें सम्यग् योग—रोग की शान्ति होना, अयोग-रोग का शान्त न होना। तालु-गले में शुष्कता, जलन, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कानों में शब्द, दृष्टिरोग, नासारोग, दुर्बलता आदि को धूम का अतियोग उत्पन्न करता है ॥१७॥

प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोषदर्शनात्, तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वमनीयः, ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति ॥१८॥

प्रायोगिक धूम में तीन-तीन घूँट खींचे, अथवा मुख और नासिका से तीन या चार घूंट ले। स्नैहिक धूम को अश्रु आने तक पीये। वैरेचनिक धूम को दोष को निकालने तक पीये। तिल एवं तण्डुल की यवागू पिलाये हुए को वमनीय धूम पिलाये। कासघ्न धूम को ग्रासों के बीच बीच में दे ॥१८॥

व्रणधूमं शरावसंपुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्, धूमपानाद्वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति॥

विधिरेष समासेन धूमस्याभिहितो मया।
नस्यस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं निरवशेषतः ॥२०॥

शराव सम्पुट से नेत्रद्वारा पहुँचाए हुए व्रण धूम को व्रण में देवे। व्रण पर धूम देने से वेदना की शान्ति, व्रण में निर्मलता और स्राव बन्द होता है। धूम की यह विधि संक्षेप में मैंने कह दी है। इसके आगे नस्य की विधि को सम्पूर्णरूप में कहूँगा।

वक्तव्य—धूमपान की विस्तृत विधि चरक सूत्र० अ० पाँचवें में दी है, वहाँ देखनी चाहिये। अतिधूमपान का उपचार—"तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम्। स्नैहिके धूमजे दोषे वायुपित्तानुगो यदि। शीतं तु रक्तपित्ते स्यात् श्लेष्मपित्ते विरूक्षणम् ॥" सम्यक् पीत के लक्षण—"हृत्कण्ठेन्द्रियशुद्धिश्च लघुत्वं शिरसः शमः। यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ॥" १९,२०॥

औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। तद्द्विविधम्—शिरोविरेचनं, स्नेहनं च।

तद्द्विविधमपि पञ्चधा। तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शो, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च, नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च, ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमितः॥

औषध को या औषधि से सिद्ध स्नेह को नासिकाओं से दिया जाने के कारण नस्य कहा जाता है। यह नस्य दो प्रकार का है, शिरोविरेचन और स्नेहन। यह दो प्रकार का नस्य भी पाँच प्रकार का है, यथा—नस्य, शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड और प्रधमन। इनमें नस्य और शिरोविरेचन मुख्य हैं। नस्य का ही भेद प्रतिमर्श है, शिरोविरेचन के भेद-अवपीड़ और प्रधमन हैं। नस्य शब्द इन पाँचों के लिये प्रयुक्त होता है ॥२१॥

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः। तत्तु देयं वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्ष्वेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजवलीपलित–प्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति ॥२२॥

इनमें जो स्नेहन शून्यशिरवाली (खाली शिर की प्रतीति) में स्नेहन के लिये, ग्रीवा और स्कन्ध में बल लाने के लिये, अथवा दृष्टि की निर्मलता के लिये दिया जाता है, उस स्नेह में खासकर नस्य शब्द बरता जाता है। यह नस्य (स्नेह) वात से पीड़ित शिर में, दाँत-केश-श्मश्रु के गिरने में, भयानक कर्णशूल में, कर्णक्ष्वेड़ में, तिमिर, स्वरभेद (स्वर बैठना), नासारोग, मुखशोष, अवबाहुक, असमय में झुर्रियाँ या बाल श्वेत हो जाने पर, वातपित्तजन्य भयानक कष्टदायक मुखरोगों में या दूसरे रोगों में वा पित्त नाशक द्रव्यों से सिद्ध-घी, तैल, वसा या मज्जा स्नेह से नस्य देना चाहिये ॥२२॥

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धावभेदकक्रिमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येष चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेष विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति ॥२३॥

शिरोविरेचन–कफ से भरे तालु, कण्ठ, शिर में, अरोचक में, शिर के भारीपन में, शूल में, पीनस में, अर्धावभेदक में, क्रमि में, प्रतिश्याय में, अपस्मार में, गन्ध के नाश में, अन्य ऊर्ध्वजत्रुगत कफजन्य रोगों में शिरोविरेचन द्रव्यों से अथवा इनसे सिद्ध स्नेह से शिरोविरेचन नस्य देना चाहिये ॥२३॥

तत्रैतद्द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणां, अपराह्णे वातरोगिणाम् ॥

यह दोनों प्रकार का नस्य बिना भोजन कराये, भोजन के समय पूर्वाह्ण में कफ रोगियों को देना चाहिये। पित्त रोगियों को मध्याह्न में और वातरोगियों को अपराह्ण में देना चाहिये॥

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिने प्रसारितकरचरणाय किञ्चित् प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्नामितनासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति ॥२५॥

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा ॥२६॥
एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते।
ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसंभवः ॥२७॥

शिरोविरेचन के योग्य पुरुष को, मल-मूत्र का त्याग कराके थोड़ासा भोजन किये हुए, आकाश में बादल न होने पर, दातुन और धूमपान से मुख के स्रोतों को शुद्ध करके, हाथों को अग्नि पर गरम करके उनसे गला, कपोल, माथा इनको स्वेद देकर एवं मलकर, वायु-धूप और धूल से रहित घर में रोगी को पीठ के भार चित्त लेटाकर, हाथ पैर को सीधा फैला कर, शिर को नीचे की ओर कुछ लटकाकर, आँखों को कपड़े से ढाँपकर, बायें हाथ की प्रदेशिनी अंगुली से नासा के अग्रभाग को कुछ ऊँचा करके, स्रोत के निर्मल (सींढ रहित) होने पर, गरम पानी से गरम किये स्नेह को दक्षिण हाथ से, सुवर्ण, चाँदी, ताम्र, मिट्टी के पात्र या शुक्ति में रक्खे हुए स्नेह को शुक्ति या रुई के फोये से सुहाता हुआ गरम, स्नेह को न बहुत जल्दी न रुककर, एक समान धार से नासिका में इस प्रकार डाले कि स्नेह नेत्र तक न पहुँचे। स्नेह को डालते समय रोगी सिर को न हिलाये न क्रोध करे न बोले, न छींक ले और न हंसे। ऐसा करने से स्नेह ठीक प्रकार नहीं पहुँचता। उससे कास, प्रतिश्याय, शिरोरोग, अक्षिरोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तव्य—(१) 'स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने, शरद्वसन्तयोः पूर्वाह्णे, ग्रीष्मेऽपराह्णे, वर्षास्वादित्यदर्शने, पञ्चकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव॥" संग्रहे

(२) "प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा कुर्यात्तर्पणमेव वा।
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम्॥"
प्रलम्बशिरसः किञ्चित् किञ्चत् पादोन्नतस्य च।
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक्॥
अनवाक् शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते।
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुंगे च तिष्ठति॥

अत एवं शयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः।
संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा ॥
हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम्।
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि नस्तः स्नेहं यथाविधि ॥
कृते च स्वेदयेद् भूयः आकर्षेच्च पुनः पुनः।
तत्स्नेहं श्लेष्मणा सार्धं तथा स्नेहो न तिष्ठति ॥
स्वेदेनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तः कर्मण्युपस्थितः।
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्त्यायते पुनः ॥

चरक सि० अ० ६।९८-१०४

(३) दत्तमात्रे नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुमुखं मर्दयेत्। शनैः शनैः च उच्छिङ्घयात् ॥

तस्य प्रमाणमष्टौ विन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः, इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः ॥२८॥

स्नेह की मात्रा आठ बिन्दु है। प्रदेशिनी अंगुली के दो पर्व स्नेह में डुबोकर उनसे निकली आठ बूंद प्रथम मात्रा है। दूसरी मात्रा शुक्ति है, तीसरी मात्रा पाणिशुक्ति (६४ बूंद) है। ये तीन मात्रायें बल के अनुसार देनी चाहिये। (प्रथम मात्रा दोनों नासा में १६, मध्यम-३२, उत्तम ६४ है) ॥२८॥

स्नेहनस्यं नोपगिलेत्कथंचिदपि बुद्धिमान् ॥२९॥
शृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा।
कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन् ॥३०॥

बुद्धिमान् मनुष्य स्नेह नस्य को किसी प्रकार भी न निगले। यह स्नेह नस्य शृंगाटक मर्म तक फैलकर मुख से निकल जाता है। कफ के उत्क्लेशित होने के भय से इसको वाम-दक्षिण पार्श्व में बिना रोके थूक देवे।

वक्तव्य—कहीं कहीं नासिका से स्नेह पान भी है, यथा—क्षीणं मांसं बलं यस्य वातार्त्तिश्चोर्ध्वजत्रुजा। सुदीप्ताग्निः स्नेहसात्म्यः स नस्यं नासया पिबेत् ॥ धातूंश्च तर्पयेद्देहे पीतं नस्यं तु नस्यतः ॥ (२) अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोः निष्ठीवेत्। एकपार्श्वष्ठीवने न सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग् व्याप्यायन्ते ॥

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत, भोजयेच्चैनमभिष्यन्दि, ततोऽस्याचारिकमादिशेत्, रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत ॥३१॥

नस्य देने के उपरान्त फिर से गले, कपोल आदि पर स्वेद देकर धूम का सेवन करे। इसको अभिष्यन्दि भोजन देवे। इसके पीछे इसको आचारिक (नियम पालन) कर्म बताये। धूल, धूम, स्नेह, धूप, मद्य, द्रवपान, शिरः स्नान, बहुत सवारी, क्रोध आदि को छोड़ देवे ॥३१॥

तस्य योगातियोगायोगानामिदं विज्ञानं भवति ॥३२॥

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नं प्रबोधनम्।
विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनःसुखम् ॥३३॥
कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः।
लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत् ॥३४॥
अयोगे वातवैगुण्यमिन्द्रियाणां च रूक्षता।
रोगाशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत् ॥३५॥

नस्य के योग, अतियोग, अयोग, के लक्षण ये हैं। नस्य के सम्यग् योग में शिर में लघुता, सुख से सोना, नींद आना और जागना, रोगों की शान्ति, इन्द्रियों की निर्मलता, मन का सुख होता है। शिर का अतिस्नेहन होने से-कफ का गिरना, शिर में भारीपन, इन्द्रियों का विभ्रम होता है। इसमें रूक्ष उपचार करे। अयोग में—वायु की विपरीतगति, इन्द्रियों की रूक्षता, रोग का शान्त न होना होता है, इसमें पुनः नस्य देना चाहिये ॥३२-३५॥

चत्वारो बिन्दवः षड् वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम्।
शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत् ॥३६॥

शिरोविरेचन स्नेह की मात्रा चार, छै या आठ बूंद (प्रतिनासापुट के लिये) है, इनको बल के अनुसार बरतना चाहिये ॥३६॥

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः।
शुद्ध (द्धि) हीनातिसंज्ञानि विशेषाच्छास्त्रचिन्तकैः ।३७।
लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः।
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥३८॥
कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः।
मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम् ॥३९॥
मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः।
शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते ॥४०॥
हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत्।
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् ॥४१॥
(एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः।
एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते ॥४२॥
मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः।
द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता) ॥४३॥

शास्त्रचिन्तकों ने प्रयोग की दृष्टि से नस्य के तीन लक्षण शुद्ध, हीन और अतियोग रूप से कहे हैं। शुद्धि के लक्षण—शिर में लघुता, स्रोतों की निर्मलता, रोग की शान्ति, मन और इन्द्रियों की निर्मलता, यह शिर की शुद्धि का लक्षण है। हीन शुद्धि में स्रोतों में कण्डू, मल (कफ) वृद्धि, भारीपन, कफ का बहना, शिर का हीन शोधन होने पर ये लक्षण होते हैं। शिर का अतिविरेचन (शोधन) होने पर मस्तुलुङ्ग का आना, वात की वृद्धि, इन्द्रियविभ्रम, शिर में रिक्तता होती है।

शिर का हीन और अतिशोधन होने पर (क्रमशः) कफघ्न और वातनाशक चिकित्सा करे। भली प्रकार से शिर का शोधन होने पर घी का नस्य देना चाहिये। (एक दिन के अन्तर से, दो दिन के अन्तर से या सात दिन के पीछे, अथवा एक्कीस दिन के पीछे बार-बार जब तक ठीक समझे नस्य देवे। वायु का अधिक प्रकोप होने पर या जिसे वायु का रोग हो, उसे दो समय नस्य देना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—मारुतेना....विजानता ।४३। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध स्यात् इस प्रकार होना चाहिये—

मारुतेनाऽभिभूतिः स्यात् अत्यन्तं यस्य देहिनः।

अर्थात् जिस मानव की वायु द्वारा अत्यन्त अभिभूति (अभिभव-पीड़न) हो रही हो उसको दिन मे दो बार नस्य देना चाहिये ॥३७-४३॥

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यण्णसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यतममवपिष्यावपीड्य च, शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च विदध्यात् ॥४४॥

अवपीड नस्य शिरोविरेचन की भांति अभिष्यण्ण (मेद-कफ से भरे शिरवाले), सर्पदष्ट, मूर्छित पुरुषों को देना चाहिए। इसके लिये पिप्पली, विडंग आदि शिरोविरेचन द्रव्यों मे से किसी एक को पीसकर, दबाकर, निचोड़कर देना चाहिये, और शर्करा, इक्षुरस, दूध, घी, मांसरस में से किसी एक को क्षीण हुए एवं रक्तपित्त रोगियो में देना चाहिए।

वि० मन्तव्य—अवपीड नामक नस्य-यह शिरोविरेचन नस्य के दो विकल्पों (भेदों) में एक है। देखिये सू० २१। इसकी विधि श्रीशार्ङ्गधराचार्य के शब्दों से-शा० सं० उ० खं०अ०८।

कल्कीकृतात् औषधात् यः पीडितो निःसृतो रसः।
सोऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥१२॥

अर्थात्—नकछिकनी आदि तीक्ष्ण द्रव्य का कल्क करके निचोड़कर जो रस निकाला जाता है वह "अवपीड़" नस्य कहलाता है ॥४४॥

कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम्।
शृताः स्नेहाः शिरःशुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः॥

कृश, दुर्बल, भीरु, कोमलप्रकृति तथा स्त्रियों के शिर के शोधन के लिये सिद्ध किये स्नेह तथा उन द्रव्यों का कल्क हितकारी है ॥४५॥

चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत् ॥४६॥

मानसिक विकार, कृमि और बिष से पीड़ित रोगियों में चूर्ण को नाक में फूंके।

वक्तव्य—नाडीषडंगुलायामा द्विमुखी च तया धमेत्। त्रिश्चूर्णं मुच्चटीमात्रमेष प्रधमने विधिः॥ शुक्तिप्रमाणं जिघ्रेद्वा बद्धं सूक्ष्मेण वाससा॥ (मुच्चटी-चुटकीभर)।

वि० मन्तव्य—प्रधमन नस्य भी शिरोविरेचन नस्य का एक विकल्प है। यह-चूर्ण रूप में-सूखा चूर्णित द्रव्य नाक में डाला जाता है जिसे "सूंघनी" कहते हैं। इसे चुटकी भर कर, नासा पुट में डाला जाता है अथवा नाली में भर वैद्य, रोगी की नासा में फूंकता है अथवा वस्त्र में चूर्ण की पोटली बनाकर सूंघा जाता है ॥४६॥

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थंतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तवस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति, अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत् ॥४७॥

नस्य के लिये अयोग्य—भोजन करके, अपतर्पण किया (लंघन किया), अतिशय तरुण, प्रतिश्याय रोगी, गर्भवती, स्नेह-मद्य पानी द्रव पीये हुये, अजीर्णरोगी, बस्ति लिया, क्रुद्ध, गर से पीड़ित, प्यास से पीड़ित, शोक से परितप्त, थका हुआ, बालक, वृद्ध, मलमूत्र आदि वेग को रोके हुए, शिरसमेत स्नान की इच्छावाला व्यक्ति, बादल आने पर या ठीक ऋतु न होने पर, नस्य और धूम छोड़ देवे ॥४७॥

तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्णसहसाप्रदानादतिप्रविलम्बितशिरस उच्छिङ्खतो विचलतोऽभ्यवहरतो वा प्रतिषिद्धप्रदानाच्च व्यापदो भवन्ति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयाश्च ॥४८॥

इसमें हीनमात्रा में, अतिमात्रा में, अतिशीत, अतिउष्ण, सहसा देने से, शिर को बहुत नीचा करके देने पर, छींक लेते हुए, हिलते हुए, खाते हुए, निषेध की अवस्थाओं में स्नेह देने पर हानियां होती हैं। ये हानियां दोषजन्य तृष्णा, उद्गार आदि हैं और क्षयजन्य हैं ॥४८॥

भवतश्चात्र—

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥४९॥

कहा भी है—नस्य में और शिरोविरेचन में दो प्रकार की हानियां होती हैं। इनमें स्नेह नस्य में दोषोत्क्लेशजन्य और शिरोविरेचन में क्षयजन्य (दोषक्षयजन्य) हानियां होती हैं ॥४९॥

दोषोत्क्लेशनिमित्तास्तु जयेच्छमनशोधनैः।
अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् ॥५०॥

दोषोत्क्लेशजन्य हानियों की चिकित्सा शोधन और शमन से करे। क्षयजन्य हानियों की चिकित्सा उनके अपने दोषों के अनुसार बृंहण विधि से करे ॥५०॥

तेषु प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः तद्यथा—तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन, गृहान्निर्गच्छता, व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन, सायं चेति ॥५१॥

प्रतिमर्श नस्य का उपयोग चौदह समय में करना चाहिये। यथा–प्रातः बिस्तर से उठने पर, दाँतों को साफ करके, घर से बाहर निकलते समय, व्यायाम मैथुन मुसाफरी से थका होने पर, मूत्र-मल कवल और अंजन के पीछे, भोजन करके, वमन करके, दिन में सोकर उठने पर और सायंकाल प्रतिमर्श नस्य लेना चाहिये ॥५१॥

तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति, प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चापादयति, गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजोधूमो वा न बाधते, व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवितः श्रममुपहन्ति, मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति, कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति, भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति, वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति, दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति, सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति ॥५२॥

इनमें प्रातःकाल बिस्तर से उठकर सेवन किया प्रतिमर्श नस्य रात्रि में एकत्रित हुए, नासास्रोत में आये हुए मल को नष्ट करता है और मन की प्रसन्नता करता है। दाँतों को साफ करके लिया प्रतिमर्श नस्य दाँतों को दृढ़ एवं मुख में सुगन्ध उत्पन्न करता है। घर से बाहर जाते समय सेवन किया प्रतिमर्श नासास्रोतों को क्लिन्न रखने से धूल या धुएँ का प्रभाव नहीं होने देता। व्यायाम, मैथुन या मुसाफरी से थके हुए होने पर सेवन किया नस्य थकान को मिटाता है। मूत्रमल त्याग के पीछे सेवन किया दृष्टि के भारीपन को दूर करता है। कवल के पीछे लिया दृष्टि को निर्मल करता है। भोजन करके सेवन किया स्रोतों की निर्मलता और हल्कापन उत्पन्न करता है। वमन के पीछे सेवन किया प्रतिमर्श नस्य स्रोतों में लगे कफ को हटाकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है। दिन में सोकर उठने पर लिया नस्य निद्राशेष का भारीपन और मल को दूरकर चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करता है। सायंकाल लिया नस्य सुखपूर्वक नींद और जाग लाता है॥

ईषदुच्छिङ्घतः स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते ।
नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः ॥५३॥

नाक में नस्य रूप से डाला स्नेह थोड़ा सा सुड़कने पर जब मुख में आ जाता है, उतना प्रतिमर्श का प्रमाण जाने, उसे प्रतिमर्श की मात्रा समझे।

वक्तव्य—"प्रमाणं प्रतिमर्शस्य विन्दुद्वितयमिष्यते । विन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते ॥ निहितो यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते ॥" विधान—सप्तवर्षमुपादाय नस्य कर्म चतुर्विधम् । प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते । धूमोऽथ द्वादशे वर्षे कवलः पञ्चमे मतः ॥ दोषव्याधिबलावस्थां वीक्ष्य चैतान् प्रयोजयेत् ॥५३॥

नस्येन रोगाः शाम्यन्ति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः ।
इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च ॥५४॥
हनुदन्तशिरग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम् ।
वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसंभवम् ॥५५॥

नस्य से मनुष्य के, जत्रु से ऊपर के रोग शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों में निर्मलता और मुख में सुगन्धिता होती है। हनु, दन्त, शिर, ग्रीवा, त्रिक, बाहु और छाती में बल आता है। वलीपलित, गंजापन, व्यंग भी उत्पन्न नहीं होते॥५४,५५॥

तैलं कफे सवाते स्यात् केवले पवने वसाम् ।
दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते ॥५६॥
चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः ।
श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते ॥५७॥

वायुयुक्त कफ में तैल, शुद्ध वायु में वसा, पित्त में घी और वायुमिश्रित पित्त में मज्जा का नस्य देना चाहिये। चार प्रकार के स्नेह की यह विधि है। कफस्थान का अविरोधि होने से इन चारों में तैल का ही उपयोग होता है।

वि० मन्तव्य—यद्यपि नस्य में चारों प्रकार के स्नेहों का दोषानुसार प्रयोग हो सकता है तथापि शिर कफ का स्थान है और तैल कफ का विरोधी–वर्द्धक–प्रकोपक नहीं है अतः यथासम्भव तैल का ही प्रयोग करना चाहिये ॥५६,५७॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कवलग्रहणे विधिम् ।
चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपणौ ॥५८॥
स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते, स्वादुशीतैः प्रसादनः ।
पित्ते, कट्वम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे ॥५९॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे ।
चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽयं प्रकीर्तितः ॥६०॥

इसके आगे कवल ग्रहण की विधि को कहूँगा। कवल चार प्रकार का है—स्नेही, प्रसादी, शोधन और रोपण। वायु में स्निग्ध, उष्ण द्रव्यों से स्नैहिक कवल, पित्त में मधुर-शीतल द्रव्यों से प्रसादन कवल, कफ में--कटु, अम्ल, लवण, रूक्ष और उष्ण द्रव्यों से शोधन कवल, व्रण में--कषाय, तिक्त, मधुर, कटु और उष्णद्रव्यों से रोपण कवल बरते। चार प्रकार के कवल में यह भेद कह दिया है।

वि० मन्तव्य—रोपण कवल—व्रण के ६० उपक्रमों में कवल धारण भी एक उपक्रम है परन्तु यह मुख के ही व्रणों में प्रयुक्त होता है। मुख के व्रणों के लिये देखिये मुखरोग निदान।

तत्र त्रिकटुकवचासर्षपहरीतकीकल्कमालोड्य तैलशुक्तसुरामूत्रक्षारमधूनामन्यतमेन सलवणमभिप्रतप्तमुपस्विन्नमृदितमलकपोलललाटप्रदेशो धारयेत् ॥६१॥

इसमें—त्रिकटु, वच, सरसों, हरड़ इनका कल्क तैल, शुक्त, सुरा, गोमूत्र, क्षार, मधु इनमें से किसी एक में घोलकर, थोड़ा सा नमक मिलाये। गला, कपोल, ललाट भाग पर गरम किये हाथों से सेक करके, इनको मलकर कवल को मुख में धारण करे॥६१॥

मुखं संचार्यते या तु मात्रा स (सा) कवलः स्मृतः।
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः ॥६२॥

जो मात्रा मुख में सुखपूर्वक एक तरफ से दूसरी तरफ घुमाई जा सकती है, वह कवल कहा है। और जो मात्रा मुख में फेरी न जा सके उसे गण्डूष कहते हैं॥६२॥

तावच्च धारयितव्योऽनन्यमनसोन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः, पुनश्चान्यो गृहीतव्य इति ॥६३॥

ये गण्डूष और कवल मुख में, एकाग्रमन से, शरीर को सीधा रखकर तब तक धारण करने चाहिये, जब तक कि गल्ले दोष से न भर जायें, नासा से और आँखों से पानी न आये। फिर छोड़कर दूसरा कवल धारण करना चाहिये॥६३॥

एवं स्नेहपयःक्षौद्ररसमूत्राम्लसंभृताः।
कषायोष्णोदकाभ्यां च कवला दोषतो हिताः ॥६४॥

इस प्रकार स्नेह, दूध, मधु, रस, मूत्र, अम्ल (कांजी) से पूर्ण, कषाय एवं गरम पानी इनके कवल दोष के विचार से बरतने चाहिये। (रस-ईख का रस, अथवा मांस रस) ॥६४॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम् ॥६५॥
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च।
अतियोगान्मुखे पाकः शोषतृष्णारुचिक्लमाः ॥६६॥
शोधनीये विशेषेण भवन्त्येव न संशयः।

रोग का घटना, प्रसन्नता, निर्मलता, मुख में हल्कापन, इन्द्रियों की निर्मलता होना ये कवल में शुद्धि के लक्षण हैं। हीनयोग में-जड़ता, कफ का उत्क्लेश, रसज्ञान की अप्रतीति होती है। अतियोग में-मुख में पाक, शोष, प्यास, अरुचि, क्लम होता है। प्रायः करके शोधनीय कवलों मे ये लक्षण होते हैं॥६५,६६॥

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च ॥६७॥
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो दाहनाशनः।
कवलस्य विधिर्ह्येष समासेन प्रकीर्तितः ॥६८॥

तिल, नीलकमल, घी, शर्करा दूध और मधु इनका कवल जले हुए मुख के दाह को नष्ट करता है। कवल की यह विधि संक्षेप से कह दी है।

वि० मन्तव्य—चूना आदि क्षार द्वारा मुख की श्लैष्मिक कला में क्षत हो जाते हैं उसकी ही यह चिकित्सा है।६७,६८।

विभज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम्।
कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम् ॥६९॥
अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्।

औषध का बुद्धिपूर्वक विभाग करके, कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र (मधु), और चूर्ण (वस्त्र में छना) इन चार रूपों में प्रतिसारण करे। दोषों के अनुसार औषध को इनमें से किसी एक रूप में लेकर अंगुली के अग्रभाग से मुख रोगियों में घिसे।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारण-मञ्जन-वह द्रव्य जो मुख में लगाया जाय। भगवान् सुश्रुत ने प्रतिसारण ४ प्रकार का माना है परन्तु श्री वाग्भट तथा शार्ङ्गधराचार्य ने तीन ही प्रकार का माना है यथा—(१) कल्कः (२) रसक्रिया (३) चूर्णः त्रिविधं प्रतिसारणम्। वा० सू० अ० २। और (१) कल्को (२) अवलेहः (३) चूर्णं च त्रिविधं प्रतिसारणम्। शा० उ० खं० अ० १०। भगवान् सुश्रुत ने केवल मधु को भी चौथा प्रतिसारण मान लिया है। सचमुच मधु उत्तम कोटि का प्रतिसारण है, विशेषतः मुखपाक आदि में॥६९॥

तस्मिन् योगमयोगं च कवलोक्तं विभावयेत् ॥७०॥
तानेव शमयेद् व्याधीन् कवलो यानपोहति।
दोषघ्नमनभिष्यन्दि भोजयेच्च तथा नरम् ॥७१॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां चतुर्थं चिकित्सास्थानं समाप्तम् ॥४॥

प्रतिसारण के हीनयोग और अतियोग को कवल की भांति समझना चाहिये। जिन रोगों को कवल अच्छा करता है, प्रतिसारण भी उनको अच्छा करता है। रोगी को दोषनाशक और अनभिष्यन्दि भोजन खाने को देवे॥७०,७१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अन्नपान रक्षाकल्प का व्याख्यान करेंगे- जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—कल्पस्थान-अगदतन्त्र ही है, देखिये सू० स्था० अ० १ का सू० ७ और उसका विवरण ७।६। और "अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात्" सू० स्था० अ० ३ का श्लो० २८। विष चिकित्सा की कल्पना इस तन्त्र में की गई है अतः इसका नाम कल्पस्थान है। विधि भेद से संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। १—अमृत-जिनके सेवन से प्राणी "मृत" नहीं होता और प्रसाद-प्रसन्नता का अनुभव करता है और २—विष-जिनसे "मृत" हो जाता है और विषाद का अनुभव करता है ॥१,२॥

धन्वन्तरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः।
सुश्रुतप्रभृतीञ्छिष्यान्छशासाहतशासनः ॥३॥

तप और धर्म को धारण करनेवालों में श्रेष्ठ एवं जिसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकता ऐसे काशिपति दिवोदास ने सुश्रुत आदि शिष्यों को कहा ॥३॥

रिपवो विक्रमाक्रान्ता ये च स्वे कृत्यतां गताः।
सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् ॥४॥
विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः।
स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित्सुभगेच्छया॥
विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः।
तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥६॥

विक्रम से जीते हुए शत्रु, और जो अपने लोग शत्रु हो गये हैं, वे लोग अपने क्रोधरूपी जहर को छोड़ने के लिये मौका ढूँढ़ते रहते हैं। ये दूषित मनवाले व्यक्ति निपुण राजा को विषों से मार देते हैं। अथवा कभी सौभाग्य की इच्छा से स्त्रियाँ नानाप्रकार के योगों को दे देती हैं। अथवा विष कन्या के उपयोग से मनुष्य तुरन्त प्राण खो बैठता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि वह निरन्तर राजा की विष से रक्षा करे।

वक्तव्य—पर्वतेश्वर को चाणक्य ने विषकन्या के उपयोग से मारा था। विषकन्या बनाने के लिये कन्या को बचपन से ही थोड़ा थोड़ा विष देना आरम्भ करते हैं। धीरे धीरे इस विष की मात्रा बढ़ाते जाते हैं। अन्त में यह मात्रा इतनी हो जाती है, जो कि दूसरे के लिए घातक होती है। यह विष कन्या के सब शरीर में फैल जाता है। चुम्बन या सम्भोग आदि से दूसरे पुरुष में भी आ जाता है। इसी से कहा है, "हन्ति स्पृशन्ति स्वेदेन, गम्यमाना च मैथुने। पक्वं वृन्तादिव फलं प्रशातयति मेहनम् ॥" जूं आदि इसके शरीर पर तुरन्त मर जाती है, यह इसकी पहिचान है।

वि० मन्तव्य—विष कन्या-ज्योतिःशास्त्रानुसार वह कन्या भी विषकन्या कही जाती है जिसको ग्रहों के कारण वैधव्य योग होता है। देखिये बृहत्-जातकालङ्कार भुवन दीप अ० १६। उपदंश आदि योनिरोगों से पीड़ित स्त्री भी विषकन्या कही जा सकती है, और ऐसे पुरुष भी विषपुरुष कहे जा सकते हैं। नृपति—नृपति अर्थात् राजा शब्द उपलक्षण है, अन्यजनों नरनारियों पर भी इस प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं। जब कभी ऐसा सन्देह हो कि कोई ऐसा प्रयोग करना चाहता है, तब सबको अपनी रक्षा के लिये सावधान रहना चाहिये ॥४-६॥

यस्माच्च चेतोऽनित्यत्वमश्ववत् प्रथितं नृणाम्।
न विश्वस्यात्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित् ॥७॥

क्योंकि मनुष्यों का चित्त घोड़े की भाँति सदा चंचल रहता है, इसलिये राजा को चाहिये कि वह किसी का कभी विश्वास न करे।

वक्तव्य—वैद्य का विश्वास उसे करना चाहिये। इसी से पहले कहा है कि "विसृजत्यात्मनात्मानम् ॥' गीता में कहा है—"चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" ॥७॥

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं संततोत्थितम्।
अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम् ॥८॥
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमायालस्यविवर्जितम्।
जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम् ॥९॥
मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्।
पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षं व्यसनवर्जितम् ॥१०॥
पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्।
महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम् ॥११॥

वैद्य की योग्यता—कुलीन, धार्मिक स्नेह रखनेवाला, धन-साधनों से युक्त, निरन्तर ध्यान देनेवाला, लालच रहित, धूर्त्तता रहित, श्रद्धालु, कृतज्ञ, देखने में सुन्दर, क्रोध-

कठोरता मत्सरता माया और आलस्य से रहित जितेन्द्रिय, क्षमाशील, पवित्रस्वभाव, शील-दया से युक्त, मेधावी, न थकने वाला, अनुरक्त, हितेच्छु, वक्ता, दक्ष-चतुर, निपुण, कुशल, व्यसन रहित, तथा तत्त्वाधिगत शास्त्र आदि पूर्वोक्त, गुणयुक्त, सदा अगद (विषनाशकयोग) पास में रखनेवाले। वैद्य विद्या को जाननेवालों से पूजित वैद्य को राजा रसोई में रक्खे।

वि० मन्तव्य—इस वैद्य की देखरेख में भोजन का निर्माण हो ॥११॥

प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभाण्डं महच्छुचि ।
सजालकं गवाक्षाढ्यमाप्तवर्गनिषेवितम् ॥१२॥
विकक्षसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम् ।
परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम् ॥१३॥

रसोई कैसी हो! प्रशस्तदिशा (आग्नेयकोण) और प्रशस्तदेश में बनाई हुई, पवित्र वर्त्तनोंवाली, बड़ी, शुद्ध (साफ सुथरी), जालीवाली, धुँआ जाने के लिये प्रचुर वातायनों की, विश्वस्त पुरुषों से युक्त, लकड़ी आदि के लिये अलग-अलग भागवाली, छत पर चंदोआ, लगी हुई, अग्निपूजा की हुई, देखे-भाले स्त्री पुरुषोंवाली रसोई होनी चाहिये।

प्रशस्त देश—"दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमूषल वर्चः-इत्यादि॥ चरक ॥१२,१३॥

तत्राध्यक्षं नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम् ।
शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः ॥१४॥
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः ।
स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः ॥१५॥
तस्य चाज्ञाविधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः ।

वहाँ पर रसोई में रसोई का अधिकारी वैद्य गुणों से युक्त मनुष्य को बनाये।

भृत्य कैसे हों—काम करनेवाले-पवित्र, कुलीन, चतुर, नम्र, देखने में सुन्दर, भिन्न-भिन्न कामों को करनेवाले, निर्मल, शुद्ध मन के, केश और नख कटाये हुये, दृढ़-मजबूत, स्नान किये, चंचलता रहित, संयमी, सिर को लपेटे, संयत (कसे हुये ढीले-ढाले नहीं) तथा आज्ञा को माननेवाले होने चाहिये।

वि० मन्तव्य—अध्यक्ष—यह महानस का अध्यक्ष अर्थात् प्रबन्धक है सब परिकर्मियों-कर्मचारियों का अधिष्ठाता है। इन परिकर्मियों में भोजन की सामग्री जुटानेवाले, काटने-पीसनेवाले, भोजन पकानेवाले तथा परोसनेवाले सब हैं। कभी बड़े-बड़े होटलों में जाकर देखिये। स्थिराः—स्थायी भृत्य जो उसी एक कार्य में जीवन लगा देनेवाले। दृढं संयमिनः—कमर कसे—पेटी बाँधे हुए। कृतोष्णीषाः—शिर पर उष्णीष पगड़ी बाँधे हुए। सुसंयताः—लोलता आदि दोष रहित। रसोई घर में—रसोई बनानेवालों एवं प्रबन्धकों का वही भोजन होता है जो नृपति—गृहपति एवं घरवालों का होता है। राजपरिवारों में एवं बड़े घरों में ऐसा ही होता है और होना भी चाहिये। इस दशा में वे कर्मचारी स्वयं अन्नादि में विषमिश्रण नहीं करते यदि करते हैं तो उस अन्न को स्वयं खाने में हिचकते हैं। वैद्य एवं महानसाध्यक्ष को साथ बिठाकर भोजन करना चाहिये (न अभक्त, अशिष्ट, अशुचि, क्षुधित परिचरः) तथा अन्नों का थोड़ा-थोड़ा अंश अग्नि में डालना चाहिये (न अदत्त्वा-अग्नये) तथा प्रतिकूल-शत्रुता रखनेवालों द्वारा उपस्थित अन्न खाना चाहिये (न प्रतिकूलोपहितं) च० सू० अ० ८ ॥१४,१५॥

आहारस्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः ॥१६॥
तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत् ।

क्योंकि मनुष्य का जीवन आहार के आश्रय ही स्थित है, इसलिये वैद्य रसोई में सदा सावधान रहे ॥१६॥

माहानसिकवोढारः सौपौदनिकपौपिकाः ॥१७॥
भवेयुर्वैद्यवशगा ये चाप्यन्येऽत्र केचन ।

रसोई में काम करनेवाले, पिट्ठी पीसनेवाले, दाल-भात-रोटी आदि बनानेवाले, और जो भी रसोई में काम करनेवाले हों वे सब वैद्य के अधीन रहने चाहिये ॥१७॥

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः ॥१८॥
विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ।'
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च ॥१९॥
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत् ।
स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत् ॥२०॥
वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते ।
क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि ॥२१॥
आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् ।
निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः ॥२२॥
वर्तते विपरीतं तु विषदाता विचेतनः ।

विषदाता की पहिचान—मनुष्यों के इशारों को समझनेवाला बुद्धमान् मनुष्य वाणी, चेष्टा, मुख की भावभंगी आदि से विष देनेवाले मनुष्यों को पहचान ले और निम्नलिखित लक्षणों से यथा-विष देनेवाला मनुष्य पूछने पर उत्तर नहीं देता, बोलने की इच्छा करता हुआ भी घबड़ा जाता है। व्यर्थ की बातें बहुत करता है, इधर उधर की मिली जुली बातें करता है, मूर्ख की तरह बात करता है। अंगुलियों को चटकाता है, भूमि को कुरेदता है, बिना कारण के हँसता है। यह मनुष्य काँपता है, डरकर इधर-उधर या एक दूसरे की ओर देखता है। शरीर से कृश, विवर्णमुख (मुख का रंग पलटा हुआ) नखों से कुछ तोड़ता रहता है। बार-बार हाथों से बालों को

धूता रहता है। न जाने के मार्गों से भागना चाहता है, बार-बार मुड़कर देखता है। विपरीत चेष्टायें करता है, संज्ञारहित बेभान बन जाता है ॥१८-२२॥

केचिद्भयात् पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया ॥२३॥
असतामपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मात् परीक्षणं कार्यं भृत्यानामादृतैर्नृपैः ॥२४॥

कभी कभी राजा के डर से, जल्दी या राजा की आज्ञा से—सज्जन मनुष्य भी असाधु पुरुषों जैसी चेष्टायें कर बैठते हैं। इसलिये इनकी परीक्षा आदर के साथ-सावधानी से करनी चाहिये ॥२३,२४॥

अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाऽभ्यङ्गेऽवलेखने।
उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने ॥२५॥
स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च।
पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् ॥२६॥
विषजुष्टेषु चान्येषु नस्यधूमाञ्जनादिषु।
लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनन्तरम् ॥२७॥

विष देने के साधन—अन्न (भोजन), पेयवस्तु, दातुन, अभ्यंग, अवलेखन (कंघी आदि), उबटन, स्नान का जल (कषाय) परिषेक, चन्दन आदि लेप, माला, वस्त्र, शय्या, कवच, आभूषण, जूता आदि, आसन आदि, हाथी घोड़े की पीठ, विषैले नस्य, धूम, अञ्जन आदि में विष देते हैं। इनके लक्षण कहकर पीछे चिकित्सा को कहेंगे।

वक्तव्य—औरंगजेब ने—जयसिंह के पुत्र को विषैली पोशाक पहनाकर ही मारा था। (दुर्गादास नाटक।) ॥२५-२७॥

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः ॥२८॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते।
मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ॥२९॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति।
चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु ॥३०॥
दृष्ट्वाऽन्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः।
कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति ॥३१॥
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके।
हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति ॥३२॥
पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः।
सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राजा तान् मृगपक्षिणः ॥३३॥
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा।

राजा के विषैले भोजन में से दी हुई बलि को मक्खी कौवे आदि जो खाते हैं, वे वहीं मर जाते हैं। विषैले अन्न से अग्नि में चट-चट शब्द बहुत होता है। आग का रंग मोर की गर्दन के समान हो जाता है, इसका तेज असह्य होता है। ज्वाला फटी हुई अलग-अलग, धूम में तीक्ष्णता रहती है, जल्दी बुझ जाती है। विषैले अन्न से चकोर की आँख की लाली तुरन्त जाती रहती है। विषैले अन्न को देखकर जीव-जीवक तुरन्त मर जाता है। कोयल का स्वर बदल जाता है, कौञ्च को मद चढ़ जाता है। मोर हृष्ट एवं उद्विग्न होता है, तोता और मैना चिल्लाते हैं। हंस जोर से शब्द करता है, भृंगराज कूजता है। पृषत (चित्तल हरिण) आँसू बहाता है, बन्दर का मल निकल आता है। इसलिये राजा पशु पक्षियों को घर में पाले। इनसे घर की शोभा होने के साथ साथ अपनी भी सदा रक्षा होती है।

वक्तव्य—प्रत्येक धातु की ज्वाला का रंग भिन्न-भिन्न होता है। इसीलिये आधुनिक रसायनशास्त्रों में कुछ धातुओं को हम अग्नि की परीक्षा से भी पहचान लेते हैं।

पक्षियों को घर में पालने का वर्णन मृच्छकटिक में दिया है। यथा—

"आश्चर्यं भोः इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिषण्णान्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा संमाननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरम्परा। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन्विकिरण संतप्त पक्षोत्क्षेपैः विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिशिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात्परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लकाः इव इतस्ततः संचरन्ति गृहं सारसाः। आश्चर्यं भोः, प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं नन्दनवनमिव मे गृहं प्रतिभासते।"

मेघदूत में कालिदास ने मेघ को रात में आराम लेने के लिये जो घर बताया है—उसके लिये कहा है—"तां कस्यांश्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्। नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः॥" बाण ने अपने घर का वर्णन करते हुए—तोतों द्वारा अशुद्ध पाठ करते हुए विद्यार्थियों को टोकने का वर्णन किया है यथा—जगुर्गृहे यस्य समस्तवाङ्मयैः सांसारिकैः पञ्जरवर्त्तिभिः शुकैः। निगृह्यमाणाः बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥ यूनानी लोगों की मान्यता है कि जिस घर में कबूतर पाले जाते हैं, वहाँ पर क्षत आदि रोग नहीं होते। पक्षाघातवाले रोगियों को ये लोग परों की वायु दिलाते हैं ॥२८-३३॥

उपक्षिप्तस्य चान्नस्य बाष्पेणोर्ध्वं प्रसर्पता ॥३४॥

हृत्पीडा भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते ।
तत्र नस्याञ्जने कुष्ठं लामज्जं नलदं मधु ॥३५॥
कुर्याच्छिरीषरजनीचन्दनैश्च प्रलेपनम् ।
हृदि चन्दनलेपस्तु तथा सुखमवाप्नुयात् ॥३६॥

विषैले अन्न को खाने के लिये थाली में परोसने पर उसके बाष्पों के ऊपर जाने से हृदय में पीड़ा, नेत्र की भ्रान्ति और शिर में वेदना होती है । इसमें नस्य और अंजन के लिये कूठ, खस, जटामांसी, मधु, बरते । शिरीष, हल्दी और चन्दन का लेप करे । हृदय पर चन्दन का लेप करे इससे सुख मिलता है ॥

पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशातं करोति च ।
अत्र प्रलेपः श्यामेन्द्रगोपासोमोत्पलानि च ॥३७॥

हाथों में लगा विषैला अन्न हाथों में जलन, नखों का गिरना उत्पन्न करता है । इसमें–प्रियंगु, अनन्तमूल, कट्फल और कमल का लेप करे (डल्हण ने सोम का अर्थ गिलोय, श्यामा और श्यामलता दिया है) ॥३७॥

स चेत् प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते ।
अष्ठीलावत्ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी ॥३८॥
तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात् प्रसिच्यते ।
तत्र बाष्पेरितं कर्म यच्च स्याद्दान्तकाष्ठिकम् ॥३९॥

यदि मनुष्य मोह या आलस्य के कारण इस अन्न को खा जाता है, तो जीव अष्ठीला (पत्थर या लोहे की भाँति सख्त) की भाँति कड़ी एवं रस को नहीं पहचानती । इसमें चुभने की दर्द और जलन होती है, तथा मुख से कफ झरता है । इसमें बाष्प में कही तथा दातुन के लिये कही चिकित्सा करे ॥३८,३९॥

मूर्च्छा छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू ।
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम् ॥४०॥
तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः ।
छर्दनं दध्युदश्विद्भ्यामथवा तण्डुलाम्बुना ॥४१॥

आमाशय में पहुँचा विष-मूर्च्छा, वमन, अतिसार, आध्मान, जलन, कम्पन, और इन्द्रियों में विकार करता है । इसमें तुरन्त मैनफल, कड़ुवी तुम्बी, कड़ुवी तुरई, इनके फलों से वमन कराये । दधि तक्र से या चावलों के पानी से वमन कराये । (एल्युमन का पानी, अण्डे से बनाकर आजकल देते हैं) ॥

दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रियवैकृतम् ।
आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम् ॥४२॥
विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम् ।
दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः ॥४३॥

पक्वाशय में पहुँचा विष दाह, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, इन्द्रियों में विकार, आध्मान, पाण्डुता, कृशता उत्पन्न करता है । नीलिनीफल का विरेचन घी के साथ देना चाहिये । दूषित विषारि अगद को दही या मधु से पीये ॥४२,४३॥

द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षारमद्योदकादिषु ।
भवन्ति विविधाः राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च ॥४४॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः ।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा ॥४५॥

दूध, मद्य, पानी आदि सब तरलद्रवों में विष के कारण नानाप्रकार की रेखायें आती हैं, और बुलबुले उत्पन्न होते हैं । इनमें प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता यदि दिखाई देता भी है, तो वह जुड़ा हुआ (दो का), छेदवाला, पतला या विकृत आकार का होता है ।

वाग्भट ने—"नीलाराजीरसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते । श्यावा पीताऽसिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा ॥ कालीमद्याम्भसोः क्षौद्रे, हरित्तैलेऽरुणोपमा" ॥४४,४५॥

शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च ।
सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च ॥४६॥
गन्धवर्णरसैर्हीनाः सर्वे भक्ष्याः फलानि च ।
पक्वान्याशु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च ॥४७॥

शाक, दाल, अन्न और मांस ये विष से युक्त होने पर क्लिन्न, बेस्वाद, तुरन्त के बने हुए भी बासी से लगते हैं, इनकी गन्ध जाती रहती है । सब भक्ष्य गन्ध, वर्ण, रस से हीन बन जाते हैं । पके हुए फल विष के योग से शीघ्र सड़ जाते हैं और कच्चे फल शीघ्र पक जाते हैं ॥४६,४७॥

विशीर्यते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे ।
जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥४८॥
अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः ।
सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्तव्यं प्रतिसारणम् ॥४९॥
अथवाऽङ्कोठमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा ।
शिरीषमाषका वाऽपि सक्षौद्राः प्रतिसारणम् ॥५०॥

दातुन में विष का संचार होने पर दातुन की कूची झड़ने लगती है । जिह्वा, ओठ, दाँत और मसूड़े सूज जाते हैं । इसमें शोफ पर पाछना लगाकर, धाय के फूल, हरड़, जामुन की गुठली इनको मधु में मिलाकर मले । अथवा अंकोठ की मूल, या सप्तपर्ण की छाल, शिरीष के बीज, इनका मधु के साथ प्रतिसारण-घर्षण करे ॥४८-५०॥

जिह्वानिर्लेखकवलौ दन्तकाष्ठवदादिशेत् ।

जिह्वा निर्लेखन (जीभी) और कवल के विष से दूषित होने पर दातुन की भाँति चिकित्सा करे ।

पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः ॥५१॥
स्फोटजन्यरुजास्रावत्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः ।
दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ॥५२॥
तत्र शीताम्बुसिक्तस्य कर्तव्यमनुलेपनम् ।
चन्दनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ॥५३॥

सोमवल्क्यमृता श्वेता पद्मं कालीयकं त्वचम् ।
कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च युज्यते ॥५४॥

विषैला अभ्यंग—पिच्छिल, गाढ़ा, विवर्ण हो जाता है । इसके लगाने से छाले उत्पन्न हो जाते हैं, पीड़ा, स्राव, त्वचा का पकना, पसीना, ज्वर और त्वचा का फटना होता है । इसमें शीतल जल से स्नान कराके चन्दन, तगर, कूठ, खस, बांस के पत्ते, गिलोय अमृता, अपराजिता (कोयल), कालीयक काष्ठ, दालचीनी इनको कैथ के रस और गोमूत्र के साथ शरीर पर लेप करे और इसको पीये । (अमृता-हरड़, डल्हण ने अमृतासंग लेकर तुत्थ लिया है । श्वेत से श्वेतस्यन्द दिया है । श्वेता-श्वेतवच के लिये भी है) ॥५१-५४॥

उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने ।
शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्गलक्षणैः ॥५५॥

उत्सादन, परिषेक, कषाय, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र और कवचों में विष का योग होने पर अभ्यंग के समान लक्षण और चिकित्सा है ॥५५॥

केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः ।
ग्रन्थिजन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टेऽवलेखने ॥५६॥
प्रलेपो बहुशस्तत्र भाविताः कृष्णमृत्तिकाः ।
ऋष्यपित्तघृतश्यामापालिन्दीतण्डुलीयकैः ॥५७॥
गोमयस्वरसो वाऽपि हितो वा मालतीरसः ।
रसो मूषिकपर्ण्या वा धूमो वाऽगारसंभवः ॥५८॥

कंघी आदि के विष से युक्त होने पर बालों का गिरना, शिर में पीड़ा, रोमकूपों से रक्त का आना, शिर में गांठें (फुंसियाँ) उत्पन्न हो जाती हैं । इसमें काली मिट्टी को ऋष्य (रीछ या नीलाण्ड मृग) के पित्त, घृत श्यामा (प्रियंगु), निशोथ, तण्डुलीयक (चौलाई) इनसे कई बार भावित करके लगाये, गोबर का स्वरस या चमेली का रस शिर पर बरते, मूषिकपर्णी का रस या घर धुंवासा बरते ॥५६-५८॥

शिरोऽभ्यङ्गः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च ।
स्रजश्च विषसंसृष्टाः साधयेदवलेखनात् ॥५९॥

शिर का अभ्यंग (तेल आदि), शिरस्त्राण (लोहे का टोप) स्नान का जल, पगड़ी मालायें—इनके विष से युक्त होने पर कंघी के समान लक्षण एवं चिकित्सा समझे ॥५९॥

मुखालेपे मुखं श्यावं युक्तमभ्यङ्गलक्षणैः ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः कण्टकैश्चोपचीयते ॥६०॥
तत्र क्षौद्रघृतं पानं प्रलेपश्चन्दनं घृतम् ।
पयस्या मधुकं फञ्जी बन्धुजीवः पुनर्नवा ॥६१॥

मुख के आलेप के विष से युक्त होने पर मुख श्याववर्ण, विषैले अभ्यंग के समान लक्षणोंवाला हो जाता है । पद्मिनी कण्टक के समान कांटों (फुन्सियों) से भर जाता है । इसमें मधुघृत का पानी, चन्दन-घी विदारी, मुलैहठी, भार्गी, दुपहरिया पुनर्नवा इनका लेप करे ॥६०,६१॥

अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां कालास्रावोऽक्षिरक्तता ।
स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसंभवः ॥६२॥
तत्राभ्यङ्गवदेवेष्टा यातृवाहनयोः क्रिया ।

हाथी, घोड़े आदि की पीठ पर विष लगाने से हाथी आदि रोगी हो जाते हैं, मुख से लाला गिरती है, आँखें लाल हो जाती हैं । बैठनेवाले के नितम्ब, गुदा, मेहन और मुष्क पर छाले उत्पन्न हो जाते हैं । इसमें अभ्यंग के समान चिकित्सा मनुष्य और वाहन की करे ॥६२॥

शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः ॥६३॥
नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम् ।
तत्र दुग्धैर्गवादीनां सर्पिः सातिविषैः श्रृतम् ॥६४॥
पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समदयन्तिकम् ।

नस्य और धूम में विष होने से—नाक से रक्त आता है, सिर में दर्द, कफ का स्राव और इन्द्रियाँ विकृत हो जाती हैं । इसमें गाय आदि के दूध से, अति विष के कल्क द्वारा सिद्ध किया घृत पीने में और नस्य में बरते । कटभी (श्वेत वच, डल्हण के मत से) और मेंहदी के कल्क से सिद्ध घृत उत्तम है । कोई अतीस, मेंहदी श्वेतवच (या कोयल) तीनों का कल्क बरतते हैं ॥६३,६४॥

गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत् ॥६५॥
जिघ्रातश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने ।
यत्र बाष्पेरितं कर्म मुखालेपे च यत् स्मृतम् ॥६६॥

विषैले पुष्पों में गन्ध का नष्ट होना, विवर्णता, मुरझाना होता है । सुंघनेवाले के शिर में पीड़ा और आँखों में आँसू आ जाते हैं । इसमें विषैले बाष्पों की भाँति एवं मुखालेप की भाँति चिकित्सा करे ॥६५,६६॥

कर्णतैलगते श्रोत्रवैगुण्यं शोफवेदने ।
कर्णस्रावश्च तत्राशु कर्तव्यं प्रतिपूरणम् ॥६७॥
स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः ।
सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते ॥६८॥

कान के तैल के विषैला होने पर—सुनाई न देना, शोफ, वेदना, कर्णस्राव होता है । इसमें तुरन्त ही शतावरी का स्वरस, घी, मधु मिलाकर डाले । कट्फल का शीतल रस भी उत्तम है ॥

अस्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः ।
अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च ॥६९॥
तत्र सद्यो घृतं पेयं तर्पणं च समागधम् ।
अञ्जनं मेषश्रृङ्गस्य निर्यासो वरुणस्य च ॥७०॥
मुष्ककस्याजकर्णस्य फेनो गोपित्तसंयुतः ।
कपित्थमेषश्रृङ्गयोश्च पुष्पं भल्लातकस्य वा ॥७१॥
एकैकं कारयेत् पुष्पं बन्धूकाङ्कोठयोरपि ।

विषैले अंजन से आँसू, गीध का आना, जलन, वेदना, दृष्टिभ्रम और अन्धापन भी हो जाता है। इसमें तुरन्त घृत का पान करे। पिप्पली से मिला तर्पण पिये। मेषश्रृंगी का या बरणे के गोंद का अंजन करे। मुष्कक, अजकर्ण (साल), समुद्रफेन, इनको गाय के पित्त में मिलाकर अंजन करे। कैथ, मेषश्रृङ्गी या भिलावे के फूल अथवा दुपहरिया, अंकोठ इनके फूल इनमें से किसी एक से अंजन करे।

वक्तव्य—पिप्पली कल्क से सिद्ध घृत का तर्पण पीये। अथवा तर्पण—अक्षितर्पण करे घृत से आंख का तर्पण॥

शोफः स्रावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च ॥७२॥
भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम्।
उपानत्पादपीठानि पादुकावत् प्रसाधयेत् ॥७३॥

विषैले जूते—खड़ाऊँ आदि से—पांव में सूजन, स्राव, पांवों का सोना, छाले उत्पन्न होना, होता है। जूते, आसन के लक्षण चिकित्सा पादुका की भाँति है ॥७२,७३॥

भूषणानि हृतार्चींषि न विभान्ति यथा पुरा।
स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः ॥७४॥
पादुकाभूषणेषूक्तमभ्यङ्गविधिमाचरेत्।

विष के कारण आभूषण तेज रहित हो जाते हैं, पहले की भाँति नहीं चमकते। जिस स्थान पर धारण किये जाते हैं, वहाँ पर जलन, पकना, अवदारण—उत्पन्न कर देते हैं। पादुका और आभूषणों में अभ्यंग विधि बरते ॥७४॥

विषोपसर्गो बाष्पादिर्भूषणान्तो य ईरितः ॥७५॥
समीक्ष्योपद्रवांस्तस्य विदधीत चिकित्सितम्।
महासुगन्धिमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ॥७६॥
पानालेपननस्येषु विदधीताञ्जनेषु च।
विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात् प्रच्छर्दनानि च ॥७७॥
सिराश्च व्यधयेत् क्षिप्रं प्राप्तं विस्रावणं यदि।
मूषिकाऽजरुहा वाऽपि हस्ते बद्धा तु भूपतेः ॥७८॥
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम्।

बाष्प से आरम्भ करके भूषण पर्यन्त यह जो विष के उपद्रव कहे हैं, इन उपद्रवों को देखकर इनकी चिकित्सा करे। महासुगन्धि अगद जिसे कहूँगा उसे वैद्य पान, आलेपन, नस्य और अंजन आदि में बरते। तीक्ष्ण वमन और विरेचन देवे। यदि योग्य हो तो सिरावेध करके तुरन्त रक्तमोक्षण करे। राजा के हाथ में बांधी मूषिका, अजरुहा औषधि, विषैले सब अन्न को विषरहित बना देती है ॥७५-७८॥

हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः ॥७९॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृताख्यं च बुद्धिमान्।
सर्पिर्दधि पयः क्षौद्रं पिबेद्वा शीतलं जलम् ॥८०॥
मयूरान्नकुलान् गोधाः पृषतान् हरिणानपि।
सततं भक्षयेच्चापि रसांस्तेषां पिबेदपि ॥८१॥

बुद्धिमान् नृपति मित्रों के बीच में बैठा हुआ हृदय की सदा रक्षा करे। अजेय घृत, अमृत घृत को पीये। घी, दधि, दूध, मधु या शीतल जल पीये। मोर, नेवला, गोह, चित्तल हरिण या हिरणों को निरन्तर खाये इनके मांसरसों को पीये[1]।

वक्तव्य—हृदयावरण—"सूक्ष्मताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्। शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्॥ हेमसर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति। हेमपस्य सज्जत्यंगे न हि पद्मेऽम्बुवद् विषम्" ॥७९-८१॥

गोधानकुलमांसेषु हरिणस्य च बुद्धिमान्।
दद्यात् सुपिष्टां पालिन्दीं मधुकं शर्करां तथा ॥८२॥
शर्करातिविषे देये मायूरे समहौषधे।
पार्षते चापि देयाः स्युः पिप्पल्यः समहौषधाः ॥८३॥
सक्षौद्रः सघृतश्चैव शिम्बीयूषो हितः सदा।
विषघ्नादि च सेवेत भक्ष्यभोज्यानि बुद्धिमान् ॥८४॥

गोह, नेवला और हरिण के मांसों में, त्रिवृत्त, मुलैहठी, शर्करा को बारीक पीसकर देवे। मोर के मांस शर्करा, अतीस और सोंठ दे। पृषत (चित्तल) के मांस में पिप्पली और सोंठ देवे। घी और मधु के साथ शिम्बी (सेम की फली) का यूष सदा देना चाहिये। बुद्धिमान् मनुष्य विषघ्न द्रव्यों के साथ भक्ष्य और भोजनों का सेवन करे ॥८२-८४॥

पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसाम्बुभिः।
छर्दयेद्गुप्तहृदयो भक्षितं यदि वै विषम् ॥८५॥

यदि रोगी ने विषपान किया हो तो विषघ्न वस्तुओं से हृदय को ढांपकर, पिप्पली, मुलैहठी, मधु, शर्करा, ईख का रस, जल, इनसे वमन करे ॥८५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽन्नपानरक्षाकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्थावरविषविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—स्थावर विष–जो वृक्ष, लता आदि स्थावरों से प्राप्त होती–उनमें उत्पन्न होती है। जङ्गम विष जो जङ्गमों–सर्प आदि प्राणियों में पाई जाती है, उत्पन्न होती है ॥१,२॥

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥३॥

---

१. 'आदौ हृदयं रक्ष्यं' तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम्। मज्जानं मधुघृतगैरिकमथगोमयरसं वा। इक्षुसुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं बलम्। छागादीनां वाभस्ममृदं वा पिबेदाशु॥ चरक

स्थावर और जंगम भेद से विष दो प्रकार का है। इसमें स्थावर विष के दस आश्रय स्थान हैं, और जंगम के अधिष्ठान सोलह हैं।

वक्तव्य—"कृत्रिम विष भी मानते हैं, यथा—दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे।" संयोगं द्विविधं प्रोक्तं तृतीयं विषमुच्यते। गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्।" निर्विष द्रव्यों से बना गरविष, यथा मधु और घृत समान मात्रा में। सविष द्रव्यों से बना कृत्रिमविष, यथा दालचिकना॥३॥

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः॥४॥

मूल, पत्र, फल, पुष्प, छाल, दूध, सार, गोंद, धातु, और कन्द ये दस स्थावर विष के अधिष्ठान हैं॥४॥

तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादशफलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दननाराचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि, कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्म (भस्म) हरितालं च द्वे धातुविषे, कालकूटवत्सनाभसर्षपपालककर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि, इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति॥५॥

इनमें—क्लीतक, कनेर, गुंजा, सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा, विजया ये आठ मूल विष हैं। विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु, करम्भ और महाकरम्भ ये पांच पत्र विष हैं। कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन, सारपाक ये बारह फलविष हैं। वेत्र, कादम्ब, वल्लीज, करम्भ और महाकरम्भ ये पाँच पुष्प विष हैं। अंत्रपाचक, कर्त्तरी, सौरीयक, करघाट, करम्भ, नन्दन, नाराचक ये सात त्वक्सार और निर्यास विष हैं। कुमुदघ्नी, स्नुही, जालक्षीरी ये तीन क्षीर विष हैं। फेनाश्म (भस्म) और हरताल ये दो धातुविष हैं। कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्ताक, शृंगीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष, कर्कटक ये तेरह कन्द विष हैं। इस प्रकार से पचपन स्थावरविष हैं। (फेनाश्म से कोई संखिया मानते हैं)।

वि० मन्तव्य—इन सब विषों में केवल वत्सनाभ (वच्छनाग), शिङ्गिक (सिंगिया), हरिताल नामक विषों को चिकित्सक समाज जानता है और औषधों में प्रयुक्त करता है। क्लीतक—मुलैठी, विजया—भांग, कनेर, गुञ्जा, स्नुही—सेहुण्ड का दूध भी परिचित पदार्थ हैं। शेष विषों को वनवासी भले ही जानते हों। मुलेठी—वामक है, सेहुण्ड का दूध विरेचक है इस प्रकार ये तत्काल बाहर निकल जाते हैं। भाँग भी वामक है॥

चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते।
षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु॥६॥

अवान्तरभेद—वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो, सर्षप के छै अवान्तर भेद हैं और सब एक एक हैं॥६॥

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च।
जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु॥७॥
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च।
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च॥८॥
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि।
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः॥९॥
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता।
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि॥१०॥
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत्।

मूलविष से ऐंठन, प्रलाप और मूर्च्छा होती है। पत्रविष से जम्भाई, अङ्गों में ऐंठन, श्वास होता है। फलविष से मुष्क में शोफ, दाह और अन्न में द्वेष रहता है। पुष्पविष से वमन, आध्मान और मोह (मूर्च्छा) होती है। त्वक्, सार, निर्यास इन विषों के सेवन से मुख में दुर्गन्धि, कठोरता, शिर में दर्द, कफ का स्राव होता है। दूध विष से झाग आना, अतीसार और जिह्वा में भारीपन होता है। धातुविष से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा तालु में दाह होता है। प्रायः ये विष दिन, पन्द्रह दिन, मास आदि समय में मारते हैं॥७–१०॥

कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम्॥११॥
स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तम्भ एव च।
ग्रीवास्तम्भो वत्सनाभे पीतविण्मूत्रनेत्रता॥१२॥
सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च।
ग्रीवादौर्बल्यवाक्सङ्गौ पालकेऽनुमताविह॥१३॥
प्रसेकः कर्दमाख्येन विड्भेदो नेत्रपीतता।
वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते॥१४॥
गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु।
शृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविवृद्धयः॥१५॥
पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे।
वैवर्ण्यं मूलकैश्छर्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः॥१६॥
चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै।
महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलोद्गमो भृशम्॥१७॥
टेनोत्पतकर्कत्यूर्ध्वं हसन् दन्तान् दशत्यपि।

कन्दविष तीक्ष्ण विष होते हैं उनको विस्तार से कहूँगा, यथा—कालकूट से स्पर्श का अज्ञान, कम्पन और जड़ता होती है। वत्सनाभ से ग्रीवास्तम्भ, मल-मूत्र और आँख में पीलापन, सर्षपविष से वायु की विपरीतता, आनाह और गाठों की उत्पत्ति होती है। पालक से—ग्रीवा की दुर्बलता, वाणी का अवरोध

होता है। कर्दम से–मुख से पानी आना, अतीसार, आँखों में पीलापन होता है। वैराटक से अङ्गों का दुखना और शिरोरोग होता है। मुस्तक से शरीर में स्तम्भ, कम्पन, शृङ्गीविष से—अङ्गों में शिथिलता, दाह, उदर में वृद्धि। पुण्डरीक से आँखों में सुर्खी, उदर में वृद्धि। मूलक से विवर्णता, वमन, हिक्का, शोफ, मूढत्व, हालाहल से–देर में श्वास आता है, मनुष्य का रंग काला पड़ जाता है। महाविष से हृदय में ग्रन्थि और महान् शूल होता है। कर्कटक विष में मनुष्य ऊपर को कूदता है। हंसता हुआ दन्तों को काटता है ॥११-१८॥

कन्दजान्युग्रवीर्याणि प्रत्युक्तानि त्रयोदश ॥१८॥
सर्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः।

उग्रवीर्यवाले तेरह कन्द विष जो कहे हैं, इन सबको निम्न दस गुणों से कुशल मनुष्यों द्वारा पहचानना चाहिये ॥१८॥

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशुव्यवायि च ॥१९॥
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम्।
तद्रौक्ष्यात् कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम्।
मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धान् छिनत्ति च।
शरीरावयवान् सौक्ष्म्यान् प्रविशेद्विकरोति च ॥२१॥
आशुत्वादाशु तद्धन्ति व्यवायात् प्रकृतिं भजेत्।
क्षपयेच्च विकासित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि ॥२२॥
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात्।
दुर्हरं चाविपाकित्वात्तस्मात् क्लेशयते चिरम् ॥२३॥

विष के दस गुण—विष रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु और अपाकी है। रूक्ष होने से विष वायु को, उष्ण होने से रक्त के साथ पित्त को कुपित करता है। तीक्ष्ण होने से बुद्धि को मोहित करता है एवं मर्म बन्धनों को काट देता है। सूक्ष्म होने से शरीरावयवों में प्रवेश करके विकार उत्पन्न करता है। आशु होने से शीघ्र मारता है, व्यवायी होने से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। विकाशी होने से दोष, धातु और मलों को नष्ट करता है। विशद होने से कहीं पर भी चिपकता (रुकता) नहीं। लघु होने से दुश्चिकित्स्य है। अविपाकी होने से कठिनाई से निकाला जाता है, इसलिये देर तक मनुष्य को दुःख होता है।

वक्तव्य—लघुरूक्षमाशुविशदं व्यवायी तीक्ष्णं विकासी सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ विष और मद्य के गुण समान हैं। आगे और गाय के दूध के गुण समान हैं। इसलिये जहाँ विष ओज को नष्ट करता है। वहाँ गाय का दूध ओज का बढ़ाता है, क्योंकि विष और ओज के गुण परस्पर विपरीत हैं। यथा—"गुरुशीतं मृदुश्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ गाय का दूध—स्वादुशीतं मृदुस्निग्धं बहलश्लक्ष्णपिच्छिलम्। गुरुमन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ तदेवं गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्॥ मद्य के गुण—लघूष्ण-तीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवायाशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ इन्त्याशु हि विषं किञ्चिद् किञ्चिद्रोगाय कल्पते। यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो गदः॥ चरक चि० अ० २४ ॥१९-२३॥

स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम्।
सद्यो व्यापादयेत्तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम् ॥२४॥
यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा
देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥२५॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं
विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्
कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥

स्थावर, जंगम या कृत्रिम जो भी विष तुरन्त आदमी को मार देता है, उसको दसगुणोंवाला जानना चाहिये। स्थावर, जंगम, या कृत्रिम जो कि शरीर से सम्पूर्ण रूप में बाहर नहीं निकलता, अपितु पचकर या विषघ्न औषधियों से नष्ट होकर, अथवा दावानल, वायु, धूप से सूख जाने के कारण, या अपने स्वभाव से ही गुणों में कुछ कम गुण का हो जाता है, उस विष की दूषीविष संज्ञा हो जाती है। यह दूषीविष वीर्य (शक्ति) के कम होने से मनुष्य को जान से नहीं मारता, अपितु कफ से आवृत होने से बहुत वर्षों तक बना रहता है। (इसी तरह के विष को slow poison कहते हैं) ॥२४-२६॥

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो
भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ॥२७॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥
स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु
यात्याशु, पूर्वं शृणु तत्र रूपम् ॥२९॥

दूषीविष से पीड़ित मनुष्य को अतीसार रहता है, रंग बदल जाता है। मुख में दुर्गन्धि एवं विरसता, प्यास रहती है। मूर्च्छा होती है, वमन होता है, आवाज अस्पष्ट हो जाती

हैं। उदास रहता है, दूष्योदर के लक्षणों से पीड़ित रहता है। दूषीविष आमाशय में हो तो कफवात के लक्षण रहते हैं, पक्वाशय में होने से वायु-पित्त के लक्षण होते हैं। रोगी के शिर के बाल, शरीर के रोम झड़ जाते हैं, पर कटे हुए पक्षी की भाँति गंजा दीखता है। रसादि धातुओं में स्थित दूषित दूषीविष धातुजन्य रोगों को करता है। शीत, वायु और बादल के आने पर यह कुपित होता है।

वक्तव्य—तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वाद् संक्लेदंगुडवद्गतम्। सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये॥ चरक चि० अ० २३-७-८ ॥२७-२६॥

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च
विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दः।

दूषीविष के पूर्वरूप-निद्रा आना, भारीपन, जम्भाई, सन्धियों, का ढीलापन, रोमांचता, अंगों का टूटना होता है॥

ततः करोत्यन्नमदाविपाका-
वरोचकं मण्डलकोठमोहान्॥३०॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं
दकोदरं छर्दिमथातिसारम्।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा
कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा॥३१॥
उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान्॥३२॥

इसके आगे अन्न के कारण मद (हर्षक्षय या घेन आना), अविपाक, अरोचक, चकत्ते और कोठों की उत्पत्ति, धातुक्षय, हाथ, पैर, मुख में शोथ, उदर में जलवृद्धि, वमन, अतीसार, विवर्णता, मूर्च्छा, विषमज्वर, बढ़ी हुई प्रबल प्यास उत्पन्न करता है। कोई विष उन्माद, कोई आनाह, कोई शुक्रनाश, कोई विष भर्राई हुई आवाज, कोई कुष्ठ इस प्रकार विष बहुत से–नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं॥३०-३२॥

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।
यस्माद्दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम्॥३३॥

यह विष देश (आनूप), काल (शीतल-बादली आना), अन्न (सुरा, तिल आदि), दिन में सोने से बार-बार धातुओं को दूषित करता है, इसलिये इस विष को दूषीविष कहते हैं। (व्यायाम, मैथुन, क्रोध आदि भी इसको बढ़ाते हैं, उनका अन्न में समावेश करना चाहिये)॥३३॥

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम्।
श्यावा जिह्वा भवेत्स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते॥
द्वितीये वेपथुः सादो दाहः कण्ठरुजस्तथा।
विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम्॥३५॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्।
दुर्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्यलोचने॥३६॥
पक्वामाशययोस्तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम्।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम्॥३७॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना॥३८॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं चाप्यतिसार्यते।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे॥३९॥

स्थावर विष के खाने पर इसके प्रथम वेग में मनुष्यों की जीभ श्याववर्ण, जड़ हो जाती है, रोगी को मूर्च्छा और श्वास होता है। दूसरे वेग में कम्पन, शिथिलता, दाह, गले में दर्द होता है। आमाशय में पहुँचने पर विष हृदय में वेदना करता है। तीसरे वेग में तालुशोष, आमाशय में तीव्रशूल, एवं आँखें बुरे वर्ण की हरी, सूजी हो जाती हैं। चौथे वेग में पक्वाशय और आमाशय में तोद, हिचकी, कास, आँतों में गड़गड़ाहट, और शिर में भारीपन होता है। पाँचवें वेग में कफ का स्राव, विवर्णता, पर्वों का टूटना, सब दोषों का प्रकोप और पक्वाशय में वेदना होती है। छठे वेग में बुद्धि और प्राणों का नाश, और अतिशय अतिसार होता है। सातवें वेग में स्कन्ध, पीठ और कटि टूट जाते हैं और श्वास रुक जाता है (मर जाता है)।

वि० सन्तव्य—विष की लहर का नाम वेग है। भाँग पीने पर भी वेग का कुछ २ अनुभव होता है॥३४–३९॥

प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेचितम्।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां पाययेत समायुतम्॥४०॥
द्वितीये पूर्ववद्वान्तं पाययेत्तु विरेचनम्।
तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथाऽञ्जनम्॥४१॥
चतुर्थे स्नेहसंमिश्रं पाययेतागदं भिषक्।
पञ्चमे क्षौद्रमधुकक्वाथयुक्तं प्रदापयेत्॥४२॥
षष्ठेऽतीसारवत् सिद्धिरवपीडश्च सप्तमे।
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्॥४३॥

चिकित्सा–विष के प्रथमवेग में रोगी को वमन कराके शीतल जल से परिषेक कराये। मधु और घी से भली प्रकार मिलाकर अगद पिलाये। विष के दूसरे वेग में पूर्व की भाँति वमन करके तीव्र विरेचन देवे। तीसरे वेग में अगद पिलाना, नस्य और अंजन दे। चौथे वेग में वैद्य स्नेह से मिला अगद पिलाये। पाँचवें वेग में मधु एवं मुलेहठी के क्वाथ में मिला अगद देवे। छठे में अतिसार की भाँति चिकित्सा करे और अवपीडन नस्य देवे। सातवें वेग में सिर पर काकपद के आकार का पच्छ लगा रक्त मिश्रित मांस रख देवे। अवपीडन भी देवे।

वि० मन्तव्य—अगद-विषतन्त्र में अथवा विषनाशक औषध का नाम "अगद" है जैसे दूषीविषारि अगद ॥४०-४३॥

वेगान्तरे त्वन्यतमे कृते कर्मणि शीतलाम् ।
यवागूं सघृतक्षौद्रामिमां दद्याद्विषापहाम् ॥४४॥
कोषातक्योऽग्निकः पाठासूर्यवल्ल्यमृताभयाः ।
शिरीषः किणिही शेलुर्गिर्याह्वा रजनीद्वयम् ॥४५॥
पुनर्नवे हरेणुश्च त्रिकटुः सारिवे बला ।
एषां यवागूर्निष्क्वाथे कृता हन्ति विषद्वयम् ॥४६॥

प्रथम वेग से लेकर अगले वेगों में किये जानेवाले कर्मों में शीतल उपचार, विषनाशक, घी और मधुमिश्रित निम्न-यवागू रोगी को देवे। यवागू—कडुई तुरई, चित्रक, पाठा, सूर्यवल्ली, गिलोय, हरड़, शिरीष, चिरचिटा, लसूड़ा, कोयल, हल्दी, दारुहल्दी, पुनर्नवा, लालपुनर्नवा, हरेणु, त्रिकटु, सारिवा, काली सारिवा, और बला इनके क्वाथ में बनाई यवागू स्थावर, जंगम दोनों विषों को नष्ट करती है ॥४४-४६॥

मधुकं तगरं कुष्ठं भद्रदारु हरेणवः ।
पुन्नागैलैलवालूनि नागपुष्पोत्पलं सिता ॥४७॥
विडङ्गं चन्दनं पत्रं प्रियङ्गुर्ध्यामकं तथा ।
हरिद्रे द्वे बृहत्यौ च सारिवे च स्थिरा सहा ॥४८॥
कल्कैरेषां घृतं सिद्धमजेयमिति विश्रुतम् ।
विषाणि हन्ति सर्वाणि शीघ्रमेवाजितं क्वचित् ॥४९॥

अजेय घृत—मुलेहठी, तगर, कूठ, देवदारु, हरेणु, नागकेसर, इलायची, एलवालुक, लाल नागकेसर, कमल, सिता (श्वेतवच या शर्करा), वायविडंग, चन्दन, तेजपत्र, प्रियंगु, कत्तृण, हल्दी, दारुहल्दी, कटेरी, बड़ीकटेरी, सारिवा, काली-सारिवा, शालपर्णी, मुद्गपर्णी, इनके कल्क से सिद्ध किया घृत अजेय (कभी भी जीता नहीं गया) नाम से प्रसिद्ध है। यह घृत सब विषों को शीघ्र नष्ट करता है, कहीं भी विष द्वारा जीता नहीं गया है ॥४७—४९॥

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वं चाधश्च शोधितम् ।
पाययेतागदं नित्यमिमं दूषीविषापहम् ॥५०॥
पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी शावरः परिपेलवम् ।
सुवर्चिका ससूक्ष्मैला तोयं कनकगैरिकम् ॥५१॥
क्षौद्रयुक्तोऽगदो ह्येष दूषीविषमपोहति ।
नाम्ना दूषीविषारिस्तु न चान्यत्रापि वार्यते ॥५२॥

दूषी विष के रोगी को भली प्रकार स्वेदन देकर वमन विरेचन से शोधन दे। उसे नित्य दूषीविष नाशक निम्न अगद को पिलाये। दूषीविषारि अगद—पिप्पली, कत्तृण, जटामांसी, शावर, लोध, केवड़ीमोथा, सुवर्चिका (हुलहुल), छोटी इलायची, स्वर्णगैरिक, इनको मधु में मिलाकर देवे। दूषीविषारि नाम का यह अगद दूषीविष को नष्ट करता है, और अन्य विषों में भी बरता जा सकता है ॥५०—५२॥

ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये ।
शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि च ॥५३॥
उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः ।
यथास्वं तेषु कुर्वीत विषघ्नैरौषधैः क्रियाम् ॥५४॥

उपद्रवचिकित्सा—ज्वर, दाह, हिक्का, आनाह, शुक्रक्षय, शोफ, अतीसार, मूर्च्छा, हृदयरोग, उन्माद, कम्पन और, जो दूसरे उपद्रव हों, उनमें उनकी अपनी चिकित्सा विषघ्न औषधियों से बरते ॥५३,५४॥

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥५५॥

संयमी पुरुष में तुरन्त का विष साध्य है। एक वर्ष का पुराना विष याप्य है। क्षीण हुए एवं अहित सेवी पुरुष में दूषीविष असाध्य होता है ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने स्थावरविषविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

—०—

तृतीयोऽध्यायः

अथातो जङ्गमविषविज्ञानीय कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे जंगमविषविज्ञानीयकल्प का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में जंगम विषों का वर्णन किया गया है परन्तु श्लो० ६ से लेकर आगे जो तृण आदि के दूषित करने का वर्णन है वह स्थावर विषों द्वारा भी किया जाता है ॥१,२॥

जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश ।
समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥३॥

तत्र, दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशर्धिततुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति ॥४॥

जंगम विष के सोलह स्थान जो संक्षेप में कहे थे, उनको अब यहाँ विस्तार से कहेंगे। उनमें—दृष्टि, निःश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्त्तव, मुख, सन्दंश, विशर्धित, तुण्ड, अस्थि, पित्त, शूक, शव ये सोलह स्थान हैं। (विशर्धित-गुदा से किया कुत्सित शब्द)। वृद्धवाग्भट्ट में—"दृष्टिनिश्वासस्पर्शदंष्ट्रामुखनखास्थिमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तवलालाशूकपित्तशोणित–शवानि" ॥४॥

तत्र, दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः भौमास्तु दंष्ट्राविषा मार्जारश्ववानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकपचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः, चिपिटपिच्चटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः लूता लालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तवविषाः वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिका-

श्चाल (र) विषाः, चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्धितमूत्रपुरीषविषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः, विषहृतास्थिसर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि, शकुलीमत्स्य रक्तराजिवरकी (टी) मत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवलभिकाशृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः; कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः, शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः ॥५॥

इनमें दृष्टि, निश्वास में विषवाले दिव्य सर्प हैं। भूमि के सांप दंष्ट्राविषवाले हैं। बिल्ली, कुत्ता, बन्दर, मकर, मण्डूक, पाकमत्स्य, गोह, शम्बूक, प्रचालक, गृहगोधिका (छिपकली), पशु, कीड़े, तथा दूसरे दंष्ट्रा एवं नख विषवाले हैं। चिपट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्च, कीट, कौण्डिन्यक, ये इनके मल मूत्र में हैं। चूहों के शुक्र में विष है। लूता (मकड़ी) के लाला, मूत्र, मल, मुख, संदेश, नख शुक्र और आर्त्तव में विष है। बिच्छू, विश्वम्भर, वरटी, राजीवमत्स्य, उच्चिटिंग (विषकपरा), समुद्रवृश्चिक, इनके आर (पूंछ में स्थित कांटा) में विष है। चित्रशिर, सराव, कुदर्शित, दारुकारि, मेदक, सारिमुखा इनके मुखसन्दंश, विशर्धित, मूत्र और मल में विष है। मक्खी, कणभ और जोंक इनके मुख सन्दंश में विष है। विष से मरे की अस्थि, सांप का कण्टक (दांत), वरटी, मछली की अस्थि, ये अस्थि विष हैं। शकुलीमत्स्य, रक्तराजी, वरटी, मत्स्य ये पित्तविषवाले हैं। सूक्ष्मतुण्ड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी (कानखजूरा), शूक, बलभीका, शृंगी, भ्रमर इनके शूक और तुण्ड में विष है। कीड़े और सांप इनके मृत देह शव विष हैं। शेष जो नहीं कहे उनको मुख सन्दंश विष में गिनना चाहिये।

वक्तव्य—चूहे के काटने से भी विष होता है, इसी को आजकल (Rat Bite Fever) के नाम से कहते हैं। और-बैल आदि को मारने के लिये बाँस की पतली लकड़ी (पैनी) के अगले भाग में आधा इंच लम्बी लगाई पतली-तेज कील होती है। इसे बैल में चुभोते हैं। इसकी भाँति होने से बिच्छू के दंश को 'आर' शब्द से कहा है। वृद्धवाग्भट्ट ने तुण्ड विशर्धित के स्थान पर स्पर्श और रक्त पढ़ा है ॥५॥

भवन्ति चात्र—

राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बु-
मार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
संदूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान्
विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान् ॥६॥

इसमें श्लोक भी हैं—शत्रु देश में प्रविष्ट राजा के तृण (पशुओं के घास, भूसा आदि), जल, रास्ते, अन्न, वायु को शत्रु विष से दूषित कर देते हैं। शत्रुओं से अति दूषित किये इनको निम्न लक्षणों से जान कर इनका शोधन करे ॥६॥

दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि
फेनान्वितं राजिभिरावृतं च।
मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा
मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति ॥७॥
मज्जन्ति ये चात्र नराश्वनागा-
स्ते छर्दिमोहज्वरदाहशोफान्।
ऋ (ग) च्छन्ति तेषामपहृत्य दोषान्
दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत ॥८॥

विष से दूषित जल—पिच्छिल, तेजगन्धवाला, झागदार और रेखाओं से युक्त होता है। मेढक, मछली, मर जाते हैं। पक्षी और कछुए आदि किनारे पर रहनेवाले पागल हो जाते हैं। इस जल में मनुष्य, घोड़े, हाथी, जो भी स्नान करते हैं, उनको वमन, मोह, ज्वर, दाह और शोफ होता है। उनके दोषों को दूर करके, दूषित जल को, शुद्ध करने का यत्न करे॥ इसके लिये—

धवाश्वकर्णासनपारिभद्रान्
सपाटलान् सिद्धकमोक्षकौ च।
दग्धा सराजद्रुमसोमवल्कां-
स्तद्भस्म शीतं वितरेत् सरःसु ॥९॥
भस्माञ्जलिं चापि घटे निधाय
विशोधयेदीप्सितमेवमम्भः।

धावड़ी, अश्वकर्ण, असन (विजयसार), पारिभद्र (फरहद), पाटल, सिद्धक, (निर्गुण्डी या सिम्बल), मोक्षक (मोखा), अमलतास, सोमवल्क (विटखदिर की छाल) इनको जलाकर इनकी ठण्डी भस्म को जल में छिड़क देवे। इस राख की अंजली घड़े में डालकर इच्छित पीने के पानी का शोधन करे[1]।

वि० मन्तव्य—जल की शुद्धि के लिये जो भस्म का प्रयोग बतलाया है वह क्षार का प्रयोग है। आजकल जो पुटास परमेङ्नेट का प्रयोग होता है उसका यही बीज है। उक्त लालद्रव्य भी क्षार ही है। जिन कूपों का जल विकृत हो जाता है इनमें उक्त भस्म डालने पर वही लाभ होता है जो पुटास परमेङ्नेट डालने पर होता है ॥९॥

क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु
शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा ॥१०॥
स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन
गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा।

१ मेरे मित्र श्री निरंजन गलियारा ने बतलाया है कि बर्मा में इन्सीन, तभाई की तरफ बर्मी लोग तालावों में एक लकड़ी का चूर्ण पानी पर छिड़क देते हैं। सबेरे मछलियां मरी हुई पानी के ऊपर उनको मिल जाती हैं।

तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च
विशीर्यते रोमनखं तथैव ॥११॥
तत्राप्यनन्तां सह सर्वगन्धैः
पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य मार्गम् ।
सिञ्चेत् पयोभिः सुमृदन्वितैस्तं
विडङ्गपाठाकटभीजलैर्वा ॥१२॥

विष से दूषित भूमि प्रदेश का, शिलापृष्ठ को, तीर्थ (घाट आदि) को, ईरिण (ऊपर भूमि मैदान) को गाय-बैल, घोड़े हाथी, ऊँट, गधे, और मनुष्य शरीरके जिस जिस अंग से छूते हैं, वह अंग सूज जाता है, वहाँ पर जलन होती है, रोम और नख गिर जाते हैं। इसके लिये अनन्ता (सारिवा) को एलादि-गण के साथ सुरा में पीसकर दूध एवं काली मिट्टी या वल्मीक मृत्तिका मिलाकर इससे छिड़काव करे। अथवा वायविडंग, पाठा, कटभी (अपराजिता) इनके कषाय से परिषेक करे ॥

तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु
सीदन्ति मूर्च्छन्ति वमन्ति चान्ये ।
विड्भेदमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते
तेषां चिकित्सां प्रणयेद्यथोक्ताम् ॥१३॥
विषापहैर्वाऽप्यगदैर्विलिप्य
वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत ।
तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः
सर्वैश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः ॥१४॥
पित्तेन युक्तः कपिलान्वयेन
वाद्यप्रलेपो विहितः प्रशस्तः ।
वाद्यस्य शब्देन हि यान्ति नाशं
विषाणि घोराण्यपि यानि सन्ति ॥१५॥

घास-भूसा आदि एवं भोजन-गेहूँ आदि के विष से दूषित हो जाने पर जो इनका उपयोग करते हैं वे शिथिल हो जाते हैं, मूर्च्छित होते हैं, कइयों को वमन होती है, किसी को अति-सार होता है, और कोई मर भी जाते हैं। उनमें निम्न चिकित्सा करे। विषनाशक या अन्य अगदों से नाना प्रकार के वाद्यों पर लेप करके इनको बजाये। चाँदी, पारा, सुवर्ण, सारिवा, इन सब के बराबर कुरुविन्द (रत्न या शाण का पत्थर, डल्हण के मत से मुस्ता भी), इनको कपिलवर्ण की गाय के पित्त के साथ मिलाकर बाजों पर लेप करना उत्तम है। क्योंकि वाद्य के शब्द से घोर विष भी नष्ट हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—वाद्य-ढोल आदि-शब्द या ध्वनि से वाता-वरण फट जाता है फलतः जहाँ तक शब्द जाता है वहाँ तक विषनाशक औषध की धूलि पहुँच जाती है और विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है ॥१३-१५॥

धूमेऽनिले वा विषसंप्रयुक्ते
खगाः श्रमार्ताः प्रपतन्ति भूमौ ।
कासप्रतिश्यायशिरोरुजश्च
भवन्ति तीव्रा नयनामयाश्च ॥१६॥
लाक्षाहरिद्रातिविषाभयाब्द-
हरेणुकैलादलवक्रकुष्ठम् ।
प्रियङ्गुकां चाप्यनले निधाय
धूमानिलौ चापि विशोधयेत ॥१७॥

धूम या वायु के विष से युक्त होने पर पक्षी-श्रम से थककर भूमि पर गिर जाते हैं। कास, श्वास, प्रतिश्याय, शिरोरोग, और आंख के रोग हो जाते हैं। इसमें लाख, हल्दी, अतीस, हरड़, मोथा, हरेणु, इलायची, तमालपत्र, तगर, कूठ, प्रियंगु इनको अग्नि में डालकर इनसे धूम और वायु का शोधन करे[1]।

वि० मन्तव्य—विषैला धूम (गैस) तथा वायु जहाँ फैल जाता है अथवा फैला दिया जाता है। जैसे—प्रथम महासमर (सन् १९१४-१८) में गैसों का प्रयोग किया गया था और उसके द्वारा "इन्फ्लुएञ्जा" नामक ज्वर जनपदोद्ध्वंस-मरक महामारी के रूप में फैला था। इस ज्वर के भी प्रधान लक्षण कास, प्रतिश्याय एवं शिरोवेदना ही थे ॥१६,१७॥

प्रजामिमामात्मयोनेर्ब्रह्मणः सृजतः किल ।
अकरोदसुरो विघ्नं कैटभो नाम दर्पितः ॥१८॥
तस्य क्रुद्धस्य वै वक्त्राद्ब्रह्मणस्तेजसो निधेः ।
क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निपपातातिदारुणः ॥१९॥
स तं ददाह गर्जन्तमन्तकाभं महाबलम् ।
ततोऽसुरं घातयित्वा तत्तेजोऽवर्धताद्भुतम् ॥२०॥
ततो विषादो देवानामभवत्तं निरीक्ष्य वै ।
विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते ॥२१॥
ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं क्रोधमीश्वरः ।
विन्यस्तवान् स भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥२२॥

स्वयम्भू ब्रह्मा के इस सृष्टि को बनाते समय कैटभ नाम के राक्षस ने अभिमान में आकर विघ्न उपस्थित किया। उस समय तेजः पुञ्ज ब्रह्मा के क्रुद्ध होने से उनके मुख से क्रोध शरीर-रूप धारण करके अतिदारुण रूप से गिरा। इस क्रोधरूपी पुरुष ने उस यम के समान महाबलवान्, एवं गरजते हुए राक्षस को मार डाला। उस राक्षस को मारकर यह तेज विचित्ररूप में बढ़ने लगा। इसको देखकर देवताओं को बहुत विषाद (दुःख) हुआ। विषाद उत्पन्न करने के कारण इसको विष कहते हैं। फिर शेष प्रजाओं को बनाकर ब्रह्मा ने उस क्रोध को स्थावर और जंगम भूतों में रख दिया।

---

१ विगत यूरोपिय महायुद्ध में सिपाहियों के टोप पर एवं बटनों पर ऐसे पदार्थ लगा दिये जाते थे कि जिनका रंग विषैले गैस से बदल जाता था। रंग बदलता देखकर सिपाही तुरन्त वायु से बचने का रक्षायंत्र (मस्क) बरतता था।

जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ।
जंगमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत् ॥ चरक ।

वि० मन्तव्य—यह विष की प्राथमिक उत्पत्ति का प्रकार है और यह अगद तन्त्र-विषशास्त्रवालों का कथन है या विचार है या अनुमान है। जैसे मानव की सृष्टि के विषय में मानव शास्त्र का ॥१८-२२॥

यथाऽव्यक्तरसं तोयमन्तरीक्षान्महीगतम् ।
तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं नियच्छति ॥२३॥
एवमेव विषं यद्यद्द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते ।
स्वभावादेव तं तस्य रसं समनुवर्तते ॥२४॥

जिस प्रकार अव्यक्तरसवाला जल आकाश से बरसकर भूमि पर गिरकर उन उन प्रदेशों के रसों को ले लेता है, इसी प्रकार विष भी जिस द्रव्य का आश्रय लेता है, प्रकृति से वह उसी द्रव्य के रसवाला बन जाता है। (वैसे विष अव्यक्त रस है) ॥२३,२४॥

विषे यस्माद्गुणाः सर्वे तीक्ष्णा प्रायेण सन्ति हि ।
विषं सर्वमतो ज्ञेयं सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२५॥
ते तु वृत्तिं प्रकुपिता जहति स्वां विषार्दिताः ।
नोपयाति विषं पाकमतः प्राणान् रुणद्धि च ॥२६॥
श्लेष्मणाऽवृतमार्गत्वादुच्छ्वासोऽस्य निरुध्यते ।
विसंज्ञः सति जीवेऽपि तस्मात्तिष्ठति मानवः ॥२७॥

क्योंकि विष में प्रायः सब गुण तीक्ष्ण रूप में रहते हैं इसलिये विष को सब दोषों का प्रकोपक जानना चाहिये। ये वातादि दोष प्रकुपित होकर विष से पीड़ित होने के कारण अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं। इसलिये विष का पाचन नहीं होता, और प्राणों का घातक बन जाता है कफ से मार्ग के आवृत्त होने के कारण इसका उच्छ्वास रुक जाता है। इसलिये जीते हुए भी मनुष्य संज्ञारहित बना रहता है।

वि० मन्तव्य—यद्यपि रूक्ष एवं उष्ण आदि गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, परन्तु विष द्रव्य में तीव्र होते हैं, इसीलिये यह द्रव्य "विष" कहलाता है। वृत्ति—वायु—प्रस्पन्दन आदि को, पित्त-पाचन एवं रसरञ्जन आदि को और कफ सन्धिश्लेष कर्म को। विष अपाकी-न पचनेवाला होता है (क० अ० २-श्लो० २०) अतः प्राण की गति को रोक देता है, कफ द्वारा प्राण के मार्ग रुक जाने से श्वास प्रश्वास की क्रिया रुक जाती है—रुक-रुक कर बहुत ही सूक्ष्म होकर चलती है। तात्पर्य यह है कि विषपीड़ित के श्वास की गति को रुकी देखकर ही उसे मृत नहीं समझ लेना चाहिये अपितु—इसी अध्याय के श्लो० ४०-४४ के अनुसार यदि लक्षण देखे जायँ तब "मृत" समझना चाहिये अन्यथा विष नाशक उपचार तत्परता के साथ करते रहना चाहिये ॥२५-२७॥

शुक्रवत् सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम् ।
क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव ॥२८॥
तेषां बडिशवद्दंष्ट्रास्तासु सज्जति चागतम् ।
अनुद्वृत्ता विषं तस्मान्न मुञ्चन्ति च भोगिनः ॥२९॥

सब साँपों में विष शुक्र की भाँति सारे शरीर में फैला रहता है। जिस प्रकार विषय की इच्छा से अंगों के मथने पर शुक्र बाहर आता है, इसी प्रकार क्रुद्ध होने पर विष सम्पूर्ण अंगों से बाहर आता है। यह आया हुआ विष उनकी बडिश (मछली पकड़ने का काँटा) के समान दंष्ट्रा में (थैली में) रुक जाता है। इसलिये बिना चाह के साँप विष को नहीं छोड़ते, (इच्छा करने पर ही साँप जहर निकालता है)।

चरक—सर्पदंष्ट्रा चतस्रस्तु तासां वामाधराः सिराः। पीतावामोत्तरादंष्ट्रा रक्तश्यावाधरोत्तरा ॥ यन्मात्रः पतते बिन्दुः गोवालात्सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहः विषम्।

वि० मन्तव्य—सर्प का मांस खाया भी जाता है। सुना है चीन जापान आदि देशों में यह मछली के समान प्रयुक्त होता है और च० चि० अ० ८ में वर्मिशब्देन च उरगान् ॥५१॥ सर्प का मांस खाने का विधान भी है। प्रतीत होता है, कि जैसे शरीर में व्याप्त शुक्र धातु शुक्र के रूप में नहीं पाया जाता वैसे ही विष भी सर्प के शरीर में व्याप्त विषरूप में नहीं पाया जाता वह उनके दंश में आकर ही विषरूप धारण करता है। यह भी सुना जाता है, कि सर्प का शिर काटकर शेष शरीर का मांस निर्विष होने के कारण खा लिया जाता है। अनुद्वृत्ता-अननुयोजिताः अनुच्छलिता इति यावत्, कर्षणकृत परावृत्त्या हि दंष्ट्राणां अधोमुखता इति (डल्लन टीका)। अर्थात् सर्प काटकर दंष्ट्रा फँसे दन्तों को निकालने के लिये उछलकर एकबार उलटा होता है, उलटा होते ही दन्तों का मुख नीचे की ओर हो जाता है फलतः क्षत में विष चू जाता है। कभी-कभी काटने पर विष का प्रभाव नहीं होता क्योंकि सर्प उलटे बिना ही दन्त निकालकर भाग जाता है। यह सब सर्प विशेषज्ञ सपेरों से सुना है ॥२८,२९॥

यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम् ।
अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥३०॥
मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम् ।
अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥३१॥
कीटदंष्ट्रानुग्रविषैः सर्पवत् समुपाचरेत् ।

चूँकि विष अतिशय उष्ण, और तीक्ष्ण कहा है, इसलिये सब विषोंमें शीतल परिषेक करना चाहिये। कीटों का विष मन्द, न बहुत उष्ण और न बहुत वातकफवाला होता है इसलिये कीटों के विष में स्वेद निषिद्ध नहीं हैं। उग्रविषवाले कीटों के दंश की चिकित्सा सर्पों की भाँति करे ॥३०,३१॥

स्वभावादेव तिष्ठेत्तु प्रहारादंशयोर्विषम् ॥३२॥
व्याप्य सावयवं देहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः ।
लौल्याद्विषान्वितं मांसं यः खादेन्मृतमात्रयोः ॥३३॥
यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेऽपि वा ।
अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्यं मृतमात्रयोः ॥३४॥
मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जितम् ।

स्वभाव से ही विष दंश किये स्थान पर रहता है। विषैले शस्त्र से मारे, और सांप के काटने पर विष अङ्ग समेत सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। मरे हुए प्राणी का विषयुक्त मांस लोभ के कारण जो कोई खाता है, वह प्राणी विष के अनुसार रोग से पीड़ित होता है या मर जाता है। इसलिये विषैले बाण से मरे या सांप के काटने से मरे हुए प्राणी का मांस नहीं खाना चाहिये। यदि खाना ही हो तो प्रहार और दंश के स्थान को छोड़कर तुरन्त एक मुहूर्त्त के अन्दर ले लेना चाहिये ॥

सवातं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ॥३५॥
आध्मातोऽत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः ।
उद्वमत्यथ फेनं च विषपीतं तमादिशेत् ॥३६॥
न चास्य हृदयं वह्निर्विषजुष्टं दहत्यपि ।
तद्धि स्थानं चेतनायाः स्वभावाद्व्याप्य तिष्ठति॥३७॥

वायु के साथ घर के धुंवासे के समान रंग का काला मल जिसे आता हो, आध्मान हो, आंसुओं का जल बहुत गरम हों, विवर्ण हो, शिथिलता आ गई हो, वमन आती हो, झाग आती हो, उस रोगी को विष पान किया समझे। इस रोगी के विष से युक्त हृदय को आग में न जलाये। क्योंकि हृदय चेतना का स्थान है, विष स्वभाव से ही उसमें व्याप्त करके रहता है। (पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति, दष्टविद्धयोः दंशदेशे स्यात्—चरक) ॥३५-३७॥

अश्वत्थदेवायतनश्मशान-
वल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया
ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः ॥३८॥

पीपल, मन्दिर, श्मशान, वल्मीक, सन्ध्याकाल, चौराह, भरणी नक्षत्र में, मघा नक्षत्र में और मर्म स्थानों पर काटे हुए मनुष्यों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, ये असाध्य हैं ॥३८॥

दर्वीकराणां विषमाशुघाति
सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।
अजीर्णपित्तातपपीडितेषु
बालप्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु ॥३९॥
वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु
रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु ।

दर्वीकर सांपों का विष शीघ्र मारक होता है। सभी विष उष्णकाल में दुगुने बढ़ते हैं। अजीर्णरोगी, पित्तरोगी, धूप से पीड़ित, बालक, प्रमेहरोगी, गर्भवती, वृद्ध, रोगी, क्षीण, भूखे, रूक्ष प्रकृति, और भीरुओं में एवं बादलों के आने पर सब विषों का जोर बढ़ता है ॥३९॥

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति
राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥४०॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।
जिह्वा सिता यस्य च केशशातो
नासावभङ्गश्च सकण्ठभङ्गः ॥४१॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे
हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्रा-
द्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥४२॥
दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य
तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु ।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा
हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥४३॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च
जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात् ॥४४॥

असाध्य—शस्त्र से काटने पर जिसका रक्त नहीं निकलता, लता (वेत) आदि से मारने पर जिसके शरीर पर रेखायें नहीं उठती, शीतल जल से जिसको रोमांच नहीं होता, विष से पीड़ित उस मनुष्य को छोड़ देना चाहिये। जिसकी जीभ श्वेत हो गई हो, बाल झड़ने लगे, नासा बैठ गई हो, आवाज रुक गई हो, रक्त काला हो, दंश में लाल शोथ हो, जबाड़ी स्थिर हो गई हो (बन्द रहे, खुले नहीं), वह भी असाध्य है। मुख से जमा हुआ घट्ट कफ निकले, मुख, नाक, गुद, मूत्रमार्ग से रक्त जाता हो दंशस्थान पर सब दांतों का पूरा पूरा निशान हो, उसको भी वैद्य छोड़ देवे। जो रोगी पागल हो, अति उपद्रवों से पीड़ित हो, स्वर कमजोर हो गया हो अथवा रोगी के शरीर का रंग बदल गया हो, मृत्यु के लक्षण निश्चित रूप में आ गये हों, जिसमें लहर न आये, वह रोगी मरेगा ही, उसकी चिकित्सा न करे ॥४०-४४॥

वक्तव्य—नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभंगविच्चेपाः। शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात् ॥ क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिंगानि ॥ च० चि० अ० २३-३३-३४।

मनुष्य के शरीर में मरने पर जो परिवर्त्तन होते हैं, यथा, राई गर मोरटिस, सिराओं का संकोच, रक्त संचार का बन्द होना उसके कारण, ही वेंत आदि से मारने पर रेखायें नहीं उठतीं, जलाने पर छाला नहीं होता, छाले में पानी नहीं होता।

ये पहिचानें—निश्चित मृत्यु का चिह्न हैं। विस्तार न्यायवैद्यक-विषतंत्र में देखिये ॥४०-४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने जङ्गमविषविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः सर्पदष्टविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्पदष्टविज्ञानीयकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

धन्वन्तरिं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥३॥

महाबुद्धिमान्, सब शास्त्रों में निपुण धन्वन्तरि भगवान् के पैरों को स्पर्श करके सुश्रुत ने पूछा ॥३॥

सर्पसंख्यां विभागं च दष्टलक्षणमेव च ।
ज्ञानं च विषवेगानां भगवन् ! वक्तुमर्हसि ॥४॥

हे भगवन् ! सर्पों की संख्या उनके भेद, उनके काटने के लक्षणों को विष के वेगों का ज्ञान आप के कहने योग्य है, इसलिये कहें ॥४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः ।
असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः ॥५॥
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः ।
ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च ॥६॥
ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही ।
क्रुद्धा निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ॥७॥
नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया ।
ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान् ॥८॥
तेषां सङ्ख्यां प्रवक्ष्यामि तथावदनुपूर्वशः ।

सुश्रुत के इन वचनों को सुनकर वैद्यों में श्रेष्ठ धन्वन्तरि ने कहा। वासुकि जिन में श्रेष्ठ है, ऐसे तक्षकादि सांप असंख्य हैं। ये पृथ्वी को धारण करनेवाले, नागेन्द्र, होमाग्नि के समान तेजस्वी हैं। और जो निरन्तर गरजते हैं, बरसते हैं, तपते हैं, समुद्र, पर्वत, द्वीप समेत पृथ्वी जिनसे धारण की हुई हैं, जो क्रुद्ध होकर निःश्वास—दृष्टि मात्र से सम्पूर्ण जगत् को नष्ट कर सकते हैं, उनके लिये नमस्कार है, उनसे चिकित्सा में कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि दंष्ट्रा विषवाले पृथ्वी के सांप हैं, जो मनुष्यों को काटते हैं, उनकी संख्या को ठीक प्रकार क्रम से कहता हूँ[1] ।

वि० मन्तव्य—हमारा अनुमान ही नहीं, विश्वास है कि भूतकाल में अन्य शास्त्रों, दर्शनों या बादों के समान सर्पशास्त्र भी रहा होगा जिसमें यह प्रतिपादित या सिद्ध किया गया होगा कि सर्प ही सब कुछ हैं यथा ईश्वरवाद में ईश्वर, शक्तिवाद में शक्ति, सौरसम्प्रदाय में सूर्य, गणपति संप्रदाय में गणेश ही सब कुछ माना जाता है। आज भी सर्प सम्प्रदाय के जन पाये जाते हैं जिनको "सपेरा" कहते हैं और सर्प को देव मानकर पूजा भी होती है, उसे मारना भी उचित नहीं समझा जाता, यत्र तत्र उसके मन्दिर भी हैं, उत्तर प्रदेश में नागपञ्चमी तथा पञ्जाब में भाद्रपद कृष्ण ८ तथा शुक्ला नवमी को पूजा होती है और कश्मीर में अमरनाथ की यात्रा में जो छड़ी चलती है वह सर्प पूजा का ही प्रकार है। और पुराणों में जिस शेष नाग का वर्णन है वह भी सर्प ही है, वह इतना विराट्-ब्रह्म-बृहत्-बड़ा है कि विष्णु भगवान् भी उसी पर शयन करते हैं और इतना बड़ा भूमण्डल भी उसके सहस्र संख्यक फणाओं में एक फण पर धूलिकण के समान अत्यन्त सूक्ष्म कण है। अन्य न जाने कितने कण हैं आदि आदि। यही सब "ससागर........जगत्" कहकर भगवान् धन्वन्तरि ने उन सर्पों को प्रणाम किया है। तात्पर्य यह है कि सर्पवादियों का ईश्वर सर्प ही है। सर्पों को देवयोनि का प्राणी भी माना है यही कारण है कि सर्प, सर्पिणी, नपुंसक सर्प, गर्भिणी तथा सूतिका सर्पिणी आदि के लक्षण दष्ट प्राणी में उत्पन्न हो जाते है देखिये इसी अध्याय का सूत्र ३८ ॥५-८॥

अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा ॥९॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ।
निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः ॥१०॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ।
तेषु दर्वीकरा ज्ञया विंशतिः षट् च पन्नगाः॥११॥
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश ।
निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा ॥१२॥
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः ।

ऐसे सांप अस्सी हैं। इनका भेद पांच प्रकार का है। यथा—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्, निर्विष और वैकरञ्ज। ये फिर आकार दृष्टि से तीन प्रकार के हैं यथा—दर्वीकर, मण्डली, राजिमान्। इनमें दर्वीकर सांप छब्बीस, मण्डली बाईस, राजिमान दस, निर्विष बारह, वैकरञ्ज तीन हैं। चित्रितमण्डलि-राजिमान-वैकरञ्जों से उत्पन्न सांप सात हैं (मण्डलि से चार, राजिमान से तीन)।

वक्तव्य—दर्वी-कड़छी, कर-फण, कड़छी के समान फण (शिर) वाले, फनियर। मण्डलि—गोल-गोल मण्डलवाले। राजि-मान्-राजि-रेखा-धारीवाले। निर्विष—थोड़े विषवाले।

१—सांपों का नाम, वर्णन महाभारत आदिपर्व में विस्तार से दिया हैं, वहां देखें। या Indian Snakes नामक अंग्रेजी पुस्तक में देखें।

वि० मन्तव्य—वैकरञ्ज नामक सर्प—संकीर्ण जात अर्थात् वर्णसंकर हैं। भिन्न जाति की सर्पिणी में भिन्न जाति के सर्प से उत्पन्न हैं। और वैकरञ्जों से उत्पन्न सर्प विचित्र विचित्र मण्डलों तथा राजियोंवाले होते हैं ॥९-१२॥

पादाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा ॥१३॥
ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः ॥

पैर से छूने पर, स्वभाव से दुष्ट, क्रुद्ध हुए, ग्रास (भोजन) की इच्छा से, ये अतिशय क्रोधी, भीम दर्शनवाले सांप काटते हैं। इनका काटना तीन प्रकार का है ॥१३॥ यथा—

सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम् ॥
सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः ॥१४॥
पदानि यत्र दन्तानामेकं द्वे वा बहूनि वा ।
निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्धृत्य करोति हि ॥१५॥
चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च ।
सङ्क्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तत् सर्पितं भिषक् ॥१६
राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा ।
विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत् ॥१७॥
अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य देहिनः ।
पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः ॥१८॥
सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः ।
कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत् ॥१९॥

सर्पित, रदित और तीसरा निर्विष काटना। सांप के काटने के समझनेवाले कुछ व्यक्ति सर्पाङ्गाभिहत (सांप का छू जाना) भी गिनते हैं। जहाँ पर एक, दो या बहुत से दन्तों के चिह्न गहरे गये, थोड़े रक्तवाले होते हैं, जिन चिह्नों को सांप उलटकर करता है, चंचुमालक युक्त, विकार उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म, शोफयुक्त होते हैं, उनको वैद्य सर्पित दंश समझे। जहाँ पर रेखायें सुर्ख या नीली या पीली अथवा श्वेत हों, उसे रदित जानना, यह अल्पविष होता है। जहाँ पर सूजन थोड़ा हो, रक्त थोड़ा दूषित हो, रोगी स्वस्थ रहे, वहाँ पर एक चिह्न या बहुत चिह्न होने पर भी वैद्य इसको निर्विष समझे। डरपोक व्यक्ति में सांप के छूने मात्र से कुपित हुई वायु किसी में सूजन उत्पन्न कर देती है, इसको सर्पाङ्गाभिहत कहते हैं।

वक्तव्य—साँप की दाढ़ ऊपर में दो, प्रत्येक पार्श्व में एक होती है। यह दाढ़ औरों से लम्बी होती है। इनका अग्रभाग कुछ झुका एवं नोकदार होता है। यही विषैला दांत होता है। इसके पीछे एक थैली रहती है। थैली का मुख इस दांत में खुलता है। नीचे की तरफ थैली ऊपर के जवाड़े में रहती है। इसलिये दाँत के निशान व्रण के दोनों ओर (०( )०) एक-एक होते हैं। यदि व्रण के दोनों ओर दो दो निशान हों तो वह उतना विषैला नहीं होता। सर्पाङ्गाभिहत को चरक में—"दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद् विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥ ग्लानिर्मोहोऽतीसारो वा प्येतच्छङ्काविषं मतम् ॥१४-१६॥

व्याधितोद्विग्नदष्टानि ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु ।
तथाऽतिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ॥२०॥
सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते ।
विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न क्रमते विषम् ॥२१॥

रोगी या उद्विग्न (घबराये) हुये सांप से काटे हुए पुरुषों में विष थोड़ा चढ़ता है। इसी प्रकार अति वृद्ध, बालक के काटने पर भी थोड़ा विष चढ़ता है। गरुड़, देवता, ब्रह्मर्षि, यक्ष, सिद्धों से सेवित एवं विषघ्न औषधियोंयुक्त स्थान में विष का संचार नहीं होता ॥२०,२१॥

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः ।
ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥२२॥
मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः ।
ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः ॥२३॥
स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः ।
चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः ॥२४॥

चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक, अंकुश का चिह्न धारण करनेवाले, फणवाले और शीघ्रगामी सांप दर्वीकर हैं। नानाप्रकार के मण्डलों से चित्रित, चपड़े, धीमे चलनेवाले, अग्नि और सूर्य के समान कान्तिवाले सांप मण्डली हैं। चिकनी, नानाप्रकार के वर्णों की, तिरछी एवं ऊपर पड़ी रेखाओं से चित्रित जो शोभित होते हैं, वे साँप राजिमान् हैं ॥२२-२४॥

मुक्तारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः ।
सुगन्धयः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥२५॥
क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः ।
सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां यथाऽम्बुजम् ॥२६॥
कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा ।
धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥२७॥
महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः ।
भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्तिताः ॥२८॥

जो साँप मोती, चाँदी की प्रभा के या जो कपिल वर्ण होते हैं, सुगन्धित होते हैं, सुवर्ण की कान्ति के होते हैं, वे साँप ब्राह्मण जाति के हैं। जो साँप स्निग्धवर्ण, अतिशयक्रोधी, सूर्य, चन्द्र की आकृति के या छत्र के चिह्नवाले अथवा कमल के चिह्नवाले हैं, वे क्षत्रिय जाति के हैं। काले, वज्र के समान लाल वर्ण के धूम्रवर्ण या पारावत (घरेलू कबूतर) केसे होते हैं वे साँप वैश्य जाति के हैं, भैंस, चीता के वर्ण के, कठोर त्वचा के, नानाप्रकार के चितकबरे रंगों के जो होते हैं, वे साँप शूद्र जाति के हैं।

वक्तव्य—भारतीय संस्कृति में सब विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र इसी रूप में किया गया है। अभ्रक, वज्र आदि को भी, विष को भी उन्होंने इसी रूप में विभक्त किया है। गीता में भी कहा है "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" ॥

कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्वं एव तु।
पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥२९॥
अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम्।
ज्ञेयौ दोषैश्च दम्पत्योर्विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥३०॥

सब फणिधर (दर्वीकर) साँप वायु को कुपित करते हैं। मण्डलि साँप पित्त को और राजिमान् साँप कफ को कुपित करते हैं। असमानवर्ण माता-पिता की संतान दो दोषों के (संसर्ग रूप में) लक्षणों को उत्पन्न करनेवाली होती है॥२९,३०॥

रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति हि
शेषेषूक्ता मण्डलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः ॥३१॥

इसमें और भेदों को कहते हैं—रात के पिछले भाग में राजिमान् सर्प घूमते हैं। शेष रात्रि में (रात्रि के पहले दूसरे, तीसरे पहर में) मण्डलि साँप, दिन में दर्वीकर साँप घूमते हैं ॥

दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा।
राजिमन्तो वयोमध्ये जायन्ते मृत्युहेतवः ॥३२॥

दर्वीकर साँप तरुणावस्था में, मण्डलि साँप वृद्धावस्था में, राजिमान् साँप मध्यवय में मृत्यु के कारण होते हैं ॥३२॥

नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः।
वृद्धा मुक्तत्वचो भीता सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृता ॥३३॥

नेवले से घबराये, बालक, जल के वेग से ताड़ित, कृश, वृद्ध, केंचुली उतारे, डरे हुए साँप अल्प विषवाले कहे हैं ॥

चरक में—"वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाःस्मृताः ॥"॥३३

तत्र, दर्वीकराः—कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासपः, शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, खण्डफणः, ककुदः पद्मो, महापद्मो, दुर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रूकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिरा, अलगर्दं, आशीविष इति (१),

मण्डलिनस्तु—आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डलः चित्रमण्डलः, पृषती, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको; गोनसो, वृद्धगोनसः पनसो, महापनसो, वेणुपत्रकः, शिशुको, मदनः, पालिन्दिरः, पिङ्गलः, तन्तुकः, पुष्पपाण्डुः, षडङ्गो, अग्निको, बभ्रुः, कषायः, कलुषः पारावतो, हस्ताभरणः, चित्रकः एणीपद इति (२);

राजिमन्तस्तु—पुण्डरीको राजिचित्रो, अङ्गुलराजिः, बिन्दुराजिः, कर्दमकः, तृणशोषकः, सर्षपकः, श्वेतहनुः, दर्भपुष्पश्चक्रको गोधूमकः, किक्किसाद इति (३),

निर्विषास्तु—गलगोली, शूकपत्रो, अजगरो, दिव्यको, वर्षाहिकः, पुष्पशकली, ज्योतीरथः, क्षीरिकापुष्पको, अहिपताको, अन्धाहिको, गौराहिको, वृक्षेशय इति (४),

वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः, तद्यथा—माकुलिः, पोटगलः, स्निग्धराजिरिति। तत्र, कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वपरीत्येन वा जातः पाटगलः, कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके (५);

इनमें (दर्वीकर साँप)—कृष्णसर्प, महाकृष्ण, कृष्णोदर, श्वेतकपोत, महाकपोत, बलाहक, महासप, शंखकपाल, लोहिताक्ष, गवेधुक, परिसर्प, खण्डफणा, ककुद, पद्म, महापद्म, दर्भपुष्प, दधिमुख, पुण्डरीक, भ्रुकुटीमुख, विष्किर, पुष्पाभिकीर्ण, गिरिसर्प, ऋजुसर्प, श्वेतोदर, महाशिर, अलगर्द आशीविष। (मण्डलि सर्प)—आदर्शमण्डल, श्वेतमण्डल, रक्तमण्डल, चित्रमण्डल, पृषत, रोध्रपुष्प, मिलिन्दक, गोनस, वृद्धगोनस, पनस, महापनस, वेणुपत्रक, शिशुक, मदन, पालिन्दिर, पिंगल, तन्तुक, पुष्पपाण्डु, षडङ्ग, अग्निक, बभ्रु, कषाय, कलुष, पारावत, हस्ताभरण, चित्रक, एणीपाद। राजिमान् सर्प—पुण्डरीक, राजिचित्र, अंगुलराजि, बिन्दुराजि, कदमक, तृणशोषक, सर्षपक, श्वेतहनु, दर्भपुष्प, चित्रक, गोधूमक, किक्किसाद। निर्विषसर्प—गलगोली, शूकपत्रक, अजगर, दिव्यक, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतिरथ, क्षीरिका पुष्पक, अहिपताक, अन्धाहिक, वृक्षेशय। वैकरञ्जसाँप—दर्वीकर आदि तीनों प्रकार के सर्पों में विपरीत जाति से उत्पन्न साँप यथा—माकुली, पोटगल, स्निग्धराजी। इनमें काले साँप द्वारा गोनस में विपरीत जाति से या विपरीतता से माकुली उत्पन्न होता है। पोटगल साँप राजिमान् साँप से गोनस में या विपरीतता से उत्पन्न होता है। स्निग्धराजी साँप कृष्ण सर्प से राजिमान् में विपरीतता से उत्पन्न होता है। इनसे पहला साँप पिता की भाँति तेजस्वी होता है, और शेष दो माता के समान तेजस्वी होते हैं।

वक्तव्य—गोह को भी सर्प जाति में गिना है। साँप की जीभ बीच में चोरी होने से इसको द्विजिह्वा कहा जाता है। गोह की जीभ भी इसी प्रकार बीच से चिरी होती है, यह भी द्विजिह्वा होने से सर्प में गिनी है ॥१—५॥

त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकपोटगलपुष्पाभिकीर्णदर्भपुष्पवेल्लितकाः सप्त; तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत्, शेषा मण्डलिवत्, एवमेतेषां सर्पाणामशीतिर्व्याख्याता ॥३४॥

तीनों वैकरञ्ज साँपों के भेद सात हैं, यथा—दिव्येलक, रोध्रपुष्पक, राजिचित्रक, कपोटगल, पुष्पाभिकीर्ण,

दर्भपुष्प, वेल्लतिक। इनमें पहले तीन का विष राजिमान् साँपों की भाँति, शेषों का विष मण्डलि के समान होता है। इस प्रकार से अस्सी साँपों का व्याख्यान हो गया ॥३४॥

तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः, सूक्ष्मनेत्रजिह्वास्यशिरसः स्त्रियः, उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥३५॥

इनमें बड़ी नेत्र, जिह्वा मुख और शिरवाले पुरुष जाति हैं। सूक्ष्मनेत्र-जिह्वा-मुख और शिरवाले स्त्री जाति हैं। दोनों जाति के लक्षणवाले, मन्द विष एवं क्रोध रहित नपुंसक हैं ॥३५॥

तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः। किं कारणं? विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति, न चावकाशोऽस्ति वाक्समूहमुपसर्तुं प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्वत्र त्रैविध्यं भवति, तस्मात् त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः, एतद्ध्यातुरहितमसंमोहकरं च, अपि चात्रैव सर्वसर्पव्यञ्जनावरोधः ॥३६॥

सब साँपों के दष्टलक्षणों को सामान्यरूप में कहेंगे। क्योंकि—विष तीक्ष्ण तलवार की भाँति, बिजली, अग्नि के तुल्य शीघ्र व्यापक शील है, मुहूर्तभर (क्षणभर) की उपेक्षा करने से रोगी को मार देता है। वाणी से कहने का भी समय नहीं रहता। प्रत्येक सर्प से काटने पर भी तीन प्रकार के लक्षण होते हैं। इसलिये तीन प्रकार से ही कहेंगे। ये कहे लक्षण रोगी के हितकारी और वैद्य को किसी प्रकार का भ्रम नहीं होने देते। इन्हीं लक्षणों में सब साँपों के लक्षण आ जाते हैं ॥३६॥

तत्र, दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्वरावसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनागमनं स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति, मण्डलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्ध्वमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तारताश्च पित्तवेदना भवन्ति, राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामंशशोफः सान्द्रकफसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः कण्ठे श्वयथुर्घुर्घुरक उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥३७॥

इनमें—दर्वीकर विष से त्वचा, नख, आँख, दाँत, मुख, मूत्र, मल और दंश स्थान काले पड़ जाते हैं। रूक्षता, शिर में भारीपन, सन्धियों में वेदना, कटि-पीठ-ग्रीवा में दुर्बलता, जम्भाई आना, कम्पन, स्वर का बैठना, गले में घर्घराहट, जड़ता, सूखे उद्गार, कास, श्वास, हिक्का, वायु का ऊपर को जाना, शूल, ऐंठन, प्यास, लाला स्राव, झाग का आना, स्रोतों का बन्द होना और वातजन्य नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं। मण्डलि विष से त्वचा, नख, मल, मूत्र आदि पीले हो जाते हैं। शीत की चाह, परिधूपन (सर्वांग-सन्ताप), दाह, प्यास, मद, मूर्च्छा, ज्वर, रक्त का ऊर्ध्वमार्ग और अधोमार्ग से आना, मांस का विदीर्ण होना, सूजन, दंश का सड़ना, पीले रूपों को देखना, विष का जल्दी कुपित होना, और पित्तजन्य नाना प्रकार की वेदनायें (ओष-चोष आदि) होती हैं। राजिमान् सर्प से त्वचा, नख आदि श्वेत हो जाते हैं, शीतपूर्वक ज्वर, रोम हर्ष, अङ्गों में जड़ता, दंश के चारों ओर सूजन, घट्ट कफ का मुख से गिरना, बार-बार वमन, आँखों में कण्डू गले में सूजन, घर्घराहट, श्वास का रुकना, अन्धेरो आना, और कफजन्य नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं ॥३७॥

पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति, गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति, ग्रासार्थिनाऽन्नं काङ्क्षति, वृद्धेन चिरान्मन्दाश्च वेगाः, बालेनाशु मृदवश्च, निर्विषेणाविषलिङ्गं, अन्धाहिकेनान्धत्वमित्येके, ग्रसनात् अजगरः शरीरप्राणहरो न विषात्। तत्र सद्यःप्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राशनिहत इव भूमौ, स्रस्ताङ्गः स्वपिति ॥३८॥

पुरुष साँप से काटा रोगी ऊपर को देखता है, स्त्री साँप से काटा रोगी नीचे देखता है, माथे में सिरायें ऊभर आती है, नपुंसक साँप से काटा रोगी तिरछा (पार्श्व में) देखता है। गर्भवती से काटे हुए मनुष्य का मुख पाण्डुवर्ण एवं सूजा (शोथ) होता है। सूतिका (प्रसव की हुई) सर्पिणी से काटे हुए मनुष्य को उदरशूल होता है, रक्तयुक्त मूत्र आता है, उपजिह्विका रोग हो जाता है। ग्रासार्थि साँप से काटा मनुष्य अन्न की चाह करता है। वृद्ध साँप से काटने पर विष का वेग मन्द रहता है, और देर में चढ़ता है। बालक साँप से काटने पर विष जल्दी चढ़ता है, परन्तु मन्द रहता है। निर्विष साँप के काटने पर विष के लक्षण नहीं होते। अन्धे साँप से काटने पर मनुष्य अन्धा हो जाता है, ऐसा कई मानते हैं। अजगर साँप निगलने से प्राणनाशक होता है, विष से नहीं होता। परन्तु इनमें प्राणहर साँप से काटा हुआ मनुष्य—शस्त्र या बिजली से मारे हुए मनुष्य की भाँति तुरन्त जमीन पर गिर पड़ता है, अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, सो जाता है।

वि० मन्तव्य—इन लक्षणों से प्रतीत होता है कि सर्प का

अन्यान्य भूतों के समान आवेश होता है भूत विद्या नामक तन्त्र (सू० स्था० अ० १।४) में नाग भी गिना गया है और नाग सर्प का नाम है तथा उत्तर तन्त्र अ० ६ श्लोक १३ में– भुजङ्गमेन जुष्टः लिखा है और इस रोगी की सब चेष्टायें सर्प के समान लिखी हैं ॥३८॥

तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति। तत्र दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं कृष्णतामुपैति, तेन कार्ष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाङ्गे भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाङ्गे भवन्ति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च; चतुर्थं कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति, तेन तन्द्राप्रसेकसन्धिविश्लेषा भवन्ति; पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति; षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणीं चात्यर्थं दूषयति, तेन गात्राणां गौरवमतीसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति, सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चात्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति, तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गः सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति। मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं पीततापरिदाहौ दंशे श्वयथुश्च भवति, तृतीये मेदो दूषयति तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशक्लेदः स्वेदश्च, चतुर्थ कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति, पञ्चमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति। षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत्। राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति, द्वितीये मांसं दूषयति तेन पाण्डुताऽत्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दंशक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति, चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवं चापादयति, पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरं च करोति, षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति ॥३९॥

सब प्रकार के साँपों के विष के सात वेग होते हैं। यथा– दर्वीकर साँपों के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है, यह दूषित रक्त काला पड़ जाता है। इससे अंगों में कालापन और चिऊँटियों के रेंगने की प्रतीति होती है। विष दूसरे वेग में मांस को दूषित करता है, इससे अतिशय कृष्णता सूजन और अंग में गाँठे उत्पन्न हो जाती हैं। तीसरे वेग में विष मेद को दूषित करता है, इससे दंश स्थान सड़ता है, शिर में भारीपन, पसीना, आँखों से न दीखना होता है। चौथे वेग में विष कोष्ठ में पहुँचकर कफ प्रधान दोषों को दूषित करता है, इससे तन्द्रा, कफ का मुख से गिरना, सन्धियों में ढीलापन होता है। पाँचवें में विष अस्थियों में प्रविष्ट होता है, प्राण और अग्नि को दूषित करता है, इससे पर्वों का टूटना, हिक्का और दाह होता है। छठे में विष मज्जा में पहुँचता है और ग्रहणी (पित्तधरा कला) को अतिशय दूषित करता है। इससे शरीर के अङ्गों में भारीपन, अतिसार, हृदय में पीड़ा, और मूर्च्छा होती है। सातवें वेग में विष शुक्र में पहुँच जाता है, व्यान वायु को अतिशय कुपित करता है, कफ को सूक्ष्म स्रोतों से निकालता है। इससे घट्ट कफ मुख से निकलता है, कटि-पीठ टूट जाती है, सब चेष्टायें रुक जाती हैं। लाला और पसीना बहुत आता है, उच्छ्वास (श्वास) रुक जाता है।

मण्डलि साँप के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है, यह दूषित रक्त पीला हो जाता है। इससे जलन, अङ्गों में पीलापन हो जाता है। दूसरे वेग में मांस को दूषित करता है इससे अतिशय पीलापन, जलन और दंश में सूजन होती है। तीसरे वेग में मेद को दूषित करता है, इससे दर्वीकर साँप की भाँति आँखों से न दिखाई देना, तृष्णा, दंश का सड़ना पसीना होता है। चौथे में विष कोष्ठ में पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है। पाँचवें में विष सब अंगों में दाह करता है। छठे और सातवें वेग के लक्षण दर्वीकर के समान हैं।

राजिमान्सर्प के प्रथम वेग में विष रक्त को दूषित करता है। यह दूषित रक्त पाण्डुवर्ण (श्वेत) हो जाता है, इससे रोमहर्ष, अंगों में श्वेत वर्ण हो जाता है। दूसरे वेग में विष मांस को दूषित करता है, इससे अतिशय पाण्डुता, जड़ता और शिरः सूजन होती है। तीसरे में विष मेद को दूषित करता है, इससे अन्धापन, दंश का सड़ना, पसीना, नाक और आँख से स्राव होता है। चौथे में विष कोष्ठ में पहुँचकर मन्यास्तम्भ और शिर में भारीपन उत्पन्न करता है। पाँचवें में वाणी का अवरोध और शीतज्वर करता है। छठे और सातवें वेग के लक्षण दर्वीकर साँप की भाँति हैं ॥३९॥

भवन्ति चात्र—

धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः संपरिकीर्तिताः।
तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम् ॥४०॥

धातुओं के बीच बीच में जो सात कलायें कही हैं, उनमें से एक एक को अतिक्रमण करके विष, वेग को उत्पन्न करता है॥

वक्तव्य—रस और रक्त के बीच की कला का अतिक्रमण करने से प्रथम वेग, रक्त और मांस की कला का अतिक्रमण करने से दूसरा वेग, मांस और मेद की कला का अतिक्रमण करने से तीसरा वेग, इसी तरह से आगे। डल्हण ने—मेद और कफ की कला का अतिक्रम करने से चौथा, कफ और पुरीष की बीच की कला का अतिक्रमण करने से पाँचवाँ, पुरीष और पित्त की कला का अतिक्रमण

करने से छठा, पित्त और शुक्र की कला का अतिक्रमण करने से सातवाँ वेग माना है। पुरीषधरा कला ही अस्थिधरा कला है, पित्तधरा कला ही मज्जधरा कला है ॥४०॥

येनान्तरेण तु कलां कालकल्पं भिनत्ति हि।
समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगान्तरं स्मृतम् ॥४१॥

वायु से प्रेरित हुआ विष जितने समय में कला को पार करता है, उतने समय को वेगान्तर कहा है ॥४१॥

शूनाङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः।
लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि ॥४२॥
तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते।
चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून् ॥४३॥
केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तं चैतेषु तद्विदः।
ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम् ॥४४॥
द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति।
केचिदेकं विहङ्गेषु विषवेगमुशन्ति हि।
मार्जारनकुलादीनां विषं याति प्रवर्तते ॥४५॥

विष के प्रथम वेग में पशु दुःखी होकर शोक करता है, अंग सूज जाता है। दूसरे वेग में अंग काला पड़ जाता है, मुख से लालास्राव होता है, हृदय में वेदना होती है। तीसरे में शिर में दर्द, कण्ठ और ग्रीवा टूट जाते हैं। चौथे वेग में काँपता है, मूढ हो जाता है, दाँतों को काटता हुआ प्राणों को छोड़ देता है। कई आचार्य पशुओं में तीन ही वेग मानते हैं। विष के प्रथम वेग में पक्षी चिन्ता करता है, मूर्च्छित हो जाता है। इसके आगे दूसरे वेग में बेचैन बन जाता है। तीसरे वेग में मर जाता है। कई आचार्य पक्षियों में विष का एक ही वेग मानते हैं। बिल्ली, नेवले आदि में साँप का विष नहीं चढ़ता ॥४२-४५॥

वक्तव्य—चरक में भी पशुओं में चार और पक्षिओं में तीन वेग माने हैं। यथा—"चतुष्पदादीनां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः ॥च० चि० अ० २३। चरक में विष के वेग आठ माने हैं, यथा—अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशति उपक्रमम् ॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषविज्ञानीयं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः सर्पदष्टविषचिकित्सितं कल्पं व्याख्यास्यामः।१
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्पदष्टविषचिकित्सितकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले ॥३॥
प्लोतचर्मान्तर्वल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै।
न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥४॥

सभी साँपों में सबसे प्रथम, हाथ-पैर (शाखाओं) में काटे हुए मनुष्य में दंशस्थान से चार अंगुल ऊपर में एक 'अरिष्टा' बांधनी चाहिये। यह अरिष्टा कपड़े की लीर, चमड़े, वृक्ष की अन्तः छाल अथवा अन्य किसी कोमल वस्तु (रबड़ की नली, रबड़ आदि) से बाँधनी चाहिये। अरिष्टा से रोका हुआ विष ऊपर नहीं चढ़ता ॥

चरक में विष के लिये—दंशात्तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषक् बद्ध्वा। निष्पीडयेद्भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा॥ अरिष्टा द्विविधा—मंत्रेण रज्वादिभिर्वा विषोपरिबन्धः॥ इसके सिवाय चौबीस उपक्रम कहे हैं। यथा—मंत्रारिष्टोत्कर्त्तननिष्पीडन-चूषणाग्निपरिषेकाः। अवगाहनरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि॥ हृदयावरणाञ्जननस्य धूमलेहौषधप्रशमनानि। प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञास्थापनं लेपः॥ मृतसंजीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः॥ च० चि० अ० २३।३८॥ ३, ४॥

दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ॥५॥

जहाँ पर अरिष्टा बाँधी नहीं जा सके, वहाँ पर दंश को काटकर स्थान अग्नि से जला देवे। आचूषण (चूसना), छेदन और दाह यह सब में विधेय हैं। (इसमें मण्डलि साँप में दाह का निषेध है, चूंकि वह पित्त का प्रकोपक है) ॥५॥

प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्।
स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्टो वाऽपि हि तत्क्षणम् ॥६॥

मुख को वस्त्रों से भरकर चूषण करना उत्तम है। अथवा उसी साँप को तुरन्त काट ले, या मिट्टी के ढेले को तुरन्त काटे। (चरक में-तं दंशं वा चूषयेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन)।

वि० मन्तव्य—तत्काल सर्प को दष्ट मानव द्वारा काटना—सर्वसाधारण के लिये असम्भव है और भाग जाने पर दुष्कर भी है, परन्तु सपेरे ऐसा कर सकते हैं उनके लिये यह सब सम्भव है ॥ ६ ॥

अथ मण्डलिना दष्टं न कथंचन दाहयेत्।
स पित्तबाहुल्यविषाद्दंशो दाहाद्विसर्पते ॥७॥

मण्डलि साँप से काटे हुए व्यक्ति में भूलकर भी दाह न करे। क्योंकि वह दंश पित्त की अधिकता के कारण दाह से फैलता है ॥७॥

अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मंत्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता ॥८॥

मंत्र को जाननेवाला वैद्य अरिष्टा को भी मंत्रों से बाँधे। इस प्रकार रज्जु आदि से बाँधी अरिष्टा विष को रोकती है। (मंत्र के बिना भी बाँधी अरिष्टा विष को रोकती हैं)।

वि० मन्तव्य—अरिष्टा-पट्टी इतनी कसकर बांधनी चाहिये जिससे सिरा में रक्त का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाय। जब रक्त रुक जाता है, तो रक्त में मिला विष भी शरीर में नहीं पहुँच पाता। शरीर में विष फैलने-चढ़ने के पूर्व ही अरिष्टा बाँधने से लाभ होता है, और दाह भी तथा आचूषण भी इसी दशा में लाभप्रद होते हैं। और मन्त्रों का प्रयोग तो आरोग्य लाभ पर्यन्त किया जाता है। आचूषण यथा सम्भव मुख से करना ही नहीं चाहिये अपितु सिंगी अथवा तुम्बी द्वारा करे और अंगुली अंगूठा आदि पर भी नलिका से आचूषण करे॥

देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः।
भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम्॥९॥
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः॥१०॥

किसी सत्यवादी, तपस्वी, देवर्षि और ब्रह्मर्षियों से कहे हुए मंत्र व्यर्थ नहीं होते। ये मंत्र भयानक विष को भी शीघ्र नष्ट कर देते हैं। सत्य परायण, ज्ञानी एवं तपस्वी तथा तेजस्वी ऋषियों के मंत्रों से विष जितनी जल्दी नष्ट होता है, उतनी जल्दी औषधियों से दूर नहीं होता॥९, १०॥

मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना।
मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना॥११॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः।
पूजयेन्मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः॥१२॥

स्त्री, मांस और मधु (मद्य) का सेवन छोड़कर मंत्र को सीखना चाहिये। मंत्र सीखते समय आहार अल्प करना चाहिये, पवित्र (मन-शरीर से) रहना चाहिये, कुशा के बिस्तर पर सोना चाहिये। गन्ध, माला, उपहार और बलि से देवताओं का पूजन मंत्र सिद्धि के लिये तथा जप एवं होम से यत्नपूर्वक करना चाहिये।

वक्तव्य—मधु शब्द मद्य के लिये यहाँ है। मधु मद्य का भेद है, यथा मद्यवर्ग में चरक—"रोचनं दीपनं हृद्यं बल्यं पित्तावरोधि च। विबन्धघ्नं कफघ्नं च मधुलघ्वल्पमारुतम्॥
चरक० सू० अ० २७। १८६॥११,१२॥

मन्त्रास्त्वविधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः।
यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः॥१३॥

विना विधि के या स्वर अथवा वर्ण से हीन प्रयुक्त मंत्र सफलता नहीं देते, इसलिये अगद उपचार बरतना चाहिये।

वक्तव्य—महाभाष्य में व्याकरण पढ़ने का प्रयोजन बताते हुए लिखा है कि असुर लोग हे अरयः यह शुद्ध न कहने से (हेलया-हेलया कहते हुए) देवताओं से पराजित हुए। इसलिये शुद्ध उच्चारण के लिये व्याकरण पढ़े॥१३॥

समन्ततः सिरा दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्।
शाखाग्रे वा ललाटे वा व्यध्यास्ता विसृते विषे॥१४॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्।
तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया॥१५॥
समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत्।
चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत्॥१६॥

कुशल वैद्य दंश के चारों ओर सिराओं का वेधन करे। विष के फैल जाने पर सिराओं को हाथ पैर के अग्रभाग में अथवा माथे पर वेधन करे। रक्त के निकलने से सम्पूर्ण विष भी निकल जाता है। इसलिये रक्त का विस्रावण करे, क्योंकि यही इसकी श्रेष्ठ चिकित्सा है। दंश के चारों ओर पाछकर अगदों से लेप करे। चन्दन और खस मिले पानी से परिषेक करे।

वि० मन्तव्य—सिरावेध से रक्त के साथ साथ विष भी निकल जाता है परन्तु शेष विष का शमन अगदों द्वारा भी करना चाहिये॥१४-१६॥

पाययेतागदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः।
तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका॥१७॥
कोविदारशिरीषार्ककटभीर्वाऽपि भक्षयेत्।

अगदों को दूध, मधु और घी में मिलाकर पिलाये। अगदों के अभाव में काली मिट्टी या बम्बी की मिट्टी को दूध, घी, मधु के साथ पिलाये। कचनार, शिरीष, आक, कोयल (अपराजिता) इनको खाये॥१७॥

न पिबेत्तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च॥१८॥
द्रवमन्यत्तु यत्किञ्चित् पीत्वा, पीत्वा तदुद्वमेत्।
प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्ह्रियते विषम्॥१९॥

तैल, कुलत्थी का यूप, मद्य या कांजी को न पीये। इनके सिवाय कोई दूसरा द्रव पीपीकर बार बार वमन करे। क्योंकि प्रायः वमन से विष सुखपूर्वक निकल जाता है॥१८, १९॥

फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत्।
द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक्॥२०॥
नस्यकर्माञ्जने युञ्ज्यात्तृतीये विषनाशने।
वान्तं चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत्॥२१॥
शीतोपचारं कृत्वाऽऽदौ भिषक् पञ्चमषष्ठयोः।
पाययेच्छोधनं तीक्ष्णं यवागूं चापि कीर्तिताम्॥२२॥
सप्तमे त्ववपीडेन शिरस्तीक्ष्णेन शोधयेत्।
तीक्ष्णमेवाञ्जनं दद्यात् तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्ध्नि च॥२३॥
कृत्वा काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्।

दर्वीकर सांपों के प्रथम विष वेग में रक्त को निकाले। विष के दूसरे वेग में मधु और घी के साथ अगद को वैद्य

पिलाये। तीसरे वेग में विषनाशक नस्य कर्म और अंजन करे। चौथे वेग में रोगी को वमन करा के स्थावर विष में कही यवागू पीने को देवे। पांचवें और छठे वेग में प्रथम शीतल उपचार करे। फिर तीक्ष्ण विरेचन देकर पूर्वोक्त यवागू पिलाये। सातवें वेग में तीक्ष्ण अवपीडन नस्य से शिर का शोधन करे, तीक्ष्ण ही अंजन देवे और तीक्ष्ण शस्त्र से शिर पर काकपद बनाकर उसमें रक्त मिश्रित मांस या ताजा चर्म धर देवे, (जिससे विष इसमें आ जाये)।

वक्तव्य—यह किंवदन्ती हैं कि रोगी की गुदा पर मुर्गे की गुदा रक्खे। विष से मुर्गा मर जायेगा, फिर दूसरा मुर्गा रक्खे, तीसरा रक्खे, इस प्रकार जब तक मुर्गे मरते जायें, तब तक रक्खे। इस तरह करने से विष निकल जाता है ॥२०-२३॥

पूर्वे मण्डलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत् ॥२४॥
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत च।
वामयित्वा यवागूं च पूर्वोक्तामथ दापयेत् ॥२५॥
तृतीये शोधितं तीक्ष्णैर्यवागूं पाययेद्धिताम्।
चतुर्थे पञ्चमे चापि दर्वीकरवदाचरेत् ॥२६॥
काकोल्यादिर्हितः षष्ठे पेयश्च मधुरोऽगदः।
हितोऽवपीडे त्वगदः सप्तमे विषनाशनः ॥२७॥

मण्डलि सांप के प्रथम वेग में दर्वीकर सांपों की भांति चिकित्सा करे। दूसरे में अगद को घी मधु के साथ पिलाये। पीछे से पूर्वोक्त यवागू को पिलाये। तीसरे में तीक्ष्ण विरेचनों से शोधन होने पर यवागू को पिलाये। चौथे और पांचवें वेग में भी दर्वीकर के समान चिकित्सा करे। छठे वेग में काकोल्यादि मधुर गण या अगद पिलाये। सातवें वेग में विषनाशक अगद अवपीडन में उत्तम है ॥२४-२७॥

पूर्वे राजिमतां वेगेऽलाबुभिः शोणितं हरेत्।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं पाययेत च ॥२८॥
वान्तं द्वितीये त्वगदं पाययेद्विषनाशनम्।
तृतीयादिषु त्रिष्वेवं विधिर्दर्वीकरो हितः ॥२९॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडश्च सप्तमे।

राजिमान् सांपों के प्रथम वेग में तुम्बी से रक्त निकाले। मधु और घी से मिश्रित अगद पीने को देवे। दूसरे वेग में वमन कराके विष नाशक अगद देवे। तीसरे आदि वेगों में दर्वीकर सांपों के समान उपचार बरते। छठे वेग में तीक्ष्ण अंजन और सातवें में अवपीडन, नष्टसंज्ञा उपचार करे। ॥२८, २९॥

गर्भिणीबालवृद्धानां सिराव्यधनवर्जितम् ॥३०॥
विषार्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु।

विष से पीड़ित गर्भवती, बालक या वृद्ध में सिरा वेधन करना निषिद्ध है। इनमें कहे हुए उपचार कोमल रूप में बरते ॥

रक्तावसेकाञ्जनानि नरतुल्यान्यजाविके ॥३१॥
त्रिगुणं महिषे सोष्ट्रे गवाश्वे द्विगुणं तु तत्।
चतुर्गुणं तु नागानां,

बकरी और भेड़ में रक्तावसेचन, अंजन, मनुष्य के समान हैं। भैंस और ऊँट में तीन गुने, गाय और घोड़े में दो गुने, हाथियों में चार गुनी मात्रा में बरते ॥३१॥

केवलं सर्वपक्षिणाम् ॥३२॥
परिषेकान् प्रदेहांश्च सुशीतानवचारयेत्।
माषकं त्वञ्जनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम् ॥
पाने चतुर्गुणं पथ्यं वमनेऽष्टगुणं पुनः ॥३३॥

पक्षियों में सम्पूर्ण परिषेक और प्रदेह अतिशीतल द्रव्यों से करे। अंजन में मात्रा एक माशा, नस्य में दुगुनी, पीने में चार गुणी और वमन में आठ गुनी मात्रा पथ्य है।

वक्तव्य—विष में सदा उत्तम मात्रा का उपयोग होता है। यथा—अहोरात्रादसंदुष्टा या मात्रा परिजीर्यती। सा च कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ (२) गुल्मोदावर्त्तवीसर्पं सर्पदंशाभिपीडितैः। उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा ॥ कल्क, मोदक, चूर्ण की बड़ी मात्रा एक पल है। वमन द्रव्य की श्रेष्ठ मात्रा तीन पल है। क्वाथ की मात्रा चार पल है ॥

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविषवेगबलाबलम्।
प्रधार्य निपुणं बुद्ध्या ततः कर्म समाचरेत् ॥३४॥

देश, प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, वेग, बल, अबल को निपुण बुद्धि से विचारकर पीछे से कार्य करे ॥३४॥

वेगानुपूर्व्या कर्मोक्तमिदं विषविनाशनम्।
कर्मावस्थाविशेषेण विषयोरुभयोः शृणु ॥३५॥

वेगों के अनुक्रम से यह विष नाशक चिकित्सा कह दी है। अवस्था विशेष से स्थावर और जंगम दोनों विषों की चिकित्सा सुनो ॥३५॥

विवर्णे कठिने शूने सरुजेऽङ्गे विषान्विते।
तूर्णं विस्रावणं कार्यमुक्तेन विधिना ततः ॥३६॥

विषान्वित अंग में विवर्णता, काठिन्य, सूजन या पीड़ा होने पर तुरन्त कही हुई विधि से रक्तमोक्षण करना चाहिये ॥

क्षुधार्तमनिलप्रायं तद्विषार्तं समाहितः।
पाययेत रसं सर्पिः शुक्तं क्षौद्रं तथा दधि ॥३७॥

फिर भूख लगने पर, वायु की अधिकता होने पर विष रोगी को सावधानी से मांसरस, दही, मधु, घी या शुक्त (तक्र-कांजी) पिलाये ॥३७॥

तृड्दाहघर्मसंमोहे पैत्तं पैत्तविषातुरम्।
शीतैः संवाहनस्नानप्रदेहैः समुपाचरेत् ॥३८॥

पैत्तिकविष से पीड़ित पित्तप्रकृति को प्यास, दाह, ग्रीष्म काल होने पर अथवा मूर्च्छा आने पर शीतल द्रव्यों से संवाहन (मणि, रत्न, कांसी का स्पर्श), स्नान एवं प्रलेप लगाये ॥३८॥

शीते शीतप्रसेकार्तं श्लैष्मिकं कफकृद्विषम् ।
वामयेद्वमनैस्तीक्ष्णैस्तथा मूर्च्छामदान्वितम् ॥३९॥

शीतकाल में, शीत प्रसेक से पीड़ित कफ प्रकृति में कफ-कारक विष हो तो उसे तीक्ष्ण वमनों से वमन कराये। मूर्च्छा मदवाले को भी वमन कराये ॥३६॥

कोष्ठदाहरुजाध्मानमूत्रसङ्गरुगन्वितम् ।
विरेचयेच्छकृद्वायुसङ्गपित्तातुरं नरम् ॥४०॥

कोष्ठ में दाह, पीड़ा, आध्मान, मूत्रावरोध की पीड़ावाले, मल-वायु के अवरोधवाले, पित्तप्रकृति मनुष्य को विरेचन देवे ॥

शूनाक्षिकूटं निद्रार्तं विवर्णाविललोचनम् ।
विवर्णं चापि पश्यन्तमञ्जनैः समुपाचरेत् ॥४१॥

पलकों के नीचे जिसमें सूजन आ गई हो, नींद से पीड़ित आंखें विवर्ण और मैली हो गई हों तथा नाना प्रकार के वर्ण जो देखता हो, उसकी अंजनों से चिकित्सा करे ॥ १॥

शिरोरुग्गौरवालस्यहनुस्तम्भगलग्रहे ।
शिरो विरेचयेत् क्षिप्रं मन्यास्तम्भे च दारुणे ॥४२॥
नष्टसंज्ञं विवृत्ताक्षं भग्नग्रीवं विरेचनैः ।
चूर्णैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैर्विषार्तं समुपाचरेत् ॥४३॥
ताडयेच्च सिराः क्षिप्रं तस्य शाखाललाटजाः ।
तास्वप्रसिच्यमानासु मूर्ध्नि, शस्त्रेण शस्त्रवित् ॥४४॥
कुर्यात् काकपदाकारं व्रणमेवं स्रवन्ति ताः ।
सरक्तं चर्म मांसं वा निक्षिपेच्चास्य मूर्धनि ॥४५॥
चर्मवृक्षकषायं वा कल्कं वा कुशलो भिषक् ।
वादयेच्चागदैर्लिप्त्वा दुन्दुभींस्तस्य पार्श्वयोः ॥४६॥
लब्धसंज्ञं पुनश्चैनमूर्ध्वं चाधश्च शोधयेत् ।
निःशेषं निर्हरेच्चैवं विषं परमदुर्जयम् ॥४७॥
अल्पमप्यवशिष्टं हि भूयो वेगाय कल्पते ।
कुर्याद्वा सादवैवर्ण्यज्वरकासशिरोरुजः ॥४८॥
शोफशोषप्रतिश्यायतिमिरारुचिपीनसान् ।
तेषु चापि यथादोषं प्रतिकर्म प्रयोजयेत् ॥४९॥
विषार्तोपद्रवांश्चापि यथास्वं समुपाचरेत् ।

शिर में वेदना, भारीपन, आलस्य, हनुस्तम्भ, गलग्रह, या भयानक मन्यास्तम्भ होने पर तुरन्त शिरोविरेचन देवे। संज्ञा नष्ट होने पर आँखें बाहर (या खुली) आ गई हों, ग्रीवा लटक गई हो, उस विषवाले रोगी को तीक्ष्ण प्रधमन चूर्णों से शिरो-विरेचन देवे। शाखा और ललाट में जानेवाली सिराओं पर तुरन्त ताड़न (वेधन) करे। उनसे यदि रक्त न आये तो शास्त्र को समझनेवाला वैद्य तुरन्त शस्त्र से शिरपर काकपद का चिह्न बनाये। इस प्रकार व्रण करने से उनमें से रक्त बहने लगता है। काकपद व्रण में रक्तवाला चर्म या मांस सिर में रख देवे। अथवा चर्म वृक्ष (चामेर ।इधेली-गुजराती नाम-इससे चमड़ा रंगते हैं) के कषाय या कल्क को वहाँ रख देवे। रोगी के पास में दुन्दुभि को अगदों से लेपकर बजाये। चेतना आने पर इसे फिर वमन विरेचन देवे। अतिशय दुर्जन्य विष को सम्पूर्णरूप में निकाल देवे। क्योंकि थोड़ा भी बचा विष फिर वेग उत्पन्न करता है। अथवा शिथिलता, विवर्णता, ज्वर, कास, शिरोरोग उत्पन्न करता है। शोफ, शोष, प्रतिश्याय, तिमिर, अरुचि, पीनस करता है। इनमें भी दोष के अनुसार चिकित्सा करे। विष से पीड़ित व्यक्ति के उपद्रवों की भी चिकित्सा उसके अपने दोषों के अनुसार करनी चाहिये ॥४२–४६॥

अथारिष्टां विमुच्याशु प्रच्छयित्वाऽङ्कितं तया ॥५०॥
दद्यात्तत्र विषं स्कन्नं भूयो वेगाय कल्पते ।

अरिष्टा को खोलकर दंश स्थान पर पाछकर वहाँ तुरन्त अगदों से लेप करे। क्योंकि वहाँ पर जमा (रुका) विष फिर वेग उत्पन्न कर देता है ॥५०॥

एवमौषधिभिर्मन्त्रैः क्रियायोगैश्च यत्नतः ॥५१॥
विषे हृतगुणे देहाद्यदा दोषः प्रकुप्यति ।
तदा पवनमुद्वृत्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत् ॥५२॥
तैलमत्स्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैर्विषहरायुतैः ।
पित्तज्वरहरैः पित्तं कषायस्नेहबस्तिभिः ॥५३॥
कफमारग्वधाद्येन सक्षौद्रेण गणेन तु ।
श्लेष्मघ्नैरगदैश्चैव तिक्तै रूक्षैश्च भोजनैः ॥५४॥

इस प्रकार औषधियों से, मंत्रों से, चिकित्सा के उपचार से शरीर में विष के निकाल देने पर यदि दोष प्रकुपित होता है, तब कुपित (दूसरे स्थान पर गई) वायु की स्नेहन, वमन, आदि से चिकित्सा करे। इसमें तैल, मछली, कुलत्थी, खटाई (कांजी) को छोड़कर विषनाशक वस्तुओं के साथ स्नेहन, वमन कराये। पित्त को पित्तज्वर नाशक कषाय, स्नेह, बस्ति से शान्त करे। कफ को आरग्वधादिगण में मधु मिलाकर देने से, कफनाशक अगदों से, रूक्ष और तिक्त भोजनों से शान्त करे ॥५१–५४॥

वृक्षप्रपातविषमपतितं मृतमम्भसि ।
उद्बद्धं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत् ॥५५॥

वृक्ष से, प्रपात (नदी तट या झरने से), विषम (ऊंचे) स्थान से गिरे, जल में डूबकर मरे, फांसी लगाकर मरे मनुष्य की चिकित्सा तुरन्त नष्ट संज्ञा (बेहोश हुए) विधि से करे[1] ॥

गाढं बद्धेऽरिष्टया प्रच्छिते वा
तीक्ष्णैर्लेपैस्तद्विधैर्वाऽवशिष्टैः ।
शूने गात्रे क्लिन्नमत्यर्थपूति
ज्ञेयं मांसं तद्विषात् पूति कष्टम् ॥५६॥

[1] इनकी चिकित्सा न्याय वैद्यक में देखिये।

अरिष्टा को बहुत कसकर बांधने से, पाछने से, तीक्ष्ण लेपों से इसी प्रकार के अन्य कारणों के बचे रहने से, शरीर में सूजन आजाने पर मांस गल जाता है, और इसमें बहुत सडांद होती है। यह विष के कारण सड़ता है, कष्ट साध्य होता है ॥

सद्यो विद्धं निःस्रवेत् कृष्णरक्तं
पाकं यायाद्दह्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति
शीर्णं मांसं यात्यजस्रं क्षताच्च ॥५७॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च
यस्य स्युस्तं दिग्धविद्धं व्यवस्येत्।

विषैले बाण आदि से वेधन होने पर तुरन्त काला रक्त निकलता है। पक जाता है, बार-बार इसमें जलन होती है। बार-बार पकता भी है। क्षत (व्रण) में से निरन्तर काला, सड़ा, दुर्गन्धवाला मांस निरन्तर गिरता (झड़ता) रहता है। रोगी को प्यास, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह और ज्वर होता है, जिसमें ये लक्षण हों, उसे विषयुक्त वस्तु से विद्ध हुआ जाने। (भ्रान्तिः- वस्तूनामन्यथा प्रतीतिः) ॥५७॥

पूर्वोद्दिष्टं लक्षणं सर्वमेत-
ज्जुष्टं यस्यालं विषेण व्रणाः स्युः ॥५८॥
लूतादष्टा दिग्धविद्धा विषैर्वा
जुष्टाः प्रायस्ते व्रणाः पूतिमांसाः।

जिस मनुष्य में शत्रु से अवचारित विष के कारण ये व्रण विशेष रूप में होते हैं, उसमें ये सब पूर्वोक्त लक्षण मिलते हैं। क्योंकि जो व्रण मकड़ी के काटने से, विषैले बाण आदि शस्त्र से या विष से होते हैं, वे ही प्रायः सड़े मांसवाले होते हैं ।५८।

तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य
वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्यं ॥५९॥
हृत्वा दोषान् क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च-
सम्यक् सिञ्चेत् क्षीरिणां त्वक्कषायैः।
अन्तर्वस्त्रं दापयेच्च प्रदेहान्
शीतैर्द्रव्यैराज्ययुक्तैर्विषघ्नैः ॥६०॥

इन व्रणों में से युक्ति से सड़े मांसों को निकाल कर, जलौकाओं से रक्त को निकाले। वमन, विरेचन से दोषों को तुरन्त जल्दी से निकालकर बरगद आदि क्षीरि वृक्षों की त्वचा के कषाय से सेचन करे। पित्त विसर्पोक्त शीतल वीर्य एवं स्पर्शवाले द्रव्यों को तथा विषनाशक द्रव्यों को घी में मिलाकर इनसे वस्त्र को लपेटकर व्रण के अन्दर देवे। इनसे बने प्रदेह लगाये। (घी-शतधौत घृत ले) ॥५६,६०॥

भिन्ने त्वस्थ्ना दुष्टजातेन कार्यः
पूर्वो मार्गः पैत्तिके यो विषे च।

अस्थि विष के कारण से उत्पन्न व्रण में पूर्वोक्त चिकित्सा करे। पैत्तिक विष की भी चिकित्सा करे।

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे
रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः ॥६१॥
कटुत्रिकं चैव सुचूर्णितानि
शृंगे निदध्यान्मधुसंयुतानि।
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः
पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः ॥६२॥
अवार्यवीर्यो विषवेगहन्ता
महागदो नाम महाप्रभावः।

महागद—निशोथ, कलिहारी, मुलैहठी, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, अमलतास, पाँचों नमक, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) इन सब का बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग के पात्र में रक्खे। यह अगद-पान, अभ्यंग, अंजन और नस्य में प्रयोग करने पर विष को नष्ट करता है। इसकी शक्ति अपराजित है, विषवेग को नष्ट करने में अद्वितीय है, महाप्रभावशाली यह महागद है ॥६१,६२॥

विडंगपाठात्रिफलाजमोदा-
हिङ्गूनि वक्रं त्रिकटूनि चैव ॥६३॥
सर्वश्च वर्गो लवणः सुसूक्ष्मः
सचित्रकः क्षौद्रयुतो निधेयः।
शृङ्गे गवां शृङ्गमयेन चैव
प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च ॥६४॥
एषोऽगदः स्थावरजङ्गमानां
जेता विषाणामजितो हि नाम्ना।

अजित अगद—विडंग, पाठा, त्रिफला, अजवायन, हींग, तगर, त्रिकटु, सब नमक और चित्रक इन सब का बारीक चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर गाय के सींग में रखकर सींग के ढक्कन से ही ढांप दे। पन्द्रह दिन के पीछे, यह अजित अगद स्थावर और जंगम विषों को नष्ट करनेवाला हो जाता है। इसका नाम अजित अगद है ॥६३,६४॥

प्रपौण्डरीकं सुरदारु मुस्ता
कालानुसार्या कटुरोहणी च ॥६५॥
स्थौणेयकध्यामकगुग्गुलूनि
पुन्नागतालीशसुवर्चिकाश्च।
कुटन्नटैलासितसिन्धुवाराः
शैलेयकुष्ठे तगरं प्रियङ्गुः ॥६६॥
रोध्रं जलं काञ्चनगैरिकं च
समागधं चन्दनसैन्धवं च।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि कृत्वा
शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि ॥६७॥

एषोऽगदस्तार्क्ष्य इति प्रदिष्टो
विषं विहन्यादपि तक्षकस्य ।

तार्क्ष्य अगद—प्रपौण्डरीक, देवदारु, मुस्ता, कालानुसारी, कुटकी, स्थौणेयक, कत्तृण, गुग्गुलु, नागकेसर, इलायची, श्वेत निर्गुण्डी, तालीशपत्र, सुवर्च्चिका (हुलहुल), श्योनाक, शिलारस, कुष्ठ, तगर, प्रियंगु, लोध, वालक, स्वर्ण गैरिक, पिप्पली, चन्दन, सैन्धव, इनका बारीक चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग में रख देवे। इस अगद का नाम तार्क्ष्य अगद है, यह अगद तक्षक के विष को भी नष्ट कर देता है ॥६५-६७॥

मांसीहरेणुत्रिफलामुरङ्गी-
रक्तालतायष्टिकपद्मकानि ॥६८॥
विडङ्गतालीशसुगन्धिकैला-
त्वक्कुष्ठपत्राणि सचन्दनानि ।
भार्गी पटोलं किणिही सपाठा
मृगादनी कर्कटिका पुरश्च ॥६९॥
पालिन्द्यशोकौ क्रमुकं सुरस्याः
प्रसूनमारुष्करजं च पुष्पम् ।
सूक्ष्मानि चूर्णानि समानि शृङ्गे
न्यसेत् सपित्तानि समाक्षिकाणि ॥७०॥
वराहगोधाशिखिशल्लकीनां
मार्जारजं पार्षतनाकुले च ।
यस्यागदोऽयं सुकृतो गृहे स्या-
न्नाम्नर्षभो नाम नरर्षभस्य ॥७१॥
न तत्र सर्पाः कुत एव कीटा-
स्त्यजन्ति वीर्याणि विषाणि चैव ।
एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा
नानद्यमाना विषमाशु हन्युः ॥७२॥
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो
विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति ।

ऋषभ अगद—जटामांसी, हरेणु, त्रिफला, शोमांजन, मंजीठ, लता (प्रियंगु), मुलैहठी, पद्माख, विडंग, तालीशपत्र, सर्पगन्धा, इलायची, दालचीनी, कूठ, तेजपत्र, चन्दन, भार्गी परवल, चिरचिठा, पाठा, इन्द्रायण, कर्कटिका (कर्कटश्रृङ्गी), गुग्गुल, निशोथ, अशोक, सुपारी, तुलसी के फूल, इनका बारीक चूर्ण करके पित्त और मधु के साथ मिलाकर सींग में रख देवे। पित्त—सुअर, गोह, मोर, सेह, बिल्ली, चित्तलहरिण, नेवले का लेना चाहिये। जिस भाग्यवान् राजा के घर में यह ऋषभ अगद रहता है, वहाँ पर न तो सर्प न कीट वीर्य (शक्ति) या विष का त्याग नहीं करते। इस अगद से लेप किये भेरी और नगाड़े बजाने पर विष को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। इस अगद से लिप्त पताकाओं को देखकर विष से पीड़ित मनुष्य तुरन्त निरोग हो जाते हैं ॥६८-७२॥

लाक्षा हरेणुर्नलदं प्रियङ्गुः
शिग्रू द्वयं यष्टिकपृथ्विकाश्च ॥७३॥
चूर्णीकृतोऽयं रजनीविमिश्रो
सर्पिर्मधुभ्यां सहितो निधेयः ।
शृङ्गे गवां पूर्ववदापिधान-
स्ततः प्रयोज्योऽञ्जननस्यपानैः ॥७४॥
संजीवनो नाम गतासुकल्पा-
नेषोऽगदो जीवयतीह मर्त्यान् ।

संजीवन अगद—लाक्षा, हरेणु, जटामांसी, प्रियंगु, मीठा सहजन, कडुआ सहजन, मुलैहठी, बड़ी इलायची, हल्दी इनका चूर्ण करके घी और मधु में मिलाकर गाय के सींग में ढांपकर रख देना चाहिये। पन्द्रह दिन पीछे अंजन, नस्य, पान में बरता हुआ संजीवन अगद मृत तुल्य मनुष्यों को भी जीवित कर देता है ॥७३,७४॥

श्लेष्मातकीकट्फलमातुलुङ्ग्यः
श्वेता गिरिह्वा किणिही सिता च ॥७५॥
सतण्डुलीयोऽगद एष मुख्यो
विषेषु दर्वीकरराजिलानाम् ।

लसूड़ा, कट्फल, बिजौरा, कोयल श्वेत, चिरचिटा, शर्करा (सिता—श्वेतवच भी) इनको चौलाई से मिलाकर बनाया अगद, दर्वीकर और राजिमान् सर्पों के विषों में मुख्य है ।७५।

द्राक्षा सुगन्धा नगवृत्तिका च
श्वेता समङ्गा समभागयुक्ता ॥७६॥
देयो द्विभागः सुरसाच्छदस्य
कपित्थबिल्वादपि दाडिमाच्च ।
तथार्धभागः सितसिन्धुवारा-
दङ्कोठमूलादपि गैरिकाच्च ॥७७॥
एषोऽगदः क्षौद्रयुतो निहन्ति
विशेषतो मण्डलिनां विषाणि ।

द्राक्षा, सर्पगन्धा, नगवृत्तिका (शल्लकी, अथवा नगमृत्तिका पाठ में पहाड़ की मिट्टी) श्वेत कोयल, मजीठ ये प्रत्येक समान भाग, तुलसी के पत्ते, कैथ बिल्व, अनार के पत्र-ये प्रत्येक दो दो भाग, श्वेत निर्गुण्डी, अंकोठ मूल और गेरु ये आधा आधा भाग मिलाये। इसमें मधु मिलाकर बनाया यह अगद मण्डलि सांपों के विष को विशेष रूप में नष्ट करता है ॥७६, ७७॥

वंशत्वगार्द्राऽऽमलकं कपित्थं
कटुत्रिकं हैमवती सकुष्ठा ॥७८॥
करञ्जबीजं तगरं शिरीष-
पुष्पं च गोपित्तयुतं निहन्ति ।
विषाणि लूतोन्दुरपन्नगानां
कीटं च लेपाञ्जननस्यपानैः ॥७९॥
पुरीषमूत्रानिलगर्भसङ्गा-
न्निहन्ति वर्त्यञ्जननाभिलेपैः ।

काचार्मकोथान् पटलांश्च घोरान्
पुष्पं च हन्त्यञ्जननस्ययोगैः ॥८०॥

गीले बाँस की छाल, आँवला, कैथ, सोंठ, मरिच, पीपल, वच, कूठ, करंज के बीज, तगर, शिरीष के फूल, इनको गाय के पित्त में मिलाये। इसका लेप, अंजन और नस्य करने पर मकड़ी, चूहे, साँप और कीटों का विष नष्ट हो जाता है। वर्त्ति, अंजन, नाभिलेप से यह मल-मूत्र-वायु के तथा गर्भ के अवरोध को नष्ट करता है। आँख के काच, अर्म, सडांद, पटल के भयानक रोगों को और पुष्प को यह अंजन एवं नस्य में बरतने से नष्ट करता है ॥७८-८०॥

समूलपुष्पाङ्कुरवल्कबीजात्
क्वाथः शिरीषात् त्रिकटुप्रगाढः।
सलावणः क्षौद्रयुतोऽथ पीतो
विशेषतः कीटविषं निहन्ति ॥८१॥

शिरीष के मूल, फूल, कोमल पत्ते, छाल, बीज, इनका क्वाथ करके उसमें प्रचुर मात्रा में सोंठ, मरिच, पीपल, मधु और लवण मिलाकर पीने से, यह क्वाथ कीट विषों को विशेष करके नष्ट करता है ॥८१॥

कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम्।
मालती नागपुष्पं च सर्वाणि मधुराणि च ॥८२॥
कपित्थरसपिष्टोऽयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः।
विषं हन्त्यगदः सर्वं मूषकाणां विशेषतः ॥८३॥

कूठ, त्रिकटु, दारुहल्दी, मुलैहठी, सैन्धव, सौवर्चल, चमेली, नागकेसर, काकोल्यादि मधुरगण इनको कैथ के रस के साथ पीसकर शर्करा और मधु में मिलाकर बरतने से यह अगद सब विषों को विशेषकर चूहों के विषों को नष्ट करता है ॥

सोमराजीफलं पुष्पं कटभी सिन्धुवारकः।
चोरको वरुणः कुष्ठं सर्पगन्धा ससप्तला ॥८४॥
पुनर्नवा शिरीषस्य पुष्पमारग्वधार्कजम्।
श्यामाऽम्बष्टाविडङ्गानि तथाऽऽम्राश्मन्तकानि च ॥
भूमी कुरबकश्चैव गण एकसरः स्मृतः।
एकशो द्वित्रिशो वाऽपि प्रयोक्तव्यो विषापहः ॥८६॥

बावची, बावची का फूल, श्वेतकोयल, निर्गुण्डी, चोरक, वरणा, कूठ, सर्पगन्धा, सप्तला (यवतिक्ता), पुनर्नवा, शिरीष का फूल, अमलतास का फूल, आक का फूल, निशोथ, पाठा, विडंग, आम, अश्मन्तक, वल्मीक की काली मिट्टी, कुरवक (लाल कटसरैया)—इस समूह का नाम एकसर गण है। ये औषध समूह अकेले अकेले या दो दो या तीन तीन मिलाकर बरतने पर भी विष नाशक हैं ॥८४-८६॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषचिकित्सितं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातो दुन्दुभिस्वनीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे दुन्दुभिस्वनीय कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

धवाश्वकर्णशिरीषतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारि-भद्रकाम्रोदुम्बरकरहाटकार्जुनककुभसर्जकपीतनश्लेष्मात-काङ्कोठामलकप्रग्रहकुटजशमीकपित्थाश्मन्तकार्कचिरबिल्व-महावृक्षारुष्करारलुमधुकमधुशिग्रुशाकगोजीमूर्वाभूर्जति-ल्वकेक्षुरकगोपघोण्टारिमेदानां भस्मान्याहृत्य गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत् दद्याच्चात्र पिप्पली-मूलतण्डुलीयकवराङ्गचोचमञ्जिष्ठाकरञ्जिकाहस्तिपिप्पली-मरिचविडंगगृहधूमानन्तासोमसरलाबाह्लीकगुहाकोशाम्र-श्वेतसर्षपवरुणलवणप्लक्षनिचुलकवञ्जुलवकालवर्धमान-पुत्रश्रेणीसप्तपर्णटुण्टुकैलवालुकनागदन्त्यतिविषाभया-भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावचाचूर्णानि लोहानां च समभागानि, ततः क्षारवदागतपाकमवतार्य लोहकुम्भे निदध्यात् ॥३॥

धावड़ी, अश्वकर्ण, शिरीष, साँदन, ढाक, नीम, पाटला, फरहद, आम, गूलर, मैनफल, अर्जुन, ककुभ, सर्ज (राल), कपीतन (पारस पीपल) लसूड़ा, अंकोठ, आँवला, करंज, कूड़ा, शमी, कैथ, अश्मन्तक, आक, नाटाकरंज, सेहुण्ड, भिलावा, श्योनाक, मुलैहठी, मीठा सहजन, सागौन, गाजवाँ, मूर्वा, भूजपत्र, तिल्वक, तालमखाना, गोपघण्टा (झनझनिया), अरिमेद (विट्खदिर), इनकी भस्म को लेकर गोमूत्र में क्षार विधि से इक्कीस बार नितारकर पकाये। पकाते समय इनमें—पिप्पलीमूल, चौलाई, दालचीनी, चोच (तज—मोटे छिलके की) मंजीठ, करंज, गजपिप्पली, मरिच, विडंग, घर का धुँवासा, सारिवा, कटफल, चीड़, जलबेतस, वेंत, केसर, सालपर्णी, कोशाम्र, श्वेतसरसों, वरणा, नमक, पिलखन, तगर, हरताल, एरण्ड, द्रवन्ती, (मोगलइ एरण्ड), सप्तपर्ण, श्योनाक, एलवालुक, नागदन्ती (इन्द्रवारुणी या बड़ा जमालगोटा), अतीस, हरड़, देवदारु, कूठ, हल्दी वच इनको चूर्ण और लोहा-ताम्र आदि के चूर्ण जो मिल सकें, वे मिलाकर क्षार की भाँति पकाये। जब क्षार की भाँति बन जाये तो उतारकर लोहे के घड़े में रख देवे ॥३॥

अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च।
श्रवणाद्दर्शनात् स्पर्शात् विषात् संप्रतिमुच्यते ॥४॥
एष क्षारागदो नाम शर्करास्वश्मरीषु च।
अर्शःसु वातगुल्मेषु कासशूलोदरेषु च ॥५॥
अजीर्णे ग्रहणीदोषे भक्तद्वेषे च दारुणे।
शोफे सर्वसरे चापि देयः श्वासे च दारुणे ॥६॥
सदा सर्वविषार्तानां सर्वथैवोपयुज्यते।
एष तक्षकमुख्यानामपि दर्पाङ्कुशोऽगदः ॥७॥

इस अगद से दुन्दुभि, पताका, तोरण पर लेप करे। इनके सुनने, दर्शन, और स्पर्श करने पर विष से मुक्त हो जाता है। यह क्षार अगद शर्करा, अश्मरी, अर्श, वातगुल्म, कास, शूल, उदर, अजीर्ण, ग्रहणीरोग, और भोजन की भयानक अरुचि में; शोफ में; सर्वसर शोफ में; भयानक श्वास में उत्तम है। सब प्रकार के विषों से पीड़ित पुरुषों में पान, नस्य, अभ्यंग आदि सब में बरता जाता है। तक्षक जिनमें मुख्य है, ऐसे सर्पों के दर्प के लिये यह अगद अंकुश रूप में है ॥४-७॥

विडङ्गत्रिफलादन्तीभद्रदारुहरेणवः ।
तालीशपत्रमञ्जिष्ठाकेशरोत्पलपद्मकम् ॥८॥
दाडिमं मालतीपुष्पं रजन्यौ सारिवे स्थिरे ।
प्रियङ्गुस्तगरं कुष्ठं बृहत्यौ चैलवालुकम् ॥९॥
सचन्दनगवाक्षीभिरेतैः सिद्धं विषापहम् ।
सर्पिः कल्याणकं ह्येतद्ग्रहापस्मारनाशनम् ॥१०॥
पाण्ड्वामयगरश्वासमन्दाग्निज्वरकासनुत् ।
शोषिणामल्पशुक्राणां वन्ध्यानां च प्रशस्यते ॥११॥

कल्याणकघृत—विडंग, त्रिफला, दन्ती, देवदारु, हरेणु, तालीशपत्र, मंजीठ, केशर, उत्पल (कमल), पद्माख, दाडिमी, चमेली के फूल, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, काली सारिवा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, प्रियंगु, तगर, कूठ, बड़ी कटेरी, कटेरी, ऐलवालुक, चन्दन, इन्द्रायण इनसे सिद्ध किया यह कल्याणकघृत विषनाशक, ग्रहनाशक, एवं अपस्मार नाशक है। पाण्डुरोग, गर, श्वास, मन्दाग्नि, ज्वर, कास नाशक है। शोषरोगी, अल्पशुक्रवाले और वन्ध्याओं के लिये उत्तम है॥

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य च माषकान् ।
श्वेते द्वे काकमाचीं च गवां मूत्रेण पेषयेत् ॥१२॥
सर्पिरेतैस्तु संसिद्धं विषसंशमनं परम् ।
अमृतं नाम विख्यातमपि संजीवयेन्मृतम् ॥१३॥

अपामार्ग (चिरचिटे) के बीज, शिरीष के बीज, श्वेत और नीलीश्वेता (अपराजिता–कोयल), मकोय इनको गोमूत्र से पीसे। इनसे सिद्ध किया (गोमूत्र में) घृत विष के नाश करने में श्रेष्ठ है। इस घृत का नाम अमृत घृत है, यह मृत मनुष्य को भी जीवित करता है ॥१३॥

चन्दनागुरुणी कुष्ठं तगरं तिलपर्णिकम् ।
प्रपौण्डरीकं नलदं सरलं देवदारु च ॥१४॥
भद्रश्रियं यवफलां भार्गीं नीलीं सुगन्धिकाम् ।
कालेयकं पद्मकं च मधुकं नागरं जटाम् ॥१५॥
पुन्नागैलैलवालूनि गैरिकं ध्यामकं बलाम् ।
तोयं सर्जरसं मांसीं शतपुष्पां हरेणुकाम् ॥१६॥
तालीशपत्रं क्षुद्रैलां प्रियंगुं सकुटन्नटाम् ।
शिलापुष्पं सशैलेयं पत्रं कालानुसारिवाम् ॥१७॥
कटुत्रिकं शीतशिवं काश्मर्यं कटुरोहिणीम् ।
सोमराजीमतिविषां पृथ्विकामिन्द्रवारुणीम् ॥१८॥
उशीरं वरुणं मुस्तं कुस्तुम्बुरु नखं तथा ।
श्वेते हरिद्रे स्थौणेयं लाक्षां च लवणानि च ॥१९॥
कुमुदोत्पलपद्मानि पुष्पं चापि तथाऽर्कजम् ।
चम्पकाशोककुसुममस्तिल्वकप्रसवानि च ॥२०॥
पाटलीशाल्मलीशैलुशिरीषाणां तथैव च ।
कुसुमं तृणमूल्याश्च सुरभीसिन्धुवारजम् ॥२१॥
धवाश्वकर्णपार्थानां पुष्पाणि तिनिशस्य च ।
गुग्गुलं कुङ्कुमं बिम्बीं सर्पाक्षीं गन्धनाकुलीम् ॥२२॥
एतत् संभृत्य संभारं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
गोपित्तमधुसर्पिर्भिर्युक्तं शृङ्गे निधापयेत् ॥२३॥
भग्नस्कन्धं विवृत्ताक्षं मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम् ।
अनेनागदमुख्येन मनुष्यं पुनराहरेत् ॥२४॥
एषोऽग्निकल्पं दुर्वारं क्रुद्धस्यामिततेजसः ।
विषं नागपतेर्हन्यात् प्रसभं वासुकेरपि ॥२५॥
महासुगन्धिनामाऽयं पञ्चाशीत्यङ्गसंयुतः ।
राजाऽगदानां सर्वेषां राज्ञो हस्ते भवेत् सदा ॥२६॥
स्नातानुलिप्तस्तु नृपो भवेत् सर्वजनप्रियः ।
भ्राजिष्णुतां च लभते शत्रुमध्यगतोऽपि सन् ॥२७॥

महासुगन्धि अगद—चन्दन, अगरु, कुष्ठ, तगर, हुलहुल, प्रपौण्डरीक, उशीरमेद, चीड़, देवदारु, श्वेत चन्दन, यवफला, भार्गी, नीली, सर्वगन्धा, कालेयक (पीलाचन्दन), पद्माख, मुलैहठी, सोंठ, जटामांसी, नागकेसर, इलायची, ऐलवालुक गेरू, कत्तृण, बला, बालक, राल, छैलछड़ीला, सौंफ, हरेणु, तालीशपत्र, छोटी इलायची, प्रियंगु, केवड़ी मोथा, शिला (मैनसिल), पुष्प (पुष्प कासीस), शिलारस, तेजपत्र, कालानुसारिवा, त्रिकटु, शितशिव (कर्पूर), गम्भारी, कुटकी, बावची, अतीस, मोटा जीरा, इन्द्रायण, खस, वरणा, मुस्ता, धनिया, नख, श्वेत और नीली अपराजिता, हल्दी, दारुहल्दी, स्थौणेय, लाख, पाँचों नमक, कुमुद, उत्पल, नीलाकमल, आक का फूल, चम्पक और अशोक के फूल, तिल्वक के फूल, पाटली-सिम्बल-लसूड़ा शिरीष इनके भी फूल, केवड़ा, सुरभी (रास्ना या शल्लकी) और निर्गुण्डी के फल, धव, अश्वकर्ण, अर्जुन और सॉंदन के पत्ते, गुग्गुलु, केसर, कन्दूरी, सर्पाक्षी, गन्धनाकुली (सुगन्ध मूल, रास्ना), इन सबको एकत्रित करके इनका सूक्ष्म चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को गाय के पित्त, मधु और घी में मिलाकर गाय के सींग में रख देवे। कन्धे गिर जाने पर, आँखें खुली रह जाने पर, मृत्यु के पंजे में फँसे हुए मनुष्य को भी इस मुख्य अगद से वापिस खींच लाये। यह अगद अग्नि के समान अप्रतिहतशक्ति क्रुद्ध के समान महान् तेजस्वी, सर्पों के राजा वासुकी के विष को नष्ट कर देता है। इसका नाम महासुगन्धि है, इसमें पचासी औषधियाँ हैं। यह सब अगदों का राजा है। राजा को सदा हाथ में धारण करना चाहिये। स्नान करके इसका लेप करने से राजा सब

जनों का प्रिय होता है। शत्रुओं के बीच में फंसा हुआ भी तेजस्वी रहता है ॥२७॥

उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यो विषार्तानां विजानता ।
मुक्त्वा कीटविषं तद्धि शीतेनाभिप्रवर्धते ॥२८॥

विष से पीड़ित व्यक्तियों में उष्ण को छोड़कर सब विधि बरतनी चाहिये। कीटविष में उष्ण विधि बरते, क्योंकि यह कीटविष शीत से बढ़ता है ॥२८॥

अन्नपानविधावुक्तमुपधार्य शुभाशुभम् ।
शुभं देयं विषार्तेभ्यो विरुद्धेभ्यश्च वारयेत् ॥२९॥
फाणितं शिग्रुसौवीरमजीर्णाध्यशनं तथा ।
वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम् ॥३०॥
दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायामं क्रोधमातपम् ।
सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः ॥३१॥

अन्नपान विधि में कहा हुआ हित-अहित विचार करके विषपीड़ित व्यक्तियों को हितकारी अन्न दे। और विरोधि हानिकारक वस्तुओं से रोके। राब, सुहाजन, कांजी, अजीर्ण, अध्यशन, एवं संक्षेप से नवधान्यादिगण इनसे बचाये। दिन में सोना, मैथुन, व्यायाम, क्रोध, धूप, सुरा, तिल, कुलत्थी इनको विष से पीड़ित व्यक्ति छोड़ देवे ॥२९-३१॥

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाङ्क्षं समसूत्रजिह्मम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ३२

अविष मनुष्य—स्वभाव में स्थित वातादि दोष, होने पर रसादि धातु और मल अपने स्वभाव में आने पर, अन्न की रुचि होने पर, मन के साथ उचितरूप में रस को ग्रहण करनेवाली जिह्वा के होने पर, वर्ण-इन्द्रिय-चित्त और चेष्टा के प्रसन्न (स्वाभाविक) हो जाने पर, वैद्य मनुष्य को विषरहित जाने ॥

वक्तव्य—विषयुक्त मनुष्य के लक्षण—प्रवृद्धदोषंविकृतिस्थधातुमनन्नकाङ्क्षं क्षतसूत्रजिह्मम्। विरुद्धवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेत् सविषं मनुष्यम् ॥ समसूत्रजिह्मम् के स्थान पर "सममूत्रविट्कम्" पाठ है वह ठीक है, मल मूत्र ठीक रूप में हों।

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने दुन्दुभिस्वनीयकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो मूषिककल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूषिक कल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वतरि ने कहा था ॥१,२॥

पूर्वं शुक्रविषा उक्ता मूषिका ये समासतः ।
नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध मे ॥३॥
लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिरश्चिक्किव (कि) रस्तथा ।
छुच्छुन्दरोऽलसश्चैव कषायदशनोऽपि च ॥४॥
कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा ।
कोकिलोऽरुणसंज्ञश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः ॥५॥
श्वेतेन महता सार्धं कपिलेनाखुना तथा ।
मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥६॥

शुक्रविषवाले जो चूहे पहिले संक्षेप में कहे हैं, वे अठारह हैं। उनके नाम, लक्षण और औषध मुझसे सुनो! लालन, पुत्रक, कृष्ण, हंसिर, चिक्किर, छुछुन्दर, अलस, कषाय दशन, कुलिंग, अजित, चपल, कपिल, कोकिल, अरुण, महाकृष्ण, उन्दुर, महाश्वेत, कपिल, कपोताभ-ये अठारह चूहे हैं।

वि० मन्तव्य—लालन-स्यात् लालन नामक चूहे वे हैं जो पालतू होते हैं। पुत्रक—स्यात् वे हैं जो बहुत छोटे छोटे होते हैं। यह अन्य चूहों की अपेक्षा छोटे रहते हैं। छुच्छुन्दर-इसी नाम से प्रसिद्ध है, इससे अप्रिय गन्ध आती है। महाकृष्ण-इसे पञ्जाब में "घीस" कहते हैं। यह मिट्टी बहुत खोदता है रात्रिभर में ढेर लगा देता है। चपल-बहुत चञ्चल होता है। महाश्वेत-खरगोश जितना बड़ा होता है, किसी २ बड़े घरों में पाला जाता है और श्वेत वर्ण का, कोमल बालोंवाला, लाल आंखोंवाला होता है ॥३-६॥

शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति वा ।
नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥७॥

इन चूहों का शुक्र जहां पर गिर जाता है, शुक्रवाली वस्तु का जहां स्पर्श होता है तथा इनके नख, दांत आदि से उस अंग में रक्त दूषित हो जाता है।

तन्त्रान्तर में—"शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वाक्षिपन्तीह मूषिका पञ्चधा विषम्।

वि० मन्तव्य—चूहे-प्रधानतः शुक्र विष होते हैं परन्तु इनके नख एवं दन्त में भी विष होता है, कुछ चूहे निर्विष भी होते हैं। श्री डल्लन ने किसी तन्त्र का वचन उद्धृत किया है—यथा—"गर्भिण्या मूषिकया दष्टे अम्लादिदोहदः ऋतुमत्या दष्टे रक्त मेहनं आध्मानं रतिशीलता च" इत्यादि अर्थात् गर्भवती चूही द्वारा काटने पर अम्ल आदि द्रव्यों के सेवन की अभिलाषा, ऋतुमती—रजस्वला चूही द्वारा काटने पर मूत्र में रक्त जाना (नारी का रजस्वला होना) अफरा तथा मैथुन की इच्छा होना आदि २ ॥७॥

जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च ।
पीडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥८॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाऽङ्गसदनं ज्वरः ।
दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम् ॥९॥
दष्टरूपं समासोक्तमेतद्व्यासमतः शृणु ।

इनके काटने से, गांठें, सूजन, कर्णिका (उभार), मण्डल (चकत्ते), फुन्सियां उत्पन्न होना, भयानक विसर्प, किटिभ, पर्वभेद, तीव्रपीड़ा, मूर्च्छा, अङ्गों की शिथिलता, ज्वर, दुर्बलता,

अरुचि, श्वास, वमन, लोमहर्ष ये संक्षेप में लक्षण होते हैं। विस्तार से सुनो।

वि० मन्तव्य—ग्रन्थयः-श्लैष्मिक ग्रन्थियों का शोथ शोफ-दष्ट स्थान पर शोथ अथवा व्रणशोथ की उत्पत्ति। कर्णिका कमल के बीज कोश का सा शोथ। लक्षणों पर ध्यान देने से "प्लेग" जिसको "ग्रन्थिक ज्वर" कहते हैं, का आभास होता है। यद्यपि एलोपेथी का कथन है कि चूहों का विष–पिस्सुओं द्वारा मानव पर आक्रान्त होता है। जो कुछ होता है तो मूसा का ही विष। प्लेग में ५० प्रतिशत वंक्षण सन्धि की ग्रन्थि का शोथ होता है इस ग्रन्थि का नाम लोहिताक्ष मर्म है यथा "ऊरु-मूले लोहिताक्षं च" सु० शा० अ० ६-२४। मर्मस्थल का शोथ होने के कारण ही प्लेग इतनी भीषण होती है। यह ग्रन्थिक ज्वर कभी २ मरक के रूप में फैलकर जनपद का विद्ध्वंस कर देता है ॥८,६॥

लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते ॥१०॥
तण्डुलीयककल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।

लालन चूहे के कारण लालास्राव, हिचकी, वमन होती है। इसमें चौलाई के कल्क को मधु के साथ चाटे ॥१०॥

पुत्रकेणाङ्गसादश्च पाण्डुवर्णश्च जायते ॥११॥
चायते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः।
शिरीषेङ्गुदकल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम् ॥१२॥

पुत्रक चूहे से अंगों में शिथिलता, पीलापन, चूहे के बच्चे के समान गांठों से अंग भर जाता है। इसमें शिरस और हिंगोट का कल्क मधु के साथ चाटे ॥११,१२॥

कृष्णेन दंशे शोफोऽसृक्छर्दिः प्रायश्च दुर्दिने।
शिरीषफलकुष्ठं तु पिबेत् किंशुकभस्मना ॥१३॥

कृष्ण चूहे से काटने पर शोफ और प्रायः करके बादल आने पर रक्त का वमन होता है। इसमें शिरीष के फल और कूठ को ढाक के फूल की भस्म के पानी में घोलकर उसके साथ पिये ॥१३॥

हंसिरेणान्नविद्वेषो जृम्भा रोम्णां च हर्षणम्।
पिबेदारग्वधादिं तु सुवान्तस्तत्र मानवः ॥१४॥

हंसिर चूहे से अन्न में विद्वेष, जम्भाई आना, रोमांच होता है। इसमें भली प्रकार वमन करके आरग्वधादि गण को पिये॥

चिकि (क्कि) रेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमिस्तथा।
जालिनीमदनाङ्कोठकषायैर्वामयेत्तु तम् ॥१५॥
यवनालर्षभीक्षारं बृहत्योश्चात्र दापयेत्।

चिक्किर से शिर में वेदना, शोफ, हिक्का, वमन होता है। इसमें कडुईतोरी, मैनफल, अंकोठ, इनके कषाय से वमन कराये। इसमें जौ के नाल (यवक्षार), कौंच और बड़ी कटेरी का क्षार मिला देवे ॥१५॥

छुच्छुन्दरेण तृट् छर्दिर्ज्वरो दौर्बल्यमेव च ॥१६॥
ग्रीवास्तम्भः पृष्ठशोफो गन्धाज्ञानं विसूचिका।
चव्यं हरीतकी शुण्ठी विडङ्गं पिप्पली मधु ॥१७॥
अङ्कोठबीजं च तथा पिबेदत्र विषापहम्।

छुछुन्दर से प्यास, वमन, ज्वर, दुर्बलता, ग्रीवास्तम्भ, पीठ में सूजन, गन्ध का ज्ञान न होना, विसूचिका, होती है। इसमें चव्य, हरड़, सोंठ, वायविडंग, पिप्पली, अंकोठ के बीज, और मधु पिये। यह विष नाशक है ॥१६,१७॥

ग्रीवास्तम्भोऽलसेनोर्ध्ववायुर्दंशे रुजाः ज्वरः ॥१८॥
महागदं ससर्पिष्कं लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।
निद्रा कषायदन्तेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च ॥१९॥
क्षौद्रोपेताः शिरीषस्य लिह्यात् सारफलत्वचः।
कुलिङ्गेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमण्डले ॥२०॥
सहे ससिन्धुवारे च लिह्यात्तत्र समाक्षिके।

अलस से ग्रीवास्तम्भ ऊर्ध्ववायु, दंश में वेदना, ज्वर होता है। इसमें घी और मधु के साथ महागद को चाटे। कषायदन्त चूहे से नींद का आना, हृदयशोष, कृशता, होती है। इसमें शिरस के सार, फल, छाल को मधु के साथ चाटे। कुलिंग चूहे से वेदना सूजन एवं दंश स्थान पर रेखायें होती हैं। इसमें मुद्गपर्णी, माषपर्णी, सिन्धुवार को मधु के साथ चाटे॥

अजितेनाङ्गकृष्णत्वं छर्दिर्मूर्च्छा च हृद्ग्रहः ॥२१॥
स्नुक्क्षीरपिष्टां पालिन्दीं मञ्जिष्ठां मधुना लिहेत्।

अजित से अङ्ग में कालापन, वमन, मूर्च्छा, हृद्ग्रह होता है। इसमें थोरके दूध में निशोथ, मजीठ को पीसकर मधु से चाटे ॥२१॥

चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया ॥२२॥
क्षौद्रेण त्रिफलां लिह्याद्भद्रकाष्ठजटान्विताम्।

चपल से वमन, मूर्च्छा और प्यास होती है। इसमें त्रिफला, देवदारु, जटामांसी को मधु के साथ चाटे ॥२२॥

कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमः सतृट् ॥२३॥
लिह्यान्मधुयुतां श्वेतां श्वेतां चापि पुनर्नवाम्।
ग्रन्थयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः ॥२४॥
वर्षाभूनीलिनीक्वाथकल्कसिद्धं घृतं पिबेत्।

कपिल से व्रण में सड़ना, ज्वर, गांठों का उत्पन्न होना और प्यास होती है। इसमें श्वेत कोयल और श्वेत पुनर्नवा को चाटे। कोकिल से गांठें, तीव्रज्वर, भयानक दाह होता है। इनमें पुनर्नवा, नीलिनी इसके क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत पीये ॥२३,२४॥

अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान् ॥२५॥
महाकृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च।

महता कपिलेनासृक् कपोतेन चतुष्टयम् ॥२६॥
भवन्ति चैषां दंशेषु ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः ।
पिडकोपचयश्चोग्रः शोफश्च भृशदारुणः ॥२७॥
दधिक्षीरघृतप्रस्थास्त्रयः प्रत्येकशो मताः ।
करञ्जारग्वधव्योषबृहत्यंशुमतीस्थिराः ॥२८॥
निष्क्वाथ्य चैषां क्वाथस्य चतुर्थोंऽशः पुनर्भवेत् ।
त्रिवृद्गोज्यमृतावक्रसर्पगन्धाः समृत्तिकाः ॥२९॥
कपित्थदाडिमत्वक् च श्लक्ष्णपिष्टाः प्रदापयेत् ।
तत् सर्वमेकतः कृत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥३०॥
पञ्चानामरुणादीनां विषमेतद्व्यपोहति ।
काकादनीकाकमाच्योः स्वरसेष्वथवा कृतम् ॥३१॥
सिराश्च स्रावयेत् प्राप्ताः कुर्यात् संशोधनानि च ।

अरुण से कुपितवायु वातजन्य रोगों को करती है। महा-कृष्ण से पित्त और महाश्वेत से कफ कुपित होता है। महा कपिल से रक्त और कपोत से चारों दोष कुपित होते हैं। इसके दंशस्थान में ग्रन्थियाँ, चकत्ते, कर्णिकायें होती हैं। भयानक फुन्सियों की वृद्धि और अतिशय शोफ होता है। इसके लिये—दही, दूध और घी प्रत्येक एक-एक प्रस्थ, करंज, अमलतास, मरिच, पिप्पली, कटेरी, पृश्नपर्णी, शालपर्णी इनका क्वाथ करे। इस क्वाथ में क्वाथ का चौथाई—निशोथ, गाजवां गिलोय, तगर, सर्पगन्धा, काली मिट्टी, कैथ की छाल और अनार की छाल बारीक पीसकर पिलाये। इन सबको मृदु अग्नि से पकाये। अरुण आदि पांचों चूहों के विष को यह नष्ट करता है। अथवा ककादनी (सफेद घेऊँची) और मकोय के स्वरस में घृत को सिद्ध करे। मर्मस्थान की सिराओं को छोड़कर योग्य स्थानों पर सिरामोक्षण करे, वमन-विरेचन आदि संशोधन देवे॥

सर्वेषां च विधिः कार्यो मूषिकाणां विषेष्वयम् ॥३२॥

सब मूषिकाओं के विष में यह विधि (सिरावेधन, संशोधन) करनी चाहिये ॥३२॥

दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत् ।
शिरीषरजनीकुष्ठकुङ्कुमैरमृतायुतैः ॥३३॥

अग्नि में गरम किये घी से दंश को जलाये, पाछकर दंश में से रक्त निकाले। दंश पर शिरीष, हल्दी, कुष्ठ, केसर और गिलोय इनसे लेप करे ॥३३॥

छर्दनं जालिनीक्वाथैः शुकाख्याङ्कोठयोरपि ।
शुकाख्याकोषवत्योश्च मूलं मदन एव च ॥३४॥

जालिनी (कड़ुई तुरई जिससे पैर रगड़ते हैं), शुकाख्य (शिरीष या श्योनाक) और अंकोठ इनके क्वाथ से वमन कराये ॥३४॥

देवदालीफलं चैव दध्ना पीत्वा विषं वमेत् ।
सर्वमूषिकदष्टानामेष योगः सुखावहः ॥३५॥
फलं वचा देवदाली कुष्ठं गोमूत्रपेषितम् ।
पूर्वकल्पेन योज्याः स्युः सर्वोन्दुरुविषच्छिदः ॥३६॥

शिरीष, कड़ुई तुरई, इनकी जड़, मैनफल, कुकड़लता का फल इनको दही के साथ पीकर वमन करे। सब चूहों के दंश में यह योग सुखदायक है। मैनफल, वच, कुकड़लता, कूठ इनको गोमूत्र में पीसकर दही के साथ पीना चाहिये। सब चूहों के विष को नष्ट करता है ॥३५,३६॥

विरेचने त्रिवृद्दन्तीत्रिफलाकल्क इष्यते ।
शिरोविरेचने सारः शिरीषस्य फलानि च ॥३७॥
हितस्त्रिकटुकाढ्यश्च गोमयस्वरसोऽञ्जने ।

विरेचन के लिये निशोथ, दन्ती (जमालगोटा) और त्रिफला का कल्क बरता जाता है। शिरोविरेचन के लिये शिरस का सार भाग (मध्य भाग), और फल बरते। सोंठ, मरिच, पीपल मिलाकर गोबर के स्वरस का अंजन करे ॥३७॥

कपित्थगोमयरसौ लिह्यान्माक्षिकसंयुतौ ॥३८॥
रसाञ्जनहरिद्रेन्द्रयवकट्वीषु वा कृतम् ।
प्रातः वातिविषं कल्कं लिह्यान्माक्षिकसंयुतम् ॥३९॥
तण्डुलीयकमूलेषु सर्पिः सिद्धं पिबेन्नर ।
आस्फोतमूलसिद्धं वा पञ्चकापित्थमेव वा ॥४०॥

कैथ का स्वरस या गोबर के रस को मधु के साथ चाटे। रसौत, हल्दी, इन्द्रजौ, कटुरोहिणी इनके कल्क को मधु के साथ खाये। अतीस के कल्क को मधु के साथ प्रातःकाल खाये। चौलाई के मूल से सिद्ध किया घृत पीये। सारिवा के मूल में या कैथ के पत्ते, फल, मूल, पुष्प और छाल इनके कषाय और क्वाथ में सिद्ध घृत पीये ॥३८-४०॥

मूषिकाणां विषं प्रायः कुप्यत्यभ्रेष्वनिर्हृतम् ।
तत्राप्येष विधिः कार्यो यश्च दूषीविषापहः ॥४१॥

न निकला हुआ चूहों का विष प्रायः करके बादल आनेपर कुपित होता है। वहाँ पर यही वमन विरेचन, शिरोविरेचन आदि विधि और दूषीविष नाशक उपचार बरतना चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्लेग के ४-५ प्रकोपों में देखा गया कि बादल छाने पर इस रोग से अधिक मानव आक्रान्त होते हैं और माघ, फागुन, एवं चैत्र में जब २ प्लेग का प्रकोप अधिक बढ़ा तब २ बादल, वर्षा, बून्दाबान्दी आदि अवश्य हुए थे॥

स्थिराणां रुजतां वाऽपि व्रणानां कर्णिकां भिषक् ।
पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ॥४२॥

स्थिर (न भरनेवाले) अथवा भरते हुए व्रणों की कर्णिका को वैद्य चीरकर दोष के अनुसार एवं व्रण की अवस्थानुसार चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—प्लेग की कर्णिका फोड़ा के समान पकती फूटती है, कभी २ चीरा भी लगाना पड़ता है इस दशा में सब

उपचार-व्रण शोथ एवं व्रण के समान ही किये जाते हैं ॥४२॥

श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः॥४३॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अत्यर्थबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति॥४४॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु।
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक्॥४५॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः।

कुत्ता, गीदड़, तरक्षु (लकड़ मकड़), रीछ, व्याघ्र आदि में कफ से दूषित वायु जब संज्ञावह स्रोतों का आश्रय करके सज्ञा को नष्ट कर देती है, तब पशुकी पूँछ, हनु और कन्धे बहुत ढीले हो जाते हैं (उसका इनपर वश नहीं रहता), मुख से बहुत लाला बहती है, पशु अन्धा, बहरा हो जाता है, वह एक दूसरे की ओर भागता है। उस पागल विषवाले, दंष्ट्रि पशु के काटने से दंश में सुप्तता (बे भान पन) आ जाती है, और काले रंग का रक्त बहुत बहता है। प्रायः करके विषयुक्त शस्त्र से मारे के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—कुत्ता, सियार आदि उन्मत्त-पागल हो जाते हैं, यह उन्हीं का वर्णन है। "अत्यन्तवधिरोऽन्धश्च" के स्थान में "अव्यक्तवधिरान्धश्च" पाठान्तर है, और यही समीचीन भी है क्योंकि—उन्मत्त कुत्ता पूर्णरूप से न बधिर ही होता है और न अन्ध ही होता है, कुछ २ कभी २ सुनता भी है, हल्ला होने पर भाग जाता है, और देखता भी है, लाठी आदि देखकर भाग जाता है। वस्तुतः यह उन्मत्त हो जाता है। ऐसे कुत्ता आदि का विष मानव नहीं पशुओं पर भी प्रभाव डालता है और इस विष से मानव एवं पशु भी उन्मत्त हो जाते हैं और काटने लगते हैं। तथा उन्हीं की सी चेष्टाएँ करने लगते हैं ॥४३-४५॥

येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः॥४६॥
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति।

जिस प्राणी से काटा गया हो, यदि उसी प्राणी के समान चेष्टा और शब्द का रोगी बार-बार अनुकरण करता हो, एवं अपनी क्रियायें नष्ट हो गई हों, तो वह मनुष्य मर जाता है ॥४६॥

दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति॥४७॥
अप्सु वा यदि वाऽऽदर्शेऽरिष्टं तस्य विनिर्दिशेत्।

जिस पशु से मनुष्य काटा गया है, उसी पशु के रूप को यदि रोगी, जल में आईने (दर्पण) में देखता है, उसका अरिष्ट मृत्यु लक्षण समझे (वह मरेगा)।

वि० मन्तव्य—इस दंश के पूर्व यदि चिकित्सा हो जाती है तब कोई विकार नहीं होता ॥४७॥

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम्॥४८॥
जलत्रासं तु विद्यात्तं रिष्टं तदपि कीर्तितम्।

जो मनुष्य बिना कारण के सहसा ही जल को देखकर या छूकर डर जाता है, उसको भी रिष्ट-मृत्यु सूचक लक्षण जानना। इस अवस्था को जलत्रास कहते हैं।

वि० मन्तव्य—जलत्रास-पागल कुत्ता आदि द्वारा काटने पर प्रातः जलत्रास हो जाता है। और यह दशा असाध्य है परन्तु यदि वैसे ही जलत्रास हो जाता है तो उसकी चिकित्सा हो सकती है (डल्हणाचार्य) ॥४८॥

अदष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति॥४९॥
प्रसुप्तोऽथोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति।

अथवा दंष्ट्रि पशु से बिना काटे भी जिसमें जल त्रास के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, वह भी अच्छा नहीं होता। सोकर पीछे उठने पर जलत्रास हो, या स्वस्थ अवस्था में जलत्रास हो तो वह भी असाध्य है॥

वक्तव्य—बिना पशु के काटे भी जलत्रास होता है। यथा-बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलं प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धाय श्लेष्मणाऽधिष्ठितो नरः। जाग्रत् सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जन्तमिव मन्यते। सलिले त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः। श्लेष्मघ्नं तत्र कर्त्तव्यं शोधनं शमनानि च॥ आहारस्य विधानेन यावत् स प्रकृतिं व्रजेत्॥४९॥

दंशं विस्राव्य तैर्दष्टे सर्पिषा परिदाहितम्॥५०॥
प्रदिह्यादगदैः सर्पिः पुराणं पाययेत च।
अर्कक्षीरयुक्तं ह्यस्य दद्याच्चापि विशोधनम्॥५१॥
श्वेतां पुनर्नवां चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम्।
पललं तिलतैलं च रूपिकायाः पयो गुडः॥५२॥
निहन्ति विषमालर्कं मेघवृन्दमिवानिलः।

इन पशुओं के काटने पर दंश को दबाकर रक्त निकालकर घी से जलाये। अगदों से दंश पर लेप करे और पुराना घृत पिलाये। आक के दूध से मिला विरेचन इसको देवे। धतूरे के साथ श्वेत कोयला और पुनर्नवा को दे! पलल (तिलकल्क), तिल तैल और आक का दूध, गुड़ इनको दे। यह पागल जानवरों के विष को ऐसे नष्ट करती है, जैसे कि वायु बादलों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—घृत स्नेह से गहराई में दाह होता है। यथा—अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वाद् त्वगादीननुप्रविश्य आशु दहति। तस्मात् स्नेहदग्धोऽधिकारुजो भवति॥सु०

वि० मन्तव्य—दष्टस्थान पर तत्काल लाल मरिच अथवा काली मिरच पीसकर लेप करे। इससे दो लाभ होते हैं १—पता चल जाता है कि काटनेवाला कुत्ता आदि उन्मत्त था अथवा नहीं क्योंकि उन्मत्त द्वारा काटने पर दष्ट स्थान से

सुप्तता अर्थात् शून्यता हो जाती है (श्लो० ४५) फलतः मरिच की तीक्ष्णता का अनुभव होता है। इस दशा में तत्काल उचित चिकित्सा में तत्पर हो जाना चाहिये। २—मरिच उच्चकोटि का विषनाशक अतः प्रारम्भिक उपचार हो जाता है॥५०-५२॥

मूलस्य शरपुङ्खायाः कर्षं धत्तूरकार्धिकम् ॥५३॥
तण्डुलोदकमादाय पेषयेत्तण्डुलैः सह।
उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्यापूपकं पचेत् ॥५४॥
खादेदौषधकाले तमलर्कविषदूषितः।
करोति श्वविकारांस्तु तस्मिञ्जीर्यति चौषधे ॥५५॥
विकाराः शिशिरे याप्या गृहे त्वारिविवर्जिते।
ततः शान्तविकारस्तु स्नात्वा चैवापरेऽहनि ॥५६॥
शालिषष्टिकयोर्भक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत्।
दिनत्रये पञ्चमे वा विधिरेषोऽर्धमात्रया ॥५७॥
कर्तव्यो भिषजाऽवश्यमलर्कविषनाशनः।
कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः ॥५८॥
तस्मात् प्रकोपयेदाशु स्वयं यावत् प्रकुप्यति।

शरपुंखा का मूल एक कर्ष, धत्तूरा आधा कर्ष, इनको चावलों के पानी के साथ चावलों के साथ ही देवे। इसको धत्तूरे के पत्तों में पिट्ठी की तरह भरकर अपूप (कचौरी) बनाये। इनको पागल पशु के विष से दूषित मनुष्य औषधि के समय में खाये। इस औषधि के पचने पर मनुष्य उन्मत्त कुत्ते की भाँति चेष्टायें करता है। पानी रहित शीतल घर में रोगी को ले जाने से विकार शान्त हो जाते हैं। विकार के शान्त हो जाने पर स्नान कराके दूसरे दिन शाली और साँठी के भात को गरम दूध से खाने को देवे। तीसरे दिन या पाँचवें दिन यही विधि आधी मात्रा में बरते। पागल कुत्ते आदि के विष को नष्ट करने के लिये यह विधि अवश्य वैद्य को करनी चाहिये। जिस मनुष्य में विष स्वयं कुपित हो जाता है, वह नहीं बचता। वह स्वयं कुपित हो, इससे पहिले उस विष को वैद्य कुपित करे। (धतूरा खिलाकर रोगी को धूप में रखते हैं, जिससे जल्दी प्रभाव हो)।

वि० मन्तव्य—धत्तूरे के बीज एवं पत्र के प्रयोग से उन्माद हो जाता है और 'विषस्य विषं औषधं' के अनुसार जंगम विष में स्थावर विष औषध है जो विषम् के प्रभाव को नष्ट कर देता है। विकाराः—विवर्जिते—रोगी के विकारों का यापन (शमन के लिये प्रतीक्षा) ऐसे घर में—स्थान में करनी चाहिये जो शीतल हो परन्तु वहाँ जल न हो अर्थात् वह जल द्वारा शीतल न किया गया हो। हम देखते हैं कि कुत्ते की विष की शान्ति के लिये जो २ अस्पताल बने हैं वे सब ऐसे स्थानों पर बनाए गये हैं, जहाँ जल की अधिकता नहीं है, परन्तु शीतल हैं, यथा—शिमला के पास कसौली पर्वत। यह ऊँचा है, शीतल है, परन्तु वहाँ जल के झरने नहीं हैं। पाठक ध्यान से देखें कि ये स्थान भगवान् धन्वन्तरि के उपदेशानुसार चुने गये हैं॥५३-५८॥

बीजरत्नौषधीगर्भैः कुम्भैः शीताम्बुपूरितैः ॥५९॥
स्नापयेत्तं नदीतीरे समन्त्रैर्वा चतुष्पथे।
बलिं निवेद्य तत्रापि पिण्याकं पललं दधि ॥६०॥
माल्यानि च विचित्राणि मांसं पक्वामकं तथा।
अलकाधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप ॥६१॥
अलर्कजुष्टमेतन्मे निर्विषं कुरु माचिरात्।

बीज (तिलादि), रत्न, औषधि इनको जलपात्रों में डालकर इनको शीतल जल से भरकर पागल पशु से काटे मनुष्य को नदी के किनारे या चौराहे पर नहलाये। वहाँ पर तिलखल, तिलकल्क, दही की बलि देकर, नाना प्रकार की मालायें, कच्चे एवं पके मांस की बलि देवे। हे अलकाधिपति यक्ष, सारमेयगण के राजा! पागल कुत्ते से काटे हुए मुझको शीघ्र निर्विष करो॥५९-६१॥

दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः ॥६२॥
अशुद्धस्य सुरूढेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम्।

इस प्रकार स्नान किये व्यक्ति को तीक्ष्ण संशोधन देवे। क्योंकि अशुद्ध व्यक्ति में व्रण के भर जाने पर भी विष कुपित हो जाता है॥६२॥

श्वादयोऽभिहिता व्याला येऽत्र दंष्ट्राविषा मया ॥६३॥
अतः करोति दष्टस्तु तेषां चेष्टां रुतं नरः।
बहुशः प्रतिकुर्वाणोनचिरान्म्रियते च सः ॥६४॥

यहाँ पर कुत्ते आदि दंष्ट्राविषवाले जो हिंसक पशु मैंने कहे हैं, उनसे काटा हुआ मनुष्य उनके समान ही चेष्टा और शब्द को करता है। जो बार-बार इनका अनुकरण करता है, वह शीघ्र ही मर जाता है॥६३,६४॥

नखदन्तक्षतं व्यालैर्यत्कृतं तद्विमर्दयेत्।
सिञ्चेत्तैलेन कोष्णेन ते हि वातप्रकोपकाः ॥६५॥

हिंसक पशुओं के नख या दाँतों से जो क्षत बना हो, उसको मल देवे, और गरम सुहाते तेल से सेक करे। क्योंकि ये नख और दाँत वायु को प्रकुपित करते हैं।

वि० मन्तव्य—प्रकृतिस्थ—स्वस्थ—सिंह, बानर आदि के नख एवं दन्त के क्षत में विसर्प अर्थात् क्षतज विसर्प हो जाता है। सींग का क्षत भी नखक्षत के समान समझना चाहिये॥६५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने मूषिककल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः कीटकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कीटकल्प का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—कीट-छोटे २ कीड़े इनके नाम तथा इनके द्वारा काटने पर होनेवाले विकार एवं उनकी चिकित्सा इस अध्याय में वर्णित है ॥१,२॥

सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसंभवाः।
वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥३॥
सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः।
कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः ॥४॥

साँपों के शुक्र मल-मूत्र-शव के सड़ने से तथा अण्डों से उत्पन्न होनेवाले, वायु-अग्नि (पित्त), अम्बु (कफ) की प्रकृति के कीट नाना प्रकार के कहे हैं। परिणाम से ये कीट सब दोषों की प्रकृति से युक्त होते हैं। कीट होने पर भी (छोटे-तुच्छ होने पर भी) ये अति भयानक होते हैं, ये चार प्रकार के हैं ॥३,४॥

कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी श्रृंगी शतकुलीरकः।
उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च चिच्चिटिंगो मयूरिका ॥५॥
आवर्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ।
शरावकुर्दोऽभीराजिः परुषश्चित्रशीर्षकः ॥६॥
शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिश्च कीर्तितः।
अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः ॥७॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः।

कुम्भीनस, तुण्डीकेरी, शृङ्गी, शतकुलीरक, उच्चिटिंग, अग्निनामा, चिच्चिटिंग, मयूरिका, आवर्त्तक, उरभ्र, सारिका, मुखवैदली, शरावकुर्द, अभिराजि, परुष, चित्रशीर्षक, शतबाहु, रक्तराजी, ये अठारह, कीट वात स्वभाव के हैं, वायु को कुपित करते हैं। इनके काटने से वातजन्य रोग होते हैं ॥५-७॥

कौण्डिन्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः ॥८॥
विनासिका ब्राह्मणिका बिन्दुलो भ्रमरस्तथा।
बाह्यकी पिच्चिटः कुम्भी वर्चःकीटोऽरिमेदकः ॥९॥
पद्मकीटोदुन्दुभिको मकरः शतपादकः।
पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गर्दभी ॥१०॥
क्लीतः कृमिसरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकस्तथा।
एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरेव च ॥११॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः।

कौण्डिन्य, कणभक, वरटी, पत्रवृश्चिक, विनासिका, ब्राह्मणिका, विन्दुल, भ्रमर, ब्राह्मणिका, विच्चट, कुम्भी, वचः-कीट, अरिमेदक, पद्मकीट, दुन्दुभिक, मकर, शतपादक, पञ्चालक, पाकमत्स्य, कृष्णतुण्ड, गर्दभी, क्लीत, कृमिसारी, उत्क्लेशक, ये चौबीस कीट, पित्तप्रकृति के हैं। इनके काटने से पित्तप्रकोपजन्य रोग होते हैं ॥८-११॥

विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः ॥१२॥
सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिभस्तथा।
सूचीमुखः कृष्णगोधा यश्च काषायवासिकः ॥१३॥
कीटो गर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च।
त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटः श्लेष्मप्रकोपणाः ॥१४॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः कफनिमित्तजाः।

विश्वम्भर, पञ्चशुक्ल, पञ्चकृष्ण, कोकिल, सैरेयक, प्रचलक, वलभ, किटिभ, सूचीमुख, कृष्णगोधा, काषायवासिक, गर्दभक, त्रोटक, ये तेरह कीट सौम्य एवं कफ प्रकोपक हैं। इनके काटने से कफजन्य रोग होते हैं ॥१२-१४॥

तुंगीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा ॥१५॥
कोष्ठागारी कृमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः।
तुण्ड (ड) नाभः सर्षपिको वल्गुलिः शम्बुकस्तथा १६
अग्निकीटश्च विज्ञेया द्वादश प्राणनाशनाः।
तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् ॥१७॥
तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः।
क्षाराग्निदग्धवद्दंशो रक्तपीतसितारुणः ॥१८॥

तुंगीनास, विचिलक, कालक, वाहक, कोष्ठागारी, कृमिकर, मण्डलपुच्छक, तुण्डनाभ, सर्षपिका, वल्गलि, शम्बूक, अग्नि-कीट ये बारह प्राण नाशक हैं। इनके काटने पर साँपों की भाँति वेग होते हैं। उसी प्रकार की वेदनायें होती हैं, और ये सन्निपात के लक्षण उत्पन्न करते हैं। इनका दंश क्षार या अग्नि से जलने की भाँति-लाल, पीला, श्वेत या काला होता है॥

ज्वरांगमर्दरोमाञ्चवेदनाभिः समन्वितः।
छर्द्यतीसारतृष्णाश्च दाहो मूर्च्छा विजृम्भिका ॥१९॥
वेपथुश्वासहिक्काश्च दाहः शीतं च दारुणम्।
पिडकोपचयः शोफो ग्रन्थयो मण्डलानि च ॥२०॥
दद्रवः कर्णिकाश्चैव विसर्पाः किटिभानि च।
तैर्भवन्तीह दष्टानां यथास्वं चाप्युपद्रवाः ॥२१॥
येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूर्णं तेषां समादिशेत्।
दूषीविप्रकोपाच्च तथैव विषलेपनात् ॥२२॥
लिंगं तीक्ष्णविषेष्वेतत्

इन कीटों के तीक्ष्ण विष में—ज्वर, अङ्गों का टूटना, रोमांच, वेदनाओं के कारण छर्दि, अतिसार, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, जम्भाई आना, कम्पन, श्वास, हिक्का, दाह, अतिशय-शीत, पिड़काओं की वृद्धि, शोफ, गाँठें, मण्डल, दद्रु, कर्णि-कायें, विसर्प, किटिभ, इनके काटने से दोषों के अपने-अपने उपद्रव होते हैं और जो अन्य उपद्रव हैं, उनके भेदों को भी इसी विष के लक्षणों से, विष के आहार से, तीक्ष्ण विषों में लक्षण जाने।

वि० मन्तव्य—ये चान्ये—उक्त उपद्रवों के अतिरिक्त जो अन्य उपद्रव हो जाते हैं अथवा हो जायँ उनको चिकित्सक शीघ्र जान लेवें तथा रोगी बतला देवे और उक्त कीटों में कुछ दूषीविषवाले कीट भी हैं। उसके विष से

अमुककाल आदि में प्रकोप होने पर उक्त उपद्रव हो जाते हैं तथा विषैले कीटों का लेप करने पर भी उपद्रव हो जाते हैं जैसे शिश्न पर लेप लगाने आदि से शूकदोष हो जाते हैं। परन्तु उक्त ज्वर, अङ्गमर्द आदि लक्षण तीक्ष्ण विषवाले कीटों से उत्पन्न होते हैं और मन्द विषवाले कीटों के विष से उत्पन्न होनेवाले लक्षण नीचे श्लो० २३ में देखिये ॥१६-२२॥

च्छृणु मन्दविषेष्वतः।

प्रसेकारोचकच्छर्दिशिरोगौरवशीतकाः ॥२३॥

पिडकाकोठकण्डूनां जन्म दोषविभागतः।

मन्द विषों को अब सुनो—मुख से लालास्राव, अरोचक, वमन, शिर में भारीपन, शीत की न्यूनता, पिड़का, कोठ, कण्डु की उत्पत्ति यह लक्षण कीटों के दोषों के अनुसार होते हैं ॥२३॥

योगैर्नानाविधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत् ॥२४॥

दूषीविषप्रकाराणां तथा चाप्यनुलेपनात्।

इन कीटों के नानाप्रकार के योगों से बने हुए चूर्णों को गर कहना चाहिये। इसी प्रकार दूषीविष की भाँति लेप करने से भी इनसे गर विष उत्पन्न होता है।

वि० मन्तव्य—जैसे केंचुआ, वीरबहूटी, रेगमाही (बालू में रहनेवाली मछली एवं साँढा आदि प्राणियों का प्रयोग)—यूनानी चिकित्सानुसार योगों—लेपन एवं खाद्य योगों में किया जाता है वैसे ही यदि उक्त विषैले कृमियों का प्रयोग करने पर विष जनित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं और वह "गर विष" कहलाता है ॥२४॥

एकजातीनतस्तूर्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः ॥२५॥

सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्यासाध्यक्रमेण च।

त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः॥

चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥२६॥

तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति ॥२७॥

इसके आगे एक जातिवाले कीटों को सामान्य भेदों, काटने के लक्षणों से, साध्य असाध्य की दृष्टि से कहूँगा। त्रिकण्ट, करिणी, हस्तिकक्ष, अपराजित, ये चार कणभ हैं, इनसे तीव्र वेदना होती है। इनके काटने पर शोथ, अङ्गों का टूटना, अङ्गों में भारीपन और दंशस्थान काला होता है।२५-२७।

प्रतिसूर्यकः, पिङ्गाभासो, बहुवर्णो, निरुपमो गोधेरक इति पञ्च गोधेरकाः; तैर्दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः, गोधेरकेणैतदेव ग्रन्थिप्रादुर्भावो ज्वरश्च ॥२८॥

प्रतिसूर्यक, पिङ्गाभास, बहुवर्ण, निरुपम, गोधेरक ये पाँच गोधेरक हैं। इनके काटने से शोफ, दाह और पीड़ा होती है, गोधेरक से इन लक्षणों के साथ ज्वर और ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं ॥२८॥

गलगोली-श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता, सर्षपिकेत्येवं षट्। ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति, सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी ॥२९॥

गलगोलिका—श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला सर्वश्वेता, सर्षपिका ये छै हैं। इनके काटने पर सर्षपिका को छोड़कर दाह, सूजन और क्लेद होता है। सर्षपिका से हृदय में पीड़ा और अतिसार होता है। इनके मध्य में सर्षपिका प्राणनाशक है ॥२९॥

शतपद्यस्तु-परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा इत्यष्टौ, ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव, दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च ॥३०॥

शतपदी (गोजर) परुष, कृष्ण, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा, ये आठ प्रकार की हैं। इनके काटने पर शोफ, वेदना, और हृदय में दाह होता है। श्वेता और अग्निप्रभा से दाह और मूर्च्छा इन लक्षणों के साथ विशेष रूप में होते हैं और श्वेत पिड़कायें उत्पन्न होती हैं ॥३०॥

मण्डूकाः—कृष्णः, सारः, कुहको, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्चेत्यष्टौ, तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात् भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥३१॥

मण्डूक (मेण्डक) कृष्ण, सार, कुहक, हरित, रक्त, यववर्णाभ, भृकुटी, कोटिक ये आठ हैं। इनके काटने पर दंश में कण्डु होती है, पीले रंग की झाग मुख से आती है। भृकुटी और कोटिक से इन लक्षणों के साथ दाह, वमन और मूर्च्छा अधिक मात्रा में होती है ॥३१॥

विश्वम्भराभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते, शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति ॥३२॥

विश्वम्भरा के काटने पर दंश सरसों के आकार की एवं वेदना करनेवाली पिड़काओं से भरा होता है। रोगी को शीत पूर्वक ज्वर आता है ॥३२॥

अहिण्डुकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डुश्वयथवो भवन्ति मोहश्च, कण्डूमकाभिर्दष्टे पीताङ्गश्छर्द्यतीसारज्वरादिभिरभिहन्यते, शूकवृन्ताभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्धन्ते शूकं चात्र लक्ष्यते ॥३३॥

अहिण्डुका के काटने पर तोद, दाह, कण्डु, श्वयथु और मूर्च्छा होती है। कण्डूमका के काटने पर रोगी के अङ्ग पीले पड़ जाते हैं, वमन, अतिसार, ज्वर आदि के कारण रोगी मर जाता है। शूक वृन्त के काटने पर कण्डू और कोठ बढ़ते हैं, और दंश स्थान पर शूक (डंक) दिखाई देता है ॥३३॥

पिपीलिकाः—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका; कपिलिका, चित्रवर्णेति षट्, ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः ॥३४॥

पिपीलिका (चिऊटियाँ)—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका, कपिलिका और चित्रवर्णा ये छै हैं। इनके काटने पर दंश में शोथ एवं अग्नि से जलने की भाँति दाह और शोफ होता है ॥३४॥

मक्षिकाः—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिकेत्येवं षट्, ताभिर्दष्टस्य कण्डुशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थालिकाकाषायीभ्यामेतदेव श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थालिका च प्राणहरे ॥३५॥

मक्खियाँ—कान्तारिका, कृष्णा, पिंगला, मधूलिका, कषायी, स्थालिका ये छै हैं। इनके काटने पर कण्डु, शोफ, दाह, वेदना होती हैं। स्थालिका और काषायी से इन लक्षणों के साथ में श्याम पिड़काओं की उत्पत्ति और ज्वर आदि उपद्रव होते हैं। काषायी और स्थालिका ये दोनों प्राणनाशक हैं ॥३५॥

मशकाः—सामुद्रः, परिमण्डलो, हस्तिमशकः, कृष्णः पार्वतीय इति पञ्च, तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः ॥३६॥

मशक—सामुद्र, परिमण्डल, हस्तिमशक, कृष्ण, पार्वतीय ये पाँच हैं। इनके काटने पर तीव्र कण्डू और दंश में सूजन होती हैं। पार्वतीय मशक (पर्वत के मच्छर) प्राणहर कीटों के समान लक्षणवाले होते हैं ॥३६॥

नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति ।
जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं चिकित्सितं च ॥३७॥

नख से खरुंट देने पर अतिशय दाह, पाक, पिड़कायें होती हैं। जोंक के काटने के लक्षण और चिकित्सा सूत्र स्थान में कह दी हैं ॥३७॥

भवन्ति चात्र—
गोधेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसप्रभे ।
भृकुटी कोटिकश्चैव न सिध्यन्त्येकजातिषु ॥३८॥

इसमें श्लोक भी हैं—एक जाति कीटों में गोधेरक, स्थालिका, श्वेता, अग्निप्रभा, भृकुटी और कोटिक ये असाध्य हैं ॥

शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्शनात् ।
स्युः कण्डूदाहकोठारुः पिडकातोदवेदनाः ॥३९॥
प्रक्लेदवांस्तथा स्रावो भृशं संपाचयेत्त्वचम् ।
दिग्धविद्धक्रियास्तत्र यथावदवचारयेत् ॥४०॥

विषैले शव, मूत्र, मल के स्पर्श से कण्डु, दाह, कोठ अरुंषिकायें, पिड़का, तोद, वेदना, क्लेदोन्नता (सड़ना), स्राव त्वचा का पकना ये लक्षण होते हैं। इसमें विषैले शस्त्र आदि के लगने के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥३९,४०॥

नावसन्नं न चोत्सन्नमतिसंरम्भवेदनम् ।
दंशादौ विपरीतार्ति कीटदष्टं सुबाधकम् ॥४१॥

जो दंश न बहुत दबा, न बहुत उभरा, बहुत सुर्ख या सूजनवाला अति वेदनावाला, दंश के प्रारम्भ में विपरीत पीड़ावाला (अनुग्र विष दंश में तीव्र पीड़ा का, उग्रविष दंश में पीड़ा का) होता है, वह कीट दष्ट कष्टसाध्य होता है ॥४१॥

दष्टानुग्रविषैः कीटैः सर्पवत् समुपाचरेत् ।
विविधानां तु पूर्वेषां त्रैविध्येन क्रिया हिताः ॥४२॥

उग्रविषवाले कीटों के काटने पर सर्प विष की भाँति चिकित्सा करे। दर्वीकर, मण्डलि, राजिमान् की शुक्रादि योनि भेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार के कीटों की चिकित्सा वातादि भेद से करे ॥४२॥

स्वेदमालेपनं सेकं चोष्णमत्रावचारयेत् ।
अन्यत्र मूर्च्छिताद्दंशात् पाककोथप्रपीडितात् ॥४३॥
विषघ्नं च विधिं सर्वं बहुशः शोधनानि च ।

स्वेदन, आलेपन और सेक ये उष्ण ही इनमें बरते। मूर्च्छावस्था में, दंश के पकने सड़ने में केवल शीतल स्वेदन, आलेप, परिषेक करे। सम्पूर्णविषनाशक विधि बरते, और बार-बार शोधन देवे ॥४३॥

शिरीषकटुकाकुष्ठवचारजनिसैन्धवैः ॥४४॥
क्षीरमज्जवसासर्पिः शुण्ठीपिप्पलिदारुषु ।
उत्कारिका स्थिरादौ वा सुकृता स्वेदने हिता ॥४५॥

शिरीष, कुटकी, कूठ, हल्दी, सैन्धव, दूध, मज्जा, वसा, घी, सोंठ, पिप्पली, दारुहल्दी इनसे अथवा शालिपर्णी आदि लघुपंचमूल से बनाई उत्कारिका (पुलटिस-लपसी सी) स्वेदन में उत्तम है ॥४४, ४५॥

न स्वेदयेत चादंशं धूमं वक्ष्यामि वृश्चिके ।

वृश्चिक के दंश में स्वेदन नहीं करे, अपितु आगे कहा धूम देवे।

अगदानेकजातीषु प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक् ॥४६॥

एक जातिवाले कीटों के लिये पृथक् पृथक् अगदों को कहता हूँ ॥४६॥

कुष्ठं वक्रं वचा पाठा बिल्वमूलं सुवर्चिका ।
गृहधूमं हरिद्रे द्वे त्रिकण्टकविषे हिताः ॥४७॥

कूठ, तगर, वच, पाठा, बिल्वमूल, हुल-हुल, घर का धुँवासा, हल्दी, दारुहल्दी, यह त्रिकण्टकविष में उत्तम है। (सुवर्चिका—स्वर्जिका क्षार, डल्हण) ॥४७॥

रजन्यागारधूमश्च वक्रं कुष्ठं पलाशजम् ।
गलगोलिकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥४८॥

हल्दी, घर का धुँवासा, तगर, कूठ, ढाक के बीज, यह अगद गलगोलिका के विष को नष्ट करता है ॥४८॥

कुङ्कुमं तगरं शिग्रु पद्मकं रजनीद्वयम् ।
अगदो जलपिष्टोऽयं शतपद्विषनाशनः ॥४९॥
मेषशृङ्गी वचा पाठा निचुलो रोहिणी जलम् ।
सर्वमण्डूकदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५०॥

केसर, तगर, सहजन, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, इनको जल से पीसकर बनाया यह अगद शतपद (कान खजूरा) के विष

को नष्ट करता है। मेढ़ासिंगी, वच, पाठा, जलवेतस, कुटकी, वालक, यह अगद सब मण्डूकों के विष को नष्ट करता है ॥

धवाश्वगन्धातिबलाबलासातिगुहागुहा।
विश्वम्भराभिदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥५१॥

धावड़ी, अश्वगन्धा, अतिबला, बला, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, इनसे बना अगद विश्वम्भरा जाति के कीटों के लिये विष नाशक है ॥५१॥

शिरीषं तगरं कुष्ठं शालिपर्णी सहा निशे।
अहिण्डुकाभिदंष्टानामगदो विषनाशनः ॥५२॥

शिरीष, तगर, कूठ, शालपर्णी, मुद्गपर्णी, हल्दी, दारुहल्दी, इनका अगद अहिण्डुका जाति के कीटों के लिये विषनाशक है ॥५२॥

कण्डूमकाभिदंष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः।
दिवा ते नैव सिध्यन्ति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥५३॥
चक्रं कुष्ठमपामार्गः शूकवृन्तविषेऽगदः।
भृंगस्वरसपिष्टा वा कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५४॥
पिपीलिकाभिर्दष्टानां मक्षिकामशकैस्तथा।
गोमूत्रेण युतो लेपः कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥५५॥
नखावघृष्टसंजाते शोफे भृङ्गरसो हितः।

कण्डूमका से काटने पर रात्रि में शीतल उपचार करे। क्योंकि दिन में सूर्य की किरणों से बल पाकर ये अच्छे नहीं होते। तगर, कूठ, चिरचिटा, इनका अगद शूकवृन्त के विष में औषधि है। अथवा बम्बी काली मिट्टी को भांगरे के स्वरस में पीसकर लेप करे। चिऊंटी मक्खी और मच्छर के काटने पर बम्बी की काली मिट्टी को गोमूत्र में मिलाकर लेप करे। नख के लगने से उत्पन्न शाथ में भांगरे का रस उत्तम है ॥५३-५५॥

प्रतिसूर्यकदष्टानां सर्पदष्टवदाचरेत्।

प्रतिसूर्यक के दंश में सर्पदंश की चिकित्सा करे।

त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः ॥५६॥

बिच्छू तीन प्रकार के हैं—मन्द विष, मध्य विष और महाविष ॥५६॥

गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः।
सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसंभवाः ॥५७॥

गाय के गोबर के सड़ने से उत्पन्न मन्दविषवाले, लकड़ी, ईंट के सड़ने से उत्पन्न मध्यमविष के, सांप से सड़ने से उत्पन्न बिच्छू तीव्र विषवाले होते हैं, और जो भी बिच्छू दूसरे विषों से उत्पन्न होते हैं, वे भी तीव्र हैं।

वक्तव्य—गोबर आदि के सड़ने से बिच्छू उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। इसका सम्भवतः यह अर्थ है कि जहाँ पर गोबर पाया जाता है, इकट्ठा करके गोहरों को रखते हैं वहाँ पर मिलनेवाले बिच्छू मन्द विष वाले हैं। ईंट-लकड़ी आदिमें भी मिलनेवाले बिच्छू मन्दविष के हैं। सांप आदि विषैली वस्तुओं के स्थान पर मिलनेवाले बिच्छू तीव्र विषवाले हैं ॥५७॥

मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः।
दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः ॥५८॥

बिच्छू तीस हैं, इनमें बारह मन्द विष के, तीन मध्यम विषवाले और पन्द्रह उत्तम विषवाले हैं ॥५८॥

कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो
गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च।
पीतो धूम्रो रोमशः शाड्वलाभो
रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दाः ॥५९॥
युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे
स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः।
एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च
गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च ॥६०॥
शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति
दाहस्वेदो दंशशोफो ज्वरश्च।

मन्दविषबिच्छू—कृष्ण, श्याव, कर्बुर, पाण्डुवर्ण, गोमूत्राभ, कर्कश, मेचक, पीला, धूम्र, रोमश, शाड्वलाभ (नीली हरी दूब के रंग का) और लाल ये बारह पेट पर से श्वेत होते हैं। ये मन्द विष बिच्छू दूसरे बिच्छुओं की अपेक्षा पुच्छ भाग पर बहुत से पर्वों से (जोड़ों से) युक्त होते हैं। इनकी पूँछ पर बहुत से जोड़ होते हैं, दूसरों पर उतने नहीं होते। इनके काटने पर वेदना, कम्पन, गात्रस्तम्भ, काले रक्त का आना होता है। हाथ-पैर में काटने पर वेदना ऊपर को चढ़ती है, दाह, स्वेद, दंश पर सूजन और ज्वर होता है ॥५९,६०॥

रक्तः पीतः कापिलेनोदरेण
सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः ॥६१॥
एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता
मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्।
यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो
दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात् ॥६२॥
जिह्वाशोफोभोजनस्यावरोधो
मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे।

मध्यमविषबिच्छू लाल, पीला और कपिल वर्ण होता है। इनका पेट काला होता है। इनकी पूँछ पर तीन पर्व-जोड़ होते हैं। दर्वीकर, मण्डलि और राजिमान् तीन प्रकार के साँपों के मूत्र-मल सड़ने एवं उनके अण्डों से उत्पन्न होते हैं। जो बिच्छू जिस प्रकार के सांप से उत्पन्न होता है, वह बिच्छू उसी के अनुसार दोषोत्पत्ति को करता है। जिह्वा में शोथ, भोजन का अवरोध और तीव्र मूर्च्छा, मध्यवीर्य वाले बिच्छुओं के काटने पर उत्पन्न होती है ॥६१,६२॥

श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो
रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च ॥६३॥
पीतोऽरक्तो नीलपीतोऽपरस्तु
रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च
रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा
यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य ॥६४॥
नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा
ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः ।
जन्मैतेषां सर्पकोथात् प्रदिष्टं
देहेभ्यो वा घातितानां विषेण ॥६५॥
एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः
स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च ।
खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं
तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते शीघ्रमेव ॥६६॥

तीक्ष्ण विषवाले बिच्छु—श्वेत, चित्र, श्यामल, लोहिताभ, रक्त, श्वेत, रक्तोदर, नीलोदर, पीला, लाल, नीला, नीला श्वेत, लाल पिंगल, पूंछ पर एक पर्ववाला, पूँछ पर पर्व रहित, दो पर्ववाला, इस प्रकार नाना आकृति एवं वर्णवाले भयानक बिच्छू प्राणहर जानने चाहिये। इनकी उत्पत्ति सर्पों के सड़ने से या विष से मृत प्राणी के शरीर से होती है। इनके काटने पर सर्प वेग के लक्षण, छालों की उत्पत्ति, भ्रांति, दाह, ज्वर होता है। रोम कूपों से या नाक मुख से काला रक्त तेजी से जाता है। इसलिये रोगी शीघ्र मर जाता है ॥६३-६६॥

उग्रमध्यविषैर्दष्टं चिकित्सेत् सर्पदष्टवत् ।
आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छितं प्रतिसारयेत् ॥६७॥
रजनीसैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः ।

तीव्र और मध्य विषवाले बिच्छूओं के काटने पर सर्प दष्ट की भांति चिकित्सा करे। दंश के चारों और स्वेदन करके, वहां पर पाछकर हल्दी, सैन्धव, त्रिकटु, शिरीष के फल और फूलों के चूर्ण से प्रतिसारण करे—रगड़े ॥६७॥

मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम् ॥६८॥
लेपे, स्वेदे सुखोष्णं च गोमयं हितमिष्यते ।
पाने क्षौद्रयुतं सर्पिः क्षीरं वा बहुशर्करम् ॥६९॥
दंशं मन्दविषाणां तु चक्रतैलेन सेचयेत् ।
विदारीगणसिद्धेन सुखोष्णेनाथवा पुनः ॥७०॥
कुर्याच्चोत्कारिकास्वेदं विषघ्नैरुपनाहयेत् ।
गुडोदकं वा सुहिमं चातुर्जातकसंयुतम् ॥७१॥
पानमस्मै प्रदातव्यं क्षीरं वा सगुडं हिमम् ।
शिखिकुक्कुटबर्हाणि सैन्धवं तैलसर्पिषी ॥७२॥
धूमो हन्ति प्रयुक्तस्तु शीघ्रं वृश्चिकजं विषम् ।
कुसुम्भपुष्पं रजनी निशा वा कोद्रवं तृणम् ॥७३॥
एभिर्घृताक्तैर्धूपस्तु पायुदेशे प्रयोजितः ।
नाशयेदाशु कीटोत्थं वृश्चिकस्य च यद्विषम् ॥७४॥

तुलसी के पत्तों को बिजौरा के रस और गोमूत्र में पीसकर लेप करे। स्वेद के लिये सूखे गोबर से सुहाता हुआ गरम सेक देवे। पीने के लिये घी को मधु के साथ प्रचुर शर्करावाला दूध देवे। मन्द विष वृश्चिकों में कोल्हू के ताजे तेल से परिषेक करे। अथवा विदारीगण से सिद्ध तैल से सुहाता हुआ गरम सेक करे। शिरषादि विषहर द्रव्यों से बनाई उत्कारिका से स्वेद करे। विषघ्नद्रव्यों से उपनाह बाँधे। दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर से मिले गुड़ के शर्बत को बहुत ठण्डा करके पिलाये। अथवा गुडवाले दूध को ठण्डा करके पीने के लिये देना चाहिये। मोर, मुर्गों के पंख, सैन्धव, तैल, घी इनका धूम बिच्छू के विष को शीघ्र नष्ट करता है। कुसुम्भ के फूल और हल्दी, या हल्दी और कोदा, घास इनको घी से मिलाकर गुदा पर दिया गया धूम कीटों के और बिच्छू के विष को नष्ट करता है ॥६८–७४॥

लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमं च तत् ।
दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः ॥७५॥
सविषं निर्विषं चैतदित्येवं परिशङ्किते ।
विषघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौषधम् ॥७६॥

मकड़ीविष अतिभयानक और कठिनाई से जाना जाता है। मन्दबुद्धिवाले वैद्यों से कठिनाई से चिकित्सा की जाती है। यह विषवाला स्थान है या निर्विष यह शंका होने पर इसमें विषनाशक एवं रसादि धातुओं से अविरोधि ही औषध बरतनी चाहिये ॥७५,७६॥

अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य युज्यते ।
निर्विषे मानवे युक्तोऽगदः संपद्यतेऽसुखम् ॥७७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः ।
अज्ञात्वा विषसद्भावं भिषग्व्यापादयेन्नरम् ॥७८॥

विषवाले व्यक्ति में ही अगदों का प्रयोग उत्तम है। विष रहित मनुष्यों में अगदों के प्रयोग से कष्ट होता है। इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से विष का निश्चय करना चाहिये। विष की उपस्थिति को न समझकर वैद्य मनुष्य को मार देता है।

वि० मन्तव्य—उपरि लिखित श्लोक ७६ में सविष दंश है, अथवा निर्विष ऐसी शंका–सन्देह होने पर विषघ्न एवं अविरोध औषध का प्रयोग करने का उपदेश है, और श्लो० ७७ में अगद के प्रयोग का निषेध है यह दोनों उपदेश परस्पर विरोधी हैं, परन्तु हमारा विचार है, कि शंका होने पर विषमिश्रित अगद का प्रयोग नहीं करना चाहिये यही तात्पर्य है, और अल्पबुद्धि चिकित्सक को ही शंका भी हो सकती है, विमल बुद्धि को नहीं। परन्तु मन्दविष में विमलबुद्धि चिकि-

त्वक को भी शंका हो सकती है क्योंकि मन्दविष कालान्तर में कुपित होता है, तत्काल नहीं अतः सर्व प्रयत्न से विष का निश्चय कर लेना चाहिये। इसे समझने के लिये निम्न श्लोक ७९ देखिये। लूताओं के विष में शंका हो सकती है। देखिये श्लोक ८०-८२ ॥७७,७८॥

प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण
न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः।
तद्वद्दुरालक्ष्यतमं हि तासां
विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥७९॥

फूटते हुए अंकुर से जिस प्रकार वृक्ष की जाति का पता नहीं चलता, इसी प्रकार मकड़ियों का विष शरीर में थोड़ी मात्रा में फैला हुआ कठिनाई से जाना जाता है ॥७९॥

ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठ-
मव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्।
अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं
प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये ॥८०॥
त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं
विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति।
अतोऽधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तो-
विषप्रकोपप्रभवान् विकारान् ॥८१॥
षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान्
मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति।
तत् सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं
व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम् ॥८२॥

मकड़ी का विष प्रथम दिन थोड़ी कण्डूवाला, फैलनेवाला, कोठयुक्त और अस्पष्ट रंग का (त्वचा के समान ही प्रायः रंग रहता है) होता है। दूसरे दिन यह किनारों पर सूजा, बीच में दबा हुआ और स्पष्ट लक्षणोंवाला होता है। तीसरे दिन और भी स्पष्ट हो जाता है। चौथे दिन विष कुपित हो जाता है। इससे आगे के दिन में विष प्रकोपजन्य रोगों को मनुष्य में उत्पन्न करता है। छठे दिन फैलकर सब मर्म प्रदेशों को विशेष रूप में ढांप लेता है। फिर सातवें दिन बहुत बढ़कर, विष से व्याप्त इस रोगी को मार देता है।

वक्तव्य—तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमण्डलः। शरावरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सास्रवाः। वृद्धवाग्भट्ट ॥८०-८२॥

यास्तीक्ष्णचण्डोग्रविषा हि लूता-
स्ताः सप्तरात्रेण नरं निहन्युः।
अतोऽधिकेनापि निहन्युरन्या
यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम् ॥८३॥
यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं
ताः पक्षमात्रेण विनाशयन्ति।
तस्मात् प्रयत्नं भिषगत्र कुर्या-
दादंशपाताद्विषघातियोगैः ॥८४॥

जो मकड़ियां तीक्ष्ण, चण्ड और उग्र (असह्य) विषवाली होती हैं, वे सात दिन में रोगी को मार देती हैं। जो मध्यम वीर्यवाली होती हैं वे इनसे अधिक दिनों में भी मार सकती हैं। और जो मन्द वीर्यवाली होती हैं, वे पन्द्रह दिन में मार देती हैं। इसलिये वैद्य प्रयत्न के साथ दंश के कारण रोगी के मरने से पूर्व ही विष नाशक योगों से चिकित्सा करे॥

विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रा-
रजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण।
सप्तप्रकारं विसृजन्ति लूता-
स्तदुग्रमध्यावरवीर्ययुक्तम् ॥८५॥
सकण्डुकोठं स्थिरमल्पमूलं
लालाकृतं मन्दरुजं वदन्ति।
शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च
धूमायनं चैव नखाग्रदंशे ॥८६॥
दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं
सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्।
दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं विवर्णं
जानीहि दंशं स्थिरमण्डलं च ॥८७॥
रजःपुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि
स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्।

मकड़ियां सात प्रकार से विष निकालती हैं। यथा—लाला, नख, मूत्र, दंष्ट्रा, रज, मल और शुक्र से। यह विष उग्र-मध्य और मन्दभेद से तीन प्रकार का है। जिस विष में कण्डू, कोठ, स्थिरता (आगे न फैलना), थोड़ा आधार हो वह लाला के कारण उत्पन्न होता है, और वह मन्द पीड़ावाला होता है। शोफ, कण्डू, रोमांच, एवं धूमोद्गार नख के दंश में होते हैं। दंश बीच में काला हो, किनारों पर लाल तथा फटा हुआ हो (किनारे समान न हों), तो विष का कारण मूत्र होता है। जो दंश दाँतों के कारण उत्पन्न हो जाता है, वह कठिन, विवर्ण, स्थिर मण्डलोंवाला होता है, उसे उग्रवीर्य जानना। रज, मल और शुक्र से उत्पन्न दंश में छाले, तथा दंश पके हुए आंवले, या पीलु के समान पाण्डु वर्ण होता है ॥८५-८७॥

एतावदेतत् समुदाहृतं तु
वक्ष्यामि लूताप्रभवं पुराणम् ॥८८॥
सामान्यतो दृष्टमसाध्यसाध्यं
चिकित्सितं चापि यथाविशेषम् ॥८९॥

लूताओं के विषय में इतना तो कहा है, अब इनकी उत्पत्ति का पुराना इतिहास, काटने के सामान्य लक्षण, साध्यासाध्य और भेदों के साथ चिकित्सा को कहूँगा ॥८८,८९॥

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिद्दषिसत्तमम् ।
वशिष्ठं कोपयामास गत्वाऽऽश्रमपदं किल ॥९०॥
कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदबिन्दवः ।
अपतन् दर्शनादेव रवेस्तत्समतेजसः ॥९१॥
तृणे महर्षिणा लूने धेन्वर्थं संभृतेऽपि च ।
ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः ।
अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधनवाहने ॥९२॥
यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः ।
तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते सङ्ख्यया ताश्च षोडश ॥९३॥

कभी पुरातन काल में विश्वामित्र राजा ने ऋषियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ ऋषि को उनके आश्रम में जाकर कुपित किया था। रवि के समान तेजस्वी उन मुनि के क्रुद्ध होने पर उनके दर्शन मात्र से ही स्वेद के कण माथे पर से गिर पड़े। ये स्वेदबिन्दु गाय के लिये काटकर इकट्ठे किये घास पर पड़े, इन बिन्दुओं से ये महाविष नानाप्रकार की लूतायें उत्पन्न हुई हैं। राजा के साधन, वाहन के अपकार के लिये (विश्वामित्र को नुकसान करने के लिये) ये लूतायें बढ़ने लगीं। क्योंकि वशिष्ठ मुनि के स्वेद कण कटे घास पर पड़े, इसलिये इनको लूता कहते हैं। इनकी संख्या सोलह है ॥९०-९३॥

कृच्छ्रसाध्यास्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधाः स्मृताः ।
तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु ॥९४॥
त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतिका तथा ।
आलमूत्राविषा रक्ता कसना चाष्टमो स्मृता ॥९५॥
ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं कण्डूर्दंशे च वेदना ।
भवन्ति च विशेषेण गदा श्लैष्मिकवातिकाः ॥९६॥
सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येणीपदी तथा ।
कृष्णाऽग्निवर्णा काकाण्डा मालागुणाऽष्टमी तथा ॥९७॥
ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥९८॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।
महान्तो मृदवः शोफा रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥९९॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतदादंशलक्षणम् ।

लूता दो प्रकार की हैं, कष्टसाध्य और असाध्य। इनमें आठ कष्टसाध्य और आठ ही असाध्य हैं। इनके नाम—त्रिमंडला, श्वेता, कपिला, पीतिका, आलविषा, मूत्रविषा, रक्ता और कसना ये आठ हैं। इनके काटने पर शिरोवेदना, दंश स्थान पर कण्डु, वेदना तथा विशेष करके कफवातजन्य रोग होते हैं। सौवर्णिका, लाजवर्णी, जालिनी, एणीपदी, कृष्णा, अग्निवर्णा, काकाण्डा, और मालागुणा ये आठ हैं। इनके काटने पर दंश स्थान का सड़ना, रक्त का बहना, ज्वर, दाह, अतिसार और त्रिदोष जन्य रोग होते हैं। नानाप्रकार की पिड़कायें, बड़े-बड़े मण्डल (चकत्ते), बड़ी और कोमल लाल, श्याव, एवं फैलनेवाली सूजन होती है। सब लूताओं के काटने पर ये लक्षण सामान्य रूप में होते हैं ॥

विशेषलक्षणं तासां वक्ष्यामि सचिकित्सितम् ॥१००॥
त्रिमण्डलाया दंशेऽसृक् कृष्णं स्रवति दीर्यते ।
बाधिर्यं कलुषा दृष्टिस्तथा दाहश्च नेत्रयोः ॥१०१॥
तत्रार्कमूलं रजनी नाकुली पृश्निपर्णिका
पानकर्मणि शस्यन्ते नस्यालेपाञ्जनेषु च ॥१०२॥
श्वेतायाः पिडका दंशे श्वेता कण्डूमती भवेत् ।
दाहमूर्च्छाज्वरवती विसर्पक्लेदरुक्करी ॥१०३॥
तत्र चन्दनरास्नैलाहरेणुनलवञ्जुलाः ।
कुष्ठं लामज्जकं वक्रं नलदं चागदो हितः ॥१०४॥
आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत् ।
शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च ॥१०५॥
तत्र पद्मककुष्ठैलाकरञ्जककुभत्वचः ।
स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वाब्राह्म्यो विषापहाः ॥१०६॥
आदंशे पीतिकायास्तु पिडका पीतिका स्थिरा ।
भवेच्छर्दिर्ज्वरः शूलं मूर्ध्नि रक्ते तथाऽक्षिणी ॥१०७॥
तत्रेष्टाः कुटजोशीरतुङ्गपद्मकवञ्जुलाः ।
शिरीषकिणिहीशेलुकदम्बककुभत्वचः ॥१०८॥
रक्तमण्डनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव ।
जायन्ते तालुशोषश्च दाहश्चालविषार्दिते ॥१०९॥
तत्र प्रियङ्गुह्रीबेरकुष्ठलामज्जवञ्जुलाः ।
अगदः शतपुष्पा च सपिप्पलवटाङ्कुराः ॥११०॥
पूतिर्मूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः ।
कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः ॥१११॥
मनःशिलालमधुककुष्ठचन्दनपद्मकैः ।
मधुमिश्रैः सलामज्जैरगदस्तत्र कीर्तितः ॥११२॥
आपाण्डुपिडको दंशो दाहक्लेदसमन्वितः ।
रक्ताया रक्तपर्यन्तो विज्ञेयो रक्तसंयुतः ॥११३॥
कायस्तत्रागदस्तोयचन्दनोशीरपद्मकैः ।
तथैवार्जुनशेलुभ्यां त्वग्भिराम्रातकस्य च ॥११४॥
पिच्छिलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत् ।
कासश्वासौ च तत्रोक्तं रक्तलूताचिकित्सितम् ॥११५॥

इनके विशेष लक्षण और चिकित्सा को कहता हूँ। त्रिमण्डला के काटने पर काला रक्त बहता है, दंश कटा होता है। बहरापन, दृष्टि का मैला होना, नेत्रों में दाह होता है। इसमें आक की जड़, हल्दी, रास्ना, पृश्निपर्णी इनका उपयोग पीने में, नस्य में, आलेप में और अंजन में करे। श्वेता के दंश में श्वेत वर्ण एवं खाजवाली पिड़का होती है। इसमें दाह, मूर्च्छा, ज्वर, विसर्प, क्लेद, पीड़ा होती है। इसमें चन्दन, रास्ना, इलायची, हरेणु, नल, जलवेतस, कूठ, खस, तगर, मासी, इनका अगद हितकारी है। कपिला लूता के दंश में ताम्रवर्ण की एवं स्थिर पिड़का होती है। शिर में भारीपन, दाह, तिमिर और भ्रम होता है। इसमें पद्माख, कुष्ठ, इलायची, करञ्ज, अर्जुन की छाल, शालपर्णी, अर्कपर्णी, चिरचिटा,

दूर्वा ब्राह्मी ये विष नाशक उत्तम हैं। पीत्तिका के काटने पर पीली, स्थिरपिड़का होती है। वमन, ज्वर, शिर में दर्द, आँखों में लाली होती है। इसमें—कुटज, खस, नागकेसर, पद्माख, जलवेतस, शिरीष, चिरचिटा, लसूड़ा, कदम्ब, अर्जुन की छाल, उत्तम है। आलविष लूता के दंश में—पिड़का लाल चकत्ते जैसी, सरसों के आकार की होती है। इसमें तालुशोष और दाह होता है। प्रियंगु, ह्रीवेर, कूठ, खस, जलवेतस, सौंफ, पिप्पली एवं बरगद के कोमल पत्ते यह अगद बरते। मूत्र विषवाली लूता का दंश सड़नेवाला फैलता है, रक्त काला हो जाता है। कास, श्वास, वमन, मूर्च्छा, ज्वर, दाह होता है। इसमें मैनसिल, हरताल, मुलैहठी, कूठ, चन्दन, पद्माख, खस इनको मधु में मिलाकर बरते। रक्ता लूता का दंश चारों ओर पाण्डुवर्ण की पिड़काओं का दाह, क्लेद से युक्त, किनारों पर लाल तथा रक्त युक्त होता है। इसमें बालक, चन्दन, खस, पद्माख का अगद बरते। अर्जुन, लसूड़ा और आम्रातक की छाल का लेप करे। कसना लूता के दंश से पिच्छिल, शीतल रक्त बहता है। इसमें कास, श्वास भी होते हैं। इसके दंश में रक्ता लूता की भांति चिकित्सा करे॥१००-११५॥

पुरीषगन्धिरल्पासृक् कृष्णाया दंश एव तु।
ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः॥११६॥
तत्रैलावक्रसर्पाक्षीगन्धनाकुलिचन्दनैः।
महारुगन्धिसहितैः प्रत्याख्यायागदः स्मृतः॥११७॥
दंशे दाहोऽग्निवक्त्रायाः स्रावोऽत्यर्थं ज्वरस्तथा।
चोषकण्डूरोमहर्षा दाहो विस्फोटसंयुतः॥११८॥
कृष्णाप्रशमनं चात्र प्रत्याख्याय प्रयोजयेत्।
सारिवोशीरयष्ट्याह्वचन्दनोत्पलपद्मकम्॥११९॥

कृष्णा का दंश-मल की गन्धवाला, थोड़े रक्तवाला, ज्वर, मूर्च्छा, वमन, दाह, कास, श्वासयुक्त होता है। इसमें इलायची, तगर, सर्पाक्षी, रास्ना, चन्दन, इनको महासुगन्धि अगद के साथ-असाध्य कह करके बरते। अग्निवक्त्रा लूता के दंश में दाह, अतिशय स्राव, ज्वर चोष (अग्नि के पास बैठने का सा दाह), कण्डू, रोमांच दाह, स्फोट (छाले) होते हैं। इसको असाध्य कहकर कृष्णा लूता की चिकित्सा करे। सारिवा, खस, मुलैहठी, चन्दन, कमल, पद्माख इनको बरते॥११६-११९॥

सर्वासामेव युञ्जीत विषे श्लेष्मातकत्वचम्।
भिषक् सर्वप्रकारेण तथा चाक्षीवपिप्पलम्॥१२०॥

वैद्य सब लूताओं के विष में लसूड़े की छाल, पान, लेप आदि में सब प्रकार से बरते। इसी प्रकार अक्षीव पिप्पली (शोभांजन की पिप्पली, या बड़े भारी नीम पर उत्पन्न पीपल का) उपयोग करे।

वि० मन्तव्य—तथा चाक्षीवपिप्पलम्—सन्दिग्ध सा पाठ है और तथा च क्षीर पिप्पलं-पाठान्तर भी वैसा ही है, श्रीवाग्भट ने—सर्वतोऽपहरेत् रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा। सेका लेपाः ततः शीताः बोधि श्लेष्मातकाऽक्षकैः (अ० हृ० उ० अ० ३७ श्लो० ७०) लिखा है। हमारा विचार है, कि पीपल की छाल को दूध में पीसकर सर्वप्रकारेण सेचन एवं लेप के रूप में प्रयोग ही तात्पर्य है॥१२०॥

कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ता द्वे च यदृच्छया।
अवार्यविषवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे॥१२१॥
श्यामः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगन्धकः।
श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा॥१२२॥
आदंश लाजवर्णाया श्यामं पूति स्रवेदसृक्।
दाहो मूर्च्छाऽतिसारश्च शिरोदुःखं च जायते॥१२३॥
घोरो दंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते।
स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते॥१२४॥
एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत् कृष्णतिलाकृतिः।
तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः॥१२५॥
दंशः काकाण्डिकादष्टे पाण्डुरक्तोऽतिवेदनः।
तृण्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः स्युरुच्छ्रिताः॥१२६॥
रक्तो मालागुणादंशो धूमगन्धोऽतिवेदनः।
बहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः॥१२७॥

आठ लूतायें कष्ट साध्य कह दी गई हैं, उनमें दो कभी अच्छी होती हैं, और कभी नहीं (ये कृष्णा और अग्निवर्णा हैं)। अब अप्रतिहत शक्तिवाली (असाध्य) लूताओं के लक्षणों को मुझसे सुनो। सौवर्णिका का दंश काला, झागदार, मछली की गन्ध का होता है। इसमें रोगी को श्वास, कास, ज्वर, प्यास, भयानक मूर्च्छा होती है। लाजवर्णा के दंश में काला, दुर्गन्धवाला रक्त बहता है। रोगी को दाह, मूर्च्छा, अतिसार और शिरोवेदना होती है। जालिनी का दंश भयानक, रेखादार, किनारों से फटा होता है। इससे जड़ता, श्वास, अन्धकार का बढ़ना और तालुशोष होता है। ऐणीपदी का दंश काले तिल के आकार का होता है। रोगी को तृष्णा, ज्वर, कास, श्वास होता है। काकाण्डिका के दंश में दष्टस्थान रक्त पाण्डुवर्ण, रोगी को अतिवेदना, प्यास, मूर्च्छा, श्वास, हृदय रोग, कास, और हिक्का तीव्र रूप में होती हैं। मालागुणा का दंश लाल, धुंवे की गन्धवाला होता है। इसमें बहुत दर्द होता है। यह कई स्थानों पर फटा, रोगी को दाह, मूर्च्छा, ज्वर रहता है॥१२१-१२७॥

असाध्यास्वप्यभिहितं प्रत्याख्यायाशु योजयेत्।
दोषोच्छ्रायविशेषेण दाहच्छेदविवर्जितम्॥१२८॥

असाध्य लूताओं में भी असाध्य कहकर उक्त उपचार करे। इनमें दोष विशेष की अधिकता से चिकित्सा करे, दाह एवं छेदन (काटना) न बरते॥१२९॥

कुशलवैद्य साध्यलूताओं में भी काटने पर तुरन्त

ही वृद्धि पत्र से इनके दंश को सम्पूर्ण रूप में भली प्रकार निकाल देवे ॥१२८॥

साध्याभिराभिर्लूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः ।
वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यगादंशमुद्धरेत् ॥१२६॥
अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः ।
दंशस्योत्कर्तनं कुर्यादल्पश्वयथुकस्य च ॥१३०॥
मधुसैन्धवसंयुक्तैरगदैर्लेपयेत्ततः ।
प्रियङ्गुरजनीकुष्ठसमङ्गामधुकैस्तथा ॥१३१॥
सारिवां मधुकं द्राक्षां पयस्यां क्षीरमोरटम् ।
विदारीगोक्षुरक्षौद्रमधुकं पाययेत वा ॥१३२॥

विधान को समझनेवाला वैद्य, मर्म रहित स्थान में ज्वरादि से रहित तथा थोड़ी सूजनवाले पुरुष में दंश को काटकर निकाले। फिर मधु और सैन्धव मिले अगदों से लेप करे। इसी प्रकार प्रियंगु, हल्दी, कूठ, मंजीठ और मुलैहठी का लेप करे। सारिवा, मुलैहठी, द्राक्षा, विदारी, क्षीरमोरट इनको या विदारी, गोखरु, मधु और मुलैहठी इनका क्वाथ पिलाये। बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के अतिशीतल क्वाथ से परिषेक करे। दोषों के अनुसार उपद्रवों की विषघ्न औषधियों से चिकित्सा करे ॥१२६–१३२॥

क्षीरिणां त्वक्कषायेण सुशीतेन च सेचयेत् ।
उपद्रवान् यथादोषं विषघ्नैरेव साधयेत् ॥१३३॥
नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमं तथाऽवपीडं कवलग्रहं च ।
संशोधनं चोभयतः प्रगाढं कुर्यात्सिरामोक्षणमेव चात्र१३४
कीटदष्टव्रणान् सर्वानहिदष्टव्रणानपि ।
आदाहपाकात्तान् सर्वाश्चिकित्सेद् दुष्टवद्भिषग् ॥१३५॥

कीटों के काटने से उत्पन्न व्रणों की, सर्पों के सब दूषित व्रणों की दाह, एवं पाक की अवस्था तक वैद्य दूषित व्रणों की भांति सब चिकित्सा करे ॥१३५॥

विनिवृत्ते ततः शोफे कर्णिकापातनं हितम् ।
निम्बपत्रं त्रिवृद्दन्ती कुसुम्भं कुसुमं मधु ॥१३६॥
गुग्गुलुः सैन्धवं किण्व वर्चः पारावतस्य च ।
विषवृद्धिकरं चान्नं हित्वा संभोजनं हितम् ॥१३७॥

शोफ के हट जाने पर कर्णिका को निकालना चाहिये। इसके लिये नीम के पत्ते, निशोथ, जमालगोटा, कुसुम्भ का फूल, मधु, गुग्गुल-सैन्धव, सुराबीज, कबूतर की बीठ उत्तम है। तिल कुलत्थी आदि विष को बढ़ानेवाले भोजनों को छोड़कर शेष सब अन्न-भोजन उत्तम है। (कर्णिका-मासकन्दी)॥१३६,१३७॥

विषेभ्यः खलु सर्वेभ्यः कर्णिकामरुजां स्थिराम् ।
प्रच्छयित्वा मधून्मिश्रैः शोधनीयैरुपाचरेत् ॥१३८॥

सब प्रकार के विषों में से वेदना रहित, स्थिर कर्णिका को पाछकर-निम्बपत्र, दन्तीमूल आदि शोधनीय द्रव्यों को मधु में मिलाकर लेप करके निकाले ॥१३८॥

सप्रषष्ठस्य कीटानां शतस्यैतद्विभागशः ।
दष्टलक्षणमाख्यातं चिकित्सा चाप्यनन्तरम् ॥१३६॥

एक सौ सरसठ कीटों के दष्ट लक्षण अलग-अलग कह दिये, उनकी चिकित्सा भी पीछे से कह दी है ॥१३ ॥

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः ।
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥१४०॥

सूत्र स्थान, निदान स्थान, शारीर स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्पस्थान के विभाग से एकसौ बीस अध्याय भी कह दिये हैं। इन स्थानों में नाममात्र से कहे हुए, जो कि विस्तार से नहीं कहे, उन विषयों को उत्तरस्थान में कहूँगा ॥१४०॥

सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च ।
तथा इष्टफलत्वाच्च हिमत्वादपि देहिनाम् ॥१४१॥
वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः ॥
चिकित्सितात् पुण्यतमं न किंचिदपि शुश्रुमः ॥१४२॥
ऋषेरिन्द्रप्रभावस्यामृतयोनेर्भिषग्गुरोः ।
धारयित्वा तु विमलं मतं परमसंमतम् ।
उक्ताहारसमाचार इह प्रेत्य य मोदते ॥१४३॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां पञ्चमं कल्पस्थानं समाप्तम् ॥५

वेदों के सनातन (अनादि) होनेसे, तथा आयुर्वेद के अंगों के अक्षर (अविचल) होने से, प्रत्यक्षफल देखने से, मनुष्यों के कल्याणकारी होने के कारण, वाणीसमूह (संक्षेप) में अर्थ का विस्तार रहने के कारण मनुष्यों से पूजा किये जाने के कारण, चिकित्सा से बढ़कर और कोई अधिक पुण्यशाली वस्तु को हम नहीं सुनते। अमृत की योनि, वैद्यों के गुरु, श्रेष्ठप्रभाववाले ऋषि के अतिशय संमत, निर्मल मत (ज्ञान) को धारण करके, कहे हुए अनुसार कार्य करने पर मनुष्य इस लोक में और परलोक में सुखी होता है।

वक्तव्य—आयुर्वेद दोनों लोक में कल्याणकारी है, यथा— "तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥" आयुर्वेद अनादि है—"सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। नहि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता अनादि च सुखदुःखं सद्रव्यहेतुलक्षणमपरापरयोगात्।' च० सू० अ० ३०।

"अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं
न तेषु किञ्चिद् भुविद्रष्टुमस्ति।
चिकित्सितज्यौतिषतंत्रवादाः
पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति ॥ कश्चित् ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने कीटकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथ उत्तरतन्त्रम्[1]

प्रथमोऽध्यायः

अथात औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे औपद्रविक अध्याय का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अध्यायानां शते विंशे यदुक्तमसकृन्मया ।
वक्ष्यामि बहुधा सम्यगुत्तरेऽर्थानिमानिति ॥३॥

एक सौ बीस अध्यायों में मैंने जो बार बार यह कहा है कि "इन विषयों को उत्तरस्थान में विस्तार से कहूँगा"—उसे इस उत्तम उत्तर तन्त्र में कहता हूँ ॥३॥

इदानीं तत् प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ।
निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथग्विधाः ॥४॥
शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः ।
ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतवः ॥५॥
षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताःपरमर्षिभिः ।
उपसर्गादयो रोगा ये चाप्यागन्तवः स्मृताः ॥६॥
त्रिषष्टी रससंसर्गाः स्वस्थवृत्तं तथैव च ।
युक्तार्था युक्तयश्चैव दोषभेदास्तथैव च ॥७॥
यत्रोक्ता विविधा अर्था रोगसाधनहेतवः ।

इसमें पृथग् प्रकार के रोग जहां सम्पूर्ण रूप से कहे गये हैं, जैसे—विदेहाधिप से कहे हुए शालाक्य तन्त्र के रोग, कुमारों को पीड़ा करनेवाले जो रोग विस्तार से देखे हैं, अग्निवेश, भेड़, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः की काय चिकित्सा में ऋषियों ने जो रोग कहे हैं, अमानुषोपसर्गादि जो आगन्तुज रोग कहे हैं, रसों के तिरसठ संयोग, स्वस्थवृत्त, युक्तार्थ तन्त्रयुक्तियाँ, दोषभेद, रोग साधन के हेतु जो नाना प्रकार के अर्थ-विषय जिसमें कहे हैं, उस अन्तिम उत्तरतंत्र को कहता हूँ ॥४-७॥

महतस्तस्य तन्त्रस्य दुर्गाधस्याम्बुधेरिव ॥८॥
आदावेवोत्तमाङ्गस्थान् रोगानभिदधाम्यहम् ।
सङ्ख्यया लक्षणैश्चापि साध्यासाध्यक्रमेण च ॥९॥

इस अत्यन्त गम्भीर समुद्र के समान इस बड़े तंत्र में सबसे प्रथम शिर के रोगों को कहूँगा । इनकी संख्या, लक्षण, साध्य-विधि से कहूँगा ॥

चरक में—

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥

अथर्ववेद में—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः ।
तत्रस्थं तद्धिविषयानिन्द्रियाणां रसादिकम् ॥
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च गच्छति ।
तन्मनःप्रभवं चापि सर्वेन्द्रियभवं बलम् ॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं ऋषयः पुरुषं विदुः ।
मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः ।
तेन तस्योत्तमांगस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

वाग्भट्ट ॥

विद्याद्द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् ।
द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम् ॥१०॥
सुवृत्तं गोस्तनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम् ।

अपने अंगूठे के मध्यभाग के बराबर जो अंगुल है, उन दो अंगुल के बराबर नेत्र बुद्बुद के अन्तः प्रविष्ट नेत्र हैं। अक्षिगोलक लम्बाई और चौड़ाई में अढ़ाई अंगुल है। यह आँख सुन्दर गोलाकार, गाय के स्तन के समान, पृथ्वी आदि पांचों भूतों के गुणों से बनी है।

वि० मन्तव्य—नयन बुद्बुद—इसे "डेला, कहते हैं यह नेत्र के गड्ढा में स्थापित रहता है और वर्त्म नेत्रच्छेदों से आच्छादित एवं सुरक्षित रहता है, यही चक्षुः इन्द्रिय का अधिष्ठान है, पानी के बुलबुला के समान आकृति होने के कारण इसे नयन का "बुद्बुद" कहते हैं। इसके द्वारा ही रूप का ज्ञान होता है। यह बुद्बुद सब नर नारियों में एक परिमाण का नहीं होता है, किसी का छोटा और बड़ा, नेत्रस्राव के कारण बड़े से छोटा भी हो जाता है देखिये "शुष्काक्षिपाक" और नेत्र का तर्पण करने से छोटे से बड़ा भी हो जाता है। इस श्लोक में जो बाहुल्य—स्थौल्य—मोटाई, चौड़ाई एवं लम्बाई

१—अतः परं स्वनाम्ना एव तन्त्रं उत्तरम् उच्यते ।श्रेष्ठत्वात् उत्तरं हि एतत् तन्त्रं आहुः महर्षयः । बहु अर्थसंग्रहात् श्रेष्ठं उत्तरं वा अपि पश्चिमम् । सू० अ० ३-४३ । अर्थात् इस प्रकरण का नाम ही उत्तरतन्त्र है अथवा बहुत अर्थो का एकत्र संग्रह होने के कारण श्रेष्ठ होने से अथवा ग्रन्थ का अन्तिम भाग होने से उत्तर तन्त्र कहलाता है। श्रीडल्लनाचार्य के शब्दों में इस संहिता के १२० अध्यायों को समाप्त करके उनके परिशिष्ट रूप में उत्तर-तन्त्र का प्रतिपादन किया है।

बतलाई गई है वह मध्यम श्रेणी के बुद्बुद की है। यह तेजोमय अवयव है। इसमें पित्तवाहिनी १० सिरा पहुँचती हैं (सु० शा० अ० ७)। सर्वभूतगुणोद्भवम्–पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों के सार-भाग से इसका निर्माण होता है। यह आलोचक पित्त का अधिष्ठान है। चक्षु के पाश्चात्य ध्रुव पर इस आन्तरिक सांवेदनिक पटल के भीतरी पृष्ठ में एक गोल या अण्डाकार पीला धब्बा होता है इसको 'पीतविन्दु' कहते हैं पीत विन्दु का व्यास $\frac{1}{24}$ से $\frac{1}{12}$ इञ्च होता है उसके बीच में एक गढा होता है। जब हम कोई चीज देखते हैं तो अक्षिगोलक इस प्रकार गति करता है कि जिससे वह स्थान उस चीज के सम्मुख आ जावे ताकि प्रतिबिम्ब का कुछ भाग उस पर भी पड़े। इस गढ़े को पीतविन्दु नाभि कहते हैं। और स्थानों की अपेक्षा पीतविन्दु में देखने की शक्ति सबसे अधिक होती है (हमारे शरीर की रचना अ० २३)। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आयुर्वेद का 'आलोचक पित्त' यही पीतविन्दु है ॥१०॥

पलं भवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात्।११।
आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे।

इस नेत्र बुद्बुद में माँस पृथ्वी से, रक्त अग्नि से, कृष्ण-भाग वायु से, श्वेत भाग जल से, अश्रुस्रोत आकाश से उत्पन्न होते हैं।

वि० मन्तव्य—नेत्र में मांस (द्वे नेत्रयोः सु० शा० अ० ५) दो मांस पेशियों के रूप में विद्यमान है। मांस के अतिरिक्त पटल आदि भी पार्थिव तत्त्व से निर्मित हैं। यह दो पेशियाँ नेत्र बुद्बुद की हैं। रक्त एवं पीतविन्दु अग्नितत्त्व से निर्मित हैं, कृष्ण मण्डल की कृष्णता वायु तत्त्व से निर्मित है, श्वेतमण्डल की श्वेतता और जलीयांश जलतत्त्व का भाग हैं और उसमें जो स्रोतस् हैं जिनमें से होकर रक्त एवं जल या अश्रु बहते हैं वे अकाश तत्त्व के भाग हैं। इस प्रकार यद्यपि नेत्र भी पाञ्चभौतिक है तथापि इसमें अग्नितत्त्वतेजस् गुण अधिक है यथा–चक्षुः तेजोमयं (अ० हृ० अ० २) तथा (च० सू० अ० ५) ॥११॥

दृष्टिं चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद्विशारदः ॥१२॥
नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते।
कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः।१३।

विदेह ने दृष्टि को जिस प्रकार कहा था, उसी प्रकार दृष्टि को कहता हूँ। नेत्र की लम्बाई का एक तिहाई भाग ($\frac{1}{3}$) कृष्णमण्डल का सातवां भाग ($\frac{1}{7}$) दृष्टि है, ऐसा शालाक्य विद्वान् कहते हैं ॥१२,१३॥

मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने।
यथाक्रमं विजानीयात् पञ्च षट् च षडेव च ॥१४॥

आँख में मण्डल पांच, सन्धियां छै और पटल छै हैं। दूसरे इनकी संख्या—

लोचने मण्डलान्यन्तान् संधींश्च पटलानि च।
जानीयात् क्रमशः पञ्च चतुरः षड्षडेव च ॥

वि० मन्तव्य—घेरा अर्थात् यदि पक्ष्म एवं वर्त्म समेत समस्त नेत्र को बिछा दिया जाय तो ५ मण्डल बन जाते हैं। सन्धि–इन मण्डलों (घेरों) की सन्धि अर्थात् जोड़। ५ मण्डलों की ४ सन्धियाँ और कनीनिका (अर्थात् कोया-नेत्र के समीप का कोना) और अपाङ्ग (अर्थात् नेत्र का बाहरी-पुटपुटी की ओर का कोना) की २ सन्धियाँ इस प्रकार ६ सन्धियाँ हैं। पटल-परदा दृष्टि को ढकनेवाला। यथा—२ वर्त्म नेत्रच्छद जो बुद्बुद को ढकते हैं और ४ बुद्बुद में जिनसे नेत्र बुद्बुद बना है। पक्ष्म—वर्त्म पर के बाल और उनके कूप तथा वर्त्म का भीतरी तल। कनीनिका–अमरकोश, श्रीगणनाथ सेन का प्रत्यक्ष शारीरम् तथा त्रिलोकी नाथ वर्मा की हमारे शरीर की रचना कनीनिका शब्द से दृष्टि मण्डल मानते हैं परन्तु सुश्रुत कोका को कनीनिका मानता है ॥१४॥

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥१५॥

पाँच मण्डल—पक्ष्ममण्डल, वर्त्ममण्डल, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल, और दृष्टिमण्डल, ये पांच मण्डल हैं। इनमें आनुपूर्विक क्रम से अन्दर की ओर हैं। अर्थात् सबसे बाहर पक्ष्म, उसके आगे वर्त्म, फिर श्वेतमण्डल, फिर कृष्ण और सबसे पीछे दृष्टि है। परन्तु उत्तरोत्तर क्रम में दृष्टि मण्डल के बाहर कृष्ण मण्डल, फिर श्वेतमण्डल, फिर वर्त्ममण्डल, फिर पक्ष्म मण्डल है ॥१५॥

पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः।
ततः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः ॥१६॥

छै सन्धियां—पक्ष्म और वर्त्म की सन्धि, वर्त्म और शुक्लभाग की सन्धि, शुक्ल और कृष्ण भाग की सन्धि, कृष्ण और दृष्टि भाग की सन्धि, कनीनिका भाग की (नासा समीप की), और छठी अपांग की सन्धि (आंख के बाह्य प्रान्त की कान के पार्श्व की) ॥१६॥

द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि।
जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः ॥१७॥

छै पटल—आंख वर्त्म में पटल दो, शेष चार पटल हैं, जिन चार पटलों में अतिदारुण तिमिर रोग होता है ॥१७॥

तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम् ॥१८॥

पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते ।

चार पटल—इनमें बाह्यपटल–जलाश्रित तेज (सिराश्रित रक्त) है दूसरा पटल मांस में आश्रित है। तीसरा पटल मेद में आश्रित है, चौथा पटल अस्थि में आश्रित है। इन पटलों की मोटाई दृष्टि का पाँचवाँ भाग (५) है।

वि० मन्तव्य—बाह्य पटल में तेजस् अग्नितत्त्व एवं जल-तत्त्व अधिक होता है, श्री त्रिलोकी नाथ वर्मा के शब्दों में—बाह्यपटल-यह पीले और श्वेत सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित है, और शेष दोनों पटलों की अपेक्षा अधिक मजबूत मोटा और सख्त होता है ॥१८॥

सिराणां कण्डराणां च मेदसः कालकस्य च ॥१९॥
गुणाः कालात् परः श्लेष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः सिरायुतः।

सिरा से आरम्भ करके कालकास्थि पर्यन्त यथोत्तर उत्कृष्ट प्रसाद (गुण) आंख को बनाने में (एक दूसरे भाग के साथ मिलाने में) मुख्य रूप से भाग लेते हैं। इससे कालकास्थि के समीप में स्थित श्लेष्मा सिराओं के साथ मिलकर आंखों को बांधती है। दूसरे आचार्य सिरा से लेकर मेद पर्यन्त गुण को आंख के कृष्ण भाग को बांधते हैं, ऐसा अर्थ करते हैं। कृष्ण भाग से अङ्गों, जो शुक्लका भाग है, उनको बांधनेवाली सिरायुत श्लेष्मा है। (कण्डरा का अर्थ स्नायु है) ॥१९॥

सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमागतैः ॥२०॥
जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः।

नेत्रस्थ सिराओं का आश्रय लेकर, विपरीत गतिवाले दोष ऊपर की ओर (सिर की तरफ) आकर नेत्र भागों में अतिशय भयानक रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥२०॥

तत्राविलं ससंरम्भमश्रुकण्डूपदेहवत् ॥२१॥
गुरुषातोदरागाद्यैर्जुष्टं चाव्यक्तलक्षणैः।
सशूलं वर्त्मकोषेषु शूकपूर्णाभमेव च ॥२२॥
विहन्यमानं रूपे वा क्रियास्वक्षि यथा पुरा।
दृष्ट्वैव धीमान् बुध्येत दोषेणाधिष्ठितं तु तत् ॥२३॥

रोगों का पूर्वरूप—इनमें नेत्र गदला, शोथ युक्त, अश्रु-कण्डू-मल (गीध) युक्त, भारी, जलन तोद (चुभने का दर्द), सुर्खी आदि से युक्त, अस्पष्ट लक्षणों का होता है। पलकों के कोषों में थोड़ा दर्द, शूक (जौ आदि की बाल के रोग के समान) से भरे हुए पलक आँख क्रियाओं में या रूप को (प्रकाश को सहने में) देखने में पहले की भांति काम नहीं करती, इन लक्षणों को देखकर बुद्धिमान् आंख को दोष से युक्त समझे ॥२१-२३॥

तत्र संभवमासाद्य यथादोषं भिषग्जितम्।
विदध्यान्नेत्रजा रोगा बलवन्तः स्युरन्यथा ॥२४॥

आंखों के उत्पन्न रोगों में पूर्वरूप देखकर वैद्य औषध करे। ऐसा न करने पर नेत्रजन्य रोग बलवान् हो जाते हैं ॥

संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्।
वातादीनां प्रतीघातः प्रोक्तो विस्तरतः पुनः ॥२५॥

संक्षेप में संशमन, संशोधन क्रियाओं का सम्यग् योग यही है कि कारण का परित्याग करे (दोष कारक रोग कारक दोनों प्रकार के कारणों को छोड़ देवे)। फिर इसके पीछे वात आदि दोषों को, विस्तार से नष्ट करना कहा है ॥२५॥

उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्-
दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोक-
क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ॥२६॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाष-
निषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च।
स्वेदादथो धूमनिषेवणाच्च
छर्दिर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च
नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः ॥२७॥

शरीर के गरम होने पर सहसा जल में घुस जाने से, दूर दृष्टि रखने से (जैसे ड्राईवर), नींद न आने से, निरन्तर रोना, क्रोध या शोक करते रहने से, क्लेश (मानसिक उद्‌विग्नता) से, चोट लगने से, अति स्त्री सेवन से, शुक्त-कांजी-खटाई-कुलत्थी-उड़द का सेवन करने से, मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से, पसीने से, धूम्रपान करने से (विशेषकर नाक से धूम्र निकालने पर), वमन के रुक जाने से, वमन के अतियोग से, आँसुओं को रोकने से, बारीक काम (सीना, पिरोना, काढ़ना आदि) करने से दोष नेत्र में रोग उत्पन्न करते हैं ॥

वक्तव्य—

'दृष्टिस्तेजोमयी प्रोक्ता शुक्रं तेजश्च केवलं।
तस्माद् दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं समाचरेत् ॥२६,२७॥

वाताद्दश तथा पित्तात् कफाच्चैव त्रयोदश।
रक्तात् षोडश विज्ञेया सर्वजाः पञ्चविंशतिः ॥२८॥
तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः।

आँख के रोग छिहत्तर हैं, यथा—वातजन्य दस, पित्त-जन्य दस, कफजन्य तेरह, रक्तजन्य सोलह, सर्वजन्य पच्चीस, बाह्यज-दो, इस प्रकार, नेत्र रोग छिहत्तर हैं ॥२८॥

हताधिमन्थो निमिषो दृष्टिर्गम्भीरिका च या ॥२९॥
यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिध्यन्ति वातजाः।
याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः साध्यमारुताः।
शुष्काक्षिपाकाधीमन्थस्यन्दमारुतपर्ययाः ॥३०॥

वातजन्य रोगों में—हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका दृष्टि, वातहत वर्त्म असाध्य हैं। वातजन्य काच रोग याप्य है। शुष्काक्षिपाक, अधिमन्थ, अभिष्यन्द, मारुतपर्य्यय और अन्यतोवात ये पांच रोग साध्य हैं ॥२९,३०॥

असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः ॥३१॥
परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः।
अभिष्यन्दोऽधिमन्थोऽम्लाध्युषितं शुक्तिका च या॥
दृष्टिः पित्तविदग्धा च धूमदर्शी च सिध्यति।

पित्तजन्य रोगों में—ह्रस्वजाड्य, जलस्राव ये दो रोग असाध्य हैं। परिम्लायिकाच और नीलकाच ये दो याप्य हैं। पित्तज अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अम्लाध्युषित, शुक्तिका, पित्तविदग्ध दृष्टि और धूमदर्शि-ये छै, साध्य हैं ॥३१,३२॥

असाध्यः कफजः स्रावो याप्यः काचश्च तन्मयः ॥३३॥
अभिष्यन्दोऽधिमन्थश्च बलासग्रथितं च यत्।
दृष्टिः श्लेष्मविदग्धा च पोथक्यो लगणश्च यः ॥३४॥
कृमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः।
श्लेष्मोपनाहः साध्यास्तु कथिताः श्लेष्मजेषु तु ॥३५॥

कफजन्य रोगों में—कफजस्राव असाध्य है, कफजकाच याप्य है। अभिष्यन्द, अधिमन्थ, बलास, ग्रथित, श्लेष्मविदग्ध-दृष्टि, पोथकी, लगण, कृमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवर्त्म, शुक्ल, अर्म, पिष्टक, श्लेष्मोपनाह, ये ग्यारह रोग साध्य हैं ॥३३-३५॥

रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोऽव्रणान्वितम्।
शुक्रं न साध्यं काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्तितः ॥३६॥
मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातो तथैव च।
सिराजाताऽञ्जनाख्या च सिराजालं च यत् स्मृतम्॥
पर्वण्यथाव्रणं शुक्रं शोणितार्माऽर्जुनश्च यः।
एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ॥३८॥

रक्तजन्य रोगों में—रक्तस्राव, अजका, शोणितार्श, शतशुक्र ये चार रोग असाध्य हैं। रक्तजकाच याप्य है। अधिमन्थ, अभिष्यन्द, क्लिष्टवर्त्म, शिराहर्ष, शिरोत्पात, अञ्जना, सिराजाल, पर्वणी, अव्रणशुक्र, शोणितार्म और अर्जुन-ये ग्यारह रोग रक्तजन्य रोगों में साध्य हैं ॥३६-३८॥

पूयास्रावो नाकुलान्ध्यमक्षिपाकात्ययोऽलजी।
असाध्याः सर्वजा याप्याः काचः कोपश्च पक्ष्मणः॥
वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडका च या।
प्रस्तार्यर्माधिमांसार्म स्नाय्वर्मोत्सङ्गिनी च या ॥४०॥
पूयालसश्चार्बुदं च श्यावकर्दमवर्त्मनी।
तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शः शर्करावर्त्म यच्च वै ॥४१॥
सशोफश्चाप्यशोफश्च पाको बहलवर्त्म च।
अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका बिसवर्त्म च सिध्यति ॥४२॥

सर्वज नेत्र रोगों में—पूयास्राव, नाकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्यय, अलजी, ये चार रोग असाध्य हैं। काच, पक्ष्मकोप ये दो याप्य हैं। वर्त्मविबन्ध, सिरापिड़का, प्रस्तार्यर्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म, उत्संगिनी, पूयालस, अर्बुद, श्यावकर्दम, श्याववर्त्म, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, शर्करावर्त्म, सशोफपाक, अशोफपाक, बहलवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भीका, और बिसवर्त्म-ये उन्नीस रोग साध्य हैं ॥३९-४२॥

सनिमित्तोऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु बाह्यजौ॥

बाह्यज रोगों में सनिमित्त और अनिमित्त ये दो रोग असाध्य कहे हैं ॥४२॥

षट्सप्ततिर्विकाराणामेषा संग्रहकीर्त्तना ॥४३॥

आंख के छिहत्तर रोग इस प्रकार संक्षेप में कह दिये॥

नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥४४॥
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ।
भूय एतान् प्रवक्ष्यामि सङ्ख्यारूपचिकित्सितैः ॥४५॥

सन्धि आश्रित नौ, वर्त्मजन्य इक्कीस, शुक्लभाग में ग्यारह, कृष्णभाग में चार, सर्वाश्रय सत्तरह, दृष्टिजन्य बारह, बाह्यजन्य दो रोग अति भयानक हैं। इन रोगों की संख्या, लक्षण और चिकित्सा फिर कहूँगा। (बाह्यज रोगों से अभिप्राय दृष्टिगत रोगों से है) ॥४४,४५॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे औपद्रविको नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः सन्धिगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सन्धिगत रोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान किया जायेगा—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥

पूयालसः सोपनाहः स्रावाः पर्वणिकाऽलजी।
कृमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव ॥३॥

सन्धिगत रोग नौ हैं, यथा—पूयालस, उपनाह, स्राव, पर्वणिका, अलजी और कृमिग्रन्थि (इनमें स्राव चार हैं) इस प्रकार से नौ रोग सन्धिगत हैं ॥३॥

पक्वः शोफः सन्धिजः संस्रवेद्यः
सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः।
ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकः
कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥४॥

कनीन सन्धिजन्य जिस शोफ के पकने पर गाढ़, दुर्गन्धयुक्त पूय बहती है, उसे पूयालस कहते हैं।

दृष्टि सन्धि में बड़ी, न पकने या थोड़ी पकनेवाली, कण्डु बहुल एवं वेदना रहित ग्रन्थि को उपनाह कहते हैं ॥४॥

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः
कुर्युः स्रावान् रुग्विहीनान् कनीनात् ।
तान् वै स्रावान् नेत्रनाडीमथैके
तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ॥५॥
पाकः सन्धौ संस्रवेद्यश्च पूयं
पूयास्रावो नैकरूपः प्रदिष्टः ।
श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं संस्रवेद्यः
श्लेष्मास्रावो नीरुजः स प्रदिष्टः ॥६॥
रक्तास्रावः शोणितोत्थः सरक्त-
मुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम् ।
पीताभासं नीलमुष्णं जलाभं
पित्तास्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥७॥

वातादि दोष अश्रु मार्ग से सन्धियों में पहुँचकर, वेदना रहित स्रावों को कनीनिका प्रदेश से (नाक के पार्श्व से) करते हैं। इन्हीं स्रावों कोई को नेत्र नाड़ी कहते हैं, इनके चार प्रकार लक्षण कहेंगे। सन्धि में पाक होने पर जिससे पूय बहे, उसे पूयस्राव कहते हैं, वह एक तरह का नहीं होता। जो स्राव श्वेत, सान्द्र (घट्ट), पिच्छिल, और वेदना रहित होता है, उसे श्लेष्मास्राव कहते हैं। रक्तजन्य रक्त का स्राव, रक्त-मिश्रित, उष्ण, बड़ी मात्रा में, पतला बहता है। पित्तास्राव-पीली झाँई का, नीला, उष्ण जल के समान स्राव कनीनिका सन्धि मध्य से होता है।

वि० मन्तव्य—चारों प्रकार के स्राव कनीनिका नामक सन्धि में से बहते हैं। इनको पञ्जाब में डलका और अन्यत्र पानी जाना या बहना कहते हैं। इस रोग में सर्वदा स्राव होता रहता है जल जैसा। इस विषय में विदेह का वचन अधिक स्पष्ट है—यथा—

अश्रुस्रावः सिरा गत्वा नेत्रसन्धिषु तिष्ठति ।
ततः कनीनकं गत्वा चाऽश्रुकृत्वा कनीनके ।
ततः स्रवति अथ आस्रावं यथा दोषं अवेदनम् ।

इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती, स्राव पानी का सा बहता है उसमें श्वेतता, रक्तता तथा पीतता अत्यन्त सूक्ष्म रहती हैं। इससे आगे चलकर दृष्टि घट जाती है और नेत्र बुद्बुद छोटा हो जाता है ॥५-७॥

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तसोफा ।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजीस्या-
त्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥८॥

पर्वणी—ताम्रवर्ण की, पतली, दाह-शूल से युक्त, गोल, सूजनयुक्त-रक्त के कारण होती है। अलजी—कृष्ण और शुक्ल की सन्धि में पर्वणी के समान लक्षणोंवाली है। (पर्वणी-पतली और अलजी स्थूल होती है। तथा दोनों में स्थान भेद नहीं है) ॥

कृमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च
कण्डूं कुर्युः कृमयः सन्धिजाताः ।
नानारूपा वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ
चरन्तोऽन्तर्नयनं दूषयन्ति ॥९॥

सन्धि में उत्पन्न कृमि, कृमिग्रन्थि रोग करते हैं, जिससे पलकों में और बालों में खाज होती है। ये कृमि नाना प्रकार के आकार के, वर्त्म और शुक्ल की सन्धि में घूमते हुए आँख को दूषित करते हैं ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे सन्धिगतरोगविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो वर्त्मगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे वर्त्मगतरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में पक्ष्ममण्डल एवं वर्त्म-मण्डल के रोगों का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

पृथग्दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः ।
सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्च्छिताः ॥१३॥
विवर्ध्य मांसं रक्तं च तदा वर्त्मव्यपाश्रयान् ।
विकाराञ्जनयन्त्याशु नामतस्तान्निबोधत ॥४॥

जब पृथक् पृथक वातादि दोष या समस्त रूप में दोष अतिशय प्रकुपित होकर वर्त्म के मध्य में आश्रित सिराओं में फैलकर वर्त्म में स्थित होते हैं, तब मांस और रक्त को बढ़ाकर वर्त्म में आश्रित रोगों को शीघ्र उत्पन्न करते हैं, इनको नामों से सुनो ॥३,४॥

उत्सङ्गिन्यथ कुम्भीका पोथक्यो वर्त्मशर्करा ।
तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शस्तथैवाञ्जननामिका ॥५॥
बहलं वर्त्म यच्चापि व्याधिर्वर्त्मावबन्धकः ।
क्लिष्टकर्दमवर्त्माख्यौ श्याववर्त्म तथैव च ॥६॥
प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं वर्त्म वातहतं तु यत् ।
अर्बुदं निमिषश्चापि शोणितार्शश्च यत् स्मृतम् ॥७॥
लगणो विसनामा च पक्ष्मकोपस्तथैव च ।
एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंश्रयाः ॥८॥

उत्संगिनी, कुम्भीका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अंजननामिका, बहलवर्त्म, वर्त्मबन्धक, क्लिष्टवर्त्म, श्यामवर्त्म, प्रक्लिन्नवर्त्म, अपरिक्लिन्नवर्त्म, वातहतवर्त्म, अर्बुद, निमेष, शोणितार्श, लगण, विसवर्त्म, पक्ष्मकोप, ये इक्कीस रोग वर्त्म में आश्रित हैं, इनको नाम से कह दिया है ॥५-८॥

नामभिस्ते समुद्दिष्टा लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ।
अभ्यन्तरमुखी बाह्योत्संगेऽधो वर्त्मनश्च या ॥९॥

विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिडकाचिता।

इनको लक्षणों से कहते हैं—जो पिड़का पलक के अन्दर मुख किये हुए, बाहर की ओर उभरी प्रतीत हो, पलक के नीचे उत्पन्न होती है। उसको उत्सङ्गिनी पिड़का कहते हैं, यह इसी प्रकार की छोटी पिड़काओं से व्याप्त रहती है। अन्यत्र इस पिड़का को सन्निपातजन्य कहा है यथा—

"वर्त्मोत्संगेप्यधो जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते।
अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते ॥
पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः।
उत्संगपिडका नाम कठिना मन्दवेदना।
सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम् ॥९॥

कुम्भीकबीजप्रतिमाः पिडका यास्तु वर्त्मजाः ॥१०॥
आध्मापयन्ति भिन्ना याः कुम्भीकपिडकास्तु ताः।

वर्त्म में होनेवाली जो पिड़का कुम्भी के बीज के समान होती है, फूटने के पीछे फिर फूल जाती है (भर जाती है), उसे कुम्भीक पिड़का कहते हैं। (कुम्भीमकाकच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकार फलालता—तद्बीजेन प्रतिमा यासां ताः)॥

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः ॥११॥

पोथकी पिड़कायें—स्राववाली, कण्डुयुक्त भारी, लाल सरसों के आकार की, वेदना कारक होती हैं ॥११॥

पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥१२॥

वर्त्मशर्करा—सूक्ष्म, घनी पिड़काओं से जो खर (कर्कश), एवं स्थूल पिड़का घिरी रहती हैं। उसका नाम वर्त्म शर्करा है ॥१२॥

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
सूक्ष्माः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥१३॥

अर्शोवर्त्म—खीरे या ककड़ी के बीज के आकार की मन्दवेदनावाली, सूक्ष्म एवं खर, पिडका वर्त्म में स्थित रहती है, उसे अर्शोवर्त्म कहते हैं ॥१३॥

दीर्घोऽङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणो वर्त्मसंभवः।
व्याधिरेष समाख्यातः शुष्कार्श इति संज्ञितः ॥१४॥

शुष्कार्श—लम्बे अंकुर के समान, खर, कठिन, अतिकष्टदायक, पलक में उत्पन्न यह रोग शुष्कार्श नाम से कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—अर्शोवर्त्म तथा शुष्कार्श नामक रोग नेत्रार्श ही हैं अर्थात् ये दोनों नेत्र के "अर्श" हैं दे० नि० अ० सू० १७। नेत्र में रक्तार्श भी होता है देखिये इसी अध्याय का श्लो० १६ ॥१४॥

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥१५॥

दाह, तोद (चुभने की वेदना) युक्त, ताम्रवर्ण, कोमल, मन्दवेदनावाली, सूक्ष्म पिड़का जो पलकों में होती हैं, उसे अंजननामिका (अञ्जनहारी) कहते हैं (जहाँ पर अञ्जन लगाया जाता है, वहाँ पर होनेवाली पिड़का, इसके होने पर अञ्जन नहीं लगा सकते) ॥१५॥

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः।
सवर्णाभिः समाभिश्च विद्याद्बहलवर्त्म तत् ॥१६॥

जिसका वर्त्म, समान वर्ण की आकार में समान पिड़काओं से सम्पूर्णरूप में भर जाता है, उसको बहलवर्त्म कहते हैं ॥१६॥

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः।
न समं छादयेदक्षि भवेद्बन्धः स वर्त्मनः ॥१७॥

कण्डुयुक्त, थोड़ीवेदनावाले, पलक की सूजन के कारण जो मनुष्य आँख को सम्पूर्ण रूप से बन्द नहीं कर सकता, उसे वर्त्मबन्ध कहते हैं ॥१७॥

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत् ॥१८॥

कोमल, थोड़ी वेदना युक्त, ताम्रवर्ण, समान वर्त्म अकारण ही सहसा लाल हो जाता है, उसे क्लिष्टवर्त्म कहते हैं। (इसका रंग दुपहरिया फूल के समान होता है) ॥१८॥

क्लिष्टं पुनः पित्तयुक्तं विदहेच्छोणितं यदा।
तदा क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥१९॥

क्लिष्टरोग का आरम्भक कफ पित्त से मिले रक्त को जब विदग्ध कर देता है, तब उसमें क्लिन्नता उत्पन्न हो जाने पर इसे (क्लिष्टवर्त्म को) वर्त्मकर्दम कहते हैं ॥१९॥

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम्।
दाहकण्डूपरिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम् ॥२०॥

जो वर्त्म बाहर और अन्दर से काला, सूजा, वेदना युक्त, दाह-कण्डू, क्लेदवाला होता है, उसको श्याववर्त्म कहते हैं॥

अरुजं बाह्यतः शूनमन्तः क्लिन्नं स्रवत्यपि।
कण्डूनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते ॥२१॥

जो वर्त्म वेदना रहित, बाहर से सूजा, अन्दर से क्लिन्न (गला), जिसमें स्राव होता है, कण्डू और चुभने की दर्द अधिक रहती है, उसे क्लिन्नवर्त्म कहते हैं ॥२१॥

यस्य धौतानि धौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥२२॥

जिस रोगी के पलक धोने पर भी बार-बार चिपक जाते हैं, जिनमें पाक नहीं होता, उनको अक्लिन्नवर्त्म कहते हैं। (इसी को दूसरे पिल्ल रोग कहते हैं।) वाग्भट्ट ने कुकूणक आदि अट्ठारह रोगों को पिल्ल कहा है।

वि० मन्तव्य—भले ही इसमें किसी प्रकार का क्लेद नहीं होता और चिपकानेवाले पदार्थ को बार-बार

भी दिया जाता है तथापि निमेष के समय जब दोनों वर्त्म मिलते हैं तब चिपक जाते हैं—सट जाते हैं और उन्मेष के समय वर्त्मों को खोलने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। देखिये इस रोग के किसी रोगी को और ध्यान दीजिये कि वह निमेष एवं उन्मेष कैसे करता है ॥२२॥

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते।
एतद्वातहतं विद्यात् सरुजं यदि वाऽरुजम् ॥२३॥

सन्धि में ढीला होकर, बिना क्रिया के जिसके पलक नहीं बन्द होते, वेदना हो, या न हो उसे वातहत कहते हैं, यह असाध्य है ॥२३॥

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम्।
विज्ञेयमर्बुदं पुंसां सरक्तमवलम्बितम् ॥२४॥

जिस रोगी के पलक के अन्दर के भाग में—कष्टदायक, परन्तु वेदनारहित, ग्रन्थि के समान गाँठ हो जाती है, उसको अर्बुद कहते हैं, इसमें थोड़ी सी रक्तिमा (पित्त के कारण) रहती है ॥२४॥

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो वर्त्मसंश्रयाः।
चालयत्यति वर्त्मानि निमेषः स गदो मतः ॥२५॥

पलक में स्थित निमेषिणी (पलक को बन्द करनेवाली) सिरा में पहुँची वायु, जब पलकों को अतिशय रूप में चलाती है, उसे निमेष रोग कहते हैं। इसमें रोगी जल्दी जल्दी पलक चपकता रहता है ॥२५॥

छिन्नाश्छिन्ना विवर्धन्ते वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुराः।
दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्शः शोणितसंभवाः ॥२६॥

पलक में स्थित कोमल अंकुर, बार-बार काटने पर जो बढ़ जाते हैं, दाह एवं कण्डू से युक्त रहते हैं, इनको अर्श कहते हैं, ये रक्तजन्य होते हैं ॥२६॥

अपाकः कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।
सकण्डूः पिच्छिला कोलप्रमाणो लगणस्तु सः ॥२७॥

लगण—न पकनेवाली, कठिन, स्थूल, वेदनारहित, पलक में उत्पन्न, बेर के समान ग्रन्थि को लगण कहते हैं, इसमें कण्डू और पिच्छलता रहती है ॥२७॥

शूनं यद्वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम्।
बिसमन्तर्जल इव बिसवर्त्मेति तन्मतम् ॥२८॥

जो वर्त्म सूजा हुआ एवं सूक्ष्म छिद्रोंवाले बहुत से छेदों से चारों ओर से भरा होता है, जैसा कि विष के अन्दर जल भरा रहता है, ऐसा पलक विषवर्त्म कहता है।

वि० मन्तव्य—विष-तन्मतम् के स्थान में—विसवत्यन्त-रुदकं विसवत् विसवर्त्म तत्। पाठ हो तो अच्छा हो और भाव प्रकाश में यही पाठ है। सम्भव है भावमिश्र के पास जो सुश्रुत की प्रति रही होगी उसमें पाठ यही हो ॥२८॥

दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च।
निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते ॥२९॥
उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते।
वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते ॥३०॥

पक्ष्माशय (बालों की जड़) में पहुँचे दोष पलकों के बालों को भीतर की ओर उगा देते हैं, आगे से तीक्ष्ण और कर्कश होते हैं, इनकी रगड़ पड़ने पर आँख दुखने लगती हैं। बार-बार बालों को उखाड़ने से रोगी को शान्ति मिलती है। रोगी वायु, धूप, अग्नि से द्वेष करता है, इस रोग को पक्ष्मकोप कहते हैं।

वि० मन्तव्य—नेत्र मण्डलों की गणना करते समय एक पक्ष्ममण्डल भी गिना है, देखिये उ० अ० १ का श्लो० १५। यह पक्ष्मकोप उसी मण्डल का रोग है। इसमें पक्ष्म नामक बाल भीतर की ओर उग जाता है, अथवा उगजाते हैं, निमेषोन्मेष होते समय ये बाल नेत्र बुद्बुद पर लगते हैं—रगड़ खाते हैं, फलतः नेत्र में कष्ट होता है, बुद्बुद लाल हो जाता है, अश्रु बहते हैं, रोगी दुःखी रहता है, इसको डल्लनाचार्य के समय में और पञ्जाब में आज भी "पड़िबाल" या परबाल कहते हैं। जब इनको मोचना (मुचुण्डी) द्वारा उखाड़ दिया जाता है, तब १-२-३ दिन के लिये शान्ति मिलती है, परन्तु यह पुनः उग आता है, और फिर वही कष्ट होने लगता है। भावमिश्रने अपने भाव प्रकाश में किसी ग्रन्थ का पाठ उद्धृत किया है जो अधिक स्पष्ट एवं सुभग है यथा:—

यत् पक्ष्मदेहलीं मुक्त्वा वर्त्मनोऽन्तः प्रजायते।
घर्षेत् पक्ष्म असिते श्वेते पक्ष्मकोपः स उच्यते ।१०३।

इसके अतिरिक्त आपने पक्ष्मशात नामक रोग का भी उल्लेख किया है, यथा—

वर्त्मपक्ष्माशय गतं पित्तं लोमानि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तम् आदिशेत् ।१०४।

ने० रो० ॥ पक्ष्मशात नामक रोग वह है जिसमें नेत्र लोम उखड़ जाते हैं और वह स्थान लाल लाल दिखाई पड़ता है। नेत्र असुन्दर हो जाते हैं। पक्ष्मकोप नामक रोग को याप्य माना है, देखिये अ० १ श्लो० ३६। परन्तु यह रोग उसी दशा में याप्य है, जब इसकी चिकित्सा बाल को मोचना से उखाड़ देना मात्र की जाती है, क्योंकि उस स्थान पर पुनः बाल उग आता है, परन्तु यदि अ० १६ के अनुसार छेदनकर्म, अग्निकर्म, क्षारकर्म अथवा प्रतिसारण कर्म किया जाता है, तब वह साध्य है, क्योंकि छेदनकर्म करने पर बाल उगने का स्थान ही नहीं रह जाता और अग्नि कर्म तथा क्षार कर्म करने पर बाल का कूप ही जल जाता है, और पथ्या अथवा सुवरक

का प्रतिसारण करने पर बाल का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है, अतः सदा के लिये उस रोग से मुक्ति मिल जाती है ॥२९,३०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे वर्त्मगतरोगविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः शुक्लगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शुक्लगत रोग विज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में शुक्ल मण्डल के रोगों का वर्णन है ॥१,२॥

प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांस-
स्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः।
स्युः शुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च
जालं सिराणां पिडकाश्च याः स्युः ॥३॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्ध-
मेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे।

आँख के शुक्ल भाग में ग्यारह रोग होते हैं, यथा—प्रस्तारिअर्म, शुक्लअर्म, क्षतअर्म, अधिमांसअर्म, स्नायुअर्म ये पाँच, शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, सिराजाल, सिरापिडिका, और बलासग्रथित ये ग्यारह रोग आँख के शुक्ल भाग में होते हैं ॥३॥

प्रस्तारि प्रथितमिहार्म शुक्लभागे
विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभं सुनीलम् ॥४॥

प्रस्तारिअर्म—शुक्लभाग में—फैला हुआ पतला, रक्त की आभावाला थोड़ी सी नीली झाँई लिये होता है।

वि० मन्तव्य—अर्म नेत्र के शुक्ल मण्डल में (श्वेत भाग में होनेवाला चिह्न है। इसे समझने के लिये विदेह का वचन सहायक हो सकता है। यथा—

समन्तात् विस्तृतः श्यावो रक्तो वा मांससञ्चयः।
सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तारि अर्म तत् उच्यते। ड० टी०

नेत्र के दूसरे पटल में मांस रहता है, वही विकृत हो जाता है, जो अर्म का रूप धारण कर लेता है। देखिये उ० अ० १ श्लो० १८ ॥ ४ ॥

शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति शुक्लभागे
सश्वेतं सममिह वर्धते चिरेण।

शुक्लअर्म—शुक्लभाग में ईषत् श्वेतवर्ण कोमल, समान, देर में बढ़ता है। साध्य है।

यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे
पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म ॥५॥

जो मांस शुक्लभाग में बढ़ जाता है, लाल कमल के रंग का रहता है, उसको लोहितार्म कहते हैं ॥५॥

विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं
श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्।

जो अर्म—फैला हुआ, कोमल, मोटा, यकृत् के समान या काला होता है, उसको अधिक मांसजअर्म कहते हैं।

शुक्ले यत् पिशितमुपैति वृद्धिमेतत्
स्नाय्वर्मेत्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु ॥६॥

शुक्लभाग में जो मांस बढ़कर कर्कश एवं पाण्डुवर्ण हो जाता है, उसको स्नाय्वर्म कहते हैं ॥६॥

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनयने स शुक्तिसंज्ञः।

काले, मांस के समान (लाल), जो बिन्दु सिप्पी के समान (कुछ लम्बे) श्वेतभाग में होते हैं, उनको शुक्ति कहते हैं।

एको यः शशरुधिरोपमस्तु बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥७॥

शुक्ल भाग में, शशक के रक्त के सदृश अकेला ही जो एक बिन्दु होता है, उसको अर्जुन कहते हैं ॥७॥

उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो
बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः।

चावलों की पिठी के समान श्वेत, पानी के समान निर्मल, उठा हुआ बिन्दु होता है, उसे पिष्टक कहते हैं, यह गोल होता है। (कफजन्य एवं साध्य है)।

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
सन्तानः स्मृत इव जालसंज्ञितस्तु ॥८॥

अनुलोम—विलोम रूप, फैले सिरा समूहों के कारण जाला की भाँति-कान्तिवाला, कठिन सिराओंसे युक्त, बड़ा, ईषत्रक्त, सिराओं के सन्तानयुक्त (एक-दूसरे से लगातार मिली सिराका) सिराजाल कहलाता है, यह रक्तज और साध्य है ॥८॥

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता यास्ता
विद्यादसितसमीपजाः सिराजाः।

शुक्ल भाग में काले भाग के समीप, सिराओं से घिरी जो श्वेत पिड़का है, उसे सिराज पिड़का कहते हैं।

कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः
स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः ॥९॥

श्वेत भाग में जल बिन्दु के समान, कांसी की झाँईवाला, कठिन, वेदना रहित-बलासक कहाता है ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे शुक्लगतरोगविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कृष्णगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कृष्णगतरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में कृष्ण मण्डल के रोगों का वर्णन है। १,२॥

यत् सव्रणं शुक्र (क्ल) मथाव्रणं वा
पाकात्ययश्चाप्यजका तथैव।
चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः
कृष्णाश्रयाः संग्रहतः पुरस्तात् ॥३॥

सव्रणशुक्र, अव्रणशुक्र पाकात्यय और अजका, ये चार रोग कृष्ण भाग में होनेवाले पहले कह दिये हैं ॥३॥

निमग्नरूपं हि भवेत्तु कृष्णे
सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव रुक् च
तत् सव्रणं शुक्र (क्ल) मुदाहरन्ति ॥४॥

कृष्ण भाग में अन्दर को दबा हुआ एवं सूई से विद्ध हुआ (गोल) प्रतीत होता है, अति उष्ण स्राव बहता है, वेदना होती है, इसको सव्रण शुक्र कहते हैं। (विदेह ने—इसे रक्तराजीनिभं कृष्णे विद्रुमाभं प्रलक्ष्यते। सूच्यग्रेणैव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम्) ॥४॥

दृष्टेः समीपं न भवेत्तु यच्च
न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं
तत्सिद्धिमाप्नोति कदाचिदेव ॥५॥

जो शुक्र दृष्टि के समीप न हो और न तो बहुत गहरा हो, न उससे स्राव होता हो, किसी प्रकार की वेदना न हो और दो-एक साथ न हों (अकेला हो), वह सव्रण शुक्र कभी ठीक हो सकता है ॥५॥

विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा
चलं सिरासक्तमदृष्टिकृच्च।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च
चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥६॥
उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे
यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्रम्।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचि—
दन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥७॥

जो शुक्र बीच से कटा हो (दो में विभक्त), या माँस से ढंपा हो, सिराओं में आसक्त हो, चिपका हो, हिलता रहता हो, देखने में बाधा करता हो, दो त्वचाओं के बीच में आया हो, किनारों से लाल हो, पुरातन हो, वह असाध्य है। जिस शुक्र में गरम आंसू झरते हों, कृष्ण भाग में पिडिका हो, शुक्र मूँग के समान हो उसे भी कई असाध्य कहते हैं, इसी प्रकार जो शुक्र तीतर के पक्ष के समान (कई रंग का चित्त कबरा) होता है, वह भी असाध्य है ॥६॥

सितं यदा भात्यसितप्रदेशे
स्यन्दात्मकं नातिरुगश्रुयुक्तम्।
विहायसीवाच्छघनानुकारि
तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥८॥

कृष्णभाग में जब सफेदी दीखती हो, जो सफेदी अभिष्यन्द के कारण से उत्पन्न हुई हो, जिसमें बहुत वेदना एवं बहुत अश्रु न हों, आकाश में निर्मल पतले मेघ के समान दीखता हो, वह अव्रण शुक्र साध्य है। (यह रक्तज है, साध्य है)।

वि० मन्तव्य—शुक्र—इसे फूला या फूली कहते हैं यह कृष्णमण्डल में श्वेत या श्वेताभ दिखाई पड़ता है। यह दो प्रकार का होता है—१—सव्रणशुक्र—यह आँख चुभने से होता है और २अव्रणशुक्र–यह आँख दुखने से हो जाता है। शीतला के कारण जो शुक्र होता है वह असाध्य होता है ॥८॥

गम्भीरजातं बहलं च शुक्रं
चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।

जो शुक्र गहरा हो, मोटा हो, देर का उत्पन्न हो, वह (अव्रण) शुक्र भी कष्ट साध्य है।

संच्छाद्यते श्वेतनिभेन सर्वं
दोषेण यस्यासितमण्डलं तु ॥९॥
तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोप-
समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति।

सफेदी के समान दोष से जिस पुरुष का सारा काला भाग ढांप लिया जाता है, जो कि आंख के दुखने से उत्पन्न होता है, अतिशय वेदना होती है उसे अक्षिपाकात्यय कहते हैं ॥९॥

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान्
सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः।
विदार्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति
तं चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥१०॥

जो बकरी की मींगनी के समान आकार में, वेदना युक्त, थोड़ा लाल, लाल एवं पिच्छल, आंसू जिसमें बहते हों, कृष्णभाग को विदीर्ण करके, जो कि (भेद से) बढ़ता है, उसको 'अजका' कहते हैं। (कफजन्य एवं असाध्य है) ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे कृष्णगतरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः सर्वगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे सर्वगत रोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वतरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में उन रोगों का वर्णन है जिनका प्रभाव नेत्र के सब अवयवों पर पड़ता है ॥१,२॥

स्यन्दास्तु चत्वार इहोपदिष्टा-
स्तावन्त एवेह तथाऽधिमन्थाः ।
शोफान्वितोऽशोफयुतश्च पाका-
वित्येवमेते दश संप्रदिष्टाः ॥३॥
हताधिमन्थोऽनिलपर्ययश्च
शुष्काक्षिपाकोऽन्यत एव वातः ।
दृष्टिस्तथाऽम्लाध्युषिता सिराणा-
मुत्पातहर्षावपि सर्वभागाः ॥४॥

सर्वगत रोगों में—अभिष्यन्द चार-चार ही अधिमन्थ, सशोफपाक, और अशोफपाक, ये दस रोग, हताधिमन्थ, वातपर्यय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषितदृष्टि, सिरोत्पात और सिराहर्ष ये सात, कुल मिलाकर सतरह रोग है।

वि० मन्तव्य—अभिष्यन्द—यह "आँख दुखना" "आँख आना" कहलाता है। अधिमन्थ—अभिष्यन्द की उचित चिकित्सा न होने पर अथवा मिथ्या आहार विहार से हो जाता है यह "सम्बल वायु" तथा पंजाब में "उल्लां" कहलाता है॥

प्रायेण सर्वे नयनामयास्तु
भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः ।
तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाण-
मुपाचरेदाशु हिताय धीमान् ॥५॥

प्रायः करके आँख के सब रोग अभिष्यन्द के कारण से उत्पन्न होते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य बढ़ते हुए अभिष्यन्द की चिकित्सा शीघ्र करे ॥५॥

निस्तोदनं स्तम्भनरोमहर्ष-
संघर्षपारुष्यशिरोभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च
वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥६॥

वाताभिष्यन्द में—सूई चुभने की वेदना स्तब्धता, रोमांच, रगड़ का अनुभव, कठोरता, शिर में दर्द, आँख में शुष्कता, ठण्डे आँसुवों का आना होता है। (साध्य) ॥६॥

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा
धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च
पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥७॥

पित्ताभिष्यन्द में—दाह, पकना, शीत की चाह, धूम निकलने का अनुभव, अश्रु की अधिकता, आँसुओं का गरम होना, आँखों में पीलापन होता है (साध्य है) ॥७॥

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोफः
कण्डूपदेहौ सितताऽतिशैत्यम् ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि
कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥८॥

कफाभिष्यन्द में—उष्ण की चाह, भारीपन, आँखों में सूजन, कण्डू, मैल का आना, सफेदी, बहुत शीतलता, बार-बार और पिच्छिल स्राव होता है ॥८॥

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च
राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि
रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥९॥

रक्ताभिष्यन्द में—आँसू लाली लिये, आँखों में सुर्खी, चारों ओर आँख में बहुत लाल रेखायें, तथा पित्त के अभिष्यन्द के लक्षण रहते हैं ॥९॥

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥१०॥

चिकित्सा न करने वाले मनुष्यों में यही अभिष्यन्द बढ़कर इतने ही (चार ही) अधिमन्थ करते हैं, जिनसे आँखों में तीव्र वेदना होती है ॥१०॥

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।
शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥११॥

नेत्र बाहर निकलता (फटता) प्रतीत होता है, नेत्र और शिर का आधा भाग (जिधर की आँख हो) मथता हुआ प्रतीत होता है (वेदना बहुत होती है), ये अधिमन्थ के सामान्य लक्षण हैं ॥११॥

नेत्रमुत्पाट्यत इव मथ्यतेऽरणिवच्च यत् ।
संघर्षतोदनिर्भेदमांससंरब्धमाविलम् ॥१२॥
कुञ्चनास्फोटनाध्मानवेपथुव्यथनैर्युतम् ।
शिरसोऽर्धं च येन स्यादधिमन्थः स मारुतात् ॥१३॥

वातज अधिमन्थ में—नेत्र उखड़ता (बाहर आता) प्रतीत होता है, अरणी से मथने के समान नेत्र में पीड़ा, रगड़, तोद शस्त्र से चीरने की सी वेदना, सूजन, गदलापन, संकुचित होना (सिकुड़ना, प्रकाश में मिचना), फटना, आध्मान, कम्पन, आधे शिर में पीड़ा होती है ॥१२,१३॥

रक्तराजिचितं स्रावि वह्निनेवावदह्यते ।
यकृत्पिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम् ॥१४॥
प्रपक्वोच्छूनवर्त्मान्तं सस्वेदं पीतदर्शनम् ।
मूर्च्छाशिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यभिमन्थितम् ॥१५॥

पित्तज अधिमन्थ में—आँख लाल रेखाओं से भरी स्रावयुक्त, अग्नि की भांति जलती है, यह नेत्र यकृत् पिण्ड के समान (लाल-काला) जलनयुक्त, व्रण पर जैसे नमक मल दिया

हो—ऐसा जलता है, पका हुआ, किनारे सूजे हुए, पसीना-युक्त, पीला दीखता है, रोगी को मूर्च्छा, शिर में दाह रहता है ॥

शोफवन्नातिसंरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम् ।
शैत्यगौरवपैच्छिल्यदूषिकाहर्षणान्वितम् ॥१६॥
रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम् ।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेष्माधिमन्थितम् ॥१७॥

कफज अधिमन्थ में—आँख सूजी हुई, बहुत अधिक लाल नहीं, स्राव एवं कण्डूयुक्त, शीतल, भारी, पिच्छिलता, मैल (गीध), हर्ष (रोमाञ्चता पलकों के बाल खड़े) युक्त होती है। रूप को कठिनाई से देखती है, और जो देखती है, वह धुंधयाला–धूल से भरा मैला दीखता है। इसमें नासा का आध्मान, शिर में वेदना रहती है ॥१६,१७॥

बन्धुजीवप्रतीकाशं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
रक्तास्रावं सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिभा दिशः ॥१८॥
रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते ।
यद्दीप्तं रक्तपर्यन्तं तद्रक्तेनाधिमन्थितम् ॥१९॥

रक्ताधिमन्थ में—आँख दुपहरिया के फूल के समान लाल, धुंधयाली सी, देखने में असमर्थ, आँसू में लाली, चुभने की दर्द, चारों ओर आग लगी सी देखती है। आँख का काला भाग रक्त में लाल किये अरीठे की भांति दीखता है। दाह युक्त होता है किनारों पर लाली रहती है ॥१८,१९॥

हन्याद्दृष्टिं सप्तरात्रात् कफोत्थो-
ऽधीमन्थोऽसृक्संभवः पञ्चरात्रात् ।
षड्रात्राद्वै मारुतोत्थो निहन्यान्-
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥२०॥

कफजन्य अधिमन्थ सात दिन में, रक्तजन्य अधिमन्थ पाँच दिन में, वातजन्य अधिमन्थ छै दिन में, पैत्तिक अधिमन्थ मिथ्या आचार से तुरन्त ही दृष्टि को नष्ट कर देता है।

वि० मन्तव्य—मिथ्याचारात्—अधिमन्थ मिथ्या आहार विहार करने से उक्त अवधि में दृष्टि को नष्ट करता है अन्यथा नहीं ॥२०॥

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः ।
दाहसंहर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवैः ॥२१॥
जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम् ।
संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकः सशोफजः ॥२२॥

सशोफ पाक—जिस नेत्र पाक में–कण्डू, गीध का आना, आंसू, पके हुए गूलर के समान आंख (लाल), आंख में जलन, रगड़, लाली, सूजन, चुभने की सी दर्द, भारीपन के साथ उष्ण, या शीत पिच्छिल आंसू बार-बार बहते हों, सूजन-पक जाये, वह नेत्रपाक सशोफज है।

वि० मन्तव्य—नेत्रपाक–यह दो प्रकार का होता है, १—शोफजनित। इसमें नेत्र बुद्बुद फोड़ा बन जाता है और आगे चलकर नष्ट हो जाता है और "काना" हो जाता है। २—अशोफज-फोड़ा न होकर बुद्बुद सूख जाता है, कभी २ बहुत छोटा होकर रह भी जाता है ॥२१,२२॥

शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे ।

अशोफज नेत्रपाक में सूजन से रहित सब लक्षण रहते हैं।

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो
वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष
हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥२३॥

वातज अधिमन्थ जब उपेक्षा करने पर आंख को बलात् सुखा देता है, इसमें अतिशय तीव्र वेदना होती हो, तब यह हताधिमन्थ नाम का रोग कहा जाता है!

वि० मन्तव्य—हताधिमन्थ–इसमें नेत्र की ज्योति–दृष्टि नष्ट हो जाती है और बुद्बुद सूखकर छोटा भी हो जाता है। इसके पश्चात् वेदना आदि शान्त हो जाते हैं। कभी २ कृष्ण-मण्डल श्वेत भी हो जाता है। हताधिमन्थ का वर्णन विदेह के शब्दों में सुनिये—

अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति।
तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन् इव मारुतः।
नयनं निर्वमति–आशु शूलतोदाधिमन्थनैः।
अथवा शोषयेत् अक्षि क्षीणतेजो बलात् अयम्।
तत् पद्ममिव संशुष्कं अवसीदति लोचनम्।
हताधिमन्थं तं विद्यात् असाध्यं वातकोपतः ॥२३॥

अन्तःसिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् ।
हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥२४॥

जब वायु अन्दर की सिराओं में स्थित होकर दृष्टि को बाहर की ओर निकालती प्रतीत होती है (दृष्टि बाहर निकलती प्रतीत हो), तब यह हताधिमन्थ असाध्य है ॥२४॥

पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु
यत्रानिलः संचरति प्रदुष्टः ।
पर्यायशश्चापि रुजः करोति
तं वातपर्यायमुदाहरन्ति ॥२५॥

दूषितवायु जिसमें दोनों पलक, आँख, भ्रू; में आश्रित होकर गति करती है, और कभी भ्रू में कभी आँख में कभी पलकों में वेदना करती है, इसको वातपर्याय कहते हैं ॥२५॥

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म
विलोकने चाविलदर्शनं यत् ।

सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च
शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥२६॥

जिसमें पलक सिकुड़ी हुई, कठिन, रूक्ष होती है, देखने में धुंधलापन दिखाई दे, आँख को खोलने में जब अतिशय कठिनाई हो, उस आँख को शुष्काक्षिपाक कहते हैं ॥२६॥

यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो
मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽति भ्रुवि लोचने वा
तमन्यतो वातमुदाहरन्ति ॥२७॥

जिसमें वायु-ग्रीवा के पिछले भाग, कान, शिर, हनु, या मन्या में स्थित, अथवा पीठ में स्थित होकर, भ्रू में और आँख में तीव्र वेदना करती है उसको अन्यतोवात कहते हैं ॥२७॥

अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च।
संछाद्यते सर्वत एव नेत्रम्।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलै-
रेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति ॥२८॥

खटाई एवं विदाही भोजन के खाने से आंख सम्पूर्णरूप में शोफयुक्त, सुर्खी और थोड़े नीलेपन से ढँप जाती है। इस प्रकार की आँख को अम्लाध्युषित कहते हैं ॥२८॥

अवेदना वाऽपि सवेदना वा
यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च ताः समन्ताद्
व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥२९॥

वेदना के विना या वेदना के साथ जिसकी आंख की रेखायें ताम्रवर्ण हो जाती हैं, ये रेखायें बार-बार चारों ओर से सुर्खी रहित हो जाती हों, इस रोग को सिरोत्पात कहते हैं ॥

मोहात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु
जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राच्छमस्रं स्रवति प्रगाढं
तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥३०॥

अज्ञानवश सिरोत्पातरोग की उपेक्षा करने से सिरोप्रहर्ष रोग होता है। इससे ताम्रवर्ण, निर्मल, गाढ़ा अश्रु बहता है। इसमें रोगी निरन्तर नहीं देख सकता।

वि० मन्तव्य—सिरोत्पात रोग में सिराओं में बार २ रक्त भर जाता है, फलतः वे लाल हो जाती हैं और रक्त लौट जाने पर पुनः पूर्ववत् हो जाती हैं। सिराप्रहर्ष में उन रक्तपूर्ण सिराओं में से रक्त चूने लगता है फलतः लाल अश्रु बहने लगते हैं ॥३०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे सर्वगतरोगविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो दृष्टिगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे दृष्टिगत रोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में दृष्टिमण्डल के रोगों का वर्णन है ॥१,२॥

मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः ॥३॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः ॥४॥

दृष्टि—का प्रमाण मसूर के पत्ते के बराबर है, यह पृथ्वी आदि पांच भूतों के सार से उत्पन्न हुई है। जुगनू के एवं सूक्ष्म अग्निकण के समान चमकनेवाले, उपचय एवं अपचय रहित तेजसे युक्त, आंख के बाह्यपटल से ढँपी, गोल छेदवाली (बिल के समान), शीतलवस्तु के सात्म्यवाली मनुष्यों की दृष्टि है, ऐसा आंख को समझनेवाले कहते हैं।

वक्तव्य—कहा भी है—दृष्टिस्तेजोमयीप्रोक्ताः शुक्रं तेजश्च केवलम्। तस्माद् दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं समाचरेत् ॥ आंख को शीत सात्म्य है, इसीसे कहा है—"पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेदः संवृत्य चक्षुषी।" च० चि० सू० अ० १४। पृथ्वी-अप-तेज का आपस में कोई विरोध नहीं, चूँकि ये एक साथ उत्पन्न होते हैं, और इनका कार्य भी एक है। अथवा प्रभाव के कारण—जल के अन्दर रहनेवाला तेज भी नष्ट नहीं होता (यथा वड़वानल-विद्युत्शक्ति)। इसीसे कहा है—"विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव ॥ चरक० चि० अ० २६,२९३ ॥३,४॥

रोगांस्तदाश्रयान् घोरान् षट् च षट् च प्रचक्ष्महे।
पटलानुप्रविष्टस्य तिमिरस्य च लक्षणम् ॥५॥

दृष्टि में आश्रित भयानक बारह रोगों के तथा पटल में प्रविष्ट तिमिररोग के लक्षणों को कहूँगा ॥५॥

सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्।
प्रथमे पटले दोषो यस्य दृष्टौ व्यवस्थितः ॥६॥
अव्यक्तानि स रूपाणि सर्वाण्येव प्रपश्यति।

दूषित हुए दोष सिराओं द्वारा बहुत अन्दर प्रविष्ट होकर दृष्टि में प्रथम पटल के अन्दर स्थित हो जाते हैं, तब रोगी सब रूपों को धुंधला सा देखता है ॥६॥

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ॥७॥
मक्षिका मशकान् केशाञ्जालकानि च पश्यति।
मण्डलानि पताकाश्च मरीचीः कुण्डलानि च ॥८॥
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च।

दूरस्थान्यपि रूपाणि मन्यते च समीपतः ॥९॥
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ।
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ॥१०॥

दोष के दूसरे पटल में पहुँच जानेपर (मेद में आश्रित होनेपर) दृष्टि पहले पटल की अपेक्षा अधिक मलीन हो जाती है। रोगी आँखों के सामने मक्खी, मच्छर, बाल, जाले से, मण्डल, पताकायें, मृगतृष्णा की भाँति, कर्णकुण्डल, नक्षत्र आदि—अस्थिर नाना प्रकार की वस्तुएँ, वर्षा, अभ्र (बादल), अन्धकार को देखता है। दृष्टि का विभ्रम होने से समीप की वस्तु को दूर और दूर की वस्तु को समीप में स्थित मानता है। बहुत कोशिश करने पर भी सूई की नोक को नहीं देख सकता (सूई में धागा नहीं डाल सकता) ॥७–१०॥

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ।
महान्त्यपि च रूपाणि च्छादितानीव वाससा ॥११॥
कर्णनासाक्षियुक्तानि विपरीतानि वीक्षते ।
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ॥१२॥
अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ।
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥१३॥
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ।
दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा ॥१४॥
द्विधास्थिते त्रिधा पश्येद् बहुधा चानवस्थिते ।

दोष के तीसरे पटल में स्थित हो जाने पर रोगी ऊपर देख सकता है, परन्तु नीचे नहीं देख सकता। बड़े भारी रूपों को भी कपड़े से ढँपा अनुभव करता है। कान, नाक, आँख से युक्त होनेपर भी इनको कान-नाक आँख से हीन मानता है। दोष के दृष्टि के निचले भाग में स्थित होनेपर समीपस्थ वस्तु को नहीं देखता है। दोष के ऊपर के भाग में (दृष्टि में) स्थित होने पर दूर की वस्तु को नहीं देखता है। दोष के पार्श्व में स्थित होने पर—पार्श्व की वस्तु को नहीं देखता। दोष के दृष्टि में चारों ओर स्थित होने पर वस्तु को संकुचित हुआ देखता है। दोष के दृष्टि के मध्य में स्थित होने पर एक वस्तु के दो भाग देखता है। दोष के दो स्थानों पर स्थित होने पर वस्तु को तीन प्रकार से (तीन भागों में) देखता है। दोष के चंचल होने पर अनेक प्रकार से—अनेक भागों में देखता है। इस दोष को तिमिर कहते हैं।

वि० मन्तव्य—जब तक दोष प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पटल में रहता है तब तक उक्त (श्लो० ६-१४) लक्षण होते हैं—इस दशा का नाम "तिमिर" है। इसे पञ्जाब में "धुन्द" कहते हैं। यदि स्वस्थवृत्त के अनुसार—पञ्चरात्रे सप्तरात्रे वा स्रावणार्थं रसाञ्जनम्—पाँच सात दिन पर रात्रि के समय रसवत अथवा किसी भी स्रावण अञ्जन का प्रयोग होता रहे तो दृष्टि में दोष सञ्चय ही न हो और फलतः तिमिर नामक रोग भी न हो ॥११–१४॥

तिमिराख्यः स वै दोषः चतुर्थं पटलं गतः ॥१५॥
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते ।
तस्मिन्नपि तमोभूते नाति रूढे महागदे ॥१६॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः ।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ॥१७॥

चौथे पटल में पहुँचते ही दोष दृष्टि को सम्पूर्ण रूप में रोक देते हैं, इसको लिंगनाश कहते हैं। इस लिंगनाश में-अन्धेरा हो जाने पर, इस बड़े रोग के बहुत न बढ़ने पर, रोगी चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, अन्तरिक्ष में विद्युत, निर्मलतेज (अग्नि आदि), चमकनेवाले दूसरे रूपों को देख सकता है अन्य को नहीं।

वि० मन्तव्य—वही दोष (तिमिरोत्पादक दोष सञ्चय) जब चतुर्थ पटल तक भर जाता है तब "लिङ्गनाश" कहलाता है इस दशा में लिङ्ग—दृष्टि का नाश हो जाता है किन्तु इसकी प्रारम्भिक दशा में चन्द्र आदि चमकीली वस्तुएँ दिखलाई पड़ती हैं अन्य नहीं। यही 'मोतियाबिन्दु' है। वाग्भट्ट के शब्दों में—लिङ्गनाशं मलः कुर्वन् छादयेत् दृष्टिमण्डलम्। अर्थात् मल (दोष सञ्चय) लिंगनाश को करता हुआ दृष्टिमण्डल को ढँक लेता है। दिखना बन्द हो जाता है। यह स्मरणीय है कि इस रोग में दृष्टि का सर्वथा नाश नहीं होता है केवल दोष उसे ढँक देता है। क्योंकि जब यह दोष दूर हो जाता है—दृष्टि के आगे से हट जाता है—अथवा हटा दिया जाता है तब दिखने लगता है। देखिये लिंगनाश की चिकित्सा अगले अ० १७ में। इस लिंगनाश के दो नाम हैं १—नीलिका-नीला-काला मोतिया और २—काच-श्वेत मोतिया। यह दोष सञ्चित होते-होते जब मोती का सा या मसूर की दाल का सा हो जाता है तब दिखना सर्वथा बन्द हो जाता है। वाग्भट के शब्दों में—वृद्धः काचो दृशं कुर्यात् रजोधूमाऽऽवृताम् इव। (वा० उ० अ० १२) ॥१५–१७॥

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः ।
इसी लिंगनाश को नीलिका, काच नाम से कहते हैं।

तत्र वातेन रूपाणि भ्रमन्तीव स पश्यति ॥१८॥
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानि च मानवः ।

वायु के कारण उत्पन्न तिमिर में—मनुष्य रूपों को घूमता हुआ, मलिन (धुंधलाया), लाल वर्ण का, और टेढ़ा-मेढ़ा देखता है ॥१८॥

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान् ॥१९॥
शिखबर्हविचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति ।

पित्तज तिमिर में—सूर्य, जुगनू, इन्द्रधनुष, विद्युत के समान, या मोर की पिच्छा की भाँति विचित्र, नीला-काला देखता है ॥१९॥

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥२०॥
गौरचामरगौराणि श्वेताभ्रप्रतिमानि च ।
पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रे चैवाभ्रसंप्लवम् ॥२१॥
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ।

कफज तिमिर में-रूपों को चिकना, श्वेतचँवर के समान शुक्ल, श्वेतबादल की भाँति के देखता है। स्थूलरूपों को देखता है, बादलों रहित आकाश में भी बादलों का जाना देखता है, चारों ओर जल से भरे हुए-श्वेत, स्तिमित (जड़ बने) रूपों को देखता है ॥२०, २१॥

तथा रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥२२॥
हरितश्यावकृष्णानि धूमधूम्राणि चेक्षते ॥

रक्तज तिमिर में लाल, अन्धकारयुक्त, नानाप्रकार के हरे, श्यामवर्ण या कृष्ण, धुंवे से धुंधयालेपन रूप देखता है ॥२२॥

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानि च पश्यति ॥२३॥
बहुधा वा द्विधा वाऽपि सर्वाण्येव समन्ततः ।
हीनाधिकाङ्गान्यथवा ज्योतींष्यपि च पश्यति ॥२४॥

सन्निपातज तिमिर में—नानावर्ण के, विप्लुत (सब जगह बिखरे), बहुत (संख्या में कई), या दो में फटे, सब रूपों को हीन या अधिक अङ्गोंवाला, चमक (तारक) को चारों ओर देखता है ॥२३,२४॥

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्छितं रक्ततेजसा ।
पीता दिशस्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति ॥२५॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च ।

रक्त के तेज (प्रसाद) से मिला पित्त परिम्लायि रोग उत्पन्न करता है, इससे रोगी को दिशायें पीली दीखती हैं, उसे उगता हुआ सूर्य चारों ओर दीखता है। वृक्ष जुगनुओं से भरे प्रतीत होते हैं-चमक दिखाई देती है (जिस तिमिर में राग रंग आ जाता है, उसे काच कहते हैं। जिसमें राग नहीं होता है, उसे परिम्लायि कहते हैं। जिसमें थोड़ा दिखाई दे—वह लिंगनाश है)।

वि० मन्तव्य—तिमिर की दशा में जैसे ऐनक के शीशों-भिन्न-भिन्न वर्ण के शीशों में से भिन्न-भिन्न वर्ण दिखते हैं, वैसे भिन्न वर्ण दिखते हैं ॥२५॥

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥२६॥

राग-रंग दृष्टि से छैः प्रकार का लिंगनाश इसके आगे कहता हूँ।

वि० मन्तव्य—वर्ण के भेद से लिङ्गनाश (मोतिया) ६ प्रकार का माना जाता है ॥२६॥

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टः
पित्तात् परिम्लाय्यथवाऽपि नीलः ।
कफात् सितः शोणितजस्तु रक्तः
समस्तदोषोऽथ विचित्ररूपः ॥२७॥

अरुण रंग वायु के कारण से, परिम्लायि (पीला) या नीलारंग पित्त से, श्वेत रंग कफ से, लाल रंग रक्त से तथा नानारंग सन्निपात से होते हैं।

वक्तव्य—ये पाँच काच (रंगवाले लिंगनाश हैं), छठा परिम्लायि रोग है, इसमें पीला रंग सात्यकी के वचन से मानकर छै काच होते हैं, ऐसा डल्हण का कहना है।

वि० मन्तव्य—अरुण आदि रङ्गों की अत्यन्त थोड़ी आभा होती है जो बहुत ध्यान देने पर ज्ञात होती है। नेत्रचिकित्सकों द्वारा निकाले गये बहुत से मोतियों को एक साथ रखकर देखा जाय तो अरुण आदि वर्णों की प्रतीति होती है ॥२७॥

रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचानलप्रभम् ।
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लाय्यानीलं च मण्डलम् ॥२८
दोषक्षयात् कदाचित् स्यात्स्वयं तत्र च दर्शनम् ।

छाया परिम्लायि (रंगवाला काच) रोग में-मण्डल दृष्टि में रक्त से उत्पन्न होता है। मोटे काच (शीशा) के समान, आग के समान (लाली लिये), घटनेवाला, तथा थोड़ी सी नीली झाँई का मण्डल होता है। कभी दोषों के क्षय से, स्वयं ही दृष्टि आ जाती है।

वि० मन्तव्य—परिम्लायी नामक लिङ्गनाश रक्त एवं पित्त के संसर्ग से होता है (देखिये श्लो० २५) इसलिये जिसमें रक्त बलवान् रहता है वह स्थूल (मोटे) कांच का सा तथा अरुणवर्ण की आभावाला होता है अन्यथा पित्त की प्रधानता रहने पर परिम्लायी नामक मण्डल (मोतिया) आनील-कुछ नीला होता है। इस रोग में पित्त एवं रक्त की अधिकता होने के कारण कभी कभी दोष अर्थात् संचित मल का स्वयं चिकित्सा के बिना ही क्षय-नाश हो जाने पर दर्शन-(दिखाई देना) हो जाता है अर्थात् पित्त की ऊष्मा से दोष संचय स्वयं भी कमी कमी पिघलकर विलीन हो जाता है फलतः दिखने लगता है ॥२८॥

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ॥२९॥
पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव वा ।
श्लेष्मणा बहलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥३०॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः ।
संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत् ॥३१॥
मृद्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ।
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ॥३२॥
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥३३॥

वायु के कारण मण्डल अरुण वर्ण, चंचल और कठोर होता है। पित्त के कारण मण्डल ईषत् नीला, काँसी की

भाँई का या पीला होता है। कफ के कारण मोटा, चिकना, शंख कुन्द (मोगरे का फूल) और चन्द्रमा के समान श्वेत, हिलते हुए कमल पत्र पर रक्खे पानी की बूंद के समान श्वेत, धूप में बहुत सिकुड़नेवाला, और छाया में फैलनेवाला मण्डल होता है। आँख के मलने पर यह मण्डल फैलता है। रक्तजन्य मण्डल कमल पत्र की चमक का या मूंगे की चमक का होता है। त्रिदोषजन्य लिंगनाश में दृष्टि में रंग नाना प्रकार के होते हैं। इन सब में अपने अपने दोष के अनुसार दोषों के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—यहाँ पर कुछ थोड़ा सा दीखने लगने पर परिम्लायि रोग होता है, इस प्रकार से छै लिंगनाश पूरे होते हैं ऐसा डल्हण का कहना है ॥

वि० मन्तव्य—यह मण्डलों अर्थात् काचों – मोतियों पर वातादि दोषों से होनेवाले प्रभाव बतलाये गये हैं ॥२६-३३॥

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा
दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव च स्युः।
तथा नरः पित्तविदग्धदृष्टिः
कफेन चान्यस्त्वथ धूमदर्शी ॥३४॥
यो ह्रस्वजाड्यो (त्यो) नकुलान्धता च
गम्भीरसंज्ञा च तथैव दृष्टिः।

यह छै लिंगनाश, कह दिये हैं, ये आगे कहे जानेवाले छै रोग हैं। इस प्रकार दृष्टि के बारह रोग हैं, ये छै-छै ही हैं। रोग—पित्तविदग्धदृष्टि, कफविदग्धपृष्टि, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्य, नकुलान्ध्य, और गम्भीरिका ये छै रोग हैं ॥३४॥

पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं
पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः ॥३५॥
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः
स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः।
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे
दिवा न पश्येन्निशि वीक्षते च ॥३६॥
(रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः
पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्)

दूषित हुए पित्त के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि पीली हो जाये, जो मनुष्य रूपों को पीला मानता हो, उस मनुष्य की दृष्टि पित्तविदग्ध दृष्टि होती है। दोष के तीसरे पटल में पहुँच जाने पर रोगी दिन में ठीक प्रकार से नहीं देखता, परन्तु रात को देखता है। (रात्रि में शीतलता के कारण दृष्टि के खुल जाने पर पित्त के कम हो जाने से वह देख सकता है।)

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टि-
स्तान्येव शुक्लानि हि मन्यते तु ॥३७॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो
नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्यानुगृहीतचक्षु-
रीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात् ॥३८॥

कफ से विदग्धदृष्टिवाला मनुष्य उन्हीं रूपों को श्वेत मानता है। तीनों पटलों में थोड़ा स्थित दोष रात्र्यन्धता (रात में न दीखना) उत्पन्न कर देता है। दिन में सूर्य की दया से कफ के कम होने पर इसको दृष्टि मिल जाने पर यह देख सकता है ॥३७,३८॥

शोकज्वरायासशिरोभितापै-
रभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः।
सधूमकान् पश्यति सर्वभावां-
स्तंधूमकर्शीति वदन्ति रोगम् ॥३९॥

शोक, ज्वर, परिश्रम (जैसा रेलवे ड्राईवर), शिर का दुखना आदि कारणों से जिस मनुष्य की दृष्टि आहत हो जाये, वह मनुष्य सब वस्तुओं को धुँधयाला देखता है, इस रोग को धूमदर्शी कहते हैं ॥३९॥

स ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रा-
द्ध्रस्वानि रूपाणि च येन पश्येत्।

जो मनुष्य दिन में कठिनाई से रूपों को छोटे आकार में देखता है, उसे ह्रस्वजाड्य कहते हैं।

विद्योतते येन नरस्य दृष्टि-
र्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥४०॥
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत्
स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

दोषों से आक्रान्त होने पर जिस पुरुष की दृष्टि नेवले के समान चमकती है, वह दिन में सब दोषों के वर्णवाले रूपों को देखता है, इस रोग को नकुलान्ध्य कहते हैं ॥४०॥

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा
संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति ॥४१॥
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं
गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।

वायु से युक्त दृष्टि—विकृत रूपवाली, संकुचित, और अन्दर की ओर बैठती जाती है। इसमें अतिशय वेदना होती है, इस रोग को गम्भीरिका कहते हैं ॥४१॥

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ
निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥४२॥
निमित्ततस्तत्र शिरोभितापा-
ज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनैश्च।

बाहर से होनेवाले जो दो रोग—निमित्तजन्य और अनिमित्तजन्य हैं, उनमें निमित्तजन्य रोग—शिर के दुःख के कारण होता है, इसके लक्षण अभिष्यन्द के समान होते हैं॥

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां
सन्दर्शनेनापि च भास्वराणाम् ॥४३॥
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य
स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः।

तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति
वैडूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥४४॥

अनिमित्तज लिंगनाश—देवता, ऋषि, गन्धर्व, बड़े साँप (अजगर) तथा सूर्य के देखने के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि जाती रहती है, इस लिंगनाश को अनिमित्तज कहते हैं। इसमें आँख अतिशय निर्मल रहती है, दृष्टि स्वाभाविक वर्ण की एवं स्वच्छ रहती है, परन्तु दिखता नहीं है ॥४४॥

विदीर्यते सीदति हीयते वा
नृणामभीघातहता तु दृष्टयः ॥४५॥

चोट लगने से मनुष्यों की दृष्टि—फट जाती है, नीचे बैठ जाती है या कम हो जाती है ॥४५॥

इत्येते नयनगता मया विकाराः
संख्याताः पृथगिह षट् च सप्ततिश्च।
एतेषां पृथगिह विस्तरेण सर्वं
वक्ष्येऽहं तदनु चिकित्सितं यथावत् ॥४६॥

आँख के ये छिहत्तर रोग पृथग् पृथग् मैंने भली प्रकार से कह दिये हैं। इन्हीं की यहाँ पर पृथग् पृथग् चिकित्सा विस्तार से कहूँगा ॥४६॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातश्चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीय-
मध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः (सुश्रुताय) ॥२॥

अब इसके आगे चिकित्सित प्रविभागविज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥

षट्सप्ततिर्येऽभिहिता व्याधयो नामलक्षणैः।
चिकित्सितमिदं तेषां समासव्यासतः शृणु ॥३॥

नाम और लक्षणों से जो ये छिहत्तर नेत्र रोग कहे हैं, उनकी चिकित्सा को संक्षेप और विस्तार में सुनो ॥३॥

छेद्यास्तेषु दशैकश्च नव लेख्याः प्रकीर्तिताः।
भेद्याः पञ्च विकाराः स्युर्व्यध्याः पञ्चदशैव तु ॥४॥
द्वादशाऽशस्त्रकृत्याश्च याप्याः सप्त भवन्ति हि।
रोगा वर्जयितव्याः स्युर्दश पञ्च च जानता।
असाध्यौ वा भवेतां तु याप्यौ चागन्तुसंज्ञितौ ॥५॥

इन रोगों में ग्यारह रोग छेदन करने योग्य हैं। नौ लेखन के योग्य हैं, पाँच रोग भेदन के योग्य, और पन्द्रह रोग वेधन के योग्य, बारह रोग औषधसाध्य (शास्त्र कर्म से अयोग्य) और सात रोग याप्य या असाध्य होते हैं ॥४,५॥

अर्शोऽन्वितं भवति वर्त्म तु यत्तथाऽर्शः
शुष्कं तथाऽर्बुदमयो पिडकाः सिराजाः।
जालं सिराजमपि पञ्चविधं तथाऽर्म
छेद्या भवन्ति सह पर्वणिकामयेन ॥६॥

छेद्यरोग—अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अर्बुद, सिरा पिड़का, जाल, पाँच तरह का अर्म (प्रस्तार्यर्म, शुष्कार्म, रक्तार्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म) और पर्वणिका, ये ग्यारह रोग छेद्य हैं ॥६॥

उत्सङ्गिनी बहलकर्दमवर्त्मनी च
श्यावं च यच्च पठितं त्विह बद्धवर्त्म।
क्लिष्टं च पोथकियुतं खलु यच्च वर्त्म
कुम्भीकिनी च सह शर्करया च लेख्याः ॥७॥

उत्संगिनी, बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म, बद्धवर्त्म (वर्त्मबन्ध), क्लिष्टवर्त्म पोथकी, कुम्भीका और वर्त्मशर्करा ये लेखन के योग्य हैं ॥७॥

श्लेष्मोपनाहलगणौ च बिसं च भेद्या
ग्रन्थिश्च यः कृमिकृतोऽञ्जननामिका च।

श्लेष्मोपनाह, लगण, बिसवर्त्म, कृमिकृतग्रन्थि और अंजननामिका ये पाँच भेद्य हैं।

आदौ सिरा निगदितास्तु ययोः प्रयोगे
पाकौ च यौ नयनयोः पवनोऽन्यतश्च ॥८॥
पूयालसानिलविपर्ययमन्थसंज्ञाः
स्यन्दास्तु यान्त्युपशमं हि सिराव्यधेन।

जिन दो रोगों के पहले सिरा शब्द कहा गया है, यथा—सिरोत्पात, सिराहर्ष, दो तरह का नेत्रपाक, अन्यतोवात, पूयालस, वात विपर्यय, अधिमन्थ (चार), और अभिष्यन्द (चार) पन्द्रह रोग शिरावेधन से शान्त होते हैं ॥८॥

शुष्काक्षिपाककफपित्तविदग्धदृष्टि-
ष्वम्लाख्यशुक्रसहितार्जुनपिष्टकेषु ॥९॥
अक्लिन्नवर्त्महुतभुग्ध्वजदर्शिशुक्ति-
प्रक्लिन्नवर्त्मसु तथैव बलाससंज्ञे।
आगन्तुनाऽऽमययुगेन च दूषितायां
दृष्टौ न शस्त्रपतनं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१०॥

शुष्काक्षिपाक, कफविदग्धदृष्टि, पित्तविदग्धदृष्टि अम्लाध्युषित, शुक्र, अर्जुन, पिष्टक, अक्लिन्नवर्त्म, धूमदर्शी, शुक्तिका, क्लिन्नवर्त्म, बलास, आगन्तुज दो रोगों के कारण दृष्टि के दूषित होने से ये बारह रोग शस्त्रकर्म के अयोग्य हैं ॥९,१०॥

संपश्यतः षडपि येऽभिहितास्तु काचा-
स्ते पक्ष्मकोपसहितास्तु भवन्ति याप्याः।

कहे हुए छै काच, जिनमें रोगी को दीखता रहता है, वे छै काच तथा सातवाँ पक्ष्मकोप ये सात रोग याप्य हैं।

चत्वार एव पवनप्रभवास्त्वसाध्या
द्वौ पित्तजौ कफनिमित्तज एक एव।
अर्धोष्टका रुधिरजाश्च गदास्त्रिदोषा-
स्तावन्त एव गदितावपि बाह्यजौ द्वौ ॥११॥

वातजन्य चार रोग (हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरदृष्टि, वाताहतवर्त्म), पित्तजन्य दो (ह्रस्वजाड्य और जल स्राव), कफजन्य एक (कफस्राव), रक्तज चार रोग (रक्तस्राव, अजकाजात, शोणितार्श, व्रणान्वितशुक्र), चार ही त्रिदोषजन्य (पूयस्राव, नकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्यय, अलजी) बाह्यज दो (आगन्तुज) ये पन्द्रह रोग असाध्य हैं ॥११॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातो वाताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे वाताभिष्यन्द प्रतिषेध (चिकित्सा) का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

पुराणसर्पिषा स्निग्धौ स्यन्दाधीमन्थपीडितौ ।
स्वेदयित्वा यथान्यायं सिरामोक्षेण योजयेत् ॥३॥
संपादयेद्वस्तिभिस्तु सम्यक् स्नेहविरेचितौ ।
तर्पणैः पुटपाकैश्च धूमैराश्च्योतनैस्तथा ॥४॥
नस्यस्नेहपरीषेकैः शिरोबस्तिभिरेव च ।

अभिष्यन्द और अधिमन्थवाले रोगी पुरातन घृत से (दस साल के) स्नेहन करके, स्वेदन देकर, जैसा ठीक हो, उस प्रकार सिरामोक्षण करे, स्निग्ध विरेचन देकर वस्तियाँ भली प्रकार बरते । तर्पण, पुटपाक, धूम, आश्च्योतन, नस्य, स्नेहपरिषेक, शिरोवस्ति देवे ।

वक्तव्य—ज्वर की भांति अक्षिरोगों में भी आम, निराम का विचार है । निराम अवस्था में ही स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये । यथा—स्वेदः प्रलेपः तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् । लंघनं चाक्षिरोगाणां आमानां पाचनानि षट् ॥ अंजनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् । नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं च परिवर्जयेत् ॥' जिस प्रकार ज्वर सात दिन में प्रायः निराम होता है, उसी प्रकार नेत्र रोग चार दिन में प्रायः निराम होते हैं। इसी से कहा है 'प्रागेवाद्यामये भक्तं त्रिरात्रमगुरु स्मृतम्। उपवासः त्र्यहं वा स्यात् नक्तं वाऽप्यशनं हितम् । ततश्चतुर्थे दिवसे व्याधौ संजातलक्षणे । यथोक्तास्तु क्रियाः कार्या नस्यसेकाञ्जनादिकाः ॥ वस्ति—मल से दोषों का पक्वाशय में अवरोध होने पर देवे । मलावृतवायु में निरूहवस्ति धातुक्षयज वायु में वस्ति देवे । सेक सुखोष्ण सेक, आश्च्योतन शीतल । यथा न्याय शब्द-स्नेहपान, सिरामोक्षण के साथ सम्बद्ध है । पुरातन घृत—एक साल पुराना डल्हण ने लिखा है । दृष्टि के समीप शिर पर हल्का स्वेद करे, या न करे, चूँकि यहां पर बसा नहीं है, इसी से कहा है—"वृषणौ हृदयं दृष्टिं स्वेदयेन्मृदु नैव वा ॥" चरक ॥३,४॥

वातघ्नानूपजलजमांसाम्लक्वाथसेचनैः ॥५॥
स्नेहैश्चतुर्भिरुष्णैश्च तत्पीताम्बरधारणैः ।
पयोभिर्वेसवारैश्च साल्वणैः पायसैस्तथा ॥६॥
भिषक् संपादयेदेतावुपनाहैश्च पूजितैः ।

भद्रदार्व्यादि वातनाशक, आनूपमांस, जलज (मछली आदि) मांस, आमला आदि अम्लद्रव्यों के क्वाथ इनसे सेचन करके, कपड़े की पोटलियों को उष्ण घी-तैलवसा-मज्जा में भिगो-भिगोकर, दूध से, वेशवार (किमिया किये माँस से), साल्वण उपनाह द्रव्यों से, खीर से, तथा अन्य योग्य उपनाहों से वैद्य स्वेदन करके, इन रोगों में सिरामोक्षण आदि करे ॥

ग्राम्यानूपौदकरसैः स्निग्धैः फलरसान्वितैः ॥७॥
सुसंस्कृतैः पयोभिश्च तयोराहार इष्यते ।

भोजन में—ग्राम्यमांसरस, आनूपमांसरस, औदकमांसरस, स्निग्ध (घृत आदि युक्त), दाडिम आंवला के रस से मिश्रित मांस रसों से अथवा शतावरी, सोंठ आदि से भली प्रकार संस्कृत दूध के साथ भोजन देवे ।

वक्तव्य—सब अम्ल पित्तकारक हैं परन्तु आंवला और अनार पित्तकारक नहीं है, इसलिये इनको दे ॥७॥

तथा चोपरि भक्तस्य सर्पिः पानं (ने) प्रशस्यते ॥८॥
त्रिफलाक्वाथसंसिद्धं केवलं जीर्णमेव वा ।
सिद्धं वातहरैः क्षीरं प्रथमेन गणेन वा ॥९॥
स्नेहास्तैलाद्विना सिद्धा वातघ्नैस्तर्पणे हिताः ।

भोजन करने के उपरान्त (रात्रि में) घृतपान करना उत्तम है । इसके लिये त्रिफला क्वाथ में सिद्ध किया अथवा असंस्कृत पुरातन घृत पीये । भद्रदार्व्यादि वातहरगण से या विदारी गन्धादि प्रथमगण से सिद्ध किया घृत पीये । वातघ्न एरण्ड आदि से सिद्ध किये तैल को छोड़कर दूसरे स्नेह (घी, वसा, मज्जा) तर्पण में उत्तम हैं ।

वक्तव्य—त्रिफला घृत—व्याधि प्रत्यनीक है, देवदारु आदि वातहर द्रव्यों से सिद्धघृत दोष प्रत्यनीक है । वायु का पित्त से अनुबन्ध होने पर बिदारीगन्धादि गण से सिद्ध घृत देवे । नेत्ररोगों में घृतपान रात में उत्तम है—इसी से त्रिफलाघृत की फलश्रुति में—"पीतमेतत् निशामुखे" यह पाठ दिया है॥

स्नैहिकः पुटपाकश्च धूमो नस्यं च तद्विधम् ॥१०॥
नस्यादिषु स्थिराक्षीरमधुरैस्तैलमिष्यते ।

स्नैहिक पुटपाक, स्नैहिक धूम, स्नैहिक नस्य एवं शालपर्णी, दूध और काकोल्यादि मधुरगण से सिद्ध किया तैल नस्य आदि में बरते ॥१०॥

एरण्डपल्लवे मूले त्वचि वाऽऽजं पयः शृतम् ॥११॥
कण्टकार्याश्च मूलेषु सुखोष्णं सेचने हितम् ।

एरण्ड के पत्ते, मूल, छाल से अथवा कण्टकारी के मूल से सिद्ध किया बकरी का दूध, सुहाता हुआ गरम-गरम सेक में उत्तम है। आश्च्योतन में दूध को ठण्डा करके बरते ॥११॥

सैन्धवोदीच्ययष्ट्याह्वपिप्पलीभिः शृतं पयः ॥१२॥
हितमर्धोदकं सेके तथाऽऽश्च्योतनमेव च ।

सैन्धव, खस, मुलैहठी, पिप्पली इनसे, आधा पानी मिलाया दूध, सिद्ध करे। यह दूध परिषेक में, उत्तम है। (सैन्धव आदि की मात्रा दूध, से अष्टमांश) ॥

ह्रीबेरवक्रमञ्जिष्ठोदुम्बरत्वक्षु साधितम् ॥१३॥
साम्भश्छागं पयो वाऽपि शूलाश्च्योतनमुत्तमम् ।

वालक, तगर, मजीठ, गूलर की छाल इनसे आधा पानी मिलाया बकरी का दूध सिद्ध करे। यह आश्च्योतन शूल के लिये उत्तम है। (डल्हण ने चार गुणा पानी मिलाने को कहा है) ॥१३॥

मधुकं रजनीं पथ्यां देवदारुं च पेषयेत् ॥१४॥
आजेन पयसा श्रेष्ठमभिष्यन्दे तदञ्जनम् ।

मुलैहठी, हल्दी, हरड़, देवदारु, इनको बकरी के दूध से पीसकर अभिष्यन्द में अंजन करना उत्तम है ।.१४॥

गैरिकं सैन्धवं कृष्णां नागरं च यथोत्तरम् ॥१५॥
द्विगुणं पिष्टमद्भिस्तु गुटिकाञ्जनमिष्यते ।

गेरू से सैन्धव दुगुना, सैन्धव से पिप्पली द्विगुण, पिप्पली से सोंठ द्विगुण लेकर पानी के साथ पीसकर गोली बनाये, इसका अंजन करे। (कई बकरी के दूध में पीसकर गोली बनाते हैं) ॥१५॥

स्नेहाञ्जनं हितं चात्र वक्ष्यते तद्यथाविधि ॥१६॥

विधिपूर्वक स्नेहांजन करना (अपतर्पण, सिरावेध आदि करके) उत्तम कहते हैं।

वक्तव्य—"ताम्रपात्रस्थितं मासं सर्पिः सैन्धवसंयुतम्"—इसको कोई स्नेहांजन करते हैं। दूसरे "वसा चानूप जलजा सैन्धवेन समायुता" इसको स्नेहांजन मानते हैं ॥१६॥

रोगो यश्चान्यतोवातो यश्च मारुतपर्ययः ।
अनेनैव विधानेन भिषक् तावपि साधयेत् ॥१७॥

अन्यतोवात और वातपर्याय इन दो रोगों की भी वैद्य इसी विधि से चिकित्सा करे ॥१७॥

पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरं वाऽप्यथ भोजने ।
वृक्षादन्यां कपित्थे च पञ्चमूले महत्यपि ॥१८॥
सक्षीरं कर्कटरसे सिद्धं चात्र घृतं पिबेत् ।
सिद्धं वा हितमत्राहुः पत्तूरार्तगलाग्निकैः ॥१९॥
सक्षीरं मेषशृङ्ग्या वा सर्पिर्वीरतरेण वा ।

अन्यतो वात, और वातपर्यय में भोजन से पहले घृत पिलाये, या भोजन में दूध देवे। वन्दाक, कैथ, बिल्वादि महा-पंचमूल, दूध, केकड़े का मांसरस, इनसे सिद्ध किया घृत पीये। अथवा मछेछी, आर्त्तगल (झिंटी या सहचर), चित्रक, इनसे सिद्ध किया घी, या मेष शृङ्गी और दूध से अथवा वीरतर (वखेल) और दूध से सिद्ध घृत पिलाये ॥१८,१९॥

सैन्धवं दारु शुण्ठी च मातुलुङ्गरसो घृतम् ॥२०॥
स्तन्योदकाभ्यां कर्तव्यं शुष्कपाके तदञ्जनम् ।
पूजितं सर्पिषश्चात्र पानमक्ष्णोश्च तर्पणम् ॥२१॥
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना ।
परिषेके हितं चात्र पयः शीतं ससैन्धवम् ॥२२॥
रजनीदारुसिद्धं वा सैन्धवेन समायुतम् ।
सर्पिर्युतं स्तन्यघृष्टमञ्जनं वा महौषधम् ॥२३॥
वसा वाऽऽनूपजलजा सैन्धवेन समायुता ।
नागरोन्मिश्रिता किञ्चिच्छुष्कपाके तदञ्जनम् ॥२४॥

सैन्धव, देवदारु और सोंठ इनके कल्क से बिजौरे के रस, घी, दूध, और पानी इन द्रवों में रसक्रिया बनाकर शुष्क-पाक में अंजन करना चाहिए। घी का पान और घी का आँखों में तर्पण करना उत्तम है। जीवनीय घृत से या अणुतैल से नस्य देवे। सैन्धव मिश्रित ठण्डा दूध परिषेक में उत्तम है। हल्दी, देवदारु, से सिद्ध दूध में थोड़ा नमक मिलाकर परिषेक करे। सोंठ को दूध में घिसकर—थोड़ा सा घी मिलाकर अंजन करे। भैंस आदि आनूप, मछली आदि जलज प्राणियों की वसा सैन्धव और थोड़ी सी सोंठ मिलाकर, शुष्क पाक में अंजन करना उत्तम है ॥२०-२४॥

पवनप्रभवा रोगा ये केचिद्दृष्टिनाशनाः ।
बीजेनानेन मतिमान् तेषु कर्म प्रयोजयेत् ॥२५॥

वातजन्य जो रोग दृष्टि को नष्ट करते हैं, उन रोगों में बुद्धिमान् इस बीजरूप चिकित्सा से कर्म करे। (दृष्टिनाशनाः-तिमिरकाच आदि)।

"उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः ।
कार्यो दाहोपदेहाश्रु शोफरागनिवारणः ॥
नागरं सैन्धवं सर्पिः मण्डेन च रसक्रिया ।
निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ॥
तथा शावरकं लोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः ।
तद्वत् कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः ॥च० ॥९५॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे वाताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अथातः पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे पित्ताभिष्यन्द प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

पित्तस्यन्दे पैत्तिके चाधिमन्थे
रक्तास्रावः स्रंसनं चापि कार्यम् ।
अक्ष्णोः सेकालेपनस्याञ्जनानि
पैत्ते च स्याद्यद्विसर्पे विधानम् ॥३॥

पित्ताभिष्यन्द में पित्तजन्य अधिमन्थ में—रक्तस्राव, विरेचन, आँखों पर परिषेक, आलेप, नस्य और अंजन करने चाहिये। पित्त विसर्प की चिकित्सा (उशीर, लामजक चन्दनानि-आदि) करे ॥३॥

गुन्द्रां शालिं शैवलं शैलभेदं दार्वीमेलामुत्पलं रोध्रमभ्रम् ।
पद्मापत्रं शर्करा दर्भमिक्षुं तालं रोध्रं वेतसं पद्मकं च ॥
द्राक्षां क्षौद्रं चन्दनं यष्टिकाह्वं
योषित्क्षीरं रात्र्यनन्ते च पिष्ट्वा ।
सर्पिःसिद्धं तर्पणे सेकनस्ये
शस्तं क्षीरं सिद्धमेतेषु वाजम् ॥५॥
योज्यो वर्गो व्यस्त एषोऽन्यथा वा
सम्यङ्नस्येऽष्टार्धसंख्येऽपि नित्यम् ।

गुन्द्रा (एरक, घावाजरिया—गुजराती), शाली, शैवल (सेवाल या दूर्वा), पाषाणभेद, दारुहल्दी, इलायची, कमल, लोध, मोथा, कमलपत्र, शर्करा, दाभ, इक्षु, ताल (मुसली या ताड़), लोध, वेत, पद्माख, द्राक्षा, मधु, चन्दन, मुलैहठी, घावन (स्त्री का दूध), हल्दी, सारिवा इनको पीसकर, ईख के रस में (द्रव कार्य ईख के रस से) घृत सिद्ध करे। यह घृत अक्षि तर्पण, सेक, नस्य में उत्तम है। इसी प्रकार इन द्रव्यों में सिद्ध किया बकरी का दूध भी उत्तम है। इन द्रव्यों को अलग अलग, या सब मिलाकर, चार प्रकार के नस्य में (प्रतिमर्ष, अवपीड़, नस्य, शिरोविरेचन) बरतना चाहिये ॥४,५॥

क्रियाः सर्वाः पित्तहर्यः प्रशस्ता-
स्त्र्यहाच्चोर्ध्वं क्षीरसर्पिश्च नस्यम् ॥६॥

इस पित्तज अभिष्यन्द में पित्तनाशक सब उपचार करे, तीन दिन के पीछे, दूध से निकाले घी का नस्य देवे ॥६॥

पालाशं स्याच्छोणितं चाञ्जनार्थे
शल्लक्या वा शर्कराक्षौद्रयुक्तम् ।

ढाक अथवा पलाश के रस में (ढाक के फूल के रस में) शर्करा और मधु मिलाकर अंजन करे।

रसक्रियां शर्कराक्षौद्रयुक्तां
पालिन्द्यां वा मधुके वाऽपि कुर्यात् ॥७॥

कालीनिशोथ या मुलैहठी की रसक्रिया बनाकर, शर्करा, मधुमिलाकर अंजन करे।

वक्तव्य—गृहीत्वा क्वाथकल्पेन क्वाथं पूतं पुनः पुनः ।
क्वाथयेत् फाणिताकारमेषा प्रोक्ता रसक्रिया ॥७॥

मुस्ता फेनः सागरस्योत्पलं च
क्रमिघ्नैलाधात्रिबीजाद्रसश्च ।

मुस्ता, समुद्रफेन, कमल, वायविडंग, आंवला, विजयसार, इनके क्वाथ से रस क्रिया बनाये ॥

तालीशैलागैरिकोशीरशङ्खै-
रेवंयुञ्ज्यादञ्जनं स्तन्यपिष्टैः ॥८॥

तालीश, इलायची, गेरू, खस, शंख इनको धावन में पीसकर अंजन करे ॥८॥

चूर्णं कुर्यादञ्जनार्थे रसो वा
स्यन्योपेता धातकीस्यन्दनाभ्याम् ।

धातकी और सांदन इनको धावन में मिलाकर या इनसे रस क्रिया बनाकर अंजन करे।

योषित्स्तन्यं शातकुम्भं विघृष्टं
क्षौद्रोपेतं कैंशुकं चापि पुष्पम् ॥९॥

सुवर्ण को धावन में घिसकर, या ढाक के फूलों को मधु में मिलाकर (ताम्र पात्र में) अंजन करे ॥९॥

रोध्रं द्राक्षां शर्करामुत्पलं च
नार्याः क्षीरे यष्टिकाह्वं वचां च ।
पिष्ट्वा क्षीरे वर्णकस्य त्वचं च
तोयोन्मिश्रे चन्दनोदुम्बरे च ॥१०॥

लोध, द्राक्षा, शर्करा, कमल, मुलैहठी, वच इनको धावन में पीसकर अंजन करे। अमलतास की छाल को धावन में पीसकर अंजन करे। बालक, चन्दन, गूलर इनको वस्त्र की पोटली में बाँधकर पानी में भिगोकर आश्च्योतन करे ॥१०॥

कार्यः फेनः सागरस्याञ्जनार्थं
नारीस्तन्ये माक्षिके चापि घृष्टः ।
योषित्स्तन्ये स्थापितं यष्टिकाह्वं
रोध्रं द्राक्षां शर्करामुत्पलं च ॥११॥
क्षौमाबद्धं पथ्यमाश्च्योतने वा
सर्पिर्घृष्टं यष्टिकाह्वं सरोध्रम् ।
तोयोन्मिश्राः काश्मरीधात्रिपथ्या-
स्तद्वच्चाहुः कट्फलं चाम्बुनैव ॥१२॥

समुद्रफेन को धावन और मधु में घिसकर अंजन करे। मुलैहठी, लोध, द्राक्षा, शर्करा, कमल इनको धावन में रखकर (पीसकर) अंजन करे। अथवा इनको रेशम के (झीने) वस्त्र में बाँधकर धावन में भिगो—भिगोकर आश्च्योतन करे। मुलैहठी और लोध को घिसकर, घी मिलाकर (घी में भिगो-भिगोकर) आश्च्योतन करे। गम्भारी, आँवला, हरड़, इनकी पोटली पानी में भिगोकर आश्च्योतन कर। कायफल का जल से ही आश्च्योतन करे (पोटली में बाँधकर, पानी में भिगोकर आँख पर रक्खे) ॥११,१२॥

एषोऽम्लाध्येऽनुक्रमश्चापि शुक्तौ
कार्यः सर्वः स्यात्सिरामोक्षवर्ज्यः ।

अम्लाध्युषित और शुक्ति में भी यही सम्पूर्ण चिकित्सा करें, परन्तु सिरामोक्षण न करे।

सर्पिः पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा
पेयं वा स्यात् केवलं यत् पुराणम् ।

त्रैफलघृत, तिल्वकघृत (संशोधनघृत) पीये, या पुरातनघृत पीये ॥

दोषेऽधस्ताच्छुक्तिकायामपास्ते
शीतैर्द्रव्यैरञ्जनं कार्यमाशु ॥१४।

शुक्तिका में विरेचन द्वारा दोषों को नीचे से निकालकर तुरन्त शीतल द्रव्यों से अंजन करे ॥१४॥

वैदूर्यं यत् स्फाटिकं वैद्रुमं च
मौक्तं शाङ्खं राजतं शातकुम्भम् ।
चूर्णं सूक्ष्मं शर्कराक्षौद्रयुक्तं
शुक्तिं हन्यादञ्जनं चैतदाशु ॥१५॥

बिल्लौर, स्फटिक (मणि), मूंगा, मोती, शंख, सुवर्ण, चांदी इनका सूक्ष्म चूर्ण करके (घिसकर)—शर्करा मधु मिलाकर अंजन करने से शुक्ति शीघ्र नष्ट होती है ॥१५॥

युञ्ज्यात् सर्पिर्धूमदर्शी नरस्तु
शेषं कुर्याद्रक्तपित्ते विधानम् ।
यच्चैवान्यत् पित्तहृच्चापि सर्वं
तद्वीसर्पे पैत्तिके वै विधानम् ॥१६॥

धूमदर्शी रोगी घी का उपयोग करे, रक्तपित्त की चिकित्सा बरते । पित्तनाशक जो अन्य चिकित्सा है, वह करे, पित्तजवीसर्प की विधि बरते ॥१६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः श्लेष्माभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे श्लेष्माभिष्यन्द प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्यन्दाधिमन्थौ कफजौ प्रवृद्धौ जयेत् सिराणामथ मोक्षणेन ।
स्वेदावपीडाञ्जनधूमसेकप्रलेपयोगैः कवलग्रहैश्च ॥३॥
रूक्षैस्तथाऽऽश्च्योतनसंविधानै-
स्तथैव रूक्षैः पुटपाकयोगैः ।
त्र्यहात्त्र्यहाच्चाप्यपतर्पणान्ते
प्रातस्तयोस्तिक्तघृतं प्रशस्तम् ॥४॥
तदन्नपानं च समाचरेद्धि
यच्छ्लेष्मणो नैव करोति वृद्धिम् ।

कफजन्य अभिष्यन्द और अधिमन्थ के बहुत बढ़ जाने पर सिरामोक्ष करके इनको शान्त करे । स्वेदन, अवपीड़न, अंजन, धूम, परिषेक, प्रलेप एवं कवलग्रह बरते । रूक्ष आश्च्योतन, रूक्ष पुटपाक, करे । उपवास के पीछे तीन तीन दिन के अन्तर से, प्रातःकाल में तिक्तघृत का पान उत्तम है । जो खान-पान कफ की वृद्धि नहीं करता, वह बरते ॥३,४॥

कुटन्नटास्फोटफणिज्झबिल्व-
पत्तूरबिल्वकर्कपित्थभङ्गैः ॥५॥
स्वेदं विदध्यात् अथवाऽनुलेपं
बर्हिष्ठशुण्ठीसुरकाष्टकुष्टैः ।

कुटन्नट (केवड़ी मोथा या तगर), आस्फोट (आस्फोत-सारिवा), फणिज्झक (मरवा), बिल्व, पत्तूर (मछेछी), पिलु, आक, कैथ इनके पत्तों से स्वेद देवे ।

अथवा—बालक, सोंठ, देवदारु, और कूठ से लेप करे ॥५॥

सिन्धूत्थहिङ्गुत्रिफलामधूक-
प्रपौण्डरीकाञ्जनतुत्थताम्रैः ॥६॥
पिष्टैर्जलेनाञ्जनवर्तयः स्युः
पथ्याहरिद्रामधुकाञ्जनैर्वा ।
त्रीण्यूषणानि त्रिफला हरिद्रा
विडङ्गसारश्च समानि च स्युः ॥७॥
बर्हिष्ठकुष्ठामरकाष्ठशङ्ख-
पाठानलव्योषमनः शिलाश्च ।
पिष्ट्वाऽम्बुना वा कुसुमानि जाति-
करञ्जशोभाञ्जनजानि युञ्ज्यात् ॥८॥
फलं प्रकीर्यादथवाऽपि शिग्रोः
पुष्पं च तुल्यं बृहतीद्वयस्य ।
रसाञ्जनं सैन्धवचन्दनं च
मनः शिलाले लशुनं च तुल्यम् ॥९॥
पिष्ट्वाऽञ्जनार्थं कफजेषु धीमान्
वर्तीर्विदध्यान्नयनामयेषु ।

सैन्धव, हींग, त्रिफला, महुआ, प्रपौण्डरीक, अंजन, तुत्थ, ताम्रचूर्ण (या ताम्रपात्र में) इनको जल में पीसकर वर्त्ति बनाये । अथवा, हरड़, हल्दी, मुलैहठी, सुरमा इनको जल में पीसकर वर्त्ति बनाकर अंजन करे ।

पांच योग—(१) त्रिकटु, त्रिफला, हल्दी, वायविडंग ये समान भाग, (२) बालक, कूठ, देवदार, शंख, पाठा, नख, त्रिकटु, मैनसिल, (३) चमेली के फूल, करंज, सुहांजने के बीज, (४) करंज के फल, सहजन के फल, कटेरी और बड़ीकटेरी के फूल—समान भाग (५) रसौंत, सैन्धव, चन्दन, मैनसिल हरताल और लहसुन सब समानभाग लेकर पानी से पीसकर कफज रोगों में बुद्धिमान् अंजन करने के लिये इनसे वर्त्ति बनाये ॥६-९॥

रोगे बलासग्रथितेऽञ्जनं ज्ञैः
कर्तव्यमेतत् सुविशुद्धकाये ॥१०॥
नीलान् यवान् गव्यपयोऽनुपीतान्
शलाकिनः शुष्कतनून् विदध्यात् ।
तथाऽर्जकास्फोतकपित्थबिल्व-
निर्गुण्डिजातीकुसुमानि चैव ॥११॥

तत्क्षारवत्सैन्धवतुत्थरोचनं
पक्वं विदध्यादथलोहनाड्याम्।
एतद्बलासग्रथितेऽञ्जनं स्या-
द्वेषोऽनुकल्पस्तु फणिज्झकादौ ॥१२॥

बलासग्रथित रोग में—सिरावेधन, विरेचन, शिरोविरेचन से शुद्ध देहवाले रोगी में कुशल वैद्य इस क्षाराञ्जन को बरते। अञ्जन—पक्व जौ को गाय के दूध में सात दिन या चौदह दिन भावित करके, इनको शूकों के (बाल में लगे काँटे) साथ, सुखाकर इनको, तथा अर्जक, आस्फोता (सारिवा), कैथ, बिल्व, निर्गुण्डी (सम्भालु), चमेली के फूल इनके साथ जला ले। यह भस्म एक प्रस्थ, गरम पानी एक आढ़क में घोलकर बार-बार छाने। जब क्षारोदक तीक्ष्ण, पिच्छिल और लाल हो जाये तब इस राख को छोड़कर, इस क्षारोदक में सैन्धव, तुत्थ, रोचना (गोरोचना) का प्रक्षेप (क्षारोदक का ३२ वाँ भाग) मिलाकर पकाये। इसको लोहे के पात्र (नलिका) में रखकर बलास ग्रथित रोग में अञ्जन करे। फणिज्झक आदि के पुष्पों से भी इसी प्रकार अञ्जन बनाना चाहिये ॥१०-१२॥

महौषधं मागधिकां च मुस्तां
ससैन्धवं यन्मरिचं च शुक्लम्।
तन्मातुलुङ्गस्वरसेनपिष्टं
नेत्राञ्जनं पिष्टकमाशु हन्यात् ॥१३॥

सोंठ, पिप्पली, मुस्ता, सैन्धव, श्वेतमरिच, इनको बिजौरे के रस में पीसकर—आँखों में अञ्जन करने से पिष्टक रोग शीघ्र नष्ट होता है ॥१३॥

फले बृहत्या मगधोद्भवानां
निधाय कल्कं फलपाककाले।
स्रोतोजयुक्तं च तदुद्धृतं स्या-
त्तद्वत्तु पिष्टे विधिरेष चापि ॥१४॥

बड़ी कटेरी के फल जब पकनेवाले हों, तब उन फलों में पिप्पली का कल्क, सौवीरांजन के साथ भर देवे। सात दिन के पीछे इसको बिजौरे के रस में मिलाकर पिष्टक में अञ्जन करे।

वार्ताकशिग्रिन्द्रसुरापटोल-
किराततिक्तामलकीफलेषु।

यही विधि—वार्ताक (बड़ी कटेरी या बैंगन), सुहांजना, इन्द्रायण, परवल, चिरायता और आँवले के फलों में भी करनी चाहिये।

कासीससामुद्ररसाञ्जनानि
जात्यास्तथा क्षा (को) रकमेव चापि ॥१५॥
प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपदिश्यते तु
योगाञ्जनं तन्मधुनाऽवघृष्टम्।

योगाञ्जन—कासीस, समुद्रफेन, रसौत, चमेली की कलिका, इनको मधु में घिसकर प्रक्लिन्न वर्त्म में अञ्जन करे। (सामुद्र से समुद्र नमक भी कई लेते हैं, परन्तु सर्वलवणमचक्षुष्यम्, ऋते सैन्धवात्—इस नियम से समुद्रफेन लिया है)॥१५॥

नादेयमग्र्यं मरिचं च शुक्लं
नेपालजाता च समप्रमाणा ॥१६॥
समातुलुङ्गद्रव एष योगः
कण्डूं निहन्यात् सकृदञ्जनेन।

उत्तम सैन्धव नमक, श्वेत मरिच, मैनसिल इनको बराबर लेकर, बिजौरा के रस से पतला करके एक ही बार अञ्जन करने पर कण्डू को नष्ट करता है ॥१६॥

सशृङ्गवेरं सुरदारु मुस्तं
सिन्धुप्रभू (सू) तं मुकुलानि जात्याः ॥१७॥
सुराप्रपिष्टं त्विदमञ्जनं हि
कण्ड्वां च शोफे च हितं वदन्ति।

सोंठ, देवदारु, मुस्ता, सैन्धव, चमेली की कलियाँ, इनको सुरा (मद्य) में पीसकर अञ्जन करने से कण्डू और शोफ नष्ट होते हैं ॥१७॥

स्यन्दाधिमन्थक्रममाचरेच्च
सर्वेषु चैतेषु सदाऽप्रमत्तः ॥१८॥
(विशेषतो नावनमेव कार्यं संसर्जनं चापि यथोपदिष्टम्)

बलास ग्रथित, पिष्टक, प्रक्लिन्नवर्त्म में—अभिष्यन्द और अधिमन्थ की सम्पूर्ण चिकित्सा करते। (विशेषतः इनमें नस्य करे, तथा संसर्जन विधि (पेया, विलेपी आदि विरेचन के पीछे बरतने की विधि) का पालन करे ॥१८॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
कफाभिष्यन्दप्रतिषेधो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥२॥

मन्थं स्यन्दं सिरोत्पातं सिराहर्षं च रक्तजम्।
एकेनैव विधानेन चिकित्सेच्चतुरो गदान् ॥३॥

अधिमन्थ, अभिष्यन्द, शिरोत्पात और सिराहर्ष इन चारों रक्तजन्य रोगों की चिकित्सा एक ही विधि से करे ॥३॥

व्याध्यार्तांश्चतुरोऽप्येतान् स्निग्धान्कौम्भेन सर्पिषा।
रसैरुदारैरथवा सिरामोक्षेण योजयेत् ॥४॥

उपर्युक्त चारों रोगों में से किसी एक रोग से पीड़ित रोगी को पुरातन घृत (एक सौ साल) या अधिक स्नेहवाले मांस रसों से स्निग्ध करके सिरामोक्षण करे।

वक्तव्य—दस वर्ष के पुराने घी को पुराण घृत कहते

हैं। दस वर्ष से अधिक पुराने घी को प्रपुराणघृत, और एक सौ वर्ष पुराने घृत को कुम्भसर्पि तथा इससे अधिक साल के पुराने घृत को महाघृत कहते हैं ॥४॥

विरिक्तानां प्रकामं च शिरांस्येषां विशोधयेत्।
वैरेचनिकसिद्धेन सितायुक्तेन सर्पिषा ॥५॥
मज्ज्ञा वा तद्विमिश्रेण मेदसा तच्छृतेन वा।)

विरेचन हो जाने पर इनके शिरों का यथेच्छ शोधन करे। इसके लिये शिरोविरेचन द्रव्यों से सिद्ध घृत में शर्करा मिलाकर शोधन करे। (तैल-अचक्षुष्य है, उसे न बरते, कोई त्रिवृत्तादि द्रव्य से सिद्ध घृत लेते हैं)। अथवा घृतमिश्रित मज्जा से या विरेचन द्रव्यों से सिद्ध मेद से शोधन करे ॥५॥

ततः प्रदेहाः परिषेचनानि
नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि
स्निग्धाश्च कार्याः पुटपाकयोगाः ॥६॥

इसके आगे प्रदेह, परिषेचन, नस्य, धूमयोग, इनको दोषों के अनुसार बरते। आश्च्योतन, अभ्यंग, अञ्जन, तर्पण, स्निग्ध पुटपाक योग बरते। (अञ्जन-प्रसादन अञ्जन बरते)॥६॥

नीलोत्पलोशीरकटङ्कटेरी
कालीययष्टीमधुमुस्तरोध्रैः।
सपद्मकैर्धौतघृतप्रदिग्धै-
रक्ष्णोः प्रलेपं परितः प्रकुर्यात् ॥७॥

नीलोफर, खस, दारुहल्दी, कालीयक काष्ठ, मुलैहठी, मुस्ता, लोध, पद्माख इनको शतधौतघृत में मिलाकर आँखों के चारों ओर प्रलेप करे ॥७॥

रुजायां चाप्यतिभृशं स्वेदाश्च मृदवो हिताः।
अक्ष्णोः समन्ततः कार्यं पातनं च जलौकसाम् ॥८॥
घृतस्य महती मात्रा पीता चार्तिं नियच्छति।
पित्ताभिष्यन्दशमनो विधिश्चाप्युपपादितः ॥९॥

अतिशय (असह्य) पीड़ा होने पर—आँखों के चारों ओर कोमल स्वेदन करे और जौंक लगाये। घी की बहुत बड़ी मात्रा (उत्तमा मात्रा—जो कि रात दिन में जीर्ण हो) पीने से दर्द शान्त हो जाता है। पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा भी बरतने पर वेदना कम कर देती है ॥८,९॥

कशेरुमधुकाभ्यां वा चूर्णमम्बरसंवृतम्।
न्यस्तमप्स्वान्तरिक्षासु हितमाश्च्योतनं भवेत् ॥१०॥

कसेरू और मुलैहठी के चूर्ण को कपड़े में पोटली बाँधकर वर्षाजल में भिगो-भिगोकर आँखों पर आश्च्योतन करना उत्तम है ॥१०॥

पाटल्यर्जुनश्रीपर्णीधातकीधात्रिबिल्वतः।
पुष्पाण्यथ बृहत्योश्च बिम्बीलोटाश्च तुल्यशः ॥११॥
समञ्जिष्ठानि मधुना पिष्टानीक्षुरसेन वा।
रक्ताभिष्यन्दशान्त्यर्थमेतदञ्जनमिष्यते ॥१२॥

पाटली (पाढ़ल), अर्जुन, गाभारी, धातकी, आँवला, बिल्व, कटेरी, बड़ी कटेरी के फूल, बिम्बीलोट (भिल्होट लोध), मंजीठ—इनको समान भाग लेकर मधु या ईख के रस से पीसकर रक्ताभिष्यन्द की शान्ति के लिये इनसे अञ्जन करे। विरेचनादि से शुद्ध शरीर में—शेष दोष शान्ति के लिये अञ्जन है) ॥११,१२॥

चन्दनं कुमुदं पत्रं शिलाजतु सकुङ्कुमम्।
अयस्ताम्ररजस्तुत्थं निम्बनिर्याससमञ्जनम् ॥१३॥
त्रपुकांस्यमलं चापि पिष्ट्वा पुष्परसेन तु।
विपुला याः कृता वर्त्यः पूजिताश्चाञ्जने सदा ॥१४॥

चन्दन, कमल, तेजपात, शिलाजतु, केसर, लोहभस्म, ताम्रभस्म, तुत्थ, नीम का गोंद, रसौत, राँगे का मैल (जस्ता सम्भवतः जो कि आँख में डालते हैं), कांसी का मैल, इनको मधु से घिसकर, जो विपुल वर्त्तियाँ बनाई जायें, वे—मन्थ आदि चारों रोगों में अञ्जन के लिये उत्तम हैं।

वक्तव्य—हरेणुमात्रा वर्त्तिः स्यात् लेखनस्य प्रमाणतः। प्रसादनस्य चाध्यर्धा द्विगुणा रोपणस्य तु ॥१३,१४॥

स्यादञ्जनं घृतं क्षौद्रं सिरोत्पातस्य भेषजम्।
तद्वत्सैन्धवकासीसं स्तन्यघृष्टं च पूजितम् ॥१५॥
मधुना शङ्खनैपालीतुत्थदार्व्यः ससैन्धवाः।
रसः शिरीषपुष्पाच्च सुरामरिचमाक्षिकैः ॥१६॥
युक्तं तु मधुना वाऽपि गैरिकं हितमञ्जने।

अञ्जन (स्रोतांजन), घी, मधु, (२) सैन्धव, कासीस, इनको धावन (स्त्री के दूध में) घिसकर सिरोत्पात में अञ्जन करे। (३) शंख, मैनसिल, तुत्थ, दारुहल्दी इनको मधु से घिसकर अञ्जन करे। (४) शिरीष के फूलों का रस, सुरा, मरिच, मधु, (५) गेरू को मधु के साथ मिलाकर अञ्जन करना सिरोत्पात में उत्तम है ॥१५,१६॥

सिराहर्षेऽञ्जनं कुर्यात् फाणितं मधुसंयुतम् ॥१७॥
मधुना तार्क्ष्यजं वाऽपि कासीसं वा ससैन्धवम्।
वेत्राम्लस्तन्यसंयुक्तं फाणितं च ससैन्धवम् ॥१८॥

सिराहर्ष में चार अञ्जन—(१) फाणित (राब) को मधु में मिलाकर, (२) रसौत को मधु के साथ, (३) कासीस, सैन्धव मधु, (४) अम्लवेतस, धावन, राब, सैन्धव इनको मिलाकर अञ्जन करे। (वेत्राम्ल से दूसरे वेत्र करीर और अम्लवेतस दो वस्तुएँ लेते हैं ॥१७,१८॥

पैत्तं विधिमशेषेण कुर्यादर्जुनशान्तये।
इक्षुक्षौद्रसितास्तन्यदार्वीमधुकसैन्धवैः ॥१९॥
सेकाञ्जनं चात्र हितमम्लैराश्च्योतनं तथा।
सितामधुककट्वङ्गमस्तुक्षौद्राम्लसैन्धवैः ॥२०॥
बीजपूरककोलाम्लदाडिमाम्लैश्च युक्तितः।
एकशो वा द्विशो वाऽपि योजितं वा त्रिभिस्त्रिभिः ॥२१॥
स्फटिकं विद्रुमं शङ्खो यष्टिकं मधु चैव हि।
शङ्खक्षौद्रसितायुक्तः सामुद्रः फेन एव वा ॥२२॥

द्वाविमौ विहितौ योगावञ्जनेऽर्जुननाशनौ ।
सैन्धवक्षौद्रकतकाः सक्षौद्रं वा रसाञ्जनम् ॥२३॥
कासीसं मधुना वाऽपि योज्यमत्राञ्जने सदा ।

'अर्जुन' की शान्ति के लिये पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिये । ईख, मधु, शर्करा, धावन, दारुहल्दी, मुलैहठी, सैन्धव, इनसे परिषेक, या अंजन करे । अम्ल (बिजौरे का रस, मधु मिलाकर) या कांजी से आश्च्योतन करे । शर्करा मुलैहठी, श्योनाक, मस्तु, मधु, कांजी, सैन्धव, बिजौरा, बेर की खटाई, अनारदाना (खट्टे अनार का रस), इनसे अलग अलग या दो दो अथवा तीन तीन को मिलाकर युक्ति से आश्च्योतन करे । दो योग—(१) स्फटिक, मूंगा, शंख, मुलैहठी, मधु, (२) शंख, मधु, शर्करा, समुद्रफेन, इनका अंजन में समयोग करने से अर्जुन नष्ट होता है । (१) सैन्धव, मधु, कतक (निर्मली फल); (२ रसौंत और मधु, (३) कासीस और मधु, इनको सदा अंजन में बरतना चाहिये ॥१९-२३॥

लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च ॥२४॥
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाणि गणश्चाप्यवसादनः ।
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम् ॥२५॥
करञ्जबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम् ।
पुटपाकावसानेन रक्तविस्रावणादिना ॥२६॥
संपादितस्य विधिना कृत्स्नेन स्यन्दघातिना ।

सब लोह धातु (सुवर्ण, रांगा, सीसा, ताम्र, चांदी, कृष्ण-लोह) धातु (मैनसिल, गेरू आदि), लवण (सैन्धव आदि पांचों), रत्न (वैडूर्य, मुक्ता, प्रबाल, शंख) दांत (गाय, घोड़ा आदि के), सींग (गाय, आदि के. अवसादन गण (मिश्रकोक्त कासीस आदि), मुर्गे के अण्डे के छिलके, लहसुन, त्रिकटु करंजबीज, इलायची, यह लेख्य (लेखन करने योग्य) अंजन हैं । यह अंजन रक्त विस्रावण से आरम्भ करके, पुठपाक की समाप्ति तक अभिष्यन्दनाशक सम्पूर्णविधि पूरी करके तब बरतना चाहिये ।

वक्तव्य—विधि "ततः प्रदेहान् परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव । आश्च्योतनाभ्यंजनतर्पणानि तथैव कार्याः पुटपाकयोगाः" ॥२४–२६॥

अनेनापहरेच्छुक्रमव्रणं कुशलो भिषक् ॥२७॥

कुशल वैद्य इस लेख्य अंजन से अव्रण शुक्र को नष्ट करे ॥२७॥

उत्तानमवगाढं वा कर्कशं वाऽपि सव्रणम् ।
शिरीषबीजमरिचपिप्पलीसैन्धवैरपि ॥२८॥
शुक्रस्य घर्षणं कार्यमथवा सैन्धवेन तु ।
कुर्यात्ताम्ररजःशङ्खशिलामरिचसैन्धवैः ॥२९॥
अन्त्याद्द्विगुणितैरेभिरञ्जनं शुक्रनाशनम् ।
कुर्यादञ्जनयोगौ वा सम्यक् श्लोकाधिकाविमौ ॥३०॥
शङ्खकोलास्थिकतकद्राक्षामधुकमाक्षिकैः ।
क्षौद्रदन्तार्णवमलसिरीषकुसुमैरपि ॥३१॥
क्षाराञ्जनं वा वितरेद्बलासग्रथितापहम् ।
मुद्गान् वा निस्तुषान् भृष्टान् शङ्खक्षौद्रसितायुतान् ।
मधूकसारं मधुना योजयेच्चाञ्जने सदाः ।
बिभीतकास्थिमज्जा वा सक्षौद्रः शुक्रनाशनः ॥३३॥
शङ्खशुक्तिमधुद्राक्षामधुकं कतकानि च ।
द्वित्वग्गते समूले वा वातघ्नं तर्पणं हितम् ॥३४॥
वंशजारुष्करौ तालं नारिकेलं च दाहयेत् ।
विस्राव्य क्षारवच्चूर्णं भावयेत्करभास्थिजम् ॥३५॥
बहुशोऽञ्जनमेतत्स्याच्छुक्रवैवर्ण्यनाशनम् ।

सव्रण शुक्र उत्तान हो (एकपटल में), या गम्भीर (दो पटल में हो), या शर्करा हो, उसमें शिरीषबीज, मरिच, पिप्पली, सैन्धव इनसे अथवा अकेले सैन्धव से इसको रगड़ना चाहिये । ताम्रभस्म, शंख, मैनसिल, मरिच और सैन्धव इनको सैन्धव की ओर से क्रमशः दुगुना करते हुए ले । इनका अंजन शुक्र-नाशक है (सैन्धव १ भाग, मरिच दो भाग, मैनसिल ४ भाग, शंख ८ भाग, ताम्रभस्म १६ भाग) । आधे श्लोक में कहे जाने-वाले इन दो योगों को भली प्रकार बरते, दो योग—(१) शंखभस्म, बेर की गुठली, निर्मलीफल, द्राक्षा, मुलैहठी, मधु, (२) मधु, गाय का दांत, समुद्रफेन, शिरीष का फूल इनको बरते । बलास ग्रथित में कहा क्षारांजन इनमें बरते । तुषरहित मूंग को भाड़ में भूनकर, इसमें शंख, मधु, सिता, महुए का सार और मधु इनसे सदा अंजन करे । बहेड़े की गुठली की मज्जा-मधु के साथ शुक्रनाशक है । शंख, सीप, मधु, द्राक्षा, मुलैहठी, निर्मली इनसे तर्पण करना जो दो पहल में पहुँचे, वेदनायुक्त सव्रण में उत्तम है । बांस के अंकुर, भिलावां, ताड़, नारियल इनको तिल नाल के साथ जलाये । इस भस्म को पानी में घोलकर बहुत बार नितार ले (अथवा करभास्थि के बराबर भस्म को लेकर आठ गुने पानी में घोलकर क्वाथ करे, चौथाई रहने पर छान ले) । इस क्षारोदक से हाथी की अस्थि (हाथी के छोटे बच्चे की अस्थि) को सात बार भावित करे । इस अस्थि का अंजन शुक्र की विवर्णता को नष्ट करता है । (डल्हण ने मधूकसार मधुना-इसको पृथग् योग माना है) ॥

अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम् ॥३६॥
व्रणं गोमांसचूर्णेन पूरयेत् सर्पिषा सह ।
बहुशोऽवलिखेच्चापि वर्त्मस्योपगतं यदि ॥३७॥

अजका में सूई से पार्श्व में वेधन करके पानी को निकाल दे और व्रण में गाय के मांस को घी में मिलाकर भर देवे । यदि अजका पलक के पास अन्दर की हो तो, इसमें बहुत बार अवलेखन करे ॥३६,३७॥

सशोफश्चाप्यशोफश्च द्वौ पाकौ यौ प्रकीर्तितौ ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तत्र विद्ध्वा सिरां भिषक् ॥३८॥
सेकाश्च्योतननस्यानि पुटपाकांश्च कारयेत् ।

सशोफपाक और अशोफपाक ये जो दो रोग कहे हैं, उसमें वैद्य रोगी को स्नेहन, स्वेदन देकर सिरा को वेधन करे। फिर सेक, आश्च्योतन, नस्य, पुटपाक करते ॥३८॥

सर्वतश्चापि शुद्धस्य कर्तव्यमिदमञ्जनम् ॥३९॥
ताम्रपात्रस्थितं मासं सर्पिः सैन्धवसंयुतम् ।
मैरेयं वाऽपि दध्येवं दध्युत्तरकमेव वा ॥४०॥
घृतं कांस्यमलोपेतं स्तन्यं वाऽपि ससैन्धवम् ।
मधूकसारं मधुना तुल्यांशं गैरिकेण वा ॥४१॥
सर्पिःसैन्धवताम्राणि योषित्स्तन्ययुतानि वा ।

अन्तःपरिमार्जन और बहिःपरिमार्जन विधि से सम्पूर्ण रूप में शुद्ध हुए व्यक्ति में निम्न अञ्जन करना चाहिये। अञ्जन—ताम्रपात्र में सैन्धव मिश्रित घृत एक मास तक रक्खे, अथवा मैरेय (सुरा और आसव दोनों एक साथ सन्धान करके बनाया), दही, या दही की मलाई इनको ताम्रपात्र में रक्खे। कांसी की मैल को घी में मिलाकर अथवा सैन्धव को धावन में, किलाकर इनसे अञ्जन करे। महुए का सार और गेरू समान भाग लेकर मधु के साथ, घी, सैन्धव, ताम्रभस्म इनकोधावन के साथ मिलाकर अञ्जन करे ॥३९–४१॥

दाडिमारेवताश्मन्तकोलाम्लैश्च ससैन्धवाम् ।
रसक्रियां वा वितरेत्सम्यक्पाकजिघांसया ॥४२॥

अनार, अमलतास, अश्मन्तक, बेर, कांजी और थोड़ा सा सैन्धव, इनसे रसक्रिया बनाये। पाक को नष्ट करने की इच्छा से (सशोफपाक, अशोफपाक के लिये) इस रसक्रिया का अंजन करे ॥४२॥

मासं सैन्धवसंयुक्तं स्थितं सर्पिषि नागरम् ।
आश्च्योतनाञ्जनं योज्यमबलाक्षीरसंयुतम् ॥४३॥

सैन्धव, सोंठ को एक मास तक घी में रखकर, धावन में मिलाकर आश्च्योतन और अंजन करना चाहिये ॥४३॥

जात्याः पुष्पं सैन्धवं शृङ्गवेरं
कृष्णाबीजं कीटशत्रोश्च सारम् ।
एतत् पिष्टं नेत्रपाकेऽञ्जनार्थं
क्षौद्रोपेतं निर्विशङ्कं प्रयोज्यम् ॥४४॥

चमेली के फूल, सैन्धव, सोंठ, पिप्पली, विडंग इनको पीसकर मधु मिलाकर नेत्रपाक में अंजन के लिये बिना भय के साथ बरते ॥४४॥

पूयालसे शोणितमोक्षणं च ।
हितं तथैवाप्युपनाहनं च ।
कृत्स्नो विधिश्चेक्षणपाकघाती
यथाविधानं भिषजा प्रयोज्यः ॥४५॥

पूयालस में—रक्तमोक्षण और उपनाह उत्तम है। नेत्रपाक को नष्ट करनेवाली सम्पूर्ण विधि (अन्तःशुद्धिकर, बहिःशुद्धिकर), विधान के अनुसार वैद्य को बरतनी चाहिये ॥४५॥

कासीससिन्धुप्रभवार्द्रकैस्तु
हितं भवेदञ्जनमेव चात्र ।
क्षौद्रान्वितैरेभिरथोपयुञ्ज्या-
दन्यत्तु ताम्रायसचूर्णयुक्तैः ॥४६॥

कासीस, सैन्धव, सोंठ, अथवा ताम्रचूर्ण, लोहभस्म, मधु इनका अंजन पूयालस में करे ॥४६॥

स्नेहादिभिः सम्यगपास्य दोषां-
स्तृप्तिं विधायाथ यथास्वमेव ।
प्रक्लिन्नवर्त्मानमुपक्रमेत
सेकाञ्जनाश्च्योतननस्यधूमैः ॥४७॥

प्रक्लिन्नवर्त्म में-स्नेह, सिरामेध, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन द्वारा दोषों को दूर करके, दोषों के अनुसार तर्पण करके, सेक, आश्च्योतन, नस्य, धूम, अंजन इनसे चिकित्सा करे ॥४७॥

मुस्ताहरिद्रामधुजप्रियङ्गु-
सिद्धार्थरोध्रोत्पलसारिवाभिः ।
क्षुण्णाभिराश्च्योतनमेव कार्य-
मत्राञ्जनं चाञ्जनमाक्षिकं स्यात् ॥४८॥

अथवा मुस्ता, हल्दी, मुलैहठी, प्रियंगु, सरसों, लोध, कमल, सारिवा इनको कूटकर वर्षा जल में अथवा-शुद्ध जल में भिगोकर रख देवे। इस जल से क्लिन्नवर्त्म में आश्च्योतन करे। अंजन (स्रोतांजन), मधु से अंजन करे ॥४८॥

पत्रं फलं चामलकस्य पक्त्वा
क्रियां विदध्यादथवाऽञ्जनार्थे ।
वंशस्य मूलेन रसक्रियां वा
वर्तीकृतां ताम्रकपालपक्वां ॥४९॥
रसक्रियां वा त्रिफलाविपक्वां
पलाशपुष्पैः खरमञ्जरैर्वा ।

अथवा आंवले के पत्ते और फल को कषाय कल्पना से पकाकर इससे ताम्रपात्र या कटोरा में रसक्रिया बनाये। इस रसक्रिया को और सुखाकर वर्त्ति बना ले। इसी प्रकार बांस के मूल से, त्रिफला को पकाकर ढाक के फूलों से या चिरचिटे के बाल से रसक्रिया बनाकर वर्त्ति बनाये ॥४९॥

विष्ठा छगल्याः पयसा मलं वा
कांस्यस्य दग्ध्वा सह तान्तवेन ॥५०॥
प्रत्यञ्जनं तन्मरिचैरुपेतं
चूर्णेन ताम्रस्य सहोपयोज्यम् ।

कांसी के मल को कपास के वस्त्र के साथ जलाकर, श्वेत-मरिच, ताम्ररज मिलाकर इसको बकरी के दूध में पीसकर प्रत्यंजन करे ॥५०॥

वक्तव्य—प्रत्यंजन-"प्रशान्तदोषे यदञ्जनं क्रियते तत् प्रत्यञ्जनशब्दवाच्यम् ।"

समुद्रफेनं लवणोत्तमं च
शंखोऽथ मुद्गो मरिचं च शुक्लम् ॥५१॥
चूर्णाञ्जनं जाड्यमथापि कण्डू-
मक्लिन्नवर्त्मान्युपहन्ति शीघ्रम् ।

समुद्रफेन, सैन्धव, शंख, मूंग, श्वेतमरिच, इनके चूर्ण का अंजन बनावे यह प्रक्लिन्नवर्त्म, जड़ता और कण्डु को शीघ्र नष्ट करता है ॥५१॥

प्रक्लिन्नवर्त्मन्यपि चैत एव
योगाः प्रयोज्याश्च समीक्ष्य दोषम् ॥५२॥

प्रक्लिन्नवर्त्म में भी पूर्वोक्त योगों को दोषों को देखकर, उनके अनुसार प्रयोग करे ॥५२॥

सकज्जलं ताम्रघटे च घृष्टं
सर्पियुतं तुत्थकमञ्जनं च ॥५३॥

तुत्थ और काजल समान भाग लेकर ताम्रपात्र में घिसकर घी में मिलाकर अंजन करे ॥५३॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो लेख्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे लेख्य रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

नव येऽभिहिता लेख्याः सामान्यस्तेष्वयं विधिः ।
स्निग्धवान्तविरिक्तस्य निवातातपसद्मनि ॥३॥
(आप्तैर्दृढं गृहीतस्य वेश्मन्युत्तानशायिनः ।)
सुखोदकप्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः ।
स्वेदयेद्वर्त्म निर्भुज्य वामाङ्गुष्ठाङ्गुलिस्थितम् ॥४॥
अङ्गुल्यङ्गुष्ठकाभ्यां तु निर्भुग्नं वर्त्म यत्नतः ।
प्लोतान्तराभ्यां न यथा चलति स्रंसतेऽपि वा ॥५॥
ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम् ।
लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा, ततो रक्ते स्थिते पुनः ॥६॥
स्विन्नं मनोह्वाकासीसव्योषाद्रोञ्जनसैन्धवैः ।
श्लक्ष्णपिष्टैः समाक्षीकैः प्रतिसार्योष्णवारिणा ॥७॥
प्रक्षाल्य हविषा सिक्तं व्रणवत् समुपाचरेत् ।
स्वेदावपीडप्रभृतींस्त्र्यहादूर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥८॥
व्यासतस्ते समुद्दिष्टं विधानं लेख्यकर्मणि ।

लेखन के योग्य जो नौ रोग कहे हैं, उनमें सामान्य विधि यह है कि—रोगी को स्नेहन, वमन, विरेचन कराके, वायु और धूप से रहित घर में बिठाकर, विश्वस्त सहायकों से पकड़वाकर रोगी को पीठ के भार चित्त लेटा दे। फिर सुहाते गरम पानी में गरम किये वस्त्र से अति सावधानी के साथ वाम हाथ की अंगुली और अंगुठे से पलक को उलटाकर, स्वेदन करे। अंगुली और अंगूठे से वर्त्म को इस प्रकार पकड़े कि वह कपड़े के अन्दर लिपटी अंगुली और अंगूठे से न तो हिले और न खिसके। फिर शस्त्र से पलक पर पाछकर, वस्त्र से साफ करके शस्त्र से या हारसिंगार आदि के पत्तों से लेखन करे। रक्त के रुक जाने पर स्वेदन करके मैनसिल, कासीस, त्रिकटु, रसांजन, सैन्धव, इनको बारीक पीसकर, मधु में मिलाकर, रगड़े। फिर गरम पानी से धोकर, घी से सेक देकर व्रण की भांति चिकित्सा करे। तीन दिन के पीछे स्वेदन, अवपीड़न आदि बरते। स्वेदन, अवपीड़न आदि कार्य लेखन कार्य में विस्तार से कहे हैं। (इन कार्यों का लेखन कार्य में महत्त्व है) ॥३–८॥

असृगास्रावरहितं कण्डूशोफविवर्जितम् ॥९॥
समं नखनिभं वर्त्म लिखितं सम्यगिष्यते ।

जिस लेखन कार्य के पश्चात् रक्तस्राव न हो, कण्डू और सूजन होती हो, वर्त्म एक समान, नख के समान जो सुर्ख हो, वह वर्त्म भली प्रकार लेखन हुआ जाने ॥९॥

रक्तमक्षि स्रवेत् स्कन्नं क्षताच्छस्त्रकृताद् ध्रुवम् ॥१०॥
रागशोफपरिस्रावास्तिमिरं व्याध्यनिर्जयः ।
वर्त्म श्यावं गुरु स्तब्धं कण्डूहर्षोपदेहवत् ॥११॥
नेत्रपाकमुदीर्णं वा कुर्वीताप्रतिकारिणः ।
एतद्दुर्लिखितं ज्ञेयं स्नेहयित्वा पुनर्लिखेत् ॥१२॥

दुर्लिखित—ठीक प्रकार से लेखन न होने पर आंख लाल हो जाती है, शस्त्रजन्य क्षत से गाढ़ा रक्त बहता है, सुर्खी, सूजन, स्राव, तिमिर (धुँधयाला दीखना), रोग का शान्त न होना, पलक-काली, भारी, जड़, कण्डू, हर्ष और गीध से भरी, अथवा तीव्र नेत्र पाक, चिकित्सा न करने पर हो जाता है। ये दुर्लिखित के लक्षण हैं, इनमें स्नेहन करके फिर लेखन करे ॥

व्यावर्तते यदा वर्त्म पक्ष्म चापि विमुह्यति ।
स्यात् सरुक् स्रावबहुलं तदतिस्रावितं विदुः ॥१३॥
स्नेहस्वेदादिरिष्टः स्यात् क्रमस्तत्रानिलापहः ।

पलक यदि उलट जाये (सीधी हो जाये), पलक के बाल हाथ से छुट जाये, तब वेदना, स्राव की अधिकता होती है, इसको अतिस्रावित कहते हैं। इसमें स्नेहन, स्वेदन करे, वातनाशक कर्म करे ॥१३॥

वर्त्मावबन्धं क्लिष्टं च बहलं यच्च कीर्तितम् ॥१४॥
पोथकीश्चाप्यवलिखेत् प्रच्छयित्वाऽग्रतः शनैः ।

वर्त्मावबन्ध, क्लिष्टवर्त्म, बहलवर्त्म, पोथकी इनमें पहले पाछकर फिर धीरे से शस्त्र द्वारा लेखन करे ॥१४॥

समं लिखेत्तु मेधावी श्यावकर्दमवर्त्मनी ॥१५॥

श्याववर्त्म और कर्दमवर्त्म में बुद्धिमान् वैद्य एक बार में ही, न तो गहरा, न उथला लेखन करे ॥१५॥

कुम्भीकिनीं शर्करां च तथैवोत्सङ्गिनीमपि ।
कल्पयित्वा तु शस्त्रेण लिखेत् पश्चादतन्द्रितः ॥१६॥

कुम्भीकिनी, वर्त्मशर्करा, उत्संगिनी इनको शस्त्र से काटकर, पीछे सावधानी से लेखन करे ॥१६॥

भवेयुर्वर्त्मसु च याः पिडकाः कठिना भृशम् ।
ह्रस्वास्ताम्राश्च ताः पक्वा भिन्द्याद्भिन्ना लिखेदपि ।

पलकों में जो अतिशय कठिन, ह्रस्व, ताम्रवर्ण की पिड़का हो जाये, उसके पक जाने पर भेदन करे। भेदन करने के पीछे लखन करे ॥१७॥

तरुणीश्चाल्पसंरम्भाः पिडका बाह्यवर्त्मजाः ।
विदित्वैताः प्रशमयेत् स्वेदालेपनशोधनैः ॥१८॥

पलक के बाहर पिड़कायें छोटी, थोड़ी सूजनवाली, उत्पन्न हो जाये, उनमें स्वेदन, आलेप, शोधन करके, उनको शान्त करे ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
लेख्यरोगप्रतिषेधो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातो भेद्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वतरिः ॥२॥

अब इसके आगे भेद्य रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्वेदयित्वा बिसग्रन्थिं छिद्राण्यस्य निराशयम् ।
पक्वं भित्त्वा तु शस्त्रेण सैन्धवेनावचूर्णयेत् ॥३॥
कासीसमागधीपुष्पनेपाल्येलायुतेन तु ।
ततः क्षौद्रघृतं दत्त्वा सम्यग्बन्धमथाचरेत् ॥४॥

पकी हुई बिसग्रन्थि पर स्वेदन करके, इस बिसग्रन्थि के छेदों को आशय समेत (कोटर न रखकर) भेदन करके, सैन्धव चूर्ण, कासीस, पिप्पली. पुष्पांजन, (जस्ते का फूल—लोक में जशद, कहते हैं), मैनसिल, इलायची इनसे रगड़ देवें। फिर पीछे से मधु और घृत लगाकर ठीक प्रकार से पट्टी बांध देवे ॥

रोचनाक्षारतुत्थानि पिप्पल्यः क्षौद्रमेव च ।
प्रतिसारणमेकैकं भिन्ने लगण इष्यते ॥५॥
महत्यपि च युञ्जीत क्षाराग्नी विधिकोविदः ।

लगण के भिन्न (फटने) हो जाने पर—गोरोचना, यवक्षार, तुत्थ, पिप्पली, मधु—इनमें एक एक से (किसी एक से) प्रतिसारण करे। लगण के बड़ा होने पर–विधि को जाननेवाला वैद्य क्षार एवं अग्नि कर्म करे ॥५॥

स्विन्नां भिन्नां विनिष्पीड्य भिषगञ्जननामिकाम् ॥
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत ।

अंजन नामिका में वैद्य स्वेदन देवे। फट जाने पर दबाकर सब स्राव निकाल देवें। फिर मैनसिल, इलायची, तगर, सैन्धव और मधु से प्रतिसारण करे ॥६॥

रसाञ्जनमधुभ्यां तु भित्वा वा शस्त्रकर्मवित् ॥७॥
प्रतिसार्याञ्जनैर्युञ्ज्याद्दुष्णैर्दीपशिखोद्भवैः ।

जो अंजन नामिका (अंजनारी) फटे नहीं, उसमें, वैद्य प्रथम स्वेदन देकर, शस्त्रकर्म को जाननेवाला वैद्य इसका भेदन करके रसौंत और मधु का प्रतिसारण करके, पीछे से काजल का अंजन करे ॥७॥

सम्यक्स्विन्ने कृमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात् प्रतिसारणम् ॥८॥
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया ।

कृमिग्रन्थि में भली प्रकार स्वेदन करने से, ग्रन्थि के फट जाने पर रसौंत और मधु से प्रतिसारण करके, त्रिफला, तुत्थ, कासीस, सैन्धव, इनकी रसक्रिया बरते ॥८॥

भित्त्वोपनाहं कफजं पिप्पलीमधुसैन्धवैः ॥९॥
लेखयेन्मण्डलाग्रेण समन्तात् प्रच्छयेदपि ।

कफज उपनाह में—श्लेष्मोपनाह में भेदन करे, बड़े एवं वेदना रहित में लेखन करे, रक्त का अनुबन्ध होने पर पाछे, श्लेष्मोपनाह में लेखन, भेदन, पाछना करके पिप्पली, मधु, सैन्धव से प्रतिसारण करे। लेखन कार्य मण्डलाग्र से करे। पाछना—चारों ओर से करे ॥९॥

संस्नेह्य पत्रभङ्गैश्च स्वेदयित्वा यथासुखम् ॥१०॥
आपाकाद्विधिनोक्तेन पञ्चभेद्यानुपाचरेत् ।
सर्वेष्वेतेषु विहितं विधानं स्नेहपूर्वकम् ।
संपक्वे प्रयतो भूत्वा कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥११॥

बिसग्रन्थि आदि पांचों भेद्य रोगों के अपक्व होने पर—स्नेहन करके पत्तों से सुहाता हुआ स्वेद देकर, अपतर्पण आदि सामान्यशोथविधि से चिकित्सा करे। इन सब रोगों में स्नेहन करके फिर स्वेद, रक्तावसेचन, विरेचन आदि करने चाहिये। पक जाने पर सावधानी से व्रण रोपण उपचार करे ॥१०,११॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
भेद्यरोगप्रतिषेधो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातश्छेद्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे छेद्य रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नमुपविष्टस्य यत्नतः ।
संरोपयेत्तु नयनं भिषक् चूर्णैस्तु लावणैः ॥३॥

वमनादि से शरीर का शोधन करके, पेया आदि संसर्जन विधि या स्निग्ध भोजन रोगी को देकर, रोगी को बैठाकर

(लटाकर) यत्नपूर्वक जिससे बहुत पीड़ा न हो, उस प्रकार सैन्धव के चूर्ण से आँख में क्षोभ उत्पन्न करे (जिससे अर्म शिथिल हो जाये) ॥३॥

ततः संरोषितं तूर्णं सुस्विन्नं परिघट्टितम् ।
अर्म यत्र वलीजातं तत्रैतल्लगयेद्भिषक् ॥४॥
अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः ।
मुचुण्ड्याऽऽदाय मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः ॥५॥
न चोत्थापयता क्षिप्रं कार्यमभ्युन्नतं तु तत् ।
शस्त्राबाधभयाच्चास्य वर्त्मनी ग्राहयेद्दृढम् ॥६॥
ततः प्रशिथिलीभूतं त्रिभिरेव विलम्बितम् ।
उल्लिखन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन परिशोधयेत् ॥७॥
विमुक्तं सर्वतश्चापि कृष्णाच्छुक्लाच्च मण्डलात् ।
नीत्वा कनीनकोपान्तं छिन्द्यान्नाति कनीनकम् ॥८॥
चतुर्भागस्थिते मांसे नाक्षि व्यापत्तिमृच्छति ।
कनीनकवधादस्रं नाडी वाऽप्युपजायते ॥९॥
हीनच्छेदात् पुनर्वृद्धिं शीघ्रमेवाधिगच्छति ।

अर्म के क्षोभित (ढीला) हो जानेपर तुरन्त जल्दी से स्वेदन देकर इसको हिलाये, जहाँ पर अर्म में झुर्रियाँ हों वहाँ पर बडिश से अर्म को पकड़कर जरा ऊँचा करे, इस समय रोगी अपनी दृष्टि अपांग—(कान की ओर) प्रदेश में रक्खे। बडिश को हाथ की चुटकी (अंगूठे और तर्जनी से पकड़कर जरा ऊँचे करे अथवा सूई में धागा डालकर उसे अर्म के नीचे से गुजारकर अर्म को जरा ऊँचा उठा ले। उठाते समय वैद्य को इसमें जल्दी नहीं करनी चाहिये, चूँकि टूटने का भय रहता है। शस्त्र से नुकसान न पहुँचे इसलिये दोनों पलकों को दूर खींचकर रक्खे (Eye farcips को बरते)। फिर अर्म के ढीला हो जाने पर तीन बडिशों से इसको पकड़कर, तीक्ष्ण मण्डलाग्र से लेखन कर देवे। कृष्णमण्डल, शुक्लमण्डल से सम्पूर्ण रूप में अलग करके इसका परिशोधन करे। इसके लिये इस अर्म को अलग करके कनीनका (नासा के समीपस्थ भाग) के पास लाकर कनीनका का अतिक्रमण न करते हुए (बचाते हुए) इसे काट दे। मांस के एक चौथाई छोड़ देने में आँख को किसी प्रकार की हानि नहीं होती (अक्षिगोलक के ऊपर के मांस में ¼ भाग रह जाने से)। कनीनक में हानि पहुँचने से रक्त बहता है या नाडी व्रण हो जाता है। कम परिमाण में अर्म काटने पर अर्म शीघ्र ही फिर बढ़ जाता है। (अस्र-आंसू भी बहते हैं) ॥४-९॥

अर्म यज्जालवच्चापि तदप्युन्मार्ज्य लम्बितम् ॥१०॥
छिन्द्याद्वक्रेण शस्त्रेण वर्त्म शुक्लान्तमाश्रितम् ।

जो अर्म मछली पकड़ने के जाल के समान फैला हुआ, वर्त्म (पलक) और शुक्लभाग के पास में स्थित हो, उसे भी सैन्धव से रगड़कर, बडिश से उठाकर (लटकाकर) मण्डलाग्र से काट देवे ॥१०॥

प्रतिसारणमक्ष्णोस्तु ततः कार्यमनन्तरम् ॥११॥
यावनालस्य चूर्णेन त्रिकटोर्लवणस्य च ।
स्वेदयित्वा ततः पश्चाद्बध्नीयात् कुशलो भिषक् ॥१२॥
दोषर्तुबलकालज्ञः स्नेहं दत्त्वा यथाहितम् ।
व्रणवत् संविधानं तु तस्य कुर्यादतः परम् ॥१३॥
त्र्यहान्मुक्त्वा करस्वेदं दत्त्वा शोधनमाचरेत् ।

इसके पीछे आँखों में प्रतिसारण करना चाहिये। प्रतिसारण के लिये—यवक्षार, त्रिकटु, सैन्धव नमक इनसे रगड़े। पीछे से स्वेद देकर कुशल वैद्य बांध देवे। दोष, ऋतु, बल एवं काल को जाननेवाला वैद्य यथायोग्य स्नेह देकर व्रण की भाँति उपचार इसके पीछे करे। तीन दिन के पीछे पट्टी खोल कर हाथों को गरम करके स्वेद देवे और रोपण आदि शोधन बरते ॥११-१३॥

करञ्जबीजामलकमधुकैः साधितं पयः ॥१४॥
हितमाश्च्योतनं शूले द्विरह्नः क्षौद्रसंयुतम् ।
मधुकोत्पलकिंजल्कदूर्वाकल्कैश्च मूर्धनि ॥१५॥
प्रलेपः सघृतः शीतः क्षीरपिष्टः प्रशस्यते ।

शूल होने पर—करञ्ज, आंवला, मुलैहठी इनसे सिद्ध किया दूध—मधु मिलाकर, प्रातःसायं आश्च्योतन (बिन्दु डालना) में बरते। मुलैहठी, कमल, कमलकेशर, दूर्वा इनको दूध में पीसकर, घी मिलाकर, शीतल प्रलेप शिर पर करे ॥१४,१५॥

लेख्याञ्जनैरपहरेदर्मशेषं भवेद्यदि ॥१६॥

यदि अर्म कुछ बच जाये तो लेख्य अञ्जन का (लोहचूर्णानि सर्वाणि आदि) उपयोग करे ॥१६॥

अर्म चाल्पं दधिनिभं नीलं रक्तमथापि वा ।
धूसरं तनु यच्चापि शुक्रवत्तदुपाचरेत् ॥१७॥

जो अर्म, छोटा दही के समान, नीला या लाल अथवा धूसर वर्ण (मटियाला), पतला हो, उसकी चिकित्सा शुक्र की भाँति करे। (दधिनिभ शुक्लार्म, नीले-प्रस्तारि, रक्त-लोहितार्म,) ॥१७॥

चर्माभं बहलं यत्तु स्नायुमांसघनावृतम् ।
छेद्यमेव तदर्म स्यात् कृष्णमण्डलगं च यत् ॥१८॥

जो अर्म चमड़े के समान मोटा, स्नायुमांस के कारण मोटा हुआ, या कृष्ण मण्डल में पहुँचा हो, उस अर्म का अवश्य ही छेदन करना चाहिये ॥१८॥

विशुद्धवर्णमक्लिष्टं क्रियास्वक्षिगतक्लमम् ।
छिन्नेऽर्मणि भवेत् सम्यग्यथास्वमनुपद्रवम् ॥१९॥

अर्म के हट जाने से आँख का स्वाभाविक वर्ण निकल आता है, खोलने-बन्द करने में—देखने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती, परिश्रम में क्लेश अनुभव नहीं होता, हीन या अधिक छेदन के उपद्रवों से रहित आँख—भली प्रकार अर्म का छेदन होने पर हो जाती है ॥१९॥

सिराजाले सिरा यास्तु कठिनास्ताश्च बुद्धिमान् ।
उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेनावलम्बिताः ॥२०॥

सिराजाल में जो सिरा कठिन हो, उसको बुद्धिमान् वैद्य बड़िश से उठाकर, मण्डलाग्र से काट देवे ॥२०॥

सिरासु पिडका जाता या न सिध्यन्ति भेषजैः ।
अर्मवन्मण्डलाग्रेण तासां छेदनमिष्यते ॥२१॥

सिराओं में उत्पन्न जो पिड़का औषधियों से शान्त न होती हो, उसका अर्म की भाँति मण्डलाग्र से छेदन करना चाहिये ॥

रोगयोश्चैतयोः कार्यमर्मोक्तं प्रतिसारणम् ।
विधिश्चापि यथादोषं लेखनद्रव्यसंभृतः ॥२२॥

सिराजाल, सिरापिड़का में अर्म में कहे यवक्षार से प्रतिसारण करना चाहिये । दोष के अनुसार वाताभिष्यन्द आदि में कही विधि को लेखन द्रव्यों से बरतना चाहिये ॥२२॥

सन्धौ संस्वेद्य शस्त्रेण पर्वणीकां विचक्षणः ।
उत्तरे च त्रिभागे च बडिशेचावलम्बिताम् ॥२३॥
छिन्द्यात्ततोऽर्धमग्रे, स्यादश्रुनाडी ह्यतोऽन्यथा ।
प्रतिसारणमत्रापि सैन्धवक्षौद्रमिष्यते ॥२४॥
लेखनीयानि चूर्णानि व्याधिशेषस्य भेषजम् ।

कृष्ण और शुक्ल भाग की सन्धि में स्वेदन देकर, बुद्धिमान् वैद्य पर्वणिका को पिछले ⅓ एक तिहाई भाग में बडिश से पकड़कर (ऊँचा उठाकर) काट देवे, फिर आगे में (मूल और अग्रभाग के मध्य में काटे । ऐसा न करने से अश्रु नाड़ी-व्रण हो जाता है । मधु और सैन्धव से प्रतिसारण करे । शेष बचे रोग के लिये लेखनीय चूर्ण बरते ।२३, २४॥

शङ्खं समुद्रफेनं च मण्डूकीं च समुद्रजाम् ॥२५॥
स्फटिकं कुरुविन्दं च प्रवालाश्मन्तकं तथा ।
वैदूर्यं पुलकं मुक्तामयस्ताम्ररजांसि च ॥२६॥
समभागानि संपिष्य सार्धं स्रोतोञ्जनेन तु ।
चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे ॥२७॥
संस्थाप्योभयतः कालमञ्जयेत् सततं बुधः ।
अर्माणि पिडकां हन्यात् सिराजालानि तेन वै ॥२८॥

शंख, समुद्रफेन, मुक्ताशुक्ति, स्फटिक, कुरुविन्द (पद्मराग), प्रवाल, अश्मन्तक (सिरइटा), वैडूर्य, पुलक, मुक्ता (मोती), लोहभस्म, ताम्रभस्म, इनको परस्पर समान भाग ले, और सबके बराबर स्रोतोंजन (सुरमा) ले । इस चूर्णांजन को मेष के सींग के पात्र में रख देवे । प्रातः सायं दोनों समय निरन्तर इसका अञ्जन करे । इससे अर्म, पिड़का, सिराजाल नष्ट होते हैं ॥२५-२८॥

अर्शस्तथा यच्च नाम्ना शुष्कार्शोऽर्बुदमेव च ।
अभ्यन्तरं वर्त्मशया विधानं तेषु वक्ष्यते ॥२९॥

वर्त्म के अन्दर के अर्श, (वर्त्मार्श), शुष्कार्श, वर्त्मार्बुद इनकी चिकित्सा कहते हैं ॥२९॥

वर्त्मोपस्वेद्य निर्भुज्य सूच्योत्क्षिप्य प्रयत्नतः ।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले भिन्द्याद्भिषग्वरः ॥३०॥
ततः सैन्धवकासीसकृष्णाभिः प्रतिसारयेत् ।
स्थिते च रुधिरे वर्त्म दहेत् सम्यक् शलाकया ॥३१॥
क्षारेणावलिखेच्चापि व्याधिशेषो भवेद्यदि ।
तीक्ष्णैरुभयतोभागैस्ततो दोषमधिक्षिपेत् ॥३२॥
वितरेच्च यथादोषमभिष्यन्दक्रियाविधिम् ।

पलक पर स्वेद देकर पलकों को उलटा करे, अर्श या अर्बुद को सूई से ऊँचा करके, कुशल वैद्य, तीक्ष्ण मण्डलाग्र से मूल में काट देवे । सैन्धव, कासीस, पिप्पली से इस पर प्रतिसारण करे । रक्त के बन्द हो जाने पर शलाका से भली प्रकार जलाये । यदि रोग बच जाये, तो क्षार से अवलेखन करे । दोष को निकालने के लिये तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण विरेचन देवे । वातादि दोष के अनुसार अभिष्यन्द उपचार बरते ॥३०-३२॥

शस्त्रकर्मण्युपरते मासं च स्यात् सुयन्त्रितः ॥३३॥

शस्त्रकर्म के पीछे एक मास पर्यन्त परहेज पाले ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे छेद्यरोगप्रतिषेधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथातः पक्ष्मकोपप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे पक्ष्मकोप प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

याप्यस्तु यो वर्त्मभवो विकारः
पक्ष्मप्रकोपोऽभिहितः पुरस्तात् ।
तत्रोपविष्टस्य नरस्य चर्म
वर्त्मोपरिष्टादनुतिर्यगेव ॥३॥
भ्रुवोरधस्तात् परिमुच्य भागौ
पक्ष्माश्रितं चैकमतोऽवकृन्तेत् ।
कनीनकापाङ्गसमं समन्ता-
द्यवाकृति स्निग्धतनोर्नरस्य ॥४॥
उत्कृत्य शस्त्रेण यवप्रमाणं
बालेन सीव्येद्भिषगप्रमत्तः ।
दत्त्वा च सर्पिर्मधुनाऽवशेषं
कुर्याद्विधानं विहितं व्रणे यत् ॥५॥
ललाटदेशे च निबद्धपट्टं
प्राक्स्यूतमत्राप्यपरं च बद्ध्वा ।
स्थैर्यं गते चाप्यथ शस्त्रमार्गे
बालान् विमुञ्चेत् कुशलोऽभिवीक्ष्य ॥६॥

पलकों में होनेवाला पक्ष्मकोप नामक जो रोग पहले याप्य कहा है, उस पक्ष्मकोप में स्निग्ध शरीरवाले रोगी को बिठाकर (लिटाकर सुगमता रहती है), भ्रुवों के नीचे दो भागों

को बचाकर पद्माश्रित में एक भाग को कनीनका (नासा भाग) और अपांग (कान की ओर का भाग) के समान-बराबर प्रदेश को लक्ष्य में रखकर, सब स्थानों पर-बालों की पंक्ति के साथ-साथ पलक के उपरि-अग्रिम भाग में से जौ के आकार में (बीच में जरा मोटा-किनारों पर पतला होता हुआ) त्वचा को तिरछे रूप शस्त्र से काटे। चर्म को काटकर पलक को अश्व आदि के बाल से वैद्य सावधानी से सी देवे। फिर मधु और घृत लगाकर शेष चिकित्सा व्रण की भांति करे। माथे पर एक पट्टी बांधकर सी देवे। इसमें दूसरी पट्टी (आँख की पट्टी) सी देवे। शस्त्रकर्म के स्थिर (कठिन) हो जाने पर-वैद्य घोड़े आदि के बाल जो सीने में बरते, उनको निकाल देवे ॥३-६॥

एवं न चेच्छाम्यति तस्य वर्त्म
निर्भुज्य दोषोपहतां बलिं च।
ततोऽग्निना वा प्रतिसारयेत्तां
क्षारेण वा सम्यगवेक्ष्य धीरः ॥७॥

यदि इससे पद्म कोप शान्त न हो तो पलक को उलटा करके, दोषों से युक्त बलि (मांस) को अग्नि से या क्षार से भली प्रकार कुशल वैद्य प्रतिसारण करे-जलाये ॥७॥

छित्वा समं वाऽप्युपपद्ममालां
सम्यग्गृहीत्वा बडिशैस्त्रिभिस्तु।
पथ्याफलेन प्रतिसारयेत्तु
घृष्टेन वा तौवरकेण सम्यक् ॥८॥

अथवा बालों की नई पंक्ति जो पैदा हो गई है, उसे तीन बडिशों से भली प्रकार पकड़कर काट देवे। फिर हरड़ के फल से (हरड़ को पानी में घिसकर) या तुवरक के फल से इसे रगड़े ॥८॥

चत्वार एते विधयो विहन्तुं
पद्मोपरोधं पृथगेव शस्ताः।
विरेचनाश्च्योतनधूमनस्य-
लेपाञ्जनस्नेहरसक्रियाश्च ॥९॥

शस्त्रकर्म, अग्निकर्म, क्षारकर्म और भेषजकर्म चारों विधियां-पद्मकोप को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने में समर्थ हैं। विरेचन, आश्च्योतन, धूम, नस्य, लेप, अञ्जन, स्नेहपान, रसक्रिया, बालों का उखाड़ना, इनको दोषों के अनुसार बरते ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे पद्मगतरोगप्रतिषेधो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथातो दृष्टिगतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे दृष्टिगत रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में दृष्टि के रोगों का चिकित्सा लिखी गई है ॥१,२॥

त्रयः साध्यास्त्रयोऽसाध्या षट् च याप्या भवन्ति हि।

तीन रोग (धूमदर्शि, पित्तविदग्ध दृष्टि, कफविदग्ध दृष्टि) साध्य हैं, तीन रोग (ह्रस्वजाड्य, नाकुलान्ध्य, गम्भीरका) असाध्य हैं, छै रोग (अरुणादि काच) याप्य हैं।

तत्रैकस्य प्रतीकारः कीर्तितो धूमदर्शिनः ॥३॥

इनमें से एक धूमदर्शि रोग का प्रतिकार (हेतु व्याधि विपरीत क्रिया) पित्ताभिष्यन्द में कह दिया है ॥३॥

दृष्टौ पित्तविदग्धायां विदग्धायां कफेन च।
पित्तश्लेष्महरं कुर्याद्विधिं शस्त्रक्षताहृते ॥४॥
नस्यसेकाञ्जनालेपपुटपाकैः सतर्पणैः।
आद्ये तु त्रैफलं पेयं सर्पिस्त्रैवृतमुत्तरे ॥५॥
तैल्वकं चोभयोः पथ्यं केवलं जीर्णमेव वा।

पित्तविदग्ध दृष्टि में पित्ताभिष्यन्दनाशक, कफविदग्ध दृष्टि में कफाभिष्यन्द नाशक चिकित्सा करे, परन्तु सिरावेध न करे। नस्य, सेक, अञ्जन, आलेप, पुटपाक, तर्पण बरते। पित्तविदग्ध दृष्टि में त्रैफलघृत (त्रिफला के क्वाथ एवं कल्क से बनाया) पीये। कफविदग्ध दृष्टि में त्रैवृत घृत (त्रिवृत के क्वाथ कल्क से बनाया) पीये अथवा दोनों में तैल्वक घृत- तिल्वक-पट्टिका लोध से बनाया) पीये, या पुराना (दस साल का) घृत असंस्कृत ही पीये ॥४,५॥

गैरिकं सैन्धवं कृष्णा गोदन्तस्य मषी तथा ॥६॥
गोमांसं मरिचं बीजं शिरीषस्य मनःशिला।
वृन्तं कपित्थान्मधुना स्वयङ्गुप्ताफलानि च ॥७॥
चत्वार एते योगाः स्युरुभयोरञ्जने हिताः।

(१) गेरू, सैन्धव, पिप्पली, गाय के दाँत की राख (२) गाय का मांस, मरिच, शिरीष के बीज, मैनसिल, (३) कैथ के कोपलों को मधु के साथ, (४) कौंच के फल-मधु के साथ अञ्जन करना-दोनों रोगों में उत्तम है ॥६,७॥

कुब्जकाशोकशालाम्रप्रियङ्गुनलिनोत्पलैः ॥८॥
पुष्पैर्हरेणुकृष्णाह्वापथ्यामलकसंयुतैः।
सर्पिर्मधुयुतैश्चूर्णैर्वेणुनाड्यामवस्थितैः ॥९॥
अञ्जयेद् द्वावपि भिषक् पित्तश्लेष्मविभावितौ।

कुब्जक, अशोक, शाल, आम, प्रियंगु, नलिन, कमल इनके फूल, हरेणु, पिप्पली, हरड़, आंवला, इनको घी और मधु के साथ मिलाकर इस चूर्ण को बांस की नलिका में रक्खे। इससे पित्त एवं कफ दोनों से विदग्ध दृष्टियों में अञ्जन करे॥

आमजम्बूद्भवं पुष्पं तद्रसेन हरेणुकाम् ॥१०॥

पिष्ट्वा क्षौद्राज्यसंयुक्तं प्रयोज्यमथवाऽञ्जनम् ।
नलिनोत्पलकिञ्जल्कगैरिकैर्गोशकृद्रसैः ॥११॥
गुडिकाञ्जनमेतद्वा दिनरात्र्यन्धयोर्हितम् ।

आम और जामुन के पुष्प इनके रस से हरेणुका (मेंहदी के बीज) को पीसकर, घी और मधु में मिलाकर अञ्जन करे। नलिन, कमल, कमल केसर, गेरू और गोबर का रस, इनसे बनाई गोली का अञ्जन दिवान्ध रात्र्यन्ध दोनों के लिये हितकर है ॥१०,११॥

रसाञ्जनरसक्षौद्रतालीशस्वर्णगैरिकम् ॥१२॥
गोशकृद्रससंयुक्तं पित्तोपहतदृष्टये ।

रसौंत, चमेली या आंवले के पत्तों का रस, मधु, तालीश, स्वर्ण गेरू इनको गोबर के रस में मिलाकर पित्त विदग्ध दृष्टि में बरते। (रस शब्द से मांस रस में हानि नहीं, डल्हण ने अगले श्लोक की टीका में रस से मांसरस लिया है) ॥१२॥

शीतं सौवीरकं वाऽपि पिष्ट्वाऽथ रसभावितम् ॥१३॥
कूर्मपित्तेन मतिमान् भावयेद्रौहितेन वा ।
चूर्णाञ्जनमिदं नित्यं प्रयोज्यं पित्तशान्तये ॥१४॥

शीत (कपूर या रसौंत), सौवीरांजन, इनके चूर्ण को पशु-पक्षि आदि के मांसरस से भावित करके, कछुए या रोहितक मछली के पित्त से भावना दे। इस चूर्णांजन को नित्यप्रति पित्त विदग्ध दृष्टि में बरते ॥१३,१४॥

काश्मरीपुष्पमधुकदार्वीरोध्ररसाञ्जनैः ।
सक्षौद्रमञ्जनं तद्वद्धितमत्रामये सदा ॥१५॥

गम्भारी का पुष्प, मुलैहठी, दारुहल्दी, लोध, रसौंत,इनको मधु में मिलाकर पित्तविदग्ध दृष्टि में अञ्जन करना सदा उत्तम है ॥१५॥

स्रोतोजं सैन्धवं कृष्णां रेणुकां चापि पेषयेत् ।
अजामूत्रेण ता वर्त्यः क्षणदान्ध्याञ्जने हिताः ॥१६॥

स्रोतांजन, सैन्धव, पिप्पली, रेणुका इनको बकरी के मूत्र से पीसकर बर्त्तियाँ बना ले। इनका अञ्जन रात्र्यान्ध्य को नष्ट करता है। (क्षणदा निशा-रात्रि) ॥१६॥

कालानुसारिवां कृष्णां नागरं मधुकं तथा ।
तालीशपत्रं क्षणदे गाङ्गेयं च यकृद्रसे ॥१७॥
कृतास्ता वर्तयः पिष्टाश्छायाशुष्काः सुखावहाः ।

कालानुसारिवा, पिप्पली, सोंठ, मुलैहठी, तालीशपत्र,हल्दी, मुस्ता, इनको पीसकर यकृत के रस (Liver Extract) में बनाई वर्त्तियाँ, छाया में सुखाकर, सुखदायक हैं ॥१७॥

मनःशिलाभयाव्योषबलाकालानुसारिवाः ॥१८॥
सफेना वर्तयः पिष्टाश्छागक्षीरसमन्विताः ।

मैनसिल, हरड़, त्रिकटु, बला, कालानुसारिवा, समुद्रफेन, इनकी बकरी के दूध में पीसकर बनाई बर्त्तियां रात्र्यान्ध्य में उत्तम हैं ॥१८॥

गोमूत्रपित्तमदिरायकृद्धात्रीरसे पचेत् ॥१९॥
क्षुद्राञ्जनं रसेनान्यद्यकृतस्त्रैफलेऽपि वा ।
गोमूत्राज्यार्णवमलपिप्पलीक्षौद्रकट्फलैः ॥२०॥
सैन्धवोपहितं युञ्ज्यान्निहितं वेणुगह्वरे ।

गोमूत्र, बकरी का पित्त, मदिरा, बकरे की कलेजी (यकृत्) का रस, आंवले का स्वरस, इनसे क्षुद्रांजन (रसक्रिया अञ्जन) बनाये। यकृत् के रस की रसक्रिया बनाये। गोमूत्र, घी, समुद्रफेन, पिप्पली, मधु, कट्फल, सैन्धव इनको मिलाकर बांस के खोखर में (बांस के पात्र में) रक्खे। ये सब रात्र्यान्ध्य में उत्तम हैं ॥१९,२०॥

मेदो यकृद्धृतं चाजं पिप्पल्यः सैन्धवं मधु ॥२१॥
रसमामलकाच्चापि पक्वं सम्यङ्निधापयेत् ।
कोशे खदिरनिर्माणे तद्वत् क्षुद्राञ्जनं हितम् ॥२२॥

बकरी की मेद, यकृत् और घी, पिप्पली, सैन्धव, मधु, आंवले का रस इनको भली प्रकार पकाकर खैर के बने कोश में (लम्बे-तंग मुखवाले पात्र में) रक्खे। यह क्षुद्रांजन (रसक्रिया) रात्र्यान्ध्य में उत्तम है ॥२१,२२॥

हरेणुमगधाजास्थिमज्जैलायकृदन्वितम् ।
यकृद्रसेनाञ्जनं वा श्लेष्मोपहतदृष्टये ॥२३॥

हरेणु, पिप्पली के तुष रहित बीज, इलायची, यकृत् इनको पीसकर यकृत् के रस में मिलाकर अञ्जन करना श्लेष्मविदग्ध-दृष्टि रोग के लिये उत्तम है ॥२३॥

विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं
सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना ।
निषेवितं तद्यकृदञ्जनेन
निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥२४॥

गोह के यकृत् को बीच से चीरकर उसमें पिप्पली भरकर ऊपर मिट्टी का लेप करके पुटपाक विधि से अग्नि में पकाये। पकाकर इस यकृत् को खाये और पिप्पली से अञ्जन करे, इससे रात्र्यान्ध्य अवश्य नष्ट होता है ॥२४॥

तथा यकृच्छागभवं हुताशने
विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम् ।
प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं
जयेत् क्षपान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥२५॥

इसी प्रकार बकरी के यकृत् को चीरकर पिप्पली भरकर अग्नि में पकाये इसको भी पूर्व की भांति खाये और पिप्पली से अञ्जन करे। इससे मनुष्यों का रात्र्यान्ध्य अवश्य नष्ट होता है ॥२५॥

प्लीहा यकृच्चाप्युपभक्षिते उभे
प्रकल्प्य शूल्ये घृततैलसंयुते ।
ते सार्षपस्नेहसमायुतेऽञ्जनं
नक्तान्ध्यमाश्वेव हतः प्रयोजिते ॥२६॥

गोह या बकरी के प्लीहा और यकृत् को लेकर टुकड़े करके इनको सीखचों पर पकाकर घी और तैल

में मिलाकर खाये। बकरी या गोह की प्लीहा और यकृत को सरसों के तेल में मिलाकर अंजन करने से नक्तान्ध्य शीघ्र नष्ट होता है (शूलाकृत करके इनको सरसों के तेल में मिलाये) ॥२६॥

नदीजशिम्बीत्रिकटूण्यथाञ्जनं
मनः शिला द्वे च निशे य (श) कृद्गवाम्।
सचन्दनेयं गुटिकाऽथवाञ्जनं
प्रशस्यते वै दिवसेष्वपश्यताम् ॥२७॥

सैन्धव, हरेमूंग, त्रिकटु, सौवीरांजन (सुरमा), मैनसिल, हल्दी, दारुहल्दी, चन्दन, गाय का गोबर इनको पीसकर गोली बनाये, या चूर्ण करके अंजन रक्खे। इनसे दिवान्ध रोगियों में अंजन करे। गोबर के स्थान पर गाय का यकृत लेना हो तो यकृत में चीरकर इन औषधियों को भरकर पुटपाक विधि से पकाकर अञ्जन करे ॥२७॥

भवन्ति याप्याः खलु ये षडामया
हरेदसृक्तेषु सिराविमोक्षणैः
विरेचयेच्चापि पुराणसर्पिषा
विरेचनाङ्गोपहितेन सर्वदा ॥२८॥

तिमिरावस्थावाले काच, जौ छैः रोग याप्य है, उनमें सिरा मोक्षण करके रक्त निकाले। विरेचन द्रव्यों से संस्कृत पुरातन-घृत से सदा विरेचन देवे।

राग प्राप्त तिमिर में सिरावेध निषिद्ध है, यथा—"तिमिरे रागिणि भिषक् सिरामोक्षं विवर्जयेत्" ॥२८॥

पयोविमिश्रं पवनोद्भवे हितं
वदन्ति पञ्चाङ्गुलतैलमेव तु।
भवेद्घृतं त्रैफलमेव शोधनं
विशेषतः शोणितपित्तरोगयोः ॥२९॥
त्रिवृद्विरेकः कफजे प्रशस्यते
त्रिदोषजे तैलमुशन्ति तत्कृतम्।

वातजन्य तिमिर में एरण्ड तैल को दूध में मिलाकर देवे। रक्तजन्य एवं पित्तजन्य तिमिर रोगों में त्रैफलघृत को शोधन के लिये विशेषरूप में देवे। कफजन्य में त्रिवृतघृत से विरेचन, त्रिदोषज तिमिर में वात-पित्त कफनाशक द्रव्यों से संस्कृत तैल देवे (या त्रिवृत से सिद्ध तैल देवे) ॥२९॥

पुराणसर्पिस्तिमिरेषु सर्वशो
हितं भवेदायसभाजनस्थितम् ॥३०॥
हितं च विद्यात्त्रिफलाघृतं सदा
कृतं च यन्मेषविषाणनामभिः।

लोहपात्र में रक्खा पुरातन घृत (दस साल का) सब तिमिरों में उत्तम है। त्रिफलाघृत सदा प्रशस्त हैं। मेषश्रृंगी फल से संस्कृत घृत उत्तम है ॥३०॥

सदाऽवलिह्यात् त्रिफलां सुचूर्णितां
घृतप्रगाढां तिमिरेऽथ पित्तजे ॥३१॥
समीरजे तैलयुतां कफात्मके
मधुप्रगाढां विदधीत युक्तितः।

पित्तजन्य तिमिर में—त्रिफला चूर्ण को प्रचुर घृत के साथ सदा चाटना चाहिये। वातजन्य में त्रिफला को तैल के साथ, कफजन्य में त्रिफला को मधु के साथ युक्ति से (रात्रि में) चाटे।

वक्तव्य—कई लोग "सदाऽवलिह्यात् त्रिफलां सुचूर्णितां घृतप्रगाढां तिमिरातुरो नरः। कफाभिभूतः खलु तैलसंयुतां मधुप्रगाढामपि वा प्रयोजयेत् ॥" ऐसा पाठ करते हैं। ये औषधियाँ रात्रि के प्रदोष काल में देनी चाहिये। चूंकि जत्रु से ऊपर के रोगों में सूर्यास्त के पीछे औषध देने का विधान है, यथा—"वमनं धूमश्च जत्रूर्ध्वामयेषु निशायाम्" ॥३१॥

गवां शकृत्क्वाथविपक्वमुत्तमं
हितं तु तैलं तिमिरेषु नावनम् ॥३२॥
हितं घृतं केवल एव पैत्तिके
ह्यजाविकं यन्मधुरैर्विपाचितम्।

गाय के गोबर के क्वाथ में पकाया तैल तिमिरों में (कफजन्य या सब) उत्तम हितकारी नस्य है। पित्तजतिमिर में—(अकेले पित्त में) काकोल्यादिगण से पकाया बकरी का घी नस्य में उत्तम है ॥३२॥

तैलं स्थिरादौ मधुरे च यद्गणे
तथाऽणुतैलं पवनासृगुत्थयोः ॥३३॥

विदारिगन्धादिगण में, काकोल्यादि मधुरगण में, तथा वातव्याधि में, कहा अणुतैल वायुजन्य एवं रक्तजन्य तिमिर में उत्तम है ॥३३॥

सहाश्वगन्धातिवलावरीशृतं
हितं च नस्ये त्रिवृतं यदीरितम्।
जलोद्भवानूपजमांससंस्कृता-
द्घृतं विधेयं पयसो यदुत्थितम् ॥३४॥

वातज तिमिर में—मुद्गपर्णी, अश्वगन्धा, अतिबला, शतावरी इनसे सिद्ध किया वातव्याधि में कहा त्रैवृत तैल (घी, वसा, मज्जा से आवृत तैल) नस्य में उत्तम है। मछली आदि जलचर, आनूप-भैंस आदि, इनके मांस से क्षीरपाकविधि से पकाये दूध को मथकर निकाले घृत को मुद्गपर्णी अश्वगन्धा आदि से सिद्ध करके नस्य देवे ॥३४॥

ससैन्धवः क्रव्यसुगेणमांसयो-
र्हितः ससर्पिः समधुः पुटाह्वयः।

सैन्धव, मांस खानेवाले गीध, चील, बाज आदि हरिण इनका मांस, घी, मधु इनको पुटपाक विधि से पाक करके अञ्जन करे।

वसाऽथ गृध्रोरगताम्रचूडजा-
सदा प्रशस्ता मधुकान्विताऽञ्जने ॥३५॥

गीध, सांप, मुर्गा इनकी वसा, मुलैहठी में मिलाकर अञ्जन करने में सदा उत्तम है।

"कृष्णसर्पवसाक्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया।
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचाबुर्दमलेषु च ॥" च० ॥३५॥

प्रत्यञ्जनं स्रोतसि यत्समुत्थितं
क्रमाद्रसक्षीरघृतेषु भावितम्।

स्रोतोंजन को क्रम से मांस रस (चक्षुष्य मृग पक्षी मांस रस—गीध, मोर आदि), दूध, और घी में भावित करके प्रत्यंजन (अंजन के पीछे जो बरतते हैं, तीक्ष्ण अञ्जन के पीछे मृदु अञ्जन या मृदु अञ्जन के पीछे तीक्ष्ण अञ्जन) बरते।

स्थितं दशाहत्रयमेतदञ्जनं
कृष्णोरगास्ये कुशसंप्रवेष्टिते ॥३६॥
तन्मालतीकोरकसैन्धवायुतं
सदाञ्जन स्यात्तिमिरेऽथ रागिणि।
सुभावितं वा पयसा दिनत्रयं
काचापहं शास्त्रविदः प्रचक्षते ॥३७॥

कुशा से लपेटे हुए काले सांप के मुख में इस अञ्जन को धरकर एक मास रख देवे फिर निकालकर चमेली की कलियों और सैन्धव में मिलाये। इसे रागवाले (रंगवाले) तिमिर में सदा बरते। अथवा दूध से तीन दिन भली प्रकार भावित करके काच को यह नष्ट करता है, ऐसा शास्त्रविद् कहते हैं।

"वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम्।
ततस्तस्मादसमुद्धृत्य सुसूक्ष्मं चूर्णयेद् बुधः॥
सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च।
एतन्नेत्रांजनं कार्यं तिमिरघ्नमुत्तमम् ॥ चरक

इसमें चमेली की कलियाँ अञ्जन आधी और सैन्धव की मात्रा दोष के अनुसार बरते ॥३६,३७॥

हविर्हितं क्षीरभवं तु पैत्तिके
वदन्ति नस्ये मधुरौषधैः कृतम्।
तत्तर्पणे चैव हितं प्रयोजितं
सजाङ्गलस्तेषु च यः पुटाह्वयः ॥३८॥

दूध को मथकर निकाले घृत को काकोल्यादि मधुरगण की औषधियों से संस्कृत करके पैत्तिक तिमिर में नस्य देना चाहिये। इस घृत का अक्षितर्पण में भी प्रयोग करे। मधुर औषधियों में—जांगल मांस रस का बनाया पुटपाक पित्तज तिमिर में स्नेहन के लिये उत्तम है ॥३८॥

रसाञ्जनक्षौद्रसितामनःशिलाः
सुद्राञ्जनं तन्मधुकेन संयुतम्।

रसौंत, मधु, शर्करा, मैनसिल, मुलैहठी इनकी रसक्रिया पित्तज तिमिर में उत्तम है।

रसञ्जानं वा कनकाकरोद्भवं
सुचूर्णितं श्रेष्ठमुशन्ति तद्विदः ॥३९॥

कनकाकरोद्भव (तुत्थ) के बराबर सुरमा मिलाकर चूर्ण करे। यह पित्तज तिमिर में श्रेष्ठ अञ्जन है ॥३९॥

भिल्लोटगन्धोदकसेकसेचितं
प्रत्यञ्जने चात्र हितं तु तुत्थकम्।

भिल्लोट (लोध), एलादिगण, इनके कषाय में सिञ्चित किये तुत्थ का प्रत्यंजन इसमें उत्तम है।

समेषशृङ्गाञ्जनभागसंमितं
जलोद्भवं काचमलं व्यपोहति ॥४०॥

मेषशृंगी, सौवीरांजन (सुरमा), उन दोनों के समान भाग स्रोतांजन मिलाकर अञ्जन करने से काचमल नष्ट होता है। (जलोद्भवम्-शंख ऐसा कई मानते हैं)। मेषशृङ्गी को डल्हण नेजीयापोता जैसा वृक्ष लिखा है) ॥४०॥

पलाशरोहीतमधूकजा रसाः
क्षौद्रेण युक्ता मदिराग्रमिश्रिताः।

ढाक, रोहेड़ा, महुआ इनका रस मधु और मदिरा के ऊपरी भाग के साथ मिलाकर अञ्जन करे।

वक्तव्य—डल्हण ने इनको समान भाग लेकर—रसक्रिया बनाकर मधु मिलाकर बरतने को कहा है।

उशीरलोध्रत्रिफलाप्रियङ्गुभिः
पचेत्तु नस्यं कफरोगशान्तये ॥४१॥

खस, लोध, त्रिफला, प्रियंगु, इनसे तिल तैल सिद्ध करे। कफ रोग की शान्ति के लिये नस्य देवे ॥४१॥

विडङ्गपाठाकिणिहीङ्गुदीत्वचः
प्रयोजयेद्धूममुशीरसंयुताः।

विडंग, पाठा, चिरचिटा, हिंगोट की छाल, खस इनसे कफज तिमिर में धूमपान करे।

वनस्पतिक्वाथविपाचितं घृतं
हितं हरिद्रानलदे च तर्पणम् ॥४२॥

बरगद आदि क्षीर वृक्षो के क्वाथ में हल्दी और बालक का कल्क मिलाकर सिद्ध किया घृत अक्षितर्पण में उत्तम है॥

समागधो माक्षिकसैन्धवाढ्यः
सजाङ्गलः स्यात् पुटपाक एव च।

पिप्पली, मधु, प्रचुर मात्रा में सैन्धव, जांगल पशुपक्षियों का मांस इनसे बनाया पुट पाक कफज तिमिर में उत्तम है।

मनःशिलात्र्यूषणशंखमाक्षिकैः
ससिन्धुकासीसरसाञ्जनैः क्रियाः ॥४३॥

मैनसिल, त्रिकटु, शंख, मधु, सैन्धव, कासीस, रसौंत, इनमें चौगुणा जल मिलाकर रस क्रिया बनाये। इसे कफज तिमिर में बरते ॥४३॥

हिते च कासीसरसाञ्जने तथा
वदन्ति पथ्ये गुडनागरैर्युते।

कासीस, रसौंत, गुड़ और सोंठ इनकी रस क्रिया अञ्जन के रूप में बरतनी हितकारक है।

यदञ्जनं वा बहुशो निषेचितं
समूत्रवर्गे त्रिफलोदके श्रृते ॥४४॥
निशाचरास्थिस्थितमेतदञ्जनं
क्षिपेच्च मासं सलिलेऽस्थिरे पुनः ।
मेषस्य पुष्पैर्मधुकेन संयुतं
तदञ्जनं सर्वकृते प्रयोजयेत् ॥४५॥

स्रोतोंजन को आग में गरम करके बहुत बार (इक्कीस बार) आठों मूत्रों में, त्रिफला क्वाथ में बुझाये। फिर इसको गीध, उल्लू आदि रात्रि में घूमनेवाले पशु पक्षियों की हड्डियों के बने नलकों में रखकर, बहते हुए नदी के जल में एक महीने तक पड़ा रहने देवे। एक मास के पीछे इस अंजन को निकालकर इसमें मेषश्रृंगी के पुष्प, मुलैहठी मिलाकर इस अञ्जन को त्रिदोषज तिमिर में बरते! (कोई मीठे सहजन के पुष्प भी मिलाने को कहते हैं) ॥४५॥

क्रियाश्च सर्वा क्षतजोद्भवे हितः
क्रमः परिम्लायिनि चापि पित्तहृत् ।

सन्निपातजतिमिर में वात और पित्त कफजनिततिमिर की सब क्रियायें (तर्पण, पुटपाक आदि) उत्तम हैं। रक्तजतिमिर और परिम्लायितिमिर में—पित्ततिमिर नाशक चिकित्सा बरते।

क्रमो हितः स्यन्दहरः प्रयोजितः
समीक्ष्य दोषेषु यथास्वमेव च ॥४६॥

वातादिजन्यतिमिरों में इनकी अपनी अपनी अभिष्यन्द नाशक चिकित्सा बरतनी चाहिये। अर्थात् वाततिमिर में—वाताभिष्यन्द की, पित्तजतिमिर में पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा करे ॥४६॥

दोषोदये नैव च विप्लुतिं गते
द्रव्याणि नस्यादिषु योजयेद्बुधः ।

तिमिर में वातादि दोष उत्पन्न होते ही या रोग के सम्पूर्ण आँख में फैल जाने पर अभिष्यन्द नाशक चिकित्सा नहीं करनी चाहिये, (नस्य आदि न देवें), अपितु लंघन, विरेचन, निरूह, अनुवासन, शिरोविरेचन आदि तीन दिन बरत कर, पीछे से अभिष्यन्द में कहे नस्य आदि, दोषजन्य तिमिरों में बरते।

पुनश्च कल्पेऽञ्जनविस्तरः शुभः
प्रवक्ष्यतेऽन्यस्तमपीह योजयेत् ॥४७॥

क्रियाकल्प में जो अञ्जन विस्तार से कहे हैं उनको भी यहाँ पर बरते ॥४७॥

घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीं
पटोलमुद्गामलकं यवानपि ।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो
भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते ॥४८॥

पुरातनघृत, त्रिफला, शतावरी, परवल, मूंग, आंवला, जौ, इन वस्तुओं का अधिकतः सेवन करनेवाले पुरुष को भयानक तिमिर से भी भय नहीं होता ॥४८॥

शतावरीपायस एव केवल-
स्तथा कृतो वाऽऽमलकेषु पायसः ।
प्रभूतसर्पिस्त्रिफलोदकोत्तरो
यवौदनो वा तिमिरं व्यपोहति ॥४९॥

शतावरी मूल के रस से बनाई खीर, आंवले के स्वरस या आंवले से सिद्ध किये दूध में बनाई खीर, या त्रिफला के क्वाथ में सिद्ध किया यवौदन (जौ का भात) प्रचुर घी के साथ खाने से तिमिर नष्ट होता है। (खीर में चावलों के स्थान पर जौ को मिलाकर यवागू बनाये) ॥४९॥

जीवन्तिशाकं सुनिषण्णकं च
सतण्डुलीयं वरवास्तुकं च ।
चिल्ली तथा मूलकपोतिका च
दृष्टेर्हितं शाकुनजाङ्गलं च ॥५०॥
पटोलकर्कोटककारवेल्ल-
वार्ताकुतर्कारिकरीरजानि ।
शाकानि शिग्रुवार्तगलानि चैव
हितानि दृष्टेर्घृतसाधितानि ॥५१॥

जीवन्तीशाक, चौलाई, सुनिषण्णक (चांगेरी तिपतिया), उत्तम बथुवा, चिल्ली, कच्ची मूली, जांगल पक्षियों का मांस तथा हरिण आदि जंगली प्राणियों के मांस दृष्टि के लिये उत्तम हैं। परवल, ककोड़ा, करेला, बैंगन, अरणी, करीर के फल (टेंट) इनके शाक, सुहांजन, झिण्टी इनके शाक घृत में बनाये, ये दृष्टि के प्रसाधक हैं ॥५०,५१॥

विवर्जयेत्सिरामोक्षं तिमिरे रागमागते ।
यन्त्रेणोत्पीडितो दोषो निहन्यादाशु दर्शनम् ॥५२॥

तिमिर में राग (रंग) आजाने पर सिरामोक्ष छोड़ देवे। यंत्र से (शस्त्र कर्म से) उत्पीड़ित दोष दृष्टि को शीघ्र नष्ट कर देता है ॥५२॥

अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ।
कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते ॥५३॥

जो तिमिर रंग रहित, प्रथम पटल में स्थित होता है, वह साध्य है। रंगवाला, दूसरे पटल में स्थित तिमिर कष्टसाध्य हैं, तीसरे पटल का तिमिर याप्य है।

वि० मन्तव्य—अरागी अर्थात् रंगरहित तिमिर साध्य होता है वह भी जो प्रथम पटलमात्र में स्थिर हो। इस पर अञ्जन आदि औषधों का प्रभाव शीघ्र हो जाता है ॥५३॥

रागप्राप्तेष्वपि हितास्तिमिरेषु तथा क्रियाः ।
यापनार्थं यथोद्दिष्टाः सेव्याश्चापि जलौकसः ॥५४॥

तिमिरों में रंग आ जाने पर भी, इन तिमिरों को याप्य रखने के लिये कहे हुए उपचार करे, और यदि रक्त मोक्षण आवश्यक ही हो तो जोंकों से रक्त निकाले।

वि० मन्तव्य—राग प्राप्त अर्थात् रंग युक्त तिमिरों में भी अञ्जन आदि से लाभ होता है परन्तु उन अञ्जन आदि से यापन ही होता है क्योंकि अञ्जन आदि उपचारों से दोषसञ्चय का क्षय होता रहता है और उक्त उपचार सदा ही होता रहना चाहिये ॥५४॥

श्लैष्मिके लिङ्गनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेदर्धेन्दुघर्माम्बुबिन्दुमुक्ताकृतिः स्थिरः ॥५५॥
विषमो वा तनुर्मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोषः सरुजो वा सलोहितः ॥५६॥

श्लैष्मिक लिंगनाश की चिकित्सा के लिये विधि को कहता हूँ—इस कर्म के करने से पूर्व की दृष्टि की परीक्षा में लिंगनाश (Lens) को देखे—यदि इसमें—अर्धचन्द्राकार, स्वेदबिन्दु मोती का गोल आकार दिखाई दे, लिंगनाश कठोर हो, या विषम हो, बीच में पतला (किनारों पर मोटा), इसमें रेखायें दीखती हों बहुत चमकता हो, वेदना हो, या रक्त हो, तो इसमें शस्त्र कर्म न करे।

वि० मन्तव्य—श्लैष्मिक लिंगनाश सर्वथा श्वेत होता है, और उसी की शस्त्र चिकित्सा की जाती है, यदि वह चन्द्रमा के सदृश पीत आदि वर्णोंवाला हो अथवा आकृतियोंवाला हो तब शस्त्र चिकित्सा नहीं करनी चाहिये केवल अञ्जन आदि उपचारों से लाभ उठाना चाहिये ॥५५,५६॥

स्निग्धस्विन्नस्य तस्याथ काले नात्युष्णशीतले।
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्वां नासां पश्यतः समम् ॥५७॥
मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् सिराजालविवर्जिते ॥५८॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्रया ॥५९॥
मध्यप्रदेशिन्यङ्गुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया।
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत् ॥६०॥
वारिबिन्द्वागमः सम्यग् भवेच्छब्दस्तथा व्यधे।

रोगी को स्नेहन स्वेदन देकर, साधारण (न बहुत गरम, न बहुत ठण्डे—मार्गशीर्ष या चैत्र में) काल में रोगी को बांधकर बिठा दे। रोगी से कहे कि वह अपनी नाक की ओर देखे। फिर बुद्धिमान वैद्य अपांग प्रदेश की ओर, दो शुक्ल भागों को कृष्णभाग (तारक) से बचाकर, सिरा जाल से अलग स्थान पर, आँखों को भली प्रकार खोलकर वेधन करे। न तो ऊपर, न नीचे, न पार्श्वों में वेधन करे। वेधन के लिये—जौ के समान टेढ़ी शलाका को मध्यमांगुली, प्रदेशिनी और अंगूठे के सहारे स्थिरता से पकड़कर, रोगी को बिना डराये—(विश्वास के साथ) प्रयत्न पूर्वक वेधन करे। वाम आँख को दक्षिण हाथ की शलाका से, दक्षिण आँख को वाम हाथ की शलाका से वेधन करे। भली प्रकार वेधन होने पर, पानी की बूंद आती है और शब्द होता है। (असम्यग् वेधन पर—रक्त आता है और शब्द नहीं होता)।

वक्तव्य—नाक की ओर देखने से तारका बीच में स्थिर हो जाती हैं। वाग्भट्ट में—कृष्णमण्डल से आधा अङ्गुल और अपांग से ¾ अंगुल बचाकर वेधन करने को कहा है, यथा—

"कृष्णादर्धांगुले मुक्त्वा, तदर्धार्धमपांगतः॥"
(२) "विध्येत् सुविद्धे शब्दः स्यात् अरुक् चाम्बुलवस्रुतिः॥"
वाग्भट्ट

वि० मन्तव्य—यह चिकित्सा विधि उस दशा की है जिस दशा में दृष्टि विवर में दोषसञ्चय तरल रहता है, इस तरल दोष को निकालने पर पुनः दोष सञ्चय होने लगता है, क्योंकि उक्त चिकित्सा करते समय स्रोत तो चालू ही रहते हैं, जिनके द्वारा दृष्टिविवर में दोषसञ्चय होता है। आज कल के नेत्र चिकित्सक इस दशा में मोतिया की चिकित्सा नहीं करते सम्भवतः इसीलिये कि कुछ दिनों में पुनः दोष सञ्चय हो ही जायगा, व्यर्थ चिकित्सा क्यों की जाय। और सम्भवतः श्री धन्वन्तरि तथा श्री विदेह को भी इस दशा में चिकित्सा करना अधिक अभीष्ट नहीं था क्योंकि अग्रिम श्लो० ८० में द्वारा आप कहते हैं कि—जो दोष सञ्जातबल हो गया हो अर्थात् जिससे पूर्णरूप से दिखना बन्द हो गया हो, घन-ठोस हो गया हो और सम्पूर्ण मण्डल अर्थात् दृष्टिविवर में पूर्ण रूप से भर गया हो वह शलाका-प्रयोग से तत्काल निकल जाता है। यही कारण है कि आज कल नेत्र चिकित्सक इसी दशा की प्रतीक्षा करते हैं, जब मोतिया पक जाता है, तब शस्त्र प्रयोग करते हैं। जब तक दोष तरल रहता है, तब तक उसे कच्चा मोतिया कहते हैं। मोतिया निकालने के पश्चात् आज कल के नेत्र चिकित्सक केवल उप नेत्र (चश्मा) की व्यवस्था करते हैं, परन्तु भगवान् धन्वन्तरि ने आहार, विहार एवं दृष्टि प्रसादन—दृष्टि को स्वच्छ रखने एवं करनेवाले अञ्जनों की व्यवस्था की है। हाँ श्लो० ८१ में अतितरुण—कच्चे मोतिया का वेधन करने का निषेध भी किया है। दृष्टिविवर में से जब लिंग नाश (मोतिया) निकल जाता है, तब दिखने लगता है, क्योंकि इस रोग में दृष्टि का नाश नहीं होता अपितु उसके आगे मोतिया आ जाता है। यह रोग धीरे २ संचित होते २

लगभग ६०-६५ वर्ष की वयस् में व्यक्त होता है। यदि इस वयस् में अभिष्यन्द हो जाय तो लिङ्गनाश नहीं होता, क्योंकि—अभिष्यन्द रोग में दोष का अभिष्यन्दन(स्रवन—स्राव) हो जाता है, और तीक्ष्ण अञ्जन करते रहने पर भी—दोष का स्राव होता रहता है, अतः लिङ्ग नाश नहीं होता ॥५७-६०॥

संसिच्य विद्धमात्रं तु योषित्स्तन्येन कोविदः ॥६१॥
स्थिरे दोषे चले वाऽपि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः।
सम्यक् शलाकां संस्थाप्य भङ्गैरनिलनाशनैः ॥६२॥
शलाकाग्रेण तु ततो निर्लिखेद्दृष्टिमण्डलम्।
विध्यतो योऽन्यपार्श्वऽस्तस्तं रुद्ध्वा नासिकापुटम् ॥
उच्छिङ्घनेन हर्तव्यो दृष्टिमण्डलगः कफः।

वेधन के पीछे, बुद्धिमान् वैद्य तुरन्त धावन से सेचन करे। दोष के अस्थिर या स्थिर होने पर भी बाहर से आँखों पर स्वेद देवे। इसके लिये शलाका से पलकों को स्थिर करके; वातनाशक ऐरण्ड आदि पत्तों से स्वेद देवे। फिर शलाका के अग्रभाग से दृष्टिमण्डल में लेखन करे, जिससे कफ का जमाव टूट जाये। वेधन करते समय आँख के दूसरे पार्श्व के नासापुट को बन्द करके, दृष्टिमण्डल में स्थित कफ को उच्छिंघन से (नाक से छींककर या जोर से वायु के साथ निकालकर) बाहर करे ॥६१-६३॥

निरभ्र इव घर्मांशुर्यदा दृष्टिः प्रकाशते ॥६४॥
तदाऽसौ लिखिता सम्यग् ज्ञेया या चापि निर्व्यथा।
(एवं त्वशक्ये निर्हर्तुं दोषे प्रत्यागतेऽपि वा ॥६५॥
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्यधो भूयो विधीयते।)
ततो दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः ॥६६॥
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ॥६७॥
उद्गारकासक्षवथुष्ठीवनोत्कम्पनानि च।
तत्कालं नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणा स्नेहपीतवत् ॥६८॥

बादल रहित आकाश में जैसा सूर्य चमकता है, ऐस दृष्टि जब चमकने लगे, तब भली प्रकार लेखन हुआ जाने, इसमें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होनी चाहिये। यदि इस प्रकार से लिंगनाश न निकाला जा सके, अथवा दोष के फिर वापिस आ जाने पर, स्नेहन आदि फिर से करके, पुनः वेधन करे।) जब रूप दीखने लगे तो लगाई हुई शलाका को (पलकें न चलायें—इसलिये जो शलाका पहले—६२ वें श्लोक में लगाई है) धीरे से निकाल ले। फिर घी से आँख पर अभ्यंग करके पट्टी बाँध दे। धूम-धूल आदि (खासकर प्रकाश) से रहित घर में उत्तान-पीठ के भार लेटा रहे। उद्गार खाँसना छींक आना, थूकना, काँपना (उठना-बैठना), उस समय न करे, इसके आगे आचारिक नियम स्नेह पीये हुए की भाँति हैं ॥

त्र्यहात् त्र्यहाच्च धावेत कषायैरनिलापहैः।
वायोर्भयात् त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षि पूर्ववत् ॥६९॥

वायुनाशक (एरण्ड मूलादि वातहर चतुष्य द्रव्यों के) क्वाथ से प्रति तीसरे दिन आँखों को धोये। वायु का प्रकोप न हो, इसलिये तीन दिन के पीछे आँखों पर पहले की भाँति कोमल सेक वातनाशक द्रव्यों से करे ॥६९॥

दशाहमेवं संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम्।
पश्चात्कर्म च सेवेत लघ्वन्नं चापि मात्रया ॥७०॥

इस प्रकार दस दिन तक, उत्तान लेटा रहकर पीछे से नस्य, तर्पण आदि दृष्टि को निर्मल करनेवाले कर्म करे। लघु अन्न को मात्रा में (अग्नि बल के अनुसार) खाये ॥७०॥

सिराव्यधविधौ पूर्वं नरा ये च विवर्जिताः।
न तेषां नीलिकां विध्येदन्यत्राभिहिताद्भिषक् ॥७१॥

सिरावेध विधि में बालक, वृद्ध, आदि जो अवेध्य कहे हैं, उनमें नीलिका (लिंगनाश) का वेधन करे और दैव कृत छेद से अन्यत्र कभी भी वैद्य वेध न करे ॥७१॥

पूर्यते शोणितेनाक्षि सिरावेधाद्विसर्पता।
तत्र क्षीरस्तन्ययष्ट्याह्वपक्वं सेके हितं घृतम् ॥७२॥

दैव कृत छेद से अन्यत्र सिर का वेधन होने पर फैलते हुए रक्त से आंख भर जाती है। इस अवस्था में धावन और मुलैहठी से पकाया घृत परिषेक में उत्तम है ॥७२॥

अपाङ्गासन्नविद्धे तु शोफशूलाश्रुरक्तताः।
तत्रोपनाहं भ्रूमध्ये कुर्याच्चोष्णाज्यसेचनम् ॥७३॥
व्यधेनासन्नकृष्णेन रागः कृष्णं च पीड्यते।
तत्राधःशोधनं सेकः सर्पिषा रक्तमोक्षणम् ॥७४॥
अथाप्युपरि विद्धे तु कष्टा रुक् संप्रवर्तते।
तत्र कोष्णेन हविषा परिषेकः प्रशस्यते ॥७५॥
शूलाश्रुरागास्त्वत्यर्थमधोवेधेन पिच्छिलः।
शलाकामनु चास्रावस्तत्र पूर्वचिकित्सितम् ॥७६॥
रागाश्रुवेदनास्तम्भहर्षाश्चातिविघट्टिते।
स्नेहस्वेदौ हितौ तत्र हितं चाप्यनुवासनम् ॥७७॥
दोषस्त्वधोऽपकृष्टोऽपि तरुणः पुनरूर्ध्वगः।
कुर्याच्छुक्लारुणं नेत्रं तीव्ररुङ्नष्टदर्शनम् ॥७८॥
मधुरैस्तत्र सिद्धेन घृतेनाक्ष्णः प्रसेचनम्।
शिरोवस्तिं च तेनैव दद्यान्मांसैश्च भोजनम् ॥७९॥

अपांग के पास में वेधन होने पर सूजन, शूल, रक्त का आना होता है, इसमें भ्रुवों के मध्य में उपनाह करे और गरम-घी से सेचन करे कृष्णभाग के पास वेधन होने से सुर्खी होती है, कालाभाग दुखता है इस में विरेचन, घी से सेक और रक्त मोक्षण करे। ऊपर में वेधन होने पर तीव्र वेदना होती है, इसमें सुहाते गरम घी से परिषेक उत्तम है। नीचे में वेधन होने से वेदना, आँसू आना, सुर्खी, शलाका के पीछे तुरन्त स्राव अतिपिच्छिल, (गीध चिकास आना) होता है, इसमें धावन

और मुलैहठी से पकाये घी से परिषेक करे। अतिशय आघात होने से सुर्खी, आँसू आना, वेदना, स्तम्भ, हर्ष होता है इसमें स्नेहन और स्वेद एवं अनुवासन उत्तम है। तरुण (अपक्व) दोष नीचे खींच देने पर भी फिर ऊपर जाकर नेत्र को श्वेत या लाल कर देता है, इसमें तीव्र वेदना और दृष्टि नष्ट हो जाती है। इसमें काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत से आँखों पर सेक करे। इसी घृत से शिरोबस्ति देवे। मांसों से (जांगल मांस) भोजन कराये। (मधुरैः यष्टीमधुकादिभिः, डल्हण) ॥

दोषस्तु संजातबलो घनः संपूर्णमण्डलः।
प्राप्य नश्येच्छलाकाग्रं तन्वभ्रमिव मारुतम् ॥८०॥

जिस प्रकार वायु पतले बादल को तुरन्त नष्ट कर देती है, इसी प्रकार पूर्ण पका हुआ, घन (स्थूल) एवं सम्पूर्ण रूप में गोला हुआ (पूरा बना) दोष (लिंगनाश) शलाका के अग्रभाग के छूने मात्र से ही नष्ट हो जाता है। (गिर पड़ता है) सरलता से निकल जाता है ॥८०॥

मूर्धाभिघातव्यायामव्यवायवमिमूर्च्छनैः।
दोषः प्रत्येति कोपाच्च विद्धोऽतितरुणश्च यः ॥८१॥

जो लिंगनाश अपूर्ण कच्चा होता है, उसका यदि वेधन कर दिया जाये तो शिर पर चोट लगने से, व्यायाम से, मैथुन से वमन से, मूर्च्छा से, क्रोध से, फिर वापिस लौट आता है, (फिर पैदा हो जाता है) ॥८१॥

शलाका कर्कशा शूलं, खरा दोषपरिप्लुतिम्।
व्रणं विशालं स्थूलाग्रा तीक्ष्णा हिंस्यादनेकधा ॥८२॥
जलास्रावं तु विषमा, क्रियासङ्गमथास्थिरा।
करोति वर्जिता दोषैस्तस्मादेभिर्हिता भवेत् ॥८३॥

शलाका दोष—कर्कश (खुरदरी) शलाका शूल करती है, खर शलाका दोष को चारों ओर बढ़ाती है, आगे से मोटी शलाका चौड़ा व्रण करती है, तीक्ष्ण शलाका बहुत प्रकार के क्षत करती है। विषम शलाका, जल को बहाती है, अस्थिर (काँपती हुई) शलाका, दृष्टि का उपरोध करती है ॥८२,८३॥

अष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
अङ्गुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः ॥८४॥
ताम्रायसी शातकुम्भी शलाका स्यादनिन्दिता।

इसलिये इन दोषों से रहित शलाका उत्तम होनी चाहिये। शलाका की लम्बाई आठ अंगुल, बीच में धागों से लिपटी, अंगूठे के पर्व के बराबर मोटाई की, मुखों पर से मुकुल (कली-डोडी) के आकार की, ताम्र, लोह या स्वर्ण की शलाका प्रशस्त है ॥८३,८४॥

रागः शोफोऽर्बुदं चोषो बुद्बुदं शूकराक्षिता ॥८५॥
अधिमन्थादयश्चान्ये रोगाः स्युर्व्यधदोषजाः।
अहिताचारतो वाऽपि यथास्वं तानुपाचरेत् ॥८६॥

व्यधन के दोष से सुर्खी, सूजन, अर्बुद, चोष, बुलबुले के समान मांसवृद्धि, नीचे को देखना (अधो दृष्टि), अधिमन्थ आदि रोग हो जाते हैं। अथवा अहित आचरण से ये रोग हो जाते हैं। इनकी दोषों के अपने अनुसार चिकित्सा करे ॥

रुजायामक्षिरागे वा योगान् भूयो निबोध मे।
गैरिकं सारिवा दूर्वा यवपिष्टं घृतं पयः ॥८७॥
सुखालेपः प्रयोज्योऽयं वेदनारागशान्तये।
मृदुभृष्टैस्तिलैर्वाऽपि सिद्धार्थकसमायुतैः ॥८८॥
मातुलुङ्गरसोपेतैः सुखालेपस्तदर्थकृत्।
पयस्यासारिवापत्रमञ्जिष्ठामधुकैरपि ॥८९॥
अजाक्षीरान्वितैर्लेपः सुखोष्णः पथ्य उच्यते।
दारुपद्मकशुण्ठीभिरेवमेव कृतोऽपि वा ॥९०॥
द्राक्षामधुककुष्ठैर्वा तद्वत् सैन्धवसंयुतैः।
रोध्रसैन्धवमृद्वीकामधुकैर्वाऽप्यजापयः ॥९१॥
श्रृतं सेके प्रयोक्तव्यं रुजारागनिवारणम्।
मधुकोत्पलकुष्ठैर्वा द्राक्षालाक्षासितायुतैः ॥
ससैन्धवैः शृतं क्षीरं रुजारागनिबर्हणम् ॥९२॥
शतावरीपृथक्पर्णीमुस्तामलकपद्मकैः।
साजक्षीरैः श्रृतं सर्पिर्दाहशूलनिबर्हणम् ॥९३॥
वातघ्नसिद्धे पयसि सिद्धं सर्पिश्चतुर्गुणे।
काकोल्यादिप्रतीवापं तद्युञ्ज्यात् सर्वकर्मसु ॥९४॥

वेदना में या आँख की सुर्खी में दूसरे योगों को मुझसे सुनो। वेदना और सुर्खी की शान्ति के लिये गेरू, सारिवा, दूब, जौ का कल्क, घी, दूध इनका सुहाता गरम लेप आँख के आस पास या आँख पर करे। इसी प्रकार तिलों को थोड़ा सा धीमी आँच पर भूनकर, सरसों को मिलाकर बिजौरे के रस के साथ लेप करे यह भी वही लाभ करता है। विदारी, सारिवा, तेजपत्र, मजीठ, मुलैहठी इनको बकरी के दूध में पीसकर सुहाता गरम लेप उत्तम है। तीन योग, (१) दारुहल्दी, पद्माख, सोंठ, इनको बकरी के दूध में पीसकर लेप करे। (२) लोध, सैन्धव, द्राक्षा, मुलैहठी—बकरी का दूध, (३) द्राक्षा, मुलैहठी, कूठ, सैन्धव, इनको बकरी के दूध के साथ पीसकर परिषेक करे, यह वेदना, सुर्खी को नष्ट करता है। मुलैहठी, कमल, कूठ, द्राक्षा, लाख, शर्करा, सैन्धव, इनसे सिद्ध बकरी का दूध वेदना और सुर्खी को नष्ट करता है। शतावरी, पृश्निपर्णी, मुस्ता, आँवला, पद्माख, बकरी का दूध, इनसे सिद्ध किया घृत दाह, शूल को नष्ट करता है। भद्र-दार्व्यादि वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध घी से चार गुने दूध में काकोल्यादिगण का प्रक्षेप देकर सिद्ध किया घृत, नस्य, आलेप आदि सब कार्यों में बरते ॥८७–९४॥

शाम्यत्येवं न चेच्छूलं स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्।
ततः सिरां दहेद्वाऽपि मतिमान् कीर्तितं यथा ॥९५॥

यदि इस प्रकार से भी शूल शान्त न हो तो स्नेहन

स्वेदन देकर सिरामोक्षण करे अथवा कहे अनुसार (भ्रू शंख-ललाट प्रदेश में) दाह कर्म करे ॥९५॥

दृष्टेरतः प्रसादार्थमञ्जने शृणु मे शुभे ।
मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि शिरीषधवयोरपि ॥९६॥
सुमनायाश्च पुष्पाणि मुक्ता वैदूर्यमेव च ।
अजाक्षीरेण संपिष्य ताम्रे सप्ताहमावपेत् ॥९७॥
प्रविधाय च तद्वर्तीर्योजयेच्चाञ्जने भिषक् ।
स्रोतोजं विद्रुमं फेनं सागरस्य मनःशिलाम् ॥९८॥
मरिचानि च तद्वर्तीः कारयेच्चापि पूर्ववत् ।
दृष्टिस्थैर्यार्थमेतत्तु विदध्यादञ्जने हितम् ॥९९॥

इसके आगे दृष्टि की निर्मलता के लिये शुभ दो अंजनों को मुझ से सुनो। १ अंजन-मेषशृंगी, शिरीष, धव इनके फूल, चमेली के फूल, मोती, वैडूर्य (बिल्लौर), इनको बकरी के दूध के साथ पीसकर, सात दिन तक ताम्र पात्र में रक्खे। फिर वर्त्ती बनाकर इस वर्त्ति से अञ्जन करे। २—स्रोतांजन, मूंगा, समुद्र फेन, मैनसिल, मरिच इनको बकरी के दूध से पीसकर सातदिन तक ताम्र पात्र में रक्खे। दृष्टि की स्थिरता के लिये इनका अञ्जन करना उत्तम है ॥९६-९९॥

भूयो वक्ष्यामि मुख्यानि विस्तरेणाञ्जनानि च ।
कल्पे नानाप्रकराणि तान्यपीह प्रयोजयेत् ॥१००॥

मुख्य अञ्जनों को पुनः विस्तार से क्रिया कल्प अध्याय में कहूँगा, उनको भी यहाँ बरते ॥१००॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो क्रियाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे क्रिया कल्प का व्याख्यान करेंगे-जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में नेत्र के लिये तथा नेत्र रोगों के लिये उपयोगी औषधों के प्रयोगार्थ तर्पण आदि की कल्पना (विधि) कही गई है ॥१,२॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञस्तपोदृष्टिरुदारधीः ।
वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशिपतिर्मुनिः ॥३॥

सब शास्त्रों के अर्थ के तत्त्व को जाननेवाले तपोदृष्टि, उदारबुद्धि, काशिपति मुनि धन्वन्तरि ने विश्वामित्र के पुत्र एवं शिष्यरूप से आये सुश्रुत को कहा ॥३॥

तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाञ्जने ।
तत्र तत्रोपदिष्टानि तेषां व्यासं निबोध मे ॥४॥

स्थान स्थान पर तर्पण, पुटपाक, सेक, आश्च्योतन, अंजन आदि जो कहे हैं, उनको विस्तार में मुझ से सुनो।

वि० मन्तव्य—यहाँ पर तर्पण आदि ५ ही कल्प (कल्पना) बतलाए गये हैं, परन्तु श्री शार्ङ्गधराचार्य ने इनके अतिरिक्त २ कल्प अन्य भी बतलाए हैं, यथा—१—पिण्डी जिसे पोटली कहते हैं, अथवा जो कल्क नेत्र पर बाँधा जाता है और २—विडाल जो नेत्र के वर्त्म पर लेप किया जाता है ॥४॥

संशुद्धदेहशिरसो जीर्णान्नस्य शुभे दिने ।
पूर्वाह्णे वाऽपराह्णे वा कार्यमक्ष्णोस्तु तर्पणम् ॥५॥
वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः ।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ॥६॥
समौ दृढावसंबाधौ कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः ।
पूरयेद्घृतमण्डस्य विलीनस्य सुखोदके ॥७॥
आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पञ्च तद्वाक्शतानि तु ।
स्वस्थे, कफे षट्, पित्तेऽष्टौ दश वाते तदुत्तमम् ॥८॥
रोगस्थानविशेषेण केचित् कालं प्रचक्षते ।
यथाक्रमोपदिष्टेषु त्रीण्येकं पञ्च सप्त च ॥९॥
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्शतानि विभावयेत् ।
ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् ॥१०॥
स्विन्नेन यवपिष्टेन, स्नेहवीर्येरितं ततः ।
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ॥११॥

शरीर और शिर का (सिरामोक्षण, विरेचन, निरूह, शिरोविरेचन से) भली प्रकार शोधन हो जाने पर, अन्न के जीर्ण हो जानेपर, शुभ दिन में—पूर्वाह्न में या अपराह्न में आँखों पर तर्पण करना चाहिये। इसके लिये वायु, धूप, धूल से रहित घर में रोगी को पीठ के भार चित्त लेटाकर, दोनों नेत्र कोशों पर, उड़द के गीले आटे से गोल, समान, मजबूत, खुली (तंग नहीं विस्तृत) पाली बनाये। इस में गरम पानी से पिघलाया घृतमण्ड (घृत के ऊपर की परत) भर देवे। इस घृत मण्ड को बालों के अग्रभाग तक भरकर, स्वस्थ अवस्था में पाँच सौ तक गिनने के समय पर्यन्त रक्खे। कफ में छः सौ, पित्त में आठ सौ, वायु में एक हजार तक गिनने तक रक्खे, यह उत्तम प्रमाण है। रोग स्थान के भेद से कोई आचार्य काल का नियम करते हैं, यथा—सन्धिरोग में तीन सौ, वार्त्मरोगों में एक सौ, शुक्लरोगों में पाँच सौ, कृष्णरोगों में सात सौ, सम्पूर्ण नेत्र के रोगों में एक हजार, दृष्टि के रोगों में एक हजार या आठ सौ वाक् शत तक घृत रक्खे। फिर अपांग की ओर से स्नेहन को निकालकर आँख का शोधन करे। इसके लिये जौ के कल्क को स्वेदन देकर (गरम करके) उससे शोधन करे। स्नेह की शक्ति से प्रेरित कफ को कफ के विरोधि शिरोविरेचन धूमपान से शोधन करे ॥५-११॥

एकाहं वा त्र्यहं वाऽपि पञ्चाहं चेष्यते परम् ।

यह तर्पण एक दिन (वायु में या न्यून दोष में), तीन दिन (पित्तदोष में या मध्य दोष में) पाँच दिन (कफ दोष में—या अधिक दोष में) करना चाहिये।

वक्तव्य—स्वस्थवृत्ते विधातव्यं द्व्यन्तरं तर्पणं भवेत् ।
अहन्यहनिवातोत्थे, रक्तपित्ते दिनान्तरम् ।
तर्पणं सन्निपातोत्थे द्व्यन्तरे, त्र्यन्तरं कफे ॥

तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्येमानि लक्षयेत् ॥१२॥
सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं वर्णपाटवम् ।
निर्वृतिर्व्याधिविध्वंसः क्रियालाघवमेव च ॥१३॥

तर्पण में तृप्ति के लक्षण (भली प्रकार तर्पण होने पर आँख में निम्न होते हैं—सुख से नींद आना और जागरण होना, विशदता (निर्मलता) श्वेत आदि वर्ण का स्पष्टीकरण, तात्कालिक सुख, रोग का नाश, निमेष-उन्मेष आदि क्रिया में शीघ्रता (या नेत्र में हल्कापन) होती है ॥१२,१३॥

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत् ।
ज्ञेयं दोषसमुत्क्लिष्टं नेत्रमत्यर्थतर्पितम् ॥१४॥

अतितर्पण से आँख भारी, गदली, अतिस्निग्ध, अश्रु एवं कण्डू से युक्त, दोष से व्याप्त होती है ॥१४॥

रूक्षमाविलमस्राढ्यमसहं रूपदर्शने ।
व्याधिवृद्धिश्च तज्ज्ञेयं हीनतर्पितमक्षि च ॥१५॥

हीन तर्पण से आँख रूक्ष, गदली, प्रचुर आंसूवाली, प्रकाश को सहने में असमर्थ, तथा रोग वृद्धि होती है ॥१५॥

अनयोर्दोषबाहुल्यात् प्रयतेत चिकित्सिते ।
धूमनस्याञ्जनैः सेके रूक्षैः स्निग्धैश्च योगवित् ॥१६॥

अतितर्पण और हीनतर्पण में दोष की अधिकता के अनुसार योगवित् वैद्य, धूम, नस्य, अञ्जन, स्निग्ध, रूक्ष एवं स्निग्धसेक बरते (वाताभिभूयिष्ट नेत्र में स्निग्ध, पित्त-कफ में रूक्ष क्रिया-स्वेद करे) ॥१६॥

ताम्यत्यतिविशुष्कं यद्रूक्षं यच्चातिदारुणम् ।
शीर्णपक्ष्माविलं जिह्मं रागक्लिष्टं च यद्भृशम् ॥१७॥
तदक्षि तर्पणादेव लभेतोर्जामसंशयम् ।

जो आँख प्रकाश में मिचती है, अतिशुष्क रहती है, रूक्ष, अतिकठिनपलकों की, बाल जिसमें टूटते या गिरते हैं, गदली कुटिल (Spuint), जो रोग से अतिशय पीड़ित होती है, उस आँख को तर्पण द्वारा ही अवश्य बल मिलता है ॥१७॥

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायासभ्रमेषु च ॥१८॥
अशान्तोपद्रवं चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते ।

बादल आने पर, अतिउष्ण या अतिशीतल दिनों में, चिन्ता में, थकान में, चक्कर आने पर, उपद्रवों के (वेदना सुर्खी आदि) शान्त हुए बिना आँखों में तर्पण करना उत्तम नहीं ॥१८॥

पुटपाकस्तथैतेषु नस्यं येषु च गर्हितम् ॥१९॥
तर्पणार्हा न ये प्रोक्ताः स्नेहपानाक्षमाश्च ये ।

इन उपर्युक्त अवस्थाओं में पुटपाक बरते। जिन लोगों के लिये नस्य निन्दित है, जो तर्पण के अयोग्य हैं, एवं स्नेहपान के अयोग्य जो कहे हैं, ये सब पुटपाक के भी अयोग्य हैं ॥१९॥

ततः प्रशान्तदोषेषु पुटपाकक्षमेषु च ॥२०॥
पुटपाकः प्रयोक्तव्यो नेत्रेषु भिषजा भवेत् ।
स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स त्रिधा ॥२१॥

दोषों के शान्त हो जाने पर, पुटपाक को सहन करने की शक्ति आ जाने पर, वैद्य को नेत्रों में पुटपाक बरतना चाहिये। यह पुटपाक तीन प्रकार का है-स्नेहन, लेखनीय और रोपण॥

हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि च लेखनः ।
दृष्टेर्बलार्थमपरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् ॥२२॥

अतिरूक्ष में स्निग्ध, स्निग्ध आँख में लेखन दृष्टिबल के लिये एवं पित्तरक्तजव्रण के नाश के लिये रोपण पुटपाक उत्तम है ॥२२॥

स्नेहमांसवसामज्जमेदः स्वाद्वौषधैः कृतः ।
स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्यो द्वे वाक्शते तु सः ॥२३॥

स्नेह तथा मांस (अनूप देश के प्राणियों का मांस), वसा, मज्जा, मेद और मधुर औषधियों से बनाया स्नेहन पुटपाक दो सौ गिनने तक धारण करना चाहिये ॥२३॥

जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंभृतैः ।
कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजैः ॥२४॥
समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः ।
लेखनो वाक्शतं तस्य परं धारणमुच्यते ॥२५॥

जांगल पशुओं के यकृत्, मांस के साथ लेखनद्रव्यों को मिलाकर लेखन पुटपाक बनाये—इसको अधिक से अधिक एक सौ गिनने तक धारण करे। लेखन द्रव्य—कृष्णलोहभस्म, ताम्रभस्म, शंख, प्रवाल, सैन्धव, समुद्रफेन, कासीस, स्रोतोंजन, दधि मस्तु ये हैं ॥२४,२५॥

स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः ।
लेखनात्त्रिगुणं धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥२६॥

दूध (धावन), जांगलमांस, मधु-घी, तिक्तद्रव्यों से बनाया रोपण पुटपाक तीन सौ गिनने तक धारण करना चाहिये ॥२६॥

वितरेत्तर्पणोक्तं तु धूमं हित्वा तु रोपणम् ।
स्नेहस्वेदौ द्वयोः कार्यौ, कार्यौ नैव च रोपणे ॥२७॥

रोपण को छोड़कर शेष दोनों में तर्पणोक्त धूम देवे। इन दोनों में स्नेहन और स्वेदन दोनों करने चाहिये, रोपण में स्नेहन, स्वेदन न करे ॥२७॥

एकाहं वा द्व्यहं वाऽपि त्र्यहं वाऽप्यवचारणम् ।

कफ में एक दिन, पित्त में दो दिन, वायु में तीन दिन, अथवा—लेखनीय पुटपाक एक दिन बरते-स्नेहन पुटपाक दो दिन, रोपणीय पुटपाक तीन दिन बरते।

यन्त्रणा तु क्रियाकालाद्द्विगुणं कालमिष्यते ॥२८॥

जितने समय से चिकित्सा बरती हो, उससे दुगने समय तक परहेज पाले। (चिकित्सा काल स्नेहपान से गिने) ॥२८॥

तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च
नेक्षेत तर्पिते नेत्रे पुटपाककृते तथा ॥२९॥

तर्पण किये या पुटपाक लिया व्यक्ति दीपज्वाला आदि तेजस् रूप, वायु, आकाश, दर्पण, सूर्य आदि भास्वर रूप को न देखे ॥२९॥

मिथ्योपचारादनयोर्यो व्याधिरुपजायते।
अञ्जनाश्च्योतनस्वेदैर्यथास्वं तमुपाचरेत् ॥३०॥

तर्पण और पुटपाक के मिथ्या आचरण से जो रोग उत्पन्न हो जाता है, उसकी चिकित्सा अञ्जन, आश्च्योतन, स्वेदन से दोषों के अपने अपने अनुसार करे ॥३०॥

प्रसन्नवर्णं विशदं वातातपसहं लघु।
सुखस्वप्नावबोध्यक्षि पुटपाकगुणान्वितम् ॥३१॥

पुटपाक के सम्यग् विशद योग से—आँख का वर्ण निर्मल, (साफ), वायु और धूप को सहनेवाली, लघु, सुखपूर्वक सोना, और जागना इन गुणोंवाली हो जाती है ॥३१॥

अतियोगाद्रुजः शोफः पिडकास्तिमिरोद्गमः।

पुटपाक के अतियोग से वेदना, सूजन, पिड़का की उत्पत्ति, तिमिररोग हो जाता है।

पाकोऽश्रु हर्षणं चापि हीने दोषोद्गमस्तथा ॥३२॥

हीन पुटपाक में—पाक, आंसू आना, हर्ष (वेदना विशेष अन्दर शीत), दोष वृद्धि होती है ॥३२॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पुटपाकप्रसाधनम्।
द्वौ बिल्वमात्रौ श्लक्ष्णस्य पिण्डौ मांसस्य पेषितौ ।३३।
द्रव्याणां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः।
तदैकध्यं समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् ॥३४॥
(काश्मरीकुमुदैरण्डपद्मिनीकदलीभवैः।)
मृदावलिप्तमङ्गारैः खादिरैरवकूलयेत् ॥३५॥
कतकाश्मन्तकैरण्डपाटलावृषबादरैः।
सक्षीरद्रुमकाष्ठैर्वा गोमयैर्वाऽपि युक्तितः ॥३६॥
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं नृणाम्।
तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवचारयेत् ॥३७॥
कनीनके निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः।
रक्ते पित्ते च तौ शीतौ कोष्णौ वातकफापहौ ॥३८॥

इसके आगे पुटपाक प्रसाधन को कहते हैं—चिकने मांस के दो पिण्ड, प्रत्येक एक एक पल लेकर, इनको मधुरौषध, लेखन-द्रव्य, तिक्तद्रव्य—इनकी एक पल मात्रा और द्रव आठ पल लेकर सबको मिलाकर पीस ले। फिर इनका एक एक गोला बनाकर उस पर पत्ते (गम्भारी, कमल, एरण्ड, कमलिनी, केले के) भलीप्रकार लपेटकर, मिट्टी का (कीचड़ का) लेप करदे। इसे खैर के अङ्गारों पर पकाये। अथवा निर्मली अश्मन्तक, एरण्ड, पाटला, बांसा, बेर, बरगद आदि क्षीरीवृक्ष, इनकी लकड़ियों में या गोबर की अग्नि में युक्ति से पकाये। जब स्विन्न हो जाये, तब इसको निकालकर, निचोड़कर रस ले ले। इस रस को तर्पण की विधि से मनुष्यों की आंख में बरते। रस कनीनक (नाक के पास) प्रदेश से डालना चाहिये, रोगी को चित्त पीठ के भार सदा लेटना चाहिये। रक्त और, पित्त में शीतल वात और कफ के नाश के लिये सुहाता गरम रस गेरे। (पुटपाक की मिट्टी बाहर से लाल बन जाये तब निकाले) ॥

अत्युष्णतीक्ष्णौ सततं दाहपाककरौ स्मृतौ।
आप्लुतौ शीतलौ चाश्रुस्तम्भरुग्घर्षकारकौ ॥३९॥
अतिमात्रौ कषायत्वसङ्कोचस्फुरणावहौ।
हीनप्रमाणौ दोषाणामुत्क्लेशजननौ भृशम् ॥४०॥

अतिउष्ण और अतितीक्ष्ण तर्पण एवं पुटपाक—निरन्तर दाह और पाक करते हैं। थोड़ा घीवाले, या शीतल तर्पण एवं पुटपाक-आंसुओं को रोकना, वेदना घर्षण करते हैं। अधिक मात्रा में बरतने से आँख कसाई जाती है, संकुचित हो जाती है, स्फुरण (धड़कन होती है) प्रमाण में कम रहने से दोषों की वृद्धि अधिक मात्रा में करते हैं। (ये तर्पण और पुटपाक दोनों के दोष हैं) ॥३९,४०॥

युक्तौ कृतौ दाहशोफरुग्घर्षस्रावनाशनौ।
कण्डूपदेहदूषीकारक्तराजिविनाशनौ ॥४१॥
तस्मात् परिहरन् दोषान् विदध्यात्तौ सुखावहौ।

ठीक मात्रा में तर्पण एवं पुटपाक बरतने से दाह, सूजन, वेदना, रगड़, स्राव नष्ट होता है। कण्डु, नेत्र का मैल, दूषिका (गीध), आंख की लाल रेखायें, नष्ट होती हैं। इसलिये दोषों से बचाते हुए सुखदेनेवाले तर्पण और पुटपाक बरते ॥४१॥

व्यापदश्च यथादोषं नस्यधूमाञ्जनैर्जयेत् ॥४२॥

दाह, पाक आदि उपद्रवों की दोषों के अपने अनुसार नस्य, धूम या अंजन से चिकित्सा करे ॥४२॥

आद्यन्तयोश्चाप्यनयोः स्वेद उष्णाम्बुचैलिकः।
तथा हितोऽवसाने च धूमः श्लेष्मसमुच्छ्रितौ ॥४३॥

तर्पण और पुटपाक के प्रारम्भ और अन्त में गरम पानी में भिगोये वस्त्र से स्वेद देना चाहिये तथा इनके पीछे और कफ के बढ़ा होने पर धूम उत्तम है ।४३॥

यथादोषोपयुक्तं तु नातिप्रबलमोजसा।
रोगमाश्च्योतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम् ॥४४॥

दोष के अनुसार उपयुक्त आश्च्योतन थोड़े रोग को अपनी शक्ति से नष्ट कर देता है। सेक बढ़े हुए रोग को अपनी शक्ति से नष्ट करता है।

वक्तव्य—सेक आश्च्योतन, चौथे दिन रोग व्यक्त हो जाने पर बरतने चाहियें, यथा—

"प्रागेवाद्यामये कार्यं त्रिरात्रं लघु भोजनम्।
उपवासस्त्र्यहं वा स्याद्रक्तं वाऽप्यशनं त्र्यहम् ॥
ततश्चतुर्थे दिवसे व्याधिं संजातलक्षणम्।
समीक्ष्याश्च्योतनैः सेकैः यथास्वमुपादयेत् ॥४४॥"

तौ त्रिधैवोपयुज्येते रोगेषु पुटपाकवत्।

ये सेक और आश्च्योतन, पुटपाक की भाँति स्नेहन, लेखन, रोपण-इन तीन रूपों में बरते जाते हैं। इनके पेषण-और आलोडन द्रव्य पुटपाक की भांति हैं। सम्यग्योग हीनयोग मिथ्यायोग-पुटपाक के समान हैं।

लेखने सप्त चाष्टौ वा बिन्दवः स्नैहिके दश ॥४५॥
आश्च्योतने प्रयोक्तव्या द्वादशैव तु रोपणे।
सेकस्य द्विगुणः कालः पुटपाकात् परो मतः ॥४६॥

लेखन आश्च्योतन में सात या आठ बूंद, स्नेहिक में दस, रोपण आश्च्योतन में बारह बूंद बरतनी चाहिये।

परिषेक का धारण काल पुटपाक से दुगना है, अर्थात्— लेखन में–दो सौ, स्नेहन में चार सौ, रोपण परिषेक में छै सौ गिनने तक है ॥४५,४६॥

अथवा कार्यनिर्वृत्तेरुपयोगो यथाक्रमम्।

अथवा धीरे धीरे रोग की शान्ति, स्वाभाविक वर्ण का आना, क्रियापाटव, वेदनाशान्ति, जब तक हो, तब तक बरते।

पूर्वापराह्णे मध्याह्ने रुजाकालेषु चोभयोः ॥४७॥

कफज रोग में—लेखन आश्च्योतन पूर्वाह्ण में, वातज में स्नेहन आश्च्योतन, अपराह्ण में, रक्तपित्त में रोपण आश्च्योतन सेक मध्याह्न में बरते। वेदना समय में सेक, आश्च्योतन, सब समय बरते ॥४७॥

योगायोगान् स्नेहसेके तर्पणोक्तान् प्रचक्षते।

सेक एवं आश्च्योतन के सम्यग् योग, अयोग आदि के लक्षण तर्पण की भांति जाने।

रोगांच्छिरसि संभूतान् दत्वाऽतिप्रबलान् गुणान् ॥४८॥
करोति शिरसो बस्तिरुक्ता ये मूर्धतैलिकाः।
शुद्धदेहस्य सायाह्ने यथाव्याध्यशितस्य तु ॥४९॥
ऋज्वासीनस्य बध्नीयाद्बस्तिकोशं ततो दृढम्।
यथाव्याधिशृतस्नेहपूर्णं संयस्य धारयेत् ॥५०॥
तर्पणोक्तं दशगुणं यथादोषं विधानवित्।

शिर में उत्पन्न अतिप्रबल रोगों को नष्ट करके, शिरोवस्ति, मूर्धा में तेल लगाने के गुणों को उत्पन्न करती है। इसके लिये वमन विरेचनादि से शरीर का या नस्य आदि से शिर का शोधन करके, सायंकाल में रोग के अनुसार (व्याधि प्रतीषेक) भोजन करके, सीधे बैठे हुए रोगी के शिरपर बस्तिकोश को मजबूती से बाँध देवे। रोग के अनुसार सिद्ध किये स्नेह से इस बस्तिपुटक को भर देवे। रोगी मुख को बन्द किये इसको तर्पण से दस गुने अधिक समय तक या दोष के अनुसार (कफ में छै हजार, पित्त में आठ हजार, वात में दस हजार मात्रा पर्यन्त) धारण करे। वाग्भट में—

"विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ।
शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्॥
द्वादशांगुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम्।
आकर्णबन्धनस्थाने ललाटे वस्त्रवेष्टिते॥
चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्।
ततो यथा व्याधिश्रृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्॥
ऊर्ध्वं केशभुवो यावद् द्व्यंगुलं धारयेच्च तम्।
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदात् दशाऽष्टौषट्चलादिषु॥
मात्रासहस्त्राणि अरुजेत्वेकम्-स्कन्धादिमर्दयेत्।
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ॥॥४८-५०॥

व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले ॥५१॥
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत्।
लेखनं रोपणं चापि प्रसादनमथापि वा ॥५२॥

दोष के लक्षण स्पष्ट होने पर, स्नेहपान, वमनादि से शुद्ध हुए पुरुष में, किसी अन्य दोष से दोष के मिले न होने पर, दोष के नेत्र में ही स्थित रहने पर, युक्त (जो ठीक हो) अंजन करे। यह अञ्जन लेखन, रोपण और प्रसादन भेद से तीन प्रकार का है ॥५१,५२॥

तत्र पञ्च रसान् व्यस्तानाद्यैकरसवर्जितान्।
पञ्चधा लेखनं युञ्ज्याद्यथादोषमतन्द्रितः ॥५३॥

मधुर रस को छोड़कर पांच रसवाले द्रव्यों को पांच प्रकार से (वात पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात भेद से) दोष के अनुसार, बिना आलस्य के सावधानी से लेखन अंजन बरतें। दोष के अनुसार वात में अम्ल लवण, पित्त में तिक्त कषाय, श्लेष्म में कटु, तिक्त कषाय, रक्त में पित्त के समान, सन्निपात में दो या तीन रसों को मिलाकर बरते ॥५३॥

नेत्रवर्त्मसिराकोशस्त्रोतःशृङ्गाटकाश्रितम्।
मुखनासाक्षिभिर्दोषमोजसा स्त्रावयेत्तु तत् ॥५४॥

लेखन अंजन अपनी शक्ति से नेत्र, पलक, नेत्रसिरा, नेत्रकोश, नेत्रस्रोत या शृङ्गाटक मर्म में आश्रित दोष को नाक, मुख तथा नेत्र से बहता है ॥५४॥

कषायं तिक्तकं वाऽपि सस्नेहं रोपणं मतम्।
तत्स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद्दृष्टेश्च बलवर्धनम् ॥५५॥

कषाय, तिक्त, ईषत्स्नेहयुक्त अंजन रोपण कहा है। यह स्निग्ध एवं शीतल होने से वर्ण के लिये हितकारी और दृष्टि का बल बढ़ानेवाला है ॥५५॥

मधुरं स्नेहसंपन्नमञ्जनं तु प्रसादनम्।
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थं च तद्धितम् ॥५६॥

प्रसादन अंजन—मधुर एवं स्नेह से युक्त होता है। दृष्टिदोष की निर्मलता के लिये और स्नेहन के लिये उत्तम है ॥५६॥

यथादोषं प्रयोज्यानि तानि रोगविशारदैः।
अञ्जनानि यथोक्तानि प्राह्णसायाह्नरात्रिषु ॥५७॥

रोगों में कुशल व्यक्ति इनको दोषों के अनुसार, प्रातः सायं या रात्रि में बरते। पूर्वाह्ण में–कफ रोग में लेखन अञ्जन,

सायाह्न में—वातज में, रात्रि में पित्तजन्य रोगों में बरते ॥५७॥

गुटिकारसचूर्णानि त्रिविधान्यञ्जनानि तु ।
यथापूर्वं बलं तेषां श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥५८॥

गुटिका, रसक्रिया और चूर्ण भेद से अञ्जन तीन प्रकार के हैं। इनमें शक्ति की उत्कृष्टता पूर्व क्रम से है, ऐसा बुद्धिमान् कहते हैं। गुटिका सबसे अधिक शक्तिशाली, रसक्रिया मध्यम, चूर्ण हीन ॥५८॥

हरेणुमात्रा वर्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः ।
प्रसादनस्य चाध्यर्धा द्विगुणा रोपणस्य च ॥५९॥

लेखन अञ्जन की वर्ति का प्रमाण-(घिसकर लगाने की मात्रा)—मटर के बराबर, प्रसादन अञ्जन की डेढ़ मटर के बराबर, रोपण अञ्जन की दो मटर के बराबर है ॥५९॥

रसाञ्जनस्य मात्रा तु यथावर्तिमिता मता ।

रसक्रिया की मात्रा उनके अपने अनुसार बनाई वर्ति के प्रमाण में होती है। इसमें लेखन रसक्रिया अञ्जन की मात्रा लेखनवर्ति की भाँति, रोपण की रोपण वर्ति की भाँति, प्रसादन की प्रसादनवर्ति की भाँति होती है।

द्वित्रिचतुःशलाकाश्च चूर्णस्याप्यनुपूर्वशः ॥६०॥

क्रमशः—लेखन चूर्णाजन की दो शलाका, रोपण की तीन, प्रसादनांजन की चार शलाका मात्रा है ॥६०॥

तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद्भाजनान्यपि ।
सौवर्णं राजतं शाङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम् ॥६१॥
आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम् ।

इन अञ्जनों के लिये इनके समान गुणवाले पात्र बरते, यथा—मधुरांजन स्वर्ण में, अम्ल चांदी में, लवणअञ्जन सींग के बने, कषाय अञ्जन ताम्र या लोहे के, कटुक-वैडूर्य (बिल्लौर) के, तिक्त कांसी के, शीतांजन नलादि में रक्खे। शलाकायें भी-इसी क्रम से धातुओं की बनाये ॥६१॥

वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला ॥६२॥
अष्टाङ्गुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा ।

ये शलाकायें किनारों पर कील के आकार की, मोटाई में मटर के बराबर, आठ अङ्गुल लम्बी बीच में से पतली, अच्छी प्रकार बनी, सुखपूर्वक पकड़ने योग्य होनी चाहिये ॥६२॥

औदुम्बर्यश्मजा वाऽपि शारीरी वा हिता भवेत् ॥६३॥

अथवा ताम्र की, बिल्लौर आदि पत्थर की, सींग या अस्थि आदि की भी बनाई जा सकती है। यथा—आयसी रोपणे, ताम्रा लेख्ये, हैमी प्रसादने। शेषा अपि यथादोषं प्रयोज्या रसकोविदैः" ॥६३॥

वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः ।
शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम् ॥६४॥
अपाङ्गं वा यथायोगं कुर्याच्चचापि गतागतम् ।
वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ॥६५॥

वाम हाथ से आँख को टेढ़ा करके (खोलकर), सावधानी से, दक्षिण हाथ में पकड़ी शलाका से अंजन को कनीनिका भाग से अथवा अपांग भाग से या जैसा ठीक समझे वैसे लगाये, इसमें शलाका को आगे पीछे चलाये। जिस अञ्जन को पलकों पर लगाया जाता है, उसे अङ्गुली से ही लगाये (यथा काजल-रसक्रिया) ॥६४,६५॥

अक्षि नात्यन्तयोरञ्ज्याद्बाधमानोऽपि वा भिषक् ।

आंख के किनारों (कनीनिका, अपाङ्ग) पर बहुत अधिक अञ्जन न लगाये, और अञ्जन लगाते समय आंख को हानि भी न पहुँचाये।

न चानिर्वान्तदोषेऽक्ष्णि धावनं संप्रयोजयेत् ॥६६॥
दोषः प्रतिनिवृत्तः सन् हन्याद् दृष्टेर्बलं तथा ।

निश्चित रूप में अश्रु आदि से दोष के न निकल जाने तक आंखों को न धोये। क्योंकि असमय में धोने से वापिस आया दोष दृष्टि बल को नष्ट करता है ॥६६॥

गतदोषमपेताश्रु पश्येद्यत् सम्यगम्भसा ॥६७॥
प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यञ्जनं ततः ।

दोष निकल जाने पर, अश्रु बन्द हो जाने पर, आंख को पानी से भलीप्रकार धोकर दोष के अनुसार पीछे से प्रत्यंजन बरते ॥६७॥

श्रमोदावर्तरुदितमद्यक्रोधभयज्वरैः ॥६८॥
वेगाघातशिरोदोषैश्चार्तानां नेष्यतेऽञ्जनम् ।
रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भसंभवात् ॥६९॥

श्रम, उदावर्त, रुदन, मद्य, क्रोध, भय, ज्वर, उपस्थित वेगों का रोकना, शिरोदोष से पीड़ित पुरुषों में अञ्जन नहीं करना चाहिये। इनमें अञ्जन करने से सुर्खी, पीड़ा, तिमिर, स्राव, शूल, सूजन उत्पन्न हो जाती है ॥६८,६९॥

निद्राक्षये क्रियाऽशक्तिं, प्रवाते दृग्बलक्षयम् ।
रजोधूमहते रागस्रावाधीमन्थसंभवम् ॥७०॥
संरम्भशूलौ नस्यान्ते, शिरोरुजि शिरोरुजम् ।
शिरःस्नातेऽतिशीते च रवावनुदितेऽपि च ॥७१॥
दोषस्थैर्यादपार्थं स्याद्दोषोत्क्लेशं करोति च ।
अजीर्णेऽप्येवमेव स्यात् स्रोतोमार्गावरोधनात् ॥७२॥
दोषवेगोदये दत्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान् ।
तस्मात् परिहरन् दोषानञ्जनं साधु योजयेत् ॥७३॥

नींद न आने पर लगाया अञ्जन क्रिया (निमेष-उन्मेष में) हानि करता है। वायु के सामने बैठाकर किया अञ्जन दृष्टि बल को नष्ट करता है। रज और धूम से युक्त आंख में अञ्जन सुर्खी, स्राव अधिमन्थ उत्पन्न करता है। नस्य के अन्त में सूजन और शूल, शिरो रोग में शिरो वेदना करता है। शिर समेत

स्नान किये या अतिशीत अवस्था में या सूर्य के न उदय होने पर किया अञ्जन दोष के न बहाने से निरर्थक एवं दोष वृद्धि करनेवाला होता है। स्रोतो मार्ग के रुके होने से अजीर्ण में किया अञ्जन भी निरर्थक एवं दोष को बढ़ानेवाला है। दोषों के बढ़ा होने पर दिया अञ्जन-सुर्खी,सूजन आदि उपद्रवों को करता है। इसलिये दोषों को बचाते हुए वैद्य अञ्जन को भली प्रकार करे ॥७०-७३॥

लेखनस्य विशेषेण काल एष प्रकीर्तितः।

लेखन अञ्जन के लिये ही यह उपर्युक्त प्रतिषेध नियम है।

व्यापदश्च जयेदेताः सेकाश्च्योतनलेपनैः ॥७४॥

यथास्वं धूमकवलनस्यश्चापि समुत्थिताः।

अकालकृत अञ्जन से उत्पन्न रोग आदि हानियों को सेक, आश्च्योतन, लेप, दोषों के अपने अनुसार धूम कवल, नस्य आदि से शान्त करे ॥७४॥

विशदं लघ्वनास्रावि क्रियापटु सुनिर्मलम् ॥७५॥

संशान्तोपद्रवं नेत्रं विरिक्तं सम्यगादिशेत्।

लेखन अञ्जन के सम्यग् योग से आंख निर्मल, लघु, स्राव रहित, देखने में बाधा रहित, अति स्वच्छ, हो जाती है और रोग-उपद्रवों की शान्ति होती है ॥७५॥

जिह्मं दारुणदुर्वर्णं स्रस्तं रूक्षमतीव च ॥७६॥

नेत्रं विरेकातियोगे स्यन्दते चातिमात्रशः।

लेखन अञ्जन के अतियोग से—आंख कुटिल, कठिन, बुरे रंग की, ढीली, अतिरूक्ष होती है, अतिशय पानी बहता है॥

तत्र संतर्पणं कार्यं विधानं चानिलापहम् ॥७७॥

इस अतियोग में संतर्पण एवं वातनाशक उपचार करे॥

अक्षि मन्दविरिक्तं स्यादुदग्रतरदोषवत्।

धूमनस्याञ्जनैस्तत्र हितं दोषावसेचनम् ॥७ ॥

लेखन के हीन योग में—आंख उत्कट दोष युक्त होती है। इस अवस्था में धूम, नस्य और अञ्जन से दोषों को बहाना उत्तम है ॥७८॥

स्नेहवर्णबलोपेतं प्रसन्नं दोषवर्जितम्।

ज्ञेयं प्रसादने सम्यगुपयुक्तेऽक्षि निर्वृतम् ॥७९॥

प्रसादन अञ्जन के सम्यग् योग में—आंख स्नेहवर्ण एवं बल से युक्त, निर्मल, दोषरहित, सब क्रियाओं में समर्थ (धूप, आदि को सहने योग्य)—रोग शान्ति होती हैं ॥७९॥

किञ्चिद्धीनविकारं स्यात्तर्पणाद्धि कृतादति।

प्रसादांजन के अतियोग में—तर्पण के अधिक करने की अपेक्षा इसमें आँख हीनविकारयुक्त होती है॥

तत्र दोषहरं रूक्षं भेषजं शस्यते मृदु ॥८०॥

इससे कफनाशक, रूक्ष, मृदु औषध उत्तम है। (मृदु-शीत वीर्यम्) ॥८०॥

साधारणमपि ज्ञेयमेवं रोपणलक्षणम्।

प्रसादनवदाचष्टे तस्मिन् युक्तेऽतिभेषजम् ॥८१॥

रोपण अञ्जन के सम्यग् योग, अतियोग के लक्षण प्रसादन अञ्जन की भांति समझने चाहियें ॥८१॥

स्नेहनं रोपणं वाऽपि हीनयुक्तमपार्थकम्।

प्रसादन और रोपण अञ्जन हीन मात्रा में बरतने से निरर्थक रहते हैं।

कर्तव्यं मात्रया तस्मादञ्जनं सिद्धिमिच्छता ॥८२॥

इसलिये सफलता चाहनेवाला वैद्य मात्रा से अञ्जन करे॥

पुटपाकक्रियाद्यासु क्रियास्वेषै (कै) व कल्पना।

सहस्रशश्चाञ्जनेषु बाजेनोक्तेन पूजिताः ॥८३॥

पुटपाक आदि कल्पों में तथा अनुक्त अञ्जनों में इसी लेखन रोपण, प्रसादन आदि बीज से हजारों रूप में कल्पना की जा सकती है ॥८३॥

दृष्टेर्बलविवृद्ध्यर्थं याप्यरोगक्षयाय च।

राजार्हान्यञ्जनाग्र्याणि निबोधेमान्यतः परम् ॥८४॥

दृष्टिबल को बढ़ाने के लिये, याप्य रोग को क्षीण करने के लिये, राजाओं के लिये योग्य श्रेष्ठ अञ्जनों को मुझसे सुनों॥

अष्टौ भागानञ्जनस्य नीलोत्पलसमत्विषः।

औदुम्बरं शातकुम्भं राजतं च समासतः ॥८५॥

एकादशतान् भागांस्तु योजयेत् कुशलो भिषक्।

मूषाक्षिप्तं तदाध्मातमावृतं जातवेदसि ॥८६॥

खदिराश्मन्तकाङ्गारैर्गोशकृद्भिरथापि वा।

गवां शकृद्रसे मूत्रे दध्नि सर्पिषि माक्षिके ॥८७॥

तैलमद्यवसामज्जसर्वगन्धोदकेषु च।

द्राक्षारसेक्षुत्रिफलारसेषु सुहिमेषु च ॥८८॥

सारिवादिकषाये च कषाये चोत्पलादिके।

निषेचयेत् पृथक् चैनं ध्मातं ध्मातं पुनः पुनः ॥८९॥

ततोऽन्तरीक्षे सप्ताहं प्लोतबद्धं स्थितं जले।

विशोष्य चूर्णयेन्मुक्तां स्फटिकं विद्रुमं तथा ॥९०॥

कालानुसारिवां चापि शुचिरावाप्य योगतः।

एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे ॥९१॥

दन्तस्फटिकवदूर्यशङ्खशैलासनोद्भवे।

शातकुम्भेऽथ शार्ङ्गे वा राजते वा सुसंस्कृते।

सहस्रपाकवत् पूजां कृत्वा राज्ञः प्रयोजयेत् ॥९२॥

तेनाञ्जिताक्षो नृपतिर्भवेत् सर्वजनप्रियः।

अधृष्यः सर्वभूतानां दृष्टिरोगविवर्जितः ॥९३॥

नील कमल के समान कान्तिवाले स्रोतोऽञ्जन (काला सुरमा) के आठ भाग, ताम्र, स्वर्ण, चाँदी, एक एक भाग, इस प्रकार से कुशल वैद्य ये ग्यारह भाग लेकर मूषा में बन्द करके इनको, खैर, सिरहटा, या छानों की आग में गरम करके गोबर के रस में, गोमूत्र में, दधि में, गाय के घी में, मधु में, तैल-मद्य वसामज्जा सर्वगन्धोदक (एलादि गण) में, द्राक्षारस में, ईख के रस में, त्रिफला क्वाथ में अतिशीतल सारिवादि

कषाय में उत्पलादि गण के कषाय में बुझाये। इस प्रकार से बार बार गरम करके इन सब द्रव्यों में बुझाता जाये। फिर इसे एक पोटली में बांधकर वर्षा जल में सात दिन रक्खे। पीछे से इसको सुखाकर चूर्ण करे, इसमें मोती, स्फटिक, विद्रुम (मूँगा), कालानुसारिवा, इनको पवित्र वैद्य अल्प मात्रा में मिलाये। इस उत्तम अंजन को दाँत, मणि, वैडूर्य, शंख, पत्थर या विजयसार के अथवा सोने, सींग, चांदी के अच्छे बने पात्र में रक्खे। सहस्रपाक की भाँति शंख एवं नगाड़ों से पूजा करके, राजा के लिये बरते। उस अंजन को आँख में लगाकर राजा सब मनुष्यों का प्रिय बनता है, सब प्राणियों से अतिरस्कृत एवं दृष्टि रोगों से रहित होता है ॥८५-९३॥

कुष्ठं चन्दनमेलाश्च पत्रं मधुकमञ्जनम्।
मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि वक्रं रत्नानि सप्त च ॥९४॥
उत्पलस्य बृहत्योश्च पद्मस्यापि च केशरम्।
नागपुष्पमुशीराणि पिप्पली तुत्थमुत्तमम् ॥९५॥
कुक्कुटाण्डकपालानि दार्वी पथ्यां सरोचनाम्।
मरिचान्यक्षमज्जानं तुल्यां च गृहगोधिकाम् ॥९६॥
कृत्वा सूक्ष्मं ततश्चूर्णं न्यसेदभ्यर्च्य पूर्ववत्।
एतद्भद्रोदयं नाम सदैवार्हति भूमिपः ॥९७॥

कूठ, चन्दन, इलायची, तेजपात, मुलैहठी, अञ्जन, मेषशृंगी के पुष्प, तगर, सातोंरत्न (पद्मराग, मरकत, नील, वैडूर्य, मुक्ता, प्रवाल, पुष्पराग), कमल, कटेरी, बड़ीकटेरी के फूल, कमल केसर, नागकेसर, खस, पिप्पली, तुत्थ, (खर्पर तुत्थ), मुर्गी के अण्डे के छिलके, दारुहल्दी, हरड़, गोरोचना, मरिच, बहेड़े की गिरी, गृहगोधिका (छिपकली) इनको बराबर लेकर सूक्ष्म चूर्ण करे। इसमें छिपकली सब चूर्ण के बराबर ले। पूर्व की भाँति पूजा करके पात्र में रख दे। यह भद्रोदय नामक अञ्जन राजा के बरतने के सदा योग्य है। (डल्हण ने पुष्पराग के स्थान पर स्वर्ण को रत्न माना है) ॥९४-९७॥

वक्रं समरिचं चैव मांसीं शैलेयमेव च।
तुल्यांशानि समानैस्तैः समग्रैश्च मनःशिला ॥९८॥
पत्रस्य भागाश्चत्वारो द्विगुणं सर्वतोऽञ्जनम्।
तावच्च यष्टीमधुकं पूर्ववच्चैतदञ्जनम् ॥९९॥

तगर, मरिच, जटामांसी, शिलारस—ये प्रत्येक समान, और सब के बराबर मैनसिल, तेजपात एक द्रव्य की अपेक्षा चारगुणा, अञ्जन सम्पूर्ण द्रव्यों से दुगुना, मुलैहठी भी सुरमे के बराबर, यह अञ्जन पूर्व की भाँति गुणकारी है ॥९८,९९॥

मनःशिलां देवकाष्ठं रजन्यौ त्रिफलोषणम्।
लाक्षालशुनमञ्जिष्ठासैन्धवैलाः समाक्षिकाः ॥१००॥
रोध्रं सावरकं चूर्णमायसं ताम्रमेव च।
कालानुसारिवां चैव कुक्कुटाण्डदलानि च ॥१०१॥
तुल्यानि पयसा पिष्ट्वा गुटिकां कारयेद्बुधः।
कण्डूतिमिरशुक्लार्मरक्तराज्युपशान्तये ॥१०२॥

मैनसिल, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, लाख, लहसुन, मजीठ, सैन्धव, इलायची, माक्षिक (स्वर्णमाक्षिकभस्म), सावरलोध, लोह और ताम्र की भस्म, कालानुसारिवा, मुर्गे के अण्डों के छिलके, ये सब समान भाग लेकर दूध के साथ पीसकर गोलियाँ बनाये। कण्डू, तिमिर, शुक्लार्म, लाल रेखा को शान्त करता है। (माक्षिक से कोई मधु लेते हैं) ॥१००-१०२॥

कांस्यापमार्जनमसी मधुकं सैन्धवं तथा।
एरण्डमूलं च समं बृहत्यंशद्वयान्वितम् ॥१०३॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा ताम्रपात्रं प्रलेपयेत्।
सप्तकृत्वस्तु ता वर्त्यश्छायाशुष्का रुजापहाः ॥१०४॥

कांसी को रगड़ने से बनाई स्याही, मुलैहठी, सैन्धव, एरण्डमूल, प्रत्येक समान भाग, बड़ी कटेरी के फल और मूल—एक द्रव्य से दुगने लेकर इनको बकरी के दूध के साथ पीसकर ताम्रपात्र में लेप करे। इस प्रकार सात बार करे। इन वर्तियों को छाया में सुखाये—ये दर्दनाशक हैं ॥१०३,१०४॥

पथ्यातुत्थकयष्ट्याह्वैस्तुल्यैर्मरिचषोडशा।
पथ्या सर्वविकारेषु वर्तिः शीताम्बुपेषिता ॥१०५॥

हरड़, तुत्थ, मुलैहठी, प्रत्येक समान भाग, मरिच सोलह भाग को शीतल जल से पीसकर वर्ति बनाये। यह षोडशावर्त्ति नेत्र के सब रोगों में हितकारी है ॥१०५॥

रसक्रियाविधानेन यथोक्तविधिकोविदः।
पिण्डाञ्जनानि कुर्वीत यथायोगमतन्द्रितः ॥१०६॥

यथोक्तविधि को जाननेवाले वैद्य—रस क्रिया की विधि से—पिण्डाञ्जनों (शिलापृष्ठ पर घिसकर किये जानेवाले अञ्जनों) को योग के अनुसार सावधानी पूर्वक (जिससे आँखों में क्षत न हो) बनाये ॥१०६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
क्रियाकल्पो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

अथातो नयनाभिघातप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नयनाभिघातप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अभ्याहते तु नयने बहुधा नराणां
संरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान्।
नस्यास्यलेपपरिषेचनतर्पणाद्य-
मुक्तं पुनः क्षतजपित्तजशूलपथ्यम् ॥३॥

तीक्ष्णांजन, धूप, धूल, धुंवे आदि से मनुष्यों की आँखों पर अनेक रूप में आघात हो जाता है, इससे सूजन, सुर्खी,

और तीव्र वेदना होती है। इसके लिये नस्य, मुखलेप, परिषेचन, तर्पण आदि एवं रक्ताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा करे॥

वक्तव्य—तीक्ष्णांजनाति परिक्लिष्टेषु नेत्रेषु वातातपधूमरजव्यापारकीटमक्षिकामशकस्पर्शादिभिरभिहतेषु दिवाकराग्निचन्द्रग्रहनक्षत्र–क्रमण–कर्म–विविधरूप–प्रेक्षणाद्यभिहतेषु दुर्बलेषु नेत्रेषु रागदाहतोदशोफपाकघर्षादि वेदनासु"—आदि बहुत प्रकार से आघात होता है ॥३॥

दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात
स्निग्धैर्हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगैः।

इसमें दृष्टि को प्रसन्न करनेवाली विधि शीघ्र बरते, स्निग्ध, हिम (शीतल), मधुर वस्तुओं का प्रयोग करे!

स्वेदाग्निधूमभयशोकरुजाभिघातै-
रभ्याहतामपि तथैव भिषक् चिकित्सेत् ॥४॥

स्वेद, अग्नि, धुँवे, भय, शोक, पीड़ा, आघात आदि से आँख दुखने पर भी इसी प्रकार चिकित्सा करे ॥४॥

सद्याहते नयन एष विधिस्तदूर्ध्वं
स्यन्देरितो भवति दोषमवेक्ष्य कार्यः।

यह उपचार तुरन्त सात दिन से पहले पहले करना चाहिये। इसके पीछे दोष को देखकर अभिष्यन्द की चिकित्सा करे।

अभ्याहतं नयनमीषदथास्यबाष्प-
संस्वेदितं भवति तन्निरुजं क्षणेन ॥५॥

चोट लगी आँखपर (क्षोभ होने पर) मुख की फूँक की गरम बाष्प से स्वेदन देने पर आँख तुरन्त वेदना रहित हो जाती है ॥५॥

साध्यं क्षतं पटलमेकमुभे तु कृच्छ्रे
त्रीणि क्षतानि पटलानि विवर्जयेत्तु।
स्यात् पिच्चितं च नयनं ह्यति चावसन्नं।
स्रस्तं च्युतं च हतदृक् च भवेत्तु याप्यम् ॥६॥
विस्तीर्णदृष्टि तनुरागमसत्प्रदर्शि,
साध्यं यथास्थितमनाविलदर्शनं च।

प्रथम पटल में हुआ क्षत साध्य है, दो पटलों का क्षत कष्टसाध्य है, तीन पटलों का क्षत असाध्य है। पिच्चित आँख या दबी हुई आँख, शिथिल, लटकती हुई, दृष्टि नष्ट हो जानेपर भी आँख याप्य है। जिसमें दृष्टि फैल गई हो, सूक्ष्म-पतली हो गई हो, सुर्खी आ गई हो, असत् (न हुई वस्तु को देखनेवाली—भ्रमित दृष्टि) दृष्टि याप्य है। ठीक प्रकार से स्थित, साफ स्पष्ट देखनेवाली दृष्टि साध्य है ॥६॥

प्राणोपरोधवमनक्षुतकण्ठरोधै-
रुग्नम्यमाशु नयनं यदतिप्रविष्टम् ॥७॥

यदि नेत्र अन्दर बहुत दब गई हो तो—गला दबाने से, वमन से, छींक से, श्वास को रोककर—आँख को बाहर लाना चाहिये ॥७॥

नेत्रे बिलम्बिनि बिधिर्विहितः पुरस्ता-
दुच्छिङ्घनं शिरसि वार्यवसेचनं च।

नेत्र के बाहर निकल आने की चिकित्सा पहले (भिन्नं नेत्रकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत्) कह दी है। इसमें नाक से वायु को अन्तः खींचे, शिर पर ठंडा पानी डाले।

षट्सप्ततिर्नयनजा य इमे प्रदिष्टा
रोगा भवन्त्यमहतां महतां च तेभ्यः ॥८॥
स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तै-
र्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः।

आँख के जो ये छिहत्तर रोग कहे हैं, ये रोग बालकों को तथा बड़ों को होते हैं। दूध के प्रकोप से, कफ, वायु, पित्त, रक्त के कारण बालकों की पलकों में कुकूणक नाम का एक दूसरा रोग होता है[1] ॥८॥

मृद्नाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं
नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम् ॥९॥
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रबद्धं
तस्याहरेद्रुधिरमाशु विनिर्लिखेच्च।

---

१ काश्यप संहिता में—
"यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते।
मत्स्यं मांसं पयः शाकं नवनीतं तथा दधि॥
सुरासवं पिष्टमयं तिलपिष्टाम्लकांजिकम्।
अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले काले निषेवते॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा शेते विसंज्ञा च बिबुध्यते।
तस्य दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते॥
दोषेणावृतमार्गायास्ततःस्तन्यं च दूष्यते।
प्रदुष्टदोषसंज्ञं च यदा पिबति दारकः॥
लवणाम्लनिषेवित्वान्माता पुत्रो रसादिह।
आहारदोषात्तस्यास्तु वातस्थानान्नभोजिनः॥
अभीक्ष्णमस्त्रं स्रवेत न च क्षीवति दुर्मनाः।
नासिकां परिमृद्नाति न च वाञ्छति दुःखितः॥
ललाटमक्षिकूटं च नासां च परिमर्दति।
नेत्रे कण्डूयतेऽभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु॥
सप्रकाशं न सहते अश्रुचास्य प्रवर्तते।
वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुकूणकम्।
तस्य चिकित्सतं श्रेष्ठं व्याख्यास्यामि यथा तथा।
धात्रीं तु वामयेद्युक्तं तस्य चैव विपाचयेत्।
तस्यावान्तविरिक्तायाः निर्दुह्य च स्तनावुभौ।
भोजनानि च सर्वाणि यथायुक्तं प्रदापयेत्॥"

क्षौद्रायुतैश्च कटुभिः प्रतिसारयेत्तु
मातुः शिशोरभिहितं च विधिं विदध्यात् ॥१०॥

इस रोग में बचा आँख को मलता है, बहुत खाज होती है। अक्षिकूट, नासिका, ललाट को बचा सदा मलता रहता है, प्रकाश को सहन नहीं कर सकता, आंख से निरन्तर पानी बहता है। इसमें जौंक से रक्त निकाले या हारसिंगार आदि के पत्ते से लेखन करे। त्रिकटु को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करे। माता और बच्चे के लिये कही हुई चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य—कुकूणक नामक रोग का प्रभाव वर्त्म पर अधिक होता है, अतः वर्त्म को उलटकर उसके स्तर पर लेखन एवं प्रतिसारण किया जाता है। लेखन करने से ही रुधिर निकल जाता है। इस रोग में वर्त्म सूज जाते हैं। इसे "चौन्धी" कहते हैं। देखा गया है, कि ग्रामीण वृद्धाएँ कुत्ता के शरीर पर प्रायः बैठनेवाली मक्षिका (यह मक्षिका दूसरी मक्षिकाओं की अपेक्षा बड़ी होती है, उसका वर्ण हरासा होता है) को पकड़कर वर्त्म के भीतरी स्तर पर छुआती हैं, और मक्षिका अपने पाँवों को स्वभावतः हिलाती है, पाँव लगने से क्षत होता है फलतः रक्त निकल जाता है और रोग शान्त हो जाता है। छिलका सहित चाकस् का चूर्ण डालने से भी लाभ होता है। इस रोग को "रोहा" भी कहते हैं। हमारा विचार है, कि बड़ों में जो "रोहे" होते हैं, वही अथवा उसी की जाति का यह रोग भी है ॥६,१०॥

तं वामयेत्तु मधुसैन्धवसंप्रयुक्तैः
पीतं पयः खलु फलैः खरमञ्जरीणाम् ॥११॥
स्यात्पिप्पलीलवणमाक्षिकसंयुतैर्वा

दूध के साथ मधु, सैन्धव, चिरचिटे की बाल के चावल पिलाकर बच्चे को वमन कराये। अथवा पिप्पली लवण, मधु-दूध में मिलाकर वमन कराये ॥११॥

नैनं वमन्तमपि वामयितुं यतेत।

बच्चेको स्वयं वमन हो रहा हो तो इसको कराने की दवाई न देवे।

दत्त्वा वचामशनदुग्धभुजे प्रयोज्य-
मूर्ध्वं ततः फलयुतं वमनं विधिज्ञः ॥१२॥

दूध और अन्न खानेवाले बच्चे को बचा से वमन कराये। अन्नखानेवाले बच्चे को मैनफल से वमन कराये ॥१२॥

जम्ब्वाम्रधात्र्यणुदलैः परिधावनार्थं
कार्यं कषायमवसेचनमेव चापि।

पलकों को धोने के लिये—जामुन, आम, आंवला, अश्मन्तक इनका कषाय बरतना चाहिये। इसी कषाय से परिषेक करे।

आश्च्योतने च हितमत्र घृतं गुडूची-
सिद्धं तथाऽऽहुरपि च त्रिफलाविपक्वम् ॥१३॥

गिलोय से सिद्ध किया तथा त्रिफला से सिद्ध किया घृत इसमें आश्च्योतन के लिये उत्तम है ॥१३॥

नेपालजामरिचशङ्खरसाञ्जनानि
सिन्धुप्रसूतगुडमाक्षिकसंयुतानि।
स्यादञ्जनं मधुरसामधुकाम्रकैर्वा

मैनसिल, मरिच, शंख, रसौत, सैन्धव, गुड़ और मधु से मिलाकर बनाया अञ्जन अथवा मूर्वा, मुलैहठी और आम इनका अञ्जन उत्तम है।

कृष्णायसं घृतपयोमधु वाऽपि दग्धम् ॥१४॥

कृष्णलोहचूर्ण, घी, दूध, और मधु इनको अन्तर्धूम विधि से जलाकर अंजन करे। यथा—"लोहचूर्णं च सर्पिश्च मधुक्षीरं च दाहयेत्। एतच्चूर्णाञ्जनं पिष्टं कुमाराणां कुकूणके ॥१४॥

व्योषं पलाण्डु मधुकं लवणोत्तमं च।
लाक्षां च गैरिकयुतां कुटिकाञ्जनं वा।
निम्बच्छदं मधुकदार्वि सताम्रलोध्र-
मिच्छन्ति चात्रभिषजोऽञ्जनमंशतुल्यम् ॥१५॥

त्रिकटु, प्याज, मुलैहठी, सैन्धव, लाख, गेरू इनसे अथवा नीम के पत्ते, मुलैहठी, दारुहल्दी, ताम्रभस्म, लोध, प्रत्येक समान भाग–इनसे, गुटिका अंजन बनाकर कुकूणक में बरते॥

स्रोतोजशङ्खदधिसैन्धवमध पक्षं
शुक्रं शिशोर्नुदति भावितमञ्जनेन।
स्यन्दे कफादभिहितं क्रममाचरेच्च
बालस्य रोगकुशलोऽक्षिगदं जिघांसुः ॥१६॥

गाय की दही से शंख और सैन्धव को पीसकर—स्रोतांजन पर साढ़े सात दिन बार-बार लेप करे। फिर इस स्रोतांजन को पीसकर वर्त्ति बनाये। यह वर्त्ति अञ्जन करने पर बच्चों के शुक्र रोग को नष्ट करती है। कफाभिष्यन्द में कही चिकित्सा को, बालकों की आँख के रोगों को नष्ट करने की इच्छावाला वैसे बरते। (क्योंकि बालकों में कफ की अधिकता रहती है) ॥१६॥

समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्।
वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥१७॥
सहस्रैरपि वा प्रोक्तमर्थमल्पमतिर्नरः।
तर्कग्रन्थार्थरहितो नैव गृह्णात्यपण्डितः ॥१८॥

चिकित्सा शास्त्र समुद्र की भाँति गम्भीर है, हजारों श्लोकों से भी सम्पूर्ण रूप में इसको नहीं कह सकते। थोड़ी बुद्धिवाला मनुष्य जो तर्कसे ग्रन्थ के अर्थ को नहीं समझता, वह हजारों श्लोकों से कहे हुए विषय को भी नहीं समझ सकता॥१७,१८॥

तदिदं बहुगूढार्थं चिकित्साबीजमीरितम्।
कुशलेनाभिपन्नं तद्बहुधाऽभिप्ररोहति ॥१९॥
तस्मान्मतिमता नित्यं नानाशास्त्रार्थदर्शिना।
सर्वमूह्यमगाधार्थं शास्त्रमागमबुद्धिना ॥२०॥

इसलिये अतिशय गम्भीर अर्थवाला चिकित्सा बीज यहाँ कह दिया है, यह बीज कुशल वैद्य में जाना जाकर अनेक रूप में अंकुरित होता है। इसलिये बुद्धिमान् को नित्य प्रति नाना-शास्त्रों को देखते हुए, शास्त्र ज्ञान से वैद्य को सम्पूर्ण एवं गम्भीर अर्थवाले शास्त्र को सदा बुद्धि से समझना चाहिये ॥१६,२०॥

"सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति, तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः ॥"

चरक वि० अ० ८।१५२।

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे नयनाभिघातचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१६॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातः कर्णगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कर्णगतरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में कर्णविवर में होनेवाले रोगों का वर्णन है और कर्णपाली-कर्णशष्कुली के रोगों का वर्णन सू० अ० १६ तथा चि० अ० २५ में किया जा चुका है॥

कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णवर्चस्तथैव च ॥३॥
कृमिकर्णप्रतीनाहौ विद्रधिर्द्विविधस्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम् ॥४॥
कर्णार्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥५॥

कर्णशूल, कर्णप्रणाद, बाधिर्य, कर्णक्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डू, कर्णवर्च, कृमिकर्ण, प्रतिनाह, दो प्रकार की विद्रधि (दोषविद्रधि, क्षतविद्रधि), कर्णपाक, पूतिकर्ण, चार प्रकार के अर्श (वात, पित्त, कफ और सन्निपातज), सातप्रकार का कर्णार्बुद (वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद, सन्निपातज), चार प्रकार का शोफ (वात, पित्त, कफ, सन्निपातज) ये अट्ठाईस कर्णगत रोग हैं ॥३-५॥

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरः
समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः
स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥६॥

श्रोत्र गत वायु, कफ, पित्त दोषों से—अपने आप आवृत होकर, विमार्ग में गति करता हुआ कानों में अतितीव्रशूल चारों ओर करता है। यह शूल कष्ट साध्य है ॥६॥

वक्तव्य—मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा।
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः ॥६॥

यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः
स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति।
शृणोति शब्दान् विविधांस्तदा नरः
प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम् ॥७॥

जब यह वायु विमार्ग में आकर शब्द को ले जानेवाली नाड़ियों में पहुँचता है, तब मनुष्य नानाप्रकार के शब्दों को सुनता है, इस रोग को कर्णप्रणाद कहते हैं। यथा—

"शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते।
तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः॥
भृंगारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा।
तंत्रीं मृदंगशब्दं वा समतूर्यस्वने तथा॥
गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा।
अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः॥
श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः" ॥७॥

स एव शब्दानुवहा यदा सिराः
कफानुयातो व्यनुसृत्य तिष्ठति।
तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो
भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु ॥८॥

यही वायु कफ से मिलकर जब शब्द को ले जानेवाली सिराओं में फैलकर रह जाता है, तब उस समय चिकित्सा न करने से पुरुष को निःसन्देह बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है।

वि० मन्तव्य—बाधिर्य का पूर्वरूप ऊच्चैः श्रुति—ऊँचे सुनना नामक विकार होता है ॥८॥

श्रमात् क्षयाद्रूक्षकषायभोजनात्
समीरणः शब्दपथे प्रतिष्ठितः।
विरिक्तशीर्षस्य च शीतसेविनः
करोति हि क्ष्वेडमतीव कर्णयोः ॥९॥

श्रम से, क्षय से (धातुक्षय से), रूक्षकषाय भोजन से, कुपित वायु शब्दमार्ग में रुक कर, या शिरोविरेचन लिये शीतसेवन करनेवाले पुरुष के कानों में अतिशय क्ष्वेड (अव्यक्त शब्द) करता है।

यथा—"मारुतः कफवाताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च।
कर्णक्ष्वेडं संजनयेत् क्ष्वेडने वेणुघोषवत् ॥९॥

शिरोभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेत्तु पूयं श्रवणोऽनिलावृतः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥१०॥

शिर पर चोट लगने से या पानी में गोता मारने पर कान में पानी भर जाने अथवा विद्रधि के पक जाने से वायु से आवृत कान से पूय बहती है, इसे कर्ण संस्राव कहते हैं ॥१०॥

कफेन कण्डूः प्रचितेन कर्णयो-
भृशं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते ।

कर्ण स्रोतसों में कफ के बहुत संचित होने से कानों में बहुत कण्डू होती है ।

विशोषिते श्लेष्माणि पित्ततेजस
नृणां भवेत् स्रोतसिं कर्णगूथकः ॥११॥

पित्त की उष्णिमा से स्रोतों में कफ के सूख जाने पर मनुष्यों में कर्ण गूथ (कर्णवर्चस्) बनता है ॥११॥

स कर्णविट्को द्रवतां यदा गतो
विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो
भवेद्विकारः शिरसोऽभितापनः ॥१२॥

जब यह कर्णमूल (कर्णगूथ) पिघलकर द्रवरूप होकर नासा एवं मुख में आता है, तब इसको कर्ण प्रतिनाह नाम से कहते हैं, यह रोग सम्पूर्ण शिर को पीड़ित करता है ॥१२॥

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥१३॥

जब कृमि कान में गिर पड़ते हैं, अथवा मक्खियाँ कान में अण्डे, बच्चे दे दें तब इन कृमियों के होने से पुरातन वैद्य कृमिकर्ण नाम से कहते हैं❀ ।

वि० मन्तव्य—जैसे अन्य व्रणों में कभी २ कृमि उत्पन्न हो जाते हैं अथवा किरौनी मक्खी बैठने के कारण कृमि उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही जब कर्ण विवर में कृमि उत्पन्न होते हैं तब उस दशा का नाम "कृमिकर्ण" है । श्री डल्लनाचार्य की व्याख्या के अनुसार एवं श्री भावमिश्र के कथनानुसार यह रोग तीन प्रकार का माना जा सकता है—१—जिसमें कृमिपतिङ्गा एवं शतपदी (गोजर तथा कानसलाई नामक जन्तु) आदि के घुस जाने से, इसका उल्लेख भी श्री भावमिश्र के शब्दों में—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।
अरतिं व्याकुलत्वं हि भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ।
कर्णौ निस्तुद्यते यस्य तथा च फर्फरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना । कर्णरोगाधिकार । २—मांस कोथजाः कृमयः (डल्लन) = मांसरक्त के सड़ने से उत्पन्न कृमि ।—३ किरौनी मक्खी के अण्डा गिराने से उत्पन्न कृमि ॥१३॥

❀ विदेह ने कहा है—
"श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसगे ।
मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ॥
भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः ।
कृमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधि-
र्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत्
प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥१४॥

चोट लगने से एक प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है, दोषजन्य दूसरी विद्रधि है । इसमें लाल, पीला, अरुणवर्ण का रक्त बहता है, चुभने की सी वेदना, धूमसा निकलता प्रतीत होता है, दाह, चोष (जलन) होती है ।

वि० मन्तव्य—कर्णविद्रधि—कान की फुन्सी का नाम है ॥१४॥

भवेत् प्रपाकः खलु पित्तकोपतो
विकोथविक्लेदकरश्च कर्णयोः ।

पित्त के प्रकोप से कानों में—सड़ना, क्लेद युक्त पाक हो जाता है, इसे कर्ण पाक कहते हैं ।

स्थिते कफे स्रोतसि पित्ततेजसा
विलाय्यमाने भृशसंप्रतापवान् ॥१५॥
अवेदनो वाऽप्यथवा सवेदनो
घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णक. ।

स्रोतों में कफ के रुक जाने पर पित्त की उष्णिमा से इसके पिघल जाने के कारण अतिशय जलनेवाला, वेदनारहित या वेदनायुक्त, घठ एवं दुर्गन्धवाला स्राव होता है, इसे पूतिकर्णक कहते हैं ॥१५॥

प्रदिष्टलिङ्गान्यरशांसि तत्वत-
स्तथैव शोफार्बुदलिङ्गमीरितम ।
मया पुरस्तात् प्रसमीक्ष्य योजये-
दिहैव तावत् प्रयतो भिषग्वरः ॥१६॥

अर्श के, शोफ के तथा अर्बुद के कहे हुए लक्षणों को परमार्थ रूप से देखकर, बुद्धिमान् वैद्य उनको यहां पर लागू कर लेवे ।

वि० मन्तव्य—अर्थात् कर्णविवर में अर्श—मांसाकुर मस्से, शोफ-व्रणशोथ-शोथ तथा अर्बुद भी होते हैं । इनके लक्षण अर्श आदि के समान ही होते हैं ॥१६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे कर्णगतरोगविज्ञानीयो नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातः कर्णगतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कर्णगतरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम् ।
अव्यायामोऽशिरःस्नानं ब्रह्मचर्यमकत्थनम् ॥३॥

सामान्यतः सब कर्ण रोगों में घृतपान, रसायन सेवन, व्यायाम न करना, शिरसमेत स्नान न करना, ब्रह्मचर्य और न बोलना (कम बोलना) पथ्य है। (रसायन के स्थान पर रसाशन पाठ करके, कई लोग मांस रस से भोजन अर्थ करते हैं) ॥३॥

कर्णशूले प्रणादे च बाधिर्यक्ष्वेडयोरपि ।
चतुर्णामपि रोगाणां सामान्यं भेषजं विदुः ॥४॥

कर्णशूल, कर्णप्रसाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड इन चारों रोगों में सामान्य औषध है ॥४॥

स्निग्धं वातहरैः स्वेदैर्नरं स्नेहविरेचितम् ।
नाडीस्वेदैरुपचरेत्पिण्डस्वेदैस्तथैव च ॥५॥

रोगी को स्नेह पान और अभ्यंग से स्निग्ध करके वातहर द्रव्यों से स्वेद देकर ऐरण्ड तैल, बादाम, रोगन आदि स्नेहद्रव्यों से विरेचन देवे। नाड़ीस्वेद और पिण्डस्वेद बरते ॥५॥

बिल्वैरण्डार्कवर्षाभूदधित्थोन्मत्तशिग्रुभिः ।
बस्तगन्धाश्वगन्धाभ्यां तर्कारीयववेणुभिः ॥६॥
आरनालशृतैरेभिर्नाडीस्वेदः प्रयोजितः ।
कफवातसमुत्थानं कर्णशूलं निरस्यति ॥७॥

बिल्व, एरण्ड, आक, पुनर्नवा, कैथ, धत्तूरा, सुहांजना, बस्तगन्धा, अश्वगन्धा, अरणी, वांस के जौ, इनको कांजी में पकाकर दिया गया नाड़ीस्वेद–कफ-वात से उत्पन्न कर्णशूल को नष्ट करता है ॥६,७॥

मीनकुक्कुटलावानां मांसजैः पयसाऽपि वा ।
पिण्डैः स्वेदं च कुर्वीत कर्णशूलनिवारणम् ॥८॥

मछली, मुर्गा, बटेर इनके मांस से या दूध के मावे (खोया) से पिण्डस्वेदन करे, यह कर्णशूल को नष्ट करता है ॥८॥

अश्वत्थपत्रखल्लं वा विधाय बहुपत्रकम् ।
तदङ्गारैः सुसंपूर्णं निदध्याच्छ्रवणोपरि ॥९॥
यत्तैलं च्यवते तस्मात् खल्लादङ्गारतापितात् ।
तत् प्राप्तं श्रवणस्रोतः सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥१०॥

पीपल के बहुत से कोमल पत्ते लेकर उनसे एक दोहना (विवाह आदि में जिसमें द्रव वस्तु परोसी जाती है) बनाकर उसमें तेल भर दे। इसको ऊपर से भी पीपल के पत्तों से ढाँप दे (एक प्रकार की मूषा बन जाये) या कोई और वस्तु रख देवे। इन अंगारों की गरमी से जो तेल चूता है वह जब कान के स्रोतों में जाता है, तो वेदना को तुरन्त बन्द कर देता है।

वक्तव्य—'तदङ्गारैः संपूर्णम्' के स्थान पर तैलाक्तमस्तु-सम्पूर्णम् पाठ ठीक है। इसमें पीपल के गीले पत्तों को तैल—मस्तु में भिगोकर दोहना बनाये। इसमें अङ्गारे रख देवे। फिर मूषा आदि की जरूरत नहीं। कोई टीकाकार इस दोहने में छोटा सा छेद रखने को कहते हैं। इस छेद को कर्णस्रोत पर रख देवे। इसमें तैल के स्थान पर घी भरने को भी कहा है ॥९,१०॥

क्षौमगुग्गुल्वगुरुभिः सघृतैर्धूपयेच्च तम् ।
भक्तोपरि हितं सर्पिर्बस्तिकर्म च पूजितम् ॥११॥

अलसी, गुग्गुल, अगरु, और घी इनसे इसको धूप करे। भोजन के पीछे घृतपान (रात में) और बस्तिकर्म करे ॥११॥

निरन्नो निशि तत्सर्पिः पीत्वोपरि पिबेत् पयः ।
मूर्धबस्तिषु नस्ये च मस्तिष्के परिषेचने ॥१२॥
शतपाकं बलातैलं प्रशस्तं चापि भोजने ।

रात में मनुष्य भोजन न करके घृतपान करे और पीछे से गरम दूध पीये। शिरोबस्ति, नस्य, शिर के परिषेचन में और भोजन में शतपाकी बलातैल बरते ॥१२॥

कण्टकारीमजाक्षीरे पक्त्वा क्षीरेण तेन च ॥१३॥
विपचेत् कुक्कुटवसां कर्णयोस्तत्प्रपूरणम् ।

कटेरी चारपल, इसको आठ गुणे दूध में और दूध से चारगुणा पानी लेकर पकाये। इस दूध से मुर्गे की वसा—एक कुडव सिद्ध करे। यह वसा कानों में डाले ॥१३॥

तण्डुलीयकमूलानि फलमङ्कोलजं तथा ॥१४॥
अहिंस्राकेन्दुकान्मूलं सरलं देवदारु च ।
लशुनं शृङ्गवेरं च तथा वंशावलेखनम् ॥१५॥
कल्कैरेषां तथाऽम्लैश्च पचेत् स्नेहं चतुर्विधम् ।
वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं हितं तत्कर्णपूरणम् ॥१६॥

चौलाई की जड़, अङ्कोठ का फल, झिंटी, केन्द्रकमूल, चीड़, देवदारु, लहसुन, सोंठ, बांस के छिलके, इनके कल्क से, दधि तक्र सुरा-कांजी इनमें घी तैलवसा मज्जा ये चारों स्नेह सिद्ध करे। यह स्नेह वेदना की शान्ति के लिये कान में भरे ॥१४-१६॥

लशुनार्द्रकशिग्रूणां मुरङ्ग्या मूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ॥१७॥
शृङ्गवेररसः क्षौद्रं सैन्धवं तैलमेव च ।
कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतद्वा वेदनापहम् ॥१८॥

लहसुन, आर्द्रक, सुहांजना, मुरंगी (मीठा सहजन), मूली, केला, इनका स्वरस, गुनगुनाता गरम–(जितना सह्य हो) कान के डालने में उत्तम है। अथवा आर्द्रक का रस, मधु, सैन्धव, तैल, इनको थोड़ा गरम करके कान में डालने से वेदना नष्ट होती है ॥१७,१८॥

वंशावलेखनायुक्ते मूत्रे चाजाविके भिषक् ।
सर्पिः पचेत्तेन कर्णं पूरयेत् कर्णशूलिनः ॥१९॥

बकरी और मेढ़ के मूत्र में बांस का छिलका कल्क रूप में बरतकर वैद्य घी को पकाये, यह घृत 'कर्णशूलवाले रोगी के कान में डाले ॥१९॥

महतः पञ्चमूलस्य काण्डमष्टादशाङ्गुलम् ।
क्षौमेणावेष्ट्य संसिच्य तैलेनादीपयेत्ततः ॥२०॥

यत्तैलं च्यवते तेभ्यो घृतेभ्यो भाजनोपरि।
ज्ञेयं तद्दीपिकातैलं सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥२१॥

दीपिका तेल—बृहत्पंचमूल के अट्ठारह अंगुल लम्बे टुकड़े (मोटे टुकड़े) लेकर इस पर अलसी का वस्त्र लपेटकर तेल चुआये। तेल से गीला करके इसको एक पात्र के ऊपर रखकर जलाये। जलाने से जो तैल पात्र में गिरे, वह दीपिका तेल है। इस तेल को कान में डालने से वेदना तुरन्त नष्ट होती है।

वि० मन्तव्य—बिल्व आदि वृक्षों की प्रशाखा के अङ्गुली के से मोटे ८-८ अंगुल लम्बे, ५ टुकड़े लेकर रेशमी कपड़ा में लपेट, तैल में भिगो, चिमटा से पकड़कर एक ओर अग्नि लगा देवे और उसके नीचे कटोरी रख देवे, जलते समय इसमें से बून्द-बून्द तैल टपकता है, इसी तैल का नाम "दीपिका" तैल है। यह भी तैल पाक का एक प्रकार है। इस विधि से तैल का खरपाक होता है, और कर्ण में डालने के लिये खरपाक ही होना चाहिये ॥२१॥

कुर्यादेवं भद्रकाष्ठे कुष्ठे काष्ठे च सारले।
मतिमान् दीपिकातैलं कर्णशूलनिबर्हणम् ॥२२॥

बुद्धिमान् वैद्य इसी विधि से देवदारु, कुष्ठ, चीड़ की लकड़ी से भी दीपिका तेल बनाये, यह कर्णशूल को नष्ट करता है।

वि० मन्तव्य—देवदारु तथा चीड़ की लकड़ी को एक ओर से प्रज्वलित करने पर उसमें से तैल गिरता है, यही टर्पिन का तैल-तारपीन का तैल कहलाता है। यह कर्णशूल एवं कर्णस्राव में भी लाभ करता है, और सड़े-गले सब व्रणों में लगाने से लाभ करता है, यह शोधन भी है और रोपण भी है। बधिरता में भी लाभ करता है ॥२२॥

अर्काङ्कुराम्लपिष्टांस्तैलाक्तान् लवणान्वितान्।
सन्निदध्यात् स्नुहीकाण्डे कोरिते तच्छदावृते ॥२३॥
पुटपाकक्रमस्विन्नान् पीडयेदारसागमात्।
सुखोष्णं तद्रसं कर्णे दापयेच्छूलशान्तये ॥२४॥
कपित्थमातुलुङ्गाम्लशृङ्गवेररसैः शुभैः।
सुखोष्णैः पूरयेत् कर्णं तच्छूलविनिवृत्तये ॥२५॥
कर्णं कोष्णेन चुक्रेण पूरयेत् कर्णशूलिनः।
समुद्रफेनचूर्णेन युक्त्या चाप्यवचूर्णयेत् ॥२६॥

आक के अंकुरों (कोमलाग्र भागों) को कांजी से पीसकर इसमें तेल और नमक मिला ले। फिर थोर का एक टुकड़ा लेकर उसे बीच में से खोखला करके उसमें यह कल्क भरकर, टुकड़े को थोर के पत्तों से लपेट देवे। और निचोड़कर रस को ले लेवे। फिर इस काण्ड को पुटपाक की विधि से पकाये। इस रस को सुहाता हुआ गरम-गरम कान में शूल की शान्ति के लिये डाले। कैथ, बिजौरा, आर्द्रक इनके रस को सुहाता गरम करके कान में डाले, इससे शूल नष्ट होता है। कर्णशूलवाले रोगी के कान में सुहाता गरम चुक्र डाले। अथवा युक्ति से (फूत्कार द्वारा) समुद्रफेन का चूर्ण कान में डाले।

वक्तव्य—'यन्मस्त्वादिशुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकं।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते ॥"

वि० मन्तव्य—कर्णविवर में समुद्रफेन का चूर्ण डालकर ऊपर से निम्बू रस अथवा काञ्जी की ५-७ बून्द डालते हैं, बून्दें डालने पर उफान आता है, इसे देखकर घबराना नहीं चाहिये ॥२३-२६॥

अष्टानामिह मूत्राणां मूत्रेणान्यतमेन तु।
कोष्णेन पूरयेत् कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥२७॥

कर्णशूल की शान्ति के लिये आठों मूत्रों में से किसी एक मूत्र को सुहाता गरम कान में डाले ॥२७॥

मूत्रेष्वम्लेषु वातघ्ने गणे च क्वथिते भिषक्।
पचेच्चतुर्विधं स्नेहं पूरणं तच्च कर्णयोः ॥२८॥

वैद्य आठों मूत्रों में या कांजी आदि अम्लों में अथवा वातघ्नगण (भद्रदार्व्यादि) में घी, तैल, वसा और मज्जा चारों स्नेह सिद्ध करके कान में डाले ॥२८॥

एता एव क्रियाः कुर्यात् पित्तघ्नैः पित्तसंयुते।

पित्त युक्त कर्णशूल में यही चिकित्सा पित्तनाशक द्रव्यों से करे।

काकोल्यादौ दशक्षीरं तिक्तं चात्र हितं हविः ॥२९॥
क्षीरवृक्षप्रवालेषु मधुके चन्दने तथा।
कल्कक्वाथे परं पक्वं शर्करामधुकैः सरैः ॥३०॥

काकोल्यादिगण के कल्क से दसगुने दूध में सिद्ध किया घृत उत्तम है। बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के पत्तों के क्वाथ में काकोल्यादि गण से घृत सिद्ध करे। मुलैहठी और चन्दन के क्वाथ एवं कल्क से घृत सिद्ध करे। शर्करा और मुलैहठी एवं विरेचन द्रव्यों के क्वाथ में घृत सिद्ध करे। शर्करा मुलैहठी का कल्क, विरेचन द्रव्यों का क्वाथ द्रव कार्य में बरते ॥२९,३०॥

इङ्गुदीसर्षपस्नेहौ सकफे पूरणे हितौ।
तिक्तौषधानां यूषाश्च स्वेदाश्च कफनाशनाः ॥३१॥

कफयुक्त कर्णशूल में हिंगोट का तेल या सरसों का तेल डाले। तिक्त औषधियों का यूष और कफनाश (रूक्ष स्वेद) स्वेद उत्तम है ॥३१॥

सुरसादौ कृतं तैलं पञ्चमूले महत्यपि।
मातुलुङ्गरसः शुक्तं लशुनार्द्रकयो रसः ॥३२॥
एकैकः पूरणे पथ्यस्तैलं तेष्वपि वा कृतम्।
तीक्ष्णा मूर्धविरेकाश्च कवलाश्चात्र पूजिताः ॥३३॥

सुरसादिगण में या बृहत् पंचमूल में बनाया तैल, बिजौरे का रस, शुक्त, लहसुन या आर्द्रक का रस एक-एक वस्तु या इनसे सिद्ध किया तैल कान में डालने के लिये उत्तम है। तीक्ष्ण शिरोविरेचन, तथा कवल उत्तम हैं ॥३२,३३॥

कर्णशूलविधिः कृत्स्नः पित्तघ्नः शोणितावृते ।

रक्तयुक्त कर्णशूल में पित्तनाशक सम्पूर्ण विधि को बरते ।

शूलप्रणादबाधिर्यक्ष्वेडानां तु प्रकीर्तितम् ॥३४॥

सामान्यतो, विशेषेण बाधिर्ये पूरणं शृणु ।

गवां मूत्रेण बिल्वानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत् ॥३५॥

सजलं च सदुग्धं च बाधिर्ये कर्णपूरणम् ।

कर्णशूल, कर्णप्रणाद, बाधिर्य क्ष्वेड इनकी सामान्य चिकित्सा कह दी है। बाधिर्य रोग के लिये विशेष चिकित्सा सुनो–गाय के मूत्र से बिल्व को पीसकर तैल पकाये। पकाते समय इसमें द्रवकार्य जल और दूध से (दूध और जल तेल से चार गुणे) करे, इस तैल को कान में डाले ॥३४,३५॥

सितामधुकबिम्बीभिः सिद्धं वाऽऽजे पयस्यपि ॥३६॥

बिम्बीक्वाथे विमथ्योष्णं शीतीभूतं सदुद्धृतम् ।

पुनः पचेद्दशक्षीरं सितामधुकचन्दनैः ॥३७॥

बिल्वाम्बुगाढं तत्तैलं बाधिर्ये कर्णपूरणम् ।

शर्करा, मुलैहठी और कन्दूरी इनके कल्क से बकरी के दूध में तैल पकाये। इस तैल को गरम-गरम कन्दूरी के क्वाथ में डालकर मलें। ठंडा होने पर जो ऊपर आ जाये, उसे निकालकर फिर से शर्करा, मुलैहठी, चन्दन इनके कल्क के साथ दसगुणे दूध में पकायें। इस तैल को बिल्व के क्वाथ से गाढ़ा बनाकर बधिरता में कान में भरे ॥३६,३७॥

वक्ष्यते यः प्रतिश्याये विधिः सोऽप्यत्र पूजितः ॥३८॥

प्रतिश्याय में जो विधि कहेंगे—वह भी यहाँ श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

वातव्याधिषु यश्चोक्तो विधिः स च हितो भवेत् ।

वातव्याधि में जो चिकित्सा कही है, वह भी यहाँ पर बरते ।

कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके ॥३९॥

समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि ।

कर्णस्राव, पूतिकर्ण और कृमिकर्ण में एक समान चिकित्सा करे, विशेषयोगों को भी इनमें बरते ॥३९॥

शिरोविरेचनं चैवं धूपनं पूरणं तथा ॥४०॥

प्रमार्जनं धावनं च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ।

राजवृक्षादितोयेन सुरसादिगणेन वा ॥४१॥

शिरोविरेचन, धूपन, कान में भरना, प्रमार्जन और प्रक्षालन इन कार्यों को राजवृक्षादि (आरग्वधादि) कषाय से या सुरसादि गण से-दोष, दूष्य, मल का विचार करके करे ॥

कर्णप्रक्षालनं कार्यं चूर्णैरेषां च पूरणम् ।

क्वाथं पञ्चकषायं तु कपित्थरसयोजितम् ॥४२॥

कर्णस्रावे प्रशंसन्ति पूरणं मधुना सह ।

सर्जत्वक्चूर्णसंयुक्तः कार्पासीफलजो रसः ॥४३॥

योजितो मधुना वाऽपि कर्णस्रावे प्रशस्यते ।

लाक्षा रसाञ्जनं सजश्चूर्णितं कर्णपूरणम् ॥४४॥

सशैवलं महावृक्षजम्ब्वाम्रप्रसवायुतम् ।

कुलीरशौद्रमण्डूकीसिद्धं तैलं च पूजितम् ॥४५॥

कान को धोने तथा कान में चूर्ण भरने में–पंचकषाय (तिन्दुकान्यभया आदि श्लोक में कहे) के क्वाथ में कैथ का रस मिलाकर, इनमें मधु डालकर कर्णस्राव में भरे। चीड़ के वृक्ष की छाल का चूर्ण, वनकार्पासी फल का रस, मधु इनको मिलाकर कान के स्राव में डालना उत्तम है। लाख, रसौत, राल इनका चूर्ण कान में भरना उत्तम है। सरवाल, थोर, जामुन, आम इनके कोमल पत्ते, लेकर इनका क्वाथ करे, इसमें कर्कटशृङ्गी, मधु और मण्डूकी (ब्राह्मी) इनका कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करे।

वक्तव्य—"कर्णप्रक्षालनं कार्यम्" इतना पद सुरसादि गणेन वा, इसके साथ जोड़ने से अर्थ ठीक हो जाता है ॥ ४२-४५ ॥

तिन्दुकान्यभया रोध्रं समङ्गाऽऽमलकं मधु ।

पूरणं चात्र पथ्यं स्यात्कपित्थरसयोजितम् ॥४६॥

तिन्दुक (तेंदू), हरड़, लोध, समंगा (लाजवती), आँवला, इनके चूर्ण में मधु और कैथ का रस मिलाकर कान में डालना उत्तम है। यह पंचकषाय चूर्ण है ॥४६॥

रसमाम्रकपित्थानां मधूकधवशालजम् ।

पूरणार्थं प्रशंसन्ति तैलं वा तैर्विपाचितम् ॥४७॥

प्रियङ्गुमधुकाम्बष्ठाधातकीशिलपर्णिभिः ।

मञ्जिष्ठालोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन वा ॥४८॥

पचेत्तैलं तदास्रावमवगृह्णाति पूरणात् ।

आम, कैथ, महुआ, धव और शाल इनका स्वरस अलग-अलग या मिलाकर अथवा इनसे सिद्ध किया तैल कान में डालना उत्तम है। प्रियंगु, मुलैहठी, पाठा, धातकी, मैनसिल, पृश्निपर्णी, मंजीठ, लोध ,लाख, इनसे या कैथ के रस से तैल सिद्ध करे। यह तैल कान में डालने से स्राव को बन्द करता है ॥४७,४८॥

घृष्टं रजाञ्जनं नार्याः क्षीरेण मधुसंयुतम् ॥४९॥

तत्प्रशस्तं चिरोत्थेऽपि स्रावे पूतिकर्णके ।

निर्गुण्डीस्वरसस्तैलं सिन्धुधूमरजो गुडः ॥५०॥

पूरणः पूतिकर्णस्य शमनो मधुसंयुतः ।

पुरातन कर्णस्राव या पूतिकर्ण में भी रसौत को धावन में घिसकर मधु मिलाकर डालना उत्तम है। निर्गुण्डी का स्वरस, तैल, सैन्धव, घर का धुंवासा, गुड़ और मधु इनको पूतिकर्ण में भरना उत्तम है ॥४९,५०॥

कृमिकर्णकनाशार्थं कृमिघ्नं योजयेद्विधिम् ॥५१॥

कृमिकर्ण में कृमिनाशक चिकित्सा करे।

वार्ताकुधूमश्च हितः सार्षपस्नेह एव च

सूखी बड़ी कटेरी का धुंवा कान में देना या सरसों का तेल कान में डालना उत्तम है ॥ ५१ ॥

कृमिघ्नं हरितालेन गवां मूत्रयुतेन च ॥५२॥

गुग्गुलोः कर्णदौर्गन्ध्ये धूपनं श्रेष्ठमुच्यते

छर्दनं धूमपानं च कवलस्य च धारणम् ॥५३॥

गोमूत्र में हरताल मिलाकर कान में डालना कृमिनाशक है। कान की दुर्गन्ध में गुग्गुल का धूपन उत्तम है। वमन, धूमपान, कवल धारण ये उत्तम हैं ॥५२,५३॥

कर्णक्ष्वेडे हितं तैलं सार्षपं चैव पूरणम्।

विद्रधौ चापि कुर्वीत विद्रध्युक्तं चिकित्सितम् ॥५४॥

कर्णक्ष्वेड में सरसों का तेल भरना उत्तम है। कर्ण विद्रधि में विद्रधि में कही चिकित्सा करे ॥५४॥

प्रक्लेद्य धीमांस्तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।

शोधयेत्कर्णविट्कं तु भिषक् सम्यक् शलाकया ॥५५॥

वैद्य कर्ण मैल को तैल से गीला करके, स्वेद से पिघलाकर, शलाका से बाहर निकाले ॥५५॥

नाडीस्वेदोऽथ वमनं धूमो मूर्धविरेचनम्।

विधिश्च कफहृत्सर्वः कर्णकण्डूमपोहति ॥५६॥

नाडीस्वेदन, वमन, धूमपान, शिरोविरेचन, और कफनाशक सब विधि-कर्णकण्डू को नष्ट करती है ॥५६॥

अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।

ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्राप्तां समाचरेत् ॥५७॥

कर्णप्रतिनाह में स्नेह और स्वेद बरते। शिरोविरेचन देकर जो उचित चिकित्सा हो वह करे ॥५७॥

कर्णपाकस्य भैषज्यं कुर्यात्पित्तविसर्पवत्।

कर्णपाक की चिकित्सा पित्त विसर्प की भांति करे।

कर्णच्छिद्रे वर्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा ॥५८॥

शृङ्गेणापहरेद्धीमानथवाऽपि शलाकया।

कान के छेद में कीड़ा या मल अथवा क्लेद होने पर इसको सींग से चूसकर या शलाका से बाहर निकाले ॥५८॥

शेषाणां तु विकाराणां प्राक् चिकित्सतमीरितम् ॥५९॥

अर्श, अर्बुद, शोफ इनकी चिकित्सा पहले कह दी है। वहां पर देख लें ॥

'शुष्कामलकशुण्ठीनां क्षारो हिंगुमहौषधम्।

शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रुरसांजनम् ॥

सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्।

भूर्जग्रन्थिविडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम्।

मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च।

सर्वैः एतैः यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत् ॥

बाधिर्यं कृमिनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः।

क्रमयः कर्णशूलं च पूरणादस्य नश्यति ॥

चरक ॥५९॥

इतिश्री सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गतशालाक्यतन्त्रे कर्णगतरोगप्रतिषेधो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो नासागतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नासागतरोगविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अपीनसः पूतिनस्यं नासापाकस्तथैव च।

तथा शोणितपित्तं च पूयशोणितमेव च ॥३॥

क्षवथुर्भ्रंशथुर्दीप्तो नासानाहः परिस्रवः।

नासाशोषेण सहिता दशैकाश्चेरिता गदाः ॥४॥

चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोफा सप्तार्बुदानि च।

प्रतिश्यायांश्च ये पञ्च वक्ष्यन्ते सचिकित्सिताः।

एकत्रिंशन्मितास्ते तु नासारोगाः प्रकीर्तिताः ॥५॥

अपीनस, पूतिनासा, नासापाक, रक्तपित्त, पूयरक्त, क्षवथु, भ्रंशथु, दीप्त, नासानाह, परिस्रव, नासाशोष, ये ११ नासा रोग हैं। इनके अतिरिक्त नासार्श (चार) नासाशोफ (चार) नासार्बुद (सात), प्रतिश्याय (पांच) भी नासारोग कहे जाते हैं जो कि चिकित्सा के साथ कहे जायेंगे—ये इकतीस नासारोग कहे गये हैं ॥३-५॥

आनह्यते यस्य विधूप्यते च

प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा।

न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-

र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ॥६॥

तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं

ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्।

जिस मनुष्य की नासा (श्वास लेते समय) रुकती है, जलती है, क्लिन्न रहती है, अथवा सूखी रहती है, जो मनुष्य गन्ध एवं रसों को (या केवल गन्ध को ही) नहीं पहचानता, उसे अपीनस रोग से युक्त जानना। यह रोग वायु और कफ से उत्पन्न होता है, इसके लक्षण प्रतिश्याय के समान होते हैं ॥६॥

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले

संवासितो यस्य समीरणस्तु ॥७॥

निरेतिपूतिर्मुखनासिकाभ्यां

तं पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम्।

जिस पुरुष के गले और तालु मूल में वायुविदग्ध दोषों से (रक्त, पित्त, कफ से) मिलकर उनकी विकृत गन्ध से युक्त बनकर दुर्गन्धित होकर मुख और नासिका से निकलता है, उस रोग को पूतिनास (पूतिनस्य) कहते हैं ॥७॥

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्या-
यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ॥८॥
तं नासिकापाकमिति व्यवस्ये-
द्विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ ।

नासा में स्थित पित्त जिस रोग में छोटी-छोटी फुंसियाँ पैदा कर दे, और जबर्दस्त पाक भी हो जाये, इस रोग को नासा-पाक कहते हैं। इसमें क्लेद (आर्द्रता) और कोथ (सड़ना) भी देखा जाता है ॥८॥

चतुर्विधं द्विप्रभवं द्विमार्गं
वक्ष्यामि भूयः खलु रक्तपित्तम् ॥९॥

वात, पित्त, कफ, सन्निपातजन्य चार प्रकार के, यकृत् और प्लीहा दो से उत्पन्न होनेवाले, ऊपर और नीचे दो मार्गों से होनेवाले रक्त पित्त को आगे विस्तार से कहूँगा।

वि० मन्तव्य—नासारन्ध्रों से निकलने बहने अथवा बूंद २ टपकनेवाले रक्त को 'नकसीर' कहते हैं। देखा गया है कि इस रोग में रक्तपित्त के पूर्वरूप एवं अन्य लक्षण नहीं होते और यदि हों तो उसे 'रक्तपित्त' ही मानना चाहिये परन्तु इस रक्त के दूषित होने की जिज्ञासा करने पर रक्तपित्त में वर्णित रक्तपित्त एवं जीव शोणित की विधि से ही परीक्षा करनी चाहिये ॥

वक्तव्य—द्विप्रभवम्–से स्निग्ध एवं रूक्ष भेद से या आमाशय और पक्वाशय भेद से दो प्रकार का मानते हैं ॥९॥

(तल्लक्षणं नासिकरक्तपित्तं
जानीहि नासाप्रभवप्रवृत्तम् ।)
दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तो-
र्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तु ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं
तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥१०॥

पित्त-रक्त की अधिकता से विदग्ध हुए दोषों के कारण या माथे पर आघात लगने के कारण रोगी की नासा से रक्त से मिश्रित पूय निकलती है, इस रोग को पूयरक्त कहते हैं ॥१०॥

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टे
यस्यानिलो नासिकया निरेति ॥११॥
कफानुयातो बहुशः सशब्द-
स्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ।

नासिका में स्थित, शृङ्गाटक मर्म के दूषित होने पर वायु, कफ से मिलकर बहुतवार शब्द के साथ नासिका से निकलती है, इस रोग को क्षवथु (छींक) कहते हैं। (संप्रदुष्टे के स्थान पर संप्रदुष्टः पाठ भी है जो ठीक है—अर्थात् घ्राणाश्रित मर्म में—दूषितवायु कफ से मिलकर शब्द के साथ बाहर आती है) ॥११॥

तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा
भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ॥१२॥
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्म-
ण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ।

तीक्ष्ण (मरिच-लाल मरिच आदि) वस्तुओं के खाने से, या इतर आदि वस्तुओं के बहुत सूँघने से, कटु वस्तुओं (तम्बाकू सूंघनी आदि) के सूंघने से, सूर्य को देखने से, नाक में धागा आदि डालने से (जैसा कि नेति में करते हैं), तरुणास्थि या मर्म के विक्षोभ से, आगन्तुज छींक आती है ॥१२॥

प्रभ्रश्यते नासिकयैव यश्च
सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ॥१३॥
प्राक् संचितो मूर्धनि पित्ततप्त-
स्तं भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति ।

शिर में पहले संचित हुआ घट्ट, विदग्धलवण, कफ, पित्त की गरमी से नासा से ही जिस रोगी में नीचे बहता है, इस रोग को भ्रंशथु कहते हैं। (मुख से नहीं आता)।

वि० मन्तव्य—भ्रंशथु—इस रोग में सींढ़ अधिक आता है फलतः शिर की दुर्बलता का अनुभव होता है ॥१३॥

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु
विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः ॥१४॥
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-
र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ।

अति जलन युक्त नासा से धूम के समान जिसमें वायु बाहर आती हो, रोगी की नासा जलती हुई सी रहती हो, इस रोग को दीप्त कहते हैं ॥१४॥

कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो
यदा स्वमार्ग विगुणः स्थितः स्यात् ॥१५॥
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो
नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः ।

उदान संज्ञक वायु कफ से मिलकर अपने मार्ग में जब विकृत होकर स्थित हो जाता है, और नासिका को बन्द कर देता है, तब इस रोग को नासा प्रतिनाह कहते हैं ॥१५॥

अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं
यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा ॥१६॥
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं
नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ।

जिस रोगी की नासा से निरन्तर, स्वच्छ, पानी के समान, बिना किसी विशेष रंग का स्राव बहता रहता है, विशेषकर यह स्राव रात्रि में होता है (शीत समय में), इस रोग को नासा परिस्राव कहते हैं ॥१६॥

घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन
पित्तेन गाढं परिशोषिते च ॥१७॥

समुच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्रा-
यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः ।

नासिका में स्थित कफ के वायु और पित्त से अतिशय रूप सुखाये जाने से; रोगी कठिनाई से ऊपर और नीचे श्वास लेता है, इस रोग को नासापरिशोष कहा है ॥१७॥

दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च
ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथव शोफान् ॥१८॥
शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि
सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु ।

वातादि तीन दोषों से अलग-अलग, तथा सन्निपात से, चार प्रकार के अर्श एवं चार प्रकार के शोफ होते हैं । शालाक्य सिद्धान्त के विचार से निदानोक्त छः अर्बुदों के सिवाय सन्निपातजन्य भी सातवाँ अर्बुद होता है ॥१८॥

रोगः प्रतिश्याय इहोपदिष्टः
स वक्ष्यते पञ्चविधः पुरस्तात् ॥१९॥

यहाँ पर जो पाँच प्रकार का प्रतिश्याय कहा है, उसे आगे कहेंगे ॥१९॥

(नासास्रोतोगता रोगास्त्रिंशदेकश्च कीर्तिताः ।
स्रोतःपथे यद्विपुलं कोशवच्चार्बुदं भवेत् ॥२०॥)

(इस प्रकार से नासास्रोत के इकतीस रोग यहाँ कह दिये हैं । नासारन्ध्र में जो बड़ा सा कोश जैसा होता है वह अर्बुद कहलाता है ॥२०॥)

निदानेऽर्शांसि निर्दिष्टान्येवं तानि विभावयेत् ॥२१॥
शोफास्तु शोफविज्ञाना नासास्रोतोऽव्यवस्थिताः ।

नासास्रोत में व्यवस्थित शोफ को शोफ के लक्षणों से, और अर्श को निदान में कहे लक्षणों से पहचानना चाहिये ॥२१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
नासागतरोगविज्ञानीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातो नासागतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब नासागत रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

पूर्वोद्दिष्टे पूतिनस्ये च जन्तोः
स्नेहस्वेदौ छर्दनं स्रंसनं च ।
युक्तं भक्तं तीक्ष्णमल्पं लघु स्या-
दुष्णं तोयं धूमपानं च काले ॥३॥

अपीनस और पूतिनास में रोगी को स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन देवे । तीक्ष्ण, अल्प एवं लघुभोजन भोजन समय में देवे । पीने को गरमपानी तथा धूमपान काल में धूमपान कराये ॥३॥

हिङ्गु व्योषं वत्सकाख्यं शिवाटी
लाक्षा बीजं सौरभं कट्फलं च ।
उग्रा कुष्ठं तीक्ष्णगन्धा विडङ्गं
श्रेष्ठं नित्यं चावपीडे करञ्जम् ॥४॥

हींग, त्रिकटु, इन्द्रजौ, श्वेत पुनर्नवा (शेफालिका), लाख, तुलसी के बीज, कट्फल, बच, कूठ, सुहांजना, वायविडंग, करंज, इनका नित्य प्रति अवपीड़न के रूप में नस्य देवे ॥४॥

एतैर्द्रव्यैः सार्षपं मूत्रयुक्तं
तैलं धीमान्नस्यहेतोः पचेत ।

इन्हीं द्रव्यों से गोमूत्र के साथ सरसों का तेल नस्य के लिये बुद्धिमान वैद्य बनाये ।

नासापाके पित्तहृत्संविधानं
कार्यं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरं च ॥५॥
हृत्वा रक्तं क्षीरवृक्षत्वचश्च
साज्याः सेका योजनीयाश्च लेपाः ।

नासापाक में बाह्य एवं अन्तः उपचार पित्तनाशक चिकित्सा सम्पूर्ण रूप मे करे । रक्त को निकालकर बरगद आदि क्षीरीवृक्षों की छाल घी के साथ मिलाकर लेप में और परिषेक में बरतनी चाहिये । (बाह्य उपचार—लेप, अभ्यंग, परिषेकादि, आभ्यन्तर—आहार, स्नेहपान, विरेचनादि) ॥५॥

वक्ष्याम्यूर्ध्वं रक्तपित्तोपशान्ति

नासा रक्त पित्त की चिकित्सा आगे रक्त पित्त प्रतिषेध में (नासावृत्ते जलमाशु देयं आदि) कहेंगे ।

नाडी वस्यात् पूयरक्ते चिकित्सा ॥६॥

पूयरक्त में चिकित्सा—(विसर्पनाडी स्तन रोग में कही) नाडी व्रण की चिकित्सा करे ॥६॥

वान्ते सम्यक् चावपीडं वदन्ति
तीक्ष्णं धूमं शोधनं चात्र नस्यम् ।

पूयरक्त में भली प्रकार वमन होने पर अवपीड़न नस्य देवे, तीक्ष्णधूम, शोधन नस्य देवे ॥

क्षेप्यं नस्यं मूर्धवैरेचनीयै-
र्नाड्या चूर्णं क्षवथौ भ्रंशथौ च ॥७॥
कुर्यात् स्वेदान् मूर्ध्नि वातामयघ्नान्
स्निग्धान् धूमान् यद्यदन्यद्धितं च ।

क्षवथु और भ्रंशथु रोग में—प्रधमन नस्यनाडी से देवे, शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नासा में फूंके । प्रधमन नस्य एवं चूर्णों से कफ कम हो जाने पर वातरोग नाशक स्वेद शिरपर देवे । स्निग्धधूम तथा अन्य जो हितकारी (शिरोवस्ति आदि) हो वह करे ॥७॥

दीप्ते रोगे पैत्तिकं संविधानं
कुर्यात् सर्वं स्वादु यच्छीतलं च ॥८॥

दीप्त रोग में पित्त चिकित्सा एवं मधुर एवं शीतल चिकित्सा सम्पूर्ण रूप में करे ॥८॥

नासानाहे स्नेहपानं प्रधानं
स्निग्धा धूमा मूर्धबस्तिश्च नित्यम् ।
बलातैलं सर्वथैवोपयोज्यं
वातव्याधावन्यदुक्तं च यद्यत् ॥९॥

नासानाह में स्नेह पान (भोजन के पीछे) उत्तम है, स्नेहनधूम, शिरोबस्ति (साल्वण उपनाह आदि) प्रशस्त है। बला तैल पान, अभ्यंग, शिरोविरेचन आदि सब कामों में बरते, एवं वातव्याधि में कहे दूसरे अणुतैल आदि भी बरते ।९।

नासास्रावे घ्राणतश्चूर्णमुक्तं
नाड्या देयं योऽवपीडश्च तीक्ष्णः ।
तीक्ष्णं धूमं देवदार्वग्निकाभ्यां
मांसं वाऽऽजं युक्तमत्रादिशन्ति ॥१०॥

नासास्राव में शिरोविरेचन द्रव्यों का चूर्ण नाक से देवे, तीक्ष्ण अवपीड़न को (हिंगुव्योषं वत्सकाख्यं) नाड़ी से नाक में दे। देवदारु, चित्रक से तीक्ष्ण धूम देवे, भोजन में बकरी का मांस उपयोगी है ॥१०॥

नासाशोषे क्षीरसर्पिः प्रधानं
सिद्धं तैलं चाणुकल्पेन नस्यम् ।
सर्पिःपानं भोजनं जाङ्गलैश्च
स्नेहः स्वेदः स्नैहिकश्चापि धूमः ॥११॥

नासाशोष में दूध से निकाला घी श्रेष्ठ है। अणुकल्पना (अणुतैलविधि-वातव्याधि में कही है) से बनाया तैल नस्य में देवे। भोजन के साथ घृतपान, जांगल मांस के साथ भोजन, स्नेहन करे, स्वेद देवे, स्नैहिकधूम (मधूच्छिष्टादि) बरते ॥११॥

शेषान् रोगान् घ्राणजान् सन्नियच्छे-
दुक्तं तेषां यद्यथा संविधानम् ॥१२॥

नासाजन्य शेषरोगों की (अर्बुद, शोफ, अर्श की) चिकित्सा, उनको अपनी अपनी चिकित्सा के अनुसार करे।१२।

इतिश्री सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
नासारोगप्रतिषेधो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः प्रतिश्यायप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे प्रतिश्यायप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे— जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो
धूमो रजः शीतमतिप्रतापः ।
संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च
सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ॥३॥

निदान—अतिशय स्त्रीसंग से, शिर में अभिताप पीड़ा होने से (धुवें से धूप आदि से), शीतल वस्तुओं से अतिसेवन से या सिर पर शीत लगने से, मल-मूत्र के रोकने के तुरन्त प्रतिश्याय उत्पन्न होता है ॥३॥

चयं गता मूर्धनि मारुतादयः
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणै-
र्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥४॥

शिर में—वातादि तीनों दोष और रक्त पृथक्-पृथक् या समस्त रूप में एकत्रित होकर नानाप्रकार के प्रकोप कारणों से प्रकुपित किये हुए मनुष्यों में प्रतिश्यायरोग उत्पन्न करते हैं ॥४॥

शिरोगुरुत्वं क्षवथोः प्रवर्तनं
तथाऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता ।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा
नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥५॥

पूर्वरूप शिर में भारीपन, छींकें आना, अंगों का टूटना, रोमांचता, अन्य दूसरे नानाप्रकार के उपद्रव, (ज्वर, अरोचक आदि), प्रतिश्याय के आगे होनेवाले पूर्वरूप हैं ॥५॥

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रवर्तिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥६॥
स्वरोपघातश्च भवेत्प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ।

वातजन्यप्रतिश्याय—नाकरुकी हुई तथा श्वास में रुकावट होती है, इसमें पतला स्राव होता है, गला तालु और ओंठ सूखा रहता है, शंख प्रदेशों में चुभने की सी दर्द होती है, स्वर बैठ जाता है ।।६।।

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ॥७॥
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत्तृष्णानि (भि) पीडितः ।
सधूमं सहसा वह्निं वमतीव च मानवः ॥८॥

पित्तजप्रतिश्याय में—नासा से गरम, पीलास्राव बहता है, रोगी कृश, अतिपाण्डुवर्ण (फीका), उष्णस्पर्शवाला, तथा प्यास से पीड़ित रहता है। नासा से अचानक धूमयुक्त आग निकलती प्रतीत होती है ॥७,८॥

कफः कफकृते घ्राणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः ।
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद्गुरुशिरोमुखः ॥९॥
शिरोगलौष्ठताल्वूनां कण्डूयनमतीव च ।

कफजन्यप्रतिश्याय में—नासिका से, श्वेत, शीतल, कफ बार-बार बहता है, रोगी का दिखाव श्वेत रहता है, आँखें भारी, शिर-मुख में भारीपन, शिर, गला, तालु और ओंठ में खाज का अनुभव होता है ॥९॥

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो योऽकस्माद्विनिवर्तते ॥१०॥
संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ।
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे ॥११॥

जो प्रतिश्याय बार-बार होकर अचानक स्वयं शान्त पड़ जाता है, पका हुआ हो या अपक्व हो, उसे सन्निपातज कहते

हैं। सन्निपातजन्य प्रतिश्याय में सब पीनसों के (प्रतिश्यायों के) लक्षण रहते हैं ॥१०,११॥

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ॥१२॥
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
मूर्च्छन्ति चात्र क्रमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः १३
कृमिमूर्धविकारेण समानं चास्य लक्षणम् ।

रक्तजन्यप्रतिश्याय में नासा से लाल स्राव (रक्त का आना) होता है। रोगी की आँखें सुर्ख हो जाती है, उसे उरोघात की पीड़ा रहती है, श्वास और मुख में दुर्गन्ध, रोगी गन्ध को नहीं पहचानता। इसमें श्वेत, स्निग्ध, सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, कृमिजन्यशिरोरोग के समान लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—"उरःक्षतं गुरुस्तब्धं पूतिपूर्णकफोरसः। सकासः सज्वरो ज्ञेयः उरोघातः सपीनसः ॥" यह लक्षण प्रायः छाती के क्षय में मिलता है।

वि० मन्तव्य—उरोघातः—उरःक्षत जनित राजयक्ष्मा ही है। प्रतिश्यायात् अथो कासः कासात् सञ्जायते क्षयः। च० नि० अ० ८। रक्तज प्रतिश्याय के अनन्तर यक्ष्मा प्रायः हो जाता है। कृमि—जौ के समान आकारवाले श्वेत एवं काले मुखवाले होते हैं, कोई २ तो मोटे पुष्ट जौ से भी बड़े एवं पुष्ट होते हैं, प्रारम्भ में नासा से गिरते हैं, २–३ दिन के पश्चात् तालु में छिद्र हो जाता है या उक्त कृमि ही खा खाकर छिद्र कर डालते हैं, उस छिद्र में से वे मुख में गिरने लगते हैं, नासा के अर्द्ध छिद्र से कण्ठ में गिरते हैं यह दशा बड़ी ही करुणा जनक होती है। परन्तु वैद्य को घबराना नहीं चाहिये। उचित चिकित्सा करने पर सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं और तालु का छिद्र भी ५–७–१० दिन में रोपित हो जाता है॥

प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥१४॥
मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ।
निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेत्ति च ॥१५॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् ।
सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ॥१६॥
कालेन रोगजनना जायन्ते दुष्टपीनसाः ।
बाधिर्यमान्ध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान् ।
कासाग्निसादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥१७॥

दुष्टप्रतिश्याय—नासिका कभी तो गीली रहती है, और कभी सूख जाती है, कभी खुली रहती है और कभी बन्द हो जाती है। श्वास, प्रश्वास में दुर्गन्धि रहती है, रोगी गन्ध को नहीं पहचानता। इन लक्षणों से दुष्ट प्रतिश्याय को पहचाने, यह कष्टसाध्य है। इसमें—

"अरुचिर्विरसं वक्त्रं नासास्रावो रुजाऽरतिः ।
शिरोगुरुत्वं क्षवथुः ज्वरश्चामस्य लक्षणम् ॥
तनुत्वमामलिंगानां शिरोनासास्यलाघवम् ।
घनपीनकफत्वं च पक्वपीनसलक्षणम् ॥

स्राव जब पतला-बहता रहे उसे प्रतिश्याय, जब पुराना, घन हो जाये उसे पीनस कहते हैं।

वि० मन्तव्य—दुष्टप्रतिश्याय—इसी का प्रसिद्ध नाम है "बिगड़ा हुआ जुकाम" ॥१४–१७॥

नवं प्रतिश्यायमपास्य सर्वे-
मुपाचरेत् सर्पिष एव पानैः ।
स्वेदैर्विचित्रैर्वमनैश्च युक्तैः
कालोपपन्नैरवपीडनैश्च ॥१८॥

नूतनप्रतिश्याय को छोड़कर शेष सब प्रतिश्यायों में घी का ही पान करावे। नाना प्रकार के स्वेद देवे, युक्ति से वमन और अवपीडन नस्य देवे।

घृतपान का कारण—"पीनसानां च सर्वेषां हेतुर्यस्मात् समीरणः। कफपित्ताधिकेऽप्यस्मात् मारुतं समुपक्रमेत् ॥" तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाणमुपाचरेदादित एव धीमान्। घृतं सहिंग्वम्लकटूष्णसिद्धैः स्वेदैः विचित्रैः वमनैश्च तीक्ष्णैः ॥ कटुत्रिकं चित्रकतिन्तिडीकं तालीशपत्रं चविकाम्लसंज्ञम्। विचूर्णितं जीरकचूर्णयुक्तमेलाच्छदत्वक् सुरभीकृतं च। मिश्रं पुराणेन गुडेन दद्यात् तत् पीनसानां परिपाचनार्थम्। पक्वं गुडं चापि कटुत्रिकेण घृतप्रगाढं प्रलिहेत् सुखोष्णम् ॥ सर्पिर्गुडाभ्यां कटुकैश्च पक्वान् खादेच्च शक्तूनपिनातिशीतान्। गुडाधिकं चार्द्रकमादिशन्ति शुक्तोषितं तत् परिपाचनार्थम्। शिरोविरेकं वमनं च केचिदामेन दातव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ संस्कृत में सूक्ति है "गुडेनवर्धितःश्लेष्मा सुखं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥" गुड़ से बढ़ाया कफ मुख से निकाला जा सकता है ॥१८॥

अपच्यमानस्य हि पाचनार्थं
स्वेदो हितोऽम्लैरहिमं,च भोज्यम् ।
निषेव्यमाणं पयसाऽऽर्द्रकं वा
संपाचयेदिक्षुविकारयोगैः ॥१९॥

अपक्व प्रतिश्याय को पकाने के लिये स्वेद देवे, अम्ल और उष्ण वस्तुओं का भोजन देवे। दूध के साथ आर्द्रक या ईख की बनी वस्तुओं (गुड़ आदि से) से इसको पकाये। (दूध से सोंठ खाये)।

इसके आगे—"ग्राम्याणि मांसानि दधीनि मद्यं माषान् कुलत्थान् लवणं कटूनि। अम्लं तथा चामलकमूलकं च तथा घनत्वं तरुणः प्रयाति ॥" यह भी पाठ है ॥१६॥

पक्वं घनं चाप्यवलम्बमानं
शिरोविरेकैरपकर्षयेत्तम् ।
विरेचनास्थापनधूमपानैः
स्वेदय दोषान् कवलग्रहैश्च ॥२०॥

जो कफ पक गया हो, घट्ट हो गया हो, नीचे लटकता हो, उस कफ को शिरोविरेचनों से खींचे। दोषों को देखकर विरेचन, आस्थापन, धूम, नस्य और कवलग्रह बरते ॥२०॥

निवातशय्यासनचेष्टनानि
मूर्ध्नो गुरूष्णं च तथैव वासः।
तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा
रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या ॥२१॥

और वायुरहित घर में बैठना उठना, सोना, रहना करे, शिर को गरम एवं भारी वस्त्र से लपेटा रहे। तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवे, धूमपान करे। रूक्ष एवं जौ का तथा हरड़ का सेवन करे ॥२१॥

शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाह-
चिन्तातिरूक्षाशनवेगरोधान्।
शोकं च मद्यानि नवानि चैव
विवर्जयेत् पीनसरोगजुष्टः ॥२२॥

शीतल पानी, स्त्रीसंग, शिर के साथ स्नान, चिन्ता, अतिरूक्षभोजन, उपस्थित वेगों को रोकना, शोक, नूतन बनाये मद्य, इनका पीनस रोगी सेवन न करे ॥२२॥

छर्द्यङ्गसादज्वरगौरवार्त-
मरोचकारत्यतिसारयुक्तम्।
विलङ्घनैः पाचनदीपनीयै-
रुपाचरेत् पीनसिनं यथावत् ॥२३॥

वमन, अंगों का टूटना, ज्वर, भारीपन, अरोचक, बेचैनी या अतिसार से पीड़ित पीनस रोगी की चिकित्सा लंघन से, दीपन-पाचन रोगों से, रोगों के अनुसार करे ॥२३॥

बहुद्रवैर्वातकफोपसृष्टं
प्रच्छर्दयेत् पीनसिनं वयःस्थम्।
उपद्रवांश्चापि यथोपदेशं
स्वैर्भेषजैर्भोजनसंविधानैः ॥
जयेद्विदित्वा मृदुतां गतेषु
प्राग्लक्षणेषूक्तमथादिशेच्च ॥२४॥

तरुण पीनस रोगी यदि वात, कफ से युक्त हो तो उसे अतिशय द्रववाले वमनों से वमन कराये। कथनानुसार उपद्रवों की उनकी अपनी औषधियों से भोजनों की कल्पना से चिकित्सा करे। दोषों को कोमल हुआ जानकर (घट जाने पर) आमप्रतिश्याय के लक्षणों में उनकी कही चिकित्सा करे ॥२४॥

वातिके तु प्रतिश्याये पिबेत् सर्पिर्यथाक्रमम्।
पञ्चभिर्लवणैः सिद्धं प्रथमेन गणेन च ॥२५॥
नस्यादिषु विधिं कृत्स्नमवेक्षेतार्दितेरितम्।

वातिक प्रतिश्याय में—स्नेहपानविधि से पाँचों नमक से सिद्ध या विदार्यादि प्रथमगण से सिद्ध घृत को पिये। नस्य आदि में अर्दित रोग की सम्पूर्ण चिकित्सा को करे ॥२५॥

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥२६॥
परिषेकान् प्रदेहांश्च कुर्यादपि च शीतलान्।
श्रीसर्जरसपत्तंगप्रियङ्गुमधुशर्कराः ॥२७॥
द्राक्षामधूलिकागोजीश्रीपर्णीमधुकैस्तथा।
युज्यन्ते कवलाश्चात्र विरेको मधुरैरपि ॥२८॥

पित्त-रक्तजन्य प्रतिश्याय में—काकोल्यादि गण से सिद्ध घृत पिये। शीतल परिषेक, शीतल प्रदेह करे। राल, श्री (श्रीवेष्टक विरोजा), लालचन्दन, प्रियंगु, मधु, शर्करा, द्राक्षा, मधूलिका (गिलोय) गाजवां, गम्भारी, मुलैहठी इनसे सिद्ध घृत देवे। मधुर द्रव्यों से कवल और विरेचन देवे ॥२६-२८॥

धवत्वक्त्रिफलाश्यामातिल्वकैर्मधुकेन च।
श्रीपर्णीरजनीमिश्रैः क्षीरे दशगुणे पचेत् ॥२९॥
तैलं कालोपपन्नं तन्नस्यं स्यादनयोर्हितम्।

धवन की छाल, त्रिफला, कालीनिशोथ, तिल्वक, (लोध) मुलैहठी, गम्भारी, हल्दी, इनसे, (तैल से) दस गुणे दूध में तैल सिद्ध करे। निराम हो जाने पर पित्त-रक्तजन्य प्रतिश्याय में इससे नस्य देवे ॥२९॥

कफजे सर्पिषा स्निग्धं तिलमाषविपक्वया ॥३०॥
यवाग्वा वामयेद्वान्तः कफघ्नं क्रममाचरेत्।
उभे बले बृहत्यौ च विडंगं सत्रिकण्टकम् ॥३१॥
श्वेतामूलं सदाभद्रां वर्षाभूं चात्र संहरेत्।
तैलमेभिर्विपक्वं तु नस्यमस्योपकल्पयेत् ॥३२॥
सरलाकिणिहीदारुनिकुम्भेङ्गुदिभिः कृताः।
वर्तयश्चोपयोज्याः स्युर्धूमपाने यथाविधि ॥३३॥

कफजन्य प्रतिश्याय में—रोगी को घी से स्निग्ध करके, तिल और उड़द से बनाई यवागू से वमन कराये और वमन के पीछे कफनाशक अन्न संसर्जन (पेया आदि) विधि बरते। बला, अतिबला, कटेरी, बड़ी कटेरी, वायविडंग, त्रिकटु, अपराजितामूल, गम्भारी, पुनर्नवा इनसे सिद्ध किया तैल इस रोगी को नस्य में देवे। चीड़, चिरचिटा, देवदारु, दन्ती, हिंगोट इनसे बनाई वर्त्तियाँ विधिपूर्वक धूमपान में बरतनी चाहिये ॥३०-३३॥

सर्पींषि कटुतिक्तानि तीक्ष्णधूमाः कटूनि च।
भेषजान्युपयुक्तानि हन्युः सर्वप्रकोपजम् ॥३४॥
रसाञ्जने सातिविषे मुस्तायां भद्रदारुणि।
तैलं विपक्वं नस्यार्थे विदध्याच्चात्र बुद्धिमान् ॥३५॥

कटु-तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत, तीक्ष्णधूम, कटु औषधियों का उपयोग सन्निपातजन्य प्रतिश्याय को नष्ट कर देता है। इस प्रतिश्याय में बुद्धिमान् वैद्य-रसौत, अतीस, मुस्ता, देवदारु से सिद्ध तैल नस्य के लिये बरते ॥३४,३५॥

मुस्ता तेजोवती पाठा कट्फलं कटुका वचा।
सर्षपाः पिप्पलीमूलं पिप्पल्यः सैन्धवाग्निकौ ॥३६॥

तुत्थं करजबीजं च लवणं भद्रदारु च ।
एतैः कृतं कषायं तु कवले संप्रयोजयेत् ॥३७॥
हितं मूर्धविरेके च तैलमेभिर्विपाचितम् ।

मुस्ता, तेजबल, पाठा, कट्फल, कटुकी, बच, सरसों, पिप्पलीमूल, पिप्पली, सैन्धव, चित्रक, तुत्थ, करंजबीज, सैन्धव, देवदारु इनका कषाय कवल में बरते । इनसे सिद्ध किया तेल शिरोविरेचन में बरते ॥३६,३७॥

क्षीरमर्धजले क्वाथ्यं जाङ्गलैर्मृगपक्षिभिः ॥३८॥
पुष्पैर्विमिश्रं जलजैर्वातघ्नैरौषधैरपि ।
हिमे क्षीरावशिष्टेऽस्मिन् घृतमुत्पाद्य यत्नतः ॥३९॥
सर्वगन्धसितानन्तामधुकं चन्दनं तथा ।
आवाप्य विपचेद्भूयो दशक्षीरं तु तद्घृतम् ॥४०॥
नस्ये प्रयुक्तमुद्रिक्तान् प्रतिश्यायान् व्यपोहति ।
यथास्वं दोषशमनैस्तैलं कुर्याच्च यत्नतः ॥४१॥

दूध में आधा पानी मिलाकर, जांगल पशु-पक्षियों के मांसों से कमल आदि जलजन्य पुष्पों से विदारिगन्धादि वातनाशक द्रव्यों से पकाना चाहिये । जब केवल दूध मात्र रह जाये, तब इसे मथकर युक्ति से घी निकाल ले । इस घृत में दसगुणा दूध, एलादिगण के सुगन्धित द्रव्य, शर्करा, सारिवा, मुलैहठी, चंदन का प्रक्षेप देकर घृत करे । यह घृत नस्य में बरतने पर बढ़े हुए प्रतिश्यायों को नष्ट कर देता है । दोषों के अपने अनुसार वात-पित्त-कफहर द्रव्य समूहों से तैल को विधिपूर्वक बनाये ॥३८-४१॥

समूत्रपित्ताश्चोद्दिष्टाः क्रियाः क्रिमिषु योजयेत् ।
यापनार्थं क्रिमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान् ॥४२॥

क्रिमिनाशक जो चिकित्सा कही है, उसे मूत्र और पित्त के साथ मिलाकर, तथा सुरसादिगण क्रिमिघ्ननाशक चिकित्सा को कृमिरोग के यापना के लिये बुद्धिमान् बरते ॥४२॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे प्रतिश्यायप्रतिषेधो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शिरोरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शिरोरोग विज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में शिर के भीतरी रोगों का वर्णन है शिर के बाहरी रोग अरुंषिका आदि का वर्णन क्षुद्र रोगों में किया गया है । इस प्रकरण में रोग शब्द का तात्पर्य केवल "वेदना" शूल या दर्द से है । शिरः शूलके ही निम्नलिखित ११ भेद हैं ॥१,२॥

शिरो रुजति मर्त्यानां वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥३॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ।
एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥४॥

वात, पित्त, कफ, इन तीन से, सन्निपात से, रक्त के क्षय से, क्रिमियों से, सूर्यावर्त्त, अनन्त वात, अर्धावभेदक, शंखक से इन ग्यारह प्रकार से शिर में वेदना होती है, इसके लक्षणों को कहेंगे । ३-४ चरक—

"पृथग् दृष्टास्तु ये पंच संग्रहे परमर्षिभिः ।
शिरोगदांस्तान् शृणु मे यथास्वैः हेतुलक्षणैः ।
संधारणात् दिवास्वप्नात् रात्रौ जागरणात् मदात् ।
उच्चैः भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात् ॥
गन्धादसात्म्यादाघ्रातात् रजोधूमहिमातपात् ।
गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात् ॥
शिरोभिघातात् दुष्टाभात् रोदनात् वाष्पनिग्रहात् ।
वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं प्रदुष्यति ॥

सूर्यावर्त्त का विपरीत सूर्यावर्त्तक विपर्यय भी एक रोग है—यथा—"तत्र वातानुगं पित्तं चित्तं शिरसि तिष्ठति । मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद् विवृद्धं शिरोरुजम् । करोति पैत्तिकीं घोरां संक्षाम्यति दिनक्षये । अस्तं गते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते । पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना । एषपित्तानिलकृतः सूर्यावर्त्तविपर्ययः ॥ "दूसरे—" वातपित्तात् पुरो जाता रुजाऽप्यैत्यपराह्नतः । सूर्यावर्त्तः सतु प्रोक्तो विपरीते विपर्ययः ॥"—जिस प्रकार चातुर्थक ज्वर का चातुर्थक विपर्यय ज्वर होता है, उसी प्रकार सूर्यावर्त्त का सूर्यावर्त्तकविपर्यय होता है । कई लोग शीर्षक एक रोग मानते हैं—यथा—"आक्षुभ्यते कम्पति चापि मूर्धा, सर्पन्ति मध्ये च पिपीलका वा । स्कन्धः शिरश्चाप्यवघूर्णते च मूर्च्छा प्रलापश्च तथैव निद्रा ॥ संज्ञाप्रकाशं जनयेद् विनिद्रां प्रातस्ततः पश्यति चातिचित्रम् । गृह्णाति मन्ये हृदयं च रूपैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतस्तु । तिस्रोहिरात्रिर्नसजातु जीवेत् तं शीर्षकं नैप्रवदन्ति रोगम् ॥" डल्हन टीका से उद्धृत ।

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च
भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम् ।
बन्धोपतापैश्च भवेद्विशेषः
शिरोभितापः स समीरणेन ॥५॥

जिस पुरुष में बिना किसी कारण के या थोड़े से भी कारण से शिर में दर्द हो जाता है, और रात में बहुत अधिक बढ़ जाता है, बांधने या सेकने से जो घट जाता हो, वह शिरोरोग वायु के कारण से होता है ॥५॥

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव
दह्येत धूप्येत शिरोक्षिनासम् ।

शीतेन रात्रौ च भवेद्विशेषः
शिरोभितापः स तु पित्तकोपात् ॥६॥

जिस रोगी का शिर गरम, अङ्गारों से भरा जैसा (उष्ण) हो, शिर, आंख, नाक जलती हो या धुंए के समान धुआं सा निकलता प्रतीत हो, शीतोपचार से या रात्रि में जो घट जाता हो, वह शिरोरोग पित्त के प्रकोप से होता है ॥६॥

शिरोगलं यस्य कफोपदिग्धं
गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च ।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य
शिरोभितापः स कफप्रकोपात् ॥७॥

जिस रोगी का शिर और गला कफ से भरा हुआ हो, भारी एवं स्थिर तथा ठण्डा हो, अक्षिकूट और मुख पर सूजन हो, यह शिरोरोग कफ के प्रकोप से होता है ॥७॥

शिरोभितापे त्रितयप्रवृत्ते
सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

सन्निपातशिरोरोग में तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः
स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥८॥

रक्तजन्यशिरोरोग में पित्तज शिरोरोग के समान लक्षण रहते हैं, स्पर्श को सहन नहीं करता (इसमें आवाज भी रोगी सहन नहीं करता--बोलना अच्छा नहीं लगता) ॥८॥

वसाबलासक्षतसंभवानां
शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः
कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ॥९॥
संस्वेदनच्छर्दन धूमनस्यै-
रसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ।

आघात के कारण शिर में से वसा, कफ (देह स्नेह, मस्तिष्क-मेद-मज्जा आदि) के क्षीण हो जाने से, क्षयजन्य शिरोरोग होता है, इसमें अतिशय तीव्रवेदना रहती है । यह वेदना स्वेदन, वमन, धूम, नस्य, रक्तमोक्षण आदि से बढ़ जाती है ॥९॥

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं
संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ॥१०॥
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सरक्तं
शिरोभितापः कृमिभिः स घोरः ।

जिस रोगी के शिर में अतिशय तीव्र वेदना होती हो (चुभती हुई वेदना) शिर के अन्दर खाने के समान या स्फुरण (रेंगने के--चलने के) समान अनुभव होता हो, नाक से ईषत् रक्त मिला पानी बहता हो, यह शिरोरोग कृमिजन्य होता है चरक में—

तिलक्षीरगुडाजीर्णपूति संकीर्ण भोजनात् ।
क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते ।
ततःशिरसि संक्लेदात् कृमयःपापकर्मणः ।
जनयन्ति शिरोरोगं जाताबीभत्सलक्षणाः ।
व्यधच्छेदरुजाकण्डू शोफदौर्गन्ध्यदुःखितम् ॥
कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां दर्शनेन च॥

वि० मन्तव्य—देखिये अ० २४ के श्लो० १३ का वक्तव्य ॥१०॥

सूर्योदयं वा प्रति मन्दमन्दा-
मक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढम् ॥११॥
विवर्धते चांशुमता सहैव
सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ।
शीतेन शान्तिं लभते कदाचि-
दुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च ॥१२॥
तं भास्करावर्तमुदाहरन्ति
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम् ।

सूर्योदय के साथ-साथ धीरे-धीरे—आंख, भ्रुवों से मन्द-मन्द वेदना आरम्भ होकर सूर्य के बढ़ने के साथ साथ तीव्र होती जाती हो, तथा सूर्य के घटने पर शान्त होती हो, तथा कभी कभी शीतल उपचार से और कभी उष्ण उष्ण उपचार से रोगी को सुख मिलता हो, इस वेदना को सूर्यावर्त्त कहते हैं। यह रोग सन्निपातजन्य और अतिकष्टदायक है। (गरम से शान्ति सूर्यावर्त्तविपर्यय में होती है) ॥

वक्तव्य—रात में क्यों दर्द नहीं होता—"स्वभाव शीता तमसोऽभिमूला रात्रिस्तयोद्भूतकफेन मार्गे। रुद्धे मरुत्कोपमियात् प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोभितापे। मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने। स्वमार्गमायाति तदा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त्त इहार्क पूर्वे ॥" चरक में—सि० अ० ९

संधारणात् अजीर्णाद्यैः मस्तिष्कं रक्तमारुतौ ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्छितम् ॥
सूर्योदयांशुसंतापात् दुष्टं विष्यन्दते शनैः ।
ततो दिने शिरः शूलं दिनवृद्ध्या च वर्द्धते ।
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिस्के संप्रशाम्यति ।
सूर्यावर्त्तः स एव स्यात् ॥११,१२॥

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां
संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ॥१३॥
कुर्वन्ति साक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ।
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ॥१४॥
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ।

वातादि तीनों दोष कुपित होकर मन्या को दबाकर गले के पिछले भाग में (गुद्दी पर) तीव्र वेदना को करते हैं। विशेषकर ये दोष आंख, भ्रू और शंख देश में स्थित रहते हैं, इसमें गण्ड के पार्श्व में कम्पन होता है, हनुग्रह एवं आंख के रोग होते हैं। इस रोग को अनन्तवात कहते हैं, यह रोग त्रिदोषजन्य है।

चरक में—"उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनैः। दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यां पश्चाद् घाटासु वेदनाम्॥ तीव्रां कुर्वन्ति नासाक्षि भ्रूशंखेष्ववतिष्ठते। स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम्॥ सोऽनन्तवातः॥१३,१४॥

यस्योत्तमाङ्गार्धमतीव जन्तोः
संभेदतोदभ्रमशूलजुष्टम्॥१५॥
पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मा-
त्तस्यार्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत्।

जिस रोगी के आधे सिर में अतिशय भेद पीड़ा (फटने की सी) तोद (चुभने का सा दर्द), भ्रम एवं शूल होता है, और बिना कारण के ही पन्द्रह या दस दिन में आक्रमण होता रहता है, इस रोग को अर्धभेद (आधासीसी) कहते हैं, यह रोग तीनों दोषों से होता है। चरकमें—

रूक्षात्यध्यशनात्पूर्वं वातावश्यायमैथुनैः
वेगसन्धारणायास व्यायामैः कुपितोऽनिलः॥
केवलःसकफोवाऽर्धं गृहीत्वा शिरसोऽनिलः।
मन्याभ्रूशंखकर्णाक्षि ललाटार्द्धे च वेदनाम्।
शस्त्राशनिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदकः।
नयनं वाऽथश्रोत्रं वा अति वृद्धे विनाशयेत्॥

वि० मन्तव्य—कभी २ सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेदक दोनों का रोगसंकर भी होता है॥१५॥

शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः
कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः॥१६॥
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि
विशेषतश्चापि हि शङ्खयोस्तु।
सुकष्टमेनं खलु शङ्खकाख्यं
महर्षयो वेदविदः पुराणाः॥१७॥
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं
भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम्॥१८॥

उदीर्ण वेगवान् शंख में आश्रित वायु-कफ, पित्त, रक्त का अनुसरण करके, शिर में विशेषकर शंख प्रदेश में अतितीव्र वेदना को उत्पन्न करता है। वेदवित् पुरातन महर्षि इस अतिशय कष्टदायक रोग को शंखक कहते हैं। यह रोग मृत्यु के समान है, हजारों वैद्य भी इसको (जल्दी) अच्छा नहीं कर सकते। इसी से चरक में कहा है कि—

रक्तपित्तानिलादुष्टाः शंखदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम्।
सशिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शंखको नाम नामतः॥
जीवेत् त्र्यहं चेद् भैषज्यं प्रत्याख्यायास्य कारयेत्।
शिरोविरेकसेकादि सर्वंवीसर्पनुच्च यद्॥

चरक—सि० अ० ६॥१६-१८॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे शिरोरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः शिरोरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अब इसके आगे शिरोरोगप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥१,२॥

वातव्याधिविधिः कार्यः शिरोरोगेऽनिलात्मके।
पयोनुपानं सेवेत घृतं तैलमथापि वा॥३॥

वातजन्यशिरोरोग में वातव्याधि की चिकित्सा सम्पूर्णरूप में (अन्तः और बाह्य दोनों रूपों में) करनी चाहिये। दूध के अनुपान से घृत का (पित्त का अनुबन्ध वायु के साथ होनेपर) एवं तैल का (कफ का अनुबन्ध होने पर) सेवन करे॥३॥

मुद्गान् कुलत्थान्माषांश्च खादेच्च निशि केवलान्।
कटूष्णांश्च ससर्पिष्कानुष्णं चानु पयः पिबेत्॥४॥
पिबेद्वा पयसा तैलं तत्कल्कं वाऽपि मानवः।

रात्रि में मूंग, उड़द या कुलत्थी को अकेला (तीनों में से किसी एक को) खाये। इनको कटु और उष्ण द्रव्यों से संस्कृत करके, प्रचुर घी के साथ खाकर पीछे दूध पीये। अथवा दूध के साथ तिल तैल, या तिल का कल्क पीये॥४॥

वातघ्नसिद्धैः क्षीरैश्च सुखोष्णैः सेकमाचरेत्॥५॥
तत्सिद्धैः पायसैर्वाऽपि सुखोष्णैर्लेपयेच्छिरः।
स्विन्नैर्वा मत्स्यपिशितैः कृशरैर्वा ससैन्धवैः॥६॥
चन्दनोत्पलकुष्ठैर्वा सुश्लक्ष्णैर्मगधायुतैः।
स्निग्धस्य तैलं नस्यं स्यात् कुलीररससाधितम्॥७॥
वरुणादौ गणे क्षुण्णे क्षीरमर्धोदकं पचेत्।
क्षीरशेषं च तन्मध्यं शीतं सारमुपाहरेत्॥८॥
ततो मधुरकैः सिद्धं नस्ये तत् पूजितं हविः।
तस्मिन् विपक्वे क्षीरे तु पेयं सर्पिः सशर्करम्॥९॥
धूमं चास्य यथाकालं स्नैहिकं योजयेद्भिषक्।

भद्रदार्व्यादि वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध दूध से सुहाता हुआ गरम-गरम धारा सेक शिर पर करे। वातघ्न सिद्ध दूध में बनाई खीर से (अथवा मावे से) सुहाता गरम-गरम लेप सिर पर करे। मछली के मांस को स्विन्न करके या तिल तण्डुल माष से बनी यवागू को सैन्धव मिलाकर गरम-गरम लेप करे। चंदन,

कमल, कूठ, पिप्पली इनको बारीक पीसकर सिर पर लेप करे। स्निग्ध हुए पुरुष को केंकडे के मांसरस में सिद्ध किया तैल नस्य में देवे। वरुणादिगण को कूटकर इसमें आधा पानी मिलाया दूध क्षीरपाकविधि से पकाये। इस दूध में से मथकर घी निकाल ले। इस घी को काकोल्यादिगण से सिद्ध करके नस्य में बरते। वरुणादिगण में सिद्ध किये दूध में घी और शर्करा मिलाकर पीये। अवस्था के अनुसार मधूच्छिष्ट आदि स्नेह द्रव्यों से बनाये स्नैहिक धूम वैद्य बरते ॥५-६॥

पानाभ्यञ्जननस्येषु बस्तिकर्मणि सेचने ॥१०॥
विदध्यात्त्रैवृतं धीमान् बलातैलमथापि वा।

पान, अभ्यङ्ग, नस्य या बस्तिकर्म में त्रैवृत स्नेह (अपतानक रोग में कहा) या बला (मूढगर्भ में कहा) बुद्धिमान् वैद्य करते ॥१०॥

भोजयेच्च रसैः स्निग्धैः पयोभिर्वा सुसंस्कृतैः ॥११॥

स्निग्ध मांस रसों के साथ या वातहर द्रव्य साधित दूध भोजन देवे ॥११॥

पित्तरक्तसमुत्थानौ शिरोरोगौ निवारयेत्।
शिरोलेपैः ससर्पिष्कैः परिषेकैश्च शीतलैः ॥१२॥
क्षीरेक्षुरसधान्याम्लमस्तुक्षौद्रसिताजलैः।

पित्तजन्य एवं रक्तजन्य शिरोरोग में घृत मिश्रित लेप सिर पर करे, शीतलद्रव्यों से परिषेक करे। यथा—दूध, ईख का रस, काञ्जी, मस्तु, सिता-जल (शर्बत) से परिषेक करे ॥१२॥

नलवञ्जुलकह्लारचन्दनोत्पलपद्मकैः ॥१३॥
वंशशैवलयष्ट्याह्वमुस्ताम्भोरुहसंयुतैः।
शिरःप्रलेपैः सघृतैर्वैसर्पैश्च तथाविधैः ॥१४॥
मधुरैश्च मुखालेपैर्नस्यकर्मभिरेव च।

लेप के लिये नड़सर, वेतस, लालकमल, चन्दन, नीलोफर, पद्माख, बांस, शैवाल, मुलैहठी, मुस्ता, कमल, इनको घी में मिलाकर लेप करे, अथवा रक्त, पित्तजन्य विसर्प में बरते जानेवाले (उशीर लामज्जक, चन्दन आदि) द्रव्यों से लेप करे। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से मुख पर लेप करे तथा मधुर द्रव्यों से संस्कृत नस्य देवे, इनसे पित्त-रक्तजन्य शिरोरोग को शान्त करे ॥१३,१४॥

आस्थापनैर्विरेकैश्च पथ्यैश्च स्नेहबस्तिभिः ॥१५॥
क्षीरसर्पिर्हितं नस्यं वसा वा जाङ्गला शुभा।

आस्थापन, विरेचन (मधुर द्रव्यों से सिद्ध) हितकारी वस्तु (आहार-बिहार आदि), तथा स्नेहबस्तियों से पित्तरक्तजन्य शिरोरोग शान्त करे। दूध को मथकर निकाले घी का नस्य देवे। अथवा जांगल पशु-पक्षियों की वसा नस्य में उत्तम है॥

उत्पलादिविपक्वेन क्षीरेणास्थापनं हितम् ॥१६॥
भोजनं जाङ्गलरसैः सर्पिषा चानुवासनम्।
मधुरैः क्षीरसर्पिस्तु स्नेहने च सशर्करम् ॥१७॥

उत्पलादिगण से सिद्ध दूध से आस्थापन देना उत्तम है, जांगल मांसरसों से भोजन देवे, काकोल्यादिमधुरगण से संस्कृत घी से अनुवासन देवे। दूध को मथकर निकाला घी, शर्करा को मिलाकर स्नेहन नस्य में या स्नेहन बस्ति में देवे ॥१६,१७॥

पित्तरक्तघ्नमुद्दिष्टं यच्चान्यदपि तद्धितम्।

पान-आलेपन आदि में रक्त पित्तघ्न जो अन्य विधि कही है, वह भी यहाँ बरते।

कफोत्थितं शिरोरोगं जयेत् कफनिवारणैः ॥१८॥
शिरोविरेकैर्वमनैस्तीक्ष्णैर्गण्डूषधारणैः।
अच्छं च पाययेत्सर्पिः स्वेदयेच्चाप्यभीक्ष्णशः ॥१९॥
शिरो मधूकसारेण स्निग्धं चापि विरेचयेत्।
इङ्गुदस्य त्वचा वाऽपि मेषशृङ्गस्य वा भिषक् ॥२०॥

कफजन्य शिरोरोग को कफनाशक शिरोविरेचनादि द्रव्यों से शान्त करे इसके शिरोविरेचन, तीक्ष्णवमन, तीक्ष्णगण्डूष मुख में रखे। शुद्ध घी पिलाये, बार-बार स्वेद देवे। स्निग्ध हुए रोगी के सिर को मधुक सार (महुए की लकड़ी के चूर्ण से), हिंगोट की छाल के या मेषशृंगी के चूर्ण से वैद्य विरेचित करे॥

आभ्यामेव कृतां वर्तिं धूमपाने प्रयोजयेत्।
घ्रेयं कट्फलचूर्णं च कवलाश्च कफापहाः ॥२१॥
सरलाकुष्ठशार्ङ्गेष्टादेवकाष्ठैः सरोहिषैः।
क्षारपिष्टैः सुलवणैः सुखोष्णैर्लेपयेच्छिरः ॥२२॥

हिंगोट की छाल और मेषशृङ्गी से बनाई वर्त्ति धूमपान में देवे। कट्फल का चूर्ण सूंघे, कफहर द्रव्यों से बनाये कवल धारण करे। चीड़, कूठ, शार्ङ्गेष्टा (छुईं मुई), देवदारु, रोहिष-घास, इनको क्षारोदक से पीसकर, थोड़ा नमक मिला, सुहाता गरम गरम शिर पर लेप करे ॥२१,२२॥

यवषष्टिकयोश्चान्नं व्योषक्षारसमायुतम्।
पटोलमुद्गकौलत्थैर्मात्रावद्भोजयेद्रसैः ॥२३॥

सोंठ, मरिच, पीपल, यवक्षार से मिश्रित जौ और सांठी का भोजन पटोल, मूँग, कुलत्थी इनके यूष के साथ, मात्रा में खिलाये ॥२३॥

शिरोरोगे त्रिदोषोत्थे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः।

त्रिदोषजन्य शिरोरोग में त्रिदोषनाशक विधि बरते।

सर्पिःपानं विशेषेण पुराणं वा दिशन्ति हि ॥२४॥

इसमें विशेषकर पुरातन घृत (दस साल पुराने) का पान उत्तम कहा जाता है ॥२४॥

क्षयजे क्षयमासाद्य कर्तव्यो बृंहणो विधिः।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम् ॥२५॥
क्षयकासापहं चात्र सर्पिः पथ्यतमं विदुः।

क्षयजन्य शिरोरोग में रक्त आदि धातु के क्षय का निश्चय करके बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये। वातघ्न

(भद्रदार्व्यादि), तथा काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत पान और नस्य में उत्तम है। क्षयकास नाशक घृत (कुलीर शुक्ति चटकैणलावान्–आदि से कहा) इसमें अतिशय पथ्य है।

वि० मन्तव्य—क्षयजनित शिरोरोग में–बृंहणविधि अर्थात् बादाम का हलुआ, खीर, मालपूआ, अखरोट, बादाम आदि सूखे फल एवं खशखश, मगद आदि पुष्टिकारक विशेषतः मस्तिष्क को पुष्ट करनेवाले आहारों का प्रयोग करे ॥२५॥

क्रिमिभिर्भक्ष्यमाणस्य वक्ष्यते शिरसः क्रिया ॥२६॥
नस्यं हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः।
मत्ताः शोणितगन्धेन समायान्ति यतस्ततः ॥२७॥

जिस रोगी के शिर को कृमि खाते हों—उसकी चिकित्सा के लिये रक्त का नस्य देवे इसमें कृमि मदयुक्त हो जाते हैं, रक्त के गन्ध से मत्त होकर कृमि इधर-उधर से नाक से बाहर आ जाते हैं।

वक्तव्य—"रक्त को देखकर या उसकी गन्ध से कई पुरुषों को मूर्च्छा आ जाती है, इसी प्रकार कृमि भी रक्त की तीव्र गन्ध से मूर्च्छित हो जाते हैं। इसी से कहा है—

पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः।
तस्माद् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः—सु० ॥

तेषां निर्हरणं कार्यं ततो मूर्धविरेचनैः।
ह्रस्वशिग्रुकबीजैर्वा कांस्यनीलीसमायुतैः ॥२८॥
क्रिमिघ्नैरवपीडैश्च मूत्रपिष्टैरुपाचरेत्।
पूतिमत्स्ययुतान् धूमान् क्रिमिघ्नांश्च प्रयोजयेत् ॥२९॥

इसके पीछे कृमियों को शिरोविरेचन से बाहर करना चाहिये। इसके लिये छोटा सुहाजना (कटुसहजन) के बीज, कांस्य नील मिलाकर नस्य देवे (या विडंग, मरिच, अपामार्ग आदि से देवे) कृमिनाशक द्रव्यों को मूत्र में पीसकर अवपीडन नस्य देवे। सड़ी मछली (सूखी मछली–जो नमक में रखकर बेची जाती है। एवं कृमिघ्न वस्तुओं से मिलाकर धूम देवे।

वि० मन्तव्य—उक्त उपायों से कृमि निकल जाते हैं और निम्नलिखित कृमिनाशक विविध अन्नों एवं पानों से उनकी उत्पत्ति रुक जाती है ॥२८,२९॥

भोजनानि क्रिमिघ्नानि पानानि विविधानि च।

कृमि प्रतिषेध में बताये धान्याम्ल आदि कृमिघ्न–नाना-प्रकार के भोजन, पान देवे।

सूर्यावर्ते विधातव्यं नस्यकर्मादिभेषजम् ॥३०॥
भोजनं जाङ्गलप्रायं क्षीरान्नविकृतिर्घृतम्।

सूर्यावर्त्त में नस्य आदि चिकित्सा करे। भोजन में मुख्यतः जांगलमांस, दूध से बने खाद्य पदार्थ, घृत देवे।

वि० मन्तव्य—निरामिषभोजियों के लिये–खीर, रबड़ी आदि दुग्ध के पदार्थ देवे परन्तु वे अत्यन्त शीतल हों, यथा–खीर आदि को रात्रि में बनाकर ओस में धर दिया जाय अथवा जिलेबी को दूध अथवा गुलाब जल में भिगोकर ओस में धर दिया जाय और प्रातः खाया जाय ॥३०॥

तथाऽर्धभेदके व्याधौ प्राप्तमन्यच्च यद्भवेत् ॥३१॥
शिरीषमूलकफलैरवपीडोऽनयोर्हितः।
वंशमूलककर्पूरैरवपीडं प्रयोजयेत् ॥३२॥
अवपीडो हितश्चात्र वचामागधिकायुतः।
मधुकेनावपीडो वा मधुना सह संयुतः ॥३३॥
मनःशिलावपीडो वा मधुना चन्दनेन वा।

अर्धावभेदक में भी यही उपचार करे, तथा स्नेह, सिरावेध, अवपीडक आदि जो योग्य उपचार हो वह भी करे। सूर्यावर्त्त और अर्धावभेदक में—शिरीषमूल एवं फल से अवपीडन नस्य देवे। बांस की जड़ और कर्पूर इनसे अवपीड़न नस्य दे। पिप्पली और बच से अवपीड़न नस्य देवे। मुलैहठी का रस मधु मिलाकर अवपीड़न रूप से देवे। मुलैहठी, मैनसिल और मधु से या मुलैहठी, चन्दन और मधु से अवपीड़न नस्य दे ॥

तेषामन्ते हितं नस्यं सर्पिर्मधुरसान्वितम् ॥३४॥

अवपीडन नस्यों के पीछे काकोल्यादिगण के रस से सिद्ध घृत का नस्य देवे।

वि० मन्तव्य—अर्द्धावभेदक में भी शीतल आहार ही लाभप्रद होता है देखिये श्लो० ३० का वि० व० ॥३४॥

सारिवोत्पलकुष्ठानि मधुकं चाम्लपेषितम्।
सर्पिस्तैलयुतो लेपो द्वयोरपि सुखावहः ॥३५॥
एष एव प्रयोक्तव्यः शिरोरोगे कफात्मके।

सारिवा, कमल, कूठ, मुलैहठी इनको कांजी से पीसकर घी और तैल मिलाकर सूर्यावर्त्त, अर्धावभेदक में शिर पर लेप करे। कफजन्य शिरोरोग में भी यही उपचार करे ॥३५॥

अनन्तवाते कर्तव्यः सूर्यावर्तहरो विधिः ॥३६॥
सिराव्यधश्च कर्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये।
आहारश्च विधातव्यो वातपित्तविनाशनः ॥३७॥
मधुमस्तकसंयावघृतपूरैश्च भोजनम्।

अनन्तवात में सूर्यावर्त्त नाशक विधि बरते। अनन्तवात की शान्ति के लिये सिरावेधविधि करनी चाहिये। वात-पित्त नाशक आहार देवे। इसके लिये मधु मस्तक (पूरनपोली या शहद की पोली जिसमें शहद ही भरा होता है), संयाव (लप्सी) घृतपूर (घेवर) देवे।

वि० मन्तव्य—अनन्तवात में भी वात पित्त विनाशक विधि करे यथा सूर्यावर्त्त एवं अर्द्धावभेदक में कही है ॥३६,३७॥

क्षीरसर्पिः प्रशंसन्ति नस्ये पाने च शङ्खके ॥३८॥

जाङ्गलानां रसैः स्निग्धैराहारश्चात्र शस्यते ।

शंखक रोग में नस्य और पान में दूध से निकाला घी बरते । स्निग्ध जांगल मांस रसों को भोजन दे ॥३८॥

शतावरीं तिलान् कृष्णान् मधुकं नीलमुत्पलम् ॥३९॥
दूर्वां पुनर्नवां चैव लेपे साध्ववचारयेत् ।
महासुगन्धामथवा पालिन्दीं चाम्लपेषिताम् ॥४०॥

शतावरी, काले तिल, मुलैहठी, नीलोफर, दूर्वा, पुनर्नवा इनको दूध में पीसकर शिर पर लेप करे । महासुगन्धा (रास्ना या सर्पगन्धा) और निशोथ को कांजी में पीसकर लेप करे ॥

शीतांश्चात्र परीषेकान् प्रदेहांश्च प्रयोजयेत् ।

शीतलपरिषेक, शीतलप्रदेह (शीतवीर्य विदारि गन्धादि काकोल्यादि उत्पलादि ते) इसमें बरते ।

अवपीडश्च देयोऽत्र सूर्यावर्तनिवारणः ॥४१॥

सूर्यावर्तनाशक (शिरीषमूलकफलैः आदि) अवपीड़न नस्य देवे ॥४१॥

कृमिक्षयकृतौ हित्वा शिरोरोगेषु बुद्धिमान् ।
मधुतैलसमायुक्तैः शिरांस्यतिविरेचयेत् ॥४२॥
पश्चात्सर्षपतैलेन ततो नस्यं प्रयोजयेत् ।

कृमिजन्य और क्षयजन्य शिरोरोग को छोड़कर शेष रोगों में वैद्य शिरोविरेचन द्रव्यों में मधु और तैल मिलाकर नस्य देवे । पीछे सरसों के तेल से नस्य देवे ॥४२॥

न चेच्छान्ति व्रजन्त्येवं स्निग्धस्विन्नांस्ततो भिषक् ।४३।
पश्चादुपाचरेत्सम्यक् सिराणामथ मोक्षणैः ।

यदि इन सब उपचारों से रोग शान्त न हो तो रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर सिरामोक्षण करके भली प्रकार चिकित्सा करे ।

वि० मन्तव्य—क्षयजनित शिरोरोग एवं कृमिज-शिरोरोग के अतिरिक्त शिरोरोगों में सिरावेध सफल उपचार है । शिरोरोग एवं अधिमन्थ आदि नेत्र रोगों में ललाट गत अथवा अपाङ्गगत सिरा का वेध करे । देखिये सु० शा अ० ८ सू १७॥

षट्सप्ततिर्नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजाः ॥४४॥
एकत्रिंशद् घ्राणगताः शिरस्येकादशैव तु ।
इति विस्तरतो द (दि) ष्टाः सलक्षणचिकित्सिताः ।४५।
संहितायामभिहिताः सप्तषष्टिर्मुखामयाः ।
एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमाङ्गगता गदाः ।
अस्मिञ्छास्त्रे निगदिताः सङ्ख्यारूपचिकित्सितैः ।४६।

छिहत्तर नेत्ररोग, अट्ठाईस कर्णरोग, इकतीस नासारोग, ग्यारह शिरोरोग, ये विस्तार से लक्षण एवं चिकित्सा से कह दियेहैं । संहिता में सरसट (६७) मुखरोग कह दिये हैं । मुख्य रूप से उत्तमांग के इतने रोग इस शास्त्र में संख्या, लक्षण एवं चिकित्सा से कहे गये हैं[1] ॥४४–४६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे शिरोरोगप्रतिषेधो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातो नवग्रहाकृतिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।१।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नवग्रहाकृतिविज्ञानीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ।

वक्तव्य—बालकों के ग्रह नौ हैं, युवा व्यक्तियों के आठ हैं, आकृति से अभिप्राय लक्षणों से हैं ।

वि० मन्तव्य—अध्याय २७ से अ० ३७ तक बालग्रहों का वर्णन है । इन अध्यायों को भूतविद्या में ही गिनना चाहिये । कौमार भृत्य के लक्षणानुसार कौमार भृत्य में नहीं गिनना चाहिये । ये बालग्रह बालक–बालिकाओं पर ही आक्रमण करते हैं अतः बालग्रह कहे जाते हैं ॥१,२॥

बालग्रहाणां विज्ञानं साधनं चाप्यनन्तरम् ।
उत्पत्तिं कारणं चैव सुश्रुतैकमनाः शृणु ॥३॥

हे सुश्रुत ! बालकों के ग्रहों के लक्षण, उनकी चिकित्सा, उत्पत्ति और कारण को एकाग्र मन से सुनो ॥३॥

स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च ।
शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना ॥४॥
पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका ।
नवमो नैगमेषश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः ॥५॥

प्रथम स्कन्दग्रह, फिर स्कन्दापस्मार, शकुनी, रेवती पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना, मुखमण्डतिका, और नौवां नैगमेष-जिसे पितृग्रह भी कहते हैं ॥४,५॥

धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचारा-
च्छौचभ्रष्टान्मङ्गलाचारहीनान् ।
त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा
पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥६॥

धात्री (दाई) या माता के शरीर स्थान में कहे हुए मिथ्या आचरण के कारण (मांस सुरादि का खाना, लाल वस्त्र आदि का धारण), मूत्र मल आदि का शोधन न करने से, मंगल (स्वस्तिक, दाम, दूर्वा आदि पवित्र वस्तुओं का) एवं आचार (पापविरोधि) से हीन, डरे हुए, प्रसन्न हुए, धमकाये हुए, मारे

---

१ चरक में शिरः कम्प रोग अधिक कहा है यथा—
वातो रुक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् ।
तत्रामृता बला रास्ना महाश्वेताश्वगन्धकैः ॥
स्नेहस्वेदादिवातघ्नं शस्तं नस्यं च तर्पणम् ।
नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु सूक्ष्मवित् ।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ॥

हुए बच्चों में पूजा प्राप्ति के उद्देश्य से या मारने की इच्छा से ये ग्रह आविष्ट होते हैं।

वक्तव्य—चरक में इसी से कहा है—"नह्यस्य वित्रासनं साधु, तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुंजानेवाऽन्यत्र बाऽविधेयतां गच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामानि चाह्वयता कुमारस्य वित्रास नार्थं नाम ग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥" हिंसा या पूजा के लिये आक्रमण करते हैं—"त्रिविधं तून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनम्। तद्यथा—हिंसारतिरभ्यर्चनं चेति तेषां तत्प्रयोजन-मुन्मत्ताचारविशेषलक्षणैः विद्यात्। तत्र हिंसार्थमुन्मद्यमानोऽग्नि प्रविशति। अप्सु निमज्जति, स्थानात् श्वभ्रे वा निपतति, शस्त्र-काष्ठलोष्टमुष्टिभिर्हन्ति आत्मानमन्यच्च, प्राणवधार्थमारभते।" चरक नि० अ० ७।१८।६॥

ऐश्वर्यस्थास्ते न शक्या विशन्तो
देहं द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपाः।
आप्तं वाक्यं तत्समीक्ष्याभिधास्ये
लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति ॥७॥

वे ग्रह संसार के रूपवाले एवं अणिमा आदि ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण शरीर में प्रविष्ट होते हुए मनुष्यों से नहीं देखे जा सकते। इसलिये इन ग्रहों के जो लक्षण होते हैं, उनको प्राप्त पुरुषों के कथनों के अनुसार कहेंगे।

वि० मन्तव्य—विश्वरूपाः—देवों के एक गण (समूह-जाति) का नाम "विश्व" है विशन्ति इति विश्वे-अर्थात् जो प्रवेश करते हैं विश्प्रवेशने धातुः तुदादिगणीयः। इस धातु से आगे उणादि गण के १।१५१ सूत्रानुसार क्वन् प्रत्यय लगाने पर विश्व शब्द निष्पन्न होता है। अस्तु। वेदों में अनेक स्थलो पर ॐ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वेदेवाः स्वस्ति नः""""तथा ॐ अग्निर्देवता वातो देवता""""विश्वे-देवा देवता""""आदि वैदिक ऋचाओं में-विश्वेदेवा नामक देवताओं का नाम आया है। विश्वरूप अर्थात् देवरूप दिव्य-शक्ति सम्पन्न देवता हैं। अतएव ऐश्वर्य-ईश्वरता से युक्त-अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हैं। यद्यपि वे प्रवेश-आवेश करते हुए देखे नहीं जा सकते तथापि आप्तजनों के वाक्यों की समीक्षा करके उनके लक्षण कहे गये हैं केवल अन्धविश्वास करके नहीं। समीक्षा-सम्यक्-समीचीन प्रकार से ईक्षा-दर्शन-देखना। आप्त-यथार्थ वादी-ठीक २-सत्य२ कहनेवाले, भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—तप एवं ज्ञान की शक्ति द्वारा रजस् एवं तमस् (राग एवं द्वेष) से पूर्ण रूप से मुक्त, व्यवधान रहित निर्मल एवं त्रिकाल ज्ञान से युक्त आप्त होते हैं और वे शिष्ट समस्त संसार को कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक देनेवाले तथा विबुद्ध परम ज्ञान-जागरूक होते हैं उनका वाक्य संशय हीन एवं सत्य होता है। ऐसे जन असत्य क्यों बोलेंगे जब कि वे रजस् एवं तमस् से सर्वथा मुक्त हैं। (च० सू० अ० ११) ईश्वर तथा अन्यान्य वे भाव जो चक्षुःआदि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किये जा सकते उन सबको आप्तवाक्यों के आधार पर ही माना जाता है। तात्पर्य यह है कि वे चेतना धातु-आत्मा के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतएव देखे नहीं जा सकते। आयुर्वेद के विद्वानों को चाहिये कि वे उन लेखकों को समझावें जो देव, गन्धर्व आदि को कृमि लिखने का साहस करते हैं॥

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं
देवादयःस्वैश्च गुणप्रभावैः।
विशन्त्यदृश्यास्तरसां यथैव-
च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥
चरक चि० अ० ६।१८ ॥७॥

शूनाक्षः क्षतजसगन्धिकः स्तनद्विड्
वक्रास्यो हतचलितैकपक्ष्मनेत्रः।
उद्विग्नः सुलुलितचक्षुरल्परोदी
स्कन्दार्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः ॥८॥

स्कन्द ग्रह से पीड़ित शिशु—की आँखें सूजी, रक्त के समान शरीर से सड़ी गन्ध आती है, बच्चा स्तन नहीं पीता, मुख टेढ़ा हो जाता है, एक आँख और उसके पलक, क्रिया रहित हिलते रहते हैं, बच्चा उद्विग्न (बेचैन), आँखें थोड़ी खुली, थोड़ा रोनेवाला मुट्ठी जोर से बाँधे, सख्त मल आता है।

वक्तव्य—आँख से दीखता कम है, पलक हिलती है, यह एक आँख में होता है ॥८॥

निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससंज्ञः
संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव।
विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः
फेनं च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः ॥९॥

स्कन्दापस्मार से पीड़ित शिशु बेहोश हो जाता है, परन्तु कुछ समय पीछे चेतन हो जाता है, अच्छी प्रकार आवाज करता हुआ हाथ-पैर को नचाता सा प्रतीत होता है, शब्द करता हुआ मल मूत्र त्याग करता है, जम्भाई लेता हुआ मुख से झाग गिराता है ॥९॥

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
संस्राविव्रणपरिपीडितः समन्तात्।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥१०॥

शकुनिग्रह से पीड़ित शिशु के अंग ढीले पड़ जाते हैं, भय से घबराया प्रतीत होता है, शरीर से मांस खानेवाले या जल-चर पक्षियों की गन्ध आती है। शरीर पर सब ओर स्राववाले व्रणों से पीड़ित रहता है, जलन और पकनेवाले छालों से शरीर भरा रहता है, यह शिशु शकुनिग्रह से पीड़ित जानना॥

रक्तास्यो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः
श्यावो वा ज्वरमुखपाकवेदनार्तः ।
रेवत्या व्यथिततनुश्च कर्णनासं
मृद्नाति ध्रुवमभिपीडितः कुमारः ॥११॥

रेवतीग्रह से पीड़ित शिशु का मुख लाल, मल हरा, शरीर अति पाण्डुवर्ण या काले रंग का होता है । बच्चे को ज्वर, मुखपाक, वेदना रहती है, बच्चा निरन्तर कान-नाक को मलता रहता है ॥११॥

स्रस्ताङ्गः स्वपिति सुखं दिवा न रात्रौ
विड् भिन्नं सृजति च काकतुल्यगन्धिः ।
छर्द्याऽऽर्तो हृषिततनूरुहः कुमार-
स्तृष्णालुर्भवति च पूतनागृहीतः ॥१२॥

पूतनाग्रह से पीड़ित शिशु के अङ्ग शिथिल रहते हैं, दिन में सुख से सोता है, रात्रि में नहीं सोता । मल पतला त्याग करता है । एवं शरीर में कौए के समान गन्ध, वमन से पीड़ित, शरीर के रोमों में रोमांच रहता है, बच्चे को प्यास बहुत रहती है ॥१२॥

यो द्वेष्टि स्तनमतिसारकासहिक्का-
च्छर्दीभिर्ज्वरसहिताभिरर्द्यमानः ।
दुर्वर्णः सततमधःशयोऽम्लगन्धि-
स्तं ब्रूयुर्भिषज इहान्धपूतनार्तम् ॥१३॥

अन्धपूतना से पीड़ित शिशु स्तन से द्वेष करता है, यह अतिसार, कास, हिक्का, वमन, ज्वर से पीड़ित रहता है, शरीर का रंग बदल जाता है, निरन्तर सदा उल्टा मुख रखकर (नीचे मुख करके) सोता है, शरीर से खट्टी गन्ध आती है, इस बच्चे को अन्धपूतना से पीड़ित जाने ॥१३॥

उद्विग्नो भृशमतिवेपते प्ररुद्यात्
संलीनः स्वपिति च यस्य चान्त्रकूजः ।
विस्राङ्गो भृशमतिसार्यते च यस्तं
जानीयाद्भिषगिह शीतपूतनार्तम् ॥१४॥

शीतपूतना से पीड़ित बच्चा अतिशय बेचैन, बहुत काँपता रहता है, बहुत रोता है, खाट के एक पार्श्व पर लगा हुआ सोता है, आंत्रों में आवाज (गड़गड़ाहट) रहती है, अङ्गों में से सड़ी गन्ध आती है, और अतिसार रहता है, इस प्रकार का शिशु शीतपूतना से आक्रान्त होता है ॥१४॥

म्लानाङ्गः सुरुचिरपाणिपादवक्त्रो
बह्वाशी कलुषसिरावृतोदरो यः ।
सोद्वेगो भवति च मूत्रतुल्यगन्धिः
स ज्ञेयः शिशुरिह वक्त्रमण्डिकार्तः ॥१५॥

शरीर का मध्यभाग दुर्बल, हाथ-पैर-मुख सुन्दर, बहुत खानेवाला, उदर मलिन सिराओं से भरा, बेचैन, मूत्र के समान गन्धवाला शिशु मुखमण्डिका से पीड़ित जानना चाहिये ॥१५॥

यः फेनं वमति विनम्यते च मध्ये
सोद्वेगं विलपति चोर्ध्वमीक्षमाणः ।
ज्वर्येत प्रततमयो वसासगन्धि-
र्निःसंज्ञो भवति हि नैगमेषजुष्टः ॥१६॥

जिसके मुख से झाग गिरती हो, मध्यभाग से झुका-मुड़ा रहता है, बेचैन एवं ऊपर को देखता हुआ जो रोता हो, सदा-निरन्तर ज्वर रहता हो, वसा के समान गन्ध जिसके शरीर से आती हो, संज्ञारहित-बेहोश जो हो जाता है, उसे नैगमेष से आक्रान्त जानना चाहिये ॥१६॥

प्रस्तब्धो यः स्तनद्वेषी मुह्यते चाविशन्मुहुः ।
तं बालमचिराद्घ्नन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥१७॥

जो बच्चा अतिशय स्तब्ध (जड़ीभूत) अङ्गोंवाला, स्तन से द्वेष करनेवाला, बार-बार जो मूर्छित होता है, उस बालक में बार-बार आवेश करता हुआ ग्रह, सम्पूर्ण लक्षण उत्पन्न करके मार देता है ॥१७॥

विपरीतमतः साध्यं चिकित्सेदचिरार्दितम् ।

इससे विपरीत अवस्था में (असम्पूर्ण लक्षणों में) तथा रोग की नूतनावस्था में चिकित्सा करनी चाहिये ॥

गृहे पुराणहविषाभ्यज्य बालं शुचौ शुचिः ॥१८॥
सर्षपान् प्रकिरेत्तत्र तैलैर्दीपं च कारयेत् ।
सदा सन्निहितं चापि जुहुयाद्धव्यवाहनम् ॥१९॥
सर्वगन्धौषधीबीजैर्गन्धमाल्यैरलङ्कृतम् ।
अग्नये कृत्तिकाभ्यश्च स्वाहा स्वाहेति संततम् ॥२०॥

वैद्य पवित्र होकर, बालक को पुरातन घृत से अभ्यंग करे, पवित्रस्थान पर सरसों को उसके चारों ओर बिखेरे, तैल का दिया जलावे । इस बच्चे के पास सदा अग्नि में एलादिगण में पठित औषधियों से, तिल, गेहूँ-उड़द आदि से, सुगन्ध (चन्दन-राल आदि) से हवन करे । बालक को गन्ध-माला से अलंकृत करे । अग्नि और कृत्तिका के लिये स्वाहा-स्वाहा इस उच्चारण से आहुतियां देवे ॥१८-२०॥

नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः ।
शिरसा त्वाऽभिवन्देऽहं प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम् ।
नीरुजो निर्विकारश्च शिशुर्मे जायतां द्रुतम् ॥२१॥

ग्रहों के स्वामी स्कन्ददेव के लिये मेरा नमस्कार है, मैं शिर झुकाकर आपको नमस्कार करता हूँ, मेरी बलि को आप ग्रहण करें । मेरा बच्चा वेदना रहित एवं रोग रहित जल्दी हो जाये ॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे नवग्रहाकृतिविज्ञानीयो नाम(प्रथमोऽध्यायः, आदितः)सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातः स्कन्दग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्कन्दग्रह प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्कन्दग्रहोपसृष्टानां कुमाराणां प्रशस्यते ।
वातघ्नद्रुमपत्राणां निष्क्वाथः परिषेचने ॥३॥

स्कन्दग्रह से आक्रान्त बच्चों के लिये ऐरण्ड आदि वातघ्न वृक्षों के पत्तों का क्वाथ परिषेचन में उत्तम है ॥३॥

तेषां मूलेषु सिद्धं च तैलमभ्यञ्जने हितम् ।
सर्वगन्धसुरामण्डकैडर्यावापमिष्यते ॥४॥

वातघ्न वृक्षों के मूलों में (बिल्वादि महापंचमूल) के क्वाथ में, ऐलादिगण का, सुरा माण्ड और पर्वत निम्ब (बकायन) का कल्क मिलाकर तैल सिद्धकरे । इस तैलका अभ्यंग उत्तमहै॥४॥

देवदारुणि रास्नायां मधुरेषु द्रुमेषु च ।
सिद्धं सर्पिश्च सक्षीरं पानमस्मै प्रयोजयेत् ॥५॥

देवदारु, रास्ना, राजादन (खिरनी आदि) आदि मधुर वृक्षों के क्वाथ में दूध के साथ सिद्ध किया घृत इसे पीने को देवे ॥५॥

सर्षपाः सर्पनिर्मोको वचा काकादनी घृतम् ।
उष्ट्राजाविगवां चैव रोमाण्युद्धूपनं शिशोः ॥६॥

सरसों, सर्पनिर्मोक (केंचुला), बच, काकादनी, घी, ऊँट, बकरी, भेड़ तथा गौ के बालों की बालकों को धूप देवे ॥६॥

सोमवल्लीमिन्द्रवल्लीं शमीं बिल्वस्य कण्टकान् ।
मृगादन्याश्च मूलानि ग्रथितान्येव धारयेत् ॥ ॥

गिलोय, इन्द्रवल्ली, शमी (जड़), बिल्व के कांटे, इन्द्रायण की जड़ इनकी माला बनाकर पहनाये ॥७॥

रक्तानि माल्यानि तथा पताका
रक्ताश्च गन्धा विविधाश्च भक्ष्याः ।
घण्टा च देवाय बलिर्निवेद्यः
सकुक्कुटः स्कन्दग्रहे हिताय ॥८॥

पवित्र वैद्य स्नान करके, रात्रि में स्कन्दग्रह के लिये लालफूल की मालायें, लाल पताकायें, केसर आदि लालसुगन्ध, नानाप्रकार के भक्ष्य, घंटा, मुर्गा-इनकी बलि को बालक के हित के लिये स्कन्द ग्रह को देवे ।

वि० मन्तव्य—यह बलि चौरास्ते पर देनी चाहिये अथवा स्कन्द के मन्दिर में ॥८॥

स्नानं त्रिरात्रं निशि चत्वरेषु
कुर्यात् पुरं शालियवैर्नवैस्तु
अद्भिश्च गायत्र्यभिमन्त्रिताभिः
प्रज्वालनं व्याहृतिभिश्च वह्नेः ॥९॥

चौरस्ते पर त्रिरात्र स्नान करके नूतन शाली (धान्य) यव से गायत्र्याभिमन्त्रित जल से व्याहृति पूर्वक अग्नि में हवन करे ॥९॥

रक्षामतः प्रवक्ष्यामि बालानां पापनाशिनीम् ।
अहन्यहनि कर्तव्या या भिषग्भिरतन्द्रितैः ॥१०॥
तपसां तेजसां चैव यशसां वपुषां तथा ।
निधानं योऽव्ययो देवः स ते स्कन्दः प्रसीदतु ॥११॥
ग्रहसेनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विभुः
देवदेवस्य महतः पावकस्य च यः सुतः ।
गङ्गोमाकृत्तिकानां च स ते शर्म प्रयच्छतु ॥१३॥
रक्तमाल्याम्बरः श्रीमान् रक्तचन्दनभूषितः ।
रक्तदिव्यवपुर्देवः पातु त्वां क्रौञ्चसूदनः ॥१४॥

इसके आगे बालकों की रक्षाविधि को कहता हूँ, जिसे सावधान रहते हुए वैद्य प्रतिदिन करे, यह रक्षाविधि पाप (दुर्भाग्य) को नष्ट करती है । तप, तेज, यश, सुन्दरता का जो घर है, जो कभी विकृत होनेवाला न हो, वह स्कन्ददेव प्रसन्न हो । स्कन्ददेव, ग्रहों का सेनापति, देवताओं का सेनापति, विभु, देवताओं की सेना के शत्रुओं को नष्ट करनेवाला, स्कन्ददेव तुम्हारी रक्षा करे । भगवान् शंकर का, और बड़ी अग्नि का जो पुत्र है, गंगा, पार्वती-कृत्तिका का जो पुत्र है, वह तेरा मंगल करे । लाल माला-वस्त्र धारण किये, श्रीयुक्त, रक्तचन्दन से शोभित, लालदिव्य शरीर, क्रौंच को नष्ट करनेवाले (क्रौंच नामक पर्वत को) देव (स्कन्ददेव) तुम्हारी रक्षा करें ।

वि० मन्तव्य—इन मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण बालक के पास होना चाहिये अथवा लोहे का चिमटा अथवा दाती अथवा झाड़ू अथवा चमर अथवा मोर के पंखों द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक झाड़ना चाहिये । अथवा इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षण करना चाहिये । स्मरणीय-प्रत्येक ग्रह की शान्ति के लिये—१—परिषेचन-प्रोक्षण-छींटे मारना-देना-जल छिड़कना । यह कार्य-औषधों के क्वाथ से अथवा उसे अभिमन्त्रित करके अथवा शुद्ध जल को अभिमन्त्रित करके किया जाता है अथवा मन्त्रोच्चारण पूर्वक किया जाता है । २—अभ्यंग के लिये तैल सिद्ध किये जाते हैं । ३—खाने के लिये घृत सिद्ध किये जाते हैं । बालकों के वपुः, मेधा, बल एवं बुद्धि के विवर्द्धनार्थ (शा० अ० १० श्लो० ७०) भी घृत का प्रयोग बतलाया है उसमें भी इन घृतों का प्रयोग किया जा सकता है । ४—धूपन किया जाता है—निर्दिष्ट द्रव्य अग्नि पर डालकर धूप दी जाती है । ५—द्रव्यौषधी धारण—निर्दिष्ट द्रव्य धागा में पिरोकर अथवा बांधकर अथवा पोटली बनाकर

ग्रीवा में लटका दिये जाते हैं अथवा बाहु आदि पर बांध दिये जाते हैं।

६—बलि देना—बलि का ही नाम उपहार तथा नैवेद्य है। इसमें-कुछ निर्दिष्ट भक्ष्य होते हैं और साथ में पुष्प, गन्ध (इत्र), पताका आदि रहते हैं। यह मन्दिर में, शून्य गृह में, चत्वर-चौरास्ता अथवा आंगन, किसी वृक्ष के नीचे तथा गोशाला आदि निर्दिष्ट स्थान पर रख दी जाती है।

७—स्नान-औषधियों के क्वाथ से अथवा उसे अभिमन्त्रित करके बालक अथवा बालिका एवं धात्री (माता अथवा दूध पिलानेवाली, दोनों को नहलाया जाता है।

८—उत्सादन-उबटन लगाना तथा तिलक लगाना।

९—रक्षा मन्त्र-देखिये ऊपर श्लो० १४ का वि० व०। रक्षा मन्त्रों में ग्रहों का वर्णन होता है और उनसे बालक की रक्षा के लिये प्रार्थना रहती है तथा बालक के लिये आशीर्वाद रहता है ॥१०-१४॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गत कुमारतन्त्रे स्कन्दप्रतिषेधो नाम द्वितीयोऽध्यायः आदितो) ऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातः स्कन्दापस्मारप्रतिषेधं व्याख्याख्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्कन्दापस्मारप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

बिल्वः शिरीषो गोलोमी सुरसादिश्च यो गणः।
परिषेके प्रयोक्तव्यः स्कन्दापस्मारशान्तये ॥३॥

स्कन्दापस्मारक की शान्ति के लिये-बिल्व, शिरीष, दूर्वा, और सुरसादि गण का क्वाथ परिषेक में बरते ॥३॥

सर्वगन्धविपक्वं तु तैलमभ्यञ्जने हितम्।
क्षीरवृक्षकषाये च काकोल्यादौ गणे तथा ॥४॥
विपक्तव्यं घृतं चापि पानीयं पयसा सह।

बिल्व, शिरीष आदि के क्वाथ में एलादिगण का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल अभ्यंग में बरते। बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कषाय में काकोल्यादिगण का कल्क मिलाकर, दूध के साथ घृत सिद्ध करे, यही घृत दूध के साथ पीने को देवे ॥४॥

उत्सादनं वचा हिङ्गुयुक्तं स्कन्दग्रहे हितम् ॥५॥
गृध्रोलूकपुरीषाणि केशा हस्तिनखा घृतम्।
वृषभस्य च रोमाणि योज्यान्युद्धूपनेऽपि च ॥६॥

स्कन्द ग्रह में उबटन के लिये उबटनों में बच और हींग मिलाये। धूपन के लिये गीध, उल्लू का मल, केश, हाथी के नख, घी, बैल के बालों को बरते ॥५,६॥

अनन्तां कुक्कुटीं बिम्बीं मर्कटीं चापि धारयेत्।
सारिवा, कुक्कुटी औषध, कौंच की जड़ अथवा कन्दूरी इनकी माला पहनाये।

पक्वापक्वानि मांसानि प्रसन्ना रुधिरं पयः ॥७॥
भूतौदनो निवेद्यश्च स्कन्दापस्मारिणेऽवटे।

पक्व-अपक्व मांस, सुरा, रक्त, दूध, भूतौदन (घी के बिना भोजन या स्विन्नउड़द आदि), इनकी बलि स्कन्दापस्मार रोगी के हित के लिये गड्ढे में देनी चाहिये ॥७॥

चतुष्पथे च कर्तव्यं स्नानमस्य यतात्मना ॥८॥
उपवास रखकर सावधानी से बच्चे को चौराहे पर लेजाकर स्नान कराये ॥८॥

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः स्कन्दस्य दयितः सखा।
विशाखसंज्ञश्च शिशोः शिवोऽस्तु विकृताननः ॥९॥

रक्षामन्त्र—स्कन्द का प्रिय मित्र, विशाख नामक विकृत मुखवाला स्कन्दापस्मार नामक ग्रह शिशु के लिये कल्याणकारी हो ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे स्कन्दापस्मारप्रतिषेधो नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः शकुनीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शकुनीप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

शकुन्यभिपरीतस्य कार्यो वैद्येन जानता।
वेतसाम्रकपित्थानां निष्क्वाथः परिषेचने ॥३॥

शकुनी ग्रह से पीड़ित बच्चे के लिये जाननेवाला वैद्य-जलवेतस, आम, कैथ इनका क्वाथ परिषेचन में बरते ॥३॥

कषायमधुरैस्तैलं कार्यमभ्यञ्जने शिशोः।
बरगद आदि कषाय वृक्षों के क्वाथ में, काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल शिशु के लिये अभ्यंग में बरते।

मधुकोशीरह्रीबेरसारिवोत्पलपद्मकैः ॥४॥
रोध्रप्रियङ्गुमञ्जिष्ठागैरिकैः प्रदिहेच्छिशुम्।

मुलैहठी, खस, बालक, सारिवा, कमल, पद्माख, लोध, प्रियंगु, मजीठ, गेरू इनसे शिशु के शरीर पर लेप करे ॥४॥

व्रणेषूक्तानि चूर्णानि पथ्यानि विविधानि च ॥५॥

द्विव्रणीय और मिश्रकोक्त नाना प्रकार के चूर्ण शकुनीग्रह से युक्त बच्चे के लिए युक्त हैं ॥५॥

स्कन्दग्रहे धूपनानि तानीहापि प्रयोजयेत् ।

स्कन्दग्रह में कहे धूपन द्रव्यों को इसमें भी बरते ।

शतावरीमृगैर्वारुनागदन्तीनिदिग्धिकाः ॥६॥

लक्ष्मणां सहदेवीं च बृहतीं चापि धारयेत् ।

शतावरी, इन्द्रायण, बड़ीदन्ती, कटेरी, सहदेवी, लक्ष्मणा और बड़ीकटेरी इनको धारण करे ॥६॥

तिलतण्डुलकं माल्यं हरितालं मनःशिला ॥७॥

बलिरेष करञ्जेषु निवेद्यो नियतात्मना ।

तिल-तण्डुल, माला, हरताल, मैनसिल इनकी बलि संयतेन्द्रिय होकर करंजों में देवें । (करंज वृक्षों में बलि देने के स्थान पर निकुञ्जों में बलि देना ठीक है, पाठ भी निकुंजेषु है) ॥७॥

निष्कुटे च प्रयोक्तव्यं स्नानमस्य यथाविधि ॥८॥

बालक को विधिपूर्वक स्नान घर के बगीचे में कराये (निष्कुट का अर्थ कई घना जंगल करते हैं) ॥८॥

स्कन्दापस्मारशमनं घृतं चापीह पूजितम् ।

स्कन्दापस्मारनाशक घृत भी (क्षीरिवृक्ष इत्यादि वाला) उत्तम है ।

कुर्याच्च विविधां पूजां शकुन्याः कुसुमैः शुभैः ॥९॥

चमेली या कमल जैसे शुभ पुष्पों से शकुनीग्रह की नाना प्रकार की पूजा करनी चाहिये ॥९॥

अन्तरिक्षचरा देवी सर्वालङ्कारभूषिता ।

अयोमुखी तीक्ष्णतुण्डा शकुनी ते प्रसीदतु ॥१०॥

दुर्दर्शना महाकाया पिङ्गाक्षी भैरवस्वरा ।

लम्बोदरी शङ्कुकर्णी शकुनी ते प्रसीदतु ॥११॥

रक्षामन्त्र—अन्तरिक्ष में विचरनेवाली, सम्पूर्ण अलंकारों से शोभित, लोहे के मुख की, तीक्ष्ण मुखवाली शकुनी तू बालक के लिये प्रसन्न हो । दूषित विकराल दांतोंवाली, बड़े शरीर की, पिंगल आंखों की, भैरवस्वर की, लम्बे पेटवाली, शंकु (कीला) के समान कानवाली शकुनी देवी तुझ पर प्रसन्न हो ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे शकुनीप्रतिषेधो नाम (चतुर्थोऽध्यायः, आदितः) त्रिंशोऽध्याय ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रेवतीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे रेवती प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अश्वगन्धाऽजश्रृङ्गी च सारिवा सपुनर्नवा ।

सहे तथा विदारी च कषायाः सेचने हिताः ॥३॥

अश्वगन्धा, काकड़ाश्रृङ्गी, सारिवा, पुनर्नवा, मुद्गपर्णी माषपर्णी, विदारी इनका कषाय परिषेक में उत्तम है । (इनको अलग अलग या समुदाय रूप में बरते) ॥३॥

तलमभ्यञ्जने कार्यं कुष्ठे सर्जरसेऽपि च ।

पलङ्कषायां नलदे तथा गिरिकदम्बके ॥४॥

कूठ, राल, गुग्गुल, जटामाँसी और गिरिकदम्ब (अपराजिता) इनके कल्क से अभ्यञ्ज के लिये तैल सिद्ध करे । (द्रव्यकार्य पानी से करना चाहिये) ॥४॥

धवाश्वकर्णककुम्भधातकीतिन्दुकीषु च ।

काकोल्यादिगणे चैव पानीयं सर्पिरिष्यते ॥५॥

धव, अश्वकर्ण, अर्जुन, धातकी, तिन्दुक इनके कषाय में काकोल्यादि गण के कल्क से घृत सिद्ध करे यह घृत पीने के लिये देवे ।

वक्तव्य—कोई आचार्य धव अश्वकर्ण आदि कषाय उपरोक्त तैलपाक के लिये गिनते हैं ॥५॥

कुलत्था शङ्खचूर्णं च प्रदेहः सार्वगन्धिकः ।

गृध्रोलूकपुरीषाणि यवा यवफलो घृतम् ॥६॥

सन्ध्ययोरुभयोः कार्यमेतदुद्धूपनं शिशोः ।

वरुणारिष्टकमयं रुचकं सैन्दुकं तथा ॥७॥

सततं धारयेच्चापि कृतं वा पौत्रजीविकम् ।

शुक्लाः सुमनसो लाजाः पयः शाल्योदनं तथा ॥८॥

बलिर्निवेद्यो गोतीर्थे रेवत्यै प्रयतात्मना ।

कुलत्थी, शंख का चूर्ण और एलादि गण की औषधियों का सब शरीर पर प्रदेह करे । गीध, उल्लू का मल, जौ, बाँस और घी इनसे दोनों संध्या काल में बच्चे को धूप देवें । वारणा और नीम की लकड़ी का बना, सैन्दुक (निर्गुण्डी) का बना या जीया पोता की लकड़ी का बना रुचक (आभूषण) सदा धारण कराये । श्वेतफूल, लाजा, दूध, शालीभात इनकी बलि, गोतीर्थ में (जहाँ गायें पानी पीती हों) उपवासादि से पवित्र होकर रेवतीग्रह के लिए देवे ॥६-८॥

सङ्गमे च भिषक् स्नानं कुर्याद्धात्रीकुमारयोः ॥९॥

नानावस्त्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना ।

चलत्कुण्डलिनी श्यामा रेवती ते प्रसीदतु ॥१०॥

उपासते यां सततं देव्यो विविधभूषणाः ।

लम्बा कराला विनता तथैव बहुपुत्रिका ॥

रेवती शुष्कनामा या सा ते देवी प्रसीदतु ॥११॥

दो नदियों के संगम में वैद्य धात्री और बालक को स्नान कराये । रक्षामन्त्र—नाना प्रकार के वस्त्रों को धारण करनेवाली, चित्र विचित्र माला एवं अनुलेप वाली, हिलते हुए कुण्डलोंवाली, श्याम वर्ण की रेवतीदेवी तेरे पर प्रसन्न हो । नाना

प्रकार के भूषण पहने हुए जिस देवी की निरन्तर उपासना करते हैं, लम्बी-कराल (विकट दान्तों की), विनता (कुबड़ी) बहुपुत्रों वाली, शुष्क नाम की जो रेवती देवी हैं, वह तुझ पर प्रसन्न हो ॥६-११॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे रेवती प्रतिषेधोनाम (पञ्चमोऽध्यायः, आदितः) एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पूतनाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे पूतनाप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे जैसा—भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

कपोतवङ्काऽरलुको वरुणः पारिभद्रकः ।
आस्फोता चैव योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥३॥
वचा वयःस्था गोलोमी हरितालं मनःशिला ।
कुष्ठं सर्जरसश्चैव तैलार्थे वर्ग इष्यते ॥४॥

बालकों को स्नान करने के लिये कपोतवंका (ब्राह्मी), अरलु, वरना, बकायन, सारिवा इनका क्वाथ बरतना चाहिये। अभ्यङ्ग करने के लिये बच, गिलोय (या हरड़), दूर्वा, हरताल, मैनसिल, कुष्ठ और राल इनका कल्क और कषाय इनमें तेल सिद्ध करे (हरताल मैनसिल का कषाय नहीं होगा इसलिये इनका कल्क ही लेकर द्रव कार्य जल से करे) ॥३,४॥

हितं घृतं तुगाक्षीर्या सिद्धं मधुरकेषु च ।
कुष्ठतालीशखदिरचन्दनस्यन्दने तथा ॥५॥
देवदारुवचाहिंगुकुष्ठंगिरिकदम्बकः ।
एलाहरेणवश्चापि योज्या उद्धूपने सदा ॥६॥
गन्धनाकुलिकुम्भीके मज्जानो बदरस्य च ।
कर्कटास्थि घृतं चापि धूपनं, सर्षपैः सह ॥७॥

वंशलोचन, काकोल्यादि मधुरगण, इनके क्वाथ में कुष्ठ, तालीश, खैर, चन्दन और साँदन इनके कल्क से सिद्ध घृत पीने में बरते। देवदारु, बच, हींग, कूठ, कोयल, इलायची और हरेणु इनसे सदा धूम देवे। गन्धनाकुली (रास्ना), कुंभिका (जल कुम्भि), बेरकी मज्जा, केंकड़े की अस्थि, घी और सरसों इनसे सदा धूप देवे ॥५-७॥

काकादनीं चित्रफलां बिम्बीं गुञ्जां च धारयेत् ।
मत्स्यौदनं च कुर्वीत कृशरां पललं तथा ॥
शरावसंपुटे कृत्वा बलिं शून्यगृहे हरेत् ॥८॥

काकादनी (वायसी या कौआ ठूंठी), चित्रफला (इन्द्रायण) कन्दूरी और रत्ती बच्चे को धारण कराये। मछली और भात, तिल-तण्डुल की खिचड़ी, तिलकल्क इनको एक शराब सम्पुट (दोहने) में रखकर शून्यघर में (जहाँ कोई नहीं रहता हो) बलि देवे ॥८॥

उच्छिष्टेनाभिषेकेण शिशोः स्नपनमिष्यते ।
पूज्या च पूतना देवी बलिभिः सोपहारकैः ॥९॥
मलिनाम्बरसंवीता मलिना रूक्षमूर्धजा ।
शून्यागाराश्रिता देवी दारकं पातु पूतना ॥१०॥
दुर्दर्शना सुदुर्गन्धा कराला मेघकालिका ।
भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना ॥११॥

जूठे पानी से बच्चे को स्नान कराये। बलि एवं उपहार से पूतना देवी का पूजन करना चाहिये। रक्षामन्त्र-मैले वस्त्रों को धारण किये हुए, मलिन, रूक्ष बालों की, शून्यघर में रहनेवाली, पूतना देवी बच्चे की रक्षा करे। देखने में भद्दी, दुर्गन्धवाली, कराल, मेघ के समान काली, टूटे घर में रहनेवाली, पूतना देवी बच्चे की रक्षा करे ॥९-११॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे पूतनाप्रतिषेधो नाम (षष्ठोऽध्यायः, आदितः) द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽन्धपूतनाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अन्धपूतना प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १,२॥

तिक्तकद्रुमपत्राणां कार्यः क्वाथोऽवसेचने ।

बच्चे को स्नान कराने के लिए नीम आदि तिक्त वृक्षों के पत्तों का क्वाथ बरतना चाहिये ।

सुरा सौवीरकं कुष्ठं हरितालं मनःशिला ॥३॥
तथा सर्जरसश्चैव तैलार्थमुपदिश्यते ।
पिप्पल्यः पिप्पलीमूलं वर्गो मधुरको मधु ॥४॥
शालपर्णी बृहत्यौ च घृतार्थमुपदिश्यते ।

सुरा, काञ्जी, कूठ, हरताल, मैनसिल और राल इनमें तैल सिद्ध करे। पिप्पली, पिप्पलीमूल, काकोल्यादिमधु, शालपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, इनमें घृत सिद्ध करे ॥३,४॥

सर्वगन्धैः प्रदेहश्च गात्रेष्वक्ष्णोश्च शीतलैः ॥५॥

एलादि सर्वगन्धद्रव्यों से तथा शीतल द्रव्यों से शरीर पर और आंखों पर लेप करना चाहिये ॥५॥

पुरीषं कौक्कुटं केशांश्चर्म सर्पत्वचं तथा ।
जीर्णां च भिक्षुसंघाटीं धूपनायोपकल्पयेत् ॥६॥

मुर्गे का मल, केश, चर्म, सांप की केंचुली, भिक्षु की पुरानी कन्था (गुदड़ी) इनसे धूप देवे ।

वक्तव्य—"भिक्षुसंघाटी भिक्षुरत्रशाक्यभिक्षुर्बौद्धाख्यः, परिव्राजकश्च, तयोः जीर्णसंघाटी जीर्णवस्त्रम्" ॥६॥

कुक्कुटीं मर्कटीं शिम्बीमनन्तां चापि धारयेत् ।
मांसमामं तथा पक्वं शोणितं च चतुष्पथे ॥७॥
निवेद्यमन्तश्च गृहे शिशो रक्षानिमित्ततः ।

शिशोश्च स्नपनं कुर्यात् सर्वगन्धोदकैः शुभैः ॥८॥
कराला पिङ्गला मुण्डा कषायाम्बरवासिनी ।
देवी बालमिमं प्रीता संरक्षत्वन्धपूतना ॥९॥

कुक्कुटी, कौंच, शिम्बी (सेम), सारिवा इनको धारण कराये। कच्चा और पका मांस, रक्त इनको चौराहे पर और भग्न घर के अन्दर बच्चे की रक्षा के लिये बलि देवे। शिशु को और धात्री को, एलादि सर्वगन्ध द्रव्यों से स्नान कराये। रक्षामन्त्र—कराल, पिंगल, मुण्ड, कषाय वस्त्र को धारण करनेवाली, अन्धपूतना देवी इस बालक की रक्षा करे ॥७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रेऽन्धपूतनाप्रतिषेधो नाम (सप्तमोऽध्यायः आदितः) त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः शीतपूतनाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शीतपूतनाप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

कपित्थं सुवहां निम्बीं तथा बिल्वं प्रचीबलम् ।
नन्दीं भल्लातकं चापि परिषेके प्रयोजयेत् ॥३॥
बस्तमूत्रं गवां मूत्रं मुस्तं च सुरदारु च ।
कुष्ठं च सर्वगन्धांश्च तैलार्थमवचारयेत् ॥४॥
रोहिणीसर्जखदिरपलाशककुभत्वचः ।
निष्क्वाथ्य तस्मिन्निष्क्वाथे सक्षीरं विपचेद्घृतम् ॥५॥
गृध्रोलूकपुरीषाणि वस्तगन्धानहेस्त्वचः ।
निम्बपत्राणि मधुकं धूपनार्थं प्रयोजयेत् ॥६॥
धारयेदपि लम्बां च गुञ्जां काकादनीं तथा ।

कैथ, सुवहा (गोधापदी या रास्ना) कन्दूरी, बिल्व, प्रचीबलम् (मछेछी या आँवला), नन्दी (अश्वत्थ, पारस पीपल), मिलावा इनका क्वाथ परिषेक में बरते। बकरी का मूत्र, गोमूत्र, मुस्ता, देवदारु, कुष्ठ और एलादिगण इनसे तैल सिद्ध करे। रोहिणी (कट्फल), चीड़, खैर, ढाक और अर्जुन की छाल, इनका क्वाथ करके इस क्वाथ में दूध मिलाकर घृत सिद्ध करे। गीध, उल्लू की विष्ठा, वस्तगन्धा (अजगन्धा), साँप की केंचुली, नीम के पत्ते और मुलैहठी इनसे धूप देवे। लम्बा (कडुवातुम्बा), रत्ती, काकादनी, (कौआठूंठी या श्वेत रत्ती) को धारण कराये।

वक्तव्य—डल्हण ने नन्दी भल्लातक पाठ पढ़कर जलपिप्पली अर्थ किया है ॥३-६॥

नद्यां मुद्गकृतैश्चान्नैस्तर्पयेच्छीतपूतनाम् ॥७॥
देव्यै देयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं तथा ।
जलाशयान्ते बालस्य स्नपनं चोपदिश्यते ॥८॥

मूँग से बने भक्ष्यों से नदी में बलि देकर शीतपूतना को प्रसन्न करे। इस देवी के लिये वारुणी (मद्य) और रक्त का उपहार देना चाहिये। बालक को जलाशय के किनारे स्नान कराये। (नदी के समीप स्नान कराये) ॥७,८॥

मुद्गौदनाशना देवी सुराशोणितपायिनी ।
जलाशयालया देवी पातु त्वां शीतपूतना ॥९॥

रक्षामन्त्र—मूंग और चावल को खानेवाली, सुरा एवं रक्त को पीनेवाली, जलाशय में रहनेवाली शीतपूतना देवी तेरी रक्षा करे ॥९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे शीतपूतनाप्रतिषेधो नाम (अष्टमोऽध्यायः, आदितः) चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मुखमण्डिकाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मुखमण्डिकाप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कहा था ॥१,२॥

कपित्थबिल्वतर्कारीवांशीगन्धर्वहस्तकाः ।
कुबेराक्षी च योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥३॥

कैथ, बिल्व, अरणि (अग्निमन्थ), वंशलोचन, एरण्ड, कुबेराक्षी (रुद्राक्षा या काष्ठ पाटला) इनके क्वाथ से बालक को स्नान कराये ॥३॥

स्वरसैर्भृङ्गवृक्षाणां तथाऽजहरिगन्धयोः ।
तैलं वसां च संयोज्य पचेदभ्यञ्जने शिशोः ॥४॥

वातहर-एरण्ड आदि वृक्षों के कोमल पत्तों के तथा अजगन्धा और अश्वगन्धा के कषाय में वसा और तैल को मिलाकर सिद्ध करे। इस तैल से बच्चे का अभ्यंग करे। (भृंगवृक्षः भृंगराज इति श्री हाराणचन्द्रः) ॥४॥

मधूलिकायां पयसि तुगाक्षीर्यां गणे तथा ।
मधुरे पञ्चमूले च कनीयसि घृतं पचेत् ॥५॥

मधूलिका–मूर्वा में, दूध में, वंशलोचन काकोल्यादि मधुर गण में, शालपर्ण्यादि लघु पंचमूल में घृत को सिद्ध करे ॥५॥

वचा सर्जरसः कुष्ठं सर्पिश्चोद्धूपनं हितम् ।
धारयेदपि जिह्वाश्च चाषचीरल्लिसर्पजाः ॥६॥
वर्णकं चूर्णकं माल्यमञ्जनं पारदं तथा ।
मनःशिलां चोपहरेद्गोष्ठमध्ये बलिं तथा ॥७॥
पायसं सपुरोडाशं बल्यर्थमुपसंहरेत् ।
मन्त्रपूताभिरद्भिश्च तत्रैव स्नपनं हितम् ॥८॥

बच, राल, कूठ, घी इनसे धूप देना उत्तम है। चाष, चील, साँप की जीभ को धारण कराये। कमीला, चूना, पुष्प, सुरमा, पारा, मैनशिल, खीर, पुरोडाश इनसे गौ शाला में बलि

देवे। मंत्र से पवित्र किये जल से बच्चे को गौशाला में ही स्नान कराये ॥

वक्तव्य—पुरोडाश-अष्टाकपालः पिष्टमयः कपालोपरिपक्कः तृणाग्नि ।।" मंत्र से—पवित्रगायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित जल से स्नान कराये। गोष्ठ का अर्थ-जहाँ गायें बैठकर मध्याह्न में जुगाली या आराम करती हैं—उस स्थान से है ॥६-८॥

अलङ्कृता रूपवती सुभगा कामरूपिणी।
गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वां मुखमण्डिका ॥९॥

रक्षामन्त्र—अलंकृत, रूपवती, सौभाग्यवती, कामरूपी, गोशाला के बीच में रहनेवाली मुखमण्डिका देवी तेरी रक्षा करे ॥९॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे मुखमण्डिकाप्रतिषेधो नाम (नवमोऽध्यायः, आदितः) पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नैगमेषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे नैगमेषप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

बिल्वाग्निमन्थपूतीकाः कार्याः स्युः परिषेचने।
सुरा सबीजं धान्याम्लं परिषेके च शस्यते ॥३॥
प्रियङ्गुसरलानन्ताशतपुष्पाकुटन्नटैः।
पचेत्तैलं सगोमूत्रैर्दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः ॥४॥

बच्चे को स्नान कराने के लिये बिल्व, अग्निमन्थ, करंज का कषाय बरते। सुरा, सुराबीज (किण्व) और कांजी से परिषेक करना उत्तम है। प्रियंगु, चीड़ (बिरोजा), सारिवा, सौंफ, केवड़ी मोथा इनके कल्क से, गोमूत्र, दही, मस्तु, बिजौरे का रस, कांजी इनमें तैल पकाये (गोमूत्र आदि तैल के बराबर ले) ॥

पञ्चमूलद्वयक्वाथे क्षीरे मधुरकेषु च।
पचेद्घृतं च मेधावी खर्जूरीमस्तकेऽपि वा ॥५॥

दशमूल का क्वाथ, दूध, इनमें काकोल्यादिगण और खर्जूर का शिरोभाग इनके कल्क से बुद्धिमान् घृतपाक करे। (दशमूल का क्वाथ तीन भाग, दूध एक भाग लेकर पकाये) ॥५॥

वचां वयःस्थां गोलोमीं जटिलां चापि धारयेत्।
उत्सादनं हितं चात्र स्कन्दापस्मारनाशनम् ॥६॥

वच, गिलोय (या हरड़), दूर्वा और जटामासी इनको धारण कराये। स्कन्दापस्मार नाशक कही औषधियो से बच्चे को उत्सादन करे ॥६॥

सिद्धार्थकवचाहिङ्गुकुष्ठं चैवाक्षतैः सह।
भल्लातकाजमोदाश्च हितमुद्धूपनं शिशोः ॥७॥

सरसों, वच, हींग, कूठ, अक्षत (जौ), भिलावा, अजवायन इनसे बच्चे को धूप देवे ॥७॥

मर्कटोलूकगृध्राणां पुरीषाणि नवग्रहे।
धूपः सुप्ते जने कार्यो बालस्य हितमिच्छता ॥८॥

बन्दर, उल्लू, गीध इनकी बिष्ठा का अक्षत (जौ) के साथ, नवग्रह में बच्चे को रात्रि में धूप देवे ॥८॥

तिलतण्डुलकं माल्यं भक्ष्यांश्च विविधानपि।
कुमारपितृमेषाय वृक्षमूले निवेदयेत् ॥९॥

तिल, तण्डुल, माला (पुष्प), नाना प्रकार के भक्ष्यपदार्थों की कुमारपितृमेष ग्रह के लिये वृक्षमूल में बलि देवे ॥९॥

अधस्ताद्वटवृक्षस्य स्नपनं चोपदिश्यते।
बलिं न्यग्रोधवृक्षेषु तिथौ षष्ठ्यां निवेदयेत् ॥१०॥
अजाननश्चलाक्षिभ्रूः कामरूपी महायशाः।
बालं बालपिता देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥११॥

बच्चे को बरगद के वृक्ष के नीचे स्नान कराये। बरगद के वृक्षों में छठी तिथि में बलि देवे। रक्षामन्त्र—बकरी के समान मुख को, चंचल आँख एवं भ्रूवाला, कामरूप, बड़े यशवाला, बालकों का पिता नैगमेष देव, बालक की रक्षा करे ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे नैगमेषप्रतिषेधो नाम (दशमोऽध्यायः आदितः) षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो ग्रहोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे ग्रहोत्पत्ति अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में भूतविद्या के अनुसार ग्रहों की उत्पत्ति आदि का वर्णन है ॥१,२॥

नव स्कन्दादयः प्रोक्ता बालानां य इमे ग्रहाः।
श्रीमन्तो दिव्यवपुषो नारीपुरुषविग्रहाः ॥३॥

बालकों के स्कन्दादि जो ये नौ ग्रह कहे हैं, ये सब ऐश्वर्यशाली, दिव्य तनु एवं स्त्री पुरुष शरीरवाले हैं ॥३॥

एते गुहस्य रक्षार्थं कृत्तिकोमाग्निशूलिभिः।
सृष्टाः शरवणस्थस्य रक्षितस्यात्मतेजसा ॥४॥

शरवणस्थ एवं अपनी शक्ति से रक्षित होने पर भी गुह (कार्तिकेय) की रक्षा के लिये कृत्तिका पार्वती अग्नि और महादेव ने इन ग्रहों को उत्पन्न किया है।

वक्तव्य—जिस प्रकार अपनी शक्ति से रक्षित इन्द्र की दूसरे देव रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कार्तिकेय की ये ग्रह रक्षा करते हैं।

वि० मन्तव्य—गुह अर्थात् कार्तिकेय की कथा शिवपुराण तथा कुमारसम्भव नामक काव्य में देखिये। संक्षेपतः यह शिव के पुत्र थे और इन्होंने तारकासुर का वध किया था। तारकासुर का वध करने के लिये ही भगवान् शिव ने कार्त्तिकेय को उत्पन्न किया था ॥४॥

स्त्रीविग्रहा ग्रहा ये तु नानारूपा मयेरिताः।
गङ्गोमाकृत्तिकानां ते भागा राजसतामसाः ॥५॥

स्त्री शरीरवाले जो ये नानाप्रकार के ग्रह मैंने कहे हैं, जिनको गंगा, पार्वती, और कृत्तिका ने बनाया है, ये ग्रह राजस् एवं तामस् हैं (रजतमोमय हैं) ॥५॥

नैगमेषस्तु पार्वत्या सृष्टो मेषाननो ग्रहः।
कुमारधारो देवस्य गुहस्यात्मसमः सखा ॥६॥

नैगमेष ग्रह को पार्वती ने बनाया है, इसका मुख मेष (मेढ़) के समान है, कुमार की रक्षा करनेवाला गुह (कार्त्तिकेय) देव का अभिन्न मित्र है ॥६॥

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः सोऽग्निनाऽग्निसमद्युतिः।
स च स्कन्दसखा नाम विशाख इति चोच्यते ॥७॥

स्कन्दापस्मारग्रह अग्नि से उत्पन्न हुआ है, इसकी द्युति अग्नि के समान है, यह स्कन्द का मित्र है, इसका दूसरा नाम विशाख है ॥७॥

स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन त्रिपुरारिणा।
बिभर्ति चापरां संज्ञां कुमार इति स ग्रहः ॥८॥

रुद्रदेवता ने स्कन्द को उत्पन्न किया है, इसी ग्रह को 'कुमार' इस नाम से भी कहते हैं ॥८॥

बाललीलाधरो योऽयं देवो रुद्राग्निसंभवः।
मिथ्याचारेषु भगवान् स्वयं नैष प्रवर्तते ॥९॥

बालकों की लीला को धारण करनेवाला, रुद्र एवं अग्नि से उत्पन्न यह देव, मिथ्या आचरणों में स्वयं प्रवृत्त नहीं होता, (भगवान् होने से) अपितु इसके नौकर प्रविष्ट होते हैं। कहा भी है—

"तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तमाविशन्ति ॥"
सु० अ० ६०।२२।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य यह है कि कुमार अर्थात् कार्तिकेय स्वयं बालकों में आवेश नहीं करता अपितु उसके स्कन्द आदि अनुचर ही आवेश करते हैं ॥९॥

कुमारः स्कन्दसामान्यादत्र केचिदपण्डिताः।
गृह्णातीत्यल्पविज्ञाना ब्रुवते देहचिन्तकाः ॥१०॥

कार्तिकेय स्कन्दग्रह के नाम की समानता से बालक को आक्रान्त करते हैं, ऐसा कई अपण्डित, देहचिन्तक वैद्य कहते हैं, वे अल्प ज्ञानवाले और मूर्ख हैं ॥१०॥

ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते।
उपतस्थुर्ग्रहाः सर्वे दीप्तशक्तिधरं गुहम् ॥११॥

ऊचुः प्राञ्जलयश्चैनं वृत्तिं नः संविधत्स्व वै।
तेषामर्थं ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत् ॥१२॥

ततो ग्रहांस्तानुवाच भगवान् भगनेत्रहृत्।
तिर्यग्योनिं मानुषं च देवं च त्रितयं जगत् ॥१३॥

परस्परोपकारेण वर्तते धार्यतेऽपि च।
देवा मनुष्यान् प्रीणन्ति तैर्यग्योनींस्तथैव च ॥१४॥

वर्तमानैर्यथाकालं शीतवर्षोष्णमारुतैः।
इज्याञ्जलिनमस्कारजपहोमव्रतादिभिः ॥१५॥

नराः सम्यक् प्रयुक्तैश्च प्रीणन्ति त्रिदिवेश्वरान्।
भागधेयं विभक्तं च शेषं किञ्चिन्न विद्यते ॥१६॥

तद्युष्माकं शुभा वृत्तिर्बालेष्वेव भविष्यति।
कुलेषु येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च ॥१७॥

ब्राह्मणाः साधवश्चैव गुरवोऽतिथयस्तथा।
निवृत्ताचारशीलेषु परपाकोपजीविषु ॥१८॥

उत्सन्नबलिभिक्षेषु भिन्नकांस्योपभोजिषु।
गृहेषु तेषु ये बालास्तान् गृह्णीध्वमशङ्किताः ॥१९॥

तत्र वो विपुला वृत्तिः पूजा चैव भविष्यति।
एवं ग्रहाः समुत्पन्ना बालान् गृह्णन्ति चाप्यतः ॥२०॥

ग्रहोपसृष्टा बालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः।

फिर देवताओं के सेनापति बना देने पर भगवान् स्कन्द, चमकती हुई शक्ति को धारण करनेवाले गुह के पास पहुँचकर सब ग्रहोंने हाथ जोड़कर कहा कि, आप हमारी वृत्ति (जीविका) का प्रबन्ध करो। इनके लिये तब स्कन्द ने महादेव जी को कहा—भगनेत्र का नाश करनेवाले भगवान् शम्भु ने तब उन ग्रहों को कहा कि—तिर्यग्योनि (पक्षि, पशु आदि), मानुष, और देव यह तीनों प्रकार का जगत् एक दूसरे के उपकार से धारण किया जाता है, और स्थिर रहता है। देवता मनुष्यों का और तिर्यग् योनि का पोषण करते हैं, यथा समय पर शीत, वर्षा, ग्रीष्म और वायु से इस जगत् की रक्षा करते हैं। मनुष्य यज्ञ, अंजलि नमस्कार (हाथ जोड़ना), जप, होम, व्रत आदि को भलीप्रकार करके देवताओं को प्रसन्न करते हैं। इस अंश समूह को देवता, मनुष्य तिर्यग्योनि ने आपस में बाँट लिया है, इस लिये इससे तो कुछ बचता नहीं। इसलिये तुम्हारी उत्तम जीविका बालकों में ही होगी। उनमें भी जिन कुलों में देवताओं और पितरों के लिये यज्ञ नहीं होता, ब्राह्मण, साधु, (सज्जन पुरुष), गुरु, एवं अतिथियों की जहाँ पूजा नहीं होती, आचार-पवित्रता जहाँ नष्ट हो गई, दूसरे के ऊपर जीनेवाले, जहाँ बलि एवं भिक्षा नष्ट हो गई हो, टूटे-पात्रों में भोजन करनेवाले, घरों में जो बालक हों उनको तुम बिना शंका के आक्रान्त करो। वहाँ तुमको प्रचुर जीविका मिलेगी और तुम्हारी पूजा भी होगी। इस प्रकार से उत्पन्न ग्रह बालकों को पीड़ित करते हैं, ग्रह से आक्रान्त बच्चे-कष्ट साध्य माने गये हैं ॥

वक्तव्य—गीता में भगवान् ने कहा है—"देवान् भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥" चरक में कहा है—"विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि, प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानां। उन्मादहेतुः भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥" चरक ॥१९-२०॥

वैकल्यं मरणं चापि ध्रुवं स्कन्दग्रहे मतम् ॥२१॥
स्कन्दग्रहोऽत्युग्रतमः सर्वेष्वेव यतः स्मृतः।
अन्यो वा सर्वरूपस्तु न साध्यो ग्रह उच्यते ॥२२॥

स्कन्दग्रह के आक्रमण से विकलांगता और मृत्यु निश्चित है। क्योंकि इन सब में स्कन्दग्रह सबसे अधिक उग्र कहा है। दूसरे किसी ग्रह में सम्पूर्ण लक्षण होनेपर वह असाध्य होता है ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे ग्रहोत्पत्त्यध्यायो नाम (एकादशोऽध्यायः, आदितः) सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापत्प्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे योनिव्यापत्प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—योनि—भग (मैथुनोपयोगी अवयव) तथा गर्भाशय नामक अवयवों का सम्मिलित नाम योनि है इस अवयव के तीन आवर्त्त हैं-दो भग कहलाते हैं और तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या—गर्भाशय रहता है। इस अध्याय में भग एवं गर्भाशय की व्यापदों—विकृतियों का वर्णन तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है। व्यापद् शब्द रोग वाचक है ॥१,२॥

प्रवृद्धलिङ्गं पुरुषं याऽत्यर्थमुपसेवते।
रूक्षदुर्बलबाला या तस्या वायुः प्रकुप्यति ॥३॥
स दुष्टो योनिमासाद्य योनिरोगाय कल्पते।

अतिप्रलम्ब (अधिक पुष्ट एवं लम्बे) मेहनवाले पुरुष का जो रूक्ष, दुर्बल शरीरवाली स्त्री अथवा बालिका अतिशय सेवन करती है, उसमें वायु प्रकुपित हो जाती है, यह दूषित वायु योनि में पहुँचकर योनिरोगों को उत्पन्न करती है। चरक में—
"मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च ताः शृणु पृथक् ॥" ॥३॥

त्रयाणामपि दोषाणां यथास्वं लक्षणेन तु ॥४॥
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे।
मिथ्याचारेण या स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥५॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्।

वातादि तीनों दोषों के उनके अपने अपने लक्षणों के अनुसार बीस योनिरोग रोगसंग्रह में कहे हैं। जो कि स्त्रियों के मिथ्या आचार से, दूषित आर्त्तव से, बीज दोष से और दैव (प्राक्तन कर्म)के कारण उत्पन्न होते हैं उनको पृथक्-पृथक् सुनो।

वि० मन्तव्य—इन बीस प्रकार की व्यापदों के चार कारण हैं—१ नारी का मिथ्या आचार अर्थात् प्रकृति विरुद्ध आहार एवं विहार। २—आर्त्तव अर्थात् रजस् की विकृति-जैसा सु० शा० अ० २ सू० ५ में बतलाया गया है। ३-बीज दोष माता पिता के शोणित एवं शुक्र की विकृति-जैसे कुष्ठ, अर्श, प्रमेह एवं स्थौल्य आदि विकार सहज होते हैं वैसे योनिव्यापद् भी होती हैं-प्रायः—अत्यानन्दा योनिव्यापद्वाली माता की पुत्री भी अत्यानन्दा से पीड़ित देखी जाती हैं। ४—दैवात्-दैवयोग से-उक्त तीनों कारण न होने पर भी किसी को योनिव्यापद् हो जाती है ॥४,५॥

उदावर्ता तथा बन्ध्या विप्लुता च परिप्लुता ॥६॥
वातला चेति वातोत्थाः पित्तोत्थाः रुधिरक्षरा।
वामिनी स्रंसिनी चापि पुत्रघ्नी पित्तला च या ॥७॥
अत्यानन्दा च या योनिः कर्णिनी चरणाद्वयम्।
श्लेष्मला च कफाज्ज्ञेया षण्डाख्या फलिनी तथा ॥८॥
महती सूचीवक्त्रा च सर्वजेति त्रिदोषजा।

वातज पाँच योनि रोग—उदावर्त्ता, बन्ध्या, विप्लुता, परिप्लुता और वातला। पित्तज पाँच-रुधिरक्षरा, वामिनी स्रंसिनी, पुत्रघ्नी, पित्तला। कफज पाँच—अत्यानन्दा, कर्णिनी, अचरणा, अतिचरणा, श्लेष्मला। सन्निपातज पाँच—षण्डी, फलिनी, महती, सूचीवक्त्रा, सर्वजा ॥६-८॥

सफेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥९॥
बन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम्।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मे रुजा भृशम् ॥१०॥
वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥११॥

उदावर्त्ता योनि में झाग के साथ रज कठिनाई से आता है। बन्ध्या में आर्त्तव नष्ट होता है, विप्लुता में नित्य वेदना रहती है। परिप्लुता में—सहवास करते समय अतिशय पीड़ा होती है। वातलायोनि-कर्कश, स्तब्ध (कठोर), शूल एवं चुभने की वेदनावाली होती है। प्रथम चारों योनियों में वात की पीड़ायें रहती हैं ॥९—११॥

सदाहं प्रक्षरत्यस्रं यस्यां सा लोहितक्षरा।
सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥१२॥
प्रस्रंसिनी स्यन्दते तु क्षोभिता दुःप्रसूश्च या।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात् ॥१३॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥१४॥

जिस योनि में से निरन्तर दाह के साथ थोड़ा थोड़ा रक्त बहता रहता है, वह लोहितक्षरा है। वामिनी योनि

बीज को (शुक्रकीट को) वायु के साथ रजःकाल में बाहर कर देती है। प्रस्रंसिनी-योनि में विक्षोभ होने पर (सहवास में) बहुत स्राव होता है, और कठिनाई से प्रसव होता है। पुत्रघ्नी योनि में—रक्त के स्राव होने से गर्भ रह कर नष्ट हो जाता है। पित्तला योनि में अतिशय दाह, पाक, ज्वर रहता है। प्रथम चार योनि रोगों में पित्त के लक्षणों की अधिकता रहती है।

वि० मन्तव्य—प्रस्रंसिनी—इस योनि व्यापद् में गर्भाशय खिसककर नीचे आ जाता है। इसे (धरा गिरना) कहते हैं। धरा गर्भाशय का नाम है॥१२–१४॥

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।
कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते॥१५॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते।
बहुशश्चातिचरणादन्या बीजं न विन्दति॥१६॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूयुक्ताऽतिशीतला।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रितिर्भवेत्॥१७॥

अत्यानन्दायोनि में—मैथुन से कभी तृप्ति नहीं होती। कर्णिनीयोनि में कफ रक्त के कारण योनि में कर्णिका उत्पन्न हो जाती है। अचरणायोनि में मैथुन क्रिया में-पुरुष से पूर्व ही स्राव हो जाता है। अतिचरणायोनि—बहुत मैथुन करने से बीज (गर्भ) को ग्रहण नहीं करती (यथा-वेश्याओं में) श्लेष्मला योनि—पिच्छिल, कण्डु-युक्त और अति शीतल रहती है (प्रायः मोटी-फैट वाली औरतों में ऐसा दीखता है)। प्रथम चारों में कफ के लक्षणों की अधिकता रहती है।

वि० मन्तव्य—बहुशश्चाति चरणा—अतिचरणा नामक योनि व्यापद में—बहुत बार स्खलन हो जाता है और इन अचरणा तथा अतिचरणा में गर्भाधान नहीं होता। योनिस्राव वस्तुतः नारी का शुक्र है और शुक्र कफ वर्ग का पदार्थ है अतः कफ-जनित योनि व्यापद् में ऐसा होता है। अत्यानन्दा नामक योनि व्यापद् का भी यही कारण हैं और कर्णिनी तथा श्लेष्मला का भी यही कारण है। इन रोगों से पीड़ित नारियाँ इन रोगों के कारण बहुपुरुष गामिनी हो जाती हैं, इस दशा में सदुपदेश के साथ २ उचित चिकित्सा भी होनी चाहिये। "बहुशश्चाति चरणादन्या बीजं न विन्दति" के स्थान पर "बहुशश्चाति चरणा तयोर्बीजं न तिष्ठति" पाठान्तर है, दे० डल्लन टीका। इसी पाठान्तर को भावमिश्र तथा माधवाचार्य ने उत्तम समझा है। अतः अपने ग्रन्थों में इसी पाठ को उद्धृत किया है॥

वक्तव्य—अचरणा–पुरुषात् पूर्वमतिरिच्यते–अत्यर्थं कण्डूयते। वात्स्यायन ने स्त्री पुरुष की प्रकृति का भेद किया है–यथा पुरुष में काम की अधिकता प्रथम अधिक होती है, फिर उत्तरोत्तर घटती जाती है, स्त्री में इससे विपरीत रहता है, उनमें पहले कम रहती है फिर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उनके मानसिक भाव पुरुष से सब अवस्थाओं में विपरीत हैं, यथाः "स्त्रिय कामयंते, न तु प्रार्थयंते," स्त्री पुरुष की कामना करती है, परन्तु प्रेम या विवाह का प्रस्ताव पेश नहीं करती, पुरुष चाहना भी करता है और प्रेम या विवाह की मंगनी भी करता है। इसी प्रकार मैथुन में होता है। इसी से कहा है कि न स्त्रीपुरुषवदेवभावमधिगच्छति। (२) दूसरा पक्ष चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरज्यन्ते। शीघ्रवेगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूयिन्यो भवन्ति। तत्सर्वभावप्राप्तेरप्राप्तेश्च लक्षणम्॥ सातत्यात् युवतिरारम्भात्प्रभृति भावमधिगच्छति, पुरुषःपुनरन्त एव। "सुरतान्ते सुखं पुंसां स्त्रीणां तु सततं सुखम्। धातुक्षयनिमित्ता च विरामाच्चोपजायते॥" वात्स्यायन कामसूत्र॥१५-१७॥

अनार्तवस्तना षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।
अतिकायगृहीतायास्तरुण्याः फलिनो भवेत्॥१८॥
विवृताऽतिमहायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता।
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा॥१९॥
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रितिर्भवेत्।
पञ्चासाध्या भवन्तीमा योनयः सर्वदोषजाः॥२०॥

षण्डी योनि में न तो आर्त्तव आता है, और न स्तन ही उभरे होते हैं, मैथुन में कठोर स्पर्शवाली होती है। अति लम्बे या पुष्ट मेहनवाले पुरुष के साथ छोटी उमर की स्त्री के मैथुन करने से फलिनी योनि होती है। अतिविवृता को ही महायोनि कहते हैं, सूचिवक्त्रा योनि अतिशय सूक्ष्म मुखवाली होती है (इनमें योनि पटल-योनिविवर पर रहता है, उसका छेद बहुत छोटा या सदा बन्द होता है)। सन्निपातज योनि में-सब दोषों के लक्षण रहते हैं। प्रथम चारों में तीनों दोषों के लक्षण अधिकता से रहते हैं। सन्निपातज ये पांचों योनिरोग असाध्य हैं।

वक्तव्य—वात्स्यायन में इसी से कहा है–न प्रसह्य किंचिदाचरेत्। "इसी विचार से कामशास्त्र से शशादि भेद पुरुषों के एवं स्त्रियों के किये हैं। जिससे मेहन के दोषजन्य, या योनि-दोषजन्य रोग उत्पन्न न हों। योनि विवर पर योनिछद कई कई बार बिल्कुल बन्द ही रहता है, या इसका मुख तंग रहता है, जिससे आर्तव नहीं आता—उस समय चिकित्सक इसको काट देता है[1]।

वि० मन्तव्य—षण्डी नामक योनिव्यापद में आर्त्तव नहीं होता। फलतः उससे पीड़ित नारी वन्ध्या होती है, क्योंकि भग-

---

१ शशो वृषोऽश्व इति लिंगतो नायक विशेषः।
नायिका पुनः मृगी बडवा हस्तिनी चेति॥
स्त्रीणां साधनमार्गोऽपि तद्वदेव प्रभिद्यते।
आयामपरिणाहाभ्यां मृगादीनां शशादिवत्॥

वान् पुनर्वसु के कथनानुसार इस व्यापद् में बीज (माता पिता के शोणित एवं शुक्र) के दोष से गर्भ निर्माण काल में ही वायु द्वारा गर्भाशय का उपघात हो जाता है, और यह नारी नर से द्वेष रखती है, अर्थात् इसे मैथुन की अभिलाषा ही नहीं होती और इसके स्तन अपुष्ट होते हैं अथवा उभरते ही नहीं हैं, अर्थात् सर्वतो भाव से यह नारी अपूर्व नारी होती है। च० शा० स्था अ० ४ में भी यही कहा गया है। सच यह है, कि गर्भाशय तथा स्तन ही नारी के प्रधान-मुख्य लक्षण हैं, यह दोनों अवयव जितने अधिक पुष्ट होते हैं, उतने ही उत्तम नारीत्व के सूचक हैं। फलिनी—डल्लना चार्य ने लिखा है, कि कुछ आचार्य फलिनी के स्थान में "अफलिनी" भी पढ़ते हैं, और व्याख्या करते हैं, अप्रजा अर्थात् इसमें गर्भाधान ही नहीं होता है। महायोनि—इस व्यापद् में गर्भाशय का मुख सर्वदा अत्यन्त विवृत अर्थात् खुला ही रहता है, पुनर्वसु के कथनानुसार गर्भाशय पर मांस अधिक सञ्चित हो जाता है, सर्वदा वेदना होती है, रूक्ष एवं झागयुक्त रजः स्राव होता है, तथा पोर २ एवं वंक्षण में शूल होता रहता है। देखिये च० चि० अ० ३०। सूचीवक्त्रा—इस व्यापद् में गर्भाशय का मुख अत्यन्त संवृत—बन्द रहता है। फलतः उसमें शुक्र का प्रवेश ही नहीं होता। इस व्यापद् को योनि छद कहना उचित नहीं प्रतीत होता। सर्वदोष प्रकोपजा—इस व्यापद् में पुनर्वसु के कथनानुसार 'सा भवेत् दाहशूलार्त्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी।

अर्थात् पित्त से दाह, वायु से शूल और कफ से श्वेत एवं पिच्छिल स्राव होता है। च० चि० अ० ३० में योनि व्यापदों के साथ २ शुक्र एवं शुक्रवह स्रोतों की विकृतियों का विशद वर्णन किया गया है ॥१८-२०॥

प्रतिदोषं तु साध्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते।
दद्यादुत्तरबस्तींश्च विशेषेण यथोदितान् ॥२१॥

साध्य योनिरोगों में दोष के अनुसार स्नेहन आदि चिकित्सा करे। वातादि भेद से कही हुई उत्तर वस्तियों को विशेष रूप में बरते। (जो स्नेह जिस दोष से विपरीत हो, उससे स्नेहन करके वमनादि करे) ॥२१॥

कर्कशां शीतलां स्तब्धामल्पस्पर्शां च मैथुने।
कुम्भीस्वेदैरुपचरेत् सानूपौदकसंयुतैः ॥२२॥
मधुरौषधसंयुक्तान् वेशवारांश्च योनिषु।
निक्षिपेद्धारयेच्चापि पिचुतैलमतन्द्रितः ॥२३॥
धावनानि च पथ्यानि कुर्वीतापूरणानि च।

कर्कश, शीतल, कठिन, मैथुन के स्पर्शसुख का पूर्ण अनुभव न करनेवाली योनि में—आनूपमांस और औदक मांस (कछुए-मछली आदि का मांस) के साथ कुम्भीस्वेद देवे। काकोल्यादि मधुर औषधियों से मिला कुट्टित मांस योनि में रक्खे। वातहर औषधियों से प्रक्षालन करे, इनसे भीगे वस्त्र योनि में रक्खे ॥२२,२३॥

ओषचोषान्वितासूक्तं कुर्याच्छीतं विधिं भिषक् ॥२४॥

ओष—चोष (जलन, दाह) संयुक्त योनि में वैद्य कही हुई शीतल चिकित्सा (रक्त-पित्त, नाशक) बरते ॥२४॥

दुर्गन्धां पिच्छिलां चापि चूर्णैः पञ्चकषायजैः।
पूरयेद्राजवृक्षादिकषायैश्चापि धावनम् ॥२५॥

दुर्गन्धित एवं पिच्छिलयोनि में बरगद-पीपल-पिलखन आदि कषाय वृक्षों का चूर्ण भरे, और आरग्वधादि गण के कषाय से योनि का प्रक्षालन करे ॥२५॥

योन्यां तु पूयस्राविण्यां शोधनद्रव्यसंभृतैः।
सगोमूत्रैः सलवणैः शोधनं हितमिष्यते ॥२६॥

पूयस्रावियोनि में मिश्रकोक्त शोधनद्रव्यों से, गोमूत्र से—थोड़ा नमक मिलाकर शोधन करना चाहिये ॥२६॥

बृहतीफलकल्कस्य द्विहरिद्रायुतस्य च।
कण्डूमतीमल्पस्पर्शां पूरयेद्धूपयेत्तथा ॥२७॥
वर्तिं प्रदद्यात् कर्णिन्यां शोधनद्रव्यसंभृताम् ॥
प्रस्रंसिनीं घृताभ्यक्तां क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् ॥२८॥
पिधाय वेशवारेण ततो बन्धं समाचरेत्।
प्रतिदोषं विदध्याच्च सुरारिष्टासवान् भिषक् ॥२९॥
प्रातः प्रातर्निषेवेत रसोनादुद्धृतं रसम्।
क्षीरमांसरसप्रायमाहारं विदधीत च ॥३०॥

कण्डुयुक्त, अल्पस्पर्शवाली—योनि में बड़ी कटेरी के फल का कल्क, हल्दी, दारुहल्दी इनसे योनि में धूप देवे, और इनसे योनि को भरे। कर्णिनी में शोधन द्रव्यों से बनी वर्ति योनि में रक्खे। प्रस्रंसिनी (जो योनि बाहर आ जाती है) योनि में घी से अभ्यंग करके, दूध से स्वेदन देकर इसे अन्दर प्रविष्ट करे, वेशवार (कुट्टित मांस) से बन्द करके, पट्टी बाँध देवे। दोष के अनुकूल-सुरा, आसव, अरिष्टों को बरते। प्रतिदिन प्रातःकाल लहसुन का निकाला रस पीये। दूध, मांसरसवाले अन्न का सेवन करे ॥२७-३०॥

शुक्रार्तवादयो दोषाः स्तनरोगाश्च कीर्तिताः।
क्लैब्यस्थानानि मूढस्य गर्भस्य विधिरेव च ॥३१॥
गर्भिणीप्रतिरोगेषु चिकित्सा चाप्युदाहृता।
सर्वथा तां प्रयुञ्जीत योनिव्यापत्सु बुद्धिमान्।
अपप्रजातारोगांश्च चिकित्सेदुत्तराद्भिषक् ॥३२॥

शुक्र-आर्तव आदि दोष, स्तनरोग, जो कहे हैं, क्लैब्य के कारण, मूढगर्भ के कारण और इनकी चिकित्सा, गर्भवती की मासानुमासिक एवं रक्तस्रावादि

की चिकित्सा जो कही है, इन सबको योनिव्यापत् रोगों में बुद्धिमान् बरते। अकालप्रसूता के ज्वर आदि रोगों को वैद्य उत्तरतंत्र विधिसे चिकित्सा करे ॥३२॥

इति श्री सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे योनिव्यापत्प्रतिषेधो नाम (द्वादशोऽध्यायः, आदितः) अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३८॥

उत्तरतन्त्रे द्वितीयं कौमारतन्त्रं समाप्तम् ॥२॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो ज्वरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे ज्वर प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—ज्वर प्रत्यात्मिकं लिंगं सन्तापी देहमानसः। ज्वरेणाऽऽविशता भूतं नहि किञ्चित् न तप्यते। च०चि०।

अर्थात्—ज्वर का आत्मिक-स्वीय लक्षण है देह एवं मनस् का सन्ताप—स्वाभाविक सन्ताप से शरीर में अधिक सन्ताप-उष्णता हो जाना—क्योंकि प्राणी में ज्वर का आवेश-प्रवेश हो जाने पर कोई भी भाव तप्त हुए बिना नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि समस्त शरीर पर ज्वर का प्रभाव होता है। अन्य सब रोगों का शरीर के भिन्न अवयवों पर ही प्रभाव पड़ता है। देह का सन्ताप स्पर्श से एवं थर्मामीटर से जाना जाता है और मनस् का सन्ताप—वैचित्यं अरतिः ग्लानिः मनस्सन्तापलक्षणम्, और–इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम् ॥१,२॥

येनामृतमपां मध्यादुद्धृतं पूर्वजन्मनि।
यतोऽमरत्वं संप्राप्ताख्रिदशास्त्रिदिवेश्वरात् ॥३॥
शिष्यास्तं देवमासीनं पप्रच्छुः सुश्रुतादयः।
व्रणस्योपद्रवाः प्रोक्ता व्रणिनामप्यतः परम् ॥४॥
समासाद् व्यासतश्चैव ब्रूहि नो भिषजांवर!।

जिसने पूर्वजन्म में समुद्र में से अमृत को निकाला, जिस धन्वन्तरि के कारण देवताओं ने अमरत्व प्राप्त किया, बैठे हुए उस देव धन्वन्तरि भगवान् से सुश्रुत आदि ने पूछा, आपने व्रण के उपद्रव तथा व्रणवाले पुरुष के उपद्रव संक्षेप में पहले कह दिये हैं, हे वैद्यों में श्रेष्ठ! आप उनको विस्तार से कहो।

वक्तव्य—व्रण के उपद्रव–वेदना, वर्ण स्राव आदि। व्रणवाले पुरुष के उपद्रव–

"विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः।
मोहोन्मादौ व्रणरुजा ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणिनां व्रणचिन्तकैः" ॥३,४॥

उपद्रवेण जुष्टस्य व्रणः कृच्छ्रेण सिध्यति ॥५॥
उपद्रवास्तु व्रणिनः कृच्छ्रसाध्याः प्रकीर्तिताः।
प्रक्षीणबलमांसस्य शेषधातुपरिक्षयात् ॥६॥
तस्मादुपद्रवान् कृत्स्नान् ब्रूहि नः सचिकित्सितान्।
सर्वकायचिकित्सासु ये दृष्टाः परमर्षिभिः ॥७॥

उपद्रव से युक्त रोगी का व्रण कठिनाई से अच्छा होता है, व्रणरोगी के उपद्रव कष्टसाध्य होते हैं, क्योंकि व्रणरोगी का बल (उत्साह) और मांस क्षीण हो जाता है, मेद आदि दूसरे धातु भी क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आप सब उपद्रवों को चिकित्सा के साथ हमको कहिये, जिन उपद्रवों को सम्पूर्ण कायचिकित्सा में परमर्षि (भारद्वाज या आत्रेय) ने देखा है–कहा है।

वि० मन्तव्य—ईसवी सन् १९३६-३७ की बात है श्री दुर्गाप्रसाद जी बी० ए० कलाविशारद श्री अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय काशी के सभापति थे। मैं कार्यवश प्रायः उनके निवास स्थान (लकसा) पर जाया–आया करता था, विद्यालय के कार्यों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी वार्तालाप हुआ करता था। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि वैद्यजन ज्वर को मूल व्याधि मानते हैं, परन्तु अमेरिका के एक विद्वान् ने सिद्ध कर दिया है कि ज्वर कोई मूल व्याधि नहीं है, अपितु—किसी न किसी अन्य मूल व्याधि का लक्षण है। मैंने उनसे निवेदन किया कि यह कोई नई वस्तु नहीं है। प्राचीन शल्य-शालाक्य तन्त्रों में भी ज्वर को उपद्रव माना गया है यह सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल उन्होंने अपने पुस्तकालय से सुश्रुत निकालकर मेरे सामने रख दिया, मैंने यही पाठ उनको सुनाए और वे चकित होकर कहने लगे कि वह सब तो सुश्रुत के इन्हीं पाठों का अनुवाद या भावार्थ प्रतीत होता है। अस्तु, बाबू दुर्गाप्रसाद जी खत्री अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् माने जाते थे। काशीस्थ भारत माता के मन्दिर में जो कुछ भी है वह सब उनकी ही कलाकौशल की देन है। अस्तु तात्पर्य यह है कि–काय चिकित्सा के ग्रन्थों में ज्वर आदि को मूल व्याधियां माना गया है और आयुर्वेद के अन्य अङ्गों में–शल्य तथा शालाक्य नामक अंगों में उसको उपद्रव माना गया है और उपद्रव का लक्षण काय चिकित्सा (चरक संहिता) में–उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चात् जायते इति उपद्रवसंज्ञः (च० चि० अ० २१-४०) तथा शल्यतन्त्र (सुश्रुत) में—औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिः उपसृजति स तन्मूल एव उपद्रवसंज्ञः (सु० सू० अ० ३५।१८)। दोनों में एक समान माना गया है। उपसर्ग का पर्याय ही उपद्रव है ॥५–७॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजांवरः।
ज्वरमादौ प्रवक्ष्यामि स रोगानीकराट् स्मृतः ॥८॥
रुद्रकोपाग्निसंभूतः सर्वभूतप्रतापनः।
तैस्तैर्नामभिरन्येषां सत्त्वानां परिकीर्त्यते ॥९॥

सुश्रुत आदि के इन वचनों को सुनकर वैद्यों में श्रेष्ठ धन्व-

न्तरि ने कहा—कि-सबसे प्रथम ज्वर को कहूँगा, क्योंकि वह ज्वर रोगसमूहों का राजा है, यह ज्वर रुद्र की कोपाग्नि से उत्पन्न हुआ है, सब प्राणियों को तपानेवाला है। हाथी, घोड़े आदि दूसरे प्राणियों में भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है।

वक्तव्य—भिन्न-भिन्न नामों से ज्वर, यथा—हस्तिषु पाकलः, गोषु खैरिको, मत्स्यानामिद्र जालो, विहंगानां भ्रामरकः इत्यादि शब्दों से कहा जाता है ॥८,९॥

जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्।
अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः ॥१०॥

यह ज्वर जन्म के प्रारम्भ में और मृत्यु काल में प्रायः करके प्राणियों में होता है, इसलिये सब रोगों का यह राजा कहा जाता है।

"ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः सर्वप्राणिनां प्राणहरः देहेन्द्रियमनस्तापकरः प्रज्ञाबलवर्णहर्षोत्साहह्रासकरः श्रमक्लममोहाहारोपरोधसंजननो, ज्वरयति शरीराणि इति ज्वरः स सर्वरोगाधिपतिः नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैः अभिधीयते। सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते, सज्वरा एव म्रियन्ते च, स महामोहः" । चरक नि० अ० १-४० ॥१०॥

ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्।
कर्मणा लभते यस्माद्देवत्वं मानुषादपि ॥११॥
पुनश्चैव च्युतः स्वर्गान्मानुष्यमनुवर्तते।
तस्मात्ते देवभावेन सहन्ते मानुषा ज्वरम् ॥१२॥
शेषाः सर्वे विपद्यन्ते तैर्यग्योना ज्वरार्दिताः।

देवताओं और मनुष्यों के बिना कोई भी प्राणी ज्वर को सहन नहीं करता। कर्म के कारण से ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त करते हैं। और फिर ये ही स्वर्ग से च्युत होकर पृथ्वी पर मनुष्य रूप में लौट आते हैं। इसलिये देवत्व गुण के होने से मनुष्य ज्वर को सहन कर लेते हैं, शेष पशु-पक्षियोनि के प्राणी ज्वर से पीड़ित होने पर नष्ट हो जाते हैं ॥११,१२॥

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ॥१३॥
विकारा युगपद्यस्मिन् ज्वरः स परिकीर्तितः।

पसीने का अवरोध, सन्ताप, सब अंगों का पकड़ा जाना, ये सब लक्षण एक साथ-मिलित रूप से जिस रोग में होते हैं, उसे ज्वर कहते हैं।

वक्तव्य—स्वेदावरोध, यह लक्षण प्रायिक है, क्योंकि पित्त ज्वर में पसीना आता है। सन्ताप-शरीर और मन दोनों का होता है, यथा—"वैचित्यमरतिर्ग्लानिः मनस्संतापलक्षणम्। इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्। ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते। ज्वरप्रत्यात्मिकं लिंगं सन्तापो देहमानसः ॥" शरीर और मन का सन्ताप होना ही, ज्वर का अपना विशेष लक्षण है ॥१३॥

दोषैः पृथक् समस्तैश्च द्वन्द्वैरागन्तुरेव च ॥१४॥
अनेककारणोत्पन्नः स्मृतस्त्वष्टविधो ज्वरः।

ज्वर आठ प्रकार का है, यथा-पृथग् दोषों से तीन, सन्निपातज एक, दो-दो दोषों से तीन, आगन्तुज एक, इस प्रकार से ज्वर आठ प्रकार का है ॥१४॥

दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः ॥१५॥
व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि।
दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा ॥१६॥
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम्।
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ॥१७॥
निरस्य बहिरूष्माणि पक्तिस्थानाच्च केवलम्।
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् ॥१८॥
जनयन्त्यथ वृद्धिं वा स्ववर्णं च त्वगादिषु।

सम्प्राप्ति—प्रावृड् शरद् वसन्त ऋतु अथवा दिन रात के अपने-अपने समय में अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए दोष सम्पूर्ण शरीर में फैलकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि अपने कारणों से दूषित हुए दोष आमाशय में पहुँचकर उष्णिमा के साथ मिलकर रस (हृदय) में आकर, रस एवं स्वेदवह स्रोतों के मार्गों को बन्द करके, अग्नि को मन्द बनाकर, और पक्तिस्थान (अग्निस्थान) से उष्णिमा को बाहर निकालकर सम्पूर्ण शरीर में फैलाकर अपने समय में (वातादि के प्रकोपक समय पर) ज्वर के वेग को उत्पन्न करते हैं, अथवा अपने समय में ज्वर को बढ़ाते हैं, और त्वचा, नख, नयन, मूत्र आदि में अपना वर्ण (दोष का वर्ण) उत्पन्न करते हैं।

"स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणः स्थानमुष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामं धातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिः निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ॥" चरक नि० अ० १-३०

वातज्वर—"जरणान्ते दिवसान्ते निशान्ते घर्मान्ते ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य, विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं, नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थंक्लृप्तीभावश्च अनेकविधोष्माणश्चलाश्च वेदनास्तेषां तेषामंगावयवानाम्।"

पित्तज्वर—"युगपदेव केवले शरीरेज्वरस्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण, कटुकास्यता....हरितहारित्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थमुष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं चदाहः ॥"

कफज्वर—"युगपदेव शरीरे ज्वरस्यागमनमभिवृद्धिर्वा, भुक्तमात्रे, पूर्वाह्णे, पूर्वरात्रे, वसन्तकाले वा विशेषेण गुरुगात्रत्वम्,........श्वैत्ये च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं च ॥" चरक नि० अ० १ ॥१५-१८॥

मिथ्यातियुक्तैरपि च स्नेहाद्यैः कर्मभिर्नृणाम् ॥१९॥
विविधादभिघाताच्च रोगोत्थानात् प्रपाकतः ।
श्रमात् क्षयादजीर्णाच्च विषात्सात्म्यर्तुपर्ययात् ॥२०॥
ओषधीपुष्पगन्धाच्च शोकान्नक्षत्रपीडया ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मनोभूताभिशङ्कया ॥२१॥
स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
स्तन्यावतरणे चैव ज्वरो दोषैः प्रवर्तते ॥२२॥

स्नेहन-वमन आदि कार्यों के मिथ्यारूप में या अतिमात्रा में सेवन करने से, नानाप्रकार के अभिघात से, विद्रधि आदि रोगों के कारणों से तथा विद्रधि आदि रोगों के प्रपाक से, श्रम से, क्षय से, आम-अजीर्ण से, विष से, सात्म्य या ऋतु के परिवर्तन से, औषधि पुष्प की गन्ध से, शोक से, जन्म नक्षत्र की क्रूर पीड़ा से, अभिचार (कृत्या-या मंत्रादि जनित पीड़ा) से, अभिशाप से (देवता-गुरु-वृद्ध आदि के शाप से), मन के अभिषंग से (काम-क्रोधादि से), भूताभिषंग से (देवादि ग्रह से), असम्यक् प्रसूता स्त्रियों के भी मिथ्या आहार-विहार से, धावन के उतरने के समय दोषजन्य ज्वर होता है।

वक्तव्य—औषधिपुष्प गन्धक ज्वर—जैसे 'हे फीवर' (Hay Fever) अभिषंग-सम्बन्ध, ऋतु विपर्यय, से यथा—Summer diarhold (ग्रीष्मातीसार), धावन का ज्वर—Milk fever ॥१९–२२॥

तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगैः ।
विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु बहिश्चरः ॥२३॥
रुणद्धि चाप्यपां धातुं यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः ।
भवत्यत्युष्णगात्रश्च ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥२४॥

उन वेगवाले, इधर-उधर विक्षिप्त हुए, विमार्गगामि (तिर्यग्गामि) बने दोषों से बहुत प्रकार से प्रेरित की हुई अन्तरग्नि शीघ्र ही बाहर आ जाती है, और स्वेद को रोक देती है, इसलिये ज्वर रोगी का सारा शरीर गरम हो जाता है, इससे उसे 'ज्वरित' ज्वरवाला कहा जाता है।

वक्तव्य—अन्तरग्नि रोमकूपों में बाहर आ जाती है, परन्तु स्वेदवह स्रोतों के बन्द होने से पसीना नहीं होता ॥२३,२४॥

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥२५॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥२६॥
सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नान्नाभिनन्दनम् ॥२७॥
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ।
द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृतं द्वन्द्वजं विदुः ॥२८॥

पूर्वरूप—थकान, बेचैनी, विवर्णता, विरसता आंखों में आंसू, शीत-वायु-धूप आदि में बार-बार कभी इच्छा और कभी द्वेष होना, जम्भाई, अंगों का टूटना, भारीपन, रोमांचता, अरुचि, अन्धकार (मन में तमोभाव–बुद्धि का काम न करना), आनन्द का अभाव, शीत की प्रतीति होना–ये लक्षण उत्पन्न होनेवाले ज्वर में होते हैं। ये सामान्य पूर्वरूप के लक्षण हैं। विशेष पूर्वरूप के लक्षण–वात में जम्भाई विशेषकर आती है, पित्त से आंखों में दाह, कफ से अन्न में अरुचि होती है, तीनों दोषों का प्रकोप होने पर तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं। दो-दो दोषों के संसर्ग से, दो-दो दोषों के सम्मिलित लक्षण द्वन्द्व ज्वरों में होते हैं ॥२५–२८॥

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षुतः स्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥२९॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता ।
जृम्भाऽऽध्मानं तथा शूलं भवत्यनिलजे ज्वरे ॥३०॥

वातजन्यज्वर में—कम्पन, ज्वर का वेग अनियमित, कण्ठ और ओठ का सूखना, नींद न आना, छींक का रुकना, शरीर में रूक्षता, शिर हृदय और अंगों में दर्द, मुख की विरसता, मल का अवरोध, जम्भाई, आध्मान, शूल होता है ॥२९,३०॥

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥३१॥
प्रलापः कटुता वक्त्रे मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥३२॥

पित्तजन्यज्वर में—ज्वर का वेग तीक्ष्ण रहता है, अतीसार, नींद का कम आना, वमन, कण्ठ-ओठ-मुख और नासा का पकना, पसीना आना, प्रलाप, मुख में कटुता, मूर्च्छा दाह, मद, प्यास, मल-मूत्र और नेत्र में पीलापन, और चक्कर आना होता है ॥३१,३२॥

गौरवं शीतमुत्क्लेशो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको मधुरास्यता ॥३३॥
नात्युष्णगात्रता छर्दिरङ्गसादोऽविपाकता ।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥३४॥

कफजन्यज्वर में—भारीपन, शीतलता, जी मचलाना, रोमहर्ष, नींद की अधिकता, स्रोतों का बन्द होना, मन्द वेदनायें, मुख से थूक आना, मुख में मिठास, अंगों का बहुत गरम न होना, वमन, अंगों का टूटना, अजीर्ण, प्रतिश्याय, अरुचि, कास और आंखों में सफेदी होती है ॥३३,३४॥

निद्रानाशो भ्रमः श्वासस्तन्द्रा सुप्ताङ्गताऽरुचिः ।
तृष्णा मोहो मदः स्तम्भो दाहः शीतं हृदि व्यथा ॥
पक्तिश्चिरेण दोषाणामुन्मादः श्यावदन्तता ।
रसना परुषा कृष्णा सन्धिमूर्धास्थिजा रुजः ॥३६॥

निर्भुग्ने कलुषे नेत्रे कर्णौ शब्दरुगन्वितौ ।
प्रलापः स्रोतसां पाकः कूजनं चेतनाच्युतिः ॥३७॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणामल्पशः सुचिरात् स्रुतिः ।

सन्निपातज्वर में—निद्रानाश, भ्रम, श्वास, तन्द्रा, अंगों का सोना (स्पर्शाज्ञता), अरुचि, प्यास, मूर्छा, मद, स्तब्धता, शीतप्रतीति, हृदय में पीड़ा, देर से दोषों का परिपाक, उन्माद, दांतों का काला पड़ना, जिह्वा-कर्कश और काली, सन्धि-शिर और अस्थियों में दर्द, नेत्र कुटिल और मलिन, कानों में शब्द और वेदना, प्रलाप, मुख-नासा आदि छिद्रों का पाक, कराहना, चेतनानाश, पसीना-मूत्र मल का बहुत देर में—थोड़ा-थोड़ा करके बाहर आना होता है । सन्निपातजन्य ज्वर में सब दोषों के लक्षण होते हैं ॥३५–३७॥

सर्वजे सर्वलिङ्गानि विशेषं चात्र मे शृणु ॥३८॥
नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतस्वरः ।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥३९॥
सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभः ।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवायुतः ॥४०॥
तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमथापरे ।

इसमें विशेष सन्निपात के लक्षण सुनो—रोगी के अंगों का स्पर्श साधारण रहता है, थोड़ी चेतना, सब पदार्थों को मिथ्या देखनेवाला (आंखों के सामने धागे या जाल देखना), स्वर का बैठ जाना (आवाज न निकलना), जिह्वा में कर्कशता, गले का सूखना, पसीना-मूत्र-मल का अभाव, आंखों में आंसू, हृदय में ऐंठन, भोजन से द्वेष, प्रभा का नष्ट होना, जोर से या कठिनाई से श्वास लेते हुए गिरना या लेटे रहना, प्रलाप करते रहना, इस सन्निपात को अभिन्यास या हतौजस कहते हैं।

वक्तव्य—'ओज'—एक अदृश्य वस्तु होते हुए भी दृश्य है, जिस प्रकार की बिजली या बिजली का स्पार्क, इनको हम देखते हुए भी नहीं देखते, जैसे क्रोध को। ओज—कान्ति, बल है, वह इसमें चला जाता है[1] । ये लक्षण विकृति विषम समवेत दोषों के हैं । प्रकृति सम समवेत सन्निपात के लक्षण ऊपर कह दिये हैं ॥३८–४०॥

सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः ॥४१॥

सन्निपातजन्य कष्ट साध्य हैं, दूसरे उसे असाध्य कहते हैं ॥

निद्रोपेतमभिन्यासं क्षीणमेनं हतौजसम् ।
संन्यस्तगात्रं संन्यासं विद्यात्सर्वात्मके ज्वरे ॥४२॥

जिस सन्निपातज्वर में निद्रा की अधिकता रहे—रोगी सोया ही रहे (बेमान पड़ा रहे), उसे अभिन्यास कहते हैं। दिन प्रतिदिन क्षीण होता जाये वह हतौजस, जिसमें गात्र (अंग) ढीले रह जायें (रोगी का उनपर अधिकार न रहे) उसे संन्यास कहते हैं।

वक्तव्य—तृण पुष्पक ज्वर के लक्षण—ड० टी० 'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी तेजस्विभ्यो यदाऽनिलः । उपादाय मनुष्यस्य प्राणापानौ नियच्छति ॥ सौक्ष्म्यादनुसृतौ धातून् मर्माण्यपि च तेजसा। कर्म चित्तं बलं ज्ञानं तदास्याभ्येति मारुतः ॥ कर्मादिषु निरुद्धेषु स्वपितीति सुहृज्जनः । मन्यते हतचित्तत्वादोजस्युपरते सति ॥ तस्यादितः शिरोरोगः ससंज्ञस्येव जायते। विगन्धं च सुगन्धं च दृष्ट्वाऽकस्मात् स मूर्च्छति ॥ तृणपुष्पकमित्येवं ज्वरं विद्याद् विचक्षणः ॥' इसका अन्तर्भाव आगन्तुज ज्वर में है।

ओजो विस्रंसते यस्य पित्तानिलसमुच्छ्रयात् ।
स गात्रस्तम्भशीताभ्यां शयनेप्सुरचेतनः ॥४३॥
अपि जाग्रत् स्वपन् जन्तुस्तन्द्रालुश्च प्रलापवान् ।
संहृष्टरोमा स्रस्ताङ्गो मन्दसन्तापवेदनः ॥४४॥
ओजोनिरोधजं तस्य जानीयात् कुशलो भिषक् ।

पित्त और वायु की अधिकता के कारण जिसका ओज विस्रंसित (चलायमान) हो जाता है, उसका शरीर ठण्डा और स्तब्ध बन जाता है, रोगी सदा सोना ही चाहता है, जागते हुए या सोते हुए वह बेमान रहता है, तन्द्रा एवं प्रलाप की अधिकता रहती है, शरीर की रुआंट खड़ी रहती है, अंग ढीले रहते हैं, वेदना और सन्ताप (हाथ से छूने पर भी) कम रहता है, इस सन्निपात को वैद्य ओज के निरोध से उत्पन्न हुआ जाने ॥४३,४४॥

सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ॥४५॥
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ।

सातवें दिन या दसवें दिन अथवा बारहवें दिन फिर एक बार तीव्र रूप में आकर सन्निपात ज्वर या तो शांत हो जाता है, अथवा रोगी को मार देता है।

वक्तव्य—सात, दस या बारह दिन की कल्पना वात, पित्त कफ की दृष्टि से की है, इन दिनों में यदि दोष का पाक हो गया तब ज्वर शान्त हो जाता है, अन्यथा फिर बढ़ता है। धातुपाक का लक्षण—संबाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजोज्झितेषु । पक्वेष्विवाग्नैतिरुजं ज्वरार्त्तः सधातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥" कई आचार्यों ने सन्निपात ज्वर का मोक्षकाल उपर्युक्त समय से दुगुना माना है, यथा—"सप्तमी द्विगुणा या तु नवम्येकादशी तथा, एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥" प्रत्येक आक्रमण में (रिलैप्स में) ज्वर की भयानकता रोगी के लिये बढ़ती जाती है ॥४५॥

द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गास्तु द्वन्द्वजास्त्रिविधाः स्मृताः ॥४६॥

दो दोषों के संयोग से संग्रह ज्वर दो दोषों के लक्षणों की अधिकतावाले होते हैं, ये तीन हैं, यथा—वात-पित्तजन्य, वात-कफजन्य, पितकफजन्य ॥४६॥

---

१ लेखक की 'भारतीय रस पद्धति' पुस्तक में ओज को समझिये ।

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तथा ॥४७॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ।

वात-पित्तजन्य ज्वर के लक्षण—प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, शिर में वेदना, गले और मुख में शुष्कता, वमथु (छर्दि), रोमांचता, अरुचि, पर्वभेद (सन्धियों में दर्द), और जम्भाई आना ये वातपित्तज ज्वर के लक्षण हैं ॥४७॥

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥४८॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदप्रवर्तनम् ।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥४९॥

स्तिमितता (शरीर का गीले वस्त्र से ढंपा सा रहना), पर्वभेद, निद्रा की अधिकता, भारीपन शिर का जकड़ना, प्रतिश्याय, कास, पसीना आना, सन्ताप, ज्वर मध्यम रहना वात-पित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥४८,४९॥

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥५०॥

मुख में लिसलिसापन और कड़ुआहट, तन्द्रा, मोह, कास, अरुचि, प्यास, कभी दाह और कभी शीत यह कफ-पित्त जन्य ज्वर के लक्षण हैं। (जम्भाई, आध्मान, मद, उत्कम्पन, पर्वभेद शरीर में निर्बलता, प्यास, प्रलाप, सन्ताप वात पित्तजज्वर में होते हैं। शूल कास, कफ की अधिकता, शीत, कम्पन, पीनस, भारीपन, अरुचि, विष्टम्भ ये वात कफ ज्वर के लक्षण हैं। शीत, दाह, अरुचि, स्तम्भ, स्वेद, मोह, मद, भ्रम, कास, अंगों की शिथिलता, जीमचलाना, कफ पित्त-ज्वर में होते हैं)।

कृशानां ज्वरमुक्तानां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरितः ॥५१॥
सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचातुर्थान् सप्रलेपकान् ।
कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि ॥५२॥

ज्वर से मुक्त हुए कृश पुरुषों के मिथ्या आहार-विहार करने के कारण थोड़ा सा भी (रहा) दोष-वायु की प्रेरणा से बढ़कर कफस्थान के विभाग से सतत, अन्येद्युष्क, त्र्याख्य चातुर्थक और प्रलेपक ज्वरों को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—कफस्थान-आमाशय, उरः, कण्ठ, शिर और सन्धि हैं। इनमें आमाशयस्थ दोष सततज्वर को करता है, यह ज्वर प्रतिदिन दो समय आता है। (उरःस्थ दोष दूसरे दिन, कण्ठस्थ दोष तीसरे दिन, शिरस्थ दोष चौथे दिन, सन्धिस्थ दोष) प्रलेपक ज्वर करता है। चरक में इनको अन्य रूप से धातुओं की दृष्टि से कहा है, यथा—

"रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ।
सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ॥
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।
कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद् बलम् ॥
दोषो मेदोवहा रुध्वा नाडीरन्येद्युकं ज्वरम् ।
सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशि ॥
दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात् तृतीयकचतुर्थकौ ।
गतिः द्व्येकान्तरान्येद्युः दोषस्योक्तान्यथा परैः ॥
रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम् ।
मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥
ज्वरं दोषः संश्रितो हि मेदोमार्गं चतुर्थकम् ।
अन्येद्युष्कः प्रतिदिने दिनं हित्वा तृतीयकः ॥
दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ।
अधिशेते यथा भूमिं बीजकाले च रोहति ॥
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ।
स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ॥
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ।
कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः ॥
पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥"

जब दोष अधिक मात्रा से सब स्रोतों में फैले रहते हैं, तब सन्तत ज्वर रहता है, यथा—

स्रोतोभिः विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।
सर्वगात्रानुगा स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥
दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा ॥
कालदूष्यप्रकृतिभिः दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ।
निष्प्रत्यनीकं कुरुते तस्माज् ज्ञेयः सुदुःसहः ।
यथा धातुं यथा मूत्रं पुरुषं चानिलादयः ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥
स शुद्ध्या वाप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥
यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ।
द्वादशैते समुद्दिष्टा सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥

(बारह—तीन दोष, सात रक्तादि धातु, मल और मूत्र—ये बारह)।

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसे व्यक्तलक्षणम् ।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते ॥
इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्यः उपक्रामेत्तु सन्ततम् ।
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥

सुश्रुत के प्रलेपक, वातबलासक, आदि ज्वरों का अन्तर्भाव इसी संतत में हो जाता है। केवल बारह वस्तुओं में न्यूनाधिक भाव रहता है।

काश्यप संहिता में इसी को अन्य प्रकार से कहा है—

"अल्पहेतुः बहिर्मार्गो नैकृतो निरुपद्रवः ।
एकाश्रयः सुखोपायो लघुपाकः समो ज्वरः ।
विषमस्तद्विपर्यस्तः तीक्ष्णत्वात् संततो मतः ।
तद्वत् प्रेतग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात् ॥
दुर्जयत्वाद् दुर्ग्रहत्वाद् उग्रग्रहपरिग्रहात् ।
वैषम्यं संततादीनां दारुणत्वादुदाहृतम् ।
तथा सततकादीनां चतुर्णां कालकारितम् ।
विषमत्वं प्रवक्ष्यामि ज्वराणां जायते तथा ॥
समस्तो द्वन्द्वशो वाऽपि धमनी रसवाहिनीः ।
दोषाः प्रपन्नाः कुर्वन्ति विषमा विषमज्वरम् ।
ज्वरितो मुच्यमानो वा मुक्तमानश्च यो नरः ।
व्यायामगुर्वसात्म्यान्नमतिमात्रमथो जलम् ॥
पायसं कृशरं पिष्टं पललं दधिमन्दकम् ।
पिण्याकमाषविकृतिग्राम्यानूपं यथाऽऽमिषम् ॥
ज्वरोऽभिवर्धते तस्य विषमं वाऽऽशु जायते ॥

❀ ❀ ❀

सद्यो वान्तो विरिक्तो वा स्नेहपीतोऽनुवासितः ।
शीतोपचारे गुर्वन्नं व्यवाये यश्च सेवते ॥
तस्यापि सहसा वायुरस्थिमज्जान्तरं गतः ।
कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥
ततोऽस्य धातुवैषम्याद् विषमो जायते ज्वरः ।
सततोऽन्येद्युको वाऽपि तृतीयः स चतुर्थकः ॥
न च नोपशमं याति न च भूयो न कुप्यति ।
शमप्रकोपयोः कालं न चायमतिवर्त्तते ॥
ज्वरप्रवेगोपरमे देही मुक्त इवेक्ष्यते ।
नात्यन्नलिप्साग्लानिभ्यां शिरसो गौरवेण च ॥
पुनः पुनर्यथा चैष जायते तन्निबोध मे ॥

काश्यपसंहिता खिल० ।१ ॥५२॥

अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते ।
ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वरं नृणाम् ॥५३॥

एक एक दिन रात में दोष एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचता है। फिर आमाशय में पहुँचकर दोष मनुष्यों में ज्वर को करते हैं।

वक्तव्य—उर में स्थित दोष अहोरात्र में आमाशय में पहुँचकर दूसरे दिन अन्येद्युष्कज्वर को करता है। कण्ठ में स्थित दोष दो अहोरात्र में आमाशय में पहुँचकर तीसरे दिन तृतीयक को करता है। शिर में स्थित दोष तीन अहोरात्र में आमाशय में पहुँचकर चौथे दिन चतुर्थक ज्वर को करता है। सन्धि में स्थित दोष नित्य ही प्रलेपक को करता है, यह राजयक्ष्मा के रोगियों को होता है ॥५३॥

तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः ।
दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत् ॥५४॥

प्रलेपकज्वर शोषरोगियों (क्षयरोगियों) के लिये प्राणनाशक है। यह ज्वर अतिशय कष्ट से चिकित्सा करने योग्य है, मन्द वेग (धीमा ज्वर), अतिकष्टदायक, धातुओं को सुखानेवाला है ॥५४॥

कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा ।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥५५॥

अथवा—कफ स्थानों में स्थित दोष दो तीन अथच चार में—विपर्यय नामक विषमज्वरों को करते हैं ये अतिशय कष्टसाध्य हैं।

वक्तव्य—उर और आमाशय इन दो कफ स्थानों में स्थित दोष-अन्येद्युष्क के विपर्य्यय ज्वर को करता है, यथा—पूर्वाह्ण में एक समय छोड़कर सारे दिन रात में ज्वर रहता है। इसी प्रकार कण्ठ, उर और आमाशय में स्थित दोष तृतीयक विपर्यय को करता है, इसमें ज्वर तीसरे दिन उतरता है। शिर, कण्ठ, उर, आमाशय इन चार स्थानों में स्थित दोष चातुर्थिक विपर्यय को करता है, इसमें ज्वर चौथे दिन उतरता है। सतत का विपर्यय नहीं होता, क्योंकि दोष एक ही कफ-स्थान में रहता है, या व्याधि का स्वभाव ही ऐसा है ॥५५॥

परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः ।
आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥५६॥

विषमज्वर का कारण कई तो भूतादि को मानते हैं, कई स्वभाव को ही कारण कहते हैं। क्योंकि प्रायः करके विषम-ज्वर में आगन्तुज (बाह्य) कारण का सम्बन्ध रहता ही है।

वक्तव्य—विषमज्वर में स्वभाव ही उत्कृष्ट कारण है, ऐसा अर्थ करके पर का अर्थ उत्कृष्ट मानते हैं। संतत आदि को कोई आचार्य विषमज्वर मानते हैं, यथा—"ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वसंततकादयः। चत्वारः संततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः ॥ (२) सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पं चिरेण यत् ॥ याति देहं नवाऽशेषं भूयिष्ठं प्रतिपद्यते। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्ने सन्तापो लक्ष्यते ज्वरे ॥ चक्रपाणि की टीका।

भूतसम्बन्ध—"त्रिदोषसंभवत्वाच्च भूतसंस्पर्शनादपि। दुश्चिकित्स्यतमो ह्येष तस्माद्ध्येनमुपक्रमेत् ॥ बलिभिः शान्ति-होमैश्च सिद्धैः मन्त्रपदैस्तथा। पापापहरणं चास्य कर्त्तव्यं सिद्धि-मिच्छता ॥ काश्यपसंहिता ॥"

वाताधिकत्वात् प्रवदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृतीयकं चापि चतुर्थकं च ।
औपत्यके मद्यसमुद्भवे च
हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति ॥५७॥
प्रलेपकं वातबलासकं च
कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः ।
मूर्च्छानुबन्धा विषमज्वरा ये
प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु ॥५८॥

तन्त्रान्तरवाले तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को वात की अधिकता से द्वन्द्वज कहते हैं । औपत्यक (पर्वत की तराई में होनेवाला) तथा मद्यजनित ज्वर को पित्तजन्य कहते हैं । प्रलेपक और वातबलासक को कफ की अधिकता से होनेवाला कहते हैं। जिन ज्वरों में मूर्च्छा का सम्बन्ध या विषमज्वर रहता है, वे ज्वर प्रायः करके द्वन्द्वज कारणों से उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—तंत्रान्तरमें यथा—कफपित्तात् त्रिकग्राही पृष्ठाद् वातकफात्मकः । वातपित्ताच्छिरोग्राही विविधः स्यात्तृतीयकः ॥ चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः । जंघाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥ चरक ।

औपत्यकज्वर—पर्वत या पर्वत के समीप की भूमियों में होनेवाली तीक्ष्ण-उष्ण वीर्य एवं उग्रगन्धवाली औषधियों के कारण पित्तप्रकोप होता है । प्रलेपक में सन्धियों में कफ की प्रधानता से होता है । वात बलासक ज्वर—"नित्यं मन्दज्वरो रूक्षःशूनःकृच्छ्रेण सिध्यति । स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥" घोड़ों में वातबलासक नाम का ज्वर होता है, इसमें घोड़े की छाती बैठ जाती है । मूर्च्छानुबन्धा—जिन ज्वरों में रोगी को निरन्तर मूर्च्छा बनी रहती है ॥५७,५८॥

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे ।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥५९॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च ।
प्रशान्ते कुरुतस्तस्मिञ्छीतमन्ते च तावपि ॥६०॥
द्वावेतौ दाहशीतादी ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतः ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यश्च स स्मृतः ॥६१॥

त्वचा में स्थित कफ और वायु ज्वर में प्रथम शीत उत्पन्न करते हैं, इनके शान्त हो जाने पर अन्त में पित्त दाह करता है। त्वचा में स्थित पित्त ज्वर में प्रथम अतिशय दाह करता है, इस पित्त के शान्त हो जाने पर वायु और कफ अन्त में शीत उत्पन्न करते हैं। ये दोनों प्रकार के दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वक ज्वर संसर्गज कहे हैं। इनमें से जिस ज्वर में प्रथम दाह होता है, वह दुःखदायी और कष्ट साध्य है ।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥
अन्तर्वेगस्य लिंगानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।
संतापोऽभ्यधिको बाह्यः तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥
वहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥
चरक चि० अ० ३।४०-४१ ॥५९-६१॥

प्रसक्तश्चाभिघातोत्थश्चेतनाप्रभवस्तु यः ।

चोट आदि अभिघात से उत्पन्न तथा चेतना प्रभव (काम-शोक-क्रोधजन्य) ज्वर निरन्तर बना रहता है ।

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥
कामशोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं भयो मलाः ।
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥
विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथाऽन्यैः विषसंभवैः ।
अभिषक्तस्य चाप्याहुः ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ॥
तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजे ज्वरम् ॥च०॥

रात्र्यह्नोः षट्सु कालेषु कीर्तितेषु यथा पुरा ॥६२॥
प्रसह्य विषमोऽभ्येति मानवं बहुधा ज्वरः ।

रात और दिन के छै समय (पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, प्रदोष, अर्धरात्रि और प्रत्यूष) जो मैंने व्रणप्रश्नाध्याय में पहले कहे हैं, इन पूर्वोक्त समयों में--अपने दोष के प्रकोप समयों में विषमज्वर बलपूर्वक मनुष्य को अनेक प्रकार से आता है ।

वक्तव्य—बहुधा (अनेक रूप में) यथा—कभी शीत, कभी उष्ण, कभी हाथ पैर में, कभी अंसादि में ॥६२॥

स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति ॥६३॥
ग्लानिगौरवकार्श्यभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ।
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते ॥६४॥

विषमज्वर कभी भी शरीर को नहीं छोड़ता, क्योंकि ग्लानि, भारीपन, तथा कृशता शरीर को नहीं छोड़ती। ज्वरवेग के बीत जाने पर, यह ज्वर चला गया, ऐसा दीखता है ।

वक्तव्य—शिरसो गौरवं ग्लानिर्नातिश्रद्धा च भोजने । माधुर्यमथवैरस्यं तिक्तत्वमथवा पुनः ॥ वक्त्रस्य जायते यस्मात् प्रवेगेऽपि गते सति । तस्मात्तु नियतो लीनः शरीरे विषमज्वरः ॥

धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते ।
अल्पदोषेन्धनः क्षीणः क्षीणेन्धन इवानलः ॥६५॥

धातुओं के अन्दर छिपा रहने से सूक्ष्म होने के कारण अनुभव नहीं होता, थोड़ा दोष होने से इस ज्वर का पता नहीं लगता। जिस प्रकार इन्धन के क्षीण होने से क्षीण ईन्धनवाली अग्नि दृश्यमान नहीं होती ॥ (धात्वन्तरस्थ का अर्थ कई कला कहते हैं, क्योंकि, "धात्वन्तरस्था या मर्यादा-सा कला परिकीर्तिता" सुश्रुत) ॥६५॥

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥६६॥

अहित के कारण—अपथ्य सेवन से या ज्वर से मुक्त कृश व्यक्ति में अपथ्याचारण से बढ़ा हुआ थोड़ा दोष किसी एक धातु का आश्रय लेकर विषमज्वर करता है। यथा काश्यपसंहिता में—

ज्वरप्रवेगोपरमे देही मुक्त इवेक्षते।
तथाऽप्यस्यामवस्थायामेभिः लिंगैः न मुच्यते॥
मुखवैरस्यकाटुक्य माधुर्यादिभिरल्पशः।
नात्यन्नलिप्साग्लानिभ्यां शिरसो गौरवेण च॥
पुनः पुनर्यथा चैष जायते तन्निबोध मे।
निरुद्धमार्गो दोषेण विषमज्वरहेतुना॥
वायुस्तद्दोषकोपान्ते लब्धमार्गो यथाक्रमम्।
दोषशेषं तमादाय यथास्थानं प्रपद्यते॥
सदोषशेषः स्वे स्थाने लीनः कालबलाश्रयात्।
रसस्थानमुपागम्य भूयो जनयति ज्वरम्॥
उपक्रमविशेषेण स्वबलस्य व्ययेन च।
क्षयं प्राप्नोति वृद्धिं च समानगुणसंश्रयात्॥
सोऽयं निवृत्तं संप्राप्य यथा दीपः स्वभावतः।
पुनः पुनः प्रज्वलति क्षीणतैलेन्धनोऽपि सन्॥

सततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः॥६७॥
कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम्।

सततज्वर रस रक्त में स्थित होकर, अन्येद्यु मांस में, तृतीयक ज्वर मेद में, चतुर्थक ज्वर अस्थि और मज्जा में स्थित होकर, भयानक यमसदृश रोगसमूहवाले ज्वर को उत्पन्न करते हैं॥६७॥

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्॥६८॥

कई आचार्य विषमज्वर को भूत के सम्बन्ध से (आवेश में) उत्पन्न हुआ कहते हैं॥६८॥

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते॥६९॥

सात दिन तक, दस दिन या बारह दिन तक निरन्तर बिना किसी विच्छेद के जो ज्वर बना रहता है, उसको सन्तत कहते हैं।

वक्तव्य—सन्ततज्वर सुखसाध्य है—

"सन्ततज्वर एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः।
एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्यः प्रकीर्त्तितः॥

परन्तु चरक में इसको कष्टसाध्य कहा है, यथा—

"स्रोतोभिः विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्॥
दशाहे द्वादशाहे वा सप्ताहे वा सुदुःसहः।
सशीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा॥
कालदूष्यप्रकृतिभिः दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
यथाधातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे॥
स शुद्धया वाऽप्यशुद्धया वा रसादीनामशेषतः।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा॥
यदा तु नाति शुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः।
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा॥६९॥

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्तते॥७०॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।

सततक ज्वर दिन रात में दो समय आता है। अन्येद्युष्कज्वर दिन रात में एक समय आता है। तृतीयक ज्वर तीसरे दिन, चतुर्थक ज्वर चौथे दिन आता है॥७०॥

वातेनोदीर्यमाणाश्च ह्रियमाणाश्च सर्वतः।
एकद्विदोषा मर्त्यानां तस्मिन्नेवोदितेऽहनि॥७१॥
वेलां तामेव कुर्वन्ति ज्वरवेगे मुहुर्मुहुः।
(वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्यत सागरः॥७२॥
वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान्।
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः॥७३॥
वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते।
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वै॥७४॥
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाऽम्भः सागरे तथा)।

एक दोष या दो दोष वायु से प्रेरित होकर, उसी दिन मनुष्यों में ज्वर को उत्पन्न करते हैं, और सम्पूर्ण रूप में घटकर उसी दिन ज्वर को कम भी कर देते हैं। इस प्रकार से ज्वर वेग बार-बार वेला (तरंग) को उत्पन्न करते हैं। (जिस प्रकार कि समुद्र में से वायु के कारण उत्पन्न हुई लहर सारे समुद्र में फैल जाती है, उसी प्रकार वायु से प्रेरित दोष ज्वर को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार वेग के आने पर वेला (तरंग-लहर) समुद्र के ऊपर फैलती है, वेग के शान्त होने पर वह पानी उसी समुद्र के पानी में लीन हो जाता है, इसी प्रकार दोष वेग के उत्पन्न होने से मनुष्य में ज्वर चढ़ता है, और दोष के शान्त होने पर शान्त हो जाता है। जिस प्रकार कि पानी समुद्र में से उठता है, और फिर समा जाता है)॥७१-७४॥

विविधेनाभिघातेन ज्वरो यः संप्रवर्तते॥७५॥
यथादोषप्रकोपं तु तथा मन्येत तं ज्वरम्।

नाना प्रकार के अभिघात से जो ज्वर उत्पन्न होता है, उस ज्वर को दोष के प्रकोप के अनुसार वैसा ही माना जाता है॥७५॥

श्यावास्यता विषकृते दाहातीसारहृद्ग्रहाः ॥७६॥
अभक्तरुक् पिपासा च तोदो मूर्च्छा बलक्षयः ।
ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुक् वमथुः क्षयः ॥७७॥
कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमरोचकः ।
हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति ॥७८॥
भयात् प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥७९॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगहास्यकम्पनरोदनम् ।

यथा–विषमजन्यज्वर में मुख का काला होना, दाह, अतिसार, हृदय का जकड़ जाना, आलस्य, आरोचक, प्यास, तोद, मूर्च्छा, बलक्षय, होता है । औषधि गन्धजन्य ज्वर में-मूर्च्छा, शिर में दर्द, वमन, छींक आना होता हैं । कामजन्यज्वर में चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, अरोचक हृदय में वेदना होती है और शरीर सूख जाता है । भय से प्रलाप, शोक और कोप से कम्पन, अभिचार-अभिशाप से-मूर्च्छा और तृष्णा होती है । भूताभिषंग जन्य ज्वर में-उद्वेग, हास्य, कम्पन और रोना होता है ।

वक्तव्य—"ध्याननिःश्वासबहुलं लिंगं कामज्वरे स्मृतम् । शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ॥ क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् । मूर्छामोहमदग्लानिभूयिष्टं विषसंभवे ॥ केषाञ्चिदेषां लिंगानां संतापो जायते पुरः । पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु ॥ मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथाबलम् । ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैः देहो यावन्न दुष्यति ॥ देहे चाभिद्रुते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम् । ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैः मनो यावन्न दुष्यति" ॥ चरक ॥ ७६-७६ ॥

श्रमक्षयाभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः ॥८०॥
पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम् ।

श्रम, क्षय और चोट से कुपित वायु मनुष्यों के सम्पूर्ण शरीर में फैलकर अतिशय ज्वर को करता है ॥८०॥

रोगाणां तु समुत्थानाद्विदाहागन्तुतस्तथा ॥८१॥
ज्वरोऽपरः संभवति तैस्तैरन्यैश्च हेतुभिः ।
दोषाणां स तु लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते ॥८२॥

विद्रधि आदि दूसरे रोगों के कारणों से विदाह से, आगन्तुज कारणों से-तथा अन्य दूसरे कारणों से दूसरे प्रकार का ज्वर होता है । इस प्रकार ज्वर कभी भी वातादि दोषों के लक्षणों का अतिक्रमण नहीं करता । अर्थात् आगन्तुज या अन्य ज्वर भी वातादि दोषों के लक्षणोंवाला ही होता है ॥८१,८२॥

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥८३॥
रक्तनिष्ठीवनं दाहः स्वेदश्छर्दनविभ्रमौ ।
प्रलापः पिटिका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥८४॥
पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता ।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥८५॥
भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च ।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥८६॥
भेदोऽस्थ्नां कुञ्च (ज) नं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च ।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥८७॥
तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ।
मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ॥८८॥
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ।
दग्ध्वेन्धनं यथा वह्निर्धातून् हत्वा यथा विषम् ॥८९॥
कृतकृत्यो व्रजेच्छान्तिं देहं हत्वा तथा ज्वरः ।

रसधातु में स्थित ज्वर से भारीपन, हृदय में बेचैनी, अंगों में शिथिलता, वमन, अरुचि, दीनता होती है । रक्त में स्थित ज्वर से लाल थूक आना, दाह, पसीना, वमन, विभ्रम, प्रलाप, पिटका, प्यास, होती है । मांसगत ज्वर में पिण्डलियों में ऐंठन प्यास, मल-मूत्र की प्रवृत्ति, उष्मा, अन्दर जलन, विक्षेप और ग्लानि होती है । मेदगतज्वर में—अतिस्वेद, प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, दुर्गन्धता, अरोचक, ग्लानि; आवाज आदि की असहनशीलता होती है । अस्थिगतज्वर में–अस्थियों का चटकना तथा संकोचना, श्वास, अतिसार, वमन, अंगों का फेंकना इधर-उधर चलाना, होता है । मज्जागतज्वर में—रोगी अन्धकार में घुसना अनुभव करता है, हिक्का, कास, शीतलता, वमन, अन्दर दाह, महाश्वास (श्वास का जोर से चलना), मर्मस्थानों में छेदनवत् पीड़ा होती है । शुक्रस्थानगतज्वर में रोगी मर जाता है, मेहन में कठोरता, तथा शुक्र का क्षरण विशेष रूप में होता है । जिस प्रकार इन्धन को जलाकर आग तथा जिस प्रकार धातुओं को नष्ट करके विष स्वयं शान्त हो जाते हैं; इसी प्रकार ज्वर देह को नष्ट करके शान्त हो जाता है, देह ठण्डा हो जाता है ॥८३-८६॥

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा ॥९०॥
तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान् ।
समस्तैः सन्निपातेन धातुस्थमपि निर्दिशेत् ॥९१॥
द्वन्द्वजं द्वन्द्वजैरेव दोषैश्चापि वदेत् कृतम् ।

जिस प्रकार वात-पित्त-कफ जन्य ज्वरों के लक्षण होते हैं, उसी तरह रस आदि धातुओं में वात आदि दोषों के लक्षण बुद्धिमान् वैद्य जाने । समस्त सन्निपात से भी धातुस्थज्वर को समझे । इसी प्रकार द्वन्द्वज दोषों से भी रसादि धातुस्थ द्वन्द्वज ज्वर को भी समझे ॥९०,९१॥

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥९२॥
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ।

अन्तर्दाह, तृष्णा, दोष-मल के रुके होने से, अतिशय श्वास, कास की उत्पत्ति से गम्भीर ज्वर को पहचाने । (प्रलाप, भ्रम, सन्धि, अस्थि, शूलादि से आक्रान्त होने पर भी गम्भीर जाने)

हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥९३॥
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।

शरीर की दीप्ति नष्ट हो जाने पर, श्रोत्र–चक्षु आदि शक्ति के नष्ट हो जाने पर, क्षीण, अरोचक से पीड़ित, गम्भीर वेगवाले, तीक्ष्ण वेग से पीड़ित ज्वररोगी की चिकित्सा न करे ॥

हीनमध्याधिकैर्दोषैस्त्रिसप्तद्वादशाहिकः ॥९४॥
ज्वरवेगो भवेत्तीव्रो यथापूर्वं सुखक्रियः ।

हीनवेगज्वर तीन दिन में, मध्यवेगज्वर सात दिन में, अधिकदोषज्वर बारह दिन में अधिक तीव्र होता है। इनमें पूर्व के क्रम से ज्वर सुखसाध्य है, अर्थात् तीन दिन का हीन वेग ज्वर सबसे अधिक सुखसाध्य है, मध्यमवेगज्वर उससे कम और अधिक ज्वर सबसे अधिक कष्ट साध्य है ॥९४॥

कालो ह्येष यमश्चैव नियतिर्मृत्युरेव च ॥९५॥
तस्मिन् व्यपगते देहाज्जन्मेह पुनरुच्यते ।
इति ज्वराः समाख्याता, कर्मेदानीं प्रवक्ष्यते ॥९६॥

यह ज्वर कालरूप है, यम है, नियति है, मृत्यु है, शरीर से ज्वर निकल जाने पर दुबारा जन्म हुआ कहा जाता है। इस प्रकार से ज्वर कह दिया, अब चिकित्सा को कहेंगे ॥९५,९६॥

ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान् ।
पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम् ॥९७॥
विधिर्मारुतजेष्वेष, पैत्तिकेषु विधीयते ।
मृदु, प्रच्छर्दनं तद्वत्कफजेषु विधीयते ॥९८॥

ज्वर के पूर्वरूपों में बुद्धिमान् वैद्य शुद्ध निर्मल घृत ही पिलाये, इससे रोगी को सुख मिलता है। यह घृतपान विधि वातजन्य (अर्थात् श्रम-क्षय आदि से कुपित वातज्वर) ज्वरों के पूर्वरूपों में है, (न कि आमाशय से उत्पन्न ज्वरों में)। पित्तजन्य ज्वरों में विरेचन मृदु देवे। कफजन्य ज्वरों में वमन कराये।

वक्तव्य—"ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् । क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥" चरक ॥९७,९८॥

सर्वद्विदोषजेषूक्तं यथादोषं विकल्पयेत् ।
अस्नेहनीयोऽशोध्यश्च संयोज्यो लङ्घनादिना ॥९९॥

सन्निपातजज्वर के तथा द्विदोषजज्वर के पूर्वरूपों में दोषानुसार घृतपान आदि का निश्चय करना चाहिये।

तरुण ज्वरादि जो स्नेह के अयोग्य हैं, वमन विरेचन के जो अयोग्य हैं, उनको लंघन (षडंगपानीय आदि) आदि करे ॥९९॥

रूपप्राग्रूपयोर्विद्यान्नानात्वं वह्निधूमवत् ।
अव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्पणम् ॥१००॥

अग्नि और धूम की भाँति रूप और पूर्वरूपों में पृथक्त्व समझना चाहिये। रूपों के स्पष्ट हो जाने पर विना अपवाद के उपवास (आमाशयजन्य ज्वरों में) हितकारी है ॥१००॥

आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमनं परम् ।
आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः ॥१०१॥
कुर्यादनशनं तावत्ततः संसर्गमाचरेत् ।

दोष के आमाशय उत्क्लेशित (बाहर निकलने के लिये) होने पर वमन देना श्रेष्ठ है।

जितने समय तक स्तिमित (जकड़े हुए) दोषों से रुका हुआ रहे, उतने समय तक रोगी उपवास करे। इसके पीछे पेयादि क्रम विधि पालन करे ॥१०१॥

न लङ्घयेन्मारुतजे क्षयजे मानसे तथा ॥१०२॥
अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्तिताः ।

वातजन्य, क्षयजन्य (धातुक्षयजन्य) और मानस ज्वर में लंघन नहीं करना चाहिये। तथा द्विव्रणीय अध्याय में कहे हुए गर्भिणी बाल वृद्ध दुर्बल आदि जो लंघन के अयोग्य कहे हैं, उनको भी लंघन न कराये ॥१०२॥

अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम् ॥१०३॥
ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ।

अस्थिर दोषाग्निवाले पुरुष के लिये लघन दोषों का पाचन करनेवाला है, लंघन ज्वरनाशक, अग्निदीपक, भोजन में चाह, रुचि तथा शरीर में लघुता उत्पन्न करता है ॥१०३॥

सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासाऽसहं लघुम् ॥१०४॥
प्रसन्नात्मेन्द्रियक्षामं नरं विद्यात् सुलङ्घितम् ।

भली प्रकार लंघन होने से मल-वायु मूत्र की प्रवृत्ति भूख और प्यास का सहन न होना, शरीर में हलकापन, आत्मा और इन्द्रिय में प्रसन्नता तथा शरीर में कृशता आ जाती है। कहा भी है—

"वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे। हृदयोदरकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासा सहोदये। कृतं लंघनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि" ॥१०४॥

बलक्षयस्तृषा शोषस्तन्द्रानिद्राभ्रमक्लमाः ॥१०५॥
उपद्रवाश्च श्वासाद्याः संभवन्त्यतिलङ्घनात् ।

अतिशय लंघन से-बल का ह्रास, प्यास, शोष, तन्द्रा-निद्रा-भ्रम-थकान, श्वास आदि उपद्रव होते हैं ॥१०५॥

दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम् ॥१०६॥
कफवातज्वरार्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम् ।
तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां

ज्वर में गरम पानी अग्नि दीपक, कफ को तोड़नेवाला, पित्त और वायु का अनुलोमक, कफ-वात ज्वर से पीड़ित रोगियों में हितकारी तथा तृषा नाशक है। क्योंकि यह दोष एवं स्रोतों को कोमल करता है।

"ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः । ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पण समर्थानि भवन्ति, पाचनार्थं च पानीयमुष्णं तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम् । तद्धि तेषां पीतं वातमनुलोमयति, अग्निं चोदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरो गच्छति श्लेष्माणं, परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते" ॥ चरक[1] वि० अ० ३।४६॥१०६॥

शीतमन्यथा ॥१०७॥

सेव्यमानेन तोयेन ज्वरः शीतेन वर्धते ।

शीतल जल इससे विपरीत गुणवाला होता है, शीतल जल सेवन करने से ज्वर बढ़ता है ॥१०७॥

पित्तमद्यविषोत्थेषु शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥१०८॥
गाङ्गेयनागरोशीरपर्पटोदीच्यचन्दनैः ।

पित्तजन्य मद्यजन्य विषजन्य ज्वरों में—शीतल या तिक्त द्रव्यों से शोधित शीतल जल देना चाहिये । ये द्रव्य-भद्रमोथा, सोंठ, खस, पित्तपापड़ा, खस और लालचन्दन हैं ।

वक्तव्य—इन द्रव्यों का क्वाथ षडंग परिभाषा से बनाना चाहिये, यथा—"कर्षमानं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि । अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादि संविधौ ॥" चरक में—तथायुक्तमपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहभ्रमप्रलापातिसारे वा प्रदेयम् । उष्णेन हि दाहभ्रमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्धन्ते, शीतेन चोपशाम्यन्ति ॥ चरक वि० अ० ३।४० ॥१०८॥

दीपनी पाचनी लघ्वी ज्वरार्तानां ज्वरापहा ॥१०९॥
अन्नकाले हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता ।

दोषों के उनके अपने अनुसार पाचन द्रव्यों के संयोग से दीपनी (अग्नि दीपक), दोषों को पचानेवाली, लघु, ज्वरनाशक, ज्वररोगियों के लिये अन्नकाल में हितकारी है ॥१०६॥

वहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात् परं ज्वरे ॥११०॥
लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते
तदा तं मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनैः ॥१११॥
कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत् ।

बहुत दोषवाले, मन्दाग्निवाले पुरुष में लंघन, षडंगपानीय, यवागू देने पर भी यदि सात दिन में ज्वर के अन्दर दोषों का पाचन न हो, तब रोगी को मुख की विरसता, प्यास, अरोचक नाशक, हृदय के लिये प्रिय, ज्वरघ्न एवं पाचन कषायों से चिकित्सा करे ॥११०,१११॥

पञ्चमूलीकषायं तु पाचनं पवनज्वरे ॥११२॥
सक्षौद्रं पैत्तिके मुस्तकटुकेन्द्रयवैः कृतम् ।
पिप्पल्यादिकषायं तु कफजे परिपाचनम् ॥११३॥
द्वन्द्वजेषु तु संसृष्टं दद्या-

यथा—वातज्वर में वृहत्पंचमूल का कषाय पाचक है । पित्तज्वर में मुस्ता, कुटकी, इन्द्रजौ के क्वाथ में मधु मिलाकर देवे । कफज्वर में पिप्पल्यादिगण का क्वाथ देवे । द्वन्द्वज ज्वरों में इनको मिलाकर देवे ॥११२,११३॥

दथ विवर्जयेत् ।
पीताम्बुर्लङ्घितो भुक्तोऽजीर्णी क्षीणः पिपासितः ॥११४॥

तुरन्त पानी पीने पर, उपवास किया होने पर, तुरन्त भोजन किया होने से, अजीर्णवाले तीक्ष्ण एवं प्यास लगे व्यक्ति को पाचन कषाय मत देवे ॥११४॥

(तीक्ष्णे ज्वरे गुरौ देहे विबद्धेषु मलेषु च ।
सामदोषं विजानीयाज्ज्वरं पक्वमतोऽन्यथा ॥)
मृदौ ज्वरे लघो देहे प्रचलेषु मलेषु च ।
पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥११५॥

(ज्वर के तीक्ष्ण होने पर, शरीर में भारीपन, मलों के रुका होने पर, ज्वर को आमदोषयुक्त जाने, इससे विपरीत अवस्था में निराम या पका जाने) ज्वर के मृदु हो जाने पर, शरीर में हल्कापन, मलों के चलायमान होने पर, दोष को पका हुआ जाने, तब ज्वर में ज्वरनाशक औषध देना ॥११५॥

दोषप्रकृतिवैकृत्यादेकेषां पक्वलक्षणम् ।
हृदयोद्वेष्टनं तन्द्रा लालास्रुतिररोचकः ॥११६॥
दोषप्रवृत्तिरालस्यं विबन्धो बहुमूत्रता ।
गुरूदरत्वमस्वेदो न पक्तिः शकृतोऽरतिः ॥११७॥
स्वापः स्तम्भो गुरुत्वं च गात्राणां वह्निमार्दवम् ।
मुखस्याशुद्धिरग्लानिः प्रसङ्गो बलवाञ्ज्वरः ॥११८॥
लिङ्गैरेभिर्विजानीयाज्ज्वरमामं विचक्षणः ।

कोई आचार्य दोष की प्रकृति को प्रकृति होने से पक्व लक्षण मानते हैं ।

आम ज्वर के लक्षण—हृदय में ऐंठन, तन्द्रा, लालास्राव, अरोचक, दोषों की अप्रवृत्ति, आलस्य, मलादि का अवरोध, मूत्र की अधिकता, उदर में भारीपन, पसीना न आना, मल का पाचन न होना, बेचैनी, स्वाप (नींद), जड़ता, अंगों में भारीपन, अग्नि की मृदुता, मुख की अशुद्धि, मुख में ग्लानि न होना (कृशता-चेहरे पर न आना), ज्वर का निरन्तर बलवान् रहना, इन लक्षणों से बुद्धिमान् आमज्वर को जाने ।

वि० मन्तव्य—दोष—पक्वलक्षणम् का तात्पर्य है—दोष अर्थात् वातादि दुष्ट दोष—की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है रोग को उत्पन्न करना, इस प्रकृति की जो विकृति अर्थात् विपरीतता दोष के पक्व हो जाने का लक्षण है । इस

---

१ तृप्यते सलिलं चोष्णं दद्यात् वातकफज्वरे ।
मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥
चरक ।

सन्दर्भ का निष्कर्ष यह है कि साम दोष रोगोत्पादक होता है और निराम दोष रोगोत्पादक नहीं होता। जब दोष साम होता है तब रोगोत्पत्ति होती है, जब वह निराम हो जाता है तब रोग शान्त हो जाता है। सामदोषोत्पन्न रोग को भी 'साम' कहा जाता है और जब दोष निराम होता है अथवा कुछ २ निराम होने लगता है तब रोग को भी निराम कहा जाता है। यथा आमज्वर, आमातिसार तथा निरामज्वर तथा पक्वातिसार आदि २। दोषाऽप्रवृत्तिः—जब दोष-वातादि दोष साम रहते हैं तब उनकी उचित प्रवृत्ति-गति नहीं होती, यथा वायु का अपानवायु तथा उद्गार आदि के रूप में और शरीर के भीतरी अवयवों में उचित रूप से गति न करना, पित्त का मूत्र के साथ, पुरीष के साथ न निकलना और शरीर के भीतरी अवयवों में पाचन रञ्जन आदि क्रिया न करना और कफ का खखार एवं सिंघाणक आदि के रूप में न निकलना और शरीर के भीतरी अवयवों में स्नेहन, अवलम्बन आदि क्रिया न करना ॥११६-११८॥

सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् ॥११९॥
दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः ।

कई आचार्य कहते हैं कि सात दिन के पीछे औषध देनी चाहिये। दूसरे आचार्य दस दिन के पीछे औषध देने का विधान कहते हैं।

वक्तव्य—चरक में पच्यमान ज्वर के भी लक्षण हैं, यथा—
"ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥"
चरक० चि० अ० ३।११६॥११९॥

पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते ॥१२०॥
अचिरज्वरितस्यापि देयं स्याद्दोषपाकतः ।

पित्तजन्य या अल्पकाल से उत्पन्न पित्तज्वर में भी, शीघ्र उत्पन्न हुए ज्वर में भी दोषों का पाक हो जाने पर सात दिन से पूर्व भी औषध दे देनी चाहिये ॥१२०॥

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥१२१॥
शोधनं, शमनीयं तु करोति विषमज्वरम् ।

आमदोषवाले पुरुष में दी गई शोधन औषध ज्वर को और भी अधिक बढ़ा देती है। शमनीय औषध ज्वर को विषम ज्वर में बदल देती है, शोधनीय औषध ज्वर को बढ़ाती है ॥

च्यवमानं ज्वरोत्क्लिष्टमुपेक्षेत मलं सदा ॥१२२॥
अतिप्रवर्तमानं च साधयेदतिसारवत् ।

ज्वर के आक्रान्त रोगी के प्रवृत्त हुए पुरीषादि मलों की सदा उपेक्षा करे। यदि ये अतिमात्रा में प्रवृत्त हो रहे हों तो अतिसार की भाँति चिकित्सा करे। चरक में—

"पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ।
स्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्" ॥

यदा कोष्ठानुगाः पक्वा विबद्धाः स्रोतसां मलाः ॥१२३॥
अचिरज्वरितस्यापि तदा दद्याद्विरेचनम् ।

जब मल कोष्ठ में पहुँचे हुए हों, पक गये हों स्रोतों में रुके हों, तो यदि ज्वर पुराना न भी हुआ हो तो भी इस रोगी को विरेचन देवे। (मल शब्द पुरीष के लिए है)। चरक—

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामे पयसा जयेत् ॥
क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥
ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥१२३॥

पक्वो ह्यनिर्हृतो दोषो देहे तिष्ठन् महात्ययम् ॥१२४॥
विषमं वा ज्वरं कुर्याद्बलव्यापदमेव च ।
तस्मान्निर्हरणं कार्यं दोषाणां वमनादिभिः ॥१२५॥

क्योंकि पका हुआ दोष यदि बाहर न निकाला जाय, शरीर में रह जाये तो गम्भीर रोग को, विषमज्वर को, और बल हानि को करता है, इसलिये वमन आदि से दोषों को निकालना चाहिये ॥१२४,१२५॥

प्राक्कर्म वमनं चास्य कार्यमास्थापनं तथा ।
विरेचनं तथा कुर्याच्छिरसश्च विरेचनम् ॥१२६॥

अवस्थानुसार प्रथम रोगी को वमन देवे, फिर आस्थापन, फिर विरेचन, इसके पीछे शिरोविरेचन देवे, क्रम से चिकित्सा करे।

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च ।
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ॥च०॥१२६॥

क्रमशो बलिने देयं वमनं श्लैष्मिके ज्वरे ।
पित्तप्राये विरेकस्तु कार्यः प्रशिथिलाशये ॥१२७॥
सरुजेऽनिलजे कार्यं सोदावर्ते निरूहणम् ।
कटीपृष्ठग्रहार्तस्य दीप्ताग्नेरनुवासनम् ॥१२८॥
शिरोगौरवशूलघ्नमिन्द्रियप्रतिबोधनम् ।
कफाभिपन्ने शिरसि कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥१२९॥

कफज्वर में बलवान् रोगी को वमन देवे। पक्वाशय के शिथिल (अस्तब्ध) होने पर पित्त प्रधान ज्वर में विरेचन देवे। वातजन्य एवं उदावर्त्तयुक्त ज्वर में वेदना होने पर निरूहण देवे। कटिग्रह से पीड़ित दीप्ताग्नि पुरुष को अनुवासन देवे। कफ से भरे हुए शिर में शिर का भारीपन नाशक, शूल नाशक, इन्द्रियों को जाग्रत करनेवाला शिरोविरेचन देवे।

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये ।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥"चरक ॥१२७-१२९॥

दुर्बलस्य समाध्मातमुदरं सरुजं दिहेत् ।
दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः ॥१३०॥

दुर्बल रोगी को आध्मान एवं उदर में शूल होने पर—देवदारु, वच, कूठ, सौंफ, हींग, सैन्धव, इनको कांजी में पीसकर सुहाता गरम लेप उदर पर करे ॥१३०॥

अम्लपिष्टैः सुखोष्णैश्च पवने तूर्ध्वमागते ।
रुद्धमूत्रपुरीषाय गुदे वर्तिं निधापयेत् ॥१३१॥

वायु के ऊर्ध्वगामि होने पर, मल मूत्र रुके हुए रोगी की गुदा में वर्त्ति रक्खे । वर्त्ति-मैनफल, सैंधव, पिप्पली आदि की बनाई या उपर्युक्त देवदारु आदि से बनाई रक्खे ॥१३१॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलयवानीचव्यसाधिताम् ।
पाययेत यवागूं वा मारुताद्यनुलोमिनीम् ॥१३२॥

पवन के ऊर्ध्वगामि होने पर पिप्पली, पिप्पलीमूल, अजवायन, चव्य से सिद्ध की यवागू को पिलाये, यह वायु आदि का अनुलोमन करती है ॥१३२॥

शुद्धस्योभयतो यस्य ज्वरः शान्तिं न गच्छति ।
सशेषदोषरूक्षस्य तस्य तं सर्पिषा जयेत् ॥१३३॥

वमन विरेचन से शुद्ध होने पर भी जिस रोगी का ज्वर दोष बचे होने से शान्त नहीं होता, घी से उसका ज्वर शान्त करे । चरक में—

ज्वराः कषायैः वमनैः लंघनैर्लघुभोजनैः ।
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥
रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च ।
यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः ॥१३३॥

कृशं चैवाल्पदोषं च शमनीयैरुपाचरेत् ।
उपवासैर्बलस्थं तु ज्वरे सन्तर्पणोत्थिते ॥१३४॥

कृश एवं अल्पदोषवाले रोगी की चिकित्सा शमनीय औषधियों से करे । सन्तर्पणजन्य ज्वर में बलवान् रोगी की उपवास से चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—यहाँ पर "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासामारुतातपौ । पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम् ॥" इनका भी समावेश करना चाहिये ।१३४॥

क्लिन्नां यवागूं मन्दाग्निं तृषार्तं पाययेन्नरम् ।
तृट्छर्दिदाहघर्मार्तं मद्यपं लाजतर्पणम् ॥१३५॥
सक्षौद्रमम्भसा पश्चाज्जीर्णे यूषरसौदनम् ।
उपवासश्रमकृते क्षीणं (णे) वाताधिके ज्वरे ॥१३६॥
दीप्ताग्निं योजयेत् प्राज्ञो नरं मांसरसौदनम् ।
मुद्गयूषौदनश्चापि हितः कफसमुत्थिते ॥१३७॥
स एव सितया युक्तः शीतः पित्तज्वरे हितः ।

मन्दाग्नि एवं प्यास से पीडित मनुष्य को खूब गली यवागू पिलाये ।

प्यास, वमन, दाह, गरमी से पीडित मनुष्य को या मद्यपी को लाज से बना तर्पण (लाजा-सत्तू को पानी में घोलकर) मधु के साथ मिलाकर देवे । इसके जीर्ण होने पर पीछे से मूँग आदि के यूष से या मांस रस से भात देवे । उपवास या श्रम के कारण क्षीण हुए, वात की अधिकतावाले ज्वर में, प्रदीप्ताग्नि पुरुष को वैद्य मांस रस के साथ भात देवे । कफजन्य-ज्वर में मूँग के यूष के साथ भात देवे । पित्त ज्वर में इसी यूष को ठण्डा करके शर्करा के साथ देवे ॥१३५-१३७॥

दाडिमामलमुद्गानां यूषश्चानिलपैत्तिके ॥१३८॥
ह्रस्वामलकयूषस्तु वातश्लेष्माधिके हितः ।
पटोलनिम्बयूषस्तु पथ्यः पित्तकफात्मके ॥१३९॥
दाहच्छर्दियुतं क्षामं निरन्नं तृष्णयाऽर्दितम् ।
सिताक्षौद्रयुतं लाजतर्पणं पाययेत च ॥१४०॥

वातपित्तज्वर में अनारदाना, आंवला और मूँग का यूष देवे । वातकफज्वर में छोटी मूली का यूष देवे । पित्त कफ ज्वर में परवल और नीम का यूष पथ्य है । दाह, वमन से युक्त, कृश, भोजन न करनेवाले, तथा प्यास से पीड़ित मनुष्य को लाजाओं के सत्तु को पानी में घोलकर शर्करा और मधु मिलाकर पीने को देवे ॥१३८-१४०॥

कफपित्तपरीतस्य ग्रीष्मेऽसृक्पित्तिनस्तथा ।
मद्यनित्यस्य न हिता यवागूस्तमुपाचरेत् ॥१४१॥
यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ।

कफ पित्त की शिकायतवाले नित्य मद्य पीनेवाले के लिये यवागू उत्तम नहीं । उसकी चिकित्सा खट्टे या खट्टाश रहित यूषों से या जांगलमांस रसों से करनी चाहिये । चरक में—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में यवागू का निषेध किया है, यथा—ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे[1] ।

वक्तव्य—रक्तपित्त में यवागू उत्तम कही है, परन्तु ज्वर होने से यह अपथ्य है । वह भी कफ पित्त दोनों दोषों का संयोग होने पर अहित है ॥१४१॥

मद्यं पुराणं मन्दाग्नेर्यवान्नोपहितं हितम् ॥१४२॥

मन्दाग्नि पुरुष को पुरातन मद्य जौ के भोजन के साथ देवे (मद्य-दीपक एवं कफनाशक है) ॥१४२॥

सव्योषं वितरेत्तक्रं कफारोचकपीडिते ।

कफजन्य अरोचक में त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) के साथ तक्र पीये ।

कृशोऽल्पदोषो दीनश्च नरो जीर्णज्वरार्दितः ॥१४३॥
विबद्धः सृष्टदोषश्च रूक्षः पित्तानिलज्वरी ।
पिपासार्तः सदाहो वा पयसा स सुखी भवेत् ।१४४।

कृश, अल्पदोषवाला, दीन, जीर्णज्वर से पीड़ित, अप्रवृत्तदोष में, प्रच्युत दोषों में, रूक्ष या पित्तावातज्वर रोगी मनुष्य

---

१ आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥
ज्वरघ्नो ज्वरसात्म्यत्वाद् तस्मात् पेयाभिरादितः ॥

को, प्यास तथा दाह से पीड़ित को दूध पिलाये, इससे उसे सुख (आरोग्य) होता है। (थोड़ा थोड़ा मल आने में, या अतिसार में दोनों अवस्थाओं में दूध पथ्य है। जीर्णज्वर की अवस्था में दूध विधेय है ॥१४३,१४४॥

तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम्।
सर्वज्वरेषु सुलघु मात्रावद्भोजनं हितम् ॥१४५॥
वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्धनम्।

यही दूध तरुणज्वर में पीने से विष की भाँति रोगी को मार देता है।

सब प्रकार के ज्वरों में अतिशय लघु भोजन मात्रा में ज्वरवेग के शान्त होनेपर देवे। अन्यथा रूप में देने से यह भोजन ज्वरवेग को ही बढ़ाता है ॥१४५॥

ज्वरितो हितमश्नीयाद्यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत् ॥१४६॥
अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽथवा।
स क्षीणः कृच्छ्रतां याति यात्यसाध्यत्वमेव च ।१४७।
तस्माद्रक्षेद्बलं पुंसां बले सति हि जीवितम्।
गुर्वभिष्यन्द्यकाले च ज्वरी नाद्यात् कथञ्चन ॥१४८॥
न तु तस्याहितं भुक्तमायुषे वा सुखाय वा।

जीर्णज्वर रोगी को यदि किसी कारण से हित भोजन में अरुचि हो जाये, तो अनेक प्रकार की कल्पनाओं से इसे हितकारी भोजन ही देवे। क्योंकि भूख लगनेपर न खाने से रोगी क्षीण हो जाता है या मर जाता है। क्षीण होनेपर ज्वर कष्टसाध्य हो जाता है, या असाध्य हो जाता है। इसलिये मनुष्य के बल की रक्षा करे, बल होनेपर ही जीवन है। ज्वर रोगी गुरु, अभिष्यन्दि भोजन एवं अकाल में भोजन कभी न करे, क्योंकि खाया हुआ अहित भोजन उसको न तो आरोग्य देता है, और न आयु देता है।

वक्तव्य—"सातत्याद् स्वाद्वभावाच्च पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्। कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः॥ प्राणाविरोधिना चैनं लंघनेनोपपादयेत्। बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥ मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि, तुष्टिरूर्जारुचिर्बलम्। सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः॥ लौल्याद् दोषक्षयाद् व्याधेः वैधर्म्याच्चापि या रुचिः। तासु पथ्यापचारः स्याद् योगेनाद्यं विकल्पयेत्॥" चरक ॥१४६-१४८॥

संततं विषमं वाऽपि क्षीणस्य सुचिरास्थितम् ॥१४९॥
ज्वरं सभोजनैः पथ्यैर्लघुभिः समुपाचरेत्।

क्षीण व्यक्ति के संतत ज्वर की विषम ज्वर की या अतिपुरातन ज्वर की चिकित्सा पथ्य, लघु इच्छित भोजनों से करे॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ॥१५०॥
आहारकाले यूषार्थं ज्वरिताय प्रदापयेत्।

रोगियों को यूष की चाह हो, उनको भूख लगनेपर मूँग, मसूर, चने, कुलत्थी, मोथ इनका यूष ज्वर रोगियों को देवे॥

पटोलपत्रं वार्ताकं कठिल्लं पापचेलिकम् ॥१५१॥
कर्कोटकं पर्पटकं गोजिह्वां बालमूलकम्।
पत्रं गुडूच्याः शाकार्थं ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥१५२॥

परवल के पत्ते, बैंगन, पुनर्नवा शाक, पाठा शाक, ककोड़ा, शहतरा, गाँजवा, पतली नरम मूली, गिलोय के पत्ते, इनका शाक, ज्वर रोगी को (शाक की चाह में) देवे ॥१५१,१५२॥

लावान् कपिञ्जलानेणान् पृषताञ्छरभाञ्छशान्।
कालपुच्छान् कुरङ्गांश्च तथैव मृगमातृकान् ॥१५३॥
मांसार्थं मांससात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्।

बटेर, कपिंजल (घर की चिड़िया), हरिण पृषत, शरभ, खरगोश, कालपुच्छ, कुरंग, मृगमातृका, इनका मांस, सात्म्य-ज्वर रोगियों को मांस की चाह होनेपर देवे ॥१५३॥

सारसक्रौञ्चशिखिनः कुक्कुटांस्तित्तिरा (रीं) स्तथा॥
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः॥

सारस, क्रौंच, मोर, कुक्कुट, तीतर, इनको गुरु एवं उष्ण होने के कारण कई चिकित्सक ज्वर में उत्तम नहीं मानते॥

ज्वरितानां प्रकोपं तु यदा याति समीरणः ॥१५५॥
तदैतेऽपि हि शस्यन्ते मात्राकालोपपादिताः।

ज्वर रोगियों में जब वायु का प्रकोप हो जाये, तब इन सारस, मुर्गे आदि को भी—मात्रा एवं काल के अनुसार देना चाहिये।

"लंघनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत्।
भिषङ् मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित्॥"

वक्तव्य—चरक में दातुन के लिये विशेष विधान किया है, यथा—"अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम्। योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद् विपरीतं प्रियं च तत्॥ तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः। धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत्॥ विशोध्यद्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत्। मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात्॥, चरक ॥१५५॥

परिषेकान् प्रदेहांश्च स्नेहान् संशोधनानि च ॥१५६॥
(स्नानाभ्यङ्गदिवास्वप्नशीतव्यायामयोषितः।)
कषायगुरुरूक्षाणि क्रोधादीनि तथैव च ॥१५७॥
सारवन्ति च भोज्यानि वर्जयेत्तरुणज्वरी।
तथैव नवधान्यादिं वर्जयेच्च समासतः ॥१५८॥

तरुणज्वर रोगी—परिषेक (स्नान), प्रदेह, स्नेहन, संशोधन (वमन विरेचन), (स्नान, अभ्यंग दिन में सोना, शीत व्यायाम, स्त्री सेवन) कषाय, गुरु, रूक्ष भोजन, क्रोध आदि, स्निग्ध एवं अभिष्यन्दि (दही आदि) भोजन,

इनको, तथा नवधान्यादि वर्ग (सूत्र स्थान में प्रख्यातोपासनीय में कहे) का संक्षेप में त्याग करे ॥१५६-१५८॥

अनवस्थितदोषाग्नेरेभिः सन्धुक्षितो ज्वरः ।
गम्भीरतीक्ष्णवेगत्वं यात्यसाध्यत्वमेव च ॥१५९॥

परिषेक आदि आहार विहार के सेवन करने से अस्थिर दोषवाले तरुणज्वर रोगी में ज्वर बढ़कर गम्भीर एवं तीक्ष्ण वेगवाला हो जाता है अथवा असाध्य हो जाता है ॥१५६॥

शीततोयदिवास्वप्नक्रोधव्यायामयोषितः ।
न सेवेत ज्वरोत्सृष्टो यावन्न बलवान् भवेत् ॥१६०॥
मुक्तस्यापि ज्वरेणाशु दुर्बलस्याहितैर्ज्वरः ।
प्रत्यापन्नो दहेद्देहं शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥१६१॥
तस्मात्कार्यः परीहारो ज्वरमुक्तैर्विरिक्तवत् ।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥१६२॥

ज्वरमुक्त मनुष्य जब तक बलवान् न हो तब तक शीतल जल, दिन में सोना, क्रोध, व्यायाम और स्त्री सेवन न करे। क्योंकि ज्वरमुक्त रोगी के दुर्बल होने से अहित सेवन करने पर ज्वर शीघ्र ही लौटकर शरीर को जला देता है, जिस प्रकार शुष्क वृक्ष को अग्नि जला देती है। इसलिये ज्वर मुक्त रोगी को विरेचन की भाँति परहेजी पालनी चाहिये। जब तक कि वह दोष एवं प्राण (बल) से असली स्वभाव में न आजाये।

"व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चंक्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥ असंजातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते। वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ॥ विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥" चरक ॥१६०-१६२॥

ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितैः ।
निषण्णं भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥१६३॥

ज्वर में थोड़ासा भी उठना-बैठना-चलना करने से मूर्च्छा हो जाती है। इसलिये बिस्तर पर बिठाये या लिटाये रोगी को ही भोजन देवे और वहीं पर मल-मूत्र त्याग कराये ॥१६३॥

अरोचके गात्रसादे वैवर्ण्येऽङ्गमलादिषु ।
शान्तज्वरोऽपि शोध्यः स्यादनुबन्धभयान्नरः ॥१६४॥

अरोचक, अंगों में शिथिलता, विवर्णता, अंगों में मलिनता होने पर-ज्वर के शान्त (लीनरूप) हो जाने पर भी रोगी को शोधन देना चाहिये, जिससे कि पुनः ज्वर का आक्रमण न हो।

"दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्त्तते ।
स्वल्पेनाप्यवचारेण तस्य व्यावर्त्तते पुनः ॥" च० ॥

न जातु स्नापयेत् प्राज्ञः सहसा ज्वरकर्शितम् ।
तेन संदूषितो ह्यस्य पुनरेव भवेज्ज्वरः ॥१६५॥

ज्वर से कृश हुए व्यक्ति को बुद्धिमान् सहसा स्नान न कराये। इस स्नान से दूषित हुआ ज्वर पुनः लौट आता है (जल्दी स्नान न कराये, बल आने पर स्नान करावे) ॥१६५॥

चिकित्सेच्च ज्वरान् सर्वान्निमित्तानां विपर्ययैः ।
श्रमक्षयाभिघातोत्थे मूलव्याधिमुपाचरेत् ॥१६६॥
स्त्रीणामपप्रजातानां स्तन्यावतरणे च यः ।
तत्र संशमनं कुर्याद्यथा दोषं विधानवित् ॥१६७॥

सब ज्वरों की चिकित्सा इनके कारणों से विपरीत करे। परन्तु श्रम, क्षय या अभिघातजन्य ज्वर में मूल दोष (वायु) की चिकित्सा करे। स्त्रियों में सम्यक् प्रसव न होने के कारण या स्तन्य (धावन) के प्रथम अवतरणकाल में जो ज्वर हो, उसमें दोष के अनुसार संशमन चिकित्सा वैद्य करे। (अपप्रजाता–पतितगर्भाः स्त्रियः–डल्हण) संशमन–पाचन कषाय ॥

अतः संशमनीयानि कषायाणि निबोध मे ।
सर्वज्वरेषु देयानि यानि वैद्येन जानता ॥१६८॥

इसके आगे मुझ से संशमन कषायों को सुनो, जिन कषायों को जाननेवाला वैद्य सब ज्वरों में दे सकता है।

वक्तव्य–कषाय कल्पना "भेषजात् षोडशगुणं जलं, क्वाथ्यं पलं मतम्। चतुर्भागावशेषं तु पेयमेवं सुखार्थिना। उत्तमस्य पलं मानं त्रिभिः कर्षैश्च मध्यमे। जघन्यस्य पलार्धं च स्नेहक्वाथौषधेषु च ॥" वृद्धवैद्य अष्ट गुण जल में क्वाथ करते हैं। साधारणतः अमलतास आदि कोमल द्रव्यों में चार गुणा, हरड़ आदि में आठ गुणा, खैर आदि कठिन द्रव्यों में सोलह गुणा जल लेकर चतुर्थांश रखते हैं। यदि द्रव्य की मात्रा अधिक हो, अथवा पूरा रस न आये, तो इसको सायंकाल फिर क्वाथ करके देते हैं ॥१६८॥

पिप्पलीसारिवाद्राक्षाशतपुष्पाहरेणुभिः ।
कृतः कषायः सगुडो हन्याच्छ्वसनजं ज्वरम् ॥१६९॥

पिप्पली, सारिवा, द्राक्षा, सौंफ, हरेणु इनके कषाय में गुड़ मिलाकर देना वातज्वर को नष्ट करता है ॥१६६॥

शृतं शीतकषायं वा गुडूच्याः पेयमेव तु ।

कफानुबन्ध वातज्वर में गिलोय का शृत कषाय देवे, पित्तानुबन्ध वातज्वर में गिलोय का शीत कषाय देवे। शीत कषाय कल्पना—

"द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते संस्थितान्निशि। कषायो योऽभिनिर्याति सशीतः समुदाहृतः" ॥१६६॥

बलादर्भश्वदंष्ट्राणां कषायं पादशेषितम् ॥१७०॥
शर्कराघृतसंयुक्तं पिबेद्वातज्वरापहम् ।

बला, दाभ, गोखरू इनका क्वाथ चौथाई शेष रखकर शर्करा और घृत के साथ मिलाकर पीये, यह वातज्वर नाशक है ॥१७०॥

शतपुष्पावचाकुष्ठदेवदारुहरेणुकाः ॥१७१॥
कुस्तुम्बुरूणि नलदं मुस्तं चैवाप्सु साधयेत् ।
क्षौद्रेण सितया चापि युक्तः क्वाथोऽनिलाधिके ।१७२।

सौफ, वच, कूठ, देवदारु, हरेणु, धनिया, खस, मुस्ता इनका जल में क्वाथ करे, इसमें मधु और शर्करा मिलाकर पीये, वातप्रधान ज्वर में यह क्वाथ उत्तम है ॥१७१,१७२॥

द्राक्षागुडूचीकाश्मर्यत्रायमाणाः ससारिवाः ।
निष्क्वाथ्य सगुडं क्वाथं पिबेद्वातकृते ज्वरे ॥१७३॥
गुडूच्याः स्वरसो ग्राह्यः शतावर्याश्च तत्समः ।
निहन्यात्सगुडः पीतः सद्योऽनिलकृतं ज्वरम् ॥१७४॥

द्राक्षा, गिलोय, गाम्भारी, त्रायमाण, सारिवा इनका क्वाथ करके गुड़ मिलाकर वातजन्यज्वर में पीये। गिलोय का स्वरस, इनके समान शतावरी का स्वरस मिलाकर—गुड़ के साथ पीने से वातजन्यज्वर शान्त होता है ॥१७३,१७४॥

घृताभ्यङ्गस्वेदलेपानवस्थासु च योजयेत् ।

जीर्णज्वर त्वचा में स्थित हो तो घी का अभ्यंग करे। शीत होने पर स्वेदन और आलेपन करे ।

श्रीपर्णीचन्दनोशीरपरूषकमधूकजः ॥१७५॥
शर्करामधुरो हन्ति कषायः पैत्तिकं ज्वरम् ।

गम्भारी, चन्दन, खस, फालसा, महुआ इनके कषाय को शर्करा मिलाकर मधुर बना कर देवे, इससे पित्तज्वर शान्त होता है ॥१७५॥

पीतं पित्तज्वरं हन्यात्सारिवाद्यं सशर्करम् ॥१७६॥

सारिवादिद्रव्य गण का क्वाथ शर्करा के साथ पीने से पित्तज्वर को नष्ट करता है ।।१७६॥

सयष्टीमधुकं हन्यात्तथैवोत्पलपूर्वकम् ।

उत्पलादिगण में मुलैहठी मिलाकर क्वाथ करके पीने से (शर्करा मिलाकर) पित्तज्वर नष्ट होता है ।

शृतं शीतकषायं वा सोत्पलं शर्करायुतम् ॥१७७॥

उत्पलादि गण का क्वाथ या शीतकषाय शर्करा के साथ पित्तज्वर में पीये ॥१७७॥

गुडूचीपद्मरोध्राणां सारिवोत्पलयोस्तथा ।
शर्करामधुरः क्वाथः शीतः पित्तज्वरापहः ॥१७८॥

गिलोय, कमल, लोध, सारिवा, नीलोफर इनका शीतकषाय शर्करा से मधुर बनाकर पीने से पित्तज्वर नाशक है ॥१७८॥

द्राक्षारग्वधयोश्चापि काश्मर्यस्याथवा पुनः ।
स्वादुतिक्तकषायाणां कषायैः शर्करायुतैः ॥१७९॥
सुशीतः शमयेत्तृष्णां प्रवृद्धां दाहमेव च ।

द्राक्षा और अमलतास का शीतकषाय, गम्भारी का शीतकषाय, द्राक्षा—मुलैहठी, सारिवादि मधुर, धमास, पित्तपापड़ा, चिरायता आदि तिक्त, पद्मा-नीलोफर आदि कषाय द्रव्यों का शीतकषाय शर्करा से मधुर करके पीने पर तृष्णा एवं प्रवृद्ध दाह को शान्त करता है। (ये तीन योग हैं) अथवा कषाय करके इसे ठण्डा करके देवे ॥१७९॥

शीतं मधुयुतं तोयमाकण्ठाद्वा पिपासितम् ॥१८०॥
वामयेत्पाययित्वा तु तेन तृष्णा प्रशाम्यति ।

प्यास से पीड़ित रोगी को मधु मिश्रित शीतल जल पेट भरके पिलाकर वमन कराये, इससे प्यास शान्त होती है ।१८०।

क्षीरैः क्षीरिकषायैश्च सुशीतैश्चन्दनायुतैः ॥१८१॥
अन्तर्दाहे विधातव्यमेभिश्चान्यैश्च शीतलैः ।

अन्तर्दाह होने पर दूध से, बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कषाय में चन्दन आदि शीतल द्रव्य मिलाकर इनको शीतल करके इनसे, तथा काकोल्यादि शीतवीर्य शीतस्पर्शद्रव्यों से बहिः परिमार्जन करना चाहिये। (पान, आलेपन, परिषेक, अवगाहन करे)।

वक्तव्य—कांजी, सिरका, कोलनवाटर-मद्य-ये अम्ल बाह्य उपचार में शीतल हैं। इसलिये इनका उपयोग ज्वर में बाह्य होता है ॥१८१॥

पद्मकं मधुकं द्राक्षां पुण्डरीकमथोत्पलम् ॥१८२॥
यवान् भृष्टानुशीराणि समङ्गां काश्मरीफलम् ।
निदध्यादप्सु चालोड्य निशापर्युषितं ततः ॥१८३॥
क्षौद्रेण युक्तं पिबतो ज्वरदाहौ प्रशाम्यतः ।

पद्माख, मुलैहठी, द्राक्षा, कमल, नीलोफर भूने हुए जौ, खस, मजीठ, गम्भारीफल, इनका चूर्ण पानी में घोलकर रात भर रक्खा रहने देवे। प्रातः इसको नितारकर मधु मिलाकर पीने से रोगी का ज्वर और दाह शान्त होता है ॥१८२,१८३॥

जिह्वातालुगलक्लोमशोषे मूर्ध्नि च दापयेत् ॥१८४॥

जिह्वा-तालु-गला-क्लोम के शुष्क होने पर शिर पर पद्माख आदि का शीतल लेप या परिषेक करे ॥१८४॥

केशरं मातुलुङ्गस्य मधुसैन्धवसंयुतम् ।
शर्करादाडिमाभ्यां वा द्राक्षाखर्जूरयोस्तथा ॥१८५॥
वैरस्ये धारयेत्कल्कं गण्डूषं च तथा हितम् ।

बिजौरे के केसर, मधु और सैन्धव अथवा शर्करा, अनार, द्राक्षा और खर्जूर इनका कल्क या गण्डूष मुख में धारण करना उत्तम है। (चरक ने दातुन करने का विधान किया है)॥

सप्तच्छदं गुडूचीं च निम्बं स्फूर्जकमेव च ॥१८६॥
क्वाथयित्वा पिबेत् क्वाथं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे ।

कफज्वर में—सप्तपर्ण, गिलोय, नीम, स्फूर्जक (मरवा)

इनका क्वाथ करे। इस क्वाथ में मधु मिलाकर देवे ॥१८६॥

कटुत्रिकं नागपुष्पं हरिद्रा कटुरोहिणी ॥१८७॥
कौटजं च फलं हन्यात् सेव्यमानं कफज्वरम्।

त्रिकटु, नागकेसर, हल्दी, कटुकी, इन्द्रजौ इनका क्वाथ या चूर्ण कई बार उपयोग करने से कफज्वर को नष्ट करता है॥

हरिद्रां चित्रकं निम्बमुशीरातिविषे वचाम् ॥१८८॥
कुष्ठमिन्द्रयवान् मूर्वां पटोलं चापि साधितम्।
पिबेन्मरिचसंयुक्तं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे ॥१८९॥

कफजन्यज्वर में—हल्दी, चित्रक, नीम, खस, अतीस, वच, कूट, इन्द्रजौ, मूर्वा, पटोल इनके क्वाथ में मधु और मरिच मिलाकर पीये। इससे कफज्वर नष्ट होता है।१८८,१८९।

सारिवातिविषाकुष्ठपुराख्यैः सदुरालभैः।
मुस्तेन च कृतः क्वाथः पीतो हन्यात् कफज्वरम् १९०

सारिवा, अतीस, कुष्ठ, गुग्गुलु, धमासा और मुस्ता इनका क्वाथ पीने से कफज्वर नष्ट होता है॥१९०॥

मुस्तं वृक्षकबीजानि त्रिफला कटुरोहिणी।
परूषकाणि च क्वाथः कफज्वरविनाशनः ॥१९१॥

मुस्ता, इन्द्रजौ, त्रिफला, कुटकी, फालसा इनका क्वाथ कफज्वर नाशक है॥१९१॥

राजवृक्षादिवर्गस्य कषायो मधुसंयुतः।
कफवातज्वरं हन्याच्छीघ्रं कालेऽवचारितः ॥१९२॥

औषधकाल में पिया हुआ मधु मिश्रित आरग्वधादिगण का क्वाथ कफ-वातज्वर को शीघ्र नष्ट करता है॥१९२॥

नागरं धान्यकं भार्गीमभयां सुरदारु च।
वचां पर्पटकं मुस्तं भूतीकमथ कट्फलम् ॥१९३॥
निष्क्वाथ्य कफवातोत्थे क्षौद्रहिङ्गुसमन्वितम्।
दा (पा) तव्यं श्वासकासघ्नं श्लेष्मोत्सेके गलग्रहे १९४
हिक्कासु कण्ठश्वयथौ शूले हृदयपार्श्वजे।

सोंठ, धनियाँ, भार्गी, हरड़, देवदारु, वच, शाहतरा, मोथा, भूतीक (रोहित घास) और कट्फल इनका क्वाथ करके, इसमें मधु और हींग मिलाकर कफ-वातजन्य ज्वर में, कफ की अधिकता में, गलग्रह में, हिक्का में, गले की सूजन में, हृदयशूल में, पार्श्वशूल में पीना चाहिये, यह श्वास कास नाशक है॥

बलापटोलत्रिफलायष्ट्याह्वानां वृषस्य च ॥१९५॥
क्वाथो मधुयुतः पीतो हन्ति पित्तकफज्वरम्।
कटुकाविजयाद्राक्षामुस्तपर्पटकैः कृतः ॥१९६॥
कषायो नाशयेत् पीतः श्लेष्मपित्तभवं ज्वरम्।
भार्गीवचापर्पटकधान्यहिङ्ग्वभयाघनैः ॥१९७॥
काश्मर्यनागरैः क्वाथः सक्षौद्रः श्लेष्मपित्तजे।
सशर्करामक्षमात्रां कटुकामुष्णवारिणा ॥१९८॥
पीत्वा ज्वरं जयेज्जन्तुः कफपित्तसमुद्भवम्।

बला, पटोल, त्रिफला, मुलैहठी, अडूसा, इनका क्वाथ मधु के साथ पीने से पित्त-कफज्वर को नष्ट करता है। कुटकी, हरड़, द्राक्षा, मुस्ता शाहतरा इनका क्वाथ मधु के साथ पीने से कफपित्तजन्य ज्वर को नष्ट करता है। भार्गी, वच, शाहतरा, धनियाँ, हींग, हरड़, मुस्ता, गम्भारी और सोंठ इनका क्वाथ मधु के साथ कफ-पित्त-जन्य ज्वर में पीये। कुटकी और शर्करा को एक कर्ष की मात्रा में गरम पानी से पीने पर कफपित्त-जन्यज्वर नष्ट होता है॥१९५-१९८॥

किराततिक्तममृतां द्राक्षामामलकं शटीम् ॥१९९॥
निष्क्वाथ्य वातपित्तोत्थे तं क्वाथं सगुडं पिबेत्।
रास्ना वृषोऽथ त्रिफला राजवृक्षफलैः सह ॥२००॥
कषायः साधितः पीतो वातपित्तज्वरं जयेत्।

चिरायता, गिलोय, द्राक्षा, आंवला, कचूर, इनका क्वाथ करके, इसमें गुड़ मिलाकर वातपित्तजज्वर में पीये। रास्ना, अडूसा, त्रिफला, अमलतास का फल, इनका बना क्वाथ पीने से वातपित्तज्वर नष्ट होता है॥१९९,२००॥

सर्वदोषसमुत्थे तु संसृष्टानवचारयेद् ॥२०१॥

समसन्निपात में–वातादि में कहे कषायों को मिलाकर बरते॥

यथादोषोच्छ्रयं चापि ज्वरान् सर्वानुपाचरेत्।

ज्वर में जिस दोष की अधिकता हो, उस दोष के प्रतीकार से सब सन्निपातों में चिकित्सा करे।

वृश्चीवबिल्ववर्षाभ्वः पयश्चोदकमेव च ॥२०२॥
पचेत् क्षीरावशिष्टं तु तद्धि सर्वज्वरापहम्।

श्वेतपुनर्नवा, विल्व, रक्त पुनर्नवा, दूध और पानी इनको मिलाकर पकाये। जब दूध मात्र रह जाये तब पीये, यह सब प्रकार के ज्वर को नष्ट करता है।

वक्तव्य—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्त्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥२०२॥

उदकांशास्त्रयः क्षीरं शिंशपासारसंयुतम् ॥२०३॥
तत् क्षीरशेषं क्वथितं पेयं सर्वज्वरापहम्।

दूध आठपल, दूध की अपेक्षा से पानी तीन भाग (२४ पल), शीशम का सार भाग एक पल, इनसे दूध मात्र पाक करे। यह दूध सब प्रकार के ज्वर को नष्ट करता है॥२०३॥

नलवेतसयोर्मूले मूर्वायां देवदारुणि ॥२०४॥
कषायं विधिवत् कृत्वा पेयमेतज्ज्वरापहम्।
हरिद्रा भद्रमुस्तं च त्रिफला कटुरोहिणी ॥२०५॥
पिचुमन्दः पटोली च देवदारु निदिग्धिका।
एषां कषायः पीतस्तु सन्निपातज्वरं जयेत् ॥२०६॥
अविपक्तिं प्रसेकं च शोफं कासमरोचकम्।
त्रैफलो वा ससर्पिष्कः क्वाथः पेयस्त्रिदोषजे ॥२०७॥

नड़सर की जड़, बेंत की जड़, मूर्वा, देवदारु इनका कषाय विधिपूर्वक करे, यह ज्वरनाशक है। हल्दी, भद्रमुस्त

त्रिफला, कुटकी, नीम, पटोल, देवदारु, कटेरी, इनका क्वाथ पीने से सन्निपातज्वर नष्ट होता है। अविपाक, लालाप्रसेक, शोफ, कास, अरोचक को यह नष्ट करता है। त्रिदोषज्वर में त्रिफला का क्वाथ घी के साथ पीये ॥२०४-२०७॥

अनन्तां बालकं मुस्तां नागरं कटुरोहिणीम्।
सुखाम्बुना प्रागुदेयात्पाययेताक्षसंमितम् ॥२०८॥
एष सर्वज्वरान् हन्ति दीपयत्याशु चानलम्।

सारिवा, नेत्रवाला, मुस्ता, सोंठ, कुटकी, इनको एक कर्ष की मात्रा में गरम पानी से सूर्य के निकलने से पूर्व पीये। यह योग सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है, और अग्नि को बढ़ाता है ॥२०८॥

द्रव्याणि दीपनीयानि तथा वैरेचनानि च ॥२०९॥
एकशो वा द्विशो वाऽपि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत्।

पिप्पल्यादि दीपनीय, त्रिवृत्तादि विरेचक, जीर्णज्वरनाशक द्रव्यों को अकेला अकेला या दो-दो अथवा तीन तीन मिलाकर बरते। "सारिवाशर्करापाठामंजिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलक-विभीतकानि इति दशेमानि ज्वरहराणि ॥" चरक ॥२०९॥

सर्पिर्मध्वभयातैललेहोऽयं सर्वजं ज्वरम् ॥२१०॥
शान्तिं नयेत्त्रिवृत्चापि सक्षौद्रा प्रबलं ज्वरम्।

घी, मधु, हरड़ और तेल इनका यह लेह सन्निपातजन्यज्वर को शान्त करता है। मधु के साथ निशोथ प्रबलज्वर को नष्ट करती है। तंत्रान्तर में—

पथ्यातैलघृतक्षौद्रैः लेहो दाहश्रमज्वरान्।
कासासृक्पित्तवीसर्पश्वासान् हन्ति वमीरपि ॥२१०॥

ज्वरे तु विषमे कार्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ॥२११॥

विषमज्वर में रोगी को वमन (कफाधिक्य में) और विरेचन (पित्ताधिक्य में) देवे ॥२११॥

घृतं प्लीहोदरोक्तं वा निहन्याद्विषमज्वरम्।

प्लीहोदर में कहा षटपलघृत विषमज्वर में देवे।

गुडप्रगाढां त्रिफलां पिबेद्वा विषमार्दितः ॥२१२॥

विषमज्वर से पीड़ित रोगी प्रचुर गुड़मिश्रित त्रिफला को खाये ॥२१२॥

गुडूचीनिम्बधात्रीणां कषायं वा समाक्षिकम्।

गिलोय, नीम, आंवला इनका क्वाथ मधु के साथ पीये।

प्रातः प्रातः ससर्पिष्कं रसोनमुपयोजयेत् ॥२१३॥

प्रतिदिन प्रातःकाल लहसुन के रस में घी मिलाकर पीये ॥

त्रिचतुर्भिः पिबेत् क्वाथं पञ्चभिर्वा समन्वितैः।
मधुकस्य पटोलस्य रोहिण्या मुस्तकस्य च ॥२१४॥
हरीतक्याश्च सर्वोऽयं त्रिविधो योग इष्यते।

मुलैहठी, पटोल, कुटकी, मुस्ता, हरड़ इनमें से किन्हीं तीन, या किन्हीं चार या इन पांचों को मिलाकर क्वाथ करके पीये। (इस प्रकार तीन भेदों से सोलह योग बरते हैं) ॥

सर्पिःक्षीरसिताक्षौद्रमागधीर्वा यथाबलम् ॥२१५॥
दशमूलीकषायेण मागधीर्वा प्रयोजयेत्।

बल के अनुसार घी, दूध, शर्करा, मधु और पिप्पली को बरते। अथवा दशमूल के कषाय से एक कर्ष पिप्पली पीये।

वि० मन्तव्य—घृतं १ से ४ तो०, दूध १ पाव से १ सेर, श्वेतखण्ड ४ तो० से १६ तो०, मधु १ से ४ तो० और पीपल ३-५-७-८ संख्यक पीसकर सबको मिलाकर विषमज्वर से १-२ घण्टा पूर्व पिला देना चाहिये। उसी दिन ज्वर रुक जाता है। परन्तु यह योग निराम विषम ज्वर में दिया जाता है, साम में नहीं। और साम ज्वर को रोकना निषिद्ध है देखिये श्लो० १२१। साम-निराम का विचार किये विना अंधाधुंध कुनायन का प्रयोग किये जाने से उत्पन्न दुष्परिणामों को चिकित्सक-समाज भलीभाँति देख सुन रहा है। निम्नलिखित बर्द्धमान पिप्पली तथा मद्य का प्रयोग भी उक्त दशा में ही करना चाहिये। इसी योग को श्लो० २५५ में "पञ्चसार" नाम से लिखा है और इसके विशिष्टगुण भी लिखे हैं। प्रयोग कीजिये और लाभ उठाइये ॥२१५॥

पिप्पलीवर्धमानं वा पिबेत् क्षीररसाशनः ॥२१६॥

दूध या मांसरस का ही भोजन करते हुए वर्धमान पिप्पली का (व्रत व्याधि में कही) उपयोग करे ॥२१६॥

ताम्रचूडस्य मांसेन पिबेद्वा मद्यमुत्तमम्।

मुर्गे के मांस के साथ उत्तम मद्य को पीये।

कोलाग्निमन्थत्रिफलाक्वाथे दध्ना घृतं पचेत् ॥२१७॥
तिल्वकावापमेतद्धि विषमज्वरनाशनम्।

पंचकोल, (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ), अग्निमन्थ, त्रिफला-इनका एक सौ पल, पानी पांच सौ बारह पल, मिलाकर क्वाथ करे। एक सौ अट्ठाइस पल क्वाथ, एक सौ अट्ठाइस पल दही और बत्तीस पल घी, आठ पल तिल्वक का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह विषमज्वर नाशक है ॥

पिप्पल्यतिविषाद्राक्षासारिवाबिल्वचन्दनैः ॥२१८॥
कटुकेन्द्रयवोशीरसिंहीतामलकीघनैः।
त्रायमाणास्थिराधात्रीविश्वभेषजचित्रकैः ॥२१९॥
पक्वमेतैर्घृतं पीतं विजित्य विषमाग्नितताम्।
जीर्णज्वरशिरःशूलगुल्मोदरहलीमकान् ॥२२०॥
क्षयकासं ससंतापं पार्श्वशूलानपास्यति।

पिप्पली, अतीस, द्राक्षा, सारिवा, बिल्व, चन्दन, कुटकी, इन्द्रजो, खस, कटेरी, भूंईआंवला, मुस्ता, त्राय-

माणा, शालपर्णी, आँवला, सोंठ, चित्रक इनके कल्क और कषाय से सिद्ध किया घृत विषमाग्नि को नष्ट करके जीर्णज्वर, शिरः शूल, गुल्म, उदर, हलीमक, क्षयकास, संताप, पार्श्वशूल को नष्ट करता है ॥२१८-२२०॥

गुडूचीत्रिफलावासात्रायमाणायवासकैः ॥२२१॥
क्वथितैर्विधिवत्पक्वमेतैः कल्कीकृतैः समैः।
द्राक्षामागधिकाम्भोदनागरोत्पलचन्दनैः ॥२२२॥
पीतं सर्पिः क्षयश्वासकासजीर्णज्वरान् जयेत्।

गिलोय, त्रिफला, वासा, त्रायमाण, धमासा, इनसे विधिपूर्वक बनाये क्वाथ में द्राक्षा, पिप्पली, मोथा, सोंठ, कमल, चन्दन, इसको समान भाग लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। इस घी के पीने से क्षय, श्वास, कास, जीर्णज्वर नष्ट होते हैं ॥२२१,२२२॥

कलशीबृहतीद्राक्षात्रायन्तीनिम्बगोक्षुरैः ॥२२३॥
बलापर्पटकाम्भोदशालपर्णीयवासकैः।
पक्वमुत्क्वथितैः सर्पिः कल्कैरेभिः समन्वितम् ॥२२४॥
शटीतामलकीभार्गीमेदामलकपौष्करैः।
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं जीर्णज्वरमपोहति ॥२२५॥
शिरःपार्श्वरुजाकासक्षयप्रशमनं परम्।

पृश्निपर्णी, कटेरी, द्राक्षा, त्रायमाण, नीम, गोखरू, बला, पित्तपापड़ा, मोथा, शालपर्णी, जवासा, इनका क्वाथ करे। इसमें कचूर, भूँई आंवला, भार्गी, मेदा, आंवला, पुष्करमूल, इनका कल्क और घी से दुगुना दूध मिलाकर घृतपाक करे। इस घी के पीने से जीर्णज्वर नष्ट होता है, शिरःशूल, कास, क्षय नष्ट होता है ॥२२३-२२५॥

पटोली पर्पटारिष्टगुडूचीत्रिफलावृषैः ॥२२६॥
कटुकाम्बुदभूनिम्बयासयष्ट्याह्वचन्दनैः।
दार्वीशक्रयवोशीरत्रायमाणाकणोत्पलैः ॥२२७॥
धात्रीभृङ्गरजोभीरुकाकमाचीरसैर्घृतम्।
सिद्धमास्वपचीकुष्ठज्वरशुक्रार्जुनव्रणान् ॥२२८॥
हन्यान्नयनवदनश्रवणघ्राणजान् गदान्।

पटोल, पित्तपापड़ा, नीम, गिलोय, त्रिफला, अडूसा, कुटकी, मोथा, चिरायता, जवासा, मुलैहठी, चन्दन, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, खस, त्रायमाण, पिप्पली, कमल इनके कल्क से आंवला, भांगरा, शतावरी, मकोय, इनके स्वरसों से सिद्ध किया घृत शीघ्र ही अपची, कुष्ट, ज्वर, शुक्रव्रण, अर्जुनव्रण, नेत्र-मुख-कान-नासिका के रोगों को नष्ट करता है। (डल्हण ने उत्पल का अर्थ नीलोफर किया है) ॥२२६-२२८॥

विडङ्गत्रिफलामुस्तमञ्जिष्ठादाडिमोत्पलैः ॥२२९॥
प्रियङ्ग्वेलैलवालूकचन्दनामरदारुभिः॥
बर्हिष्ठ कुष्ठरजनीपर्णिनीसारिवाद्वयैः ॥२३०॥
हरेणुकात्रिवृद्दन्तीवचातालीशकेसरैः।
द्विक्षीरं विपचेत्सर्पिर्मालतीकुसुमैः सह ॥२३१॥
जीर्णज्वरश्वासकासगुल्मोन्मादगरापहम्।
एतत्कल्याणकं नामसर्पिर्माङ्गल्यमुत्तमम ॥२३२॥
अलक्ष्मीग्रहरक्षोऽग्निमान्द्यापस्मारपापनुत्।
शस्यते नष्टशुक्राणां वन्ध्यानां गर्भदं परम् ॥२३३॥
मेध्यं चक्षुष्यमायुष्यं रेतोमार्गविशोधनम्।
एतैरेव तथा द्रव्यैः सर्वगन्धैश्च साधितम् ॥२३४॥
कपिलाया घृतप्रस्थं सुवर्णमणिसंयुतम्।

विडंग, त्रिफला, मुस्ता, मजीठ, अनार, नीलोफर, प्रियंगु, इलायची, ऐलवालुक, चन्दन, देवदारु, बर्हिष्ठ (बालक), कूठ, हल्दी, शालपर्णी, सारिवा, कालीसारिवा, हरेणु, निशोथ, जमालगोटा, वच, तालीश, नागकेसर, चमेली के फूल, इनका कल्क, दुगुना दूध, इनसे घृत सिद्ध करे। यह घृत जीर्णज्वर कास,श्वास, गुल्म उन्माद, गरनाशक है। यह कल्याणक घृत है। यह घृत मंगलकारी श्रेष्ठ है। अलक्ष्मी, ग्रह, राक्षस, अग्निमान्द्य, अपस्मार, पापनाशक है। नष्टशुक्र पुरुषों के लिये उत्तम है, वन्ध्याओं को गर्भप्रद है। मेध्य, चक्षुष्य, आयुष्य है, रेतोमार्ग का शोधक है।

वक्तव्य—इसमें पानी घी से चारगुणा मिलाना चाहिये। कल्क आठ पल, घी एक प्रस्थ, पानी चार प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ ले। चरक में—"विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिरानतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियंगुका। नीलोत्पलैला मजिष्ठा दन्तीदाड़िमकेसरान्। तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमंनवम्॥ विडंगं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्ष समन्वितैः। चतुर्गुणे जले सम्यग् घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥" इसमें दूध नहीं है ॥२२९-२३४॥

तत्क्षीरेण सहैकध्यं प्रसाध्य कुसुमैरिमैः ॥२३५॥
सुमनश्चम्पकाशोकशिरीषकुसुमैर्वृतम्।
तथा नलदपद्मानां केशरैर्दाडिमस्य च ॥२३६॥
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे साधकस्यातुरस्य च।
कृतं मनुष्यदेवाय ब्राह्मणैरभिमन्त्रितम् ॥२३७॥
दत्तं सर्वज्वरान् हन्ति महाकल्याणकं त्विदम् ॥२३८॥
दर्शनस्पर्शनाभ्यां च सर्वरोगहरं शिवम्।
अधृष्यः सर्वभूतानां वलीपलितवर्जितः ॥२३९॥
अस्याभ्यासाद् घृतस्येह जीवेद्वर्षशतत्रयम्।

इन कल्याणक घृत के द्रव्यों से तथा सर्वगन्धगण के द्रव्यों से चमेली, चम्पा, अशोक, शिरीष, इनके नूतन कुसुमों के साथ, जटामांसी, लालकमल, अनार का केसर, इन द्रव्यों से, सुवर्ण, मणि आदि के साथ, कपिला (लाल) गाय के दूध में कपिलगाय का एक प्रस्थ घृत सिद्ध करे। ब्राह्मणों से अभिमंत्रित करके, प्रशस्त तिथि एवं नक्षत्र में वैद्य, रोगी और राजा के लिये देने से यह घृत सब ज्वरों को नष्ट करता है। इसका नाम महाकल्याणक घृत है। देखने छूने से सब रोग नाशक

एवं कल्याणकारी है। इससे सब प्राणियों से अतिरस्कृत, वली-पलित रहित होकर निरन्तर सेवन करते रहने से तीन सौ वर्ष तक जीता है।

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ।
रसे तस्मिन्पचेत् सर्पिः गृष्टीक्षीरे चतुर्गुणे ॥
वीराद्विमाषकाकोली स्वयंगुप्तर्षभर्धिभिः ।
मेदया च समैः कल्कैः तत्स्यात् कल्याणकं महत् ॥
बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम् ॥
चरक चि० अ० ६।४६–५१ ।।२३४–२३६।।

गव्यं दधि च मूत्रं च क्षीरं सर्पिः शकृद्रसः ॥२४०॥
समभागानि पाच्यानि कल्कांश्चैतान् समावपेत् ।
त्रिफलां चित्रकं मुस्तं हरिद्राऽतिविषे वचाम् ॥२४१॥
विडङ्गं त्र्यूषणं चव्यं सुरदारु तथैव च ।
पञ्चगव्यमिदं पानाद्विषमज्वरनाशनम् ॥२४२॥

पंचगव्यघृत-गाय का दही, गोमूत्र, गोदूध, गोघृत और गोबर का रस, ये पांचों वस्तुएं समभाग लेकर त्रिफला, चित्रक, मुस्ता, हल्दी, अतीस, वच, विडंग, त्रिकटु, चव्य, देवदारु इनके कल्क से घृत पाक करे। यह पंचगव्यघृत पीने से विषम-ज्वर नाशक है। (यह महत् पंचगव्यघृत है) ॥२४०-२४२॥

पञ्चगव्यघृते गर्भात्पाच्यमन्यद् वृषेण च ।
बलयाऽथ परं पाच्यं गुडूच्या तद्वदेव तु ॥२४३॥
जीर्णज्वरे च शोफे च पाण्डुरोगे च पूजितम् ।

इसी पंचगव्यघृत में कल्क न मिलाकर घृतपाक करे तो यह दूसरा पंचगव्यघृत (लघु) है। अड्सूसे के पत्तों के, या बला के अथवा गिलोय के स्वरस से घृत सिद्ध करे। ये तीनों घृत जीर्ण-ज्वर, शोफ और पाण्डुरोग में उत्तम हैं ॥२४३॥

एतेनैव तु कल्पेन घृतं पञ्चाविकं पचेत् ।
पञ्चाजं पञ्चमहिषं चतुरुष्ट्रमथापि च ॥२४४॥

पंचगव्य के विधान से पंचआविक (भेड़ के दूध, घी, मूत्र, मलरस, दही से), पञ्चाज (बकरी के दूध आदि), पञ्चमहिष (भैंस के दूध आदि), चार ऊँट के (गोबर-मल को छोड़कर दूध, दही आदि से) घृत सिद्ध करे ॥२४४॥

त्रिफलोशीरशम्पाककटुकातिविषाघनैः ।
शतावरीसप्तपर्णगुडूचीरजनीद्वयैः ॥२४५॥
चित्रकत्रिवृतामूर्वापटोलारिष्टवालकैः ।
किराततिक्तकवचाविशालापद्मकोत्पलैः ॥२४६॥
सारिवाद्वययष्ट्याह्वचविकारक्तचन्दनैः ।
दुरालभापर्पटकत्रायमाणाटरूषकैः ॥२४७॥
रास्नाकुंकुममञ्जिष्ठामागधीनागरैस्तथा ।
धात्रीफलरसैः सम्यग्द्विगुणैः साधितं हविः ॥२४८॥
परिसर्पज्वरश्वासगुल्मकुष्ठनिवारणम् ।
पाण्डुप्लीहाग्निसादिभ्य एतदेव परं हितम् ।२४९।

त्रिफला, खस, अमलतास, कुटकी, अतीस, मुस्ता, शतावरी, सप्तपर्ण, गिलोय, हल्दी, दारुहल्दी, चित्रक, निशोथ, मूर्वा, पटोल, नीम, नेत्रवाला, चिरायता, वच, इन्द्रायण, पद्माख, नीलोफर, सारिवा, कालीसारिवा, मजीठ, चविका, लालचन्दन, धमासा, पित्तपापड़ा, त्रायमाण, अड्सूसा, रास्ना, केसर, मजीठ, पिप्पली, सोंठ, इनके कल्क से आँवले का स्वरस (या क्वाथ) घी से दुगुना लेकर घृत सिद्ध करे। यह घृत विसर्प, ज्वर, श्वास, गुल्म, कुष्ठनाशक है। पाण्डु, प्लीहा, अग्निमान्द्य के लिये हितकारी है ॥२४५–२४९॥

पटोलकटुकादार्वीनिम्बवासाफलत्रिकम् ।
दुरालभापर्पटकत्रायमाणाः पलोन्मिताः ॥२५०॥
प्रस्थमामलकानां च क्वाथयेत्सलिलार्मणे ।
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२५१॥
कल्कैः कुटजभूनिम्बघनयष्ट्याह्वचन्दनैः ।
सपिप्पलीकैस्तत्सिद्धं चक्षुष्यं शुक्लयोर्हितम् ॥२५२॥
घ्राणकर्णाक्षिवदनवर्त्मरोगव्रणापहम् ।
रक्तपित्तकफस्वेदक्लेदपूयोपशोषणम् ॥२५३॥
कामलाज्वरवीसर्पगण्डमालाहरं परम् ।

पटोल, कुटकी, दारुहल्दी, नीम अडूसा, त्रिफला, धमासा, पित्तपापड़ा, त्रायमाण प्रत्येक एकपल, आँवला एक प्रस्थ–इनको एक द्रोण जल में क्वाथ करे। चौथाई रहने पर क्वाथ से एक प्रस्थ घी, कुटज, चिरायता, मोथा, मुलैहठी, चन्दन, पिप्पली इनके कल्क से सिद्ध करे। यह घृत नेत्र के लिये तथा नेत्रगत शुक्लभाग के रोगों में उत्तम है। नासिका, कान, आंख, मुख, वर्त्म रोग एवं व्रणका नाशक है। रक्तपित्त, कफ स्वेद, क्लेद, पूय को सुखाता है। कामला, ज्वर, विसर्प, गण्डमाला को नष्ट करने में उत्तम है ॥२५०–२५३॥

शृतं पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी ॥२५४॥
पञ्चसारमिदं पेयं मथितं विषमज्वरे ।
क्षतक्षीणे क्षये श्वासे हृद्रोगे चैतदिष्यते ॥२५५॥

गरम किया दूध, शर्करा, पिप्पली, मधु, घृत, इनको मथ-कर, इसको पीये। यह पंचसार विषमज्वर में, क्षतक्षीण में क्षय में, श्वास में, हृदय रोग में उत्तम है। (इनको हाथ से बिलोना चाहिये) ॥२५४,२५५॥

लाक्षाविश्वानिशामूर्वामञ्जिष्ठावर्सजिकामयैः ।
षड्गुणेन च तक्रेण सिद्धं तैलं ज्वरान्तकृत् ॥२५६॥

लाख, सोंठ, हल्दी, मूर्वा, मंजीठ, सर्जकक्षार, कूठ (आठ पल) इनसे तैल (३२ पल) को, तैल से छै गुने तक्र में सिद्ध करे। यह तैल शीतपूर्व, दाहपूर्व ज्वरों को नष्ट करता है ॥

क्षीरीवृक्षासनारिष्टजम्बूसप्तच्छदार्जुनैः ।
शिरीषखदिरास्फोटामृतवल्ल्याटरूषकैः ॥२५७॥

कटुकापर्पटोशीरवचातेजोवतीघनैः ।
साधितं तैलमभ्यङ्गादाशु जीर्णज्वरापहम् ॥२५८॥

बरगद आदि क्षीरिवृक्ष, विजयसार, नीम, जामुन, सप्तपर्ण, अर्जुन, शिरीष, खैर, सारिवा, गिलोय, अडूसा, कुटकी, पित्तपापड़ा, खस, वच, तेजबल, मुस्ता, इनके कल्क से सिद्ध किया तैल (द्रवकार्य में जल या तक्र, तैल से छै गुणा ले या चार गुणा ले) जीर्ण ज्वर नाशक है ॥२५७,२५८॥

निर्विषैर्भुजगैर्नागैर्विनीतैः कृततस्करैः ।
त्रासयेदागमे चैनं तदहर्भोजयेन्न च ॥२५९॥
अत्यभिष्यन्दिगुरुभिर्वामयेद्वा पुनः पुनः ।
मद्यं तीक्ष्णं पाययेत घनं वा ज्वरनाशनम् ॥२६०॥
पुराणं वा घृतं काममुदारं वा विरेचनम् ।
निरूहयेद्वा मतिमान् सुस्विन्नं तदहर्नरम् ॥२६१॥

ज्वर आने के समय रोगी को विषरहित सांपों से, सिखाये हाथियों से, चोरी के आरोप से इसे डराये, उस दिन इसे खाने को न देवे। अथवा अतिशय अभिष्यन्दि एवं गुरुभोजन खिलाकर इसको बार बार वमन कराये। तीक्ष्णमद्य या ज्वरनाशक घृत पिलाये। पुरातनघृत को (दस साल के) पेट भरके पिलाये। उसी दिन रोगी को भली प्रकार स्वेदन करके-अपीड़ाकर विरेचन पिलाये अथवा निरूह देवे। यह चिकित्सा ज्वर वेग के दिन करे ॥२५९-२६१॥

अजाव्योश्चर्मरोमाणि वचा कुष्ठं पलङ्कषा ।
निम्बपत्रं मधुयुतं धूपनं तस्य दापयेत् ॥२६२॥

बकरी, भेड़ की खाल, रोम, वच, कूठ, गुग्गुल, नीम के पत्ते, इनको मधु में मिलाकर रोगी को धुँवा देवे ॥२६२॥

वैडालं वा शकृद्योज्यं वेपमानस्य धूपनम् ।

रोगी को जब कंपकंपी होती हो, तब बिल्ली के विष्ठा का धूप देवे।

पिप्पली सैन्धवं तैलं नेपाली चेक्षणाञ्जनम् ॥२६३॥

पिप्पली, सैन्धव, तैल, मैनसिल इनसे आंखों में अञ्जन करे।

उदरोक्तानि सर्पींषि यान्युक्तानि पुरा मया ।
कल्पोक्तं चाजितं सर्पिः सेव्यमानं ज्वरं जयेत् ॥२६४॥

उदररोग में जो घृत देने कहे हैं, उनको सेवन करने से तथा कल्पोक्त अजित घृत के सेवन से विषमज्वर शान्त हो जाता है ॥२६४॥

भूतविद्यासमुद्दिष्टैबन्धावेशनपूजनैः ।
जयेद्भूताभिषङ्गोत्थं विज्ञानाद्यैश्च मानसम् ॥२६५॥

भूत से सम्बन्धित ज्वर में भूतविद्या में कहे—रज्जु आदि से बांधना, आवेशन (सर्षप आदि से मंत्रपूर्वक ताड़न) पूजन आदि से ज्वर को शान्त करे और काम-शोक-क्रोध आदि मानसज्वर को—ज्ञान, विज्ञान, सान्त्वना आदि से शान्त करे ॥२६५॥

श्रमक्षयोत्थे भुञ्जीत घृताभ्यक्तो रसौदनम् ।

श्रम या क्षयजन्य ज्वर में प्रचुर घृत युक्त मांसरस के साथ चावल खाये।

अभिशापाभिचारोत्थौ ज्वरौ होमादिना जयेत् ।२६६।

अभिचार एवं अभिशापजनित ज्वर को होम, शान्तिपाठ, प्रायश्चित आदि से शान्त करे ॥२६६॥

दानस्वस्त्ययनातिथ्यैरुत्पातग्रहपीडितम् ।

उत्पात एवं ग्रह से पीड़ित व्यक्ति की दान, स्वस्तिवाचन, अतिथिपूजन से चिकित्सा करे।

अभिघातज्वरे कुर्यात् क्रियामुष्णविवर्जिताम् ॥२६७॥
कषायमधुरां स्निग्धां यथादोषमथापि वा ।

अभिघातजन्यज्वर में उष्ण क्रिया को छोड़कर चिकित्सा करे। कषाय, मधुर, स्निग्ध उपचार बरते। अथवा दोष के अनुसार चिकित्सा करे ॥२६७॥

औषधीगन्धविषजौ विषपित्तप्रसाधनैः ॥२६८॥
जयेत् कषायं च हितं सर्वगन्धकृतं तथा ।
निम्बदारुकषायं वा हितं सौमनसं यथा ॥२६९॥

औषधि गन्धजन्य और विषजन्य ज्वर में विषनाशक, पित्तनाशक चिकित्सा करे, एलादिगण का क्वाथ पीनेको देवे। नीम, दारुहल्दी, चमेली इनका कषाय पीने को देना हितकारी है ॥२६८,२६९॥

यवान्नविकृतिः सर्पिर्मद्यंच विषमे हितम् ।

विषमज्वर में जौ के बने भक्ष्य, घी और मद्य उत्तम हैं।

संपूजयेद् द्विजान् गाश्च देवमीशानमम्बिकाम् ।२७०।

ब्राह्मण, गाय, देवता, शिव, अम्बिका (चण्डी) की पूजा करे ॥२७०॥

कफवातोत्थयोश्चापि ज्वरयोः शीतपीडितम् ।
दिह्यादुष्णेन वर्गेण परश्चोष्णो विधिर्हितः ॥२७१॥
सिञ्चेत् कोष्णैरारनालशुक्तगोमूत्रमस्तुभिः ।
दिह्यात् पलाशैः पिष्टैर्वा सुरसार्जकशिग्रुजैः ॥२७२॥
क्षारतैलेन वाऽभ्यङ्गः सशुक्तेन विधीयते ।
पानमारग्वधादेश्च क्वथितस्य विशेषतः ॥२७३॥
अवगाहः सुखोष्णश्च वातघ्नक्वाथयोजितः ।
जित्वा शीतं क्रमैरेभिः सुखोष्णजलसेचितम् ॥२७४॥
प्रवेश्योर्णिककार्पासकौशेयाम्बरसंवृतम् ।
शाययेत् क्षामदेहं च काळागुरुविभूषितम् ॥२७५॥
स्तनाढ्या रूपसंपन्नाः कुशला नवयौवनाः ।
भजेयुः प्रमदा गात्रैः शीतदैन्यापहाः शुभाः ॥२७६॥
शरच्छशाङ्कवदना नीलोत्पलविलोचनाः ।
स्फुरितभ्रूलताभङ्गललाटतटकम्पनाः ॥२७७॥
प्रलम्बबिम्बप्रवालद्बिम्बीफलनिभाधराः ।
कृशोदर्योऽतिविस्तीर्णजघनोद्वहनालसाः ॥२७८॥
कुङ्कुमागुरुदिग्धाङ्ग्यो घनतुङ्गपयोधराः ।

सुगन्धिधूपितश्लक्ष्णस्रस्तांशुकविभूषणाः ॥२७९॥
गाढमालिङ्गयेयुस्तं तरुं वनलता इव ।
प्रह्लादं चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत् पुनः ॥२८०॥
तासामङ्गपरिष्वङ्गनिवारितहिमज्वरम् ।
भोजयेद्धितमन्नं च यथा सुखमवाप्नुयात् ॥२८१॥

कफ-वातजन्य ज्वरों में रोगी को शीत होनेपर भद्रदार्व्यादि, सुरसादि या एलादि उष्णगण के कल्क से लेप करे एवं स्वेद देवे। गुनगुनाती कांजी, शुक्त, गोमूत्र, या मस्तु से सिंचन करे। सुरस (तुलसी), अर्जक, शिग्रु के पत्तों को पीसकर इनसे लेप करे। शुक्त मिश्रित क्षार तैल से अभ्यंग करना चाहिये। आरग्वधादि गण का क्वाथ पीने को देवे। एरण्डादि वातघ्न द्रव्यों के सुहाते गरम क्वाथ पीने को देवे। एरण्डादि वातघ्न द्रव्यों के सुहाते गरम क्वाथ में स्नान करना उत्तम है। इन उपायों से शीत को शान्त करके गुनगुनाते जल से स्नान कराके, ऊन, कपास, रेशम के बने वस्त्रों से ढाँपकर रोगी को सुला देवे। काले अगरु का अंगोंपर लेप की हुई, पीनस्तनोंवाली, रूप से फूटी फटती, चतुर, उठती जवानीवाली, स्त्रियाँ अंगों से लिपटा लें। ये स्त्रियाँ शीत एवं दीनता को नष्ट करने में श्रेष्ठ हैं। शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल मुखवाली, नीले कमल की सी आँखोंवाली चंचलभ्रू, अंगभंग, ललाट, स्तन को कम्पाती हुई, लटकते-हिलाते भारी नितम्बोंवाली, कुन्दुरू के समान ओठोंवाली, कृश उदरवाली, अतिविस्तृत जंघनों के उठाने से थकी, केशर एवं अगरु का अंगोंपर लेप किये, भारी, उन्नत स्तनोंवाली, सुगन्धित, धूप दिये चिकने नरम-कोमल-शिथिल वस्त्रों से विभूषित, स्त्रियाँ कृशशरीरवाले रोगी को कसकर आलिंगन करें। रोगी का आह्लाद हुआ जानकर स्त्रियों को अलग कर देवे। इन स्त्रियों के अंगों के आलिंगन से शीतज्वर नष्ट हो जानेपर हितकारी अन्न खिलाये। जिससे उसे सुख प्राप्त हो।

वक्तव्य—ज्वर में बाह्य परिशीलन करे, अन्तः परिशीलन या सम्भोग निषिद्ध है ॥२७१-२८१॥

दाहाभिभूते तु विधिं कुर्याद्दाहविनाशनम् ।
मधुफाणितयुक्तेन निम्बपत्राम्भसाऽपि वा ॥२८२॥
दाहज्वरार्तं मतिमान् वामयेत् क्षिप्रमेव च ।
शतधौतघृताभ्यक्तं दिह्याद्वा यवशक्तुभिः ॥२८३॥
कोलामलकसंयुक्तैः शुक्तधान्याम्लसंयुतैः ।
अम्लपिष्टैः सुशीतैश्च फेनिलापल्लवैस्तथा ॥२८४॥
अम्लपिष्टैः सुशीतैर्वा पलाशतरुजैर्दिहेत् ।
बदरीपल्लवोत्थेन फेनेनारिष्टकस्य च ॥२८५॥
लिप्तेऽङ्गे दाहतृण्मूर्च्छाः प्रशाम्यन्ति च सर्वशः ।

रोगी को दाह होने पर दाहनाशक विधि बरते। इसके लिये नीम के पत्तों को पानी में मथकर इसमें मधु और राब मिलाकर इससे लेप करे। दाह ज्वर से पीड़ित रोगी को तुरन्त वमन कराये। अथवा जौ के सत्तू को शतधौत घृत में मिलाकर लेप करे। बेर, आँवला, इनको शुक्त और कांजी में मिलाकर इनसे, या शीतल, फेनिल (रीठा या उपोदिका या चांगेरी) के पत्तों को कांजी में पीसकर लेप करे। ढाक के कोमल शीतल पत्तों को कांजी में पीसकर लेप करे। बेर के पत्तों की या रीठे के (या नीम के) पत्तों की झाग शरीर पर लेप करे। इनसे अंगोंपर लेप करने से दाह, प्यास, मूर्च्छा, सम्पूर्ण रूप में नष्ट होती है ॥ २८२-२८५ ॥

यवार्धकुडवं पिष्ट्वा मञ्जिष्ठार्धपलं तथा ॥२८६॥
अम्लप्रस्थशतोन्मिश्रं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।
एतत् प्रह्लादनं तैलं ज्वरदाहविनाशनम् ॥२८७॥

जौ का कल्क आधा कुड़व, मंजीठ आधापल, कांजी एक सौ प्रस्थ, तैल एक प्रस्थ मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह प्रह्लादन तैल ज्वर दाह को नष्ट करता है ॥२८६,२८७॥

न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिश्च यो गणः ।
उत्पलादिर्गणो यस्तु पिष्टैर्वा तैः प्रलेपयेत् ॥२८८॥
तत्कषायाम्लसंसिद्धाः स्नेहाश्चाभ्यञ्जने हिताः ।
तेषां शीतकषाये वा दाहार्तमवगाहयेत् ॥२८९॥
दाहवेगे त्वतिक्रान्ते तस्मादुद्धृत्य मानवम् ।
परिषिच्याम्बुभिः शीतैः प्रलिम्पेच्चन्दनादिभिः ॥२९०॥
ग्लानं वा दीनमनसमाश्लिषेयुर्वराङ्गनाः ।
पेलवक्षौमसंवीताश्चन्दनार्द्रपयोधराः ॥२९१॥
बिभ्रत्योऽब्जस्रजश्चित्रा मणिरत्नविभूषिताः ।
भजेयुस्ताः स्तनैः शीतैः स्पृशन्त्योऽम्बुरुहैः सुखैः ॥
प्रह्लादं चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत् पुनः ।
हितं च भोजयेदन्नं तथाऽऽप्नोति सुखं महत् ॥२९३॥

न्यग्रोधादिगण, काकोल्यादिगण, उत्पलादिगण, इनमें से किसी एक के द्रव्यों को पीसकर लेप करे। इन गणों के क्वाथ में तथा कांजी में सिद्ध किये तैल अभ्यंग में हितकारी हैं। अथवा इसके शीत कषाय में दाह से पीड़ित रोगी को गोता लगाये (बैठाये)। दाहवेग के शान्त हो जाने पर रोगी को उसमें से निकालकर शीतल जल से स्नान कराके चन्दन आदि का लेप कर देवे। ग्लान (उदास) या दीनमनवाले रोगी को, कोमल रेशमी वस्त्रों से ढँपी, स्तनों पर चन्दन का गीला लेप की हुई, कमल की माला पहने, नाना प्रकार के मणिरत्नों से भूषित स्त्रियाँ स्तनों से इसको आलिङ्गन देवें। खिलते हुए सुखदायक कमलों को धारण करती हुई स्त्रियाँ आलिंगन करें। फिर रोगी को आनन्द हुआ जानकर स्त्रियों को दूर हटा देवे। फिर हितकारी अन्न खिलाये, इससे बहुत सुख होता है ॥२८८-२९३॥

पित्तज्वरोक्तं शमनं विरेकोऽन्यद्धितं च यत्।

पित्तज्वरोक्त शमन चिकित्सा, विरेचन तथा जो हितकारी हो, वह भी करे।

निर्हरेत्पित्तमेवादौ दोषेषु समवायिषु ॥२९४॥

दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तानां विशेषतः।

संसर्गि दोषों में सबसे प्रथम पित्त को निकाले। क्योंकि ज्वररोगियों में यह पित्त ही विशेष कठिनाई से शान्त होता है।

वक्तव्य—उष्मा पित्तादृते नास्ति, ज्वरो नास्ति, उष्मणा बिना॥ इसी से कहा है 'समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्। ज्वरे चैवातीसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥' सन्निपातज्वर में कफ का शमन प्रथम होता है, पित्त का निर्हरण प्रथम होता है। इसीसे 'सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामविशोषणम्। पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥' अष्टांगसंग्रह में इसका उत्तमता से विचार किया है। विज्ञपाठक उसे वहीं देख सकते हैं ॥२९४॥

छर्दिमूर्च्छापिपासादीनविरोधाज्ज्वरस्य च ॥॥२९५॥

उपद्रवाञ्जयेच्चापि प्रत्यनीकेन हेतुना।

ज्वर के वमन, मूर्च्छा, प्यास आदि उपद्रवों को ज्वर के अविरोधि, कारण से विपरीत अपनी चिकित्सा से शान्त करे। उपद्रव—

"व्याधेरुपरि यो व्याधिः भवत्युत्तरकालजः।
उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥" २९५॥

विशेषमपरं चात्र शृणूपद्रवनाशनम् ॥२९६॥

मधुकं रजनी मुस्तं दाडिमं साम्लवेतसम्।
अञ्जनं तिन्तिडीकं च नलदं पत्रमुत्पलम् ॥२९७॥
त्वचं व्याघ्रनखं चैव मातुलुङ्गरसो मधु।
दिह्यादेभिर्ज्वरार्तस्य मधुशुक्तयुतैः शिरः ॥२९८॥
शिरोभितापसंमोहवमिहिक्काप्रवेपथून्।
प्रदेहो नाशयत्येष ज्वरितानामुपद्रवान् ॥२९९॥

उपद्रवनाशक विशेष चिकित्सा को सुनो। मुलैहठी, हल्दी, मुस्ता, अनारदाना, अम्लवेतस, अंजन (सुरमा), इमली, खस, कमल का पत्ता, दालचीनी, व्याघ्रनख, बिजौरे का रस, मधु इनको मधु शुक्त में मिलाकर ज्वररोगी के सिर पर लेप करे। इससे शिरकी पीड़ा, संमोह, वमन, हिचकी, कम्पन नष्ट होते हैं। ज्वर के उपद्रवों को यह प्रदेह नष्ट करता है ॥२९६-२९९॥

मधूकमथ ह्रीबेरमुत्पलानि मधूलिकाम् ॥३००॥
लीढ्वा चूर्णानि मधुना सर्पिषा च जयेद्वमिम्।
कफप्रसेकासृक्पित्तहिक्काश्वासांश्च दारुणान् ॥३०१॥

महुआ, बालक, कमल, जलयष्टी इनका चूर्ण मधु और घृत से चाटने पर वमन नष्ट होती है। कफप्रसेक, रक्तपित्त, भयानक श्वास, कास नष्ट होते हैं ॥३००,३०१॥

लिहन् ज्वरार्तस्त्रिफलां पिप्पलीं च समाक्षिकाम्।
कासे श्वासे च मधुना सर्पिषा च सुखी भवेत् ॥३०२॥

ज्वरपीड़ितरोगी त्रिफला, पिप्पली, मधु को पीसकर–मधु और घृत में मिलाकर कास श्वास में चाटे, इससे सुख होता है। (मधु के साथ पीसे, फिर मधु से घोलकर चाटे) ॥३०२॥

विदारी दाडिमं लोध्रं दधित्थं बीजपूरकम्।
एभिः प्रदिह्यान्मूर्धानं तृड्दाहार्तस्य देहिनः ॥३०३॥

तृषा एवं दाह से पीड़ित रोगी के सिर पर—विदारी, अनारदाना, लोध, कैथ, बिजौरे से लेप करे ॥३०३॥

दाडिमस्य सितायाश्च द्राक्षामलकयोस्तथा।
वैरस्ये धारयेत् कल्कं गण्डूषं च यथाहितम् ॥३०४॥
क्षीरेक्षुरसमाक्षीकसर्पिस्तैलोष्णवारिभिः।

मुख की विरसता में अनारदाना, शर्करा, द्राक्षा और आँवले का कल्क मुख में धारण करे। दूध, ईख का रस, मधु, घृत, तैल, गरम पानी का कवल मुख में धारण करे ॥३०४॥

शून्ये मूर्ध्नि हितं नस्यं जीवनायश्रृतं घृतम् ॥३०५॥

शिरके शून्य (खाली) होने पर जीवनीय गण की दस औषधियों से सिद्ध घृत का नस्य देवे ॥२०५॥

चूर्णितैस्त्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिसंयुतैः।
सक्षौद्रः शर्करायुक्तो विरेकस्तु प्रशस्यते ॥३०६॥
पक्वे पित्तज्वरे रक्ते चोर्ध्वगे वेपथौ तथा।

पित्तज्वर के पक जाने पर (निरामावस्था में), ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में, कम्पन में—त्रिफला, निशोथ, काली निशोथ, पिप्पली इनका चूर्ण मधु और शर्करा के साथ मिलाकर विरेचन के लिये देवे ॥३०६॥

कफवातोत्थयोरेवं स्नेहाभ्यंगैर्विशोधयेत् ॥३०७॥

कफ-वातजन्य ज्वररोगी का स्नेहन और अभ्यंग से शोधन करे ॥३०७॥

हृतदोषो भ्रमार्तस्तु लिह्यात् क्षौद्रसिताभयाः।

दोष के निकल जाने पर भी यदि चक्कर आते हों तो मधु, शर्करा, हरड़ को चाटे।

वातघ्नमधुरैर्योज्या निरूहा वातजे ज्वरे ॥३०८॥
अवेक्ष्य दोषं प्राणं च यथास्वं चानुवासनाः।

वातजन्यज्वर में भद्रदार्व्यादि वातघ्न एवं काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से निरूह देवे। दोष एवं बल का विचार करके, दोषहर (वात दोष हर) द्रव्यों से साधित स्नेह का अनुवासन करते ॥३०८॥

उत्पलादिकषायाद्या (ढ्या) श्चन्दनोशीरसंयुताः ॥३०९
शर्करामधुराः शीताः पित्तज्वरहरा मताः।
आम्रादीनां त्वचं शङ्खं चन्दनं मधुकोत्पले ॥३१०॥
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
श्लक्ष्णपिष्टं तु पयसा शर्करामधुसंयुतम् ॥३११॥
सुपूतं शीतलं बस्तिं दह्यमानाय दापयेत्।

चन्दन, खस युक्त उत्पलादिगण के कषायों में शर्करा मिलाकर मधुर बनाकर, शीतल करके निरूह देवे, ये पित्तज्वर नाशक हैं। न्यग्रोधादि गण में कहे आम्र से लेकर नन्दीवृक्ष पर्यन्त वृक्षों की त्वचा, शंख, लालचन्दन, मुलैहठी, कमल, गेरू, अंजन (सुरमा), मंजीठ, कमलनाल, पद्माख, इनको बारीक पीसकर, दूध में घोलकर, शर्करा-मधु मिलाकर, भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करनेवाले रोगी को बस्ति देवे ॥३०९-३११॥

ज्वरदाहापहं तेषु सिद्धं चैवानुवासनम् ॥३१२॥

न्यग्रोधादि के छालों में सिद्ध किया अनुवासन ज्वर एवं दाह को नष्ट करता है ॥३१२॥

आरग्वधगणक्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः।
सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युः कफज्वरविनाशनाः ॥३१३॥

आरग्वधादिगण के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण का कल्क, मधु और गोमूत्र मिलाकर निरूह देवे, यह कफज्वरनाशक है। आरग्वधादि कफनाशक द्रव्यों से सिद्ध अनुवासन देवे ॥३१३॥

कफघ्नैरेव संसिद्धा द्रव्यैश्चाप्यनुवासनाः।

आरग्वधादि कफनाशक द्रव्यों से सिद्ध अनुवासन देवे।

संसर्गे सन्निपाते च संसृष्टा बस्तयो हिताः ॥३१४॥

दोषों के संसर्ग और सन्निपात में दोषों के अनुसार वस्तियों को मिलाकर देवे ॥३१४॥

संसृष्टैरेव संसृष्टा द्रव्यैश्चाप्यनुवासनाः।

दोषों के संसर्ग में द्रव्यों को मिलाकर अनुवासन देवे॥

वातरोगापहाः सर्वे स्नेहा ये सम्यगीरिताः ॥३१५॥
विना तैलं त एव स्युर्योज्या मारुतजे ज्वरे।

वातरोग नाशक जो सब स्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा)- भली प्रकार कहे हैं, वे सब स्नेह वातजन्यज्वर में तैल को छोड़कर बरतने चाहिये। अनुवासन में तैल नहीं देना चाहिये॥

निखिलेनोपयोज्याश्च त एवाभ्यञ्जनादिषु ॥३१६॥

अभ्यंग आदि कार्यों में सम्पूर्ण रूप से ये सब स्नेह (घी, तैल, वसा, मज्जा) बरतने चाहिये ।।३१६॥

पैत्तिके मधुरैस्तिक्तैः सिद्धं सर्पिश्च पूज्यते।

पित्तज्वर में-मधुर एवं तिक्त द्रव्यों में सिद्ध घृत अभ्यंग आदि में उत्तम है।

श्लैष्मिके कटुतिक्तैश्च संसृष्टानीतरेषु च ॥३१७॥

श्लेष्मज्वर में-कटु, तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत (या तैल अभ्यंग आदि में बरते। संसृष्ट एवं सन्निपात दोषों में वातादिहरद्रव्यों से मिश्रित घी तैल आदि को परस्पर मिलाकर बरते।

वक्तव्य—डल्हण ने कफ में भी घृत का उपयोग अभ्यंग आदि में करने के लिये कहा है। इसमें संस्कार के कारण घृत कफनाशक है। तुल्य गुण होने पर घृत कफ को नहीं बढ़ाता ॥३१७॥

हृतावशेषं पित्तं तु त्वक्स्थं जनयति ज्वरम्।
पिबेदिक्षुरसं तत्र शीतं वा शर्करोदकम् ॥३१८॥
शालिषष्टिकयोरन्नमश्नीयात् क्षीरसंप्लुतम्।

निकालने से बचा पित्त त्वचा में स्थित होकर ज्वर उत्पन्न करता है, इसमें ईख का रस या शर्करा का शीतल शरबत पीये। दूध में भिगोये शाली चावल या सांठी के चावल खाये ॥३१८॥

कफवातोत्थयोरेव स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत् ॥३१९॥

निकलने से बचे कफ और वायु के कारण यदि ज्वर हो तो स्वेदन एवं अभ्यंग करे ॥३१९॥

घृतं द्वादशरात्रात्तु देयं सर्वज्वरेषु च।
तेनान्तरेणाशयं स्वं गता दोषा भवन्ति हि ॥३२०॥

सब प्रकार के ज्वरों में बारह दिन के पीछे घृत देना चाहिये। क्योंकि इतने समय में दोष अपने अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं, उनका परिपाक हो जाता है॥

ज्वरः कषायैः वमनैः लंघनैः लघुभोजनैः।
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्॥
यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः सचानिलः॥
कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सहयोजिताः।
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसंधुक्षणाः शुभाः ॥चरक॥

धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते।
तेन व्याकुलचित्तस्तु म्रियमाण इवेहते ॥३२१॥

मोक्षसमय में धातुओं को चलायमान करते हुए दोष बलवान् की भाँति आचरण करते हैं। इस दोष के कारण रोगी व्याकुल होता है और मरते हुए मनुष्य के समान कराहना, गात्रविक्षेपण आदि चेष्टाओं को करता है।

वक्तव्य—जिस प्रकार बुझता हुआ दीपक एक बार जोर से चमकता है। चरक—"ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते। श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः॥ प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते॥ सदोषशब्दं च शकृद् एवं स्रवति वेगवत्। लिंगान्येतानि जानीयात् ज्वरमोक्षे विचक्षणः"[1] ॥३२१॥

१ (१) ज्वर दो प्रकार से उतरता है—या तो एकदम से ताप परिमाण साधारण बिन्दु पर आता है, या धीरे धीरे आता है। इसी को क्रायसिस और लायसिस कहते हैं यथा—

बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः।
सत्क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम्॥

लघुत्वं शिरसः स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च ।
क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥३२२॥

ज्वरमुक्तरोगी के लक्षण—शिर में हल्कापन, पसीना आना, मुख में पीलापन (कमजोरी), मुख का पकना, छींक आना और अन्न की चाह होती है ।

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम् ।
युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥
सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च ।
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत् ॥
व्यायाममतिचेष्टाश्च स्नानमध्यशनानि च ।
तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च ॥

चरक ॥३२२॥

शम्भुक्रोधोद्भवो घोरो बलवर्णाग्निसादकः ।
रोगराट् रोगसंघातो ज्वर इत्युपदिश्यते ॥३२३॥
व्यापित्वात् सर्वसंस्पर्शात् कृच्छ्रत्वादन्तसंभवात् ।
अन्तको ह्येष भूतानां ज्वर इत्युपदिश्यते ॥३२४॥

ज्वर महादेव के क्रोध से उत्पन्न हुआ, भयानक, बल वर्ण और अग्नि को मन्द करनेवाला, रोगों का राजा, रोगों का समूह-ऐसा कहा जाता है । पुरुष-पशु आदि सब प्राणियों में फैला होने से, मन और इन्द्रियों समेत सम्पूर्ण शरीर को स्पर्श करने से, अग्नि का नाश करने के कारण अतिशय कष्ट साध्य होने से, अन्य-व्याधि से पीड़ित होने पर भी अन्त में यह ज्वर होने से, यह ज्वर प्राणियों को मारनेवाला कहा जाता है॥३२३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे ज्वरप्रतिषेधो नाम (प्रथमोऽध्यायः, आदितः) एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

कृत्वा दोषवशाद् वेगं क्रमादुपरमन्ति ये ।
तेषामदारुणो मोक्षः ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥

(२) असंजातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते ।
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्त्तते ज्वरः ॥
दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्त्तते ।
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ॥
चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनतेजसम् ।
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरायतः ॥
अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः ।
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते ॥
एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः ।
अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ॥

चरक० चि० अ० ३-३३३-३८ ।

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽतीसारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अतीसारप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि भोजनैः ॥३॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषाद्भयात् ।
शोकाद् दुष्टाम्बुमद्यातिपानात् सात्म्यर्तुपर्ययात् ॥४॥
जलातिरमणैर्वेगविघातैः कृमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥५॥

गुरु, अतिस्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, द्रव, स्थूल, अतिशीतल, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण में भोजन, असात्म्य भोजन, स्नेह-वमन-विरेचनादि के अतिसेवन या असम्यग् सेवन से, विष से, भय से, शोक से, दूषित जल के पीने से, मद्य के अतिपान से, सात्म्य के विपर्यय से, ऋतुपरिवर्तन से, जल में अधिक क्रीड़ा करने से, मूत्रादिवेग रोधन से, कृमिरोग से, मनुष्यों को अतीसार होता है, इसके लक्षण कहे जाते हैं ।

वक्तव्य—चरक में अतिसार का इतिहास दिया है । इसको कई आचार्य सुश्रुत में भी पढ़ते हैं, यथा—

"दीर्घसत्रेण यजतः पृषध्रस्य महात्मनः ।
आलम्भ्याः पशवः क्षीणास्ततो गावः प्रकल्पिताः ॥
तासामुपाकृतानां च गवामत्यर्थसेवनात् ।
असात्म्यत्वादथोष्णत्वाद् गौरवाच्च विशेषतः ॥
अतिस्नेहाच्च संक्षीणो जाठरोऽग्निस्तदा किल ।
अतीसारः पुरोत्पन्नो दोषधातुमलाश्रयः ॥
अथ तेनैव कल्पेन संप्रत्येष महागदः ॥" डल्हण ॥

संशम्यापां धातुरन्तः कृशानुं
वर्चोमिश्रो मारुतेन प्रणुन्नः ।
वृद्धोऽतीवाधः सरत्येष यस्माद्
व्याधिं घोरं तं त्वतीसारमाहुः ॥६॥

सम्प्राप्ति—बढ़ा हुआ शरीर का जलीय धातु (कफ-पित्त-रस आदि) अन्तरग्नि को मन्द करके, मल के साथ मिलकर वायु से प्रेरित हुआ अतिमात्रा में गुदामार्ग से नीचे-बाहर आता है, इसलिये इस भयानक रोग को अतीसार कहते हैं॥६॥

एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः
शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ।
केचित् प्राहुर्नैकरूपप्रकारं
नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत् ॥७॥
दोषावस्थास्तस्य नैकप्रकाराः
काले काले व्याधितस्योद्भवन्ति ।

अतीसार छै प्रकार का है, वातादि दोषों से तीन प्रकार का, सन्निपात से चौथा, शोकजन्य पांचवां और आमजन्य

छठा है। कई (हारीत आदि) आचार्य कहते हैं कि अतीसार द्वन्द्वज आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं, परन्तु काशीराज धन्वन्तरि का कहना है कि यह ठीक नहीं। आमावस्था, पक्वावस्था, रक्तावस्था, ये भेद दोष की अवस्था से ही होते हैं, इसलिये अनेक प्रकार का अतिसार नहीं हैं, इस अतिसार में समय समय पर ये अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं।

वक्तव्य—द्वन्द्वज आमातिसार, पक्वातिसार आदि भेद धन्वन्तरि को मान्य नहीं हैं। ये भेद अतिसार की अवस्था भेद से उत्पन्न होते हैं। प्रथम आमावस्था फिर पक्वावस्था, पित्तातिसार में पित्तकारक वस्तुओं के सेवन से रक्तातिसार उत्पन्न होता है ॥७॥

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद-
गात्रावसादानिलह्युन्निरोधाः ॥८॥
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको
भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि।

पूर्वरूप-हृदय-नाभि गुद, उदर, कुक्षि (कोख) में चुभने की सी दर्द, अंगों में शिथिलता, वायु का अवरोध, मल की रुकावट, आध्मान, अविपाक-इस अतिसार रोग के पूर्वरूप हैं॥

शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी
स्रस्तापानः सन्नकट्यूरुजङ्घः ॥९॥
वर्चो मुञ्चत्यल्पमल्पं सफेनं
रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन।

वातातीसार में रोगी को शूल रहता है, मूत्र रुकता है, आँतों में गड़गड़ाहट होती है, गुद शिथिल रहती है, कटि, ऊरु और जंघा ढीली सुस्त, झाग के साथ साथ थोड़ा मल बाहर आता है, यह मल रूक्ष, श्याव वर्ण और वायु से मिला होता है ॥९॥

दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोय-
प्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम् ॥१०॥
पित्तात् पीतं नीलमालोहितं वा
तृष्णन्मूर्च्छादाहपाकज्वरार्तः।

पित्तातिसार में मल दुर्गन्धयुक्त, उष्ण, वेग के साथ (एकदम) प्रवाहित होता है, इसका रंग मांस के धोवने के समान, तथा पुरीष फटा हुआ होता है, रोगी को पसीना आता है, पित्त के कारण मल में तीक्ष्णता पीलापन, नीलापन या रक्तिमा रहती है। रोगी को प्यास, दाह, मूर्च्छा, गुदपाक, ज्वर आता है ॥१०॥

तन्द्रानिद्रागौरवोत्क्लेशसादी
वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूयः ॥११॥
शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं
भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा।

कफ के कारण अतिसार रोगी को तन्द्रा, नींद, भारीपन, जीमचलाना, शिथिलता रहती है, मलका त्याग कर चुकने पर भी मल की आशंका बनी रहती है। मल-श्वेत, घट्ट, कफ से मिला होता है। भोजन से अरुचि, मल बिना शब्द के आता है, शरीर में रोमांच रहता है ॥११॥

तन्द्रायुक्तो मोहसादास्यशोषी
वर्चः कुर्यान्नैकवर्णं तृषार्तः ॥१२॥
सर्वोद्भूते सर्वलिङ्गोपपत्तिः
कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः।

सन्निपातजन्य अतीसार में तन्द्रा होती है, मूर्च्छा, शिथिलता, मुख में शुष्कता रहती है, मल भी अनेक वर्णों का होता है, रोगी को प्यास रहती है, सब दोषों के लक्षण रहते हैं, यह कष्टसाध्य है, बालक एवं वृद्धों में असाध्य है ॥१२॥

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
बाष्पावेगः पक्तिमाविश्य (श्य) जन्तोः ॥१३॥
कोष्ठं गत्वा क्षोभयत्यस्य रक्तं
तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम्।
वर्चोमिश्रं निःपुरीषं सगन्धं
निर्गन्धं वा सार्यते तेन कृच्छ्रात् ॥१४॥
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं
रोगी वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः।

बन्धुवियोग, धननाश आदि कारण से चिन्ता करते हुए एवं थोड़ा भोजन लेनेवाले मनुष्य में बाष्प का आवेग (शोक-जन्य उद्रेक) कोष्ठ में जाकर अन्तरग्नि के साथ मिलकर इस पुरुष के रक्त चिनौठी (गुंजा) के समान, मल से मिला या मल के बिना, गन्ध के साथ, या बिना गन्ध के कष्ट से गुदामार्ग द्वारा प्रवृत्त होता है। यह शोकजन्य अतीसार अतिशय कष्ट साध्य है, यह रोग वैद्यों ने कष्टसाध्य कहा है।

वक्तव्य—इसमें कोई-कोई-"शुष्कं मुक्तं तेज ऊष्मगृहीतं कोष्ठं गत्वा रक्तमत्यर्थमुष्णम्। गुञ्जाप्रख्यं प्रेरयेच्चाप्यधस्ताद् वर्चोयुक्तं निष्पुरीषं सगन्धम् ॥" यह पढ़ते हैं ॥१३,१४॥

आमाजीर्णोपद्रुताः क्षोभयन्तः
कोष्ठं दोषाः संप्रदुष्टाः सभक्तम् ॥१५॥
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति
कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति ॥१६॥

आमाजीर्ण से कुपित हुए दूषित हुए दोष कोष्ठ को विक्षोभित करते हुए, भोजन के साथ मल को प्रवाहित करते हैं, यह मल अनेक वर्णों का बहुत बार कठिनाई से प्रवृत्त होता है। यह छठा अतीसार होता है ॥१६॥

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम् ॥१७॥

इन दोषों से मिला मल पानी में डाला हुआ डूब

जाता है। मल-अतिशय दुर्गन्धयुक्त, टूटा-टूटा थोड़ा प्रवृत्त होता है, इसको आमातीसार कहते हैं।

मज्जत्यामागुरुत्वाद् विट् पक्वात्तु प्लवते जले। विनाऽतिद्रवसंघातैः शैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्। परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम्। विधिनोपचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा॥ चरक॥१७॥

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥१८॥

उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण जिस मल में हों, (जो मल पानी में तैरे), रोगी के शरीर में हल्कापन रहे उसको पक्वातीसार जानना॥१८॥

सर्पिर्मेदोवेसवाराम्बुतैल-
मज्जाक्षीरक्षौद्ररूपं स्रवेद्यत्।
मञ्जिष्ठाभं मस्तुलुङ्गोपमं वा
विस्रं शीतं प्रेतगन्ध्यञ्जनाभम्॥१९॥
राजीमद्वा चन्द्रकैः सन्ततं वा
पूयप्रख्यं कर्दमाभं तथोष्णम्।
हन्यादेतद्यत् प्रतीपं भवेच्च
क्षीणं हन्युश्चोपसर्गा प्रभूताः॥२०॥
असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम्।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतीसारकिणं त्यजेत्॥२१॥

असाध्यलक्षण—जिस मल का रूप घी, मेद, वेसवार (कुट्टितमांस), पानी, तैल, मज्जा, दूध, मधु के समान, या मंजीठ अथवा मस्तुलुंग के समान हो, सड़ी गन्ध का, ठण्डा, मुर्दे की गन्ध का, या काला हो, जिस मल में रेखायें या चन्द्रिका (मोर पंख का रंग) सारे में फैली हो, पूय के या कीचड़ के समान, उष्ण हो, तथा दोष के अपने लक्षणों से विपरीत लक्षणों से युक्त, बहुत से उपद्रवों से युक्त, एवं क्षीण पुरुष को अतिसार नष्ट कर देता है। जिस रोगी की गुदा ढीली पड़ गई (संकुचन शक्ति नष्ट हो गई), क्षीण अतिशय आध्मानयुक्त, उपद्रवों से पीड़ित, गुदा के पक जाने पर भी जिसमें उष्मिमा कम हो गई हो, ऐसे अतिसार रोगी को छोड़ देवे।

वक्तव्य—शोफं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं हिक्कां च मूर्छा च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्॥१९-२१॥

शरीरिणामतीसारः संभूतो येन केनचित्।
दोषाणामेव लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते॥२२॥
स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकाः।
विसूचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः।
विषार्शःकृमिसंभूतो यथास्वं दोषलक्षणः॥२३॥

पुरुषों में अतीसार चाहे किसी भी कारण से क्यों न हों, वह वातादि दोषों के लक्षणों का अतिक्रमण नहीं करता। स्नेहजन्य अजीर्ण के कारण, अतिशयशूलयुक्त प्रवाहिका होती है। विसूचिकाजन्य अतीसार, अजीर्णजन्य अतीसार का ही रूपान्तर है। विष, अर्श एवं कृमि से उत्पन्न अतीसार में अपने-अपने दोषों के लक्षण होते हैं। (इसलिये अतीसार छः ही हैं)।

आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रियायुतः।
अतः सर्वेऽतिसारास्तु ज्ञेयाः पक्वामलक्षणैः॥२४॥

अतीसार में चिकित्सा आम और पक्व के लक्षणों से की जाती है, इसलिए सब अतीसारों में आमातीसार और पक्वातीसार के लक्षणों को जानना चाहिये॥२४॥

तत्रादौ लङ्घनं कार्यमतिसारेषु देहिनाम्।
ततः पाचनसंयुक्तो यवाग्वादिक्रमो हितः॥२५॥

मनुष्यों के सब अतीसारों में सबसे प्रथम लंघन कराना चाहिये। फिर लंघन के उपरांत पाचन से मिला यवागू-यूष आदि विधि बरतनी चाहिये॥२५॥

अथवा वामयित्वाऽऽमे शूलाध्माननिपीडितम्।
पिप्पलीसैन्धवाम्भोभिर्लङ्घनाद्यैरुपाचरेत्॥२६॥

अथवा आमातीसार में शूल, आध्मान होने पर रोगी को, पिप्पली और सैन्धव मिश्रित गरम पानी से वमन कराके लंघन यवागू आदि से चिकित्सा करे॥२६॥

कार्यं च वमनस्यान्ते प्रद्रवं लघुभोजनम्।
खडयूषयवागूषु पिप्पल्याद्यं च योजयेत्॥२७॥

वमन के पीछे द्रवबहुल एवं लघु भोजन देना खडयूष, यवागू आदि साधन में पिप्पल्यादिगण का उपयोग करे।

वक्तव्य—कपित्थ, मरिच, अनारदाना आदि से पकाया तक्र खडयूष है, अनारदाना, तक्र, शाकादि से संस्कृत द्रवों को खडयूष कहते हैं। मूंग मसूर आदि से बना यूष है॥२७॥

अनेन विधिना चामं यस्य वै नोपशाम्यति।
हरिद्रादिं वचादिं वा पिबेत् प्रायः स मानवः॥२८॥

इस विधि से जिस रोगी का आमातिसार शान्त न हो, वह रोगी प्रातःकाल हरिद्रादि या वाचादिगण का क्वाथ प्रातः पीये॥२८॥

आमातीसारिणां कार्यं नादौ संग्रहणं नृणाम्।
तेषां दोषा विबद्धाः प्रागजनयन्त्यामयानिमान्॥२९॥
प्लीहपाण्ड्वामयानाहमेहकुष्ठोदरज्वरान्।
शोफगुल्मग्रहण्यर्शःशूलालसकहृद्ग्रहान्॥३०॥

आमातीसार में मनुष्यों को संग्राहक औषध नहीं देनी चाहिये। क्योंकि इनसे रोके हुए दोष निम्न रोगों को उत्पन्न करते हैं, यथा—प्लीहा, पाण्डुरोग, आनाह, प्रमेह, कुष्ठ, उदर, ज्वर, शोफ, गुल्म, पाण्डु, ग्रहणी, अर्श, शूल, अलसक, हृद्ग्रह-इन रोगों को उत्पन्न करते हैं॥२९,३०॥

सशूलं बहुशः कृच्छ्राद्विबद्धं योऽतिसार्यते।
दोषान् सन्निचितान् तस्य पथ्याभिः संप्रवर्तयेत्॥३१॥

शूल के साथ, बहुत बार, कठिनाई से रुक-रुककर जो मल त्याग करता हो, उस रोगी के एकत्रित हुए दोषों को इरड़ों से प्रवृत्त करे। (हरीतकी अनुलोमनी है) ॥३१॥

योऽतिद्रवं प्रभूतं च पुरीषमतिसार्यते।
तस्यादौ वमनं कुर्यात् पश्चाल्लंघनपाचनम् ॥३२॥

जो रोगी अतिशयद्रव, मात्रा में बहुत मल प्रवाहित करता है, उसे सबसे प्रथम वमन कराये, फिर लंघन और पाचन देवे।

स्तोकं स्तोकं विबद्धं वा सशूलं योऽतिसार्यते।
अभयापिप्पलीकल्कैः सुखोष्णैस्तं विरेचयेत् ॥३३॥

जो रोगी, थोड़ा-थोड़ा, रुक-रुक कर शूल के साथ मल त्याग करता हो, उसे गरम पानी के साथ हरड़ और पिप्पली का चूर्ण देकर विरेचन देवे। ("कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम्" चरक) ॥३३॥

आमे च लंघनं शस्तमादौ पाचनमेव वा।

आमातीसार में प्रथम लंघन अथवा पाचन उत्तम है।

योगाश्चात्र प्रवक्ष्यन्ते त्वामातीसारनाशनाः ॥३४॥

आमातीसारनाशक योगों को यहाँ कहा जाता है ॥३४॥

कलिङ्गातिविषाहिङ्गुसौवर्चलवचाभयाः।
देवदारुवचामुस्तानागरातिविषाभयाः ॥३५॥
अभयाधान्यकं मुस्तं पिप्पली नागरं वचा।
नागरं धान्यकं मुस्तं वालकं बिल्वमेव च ॥३६॥
मुस्तं पर्पटकं शुण्ठी वचा प्रतिविषाऽभया।
अभयाऽतिविषा हिंगु वचा सौवर्चलं तथा ॥३७॥
चित्रकः पिप्पलीमूलं वचा कटुकरोहिणी।
पाठा वत्सकबीजानि हरीतक्यो महौषधम् ॥३८॥
मूर्वा निर्दहनी पाठा त्र्यूषणं गजपिप्पली।
सिद्धार्थका भद्रदारु शताह्वा कटुरोहिणी ॥३९॥
एला सावरकं कुष्ठं हरिद्रे कीटजा यवाः।
मेषश्रृङ्गी त्वगेले च कृमिघ्नं वृक्षकाणि च ॥४०॥
वृक्षादनी वीरतरुर्बृहत्यौ द्वे सहे तथा।
अरलुत्वक् तैन्दुकी च दाडिमी कौटजी शमी ॥४१॥
पाठा तेजोवती मुस्तं पिप्पली कौटजं फलम्।
पटोलं (ली) दीप्यको बिल्वं हरिद्रे देवदारु च ॥४२॥
विडङ्गमभया पाठा शृंगवेरं घनं वचा।
वचा वत्सकबीजानि सैन्धवं कटुरोहिणी ॥४३॥
हिंगुर्वत्सकबीजानि वचा बिल्वशलाटु च।
नागरातिविषे मुस्तं पिप्पल्यो वात्सकं फलम् ॥४४॥
महौषधं प्रतिविषा मुस्तं चेत्यामपाचनाः।
प्रयोज्या विंशतिर्योगाः श्लोकार्धविहितास्त्विमे ॥४५॥
धान्याम्लोष्णाम्बुमद्यानां पिबेदन्यतमेन वा।
निष्क्वाथान् वा पिबेदेषां सुखोष्णान् साधु साधितान्।

बीस योग (१) इन्द्रजौ, अतीस, हींग, संचल और हरड़ (२) देवदारु, वच, मुस्ता, सोंठ, अतीस, हरड़, (३) हरड़, धनिया, मोथा, पिप्पली, सोंठ, वच, (४) सोंठ, धनिया, मोथा, नेत्रवाला बिल्व, (५) मोथा, पित्तपापड़ा, सोंठ, वच, अतीस, हरड़, (६) हरड़, अतीस, हींग, वच, संचल, (७) चित्रक, पिप्पलीमूल, वच, कुटकी, (८) पाठा, इन्द्रजौ, हरड़, सोंठ, (९) पूर्वी, चित्रक, पाठा, त्रिकटु, गजपिप्पली, (१०) सरसों, देवदारु, सौंफ, कुटकी, (११) इलायची, लोध, कूट, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, (१२) मेषश्रृंगी, दालचीनी, इलायची, विडंग, कुटज, (१३) वन्दा, वीरतरु, कटेरी, मुद्गपर्णी, (१४) श्योनाक की छाल, तिन्दुक की छाल, अनार की और कुटज की छाल, शमी की छाल, (१५) पाठा, तेजबल, मोथा, पिप्पली, इन्द्रजौ, (१६) पटोल, अजवायन, बिल्व, हल्दी, दारुहल्दी, देवदारु, (१७) विडंग, हरड़, पाठा, सोंठ, मोथा, वच, (१८) वच, इन्द्रजौ, सैन्धव, कुटकी, (१९) हींग, इन्द्रजौ, वच, कच्चे बिल्व (२०) सोंठ, अतीस, मोथा, पिप्पली, इन्द्रजौ ये आधे श्लोक में कहे योग कांजी, गरम पानी या मद्य किसी एक के साथ पीने चाहिये। अथवा इनका क्वाथ भली प्रकार करके, सुहाता गरम गरम पीये। सोंठ, अतीस और मोथा ये आम के पाचक हैं।

वक्तव्य—डल्हण का कहना है कि अतीसार में द्रव औषध बड़ी मात्रा में नहीं देनी चाहिये। इसलिये इन योगों का चूर्ण करके ही बरते ॥३५-४६॥

पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिं त्रिगुणाम्भसि।
क्षीरावशिष्टं तत्पीतं हन्त्यामं शूलमेव च ॥४७॥
निखिलेनोपदिष्टोऽयं विधिरामोपशान्तये।
हरीतकीमतिविषां हिंगु सौवर्चलं वचाम् ॥४८॥
पिबेत् सुखाम्बुना जन्तुरामातीसारपीडितः।
पटोलं दीप्यकं बिल्वं वचापिप्पलिनागरम् ॥४९॥
मुस्तं कुष्ठं विडङ्गं च पिबेद्वाऽपि सुखाम्बुना।
शृंगवेरं गुडूचीं च पिबेदुष्णेन वारिणा ॥५०॥
लवणान्यथ पिप्पल्यो विडंगानि हरीतकी।
चित्रकं शिंशपा पाठा शार्ङ्गेष्टा लवणानि च ॥५१॥
हिंगुर्वृक्षकबीजानि लवणानि च भागशः।
हस्तिदन्त्यथ पिप्पल्यः कल्कावक्षसमौ स्मृतौ ॥५२॥
वचा गुडूचीकाण्डानि योगोऽयं परमो मतः।
एते सुखाम्बुना योगा देयाः पञ्च सतां मताः ॥५३॥

मुस्ता बीस, दूध एक भाग और पानी तीन भाग (मिलित चातुर्गुण्य) लेकर क्वाथ करे। जब केवल दूध मात्र शेष रहे, उसको पीये, इससे आम और शूल नष्ट होता है। आम को शान्त करने के लिये विधि सम्पूर्ण रूप में कह दी है। हरड़, अतीस, हींग, सौवर्चल, वच इनको

गरम पानी के साथ अतीसार पीड़ित रोगी पीये। पटोल, अजवायन, बिल्व, बच, पिप्पली, सोंठ, मोथा, कूठ और विडंग इनको गरम पानी से पीये। सोंठ और गिलोय को गरम पानीसे पीये। (१) पांचोंनमक, पिप्पली, विडंग, हरड़, (२) चित्रक, शीशम पाठ, लाजवन्ती, पांचो नमक, (३) हींग पांचोनमक, इन्द्रजौ समभाग, (४) हस्तिदन्ती (मोगलई एरण्ड), पिप्पली-प्रत्येक का एक अक्ष कल्क, (५) वच, गिलोय, यह श्रेष्ठ योग है, ये पांचों योग गरम पानी से देने चाहिये, सज्जनों से मान्य हैं ॥४७-५३॥

निवृत्तेष्वामशूलेषु यस्य न प्रगुणोऽनिलः।
स्तोकं स्तोकं रुजावच्च सशूलं योऽतिसार्यते ॥५४॥
सक्षारलवणैर्युक्तं मन्दाग्निः स पिबेद्घृतम्।
क्षीरनागरचाङ्गेरीकोलदध्यम्लसाधितम् ॥५५॥
सर्पिरच्छं पिबेद्वापि शूलातीसारशान्तये।
दध्ना तैलघृतं पक्वं सव्योषजातिचित्रकैः ॥५६॥
सबिल्वपिप्पलीमूलदाडिमैर्वा रुगन्वितैः।
निखिलो विधिरुक्तोऽयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥५७॥

आम एवं शूल के निवृत्त हो जाने पर भी जिसकी वायु (अपान वायु) अनुकूल न हो, वेदना एवं शूल के साथ थोड़ा थोड़ा मल त्याग करता हो उसे मन्दाग्नि हो तो यवक्षार, सैन्धव के साथ घृत को पीये। दूध, सोंठ, चांगेरी (तिपतीया), बेर, दही, कांजी से सिद्ध किया निर्मूल घृत पीये, इससे शूल एवं अतीसार शान्त होता है। त्रिकटु, जातीफल, चित्रक के कल्क से या, बिल्व, पिप्पलीमूल, अनारदाना तथा कूठ इनके कल्क से दही के साथ सिद्ध किये तैल घृत पीये। वात कफ अतीसार की शान्ति के लिये सम्पूर्ण रूप में यह विधि कह दी है ॥५४-५७॥

तीक्ष्णोष्णवर्ज्यमेनं तु विदध्यात्पित्तजे भिषक्।
यथोक्तमुपवासान्ते यवागूश्च प्रशस्यते ॥५८॥
बलयोरंशुमत्यां च श्वदंष्ट्राबृहतीषु च।
शतावर्यां च संसिद्धाः सुशीता मधुसंयुताः ॥५९॥
मुद्गादिषु च यूषाः स्युर्द्रव्यैरेतैः सुसंस्कृताः।

पित्तज अतिसार में तीक्ष्ण एवं उष्ण उपचार को छोड़कर इस विधि को बरते। कहे अनुसार उपवास के पीछे यवागू प्रशस्त है। बला, अतिबला और पृश्निपर्णी में या गोखरु एवं बड़ी कटेरी में अथवा शतावरी में भली प्रकार बनाई, अतिशीतल एवं मधु मिश्रित यवागू उत्तम हैं। तथा बला, अतिबला आदि उपर्युक्त द्रव्यों से मूंग, मसूर आदि से बनाये यूष संस्कृत बनाकर (घी आदि से बघारकर) देवे ॥५८,५९॥

मृदुभिर्दीपनैस्तिक्तैर्द्रव्यैः स्यादामपाचनम् ॥६०॥
हरिद्रातिविषापाठावत्सबीजरसाञ्जनम्।
रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे बीजानि कुटजस्य च ॥६१॥
पाठा गुडूची भूनिम्बस्तथैव कटुरोहिणी।
एतैः श्लोकार्धनिर्दिष्टैः क्वाथाः स्युः पित्तपाचनाः ॥६२॥

मृदु अग्निदीपक, तिक्तद्रव्यों (दुरालभा, गिलोय, अतीस आदि) से आम का पाचन करना चाहिये (१) हल्दी, अतीस, पाठा, इन्द्रजौ, रसौंत, (२) रसौत, हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, (३) पाठा, गिलोय, चिरायता, कुटकी, ये आधे श्लोकों में कहे क्वाथ पित्त के पाचक हैं।

वक्तव्य—तिक्तद्रव्य दोषों के तथा आम के पाचक हैं—यथा, "स्वेदनं लंघनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे॥" इससे तिक्तद्रव्य आम एवं दोष के पाचक हैं ॥६०-६२॥

मुस्तं कुटजबीजानि भूनिम्बं सरसाञ्जनम्।
दार्वी दुरालभा बिल्वं बालकं रक्तचन्दनम् ॥६३॥
चन्दनं बालकं मुस्तं भूनिम्बं सदुरालभम्।
मृणालं चन्दनं रोध्रं नागरं नीलमुत्पलम् ॥६४॥
पाठा मुस्तं हरिद्रे द्वे पिप्पली कौटजं फलम्।
फलत्वचं वत्सकस्य शृङ्गवेरं घनं वचा ॥६५॥
षडेतेऽभिहिता योगाः पित्तातीसारनाशनाः।

छै योग—(१) मोथा, इन्द्रजौ, चिरायता, रसौत, (२) दारुहल्दी, धमासा, बिल्व, नेत्रवाला, लालचन्दन, (३) चन्दनलाल, नेत्रवाला, मोथा, चिरायता, धमासा, (४) कमलनाल, लालचन्दन, लोध, सोंठ, नीलोफर, (५) पाठा, मोथा, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, इन्द्रजौ, (६) इन्द्रजौ, कूड़े की छाल, सोंठ, मुस्त, बच, ये छै योग पित्तातिसार नाशक कहे हैं ॥६३-६५॥

बिल्वशक्रयवाम्भोदवालकातिविषाकृतः।
कषायो हन्त्यतीसारं सामं पित्तसमुद्भवम् ॥६६॥

बिल्व, इन्द्रजौ, मोथा, नेत्रवाला, अतीस इनका कषाय पित्तजन्य आमातीसार को नष्ट करता है ॥६६॥

मधुकोत्पलबिल्वाब्दह्रीबेरोशीरनागरैः।
कृतः क्वाथो मधुयुतः पित्तातीसारनाशनः ॥६७॥

मुलैहठी, कमल, बिल्व, मोथा, नेत्रवाला, खस, सोंठ इनके क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से पित्तातीसार नष्ट होता है॥६७॥

यदा पक्वोऽप्यतीसारः सरत्येव मुहुर्मुहुः।
ग्रहण्या मार्दवाज्जन्तोस्तत्र संस्तम्भनं हितम् ॥६८॥

ग्रहणी के कोमल (दुर्बल) होने से पका हुआ भी अतिसार-बार-बार प्रवृत्त होता है, तब रोगी को स्तम्भन देना उत्तम है। (स्तम्भन संग्रहण) ॥६८॥

समङ्गा धातकीपुष्पं मञ्जिष्ठा लोध्रमुस्तकम्।
शाल्मलीवेष्टको रोध्रं वृक्षदाडिमयोस्त्वचौ ॥६९॥
आम्रास्थिमध्यं लोध्रं च बिल्वमध्यं प्रियङ्गवः।
मधुकं शृङ्गवेरं च दीर्घवृन्तत्वगेव च ॥७०॥

चत्वार एते योगाः स्युः पक्वातीसारनाशनाः ।
उक्ता य उपयोज्यास्ते सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुना ॥७१॥

चार योग (१) समंगा (लाजवन्ती), धायके फूल, मजीठ लोध, मुस्ता, (२) मोचरस, लोध, अनार की छाल, कूड़े की छाल, (३) आमकी गुठली की मज्जा, लोध, बेल का गूदा, प्रियंगू, (४) मुलैहठी, सोंठ, श्योनाक की छाल; ये चार योग पक्व अतिसार नाशक हैं। इन योगों को मधु और चावलों के पानी के साथ पीना चाहिये ॥६९-७१॥

मौस्तं कषायमेकं वा पेयं मधुसमायुतम् ।
लोध्राम्बष्ठाप्रियङ्ग्वादीन् गणानेवं प्रयोजयेत् ॥७२॥

अकेले मोथे का ही क्वाथ मधु के साथ पक्वातिसार में पीये। लोध्रादि गण, अम्बष्ठादिगण, प्रियंग्वादिगणों को इसी प्रकार (कषाय करके मधु के साथ) पीये। कहा भी है—

"पक्वातीसारिणे देयो मुस्ताक्वाथः समाक्षिकः ॥"७२॥

पद्मां समङ्गां मधुकं बिल्वतम्बूशलाटु च ।
पिबेत्तण्डुलतोयेन सक्षौद्रमगदंकरम् ॥७३॥

भार्गी, लाजवन्ती, मुलैहठी, कच्चे बिल्व, कच्चे जामुन इनको मधुमिश्रित चावल के धोवन के साथ पीवे। यह अतिसारनाशक है ॥७३॥

कच्छुरामूलकल्कं वाऽप्युदुम्बरफलोपलम् ।
पयस्या चन्दनं पद्मा सितामुस्ताब्जकेशरम् ॥७४॥
पक्वातिसारं योगोऽयं जयेत्पीतः सशोणितम् ।

कच्छूरा (कौंच या धमासा) के मूल का कल्क, गूलर के फल के बराबर मात्रा में (कर्षमात्रा में) मधु के साथ चावल के धोवन से पीये। बिदारी, लालचन्दन, भार्गी, शर्करा, मोथा, कमलकेशर, इनको मधु एवं चावल के धोवन के साथ पीने से रक्त मिश्रित पित्तज पक्वातीसार नष्ट होता है।

वक्तव्य—डल्हण ने इनका क्वाथ करने को कहा है। पयस्या-अर्कपुष्पी या दुग्धिका अर्थ, डल्हण ने दिया है ॥७४॥

निरामरूपं शूलार्तं लङ्घनाद्यैश्च कर्षितम् ॥७५॥
नरं रूक्षमवेक्ष्याग्निं सक्षारं पाययेद् घृतम् ।

निराम के लक्षण होने पर शूल से पीड़ित, लंघन आदि से कृश एवं रूक्ष व्यक्ति में अग्नि की दीप्ति को देखकर यवक्षार मिश्रित घृत पिलाये ॥७५॥

बलाबृहत्यंशुमतीकच्छुरामूलसाधितम् ॥७६॥
मधूक्षितं समधुकं पिबेच्छूलैरभिद्रुतः ।

शूल से पीड़ित मनुष्य बला, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, कौंच, (या धमासा) का मूल, इनके क्वाथ में मुलेहठी का कल्क और मधु मिलाकर पीये ॥७६॥

दार्वीबिल्वकणाद्राक्षाकटुकेन्द्रयवैर्घृतम् ॥७७॥
साधितं हन्त्यतीसारं वातपित्तकफात्मकम् ।
दध्ना चाम्लेन संपक्वं सव्योषाजाजिचित्रकम् ॥७८॥
सचव्यपिप्पलीमूलं दाडिमैर्वा रुगर्दितः ।

दारुहल्दी, बिल्व, पिप्पली, द्राक्षा, कुटकी, इन्द्रजौ से सिद्ध किया घृत वात, कफ, पित्तजन्य अतीसार को नष्ट करता है। त्रिकटु, जीरा, चित्रक इनके कल्क से चव्य, पिप्पलीमूल और अनारदाना, इनके कल्क से दही और कांजी से सिद्ध किया घृत पीड़ा से पीड़ित मनुष्य पीये ॥७७,७८॥

पयो घृतं च मधु च पिबेच्छूलैरभिद्रुतः ॥७९॥
सिताजमोदकट्वङ्गमधुकैरवचूर्णितम् ।

शूल से पीड़ित मनुष्य शर्करा, अजवायन, श्योनाक, मुलैहठी इनका चूर्ण दूध घी और मधु इन तीनों में मिलाकर (ये तीनों समान भाग) पीये ॥७९॥

अवेदनं सुसंपक्वं दीप्ताग्नेः सुचिरोत्थितम् ॥८०॥
नानावर्णमतीसारं पुटपाकैरुपाचरेत् ।

जिसे वेदना न हो, अतीसार पक गया हो, अग्नि प्रदीप्त हो, अतीसार बहुत पुराना हो, मल में रंग अनेक प्रकार के हों, उसकी चिकत्सा पुटपाकों से करे ॥८०॥

त्वक्पिण्डं दीर्घवृंतस्य पद्मकेसरसंयुतम् ॥८१॥
काश्मरीपद्मपत्रैश्चावेष्ट्य सूत्रेण संदृढम् ।
मृदाऽवलिप्तं सुकृतमङ्गारेष्ववकूलयेत् ॥८२॥
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं ततः ।
शीतं मधुयुतं कृत्वा पाययेतोदरामये ॥८३॥
जीवन्तीमेषश्रृङ्गयादिष्वेवं द्रव्येषु साधयेत् ।

श्योनाक की छाल (या अरलू की छाल) और कमल का केसर दोनों को समान भाग लेकर पीसकर, इस पिण्ड को गम्भारी और कमल के पत्तों से लपेटकर सूत से मजबूती से बाँध देवे। इस पर मिट्टी का लेप करके भलीप्रकार अंगारों में पकाये। जब पक जाये तो निकालकर निचोड़कर रस निकाले। रस के ठण्डा होने पर मधु मिलाकर अतिसार में पिलाये। अरलू की भांति जीवन्ती, मेषश्रृङ्गी आदि द्रव्यों से भी पुटपाक बनाये। (पुटपाक जब बाहर से लाल हो जाये तब निकाल ले) ॥८१-८३॥

तित्तिरिं लुञ्चितं सम्यक् निष्कृष्टान्त्रं तु पूरयेत् ॥८४॥
न्यग्रोधादित्वचां कल्कैःपूर्ववच्चावकूलयेत् ।
रसमादाय तस्याथ सुस्विन्नस्य समाक्षिकम् ॥८५॥
शर्करोपहितं शीतं पाययेतोदरामये ।

तीतर के पर आदि नोचकर-भलीप्रकार साफ करके, इसकी आंतें निकाल देवे। फिर बरगद आदि क्षीरी वृक्षों का कल्क इसके पेट में भरकर आग में पकाये। भली प्रकार पक जानेपर इसको निचोड़कर रस निकाले। इसमें मधु और शर्करा मिलाकर ठण्डा होने पर अतिसार में पिलाये। (न्यग्रोध आदि शब्द से ढाक, नन्दीवृक्ष का ग्रहण करते हैं। यथा—संग्राहि स्तम्भनाद् भिन्नं यथा तदभिदध्महे । आग्नेयगुणभूयिष्ट तोयांश

परिशोषयेत् ॥ संगृह्णाति मलं तस्याद् ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा। समीरगुणभूयिष्ठं शीतत्वाद्यन्नभस्वतः ॥ विधाय वृद्धिं स्तम्भाति स्तम्भनं तद्यथा वटः।' यह वातपित्तातिसार में बरतना चाहिये ॥

लोध्रचन्दनयष्ट्याह्वदार्वीपाठासितोत्पलान् ॥८६॥
तण्डुलोदकसंपिष्टान् दीर्घवृन्तत्वगन्वितान्।
पूर्ववत् कूलितात्तस्माद्रसमादाय शीतलम् ॥८७॥
मध्वाक्तं पाययेच्चैतत् कफपित्तोदरामये।

लोध, चन्दन, मुलैहठी, दारुहल्दी, पाठा, शर्करा, कमल, अरलु की छाल इनको चावल के धोवन के साथ पीसकर पुटपाक विधि से अग्नि में स्विन्न करके निचोड़कर इसका रस निकाल ले। शीतल होने पर इसमें मधु मिलाकर कफ पित्तातिसार में पिलाये ॥८६,८७॥

एवं प्ररोहैः कुर्वीत वटादीनां विधानवत् ॥८८॥
पुटपाकान् यथायोगं जाङ्गलोपहितान् शुभान्।

इसी पुटपाक विधि से बरगद आदि के प्ररोहों (शाखों के अधोभाग से निकली जटायें) से बटेर, कपिंजल आदि जांगल मांस के साथ मिलाकर कल्पना बनाकर बरते ॥८८॥

बहुश्लेष्म सरक्तं च मन्दवातं चिरोत्थितम् ॥८९॥
कौटजं फाणितं वाऽपि हन्त्यतीसारमोजसा।
अम्बष्ठादिमधुयुतं पिप्पल्यादिसमन्वितम् ॥९०॥

अतिशय कफवाले रक्त के साथ, मन्दवायु पुरातन अतिसार को कुटज की फाणित (अवलेह), अम्बष्ठादि, पिप्पल्यादिगण के साथ, मधु मिलाकर देने पर अपनी शक्ति से नष्ट कर देती है।

वक्तव्य—कुटज की छाल लेकर सोलह गुने, आठ गुने या चार गुने जल में क्वाथ करके आधा शेष रहने पर छान ले। इसमें अम्बष्ठादि, पिप्पल्यादिगण का चूर्ण मिलाकर फिर पकाये। जब यह रसक्रिया बन जाये, तब उतारकर इसमें शीतल होने पर मधु मिलाये। दूसरे अम्बष्ठादिगण का चूर्ण रसक्रिया में पीछे मिलाना चाहते हैं, वह ठीक भी है। चूर्ण का अग्नि में पाक करने से हीनवीर्य होने की सम्भावना रहती है ॥८९,९०॥

पृश्निपर्णीबलाबिल्ववालकोत्पलधान्यकैः।
सनागरैः पिबेत् पेयां साधितामुदरामयी ॥९१॥

अतिसाररोगी पृश्निपर्णी, बला, बिल्व, नेत्रवाला, कमल, धनियाँ, सोंठ, इनसे सिद्ध पेया पीये ॥९१॥

अरलुत्वक् प्रियङ्गुं च मधुकं दाडिमाङ्कुरान्।
आवाप्य पिष्ट्वा दधनि यवागूं साधयेद् द्रवाम् ॥९२॥
एषा सर्वानतीसारान् हन्ति पक्वानसंशयम्।

अरलु की छाल, प्रियंगु, मुलैहठी, अनार के अंकुर (कोमल पत्ते) इनको पीसकर, दधि में घोलकर पतली यवागू बनाये। यह यवागू सब प्रकार के पक्व अतिसारों को अवश्य नष्ट करती है ॥९२॥

रसाञ्जनं सातिविषं त्वग्बीजं कौटजं तथा ॥९३॥
धातकी नागरं चैव पाययेत्तण्डुलाम्बुना।
सशूलं रक्तजं घ्नन्ति एते मधुसमायुताः ॥९४॥

रसौंत, अतीस, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, हरड़, सोंठ—इनको चावल के धोवन के साथ, मधु मिलाकर पिलाये। ये सब उपर्युक्त योग, शूल एवं रक्तयुक्त अतिसार को नष्ट करते हैं ॥९३,९४॥

मधुकं बिल्वपेशी च शर्करामधुसंयुता।
अतीसारं निहन्त्युश्च शालिषष्टिकयोः कणाः ॥९५॥
तद्वल्लीढं मधुयुतं बदरीमूलमेव तु।

मुलैहठी, बिल्व की मज्जा, इनको शर्करा और मधु के साथ, शालिचावल एवं सांठी की कणियाँ मधु के साथ, बेरी का मूल मधु के साथ चाटने से अतिसार को नष्ट करता है। (तीन योग हैं) ॥९५॥

बदर्यर्जुनजम्ब्वाम्रशल्लकीवेतसत्वचः ॥९६॥
शर्कराक्षौद्रसंयुक्ताः पीता घ्नन्त्युदरामयम्।

बेर, अर्जुन, जामुन, आम, शल्लकी, बेतस (अम्लवेतस) इनकी छाल शर्करा, मधु के साथ, पीने से अतिसार को नष्ट करती है ॥९६॥

एतैरेव यवागूंश्च षडान् यूषांश्च कारयेत् ॥९७॥
पानीयानि च तृष्णासु द्रव्येष्वेतेषु बुद्धिमान्।

बुद्धिमान् वैद्य इन्हीं योगों से यवागू, षड् (खड़) और यूषों को बनाये। प्यास लगने पर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध जल पीने को देवे ॥९७॥

कृतं शाल्मलिवृन्तेषु कषायं हिमसंज्ञितम् ॥९८॥
निशापर्युषितं पेयं सक्षौद्रं मधुकान्वितम् ॥

सिम्बल के कोपलों से शीत कषाय बनाये। एक रात रखने के पीछे नितारकर इसमें मधु और मुलैहठी मिलाकर पीये।

वक्तव्य—कोपलों का चूर्ण लेकर चौबीस घण्टे पानी में भिगोया रहने दे। फिर मलकर छानकर इसमें से चार पल लेकर, इसमें मुलैहठी एक कर्ष और मधु मिलाकर पीये ॥९८॥

विबद्धवातविट्शूलपरीतः सप्रवाहिकः ॥९९॥
सरक्तपित्तश्च पयः पिबेत्तृष्णासमन्वितः।
यथाऽमृतं तथा क्षीरमतीसारेषु पूजितम् ॥१००॥
चिरोत्थितेषु तत् पेयमपां भागैस्त्रिभिः शृतम्।
दोषशेषं हरेत्तद्धि तस्मात्पथ्यतमं स्मृतम् ॥१०१॥
हितः स्नेहविरेको वा बस्तयः पिच्छिलाश्च ये।
पिच्छिलस्वरसे सिद्धं हितं च घृतमुच्यते ॥१०२॥

जिस रोगी को मल और वायु का अवरोध हो, शूल हो, प्रवाहिका हो, रक्तपित्त (रक्तस्राव) हो, प्यास हो, वह रोगी

दूध पीये। अतीसार में दूध अमृत के समान श्रेष्ठ है। पुरातन अतिसारों में दूध को तीन गुने जल से सिद्ध करके दूध मात्र शेष रह जाने पर पीये। क्योंकि इस प्रकार दूध बचे हुए दोष को नष्ट करता है, इसलिये यह उत्तम पथ्य है। स्नेह विरेचन, और पिच्छिल बस्तियाँ हितकारी हैं। सिम्बल आदि पिच्छिल द्रव्यों के स्वरस में सिद्ध घृत हितकारी कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—श्लो० ६८ वें में जो शाल्मलिवृन्त का हिम बतलाया गया है, और जो पिच्छिल वस्तियों तथा पिच्छिल द्रव्यों के संयोग से सिद्ध घृत का विधान किया गया है, इनका प्रतिनिधि आज का "ईसबगोल" है। ईसबगोल की १–२ तो० की मात्रा–शर्करोदक अथवा दही के साथ दी जाती है। प्रवाहिका को "पेचिश" या मरोड़ा कहते हैं (देखिये श्लो० १३८)॥

शकृता यस्तु संसृष्टमतिसार्येत शोणितम्।
प्राक् पश्चाद्वा पुरीषस्य सरुक् सपरिकर्तिकः॥१०३॥
क्षीरिशुङ्गश्रृतं सर्पिः पिबेत् सक्षौद्रशर्करम्।

जिस रोगी को मल के साथ मिला हुआ रक्त मल त्याग के पहिले या पीछे आता है, जिसे दर्द एवं परिकर्त्तिका (वस्ति, गुदा, मेहन में काटने के समान दर्द) रहती हो, वह बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के शृंगों (नूतन पत्रों के कोंपल) से सिद्ध घृत को मधु और शर्करा के साथ पीये।

वि० मन्तव्य—सपरिकर्त्तिकः—परिकर्त्तिका—इस विकृति में अन्त्रों के भीतरी भाग पर कर्त्तन अर्थात् खरोश हो जाता है, मल का दबाव पड़ने पर अथवा अन्त्र में एंठन होने पर इसी में रक्त निकलकर पुरीष के आगे या पीछे या साथ में आता है। पिच्छिल पदार्थों का लेस लगने से परिकर्त्तिका का रोपण हो जाता है, और पुरीष भी खिसककर सरलता से निकल जाता है। परिकर्त्तिका में कतीरा भी जल अथवा दूध अथवा दही में भिगोकर फूल जाने पर खाया जाता है, वह भी पिच्छिल होने से लाभ करता है। श्लो० १११ वाँ भी देखिये॥१०३॥

दार्वीत्वक्पिप्पलीशुण्ठीलाक्षाशक्रयवैर्घृतम्॥१०४॥
संयुक्तं भद्ररोहिण्या पक्वं पेयादिमिश्रितम्।

दारुहल्दी की छाल, पिप्पली, सोंठ, लाख, इन्द्रजौ, कुटकी इनसे सिद्ध किया घृत पेया आदि में मिलाकर पिलाये। यह घृत त्रिदोषजन्य भयानक अतिसार को भी नष्ट कर देता है॥

त्रिदोषमप्यतीसारं पीतं हन्ति सुदारुणम्॥१०५॥
गौरवे वमनं पथ्यं यस्य स्यात् प्रबलः कफः।

शरीर में भारीपन, कफ की प्रबलता, ज्वर, दाह, वायु से मलबन्ध होने पर अधोगामि रक्त की भाँति रोगी को वमन करना उत्तम है।

वक्तव्य—द्रव कफ के नष्ट होने से विपरीत मार्ग चिकित्सा के प्रभाव से भला होता है, जिस प्रकार अधोगामि रक्त पित्त में वमन चिकित्सा लाभ करती है॥१०५॥

ज्वरे दाहे सविड्बन्धे मारुताद्रक्तपित्तवत्॥१०६॥
संपक्वे बहुदोषे च विबन्धे मूत्रशोधनैः।
कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथा चैवानुवासनम्॥१०७॥

अतिसार के पक जाने पर, शरीर में दोष की अधिकता होने पर, अधोवात आदि की अप्रवृत्ति में तृण पञ्चमूल, पाषाण भेद आदि मूत्र शोधन द्रव्यों से आस्थापन और अनुवासन तुरन्त देवे॥१०६,१०७॥

प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे।
मधुराम्लैः श्रृतं तैलं सर्पिर्वाऽप्यनुवासनम्॥१०८॥

प्रवाहण में, गुदभ्रंश में, मूत्राघात में, कटिग्रह में, काकोल्यादि मधुर एवं बीजपूरक, कपित्थ आदि अम्लद्रव्यों से सिद्ध तैल या घृत का अनुवासन देवे॥१०८॥

गुदपाकस्तु पित्तेन यस्य स्यादहिताशिनः।
तस्य पित्तहराः सेकास्तत्सिद्धाश्चानुवासनाः॥१०९॥

अहित सेवन करनेवाले जिस रोगी की गुदा का पाक पित्त के कारण हो जाये, उसमें पित्तहर द्रव्यों (दूध, इक्षुरस, शर्करोदक, मधुरौषध कृत कषाय) से सेक एवं इनसे सिद्ध अनुवासन देवें॥१०९॥

दधिमण्डसुराबिल्वसिद्धं तैलं समारुते।
भोजने च हितं क्षीरं कच्छुरामूलसाधितम्॥११०॥

वातज अतिसार में दधि, मण्ड, सुरा और बिल्व से सिद्ध तैल अनुबासन में देवें। भोजन में कौंच या धमासा मूल से सिद्ध दूध देवे। (कच्छुरा-दुरालभा या शूकशिम्बी दधिमण्डल-दधिमस्तु)॥११०॥

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सरुग्य उपवेश्यते।
यदा वायुर्विबद्धश्च पिच्छाबस्तिस्तदा हितः॥१११॥

जो रोगी थोड़ा-थोड़ा रक्त एवं वेदना के साथ बार-बार मल त्याग करता हो, वायु का अवरोध हो, तब इसे पिच्छावस्ति (पिच्छिल द्रव्यों से बनाई चि० अ० ३८ में कही) देवे॥१११॥

प्रायेण गुददौर्बल्यं दीर्घकालातिसारिणाम्।
भवेत्तस्माद्धितं तेषां गुदे तैलावचारणम्॥११२॥

प्रायः करके चिरकालीन अतीसार रोगियों की गुदा निर्बल पड़ जाती है, इसलिये इनकी गुद में पिचु, सेक, अनुवासन रूप में तैल बरतना चाहिये। (दाह युक्त गुददौर्बल्य में घृत बरते)।

वि० मन्तव्य—गुददौर्बल्य–गुदवलियों की दुर्बलता, इसी कारण से गुदवलियाँ संवरण आदि कार्य उचित रूप से नहीं कर पातीं॥११२॥

कपित्थशाल्मलीफञ्जीवटकार्पासदाडिमाः।
यूथिका कच्छुरा शेलुः शणश्चुञ्चूश्च दाधिकाः ॥११३॥

कैथ, सिम्बल, फंजी (पाठा भेद), बरगद, कपास के पत्ते, अनार, जूही, धमासा, लसूड़ा, सन और चुञ्चू इनको दही से संस्कृत करके देवे ॥११३॥

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका।
बलाश्वदंष्ट्राबिल्वानि पाठानागरधान्यकम् ॥११४॥
एष आहारसंयोगे हितः सर्वातिसारिणाम्।

शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी छोटी, बड़ी कटेरी, बला, गोखरु, बिल्व, पाठा, सोंठ, धनियाँ इन द्रव्यों को अतिसार रोगियों के आहार के सिद्ध करने में बरते।

वक्तव्य—'भक्तं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्। चतुर्दशगुणे पेयां विलेपीं च चतुर्गुणे ॥' शालपर्ण्यादि द्रव्य चार पल लेकर एक आढ़क जल में सिद्ध करके आधा शेष रहने पर इस क्वाथ से पेया आदि बनाये ॥११४॥

तिलकल्को हितश्चात्र मौद्गो मुद्गरसस्तथा ॥११५॥

तिलकल्क, मूंग का कल्क, मूंग का यूष (ओसावण) इसमें हितकारी है ॥११५॥

पित्तातिसारी यो मर्त्यः पित्तलान्यतिसेवते।
पित्तं प्रदुष्टं तस्याशु रक्तातीसारमावहेत् ॥११६॥
ज्वरं शूलं तृषां दाहं गुदपाकं च दारुणम्।

जो पित्तातिसार रोगी पित्तकारक वस्तुओं का अतिसेवन करता है, उसका प्रदूषित हुआ पित्त रक्तातिसार को उत्पन्न कर देता है। इसके साथ ज्वर, शूल, दाह, और भयानक गुदपाक होता है ॥११६॥

यो रक्तं शकृतः पूर्वं पश्चाद्वा प्रतिसार्यते ॥११७॥
स पल्लवैर्वटादीनां ससर्पिः साधितं पयः।
पिबेत् सशर्कराक्षौद्रमथवाऽप्यभिमथ्य तत् ॥११८॥
नवनीतमथो लिह्यात्तक्रं चानुपिबेत्ततः।

जिस रोगी को मल के पूर्व या पीछे रक्त आता हो, वह बरगद आदि क्षीर वृक्षों के कोमल पत्तों से साधित दूध को घी, शर्करा मधु के साथ पीये। अथवा बरगद आदि के पत्तों को दूध में मथकर इससे दही जमाये, फिर इसको मथकर मक्खन निकालकर मधु और शर्करा के साथ चाटे, पीछे यह तक्र पीये ॥११७,११८॥

प्रियालशाल्मलीप्लक्षशल्लकीतिनिशत्वचः ॥११९॥
क्षीरे विमृदिताः पीताः सक्षौद्रा रक्तनाशनाः।

पियाल, सिम्बल, पिलखन, शल्लकी, सांदन इनकी छाल को दूध में मसलकर मधु मिलाकर पीये, यह रक्तनाशक है।

मधुकं शर्करा लोध्रं पयस्यामथ सारिवाम् ॥१२०॥
पिबेच्छागेन पयसा सक्षौद्रं रक्तनाशनम्।

मुलैहठी, शर्करा, लोध, विदारी, सारिवा, इनको बकरी के दूध में मथकर मधु के साथ पीये, यह रक्तनाशक है ॥१२०॥

मञ्जिष्ठां सारिवां लोध्रं पद्मकं कुमुदोत्पलम् ॥१२१॥
पिबेत् पद्मां च दुग्धेन छागेनासृक्प्रशान्तये।

रक्त की शान्ति के लिये—मंजीठ, सारिवा, लोध, पद्माख, कुमुद, नीलोफर, और भांर्गी इनको बकरी के दूध से पीये। (इनका कल्क करके दूध के साथ पीये) ॥१२१॥

शर्करोत्पललोध्राणि समङ्गा मधुकं तिलाः ॥१२२॥
तिलाः कृष्णाः सयष्ट्याह्वाः समङ्गा चोत्पलानि च।
तिला मोचरसो लोध्रं तथैव मधुकोत्पलम् ॥१२३॥
कच्छुरा तिलकल्कश्च योगाश्चत्वार एव च।
आजेन पयसा पेयाः सरक्ते मधुसंयुताः ॥१२४॥

चार योग—(१) शर्करा, कमल, लोध, मजीठ, मुलैहठी, तिल, (२) काले तिल, मुलैहठी, मजीठ और नीलोफर, (३) तिल, मोचरस, लोध, मुलैहठी, नीलोफर, (४) धमासा, तिल, कल्क ये चार योग मधु के साथ मिलाकर बकरी के दूध से रक्तातिसार में पीने चाहिये ॥१२२-१२४॥

द्रवे सरक्ते स्रवति बालबिल्वं सफाणितम्।
सक्षौद्रतैलं प्रागेव लिह्यादाशु हितं हि तत् ॥१२५॥

रक्त के साथ द्रव रूप (पतला-पानी जैसा) मल आने पर कच्चे बिल्व को राब मधु और तेल के साथ भोजन से पूर्व चाटे, यह शीघ्र ही लाभ करता है।

वि० मन्तव्य—इसका प्रतिनिधि बेल का मुरब्बा है ॥१२५॥

कोशकारं घृते भृष्टं लाजचूर्णं सिता मधु।
सशूलं रक्तपित्तोत्थं लीढं हन्त्युदरामयम् ॥१२६॥

कोशकार को टुकड़े करके घी में भूनकर पीसकर, लाजा, चूर्ण शर्करा मधु में मिलाकर चाटने से शूलयुक्त-पित्तजन्य अतिसार नष्ट होता है।

वक्तव्य—कोशकार-इक्षुभेद इति डल्हणः। कोशकारो नाम-कौशेयवस्त्रोपादानभूततन्तूत्पादकः कीटविशेषः इति। चरक में भी इसी रेशम के कीड़े के लिये कोशकार शब्द आया है। यथा—कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्। उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यः तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः॥

वि० मन्तव्य—आवरेशम-कोशकार रेशम के कृमि का नाम है। यह कृमि अपनी लाला (मुख के रस) से अपने ऊपर आवरण बना लेता है और उसी आवरण पर रेशम के तन्तु बन जाते हैं। इस आवरण के भीतर ही भीतर कृमि मर जाता है और इस आवरण को सुखा लिया जाता है यही "आवरेशम" कहलाता है। इस आवरण को घृत में भूनकर अथवा जल में उबालकर रस-क्वाथ रोगी को पिलाया जाता है। अरबी एवं फारसी भाषा में इसका नाम आवरेशम है। स्वाद-फीका, वर्ण पीताभ श्वेत, गुण-बलवर्द्धक, स्मरण शक्ति बर्द्धक, नेत्ररोग

नाशक, श्रमनाशक तथा वातव्याधिहर है। इसके अवलेह आदि योग बनाये जाते हैं ॥१२६॥

बिल्वमध्यं समधुकं शर्कराक्षौद्रसंयुतम् ।
तण्डुलाम्बुयुतो योगः पित्तरक्तोत्थितं जयेत् ॥१२७॥

बिल्व की मज्जा, मुलैहठी, शर्करा, मधु इनको चावल के धोवन के साथ लेने से पित्तरक्तजन्य अतिसार को नष्ट करता है ॥१२७॥

योगान् सांग्राहिकांश्चान्यान् पिबेत्सक्षौद्रशर्करान् ।
न्यग्रोधादिषु कुर्याच्च पुटपाकान् यथेरितान् ॥१२८॥

पित्तातिसारोक्त अन्य सांग्राहिक योगों को मधु और शर्करा के साथ पीये। कहे हुए अनुसार न्यग्रोधादि द्रव्यों से पुटपाक बनाये ॥१२८॥

गुदपाके च ये उक्तास्तेऽत्रापि विधयः स्मृताः ।

गुदपाक में जो सेकादि कहे हैं, वे पित्तरक्तजन्य अतिसार में भी हितकारी हैं।

रुजायां चाप्रशाम्यन्त्यां पिच्छाबस्तिर्हितो भवेत् ।१२९।

वेदना के शान्त न होने पर पिच्छावस्ति हितकारी है ॥

सक्तविड् दोषबहुलं दीप्ताग्निर्योऽतिसार्यते ।
विडङ्गत्रिफलाकृष्णाकषायैस्त' विरेचयेत् ॥१३०॥
अथवैरण्डसिद्धेन पयसा केवलेन वा ।
यवागूर्वितरेच्चास्य वातघ्नैर्दीपनैः कृताः ॥१३१॥

जो रोगी अग्नि के प्रदीप्त होने पर विबद्ध मल को, प्रचुर मात्रा में प्रवाहित करता हो, उसे विडंग, त्रिफला, पिप्पली के कषाय से विरेचन देवे। अथवा ऐरण्ड तैल से सिद्ध केवल दूध से विरेचन देवे। शालिपर्णी आदि वातघ्न एवं दीपनीय द्रव्यों से बनाई यवागू इसको देवे ॥१३०,१३१॥

दीप्ताग्निर्निष्पुरीषो यः सार्यते फेनिलं शकृत् ।
स पिबेत् फाणितं शुण्ठीदधितैलपयोघृतम् ॥१३२॥

दीप्ताग्नि पुरुष मल से रहित झागदार (मल में केवल झाग ही) प्रवाहित करता हो, वह राब, सोंठ, दधि, तैल, दूध और घी इनको मिलाकर पीये। (डल्हण के मत से यह निश्चारक का लक्षण है) ॥१३२॥

स्विन्नानि गुडतैलाभ्यां भक्षयेद् बदराणि च ।

उबाले हुए बेरों को गुड़ और तैल से खाये।

स्विन्नानि पिष्टवद्वाऽपि समं बिल्वशलाटुभिः ॥१३३॥

बेरों को और कच्चे बिल्व को पिष्ट स्वेदन विधि से स्विन्न करके शीतल होने पर गुड़ और तैल से खाये। (पिष्ट-स्वेद-गुजरात में जिस प्रकार ढोकरा बनाते हैं, छलनी में रखकर भाप से ही पकाये)।

वि० मन्तव्य—यह बेर तथा बिलगिरि के दोनों योग बेर का तथा बिल का मुरब्बा ही हैं अथवा उनके रूपान्तर हैं ॥

दध्नोपयुज्य कुल्माषान् श्वेतामनुपिबेत् सुराम् ।

कुल्माषों (आधे उबले जौ) को दही के साथ खाकर, पिट्ठी से बनी सुरा को पीछे से पीये।

शशमांसं सरुधिरं समङ्गां सघृतं दधि ॥१३४॥
खादेद्विपच्य सेवेत मृद्वन्नं शकृतः क्षये ।

मल के क्षय में—खरगोश के मांस और रक्त के साथ, कोमल अन्न (उड़द आदि) और लाजवन्ती को पकाकर घी और दही के साथ खाये। (माष-मल करनेवाले हैं, माषो बहुमलो वृष्यः) ॥१३४॥

संस्कृतो यमके माषयवकोलरसः शुभः ॥१३५॥
भोजनार्थं प्रदातव्यो दधिदाडिमसाधितः ।

उड़द, जौ और बेर का क्वाथ घी और तैल में संस्कृत करके, दही और अनारदाने से बघारकर भोजन के लिये देना चाहिये ॥१३५॥

बिडं बिल्वशलाटूनि नागरं चाम्लपेषितम् ॥१३६॥
दध्नः सरश्च यमके भृष्टो वर्चःक्षये हितः ।

बिड्नमक, कच्चे बिल्व,, सोंठ इनको कांजी से पीसकर-दही की मलाई मिलाकर घी और तैल में भूनकर वर्चःक्षय (मलक्षय में) में उत्तम है ॥१३६॥

सशूलं क्षीणवर्चा यो दीप्ताग्निरतिसार्यते ।
स पिबेद्दीपनैर्युक्तं सर्पिः संग्राहकैः सह ॥१३७॥

जो क्षीणपुरीष मनुष्य अग्नि के दीप्त होने पर शूल के साथ मलत्याग करता हो वह चित्रकादि दीपन एवं धातकी, बिल्वशलाटु आदि संग्राहक औषधियों के साथ अपक्व घृत पीये।

वि० मन्तव्य—निष्पुरीष=निकल चुका पुरीष जिसका (श्लो० १३२) शकृतः क्षये=पुरीष का क्षय हो जाने पर (श्लो० १३४), वर्चःक्षये=वर्चस् अर्थात् पुरीष का क्षय हो जाने पर (श्लो० १३६) आदि वाक्य उस दशा के लिये प्रयुक्त हैं। जब पुरीष पूर्ण रूप से निकल जाता है और शरीर के द्रव धातु (अपां धातु श्लो० ६) ही निकल रहे होते हैं ॥

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं
नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहमाणस्य मुहुर्मलाक्तं
प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१३८॥

अहित भोजन करनेवाले पुरुष में बढ़ी हुई वायु संचित कफ को गुद मार्ग से प्रेरित करती है। प्रवाहण करते हुए बार-बार मल से मिला कफ बाहर आता है, इसको वैद्य लोग प्रवाहिका कहते हैं।

वि० मन्तव्य—प्रवाहिका—यह शब्द—बाधृ—विलोडने धातु (भ्वादि आ० सेट्) से बनाया जाय और "प्रवाहिका" पढ़ा जाय अथवा वाह प्रयत्ने धातु (भ्वा आ० से०) से बनाया जाय या बना समझा जाय तो सार्थक

है। क्योंकि इस रोग में विशेषता यही है कि–रोगी काँखता है, पुरीष निकालने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करता है और उदर में भीषण विलोडन या ऐंठन–आवी–प्रसववेदना के समान भीषण पीड़ा होती है। इसे पेचिस या आँव पड़ना कहते हैं। रोग में अतिसार के समान द्रव पुरीष का अतिसरण नहीं होता, अपितु पुरीष की हरड़ जैसी गांठें बंध जाती हैं, कभी २ यह इतनी कड़ी होती हैं कि गुदवलियों में खरोश (परिकर्त्तिका) पड़ जाती है ॥१३८॥

प्रवाहिका वातकृता सशूला
पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसंभवा तु
ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥१३९॥
तासामतीसारवदादिशेच्च
लिङ्गं क्रमं चामविपक्वतां च।

वातजन्य प्रवाहिका में शूल होता है, पित्तजन्य में दाह, कफजन्य में कफ आता है, रक्त जन्य प्रवाहिका में रक्त आता है। ये प्रवाहिकायें स्नेह एवं रूक्ष कारणों से उत्पन्न होती हैं। इन प्रवाहिकाओं में वातादि के लक्षण, आम एवं पक्व प्रवाहिका के लक्षण, चिकित्सा अतीसार की भांति जानो ॥१३९॥

न शान्तिमायाति विलंघनैर्या
योगैरुदीर्णा यदि पाचनैर्वा ॥१४०॥
ता क्षीरमेवाशु शृतं निहन्ति
तैलं तिलाः पिच्छिलबस्तयश्च।

उत्कट प्रवाहिका जो लंघन एवं पाचन योगों से भी शान्त नहीं होती, उसको गरम किया दूध शीघ्र शान्त कर देता है या तैल, पिच्छिल बस्तियाँ नष्ट कर देती हैं ॥१४०॥

आर्द्रैः कुशैः संपरिवेष्टितानि
वृन्तान्यथार्द्राणि हि शाल्मलीनाम् ॥१४१॥
पक्वानि सम्यक् पुटपाकयोगे-
नापोथ्य तेभ्यो रसमाददीत।
क्षीरं शृतं तैलहविर्विमिश्रं
कल्केन यष्टीमधुकस्य वाऽपि ॥१४२॥
वस्तिं विदध्याद्भिषगप्रमत्तः
प्रवाहिकामूत्रपुरीषसङ्गे।

प्रवाहिका में मूत्र और मल का अवरोध होने पर सिम्बल के गीले हरे-कोंपलों को गीली कुशाओं से लपेटकर ऊपर मिट्टी का लेप करके पुटपाक विधिसे भली प्रकार पकाये। फिर इनको कूटकर इनका रस निकाल ले। इसमें गरम किया दूध, तैल, घी और मुलैहठी का कल्क मिलाकर वैद्य बिना आलस्य हुए वस्ति देता रहे। (अप्रमत्तः सावधानः)।

वि० मन्तव्य—यदि वस्ति देने की व्यवस्था न हो तो इस योग को पिला दिया जाय ॥१४१,१४२॥

द्विपञ्चमूलीक्वथितेन शूले
प्रवाहमाणस्य समाक्षिकेण ॥१४३॥
क्षीरेण चास्थापनमग्र्यमुक्तं

प्रवाहण में शूल होने पर दशमूल के क्वाथ से सिद्ध किये दूध में मधु मिलाकर आस्थापन वस्ति देना उत्तम है ॥१४३॥

तैलेन युञ्ज्यादनुवासनं च।

दशमूल से सिद्ध दूध से तैल से सिद्ध करके अनुवासन देवे। (अपक्व तैल से अनुवासन न देवे)।

वातघ्नवर्गे लवणेषु चैव
तैलं च सिद्धं हितमन्नपाने ॥१४४॥

विदारीगन्धादि वातघ्न द्रव्यों से तथा सैन्धवादि नमकों से सिद्ध तैल खान पान में बरतना उत्तम है।

वि० मन्तव्य—असिद्ध तैल भी पिलाया जाता है, तक्र में मिलाकर अथवा तैल में मालपूआ बनाकर भरपेट खिलाया जाता है ॥१४४॥

लोध्रं विडं बिल्वशलाटु चैव
लिह्याच्च तैलेन कटुत्रिकाढ्यम्।

लोध, विड्नमक, कच्चे बिल्व, त्रिकटु (प्रचुर मात्रा में) मिलाकर तैल से चाटे।

दध्ना ससारेण समाक्षिकेण
भुञ्जीत निश्चा (सा) रकपीडितस्तु ॥१४५॥
सुतप्तकुप्यक्वथितेन वाऽपि
क्षीरेण शीतेन मधुप्लुतेन।
शूलार्दितो व्योषविदारिगन्धा-
सिद्धेन दुग्धेन हिताय भोज्या ॥१४६॥
वातघ्नसांग्राहिकदीपनीयैः
कृतान् षडांश्चाप्युपभोजयेच्च।
खादेच्च मत्स्यान् रसमाप्नुयाच्च
वातघ्नसिद्धं सघृतं सतैलम् ॥१४७॥
एणाऽयजानां तु वटप्रवालैः
सिद्धानि सार्धं पिशितानि खादेत्।
मेध्य (घ्य) स्य सिद्धं स्वथवाऽपि रक्तं
बस्तस्य दध्ना घृततैलयुक्तम् ॥१४८॥
खादेत् प्रदेहैः शिखिलावजैर्वा
भुञ्जीत यूषैर्दधिभिश्च मुख्यैः।
माषान् सुसिद्धान घृतमण्डयुक्तान्
खादेच्च दध्ना मरिचोपदंशम् ॥१४९॥

निश्चारक रोग से पीड़ित मनुष्य मलाई युक्त दही में मधु मिलाकर उसके साथ भोजन करे। अथवा सोने को (अघटित स्वर्ण) गरम करके, इससे गरम किये (उबाले) दूध के ठण्डा होने पर मधु मिलाकर उसके साथ भोजन करे। शूल से पीड़ित-त्रिकटु, विदारीगन्धादिगण से सिद्ध दूध से हितकारी भोजन

देवे। शालपर्ण्यादि वातघ्न चित्रक शुण्ठी आदि दीपनीय, बिल्व-पाठा-चांगेरी आदि सांग्राहिक औषधियों से बनाये खड खाने को देवे। मछलियों को खाये। शालपर्ण्यादि वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध घी और तैल से मिश्रित बटेर आदि के मांसरस को पीये। बकरी, भेड़, हरिण इनके मांस बरगद के कोंपलों के साथ सिद्ध करके इनका मांस खाये। मेदुर (दुम्बा) के रक्त को या बकरे के रक्त को घी और तैल में संस्कृत करके दही में मिलाकर खाये। अथवा मोर और तीतर के घट्ट बनाये मांसरसों से मूंग-मसूर आदि के यूषों को दही के साथ खाये। भली प्रकार पकाये उड़दों को घी के मण्ड (ऊपर का भाग) में मिलाकर मरिच का चूर्ण छिड़ककर दही के साथ खाये।

वक्तव्य—मेध्य–मेधो यज्ञः, तदर्हो मेध्यः। प्रदेह–पाकेन घनीभूताः रसाः प्रदेहाः।

वि० मन्तव्य—निश्चारक–प्रवाहिका का ही नाम है, क्योंकि यह सब चिकित्सा प्रवाहिका में उपयोगी है और की भी जाती है। माषान्........उरद की दाल अथवा उसके बड़े दही में डाल भर पेट खाने पर तत्काल लाभ होता है। सत्य है कि इस रोग में आम-आँव तथा पुरीष को प्रवृत्त करने का प्रयत्न होना चाहिये। अगले सब योग विशेषतः धारोष्ण दूध पुरीष प्रवर्त्तक या विरेचक हैं। इनके सेवनसे आम तथा पुरीष निकल जाते हैं, मलाशय शुद्ध हो जाता है, फलतः रोग शान्त हो जाता है ॥१४५-१४६॥

महारुजे मूत्रकृच्छ्रे भिषग् बस्तिं प्रदापयेत्।
पयोमधुघृतोन्मिश्रं मधुकोत्पलसाधितम् ॥१५०॥
स बस्तिः शमयेत्तस्य रक्तं दाहमथो ज्वरम्।

अतिशय वेदना और मूत्रकृच्छ्र में वैद्य मुलैहठी, नीलोफर के क्वाथ में दूध, मधु और घृत मिलाकर वस्ति देवे। यह वस्ति प्रवाहिका के रक्त, दाह और ज्वर को नष्ट कर देती है ॥१५०॥

मधुरौषधसिद्धं च हितं तस्यानुवासनम्।
रात्रावहनि वा नित्यं रुजार्तो यो भवेन्नरः ॥१५१॥

जिस रोगी को सदा दर्द रहता हो, उसे, काकोल्यादि मधुर औषधियों से सिद्ध अनुवासन रात्रि या दिन में देना हितकारी है। (रात्रि में अनुवासन निषिद्ध होने पर भी सदा दाह, शूल होने पर विधेय है) ॥१५१॥

यथा यथा सतैलः स्याद्वातशान्तिस्तथा तथा ॥१५२॥
प्रशान्ते मारुते चापि शान्तिं याति प्रवाहिका।
तस्मात् प्रवाहिकारोगे मारुतं शमयेद् भिषक् ॥१५३॥

जैसे जैसे अनुवासन में तैल बरता जाता है, वैसे वैसे वायु शान्त होता है। वायु के शान्त होने पर प्रवाहिका भी शान्त हो जाती है। इसलिये प्रवाहिका रोग में वैद्य वायु को शान्त करे॥

पाठाजमोदाकुटजोत्पलं च
शुण्ठी समा मागधिकाश्च पिष्टाः।
सुखाम्बुपीताः शमयन्ति रोगं

पाठा, अजवायन, कूडा, कमल, सोंठ, पिप्पली, ये समभाग लेकर, पीसकर-गरमपानी के साथ पीने से प्रवाहिका को शान्त करते हैं।

मेध्याण्डसिद्धं सघृतं पयो वा ॥१५४॥

बकरे के अण्ड से सिद्ध दूध में घी मिलाकर पीये, यह भी प्रवाहिका को नष्ट करता है ॥१५४॥

शुण्ठीं घृतं सक्षवकं सतैलं
विपाच्य लीढ्वाऽऽभयमाशु हन्यात्।

सोंठ, नकछिकनी इनके कल्क में घी तैल मिलाकर अवलेह विधि से पकाकर चाटने से प्रवाहिका नष्ट होती है।

गजाशनाकुम्भिकदाडिमानां
रसैः कृता तैलघृते सदध्नि ॥१५५॥
विल्वान्विता पथ्यतमा यवागू-

गजाशना (शल्लकी), जलकुम्भी, अनार इनके क्वाथ में बिल्व का गूदा मिलाकर, तैल घृत और दही से संस्कृत की हुई यवागू अतिशय पथ्य है ॥१५५॥

र्धारोष्णदुग्धस्य तथा च पानम्।

इसी प्रकार धारोष्ण दूध का पीना अतिशय पथ्य हैं।

लघूनि पथ्यान्यथ दीपनानि
स्निग्धानि भोज्यान्युदरामयेषु ॥१५६॥
हिताय नित्यं वितरेद्विभज्य
योगांश्च तांस्तान् भिषगप्रमत्तः ॥१५७॥

सावधानी से वैद्य अतिसार एवं प्रवाहिका रोग में दोष की अवस्था को देखकर, लघु, पथ्यकारी, दीपक, स्निग्ध भोजनों को तथा उन उन योगों को नित्यप्रति रोगी के लाभ के लिये देवे॥

तृष्णापनयनी लघ्वी दीपनी बस्तिशोधनी।
ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता ॥१५८॥

यवागू—तृष्णानाशक, लघु, अग्निदीपक बस्तिशोधक है, इसलिये ज्वर एवं अतिसार में सदा हितकारी है ॥१५८॥

रूक्षाज्जाते क्रिया स्निग्धा रूक्षा स्नेहनिमित्तजे।
भयजे सान्त्वनापूर्वा शोकजे शोकनाशिनी ॥१५९॥
विषार्शःकृमिसंभूते हिता चोभयशर्मदा।

रूक्षजन्य कारण से उत्पन्न अतिसार में स्नेहन क्रिया, एवं स्नेहजन्य अतिसार में रूक्षक्रिया, भयजन्य में प्रथम सान्त्वना देना, शोकजन्य में शोक का नाश करना, विष अर्श एवं कृमिजन्य अतिसार में हेतु एवं व्याधि दोनों के विपरीत चिकित्सा करना उत्तम है ॥१५९॥

छर्दिमूर्च्छातृडाद्यांश्च साधयेदविरोधतः ॥१६०॥

वमन, मूर्च्छा, प्यास आदि की चिकित्सा-मूलरोग (अतीसार) के अविरोधि रूप से करे ॥१६०॥

समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम् ॥१६१॥

ज्वर और अतिसार में दोषों का संयोग या सन्निपात होने पर प्रथम पित्त की चिकित्सा करे। और अन्य सब रोगों में सबसे प्रथम वायु को शान्त करे।

वक्तव्य—ज्वर और अतिसार में पित्त की प्रधानता है, अन्य सब रोगों में वायु सब रोगों का नेता है। नेता के नष्ट होने पर दूसरे दोष शीघ्र शान्त हो जाते हैं॥

वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत्कफम्।
त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः॥च०॥१६१॥

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः॥१६२॥

जिस रोगी को मूत्र बिना मल त्याग के प्रवाहित हो जाता है, अपानवायु भली प्रकार प्रवृत्त होती है, अग्नि प्रदीप्त हो, उदर में हल्का पन हो, उसका अतिसार शान्त हुआ समझे॥

कर्मजा व्याधयः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे।
कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये

व्याधियाँ तीन प्रकार की हैं, यथा—कर्मजन्य, दोषजन्य और उभयजन्य (कर्मदोष)।

वक्तव्य—शास्त्रोक्त सद्वृत्त, आहार विहार करने पर भी ऋतुजन्य रोग होते हैं, वे कर्मजन्य हैं। इसी से चरक में कहा है—"तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् (२) न हि कर्म महत् किंचित्, फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥ निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥ कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः। रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥" चरक।

कर्मजास्तेष्वहेतुजाः॥१६३॥
नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंक्षये।

इनमें बिना कारण के, तथा बिना चिकित्सा के जप-तप प्रायश्चित्त आदि चिकित्सा से कर्मों का क्षय होनेपर जो व्याधियां नष्ट होती हैं, वे कर्मजन्य हैं॥१६३॥

शाम्यन्ति दोषसंभूता दोषसंक्षयहेतुभिः॥१६४॥

जो दोष संक्षय हेतुओं से शान्त होते हैं, वे दोषजन्य रोग हैं॥१६४॥

तेषामल्पनिदाना ये प्रतिकृष्टा भवन्ति च।
मृदवो बहुदोषा वा कर्मदोषोद्भवास्तु ते॥१६५॥

जो रोग दोष थोड़े से ही कारण से अति कष्टदायक हो जाते हैं, अथवा बहुत दोषवाले मृदु रूप में रहते हैं, वे कर्म एवं दोष उभय जन्य होते हैं।

वि० मन्तव्य—कर्मजा...विधीयते–विधिभेद से व्याधियाँ तीन प्रकार की होती हैं, १—कर्मज-ये मिथ्या आहार विहार के विना ही और काल परिणाम के विना ही अथवा अन्य भयशोक आदि हेतु के विना ही उत्पन्न हो जाती हैं और चिकित्सा न करने पर भी अथवा केवल प्रायश्चित्त, जप, होम एवं बलि मङ्गल आदि उपचार करने पर, कर्म का फल भोग लेने पर शान्ति होती है। २—दोषज–ये दोषानुसार मिथ्या आहार-विहार, कालपरिणाम अथवा भयशोक आदि कारणों से उत्पन्न होती हैं, और दोषानुसार चिकित्सा करने पर अथवा दोष का क्षय हो जाने पर शान्त हो जाती हैं॥१६५॥

कर्मदोषक्षयकृता तेषां सिद्धिर्विधीयते।

इस प्रकार के (कर्मदोषोद्भव) रोगों की चिकित्सा यज्ञदान-तप आदि से कर्म का क्षय करके, तथा स्नेहन स्वेदन आदि से दोष का नाश करके की जाती है॥

दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः॥१६६॥
अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥१६७॥
तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा॥१६८॥

अग्नि को मन्द करनेवाले कारणों से ग्रहणी दूषित हो जाती है, और अतिसार के शान्त हो जाने पर भी–मन्दाग्नि पुरुष के अहित सेवन करने से अग्नि पुनः दूषित होकर ग्रहणी रोग को उत्पन्न करती है। इसलिये अतीसार में विरेचन दिये हुए की भाँति परहेजी पालनी चाहिये। जब तक मनुष्य (या अग्नि) दोष एवं प्राण (बल) से स्वाभाविक रूप में न आजाये, तब तक परहेजी पाले॥१६६-१६८॥

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥१६९॥

पित्तधरा नामक जो छठी कला कही है, वह पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित है, इस कला को ग्रहणी कहते हैं।

वक्तव्य—'ग्रहणात् ग्रहणी मता' ग्रहण करने से ग्रहणी कहलाती है, आमाशय से निकले अपक्व आहार को यह ग्रहण करती है। यहाँ पर यकृत् के पित्ताशय का पित्त, क्लोमका रस मिलते हैं। ये सब अग्निगुण होने से इस स्थान को अग्नि स्थान कहते हैं। इन रसों के मन्द होने से अग्नि भी कम हो जाती है, जिससे भली प्रकार पाक नहीं होता, इससे कहा है....

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि हि अग्निबलेनापष्टम्भोपबृंहिताः॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्नि बला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥च०॥ १६९॥

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः।
तस्मात् संदूषिते वह्नौ ग्रहणी संप्रदुष्यति॥१७०॥

क्योंकि अग्नि के स्थान-ग्रहणी का बल अग्नि ही है, और यह अग्नि भी ग्रहणी के ही आश्रित है। इसलिये अग्नि के दूषित हो जाने पर ग्रहणी भी दूषित हो जाती है ॥१७०॥

एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥१७१॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥१७२॥

वातादि पृथक् दोषों से सन्निपात रूप में मिलित दोषों से दूषित हुई यह ग्रहणी बहुत बार अपक्व आहार को ही आगे गुजार देती है। यह अन्न कभी पका, कभी कच्चा वेदना के साथ, दुर्गन्धयुक्त, कभी वेधा हुआ, कभी द्रवरूप में प्रवाहित (मल रूप से) होता है। आयुर्वेद को जाननेवाले इस रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं ॥१७१,१७२॥

तस्योत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनालस्यतृट्क्लमाः।
बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम् ॥१७३॥

पूर्वरूप—इस ग्रहणी रोग के उत्पन्न होने के पूर्व, अन्न में विदाह (भली प्रकार न पकना), शिथिलता, आलस्य, प्यास, थकान, बल का ह्रास, अरुचि, कास, कानों में शब्द, आंतों में गड़गड़ाहट होती है ॥१७३॥

अथ जाते भवेज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः।
पर्वरुग्लौल्यतृट्छर्दिज्वरारोचकदाहवान् ॥१७४॥
उद्गिरेच्छुक्ततिक्ताम्ललोहधूमामगन्धिकम्।
प्रसेकमुखवैरस्यतमकारुचिपीडितः ॥१७५॥

लक्षण—ग्रहणीरोग हो जाने पर रोगी के हाथ-पैर सूज जाते हैं, रोगी कृश, पर्वों में दर्द, सब रसों में लोलुपता, प्यास, वमन, ज्वर, अरोचक, दाह रहता है। शुक्त (खट्टा), तिक्त (कडुआ), अम्लगन्धि, लोहगन्धि, धूमगन्धि, आमगन्धि (सडी गन्ध) उद्गार होता है और मुख से पानी गिरता है, लाला-स्राव, मुख में विरसता, मोह, अरुचि रहती है ॥१७३-१७५॥

वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः।
पित्तात् सदाहैर्गुरुभिः कफात्त्रिभ्यस्त्रिलक्षणः ॥१७६॥

वातजन्य ग्रहणी में—गुद, हृदय, पार्श्व, उदर और शिर में अधिक शूल रहता है। पित्त से दाह की अधिकता, कफ से भारीपन, सन्निपात से तीनों दोषों के लक्षण रहते हैं ॥१७६॥

दोषवर्णैर्नखैस्तद्वद्विण्मूत्रनयनाननैः।
हृत्पाण्डूदरगुल्मार्शःप्लीहाशङ्की च मानवः ॥१७७॥

वातादि दोषों के वर्णवाले नख, मल-मूत्र, आँख, और मुख को देखकर ग्रहणी रोग जानना चाहिये। रोगी को हृदय-रोग, पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्मरोग, अर्शरोग, प्लीहारोग, का भ्रम बना रहता है।

वक्तव्य—वायु के कारण कृष्ण अरुणवर्ण, पित्त से हरा-पीला वर्ण, कफ से श्वेत वर्ण होता है ॥१७७॥

यथादोषोच्छ्रयं तस्य विशुद्धस्य यथाक्रमम्।
पेयादिं वितरेत् सम्यग्दीपनीयोपसंभृतम् ॥१७८॥
ततः पाचनसंग्राहिदीपनीयगणत्रयम्।
पिबेत् प्रातः सुरारिष्टस्नेहमूत्रसुखाम्बुभिः ॥१७९॥
तक्रेण वाऽथ तक्रं वा केवलं हितमुच्यते।
कृमिगुल्मोदरार्शोघ्नीः क्रियाश्चात्रावचारयेत् ॥१८०॥
चूर्णं हिङ्ग्वादिकं चात्र घृतं वा प्लीहनाशनम्।

दोष की अधिकता के अनुसार दोषों को अपने-अपने शुद्धि क्रम से शोधन करके (वात की अधिकता में निरूह, पित्त की अधिकता में विरेचन, कफ की अधिकता में वमन)-दीपनीय द्रव्यों (पंचकोल आदि अग्निदीपक) से मिश्रित पेया, विलेपी आदि देवे। फिर पाचन द्रव्य गण (हरिद्रादि), दीपनीयगण (पिप्पल्यादि), संग्राहीगण (अम्बष्ठादि) को प्रतिदिन प्रातःकाल सुरा, अरिष्ट, स्नेह (घृत), मूत्र या गरम पानी से पीये। अथवा इनको तक्र के साथ पीये, या अकेला तक्र ही पीना उत्तम है। कृमिरोग, गुल्मरोग, उदररोग, अर्शरोग नाशक चिकित्सा यहाँ करे। हिंग्वादि चूर्ण, एवं प्लीहा नाशक घृत (षट्पल घृत) ग्रहणी रोग में वरते।

वक्तव्य—स्वस्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षये।
स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्॥
वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम्।
त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः ॥१७८-१८०॥

कल्केन मगधाद्यैश्च चाङ्गेरीस्वरसेन च ॥१८१॥
चतुर्गुणेन दध्ना च घृतं सिद्धं हितं भवेत्।

पिप्पल्यादि गण के कल्क से, चांगेरी के स्वरस में, घृत से चार गुणे दही के साथ सिद्ध किया घृत हितकारी है ॥१८१॥

सर्वथा दीपनं सर्वं ग्रहणीरोगिणां हितम्।

अग्निदीपक चिकित्सा ग्रहणी रोग में सब प्रकार से हितकारी है॥

ज्वरादीनविरोधाच्च साधयेत् स्वैश्चिकित्सितैः ॥१८२॥

ज्वर आदि रोगों को उनकी अपनी-अपनी चिकित्सा से-ग्रहणी रोग के अविरोधि चिकित्सा से शान्त करे ॥१८२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा-
तन्त्रेऽतिसारप्रतिषेधो नाम (द्वितीयोऽध्यायः,
आदितः) चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः शोषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे शोष प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे, जैसा—भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः ॥३॥

बहुत से रोगों (उपद्रवों) का आश्रय, श्वास, कास आदि बहुत से रोगों के आगे चलनेवाला (पूर्व रूप में होनेवाला) त्रिदोष लक्षणों के कारण कठिनाई से जानने योग्य, परस्पर विरोधि चिकित्सा के कारण कष्टसाध्य, अतिबलवान् रोग-शोष है ॥३॥

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते ।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः ॥४॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः ।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुः पुनर्जनाः ॥५॥

रस आदि धातुओं का शोषण करने से शोष कहा जाता है। क्रियाओं का क्षय करने से क्षय कहा जाता है। राजा चन्द्रमा को यह रोग हुआ था, इसलिये कुछ लोग इसको राज-यक्ष्मा कहते हैं।

वक्तव्य—यह आख्यायिका है कि प्रजापति ने अपनी अट्ठाईस कन्याओं का (अश्विनी आदि नक्षत्रों का) विवाह चन्द्रमा से कर दिया। चन्द्रमा ने अश्विनी आदि दूसरी कन्याओं की अपेक्षा रोहिणी पर अधिक आसक्ति दिखाई। इस बात की शिकायत उन्होंने अपने पिता प्रजापति से की। प्रजापति ने चन्द्रमा को सबके साथ समान बर्त्ताव करने के लिये कहा। परन्तु फिर भी प्रजापति के वचनों का तिरस्कार करके वह रोहिणी में ही आसक्त रहा। इससे प्रजापति के क्रोध से यक्ष्मा रूपी विष निकलकर चन्द्रमा में प्रविष्ट हुआ, जिससे चन्द्रमा प्रभा एवं उत्साह हीन हो गया। प्रजापति के दोष के कारण यह शाप हुआ है, यह जानकर चन्द्रमा प्रजा-पति की सेवा में गया। चन्द्रमा की शुद्ध बुद्धि जानकर अश्विनी द्वारा प्रजापति ने उनकी चिकित्सा करवा दी।

अट्ठाईस कन्यायें—अश्विनी आदि नक्षत्र हैं, चन्द्रमा का इनके साथ सम्बन्ध है। रोहिणी नक्षत्र पर चन्द्रमा अधिक देर रहता है। इस कथानक का अभिप्राय है कि अधिक आसक्ति पूर्वक स्त्री सेवन से यह रोग मुख्यतः होता है।

वि० मन्तव्य—इस रोग में रस रक्त आदि का धीरे-धीरे शोषण होने लगता है, अतः शोष कहलाता है। शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक क्रियाओं का क्षय हो जाता है, अतः क्षय कहलाता है। देखा जाता है कि रस रोग में स्वस्वस्थान-स्थित धातु सूख जाते हैं, शरीर कृश होते होते अत्यन्त कृश हो जाता है। रस धातु सौम्य है, यथा—स खलु द्रवानुसारी स्नेहन-जीवन-तर्पण-धारणाऽऽदिभिः विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते (सु० सू० अ० १४।३) और यह सौम्य-सोमात्मक रस धातु का रोग है ॥४,५॥

स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद्वदन्ति हि ।

यह क्षयरोग वातादि दोषों से पृथग्रूप में भी होता है, ऐसा कई कहते हैं (वास्तव में यह रोग त्रिदोषजन्य है) परन्तु—

एकादशानामेकस्मिन् सान्निध्यात्तन्त्रयुक्तितः ॥६॥
क्रियाणामविभागेन प्रागेकोत्पादनेन च ।
एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको ह्यतः ॥७॥

शोष रोग एक ही (सन्निपातात्मक ही) है, क्योंकि—राज-यक्ष्मा रोगी में ग्यारह लक्षण विद्यमान रहते हैं, शास्त्र की युक्ति से चिकित्सा क्रम का विभाग पृथक्त्व न होने से, प्रथम प्रजा-पति के क्रोध से एकही रूप में उत्पन्न होने के कारण शोष एक ही प्रकार का सन्निपातजन्य माना है, भले ही—।

उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि ।

इस शोष में दोषों की अधिकता से-दोषों के लक्षण प्रकट होते हैं, परन्तु शोष एक ही है ॥६,७॥

क्षयाद्वेगप्रतीघातादाघाताद्विषमाशनात् ॥८॥
जायते कुपितैर्दोषैर्व्याप्तदेहस्य देहिनः ।

कुपित हुए दोष जब रोगी के शरीर में व्याप्त हुए होते हैं, तब क्षय से, वेगों के अवरोध से, आघात से, (मानसिक-शोक आदि से) और विषमाशन से क्षय रोग उत्पन्न होता है ॥८॥

कफप्रधानैर्दोषैर्हि रुद्धेषु रसवर्त्मसु ॥९॥

उत्कट कफवाले दोष से रसवह मार्गों के बन्द हो जाने से क्षयरोग उत्पन्न होता है।

स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयाद् ।
धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्त्तते ॥ चरक ॥

अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरम् ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥१०॥

अति मैथुन करनेवाले पुरुष में वीर्य के क्षीण होने के पीछे सब धातु क्षीण हो जाते हैं, तब मनुष्य सूख जाता है।

वक्तव्य—यह प्रतिलोमक्षय है, जिस प्रकार बड़े भारी जलाशय के क्षीण होते समय इसमें प्रविष्ट जल जन्तु भी नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार वीर्य के क्षीण होने पर दूसरे धातु भी क्षीण हो जाते हैं। वीर्य-बल शक्ति है, उसके घटने से रसादि भी घट जाते हैं।

वि० मन्तव्य—शोष रोग दो प्रकार से प्रवृत्त होता है। १—कफ प्रधान दोषों द्वारा रसवाही स्रोतसों के अवरोध होने पर। इसका नाम अनुलोम क्षय है, इसमें रसवाही स्रोतों के अवरोध के कारण अन्य धातुओं का उचित रूप से पोषण

नहीं होता, क्योंकि अन्नपान का रस ही सब धातुओं का प्रीणन करता है (सु० सू० अ० १४-११)। २—अतिमैथुन से, जब शुक्र धातु का क्षय हो जाता है तब मज्जा अस्थि आदि धातुओं का भी क्षय होने लगता है और धातुओं का क्षय होने से शरीर सूखने लगता है, फलतः शारीरिक मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं का क्षय हो जाता है। इसे प्रतिलोम कहते हैं। अनुलोम को शोष और प्रतिलोम को क्षय कहा जाय जो स्यात् कोई अनौचित्य नहीं है। चरक के शब्दों में—रसवाही स्रोतों के रुक जाने से फलतः रक्त आदि धातुओं का क्षय होने से तथा धातुगत अग्नियों के मन्द हो जाने से राजयक्ष्मा की प्रवृत्ति (प्रारम्भ) होती है। इस समय (इन दिनों) में उदर में आगत जिस आहार को अग्नि पकाता है वह प्रायः पुरीष ही बन जाता है, उसका बहुत थोड़ा अंश ओजस् अर्थात् रस बनता है और वह रस भी रसवाही स्रोतों का अवरोध हो जाने से स्वस्थान अर्थात् हृदय (एवं फुफ्फुस) में ही विदग्ध (विकृत) हो जाता है और वही खाँसते समय कफ के रूप में निकलता रहता है (च० चि० अ० ७) अतएव उसे कफ क्षय भी कहते हैं। राजयक्ष्मा काय चिकित्सा का रोग है, अतः च० चि० अ० ७ तथा च० नि० अ० ६ में विस्तार से वर्णित है। पाठक वहीं देखें। आज कल ऐलोपेथी वाले जिसे टी० बी० या थायसिस कहते हैं वह वस्तुतः चरक संहिता में वर्णित शोष रोग है पाठक ध्यान से देखें ॥१०॥

भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥११॥

भोजन में अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्त का आना और भेद, ये छै रूप राजयक्ष्मा में होते हैं ॥११॥

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥१२॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥१३॥

ग्यारहरूप—वायु के कारण स्वरभेद, शूल, अंस और पार्श्वों में संकोच, पित्त के कारण ज्वर, दाह, अतिसार और रक्त का आना, कफ के कारण, शिर का कफ से भरना, भोजन में अरुचि, कास, कण्ठ भंग, होता है। वात से तीन, पित्त से चार, कफ से चार लक्षण इस प्रकार ग्यारह लक्षण राजयक्ष्मा में होते हैं ॥१२,१३॥

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
(कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥१४॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः।)
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविपुलं यशः ॥१५॥

इन ग्यारह लक्षणों से अथवा छै लक्षणों से युक्त (कास, अतिसार, पार्श्वशूल, स्वरभेद, अरुचि, एवं ज्वर इन छै अथवा ज्वर, कास, रक्तस्राव इन तीन लक्षणों से युक्त) शोष से पीड़ित रोगी को उत्तम यश चाहनेवाला वैद्य छोड़ देवे, उसकी चिकित्सा न करे।

वि० मन्तव्य—छ रूपवाले राजयक्ष्मा में शोणित दर्शन, (श्लो० ११) ११ रूपवाले में रक्तस्य आगमः—रक्त का आना (श्लो० १२), कास आदि छ रूपवाले में पार्श्वाऽऽर्त्ति—पार्श्व (फुफ्फुस) में वेदना तथा ज्वर आदि तीन लक्षणवाले में असृगामय-रक्त रोग या रक्तागम नामक लक्षण फुफ्फुस गत क्षण के सूचक हैं। रक्त का एक नाम "क्षतज" है, शब्दार्थ है जो क्षत से प्रादुर्भूत हो—दिखाई दे। यही क्षत "एक्स रे" द्वारा चित्रपट पर दिखाई पड़ता है। चरक के शब्दों में—"तस्य अतिमात्रेण कर्मणा उरःक्षण्यते, तस्य उरः क्षतं उपप्लवते वायुः........ततः क्षणनात् च एव उरसः....कासप्रसङ्गात् उरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनात् च अस्य दौर्बल्यं उपजायते" च० नि० अ० ६।४४-५। और इसी का वर्णन अगले २४-२५ वें श्लोकों में किया गया है और वह उरःक्षत (श्लो० १६) से उत्पन्न शोष माना गया है। इसमें प्रथम रक्त आता है, फिर पाक होने पर पूय तथा तद्रूप कफ आता रहता है। इसमें भी अरुण वर्ण का रक्त मिला रहता है, परन्तु कभी कभी किसी २ रोगी को ॥१४,१५॥

व्यवायशोकस्थाविर्यव्यायामाध्वोपवासतः।
व्रणोरःक्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि ॥१६॥

व्यवाय, शोक, स्थविरता (बुढ़ापा), व्यायाम, मुसाफरी, उपवास, व्रण, उरःक्षत की पीड़ा के कारण से शोष होता है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं ॥१६॥

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिंगैरुपद्रुतः।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥१७॥

व्यवाय (मैथुन-वीर्यक्षय) के कारण उत्पन्न शोष में रोगी शुक्रक्षय के लक्षणों से (शुक्रक्षये मेषवृषणयोः वेदना, अशक्तिः मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पदर्शनम् रक्तस्य शुक्रस्य वा), पीड़ित, रोगी का शरीर पाण्डुवर्ण होता है, क्रमशः पूर्व-धातु सूख जाते हैं, अर्थात् शुक्र से पूर्व मज्जा का क्षय, मज्जा से पूर्व अस्थि, अस्थि से पूर्व मेद का, मेद से पूर्व मांस का क्षय होता है ॥१७॥

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः।
विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरभिलक्षितः ॥१८॥

शोकशोषी मनुष्य निरन्तर ध्यान में (चिन्ता में) डूबा, शिथिल अंगों का, व्यवाय शोष के लक्षणों के समान परन्तु शुक्रक्षयजन्य लक्षणों से रहित होता है। (शुक्रक्षय के लक्षण नहीं होते)॥१८॥

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः।
कम्पनोऽरुचिमान्भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः (नः)॥१९॥
ष्ठीवति श्लेष्मणाहीनं गौरवारुचिपीडितः।
संप्रस्रुतास्यनासाक्षः सुप्तरूक्षमलच्छविः॥२०॥

जराशोषी मनुष्य कृश, मन्दवीर्य, मन्दबुद्धि, मन्दबल एवं मन्द इन्द्रिय (शुक्र एवं आँख आदि), कांपनेवाला, अरुचियुक्त, टूटे हुए काँसे के पात्र के समान झंकार (आवाजवाला), कफ के बिना थूकता है, गौरव-भारीपन, अरुचि से पीड़ित, मुख-नासा-आंख से पानी बहता है, कान्ति सुप्त (निर्जीव), रूक्ष एवं मलिन होती है॥१९,२०॥

अध्वप्रशोषी स्रस्ताङ्गः संभृष्टपरुषच्छविः।
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः॥२१॥

अध्व (मुसाफरी) शोषी-मनुष्य के अंग ढीले रहते हैं, कान्ति जली हुई एवं कठोर रहती है। शरीर के अवयव सोये हुए, क्लोम, गला और मुख शुष्क रहते हैं॥२१॥

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः।
उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तश्च क्षताद्विना॥२२॥

व्यायामजन्य शोष से पीड़ित मनुष्य अध्वशोषी के मुख्य एवं बहुत से लक्षणों से युक्त होता है। इसमें उरःक्षतजन्य शोष के सब लक्षण मिलते हैं, परन्तु क्षत नहीं होता॥२२॥

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात्।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमः स्मृतः॥२३॥

व्रणरोगी में रक्त के क्षय के कारण, वेदना के कारण तथा आहार की परहेजी से व्रण रोगी में जो शोष उत्पन्न हो जाता है, वह असाध्य माना है॥२३॥

व्यायामभाराध्ययनैरभिघातातिमैथुनैः।
कर्मणा चाप्युरस्येन वक्षो यस्य विदारितम्।
तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति॥२४॥
कासमानश्छर्दयेच्च पीतरक्तासितारुणम्।
संतप्तवक्षाः सोऽत्यर्थं दूयनात्परितान्म्यति॥२५॥
दुर्गन्धवदनोच्छ्वासो भिन्नवर्णस्वरो नरः।

व्यायाम से, भार से, अध्ययन (पढ़ने एवं पढ़ाने) से चोट लगने से, अतिमैथुन से छाती पर जोर पड़नेवाले कार्यों से (जैसे धनुष को तानना, भागते हुए घोड़ों के साथ भागना या रोकना), जिस रोगी का उरःस्थल विदीर्ण हो जाता है, उसकी छाती में क्षत होने से रक्त, पूय और कफ जाता है। खांसते हुए या वमन करते हुए पीला, लाल, काला, अरुण स्राव होता है। वक्षस्थल अतिशय जलता है, वेदना की अधिकता से मूर्च्छा आती हैं, मुख एवं उच्छ्वास में दुर्गन्ध आती है, वर्ण और स्वर फटा हुआ होता है॥२४,२५॥

केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः॥२६॥
न तत्र दोषलिंगानां समस्तानां निपातनम्।

कई आचार्यों के मत में व्यायाम आदि अनेक कारणों से शोष में जो भेद आया है, उसे वे नहीं मानते, क्योंकि उनमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। अर्थात् इनके मत में शोष एक ही है—व्यायाम आदि भेदजन्य नहीं हैं॥२६॥

क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः॥२७॥

व्यायामादिजन्य इन शोषों को क्षय ही जानना चाहिये, इनको धातुक्षय संज्ञक जाने।

वक्तव्य—क्योंकि शुक्र से आरम्भ करके विलोम रूप में व्यवाय आदि के कारण धातुओं का यथापूर्व क्षय होता है॥

चिकित्सितं तु तेषां हि प्रागुक्तं धातुसंक्षये॥२८॥

दोषधातु मल क्षय वृद्धि अध्याय में इन धातुक्षयों की चिकित्सा पहले कह दी है॥२८॥

श्वासाङ्गसादकफसंस्रवतालुशोष-
च्छर्द्यग्निसादमदपीनसपाण्डुनिद्राः।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः॥२९॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठ-
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च॥३०॥

पूर्वरूप—श्वास, अंगों में शिथिलता, कफ का स्राव, तालु का सूखना, वमन, अग्निमान्द्य, मद (मूर्च्छा), पीनस, पाण्डुरोग, नींद की अधिकता, आंखों का सफेद होना, मांसाभिलाषा, मैथुन की इच्छा, ये होनेवाले शोष रोग में लक्षण होते हैं। स्वप्न में कौआ, तोता, चील, नीलकण्ठ, गीध, बन्दर, छिपकली इसको ले जाते प्रतीत होते हैं। रोगी सूखी नदियाँ को देखता है, वृक्षों को रूखे, वायु, धूम एवं दावानल से जले देखता है।

वक्तव्य—मद (सुपारी जन्य मत्तता) रिरंसु-मैथुन की इच्छा, यह रोग माहात्म्य से होता है। कृकलास गिरगिट॥

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत्॥३१॥

बहुत खाने पर भी क्षीण होते हुए, अतिसार से पीड़ित, मुष्क, (अण्डकोष) और उदर पर सूजन होने पर यक्ष्मा रोगी की चिकित्सा न करे॥३१॥

उपचरेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नवम्।

जितेन्द्रिय, प्रदीप्ताग्नि, बलवान्, नये रोगी की चिकित्सा करे। (नवम्-एक साल से कम)।

स्थिरादिवर्गसिद्धेन घृतेनाजाविकेन च ॥३२॥
स्निग्धस्य मृदु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्।
आस्थापनं तथा कार्यं शिरसश्च विरेचम् ॥३३॥

विदारिगन्धादिगण से सिद्ध किये बकरी या भेड़ के घी से रोगी का स्नेहन करके ऊर्ध्व एवं अधः (वमनविरेचन) मृदु शोधन करे। मृदु आस्थापन (निरूह) देवे, शिरोविरेचन भी मृदु करे ॥३२,३३॥

यवगोधूमशालींश्च रसैर्भुञ्जीत शोधितः।

शोधन हो जाने पर जौ गेहूँ, शाली को जांगल मांस रस से खाये।

दृढेऽग्नौ बृंहयेच्चापि निवृत्तोपद्रवं नरम् ॥३४॥

अग्नि के बलवान् होने पर, उपद्रव शान्त हो जाने पर मनुष्य का बृंहण करे ॥३४॥

व्यवायशोषी को प्रायः वातजन्यरोग होते हैं। इसके लिये बृंहण, स्निग्ध, वातनाशक विधि बरते।

कहा भी है—

"ग्लानिःकम्पोऽवसादः तदनु च कृशता क्षीणता चेन्द्रियाणाम्, शोषो श्वासोपदंशज्वरगुदजगदाः क्षीणता सर्वधातोः। जायन्ते दुर्निवाराः पवनपरिभवाः क्लीबतालिंगभंगाः। वामावश्यातियोगात् भजत इह सदा वाजिकर्माच्युतस्य" ॥३४॥

व्यवायशोषिणं प्रायो भजन्ते वातजा गदाः।
बृंहणीयो विधिस्तस्मै हितः स्निग्धोऽनिलापहः ॥३५॥
काकानुलूकान्नकुलान् विडालान्
गण्डूपदान् व्यालबिलेशयाखून्।
गृध्रांश्च दद्याद्विविधैः प्रवादैः
ससैन्धवान् सर्षपतैलभृष्टान् ॥३६॥
देयानि मांसानि च जाङ्गलानि
मुद्गाढकीसूपरसाश्च हृद्याः।
खरोष्ट्रनागाश्वतराश्वजानि
देयानि मांसानि सुकल्पितानि ॥३७॥
मांसोपदंशांश्च पिबेदरिष्टान्
मार्द्वीकयुक्तान् मदिराश्च सेव्याः।
अर्कामृताक्षारजलोषितेभ्यः
कृत्वा यवेभ्यो विविधांश्च भक्ष्यान् ॥३८॥
खादेत्, पिबेत् सर्पिरजाविकं वा
कृशो यवाग्वा सह भक्तकाले।
सर्पिर्मधुभ्यां त्रिकटु प्रलिह्या-
च्चव्याविडङ्गोपहितं क्षयार्तः ॥३९॥

कौआ, उल्लू, नेवला, बिल्ली, केंचुआ, व्याल (हिंसक पशु), बिलेशय, चूहा, गीध, इनको नानाप्रकार के झूठे बचन कहकर, सैन्धव के साथ सरसों के तैल में भूनकर देवे। जांगल मांस देवे। मूंग, अरहर के यूष देवे, मन के प्रिय मांसरस दे। गधा, ऊँट, हाथी, खच्चर, घोड़ा इनके मांसों को भली प्रकार बनाकर देवे। मांस के पकौड़ों को खाकर अरिष्टों (अभयारिष्ट आदि) को पीये। मार्द्वीक मद्य, या मदिरा को पीये। आक और गिलोय के क्वाथ के पानीयक्षार में रात भर रक्खे। जौ से नाना प्रकार के भक्ष्य बनाकर खाये। बकरी या भेड़ का घी पीये। कृश व्यक्ति भोजन के समय यवागू के साथ बकरी या भेड़ का घी खाये। क्षय रोगी, त्रिकटु, विडंग के साथ घी और मधु को चाटे।

वक्तव्य—बिल्ली छै प्रकार की है—ग्राम्यो वन्यस्तोयजातः पक्षिमार्जारबिज्जकौ। सुगन्धवृषणश्चेति मार्जाराः षट् प्रकीर्त्तिताः॥ प्रवाद—मिथ्यावचन से, चरक में इसके लिये उपधा शब्द प्रयोग किया है, उसमें भी—काकांस्तित्तिरिशब्देन मत्स्यशब्देन चोरगान्। भृष्टमत्स्यांत्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि॥ इसका लाभ—जानन् जुगुप्सन्नैवाद्याद् भुक्तं वा पुनरुल्लिखेत्। तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥ गधे आदि का मांस मांस को बढ़ाता है, यथा—"खरोष्ट्राश्वतरं नागं मांसं मांसाभिवृद्धये। दद्यान्माहिषशब्देन वेसवारीकृतं भिषक्॥" पानीयक्षार—"पानीयभोजनायाथ भस्मस्त्राव्यं चतुर्गुणे। जलेऽर्धमवशिष्टं तु क्षाराम्भो ग्राह्यमिष्यते॥" चरक—गजखड्गतुरंगाणां वेशवारीकृतं भिषक्। दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये॥ मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्। तीक्ष्णोष्णलाघवात् शस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥ मांसानि यान्यनभ्यासात् अनिष्टानि प्रयोजयेत्। तेषूपधा, सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि। जानन् जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्। तस्मात् छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥

वि० मन्तव्य—विविधैः प्रवादैः—प्रवाद—छल उपधा। जिन देशों—जातियों, कुलों अथवा व्यक्तियों में कौआ, उल्लू आदि का मांस खाने का प्रचार अथवा अभ्यास नहीं है वहाँ अथवा उस व्यक्ति को छल से माँस खिलाना चाहिये। चरक के शब्दों में कौआ को तीतर कहकर, सर्प को मछली कहकर खिला देना चाहिये, अन्यथा घृणा होने के कारण छर्दि हो सकती है। चीन जापान आदि देशों में तो सर्प, मार्जार आदि का मांस चाव से खाया जाता है, वहाँ छल करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। और यूरोपीय देशों में गधा एवं खच्चर का मांस भी चाव से खाया जाता है, जैसे भारत में मछली तथा बकरा का मांस तथा कुछ जातियों में महिष का और कुछ व्यक्ति सर्प का मांस भी चाव से खाते हैं। तत्पर्य यह है, कि

शोष रोगी को मांस खिलाना चाहिये। क्योंकि शरीर का बृंहण कराने के लिये मांस से उत्तम अन्य कोई वस्तु नहीं है ॥

गांसादमांसेसु घृतं च सिद्धं
शोषापहं क्षौद्रकणासमेतम्।

मांस खानेवाले (गीध आदि) प्राणियों के मांसों में सिद्ध किया घृत मधु और पिप्पली के साथ खाने से शोष नाशक है।

द्राक्षासितामागधिकावलेहः
सक्षौद्रतैलः क्षयरोगघाती ॥४०॥
घृतेन चाजेन समाक्षिकेण
तुरङ्गगन्धातिलमाषचूर्णम्।

द्राक्षा, शर्करा, पिप्पली का अवलेह मधु और तैल के साथ खाने से क्षयरोग नाशक है। अश्वगन्धा, तिल, उड़द का चूर्ण, बकरी के घी और मधु के साथ अवलेह रूप में खाये ॥४०॥

सिताश्वगन्धामगधोद्भवानां
चूर्णं घृतक्षौद्रयुतं प्रलिह्यात् ॥४१॥

सिता, अश्वगन्धा, पिप्पली इनके चूर्ण को घी और मधु के साथ चाटे ॥४१॥

क्षीरं पिबेद्वाऽप्यथ वाजिगन्धा-
विपक्वमेवं लभतेऽङ्गपुष्टिम्।

अश्वगन्धा से पकाया दूध पीये, इससे अंगों की पुष्टि होती है।

तदुत्थितं क्षीरघृतं सिताढ्यं
प्रातः पिबेद्वाऽपि पयोनुपानम् ॥४२॥

अश्वगन्धा से सिद्ध दूध में से निकाला घृत प्रचुर सिता (मिश्री) के साथ प्रातःकाल दूध के अनुपान से पीये।

वि० मन्तव्य—निरामिष भोजियों के लिये अश्वगन्धा का चूर्ण आधा तो० से १ तो० की मात्रा में आधा सेर १ सेर दूध में पकाकर, रबड़ी का-सा गाढ़ा हो जानेपर, शीतल करके और खण्ड या मिश्री मिलाकर भूखे पेट पीने से बहुत लाभप्रद है। और निम्नलिखित वासाघृत आदि योग भी उत्तम हैं ॥४२॥

उत्सादने चापि तुरङ्गगन्धा
योज्या यवाश्चैव पुनर्नवे च।

उद्वर्तन (उबटन) में—अश्वगन्धा, जौ, श्वेत एवं लाल पुनर्नवा को बरते।

कृत्स्ने वृषे तत्कुसुमैश्च सिद्धं
सर्पिः पिबेत्क्षौद्रयुतं हिताशी ॥४३॥
यक्ष्माणमेतत् प्रबलं च कासं
श्वासं च हन्यादपि पाण्डुतां च।

अडूसा के मूल पत्र-शाखा-अंकुर के क्वाथ में पुष्पों के कल्क से सिद्ध किया घृत मधु के साथ-हितकारी भोजन करते हुए खाये। इससे यक्ष्मा, प्रबल कास, श्वास और पाण्डु भी नष्ट हो जाता है।

वक्तव्य—मूल-पत्रं आदि के चतुर्गुण क्वाथ में पुष्पकल्क आठवां भाग मिलाये, यथा—

"शणस्य कोविदारस्य वृषस्य च पृथक् पृथक्।
कल्काढ्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रस्थे पलचतुष्टयम्" ॥४३॥

शकृद्रसा गोऽश्वगजाव्यजानां
क्वाथा मिताश्चापि तथैव भागैः ॥४४॥
मूर्वाहरिद्राखदिरद्रुमाणां
क्षीरस्य भागस्त्वपरो घृतस्य।
भागान् दशैतान् विपचेद्विधिज्ञो
दत्त्वा त्रिवर्गं मधुरं च कृत्स्नम् ॥४५॥
कटुत्रिकं चैव समद्रदारु
घृतोत्तमं यक्ष्मनिवारणाय।

गाय-घोड़ा हाथी-बकरी-भेड़ इनके गोबर का रस, मूर्वा, हल्दी और खैर इनका क्वाथ, नवां दूध ये प्रत्येक समान भाग और दशवां घी, यह भी एक भाग के समान लेकर, त्रिफला सम्पूर्ण मधुर वर्ग (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, वृद्धि ये आठ अथवा काकोल्यादिगण), त्रिकटु, देवदारु, इनका कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत यक्ष्मा नाश के लिये श्रेष्ठ है ॥४४,४५॥

द्वे पञ्चमूल्यौ वरुणं करञ्जं
भल्लातकं बिल्वपुनर्नवे च ॥४६॥
यवान् कुलत्थान् बदराणि भार्गीं
पाठां हुताशं समहीकदम्बम्।
कृत्वा कषायं विपचेद्धि तस्य
षड्भिर्हि पात्रैर्घृतपात्रमेयम् ॥४७॥
व्योषं महावृक्षपयाऽभयां च
चव्यं सुराह्वं लवणोत्तमं च।
एतद्धि शोषं जठराणि चैव
हन्यात् प्रमेहांश्च सहानिलेन ॥४८॥

दशमूल, वरणा, करंज, भिलावा, बिल्व, पुनर्नवा, जौ, कुलत्थी, बेर, भार्गी, पाठा, चित्रक, महीकदम्ब, इनका कषाय चतुर्गुण जल में करे। यह कषाय छै आढ़क, घृत एक आढ़क, त्रिकटु, स्नुहीदूध, हरड़, चव्य, देवदारु, सैन्धव इनका कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। यह घृत शोष, जठर (उदर), और सब प्रकार के वायु समेत प्रमेहों को भी नष्ट करता है। (वात-जन्य प्रमेह असाध्य हैं, यह स्तुतिपरक वचन है) ॥४६-४८॥

गोऽश्वाव्यजेभैणखरोष्ट्रजातैः
शकृद्रसक्षीररसक्षतोत्थैः।
द्राक्षाश्वगन्धामगधासिताभिः
सिद्धं घृतं यक्ष्मविकारहारि ॥४९॥

गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी, हरिण, ऊँट, गधा, हाथी, इनके गोबर के रस, दूध, मांसरस, रक्त, इनमें द्राक्षा, अश्वगन्धा,

पिप्पली, शर्करा इनके कल्क से सिद्ध किया घृत यक्ष्मा रोग को नष्ट करता है ॥४९॥

एलाजमोदामलकाभयाक्ष-
गायत्र्यरिष्टासनशालसारान् ।
विडङ्गभल्लातकचित्रकोग्रा-
कटुत्रिकाम्भोदसुराष्ट्रजांश्च ॥५०॥
पक्त्वा जले तेन पचेद्धि सर्पि-
स्तस्मिन् सुसिद्धे त्ववतारिते च ।
त्रिंशत्पलान्यत्र सितोपलाया
दत्त्वा तुगाक्षीरिपलानि षट् च ॥५१॥
प्रस्थे घृतस्य द्विगुणं च दद्यात्
क्षौद्रं ततो मन्थहतं विदध्यात् ।
पलं पलं प्रातरतः प्रलिह्य
पश्चात् पिबेत् क्षीरमतन्द्रितश्च ॥५२॥
एतद्धि मेध्यं परमं पवित्रं
चक्षुष्यमायुष्यमथो यशस्यम् ।
यक्ष्माणमाशु व्यपहन्ति चैतत्
पाण्ड्वामयं चैव भगन्दरं च ॥५३॥
श्वासं च हन्ति स्वरभेदकास-
हृत्प्लीहगुल्मग्रहणीगदांश्च ।
न चात्र किंचित् परिवर्जनीयं
रसायनं चैतदुपास्यमानम् ॥५४॥

इलायची, अजवायन, आंवला, हरड़, बहेड़ा, खैर, नीम, विजयसार, शाल इनके सार भाग, विडङ्ग, भिलावा, चित्रक, वच, त्रिकटु, मोथा, सोरठी मिट्टी (गोपीचन्दन) इनके क्वाथ से घृत एक प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध करे। सिद्ध किये इस एक प्रस्थ घृत में मिश्री तीस पल, वंशलोचन छे पल, मधु दो प्रस्थ मिलाकर मन्थन दण्ड से मथकर रख देवे। प्रतिदिन प्रातःकाल इसमें से एक पल चाटकर ऊपर से दूध पीये। इस प्रकार बिना आलस्य के करे। यह घृतयोग अतिशय मेधावर्धक, पवित्र, चक्षुष्य, आयुष्य, यशस्य है, यक्ष्मारोग को शीघ्र नष्ट करता है, पाण्डुरोग, भगन्दर, श्वास, स्वरभेद, कास, हृदय, प्लीहा गुल्म-ग्रहणी रोग को नष्ट करता है। इसके-सेवन करने में किसी प्रकार का परहेज नहीं रखना पड़ता। निरन्तर सेवन करने पर यह योग रसायन है ॥५०-५४॥

प्लीहोदरोक्तं विहितं च सर्पि-
स्त्रीण्येव चान्यानि हितानि चात्र।

यक्ष्मा रोग में प्लीहोदरोक्त षट्पलघृत, तथा दूसरे तीन घृत (१—हरीतकीचूर्ण प्रस्थं, २—गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरम्, ३—चव्य चित्रक दन्ती अतिविषा), हितकारी हैं।

उपद्रवांश्च स्वरवैकृतादीन्
जयेद्यथास्वं प्रसमीक्ष्य शास्त्रम् ॥५५॥

स्वरभंग आदि उपद्रवों को उनकी अपनी अपनी चिकित्सा से शास्त्र के अनुसार शान्त करे ॥५५॥

अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृङ्-
मांसालयानि प्रतिसेवमानः ।
स्नानादिना ना विधिना जहाति
मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥५६॥

बकरी की मींगनी, मूत्र, दूध, घृत, रक्त, मांस, साथ में रहना (ये सब बकरी के ही) इनका स्नान आदि नाना विधि से नियम पूर्वक सेवन करने पर, एक मास में सम्पूर्ण शोषरोग से मुक्त हो जाता है।

कहा भी है—

वक्तव्य—"छागमांसं पयश्छागं छागं सर्पिश्च शर्करम्। छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत् ॥" बकरी और पारावत को तथा बन्दर को क्षय नहीं होता, ऐसी मान्यता प्राचीन आचार्यों की है। पारावत को इसी लिये घरों में पालते हैं, यथा—मेघदूत में—"तां कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां, नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः" ॥५६॥

रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्तः
क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम् ।
सेवेत वा मागधिकाविधानं
तथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य ॥५७॥

क्षयरोगी विधिपूर्वक लहसुन का उपयोग करे या दूध से नागबला को बरते। अथवा पिप्पलीवर्धमान का सेवन करे, इसी प्रकार शिलाजतु का उपयोग करे।

वि० मन्तव्य—श्लो० ५६ में बतलाए अजासेवन तथा इस श्लोक में बतलाए रसोन योग आदि योग बहुत उपयोगी हैं। जो निरामिष भोजी हैं, वे अजादुग्ध पीवें एवं अजाओं के साथ हिलमिल कर ही रहें तो भी लाभ होता है ॥५७॥

शोकं स्त्रियं क्रोधमसूयनं च

क्षयरोगी—शोक, क्रोध, मैथुन निन्दा करना छोड़ दे।

त्यजेदुदारान् विषयान् भजेत ।
वैद्यान् द्विजातींस्त्रिदशान् गुरूंश्च
वार्ताश्च पुण्याः शृणुयाद् द्विजेभ्यः ॥५८॥

धर्म के अविरोधि-मन के अनुकूल विषयों का सेवन करे। वैद्य ब्राह्मण, देवता, गुरुजनों की पूजा करे तथा ब्राह्मणों से पुण्यकारी उपदेश सुने ॥५८॥

"मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च ।
नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥
वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ॥
प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥
मद्यं तैक्ष्ण्योष्णवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त धातवः ॥

पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ।
(२) बहिः स्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च ।
उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः ॥
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखे चोत्सादयेन्नरम् ।
(३) सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्त्तते ॥
यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्" ॥च०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे शोषप्रतिषेधो नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो गुल्मप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे गुल्मप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

यथोक्तैः कोपनैर्दोषाः कुपिताः कोष्ठमागताः ।
जनयन्ति नृणां गुल्मं स पञ्चविध उच्यते ॥३॥

व्रण प्रश्न अध्याय में कहे बलवद् विग्रह, क्रोधादि, दिवास्वप्न आदि कोपक कारणों से प्रकुपित हुए दोष कोष्ठ में आकर गुल्म को उत्पन्न करते हैं । यह गुल्म पाँच प्रकार का है ।

वक्तव्य—कोष्ठ–"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥" पांच प्रकार का गुल्म—पृथग् दोषों से तीन प्रकार का, सन्निपात से और रक्त से । द्वन्द्वज गुल्म भी चरक में कहे हैं, यथा—"व्यामिश्रलिंगानपरांस्तु गुल्मान् त्रीनादिशेद् औषधकल्पनार्थम् ॥" ये तीन भेद औषध विचार से हैं ॥३॥

हृद्वस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।
चयापचयवान् वृत्तः स गुल्म इति कीर्तितः ॥४॥

गुल्म की परिभाषा–हृदय और वस्ति के बीच में (सम्पूर्ण उदर में), चलनेवाली, या स्थिर रहनेवाली, घटने एवं बढ़नेवाली, जो गाँठ होती है, उसको गुल्म कहते हैं ।

वक्तव्य—अर्बुद, सिस्ट आदि से भेद इसमें हो जाता है। वायु की प्रधानता रहने से गुल्म में घटाव बढ़ाव गति एवं स्थिरता तथा आकार रहता है । वायु के शान्त होने से गुल्म भी शान्त हो जाता है ॥४॥

पञ्च गुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभिबस्तयः ।

मनुष्यों में गुल्म के आश्रय पाँच हैं, हृदय, नाभि, बस्ति, और दो पार्श्व (पड़खे) ।

कुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि ॥५॥
गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ।

गुल्म की निरुक्ति-आकुलीकृत वायुमूल से, गूढमूल के कारण उत्पन्न होने से, गुल्म की भाँति विशाल होने से इसको 'गुल्म' शब्द से कहा जाता है ।

वक्तव्य—वायु गुल्म का कारण है, जैसा कि चरक में कहा है—"सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु गुल्मेषु न कश्चिद् वाताहते संभवति गुल्मः ॥ (२) मारुते ह्युपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योऽपि दोषो नियन्तुं गुल्मेषु ॥ गुल्मानामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या ॥" चरक नि० अ० ३ । वायु मुख्यतः गुल्म में कुपित व्याकुल रहती है, गुल्म की उत्पत्ति में कारण गुप्त रहता है, गुल्म (समूह) की भाँति विशाल होने से, यथा—वृक्षगुल्म, लतागुल्म, पशुगुल्म, सैन्यगुल्म, आदि समूह के लिये प्रवृत्त होता है । इसलिये विशाल होने से गुल्म कहते हैं ॥५॥

स यस्मादात्मनिचयं गच्छत्यप्स्विव बुद्बुदः ॥६॥
अन्तः सरति यस्माच्च न पाकमुपयात्यतः ।

गुल्म अपने ही (अपने अवयव में ही) निचय (बढ़ता) है, जिस प्रकार पानी का बुलबुला पानी से ही बढ़ता है। अन्दर में घूमता है, इसलिये यह गुल्म पकता नहीं ।

वक्तव्य - प्रायः करके वातिकगुल्म नहीं पकता, पित्तज एवं रक्तजगुल्म पकते हैं, इसी से चरक में कहा है—"रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च । यदि गुल्मो विदह्येत, शस्त्रं तत्र भिषगूजितम् ॥" पित्तजगुल्म रक्तजगुल्म (मकल्ल विद्रधि) प्रायः पक भी जाते हैं । अन्तः विद्रधि शीघ्र पकती है, और गुल्म मन्दपाकी रहता है, यह इनमें भेद हैं ॥६॥

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः ॥७॥
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ।

यह पाँच प्रकार का गुल्म कुपित हुए वातादि पृथक् दोषों से तीन प्रकार का, एवं सन्निपात रूप में कुपित दोषों से एक प्रकार का पुरुष और स्त्रियों में होते हैं । स्त्रियों में रक्तजन्य (आर्त्तवजन्य) गुल्म एक अधिक होता है ॥७॥

सदनं मन्दता वह्नेराटोपोऽन्त्रविकूजनम् ॥८॥
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च सौहित्यासहता तथा ।
द्वेषोऽन्ने वायुरूर्ध्वं च पूर्वरूपेषु गुल्मिनाम् ॥९॥

पूर्वरूप—शिथिलता, अग्नि की मन्दता, आध्मान, आंतों में गड़गड़ाहट, मल मूत्र-वायु का अवरोध, तृप्ति की असहिष्णुता, अन्न में द्वेष, वायु का ऊर्ध्वगामि होना, गुल्म के पूर्वरूप हैं ।

वक्तव्य—भोजन जरा अधिक खाने पर या पेट भर के खा लेने से हृदय पर भार, श्वास काठिन्य, पङ्खों का फटना आदि अनुभव होते हैं, जिसे बम्बई की तरफ गैस चढ़ना या गैस होना कहते हैं ॥८,९॥

हृत्कुक्षिशूलं मुखकण्ठशोषो
वायोर्निरोधो विषमाग्निता च ।
ते ते विकाराः पवनात्मकाश्च
भवन्ति गुल्मेऽनिलसंभवे तु ॥१०॥

वातजन्यगुल्म में–हृदय और कुक्षि (उदरपङ्खों) में शूल; मुख और गले का शोष, वायु का अवरोध, अग्नि की विषमता (कभी भूख लगना, कभी नहीं लगना), स्तम्भन-कम्पन आदि वातजन्य रोग होते हैं ॥१०॥

स्वेदज्वराहारविदाहदाहा-
स्तृष्णाऽङ्गरागः कटुवक्त्रता ।
पित्तस्य लिङ्गान्यखिलानि यानि
पित्तात्मके तानि भवन्ति गुल्मे ॥११॥

पित्तजन्य में–स्वेद, ज्वर आहार में विदाह (खटास होना), दाह, प्यास, अंगों में सुर्खी, मुख में कटुता, पित्त के दूसरे सम्पूर्ण लक्षण (भ्रम, मद, मूर्च्छा) होते हैं ॥

वक्तव्य—अम्लीभवत्यन्नमथो ज्वरश्च दाहः पिपासा कटुवक्त्रता च । पित्तस्य लिंगानि च कीर्त्तितानि भवन्ति पित्तप्रभवे च गुल्मे ॥११॥

स्तैमित्यमन्नेऽरुचिरङ्गसाद-
श्छर्दिः प्रसेको मधुरास्यता च ।
कफस्य लिङ्गानि च यानि तानि
भवन्ति गुल्मे कफसंभवे तु ॥१२॥

कफजन्य गुल्म में–स्तिमितता (अंगों का गीले भारीवस्त्र से ढंपा सा होना), अन्न में अरुचि, अङ्गों में शिथिलता, वमन, मुख से थूक बहना, मुख में मधुरता, भारीपन, शीतलता आदि कफजन्य दूसरे लक्षण होते हैं ॥१२॥

सर्वात्मकः सर्वविकारयुक्तः
सोऽसाध्य उक्तः,

सन्निपातजन्यगुल्म में सब दोषों के लक्षण रहते हैं, यह असाध्य कहा है ।

वक्तव्य—दूसरे इसका लक्षण–"सिराजालपरिच्छन्नो दाहरागज्वरान्वितः । कूर्मवद् रक्तपर्यन्तः त्रिदोषः स न सिध्यति ॥" गुल्म की एक दूसरी अवस्था को उपस्तम्भ कहते हैं, यथा–पयो ह्यम्लसमायुक्तं दधिभावं व्रजेद्यथा । यत्नहीनस्य गुल्मोऽपि तथोपस्तम्भतां व्रजेत् ॥ अम्भोवहेस्तम्भयित्वा स्रोतसी कोष्ठसंश्रितः । उदरे प्रतिसन्तिष्ठेद् उपस्तम्भं तु तं विदुः ।

क्षतजं प्रवक्ष्ये ।
नवप्रसूताऽहितभोजना या
या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा ॥१३॥

वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं
करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं
विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥१४॥
न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिं
भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनाम्
तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्य-
मसम्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः ॥१५॥

रक्तजन्यगुल्म को कहते हैं–तुरन्त प्रसव की हुई जो स्त्री अहित भोजन करती है, अथवा जिस स्त्री को छै मास तक कच्चे गर्भ का स्राव हुआ है, उसके अपथ्य सेवन से या ऋतुकाल में अपथ्य आहार करने पर—वायु स्त्री के आर्त्तव को रोककर गुल्म को उत्पन्न करती है, इससे उसे पीड़ा और दाह रहता है । इस रक्त गुल्म में पित्त के समान लक्षण होते हैं, दूसरे विशेष लक्षणों को सुनो । यह रक्तगुल्म गर्भ के समान चेष्टा नहीं करता, उदर भी नहीं बढ़ता, गर्भवती के दूसरे लक्षण (थकान आदि) होते हैं । इस रक्तजगुल्म की चिकित्सा गर्भकाल के व्यतीत होने पर करनी चाहिये ।

वक्तव्य—प्रसूता शब्द से प्रसव मास तक की संज्ञा है, यथा—"अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात् । पुनरार्त्तवदर्शनादित्येके ।" सुश्रुत । चरक में—"यः स्पन्दते, पिण्डित एव नोच्चैः चिरात् सशूलः समगर्भलिंगः। स एव च स्त्री भव एष गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥" इसमें गर्भ के समान लक्षण–जीमचलाना, प्रातः वमन, आर्त्तवरोध आदि लक्षण रहते हैं । इसकी चिकित्सा गर्भ का समय व्यतीत होने पर करनी चाहिये–इसी से कहा है–"ज्वरे तुल्यर्त्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्" ॥१३–१५॥

वातगुल्मार्दितं स्निग्धं युक्तं स्नेहविरेचनैः ।
उपाचरेद्यथाकालं निरूहैः सानुवासनैः ॥१६॥

वातजगुल्म रोगी को स्निग्ध करके, योग्य स्नेहविरेचन (ऐरण्ड तैल आदि) देकर, समय का अतिक्रमण किये बिना निरूह और अनुवासनों से चिकित्सा करे । (यथाकालं पश्चाद् विरेको वान्तस्य, आदि नियम से) ॥१६॥

पित्तगुल्मार्दितं स्निग्धं काकोल्यादिघृतेन तु ।
विरिक्तं मधुरैर्योगैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥१७॥

पित्तगुल्म से पीड़ित रोगी को काकोल्यादि घृत से स्निग्ध करके–आरग्वधादि, इक्षुरस शर्करा आदि मधु योगों से विरेचन देकर मधुर निरूहों से भली प्रकार चिकित्सा करे ॥१७॥

श्लेष्मगुल्मार्दितं स्निग्धं पिप्पल्यादिघृतेन तु ।
तीक्ष्णैर्विरिक्तं तद्रूपैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥१८॥

कफगुल्म से पीडित रोगी को पिपल्यादि घृत से स्निग्ध करके-दन्ती-द्रवन्ती आदि तीक्ष्ण द्रव्यों से विरेचन देवे। फिर तीक्ष्ण निरूहों से (आरग्वधादिभिः क्वाथ इत्यादि) चिकित्सा करे ॥१८॥

सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः।

सन्निपातजन्य गुल्म में त्रिदोष नाशक चिकित्सा करे।

वक्तव्य—सब गुल्मों में प्रथम वायु को शांत करे। वायु के शान्त होने से थोड़े भी प्रयत्न से शेष दोष शान्त किये जा सकते हैं, यथा-गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः, सर्वशो विधिरा चरितव्यः। मारुतेप्यवजितेऽन्यमुदीर्णदोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥चरक॥

पित्तवद्रक्तगुल्मिन्या नार्याः कार्यः क्रियाविधिः ॥१९॥
विशेषमपरं चास्याः शृणु रक्तविभेदनम्।
पलाशक्षारतोयेन सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥२०॥
दद्यादुत्तरवस्तिं च पिप्पल्यादिघृतेन तु
उष्णैर्वा भेदयेद्भिन्ने विधिरासृग्दरो हितः ॥२१॥

रक्तगुल्मवाली स्त्री की चिकित्सा पित्तगुल्म की भांति करनी चाहिये। दूसरी विशेष चिकित्सा रक्तभेदन के लिये सुनो-पलाश भस्म से नितारे जल से सिद्ध किया घृत पीने को देवे। पिप्पल्यादिगण के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत से उत्तर वस्ति देवे। पिप्पल्यादि उष्ण द्रव्यों से इसको विदीर्ण करे। विदीर्ण होने पर असृग्दर की चिकित्सा करे।

प्रभिद्येत् न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम्।
क्षारेण युक्तं पललं सुधा क्षीरेण वा पुनः ॥
आभ्यां वा भावितान् दद्यात् योनौ कटुकमत्स्यकान्।
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान् वा सुभावितान् ॥
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैः भावितान् वा समाक्षिकैः।
किण्वं वा सगुडक्षारं दद्यात् योनिविशोधनम् ॥च०॥

आनूपौदकमज्जानो वसा तैलं घृतं दधि।
विपक्वमेकतः शस्तं वातगुल्मेऽनुवासनम् ॥२२॥

हाथी, गैंडा, भैंसा, आदि आनूप देशीय, मछली आदि औदक प्राणियों की मज्जा, वसा, तैल, घी, और दही इन सबको मिलाकर वातहर द्रव्यों से इनको सिद्ध करके इनसे वातगुल्म में अनुवासन देवे ॥२२॥

जांगलैकशफानां तु वसा सर्पिश्च पैत्तिके।

पित्तजगुल्म में—जांगल (जांगल एवं विष्किर) प्राणि एवं घोड़े आदि एक शफवाले प्राणियों की वसा और घी को पित्तहर द्रव्यों से सिद्ध करके पित्तगुल्म में अनुवासन देवे।

तैलं जाङ्गलमज्जानं एवं गुल्मे कफोत्थिते ॥२३॥

कफजन्य गुल्म में-तैल, जांगल पशु-पक्षियों की मज्जा को कफहर द्रव्यों से सिद्ध करके अनुवासन देवे।

धात्रीफलानां स्वरसे षडङ्गं विपचेद्धृतम्।
शर्करासैन्धवोपेतं तद्धितं वातगुल्मिने ॥२४॥

आंवले के स्वरस में षडंग (पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सौंठ और यवक्षार) कल्क से घृत सिद्ध करे। इस घृत को शर्करा और सैन्धव के साथ वातगुल्मरोगी के लिये देना उत्तम है ॥

चित्रकव्योषसिन्धूत्थपृथ्वीकाचव्यदाडिमैः।
दीप्यकग्रन्थिकाजाजीहपुषाधान्यकैः समैः ॥२५॥
दध्यारनालबदरमूलकस्वरसैर्घृतम्।
तत्पिबेद्वातगुल्माग्निदौर्बल्याटोपशूलनुत् ॥२६॥

चित्रकादिघृत-चित्रक, त्रिकटु, सैन्धव, कालाजीरा, चव्य, अनारदाना, अजवायन, पिप्पलीमूल, जीरा, हाऊबेर, धनिया प्रत्येक समान भाग इनके कल्क से, दही, कांजी बेर और मूली का स्वरस, (प्रत्येक घी से चार गुणा) लेकर इनमें घृत सिद्ध करे। यह घृत वातगुल्म, अग्निदौर्बल्य आध्मान और शूल को नष्ट करता है ॥२५,२६॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडदाडिमदीप्यकैः।
पुष्करव्योषधान्याम्लवेतसक्षारचित्रकैः ॥२७॥
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम्।
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ॥२८॥

हिंग्वाद्यघृत-हींग, सौचल, जीरा, विडनमक, अनारदाना, अजवायन, पुष्करमूल, त्रिकटु, धनिया, अम्लवेतस, यवक्षार, चित्रक, कचूर, वच, अजगन्धा, इलायची, तुलसी इनके कल्क से दही में सिद्ध किया घृत वातगुल्म रोगियों के शूल आनाह को नष्ट करता है ॥२७,२८॥

विडदाडिमसिन्धूत्थहुतभुग्व्योषजीरकैः।
हिङ्गुसौवर्चलक्षाररुग्वृक्षाम्लाम्लवेतसैः ॥२९॥
बीजपूररसोपेतं सर्पिर्दधि चतुर्गुणम्।
साधितं दाधिकं नाम गुल्महृत् प्लीहशूलजित् ॥३०॥

दाधिक घृत— विड, अनारदाना, सैन्धव, चित्रक, त्रिकटु, जीरक, हींग, सौवर्चल, यवक्षार, कुठ, वृक्षाम्ल, (तिन्तिडीक या कोकम), अम्लवेतस, इनके कल्क से बिजौरा के रस और दही (घी से चार गुणे) से सिद्ध किया घृत-दाधिक घृत गुल्मनाशक, प्लीहा शूलनाशक है ॥२९,३०॥

रसोनस्वरसे सर्पिः पञ्चमूलरसान्वितम्।
सुरारनालदध्यम्लमूलकस्वरसैः सह ॥३१॥
व्योषदाडिमवृक्षाम्लयवानीचव्यसैन्धवैः।
हिङ्ग्वम्लवेतसाजाजीदीप्यकैश्च समांशिकैः ॥३२॥
सिद्धं गुल्मग्रहण्यर्शःश्वासोन्मादक्षयज्वरान्।
कासापस्मारमन्दाग्निप्लीहशूलानिलाञ्जयेत् ॥३३॥

रसोनादिघृत-लहसुन का स्वरस, वृहत्पंचमूल का क्वाथ, सुरा, कांजी, दही का खट्टा पानी, मूली का स्वरस, इनमें, त्रिकटु, अनारदाना, कोकम, अजवायन, चव्य, सैन्धव, हींग, अम्लवेतस, जीरा, अजमोद समानभाग लेकर इनके कल्क से

घृत सिद्ध करे। यह घृत गुल्म, ग्रहणी, अर्श, श्वास, उन्माद, क्षय, ज्वर, कास, अपस्मार, मन्दाग्नि, प्लीहा, शूल और वायु को शान्त करता है ॥३१-३३॥

दधि सौवीरकं सर्पिः क्वाथौ मुद्गकुलत्थजौ।
पञ्चाढकानि विपचेदावाप्य द्विपलान्यथ ॥३४॥
सौवर्चलं सर्जिकां च देवदार्वथ सैन्धवम्।
वातगुल्मापहं सर्पिरेतद्दीपनमेव च ॥३५॥

दही, निस्तुषकांजी, घी, मूंग का क्वाथ, कुलत्थी का क्वाथ, प्रत्येक एक आढ़क, सौवर्चल, सर्जक्षार, देवदारु और सैन्धव, प्रत्येक दो पल इनसे घृत सिद्ध करे। यह घृत वातगुल्म नाशक और अग्निदीपक है ॥३४,३५॥

तृणमूलकषाये तु जीवनीयैः पचेद् घृतम्।
न्यग्रोधादिगणे वाऽपि गणे वाऽप्युत्पलादिके ॥३६॥
रक्तपित्तोत्थितं घ्नन्ति घृतान्येतान्यसंशयम्।

पंचतृणमूल के क्वाथ में जीवनीयगण (काकोल्यादि) के कल्क से घृत सिद्ध करे। न्यग्रोधादिगण के क्वाथ में या उत्पलादिगणके क्वाथ में जीवनीय गणके कल्कसे घृत सिद्ध करे। ये घृत रक्त पित्तजन्य गुल्म को बिना सन्देह के नष्ट कर देते हैं॥

आरग्वधादौ विपचेद्दीपनीययुतं घृतम् ॥३७॥
क्षारवर्गे पचेच्चान्यत् पचेन्मूत्रगणेऽपरम्।
घ्नन्ति गुल्मं कफोद्भूतं घृतान्येतान्यसंशयम् ॥३८॥

आरग्वधादि गण के क्वाथ में पिप्पल्यादि दीपनीय गण का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। क्षार वर्ग के क्वाथ में (मुष्क से लेकर चतस्रः कोशातकी पर्यन्त) पिप्पल्यादिगण के कल्क से या गोमूत्र आदि आठों मूत्रों में पिप्पल्यादिगण का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। ये घृत कफजन्य गुल्म को निःसन्देह नष्ट करते हैं ॥३७,३८॥

यथादोषोच्छ्रयं चापि चिकित्सेत्सान्निपातिकम्।

सन्निपातज गुल्म में दोष की अधिकता के अनुसार चिकित्सा करे।

चूर्णं हिङ्ग्वादिकं वाऽपि घृतं वा प्लीहनाशनम् ।३९।
पिबेद् गुल्मापहं काले सर्पिस्तैल्वकमेव वा।

वातव्याधि में कहा हिंग्वादि चूर्ण या प्लीहानाशक षट्पलघृत पीये। अथवा वातव्याधि में कहा तैल्वकघृत काल में (उत्पन्न होने पर ही, या विरेचन के लिये) पीये ॥३९॥

तिलेक्षुरकपालाशसार्षपं यावनालजम् ॥४०॥
भस्म मूलकजं चापि गोजाविखरहस्तिनाम्।
मूत्रेण महिषीणां च पालिकैश्चावचूर्णितैः ॥४१॥
कुष्ठसैन्धवयष्ट्याह्वनागरक्रमिघातिभिः।
साजमोदैश्च दशभिः सामुद्राच्च पलैर्युतम् ॥४२॥
अयःपात्रेऽग्निनाऽल्पेन पक्त्वा लेह्य (ह) मथोद्धरेत्।
तस्य मात्रां पिबेद्दध्ना सुरया सर्पिषाऽपि वा ॥४३॥
धान्याम्लेनोष्णतोयेन कौलत्थेन रसेन वा।
गुल्मान् वातविकारांश्च क्षारोऽयं हन्त्यसंशयम् ॥४४॥

पानीयक्षार—तील, तालमखाना, ढाक, सरसों, जौ की नाल, मूली, इन सबको जलाकर इस भस्म को गाय, बकरी, भेड़, गधा, हाथी इनके मूत्र में तथा भैंस के मूत्र में घोलकर (चार गुणों में) क्षार विधि से नितार ले। इस नितरे जल में कूट, सैन्धव, मुलैहठी, सोंठ, विडंग, अजवायन प्रत्येक एक पल, समुद्र नमक दस पल, मिलाकर लोहपात्र में मृदु अग्नि से पाक करे। लेह तैयार होने पर उतार ले। इसकी योग्य मात्रा को दही, सुरा, घी, कांजी, गरमपानी, कुलत्थी के रस में घोलकर पीने को देवे। यह क्षार गुल्म एवं वात रोगों को अवश्य नष्ट करता है।

वक्तव्य—दूसरे कई आचार्य तिलादि की भस्म एक सौ पल लेकर गाय आदि के चार गुणें मूत्र में क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखकर कुष्ठ आदि का चूर्ण मिलाकर लेह सिद्ध करने को कहते हैं ॥४०-४४॥

स्वर्जिकाकुष्ठसहितः क्षारः केतकिजोऽपि वा।
तैलेन शमयेत् पीतो गुल्मं पवनसंभवम् ॥४५॥

स्वर्जक्षार, कुष्ठ, यवक्षार यह अथवा केतकी (केवड़ा) का क्षार तैल के साथ पीने से वातगुल्म को शान्त करता है। (कोई इसको एक योग मानते हैं) ॥४५॥

पीतं सुखाम्बुना वाऽपि स्वर्जिकाकुष्ठसैन्धवम्।

सर्जक्षार, कुष्ठ, सैंधव के चूर्ण को गुन-गुनाते पानी से पीये।

वृश्चीव (र) मुरुबूकं च वर्षाभूर्बृहतीद्वयम् ॥४६॥
चित्रकं च जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषितम्।
मागधीचित्रकक्षौद्रलिप्ते कुम्भे निधापयेत् ॥४७॥
मधुनः प्रस्थमावाप्य पथ्याचूर्णार्धसंयुतम्।
बुसोषितं दशाहं तु जीर्णभक्तः पिबेन्नरः ॥४८॥
अरिष्टोऽयं जयेद् गुल्ममविपाकमरोचकम्।

वृश्चीवादि अरिष्ट—श्वेतपुनर्नवा, एरण्ड, लालपुनर्नवा, कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रक इनको एक आढक लेकर एक द्रोण जल में पकाये। चतुर्थांश रहने पर उतार ले। पिप्पली, चित्रक, मधु से लिप्त घड़े में इस क्वाथ को भर दे। इस क्वाथ में मधु एक प्रस्थ, हरड़ का चूर्ण आधा प्रस्थ मिलाकर, दस दिन तक इस घड़े को भूसे में रख देवे। दश दिन के पीछे भोजन के जीर्ण होने पर इसको मनुष्य पीये। यह अरिष्ट गुल्म, अविपाक, अरोचक को नष्ट करता है। (जीर्णभक्तः—परिणताहारः लघुकोष्ठः प्रातः पिबेत् ॥४६-४८॥

पाठानिकुम्भरजनीत्रिकटुत्रिफलाग्निकम् ॥४९॥
लवणं वृक्षबीजं च तुल्यं स्यादनवं गुडम्।

पथ्याभिर्वा युतं चूर्णं गवां मूत्रयुतं पचेन् ॥५०॥
गुटिकास्तद्घनीभूतं कृत्वा खादेदभुक्तवान्।
गुल्मप्लीहाग्निसादांस्ता नाशयेयुरशेषतः ॥५१॥
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं पाण्डुरोगं च दारुणम्।

पाठा, दन्ती, हल्दी, त्रिकटु, त्रिफला, चित्रक, सैन्धव, इन्द्रयव, प्रत्येक समानभाग, और सबके बराबर एक साल पुराना गुड़ मिलाकर खाये। अथवा सम्पूर्ण चूर्ण से आधे परिमाण में हरड़ का चूर्ण मिलाकर इसको (चार गुणे) गोमूत्र में पकाकर घट्ट होने पर गोलियाँ बनाकर खाली पेट-बिना भोजन किये खाये। ये गोलियाँ गुल्म, प्लीहा, अग्निसाद को निःसंदेह नष्ट करती हैं। हृद्रोग, ग्रहणीरोग, भयानक पाण्डुरोग को नष्ट करती हैं ॥५०,५१॥

सशूले सोन्नतेऽस्पन्दे दाहपाकरुगन्विते ॥५२॥
गुल्मे रक्तं जलौकोभिः सिरामोक्षेण वा हरेत्।

शूलयुक्त, उन्नत हुए, स्पन्दन रहित (अचल), दाह, पाक, वेदना युक्त गुल्म में रक्त को जौंक या सिरामोक्षण से बाहर करे। (कफ जन्य गुल्म में अलाबु पान न करे) ॥५२॥

सुखोष्णा जाङ्गलरसाः सुस्निग्धा व्यक्तसैन्धवाः ॥५३॥
कटुत्रिकसमायुक्ता हिताः पाने तु गुल्मिनाम्।

गुल्म रोगियों को पीने के लिये जांगलमांस रस को घी आदि से भली प्रकार स्निग्ध करके, प्रचुर सैन्धव नमक, त्रिकटु मिलाकर, सुहाते गरम-गरम पिलाये। (जांगलमांसरस, जंघाल-विष्किर मांसरस) ॥५३॥

पेया वातहरैः सिद्धाः कौलत्थाः संस्कृता रसाः ॥५४॥
खलाः सपञ्चमूलाश्च गुल्मिनां भोजने हिताः।

भद्रदार्व्यादि वातहर द्रव्यों से सिद्ध कुलत्थी के रसों को घी आदि से संस्कृत करके देवे। बृहत्पंचमूल के साथ बनाये खल (कपित्थ दाडिम तक्र शाकादि से संस्कृत) गुल्म रोगियों के भोजन के लिये हितकारी हैं ॥५४॥

बद्धवर्चोऽनिलानां तु सार्द्रकं क्षीरमिष्यते ॥५५॥

जिनको मल और वायु का अवरोध रहता हो, वे अदरख के साथ दूध भोजन में लें ॥५५॥

कुम्भीपिण्डेष्टकास्वेदान् कारयेत् कुशलो भिषक्।

चतुर वैद्य स्वेद अध्याय में कहे कुम्भीस्वेद, पिण्डस्वेद, इष्टकास्वेद करे।

गुल्मिनः सर्व एवोक्ता दुर्विरेच्यतमा भृशम् ॥५६॥
अतश्चैतांस्तु सुस्विन्नान् स्रंसनेनोपपादयेत्।

प्रायः करके सभी गुल्मरोगियों को कठिनाई से विरेचन होता है। इसलिये इनका भलीप्रकार स्वेदन देकर, स्रंसन विरेचन (अमलवेतस आदि) देवे ॥५६॥

विम्लापनाभ्यञ्जनानि तथैव दहनानि च ॥५७॥
उपनाहाश्च कर्तव्याः सुखोष्णाः साल्वणादयः।
उदरोक्तानि सर्पींषि मूत्रवर्तिक्रियास्तथा ॥५८॥
लवणानि च योज्यानि यान्युक्तान्यनिलामये।

विम्लापन, अभ्यंग, दाहकर्म तथा साल्वण आदि सुहाते गरम उपनाह बांधने चाहिये, उदररोग में कहे घृत, मूत्र, वर्त्ति-क्रिया बरते। वातव्याधि में कहे लवण (पत्रलवण, स्नेहलवण, कल्याण लवण) देवे ॥५७,५८॥

वातवर्चोनिरोधे तु सामुद्रार्द्रकसर्षपैः ॥५९॥
कृत्वा पायौ विधातव्या वर्तयो मरिचोत्तराः।

वायु मल का अवरोध होने पर-समुद्र नमक सोंठ, सरसों, तथा मरिच की प्रचुर मात्रा मिलाकर वर्त्ति बनाकर गुदा में रखनी चाहिये ॥५९॥

दन्तीचित्रकमूलेषु तथा वातहरेषु च ॥६०॥
कुर्यादरिष्टान् सर्वांश्च श्लोकस्थाने यथेरितान्।

सूत्रस्थान में कही विधि (विरेचन कल्प में) से दन्ती, चित्रकमूल एवं विदारीगन्धादि वातनाशक द्रव्यों से अरिष्टों को बनाये। (अथवा गुल्म अध्याय में कहे वृश्चिवाद्यरिष्ट विधि से अरिष्ट बनाये) ॥६०॥

खादेद्वाऽप्यङ्कुरान् भृष्टान् पूतीकनृपवृक्षयोः ॥६१॥

नाटाकरंज, अमलतास, इनके अंकुरों को (कोमल पत्तों को) घी में भूनकर खाये ॥६१॥

ऊर्ध्ववातं मनुष्यं च गुल्मिनं न निरूहयेत्।

ऊर्ध्ववातयुक्त गुल्मरोगी को निरूह बस्ति न देवे।

पिबेत्त्रिवृन्नागरं वा सगुडां वा हरीतकीम् ॥६२॥
गुग्गुलुं त्रिवृतां दन्तीं द्रवन्तीं सैन्धवं वचाम्।
मूत्रमद्यपयोद्राक्षारसैर्वीक्ष्य बलाबलम् ॥६३॥

निशोथ एवं सोंठ को या हरड़ को गुड़ के साथ खाये। गुग्गुल, निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती (मोगलाई एरण्ड), सैन्धव, वच इनको मूत्र, मद्य, दूध, द्राक्षास्वरस, इनके साथ रोगी का बल-अबल देखकर देवे ॥६२,६३॥

एवं पीलूनि भृष्टानि पिबेत् सलवणानि तु।

घी आदि स्नेह में भूने पीलु को लवण मिलाकर मत्र-मद्य आदि के साथ खिलाये।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकसैन्धवैः ॥६४॥
युक्ता हन्ति सुरा गुल्मं शीघ्रं काले प्रयोजिता।

आध्मान आदि अवस्था में-पिप्पली, पिप्पलीमूल, द्रव्य, चित्रक, सैन्धव से मिलाकर दी हुई सुरा गुल्म को तुरन्त नष्ट कर देती है ॥६४॥

बद्धविण्मारुतो गुल्मी भुञ्जीत पयसा यवान् ॥६५॥
कुल्माषान् वा बहुस्नेहान् भक्षयेल्लवणोत्तरान्।

जिस गुल्मरोगी को मल-वायु का अवरोध रहता हो, वह

दूध के साथ जौ को खाये। अथवा प्रचुर सैन्धवयुक्त, अतिघृत या तैल मिले कुल्माषों को (अर्धस्विन्न जौ-गेहूँ को) खाये॥

अथास्योपद्रवः शूलः कथंचिदुपजायते ॥६६॥
शूलं निखानितमिवासुखं येन तु वेत्त्यसौ।

इस गुल्मरोगी को उपद्रव के कारण किसी कारण से शूल उत्पन्न हो जाता है। यह शूल कील की भाँति इस रोगी को दुःख देता है। (जिस प्रकार गड़ा हुआ कील दुःख देता है, इसी प्रकार यह शूल होता है) ॥६६॥

तत्र विण्मूत्रसंरोधः कृच्छ्रोच्छ्वासः स्थिराङ्गता ।६७।
तृष्णा दाहो भ्रमोऽन्नस्य विदग्धपरिवृद्धिता।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्भुक्तवृद्धिर्जडाङ्गता ॥६८॥

उस उपद्रव रूप शूल में—मल मूत्र का अवरोध, श्वास काठिन्य, अंगों में कठिनता, तृष्णा, दाह, भ्रम, अन्न के विदाहकाल में शूल का बढ़ना, रोमहर्ष, अरुचि, वमन, भोजन करते ही शूल का बढ़ना, दोषों के मिश्रित लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—मल मूत्र अवरोध आदि लक्षण वायु के, तृष्णा, दाह आदि पित्त के, रोमहर्ष आदि कफ के लक्षण हैं, द्विदोषजन्य शूल में दोनों दोषों के, सन्निपात में सब दोषों के लक्षण रहते हैं ॥६७,६८॥

वाय्वादिभिर्यथासङ्ख्यं मिश्रैर्वा वीक्ष्य योजयेत्।
पथ्यात्रिलवणं क्षारं हिङ्गुतुम्बुरुपौष्करम् ॥६९॥
यवानीं च हरिद्रां च विडङ्गान्यम्लवेतसम्।
विदारीत्रिफलाऽभीरुश्रृङ्गाटीगुडशर्कराः ॥७०॥
काश्मरीफलयष्ट्याह्वपरूषकहिमानि च।
षड्ग्रन्थातिविषादारुपथ्यामरिचवृक्षजान् ॥७१॥
कृष्णामूलकचव्यं च नागरक्षारचित्रकान्।
उष्णाम्लकाञ्जिकक्षीरतोयैः श्लोकसमापनान् ॥७२॥
यथाक्रमं विमिश्रांश्च द्वन्द्वे सर्वांश्च सर्वजे।

वातादि भेद का विचार करके निम्न योगों को बरते। वातिक शूल में–हरड़, सैन्धव-सौवर्चल-विड, यवक्षार, हींग, तुम्बरु, पुष्करमूल, अजवायन, हल्दी, विडंग, अम्लवेतस इनको गरम एवं अम्लकांजी से देवे। पित्तज शूल में–विदारी, त्रिफला, शतावरी, सिंघाड़ा, गुड़, शर्करा, गम्भारीफल, मुलैहटी, फालसा, चन्दन इनको गरम दूध से देवे। कफजशूल में—वच, अतीस, देवदारु, हरड़, मरिच, इन्द्रजों, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, सोंठ, यवक्षार, चित्रक इनको गरम पानी से देवे। द्वन्द्वजशूल में क्रमानुसार पथ्या-विदार्यादि—वात पैत्तिक में पथ्या षड्ग्रन्थादि, वातश्लैष्मिक में विदारीषड्ग्रन्थादि, पित्तकफ में देवे। सबको सन्निपातज शूल में देवे ॥६९–७२॥

तथैव सेकावगाहप्रदेहाभ्यंगभोजनम् ॥७३॥
शिशिरोदकपूर्णानां भाजनानां च धारणम्।
वमनोन्मर्दनस्वेदलंघनक्षपणक्रियाः ॥७४॥
स्नेहादिश्च क्रमः सर्वो विशेषेणोपदिश्यते।

इसी प्रकार वातज शूल में–सेक, अवगाहन, प्रदेह, अभ्यंग वातहर भोजन देवे। पित्तज शूल में–शीतल जल से पूर्ण पात्रों का धारण करना, कफज शूल में वमन, मलना, स्वेद, लंघन, कफको घटाने की चिकित्सा करे। स्नेहन आदि विधान दोष एवं अवस्था के अनुसार सब में विधेय है ॥७३,७४॥

वल्लूरं मूलकं मत्स्यान् शुष्कशाकानि वैदलम् ॥७५॥
न खादेदालुकं गुल्मी मधुराणि फलानिच।

गुल्मरोगी—शुष्कमांस, मूली, मछली, सूखे शाक, विदल (दाल आदि), आलु तथा मधुर फल (चोच-केला आदि) न खाये।

वक्तव्य—"लघ्वन्नं दीपनं स्निग्धमुष्णं वातानुलोमनम्। बृंहणं च भवेद्यच्च तद्धितं सर्वगुल्मिनाम् ॥७५॥

विना गुल्मेन यच्छूलं गुल्मस्थानेषु जायते ॥७६॥
निदानं तस्य वक्ष्यामि रूपं च सचिकित्सितम्।

गुल्म के बिना भी गुल्म स्थानोंमें जो शूल उत्पन्न हो जाता है, उस शूल के कारण, लक्षण और चिकित्सा को कहूंगा॥

वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात् ॥७७॥
अजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नोपसेवनात्।
पानीयपानात् क्षुत्काले विरूढानां च सेवनात् ॥७८॥
पिष्टान्नशुष्कमांसानामुपयोगात्तथैव च।
एवंविधानां द्रव्याणामन्येषां चोपसेवनात् ॥७९॥
वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं संजनयेद् भृशम्।
निरुच्छ्वासी भवेत्तेन वेदनापीडितो नरः ॥८०॥

कारण—वायु, मूत्र और मल के रोकने से, अति-भोजन से, अजीर्ण से, अध्यशन से, परिश्रम से, विरुद्ध-भोजन के सेवन से, भूख लगी होने पर जल या द्रव वस्तु के पीने से, अंकुरित या जिन धानों की अंकुरित शक्ति जाती रही, उनके सेवन से, पिट्ठी के बने अन्न से, शुष्क मांस के सेवन से, तथा इसी प्रकार के दूसरे दोषप्रकोपक द्रव्यों के सेवन करने से कुपित वायु कोष्ठ में तीव्रशूल उत्पन्न करता है, इस शूल के कारण रोगी का श्वास रुकता है, रोगी को अतिशय वेदना होती है।

वि० मन्तव्य—आजकल स्वास्थ्याधिकारी—विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिये जलपान की व्यवस्था में विरूढ अर्थात् अंकुरित चना आदि का प्रयोग करवाते हैं। वे भगवान् धन्वन्तरि के "विरूढानां च सेवनात्" वाक्य पर ध्यान देने की कृपा करें। "पानीयपानात् क्षुत्काले" भूखे पेट पानी पीने से शूल होता है उसे पञ्जाब में "पानी की गाँठ" कहते हैं॥

शंकुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्राश्च वेदनाः।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥८१॥

शूल की निरुक्ति—शूल से पीड़ित मनुष्य को कीले को गाड़ने के समान गहरी चुभती तीव्र वेदना होती है, इसलिये इसको शूल कहते हैं ॥८१॥

निराहारस्य यस्यैव तीव्रं शूलमुदीर्यते ।
प्रस्तब्धगात्रो भवति कृच्छ्रेणोच्छ्वसितीव च ॥८२॥
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः ।
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं वातसमुद्भवम् ॥८३॥

वातजशूल—बिना भोजन के जिसको तीव्रशूल उत्पन्न होता है, शरीर कठोर-(स्तब्ध) हो जाता है, कठिनाई से श्वास आता है, वायु मल मूत्र कठिनाई से जिसे प्रवृत्त होते हैं, इन लक्षणों से वातजन्य शूल समझे ॥८३॥

तृष्णा दाहो मदो मूर्च्छा तीव्रं शूलं तथैव च ।
शीताभिकामो भवति शीतेनैव प्रशाम्यति ॥८४॥
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं पित्तसमुद्भवम् ।

प्यास, दाह, मद, मूर्च्छा, तीव्रशूल, शीत की चाहना और शीतल उपचार से शूल का शान्त होना इन लक्षणों से पित्तजन्य शूल समझे ॥८४॥

शूलेनोत्पीड्यमानस्य हृल्लास उपजायते ॥८५॥
अतीव पूर्णकोष्ठत्वं तथैव गुरुगात्रता ।
एतच्छ्लेष्मसमुत्थस्य शूलस्योक्तं निदर्शनम् ॥८६॥

शूल से पीड़ित मनुष्य को जी मचलाना (वमन प्रवृत्ति) होता है, कोष्ठ का अतिशय भरा होना, अंगों में भारीपन, ये कफजन्यशूल के लक्षण हैं ॥८५,८६॥

सर्वाणि दृष्ट्वा रूपाणि निर्दिशेत्सान्निपातिकम् ।
सन्निपातसमुत्थानमसाध्यं तं विनिर्दिशेत् ॥८७॥
शूलानां लक्षणं प्रोक्तं

सब लक्षणों को देखकर सान्निपातिक शूल को समझे। सन्निपातजन्य शूल असाध्य कहा है। शूलों के लक्षण कह दिये हैं।

वक्तव्य निर्देश—"वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं, सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्" ॥८७॥

चिकित्सां तु निबोध मे ।
आशुकारी हि पवनस्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥८८॥
तस्य शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावहः ।

मुझ से चिकित्सा को सुनो-वायु शीघ्रकारी है, इसलिये सबसे प्रथम वायु को ही शान्त करे। इसलिये शूल से पीड़ित व्यक्ति को स्वेद ही सुखदायक होता है ॥८८॥

पायसैः कृशरापिण्डैः स्निग्धैर्वा पिशितैर्हितः ॥८९॥

दूध में पकाये चावलों से, तिल-तण्डुल-उड़द से बनाई कृशरा से, स्निग्ध द्रव्यों से सेक करना उत्तम है ॥८९॥

त्रिवृच्छाकेन वा स्निग्धमुष्णं भुञ्जीत भोजनम् ।
चिरबिल्वाङ्कुराद् वापि तैलभृष्टांस्तु भक्षयेत् ॥९०॥
वैहंगांश्च रसान् स्निग्धान् जांगलान् शूलपीडितः ।
यथालाभं निषेवेत मांसानि बिलशायिनाम् ॥९१॥

स्निग्ध एवं उष्ण भोजन को निशोथ के शाक से खाये। नाटाकरंज के कोमल पत्तों को तैल में भूनकर खाये। जांगल पक्षियों (बटेर तीतर आदि) के स्निग्ध मांस रसों को शूल पीड़ित खाये। बिल में रहनेवाले-सेह, शल्लक आदि में जो मिल सके, उनके मांस को खाये ॥९०,९१॥

सुरा सौवीरकं चुक्रं मस्तूदश्वित्तथा दधि ।
सकाललवणं पेयं शूले वातसमुद्भवे ॥९२॥

वातजन्य शूल में—सुरा, कांजी, चुक्र (शुक्त), मस्तु, उदश्वित् (आधे जल का तक्र), दही, काला लवण (काला नमक) मिलाकर पीना चाहिये।

वि० मन्तव्य—सुरा आदि में से जो भी उपलब्ध हो उसमें काला लवण मिलाकर प्रयोग करे। आज के सोडा वाटर तथा सोडा वाटर युक्त सुरा पीने का यही सूत्र है ॥९२॥

कुलत्थयूषो युक्ताम्लो लावकीयूषसंस्कृतः ।
ससैन्धवः समरिचो वातशूलविनाशनः ॥९३॥

बटेर के यूष से संस्कृत, अनारदाना से परिमाण में खट्टा किया, सैन्धव और मरिच युक्त कुलत्थी का यूष वातशूल को नष्ट करता है ॥९३॥

विडंगशिग्रुकम्पिल्लपथ्याश्यामाम्लवेतसान् ।
सुरसामश्वमूत्रीं च सौवर्चलयुतान् पिबेत् ॥९४॥
मद्येन वातजं शूलं क्षिप्रमेव प्रशाम्यति ।

विडंग, सुहांजना, कमीला, हरड़, निशोथ, अम्लवेतस, तुलसी, अश्वमूत्री (शल्लकी), सौवर्चल इनको मद्य के साथ पीये, इससे वातजशूल शीघ्र शान्त होता है। (अश्वमूत्री के स्थान पर अश्वकर्ण भी पाठ है) ॥९४॥

पृथ्वीकाजाजिचविकायवानीव्योषचित्रकाः ॥९५॥
पिप्पल्यः पिप्पलीमूलं सैन्धवं चेति चूर्णयेत् ।
तानि चूर्णानि पयसा पिबेत् काम्बलिकेन वा ॥९६॥
मध्वासवेन चुक्रेण सुरासौवीरकेण वा ।
अथवै (चैव) तानि चूर्णानि मातुलुंगरसेन वा ॥९७॥
तथा बदरयूषेण भावितानि पुनः पुनः ।
तानि हिङ्गुप्रगाढानि सह शर्करया पिबेत् ॥९८॥
सह दाडिमसारेण वर्तिः कार्या भिषग्जिता ।
सा वर्तिर्वातिकं शूलं क्षिप्रमेव व्यपोहति ॥९९॥
गुडतैलेन वा लीढा पीता मद्येन वा पुनः ।

पृथ्वीका (हिंगुपत्री), जीरा, चविका, अजवायन, त्रिकटु, चित्रक, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सैन्धव इनका चूर्ण करे। इस चूर्ण को पानी से या काम्बलिक यूष (दधि-मस्तु अम्ल सिद्ध) से, मध्वासव से, चुक्र (शुक्त) से, सुरा से अथवा कांजी से पीये। अथवा पृथ्वीका आदि के चूर्णों को बिजौरे के स्वरस से, बेर के यूष से बार बार भावित करके, प्रचुर मात्रा में हींग मिला-

कर—बिजौरे के स्वरस में शर्करा मिलाकर पीये। अथवा पृथ्वीका आदि के चूर्ण में अनारदाना मिलाकर वर्त्ति (वटी—गोली) वैद्य बनाये। यह वर्त्ति गुड़, तेल के साथ मिलाकर चाटने या मद्य के साथ पीने पर वातिक शूल को शीघ्र नष्ट करती है ॥९५-९९॥

बुभुक्षाप्रभवे शूले लघु संतर्पणं हितम् ॥१००॥
उष्णैः क्षीरैर्यवागूभिः स्निग्धैर्मांसरसैस्तथा।

भूखजनित शूल में—लघु-हितकारी सन्तर्पण भोजन उत्तम है। गरम दूध, गरम यवागू, स्निग्ध मांसरसों से भोजन देवे॥

वातशूले समुत्पन्ने रूक्षं स्निग्धेन भोजयेत् ॥१०१॥
सुसंस्कृताः प्रदेयाः स्युर्घृतपूरा विशेषतः।
वारुणीं च पिबेज्जन्तुस्तथा संपद्यते सुखी ॥१०२॥
एतद्वातसमुत्थस्य शूलस्योक्तं चिकित्सितम्।

वातशूल उत्पन्न होने पर रूक्ष व्यक्ति को स्निग्ध वस्तुओं का भोजन देवे। सोंठ, मरिच आदि से सुसंस्कृत घृत के पूर (घेवर) विशेष रूप में देवे। रोगी वारुणी को पीये, इससे वह सुखी होता है। वातजनित शूल की यह चिकित्सा कह दी है॥

अथ पित्तसमुत्थस्य क्रियां वक्ष्याम्यतः परम् ॥१०३॥
स सुखं छर्दयित्वा तु पीत्वा शीतोदकं नरः।
शीतलानि च सेवेत सर्वाण्युष्णानि वर्जयेत् ॥१०४॥

इसके आगे पित्तजनित शूल की चिकित्सा कहूँगा—पित्तशूली व्यक्ति शीतल जल पीकर सुख पूर्वक वमन करके शीतल वस्तुओं का सेवन करे, और उष्ण वस्तुओं को छोड़ देवे॥

मणिराजतताम्राणि भाजनानि च सर्वशः।
वारिपूर्णानि तान्यस्य शूलस्योपरि निक्षिपेत् ॥१०५॥

मणि, चांदी, ताम्र के सम्पूर्ण रूप में बने पात्रों को शीतल जल से भरकर शूल के ऊपर रक्खे ॥१०५॥

गुडः शालिर्यवाः क्षीरं सर्पिःपानं विरेचनम्।
जांगलानि च मांसानि भेषजं पित्तशूलिनाम् ॥१०६॥
रसान् सेवेत पित्तघ्नान् पित्तलानि विवर्जयेत्।
पालाशं धान्वनं वाऽपि पिबेद्यूषं सशर्करम् ॥१०७॥

पित्तशूली रोगियों के लिये- गुड़, शालि धान्य, जौ, दुध, घृतपान, विरेचन, जांगलमांस औषध हैं। पित्तनाशक मांसों के रसों को खाये, पित्तकारक वस्तुओं का परित्याग करे। मांस खानेवाले प्राणियों के मांस का रस, या जांगल प्राणियों का मांसरस, शर्करा के साथ पीये ॥१०६,१०७॥

परूषकाणि मृद्वीकाखर्जूरोदकजान्यपि।
तत् पिबेच्छर्करायुक्तं पित्तशूलनिवारणम् ॥१०८॥

फालसा, मृद्वीका, खजूर, कमल आदि पानी के कन्द—इनको शर्करा के साथ पीये, यह पित्त शूल नाशक है ॥१०८॥

अशने भुक्तमात्रे तु प्रकोपः श्लैष्मिकस्य च।
वमनं कारयेत्तत्र पिप्पलीवारिणा भिषक् ॥१०९॥

भोजन के खाने के पीछे तुरन्त ही कफजन्य शूल का प्रकोप होता है, इसमें वैद्य पिप्पली के पानी से वमन कराये। (पिप्पली मिश्रित पानी, पिप्पली का क्वाथ या मैनफल की पिप्पली से वमन कराये) ॥१०९॥

रूक्षः स्वेदः प्रयोज्यः स्यादन्याश्चोष्णा क्रिया हिताः।
पिप्पली शृङ्गवेरं च श्लेष्मशूले भिषग्जितम् ॥११०॥

कफजन्य शूल में रूक्ष स्वेद बरते, उष्ण उपचार करे। पिप्पली और सोंठ का प्रयोग क्वाथ कल्क, चूर्ण विधि से कफजनित शूल में चिकित्सा है ॥११०॥

पाठां वचां त्रिकटुकं तथा कटुकरोहिणीम्।
चित्रकस्य च निर्यूहे पिबेद्यूषं सहार्जकम् ॥१११॥

पाठा, वच, त्रिकटु, कुटकी, चित्रक, इनके क्वाथ में अथवा कुठेरक के साथ बनाया शिम्बी धान्य का यूष पीये ॥१११॥

एरण्डफलमूलानि मूलं गोक्षुरकस्य च।
शालपर्णीं पृश्नपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम् ॥११२॥
दद्याच्छृगालविन्नां च सहदेवां तथैव च।
महासहां क्षुद्रसहां मूलमिक्षुरकस्य च ॥११३॥
एतत् संभृत्य संभारं जलद्रोणे विपाचयेत्।
चतुर्भागावशेषं तु यवक्षारयुतं पिबेत् ॥११४॥
वातिकं पैत्तिकं वाऽपि श्लैष्मिकं सान्निपातिकम्।
प्रसह्य नाशयेच्छूलं छिन्नाभ्रमिव मारुतः ॥११५॥

एरण्ड फल, एरण्डमूल, गोखरु का मूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ीकटेरी, शृगालविन्ना (पृश्निपर्णी), सहदेवा-मुद्गपर्णी, माषपर्णी, तालमखाने का मूल, इन सबको एकत्रित करके एक द्रोण जल में पकाये। चतुर्थांश रहने पर इसमें यवक्षार मिलाकर पीये। यह नित्य प्रति सेवन करने पर वातिक, पैत्तिक, कफज एवं सान्निपातिक शूल को बलात् नष्ट करता है।

पिप्पली स्वर्जिकाक्षारो यवाश्चित्रक एव च।
सेव्यं चैतत् समानीय भस्म कुर्याद्विचक्षणः ॥११६॥
तदुष्णवारिणा पीतं श्लेष्मशूलं भिषग्जितम्।

पिप्पली, सर्जक्षार, जौ, चित्रक, खस, इन सबको एकत्रित करके बुद्धिमान् भस्म बनाये। इस भस्म को गरम पानी से पीये, कफजनित शूल की चिकित्सा है ॥११६॥

रुणद्धि मारुतं श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः ॥११७॥
स संरुद्धः करोत्याशु साध्मानं गुडगुडायनम्।
सूचीभिरिव निस्तोदं कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नरः ॥११८॥
नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यतिनिपीडितः।
पार्श्वशूलः स विज्ञेयः कफानिलसमुद्भवः ॥११९॥

पार्श्वशूल—कुक्षि पार्श्व में स्थित कफ वायु को रोक देता है। यह रुका वायु शीघ्र ही आध्मान एवं गड़गड़ाहट

को करता है। सूई के चुभने के समान दर्द होता है, कठिनाई से श्वास लेता है। पीड़ा से दुःखी मनुष्य अन्न की चाह नहीं करता, नींद भी नहीं आती। इसे पार्श्वशूल कहते हैं, यह कफ-वायु से उत्पन्न होता है।

वि० मन्तव्य—यदि कुक्षि में रुकता है, तो आध्मान एवं गुडगुडापन को उत्पन्न करता है, और यदि पार्श्व में रुकता है, तो पार्श्व में तोद आदि लक्षण होते हैं। कुक्षि—आमाशय का और पार्श्व फुफ्फुस का नाम है, पार्श्व शूल "पसली की पीड़ा" बालकों में "पसली चला" आदि नामों से प्रसिद्ध है, यह पार्श्वशूल कभी एक में और कभी दोनों पार्श्वों में होता है ॥११७–११९॥

तत्र पुष्करमूलानि हिङ्गु सौवर्चलं विडम्।
सैन्धवं तुम्बुरुं पथ्यां चूर्णं कृत्वा तु पाययेत् ॥१२०॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु यवक्वाथेन संयुतम्।
सर्पिः प्लीहोदरोक्तं वा घृतं वा हिङ्गुसंयुतम् ॥१२१॥
बीजपूरकसारं वा पयसा सह साधितम्।
एरण्डतैलमथवा मद्यमस्तुपयोरसैः ॥१२२॥
भोजयेच्चापि पयसा जाङ्गलेन रसेन वा।

इसमें पुष्करमूल, हींग, संचल नमक, विड़नमक, सैन्धव, तुम्बुरु, हरड़ इनके चूर्ण को जौ के क्वाथ में मिलाकर पार्श्व-शूल, हृदयशूल बस्तिशूल में पिलाये। प्लीहोदर में कहा षट्पलघृत पिलाये। हींग से मिला घी (असंस्कृत) खाये। दूध के साथ बिजौरे के फल को (या रस को) सिद्ध करके पिलाये। एरण्डतैल को मद्य, मस्तु, दूध मांसरस के साथ दोष एवं सात्म्य के अनुसार प्रातः पीये। जीर्ण होने पर दूध या जांगल मांस रस से भोजन देवे ॥१२०-१२२॥

प्रकुप्यति यदा कुक्षौ वह्निमाक्रम्य मारुतः ॥१२३॥
तदाऽस्य भोजनं भुक्तं सोपस्तम्भं न पच्यते।
उच्छ्वसित्यामशक्तता शूलेनाहन्यते मुहुः ॥१२४॥
नैवासने न शयने तिष्ठन् वा लभते सुखम्।
कुक्षिशूल इति ख्यातो वातादामसमुद्भवः ॥१२५॥

कुक्षिशूल—अग्नि को मन्द करके जब वायु कुक्षि में कुपित होता है, तब इस पुरुष का खाया हुआ भोजन स्तब्ध बनकर जीर्ण नहीं होता। रोगी कठिनाई से श्वास लेता है, अपक्व-मल, बार बार शूल का आक्रमण होना, न तो लेटने पर, न बैठने में न खड़े होने पर किसी भी प्रकार सुख-शान्ति का अनुभव नहीं करता, इसको कुक्षिशूल कहते हैं, यह शूल वायु और आम से उत्पन्न होता है।

वि० मन्तव्य—कुक्षिशूल-यह शूल आमाशय एवं अन्त्र में होता है। अन्त्र ही अग्नि का कार्यालय है, अन्त्र में स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है, फलतः भुक्त आहार सरकता नहीं है और पचता भी नहीं है, अन्त्र का नाम "नाभि" (देखिये शा० अ० ६।२५) है। वहीं से प्राण वायु की प्रवृत्ति होती है (नाभिस्थः प्राणपवनः शा० ध०) अन्त्र की स्तब्धता के कारण प्राण वायु का उचित सञ्चार नहीं होता, फलतः श्वास प्रश्वास में भी कष्ट हो जाता है ॥१२३ १२५॥

वमनं कारयेत्तत्र लङ्घयेद्वा यथाबलम्।
संसर्गपाचनं कुर्यादम्लैर्दीपनसंयुतैः ॥१२६॥

इसमें रोगी को वमन कराये अथवा बल के अनुसार लंघन कराये। अनारदाना, आँवला आदि अम्ल से तथा पंचकोल आदि से युक्त पेया विलेपी आदि पाचन देवे ॥१२६॥

नागरं दीप्यकं चव्यं हिङ्गु सौवर्चलं विडम्।
मातुलुङ्गस्य बीजानि तथा श्यामोरुबूकयोः ॥१२७॥
बृहत्याः कण्टकार्याश्च क्वाथं शूलहरं पिबेत्।

सोंठ, अजवायन, चव्य, हींग, सौवर्चल, विड़, बिजौरे के बीज, निशोथ, एरण्ड, बड़ी कटेरी, कटेरी-इनका क्वाथ पीये, यह शूलनाशक है ॥१२७॥

वचा सौवर्चलं हिङ्गु कुष्ठं सातिविषाऽभया ॥१२८॥
कुटजस्य च बीजानि सद्यःशूलहराणि तु।
विरेचनं प्रयुञ्जीत ज्ञात्वा दोषबलाबलम् ॥१२९॥

वच, सौवचल, हींग, कूठ, अतीस, हरड़, इन्द्रजौ—ये तुरन्त शूलहर हैं। इनको दोष के बल अबल को देखकर विरेचन में बरते।

वि० मन्तव्य—वचा आदि से वमन हो जाता है अर्थात् उसमें उचित गति होने लगती है। इसके अनन्तर यदि शूल शान्त न हो तो दोष के बलाऽबल का विचार करके किसी विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ॥१२८,१२९॥

स्नेहबस्तीन्निरूहांश्च कुर्याद्दोषनिबर्हणान्।

स्नेहबस्ति, और निरूहों से दोषों को बाहर निकाले।

उपनाहाः स्नेहसेका धान्याम्लपरिषेचनम् ॥१३०॥
अवगाहाश्च शस्यन्ते यच्चान्यदपि तद्धितम्।

उपनाह, स्नेह, सेक, कांजी से परिषेचन, वातहर द्रवपूर्ण टब में बैठना, तथा कुक्षिशूल नाशक जो दूसरे उपचार हित-कारी हों वह भी श्रेष्ठ हैं ॥१३०॥

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छितः ॥१३१॥
हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधकं परम्।
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसंभवः ॥१३२॥

हृदय शूल—कफ-पित्त से अवरुद्ध-रस से मिश्रित वायु हृदय में स्थित होकर शूल उत्पन्न करता है, इससे उच्छ्वास काठिन्य विशेष रूप में होता है। इसको हृदय शूल कहते हैं—यह रस एवं वायु से उत्पन्न होता है।

वि० मन्तव्य—यह हृदय का शूल है इसमें कफ, पित्त, रस = रक्तमिश्रित रस तथा वायु चारों कुपित-विकृत होते हैं। इसका प्रभाव फुफ्फुसों पर भी पड़ता है, अतः श्वास में अवरोध होने लगता है ॥१३१,१३२॥

तत्रापि कर्माभिहितं यदुक्तं हृद्विकारिणाम् ।

इसमें हृद्रोग में कही चिकित्सा बरतनी चाहिये।

संरोधात् कुपितो वायुर्बस्तिमावृत्य तिष्ठति ॥१३३॥
बस्तिवङ्क्षणनाभीषु ततः शूलोऽस्य जायते ।
विण्मूत्रवातसंरोधी बस्तिशूलः स मारुतात् ॥१३४॥

मूत्र-मल के रोकने से कुपित वायु वस्ति को घेरकर रुक जाती है, इससे वस्ति, वंक्षण और नाभि में रोगी को शूल होता है। इसमें मल वायु मूत्र रुक जाती है, इसको वस्ति शूल कहते हैं, यह वायुजन्य है।

वि० मन्तव्य—वस्ति शूल—इसका प्रभाव समस्त मूत्र-संस्थान पर पड़ता है। इसी का विवरण निम्नलिखित श्लोक १३५ में किया है। मूत्र शूल मूत्र का नहीं अपितु मूत्र संस्थान का शूल है ॥१३३,१३४॥

नाभ्यां वङ्क्षणपार्श्वेषु कुक्षौ मेढ्रान्त्रमर्दकः ।
मूत्रमावृत्य गृह्णाति मूत्रशूलः स मारुतात् ॥१३५॥

जब मेहन और आँतों को पीड़ित करता हुआ वायु मूत्र को रोक देता है, तब नाभि वंक्षण, पार्श्व और कुक्षि में शूल होता है। इसे मूत्रशूल कहते हैं, यह शूल वायु से होती है॥

वायुः प्रकुपितो यस्य रूक्षाहारस्य देहिनः ।
मलं रुणद्धि कोष्ठस्थं मन्दीकृत्य तु पावकम् ॥१३६॥
शूलं संजनयंस्तीव्रं स्रोतांस्यावृत्य तस्य हि ।
दक्षिणं यदि वा वत्मं कुक्षिमादाय जायते ॥१३७॥
सर्वत्र वर्धते क्षिप्रं भ्रमन्नथ सघोषवान् ।
पिपासा वर्धते तीव्रा भ्रमो मूर्च्छा च जायते ॥१३८॥
उच्चारितो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति ।
विट्शूलमेतज्जानीयाद् भिषक् परमदारुणम् ॥१३९॥

पुरीषशूल—रूक्ष भोजन करनेवाले जिस पुरुष में प्रकुपित वायु मल को रोककर, कोष्ठस्थ अग्नि को मन्द करके, तथा स्रोतों को घेरकर तीव्रशूल दक्षिणपार्श्व में या वामपार्श्व में उत्पन्न करती है (मल को रोककर), उस पुरुष में वायु शब्द के साथ घूमती हुई सम्पूर्ण उदर में शीघ्र फैल जाती है। रोगी में तीव्र प्यास चढ़ जाती है, भ्रम एवं मूर्च्छा होती है। मल त्याग या मूत्र त्याग करने पर भी शान्ति नहीं होती। इसको विट्शूल जाने, यह अतिकष्टदायक है।

वि० मन्तव्य—मलाशय का शूल है, मलाशय अर्थात् बृहद् अन्त्र समस्त उदर में घूमा हुआ रहता है, अतः उदर में दाहिनी एवं बाँई ओर शूल होता है। पुरीष एवं मूत्र तो जड़ हैं और शूल होता है सजीव अवयव में। अतः पुरीष एवं मूत्र का त्याग हो जाने पर भी शूल बना रहता है। विट्शूल विट् = पुरीष का शूल नहीं, अपितु विट् के आशय का शूल है॥

क्षिप्रं दोषहरं कार्यं भिषजा साधु जानता ।
स्वेदनं शमनं चैव निरूहाः स्नेहबस्तयः ॥१४०॥
पूर्वोद्दिष्टान् पाययेत योगान् कोष्ठविशोधकान् ।
उदावर्तहरांश्चास्य क्रियाः सर्वाः सुखावहाः ॥१४१॥

जाननेवाला वैद्य इसमें तुरन्त दोषहर (शोधन) चिकित्सा करे। स्वेदन, शमनचिकित्सा, निरूह, एवं स्नेहवस्तियाँ देवे। पहले कहे कोष्ठ शोधक योगों को पिलाये। इस रोगी में उदावर्त्त नाशक, एवं सुखदायक सब उपचार करे ॥१४०,१४१॥

अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते ।
स्थिरीभूतं तु तत्कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति ॥१४२॥
अविपाकगतं ह्यन्नं शूलं तीव्रं करोत्यति ।
मूर्च्छाऽऽध्मानं विदाहश्च हृदुत्क्लेशी विलम्बिका ॥
विरिच्यते छर्दयति कम्पतेऽथ विमुह्यति ।
अविपाकाद्भवेच्छूलस्त्वन्नदोषसमुद्भवः ॥१४४॥

अतिमात्रा में खाया भोजन अग्नि के मन्द हो जाने पर, कोष्ठ में जब स्थिर होकर वायु द्वारा घिसकर रुक जाता है, तब न पका हुआ अन्न अत्यन्त तीव्र शूल को अधिक मात्रा में उत्पन्न करता है। इससे रोगी को मूर्च्छा, आध्मान, विदाह, हृदय में बेचैनी, बिलम्बिका होती है। वमन, विरेचन होता है, रोगी काँपता है, मूर्च्छित होता है। यह शूल अविपाक से उत्पन्न होता है, जो कि अन्नदोष के कारण से होता है।

वि० मन्तव्य—यह अजीर्ण जनित शूल है। इसमें या तो विलम्बिका होती है, जिसमें न छर्दि ही होती है और न अतिसार ही। देखिये उ० अ० ५६ श्लोक ६। और या फिर वमन एवं विरेचन दोनों प्रारम्भ हो जाते हैं अर्थात् विसूची हो जाती है (दे० अ० ५६ श्लोक ६) ॥१४२-१४४॥

वमनं लङ्घनं स्वेदः पाचनं फलवर्तयः ।
क्षाराश्चूर्णानि गुटिकाः शस्यन्ते शूलनाशनाः ॥१४५॥

इसमें—वमन, लंघन, स्वेद, पाचन, फलवर्त्तियाँ, क्षार, चूर्ण, शूलनाशक गुटिकायें इसमें प्रशस्त हैं ॥१४५॥

गुल्मावस्थाः क्रियाः कार्या यथावत् सर्वशूलिनाम् ।

अवस्थानुसार सब शूल रोगियों में गुल्म की अवस्था के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—कफो वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा ।
यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम् ।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥
वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि ।

हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥
शूलानाहं विबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे ।
वर्त्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥
पित्तं वा यदि संवृद्धं संतापं वातगुल्मिनः ।
कुर्याद् विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकैः ॥

चरक चि० अ० ५।२७।३१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे गुल्मप्रतिषेधो नाम (चतुर्थोऽध्यायः, आदितः) द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो हृद्रोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे हृद्रोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

वेगाघातोष्णरूक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि (ति) भोजनैः ॥३॥
दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥४॥

मल-मूत्रादि वेगों को रोकने से, (मानसिक आघात आदि शोकादि से, लाठी की चोट आदि से) उष्णभोजन, रूक्षभोजन का अति मात्रा में सेवन करने से, विरुद्ध भोजनसे, अध्यशयनसे, अजीर्ण असात्म्य भोजनों से कुपित हुए दोष हृदय में पीड़ा उत्पन्न करते हैं, इसको हृदयरोग कहते हैं ॥३ ४॥

चतुर्विधः स दोषैः स्यात् कृमिभिश्च पृथक् पृथक् ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि चिकित्सितमनन्तरम् ॥५॥

हृदयरोग वातादि दोषों से तीन प्रकार का और सन्निपात से चार प्रकार का है। कृमिजन्य हृद्रोग इनसे अलग है। हृदय रोग के लक्षण कहकर उसकी चिकित्सा कहूँगा।

वक्तव्य—चरक में पांच प्रकार के हृद्रोग माने हैं। सन्निपातजन्य हृद्रोग में ही मिथ्या अपचार से कृमिजन्य हृद्रोग होता है। इसलिये सुश्रुत के अनुसार चार ही हृद्रोग हैं ॥५॥

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोटयते पाट्यतेऽपि च ॥६॥

वातजन्य हृद्रोग में—हृदय खींचता प्रतीत होता है, चुभने का सा दर्द होता है, मथने के समान, काटने के समान, चटकने के समान, फाड़ने के समान वेदना होती है।

वि० मन्तव्य—रोगी के शब्दों में भले ही ऐसा होता है, परन्तु सचाई यह है कि जब वायु हृदय के कोष्ठों में प्रविष्ट होकर विकृति उत्पन्न करता है तब हृदय के भीतरी स्तरों में-वायुजनित रूक्षता एवं तनने के कारण हृदय के कोष्ठों में विदारण-खरोश पड़ जाते हैं अथवा हृदय फूट जाता है या फट जाता है, फलतः तत्काल मृत्यु हो जाती है ॥

तृष्णोषादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेद शोषो मुखस्य च ॥७॥

पैत्तिक हृद्रोग में—प्यास, ऊषा (प्रादेशिक दाह), चोष, हृदय में क्लम (थकान), धूमोद्गमन की प्रतीति, मूर्च्छा और मुख की शुष्कता होती है ॥७॥

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चाऽऽस्यस्य बलासावतते हृदि ॥८॥

कफजन्य हृद्रोग में—भारीपन, कफ का स्राव, अरुचि, जड़ता, अग्निमान्द्य, मुख में मधुरता, कफ के हृदय में आवृत होने पर होते हैं ॥८॥

उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलोहृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च कृमिजे भवेत् ॥९॥

त्रिदोषजन्य हृद्रोग में—उत्क्लेश, थूक का आना, चुभने की दर्द, शूल, जी मचलाना, अन्धकार, अरुचि, आँखों में कालापन तथा शोष होते हैं।

वक्तव्य—चरक में कहा है—"त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते। मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति। संक्लेदात् कृमयश्चास्य भवन्ति उपहतात्मनः॥" चरक सूत्र। सन्निपातजन्य हृदय रोग में ही मिथ्याचार से कृमि होते हैं ॥९॥

भ्रमक्लमौ सादशोषौ ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।

इन हृद्रोगों में—भ्रम, क्लम, अंगों में शिथिलता, शोष (मुख और धातुओं का) ये उपद्रव।

कृमिजन्य हृद्रोग में कफज कृमियों के समान लक्षण होते हैं।

वि० मन्तव्य—कृमिज हृद्रोग में जो कृमि उत्पन्न होते हैं उनका नाम-च० वि० अ० ७ में "हृदयचर" है। अर्थात् हृदय में घूमनेवाले तथा उसे खानेवाले और च० सू० अ० १९ में "हृदयाद" है अर्थात् हृदय को खा जानेवाले। विधि-भेद से ये "कफज" कृमि हैं। इसका विवरण देखिये च० सू० अ० १७ के श्लो० ३६-४० में। सारांश यह है कि-हृद्रोग रहने पर भी यदि तिल, दूध एवं गुड़ आदि कफ पित्त कारक पदार्थों का सेवन हो जाता है तो हृदय के किसी भाग में ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है और रस (रस मिश्रित रक्त) सड़ने लगता है और इसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और वे इधर उधर घूमते हैं तथा हृदय को खाने लगते हैं। इस दशा में

रोगी को प्रतीत होता है कि हृदय में सूइयाँ चुभ रही हैं अथवा हृदय चाकू से काटा जा रहा है और वह हृदय में खुजली तथा भीषण वेदना का अनुभव करता है। भगवान् पुनर्वसु कहते हैं कि इन लक्षणों से समझ लेना चाहिये कि यह रोग "कृमिज हृद्रोग" है और इसकी चिकित्सा बहुत शीघ्र-कारी है अर्थात् थोड़ा विलम्ब होने पर कृमि हृदय को खा जाते हैं और फलतः मृत्यु हो जाती है॥

कृमिजे कृमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥१०॥
वातोपसृष्टे हृदये वामयेत् स्निग्धमातुरम्।
द्विपञ्चमूलक्वाथेन सस्नेहलवणेन तु ॥११॥
पिप्पल्येलावचाहिङ्गुयवभस्मानि सैन्धवम्।
सौवर्चलमथो शुण्ठीमजमोदां च चूर्णितम् ॥१२॥
फलधान्याम्लकौलत्थदधिमद्यासवादिभिः।
पाययेत विशुद्धं च स्नेहेनान्यतमेन वा ॥१३॥

वातज हृद्रोग में—रोगी को स्नेहन देकर दशमूल के क्वाथ में स्नेह (घी) और नमक मिलाकर वमन करावे। फिर शोधन होने पर पिप्पली, इलायची, वच, हींग, यवक्षार, सैन्धव, सौवर्चल, सोंठ, अजवायन इनके चूर्ण को बिजौरे आदि फलों के रस, कांजी, कुलत्थी का यूष, दही, मद्य, आसव, इनके साथ अथवा घी तैल-मज्जा वसा इनमें से किसी एक स्नेह के साथ पिलाये। (तैल हृद्रोग में उत्तम नहीं-ओज को कम करने के कारण) ॥१०-१३॥

भोजयेज्जीर्णशाल्यन्नं जाङ्गलैः सघृतै रसैः।
वातघ्नसिद्धं तैलं च दद्याद्वस्तिं प्रमाणतः ॥१४॥

भोजन में पुरातन शालीचावलों को घृत मिश्रित जांगल मांसरसों से देवे। भद्रदार्व्यादि वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध तैल की वस्ति प्रमाण के अनुसार देवे ॥१४॥

श्रीपर्णीमधुकक्षौद्रसितोत्पलजलैर्वमेत्।
पित्तोपसृष्टे हृदये सेवेत मधुरैः शृतम् ॥१५॥

पित्त से उत्पन्न हृद्रोग में—गम्भारी, मुलैहठी, मधु, शर्करा, कमल इनके पानी से रोगी को वमन कराये। काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से पकाया घृत पिलाये। पित्तज्वरनाशक कहे कषायों को (चन्दनोशीर श्रीपर्णी आदि) को पिलाये॥

घृतं कषायांश्चोद्दिष्टान् पित्तज्वरविनाशनान्।
तृप्तस्य च रसैर्मुख्यैर्मधुरैः सघृतैर्भिषक् ॥१६॥

हरिण आदि के मुख्य मांसरसों को मधुर द्रव्यों से तथा घी से संस्कृत करके पर्याप्त मात्रा में तृप्ति पर्यन्त वैद्य पिलाये। मुलैहठी क्वाथ से सिद्ध तैल और मधु मिलाकर बस्ति देवे॥

सक्षौद्रं वितरेद्वस्तौ तैलं मधुकसाधितम्।
वचानिम्बकषायाभ्यां वान्तं हृदि कफात्मके ॥१७॥
चूर्णं तु पाययेतोक्तं वातजे भोजयेच्च तम्।
फलादिमथ मुस्तादिं त्रिफलां वा पिबेन्नरः ॥१८॥
श्यामात्रिवृत्कल्कयुतं घृतं वाऽपि विरेचनम्।
बलातैलैर्विदध्याच्च बस्तिं बस्तिविशारदः ॥१९॥

कफजन्य हृद्रोग में—वच, नीम के कषाय से वमन कराये। वातजहृद्रोग में कहा चूर्ण (पिप्पली आदि का चूर्ण) पिलाये। वातज हृद्रोग में कहा चूर्ण भोजन के साथ देवे। संशोधन में शमनीयोक्त मदनफलादि, द्रव्यसंग्रहणीयोक्त मुस्तादि, या त्रिफला को मनुष्य पीये। कालीनिशोथ निशोथकल्कमिश्रित घृत को विरेचन के लिये देवे। वस्ति को जाननेवाला बलातैल से बस्ति देवे ॥१७-१९॥

कृमिहृद्रोगिणं स्निग्धं भोजयेत् पिशितौदनम्।
दध्ना च पललोपेतं त्र्यहं पश्चाद्विरेचयेत् ॥२०॥
सुगन्धिभिः सलवणैर्योगैः साजाजिशर्करैः।
विडङ्गगाढं धान्याम्लं पाययेताप्यनन्तरम् ॥२१॥
हृदयस्थाः पतन्त्येवमधस्तात् क्रमयो नृणाम्।
यवान्नं वितरेच्चास्य सविडङ्गमतः परम् ॥२२॥

कृमिजन्य हृद्रोगी को घृत से स्निग्ध पिशितोदन (मांस भोजन) को दही एवं तिल कल्क के साथ तीन दिन खिलाये। इसके पीछे सुगन्धित, लवणयुक्त, जीरा एवं शर्करा युक्त विरेचनों से विरेचन देवे। विरेचन के पीछे कांजी से विरेचन देवे। विरेचन के पीछे कांजी में प्रचुर विडंगचूर्ण मिलाकर इसको पिलाये। इस प्रकार करने से मनुष्यों के हृदयस्थ कृमि नीचे गिरते हैं। इसके बाद विडंग मिश्रित जौ का अन्न उसे खाने को देवे।

वक्तव्य—सुगन्धियोगैः—विरेचनकल्पोक्त "शर्कराक्षौद्र संयुक्तं इत्यादि, सलवणयोगैः समा त्रिवृन्नागरकाभयाः" इत्यादि, अजाजी शर्करा मिश्रित लवणों से विरेचन देवे। चरक में—"भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितं चेत् सुरदारु कुष्ठम्। सतिल्वकं द्वे लवणे विडंगमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत्सा॥ जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्। त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात्॥ प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात्। कार्यं तथा लंघनपाचनं च सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्गदे च"॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे हृद्रोगप्रतिषेधो नाम (पञ्चमोऽध्यायः, आदितः) त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पाण्डुरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे पाण्डुरोग प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं
मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं
कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम् ॥३॥

व्यवाय (मैथुन), अम्लरस, लवण, मद्य का अतिसेवन करने से, मिट्टी को खाने से, दिन में सोने से, पित्तकोपक तीक्ष्ण वस्तुओं का सेवन करनेवाले पुरुष के दूषित हुए दोष रक्त को दूषित करके त्वचा में पाण्डुपन उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—मिट्टी से पाण्डुरोग—"कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्रसांदीश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्षयेत् ॥" मिट्टी, मद्य, मछली, मांस, तीक्ष्ण, पिष्ट, पय, दिवास्वप्न, तिल, माष आदि के सेवन करने से भी पाण्डुरोग होता है।

वि० मन्तव्य—पाण्डु भाव–इस रोग में रक्त की लाली घट जाती है, फलतः शरीर पाण्डुवर्ण का हो जाता है। कामला में—वर्ण हल्दी का-सा गहरा पीला होता है, और हलीमक में हरापन लिये पीला होता है, क्योंकि पित्त पीला भी है और नीला भी–पीत एवं नील वर्ण का मिश्रण ही हरा वर्ण होता है। इन तीनों में क्रमशः पित्त का मिश्रण अधिक होता है॥३॥

पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः
पृथक्समस्तैर्युगपच्च दोषैः।

पाण्डुरोग चार प्रकार का है, यथा—वातादि पृथक् दोषों से तीन प्रकार का और एक साथ कुपित हुए तीनों दोषों से एक प्रकार का।

वक्तव्य—मट्टीभक्षण जन्य पाँण्डुरोग एक अन्य गिना है, परन्तु यहाँ पर उसका मिट्टी के अनुसार वातादिजन्य पाण्डुरोग में अन्तर्भाव है, कामला, हलीमक का भी एक ही सम्प्राप्ति होने से पाण्डुरोग में ही अन्तर्भाव किया गया है। कई इनको अलग मानकर आठ प्रकार का मानते हैं, यथा–"वातेन पित्तेन कफेन चापि त्रिदोषमृद्भक्षणसंभवः स्यात्। द्वे कामले चैकहलीमकश्च सचाष्टधैवं त्विह पाण्डुरोगः ॥"

सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो
यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः ॥४॥

इन सब वातादि भेदों में पाण्डुभाव चूंकि सब से अधिक रहता है, इसलिये इस रोग को पाण्डुरोग कहते हैं ॥४॥

त्वक्स्फोटनं ष्ठीवनगात्रसादौ
मृद्भक्षणं प्रेक्षणकूटशोथाः।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको
भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥

पूर्वरूप—त्वचा का फटना, थूक आना, अंगों में शिथिलता, मिट्टी खाने की इच्छा, अक्षिकूट में शोथ, मल-मूत्र का पीलापन, अविपाक, ये पाण्डुरोग के पूर्वरूप हैं।

वक्तव्य—गर्भवती स्त्री को मिट्टी या दूसरी वस्तुओं की इच्छा होना—पाण्डुरोग के पूर्वरूप का उत्तम उदाहरण है। इन स्त्रियों में एनीमिया आंखों पर सूजन मिलती है। जो स्त्रियाँ गर्भावस्था में मिट्टी खाती हैं, उनमें पाण्डुरोग प्रायः मिलता है।

वि० मन्तव्य—चरकोक्त पूर्वरूप भी स्मरणीय है, यथा—हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा (च० चि० अ०१६)। इसमें भी हृदयस्पन्दन विशेषतः स्मरणीय है, यह पाण्डुरोग व्यक्त होने पर भी रहता है ॥५॥

स कामलापानकिपाण्डुरोगः
कुम्भाह्वयो लाघर(व)कोऽलसाख्यः।
विभाष्यते लक्षणमस्य कृत्स्नं
निबोध वक्ष्याम्यनुपूर्वशस्तत् ॥६॥

इस पाण्डुरोग को कामला, अपानकि, पाण्डुरोग, कुम्भाह्वय, लाघरक, अलसक नाम से कहते हैं। इसके सम्पूर्ण लक्षण क्रमशः कहता हूँ—उसे सुनो ॥६॥

कृष्णेक्षणं कृष्णसिरावनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च।
वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्ये-
द्युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥७॥

वातजन्य पाण्डु में रोगी की आँखें काली, काली सिराओं से व्याप्त, मल-मूत्र नख और मुख काला, वातजनित उपद्रवों से पीड़ित रहता है ॥७॥

पीतेक्षणं पीतसिरावनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च।
पित्तेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्ये-
द्युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवश्च ॥८॥

पित्तजन्य पाण्डु में रोगी की आंखें पीली, पीली सिराओं से व्याप्त, मल-मूत्र नख और मुख पीला तथा पित्तजन्य अन्य उपद्रवों से वह पीड़ित रहता है ॥८॥

शुक्लेक्षणं शुक्लसिरावनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननं च।
कफेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्ये-
द्युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥९॥

कफजन्य पाण्डु में रोगी की आँखें श्वेत, श्वेतवर्ण की सिराओं से व्याप्त, मल-मूत्र नख और मुख श्वेत, तथा कफजन्य अन्य उपद्रवों से वह पीड़ित रहता है ॥९॥

सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येद्

सन्निपातजन्य पाण्डु में सब दोषों के लक्षण रहते हैं।

वक्तव्य—कामला-कामशब्दोऽयं साधारणः शब्दः, विशेषात्स्वल्पे भक्ताद्यभिलाषे प्रवर्त्तते, तं लातीति कामला। दुष्टत्वेन कुत्सितोऽपानोऽपानकः सोऽस्यास्तीति अपानकी, कामलाख्याऽपानकी पाण्डुरोगः कामलापानकी पाण्डुरोगः । कुम्भकामलाख्याऽपानकी पाण्डुरोगस्त्वत्र कुम्भाह्वय उच्यते, भीमो भीमसेन इतिवत् । रोगस्यास्य कुम्भकामलेति संज्ञा तंत्रान्तरे व्यपदिश्यते (जिस कामला में पेट घड़े के समान हो जाये-कोष्ठाश्रित कामला)। स एव पुनः ज्वरादि-लाघवं करोति, सत्यपि सामर्थ्ये कर्मस्वनुत्साहं च जनयति, इति अलसाख्योऽपानकिपाण्डुरोगस्तु लाघवक उच्यते, इति हाराणचन्द्रः।

वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः।
यो ह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्ल-
मद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम् ॥१०॥
करोति पाण्डुं वदनं विशेषात्
पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च।

इसके आगे कामला के लक्षण कहता हूँ—पाण्डुरोग में या अन्य किसी दूसरे रोग के पीछे जो रोगी सहसा खट्टा भोजन या अपथ्य सेवन करता है, उस रोगी का पित्त विशेष रूप में शरीर को पाण्डुवर्ण कर देता है, तथा प्रथम कहे तन्द्रा एवं बलक्षय के लक्षणों को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—तन्द्रा का लक्षण गर्भव्याकरणाध्याय में बल क्षय का लक्षण—दोषादिक्षय वृद्धि अध्याय (सूत्र स्थान) में कहे हैं ॥१०॥

भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः
शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः ॥११॥

इसी कामला का कुम्भ कामला नामक भेद है, इसमें महान् शोथ, तथा सन्धि पीड़ा होती है।

वि० मन्तव्य—कामला-शाखाश्रया-शाखा रक्त आदि धातु तथा त्वचा में आश्रित होता है (शाखा रक्तादयो धातवः त्वक् च । च० सू० अ० ११) और कुम्भकामला—कुम्भ अर्थात् कोष्ठ में आश्रित होता है इसका प्रभाव कोष्ठ पर अधिक होता है। कोष्ठ शब्द से—स्थानानि आम अग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृद् उण्डुकं फुप्फुसश्च कोष्ठ इति अभिधीयते ॥ के अनुसार मध्यकाय गत समस्त अवयवों का बोध-ग्रहण होता है। फलतः कुम्भकामला में उक्त सभी अवयव विकृत हो जाते हैं। हमारे विचार में "कालाजार" कहा जानेवाला यही कुम्भकामला है ॥११॥

ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्रा-
क्षयान्वितो लाघर(व) कोऽलसाख्यः।

इसी कुम्भकामला में जब रोगी को ज्वर, अंगों का टूटना, भ्रम, शिथिलता, तन्द्रा, क्षय (धातुओं का क्षय), होता है तब इसको लाघरक अलस कहते हैं।

वक्तव्य—कुम्भकामला की अवस्था भेद को पानकी कहते हैं, यथा—"सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्ररोगश्च पानकीलक्षणं वदेत् ॥"

तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं
हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ॥१२॥

पाण्डुरोग में (कुम्भकामला में) वायु और पित्त के कारण हरा पीला नीला रंग हो तो, कायचिकित्सा को जाननेवाले इसको हलीमक नाम से कहते हैं।

वक्तव्य—पाण्डुरोग एक रोग है, कामला, कुम्भकामला, हलीमक ये उसकी अवस्था भेद हैं। कामला कोष्ठाश्रित और शाखाश्रित दो प्रकार का है। यथा चरक में—"पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते । तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ हारिद्रनेत्रः स भृशं हरिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रोभेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ दाहाविपाकदौर्बल्य-सदनारुचिकर्षितः । कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ कालान्तरात्खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला । यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्यात् हरितश्यावपीतकः ॥ बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः । स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ॥ हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ।" च० चि० अ० १६,३४-३६-१३२-१३३॥१२॥

उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा
छर्दिर्ज्वरो मूर्धरुजाऽग्निसादः।
शोषस्तथा कण्ठगतोऽबलत्वं
मूर्च्छा क्लमो हृदयपीडनं च ॥१३॥

उपद्रव-अरुचि, प्यास, वमन, ज्वर, शिर में दर्द, अग्निमान्द्य, सूजन, गले में निर्बलता (आवाज में धीमापन), मूर्च्छा, क्लम और हृदय प्रदेश में पीड़ा होती है।

वक्तव्य—उपद्रवों के अनुसार पाण्डुरोगी साध्य, कष्टसाध्य एवं असाध्य हो जाता है ॥१३॥

साध्यं तु पाण्ड्वामयिनं समीक्ष्य
स्निग्धं घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्धम्।
संपादयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढै-
र्हरीतकीचूर्णयुतैः प्रयोगैः ॥१४॥
पिबेद्घृतं वा रजनीविपक्वं
यत्त्रैफलं तैल्वकमेव वाऽपि।
विरेचनद्रव्यकृतं पिबेद्वा
योगांश्च वैरेचनिकान् घृतेन ॥१५॥

साध्य पाण्डु रोगी को देखकर संस्कृत घृतों से स्निग्ध करके फिर (कल्याणक या तिक्त, महातिक्तक, पंचगव्य आदि)

वमन एवं विरेचन द्वारा शोधन करके हरड़ का चूर्ण प्रचुर मधु और घृत से खाने के लिये देवें। अथवा हल्दी के कल्क से सिद्ध घृत, त्रिफलाघृत, तिल्वकघृत में से कोई एक पीये। त्रिवृतादि विरेचन द्रव्यों से बनाये घृत या वैरेचनिक योगों को घृत के साथ पीये।

वक्तव्य—असंस्कृत घृत पित्त में निषिद्ध है, यथा—"न सर्पिः केवले पित्ते पेयं सामे विशेषतः। सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञां च मारयेत् ॥" चरक। इसलिये घृत को औषधियों से, वह भी शोधक विरेचक औषधियों से संस्कृत करके देने का विधान है। घृत वायु पित्त दोनों का शमन करता है। पित्त के लिये विरेचन वह भी घृत युक्त होना सबसे श्रेष्ठ आयुर्वेद में माना है। इसी से घृत को शोधनीय द्रव्यों से सिद्ध करके या उनके साथ देने का विधान है। असंस्कृत घृत पित्त को शान्त नहीं करेगा। पाण्डुरोग में वमन निषिद्ध है, तथापि सिद्धघृत से ऋतु देश प्रकृति की अपेक्षा से मृदु वमन देना चाहिये। यथा—"कालं च देशं प्रकृतिं, शरीरं समीक्ष्य दद्याद् वमनं विधिज्ञः। वान्तस्य तीक्ष्णानि अनुलोमनानि कल्पोपदिष्टानि भिषग् विदध्यात्" ॥१४,१५॥

मूत्रे निकुम्भार्धपलं विपाच्य
पिबेदभीक्ष्णं कुडवार्धमात्रम्।
खादेद् गुडं वाऽप्यभयाविपक्व-
मारग्वधादिक्वथितं पिबेद्वा ॥१६॥

गोमूत्र में दन्ती आधा पल पकाकर चतुर्थांश शेष रखकर दो पल मात्रा विरेचन के लिये पीये। हरड़ के क्वाथ में पकाये गुड़ को खाये। अथवा आरग्वधादिगण का क्वाथ पीये।

वक्तव्य—डल्हण ने भैंस का मूत्र लेना कहा है, सोलह गुणे मूत्र में क्वाथ करे, हरड़ और गुड़ दोनों को खाये ॥१६॥

अयोरजोऽव्योषविडङ्गचूर्णं
लिह्याद्धरिद्रां त्रिफलान्वितां वा।
सर्पिर्मधुभ्यां विदधीत वाऽपि
शास्त्रप्रदेशाभिहितांश्च योगान् ॥१७॥

लोहभस्म, त्रिकटु और विडंग, अथवा हल्दी और घृत के साथ चाटे। शस्त्र में अन्य स्थान पर कहे (नवायस आदि) योगों को भी बरते, (हरिद्रा से कई दारुहरिद्रा लेते हैं) ॥१७॥

हरेच्च दोषान् बहुशोऽल्पमात्रान्
श्वयेद्धि दोषेष्वतिनिर्हृतेषु।

दोषों को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बहुत बार बाहर निकाले, क्योंकि दोषों के बाहर न निकालने से शोथ हो जाती है।

धात्रीफलानां रसमिक्षुजं च
मन्थं पिबेत् क्षौद्रयुतं हिताशी ॥१८॥

आंवला के स्वरस को मधु के साथ, गन्ने के रस में मधु मिलाकर इनसे मन्थ (जौ के सत्तू को घोलकर) बनाकर पीये।

मन्थ—"शक्तवः सर्पिषाभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।" तंत्रान्तर में "धात्रीफलरसे शक्तूनिचूर्णां च रसे तथा। पांडुर्मधुसमायुक्तं पिबेन्मन्थं सुशीतलम् ॥" "पिबेत् सुशीतलान् मन्थान् घृताक्तान् मधुसंयुतान्। सक्षौद्रं वा रसं धाच्या इक्षोर्वाऽपि हिताशनः" ॥१८॥

उभे बृहत्यौ रजनीं शुकाख्यां
काकादनीं चापि सकाकमाचीम्।
आदारिबिम्बीं सकदम्बपुष्पीं
विपाच्य सर्पिर्विपचेत् कषाये ॥१९॥
तत् पाण्डुतां हन्त्युपयुज्यमानं
क्षीरेण वा मागधिका यथाग्नि।

कटेरी, बड़ीकटेरी, हल्दी शुकाख्या (शुकनासा शिरीष या शूकशिम्बी), काकादनी (काकतिन्दुक कौआठूंठी), मकोय, आदारी बिम्बी (आलारि, या आदारी कदम्बपुष्पी, बिम्बी-कान्दूरी) भूमि-कदम्ब, इनके क्वाथ में घृत के उपयोग करने पर पाण्डुरोग नष्ट होता है। अथवा अग्नि के अनुसार दूध से पिप्पली को खाये ॥१९॥

हितं च यष्टीमधुजं कषायं
चूर्णं समं वा मधुनाऽवलिह्यात् ॥२०॥

मुलैहठी का कषाय मधु के साथ, अथवा मुलैहठी चूर्ण मधु के साथ खाये ॥२०॥

गोमूत्रयुक्तं त्रिफलादलानां
दत्त्वाऽऽयसं चूर्णमनल्पकालम्।
प्रवालमुक्ताञ्जनशङ्खचूर्णं
लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम् ॥२१॥

त्रिफला की बकलीका चूर्ण, लोहभस्म इनको गोमूत्र के साथ बहुत समय तक खाये। मूंगा, मोती, अंजन (सुरमा या रसांजन), शंख चूर्ण गोमूत्र के साथ बहुत समय तक चाटे। स्वर्णगेरु के चूर्ण को गोमूत्र के साथ बहुत समय तक खाये। (अंजन से सुरमा लेना ठीक है-प्रवाल आदि द्रव्यों को देखकर शीत होने से) ॥२१॥

आजं शकृत्स्यात् कुडवप्रमाणं
विडं हरिद्रा लवणोत्तमं च।
पृथक् पलांशानि समग्रमेत-
च्चूर्णं हिताशी मधुनाऽवलिह्यात् ॥२२॥

बकरी की मींगनी चार पल, विड्नमक, हल्दी, सैन्धव, प्रत्येक एक पल, इन सबका चूर्ण मधु के साथ चाटे और पथ्य भोजन करे ॥२२॥

मण्डूरलोहाग्निविडङ्गपथ्या-
व्योषांशकः सर्वसमानताप्यः।
मूत्रासुतोऽयं मधुनोऽवलेहः
पाण्ड्वामयं हन्त्यचिरेण घोरम् ॥२३॥

मण्डूरभस्म, लोहभस्म, चित्रक, विडंग, हरड़, त्रिकटु प्रत्येक एक भाग, इन सबके बराबर स्वर्णमाक्षिक, इनको गोमूत्र में सन्धान करके रख देवे, इसको मधु के साथ चाटने पर घोर पाण्डुरोग भी शीघ्र ही नष्ट होता है ॥२३।

बिभीतकायोमलनागराणां
चूर्णं तिलानां च गुडश्च मुख्यः ।
तक्रानुपानो वटकः प्रयुक्तः
क्षिणोति घोरानपि पाण्डुरोगान् ॥२४॥

बहेड़ा, किट्टमल, सोंठ, तिल, इनका चूर्ण, गुड़ से मिलाकर बटक बनाये। इनको तक्र के अनुपान से खाने पर भयानक पाण्डुरोग भी नष्ट हो जाता है। (गुड़ सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर देना चाहिये) ॥२४॥

सौवर्चलं हिङ्गु किराततिक्तं
कलायमात्राणि सुखाम्बुना वा ।
मूर्वाहरिद्रामलकं च लिह्यात्
स्थितं गवां सप्तदिनानि मूत्रे ॥२५॥
मूलं बलाचित्रकयोः पिबेद्वा
पाण्ड्वामयार्तोऽक्षसमं हिताशी ।
सुखाम्बुना वा लवणेन तुल्यं
शिग्रोः फलं क्षीरभुजोपयोज्यम् ॥२६॥

सौवर्चल, हींग, चिरायता, प्रत्येक एक अक्षमात्रा लेकर गरम पानी के साथ पीये। मूर्वा हल्दी और आंवला इनको सात दिन गोमूत्र में रखकर चाटे (मधु से या गरम पानी से पीये)। चित्रक और बला, इनका मूल प्रत्येक एक कर्ष लेकर गरम पानी से पीये, हितकारी भोजन करे। सैन्धव नमक और सहजन का फल समान भाग लेकर पानी से पीये, भोजन में दूध का ही भोजन करे।

वक्तव्य—"निशामलकमूर्वाभिर्भावितं सप्तवासरान्। गोमूत्रं पिबतः पाण्डुः कामला च प्रणश्यति" ॥२५,२६॥

न्यग्रोधवर्गस्य पिबेत् कषायं
शीतं सिताक्षौद्रयुतं हिताशी ।
शालादिकं चाप्यथ सारचूर्णं
धात्रीफलं वा मधुनाऽवलिह्यात् ॥२७॥

न्यग्रोधादिगण के शीत कषाय को शर्करा-मधु के साथ पीये, हितकारी भोजन करे। शालसारादिगण के सार भाग का चूर्ण मधु से चाटे, या आंवले का चूर्ण मधु से चाटे ॥२७॥

विडङ्गमुस्तत्रिफलाजमोद-
परूषकव्योषविनिर्दहन्यः ।
चूर्णानि कृत्वा गुडशर्करे च
तथैव सर्पिर्मधुनी शुभे च ॥२८॥
संभारमेतद्विपचेन्निधाय
सारोदके सारवतो गणस्य ।
जातं च लेह्यं मतिमान् विदित्वा
निधापयेत्सोऽक्षकजे समुद्गे ॥२९॥
हन्त्येष लेहः खलु पाण्डुरोगं
सशोथमुग्रामपि कामलां च ।

विडंग, मुस्ता, त्रिफला, अजवायन, फालसा, त्रिकटु, चित्रक इनका चूर्ण करे, शालसारादिगण के सार भाग के क्वाथ में इन सब चूर्णों को गुड़, शर्करा, घी, और मधु को मिलाकर लेह तैयार करे। लेह तैयार हो जाने पर बुद्धिमान् वैद्य इस लेह को मुष्कक के बने सम्पुट में रख देवे। यह लेह शोथयुक्त पाण्डुरोग को तथा उग्रकामला को भी नष्ट कर देता है। (मधु का पाक निषिद्ध नहीं, मधु को गरम खाना मना है, सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा)।

वक्तव्य—पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिदमुक्तं चिकित्सितम्। विकल्प्यैवं च भिषजा यथादोषबलं प्रति ॥ स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतं तु पैत्तिके। श्लैष्मिकं कटुरूक्षोष्णं मिश्रं स्यात् सान्निपातिके ॥२८-२९॥

सशर्करा कामलिनां त्रिभण्डी
हिता गवाक्षी सगुड़ा च शुण्ठी ॥३०॥

कामला रोगियों के लिये शर्करा मिश्रित निशोथ उत्तम है। इन्द्रायण या सोंठ गुड़ के साथ हितकारी है ॥३०॥

कालेयके चापि घृतं विपक्वं
हितं च तत् स्याद्रजनीविमिश्रम् ।

कालेयक (दारुहरिद्रा) के कल्क से सित घृत में हल्दी का प्रक्षेप मिलाकर खाना भी कामला में उत्तम है।

धातुं नदीजं जतु शैलजं वा
कुम्भाह्वये मूत्रयुतं पिबेद्वा ॥३१॥

स्वर्णमाक्षिक या शिलाजतु को गोमूत्र के साथ कुम्भकामला में पीये ॥३१॥

मूत्रे स्थितं सैन्धवसंप्रयुक्तं
मासं पिबेद्वाऽपि हि लोहकिट्टम् ।

लोहकिट्ट को एकमास तक गोमूत्र में रखकर गोमूत्र के साथ भस्म करके सैन्धव मिलाकर कुम्भकामला में पीये।

दग्ध्वाऽक्षकाष्ठैर्मलमायसं वा
गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान् ॥३२॥
विचूर्ण्य लीढं मधुनाऽचिरेण
कुम्भाह्वयं पाण्डुगतं निहन्यात् ।
सिन्धूद्भवं वाऽग्निसमं च कृत्वा
क्षिप्त्वा च मूत्रे सकृदेव तप्तम् ॥३३॥
लौहं च किट्टं बहुशश्च तप्त्वा
निर्वाप्य मूत्रे बहुशस्तथैव ।
एकीकृतं गोजलपिष्टमेत-
दैकध्यमावाप्य पचेदुखायाम् ॥३४॥

यथा न दह्येत तथा विशुष्कं
चूर्णीकृतं पेयमुदश्विता तत् ।
तक्रोदनाशी विजयेत रोगं
पाण्डुं तथा दीपयतेऽनलं च ॥३५॥

लोह किट्ट को बहेड़े की लकड़ियों में गरम लाल करके गोमूत्र में बुझाये। इस प्रकार आठ बार करे। फिर इसका चूर्ण करके मधु के साथ चाटे। यह कुम्भ कामला पाण्डुरोग को नष्ट करता है। सैन्धव चूर्ण को बहेड़े की लकड़ियों में लाल अग्निवर्ण करके एक साथ ही गोमूत्र में एकदम बुझावे। लोह-किट्ट को अग्नि में बहुत बार गरम करके बार बार गोमूत्र में कई बार बुझाये। फिर इन दोनों को मिलाकर गोमूत्र के साथ पीसकर पात्र (पतीली) में रखकर पकाये। पकाते समय जलने न पाये इस बात का ध्यान रक्खे, सूख जाने पर चूर्ण करके इसको उदश्वित् (छाछ) के साथ पीये। भोजन में छाछ और चावल लेवे। इस प्रकार करने से पाण्डुरोग नष्ट होता है, और अग्नि प्रदीप्त होती है।

वक्तव्य—डल्हण ने पकाते समय पात्र का मुख ढांपने को कहा है, इसको बिभीतक लवण कहते हैं।

वि० मन्तव्य—पाण्डुरोग एवं कामला आदि में उक्त सब योग प्रायः विरेचन हैं, लोह मण्डूर एवं स्वर्ण माक्षिक के योग रक्त में लालिमा उत्पन्न करते हैं, लवण एवं मूत्र के संयोग से वृक्कों को शक्ति मिलती है, जिससे रक्त में मिला पित्त मूत्र के साथ निकल जाता है, प्रवालमुक्ता आदि पित्तशामक है। श्लो० २४ का योग बहुत ही उत्तम है, परन्तु मात्रा १ तो० होनी चाहिये, तक्र भर पेट पीना चाहिये। तक्र-अर्द्धविलोड़ित दही का हो, उसमें से माखन न निकाला जाय। और दारुहल्दी एवं हल्दी का योग (श्लो० ३१) भी बहुत उत्तम है, यकृत् की क्रिया को सुधारता है, परन्तु हल्दी की मात्रा आधा तोला हो। मण्डूर का प्रयोग (श्लो० ३२)–आमला अथवा त्रिफला के चूर्ण के साथ होना चाहिये। पाण्डुरोग में भोजन चना गेहूँ की रोटी प्रचुर घृत के साथ दी जाती है। एक बात स्मरणीय है—एक कामला ऐसा जाता है, जिसमें सब चिकित्सा विफल जाती है, केवल सफल होती है मन्त्र चिकित्सा। रोगी को खटिया पर लेटा दिया जाता है, और नीचे परात में जल डाल कर धर दिया जाता है, और पास बैठकर मन्त्रवेत्ता मन्त्र का पाठ करता है, परात का जल पीला हो जाता है, और ३–७ दिन में कामला शान्त हो जाता है, इस प्रकार के अन्य प्रयोग भी किये हैं, जो बहुत ही सफल हैं ॥३२-३५॥

द्राक्षागुडूच्यामलकीरसैश्च
सिद्धं घृतं लाघर (व) के हितं च।

द्राक्षा, गिलोय, आंवले के स्वरस से सिद्ध घृत लाघरक रोग में हितकारी है।

गौडानरिष्टान् मधुशर्कराश्च
मूत्रासवान् क्षारकृतांस्तथैव ॥३६॥
स्निग्धान् रसानामलकैरुपेतान्
कोलान्वितान् वाऽपि हि जाङ्गलानाम्।
सेवेत शोफाभिहितांश्च योगान्
पाण्ड्वामयी शालियवांश्च नित्यम् ॥३७॥

पाण्डुरोगी गुड़ से बने अभयारिष्ट आदि अरिष्टों को, मध्वासव को, शर्करासव को कुष्ठ चिकित्सा में कहे मूत्रासवों को, श्लीपद में कहे क्षारकृतासवों को, स्नेह से भूने आंवला एवं बेर से युक्त जांगलमांसरसों को, तथा शोफ में कहे देव-दारु शुण्ठी आदि योगों को, लाल चावल और जौ का नित्य सेवन करे ॥३६,३७॥

श्वासातिसारारुचिकासमूर्च्छा-
तृट्छर्दिशूलज्वरशोफदाहान्।
तथाऽविपाकस्वरभेदसादान्
जयेद्यथास्वं प्रसमीक्ष्य शास्त्रम् ॥३८॥

श्वास, अतीसार, अरुचि, कास, मूर्च्छा, प्यास, वमन, शूल, ज्वर, शोफ, दाह, अविपाक, स्वरभेद, साद (शिथिलता) इन उपद्रवों को इनकी अपनी-अपनी चिकित्सा शास्त्र के अनु-सार करे ॥३८॥

अन्तेषु शूनं परिहीनमध्यं
म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कशूनं
प्रताम्यमानं च विसंज्ञकल्पम् ॥३९॥
विवर्जयेत् पाण्डुकिनं यशोऽर्थी
तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥४०॥

रोगी के हाथ पैर-मुख सूजे हों, परन्तु मध्यकाय कृश हो, तथा हाथ पैर-मुख कृश हों परन्तु मध्यशरीर सूजा हो तो, गुदा, मेहन, वृषणों पर सूजन हो, मूर्च्छा से पीड़ित, बेमान होनेवाले, पाण्डुरोगी को तथा अतिसार ज्वर पीड़ित पाण्डुरोगी को यश चाहनेवाला वैद्य छोड़ देवे—उसकी चिकित्सा न करे।

निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिका भक्षितां भिषक्।
युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ॥
शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत्।
मृद्भक्षणाद्‌गदातुरस्य लौल्याद्विनिवर्त्तिनः ॥
द्वेष्यार्थं भावितां कामं दद्यात्तद्दोषनाशनैः।
विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ॥
वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा।
चरक चि० अ०–१६ ११७–२२ ॥३९,४०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा-तन्त्रे पाण्डुरोगप्रतिषेधो नाम (षष्ठोऽध्यायः, आदितः) चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे रक्तपित्तप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—रक्त का एक नाम लोहित है—रस श्वेत होता है लाल हो जाने पर रक्त कहलाता है, इसी प्रकार रक्त में लोह का प्रादुर्भाव होने से वह 'लोहित' कहलाता है और वह विदग्ध होकर रक्त को विदग्ध करता है तब रक्त सिराओं केशिकाओं में से चू कर मुख आदि से निकलने लगता है। रक्त का एक नाम 'क्षतज' है अर्थात् क्षत होने पर रक्त का प्रादुर्भाव होता है। क्षत हुए बिना–रक्त का दर्शन नहीं होता, परन्तु रक्त पित्त में क्षत के बिना ही केवल चू चू कर रक्त बाहर आने लगता है ॥१,२॥

क्रोधशोकभयायासविरुद्धान्नातपानलान्।
कट्वम्ललवणक्षारतीक्ष्णोष्णातिविदाहिनः ॥३॥
नित्यमभ्यसतो दुष्टो रसः पित्तं प्रकोपयेत्।
विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम् ॥४॥
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा।

क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, विरुद्ध भोजन, धूप, अग्नि, कटु, अम्ल, लवण, क्षार, तीक्ष्ण, उष्ण, अतिविदाहि द्रव्यों को नित्यप्रति सेवन करने से दूषित हुआ रक्त पित्त को प्रकुपित करता है। फिर विदग्ध हुआ पित्त अपने तीक्ष्ण उष्ण आदि गुणों से रक्त को शीघ्र ही विदग्ध बना देता है। इससे रक्त ऊपर (मुख-नासा आदि) तथा नीचे के मार्ग (गुद मूत्रमार्ग आदि से) से अथवा दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है।

वक्तव्य—साधारणतः निकला रक्त एक से तीन मिनट में जमता है। रक्त में जमने का गुण है। परन्तु जब यह पित्त के कारण विदग्ध हो जाता है, तब जल्दी नहीं जमता, इसलिये बहता रहता है, इसीसे कहा है—"पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥" (२)"अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत्॥" रक्त का विदाह पित्त की भांति है, इसलिये रक्त में द्रवत्व अधिक हो जाता है। इसीलिये "संयोगाद् दूषणात् तच्च सामान्यात् गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥" यह विदग्धता के रक्त के स्थान यकृत् प्लीहा से प्रारम्भ होती है, यथा—

"प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्त्तते।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्" ॥३,४॥

आमाशयाद् व्रजेदूर्ध्वमधः पक्वाशयाद् व्रजेत् ॥५॥
विदग्धयोर्द्वयोश्चापि द्विधा मार्गं प्रवर्तते।
केचित् सयकृतः प्लीह्नः प्रवहन्त्यसृजो गतिम् ॥६॥

विदग्ध हुआ रक्त आमाशय से मुख-नासा आदि ऊर्ध्व भाग से प्रवृत्त होता है। विदग्ध हुआ रक्त पक्वाशय से गुद-मूत्रमार्ग-योनि आदि अधो भाग से प्रवृत्त होता है। आमाशय पक्वाशय दोनों विदग्ध होने पर रक्त ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है। कई आचार्य रक्त की गति यकृत् और प्लीहा के साथ मानते हैं। (अर्थात् रक्तपित्त में यकृत और प्लीहा—रक्त स्थान भी विदग्ध होते हैं जैसा चरक कहता है)।

वि० मन्तव्य - दोनों ही कथन सत्य हैं—जो रक्त ऊर्ध्व मार्गों से निकलता है वह आमाशय से आहार मार्ग द्वारा और फुफ्फुसों से श्वास मार्ग द्वारा बाहर आता है और इन मार्गों की भीतरी दीवारों तथा मुखनासा आदि की दीवारों से चू-चू कर बाहर आता है। इसी प्रकार से जो अधोमार्गों से निकलता है वह मलाशय से गुद द्वारा, मूत्राशय से मूत्रमार्ग द्वारा, गर्भाशय से भग द्वारा तथा उक्त मार्गों की भीतरी दिवारों से चू चू कर बाहर आता है। दूसरा कथन भी सत्य है, क्योंकि यकृत् एवं प्लीहा में ही रंजक पित्त-रस को रंगते समय रक्त में मिल जाता है—रस भी क्रोध आदि कारणों से दूषित हुआ रहता है और वह पित्त को भी दूषित कर देता है, और दूषित पित्त रक्त को दूषित कर देता है (दे० श्लो० ३-४) इसलिये यह कथन भी सत्य है कि यकृत् एवं प्लीहा से ही रक्तपित्त की गति प्रवृत्ति होती है ॥५,६॥

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्।

ऊर्ध्वगामि रक्तपित्त साध्य है, अधोगामि रक्तपित्त याप्य है, दोनों मार्गों से प्रवृत्त होनेवाला रक्तपित्त असाध्य है।

"एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते।
यत् त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवित्॥
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत्।
गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता॥
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः।
सप्तच्छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः साध्यमूर्ध्वगम्॥
याप्यं त्वधोगमं मार्गौ द्वावसाध्यं प्रपद्यते।
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च॥
वर्त्तते तामसंख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम्॥"
च० चि० अ० ४॥

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ॥७॥
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ।

पूर्वरूप—अंगों में शिथिलता, शीत की चाह, कण्ठ में धूमोद्गमन की भाँति वेदना, वमन, निःश्वास में रक्त की गन्ध (या लोह धातु की भांति गन्ध आना) होता है ।

"तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तद्यथा—अनन्नाभिलाषः, भुक्तस्य विदाहः, शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारः, छर्देरभीक्ष्णागमनं, छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं, परिदाहः, मुखाद्धूमागम इव, लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमिव, चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमंगावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिंघाणकस्य कर्णमलपिडकानाम् अंगवेदना, लोहितनीलपीतश्यामानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति ॥" चरक ।

वि० मन्तव्य—लोहगन्धिश्च निःश्वासो—बाहर को निकलनेवाला श्वास लोह—तपाकर जल में बुझाए लोह की-सी गन्धवाला होता है । कारण?—रक्त में लोह होता है और पित्त उस लोह-धातु को तपाता=जलाता है और तपता—जलता हुआ लोह रक्तगत द्रव में बुझता है । फलतः उसकी गन्ध का अनुभव रोगी रक्त पित्त की पूर्वरूपावस्था में ही करने लगता है । लोह को तपाकर जल में बुझाते समय जैसी गन्ध आती है वैसी ही गन्ध निःवास में आती है । निःश्वास-भीतर से निकलनेवाला श्वास है ॥७॥

वाह्यासृग्लक्षणैस्तस्य सङ्ख्यादोषोच्छ्रितीर्विदुः ॥८॥

शोणितवर्णनीय अध्याय में कहे लक्षणों (फेनिलअरुण आदि) से रक्त पित्त सात प्रकार का है। इसमें दोष की अधिकता से इनको जानना चाहिये । यथा—

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।
श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥
रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥
संसृष्टलिंगं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।
चरक चि० अ० ४-११-१२॥

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथु-
मदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा ।
भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि
सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।
तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च
दहनं पूतिनिष्ठीवनं च ।
द्वेषो भक्तेऽविपाको
विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः ॥९॥

मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदः पूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत् कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ।१०।

उपद्रव—दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद, तन्द्रा दाह, मूर्च्छा, खाये हुए अन्न में विदाह सदा अधैर्य हृदय में असाधारण पीड़ा, प्यास, गले का क्षणन, शिर में सन्ताप, दुर्गन्धयुक्त थूक, भोजन में द्वेष, अविपाक सुख का नाश, ये रक्त पित्त के उपद्रव हैं । उपद्रवास्तु खलु दौर्वल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च ॥ चरक ॥

असाध्य—जिस रक्तपित्त में रक्त मांस के धोवन के समान या मांस उबाले पानी के समान हो, कीचड़ घुले पानी के समान जिसका रंग हो, मेद पूयरक्त के समान, यकृत् के रंग के समान, पकी हुई जामुन के समान, जो रक्त अतिकाला, अतिनीला, अतिशय मुर्दे की गन्ध का, जिसमें दुर्बलता आदि उपद्रव हो, अथवा जो रक्तपित्त इन्द्रधनुष के समान रंगोंवाला दीखता है, वह असाध्य है ।

"संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत् । यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैः यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥ हारिद्रनीलहरितताम्रैः वर्णैः उपद्रुतम् । क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥ यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति । मार्गान्मार्गं चरेद् यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥" चरक चि० अ० ४ ॥

नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग्बलिनोऽश्नतः ।
तत् पाण्डुग्रहणीकुष्ठप्लीहगुल्मज्वरावहम् ॥११॥

बलवान् एवं भोजन करनेवाले रोगी में बढ़े हुए रक्तपित्त में प्रथम संग्राहक (स्तम्भक) औषध नहीं देनी चाहिये । इससे पाण्डु-ग्रहणी-कुष्ठ प्लीहा, गुल्म-ज्वर होते हैं । चरक में—

"अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः । तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिज्वरम् । गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥ तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा । रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता ॥"

वि० मन्तव्य—जब तक रक्तपित्त अर्थात् दूषित रक्त बह रहा हो तब तक उसे रोकना उचित नहीं है । वह रक्तद्रव—रक्तपित्त है अथवा शुद्ध शोणित अर्थात् जीव शोणित ? इस जिज्ञासा में-इन्द्रगोप (वीरबहूटी नामक कृमि) के समान उज्ज्वल लाल रक्त शुद्ध शोणित होता है उसे कुत्ता खा लेता है और दूषित रक्त का वर्ण इससे विपरीत होता है तथा उसे कुत्ता नहीं खाता है । शुद्धशोणित का श्वेत वस्त्र पर दाग पड़ जाता है जो धोने पर भी नहीं छूटता और दूषित रक्त का दाग धोने पर छूट जाता है । देखिये चि० अ० ३५ का सू० १४ ॥११॥

अधःप्रवृत्तं वमनैरूर्ध्वगं च विरेचनैः ।
जयेदन्यतरद्वाऽपि क्षीणस्य शमनैरसृक् ॥१२॥

अधोगामि रक्तपित्त की वमनों से, ऊर्ध्वगामि रक्तपित्त की विरेचनों से चिकित्सा करे। क्षीण-निर्बल पुरुष के ऊर्ध्वगामि या अधोगामि किसी एक रक्तपित्त को शमन चिकित्सा से शान्त करे[1] ॥१२।

अतिप्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः ।
अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्तव्यमपतर्पणम् ॥१३॥

रक्तपित्त रोगी के यदि दोष बहुत अधिक बढ़े हुए हों, बल मांस और अग्नि क्षीण न हो तो उसे लंघन कराये। "प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तासृग् तस्मात् तत् लंघ्यमादितः" ॥१३॥

लङ्घितस्य ततः पेयां विदध्यात् स्वल्पतण्डुलाम् ।
रसयूषौ प्रदातव्यौ सुरभिस्नेहसंस्कृतौ ॥
तर्पणं पाचनं लेहात् सर्पींषि विविधानि च ॥१४॥

लंघन करने के उपरान्त थोड़े चावलों से बनाई पेया देवे। सुगन्धित और स्नेह से संस्कृत मांसरस और यूष देवे। तर्पण, पाचन, लेह, नानाप्रकार के घृत देवे।

वक्तव्य–मृद्वीकामधुकादिसाधितजलेन सशर्करेणालोडिताः सघृतक्षौद्राः लाजशक्तवः तर्पणम्। पाचनं ह्रीवेरचन्दनोशीरपर्पटमुस्तसाधितजलमानम् ॥ चरक में–मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लंघनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥ ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेया पूर्वमधोगतेः। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित् ॥१४॥

द्राक्षामधुककाश्मर्यसितायुक्तं विरेचनम् ।
यष्टीमधुकयुक्तं च सक्षौद्रं वमनं हितम् ॥१५॥

द्राक्षा, मुलैहठी, गम्भारी, सितामिश्रित विरेचन द्रव्यकल्पोक्त मृदु विरेचन देवे। मुलैहठी मधुमिश्रित वमन विकल्पोक्त मृदु वमन देवे ॥१५॥

पयांसि शीतानि रसाश्च जाङ्गलाः
सतीनयूषाश्च ससालिषष्टिकाः ।
पटोलशेलूसुनिषण्णयूथिका-
वटातिमुक्ताङ्कुरसिन्दुवारजम् ॥१६॥
हितं च शाकं घृतसंस्कृतं सदा
तथैव धात्रीफलदाडिमान्वितम् ।
रसाश्च पारावतशङ्खकूर्मजा-
स्तथा यवाग्वो विहिता घृतोत्तराः ॥१७॥
सन्तानिकाश्चोत्पलवर्गसाधिते
क्षीरे प्रशस्तां मधुशर्करोत्तराः ।
हिमाः प्रदेहा मधुरा गणाश्च ये
घृतानि पथ्यानि च रक्तपित्तिनाम् ॥१८॥

उत्पलादि द्रव्य क्वथित शीतल बनाये दूध (पित्त प्रधान रक्त पित्त में), जांगलमांसरस (वायु में), मटर का यूष (कफ में) इनको शाली एवं सांठी चावलों के साथ देवे। परवल, लसूड़ा, चौलाई, जूही, बरगद, अतिमुक्ता (माधवी लता) इनके अंकुर (कोमल पत्ते), सम्भालु के कोमल पत्ते, इनका शाक घी से संस्कृत करके आँवले और अनारदाने के साथ मिलाकर देना सदा पथ्य है। पारावत, शंख का कीड़ा, कछुआ इनके मांसरसों को तथा यवागुओं को प्रचुरघृत में सिद्ध करके देवे। उत्पलवर्ग से सिद्ध किये दूध में से उतारी मलाई को मधुर मधु और शर्करा के साथ देवे। शीतल प्रदेह, मधुरगण (काकोल्यादिगण) पीने में, मधुरगण से सिद्ध किये घृत पथ्य हैं। 'मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च। उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे ॥ प्रियंगुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणांच वरांगनानाम्। दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः ॥ सरिद्ह्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्। मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥' चरक–चि० अ० ४ ॥१६-१८॥

मधूकशोभाञ्जनकोविदारजैः
प्रियङ्गुकायाः कुसुमैश्च चूर्णितैः ।
भिषग्विदध्याच्चतुरः समाक्षिकान्
हिताय लेहानसृजः प्रशान्तये ॥१९॥
लिह्याच्च दूर्वावटजांश्च पल्लवान्
मधुद्वितीयान् सितकर्णिकस्य च ।
हितं च खर्जूरफलं समाक्षिकं
फलानि चान्यान्यपि तद्गुणान्यथ ॥२०॥

महुआ, सहजन, कोविदार (कचनार), प्रियंगु इनके फूलों में मिलाकर वैद्य रक्तपित्त की शान्ति के लिये चार लेहों को बनाये। दूर्वा, बरगद, तथा श्वेतकर्णिकार इनके पत्तों को (अलग अलग) मधु के साथ खर्जूर को मधु के साथ खर्जूर के समान गुणवाले दूसरे फलों को भी मधु के साथ खाये।

"खदिरस्य प्रियंगूनां कोविदारस्य शाल्मलेः ।
पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपित्तिकः ॥
शृंगाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि ।
लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥

---

१ बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसंप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥ गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्। अवाम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद् रक्तपित्तिनम् ॥ शोषेण सानुबंधं वा तस्य संशमनी क्रिया ॥ चरक चि० अ० ४,६२-६४ ॥

धन्वजानामसृग् लिह्यात् मधुना मृगपक्षिणाम् ।
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत्" ॥च०॥

रक्तातिसार में कहे हुए योगों को यहां पर भी बरते ।

शुद्धेक्षुकाण्डमापोथ्य नवे कुम्भे हिमाम्भसा ॥२१॥
योजयित्वा क्षिपेद्रात्रावाकाशे सोत्पलं तु तत् ।
प्रातः स्रुतं क्षौद्रयुतं पिबेच्छोणितपित्तवान् ॥२२॥

इक्षुकाण्ड (गन्ने के टुकड़े) को छीलकर इसको कुचलकर एक नये घड़े में डालकर शीतल जल भर देवे। इस घड़े को रातभर निर्मल आकाश में खुला रख देवे। प्रातःकाल इसको छानकर इसमें नीलोफर का चूर्ण और मधु मिलाकर पीये, इससे रक्तपित्त नष्ट होता है ॥२१,२२॥

पिबेच्छीतकषायं वा जम्ब्वाम्रार्जुनसंभवम् ।
उदुम्बरफलं पिष्ट्वा पिबेत्तद्रसमेव वा ॥२३॥

जामुन, आम और अर्जुन का शीत कषाय पीये अथवा गूलर के फल को पीसकर उसका रस पीये ॥२३॥

त्रपुषीमूलकल्कं वा सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
पिबेदक्षसमं कल्कं यष्टीमधुकमेव वा ॥२४॥
चन्दनं मधुकं रोध्रमेवमेव समं पिबेत् ।
करञ्जबीजमेवं वा सिताक्षौद्रयुतं पिबेत् ॥२५॥
मज्जानमिङ्गुदस्यैवं पिबेन्मधुकसंयुतम् ।
सुखोष्णं लवणं बीजं कारञ्जं दधिमस्तुना ॥२६॥
पिबेद्वाऽपि त्र्यहं मर्त्यो रक्तपित्ताभिपीडितः ।
रक्तपित्तहराः शस्ताः षडेते योगसत्तमाः ॥२७॥

छै योग—(१) ककड़ी के मूल का कल्क मधु मिलाकर चावल के पानी के साथ पीये। (२) मुलैहठी का चूर्ण एक कर्ष-मधु चावल के पानी के साथ पीये। (३) चन्दन, मुलैहठी, लोध को समान मात्रा में मधु और तण्डुलोदक से पीये। (४) करंजबीज का चूर्ण मधु और शर्करा के साथ पीये। (५) इंगुदी की मज्जा को मुलैहठी के साथ मिलाकर मधु और शर्करा के साथ पीये। (६) करंज का बीज, लवण इनको थोड़ा गरम करके दही के मस्तु (पानी) के साथ रक्तपित्त से पीड़ित रोगी तीन दिन पीये। छै उत्तमयोग रक्तपित्त नाशक हैं ॥२४-२७॥

पथ्याश्चैवावपीडेषु घ्राणतः प्रस्रुतेऽसृजि ।

नाक से रक्त बहने पर ये छैः योग अवपीड़न रूप में (नस्य रूप से) बरतने हितकारी हैं[1] ।

अतिनिस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक् ।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥२८॥

जिस मनुष्य का बहुत सा रक्त निकल गया हो, वह रक्त (तुरन्त-तात्कालिक) को मधु के साथ मिलाकर पीये। अथवा बकरी के कच्चे ही यकृत् को पित्त के साथ खाये। (रक्त हरिण शश-मुर्गे-बकरी आदि का ले)।

गोऽव्यजामहिषीक्षीरैः जीवनीययुतैस्तथा । शशैणदक्ष-मार्जारमहिषाव्याजशोणितैः । सद्यस्कैः मृदितैः वस्तिः जीवादाने प्रशस्यते ॥च०सि०अ० १०॥२८॥

पलाशवृक्षस्वरसे विपक्वं
सर्पिः पिबेत् क्षौद्रयुतं सुशीतम् ।
वनस्पतीनां स्वरसैः कृतं वा
सशर्करं क्षीरघृतं पिबेद्वा ॥२९॥
द्राक्षामुशीराण्यथ पद्मकं सितां
पृथक्पलांशान्युदके समावपेत ।
स्थितं निशां तद्रुधिरामयं जयेत्
पीतं पयो वाऽम्बुसमं हिताशिनः ॥३०॥
तुरङ्गवर्चःस्वरसं समाक्षिकं
पिबेत् सिताक्षौद्रयुतं वृषस्य वा ।
लिहेत्तथा वास्तुकबीजचूर्णं
क्षौद्रान्वितं तण्डुलसाह्वयं वा ॥३१॥
लिह्याच्च लाजाञ्जनचूर्णमेक-
मेवं सिताक्षौद्रयुतां तुगाख्याम् ।
द्राक्षां सितां तिक्तकरोहिणीं च
हिमाम्बुना वा मधुकेन युक्ताम् ॥३२॥
पथ्यामहिंस्रां रजनीं घृतं च
लिह्यात्तथा शोणितपित्तरोगी ।

ढाक के स्वरस में पकाये घृत को ठण्डा करके मधु के साथ पीये। बरगद-पीपल आदि वनस्पतियों के स्वरस में दूध से निकले घृत को सिद्ध करके शर्करा के साथ पीये। द्राक्षा, खस, पद्माख, सिता (शर्करा), प्रत्येक एक पल लेकर पानी में भिगो देवे। रातभर पड़ा रहने दे। सबेरे छानकर पीने से रक्त-पित्त शान्त होता है। अथवा दूध में समान पानी मिलाकर हितकारी भोजन करते हुए पीये। घोड़े की लीद के स्वरस में मधु मिलाकर पीये। वासे का स्वरस शर्करा और मधु के साथ पीये। बथुवे के बीज का चूर्ण या चौलाई के बीज के चूर्ण को मधु के साथ चाटे। लाजा, अंजन (सुरमा) इनका चूर्ण या वंशलोचन को शर्करा और मधु के साथ चाटे। द्राक्षा, शर्करा, कुटकी को मुलैहठी के साथ मिलाकर शीतजल से पीये। हरड़, अहिंस्रा (जटामांसी), हल्दी, घी, इनको रक्त-पित्त रोगी चाटे। (यह योग कण्ठगामि रक्तपित्त में उत्तम है)। "पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण। लिह्याद् घृतम्"—चरक ॥२९-३२॥

वासाकषायोत्पलमृत्प्रियङ्गु-
रोध्राञ्जनाम्भोरुहकेशराणि ॥३३॥
पीत्वा सिताक्षौद्रयुतानि जह्यात्
पित्तासृजो वेगमुदीर्णमाशु ।

१-कषाययोगाय इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः । घ्राणात् प्रवृत्ते रुधिरे सपित्ते यदा भवेत् निःसृतदुष्टदोषम् ॥चरक॥

अडूसा का कषाय, नीले कमल की मिट्टी, प्रियंगु, लोध, सुरमा, कमल का केशर, इनको शर्करा और मधु के साथ पीने पर तीव्र रक्तपित्त का वेग शीघ्र शांत हो जाता है। "मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणी मृदश्च।" चरक ॥३३॥

गायत्रिजम्ब्वर्जुनकोविदार-
शिरीषरोध्राशनशाल्मलीनाम् ॥३४॥
पुष्पाणि शिग्रोश्च विचूर्ण्य लेह्यो मध्वन्वितः शोणितपित्तरोगे।

गायत्री (खैर), जामुन, अर्जुन, कचनार, शिरीष, लोध, विजयसार, सिम्बल और सुहांजना, इनके फूलों का चूर्ण करके मधु के साथ रक्तपित्त रोग में चाटे ॥३४॥

सक्षौद्रमिन्दीवरभस्मवारि करञ्जबीजं मधुसर्पिषी च ॥३५॥
जम्ब्वर्जुनाम्रक्वथितं च तोयं
घ्नन्ति त्रयः पित्तमसृक् च योगाः।

कमल की भस्म को पानी में घोलकर मधु के साथ पीये। करंज बीज के चूर्ण को मधु और घृत के साथ चाटे। जामुन-अर्जुन और आम का क्वाथ मधु के साथ पीये। ये तीनों योग रक्तपित्त को नष्ट करते हैं।

वक्तव्य—ये योग कण्ठगत रक्तपित्त में उत्तम हैं, यथा—
कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते, कण्ठागते स्याद् ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च, क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य॥ चरक ॥३५॥

मूलानि पुष्पाणि च मातुलुङ्गयाः
पिष्ट्वा पिबेत्तण्डुलधावनेन ॥३६॥
घ्राणप्रवृत्ते जलमाशु देयं
सशर्करं नासिकया पयो वा।

बिजौरे के मूल और फूलों को पीसकर चावलों के पानी के साथ पीये। नाक से रक्त बहने पर शर्करा मिश्रित जल नासिका में चढ़ावे या दूध को नासिका से पीये ॥३६॥

द्राक्षारसं क्षीरघृतं पिबेद्वा
सशर्करं चेक्षुरसं हिमं वा ॥३७॥

द्राक्षा का रस, दूध से निकाली घी, शर्करा के साथ या ईख का शीतल रस नासिका से से पीये।

वक्तव्य—दूषित रक्त निकलने पर ही रक्त को बन्द करना चाहिये, अन्यथा—"रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे, दुष्टप्रतिश्याय-शिरोविकाराः। रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः॥"

चरक चि० अ० ५–१९॥

शीतोपचारं मधुरं च कुर्या-
द्विशेषतः शोणितपित्तरोगे।

रक्तपित्तरोग में विशेषतः शीतल एवं मधुर चिकित्सा करे। "वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छंखहेमामलकोदकानाम्। मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव, पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम्॥ धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्। वैडूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बु शीताः॥" चरक॥

द्राक्षाघृतक्षौद्रसितायुतेन
विदारिगन्धादिविपाचितेन ॥३८॥
क्षीरेण चास्थापनमग्र्यमुक्तं
हितं घृतं चाप्यनुवासनार्थम्।

द्राक्षा, घृत, मधु और सिता (शर्करा) मिश्रित विदारीगन्धादि से सिद्ध किये दूध से रक्त पित में आस्थापन वस्ति देना उत्तम है। तथा इन्हीं से सिद्ध किया घृत अनुवासन में उत्तम है ॥३८॥

प्रियङ्गुरोध्राञ्जनगैरिकोत्पलैः
सुवर्णकालीयकरक्तचन्दनैः ॥३९॥
सिताश्वगन्धाम्बुदयष्टिकाह्वयै-
र्मृणालसौगन्धिकतुल्यपेषितैः।
निरूह्य चैनं पयसा समाक्षिकै-
र्घृतप्लुतैः शीतजलावसेचितम् ॥४०॥
क्षीरौदनं भुक्तमथानुवासयेद्
घृतेन यष्टीमधुसाधितेन च।
अधोवहं शोणितमेष नाशये-
त्तथाऽतिसारं रुधिरस्य दुस्तरम् ॥४१॥
विरेकयोगे त्वति चैव शस्यते

प्रियंगु, लोध, सुरसा, गेरु, नीलोत्पल, सुवर्णगेरु, कालीयक, रक्तचन्दन, शर्करा, अश्वगन्धा, मोथा, मुलैहठी, कमलनाल, सौगन्धिक (कमलभेद) इनको समान भाग लेकर पीसकर घी, मधु और दूध में मिलाकर रोगी को निरूह वस्ति देवे। निरूह के पीछे शीतल जल से स्नान कराके, दूध और चावल खिलाये। फिर मुलैहठी से सिद्ध किये घृत से अनुवासन दे। यह उपचार अधोगामि रक्तपित्त को, एवं भयानक रक्तातिसार को नष्ट करता है। विरेचन के अतियोग में भी यह उत्तम है ॥३९-४१॥

वाम्यश्च रक्ते विजिते बलान्वितः ॥४२॥

निरूह एवं अनुवासन से रक्त को शान्त कर लेने पर बलवान् पुरुष को वमन कराना चाहिये।

वक्तव्य—अधोगामि रक्तपित्त में वमन कराने से फिर रक्त का भय नहीं रहता ॥४२॥

एवंविधा उत्तरवस्तयश्च
मूत्राशयस्थे रुधिरे विधेयाः।

वस्तिस्थ या मूत्रस्रोत से प्रवृत रक्त में-आस्थापन, अनुवासन की भांति उत्तर वस्तियां देनी चाहिये।

प्रवृत्तरक्तेषु च पायुजेषु
कुर्याद्विधानं खलु रक्तपैत्तम् ॥४३॥

अर्शों में रक्त का अतिस्राव होने पर रक्तपित्त की चिकित्सा करे ॥४३॥

विधिश्चासृग्दरेऽप्येष स्त्रीणां कार्यो विजानता।
शस्त्रकर्मणि रक्तं च यस्यातीव प्रवर्तते ॥४४॥

जाननेवाला वैद्य स्त्रियों के असृग्दर में भी यही विधि बरते। शस्त्रकर्म में जिस मनुष्य का रक्त अधिक बहे, उसमें भी रक्तपित्त की यही चिकित्सा बरते ॥४४॥

त्रयाणामपि दोषाणां शोणितेऽपि च सर्वशः।
लिङ्गान्यालोक्य कर्तव्यं चिकित्सितमनन्तरम् ॥४५॥

रक्त में वातादि तीनों दोषों के लक्षणों को सम्पूर्ण रूप में शोणित वर्णनीय अध्याय की दृष्टि से विचारकर-पीछे से रक्तपित्त में—(असृग्दर में या शस्त्र कर्म में) चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम्।
हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित् ॥
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात्।
अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च ॥
दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत्।
यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च ॥
वर्त्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यंगानुवासनैः ॥
यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्त्तते ॥
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद् वातकफानुगम् ॥
चरक चि० अ० १४-१८०-१८४ ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे रक्तपित्तप्रतिषेधो नाम (सप्तमोऽध्यायः आदितः) पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मूर्च्छाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूर्च्छाप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—मूर्च्छा-सर्वथा संज्ञाहीनता (बेहोशी) मोह-कुछ कुछ संज्ञा रहती है (बदहोशी), मद-नशा जैसा शराब एवं भांग आदि का नशा ॥१,२॥

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥३॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥४॥
हृत्पीडाजृम्भणं ग्लानिः संज्ञानाशो बलस्य च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि; यथास्वं ता विभावयेत् ॥५॥

क्षीण हुए, बहुत दोषवाले, विरोधी भोजन करनेवाले पुरुष में मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से या चोट लगने से तथा निर्बल मनवाले पुरुष के बुद्धि-इन्द्रियं-मन कर्मेन्द्रिय-अहंकार आदि स्थानों में तथा कर्मेन्द्रिय आदि बाह्य स्थानों में, ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि आदि अन्तः स्थानों में-प्रवृद्ध दोष जब प्रविष्ट हो जाते हैं। सब प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरूप—हृदय में पीड़ा, जम्भाई, ग्लानि, संज्ञा एवं बल का नाश होता है। इस मूर्च्छा को इन दोषों के अपने अपने लक्षणों से पहचाने।

वक्तव्य—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक्समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्यात् विचक्षणः। यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिंगोपशान्तिषु ॥ दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते। मनो विक्षोभयञ्जन्तोः संज्ञां संमोहयेत्तदा ॥ पित्तमेवं कफश्चैव मनो विक्षोभयन्नृणाम्। संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ वातादि जनित मूर्च्छा के लक्षण—चरक सू० अ० २४-२५ से २६ तक में दिये हैं ॥३-५॥

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥६॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः-

वातादिदोषों से संज्ञावहा नाड़ियों के रुक जाने पर सहसा तम सामने आ जाता है, जिससे सुख एवं दुःख दोनों का नाश हो जाता है। सुख और दुःख का नाश होने से मनुष्य लकड़ी के समान गिर जाता है, इस अवस्था को मोह मूर्च्छा कहते हैं ॥६॥

षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥७॥

वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥८॥
(नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथ वारुणम्।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च।
कार्श्यं श्यावारुणाच्छायामूर्च्छाये वातसंभवे ॥
रक्तं हरितवर्णं वा वियत् पीतमथापि वा।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रयुज्यते ॥
सपिपासः ससन्तापी रक्तपीतारुणेक्षणः।
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥
मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसम्भवे ॥)

यह मूर्च्छा छै प्रकार की है, यथा—वातादि तीन दोषों से तीन प्रकार की, रक्त से, मद्य से और विष से इन छै मूर्च्छाओं में पित्त ही प्रधानता से रहता है। कहा भी है—

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः ।
तमो वातकफात् तन्द्रा, निद्राश्लेष्मतमोभवा ॥
यश्च मद्यकृतः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः ।
सर्वं एते मदा नर्त्ते वातपित्तकफत्रयात् ॥७,८॥

अपस्मारोक्तलिङ्गानि तासामुक्तानि तत्त्वतः ।

इन मूर्च्छाओं के लक्षण मुख्यतः अपस्मार के लक्षणों के समान होते हैं ॥ चरक में—

सर्वाकृतिसन्निपातादपस्मार इवागतः ।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥

इनमें झाग आना, दांतों से काटना, आँखें चढ़ना आदि बीभत्स लक्षण छोड़कर शेष लक्षण अपस्मार के समान हैं।

पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः ॥९॥
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ।

पृथ्वी और जलतमोमय है, इसलिये रक्त की गन्ध भी पृथ्वी जलमय है। इसलिये रक्त की गन्ध के कारण मनुष्य पृथ्वी पर मूर्च्छित होते हैं।

वक्तव्य—तमोबहुला पृथ्वी, सत्त्वतमोबहुला आपः। रक्त की गन्ध पांचभौतिक होने पर भी इसमें पृथ्वी जल की प्रधानता है। रक्त की विस्र गन्ध ही इस मूर्च्छा का कारण है, शोणितं गुरु विस्रं च ॥ सु० ॥९॥

द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति ॥१०॥

दूसरे आचार्य मानते हैं कि यह द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है, जिसको देखकर मनुष्य को मूर्च्छा आती है।

वक्तव्य—रक्त की गन्ध से अथवा रक्त को देखने से हीन-सत्त्व-निर्बल मनवालों को मूर्च्छा आती है, सब को नहीं। इसीसे चरक में-सत्त्वतः परीक्षेत्, यह कहा है—सत्वमुच्यते मनः तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। त्रिविधबलभेदेन-प्रवरं मध्यमवरं चेति। महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्स-विकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्ति अथवा मरणमिति। चरक वि० अ० ८-१२१ ॥१०॥

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः ।
त एव तस्माज्जायेत मोहस्ताभ्यां यथेरितः ॥११॥

विष और मद्य में रूक्षादिगुण तीव्र एवं तीव्रतर भेद से ही रहते हैं। विष और मद्य से मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—चरक में जायते शाम्यति क्षिप्रं मदो मद्यमदाकृतिः ॥ (२) मद्य में रूक्षादि गुण तीव्ररूप में रहते हैं और विष में तीव्रतर रूप से रहते हैं। इसी से कहा है चरक चि० अ० २४-६८—

"विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः ।
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ।
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ ॥"

वि० मन्तव्य—विष एवं मद्य के दस गुण-देखिये कल्पस्थान अ० २ श्लो० १९-२० तथा उन गुणों के प्रभाव देखिये वहीं श्लो० २१-२२-२३ में ॥११॥

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गुणोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ।

रक्तजन्य मूर्च्छा में—रोगी का अंग एवं दृष्टि स्तब्ध (जड़) बन जाती है, श्वास अस्पष्ट रहता है।

मद्येन विलपंश्छेते नष्टविभ्रान्तमानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥१२॥

मद्यजनित मूर्च्छा में—रोगी प्रलाप करता है, लेट जाता है। मन (स्मृति) नष्ट हो जाती है, मन विक्षिप्त रहता है, जब तक मद्य का पाक नहीं होता, तब तक भूमि पर पड़ा हुआ अंगों को फेंकता रहता है ॥१२॥

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युः स्तम्भश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥१३॥

विषजनित मूर्च्छा में—कम्पन, प्यास, नींद आना, जड़ता होती है। विष के अपने लक्षणों से विष के अपने स्वरूप को तीव्र-तीव्रतर जानना चाहिये। विष की तीव्रता विषके अपने लक्षणों से पहिचाने ॥१३॥

सेकावगाहौ मणयः सहाराः
शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च ।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति
सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि ॥१४॥

शीतल परिषेक, शीतल पानी में अवगाहन, हार में पिरोई मणियों को धारण करना, शीतल प्रदेह, पंखे की ठण्डी हवा, शीतल एवं सुगन्धित पेय, सब प्रकार की मूर्च्छाओं में प्रशस्त हैं॥

सिताप्रियालेक्षुरसप्लुतानि
द्राक्षामधूकस्वरसान्वितानि ।
खर्जूरकाश्मर्यरसैः शृतानि
पानानि सर्पींषि च जीवनानि ॥१५॥

शर्करा, पियाल, ईख के रस में बनाये द्राक्षा, महुए के स्वरस से मिश्रित खजूर और गम्भारी के रसों से सिद्ध किये पेय द्रव तथा काकोल्यादि जीवनीय गण से बनाये घृत सब प्रकार की मूर्च्छाओं में प्रशस्त हैं ॥१५॥

सिद्धानि वर्गे मधुरे पयांसि
सदाडिमा जाङ्गलजा रसाश्च ।
तथा यवा लोहितशालयश्च
मूर्च्छासु पथ्याश्च सदा सतीनाः ॥१६॥

काकोल्यादि मधुरवर्ग में सिद्ध किये दूध, अनारदाने से

मिश्रित जांगल मांसरस, जो और चावल, मटर ये सदा मूर्च्छा में हितकारी हैं ॥१६॥

मुजङ्गपुष्पं मरिचान्युशीरं
कोलस्य मध्यं च पिबेत् समानि ।
शीतेन तोयेन बिसं मृणालं
क्षौद्रेण कृष्णां सितया च पथ्याम् ॥१७॥

नागकेसर, मरिच, खस, बेर की मज्जा, इनको समान भाग लेकर शीतलजल से पीये । बिस, कमलनाल इनको शीतल जल से पीये । पिप्पली को मधु के साथ चाटे, हरड़ को शर्करा के साथ खाये ॥१७॥

कुर्याच्च नासावदनावरोधं
क्षीरं पिबेद्वाऽप्यथ मानुषीणाम् ।
मूर्च्छां प्रसक्तां तु शिरोविरेकै-
र्जयेदभीक्ष्णं वमनैश्च तीक्ष्णः ॥१८॥

मूर्च्छा के समय नाक और मुख को बन्द करके श्वास को रोके । धावन (स्त्री का दूध) को पीये, (नाक से या मुख से) । मूर्च्छा के निरन्तर बना रहने पर शिरोविरेचन देवे, या तीक्ष्ण वमन देकर शान्त करे । (स्त्रीस्तन्य बहुत शीतल है) ॥१८॥

हरीतकीक्वाथशृतं घृतं वा
धात्रीफलानां स्वरसैः कृतं वा ।
द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति
शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति ॥१९॥
पिबेत् कषायाणि च गन्धवन्ति
पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति ।

हरड़ के क्वाथ में सिद्ध किया या आंवलों के स्वरस में सिद्ध किया घृत पीये । पित्तज्वर को जो कषाय शान्त करते हैं (श्रीपर्णी आदि कृत), उन कषायों में द्राक्षा, सिता, अनारदाना तथा लाजवन्ति प्रचुर मात्रा में मिलाकर शीतल करके पीये या नीलोफर और कमल मिलाकर, अथवा सुगन्धित करके इन कषायों को पीये ॥१९॥

प्रभूतदोषस्तमसोऽतिरेकात् संमूर्छितो नैव विबुध्यते यः ॥
संन्यस्तसंज्ञो भृशदुश्चिकित्स्यो ज्ञेयस्तदा बुद्धिमता मनुष्यः

दोष की अधिकता से मूर्च्छित हुआ मनुष्य तम के अतिरेक के कारण जब जागृत नहीं होता, तब उसे संन्यस्त (संन्यास) संज्ञावाला जानना, यह कष्टसाध्य है, ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य जाने । चरक–

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
प्राणैः विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलां क्रियाम् ॥२०॥

यथाऽऽमलोष्टं सलिले निषिक्तं
समुद्धरेदाश्वविलीनमेव ॥२१॥
तद्वच्चिकित्सेत्त्वरया भिषक्त-
मस्वेदनं मृत्युवशं प्रयातम् ।

जिस प्रकार पानी में डूबते हुए मिट्टी के कच्चे ढेले को पानी से घुलने से पूर्व ही बचाना होता है, उसी प्रकार प्रस्वेद रहित, मृत्यु के वश में जाते हुए संन्यास रोगी की वैद्य शीघ्रता से चिकित्सा करे । चरक—

दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद्भाजनं त्वरया बुधः ।
गृह्णीयात्तलमप्राप्तं तथा सन्न्यासपीडितम् ॥२१॥

तीक्ष्णाञ्जनाभ्यञ्जनधूमयोगै-
स्तथा नखाभ्यन्तरतोत्रपातैः ॥२२॥
वादित्रगीतानुनयैरपूर्वै-
र्विघट्टनैर्गुप्तफलावघर्षैः ।

इसके लिये तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण अभ्यंजन, तीक्ष्णधूम देवे, नखों के बीच में सूई चुभोये । गाना, बजाना, सान्त्वना आदि से, हिलाने-जुलाने से, कौंच को शरीर पर रगड़कर चेतना में लाये ।

अंजनान्यवपीडाश्च धूमः प्रधमनानि च ।
सूचीभिस्तोदनं शस्त्रैः दाहः पीडा नखान्तरे ॥
लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दंशनमेव च ।
आत्मगुप्तावघर्षाश्च हितास्तस्यावबोधने ॥ चरक ॥२२॥

आभिः क्रियाभिश्च नलब्धसंज्ञः
सानाहलालाश्वसनश्च वर्ज्यः ॥२३॥

यदि उपर्युक्त क्रियाओं के करने से भी चेतना न आये, तो रोगी को आनाह, लालस्राव, श्वास हो तो उसकी चिकित्सा न करे ॥२३॥

प्रबुद्धसंज्ञं वमनानुलोम्यैस्तीक्ष्णैर्विशुद्धं लघुपथ्यमुक्तम् ।
फलत्रिकैश्चित्रकनागराढ्यैस्तथाऽश्मजाताज्जतुनः प्रयोगैः ॥
सशर्करैर्मासमुपक्रमेत
विशेषतो जीर्णघृतं स पाय्यः ॥२४॥

तीक्ष्ण अंजन आदि से संज्ञा आ जाने पर तीक्ष्ण वमन, विरेचन से शोधन करके पेयादि क्रम से लघु पथ्य भोजन देकर, त्रिफला, चित्रक, सोंठ, शर्कराबहुल, एवं शिलाजतु के प्रयोगों से एक मास तक चिकित्सा करे । विशेषतः दस साल पुराना घृत पिलाना चाहिये ।

संमूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च ।
प्रभूतकटुयुक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ॥
मातुलुंगरसं तद्वन्महौषधसमायुतम् ।
तद्वत्सौवीरकं दद्यात् युक्तं मद्याम्लकांजिकैः ॥
हिंगूषणसमायुक्तं यावत्संज्ञाप्रबोधनम् ।
प्रबुद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥
विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ।

पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैः चित्रैश्च दर्शनैः ॥
स्रंसनोल्लेखनैः धूमैः अंजनैः कवलग्रहैः ।
शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्घर्षणैस्तथा ॥
प्रवृद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपाक्रमेत् ।
तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयहेतुतः ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम् ।
पंचकर्माणि तथा मूर्च्छायेषु मदेषु च ॥
त्रिफलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः ।
शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा ॥
पिप्पलीनां प्रयोगो वा प्रयोगश्चित्रकस्य वा ।
रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥ च० ॥२४॥

यथास्वं च ज्वरघ्नानि कषायाण्युपयोजयेत् ।
सर्वमूर्च्छापरीतानां विषजायां विषापहम् ॥२५॥

दोषों के उनके अपने अपने अनुसार ज्वरनाशक कषाय सब प्रकार की मूर्च्छा में बरते । विषजनित मूर्च्छा में विषनाशक चिकित्सा (नस्य, अंजन आदि) करे ॥२५॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे शोषप्रतिषेधो नाम (अष्टमोऽध्यायः, आदितः) षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पानात्ययप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे पानात्ययप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

मद्यमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च ।
रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च ॥३॥

मद्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, रूक्ष, अशुकारी, व्यवायी और विकाशी है ।

वक्तव्य—आशुकारी शीघ्र कार्य करनेवाला । व्यवायी-सारे शरीर में फैलकर फिर पाक होता है । विकाशी-सन्धिबन्धों को ढीला करता है । चरक में—लघु और अम्ल ये दो गुण अधिक पढ़े हैं, दस गुण मद्य के हैं, दस गुण ये ही विष में हैं । इनसे विपरीत दस गुण ओज में हैं, यथा—गुरुशीतं मृदुश्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ ओज के दस गुण गाय के दूध में हैं । इसलिये गाय का दूध ओज को बढ़ाता है, मद्य ओज को कम करता है ॥३॥

औष्ण्याच्छीतोपचारं तत्तैक्ष्ण्याद्धन्ति मनोगतिम् ।
पिंशत्यवयवान् सौक्ष्म्याद्वैशद्यात्कफशुक्रनुत् ॥४॥
मारुतं कोपयेद्रौक्ष्यादाशुत्वाच्चाशुमर्मकृत् ।
हर्षदं च व्यवायित्वाद्विकाशित्वाद्विसर्पति ॥५॥

मद्य के उष्ण होने से (पित्त प्रकोपक होने से) शीतल उपचार किया जाता है । तीक्ष्ण होने से मन की गति को नष्ट करता है । सूक्ष्म होने से अवयवों में घुसता है, विशद होने से कफ और शुक्र को नष्ट करता है । रूक्ष होने से वायु को कुपित करता है, आशु होने से शीघ्र कार्य करता है । व्यवायी होने से हर्ष देता है, विकाशी होने से सारे शरीर में फैलता है ।

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् ।
दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥ चरक ॥४,५॥

तदम्लं रसतः प्रोक्तं लघु रोचनदीपनम्
केचिल्लवणवर्ज्यांस्तु रसानत्रादिशन्ति हि ॥६॥

मद्य में अम्लरस प्रधानता से रहता है, अम्लरस लघु, रोचक और अग्निदीपक है । कई आचार्य लवण रस को छोड़कर शेष पांचों रस मद्य में मानते हैं । (मद्यस्य षड्रसत्वेपि व्यक्तोऽम्लरस उच्यते) ॥६॥

स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम् ।
भवेदायुः प्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥७॥

स्निग्ध अन्न, स्निग्ध मांस और स्निग्ध भक्ष्यों के साथ सेवन किया यह मद्य आयु को बढ़ाने के लिये, बल की वृद्धि के लिये होता है ।

हर्षमूर्जो मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम् ।
युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखावहम् ॥
रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ।
प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥ च० ॥७॥

काम्यता मनसस्तुष्टिर्धैर्यं तेजोऽतिविक्रमः ।
विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः ॥८॥

मद्य का विधिपूर्वक सेवन करने से कमनीयता, मन की प्रसन्नता, धैर्य, तेज, अति विक्रम (पराक्रम) ये सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तेज-प्रभा) ॥८॥

तदेवानन्नमज्ञेन सेव्यमानममात्रया ।
कायाग्निना ह्यग्निसमं समेत्य कुरुते मदम् ॥९॥

यही अग्नि के समान मद्य अन्न के बिना, मूर्ख व्यक्ति के सेवन करने से, या अतिमात्रा में सेवन करने पर जठराग्नि के साथ मिलकर मद को करता है ।

अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम् ।
किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ॥
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् । चरक ॥९॥

मदेन करणानां तु भावान्यत्वे कृते सति ।
निगूढमपि भावं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः ॥१०॥

मद्य के कारण मन बुद्धि और इन्द्रियों के स्वरूपों के बदल जाने पर मनुष्य अपने छिपे हुए अभिप्राय को भी मद के अधीन होकर स्वयं प्रकाशित कर देता है ॥१०॥

व्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः ।
पूर्वे वीर्यरतिप्रीतिहर्षभाष्यादिवर्धनम् ॥११॥
प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियास्तथा ।
विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः ॥१२॥

मद्य की तीन अवस्थायें हैं, पूर्वावस्था, मध्यमावस्था और पश्चिमावस्था ।

मद्य की पूर्वावस्था में-वीर्य (उत्साह), रति, हर्ष, प्रीति, हर्ष-तुष्टि, भाष्य-वक्तृत्व आदि बढ़ते हैं ।

मद्य की द्वितीयावस्था में—मोह, कभी ठीक क्रियायें और कभी अयुक्त-अशुद्ध क्रियायें होती हैं ।

मद्य की पश्चिमावस्था में कर्म, क्रिया, गुण नष्ट होकर रोगी जमीन पर सो जाता है ।

वक्तव्य—"बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारुचिवृद्धिहेतुः । संपाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः । आलस्यनिद्राभिहतो मृदुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन । गच्छेदगम्याश्च गुरून्न मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः । ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मत्तो मदेन प्रवरेण मर्त्यः" ॥११,१२॥

श्लैष्मिकानल्पपित्तांश्च स्निग्धान्मात्रोपसेविनः ।
पानं न बाधतेऽत्यर्थं विपरीतांस्तु बाधते ॥१३॥

कफप्रकृति, अल्प पित्तवाले, स्निग्ध शरीर, मात्रा में सेवन करनेवालों को मद्यपान अधिक कष्ट नहीं देता । इन से विपरीत पित्ताधिक, रूक्ष, अमात्रा में सेवन करनेवालों को पीड़ा पहुँचाता है ॥१३॥

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं
निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम् ।
उत्पादयेत् कष्टतमान् विकारा-
नापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥१४॥

भोजन के बिना अकेला ही सेवन किया नित्य प्रति मद्य मनुष्य में भयानक रोगों को तथा मृत्यु को उत्पन्न करता है ॥

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन
शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन ।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन
वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥१५॥
अत्यम्लभक्ष्यावततोदरेण
साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं
करोति मद्यं विविधान् विकारान् ॥१६॥

क्रुद्ध, डरे हुए, प्यासे, शोक से पीड़ित, भूखे, व्यायाम-भार और मुसाफरी से थके, मूत्रादि के वेग को रोकने से पीड़ित मनुष्य द्वारा सेवन किया हुआ मद्य भिन्न-भिन्न रोगों को उत्पन्न करता है । अतिशय अम्ल के खाने से आवृत उदरवाले मनुष्य के, अजीर्ण में भोजन करके सेवन किया हुआ मद्य, निर्बल व्यक्ति से पीया मद्य, गरमी से अभितप्त अवस्था में सेवन किया मद्य नानाप्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है ॥१५,१६॥

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१७॥

पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण, भयानक पानविभ्रम ये भिन्न-भिन्न रोग होते हैं, इनके लक्षण कहता हूँ ।

वि० मन्तव्य—पानात्यय-यह रोग मादक द्रव्य के अधिक सेवन से होता है । परमद—यह रोग मद (नशा) के अधिक हो जाने से होता है । पानाऽजीर्ण—यह रोग मद्य-मादक द्रव्य के अपच से होता है और पानविभ्रम—मद्य के मिथ्यायोग से होता है ॥१७॥

स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः
पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च ।
स्वेदप्रलापमुखशोषणदाहमूर्च्छाः
पित्तात्मके वदनलोचनपीतता च ॥१८॥
श्लेष्मात्मके वमथुशीतकफप्रसेकाः
सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंपत् ।

वातजनित पानात्यय में स्तब्धता, अंगों का टूटना, हृदय का पकड़ा जाना, चुभने की सी दर्द, कम्प, शिर में दर्द होता है । पित्तजनित पानात्यय में स्वेद, प्रलाप, मुखशोष, दाह, मूर्च्छा आँख और मुख में पीलापन होता है । कफजनित पानात्यय में-वमन, शीत, कफ का प्रसेक होता है । सन्निपातजन्य-पानात्यय में—सब प्रकार के विकार (लक्षण) होते हैं ॥१८॥

ऊष्माणमङ्गगुरुतां विरसाननत्वं
श्लेष्माधिकत्वमरुचिं मलमूत्रसङ्गम् ॥१९॥
लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णां रुजां शिरसि सन्धिषु चापि भेदम् ।

परमद में—उष्णिमा, अंगों में भारीपन, मुख में विरसता, कफ की अधिकता, अरुचि, मल-मूत्र का अवरोध, तृष्णा, शिर-में दर्द, सन्धियों में भेद होते हैं, परमद के ये लक्षण होते हैं ॥

आध्मानमुद्गिरणमम्लरसो विदाहो-
ऽजीर्णस्य पानजनितस्य वदन्ति लिङ्गम् ॥२०॥
ज्ञेयानि तत्र भिषजा सुविनिश्चितानि
पित्तप्रकोपजनितानि च कारणानि ।

पानाजीर्ण में—आध्मान, वमन, अम्लरस, विदाह ये पानाजीर्ण के लक्षण होते हैं । इसमें पित्तप्रकोपजनित लक्षणों को वैद्य निश्चितरूप में जाने ॥२०॥

हृद्गात्रतोदवमथुज्वरकण्ठधूम-
मूर्च्छाकफस्रवणमूर्धरुजो विदाहः ॥२१॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेषु च तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ।

पानविभ्रम—हृदय और शरीर में चुभने का-सा दर्द,

वमन, ज्वर, कण्ठ में धूमप्रतीति, मूर्च्छा, कफ का स्राव, शिर में दर्द, विदाह, सुरा एवं अन्न की बनावटों से द्वेष, इसको विद्वान् लोग पानविभ्रम सम्पूर्ण रूप में कहते हैं ॥२१॥

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतमसन्ददाहं
तैलप्रभास्यमति (पि) पानहतं विजह्यात् ॥२२॥
जिह्वोष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे च ।

अधरोष्ठ अन्दर को दबा हुआ हो, रोगी बहुत ठण्डा हो या तीव्र दाह हो, मुख पर तैल की चमक हो तो मद्यपान से पीड़ित रोगी की चिकित्सा न करे। जिह्वा-ओठ दाँत काले अथवा नीले हो गये हों, आँखें लाल या पीली हो गई हों, वैसे मद्यपान रोगी को भी असाध्य समझे ॥२२॥

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥२३॥

उपद्रव-हिक्का, ज्वर, वमन, कम्पन, पार्श्वशूल, कास, भ्रम ये पान से पीड़ित रोगी को होते हैं ॥२३॥

तेषां निवारणमिदं हि मयोच्यमानं
व्यक्ताभिधानमखिलेन विधिं निबोध ।

मुझसे कही हुई इसकी चिकित्सा स्पष्ट लक्षणों के साथ सम्पूर्ण रूप में सुनो।

भिन्नं तु चुक्रमरिचार्द्रकदीप्यकुष्ठ-
सौवर्चलायुतमलं पवनस्य शान्त्यै ॥२४॥
पृथ्वीकदीप्यकमहौषधहिङ्गुभिर्वा
सौवर्चलेन च युतं वितरेत् सुखाय ।

वातजनित पानात्यय की शान्ति के लिये-चुक्र, मरिच, आर्द्रक, अजवायन, कूठ, ईषत्सौवर्चल युक्त मद्य देवे। पृथ्वीका (बड़ी इलायची), अजवायन, सोंठ, हींग सौवर्चल युक्त मद्य देवे ॥२४॥

आम्रातकाम्रफलदाडिममातुलुङ्गैः
कुर्याच्छुभान्यपि च षाडवपानकानि ॥२५॥
सेवेत वा फलरसोपहितान् रसादी-
नानूपवर्गपिशितान्यपि गन्धवन्ति ।

आम्रातक (आमड़ा), आम, अनार, बिजौरा इनसे बनाये उत्तम षाड़व पानक देवे। बिजौरे के रस से मिश्रित मांसरस, यूष आदि का, प्रभूत हींग-जीरकवाले आनूपवर्ग (कूलचरादि वर्ग) के मांसों का सेवन करे।

षाड़व-पानक—"युतमिक्षुविकारेण क्वथितं चूतजं फलम्। घृतशुण्ठीतिलयुतं विज्ञेयो घनषाडवः" ॥२५॥

पित्तात्मके मधुरवर्गकषायमिश्रं
मद्यं हितं समधुशर्करमिष्टगन्धम् ॥२६॥

पित्तजन्य मदात्यय में काकोल्यादि मधुरवर्ग (गिलोय को छोड़कर) से मिश्रित, मधु, शर्करा एवं मनपसन्द युक्त गन्धवाला मद्य हितकारी है ॥२६॥

पीत्वा च मद्यमपि चेक्षुरसप्रगाढं
निःशेषतः क्षणमवस्थितमुल्लिखेच्च ।
लावैणतित्तिरिरसांश्च पिबेदनम्लान्
मौद्गान् सुभाय सघृतान् ससितांश्च यूषान् ॥

मद्य में ईख का रस (अभाव में गुड़) प्रचुर मात्रा में मिलाकर पीये, फिर कुछ देर रुककर इसको सम्पूर्ण रूप में वमन कर देवे। अम्लरस रहित-बटेर, हरिण तीतर के मांस को, घृतयुक्त मूंग के यूषों को सुख के लिये पीये ॥२७॥

पानात्यये कफकृते कफमुल्लिखेच्च
मद्येन विम्बिविदुलोचकसंयुतेन ।
सेवेत तिक्तकटुकांश्च रसानुदारान्
यूषांश्च तिक्तकटुकोपहितान् हिताय ॥२८॥

कफजनित पानात्यय में कन्दूरी, विदुल के क्वाथ से मिश्रित मद्य द्वारा कफ का वमन करे। जांगल मेदयुक्त मांस रसों को तिक्त कटु के साथ सेवन करे। दुरालभादि तिक्त, पिप्पल्यादि कटुद्रव्यों से मिश्रित यूषों का सेवन करे ॥२८॥

पथ्यं यवान्नविकृतानि च जाङ्गलानि
श्लेष्मघ्नमन्यदपि यच्च निरत्ययं स्यात् ।

जौ के बने नाना प्रकार के भक्ष्य, जांगलमांस, कफनाशक एवं निर्दोष जो अन्य वस्तुयें हों, वे भी उत्तम हैं।

कुर्याच्च सर्वमथ सर्वभवे विधानं
द्वन्द्वोद्भवे द्वयमवेक्ष्य यथाप्रधानम् ॥२९॥

सन्निपातज मद्य विकार में सब दोषों को मिलित, द्वन्द्वज में दो दोषों को देखकर योगप्रधान (जो दोष प्रधान) हो, उसकी प्रथम चिकित्सा करे ॥२९॥

सामान्यमन्यदपि यच्च समग्रमग्र्यं
वक्ष्यामि यच्च मनसो मदकृत् सुखं च ।

दूसरी भी जो सामान्य मन को प्रसन्न करनेवाली है, सम्पूर्ण रूप में सब अवस्थाओं में सुखदायक हैं, उस चिकित्सा को कहता हूँ।

त्वङ्नागपुष्पमगधैलमधूकधान्यैः
श्लक्ष्णैरजाजिमरिचैश्च कृतं समांशैः ॥३०॥
पानं कपित्थरसवारिपरूषकाढ्यं
पानात्ययेषु विधिवत्स्तुतमम्बरान्ते ।
ह्रीवेरपद्मपरिपेलवसंप्रयुक्तैः
पुष्पैर्विलिप्य करवीरजलोद्भवैश्च ॥३१॥
पिष्टैः सपद्मकयुतैरपि सारिवाद्यैः
सेकं जलैश्च वितरेदमलैः सुशीतैः ।
त्वक्पत्रचोचमरिचैलभुजङ्गपुष्प-
श्लेष्मातकप्रसववल्कगुडैरुपेतम् ॥३२॥
द्राक्षायुतं हृतमलं मदिरामयार्ते-
स्तत्पानकं शुचि सुगन्धि नरैर्निषेव्यम् ।

पिष्ट्वा पिबेच्च मधुकं कटुरोहिणीं च
द्राक्षां च मूलमसकृत् त्रपुषीभवं यत् ॥३३॥
कार्पासिनीमथ च नागबलां च तुल्यां
पीत्वा सुखी भवति साधु सुवर्चलां च।

दालचीनी, नागकेसर, पिप्पली, इलायची, महुआ, धनिया, जीरा, मरिच, इनको समान मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण करले। इस चूर्ण को कैथ के स्वरस, जल, फालसा इनमें घोलकर वस्त्र में से छानकर पानात्ययों में पीये। ह्रीवेर, कमल, केवड़ी मोथा के साथ, करवीर एवं कमल आदि जलज पुष्पों के साथ लेप करे। सारिवादिगण, पद्माख इनको पीसकर इनको अतिशीतल, निर्मल पानी में घोलकर इस जल से परिषेक करे। दालचीनी, तेजपत्र, तज, मरिच, इलायची, नागकेसर, लसूड़े के कोमल पत्ते, छाल, गुड़ एवं द्राक्षा मिश्रित, कपड़े से छाने, पवित्र, सुगन्धित पानक, मदिरा से पीड़ित मनुष्यों को सेवन करना चाहिये। मुलैहठी, कुटकी, द्राक्षा, खीरे की जड़ (अभाव में बीज) इनको पीसकर कई बार पीये (अच्छी प्रकार पीसकर पीये)। वनकार्पासी, नागबला और हुलहुल इनको अच्छी प्रकार पीसकर पीये, इससे आरोग्य होता है ॥३०-३३॥

काश्मर्यदारुविडदाडिमपिप्पलीषु
द्राक्षान्वितासु कृतमम्बुनि पानकं यत् ॥३४॥
तद्वीजपूरकरसायुतमाशु पीतं
शान्तिं परां परमदे त्वचिरात् करोति।

गम्भारी, दारुहल्दी विड्नमक, अनारदाना, पिप्पली, द्राक्षा इनसे पानी में तैयार किये पानक में बिजौरे का रस मिलाकर पीने से परमद में शीघ्र ही परम शान्ति मिलती है॥

द्राक्षासितामधुकजीरकधान्यकृष्णा-
स्वेवं कृतं त्रिवृतया च पिबेत्तथैव ॥३५॥
सौवर्चलायुतमुदाररसं फलाम्लं
भार्गीशृतेन च जलेन हितोऽवसेकः ॥३६॥

द्राक्षा, शर्करा, मुलैहठी, जीरा, धनिया, पिप्पली, निशोथ इनसे तैयार किये पानक में बिजौरे का रस मिलाकर पीये। जांगल मांस रस में संचलनमक, अनार आदि खट्टे फलों का रस मिलाकर पीये। भार्गी से पकाये जल (भार्गी के क्वाथ) से अवसेक (परिषेक) करना उत्तम है ॥३५,३६॥

इक्ष्वाकुधामार्गववृक्षकाणि
काकाह्वयोदुम्बरिकाश्च दुग्धे।
विपाच्य तस्याञ्जलिना वमेद्धि
मद्यं पिबेच्चाह्नि गते त्वजीर्णे ॥३७॥

कड़ुई तुम्बी, धामार्गव (कड़ुई तुरई), इन्द्रजौ, कठगूलर इनको दूध में पकाकर इस दूध की एक कुड़व मात्रा पान जनित अजीर्ण में पीकर वमन करे, फिर दिन के छिप जाने पर अग्नि बढ़ाने के लिये मद्य पीये ॥३७॥

त्वक्पिप्पली भुजगपुष्पविडैरुपेतं
सेवेत हिङ्गुमरिचैलयुतं फलाम्लम् ॥
उष्णाम्बुसैन्धवयुतास्त्वथवा विडत्वक्
चव्यैलहिङ्गुमगधाफलमूलशुण्ठीः ॥३८॥
हृद्यैः खडैरपि च भोजनमत्र शस्तं

दालचीनी, पिप्पली, नागकेसर, बिड़नमक से मिश्रित मद्य पीये। हींग, मरिच, इलायची, अनारदाना या बिजौरे के रस से मिला मद्य पीये। सैन्धव नमक, विडनमक, दालचीनी, गरमपानी से मिला मद्य पीये। चव्य, इलायची, हींग, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ से मिश्रित मद्य पीये। मन पसन्द खड़ (यूष विशेष) से भोजन करना पानाजीर्ण में उत्तम है ॥३८॥

द्राक्षाकपित्थफलदाडिमपानकं यत्।
तत् पानविभ्रमहरं मधुशर्कराढ्य-
माम्रातकोलरसपानकमेव चापि ॥३९॥
खर्जूरवेत्रककरीरपरूषकेषु
द्राक्षात्रिवृत्सु च कृतं ससितं हिमं वा।
श्रीपर्णियुक्तमथवा तु पिबेदिमानि
यष्ट्याह्वयोत्पलहिमाम्बुविमिश्रितानि ॥४०॥
क्षीरिप्रवालबिसजीरकनागपुष्प-
पत्रैलवालुसितसारिवपद्मकानि।
आम्रातभव्यकरमर्दकपित्थकोल-
वृक्षाम्लवेत्रफलजीरकदाडिमानि ॥४१॥

द्राक्षा, कैथ, बिजौरे का फल, अनार से बने (शर्बत) में प्रचुर मधु और शर्करा मिलाकर पीने से पान विभ्रम नष्ट होता है। आम्रातक, बेर इनका पानक भी प्रशस्त है। खजूर, वेत, करीर, फालसा, द्राक्षा, निशोथ इनसे बनाये, शर्करा मिश्रित, शीतल एवं संस्कृत, गम्भारीफल मिले पानक उत्तम हैं। अथवा मुलैहठी, कमल, शीतल जल में बरगद आदि क्षीरि वृक्षों के कोमल पत्ते, बिस, जीरक, नागकेसर, या तेजपत्र, ऐलवालुक, श्वेत सारिवा, पद्माख, या अम्बाड़ा, कमरख, करौंदा, कैथ, बेर, अथवा वृक्षाम्ल, वेंत का फल, जीरा, अनार मिलाकर पीये ॥३९-४१॥

सेवेत वा मरिचजीरकनागपुष्प-
त्वक्पत्रविश्वचविकैलयुतान् रसांश्च।
सूक्ष्माम्बरस्रुतहिमांश्च सुगन्धिगन्धान्।
पानोद्भवान्नुदति सप्तगदानशेषान् ॥४२॥

मरिच, जीरक, नागकेसर, दालचीनी, तेजपत्र, सोंठ, चविका, इलायची मिश्रित मांसरसों का सेवन करे। अतिशय गन्ध युक्त सुगन्धियों से मिले शीतल, पतले वस्त्र में छाने हुए मांसरसों के सेवन से पान-मद्यपानजनित सात रोग शीघ्र सम्पूर्णरूप में नष्ट होते हैं। (सातरोग—मदात्यय चार, वातिक,

पैत्तिक, कफज, सन्निपातज, परमद, पानाजीर्ण, पानविभ्रम—ये सात रोग) ॥४२॥

पञ्चेन्द्रियार्थविषया मृदुपानयोगा
हृद्याः सुखाश्च मनसः सततं निषेव्याः।
पानात्ययेषु विकटोरुनितम्बवत्यः
पीनोन्नतस्तनभरानतमध्यदेशाः ॥४३॥
प्रौढाः स्त्रियोऽभिनवयौवनपीनगात्र्यः
सेव्याश्च पञ्चविषयातिशयस्वभावाः ॥४४॥

कान-नेत्र आदि पाँच इन्द्रियों के शब्द रूप आदि पाँच विषयों का, मृदुपानयोग (पैष्टिक, गौड़ी, माध्वीक आदि हल्के मद्य), हृदय के लिये प्रिय, सुखकर, मानसिक विषयों का निरन्तर सेवन करना चाहिये। पानात्ययों में—विशाल ऊरु एवं नितम्बवाली, पुष्ट एवं उन्नत स्तनों के भार से मध्य प्रदेश में झुकी (क्षीण उदरवाली), उठते हुए यौवन से भारी शरीरवाली, शब्द-रूप-रसादि पंच विषयों के आनन्द लेनेवाली प्रौढ स्त्रियों का सेवन करे ॥४३,४४॥

पिबेद्रसं पुष्पफलोद्भवं वा
सितामधूकत्रिसुगन्धियुक्तम्।
संचूर्ण्य संयोज्य च नागपुष्पै-
रजाजिकृष्णामरिचैश्च तुल्यैः ॥४५॥

कूष्माण्ड के स्वरस में—शर्करा, महुआ, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, नागकेसर, जीरा, पिप्पली, मरिच, इनका चूर्ण भली प्रकार करके परस्पर समान मात्रा में मिलाकर पीये ॥

वर्षाभूयष्ट्याह्वमधूकलाक्षा-
त्वक्कर्बुदाराङ्कुरजीरकाणि।
द्राक्षां च कृष्णामथ केशरं च
क्षीरे समालोड्य पिबेत् सुखेप्सुः ॥४६॥

पुनर्नवा, मुलैहठी, महुआ, लाख, दालचीनी, कचनार के कोमल पत्ते, जीरा, द्राक्षा, पिप्पली, नागकेसर इनको दूध में घोलकर सुख चाहनेवाला मनुष्य पीये ॥४६॥

भवेच्च मद्येन तु येन पातितः
प्रकामपीतेन सुरासवादिना।
तदेव तस्मै विधिवत् प्रदापये-
द्विपर्यये भ्रंशमवश्यमृच्छति ॥४७॥

जिस सुरा आसव आदि मद्य को बहुत अधिक मात्रा में इच्छानुसार पीने से मनुष्य मूर्छित हुआ होता है, उसी सुरा आसव आदि मद्य को, उस पुरुष के लिये सौवर्चल आदि के साथ विधि पूर्वक देवे। क्योंकि परिवर्त्तन करने से, इस मनुष्य को भ्रम, क्लेश होता है, इसलिये वही मद्य देवे ॥४७॥

यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्-
भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः।
ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो
भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः ॥४८॥

जिस प्रकार राजा से दण्डित व्यक्ति की प्रसन्नता राजा के बिना किसी दूसरे से नहीं हो सकती, उसी प्रकार मद्य से पीड़ित मनुष्य की प्रसन्नता मद्य से ही होती हैं, और किसी दूसरी वस्तु से नहीं होती।

'मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम्'। च० ॥४८॥

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि ॥४९॥

मद्यपान को छोड़कर जो मनुष्य फिर सहसा मद्य का अतिपान करता है, उस मनुष्य को पानात्यय में कहे (ध्वंसक आदि) रोग होते हैं। चरक—

"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥
श्लेष्मप्रसेकः कण्ठस्य शोषः शब्दासहिष्णुता।
तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥
हृत्कण्ठरोगः समोहश्छर्दिरङ्गरुजाज्वरः।
तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद् विक्षेपलक्षणम्"॥

मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बु (म्भो) वहानि तु।
स्रोतांसि शोषयेयातां तेन तृष्णोपजायते ॥५०॥

मद्य के आग्नेय और वायव्य गुण अम्बुवह स्रोतों को सुखा देते हैं, इससे तृष्णा उत्पन्न होती है।

औष्ण्यादामात्भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात्।
अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीड़नात्॥
पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वा भिषगुदकवहान्यस्य।
स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्॥ च० वि० अ० ५-१०-१६॥

पाटलोत्पलकन्देषु मुद्गपर्ण्या च साधितम्।
पिबेन्मागधिकोन्मिश्रं तत्राम्भो हिमशीतलम् ॥५१॥

पाटला, कमलकन्द (जल के कन्द) और मुद्गपर्णी से सिद्ध किये हिम के समान शीतल जल में पिप्पली का चूर्ण मिलाकर पीये ॥५१॥

सर्पिस्तैलवसामज्जदधिभृङ्गरसैर्युतम्।
क्वाथेन बिल्वयवयोः सर्वगन्धैश्च पेषितैः ॥५२॥
पक्वमभ्यञ्जने श्रेष्ठं

घी, तैल, वसा, मज्जा, दही, भाँगरे का स्वरस, बिल्व और जौ का क्वाथ इनमें एलादि गण का कल्क मिलाकर चतुःस्नेह का पाक करे। यह अभ्यंग में श्रेष्ठ है। विधि—दही, भांगरे का स्वरस, बिल्व, जौ का क्वाथ-सर्वगन्ध द्रव्यों का कल्क चतुर्थांश, सर्पि, तैल, वसा मज्जा—ये मिलित कल्क से चार गुणे लेकर सिद्ध करे। क्वाथ स्नेह से चार गुणा लेना चाहिये ॥५२॥

सेके क्वाथश्च शीतलः।

परिषेक में शीतल क्वाथ बरते।

परिषेकावगाहेषु व्यजनानां च सेवने।
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये ॥चरक॥

रसवन्ति च भोज्यानि यथास्वमवचारयेत् ॥५३॥
पानकानि*सुशीतानि हृद्यानि सुरभीणि च।

दोष के अनुसार उसके विपरीत प्रचुर मधुर रसयुक्त भोजनों को, शीतल, मन के प्रिय, सुगन्धित पानकों (पेयों) को देवे ॥५३॥

त्वचं प्राप्तस्तु पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥५४॥

मद्यपान जनित उष्मा पित्त-रक्त से मिश्रित होकर त्वचा में आकर भयानक दाह उत्पन्न करती है, इसमें पित्त के समान चिकित्सा करें॥ चरक—

बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः।
फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं शुभम् ॥
सुरासमण्डादध्यम्लं मातुलुंगरसो मधु।
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहध्नाः साम्लकाञ्जिकाः ॥५४॥

शीतं विधानमत ऊर्ध्वमहं प्रवक्ष्ये
दाहप्रशान्तिकरमृद्धिमतां नराणाम्।
तत्रादितो मलयजेन हितः प्रदेह-
श्चन्द्रांशुहारतुहिनोदकशीतलेन ॥५५॥
शीताम्बुशीतलतरैश्च शयानमेनं
हारैर्मृणालवलयैरबलाः स्पृशेयुः।
भिन्नोत्पलोज्ज्वलहिमे शयने शयीत
पत्रेषु वा सजलबिन्दुषु पद्मिनीनाम् ॥५६॥

ऐश्वर्यशाली पुरुषों के दाह को शान्त करने के लिये शीत उपचार अब कहेंगे–सबसे प्रथम चन्दन का पतला लेप शरीर पर करना उत्तम है। चन्द्रमा की किरणों का, मुक्ताहार का, बर्फ के समान शीतल जल का सेवन करे। शीतल पानी से अतिशीतल बनी, मुक्ताहार पहने कमलनाल के कंकणों को धारण करके स्त्रियाँ लेटे हुए इस पुरुष का आलिंगन करें। खिले कमलवाले निर्मल एवं शीतल बिस्तर पर रोगी लेटे। अथवा जलबिन्दुवाले कमलिनी पत्तों पर लेटे।

"पौष्करेषु सशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च।
कह्लाराणां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद् दाहार्दितः सुखम् ॥"
चरक० चि० अ० ३।२६०।

(शीतलतरैश्च के स्थान पर शीतलकरैश्च पाठ सुन्दर है)॥

आसादयन् पवनमाहृतमङ्गनाभिः
कह्लारपद्मदलशैवलसंचयेषु।
कान्तैर्वनान्तपवनैः परिमृश्यमानः
शक्तश्चरेद् भवनकाननदीर्घिकासु ॥५७॥

कमल, लालकमल के पत्ते, शैवाल (सरवाल) के समूह में पंखों के द्वारा स्त्रियों से लाई हुई वायु का सेवन करते हुए तथा कमनीय मद शीतल, सुगन्धित वायु का स्पर्श करते हुए–समर्थ बनकर घर की बगीची एवं सीढ़ियोंवाली बावड़ी में घूमें॥

दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु
लामज्जकाम्बुरुहचन्दनतोयतोयैः।
विस्रावितां हृतमलां नववारिपूर्णां
पद्मोत्पलाकुलजलामधिवासिताम्बुम् ॥५८॥
वापीं भजेत हरिचन्दनभूषिताङ्गः
कान्ताकरस्पृशनकर्कशरोमकूपः।

खस, कमल, चन्दन, नेत्रवाला इनके क्वाथ से, दाह से पीड़ित मनुष्य का परिषेक करे। बावड़ी में से पुराना सब पानी भरकर, इस पानी को कमल, लालकमल, इनसे भरकर-सुगन्धित बनाकर इस जल में, शरीरपर श्वेतचन्दन का लेप करके, स्त्रियों के हाथ के स्पर्श से रोमांचित (खड़े रोमोंवाला) बनकर स्नान करे ॥५८॥

तत्रैनमम्बुरुहपत्रसमैः स्पृशन्त्यः
शीतैः करोरुवदनैः कठिनैः स्तनैश्च ॥५९॥
तोयावगाहकुशला मधुरस्वभावाः
संहर्षयेयुरबलाः सुकलैः प्रलापैः।

वहाँ इस वापी में कमल पत्र के समान कोमल एवं शीतल हाथ, ऊरु एवं मुख से तथा कठिन स्तनों से स्पर्श करती हुई, जल क्रीड़ा में कुशल, मधुर स्वभाववाली प्रौढ़ स्त्रियाँ अपने उत्तम कलापूर्ण वचनों से इस दाहपीड़ित मनुष्य को प्रसन्न करें।

संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः।
प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥
नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमवहत्य च।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया ॥
चरक चि० अ० २४ ॥५९॥

धारागृहे प्रगलितोदकदुर्दिनाभे
क्लान्तः शयीत सलिलानिलशीतकुक्षौ ॥६०॥
गन्धोदकैः सकुसुमैरुपसिक्तभूमौ
पत्राम्बुचन्दनरसैरुपलिप्तकुड्ये।
जात्युत्पलप्रियककेशरपुण्डरीक-
पुन्नागनागकरवीरकृतोपचारे ॥६१॥
तस्मिन् गृहे कमलरेणवरुणे शयीत
यत्नाहृतानिलविकम्पितपुष्पदाम्नि।

जिस धारागृह में निरन्तर बरसात की भाँति पानी की फुवारें पड़ रही हों, जहाँ जल मिश्रित वायु शीतल बने कमरे में थका हुआ सोये। सुगन्धित (इत्तर से वासित) फूलों से युक्त पानी से भूमिपर छिड़काव करके, तेजपत्र, मोथा, चन्दन

के रस से दिवारों पर लेप करके, चमेली, कमल, विजयसार, केसर, कमल, पुन्नाग, नागकेसर, करवीर इनसे छिड़के हुए घर में कमल धूली से लाल बने आंगनवाले धारागृह में—यत्नपूर्वक लाई हुई वायु से कम्पित पुष्पों की माला पहने हुए सोये ॥

हेमन्तविन्ध्यहिमवन्मलयाचलानां
शीताम्भसां सकदलीहरितद्रुमाणाम् ॥६२॥
उद्भिन्ननीलनलिनाम्बुरुहाकराणां
चन्द्रोदयस्य च कथाः शृणुयान्मनोज्ञः।
म्लानं प्रतान्तमनसं मनसोऽनुकूलाः
पीतस्तनोरुजघना हरिचन्दनाङ्ग्यः ॥६३॥
ता एनमार्द्रवसनाः सह संविशेयुः
श्लिष्टाऽबलाः शिथिलमेखलहारयष्ट्यः ।६४।

हेमन्तऋतु की, विन्ध्याचल, हिमालय, मलयाचल पर्वतों की, शीतल जलों की, केले एवं हरे भरे वृक्षों की, खिलते हुए नीलोफर एवं कमलों की, चन्द्रमा की चाँदनी की मनके अनुकूल कथाओं को सुने। ग्लानि एवं दीनता से युक्त मनवाले मनुष्य को, मनके अनुकूल, पुष्टस्तन ऊरु जघनवाली, शरीर पर चन्दन का लेप किये हुए, गीला महीन वस्त्रधारण करके, ढीलीमेखला, एवं मुक्ताहारवाली स्त्रियाँ आलिंगन करके, इसके साथ सोयें।

"वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः।
विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च।
गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठयश्च हृदयप्रियाः ॥
संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः।
प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥
जलयंत्राभिवर्षीणि वातयंत्रवहाणि च।
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च" ॥६२,६४॥

हर्षयेयुर्नरं नार्यः स्वगुणै रहसि स्थिताः।
ताः शैत्याच्छमयेयुश्च पित्तपानात्ययान्तरम् ॥६५॥

एकान्त में स्थित स्त्रियाँ अपने मृदुभाषण-नृत्य आदि गुणों से इसको प्रसन्न करें। ये स्त्रियाँ अपनी शीतलता से पित्तपानात्ययको शांत करें ॥६५॥

तृड्दाहरक्तपित्तेषु कार्योऽयं भेषजक्रमः।
सामान्यतो

प्यास, दाह, रक्तपित्त में यह कही औषधविधि सामान्य रूप में करे।

विशेषं तु शृणु दाहेष्वशेषतः ॥६६॥

दाह के लिये विशेष चिकित्सा सम्पूर्ण रूप में सुनो ॥६६॥

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ह्यति।
संचूष्यते दह्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः ॥६७॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते।
तं विलङ्घ्य विधानेन संसृष्टाहारमाचरेत् ॥६८॥
अप्रशाम्यति दाहे च रसैस्तृप्तस्य जाङ्गलैः।
शाखाश्रया यथान्यायं रोहिणीर्व्यधयेत् सिराः ॥६९॥

सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ बढ़ा हुआ रक्त बहुत जलन उत्पन्न करता है, इससे रोगी को खिचाव, और दाह होता है, रोगी का चेहरा ताम्रवर्ण हो जाता है, आँखें ताम्रवर्ण हो जाती हैं, अंग और मुख से लोह (रक्त) की गन्ध आती है, जलते हुए अंगारों से व्याप्त अपने को मानता है। इस रोगी को लंघन कराके, क्रम से पेया आदि आहार देवे। इस उपचार से भी यदि दाह शान्त न हो, तब जांगलमांस रसों से तृप्त करके सिरा वेध विधि के अनुसार शाखाश्रित (हाथ पैर की) रोहिणी सिरा (लोहित सिरा) का वेधन करे ॥६७-६९॥

पित्तज्वरसमः पित्तात् स चाप्यस्य विधिर्हितः।

पित्त के कारण दाह पित्तज्वर के समान होता है, इसलिये पित्तज्वर के समान चिकित्सा करे।

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम् ॥७०॥
सबाह्याभ्यन्तरं देहं दहेद्वै मन्दचेतसः।
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते ॥७१॥

प्यास के रोकने से पानीयधातु के क्षीण होने पर अतिशय बढ़ा पित्त—मन्दचित्तवाले रोगी के शरीर को अन्दर और बाहर से जलाता है, रोगी की चेतना मन्द हो जाती है। रोगी का गला तालु और ओष्ठ सूख जाता है, जीभ बाहर निकल आती है ॥७०,७१॥

तत्रोपशमयेत्तेजस्त्वब्धातुं च विवर्धयेत्।
पाययेत् काममम्भश्च शर्कराढ्यं पयोऽपि वा ॥७२॥
शीतमिक्षुरसं मन्थं वितरेच्चेरितं विधिम्।

इस अवस्था में तेज को शान्त करे, और पानीयधातु को बढ़ाये। शर्करा बहुल पानी या दूध यथेच्छ पिलाये। शीतल इक्षुरस देवे, मन्थ देवे, पित्तनाशक उपचार करे।

मन्थः—शक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः ॥७२॥

असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहो भवति दुःसहः ॥७३॥
विधिः सद्योव्रणीयोक्तस्तस्य लक्षणमेव च।

रक्त से कोष्ठ के भर जाने पर अति दुःखदायी दाह होता है, इसके लक्षण और चिकित्सा सद्योव्रण में कही विधि के अनुसार जाने ॥७३॥

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृषान्वितः ॥७४॥
क्षामस्वरः क्रियाहीनो भृशं सीदति पीडितः।
रक्तपित्तविधिस्तस्य हितः स्निग्धोऽनिलापहः ॥७५॥

रक्तक्षय के कारण जो दाह होता है, इससे मूर्च्छा, प्यास, क्षीणस्वर, चेष्टा हानि, होकर मनुष्य अतिशय शिथिल तथा दाह से दुःखी होता है। इसमें रक्तपित्त

नाशक, स्निग्ध एवं वातनाशक चिकित्सा हितकारी है ॥७५॥

क्षतजेनाश्नतश्चान्यः शोचतो वाऽप्यनेकधा ।
तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णामूर्च्छाप्रलापवान् ॥७६॥
तमिष्टविषयोपेतं सुहृद्भिरभिसंवृतम् ।
क्षीरमांसरसाहारं विधिनोक्तेन साधयेत् ॥७७॥

रक्त के साथ भोजन करते हुए या अनेक प्रकार से शोक करते हुए भोजन करने से मनुष्य में दाह होता है। इससे मनुष्य में बहुत अधिक अन्तर्दाह होता है, रोगी को प्यास मूर्च्छा, प्रलाप होता है। इस में रोगी को अभिलषित विषयों से युक्त करे, मित्र उसे घेर कर रहें, दूध, मांसरस का भोजन देकर, दाहशान्तिकर विधि से शान्ति पहुँचाये। ७६,७७॥

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति स चासाध्यतमः स्मृतः ।

सद्यःप्राणहर या कालान्तर में प्राणहर मर्मों के आघात से भी दाह होता है, यह असाध्य कहा है।

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रेषु देहिषु ॥७८॥

शरीर के ठण्डा हो जाने पर सब दाह असाध्य हैं। मदिरा रोग से पीड़ित व्यक्ति ठण्डा होने पर असाध्य होता है ॥७८॥

एवंविधो भवेद्यस्तु मदिरामयपीडितः
प्रशान्तोपद्रवे चापि शोधनं प्राप्तमाचरेत् ॥७९॥

तृष्णा, दाह आदि उपद्रव शान्त हो जाने पर दोष के अनुसार विरोधि विरेचन रोगी को देवे ॥७९॥

सजीरकाण्यार्द्रकशृङ्गवेर-
सौवर्चलान्यर्धजलप्लुतानि ।
मद्यानि हृद्यान्यथ गन्धवन्ति
पीतानि सद्यः शमयन्ति तृष्णाम् ॥८०॥

जीरा, आर्द्रक, सोंठ, सौवर्चल, आधा पानी मिलाये, मन के प्रिय, सुगन्धित मद्य पीने पर तृष्णा को तुरन्त शान्त करते हैं॥

जलप्लुतश्चन्दनभूषिताङ्गः
स्रग्वी सभक्तां पिशितोपदंशाम् ।
पिबन् सुरां नैव लभेत रोगान्
मनोनुविघ्नं च मदं न याति ॥८१॥

जल से अंगों को गीला करके (स्नान करके) शरीर पर चन्दन का लेप लगाके, माला धारण करके, भोजन के साथ मांस को खाकर, सुरा का पान करने से पानजन्य रोग नहीं होते, एवं मन को हानि पहुँचानेवाला मेद भी नहीं होता।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः ।
न चेन्मद्यविधिं हित्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ॥
लंघनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि ।
विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ॥
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य वा ।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ॥
पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्त्तयेत् ।
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैः यथाबलम् ।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृते यथा ॥
चरक चि० अ० २४-१९५,९८ ।८१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे पानात्ययप्रतिषेधो नाम (नवमोऽध्यायः आदितः) सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४७॥

अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातस्तृष्णाप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे तृष्णा प्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति ।
पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत् ॥३॥

तृष्णा का स्वरूप—जो मनुष्य निरन्तर-लगातार पानी पीने पर भी तृप्ति अनुभव नहीं करता, फिर भी पानी की चाह करता है, उसे तृष्णा से पीड़ित जाने ॥३॥

संक्षोभशोकश्रममद्यपाना-
द्रूक्षाम्लशुष्कोष्णकटूपयोगात् ।
धातुक्षयाल्लङ्घनसूर्यतापात्
पित्तं च वातश्च भृशं प्रवृद्धौ ॥४॥
स्रोतांसि संदूषयतः समेतौ
यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि ।
स्रोतःस्वपां वाहिषु दूषितेषु
जायेत तृष्णाऽतिबला ततस्तु ॥५॥

अतिशय विक्षोभ, शोक, श्रम, मद्यपान, रूक्ष, अम्ल, शुष्क, उष्ण-कटुरस के सेवन से, धातुओं के क्षय से, लंघन से, सूर्य की गरमी से, पित्त और वायु अतिशय बढ़कर एक साथ मिलकर मनुष्यों के जलवाही स्रोतों को दूषित करते हैं। जलवाही स्रोतों के दूषित होने से अतिबलवान् तृष्णा उत्पन्न होती है।

पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः ।
रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः ॥
नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू ।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥
गुर्वन्नपयःस्नेहैः संमूर्च्छद्भिः विदाहकाले च ।
यस्तृष्येद् हृतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥ च० ॥४,५॥

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी
क्षयात्तथाऽन्याऽऽमसमुद्भवा च ।
स्यात् सप्तमी भक्तनिमित्तजा तु
निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥६॥

तृष्णा सात प्रकार की हैं, यथा—वात, पित्त, कफजन्य तीन व्रणनिमित्तजन्य, रसक्षयजन्य, आमसमुद्भवा (अजीर्णजा), और सातवीं स्निग्धादि भोजन निमित्तजा है। इनके लक्षणों को क्रमशः सुनो।

वक्तव्य—कफ के स्तिमित एवं जलीय धातु होने से तृष्णा होना सम्भव नहीं, तथापि बढ़ा हुआ कफ जब पित्त के साथ वायु को रोक लेता है, तब वायु पित्त से सुखाता हुआ कफ तृष्णा को उत्पन्न करता है ॥६॥

ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहाः
संतापमोहभ्रमविप्रलापाः।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासा-
मुत्पत्तिकालेषु विशेषतस्तु ॥७॥

पूर्वरूप—तालु ओठ-कण्ठ-मुख का सूखना, दाह, संताप, मोह, भ्रम, व्यर्थ की बकवाद, ये तृष्णाओं के पूर्वरूप हैं, तृष्णाओं के उत्पत्तिकाल में ये पूर्वरूप विशेषरूप में होते हैं।

प्रागूरूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः।
मुखशोषस्वरभेदभ्रमसंतापप्रलापसंस्तम्भान्॥
ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशताचित्तनाशं च॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम्।
तृष्णोद्भूता कुरुते पंचविधा लिंगतः श्रृणु ताः ॥७॥

शुष्कास्यता मारुतसंभवायां
तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं
शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥८॥

वातजन्यतृष्णा में मुख में शुष्कता, शिर और शंख प्रदेश में चुभने का सा दर्द, स्रोतों का अवरोध, मुख में विरसता, और शीतल जल से प्यास और भी बढ़ती है ॥८॥

मूर्च्छाप्रलापारुचिवक्त्रशोषाः
पीतेक्षणत्वं प्रततश्च दाहः।
शीताभिकाङ्क्षा मुखतिक्तता च
पित्तात्मिकायां परिधूपनं च ॥९॥

पित्तजन्यतृष्णा में मूर्च्छा, प्रलाप, अरुचि, मुखशोष, आंखों में पीलापन, निरन्तर दाह, शीत की चाह, मुख में तिक्तता, तथा धूमोद्गमन की भांति मुख से काली बाष्प बाहर आती हैं॥

कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां
कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णाम्।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च
तयार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥१०॥

कफजन्य तृष्णा में कफ से पित्त और वायु का अवरोध हो जाने से शुष्क हुआ कफ भी तृष्णा को उत्पन्न करता है। इससे निद्रा, उदर में भारीपन, मुख में मधुरता होती है, प्यास से पीड़ित मनुष्य अतिमात्रा में सूख जाता है ॥१०॥

कण्ठोपलेपो मुखपिच्छिलत्वं
शीतज्वरश्छर्दिररोचकश्च।
कफात्मिकायां गुरुगात्रता च
शाखासु शोफस्त्वविपाक एव।
एतानि रूपाणि भवन्ति तस्यां
तयाऽर्दितः काङ्क्षति नाति चाम्भः ॥११॥

कण्ठ में मलवृद्धि, मुख में पिच्छिलता, शीतपूर्वकज्वर, वमन, अरोचक, हाथ-पैर-शिर में भारीपन, हाथ पैरों में सूजन, अविपाक, ये लक्षण इस कफजन्य तृष्णा से पीड़ित मनुष्य के होते हैं, वह जल की अधिक चाह नहीं करता ॥११॥

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां
तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु।
तयाऽभिभूतस्य निशादिनानि
गच्छन्ति दुःखं पिबतोऽपि तोयम् ॥१२॥

व्रणवाले रोगी में वेदना के कारण तथा रक्त के निकल जाने से चौथी क्षतजन्य तृष्णा उत्पन्न होती है। इस तृष्णा से पीड़ित होने पर रोगी दिन रात में लगातार पानी पीता हुआ दुःख से समय काटता है ॥१२॥

रसक्षयाद्या क्षयजा मता सा
तयाऽर्दितः शुष्यति दह्यते च।
अत्यर्थमाकाङ्क्षति चापि तोयं
तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ॥१३॥
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि
यस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत्।

रस के क्षय से जो तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे क्षयज तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा से पीड़ित मनुष्य सूखता जाता है, उसे जलन होती है, पानी की बहुत चाह करता है, इस तृष्णा में रसक्षय के सम्पूर्ण लक्षण (दोष धातु अध्याय सूत्र स्थान में कहे) वैद्य जाने॥

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येत्तु। दीनस्वरः प्रताम्यन्संशुष्कहृदयगलतालुः। चरक ॥१३॥

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च
हृच्छूलनिष्ठीवनसादयुक्ता ॥१४॥

आमजनित तृष्णा में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं, साथ में हृदय में दर्द, थूक का आना शिथिलता भी होती है। तृष्णा याऽऽमयमवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात् लिंगं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥१४॥

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं
गुर्वन्नमेवातितृषां करोति।

स्निग्ध, अम्ल और लवण भोजन और भारी भोजन अतिशय प्यास को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—चरक में—पांच प्रकार की तृष्णा मानी है, उनमें उपद्रवजनित एक तृष्णा मानी है, यथा—भवति खलु योपसर्गा तृष्णा सा शोषिणी कष्टा। ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥

क्षीणं विचित्तं बधिरं तृषार्तं
विवर्जयेन्निर्गतजिह्वमाशु ॥१५॥

क्षीण, नष्टमनवाले, बहरे, तृष्णा से जिसकी जिह्वा बाहर निकल आई हो, इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा न करे। "सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्। घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः॥ चरक ॥१५॥

तृष्णाभिवृद्धावुदरे च पूर्णे
तं वामयेन्मागधिकोदकेन।
विलोभनं चात्र हितं विधेयं
स्याद्दाडिमाम्रातकमातुलुङ्गैः ॥१६॥
तिस्रः प्रयोगैरिह सन्निवार्याः
शीतैश्च सम्यग्रसवीर्यजातैः।

तृष्णा के बढ़ा होने से, उदर के भरा होने पर पिप्पली मिश्रित जल से रोगी को वमन कराये। अनार, आम्रातक, बिजौरा इनको दूसरे व्यक्ति इसके सामने खायें, जिससे इसमें लालच उत्पन्न हो। सम्पूर्ण रस वीर्यवाले शीतल उपचारों से वात-पित्त-कफजन्य तीनों तृष्णायें निवारण करे।

"फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः।
निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत्[1] ॥"

वि० मन्तव्य—विलोभनं-अनार आदि अम्लद्रव्यों में लोभ–लालसा होने से मुख में लालास्राव होने लगता है फलतः मुखशोष तथा तृषा का शमन हो जाता है ॥१६॥

गण्डूषमम्लैर्विरसे च वक्त्रे
कुर्याच्छुभैरामलकस्य चूर्णैः ॥१७॥

मुख की विरसता में मद्य, कांजी, बिजौर, आदि के अम्ल द्रव्यों से गण्डूष कराये। आंवले के चूर्ण से भी गण्डूष करायेआंवले का चूर्ण मले ॥१७॥

सुवर्णरूप्यादिभिरग्नितप्तै-
र्लोष्टैः कृतं वा सिकतादिभिर्वा।
जलं सुखोष्णं शमयेत्तु तृष्णां
सशर्करं क्षौद्रयुतं हिमं वा ॥१८॥

सुवर्ण, चाँदी, लोष्ट (मिट्टी का ढेला), सिकता (रेती) आदि को अग्नि में लाल गरम करके पानी में बुझाये। जब पानी गुनगुना हो जाये, तब तृष्णा रोगी पीये। अथवा शीतल जल में शर्करा या मधु मिलाकर पीये ॥१८॥

पञ्चाङ्गिकाः पञ्चगणा य उक्ता-
स्तेष्वम्बु सिद्धं प्रथमे गणे वा।
पिबेत् सुखोष्णं मनुजोऽचिरेण
तृषो विमुच्येत हि वातजायाः ॥१९॥

पांचद्रव्यवाले जो पञ्चमूल कहे हैं, उनमें या विदारिगन्धादि प्रथमगण में सिद्ध किया गुनगुना पानी पीये। इस प्रकार करने से वातजन्य तृष्णा शीघ्र नष्ट होती है ॥१९॥

पित्तघ्नवर्गैस्तु कृतः कषायः
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतः।
पीतस्तृषां पित्तकृतां निहन्ति
क्षीरं शृतं वाऽप्यथ जीवनीयैः ॥२०॥

उत्पलादि सारिवादि, काकोल्यादि पित्तनाशक गणों से बनाया कषाय शीतल करके मधु और शर्करा मिलाकर पीये। अथवा जीवनीयगण की औषधियोंसे सिद्ध किया दूध पित्तजन्य तृषा को शीघ्र नष्ट करता है ॥२०॥

बिल्वाढकीकन्यकपञ्चमूली-
दर्भेषु सिद्धं कफजां निहन्ति।
हितं भवेच्छर्दनमेव चात्र
तप्तेन निम्बप्रसवोदकेन ॥२१॥

बिल्व, अरहर, लघुपंचमूल और दाभ से सिद्ध पानी कफजन्य तृषा को नष्ट करता है। नीम पत्तों के उष्ण पानी से कफज तृषा में वमन कराना उत्तम है ॥२१॥

सर्वासु तृष्णास्वथवाऽपि पैत्तं
कुर्याद्विधिं तेन हि ता न सन्ति।

सब प्रकार की तृष्णाओं में पित्तनाशक विधि (मधुर-शीतादिभिः पान, लेपन) बरते, इस पैत्तिक विधि से ये तृष्णायें नष्ट हो जाती हैं।

पर्याणतोदुम्बरजो रसस्तु
सशर्करस्तत्क्वथितोदकं वा ॥२२॥
वर्गस्य सिद्धस्य च सारिवादेः
पातव्यमम्भः शिशिरं तृषार्तः।

पकी गूलर का स्वरस या पकी गूलर का क्वाथ इनमें शर्करा मिलाकर पीये। सारिवादि वर्ग के क्वाथ को शीतल करके प्यास की पीड़ा में पीना चाहिये ॥२२॥

कशेरुशृङ्गाटकपद्ममोच-
बिसेक्षुसिद्धं क्षतजां निहन्ति ॥२३॥

कसेरु, सिंघाड़ा, पद्म (कमल), केला, पद्ममूल, ईख से सिद्ध किया जल (इनका क्वाथ) क्षतज तृष्णा को नष्ट करता है।२३।

लाजोत्पलोशीरकुचन्दनानि
दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेत्तु।
तदुत्तमं तोयमुदारगन्धि
सितायुतं क्षौद्रयुतं वदन्ति ॥२४॥

---

[1] तंत्रान्तर में—"उल्लेखनं तु तृष्णासु क्षयादन्यत्र प्रयुज्यते ॥" इसमें क्षीण धातु होने से वमन अनुचित है।

द्राक्षाप्रगाढं च हिताय वैद्य-

लाजा, कमल, खस, चन्दन, इनको पानीमें घोलकर खुली वायु में रात भर रक्खा रहने देवे। इसको प्रातः नितारकर इसमें उदार-गन्धा सुगन्धिपुष्पों से सुवासित करके, सिता (शर्करा) और मधु के साथ मिलाकर प्रचुर द्राक्षा घोलकर वैद्य तृष्णा से पीड़ित रोगी को देवे ॥२४॥

स्तृष्णार्दितेभ्यो वितरेन्नरेभ्यः।

ससारिवादौ तृणपञ्चमूले

तथोत्पलादौ प्रथमे गणे च ॥२५॥

पंचतृणमूल को सारिवादि गण के साथ, उत्पलादि गण को-विदारीगन्धादि गण के साथ पूर्वोक्त विधि से पानी में भिगोकर खुली वायु में रातभर रखकर प्रातः छानकर मधु-शर्करा मिलाकर प्रचुर द्राक्षा मिलाकर देवे ॥२५॥

कुर्यात् कषायं च यथेरितेन

मधूकपुष्पादिषु चापरेषु।

राजादनक्षीरकपीतनेषु

षट् पानकान्यत्र हितानि च स्युः॥२६॥

मधूकपुष्प आदि (महुआ, शोभांजन, कचनार, प्रियंगु के पुष्प), राजादन खिरनी), एवं क्षीरि-कपीतन (पारस पीपल) इन छैः द्रव्यों से पूर्वोक्त विधि के अनुसार रात में भिगोकर प्रातः नितारकर मधु शर्करा मिलाकर देना हितकारी है ॥२६॥

सतुण्डिकेराण्यथवा पिबेत्त

पिष्टानि कार्पाससमुद्भवानि।

तुण्डिकेरी (वन कपास) एवं ग्राम्यकपास के फलों को पीसकर पानी में घोलकर पीये।

क्षतोद्भवां रुग्विनिवारणेन

जयेद्रसानामसृजश्च पानैः ॥२७॥

क्षतजन्य तृष्णा को क्षतोद्भव वेदना को शांत करने से, मांस रसों के पान से, हरिण आदि के रक्त के पान से शान्त करे॥

क्षयोत्थितां क्षीरघृतं निहन्यान-

मांसोदकं वा मधुकोदकं वा।

क्षयजन्य तृष्णा को दूध से निकाला घृत या दूध मिला घृत, मांस का सोरवा, मुलैहठी का पानी शान्त करता है।

आमोद्भवां बिल्ववचायुतैस्तु

जयेत् कषायैरथ दीपनीयैः ॥२८॥

आम्रातभल्लातबलायुतानि

पिबेत् कषायाण्यथ दीपनानि।

आमजन्य तृष्णा में पिप्पल्यादि द्रव्यों के साथ बिल्व और वचा मिलाकर क्वाथ करके पिलाये। अम्बाड़ा, भिलावा, बला-मिश्रित दीपनीय द्रव्यों का कषाय आमजन्यतृष्णा में पिलाये॥

गुर्वन्नजातां वमनैर्जयेच्च

क्षयादृते सर्वकृतां च तृष्णाम् ॥२९॥

भारी अन्न के खाने से उत्पन्न तृष्णा को वमन से शान्त करे। आमजन्य तृष्णा में भी वमन कराये, क्षयजन्य तृष्णा में वमन न कराये। (क्षयादृते सर्वकृताश्च तृष्णाः—यह पाठ रुचिकर है) ॥२९॥

श्रमोद्भवां मांसरसो निहन्ति

गुडोदकं वाऽप्यथवाऽपि मन्थः।

थकान से उत्पन्न तृष्णा को मांस रस, या गुड़ का शर्बत अथवा घृतमिश्रित पानी में घुला सत्तू (मन्थ) नष्ट करता है (सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः)।

भक्तोपरोधात्तृषितो यवागू-

मुष्णां पिबेन्मन्थमथो हिमं च ॥३०॥

आहार निरोधजनित तृष्णा में उष्ण यवागू को पीये। अथवा पित्त प्रबल तृष्णा में शीतल मन्थ पीये ॥३०॥

या स्नेहपीतस्य भवेच्च तृष्णा

तत्रोष्णमम्भः प्रपिबेन्मनुष्यः।

स्नेहपान जनित तृष्णा में मनुष्य उष्ण पानी पीये।

"उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत्।
भस्मीभवति तस्याशु स्नेहः पीतोऽग्नितेजसा॥
स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली।
स्नेहाऽग्निरुत्तामां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत्॥
नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।
स चेत्सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते॥"

चरक सू० अ० १३-७०-७३॥

यहाँ पर शीतल जल के पान का विधान है। इसलिए गरम पानी को ठण्डा करके पीना उत्तम है। अथवा शुद्ध स्नेहपान में शीतल जल एवं भोजन के साथ अधिक स्नेहपान होने पर प्यास लगने से गरम पानी पीये।

मद्योद्भवामर्धजलं निहन्ति

मद्यं तृषां याऽपि च मद्यपस्य ॥३१॥

मद्यपी मनुष्य की मद्यजनित तृष्णाको आधा जल मिला मद्य नष्ट कर देता है ॥३१॥

उष्णोद्भवां हन्ति जलं सुशीतं

सशर्करं सेक्षुरसं तथाऽम्भः।

शर्करा मिश्रित शीतल जल, गन्ने का शीतल रस ये तृष्णा से उत्पन्न तृष्णा को (हृद्रोगसे कृश पुरुष में उपद्रवजनित तृष्णा को नष्ट करते हैं। तृष्णोद्भवां के स्थान पर उष्णोद्भवां पाठ भी ठीक है)।

स्वैः स्वैः कषायैर्वमनानि तासां

तथा ज्वरोक्तानि च पाचनानि ॥३२॥

वातादिजनित तृषाओं की शांति के लिये जो जो उनके अपने अपने कषाय कहे हैं, उन कषायों से उन दोषों में वमन कराये। ज्वर में कहे पाचन देवे ॥३२॥

लेपावगाहौ परिषेचनानि
कुर्यात्तथा शीतगृहाणि चापि।
संशोधनं क्षीररसौ घृतानि
सर्वासु लेहान्मधुरान् हिमांश्च ॥३३॥

लेप, अवगाहन, परिषेचन, शीतलघरों का सेवन, विरेचन, दूध, मांसरस, घृत, मधुर एवं शीतल लेह सब प्रकार की तृष्णाओं में बरते ॥३३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे तृष्णाप्रतिषेधो नाम (दशमोऽध्यायः, आदितः) अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातश्छर्दिप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे छर्दिप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥३॥
श्रमात् क्षयात्तथोद्वेगादजीर्णात् कृमिदोषतः।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥४॥
(अत्यन्तामपरीतस्य छर्देवै संभवो ध्रुवम्।)

अतिद्रव, अतिस्निग्ध, मन के अप्रिय, अतिनमकवाले भोजनों से, असमय में, मात्रा में बहुत अधिक एवं असात्म्य भोजनों से, श्रम से, क्षय से, बेचैनी से, अजीर्ण से, कृमिदोष से, गर्भवती स्त्री में, अतिशीघ्र खाने के कारण, अत्यर्थ आम से युक्त होने पर, निश्चित रूप में वमन उत्पन्न होती है ॥३-४॥

बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ॥५॥
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्राद्विनिस्सरन् ॥६॥

दूसरे बीभत्सोत्पादक कारणों से जल्दी, बलपूर्वक उत्क्लेशित होने से वमन आरम्भ होते हैं। मुख से निकलता हुआ दोष अंगों के टूटने के साथ वेगपूर्वक मुख में भरने से, छर्दि (वमन) कहा जाता है ॥५,६॥

दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गतः।
ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेवनात् ॥७॥

व्यान से मिली उदानवायु विरुद्ध अहार के सेवन करने से बढ़े हुए दोषों को बाहर की ओर प्रेरित करती हुई अतिशय वेग से ऊपर को आती है ॥७॥

प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम्।
पूर्वरूपं मतं छर्द्याः

वमन के पूर्वरूप—मुख से लालास्राव, हृदयप्रदेश (आमाशय) में बेचैनी, भोजन की अरुचि होती है।

यथास्वं च विभावयेत् ॥८॥

अपने अपने दोषों के अनुसार प्रव्यक्त पूर्वरूप को स्वरूपावस्था में पहचानना चाहिये ॥८॥

प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं
शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः।
श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं
जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥९॥

पार्श्व एवं पीठ में पीड़ा अनुभव करता हुआ, शूल से पीड़ित मनुष्य झागदार, थोड़ा, शब्द के साथ बहुत बार वमन करता है। वमन करने से रोगी थक जाता है, वमन का रस कषाय तथा भोजन के जीर्ण होने पर वमन अधिक होती है, यह वमन वातजन्य है। (प्रायः प्रैक्रियेटिक व्रण में ऐसा होता है-वमन भोजन के जीर्ण होने पर होती है) ॥९॥

योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः
पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषो
मूर्च्छान्वितः पित्तनिमित्तजा सा ॥१०॥

रोगी का मुख अति अम्ल, कटु या तिक्त हो, वमन पीला, रक्त मिश्रित या हरे रंग का हो, रोगी को दाह, चोष, ज्वर, मुख की शुष्कता रहती हो, मूर्छा आये, यह वमन पित्तजन्य होती है ॥१०॥

यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं
शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम्।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो
वमेद्वमी सा कफकोपजा स्यात् ॥११॥

जो रोगी रोमांच होकर मधुर, मात्रा में प्रचुर, श्वेत, शीतल, सान्द्र कफ से मिश्रित वमन करे, रोगी को भोजन में अरुचि, भारीपन शिथिलता हो, वह वमन कफकोपजन्य होती है ॥११॥

सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां
सा सर्वदोषप्रभवा मता तु।

जिस वमन में सब दोषों के लक्षण होते हैं, वह वमन सन्निपातजन्य होती है।

बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च
सात्म्यप्रकोपात् कृमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तां च विभावयेत्तु
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥१२॥

बीभत्सजन्य, दौहृदजन्य (गर्भावस्थाजन्य), आमजन्य, सात्म्यप्रकोपजन्य और कृमिजन्य जो छर्दियां हैं, उनको पांचवीं

वमन जाने, इसको दोष की अधिकता से ही पहचानना चाहिये।

"द्विष्टप्रतीपा, शुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च। यश्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नः द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा॥" चरक ॥१२॥

शूलहृल्लासबहुला कृमिजा च विशेषतः।
कृमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता॥१३॥

कृमिजन्य छर्दि में शूल, जी मचलाना विशेषरूप में होता है, कृमिजन्य हृद्रोग के समान लक्षणों से युक्त होती है॥१३॥

क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां सास्रक्पूयां सचन्द्रिकाम्।
छर्दिं प्रसक्तां कुशलो नारभेत चिकित्सितुम्॥१४॥

क्षीण व्यक्ति की, उपद्रवों से युक्त, रक्त एवं पूय मिश्रित, चन्द्रिका (मोरपंख की चांदनी) के समान रंगोंवाली, निरन्तर चालू रहनेवाली वमन की वैद्य चिकित्सा न करे।

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता। सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च॥ (चरक)। चरक में द्विष्टार्थजन्य छर्दि को पांचवीं माना है।१४।

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
स्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु॥१५॥

सब प्रकार की छर्दियां आमाशय के उत्क्लेश से उत्पन्न होती हैं, इसलिये इन सब में लंघन करना हितकारी है॥१५॥

वमीषु बहुदोषासु छर्दनं हितमुच्यते।
विरेचनं वा कुर्वीत यथादोषोच्छ्रयं भिषक्॥१६॥

बहुत दोषवाले वमनों में वमन कराना उत्तम है। अथवा दोष की अधिकता को देखकर वैद्य विरेचन देवे। (बहुत कफ में वमन, बहुत पित्त में विरेचन देवे)॥१६॥

संसर्गांश्चानुपूर्वेण यथास्वं भेषजायुतान्।

वातादि दोषों से विरोधि औषधियों से युक्त पेयादि संसर्जन क्रम को वमन, विरेचन के पीछे बरते।

लघूनि परिशुष्काणि सात्म्यान्यन्नानि चाचरेत्॥१७॥

लघु, अतिशुष्क, सात्म्यभोजन खाने को देवे॥१७॥

यथास्वं च कषायाणि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत्।

दोषों के उनके अपने अनुसार ज्वरघ्न कषायों को बरते।

हन्यात् क्षीरघृतं पीतं छर्दिं पवनसंभवाम्॥१८॥
ससैन्धवं पिबेत् सर्पिर्वातच्छर्दिनिवारणम्।
मुद्गामलकयूषो वा ससर्पिष्कः ससैन्धवः।
यवागूं मधुमिश्रां वा पञ्चमूलीकृतां पिबेत्॥१९॥
पिबेद्वा व्यक्तसिन्धूत्थं फलाम्लं वैष्किरं रसम्।
सुखोष्णलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम्॥२०॥

दूध को मथकर बनाया घृत या दूध के साथ दिया घृत वातजन्य छर्दि को नष्ट कर देता है। सैन्धव के साथ घी को पीये, इससे वात छर्दि नष्ट होती है। मूंग और आंवले का यूष घी और सैन्धव के साथ देवे। बृहत्पंचमूल से बनाई यवागू में मधु मिलाकर पीये। लाव आदि विष्किर प्राणियों के मांसरस में प्रचुर, नमक, अनारदाना मिलाकर पीये। उष्ण एवं लवण मिश्रित एरण्ड तैल आदि का स्नेह विरेचन वात छर्दि में प्रशस्त है। ('कोष्णं सलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम्' अष्टांगहृदय)।

पित्तोपशमनीयानि पाक्यानि शिशिराणि च।
कषायाण्युपयुक्तानि घ्नन्ति पित्तकृतां वमीम्॥२१॥
शोधनं मधुरैश्चात्र द्राक्षारससमायुतैः।
बलवत्यां प्रशंसन्ति सर्पिस्तैल्वकमेव च॥२२॥

पित्तज्वरशामक कषाय, शीतकषाय सेवन करने पर पित्तजन्य वमन को शान्त कर देते हैं। मधुर शोधन द्रव्यों को द्राक्षारस में मिलाकर वमन विरेचन या केवल विरेचन रूपी शोधन देवे। बलवती छर्दि में तैल्वकघृतपान उत्तम है। (तैल्वकघृत वातव्याधि में कहा है)॥२१,२२॥

आरग्वधादिनिर्यूहं दशाङ्गयोगमेव वा।
पाययेताथ सक्षौद्रं कफजायां चिकित्सकः॥२३॥

कफजन्य छर्दि में आरग्वधादि गण का क्वाथ या दशांग योग को मधु के साथ पिलाये।

वक्तव्य—दशांग शब्द से कोई दशमूल लेते हैं। कोई कटुका चित्रण इत्यादि कफज्वरोक्त लेते हैं। दूसरे—"नागरं धान्यकं भार्गीमभयां सुरदारु च। वचां पर्पटकं मुस्तं भूतीकमथ कट्फलम्। विनिष्क्वाथ्य पिबेत्॥" इसका ग्रहण करते हैं॥

कृतं गुडूच्या विधिवत् कषायं हिमसंज्ञितम्।
तिसृष्वपि भवेत् पथ्यं माक्षिकेण समन्वितम्॥२४॥

गिलोय का शीतकषाय विधि से बनाया कषाय मधु के साथ वातादि तीनों प्रकार की वमन में प्रशस्त है।

विधि—"द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः॥ षड्भिः पलैः चतुर्भिर्वा सलिलाच्छीतफाण्टयोः। आप्लुतं भेषजपलं रसाख्यस्य पलद्वयम्" ॥२४॥

बीभत्सजां हृद्यतमैर्दौहृदीं काङ्क्षितैः फलैः।
लङ्घनैर्वमनैश्चामां सात्म्यैः सात्म्यप्रकोपजाम्॥२५॥
कृमिहृद्रोगवच्चापि कृमिजां साधयेद्वमीम्।

बीभत्सजन्य छर्दि को हृदय के लिये अति प्रिय फल देकर, दौहृदजन्य (गर्भावस्थाजन्य) वमन को इच्छित फलों को देकर, आमजन्य छर्दि को लंघन एवं वमन से, सात्म्य प्रकोपजन्य वमन को सात्म्य वस्तुओं से, कृमिजन्य छर्दि को कृमिजन्य हृद्रोग की भांति चिकित्सा करे॥२५॥

वितरेच्च यथादोषं शस्तं विधिमनन्तरम् ॥२६॥

वमन (तात्कालिक रूप में) बन्द हो जाने पर दोष के अनुसार चिकित्सा करना उत्तम है, (जिससे फिर वमन न हो)॥

दधित्थरससंसक्तां पिप्पलीं माक्षिकान्विताम्।
मुहुर्मुहुर्नरो लीढ्वा छर्दिभ्यः प्रवि (ति) मुच्यते ॥२७॥
समाक्षिका मधुरसा पीता वा तण्डुलाम्बुना।
तर्पणं वा मधुयुतं तिसृणामपि भेषजम् ॥२८॥
स्वयंगुप्तां सयष्ट्याह्वां, तण्डुलाम्बुमधुद्रवाम्।
पिबेद्यवागूमथवा सिद्धां पत्रैः करञ्जजैः ॥२९॥
युक्ताम्ललवणाः पिष्टाः कुस्तुम्बुर्योऽथवा हिताः।
तण्डुलाम्बुयुतं खादेत् कपित्थं त्र्यूषणेन वा ॥३०॥
सितचन्दनमध्वाक्तं लिह्याद्वा मक्षिकाशकृत्।
पिबेत् पयोऽग्नितप्तं च निर्वाप्य गृहगोधिकाम् ॥३१॥
सर्पिःक्षौद्रयुतान् वाऽपि लाजशक्तून् पिबेत्तया।
सर्पिः क्षौद्रसितोपेतां मागधीं वा लिहेत्तथा ॥३२॥
धात्रीरसे चन्दनं वा घृष्टं मुद्गदलाम्बुना।
कोलामलकमज्जानं लिह्याद्वा त्रिसुगन्धिकम् ॥३३॥
सक्षौद्रां शालिलाजानां यवागूं वा पिबेन्नरः।
घ्रेयाण्युपहरेच्चापि मनोघ्राणसुखानि च ॥३४॥
जाङ्गलानि च मांसानि शुभानि पानकानि च।
भोजनानि विचित्राणि कुर्यात्सर्वास्वतन्द्रितः ॥३५॥

कैथ के रस में पिप्पली मिलाकर मधु के साथ बार-बार चाटने से रोगी वमन से मुक्त हो जाता है। मूर्वा को मधु के साथ चावलों के पानी से पीने पर वमन शान्त होता है। लाजा सत्तू का तर्पण मधु के साथ देना वातादि तीनों छर्दियों में उत्तम है। कौंच, मुलैहठी, इनको चावल के धोवन में घोलकर मधु मिलाकर पीये। करंज के पत्तों से सिद्ध की हुई यवागू को पीये। उचित परिमाण में अनारदाना इमली अमचूर आदि अम्ल, लवण के साथ पीसा धनिया (धनिये की चटनी, पोदीना भी) उत्तम है। कैथ को चावलों के पानी से या त्रिकटु के साथ खाये। मक्खी की बिष्ठा को शर्करा, चन्दन और मधु के साथ चाटे। गृहगोधिका को आग में गरम करके पानी में डालकर, इस पानी को पीये। इसी प्रकार लाजा सत्तुओं को घी और मधु के साथ खाये। पिप्पली को घी, मधु, शर्करा के साथ चाटे। आंवले के रस में चन्दन को घिसकर मूँग की दाल के पानी से पीये (मूँग के ओसावण से पीये) बेर, आँवले की मज्जा को या त्रिसुग (दालचीनी, इलायची, तेजपात) इनको मधु के साथ चाटे। शालिधान्यों से बनाई लाजा की यवागू को पीये। मन और नासिका को सुख देनेवाली सुगन्धियों को सूँघे। जांगल, मांस, उत्तम पेय, विचित्र नाना प्रकार के भोजन सब प्रकार की छर्दियों में बिना आलस्य के बरते।

वक्तव्य—सन्निपातजन्य छर्दि में तीनों दोषों की कही चिकित्सा करे, यथा—"येषां पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेषु च तीक्ष्णबुद्ध्या। रोगेषु दोषाग्निबलाद्यपेक्षया, कुर्याद् भिषक् शास्त्रविधौ विचक्षणः॥ गृहगोधिकावरमठीकृतं मृन्मयं गृहमुच्यते।" इससे बरौंठे कीड़े का मिट्टी का घर लेकर उसे आग में गरम करके पानी में बुझाकर पानी पीये। यथा चरक में—"मृद्भृद्लोष्टप्रभवं वा" ॥२७-३५॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे छर्दिप्रतिषेधो नाम (एकादशोऽध्यायः, आदितः) एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो हिक्काप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे हिक्का प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः।
शीतपानासनस्थानरजोधूमानिलानलैः ॥३॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः।
आमदोषाभिघातस्त्रीक्षयदोषप्रपीडनैः ॥४॥
विषमाशनाध्यशनैस्तथा समशनैरपि।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥५॥

विदाही, गुरु, विष्टम्भि, रूक्ष, अभिष्यन्दि भोजनों से शीतपेय, शीतआसन, शीतलस्थान, धूल, धूम, वायु और अग्नि से, व्यायाम, कार्य (परिश्रम कर्म), भार उठाना, मुसाफरी, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से, अपतर्पण से, आमदोष से, अभिघात से, स्त्री सेवन से, दोषों से पीड़ित होने से, विषमाशन से, अध्यशन से, और समशन से मनुष्यों में हिक्का, श्वास, कास उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—आम-उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥ हिताहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्। बहुशस्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम्। अजीर्णे भुज्यते त्रयमेतन्निहन्त्याशु यत्तु तदध्यशनमुच्यते। बहून्व्याधीन्करोति वा॥

सु० सू०अ० ४६-५०८ ॥३-५॥

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो
　　यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन्।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यत-
　　स्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते ॥६॥

शब्द के साथ उदानवायु बार-बार, यकृत्, प्लीहा, आँतों को मुख में लाकर बाहर फेंकती प्रतीत होती है, यह शब्दयुक्त

वायु क्योंकि प्राणों को नष्ट करती है, इसलिये वैद्य इसको हिक्का (हिक् इति कृत्वा कायति शब्दायते) कहते हैं।

वि० मन्तव्य—हिक्का–हिक्क अव्यक्ते शब्दे (भ्वादिगण-परस्मैपदी सेट्) धातु भी है, जिससे हिक्का शब्द निष्पन्न होता है और यहाँ पर हिक् हिंसायां (चु० आ० सेट्) से हिक्का शब्द बनाया गया है। हमारा विचार है कि हिक्क अव्यक्ते शब्दे—धातु से ही हिक्का शब्द की निष्पत्ति मानना उचित है, क्योंकि सभी हिक्का प्राणों का हिंसन नहीं करती हैं। हिक्का को हिचकी या हुचकी कहते हैं। इसमें "हिक्" ध्वनि निकलती है, अतः यह हिक्का कही जाती है ॥६॥

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥७॥

वायु कफ से मिलकर अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा और महती नाम की पाँच हिक्काओं को उत्पन्न करती है ॥७॥

मुखं कषायमरतिर्गौरवं कण्ठवक्षसोः।
पूर्वरूपाणि हिक्कानामाटोपो जठरस्य च ॥८॥

पूर्वरूप—मुख में कसैलापन, बेचैनी, गले और छाती में भारीपन, उदर में आध्मान ये हिक्का के पूर्वरूप हैं ॥८॥

त्वरमाणस्य चाहारं भुञ्जानस्याथवा घनम्।
वायुरन्नैरवस्तीर्णः कटुकैरर्दितो भृशम् ॥९॥
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक्।

आहार को जल्दी जल्दी खाते हुए अथवा भारी या सान्द्र अन्न को खाते हुए एवं कटु वस्तुओं से अतिशय पीड़ित हुई वायु अन्न से आवृत होकर ऊपर की ओर गति करके हिक्का उत्पन्न करती है, इस हिक्का को वैद्य 'अन्नजा' हिक्का जाने। (वायु समान एवं उदान) ॥९॥

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते ॥१०॥
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत्।

जो हिक्का देर में यमल (एक साथ दो-युग्म रूप में) वेगों से प्रवृत्त होती है, उसे यमला हिक्का कहते हैं, इसमें शिर और ग्रीवा दोनों हिलते हैं। चरक—

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे।
आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्त्तस्य विचेतसः।
जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥
पर्य्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता।
सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥१०॥

विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्द्रैः समभिवर्तते ॥११॥
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात् प्रधाविता।

परिश्रम या मेहनत करने के समय मन्दवेग से जो हिक्का जत्रुमूल से उत्पन्न होती है, उसे क्षुद्रिका हिक्का कहते हैं।

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठात् व्यायामपरिघट्टितः।
कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः ॥
अतिदुःखा न सा नोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी।
नचोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्।
यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्त्तते ॥
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता।
मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ॥११॥

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ॥१२॥
शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरुजाकरी।
अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥१३॥

जो हिक्का नाभि से आरम्भ होने के कारण गम्भीर शब्द-वाली होती है वह कष्टसाध्य है। इस हिक्का में ओठ–कण्ठ–जिह्वा–मुख सूख जाते हैं, श्वास एवं पार्श्व शूल होता है। ज्वर, श्वास, तृष्णा आदि अनेक उपद्रव इसमें होते हैं, इसको गम्भीरा कहते हैं ॥१२,१३॥

मर्माण्यापीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते।
देहमायम्य वेगेन घोषयत्यतितृष्यतः ॥
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी ॥१४॥

बस्ति, हृदय, शिर मर्मों को या (नाभि हृदय और स्तन-मूल मर्मों को) पीड़ित करती हुई जो हिक्का निरन्तर प्रवृत्त होती है, शरीर को खींचकर वेग के साथ शब्द करती है, रोगी को बहुत प्यास रहती हो, इसे महा हिक्का कहते हैं, इसके वेग के समय रोगी का सारा शरीर हिल जाता है।

क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः।
गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैः घोषवतीं भृशम् ॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा।
प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥
संज्ञां मुष्णाति गात्रस्य स्तम्भं संजनयत्यपि।
मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्धि अपहतस्मृतेः ॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशंखच्युतभ्रुवः।
सक्तजल्पप्रलापस्य निवृत्तिं नाधिगच्छतः ॥
महातेजा महावेगा महाशब्दा महाबला।
महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥ चरक॥

वि० मन्तव्य—भगवान् पुनर्वसु के शब्दों में—प्राणोदकाऽन्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुध्य। च० चि० अ० १७, अर्थात्—प्राणवाही, जलवाही तथा अन्न-वाही स्रोतों में कफ के साथ अथवा कफ द्वारा रुककर वायु हिक्का रोग को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि उक्त स्थानों में वायु कफ द्वारा रुक जाता है और जब कफ की रुकावट

को तोड़कर निकलता है तब हिक्का के रूप में निकलता है। अन्नजा हिक्का की प्रवृत्ति—अन्नवाही स्रोतस् अर्थात् आमाशय से होती है और आहार मार्ग में से होकर वायु बाहर आता है। यमला वह है जिसमें एक साथ दो हिक्का आती हैं, परन्तु इसमें व्यवधान काल अन्य हिक्काओं की अपेक्षा कुछ लम्बा होता है। इसे चरक में व्यपेता कहा गया है। व्यपेता अर्थात् विप्रकृष्टं कालं यावत् अपगत्य संशम्य इता प्राप्ता = जो कुछ ठहरकर आती है। और इसकी प्रवृत्ति भी अन्नवाही स्रोतस् से होती है। देखिये "व्यपेता प्राणोपरोधिनी" पाठ श्लोक० १० के नीचे। गम्भीरा—नाभि से-प्राणवाही स्रोतों से हृदय एवं फुप्फुसों में होकर श्वास मार्ग से आती है। इसी कारण इसमें श्वास एवं पार्श्वरुजा होती है। महाहिक्का—भीषण हिक्का होती है, निम्नलिखित चरकोक्त क्षीण....मता पाठ देखिये। इसकी प्रवृत्ति में नाभि, हृदय आदि मर्मों के साथ २ उदकवाही स्रोतों की विकृति भी कारण होती है। अतएव इसमें अतितृषा भी रहती है और अतएव चरक के शब्दों में यह हिक्का सद्यःप्राणहरा होती है ॥१४॥

आयम्यते हिक्कतोऽङ्गानि यस्य
दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते यस्य गाढम्।
क्षीणोऽन्नद्विट् कासते यश्च हिक्की
तौ द्वावन्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥१५॥

हिचकी लेते हुए जिस पुरुष के अङ्ग तन जाते हैं (लम्बे हो हो जाते हैं), आंखें ऊपर को चढ़ जाती हैं, गहरा अन्धेरा सामने आ जाता है, क्षीण, अन्न से द्वेष करनेवाला, जिस हिक्का रोगी को खांसी होती हो, महाहिक्का और गम्भीरा हिक्कावाले, ये रोगी असाध्य हैं।

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।
यमिका च प्रलापार्त्तितृष्णामोहसमन्विता॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा॥ चरक।

वि० मन्तव्य—गम्भीरा तथा महाहिक्का राजयक्ष्मा आदि अनेक रोगों में मृत्यु के समय उत्पन्न हो जाती हैं अथवा यों कहिये कि उन रोगों में जब उक्त हिक्का उत्पन्न हो जाती है तब सद्यः मृत्यु हो जाती है। सद्यः शब्द का प्रयोग सप्तरात्र—सप्ताह के लिये प्रयुक्त होता है, यथा—तत्र सद्यः प्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरात् मारयन्ति (सु० शा० अ० ६।२३) आयुर्वेदीय परिभाषामें सात दिनके भीतर मृत्यु होना सद्यः मृत्यु कहलाता है॥

प्राणायामोद्वेजनत्रासनानि
सूचीतोदैः संभ्रमश्चात्र शस्यः।

प्राणायाम (वायु का अवरोध), उद्वेजन, डराना, सुई चुभोकर मन को व्याकुल करना ये उपाय करे।

वक्तव्य—कुम्भक, पूरक, रेचक भेदों से कुम्भक प्राणायाम (वायु की ऊर्ध्वगति को रोकना) उत्तम है।

वि० मन्तव्य—सम्भ्रमः-अचम्भा, उद्वेजन-घबराहट उत्पन्न करना। देखा जाता है कि स्वस्थ की क्षुद्रा हिक्का इन उपायों से शान्त हो जाती है।

यष्ट्याह्वं वा माक्षिकेणावपीडे
पिप्पल्यो वा शर्कराचूर्णयुक्ताः ॥१६॥

मुलैहठी को मधु के साथ या पिप्पली को शर्करा चूर्ण में मिलाकर अवपीडन नस्य से देवे ॥१६॥

सर्पिः कोष्णं क्षीरमिक्षो रसो वा
नाविक्षीणे छर्दनं शान्तिहेतोः।

गरम घी, दूध या ईख का रस पीना उत्तम है, रोगी बहुत क्षीण न हुआ हो तो वमन देना प्रशस्त है।

नारीपयःपिष्टमशुक्लचन्दनं
घृतं सुखोष्णं च ससैन्धवं तथा ॥१७॥
चूर्णीकृतं सैन्धवमम्भसाऽथवा
निहन्ति हिक्कां च हितं च नस्यतः।

लालचन्दन को धावन में पीसकर नस्य देवे। सुहाते गरम घृत में सैन्धव मिलाकर नस्य देवे। सैन्धव को चूर्ण करके पानी मिलाकर नस्य देवे। इससे हिक्का रोग नष्ट होता है ॥१७॥

युञ्ज्याद् धूमं शालनिर्यासजातं
नैपालं वा गोविषाणोद्भवं वा ॥१८॥
सर्पिःस्निग्धैश्चर्मबालैः कृतं वा
हिक्कास्थाने स्वेदनं चापि कार्यम्।

राल का धुँवा, या मैनसिल का या गाय के सींग का अथवा गाय के चमड़े--बालों को घी से स्निग्ध करके, इनसे धुँवा देवे। हिक्का के स्थान कण्ठ और स्तनों के बीचमें स्वेदन करे। "मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसंपुटे। कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम्" ॥ चरक ॥१८॥

क्षौद्रोपेतं गैरिकं काञ्चनाह्वं
लिह्याद्भस्म ग्राम्यसत्त्वास्थिजं वा ॥१९॥
तद्वच्छ्वाविन्मेषगोशल्य (ल्ल) कानां
रोमाण्यन्तर्धूमदग्धानि चात्र।
मध्वाज्याक्तं बर्हिपत्रप्रसूत-
मेवं भस्मौदुम्बरं तैल्वकं वा ॥२०॥
स्वर्जिक्षारं बीजपूराद्रसेन
क्षौद्रोपेतं हन्ति लीढ्वाऽऽशु हिक्काम्।

स्वर्णगैरिक को मधु के साथ चाटे। ग्राम्य सत्त्व (गाय-बकरी आदि) की अस्थियों की भस्म को मधु के साथ चाटे। सेह, मेढा, गाय, शल्लक इनके रोगों को अन्तर्धूम विधि से जलाकर इनकी राख को मधु के साथ चाटे। मोर के पंखों

की भस्म को गूलर या तिल्वक (लोध) के छाल की भस्म को मधु और घी के साथ चाटे। स्वर्जिक क्षार को बिजौरे के रस और मधु के साथ चाटने से हिक्का तुरन्त शान्त होती है।

वक्तव्य—कफ से वायु का मार्ग अवरुद्ध होने से हिक्का होती है, इसलिये इन लेहों से मार्ग शोधन होता है। यथा—मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांसि आविश्य कुप्यति। उरःस्थकफमुद्धूय हिक्का श्वासान्करोति सः ॥ प्राणोदकवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्कां करोति संरुध्य ॥ चरक ॥१८,२॥

सर्पिःस्निग्धा घ्नन्ति हिक्कां यवाग्वः
कोष्णग्रासाः पायसो वा सुखोष्णः ॥२१॥

घी से स्निग्ध हुई यवागू हिक्का को नष्ट करती है, गरम कवल (गण्डूष) अथवा गरम खीर हिक्का को नष्ट करती हैं॥

शुण्ठीतोये साधितं क्षीरमाजं
तद्वत् पीतं शर्करासंयुतं वा।
आतृप्तेर्वा सेव्यमानं निहन्याद्
घ्रातं हिक्कामाशु मूत्रं त्वजाव्योः ॥२२॥

सोंठ के क्वाथ में (दूध से चार गुणे) सिद्ध किया बकरी का दूध पीने पर हिक्का को नष्ट करता है। शर्करामिश्रित दूध तृप्ति पूर्वक (पेटभर कर) पीने से हिक्का को नष्ट करता हैं। बकरी या भेड़ का मूत्र नासा से सूंघने पर (नस्य लेने पर) हिक्का को नष्ट करता है ॥२२॥

सपूतिकीटं लशुनोग्रगन्धा-
हिङ्ग्वब्जमाचूर्ण्य सुभावितं तत्।

पूतिकीट (तेलिया कीड़ा) को लहसुन, वच, हींग कमल के चूर्ण में मिलाकर बकरी या भेड़ के मूत्र में बहुत बार भावित करके सूंघने पर हिक्का को नष्ट करता है। (पूतिकीट-तेलियाकीड़ा-वर्षा में बहुत होता है)।

क्षौद्रं सितां वारणकेशरं च
पिबेद्रसेनेक्षुमधूकजेन ॥२३॥

नागकेसर, मधु, शर्करा, इनको ईख के रस से तथा महुए के रस के साथ पीये।

वक्तव्य—षोडशाष्टचतुर्भागवातपित्तकफार्त्तिषु। क्षौद्रं कषाये दातव्यं विपरीता तु शर्करा ॥ कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानां तु सर्वशः। द्रवशुक्त्याऽवलेढव्यः पातव्यश्च चतुर्गुणे ॥२३॥

पिबेत् पलं वा लवणोत्तमस्य
द्वाभ्यां पलाभ्यां हविषः समग्रम्।

सैन्धव नमक एक पल को घी की दो पल मात्रा के साथ सम्पूर्ण रूप में पीये। (यह उत्तम मात्रा है, हीन, मध्यम रोगी के विचार से कम कर लेवे)।

हरीतकीं कोष्णजलानुपानां
पिबेद्घृतं क्षारमधूपपन्नम् ॥२४॥
रसं कपित्थान्मधुपिप्पलीभ्यां
शुक्तिप्रमाणं प्रपिबेत् सुखाय ॥२५॥

गरम जल के अनुपान से हरड़ का चूर्ण पीये। यवक्षार, मधु को गरम घी में मिलाकर पीये। कैथ के रस से मधु-पिप्पली को आधे पल की मात्रा में पीये। (मधु आधापल पिप्पली कर्ष-मात्र, कैथ के स्वरस से आरोग्य के लिये पीये। डल्हण ने क्षार के स्थान में क्षीर पढ़कर अर्थ किया है) ॥२४,२५॥

कृष्णां सितां चामलकं च लीढं
सश्रृङ्गवेरं मधुनाऽथवाऽपि।
कोलास्थिमज्जाञ्जनलाजचूर्णं
हिक्कां विहन्यान्मधुनाऽवलीढम् ॥२६॥

पिप्पली, शर्करा को मधु से चाटे, आंवला सोंठ और मधु को चाटे, यह दूसरा योग है। बेर की गुठली मजा, सौवीरांजन, लाजा-चूर्ण, इनको मधु से चाटे, इस से हिक्का नष्ट होती है॥

पाटलायाः फलं पुष्पं गैरिकं कटुरोहिणी।
खर्जूरमध्यं मागध्यं काशीसं दधिनाम च ॥२७॥
चत्वार एते योगाः स्युः प्रतिपादप्रदर्शिताः।
मधुद्वितीयाः कर्तव्यास्ते हिक्कासु विजानता ॥२८॥

चारयोग—(१) पाटला का फल और पुष्प, (२) गेरु और कुटकी, (३) खजूर की गुठली और पिप्पली, (४) कासीस और कैथ, ये चार योग प्रत्येक पाद में कहे हैं, इनको मधु के साथ मिलाकर चाटे, इनको हिक्का में बरतना चाहिये॥

कपोतपारावतलावशल्लक-
श्वदंष्ट्रगोधावृषदंशजान् रसान्।
पिबेत् फलाम्लानहिमान् ससैन्धवान्
स्निग्धांस्तथैवर्ष्यमृगद्विजोद्भवान् ॥२९॥

कबूतर, पारावत, बटेर, शल्लकी (सेह), श्वदंष्ट्र, गोधा, वृषदंश (बिल्ली) इनके तथा ऋष्य, मृग, पक्षी (जंघाला विष्किराः) इनके मांस रसों को अनार आदि अम्ल से खट्टा करके घृत से स्निग्ध करके, सैन्धव मिलाकर गरम-गरम पीये॥

विरेचनं पथ्यतमं ससैन्धवं
घृतं सुखोष्णं च सितोपलायुतम्।
सदागतावूर्ध्वगतेऽनुवासनं
वदन्ति केचिच्च हिताय हिक्किनाम् ३०

सैन्धव मिश्रित विरेचन अतिशय पथ्य है, मिश्री मिला सुहाता गरम घृत पीना उत्तम है। कई आचार्य ऊर्ध्वगामि वायु के लिये हिक्का रोगियों को अनुवासन बस्ति देना हितकारी कहते हैं। (ये योग दोष की अधिकता देखकर बरतने चाहिये) ।३०।

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा तन्त्रे हिक्काप्रतिषेधो नाम (द्वादशोऽध्यायः, आदितः) पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः श्वासप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे श्वास प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः संप्रवर्तते ।
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥३॥

जिन विदाहि आदि बहुत से कारणों से हिक्का उत्पन्न होती है, उन्हीं कारणों से मनुष्यों में भयानक श्वास उत्पन्न होता है। इसी से कहा है—

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम् ।
द्वयोरपि यथा दृष्टं ऋषिभिः तन्निबोधत ॥ चरक ॥३॥

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः ।
श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ॥४॥

प्राणवायु अपनी प्रकृति को छोड़कर (ऊर्ध्वगामि बनकर) कफ के साथ मिलकर जब श्वास उत्पन्न करता है, तब इस अवस्था को श्वासरोग कहते हैं।

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वग् व्रजति संरुद्धः तदा श्वासान् करोति सः ।

प्राणवायु कफ के साथ मिलता है, परन्तु अन्य दोष भी इसमें मिलते हैं, यथा—

"क्षुद्रको वातिकःश्लेष्मभूयिष्ठस्तमकःस्मृतः ।
छिन्नः पित्तप्रधानः स्यादन्यौ मारुतकोपजौ ॥"४॥

क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चधा ।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥५॥

क्षुद्रक, तमक, छिन्न, महान्, और ऊर्ध्वश्वास भेद से श्वास नामक एक महान् रोग पाँच प्रकार का है ॥५॥

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा ।
आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च ॥६॥

पूर्वरूप—हृदय में पीड़ा, भोजन में द्वेष, बहुत बेचैनी, आनाह, पार्श्वों में शूल, मुख में विरसता, ये पूर्वरूप हैं ॥६॥

किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते ।
निषण्णस्यैति शांतिं च स क्षुद्र इति संज्ञितः ॥७॥

कुछ भी (थोड़ा सा भी थकान होने पर) काम करने से जिसको श्वास चढ़ने लगता है, और बैठ जाने से शान्त हो जाता है, उस श्वास को क्षुद्र श्वास कहते हैं।

वक्तव्य—पहाड़ पर चढ़ने से या कईयों को सीढ़ी पर चढ़ने से जो हांपनी चढ़ती है, थोड़ी देर बैठने से शान्त हो जाती है, वह क्षुद्रश्वास है ॥७॥

तृट्स्वेदवमथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः ।
विशेषाद् दुर्दिने तान्येच्छ्वासः स तमको मतः ॥८॥
घोषेण महताऽऽविष्टः सकासः सकफो नरः ।
यः श्वसित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः ॥९॥
स शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्धते ।
मूर्च्छाज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः ॥१०॥

जिस श्वास में प्यास, स्वेद, वमन अधिकता से हो, गले में घर्घराहट हो, खासकर बादल के आने पर पीड़ा देवे, इस श्वास को तमक कहते हैं। तमक श्वास से पीड़ित, निर्बल, अन्न से द्वेष करनेवाला, सोते हुए बड़े भारी शब्द के साथ, कफयुक्त खांसता है, तथा कफ के कम होने पर जो शान्त हो जाता है, सोने पर बढ़ता है, रोगी मूर्च्छा, ज्वर से पीड़ित हो, उस श्वास को प्रतमक कहते हैं ॥

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तत् ।
उदावर्त्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।
मज्जतस्तमसीवाऽथ विद्यात्संतमकं तु तम् ॥८-१०॥

आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः ।
सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत् ॥११॥

आध्मानयुक्त, बस्ति (मूत्राशय में दाह, वेदना के साथ जो प्राणि सम्पूर्ण रूप में रुकता हुआ श्वास लेता है, उसे छिन्न-श्वास कहते हैं ॥

वक्तव्य—इसमें रोगी का श्वास कुछ समय (मिनिटों) के लिये एकदम रुका प्रतीत होता है, फिर कुछ देर बाद आरम्भ हो जाता है। यथा—यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः। न वा श्वसिति दुःखार्त्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः। आनाह-स्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिनः। विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥ विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं प्रजहात्यसून् ॥११॥

निःसंज्ञः पार्श्वशूलार्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान् ।
संरब्धनेत्रस्त्वायम्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः ॥

चेतना रहित, पार्श्वशूल से पीड़ित, शुष्क कण्ठ युक्त, जोर के शब्द के साथ, शोथ युक्त आंखोंवाला, झुककर (दुहेरा होकर)—जिसमें श्वास लेता है, उसे महान् श्वास कहते हैं।

वक्तव्य—जैसे गाड़ी के बैल जब भागकर आते हैं, उनका श्वास दूर से ही सुनाई देता है, उस प्रकार इस रोगी के श्वास का शब्द दूर से सुना जाता है,—

यथा—

उद्धूयमानवातो यः शब्दवत् दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूरात् विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥१२॥

मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन्मूढो मुहुश्च यः ।
ऊर्ध्वप्रेक्षी हृतरवस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत् ॥१३॥

जिसमें, हृदय, वस्ति, शिर इन मर्मों के खिंचने पर निश्चेष्ट बनकर जो मनुष्य बार-बार श्वास लेता है, ऊपर को देखता है, स्वर बैठ जाता है, उसे ऊर्ध्वश्वास कहते हैं। चरक चि० अ० १७—

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्ध गन्धवहार्दितः ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन्वेदनार्त्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥
ऊर्ध्वं श्वासे प्रकुपिते ह्यधः श्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतः ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यै वहन्त्यसून् ॥१३॥

क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥१४॥

इन श्वासों में क्षुद्र श्वास साध्य है, तमक श्वास कष्ट साध्य है। शेष तीन श्वास असाध्य हैं, दुर्बल व्यक्ति का तमक श्वास भी असाध्य होता है ॥१४॥

स्नेहबस्तिं विना केचिदूर्ध्वं चाधश्च शोधनम् ।
मृदु प्राणवतां श्रेष्ठं श्वासिनामादिशन्ति हि ॥१५॥

कई आचार्य स्नेहवस्ति के बिना बलवान् श्वास रोगियों को मृदु (पीड़ा न करनेवाला), वमन और विरेचन देना श्रेष्ठ बताते हैं ॥१५॥

श्वासे कासे च हिक्कायां हृद्रोगे चापि पूजितम् ।
घृतं पुराणं संसिद्धमभयाविडरामठैः ॥१६॥

श्वास, कास, हिक्का, हृदय रोग में-हरड़ विडनमक और हींग से सिद्ध दस साल पुराना घृत देना श्रेष्ठ है ॥१६॥

सौवर्चलाभयाबिल्वैः संस्कृतं वाऽनवं घृतम् ।
पिप्पल्यादिप्रतीवापं सिद्धं वा प्रथमे गणे ॥१७॥
सपञ्चलवणं सर्पिः श्वासकासौ व्यपोहति ।

सौवर्चल, हरड़, बिल्व इनसे संस्कृत पुरातन घृत देवे अथवा विदारिगन्धादिगण के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण का प्रक्षेप देकर घृत सिद्ध करे। पाँचों नमक के प्रक्षेप के साथ घृत का उपयोग श्वास और कास को नष्ट करता है ॥१७॥

हिंस्राविडङ्गपूतीकत्रिफलाव्योषचित्रकैः ॥१८॥
द्विक्षीरं साधितं सर्पिश्चतुर्गुणजलाप्लुतम् ।
कोलमात्रैः पिबेत्तद्धि श्वासकासौ व्यपोहति ॥१९॥
अर्शांस्यरोचकं गुल्मं शकृद्भेदं क्षयं तथा ।
कृत्स्ने वृषकषाये वा पचेत् सर्पिश्चतुर्गुणे ॥२०॥
तन्मूलकुसुमावापं शीतं क्षौद्रेण योजयेत् ।

हिंस्रा (झिंटी), विडंग, करंज, त्रिफला, त्रिकटु, चित्रक, इनके कल्क से चौगुने जल में, एक प्रस्थ घी को दो प्रस्थ दूध के साथ सिद्ध करे। इसकी एक कर्ष मात्रा पीये, यह श्वास और कास को नष्ट करता है। अर्श, अरोचक, गुल्म, अतिसार और क्षय को नष्ट करता है। समूल पुष्प, शाखा के साथ अडूसे का कषाय चार प्रस्थ लेकर इसमें एक प्रस्थ घी को अडूसा के मूल और पुष्प का प्रक्षेप देकर सिद्ध करे। इस शीतल घृत को मधु के साथ मिलाकर खाये।

वि० मन्तव्य—सुश्रुत के पुराने टीकाकार श्रीजेज्जट जी का कथन है कि "कृत्स्ने वृषकषाये·······योजयेत्" पाठ यहाँ नहीं होना चाहिये क्योंकि अग्रिम श्लोक २१ में "वासाघृतं······· भवेत्" पाठ में वासा घृत का विधान किया गया है। और श्री डल्लनाचार्य श्लो० २६ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'वासाघृतं षट्पलं च इत्यादि वासाघृतं कृत्स्ने विषे तत्कुसुमैः इत्यादिना रक्तपित्तोक्तं पित्तप्रधाने श्वासे हितं' (ड० टी०)। परन्तु वर्त्तमान सुश्रुत में 'कृत्स्ने' आदि पाठ रक्तपित्त प्रतिषेध में नहीं है अपितु शोष प्रतिषेध अ० १४ में है। अस्तु, हमारे विचार में यह कोई बड़ी समस्या नहीं है, क्योंकि एक स्थान पर योग एवं निर्माण विधि का उल्लेख और दूसरे स्थान पर केवल नामनिर्देश है। इन दोनों घृतों में भी एक में केवल कुसुमों का कल्क डालने का विधान है और दूसरे में मूल एवं कुसुमों का कल्क डालने का, अतः कोई दोष भी नहीं है॥

शृङ्गीमधूलिकाभार्गीशुण्ठीतार्क्ष्यसिताम्बुदैः ॥२१॥
सहरिद्रैः सयष्ट्याह्वैः समैरावाप्य योगतः ।
घृतप्रस्थं पचेद्धीमान् शीततोये चतुर्गुणे ॥२२॥
श्वासं कासं तथा हिक्कां सर्पिरेतन्नियच्छति ।

काकड़ाश्रृंगी, मधूलिका, भार्गी, सोंठ, रसौंत, शर्करा, मुस्ता, हल्दी, मुलैहठी, प्रत्येक समान भाग लेकर इनके कल्क से चारप्रस्थ शीतल जल में-एक प्रस्थ घी बुद्धिमान् सिद्ध करे। यह घृत श्वास, कास, को नष्ट करता है। (योगतः—का अर्थ कल्क इस प्रमाण में मिलाये कि घृत कटु न हो, चतुर्थांश परिभाषा से नहीं) ॥२१,२२॥

सुवहा कालिका भार्गी शुकाख्यां नैचुलं फलम् ॥२३॥
काकादनीं शृङ्गवेरं वर्षाभूर्बृहतीद्वयम् ।
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थं पचेदेभिर्जलद्विकम् ॥२४॥
कटूष्णं पीतमेतद्धि श्वासामयविनाशनम् ।

सुवहा (निशोथ या गोधापदी), कालिका (काले

यक), भार्गी, शुकाख्या (शिरीष), जलवेतसफल, काकादनी (कौआठूँठी), सोंठ, पुनर्नवा, कटेरी, कटेरी बड़ी, प्रत्येक आधा कर्ष लेकर-इनसे एक प्रस्थ घृत, दो प्रस्थ जल में पकाये। यह कटु-उष्ण घृत पीने से श्वास रोग को नष्ट करता है ॥२३,२४॥

सौवर्चलयवक्षारकटुकाव्योषचित्रकैः ॥२५॥
वचाभयाविडङ्गैश्च साधितं श्वासशान्तये ।
गोपवल्लयुदके सिद्धं स्यादन्यद् द्विगुणे घृतम् ॥२६॥

सौवर्चल, यवक्षार, कुटकी, त्रिकटु, चित्रक, वच, हरड़, विडंग इनके कल्क से जल में सिद्ध किया घृत श्वास को नष्ट करता है। सारिवाक्याथ, घी से दुगना लेकर, इसमें सिद्ध किया घृत श्वासनाशक है ॥२५,२६॥

पञ्चैतानि हवींष्याहुर्भिषजः श्वासकासयोः ।

हिंस्रादि ये पांचों घृत वैद्य श्वास, कास में बरतने के लिये कहते हैं। (हिंस्रादि शृंग्यादि, सुवहादि, सौवर्चलादि, गोपवल्ली आदि)।

तालीशतामलक्युग्राजीवन्तीकुष्ठसैन्धवैः ॥२७॥
बिल्वपुष्करभूतीकसौवर्चलकणाग्निभिः ।
पथ्यातेजोवतीयुक्तैः सर्पिर्जलचतुर्गुणम् ॥२८॥
हिङ्ग्वादयुतं सिद्धं सर्वश्वासहरं परम् ।
वासाघृतं षट्पलं वा घृतं चात्र हितं भवेत् ॥२९॥

तालीश, भूँईआंवला, बच, जीवन्ती, कूठ, सैन्धव, विल्व, पुष्करमूल, रोहिषघास, सौवर्चल, पिप्पली, चित्रक, हरड़, तेजबल इनके कल्क से एक द्रव्य की अपेक्षा हींग चतुर्थांश मिलाकर घी से चारगुणे जल में घृत सिद्ध करे। यह घी सब प्रकार के श्वासों को नाश करने में श्रेष्ठ है। वासाघृत (रक्तपित्तोक्त, पित्त श्वास में) षट्पलघृत (वातव्याधि में कहा वातप्रधान श्वास में) श्वासरोग में उत्तम है ॥२७-२९॥

तैलं दशगुणे सिद्धं भृङ्गराजरसे शुभे ।
सेव्यमानं यथान्यायं श्वासकासौ व्यपोहति ॥३०॥

तैल से दसगुणे भांगरे के निर्मलस्वरस में सिद्ध किया तैल उचित विचारणा एवं अच्छपान विधि से सेवन करने पर श्वास कास को नष्ट करता है ॥३०॥

फलाम्ला विष्किररसाः स्निग्धाः प्रव्यक्तसैन्धवाः ।
एणादीनां शिरोभिर्वा कौलत्था वा सुसंस्कृताः ॥३१॥
हन्युः श्वासं च कासं च संस्कृतानि पयांसि च ।

बटेर आदि विष्किर प्राणियों के मांसरस में अनारदाना, बिजौरा आदि अम्ल, घी या तैल स्नेह और उत्कट सैन्धव मिलाकर देवे। हरिण आदि के शिरों से बनाये मांसरस अथवा कुलत्थी के भली प्रकार संस्कृत यूष श्वास और कास को नष्ट करते हैं, बृहत्पञ्चमूल आदि वातहर द्रव्यों से संस्कृत दूध श्वास, कास को नष्ट करते हैं ॥३१॥

तिमिरस्य च बीजानि कर्कटाख्या सुवर्चिका ॥३२॥
दुरालभाश्च पिप्पल्यः कटुकाख्या हरीतकी ।
श्वाविन्मयूररोमाणि कोला मागधिकाकणाः ॥३३॥
भार्गीत्वक् शृङ्गबेरं च शर्करा शल्लकाङ्गजम् ।
नृत्तकौण्डकबीजानि चूर्णितानि तु केवलम् ॥३४॥
पञ्च श्लोकार्धिकास्त्वेते लेहा ये सम्यगीरिताः ।
सर्पिर्मधुभ्यां ते लेह्याः कासश्वासार्दितैर्नरैः ॥३५॥

पांचलेह-(१) तिमिर (तिनिश) के बीज, कर्कटशृङ्गी, सज्जीखार, (२) धमासा, पिप्पली, कुटकी, हरड़, (३) सेह, मोर, इनके रोम, कोला (चव्य), पिप्पली, तण्डुल, (४) भार्गी की छाल, सोंठ, शर्करा, शल्लक की छाल, (५) नृत्तकौण्डक के बीज अकेले, इनका चूर्ण, ये पांच लेह आधे श्लोक में कहे हैं, इन लेहों को घी और मधु के साथ कास श्वास से पीड़ित मनुष्यों को चटाना चाहिये ॥३२ ३५॥

सप्तच्छदस्य पुष्पाणि पिप्पलीश्चापि मस्तुना ।
पिबेत् संचूर्ण्य मधुना धानाश्चाप्यथ भक्षयेत् ॥३६॥

सप्तच्छद के पुष्प, पिप्पली इनका चूर्ण करके मस्तु के साथ पीये। धाना (भृष्ट जौ) को चूर्ण करके मधु के साथ खाये ॥३६॥

अर्काङ्कुरैर्भावितानां यवानां साध्वनेकशः ।
तर्पणं वा पिबेदेषां सक्षौद्रं श्वासपीडितः ॥३७॥
शिरीषकदलीकुन्दपुष्पं मागधिकायुतम् ।
तण्डुलाम्बुयुतं पीत्वा जयेच्छ्वासानशेषतः ॥३८॥

जौ को आक के पुष्प एवं कोमल पत्तों के क्वाथ से बहुत बार भावना देकर इन जौ का सत्तू बनावे। इस सत्तू को मधु के साथ श्वास से पीड़ित पीये। शिरीष के फूल, केले का फूल, कुन्द का फूल, पिप्पली, इनको चावल के धोवन के साथ पीने पर सम्पूर्ण प्रकार के श्वास नष्ट होते हैं। (कुन्द-निर्गन्ध श्वेतपुष्प) ॥३७,३८॥

कोलमज्जां तालमूलमृष्यचर्मससीमपि ।
लिह्यात् क्षौद्रेण भार्गीञ्च सर्पिर्मधुसमायुताम् ॥३९॥
नीचैःकदम्बबीजं वा सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।

बेर की मज्जा, मूसली, हरिण चर्म की राख, इनको मधु के साथ चाटे। अथवा भार्गी को घी और मधु के साथ चाटे। लघुकदम्ब के बीजों को मधु के साथ चावल के पानी के साथ पीये ॥३९॥

द्राक्षां हरीतकीं कृष्णां कर्कटाख्यां दुरालभाम् ॥४०॥
सर्पिर्मधुभ्यां विलिहन् हन्ति श्वासान् सुदारुणान् ।

द्राक्षा, हरड़, पिप्पली, कर्कटशृंगी, धमासा, इनको घी और मधु के साथ चाटने पर भयानक श्वास भी नष्ट होते हैं ॥

हरिद्रां मरिचं द्राक्षां गुडं रास्नां कणां शटीम् ॥४१॥
लिह्यात्तैलेन तुल्यानि श्वासार्तो हितभोजनः ।

हल्दी, मरिच, द्राक्षा, गुड़, रास्ना, पिप्पली, कचूर, इनको

समान भाग में लेकर तैल से चाटे, हित भोजन करे ॥४१॥

गवां पुरीषस्वरसं मधुसर्पिःकणायुतम् ॥४२॥
लिह्याच्छ्वासेषुकासेषु वाजिनां वा शकृद्रसम् ।

गाय के गोबर के स्वरस में घी, मधु, पिप्पली मिलाकर या घोड़े की लीद में घी मधु-पिप्पली मिलाकर श्वास और कास में चाटे ॥४२॥

पाण्डुरोगेषु शोथेषु ये योगाः संप्रकीर्तिताः ॥४३॥
श्वासकासापहास्तेऽपि कासघ्ना ये च कीर्तिताः ।

पाण्डु रोगों में और शोथ में जो योग कहे हैं, तथा कास नाशक जो योग कहे हैं, वे सब श्वास, कास नाशक हैं ॥४३॥

भार्गीत्वक् त्र्यूषणं तैलं हरिद्रां कटुरोहिणीम् ॥४४॥
पिप्पलीं मरिचं चण्डां गोशकृद्रसमेव च ।

भार्गी की छाल, त्रिकटु, तैल, हल्दी, कुटकी, पिप्पली, मरिच, चण्डा और गोबर का रस इनको चाटे ॥४४॥

तलकोटस्य बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम् ॥४५॥
सेव्यमाना निहन्त्येषा श्वासानाशु सुदुस्तरान् ।

अंकोठ के बीजों से लप्सी बनाकर खाने पर भयंकर श्वास भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥४५॥

पुराणसर्पिः पिप्पल्यः कौलत्था जाङ्गला रसाः ॥४६॥
सुरा सौवीरकं हिङ्गु मातुलुङ्गरसो मधु ।
द्राक्षामलकबिल्वानि शस्तानि श्वासिहिक्किनाम् ।४७।

पुरातन घृत, पिप्पली, कुलथी का यूष, जांगल मांस रस, सुरा, कांजी, हींग, बिजौरे का रस, मधु, द्राक्षा, आंवला, बिल्व ये श्वास और हिक्का रोगियों के लिये उत्तम हैं ॥४६,४७॥

श्वासहिक्कापरिगतं स्निग्धैः स्वेदैरुपाचरेत् ।
आक्तं लवणतैलाभ्यां तैरस्य ग्रथितः कफः ॥४८॥
खस्थो विलयनं याति मारुतश्च प्रशाम्यति ।

श्वास और हिक्का से पीड़ित रोगियों को स्नेहन देकर स्वेदन देवे। रोगी को सैन्धव मिश्रित तिल तैल से अभ्यंग करके स्वेदन देवे। इससे रोगी का स्रोतों में स्थित जमा कफ पिघलता है, और वायु शान्त होती है।

वि० मन्तव्य—तैल ८ तो० सैन्धव अथवा कोई भी लवण १ तो० एक साथ पीसकर वक्षस्, पार्श्व एवं पीठ पर अभ्यंग करे और द्रव स्वेद करे। इससे फुफ्फुसों एवं श्वासमार्ग में का कफ पिघलकर सुखसे निकलना प्रारम्भ हो जाता है और वायु—श्वासप्रश्वास की गति होने लगती है। तैल में १ तो० मोम भी पिघला लिया जाय तो उत्तम है ॥४८॥

स्विन्नं ज्ञात्वा ततश्चैव भोजयित्वा रसौदनम् ॥४९॥
वातश्लेष्मविबन्धे वा भिषग् धूमं प्रयोजयेत् ।
मनःशिलादेवदारुहरिद्रापत्रनामिषैः ॥५०॥
लाक्षोरुबूकमूलैश्च कृत्वा वर्तीविधानतः ।

स्वेदन देकर फिर मांसरस के साथ भात खिलावे। वायु कफ का अनुबन्ध होने पर वैद्य रोगी को धूँवा देवे। मैनसिल, देवदारु, हल्दी, तेजपत्र, गुग्गुल, लाख, एरण्डमूल, इनसे वर्ति बनाकर विधिपूर्वक धूम देवे ॥४९,५०॥

सर्पिर्यवमधूच्छिष्टशालनिर्यासजं तथा ॥५१॥

घी, जौ, मोम, राल इनसे धूम देवे ॥५१॥

शृङ्गबालखुरस्नायुत्वक् समस्तं गवामपि ।

गाय के सींग-बाल-खुर-स्नायु खाल इन सबको धूम के लिये बरते।

तुरुष्कशल्लकीनां च गुग्गुलोः पद्मकस्य च ॥५२॥

तुरुष्क (सिह्लक), शल्लकी, गुग्गुलु और पद्माख इनका धुंवा देवे।

वि० मन्तव्य—उक्त धूमपान के पश्चात् घृत का पतला हलुवा खिलाना आवश्यक है ॥५२॥

एते सर्वं ससर्पिष्का धूमाः कार्या विजानता ।

इन सब धूमों में घृत मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। चरक में—

हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् ।
आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसंकरैः ॥
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते ।
खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥
यथाद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् ।
श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैः विष्यन्दते तथा ॥
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् ।
मत्स्यानां शूकराणां वा रसैः दध्युत्तरेण वा ॥
निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे ।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यनिहतोऽनिलः ॥
लीनश्चेद् दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः ।
हरिद्रापत्रमेरण्डमूलं लाक्षामनःशिलाम् ॥
न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः ।
क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥

बलीयसि कफग्रस्ते वमनं सविरेचनम् ॥५३॥

बलवान् एवं कफ से पीड़ित, रोगी को वमन और विरेचन देवें। ततः श्लेष्मणि संरुद्धे वमनं पाययेत्तु तम् ॥ चरक ॥

दुर्बले चैव रूक्षे च तर्पणं हितमुच्यते ।
जाङ्गलैरभ्रजैर्मांसैरानूपैर्वा सुसंस्कृतैः ॥५४॥

दुर्बल एवं रूक्ष व्यक्ति का संतर्पण करना चाहिये। इसके लिये जांगल मांस, औरभ्र (मेंढे का मांस) मांस या आनूपमांस भलीप्रकार संस्कृत करके देवें ॥५४॥

निदिग्धिकां चामलकप्रमाणां
हिङ्ग्वर्धयुक्तां मधुना सुयुक्ताम् ।

लिहन्नरः श्वासनिपीडितो हि
श्वासं जयत्येव बलात्त्र्यहेण ॥५५॥

कटेरी को पीसकर आंवले के बराबर (या एक कर्ष), हींग आंवले के परिमाण से आधी, इनको मधु के साथ चाटने पर श्वास पीड़ित रोगी तीन दिन में स्वस्थ हो जाता है ॥५५॥

यथाऽग्निरिद्धः पवनानुविद्धो
वज्रं यथा वा सुरराजमुक्तम् ।
रोगास्तथैते खलु दुर्निवाराः
श्वासश्च कासश्च विलम्बिका च ॥५६॥

वायु से बढ़ाई हुई प्रदीप्त अग्नि, इन्द्र के हाथ से छूटा हुआ वज्र, जिस प्रकार से दुर्निवार होता है, उसी प्रकार से श्वास, कास, और विलम्बिका रोगों से बचना कठिन है।

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥
अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः ।
अन्ते संजायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥ चरक ॥

चिकित्सा सूत्र—

यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलामनम् ।
भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ॥
वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम् ॥
कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥
सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।
अवश्यं शमनोपायः भृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥
चरक० चि० अ० १७। ४७॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतंन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे हिक्काश्वासप्रतिषेधो नाम (त्रयोदशोऽध्यायः, आदितः) एकापञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो कासप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कासप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

उक्ता ये हेतवो नृणां रोगयोः श्वासहिक्कयोः ।
कासस्यापि च विज्ञेयास्त एवोत्पत्तिहेतवः ॥३॥

श्वास और हिक्का इन दो रोगों के जो कारण कहे हैं, वे ही कारण कासरोग की उत्पत्ति के भी जानने चाहिये ॥३॥

धूमोपघाताद्रजसस्तथैव
व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य
वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥४॥

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः
संभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषः
कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु ॥५॥

धूम की पीड़ा से, धूल से, व्यायाम, रूक्ष अन्न के सेवन, भोजन के विमार्ग (श्वासमार्ग) में जाने से, उपस्थित वेगों (जृम्भा आदि) के रोकने से, छींक के उपस्थित वेग को रोकने पर, प्राणवायु उदानवायु से मिलकर, कुपित बनकर, टूटे हुए कांसी के पात्र के समान आवाजवाली, सहसा (एकदम से) मुख से निकलता है, इस दुष्टि को वैद्य 'कास' (कसनात् कासः) कहते हैं।

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः ।
उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।
आभञ्जन्नाक्षिपन्देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः ।
शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात् कास उच्यते ॥

वि० मन्तव्य—धूमोपघातात्—कण्ठ—श्वासमार्ग में धूम द्वारा उपघात विकृति हो जाने से, धूप में चले जाने से स्थायी अथवा तात्कालिक खाँसी हो जाती–आ जाती है। विमार्गगत्वात् अपि भोजनस्य—निगलते समय यदि आहार अन्नमार्ग में न जाकर श्वास मार्ग में चला जाता है, तब भी खांसी आ जाती है पाठक जानते हैं कि, कण्ठ में मुखकुहर के अन्तिम भाग में श्वास मार्ग एवं आहार मार्ग दोनों आगे पीछे विद्यमान हैं। प्राणो हि उदानानुगतः—प्राण वायु उदानवायु से अनुगत होकर-श्वास के रूप में परिवर्त्तित होकर, प्रदुष्टः—स्वयं दुष्ट तथा सदोषः अर्थात् पित्त एवं कफ से युक्त होकर सहसा–हठात्, मुख से बाहर निकलता है। सदोषः के स्थान में "सघोष" पाठान्तर है, इसका अर्थ है, घोष–ध्वनि के साथ। खाँसते समय एक विशिष्ट प्रकार का घोष होता है ॥४,५॥

स वातपित्तप्रभवः कफाच्च
क्षतात्तथाऽन्यः क्षयजोऽपरश्च ।
पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भि-
र्विवर्धितो यक्ष्मविकारकृत् स्यात् ॥६॥

यह कास वायु-पित्त कफ क्षय तथा क्षत (उरःक्षत) के कारण पाँच प्रकार का वैद्यों ने कहा है। बढ़ने पर कास यक्ष्मा रोग को उत्पन्न करता है ॥६॥

भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डू-
र्भोज्योपरोधो गलतालुलेपः ।
स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्नि-
सादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि ॥७॥

पूर्वरूप–कास के होने से पूर्व गले में कण्डू, ग्रास का गले

में रुकना (निगरण में काठिन्य), गले और तालु में मलवृद्धि प्राकृतिकशब्द (उच्चारण) में थोड़ी विषमता, अरोचक, अग्नि-मान्द्य ये लक्षण होते हैं।

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता।
कण्ठे गण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते॥ चरक ॥७॥

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली
क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तमन्तःकफमीरणेन
कासेत्तु शुष्कं स्वरभेदयुक्तः ॥८॥

वातजनितकास में रोगी के हृदय शंख-शिर-उदर-पार्श्व में शूल रहता है, मुख क्षीण (कृश) हो जाता है, बल-स्वर और ओज घट जाता है, निरन्तर अन्दर में कफ रहता है, सूखी (कफ रहित) खाँसी निरन्तर आती है, रोगी को स्वरभेद रहता है, ये लक्षण वायु से होते हैं ॥८॥

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषै-
रभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत् कटूनि
कासेत् स पाण्डुः परिदह्यमानः ॥९॥

पित्तजन्यकास में छाती में विदाह, ज्वर, मुख शोष से पीडित, मुख का स्वाद तिक्त, प्यास से पीडित, पित्त के कारण पीला-कटुरस का वमन, रोगी का शरीर पाण्डुवर्ण, तथा दाह-युक्त पित्तकास में होता है ॥९॥

प्र(वि)लिप्यमानेन मुखेन सीदन्
शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः
कासेत ना सान्द्रकफं कफेन ॥१०॥

कफ के कारण मुख के लिप्त रहने से शिथिल बना, शिरो-वेदनायुक्त, कफ से शरीर भरा होता है, रोगी को भोजन में अरुचि, भारीपन, शिथिलता रहती है, कफ के कारण खाँसी में घट्ट कफ आता है ॥१०॥

वक्षोऽतिमात्रं विहतं तु यस्य
व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः।
विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं
ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः ॥११॥
स गात्रशूलज्वरदाहमोहान्
प्राणक्षयं चोपलभेत कासी।
(अतिव्यवायभाराध्वयुक्ताश्वगजविग्रहैः।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत्॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विभिन्नेनेव चोरसा॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना।
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात्॥
विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात्॥
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः।
कुपिता क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्॥)[1]

व्यायाम, भार, अध्ययन (पढ़ाना-पढ़ना-बोलना-व्याख्यान देना आदि) से या चोट लगने पर जिस पुरुष की छाती में विशेष पीड़ा होती है, वह मनुष्य वक्षस्थल में चोट लगनेसे बार बार रक्त मिश्रित थूकता है, इस अवस्था को क्षतजकास कहते हैं।

रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत्।
सपूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्॥
रुजमानेन कण्ठेन विरुग्णेनैव चोरसा।
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिः तुद्यमानेन शूलिना॥
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना।
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः॥
पारावत इवाकूजन्कासवेगात्क्षतोद्भवात्॥ चरक ॥११॥

शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु
प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥१२॥
ससर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं
चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति।

क्षयजकास में रोगी की शरीर में दर्द, ज्वर, दाह, मूर्च्छा, एवं मृत्यु होती है। रोगी दिन प्रतिदिन दुर्बल बनता हुआ रुधिर और पूयमिश्रित थूकता है, मांस क्षीण हो जाता है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण रहते हैं, यह अतिकष्टसाध्य है, वैद्य इसको क्षयजकास कहते हैं।

वक्तव्य—क्षयजकास के श्लेष्मा में तथा दूसरे कास के कफ में अन्तर रहता है, यथा-क्षयज कास का कफ, "दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत्पूयोपमं कफम्"॥ दूसरी कास में कफ—"बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्।" यह दोनों प्रकार के कास में कफ की भिन्नता रहती है। इसके सिवाय—

अकस्मादुष्णशीतार्त्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः।
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः।
पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ सततासूयको घृणी।
ज्वरी मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसाऽरुचिः॥

ये लक्षण चरक ने और भी स्पष्ट किये हैं ॥१२॥

वृद्धत्वमासाद्य भवेत्तु यो वै
याप्यं तमाहुर्भिषजस्तु कासम् ॥१३॥

बुढ़ापे में उत्पन्न हुआ जो भी कास होता है, उस कास को वैद्य याप्य कहते हैं ॥१३॥

शृङ्गीवचाकट्फलकत्तृणाब्द
धान्याभयाभार्ग्यमराह्वविश्वम्।
उष्णाम्बुना हिङ्गुयुतं तु पीत्वा
बद्धास्यमप्याशु जहाति कासम् ॥१४॥

१ यह हाराणचन्द्र ने अधिक पाठ दिया है।

सामान्यचिकित्सा—काकड़ाश्रृंगी, वच, कट्फल, कत्तृण (रोहिषघास), मोथा, धनिया, हरड़, भार्गी, देवदारु, सोंठ, और हींग इनको गरम पानी से पीये, इससे चिरकालानुबन्धि कास भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१४॥

फलत्रिकव्योषविडङ्गश्रृङ्गी-
रास्नावचापद्मकदेवकाष्ठैः।
लेहः समैः क्षौद्रसिताघृताक्तः
कासं निहन्यादचिरादुदीर्णम् ॥१५॥

त्रिफला, त्रिकटु, वायविडंग, काकड़ाश्रृंगी, रास्ना, वच, पद्माख, देवदारु, प्रत्येक समान भाग लेकर इनको मधु, शर्करा और घी में लेह बनाकर खाये। इससे शीघ्र ही प्रबल कास भी नष्ट हो जाता है ॥१५॥

पथ्यां सितामामलकानि लाजां
समागधीं चापि विचूर्ण्य शुण्ठीम्।
सर्पिर्मधुभ्यां विलिहीत कासी
ससैन्धवां वोष्णजलेन कृष्णाम् ॥१६॥

हरड़, सिता, आँवला, लाजा, पिप्पली और सोंठ इनको मधु और घी के साथ कास रोगी चाटे। पिप्पली और सैन्धव को गरम जल से पीये। (कोई पिप्पली और सोंठ से दूसरा योग मानते हैं) ॥१६॥

खादेद् गुडं नागरपिप्पलीभ्यां
द्राक्षां च सर्पिर्मधुनाऽवलिह्यात्।
द्राक्षां सितां मागधिकां च तुल्यां
सश्रृङ्गवेरं मधुकं तुगां च ॥१७॥
लिह्याद् घृतक्षौद्रयुतां समांशां
सितोपलां वा मरिचांशयुक्ताम्।
धात्रीकणाविश्वसितोपलाश्च
संचूर्ण्य मण्डेन पिबेच्च दध्नः ॥१८॥

सोंठ और पिप्पली के साथ गुड़ खाये। घी और मधु के साथ द्राक्षा को चाटे। द्राक्षा, सिता (शर्करा) पिप्पली, सोंठ, मुलैठी, वंशलोचन इनको समान भाग लेकर घी और मधु के साथ चाटे। अथवा मिश्री को मरिच के साथ खाये। आँवला, पिप्पली, सोंठ, मिश्री, इनका चूर्ण करके दही के मण्ड (पानी) के साथ पीये। (द्राक्षा, सिता से एक योग, सोंठ-मुलैठी का दूसरा योग-कई मानते हैं) ॥१७,१८॥

हरेणुकां मागधिकां च तुल्यां
दध्ना पिबेत् कासगदाभिभूतः।
उभे हरिद्रे सुरदारुशुण्ठीं
गायत्रिसारं च पिबेत् समांशम् ॥१९॥
बस्तस्य मूत्रेण सुखाम्बुना वा
दन्तीं द्रवन्तीं च सतिल्वकाख्याम्।
भृष्टानि सर्पिष्यथ बादराणि
खादेत् पलाशानि ससैन्धवानि ॥२०॥

कासरोग से पीड़ित मनुष्य हरेणु, पिप्पली समान भाग लेकर दही के साथ पीये। हल्दी, दारुहल्दी, देवदारु, सोंठ, खैरसार (कत्था) इनको समान भाग लेकर बकरे के मूत्र या गरम पानी से पीये। दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), तिल्वक, बेरी के पत्र-इनको घी में भूनकर सैन्धव के साथ खाये। (दन्ती आदि सबके पत्ते लेने चाहिये–स्वर भेदमें उत्तम है) ॥१९,२०॥

कोलप्रमाणं प्रपिबेद्धि हिंगु
सौवीरकेणाम्लरसेन वाऽपि।

हींग को एक कर्ष मात्रा में प्रयोग (½ या ¼ कर्ष) कांजी के साथ या बिजौरे के रस से पीये।

क्षौद्रेण लिह्यान्मरिचानि वाऽपि
भार्गीवचाहिंगुकृता च वर्तिः ॥२१॥
धूमे प्रशस्ता घृतसंप्रयुक्ता
वेणुत्वगेलालवणैः कृता वा।

मरिच को मधु से चाटे। भार्गी, वच, हींग से बनाई वर्त्ति, या बाँस की छाल, इलायची, और नमक से बनाई वर्त्ति को घृत में मिलाकर धूम पीये, ये वर्त्तियाँ कास में उत्तम हैं ॥२१॥

मुस्तेङ्गुदीत्वङ्मधुकाह्वमांसी-
मनःशिलालैश्छगलाम्बुपिष्टैः ॥२२॥
विधाय वर्तीश्च पयोऽनुपानं
धूमं पिबेद्वातबलासकासी।

वात-कफ कासी रोगी—मुस्ता, हिंगोट की छाल, मुलैहठी जटामांसी, मैनशिल, हरिताल इनको बकरी के मूत्र में पीसकर वर्ति बनाये। इसका धूम पीकर पीछे से दूध को पीये ॥२२॥

पिबेच्च सीधुं मरिचान्वितं वा
तेनाशु कासं जयति प्रसह्य ॥२३॥

मरिच के साथ सीधु को पीये - इससे कास हठ पूर्वक (अवश्य) नष्ट होता है ॥२३॥

द्राक्षाम्बुमञ्जिष्ठपुराह्वयाभिः
क्षीरं श्रृतं माक्षिकसंप्रयुक्तम्।

द्राक्षा, मोथा, मजीठ, गुग्गुल से सिद्ध किये दूध में मधु मिलाकर पीये।

निदिग्धिकानागरपिप्पलीभिः
खादेच्च मुद्गान्मधुना सुसिद्धान् ॥२४॥

कटेरी, सोंठ, पिप्पली से सिद्ध किये मूंग को मधु के साथ खाये। यथा—

"क्षुद्रामृतानागरपिप्पलीभिः
खादेच्च मुद्गानथ साधुसिद्धान्" ॥२४॥

उत्कारिकां सर्पिषि नागराढ्यां
पक्त्वा समूलैस्त्रुटिकोलपत्रैः।
एभिर्निषेवेत कृतां च पेयां
तन्वीं सुशीतां मधुना विमिश्राम् ॥२५॥

इलायची, बेर के पत्ते और प्रचुर सोंठ के साथ घी में उत्कारिका (लप्सी) बनाकर खाये। इलायची, बेर के पत्ते,

सोंठ, इनसे पतली (थोड़ी माँड़ की) पेया बनाकर शीतल करके, मधु मिलाकर खाये ॥२५॥

यत् प्लीह्नि सर्पिर्विहितं षडङ्गं
तद्वातकासं जयति प्रसह्य ।
विदारिगन्धादिकृतं घृतं वा
रसेन वा वासकजेन पक्वम् ॥२६॥

प्लीहा में जो षट्फल घृत कहा है, यह घृत वातजन्य कास को शीघ्र अच्छा करता है। विदारिगन्धादिगण से पकाया अथवा वासास्वरस से पकाया घृत वात कास को नष्ट करता है॥

विरेचनं स्नैहिकमत्र चोक्त-
मास्थापनं चाप्यनुवासनं च ।
धूमं पिबेद् स्नैहिकमप्रमत्तः
पिबेत् सुखोष्णं घृतमेव चात्र ॥२७॥
हिता यवाग्वश्च रसेषु सिद्धाः
पयांसि लेहाः सघृतास्तथैव ।

वात कास में एरण्डतैल आदि का स्निग्ध विरेचन देवे, आस्थापन, अनुवासन, देवे। बिना आलस्य के स्नैहिक धूम पीये। सुहाता हुआ घृत पीये। मांसरसों में बनाई यवागू, वातहर द्रव्यों से सिद्ध दूध, घृत युक्त लेह प्रशस्त हैं ॥२७॥

प्रच्छर्दनं कायशिरोविरेका-
स्तथैव धूमाः कवलग्रहाश्च ॥२८॥
उष्णाश्च लेहाः कटुका निहन्युः
कफं विशेषेण विशोषणं च ।
कटुत्रिकं चापि वदन्ति पथ्यं
घृतं कृमिघ्नस्वरसे विपक्वम् ॥२९॥
निर्गुण्डिपत्रस्वरसे च पक्वं
सर्पिः कफोत्थं विनिहन्ति कासम् ।
पाठाविडव्योषविडङ्गसिन्धु-
त्रिकण्टरास्नाहुतभुग्बलाभिः ॥३०॥
शृङ्गीवचाम्भोधरदेवदारु-
दुरालभाभार्ग्यभयाशटीभिः ।
सम्यग्विपक्वं द्विगुणेन सर्पि-
र्निदिग्धिकायाः स्वरसेन चैतत् ॥३१॥
श्वासाग्निसादस्वरभेदभिन्ना-
न्निहन्त्युदीर्णानपि पञ्च कासान् ।

वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, धूमपान, कवलग्रह, उष्ण एवं कटु द्रव्यों से (कफहर कटु द्रव्यों से) बने अवलेह, विशोषण (लघु, रूक्ष, अल्पभोजन)–ये विशेषतः कफ कास को नष्ट करते हैं। त्रिकटु भी पथ्य है, वायविडंग के स्वरस में (अभाव में वायविडंग के क्वाथ में) पकाया घृत, सम्भालु के पत्तों के स्वरस में पकाया घृत कफजन्य कास को शीघ्र नष्ट करता है। पाठा, विडनमक, त्रिकटु, विडंग, सैन्धव, गोखरु, रास्ना, चित्रक, बला, काकड़ाशृंगी, वच, मोथा, देवदारु, दुरालभा, भार्गी, हरड़, कचूर, इनके कल्क से घृत से द्विगुण कटेरी के स्वरस में घृत सिद्ध करे। यह घृत श्वास, अग्निमान्द्य, स्वरभेद तथा पाँचों कासों को नष्ट करता है।

वक्तव्य—विशोधन–'चतुःप्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लंघनम् ।।" चरक। नाना प्रकार का लंघन भी कफ को कम करता है ॥२८-३१॥

विदारिगन्धोत्पलसारिवादीन्
निष्काथ्य वर्गं मधुरं च कृत्स्नम् ॥३२॥
घृतं पचेदिक्षुरसाम्बुदुग्धैः
काकोलिवर्गं च सशर्करं तत् ।
प्रातः पिबेत् पित्तकृते च कासे
रतिप्रसूते क्षतजे तु कासे ॥३३॥

विदारीगन्धादि, उत्पलादि, सारिवादि, और काकोल्यादि सम्पूर्ण मधुरगण इनके क्वाथ में गन्ना के रस, जल और दूध में काकोल्यादि गण का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करे। इस घृत में शर्करा मिलाकर पित्तजन्य कास में प्रातः पीये। क्षयजन्य कास में भी पीये।

वक्तव्य—द्रव परिमाण स्नेह के समान लेना है, यथा—पञ्चप्रभृति यत्र स्युः द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् तु स्याच्चतुर्गुणम्॥ ३२,३३॥

खर्जूरभार्गीमगधाप्रियाल-
मधूलिकैलामलकैः समांशैः ।
चूर्णं सिताक्षौद्रघृतप्रगाढं
त्रीन् हन्ति कासानुपयुज्यमानम् ॥३४॥

खर्जूर, भार्गी, पिप्पली, पियाल, मधूलिका, इलायची, आँवला प्रत्येक समान भाग लेकर इनका चूर्ण करे। इसमें शर्करा, मधु घृत प्रचुर मात्रा में मिलाकर चाटे। इसके सेवन से तीनों कास नष्ट होते हैं ॥३४॥

रक्ताहरिद्राञ्जनवह्निपाठा-
मूर्वोपकुल्या विलिहेत् समांशाः ।
क्षौद्रेण कासे क्षतजे क्षयोत्थे
पिबेद् घृतं चेक्षुरसे विपक्वम् ॥३५॥

मजीठ, हल्दी, सौवीरांजन, चित्रक, पाठा, मूर्वा, पिप्पली समान भाग लेकर मधु के साथ क्षतजन्य एवं क्षयजन्य कास में चाटे। अथवा ईख के रस में पकाया घृत पीये ॥३५।

चूर्णं पिबेदामलकस्य वाऽपि
क्षीरेण पक्वं सघृतं हिताशी ।

आँवले के चूर्ण को घृत के साथ पकाकर, हित भोजन करते हुए दूध से पीये।

चूर्णानि गोधूमयवोद्भवानि
काकोलिवर्गश्च कृतः सुसूक्ष्मः ॥३६॥
कासेषु पेयस्त्रिषु कासवद्भिः
क्षीरेण सक्षौद्रघृतेन वाऽपि ।

गेहूँ जौ और काकोल्यादिगण का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर दूध से या मधु और घृत के साथ तीनों प्रकार के कासों में पीना चाहिये। (कोई गेहूँ आदि तीन द्रव्यों को दूध आदि तीन अनुपानों से तीनों कासों में देना कहते हैं) ॥३६॥

गुडोदकं वा क्वथितं पिबेद्धि
क्षौद्रेण शीतं मरिचोपदंशम् ॥३७॥

गुड़ का शीतकषाय विधि से क्वाथ करके फिर कुछ गरम करके ठंडा करके मधु मिलाकर मरिच का चूर्ण खाकर इसको पीये ॥३७॥

प्रस्थत्रयेणामलकीरसस्य
शुद्धस्य दत्त्वाऽर्धतुलां गुडस्य।
चूर्णीकृतैर्ग्रन्थिकचव्यजीर-
व्योषेभकृष्णाह्वुषाजमोदैः ॥३८॥
विडङ्गसिन्धुत्रिफलायवानी-
पाठाग्निधान्यैश्च पिचुप्रमाणैः।
दत्त्वा त्रिवृच्चूर्णपलानि चाष्टा·
वष्टौ च तैलस्य पचेद्यथावत् ॥३९॥
तं भक्षयेदक्षफलप्रमाणं
यथेष्टचेष्टस्त्रिसुगन्धियुक्तम्।
अनेन सर्वे ग्रहणीविकाराः
सश्वासकासस्वरभेदशोथाः ॥४०॥
शाम्यन्ति चायं चिरमन्तरग्ने-
र्हतस्य पुंस्त्वस्य च वृद्धिहेतुः।
स्त्रीणां च वन्ध्यामयनाशनः स्यात्
कल्याणको नाम गुडः प्रतीतः ॥४१॥

आंवले का स्वरस तीन प्रस्थ, इसमें शुद्ध गुड़ पचास पल मिलाये। इसमें पिप्पलीमूल, चव्य, जीरा, त्रिकटु, गजपिप्पली, हाऊबेर, अजमोद, विडङ्ग, त्रिफला, अजवायन, पाठा, चित्रक, धनियाँ, प्रत्येक एककर्ष, निशोथचूर्ण आठ पल, और तैल आठ पल–मिलाकर यथावत् विधि से पाक करे। इसमें से एक कर्ष मात्रा को दालचीनी, इलायची, तेजपात, इन सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर खाये। इसमें किसी प्रकार परहेज नहीं। इससे सब ग्रहणी रोग, श्वास, कास, स्वरभेद, शोथ शान्त हो जाते हैं, यह चिरकाल से नष्ट हुए अग्नि को बढ़ाता है तथा मैथुनशक्ति को बढ़ाता है। स्त्रियों की वन्ध्यता को यह नष्ट करता है। यह कल्याण गुड़ उत्तम है। (निशोथ को तैल में भून कर गेरते हैं, इसमें मरोड़ा नहीं होता) मृदु, मध्य, क्रूर कोष्ठ की अपेक्षा से यथेच्छ मात्रा में खाये ॥३८–४१॥

द्विपञ्चमूलेभकणात्मगुप्ता-
भार्गीशटीपुष्करमूलविश्वान्।
पाठामृताग्रन्थिकशङ्खपुष्पी-
रास्नाग्न्यपामार्गबलायवासान् ॥४२॥
द्विपालिकान् न्यस्य यवाढकं च
हरीतकीनां च शतं गुरूणाम्।
द्रोणे जलस्याढकसंयुते च
क्वाथे कृते पूतचतुर्थभागे ॥४३॥
पचेत्तुलां शुद्धगुडस्य दत्त्वा
पृथक् च तैलात् कुडवं घृताच्च।
चूर्णं च तावन्मगधोद्भवाया
देयं च तस्मिन्मधु सिद्धशीते ॥४४॥
रसायनात् कर्षमतो विलिह्याद्-
द्वे चाभये नित्यमयाशु हन्यात्।
तद्राजयक्ष्मग्रहणीप्रदोष-
शोफाग्निमान्द्यस्वरभेदकासान् ॥४५॥
पाण्ड्वामयश्वासशिरोविकारान्
हृद्रोगहिक्काविषमज्वरांश्च।
मेधाबलोत्साहमतिप्रदं च
चकार चैतद् भगवानगस्त्यः ॥४६॥

दशमूल, गजपिप्पली, कौंच, भार्गी, कचूर, पुष्करमूल, सोंठ, पाठ, गिलोय, पिप्पलीमूल, शंखपुष्पी, रास्ना, चित्रक, चिरचिटा, बला, धमासा, प्रत्येक दो पल, जौ एक आढ़क, भारी (पानी में डूबनेवाली) हरड़ एक सौ गिनती में लेकर एक द्रोण और एक आढ़क जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब छान ले। फिर इस क्वाथ में एक तुला गुड़, स्विन्न हुई एक सौ हरड़, घी और तैल प्रत्येक आठ पल मिला-कर पकाये। पकने पर जब लेह के समान बन जाये तब इसमें पिप्पली चूर्ण चार पल, शीतल होने पर मधु आठ पल मिलाये। फिर इस रसायन में से कल्क आधा पल चाट कर दो हरड़ नित्यप्रति खाये। इसके सेवन से राजयक्ष्मा, ग्रहणीरोग, शोफ, अग्निमान्द्य, स्वरभेद, कास, पाण्डुरोग, श्वास, शिरोरोग, हृद्-रोग, हिक्का, विषमज्वर, नष्ट होते हैं। इससे मेधा, बल, उत्साह, तथा बुद्धि बहुत बढ़ती है, इस रसायन को भगवान् अगस्त्य ने बनाया है। चरक।

वक्तव्य—चरक में पाँच आढ़क जल में पकाने को कहा है। इस क्वाथ की निष्पत्ति जौ के गलाने से बताई है, यथा—हरीतकीशतं भद्रं जले पञ्चाढके पचेत्। यवे स्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयं शतम् ॥४२–४६॥

कुलीरशुक्तीचटकैणलावा·
न्निष्क्वाथ्य वर्गं मधुरं च कृत्स्नम्।
पचेद् घृतं तत्तु निषेव्यमाणं
हन्यात् क्षतोत्थं क्षयजं च कासम् ॥४७॥
शतावरीनागबलाविपक्वं
घृतं विधेयं च हिताय कासिनाम्।

कुलीर (केकड़ा), शुक्ति (जलशुक्ति), चिड़िया, हरिण, बटेर, और सम्पूर्ण काकोल्यादि मधुरवर्ग इनका क्वाथ करके इनसे घृत सिद्ध करे। इस घृत को खाने से क्षतजन्य और क्षत-

जन्य कास नष्ट होते हैं। शतावरी, नागबला से घृत सिद्ध करना चाहिये, यह घृत कास रोगियों को देना चाहिये।

वक्तव्य—कई आचार्य कुलीर आदि का क्वाथ (मांसरस) करके इस में मधुर वर्ग का कल्क मिलाकर घृत सिद्ध करना कहते हैं ॥४७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे कासप्रतिषेधो नाम (चतुर्दशोऽध्यायः, आदितः) द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वरभेदप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे स्वरभेदप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनातिगीत-
शीतादिभिः प्रकुपिताः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥३॥

बहुत ऊंचा बोलने से, विष से, बहुत गाने से, शीत आदि कारणों से वातादि कुपित होकर स्वरवह स्रोतों में पहुँचकर स्वर को बिठा देते हैं, यह स्वरभेद छै प्रकार का है।

वक्तव्य—छै प्रकार का–वातादि दोषों से तीन प्रकार का, सन्निपात से, मेद दोष से और क्षयजन्य (जैसा कैन्सर रोग में) होता है। मेद क्षयजन्य स्वर भेद–थाई रौयड् ग्रन्थि के रोग में मिलता है। चरक में वातात् पित्तात्कफाद् रक्तात् कासवेगात् सपीनसात्–इस प्रकार से छ प्रकार का माना है। दोनों में यह भेद शल्यदृष्टि और काय चिकित्सा की दृष्टि से किया है। जैसा कि चरक में–भेत्ता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति, अन्यथा पुरस्ताद् भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेषमापादयति अनेकधा, न च पूर्वं भेदाग्रमुपहन्ति ॥ चरक वि० अ० ६—४।

वि० मन्तव्य—स्रोतस्सु ते स्वरवहेषु—सु० शा० अ० ६ में 'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति' कहते हुए भगवान् धन्वन्तरि ने जिन ४ धमनियों का उल्लेख किया है उन्हीं को यहाँ स्वरवह स्रोतस् कहा गया है। स्वरभेद में स्वर एवं व्यञ्जन का उच्चारण करने में विकृति आ जाती है। भाषते–भाषण वह है जिसमें व्यञ्जनों का उच्चारण होता है। भाष व्यक्तायां वाचि धातु भ्वादि गणीय से भाषा शब्द की निष्पत्ति होती है और जिसमें केवल शब्द-स्वर का उच्चारण होता है वह घोष कहलाता है। घुषिर् विशब्दने धातु है ॥३॥

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा
भिन्नं शनैर्वदति गद्गदवत् स्वरं च।

वायु के कारण उत्पन्न स्वर भेद में रोगी की आँख, मूत्र और मल काले हो जाते हैं। इसका स्वर फटा हुआ, धीमा, गद्गद (भर्राया हुआ) होता है। "स्वरभेदो भवेद् वातात् रूक्षःक्षामबलः स्वरः ॥" चरक।

पित्तेन पीतवदनाक्षिपुरीषमूत्रो
ब्रूयाद्गलेन परिदाहसमन्वितेन ॥४॥

पित्तजनित स्वर भेद में रोगी को मुख, आँख, मल, मूत्र पीले हो जाते हैं, रोगी दाहयुक्त कण्ठ से बोलता है, रोगी का बोलते समय गले में जलन होती है। "तालुकण्ठपरिदाहः पित्ताद् वक्तुमसूयते।" चरक ॥४॥

कृच्छ्रात् कफेन सततं कफरुद्धकण्ठो
मन्दं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषः।

कफ के कारण कठिनाई से बोलता है, निरन्तर कफ से गला रुका रहता है। रोगी दिन में धीमे और धीरे से बोलता है। (रात में शीत के कारण आवाज नहीं निकलती)।
"कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते"। चरक।

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंप-
दव्यक्तता च वचसस्तमसाध्यमाहुः ॥५॥

सन्निपातजन्य स्वरभेद में सब दोषों के लक्षण रहते हैं। वाणी अस्पष्ट रहती है, इसको असाध्य कहते हैं ॥५॥

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वागेष चा (वा) पि हतवाक् परिवर्जनीयः।

क्षयजन्य स्वर भेद में वाणी में धूँवा-सा प्रतीत होता है, वाणी निरन्तर क्षीण होती जाती है। वाणी बन्द हो जाने पर यह असाध्य होता है।

अन्तर्गलं स्वरमलक्ष्यपदं चिरेण
मेदक्षयाद्वदति दिग्धगलौष्ठतालुः ॥६॥
क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य चापि
चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च
स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥७॥

मेद के क्षय से उत्पन्न स्वर भेद में स्वर गले के अन्दर ही रहता है, (बाहर नहीं आता), वाणी अस्पष्ट रहती है देर में बोलता है, गला, ओष्ठ, तालु मेद से लिप्त रहता है। क्षीण, वृद्ध, कृश व्यक्ति में चिरकालीन स्वरभेद, सहज (जन्मजात) स्वरभेद, मेदस्विपुरुष का सन्निपातजन्य स्वरभेद ठीक नहीं होते॥

स्निग्धान् स्वरातुरनरानपकृष्टदोषान्
न्यायेन तान् वमनरेचनबस्तिभिश्च।
नस्यावपीडमुखधावनधूमलेहैः
संपादयेच्च विविधैः कवलग्रहैश्च ॥८॥

स्वरभेद रोगियों को स्निग्ध करके यथाविधि से

वमन, विरेचन वस्तिद्वारा दोषों को बाहर करके, नस्य अवपीड़न मुखधावन (गण्डूष, कवल), धूम, लेह नानाप्रकार के कवलग्रह बरते।

वक्तव्य—"सुखं संचार्यते या तु गण्डूषे सा प्रकीर्त्तिता। असंचार्या तु या मात्रा कवले सा प्रकीर्त्तिता" ॥८॥

यः श्वासकासविधिरादित एव चोक्त-
स्तं चाप्यशेषमवतारयितुं यतेत।
वैशेषिकं च विधिमूर्ध्वमतो वदामि
तं वै स्वरातुरहितं निखिलं निबोध ॥९॥

श्वास, कास विधि में जो विधि प्रारम्भ में कही है, उसे सम्पूर्णरूप में स्वरभेद के अन्दर वरते।

स्वरभेद के लिये विशेष विधि इसके आगे कहूँगा, उसे सम्पूर्ण रूप में सुनो ॥९॥

स्वरोपघातेऽनिलजे भुक्तोपरि घृतं पिबेत्।
कासमर्दकवार्ताकमार्कवस्वरसे शृतम् ॥१०॥
पीतं घृतं हन्त्यनिलं सिद्धमर्तिगले रसे।

वातजन्य स्वर भेद में भोजन के ऊपर घृत पीये। कास मर्द, कटेरी, भांगरे के स्वरस, अर्तिगल (ककुभ) के क्वाथ में सिद्ध किया घृत पीने से वायुजन्य स्वरभेद को नष्ट करता है॥

यवक्षाराजमोदाभ्यां चित्रकामलकेषु वा ॥११॥
देवदार्वग्निकाभ्यां वा सिद्धमाजं समाक्षिकम्।

तीन घृत—(१) यवक्षार और अजवायन से, (२) चित्रक और आंवला (३) देवदारु और चित्रक इन से सिद्ध किया बकरी का घृत मधु के साथ पीये ॥११॥

सुखोदकानुपानो वा ससर्पिष्को गुडौदनः ॥१२॥

गुड़ से बनाया भात घी के साथ खाकर गरम पानी को अनुपान रूप में पीये ॥१२॥

क्षीरानुपानं पित्ते तु पिबेत् सर्पिरतन्द्रितः।

पित्तज स्वरभेद में बिना आलस्य के दूध अनुपान से घृत पीये।

अश्नीयाच्च ससर्पिष्कं यष्टीमधुकपायसम् ॥१३॥

मुलैहठी से सिद्ध दूध में खीर बनाकर घी के साथ खाये॥

लिह्यान्मधुरकाणां वा चूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
शतावरीचूर्णयोगं बलाचूर्णमथापि वा ॥१४॥

काकोलीगण के चूर्ण को मधु और घृत में अच्छीप्रकार मिलाकर चाटे। शतावरी का चूर्ण या बला के चूर्ण को प्रचुर मधुर और घृत के साथ खाये ॥१४॥

पिबेत् कटूनि मूत्रेण कफजे स्वरसंक्षये।
लिह्याद्वा मधुतैलाभ्यां भुक्त्वा खादेत् कटूनि वा ॥१५॥

कफज स्वरभेद में त्रिकटु को गोमूत्र से पीये। त्रिकटु आदि द्रव्यों को मधु और तैल से चाटे। अथवा भोजन खाकर कटुद्रव्य खाये ॥१५॥

स्वरोपघाते मेदोजे कफवद्विधिरिष्यते।

मेदोजन्य स्वरभेद में कफ की विधि वरतनी चाहिये।

सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१६॥

सन्निपातज, क्षयजन्य स्वरभेद में असाध्य कहकर चिकित्सा करे ॥१६॥

शर्करामधुमिश्राणि शृतानि मधुरैः सह।
पिबेत् पयांसि यस्योच्चैर्वदतोऽभिहतः स्वरः ॥१७॥

काकोल्यादि मधुरगण से सिद्ध किये दूध को शर्करा और मधु में मिलाकर पीये। जिसका स्वर बोलते हुए बैठ गया हो, वह इस दूध को पीये। (दूध-गाय-भैंस का दूध देवे) ॥१७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा-
तन्त्रे छर्दिप्रतिषेधो नाम (पञ्चदशोऽध्यायः, आदितः)
त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः कृमिरोगप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे कृमिरोग प्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

अजीर्णाध्यशनासात्म्यविरुद्धमलिनाशनैः।
अव्यायामदिवास्वप्नगुर्वतिस्निग्धशीतलैः ॥३॥
माषपिष्टान्नविदलबिसशालूकसेरुकैः।
पर्णशाकसुराशुक्तदधिक्षीरगुडेक्षुभिः ॥४॥
पललानूपपिशितपिण्याकपृथुकादिभिः।
स्वाद्वम्लद्रवपानैश्च श्लेष्मा पित्तं च कुप्यति ॥५॥
कृमीन् बहुविधाकारान् करोति विविधाश्रयान्
आमपक्वाशये तेषां कफविड्जन्मनां पुनः॥
धमन्यो रक्तजानां च प्रसवः प्रायशः स्मृतः ॥६॥

अजीर्ण, अध्यशन, असात्म्य, विरुद्ध, मलिन भोजनों से, व्यायाम न करने से, दिन में सोने से, गुरु-अतिस्निग्ध, शीतल, वस्तुओं के सेवन से, उडद, पिट्ठी के भक्ष्यों से, विदल (चने आदि को दलकर बनाई वस्तुएँ), बिस (भिस), शालू (पद्मकन्द), कसेरू, पत्तों के शाक, सुरा, शुक्त, दधि, दूध, गुड़, ईख आदि वस्तुओं ईख से बनी वस्तुएँ भी) के सेवन से, तिलकल्क, आनूप मांस, पिण्याक (खल), चिवड़े एवं मधुर-अम्लद्रवों के पीने से, कफ और पित्त प्रकुपित होते हैं। इससे नाना आश्रयवाले बहुत प्रकार के कृमि उत्पन्न होते हैं। कफजन्य पुरीषजन्य कृमि आमाशय और पक्वाशय में (क्रमशः) रहते हैं। रक्तजन्य कृमियों का स्थान प्रायः करके धमनियां कही हैं।

वक्तव्य—अजीर्ण-आम-विदग्धादि भेद-वाला। अध्यशन-अजीर्ण भोजन। असात्म्य-जो खाया हुआ मनके अनुकूल न हो। विरुद्ध-हिताहित अध्याय में कहा है ॥३-६॥

विंशतेः कृमिजातीनां त्रिविधः संभवः स्मृतः।
पुरीषकफरक्तानि, तासां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥७॥

कृमि की जाति (कृमि) बीस प्रकार की हैं, इनका वर्गीकरण-पुरीषज, कफज, रक्तज, भेद से तीन प्रकार का है, इसको विस्तार से कहता हूँ।

वि० मन्तव्य—पुरीष में उत्पन्न होनेवाले-अतिसार एवं ग्रहणी आदि रोगी के पुरीष में पाए जानेवाले सूक्ष्म एवं स्थूल कृमि "पुरीषज" कहे जाते हैं। कफ में उत्पन्न होनेवाले-कास, श्वास, प्रतिश्याय एवं क्षय रोगों में कफ में पाए जानेवाले कृमि कफज कहलाते हैं। रक्त में उत्पन्न होनेवाले—कुष्ठ, व्रण आदि में तथा अन्य रोगों में रक्त में पाये जानेवाले कृमि "रक्तज" कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त च० वि० अ० ७ में दो कृमि बतलाये गये हैं जो शरीर एवं कपड़ों के मल-मैल में उत्पन्न होते हैं। इनका नाम है १-जूका-जूएँ यह दो प्रकार की होती हैं १-काली और २-श्वेत। ३-लिक्षा-लीख-चमजूँ॥

अजवा विजवाः किप्याश्चिप्या गण्डूपदास्तथा।
चूरवो द्विमुखाश्चैव ज्ञेयाः सप्त पुरीषजाः ॥८॥

पुरीषजन्य कृमि सात हैं, यथा अजवा, विजवा, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चूरु, द्विमुख ॥८॥

श्वेताः सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुदं प्रतिसरन्ति च।
तेषामेवापरे पुच्छैः पृथवश्च भवन्ति हि ॥९॥
शूलाग्निमान्द्यपाण्डुत्वविष्टम्भबलसंक्षयाः।
प्रसेकारुचिहृद्रोगविड्भेदास्तु पुरीषजैः ॥१०॥

ये कृमि रंग में श्वेत, सूक्ष्म तथा गुद में चुभोते हैं तथा गुदा की ओर जाते हैं। इनमें से कुछ कृमि पूंछ पर चंपटे होते हैं। ये पुरीष जन्य कृमि शूल, अग्निमान्द्य, पाण्डुरोग, विष्टम्भ, बल का नाश, लालास्राव, अरुचि, हृदयरोग, अतिसार, उत्पन्न करते हैं, इन लक्षणों से इनको समझना चाहिये॥

रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुदकण्डूनिपातिनः।
शूलाटोपशकृद्भेदपक्तिनाशकराश्च ते ॥११॥

इन कृमियों में गण्डूपदकृमि लालरंग का, लम्बा, केंचुए के आकार का होता है। शूल, आध्मान, अतिसार, और अग्निनाश करता है ॥११॥

दर्भपुष्पाः महापुष्पाः प्रलूनाश्चिपिटास्तथा।
पिपीलिका दारुणाश्च कफकोपसमुद्भवाः ॥१२॥

कफजन्यकृमि—दर्भपुष्प, महापुष्प, प्रलून, चिपिट, पिपीलिका, दारुण भेद से छै प्रकार के हैं ॥१२॥

रोमशा रोममूर्धानः सपुच्छाः श्यावमण्डलाः।
रूढधान्याङ्कुराकाराः शुक्लास्ते तनवस्तथा ॥१३॥

इनका आकार—सारे शरीर पर रोंआटेवाले, शिरपर बड़ेरोम, पूंछवाले आकार के, काले चकत्तोंवाले, उगते हुए धान्य के अंकुर के समान आकार के, श्वेत एवं पतले होते हैं। (रोग जहाँ बालों के लिये है, वहाँ सिरपर का रोमशब्द आगे बढ़े हुए पतले प्रवर्धन को भी बताता है, जिससे ये वस्तु का पकड़ते हैं, गति में सहायता पूंछ करती है) ॥१३॥

मज्जादा नेत्रलेढारस्तालुश्रोत्रभुजस्तथा।

ये कृमि मज्जा को खाते हैं, तालु एवं श्रोत्र को खाते हैं, आँखों को चाटते हैं, (आँखो में रेंगते हैं कण्डू करते हैं)।

शिरोहृद्रोगवमथुप्रतिश्यायकराश्च ते ॥१४॥

इनसे शिरोरोग, हृद्रोग, वमन, और प्रतिश्याय उत्पन्न होता है ॥१४॥

केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा।
कुष्ठजाः सपरीसर्पा ज्ञेयाः शोणितसंभवाः ॥१५॥

केशाद, रोमाद, नखाद, दन्ताद, किक्किश, कुष्ठज और परिसर्प भेद से रक्तजन्य कृमि सात प्रकार के हैं। (केश–सिर के बालों को खानेवाले, रोमाद-शरीर के रोम को खानेवाले, किक्किश–गर्भवती स्त्री के उदर पर जो श्वेत सी धारियाँ पड़ जाती हैं, उस प्रकार की रेखायें उत्पन्न करनेवाले) ॥१५॥

ते सरक्ताश्च कृष्णाश्च स्निग्धाश्च पृथवस्तथा।
रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते ॥१६॥

ये रक्तजन्य कृमि ईषत् रक्तवर्ण, कृष्णवर्ण, चिकने और चपटे होते हैं। प्रायः करके ये कृमि रक्त के आश्रय से होनेवाले कुष्ठ, विसर्प, पिड़का आदि (व्याधि समुद्देश में कहे) रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥१६॥

माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः।
मांसमाषगुडक्षीरदधितैलैः कफोद्भवाः ॥१७॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि।
ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥१८॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातकृमिलक्षणम्।

उड़द, पिट्ठी के भक्ष्य, दाल-पत्तों के शाक से पुरीषजन्य कृमि उत्पन्न होते हैं। मास, उदड़, गुड़, दूध, दही, तैल से कफजन्य कृमि उत्पन्न होते हैं। विरुद्ध भोजन, अजीर्ण में भोजन, शाक आदि से रक्तजन्य कृमि उत्पन्न होते हैं। ज्वर, शरीर में विवर्णता, शूल, हृद्रोग, शिथिलता, चक्कर आना, भोजन में अरुचि, अतिसार, ये कृमियों के उत्पन्न होने के लक्षण हैं ॥१७,१८॥

दृश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु कृमीणां परिकीर्तिताः ॥१९॥
केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते द्वावाद्यौ परिवर्जयेत्।

प्रारम्भ के तेरह कृमि (पुरीषजन्य और कफजन्य) दृश्य हैं। केशाद आदि रक्तजन्य सात कृमि अदृश्य हैं। इन रक्तजन्य कृमियों में प्रारम्भ के दो कृमि असाध्य हैं ॥१९॥

एषामन्यतमं ज्ञात्वा जिघांसुः स्निग्धमातुरम् ॥२०॥
सुरसादिविपक्वेन सर्पिषा वान्तमादितः।
विरेचयेत्तीक्ष्णतरैर्योगैरास्थापयेच्च तम् ॥२१॥

इनमें से किसी एक प्रकार के भी कृमि को मारने की इच्छा से रोगी को सुरसादिगण से सिद्ध किये घृत से स्निग्ध करके, तीक्ष्णतर (अतितीक्ष्ण) योगों से (कफनाशक) प्रथम वमन कराये, फिर विरेचनोक्त योगों से विरेचन देवे।

वक्तव्य—"तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ॥" चरक वि० अ० ७।१४ ॥२०,२१॥

यवकोलकुलत्थानां सुरसादेर्गणस्य च।
विडङ्गस्नेहयुक्तेन क्वाथेन लवणेन च ॥२२॥

कृमिरोगी को—जौ, बैर, कुलथी और सुरसादिगण के क्वाथ में विडंग से साधित तैल, और लवण मिलाकर आस्थापन बस्ति देवे ॥२२॥

प्रत्यागते निरूहे तु नरं स्नातं सुखाम्बुना।
युञ्ज्यात् कृमिघ्नैरशनैस्ततः शीघ्रं भिषग्वरः ॥२३॥
स्नेहनोक्तेन चैनं तु योजयेत् स्नेहबस्तिना।

निरूह के वापिस आजानेपर, रोगी को गरम पानी से स्नान करा के, तुरन्त वैद्य रोगी को कृमिनाशक भोजन देवे। विडंग साधित स्नेह से स्नेह बस्ति देवे ॥२३॥

ततः शिरीषकिणिहीरसं क्षौद्रयुतं पिबेत् ॥२४॥

फिर शिरीष, अपामार्ग के स्वरस को मधु के साथ पीये ॥

केबूकस्वरसं वाऽपि पूर्ववत्तीक्ष्णभोजनः।

अथवा केबूक का स्वरस मधु के साथ पीये। तीक्ष्ण द्रव्यों से संस्कृत भोजन करे।

वक्तव्य—तीक्ष्ण द्रव्य—"मूलकसर्षपकलशुनकरंजशिग्रुमधुशिग्रुकमठखरपुष्पाभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरककालमालकपर्णासक्षवकफाणज्जकानि सर्वाणि अथवा यथालाभम् ॥" चरक वि० अ० ७।२० ।

पलाशबीजस्वरसं कल्कं वा तण्डुलाम्बुना ॥२५॥

ढाक के बीज का स्वरस या इसका कल्क चावलों के पानी से पीये ॥२५॥

पारिभद्रकपत्राणां क्षौद्रेण स्वरसं पिबेत्।
पत्तूरस्वरसं वाऽपि पिबेद्वा सुरसादिजम् ॥२६॥

बकायन के पत्तों का स्वरस मधु के साथ पीये। पत्तूर (मछेछी) या सुरसादि गण के पत्तों का स्वरस मधु के साथ पीये ॥२६॥

लिण्डादश्वशकृच्चूर्णं वैडङ्गं वा समाक्षिकम्।

घोड़ा की लीद का चूर्ण या विडंग का चूर्ण मधु के साथ चाटे।

पत्रैर्मूषिकपर्ण्या वा सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः ॥२७॥
खादेत् पूपलिकाः पक्वा धान्याम्लं च पिबेदनु।

मूषिकपर्णी (ऊँदरकानी) के पत्तों को पीसकर, इसमें पिट्ठी मिलाकर, इनसे पूपलिका (कचौड़ी) बनाकर खाये और पीछे से कांजी पीये। (कांजी का गुण कृमि नष्ट करना है, परन्तु निरन्तर सेवन कृमिकारक है) ॥२७॥

सुरसादिगणे पक्वं तैलं वा पानमिष्यते ॥२८॥
विडङ्गचूर्णयुक्तैर्वा पिष्टैर्भक्ष्यांस्तु कारयेत्।

अथवा सुरसादिगण में पकाया तैल पीना चाहिये। विडंग का चूर्ण पिट्ठी में मिलाकर इनसे भक्ष्य अन्न बनाये ॥२८॥

तत्कषायप्रपीतानां तिलानां स्नेहमेव वा ॥२९॥

अथवा विडंग के कषाय से अच्छी प्रकार भावित तिलों का तेल पीये ॥२९॥

श्वाविधः शकृतश्चूर्णं सप्तकृत्वः सुभावितम्।
विडङ्गानां कषायेण त्रैफलेन तथैव च ॥३०॥
क्षौद्रेण लीढ्वाऽनुपिबेद्रसमामलकोद्भवम्।
अक्षाभयारसं वाऽपि

सेह के पुरीष के चूर्ण को विडंग के कषाय से या त्रिफला के कषाय से भली प्रकार सात बार भावना देकर, इसका चूर्ण करके मधु के साथ चाटे, पीछे से आंवले का रस (क्वाथ), या बहेड़े का अथवा हरड़ का क्वाथ पीये ॥३०॥

विधिरेषोऽयसामपि ॥३१॥

यही विधि रांगा, सीसा, लोह, ताम्र आदि धातुओं में भी बरते, अर्थात् इन धातुओं की भस्म को विडंग या त्रिफला के क्वाथ से भली प्रकार भावना देकर मधु के साथ चाटे, पीछे आंवले आदि का क्वाथ पीये ॥३१॥

पूतीकस्वरसं वाऽपि पिबेद्वा मधुना सह।
पिबेद्वा पिप्पलीमूलमजामूत्रेण सयुतम् ॥३२॥
सप्तरात्रं पिबेद् घृष्टं त्रपु वा दधिमस्तुना।

करंज नाटा का स्वरस मधु के साथ पीये। पिप्पलीमूल को बकरी के मूत्र के साथ पीये। त्रपु (रांगा) को दही के पानी में घिसकर सात दिन पीये ॥३२॥

पुरीषजान् कफोत्थांश्च हन्यादेवं कृमीन् भिषक् ॥३३॥

पुरीषजन्य और कफजन्य कृमियों को इस विधि से नष्ट करे ॥३३॥

शिरोहृद्घ्राणकर्णाक्षिसंश्रितांश्च पृथग्विधान्।
विशेषेणाञ्जनैर्नस्यैरवपीडैश्च साधयेत् ॥३४॥

शिर, हृदय, नासिका, कान, आंख में स्थित नाना प्रकार के कृमियों की अंजन, नस्य, अवपीडन विधि से विशेष रूप में चिकित्सा करे ॥३४॥

शकृद्रसं तुरङ्गस्य सुशुष्कं भावयेदति ।
निष्क्वाथेन विडङ्गानां चूर्णं प्रधमनं तु तत् ॥३५॥

घोड़े की लीद के स्वरस को भलीप्रकार सुखाकर इसे विडंग के क्वाथ से भावित करके इस चूर्ण का नासा में प्रधमन नस्य (फूत्कार से देना) देवे ॥३५॥

अयश्चूर्णान्यनेनैव विधिना योजयेद् भिषक् ।
सकांस्यनीलं तैलं च नस्यं स्यात्सुरसादिके ॥३६॥

घोड़े की लीद की भांति रांगा, सीसा आदि धातुओं का चूर्ण विडंग के क्वाथ से भावना देकर प्रधमन नस्य देवे । कांसी को घिसकर इसकी स्याही को-सुरसादि गण में सिद्ध किये तैल में मिलाकर नस्य देवे ॥३६॥

इन्द्रलुप्तविधिश्चापि विधेयो रोमभोजिषु ।

रोम को खानेवाले कृमियों में इन्द्रलुप्त रोग की चिकित्सा करे ।

दन्तादानां समुद्दिष्टं विधानं मुखरोगिकम् ॥३७॥

दाँत को खानेवाली कृमियों की चिकित्सा मुख रोगों में कह दी है ॥३७॥

रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात् कुष्ठचिकित्सिते ।

रक्तजन्य कृमियों की चिकित्सा कुष्ठ चिकित्सा की भांति करे।

सुरसादिं तु सर्वेषु सर्वथैवोपयोजयेत् ॥३८॥

सब कृमियों में सुरसादिगण का उपयोग सब रूपों में (खाने में, पीने में, स्नान आदि में) करना चाहिये ॥३८॥

प्रव्यक्ततिक्तकटुकं भोजनं च हितं भवेत् ।

जिस भोजन में तिक्त और कटु प्रचुर परिमाण में स्पष्ट रहता हो वह देना हितकारी है ।

कुलत्थक्षारसंसृष्टं क्षारपानं च पूजितम् ॥३९॥

कुलत्थी की भस्म को पानी में घोलकर, इसके साथ यवक्षार का पानी उत्तम है ।

'यावशूकस्य पानं तु कुलत्थक्षारवारिणा" ॥३९॥

क्षीराणि मांसानि घृतानि चैव
दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति ।
समासतोऽम्लान्मधुरान् हिमांश्च
कृमीन् जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥४०॥

निदानपरिवर्जनचिकित्सा—दूध, मांस, घृत, दही, पत्तों के शाक (सलाद आदि), अम्ल, मधुर और शीतल पदार्थ-इनको संक्षेप में, कृमियों के नाश की इच्छा रखनेवाला मनुष्य छोड़ देवे ।

वक्तव्य—विटामीन के नाम पर कच्चे टमाटर, हरे शाक, सलाद आदि कच्चे खाने की जो प्रथा चल रही है, इसी प्रकार आईसक्रीम, रेफ्रेजेटर में रक्खा ठण्डा भोजन, ठण्डे पदार्थ खाना चला है, ये वस्तुयें आयुर्वेद के सिद्धान्त से अनुकूल नहीं । इनसे कृमि उत्पन्न होते हैं, अथवा हृदय रोग-रक्तचाप के रोग होते हैं ।

चरक में—अश्वशकृद्रस के स्थान पर घोड़े की लीद का ही व्यवहार किया है, यथा—"अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्यातपे शोषयित्वोदूखले क्षोदयित्वा दृषदि पुनः श्लक्ष्णानि चूर्णानि कारयित्वा विडंगकषायेण त्रिफलाकषायेण वा अष्टकृत्वो दशकृत्वो वा आतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समावाप्यानुगुप्तं निधापयेत् ॥" चरक वि० अ० ७।२६ ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तगते शालाक्यतन्त्रे कायचिकित्सातन्त्रे कृमिप्रतिषेधो नाम (षोडशो ऽध्यायः, आदितः) चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथात उदावर्तप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे उदावर्त्तप्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था १,२॥

अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः ।
न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः ॥३॥

जीने की इच्छावाला बुद्धिमान् मनुष्य स्वभाव से प्रवृत्त होनेवाले वायु आदि के, नीचे, या ऊपर जानेवाले वेगों को भी न रोके ।

वक्तव्य—वेगनिग्रहजा रोगा य एते परिकीर्त्तिताः । इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं वेगानेतान्न धारयेत् ॥ इमांस्तु धारयेद् वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च । साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत् । नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायांश्च बुद्धिमान् ॥ पारुष्यस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च । वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद् वेगमुत्थितम् ॥ स्त्रीभोगास्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत् । देहप्रवृत्तिः या काचिद् वर्त्तते परपीडया ॥ आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् ॥ चरक सू० अ० ७ ॥३॥

वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः ।
व्याहन्यमानरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते ॥४॥

वायु, मल, मूत्र, जृम्भा, अश्रु, छींक, उद्गार, वमन, इन्द्रिय (शुक्र), इनके उपस्थित वेगों को रोकने से उदावर्त्त उत्पन्न होता है । (श्रोत्रवागादिसत्त्वं च शुक्रं चेन्द्रियमुच्यते ॥

क्षुत्तृष्णाश्वासनिद्राणामुदावर्तो विधारणात् ।

भूख, प्यास, श्वास, निद्रा इनको रोकने से उदावर्त्त उत्पन्न होता है ।

तस्याभिधास्ये व्यासेन लक्षणं च चिकित्सितम् ॥५॥

इस उदावर्त्त के लक्षण और चिकित्सा को विस्तार से कहूँगा ॥५॥

त्रयोदशविधश्चासौ भिन्न एतैस्तु कारणैः ।

पूर्वोक्त वातादि कारणों से भिन्न होने के कारण उदावर्त्त तेरह प्रकार का है ।

अपथ्यभोजनाच्चापि वक्ष्यते च तथाऽपरः ॥६॥

अपथ्य भोजन के कारण जो उदावर्त्त होता है वह इनसे भिन्न है, उसको अलग कहेंगे ॥६॥

आध्मानशूलौ हृदयोपरोधं
शिरोरुजं श्वासमतीव हिक्काम् ।
कासप्रतिश्यायगलग्रहांश्च
बलासपित्तप्रसरं च घोरम् ॥७॥
कुर्यादपानोऽभिहतः स्वमार्गे
हन्यात् पुरीषं मुखतः क्षिपेद्वा ।

वातजन्य उदावर्त्त—अपने मार्ग में रुकी अपान वायु—आध्मान, शूल, हृदय, का अवरोध, शिर में दर्द, श्वास की वृद्धि, हिक्का, कास, प्रतिश्याय, गलग्रह (टौंसिलायटिस), कफ पित्त का प्रसरण, पुरीष क्षय या मुख से मल की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है ॥७॥

आटोपशूलौ परिकर्तनं च
सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ॥८॥
पुरीषमास्यादपि वा निरेति
पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ।

पुरीष वेग को रोकने से—आध्मान, शूल, कर्त्तन के समान पीड़ा, मल का अवरोध, ऊर्ध्व वायु, अथवा मल की मुख से प्रवृत्ति होती है ॥८॥

मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु
कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम् ॥९॥
मेढ्रे गुदे वङ्क्षणबस्तिमुष्क-
नाभिप्रदेशेष्वथवाऽदि मूर्ध्नि ।
आनद्धबस्तिश्च भवन्ति तीव्रा
शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमूर्तेः ॥१०॥

मूत्र वेग को रोकने से—मनुष्य मूत्र का कठिनाई से थोड़ा थोड़ा त्याग करता है। मेहन, गुद, वंक्षण, वस्ति, अण्ड, नाभिप्रदेश, अथवा शिर में, तीव्र वेदना होती है, मूत्राशय में गति नहीं होती है, शरीर टूटता प्रतीत होता है, कांटों के चुभने के समान शूल-सा होता है ॥९,१०॥

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा
जृम्भोपघातात् पवनात्मकाः स्युः ।
श्रोत्राननघ्राणविलोचनोत्था
भवन्ति तीव्राश्च तथा विकाराः ॥११॥

जृम्भा के रोकने से—मन्यास्तम्भ, गल-स्तम्भ, शिरोरोग, कम्प, सुप्ति आदि वात रोग, कान-नाक-मुख और आँखों के भयानक रोग उत्पन्न होते हैं ॥११॥

आनन्दजं शोकसमुद्भवं वा
नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि ।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥१२॥

अश्रुजन्य उदावर्त्त—आनन्द के कारण या शोक के कारण से उत्पन्न आँसुओं को रोक लेने से शिर में भारीपन, भयानक नेत्र रोग, पीनस उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

भवन्ति गाढं क्षवथोर्विघाता-
च्छिरोऽक्षिनासाश्रवणेषु रोगाः ।
कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः
कूजश्च वायोरुत वाऽप्रवृत्तिः ॥१३॥

छींक को रोकने से—शिर, नाक, आंख, और कान में भयानक रोग होते हैं। कण्ठ और मुख वायु से भरे रहते हैं, गले और मुख में तीव्र व्यथा, कराहना, अथवा उच्छ्वास का अवरोध होता है ॥१३॥

उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति
घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ।

उद्गार को रोकने से कम्प, हिक्का आदि वातजन्य भयानक रोग होते हैं।

छर्दिर्विघातेन भवेच्च कुष्ठं
येनैव दोषेण विदग्धमन्नम् ॥१४॥

छर्दि के रोकने से—जिस दोष के कारण अन्न विदग्ध हुआ होता है, उसी दोष की अधिकतावाला कुष्ठ उत्पन्न होता है। (चकार से अरोचक आदि होते हैं) ॥१४॥

मूत्राशये पायुनि मुष्कयोश्च
शोफो रुजो मूत्रविनिग्रहश्च ।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेद्वा
ते ते विकारा विहते तु शुक्रे ॥१५॥

शुक्र के उपस्थित वेग को रोकने से—मूत्राशय, गुद, मुष्क में शोफ, पीड़ा होती है, मूत्र का अवरोध, शुक्राश्मरी, शुक्र का क्षरण, हृत्पीड़ा, अंगमर्द आदि शुक्रवेगावरोधजन्य रोग होते हैं ॥१५॥

तन्द्राङ्गमर्दारुचिविभ्रमाः स्युः
क्षुधाऽभिघातात् कृशता च दृष्टेः ।

भूख के उपस्थित वेग को रोकने से—तन्द्रा, अंगों का टूटना, अरुचि, चक्कर आना, दृष्टि की निर्बलता होती है। (कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमंगमर्दोऽरुचिर्भ्रमः क्षुद्वेगनिग्रहात्....)।

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोध-
स्तृष्णाभिघाताद्धृदये व्यथा च ॥१६॥

तृष्णा को रोकने से—गले और मुख में शोष, बहरापन, हृदय में पीड़ा (श्रम-स्वेद आदि) होती है ॥१६॥

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण
हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।

जल्दी चलने या परिश्रम से उत्पन्न श्वास को रोकने से—हृदयरोग, मोह अथवा गुल्म उत्पन्न होता है।

जृम्भाऽङ्गमर्दोङ्गशिरोऽक्षिजाड्यं
निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥१७॥

निद्रा के उपस्थित वेग को रोकने से—जृम्भा, अंगमर्द अंग-शिर-आँख में जड़ता (भारीपन) और तन्द्रा होती है ॥१७

तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत् ॥१८॥

तृष्णा से पीड़ित, अतिशय शिथिल (क्रिया रहित), क्षीण, शूल से पीड़ित, मल का वमन करनेवाले, उदावर्त रोगी की बुद्धिमान् चिकित्सा न करे ॥१८॥

सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः।
वायोः क्रिया विधातव्याः स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥१९॥
सामान्यतः पृथक्त्वेन क्रियां भूयो निबोध मे।

इन सब उदावर्तों में वातव्याधि की सम्पूर्ण चिकित्सा (स्नेह, स्वेद आदि) विधिपूर्वक करनी चाहिये, जिससे वायु अपने मार्ग में प्रवृत्त हो जाये। यह क्रिया सामान्यरूप में सबके लिये है, पृथक् पृथक् रूप में आगे सुनो ॥१९॥

आस्थापनं मारुतजे स्निग्धस्विन्ने विशिष्यते ॥२०॥

रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर वातहर द्रव्यों से बनाया आस्थापन (निरूह) वातोदावर्त में करे ॥२०॥

पुरीषजे तु कर्तव्यो विधिरानाहिको भवेत्।

पुरीषजन्य उदावर्त में आनाह चिकित्सा (फलवर्त्ति आदि, वातव्याधि में कही चिकित्सा) करे।

सौवर्चलाढ्यां मदिरां मूत्रे त्वभिहते पिबेत् ॥२१॥
एलां वाऽप्यथ मद्येन क्षीरं वाऽपि पिबेन्नरः।
धात्रीफलानां स्वरसं सजलं वा पिबेत्त्र्यहम् ॥२२॥
रसमश्वपुरीषस्य गर्दभस्याथवा पिबेत्।
मांसोपदंशं मधु वा पिबेद्वा सीधु गौडिकम् ॥२३॥
भद्रदारु घनं मूर्वा हरिद्रा मधुकं तथा।
कोलप्रमाणानि पिबेदान्तरिक्षेण वारिणा ॥२४॥
दुःस्पर्शास्वरसं वाऽपि कषायं कुङ्कुमस्य च।
एर्वारुबीजं तोयेन पिबेद्वाऽलवणीकृतम् ॥२५॥
पञ्चमूलीशृतं क्षीरं द्राक्षारसमथापि वा।

मूत्रजन्य उदावर्त में प्रभूत सौवर्चल नमक मिलाकर मदिरा को पीये। इलायची को मद्य के साथ पीये या दूध पीये। अथवा जल के साथ आँवले का स्वरस तीन दिन पीये। घोड़े की या गधे की लीद का स्वरस पीये। मांस भक्षण के साथ मधु मद्य, सीधु या गौडिकमद्य (गुड़ से बना) पीये। देवदारु, मुस्ता मूर्वा, हल्दी, मुलैहठी, इनको आधा कर्ष लेकर वर्षा जल के साथ पीये। धमासे का स्वरस (अभाव में क्वाथ) या केसर का कषाय, ककड़ी-खीरे के बीज इनको थोड़े से नमक मिश्रित जल के साथ पीये। लघुपंचमूल से सिद्ध किया दूध या द्राक्षा-रस पीये (पंचमूल लघु लेना 'लघुना पंचमूलेन शृतं क्षीरं पिबेन्नरः')।

वक्तव्य—मधु-यहाँ पर मद्य के लिये है, जैसा कि यक्ष्मा रोग में चरक में—"प्रसन्नां वारुणीं शीधुमरिष्टानासवान्मधु। स्वेदावगाहनाभ्यंगान् सर्पिषश्चावपीडकम्। मूत्रे प्रतिहते कुर्यात् त्रिविधं बस्तिकर्म च" ॥ चरक सू० अ० ६ ॥२१–२५॥

योगांश्च वितरेदत्र पूर्वोक्तानश्मरीभिदः ॥२६॥
मूत्रकृच्छ्रक्रम चापि कुर्यान्निरवशेषतः।
भूयो वक्ष्यामि योगान् यान् मूत्राघातोपशान्तये ।२७।

मूत्रजन्य उदावर्त में अश्मरी को भेदन करनेवाले योग बरते। मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा सम्पूर्णरूप में करे। मूत्राघात की शान्ति के लिये आगे भी योगों को कहूंगा। उनको भी यहाँ पर बरते ॥२६,२७॥

स्नेहैः स्वेदैरुदावर्तं जृम्भाजं समुपाचरेत्।

जृम्भाजन्य उदावर्त में स्नेहन और स्वेदन करे।

अश्रुमोक्षोऽश्रुजे कार्यः स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः ॥२८॥

अश्रुजन्य उदावर्त में रोगी को स्नेहन स्वेदन देकर आँसुओं का निःसारण करना चाहिये ॥२८॥

तीक्ष्णाञ्जनावपीडाभ्यां तीक्ष्णगन्धोपशिङ्घनैः।
वर्तिप्रयोगैरथवा क्षवसक्तिं प्रवर्तयेत् ॥२९॥
(तीक्ष्णौषधप्रधमनैरथवाऽऽदित्यरश्मिभिः।)

रुकी हुई छींक को तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण अवपीडन, तीक्ष्ण-गन्ध (मरिचादि) आदि को सूँघकर नाक में वर्त्ति डालकर, प्रवृत्त करे। (तीक्ष्ण औषधियों को नाक में फूंककर अथवा सूर्य की किरणों को देखकर छींक को प्रवृत्त करे) ॥२९॥

उद्गारजे क्रमोपेतं स्नैहिकं धूममाचरेत् ॥३०॥
सुरां सौवर्चलवतीं बीजपूररसान्विताम्।

उद्गारजन्य उदावर्त में धूम, नस्य, कवलग्रह विधि से स्नैहिक धूम बरते। सौवर्चल और बिजौरे के रस से मिली सुरा को पीये ॥३०॥

छर्द्याघातं यथादोषं सम्यक् स्नेहादिभिर्जयेत् ॥३१॥
सक्षारलवणोपेतमभ्यङ्गं चात्र दापयेत्।

छर्दि के उदावर्त में दोषोंके अनुसार भली प्रकार स्नेहादि विधि करे। यवक्षार और लवण से मिश्रित अभ्यंग में घृत का उपयोग करना उत्तम है, तैल भी कुछ बरतते हैं ॥३१॥

बस्तिशुद्धिकरावापं चतुर्गुणजलं पयः ॥३२॥
आत्ताग्निनाशात् क्वथितं पीतवन्तं प्रकामतः।
रमयेयुः प्रिया नार्यः शुक्रोदावर्तिनं नरम् ॥३३॥

शुक्र—उदावर्त में वस्ति को शुद्ध करनेवाले (ककड़ी—कूष्माण्ड के बीज, पंचतृणमूल आदि) द्रव्यों

का प्रक्षेप देकर (दूध का ⅛ वां भाग) दूध से चार गुणे जल में दूध का पाक करे। जब पानी जल जाये, केवल दूध बचे तब उसको पीकर प्रिय स्त्रियोंके साथ रमण करे।

तत्राभ्यंगावगाहाश्च मदिराचरणायुधाः।
शालिःपयो निरूहाश्च शस्तं मैथुनमेव च ॥च० ।३३।

क्षुद्विघाते हितं स्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्।

भूख को रोकने से उत्पन्न उदावर्त में स्निग्ध उष्ण, अल्पभोजन हितकारी है।

तृष्णाघाते पिबेन्मन्थं यवागूं वाऽपि शीतलाम् ॥३४॥

प्यास को रोकने से उत्पन्न उदावर्त में मन्थ (घृत के साथ शीतल जल में घोले सत्तू) या शीतल यवागू पीये ॥३४॥

भोज्यो रसेन विश्रान्तः श्रमश्वासातुरो नरः।

श्रमजनितश्वास से पीड़ित मनुष्य को विश्राम देकर मांस रस से भोजन देना चाहिये।

निद्राघाते पिबेत् क्षीरं स्वप्याच्चेष्टकथो नरः ॥३५॥

निद्रानाश में दूध पीये, सोये, इच्छित वार्तायें सुने। (दूध भैंस का पीना चाहिये, डल्हण ने गाय का दूध पीने को लिखा है) यथा-"निद्राघाते पिबेत्क्षीरं गोस्तनादथवा नरः।" परन्तु चरक में भैंस के दूध के गुण वर्णन में-"स्नेहान्यूनमनिद्राय हितमत्यग्नये च तत् ॥" इसमें भैंस का दूध लेना चाहिये ॥

आध्मानाद्येषु रोगेषु यथास्वं प्रयतेत हि।
यच्च यत्र भवेत्प्राप्तं तच्च तस्मिन प्रयोजयेत् ॥३६॥

आध्मान, शूल, परिकर्तिका आदि में दोषों के अपने अनुसार चिकित्सा करे। जिस रोग में जो औषध ठीक हो, वह औषध उस रोग में बरते। (जो चिकित्सा यहाँ पर नहीं कही यदि वह योग्य हो, तो उसे भी बरते) ॥३६॥

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्यः उदावर्तं करोति हि ॥३७॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥३८॥
ततो हृद्बस्तिशूलार्तो गौरवारुचिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः ॥३९॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहवमिज्वरान्।
तृष्णाहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान् ॥४०॥
लभते च बहूनन्यान् विकारान् वातकोपजान्।

कोष्ठ में स्थित वायु रूक्ष, कषाय, कटु, तिक्त भोजनों से कुपित होकर तुरन्त ही उदावर्त उत्पन्न कर देता है। इसमें यह वायु-मूत्र मल-रक्त-कफ-मेदवह स्रोतसों को (अधोवह स्रोतों को) उदावर्त (ऊपर की ओर गतिवाला) करता है। मल को अत्यन्त वृत्त-गोल (लेडने के रूप में) कर देता है। इससे हृदय वस्ति में शूल, भारीपन, अरुचि होती हैं। वायु मल-मूत्र कठिनाई से त्याग करता है। रोगी को श्वास, कास, प्रतिश्याय दाह, मोह, वमन, ज्वर, प्यास, हिचकी, शिरोरोग, मनोरोग कान के रोग, तथा अन्य बहुत से वातजन्य रोग हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—इस रोग में वायु, पुरीष की गुटिका बाँध देता है। जिसे "सुद्दा" कहते हैं तथा उक्त स्रोतों को उलटा कर देता है। फलतः वायु आदि प्रतिलोम हो जाते हैं और इसीलिये हृदयशूल आदि भीषण उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इस रोग में वायु का अनुलोमन करना ही मुख्य है ।। ३७-४०॥

तं तैललवणाभ्यक्तं स्निग्धं स्विन्नं निरूहयेत् ॥४१॥
दोषतो भिन्नवर्चस्कं भुक्तं चाप्यनुवासयेत्।

उदावर्त के इस रोगी को तैल-लवण से अभ्यंग करके स्निग्ध करके स्वेदन देकर निरूह देवे। जिस रोगी को अतिसार हो उसे दोष के अनुसार भोजन देकर अनुवासन वस्ति देवे। कहा भी है-"उदावर्ते तु अपथ्योत्थे सुनिरूढं ततो भिषक्। यथादोषं भुक्तवन्तमाशु चैवानुवासयेत्" ॥४१॥

न चेच्छान्ति व्रजत्येवमुदावर्तः सुदारुणः ॥४२॥
अथैनं बहुशः स्विन्नं युञ्ज्यात् स्नेहविरेचनैः।

कठिन उदावर्त यदि इस प्रकार से शान्त न हो तो उदावर्त रोगी को स्नेहन और स्वेदन देकर बहुत बार ऐरण्ड तैल आदि स्नेहन विरेचनों से विरेचन देवे ॥४२॥

पाययेत त्रिवृत्पीलुयवानीरम्लपाचनैः ॥४३॥
हिङ्गुकुष्ठवचास्वर्जिविडङ्गं वा द्विरुत्तरम्।
योगावेतावुदावर्तं शूलं चानिलजं हतः ॥४४॥

निशोथ और पीलु को कांजी एवं चित्रकादि पाचन द्रव्यों के क्वाथ के साथ पिलाये। हींग, कूठ, वच, स्वर्जक्षार, विडंग इनको क्रमशः दुगुना करके चूर्ण बनाये। इस चूर्ण को कांजी से देवे। ये दोनों योग उदावर्तजन्य एवं वातजन्य शूल को नष्ट करते हैं ॥४३,४४॥

देवदार्वग्निकौ कुष्ठं शुण्ठीं पथ्यां पलङ्कषाम्।
पौष्कराणि च मूलानि तोयस्यार्धाढके पचेत् ॥४५॥
पादावशिष्टं तत् पीतमुदावर्तमपोहति।

देवदारु, चित्रक, कूठ, सोंठ, हरड़, गुग्गुल, पुष्करमूल इनको आधा आढक (३२ पल जल) पानी में क्वाथ करे। चतुर्थांश शेष रखकर पीये। इसके पीने से उदावर्त नष्ट होता है ॥४५॥

मूलकं शुष्कमार्द्रं च वर्षाभूः पञ्चमूलकम् ॥४६॥
आरेवतफलं चाप्सु पक्त्वा तेन घृतं पचेत्।
तत् पीयमानं शास्त्युग्रमुदावर्तमशेषतः ॥४७॥

सूखी मूली, सूखा आर्द्रक (सोंठ), पुनर्नवा, बिल्वादि पंचमूल, अमलतास का गूदा, इनका पानी

में क्वाथ करके इससे घृत पकाये। इसको पीते रहने से भयानक उदावर्त सम्पूर्णरूप में नष्ट होता है ॥४६,४७॥

वचामतिविषां कुष्ठं यवक्षारं हरीतकीम्।
कृष्णां निर्दहनीं चापि पिबेदुष्णेन वारिणा ॥४८॥

वच, अतीस, कूठ, यवक्षार, पिप्पली, चित्रक इनको गरम पानी से पीये ॥४८॥

इक्ष्वाकुमूलं मदनं विशल्यातिविषे वचाम्।
कुष्ठं किण्वाग्निकौ चैव पिबेत्तुल्यानि पूर्ववत् ॥४९॥
मूत्रेण देवदार्वग्नित्रिफलाबृहतीः पिबेत्।

कटुतुम्बी का मूल, मैनफल, कलिहारी, अतीस, वच, कुष्ठ, किण्व (सुराबीज), चित्रक इनको परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण करके गरम पानी से पीये। देवदारु, चित्रक, त्रिफला, बड़ी कटेरी इनका चूर्ण गोमूत्र से पीये ॥४६॥

यवप्रस्थं फलैः सार्धं कण्टकार्या जलाढके ॥५०॥
पक्त्वाऽर्धप्रस्थशेषं तु पिबेद्धिङ्गुसमन्वितम्।

जौ और कटेरी के फल मिलित एक प्रस्थ लेकर एक आढ़क जल में पकाये। आधा प्रस्थ (आधा पल) शेष रहने पर इसमें हींग मिलाकर पीये ॥५०॥

मदनालाबुबीजानि पिप्पलीं सनिदिग्धिकाम् ॥५१॥
संचूर्ण्य प्रधमेन्नाड्या विशत्येतद्यथा गुदम्।

मैनफल के बीज, तुम्बी के बीज, पिप्पली, कटेरी, इनका चूर्ण करके नाडीयंत्र से गुद में फूत्कार से प्रधमन करे (फूंके), जिससे यह चूर्ण गुदा में पहुँच जाये॥

चूर्णं निकुम्भकम्पिल्लश्यामेक्ष्वाक्वग्निकोद्भवम् ।५२।
कृतवेधनमागध्योर्लवणानां च साधयेत्।
गवां मूत्रेण ता वर्तीः कारयेत्तु गुदानुगाः॥
सद्यः शर्मकरावेतौ योगावमृतसंमितौ ॥५३॥

निकुम्भ (दन्ती), कमीला, निशोथ, कटुतुम्बी, चित्रक (अग्निक-अजवायन, डल्हण), कृतवेधन (कड़ुई तुम्बी), पिप्पली, सैन्धव इनका चूर्ण करके गोमूत्र में पकाये। जब घट्ट हो जाये और वर्त्ति बनाने योग्य हो तब उतारकर इनसे गुदा में जाने योग्य वर्त्तियाँ बनाये। ये दोनों योग तुरन्त ही रोगी को शान्ति देते हैं, ये अमृत के समान हैं।

"अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था
भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः।
चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं
प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश" ॥चरक॥

तं तैलशीतज्वरनाशनोक्तं स्वेदैः यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्। उपाचरेत् बस्तिनिरूहबस्तिस्नेहैः विरेकैरनुलोमनान्नैः। श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम्। सनीलिकां द्विलवणां गुडेन वर्तिं करांगुष्ठनिभां विदध्यात्॥ पिण्याकसौवर्चलहिंगुभिर्वा ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः। कृमिघ्नकम्पिल्लकशंखिनीभिःसुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः। स्यात् पिप्पलीसर्षपराढवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः।
श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां
नाड्योऽथवा तत् प्रधमेत्तु चूर्णम्॥
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णा-
चूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा॥
स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति
नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसंगम्॥
चरक चि० अ० । २६ १३-१५

वि० मन्तव्य—एतौ योगौ—यह दोनों योग अर्थात् श्लो० ५१ में कहा मदनफल आदि प्रधमन योग तथा श्लो० ५३ में कहा निकुम्भ आदि की बत्ती का योग ॥५२,५३॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे उदावर्तप्रतिषेधो नाम (सप्तदशोऽध्यायः, आदितः) पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो विसूचिकाप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ।१।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे विसूचिका प्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥३॥

अन्नपान विधि में आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण विदग्धाजीर्ण (रसशेषाजीर्ण भी) जो कहे हैं, उनके कारण विसूचिका और अलसक होते हैं। विलम्बिका भी इन्हीं अजीर्णों से उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—तं द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः विसूचिकामलसकं च।

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यस्याजीर्णेन सा वैद्यैरुच्यते तु विसूचिका ॥४॥

जिस अजीर्ण के कारण वायु शरीर में सूई चुभने के समान वेदना उत्पन्न करती है, उस अवस्था को वैद्य विसूचिका कहते हैं॥४॥

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्ते कलुषाशयाः ॥५॥

परिमित (मात्रा) में खानेवाले एवं भोजन विधि को जाननेवाले (प्रकृति करण आदि अष्टविध आयतनों को तथा इष्टे देशे आदि विधि को जाननेवाले) मनुष्य विसूचिका रोग से पीड़ित नहीं होते। दूषित आमाशयवाले, अजितेन्द्रिय, खाने के लालची मूर्ख लोग विसूचिका से पीड़ित होते हैं।

वि० मन्तव्य—परन्तु कभी कभी विशेषतः वसन्त ऋतु के अन्त में कहीं कहीं जनपदोद्ध्वंस (चरक) या मारक (सुश्रुत) के रूप में विसूचिका फैलती है ॥५॥

मूर्च्छातिसारौ वमथुः पिपासा
शूलं भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः ।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च
भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥६॥

लक्षण—मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, चक्कर आना, ऐंठन, जम्भाई आना, दाह, विवर्णता, कम्प, हृदय में पीड़ा, शिर में फटने का सा शूल होता है ।

तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात् । चरक ।

वि० मन्तव्य—इस रोग में प्रथम शूल उठता है और साथ ही वमन एवं विरेचन का प्रारम्भ हो जाता है, फिर अन्य पिपासा आदि लक्षण व्यक्त होने लगते हैं । खाया पिया निकल जाने पर चरक के शब्दों में आम—मांस धावन का सा द्रव प्रवृत्त हो जाता है तथा उद्वेष्टन (ऐंठन) विशेषतः टांगों एवं बाँहों में होने लगता है और वमन विरेचन के अतियोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं (देखिये सु० चि० अ० ३५।-११) । ऐलोपेथ जिसे "कालरा" कहते हैं वह चरक के शब्दों में "आमविष" है क्योंकि उसमें विष के सदृश लक्षण होते हैं (च० वि० अ० २) ॥६॥

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति ।
निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षौ विपरिधावति ॥७॥
वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशं भवेत् ।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारावरोधकौ ॥८॥

अलसक—उदर में अतिशय आध्मान, मूर्छित (बेमान) होना, कराहना, उदर में रुकी अपान वायु ऊपर को चढ़ती है, वायु और मल का कोष्ठ में बहुत अवरोध रहता है । इस अवस्था को अलसक कहते हैं, इसमें प्यास उद्गार रुके रहते हैं ।

वक्तव्य—अलसक अलस—आलसी होना, रियैक्शन-की शक्ति नष्ट होना ।

दुर्बलस्याग्नेः बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनः तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखीभवति, ततश्छर्द्यतिसारवर्ज्यानि आमप्रदोषलिंगानि यथोक्तान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि, अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गाः तिर्यग् गच्छन्तः कदाचित्केवलमेवास्य शरीरं दण्डवत्स्तम्भयन्ति, ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते ॥

चरक० ० अ० वि२।१४,१५॥

दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां
प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य ।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्या-
माचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥९॥

किया हुआ भोजन कफ और वायु से दूषित होकर न तो ऊपर को (वमन रूप में) जाता है, और न नीचे (विरेचनरूप में) प्रवृत्त होता है । इस अवस्था को शास्त्र को जाननेवाले पुराने आचार्य विलम्बिका कहते हैं, यह अतिकष्टसाध्य है ।

वि० मन्तव्य—इस रोग में खाया हुआ आहार (भुक्त) उदर में वायु एवं कफ से ही विशेष रूप से दूषित होता है, और इसमें पित्त का सम्पर्क नहीं होता । वैसे अलसक के समान इसमें भी न वमन ही होता है, और न अतिसार ही होता है । कफ एवं वायु के अजीर्ण के लक्षण देखिये सू० अ० ४६ श्लो० ५०२ में ॥९॥

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावततं स्वलिङ्गैस्तं लक्षयेदामसमुद्भवैश्च ॥१०॥

जिस देश में स्थित, जिस दोष से व्याप्त आम हो, उस देश में विशेष रूप से वह दोष वेदना करता है । उस स्थान को दोष के लक्षणवाले (तोद आदि आमजन्य) रोगों के लक्षणों से (स्तम्भन आध्मान आदि से) पहचाने ।

वि० मन्तव्य—यह आम का विवरण है—आम जहाँ भी स्थित हो जाता है, वहीं रोग-वेदना उत्पन्न करता है, अर्थात् यदि आमाशय में स्थित होता है तो आमाशय में, अन्त्र में स्थित होता है तो अन्त्र में और मलाशय में स्थित होता है तो मलाशय में विकार उत्पन्न करता है, और आम जिस दोष से व्याप्त रहता है उस दोष के लक्षणोंवाले विकार उत्पन्न करता है, परन्तु आम के अपने लक्षण भी उनमें रहते हैं । वायु से व्याप्त होने पर शूल आदि, पित्त से व्याप्त होने पर दाह आदि तथा कफ से व्याप्त होने पर छर्दि आदि लक्षण होते हैं । परन्तु साथ में गौरव, अवसाद आदि तथा ऐंठन आदि आम के लक्षण भी रहते हैं ॥१०॥

यः श्यावदन्तोष्ठनखोऽल्पसंज्ञ-
श्छर्दर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धि-
र्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥११॥

जिस रोगी के दांत, ओठ, नख काले पड़ गये, जिसको थोड़ी चेतना हो, वमन होती हो, आँखें अन्दर धँस गई हों, स्वर कृश हो गया हो, सन्धियाँ सब शिथिल हो गई हों, वह मनुष्य मर जाता है, असाध्य होता है ॥११॥

साध्यासु पार्ष्ण्योर्दहनं प्रशस्त-
मग्निप्रतापो वमनं च तीक्ष्णम् ।
पक्के ततोऽन्ने तु विलंघनं स्यात्
संपाचनं चापि विरेचनं च ॥१२॥

साध्यविसूचिका में एड़ी में दाह (संज्ञा प्रबोधन के लिये) करे। अग्निपाचन के लिये अग्नि से सेक देवे। अन्नशल्य को निकालने के लिये तीक्ष्ण वमन देवे। दोष के पाकाभिमुख होने पर लंघन, स्वेद आदि से पाचन, और विरेचन देवे ॥१२॥

विशुद्धदेहस्य हि सद्य एव
मूर्च्छातिसारादिरुपैति शान्तिम् ।

इस प्रकार वमन विरेचन से शोधन हो जाने पर मूर्च्छा, अतिसार आदि शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

आस्थापनं चापि वदन्ति पथ्यं
सर्वासु योगानपरान्निबोध ॥१३॥

विसूचिका आदि में आस्थापन को भी पथ्य कहते हैं, अन्य योगों को भी सुनो। (विसूचिका, अलसक सब में निरूह देवे) ॥

पथ्यावचाहिङ्गुकलिङ्गगृञ्ज-
सौवर्चलैः सातिविषैश्च चूर्णम् ।
सुखाम्बुपीतं विनिहन्त्यजीर्णं
शूलं विसूचीमरुचिं च सद्यः ॥१४॥

हरड़, वच, हींग, इन्द्रजौ, लहसुन, सौवर्चल, अतीस, इनका चूर्ण गरम पानी से पीने पर शूल विसूचिका और अरुचि को तुरन्त नष्ट करता है। (गृञ्जन—लहसुन) ॥१४॥

क्षारागदं वा लवणं विडं वा
गुडप्रगाढानथ सर्षपान् वा ।
अम्लेन वा सैन्धवहिङ्गुयुक्तौ
सबीजपूरौ सघृतौ त्रिवर्गौ ॥१५॥
कटुत्रिकं वा लवणैरुपेतं
पिबेत् स्नुहीक्षीरविमिश्रितं तु ।
कल्याणकं वा लवणं पिबेत्तु
यदुक्तमादावनिलामयेषु ॥१६॥

धवाश्वकर्ण शिरीष आदि से दुन्दुभिस्वनीय में कहे क्षारागद को या विडलवण को अथवा प्रचुर गुड़ युक्त सरसों को गरम पानी से पीये। सैन्धव और हींग को कांजी से पीये। त्रिफला, त्रिकटु को समान मात्रा में बिजौरे के रस से पीये। त्रिकटु को—पाँचों नमक के साथ थोर के दूध में मिलाकर पीये। वातव्याधि में गण्डीर पलाश आदि से जो कल्याणक लवण कहा है, वह भी इसमें बरते ॥१५,१६॥

कृष्णाजमोदक्षवकाणि वाऽपि
तुल्यौ पिबेद्वा मगधानिकुम्भौ ।
दन्तीयुतं वा मगधोद्भवानां
कल्कं पिबेत् कोषवतीरसेन ॥१७॥
उष्णाभिरद्भिर्मगधोद्भवानां
कल्कं पिबेन्नागरकल्कयुक्तम् ।

पिप्पली, अजवाइन, क्षवक (नकछिकनी) इनको या पिप्पली और दन्ती को कांजी से पीये। पिप्पली के कल्क को दन्ती के साथ कड़ुई तुरई के रस से पीये। पिप्पली और सोंठ के कल्क को गरम पानी से पीये ॥१७॥

व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे
मूलं समं चाप्यथ मातुलुङ्ग्याः ॥१८॥
छायाविशुष्का गुटिकाः कृतास्ता
हन्युर्विसूचीं नयनाञ्जनेन ।

त्रिकटु, करंज का फल, हल्दी, दारुहल्दी, इनके बराबर बिजौरे की जड़, इनको पानी में पीसकर, गोलियाँ बनाकर छाया में सुखाये। इन गोलियों के अंजन करने से विसूचिका नष्ट होती है।

वि० मन्तव्य—यह अञ्जन विसूचिका में उत्पन्न मूर्च्छा की शान्ति के लिये किया जाता है, मूर्च्छा शान्त हो जाने पर तत्कालोचित अन्य उपचार करते रहना चाहिये ॥१८॥

सुवामितं साधु विरेचितं वा
सुलंघितं वा मनुजं विदित्वा ॥१९॥
पेयादिभिर्दीपनपाचनीयैः
सम्यक्क्षुधार्तं समुपक्रमेत ।

भली प्रकार वमन, विरेचन, लंघन हो जाने पर, रोगी को भूख लगने पर दीपनीय पाचनीय (चित्रक आदि) औषधियों से संस्कृत पेया, विलेपी आदि से चिकित्सा करे ॥१९॥

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण
भूयो विबद्धं विगुणानिलेन ॥२०॥
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं
विकारमानाहमुदाहरन्ति ।

क्रमशः आम (अपक्व अन्न रस) और मल संचित होकर कुपित-ऊर्ध्वगामि अपानवायु से अवरुद्ध होने पर और भी बढ़कर अपने स्वाभाविक मार्ग में जब प्रवृत्त नहीं होता, तब इस अवस्था को आनाह कहते हैं।

वि० मन्तव्य—आनाह—यह रोग आहार की आमावस्था में भी होता है और पक्वावस्था में भी हो जाता है। इसमें आमाशय, अंत्र एवं मलाशय की गति रुक जाती है। यह सामान्यतः दो प्रकार का होता है १—आमाशय की गति रुकने से 'आमसमुद्भव' (श्लो०२१) और २—पक्वाशयज (श्लो० २२) अर्थात् मलाशय की गति रुकने से होता है। इन दोनों आशयों के मध्यवर्ती अन्त्र की गति भी रुक जाती है। आनाह को आध्मान कहना या समझना उचित नहीं है, आध्मान में उदर में वायु

रहने के कारण वह फूलता है और आनाह में उदर आनद्ध-आबद्ध-स्तब्ध हो जाता है। 'आनाहः विबन्धः स्यात्' (अमरकोश)—आनाह-णह्-बन्धने धातु (दिवादिगणीय) से तथा विबन्ध=बन्ध- बन्धने धातु (क्रियादिगणीय) से निष्पन्न होता है। यह विष्टब्धाजीर्ण का ही रूप है। देखिये सु० सू० अ०४६ का श्लो० ५०२ ॥२०॥

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु
तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः ॥२१॥
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं
हृल्लास उद्गारविघातनं च ।

आमजन्य आनाह में तृष्णा, प्रतिश्याय, शिर में दाह, आमाशय में शूल, आमाशय में भारीपन, जी मचलाना, उद्गार की असम्यक् प्रवृत्ति होती है ॥२१॥

स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे
शूलोऽथ मूर्च्छा स शकृद्वमेच्च ॥२२॥
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति
लिङ्गानि चात्रालसकोद्भवानि ।

पुरीषजन्य आनाह में कटि-पीठ-मल-मूत्र में स्तम्भ (जड़ता) कटि पीठ में शूल, मूर्च्छा, मल का वमन, श्वास, अलसक रोग के लक्षण पक्वाशयजन्य आनाह में होता है ॥२२॥

आमोद्भवे वान्तमुपक्रमेत
संसर्गभक्तक्रमदीपनीयैः ॥२३॥

आमजन्य आनाह में (अविपाकरसजन्य) रोगी को वमन कराके, पिप्पल्यादि दीपनीय द्रव्यों से साधित पेयादि क्रम बरते ॥२३॥

अथेतरं यो न शकृद्वमेत्त-
मामं जयेत् स्वेदनपाचनैश्च ।

जो रोगी मल का वमन न करता हो, उस पुरुष के पुरीषजन्य आमान्वित आनाह को स्वेदन पाचन से शान्त करे।

विसूचिकायां परिकीर्तितानि
द्रव्याणि वैरेचनिकानि यानि ॥२४॥
तान्येव वर्तीर्विरेचयेद्विचूर्ण्य
महिष्यजावीभगवां तु मूत्रैः ।
स्विन्नस्य पायौ विनिवेश्य तांश्च
चूर्णानि चैषां प्रधमेत्तु नाड्या ॥२५॥

विसूचिका में दन्ती आदि जो विरेचन द्रव्य कहे हैं, उनका चूर्ण करके भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, गाय इनके मूत्र में पकाकर, वर्ति बनाये। इन वर्तियों को स्वेदन दिये पुरुष की गुद में रक्खे। इन विरेचन द्रव्यों का चूर्ण नाड़ी द्वारा गुद में प्रधमन करे (फूंके) ॥२४,२५॥

मूत्रेषु संसाध्य यथाविधानं
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च यान्ति ।
क्वाथेन तेनाशु निरूहयेच्च
मूत्रार्धयुक्तेन समाक्षिकेण ॥२६॥
त्रिभण्डियुक्तं लवणप्रकुञ्चं
दत्त्वा विरिक्तक्रममाचरेच्च ।

संशोधन से शमन अध्याय में कहे वमन-विरेचन द्रव्यों को विधिपूर्वक भैंस, बकरी, भेड़, हाथी और गाय के मूत्रों में सिद्ध करके, इस क्वाथ में आधा मूत्र मिलाकर मधु, तथा निशोथ, सैन्धानमक एक पल मिलाकर निरूह देवे। निरूह देने के पीछे भली प्रकार विरेचन हो जाने पर पेयादि संसर्जन विधि का पालन करे। (यह आस्थापन आमावस्था में नहीं देना चाहिये) ॥२६॥

एष्वेव तैलेन च साधितेन
प्राप्तं यदि स्यादनुवासयेच्च ॥२७॥

इन्हीं वमन—विरेचन द्रव्यों से तैल सिद्ध करके यदि योग्य हो तो अनुवासन बस्ति देवे।

वक्तव्य— आम का परिपाक हो जाने पर वायु का अतिप्रकोप हो, तब अनुवासन देवे।

विसूचिकायां तु लंघनमेवाग्रे विरिक्तवच्चानुपूर्वी ।

आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमितगुरुकोष्ठमनन्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्निसंधुक्षणार्थं च। नत्वेवाजीर्णाशनम्, आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्न युगपद्दोषमोषधमाहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि चामप्रदोषाहारौषधविभ्रमोऽतिबलत्वाद् उपरतकायाग्निं सहसैवातुरमबलमतिपातयेत् ॥ च० वि० वि० अ० २ १७-१८।

विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यंगास्थापनानुवासनं विधिवत्स्नेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यम्। चरक० वि० अ० २।२० ॥२७॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे विसूचिकाप्रतिषेधो नाम (अष्टादशोऽध्यायः आदितः) षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽरोचकप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अरोचकप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—अरोचक-आहार की रुचि-इच्छा अभिलाषा चाह न होना तथा खाने में स्वाद का अनुभव न होना। यह वातादि दोषों की विकृति से भी होता है और काम शोक आदि मानसिक विकृति से भी होता है। यह रस शेषाजीर्ण

ही समझा जाय तो अनुचित नहीं है, देखिये सु० सू० अ० ४६ श्लो० ५०३ तथा श्लो० ४६६। अरोचकरोग में रसनेन्द्रिय भी क्रियाहीन हो जाती है, जिससे रस का भलीभांति ग्रहण नहीं होता ॥१,२॥

दोषैः पृथक् सह च चित्तविपर्ययाच्च
भक्तायनेषु हृदि चावतते प्रगाढम्।
नान्ने रुचिर्भवति तं भिषजो विकारं
भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति ॥३॥

वातादि पृथक् दोषों से, तीनों दोषों के मिलने से तथा चित्त के विपर्यय से–(काम, शोक, भय आदि से) अन्नवह स्रोतों में और हृदय में दोषों के अतिशय व्याप्त हो जाने पर अन्न में रुचि नहीं होती। वैद्य इस रोग को भक्तोपघात—(अरोचक) कहते हैं, यह पांच प्रकार का है।

वक्तव्य—"मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः।" च० वि० अ०२-११।

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंस्थितैः।
जायतेऽरुचिराहारैः द्विष्टैरर्थैश्च मानसैः॥
कषायतिक्तमधुरैः विद्यान्मुखरसैः क्रमात्।
वातचैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात्॥

लक्षण—

प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः।
अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु॥
चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम्।
द्वेषमायाति यज्जन्तुः भक्तद्वेषः स उच्यते॥
यस्य चान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ॥३॥

हृच्छूलपीडनयुतं विरसाननत्वं
वातात्मके भवति लिङ्गमरोचके तु।

वातजन्य अरोचक में हृदय में शूल, हृदय में पीड़ा, मुख में विरसता होती है।

हृद्दाहचोषबहुता मुखतिक्तता च
मूर्च्छा सतृड् भवति पित्तकृते तथैव ॥४॥

पित्तजन्य अरोचक में, हृदय में, दाह, चोष की अधिकता, मुख में तिक्तता, मूर्च्छा, प्यास होती है ॥४॥

कण्डूगुरुत्वकफसंस्रवसादतन्द्राः
श्लेष्मात्मके मधुरमास्यमरोचके तु।

कफजन्य अरोचक में—कण्डु, भारीपन, कफ का संस्राव, शिथिलता, तन्द्रा और मुख में मधुरता रहती है।

सर्वात्मके पवनपित्तकफा बहूनि
रूपाण्यथास्य हृदये समुदीरयन्ति ॥५॥

सन्निपातजन्य अरोचक में वायु, पित्त, कफ इसके हृदय बहुत से लक्षण उत्पन्न कर देते हैं ॥५॥

संरागशोकभयविप्लुतचेतसस्तु
चिन्ताकृतो भवति सोऽशुचिदर्शनाच्च।

संराग (काम), शोक, भय से विकृत चित्त के कारण तथा बीभत्स वस्तु के दर्शन से चिन्ताजन्य अरोचक होता है।

वाते वचाम्बुवमनं कृतवान् पिबेच्च
स्नेहैः सुराभिरथवोष्णजलेन चूर्णम् ॥६॥
कृष्णाविडङ्गयवभस्महरेणुभार्गी-
रास्नैलहिङ्गुलवणोत्तमनागराणाम्।

वातजन्य अरोचक में वचा के क्वाथ से वमन करके मनुष्य पिप्पली, विडंग, यवक्षार, हरेणु, भार्गी, रास्ना, इलायची, हींग, सैन्धव, सोंठ इनका चूर्ण स्नेह (घी), सुरा या गरम जल से पीये ॥६॥

पित्ते गुडाम्बुमधुरैर्वमनं प्रशस्तं
स्नेहः ससैन्धवसितामधुसर्पिरिष्टः ॥७॥

पित्त में गुड़ के जल (शर्बत) से या काकोल्यादि गण से वमन करना प्रशस्त है। सैन्धव, शर्करा, मधु, घी का स्नेह उत्तम है ॥७॥

निम्बाम्बुवामितवतः कफजेऽनुपानं
राजद्रुमाम्बु मधुना तु सदीप्यकं स्यात्।

कफजन्य, अरोचक में नीम के क्वाथ से वमन करके, अमलतास का क्वाथ, अजवाइन और मधु के साथ पीये।

चूर्णं यदुक्तमथवाऽनिलजे तदेव
सर्वैश्च सर्वकृतमेवमुपक्रमेत ॥८॥

वायु का अनुबन्ध होने पर कफजन्य अरोचक में वातजन्य अरोचक में कहा कृष्णा विडंग आदि चूर्ण पीये। सन्निपातजन्य अरोचक असाध्य कहकर वातादिज अरोचक नाशक चिकित्सा करे ॥८॥

द्राक्षापटोलविडवेत्रकरीरनिम्ब-
मूर्वाभयाक्षबदरामलकेन्द्रवृक्षैः।
बीजैः करञ्जनृपवृक्षभवैश्च पिष्टै-
र्लेहं पचेत् सुरभिमूत्रयुतं यथावत् ॥९॥
मुस्तां वचां त्रिकटुकं रजनीद्वयं च
भार्गीं च कुष्ठमथ निर्दहनीं च पिष्ट्वा।
मूत्रेऽविजे द्विरदमूत्रयुते पचेद्वा
पाठां तुगामतिविषां रजनीं च मुख्याम्॥
मण्डूकिमर्कममृतां च सलाङ्गलाख्यां
मूत्रे पचेत्तु महिषस्य विधानविद्वा।
एतान्न सन्ति चतुरो लिहतस्तु लेहान्
गुल्मारुचिश्वसनकण्ठहृदामयाश्च ॥११॥

चार लेह–(१) द्राक्षा, पटोल, विडनमक, बेत, करीर, नीम, मूर्वा, हरड़, बहेड़ा, बेर, आंवला, कुटज, करंज के बीज, अमलतास का गूदा इनसे गोमूत्र में विधि पूर्वक लेह बनाये (२) मुस्ता, बच, त्रिकटु

हल्दी, दारुहल्दी, भार्गी, कुष्ठ, चित्रक इनको पीसकर मेढे के मूत्र में लेह की भांति पकाये। (३) पाठा, वंशलोचन, अतीस पिण्ड-हरिद्रा इनको पीसकर इनसे हाथी के मूत्र में लेह बनाये। (४) मण्डूकि (ब्राह्मी या जलशुक्ति), आक, गिलोय, कलिहारी इनको भैंस के मूत्र में विधि पूर्वक बनाये। इन चार लेहों को चाटनेवाले व्यक्ति में गुल्म, अरुचि, श्वास, कण्ठरोग, हृदयरोग नहीं होते।

वक्तव्य—लेह की परीक्षा-लेहपाक लक्षणं तन्तु यावद्गुडादि जायते तावत् पचेद्।

वि० मन्तव्य—हमारे विचार में यहाँ "लाङ्गलाख्याम्" लाङ्गल नाम से कलिहारी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि कलिहारी विष है, अपितु तृणराज अर्थात् ताड़ अथवा नारियल समझना चाहिये। भले ही डल्लनाचार्य ने भी "लाङ्गलीकलिकारिका" लिखा है ॥११॥

सात्म्यान् स्वदेशरचितान् विविधांश्च भक्ष्यान्
पानानि मूलफलषाडवरागयोगान्।
अद्यादूसांश्च विविधान् विविधैः प्रकारै-
र्भुञ्जीत चापि लघुरूक्षमनःसुखानि ॥१२॥

जिस देश में जैसे भक्ष्य बनाये जाते हैं, उन भक्ष्यों को, अपने देश के नानाप्रकार के भक्ष्यों को, मन के अनुकूल भक्ष्यों को, मूल, फल, षाड्व, राग (रायता) के साथ खावे। पान पेयों को पीये। नानाप्रकार के मांसरसों को नानाप्रकार से खाये। लघु, रूक्ष, मन के अनुकूल भक्ष्यों को खाये।

वक्तव्य—षाडवरसालादि—"सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥ मधुराम्लकटूनां तु संस्कारा षाडवा मताः ॥ राग-द्राक्षाक्वाथ. शालिसक्तूपपन्नो मध्वांशाढ्याः सत्रिजातस्सधान्यः। गौलोपेतः शर्करापांसुमिश्रो रागो ज्ञेयः षाडवो दाडिमाम्लः ॥ रागषाडव—क्वथितं तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम्। तैलनागरसंयुक्तो विज्ञेयो रागषाडवः ॥ षाड्व से कोई यमानी षाड्व लेते हैं।

वि० मन्तव्य—राग एवं खाड्व या षाडव—विविध प्रकार के खटमिठे एवं चटपटे-चटनी, अचार मुरब्बा आदि पदार्थ ॥१२॥

आस्थापनं विधिवदत्र विरेचनं च
कुर्यान्मृदूनि शिरसश्च विरेचनानि।

इस अरोचक में विधिपूर्वक निरूह देवे। मृदुविरेचन, शिरोविरेचन (मृदु) देवे।

त्रीण्यूषणानि रजनीत्रिफलायुतानि
चूर्णीकृतानि यवशूकविमिश्रितानि ॥१३॥
क्षौद्रायुतानि वितरेन्मुखबोधनार्थे-
मन्यानि तिक्तकटुकानि च भेषजानि।

त्रिकटु, हल्दी, त्रिफला, इनका चूर्ण करके, यवक्षार मिलाकर मधु के साथ मुख में रसोत्पत्ति के लिये अवलेह रूप में चटाये।

वि० मन्तव्य—मुखबोधनार्थ—रसनेन्द्रिय को जगाने के लिये। जिससे रस का भलीभांति ग्रहण हो-अनुभव हो ॥१३॥

मुस्तादिराजतरुवर्गदशाङ्गसिद्धैः
क्वाथैर्जयेन्मधुयुतैर्विविधैश्च लेहैः ॥१४॥
मूत्रासवैर्गुडकृतैश्च तथा त्वरिष्टैः
क्षारासवैश्च मधुमाधवतुल्यगन्धैः।

मुस्तादिगण, आरग्वधादिगण, दशमूल इनके क्वाथ में तिक्त-कटु द्रव्यों से बनाये लेह मधु के साथ खाये। मूत्र से बनाये आसव, गुड़ से बनाये अरिष्ट, पलाशक्षार पानी के साथ बनाये क्षारासव, मधु (मद्यभेद), माधव (मधुकृतमद्य) इनके समान गन्धवाले मद्य पीये ॥१४॥

स्यादेष एव कफवातहते विधिश्च
शान्ति गते हुतभुजि प्रशमायतस्य ॥१५॥

कफ वात के कारण अग्निमान्द्य होने पर उनकी शान्ति के लिये यह विधि बरते ॥१५॥

इच्छाभिघातभयशोकहतेऽन्तरग्नौ
भावान् भवाय वितरेत् खलु शाक्यरूपात्।
अर्थेषु चाप्यपचितेषु पुनर्भवाय
पौराणिकैः श्रुतिशतैरनुमानयेत्तम् ॥१६॥
दैन्यं गते मनसि बोधनमत्र शस्तं
यद्यत् प्रियं तदुपसेव्यमरोचके तु ॥१७॥

वांछित वस्तु की अप्राप्ति से, भय से, शोक से अन्तरग्नि-जठराग्नि के नष्ट हो जाने पर प्राप्य पदार्थों को रुचि उत्पन्न करने के लिये रोगी को देवे। अप्राप्त विषयों के फिर से प्राप्त होने के लिये पुरातन सैकड़ों कथायें (राम, नल, युधिष्ठिर-आदि की) सुनाकर उसे समझाये। मन में दीनता (न्युरेंसथेनिया) हो जाने पर-आश्वासन देना उत्तम है। अरोचक में जो जो प्रिय हो, वह-वह सेवन करना चाहिये ॥१६,१७॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रेऽरोचकप्रतिषेधो नाम (एकोनविंशोऽध्यायः, आदितः) सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः मूत्राघातप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूत्राघातप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—मूत्राघातों में मूत्र को बढ़ानेवाले शुद्ध करनेवाले, प्रवृत्त करनेवाले आहार, विहार तथा औषध का प्रयोग किया जाता है। श्लो० २७ में कहे उपचारों के साथ २ वस्ति प्रदेश तथा समस्त उदर पर शीतल अथवा उष्ण जल का सेचन, राई एवं सौंफ आदि का लेप एवं शीतल जल में अवगाह आदि का प्रयोग भी किया जाय ॥१,२॥

वातकुण्डलिकाऽष्ठीला वातबस्तिस्तथैव च।
मूत्रातीतः सजठरो मूत्रोत्सङ्गः क्षयस्तथा ॥३॥
मूत्रग्रन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातस्तथैव च।
मूत्रौकसादौ द्वौ चापि रोगा द्वादश कीर्तिताः ॥४॥

वातकुण्डलिका, अष्ठीला, वातवस्ति, मूत्रातीत, मूत्रजठर, मूत्रोत्संग, मूत्रक्षय, मूत्रग्रन्थि, मूत्रशुक्र, उष्णवात, मूत्रौकसाद (दो) इस प्रकार से बारह प्रकार के मूत्राघात कहे हैं।

वक्तव्य—चरक में वाताष्ठीला माना है। अष्ठीला का अर्थ प्रोस्टेट ग्रन्थि से है। अष्ठीला के लिये पत्थर या लोहारों की नेह का जो अर्थ किया है, वह इसकी कठोरता का द्योतक है। यह ग्रन्थि भी बढ़कर कठोर होती है। प्रोस्टेट ग्रन्थि से उत्पन्न मूत्राघात में प्रायः यह होता है कि रोगी का मन जब इधर मूत्र प्रवाहण में लगा रहता है, तभी मूत्र रुकता है, मन अन्यत्र लगा हो तो मूत्र आता रहता है। सम्भवतः इसीलिये इसे वाताष्ठीला नाम दिया हो। चरक में बस्तिकुण्डल नामक एक अन्य मूत्राघात माना है, इसको मानकर तेरह मूत्राघात माने हैं। यह रोग असाध्य है, यथा—द्रुताध्वलंघनायासादभिघातात्प्रपीडनात्। स्वस्थानाद् वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ चरक सि० अ० ६। ४४–४६ ॥३,४॥

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुरन्तरमाश्रितः।
मूत्रं चरति संगृह्य विगुणः कुण्डलीकृतः ॥५॥
सृजेदल्पाल्पमथवा सरुजस्कं शनैः शनैः।
वातकुण्डलिकां तं तु व्याधिं विद्यात् सुदारुणम् ॥६॥

वातकुण्डलिका—रूक्षता से या मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने के कारण बस्ति में आश्रित वायु मूत्र को साथ में लेकर (रोककर), वर्त्तुलाकार बनकर, विरुद्ध गति होकर गति करती है। इससे मूत्र थोड़ा-थोड़ा वेदना के साथ, धीरे-धीरे प्रवृत्त होता है। इस अवस्था को वातकुण्डलिका कहते हैं, यह अतिदारुण है।

गतिसंगाद् उदावृत्तः समूत्रस्थानमार्गयोः। मूत्रस्य विगुणो वायुः भग्नव्याविद्धकुण्डली ॥ मूत्रं विहन्ति संस्तम्भमङ्गगौरववेष्टनैः। तीव्ररुक् मूत्रविट्संगैः वातकुण्डलिकेति सा ॥ चरक सि० अ० ६ ॥५,६॥

शकृन्मार्गस्य बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः।
अष्ठीलावद्घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम् ॥७॥
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च तत्राध्मानं च जायते।
वेदना च परा बस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः ॥८॥

गुद और मूत्राशय के मध्य में स्थित अपान वायु अष्ठीला के समान कठोर ग्रन्थि को उत्पन्न करती है। यह ग्रन्थि स्थिर, ऊँची उठी होती है। इसके कारण मल-मूत्र वायु का अवरोध होता है, मूत्राशय में आध्मान होता है। बस्ति में तीव्र वेदना होती है, इसे वाताष्ठीला कहते हैं ॥७,८॥

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः ॥९॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः।
वातबस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥१०॥

जो मूर्ख व्यक्ति मूत्र के उपस्थित वेग को रोकता है, उसमें बस्तिगत अपान बस्ति के मुख को बन्द कर देता है, इससे मूत्र की रुकावट हो जाती है, वस्ति (मूत्राशय) और कुक्षि में वेदना होती है। इस रोग को वातवस्ति जानना, यह कष्टसाध्य है ॥९,१०॥

वेगं सन्धार्य मूत्रस्य यो भूयः स्रष्टुमिच्छति।
तस्य नाभ्येति यदि वा कथञ्चित्संप्रवर्तते ॥११॥
प्रवाहतो मन्दरुजमल्पमल्पं पुनः पुनः।
मूत्रातीतं तु तं विद्यान्मूत्रवेगविघातजम् ॥१२॥

मूत्र के प्रवृत्तोन्मुख वेग को रोककर जब फिर से मनुष्य प्रवृत्त करना चाहता है तब उसका मूत्र प्रवाहित नहीं होता, यदि किसी प्रकार होता भी है, तो मूत्र धीरे-धीरे, थोड़ा थोड़ा, वार बार (रुक-रुक कर) आता है। इसको मूत्रातीत कहते हैं, यह रोग मूत्र वेग के रोकने से उत्पन्न होता है ॥११,१२॥

मूत्रस्य विहते वेगे तदुदावर्तहेतुना।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥१३॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तं मूत्रजठरं विद्यादधःस्रोतोनिरोधनम् ॥१४॥

उदावर्त के कारण मूत्र के वेग के रुक जाने से कुपित हुआ अपान वायु उदर में अतिशय रूप से भर जाता है। इससे नाभि के नीचे तीव्र वेदना युक्त आध्मान होता है। इसको मूत्र जठर कहते हैं, इससे मूत्र और मलवाही स्रोत बन्द हो जाते हैं। (यह उदावर्त प्रायः वातजन्य होता है) ॥१३,१४॥

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥१५॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥१६॥

मूत्रप्रवाहण करते करते मूत्र वस्ति में या मूत्रनालमें अथवा मेहन की मणि (अग्रभाग) में सहसा बन्द हो जाये (रुक जाये) या प्रवाहण करते समय रक्त के साथ, धीरे, थोड़ा-थोड़ा, वेदना के साथ अथवा वेदना के बिना प्रवाहित हो, वह मूत्रोत्सङ्ग रोग है। यह रोग विमार्गगामि वायु (अपानवायु) के कारण उत्पन्न होता है। (इससे मेहन में भारीपन होता है) ॥१६॥

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसंक्षयम् ॥१७॥

रूक्ष एवं क्लान्त शरीरवाले पुरुष के वस्ति में स्थित पित्त और वायु कष्टदायक दाह, वेदना उत्पन्न करते हैं, इसको मूत्रसंक्षय कहते हैं।

वि० मन्तव्य—इसमें—मूत्र का निर्माण ही नहीं होता अथवा बहुत थोड़ा होता है, वातात् मूत्रे शुष्यति संक्षयः च० सि० अ० ९ अर्थात् वायु के कारण मूत्र सूखने पर मूत्रक्षय नामक रोग हो जाता है ॥१७॥

अभ्यन्तरे बस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च।
वेदनावानति सदा मूत्रमार्गनिरोधनः ॥१८॥
जायते सहसा यस्य ग्रन्थिरश्मरिलक्षणः।
स मूत्रग्रन्थिरित्येवमुच्यते वेदनादिभिः ॥१९

बस्तिद्वार के अन्दर, गोल, छोटी, स्थिर सदा वेदना युक्त, मूत्रमार्ग को रोकनेवाली, अश्मरी के लक्षणों से युक्त, ग्रन्थि जिस पुरुष में सहसा उत्पन्न हो जाती है, इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं, वेदना आदि से अश्मरी के लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—अश्मरी और मूत्रग्रन्थि में भेद—अश्मरी में रक्त का सम्बन्ध होता है। "रक्तं वातकफाद्दुष्टं बस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्॥ अश्मरीसमशूलं तं मूत्रग्रन्थिं प्रचक्षते॥"

चरक सि० अ० ९।४० ॥१८,१९॥

प्रत्युपस्थितमूत्रस्तु मैथुनं योऽभिनन्दति।
तस्य मूत्रयुतं रेतः सहसा संप्रवर्तते ॥२०॥
पुरस्ताद्वाऽपि मूत्रस्य पश्चाद्वाऽपि कदाचन।
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ॥२१॥

मूत्र वेग के उपस्थित होने पर जो पुरुष मैथुन करता है, उसमें वीर्य के साथ मूत्र सहसा प्रवृत्त होता है। यह वीर्य कभी मूत्र के पहले या कभी मूत्र के पीछे प्रवृत्त होता है। इसमें मूत्र का रंग राख मिश्रित पानी के समान होता है, इसको मूत्रशुक्र कहते हैं ॥२०,२१॥

व्यायामाध्वातपैः पित्तं बस्तिं प्राप्यानिलावृतम्।
बस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहन् स्रावयेदधः ॥२२॥
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा।
कृच्छ्रात् प्रवर्तते जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ॥२३॥

व्यायाम, मुसाफरी, धूप आदि से वायु द्वारा आवृत पित्त वस्ति में पहुँच कर वस्ति, मेहन गुद को जलाता हुआ मूत्र को नीचे की ओर प्रवृत्त करता है। इसमें मूत्र का रंग हल्दी के समान या रक्त मिश्रित या केवल रक्त ही आता कठिनाई से प्रवृत्त होता है, इसको उष्णवात कहते हैं ॥२२,२३॥

विशदं पीतकं मूत्रं सदाहं बहलं तथा।
शुष्कं भवति यच्चापि रोचनाचूर्णसन्निभम् ॥२४॥
मूत्रौकसादं तं विद्याद्रोगं पित्तकृतं बुधः।
पिच्छिलं संहतं श्वेतं तथा कृच्छ्रप्रवर्तनम् ॥२५॥
शुष्कं भवति यच्चापि शङ्खचूर्णप्रपाण्डुरम्।
मूत्रौकसादं तं विद्यादामयं द्वादशं कफात् ॥२६॥

जब मूत्र—विशद (पिच्छिल विपरीत), पीत वर्ण, दाहयुक्त, घट्ट होता है। इसका रंग सूखने पर गोरोचना के चूर्ण के समान होता है। इस रोग को मूत्रौकसाद कहते हैं, इस रोग को बुद्धिमान् पित्तजन्य कहते हैं। जब मूत्र पिच्छिल, घट्ट, श्वेत, क्लेश से प्रवृत्त होता है, तथा सूखने पर शंख के चूर्ण के समान श्वेत वर्ण होता है, इसको मूत्रौकसाद कहते हैं, यह कफ के कारण से होता है, ये बारह मूत्राघात कह दिये हैं॥

कषायकल्कसर्पींषि भक्ष्यान् लेहान् पयांसि च।
क्षारमद्या (ध्वा) सवस्वेदान् बस्तींश्चोत्तरसंज्ञितान् २७
विदध्यान्मतिमांस्तत्र विधिं चाश्मरिनाशनम्।

सामान्यचिकित्सा—कषाय, कल्क, घृत, भक्ष्य, लेह, दूध, क्षार, मद्य, आसव, स्वेद, उत्तरवस्ति और अश्मरि नाशक विधि बुद्धिमान् इनमें बरते ॥२७॥

मूत्रोदावर्तयोगांश्च कार्त्स्न्येनात्रप्रयोजयेद् ॥२८॥

मूत्रजन्य उदावर्त के योग (सौवर्चलाढ्यां मदिरां इत्यादि) भी मूत्राघातों में बरते ॥२८॥

कल्कमेर्वारुबीजानामक्षमात्रं ससैन्धवम्।
धान्याम्लयुक्तं पीत्वैव मूत्रकृच्छ्रात् प्रमुच्यते ॥२९॥

ककड़ी, खीरे आदि के बीजों का कल्क एक कर्ष, सैन्धव के साथ मिलाकर कांजी के साथ पीने पर मूत्रकृच्छ्र से मुक्त हो जाता है ॥२९॥

सुरां सौवर्चलवतीं मूत्रकृच्छ्री पिबेन्नरः।
मधु मांसोपदंशं वा पिबेद्वाऽप्यथ गौडिकम् ॥३०॥

मूत्रकृच्छ्र युक्त रोगी सौवर्चल युक्त सुरा को पीये। मांस भक्षण करके मधु मद्य या गुड़ का बना मद्य पीये ॥३०॥

पिबेत् कुङ्कुमकर्षं वा मधूदकसमायुतम्।
रात्रिपर्युषितं प्रातस्तथा सुखमवाप्नुयात् ॥३१॥

केसर को एक कर्ष मात्रा में मधु के शर्बत से पीये। इस शर्बत को रात में बनाकर रख दे, और प्रातः पीये ॥३१॥

दाडिमाम्लां युतां मुख्यामेलाजीरकनागरैः ।
पीत्वा सुरां सलवणां मूत्रकृच्छ्रात् प्रमुच्यते ॥३२॥

अनार का रस (या अनारदाना), इलायची, जीरा, सोंठ, थोड़ा सा नमक, पिष्टि से बनी सुरा में मिलाकर पीने पर मूत्र-कृच्छ्र से रोगी मुक्त हो जाता है ॥३२॥

पृथक्पर्ण्यादिवर्गस्य मूलं गोक्षुरकस्य च ।
अर्धप्रस्थेन तोयस्य पचेत् क्षीरचतुर्गुणम् ॥३३॥
क्षीरावशिष्टं तच्छीतं सिताक्षौद्रयुतं पिबेत् ।
नरो मारुतपित्तोत्थमत्राघातनिवारणम् ॥३४॥

विदारीगन्धादिवर्ग, गोखरू का मूल, इसके आधे प्रस्थ से, दूध से चार गुणे पानी में दूध का पाक करे। दूध मात्र शेष रहने पर, इसे शीतल करके इसमें शर्करा और मधु मिलाकर पीये। इससे वात पित्तजन्य मूत्राघात नष्ट होते हैं ॥३३,३४॥

निष्पीड्य वाससा सम्यग्वर्चो रासभवाजिनोः ।
रसस्य कुडवं तस्य पिबेन्मूत्ररुजापहम् ॥३५॥

गधे और घोड़े की लीद को कपड़े में से भली प्रकार निचोड़कर इस रस का एक कुड़व पीये। यह मूत्र वेदना को नष्ट करता है ॥३५॥

मुस्ताऽभयादेवदारुमूर्वाणां मधुकस्य च
पिबेदक्षसमं कल्कं मूत्रदोषनिवारणम् ॥३६॥

मुस्ता, हरड़, देवदारु, मूर्वा, मुलैहठी इनका कल्क, एक अक्षमात्रा में पीये। यह मूत्र दोष को नष्ट करता है ॥३६॥

अभयामलकाक्षाणां कल्कं बदरसंमितम् ।
अम्भसाऽलवणोपेतं पिबेन्मूत्ररुजापहम् ॥३७॥

हरड़, आंवला, बहेड़ा, प्रत्येक आधा कर्ष लेकर इसमें थोड़ा सा नमक मिलाकर जलसे पीये। मूत्र वेदनाको नष्ट करता है॥

उदुम्बरसमं कल्कं द्राक्षाया जलसंयुतम् ।
पिबेत् पर्युषितं रात्रौ शीतं मूत्ररुजापहम् ॥३८॥

द्राक्षा का कल्क एक कर्ष लेकर जल में भिगोकर रातभर पड़ा रहने देवे। प्रातःकाल इसको शीतल पीये—मूत्रवेदना को नष्ट करता है ॥३८॥

निदिग्धिकायाः स्वरसं पिबेत् कुडवसंमितम् ।
मूत्रदोषहरं कल्कमथवा क्षौद्रसंयुतम् ॥३९॥

कटेरी का स्वरस चार पल मात्रा में प्रातः पीये। यह मूत्र दोष नाशक है ॥३९॥

प्रपीड्यामलकानां तु रसं कुडवसंमितम् ।
पीत्वाऽगदी भवेज्जन्तुर्मूत्रदोषरुजातुरः ॥४०॥

अथवा आंवलों को निचोड़कर उनका स्वरस एक एक कुडव (चारपल) मात्रा में मधु के साथ पीये। इसके पीने से मूत्र दोष जन्य वेदना से पीड़ित मनुष्य स्वस्थ होता है ॥४०॥

धात्रीफलरसेनैवं सूक्ष्मैलां वा पिबेन्नरः ।

आंवले के फल के स्वरस से ही छोटी इलायची का चूर्ण मनुष्य पीये।

पिष्ट्वाऽथवा सुशीतेन शालितण्डुलवारिणा ॥४१॥
तालस्य तरुणं मूलं त्रपुसस्य रसं तथा ।
श्वेतं कर्कटकं चैव प्रातस्तु पयसा पिबेत् ॥४२॥

ताड़ के नूतन मूल को या खीरे के रस को शाली चावलों के शीतल जल से पीसकर पीये अथवा खीरे को दूध के साथ प्रातःकाल पीये ॥४१,४२॥

शृतं वा मधुरैः क्षीरं सर्पिर्मिश्रं पिबेन्नरः ।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं तथैवाश्मरिनाशनम् ॥४३॥

काकोल्यादि मधुर गण से सिद्ध किया दूध घी मिलाकर मनुष्य पीये। इससे मूत्र दोष एवं अश्मरी नष्ट होते हैं ॥४३॥

बलाश्वदंष्ट्राक्रौञ्चास्थिकोकिलाक्षकतण्डुलान् ।
शतपर्वकमूलं च देवदारु सचित्रकम् ॥४४॥
अक्षबीजं च सुरया कल्कीकृत्य पिबेन्नरः ।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं तथैवाश्मरिनाशनम् ॥४५॥

बला, गोखरु, कौंच की अस्थि, तालमखाना, चावल, शत-पर्वक मूल (जल गण्डीर दूब) देवदारु, चित्रक, बहेड़े की मज्जा इनको सुरा के साथ पीसकर (सुरा से) मनुष्य पीये। इससे मूत्र दोषों का शोधन होता है, और अश्मरी नष्ट होती है ।४४,४५।

पाटलाक्षारमाहृत्य सप्तकृत्वः परिस्रुतम् ।
पिबेन्मूत्रविकारघ्नं संसृष्टं तैलमात्रया ॥४६॥

पाटला के क्षार को जल में घोलकर नितारे, इस प्रकार सात बार करे। इसमें थोड़ा सा तैल मिलाकर पीये, यह मूत्र विकार को नष्ट करता है। (क्षार और जल का प्रमाण क्षार कल्प विधि से जानना। इसमें क्षार को चौगुने जलमें घोलकर छानना चाहिये) ॥४६॥

नलाश्मभेददर्भेक्षुत्रपुसैर्वारुबीजकान् ।
क्षीरे परिश्रुतान् तत्र पिबेत् सर्पिःसमायुतान् ॥४७॥

नड़सर, पाषाणभेद, दर्भ, ईख, खीरा, ककड़ी, एवं त्रिज-यसार इनको दूध में पकाकर घी मिलाकर पीये।

वक्तव्य—वृद्ध काश्यपीयसंहिता के वचन से खीरा ककड़ी के बीज लेने चाहिये। यह ठीक भी है, विजयसार (असन) मूत्रल नहीं है। यहाँ पर मूत्रल वस्तुओं का ग्रहण है ॥४७॥

पाटल्या यावशूकाच्च पारिभद्रात्तिलादपि ।
क्षारोदकेन मतिमान् त्वगेलोषणचूर्णकम् ॥४८॥
पिबेद्गुडेन मिश्रं वा लिह्याल्लेहान् पृथक् पृथक् ।

पाटला, यवक्षार, पारिभद्र (फरहद या बकायन), तिल इन के क्षारोदक से दालचीनी, इलायची पिप्पली इनका चूर्ण पीये। अथवा पाटला आदि प्रत्येक के पृथक् २ क्षारोदक में दालचीनी आदि का चूर्ण मिलाकर गुड़ के साथ लेह बनाकर खाये ।४८।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मूत्रदोषे क्रमं हितम् ॥४९॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां हितं तेषु विरेचनम् ।
ततः संशुद्धदेहानां हिताश्चोत्तरबस्तयः ॥५०॥

अब इसके आगे मूत्र दोष में चिकित्सा विधि को कहूँगा। स्वेदन देकर रोगी को विरेचन देवे। इससे शरीर का शोधन हो जाने पर उत्तर बस्तियाँ देनी चाहिये ॥४९,५०॥

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोणितं यस्य दृश्यते ।
मैथुनोपरमस्तस्य बृंहणश्च विधिः स्मृतः ॥५१॥

स्त्रियों के अतिसंग करने से जिस पुरुष में रक्त प्रवृत्ति हो, वह मैथुन से निवृत्त होकर बृंहण विधि (मांस-क्षीर आदि का सेवन) को करे।

वि० मन्तव्य—उत्तर बस्ति की विधि सु० चि० अ० ३७ श्लो० १०८-११३ में देखिये ॥५१॥

ताम्रचूडवसा तैलं हितं चोत्तरबस्तिषु ।
विधानं तस्य पूर्वं हि व्यासतः परिकीर्तितम् ॥५२॥

मुर्गे की वसा और तैल इनको उत्तरबस्ति में देना हितकारी है। उत्तरबस्ति की विधि विस्तार से पहले कह दी है ॥

क्षौद्रार्धपात्रं दत्त्वा च पात्रं तु क्षीरसर्पिषः ।
शर्करायाश्च चूर्णं च द्राक्षाचूर्णं च तत्समम् ॥५३॥
स्वयङ्गुप्ताफलं चैव तथैवेक्षुरकस्य च ।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तमर्धभागं प्रकल्पयेत् ॥५४॥
तदैकध्यं समानीय खजेनाभिप्रमन्थयेत् ।
ततः पाणितलं चूर्णं लीढ्वा क्षीरं ततः पिबेत् ॥५५॥
एतत् सर्पिः प्रयुञ्जानः शुद्धदेहो नरः सदा ।
मूत्रदोषाञ्जयेत् सर्वानन्ययोगैः सुदुर्जयान् ॥५६॥
जयेच्छोणितदोषांश्च वन्ध्या गर्भं लभेत च ।
नारी चैतत् प्रयुञ्जाना योनिदोषात् प्रमुच्यते ॥५७॥

मधु आधा आढ़क, दूध को मथकर निकाला घी एक आढ़क, शर्करा का चूर्ण, द्राक्षा चूर्ण प्रत्येक एक आढ़क, कौंच का, तालमखाने का, पिप्पली का चूर्ण प्रत्येक आधा भाग (आधा आढ़क) मिलाये। इन सबको एक करके मन्थन दण्ड से मथे। इसमें एक कर्ष (या हथेली में आनेवाली) मात्रा चाट कर ऊपर से दूध पीये। वमनादि से शुद्ध शरीर होकर इस घृत का सेवन सदा करने से, मूत्रदोष जन्य सब रोगों को, जो कि दूसरे योगों से शान्त नहीं हो सकते, वे सब शान्त होते हैं। रक्तजन्य दोष भी शान्त हो जाते हैं। वन्ध्या स्त्री गर्भ धारण करती है। इस घी के सेवन में स्त्री योनि दोषों से मुक्त हो जाती है ॥५३-५७॥

बला कोलास्थि मधुकं श्वदंष्ट्राऽथ शतावरी ।
मृणालं च कशेरुश्च बीजानीक्षुरकस्य च ॥५८॥
सहस्रवीर्याऽंशुमती पयस्या सह काल्या ।
शृगालविन्नाऽतिबला बृंहणीयो गणस्तथा ॥५९॥
एतानि समभागानि मतिमान् सह साधयेत् ।
चतुर्गुणेन पयसा गुडस्य तुलया सह ॥६०॥
द्रोणावशिष्टं तत् पूतं पचेत्तेन घृताढकम् ।
तत् सिद्धं कलशे स्थाप्यं क्षौद्रप्रस्थेन संयुतम् ॥६१॥
सर्पिरेतत् प्रयुञ्जानो मूत्रदोषात् प्रमुच्यते ।
तुगाक्षीर्याश्च चूर्णानि शर्करायास्तथैव च ॥६२॥
क्षौद्रेण तुल्यान्यालोड्य शस्तेऽहनि लेहयेत् ।
तस्य खादेद्यथाशक्ति मात्रां क्षीरं ततः पिबेत् ॥६३॥
शुक्रदोषाञ्जयेन्मर्त्यः प्राश्य सम्यक् सुयन्त्रितः ।
व्यवायक्षीणरेतास्तु सद्यः संलभते सुखम् ॥६४॥
ओजस्वी बलवान्मर्त्यः पिबन्नेव च हृष्यति ।

बलाघृत—बला, बेर की मज्जा, मुलैहठी, गोखरू, शतावरी कमलनाल, कशेरू, तालमखाने बीज, दूर्वा, शालपर्णी, विदारी, कालानुसारिवा, पृश्निपर्णी, अतिबला, काकोल्यादिगण (गिलोय को छोड़कर), इनको परस्पर समान भाग लेकर चार गुणे जल में, एक तुला (एक सौ पल) गुड़ के साथ पकाये। द्रोण परिमाण (चार आढ़क) शेष रहने पर उतार कर, इससे एक आढ़क घृत सिद्ध करे। इस घृत के सेवन से मनुष्य मूत्र दोषों से मुक्त हो जाता है। (डल्हण ने पय का अर्थ दूध किया है। परन्तु पानी के बिना औषधियों का रस नहीं आता)। वंशलोचन का चूर्ण, शर्करा का चूर्ण इनको समान भाग लेकर सबके बराबर मधु मिलाकर प्रशस्त दिन में चाटना प्रारम्भ करे। इसमें से यथाशक्ति मात्रा खाकर पीछे से दूध पीये। जितेन्द्रिय बनकर इसके खाने से मनुष्य शुक्रदोषों से मुक्त हो जाता है। मैथुन से क्षीण मनुष्य शीघ्र ही आरोग्य लाभ करता है। ओजस्वी बलवान् मनुष्य इसके पीने से ही उत्तेजित हो जाता है ॥५८-६४॥

चित्रकः सारिवा चैव बला कालानुसारिवा ॥६५॥
द्राक्षा विशाला पिप्पल्यस्तथा चित्रफला भवेत् ।
तथैव मधुकं पथ्यां दद्यादामलकानि च ॥६६॥
घृताढकं पचेदेभिः कल्कैः कर्षसमन्वितैः ।
क्षीरद्रोणे जलद्रोणे तत्सिद्धमवतारयेत् ॥६७॥
शीतं परिस्रुतं चैव शर्कराप्रस्थसंयुतम् ।
तुगाक्षीर्याश्च तत् सर्वं मतिमान् परिमिश्रयेत् ॥६८॥
ततो मितं पिबेत्काले यथादोषं यथाबलम् ।
वातरेताः श्लेष्मरेताः पित्तरेतास्तु यो भवेत् ॥६९॥
रक्तरेता ग्रन्थिरेताः पिबेदिच्छन्नरोगताम् ।
जीवनीयं च वृष्यं च सर्पिरेतद्बलावहम् ॥७०॥
प्रज्ञाहितं च धन्यं च सर्वरोगापहं शिवम् ।
सर्पिरेतत् प्रयुञ्जाना स्त्री गर्भं लभतेऽचिरात् ॥७१॥
असृग्दोषाञ्जयेच्चापि योनिदोषांश्च संहतान् ।
मूत्रदोषेषु सर्वेषु कुर्यादेतच्चिकित्सितम् ॥७२॥

महाबलाघृत—चित्रक, सारिवा, बला, कालानुसारिवा, द्राक्षा, इन्द्रायण, पिप्पली, एरण्ड, मुलैहठी, हरड़, आंवला प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनके कल्क से, एक द्रोण जल, एक द्रोण में घी का एक आढ़क सिद्ध करे। छानकर शीतल होने पर इसमें शर्करा एक प्रस्थ, वंशलोचन एक प्रस्थ, भली प्रकार मिलाये। इसमें से परिमित मात्रा को, यथासमय, दोष और बल के अनुसार पीये। वात से, पित्त से, कफ से दूषित शुक्रवाला, रक्त से दूषित, ग्रन्थि रेतवाला जो स्वास्थ्य-आरोग्य चाहे, वह पीये। यह घृत जीवनीय, बृंहण, बलवर्धक है। बुद्धि के लिये हितकारी, धन्य, सर्वरोगनाशक, कल्याणकारी है। इस घृत के सेवन से स्त्री को पुत्र प्राप्ति शीघ्र ही होती है। असज्जन्य दोषों को तथा सम्पूर्ण दोषों को यह घृत नष्ट करता है सम्पूर्ण मूत्र दोषों में यह चिकित्सा करे ॥६५-७२॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मूत्राघातप्रतिषेधो नाम (विंशोऽध्यायः, आदितः) अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

ऊनषष्टितमोऽध्यायः

अथातो मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे–जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

वातेन पित्तेन कफेन सर्वै-
स्तथाऽभिघातैः शकृदश्मरीभ्याम्।
तथापरः शर्करया सुकष्टो
मूत्रोपघातः कथितोऽष्टमस्तु ॥३॥

मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार के हैं, यथा—वायु से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, अभिघात से, शकृत् के कारण, अश्मरी से और शर्करा से मूत्रकृच्छ्र (दुःख से मूत्र प्रवृत्ति) होती है।

वक्तव्य—मूत्राघात में मूत्र का अवरोध रुकावट रहती है। मूत्रकृच्छ्र में मूत्र प्रवृत्त होता है, परन्तु कठिनाई से प्रवृत्त होता है ॥३॥

अल्पमल्पं समुत्पीड्य मुष्कमेहनबस्तिभिः।
फलद्भिरिव कृच्छ्रेण वाताघातेन मेहति ॥४॥

वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में वायु, मुष्क, मेहन, वस्ति (मूत्राशय) को पीड़ित करके कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा मूत्र त्याग करता है, यह वेदना फटने के समान होती है। मुष्क वस्ति मेहन में फटने के समान वेदना रहती है ॥४॥

हारिद्रमुष्णं रक्तं वा मुष्कमेहनबस्तिभिः।
अग्निना दह्यमानाभैः पित्ताघातेन मेहति ॥५॥

पित्ताजन्यमूत्रकृच्छ्र में मुष्क-मेहन वस्ति में अग्नि से जलते हुए के समान, हल्दी की भाँति पीला, उष्ण, या लाल मूत्र आता है।

वि० मन्तव्य—पित्ताजमूत्रकृच्छ्र से रोगी–हल्दी के समान पीला, उष्ण अथवा लाल मूत्र त्यागता है, और अण्डकोश, शिश्न (मूत्र मार्ग) तथा मूत्राशय अग्नि से जलते हुए प्रतीत होते हैं॥

स्निग्धं शुक्लमनुष्णं च मुष्कमेहनबस्तिभिः।
संहृष्टरोमा गुरुभिः श्लेष्माघातेन मेहति ॥६॥

कफजन्यमूत्रकृच्छ्र में रोमांच होता है, मुष्क, मेहन और वस्ति में भारीपन होता है। मूत्र, चिकना, श्वेत और ईषद् उष्ण त्याग करता है ॥६॥

दाहशीतरुजाविष्टो नानावर्णं मुहुर्मुहुः।
ताम्यमानस्तु कृच्छ्रेण सन्निपातेन मेहति ॥७॥

सन्निपात से रोगी दाह, शीत, वेदना से पीड़ित, नाना रंग का (पीत, रक्त, श्वेत वर्ण), बार-बार तम अन्धकार में प्रविष्ट होता हुआ अतिकष्ट से मूत्र त्याग करता है ॥७॥

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु च।
स्रोतःसु मूत्राघातस्तु जायते भृशवेदनः ॥८॥
वातबस्तेस्तु तुल्यानि तस्य लिङ्गानि लक्षयेत्।
शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥९॥
आध्मान स सशूलं च मूत्रभङ्गं करो त हि।

मूत्रबाहि स्रोतों में शल्य से क्षत हो जाने पर या चोट लग जाने पर अतिशय वेदनावाला मूत्राघात उत्पन्न होता है। इसमें वात वस्ति के समान लक्षण होते हैं। मल के अवरोध से वायु विपरीतगामि होकर आध्मान, शूल और मूत्र संग उत्पन्न करता है ॥८,९॥

अश्मरीहेतुकः पूर्वं मूत्राघात उदाहृतः ॥१०॥

अश्मरीजन्य मूत्राघात प्रथम निदान स्थान अ० ३ में कह दिया है ॥१०॥

अश्मरी शर्करा चैव तुल्ये संभवलक्षणैः।
शर्कराया विशेषं तु शृणु कीर्तयतो मम ॥११॥
पच्यमानस्य पित्तेन भिद्यमानस्य वायुना।
श्लेष्मणोऽवयवा भिन्नाः शर्करा इति संज्ञिताः ॥१२॥
हृत्पीडा वेपथुः शूल कुक्षौ वह्निः सुदुर्बलः।
आभिर्भवति मूर्च्छा च मूत्राघातश्च दारुणः ॥१३॥
मूत्रवेगनिरस्तासु तासु शाम्यति वेदना।
यावदन्या पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥१४॥
शर्करासंभवस्यैतन्मूत्राघातस्य लक्षणम्।

अश्मरी और शर्करा के कारण और लक्षण समान हैं। शर्करा के विशेष लक्षण मुझ से सुनो, कफ का पित्त से परिपाक होने के समय वायु से टुकड़े-टुकड़े होने पर कफ के छोटे-छोटे टुकड़े शर्करा नाम से कहे जाते हैं। इनसे हृदय में पीड़ा, कम्पन, कुक्षि में शूल, वह्नि में दुर्बलता, मूर्च्छा, और भयानक मूत्राघात होता है। मूत्र वेग में शर्करा निकल जाने से वेदना शान्त हो जाती है। यह वेदना शान्ति

तबतक रहती है, जबतक कि दूसरी शर्करा गुटिका के रूप में स्रोत—मूत्र स्रोत के मुख में नहीं फँस जाती। शर्कराजन्य मूत्राघात के ये लक्षण हैं ॥११-१४॥

चिकित्सितमथैतेषामष्टानामपि वक्ष्यते ॥१५॥

इसके आगे आठों मूत्राघातों की चिकित्सा कही जायेगी॥

अश्मरीं च समाश्रित्य यदुक्तं प्रसमीक्ष्य तत्।
यथादोषं प्रयुञ्जीत स्नेहादिमपि च क्रमम् ॥१६॥

अश्मरी चिकित्सा में वातादि भेद से जो चिकित्सा कही है, उसी चिकित्सा को दोष के अनुसार करे—स्नेहादि विधि भी करे ॥१६॥

श्वदंष्ट्राश्मभिदौ कुम्भीं हपुषां कण्टकारिकाम्।
बलां शतावरीं रास्नां वरुणं गिरिकर्णिकाम् ॥१७॥
तथा विदारिगन्धादिं संहृत्य त्रैवृतं पचेत्।
तैलं घृतं वा तत् पेयं तेन वाऽप्यनुवासनम् ॥१८॥
दद्यादुत्तरबस्तिं च वातकृच्छ्रोपशान्तये।

गोखरु, पाषाणभेद, कुम्भी (जलकुम्भी), हाऊवेर, कटेरी, बला, शतावरी, रास्ना, वरुण, गिरिकर्णिका (अपराजिता कोयल), और विदारिगन्धादिगण, इन सबको एकत्रित करके इनसे त्रैवृत तैल या त्रैवृत घृत (वसा, मज्जा घृत के साथ तैल या वसा मज्जा तैल के साथ घी) बनाये। इनको पीये, अनुवासन बस्ति देवे, और उत्तर वस्ति देवे—इससे वातजन्य मूत्रकृच्छ्र शान्त होता है ॥१७,१८॥

श्वदंष्ट्रास्वरसे तैलं सगुडक्षीरनागरम् ॥१९॥
पक्त्वा तत् पूर्ववद्योज्यं तत्रानिलरुजापहम्।

गोखरू के स्वरस में गुड़, दूध, सोंठ के साथ तैल सिद्ध करे। इस तैल को पान अनुवासन और उत्तरवस्ति में बरते। यह वातजन्य वेदना को शान्त करता है ॥१९॥

तृणोत्पलादिकाकोलीन्यग्रोधादिगणैः कृ (शृ) तम् २०
पीतं घृतं पित्तकृच्छ्रं नाशयेत् क्षीरमेव वा।

तृणोत्पलादि, काकोल्यादि, न्यग्रोधादि गण से सिद्ध किया घृत या दूध पित्तजन्यमूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है ॥२०॥

दद्यादुत्तरबस्तिं च पित्तकृच्छ्रोपशान्तये ॥२१॥

इसी से - पित्तजन्यकृच्छ्र की शान्ति के लिये उत्तर वस्ति देवे ॥२१॥

एभिरेव कृतः स्नेहस्त्रिविधेष्वपि बस्तिषु।
हितं विरेचनं चेक्षुक्षीरद्राक्षारसैर्युतम् ॥२२॥

तृणोत्पलादि (पञ्चतृण आदि) से सिद्ध किया स्नेहनिरूह अनुवासन, उत्तर वस्ति तीनों में उत्तम है। इक्षु, दूध, द्राक्षारस से युक्त विरेचन देना उत्तम है ॥२२॥

सुरसोषकमुस्तादौ वरुणादौ च यत् कृतम्।
तैलं तथा यवाग्वादि कफाघाते प्रशस्यते ॥२३॥

कफजन्यमूत्रकृच्छ्र में—सुरसादि, ऊषकादि मुस्तादिगण में तथा वरुणादिगण मे सिद्ध किया तैल एवं सुरसादि, ऊषकादिगण, वरुणादि गण, मुस्तादिगण से सिद्ध की यवागू—लप्सी आदि देवे ॥२३॥

यथादोषोच्छ्रयं कुर्यादेतानेव च सर्वजे।

सान्निपातिक मूत्रकृच्छ्र में जिस दोष की अधिकता दिखाई देवे, उस दोष नाशक चिकित्सा करे।

फल्गुवृश्चीरदर्भाश्मसारचूर्णं च वारिणा ॥२४॥
सुरेक्षुरसदर्भाम्बुपीतं कृच्छ्रं रुजापहम्।

कठगूलर, पुनर्नवा, दर्भ, शिलाजतु इनका चूर्ण, पानी, सुरा, इक्षुरस, दाभ के पानी से (दोष के अनुसार) पीने से मूत्रकृच्छ्र की वेदना को नष्ट करता है। (प्रसंग से सन्निपातजन्य कृच्छ्र को) ॥२४॥

तथाऽभिघातजे कुर्यात् सद्योव्रणचिकित्सितम् ॥२५॥

अभिघातजन्यमूत्रकृच्छ्र में सद्योव्रण चिकित्सा करे ॥२५॥

मूत्रकृच्छ्रे शकृज्जाते कार्या वातहरी क्रिया।
स्वेदावगाहावभ्यङ्गबस्तिचूर्णक्रियास्तथा ॥२६॥

शकृत्जन्य मूत्रकृच्छ्र में वातनाशक चिकित्सा करे। स्वेद, अवगाहन, अभ्यंग, वस्ति, चूर्ण क्रिया विधि करे ॥२६॥

ये त्वन्ये तु तथा कृच्छ्रे तयोः प्रोक्तः क्रियाविधिः ॥२७॥

अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य शेष दो जो मूत्रकृच्छ्र हैं, उनमें अश्मरी, शर्करा चिकित्सा की विधि बरतनी चाहिये ॥१७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधो नाम (एकविंशतितमोऽध्यायः, आदितः) एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

अथातोऽमानुषोपसर्गप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे अमानुषोपसर्गप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥

वि० मन्तव्य—यहाँ भूतविद्या—जो आयुर्वेद का एक अङ्ग है, का वर्णन किया गया है ॥१,२॥

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।
इति यत् प्रागभिहितं विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥३॥

क्षत रोगी की नित्य प्रति निशाचरों से रक्षा करनी चाहिये, यह जो पहिले कहा है, उसको विस्तार से कहेंगे।

वक्तव्य—कुछ आधुनिकों का कहना है कि—निशाचर, राक्षस, कृमि, जर्म्स, वैसिलाई, कोकाई, ये सब समानार्थवाची हैं। चूंकि दोनों रात को आक्रमण करते हैं, और मांस को खाते

हैं। इनके गुण धर्म समान हैं, इसलिये इनको राक्षस कहते हैं, परन्तु ॥३॥

गुह्यानागतविज्ञानमनवस्थाऽसहिष्णुता।
क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥४॥

सामान्यलक्षण—गुप्तवस्तु का, भावी का (भविष्य का) ज्ञान, अनवस्थिति (अस्थिरता), असहिष्णुता मनुष्यों से अधिक क्रिया (वर देना आदि, या कूदने फाँदने की क्रिया), जिस रोगी में होती है उसे ग्रह से आक्रान्त जाने।

अमर्त्यबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणज्ञानविज्ञानवचनविज्ञानानि......चरक। वि० अ० ७।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार ग्रह अर्थात् भूत से आक्रान्त मानव में गुह्याऽनागत विज्ञान आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं, जो अमानुष—अमानवीय होते हैं। इन उन्मादों के निदान, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति एवं उपशय दोषजनित उन्मादों से विलक्षण होते हैं ॥४॥

अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्।
हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥५॥

अपवित्र, मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाले, व्रणवाले, अथवा व्रण रहित मानव को मारने की इच्छा से अथवा विहार रति के लिये अथवा सत्कार (पूजा) प्राप्त करने के लिये हिंसा करते हैं।

"त्रिविधं तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति। तद्यथा-हिंसा, रतिः, अभ्यर्चनं चेति॥" चरक ॥५॥

असङ्ख्येया ग्रहगणा ग्रहाधिपतयस्तु ये।
व्यज्यन्ते विविधाकारा भिद्यन्ते ते तथाऽष्टधा ॥६॥

देव-दैत्य राक्षस आदि जो असंख्य ग्रह समूह हैं, वे भिन्न भिन्न प्रकार के लक्षणोंवाले होने से आठ प्रकार के हैं ॥६॥

देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषां
गन्धर्वयक्षाः पितरो भुजङ्गाः।
रक्षांसि या चापि पिशाचजाति-
रेषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः ॥७॥

देवता (दीव्यन्तीति-देवाः), देवताओं के शत्रुगण (दैत्य), गन्धर्व, यक्ष, पितर, भुजंग (सांप), राक्षस, और पिशाच (मांस खानेवाले) यह आठ देवगण हैं।

वक्तव्य—चरक में गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि भी इसका कारण कहे हैं। उन्होंने दैत्य और भुजंग को नहीं गिना ॥७॥

संतुष्टः शुचिरपि चेष्टगन्धमाल्यो
निस्तन्द्री ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥८॥

देवग्रह से युक्त मनुष्य—संतोषी, पवित्र गन्ध माला की चाह रखनेवाला, आलस्य रहित निरन्तर संस्कृत बोलता (शुद्ध धाराप्रवाह भाषा) है, तेजस्वी, पलकें नहीं गिरतीं (जैसा दमयन्ती के स्वयंवर में देवताओं में पलक नहीं झपकती थी), सबको वर देनेवाला, ब्रह्मण्य (ब्राह्मण के आचार-विचारवाला) मनुष्य देवग्रह से युक्त रहता है ॥८॥

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता
दिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
सन्तुष्टो भवति न चान्नपानजातै-
र्दुष्टात्मा भवति च देवशत्रुजुष्टः ॥९॥

प्रस्वेद युक्त, ब्राह्मण गुरु देवता के दोषों को कहनेवाला, टेढ़ी आँखों का, भयशून्य, कुमार्ग में दृष्टिवाला, खान पान समूह से भी सन्तुष्ट नहीं होता, दूषित आत्मावाला मनुष्य देवशत्रु (दैत्य) से आक्रान्त रहता है ॥९॥

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी-
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
नृत्यन् वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥१०॥

प्रसन्नचित्त, पुलिन (द्वीप) तथा वन के बीच में रमण करनेवाला, शोभन आचार का, गीत-गन्ध माला में रुचिवाला, नाचते हुए-हँसकर सुन्दर और थोड़ा बोलनेवाला मनुष्य गन्धर्वग्रह गण से पीड़ित रहता है ॥१०॥

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतमतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपीडितो मनुष्यः ॥११॥

लालनेत्रों का, कमनीय पतले लाल वस्त्र को पहनने का आदी, गम्भीर, चंचल बुद्धि, थोड़ा बोलनेवाला, सहनशील, तेजस्वी, 'किसको क्या दें' ऐसा कहनेवाला मनुष्य यक्षग्रह से पीड़ित रहता है ॥११॥

प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः ॥१२॥

कुशा को बिछाकर भूतों के लिये जौ-तिल आदि पिण्ड देता है, शान्तस्वभाव, दक्षिण की ओर वस्त्र करके, पितरों को जल भी देता है। मांस, तिल, गुड़, खीर की चाह रखता है, इनको खाता है, ऐसा मनुष्य पितृग्रह से आक्रान्त रहता है॥

भूमौ यः प्रसरति सर्पवत् कदाचित्
सृक्किण्यौ विलिखति जिह्वया तथैव।
निद्रालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्विज्ञेयो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥१३॥

जो मनुष्य छाती से सांप की भांति कभी भूमि पर रेंगता है, कभी ओठों को जीभ से चाटता है, सोनेवाला, गुड़, मधु,

दूध, खीर की चाहवाला मनुष्य सांप से आक्रान्त जानना चाहिये ॥१३॥

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विड् भवति च रक्षसा गृहीतः ॥१४॥

मांस, रक्त, नानाप्रकार की सुरा इसकी बनावट की चाहवाला लज्जारहित, अतिक्रूर, अतिशूर, क्रोधी, अतिशय बलवान् रात में घूमनेवाला, पवित्रता से द्वेष करनेवाला मनुष्य राक्षस से आक्रान्त होता है ॥१४॥

उद्धस्तः कृशपरुषश्चिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः ।
बह्वाशी विजनहिमाम्बुरात्रिसेवी
व्याविग्नो भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥१५॥

हाथों को ऊपर उठाये, कृश, कठोर बोलनेवाला, दुर्गन्धयुक्त, अतिशय, अपवित्र, अति लालची, बहुत खानेवाला, एकान्तस्थान-शीतल जल का सेवन करनेवाला, रात में घूमनेवाला, उद्विग्न, एवं रोता हुआ जो मनुष्य घूमता है, वह पिशाच से आक्रान्त रहता है ॥१५॥

स्थूलाक्षस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति ।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः सन्
संसृष्टो न भवति वार्धकेन जुष्टः ॥१६॥

असाध्यलक्षण—जिसकी आँखें मोटी मोटी (सूजी) हों, शीघ्रगति, मुख से निकली अपनी फेन को चाटनेवाला, निद्राशील, बहुत ही गिरता एवं कांपता रहता है, पहाड़ से, हाथी, वृक्ष आदि के गिरने के कारण जो ग्रहसे आक्रान्त होता है, तथा, वार्धक (हिंसा प्रवृत्ति) से जो आक्रान्त रहता है, वह मनुष्य नहीं बचता-यह असाध्य है ॥१६॥

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥१७॥
कृष्णक्षये च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः ।
रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च ॥१८॥

देवग्रह पूर्णमासी के दिन, असुरग्रह सन्ध्याकालों में, गन्धर्व प्रायः करके अष्टमी में, यक्ष प्रतिपदा के दिन, पितर अमावस्या में, सर्प पञ्चमी में, राक्षस रात्रि में, और पैशाच चौदह तथा अमावस के दिन भी आविष्ट होते हैं।

उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां गुरुवृद्धसिद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषाः भवन्ति, तद्यथा—पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य कर्मणः परिणामकाले,..............सन्ध्यावेलायां, अप्रयतभावे वा, पर्वसन्धिषु वा, मिथुनीभावे, रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाऽध्ययनबलिमंगलहोमप्रयोगे, नियमव्रतब्रह्मचर्यभङ्गे वा, महाहवे वा, देशकालपुरविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रिया वा प्रजननकाले, विविधभूताशुभाशुचिस्पर्शने वा, वमनविरेचनरुधिरस्रावे अशुचेरप्रयतस्य वा, चैत्यदेवायतनाभिगमने वा, मांसमधुतिलगुडमद्योच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा, निशिनगरनिगमचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनाभिगमने वा द्विजगुरुसुरयतिपूज्याभिधर्षणे वा, धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य वा कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे, इत्यभिघातकाला व्याख्याता भवन्ति ॥ चरक नि० अ० ७·१७।

"तत्र शौचाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्ल प्रतिपदि त्रयोदश्यां च छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्ताऽसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां ऋषयः........इत्यपरिसङ्ख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥"

चरक चि० अ० ६।२८ ॥१७,१८॥

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।
स्वमणिं भास्करस्योस्रा यथा देहं च देहधृक् ॥
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणम् ॥१९॥

जिस प्रकार छाया आयना (दर्पण) आदि में प्रविष्ट होती नहीं दीखती, प्राणियों में सरदी-गरमी जाती है, सूर्यकान्त में जैसे सूर्य की किरणें जाती हैं, और जैसे शरीर में आत्मा-जीव प्रविष्ट होता है, ये जैसे अन्दर शरीर में जाते दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार मनुष्यों में ग्रह प्रविष्ट होते हुए नहीं दीखते।

"अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैश्च गुणप्रभावैः ।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥"

वि० मन्तव्य—जो भूतों को अपनी आँखों देखने का आग्रह किया करते हैं वे भगवान् धन्वन्तरि के अथवा भूतविद्या के इस वाक्य को देखने का कष्ट करें। यही बालग्रहों के सम्बन्ध में अ० २७–७ में कहा गया है ॥१९॥

तपांसि तीव्राणि तथैव दानं
व्रतानि धर्मो नियमाश्च सत्यम् ।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या
व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥२०॥

इन सब ग्रहों में तीव्रतप, दान, व्रत (चान्द्रायण आदि), धर्म, नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान), सत्य, आठों गुण, ये अपने प्रभाव के अनुसार सम्पूर्ण रूप में, या थोड़े-थोड़े (दो, तीन, चार) रहते हैं।

वक्तव्य—आठगुण—"अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यं, ईशित्वं, वशित्वम् ।" अथवा "आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥" च० अ० १।

वि० मन्तव्य—गुरु, वृद्ध, सिद्ध तथा ऋषि भी यदि योगी हैं तो वे अन्यमानव के शरीर में आवेश कर जाते हैं, क्योंकि यह अणिमा आदि तथा आवेश आदि आठ गुण-योगियों का ईश्वरीय बल है और शुद्ध सत्त्व (मनस्) के समाधान (समाधि) से यह सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥२०॥

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति
न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति ।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहा-
त्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥२१॥

ये देवगण मनुष्यों के साथ कभी एकत्रित नहीं होते और न मनुष्य शरीरों में कभी प्रविष्ट होते हैं। जो वैद्य अज्ञान के कारण इनका शरीर में प्रविष्ट होना कहते हैं, उन वैद्यों को भूतविद्या के विषय से अनभिज्ञ जानना चाहिये ॥२१॥

तेषां ग्रहाणां परिचारका ये
कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः ।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा
निशाविहाराश्च तमाविशन्ति ॥२२॥

इन देवता गणों के जो करोड़ों, हजारों, लाखों, पद्म असंख्येय नौकर हैं, जो नौकर रक्त, वसा, मांस का भोजन करते हैं, देखने में बहुत भयानक, रात में विहार करनेवाले हैं वे पुरुषों में प्रविष्ट होते हैं।

"निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥" चरक ।२२।

निशाचराणां तेषां हि ये देवगणमाश्रिताः ।
ते तु तत्सत्त्वसंसर्गाद्विज्ञेयास्तु तदञ्जनाः ॥२३॥

उन राक्षसों के अनुचर (नौकर) जिस देवगण के आश्रित हैं, (नौकर होते हैं), वे नौकर, उस देवता आदि के सत्त्व के संयोग से उसी देवता के लक्षणोंवाले जानने चाहिये।

वक्तव्य—गवर्नर का जो नौकर है, उस नौकर को भी गवर्नर के प्रतिनिधि रूप में मानकर व्यवहार किया जाता है ॥

देवग्रहा इति पुनः प्रोच्यन्तेऽशुचयश्च ते
देववच्च नमस्यन्ते प्रत्यर्थ्यन्ते च देववत् ॥२४॥

इनमें जो नौकर पवित्र होते हैं, वे देवग्रह कहे जाते हैं। इनको देवता के समान नमस्कार किया जाता है और देवता के समान इनसे याचना की जाती है ॥४२॥

स्वामिशीलक्रियाचाराः क्रम एष सुरादिषु ।
निर्ऋतेर्या दुहितरस्तासां स प्रसवः स्मृतः ॥२५॥

ये नौकर स्वामी के स्वभाव, क्रिया के समान आचरणवाले होते हैं, यह नियम देवग्रह आदि में है। क्योंकि ये नौकर निर्ऋति (राक्षसों का पितामह) की स्त्रियों की संतान हैं, इसलिये प्रसूति के गुणोंवाले हैं ॥२५॥

सत्यत्वादप्रवृत्तेषु वृत्तिस्तेषां गणैः कृता ।

शास्त्रोक्त सत्यव्यवहार के छोड़ देने से ही इनकी गणों से अनुचर वृत्ति बना दी जाती है।

हिंसाविहारा ये केचिद्देवभावमुपाश्रिताः ॥२६॥
भूतानीति कृता संज्ञा तेषां संज्ञाप्रवक्तृभिः ।

जो देवता भाव में आश्रित होकर हिंसा की इच्छा करते हैं, उनकी 'भूत' यह संज्ञा, संज्ञा बनानेवालों ने की है। (जो ग्रह देवता रूप होकर भी हिंसा की रुचि करते हैं, उनको भूत कहते हैं) ॥२६॥

ग्रहसंज्ञानि भूतानि यस्माद्वेत्त्यनया भिषक् ॥२७॥
विद्यया भूतविद्यात्वमत एव निरुच्यते ।

क्योंकि वैद्य इस विद्या से ग्रह संज्ञक भूतों को जानता है, इसलिये इस विद्या को भूत विद्या कहते हैं ॥२७॥

तेषां शान्त्यर्थमन्विच्छन् वैद्यस्तु सुसमाहितः ॥२८॥
जपैः सनियमैर्होमैरारभेत चिकित्सितुम् ।

इन ग्रहों की शान्ति की इच्छा करनेवाला वैद्य अति सावधानी से जप, नियम, होम के द्वारा चिकित्सा करनी आरम्भ करे।

'शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च ।
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेद् ॥
भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥" चरक ।

रक्तानि गन्धमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी ॥२९॥
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो विधिरुच्यते ।

लालवर्ण के गन्ध, माला (केशर, लाल कनेर, गुडहल का फूल आदि) सरसों, तिल, जौ आदि बीज, मधु, घी सब प्रकार के भक्ष्य (लड्डू आदि), यह सब के लिये सामान्य विधि है ॥

वस्त्राणि गन्धमाल्यानि मांसानि रुधिराणि च ॥३०॥
यानि येषां यथेष्टानि तानि तेभ्यः प्रदापयेत् ।
हिंसन्ति मनुजान् येषु प्रायशो दिवसेषु तु ॥३१॥
दिनेषु तेषु देयानि तद्भूतविनिवृत्तये ।

वस्त्र, सुगन्ध, माला, मांस, रक्त और जो जो जिस जिस ग्रह को इष्ट हो, वह उनके लिये देवे। जिन दिनों में मनुष्यों को प्रायः करके ये पीड़ित करते हैं, उन दिनों में, उस भूत की निवृत्ति के लिये उपर्युक्त वस्तुयें वस्त्र, सुगन्ध माला आदि देवे।

देवग्रहे देवगृहे हुत्वाऽग्निं प्रा (दा) पयेद्बलिम् ॥३२॥
कुशास्वस्तिकपूपाज्यच्छत्रपायससंभृतम् ।

देवग्रह में मन्दिर के अन्दर अग्नि में होम करके बलि देवे। इसके लिये कुशा, स्वस्तिक (×), अपूप, घी, छत्र, खीर, इनसे बलि देवे ॥३२॥

असुराय यथाकालं विदध्याच्चत्वरादिषु ॥३३॥

असुर ग्रह के लिये सन्ध्याकाल में चौराहे पर बलि देवे ॥

गन्धर्वस्य गवां मध्ये मद्यमांसाम्बुजाङ्गलम् ।

गन्धर्व ग्रह के लिये गौओं के बीच में मद्य मांस पानी और जांगल मांस की बलि देवे ।

हृद्ये वेश्मनि यक्षस्य कुल्माषासृक्सुरादिभिः ॥३४॥

अतिमुक्तककुन्दाब्जैः पुष्पैश्च वितरेद्बलिम् ।

यक्षग्रह के लिये मनके अनुकूल सुन्दर घर में—कुल्माष (अर्धस्विन्न जौ), उड़द, रक्त, सुरा आदि मद्य, अतिमुक्तक (माधवी लता), कुन्द, कमल इनके फूलों से बलि देवे ॥३४॥

नद्यां पितृग्रहायेष्टं कुशास्तरणभूषितम् ॥३५॥

पितृग्रह के लिये नदी के किनारे—कुशा बिछाकर उसमें तिल, गुड़, जौ की बलि देवे ॥३५॥

तत्रैवोपहरेच्चापि नागाय विविधं बलिम् ।

नाग (सर्प) के लिये नदी के किनारे पर ही गुड़, मधु, खीर आदि से नानाप्रकार की बलि देवे ॥३६॥

चतुष्पथे राक्षसस्य भीमेषु गहनेषु वा ॥३६॥

शून्यागारे पिशाचस्य तीव्रं बलिमुपाहरेत् ।

राक्षस के लिये चौराहे पर या गहन-भयानक वनों में मांस, रक्त, सुरा आदि की बलि देवे। पिशाच के लिये खाली घर में—तीव्र बलि (कचा मांस, पशु बलि) को देवे ॥३६॥

पूर्वमाचरितैर्मन्त्रैर्भूतविद्यानिदर्शितैः ॥३७॥

न शक्या बलिभिर्जेतुं योगैस्तान् समुपाचरेत् ।

भूतविद्या में कहे हुए—मंत्रों के प्रथम प्रयोग करने से तथा बलि देने से जो ग्रह शान्त नहीं हो सके, उनको शान्त करने के लिये—योगों को बरते ॥३७॥

अजर्क्षचर्मरोमाणि शल्यकोलूकयोस्तथा ॥३८॥

हिङ्गु मूत्रं च बस्तस्य धूमनस्यं प्रयोजयेत् ।

एतेन शाम्यति क्षिप्रं बलवानपि यो ग्रहः ॥३९॥

बकरा, रीछ, सेह, उल्लू—इनकी खाल, रोम, हींग बकरे का मूत्र, इनका धूंवा रोगी को देवे । इससे बलवान् ग्रह भी शीघ्र शान्त हो जाता है ॥३८,३९॥

गजाह्वपिप्पलीमूलव्योषामलकसर्षपान् ।

गोधानकुलमार्जारऋक्ष्यपित्तप्रपेषितान् ॥४०॥

नस्याभ्यञ्जनसेकेषु विदध्याद्योगतत्त्ववित् ।

गजपिप्पली, पिप्पलीमूल, त्रिकटु, आंवला, सरसों इनको गोह, नेवला, बिल्ली, रीछ इनके पित्तों से पीसकर, इसे नस्य, अभ्यंग, परिषेक आदि में योगतत्त्व को जाननेवाला बरते ॥४०॥

खराश्वतरोलूककरभश्वशृगालजम् ॥४१॥

पुरीषं गृध्रकाकानां वराहस्य च पेषयेत् ।

बस्तमूत्रेण तत्सिद्धं तैलं स्यात् पूर्ववद्धितम् ॥४२॥

गधा, घोड़ा, खच्चर, उल्लू, ऊंट, कुत्ता, गीदड़, गीध, कौआ, सूअर इनकी पुरीष (मल) इनको पीसकर (इनके कल्क से) बकरे के मूत्र में तैल सिद्ध करे। (इसका प्रयोग नस्य, अभ्यंग तथा सेवन) ॥४१,४२॥

शिरीषबीजं लशुनं शुण्ठीं सिद्धार्थकं वचाम् ।

मञ्जिष्ठां रजनीं कृष्णां बस्तमूत्रेण पेषयेत् ॥४३॥

वर्त्यश्छायाविशुष्कास्ताः सपित्ता नयनाञ्जनम् ।

शिरीष के बीज, लहसुन, सोंठ, सरसों, बच, मजीठ, हल्दी, पिप्पली इनको बकरे के मूत्र से पीसकर गाय का पित्त मिलाकर—वर्त्तियां बनाकर छाया में सुखा ले। ये वर्त्तियां घिसकर आँखों में अंजन करे ॥४३॥

नक्तमालफलं व्योषं मूलं श्योनाकबिल्वयोः ॥४४॥

हरिद्रे च कृता वर्त्यः पूर्ववन्नयनाञ्जनम् ।

करंज का फल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, श्योनाक और बिल्व का मूल, हल्दी, दारुहल्दी से बनाई वर्त्तियाँ, (पूर्व की भांति से बनाई बकरे के मूत्र में पीसकर, छाया में सुखाकर, पित्त के साथ) अंजन करे ॥४४॥

सैन्धवं कटुकां हिङ्गु वयःस्थां च वचामपि ।

बस्तमूत्रेण संपिष्टं मत्स्यपित्तेन पूर्ववत् ॥४५॥

ये ये ग्रहा न सिध्यन्ति सर्वेषां नयनाञ्जनम् ।

सैन्धव, कुटकी, हींग, गिलोय (या आंवला) बच, इनको बकरे के मूत्र से पीसकर, छाया में सुखाकर बनाई वर्त्ति मछली के पित्त के साथ अंजन करे। जो जो ग्रह शान्त नहीं होते, उनमें आंखों में इसका अंजन करे ॥४५॥

पुराणसर्पिर्लशुनं हिङ्गु सिद्धार्थकं वसा ॥४६॥

गोलोमी चाजलोमी च भूतकेशी जटा तथा ।

कुक्कुटा सर्पगन्धा च तथा काणविकाणिके ॥४७॥

वज्रप्रोक्ता वयःस्था च शृङ्गी मोहनवल्लिका ।

अर्कमूलं त्रिकटुकं लता स्रोतोजमञ्जनम् ॥४८॥

नैपाली हरितालं च रक्षोघ्ना ये च कीर्तिताः ।

सिंहव्याघ्रर्क्षमार्जारद्वीपिवाजिगवां तथा ॥४९॥

श्वाविच्छल्यकगोधानामुष्ट्रस्य नकुलस्य च ।

विट्त्वग्रोमवसामूत्ररक्तपित्तनखादयः ॥५०॥

अस्मिन् वर्गे भिषक् कुर्यात्तैलानि च घृतानि च ।

पानाभ्यञ्जननस्येषु तानि योज्यानि जानता ॥५१॥

अवपीडेऽञ्जने चैव विदध्याद्गुटिकीकृतम् ।

विदधीत परीषेके क्वथितं, चूर्णितं तथा ॥५२॥

उद्धूलने, श्लक्ष्णपिष्टं प्रदेहे चावचारयेत् ।

एष सर्वविकारांस्तु मानसानपराजितः ॥५३॥

हन्यादल्पेन कालेन स्नेहादिरपि च क्रमः ।

पुरातन घृत (दस साल का), लहसुन, हींग, सरसों, बच, दूर्वा, श्वेतदूब, भूतकेशी, बालछड़, कुक्कुट, सर्प गन्धा,

काकोली, क्षीर काकोली, वज्रकन्द, गिलोय, काकड़ाश्रृङ्गी, मोहनवल्लिका (वट पत्रिका), आक का मूल, त्रिकटु, प्रियंगु, स्रोतोंजन, मैनशिल, हरताल, श्वेत सरसों, (अथवा गुग्गुल आदि जो रक्षोघ्न द्रव्य हैं, इनको तथा सिंह, व्याघ्र, रीछ, बिल्ली, चीता, घोड़ा, गाय, सेह, श्वावित् (बड़ी सेह), गोह, ऊंट, नेवला इनकी विष्ठा, त्वचा, रोम, वसा, मूत्र, रक्त, पित्त नख आदि लेकर इनसे वैद्य तैल और घृत अलग-अलग सिद्ध करे। इन तैल या घृतों को जाननेवाला वैद्य पान, अभ्यंग नस्य आदि में बरते। इनसे गोलियाँ बनाकर अवपीडन नस्य, अंजन करे। इनका क्वाथ परिषेक-स्नान बरते, इनका चूर्ण शरीर पर छिड़के, इनको बारीक पीसकर शरीर पर लेप करे। वह मनोजन्य सब रोगों का अपराजित रहता है। थोड़े ही समय में सब मानसिक रोगों को नष्ट करता है, स्नेहन, धूपन आदि उपचार भी करे।

"विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद् भिषक्।
उग्रगन्धं पुराणं स्याद् दशवर्षस्थितं घृतम्॥
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम्।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम्॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद् वर्षशतस्थितम्।
दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वं ग्रहापहम्॥"

चरक चि० अ० ९ ॥४९-५३॥

न चाचौक्षं प्रयुञ्जीत प्रयोगं देवताग्रहे ॥५४॥

देवता आदि पवित्र ग्रहों में अपवित्र प्रयोग नहीं करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—च अ चौक्षं—अपवित्र—उक्त पुरीष एवं रोम आदि अपवित्र द्रव्यों के धूप, अञ्जन, परिषेचन एवं लेप आदि प्रयोग न हो ॥५४॥

**ऋते पिशाचादन्यत्र प्रतिकूलं न चाचरेत्।
वैद्यातुरौ निहन्युस्ते ध्रुवं क्रुद्धा महौजसा ॥५५॥**

पिशाच ग्रह को छोड़कर अन्यत्र प्रतिकूल कार्य न करे, क्योंकि महान् शक्तिवाले ये ग्रह क्रुद्ध होकर वैद्य और रोगी दोनों को निश्चित मार देते हैं।

देवर्षिपितृगन्धर्वैः उन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्।
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदु भैषज्यमाचरेत्।
पूजां बलिं उपहारांश्च मंत्राञ्जनविधींस्तथा॥

चरक। चि० अ० ९॥

वि० मन्तव्य—भूतोन्माद में—ताड़न, त्रासन एवं तर्जन आदि का भी विधान है, परन्तु वह केवल पिशाच ग्रह से पीड़ित में ही करना चाहिये। अन्यान्य देव, यक्ष एवं पितृग्रह आदि में नहीं करना चाहिये ॥५५॥

**हिताहितीये यच्चोक्तं नित्यमेव समाचरेत्।
ततः प्राप्स्यति सिद्धिं च यशश्च विपुलं भिषक् ॥५६॥**

हिताहितीय अध्याय में जो आहार कहा है, उसे सदा बरते।

इस प्रकार करने से ग्रह से मुक्ति, रोगी को मिलती है, और वैद्य को यश मिलता है ॥५६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रेऽमानुषोपसर्गप्रतिषेधो नाम (प्रथमोऽध्यायः, आदितः) षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

**अथातोऽपस्मारप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥**

अब इसके आगे अपस्मारप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

स्मृति (याददास्त स्मरण) भूतार्थ (अनुभव किया विषय), इनके ज्ञान का नष्ट होना या भूल जाना, अपस्मार कहा है, यह अपस्मार रोग विनाशकारक है।

वक्तव्य—"अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्वसंप्लवाद्बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते॥" चरक।

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः॥"

चरक चि० अ० १०, ३ ॥३॥

**स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जने।
अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ॥३॥
मिथ्यातियोगेन्द्रियार्थकर्मणामभिसेवनात्।
विरुद्धमलिनाहारविहारकुपितैर्मलैः ॥४॥
वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम्।
रजस्तमोभिभूतानां गच्छतां च रजस्वलाम् ॥५॥
तथा कामभयोद्वेगक्रोधशोकादिभिर्भृशम्।
चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते ॥६॥**

इन्द्रियों के विषय और कर्मों के मिथ्या योग, अथवा अतियोग के सेवन से, विरुद्ध एवं मलिन आहार, विहार से कुपित हुए दोषों से, उपस्थित मल मूत्रादि के वेगों को रोकने के स्वभाववाले, अहित, अपवित्र भोजन करनेवालों में, रज एवं तम से आक्रान्त मनवालों में रजस्वला के साथ सम्भोग करने से, तथा कामशोक-भय-उद्वेग, क्रोध आदि से मन पर बहुत आघात होने पर पुरुषों में अपस्मार उत्पन्न होता है।

"त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्त्तन्ते, तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषयबहुदोषाणां समलविकृतोपहितानि अशुचीनि अभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयुञ्जानानां

तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टाविषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां वा दोषाः प्रकुपिताः रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते तथेन्द्रियायतनानि च तत्र तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः कामक्रोधभयलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिः भूयः सहसाऽभिपूरयन्ति, तदा जन्तुरपस्मरति।।"

चरक नि० अ० ८-४ ।।४-६।।

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिंस्तु भविष्यति भवन्त्यथ ।।७।।

पूर्वरूप—हृदय में कम्प, शून्यता (हृदय में), स्वेद, ध्यान (चिन्तन-एकाग्रता), मूर्च्छा, अतिशय संज्ञानाश और निद्रानाश होता है ।

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—भ्रूव्युदासः सततमक्ष्णोर्वैकृतमशब्दश्रवणं, लालासिंघाणप्रस्रवणमनन्नाभिलषणमरोचकविपाकौ हृदयग्रहः, कुक्षेराटोपो दौर्बल्यमस्थिभेदोऽङ्गमर्दो, मोहस्तमसो दर्शनम्, मूर्च्छा, भ्रमश्चाभीक्ष्णं च स्वप्ने मदनर्त्तनपीडनवेपथुव्यथनपतनादीन्यपस्मारपूर्वरूपाणि भवन्ति, ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिर्वृत्तिरेव ।।

चरक नि० अ० ८-७ ।।७

संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः ।
रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा ।।८।।
विक्षिपन् हस्तपादं च विजिह्मभ्रूविलोचनः ।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्षः पतेत् क्षितौ ।।९।
अल्पकालान्तरं चापि पुनः संज्ञां लभेत सः ।
सोऽपस्मार इति प्रोक्तः—

संज्ञावाही स्रोतों के दोषों से भर जाने पर तथा रज एवं तम से युक्त हो जाने के कारण मूढ़ हुआ मनुष्य विक्षिप्त चित्त से हाथ पैर को फेंकता है, भ्रू और आंख कुटिल हो जाती है, दांत कटकटाता है, मुख से झाग गिरता है, आंखें पलट जाती हैं, भूमि पर गिर पड़ता है, कुछ देर के पीछे फिर चेतना प्राप्त करता है, इसको अपस्मार कहते हैं ।

"धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि ।
संपीड्यमाने व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ।।
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि ।
जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ।
दोषवेगे च विगते सुप्तवत्प्रतिबुद्ध्यते ।।"

चरक० चि० अ० १०-६-६ ।।८,९।।

स च दृष्टश्चतुर्विधः ।।१०।।
वातपित्तकफैर्नृणां चतुर्थः सन्निपाततः ।

यह अपस्मार मनुष्यों में वायु, पित्त, कफ और सन्निपात से चार प्रकार का होता है ।।१०।।

वेपमानो दशन् दन्तान् श्वसन् फेनं वमन्नपि ।।११।।
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति ।
ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः ।।

जो रोगी कांपता हुआ, दांतों को काटते हुए जोर से श्वास लेता है, झाग मुख से गिरती हो, जो रोगी यह कहे कि विकृत आकार का काला प्राणी मेरी ओर दौड़ रहा है, इससे मेरी संज्ञा नष्ट होती है, उसे वातजन्य अपस्मार से पीड़ित जाने।।

तृट्तापस्वेदमूर्च्छार्तो धुन्वन्नङ्गानि विह्वलः ।
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं पीतं मामनुधावति ।।१३।।
ततो मे चित्तनाशः स्यात् स पित्तभव उच्यते ।

प्यास, ताप, स्वेद, मूर्च्छा से पीड़ित, अंगों को फेंकता हुआ, बेचैन, जो पीले रंग के विकृत प्राणि को अपनी ओर दौड़ता हुआ अनुभव करके बेहोश होता है, उसे पित्तजन्य अपस्मार से पीड़ित जाने ।।१३।।

शीतहृल्लासनिद्रार्तः पतन् भूमौ वमन् कफम् ।।१४।।
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति ।
ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपस्मारः कफात्मकः।।१५।

शीत जी मचलाना, निद्रा से पीड़ित, भूमि पर गिरकर कफ का वमन करता है, जो श्वेत रंग के विकृत प्राणी को अपनी ओर भागता हुआ अनुभव करके मूर्च्छित होता है, उसे कफजन्य अपस्मार से पीड़ित जानना ।।१४,१५।।

हृदि तोदस्तृडुत्क्लेदस्त्रिष्वप्येतेषु संख्यया ।

वातज में हृदय में पीड़ा, पित्तज में प्यास और कफज अपस्मार में जी मचलाना होता है ।

प्रलापः कूजनं क्लेशः प्रत्येकं तु भवेदिह ।।१६।।

प्रलाप, कराहना, क्लेश, ये लक्षण तीनों दोषों के अपस्मारों में सामान्य हैं ।।१६।।

सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे ।

सन्निपातजन्य अपस्मार में सब लक्षणों का मेल रहता है ।

अनिमित्तागमाद्व्याधेर्गमनादकृतेऽपि च ।।१७।।
आगमाच्चाप्यपस्मारं वदन्त्यन्ये न दोषजम् ।

विना कारण के रोग का आक्रमण होने से, चिकित्सा न करने पर भी रोग के मिट जाने से, कुछ लोग शास्त्र (अपने) से अपस्मार को आगन्तुज मानते हैं, दोषजन्य नहीं मानते ।।

क्रमोपयोगाद्दोषाणां क्षणिकत्वात्तथैव च ।।१८।।
आगमाद्वैश्वरूप्याच्च स तु निर्वर्ण्यते बुधैः ।
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।।१९।।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ।
स्थायिनः केचिदल्पेन कालेनाभिप्रवर्धिताः ।।२०।।
दर्शयन्ति विकारांस्तु विश्वरूपान्निसर्गतः ।
अपस्मारो महाव्याधिस्तस्माद्दोषज एव तु ।।२१।।

दोषों का संचय आदि क्रम से रोगोत्पत्ति करने के कारण, अपस्मार दोषजन्य है। वातादि दोषों के क्षणिक होने के कारण अपस्मार दोषजन्य है। जब तक दोष का वेग रहता है, तब तक रोग रहता हैं। आगम (चरक में) अपस्मार को दोषजन्य कहा है। विश्वरूप होने से वात, पित्त, कफ एवं रज और तम ये दोष विश्वरूप हैं, इसलिये अपस्मार दोषजन्य हैं। इसलिये विद्वान् अपस्मार को दोषजन्य मानते हैं। जिस प्रकार बादल के बरसने पर भी कुछ बीज शरद् काल में उगते हैं, इसी प्रकार रोग भी अपने समय पर उत्पन्न होते हैं। अवश्य अस्थायी वातादि दोष इसी थोड़े से समय के लिये बढ़कर नानाप्रकार के रोगों को अपने स्वाभाविक दूषण स्वभाव के कारण दिखाते हैं। इसलिये अपस्मार नामक महारोग दोषजन्य ही है।

वक्तव्य—"इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति, वात-पित्त-कफ-सन्निपातनिमित्ताः ॥" (२) पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ (३) अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति"॥

वि० मन्तव्य—कुछ आचार्य श्लो० १७ के अनुसार अपस्मार को आगन्तु मानते हैं जैसे विषम ज्वरों को, परन्तु कुछ आचार्य इसको "दोषज" मानते हैं, अस्तु। इस विवाद का समाधान भगवान् पुनर्वसु ने इस प्रकार किया है कि—

यदा दोषनिमित्तस्य भवति आगन्तुः अन्वयः।

तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्वराः। च० नि०अ० ८

अर्थात्—जब किसी दोषज व्याधि में आगन्तु कारण भी होता है तब विद्वान् चिकित्सक साधारण अर्थात् दोनों के लिये उपयोगी कर्म–उपचार करते हैं। जैसे विषम ज्वरों में तथा उन्मादों में। भगवान् धन्वन्तरि ने उक्त दोनों मतों का उल्लेख कर दिया है 'दोषज एव तु' पाठ अपस्मार को दोषज माननेवालों का है, क्योंकि—अग्रिम श्लो० २३ में 'उपयोगो ग्रहोक्तानां योगानां तु विशेषतः' पाठ में ग्रह शामक योगों के उपयोग का निर्देश किया गया है। और श्लो० २६ में रुद्र एवं रुद्र के गणों की पूजा का निर्देश किया है, अतः भगवान धन्वन्तरि जी दोनों मतों को मानते हैं ॥२१॥

तस्य कार्यो विधिः सर्वो य उन्मादेषु वक्ष्यते।
पुराणसर्पिषः पानमभ्यङ्गश्चैव पूजितः ॥२२॥
उपयोगो ग्रहोक्तानां योगानां तु विशेषतः।
ततः सिध्यन्ति ते सर्वे योगैरन्यैश्च साधयेत्।
शिग्रुकट्वङ्गकिण्वाहिनिम्बत्वग्रससाधितम् ॥२३॥
चतुर्गुणे गवां मूत्रे तैलमभ्यञ्जने हितम्।

अपस्मार में उन्माद में कही जानेवाली सम्पूर्ण विधि बरतनी चाहिये। पुरातन घृत का पान कराये और पुरातन घृत का अभ्यंग करे। ग्रहों में कहे योगों को विशेष रूप में बरते। इनसे सब अपस्मार अच्छे होते हैं, अन्ययोगों से भी चिकित्सा करे। यथा–शोभांजन, श्योनाक, किणही (कटभी), नीम की छाल, इनके स्वरस (रस में) और कल्क से तैल से चार गुणे गोमूत्र में तैल सिद्ध करे। यह तैल अभ्यंग में उत्तम है।

"कटभी निम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे।
सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते ॥" चरक॥२२,२३॥

गोधानकुलनागानां पृषतर्क्षगवामपि ॥२४॥
पित्तेषु सिद्धं तैलं च पानाभ्यङ्गेषु पूजितम्।

गोह, नेवला, हाथी, चित्रलमृग, रीछ, गाय, इनके पित्त से सिद्ध किया तैल पान और अभ्यंग में प्रशस्त है ॥२४॥

तीक्ष्णैरुभयतोभागैः शिरश्चापि विशोधयेत् ॥२५॥

तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण विरेचन और तीक्ष्ण शिरो-विरेचन से चिकित्सा करे ॥२५॥

पूजां रुद्रस्य कुर्वीत तद्गणानां च नित्यशः।

रुद्र की और उनके गणों की नित्यप्रति पूजा करे।

वातिकं बस्तिभिश्चापि पैत्तिकं तु विरेचनैः ॥२६॥
कफजं वमनैर्धीमानपस्मारमुपाचरेत्।

वातिक अपस्मार की बस्तियों से, पैत्तिक की विरेचनों से, कफज अपस्मार की वमनों से बुद्धिमान् चिकित्सा करे ॥२६॥

कुलत्थयवकोलानि शणबीजं पलङ्कषाम् ॥२७॥
जटिलां पञ्चमूल्यौ द्वे पथ्यां चोत्काथ्य यत्नतः।
बस्तमूत्रयुतं सर्पिः पचेत्तद्वातिके हितम् ॥२८॥

कुलत्थी, जौ, बेर, सन के बीज, गुग्गुलु, जटामासी, दशमूल, हरड़ इनको सावधानी से क्वाथ करके, इस में बकरे का मूत्र मिलाकर घृत सिद्ध करे, यह घृत वातिक अपस्मार में हितकारी है ॥२७,२८॥

काकोल्यादिप्रतीवापं सिद्धं च प्रथमे गणे।
पयोमधुसितायुक्तं घृतं तत् पैत्तिके हितम् ॥२९॥

विदारीगन्धादिगण के क्वाथ में काकोल्यादि गण का प्रक्षेप देकर, घी को सिद्ध करे। इस घी को दूध, मधु शर्करा के साथ खाये। यह घृत पित्तज अपस्मार में हित है।

वक्तव्य—डल्हण ने दूध, मधु, शर्करा के साथ घी सिद्ध करने को कहा है। इसमें मधु के साथ घी सिद्ध करने में मधु जल जायेगा। अथवा रोगप्रभाव से विधेय होगा। यथा—'क्षीरादिप्रक्षेपयुक्तं घृतं हितम् ॥' कहा है ॥

कृष्णावचामुस्तकाद्यैर्युक्तमारग्वधादिके ।
पक्वं च मूत्रवर्गे तु श्लेष्मापस्मारिणे हितम् ॥३०॥

पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तकादि, इनके क्वाथ में आरग्वधादिगण का कल्क प्रक्षेप देकर आठों मूत्रों के साथ सिद्ध किया घृत कफजन्य अपस्मार में उत्तम है ॥३०॥

सुरद्रुमवचाकुष्ठसिद्धार्थव्योषहिङ्गुभिः ।
मञ्जिष्ठारजनीयुग्मसमङ्गात्रिफलाम्बुदैः ॥३१॥
करञ्जबीजशैरीषगिरिकर्णीहुताशनैः ।
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम सर्पिर्मूत्रचतुर्गुणम् ॥३२॥
कृमिकुष्ठगरश्वासबलासविषमज्वरान् ।
सर्वभूतग्रहोन्मादानपस्मारांश्च नाशयेत् ॥३३॥

सिद्धार्थक घृत—देवदारु, वच, कूठ, सरसों सोंठ, मरिच, पिप्पली, हींग, मंजीठ, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, त्रिफला, मुस्ता, करंज के बीज, शिरीष के बीज, श्वेत स्यन्द (सफेद कोयल), इनके कल्क से चार गुणे मूत्र में सिद्ध किया घी, सिद्धार्थक घृत है। यह घृत कृमि, कुष्ठ, गर, श्वास, कफ, विषमज्वर, सब प्रकार की भूत बाधा, ग्रह, उन्माद, अपस्मार, को नष्ट करता है ॥३१-३३॥

दशमूलेन्द्रवृक्षत्वङ्मूर्वाभार्गीफलत्रिकैः ।
शम्पाकश्रेयसीसप्तपर्णापामार्गफल्गुभिः ॥३४॥
शृतैः कल्कैश्च भूनिम्बपूतिकव्योषचित्रकैः ।
त्रिवृत्पाठानिशायुग्मसारिवाद्वयपौष्करैः ॥३५
कटुकायासदन्त्युग्रानीलिनीकृमिशत्रुभिः ।
सर्पिरेभिश्च गोक्षीरदधिमूत्रशकृद्रसैः ॥३६॥
साधितं पञ्चगव्याख्यं सर्वापस्मारभूतनुत् ।
चातुर्थकक्षयश्वासानुन्मादांश्च नियच्छति ॥३७॥

पंचगव्यघृत—दशमूल, कुटज की छाल, मूर्वा, भार्गी, त्रिफला, अमलतास, गजपिप्पली, सप्तपर्ण, चिरचिटा, कठगूलर, इनके क्वाथ में, चिरायता, करंज, त्रिकटु, चित्रक, निशोथ, पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, कृष्णा सारिवा, पुष्कर मूल, कुटकी, धमासा, दन्ती, वच, नलिनी, विडंग इनके कल्क से, गाय का दूध, दही, मूत्र, गोबर का स्वरस, और घी (ये सब परस्पर समान भाग लेकर) इनसे घृत सिद्ध करे। यह पंचगव्य घृत सब प्रकार के अपस्मार को, भूतबाधा को नष्ट करता है। चातुर्थिक ज्वर, क्षय, श्वास, और उन्माद को नष्ट करता है ॥

भार्गीशृते पचेत् क्षीरे शालितण्डुलपायसम् ।
त्र्यहं शुद्धाय तं भोक्तुं वराहायोपकल्पयेत् ॥३८॥
ज्ञात्वा च मधुरीभूतं तं विशस्यान्नमुद्धरेत् ।
त्रीन् भागांस्तस्य चूर्णस्य किण्वभागेन संसृजेत् ।३९।
मण्डोदकार्थे देयश्च भार्गीक्वाथः सुशीतलः ।
शुद्धे कुम्भे निदध्याच्च संभारं तं सुरां ततः ॥४०॥
जातगन्धां जातरसां पाययेदातुरं भिषक् ।

भार्गी से सिद्ध किये दूध में शालि चावलों की खीर बनाये। सुअर को तीन दिन भूखा रखकर खीर खाने को देवे। जब खीर में मधुरता (विदाह प्रथम अवस्था पाक) आ जाय, तब सुअर को मारकर इस अन्न को उसके पेट में (आमाशय से) निकाल ले। इस अन्न को सुखाकर चूर्ण कर लेवे। इस चूर्ण के तीन भाग लेकर इसमें एक भाग सुरा बीज (किण्व) मिलाये। सन्धान के लिये भार्गी का क्वाथ ठण्डा करके इसमें मिलाये। इस संभार को शुद्ध साफ घड़े में रख देवे। फिर जब इस सुरा में गन्ध और रस उत्पन्न हो जाये, तब रोगी को पिलाये।

वक्तव्य—दूध पाक विधि—दूध से चौथाई भार्गी का कल्क मिलाकर, दूध से चार गुणा जल डालकर दूध का पाक करे। दूध मात्र शेष रहने पर उतार लेवे। सूअर को खिलाया अन्न आमाशय से आगे न जाने पाये उस अन्न में केवल आमाशय की ही क्रिया हो, इतने तक में वह अन्न निकाल लेना चाहिये। अर्थात् निशास्ता भाग अभी अर्करा में ही परिणत हुआ हो। यथा—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुरात्प्राक् कफो भावात्फेनभूत उदीर्यते ।च०।३८-४०।

शुद्ध कुम्भ—चातुर्जातक, मधु, पिप्पली आदि से लिप्त किये ॥३८-४०॥

सिरां विध्येदथ प्राप्तां माङ्गल्यानि च धारयेत् ॥४१॥

हनुसन्धिमध्यगत सिरा का वेधन करे। व्रणितोपासनीय अध्याय में कही छत्रा, अतिच्छत्रा आदि मांगल्य वस्तुओं को धारण करे।

वक्तव्य—चरक में अतत्त्वाभिनिवेश एक रोग कहा है, यथा—

अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम् ।
तत्र नोक्तं तत. श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम् ॥
शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः ।
महागदं सौम्य शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम् ॥
मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान् निगृह्णतः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैः हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिहताः सिराः ।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते ।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढाल्पचेतसः ॥
करोति विषमां बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः ।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥

ब्राह्मीस्वरसंयुक्तं यत् पंचगव्यमुदाहृतम् ।
तत्सेव्यं शंखपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम् ॥

वि० मन्तव्य—सु० शा० अ० ८ में अपस्मार के विनाशार्थ हनु की सन्धि में विद्यमान सिरा का वेध करने का विधान है, परन्तु सिरा सर्वाङ्ग शोधन होती है, अतः अन्य स्थान में भी सिरावेध किया जा सकता है ॥४१॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रेऽपस्मार-प्रतिषेधो नाम (द्वितीयोऽध्यायः आदितः) एकषष्टितमोऽध्यायः ॥६१॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अथातो उन्मादप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे उन्मादप्रतिषेध अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

मदयन्त्युद्ध(द्ग)ता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः ।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥३॥

उपचित हुए दोष उन्मार्ग में आश्रित होकर क्योंकि मन को चलायमान (विभ्रमयुक्त) कर देते हैं, इसलिये यह उन्माद रोग मानस-मनोजन्य कहा है। मनोवहस्रोतों के दूषित होने से यह मानस रोग होता है। यथा—

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि
प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो
मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥
तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा
बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि
प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥
चरक० चि० अ० ६-५।

वि० मन्तव्य—उन्मार्ग आश्रितः—पुरुष (चेतना धातु—आत्मा) कर्मेन्द्रियों द्वारा चेष्टा (कर्म) करता है, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, मनस् द्वारा मनन–चिन्तन करता है बुद्धि द्वारा बोध–सत् असत् का विवेक करता है और अहंकार द्वारा अहं—मैं हूँ आदि भावना करता है। जिन मार्गों द्वारा यह सब होता है वे उन्मार्ग कहे जाते हैं। उनमें जब वातादि दोष आश्रित हो जाते हैं तब उक्त सब कार्य अव्यवस्थित–विशृंखल हो जाते हैं और इसी दशा का नाम "उन्माद" है ॥३॥

एकैकशः समस्तैश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः ।
मानसेन च दुःखेन स पञ्चविध उच्यते ॥४॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम् ।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥५॥

उन्माद, वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों के पृथग् पृथग्, अतिशय मिले हुए तीनों दोषों को सन्निपात से एक, मानसिक दुःख के कारण एक, इस प्रकार से उन्माद पांच प्रकार का है। विष के कारण से भी छठे प्रकार का उन्माद होता है, परन्तु इसमें विष की अपनी चिकित्सा की जाती है। यह छठा उन्माद अल्प लक्षणोंवाला, तथा अल्प मात्रा में होने से 'मद' नाम से कहा जाता है।

उन्मादं पुनः मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात् ॥ चरक।

वि० मन्तव्य—विष तथा तद्गुणयुक्त मद्य से जो उन्माद होता है उसकी प्रारम्भिक अवस्था में वही दशा होती है जो मद्य (भांग-सुरा आदि मादक द्रव्य) के सेवन में होती है जिसको मद या नशा कहते हैं। मद की दशा से आगे चलकर जो मदमत्त की दशा होती है वही उन्माद से उन्मत्त की दशा हो जाती है ॥४,५॥

मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रे गात्राणामपकर्षणम् ।
अत्युत्साहोऽरुचिश्चान्ने स्वप्ने कलुषभोजनम् ॥६॥
वायुन्नोन्मथनं चापि भ्रमश्चक्रगतस्य वा ।
यस्य स्यादचिरेणैव उन्मादं सोऽधिगच्छति ॥७॥

पूर्वरूप—मोह (मन की विचित्रता), उद्वेग, कानों में शब्द, अंगों में कृशता, अतिशय, उत्साह, अन्न में अरुचि, स्वप्न में (सुपने में), मलिन भोजन वायु से हृदय का उन्मथन, चक्कर पर चढ़े हुए के समान चक्कर आना, ये लक्षण जिनमें होते हैं, उसे शीघ्र ही उन्माद रोग होगा ॥६,७॥

रूक्षच्छविः परुषवाग्धमनीततो वा
शीतातुरः कृशतनुः स्फुरिताङ्गसन्धिः ।
आस्फोटयत्यटति गायति नृत्यशीलो
विक्रोशति भ्रमति चाप्यनिलप्रकोपात् ॥८॥

वातिक उन्माद में रोगी की कान्ति रूक्ष, वाणी कर्कश, शरीर पर धमनियों का जाल, शीत से पीड़ित, शरीर कृश, अंगों की सन्धियों में स्फुरण, सन्धियों को चटकाता है, बे मतलब घूमता है, गाता है, नाचता है, चिल्लाता है, चक्कर काटता है।

अनियतानां च सततं गिरामुत्सर्गः। फेनागमनमास्यात्। स्मितहसितनृत्यगीतवादित्रादिप्रयोगश्चास्थाने । यानमयानैः, कार्श्यं, पारुष्यम्, उत्पिण्डता, अरुणाक्षता। चरक ॥८॥

तृट्स्वेददाहबहुलो बहुभुग्विनिद्र-
श्छायाहिमानिलजलान्तविहारसेवी ।
तीक्ष्णो हिमाम्बुनिचयेऽपि स वह्निशङ्की
पित्ताद्दिवा नभसि पश्यति तारकाश्च ॥९॥

पित्तोन्माद में प्यास, स्वेद, दाह की अधिकता, बहुत भोजन करना, नींद न आना, छाया, शीतल, वायु, जल के

किनारे पर रहने या घूमनेवाला, तीक्ष्ण (क्रोधी), शीतल पानी के संचय में भी अग्नि की शंका रखनेवाला, दिन में भी आकाश में तारों को देखता है ॥९॥

छर्द्यग्निसादसदनारुचिकासयुक्तो
योषिद्विविक्तरतिरल्पमतिप्रचारः।
निद्रापरोऽल्पकथनोऽल्पभुगुष्णसेवी
रात्रौ भृशं भवति चापि कफप्रकोपात् १०

कफोन्माद में—वमन, अग्निमान्द्य, अरुचि, कास, स्त्रियों से एकान्त में प्रीति करने की चाह, थोड़ी बुद्धि, थोड़ा चलना-गिरना, सोने की आदत, थोड़ा बोलनेवाला, थोड़ा खानेवाला, उष्ण वस्तु की चाह करता है। कफके प्रकोप से उन्माद रातमें अधिक बढ़ जाता है। (चरक में-श्वयथुराननें—यह चिह्न भी है) ॥

सर्वात्मके पवनपित्तकफा यथास्वं
संहर्षिता इव च लिङ्गमुदीरयन्ति ॥११॥

सन्निपातजन्य उन्माद में वायु, पित्त, कफ, अतिशय बढ़कर (एक दूसरे से होड़ लेकर) अपने अपने लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। (इसी से यह असाध्य होता है) ॥११॥

चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतरो मनसो विकारः ।१२।

चोरों से, राजपुरुषों से, शत्रुओं से, तथा दूसरे पुरुषों से डराये जाने के कारण, धन-बान्धव के नाश हो जाने से, मन पर तीव्र आघात पहुँचने के कारण अथवा इच्छित प्रियस्त्री से रमण करने की इच्छा होने के कारण (उसके न मिलने से) अतिशय प्रबल मानसिक विकार से उन्माद उत्पन्न होता है ॥

चित्रं स जल्पति मनोनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति मूढसंज्ञः।

वह मन में आई वस्तु को अबुद्धि पूर्वक बे सोचे समझे-चेतना के बिना भिन्न भिन्न रूप में बकता है, गाता है, हँसता है, रोता है, मूर्च्छित हो जाता है।

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेत् परासुः १३

विषोन्माद में—आंखें लाल, बल एवं इन्द्रियों की कान्ति नष्ट हो जाती है, अतिशय गरीब, मुख में कालापन तथा उपेक्षा करने से मर जाता है ॥१३॥

स्निग्धं स्विन्नं तु मनुजमुन्मादार्तं विशोधयेत्।
तीक्ष्णैरुभयतोभागैः शिरसश्च विरेचनैः ॥१४॥
विविधैरवपीडैश्च सर्षपस्नेहसंयुतैः।
योजयित्वा तु तच्चूर्णं घ्राणे तस्य प्रयोजयेत् ॥१५॥

उन्माद रोगी मनुष्य का स्नेहन और स्वेदन करके तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण विरेचन, तीक्ष्ण शिरोविरेचनों से शोधन करे। सरसों के तेल में मिलाकर नानाप्रकार के अवपीडन (नस्य) देवे। सरसों का चूर्ण रोगी की नासा में प्रधमन करे।१४,१५।

सततं धूपयेच्चैनं श्वगोमांसैः सुपूतिभिः।
सर्षपानां च तैलेन नस्याभ्यङ्गौ हितौ सदा ॥१६॥

अच्छी प्रकार पवित्र साफ किये कुत्ते और गोमांस से इसको निरंतर धूप देवे। सरसों के तेल से नस्य एवं अभ्यंग करना सदा उत्तम है ॥१६॥

दर्शयेदद्भुतान्यस्य वदेन्नाशं प्रियस्य वा।
भीमाकारैर्नरैर्नागैर्दान्तैर्व्यालैश्च निर्विषैः ॥१७॥
भीषयेत् संयतं पाशैः कशाभिर्वाऽथ ताडयेत्।
यन्त्रयित्वा सुगुप्तं वा त्रासयेत्तं तृणाग्निना ॥१८॥
जलेन तर्जयेद्वाऽपि रज्जुघातैर्विभावयेत्।
बलवांश्चापि संरुध्य जलेऽन्तः परिवासयेत्।
प्रतुदेदारया चैनं मर्माघातं विवर्जयेत्।
वेश्मनोऽन्तः प्रविश्यैनं रक्षंस्तद्वेश्म दीपयेत् ॥१९॥
सापिधाने जरत्कूपे सततं वा निवासयेत्।

जो वस्तु न देखी हो, ऐसे विचित्र रूप इसको दिखाये। प्रिय वस्तु का नाश कहे सुनाये। भीषण आकारवाले मनुष्यों से, शिक्षित हाथियों से, विष रहित सांपो से इसको डराये। पाशों से-रस्सियों से बाँधकर, कशा से-चाबुक से इसको मारे। बाँधकर सुरक्षित रूप में तिनकों की आग से इसको डराये। मगर जल से कम्पाये। रस्सी की चोट से मारे। बलवान् व्यक्ति इसको बचाते हुए जल में डुबाने का नाटक करें। मोटी नाक सूई से चुभायें, परन्तु मर्म स्थानों पर चोट न करे। घर के अन्दर ले जाकर इसको बचाते हुए घर में आग लगा देवें। जल रहित कुएँ में इसको रखकर ढांप देवे।

वि० मन्तव्य-इस प्रकार के उपायों से उसका मन ठिकाने आ जाता है, क्योंकि शारीरिक दुःखो के भय की अपेक्षा प्राण का भय महान् होता है और प्राणभय होने पर—मृत्यु का भय उपस्थित होने पर इधर उधर भटकता हुआ मन शान्ति को प्राप्त कर लेता है ॥

कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे।
रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य यथा शमम् ॥
देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं महत्।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥
इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते।
तस्य तत्सदृशप्राप्तिशान्त्याश्वासैः शमं नयेत् ॥ चरक ॥

त्र्यहात्त्र्यहाद्यवागूश्च तर्पणान् वा प्रदापयेत् ॥२०॥
केवलानम्बुयुक्तान् वा कुल्माषान् वा बहुश्रुतः।
हृद्यं यद्दीपनीयं च तत्पथ्यं तस्य भो (यो) जयेत् ।२१।
(विडङ्गत्रिफलामुस्तमञ्जिष्ठादाडिमोत्पलैः।
श्यामैलवालुकैलाभिश्चन्दनामरदारुभिः ॥२२॥

बर्हिष्ठरजनीकुष्ठपर्णिनीसारिवाद्वयैः ।
हरेणुकात्रिवृद्दन्तीवचातालीसकेसरैः ॥२३॥
द्विक्षीरं साधितं सर्पिर्मालतीकुसुमैः सह ।
गुल्मकासज्वरश्वासक्षयोन्मादनिवारणम् ॥२४॥
एतदेव हि सम्पक्वं जीवनीयोपसंभृतम् ।
चतुर्गुणेन दुग्धेन महाकल्याणमुच्यते ॥२५॥
अपस्मारं ग्रहं शोषं क्लैब्यं कार्श्यमबीजताम् ।
घृतमेतन्निहन्त्याशु ये चादौ गदिता गदाः ॥२ ॥

एक एक दिन छोड़कर इसको यवागू, तर्पण (जौ का मन्थ या लाजा सत्तू) देवे । इन सत्तुओं को अकेले जल के साथ देवे । बहुत विचक्षण वैद्य कुल्माष (अर्धस्विन्न जौ) देवे । हृदय के लिये प्रिय (हितकारी) और दीपनीय (अग्निवर्धक), जो पथ्य भोजन हो, वह इस रोगी को देवे । (विडंग, त्रिफला, मुस्ता, मजीठ, अनारदाना, नीलोफर, निशोथ, ऐलवालुक, इलायची, चन्दन, देवदारु, बर्हिष्ठ, हल्दी, कूठ, मुद्गपर्णी, सारिवा, कृष्णसारिवा, हरेणु, त्रिवृत्, दन्ती, वच, तालीस, केसर, चमेली के फूल, इनके कल्क से, घी से दुगुने दूध में सिद्ध किया घी गुल्म, कास, ज्वर, श्वास, क्षय, उन्माद को नष्ट करता है । उपर्युक्त द्रव्यों में जीवनीय गण के द्रव्य मिलाकर चार गुणे दूध से सिद्ध किया घृत महाकल्याण कहा जाता है । यह घृत अपस्मार, ग्रह, शोष, क्लीबता, कृशता, नपुंसकता को तथा पूर्वोक्त कहे रोगों को शीघ्र नष्ट करता है[1] ।

वि० मन्तव्य—अबीजताम्-अबीजता शुक्र का वह विकार है जिसमें मैथुन शक्ति तो होती है परन्तु उस शुक्र से गर्भोत्पत्ति नहीं होती ॥२०-२६॥

बर्हिष्ठकुष्ठमञ्जिष्ठाकटुकैलानिशाह्वयैः ।
तगरत्रिफलाहिङ्गुवाजिगन्धामरद्रुमैः ॥२७॥
वचाऽजमोदाकाकोलीमेदामधुकपद्मकैः॥
सशर्करं हितं सर्पिःपक्वं क्षीरचतुर्गुणम् ॥२८॥
बालानां ग्रहजुष्टानां पुंसां दुष्टाल्परेतसाम् ।
ख्यातं फलघृतं स्त्रीणां वन्ध्यानां चाशु गर्भदम्) ।

फलघृत—बर्हिष्ठ, कूठ, मजीठ, कुटकी, इलायची, हल्दी, तगर, त्रिफला, हींग, अश्वगन्धा, देवदारु, वच, अजवाइन, काकोली, मेदा, मुलैहठी, पद्माख, इनके कल्क से शर्करा के साथ चार गुणे दूध में (घी से) सिद्ध किया घी—ग्रहों से पीड़ित बालकों के लिये दुष्ट एवं अल्प शुक्रवाले पुरुषों के लिये उत्तम है, वन्ध्या स्त्रियों के लिये शीघ्र ही गर्भप्रद है) ॥२७,२८॥

ब्राह्मीमैन्द्रीं विडङ्गानि व्योषं हिङ्गु सुरां जटाम् ।
विषघ्नीं लशुनं रास्नां विशल्यां सुरसां वचाम् ॥३०॥
ज्योतिष्मतीं नागरं च अनन्तामभयां तथा ।
सौराष्ट्रीं च समांसानि गजमूत्रेण पेषयेत् ॥३१॥
छायाविशुष्कास्तद्वर्तीर्योजयेद्विधिकोविदः ।
अवपीडेऽञ्जनेऽभ्यङ्गे नस्ये धूमे प्रलेपने ॥३२॥

ब्राह्मी, इन्द्रवारुणी, विडंग, त्रिकटु, हींग, देवदारु, जटामांसी, विषघ्नी (हल्दी), लहसुन, रास्ना, विशल्या, (कलिहारी), तुलसी, वच, मालकांगनी, सोंठ, सारिवा, हरड़ और सोरठोमिट्टी, इनको परस्पर समान भाग लेकर हाथी के मूत्र से पीसे । इनकी वर्त्ति बनाकर छाया में सुखा ले । विधि को जाननेवाला वैद्य इनको अवपीड में, अंजन में, अभ्यंग में, नस्य में, धूम में, प्रलेप में बरते ॥३०-३२॥

उरोऽपाङ्गललाटेषु सिराश्चास्य विमोक्षयेत् ।

उन्माद रोगी के उर, अपांग और ललाट में सिरा का वेधन करे ।

अपस्मारक्रियां चापि ग्रहोद्दिष्टां च कारयेत् ॥३३॥

अपस्मार में कही एवं ग्रह में कही चिकित्सा करे ॥३३॥

शान्तदोषं विशुद्धं च स्नेहबस्तिभिराचरेत् ।
उन्मादेषु च सर्वेषु कुर्याच्चित्तप्रसादनम ।
मृदुमुर्वां मदेऽप्येवं क्रियां मृद्वीं प्रयोजयेत् ॥३४॥
शोकशल्यं व्यपनयेदुन्मादे पञ्चमे भिषक् ।
विषजे मृदुपर्वां च विषघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ॥३५॥

उन्माद के शान्त हो जाने पर—वमनादि से शुद्ध करके स्नेह बस्तियोंसे चिकित्सा करे । उन्माद शान्त होने का लक्षण—

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्धयात्ममनसां तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥ चरक ।

सब प्रकार के उन्मादों में चित्त की प्रसन्नता उत्पन्न करे । मद में प्रथम मृदु संशोधन देकर पीछे से कोमल अंजन, अवपीडन रूपी चिकित्सा करे । शोकजन्य पांचवें उन्माद में वैद्य शोकशल्य को निकाल देवे । विषजन्य उन्माद में मृदुशोधन देकर विषनाशक चिकित्सा करे ॥३४,३५॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रे
उन्मादप्रतिषेधो नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः)
द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अथातो रसभेदविकल्पमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे रस भेद विकल्प अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरोऽभिहितस्तु यः ।
त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत्प्रयोजनमुच्यते ॥३॥

---

१ कल्याणक घृत में क्षीर के स्थान में जल लेना उत्तम है । चरक में जल ही पाठ है, यथा—चतुर्गुणे जले सम्यक् घृतप्रस्थं विपाचयेत् । महाकल्याणक में 'गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे' पाठ है ।

दोषों का जो पन्द्रह प्रकार से प्रसर कहा है, उसका प्रयोजन, तिरसठ रस भेदों की दृष्टि से है।

वक्तव्य—पन्द्रह दोषों के उपलक्षण मात्र हैं। दोष परस्पर मिलकर तिरसठ प्रकार के हैं, रस भी संसर्ग रूप में तिरसठ हैं, इसलिये दोनों की तुलना करके इन रसों का प्रयोग करना चाहिये ॥३॥

अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा।
रसवेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥४॥

अविदग्ध (असंयुक्त-एकाकी) रस और विदग्ध (संयुक्त मिले) रस तिरसठ प्रकार के हैं। रसों के इन तिरसठ भेदों के दोषों को देख देखकर बरतना चाहिये ॥४॥

एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम्।
दोषाणां तत्र मतिमान् त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत् ॥५॥

दोषों का अंशांश कल्पना से एक एक रस का अनुकरण करना, जो कहा है, उनमें बुद्धिमान् वैद्य इन तिरसठ रस भेदों को बरते ॥५॥

यथाक्रमप्रवृत्तानां द्विकेषु मधुरो रसः।
पञ्चानुक्रमते योगानम्लश्चतुर एव तु ॥६॥
त्रींश्चानुगच्छति रसो लवणः कटुको द्वयम्।
तिक्तः कषायमन्वेति ते द्विका दश पञ्च च ॥७॥

तद्यथा—मधुराम्लः १, मधुरलवणः २, मधुरकटुकः ३, मधुरतिक्तः ४, मधुरकषायः ५, एते पञ्चानुक्रान्ता मधुरेण, अम्ललवणः १, अम्लकटुकः २, अम्लतिक्तः ३, अम्लकषायः ४, एते चत्वारोऽनुक्रान्ता अम्लेन, लवणकटुकः १, लवणतिक्तः २, लवणकषायः ३, एते त्रयोऽनुक्रान्ता लवणेन, कटुतिक्तः १, कटुकषायः २, द्वावेतावनुक्रान्तौ कटुकेन, तिक्तकषायः १, एक एवानुक्तान्तस्तिक्तेन, एवमेते पञ्चदश द्विकसंयोगा व्याख्याताः ॥८॥

दो रसों के संयोग में क्रम से मधुर रस पाँच रसों में, अम्ल रसों के चार योगों में, लवणरस तीन योगों में, कटु रस दो में और तिक्त केवल कषाय के साथ मिलता है, इस प्रकार दो रसों के संयोग पन्द्रह हैं।

यथा—मधुराम्ल, मधुरलवण, मधुरकटुक, मधुरतिक्त, मधुरकषाय—ये पाँच मधुररस के संयोग से बने हैं। अम्ललवण, अम्लकटु, अम्लतिक्त, अम्लकषाय ये चार प्रकार अम्ल से बने हैं। लवणकटु, लवणतिक्त, लवणकषाय, ये तीन लवण के योग से बने हैं। कटुतिक्त, कटुकषाय, ये दो कटुरस से बने हैं। तिक्तकषाय तिक्त से एक ही संयोग है। इस प्रकार से ये पन्द्रह योग दो रसों के संयोग से बने हैं ॥६-८॥

त्रिकान् वक्ष्यामः—

आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश गच्छति।
षडम्लो लवणस्तस्मादर्धमेकं तथा कटुः ॥९॥

तद्यथा—मधुराम्ललवणः १, मधुराम्लकटुकः २, मधुराम्लतिक्तः ३, मधुराम्लकषायः ४, मधुरलवणकटुकः ५, मधुरलवणतिक्तः ६, मधुरलवणकषायः ७, मधुरकटुकतिक्तः ८, मधुरकटुकषायः ९, मधुरतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानां त्रिकसंयोगानामादौ मधुरः प्रयुज्यते, अम्ललवणकटुकः १, अम्ललवणतिक्तः २, अम्ललवणकषायः ५, अम्लतिक्तकषायः ६, एवमेषां षण्णामादावम्लः प्रयुज्यते, लवणकटुतिक्तः १, लवणकटुकषायः २, लवणतिक्तकषायः ३, एवमेषां त्रयाणामादौ लवणः प्रयुज्यते, कटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ कटुकः प्रयुज्यते, एवमेते त्रिकसंयोगा विंशतिर्व्याख्याताः ॥१०॥

त्रिक-तीन के संयोग को कहेंगे—मधुर को प्रारम्भ में रखकर दस संयोग बनते हैं। अम्ल को आगे में रखकर छै संयोग, लवण को आगे में रखकर तीन संयोग बनते हैं। यथा—

मधुराम्ललवण, मधुराम्लकटु, मधुराम्लतिक्त, मधुराम्लकषाय, मधुरलवणकटु, मधुरलवणतिक्त, मधुरलवणकषाय, मधुरकटुतिक्त, मधुरकटुकषाय, मधुरतिक्तकषाय, इस प्रकार इन तीन रसों के दस संयोगों में मधुररस प्रारम्भ में हैं। अम्ललवणकटु, अम्ललवणतिक्त, अम्ललवणकषाय, अम्लकटुतिक्त, अम्लकटुकषाय, अम्लतिक्तकषाय, इन छै में अम्लरस पहले आता है। लवणकटुतिक्त, लवणकटुकषाय, लवणतिक्तकषाय, इन तीन के प्रारम्भ में लवण बरता गया है। कटुतिक्तकषाय—इस एक में कटु रस ही आरम्भ में बरता गया है। इस प्रकार तीन रसों के बीस संयोग कह दिये हैं।

वि० मन्तव्य—तीन रसों के संयोग का नाम 'त्रिक' है और इसी प्रकार चार रसों के संयोग का नाम "चतुष्क" पाँच रसों के संयोग का नाम "पञ्चक" तथा छः रसों के संयोग का नाम "षट्क" है ॥९,१०॥

चतुष्कान् वक्ष्यामः—

चतुष्करससंयोगान्मधुरो दश गच्छति।
चतुरोऽम्लोऽनुगच्छेच्च लवणस्त्वेकमेव तु ॥११॥

मधुराम्ललवणकटुकः १, मधुराम्ललवणतिक्तः २, मधुराम्ललवणकषायः ३, मधुराम्लकटुतिक्तः ४- मधुराम्लकटुकषायः ५, मधुराम्लतिक्तकषायः ६, मधुरलवणतिक्तकषायः ९, मधुरकटुतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानामादौ मधुरः प्रयुज्यते, अम्ललवणकटुतिक्तः १, अम्ललवणकटुकषायः २, अम्ललवणतिक्तकषायः ३, अम्लकटुतिक्तकषायः ४, एवमेषां चतुर्णामादावम्लः प्रयुज्यते, लवणकटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ लवणः प्रयुज्यते, एवमेते चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कीर्तिताः ॥१२॥

चार रसों के संयोगों को कहेंगे—चार रसों के संयोग में

मधुर रस आगे आकर दस संयोग बनते हैं। अम्ल रसों के चार संयोग और लवण का एक संयोग बनता है, यथा—

मधुराम्ललवणकटु, मधुराम्ललवणतिक्त, मधुराम्लतिक्त, मधुराम्लकटुकषाय, मधुराम्लतिक्तकषाय, मधुरलवणकटुतिक्त, मधुरलवणकटुकषाय, मधुरलवणतिक्तकषाय, मधुरकटुतिक्त-कषाय—इस प्रकार इन दस के प्रारम्भ में मधुर रस बरता जाता है। अम्ललवणकटुतिक्त, अम्ललवणकटुकषाय, अम्लकटु-तिक्तकषाय, अम्ललवणतिक्तकषाय—इन चार में अम्लरस प्रारम्भ में बरता गया है। लवणकटुतिक्तकषाय—इस प्रकार चार रस के पन्द्रह संयोग कह दिये हैं ॥१२॥

पञ्चकान् वक्ष्यामः—

पञ्चकान् पञ्च मधुर एकमम्लस्तु गच्छति ॥१३॥

मधुराम्ललवणकटुतिक्तः १, मधुराम्ललवणकटुकषायः २, मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ३, मधुराम्लकटुतिक्त-कषायः ४, मधुरलवणकटुतिक्तकषायः ५, एवमेषां पञ्चानामादौ मधुरः प्रयुज्यते, अम्ललवणकटुतिक्तकषायः, १, एवमेकस्यादावम्लः, एवमेते षट् पञ्चकसंयोगा व्याख्याताः ॥१४॥

पाँच रसों के संयोगों को कहते हैं—मधुररस पांच संयोगों में पहले आता है और अम्ल रस एक संयोग में यथा—

मधुराम्ललवणकटुतिक्त, मधुराम्ललवणकषाय, मधुराम्ल-लवणतिक्तकषाय, मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, मधुलवणकटुतिक्त-कषाय, इस प्रकार इन पाँच के प्रारम्भ में मधुररस बरता जाता है। अम्ललवणकटुतिक्तकषाय इस एक में अम्लरस बरता गया, इस प्रकार से पाँच रसों के छै संयोग कह दिये हैं ॥१३,१४॥

षट्कमेकं वक्ष्यामः एकस्तु षट्कसंयोगः—मधुराम्ल-लवणकटुतिक्तकषायः एष एक एव षट्क संयोगः ॥१५॥

छै रसों का संयोग एक कहेंगे—छै रसों का संयोग एक ही है—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय, यही एक छै रसों का संयोग है ॥१५॥

एकैकश्च षड्रसा भवन्ति—मधुरः १, अम्लः २, लवणः ३, कटुकः ४, तिक्तः ५, कषायः ६, इति ॥१६॥

एक एक रस छै हैं, यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ॥१६॥

भवति चात्र—

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याताः रसानां रसचिन्तकैः ।
दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥१७॥

इस विषय में श्लोक है—रस के विचारकों ने रसों के ये तिरसठ भेद कहे हैं। बुद्धिमानों को चाहिये कि दोष भेद के तिरसठ भेदों में इनका प्रयोग करे।

वि० मन्तव्य—द्रव्यं एकरसं नास्ति न रोगोऽपि एकदोषजः - के अनुसार संसार का कोई भी द्रव्य एक रस अर्थात् केवल एकरसवाला नहीं और कोई रोग भी एक दोषज अर्थात् केवल एक दोषज नहीं है। अतएव अनेक रस अर्थात् एक रस से अधिक रसवाले द्रव्यों का प्रयोग अनेक दोषज अर्थात् एक से अधिक दोषों से उत्पन्न रोगों में—द्रव्याश्रित रसों का विचार करके करना चाहिये तभी लाभ होता है। यह विचार इस प्रकार किया जाता है—रसाः तावत् षट्-मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषायाः। ते सम्यक् उपयुज्यमाना शरीरं यापयन्ति, मिथ्या उपयुज्यमानाः तु खलु दोष प्रकोपाय उपकल्पन्ते। और—दोषाः पुनः त्रयः वात-पित्त-श्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिम् आपन्नाः तु खलु नानाविधैः विकारैः शरीरम् उपतापयन्ति। और—तत्र दोषं एकैकं त्रयः त्रयः रसा जनयन्ति, त्रयः त्रयः च उपशमयन्ति। तद्—यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुर—अम्ललवणाः तु एनं (वातं) शमयन्ति, कटुकअम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति मधुरतिक्तकषायाः तु एनत् (पित्तं) शमयन्ति। मधुरअम्ल लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायाः तु एनं (कफं) शमयन्ति। परन्तु—रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः यैः दोषैः समान-गुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते (रसाः) तान् (दोषान्) अभिवर्द्धयन्ति। विपरीतगुणाः तु विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति अभ्यस्यमाना (सेव्यमानाः) इति। (च० नि० अ० १)- सारांश—रस छै हैं और दोष तीन हैं, तीन तीन रस एक एक दोष को बढ़ाते हैं और तीन तीन एक एक दोष को शान्त करते हैं, परन्तु रस एवं दोषों के सन्निपात (संयोग) में भी जो २ रस दोषों के समान गुणवाले होते हैं वे उनको बढ़ाते हैं और जो २ विपरीत गुणवाले होते हैं वे उनको शान्त करते हैं। भगवान् धन्वन्तरि के उक्त श्लोक का यही तात्पर्य है, परन्तु यह सब केवल रसों को ध्यान में रखकर अथ च मुख्य मानकर कहा गया है। पाठक यह भी न भूलें कि रसों से भी अधिक कार्यकर गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव हैं, जो दोषों के वर्द्धन एवं शमन में हेतु होते हैं। देखिये सु० सू० अ० ४०। अतएव भगवान् पुनर्वसु ने उक्त पाठ से आगे पाठकों को सावधान करने के लिये कहा है कि—एतद्व्यवस्था हेतोः परस्परेण असंसृष्टानां (असंयुक्तानां) रसानां षट्त्वं उपदिश्यते दोषाणां च त्रित्वम्। अर्थात् यह केवल व्यवस्था के लिये—परस्पर न मिले हुए रस छै और दोष तीन कह दिये जाते हैं॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु रस-भेदविकल्पाध्यायो नाम (प्रथमः आदितः) त्रिषष्टितमोऽध्यायः ६३॥

चतु:षष्टितमोऽध्याय:

अथातो स्वस्थवृत्तमध्यायं व्याख्यास्याम: ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि: ॥२॥

अब इसके आगे स्वस्थवृत्त अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१,२॥

सूत्रस्थाने समुद्दिष्ट: स्वस्थो भवति यादृश: ।
तस्य यद्रक्षणं तद्धि चिकित्साया: प्रयोजनम् ॥३॥

सूत्रस्थान में 'समदोष: समाग्निश्च' इत्यादि (सू० अ० १५) से जो स्वस्थव्यक्ति कहा है, उसकी जो रक्षा करनी है, वही चिकित्सा का प्रयोजन है ।

वक्तव्य—चिकित्सा का प्रयोजन यही है कि स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके । इसी से आयुर्वेद का प्रयोजन बताते हुए कहा है "व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्ष: स्वास्थ्यस्य परिरक्षणं च ।।" रोगचिकित्सा कह दी, अब स्वास्थ्यरक्षा कहते हैं ॥३॥

तस्य यद्वृत्तमुक्तं हि रक्षणं च मयाऽऽदित: ।
तस्मिन्नर्था: समासोक्ता विस्तरेणेह वक्ष्यते ॥४॥

उस स्वस्थ व्यक्ति की रक्षा के लिये अनागत बाधा प्रतिषेध अध्याय में जो विषय संक्षेप से मैंने कहे हैं, उनको यहाँ पर विस्तार से कहूँगा ॥४॥

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषा: कुप्यन्ति देहिनाम् ।
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥५॥

जिस जिस ऋतु में मनुष्यों के जो जो दोष प्रकुपित होते हैं, उन उन ऋतुओं में वे-वे रस जाननेवाला वैद्य देवे ।

वि० मन्तव्य—देखिये-अ० ६३ के श्लो० १५ का विशेष-वचन ॥५॥

प्रक्लिन्नत्वाच्छरीराणां वर्षासु भिषजा खलु ।
मन्देऽग्नौ कोपमायान्ति सर्वेषां मारुतादय: ॥६॥
तस्मात् क्लेदविशुद्ध्यर्थं दोषसंहरणाय च ।
कषायतिक्तकटुकै रसैर्युक्तमुपद्रवम् ॥७॥
नातिस्निग्धं नातिरूक्षमुष्णं दीपनमेव च ।
देयमन्नं नृपतये यज्जलं चोक्तमादित: ॥८॥
तप्तावरतमम्भो वा पिबेन्मधुसमायुतम् ।
अह्नि मेघानिलाविष्टेऽत्यर्थशीताम्बुसङ्कुले ॥९॥
तरुणत्वाद्विदाहं च गच्छन्त्योषधयस्तदा ।
मतिमांस्तन्निमित्तं च नातिव्यायाममाचरेत् ॥१०॥
अत्यम्बुपानावश्यायग्राम्यधर्मातपांस्त्यजेत् ।
भूबाष्पपरिहारार्थं शयीत च विहायसि ॥११॥
शीते साग्नौ निवाते च गुरुप्रावरणे गृहे ।
यायान्नागवधूभिश्च प्रशस्तागुरुभूषित: ॥१२॥
दिवास्वप्नमजीर्णं च वर्जयेत्तत्र यत्नत: ।

वर्षा ऋतु में शरीरों में अतिशय आर्द्रता रहने के कारण अग्नि के मन्द हो जाने से वायु आदि दोष कुपित हो जाते हैं । इसलिये क्लिन्नता की शुद्धि के लिये, और दोष के नाश के लिये कषाय, तिक्त, कटु से मिश्रित, द्रवहीन भोजन वैद्य देवे । न तो बहुत स्निग्ध, न बहुत रूक्ष, उष्ण, अग्निदीपक अन्न राजा को वैद्य देवे । पानीयवर्ग में-वर्षास्वान्तरिक्षं-में का जल पीने को देवे । अथवा गरम करके ठण्डा किया जल मधु मिलाकर पीये । दिन के बादल वायु से भरे आक्रान्त रहने से, अतिशयशीत जल से व्याप्त एवं नूतन उत्पन्न होने से, औषधियों में अम्लता आ जाती है । इस कारण विद्वान् मनुष्य वर्षाकाल में बहुत व्यायाम न करे । पानी का बहुत पीना, ओस, मैथुन, धूप से बचता रहे । जमीन की बाष्प (सीलन) से बचने के लिये-छत पर (अट्टालिका में दुमंजिले पर) सोये । ठण्ड होने पर, भारी वस्त्र ओढ़कर अग्नि से गरम किये वायु रहित घर में रहे । उत्तम अगर का शरीर पर लेप करके हथिनियों द्वारा आना जाना करे । दिन में सोना और अजीर्ण इससे वर्षा ऋतु में कोशिश करके बचता रहे ।

"भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लजलस्य च ।
वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादय: ॥
तस्मात्सधारण: सर्वो विधिर्वर्षासु शस्यते ॥" चरक ॥

सेव्या: शरदि यत्नेन कषायस्वादुतिक्तका: ॥१३॥
क्षीरेक्षुविकृतिक्षौद्रशालिमुद्गादिजाङ्गला: ।
(श्वेतस्रजश्चन्द्रपादा: प्रदोषे लघु चाम्बरम् ॥१४॥)
सलिलं च प्रसन्नत्वात् सर्वमेव तदा हितम् ।
सर:स्वाप्लवनं चैव कमलोत्पलशालिषु ॥१५॥
प्रदोषे शशिन: पादाश्चन्दनं चानु लेपनम् ।
तिक्तस्य सर्पिष: पानैरसृक्स्रावैश्च युक्तित: ॥१६॥
वर्षासूपचितं पित्तं हरेच्चापि विरेचनै: ।
नोपेयात्तीक्ष्णमम्लोष्णं क्षारं स्वप्नं दिवाऽऽतपम् ।१७।
रात्रौ जागरणं चैव मैथुनं चापि वर्जयेत् ॥
(स्वादुशीतजलं मेध्यं शुचिस्फटिकनिर्मलम् ॥१८॥
शरच्चन्द्रांशुनिर्धौतमगस्त्योदयनिर्विषम् ।
प्रसन्नत्वाच्च सलिलं सर्वमेव तदा हितम् ॥१९॥
सचन्दनं सकर्पूरं वासश्चामलिनं लघु ।
भजेच्च शारदं माल्यं सीधो: पानं च युक्तित: ।२०।
पित्तप्रशमनं यच्च तच्च सर्वं समाचरेत् ।)

प्रयत्नपूर्वक शरद् ऋतु में कषाय, स्वादु, तिक्त रस, दूध, गन्ने के रस की बनावटें, मधु, शालिधान्य, मूंग आदि एवं जांगल मांस सेवन करना चाहिये । श्वेत माला, रात के प्रथम प्रहर में चन्द्रमा की किरणों का सेवन करे । हल्के सूक्ष्म वस्त्र पहने । जल के निर्मल होने के कारण सब जल (नदी, कुएँ आदि का सब स्थानों का) हितकारी है । कमल–नील कमल से शोभित तालाबों में तैरना चाहिये । रात्रि के प्रथम प्रहर में चन्द्रमा की किरणें एवं चन्दन का लेप शरीर पर करे । वर्षा

में संचित पित्त को तिक्त घृतों के पीने से, युक्तिपूर्वक रक्तमोक्षण से, विरेचनों से निकाले। तीक्ष्ण अम्ल, उष्ण, क्षार दिन में सोना, धूप इनसे बचे। रात्रि में जागना, मैथुन भी छोड़ देवे।

(मधुर-शीतल जल मेध्य (मेधावर्धक). पवित्र, स्फटिक के समान निर्मल, शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों से धुला, अगस्त्य के निकलने से निर्विष बना निर्मल होने के कारण सब जल इसमें हितकारी है। चन्दन कपूर से सुगन्धित करके, निर्मल लघु कपड़े पहिने। शरद ऋतु के फूलों की माला पहने और युक्ति से सीधु की पीये। पित्तनाशक जो भी हो, उन सब का सेवन करे)। वक्तव्य—हंसोदक—

दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्॥
हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि।
स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम्॥
शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चन्द्ररश्मयः॥१३-२०॥

(हेमन्तः शीतलो रूक्षो मन्दसूर्योऽनिलाकुलः॥२१॥
ततस्तु शीतमासाद्य वायुस्तत्र प्रकुप्यति।
कोष्ठस्थः शीतसंस्पर्शादन्तःपिण्डीकृतोऽनलः॥२२॥
रसमुच्छोषयत्याशु तस्मात् स्निग्धं तदा हितम्।)
हेमन्ते लवणक्षारतिक्ताम्लकटुकोत्कटम्॥२३॥
ससर्पिस्तैलमहिमसशनं हितमुच्यते।
तीक्ष्णान्यपि च पानानि पिबेदगुरुभूषितः॥२४॥
तैलाक्तस्य सुखोष्णे च वारिकोष्ठेऽवगाहनम्।
साङ्गारयाने महति कौशेयास्तरणास्तृते॥२५॥
शयीत शयने तैस्तैर्वृतो गर्भगृहोदरे।
स्त्रीः श्लिष्टाऽगुरुधूपाढ्याः पीनोरुजघनस्तनीः॥२६॥
प्रकामं च निषेवेत मैथुनं तर्पितो नृपः।
(मधुरं तिक्तकटुकमम्लं लवणमेव च॥२७॥
अन्नपानं तिलान् माषाञ्छाकानि च दधीनि च।
तथेक्षुविकृतीः शालीन् सुगन्धांश्च नवानपि॥२८॥
प्रसहानूपमांसानि क्रव्यादबिलशायिनाम्।
औदकानां प्लवानां च पादिनां चोपसेवयेत्॥२९॥
मद्यानि च प्रसन्नानि यच्च किञ्चिद् बलप्रदम्।
कामतस्तन्निषेवेत पुष्टिमिच्छन् हिमागमे॥३०॥
दिवास्वप्नमजीर्णं च वर्जयेत्तत्र यत्नतः।)
एष एव विधिः कार्यः शिशिरे समुदाहृतः॥३१॥

(हेमन्त ऋतु शीतल, रूक्ष, सूर्य का तेज मन्द, वायु की अधिकतावाली होती है। इस ऋतु के शीतल होने से इस ऋतु में वायु कुपित होता है। शीतस्पर्श के कारण जाठराग्नि अन्दर में पिण्डीभूत-एकत्रित हो जाती है, इससे वह रस को सुखाती है, अतः स्निग्धभोजन इस ऋतु में हितकारी है)। हेमन्त ऋतु में प्रबल लवण-तिक्त-क्षार-अम्ल-कटु रसों का, प्रचुर घी तैल का तथा उष्ण भोजन का सेवन हितकारी है। शरीर पर अगरु का लेप करके तीक्ष्ण पानों को (पेयों को) पीये। शरीर पर तैल की मालिश करके गरम पानी से भरे टब में स्नान करे। अंगारों से भरी अंगीठीवाले, घर में बड़े विस्तृत रेशम से बिछाये बिस्तर पर शीतको मिटानेवाले वस्त्रों को ओढ़कर गर्भगृह के अन्दर सोये। अगरु और धूप से भरी, उरु, जघन एवं स्तनवाली स्त्रियों का आलिंगन करके वाजीकरण खान-पान से तृप्त हुआ राजा इच्छानुसार मैथुन करे। (मधुर तिक्त कटु, अम्ल, लवण, खान-पान, तिल, माष, शाक, दही, गन्ने के रस से बने पदार्थ, सुगन्धित नवीन शालिधान्य, प्रसह-आनूपमांस, मांस खानेवाले एवं बिलेशयों का मांस, औदक (मछली आदि) मांस, प्लव (बत्तख आदि) आदि का मांस, कछुए आदि पादियों का मांस खाये। निर्मल स्वच्छ मद्य पीये। और जो भी बलप्रद हो, उसको हेमन्तऋतु में इच्छापूर्वक खाये, दिन में सोना, अजीर्ण, इनको प्रयत्न पूर्वक छोड़ देवे) शिशिर में यही विधि बरते।

वक्तव्य—"प्रावराजिनकौशेयप्रवेणीकुथकास्ततम्—" ये वस्त्रों के भेद हैं, जो कि गरम होते हैं।

"वर्जयेदन्नपानानि लघूनि वातलानि च।
प्रवातं प्रमिताहारमुदमन्थं हिमागमे" ॥चरक॥२१-३१॥

(हेमन्ते निचितः श्लेष्मा शैत्याच्छीतशरीरिणाम्।
औष्ण्याद्वसन्ते कुपितः कुरुते च गदान् बहून्॥३२॥
ततोऽम्लमधुरस्निग्धलवणानि गुरूणि च।
वर्जयेद्वमनादीनि कर्माण्यपि च कारयेत्॥३३॥
षष्टिकान्नं यवाञ्छीतान् मुद्गान् नीवारकोद्रवान्।
लावादिविष्किररसैर्दद्याद्यूषैश्च युक्तितः॥३४॥
पटोलनिम्बवार्ताकतिक्तकैश्च हिमात्यये।
सेवेन्मध्वासवारिष्टान् सीधुमाध्वीकमाधवान्॥३५॥
व्यायाममञ्जनं धूमं तीक्ष्णं च कवलग्रहम्।
सुखाम्बुना च सर्वार्थान् सेवेत कुसुमागमे॥३६॥
तीक्ष्णरूक्षकटु क्षारकषायं कोष्णमद्रवम्।
यवमुद्गमधुप्रायं वसन्ते भोजनं हितम्॥३७॥
व्यायामोऽत्र नियुद्धाध्वशिलानिर्घातजो हितः।
उत्सादनं तथा स्नानं वनिताः काननानि च॥३८॥
सेवेत निर्हरेच्चापि हेमन्तोपचितं कफम्।
शिरोविरेकवमननिरूहकवलादिभिः॥३९॥
वर्जयेन्मधुरस्निग्धदिवास्वप्नगुरुद्रवान्।

शीतल शरीरवाले पुरुषों में हेमन्त के अन्दर संचित हुआ कफ वसन्त में गरमी से कुपिय होकर बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। इससे अम्ल, मधुर, स्निग्ध, लवण और गुरु वस्तुओं का त्याग करे, और वमन-विरेचन आदि कर्मों को

करे। सांठी अन्न, जौ (ठण्डे किये), मूँग, नीवार, कोदा आदि को बटेर आदि विष्किर मांस रसों के साथ या मूंग कुलत्थी आदि के यूष से देवे। वसन्त में परवल, नीम बैंगन, तिक्तक वस्तुओं से भोजन करे। मधु, आसव, अरिष्ट, सीधु, मधु-मद्य, माध्वीक, माधव (मधु से बने मद्य) का सेवन करे। व्यायाम, अंजन, तीक्ष्ण धूम, कवलग्रह को वरते। वसन्त में जल के सब कार्यों में गरम पानी वरते। तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, क्षार, कषाय, सुहाता गरम, द्रवरहित, जौ मूंग मधु की अधिकता का भोजन वसन्त में हितकारी है। नियुद्ध (कुश्ती), मुसाफरी, पत्थर फेंकना आदि व्यायाम हितकारी हैं। उबटन, स्नान, स्त्रियाँ, वन इनका वसन्त में सेवन करे। हेमन्त में संचित कफ को शिरोविरेचन, वमन, निरूह, कवल आदि से निकाले। मधुर, स्निग्ध, दिन में सोना, भारी द्रव बहुल वस्तुओं का त्याग करे॥

व्यायाममुष्णमायासं मैथुनं परिशोषि च ॥४०॥
रसांश्चाग्निगुणोद्रिक्तान् निदाघे परिवर्जयेत्।

ग्रीष्मऋतु में व्यायाम, धूप, परिश्रम, मैथुन, शरीर को सुखानेवाले आहार, अग्नि गुण की अधिकतावाले रसों का त्याग कर देवे। (अग्नि गुण की अधिकतावाले रस कटु, अम्ल और लवण हैं) ॥४०॥

सरांसि सरितो वापीर्वनानि रुचिराणि च ॥४१॥
चन्दनानि परार्घ्याणि स्रजः सकमलोत्पलाः।
तालवृन्तानिलाहारांस्तथा शीतगृहाणि च ॥४२॥
घर्मकाले निषेवेत वासांसि सुलघूनि च।
शर्कराखण्डदिग्धानि सुगन्धीनि हिमानि च ॥४३॥
पानकानि च सेवेत मन्थांश्चापि सशर्करान्।
भोजनं च हितं शीतं सघृतं मधुरद्रवम् ॥४४॥
शृतेन पयसा रात्रौ शर्करामधुरेण च।
प्रत्यग्रकुसुमाकीर्णे शयने हर्म्यसंस्थिते ॥४५॥
शयीत चन्दनार्द्राङ्गः स्पृश्यमानोऽनिलैः सुखैः।

ग्रीष्म ऋतु में तालाब, नदियाँ, बावड़ी, सुन्दरबन, उत्कृष्ट चन्दन, कमल, नीलोफर की मालायें, ताड़ के बने पंखों की वायु, शीतल घर, हल्के पतले वस्त्रों का सेवन करे। शर्करा, खाँड से लिप्त, सुगन्धित, शीतल पानक (शर्बतों) का सेवन करे, और शर्करा मिश्रित मन्थों को पीये। शीतल, घृतयुक्त, मधुर, एवं द्रव भोजन हितकारी है। गरम किये दूध में शर्करा मिलाकर इससे रात्रि में भोजन करना उत्तम है। अट्टालिका की छत पर बिछाये, नूतन-नये फूलों से भरे बिस्तर पर शरीर पर चन्दन का लेप करके सुखदायक वायु का स्पर्श लेते हुए सोये।

वक्तव्य—"दिवा पानानि शीतानि हितं रात्रौ च भोजनम्। ससर्पिःशर्करं शीतं शृतेन पयसा युतम्॥ दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले। भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके॥" चरक ॥४१-४५॥

तापात्यये हिता नित्यं रसा ये गुरवस्त्रयः ॥४६॥
पयो मांसरसाः कोष्णास्तैलानि च घृतानि च।
बृंहणं चापि यत्किञ्चिदभिष्यन्दि तथैव च ॥४७॥
निदाघोपचितं चैव प्रकुप्यन्तं समीरणम्।
निहन्यादनिलघ्नेन विधिना विधिकोविदः ॥४८॥
(नदीजलं रूक्षमुष्णमुदमन्थं तथाऽऽतपम्।
व्यायामं च दिवास्वप्नं व्यवायं चात्र वर्जयेत् ॥४९॥
(नवान्नरूक्षशीताम्बुसक्तूंश्चापि विवर्जयेत्।)
यवषष्टिकगोधूमान् शालींश्चाप्यनवांस्तथा ॥५०॥
हर्म्यमध्ये निवाते च भजेच्छय्यां मृदूत्तराम्।
सविषप्राणिविण्मूत्रलालानिष्ठीवनादिभिः ॥५१॥
समाप्लुतं तदा तोयमान्तरीक्षं विषोपमम्।
वायुना विषदुष्टेन प्रावृषेण्येन दूषितम् ॥५२॥
तद्धि सर्वोपयोगेषु तस्मिन् काले विवर्जयेत्।
अरिष्टासवमैरेयान् सोपदंशांस्तु युक्तितः ॥५३॥
पिबेत् प्रावृषि जीर्णांस्तु रात्रौ तानपि वर्जयेत्।
निरूहैर्बस्तिभिश्चान्यैस्तथाऽन्यैर्मारुतापहैः ॥५४॥
(कुपितं शमयेद्वायुं वार्षिकं चाचरेद्विधिम्॥)

ग्रीष्म के बीत जाने पर प्रावृड् काल में नित्य भारी तीन रसों का (मधुर, अम्ल, लवण का) सेवन करे। दूध सुहाते गरम मांसरस, तैल, घृत इनका सेवन करे। जो भी कोई द्रव्य बृंहण एवं अभिष्यन्दि हो, उनका सेवन करे। ग्रीष्म में संचित वायु के प्रकोप को, विधि को जाननेवाला वैद्य वातनाशक विधि से शान्त कर दे। (इसी ऋतु में नदी का पानी, रूक्ष, उष्ण वस्तुएँ, पानी में घुले सत्तू, धूप, व्यायाम, दिन में सोना और मैथुन छोड़ देवे)। नूतन अन्न (एक साल से कम), रूक्ष, शीतल अन्न, शीतल जल, सत्तू (पानी में घुले) छोड़ दे। जौ, गेहूँ, पुराने साँठी, शाली का सेवन करे। मकान के मध्य में वायु रहित स्थान पर अतिशय कोमल शय्या पर सोये। वर्षा का जल विषवाले प्राणी के मल मूत्र, लाला, थूक आदि से मिला होने के कारण विष के समान होता है, प्रावृड् ऋतु के विष से दूषित वायु से दूषित होने के कारण इस ऋतु में प्रत्येक कार्य में यह निन्दित होता है। प्रावृड् ऋतु में चटनी आदि (या मांस को) खाकर युक्ति से पुरातन अरिष्ट, आसव, मैरेय को पीये। रात्रि में इनका भी परित्याग कर देवे। निरूह से, अनुवासन वस्ति से, तथा दूसरी वातनाशक विधियों से कुपित वायु को शान्त करे। वर्षा की ऋतुचर्या का सेवन करे।

वक्तव्य—प्रावृड्काल में वायु का संचय होता है, संचय काल में ही वायु को शान्त करना चाहिये। यथा—"संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः" ॥४६-५४॥

ऋतावृतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः ॥५५॥

घोरानृतुकृतान् रोगान्नाप्नोति स कदाचन ।

इस विधि से जो मनुष्य प्रत्येक ऋतु में बरतता है, वह ऋतुजन्य भयानक रोगों से कभी भी आक्रान्त नहीं होता ॥५५॥

अत ऊर्ध्वं द्वादशाशनप्रविचारान् वक्ष्यामः। तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्त-मात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः ॥५६॥

इसके आगे भोजन के बारह विभागों को कहेंगे—इनमें शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, द्रव, शुष्क, एककालिक, द्विकालिक, औषधयुक्त, मात्राहीन, दोषप्रशमन, वृत्ति के लिये ॥५६॥

तृष्णोष्णमददाहार्तान् रक्तपित्तविषातुरान् ।
मूर्च्छार्तान् स्त्रीषु च क्षीणान् शीतैरन्नैरुपाचरेत् ॥५७॥

तृष्णा, गरमी, मद, दाह से पीड़ित, रक्तपित्त, विष के रोगी, मूर्च्छा पीड़ित, स्त्रीसंग से क्षीण पुरुषों की शीतल अन्न (खान-पान) से चिकित्सा करे ॥५७॥

कफवातामयाविष्टान् विरिक्तान् स्नेहपायिनः ।
अक्लिन्नकायांश्च नरानुष्णैरन्नैरुपाचरेत् ॥५८॥

कफ-वात के रोगों से आक्रान्त, विरेचन लिये, स्नेह पीये, क्लेद रहित शरीरवालों की उष्ण अन्न से चिकित्सा करे ॥५८॥

वातिकान् रूक्षदेहांश्च व्यवायोपहतांस्तथा ।
व्यायामिनश्चापि नरान् स्निग्धैरन्नैरुपाचरेत् ॥५९॥

वात प्रकृति, रूक्ष शरीर, मैथुन से पीड़ित (थके), नित्य-प्रति व्यायाम करनेवालों की स्निग्ध अन्न (खान-पान) से चिकित्सा करे ॥५९॥

मेदसाऽभिपरीतांस्तु स्निग्धान्मेहातुरानपि ।
कफाभिपन्नदेहांश्च रूक्षैरन्नैरुपाचरेत् ॥६०॥

मेद से व्याप्त शरीरवालों की, स्निग्ध एवं मेहरोगियों की कफ से भरे शरीरवालों की रूक्ष अन्न से चिकित्सा करे ॥६०॥

शुष्कदेहान् पिपासार्तान् दुर्बलानपि च द्रवैः ।

शुष्कशरीरवाले, पिपासा से पीड़ित, दुर्बल मनुष्यों की द्रव भोजनों से चिकित्सा करे ।

प्रक्लिन्नकायान् व्रणिनः शुष्कैर्मेहिन एव च ॥६१॥

कुष्ठ आदि से सड़े शरीरवाले, व्रण रोगियों की, मेहरोगियों की शुष्क अन्न से चिकित्सा करे ।

वक्तव्य—क्लिन्न व्रणों में शुष्क भोजन देवे । अक्लिन्न व्रणों में द्रव भोजन विधेय है ॥६१॥

एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये ।

दुर्बल अग्नि को बढ़ाने के लिये एक समय भोजन देना चाहिये ।

समाग्नये तथाऽऽहारो द्विकालमपि पूजितः ॥६२॥

समान अग्नि के लिये दोनों समय आहार देना उत्तम है ॥

औषधद्वेषिणे देयस्तथौषधसमायुतः ।

औषध से द्वेष रखनेवाले को औषध से मिला अन्न देवे ।

मन्दाग्नये रोगिणे च मात्राहीनः प्रशस्यते ॥६३॥
तदर्तुदत्तस्त्वाहारो दोषप्रशमनः स्मृतः ।

मन्दाग्नि और रोगी को मात्रा से कम आहार देवे । ऋतु के अनुसार दिया अन्न आहार दोष प्रशामक कहा गया है ॥

अतः परं तु स्वस्थानां वृत्त्यर्थं सर्व एव च ।
प्रविचारानिमान्नेव द्वादशात्र प्रयोजयेत् ॥६४॥

इसके उपरान्त समान धातु एवं समदोष प्रकृति स्वस्थ पुरुषों के लिये शरीर के धारण के लिये अन्न देवे । इन बारह विभागों को इस प्रकार प्रयोग करे ॥६४॥

अत ऊर्ध्वं दशौषधकालान् वक्ष्यामः । तत्राभक्तं प्राग्भक्तमधोभक्तं मध्येभक्तमन्तराभक्तं सभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुर्ग्रासग्रासान्तरं चेति दशौषधकालाः ॥६५॥

इसके आगे दस औषध कालों को कहेंगे इनमें अभक्त, प्राग्भक्त, अधोभक्त, मध्येभक्त, अन्तराभक्त, सभक्त, सामुद्ग, मुहुर्मुहुः, ग्रास, ग्रासान्तर-ये दस औषधकाल (औषध देने के समय) हैं ॥६५॥

तत्राभक्तं तु यत् केवलमेवौषधमुपयुज्यते ॥६६॥

इनमें जब केवल औषध ही बरती जाती है, उसको अभक्त कहते हैं ।

वि० मन्तव्य—जैसे लंघन-उपवास करते २ औषध खिलाई जाती है ॥६६॥

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात्तथाऽऽमयमसंशयमाशु चैव ।
तद्बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥६७॥

अन्न के बिना औषध अधिक शक्तिशाली होती है । इससे औषध बिना संशय के रोगों को शान्त करती है । परन्तु इस प्रकार की औषध बालक, वृद्ध, स्त्री एवं कोमल प्रकृति के मनुष्य पीकर विशेष ग्लानि तथा बलक्षय को प्राप्त होते हैं ।

वि० मन्तव्य—इससे लाभ तो बहुत होता है, परन्तु बाल आदि को उससे हानि भी होती है, और उनको भी जिनको लंघन का निषेध है । ऐसे रोगियों को लघु भोजन के साथ २ औषध देना चाहिये देखिये निम्नलिखित श्लोक ६९ ॥६७॥

प्राग्भक्तं नाम प्रोक्तं यत् प्राग्भक्तस्योपयुज्यते ॥६८॥

जो औषध भोजन से पूर्व दी जाती है, उसका नाम प्राग्भक्त है ॥६८॥

शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्या-
दन्नावृतं न च मुखर्वदनान्निरेति ।
प्राग्भक्तसेवितमथौषधमेतदेव
दद्याच्च वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनाभ्यः ॥६९॥

इस प्रकार की औषधि शीघ्र ही सुखपूर्वक पच जाती है, बल का नाश नहीं करती। अन्न से आवृत होने के कारण मुख से वापिस नहीं निकलती। भोजन से पूर्व सेवन की औषध वृद्ध, शिशु, डरपोक, कृश एवं स्त्रियों के लिये देनी चाहिये ॥६६॥

अधोभक्तं नाम—यदधो भक्तस्येति ॥७०॥

जो औषध भोजन के पीछे दी जाती है, उसका नाम अधोभक्त है ॥७०॥

मध्येभक्तं नाम—यन्मध्ये भक्तस्य पीयते ॥७१॥

जो औषध भोजन के बीच में दी जाती है, उसका नाम मध्येभक्त है ॥७१॥

पीतं यदन्नमुपयुज्य तदूर्ध्वकाये
हन्याद् गदान् बहुविधांश्च बलं ददाति।
मध्ये तु पीतमपहन्त्यविसारिभावा-
द्ये मध्यदेहमभिभूय भवन्ति रोगाः ।७२।

औषध पीकर जो अन्न खाया जाता है, वह शरीर के ऊर्ध्व भाग के बहुत से रोगों को नष्ट करके, शरीर के ऊर्ध्व भाग में बल देता है। भोजन के बीच में पी हुई औषध न फैलने के स्वभाव के कारण कोष्ठ के रोगों को नष्ट करती है ॥७२॥

अन्तराभक्तं नाम–यदन्तरा पीयते पूर्वापरयोर्भक्तयोः ७३

पूर्व और अपर भोजनों के बीच में जो औषध पी जाती है, (प्रातः और सायं भोजन के बीच में) वह अन्तराभक्त है ।७४।

सभक्तं नाम—यत् सह भक्तेन ॥७४॥

भोजन के साथ सिद्ध की या खाई हुई औषध सभक्त है ॥

पथ्यं सभक्तमबलाबलयोर्हि नित्यं
तद्द्वेषिणामपि तथा शिशुवृद्धयोश्च ।
हृद्यं मनोबलकरं त्वथ दीपनं च
पथ्यं सदा भवति चान्तरभक्तकं यत् ॥६५॥

स्त्री, दुर्बल, औषध से द्वेष रखनेवाले, शिशु, वृद्ध इनके लिये भोजन के साथ औषध देना सदा हितकारी है। इस प्रकार दी हुई औषध हृदय के लिये प्रिय, मनोबल को देने-वाली, अग्निदीपक, सदा पथ्य है ॥७५॥

सामुद्गं नाम—यद्भक्तस्यादावन्ते च पीयते ॥७६॥

दोषे द्विधा प्रविसृते च समुद्गसंज्ञ-
माद्यन्तयोर्दशनस्य निषेव्यते तु ॥७७॥

सामुद्ग—भोजन के आदि में और भोजन के अन्त में जो औषध दी जाती है, वह सामुद्ग है। दोष के ऊपर और नीचे दोनों ओर प्रसृत होने पर औषध को भोजन के आदि और अन्त में दिया जाता है, इसको सामुद्ग कहते हैं ।७६,७७।

मुहुर्मुहुर्नाम—

सभक्तमभक्तं वा यदौषधं मुहुर्मुहुरुपयुज्यते ॥७८॥

श्वासे मुहुर्मुहुरतिप्रसृते च कासे
हिक्कावमीषु स वदन्त्युपयोज्यमेतत् ।७९।

भोजन के साथ या भोजन के बिना जो औषध बार-बार सेवन की जाती है, उसका नाम मुहुः मुहुः है। श्वास में या कास के बहुत वेगवान् होने पर, हिचकी में, वमन में औषध को बार-बार देना चाहिये ॥

ग्रासं तु—यत्पिण्डव्यामिश्रम् ॥८०॥

कवल के साथ मिलाई औषध ग्रास औषध है ॥

ग्रासान्तरं तु यद्ग्रासान्तरेषु ॥८१॥

दो ग्रासों (कवलों) के बीच में दी गई औषध ग्रासान्तर औषध कही जाती है ॥८१॥

ग्रासेषु चूर्णमबलाग्निषु दीपनीयं
वाजीकराण्यपि तु योजयितुं यतेत ।
ग्रासान्तरेषु वितरेद्वमनीयधूमान्
श्वासादिषु प्रथितदृष्टगुणांश्च लेहान् ॥८२॥

दुर्बलाग्नियों में, ग्रासों में औषध देवे। दीपन गुण एवं वाजीकरण औषधियों को भी इसी रूप में देने का यत्न करे। वमन कारक धूमों को ग्रासों के बीच में देवे। श्वास आदि रोगों में इष्ट गुणवाले प्रसिद्ध लेहों को ग्रासान्तरों में दे ॥८२॥

एवमेते दशौषधकालाः ॥८३॥

इस प्रकार से ये दश औषधकाल हैं।

रोग्यवेद्य यथा प्रायः निरन्नो बलवान् पिबेत् ।
भेषजं लघुपथ्यान्नैः युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥
भैषज्यकालौ भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः ।
सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे तथा ॥ चरक ॥

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति ।
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगमे कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः ।८४।

आहारकाल–मलमूत्र का त्याग कर चुकने पर, इन्द्रियों के निर्मल होने पर, शरीर में हल्कापन प्रतीत होने से, उद्गार के शुद्ध हो जाने पर, हृदय में निर्मलता होने से, अपान वायु का अधः प्रवाहण होने पर, भोजन में रुचि होने पर, थकान मिट जाने पर, उदर में ढीलापन होने से, वैद्य को चाहिये कि इस समय आहार देवे, क्योंकि भोजन का सच्चा समय यही है ॥८४॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु स्वस्थवृत्ताध्यायो नाम (द्वितीयोऽध्यायः, आदितः) चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अथातस्तन्त्रयुक्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे तंत्रयुक्ति अध्याय का व्याख्यान करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था।

वि० मन्तव्य—तन्त्र-तत्र आयुर्वेदः, शाखा, विद्या, सूत्रं, ज्ञानं, शास्त्रं, लक्षणं तन्त्रम् इति अनर्थान्तरम् (च० सू० अ० ३०) अर्थात् ये सब शब्द तन्त्र के पर्याय हैं। युक्ति-योजना-जोड़ना अर्थात् तन्त्रमें लिखे गये वाक्यों के शब्दों को जोड़कर उचित अर्थ निकालना "तन्त्रयुक्ति" कहलाता है। तन्त्रयुक्तियों के बिना वाक्यों का तात्पर्य नहीं निकाला-समझा जा सकता ॥

द्वात्रिंशत्तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे। तद्यथा—अधिकरणं १, योगः २, पदार्थः ३, हेत्वर्थः ४, उद्देशः ५, निर्देशः ६, उपदेशः ७, अपदेशः ८, प्रदेशः ९, अतिदेशः १०, अपवर्गः ११, वाक्यशेषः १२, अर्थापत्तिः १३, विपर्ययः १४, प्रसङ्गः १५, एकान्तः १४, अनेकान्तः १७, पूर्वपक्षः १८, निर्णयः १९, अनुमतं २०, विधानम् २१, अनागतावेक्षणम् २२, अतिक्रान्तावेक्षणं २३, संशयः २४, व्याख्यानं २५, स्वसंज्ञा २६, निर्वचनं २७, निदर्शनं २८, नियोगः २०, विकल्पः ३०, समुच्चयः ३१, ऊह्यम् ३२, इति ॥३॥

सुश्रुत शास्त्र में बत्तीस तंत्रयुक्तियां है। यथा—अधिकरण, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश, अपवर्ग, वाक्यशेष, अर्थापत्ति, विपर्यय, प्रसंग, एकांत, अनेकान्त, पूर्वपक्ष, निर्णय, अनुमत, विधान, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तवेक्षण, संशय, व्याख्यान, स्वसंज्ञा, निर्वचन, निदर्शन, नियोग, विकल्प, समुच्चय, और ऊह्य ये बत्तीस तंत्रयुक्तियां हैं।

वक्तव्य—अन्य शास्त्रों में छत्तीस तंत्रयुक्तियां मानी हैं ॥३॥

अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनम् ? उच्यते—वाक्ययोजनमर्थयोजनं च ॥४॥

इन तंत्र युक्तियों का लाभ क्या है ? कहते हैं—असम्बद्ध वाक्य का सम्बन्ध जोड़ना और छिपे हुए अर्थ को प्रकाशित करना, इन तंत्र युक्तियों का प्रयोजन है।

वि० मन्तव्य—प्रयोजन-तन्त्रयुक्तियों की आवश्यकता—अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्यविचक्षणः। नाधिगच्छति शास्त्रार्थान् अर्थान् भाग्यक्षये यथा ॥ च० सि० अ० १२। अर्थात् जो तन्त्रयुक्तियों को भली भांति नहीं जानता वह शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी शास्त्र के अर्थों को नहीं समझ सकता। और 'अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च। तन्त्रकर्त्तुः अभिप्रायान् उपायान् च अर्थं आदिशेत्। ३७। (च० अ० २६)। तात्पर्य—तन्त्रकर्त्ता के अभिप्राय को समझकर ही अर्थ कहना चाहिये ॥४॥

भवन्ति चात्रश्लोकाः—

असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः ॥५॥
व्यक्ता नोक्तास्तु ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः।
लेशोक्ता ये च केचित्स्युस्तेषां चापि प्रसाधनम् ॥६॥

इस विषय में श्लोक भी है—तंत्र युक्तियों द्वारा असद्वादियों से प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध किया जाता है। तथा तंत्रयुक्तियों से अपने वाक्य की सिद्धि भी की जाती है। स्पष्ट होने से जो विषय नहीं कहे, तथा जो अर्थ छिपे होने के कारण स्पष्ट नहीं हैं, और जो विषय संक्षिप्त रूप में (लेशमात्र) कहे हैं, उनका भी स्पष्टीकरण तंत्रयुक्तियों से होता है ॥५,६॥

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थं तथा तन्त्रस्य युक्तयः ॥७॥

जिस प्रकार कि कमल वन के लिये सूर्य, घर के लिये दीपक प्रकाश करनेवाला होता है, उसी प्रकार तत्र को प्रकाशित करने के लिये, स्पष्ट करने के लिये युक्तियाँ हैं ॥७॥

तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणं, यथा—रसं दोषं वा ॥८॥

इसमें जिस अर्थ (विषय) को लेकर कहा जाता है, उसका नाम अधिकरण है, यथा रस या दोष को लेकर कहेंगे।

वि० मन्तव्य—अधिकरण—अध्याय, प्रकरण आदि का पर्याय है। अधिकरणं नाम यं अधिकृत्य प्रवर्त्तते कर्त्ता (च० सि० अ० १२ श्लो० ७१ की च० पा० टी०) ॥८॥

येन वाक्यं युज्यते स योगः यथा—
'तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब-
हिंस्राभयावृक्षकपिप्पलीभिः।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्डरोगे' ॥

इत्यत्र तैलं सिद्धं पिबेदिति प्रथमं वक्तव्ये तृतीयपादे सिद्धमिति प्रयुक्तं, एवं दूरस्थानामपि पदानामेकीकरणं योगः ॥९॥

जिससे वाक्य जोड़ा जाता है वह योग है। गिलोय, नीम, हिंस्रा, हरड़, कुटज, पिप्पली, बला, अतिबला, देवदारु इनसे सिद्ध किया तैल पीये। यह गलगण्ड रोग में हितकारी है। इसमें सिद्ध तैल पीये, इस प्रकार कहने की अपेक्षा है, 'सिद्ध किया' यह शब्द तीसरे पाद में हैं, दूरस्थ होने पर भी पद को मिलाकर एक करने का नाम योग है ॥९॥

योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः, अपरिमिताश्च पदार्थाः। यथा—स्नेहस्वेदाञ्जनेषु निर्दिष्टेषु द्वयोस्त्रयाणां वाऽर्थानामुप-

पत्तिर्दृश्यते, तत्र योऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धो भवति स ग्रहीतव्यः, यथा—'वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्याम' इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः—कतमस्य वेदस्योत्पत्तिं वक्ष्यतीति, यतः ऋग्वेदादयस्तु वेदाः, 'विद विचारणे, विद्लृ लाभे' इत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगात्, तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य प्रतिपत्तिर्भवति—आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरिति एष पदार्थः ॥१०॥

सूत्र में या पद में जो अर्थ कहा हो उसे पदार्थ कहते हैं। एक पद का, दो पद का, वा बहुत से पदों का जो अर्थ होता है, वह पदार्थ है। पदों के अर्थ असंख्येय होते हैं। यथा—स्नेहन स्वेदन-अंजन में कहे हुए दो या तीन अर्थों की प्रतीति (अनुभव) होती है (कौनसा स्नेहन, कौनसा स्वेद, कौनसा अंजन बरते), इनमें पूर्वापर योग को देखकर जो अर्थ निर्णय किया जाये, वह लेना चाहिये। यथा—"वेदोत्पत्ति अध्याय का व्याख्यान करेंगे—" ऐसा कहने पर बुद्धि में सन्देह उत्पन्न होता है कि कौन से वेद की उत्पत्ति को कहेंगे। क्योंकि ऋग्वेद आदि वेद हैं, विद् विचारणे और विद्लृ लाभे—इन धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। इस अवस्था में पूर्वापर संयोग को देखकर ज्ञान होता है कि आयुर्वेदोत्पत्ति को कहनेवाले हैं, यह पदार्थ है ॥१०॥

यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः। यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति ॥११॥

अन्य के लिये कही हुई जो बात दूसरे अर्थ को सिद्ध करती है, उसे हेत्वर्थ कहते हैं। यथा—पानी से मिट्टी का ढेला गीला होता है उसी प्रकार उड़द दूध आदि से व्रण भी क्लेद-युक्त होता है ॥११॥

समासवचनमुद्देशः। यथा—शल्यमिति ॥१२॥

संक्षेप में कहने का नाम उद्देश है, यथा—शल्यम् ॥१२॥

विस्तरवचनं निर्देशः। यथा—शारीरमागन्तुकं चेति॥

विस्तार से कहने का नाम निर्देश है, यथा—शारीरशल्य, आगन्तुजशल्य ॥१३॥

एवमित्युपदेशः। यथा—तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥१४॥

इस प्रकार से करे, यह उपदेश है, यथा रात में न जागे और दिन में सोना छोड़ देवे।

वक्तव्य—उपदेश नियोग में भेद—उपदेश प्रायिक होता है, और नियोग अप्रायिक होता है ॥१४॥

अनेन कारणेनेत्यपदेशः, यथाऽपदिश्यते—मधुरः श्लेष्माणमभिवर्धयतीति ॥१५॥

इस कारण से यह कार्य हुआ है, या होता है, ऐसा कहना अपदेश है, यथा—कहते हैं कि मधुर रस कफ को बढ़ाता है ॥

प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यतीति ॥

प्रकृत वस्तु के भी आगे जाकर सिद्ध करने का नाम प्रदेश है। यथा—इसने देवदत्त का शल्य निकाला है, इसी प्रकार यज्ञदत्त का भी (शल्य) निकाल लेगा ॥१६॥

प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः यथा- यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति ॥१७॥

प्रकृत में न आई हुई वस्तु को सिद्ध करने का नाम अतिदेश है, यथा—क्योंकि इसकी वायु ऊपर को उठती है, इसलिये वह उदावर्त्ती रोगी होगा। यह संभावना हो जाती है ॥

अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः, यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति ॥१८॥

सब में व्याप्त होकर फिर अपकर्षण करना (अपवाद करना) अपवर्ग है, यथा—विष से पीड़ितों को स्वेद नहीं देना चाहिये यह कहकर कीट विषादि को छोड़कर यह कहना अपवर्ग है॥

येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः। यथा—शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं विनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति ॥१९॥

जिस अनुक्त पद से वाक्य समाप्त किया जाता है, वह वाक्यशेष है, यथा शिर, हाथ, पैर, पार्श्व, पीठ, उदर, छाती इतना कहने पर 'पुरुष के' कहे बिना भी पुरुष के, यह जान लिया जाता है ॥१ ॥

यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा—ओदनं भोक्ष्ये इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति-नायं पिपासुर्यवागूमिति ॥

जो न कहा हुआ भी अर्थ से प्रतिपादित होता है, उसको अर्थापत्ति कहते हैं, यथा—चावल खाऊँगा यह कहने से अर्थ से समझ लिया जाता है कि, यह यवागू नहीं पीना चाहता ॥

यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः। यथा—कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्या इति ॥२१॥

जो यहां कहा हो, उसके विपरीत का नाम विपर्यय है, यथा—कृश, अल्पप्राण, भीरु पुरुष दुश्चिकित्स्य होते हैं, यह कहने पर विपरीत रूप में समझ लिया जाता है कि दृढ बहुप्राण निडर व्यक्ति सुचिकित्स्य हैं ॥२१॥

प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसङ्गः, यद्वा प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः, यथा—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति

वेदोत्पत्तावभिधाय, भूतचिन्तायां पुनरुक्तं—यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृत इति ॥२२॥

दूसरे प्रकरण समान (तुल्य) का नाम प्रसंग है, अथवा प्रकरणों के बीच में जो विषय बार-बार कहा जाता है—समाप्त किया जाता है, उसे प्रसंग कहते हैं। यथा-वेदोत्पत्ति अध्याय में 'पंचमहाभूतशरीरिसमवायःपुरुषः' उसमें, क्रिया, वही अधिष्ठान हैं, यह कहकर भूतचिन्ता अध्याय में फिर कहना कि क्योंकि कहा है 'पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' इति यही कर्मपुरुष चिकित्सा में अधिकृत है ॥२२॥

(सर्वत्र) यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः यथा—त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव) ॥२३॥

जो विना विकल्प के निश्चित रूप से कहा जाता है, वह एकान्त है, यथा—निशोथ विरेचन करता है, मदनफल वमन कराता है ॥२३।

क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः, यथा-केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद्रसं, केचिद्वीर्यं केचिद्विपाकमिति ॥२४॥

कहीं ऐसा और कहीं दूसरा ऐसा जहाँ हो (अनिश्चित) उसे अनेकान्त कहते हैं, यथा—कोई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान है, कोई रस को, कोई वीर्य को और कोई विपाक को प्रधान मानते हैं ॥२४॥

आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा—कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति ॥२५॥

आक्षेपपूर्वकप्रश्न को पूर्वपक्ष कहते हैं, यथा-वातजन्य चार प्रमेह किस कारण से असाध्य होते हैं ॥२५॥

तस्योत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा बसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः, एवमसाध्या वातजा इति ॥२६॥

तथा चोक्तम्—

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अधः प्रकुप्यते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः ॥२७॥

इसके उत्तर का नाम निर्णय है, यथा—शरीर को पीड़ित करके पीछे नीचे मूत्राशय में जाकर वसा, मेद, मज्जा से मिला मूत्र वायु त्याग करता है, इसलिये वातजन्य प्रमेह असाध्य हैं। कहा भी है—सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करके मेद, मज्जा, वसा से मिली वायु अधोभाग में प्रकुपित होती है, इसलिये वातजन्य प्रमेह असाध्य हैं ॥२६-२७॥

परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। यथा-अन्यो ब्रूयात्—सप्त रसा इति, तच्चाप्रतिषेधादनुमन्यते कथंचिदिति ॥

दूसरे मत को स्वीकार करना (विरोध न करना) अनुमत है, यथा—दूसरा कहे सात रस हैं, इसका विरोध न करने से किसी भी प्रकार में सहमत होना अनुमत है ॥२८॥

प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। यथा—सक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितानि ॥२९॥

प्रकरण के अनुसार कहने का नाम विधान है, यथा—टांग के मर्म ग्यारह प्रकरण के अनुसार कह दिये हैं ॥२६॥

एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्। यथा—श्लोकस्थाने ब्रूयात्—चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति ॥३०॥

इस प्रकार से कहेंगे, यह कहना अनागतावेक्षण है, यथा—श्लोकस्थान में कहे कि—चिकित्सा में कहेंगे ॥३०॥

यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा—चिकित्सितेषु ब्रूयात्—श्लोकस्थाने यदीरितमिति ॥३१॥

जो पहले कहा हो, उसे कहना अतिक्रान्तावेक्षण है, यथा—चिकित्सा में कहे कि—श्लोकस्थान में जैसा कहा है ॥३१॥

उभयहेतुदर्शनं संशयः। यथा—तलहृदयाभिघातः प्राणहरः, पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति ॥३ ॥

हेतु का दोनों में घटना संशय है, यथा—तलहृदय (मर्म) पर चोट लगना प्राणहर है, हाथ पैर का काटना प्राणनाशक नहीं है ॥३२॥

तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा—इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते, अन्येष्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारभ्य चिन्ता ॥३३॥

अतिरिक्त विषय का कहना व्याख्यान है, यथा—इस सुश्रुत में पच्चीस तत्त्वोंवाले पुरुष को कहा जाता हैं, दूसरे आयुर्वेद तंत्रों में भूतादि अहंकार से आरम्भ करके (अव्यक्त से नहीं) व्याख्यान किया जाता है ॥३३॥

अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथा—मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणं, लोकप्रसिद्धमुदाहरणं वा ॥३४॥

अन्य शास्त्रों के समान न होना स्वसंज्ञा है। यथा मिथुन से मधु और घृत का ग्रहण करना, अथवा लोक प्रसिद्ध उदाहरण का नाम स्वसंज्ञा हैं, यथा महास्नेह ॥३४॥

निश्चितं वचनं निर्वचनम्। यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्नेन वा, आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः ॥३५॥

निश्चित वचन का कहना निर्वचन है, यथा—इसमें (इस शास्त्र में) आयु (आयु का ज्ञान) रहती है, या इस शास्त्र से आयु प्राप्त की जाती है यह आयुर्वेद है ॥३५॥

दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम्। यथा—अग्निर्वायुना सहितः कक्षे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति ॥३६॥

दृष्टान्त देकर स्पष्ट करने का नाम निदर्शन है, यथा-अग्नि वायु के साथ मिलकर तिनकों के ढेर में बढ़ती है, इसी प्रकार वात-पित्त कफ से दुषित व्रण बढ़ता है ॥३६॥

इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः। यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति ॥३७॥

यही करना चाहिये, इनका नाम नियोग है, यथा पथ्य ही खाना चाहिये ॥

वक्तव्य—इसका अपवाद भी होता है—

"उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालबलं प्रति।

यस्यां कार्यमकार्यं स्याद् वर्जितं कार्यमेव च ॥"३७॥

इदं चेदं चेति समुच्चयः। यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरिसारङ्गाश्च प्रधानानीति ॥३८॥

'यह भी है और यह भी है' इसका नाम समुच्चय है, यथा-मांसवर्ग में एण, हरिण आदि मुख्य हैं और वटेर-तितर-सारङ्ग आदि भी मुख्य हैं ॥३८॥

इदं वेदं वेति विकल्पः। यथा-रसौदनः सघृता यवागूर्वा (भवत्विति) ॥३९॥

यह अथवा यह—इसका नाम विकल्प है, मांसरस के साथ भात अथवा घृतमिश्रित यवागू खाये ॥३९॥

यदनिर्दिष्टं बुद्ध्याऽवगम्यते तदूह्यम्। यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधं चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमिति, एवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्, इदमत्रोह्यम्—अन्नपाने विशिष्टयोर्द्वयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवतीति चतुर्विधश्चाहारः प्रविरलः प्रायेण द्विविध एव, अतो द्वित्वं प्रसिद्धमिति। किञ्चान्यत्—अन्नेन भक्ष्यमवरुद्धं, घनसाधर्म्यात्, पेयेन लेह्यं, द्रवसाधर्म्यात् ॥४०॥

जो न कहा हो, उसे बुद्धि से जानने का नाम उह्य है, यथा—अन्नपानविधि में कहा है कि चार प्रकार का अन्न कहा जाता है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय। इस प्रकार चार प्रकार का कहने में दो प्रकार का कहा है। इसमें यहाँ तर्क बुद्धि से विचारना चाहिये कि मुख्य रूप से दो प्रकार के अन्नपान के ग्रहण करने में चारों प्रकार के अन्न का ग्रहण हो जाता है। अतिशय विभाग रूप में चार प्रकारका आहार भी दो प्रकार का ही है, इसलिये दो प्रकार का प्रसिद्ध है। और भी कुछ अन्न से भक्ष्य वस्तु अलग नहीं, घन वस्तु की समानता से। पेय में लेह्य का समावेश हो जाता है, द्रव की समानता से ॥४०॥

भवन्ति चात्र—

सामान्यदर्शनेनैषां व्यवस्था संप्रदर्शिता।

विशेषस्तु यथायोगमुपधार्यो विपश्चिता ॥४१॥

द्वात्रिंशद्युक्तयो ह्येतास्तन्त्रसारगवेषणे।

मया सम्यग्विनिहिताः शब्दार्थन्यायसंयुताः ॥४२॥

यो ह्येता विधिवद्वेत्ति दीपीभूतास्तु बुद्धिमान्।

स पूजार्हो भिषक्श्रेष्ठ इति धन्वन्तरेर्मतम् ॥४३॥

इस विषय में श्लोक हैं—इन तंत्रयुक्तियों की व्यवस्था सामान्य रूप में यहाँ कह दी है, विद्वान् को चाहिये कि इनकी विशेषताओं को योग के अनुसार निश्चय कर ले। यन्त्र के सार को ढूंढने में बत्तीस युक्तियाँ हैं, इनको शब्द-अर्थ-न्याय के साथ मैंने भली प्रकार कह दिया है। जो बुद्धिमान् इन प्रकाशमान् युक्तियों को भली प्रकार जानता है, वह पूजा के योग्य श्रेष्ठ वैद्य है, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥४१-४३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु तन्त्रयुक्तिर्नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अथातो दोषभेदविकल्पमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

अब इसके आगे दोषभेदविकल्प अध्याय का व्याख्यान करेंगे-जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था॥१,२॥

अष्टाङ्गवेदविद्वांसं दिवोदासं महौजसम्।

छिन्नशास्त्रार्थसंदेहं सूक्ष्मागाधागमोदधिम् ॥३॥

विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति।

आयुर्वेद के आठों अंगों के विद्वान् महा तेजस्वी, शास्त्र के अर्थों में सम्पूर्ण रूप से संशय रहित, सूक्ष्म अगाध शास्त्र के सागर दिवोदास को विश्वामित्र पुत्र श्रीमान् सुश्रुत ने पूछा।

वक्तव्य—विश्वामित्र यद्यपि राजर्षि थे-तथापि तप के कारण ब्रह्म तेज से दीप्त होने के कारण श्रीमान् कहे हैं, यथा-"विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा। ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद् वैद्यो द्विजः स्मृतः ॥"च०॥३॥

द्विषष्टिर्दोषभेदा ये पुरस्तात्परिकीर्तिताः ॥४॥

कति तत्रैकशो ज्ञेया द्विशो वाप्यथवा त्रिशः।

आपने रसभेद विकल्प में दोषों के जो बासठ भेद कहे हैं, उनमें कितने एकवाले, कितने दोवाले और कितने तीनवाले जानने चाहिये।

वक्तव्य—दोष संसर्ग बासठ हैं, रसभेद तिरसठ हैं, यथा-

द्विषष्टिर्दोषभेदाः स्यू रसभेदास्त्रिषष्टिधा।

स्वास्थ्यं त्रिषष्ठं विज्ञेयं तत्र षड्रसयोजितम् ॥

एकशः षड् द्विशस्त्वेकविंशतिश्चतुरन्विता।

त्रिशो द्वात्रिंशदित्येवं त्रयो दोषाः त्रिषष्टिधा ॥

वि० मन्तव्य—अध्याय ६४ श्लो० ४ में अविग्दध अर्थात्

प्रकृतिस्थ तथा विदग्ध अर्थात् विकृत दोषों के जो ६३ भेद कहे हैं उन्हीं का विवरण इस अध्याय में किया गया है। जब दोष प्रकृतिस्थ रहते हैं तब स्वास्थ्य (आरोग्य-नीरोगता) बना रहता है और जब विकृत हो जाते हैं तब विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं। देखिये—सू० अ० १५। विधिभेद से विदग्ध दोष दो प्रकार के होते हैं, १-वृद्ध-स्वपरिमाण से अधिक-बढ़े हुए, २-क्षीण-स्वपरिमाण से घटे हुए ॥४॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संशयच्छिन्महातपाः ॥५॥
प्रीतात्मा नृपशार्दूलः सुश्रुतायाह तत्त्वतः।

सुश्रुत के इन वचनों को सुनकर संशय को नाश करने वाले महातपस्वी, प्रसन्न आत्मा, नृपशार्दूल धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये यथार्थरूप में कहा कि—

त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च ॥६॥
देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः।

पथ्य रसों से अविकृत हुए तीन दोष, सातों धातु मल और मूत्र इस शरीर को धारण करते हैं ॥५,६॥

पुरुषः षोडशकलः प्राणाश्चैकादशैव ये ॥७॥
रोगाणां तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च।
शतं च पञ्च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम् ॥८॥
व्यासतः कीर्तितं तद्धि

षोडशकलावाला पुरुष, एकादश (ग्यारह) प्राण, एकहजार एकसौ बीस रोग, पाँच सौ तिहत्तर द्रव्य ये विस्तार से कह दिये हैं।

वक्तव्य—षोडश कलावाला पुरुष पंचमहाभूत, एकादश इन्द्रियाँ, ये सोलह विकार, ग्यारह प्राण-अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम और पाँच इन्द्रियाँ, एक हजार एकसौ बीस रोग, इन रोगों का विस्तृत वर्णन श्लोक बद्ध करके डल्हण ने टीका में दिया है।

चरक में सोलह कला से—चतुष्पदं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, इस वाक्य से षोडशगुण रोगी, वैद्य, परिचारक, औषध इनके सोलह गुण कोई मानते हैं। उनके मत में कला शब्द गुणवाची है[1]। इससे कोई सर्वभूत चिन्ता शरीरोक्त सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्नादि को षोडश गुण मानते हैं।

वि० मन्तव्य—डल्लन टीका में श्लोक बद्ध विवरण इस प्रकार है—

अत्र सौश्रुते तन्त्रे षट्स्थानेषु प्रोक्तरोगाः श्लोकैः अभिधीयन्ते—

हीनाऽतिदग्धौ क्षारेण, त्रयः प्लुष्टादयोऽग्निना।
चतुर्थो धूमविहितः पञ्च शोणितदुष्टयः ॥१॥
दोषधातुमलादीनां द्वात्रिंशत् क्षयवृद्धितः।
द्वे स्थौल्यकार्श्ये त्रिविधो विस्रंसाद्यो बलक्षयः ॥२॥
षट् शोफाः षड्व्रणा वह्नित्रितयं विषयादिकम्।
आमं विदग्धं विष्टब्धं अजीर्णं च तथा त्रिधा ॥३॥
इति षट्षष्टिः आतङ्काः सूत्रस्थाने निदर्शिताः।
आमपक्वाशये श्रोत्रे तथा इन्द्रियचतुष्टये ॥४॥
त्वगामिषसिरास्नायुसन्ध्यस्थिमज्जसम्भवाः।
शुक्रे चैकाङ्गसर्वाङ्गगताः सप्ताधिका दश ॥५॥
त्रयोदशाऽऽवृतैः अन्यैः दोषैः स्युः मारुतैः खलु।
पक्षाघातोऽपतन्त्रश्च मन्यास्तम्भोऽर्दितस्तथा ॥६॥
गृध्रसी सह विश्वाच्या शिरः क्रोष्टुकपूर्वकम्।
खञ्जः पङ्गुः कलायाख्यः कण्टकः पाददाहकृत् ॥७॥
पादहर्षोऽवबाहुश्च मूकमिन्मिनगद्गदाः।
तून्याऽध्मानद्वयेऽष्ठीलाद्वयं अर्शांसि षट् तथा ॥८॥
चर्मकीलः चतस्रश्चाऽश्मर्यः पञ्च भगन्दराः।
तथाऽष्टादश कुष्ठानि किलासानि पुनः त्रिधा ॥९॥
प्रमेहा विंशतिः प्रोक्ताः पिडका नव तत्कृताः।
उदराणि तथाऽष्टौ च मूढगर्भस्तथाऽष्टधा ॥१०॥
बाह्या विद्रधयः षट् स्युः तथाऽन्तःस्थाः स्मृता दश।
विसर्पनाडीस्तनजाः तथैव पञ्च पञ्च च ॥११॥
ग्रन्थयः सप्त, चैका स्यात् अपची, सप्तधाऽर्बुदम्।
गलगण्डाः त्रयः, सप्त, वृद्धयः परिकीर्त्तिताः ॥१२॥
उपदंशा मताः पञ्च, श्लीपदं च तथा त्रिधा।
भग्ना अष्टादश ज्ञेयाः शूकदोषास्तथैव च ॥१३॥
चत्वारिंशत् तथाऽष्टौ च क्षुद्ररोगाः प्रकीर्त्तिताः।
अष्टौ ओष्ठभवा दन्तमूलेषु दश पञ्च च ॥१४॥
अष्टौ दन्तेषु, जिह्वायां पञ्च, तालुगता नव।
कण्ठे च अष्टादश ज्ञेयाः चतुःसर्वसरा गदाः ॥१५॥
एवं मुखे सप्तषष्टिः इति स्थाने द्वितीयके।
द्वाचत्वारिंशदधिका त्रिशती परिकीर्त्तिता ॥१६॥
अष्टौ शुक्रगता रोगा अष्टौ आर्त्तवदुष्टयः।
चत्वारोऽसृग्दराः प्रोक्ता अपातः तु अपराकृतः ॥१७॥
मक्कल्ललीनशोषाश्च नैगमेशाहृतस्तथा।
नागोदरः स्तुतिगर्भे शारीरे सप्तविंशतिः ॥१८॥
अथ मेदोऽनिलावेगात् श्वयथुः सरुजश्च यः।
आढ्यवातः सर्वसराः शोफाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः।
कर्णपाल्याऽऽमयाः पञ्च क्लैव्यं उक्तं चतुर्विधम् ॥१९॥
वान्तरेचितयोः प्रोक्ता व्यापदो दश पञ्च च।
षट् नेत्रप्रणिधानस्य नेत्रस्य एकादश एव तु ॥२०॥
पञ्चवस्तिकृताः तत्र चत्वारः पीडने कृताः।
एकादश द्रव्यकृताः, सप्त शय्याकृतास्तथा ॥२१॥
चत्वारिंशत् चतस्रश्च वैद्यतो व्यापदस्तथा।
क्रोधाऽऽयासादिकाः पञ्च दश च आतुरहेतुकाः ॥२२॥
स्नेहस्य कारणानि अष्टौ अप्रत्यागमकृन्ति च।
इति नेत्रादिदोषेण षष्टिः सप्त समासतः ॥२३॥

---

१. "षोडशकलं षोडशगुणम्" इति चरकः।

एवं चिकित्सितस्थाने रजोऽष्टानवतिः तथा ।
अन्नादिरक्षाविज्ञाने विंशतिः विषहेतुका ॥२४॥
स्थावरे वेगाः स्युः दर्वीकरमण्डलिनां विषे ।
राजिलवैकरञ्जानां प्रत्येकं सप्त सप्त च ॥२५॥
मूषिकास्तु दशाऽष्टौ च सप्तवेगा अलर्कजाः ।
सप्तषष्टिशतं चात्र कीटानां विषपायिनाम् ॥२६॥
सप्त चत्वारिंशद्युतं कल्पस्थाने शतद्वयम् ।
नव सन्ध्याश्रयाः प्रोक्ता वर्त्मजाश्च एकविंशतिः ॥२७॥
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ।
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ॥२८॥
बाह्यजौ द्वौ नेत्ररोगौ इति षट्सप्ततिः स्मृता ।
कुकूणकः शिशोरेव, कर्णेऽष्टाविंशतिर्नृणाम् ॥२९॥
एकत्रिंशद् घ्राणगताः सप्रतिश्यायपञ्चकाः ।
एकादश शिरोरोगाः परं शालाक्यसंज्ञिते ॥३०॥
आतङ्कानां शतं प्रोक्तं षट्चत्वारिंशता युतम् ।
नव बालग्रहा योनिव्यापदो विंशतिः स्त्रियाः ॥३१॥
एवं कुमारतन्त्रेऽस्मिन् एकोनत्रिंशद् आमयाः ।
अष्टौ ज्वरा, अतीसाराः षट्, चतस्रः प्रवाहिकाः ॥३२॥
चत्वारो ग्रहणीदोषा, यक्ष्मैको गुल्मपञ्चकम् ।
हृद्रोगाः पञ्च, चत्वारः पाण्ड्वाख्याः कामलाद्वयम् ॥३३॥
हलीमकः पानकी च रक्तपित्तं चतुर्विधम् ।
षट् प्रकारा मता मूर्च्छा विकाराः सप्त मद्यजाः ॥३४॥
दाहाः पञ्च, तृषः सप्त छर्दयः पञ्च देहिनाम् ।
हिक्काः श्वासाः तथा कासाः प्रत्येकं पञ्च पञ्च च ॥३५॥
स्वरभेदाः तथा षट् स्युः, विंशतिः कृमिजातयः ।
नवोदावर्त्तका दृष्टा विसूच्यः तिस्र एव च ॥३६॥
आनाहौ द्वौ आमविट्कौ तथाऽरोचकपञ्चकम् ।
मूत्राघाता द्वादश स्युः इति कायचिकित्सिते ॥३७॥
आमयानां शतं प्रोक्तं चत्वारिंशत् च सप्त च ।
देवता दैत्य-गन्धर्व-यक्ष-पितृ-अहि-रक्षसाम् ॥३८॥
पिशाचस्याऽभिषङ्गेन गदाः च अष्टौ प्रकीर्त्तिताः ।
अपस्माराश्च चत्वारः उन्मादाः षड् उदीरिताः ॥३९॥
अष्टादश गदा भूतविद्यायां सूक्ष्मदर्शिभिः ।
एवं हि सौश्रुते तन्त्रे काशिराजेन कीर्त्तिताः ॥४०॥
रोगाणां तु सहस्रं यत् शतं विंशतिरेव च ।
भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः ।
द्विषष्टिधा भवन्त्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः ॥९॥

जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम गुण भिन्न हुए बासठ प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार से तीनों दोष भी विभक्त होकर बासठ प्रकार के हो जाते हैं।

वक्तव्य—"रजोभूयिष्ठो मारुतः, रजो हि प्रवर्त्तकं सर्वभावानाम् पित्तं सत्त्वोत्कटम् लघुप्रकाशकत्वात् । कफः तमोबहुलः—गुरुप्रावरणकत्वात् ।" कफप्रकृति पुरुष में सत्त्व गुण की प्रधानता कफ में सत्त्व और तम दोनों गुण के रहने से है। यथा—

"सत्त्वतमोबहुला आपः" ॥

त्रय एव पृथग् दोषा द्विशो नव समाधिजैः ।
त्रयोदशाधिकैकद्विसममध्योल्बणैस्त्रिशः ॥१०॥
पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः ।
क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षणवृद्धैस्तथाऽपरैः ॥११॥
द्वादशैवं समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा ।

पृथग् रूप में वात, पित्त, कफ, तीन दोषों में दो दोष स्वस्थ और एक बढ़ा रहे, इस प्रकार से तीन भेद बनते हैं। दो दोष के समान रूप में बढ़ने से और एक के स्वस्थ रहने से, तीन, तथा दो दोषों में एक दोष के अधिक बढ़ने से और तीसरे दोष के स्वस्थ रहने से छै भेद, इस प्रकार सम अधिक भेद से कुल नौ भेद होते हैं। तीनों दोषों के बढ़ने से तेरह भेद होते हैं, यथा—तीनों दोषों के मिलने पर एक दोष की अधिकता से तीन, तीनों दोषों के मिलने पर दो दोषों के बढ़ने से तीन, सम, मध्यम, उल्वण भेद से छै, तीनों की अधिकता से एक, इस प्रकार तेरह भेद हैं। जिस प्रकार दोषों की वृद्धि से ये पचीस भेद होते हैं, उसी प्रकार दोषों के क्षीण होने से भी पचीस भेद हो जाते हैं। क्षीण मध्य, अधिक क्षीण, क्षीण, भेद होते हैं, इस प्रकार से ये बासठ भेद हैं[1]।

---

१ (१) वायुर्वृद्धः पित्तकफौ समौ। पित्तं वृद्धं वायुकफौ समौ। कफो वृद्धो वायुपित्ते समे।—३,

(२) वायुपित्ते वृद्धे, कफः समः। वायुकफौ वृद्धौ पित्तं समम्। पित्तकफौ वृद्धौ वायुः समः। एक की अति वृद्धि छै—वायोःपित्तं वृद्धं कफः समः। पित्ताद् वायुर्वृद्धः कफः समः। कफात् वायुर्वृद्धः पित्तं समम्। वायोः कफो वृद्धः पित्तं समम्। पित्तात्कफो वृद्धो वायुः समः। कफात् पित्तं वृद्धं वायुः समः॥७-८-९॥

(३) वायोः पित्तकफौ वृद्धौ। पित्तात्कफवायू। कफाद् वायुपित्ते। वातपित्ताभ्यां कफो वृद्धः वायुकफाभ्यां पित्तं वृद्धम्, पित्तकफाभ्यां वायुर्वृद्धः ॥—६

(४) वायुपित्तकफा वृद्धा वृद्धतरा वृद्धतमाः। इसी प्रकार वायु कफ पित्त। पित्त कफ वायु। पित्त वायु कफ। वायु पित्त कफ। कफ पित्त वायु।—६

(५) वायुपित्तकफा वृद्धाः।—१

इस प्रकार दोष की वृद्धि से पचीस ३+९+६+६+१=२५ बनते हैं।

वृद्ध शब्द के स्थान पर क्षीण शब्द प्रयोग कर देने से इसी प्रकार २५ बनते हैं।

वि० मन्तव्य—यह स्मरण रखिये कि दोषों के बढ़ने ही से रोग नहीं होते, अपितु घटने से भी रोग होते हैं। विदग्ध दोषों के ये ६२ भेद अर्थात् अवस्थाएं हैं, और रोग का निदान करते समय दोषों की अंशांश कल्पना द्वारा इनका विवेचन किया जाता है। चिकित्सक इसका विचार करे कि कौन दोष वृद्ध है, कौन दोष क्षीण है, तथा कौन दोष सम है। रोगस्तु दोषवैषम्यं-दोषों की विषमावस्था रोग है, और दोष-साम्यमरोगता-दोषों की समवस्था अरोगता (स्वास्थ्य) है। यह ६२ भेद तो केवल परस्पर मिले हुए तीन दोषों के हैं, परन्तु रस आदि धातुओं तथा मलों के साथ मिलाकर तो इनके भेद असंख्य हो जाते हैं, (देखिये श्लो० १२)।

द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥ संसर्गे नव षट् तेभ्य एक वृद्धया समैस्त्रयः। पृथक् त्रयः स्युस्तैर्वृद्धैर्व्याधयः पंचविंशतिः ॥ यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पंचविंशतिः। वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते ॥ वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः। द्वन्द्वं वृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ॥

चरक सू० अ० १७-४१-४४॥

मिश्रा धातुमलैर्दोषा यान्त्यसंख्येयतां पुनः ॥१२॥
तस्मात् प्रसङ्गं संयम्य दोषभेदविकल्पनैः।
रोगं विदित्वोपचरेद्रसभेदैर्यथेरितैः ॥१३॥

---

(६) वातो वृद्धः पित्तं समं कफः क्षीणः। पित्तं वृद्धं वातः समः कफः क्षीणः। कफो वृद्धः वातः क्षीणः पित्तं समम्। कफो वृद्धः वातः समः पित्तं क्षीणम्। वातो वृद्धः कफः समः पित्तं क्षीणम्। पित्तं वृद्धं कफः समो वातः क्षीणः।—६

(७) वायुः क्षीणः पित्तकफौ वृद्धौ। पित्तं क्षीणं कफवायू वृद्धौ। कफः क्षीणो वायुपित्ते वृद्धे। वायुपित्ते क्षीणे कफो वृद्धः। पित्तकफौ क्षीणौ वायुर्वृद्धः। कफवायू क्षीणौ पित्तं वृद्धम् ॥—६

८—वायु पित्त कफ सम १ †

इस प्रकार ६+६+१=१३, कुल २५+२५+१३=६३ भेद हुए।

---

† "समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः ॥" चरक वि० अ० ६।

भिषक् कर्ताऽथ करणं रसा दोषास्तु कारणम्।
कार्यमारोग्यमेवैकमनारोग्यमतोऽन्यथा ॥१४॥

दोष रक्तादि धातु और मलों से मिलकर असंख्येय बन जाते हैं। इसलिये दोष भेद विकल्पना का नियमन करके रोग को जानकर कहे हुए रस भेदों से चिकित्सा करे। वैद्य कर्त्ता है, रस-करण (साधन) हैं, दोष कारण हैं, आरोग्य कार्य है, अनारोग्य-अकार्य है।

वि० मन्तव्य—चिकित्सा कर्म में-वैद्य "कर्त्ता"-चिकित्सा करनेवाला है। मधुर आदि रस करण अर्थात् चिकित्सा के उपकरण हैं. इनके द्वारा चिकित्सा की जाती है—दोषों का शमन किया जाता है। वात आदि दोष रोगों का कारण—हेतु है। और आरोग्य (स्वास्थ्य) कार्य—कर्त्तव्य कर्म है। वैद्य (कर्त्ता) रसों (उपकरणों) द्वारा दोषों (रोगकारणों) का शमन करता है, यही कार्य—कर्त्तव्य कर्म है ॥१४॥

अध्यायानां तु षट्षष्ट्या प्रथितार्थपदक्रमम्।
एवमेतदशेषेण तन्त्रमुत्तरमृद्धिमत् ॥१५॥

छयासठ अध्यायों में अर्थ पद क्रम से ज्ञान ऐश्वर्य से भरा यह सम्पूर्ण उत्तर तंत्र गूँथा हुआ है।

वि० मन्तव्य—इन ६६ अध्यायों द्वारा ग्रथित है, अर्थ-पद-क्रम जिसमें ऐसा यह उत्तर तन्त्र पूर्ण रूप से ऋद्धिमान्-वृद्धिमान्-महान् है ॥१५॥

स्पष्टगूढार्थविज्ञानमगाढमन्धचेतसाम्
यथाविधि यथाप्रश्नं भवतां परिकीर्तितम् ॥१६॥

स्पष्ट, गूढ अर्थ को बतानेवाला, मन्द बुद्धिवाले भी जिसको सरलता से जान सकते हैं, इसको विधि एवं प्रश्न के अनुसार आपको कह दिया है ॥१६॥

सहोत्तरं त्वेतदधीत्य सर्वं
ब्राह्मं विधानेन यथोदितेन।
न हीयतेऽर्थान्मनसोऽभ्युपेता-
देतद्वचो ब्राह्ममतीव सत्यम् ॥१७॥

कही हुई विधि के अनुसार उत्तर तंत्र के साथ इस सम्पूर्ण ब्राह्म (ज्ञान) को पढ़कर, मन से ग्रहण किये हुए (भली प्रकार समझे हुए) विषयों से अलग नहीं होता, यह ब्राह्म वचन (ब्रह्मा का वचन) पूर्ण सत्य है ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे दोषभेदविकल्पो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

इति सौश्रुते आयुर्वेदशास्त्रे उत्तरस्थानं समाप्तम्।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।